# मनुस्मृति

[ हिन्दीभाष्य, प्रक्षिप्तश्लोकानुसन्धाननिर्देश एवं 'अनुशीलन' नामक समीक्षासहित, शास्त्रीयप्रमाणों से अलंकृत तथा मनुस्मृतिसम्बन्धी आलोचनात्मक अध्ययन से युक्त ]

[ परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण ]

भाष्यकार, अनुसन्धानकर्त्ता एवं समीक्षक— **डाॅ० सुरेन्द्रकुमार** 

आचार्य (संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, दर्शन), एम०ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच०डी०

सम्पादक श्री राजवीर शास्त्री (एम०ए०)

प्रकाशक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

४५५, खारी बावली, दिल्ली-११० ००६

# THE MANUSMRITI

(Hindi Exposition with interpolated shlokas pointed out, alongwith Anusheelan Commentary embellished with authority from Shastras, and a critical study of The Manusmriti)

[Enlarged and Improved Edition]

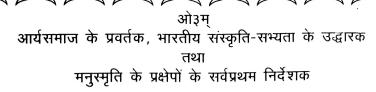
Bhashyakar, Researcher and Commentator

Dr. Surendra Kumar

Acharya (Sanskrit Literature, Grammar and Philosophy), M.A. (Sanskrit, Hindi), Ph.D.

> Editor Shri Rajvir Shastri (M.A.)

Published by:
Arsh Sahitya Prachar Trust
455, Khari Baoli, Delhi-110 006





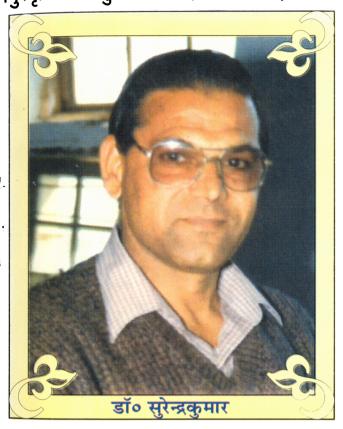
महर्षि दयानन्द सरस्वती

### आचार्य राजवीर शास्त्री



अवैतनिक सम्पादकः "दयानन्द सन्देश" मासिक प्रधानः आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

# मनुस्मृति के अनुसन्धानकर्ता, भाष्यकार एवं समीक्षक



डॉ॰ सुरेन्द्रकुमार द्वारा तटस्थ साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर मनुस्मृति पर किया गया प्रक्षेपानुसन्धान का जिंटल कार्य भारतीय साहित्य, संस्कृति, सभ्यता और इतिहास के लिए अभूतपूर्व और क्रान्तिकारी देन है। इन्होंने मनुस्मृति-सम्बन्धी भ्रान्तियों और विकृतियों का तर्क-प्रमाणयुक्त निराकरण कर भारतीय साहित्य और संस्कृति के गौरव की रक्षा की है।

**इनको सभी रचनाएँ शोध और परिश्रम की द्योतक हैं, जो अग्रलिखित हैं—** 

**१. मनुस्मृति** (सम्पूर्ण), २. विशुद्ध मनुस्मृति, ३. वैदिक आख्यानों का वैदिक स्वरूप, ४. **हिन्दी काव्यों** में वैदिक आख्यान, ५. महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में संगति-

स्थापना (अनुपलब्ध), ६. मनु का विरोध क्यों, ७. वाल्मीकि-रामायण : प्रक्षेपानु-सन्धान, भाष्य एवं समीक्षा (अप्रकाशित)। पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख, कविताएँ, कहानियाँ प्रकाशित, जिनमें से आधा दर्जन पुरस्कृत। आकाशवाणी रोहतक से अनेक

वार्ताएँ प्रसारित।

# "आर्ष साहित्य प्रचार दूरत"

की सह संस्थापिका
स्व. बुद्धिमित जी आर्या
जिन्होंने आजीवन "ट्रस्ट" की
प्रभावी संरक्षण व अमूल्य मार्गदर्शन
प्रदान किया



जहम 1 अप्रेल 1925 बिधब 2 अगश्त 2006

#### प्रस्तुत संस्करण का

#### प्रकाशकीय

मनुस्मृति का नवीन संस्करण पाठकों को सौँपते हुए मुफे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। लगभग एक वर्ष से यह संस्करण समाप्त था और पाठकों तथा संस्थाओं की मांग दिन-प्रति-दिन बद्गती जा रही थी। ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित मनुस्मृति के अनुसन्धानकार्य और भाष्य को पाठकों ने अत्यधिक पसन्द किया, इसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

मनुस्मृति, ट्रस्ट का एक गौरवपूर्ण और अनुपम प्रकाशन है। ट्रस्ट ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसम्धान का जो प्रामाणिक कार्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया है, ऐसा आजतक किसी ने नहीं किया था। यह निवीनः संस्करण और मी विशवताएँ लिये हुए है। इसमें मनुस्मृति के मूल्यांकन से सम्बन्धित तथा श्लोकसम्बन्धी समीक्षा से सम्बन्धित लगमग २५० पृष्ठों की नयी सामग्री प्रदान की जा रही है। लेखक ने मनु और मनुस्मृति से सम्बन्धित विवादों, प्रश्नों पर प्रक्षेपरहित नवीन दृष्टिकोण से सप्रमाण और युक्तियुक्त विवेचन किया है। वेदों तथा अन्य शास्त्रग्रन्थों के प्रमाणों से मनु के मावों को उद्घाटित एवं पुष्ट किया है। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि यह सांस्करण पाठकों और अनुसन्धानकर्ताओं के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

ट्रस्ट का प्रमुख उद्देश्य है — 'आर्ष साहित्य का प्रचार-प्रसार एवं उसका तथा उस पर किये गये अनुसन्धानकार्य का प्रकाशन' । किन्तु प्रचीन आर्ष साहित्य के सन्दर्भ में आज हमारे सामने जो सबसे बड़ी समस्या उपस्थित होती है, वह है उसमें प्रक्षेपों की मिलावट । वेदों को छोड़कर प्राय: समस्त प्राचीन ग्रन्थों में स्वार्थी और दुर्मावनाग्रस्त लोगों ने प्रक्षेप कर डाले हैं । प्राचीन काल में यह काम अत्यन्त आसानी से हो सकता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां होती थीं । जिसके पास जो प्रति थीं, उसने उसमें मनचाही सामग्री जोड़ दी । आज प्रकाशन के युग में भी लोग पूर्ववर्ती लेखकों की पुस्तकों में मनचाहा संशोधन कर डालते हैं ।

में समफता हूं कि आज हमारे सामने जो सबसे पहली और बड़ी चुनौती है, वह है 'आर्ष साहित्य को प्रक्षेपों से रहित करना'। क्योंकि जब तक उनमें प्रक्षेप हैं, तब तक उन पर तरह-तरह की शंकाएं और आक्षेप उठते रहेंगे । उनकी प्रामाणिकता में सन्देह रहेगा और उनके प्रचार में वे बाधा बनेंगे । प्रक्षेपों ने प्रचीन साहित्य के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर दिया है । उससे प्राचीन मारत की संस्कृति-सम्यता और इतिहास का स्वरूप मी विकृत हो गया है । यह रूप तमी स्वच्छ हो सकता है, जब अनुसन्धान करके उनके प्रक्षेपों का निदेश किया जाये । इस जटिल कार्य को करने का दायित्व ट्रस्ट ने स्वीकार किया है और इस कार्य की पहले मेंट यह मनुस्मृति है । इसके प्रक्षेपों को निकालने में कृतित्व पर आधारित तटस्य मानदण्डों को अपनाकर जो परिश्रम किया गया है, उसका अनुमान आपको प्रथम संस्कृण से हो गया होगा ।

द्रस्ट की ओर से इसी पद्धति पर वाल्मीकि-रामायण पर मी कार्य चल रहा है । उस कार्य को भी प्रो. सुरेन्द्र कुमार ही सम्पन्न कर रहे हैं । एक-आध वर्ष में ही वह पाठकों के सामने आ जायेगा ।

इस जटिल और परिश्रमसाध्य कार्य को सम्पन्न करने के लिए मैं श्री सुरेन्द्र कुमार जी को बहुश: धन्यवाद देता हूं। श्री राजवीर जी शास्त्री ने भी इस कार्य में समय-समय पर अपने सुम्माव देकर इसे परिष्कृत करने में सहयोग किया है, एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूं। इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों, पाठकों या अन्य व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस कार्य में किसी भी प्रकार का योगदान किया है, उनका भी मैं धन्यवादी हूं। आशा करता हूं कि इस अत्यावश्यक एवं महान् कार्य को पूर्ण करने में ट्रस्ट को सदैव सभी का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

निवेदक — **धर्मपाल आर्य** संनालक-आर्व साहित्य प्रनार टस्ट

२- एफ, कमलानगर, दिल्ली-७

## प्रकाशकीय (प्रथम संस्करण)

महर्षि-दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए ऋषि द्वारा उद्दत मनुस्मृति के श्लोकों में बहुत-सी गम्मीर, महत्त्वपूर्ण,अनुपम बातें मिलीं, जिन्होंने मेरे चित्त पर अपनी महता की छाप छोड़ी और मेरे कंचे संस्कार बनाये। मैंने मनुस्मृति को गुरुमुख से भी पढ़ा है और इसका स्वयं भी स्वाध्याय किया है। मेरी इस ग्रन्थ के प्रति अत्यन्त श्रद्धा थी, इसलिये मेरी यह प्रवल इच्छा रही है कि ट्रस्ट की ओर से मनुस्मृति का प्रकाशन किया जाये। लेकिन, मनुस्मृति में विद्यमान प्रक्षेपों ने मेरी इच्छा को साकार नहीं होने दिया। एक महान् तत्त्वद्रष्टा ऋषि के अनुपम ग्रन्थ को प्रक्षेपों ने विकृत कर रखा है, अत: प्रक्षेपयुक्त मनुस्मृति का प्रकाशन करना मनुस्मृति के प्रति अश्रद्धा बद्धाना और उसके महत्त्व को कम करना है, यह अनुभव करते हुए अमी तक ट्रस्ट की ओर से मनुस्मृति का प्रकाशन नहीं कराया गया था। ट्रस्ट का उद्देश्य आर्ष साहित्य का प्रचार करना है। महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति को आर्ष ग्रन्थ घोषित करते हुए प्रक्षेपरहित को ग्रामाणिक माना है। पर्याप्त समय से मनुस्मृति का विशुद्ध-संस्करण प्राप्त करने की मेरी उत्कट इच्छा रही है। प्रक्षेपरहित विशुद्ध हस्तलेख प्राप्त करने के लिए मी हमने बढ़ा भारी प्रयत्न किया और पर्याप्त धनराशि भी उसके लिये व्यय की, किन्तु कोई सफलता नहीं मिली।

प्रक्षेपरहित मनुस्मृति को मी प्रकाक्षित करने का विचार मन में आया, किन्तु अब तक किये प्रक्षेपों के कार्य को देखकर मन संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि विद्वानों ने प्रक्षेपों का अनुसन्धान करने के लिए न तो कोई 'निश्चित आधार' या 'मानदण्ड' रखे हैं और न उस कार्य में एकरूपता है। वह कार्य मन-मानी-सा लगता है। मैं चाहता था कि स्वयं 'मनुस्मृति' नामक कृति के अनुसार ही कुछ 'नियम' या 'आधार' निश्चित करके प्रक्षेपों का अनुसन्धान किया जाये, जो आधार सर्वसामान्य हों और जिनमें पूर्वाग्रहबदता न हो। जिससे पाठकों के मन पर यह प्रमाव पड़े कि यह कार्य मनमाने दंग से नहीं किया गया है, अपितु नियमबद एवं तटस्थ रूप से किया गया है।

इस रूप में इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये मैंने श्री थ्रो. सुरेन्द्र कुमार जी से अनुरोध किया। उन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार किया। उन्होंने कई वर्ष तक सतत परिश्रम करके बड़ी योग्यता, विद्वता एवं लग्न का परिचय देकर प्रक्षेपों के अनुसन्धान एवं तत्सम्बन्धी अनुश्लीलन के कार्य को सम्पन्न किया है। प्रसंग-विरुद्ध, परस्पर विरुद्ध एवं पक्षपातयुक्त बातों के निकल जाने से इस ग्रन्थ पर से अब अविद्या का आवरण दूर हो गया है, शुद्ध और इस विषयक यह अनुपन्न पुस्तक तैयार हो गयी है। मनुस्मृति के इस रूप को देखकर मैं अत्यन्त हर्षित हूँ। इस श्वम महान कार्य को सम्पन्न

करने के लिए मैं श्री थ्रो. सुरेन्द्रकुमार जी का हार्दिक घन्यवाद करता हूँ। इस विषय में समय-समय पर श्री पं. राजवीर जी शास्त्री से भी विचार-विमर्श होता रहा है। उन्होंनें भी इस कार्यः में अपने मृस्ववान् सुम्भव एवं सहयोग दिवा है, अत: उनका भी मैं हार्दिक घन्यवाद करता हूँ।

प्रक्षेपों को बिना निकाले इस प्रन्य का प्रचार होने के कारण अनेक स्थानों पर इसका तिरस्कार मी हुआ है और इस पर जातिवाद के आक्षेप लगाये जाते हैं, पक्षपात के आरोप लगते हैं। मैं समफता हूं कि मनु की मूल मान्यताओं को न समफने के कारण लोग ऐसा करते हैं। मनुस्मृति के वास्तविक रूप में ऐसी बातों की गंघ भी नहीं है। मनुस्मृति का तिरस्कार करवाने के जिम्मेदार वे लोग हैं जिन्होंने इसमें प्रक्षेप किये हैं और वस्तुत: वे महान् पापी एवं अपराधी हैं। वे भी कम दोषी नहीं हैं जो बिना सोचे-समफ मनुस्मृति का अनादर करते हैं। महर्षि-दयानन्द ने एक अताब्दी पूर्व मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर संकेत किया था, किन्तु महर्षि का अनुसरण करने वाले और उनके प्रति ब्रद्धा रखने वाले आयों ने उनके इस कार्य को अभी तक पूर्ण नहीं किया, वरना मनुस्मृति का यह तिरस्कार नहीं बढ़ता। सभी विरोधियों के मुंह बंद हो जाते। इस रूप में वे भी दोष के भागी हैं।

महर्षि-दयानन्द ने उपपने ग्रन्थों में यदि इस विषय को हेतु-युक्तियों द्वरा न समफाया होता और मार्गदर्शन न दिया होता तो यह कार्य सम्पन्न नहीं होता, अत : विश्लेषरूप से हम उनके आमारी हैं। उस परमंपिता परमात्मा का मी मैं कृतज्ञ हूं जिसकी कृपा से यह श्लुमकार्य सम्पन्न हुआ है।

प्रक्षेपों के कारण बहुत समय से जो मनुस्मृति का अध्ययन लुप्त हो रहा है, श्रुढरूप प्रस्तुत होने से अब उसका लोप रुककर अध्ययन बढ़ेगा। इस ग्रन्थ में लोगों की रुचि तथा श्रदा बढ़ेगी। इस अनुपम ग्रन्थ के मूल्यवान उपदेशों का महत्त्व समफकर इसके अध्ययन से पाठक अपने जीवन को उत्तम बनायेंगे, इस आशा के साथ मैं ट्रस्ट द्वारा सम्पन्न कराये गये पुरुषार्थ से संतुष्टि अनुमव कर रहा हूँ।

अन्त में पाठकों से निवेदन है कि यद्यपि श्री प्रो. सुरेन्द्रकुमार जी ने यह अनुसन्धान-कार्य पक्ष-पातरिहत होकर और आधार एवं युक्ति-प्रमाणपूर्वक किया है, फिर भी कहीं-कहीं कुछ भूलों-कमियों का रह जाना सम्भव है, अत : आप उन्हें अवश्य सुभावें और नवीन सुभाव प्रेषित करें, जिससे अग्रिम संस्करण और अधिक परिष्कृत रूप से प्रस्तुत किया जा सके।

दिनांक २४-५-१९८१ ई. २ एफ, कमलानगर दिल्ली -११०००७ त्रृषि-चरणों का अनुचर — (स्वर्गीय) दीपचन्द आर्य संस्थापक व प्रधान — आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

#### प्राक्कथन

मनुस्मृति का यह परिवर्धित एवं परिष्कृत नवीन संस्करण आपके हाथों में है । प्रथम संस्करण का प्रकाशन अत्यत्न शीघ्रता में हुआ था । प्रकाशन के साथ-साथ अग्रिम अनुसन्धान कार्य भी चलता रहा था । मूमिका भाग पहले छप चुका था और प्रक्षेपानुन्धान का कार्य उसके बाद भी होता रहा । इन तथा कुछ अन्य कारणों से प्रथम संस्करण में कुछ किमयां और तुटियां रह गयी थीं । उनके लिए हमें खेद है। अग्रिम संस्करणों में उन तुटियों को दूर कर दिया गया है। साथ ही पाठकों के लिए बहुत सारी नयी सामग्री भी इसमें दी जा रही है । मूमिका में मनु एवं मनुस्मृति से सम्बन्धित नये विषयों पर भी विचार किया गया है और नये दृष्टिकोण से निर्णय लेने का प्रयास किया गया है । इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि प्रक्षेपानुसन्धान के परिप्रक्ष्य में मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन किया जाये । उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह एक प्रयास है । मैं आश्रा करता हूं कि यह संस्करण पाठकों के लिए और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

स्मृतियों या धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति सर्वाधिक प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है । मनुस्मृति के परवर्तीकाल में अनेकों स्मृतियां प्रकाश में आयीं किन्तु मनुस्मृति के तेज के समक्ष वे टिक नहीं सकीं — अपना प्रमाव न जमा सकीं, जबिक मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक पूर्ववत् विद्यमान है । मनुस्मृति में एक ओर मानव एवं मानव-समाज के लिए सांसारिक श्रेष्ठ कत्तव्यों का विधान है, तो साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण मी है, इस प्रकार मनुस्मृति मौतिक एवं आध्यात्मिक आदेशों — उपदेशों का मिलाजुला अनुठा शास्त्र है ।

इसके साथ-साथ सभी धर्मशास्त्रों से प्राचीन होने और सृष्टि के प्रारम्भिक काल का शास्त्र होने का गौरव मी मनुस्मृति को ही प्राप्त है। शतपथ, तैतिरीय, काठक, मैत्रायणी, ताण्ड्य आदि ब्राह्मणों में मनु का उल्लेख होना और ''मनुर्वे यित्कञ्चावदत् तद् भैषजम'' अर्थात् — 'मनु ने जो कुछ कहा है, वह भेषज — औषघ के समान गुणकारी एवं कल्याणकारी है', आदि वचनों का प्राप्त होना मनुस्मृति को प्राचीनतम और विशिष्ट धर्मशास्त्र सिद्ध करता है। महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति का काल आदिसृष्टि में माना है। उसका अमिप्राय यही है कि मनु मानव एवं मानव-समाज की मर्यादाओं, व्यवस्थाओं के सर्वप्रथम उपदेष्टा थे। मनु की व्यवस्थाएं सार्वकालिक एवं सार्वमौमिक रूप में सत्य एवं व्यावहारिक है। इसका कारण यह है कि मनुस्मृति वेदमूलक है। पूर्णत: वेद-मूलक होना मनुस्मृति की एक ओर परमविशेषता है। इस विशेषता के कारण मी मनुस्मृति को

सर्वाधिक सम्मान मिला । शास्त्रकारों ने मनुस्मृति के महत्त्व को निर्विवाद रूप में स्वीकार करते हुए ही यह स्पष्ट घोषणा की है कि —

मनुस्मृति-विरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते । (मृह. स्मृति संस्कारखण्ड ञेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो :स्मृते : ।। १३-१४)

अर्थात — 'जो स्मृति मनुस्मृति के विरुद्ध है, वह प्रशंसा के योग्य नहीं है । वेदार्थों के अनुसार वर्णन होने के कारण मनुस्मृति ही सब में प्रधान और प्रशंसनीय है ।'

इस प्रकार अनेकानेक विश्लेषताओं के कारण मनुस्मृति मानवमात्र के लिए उपयोगी एवं पठनीय है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ का पठन-पाठन लुप्त-प्राय: होने लग रहा है। इसके प्रति लोगों में अश्रद्धा की मावना घर करती जा रही है। इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की भरमार होना'। प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वल रूप गन्दा एवं विकृत हो गया है। परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण बातों से मनुस्मृति का वास्तविक स्वरूप और उसकी गरिमा विलुप्त हो गये हैं। एक महान् तत्त्वद्रष्टा, त्रमृषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ अपितु महर्षि मनु के साथ मी अन्याय किया है।

#### इस अनुसन्धानकार्य एवं भाष्य की विशेषताएं —

(१) प्रक्षिप्त श्लोकों के अनुसन्धान के मानदण्डों का निर्धारण और उन पर समीक्षा — इस प्रकाशन का सबसे प्रमुख प्रयोजन यही है कि मनुस्मृति के दूषित, गदले, विकृत रूप को दूरकर उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करना । वैसे तो बाजार में हिन्दी-संस्कृत की टीकायुक्त मनुस्मृति के सैकड़ों प्रकाशन उपलब्ध हैं, और कई सो वर्षों से मनुस्मृति पर लेखन कार्य होता चला आ रहा है, किन्तु अभी तक इस दृष्टि से और इस रूप में किसी भी लेखक ने कार्य नहीं किया ।

महर्षि-दयानन्द के वचनों से प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करके मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान का यह कठिन एवं उलफनभरा कार्य प्रारम्भ किया और कई वर्षों तक सतत प्रयास के परिणामस्वरूप मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने का कार्य सम्पन्न हो पाया है । यद्यपि अभी इस अनुसन्धान कार्य को 'अन्तिम' नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि अधिकाश प्रक्षेपों के निकल जाने से मनुस्मृति का वह दूषित, विकृत और गदला स्वरूप पर्याप्त रूप में दूर हो गया और उसका उज्ज्वल वास्तविक रूप सामने आया है ।

प्रक्षेपों को निकालने में किसी पूर्वाग्रह या पश्चपात की भावना का आग्रय न लेकर तटस्थता को अपनाया है और ऐसे 'आधारों' या 'मानदण्डों' को आधार बनाया है, जो सर्वसामान्य हैं । वे हैं — (१) अन्तर्विरोध या परस्परविरोध, (२) प्रसंगविरोध, (३) विषयविरोध, (४) अवान्तरिवरोध, (४) केंद्रविरोध, (३) मानदण्ड कृति के अन्त आग्रय पर

(४) शैलीविरोघ, (६)पुनरुक्ति, (७) वेदविरोघ । ये समी मानदण्ड कृति के अन्त :साक्ष्य पर आधारित हैं ।

मनुस्मृति के समी श्लोकों को यथास्थान, यथाक्रम रखते हुए वहाँ-जहाँ प्रक्षेप हैं, वहाँ-वहाँ उन पर पूर्वोक्त आधारों के नामोल्लेख पूर्वक 'अनुशीलन' नामक समीक्षा दे दी गयी है, जिससे पाठक स्वयं भी उनकी परीक्षा कर सकें । उपलब्ध मनुस्मृतियों में कुल श्लोक-संख्या २६ ८५ है। प्रक्षेपा-नुसन्धान के पश्चात १४७१ श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं और १२१४ श्लोक मौलिक । अध्यायानुसार प्रक्षिप्त एवं मौलिक श्लोकों की तालिका निम्न प्रकार है —

अध्याय	उपलच्च कुल श्लोक	प्रक्षिप्त	मौलिक शेष
प्रथम अध्याय	१४४	६६	95
	( इस संस्करण के अनुसार)	. 1	
द्वितीय अध्याय	२२४	<b>ξ</b> 0	१६४
	(इस संस्करण के अनुसार)		
तृतीय अघ्याय	२द६	२०२	ፍሄ
चतुर्ष अध्याय	२६०	१७०	९०
पञ्चम अध्याय	१६९	१२८	४१
षष्ठ अध्याय	९७	३३	६४
एतम अध्याय	२२६	४२	१८४
अष्टम अध्याय	४२०	१८७	२३३
नवम अध्याय	३२५	१६८	१५७
	(इस संस्करण के अनुसार)_	<u> </u>	
शम अध्याय	१४२	१२७	१५
	(इस संस्कारण के अनुसार)_		
रकादश अध्याय	२६६	२३४	<b>રૂ</b> ર્
तदश अध्याय	१२६	५४	७२
कुल योग	२६८४	१४७१	१२१४

#### (२) विमिन्न शास्त्रों के प्रमाणों से पुष्ट अनुशीलन समीक्षा —

प्रक्षिप्त श्लोकों के विवेचन के अतिरिक्त लगभग ६०० श्लोकों पर 'अनुशीलन' समीक्षा देकर उसमें श्लोक के भावों, गुल्थियों, विवादों, मान्यताओं तथा अन्यान्य विचारणीय बातों पर मनन किया गया है और अधिक से अधिक स्पष्ट करने तथा सुलम्माने का प्रयास किया गया है । अनेक स्थलों पर विषय को तालिकाओं के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है । समीक्षा में वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, संहिताओं, उपनिषदों, दर्शनों, व्याकरण एवं सूत्रग्रन्थों, निरुक्त, सुश्रुत तथा कौटिल्य-अर्थशास्त्र आदि के अनेक प्रमाण देकर उनसे मनु की मान्यताओं और भावों का समन्वय स्थापित करते हुए उन्हें और अधिक प्रमाणित एवं पुष्ट किया गया है । अनेक पदों का व्याकरण देकर उनका अर्थ भी उद्घाटित किया है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र को आशिक रूप में ही प्रामाणिक माना गया है । उसे तुलनात्मक रूप में उद्देत करने का अमिप्राय यह दर्शाना भी है कि मनुक्त विधि—विधान पर्याप्त अवरकाल तक अविरलरूप में मान्य और प्रचलित रहे हैं ।

#### (६) मनु के वचनों से मनु के मावों की व्याख्या —

उपर्युक्त अनुशीलन के साथ-साथ यह मी प्रयास किया गया है कि जिन श्लोकों या मावों की व्याख्या और स्पष्टीकरण स्वयं मनु के वचनों से प्राप्त हो सकें, उन्हें उनके आधार पर ही समम्मा और स्पष्ट किया जाये । ऐसी बहुत सी मान्यताएं हैं, जिन्हें स्वयं मनु ने ही अन्य श्लोकों में यत्र-तत्र स्पष्ट या पुष्ट किया है । ऐसे श्लोकों को अथवा उनकी संख्या को सम्बद्ध श्लोक पर अनुशीलन समीक्षा में तुलना या अन्यत्र व्याख्यात के रूप में दे दिया है । इसके अतिरिक्त श्लोकव्याख्या के बीच में मी बृहत्कोष्ठक के अन्तर्गत ऐसे श्लोकों की संख्या दी हुई है, जिनसे उस विषय पर प्रकाश पड़ता है । (४) मनु की मान्यता के अनुकृत और प्रसंगसम्मत अर्थ —

परम्परागत संस्कृत एवं हिन्दी के माष्यों में कुछ श्लोकों के अर्थ ऐसे किये गये हैं, जो मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल सिद्ध नहीं होते और न प्रसंगसम्मत हैं, जैसे — १।२, ३, ६, २२, १३७ (२।१६); ३।५६ आदि। कुछ श्लोकों के अर्थों में क्रमबद्धता नहीं बन पायी है, जैसे — १।१४ —१५, १६, १६, १९ आदि। ऐसे सभी श्लोकों का अर्थ मनु की मान्यता के अनुकूल, प्रसंग एवं क्रमसंगत किया गया है, और उनकी समीक्षा में उस अर्थ की पुष्टि में कारण, युक्तियाँ एवं प्रमाण दिये गये हैं। साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों का प्रचलित अर्थ मी दे दिया गया है, ताकि पाठक उन पर विचार कर सकें। इस माष्य में ऐसे परिवर्तित अर्थ वाले श्लोकों की संख्या ५४ है। साथ ही टिप्पणी में उन श्लोकों के प्रचलित अर्थ मी दे दिये हैं, ताकि पाठक उन अर्थों पर तुलनापूर्वक विचार कर सकें।

#### (५) भूमिका-भाग में मनुस्मृति का नया मूल्यांकन —

ग्रन्य के प्रारम्म में मनुस्मृति से सम्बन्धित 'मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन' नामक एक विस्तृत भूमिका दी गयी है। इसमें मनुस्मृति से सम्बन्धित सभी प्रश्नों, यथा — मनु एवं मनुस्मृति का काल, मनुस्मृति का आद्य और वर्तमान रूप, मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्यान के आधार और उनका परिभाषा-उदाहरण-पूर्वक विवेचन, मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, मनु की मौलिक मान्यताएं और उनके कारण, आदि पर युक्ति-प्रमाण-पूर्वक विचार किया गया है। यह विवेचन उक्त विषयों पर एक नया मूल्यांकन है।

#### (६) महर्षि-दयानन्द के अर्थ और भावार्थ —

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के लिए मनुस्मृति को प्राथमिक आघार माना है, और लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्दत किया है, अनेक श्लोकों के केवल माव ग्रहण किये हैं। महर्षि मनु के श्लोकों पर महर्षि-दयानन्द का समग्र माष्य प्रस्तुत करना, इस प्रकाशन की दूसरी प्रमुख विशेषता है। अपने ग्रन्थों में महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का माष्य किया है, उस श्लोक पर केवल महर्षि का ही माष्य दिया गया है और शेष श्लोकों पर मेरा माष्य है। यदि महर्षि ने किसी श्लोक को अपने ग्रन्थों में एक से अधिक बार उद्दत करके माष्य किया है, तो उन सभी अर्थों को इसमें उद्दत कर दिया है। जहां मनु के श्लोकों के केवल माव ही महर्षि के भ्रन्थों में उपलब्ध हुए, वहां तत्तत्श्लोक पर वे माच भी सकेलित कर दिये हैं। इन सभी बातों से मनु के भावगाम्भीय पर अधिकाधिक प्रकाश पढ़ेगा। महर्षि के माष्य से मनु के श्लोकों की अनेक गुत्थियां सुलफ जाती हैं। एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर एक ऋषि का ही माष्य होने से 'सोने में सुगन्थ' वाली कहावत चरितार्थ हो जती है और उसका महत्त्व कई गुणा बद जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर महर्षि के भाष्य को उद्दत किया है।

इस भाष्य में कुल ४२२ श्लोकों या श्लोकखण्डों पर महर्षि के अर्थ और भावार्थ दिये गये हैं, जिनमें ३४२ श्लोकों पर महर्षि का अर्थ है और ८० श्लोकों पर केवल भावार्थ है । जिन श्लोकों पर महिष का केवल भावार्थ है, उन पर पदार्थभाष्य मेरा किया हुआ है ।

#### (७) प्रथम बार हिन्दी-पदार्थ टीका प्रस्तुत ---

पहलीं बार सम्पूर्ण मनुस्मृति के संस्कृत पदों को रखकर उनके साथ हिन्दी का अर्थ प्रस्तुत किया गया है। इससे विद्यार्थियों को सुगमता होगी और थोड़ी संस्कृत जानने वाले स्वाघ्यायी पाठक भी संस्कृत पदों के ज्ञान-मनन पूर्वक श्लोकों का अर्थ आसानी से ग्रहण कर सकेंगे। इस दृष्टि से यह प्रकाशन सर्वसाधारण के लिए विश्लेष उपयोगी सिद्ध होगा।

#### (द) सभी अनुक्रमणिकाओं एवं सुचियों से युक्त —

किसी भी ग्रन्थ में अनुक्रमणिकाएं और विषयसूचियां अत्यन्त उपयोगी और सुविधाजनक होती हैं। छात्रों और पाठकों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए इस प्रकाशन में श्लोकों की उभयपंक्ति-अनुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका, अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची, संकेत सूची, श्रुदाशुद्धि पत्र आदि समस्त आवश्यक सामग्री का समावेश किया गया है।

#### (९) मनुस्मृति के प्रकरणों का उल्लेख —

मनु की यह शैली है कि वे प्रत्येक मुख्य विषय या प्रकरण को प्रारम्म करते समय उसका स्वयं संकेत करते हैं या समाप्ति पर विषय का संकेत करते हैं । मनु द्वारा प्रदर्शित संकेतों के अनुसार मनुस्मृति में २१ प्रकरण या मुख्यविषय बनते हैं । इस संस्करण में उनका यथास्थान उल्लेख कर उसकी सीमा का भी उल्लेख कर दिया है ।

#### (१०) मौलिक श्लोकों का 'विशुद्ध मनुस्मृति' के नाम से पृथक् संस्करण —

मनुस्मृति का, इस संस्करण में मौलिक सिंद्ध हुए श्लोकों को छांटकर प्रक्षिप्त श्लोकों से रहित विशुद्ध मनुस्मृति के नाम से एक पृथक संस्करण भी प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें मनु के उपदेशों-आदेशों को अविरल रूप से पढ़ने का आनन्द प्राप्त हो सकेगा।

#### आभार-प्रदर्शन

सर्वप्रथम आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक एवं संचालक स्वर्गीय सेठ दीपचन्द वी आर्य का मैं सदैव अत्यन्त आभारी रहूँगा, जिनकी सतत प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से मनुस्मृति का यह प्रक्षेप- अनुसन्यान तथा भाष्य का कार्य प्रारम्भ एवं सम्पन्न हुआ, जिन्होंने इस बृहत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का भार अपने कन्थों पर वहन किया। सेठ वी ने प्रक्षेपानुसन्धान-सम्बन्धी सुफाव और मार्गदर्शन देकर इस कार्य को और अधिक परिष्कृत करने में भी सहयोग किया, इसके लिये भी मैं उनका आभारी रहूँगा।

सेठ जी के सुपुत्र और आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के वर्तमान संचालक श्री धर्मपाल जी आर्य ने इस नवीन संस्करण का प्रकाशन अत्यन्त रुचि, उत्साह, और परिश्रम एवं विवेक से किया है। उनके प्रयत्नों से यह संस्करण सभी तरह से उत्तम बन गया है। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। श्री पं राजवीर जी शास्त्री, जिन्होंने इस कार्य में अपने मूल्यवान सुमाव और अनुसन्धान में सिक्रय सहयोग तथा समय प्रवान किया तथा श्री पं, सुदर्शनदव जी आचार्य, जिन्होंने इस कार्य को करने की प्ररेणा एवं समय-सभय पर उचित सुमाव प्रवान किये हैं, दोनों ही विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इनके साथ-साथ अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला शास्त्री के प्रति भी इस बात के लिये आभार प्रकट करता हूँ कि उन्होंने मुझे सभी पारिवारिक व्यस्तताओं से दूर रखते हुए इस

अनुसन्धान कार्य को सम्पन्न करने के लिए यथावश्यक समय प्रदान करने का सदैव ध्यान रखा और लेखन कार्य में भी यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया। प्रूफसंशोधक श्री कर्मवीर जी शर्मा, श्री रामहौसला मिश्र जी ठेकेदार का भी मैं धन्यवादी हूँ, जिन्होंने पूर्ण श्रद्धा तथा पुरुषार्थ से इस कार्य को पूर्ण करने में सहयोग दिया है।

#### पाठकों से निवेदन

मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान और अनुश्नीलन का यर कार्य कुछ निश्चित आधारों पर सम्पन्न करने का वायत्व मैंने स्वीकार किया। अपनी अल्पमित के आधार पर यथाशिक्त परिश्रम करके जैसा भी इसे कर पाया हूँ, वह आपके हाथों में है। नि:सन्देह, यह अत्यन्त किठन, उलामनमरा और विवादस्पद कार्य है, जिसे अभी तक इस रूप में किसी के द्वारा सम्पन्न नहीं किया गया, जबिक अब से बहुत पहले यह कार्य हो जाना चाहिए था। ऐसे उलझन भरे कार्य में कहीं-कहीं किमियों और त्रुटियों का रह जाना संभव है, अत: विद्वान पाठकों से विनम्न अनुरोध है कि वे इस पर मनन करके मेरी त्रुटियों को क्षमा करते हुए, मुफे उनसे अवश्य अवगत करायें और इसविषयक सुफाव प्रदान करें, जिससे अगले संस्करण में अधिक से अधिक परिष्कार किया जा सके।

निवेदक — सुरेन्द्रकुमार

स्थान —फज्जर (जिला-रोहतक)

## संकेत-सुची

अ. /अष्टा. अथर्व. आप. घ. आप. श्रौ. आश्व. गृ. सू. आ. /आश्व. श्री. स. उणा. उपा. त्रा. /त्राक ऋ, दया त्रा. दया. पत्र वि. / त्रा. पत्र वि. / त्रमु. प. वि. त्रृ. पू. /त्रृ. मा. पू. ऐ. /ऐत. /ऐ. ब्रा. कां काठ. /काठ. सं. को. अ./कोटि. अर्थ. प्रक. /प्र. अ.

कौ. कौषि. गृ. गो. ब्रा. / गो. पू. /गो. उ. गो. गृहय. गो. घ. चा. /चाण. सू. छान्दो. जै. उ. अध्दाध्यायी अध्वंवंद आपस्तम्ब धर्मसूत्र आपस्तम्ब स्रोतसूत्र आश्वलायन गृहयसूत्र आश्वलायन स्रोतसूत्र उणादिसूत्रपाठः उपासनाविषय स्राग्वंद . स्राषि दयानन्द

त्रमृषि दयानन्द के पत्र-विज्ञापन त्रमृग्वेदादिमाध्यमूमिका ऐतरेय ब्राह्मण काण्ड काठक संहिता कौटिल्य अर्थशास्त्र — प्रकरण, अध्याय

कौषितिक ब्राह्मण कौषितिक गृहयसुत्र गोपथ ब्राह्मण, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक गोमिलगृहयसूत्र गौतम धर्मसूत्र चाणक्यसूत्र छान्दोग्योपनिषद् जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण जैमिनीय गृहयसुत्र

```
१२
                                          संकेत-सूची
तां /ताण्डय. ब्रा.
                                         ताण्डयब्राहमण
ते. आ.
                                         तैतिरीय आरण्यक
तै /तै बा /तैति
                                         तैतिरीय ब्राहमण
ते. सं. /तेचि सं.
                                         तैत्तिरीय संहिता
                                         दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह आर्यामिविनय
द. ल. आ.
द. ल. गो.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह गोकरुणानिधि
द. ल. ग्र. /द. ल. ग्र. सं.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह
द. ल. पं.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थसंग्रह पञ्चमहायज्ञविधि
                                         दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह पुष्ठ
द. ल. प्र.
द. ल. भ्र.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रमोच्छेदन
द. ल. भ्रा. नि.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह भ्रान्तिनिवारण
द. ल. वेदांक
                                         दयानन्द लघुग्रन्थ वेदमाष्य के नमूने का अंक
द. ल. वे. ख.
                                         दयानन्द लघुग्रंथ वेदविरुद्धमतखण्डन
द. शा. /द. शा. सं.
                                         दयानन्द शास्त्रार्थसंग्रह
द. ल. शि.
                                         दयानन्द लघुग्रन्थ शिक्षापत्री ध्वान्तनिवारण
                                         द्रष्टव्य
ኟ.
                                         दिवादिगण (धातुपाठ)
दिवा.
नि. /निरु.
                                         निरुक्त
                                         पारस्कर गृहयसूत्र
पार. गृहय
प्र. प्र.
                                         पूना प्रवचन
पू. मी.
                                         पूर्वमीमा'सा
                                         पुष्ठ
Ţ.
पं. वि.
                                         पञ्चमहायज्ञविधि
प्रपा.
                                         प्रपाठक
बृह. स्मृति.
                                         बृहस्पतिस्मृति
                                         बोधायन धर्मसूत्र
बोषा. घ.
                                         ब्रहमावल्ली
ब्रहमा.
                                          म्वादिगण (धातुपाठ)
भ्या
                                         मनुस्मृति
मनु.
                                         गनुस्मृति का पुनर्मृल्यांकन
मनु. का पु.
                                         महामारत
महा.
                                         — आदिपर्व
- आदि.
                                         - भीष्मपर्व
- भीष्म.
                                         - शान्तिपर्व
- शान्त.
                                         मण्डल
मं.
                                         मैत्रायणी संहिता
मेत्रा. सं.
                                         यजुर्वेद
यजु.
```

नवम समुल्लास

याज. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
योग.	योगदर्शन
वा. रामा.	्वाल्मीकि -रामायण
·- <b>ब</b> लं.	– बालकाण्ड
– खयो.	— अयोध्याकाण्ड
– किष्कि.	— किष्किन् <del>या</del> काण्ड
– आर./अर	<b>– आरण्यककाण्ड</b> /अरण्यकाण्ड
वासि. घ.	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वेदा. सू.	वेदान्त सूत्र
वैशे. / वैशोषिक	वैश्लेषिक दर्शन
श. /शत .	श्रतपथ ब्राह्मण
स. प्र.	सत्यार्थप्रकाश (द्वितीयसंस्करण)
- प्र. समु.	प्रथम समुल्लास
सं.	सम्पादक
सं. वि.	संस्कारविधि (द्वितीयसंस्करण)
साम.	सामवेद
सांख्य	सांख्यदर्शन
₹.	सुक्त
सूत्र.	सूत्रस्थान

सत्यार्थप्रकाश

विशेष — इस ग्रन्थ में पृष्ठसंख्या देते हुए सत्यार्थ-प्रकाश व संस्कारिविधि के द्वितीय संस्करण तया अग्वेदादिमाध्यमूमिका के प्रथम संस्करण का उपयोग किया गया है। अत: जिन संज्ञ्ज्ञों के पास ये संस्करण नहीं है, उनकी सुविधा के लिए इन पुस्तकों की पृष्ठ-संख्या देकर सामने उनके प्रकरण वा समुल्लास दिये जाते हैं। पृष्ठसंख्या के अनुसार पाठक उन-उन प्रकरणों वा समुल्लासों को देख लें —

२३२ - २५५

			9
		२५६ – २७०	दशम ''
<b>१ – ح</b>	निवेदन व भूमिका	२७१ – ३९४	एकादश ''
·	~	३९५ – ४६१	द्रादश ''
९ — २७ २= — ३=	प्रथम समुल्लास द्वितीय ''	४६२ – ५१'८	त्रयोदश ''
२८ — ३६ ३७ – ७७	ाद्धताय तृतीय	५१९ – ५९२	चतुर्दश ''
७८ – १२३	दृताय चतुर्थ ''		
१२४ — १३७	पञ्चम ''	संस्क	<b>रिविधि</b>
१३८ – १७७	षष्ठ ''	१३ – २६	सामान्य प्रकरण
१७८ – २०६	सप्तम ''	२७ – ३६	गर्माघान संस्कार
१६५ — २०५	अष्टम ''	३९ – ४१	पुंसवन ''

संकेत-सूची

१४३ – १४४

१४५ – १४८

१४८ - १५५

१५५ - १८१

१८१ - १८८

१८९ - १९८

१९९ — २०० २०० — २०१

२०१ – २०७

२०८ - २१०

२१० — २१४ २१५ — २३२

२३३ - २३७

795 - 795

२३९ - २४०

२४१ - २४२

२४३ - २४५

२४५ – २७२

२७२ – ३०८

३०९ — ३१२ ३१३ — ३१९

३२० - ३३९

३३९ - ३४१

३४२ - ३५१

**३**५२ – **३**५२ **३**५३ – ३५४

३५५ — ३६९ ३७० — ३७२

३७३ – ३७६

४२ – ४ <b>५</b>	सीमन्तोन्नयन ''
४६ – ५१	जातकर्म ''
પર – <b>પ</b> ષ્ઠ	नामकरण संस्कार
<b>५५ – ५७</b>	निष्क्रमण ''
<u> ५८ – ५९</u>	अन्नप्राञ्चन ''
६० – ६३	चूड़ाकर्म ''
६४ – ६४	कर्णवेघ ''
६५ – ७१	उपनयन ''
७२ – ९१	वेदारम्म ''
९२ – ९७	समावर्तन ''
९६ – १३६	विवाह "
१३७ - १८७	गृहाश्रम ''
१८८ - १९३	वानप्रस्थाश्रम ''
१५४ - २१७	संन्यासाश्रम
	अंत्येष्टि ''
२१८ – २२६	ज(ना-

# त्रृग्वेदादिभाष्यभूमिका

१ ९	<b>ई</b> श्वरप्रार्थना
<b>९ – २्</b> ६	वेदोत्पत्ति
२७ – ४१	वेदानां नित्यत्वविचारः
४२ – ८०	वेदविषयविचार
<u> </u>	वेदसंज्ञाविचार
दद – ५२	ब्रहमविद्या
<b>९२ – ११५</b>	वेदोक्त धर्म
११५ – १३६	सृष्टिविद्या
१३६ – १३५	पृथिव्यादिलोकभ्रमण
१३९ – १४२	घारण-आकर्षण

#### प्रकाश्यप्रकाशक गणितविद्याः प्रार्थना-याचना-समर्पण उपासनाविधान मुक्तिविषय नौविमानादिविद्या तारविद्या वैचकशास्त्रमूल पुनर्जन्म विवाह नियोग राजप्रजाधर्म वर्णाश्रमधर्म ब्रहमचर्याश्रम गृहाश्रम वानप्रस्थाश्रम संन्यासाश्रम पञ्चमहायज्ञ प्रन्थप्रमाण्याप्रमाण्य अधिकारान धिकार पठनपाठन भाष्यकरणशंकासमाधान प्रतिज्ञा प्रश्नोत्तर वैदिक-प्रयोगनियम

स्वरव्यवस्था व्याकरणनियम

अलंकारभेद

ग्रन्थसंकेत

#### श्लोंकों की संख्याविषयक तथा अन्य ज्ञातव्य बातें -

- १. जिन अञ्यायों के विमाजन में परिवर्तन नहीं किया गया है (प्रथम, द्वितीय और दक्षम को बोड़कर), उनमें श्लोकों के साथ दो-दो संख्याएं है। उनमें पहले, सभी श्लोकों की क्रमानुसार संख्या है, और उसके बाद लघुकोष्ठक में मौलिक माने गये श्लोकों की क्रमसंख्या है।
- प्रथम अध्याय में जिन श्लोकों के साथ तीन-तीन संख्याएं हैं (१।१२० से १४४ तक), उनमें पहली क्रमानुसार श्लोक संख्या है, दूसरी बृहतकोष्ठक में द्वितीय अध्याय के उन श्लोकों की प्रचलित संख्या है जो प्रथम में सम्मिलित किये गये हैं, और तीसरी, लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।
- द्वितीय अध्याय की तीन संख्याओं में पहली क्रमानुसार श्लोक संख्या है, दूसरी बृहतकोष्ठक में प्रवित्त संख्या है, तीसरी लचुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है।
- दशम अष्याय में दो-दो श्लोक संख्याएं हैं । पहली प्रचलित अष्याय व श्लोक की क्रमसंख्या है । दूसरी लघुकोष्ठक में मौलिक श्लोकों की क्रम संख्या है ।
- २. सम्पूर्ण मनुस्मृति वाले संस्करण में मौलिक सिद्ध हुए श्लोकों को मोटे टाइप में और प्रक्षिप्त मने गये श्लोकों को छोटे टाइप में प्रकाशित किया है, जिससे देखते ही श्लोकों की प्रक्षिप्तता एवं मौलिकता का ज्ञान हो सके।
- ३. महर्षि दयानन्द के माष्य वाले श्लोकों में श्लोकों के पद भाष्यकार की ओर से डाले गये हैं । वहां उनका भाष्य या भाव ज्यों का त्यों बिना श्लोकपद डाले उद्दृत किया है, वहां उसे उद्दरण चिन्ह "" के अन्तर्गत रखा गया है । महर्षि के भाव में जहां कहीं किसी श्लोकपद का अर्थ नहीं है, वहां चिन्ह देकर श्लोकार्य के नीचे भाष्यकार की ओर से उसका अर्थ दिया गया है । उन पदों को पठक उन-उन चिन्हों के स्थान पर जोडकर पढें ।
- ४. टिप्पणी में दर्शाये गवे प्रचलित अर्थ कुल्लूक माध्य पर आघारित पं. हरगोविन्द शस्त्री की हिन्दी टीका से उद्गत किये गये हैं।

# मनुस्मृति-विषयानुक्रमणिका

## विदेशिय— सितारे के चिष्टन से अंकित शीर्षक पूर्णतः प्रक्षिप्त प्रसंगों के हैं।

प्रथम अध्याय	श्लोक संख्या	*ब्रह्मा से स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति	;	<b>ર્</b>
(सृग्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्प	त्ति विषय)	*मनु की उत्पत्ति	;	şş
मनुस्मृति-मूमिका	१ से ४ तक	*दश प्रजापतियों की उत्पत्ति ·	ફેજ− ક	રૂપ
महर्षियों का मनु के पास आगम		*पुनः सात मनुओं तथा देवों की सृष्	ष्ट ः	३६
महर्षियों का मनु से वर्णाश्रमधम		*यक्ष आदि की सृष्टि	३७ – १	४ १
के विषय में प्रश्न	२ – ३	प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार	1	૪ર
मनु का भहर्षियों को उत्तर	8	जरायुज-जीव	1	૪ રૂ
· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	११०७, १४४	अण्डज-जीव	;	૪૪
•	तक	स्वेदज-जीव	5	४५
उत्पत्ति से पूर्व जगत की स्थिति	त ५	उद्भिज्ज-जीव तथा औषधियां	,	४६
जगदुत्पत्ति और उसका क्रम	Ę	वनस्पति तथा वृक्ष	1	४७
*ईश्वर की उत्पत्ति	૭	गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा बेल	•	8=
*अप्-तत्त्व की सर्वप्रथम उत्पत्ति	. <u>~</u>	वृक्षों में अन्तश्चेतना	,	४५
<sup>*</sup> ब्रह्मा की उत्पत्ति	९	*सांसारिक गतियों का उपसंहार		えつ
*नारायण शब्द की निरुक्ति	१०	*ब्रह्मा का अन्तर्घान		ધ્ર ૪
<sup>*</sup> ब्रह्मा के स्वस्म का कथन	११	परमात्मा की जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्		પ્રર
<sup>*</sup> अण्डे के दो खण्ड करना	१२	परमात्मा की सुषुप्ति अवस्था में ज	गत्	
'अण्ड-खण्डों से लोकों की रचन	r १३	की प्रलयावस्था	५३ —	પ્રહ
प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों		<sup>*</sup> इरा शास्त्र का अध्यापन क्रम	(	५८
की उत्पत्ति	१४-१५	*भृगु द्वारा इस शास्त्र		
पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्ण	न १६	का प्रवचन	<b>५९</b> – १	३ ३
*ब्रह्मा के शरीर की निरुक्ति	<i>१1</i> 9	निमेष, काष्टा, कला, मुहूर्त और		
सूक्ष्म शरीर से आत्मा का संयो	ग १८	दिन रात का काल-परिमाण		६४
समस्त विनश्वर संसार की उत	पत्ति १९	सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग		६४
पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन	। २०	*पितरों के दिन–रात	ş	६६
वेदशब्दों से नामकरण एवं विभ	ाग २१	दैवी दिन-रात उत्तरायण-दक्षिणायन	:	इख
उपसहार रूप में समस्त जगत	की	ब्रहम के दिन-रात का वर्णन		Ę
उत्पत्ति का वर्णन	၃၃	सतयुग का परिमाण		इ०
वेदों का अविभवि	ર્ફ	त्रेना. द्वापर तथा कलियुग		
*समय आदि की उत्पत्ति	રૃષ્ઠ-રૃષ્	का परिमाण	,	90
धर्म-अधर्म सुख-दु :ख आदि का	विभाग २६	देवयुग का परिमाण	•	७१
मुक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का	वर्णन २७		195 – i	9₹
गैवों का कमों से संयोग	२६ – ३०			
नार वर्णों की व्यवस्था का निम	र्गण ३१	सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ	1	૭૪

	श्रुति-स्मृति का अपमान करने वाला	
હ્ય	नास्तिक है	०६ १
७६	धर्म के चार आधार रूप लक्षण	१३१
99	धर्म-जिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण और	
95	धर्मज्ञान के पात्र	१३२
99 - EO	वेदोक्त सब विधान धर्म हैं १३३ -	- १३४
	*इस शास्त्र के पढ़ने के अधिकारी	१३५
दर – द६	<b>ब्रह्मावर्त देश की सीमा</b>	१३६
€/9	सदाचार का लक्षण	१३७
ಜಜ	*ब्रह्मर्षि देश की सीमा	१३८
द्र९	सारे संसार के लोग ब्रहमावर्त	
९०	के विद्वानों से चरित्र की	
<b>२</b> १	शिक्षा ग्रहण करें	१३९
	मध्यदेश की सीमा	१४०
	आर्यावर्त्त देश की सीमा	१४१
९२ – १०१	वह आर्यावर्त्त यज्ञिय देश है,	
	उससे परे म्लेच्छ देश	१४२
१०२ – १०३	*द्विज कहां निवास करें	१४३
	सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति	का
१०४ – १०६	कथन, वर्णघर्मों का वर्णन प्रारम्भ	१४४
१०७	<del>Delan arran</del>	
_		
	(सस्कार एवं ब्रह्मचयाश्रम-ावषय	)
	•	
१०८	संस्कार ू १ से ४	
·	संस्कारों को करने का निर्देश	
१०९	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाम	<b>२ तक</b> १
·	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण	२ तक
१० <i>९</i> ११०	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाम 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से	<b>२ तक</b> १ २
१०९ ११० १११ – ११८	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति	<b>२ तक</b> १
१०९ ११० १११ — ११८ ११९	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रहम की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान	<b>२ तक</b> १ २ ३ ४
१०९ ११० १११ – ११८	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार	<b>२ तक</b> १२ २ ३ ४
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ से १४४ तक	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण	<b>२ तक</b> १ २ ३ ४
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ <b>से १४४ तक</b> १२०	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि	<b>२ तक</b> १२ ३ ४ ५ ५ ६ – ८
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ <b>से १४४ तक</b> १२० १२१ — १२४	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों 'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार	<b>२ तक</b> १२ ३४५ ५ - ६ ६
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ <b>से १४४ तक</b> १२० १२१ — १२४ १२५	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार मुण्डन संस्कार	<b>२ तक</b> १२ ३ ४ ५ ७ ५ ५ ७ ६ १०
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ से १४४ तक १२० १२१ — १२४ १२५	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाम 'संस्कारों 'से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार मुण्डन संस्कार उपनयन संस्कार का सामान्य समय	<b>२ तक</b> १२ ३४५७ - ६ १० ११
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ <b>से १४४ तक</b> १२० १२१ — १२४ १२५	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाम 'संस्कारों' से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार मुण्डन संस्कार उपनयन संस्कार का सामान्य समय उपनयन का विशेष समय	<b>२ तक</b> १२ ३४५७ ⊏ ९० <b>१</b> ११२
१०९ ११९ — ११८ ११९ <b>से १४४ तक</b> १२० १२१ — १२४ १२५ १२६	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाभ 'संस्कारों' से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार मुण्डन संस्कार उपनयन संस्कार का सामान्य समय उपनयन का विशेष समय उपनयन की अन्तिम अविधि	तिक १२ ३४५७ द००१२ ११२३ ११३
१०९ ११० १११ — ११८ ११९ से १४४ तक १२० १२१ — १२४ १२५	संस्कारों को करने का निर्देश और उनसे लाम 'संस्कारों' से बुरे संस्कारों का निवारण वेदाध्ययन, यज्ञ, व्रत आदि से ब्रह्म की प्राप्ति जातकर्म संस्कार का विधान नामकरण संस्कार वर्णानुसार नामकरण स्त्रियों के नामकरण की विधि निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार मुण्डन संस्कार उपनयन संस्कार का सामान्य समय उपनयन का विशेष समय	<b>२ तक</b> १२ ३४५७ ⊏ ९० <b>१</b> ११२
	98 90 90 00 00 00 00 00 00 00 00	७६ धर्म के चार आधार रूप लक्षण ७७ धर्म-जिज्ञासा में श्रुति परमप्रमाण और ७५ – ६० वेदोक्त सब विधान धर्म हैं १३३ - *इस शास्त्र के पढ़ने के अधिकारी ६१ – ६६ ब्रह्मावर्त देश की सीमा ६७ सदाचार का लक्षण ६६ *ब्रह्मावर्त देश की सीमा ६९ सारे संसार के लोग ब्रह्मावर्त ९० के विद्वानों से चरित्र की ९१ शिक्षा ग्रहण करें मध्यदेश की सीमा आर्यावर्त देश की सीमा अर्थावर्त देश की सीमा अर्थावर्त देश की सीमा अर्थावर्त देश की सीमा १२ – १०१ वह आर्यावर्त यज्ञिय देश है, उससे परे म्लेच्छ देश १०२ – १०३ *द्विज कहां निवास करें सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति १०४ – १०६ कथन, वर्णधर्मों का वर्णन प्रारम्भ

	,		
का कथन	१५	इन्द्रिय-संयम से प्रत्येक कार्य	
वर्णानुसार मूगचर्मों का विघान	१६	में सिद्धि	६८
मेखला-विधान	१७	विषयों के सेवन से इच्छाओं की वृ	द्वे ६९
मेखलाओं का विकल्प	१८	विषय त्याग ही श्रेष्ठ है	१७ – ७१
वर्णानुसार यज्ञोपवीत	१९	विषयी व्यक्ति को सिद्धि	
वर्णानुसार दण्डविघान	२०	नहीं मिलती	७२
दण्डोंका वर्णानुसार मान	२१	जितेन्द्रिय की परिभाषा	७३
दण्डों का स्वरूप	२२	्र एक भी इन्द्रिय के असंयम से प्रज्ञाहानि	98
मिम्ना-विधान	२३	इन्द्रिय संयम से सब अर्थों की सिद्धि	७५
मिक्षा-विधि	ર૪	सन्घ्योपासन-समय	૭૬
भिक्षा किन से मांगे	ર્પ	सन्ध्योपासना का फल	99
गुरु को मिक्षा-समर्पण	२६	सन्ध्योपासना न करने वाला शुद्रवत्	95
*चारों दिशाओं की ओर मुख करके		प्रतिदिन गायत्री जप का विधान	७९
भोजन करने का फल	२७	वेद, अग्निहोत्र आदि में अनध्याय	
भोजन से पूर्व आचमन-विधान	२८	नहीं होता	20 - 25
भोजन सम्बन्धी आवश्यक विधान २९ –	- ३२	स्वाध्याय का फल	द्र२
आचमन विधि ३३ —	રફ	समावर्तन तक होमादि-कर्तव्य करने	
मेखलादि की पुनर्ग्रहण-विधि	३९	का कथन	¢⊋
केशान्त संस्कार कर्म	80	पद्मने योग्य विषय	
*स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित		प्रश्नादि के बिना उपदेश निषेघ	54
संस्कारों का विधान ४१ -	४२	दुर्भीवना-पूर्वक प्रश्न-उत्तर से हानि	<b>ς</b> ξ
उपनयन विधि की समाप्ति एवं		विद्या-दान किसे न दें	<b>≂</b> 9
ब्रहमचारी के कर्मों का कथन	83	कुपात्र को विद्या-दान का निषेघ	zz
ब्रह्मचारियों के कर्तव्य ४४ से २२४		विद्यादान सम्बन्धी आख्यान	
प्रवृत्तवारिया क कराञ्च । ४४ स २२४	त्रक	एव' निर्देश	द९ – ९०
उपनयन के पश्चात् ब्रहमचारी को श्विक्षा	88	*बिना पढ़ाये वेदग्रहण का निषेधः	<b>९</b> १
*वेदाध्ययन की विधि	४५	गुरु को प्रथम अभिवादन	९२
वेदाष्ययन से पहले गुरु को अभिवादन	४६	*विंप्र की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठताः	९३
गुरु को अभिवादन करने की विधि	80	ं गुरु की शय्या और आसन पर न बै	<del>ठें</del> ९४
अध्ययन के आरम्भ एवं		बड़ों को अभिवादः ( से	
समाप्ति की विधि	82	मानसिक प्रसन्नता	९५
वेदाध्ययन के आद्यन्त में प्रणवो <del>ध्या</del> रण		अभिवादन और सेवा से आयु, विद्या	, ,
का विघान ४९ -	· 40	यश, बल की वृद्धि	<b>९</b> ६
ंओ ३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति ५१ -	. પ્રર	अमिवादन-विधि	९७ – ९९
'ओ३म्' एवं गायत्री के		अभिवादन का उत्तर देने की विधि	१००
जपकाफल ५३ –	. પૂવ	अभिवादन का उत्तर न देने वाले को	•
*मानस जप की श्रेष्ठता ६० -	- ६२	अभिवादन न करें	१०१
इन्द्रियसंयम का निर्देश	६३	वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि	१०२
ग्यारह इन्द्रियों की गणना ६४ -	- ६६	दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध	१०३
ग्यारहवीं इन्द्रिय मन	६७	परस्त्री के नामोच्चारण का निषेघ	१०४

*पारिवारिक एवं सम्बन्धी जनों <b>का</b>	वेदाभ्यास परम तप है १४१ – १४२
अभिवादन १०५ — १०६	: वेदाभ्यास के बिना श्रुद्रत्य प्राप्ति १४३
	. *द्वितीय जन्म का निरूपण १४४ – १४६
*बालक ब्राह्मण भी वृद्ध क्षत्रियों	*यज्ञोपवीत से पूर्व वेदमन्त्रोच्चारण
के पिता के समान ११०	-
सम्मान के आधार ११२ - ११२	
किस-किस के लिए मार्ग दें ११३	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·
राजा और स्नातक में स्नातक	ब्रहमचारी के दैनिक नियम १५१
अधिक मान्य ११४	
आचार्यकालक्षण ११५	अंजन, छाता, जूता आदि घारण
उपाध्याय का लक्षण ११६	- ·
पिता-गुरुका लक्षण ११७	🤋 जूआ, निंदा, स्त्रीदर्शन आदि का निषेघ 💎 १५४
<b>ऋत्विक् कालक्षण</b> ११८	: एकाकी शयन का विधान १५५
अध्यापक या आचार्य की महत्ता ११९	, *स्वप्नदोष में प्रायश्चित १५६
उपाच्याय, आचार्य, पिता,	भिक्षा सम्बन्धी नियम १५७
माता की तुलना १२०	
पिता से वेदज्ञाता आचार्य	किन-किन से भिक्षा ग्रहण न करे १५९
बड़ा होता है १२१ – १२२	पापकर्म करने वालों से भिक्षा न लें १६०
आचार्य द्वारा प्रदत्त ब्रह्मजन्म	सायं प्रात : अग्निहोत्र का पुन :
स्थिर होता है १२३	विशेष विधान १६१
गुरु का सामान्य लक्षण १२४	*भिक्षा और यज्ञ न करने पर
विद्वान् बालक वयोवृद्ध से	प्रायश्चित १६२ — १६३
बड़ा होता है १२५	*ब्राह्मण-ब्रह्मचारी के लिए
उक्त विषय में आंगिरस	मिक्षा सम्बन्धी अपवाद १६४ – १६५
का दृष्टान्त १२६ – १२७	गुरु के समीप रहते ब्रह्मचारी की
विद्वत्ता के आधार पर बालक और	मर्यादाएं १६६
पिता की परिमाषा १२ ट	: गुरु के सम्मुख सावधान होकर
अवस्था आदि की अपेक्षा वेदज्ञानी	बैठें और खड़े हों १६७
की श्रेष्ठता १२९	गुरु के आदेशानुसार चलें १६८
वर्णों में परस्पर श्रेष्ठता के आधार १३०	गुरु से निम्न स्तर की वेशभूषा रखें १६९
अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व १३१	सामनीय करते का विकासकार । ००० ०००
<del></del>	बातचीत करने का शिष्टाचार १७० — १७२
मूर्खता की निन्दा तथा मूर्ख	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३
का जीवन निष्फल १३२ — १३३	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४
का जीवन निष्फल १३२ — १३३	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४ पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है १३५	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४ गुरु की निन्दा न सुनें १७५ *गुरु-निन्दा का फल १७६ गुरु को कब अभिवादन न करें १७७
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४ पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है १३५ दूसरों से द्रोह आदि का निषेष १३६	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४ गुरु की निन्दा न सुनें १७५ *गुरु-निन्दा का फल १७६ गुरु को कब अभिवादन न करें १७७
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४ पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है १३५ दूसरों से द्रोह आदि का निषेध १३६ ब्राहमण के लिए अपमान-सहन	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४ गुरु की निन्दा न सुनें १७५ *गुरु-निन्दा का फल १७६ गुरु को कब अभिवादन न करें १७७
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४ पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है १३५ दूसरों से द्रोह आदि का निषेध १३६ ब्राहमण के लिए अपमान-सहन का निर्देश १३७ — १३९	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४ गुरु की निन्दा न सुनें १७५ *गुरु-निन्दा का फल १७६ गुरु को कब अभिवादन न करें १७७ साथ बैठने न बैठने सम्बन्धी निर्देश १७८ गुरु के साथ कहां-कहां बैठें १७९
का जीवन निष्फल १३२ — १३३ गुरु-शिष्यों का व्यवहार १३४ पवित्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है १३५ दूसरों से द्रोह आदि का निषेध १३६ ब्राहमण के लिए अपमान-सहन	गुरु से निम्न आसन पर बैठें १७३ गुरुका नाम न लें १७४ गुरु की निन्दा न सुनें १७५ *गुरु-निन्दा का फल १७६ गुरु को कब अभिवादन न करें १७७ साथ बैठने न बैठने सम्बन्धी निर्देश १७८ गुरु के साथ कहां-कहां बैठें १७९ गुरु के गुरु से गुरुतुल्य आचरण १८०

	3	
१८२ – १८४	विवाह में त्याज्य कुल	<b>ξ</b> − <b>७</b>
	विवाह में त्याज्य कन्यःए	द्र – ९
का	विवाह योग्य कन्या	१०
		धानी ११
	*सवर्ण कन्या के अतिरिक्त	
षेघ १९०		१२ – १३
	-1	
१९१ – १९२		<b>68 - 60</b>
		50 <del>-</del> 58
निषेघ १९४	वर्णानुसार घर्म्य विवाह	२२ – २६
	ब्राह्म अर्थात स्वयंवर विवाह का लक्ष	ग २७
		२८
का -	आर्ष विवाह का लक्षण	२९
१९८	प्राजापत्य विवाह का लक्षण	ЭĢ
१९९ – २१२		38
		३२
•	राक्षस विवाह का लक्षण	३३
	पैशाच विवाह का लक्षण	રૂજ
	*दिजों की कलादान की विधि	<b>રૂ</b> પ્
	***	३६ – ३ <b>८</b>
-		३९ – ४०
		४१
२२१	•	बुरी ४२
		83 – 88
कल २२४	त्रृतुकाल-गमन सम्बन्धी विधान	४५
	स्त्रियों का स्वामाविक त्राृतुकाल	४६
.चग <b>च</b> विशाव	निन्दित रात्रियां	४७
ञ्चयसापवान-	पुत्र और पुत्री प्राप्त्यर्थ रात्रि की पृथकुर	ग ४८
	पन और पनी होने में कारण	४९
		५०
•	तर से कजा का प्रला लेने	,-
ę − ફ <del></del> <del></del>	<del></del>	CY - 9Y
४ से ६६ तक	का निषेघ	५१ – ५२
	<del></del>	<b>પ</b> શ – પર પરૂ – પ્ર
	१ ८५ — १ ८६  हा १ ८७ १ ८८ — १ ८९  होघ १९० १९१ — १९३  होच १९७ हाच १९७ हाच १९७ हाच १९७ हाच १९९ २१३ २१४ — २१५ हिवाच्ययन २१६ — २१६ १६६ — २१९ हादक्षिणा २२१ २२२ — २२३ हाल २२४	त्रवाह योग्य कन्या १८७ *भ्रातृरहित कन्या से विवाह में साव १८८ - १८९ *सवर्ण कन्या के अतिरिक्त षेघ १९० विवाह-विधान *शूद्र-कन्या से विवाह का निषेध १९१ - १९२ और उससे हानियां १९३ आठ प्रकार के प्रचलित विवाह और उनकी विधि निषेघ १९४ वर्णानुसार धर्म्य विवाह श्राहम अर्थात् स्वयंवर विवाह का लक्षण १९५ - १९६ वैव विवाह का लक्षण १९९ - २१२ आई विवाह का लक्षण १९९ - २१२ याजापत्य विवाह का लक्षण १९९ - २१२ याजापत्य विवाह का लक्षण १९९ - २१२ विवाह का लक्षण १९९ - २१५ वैवाह का लक्षण ११९ - २१५ वैवाह का लक्षण ११९ - २१५ वैवाहों के गुण लाभ १९० अन्तिम चार विवाह निन्दनीय २१० अन्तिम चार विवाह निन्दनीय २२० अन्तिम चार विवाह निन्दनीय २२० अन्तिम चार विवाह निन्दनीय २२० अत्तिम चार विवाह निन्दनीय २२० निन्दत रात्रियां १२० नर्भ के विधि २२० न्याचिवान १२० न्याचिवान

	71;	रिन्द्रात	44
म्रियों के आदर का विधान		घर से अतिथि को न लौट	ायें १०५
त्या उसका फल	પ્ર	अतिथिपूजन सुख-आयु-	
मियों का आदर करने से दिव	य	यशोदायक	१०६ - १०७
समों की प्राप्ति	५६	दोबारा मोजन पकाने पर	
न्नियों के शोकग्रस्त रहने से		बलियज्ञ नहीं	१०६ – ११२
परिवार का विनाश	<u> ૫૭ – ૫૬</u>	अतिथियों से भिन्न व्यक्ति	त्यों को मोजन ११३
स्त्रियों का सदा सत्कार-सम्मान र	खें ५९	अतिथियों से पहले किनक	र्गे
पति-पत्नी की परस्पर संन्तुष्टि से	•	भोजन दें	११४ – ११५
परिवार का कल्याण	६०	गृहस्थ दम्पती को सबके व	बाद भोजन
गति-पत्नी में पारस्परिक अप्रसन्न	ता से	करना और यज्ञशेष भोजन	
सन्तान न होना	६१	करना	११६ — ११८
स्री की प्रसन्नता पर कुल में प्रसन्नत	ा ६२	*राजा आदि का सत्कार	११९ — १२१
<sub>हुलें</sub> को पतित करने वाले कर्म	६३ – ६६	*मृतर श्राद का विद्यान एवं	
प्रवमहायज्ञ-विषय ६७·	-२८६ तक	तत्सम्बन्धी नियम	१२२ से २८४ तक
<b>प्रमहायज्ञों का विधान</b>	६७	🕶 श्राद्ध में अपांक्तेय ब्राह्मण	१५० – १६९
<b>ज्यमहायज्ञों के अनुष्ठान का</b>		*अपांक्तेय ब्राह्मणों को दार	
कारण	६८ – ६९	से फल की अप्राप्ति	१७० १८२
ण्चमहायज्ञों के नाम एवं		*पांक्तेय ब्राह्मण <sup>-</sup>	१८३ – १९२
नामान्तर	<u> ७० – ७२</u>	*पितरों की उत्पत्ति	१९३ – २०२
ण्वयज्ञों के नामान्तर	७३ – ७४	*देवकर्म से पितृकर्म श्रेष्ठ	२०३ – २०४
ब्रह्मयज्ञ एवं अग्निहोत्र का विधान	म ७५	*देवकर्म और पितृश्राद्व की	
अग्निहोत्र से लाभ	७६	विधियां	२०५ – २३६
गृहस्याश्रम की महत्ता एवं		*पितरों को कौन सा अन्न !	प्राप्त
<b>ग्येष्ठता</b>	<i>99 – 95</i>	नहीं होता	२३७ – २३८
गृहस्य के योग्य कौन	cz – 90	*श्राद्ध जिमाते समय सावध	ानियां २ <mark>३९ —</mark> २४३
पञ्चयज्ञों के मुख्य कर्म	58	*श्राद्ध में अन्य भाग	२४४ – २४६
पितृयज्ञ का विधान	दर	*पिण्डदान-सम्बन्धी विधान	२४७ – २४८
* पितृयज्ञ और बलिवैश्वदेव में		श्राद्ध भोजन के बाद की	
किसको जिमायें	द३	विधियां	२४९ – २६६
बलिवैश्वदेव यज्ञ का विघान	द्ध – ९२	पितरों को तृप्तिदायक अन	न एवं मांस
<b>'</b> बलि रखने से उत्तम गति	९३	_	२६७ – २८०
अतिथियज्ञ का विघान	98 - 800	*त्रैमासिक श्राद्ध का विधान	र २ <b>८१ – २</b> ८३
सज्जनों के घर में सत्कारार्थ सदा		*पिता आदि की वसु आदि	संज्ञाएं २८४
उपल <b>च्य वस्तु</b> ए'	१०१	•	
अतिथि का रूक्षण	१०२	*गृहस्य के लिए दो ही प्रक	ार के
अतिथि कौन नडीं होते	१०३	भोजनों का विधान	२८५
्रदूसरों के यहां खाने की पावना से पाप	४०५ ा	*उपसंहार	२८६

#### विषयानुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय	सवारी किन पशुओं से न करें
(गृहस्थान्तर्गत आजीविका	या करें 🕻 🧸 ६७ — ६८
एवं व्रत विषय)	*बालसूर्यदर्शन आदि निषेध
आजीविका १ से १२ त	क दुष्टों का संगन करें ७९
आयु के द्वितीय भाग में गृहस्थी बने	१ <sup>*</sup> शूद्र को उपदेश आदि का निषेध ८० – ८३
गृहस्थी की परपीड़ारहित जीविका हो	২ *अक्षत्रिय राजा से दान का निषेध ८४ – ८६
धनसंग्रह जीवनयात्रा चलाने मात्र	ें *अक्षित्रिय राजा से दान लेने से
के लिए हो	३ नरकप्राप्ति ८७ – ९१
*जीविकाओं के भेद ४ –	्दे ब्राह्ममुहूर्त में जागरण <b>९२</b>
*धान्यसंग्रही के भेद ७ – १	o सन्ध्योपासनादि नित्यचर्या का पालन
	१ एवं उससे दीर्घायु की प्राप्ति ९५ - १००
सन्तोष सुख का मूल है, असन्तोष	ं *विविध अनध्यायों का विधान १०१ – १२७
दु:खका १	२ स्त्रीगमन में पर्व दिनों का त्याग करें १२८
स्नातक गृहस्थियों के व्रत १३–२५	र् *खाने के बाद स्नान आदि का
्रगृहस्थों के लिए सतोगुणवर्घक व्रत १३ — १	8 निषेघ १२९ – १३२
अधर्म से धनसंग्रह न करें १	<sub>४</sub> परस्त्री-सेवन का निषेघ एवं
इन्द्रियासक्ति-निषेध १	६ त्याज्य व्यक्ति १३३
स्वाध्याय से कृतकृत्यता १७ – २	o परस्त्री-सेवन से हानियां १३४
पंचयज्ञों के पालन का निर्देश २१ — २	
अग्निहोत्र का विधान २५ – २	៹ आत्महीनता की मावना मन में
अतिथिसत्कार का विधान २	२ न लायें १३७
सत्कार के अयोग्य व्यक्ति ३	o सत्य तया प्रिय भाषण करें १३८
सत्कार के योग्य व्यक्ति ३	
मिक्षा एवं बलिवैश्वदेव का विधान ३:	
*भूख की अवस्था में राजा से	न करें १४०
घनग्रहण ३३ — ३१	
स्त्राच्याय में तत्पर रहना ३९	८ स्पर्श-निषेघ' १४१ — १४४
<sup>*</sup> लाठी, कमण्डलु आदि का घारण	क्त्याणकारी यज्ञ-सन्ध्या
*त्याज्य बातें ३७ – ३५	
रपस्वलागमन निषेघ एवं	यज्ञ-सन्ध्या आदि कल्याणकारी
उससे हानि ४० – ४१	कार्यों से लाम १४६
रजस्वलागमन-त्याग से लाम ४३	वेदाम्यास परमधर्म है १४७
*स्त्री को किन अवस्थाओं में	वेदाम्यास का कथन और उसका
न देखे' ४३ — ४४	
*मुलुमूत्रादि त्याग में वर्ज्य बातें ४५ – ५६	
*विविध त्याज्य बातें ५३ – ६६	वृद्धों का अभिवादन एवं स्वागत १५४

		•	
सदाचार की प्रशंसा एवं फल	१५५ – १५६	योग्य पुत्र में गृहकार्यों का सम्प	ण २५७
दुराचार से हानि	१५७ – १५८	आत्मचिन्तन का आदेश एवं फर	ह २५६
परवंश कर्मी का त्थाग	१५९	विषय का उपसंहार	२५९ – २६०
सुस-दु:स का लक्षण	१६०	पञ्चम अध्याय	
अत्मा के प्रसन्नताकारक कार्य	ही करें १६१	(गृहस्थान्तर्गत-मक्ष्यामक्ष्य-व	हशदि-
माता-पिता-आचार्यादि की		द्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्म विषय)	6
हिंसा न करें	१६२	•	१ से ४६ तक
नास्तिकता, वेदनिन्दा आदि नि	षद	*ऋषियों का भृगु से प्रश्न	6-8
कर्म	१६३		f
शिष्य को केवल श्रिक्षार्थ ताड़ना	करें १६४		१० – २५
<b>*ब्र</b> ग्गण की हिंसा से नरक	१६५ - १६९		२६ – ४४
अधर्म-निंदा एवं अधर्म से		निन्दित मोजन मांस हिंसाम्रूलक	•
<b>दु :ख</b> प्राप्ति	१७० – १७४	होने से पाप है	् ४५ – ५०
सत्यधर्म का पालन करें	१७५	मासमुक्षण प्रसंग में आठ प्रकार	
र्घमवर्जित अर्थ-काम का त्याग	१७६	पापियों की गणना	५१ – ५६
चपलता का त्याग	३७१ - ७७९	गृहस्थान्तर्गत देहशुद्धि	<u> </u>
विवाद न करने योग्य व्यक्ति	१७९ - १८५	विषय ५७ अञ्जूदि के समय	से ११० तक
प्रतिग्रह का लालच न रखें	१८६	अश्रुष्ट क समय *सपिण्डता और समानोदक भाव	५६ – ५९ ६० – ६१
प्रतिग्रह की विधियां	. १८७ – १८९	*सूतक और मृतक सम्बन्धी विध	
बन लेने के अनिषकारी तीन		*समीपस्य बान्धवों की शुद्धि की	111 41 44
प्रकार के व्यक्ति	१९० – १९४	विधि तथा अवधि	६४ – <i>७</i> ४
विहाल-व्रतिक का लक्षण	१९५		
वक-व्रतिक का लक्षण	१९६ – २००		9 <u>4 – 99</u>
दूसरों के स्नान किए जल में	;	*अन्य शुद्धियों की विधि	८० – ९९
न नहायें	२०१ - २०२	*असपिण्डों की प्रेतशुद्धि	600 - 608
किन जलों में स्नान करें	२०३	देह-शुद्धि कारक पदार्थों की गण-	
यम-सेवन की प्रधानता	२०४	सर्वोत्तम शुद्धि अर्थशुचिता	१०६
*अभस्य भोजन	२०५ - २२५	धर्माचरण से विविध चरित्र	
*श्रद्धा से दानकार्य करें	२२६	दोषों की शुद्धि	209 - 805
वानधर्म के पालन का कथन	२२७ – २३२	श्रीर, मन, आत्मा, बुद्धिकी शुवि	
वेददान की सर्वग्रेष्ठता	२३३ – २३७		१ से १४ <b>६ तक</b>
र्घमसंचय का विधान एवं		पात्रों की शुद्धि का प्रकार यज्ञ पात्रों की शुद्धि का प्रकार	१११ — ११५ ११६ — ११७
धर्म प्रशंसा	२३६ – २४३	अन्य वस्त्रावि पदार्थों की शुद्धि	११८ — <b>१२</b> ६
उत्तमों की संगति करें	२४४ – २४५	*शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओं की	11- 114
श्रेष्ठ स्वभाव वाला बने	२४६	गणना	१२७ – १३६
*दान सम्बन्धी विविध बातें	२४७ – २५४	*ब्रह्मचारी और संन्यासियों के वि	
<b>ब्</b> ठ बोलने वाला पापी है	२५५ - २५६	शुद्धि-प्रकार	१३७

२० ।वषयान्	(क्रामाणका
*विभिन्न प्रकार की अशुद्धियों की	सन्यास धर्म विषय ३३ से ८५ तक
शुद्धिका प्रकार १३८ — १४६	संन्यास-ग्रहण का विधान ३३ — ३७
गृहस्थान्तर्गत पत्नीघर्म	परमात्म-प्राप्ति हेतु गृहाश्रम से भी
विषय १४७ से १६६ तक	संन्यास ले सकता है ३८ – ४०
*स्त्री-स्वतंत्रता का निषेघ १४७ – १४८	वैराग्य होने पर गृहस्थ या ब्रह्मचर्य
स्त्री के पिता, पित, पुत्र से अलग	से सीघा संन्यास-ग्रहण ४१
रहने से हानि की आशंका १४९	सन्यासी एकाकी विचरण करे ४२
पत्नी में कौन से गुण होने चाहिएं १५१	निर्लिप्त भाव से गांव में मिक्षा ग्रहण
स्त्री पर विवाह के बाद पति का	करे ४३ – ४४
स्वामित्व १५२ – १६२	जीवन-मरण के प्रति समदृष्टि ४५
पूर्वपति को छोड़कर दूसरे श्रेष्ठ पति	पवित्र एवं सत्य आचरण करे ४६
को अपनाने की निन्दा १६३ — १६४	अपमान को सहन करे ४७
पति के अनुकूल आचरण से पत्नी	क्रोघ आदि न करे ४८
अधिक सम्मान्य होती है १६५ – १६६	आध्यात्मिक आचरण में स्थित रहे ४९
स्त्री की मृत्यु पर यज्ञपूर्वक	मोजन पाने के लिए पा <b>ख</b> ण्ड न <b>करे</b> ५० – ५१
अग्नि संस्कार १६७ – १६८	मुण्डनपूर्वक गेरुवे वस्त्र धारण करके
उपसंहार १६९	रहे ५२ - ५४
षष्ठ-अध्याय	एक समय ही मिक्षा मांगे ५५ – ५६
(वानप्रस्थ-संन्यासधर्म विषय)	मिक्षान प्राप्त होने पर दु:ख का
वानप्रस्थ विषय १ से ३२ तक	अनुभव न करे ५७
वानप्रस्थ धारण करें १ स्व ३५ राज	प्रशंसा-लाम आदि से बचे ५८
वानप्रस्य धारण का समय २	इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर मोक्ष के
वानप्रस्य धारण की विधि ३ – ४	लिए सामर्थ्य बद्धारे ५९ – ६०
वानप्रस्य के लिए पञ्चयज्ञों	मनुष्य-जीवन की दु:खमय गति-स्थितिया
का विधान ५ - ६	और उनका चिन्तन ६१ – ६३
अतिथि यज्ञ एवं पितृयज्ञ का विधान ७	अपर्म से दु:ख और घम से सुख प्राप्ति ६४
	योग से परमात्मा का प्रत्यक्ष करे ६५
ष्रहमयज्ञ का विधान <u>८</u> अग्निहोत्र का विधान ९	दूषित आदि प्रत्येक अवस्या में घर्म
0	का पालन आवश्यक ६६
विशव यज्ञा का आयाजन कर १० बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान ११ — १२	ध्मचिरण के बिना बाहरी दिखावे
पवित्र मोजन करे १३	से श्रेष्ठ फल नहीं ६७ — ६९
अमस्य पदार्थ १४ – १५	प्राणायाम अवश्य करे ७०
वानप्रस्थ ग्रामोत्पन्न पदार्थ न खाए १६ — २१	प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का क्षय ७१
*विविध तपस्याओं का विधान २२ – २५	प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार से दोषों का
सांसारिक सुखों में आसक्ति न रखते हुए	क्षय ७२
	घ्यान से यथार्थ ज्ञान ७३
ब्रहमचर्य का पालन करें २६ तपस्वियों के घरों से मिक्षा का ग्रहण२७ — २८	यथार्यज्ञान से क्म-बन्धन का विनाश ७४
तपास्थ्या के वरा संगिता का ग्रहणर्७ — रूट आत्मश्रुद्धि के लिए वेदमन्त्रों का	अहिंसा आदि वैदिक कर्मों से परमात्मा
<u> </u>	पद की प्राप्ति ७५
मनन-चिन्तन २९ – ३२	

		102110	
स्पवित्र शरीर का त्याग ७	६ – ७९	राजा वेदवेताओं से अनुशासन की शिक्षा	
नि:स्पृहता से सुख एवं मोक्षप्राप्ति	20	ले ।	ફલ
एपात्या में अधिष्ठान 💆	१ – द२	*अनुशासन विहीन राजाओं के विनाश के	
एपातमा ही सुख का स्थान है	દ્રષ્ટ	उदाहरण ४०-	- 88
स्यास विषयं का उपसंहार	द्ध	*अनुशासनप्रिय राजाओं की समृद्धि के	
बाग्रम धर्मों की समाप्ति पर		उदाहरण	૪ર
उपसंहार	50	राजा विद्वानों से विद्याएं ग्रहण करे	४३
बाग्रम धर्मों के पालन से मोक्ष	की ओर	जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में	
प्रगति	<u> </u>	रख सकता है	४४
गृहस्य की श्रेष्ठता	59	व्यसनों की गणना ४५-	- ४६
गृहस्य समुद्रवत् है	90	दश कामज व्यसन	80
धर्म के दश लक्षण	९२	क्रोधज आठ व्यसन	४८
क्षलक्षणात्मक धर्मपालन से उत्तम गति	९ <b>३</b>	सभी व्यसनों का मूल लोभ	४९
क्षप्रम धर्मो एवं ब्राह्मणधर्मी का उपसंहार	९७	कामज और क्रोघज व्यसनों में अधिक	
ग्रज्म-अध्याय		कष्टदायक व्यसन ५०-	– પ્રર્
(राजधर्म विषय)		व्यसन मृत्यु से भी अधिक कष्टदायी	પ્રફ
`	१ से ३५	मन्त्रियों की नियुक्ति	વ્રષ્ઠ
ला का क्युक्त एवं सिद्ध	र पा २ र तक	राजा को सहायकों की आवश्यकता में	
ाज बनने का अधिकारी		कारण	પ્રય
राजा बनने की आवश्यकता	ર ફ	मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे ५६	– પ્ર
राजा के आठ विशिष्ट गुण	8	आवश्यकतानुसार अन्य अमात्यो' की	
राज दिव्यगुणों के कारण प्रभावशाली	પ – ૭	•	– ६१
राज की अवमानना न करें	द – १ <b>३</b>	अमात्यों के सहयोगी अधिकारियों की	
	५ - १६ ४ <del>-</del> १६	नियुक्ति	६२
	9 – 8 <del>=</del>	प्रघान दूत की नियुक्ति	६३
	९ – २५	<b>G</b>	– ६५
लंड देने का अधिकारी राजा कौन	. २६	<b>C1</b>	– ६८
बन्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग राजा का	(4	राजा के निवास योग्य देश	६९
_ ~	७ – ३२	छ : प्रकार के दुर्ग	90
न्ययानुसार दण्डादि देने से राजा की		~	- ७३
यस्रवृद्धि	<b>३</b> ३.		– ৩५
न्यायविरुद्ध आचरण से यशनाश	<b>3</b> 8	राजा का निवासगृह	७६
राजा की नियुक्ति नामक विषय का	40	राजा के विवाह योग्य मार्या	99
उपसंहार	રૂપ	पुरोहित का वरण एवं उसके	
राज की जीवनचर्या और भृत्यों आदि	**		- 20
की नियुक्ति सम्बन्धी विधान	३६	विविध विमागाध्यक्षों की नियुक्ति	æξ
राजा वेदवेता आचार्यों की मर्यादा में रहे	30	राजा स्नातक विद्वानों का सत्कार	
राजा शिक्षक वेदवेत्ताओं का आदर-सत्व		करे ६२ -	- ~
THE PROPERTY OF A PROPERTY OF			
करे	₹ 35	युद्ध के लिए गमन तथा युद्ध सम्बन्धी व्यवस्थाएं	

	5
युद्ध में किन को नमारे ९१ – ९३	राज्यमण्डल की प्रकृतियों के बहत्तर भेद १५७
युद्ध से पंजायन करने वाला	शत्रु, मित्र और उदासीन की
अपराधी होता है ९४ – ९६	परिभाषा १५८-१५९
*जीते हुए घन से राजा को 'उद्धार'	सन्धि, विग्रह आदि षडगुणों का
दना ९७ – ९ द	वर्णन १६० – १६१
राजा द्वारा चिन्तर्नाय बातें ९९ – ११०	सन्धि और उसके भेद १६२ – १६३
राजा प्रजा का शोषण न होने दे १११	विग्रह और उसके भेद १६४
प्रजाकेशायण से हानि ११२	यान ओए उसके भेद १६५
राष्ट्र के नियन्त्रण के उपाय ११३	आसन और उसके भेद १६६
नियन्त्रण कन्द्रों और राजकार्यालयों का	दैधीभाव और उसकं भेद १६७
निर्माण ११४	संश्रय और उसके भेद १६८
अवर अधिकारियों आदि की	सन्धि का समय १६९
नियुक्ति ११५ – १२०	विग्रह का समय १७०
नगरों में सर्विवालय का निर्माण १२१	यान का समय १७१
राजकर्मचारियों के आचरण का	आसन का समय १७२
निरीक्षण १२२	द्वैधीमाव का समय १७३
रिश्वतखोर कर्मचारियों पर दृष्टि रखे १२३	संभ्रय का समय १७४ – १७९
रिश्वतखोर कर्मचारियों को दण्ड १२४	राजनीति का निष्कर्ष १८०
कर्मचारियों के वेतन का	आक्रमण के लिए जाना और व्यूहरचना
निर्धारण १२५ - १२६	आदि की व्यवस्था १८१ – १८४
कराग्रहण सम्बन्धी वः गस्थाएँ १२७ — १३८	त्रिविध मार्ग का संशोधन करे १८५
कर-ग्रहण में अतितृष्णा	आक्रमण के समय शत्रु और शत्रुमित्र
हानिकारक १३९ — १४०	पर विशेष दृष्टि रखें १८६
रुग्णावस्था में प्रघान अमात्य को	व्यूह रचनाएं १८७ – १९३
राजसभा का कार्य सौंपना १४१ — १४४	सेना का उत्साह वर्धन १९४
राजा के दैनिक कर्तव्य १४५	शत्रुराजा को पीड़ित करने के
सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने १४६	उपाय १९५ - १९६
गज्य सम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान १४७	शत्रुराजा के अमात्यों में फूट १९७ — २००
मन्त्रणा की गोपनीयता का	राजा के विजयोपरान्त कर्तव्य २०१
महत्त्व १४८ – १५०	हारे हुये राजा से प्रतिज्ञापत्र आदि
धर्म काम, अर्थसम्बन्धी बातों	लि <b>खवा</b> ना : २०२ — २०७
पर चिन्तन करें १५१	सच्चा मित्र सबसे बड़ी शक्ति २०८
धर्म अर्थ, काम में विरोध को दूर करे १५२	प्रश्नंसनीय मित्रराजा के लक्षण २०९
इनसम्प्रेषण और गुप्तचरों के आचरण	कष्टकर शत्रु के लक्षण २१०
पर दृष्टि १५३	उदासीन के लक्षण २११
अष्टविघ कर्म आदि पर चिन्तन १५४	राजा द्वारा आत्मरक्षा सबसे
राज्यम्ण्डल की विचारणीय चार मूल	आवश्यक २१२ — २१५
प्रकृतियां १५५	मन्त्रणा एवं शस्त्राभ्यास के बाद भोजनार्थ
गुज्य मण्डल की विचारणीय आठ	अन्त:पुर में जाना २१६
और मूल प्रकृतियां १५६	राजा सुपरीक्षित भोजन करे २१७ – २१९

- <b>*</b>	·
बाद्य पदार्थी के समान अन्य	'राजा द्वारा सुरक्षित धन' की
प्रयोज्य साधनों में सावधानी २२०	
मोजन के बाद विश्राम और	गड़े हुये धन का स्वामी ब्राह्मण २७ – ३५
गुजकार्यों का चिन्तन २२	
मैनिको एवं शस्त्रादि का निरीक्षण २२	•
सन्ध्योपासना तथा गुप्तचरों और	अनुमान प्रमाण से निर्णय में
र्गतिनिधियों के सन्देशों को सुनना २२	३ सहायता ४४ – ४६
गुप्तचरों को समझाकर सायकालीन	त्र्रण लेने-देने के विवाद का
भोजन के लिए अन्त :पुर में जाना २२	४ न्याय ५-४७से ५-१७६
गत्रिशयनकाल २२५ – २२	६ <b>ऋणकान्याय</b> ४७ – ५१
अष्टम अध्याय	त्र्रणदाता से त्र्रण के लेखादि प्रमाणी का
	मौगना ५२
(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)	मुकद्वमों में अप्रामाणिक व्यक्ति । ४३ ६०
<b>८ –</b> १ से ९ –२५० तव	<sup>5</sup> <b>साक्षी कौन हों</b> ६१ – ६३
ब्यवहारों अर्थात् मुकह्मों के निर्णय के	साक्षी कौन नहीं हो सकते ६४ – ६७
तिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश	विशेष प्रसंगों में साक्षी विशेष 💝
न्यायसभा में मुकद्दमों को देखे	े ऐकान्तिक अपराघों में सभी साक्षी
अठारह प्रकार के मुकद्दमे ३ - १	
राजा के अभाव में मुकहमों के निर्णय के	बलात्कार आदि कार्यों में सभी साक्षी
लिए मुख्य न्यायाधीश विद्वान् की नियुक्ति	हो सकते हैं ७२
मुख्य न्यायाधीश तीन विद्वानों के साथ	साक्ष्यों में निश्चय ७३ - ७३
मिलकर न्याय करे १९	
ब्रहमसभा (न्यायसभा) की परिभाषा १	साक्ष्य लेने की विधि ७९ - ६३
मुकह्मों के निर्णय में धर्म की रक्षा की	साक्षी, आत्मा के विरुद्ध साक्ष्य न
प्रेरणा १	है दे इंड
न्यायसभा में सत्य ही बोले और	*साक्षी में शपथ दिलाने का
न्याय ही करे १३	
अन्याय करने वाले सभासद् मृतकवत् हैं १	
गरा हुआ धर्म मारने वाले को ही	असत्य साक्ष्य के आधार ११७
नष्ट कर देता है १९	असत्य साक्ष्य में दोषानुसार
धर्महन्ता वृषल कहाता है ११	दे <b>दण्डव्यवस्या</b> ११९ — १३५
धर्म ही परजन्मों में साथ रहता है १।	<sup>9</sup> दण्ड देते समय विचारणीय बातें १२६ — १३०
अन्याय से सब सभासदों की निन्दा १	े लेने-देने के व्यवहार में काम आन
राजा यथायोग्य व्यवहार से पापी नहीं	वाले बाट और मुद्राएं १३१
कहलाता १९	तोल के पहले मापक त्रसरेणु की परिभाषा १३२
शुद्र धर्मप्रवक्ता न हो २० – २१	े लिक्षा, राजसर्वप और गौरसर्वप की
निर्णय में हावभावों से मन की	परिभाषा १३३
पहचान २५ - २१	्र सम्ययव, कृष्णल, माष और सुवर्ण की
बालघन की रक्षा २५	7 - 7 - 7 - 7 - 7 - 7 - 7 - 7 - 7 - 7 -
कन्ध्यादि के धन की रक्षा २८ – ३३	
•	त्ररा, भरत, राज्यनायक का पारमापा । १५३

( 1111)	(No. 11 and 11
रौप्यधरण, राजतपुराण, कार्षापण की	कृत प्रतिज्ञा से फिर जाना २१८ — २२१
परिभाषा १३६	(८)अष्टम विवाद 'क्रय-विक्रय'
रौप्यशतमान, निष्क की परिभाषा १३७	का निर्णय (२२२ – २२६)
पूर्व, मध्यम, उत्तम-साहसों की	खरीद-बिक्री का विवाद २२२ – २२८
परिभाषा १३८ – १३९	(९) नवम विवाद 'पालक-स्वामी'
त्राण पर ब्याज का विधान १४० – १४२	का निर्णय (२२९ –२४४)
लाभ वाली गिरवी पर ब्याज नहीं १४३	पशुस्वामी और ग्वालों का
धरोहर सम्बन्धी व्यवस्थाएं (उन पर त्राृण	विवाद २२९ – २४४
ब्याज आदिकी व्यवस्था) १४४ - १५०	(१०) सीमा-सम्बन्धी विवाद और
दुगुने से अधिक मूलधन न लेने का	उसका निर्णय (२४५ – २६५)
आदेश १५१ – १५२	(११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने-सम्बन्धी
कौन-कौन से ब्याज न ले १५३	विवाद और उसका
पुन: ऋगणपत्रादि लेखन १५४ – १५६	निर्णय (२६६ – २७७)
समुद्रयानों का किरायामाड़ा-निर्घारण १५७	(१२) दण्ड से घायल करने या मारने
जमानती सम्बन्धी विधान १५८ – १६२	सम्बन्धी विवाद और उसका
आठ प्रकार के व्यक्तियों से लेन-देन	निर्णय (२७६ – ३००)
अप्राणिक है १६३	(१३) चोरी का विवाद और उसका
शास्त्र और नियम विरुद्ध लेन-देन	निर्णय (३०१ – ३४३)
अप्रामाणिक १६४ — १६५	चोरों के निग्रह से राष्ट्र की वृद्धि २०२
कुटुम्बार्थ लिए गए घन को कुटुम्बी	चोरों से प्रजा की रक्षा श्रेष्ठ
जौटाएं १६६ – १६७	कर्तव्य है ३०३ – ३०६
षलात कराई गई सब बाते	प्रजा की रक्षा किए बिना कर लेने वाला
अमान्य १६६- १७६	राजा पापी होता है ३०७ – ३१३
(२) घरोहर रखने के विवाद का	चोर की स्वयं प्रायश <del>्चित</del> की
निर्णय (१७९ – १९६)	विधि ३१४ – ३१५
(३) तृतीय विवाद 'अस्वामिविक्रय	दोषी को दण्ड न देने से राजा
का निर्णय (१९७ – २०५) दूसरे की वस्तु वेच देना १९७ – २०५	पापभागी होता है ३१६
दूसरे की वस्तु बेच देना १९७ – २०५	पापियों के संग से पाप ३१७
(४) चतुर्थ विवाद 'सामूहिक व्यापार' का निर्णय (२०६ – २११)	राजाओं से दण्ड प्राप्त करके निर्दोषता ३१८
का निर्णय (२०६ – २११)	विभिन्न चोरियों की दण्ड-
मिलजुलकर उन्नति या व्यापार	व्यवस्था ३१९ – ३३१
करना २०६ – २११	साहस और चोरी का लक्षण ३३२ — ३३३
(५) पञ्चम विवाद 'दिए पदार्थ को	डाकू, चोरों के अंगों का छेदन ३३४
न लौटाना 'का निर्णव (२१२ – २१३)	माता-पिता, आचार्य आदि सभी राजा
वान की हुई वस्तु को लौटाना २१२ — २१३	द्धरा दण्डनीय हैं ३३५
(६) षष्ठ विवाद 'वेतन आक्तन' का	अपराघ करने पर राजा को साघारण जन
निर्णय (२१४ – २१७)	से सहस्रगुणा दण्ड हो ३३६
वेतन देने, न देने का विवाद २१४ — २१७	उच्च वर्ण के व्यधित्तयों को अधिक
(७) सप्तम विवाद 'प्रतिज्ञा विरुद्धता'	दण्ह दे ३३७ — ३४३
का निर्णय (२१६ – २२१)	(१४) साहस-डाका , हत्या आदि

बलात्कारपूर्वक किए गए	अपराघों	नवम अध्याय	
का निर्णय	(३४४ – ३५१)	(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)	
साहसी व्यक्ति चोर से अघि	कपापी ३४५	९ <b>–१ से ९</b> –२	-
हाकू को दण्ड न देने वाला र	ाजा विनाश	(१६) स्त्री-पुरुष धर्म सम्बन्धी	विवाद
को प्राप्त करता है	३४६	और उसका निर्णय (९ –१	
मित्र या घन के कारण साहर	ती को	(स्त्री-पुरुष के संयोगकालीन दैनिक	कर्तव्य)
क्षमान करे	<i>७४६</i>	स्त्री के प्रति कर्त्तव्यपालन न करने	
*विद्रोह काल में द्विजातियों व		पिता, पति, पुत्र निंदा के पात्र	8
घारण का आदेश	३४६ – ३४९	थोड़े से कुसंग से भी स्त्रियों की रक्ष	П
आततायी को मारने में अपर	ाध	अवश्य करें	<b>પ</b> – ફ
नहीं	३५० – ३५१	स्त्री पर ही परिवार की प्रतिष्ठा निर्मर है	9
(१५) स्त्रीसंग्रहणसम्बन्ध	ग्री विवाद तथा	जाया का लक्षण	ζ
	(9x5 - 3ze)	जैसा पति वैसी सन्तान	९
स्त्रीसंग्रहण की परिभाषा		स्त्रियों की रक्षा बलपूर्वक नहीं हो	
दम्मपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत	त होने पर	सकती	१०
स्त्री को दण्ड	३७१	स्त्रियों को गृह एवं धर्मकार्यों में	
दम्मपूर्वक व्यमिचार में प्रवृः	त होने वाले	व्यस्त रखें	११
पुरुष को दण्ड	३७२	स्त्रियाँ आत्मनियन्त्रण से ही बुराईये	<b>ं से</b>
*वर्णानुसार दण्डव्यवस्था	३७३ – ३८५	बच सकती हैं	१२
पांच महाअपराधियों को वश		स्त्रियों के दूषण में छ :कारण	१३
राजा इन्द्र के समान प्रभावी		*स्त्रियों का स्वमाव-वर्णन	१४ – ५४
त्रृत् <del>वि</del> ज् और यजमान द्वारा	एक दूसरे को	सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी धर्म	ર્ધ
त्यागने पर दण्ड	326	स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी हैं	२६
माता-पिता-स्त्री-पुत्र को खो		स्त्री लोकयात्रा का आघार हैं	२७
दण्ड	३८९ – ३९५	घर का सुख स्त्री पर निर्भर है	9c − 30
*घोबी और जुलाहे की		्पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध में आख्य	
व्यवस्था	३९६ – ३९७	पुत्र पर अधिकार सम्बन्धी मतान्तर	. ३२
व्यापार में शुल्क एवं वस्तुः		स्त्री-पुरुष की क्षेत्र और बीज रूप	
भावों का निर्धारण	३९६ – ४०२	तुलना	३३ – ४८
तुला एवं मापकों की छह म	ाहीने में	परस्त्री में पुत्रोत्पत्ति करने पर पुत्र	
परीक्षा	४०३	स्त्री का या स्त्री-स्वामी का अधिका	र४९ – ५१
नौका-व्यवहार में किराया ६		पुत्र पर स्त्री या स्त्री-स्वामी के	
व्य <del>वस्</del> थाएं	४०४ – ४०९	अधिकार में कारण	ધ્ર
*वैश्य और शूद्र से उनके		समफौतापूर्वक पुत्रोत्पत्ति में पुत्र प	
कर्म कराये	860 – 865	पुरुष दोनों का समानाधिकार	५३ – ५६
*शुद्र से दासता कराये	४१३ – ४१४	बड़ी मामी को गुरुपत्नी के समान,	
*सात प्रकार के श्रूद्र दास	४१५ – ४२०	छोटी को पुत्रवधू के समान माने	પ્રહ

90 199	ના નું જાના ૧૫ભા	
उनके साथ गमन में पाप ५	८ *नियोग से उत्पन्न पुत्रों के	
सन्तानामाव में नियोग से सन्तानप्राप्ति 💢 ५	•	१२६
*नियोग में गम <del>न विधि ६० –</del> ६		
नियोग से पुत्र प्राप्ति के वाद	पुत्र के अभाव में सारे धन की	
<b>ब</b> रीर-सम्बन्ध नहीं ६२ – ६:	३ अधिकारिणी पुत्री	१३०
नियोग-विधि का खण्डन ६४ – ६	🗆 माता का धन पुत्रियों का ही	
सगाई के बाद पति की मृत्यु होने पर	होता है १३१ —	१३३
अन्य विवाह का विधान ६९ — ७३	३ पुत्रिका करने पर पुत्र होने की	
स्त्री को जीविका देकर पुरुष प्रवास में	अवस्था में दायव्यवस्था १३४ -	- १३७
जाये ७	उंपुत्रकालक्षण १३८५'-	- १४०
अथवा अनिन्दित कलाओं से स्त्री जीविका	दत्तक पुत्र के दाय-भाग का	
कमाये ७		- १४४
पति की प्रतीक्षा की अविधि और	नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र	
उसके पश्चात नियोग ७६ - ८		- १४६
पुरुष दूसरी स्त्री से यन्तानप्राप्ति कब	नियोग-विधि के बिना उत्पन्न	
करे ६१ - ६१		१४७
उत्तम वर मिलने पर कन्या का	"अन्य वर्गों की स्त्रियों में उत्पन्न	
विवाह शीघ्र कर दें प्र	•	- १५७
	२ *बारह प्रकार के पुत्र	१५८
	० *दाय भाग के अधिकारी छह पुत्र	१५९
	४ ≇-दायभाग के अनिधिकारी छह पुत्र १६० −	
स्त्री पुरुष की अर्घांगिनी ९	६ *औरस पुत्र का लक्षण	१६६
*शुल्क से कन्या विवाह विषयक	*क्षेत्रज पुत्र का लक्षण	१६७
	० *दित्रिम पुत्र का लक्षण	१६८
	१ *कृत्रिम पुत्र का लक्षण	१६२
	२ *गूढोत्पन्न पुत्र का लक्षण	१७०
(१७) दायमाग विवाद-वर्णन	*अपविद्ध पुत्र का लक्षण	१७१
	.) *कानीन पुत्र का लक्षण	१७२
अलग होते समय दायभाग का बराबर	*सहोढ पुत्र का लक्षण	१७३
	४ *क्रीत पुत्र कालक्षण	१७४
सम्मिलित रहने पर विभाजन	*पौनर्भव पुत्र का लक्षण	१७५
का दूसरा विकल्प १०५ – १०		१७६
बड़े भाई का छोटों के प्रति	*स्वयंदत्त पुत्र का लक्षण	१७७
	९ *पार्शव पुत्र कालक्षण १७८ –	- १८६
छोटों का बड़े माई के प्रति	*सपिण्ड के अभाव में दाय के	
कर्तव्य ११० – ११	१ अधिकारी १८७-	- १९१
इकट्ठे रहकर अलग होने पर	(मातधन् का विमाग)	
<b>ंउदार' अंश का विमाजन</b> ् ११२ — ११		
सम्मिलित रहकर अलग होते हुए	बाट लें १९२ –	
विमाजन की अन्य विधि ११७ — ११	९ स्त्रीधन छ: प्रकार का १९४	- १९५

· ·	, •
<b>ब</b> हमादि विवाहां में स्त्रीधन का	लोक कण्टको की गणना २४६ - २६६
अधिकारी पति १९६	गुप्तचरों द्वारा किन स्थानों से
असुरादि विवाहों में स्त्रीधन के	अपराधियों का पता लगाये 🥏 २६४ — २६५
उत्तराधिकारी १९७ — १९८	प्रमाण मिलने पर ही दण्ड दे २७०
न्नियाँ कुटुम्ब से छिपाकर धन	चोरों के सहयोगियों को भी
न बोहें १९९ — २००	दण्ड दे २५५३ - २५५३
धन के अनिधकारी विकलांग २०१	सामूहिक हानि होने पर सहयोग न
इन्हें मोजनछादन देते रहें २०२ - २०३	करने वाले को दण्ड २७५४ २५७५
र्साम्मलित रहने बड़े भाई के	विभिन्न अपराधियों को दण्ड 💎 २७६ — २९३
कमाये घन की व्यवस्था २०४ — २०९	सात राजप्रकृतियां २९४ – ३००
्रान: एकत्र होकर पृथक होने	राजा के शासन में ही चार युग 💎 ३०१ — ३०२
गर उदार-भाग नहीं २१०	राजा के आठ रूप ३०३
भाई के मरने पर उसके धन	राजा का इन्द्ररूप आचरण ३०४
ंज्ञ विभाग २११ २१२	राजा का सूर्यरूप आचरणं ३०५
ंर्क्तव्यपालन न करने पर बड़े भाई को	राजा का वायुरूप आचरण ३०६
उद्धर भाग नहीं २१३	राजा का यमरूप आचरण ३०७
वयधन से वञ्चित लोग २१४	राजा का वरुणरूप आचरण ३०५
पितृधन का विषम विभाजन	राजा का चन्द्ररूप आचरण ३०५
न करें २१५ - २१६	राजा का अग्निरूप आचरण ३१०
इक्लौते सन्तानहीन पुत्र के धन का	राजा का धरारूप आचरण 💎 ३११ ३१२
उत्तराधिकार २१७ — २१९	<b>*</b> ब्राह्मण के क्रोध की उग्रता ३१३ ३२४
(१८) चूत-सम्बन्धी विवाद का	वैश्य-शूद्रों के कर्तव्य ३२५
निर्णय (२२० – २५०)	
राष्ट्रघातक जूआ आदि का पूर्ण निवारण २२१	7077 (TV-7077)
ज्ञा एक तस्करी है	दशम अध्याय
वृत और समाहवय में भेद २२३ — २३०	(चातुर्वण्यं धर्मान्तर्गत वैश्य भूद्र के धर्म
मुंकहमों के अन्त में	एवं चातुर्वर्ण्यं धर्म का उपसहार)
उपसंहार २३१ - २५१	वैश्यो' के कर्त्तव्य ३२६ – ३३४
रिश्वत लेकर अन्याय करने वालों	शुद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति ३३५
को दण्ड २३१	*वेदोपदेश का अधिकार ब्राह्मण को है १ - ४
निर्णयों में कपट करने वालों को दण्ड २३२	*वर्णसंकरों का वर्णन ५ - ६
ठीक निर्णय को किसी दबाव या लालच	*भिन्न वर्ण से उत्पन्न 'अपसद'
में आकर न बदले २३३	सन्तानें ७ – २३
अमात्यों और न्यायाचीशों को अन्याय करने पर	*वर्णसंकरों की उत्पत्ति में कारण २४
	*संकीर्णयोनियों का वर्णन २५ - ४२
	*धर्मपालन न करने से शूद्रता को प्राप्त
दण्ड २३५ - २५१	जातियाँ ४३ – ४४
राजा द्वारा लोक कण्टकों का	चारों वर्णों से मिन्न व्यक्तियों
निवारण (९ — २४२ से ३२४ तक)	्की संज्ञा ४५
बे प्रकार के तस्कर २५६ — २५७	*अपसदों और अपध्वंसजों के कर्म ४६ – ५६

* *		19991	<i>નુજાના</i> ગયા	
दस्यु ट	म्पित् अनार्य की पहचान उ	सके	*ब्राह्मण अपराधियों को स्वयं	
कार्य दे	खकर करें	<i>પ્</i> છ	दण्ह दें	३१ – ३५
अनार्यो	युओं के लक्षण	५६– ६४	*यज्ञ केअधिकारी लोग	३६ – ४३
कर्मानुः		६५	प्रायश्चित कब किया जाता है	४४ – ४६
<b>*बीज</b> ३			प्रायश्चित का अर्थ	४७
निर्णय		६६ – ७३	प्रायश्चित क्यों करना वाहिए	ધ્રફ
ं नुष	<b>भाजीविका के कर्म</b>	७४ – ७६	*महापातकों का वर्णन	48
	्वैश्य के कर्म	99 – 99	*महापातकों के समान कर्म	५५ – ५६
	्रमुख कार्य	20	*उपपातकों का वर्णन	५९ – ६६
	ल में ब्राह्मण की जीविका	द <b>१ – ९</b> ४	*जातिभ्रंश कारक कर्म	६७
	.ल में क्षत्रिय की जीविका		*वर्णसंकर बनाने वाले कर्म	६८
क कर्म		९५ – ९७	*अपात्र करने वाले कर्म	६९
*आपत्क	ाल में वैश्य की आजीविक	ī	*मलिन करने वाले कर्म	90
के कर्म		९८	*महापातकों और उपपातकों के प्र	ायश <del>्चित</del> ७१
*आपत्क	ाल में शूद्र की आजीविका		*ब्रह्महत्या का प्रायश्चितः	· ७२ – द९
के कर्म		९९ - १०८	*सुरापान का प्रायश्चित	९० – १०१
*दान क	ा लोभ निन्दनीय १	१०९ – ११४	*गुरुस्त्रीगमन का प्रायश्चितः	१०२ – १०६
*धर्मानुवृ	्ल सात आय	११५	*उपपातकियों के प्रायश्चित	१०७ – ११७
*दश आ	जीविकाएं		*अवकीर्णी का प्रायश्चित	११८ – १२३
*ब्राह्मण	और क्षत्रिय ब्याज न ले		*जातिभ्रंशकर कर्मों का प्रायश्चि	
*	आपत्कालीन कर्म	११६ - १२०	*अपात्र और वर्णसंकर करने वा	ले
	अवस्था में शूद्र के		कर्मों का प्रायश्चित	१२५
	•	१२१ – १३१	*क्षत्रिय आदि के वद्य का	
	रा-अध्याय		प्रायश्चित	१२६ – १३०
प्रायाश	चत्त विषय		*अन्य पशु—पक्षी—कीट आदि के	
	(११ –४४ से	०६५ तकं।	वधों का प्रायश्चित	१३१ – १४४
<b>*दान</b> ए	वं यज्ञ सम्बन्धी विधान	१ – ६	*अभक्य भक्षण का प्रायश्चित	१४५ – १६०
	न का विधान	19 - 80	*चोरी का प्रायश्चित्त	१६१ – १६८
	वलात् भी धन लाये	११ –१५	*अगम्या गमनीय का	
	त कहीं से भोजन प्राप्तक		प्रायश्चित	१६९ – १७८
	न छीन कर श्रेष्ठों को		*पतितों से संसर्ग का	
		१९ – २०	प्रायश्चित	१७९ – १९०
	ड़ित ब्राह्मण की राजा		व्रात्यों का प्रायश्चित	१९१
	आदि निश्चित कर दे	२१ – २३	निन्दित कर्म करने वालों का	
6 at	भिक्षा नहीं	રેક	^	१९२ – १९६
	न को स्वार्य के लिए प्र		*अन्य विविध प्रायश्चित	१९७ – २०२
	ा पापी	ં. ૨ <i>૫</i> – ૨૭	वेदोक्त कर्मों के त्याग का प्राय	श्चित २०३
	ाल में आपत्काल के	•	<b>*ब्राह्मण</b> को फटकारने और मा	रने पर
धमा	कल नहीं	2 <b>⊆</b> − 30	प्रायश्चित	२०४ – २०६
<b>4 e-</b> ₹ (	1701 101	•	•	

वविहित कर्मों के लिए प्रायश्चित		द्वादश अध्याय
निर्णय	२०९	
्रप्रायश्चित्तों का परिचय-वर्णन	२१०	कर्मफल-विघान एवं नि :श्रेयस कर्मी का
प्राजापत्य व्रत की विधि	२११	वर्णन (१२ ३ से ११६ तक)
कृच्छसान्तपन व्रत की विधि	२१२	*ऋषियों का भृगु से प्रश्न १
अतिकृष्यः व्रत की विधि	२१३	*भृगुका ऋषियों को उत्तर २
तप्तकृच्छ व्रत की विधि	२१४	त्रिविघ कर्मों का और त्रिविच गतियों
"पराककृच्छ्र व्रत की विधि	२१५	का कथन ३
चन्द्रायण व्रत की विधि	२१६	मन कर्मों का प्रवर्तक ४
यवमध्यम चान्द्रायण व्रत की विधि	२१७	
*यति चान्द्रायण व्रत की विधि	२१८	चतुर्विघ वाचिक बुरे कर्म ६
*शिशु चान्द्रायण व्रत की विधि २१९ —	२२१	त्रिविघ शारीरिक बुरे कर्म ७
व्रत पालन के समय यज्ञ करें २२२ —	२२४	वैसा कर्म उसी प्रकार उसका भोग 📁 ६ – ९
व्रत पालन के समय गायत्री आदि		*त्रिदण्डी की परिभाषा १० – ११
का जप करें	ર્ર્પ	
मानसपापों के प्रायश्चित की विधि	२२६	
पांच कर्मों से प्रायश्चित्त में पाप भावना		प्रकृति के आत्मा को प्रभावित
से मुक्ति	२२७	
सबके सामने अपना अपराध कहने		जिस गुण की प्रधानता,
ंसे पाप से मुक्ति	२२८	वैसी ही आत्मा २५ – २६
अनुताप करने से पाप भावना से मुक्ति	२२९	आत्मा में रजोगुण की प्रधानता
तपपूर्वक पुन: पाप न करने के निश्चय		की पहचान २७
से पापमावना से मुक्ति	२३०	आत्मा में रजोगुण प्रधानता
कर्मफलों पर चिन्तन करने से पाप–		की पहचान २८
भावना से मुक्ति	२३१	आत्मा में सतोगुण की प्रधानता
पापमावना से मुक्ति चाहने वाला पुन :		की पहचान २९ — ३०
पाम न करे	२३२	सतोगुण को प्रत्यक्ष कराने
तप तब तक करें,जब तक मन में		वाले लक्षण ३१
प्रसन्नता न आ जाये	२३३	रजोगुण के लक्षण ३२
*तप की महिमा २३४ —	२४४	तमोगुण के लक्षण ३३ — ३४
वेदाभ्यासादि से पापमावनाओं का क्षय	२४५	तमोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा ३५
वेदज्ञानाएन में पापभावना विनष्ट होती है	२४६	रजोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा ३६
*गुप्त पापों का प्रायश्चित २४७ –	२६२	सतोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा ३७
वेंदज्ञान रूपी तालाब में पापमावना		तीनों गुणों के प्रघान उद्देश्य व
का डूबना	२६३	42 4
वेदवित का लक्षण	२६४	9
ईश्वर भी एक ज्ञेय वेद है	२६५	तीन गतियों के कर्म, विद्या के आधार
प्रायश्चित विषय का उपसंहार	२६६	पर तीन गौण गतियाँ ४१

तीन गतियों के तीन⊬तीन भेद और		(४ – ४) तप और विद्या का वर्णन	
तदनुसार जन्मावस्थाओं के फल	•	तप से पापभावना का नाश और	
	४२ – ४४	विद्या से अमृतप्राप्ति	१०४
	४५ – ४७	(६) धर्म का वर्णन	
	४८ ५१	धर्मज्ञान के लिए त्रिविध प्रमाणों	
विषयों में आसक्ति से और अधर्म-		का ज्ञान	१०५
सेवन से दु:खमय जन्मों की प्राप्ति	પ્રર		७०१ – ३०९
*कर्मानुसार जीव को योनियों की		अविहित धर्मों का विधान शिष्ट	
प्राप्ति 🤄	४३ <i>–</i> ७२	विद्वान् करें	१०८
*विषयों के सेवन से पापयोनियों की		शिष्ट विद्वानों की परिभाषा	१०९
प्राप्ति १	કe – ફe	तीन या दश विद्वानों की	
*पापियों को प्राप्त होने वाले दुःख 🕠	94 – ट0	धर्मनिर्णायक परिषद्	११०
आसक्ति-निरासक्ति के अनुसार		धर्मपरिषद् के दश सदस्य	१११
फल प्राप्ति	द्ध	धर्मपरिषद् के तीन सदस्य	११२
नि :श्रेयकर कर्मों का वर्णन	द्र२	वेद का एक विद्वान भी असंख्य	
छह नि :श्रेयकर कर्म	⊊ą	मृखों से धर्म-निर्णय में प्रमाण है	११३
(१) आत्मज्ञान का वर्णन		धर्म परिषद का सदस्य कौन नहीं	
आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ धर्म है	द्ध	हो सकता	११४
प्रवृत्त-निवृत्त कर्मों का वर्णन	द्ध – ९१	मुखौँ द्वारा निर्णीत धर्म से पापवृद्धि	7
(२) इन्द्रिय-संयम का वर्णन		का भय	११५
आत्मज्ञान, इन्द्रिय-संयम का कथन		नि :श्रेयस् कर्मों का उपसंहार	११६ –११७
और इनसे जन्मसाफल्य	२२ – ९३	ईश्वरद्रष्टा अधर्म में मन नहीं	
(३) वेदाम्यास का वर्णन	९४	लगाता	११८
वेद-विरुद्ध-शास्त्र अप्रामाणिक	२५ – ९६	परमेश्वर ही सबका निर्माता,	
वेद से वर्ण, आश्रम, लोक,		फलदाता और उपास्य है	११९
काल आदि का <b>ज्ञा</b> न	९७	*इन्द्रियों में आकाश आदि	
पञ्चभूत आदि सुक्ष्म शक्तियों का		का घ्यान	१२० –१२१
ज्ञान वेदों से	९८	परम सूक्ष्म परमात्मा को जाने	१२२
वेद सुखों का साघन है	९९	परमात्मा के अनेक नाम	१२३
वेदवेता ही सफल राजा, सेनापति व		सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही संसार	
न्यायाधीञ्च हो सकता है	१००	को चक्रवत् चलाता है	१२४
वेदज्ञान से परमगति की ओर		समाधि से ईश्वर एवं मोक्षप्राप्ति	१२५
प्रगति १०३	<i>₹03</i> − <i>5</i>	*इस शास्त्र के अध्ययन का फल	१२६

# अनुशीलन समीक्षा में विचारित विषयों की सूची

ाथम अध्याय	पृष्ठ संख्या	साघ्यों से अमिप्राय	<b>á</b> 8 − £	રૂપ
र्णका स्वरूप	• ર	यज्ञ का व्यापक अर्थ, वेदो		
वन्तरप्रभवाणामं पद का	·	का उद्देश्य	•	३६
मुसम्मत अर्थ	<b>३−</b> ४	वेदोत्पत्ति विषयक वेदादि के प्रमाण		ફદ
अस्य सर्वस्य' पदों की सही संग	ति ७	वेदोत्पत्ति की मान्यता का		
कार्यतत्वार्थवितं का संगत अर्थ	=	अन्यत्र वर्णन		રૂ
प्रथम चार श्लोकों की मौलिकता		जगदुत्पत्ति-प्रयोजन एवं कर्मफल		४१
गर विचार	१०	चातुर्वणर्य व्यवस्था निर्माण वेदों से	•	૪ર
मनुस्मृति के प्रश्न और उत्तर		वर्णौत्पत्ति- विषयक भ्रान्त कल्पना		88
की संगति	११	४२वें श्लोक की शैली एवं अर्थ		
मनुस्मृति की सांगोपांग शैली	१४	पर विचार		४९
खयंभू का सही अर्थ	१५.	वृक्षों की चेतनता पर विचार		પ્ર १
गमात्मा की प्रकटता से अभिप्राय	१५	प्राचीनकाल-परिमाण की आधुनिक		
मृष्ट्युत्पत्ति विषयक वेदमन्त्रों		काल-परिमाणों से तुलना		६१
के प्रमाण	१६	६४वें श्लोक की शैली पर विचार		६१
१४ – १५ श्लोकों के अर्थ में भ्रा	ांति	महर्षि दयानन्द द्वारा 'पितर'		
और सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया	રુપ્ર	शब्द की व्याख्या		६२
'महत्तत्त्व' और मन से अभिप्राय	રજ	उत्तरायण-दक्षिणायन का विवेचन		६३
आत्मन : उद्बब्ह 'का अर्थ	ર્ધ	सूर्य जड़ देवता है		६४
क्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों		चार युगों के परिमाण की		
की उत्पत्ति	२६	तुलनात्मक तालिका		६६
१६वें श्लोक का संगत अर्थ	२६	वेदोत्पत्ति-समय पर विचार	६७ –	8 5
 र्हाप्ट-उत्पत्ति विषय मं शास्त्रों	•	आकाशोत्पत्ति के विषय में महर्षि		
क्षाप्ट-उत्पात ।पषय म शास्त्रा में अविरोध या विरोध	210	दयानन्द लिखते हैं		६९
	२७	सृष्टि प्रवाह से अनादि	,	७१
पञ्चमहाभूतों के कर्म	२्द	वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणा-		
१८वें श्लोक का संगत अर्थ	ર્લ	वर्णव्यवस्था की सूचक		90
मृष्टि-उत्पत्ति का क्रम	90	'ब्राहमण' नाम कर्मणा वर्ण-		
पुरुष के महत्तत्त्व आदि अर्थ	३०	व्यवस्था का सूचक	,	७९
मृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति	<b>३</b> ०	'क्षत्रिय' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था		
पञ्चमहाभूतों का क्रम और गुण	३१	का सूचक		20
पञ्चमहाभूतों का उत्पत्तिक्रम और	τ	'बैश्य' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था		
गुणो की तालिका	38	का सूचक		<b>د</b> ۶
सृष्टि के प्रारम्भ में नामकरण	३२	'श्रुद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूच	क	چې
२१वें श्लोक के क्रम पर विचार	३२	मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था		
२१वें शलोक का मंगत अर्थ	3,3	कर्मानुसार है		22
२२वें श्लोक का संगत अर्थ	રૂજ	१०९ श्लोक की अन्यत्र पुष्टि		९३
'सूक्ष्मम्' का अर्थ	રૂજ	भाव का अन्य श्लोकों में स्पष्टीकर	ण '	९३

वुलर द्वारा घोषित प्रक्षिप्तता		स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं उपवी	त
पर विचार	९८	का अधिकार मनुसम्मत	१४४
धर्म के चार लक्षणों का स्वरूप	<b>९</b> ९	स्त्रियों के वेदाध्ययन में वेदों	
वेद	९९	के प्रमाण	१४५
स्मृति और शील	१००	अध्ययन के आद्यन्त में	
सदाचार	१००	ओंकारोच्चारण के लाम	१४८ – १४९
'आत्मन : तुष्टि' 'स्वस्य		ओंकार और महाव्याहृतियों	
आत्मन : प्रियम्' का स्पष्टीकरण	१००	का विवेचन	१५० – १५१
वेद और श्रुति नाम के कारण	१०४	'ओम्' ईश्वर का मुख्य नाम	१५१
तर्क शब्द का विवेचन	808	गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ	१५२
'सान्तरालानाम्'का अर्थ	११०	'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति	१५६
'पारंपर्यक्रम'से अभिप्राय	११०	इन्द्रियों के विषय	१५७
१४२ श्लोक का संगत अर्थ	११३	'वषट्कार' की व्युत्पत्ति	१६३
श्लोकार्य में याज्ञवल्क्य-स्मृति		'स्वाध्याय'से अभिप्राय	१६४
का प्रमाण	११३	'अब्दम्' का संगत अर्थ	१६४
'म्लेच्छ' शब्द का अभिप्राय	११३	आप्त का अर्थ और व्याकरण	१६६
मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन		प्रौति से अभिप्राय	१६७
मौलिक नहीं	११द	विद्या के आख्यान का निरुक्त	
मनुस्मृति में वर्णों और आश्रम-		में वर्णन	१६८
धर्मों का साथ-साथ वर्णन	११७	अभिवादनादि से आयु-बल-यश	
द्वितीय अध्याय	• •	की वृद्धि कैसे	१७१
'गामें :' आदि पदों में		शुद्धि एवं सन्ध्योपासना आदि से	
अर्थव्यापकता	११९	आयुवृद्धि	१७२
मनुस्मृति में सोलह संस्कार	१२०	सदाचार से आयु-बल वृद्धि	१७२
'वर्धन' शब्द का विवेचन	१२३	विशिष्ट विद्वान् सर्वाधिक	
जातकर्म में गृहयसूत्रों के प्रमाण	१२३	सम्मान्य	१७८
नामकरण में गृहयसूत्रों के प्रमाण	१२४	कल्प से अभिप्राय	१७९
नामकरण काल	१२४	ऋत्विज् होने का अधिकारी कौ	न १८१
६, ७ श्लोकों के संगत अर्थ	१२६	११९ श्लोक की निरुक्त से तुल	ना १८१
जुगुप्सित का संगत अर्थ	१२७	ब्रह्मजन्भ से अमिप्राय	१८२
निष्क्रमण और अन्नप्राशन में		'जाति' शब्दार्थ का विवेचन	१८३
गृहयसूत्रों के प्रमाण	१२९	'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति	१८५
चूड़ाकर्म में प्रमाण	१३०	'शिशु आंगिरस	१८५
उपनयन में 'ब्राह्मणस्य' आदि	• -	'अनूचान' सबसे महान	१८६
पदों का मनुसम्मत अर्थ	१३०	अपमान सहन का कथन क्यों	१९०
उपनयन में भूद्र का उल्लेख	. •	'स्रग्वी'शब्द पर विचार	१९१
क्यों नहीं?	१३१	वेदत्याग से कुटुम्ब की शुद्रता कै	
उच्छिष्ट खाने में दोष	१३९	'ब्रहमचारी' शब्द की व्युत्पति	१९५
नष्ट उपवीत, दण्ड आदि का जल में	, , ,	ब्रहमचारी के लिए देव-पितर की	
प्रक्षेपण क्यों ?	१४३	'देवता-अभ्यर्चन' से अमिप्राय	१९६
	, , ,		• •

	<b>३</b> ७		
तंग का सही अभिप्राय	१५७	त्रृतुदान में वर्जित पर्व	२५०
भूख गुण के आधार पर ऋषि,		पर्वदिनों में समागम निषेध क्यों	२५०
ते, पितरों में अन्तर	१८ =	'त्रमृतुकाल में गमन' गृहस्थ का	
मधुका अर्थ	४ं८ ≃	आवश्यक कर्तव्य	२५०
त की समिधाएं	२०१	त्रातुरामन में निषिद्ध रात्रियां	ર્પ્ર
कर्णो पिघातव्यो मुहावरा	२०६	त्रृतुकाल की निश्चित रात्रियों	• •
अब्राहमण से विद्या प्राप्ति	२१९	का कारण	२५२
तृतीय अध्याय		'अधिक' शब्द से अभिप्राय	२५३
समावर्तन से अभिप्राय	ঽঽধ	आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से	
स्मावर्तन का काल और उसके		विरोध नहीं	२५३
श्रवश्यक नियम	ঽঽ৸	कौन गृहस्थ ब्रहमचारी	२५४
विवाह से अभिप्राय	ত্ত্ <u>হ</u>	स्त्रीधन विवरण	२५४
मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के		आर्ष विवाह में शुल्क लेना	
विवाह की आयु	ঽঽৄ	मनुविरुद्ध	२५५
अयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु	ર્ર્હ	५६वे श्लोक का सही अर्थ	२५७
बंद में विवाह की आयु	२२ द २२ द	यज्ञ न करने से पाप	२६४
ग्राठ विवाह और मनु की मान्यता	२३६	स्वर्ग से अभिप्राय	२इ६
ब्राहम विवाह का लक्षण एवं		'पितर' से अभिप्राय	२६८
विवेचन	२३९	पितरों में वेद का प्रमाण	२६९
ब्रहम विवाह ही स्वयंवर विवाह	2 <b>3</b> 9	पितरों की गणना और उनका	
वै विवाह के लक्षण का स्पष्टीकरण	२३९	अभिग्राय	२६९
देव किसको कहते हैं	२४०	देव से अभिप्राय	२७१
म्रुत्विज् का प्रसंगानुकूल अर्थ	२४०	त्रृषि से अभिप्राय	२७२
अर्ष विवाह के विवाद का विवेचन	२४१	यज्ञ में लवणान्न की आहुति नहीं	રહજ
आर्ष विवाह का लक्षण	२४१	अतिथि-सेवा यश-आयु-सुख-	
म्रुषि कौन है ?	२४२	सौभाग्य वर्धक	२८३
ग्राजापत्य विवाह का लक्षण एवं	707	गृहय देवता	२८८
विवेचन	ર્૪ર	यज्ञ शेष और शेषभुक भोजन	
प्रजापति किनको कहते हैं	२४२	में अन्तर	३२४
आसुरू विवाह का लक्षण एवं विवेचन	<b>२</b> ४३	चतुर्थ अध्याय	
'असुर' किसको कहते हैं	<b>२</b> ४३	हव्य-कव्य शब्दों का विवेचन	३३७
गान्धर्व विवाह का लक्षण	(04	दीर्घ सन्ध्या से दीर्घ-आयु	
एवं विवेचन	२४४	आदि की प्राप्ति	<b>રૂ</b> પૂપ્
गन्धर्व किनको कहते हैं	२४४	योगदर्शन से जन्मज्ञान की पुष्टि	3190
राक्षस विवाह का लक्षण एवं विवेचन	રેક્ષ્ય		<i>७७</i> इ
राद्वात किनको कहते हैं	રુકપ	धर्मवर्जित अर्थ	309
पैशाच विवाह का लक्षण एवं	•	धर्मवर्जित काम	<b>३</b> ७९
विवेचन	રૃષ્ઠપ	उत्तरकाल में असुखकारक धर्म	026
पैशाच किनको कहते हैं	રુષ્		350
	•		4

•			
धर्म, अर्थ, काम का स्वरूप	३८०	योग की परिभाषा एवं	
दानग्रहण की धर्मविधि	३ँ⊏३	योग से ईश्वरप्राप्ति	४८६
तीन प्रकार के असम्मान्य व्यक्ति	ヌニダ	प्राणायाम के लक्षण	४८९
यम-सेवन के बिना पतन कैसे?	३८९	प्राणायाम के भेद	४८९
यमों और नियमों की गणना		प्राणायाम-मन्त्र	४९०
एवं व्याख्या	३८९	प्राणायाम से दोषों का निवारण	४९१
कर्मफल का भोक्ता कर्त्ता	४००	धारणा और प्रतहार-विवेचन में	
२४५ श्लोक में ब्राह्मण		योग के प्रमाण	४९२
शब्द से अभिप्राय	४०२	दर्शन एवं ध्यान योग विवेचन	४९३
_		मोक्ष सुख का आश्रय परमात्मा	४९८
पंचम अध्याय		धर्म के लक्षणों की विशेष व्याख्या	५०१
		ब्राह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक	
		प्रयोग	
'गुञ्जन' का अर्थ शलगम	४१०		くつき
परिग्णित पदार्थौं के अभक्ष्य			
होने में कारण	४११	सप्तम अध्याय	
४५वें श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता			
पर विचार	४२१		
'देहशुद्धिम्' पाठ मौलिक	४२५		
दान से शुद्धि	४३८	राजा के आठ विशिष्ट	५०६
यद्भपात्रों का परिचय एवं विवरण	४४१	गुणों की व्याख्या	४०६
'संस्थित' शब्द का विवेचन	४५३	वेंद्र में राजा के आठ गुणों का वर्णन	<b>X9X</b>
		दण्ड का आलंकारिक चित्र	<b>111</b>
षष्ठ अध्याय		धर्म, अर्थ और काम का स्वरूप	<b>494</b>
		धर्म का स्वरूप	प्रवि
S. S.		'विषमः' का अभिप्राय	X 10
वानप्रस्थ-धारण में ब्राह्मणग्रन्थों		राजा वर्णाश्रम धर्मों का रक्षक	५२०
के प्रमाण	४६०	होना चाहिए	<b>4</b> 79
वानप्रस्थ-धारण में वेद के प्रमाण	४६१	राजा की जीवनचर्या और दिनचर्या	X 7 1 X 7 9
वैतानिक से अभिप्राय	४६३	श्लोकार्थ पर विचार	471
नक्षत्रों की गणना	४६४	राजा की जीवनचर्या और	५२१
लवण शब्द विवेचन	४६५	कौटिल्य-अर्थ-शास्त्र	271
वानप्रस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुओं		राजा के अनुशासन-विषय में	प्र२२
के निषेध में कारण	४६६	कौटिल्य का मत	***
२६वें श्लोक की संगति का विवेचन	४७०	विद्याग्रहण के सम्बन्ध में कौटिल्य	४२४
'परिव्राजक' की ब्युत्पत्ति	४७३	के विचार	
संन्यास वानप्रस्थ से और सीधे		कौटिल्य के द्वारा इन्द्रियजय पर प्रकाश	प्रप
गृहस्थ से भी	४७४	'तौर्यत्रिकम्', 'मृगया', 'स्त्रियः'	
सन्यासी द्वारा अभयदान	४७६	शब्दों पर विशेष विचार	४२७
गृहस्थ से संन्यास	४७६	नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की	u a c
<b>'अनि</b> ग्नः' का अभिप्राय	४७८	परीक्षा-विधियां	४३०
काल की प्रतीक्षा कैसे	४७९	'इतिकर्त्तव्यता' का अभिप्राय	५३३
इन्द्रियनिरोध में योग के प्रमाण	४८४	राजा और अमात्यों के कार्यों	

	11.	1,5111	٠,
का विभाजन	યુરૂપ્	मध्यम आदि चार मूलप्रकृति रूप	
<b>बौ</b> टिल्य के अनुसार दूत के कार्य	યુરૂપ	राजाओं के लक्षण	५७७
<b>कृ</b> त्य शब्द का राजनीतिपरक अर्थ	યુરૂફ	शेष आठ मूल प्रकृतिरूप	
हॅगित और आकार का अर्थ	<del>ય</del> ુરૂફ	राजाओं के लक्षण	५७5
कौटिल्य-अर्थशास्त्र में चार		बहत्तर प्रकृतियां	५७९
प्रकार के दुर्ग	43्द	त्रिविध मार्ग का मनुसम्मत अर्थ	४८८
वैतानिक और गृहयकर्म	430	विभिन्न व्यूहों का परिचय	५5९
आप्त और बलि का विशेष अर्थ	<b>अ</b> श्र	मनुप्रोक्त युद्ध नीति के अंग	
कौटिल्य के अनुसार विभागाध्यक्ष	વજર	व्यूहरचना, शस्त्रास्त्रवर्णन	५९२
विपश्चित का अर्थ	યુજર	'कालब' का प्रासंगिक और	
खिद्र का अर्थ	યુપ્ત શ્	मनुसम्मत अर्थ	५०१
कौटिल्य द्वारा उदध्न श्लोक	448	'विषापहै : मन्त्रै :' पदों के	
परिपन्थिन का व्याकरण	44.8	अर्थ पर विचार	६०१
ग़ष्ट्रकर्पण से अभिप्राय	443	कौटिल्य-अर्थशास्त्र में राजा को	•
मनुप्रोक्त नियन्त्रण केन्द्र और		भोजन सम्बन्धी निर्देश	६०१
जर्यालय व्यवस्था नालिका	વવલ	कौटिल्य द्वारा यान आदि के प्रयोग	
क्ल का अर्थ	યુપુદ્	में सावधानी का प्रयोग	६०३
<sub>मन्</sub> प्रोक्त कर्मचारी /अधिकारी		'स्त्रीमि :' पद से अभिप्राय	६०३
तालिका	445	'स्त्रीवृत :' का मनुसम्मत अर्थ	६०५
कौटिल्य के अनुसार मन्त्रियों से		'स्त्रीवृत :' की कौटिल्य के	, ,
संवकों तक का भरण-पोषण व्यय	प्रदेश	दृष्टिकोण से व्याख्या	६०५
मनुप्रोक्त कर-व्यवस्थाएं सर्वप्राचीन		श्लोकवर्णन पर विचार	६०६
एवं सर्वाधिक मान्य	५६३	'भृत्य' शब्द के अर्थ पर विचार	€019
'ब्राह्मणान् अर्च्य' का सही अभिप्राय	યુદ્ધ(ઉ	अष्टम अध्याय	
राजा की सामान्य दिनचर्या	५६८	मन्त्र और ब्राहमण का विशेष	
मनुप्रोक्त राजा की दिनचर्या		अभिप्राय	६०इ
तालिका	५६९	विनीत होने का उद्देश्य	€05
कौटिल्य-प्रोक्त राजा की		मुहावरे पर विचार	६०९
दिनचर्या तालिका	<b>190</b>	न्यायप्रसंग में ब्राहमण और	-
'नि :शलाके अरण्ये' का अभिप्राय	५७१	ब्रह्मसभा से अभिप्राय	<b>૬</b> १၃
मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य		अधर्म शब्द से अभिप्राय	६१६
के विचार	५७१	साक्षी शब्द पर विचार	६३०
मन्त्र शब्द का राजनीतिपरक		साक्षीविशेषों के कयन का उद्देश्य	६३२
अर्थ	५७२	अन्त्यज कौन ?	१३२
राजा द्वारा धर्म-काम-अर्थ पर चिन्तन	५७३	साक्षी परीक्षा निषेध का कारण	<b>६३</b> ३
अष्टविष कर्मों के विवाद का		साहसदण्ड, उनका प्रमाण एवं	444
समाधान	યુહ્ય	अर्वाचीन मुद्राओं से तुलना तालिका	६४८
मनुप्रोक्त राजा के अष्टविध कर्म	<i>તં</i> 0તે	<b>झ्</b> ठी साक्षियों में अर्थदण्ड एवं	٦,-
पञ्चवर्ग से अभिप्राय	યછફ	उनकी अविचीन मुद्रासी से मुखना तारिएश	६४८
अनुराग और अपराग	495	तोलने के प्रमाणों का धनरात	`

और तालिका	६५३	'त्रिदिव यान्ति' मुहावरा	<b>د</b> وع
कौटिल्य द्वारा वर्णित तोलप्रमाण		तस्कर का अर्थ और व्युर्त्पात	८१४
मुद्राएं और उनकी तालिका	६५४	औपधिक का अर्थ	द्ध
कौटिल्य द्वारा वर्णित मुद्राएं	६५४	हिता का अर्थ और व्युत्पत्ति	८१५ ८१९
पूर्व, मध्यम और उत्तम		अन्यत्र वर्णित भावों की पुष्टि	
साहस की सीमा	६५५	वरुण-पाश का अर्थ	<b>⊏</b> ?६
हिरण्य से विशेष अमिप्राय	६६९	नवम अध्याय के विभाजन पर	द्रु७
चिन्हों के परिगणन से अमिप्राय	६≂४	विचार	<b>-3</b> 0
अन्यत्र विधान से पुष्टि	६९४		द३२
रामायण में उद्भृत मनुस्मृति		दशम अध्याय	
के श्लोक	७०६	शुद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति	द३५
साहस और चोरी का लक्षण	७११	वेदों में भूद्र को यज्ञ आदि	~ <b>Q</b> 2
उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड	७१३	का विधान	द्ध्
•		वर्ण चार हैं	.ट.३९
नवम अध्याय		चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण	≈80 ~~€ ,
		दस्यु से अभिप्राय	~40
जाया शब्द की सिद्धि और इसमें ब्राह्मण		अनार्य और उसके लक्षण	द्रपुष्ठ इ.सू
आदि के प्रमाण	980	कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट	~ 3 0
स्त्रिया लक्ष्मी रूप हैं	७४५	विधान .	<b>545</b>
्रिनयोग की विधि	७५५	श्लोक की पुष्टि में प्रमाण	द्धप द्धप
देवर शब्द का अर्थ	७५६	वर्ण परिवर्तन का उदाहरण	549 549
वेदों में नियोग का विधान	६५६		~ <b>X</b> \
श्लोक की मौलिकता का आ <b>धार</b>	७६०	एकादश अध्याय	
नियोगव्यवस्था प्राचीन परम्परागत		प्रायश्चित का अर्थ और उद्देश्य	द्द९
एवं कौटिल्य द्वारा उसका समर्थन	७६२	योगदर्शन में 'कृच्छ' आदि व्रतों	
उदार-भाग का विभाजन	<i>७७३</i>	का उद्देश्य	९३२
उदार-भाग का विधान क्यों	६७७	महाव्याहृतियुक्त होम मन्त्र	९३६
स्वधा का मनुसम्मत अर्थ	999	पवित्रताकारक मन्त्र	९३८
पुत्रिका धर्म	999	प्रायश्चित से पाप-फल नहीं, पाप	
पुत्र-पुत्री आत्मा रूप	<i>995</i>	भावना से मुक्ति	९३५
पुत्र का अर्थ और उद्देश्य	७८२	इस मान्यता की तुलना	९३९
१४७ श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता		आपत्काल में दान द्वारा पाप भावना	
पर विचार	७८५	से मुक्ति पर विचार	९४०
१७६ श्लोक की मौलिकता एवं		शाकलहोमीय मन्त्र	९४८
प्रसंगसम्बद्धता में युक्तियां	७९२	त्रयीविद्या से अभिप्राय एवं	
चूत से हानि	<08	अन्यत्र वर्णन	९५०
वेदो' में जूए का निषेघ	208	२६५ श्लोक के माव का अन्यत्र वर्णन	९५१
कुश्रीलव का अर्थ	<b>≃0</b> ₹	द्वादश अध्याय	
मुहावरे का प्रयोग और उसका अर्थ	€00	४८ वें श्लोक के प्रचलित	
लोककण्टक से अभिप्राय	८१३	अर्थ में अशुद्धि	९६५

	•	· ·	
वें श्लोक के प्रचलित अर्थ		जाति का अर्थ जन्म	९९०
<b>श्चिद</b>	९६५	मूर्खों द्वारा धर्म से हानि	९९०
वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में		सर्वत्र परमात्मा के अनुभवज्ञान से	
दे	९६६	अधर्म निवृत्ति 🥠 🦠	९९२
तेवशित्व सिद्धि का विवेचन	९६६		९९२
श्लोक में पाठ भेद	९७५		९९४
राज्यम् कां अर्थ	९७८		९९४
श्लोक की वेदमन्त्र से तुलना	९७९	परमात्मा के गौण नाम और उनके अर्थ 💎 🧐	९९५
ायाजी की व्युत्पत्ति एवं अर्थ	९७९	, , , , , , , , , , , , , , , , , , , ,	९९७
<b>कृ काल से अमिप्राय</b>	९८०	उपर्युक्त स्वरूप वाला परमात्मा जगत का	
गवना का विनाश	९८४	उत्पत्ति-कर्ता और उसमें वेदों-	
ाका अर्थ	९८४	•	२९८
प्रमाण और उनके लक्षण	९८४	सब प्राणियों में आत्मवत् भाव एवं	
से अभिप्राय	९८६	परमात्मदर्शन से मुक्ति (	९९९
विद्या	९८९		

# मनुस्मृति का पुनर्मूल्यांकन (भूमिका भाग)

# भूमिका — विषयानुक्रम

# प्रथम अध्याय — मनुस्मृति-महत्ता, रचियता, काल, एवं आद्यरूप

- १. मनुस्मृति की महत्ता एवं प्रमाव ए. १, मारत में मनुस्मृति का प्रमाव एवं
   महत्त्व ३, विदेशों में मनुस्मृति का प्रमाव ४।
- २. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन ? ७, स्वायं मुत्र मनु ७, त्रेवस्वत मनु १२, भृगुप्रोक्त १४, ब्रह्मा प्रोक्त १७।
- ३. मनु और मनुस्मृति काल निर्णय २१, स्वायं मुद मनु का काल २१, मनु के आदिस्पिट में होने से अमिप्राय २३।
  - ४. वर्तमान मनुस्मृति का रचनाकाल २४, निष्कर्ष ३०।
- ४. मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान ३२, मनुस्मृति और उसकी भाषा ३४।
  - ६. मनुस्मृति का आधरूप ३६।

# द्वितीय अध्याय — मनुस्मृति और प्रक्षेप

१. मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसंघान की आवश्यकता एवं उपयोगिता ३८।
२. प्रक्षेप से अमिप्राय ३८। ३. क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं ? ३९।
४. प्रत्यों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति और मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में निहित प्रवृत्तियां ४५। ५. प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनके प्रमाण ५१,
विषयविरोध ५४, प्रसंगविरोध ५५, अन्तर्विरोध ६०, पुनरुक्तियां ६२,
शैलीगत आधार ६४, अवान्तरविरोध ६९, वेदविरोध ७० । ६. प्रक्षेपों से हानियां एवं म्रान्तियां ७३।

# तृतीय अध्याय — मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनके आधार

१. कर्मणा वर्णव्यवस्था ७७, २. मांस मझण एवं पशुयझ पाप ६६, ३. मृतकन्नाद्व परवर्ती ९१, ४. नियोगप्रथा ९४, ५. स्त्रियों विषयक घारणाएं ९६, ६. शृद्रविषयक घारणाएं १००, ७. स्वर्ग-नरक १०१, ६. प्रेतशृद्धि आडम्बर १०२, ९. वेदविषयक अनध्याय १०४, १०. प्रायिष्त अर्थ, उद्देश्य १०६, ११. दायमाग का वितरण १०६, १२. मनुस्मृति में विवाह की आयु १०६, १३. मनुस्मृति में त्रृषि, देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राश्रस, पिशाच, दस्यु, आर्य-अनार्य ११०, १५. मनु और वेद ११९।

# चतुर्थ अघ्याय —

१. मनुस्मृति में अध्याय विभाजन अमौिलक १२०, मनुस्मृति के प्रकरण १२४, ३. मनुस्मृति में वर्णाश्रमधर्मों के वर्णन की पद्वति १२४।

# पंचम अध्याय — महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति

१. मनुस्मृति का गौरववर्धन १२७. २. महर्षि के अर्थों एवं मावों का ग्रहण १२८, इ. सर्वप्रथम प्रमेप-निर्देशक १२९, ४. महर्षि के श्लोकों का प्रक्षेपान्तर्गमन १३०।

# प्रथम अध्याय

# [मनुस्मृति – महत्ता, रचयिता, काल एवं आद्यरूप] १. मनुस्मृति की महत्ता एवं प्रभाव

भारतीय साहित्य में मनुप्रोक्त स्मृति का 'मनुस्मृति' 'मनुसंहिता' 'मानवधर्मशास्त्र' 'मानवशास्त्र बादि कई नामों से उल्लेख आता है । मनुस्मृति भारतीय साहित्य में सर्वाधिक चर्चित धर्मशास्त्र है, क्योंकि अपने रचना काल से ही यह सर्वाधिक प्रामाणिक, मान्य एवं लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है । स्रृतियों में इसका स्थान सबसे ऊंचा है । यही कारण है कि परवर्ती काल में अनेक स्मृतियां प्रकाश में आयों किन्तु मनुस्मृति के प्रभाव के समक्ष टिक न सकीं, अपना प्रभाव न जमा सकीं; जबकि मनुस्मृति का वर्चस्व आज तक बना हुआ है ।

मनुस्मृति एक विधि-विधानात्मक शास्त्र है. इसमें जहां एक ओर वर्णाग्रम धर्मों के रूप में शक्त एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों, नैतिक कर्त्तव्यों. मर्यादाओं, आचरणों का वर्णन है, वहां क्रिंठ समाज-व्यवस्था के लिए विधानों — कानूनों का निर्धारण मी है, और साथ ही मानव को मुक्ति प्राप्त कराने वाले आध्यात्मिक उपदेशों का निरूपण है। यों कहिये कि यह मौतिक एवं अध्यात्मिक शिक्षाओं का मिला-जुला अनूठा धर्मशास्त्र है। इस प्रकार यह व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्मशास्त्र एवं आचारशास्त्र है, तो साथ ही सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारु रूप में रखने के लिए 'संविधान' भी है।

मनुस्मित को इतना अधिक महत्त्वशाली, सम्मान्य तथा लोकप्रिय बनाने वाले कारणों में जहां सिकं व्यक्ति और समाज के लिए हितकारी, व्यावहारिक एवं युक्तियुक्त विधि-विधान हैं, वहां इसकी प्राचीनता एवं वेदानुकूलता भी उल्लेखनीय कारण हैं। सर्वप्राचीन, सर्वाधिक मान्य और श्रद्धेय होने से वेद ही समस्त भारतीय साहित्य के मूलस्रोत हैं तभी तो मनु ने भी वेदों को ही प्रधानरूप से अपनी स्मृति का आधार बनाया है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि —

''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' (मनु २।६) अर्थात् — वेद ही धर्म के मुलाधार हैं।

मन्त्राचों के साक्षात्द्रष्टा त्रमुषि-मुनियों ने वेदों के मौलिक सिद्धान्तों को समझकर ही वेदांग बाहमण, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों की रचना की, जिससे मानव, ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को छोड़कर अपने चरमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकें। मनु ने भी मनुस्मृति में वर्णों एवं आश्रमधर्मों के ह्या में व्यक्ति एवं समाज के लिए हितकारी धर्मों-कर्त्तव्यों, विधानों का वर्णन वेद के आधार पर ही किया है अपीर धर्म जिजासा में वेद को ही परम प्रमाण माना है —

''धर्मजि**ज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति:** (मनु. २।१३) वर्णत् — धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है । उसी से धर्म-अधर्म का विश्वय करें।

मनु की वेदों के प्रति गहन श्रद्धा है। वे देदों को अपौरुषेय मानने हैं। र क्योंकि वेदज्ञान

१. २१६-९ ।।

२. ''विधानस्य स्वयम्मुवः । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य.. . . (मनु. १।३)

अपौरुषेय होने से निर्मान्त ज्ञान है, धर्म का मूल स्रोत है एवं परमप्रमाण है, अत : वह कुतकों द्वरा खण्डनीय नहीं है । जो कृतके आदि का आग्रय लेकर वेदज्ञान का खण्डन. अवमानना या निन्दा करता है, उसे वे 'नास्तिक' जैसे तिरस्कारपूर्ण शब्द से सम्बोधित करते हैं —

ते सर्वार्थेष्यमीमांस्ये ताम्यां धर्मो हि निर्वमी ।। योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्राग्रयाद् द्विज:। स साधुमिर्विष्ठिकार्यो नास्तिको वेदनिन्दक:।। (मनु. २।१०-११)

अर्थात् — श्रुति और स्मृतिग्रन्थों की किसी भी अवस्था में आलोचना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन्हीं से धर्म की उत्पत्ति हुई है। वहीं धर्म के मूल स्रोत हैं। वो व्यक्ति तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर कुतर्क आदि से उनकी अवमानना-निन्दा करता है, साधु-श्रेष्ठ लोगों को चाहिए कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें; क्योंकि वेद की निन्दा करने वाला वह व्यक्ति नास्तिक है।

मनुस्मृति को गौरव प्रवान कराने वाले कारणों में यह कारण भी विश्लेष स्थान रखता है कि मनु अपने समय के एक प्रख्यात, तत्त्वक्रटा धर्मवेत्ता ऋषि थे और अपने समय में धर्मनिष्ठ, न्यायकारी प्रजाप्रिय शासक रहे थे । इसका प्रमाण मनुस्मृति की भूमिका में उल्लिखित वचनों से मिलता है । जिज्ञासु ऋषियों ने ध्याज्ञान के लिए महर्षि मनु को चुना, क्योंकि अपने समय के वही एकमात्र अधिकारी एवं विश्लेषज्ञ विद्वान थे जो धर्मों को यथार्थरूप में बतला सकते थे । धर्मों के मूलग्रोत अपौरुषेय अचिन्त्य अपरिमित ज्ञान वाले वेदों के ज्ञाता और उनमें निर्दिष्ट धर्मों के ज्ञाता केवल मनु ही हैं, ऐसा ऋषियों ने अनुमव किया । निश्चय ही मनु 'अमितौजा' — अत्यधिक ज्ञानशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति थे । इस बात से भी उनकी अगाध विद्वत्ता का सकते मिलता है कि उन्होंने धर्मप्रवचन का अधिकार केवल उन्हीं विद्वानों को दिया है ''जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुए धर्मपूर्वक सागोपाग वेद पढ़े हैं और जिन्होंने वेदार्थों का प्रत्यक्ष किया है, वे ही धार्मिक और परोपकारी विद्वान धर्मनिर्णय करने के अधिकारी हैं" । उन्हीं के वचन और आचरण धर्म में प्रमाण माने जा सकते हैं । जो व्यक्ति धर्मनिर्णय में केवल उपर्युक्त विद्वानों को ही प्रमाण मान रहा है, वह स्वय विशिष्ट विद्वान अवश्य रहा होगा, फिर ऐसे अधिकारी विद्वान द्वारा प्रोक्त धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता और महत्ता को कौन नहीं स्वीकार करेगा ?

यही कारण हैं कि समस्त भारतीय साहित्य में मनु के वचनों को आदर की दृष्टि से देखा गया है और प्रामाणिक माना है। यहाँ कुछ भारतीय एवं भारतीयेतर प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनसे मनुस्मृति की महत्ता, प्रामाणिकता प्रभावशालिता एवं लोकप्रियता का निश्चय आसानी से किया जा सकता है।

 <sup>&#</sup>x27;'भगवन् . . . धर्मांन् न : वक्तुमहिसि ।। त्वमेकोद्वहंयस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव : । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतस्वार्यविन्यमो ।। मनु १।२-३ ।।

४. 'स तै: पृष्टस्तथा सम्यक्-अमितौजा'' ।। मनु. १।४।।

यं शिष्टा बाहमणा ब्यु: स धर्म: स्यादशंकित: ।। धर्मेणाधिगतो यैस्तु लेद: सपश्चित्रण: । ने शिष्टा बाहमणा क्रेया: श्रुतिपत्यकानेतव: ।। मतु. १२।१०८-१०९ ।।

इ. १२।११३, १०६, ११०-११२ ।।

# (क) भारत में मनुस्मृति का प्रभाव एवं महत्त्व

मनुस्मृति का आद्यरूप क्या थाँ, इस विषय में आगे इसी अध्याय में विचार किया जायेगा । यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मनु के धर्मशास्त्र का अस्तित्व वैदिक काल से ही रहा है । इसकी पृष्टि कई संहिताग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग एक जैसे रूप में पाये जाने वाले निम्न वाक्य से हो बती है —

## ''मन्वें यत्किञ्चावदत् तद् मैषजम्''<sup>७</sup>

क्यांत — मनु ने जो कुछ कहा है, वह मानवों के लिए भेषज — औषघ के समान कल्याणकारी एवं गुणकारी है।

ब्राह्मणग्रन्थों का यह वचन यह सिद्ध करता है कि उस समय मनु के धर्मशास्त्रं को प्रामाणिक माना जाता था। धर्मनिश्चय में उसका सर्वाधिक महत्त्व था। एक ही रूप में कई ग्रन्थों में पाया जाने वाला यह वाक्य इस बात की ओर भी इंगित करता है कि मनु का धर्मशास्त्र उस समय इतना लोकप्रिय हो चुका था कि वह औषघ के तुल्य हितकारी, गुणकारी के रूप में स्वीकृत था। तभी तो उसके विषय में यह उक्ति भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने दायमाग में पुत्र और पुत्री के समान अधिकार के विषय में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्भुत करके मनु के मत का उल्लेख किया है । मनु का यह समानाधिकार सम्बन्धी मत प्रचलित मनुस्मृति के ९।१३०, १९२, २१२ श्लोकों में वर्णित है । इससे भी मनु के वचनों की विशेष प्रामाणिकता और महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में, बालि और सुग्नीव के परस्पर युद्ध के अवसर पर राम द्वारा बालि का बध किये जाने पर घायल बालि राम के इस कृत्य को अनुचित एवं अधर्मानुकूल ठहराता है। तप राम अपने इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति के वचनों का सहारा खेतें हैं और दों खेक उद्धृत करके अपने कार्य को धर्मानुकूल सिद्ध करते हैं। वे दोनों श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में किचित पाठान्तर से ८। ३१६, ३१८ में पाये जाते हैं। इन वचनों से मी जात होता है कि उस समय मनुस्मृति को धर्मानश्चय में अत्यधिक प्रामाणिकता, प्रसिद्धि, मान्यता और महत्ता प्रान्त थी।

महाभारत में अनेक स्थलों पर मनु को विशिष्ट प्रामाणिक स्मृतिकार के रूप में वर्णित किया हैं । महाभारत के निम्न श्लोक से जात होता है कि उस समय मनु के वचनों को कुतर्क आदि के बारा अकाट्य माना जाता था —

पुराणं मानवो धर्म: सांगोपांगविकित्सक:। आज्ञासिद्वानि चत्वारि, न हम्तव्यानि हेत्नि:।। (महा.)

- ७: तैति सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४।। ता. न्न. २३।१६।७।।
- दं. निरु. २।४।। **वर्ष सहि**त श्लोक द्रष्टच्य है, मनु. का. पु. प्र<mark>यम अध्याय 'मनु कालनिर्णय' शीर्षकान्तर्गत</mark> ।
- ९. यथैवात्मा तथा पुत्र: पुत्रेण तुष्ठिता समा ।

तस्यामात्मिन तिष्ठक्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ।।९।१३०।।

- जैसी अपनी आत्मा है, वैसा ही पुत्र होता है, और पुत्र के समान ही पुत्री होती है ; उस आत्मारूप पुत्री के रहते हुए कोई दूसरा घन को कैसे ले सकता है, अर्थात् पुत्र के साथ पुत्री मी घन की अधिकारिणी होती है ।। इष्टष्य मनु. ९।१९२, और २१२ मी ।।
- किष्किः १८।३०, ३२ ।। अर्थसिंहत श्लोक इष्टब्य है मनुः काः पुः प्रथम अष्यायः, मनुस्मृति कालनिर्णयं शीषकान्तर्गतः।
- ११. महा, आदि, ७३।८९।। श्रान्ति, ३६।३।। श्रान्ति, ५६।३३; ११८।२६; १२१।१०, १२; २०१।३२-३३° ३३५।४४, ४६ आदि।।

अर्थात — पुराण<sup>१२</sup> अर्थात ब्राहमण ग्रन्थ, मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म, सांगोपांग चिकित्सक, धार्मिक विद्वानों की आज्ञा से सिद्ध कार्य, हन चारों का हेतुआस्त्र का आग्नय लेकर कुतर्क आदि द्वारा खण्डन नहीं करना चाहिए।

आचार्य बृहस्पति ने तो अपनी स्मृति में स्पष्ट शब्दों में मनुस्मृति को सर्वोच्च स्मृति घोषित किया है। उसकी प्रामाणिकता और महत्ता की उद्घोषणा करते हुए और उसकी प्रश्नंसा करते हुए के कहते हैं

> वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनो: स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता तु या स्मृति: सा न शस्यते ।। तावच्छास्त्राणि शोमन्ते तर्कव्याकरणानि च । धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते ।। (बृह. स्मृति)

अर्थात — वेदार्थों के अनुसार रचित होने के कारण सब स्मृतियों में मनुस्मृति ही सबसे प्रधान एवं प्रशंसनीय है। जो स्मृति मनु के अर्थ के विपरीत है, वह प्रशंसा के योग्य अथवा ग्राह्य नहीं है। तर्कशास्त्र, व्याकरण आदि शास्त्रों की शोमा तमी तक है, जब तक धर्म, अर्थ, मोक्ष का उपदेश देने वाला मनु नहीं होता अर्थात् मनु के उपदेशों के समक्ष सभी शास्त्र निस्तेज, प्रभावहीन प्रतीत होते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रसिद्ध लेखक-व्याख्याकार हुए हैं जिन्होंने अपने मत के समर्थन में या अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए मनु के वचनों को उद्भत किया है और इस प्रकार अपने ग्रन्थ का गौरव बदाया है ।

बौद्ध महाकवि अश्वघोष ने, जो राजा कनिष्क का समकालीन था, जिसका कि समय प्रथम शताब्दी माना जाता है, अपनी 'वज्रकोपनिषद' कृति में अपने पक्ष के समर्थन में मनु के श्लोकों को उद्दत किया है। विश्वरूप ने अपने यजुर्वेदमाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति माष्य में मनु के अनेक श्लोकों को उद्दत किया है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्रमाष्य में मनुस्मृति के पर्याप्त उद्दरण दिये हैं। १६ ५०० ई. में जैमिन सूत्रों के माष्यकार श्रवरस्वामी ने अपने माष्य में मनु के अनेक वचनों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के एक अन्य माष्यकार विज्ञानेश्वर ने याज्ञ. स्मृति के श्लोकों की पृष्टि के लिए मनु के श्लोकों को पर्याप्त संख्या में उद्दत किया है। गौतम, विश्वष्ठ, आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिनि, बौधायन आदि सूत्रग्रन्थों में मी मनु का आदर के साथ उल्लेख है। १ आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत-से स्थलों पर मनुस्मृति को आधार यनाया है, और कई स्थलों पर मनु के मतों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त मी बहुत सारे ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्होंने अपनी प्रमाणिकता और गौरव बद्धाने के लिए अथवा मनु के मत को मान्य मानकर उद्दत किया है। १७

अअरहवीं शताब्दी में मनुस्मृति को सर्वाधिक महत्त्व आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने

१२. निरुक्त ४।१५ में पुराण अन्द का निर्वचन करते हैप्र कहा है — ''पुरा नव' मवर्तािव' अर्थात जो पहले नया था. अस नहीं । इस प्रकार पुराण शन्द ब्राहमण आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों का वाचक है । इसी के आधार पर बाद में ऐतिहासिक ग्रन्थों का 'पुराण' नाम रखा गया । वहां पुराण शन्द से १५ पुराणा का ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

१३. विश्वकष ग्राज्ञस्म मान्य १।४४ ।। केत. सु. मान्य १। ३ ।२६. ३६ ; २।१।१. ११ ; ३।१।१४ ; ३।४।३८ ; ४।३।६ ।।

१४ याज, स्मृ. १।७. ५३. ६२. ६८. ७२. ७६. ८०; २।१. २. ५. २१. २६ आदि ।।

१५. गै. म. २१।७ ।। वासि. म. १।१७ ।। आर्प. म. २।१४।११ ।। आर्प. श्री. ३।१०।३४ ।। ३।१॥३ ।। आस्त्र. श्री. ९।७।२ ; १०।७।१ ।। जै. गृ. १।२४ ।। मी. म. ४।१।१४, १६ ।।

१६. को, अर्थ, प्र. १।अ. १।। प्र. १०।अ. १४।।

१७. वैसे कि स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्यु संस्कारमयुख, श्रीमदमागवत, वानहेमाद्रि, व्रतहेमारि आदि ।

दिया । उन्होंने केवल मनुस्मृति को ही आर्ष एवं प्रामाणिक धर्मशास्त्र घोषित किया और अपने मन्तव्यों का आधार बनाया । उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को प्रमाणरूप में उद्गत किया है ।

इनके अतिरिक्त ऐसे भी बहुत सारे प्रन्थ मिलते हैं जिनमें किसी अन्य ग्रन्थ का वचन उद्भत है, जिनमें कि मनु के मत का उल्लेख है, या मनु के नाम से कोई मान्यता निर्दिष्ट है। यद्यपि इनमें बहुत से श्लोक ऐसे भी हैं जो न तो वर्तमान मनुस्मृति में मिलते हैं और न अन्य किसी स्मृति में। यह भी संभव है कि अपने पक्ष की पुष्टि के लिए लोगों ने मनु के नाम से स्वयं ही श्लोक रच लिये हों। यहां इस विवाद में न पड़कर केवल इतना कहना ही प्रासंगिक होगा कि इन सब बातों से मनु के एकछत्र प्रमाव का संकेत अवश्य मिलता है।

प्राचीन काल से मनुस्मृति के अनुकूल आचरण को भी प्रतिष्ठा सूचक माना जाता रहा है। वलभी के राजा धारसेन का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जो ५७१ ई. का है। उसमें उस राजा को मनु के धर्मनियमों का पालनकर्ता कहकर उसकी विशेषता बतलायी गयी है।

सभी स्मृति-प्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में प्राचीनकाल से लेकर अब तक सर्वाधिक टीकाएं एवं माष्य्र मनुस्मृति पर ही लिखे गये हैं और अब भी लिखे जा रहे हैं । यह भी मनुस्मृति की सर्वोच्चता एवं सर्वाधिक प्रमविष्णता का द्योतक है ।'

आजकल भी पठन-पाठन, अध्ययन-मनन में मनुस्मृति का ही सर्वाधिक प्रचलन है। हिन्दू कोड बिल एवं संविधान का प्रमुख आधार मनुस्मृति को माना जाता है। आजकल भी न्यायालयों में न्याय दिलाने में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अनिवार्यरूप से होता है और इससे मार्गदन्नन भी प्राप्त किया जाता है।

# ख) विदेशों में मनुस्मृति का प्रभाव

भारत ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्मृति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है। कपाद्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्भत मिलता है —

### वित्तं बन्धुर्वय: कर्म विद्या भवति पञ्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ।। (२ । १३६)

बािल, स्याम और जावा के विधान मनुस्मृति से पर्याप्त साम्यता रखते हैं । वर्मा क्। 'धम्मथट्' मनुस्मृति से ही प्रोरित प्रतीत होता है । नेपाल का विधि-विधान, आचार, मनुस्मृति का ही अनुकरण करता है ।

फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा भवन के सामने उस देश की संस्कृति के निर्माण में आधारभूत योगदान देने वाले चार व्यक्तियों की मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी हैं, जिनमें एक महर्षि मनु की हैं।

इस प्रकार मनु और मनु के शास्त्र का महत्त्व एवं प्रभाव देश-विदेश में प्राचीन काल से लेकर आजतक अल्पाधिक रूप में सदैव रहा है। उक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो गया है कि स्मृतिग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं मान्यताप्राप्त ग्रन्थ है।

रेद. मेघातिथि से लेकर अब तक लगभग दस संस्कृत माध्य उपलब्ध हैं और संक्षिष्त स्था पूर्ण मनुस्मृति पर कुल मिलाकर लगभग तीस हिन्दी टीकाएं उपलब्ध हैं ।

मनुस्मृति अपनी अनेक विशेषताओं के कारण सर्वोच्च स्थान को प्राप्त कर पायी है। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज ऐसे उत्तम और प्रसिद्ध धर्मश्नास्त्र का पठन-पाठन श्लीण होता जा रहा है। इसके प्रति लोगों के मन में अग्रद्धा की मावना घर करती जा रही है। इसका कारण है — 'मनुस्मृति में प्रक्षेपों की मरमार होना'। प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति का उज्ज्वलरूप गन्दा एवं विकृत हो गया है। परस्परविरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण वर्णनों से मनुस्मृति की गरिमा विलुप्त हो गई है। एक महान् तत्त्वद्रष्टा त्रृषि के अनुपम शास्त्र को प्रक्षेपकर्ताओं ने विविध प्रक्षेपों से दूषित करके न केवल इस शास्त्र के साथ, अपितु महर्षि मनु के साथ मी अन्याय किया है।



# २. मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता कौन ?

अतिप्राचीन काल से अध्यावधि पर्यन्त मारतीय वाङ्मय, संस्कृ त-सम्यता, धर्म, आचार-व्यवहार, कानून, पठन-पाठन आदि प्रत्येक क्षेत्र पर अपना न्यूनाधिक प्रमाव बनाये रखने वाले मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र जैसे विशिष्ट ग्रन्य का मूल प्रवक्ता या रचियता सम्बन्धी प्रश्न आज विवादो शंका-संदेहों के मंवर में फंसा हुआ है, यह आश्चर्य की बात है। यद्यपि इस विवाद के बीज पूर्वकालीन साहित्य में भी पाये जाते हैं, किन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने इसे वृक्ष का रूप दे दिया तथा लेखकों ने अपनी-अपनी उन्हाओं, कल्पनाओं, अटकलों से इसे विवादास्पद बना दिया।

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेप भी इसमें प्रमुख कारण हैं, अत: आज इस बात की अति-आवश्यकता है कि प्रक्षेपों का अनुसन्धान, निर्धारण करके उसके पश्चात मनुस्मृति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार किया अये । तभी निर्धान्त निष्कर्ष निकल सकते हैं ।'े मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता के सम्बन्ध में इस समय चार मत प्रचलित हैं —

- १. मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता स्वायम्मुव मनु हैं।
- २. मनुस्मृति वैवस्वत मनु द्वारा प्रोक्त या रचित है।
- ३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त है।
- ४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त है ।

आगे इन सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर सप्रमाण और प्रक्षिप्त श्लोकों की विवेचनापूर्वक विचार किया जाता है।

## १. मनुस्मृति के प्रवक्ता — स्वायम्भुव मनु

अधिकांश विचारक इस मत से सहमत हैं कि मनुस्मृति का मूल प्रवक्ता मनु है और वह मी खायम्भुव मनु ही है। मैं मी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं। इस सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री के आधार पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है — क. अन्त :साक्ष्य के आधार पर, और ख. बाह्यसाक्ष्य के आधार पर । प्रथम अन्त :साक्ष्य को ही लेते हैं —

### क. अन्त :साध्य के आधार पर

अन्त :साक्ष्यों पर विचार करते समय पहले मनुस्मृति की रचनाशैली को सेमेझना आवश्यक है।

१. मनुस्मृति की शैली — मनुस्मृति के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनुस्मृति की त्वनाशैली 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत : प्रवचन हैं । बाद में मनु के शिष्यों ने उनका संकलन करके उसे एक शास्त्र या ग्रन्थ का रूप दिया है । मनुस्मृति के मूमिकारूप, प्रथम अध्याय के पहले चार श्लोकों के 'मनुम् .... अभिगम्य महर्षय : .... वचनमञ्जूवन्'' [१।२], ''मगवन् सर्ववर्णानां .... धर्मान्नो वक्तुमृहंसि'' [१।२] '' त्वमंको अस्य सर्वस्य ..... कार्यतत्त्वार्थवित प्रमो'' [१।३] '' प्रत्युवाच .... महर्षीन्

१९. लेखक ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके अन्त :साहयसिष्ट साल मानल्ण्डों के आधार पर ुाका निर्धारण कियां े। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए क्टेंच्य है — मनु. का. पु. डिनीय अध्याप एवं सम्पूर्ण मनुस्मृति में उन उन १२...को पर समीक्षा ।

श्वयताम् इति ' [ १ ।४ ] आदि वचनों से जात होता है कि अपने मूलरूप में मनुस्मृति महर्षियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचनरूप में है । ये सभी श्लोक और विशेषरूप से "स : तै: पुष्ट:'' [१।४] पदप्रयोग यह सिद्ध करता है कि इसे बाद में अन्य व्यक्ति ने संकलित किया है। यह प्रवचनों के रूप में सुना-सुनाया गया है, इसी कारण इसके प्रत्येक प्रसंग के प्रारम्भ या **अ**न्त अथवा दोनों स्थानों पर सनने-सनाने वाली क्रियाओं का प्रयोग है, यथा — 'वक्तमईसि' [१।२], 'श्रुयताम्' [१।४], 'तत्तथा वोऽभिघास्यामि' [१।४२], 'एषा समासेन प्रकीर्तिता ... वर्णधर्मान्निबोधत [१।१४४ (२।२५], 'एष प्रोक्त . . . कर्मयोगं निबोधतं [२।४३ (६८)], 'स्त्रीविवाहान्तिबोधतं [३।२०], 'एरद्वोऽभिहितं...भ्रूयतामितिं [३।२८६], 'एषोदितां [४।२५९], 'प्रवक्ष्यामि' [५।५७], 'व: प्रोक्त: . . . श्रृणुत निर्णयम्' [५।११०], 'उक्तो व : . . . धर्मान्निबोधतं [५ ।१४६ ], 'एष वोऽमिहित : . . . राज्ञां धर्म निबोधतं [६।९७], 'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि' [७।१], 'तसद्बोऽहं प्रवक्ष्यामि' [७।३६], 'एष उक्तः' [८।४०९], 'दायभागं निबोधत' [९।१०३], 'एषोऽखिलः उक्तः [९।३२४], 'एष: कीर्तित:...परं प्रवक्ष्यामि' [१०।१३१], 'तान्वोऽभ्युपायान् वक्ष्यामि' [११।२१०], 'एष वोऽभिहित: . . . इमं निबोधत' [११।२२६], 'समासेन वक्ष्यामि' [१२।३९], 'इद' निबोधत' [१२।५२] आदि ।

और मौलिक संकलन वहीं कहाता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत रूप में संकलन किया गया हो ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्भ से अन्त तक कहने-सुनाने की क्रियाओं में उत्तम पुरुष का प्रयोग है — 'अभिधास्यामि' [१।४२], 'प्रवश्यामि' [५।५७], 'राजधर्मान् प्रवश्यामि' [७।१], 'अहं प्रवश्यमि' [७।३६], 'परं प्रवश्यामि' [१०।१३१], 'वश्यामि' [११।२१०], 'समासेन वश्यामि' [१२।३९], आदि।

इस शैली की पुष्टि निरुक्त में वर्णित इस तथ्य से मी होती है कि अत्यन्त प्राचीन काल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों द्वारा प्रवचनों, उपदेशों के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी । और वह शिष्य-परम्परा के रूप में सुरक्षित रहती थी, लिपिबद ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं । लिपिबद ग्रन्थों के माध्यम से विद्याओं की शिक्षा की परम्परा पर्याप्त समय पश्चात आयी, जब लोग उपदेशग्रहण करने में आलस्य उदासीनता और उत्साहहीनता प्रदर्शित करने लगे रू । महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार सूर्यवंशी राजा इक्ष्वाकु के समय उपदेशों को लिपिबद करने की परम्परा प्रचलित होने लगी थी । रिष्ट इस प्रकार हम कह सकते हैं —

मनुस्मृति की प्रवचन शैली, १ ।१-४ श्लोकों में वर्णित घटना — जिसमें कि महर्षि लोग केवल मनु के पास धर्मजिज्ञासा लेकर आते हैं और फिर मनु ही उनका उत्तर देते हैं, तथा सम्पूर्ण मनुस्मृति में प्रारम्म से अन्त तक मनु द्वारा १।४ से प्रारम्म की गई कहने-सुनाने की क्रियाओं

२०. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु:, तेश्वरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादु:। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं प्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च।'' [नितः, १।१९] २१. उपदेश मञ्जरी, नवम उपदेश, पृ. ६२।

का उत्तम पुरुष एकवचन में प्रयोग, ये बातें यह सिद्ध करती हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता मनु ही है। यहां प्रसंगवश १।१-४ श्लोकों से सम्बन्धित शंका का समाधान करना भी आवश्यक है। कुछ लेगों का कथन है कि मनुस्मृति की भूमिका रूप ये श्लोक मौलिक श्लोकों के रूप में परिगणित नहीं किये जाने चाहियें क्योंकि ये मनुप्रोक्त नहीं हैं, और न ही इन्हें प्रामाणिक मानना चाहिये।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि १-४ श्लोक मनुप्रोक्त श्लोकों की मांति मौलिक नहीं है तथापि ये शैली, घटना और प्रश्न के आधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि मूमिका के रूप में इनका उल्लेख है। (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के मावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन मृगु या किसी अन्य शिष्य ने किया है। संकलियता ने इन श्लोकों के द्वारा मनु के पास महर्षियों के आने की घटना और उनके प्रश्न का मूमिका के रूप में उल्लेख किया है। (२) घटना मौलिक है। (३) प्रश्न मी मौलिक है, अत: संकलन-शैली के अनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे। जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार फ्रान्तिपूर्ण है। मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है, इस दृष्टि से ये चारों श्लोक मौलिक संकलितरूप में ही हैं।

यहाँ यह मी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस शैली के आधार पर टीकाकारों ने उन समी शलोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है। ('महर्षिमंनुना भृगु:' ११६०।। 'उक्तवान् मनु: ११११६।। 'मनुना परिकीर्तित:' १११६६।। 'मनुस्ववीत्'। ६१३२६।। आदि)। उनका कहना है कि मनु के मावों के आधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है, अत: इस प्रकार के श्लोक असगत नहीं लगते। यह विचार मी भ्रान्तिपूर्ण है। क्यों कि, (१) मनुस्मृति, मनु के मावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, अपितु मनु के मावों का यथावत उसी शैली में संकलन है। (२) संकलन में मौलिक अंशों के बीच में संकलयिता की ओर से कोई बात नहीं कही जाती, अत: 'मनुक्तवान्' आदि पद वाले श्लोक संकलयिता की ओर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त है, मौलिक नहीं। (३) ११४ में 'श्लुयताम्' कहकर मनु उत्तर देना आरम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा नहीं कहे विचारों का उत्तमपुरुष की शैली के माध्यम से जो कथन है वही मौलिक संकलन है, अन्य द्वारा नामोल्लेख पूर्वक प्रदर्शित वर्णन प्रक्षिप्त है। अत: उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए, जो उत्तमपुरुष की शैली में नहीं है।

२. प्राचीन काल से अद्याविष पर्यन्त इस ग्रन्थ-का 'मनुस्मृति' या 'मानवधर्मशास्त्र' नाम प्रचिलत होना भी इसे मनुप्रोक्त सिद्ध करता है।

यह मनु स्वायम्मुव मनु ही है। इस बात को मनुस्मृति में स्पष्ट मी किया है और विभिन्न स्थलों पर मनु के साथ स्वायम्मुव विशेषण का प्रयोग मी किया है।

३. प्रचिलत मनुस्मृति में बीच-बीच में लगभग तीस स्थलों पर मनु का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है । उनमें कह स्थलों पर स्पष्टत : स्वायम्मुव विशेषण का प्रयोग किया है ।<sup>२२</sup> ये उल्लेख मी इसका

२२ (क) स्वायमुव मनु के नामोरुलेख वाले स्थल — १।३२-३६. ४८-६१. १०२;६।४४;६।१२४;९।१४६।।
(ख) केवल मनु नामोरुलेख वाले स्थल — १।१-४, ११६, ११६, १२६;३।३६, १४०;४।१०३;४।४१;६।१३९,
१६६, २०४, २४२, २७९, २९२, ३३९;९।१७, ४६२, १६३, २३९;१०।६३, ७६;१२।१०७, १२६।।
१।१-४ को खोडकर अन्य सभी क्लोक इस अनुसन्धान कार्य के आधार पर प्रक्रिप्त सिद्ध हुए हैं. तथापि उन्हें एक पारम्परिक जनप्रति के समान पोषक आधार माना है।

प्रवक्ता स्वायमुव मनु को ही सिद्ध करते हैं।

- ४. निम्न श्लोकों में मनुस्मृति का रचियता स्वायंभुव मनु को बतलाया गया है
  - (क) इदं शास्त्रं तु कृत्वा S सौ मामेव स्वयमादितः । विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।। स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवो S परे।।१ । ५८, ६१ ।।
  - (ख) स्वायम्भुवो मनुर्घीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ।।१।१०२।।

यतोहि भृगु स्वायम्भुव मनु का पुत्र और शिष्य था । [१।३४-३५; ३।१९४; १२।२;], अत : भृगुवचनों में उल्लिखित मनु भी स्वायम्भुव मनु ही है, जिसको श्रास्त्र का कर्ता कहा है —

- (ग) यथेदमुक्तवान् शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ॥ १ । ११९ ।।
- (घ) एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया। धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥१२।११७।।
- (ङ) ''मानवस्यास्य शास्त्रास्य'' १२ । १०७ । ।

(च) ''एतन्मानवं शास्त्रम् भृगुप्रोक्तम्'' १२ । १२६ ।।

यद्यपि इस अनुसन्धानकार्य के आधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं. अत: मौलिकवत् प्रामाणिक नहीं है; किन्तु फिर भी इन्हें ऐतिहासिक सन्दर्भ में पारम्परिक जनश्रुति के समान पोषक आधार के रूप में ग्रहण किया है।

4. ऐतिहासिक, ब्रह्मावर्त प्रदेश में स्थित बर्हिष्मती नगरी को स्वायम्भुव मनु की राजधानी मानते हैं। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को धर्मशिक्षा, सदाचार का केन्द्र घोषित करके सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है [१।१३६-१३९ (२।१७-२०]। इसी क्षेत्र में मनुस्मृति का प्रवचन-प्रणयन हुआ था। इससे भी मनुस्मृति का रचयिता स्वायम्भुव मनु होने का संकेत मिलता है।

## (ख) बाह्यसाक्ष्य के आधार पर —

मनुस्मृति के अन्तर्गत प्राप्त पूर्वोक्त प्रमाणों, संकेतों के अतिरिक्त मी इस बात के बहुत से आधार मिलते हैं कि मनुस्मृति का प्रवक्ता स्वायंभुव मनु है। यथा—

- १. तैत्तिरीय आदि संहिताओं,<sup>२६</sup> ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर अर्वाक्कालीन मारतीय वागमय में स्वायमुव मनु ही एक धर्मश्रास्त्रकार या स्मृतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं । अत : कहा जा सकता है कि मनु के नाम से प्राप्त होने वाले धर्मशास्त्र का रचियता मी यही मनु है ।
- २. निरुक्त<sup>२४</sup> में, दायभाग के प्रसंग में किसी प्राचीन ग्रन्थ का श्लोक उद्दृत करके स्वायंभुव मनु के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'दायभाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता हैं'। मन् के नाम से प्राप्त यह मत वर्तमान मनुस्मृति में ९।१३०, १९२ श्लोकों में निर्दिष्ट है। यह प्राचीन उल्लेख मी मनुस्मृति को स्वायंभुव मनुकृत सिद्ध करता है।

२३. (क) तैति. सं. २।२।१०।२; ३।१।९।४।। तां. जा. २३।१६।७।।

<sup>(</sup>छ) मनु ने ब्राहमणक्षक्यें का भी प्रवचन किया था. इसके भी प्रमाण संहिलाओं में मिलते हैं — ''आपो वा इदं निरमृजन् । स मनुरेवोदशिष्यत । स एतामिष्टिमश्यत्तामाहरत्त यायजत . . . । काठ. सं. ११।२ ।। द्र: तैति, सं. ३।१।९।२० भी ।

२४. निरु. ३।४।। अर्थसहित श्लोक द्रष्टव्य 'मनुकाल' शीर्षक में ।

२५. **''अच्टावेव समासेन विवाहा धर्मत: स्मृता:... मनु: स्वायं पुर्वोद्धश्चर्वात ।। (आदि. ७३।८-९) ये वर्तमान मनुस्मृति में ३।२०-३४ तक वर्णित हैं ।** 

- ३. महामारत में, कई स्थलों पर स्वायभुव मनु को एक घर्मशास्त्रकार के रूप पे उद्दृत किया है । के स्थलों पर उसके नामोल्लेख के साथ उसके मत और श्लोकों को मी उद्दृत किया है । वे स्मि नत और श्लोक प्रचलित मनुस्मृति में पाये जाते हैं । यथा —
- (क) दुष्यन्त-श्रकुन्तला प्रेम-प्रसंग में आठ-विवाहों का विधानकर्ता स्वायंमुव मनु को बताया । १९४
- (ख) शान्ति. ३६ अध्याय में, मनु. १।१-४ श्लोकों की घटना का यथावत वर्णन करते हुए स्ताया है कि ऋषिलोग धर्मजिज्ञासा के लिए स्वायंभुव मनु के पास पहुंचे। वहां मनुद्वारा दिये गये उत्तर में कुछ श्लोक ऐसे प्राप्त होते हैं जो वर्तमान मनुस्मृति में भी हैं, उनमें कोई-कोई तो यथावत है, श्रेई किंचित पाठान्तर से है. तो कोई यथावत भाव वाला है। २६
- (ग) शान्ति ६७।१५-३० में, आदिकाल में लूटपाट, अराजकता आदि से तंग हुई प्रजा द्वारा मनु के राजा के रूप में वरण करने की घटना दी हुई है। वह मनु ब्रह्मा का पुत्र है, अत : वह भी सायंभुव मनु की घटना है। <sup>२७</sup> मनु को राजा बनाने के बाद प्रजा द्वारा जो करनिर्घारण किया गया है, श्या 'पशु और सुवर्ण का पचासवा' भाग कर देंगे', यह करव्यवस्था वर्तमान मनुस्मृति ७।१३० में मिलती है। <sup>२०</sup>
- (घ) श्रान्ति. ३३५।४४, ४६ में एक धर्मश्रास्त्रकार के रूप में स्वायम्भुव मनु का ही वर्णन
- ४. इसके अतिरिक्त महाभारत में अनेक स्थलों पर केवल मनु नाम देकर उसके श्लोक या भाव उद्दत किये हैं। उनमें से बहुत-से श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में यथावत मिलते हैं और भाव तथा उनका गठन मी यथावत है। 80
- ५. इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में राम बालि-सुग्रीव युद्ध के अवसर पर अपने द्वारा किये बालि है वघ को धर्मानुकूल ठहराने हुए मनु का नाम लेकर उसके दो श्लोक उद्दत करते हैं । वे श्लोक मी हर्तमान मनुस्मृति में हैं । ११ इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है ।
- ६. विश्वरूप ने याज्ञ स्मृति २।७३, ७४, ८३, ८५ पर माष्य करते हुएँ वर्तमान मनुस्मृति के ६।६८, ७०-७१, १०५, १०६, ३०४ श्लोकों को उद्गत किया है । वहां मनु का नाम स्वायंभुव विया गया है ।
- ७. विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति के 'मिताक्षरा' माष्य में, श्वंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र माष्य में, इबरस्यामी ने जैमिनी सूत्रों के माष्य में, बौद्ध महाकवि अश्वधोष ने अपनी कृति 'वज्रकोपनिषद्' में,

६. (क) नैरेवमुक्नो भगवान मनु: स्वायंभुवोऽक्रवीतः । महा, क्रान्ति, ३६।५।।

<sup>(</sup>स्त्र) यथावत क्ष्म्मेक-महा, श्रान्ति, मं ३६।२४, ४६, ४७; मनुस्मृति में क्रमशः; ३।११७; २।१३२; २।१३३।। यथावत भाव — महा, श्रान्ति में ३६।२०; में १२।१०६-१०९।। पाठान्तरपूर्वक — महा, श्रान्ति, में ३६।२७, २६; मनु, मं ४।२१६, २१७, २२०।। भावग्रहण अन्य क्ष्मोकों में मी है।

२७. महा, आदि, १।३२।।

१६. 'पंचाशद्भाग आदेयो गज्ञा पशु-हिरण्ययो ;।'' ७।१३०।।

१९. (क) ''मणु: स्वायंचुवाँऽ क्रवील'' आदि. ७३।६-९ ।। (ख) तीरेवमुक्तो मगवान् मणु: स्वायंचुवाऽ क्रवील् श्रुञ्जक्वं यथावृत्तं क्रमे व्याससमासतः ।। शान्ति. ३६।६ ।। (ग) शान्ति १२ अ. ।। (घ) स्वायंचुव मनु द्वारा अस्त्ररचना. शन्ति. १३५।४४, ४६ ।। आदि ।

 <sup>&#</sup>x27;मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना'' शन्ति, ५६।३३।। अन्यत्र-शन्ति, १२ अ.; ११६।२६; १२१।१०, १२।।

३१. 🖷. रामा. किष्कि. १६।३१-३२; मनु. में ६।३१६. ३१६।।

किव मास ने 'प्रतिमा नाटक' में', गौतम, विसष्ठ, आपस्तम्ब आदि ने अपने सूत्रग्रन्थों में, <sup>३३</sup> वलमी के राजा धारसेन के शिलालेख में, <sup>३३</sup> धर्मप्रसंग में जो मनु का निर्देश किया है तथा अपनी पुष्टि के लिए जो श्लोक उद्भत किये हैं, वे मनु के ही हैं और वर्तमान मनुस्मृति में प्राप्त हैं। इनसे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इसका मूलरचियता मनु ही है, मृगु आदि कोई अन्य व्यक्ति नहीं। यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि मनु के नाम से उल्लिखित धर्मशास्त्रकार स्वायंभव मन ही प्रसिद्ध है।

### पश्चान्तरों का विवेचन

# २. मनुस्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त ---

कुछ आलोचक मनुस्मृति को मनुप्रोक्त तो मानते हैं, किन्तु उस मनु को स्वायंमुव न मानकर वैवस्वत मानते हैं । ऐसा मानने के उनके कुछ निम्न आधार हैं —

- १. मनुस्मृति के १।६१-६२ श्लोकों में स्वायंभुव मनु के वंश्व का वर्णन करते हुए सातवें वैवस्वत मनु तक का उल्लेख हैं । पहले मनु के काल में सातवें मनु का उल्लेख नहीं हो सकता, अत: यह सातवें वैवस्वत मनु की ही रचना है । ऐसा विद्वानों का विचार है ।
- २. कौटिल्य अर्थशास्त्र प्र. ८।अ. १२ में, आदिकाल में प्रजाओं द्वारा वैवस्वत मनु को राजा बनाने की घटना है। वहां जो कर व्यवस्था दी है<sup>98</sup> वह प्रचलित मनुस्मृति ७।१३०-१३२ से मिलती-जुलती है, अत: यह स्मृति वैवस्वतमनुप्रोक्त है।

इन आँघारों पर अनुशीलन करने पर इन पर आँघारित यह मान्यता स्वयं अमान्य प्रतीत होती है । आइये, इन पर विचार करें ।

१. मनुस्मृति के जिन श्लोकों में वैवस्वत मनु का उल्लेख है, वे निम्न हैं -

स्वार्यभुवस्यास्य मनो: षड्वंश्या मनवोऽपरे। सृष्टवन्त: प्रजा: स्वा: स्वा: महात्मानो महौजस:।। स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।

चाश्चषश्च महातेजा विवस्वत्सूत एवं च।। १।६१-६२।। अर्थात् — इस स्वायंभुव मनु कं वंश में महात्मा ओर महान् तेजस्वी अन्य छह मनु और हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने काल में अपनी प्रजाओं की सृष्टि की थी। वे हैं — स्वारोविष, उत्तम, तामस, रैवत, चाश्चुष और विवस्वत् का पुत्र वैवस्वत।

मनुस्मृति में ये दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। इनकी प्रक्षिप्तता के कई कारण है — १. यह कहना चाहिये कि स्वायंभुव मनु पहले ही अपने वंश की भावी छह पीढ़ियों का वर्णन नहीं कर सकते। पूर्व १।५८-६० श्लोकों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि स्वायंभुव का शिष्य भृगु यह बात कह रहा है। वह मावी छह पीढ़ियों और उनके कार्यों का मृतकाल में वर्णन कैसे कर सकता है? इस प्रकार ये श्लोक परवर्ती प्रक्षेप हैं और कालविरुद्ध वर्णन हैं। २. इनका पूर्वापर प्रसंग से भी विरोध है। पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन चल रहा है। बीच के इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है। ३. मनुओं के द्वारा चराचर सृष्टि का उत्पादन और पालन सृष्टिक्रमविरुद्ध वर्णन है। यह मनु की

३२. उद्ररणस्यल द्रष्टच्य 'मनुस्मृति महता' श्लेषंक की टिप्पणियों में ।

३३. ५७१ ई. का शिलालेखा

३४. उद्धरण द्रष्टच्य 'मनुस्मृति का काल' शोर्षक के अन्तर्गत।

१।६, १४-२३ श्लोकों में वर्णित मान्यता के विरुद्ध मी है। ४. इस प्रसंग में मृगु द्वारा मनुस्मृति के प्रवचन का कथन भी असंगत है, क्योंकि इसकी शैली से यह मनुप्रोक्त ही सिद्ध होती है। है इस प्रकार इन प्रक्षिप्त श्लोकों के आधार पर इसे वैवस्वत मनुप्रोक्त नहीं कहा जा सकता।

२. कोटिल्य अर्थशास्त्र में जो घटना वैवस्वत मनु के नाम से दी गयी है, वह महामारत शान्ति. ६७।१५-३० में स्वायमुव मनु के प्रसंग में दी हुई है। कहा नहीं जा सकता कि कौटिल्य अर्थशास्त्रकार ने यह नामान्तर क्यों ग्रहण किया। यह किसी पाठमेद के कारण मी हो सकता है, अथवा यह मी समव है कि स्वायमुव मनु की वंश-परम्परा में उत्पन्न होने के कारण वैवस्वत मनु ने इन व्यवस्थाओं को यथावत और रुचिपूर्वक लागू किया हो, जिससे वे उसके नाम से प्रसिद्ध हो गयी हों। वैसे कुछ वंशाविलयों को देखकर और दोनों मनुओं का प्रथम राजा के रूप में वर्णन देखकर कई बार, अन्वेषकों को दोनों की एकता का आभास होने लगता है। ये एकरूपवर्णन भी भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। इतिहासानुसंघाताओं ने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि स्वायम्भुव मनु सृष्टि के प्रथम राजा थे और वैवस्वत मनु प्रलयोत्तरकालीन समाज के प्रथम राजा हुए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी युक्तियां भी हैं, जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता

इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी युक्तियां भी हैं, जिनका इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है और उनसे इसी मान्यता को बल मिलता है कि मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु वैवस्वत नहीं अपितु स्वायम्भुव हैं, यथा —

- ३. मनुस्मृति में ऐसा कोई अन्त :साक्ष्य नहीं मिलता जिसमें वैवस्वत मनु की शास्त्रप्रवक्ता के रूप में चर्चा हो । उपर्युक्त स्थल को छोड़कर अन्यत्र कहीं वैवस्वत का नाम भी नहीं है । उस स्थल पर भी केवल वंशावली है, मनुस्मृति के प्रवचन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया है ।
- ४. मनुस्मृति में मनु के साथ मृगु का उल्लेख मिलता है । यह मृगु मी स्वायंमुव मनु का शिष्य था. वैवस्वत मनु का नहीं ।
- ५. यद्यपि भारतीय साहित्य में दोनों मनु प्रथम राजा के रूप में वर्णित हैं, किन्तु स्वायंभुव मनु की अधिक ख्याति धर्मशास्त्रकार के रूप में हैं, जबिक वैवस्वत की एक राजा के रूप में ।<sup>25</sup> वैवस्वत का धर्मशास्त्रकार के रूप में उल्लेख नहीं के अराबर है ।
- ६. वाल्मीिक रामायण में वैवस्वत मनु को सूर्यवंश्न का प्रथम राजा कहा है । उसी ने अयोध्या की स्थापना की ।<sup>89</sup> मनुस्मृति में अयोध्या का, तत्कालीन प्रदेश या मौगोलिक स्थिति का कहीं कोई वर्णन नहीं है, जबिक इसके विपरीत स्वायंभुव के प्रदेश ब्रहमावर्त का सर्वोच्च महत्त्व प्रदर्शित है ।<sup>85</sup>
- 9. मनुस्मृति में स्वायभुव के परवर्ती मनुओं की अथवा वैवस्वत से पूर्व के मनुओं की किसी प्रकार की कोई चर्चा का न होना मी इसे स्वायभुवकालीन सिद्ध करता है। एक स्यान पर केवल मनु के राज्य का उल्लेख है और वह प्रक्षिप्त है। कि शैली के आधार पर वह वैवस्वत के भी बहुत परवर्ती काल का प्रक्षेप सिद्ध होना है। यनोहि, वहां राजा पृथु का भी उल्लेख है, जो वैवस्वन मनु से सानवी पीदी में हुआ है। की

श्रेली पर विस्तृत विवेचन 'मनु-का रचयिता स्वायमुव मनु' शर्मकान्तगैत इन्टच्य है।

३६. **ंमनुर्वेबच्यतो राजा-इत्याह । तस्य मनुष्या विशा**ः । <sup>\*\*</sup> (शत. १३।४।३।३ (

<sup>8&#</sup>x27;3, बाल, '90 ।२० में वंजपरिचय में प्रथम प्रजापालक कहा है । बाल, '9 ।२ में कहा है कि सन् न ही ज्यांच्या का बकाय — ''अयांच्या नाम नगरी नवामीयकोकियक्ता । मनुना मानवेन्द्रेण या पूरी निर्मिता स्थयम ।''

३६ मन २।१७-२०।।

३९. ंपृथुस्तु विनाबाद्वाज्यं प्राप्तवान् मनुरेव च । ं ७।४२ ।।

४०, वा. रामा, नल. ७०।२४।।

- द. १ १७९-६० में मन्वन्तर कालपरिमाण का वर्णन है । यदि मनुस्मृति वैवस्वत मन्वनतर काल की होती ता वहां पूर्व मन्वन्तरों के व्यतीतकाल और नामों का उल्लेख अवश्य मिलता । केवल मन्वन्तर का वर्णन होना इस बात का चोतक है कि यह प्रारम्भिक मन्वन्तर काल की कृति है, जबिक मन्वन्तर केवल एक कालपरिमाण रूप में प्रचलित हुआ । मनुओं के व्यक्तिगत नामों पर इनका नामकरण बाद में निर्घारित हुआ ।
- ९. मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में वर्णित वंशाविलयां भी निस्मृति का सम्बन्ध स्वायंभुव से सिद्ध करती हैं । मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर मनु का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मा से प्रदर्शित किया है । ब्रह्मा को विशेष महत्त्व भी दिया गया है, जैसे ब्रह्मावर्त आदि । वैवस्वत मनु का ब्रह्मा से सीधा सम्बन्ध न कुलवंश से है और न विद्यावंश से, <sup>४९</sup> जबिक स्वायंभुव मनु का है । उसका नाम स्वायंभुव भी स्वयंभू अर्थात ब्रह्मा का पुत्र या शिष्य होने से 'स्वायंभुव' है । मनुस्मृति में ब्रह्मा से सीधे सम्बन्ध की प्रवृत्ति और उसे महत्त्व प्रदान करने की भावना भी इसे स्वयंभुकृत सिद्ध करती है ।

## ३. मनुस्मृति भृगुप्रोक्त —

मनस्मृति को भृगुप्रोक्त मानने वालों के लिए आधारभूत सामग्री मनुस्मृति में ही प्राप्त है । परवर्ती ग्रन्थों में भी उसी को आधार बनाकर यह मान्यता प्रदर्शित की गई है । अत : यहां पहले उन्हीं श्लोकों की विषेचना की जानी आवश्यक है, जिनमें इसे भृगुप्रोक्त कहा गया है ।

१. पूर्वोक्त विवेचन में मनुस्मृति की शैली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । उससे यह निष्कर्ष सामने आया है कि इसकी प्रवचन शैली से मनु ही इसके आदि-प्रवक्ता सिद्ध होते हैं । १ । १ - ४ शलोकी में वर्णित है कि साक्षातकृतधर्मा ऋषि मानने के कारण ही ऋषि लोग मनु के पास आते हैं और धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा करते हैं । जिज्ञासा मनु से की है तो मनु ही उसका उत्तर देते हैं, और यह मी कि वहां इस विवय के अपने समय के विशिष्ट विद्धान् हैं । वह उत्तर १ । ४ - ५ से प्रारम्भ होकर अन्त तक हसी शैली में चलता है । इस प्रकार किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऋषियों के प्रश्न का उत्तर विया जाना न तो शैलीसंगत है और न व्यक्ति हिन्न सीच-बीच में बहुत-से श्लोकों में मृगु द्वारा प्रवचन करने का उत्लेख हैं । यह बड़ी अटपर्टी, अन्यावहारिक और अप्रासगिक बात है कि ऋषिगण विशिष्ट विद्वान् होने के नाते आये तो मनु के पास हैं, प्रश्न भी उन्हीं से करते हैं और तदनुसार प्रारम्भ में उत्तर भी मनु ही देने हैं । किन्तु पुन : भृगु इत्तर देना शुरू कर देते हैं ; जबिक अन्त तक शैली वही १ । अरम्म भनु द्वारा उत्तर देने वाली चलती रहती है ।

वस्तुत: मनुस्मृति में भृगु से सम्बन्धित सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। भृगु के शिष्यों ने भृगुको महत्त्व प्रदान करने और यनु से जोड़ने के लिए उनका प्रक्षेप किया है। मनुस्मृति की शैली से, उनके अटपटे वणन से उनकी अध्यावहारिकता से और अप्रासंगिकता से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे श्लोक मनुस्मृति में परवर्तीकाल में बलात डाले गये हैं। किसी भी स्थल पर मनुस्मृति के प्रसंगों से पूर्वापर रूप में उनका सलमेल न होना और विरुद्ध वर्णन होना भी उन्हें बलात किया गया प्रक्षेप सिद्ध करता है। आग उनकी प्रक्षिप्तता पर विचार किया जा रहा है।

क. एतद् वोऽयं भृगु: शास्त्रं श्राविध्यत्यशेषत: । एतद्वि भतोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि:।।

<sup>्</sup>रतः द्वराज्य वा रामा है आल १५०११९०-०१ में प्रदर्शित वंशावली । ब्रहमा से मरीसि मरीसि से कायण कारणा से विवस्थान विवस्थान विवस्थान विवस्थान कारणा में विवस्थान विवस्थान कारणा में विवस्थान विवस्थान कारणा में प्रतिस्थान कारणा में विवस्थान विवस्याम विवस्थान विवस्थान

### ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना मृगु:। तानक्षवीत् स्मृषीन् सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। १।५९-६० ।।

वर्षात — यह भृगु मुनि इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को सुनायेगा, क्योंकि हिन इस सम्पूर्ण शास्त्र को भलीभांति मुझ मनु से सीखा है। गहिषि मनु के इस प्रकार कहने पर वह गति भृगु विज्ञासा की दृष्टि से आये उन सब ऋषियां को प्रसन्निचत होकर 'सुनिये' ऐसा बोलें। प्रिस्निप्तता विवेचन —

उपर्युक्त शैलीगत आधार के अतिरिक्त ये श्लोक इन आधारों पर भी प्रक्षिप्त मिद्ध होते हैं— १. प्रसंगविरोध — पूर्वापर १।५७ और १।६४ श्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल का वर्णन है । इन श्लोकों के अप्रासंगिक वर्णन ने उस प्रसंगक्रम को भंग कर दिया है । मृत सृष्टियुत्पत्ति विषयक जानकारी दे रहे हैं । यह प्रकरण १।१४४ (२।२५) में पूरा होगा । एक प्रविलत प्रकरण के पूर्ण हुए बिना, बिना ही प्रसंग के इस शास्त्र का अध्ययन-संभापन क्रम बतलाकर मृत द्वारा शास्त्र सुनाने की बात कहना, विसंगतिपूर्ण, अटपटा एवं बलात डाला गया प्रक्षेप है । २. अन्तर्विरोध — १।५८ और १।६१-६३ श्लोक भी प्रसंग की दृष्टि से इन श्लोकों से सम्बद्ध है । उनमें १।६, १४-२३ में वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति के क्रम के विरुद्ध वर्णन है । मनुओं से चराचर सृष्टि उत्पन्त नहीं हो सकती । ३. मनुस्मृति मूलत : प्रवचन होने से उनके लिए मूल संकलन में आस्त्र' शब्द का व्यवहार नहीं बनता । यहां 'शास्त्र' पाठ इन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है । (इससे सम्बधित विवेचन इसी अध्याय में 'स्वायम्भुव मनु' शीर्षानन्तर्गत १।६१-६२, ब्रहमा शीर्षकान्तर्गत १।५८ श्लोक पर तथा विस्तृत समीक्षा भाष्य में यथास्थान देखिए) ।

# ख. यथेदमुक्तवान शास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्यथा।

नथेदं य्यमप्यद्य मन्सकाशान्तिबोधत ।। १।११९ ।। अर्थ — महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं — जैसे पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुझे इस शास्त्र का उपदेश किया था, वैसे ही आज आप लोग भी मुझसे सुनो ।

प्रक्षिप्तता विवेचन — १. प्रसंगविरोध — पूर्वापर १।११० और १।१२०(२।१) क्लोकों में धर्म के स्वरूप के विवेचन का प्रसंग हैं। उस प्रसंग के मध्य बिना ही प्रसंग के 'मनु सं शस्त्र सुनने और स्वयं सुनाने' की बात कहना असंगत हैं। इससे पूर्वापर प्रसंग मंग हो गया है। २. शैली की दृष्टि से यह भृगु से भी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा रचित हैं। फिर मनु का तो किसी भी दृष्टि से नहीं हो सकता। (विस्तृत विवेचन भाष्य में दृष्टव्य हैं)।

<u>गः</u> ५।१-४ क्लोकों में महर्षि लोग भृगु से प्रश्न करते हैं कि अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी विद्वानों को मृत्यु क्यों प्रभावित कर लेती है। भृगु उन्हें उत्तर देते हैं कि वेदों के अनभ्यास. सवाचारत्याग, आलस्य और अन्नदोध के कारण विद्वानों को मृत्यु मारती है।

प्रिक्षिप्तता विवेचन — १. शैली की दृष्टि से ये श्लोक भूगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति की रचना हैं। स्मृति के प्रारम्भ में प्रश्न मनु से किया था। मनु के पास ही त्रृषि आये थे। भृगु से पुन: प्रश्न और उसके द्वारा उत्तर मनुस्मृति की शैली के अनुरूप नहीं है। २. प्रसंगितिरोध — अग्रिम प्रसंग भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का है, जबकि इन श्लोकों में मृत्यु का कारत पूछा और बताया जा रहा है। यहाँ प्रश्न और उत्तर की असंगति इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करती है। (विस्तृत विवेचन भाष्य में द्रष्टव्य है)।

व चातुर्वण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्वतः पराम् ।।
स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो मृगुः ।
अस्य सर्वस्य श्रृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ।। १२।१-२ ।।

प्रिष्ठाप्तता विवेचन — २. प्रसंगविरोध — इससे पूर्व ११।२६६ श्लोक में मौलिक शैली से पूर्विषय की समाप्ति और अग्रिम कर्मविधि विषय के प्रारम्भका संकेत हैं। उसके बाद पुन: प्रश्नोत्तर करना असंगत भी है और मनु की शैली के विपरीत भी। २. ये भी भृगु से परवर्ती व्यक्ति की रचना है।

ड॰ इत्येतन्मानवं शास्त्रं मृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः। भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयद् गतिम्।।१२।१३६।। अर्थ — इस भृगु द्वारा प्रोक्त मानवशास्त्र को पढ़ने वाला द्विज सदा आचारवान् रहता है और इच्छित गति को प्राप्त करता है।

प्रिक्षिप्तता विवेच-। —-१. इस श्लोक में मनुस्मृति के लिए किया गया 'शास्त्र' शब्द का व्यवहार इसे परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है (द्रष्टव्य इसी अध्याय में ब्रह्मा शीर्षकान्तर्गत १।५८ पर विवेचन)। २. यह श्लोक मी इसे भृगु से परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचित सिद्ध करता है। ३. यद्यपि इसमें इस स्मृति को मनुरचित कहा है,फिर भी भृगु का नाम महत्त्वप्राप्ति की इच्छा से जोड़ दिया है। ४. इस प्रकार का उपसंहार मनु की शैली के अनुरूप नहीं है। वे केवल प्रस्तुत विषय का फल प्रदर्शित करते हैं (१२।१२५ में)।

इस प्रकार भृगु के नाम के उल्लेख वाले सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । यह कहना चाहिए कि इस प्रकार तो ये श्लोक भृगुरचित मी नहीं अपितु किसी परवर्ती व्यक्ति ने रचकर मिलाये हैं । इस आधार पर यदि भृगुकृत मानें तो फिर यह भृगु से भी बाद के किसी व्यक्ति की रचना माननी पड़ेगी ।

२. यहां कुछ लोग यह शंका उठा सकते हैं कि जैसे मनु के नामोल्लेख वाले श्लोकों को पारम्परिक जनश्रुति के समान आधार मानकर इसका कर्ता स्वायंभुव मनु माना है, ऐसे ही भृगु के श्लोकों को भी आधार क्यों न माना जाये ?

इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि भृगु नामोल्लेख वाले श्लोकों का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही नहीं जुड़ता । वे सभी बलात डाले हुए लगते हैं । इसके मूल में भृगु के शिष्यों की शायद यह भावना रहीं है कि उसे मनु के प्रसिद्ध शास्त्र से जोड़कर कम-से-कम प्रवचनकर्ता के रूप में तो महत्व मिल जाये । यद्यपि यह माननं में कोई आपित नहीं है कि भृगु ने मनुस्मृति का प्रवचन किया होगा । लेकिन उसके प्रवचन के आधार पर, उसके पश्चात मनुस्मृति का संकलन हुआ, यह कथन बिल्कुल निराधार है । हो सकता है, प्रवचनों का आद्य संकलन भी भृगु ने किया हो, क्योंकि वह मनु के समकालीन था । किन्नु मौलिक संकलन में भृगु के नाम की कोई गुंजायश नहीं बनती ।

3. प्रतीत होता है कि भृगु की अपनी कोई पृथक संहिता रही है, जो आज उपलब्ध नहीं है। महाभारत शान्ति, ५७।५१ में निम्न श्लोक भृगु के नाम से उद्भत है —

> राजन्यं प्रथमं त्रिन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् । राजन्यसति लोकस्य कृतो भार्या कृतो धनम् ।।

यह श्लोक वर्तमान मनुस्मृति में नहीं है । इसी प्रकार विश्वरूप ने गाज्ञवल्क्य स्मृतिमाष्य १।१८७, २५२ में जो श्लोक भृगु के नाम से उद्दृत किये हैं, वे भी मनुस्मृति में नहीं हैं । अपरार्क ने भृगु के नाम से निम्न श्लोक दिया है जिसमें मनु का नाम है —

येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नत:। कारयेत सञ्जनैस्तानि नामिशस्तं त्यजेन् मनु:।। (याज्ञवल्क्यस्मृति २।९६)।।

- 8. यदि वर्तमान मनुस्मृति भृगु संहिता होती तो इसका प्रारम्भ मनु के पास आने की घटना से न होकर भृगु के पास आने की घटना से अथवा उनसे की गई जिज्ञासा से होता, जैसा कि नारद, अग्नि, विष्णु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि की स्मृतियों में हैं। <sup>४२</sup> मनुस्मृति का मनु की घटना से प्रारम्भ मी यह संकेत देता है कि यह भृगुसहिता या भृगु की रचना नहीं, मनु की है। ऐसा उदाहरण अन्य किसी स्मृति में नहीं पाया जाता, जैसा मनुस्मृति में भृगु को जोडकर प्रस्तुत किया है।
- 4. कई ग्रन्थों में भविष्यपुराण का एक श्लोक उद्भूत मिलता है, जो इस बात का विवरण देता है कि स्वायम्भुव शास्त्र अर्थात् मनुस्मृति के आधार पर चार सहिताओं का निर्माण हुआ था १. भृगुसंहिता, २. नारदसंहिता, ३. बृहस्पित संहिता, ४. आंगिरस संहिता । ४६ इनमें अन्तिम तीन उपलब्ध हैं, भृगुसंहिता उपलब्ध नहीं है । इन तीनों का प्रारम्भ भी उन-उन प्रणेताओं के नामों से है, यही शैली भृगुसंहिता की रही होगी । स्पष्ट है कि मनुस्मृति से भिन्न कोई भृगुसंहिता रही है ।

इन प्रमाणों और संकेतों से यह स्पष्ट हुआ कि प्रचिलत मनुस्मृति भृगुप्रोक्त नहीं है । भृगु मनु का पुत्र और शिष्य था । मनु की विद्यापरम्परा से भी सम्बधित रहा है । प्रतीत होता है कि भृगुसंहिता का प्रचलन नहीं हो पाया तो भृगुपरम्परा के शिष्यों ने अपनी परम्परा की प्रसिद्ध स्मृति मनुस्मृति में भृगु के नाम का समावेश कर दिया । उसे भृगु के प्रवचन का रूप दे विया । परिणामत : भृगुसंहिता विलुप्त हो गयी ।

### ४. मनुस्मृति ब्रह्माप्रोक्त —

एक मान्यता यह भी है कि वर्तमान मनुस्मृति मूलत: ब्रह्माप्रोक्त है। यद्यपि इस मान्यता को मानने वाले विचारकों की संख्या कम है। इसका स्रोत भी मनुस्मृति ही है। इसलिए यहां उस स्रोत-रूप श्लोक पर ही विचार करना चाहिए।

मनुस्मृति में केवल एक स्थान पर यह उल्लेख आता है। स्वायंभुव मनु कहते हैं — 'इस ब्रह्मा ने इस मनुस्मृति शास्त्र को रचकर सबसे पहले मुझ मनु को ही विधिपूर्वक पद्मया, और फिर मैंने मरीचि आदि दश मुनियों को ग्रहण कराया।' श्लोक है —

इदं शास्त्रं तु कृत्वा इसौ मामेव स्वयमादित: । विधिवद् ग्राह्यामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् । । १।४५ । ।

४२. अत्रि स्मृति का प्रारम्भ — ''हुतागिनहात्रमास्तिमत्रि' वेदविदा' वरम्-इद' वचनमबुवन्'
विष्णु स्मृति में — ''विष्णुमेकाग्रमासीन' . . . पप्रच्छुमुनय : सर्वे ।।''
याज स्मृति में — ''योगीश्वर' वाज्ञवलक्य' संपूज्य मुनयोश्चुवन् ।।
बृहस्पति स्मृति में — ''राजा . . . मगवन्त' गुरू' श्रेष्ठ' पर्यपृष्कद बृहस्पतिम् ।।'

४३. हेमादि तथा संस्कारमयुख आदि ग्रन्थों में मित्रच्य पुराण का यह श्लोक मिलता है — मार्गवीया नारदीया च बाईस्पन्यांगिरस्यिप । स्वायंभवस्य शास्त्रस्य चतस्र : संहिता : मना : ।।

मनुस्मृति के प्रसंग में यह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । इसकी प्रक्षिप्तता पर विचार करने से पूर्व 'यह स्पष्ट करना भी प्रासंगिक होगा कि भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा को आदिगुरु माना जाता है । इस कारण प्रत्येक विद्यावंश उसी से प्रारम्भ होता है । यदि ब्रह्मा से मनु ने इस विषय की शिक्षा प्राप्त की हो तो इसे मानने में कोई आपत्ति नहीं । किन्तु यह कहना आपत्तिजनक है कि इस शास्त्र को ब्रह्मा ने रचा, फिर उसे ही मनु को दिया, और मनु ने अन्य ऋषियों को । यह कथन मनुस्मृतिसम्मत नहीं है ।

इस विवेचन को पढ़ते हुए आपने देखा कि मनुस्मृति में मनुस्मृति के प्रणेता के सम्बन्ध में तीन विरोधी मान्यताएं यत्र-तत्र उल्लिखित हैं। कहीं मनु को, कहीं मृगु को, तो कहीं ब्रह्मा को इसका प्रवक्ता कहा है। यह निश्चित है कि इसका रचियता है एक ही। स्पष्ट है कि प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही यह विवाद उमरा है। अत: अब इस श्लोक की प्रक्षिप्तता पर और उसके सन्दर्भ में इस पक्ष पर विचार किया जाता है। वस्तुत: मनुस्मृति को अधिक मान्यता, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि दिलाने की भावना से मनुस्मृति-परम्परा के व्यक्तियों ने इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ने का प्रयास किया है और इसी प्रवृत्ति के कारण इस श्लोक का प्रक्षेप किया गया है।

यह क्लोक अनेक आघारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है — १. प्रसंगविरोध — (क) इस क्लोक में ब्रहमा शब्द का उल्लेख नहीं है । टीकाकारों ने पूर्व क्लोकों से इस पद की अनुवृत्ति ग्रहण की है । पूर्व क्लोकों में १।५०-५१ को छोड़कर कहीं भी ब्रहमा का वर्णन नहीं अपितु सृष्टिकर्ता ब्रहम का है । १।५०-५१ क्लोक प्रक्षिप्त हैं । वहां से अनुवृत्ति भी ग्रहण नहीं की जा सकती क्योंकि उसके बाद ब्रहम के वर्णन वाले कई क्लोक आ गये हैं । (ख) यहां यह क्लोक असंगत भी है, यतोहि पूर्वापर १।५७, १।६४ क्लोकों में सृष्टि-उत्पत्ति की अवस्था और उसके काल परिमाण का प्रसंग है । उस प्रसंग को मंग करके बिना ही किसी चर्चा के यह कशन नितान्त अनावश्यक एवं अप्रासंगिक है ।

२. अन्तर्निरोध — यह श्लोक अगले १।५९-६३ श्लोकों से सम्बद्ध हैं, अत: इन समी श्लोकों का यह एक ही प्रसंग है। इन श्लोकों में मनुओं से चराचर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है, जे। सृष्टिक्रमविरुद्ध एवं भनु की पूर्ववर्णित मान्यता १।६, १४-२३ के विरुद्ध है।

इस श्लोक में ब्रहम। को इस शास्त्र का कर्ता कहने के कारण मनुस्मृति में पूर्वोक्त मनु, भृगु वाली मान्यताओं से विरोध आ गया है। इस श्लोक से उत्पन्न विरोध को दूर करने के लिये टीकाकारों ने पर्याप्त प्रयास किया है किन्तु उन का वह प्रयास 'तथाकिषत' ही रहा। उनका कहना है कि इसके मृल प्रवक्ता ब्रहमा है तथापि इसे मनुकृत इसलिए कहा जाता है कि — (अ) मनु को ब्रहमा ने शास्त्राशय रूप विधिनिषेध का अध्यापन कराया और मनु ने उसका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ इस रूप में बनाया। (आ) दूसरे मत के अनुसार — इस ग्रन्थ के रचियता ब्रहमा ही हैं, तथापि मनु ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा अर्थ के साथ इसे मरीचि आदि के लिए प्रकाशित किया। अत: यह मानवशास्त्र कहलाया। ये दोनों ही समाधान निराधार एवं अयुक्तियुक्त हैं। इसके विश्लेषण के लिए १।१-४ श्लोकों पर गहन दृष्टिपात करना होगा। इन श्लोकों के भाव और भाषा पर ध्यान देने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं —

(क) मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई पूर्वनिषद शास्त्र नहीं अपितु मूलरूप में, जिज्ञासा का प्रवचन के रूप में दिया गया उत्तर है, जिसका बाद में संकलन हुआ है। महर्षि लोग मनु के पास आकर धर्मों को क्रमश : जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं। [१।१-२] और मनु उसका उत्तर हैते हैं [१।४]।

- (ख) इसके मूल प्रवक्ता भी मनु ही हैं । यही कारण है कि मनु अपने ज्ञान के अनुसार सीघे वेथ स विज्ञात बातों का ही मनुस्मृति में दिग्दर्शन कराते हैं [१।२३-२४, ८७, १२५, १२९] । यहि यह ज्ञान ब्रहमा की परम्परा से प्राप्त होता या ब्रहमा द्वारा प्राप्त होना इसकी विशेषता मानी जाती तो स्मृषि लोगों को यहां मनु के लिये 'वेदों का ज्ञाता' कहने की आवश्यकता नहीं थी । वे यही कहते कि 'आप को ही ब्रहमा से इस ज्ञान को प्राप्त करने का अहोभाग्य प्राप्त हुआ है, अत: आपसे ही पूछने आये हैं । किन्तु ऐसा किसी प्रकार का संकेत न करके यहां उनकी व्यक्तिगत विद्वता का ही संकेत स्पष्ट हो रहा है कि वे स्वयं ज्ञाता हैं इसलिए अपने ज्ञान के आधार पर ही उन्हें उत्तर देना है — वेदों में खोजा हुआ अपना ही आशय बताना है, दूसरे का नहीं।
- (ग) यदि ब्रहमा से यह जान प्राप्त किया होता, और ब्रहमा के नाम के कारण ऋषियों को उस जान के प्रति आकर्षण होता, अथवा मनु को ब्रहमा के नाम से उसमें कोई विशिष्टता या ख्याित की बात नजर आती तो मनु सभी बातों के साथ 'ब्रहमा ने मुझे यह कहा, यह बताया या इसे उचित ठहराया. इसे नहीं' आदि कहते या उनके मन का उल्लेख करते । किन्तु मनुस्मृति में एक स्थल [९।१३८] को छोड़कर ब्रहमा के मन का कोई उल्लेख नहीं है । कहीं भी ब्रहमा के मन का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि मनुस्मृति की रचवा क्रे, साथ ब्रहमा का कोई सम्बन्ध नहीं है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि धर्माधर्म को प्रदर्शित करते समय या तो ऋषि-मुनियों के मन का उल्लेख किया है या अपने मन का ही । जब ऋषि-मुनियों की मान्यता के अनेक स्थानों पर संकेत हैं [ 'आहु मनीषण: (१।१७) 'धर्मस्य मुनयों गतिम्' (१।११० ।। २।८८, १२४) आदि ]—तो यि ब्रहमा का इसके साथ तिनक भी सम्बन्ध होता, तो उसका उल्लेख प्रमुखता से आता, क्योंकि ब्रहमा को इस विषय का मूल प्रवक्ता और अध्यापयिता का स्थान दिया है । इससे सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता स्वयं मनु हैं, ब्रहमा का इसकी रचना से कोई सम्बन्ध नहीं हैं ।
- (घ) मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई निषद्धशास्त्र के रूप में नहीं थी। उब शास्त्र के रूप में नहीं थी तो इसके लिए मूल-संकलन से 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता। उब 'शास्त्र' का व्यवहार नहीं बनता तो 'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की रचना की' यह प्रयोग भी नहीं बनता। इस प्रयोग के न बनने से मनुस्मृति का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार इन श्लोकों में वर्णित शास्त्र शब्द ही असंगत है।
- (ङ) मनुस्मृति अपने मूलरूप में ऋषियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रव वन के रूप में हैं। संकलन के बाद ही मनुस्मृति ने 'शास्त्र' का रूप ग्रहण किया और मौलिक संकलन वही कहा जा सकता है जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत रूप में संकलन हो, जबकि शास्त्र' संज्ञा का प्रयोग मौलिक नहीं हो सकता। क्योंकि, जो प्रवचन अभी किसी संकलन के या शास्त्र के रूप में नहीं आये हैं, उन्हें मनु 'शास्त्र कहकर कैसे पुकारते? स्पष्ट है कि मनु के प्रवचनों द्वारा 'संकलन' का रूप लेने के बाद जब वे 'शास्त्र' के रूप में विख्यात हो गये, तब जाकर इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये जिनमें इसे 'शास्त्र' शब्द से. व्यवहृत किया गया है।

इस प्रकार ५८ —५९ श्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग उन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है।
(च) कुछ विद्वानों की पूर्व प्रदर्शित उन दो युक्तियों के आधार पर यदि इसे मनुकृत माना जा सकता है तो युक्ति देने वाले उन विद्वानों को चाहिए कि वे इसे अन्तिम रूप में भृगुकृत माने (भृगुसंकलित नहीं)। क्योंकि यदि आशय समझ कर — पढ़कर उसे बतलाने के कारण मनु इसके रचयिता हैं तो भृगु ने भी मनु के आशय को महर्षियों के समक्ष अपने शब्दों में कहा है [ ५६ –६० ] । इस प्रकार तो भृगु इसके रचियता हुए । इस प्रकार ये युक्तियाँ स्वयं युक्तिदाताओं की मान्यता को खंडित कर रही हैं, अत : मान्य नहीं हैं । इन युक्तियों से यह बात पूर्णत : स्पष्ट हो गई है कि मौलिक क्लोकों के अनुसार मनुस्मृति की रचना के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मौलिक रूप से मनुकृत है और ब्रह्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाले सभी प्रसंग परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं ।

इस प्रकार सभी मतों के पक्ष-विपक्ष पर विचार करने के अनन्तर यही निष्कर्ष सामने आता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता या रचयिता स्वायम्भुव मनु हैं।



# ३. मनु और मनुस्मृति : काल निर्धारण

मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों ने जिन बातों को सर्वाधिक क्षति पंहुचायी है, उनमें एक है — 'मनु और मनुस्मृति का कालनिर्णय' । लेखकों ने मनुस्मृति में प्राप्त वर्णनों पर विचार किया है और उनके अनुसार ही काल का अनुमान लगाया है । कालनिर्णय के लिए आधार बनाये गये उन वर्णनों पर आगे विचार किया जायेगा, जिनके आधार पर मनुस्मृति को अर्वाचीन घोषित किया है । यहां प्रथम, मनु और फिर वर्तमान मनुस्मृति के कालनिर्धारण सम्बन्धी अन्य आधारों पर विचार किया जाता है । पूर्वोक्त विवेचन से यह मत स्थिर हो गया है कि स्मृति, धर्म- नियम आदि के प्रसंग में प्राप्त होने वाला मनु स्वायम्भुव मनु ही है । इस समस्त विवेचन और ग्रन्थ में मनु नाम से यही अमिग्रेत होगा ।

# (क) प्राचीन भारतीय साहित्य में स्वायंभुव मनु का काल —

- १. मनु के काल का अनुमान लगाने में मनुस्मृति तथा मनुस्मृति से मिन्न मारतीय साहित्य में प्राप्त वंशाविलयां ही सहायक हैं । मनुस्मृति में तीन स्थानों पर मनु के वंश्व की चर्चा है (क) ब्रहमा से विराज, विराज से मनु, मनु से मरीचि आदि दश त्रमृषि उत्पन्न हुए [१/३२ —३५] । (ख) ब्रहमा से मनु ने धर्मशास्त्र पढ़ा, मनु से मरीचि, भूगु आदि ने । यह विद्यावंश्व के रूप में वर्णन है । [१/५८ —६०] (ग) हिरण्यगर्म ब्रहमा के पुत्र मनु हैं और मनु के मरीचि आदि । [३/१९४] । यद्यपि मनुस्मृति के प्रसंगों में ये तीनों ही स्थल प्रक्षिप्त होते हैं, किन्तु पारम्परिक जनस्नृति के रूप में यदि इन्हें स्वीकार करें तो स्वायंभुव मनु पुत्र या शिष्य के रूप में ब्रहमा से दूसरी पीढ़ी में उल्लिखित है । यही तथ्य इसके स्वायंभुव (स्वयंभू ब्रहमा, उसका पुत्र या शिष्य) विश्वेषण से स्पष्ट होता है ।
- २. महामारत तथा पुराणों में भी वंशाविलयां प्राप्त हैं, उनमें भी मनु को ब्रहमा का पुत्र बताया गया है अथवा शिष्य के रूप में उसका सीघा सम्बन्ध ब्रहमा से वर्णित है। ४४

प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक मान्यताओं दे अनुसार ब्रह्मा को आदि सृष्टि में माना जाता है और भारत का प्रत्येक कुलवंश तथा विद्यावंश ब्रह्मा से ही प्रारम्भ होता है। इस प्रकार मनु का काल मी आदिसृष्टि का स्थिर होता है।

३. इसी मान्यता को निरुक्त ने मनु का मत उद्गत करते हुए एक श्लोक से पुष्ट किया है — अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽ ब्रवीत्।। ३।४।।

अर्थात — 'दायमाग में पुत्र और पुत्री, दोनों का अधिकार होता है' —यह विस्तर्गादौ — सृष्टि के आदि काल में स्वायम्भुव मनु ने कहा है i

४४. महा, आदि १।३२; श्रान्ति, ३३५।४४।।

यहां स्पष्टत: मनु का काल आदिसृष्टि बताया गया है । महर्षि दयानन्द इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं —महर्षि मनु आदिसृष्टि में हुए ।

8. भारतीय चतुर्युग और मन्वन्तर कालगणना पद्धति [मनु. १/६४ –७३, ७९, ८०] के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति को हुए एक अरब, छियानवे करोड़, आठ लाख, तरेपन हजार पिचासी वर्ष (१,९६,०८,५३,०८५) बीत चुकें हैं और छियासीवां सृष्टिसंवत इस वर्ष अर्थात् ईस्वी सन् १९८५ और विक्रम सं. २०४२ में चल रहा है। इकहत्तर (७१) चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। स्वायंभुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष — ये छह मन्वन्तर बीत चुके हैं। सातवां वैवस्वत मन्वन्तर इस समय चल रहा है। इस मन्वन्तर की चतुर्युगी में यह कलियुग का समय चल रहा है।

इस सृष्टि-उत्पत्ति के समय को सुनकर पाश्चात्य और आधुनिक लोग अत्यधिक आश्चर्य करते हैं और विश्वास मी नहीं करते । उन्हें यह जिज्ञासा होती है कि कालगणना का इतना हिसाब कैसे रखा गया । इसके उत्तर में उन्हें एक व्यवहार में प्रचलित प्रमाण सम्पूर्ण देश में उपलब्ध हो जायेगा । भारतीयों ने वर्षों की बात तो छोड़िये पल और प्रहर तक का हिसाब रखा है । ज्योतिषीय पंचांगों में यह आज भी उपलब्ध है । विवाह आदि धार्मिक कृत्यों में संस्कार के समय एक संकल्प की परम्परा है । उसमें 'आर्यावर्ते वैवस्वत मन्वन्तरे किलयुगे अमुक प्रहरे ' आदि बोलकर विवाह का संकल्प किया जाता है । इस प्रकार परम्पराबद रूप से समय का हिसाब सुरक्षित है । अ

उपलब्ध मारतीय वंशाविलयों के अनुसार ब्रह्मा को आदि वंशप्रवर्तक माना जाता है और मनु उससे दूसरी पीढ़ी में परिगणित हैं । इस प्रकार इस सृष्टि में जब से मानवसृष्टि का प्रारम्म हुआ है; स्वायंभुव मनु उस आदिसृष्टि या आदि समाज के व्यक्ति सिद्ध होते हैं ।

# (ख) आधुनिक मतों के अनुसार स्वायं भुव मनु का काल ---

आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन मतों को अमान्य मानकर नये सिरे से समग्र इतिहास पर विवेचन प्रारम्म किया हुआ है। ये इतिहासकार अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों की कल्पनाओं एवं कार्यपद्धित से प्रमावित हैं। यद्यपि इनके मतों में अनुसन्धान के आधार पर परिवर्तन आता रहता है, तथापि अब तक स्थिर हुए कुछ आधुनिक मतों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

श्री के. एल. दफ्तरी स्वायंमुव मनु का काल २६७० इ. पू. मानते हैं। \* श्री त्र्यं. गु. काले ने पुराणों के आधार पर मनु का काल ३१०२ ई. पूर्व निर्धारित किया है। \* लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ज्योतिर्विज्ञानीय तत्त्वों के आधार पर प्राचीन वैदिक साहित्य का कालनिर्णय करने का प्रयास

४५. मनु, १।६४-७३, ७९, ८० क्लोकों में चतुर्युंगी और मन्यन्तर कालगणना का पूर्ण विवरण है । विस्तार के लिए पाठकगण उनकी समीकाएं वेखें ।

४६. पाश्चात्व और आधुनिक लोग सृष्टि उत्पत्ति के इस समय पर अविश्वास करते हैं । वे प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक बात को ही प्रामाणिक समझते हैं । उनके लिए इस सृष्टि संबत्। की पुष्टि हेतु एक वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत है । यह एक सृखद आश्चर्य की बात है कि सृष्टि-उत्पत्ति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता बदल गयी है,और उन्होंने जो नयी मान्यता प्रस्तुत की है, वह मारतीय प्राचीन मान्यता से मिलती-जुलती है । प्रिस्ट वैज्ञानिक मैडम क्यूरी ने रेडियम घातु की खोज की है । मिट्टी में मिलने वाले रेडियम के कणों का परीक्षण और अध्ययनं करके, उनमें नियत समय में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि 'इस पृथ्वी को बने हुए लगमग दो अरब वर्ष हो चुके हैं ।' (रेडियम — मगवती प्रसाद श्रीवास्तव, साहित्य रसायन, पृ. ५७, प्रकाशक-कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) ।

४७. रामचन्द्रकालनिर्णय, पृ. ५५।

४८. पुराण निरीक्षण, पृ. ३१५ ।

किया है । उनके अनुसार कृतिका नक्षत्र में वसन्तारम्म के समय ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई और मृगिष्ठिरा नक्षत्र के काल में वैदिक मन्त्रसंहिताओं की रचना हुई । खगोल और ज्योतिष क्षास्त्र के अनुसार कृतिका और मृगिष्ठिरा नक्षत्रों में वसन्तारम्म क्रमश : आज से ४५०० एवं ६५०० वर्षों पूर्व हुआ था । इस प्रकार इन ग्रन्थों का काल क्रमश : २५०० ई. पू. तथा ४५०० ई. पू लगमग निर्धारित होता है । ४९ इस आधार पर मनु का काल भी ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व इसी कालाविध में निर्धारित होगा ।

स्वरचित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में, धर्मशास्त्र और स्मृतिग्रन्थों के प्रसिद्ध विवेचक डा. पी. वी. काणे ने शतपथ ब्राह्मण और तैतिरीय संहिता आदि का काल ई. पू. 3000 — १००० वर्ष माना है। मनु की जीवनस्थिति इससे पूर्व की होने के कारण मनु का काल मी इनसे प्राचीन होगा।

## मनु के आदिसृष्टि में होने से अभिप्राय —

आदि सृष्टि से यहां यह अमिप्राय नहीं हैं कि जब से संसार बना, वहीं काल यहां अमीष्ट है । यहां आदिसृष्टि से अमिप्राय मानव सृष्टि और मानवसमाज की संरचना से है । भारतीय इतिहास में ब्रह्मा से पूर्व कोई वंश परम्परा नहीं मिलती । इसका काल जो भी माना जाये, किन्तु इस वंशप्रवर्तक की दृष्टि से ब्रह्मा आदिसृष्टि का कहलाता है । इसी आधार परं मनु को आदिसृष्टि का कहा जाता है ।

विश्व के समग्र साहित्य में ऋग्वेद को सभी विद्वान् सबसे प्राचीन मानते हैं। उसके बाद ब्राह्मण प्रन्थों का समय माना जाता है। इस कारण वेदों को और वैदिक साहित्य को आदि सृष्टि का कहा जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों, तैतिरीय आदि संहिताओं भें धर्मग्रवक्ता के रूप में मनु का बहुधा उल्लेख आंता है। अत: मनु का काल ब्राह्मणग्रन्थों से पूर्व ही स्थिर होता है। प्राप्त प्राचीन वाइमय के आधार पर तो मनु का काल आदि सृष्टि या आदि समाज का निर्धारित होता ही है, आधुनिक मतों से मी यही माव ध्वनित होता है।

इसके अतिरिक्त मनु मानव व्यवस्थाओं के आदि कालीन व्याख्याता थे । इस कारण मी उन्हें आदिकाल का माना जाता है ।

### वेदो में मनु शब्द —

पाश्चात्य एवं पाश्चात्य विचारघारा के अनुगामी आघुनिक विद्वान मनु पर विचार करते समय उसका उल्लेख एवं जीवन-परिचय वेदों में खोजते हैं। उनका कथन है कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर व्यक्तिवाचक मनु शब्द आया है। कहीं उसे पिता कहा है, कहीं प्रारम्भिक यज्ञकर्ता, तो कहीं अग्निस्थापक के रूप में उसका वर्णन है। पर

इस चर्चा का उत्तर मनु के मन्तव्य के अनुसार दिया जाये तो अधिक प्रामाणिक होगा । मनु वेदों को ईश्वरप्रदत्त अर्थात अपौरुषेय मानते हैं । सृष्टि के प्रारम्म में ईश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य के माध्यम से वेदों का ज्ञान दिया । अपौरुषेय होने के कारण वेदज्ञान पूर्णत : चिन्त्य नहीं है, और अपरिमित है ।<sup>४२</sup> प्रारम्म में वेदों से ही शब्द ग्रहण करके व्यक्तियों और वस्तुओं का नामकरण किया

४९. गीता रहस्य में ।

५०. तैति, सं. २।२।१०।२: ३।१।९।४।। तां. ब्रा. २३।१६।७।। तैति सं. ३।१।९।३०।। काठ सं. ११।२।।

पर. ऋग राष्ट्रारहः रा ४।२; २।३३।१३; दाह्वार; दाह्वार: १०।६३॥७।।

४२. मेनु. १।२३: १।४

गया । " मनु द्वारा वेदों को अपौरुषेय घोषित करने के उपरान्त उसी मनु का वेद में इतिहास ढूंढना मनु के साथ ही अन्याय है, और मनु से पूर्व वेदों का रचनाकाल होने से कालविरुद्ध मी है। वेदों में मनु शब्द विभिन्न अर्थों में आया है। कहीं वह ईश्वर का पर्यायवाची है, " कहीं मनुष्य के लिये हैं, " कहीं मननशील विद्धन् के लिये हैं। " विचारकों को जहां इसके व्यक्तिवाचक होने का आमास होता है, वह वस्तुत: ईश्वरवाचक प्रयोग है। अधिक विस्तार में न जाते हुए, इस विषय में मनुस्मृति का ही एक प्रमाण देकर इस बात को प्रमाणित किया जाता है। ईश्वर का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं कि उस परमेश्वर को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, जिनमें एक नाम 'प्रजापित मनु' मी है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।१२/१२३।।

इस प्रकार मनु के मन्तव्य के अनुसार वेदों में "प्रजापति" पिता' आदि विशेषणों से संबोधित मनु ईश्वर ही है। इस आधार पर वेद में मनु का परिचय खोजना मनु के दृष्टिकोण के विरुद्ध है।

५३. मनु. १।२२।।

५४. ऋग्. १।८०।१६; (स्वामी दवानन्द भाव्य)

**४५. ४।२६।४; ४।२।१२; ६।२१।११, ८।४७।४।।** 

५६. ऋग्. १।६०।१६; १।३३९।९; २।३३।१३; (स्वामीदयानन्य भाष्य) ।। निरुक्त एवं ब्राहमणों ने इन अर्थें की पुष्टि की है — 'मन्: मननान् निरु. १२।३४, 'ये विद्यासस्ते मनव'' इत. ६।६।३।१६।।

### ४. वर्तमान मनुस्मृति का रचनाकाल

आधुनिक विचारकों का मत है कि वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति का यह छन्दोबद रूप पर्याप्त अवरकालीन है । इसकी कालाविध इंस्वी पूर्व प्रथम से द्वितीय शती मानी गयी है । उपर्युक्त विवेचन में सप्रमाण यह स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति के मूलप्रवक्ता स्वायंभुव मनु हैं, और अधिकांश विद्वान इसी मत को ही मानते हैं । इस तथ्य को तो सभी स्वीकार करेंगे ही कि जिसकी जो कृति है वह उसी के काल की होगी, अत: इस बात में तो कोई संदेह ही नहीं होना चाहिये कि मूलत: मनुस्मृति उसके प्रवक्ता स्वायंभुव मनु के काल की ही हैं । हा, यह बात अवश्य विचारणीय है कि उसका प्रारम्भिक रूप क्या रहा होगा । मनुस्मृति के आधरूप पर विचार इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा । यहाँ पहले, वर्तमान में प्रचलित मनुस्मृति के छन्दोबद रूप के काल पर विचार किया जाता है । यद्यपि अन्य प्राचीन ग्रन्थों की तरह मनुस्मृतिविषयक काल का कहीं कोई उल्लेख न होने के कारण सुनिश्चित रूप से समय का निर्धारण करना कठिन है, फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाने वाले उद्धरणों, नामोल्लेखों को आधार मानकर उसका अनुमान लगाया जा सकता है । अब यहाँ विद्वानों द्वारा इस विषय में आधाररूप में अपनाये गये तथ्यों पर तथा इसके कालनिर्धारण में सहयोगी अन्य आधारों एवं संकेतों पर विचार किया जा रहा है —

(क) अर्वाचीन आधार एवं संकेत — प्रथम ईस्वी सन् से लेकर १३०० ईस्वी तक के भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से जात होता है कि इस कालाविध में प्रचलित मनुस्मृति पर्याप्त लोकप्रिय एवं प्रमावी रही है। इस पर अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाष्य लिखे, जिनमें कुल्लूक भष्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका आज अधिक प्रचलित [११५० –१३०० ई.] है। पंघातिथि का मनुभाष्य सबसे प्राचीन भाष्य उपलब्ध है, जिसका काल ६२५ –९०० ई. के मध्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति पर सर्वज्ञनारायण की मन्वर्थविवृति [लगभग १४०० ई.], गोविन्दराज की मनुटीका [लगभग १२०० –१३०० ई.], नन्दन की नन्दनी और राघवानन्द की टीका उपलब्ध है।

विश्वरूप [७९० — ८५० इ. ] ने अपने याज्ञवल्क्य स्मृति माष्य और यजुर्वेदमाष्य में मनुस्मृति के लगभग दो सौ श्लोक उद्दूत किये हैं। " इससे परवर्ती मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर [१०४० — ११०० ई. ] ने भी अपने भाष्य में मनुस्मृति के सैंकड़ों श्लोक उद्दूत किये हैं। " शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र भाष्य में मनुस्मृति के कई श्लोक अपने विचारों की पुष्टि के लिए प्रहण किये हैं और कुछ श्लोकों के साथ तो मनु के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। " ५०० ई. में [कुछ के मतानुसार २०० — ४०० ई. ] जैमिनिसूत्र भाष्य में शबरस्वामी द्वारा मनु के मतों का उल्लेख किया 'मिलता है। 50 बौद महाकवि अश्वघोष ने अपनी 'बज़कोपनिषद' रचना में अपने विचारों की पुष्टि के लिए मनु के श्लोकों को उद्दुत किया है। 18 यह राजा कनिष्क [७८ ई.] का समकालीन था।

ईस्वी पूर्व के प्रन्यों पर दृष्टिपात करते हैं तो यद्यपि याजवल्क्य स्मृति में विषयों का वर्गीकरण नये दंग से किया है और बहुत सारे नये विषय मी अपनाये हैं, किन्तु मनु से मिलते हुए जो मी विषय हैं उनमें ऐसा लगता है जैसे मनुस्मृति को सामने रखकर ही उनका अपने शब्दों में संक्षेपीकरण किया हो । ६२ इसका काल १०२ ई. पू. माना जाता है । इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं कि मनुस्मृति, याजवल्क्य स्मृति से पर्याप्त प्राचीन रचना है । इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र को [१०० –३०० ई. पू. ] पढ़ने पर प्रतीत होता है कि अपने बहुत-से नये विषयों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ प्राचीन बातों के वर्णन में मनुस्मृति को आधार बनाकर वर्णन किया है । ६२ बहुत-से स्थलों पर मनु के मत का नामपूर्वक उल्लेख है । ६४ वर्तमान मनुस्मृति में ७ /१०५ पर पाया जाने वाला निम्न श्लोक कौटिल्य अर्थशास्त्र प्र १० / अ. १४ में लगमग उसी क्ष्प में पाया जाता है —

नास्य खिद्रं परो विद्यात् विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गृहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मन: ।।

मासकृत 'प्रतिमानाटक' [२०० –,२०० ई. पू. कुछ के मत में ४०० –५०० ई. पू. ] में रावण के मुख से उच्चारित वाक्य से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व 'मानवधर्म शास्त्र' एक प्रसिद्धिप्राप्त शास्त्र था-–

### ं रावण:— काश्यपगोत्रोऽस्मि सांगोपांग वेदमधीये मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रम् .... चं (पृ. ७९)

<sup>(</sup>५७. विश्वकाप ने बाज, स्मृ. १।४४ तथा २।७३, ७४, ६३, ६५ क्लोको के भाष्य पर मनु. के हाइ ह ७०. ७१, १०५, १०५ ३४० क्लोक उद्गत किये हैं।

४ क. याज समृ. ११७. ५३, ६२, ६२, ७२, ७६, ८०; २।१, २, ४ २१, २६ आदि श्लोकों के माष्य पर मनु. के २।१०,३।५,३।४४,९।६९,३।४९; ६।१२६, ८।१३६ क.४५-७, ८।३४०-३४१, ८।१२९ श्लोक उद्धन किये हैं।

७६ श्रीकराचार्य ने ११३,२६: ११३१३६: २११११: २११११८: ३१४१३६: ४१२१६ सुत्री पर मन् के ११२१: १०१४ तन्त १२१६; १२१९१; १२१९५-१०६: २१६७: ११६७ श्लोक उद्दत किये हैं। ३१११९४ पर मनु का नामोल्लास है और २११११ में मनुर्के बल्काल्याबदन ंथः शहमणधावय उद्दत करके मनु की प्रश्मा है।

६७. यर्नेसान्त्र का इतिहास --- मैं, जी काणे।

६१, बही।

६६ - **कराध्य मधा** --- **बका स्म. के.२**।७, **१।२५**, १।६४ : ६-७६ आदि भ्लोको में मनु, २।१२ २।६५ १।२५४, १५८, १४४ : ६।४० के भ्लोको का सक्षिण मात्र !

৪৪, **রম্পের রার্য্যান্**র র, ৪।র ৪, ১।৪, ৪।৫, ১৪।৬, ৪।ক বিন**র্মা র,** ৭৩ টা মন্ ও।রও, এ:রও ন্যা ৪৪, ৬।৪৬-২২২ বিন্তর্ক, ৬।১৬*৬ বুলারা ব*র ম্যাবর মার ।

ভাল, **রাজ্যার হ** ভাগে, হল হার্য হ্লাহ্র আরি :

इतिहासकार श्रुक्तरित 'मृच्छकटिकम्' नाटक को ई. पू. तीसरी श्रताब्दी को रचना मानते हैं । इसमें मनु के किसी ग्रन्थ का श्लोक उद्भत करते हुए 'ब्राह्मण अवध्य है' मनु का यह मत मनु के नामोल्लेखपूर्वक दिया है —

अयं हि पातकी विद्रो न वध्यो मनुरस्रवीत् । राष्ट्राद्स्मातु निर्वास्यो विभवैरक्षते : सह ।। मृच्छ ९।३९ ।।

- (ख) प्राचीन आधार एवं संकेत परम्परागत मान्यताओं के अनुसार और अधिक प्राचीन माने जाने वाले साहित्य में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्वरण मिलते हैं —
- १. महाभारत में अनेक स्थलों पर स्मृतिकार के रूप में स्वायंभुव मनु या मनु का उल्लेख आता है। बहुत से ऐसे श्लोक हैं जो मनु के नाम से उद्दत हैंऔर वे प्रचलित मनुस्मृति में यथावत पाये जाते हैं। ऐसे श्लोक, जो मनु के नाम के बिना भिन्न-भिन्न धर्मवर्णन प्रसंगों में/ उद्दत हैं, और जो मनुस्मृति में यथावत रूप में पाये जाते हैं, उनकी संख्या भी पचासों है। इसके अतिरिक्त किंचित पाठमेद वाले और यथावत गृहीत भाव वाले श्लोकों की संख्या भी पचासों में है। उदाहरण के रूप में कुछ श्लोकों का टिप्प्णी में विवरण दिया जाता है। इं अनुसन्धान करने पर और भी मिलेंगे।

#### ६५/(अ) स्वायंभुव मनु के नाम वाले श्लोक ---

महा, आवि , ७२ १ द-९, शान्ति, ३६ । ५-६, ३३५ । ४४-४६, अध्यायं १२: १२१ । २६-१२१ । १०. १२ आदि ।

#### (आ) मनु के नाम से उद्दत मनुस्मृति के श्लोक ---

महाभारत में शान्ति, ४६ । २४ आदि, ७३ । ९-१० मनुस्मृति में ९। ३२१

3198

(夏)	मनु	के	नाम	के	बिना	उद्गत	मनुस्मृति	को	श्लोक	
-----	-----	----	-----	----	------	-------	-----------	----	-------	--

महामारत में	मनुस्मृति में	महाभारतः में	मनुस्मृति में
आदि, ७४ । ५०	२ । ९४	१०८ । १७-२०	
शान्ति, ३४ । २	११ । ४४	१२१ । ६०	
áa 1.8-ã	११ । ७५-७६	१३० । १०	* * * *
३५ । ३	88 1 13%	१३० । २०	E 188
न्य । १६	११ । ३०	१३५ । २२	प्र । १७३
इहं। ५७	४ । २१६	१४० । ७. इ. २४	19 1 802-808
ଞ୍ଗ ∤ଞ୍ୟ	३ । १२७	268 FR	११ । २३७
३६ । ४६	<b>२</b> । १४%	48A 15-A 316A	११ ! १-४ ७ ११-४०
38 1813	0.000	୧୫୨ . ୧୬ . ୧୧ . ୫୯	४ । २३८ - २३५ :
୨ହ୍ୟ କ୍	2.400	<del>୭</del> ୫-୫ฤ	१४ । १६० २०७, २०
794 1.80	, 20%	:	ारेल अस कर अस छन
१६० ( १३ (आधा)	8 1 328	१३५ । ५५	ह्न । इंख्र
13.4	E 1307	१३५ । ७ ५६	99 1 984 948
24 1 85	1 1 2 O Y	୧୯୫ । ୬ %-୧୬	४ । ३२ : ३ । २६४ ;
কণ্ড : ৭৮ গৃহ	७ । ४६०-१६३		छ । १७२-३७४∶
<b>5</b> 3 1 28	७ (१२७	इंडड । १०-११	६ । ५५-५६
व्यः । १६	9   8 <del>5</del> 9	୧୪୫ । ହଣ	8   as

इन सब प्रमाणों से वर्तमान मनुस्मृति की स्थिति महाभारत से पूर्व सिद्ध होती है। महाभारत के अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर और भारतीय परम्परा से महाभारत के युद्ध का काल पांच हजार वर्ष से पूर्व माना जाता है और महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास को उस युद्ध का समकालीन माना जाता है। इस प्रकार मनुस्मृति का काल उससे भी पूर्व स्थिर होता है।

इतिहास के आधुनिक विदान् महामारत का रचनाकाल और युद्ध काल मिन्न-मिन्न मानते हैं उनके अनुसार महाभारत का रचनाकाल १००-६०० ई. सन् के मध्य हैं। एक नयी खोज के अनुसार यह काल १०० ई. पू. तक माना जाने लगा है। 158

### राज मिर्घृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा: । निर्मला: स्वर्गमायान्ति सन्त: सुकृतिनो यथा ।।

., ९० । १६	८ । १६	२४४ । १५	६।४-५
९१। ६	९ । ३०१	२६४ । ११-१३	४ । २२४-२२६
९१ । २१	प्र । १७२-१७३		
१०८ । ५-९, १२	२ । २२९-२३४		

#### (ई) मनुस्मृति के मावों का यथावत् वर्णन करने वाले श्लोक — महाभारत में मनुस्मृति में महाभारत में मनुस्मृति में शान्ति, ३६ । २० १२ । ११०, ११२ शान्ति. २०१ । ३२-३३, १२ । ८, .. ३६ । २⊏ ४ । २१७, २२० २४३ । २-४, 8 1 19-4. ९ । ३१३,३१९ ., ५६ । २४. २४३ । ७-८, ४। २९-३१ 9 1 59 २४४ । ८-९ ६ । १८ ,, ७२ । १२, ७ । ११४-११७ २४४ । १२-१५. इ । १७,२०,२९. ., ६७ । ३-५, ७ । १२८ २४४ । २३-२४, ६।३८ ,, হও । १६ ,, दद । ४-५, ७। १२९ २४४ । ४-५, ६ । ४३-४४ ., ९५ । १८ उ । १७२ २४४ । १७, E 180 ,, १६५ । २४, 86 1 58 २४४। ७. ६ । ४३-४४ १६५ । ५६-५९ ११ । १२६-३१

., १६५ । ६६

८ । ३७१. ३७३

उह. आ बिन्तामिंग विनायक वैद्य ने अपनी 'महाभारत मीमांसा' में श्रोधपूर्ण तस्य प्रस्तुत करने हुए कहा है कि 'एक हायों क्राय मोन्टोंभ' नामक यूनानी लेखक ५० ई. में वर्ष्टल: के पाण्डय देश में आया था । उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि भारत में एक लाख बलोकों का 'इलियड' [== ऐतिहासिक महाकाव्य ] है । इसमें सन्देह नहीं कि इलियड से उसका अभिप्राय 'महामान्त' से ही है ।'

### शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेन: पापात् प्रमुच्यते ।। राजात्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम ।।

(ख) इनके अतिरिक्त वा. रामा. अयो. १०७/१२ में एक और श्लोक मिलता है, जो मनु. ५/१३८ में प्राप्त है। चतुर्थ पाद में पाठभेद के अतिरिक्त यह ज्यों का त्यों है। वहां यह श्लोक मनु के नाम के बिना उद्दत हैं —

पुम्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन्यः पानि सर्वतः ।।

भारतीय प्राचीन मान्यता के अनुसार वाल्मीकि रामायण राम के समकालीन है और राम का काल लाखों वर्ष पूर्व माना जाता है । पाश्चात्य एवं आधुनिक भारतीय विद्वान रामायण का रचनाकाल ई. पू. तीसरी शताब्दी से छठी ईस्वी तक मानते हैं । हालांकि आजकल कुछ पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय लोगों ने यह एक नया विवाद उत्पन्न कर दिया है कि वाल्मीकि रामायण महाभारत से परवर्ती है। प्रसंगवश यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समभता हूं कि ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनके आधार पर महाभारत रामायण से परवर्ती रचना सिद्ध होती है । 'महाभारत रामायण से पूर्व की रचना है' यह मत कुछ पाश्चात्य विद्यानों ने दिया है और उनके कुछ भारतीय अनुरायियों ने उनकी हा में हा मिला दी है। माषा का आधार मानकर वे लोग ऐसा कहते हैं। लेकिन यह कोई अकाट्य आधार नहीं है, और न उनके पास इसकी सिद्धि के लिये ठोस प्रमाण हैं । यहाँ इस विषय को उठाना प्रासंगिक नहीं है, अत : दो चार प्रमाण देकर ही इस चर्चा को समाप्त किया जाता है । इस विवेचना में उसी पुरानी भारतीय मान्यता को स्वीकार किया गया है कि महाभारत वाल्मीकि से परवर्ती रचना है । वाल्मीकि रामायण को महाभारत से पूर्व सिद्ध करने वाले प्रमाण हैं —(क) रामायण में महाभारत की घटनाओं या कौरवों, पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं, जबकि महाभारत में वाल्मीकि, उसकी रामायण, राम सम्बन्धी घटनाओं तथा उसके पात्रों का उल्लेख है. (ख) महाभारत में अनेक स्थलों पर घटनावर्णन. उपमाएं, श्लोकार्घ रामायण से मिलते हैं (ग) निम्न दो श्लोक महाभारत में वाल्मीकि रामायण के प्राप्त होते हैं ---

# अ. ब्रह्मच्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा । निप्कृतिर्विहिता राजन कृतच्ने नास्ति निष्कृति : ।।

महा, शान्ति, १७२/२५ ।।

ामायण में यह किंग्कि, ३४ /१२ पर है । वहाँ ब्रह्मध्ने के स्थान पर 'गोध्ने' पाठभेद है । 'राजन' के स्थान पर 'सद्भि:' पाठ है ।अन्य यथावत है ।

### आ. न हन्तव्या: स्त्रियश्चेति तद्ववीषि प्लवंगम । पीडाकरममित्राणां यच्च कत्तव्यमेव तत् ।।

महा. ७/१४३/६६ ।। (वा. रामा. में युद्ध- ८१/२८ में )

३. मनुस्मृति में केवल वेदों [१।२१, २३; ३।२; ११।२६२-२६४; १२।१११-११२ आदि] और वेदागों [२।१४०, २४१] का ही उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख मी एक विद्या के रूप में है न कि किसी व्यक्ति विश्लेष द्वारा रचित ग्रन्थ के रूप में। इसकी पुष्टि के लिए दो तर्क दिये जा सकते हैं — (क) इन विद्याओं के साथ न तो कहीं रचयिता का संकेत है और न ग्रन्थरूप का। (ख) १२।१११ में इन विद्याओं के जाताओं का 'हेतुक: 'नर्की' 'नैरुक्त : धर्मपाठक:' आदि विद्याविशेषणों से परिगणन किया है, न कि ग्रन्थज्ञाता के रूप में। एक-एक विद्या पर विभिन्न

आचारों के ग्रन्थ प्राप्त से रहे हैं। किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख न होना और अन्य ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विधाओं का उल्लेख न मिलना यह सिद्ध करता है कि यह स्मृति इन सबसे पूर्व की रचना है। (मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अन्य विद्या-विषयों, व्यक्तियों के नामों एवं स्थानों के विषय में समाधान इसी अध्याय में आगे 'मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाधान' शीर्षक में विखये।

- ४. मनुस्मृति का आघार केवल वेद ही हैं। मनु सीघे वेद से विज्ञात बातों को ही घर्मरूप में विणित करते हैं और उसी को आघार मानने का परामर्श देते हैं [१/४, २१, २३;२/१२६, १२९, १३०, १३२; ११/९२-९३, ९४, ९७, ९९, १००, १०६, ११०-११२, ११३ आदि]। वेद और मनुस्मृति के बीच अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख न मिलना यह इंगित करता है कि यह मूलत: उस समय की रचना है जब धर्म में केवल वेदों को ही आधारमूत महत्त्व प्राप्त था, अन्य ग्रन्थों को इस योग्य प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। यह समय अत्यन्त प्राचीन ही था।
- ५. विभिन्न स्मृतियों में तो मनु का उल्लेख भी है और प्रशांसा भी, अनेक सूत्रग्रन्थों में भी मनु के नग्म का तथा उसके मत का उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र [९/७/२; १०/७/१], आपस्त्रम्ब श्रौतसूत्र [२।१।७; ३/१०/३५], वासिष्ठ धर्मसूत्र [१/१७] आपस्तम्ब धर्मसूत्र [२/१४/११] बौघायन धर्मसूत्र [४/१/१४, ४/२/१६] गौतम धर्मसूत्र [२१/७], आदि उल्लेखनीय हैं।
- ह. अतिप्रचीन काल में इस सम्पूर्ण देश का नाम आर्यावर्त था। महामारत के अनुसार दुश्यन्त-शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष पड़ा [आदि. २/९५-९६; ७४ /१३१] महाभारत में इस देश को भारतवर्ष ही कहा गया है। <sup>५७</sup> मनुस्मृति में आर्यावर्त नाम का उल्लेख इसे महाभारत आदि ग्रन्थों से पुरातन और ग्रारम्भकाल का इंगित करता है।
- ७. रामायण काला में भी आर्यावर्त की वह मनुस्मृतिप्रोक्त स्थिति नहीं रह गयी थी. अत: रामायण मनुस्मृति से बाद की रचना है।
- द. इसी प्रकार ब्रह्मावर्त प्रदेश और उसका मनुप्रोक्त महत्त्व प्रारम्भिक काल में था । रामायण महाभारत तक इस प्रदेश का नाम बदल चुका था । इस ग्रन्थ में उसका उल्लेख न होना भी उन्हें मनुस्मृति के बाद की रचना सिद्ध करता है ।

### निष्कर्ष ---

उपर्युक्त आधारों और युक्तियों पर विचार करने के उपरान्त जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि वर्तमान में प्रचलित यह छन्दोबद्ध मनुस्मृति भी अत्यन्त प्राचीन है । उपलब्ध लौकिक भाषा के ग्रन्थों से तो यह प्राचीन है ही, कुछ वैदिक ग्रन्थों से भी प्राचीन है ।

आधुनिक मतों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उन पर 'मुण्डे मुण्डे मितिर्भिन्ना' वाली कहावत चिरतार्थ होती दिखायी पड़ती है । एक-एक बात को लेकर लगभग सभी प्रसिद्ध विद्वानों के अलग-अलग मत हैं । कहीं कोई एकरूपता नहीं । फिर इन मतों की स्थिरता का भी कोई भरोसा नहीं है । । बहुत जल्दी-जल्दी ये बदलते जा रहे हैं । फिर भी, उनके आधार पर भी यह निष्कर्ष सामने आया है कि यह छन्तेबद्ध मनुस्मृति रामायण, महाभारत आदि से प्राचीन है ।

स्मृतियों को प्राचीन मानने में आधुनिक विद्वानों को शायद इस कारण संकोच अनुभव होता है कि

वे पाश्चात्य विद्वानों द्वारा पहले से ही निर्घारित की गयी धारणाओं को मानकर चलते हैं । पाश्चात्य विद्वानों और उनके समर्थक भारतीय विद्वानों ने कालनिर्घारण करने के लिए पहले से ही कुछ सीमा-रेखाएं और उनके पूर्वापर क्रम बना लिये हैं कि अमुक संहिता काल है, अमुक सूत्रकाल, अमुक स्मृतिकाल है, आदि-आदि । लेकिन यह धारणा समीचीन प्रतीत नहीं होती । सत्रकाल में छन्दोबद रचनाएं भी हुई हैं और छन्दोबद रचनाओं के साथ-साथ सुत्रग्रन्थों की रचनाएं भी । यह मानना भी ठीक नहीं है कि सूत्रग्रन्थ पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और स्मृतियां उनके बाद की । इस बात को स्पष्ट और पुष्ट करने के लिए एक प्रमाण देना पर्याप्त रहेगा । आधुनिक इतिहासकार सुत्रग्रन्थों का काल . ३०० से ६०० ई. पू. तक मानते हैं और सबसे प्राचीन स्मृतियां गौतम और वासिष्ठ स्मृतियों को मानते हैं। इनका काल ६०२ ई. पू. निर्धारित करते हैं । यही विद्वान यास्ककृत निरुक्त का काल ८०० ई. प्. तक मानते हैं । निरुक्त ३/४ में जो दायभाग से सम्बन्धित मन का मत दिया गया है।वह किसी प्राचीन स्मृतिग्रन्थ का वचन है और अनुष्टुप छन्द में है<sup>६६</sup>। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनके मतानुसार भी ५०० ई. पू. से पहले भी स्मृतिग्रन्य थे । जब किसी अन्य स्मृतिकार ने मनु का मत अपनी स्मृति में श्लोकबद्ध किया है तो इसका मतलब है कि उस समय स्मृतियां श्लोकबद रूप में थीं । काल की दुष्टि से प्राचीन होने के कारण मनु की स्मृति पहले ही श्लोकबद हो चुकी होगी, इस समावना को नकारा नहीं जा सकता । इस प्रकार छन्दोबद मनुस्मृति के प्रचीन होने की पुष्टि हो जाती है।

यहाँ कुछ लोगों को यह शंका उत्पन्न होगी कि<sup>4</sup>रामायण को आदिकाव्य माना जाता है और वाल्मीकि को आदिकवि । उन्हीं के मुख से प्रथम छन्द का उद्भव हुआ था । यह कथन पूर्णत : अयुक्तियुक्त है । ऐसा सोचना इस कारण भी गलत है कि उससे पूर्व वेदों, सहिताओं में रामायण में प्रयुक्त अनुष्टुए छन्द के अनेक उदाहरण पहले से ही उपलब्ध हैं रू । रामायण को आदिकाव्य कहने से अभिप्राय केवल यही है कि काव्यात्मक शैली में, लौकिक साहित्य में वह प्रथम रसमय काव्य है । रामायण की प्रारम्भिक मुमिका में भा निषाद प्रतिष्ठां त्वम . . . ' [बाल. २ /१५] के प्रसंग में यह भाव नहीं है कि वाल्मीकि यह सोचने लगे कि मेरे मुख से निकला यह वाक्य गद्य रूप है अथवा श्लोकरूप, अपित वहां माव यह है कि 'मैंने मावावेश में यह दर्भावना यक्त अपवाक्य क्या, और क्यों कह डाला ।' टीकाकारों ने इस प्रसंग की गलन व्याख्या करके उस रूप में प्रस्तत किया है।

उस प्रसंग में ब्रहमा के अवतरण की पौराणिक काल्पनिक कथा ने इस व्याख्या को यह दिशा दी है । यह कथा उस प्रसंग में प्रक्षिप्त सिद्ध होती है । और रामायण में उद्भुत मनुस्मृति के श्लोकों को देखकर स्वत: ही यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति रामायण से भी प्राचीन है।



६८. अविशेषेच पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।

मिथनानां विसर्गातौ मन् : स्वायं मुवोऽत्रवीत् ।। ३।४ ।।

६९. लोकप्रचलित अनुष्ट्रंप खन्द का लक्षण हैं — 'पंचम लच्च सर्वत्र', सप्तम' द्विचनुर्थयो : । षष्ठ' गुरुविजानीयात् एनवन्द्रप लक्षणम् । इस लक्षण के आधार पर वेद का श्लोक देखिए ---

<sup>(</sup>क) वेद में --- यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

### प. मनुस्मृति को अर्वाचीन मानने के कारण और उनका समाघान —

इस विश्लोषण के बाद यह प्रश्न उठता है कि जब मनुस्मृति को प्राचीन सिद्ध करने के इतने आधार उपलब्ध हैं, तो फिर किस कारण से उसे अर्वाचीन माना जा रहा है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इसके जिम्मेदार आलोचक उतने नहीं है जितने कि मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले अर्वाचीनसाधक संकेत हैं । यहाँ उन्हीं कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनका समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है । मनुस्मृति में निम्न वर्णन इसको प्राचीन मानने में बाधा पहुंचाते हैं —

- १. परवर्ती राजाओं के नाम मनुस्मृति में मनु से परवर्ती अनेक राजाओं के नाम उदाहरण के रूप में पाये जाते हैं, यथा वेन, नहुष, पिजवनपुत्र सुदास, सुमुख, नेमि [७/४१]। मनु, पृथु, कुबेर, विश्वामित्र [७/४२]। सुदास [८/११०]। पृथु [९/४४] वेन [९/६६]। विश्वामित्र और चण्डाल कथा [१०/१०८]।
- २. परवर्ती स्मृतिकारों या ऋषियों के नाम मनुस्मृति में प्रसंगानुसार अनेक स्मृतिकारों और ऋषियों के मतों का उल्लेख है, या धर्मसिद्धि में उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, यथा अत्रि. उत्तथ्यपुत्र गौतम, शौनक, भृगु [३/१६]। वसिष्ठ [८/११०;८/१४०]। वत्स [८/११६]। वसिष्ठ अक्षमाला, शारंगी मन्दपाल ९/२४]। दक्षप्रजापति द्वारा कश्यप, धर्मराज, सोम राजाओं को कन्यादान [९/१२८-१२९]। अजीगर्त शुन:शेप [१०/१०५]। वामदेव [१०/१०६]। भरद्वाज-वृषु बढ़ई [१०/१०७]।
- ३. परवर्ती स्थानों के नाम कुछ ऐसे स्थानों का नाम मनुस्मृति में पाया जाता है जो, ऐतिहासिक दृष्टि से बाद में स्थापित हुए हैं, यथा कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, श्रूरसेनक प्रदेशों वाला ब्रहमर्षि देश [१/१३८ (२/१९)]। इन्ही देशों के वीरों का युद्ध में स्थाननिर्धारण [७/१९३]।
- ४. अर्वाचीन पौराणिक मान्यताओं का वर्णन कुछ ऐसी मान्यताएं मी मनुस्मृति में पायी जाती हैं, जो बहुत आधुनिक हैं, यथा —क. गंगा और कुरुक्षेत्र में पापनिवृत्ति के लिए जाना [८/९२] ख. आठ और बारह दर्ष की कन्या का विवाह [९/९४]।

इन वर्णनों या उल्लेखों के समाधान के प्रसंग में कुछ बातें ऐसी हैं, जो सामान्यरूप से सबके साथ लागू होती हैं — (क) इस प्रकार के सभी परवर्ती वर्णन समय-समय पर किये जाने वाले परिवर्तनों, परिवर्धनों और मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप किये गये प्रक्षेप हैं । अपने-अपने प्रसंगों में ये स्थल स्पष्टत : बाद में किये गये प्रक्षेप सिद्ध होते हैं । कहीं इनका प्रसंग से तालमेल नहीं है, तो कहीं मनु का अन्यत्र वर्णित मान्यता से विरोध है । इस प्रकार इन्हें काल निर्धारण में आधार नहीं माना जा सकता । पीछे कई स्थानों पर विस्तार से स्पष्ट किया गया है कि मनुस्मृति मूलत : मनु के प्रवचन हैं, और बाद में इन्हें संकलित किया गया है । सही संकलन वही माना जायेगा जो वक्ता के ही मावों को प्रदर्शित करे । इस प्रकार शैली से यह बात स्पष्ट होती है कि मनु के प्रवचनों में मनु से परवर्ती व्यक्तियों का (समकालीन पीढ़ियों को छोड़कर) उल्लेख संभव नहीं । फिर भी मिलता है तो इसका अभिप्राय है कि ये स्थल बाद में किसी ने मिलाये हैं । (ग) इन वर्णनों के आधार पर यह नहीं माना चाहिये कि यह परवर्ती काल में किया गया संकलन है या पुनर्सस्करण है, अपितु मौलिक रूप को आधार पर मी प्रक्षिप्त सिद्ध हुए हैं । इस सम्बन्ध में विस्तृत िवेचन माष्य में यथास्थान द्रष्टव्य

- है। यहाँ इनकी प्रक्षिप्तता को सिद्ध करने वालें कालक्रम संबन्धी तथ्यों को संक्षेप से प्रस्तुत किया जाता है —
- १. प्राचौन ग्रन्थों में प्राप्त वंशाविलयों के अनुसार मनु या स्वायंमुव मनु का झहमा के बाद की पीढ़ी में उसके पुत्र या शिष्य के रूप में वर्णन आता है। इस को सृष्टि में सवप्रथम राजा माना गया है। इस प्रकार अन्य सभी राजा और ऋषि स्वत: मनु से परवर्ती सिद्ध होते हैं। कुछ राजाओं और ऋषियों की वंशाविली अत्यन्त स्पष्ट उपलब्ध है। उससे यह कथन और अधिक पुष्ट हो जाता है। इन राजाओं में नहुष, नेमि या निमि, मनु और पृथु राजा, स्वायंमुव मनु के वंशाज वैवस्वत मनु के सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले अन्य राजा हैं। मनु विवस्कान का, पृथु अनरण्य का, नहुष अम्बरीष का, निमि इक्ष्वाकु का पुत्र था। <sup>७०</sup> कुबेर रावण का माई था। <sup>७१</sup> विश्वामित्र गांघि राजा का पुत्र था। <sup>७०</sup> वंन अगदेश का उद्दण्ड राजा हुआ है, जो कर्दमपुत्र अनग का पुत्र था। <sup>७०</sup> पिजवनपुत्र सुदास उत्तरपांचाल का राजा था, जो राम से मी कई पीढ़ी पश्चात्वर्ती है। <sup>९०</sup> सुमुख का निश्चित विवरण अज्ञात है। इस प्रकार ये मनु से बहुत पीढ़ी पीछे हुए हैं।
- २. ऋषियों के नाम, विद्यांदंश के आधार पर, अनेक कालों में उसी एक-एक नाम से मिलते हैं, अत: यह कहना कठिन है कि इन प्रसंगों में गृहीत विसष्ठ. भरद्वाज, वामदेव आदि कौन से काल के ऋषि अभिप्रते हैं, किन्तु फिर भी इस नाम से सर्वप्रथम पाये जाने व्यक्ति भी मनु से परवर्ती हैं। विसष्ठ. भृगु, अत्रि. मनु के ही पुत्र होने से परवर्ती हैं। अजीगर्त भृगुकुल में उत्पन्न आहमण है, और उसी का पुत्र शुन:शेप है। यह राजा हरिश्चन्द्र के समय का है। अक कश्यप, मरीचि के पुत्र थे। अप ये मनु की तीसरी पीढी में हैं।

इनके अतिरिक्त ८/१४० में वर्णित विसष्ठ शब्द व्यक्ति-वाचक न होकर 'अर्थशास्त्र के जाता विद्वान्' अर्थ में प्रयुक्त पद है। 'यो वसित घनादि कर्मसु सो ६ तिशयस्तम् उत्तमं विद्वासम्' निरुक्ति के अनुसार वहां उपर्युक्त अर्थ समीचीन है। इस अर्थ की पुष्टि ८/१५७, ३९८ श्लोकों के वर्णन से मी हो जाती है। १/२३ में वर्णित अग्नि, वायु, रवि और ३/१५१-१५३ में वर्णित अग्निस ऋषि मनु से प्राचीन होने के कारण उल्लेख्य हैं।

- ३. कुरुक्षेत्र आदि स्थानों का नामकरण तो मनु से बहुत अधिक परवर्ती है। यह नामकरण महाभारतकालीन है और कौरवों के पूर्वज राजा कुरु के नाम पर प्रचलित वंश के आधार पर रखा हुआ है। कुरु राजा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला के वंश में अनेक पीढ़ियों के बाद हुआ है। <sup>७०</sup> इसी प्रकार अन्य प्रदेशों का नामकरण भी परवर्ती है। इस प्रकार मनु के प्रवचनों में अत्यधिक परवर्ती स्थानों का उल्लेख संभव नहीं हो सकता। उक्त दोनों श्लोक मनुस्मृति में प्रसंगविरुद्ध भी हैं।
- ४. इसी तथ्य के आधार पर 'कुरुक्षेत्र जाने की' मान्यता के वर्णन का समाधान भी हो जाता है। जब मनु के समय कुरुक्षेत्र नहीं था तो वहाँ जाने का वर्णन करना समय ही नहीं। अत: यह भी

७०. वाल्मीकि रामायण बाल. ७० १२०, २४, ४२; ७१।३।।

७१. वही, बाल. २०।१८ ।

७२. वही, बाल. ३४।६ ।।

७३. महामारत शा. ५९।९६-९९।।

७४. प्राचीन च. को. प्र. १०५६ ।।

७५. मनु. १।३५।।

७६. ऐत. क्रा. ७।१५-५७।।

७७. वाल्मीकि रामा. ७१।१९-२८

७८ महाभारत आग. द९।४३।।

परवर्ती प्रक्षेप है। ९/९४ में बाल विवाहों का वर्णन मनु की पूर्व वर्णित मान्यताओं के विरुद्ध है। अधिक जानकारी के लिए भाष्य में उक्त श्लोक तथा ३/४ श्लोक पर विस्तृत समीक्षा द्रष्टव्य है। यह श्लोक प्रसंगविरुद्ध भी है। यही स्थिति अन्य अर्वाचीन वर्णनों की समम्मनी चाहिये। ४. मनुस्मृति में विभिन्न जातियों के नाम —कुछ लोगों का कथन है कि मनुस्मृति में यवन, वाल्हीक, कम्बोज, चीन आदि जातियों का उल्लेख है। यवन, कम्बोज, गान्धार लोगों का विवरण प्रियदर्शी अशोक के पाचवें शिलालेख में भी आता है, अत: मनु तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व हो सकते हैं।

मनुस्मृति में इन जातियों का उल्लेख १० /४३-४४ में आता है। दशम अध्याय का वर्णसंकरों का सम्पूर्ण प्रसंग परवर्ती प्रक्षेप है। यह मनु की एवंवर्णित मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने चार वर्णों की व्ययस्या दी है, और स्पष्ट शब्दों कहा है कि पाचवां कोई वर्ण नहीं है [१/३१, ८७-९१; १० /४।।]। वे इन्हीं वर्णों के घमों का विघान कर रहे हैं [१/२]। इस प्रकार इन जातियों के उल्लेख का मनुस्मृति में कोई प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। जब मनु के समय में और उनके मतानुसार चार वर्णों को छोड़कर कोई जाति-उपजाति नहीं है, तो उस काल में इन जातियों के अस्तित्व का तो प्रश्नः डी पैदा नहीं होता। उपर्युक्त दोनों श्लोकों में तो इन जातियों के श्रुद्ध होने के कारण बताये हैं और मूतकाल का वर्णन है। इस वर्णन पद्धित से ही स्पष्ट है कि यह चतुर्वर्णव्यवस्था के लागू होने और फिर उसमें विकार आने के बाद की स्थित का वर्णन है। इस प्रकार ये श्लोक मनुकालीन ही नहीं हैं।

### ६. मनुस्मृति में इतरधर्मस्मृतियों का उल्लेख --

कुछ लोग १२ / ९५ श्लोक के 'या घेदबाह्या: स्मृतय:' पदो' से अन्य स्मृतियों का अनुमान करते हुए यह कल्पना करते हैं कि मनु का यह संकेत उस समय की बौद्ध, जैन स्मृतियों की ओर है।

ऐसा सोचने वाले की यह कल्पना पूर्णत: निराघार है। यहां मनु का केवल इतना ही अमिप्राय है कि जो वेदानुकूल नहीं है, वह मान्य नहीं, चाहे वह किसी की रचना हो। क्योंकि, उन्होंने अपनी स्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है और वेदों को ही धर्म का मूल स्रोत और परमप्रमाण माना है [२/६, ८, ९, १०, ११, १२, १३ आदि]। १२/९६ के 'उल्पचन्ते च्यावन्ते च' आदि वचनों से स्पष्ट है कि मनु वेदविरुद्ध विचार रखने वालों के लिए यह एक शाश्वत कथन कर रहे हैं। यदि बौद्ध, जैन आदि का उस समय अस्तित्व होता तो उन्हें उनका नामोल्लेख करने में क्या संकोच था? जब इस तरह का कहीं कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है तो निराधार कल्पना करने से कोई लाम नहीं, ग्रान्ति ही पैदा होगी।

## ७. मनुस्मृति और उसकी भाषा —

यह कहा जाता है कि मनुस्मृति की भाषा बड़ी सहज, संरल लौकिक भाषा है। वह पाणिनि के व्याकरण का अनुगमन करती है। अत: वर्तमान मनुस्मृति पर्याप्त अर्वाचीन है।

यह ठीक है कि मनुस्मृति की माषा सहज और सरल लौकिक भाषा है । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि इस कारण इसको अर्वाचीन भाषा कहा जाये । मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है, जिसका सम्बन्ध सर्वमान्य रूप से सभी जनों से है । इसमें लोगों के आचार-विचार से सम्बन्धित निर्देश हैं । अत : ऐसे ग्रन्थ की भाषा का सहज, सरल होना स्वामाविक भी है, और आवश्यक भी । प्राचीन काल

में साहित्यिक भाषा के रूप में वैदिक भाषा का प्रयोग था तो व्यवहार में लौकिक संस्कृत का प्रयोग था ।

मनुस्मृति में कुछ पूर्वपाणिनीय प्रयोग मी मिलते हैं। इसमें पाये जाने वाले वैदिक प्रयोग और वैदिक प्रयोगशैली, इसे मूलत: पाणिनि पूर्व एवं वैदिककालीन संकलन सिद्ध करते हैं। यथा — (क) 'मेल्युक्त्वा' [८।५७ [ 'मे + इत्युक्त्वा' सिन्ध पाणिनीय नहीं है। इसमें इकार का पूर्वरूप छान्दस है। (ख) 'हापयित' [३/७१] का 'छोड़ता है' अर्थ है। यहां प्रेरणार्थक न होकर प्रकृत्यर्थ (मूल अर्थ) में 'णिच्' छान्दस है। (ग) २/१६९-१७१ श्लोकों में 'मोञ्जीबन्धन' और 'मोञ्जिबन्धन' पदों के प्रयोग में विकल्प से इस्व छान्दस प्रयोग है। (घ) 'उपनयनम्' के अर्थ में 'उपनायनम्' प्रयोग [२/३६] पूर्व पाणिनीय है। यहां दीर्घ को, पाणिनि ने व्याकरणसम्मत न होते हुए मी शिष्टप्रयोग मानकर 'अन्येषामापि दृश्यते' [अ. ६/३/१३७] सूत्र में स्वीकार कर लिया है। (ड॰) १/२० में 'आखाखस्य' प्रयोग है। यह 'आखस्य-आखस्य' होना चाहिये था किन्तु पहले 'आखस्य' का सुपुलुक् छान्दस प्रयोग के कारण माना गया है ('सुपां सुलुक् ...' अ. ०७/१ '३९)। (च) वैदिक भाषा की प्रयोग शैली —/आ हैव स नखाग्रेम्य:' [२/१६८], 'पुत्रका इति होवाच' [२/१४१] आदि।

इसकी भाषा के विषय में एक संभावना यह भी दिखायी पडती है कि पहले इसमें वैदिक प्रयोगों की अधिकता थी. जो धीरे-धीरे बदली जाती रही । क्योंकि यह सर्वसामान्य जनों से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ था, अत : इसकी भाषा में भी समयानुसार परिवर्तन होता रहा । ऐसे उदाहरण हमारे सामने विद्यमान हैं. जिनसे यह संभावना पष्ट होती है। वाल्मीकि रामायण के दक्षिणात्य, वंगीय और उत्तरपश्चिमोत्तरीय, ये तीन संस्करण प्रसिद्ध हैं एवं प्रचलित हैं । इनमें दक्षिणात्य पाठ में अभी भी वैदिक प्रयोगों का बाहुल्य है, जबकि अन्य संस्करणों में अधिकांश को बदलकर शौकिक कर दिया गया है । यही स्थिति मनुस्मृति के साथ भी संभव है । ऐसा इसलिए भी संभव प्रतीत होता है कि कालक्रम की दृष्टि से मनु सब ऋषियों से प्राचीन हैं और उनकी स्मृति सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है । फिर उनकी स्मृति का संकलन पर्याप्त अर्वाचीन समय में हुआ हो, यह बात बुद्धिसम्मत नहीं लगती । कुछ आधुनिक विद्वानों की यह मान्यता और भी विचित्र लगती है कि 'मनू से उत्तरवर्ती वसिष्ठ, गैतम आदि ऋषियों की स्मृतियां मनुस्मृति से प्राचीन हैं, 'उनका संकलन पहले हो चुका था, आदि । यदि भाषा की दृष्टि से इन स्मृतियों में कुछ पूर्वापर क्रम अनुमव भी होता है तो उसका कारण उनकी प्राचीनता और मनुस्मृति की नवीनता नहीं, अपितू मनुस्मृति के बहुप्रचलित और सामान्यजनों के व्यवहारोपयोगी होने के कारण समय-समय पर उसकी भाषा में और प्रयोगों में किया गया परिवर्तन है । अन्य स्मृतियों में, उनकी अप्रसिद्धि और अल्पप्रचलन के कारण ऐसा कम हो पाया है।

### ६. मनुस्मृति का आद्यरूप

मनुस्मृति का आदा रूप क्या रहा होगा ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए विचारकों ने कई मत प्रस्तुत किये हैं । कोई इसका आदिरूप गद्यबद्ध मानते हैं, कोई स्नुबद्ध, तो कोई पद्यबद्ध मानते हैं । मेरा विचार है कि इसकी शैली से इस प्रश्न का जो समाधान मिलता है, वह अधिक संतोषजनक एवं प्रामाणिक है । मनुस्मृति की शैली पर इस अध्याय के मध्य में (मनुस्मृति का रचियता कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में) पर्याप्त विस्तार से सप्रमाण प्रकाश डाला जा चुका है । उस निष्कर्ष के अनुसार मनुस्मृति, मूलत : मनु के प्रवचन हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया हैं । आदि से अन्त तक मनुस्मृति की प्रवचनशैली और संकलित रूप है । निरुक्त के प्रमाण से इस विचार को पुष्टि मिलती है जिसमें यह कहा गया है कि प्राचीन काल में उपदेशों-प्रवचनों से ही शिक्षा दी जाती थी, लिपिबद ग्रन्थों को पढ़ाकर नहीं । जब लोग उपदेशों से ग्रमाद करने लगे तो प्रन्थों का निर्माण हुआ और उनके माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी । 95

१. प्रवचन गद्यरूप में ही होते हैं । अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का आदरूप गद्यरूप था । गद्यरूप से इसे पद्यबद किया गया ।

इसकी पुष्टि के लिए शैली के अतिरिक्त मनुस्मृति के अन्य दो अन्तरंग प्रमाण मी मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि यथावत रखने में कुछ कठिनाई आयी तो उस क्रम को बदल दिया गया अथवा क्रम बदल गया । यदि मूलरूप पद्यबद्ध होता तो जिस क्रम से विषयों का परिगणन किया गया है, उसी क्रम में उनकी व्याख्या होती । यथा — (क) ८/६ में अठारह मुकहमों का परिगणन करते हुए 'पारूच्ये दण्डवाचिके' पदप्रयोग करते हुए 'दण्ड की कठोरता' और 'वाणी की कठोरता' इस क्रम से इन अमियोगों का वर्णन है । किन्तु इनकी विस्तृत व्याख्या में पहले 'वाक्यारूच्य' का वर्णन है [८/२६६ –२७७] । इस प्रकार क्रम बदल गया । शायद यह क्रम छन्द-आग्रह के कारण बदलना पड़ा ।

यद्यपि टीकाकारों ने इसका व्याकरणसम्मत समाधान प्रस्तुत किया है कि 'अल्पाच्तरं पूर्वम् [ अ. २/२/३४] के नियमानुसार 'अल्पाच्' होने के कारण छन्द में दण्ड का परिगणन पहले किया है। इसे मानने में कोई आपित मी नहीं है। किन्तु जहां इनका व्याख्याक्रम एक निर्धारित मूंखला में है, तो उस क्रम को तोड़कर 'अल्पाच' को महत्त्व देने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। स्वतन्त्र परिगणन में ही यह नियम समीचीन कहलायेगा। ऐसा लगता है कि यदि इस नियम के बिना उपयुक्त क्रम में 'वाग्दाण्डिके' प्रयोग द्वारा इन्हें रखा जाता तो छन्दोमंग व्यवस्य होता। शायद इसी विवशता के कारण उसका क्रम बदलकर 'दण्डवाचिके' प्रयोग करना पड़ा।

(ख) १२/८२ में छह नि :श्रेयसकर कर्मों का परिगणन इस क्रम से है — वेदाम्यास, तप, साम, इन्द्रियसंयम, धर्मिक्रिया और आत्मिचन्ता । किन्तु इनकी व्याख्या का क्रम इस प्रकार है — आत्मकान [१२/८५-९२] शम = इन्द्रियसंयम [१२/९२], वेदाम्यास १२/९२-१०२], तप और ज्ञान = विद्या [१२/१०४], धर्म [१२/१०५-११५]। लगता है, इनकी व्याख्या का क्रम गद्यरूप में इसी क्रम से था, किन्तु खन्दोबद्ध करते समय परिगणन

<sup>🗫 .</sup> निक. १।१९ ।। मनुष्मृति का मृत प्रवक्ता शीचकान्तर्गत पूर्व उद्गत ।

वाले अलोकों में इसी क्रम से छन्दरचना न बन पाने के कारण यह क्रम बदलना पड़ा।

- २. मनुस्मृति का आद्यरूप सुत्रबद्ध नहीं था । सुत्रबद्ध होने की पुष्टि न तो इसकी शैली से होती है, और न मनु के उदरण ही कहीं सुत्ररूप में प्राप्त होते हैं । यह भी कि सुत्रग्रन्थों के साथ प्राय: 'सूत्र' पद जुड़ा होता है । प्राचीन ग्रन्थों से लेकर अब तक उनमें मनु के शास्त्र का 'मानवधर्मशास्त्र या 'मनुस्मृति' के नाम से उल्लेख मिलता है, न कि 'मानवधर्मसूत्र' नाम से ।
- ३. 'मानवधर्मसूत्र' नामक ग्रन्थ को कुछ लोग मनुरचित मानते हैं, लेकिन मनुस्मृति से उसका पूर्ण साम्य नहीं है । उस सूत्रग्रन्थ को किसी बहुत बाद के व्यक्ति ने मनु के नाम से रचा है, और वह भी अपने विचारों का मिश्रण करके । यह सूत्ररूप आद्यरूप नहीं है । यह तो पद्यरूप को देखकर रचा गया है, अथवा आद्य गद्यरूप को देखकर ।
- ४. ग्रन्थों की सूत्रशैली अधिक प्राचीन नहीं है, अपितु गद्य और पद्यरूप ही अधिक प्राचीन हैं । सूत्रों से प्राचीन ग्रन्थ गद्यरूप में उपलब्ध होते हैं, जैसे — ब्राहमणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदं आदि । वर्तमान महाभारत कईस्थलों पर गद्यरूप में है । अन्य अर्वाचीन ग्रन्थ कौटिलीयं अर्थशास्त्र, नारदगद्यस्मृति आदि गद्यरूप में ही हैं । अत: मनुस्मृति का प्रारम्भिक रूप गद्यरूप होना माना जा सकता है।
- ऐसी परम्परा प्रत्येक काल में रही है कि महापुरुषों ने प्रवचन या उपदेश दिये हैं और उनके शिष्यों ने उनका संकलन करके गद्य या पद्य का रूप दिया है । प्राय : सभी धर्मों के ग्रन्थ उनके मान्य पुरुषों के उपदेश हैं, जिन्हें बाद में संकलित किया गया है। महात्मा बुद्ध ने उपदेश दिये थे, ु लेकिन उनका संकलन 'धम्मपद' के नाम से पद्यरूप में हैं । कहा जाता है कि यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के नाम से मिलने वाले ग्रन्थ उनके शिष्यों द्वारा संकलित हैं । महर्षि दयानन्द के नाम से मिलने वाली 'उपदेश मञ्जरी' या 'पूना प्रवचन' नामक पुस्तक मूलत : उनके उपदेश हैं, वो अन्य व्यक्ति द्वारा संगृहीत और सम्पादित हैं । इसी प्रकार मनुस्मृति का संकलन हुआ है ।
- ६. सुनिश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि मनु के गद्यरूप प्रवचन, पद्यरूप में कब आये। किन्तु प्राप्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का यह पद्यरूप भी अतिप्राचीन है । मनुस्मृति में भृगु का नाम बार-बार आता है । हो सकता है, मनु के शिष्य भृगु ने ही इन्हें पद्मबद्ध किया हो और यह भी संभव है कि संकलन के अनन्तर स्मृति-सुविधा के लिए मनु के आदिशिष्यों ने इन्हें पचबद किया हो । यहच्चरूप भी काफी प्राचीन है क्योंकि मनु के नाम से बहुत पहले ही यह रूप प्रसिद्ध हो चुका था । क्योंकि रामायण, <sup>७९</sup>, महामारत<sup>©</sup> में मनु के द्वारा ही श्लोक गाये जाने का कथन है । इसका अभिप्राय यह है कि इन ग्रन्थों के रचनाकाल में इन श्लोकों की मनु के नाम से प्रसिद्धि हो चुकी थी।
- ७. नारद स्मृति की भूमिका में जाता है कि मनु ने एक धर्मशास्त्र बनाया था जिसमें एक लाख श्लोक थे । १०६० अध्याय और २४ प्रकरण थे । नारद ने इसका १२००० श्लोकों में संक्षेप करके . इसे मार्कण्डेय को पदाया । मार्कण्डेय ने इसका संक्षेप ८००० श्लोकों में कर दिया । फिर सुमति मागर्व ने इसे ४००० श्लोकों में संक्षिप्त कर दिया । नारदस्मृति का यह अवतरण ग्रन्य के महत्त्ववर्धन के लिए ही है । इस प्रकार संक्षेप किया जाना मौलिकता के अनुरूप नहीं है । न ऐसी कोई प्रामाणिक शास्त्रीय परम्परा ही है।

<sup>&#</sup>x27;'श्चयते मनुना गीतौ श्लोको चरित्रवत्सलौ ।'' वा. रामा. १८।३० ।। 'मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोको महात्मना ।'' महा. शा. ५६।२४ ।।

## द्वितीय अध्याय

[ मनुस्मृति और प्रक्षेप — प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता, प्रक्षेप-लक्षण, प्रक्षेप कैसे हैं ?, निहित प्रवृत्तियां, मानदण्ड और प्रक्षेपों से हानि ]

### मनुस्मृति के प्रक्षेपों के अनुसन्धान की आवश्यकता एवं उपयोगिता

मनुस्मृति क स्वरूप को प्रक्षेपों से विकृत देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि इसके प्रक्षेपों का अनुसंघान किया जाये । प्रक्षेपों के अनुसन्धान और उनके पृथक्करण से ही मनुस्मृति का वास्तविक श्रेष्ठरूप प्रकाश में आयेगा ।यह अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा — इस अनुसन्धान से जहां एक ओर साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि भारतीय साहित्य का एक प्रमुख ग्रन्थ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध होगा, वहां आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नित चाहने वाले या अपने जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने वाले व्यक्तियों के लिए भी यह भ्रान्तिरहित रूप में पथ-प्रदर्शन करने वाला सिद्ध होगा । सांस्कृतिक दृष्टि से — मनुकालीन भारतीय समाज और संस्कृति की सही भांकियों को प्रस्तुत करेगा और वर्तमान समाज को अच्छी मर्यादाओं तथा व्यवस्थाओं का दिग्दर्शन करायेगा । सबसे अधिक लाभ ऐतिहासिक दृष्टि से यह होगा कि प्रक्षिप्तांशों से दूषित मनुस्मृति को आधार बनाकर इतिहासकारों ने प्राचीन काल का जो इतिहास लिखा है, जिसमें मासमक्षण, पश्च्यज्ञ, जाति-पांति, छुआ-छूत, उज्व-नीच जैसी चिनौनी बाते हैं; उस इतिहास का शुद्ध, उज्वल और वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आयेगा । इस प्रकार मनुस्मृति पर अनुसन्धान कार्य होने से आध्यात्मिक व्यक्तियों के लिए; मारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के लिए, बहुत बड़ा योगदान होगा । प्राचीन साहित्य, जो कि भारत की एक अमूल्य और गौरवपूर्ण निधि है; उसके एक विशिष्ट ग्रन्थ का उचित मूल्यांकन हो सकेगा ।

और, मनुस्मृति से सम्बन्धित आन्तरिक समस्याओं, जैसे --- रचयिता, रचनाकाल मौलिक मान्यताए, आदि.को सुलझाने में भी न्यूनाधिक रूप में सहयोग अवश्य प्राप्त हो सकेगा।

### २. प्रक्षेप से अमिप्राय

प्रक्षेप का अर्थ है — 'बीच में की गई मिलावट'। किसी व्यक्ति द्वारा लिखे गये मूल ग्रन्थ में अन्य द्वारा मिलाये गये विचारों को 'प्रक्षेप' या 'क्षेपक' कहा जाता है। मनुस्मृति में वे श्लोक जो मनु से मिन्न व्यक्तियों ने रचकर मिला दिए हैं, उनको 'प्रक्षिप्त' माना गया है। यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप 'विरोधी विचारों' से युक्त अथवा बुरा ही हो, वह ग्रन्थकार के समर्थक विचारों वाला और अच्छे विचारों का भी होता है।

## ३. क्या मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं ?

कुछ व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं मानते । उनका विचार है कि मनुस्मृति का यह उपलब्ध स्वरूप वास्तविक है । किन्तु उनका यह विचार पूर्णत: म्नान्तिपूर्ण है । उपलब्ध मनुस्मृति को देखकर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इसमें प्रक्षेपों की भरमार है और ये प्रक्षेप एक साथ न होकर समय-समय पर हुए हैं । इसकी सिद्धि के लिए निम्न युक्तियां प्रस्तुत की जा सकती हैं —

(१) उपलब्ध मनुस्मृति में विषय-विरुद्ध, परस्परिवरुद्ध, प्रसंगविरुद्ध तथा अनेक पुनरुक्तियां पायी जाती हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि कहीं-कहीं तो त्रिकोणात्मक 'परस्पर विरोध' भी है; या पहले श्लोक में जो विधान है, उससे अगले ही श्लोक में उसका विरोध है। इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को देखकर भी यह कहना कि मनुस्मृति में प्रक्षेप नहीं हैं, दुस्साहस और मिथ्या-आग्रह ही कहलायेगा। एक मध्यमस्तरीय लेखक की रचना में भी ये त्रुटियां नहीं होतीं। उसके लेखन में वैचारिक ऐकमत्य, विषय और प्रसंग की सुसंगति, अविरोध तथा स्पष्ट अमिव्यक्ति होती है। फिर मनुसदृश तत्त्वद्रष्टा विद्वान् की रचना में इस प्रकार की त्रुटियों का होना सर्वथा असम्मव है। महर्षि मनु अपने समय के सर्वधिक प्रख्यात और धर्म-सम्बन्धी विषय के मर्मज विद्वान् थे। इसी कारण त्रृषि लोग जिज्ञासा के समाधान के लिए एकत्रित होकर उनके पास आये थे। वे निवेदन करते हुए कहते हैं—

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वश: । अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि । । त्वमेको हयस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव: । अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतस्यार्थवित्प्रभो । । (१।२, ३ ।।)

अर्थात् — हे भगवन् ! आप सब वर्णों और आग्रमों के घर्मों को ठीक-ठीक बतलाने में समर्थ (योग्य) हैं । और क्योंकि ईश्वररचित, अचिन्त्य और अपिरिमित ज्ञान से युक्त वेदरूपी विघान के धर्मतत्त्व (व्यावहारिक तत्त्व) तथा अर्थ के जानने वाले आप ही एक मात्र विद्वान् हैं (अत : आप हमें इन घर्मों का उपदेश कीजिये) ।

इससे स्पष्ट है कि महर्षि मनु अपने समय के प्रख्यात एवं इस विषय के सबसे अधिक अधिकारी विद्वान् थे। अत: ऐसे विद्वान् की रचना में उक्त प्रकार की त्रुटियां नहीं हो सकतीं। फिर मी उक्त त्रुटियां पाई जाती हैं तो इसका सीधा-सा अभिप्राय है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं। (इनके उदाहरण द्वितीय अध्याय में 'प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और प्रमाण' शीर्षक के अन्तर्गत देखें)।

- (२) मनुस्मृति में एक ओर तो गम्मीर, युक्तियुक्त, साधार, दुराग्रह एवं पक्षपातरहित अरूढ़ तथा संतुलित शैली है; वहीं बीच-बीच में अतिसामान्य, अयुक्तियुक्त, निराघार, अतिशयोक्तिपूर्ण, दुराग्रह एवं पक्षपातपूर्ण तथा रूढ़ शैली के श्लोक भी आ जाते हैं। ाने :सन्देह, उक्त विरोधी मिन्नताएं एक ही रचयिता की शैली में नहीं हो सकतीं। स्पष्ट है कि दूसरी शैली की रचनाएँ मनुसदृश विद्यान द्वारा रचित न हो कर अन्यो द्वारा रचित हैं, अत: वे प्रक्षेप हैं।
- (३) मनुस्मृति में मनु से परवर्ती व्यक्तियों, जातियों एवं स्थानों के उल्लेख हैं । इसी प्रकार कहीं-कहीं मनु द्वारा निर्घारित मौलिक व्यवस्थाओं से मिन्न व्यवस्थाओं का वर्णन है । किसी-किसी श्लोक में ''मनुरस्त्रवीत्'' 'मनोरनुशासनम्' आदि पदों का प्रयोग है, जो स्पष्टत : अन्य रचयिता की ओर संकेत करता है । इस प्रकार के सभी श्लोक परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं । ने किसी

भी अवस्था में मनु द्वारा स्वयंप्रोक्त नहीं कहला सकते।

- (४) मनुस्मृति की उपलब्ध प्रतियां भी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रत्यक्ष प्रमाण देती हैं । बहुत से श्लोक ऐसे हैं जो प्राचीन प्रतियों में नहीं किन्तु अर्वाचीन प्रतियों में है । ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि उत्तरकालीन प्रतियों में श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई है । जब प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में ही यह हाल है तो व्यतीत दीर्घकाल में प्रक्षेप न हुए हों यह कैसे हो सकता है ? उदाहरण के रूप में कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं —
- (क) निम्न श्लोक द्वितीय अध्याय में अठारहवें श्लोक के पश्चात केवल मेघातिथि के भाष्य में ही पाया जाता है —

## विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।। स्मृतिनं श्रुतिमूला स्याद्या चैषाऽसम्मवश्रुति : ।।

- अर्थ निर्दिष्ट कारण में प्रत्यक्ष से विरुद्ध, असंगत एवं असम्भव अर्थ का प्रतिपादन करने वाली स्मृति वेद-विरुद्ध स्मृति कहलाती है ।
- (छ) निम्न श्लोक मेधातिथि आदि तीन प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य में नहीं हैं, उनसे अर्वाचीन अन्य प्रतियों में ही पाया जाता है; जो इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि उनके भाष्यों के पश्चात ही प्रक्षेप के रूप में डाला गया है—

## सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् । नान्तरे भोजनं कुर्यादिग्निहोत्रसमो विधि: ।।

(मनु. २।५२ के पश्चात्)

(ईस संस्करण में २।२७ के पश्चात्)

- अर्थ स्मृति ने द्विजों के लिये अग्निहोत्र के समान प्रात : और साय दो बार ही मोजन करने का विधान किया है । बीच में भोजन कमी न करें ।
- (ग) मनुस्मृति की लगमग २० २५ प्रतियाँ हस्तिलिखित रूप में विमिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध हैं। उनमें महुत से श्लोक ऐसे हैं जो थोड़ी ही प्रतियों में पाये जाते हैं। ऐसे मी श्लोक पर्याप्त हैं जो केवल एक-एक प्रति में ही प्राप्त हैं, यथा —

निम्न श्लोक प्रयाग की एक ही प्रति में है —

### परोष्ट्रां सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन । दुष्टानुचारा च गुरोरिष्ठ वाऽमुत्र चैत्यधः ।।

(२।२०० के पश्चात इस संस्करण में २।१७५ के बाद)

- अर्थ शिष्य पीठ पीछे गुरु का नाम सत्कार पूर्वक ले और सामने किसी भी प्रकार न लेवे । गुरु से दुष्टाचरण करने वाला शिष्य दोनों लोकों में अधोगति को प्राप्त करता है ।
  - (घ) ऐसे ही कुछ श्लोक ---

येप्यतीता: स्वधर्मेम्य: परिपण्डोपजीविन:। द्विजत्वमधिकांक्षन्ति तांश्च शुद्रानिवाचरेत्।।

(८।१०२ के पश्चात्)

अर्थ — जो अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरे के टुकड़ों पर जीते हैं और अपने आपको द्विज कहलाना चाहते हैं, उनके साथ शुद्धों के समान व्यवहार करें।

#### तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तित: । तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानिप ब्राधने ।।

(११।३३ के पश्चात)

- अर्घ -- ब्राहमण की वाणी का अस्त्र वह अस्त्र है, जिसे कोई भी वर्णस्य व्यक्ति अपने सामर्थ्य से नहीं हटा सकता । और यह अस्त्र तप की शक्ति से सम्पन्न होने के कारण न मारने योग्य शत्रुओं को भी मार देता है।
- (५) प्रतीत होता है कि अन्य पुस्तकों से लेकर भी कुछ श्लोक मनुस्मृति में मिला दिये हैं। महाभारत (अश्वमेध प्. ३८० पुना प्रकाशन) का निम्न श्लोक मनस्मृति की केवल चार प्रतियों में ही उपलब्ध होता है, जो अप्रासंगिक रूप से मिलाया गया है —

### पुराणं मानवो धर्म: सांगोपांगचिकित्सक: । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतमि : ।।

(१२।११० के पश्चात)

ारपार्ठ क पश्चात्) अर्थ — पुराण = ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुप्रोक्तर्धर्म, अंगु सहित उपांगों का विद्वान् चिकित्सक और साधु आदि की आज्ञा से सिद्ध, इन चार बातों को तर्क से नहीं काटना नाहिए।

. यह श्लोक इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं । अभी तक यह मनुस्मृति के श्लोकों में सर्वसम्मत रूप से घुल-मिल नहीं पाया है। अतएव इसे कोष्ठक में दिया जाता है।

- (६) प्रक्षेपकर्ताओं ने न केवल नवीन श्लोक ही क्षेपक के रूप में डाले हैं, अपित अभीष्ट ढंग से पाठमेद भी किये हैं। कुछ पाठमेद तो प्रतिलिपि में प्रमाद, अथवा असावधानी के कारण हो सकते हैं, लेकिन बहत सारे पाठमेद तो जानबुझकर किये गये हैं । निम्न पाठ मेदों के उदाहरण इस बात के पोषक हैं ---
- (क) दशम अध्याय में वर्णित वर्णसंकरों के धर्म मनुप्रोक्त अर्थात मौलिक नहीं हैं । वे श्लोक उस परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं, जब वर्णव्यवस्थाओं में विकृति आकर जाति-पांति की परम्परा चल पड़ी थी । संकर जातियों को हेय माना गया और उनके भी कर्तव्य गढकर (जो कर्तव्य न होकर घृणित निन्दित विकृतियां हैं) मनुस्मृति में मिला दिये गये और उन्हें मौलिक सिद्ध करने के लिए १।२ में अन्तरप्रभवाणाम् ' पदं कें स्थान पर 'संकरप्रभवाणाम्' पद डाल दिया गया । यह पाठमेद बे-चार हस्तलिखित पुस्तकों में मिलता है । यद्यपि टीकाकारों ने '**अन्तरप्रमवाणाम्**' का अर्थ मीं 'वर्णसंकर' किया है, किन्तु यह भी सर्वथा गलत है । इसका सहीं अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिए (इसके लिए देखिए १।२ पर 'अतुशीलन' नामक समीक्षा) । शायद पहले उक्त पद का सही अर्थ . 'आश्रम' ही प्रचलित था, प्रक्षेपकर्ता ने उसे जड़-मूल से हटाने का प्रयास किया । वह तो नहीं हट पाया किन्तु उस पाठमेद से टीकाकारों में यह भ्रान्ति पनप गई कि वे 'अन्तरप्रभवाणाम' का ही 'वर्णस'कर' अर्थ करने लग गये।
- (ख) इसी प्रकार १२।६२ में 'धर्मक्रिया\$त्मचिन्ता च' के स्थान पर 'अहिंसा गुरुसेवा र्च पाठ कर दिया गया है। यह,गुरु को महत्त्व मिलता रहे, इस प्रवृत्ति से किया गया। यह पाठ मनुस्मृति के प्रसंगानुकूल नहीं है — (अ) इस ८३वें श्लोक में नि :श्रेयसकर कर्मों की परिगणना है । परिगणना के बाद इन छह कर्मों के विषय में १२।८५-११५ श्लोकों में व्याख्यान है । उस व्याख्यान में 'अहिंसा' और 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, अपितु आत्मज्ञान और धर्मक्रिया का है । (आ) मनु ने सात्विक कर्मों को ही नि :श्रेयसकर्म माना है । इस श्लोक में अन्य सभी कर्म तो वहीं हैं, केवल

इन्हीं दो में पाठमेद कर दिया गया है । सात्विक कमां का वर्णन १२।३१ में है । वही पाठ यहां ग्रहण करना मनुसम्मत एवं मौलिक पाठ है और वही मुक्ति दायक है । इस प्रकार 'अहिंसा गुरूसेवा चं पाठ परिवर्तित पाठ है ।

(ग) इसी प्रकार ५।५७ श्लोक के प्रथम पाद में 'प्रेतशृद्धिम्' पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है । इसके स्थान पर **'देहशुद्धिम**' पाठ होना चाहिये, ऐसा मनु की शैली और विषयविवेचन से संकेत मिलता है। प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-जन्म आदि में शुद्धि-क्रिया एक कर्मकाण्ड का रूप ले गयी,तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये । इस पाठ की अमौलिकता और 'देहशुद्धिम्' पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है —(अ) गृनु की यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस विषय-संकेत से करते हैं उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [ द्रष्टव्य ३ । २८६ और ४ । २५९ ।। ८ । १ और ९।२५० ।। १०।१३१ और ११।२६६ आदि ], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत, विषय का प्रारम्म प्रेतश्चिद्ध से दर्शाया गया है [५।५७] और समाप्ति 'शारीरश्चिद्ध' से [५।११०]। विषय समाप्ति सुचक श्लोक के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह 'शारीरशद्धि' का विषय था न कि प्रेतशृद्धि का । अत : इस श्लोक में समानार्थक 'देहशूद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है । (आ) मनु ने इस प्रसंग का वर्णन भी देह [ ५।१०५], गात्र [५।१०९], शरीर [११०] आदि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं अपित देहशुद्धि-विषयक है । (इ) प्रचलित पाठ के अनुसार यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहाँ इसी विषय का प्रसंग मान लिया जाये तो यह आपत्ति आती है कि प्रतेशुद्धि-विषय में दन्तोत्पत्तिकालीन श्रुद्धि, सुतकशुद्धि, मन, आत्मा आदि की शृद्धि का वर्णन क्यों किया ? प्रेत के मन और आत्मा होते ही नहीं । इस प्रकार विषयसकेतक श्लोक में और वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठमेद बाद में किया गया है। शैलीश्रृंखला में जुड़ा हुआ पाठ 'देहशदिम' ही है, और मन तथा आत्मा आदि प्ररीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं। अत : इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में पाठमेदों के रूप में भी प्रक्षेप किये गये हैं । इस प्रकार के पाठमेद अन्य स्थानों पर भी हैं ।

- (७) मनुस्मृति का अध्यायविभाजन मौिलक अर्थात् मनुकृत नहीं है। यह परवर्तीकाल में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया गया है (इसके विषय में विस्तार से जानने के लिए देखिए 'मनुस्मृति में अध्यायविभाजन' शीर्षक)। विभाजन करते समय अध्यायों की समाप्ति में एकरूपता लाने के लिए विभाजनकर्ता अथवा किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने मनुस्मृति में कुछ परिवर्तन-परिवर्धन मी किये हैं, जैसे प्रथम अध्याय में १११ से ११८ श्लोकों में विषय-सूची जोड़ दी, अध्यम अध्याय के अन्त में उस विषय के बीच में ही विषयसमाप्तिसूचक श्लोक एकरूपता लाने के लिए भ्रान्तिवश डाल दिया (८।४२०), आदि। यह परिवर्तन व परिवर्धन मनुस्मृति के प्रसंगों एवं शैलियों से जात हो जाता है। यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि मनुस्मृति में परवर्ती लोगों ने मनमाने ढंग से श्लोक मिलाये हैं। इससे यह स्पष्टत: सिद्ध है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हैं।
- (द) मनुस्मृति में पाये जाने वाले 'अवान्तरिवरोध' मी मनुस्मृति में प्रक्षेप होने के प्रमाण देते हैं। एक ही प्रक्षिप्त प्रसंग में जो परस्पर अनेक विरोध हैं, उन्हें 'अवान्तरिवरोध' कहा गया है। एक ही

प्रिक्षप्त प्रसंग में जो अनेक विरोध या मिन्न-मिन्न मान्यताए मिलती हैं उनके विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं — (१) अनेक विरोधों या मान्यताओं वाले प्रसंग किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं, (२) ऐसे विरोधात्मक और विमिन्न मान्यतात्मक वर्णन मनु सदृश तत्त्वद्रष्टः सृषि की रचनाएं नहीं हो सकतीं, (३) ये मिन्न-मिन्न मान्यताएं मिन्न-मिन्न लोगों द्वारा डाली गयीं हैं, (४) और मिन्न-मिन्न कालों में (जब जैसी मान्यता का प्रचलन हुआ) मिलायी गयी हैं (५) जहां विभिन्न-विरोधी मान्यताएँ अधिक हैं, इसका मतलब वे उतने ही अधिक विवादास्पद विषय थे, और विवादास्पद विषयों में ही लोगों को मान्यता परिवर्तित करने का तथा अपनी मान्यता लागू करने का अधिक ध्यान रहता है। इन तथ्यों से यह बात सिद्ध हुई कि मनुस्मृति में प्रक्षेप हुए हैं और वे भिन्न-मिन्न व्यक्तियों द्वारा मिन्न-मिन्न कालों में किये गये हैं। इस अवस्था को देखकर प्रक्षेपों से नहीं नकारा जा सकता।

(९) सभी भाष्यकारों ने न्यूनाधिक रूप में मनुस्मृति में प्रक्षेप होना स्वीकार किया है, उनमें कुल्लूकभट्ट ने सम्पूर्ण मनुस्मृति में १७० श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं, अतएव उन्हें बृहत्कोष्ठकों एवं भिन्न संख्याओं में दिया है। परवर्ती सभी पौराणिक पण्डितों ने उन प्रक्षेपों को यथावत स्वीकार किया है। कुल्लूकभट्ट और उससे परवर्ती अन्य तदनुसारी टीकाकारों-भाष्यकारों ने जो प्रक्षिप्त श्लोक स्वीकार किये हैं उनका अध्यायानुसार विवरण निम्नप्रकार हैं—

प्रथम	अध्याय में	<del></del> ११
द्वितीय		— <i>६ ६</i>
तृतीय		— २१
चतुर्थ		<u> </u>
पंचम		<u> </u>
षष्ठ		<u> </u>
सप्तम		— १ ह
अष्टम		<b></b> 30
नवम		— ६
दशम		— ર <u>ે</u>
एकादश		—१४
द्वादश		. — śź

प्रक्षिप्त श्लोकों की कुल संख्या — १७०

इसी प्रकार मनुस्मृति पर कार्य करने वाले वूलर और जौली सदृश पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति में प्रक्षेप स्वीकार किये हैं और कुछ प्रक्षेपों को पृथक दर्शाया भी है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महिष् दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के प्रक्षेपों की ओर विश्लेष रूप से सबसे पहले ध्यान आकृष्ट किया। उनके पश्चात इस दिशा में आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं। इस प्रकार सिद्वान्तत: सभी वर्गों के व्यक्ति मनुस्मृति में प्रक्षेपों को स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न केवल प्रक्षिप्त और मौलिक श्लोकों के पृथकीकरण और उनके मानदण्डों का रह जाता। इस विषय में आगे विचार किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन एवं युंक्तियों से यह निश्चित हो जाता है कि मनुस्मृति में प्रक्षेप अवश्य हैं। ये प्रक्षेप समय-समय पर मिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। क्योंकि मनुस्मृति की माषा सरल और लोकप्रचलित भाषा है, अत: उसमें आसानी से श्लोक मिल जाते हैं और भाषा में विशेष अन्तर प्रकट नहीं हो पाता। फिर भी विशेष अध्ययन से भाषा की प्रयोग-शैली के आधार पर कुछ प्रक्षिप्तों का जान हो जाता है।



# ४. ग्रन्थों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति और मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मृल में निहित प्रवृत्तियाँ —

प्रक्षेप की समस्या लगभग सम्मूर्ण भारतीय साहित्य के साथ है। स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थिसिद्धि के लिए, अपने विकृत आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए अथवा स्वाभिमत व्याख्या एवं विचारों की सिद्धि के लिए ग्रन्थों में प्रक्षेप करते रहे हैं। कभी-कभी ग्रन्थ में संशोधन, परिवर्धन या ज्यवस्थापन की प्रवृत्ति भी इसमें प्रमुख कारण बनती है। कभी-कभी ग्रन्थ के रूप को विकृत करना भी प्रक्षेपकताओं का उद्देश्य होता है। इस प्रकार से ग्रन्थों में प्रक्षेप होते रहते हैं भूगचीन काल में यह कार्य आसानी से हो जाता था, क्योंकि ग्रन्थों की हस्तिलिखत प्रतियां होती थीं। जिसके पास जो प्रति हुई उसमें उसने मनमाने दंग से प्रक्षेप कर दिया और अग्रिम प्रतियां उसके अनुसार तैयार करवा दीं। इसी प्रकार अग्रिम प्रतियों में प्रक्षिप्त शलोक या विचार मिलते रहते थे। यही कारण है कि हस्तिलिखत ग्रन्थों की प्रतियों में परस्पर अन्तर और पाठभेद मिलते हैं। संस्कृत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों, साहित्यिक काव्यों तथा अपग्रंश और हिन्दी काव्यों, सभी की यह अवस्था है।

वैसे तो प्राय: समस्त प्राचीन लौकिक संस्कृत-साहित्य में प्रश्नेप हुए हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में प्रश्नेप करने की विशेष प्रवृत्ति रही है, क्योंकि उनके विधानों का व्यक्ति और समाज के साथ सीधा और प्रतिदिन का सम्बन्ध था। विधानों को बदलने और विकृत करने के लिए स्वार्थी लोगों ने अनेक जाली प्रन्यों को रचने का भी प्रयास किया है। फिर प्रश्नेप करने से ऐसे लोग कैसे बाज आ सकते थे १ पंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति की भूमिका में दो-तीन घटनाओं का विवरण दिया है। उनसे लोगों की प्रश्नेप करने की प्रवृत्तियों का और ग्रन्थों को विकृत करने के स्वार्थपूर्ण षड्यत्रों का ज्ञान हो जाता है। वे इस प्रकार हैं—

"हिन्दुओं में दायमाग का नियम बड़ा जिटल है। इसका यह कारण नहीं कि प्राचीन स्मृतियों का उद्देश्य ही इनको जिटल करना था। वस्तुत: उन्होंने तो सुगम और सरल नियम बनाये, पीछे से जिटलता आ गई। हिन्दू (आर्य) एक प्राचीन जित है। समय-समय पर दायमाग के विषय में झगड़े हुए। मिन्न-मिन्न पक्षों ने अवश्य ही अपने-अपने पक्ष के लिए पंडितों से सहायता ली। इन्होंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए प्रक्षिप्त डाल दिया। यह केवल कल्पना नहीं है किन्तु इसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण मी हैं। 'दत्तक मीमांसा' को नन्दपण्डित ने इसी उद्देश्य से बनाया था। यह बहुत थोड़े दिनों का ग्रन्थ ब्रिटिश-राज्य स्थापित होने से सौ-सवा सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ब्रिटिश राज्य के आरम्म में भूल से इसका अग्रेजी में अनुवाद हो गया और अग्रेजी न्यायालयों ने इसको प्रमाण मान लिया। इलाहाबाद हाईकोर्ट की पूरी समा ने सर जान एज के समापतित्व में एक फैसला दिया था। उसमें इस बात को विस्तार पूर्वक सिद्ध किया गया है कि नन्द पण्डित के क्षेपकों को आदर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। कहते हैं कि 'दत्तक-मीमांसा' एक धेवते को दायमाग से विचत करने के लिए लिखी गई थी।

'दत्तक चन्द्रिका' एक दूसरी पुस्तक हैं, जिसके विषय में समी बंगाली विद्वानों को पता है कि यह रघुमणि विद्याभूषण का बनाया हुआ जाल हैं। रघुमणि कोलब्रुक साहब के साथी थे। बंगाल के एक राजा थे। उन्होंने एक लड़का गोद रखा था। पीछे से उनके अपना लड़का हो गया। उनके मरने पर प्रश्न हुआ कि राजा का अधिकार किसको मिले। गोद में रखे हुए लड़के का पक्ष सिद्ध करने के

लिए रचुमणि महोदय ने पुस्तक लिख दी । यदि पुस्तक न होती तो पुराने विधान से एक तिहाई मिलता । यह मुकदमा आगे नहीं चला क्योंकि सन्धि हो गई । इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है —

### र-म्येषा चन्द्रिकादत्तपद्वतेर्दर्शिका ल-धु। म-नोरमा सन्निविशैरंगिणां धर्मतार-णि:

इन पंक्तियों के पहले और पिछले अक्षरों से 'रचुमणि' शब्द बनता है।

१८३२ ई. में कलकत्ता संस्कृत कालेज के पण्डितों ने एक और जाल रचा । जैनियों का एक मुकदमा था । इनकी व्यवस्था मानी जाया करती थी । इन्होंने एक पुस्तक लिखकर कालिज के पुस्तकाच्यक्ष को रिश्वत देकर पुस्तकालय के रिजस्टर में दर्ज करा दी । डाक्टर एच. एच. विल्सन कालेज के मन्त्री थे । उनको सन्देह हो गया । पुस्तक पकड़ी गई । पंडित महोदय ने अपना अपराघं स्वीकार कर लिया । इस दिन से वहां पंडितों से व्यवस्था देने का अधिकार छीन लिया गया (देखिये — सरकार शास्त्री लिखित 'हिन्दू ला' पृ. १८७) ।''

जिस व्यक्ति की प्रक्षेप करने की बदनीयत हो जाती है फिर वह किसी की अच्छाइ-बुराई, लाम-हानि को नहीं देखता । वह केवल अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य को ही दृष्टिगत रखता है और उसकी पूर्ति के लिए समी संमव दुष्कृत्य करता है । जैसे घन का लोमी व्यापारीजब मिलावट करने की प्रवृत्ति पर आ जाता है तो वह मनुष्यों के खाद्य-पदार्थों में कंकड़-मिट्टी, लकड़ी का बुरादा, गोबर, रंग, चर्बी, आदि अखाद्य, घृणित वस्तुओं की मिलावट करते समय नहीं हिचकिचाता । मिलावट से लोगों को होने वाली हानियों और कठिनाइयों की जिन्ता उसे छू तक नहीं पाती । वस्तु, समय और लालच के अनुसार वह मिलावट करता रहता है । यही अवस्था ग्रन्थों में प्रक्षेप की रहती है । प्रक्षेप करने से कितना मारी नुकसान हो सकता है, इसकी चिन्ता किये बिना प्रक्षेपक अपने उद्देश्यानुसार प्रक्षेप करते रहते हैं और ऐसा करने के लिये वे सभी प्रकार के हथकण्डे अपनाते हैं । कहीं नया श्लोक जोड़ दिया, कहीं सम्पूर्ण नया प्रसंग ही रचकर जोड़ दिया तो कहीं विरोधी मान्यता का प्रक्षेप कर दिया । कहीं मूल मान्यताओं की स्वामिमत व्याख्या कर दी तो कहीं से श्लोक को निकाल दिया या पाठमेद कर दिया ।

ठीक यही अवस्था मनुस्मृति के साथ रही है। क्योंकि धर्मश्नास्त्रों में मनुस्मृति ही सर्वाधिक मान्यता-प्राप्त ग्रन्थ था, अत: यह ग्रन्थ प्रक्षेप-कर्ताओं के षड्यन्त्रों और आक्रमणों का प्रमुख लक्ष्य रहा। प्राचीन काल से लेकर प्रकाशन युग तक मनुस्मृति में प्रक्षेपों की मिलावट होती आई है। जैसे-जैसे परम्पराएं शिथिल या विकृत होती गई, लोगों ने अपने आचरण या परम्पराओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति में तदनुरूप विचारों के प्रक्षेप कर दिये। स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ को साधने के लिए मिलावटों की। जब-जब धार्मिक या मत-मतान्तरों की उथल-पुथल हुई, उनका आक्रमण मनुस्मृति जैसे प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों पर विशेष रूप से हुआ और उन्हें विकृत करने के लिए मिलावटों की। मनुस्मृति के उन प्रक्षेपों के अनुसन्धान के लिए जहां एक ओर आधारों का निर्धारण करना आवश्यक है, वहां साथ ही प्रक्षेपों के मृल में निहित प्रवृत्तियों का अध्ययन-विश्लेषण करना भी आवश्यक है। क्योंकि व्यक्ति किसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही इस प्रकार का प्रयास करता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यह आवश्यक नहीं कि प्रक्षेप विरोधी या स्वार्थपूर्ण ही होते हैं, समर्थन और प्रशस्ता में भी प्रक्षेप होते हैं। स्वामिमत विचारों को स्थान देने की प्रवृत्ति से या अभावपूर्ति की प्रवृत्ति से अच्छे विचारों के भी प्रक्षेप कर दिये जाते हैं। मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालते समय यह भी विचार किया गया है कि उनके मूल में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति है

अथवा नहीं, और वहां कोई प्रेरक-प्रवृत्ति नहीं प्रतीत हुइ उन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अध्ययन-विश्लेषण करने पर मनुस्मृति के प्रक्षेपों के मूल में जो प्रेरक-प्रवृत्तियां दृष्टिगत हुई वे निम्न हैं —

- (१) मनुस्मृति को गौरव और महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति मनुस्मृति में जहां कहीं भी इसकी प्रशंसा, महत्ता या विशेषताओं का वर्णन करने वाले श्लोक वर्णित हैं अथवा जहां इसे ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया है, वे सभी श्लोक इस परम्परा के शिष्यों या प्रशंसकों द्वारा इसके गौरव और महत्त्व को बद्धने की प्रवृत्ति से किये गये प्रक्षेप हैं । यह एक मान्य तथ्य है कि मनु सदृश सुलझा हुआ उच्चकोटि का शृषि कभी स्वयं अपने प्रन्थ की बद्ध-चद्धकर प्रशंसा नहीं कर सकता । ये प्रशंसात्मक श्लोक परवर्ती हैं । मध्यकालीन सम्पूर्ण साहित्य में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि सभी विद्वानों ने अपने विषय का ब्रह्मा के साथ किसी न किसी प्रकार जुड़े होने का अवश्य उल्लेख किया है । भरत ने अपने नाट्यशास्त्र का उद्भव ब्रह्मा से माना है । महाभारत को पांचवा वेद घोषित किया गया । उस समय के समाज में इनसे जुड़े किसी भी शास्त्र को आसानी से मान्यता मिल जाती थी । मनुस्मृति में भी इस प्रकार के वर्णनों के मूल में यही प्रवृत्ति परिस्कृतित होती है । क्योंकि जहां भी इसे ब्रह्मा से जोड़ने का कथन है या उसकी प्रशंसा है, वे श्लोक प्रासंगिक और शैली के अनुरूप सिद्ध नहीं होते । तत्तत् स्थानों पर इस विषयक विस्तृत विवेचन किया हुआ है।यहां केवल कुछ उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रवृत्ति लक्षित होती है
  - (क) ब्रहमा से सम्बन्ध जोडने वाले श्लोक —

### इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादित: । विधिवद्ग्राष्ठयामास मरीच्यादींस्त्वष्ठं मुनीन् ।। (१।५८।।)

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिवत मुझे उपदेश किया । फिर मैंने मरीचि आदि मुनियों को पद्मया ।

> प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभु: ।। (११।२४३।।) अर्थ-—इस शास्त्र की रचना प्रजापति ने तप से ही की थी।

(ख) प्रशंसात्मक ---

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठीमदं बुद्धिववर्धनम् । इदं यशस्यमायुष्यमिदं नि:श्रेयसं परम् ।। (१।१०६ ।।)

अर्थ — यह शास्त्र कल्याण करने वाला, श्रष्ठ, बुद्धि बढ़ाने वाला, यश देने वाला, आयुवर्धक और परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाला है।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं मृगुप्रोक्तं पठन्द्विज: । भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ।। (१२।१२६।।)

- अर्थ इस भूगुप्रोक्त धर्मशास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, वह सदाचारी बनता है और इच्छानुसार गति को प्राप्त करता है।
- (२) मृत्यु के व्यक्तित्व को अलौकिक सिद्ध करने की प्रवृत्ति मृतुस्मृति में स्वयं मृत्यु की प्रशंसा या उल्लेख करने वाले श्लोक भी आते हैं । मृत्यु के द्वारा समस्त स्थावर-जगम जगत की उत्यन्ति कहने (१।३५-४५) वाले श्लोकों के मूल में मृत्यु के शिष्यों या पक्षघरों द्वारा उन्हें अलौकिक

व्यक्तित्ववाला पुरुष सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । इस प्रकार की अनर्गल बातें भी मनु स्वयं नहीं कह सकते ।

(३) ख्याति और महत्ता के लिए मनुस्मृति के साथ भृगु का सम्पन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति — मनुस्मृति में कहीं भी किसी भी रूप में भृगु के नाम का उल्लेख होना न तो शैली के अनुरूप ठीक जंचता है, न मनुस्मृति की मान्यताओं एवं प्रसंगों के अनुकूल । फिर भी कई स्थानों पर मनुस्मृति को भृगु के साथ जोड़कर बड़े अटपटे ढंग से इसे भृगु का प्रवचन जताया गया है । मनुस्मृति एक ख्यातिप्राप्त ग्रन्थ था, समाज में इसकी सर्वोच्च मान्यता थी । प्रतीत होता है कि भृगु के शिष्यों ने भृगु की ख्याति और महत्ता के लिए या इसे 'भृगु-संहिता' बनाने के लिए उसके प्रवचनों या नाम को इसमें जोड़ दिया है । इस प्रकार के कुछ श्लोक हैं —

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावियष्यत्यशेषतः । एतद्वि मसोऽधिजगे सर्वमेषोऽस्विलं मुनिः ।। (१।५९ ।।)

अर्थ — मनु जी कहते हैं कि मुझ से भृगुमुनि ने इस धर्मशास्त्र को पढ़ा है । ये भृगुमुनि आपको सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे ।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिमनुना मृगु: । तानक्रवीदृषीन्सर्वान्ग्रीतात्मा श्रूयतामिति ।। (१।६० ।।)

अर्थ — तत्पश्चात् मनुजी के कहने पर भृगुमुनि प्रसन्न होकर उन सब त्रृषियों को उपदेश देने लगे कि अब आप सब सुनें।

### श्चत्त्रेतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदम्बुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ।। (४।१।।)

अर्थें — महर्षियों ने स्नातक के पूर्वोक्त धर्मों को सुनकर अग्नि के समान प्रभावशाली, महात्मा भृगु से यह कहा ।

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विज:।। (१२।१२६।।)

अर्थ — इस मृगुप्रोक्त धर्म-शास्त्र को जो द्विज पढ़ता है, (वह सदाचारी बनता है, इत्यादि) ।

- (४) मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति मनुस्मृति में कहीं-कहीं इस प्रकार के श्लोक भी हैं जिनमें मनु की मान्यता का खण्डन है। पहले मनु की मान्यता है, फिर उसका निषेधपूर्वक खण्डन है। ऐसे सभी श्लोकों के मूल में मनु की मान्यताओं का विरोध करने की प्रवृत्ति है। यथा —
- (क) ९।५९ से ६३ श्लोकों में नियोग का विधान है, किन्तु अगले ही ६४-६८ श्लोकों में निन्दा प्रदर्शनपूर्वक नियोग का निषेध है ।
- (ख) ५।४५ से ५५ श्लोकों में माँसमक्षण का निषेध करते हुए मासमक्षक को पापी माना है, किन्तु ५२वें श्लोक में ही मांसमक्षण, मदिरापान में कोई दोष नहीं होना कहा है।
- (४) स्वामिमत मान्यताओं को उस शास्त्र के अनुकूल सिद्ध करने की प्रवृत्ति क्योंकि मनुस्मृति एक प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य शास्त्र रहा है, इसलिए उसमें कोई मान्यता न हो तो ाए उसे स्वीकार करने के लिए शायद तैयार नहीं होंगे या उस मान्यता को पुष्ट करने के लिए अवस्मृति का प्रमाण चाहेंगे, इस आपत्ति से मुक्त होने के लिए और अपनी मान्यता को मनुस्मृति स्वि

बनाने के लिए कुछ ऐसे प्रक्षेप किये गये हैं, जो उन स्थानों पर संगत भी नहीं हो रहे हैं और मनुस्मृति की मान्यता के अनुकूल भी नहीं जंचते । मनुस्मृति ने प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार आदि तत्वों की प्रक्रिया से सृष्टि-उत्पत्ति वर्णित की है (१।१४ –२१), किन्तु नवीन बेदान्तियों ने अपनी मान्यता को मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए मनुस्मृति की मौलिक मान्यता से पूर्व अण्डे के द्वारा ब्रह्मा की उत्पत्ति और ब्रह्मा से सारे संसार की उत्पत्ति वाली मान्यता का प्रक्षेप कर दिया (१।९, १२, १३, ३२ से ४५)। इस प्रकार के वर्णन अपनी मान्यता के प्रचार की दृष्टि से किये गये हैं।

- (५) स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने विचारों के प्रक्षेप की प्रवृत्ति मनुस्मृति एक आध्यात्मिक और सात्विक गुणों का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र भी है। लेकिम उसके उद्देश्य को देखे बिना, उसकी मान्यताओं से विरोध होते हुए भी स्वार्थी व्यक्तियों ने अपनी विकृत परम्पराओं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को श्रास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति से उनका प्रक्षेप किया है। श्राद्ववर्णन का प्रसंग, मासभक्षण, मद्यपान, हिसा, पश्चयज्ञ, बहुविवाह आदि के विधान इसी प्रवृत्ति की उपज हैं। ऐसे प्रक्षेप अधिकांशत: वाममार्गियों द्वारा किये गये हैं, या ऐसे आचरण वाले लोगों द्वारा किये गये हैं।
- (७) पश्चापात की प्रवृत्ति मध्यकाल में ब्राह्मणों का विद्या पर एकाधिकार हो गया था और शेष वर्ण अशिक्षा के कारण दिन-प्रतिदिन अज्ञानाश्रित हो गये । प्रत्येक कर्तव्य के लिए ब्राह्मणों ने उचित-अनुचित को न देखकर अपनी सुविधा और सुख के अनुसार कर्तव्यों का विधान करना शुरू कर दिया और निम्नवर्णों पर अधिकाधिक बन्धन डाल दिये । इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण विचार भी मनुस्मृति में मिलते हैं । खुआछूत, ऊंच-नीच, स्त्री-शृद्धों के प्रति घृणा, निन्दा और दमन के विचारों वले सभी श्लोकों में पक्षपात की प्रवृत्ति निहित है । ब्राह्मणों को विशेषाधिकार, विशेष प्रहत्त्व और विशेष प्रशसा इसी प्रवृत्ति से उपजी बातें हैं ।
- (६) अभाव-पूर्त्ति की प्रवृत्ति कोई भी शास्त्र या विधान अपने समय की व्यवस्थाओं या परिस्थितियों के अनुसार ही बनता है। समय बीतने पर कुछ नयी परम्पराएं, नयी समस्याएं या नयी बातें समाज में आ जाती हैं। किन्तु समाज प्रत्येक निर्णय के लिए उसी पुरातन शास्त्र की ओर रेडिता है। ऐसी अवस्था में उन अर्वाक्कालीन बातों के वर्णनाभाव को देखकर या किसी बात का वैसे अभाव अनुमव करके लोग शास्त्रों में मिलावट कर देते हैं। मनुस्मृति में भी इस प्रवृत्ति से अनेक प्रश्नेप हुए हैं —
- (क) मनुस्मृति में युवावस्था में ही विवाह का वर्णन है, किन्तु परवर्ती काल में जब विधर्मी आक्रमणों या कुरीतियों के प्रभाव से लड़कियों का जीवन असुरक्षित जान पड़ने लगा तो बालविवाह की प्रथा प्रचलित हो गई। लोगों ने मनुस्मृति में उस विधान का अभाव देखकर उसे भी स्वयं जोड़ि दिया —

### त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृषां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्में सीदित सत्वरः ।। (९।९४ ।।)

- अर्थ गृहस्य धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे।
- (ख) इसी प्रकार मनु ने ंक समय एक ही विवाह का विधान किया है (५।१६७-१६८),किन्तु परवर्तीकाल में बहुविवाह की ंया चल पड़ी । दायभाग के विधानों में केवल एक विवाह के अनुसार ही दायभाग का विभाजन था । विभिन्न वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिए दायभाग के विधानों

का अभाव देखकर परवर्ती छोगों ने तत्सम्बन्धी विधानों को भी जोड दिया —

### चतुरों शान्हरेद्विप्रस्त्रीनं शान्सत्रियासुत: । वैश्यापुत्रो हरेद्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ।। (९।१५३ ।।)

अर्थ — ब्राहमणी का पुत्र चार भाग, क्षत्रिया का पुत्र तीन भाग, वैश्या का पुत्र दो भाग और शूद्रा का पुत्र एक भाग लेवे ।

इसी प्रकार समय-समय पर प्रचलित रूढ़िवादिताओं और अन्धविश्वासों से प्रेरित विधान भी इसी प्रवृत्ति के कारण प्रक्षिप्त हुए हैं।

(९) परिष्कार एवं व्यवस्थापन की प्रवृत्ति — मनुस्मृति जिस व्यवस्थित रूप में आज उपलब्ध है, यह इसका मौलिक स्वरूप नहीं है । मनुस्मृति को अध्यायों में परवर्तीकाल में विमाजित किया गया है । विमाजन कर्ता ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसे विमाजित किया और अध्यायों के अन्त में समाप्ति सूचक श्लोकों की शैंली की एकरूपता बनाये रखने के लिए कुछ स्थानों पर अपनी ओर से ही श्लोक मिला दिये । ऐसा एक श्लोक है —

### एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् । व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। (६।४२०।।)

अर्थ — इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर करता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार कुछ श्लोक तो एकरूपता के लिए मिलाये गये हैं (इनका विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति का अध्याय विभाजन' श्रीर्षक में यथास्थान देखिये) और कुछ मनुस्मृति के परिष्कार के लिए । प्रथम अध्याय में १०७, १११-११८ तक विषय-सूची का वर्णन करने वाले श्लोक विभाजन की व्यवस्था को परिष्कृत रूप देने के लिए ही बनाकर मिलाये गये हैं, जिससे मनुस्मृति में वर्णित विषयें का एक स्थान से ही ज्ञान हो सके ।

- (१०) स्वाभिमत स्पष्टीकरण एवं व्याख्या की प्रवृत्ति मनुस्मृति में जहां-कहीं भी ऐसे वर्णन हैं जो अतिश्रयोक्तिपूर्ण, महिमात्मक अथवा नये ढंग की व्याख्या वाले, कही हुई बातों को पुन: भिन्न प्रकार स्पष्ट करने वाले, वे उक्त प्रवृत्ति के कारण किये गये प्रक्षिप्त हैं। यथा —
- (क) ग्यारहवें अध्याय में ५४-१९० श्लोकों में प्रायश्चित का विधान, वर्गीकरण और विधियाँ मनुसम्मत नहीं हैं । किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति ने अपने ढंग से उनका वर्णन किया है ।
- (ख) १२। ८६-९० श्लोकों में निवृत्त कर्मों का स्पष्टीकरण प्रासंगिक नहीं है । यह किसी परवर्ती व्यक्ति ने परिवर्धन की दृष्टि से जोड़ दिया है ।

इस प्रकार सभी प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में कोई-न-कोई प्रवृत्ति अवश्य दृष्टिगोचर होती है, जिसकी प्रेरणा से प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में प्रक्षेप किये हैं । कहीं-कहीं कई-कई प्रवृत्तियाँ मी एक साथ दिखाई पड़ती हैं । इस तरह प्रवृत्तियों के परिज्ञान से श्लोकों की प्रक्षिपता और अधिक स्पष्ट हो जाती है ।



### ५. प्रक्षेपों के अनुसन्धान के आधार और उनके प्रमाण

'मनस्मति में प्रक्षेप हैं.' यह मान्यता स्थिर हो जाने और उन प्रक्षेपों के अनुसंघान की आवश्यकता एवं उपयोगिता पर विचार कर लेने के पश्चात अब प्रक्षेपों के अनुसंघान का प्रश्न आता है । विचारणीय बात यह है कि मनुस्मृति में हुये प्रक्षेपों को कैसे पहचाना जाये और किस प्रकार उन्हें अमीलिक घोषित किया जाये ? यह प्रश्न बडा जटिल एवं गम्भीर है । ऐसा कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है, जो श्लोकों को स्पष्टत : निर्णीत कर दे कि अमुक प्रक्षिप्त है और अमुक मौलिक । यदि यह कार्य इतना सरल होता तो अभी तक कभी का निर्णय हो चुका होता । इस प्रकार अत्यन्त कठिन एवं उल्फनपूर्ण होते हुए भी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए एक उपाय यह निकाला है कि कृतित्व के आधार पर कुछ सनिश्चित 'मानदण्ड' या 'आधारों' का निर्धारण किया जाये जिनकी कसौटी पर खरे उतरने वाले . श्लोकों को ही मौलिक माना जाये और इतर श्लोकों को प्रक्षिप्त । सुनिश्चित आघारों के बिना किया गया कार्य प्रामाणिककोटि में नहीं आ सकता । यद्यपि इससे पूर्व भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अनेक प्रयास हुए हैं । इनमें आर्यासमाज के विद्वानों ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है, जिनमें तुलसीराम स्वामी, स्वामी श्रद्धानन्द, चन्द्रमणि विद्यालकार, सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री, गंगाप्रसाद . उपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त वलर और डा. जे. जौली आदि कछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का प्रयास किया है । किन्तु फिर भी यह समस्या सुलफ नहीं पायी । अभी तक प्रक्षेपों को निकालने के लिए जो प्रयास हुए हैं उनमें सबसे बड़ी कमी यह रही है कि अनुसन्धानकर्ताओं ने कोई सुनिश्चित सर्वमान्य आधार निर्धारित नहीं किये । कुछ विद्वानों ने जो आधार अपनायें हैं,वे एकपक्षीय होने के कारण सर्वमान्य नहीं बन सके । संक्षेप में मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के लिए अभी तक किये गये प्रयासों में निम्न त्रटियाँ रह गई हैं —

- १. प्रक्षेप निकालने के लिए अनुसन्धानकर्ताओं ने ऐसे आधार निश्चित नहीं किये जो सर्वमान्य हों और जो सभी वर्गों में मान्य हो सकें। बिना 'आधारों' के निकाले गये प्रक्षेपों को देखकर पाठकों की ओर से यह आक्षेप उठा कि प्रक्षेपानुसन्धाताओं ने श्लोकों को मनमाने ढंग से निकाला और रखा है। जिसे अपने विचारों के अनुकूल समभा उसे रखा और प्रतिकूल को 'प्रक्षिप्त' घोषित कर दिया। विश्लेष रूप से यह उन आर्यसमाजी विद्वानों के लिये कहा जाता है, जिन्होंने आर्यसामाजिक विचारों के आधार गर श्लोकों को रखा और निकाला है
- २. सुनिश्चित आधारों के बिना प्रक्षेप निकालन वालों से यह भूल हुई है कि उन्होंने कुछ मोलिक श्लोकों को भी निकाल दिया, और इसी प्रकार कुछ प्रक्षिप्त श्लोक भी शेष रह गये।
- ३. कुछ विद्वानों ने कुछ 'आधार' भी अपनाये हैं, किन्तु वे विद्वान् उन 'आधारों' को सब स्थानों पर लागू ही नहीं कर सके । कई स्थानों पर वे गलत दंग से लागू किये हैं ।
- ४. निकाले गये प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ विद्वानों ने उनकी प्रक्षिप्तता के कारणों का विवरण नहीं दिया । इससे पाठकों को उनकी पद्धित का न तो ज्ञान ही हो पाया और न वे उस कार्य से आश्वस्त एवं सन्तुष्ट ही हो पाये ।
- 4. कुल्लूकमट्ट ने यद्यपि प्रक्षेप निकालने की प्रवृत्ति से मनुस्मृति पर कोई कार्य नहीं किया तथापि उसने १७० श्लोकों को प्रक्षेप कोटि में रखा है। इन श्लोकों को बृहत्कोष्ठकों और पृथकसंख्या में दिखाया गया है। कुल्लूकमट्ट ने ये श्लोक तत्कालीन हस्तिलिखित प्रतियों में प्राप्त अन्तर के आधार पर प्रक्षिप्त माने हें। यह कहना चाहिये कि ये श्लोक तो वे प्रक्षिप्त श्लोक हैं जो तब तक मनुस्मृति में

घुल-मिल नहीं पाये थे । इनसे पूर्व घुले-मिले श्लोकों पर कुल्लूक ने कोई संकेत नहीं दिया, अत : उसके द्वारा दर्शीय गये प्रक्षेपों के बावजूद भी प्रक्षेप-अनुसंघान कार्य में कोई वास्तविक योगदान नहीं हो सका । कुल्लूक का काल बहुत अर्वाचीन है । मनुस्मृति में प्रक्षेप चिर-काल से होते रहे हैं । कुल्लूक के प्रक्षेपों को तो पौराणिकों ने भी मान लिया है, किन्तु कुल्लूक का प्रयास संकेतमात्र है ।

हन किमयों के कारण अभी तक मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धानकार्य प्रतिष्ठित नहीं हो सका । अब पुन : इस अनुसन्धान को नये सिरे से करने का यह एक और प्रयास किया गया है और प्रक्षिप्त रलोकों के अनुसन्धान के लिए कुछ ऐसे सुनिश्चित 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये गए हैं जो सर्वसामान्य हैं। इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि आघार विश्वदरूप से कृतित्व पर आधारित हैं । इसके पीछे किसी प्रकार का कोई आग्रह या मतवाद नहीं है । इसलिए आशा की जाती है कि ये सर्वमान्य हो सकेंगे । जैसे कृति सब के लिये समान है, वैसे कृतित्व को परखने के ये 'आधार' या 'मानदण्ड' भी सबके लिये समान है । ये सभी वर्ग के व्यक्तियों पर समानरूप से लागू होते हैं और सभी व्यक्ति उन आधारों को समानरूप से श्लोकों पर परख सकते हैं । जिन श्लोकों या प्रसंगों पर ये लागू हुए हैं,वहां तत्तत् 'आधार' का कारणपूर्वक प्रदर्शन किया गया है । उसे पढ़कर पाठक स्वयं भी इसकी परीक्षा कर सकेंगे । एक-एक प्रक्षिप्त श्लोक या प्रक्षिप्त प्रसंग पर कई-कई आधार भी एक साथ लागू होते हैं । ऐसे स्थलों पर उन सभी आधारों को लागू करके दर्शा दिया गया है । इससे उन श्लोकों की प्रक्षिप्तता और अधिक दृढ़ता से सिद्ध हो सकेगी तथा प्रक्षिप्त भाग के विवेचन में किसी सन्देह का अवसर नहीं रहेगा । जो युक्तियां या आधार स्वल्प रूप में या आशिक रूप में लागू होती हैं, उनका भी उल्लेख उदारता से इसलिए कर दिया गया है कि वे अन्य यक्तियों या आधारों के साथ मिलकर उनकी प्रमाववृद्धि या पुष्टि करने में राहायक होंगी, उनका मण्डन करेंगी।

इस प्रकार प्रक्षेप निकालने के इस जटिल कार्य को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है और पूर्णत : तटस्थता का अनुसरण किया है । फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कुछ प्रक्षिप्त श्लोक दृष्टिगत न हो पाये हों, अर्थात् कुछ श्लोक इन 'आघारों' की पकड़ में न आ सके हों । यतो हि, प्रक्षेप करने वाले व्यक्तियों ने अपने श्लोकों को मनुस्मृति के श्लोकों के साथ मिलाने की यथा सम्भव कोशिशें की हैं, अत : हो सकता है कि कुछ श्लोक इतने घुला-मिला दिये हों, जो इन आघारों की पकड़ में न आ सके हों । इन आघारों की सीमा से बाहर के श्लोकों को, चाहे वे कैसी ही मान्यता वाले हैं, हमने प्रक्षेपों की दृष्टि से नहीं देखा है । यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि जितने भी श्लोक प्रक्षिप्त निकालों गये हैं, उनकी प्रक्षिपतता पर विचार करने के साथ-साथ उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की प्रेशक-प्रवृत्ति क्या हो सकती है, इसका भी विचार किया गया है । क्योंकि व्यक्ति किसी विशेष प्रवृत्ति से ही प्रेरित होकर प्रक्षेप करता है । इस प्रकार यह अनुसन्धान-कार्य कई प्रकार से पुष्ट है—

- (१) सुनिश्चित 'आघारों' के आघार पर प्रक्षेप निकालने से,
- (२) प्रक्षिप्त श्लोकों पर एक ही नहीं अपितु कई-कई आधार लागू होने से,
- (३) प्रक्षिप्त श्लोकों के मूल में प्रक्षेप की प्रवृत्ति पर घ्यान रखने के कारण।

हुस प्रकार जो श्लोक प्रक्षिप्न निकाले हैं, उनके मौलिक होने की या प्रक्षिप्तों के बचे रहने की गुंजायश नहीं के बराबर रह जाती है।

कुछ श्लोक इस प्रकार के भी है जो स्थानभ्रष्ट हो गये है । प्रसंगविरोध के आधार पर पाठक उन्हें

प्रसंगिविस्द्रद कह सकते हैं, किन्तु उन्हें प्रक्षेप नहीं माना जा अकता; क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि में प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति ही प्रतीत नहीं होती । न उसका किसी प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बन्ध है. और न उसका मनुस्मृति की मान्यता अथवा शैली से विरोध ही आता है । ऐसे श्लोकों पर टिप्पणी देकर उन्हें यथावत रख दिया गया है । इस प्रकार के स्थानभ्रष्ट कहे जा सकने वाले श्लोक बहुत थोड़े हैं । कुछ उदाहरणों द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देना उपयुक्त रहेगा —

(क) अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु या स्मृताः । तामि: सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वश: ।। (१।२७।।)

अर्थ — पांच महाभूतों की कारणभूत विपरिणामी पांच तन्मात्राएं कही गई हैं। उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत सुक्ष्म से स्थूल और फिर स्थूलतरादिं क्रम से उत्पन्न होता है।

इसमें एक साधारण वर्णन है । इसमें प्रक्षेप करने की कोई प्रेरक-प्रवृत्ति प्रतीत नहीं होती और न इसमें अन्तर्विरोध है । क्योंकि इसमें किसी प्रकार का आग्रह ही नहीं है । प्रचलित पुस्तकों में यह जिस स्थान पर है वहां पूर्वापरप्रसंग की दृष्टि से असंगत है । पूर्वापर प्रसंग कमों का है । किन्तु फिर मी इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह एक अविरोधी और सहज वर्णन है ।

### (ख) सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ।। (१।२१।।)

अर्थ — उस परमात्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही वेद के शब्दों से सब वस्तुओं के नामों, सबके मिन्न-भिन्न कर्मों और उनके विविध विभागों को बनाया ।

यह श्लोक भी क्रम की दृष्टि से असंगत है। वेदों की उत्पत्ति तो २३वें में कही है, जबकि वेदशब्दों से नामकरण और विभाजन पहले ही बता दिया। और २३वें तक अभी उत्पत्ति का ही प्रसंग है। वेदों के साथ उत्पत्ति-प्रसंग की पूर्णता होती है और नामकरण आदि उत्पत्ति के बाद की बातें हैं। इस प्रकार यह भी स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुआ और इसे २३वें के पश्चात (अग्निवायुरविभ्यस्तु . . . . . के बाद) उपयुक्त क्रम में रखनें के लिये टिप्पणी देदी है। इससे यह क्रम बन गया कि ब्रहम ने वेद उत्पन्न किये फिर वेदों के द्वारा ही नामकरण और कर्मों का विभाजन हुआ। इस प्रकार यह श्लोक अगले कर्मों के प्रसंग ''कर्मणां च विवेकार्थम्'' (१।२६) से संगतिबद्ध रूप में जुड़ जाता है। इसका भी किसी प्रक्षिप्त विचार से सम्बन्ध नहीं है, और न किसी मान्यता से विरोध है। इस प्रकार प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित श्लोकों को यथावत् रूप में रख दिया गया है।

यहां यह स्पष्ट किया जाता है कि प्रक्षेप की प्रवृत्ति से रहित किन्तु प्रक्षिप्त प्रसंग से सम्बद्ध जो श्लोक हैं, वे श्लोक इस कोटि में ग्रहण नहीं किये गये हैं । उन्हें प्रक्षेपान्तर्गत ही स्वीकार किया है । पाठ-भेद की समस्या भी ऐसी समस्या है जिसका प्रक्षिप्तता के साथ भी पर्याप्त सम्बन्ध है । बहुत से स्थानों पर प्रक्षेपकर्ताओं ने नया श्लोक मिलाने की अपेक्षा मौलिक श्लोक में ही पाठभेद कर दिया है । कुछ पाठभेद असावधानी से भी हुए हैं । पाठभेदों को पहचानना या उसका मौलिक रूप देना यद्यपि अपने आप में पृथक और महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो अत्यन्त कठिन है । फिर भी कुछ प्रक्षिप्त पाठभेदों को पहचानने की कोशिश की गई है । कोई प्रामाणिक पाठ उपलब्ध न होने के कारण मनुस्मृति की मान्यता, प्रसंग, विषय और शैली के अनुकूल जो पाठ उचित प्रतीत हुआ तथा जो अर्थ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त और संगत लगा, उसे ही अपनाया है । अर्थ पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख पाठभेदों में जहां भी परिवर्तन है, वहां 'अनुशीलन' नामक समीक्षा में उस पर प्रकाश डाला गया है ।

प्रक्षेपानुसन्धान की कार्यप्रणाली का उल्लेख करने के पश्चात अब 'आधारों' पर दृष्टिपात करना श्रेंच रह जाता है। प्रक्षेपों के अनुसंधान के लिए कुल सात आधार निर्धारित किये गये हैं। इनमें प्रथम खह अन्त :साक्ष्य के आधार पर हैं अर्थात मनुस्मृति की रचना शैली और मान्यताओं से इन आधारों के अन्तर्गत आने वाले श्लोकों की प्रक्षिप्तता सिद्ध होती है। सातवें आधार का स्वयं मनु ने अनेक स्थानों पर संकेत दिया है। उस संकेत के अनुसार केवल 'बेदों' को बाह्यसाक्ष्य के रूप में प्रमाण माना गया है। वे आधार निम्न हैं—

- १. विषय-विरोध ।
- २. प्रसंग-विरोध ।
- ३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध) ।
- ४. पुनरुक्तियां ।
- ५. शैलीविरोध या शैलीगत आधार ।
- ६. अवान्तरविरोध (सहयोगी आधार के रूप में) ।
- ७. वेद-विरुद्ध ।

परिभाषाओं और उदाहरणों सहित इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है —

### १. विषय-विरोध

मनुस्मृति कुछ मुख्य विषयों में निबद्ध है। मनु ने किसी भी विषय का प्रारम्भ या समापन करते समय अथवा दोनों ही स्थानों पर उस वर्ण्यविषयं का संकेत स्वयं ही किया है। मनुस्मृति के अध्यायों का विभाजन भी लगभग मुख्य विषयों के अनुसार ही किया हुआ है. जैसे-—प्रथम अध्याय में स्प्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पति, द्वितीय में संस्कार और ब्रह्मचर्यात्रम, तृतीय अध्याय में गृहस्थ (विवाह और पंचयज्ञ विधान), षष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि। निश्चित विषयवाले उन वर्णनों में संकेतित विषय से भिन्न अथवा विपरीत जो श्लोक है, वे विषयविरुद्ध हैं; और इस विपय-विरोध के आधार पर वे प्रक्षिप्त कहलायेंगे। वे मौलिक इसलिए नहीं माने जा सकते, क्योंकि जब मनु ने स्वयं अपने विषय को एक निश्चित सीमा में बाँधा हुआ है और साथ ही उनका संकेत भी दिया हुआ है, तो वे स्वयं विषयबाह्य वर्णन नहीं कर सकते। अत: ऐसे श्लोक मौलिक न होकर बाद में मिलाये गये हैं। यथा—

(क) मातुलांश्च पितृत्यांश्च स्वशुरानृत्यिजो गुरून् । असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयस: ।। मातृष्यसा मातुलानी श्वश्लरथ पितृष्यसा । संपूज्या गुरूपत्नीवत् समास्ता गुरूभार्यया ।। भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि॥२।१३०-१३२।। (इस संस्करण के अनुसार २।१०५-१०७)

अर्थ — (ब्रष्ट्मचारी) मामा, चाचा, श्वसुर और श्रृत्विज् आदि बड़ों को और ये छोटे भी हों तब भी उठकर 'मैं अमुक हूं' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करें। मौसी. मामी. सासू और बूआ,ये गुरुपत्नी के समान पूज्य हैं। उसे बड़े भाई की सवर्णा स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिये।

पूर्व श्लोकों में उपनयन संस्कार का विधान करने के पश्चात २।६८ (इस संस्करण में २।४३) वें

श्लोक में 'कर्मयोग' निकासत' कहकर ब्रह्मचारों के कर्तव्यों का वर्णन करने का कथन किया गया है। फिर २।१६४ (इस संस्करण में २।१३९)वें श्लोक में कहा है — 'अनेन क्रमयोगेन ...... गुरी वसन् संचिनुयाद ब्रह्माधिगमिकं तप:' अर्थात — 'इस पूर्वोक्त विधान के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेदज्ञान-प्राप्तिकारक तप का संचय करे.' इससे यह स्पष्ट हुआ कि गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी को जो कर्तव्य निमाने हैं, केवल उन्हीं का यहां वर्णन है। इसके अतिरक्ति २।६९ (इस संस्करण में ४४वा), १०८ (८३वा), १७५ (१५०वा), १९१-२०३ (१६६-१७८), २१९ (१९४वा), २४१-२४४ (इस संस्करण में २१६-२१९) श्लोकों से मी यही स्पष्ट होता है। इसके लिए यह मी आदेश है कि सूर्यास्त के बाद गांव में न रहे [२।२१९ (इस सं. में १९४वा)]। उक्त श्लोकों में विहित कर्तव्य ब्रह्मचारी पर लागू ही नहीं होते। न तो ब्रह्मचारी का मामा, चाचा, मौसी आदि से सम्बन्ध पड़ता है और न माई की पत्नी से। फिर वह कैसे प्रतिदिन चरणस्पर्श करके नमस्कार करेगा? इन श्लोकों में तो सास-ससुर को मी नमस्कार का विधान है। बताइये ब्रह्मचारी के सास-ससुर कहां से होंगे? यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ये वाक्य विधिवाक्य हैं, अर्थवाद नहीं। इस प्रकार ब्रह्मचर्याग्रम विषय के अन्तर्गत गृहस्थ के कर्तव्यों का उल्लेख विषय-विरुद्ध है। अत: ये प्रक्षिपत हैं।

(ख) इसी प्रकार ब्रहचर्यात्रम के कर्तव्यों के वर्णन में २।२२५-२३७ (इस संस्करण में २।२००-२१२) तक आचार्य, पिता और माता की सेवा का प्रसंग है —

त्रिष्वप्रमाचन्नेतेषु त्रींक्लोकान्विजयेद् गृही । दीप्यमान: स्ववपुषा देवविद्विव मोदते ।। ।।२।२३२। (२।२०७)

अर्थ — इन तीनों (आचायं, माता, पिता) की सेवा में सावधान रहने वाला गृहस्थी तीनों लोकों को जीत लेता है और शरीर से तेजस्वी होकर देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द से रहता है। अहमचारी के कर्तव्यों के बीच गृहस्थियों के कर्तव्यों का उल्लेख विषयविरुद्ध है। इस श्लोक में तो 'गृही' शब्द स्पष्टरूप से उल्लिखित है। इस प्रकार यह सारा ही प्रसंग प्रक्षिप्त है।

### (ग) निषेकादिश्मशानान्तों मन्त्रैर्यस्योदितो विधि: । तस्य शास्त्रेऽधिकारो स्मिन् क्षेयो नान्यस्य कस्यचित । ।

।। २।१६ । (इस संस्करण में १।१३५)

अर्थ — गर्भाघान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त जिसके लिए संस्कारों का वेद-मन्त्रों में विधान किया गया है, उसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इस (मनुस्मृति) ब्रास्त्र में अधिकार जानना चाहिए; अन्य किसी का नहीं।

२।१ (इस संस्करण के अनुसार १।१२०) में मनु ने धर्मोत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करने का संकेत दिया है,और २।२५ (१।१४४) में इस विषय की समाप्ति का संकेत हैं। धर्मोत्पत्ति के वर्णन में बिना ही प्रसंग के 'मनुस्मृति के पढ़ने के 'अधिकार-अनिधकार' का कथन विषय-विरुद्ध है, अत: यह श्लोक प्रक्षिप्त कहा जायेगा।

### २. प्रसंगविरोध

इस अनुसन्धान कार्य में मनुस्मृति के मुख्य विषयों को 'विषय' और प्रचलित वर्णन के छोटे-छोटे

प्रमागों या किसी चर्चा के क्रम को 'प्रसंग' की संज्ञा दी गई है। प्रचित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से मिन्न चर्चा वाले अथवा भिन्न प्रसंग को प्रारम्भ करने वाले श्लोक, एक प्रसंग के उक्त हो जाने के अनन्तर पुन: नये सिरे से तद्विषयक चर्चा या प्रसंग की श्रुस्आत करने वाले श्लोक, (उपसंहार और विकल्पों को छोड़कर), क्रमबद वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात अथवा पूर्व ही विर्णित क्रमविरुद्ध श्लोक, उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक 'प्रसंग-विरुद्ध' हैं।

(क) प्रचलित प्रसंग में पूर्वापर प्रसंग से मिन्न चर्चा —

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।

रात्रि: स्वप्नाय भूतानां चेष्टाये कर्मणामह: ।। (१।६५ ।।)

पित्र्ये रात्र्यहनी मास: प्रविभागस्तु पक्षयो:।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ।। (१।६६ ।।)

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयो : पुन : ।।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रि: स्याद्वक्षिणायनम् ।। (१।६७।।)

अर्थ — सूर्य मानवीय तथा देवी दिन-रातों का विभाग करता है। रात प्राणियों के सोने के लिए और दिन चलने-फिरने आदि चेष्टा तथा कार्यों के लिए होता है। (१।६५)। मनुष्यों का महीना पितरों का एक दिन-रात होता है। और मास का जो दो पक्षों में विभाग है, उसमें कृष्णपक्ष कर्म करने के लिए पितरों का दिन और शुक्लपक्ष सोने के लिए रात होती है (१।६६)। मनुष्यों का एक वर्ष देवों का एक दिन-रात होता है। उसमें छ: मास उत्तरायण देवों का दिन और छ: मास दिक्षणायन देवों की रात्रि होती है (१।६७)।

इतमें ६६वां क्लोक पूर्वापर प्रसंग से मिन्न चर्चा का वर्णन कर रहा है, अत: प्रसंगविरुद्ध है। इस क्लोक ने पूर्वापर प्रसंग को मंग कर दिया है। ६५वें क्लोक में 'मानुषदैविके' पदों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि आगे मनुष्य और देवताओं के दिन-रात का वर्णन करना ही रचियता को अमीष्ट है। संकेत के अनुसार मनुष्यों के दिन-रात का वर्णन तो ६५वें में ही वर्णित हो चुका। अब देवताओं के दिन-रात का वर्णन शेष रहा, वह ६७वें में वर्णित है। किन्तु प्रक्षेपकों ने उस क्रम को मंग करके बीच में पितरों के दिन-रात का वर्णन डाल दिया, जबिक इसको कहने की कहीं चर्चा ही नहीं है। इस प्रकार ६६वं क्लोक प्रसंगविरुद्ध है। मृतकन्नाद्ध की मान्यता रखने वाले व्यक्तियों ने अपनी 'मृत-पितर' सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए यह प्रक्षेप किया है।

(ख) प्रचलित एक प्रसंप को मंग करके पूर्वापर से मिन्न नये प्रसंग का प्रारम्म — एक प्रसंग का प्रारम्भ —

चतुर्णामिप वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् । अष्टाविमान्समासेनं स्त्रीविवाहान्निबोधत ।। (३।२०।।) ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धवां राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।। (३।२१।।)

अर्थ — चारों वर्णों के लिए लोक तथा परलोक में हित तथा अहित करने वाले आठ विवाह संक्षेप से ये जानने चाहिए — (१) ब्राह्म (२) दैव (३) आर्ष (४) प्राजापत्य (५) आसुर (६) गान्धर्व (७) राक्षस (८) पैजाच ।।

इस पूर्वप्रसंग को भंग करके मध्य में ही एक नये प्रसंग का प्रारम्भ — यो यस्य धर्म्यों वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ । तद्व: सर्व प्रवश्यामि प्रसंवे च गुणागुणान ।। (३।२२।।)

 $X \quad X \quad X \quad X$ 

पृथकपृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ । गान्धवों राक्षसश्चैव धम्यौं क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।।(३।२६ ।।)

अर्घ — जिस वर्ण के लिए जो विवाह धर्मानुकूल है और जिस विवाह के जो गुण तथा दोष हैं और उत्पन्न सन्तान के भी जो गुण-दोष हैं, उन सब को तुम्हारे लिए कहूँगा । अलग-अलग अथवा मिलाकर पहले बताए गान्धर्व और राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए धर्मयुक्त माने गये हैं।

३।२०-२१ से प्रारब्ध पहले वाले मौिलक भग्नप्रसंग का पुन: प्रारम्भ — आच्छाद्य चार्चियत्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् । आह्य दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म: प्रकीर्तित: ।।(३।२७।।) यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते । अलकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते ।।(३।२८।।)

अर्थ — विद्या और शील वाले वर को बुलाकर, वस्त्रादि से युक्त एवं सम्यक सत्कार करके कन्या देना 'ब्राहम' विवाह कहलाता है (३।२७)। त्रमृत्विक के द्वारा विस्तृत यज्ञ-कर्म करने पर वस्त्रामूषणादि से अलंकृत करके कन्या का दान करना 'दैव' विवाह कहलाता है (३।२८)। यहां २०वें श्लोक में मनु ने आठ विवाहों को कहने का संकेत दिया है और २१वें में उन विवाहों के नामों का उल्लेख है। इसके पश्चात प्रसंग के अनुसार उपयुक्त यह था कि उनकी परिभाषाएं वर्णित हों — जो कि २७ से २४ श्लोकों में हैं। किन्तु उस प्रसंग को बीच में ही तोड़कर प्रक्षेपक ने एक नया प्रसंग २२ से २६ श्लोकों में चलाया है, जिसमें यह बताया गया है कि किस वर्ण के लिए कौन-कौन सा विवाह धर्मानुकूल है। मनु को वर्णानुसार विवाह की श्रेष्ठता मान्य नहीं है, अपितु वे विधि के रूप में ही विवाह की श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता मानते हैं। यह मान्यता उन्होंने विधिवर्णन वाले श्लोकों में ही स्पष्टत: दर्शायी है। ३९ से ४२ श्लोकों से भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार मध्यवर्ती प्रसंग प्रसंगविरुद्ध है, अत: प्रक्षिप्त है। ये श्लोक ऊच-नीच और पक्षपात की भावना से प्रिरेत प्रक्षेप हैं।

(ग) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम के पश्चात् आने वाले क्रम-विरुद्ध श्लोक —

> दिघा कृत्वात्मनो देहमर्घेन पुरुष्पेश्मवत् । अर्घेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रमु: ।। (१।३२ ।।)

अर्थ — वह ब्रहमा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से नारी बन गये, फिर उस नारी में 'विराट़' को उत्पन्न किया।

 $X \qquad X \qquad X$ 

अहं प्रजा: सिसृश्वस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । प्रतीन्प्रजानामसूजं महर्षीनादितो दश ।। (१।३४ ।।)

अर्थ — मैंने (मनु ने) प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से कठिन तपस्या की और फिर दश प्रजापित महर्षियों को उत्पन्न किया।

 $X \qquad X \qquad X$ 

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभि:। यथाकर्म तपोयोगात्सुष्टं स्वावरजंगमम्।।(१।४१।।)

अर्थ — इस प्रकार इन महर्षियों ने मेरी आज्ञा से तप करके फिर सारे स्थावर जंगम जगत को उत्पन्न किया ।

यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुस्मातकार एक निश्चित प्रक्रिया से क्रमश : प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएं, इन्द्रियां और मन, पञ्चमहाभूत, इन तत्त्वों से स्थावर-जंगम सष्टि की उत्पत्ति मानता है (१ । १४-२१) । पिछले श्लोकों में इसी क्रम से सुष्टि-उत्पत्ति दर्शाते हुए १ । १६-१८ श्लोंकों द्वारा सभी प्रजाओं की 'उत्पत्ति हो चुकी' दर्शायी जा चुकी है । फिर १ । १९-२१ श्लोकों द्वारा संक्षेप में अन्य समस्त संसार की उत्पत्ति का कथन कर दिया । इस प्रकार प्रजाओं (प्राणियों) और अन्य जगत की उत्पत्ति का क्रमबद्ध प्रसंग पूरा हो गया । इसके पश्चात १ ।२२-३१ श्लोकों में उत्पन्न हुए प्राणियों के साथ कर्मसंयोग आदि का प्रसंग चला है । फिर एक नया प्रसंग शुरू किया गया है, जिसमें ब्रह्मा द्वारा अभी स्त्री और पुरुष का निर्माण होना कहा जा रहा है । मनु द्वारा अभी प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा ही की जा रही है । महर्षियों द्वारा स्थावर और जंगम जगत की उत्पत्ति कही जा रही है! जबकि पिछले श्लोकों में प्राणियों की उत्पत्ति होने पर उनके कर्मों का भी विवेचन किया जा चका । इस प्रकार यह प्रसंग क्रमविरुद्ध है । यदि यह मौलिक होता तो १ । १६ में प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाने से पूर्व इसका क्रमोचित वर्णन होता । लेकिन क्रम में यह जुड नहीं पाया । अत : प्रक्षेपक को बाद में डालना पड़ा । इस प्रकार इन श्लोकों की क्रमविरुद्धता इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध कर रही है । अन्य 'अन्तर्विरोघ' आदि आघारों पर भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं । ये श्लोक ब्रहमा द्वारा सुष्टि उत्पन्न करने वाली नवीन वेदान्त की मान्यता से प्रमावित पौराणिक कल्पना की देन हैं । मिथ्या कल्पनाओं द्वारा ब्रहमा के साथ सम्बन्ध जोडकर मनु और मनुस्मृति आदि को अलौकिक सिद्ध करने की भी प्रवृत्ति इनमें लक्षित होती है।

(घ) क्रमबद्ध वर्णन वाले प्रसंगों में यथोचित क्रम से पूर्व ही आने वाले क्रमविरुद्ध श्लोक —

> तदण्डमभवदैमं सहस्रांशुसमप्रमम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह: ।। १।९।।

अर्थ — वह 'अप्' तत्त्व हिम-सा श्रुम्न और सूर्य-सा चमकीला अण्डाकार बन गया । उसमें से सब लोकों के पितामह स्वयं ब्रहमा उत्पन्न हुए ।

X X X X

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् । स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोदिधा । १ । १२ । ।

अर्थ -- उस अण्डे में भगवान ने परिवत्सर (कल्प का शतांशसमय) तक निवास किया और सत्पन्नत ध्यान से उस अण्डे के दो विभाग कर दिए ।

X X X X

#### ताम्यां स शकलाम्यां च दिवं भूमि च निर्ममे । मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ।।१ ।१३ ।।

अर्थ — अण्डे के उन दो खण्डों से चुलोक,पृथिवी की रचना की ओर इनके मध्य में आकाश, आठ दिशाओं और जलों के शाश्वत स्थान (अन्तरिक्ष) को बनाया ।

यह १। ९, १२, १३ श्लोकों का एक प्रसंग है। इसमें एक अण्डे के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। भ्रहमा ने उस अण्डे में रहकर उसको दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया। उसके उन टुकड़ों से चुलोक, पृथिवीलोक, आकाश, समुद्र आदि बने।

मनुस्मृति की सृष्टि-उत्पत्ति प्रक्रिया और उसके क्रम के बारे में पिछले 'ग' भाग में पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस उदाहरण को समफने के लिए भी उसे ध्यान में रखना आवश्यक है। महत् आदि तत्वों की प्रक्रिया और क्रम से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए १। १९-२१ श्लोकों में पूर्णत: सृष्टि के बनने का क्रम आता है। उनका निर्माण १४ से २१ श्लोकों में है, लेकिन इस प्रसंग में उनके बनने से पूर्व ही दुलोक. पृथ्वीलोक आदि की स्थूल सृष्टि बनी दिखा दी। प्रश्न उउता है कि जब उसके प्राकृततत्त्व ही नहीं बने हैं तो ये पृथ्वी आदि किस वस्तु से बन गये? यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो इसका वर्णन क्रमोचित ढंग से १।१५ के पश्चात अथवा १८ के पश्चात होता। लेकिन वहां यह नहीं जोड़ा जा सका, अत: पूर्व ही डाल दिया। इस प्रकार क्रमविरोधिता के कारण उक्त श्लोकों का यह प्रसंग 'प्रसंगविरुद्ध' है। ये श्लोक अन्तर्विरोध के आधार पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार की सृष्टि-उत्पत्ति की पौराणिक कल्पना नवीन वेदान्त के आधार पर की जाती है। उसी आग्रह के कारण यहाँ ये प्रक्षेप किये गये प्रतीत होते हैं।

(इ.) उपयुक्त स्थल अथवा प्रसंग के बिना ही कहे गये श्लोक — जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च । व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ।। (१।१११ ।।) देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्माश्च शाश्वतान् । पाखण्डगणधर्माश्च शास्त्रे ऽस्मिन्तुवतवान् मनु: ।। (१।११८ ।।)

अर्थ — मनुस्मृति में जगदुत्पत्ति, संस्कारों की विधि, व्रतचर्या और स्नान की विधि क्रमशः कही है। इस शास्त्र में मनु ने देश, जाति और कुलों के धर्मों तथा पाखण्डियों के अवैदिक कर्मों का वर्णन किया है।

यह १११-११८ श्लोकों का एक प्रसंग है। इसमें मनुस्मृति की विषय सूची दी गई है। यहां विचारणीय बात यह है कि विषयसूची का उपयुक्त स्थान या तो किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में होता है, या फिर अन्त में ही। बिना ही पूर्वापर प्रसंग के कहीं भी विषयसूची का कथन कर देना किसी भी विद्वान् का कार्य नहीं हो सकता। इन श्लोकों के लिए यह उपयुक्त स्थल नहीं है, अपितु बलात ठूंसे हुए प्रतीत होते हैं। इस आधार पर यह प्रसंग प्रक्षिप्त है। दो अन्य प्रमाण भी इनको प्रक्षेप सिद्ध करने में दिए जा सकते हैं – (१) मनुस्मृति की ऐसी शैली ही नहीं है जिसमें विषयसूची का प्रदर्शन करने का अवसर आ सके। इसकी प्रवचन शैली है और प्रत्येक प्रवचन या विषय, पूर्वापर विषयों से श्रृखलावत जुड़े हैं। मनु की यह शैली है कि वे विज्ञी विषय को प्रारम्भ या समाप्त करने समय अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत करते हैं। शैली की अखण्डता के कारण उसमें साथ-साथ ही विषयों का संकेत होता रहता है, अत: पृथक से विषयसूची की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसीलिए मनु ने

कहीं मनुस्मृति के विषयों की सूची प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रसंग भी प्रारम्भ नहीं किया । इस प्रकार यहां जो ये श्लोळ विर्णित हैं, ये मनु की इस शैली के नहीं हैं, इस कारण भी ये प्रिक्षिप्त सिद्ध होते हैं । (२) जिस स्थान पर ये विर्णित हैं, यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-उत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति का है । क्रमश: ये १ । ५ और १ । १० द्र तथा २ । १ से प्रारम्भ होकर २ । २५ में समाप्त हुए हैं, इन विषय-संकेतों के अनुसार इनका बीच में वर्णन विषय और प्रसंगविरुद्ध भी हैं; क्योंकि वे क्रमबद्ध प्रसंगों को भंग कर रहे हैं । इस आधार पर भी ये प्रक्षिप्त हैं ।

इस प्रकार उपयुक्त स्थल और प्रसंग के बिना कहे गये श्लोक 'प्रसंगविरुद्ध' प्रक्षेप माने गये हैं। परवर्तीकाल में मनुस्मृति को अध्याय-अनुसार व्यवस्थित करने वाले व्यक्ति ने ही ये श्लोक जोडे लगते हैं।

# ३. अन्तर्विरोध (परस्परविरोध)

मनुस्मृति में जिन बातों में विरोध आता है अथवा एक मान्यता का दूसरी मान्यता जहां खण्डन करती है उसे 'अन्तर्विरोध' कहा गया है। ऐसे वर्णन वाले श्लोकों में ', निश्चित है कि एक ही मान्यता मौलिक है, दूसरी प्रक्षिप्त । मनुस्मृति एक ही लेखक की रचना है। उसमें वर्णित मान्यताओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए, और किसी विशिष्ट विद्वान की रचना में तो ऐसे विरोधों की आशा ही नहीं की जा सकती। फिर भी यह त्रुटि स्पष्टत: मिलती है। स्पष्ट है कि एक मान्यता अवश्य प्रक्षिप्त है। ऐसे वर्णनों में मौलिक मान्यता को मनुप्रोक्त मानकर दूसरी को 'अन्बर्विरुद्ध' या 'परस्परविरुद्ध' आधार पर प्रक्षिप्त माना गया है। कुछ अन्तर्विरोधी उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(क) नवम अध्याय के ५७-६३ श्लोकों में स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्म बतलाये हुए हैं। सन्तान के अभाव में यहाँ नियोग का विधान किया है। यह मान्यता शैली के अनुरूप और मौलिक है। एक श्लोक में विधान है—

#### देवराद्वा संपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्ग्नियुक्तया । प्रजेप्सिताऽ घिगन्तव्या संतानस्य परिश्रये ।। (९ । ५९ ।।)

अर्थ — सन्तान का क्षय (अभाव) होने पर अपने पति की या समाज की आजा से देवर वा अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिये।

किन्तु जैसे ही यह प्रसंग पूर्ण होता है, इस विचार के विरोधी व्यक्तियों ने इसके खण्डन में श्लोक मिला दिये हैं । उन श्लोकों में नियोग का निषेध है । इसे गर्हित और साधुपुरुषों द्वारा निन्दित कहा है, और इसके प्रचलन में विकृत कारण का उल्लेख दर्शाया है । ये ६४ से ६८ तक पांच श्लोक खण्डन के प्रसंग के हैं । इस प्रसंग के दो श्लोक प्रस्तुत हैं —

#### नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिमि : । अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्म हन्यु : सनातनम् ।। (।। ९ ।६४ ।।)

अर्थ — द्विजाति लोग विश्ववा नारी को अन्य देवर अथवा सपिण्ड पुरुष में नियोग की आज्ञा न दें । जो नियोग कराते हैं, वे सनातन धर्म को नष्ट करते हैं ।

> अयं द्विजैर्हि विद्वद्भि: पशुधमों विगर्हित:। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति।। (९।६६।।)

अर्थ - इस नियोग-प्रया को विद्वानों ने पशुचर्म कहा है। यह राजा वेन के समय मनुष्यों में

प्रचलित हुआ है।

इनमें ६४-६ द श्लोकों का प्रसंग मौलिक नहीं है । इसे बाद में किसी ने खण्डन के लिए मिलाया है । अत : 'अन्तर्विरोघ' या 'परस्पर विरोघ' के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । वेद में जिस का कथन हो, उसको थोड़े समय से प्रचलित कहना ठीक नहीं । मनुस्मृति स्वयं आदि सृष्टि की है । इस लेख से यह सिद्ध है कि मनु का पूर्व लेख नियोग-प्रतिपादन का है।राजा वेन मनु से बहुत बाद का है ।'

(ख) 'अहिंसापालन' अथवा 'हिंसानिषेघ' की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है जिन पर मनुस्मृतिरूपी प्रासाद टिका हुआ है । जो व्यक्ति हिंसा, मांसभक्षण तथा पशुयज्ञ को मनुस्मृतिसम्मत मानते हैं वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं, और वे वस्तुत: इनके साथ ईमानदार नहीं है । मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है और स्थान-स्थान पर अहिंसा-पालन के लिए बल दिया है । अहिंसा की मान्यता मनुस्मृति की कितनी दृढ़ आघारभूत मान्यता है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थी-जनों के लिए जो नैत्यिक पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य विघान किया है, उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही है । गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन अज्ञान और विवश्तावश्च होने वाली छोटी-छोटी हिंसाओं के प्रायश्चित्त के लिए ही पञ्चमहायज्ञों का करना आवश्यक बताया है —

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर:। कण्डनी चोदक्रम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।। (३ । ६८ ।।)

अर्थ— गृहस्थी के यहां चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, जल का घड़ा, ये पांच हिंसा के स्थान हैं । इनको व्यवहार में लाता हुआ गृहस्थी हिंसा के पापों से बंघता है ।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिमिः ।

पञ्च क्लूप्ता महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।। (३ । ६९ ।।)

अर्थ — उनके प्रायश्चित्त के लिए महर्षियों ने गृहस्थी के लिए क्रमश : पांच महायज्ञों का दैनिक विधान किया है ।

इसके अतिरिक्त मनु ने अंनेक स्थानों पर हिंसा का स्पष्ट निषेध भी किया है और हिंसक की निन्दा की है।—

> (अ) वर्जयेन् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।२ ।१७७ ।। (इस संस्करण में १५२ वां)

अर्थ — मद्य-पान, मास-भक्षण तथा प्राणियों की हिंसा को छोड़ देवे ।

(आ) – हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेघते ।। (४।१७०।।)

अर्थ - जो नित्य हिंसा के कर्नों में रत रहता है, वह इस संसार में सुख प्राप्त नहीं करता है ।

## (इ) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पचते क्वेचित्

न च प्राणिवध: स्वर्गस्तस्मान्मांसं विवर्णयेत् (।। ५ ।४८ ।।)

अर्थ – प्राणियों की हिंसा के बिना कहीं मांस की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । और प्राणियों का वध

१. महामारत में वेन नाम के वे राजाओं का उल्लेख आता है। एक: — वैवस्थत मनु के दक्ष पुत्रों में से एक या (महा, आ, ७०।१३)। दूसरा — अंग देत का एक बुष्टकर्मा राजा था, जो कर्दमपुत्र अनंग का पुत्र था। इससे राजा पुषु का जन्म हुआ (का, ५०।९६-९९)। इस प्रकार वेंनों ही राजा स्वायम्मुव मनु से पर्याप्त परवर्ती हैं। यहां अंगराजा वेन का ही वर्णन है।

सुख देनेवाल! नहीं है । इसलिए मांस को सर्वथा छोड़ देना चाहिए ।

मनु ही वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंसा के लिए सलाह देने वाले व्यक्ति को भी पाप का भागीदार घोषित किया है। मांसप्राप्ति में किसी भी रूप से सम्बद्ध व्यक्ति मनु के मत से 'घातक' है। मनु ने हिंसा से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को 'घातक' घोषित करके अपनी अहिंसा की दृढ़ मान्यता को अशंकित रूप से स्पष्ट कर दिया है। वे 'घातक' (पापी) ये हैं -—

(ई) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रथविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका: ।। (४ । ४१ ।।)

अर्थ — सलाह देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने और बेचने वाला, पकाने वाला, लानेवाला और खाने वाला, ये सभी घातक (पापी) हैं।

अहिंसा के समर्थन में और हिंसा की निन्दा में इतना सब कुछ लिखने वाले व्यक्ति के ग्रन्थ में कहीं मांसभक्षण की बात को मौलिक मान लिया जाये तो यह दुस्साहस ही कहा जायेगा । इतनी स्पष्ट मान्यता होते हुए भी मनुस्मृति में मांसभक्षण, पशुयज्ञ और हिंसायरक श्लोकों को मिला दिया गया —

(अ) नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विज: । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषु: ।। (४ । २७ ।।)

अर्थ — अग्नियाँ नवान्न और मांस की लोलुप होती हैं । अतएव जो द्विज नये अन्न और पशु-मांस से अग्नि में हवन नहीं करते, उनके प्राणों को ही अग्नियां खाना चाहती हैं ।

(आ) पांचवें अध्याय में ११ से ४७ तक मांसमक्षण का विधान।

(इ) तृतीय अध्याय में १२२ से २८४ तक श्राद में विभिन्न मांसों के खाने का विधान । ये तथा मनुस्मृति के सभी हिंसा-समर्थक श्लोक उपर्युक्त मौलिक मान्यता के विरुद्ध होने के कारण 'अन्तिविरोध' आधार पर प्रक्षिप्त हैं । इन श्लोकों का प्रक्षेप स्वार्थी पंडितों तथा वाममार्गियों ने किया है । (अन्य प्रमुख अन्तिविरोधों को जानने के लिए देखिये — 'मनुस्मृति की प्रमुख मौलिक मान्यताए' शीर्षक विवेचन) ।

## ४. पुनरुवित्तयां —

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिग्राय के बिना पुन: कहना पुनरुक्ति हैं। ये पुनरुक्तियां बिल्कुल ज्यों की त्यों तो नहीं हैं, किन्तु अनेक स्थानों पर प्रक्षेपकर्ताओं ने अपने भाव को सिद्ध करने के लिए पूर्व प्रोक्त अंशों को आवश्यकतानुसार ग्रहण कर लिया है। उन्हें पढ़कर यह प्रतीत होता है कि इस अंश को पुन: ग्रहण करने की नितान्त आवश्यकता नहीं थी। अनावश्यक रूप से पुनरावृत्त वे अंश उसके प्रक्षेप होने का संकेत देने हैं। यथा —

(क) मनु सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए, फ्रमानुसार जगत की प्रकटावस्था के माध्यम से ही परमात्मा की प्रकटता-रूप उत्पत्ति का वर्णन करते हैं —

तत: स्वयंभूर्मगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तोजा: प्रादुरासीत्तमोनुद: ।। (१ । ६ ।।)

अर्थ — तब अपने कार्यों को सम्पन्न करने में स्वयं समर्थ, महत्, पञ्चमहाभूत आदि तत्वों को उत्यन्न करने की अमित शक्ति से युक्त, स्थूलरूप में प्रकट न होने वाला परमात्मा इस समस्त संसार को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट हुआ।

इससे अगला ही श्लोक है --

यो\$ सावतीन्द्रियग्राह्य: सूक्ष्मोऽ व्यक्त: सनातन: । सर्वभूतमयोऽ चिन्त्य: स एव स्वयमुद्बमौ: ।। (१ । ७ ।।)

अर्थ — जो यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण न कर सकने योग्य, सुक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सब प्राणियों का आश्रयस्थान और अचिन्त्य है; वही अपने आप उत्पन्न हुआ।

इस श्लोक में कोई नयी बात न होकर कुछ नए विशेषणों के साथ छठे श्लोक के भावों को ही पुन: कह दिया है। छठे श्लोक में परमात्मा का प्रकट होना कहा था, इसमें भी केवल परमात्मा की उत्पत्ति कही है। 'अञ्चक्त:' की ज्यों की त्यों और 'स्वयम्भू:' की 'स एव स्वयमुद्धभौ' के रूप में पुनरुक्ति है। इस प्रकार 'पुनरुक्ति' के आधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

यह पुनरुक्ति क्यों की गई ? प्रसंगानुसार यह स्पष्ट कर देना भी इसको प्रक्षेप समझने में पोषक सिद्ध होगा । छठे श्लोक में परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति, जगत की प्रकटता के रूप में ही मानी है अर्थात वैसे तो परमात्मा अव्यक्त है, प्रकट जगत से ही उसका होना अनुमित होता है । किन्तु अग्रिम ७-१३ श्लोक पौराणिक कल्पना के आधार पर किये गये प्रक्षेप हैं जिनमें ब्रह्मा की उत्पत्ति दर्शायी गयी है । उसे सिद्ध करने के लिए ही सातवें श्लोक में 'यो द सौ' कहकर एक नया प्रसंग शुरू किया गया । उसकी भूमिका के लिए प्रक्षेपक को विवश होकर यह पुनरावृत्ति करनी पड़ी, अन्यथा एक बार छठे श्लोक में कहने के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी । यह ब्रह्मा की उत्पत्ति का प्रसंग मनुस्मृति की उत्पत्ति-प्रक्रिया (१४-२१) के विरुद्ध है । इसे मनुस्मृतिसम्मत बनाने के लिए यह प्रसंग डाला गया है । किन्तु कपड़े के पैबन्द की तरह यह स्पष्टत : प्रक्षिप्त दिखाई पड़ रहा है ।

## (छ) पति या नामिचरति मनोवाग्देहसंयता।

सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भि: साध्वीति चोच्यते ।।(४ । १६४ ।।

- (या) जो स्त्री (मन:-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी और शरीर को संयम में रखकर (पतिम न ने अभिचरति) पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृलोकम् ने आप्नोति) पतिलोक अर्थात् पति के हृदय में आदर का स्थान प्राप्त करती है (च) और (सिद्भ: 'साध्वी' ने इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या अच्छी पत्नी' कहकर प्रश्नंसा करते हैं ।। १६५ ।। इस श्लोक का ९ । २९ में अक्षरश: पुनरुक्ति है, जो अनावश्यक है । अत: ९ । २९ स्थल पर यह पुनरुक्ति प्रक्षेप माना गया है ।
- (ग) ५ । १३४ श्लोक भी ९ । ३० में अक्षरश : पुनरुक्त है । यह अन्य आधारों पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, अत : दोनों स्थानों पर ही प्रक्षिप्त माना गया है ।
- (घ) ६ । ३४२ में शस्त्र औषघ आदि चुराने वाले चोरों को देशकाल के अनुसार दण्ड देने का कथन हो चुका है —

## महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषघस्य च । कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् । (८ । ३२४ ।।)

अर्थ — हाथी आदि बड़े पशुओं, शस्त्रों तथा औषघ की चोरी पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

इसकी पुनरुवित्त ---

क्षीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामीषधस्य च। कालमासाग्र कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत ।। (९ । २९३ ।।) अर्थ — खेती के उपकरण हल आदि, शस्त्रों तथा ओषघ की चोरी करने पर राजा समय और कार्य के अनुसार दण्ड देवे ।

यहां पहले पद को छोड़कर शेष बातों की यथावत पुनरुक्ति है । पूर्व श्लोक अपने प्रसंग में है और यह अप्रासंगिक रूप से उक्त है । इस प्रकार 'पुनरुक्ति' होने से यह प्रक्षिप्त है ।

## ५. शैलीगत आघार अथवा शैली-विरोध —

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति का प्रणेता एक हो व्यक्ति है । मनुस्मृति की शैली गम्भीर, संतुलित, साधार, युक्तियुक्त एवं पक्षपात की भावना से रहित है : किन्तु बीच-बीच में अतिसामान्य, निराधार, अयुक्तियुक्त, अतिशयोक्तिपूर्ण और पक्षपातपूर्ण शैली के श्लोक भी आजाते हैं । यह निश्चित है कि यह विरोधी मिन्नता एक ही प्रणेता की शैली में नहीं हो सकती । मनु एक विद्वान् ऋषि थे, अत : कहा जा सकता है कि दूसरी शैली के श्लोक मनुप्रोक्त न होकर प्रक्षिप्त हैं । मनुस्मृति के अनुशीलन से जो शैलियां मनुसम्मत प्रतीत नहीं हो पाईं, उन्हें दो विभागों में रखा गया है ।

- १. मनु की शैली से मिन्न शैलियां
  - क. रचना-शैली-सिद्ध मिन्नताएं।
- २. वर्णन-शैली से विरुद्ध शैलियां ---
  - ख. निराघार एवं अयुक्तियुक्त शैली ।
  - ग. अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ।
- घ. पक्षपातपूर्ण शैली (घृणा, निन्दा, अपशब्द, ऊंच-नीच, स्पृश्यास्पृश्यप्रेरित) । मनुसम्मत मौलिक शैलियां न होने के कारण इन शैलियों के श्लोकों को प्रक्षिप्त माना गया है । मनु की मौलिक शैलियों की विस्तृत समीक्षा 'मनुस्मित की शैलियां' शीर्षक विवेचन में की गई है । शैलियों के निर्घारण की पद्धति पर भी वहीं विचार किया गया है । यहां केवल संक्षिप्त स्पष्टीकरण के साथ उनके उदाहरण ही प्रदर्शित किये जा रहे हैं ।

#### (क) रचना-शैलीसिद्ध मिन्नता —

रचना की दृष्टि से मनुस्मृति की 'प्रवचनशैली' है, अर्थात् मनुस्मृति मूलत: प्रवचन है। मनुस्मृति में प्रवचन के लिए जितने भी विषय या प्रकरण चुने गये हैं उनके प्रारम्भ या समापन में अथवा दोनों स्थानों पर क्रमश: उनके प्रारम्भ करने और समापन करने का प्रयोग किया है। इन सभी स्थानों पर 'सुनने-सुनाने' की क्रियाओं का प्रयोग किया है। ये सभी प्रवचन एक शैली में श्रृंखलावत् जुड़े हुए हैं। इस शैली के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

(अ) मनुस्मृति मूलत: कोई पूर्वनिषद्ध शास्त्र नहीं था । मनु द्वारा ऋषियों की जिज्ञासा के उत्तर में जो प्रवचन दिये गये, उनका संकलन होने पर वह 'शास्त्र' कहलाया । इससे यह मी स्पष्ट हो जाता है कि प्रवचनों को कोई प्रवच्ता स्वयं 'शास्त्र' नहीं कह सकता, अथवा क्रमश: दिये जा रहे अपने प्रवचनों को ग्रन्थ के रूप में वर्णित नहीं कर सकता है । यह रूप तो बाद में बनता है । इसलिए मनुस्मृति में जहां भी इसे पूर्वनिषद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थ' के रूप में वर्णित किया है,वे श्लोक परवर्ती काल में किये गये प्रक्षेप हैं, जबकि मनुस्मृति संकलित होकर निषद्ध 'शास्त्र' या 'ग्रन्थरूप में आ चुकी थी । यथा —

#### (१) इदंशास्त्रमधीयानो ब्राह्मण :शंसितव्रत : । मनो वाग्देहजैनित्यं कर्मदोषैनं लिप्यते ।।(१ । १०४ ।।)

अर्थ — इस शास्त्र को पढ़कर इसके अनुसार कर्त्तव्य व्रतों को करने वाले ब्राहमण को मन वाणी और देह के कर्मों से उत्पन्न होने वाले दोष (पाप) नहीं लगते ।

> (२) नै:श्रेयसिमदं कर्म यथोदितमशेषत: । मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ।। (१२ । १०७ ।।)

अर्थ — मोक्ष-प्राप्ति के साधक सब कर्मों का वर्णन कर दिया । अब मानवशास्त्र के रहस्य का उपदेश किया जाता है ।

इस प्रकार के श्लोक मनुस्मृति-परम्परा के शिष्यों द्वारा प्रशंसा और महत्त्ववर्धन की दृष्टि से मिलाये गये हैं ।

(आ) इस प्रकार इस शैली में,मूल प्रवचनों के संकलन में स्वयं मनु का नाम मी प्रयुक्त नहीं हो सकता और न भूगु का नाम आना ही युक्तसंगत जंचता है । इसलिए जो भी श्लोक मनु और भूगु के नाम से वर्णित हैं, वे इस शैली के आधार पर प्रक्षिप्त हैं । उनकी माचा-प्रयोग-शैली भी यही सिद्ध करती है कि वे मनुप्रोक्त बातों का मूलसंकलन नहीं हैं । वे उनके नाम से किसी अन्य व्यक्ति ने बनाये हैं । कुछ लोगों का विचार है कि उनका आशय मनु का आश्रय है, अत : उनके नाम से उनका उल्लेख है । यह भी युक्तिसंगत बात नहीं है कि वह मनु का आश्रय है । संभव है किसी अन्य व्यक्ति ने अपना आश्रय मनु के नाम से वर्णित कर दिया हो । यह तो एक ऐसा छिद्रद्वार बन जाता है कि चाहे कोई भी अपने अभीष्ट आश्रय को मनु का आश्रय बताकर कितने ही श्लोक बनाकर मिला दे ; अत : यह मान्य नहीं है । वास्तविकता भी यही है कि परवर्ती लोगों ने मनु के नाम पर अपने आश्रयों को मिलाया है । यदि यह मानें कि मनु के शिष्य भूगु ने उनके आश्रयों का वर्णन उनके नाम से किया है,तो इसमें भी कई संदेह रह जाते हैं — (१) इसका मतलब भूगु ने वास्तविक रूप में मनु के प्रवचनों का संकलन नहीं किया, (२) यदि वास्तविक रूप में है,तो कहीं बिना नाम के, और कहीं नामोल्लेखपूर्वक,दो पद्धतियां क्यों अपनायी हैं ? जब संकलन शैली में अन्य अधिकतर बातों का वर्णन मूलरूप में हुआ है तो कहीं-कहीं मनु का नाम देकर विघान करनें की क्या आवश्यकता थी १ (३) और भृगु नाम वाले श्लोक मनु के संकलन में कैसे आये ? मनुस्मृति में उनकी क्यां तुक है १

इस प्रकार मनुस्मृति को प्रक्षेपकों ने मनचाहा 'भण्डारघर' बना लिया है। इस शैली से यह निश्चित हो जाता है कि इस प्रकार मनु और भृगु नाम वाले सभी श्लोक मूलरूप नहीं हैं, अपितु परवर्तीकाल में उनके शिष्यों ने रचकर डाल दिये हैं। जैसे, मनु के नाम वाले श्लोक —

 य: कश्चित्कस्यचिद्वमों मनुना परिकीर्तित: स सर्वो ऽ मिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि स:।।

(२ 1911)

(इस संस्करण में १।१२६)

अर्थ — मनु ने जिस किसी का जो भी धर्म (कर्तव्य) बताया है वह सब वेदोक्त है । क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त है ।

> २. दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायं मुवो ८ क्रवीत् । स्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राहमणो स्रजेतु ।।(८ । १२४ ।।)

अर्थ — स्वायम्मुव मनु ने दण्ड के दश स्थान बताए हैं । जिन पर क्षत्रियादि तीन वर्ण वालों को दण्ड देना चाहिये । और ब्राइमण को दण्ड के बिना ही छोड़ देना चाहिए ।

 त्रमृणे देये प्रतिकाते पञ्चकं शतमर्ठति । अपहवे तद्दिगुणं तन्मनोरनुशासनम् ।।(८ ।१३९)

अर्थ — मनु का ऋणादि के विवाद में यह दण्ड का प्रकार है कि यदि ऋण लेने वाला न्यायसमा में आकर ऋण को स्वीकार कर लेता है, तो उस पर पांच प्रतिशत दण्ड करे और यदि वहां मी झूठ बोले या छिपावे तो दश प्रतिशत देना चाहिए।

मृगु के नाम से वर्णित श्लोक-

१. एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावियव्यत्यशेषतः। एतद्वि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः।।(१।५९।)

खर्च — यह मृगुमुनि आप सब को सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सुनायेंगे । इस मुनि ने यह समस्त शास्त्र मुझ से पढ़ा है ।

> २. स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगु:। श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।। (४ । ३ ।।)

अर्थ — उस घर्मात्मा भृगु मुनि ने महर्षियों से कहा कि जिस दोष के कारण विग्रों (विद्वानों) को मृत्यु मारना चाहती है, उसे सुनिये।

३. इत्येतन्मानवं शास्त्रं मृगुप्रोक्तं पठन्द्विज: । भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयादगतिम् ।। (१२ । १२६ ।।)

अर्थ — इस मृगु-प्रोक्त मानव-धर्मशास्त्र को पढ़ता हुआ दिज सदाचारी बन जाता है और इच्छानुसार गति कोप्राप्त करता है।

- (इ) जैसा कि अमी 'क' खण्ड में दर्शाया गया है कि मनु की शैली किसी मी विषय अथवा प्रकरण के प्रारम्भ अथवा समाप्ति पर,या दोनों ही स्थानों पर,उिहष्ट विषय का संकेत देने की है। यदि किसी स्वतन्त्र प्रकरण में अथवा एक प्रकरण की समाप्ति होने पर, प्रारम्भ की गई चर्चाओं के आद्यन्त में, उस विषय का संकेत नहीं मिलता,तो उससे यह संकेत मिलता है कि वह प्रकरण मनु की शैली का नहीं है। यथा —
- १. प्रथम अध्याय के १११-११ ८ श्लोकों में मनुस्मृति की विषयसूची का प्रसंग एक स्वतंत्र और पूर्वपर प्रसंग से मिन्न प्रसंग है, किन्तु इस प्रसंग के न तो पूर्व ही उदिष्ट विषय का संकेत है और न समाप्ति पर । अत: यह मनु की शैली का प्रसंग नहीं है ।
- २. ग्यारहवें त्यध्याय के १-४३ श्लोकों में स्वतन्त्र दान का तथा अन्य फुटकर प्रसंग हैं, किन्तु उसके प्रारम्भ और समाप्ति पर विषय का संकेत नहीं है। ४३ श्लोकों में वर्णित विषय का कोई संकेत न होना. इस प्रसंग को मनु की शैली का सिद्ध नहीं करता। अत: यह भी प्रक्षिपत है।

#### (ख) निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली -

जहां कारण-कार्य या साधन-साध्य का पारस्परिक सम्बन्धरहित वर्णन किया गया हो, जिस विधान की कोई बुद्धिसंगत स्थिति न हो अथवा तो तर्क के आधार पर पुष्ट नहीं होता, ऐसा वर्णन निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली का है। मनु ने प्रत्येक विधान और वर्णन को साधार एवं युक्तियुक्त ढंग से वर्णित किया है और घर्मनिर्णय के लिए तर्क को भी एक प्रमुख आघार माना है (१२।१०६, ११६) । मनु के इस दृष्टिकोण के अनुसार उक्त शैली के श्लोक मनुकृत न मानकर प्रक्षिप्त माने गये हैं । यथा —

#### धान्यं हत्वा भवत्याखु: कांस्यं हंसो जलं प्लव: । मधु दश: पय: काको रसं श्वा नकुलो घुतम् ।।(१२ । ६२ ।।)

अर्थ — धान्य चुराने वाला चूहा, कासा चुराने वाला हस, जल की चोरी करने वाला जलमुर्ग, मधुचोर डांस, दूधचोर कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता ओर घी चुराने वाला नेवला बनता है। यहां उक्त चोरियों का और उनके फलस्वरूप में वर्णित जन्मों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, अत: यह कथन निराधार एवं अयुक्तियुक्त है।

#### प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् । प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ।। (४ । ५२ ।।)

अर्थ — अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण और गाय तथा वायु इनकी ओर मुख करके लघुशंका करने वाले व्यक्ति की बुद्धि नष्ट होती है।

यहां भी उक्त वस्तुओं की ओर मुख करने का और बुद्धि नष्ट होने का कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार निम्न विधान भी अयुक्तियुक्त और निराधार हैं —

#### मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधुं चतुष्ययम् । पदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।।(४ । ३९ ।।)

अर्थ — मिट्टी, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध वृक्ष, इनको दांयमाग की ओर रखता हुआ बायों ओर से जाये।

#### विनादिमरप्सु वाप्यार्त: शारीर' स'निवेश्य च । सचैलो बिहराप्लुत्य गामालम्य विशुद्ध यति । (११ ।२०२ ।।)

अर्थ — पीड़ित व्यक्ति जल के विना और जल में शरीर के मल-मूत्र को त्यागकर वस्त्ररहित स्नान करे और जल से बाहर आकर गी कर स्पर्श करे, इस प्रकार वह शुद्ध होता है।

#### (ग) अतिशयोक्तिपूर्ण शैली —

अभिष्ट सिद्धि की प्रवृत्ति से जहां किसी बात को आवश्यकता से अधिक बढ़ा चढ़ाकर वर्णित किया गया है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण शैली है । मनु की शैली में संतुलित वर्णन है । मनुस्मृति एक विधानशास्त्र है, अत: उसमें वर्णित प्रत्येक विधान, प्रत्येक धर्म-अधर्म का कथन यथावत होना चाहिए \कहीं-कहीं यह यथावता नहीं है, यथा—

#### अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्त्रमिष्ठत्य च। जिद्यांसया ब्राहणस्य नरकं प्रतिपद्यते।।११।२०६।।

अर्थ — ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दंड को उठाने मात्र से सौ वर्ष तक और दंडप्रहार करके मारने वाला हजार वर्ष नरक में, रहता है।

> शोणितं यावत: पांसून्गृहणाति महीतले। तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेतु ।।(११ । २०७ ।।)

अर्थ — ब्राह्मण के शरीर से निकले रक्त से पृथ्वी के जितने रजकण भीगें, दण्डप्रहार करके ब्राह्मण के शरीर से रक्त निकालने वाला व्यक्ति उतने ही सहस्र वर्ष पर्यन्त नरक में पड़ा रहता है । अतिशयोक्तिपूर्ण शैली होने से ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं, अत एव प्रक्षिप्त हैं । (घ) प्रक्षपालपूर्ण शैली —

जहां किसी वर्ग, व्यक्ति या बात की,उपयुक्त आघार या कारण के बिना विशेष पक्षघरता अपनायी गई है; अथवा किसी वर्ग या व्यक्ति की घृषा, निन्दा, ऊंच-नीच,छूआ-छूत आदि से प्रेरित होकर अनुपयुक्त अवमानना की गई हो; वह पक्षपातपूर्ण शैली है। मनु की शैली में उपयुक्त 'आघार' या कारण के आघार पर ही प्रशंसा या निन्दा है, पूर्वाग्रहबद्धता पूर्वक पक्षपात की प्रवृत्ति से नहीं। बीच-बीच में पक्षपात की मावना से ओतप्रोत श्लोक भी आते हैं वे मनुप्रोक्त नहीं है — बाहमणवर्ग के लिए विशेष पक्षपात —

(अ)स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वंवस्ते स्वं ददाति च। आनुशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जना:॥(१।१०१।।)

आर्थ — ब्राहमण जो कुछ खाता है, पहनता है, देता है, वह सब उसका ही है — यह सब ब्राहमण का ही है। अन्य जो लोग खाते हैं, वे सब ब्राहमणों की कृपा से खाते हैं।

बाहमणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु मूमिपम् । पितापुत्रौ विजानीयाद् बाहणस्तु तयो : पिता ।। (२ । १३५ ।।)

(इस संस्करण में २।११०)

अर्थ — दश वर्ष का ब्राहमण और सौ वर्ष का क्षत्रिय, पिता-पुत्र के बराबर हैं । उनमें ब्राहमण पिता के तुल्य है ।

स्त्रियों के लिए पक्षपात-पूर्ण विधान —

(आ) विशील: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित:

उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत्पतिः ।। (५ । १५४ ।।)

अर्थ — पतिव्रता स्त्री को दुष्टस्वभाव वाले, परस्त्रीगामी और गुणहीन पति की भी सदा देवताओं के समान पूजा सेवा करनी चाहिए ।

अञ्चल की भावना से प्रेरित पश्चपातपूर्ण शैली —

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं श्द्रेण नाययेत् । अस्वग्यां ह्याहुति : सा स्याच्युद्रसंस्पर्शदृषि ता ।।(५ । १०४ ।।)

अर्थ — जब तक अपने वर्ग के व्यक्ति विद्यमान हैं, तबतक ब्राहमण के भ्रव को भ्रूद्धें से नहीं उठवाना चाहिये । क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित शरीर की आहुति स्वर्ग में नहीं पहुँचाती । घृणा और निन्दायुक्त शैली —

(ई) वृष्णीफेनपीतस्य निःश्वासोपष्ठतस्य च। तस्यां चैव प्रस्तस्य निष्कृतिर्न विघीयते।।(३।१९।।)

अर्थ — विवाह करके शूद्र स्त्री के अघरपान करने वाले का,और जिसके मुख पर शूद्रा का श्वास लगा हो. जो शूद्रा के गर्म मे उत्पन्न हुआ हो; उसका कमी (निस्तार) नहीं हो सकता। ऊंच-नीच की मावना से प्रेरित पक्षपातपूर्ण शैली—

(उ) सहासनमिप्रेप्युरुत्कृष्टस्यापकृष्टज: ।

#### कट् यां कृताङ्के निर्वास्य: स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ।।(६।२६१।।)

अर्घ — जो शूद्र ब्राहमण के समान आसन पर बैठना चाहे तो उसकी कमर पर दगवाकर उसे देश निकाला दे दे अथवा नितम्बों को कटवा दे।

उपर्युक्त सभी श्लोक पक्षपातपूर्ण शैली के होने से मनुप्रोक्त सिद्ध नहीं होते. अत : प्रक्षिप्त हैं ।

# ६. अवान्तरविरोध —

मनुस्मृति में कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें अन्धाघुन्घ मिलावंट हुई है। एक प्रिक्षिप्त प्रसंग के अन्तर्गत ही अनेक पारस्पिरक विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं— (१) विवादास्पद विषयों में ही अधिक प्रक्षेप हुए हैं, (२) इतने विरोध किसी एक लेखक की रचना मे नहीं हो सकते, (३) प्रक्षेप मिन्न-मिन्न व्यक्तियों द्वारा — (४) मिन्न-मिन्न समयों में किये गये हैं (५) ऐसे विरोधात्मक वर्णन मनुसदृश विद्वान की रचना नहीं हो सकते हैं (६) अत: वह प्रसंग प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक है। एक प्रक्षिप्त प्रसंग में ही परस्पर पाये जाने वाले विरोध को 'अवान्तर विरोध' कहा गया है। यह आधार एक सहयोगी आधार के रूप में लिया गया है। इसके प्रदर्शन से उपर्युक्त निष्कर्ष स्पष्ट हो जाते हैं, और उस प्रसंग की अप्रामाणिकता और प्रक्षिप्तता पुष्ट हो जाती है। जैसे —

- ३ । १२२ से २४ ८ तक श्राद-वर्णन का प्रसंग है, जो अन्तर्विरोध, प्रसंगविरोध आदि के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । साथ ही उस प्रसंग में प्राप्त होने वाले अवान्तरिवरोध उसकी प्रक्षिप्तता और अप्रामाणिकता को पुष्ट कर देते हैं और यह संकेत देते हैं कि स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ के अनुसार पूर्वापर प्रसंग देखे बिना ही मनचाहे प्रक्षेप करके अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के प्रयास किये हैं । इस प्रसंग में कुछ अवान्तरिवरोध इस प्रकार हैं —
- (अ) १२९ वें श्लोक में कहा गया है कि देवकर्म में वेदहीन ब्राह्मण को नहीं जिमाना चाहिए, और १४९ में कह दिया कि श्राद्भवाता देवकर्म में जिमाते समय वेदादि के पढ़े लिखे की परीक्षा न करें अर्थात ब्राह्मणमात्र होना ही पर्याप्त है।
- (आ) सम्पूर्ण प्रसंग में मांसमक्षण का विधान है और मांस की भरपूर प्रशंसा है, किन्तु १५२ में मांसविक्रता ब्राह्मण को जिमाने का निषेध कर दिया । यदि मांसमक्षण पवित्र और प्रशंसनीय कार्य है तो मांसविक्रताओं को निन्दा क्यों माना गया ?
- (इ) १५१ वें श्लोक में श्राद्ध-कर्म में ब्रह्मचारी को जिमाने का निषेध हैं, और १८६, १९२. २३४ में श्राद्ध में जिमाने का विधान हैं। इतना ही नहीं इनमें उसे पंक्तिपावन (श्राद्ध की पंक्ति को पवित्र करने वाला) तक माना है।
- (ई) १९६ –१९७ श्लोकों में श्रुद्मदि सभी वर्णों के लिए श्राद्ध करना कहा है, और २४१ आदि में श्रुट के स्पर्श का निषेघ, श्रुद्ध के देखने मात्र से श्राद्ध के पुण्य का नष्ट हो जाना आदि प्रदर्शित है ।
- ें (उ) १३८ में मित्र ब्राहमण को श्राद्ध में जिमाने का निषेध है, किन्तु १४४ में जिमाने का विधान है ।
- (ऊ)१६७ —१७३ तक के श्लोकों में विभिन्न मांसों से कई-कई मास, वर्ष और अनन्त काल तक पितरों की तृप्ति मानी है । यदि एक बार के श्राद से इतनी तृप्ति हो जाती है तो उनको पुन: पाक्षिक मासिक श्राद की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

## ७. वेद-विरुद्ध ---

मनुस्मृति के १ । ३ ।। २ । ६ (इस संस्करण में १ । १२५) ९ – १५ ।। १२ । ९३ – ९९, १०९ – ११३ श्लोकों से यह विदित होता है कि मनु वेद को ही धर्म का मूलाधार मानते हैं और उनकी मनुस्मृति भी वेदानुकूल है । अन्य परवर्ती स्मृतियों ने भी मनुस्मृति को वेदानुकूल घोषित किया है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति में कोई मान्यता वेदांवरुद्ध नहीं होनी चाहिए । जो वेदविरुद्ध होगी,वह मनु की मान्यता के आधार पर प्रक्षिप्त ही मानी जायेगी । यहां यह स्पष्टीकरण भी उपयुक्त होगा कि वेद की मान्यताओं को निर्विदाद रूप में स्पष्ट करना अपने आप में एक जटिल कार्य है, अत : वेदों की जो मान्यताएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन्हीं के अनुसार इस शाधार का उपयोग किया गया है । विशेषत : उन विधानों में तो इस आधार का उपयोग करना अति-शावश्यक हो गया है जिनमें वेदों को उद्दत करके वर्षन है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं — (१) निष्म श्लोकों में स्त्री-शादों को वेदमन्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध है—

(क) अमिन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषत: ।। (२।६६।।) (२।४१ इस संस्करण में)

खर्ष — स्त्रियों के संस्कार के लिए ये समस्त-कर्म बिना मन्त्र के करे।
(ख) सार्य त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बिला डरेल् ।।(३ । १२१ ।।)

अर्थ — सायकाल पाकश्वाला में बनाये अन्न से पत्नी मन्त्रोच्चारण किये विना बलि देवे ।
(ग) नाविस्पष्टमधीयील न शहजनसन्निधौ ।।(४।९९।।)

अर्थ — वेदों को अस्पष्ट न पढ़ें और शुद्र के सामने न पढ़े।

इन क्लोकों में वेदविषयक विघान स्वयं वेदविरुद्ध हैं। वेद में वेदाध्ययन सभी के लिए विहित है —

(क) 'यथेमा' वाच' कल्याणीमावदानि जनेम्य: ।
-क्रश्तजन्याभ्यां शदाय चार्याय च स्वाय चारणाय । ।(यजुर्वेद २६ । २)

अर्थात — ''परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेम्य:) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात संसार और मुक्ति के सुख देने हारी (वाचम्) ऋग्वेद आदि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो । यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राहमण. क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है, स्त्री और शुद्र आदि वर्णों का नहीं ? (उत्तर) — (ब्रह्मराजन्याम्याम्) इत्यादि, देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शुद्राय) शुद्र और (स्वाय) अपने मृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अतिशूद्र आदि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।'' (स. प्र. समु. तृतीय, प्र. ७४)

(ख) सभी व्यक्तियों को वेद पढ़ने का अधिकार होने और यज्ञ आदि वैदिक क्रियाए करने का अधिकार होने में वेदमन्त्र के साथ-साथ वेद के अंग 'निरुक्त का प्रमाण —

''यज्ञियास: पञ्चजना: मम होत्रं जुषध्वम् ।।''

(ऋग्. १०।५३।४)

इस मन्त्र में पठित 'पञ्चजना .' पद की व्याख्या करते हुए यास्क त्रमृषि स्पष्ट करते हैं —

''गन्धर्वा: पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा:, निषाद: पञ्चम इति औपमन्यव: । निषाद: कस्माद्? निषन्नं अस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता पञ्चजनीनया विशा ।'' (३ । ८)

अर्थात् — 'गन्धर्व, पितर, देव, असुर, राक्षस, ये पांच प्रकार के व्यक्ति हैं, इन सब को यज्ञ करने का अधिकार है; ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। औपमन्यव का मत है कि चार वर्ण — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा निषाद — पापी इन सबको यज्ञ का अधिकार है। निषाद को 'निषाद' क्यों कहते हैं? क्यों कि इस व्यक्ति के मन में पाप की भावना रहती है। इस प्रकार सभी मनुष्यों के ये पांच वर्ग हैं।' यज्ञ में मन्त्रपाठ अवश्य होता है।

(ग) स्त्रियों को वेदाध्ययन, विद्याप्राप्ति एवं ब्रह्मचर्याष्रम के विधान में वेद का प्रमाण — 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते एतिम ।'

(अथर्व. ३।२४।११।१८)

"जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्णविद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों की पढ़ पूर्णविद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवक होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे । इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ।

(प्रश्न) क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें?

(टत्तर) अवश्य, देखो श्रौतसूत्र आदि में —

इमं मन्त्रं पत्नी पठेतु।।

अर्थात् — 'स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढें। जो वेदादि शास्त्रों को न पढी होवे तो यज्ञ में स्वरसिंहत मन्त्रों का उच्चारण और सस्कृतभाषण कैसे कर सके। मारतवर्ष की स्त्रियों में मूषणरूप गार्गी आदि वेदादिशास्त्रों को पढके पूर्ण विदुषी हुई थीं, शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है।' (स. प्र. तृतीय समु. प्र. ७५)

(आ) मनुस्मृति के पंचम अध्याय के २६ से ४२ श्लोकों में वेद का साक्ष्य देकर हिंसा का विधान है, वह साक्ष्य मिथ्या और वेदविरुद्ध है। वेद में तो हिंसा का निषेध है —

'यजमानस्य पशून् पाष्ठि' (यजु. १।१) मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजु. ३६ । १८)

अत: वेदविरुद्ध होने से मनुस्मृति के सभी हिंसापरक श्लोक प्रक्षिप्त कहलायेंगे। अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता हूँ कि उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त और भी 'आधार' बन सकते थे, या बन सकते हैं किन्तु अभी केवल सात ही आधारों पर कार्य किया है। अन्य आधारों का निर्माण कुछ का तो इसीलिए नहीं किया जा सकता कि वे दोषपूर्ण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के रूप में यह बहुत सभव है कि कुछ श्लोक स्थानभ्रष्ट हो गये हों, लेकिन हम यांदे स्वयं उनका क्रम निश्चित करदें तो फिर कोई सीमित आधार नहीं रह जायेगा। कोई किसी श्लोक को कहीं रखेगा, कोई कहीं। ऐसे श्लोक जो स्थानभ्रष्ट प्रतीत हुए और उनमें प्रक्षेप की कोई प्रवृत्ति लक्षित नहीं हुई, उन्हें उसी स्थान पर रखकर अपनी टिप्पणी देवी है। इसी प्रकार कुछ आधारों का निर्माण करना सभव ही नहीं लगा, जैसे — किसी एक पदमाग या पंक्ति के रूप में किये गये प्रक्षेपों को निकालना। इसी प्रकार मौलिक बचे श्लोकों में भी कुछ रचनाएं इस प्रकार की हैं जो निर्धारित

आचारों की सीमा में नहीं आतीं, किन्तु वे इतनी साधारण बातें हैं कि उन्हें मनु सदृश महर्षि की रचना कहने में सन्देह होता है।

इतना कार्य करने के बाद भी इस विषय में कार्य करना शेष रह जाता है। फिर भी अब जैसा संभव हो सका, मनुस्मृति के गदलेपन और विकृति को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, और इसमें कोई गर्वोक्ति की बात भी नहीं है कि इन 'आधारों' से मनुस्मृति का शुद्धिकरण करने से इसका गदलापन तो निश्चितरूप से दूर हो ही गया है।



## ६. प्रक्षेपों से हानियां एवं भ्रान्तियां

प्रक्षेपकों ने मनुस्मृति में स्वाभिमत प्रक्षेप करके अपना स्वार्थ एवं उद्देश्य तो सिद्ध कर लिया, किन्तु इस दुष्कृत्य से मनुस्मृति को गहरा आघात पहुंचा है । मनुस्मृति का अध्ययन करने से यह जात हो जाता है कि उसका मौलिक रूप अत्यन्त श्रुद्ध, परिष्कृत, मानवतापूर्ण, प्रक्षपातदुराग्रहरिहत एवं उच्चाशयों से युक्त था । प्रक्षिप्तों ने उस स्वरूप को विकृत करके गदला और महा बना दिया । मनु की मौलिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करके मनु के उद्देश्य को संकीर्ण एवं कुण्ठित रूप दे दिया । प्रक्षिप्त वर्णनों के कारण आज मनुस्मृति को पाठकों की आक्षेपात्मक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ रहा है । इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और अध्ययन के योग्य ग्रन्थं नहीं माना जाता । इस प्रकार प्रक्षिप्तों के कारण एक सुन्दर ग्रन्थ का अपमान हो रहा है । साथ ही अनेक भ्रान्तियाँ भी पनप गयी हैं । प्रक्षिप्तों के कारण हुई हानियों और भ्रान्तियों का अनुमान निम्न बातों से लगाया जा सकता है —

#### (१) भारतीय संस्कृति के स्वरूप में विकृति —

मनुकालीन समाज की संस्कृति अत्यन्त उच्च आ शों से अनुप्राणित, पक्षपात और दुराग्रहरिहत व्यवस्थाओं से युक्त, मानवता और आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थी। वर्णव्यवस्था का आधार कर्म थे (१। ८७-९१) पणा की भावना व्यक्तियों के प्रति न होकर दुष्कर्मों के प्रति थी। परवर्ती काल में व्यवस्थाएँ और परम्पराएँ विकृत एवं शिथिल हो गई। वर्णव्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना मानी जाने लगी। ज्ञान-विद्या पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य हो गया। उन्होंने अपने को सर्वोच्च तथा पवित्र घोषित किया और स्त्री, श्रुद्ध को घृणास्पद तथा अस्पृश्य बताया। अवान्तर काल की इन विकृत-व्यवस्थाओं को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में स्थान-स्थान पर उनका प्रक्षेप कर दिया और उन वर्णनों को पढ़कर ही आज यह माना जाने लगा कि ये विकृतियाँ मनुकालीन समाज में भी थीं। इन प्रक्षिप्तों के आधार पर ही आलोचक आज यह आक्षेप करते हैं कि मनुकालीन समाज में जाति-पाँति, स्पृश्यास्पृश्य की भावना, स्त्री-श्रुद्धों के प्रति हीनदृष्टि थी। श्रुद्धों के प्रति विद्वेषपूर्ण व्यवहार था। माँसभक्षण, पश्रुयज्ञ, बहुविवाह, आदि का प्रचलन था। इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण प्राचीन संस्कृति का स्वरूप भन्ना एवं विकृत हो गया। इतिहासकार तत्कालीन समाज और संस्कृति का जो इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं वह इन्हीं प्रक्षिप्तों पर आधारित होने से वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

#### (२) रचनाकाल-सन्बन्धी भ्रान्तियाँ —

यद्यपि मनुस्मृति के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतमेद हैं तथापि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुस्मृति उपलब्ध समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्य से प्राचीन है और कुछ वैदिक साहित्य से भी (विस्तृत विवेचन पूर्व वर्णित है) । किन्तु कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने इसे महामारत से भी परवर्ती और कुछ ने इसे शुंगकालीन माना है । यह रचनाकाल-संबन्धी भ्रान्ति कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों के कारण ही हुई है । महाभारत से परवर्ती मानने वाले इतिहासकार निम्न श्लोकों को आधार मानते हैं —

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चाला : शूरसेनका : । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तर : !! (२।१९ ।।) अर्थ — ब्रह्मावर्त से मिला हुआ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल और श्रूरसेनक देशों का प्रदेश ब्रह्मिष-देश कहलाता है।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालांशूरसेनजान् । दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषुयोजयेत् ।। (७।१९३ ।।)

अर्थ — कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, श्रूरसेनक देशों में उत्पन्न सैनिकों को, जो लम्बे या छोटे कद के होते हैं, उनको सेना के अगले भाग में रखें।

इन श्लोकों में कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल, श्रूरसेनक नामों का उल्लेख है, अत: विद्वानों का विचार है कि मनुस्मृति इनसे परवर्ती है। किन्तु ये दोनों ही श्लोक परवर्ती हैं।

इसी प्रकार कुछ अत्याधुनिक परम्पराओं के कारण, कुछ वाममार्गीय परंपराओं के कारण मनुस्मृति को शुंगकालीन घोषित किया गया, जैसे-बालविवाह का विधान, मच-मांस का विधान आदि। वे इस प्रकार के श्लोक हैं —

## त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षो ऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर : ।। (९।९४ ।।)

अर्थ -- गृहस्थ-धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शोघ्र ही १२ वर्ष की सुन्दर कन्या और २४ वर्ष का आठ वर्ष की कन्या से विवाह करे।

## न मांसमक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।। (४।४६ ।।)

अर्थ — माँस-भक्षण, शराब पीना और व्यभिचार में कोई दोष नहीं है । यह तो प्राणियों की स्वामाविक प्रवृत्ति है, किन्तु इनसे निवृत्ति होना अतिलामदायक है ।

ये श्लोक भी पक्षिप्त हैं । इस प्रकार प्रक्षिप्त श्लोकों ने मनुस्मृति के काल के सम्बन्ध में विवाद पैदा कर दिया और अनेक इतिहासकारों को इसका कालनिर्णय करने में भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है ।

#### (३) साहित्यिक अवमूल्यन

अपने मौलिक रूप में मनुस्मृति उत्कृष्ट एवं शिक्षाप्रद ग्रन्थ है। इसमें मनु के हितकारी, शान्तिप्रद और मार्गदर्शक प्रवचन हैं। इनमें अधिकांश प्रवचन ऐसे हैं, जिन्हें जीवन के शाश्वत और सार्वभौमिक सिद्धान्त कहा जा सकता है। इसी कारण भारतीय साहित्य में मनुस्मृति का शीर्षस्थान रहा; किन्नु आज प्रक्षिप्तों के कारण इसे रूद्विवादी ग्रन्थ माना जाने लगा है, और विभिन्न विकृतियों के कारण इसे साहित्य में सम्मानित स्थान और महत्य नहीं दिया जाता। प्रक्षेपों से मनुस्मृति की साहित्यक गरिमा का हनन हुआ है।

#### (४) प्रामाणिकता में सन्देह

विभिन्न विरोधी बातों के प्रक्षेपों के कारण आज पाठक मनुस्मृति की प्रामाणिकता में ही संदेह करने लगे हैं। मनुस्मृति का रचियता कौन है, और क्या यह मनुस्मृति वास्तविक है, इत्यादि प्रश्न प्रक्षेपों के कारण और अधिक उल्रह्म गये हैं। जैसे —

निम्न अलोक से मनुस्मृति मनुप्रोक्त सिद्ध होती है -

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षय: । प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमङ्कन् ।।(१।१।।)

अर्थ — एकाग्रचित्त होकर बैठे मनु जी के सामने महर्षि उपस्थित हुए और उनका योग्य सत्कार करके मनु जी से इस प्रकार कहने लगे ।

किन्तु निम्न श्लोक इसे भृगुप्रोक्त सिद्ध करता है —

एतद्वो \$ यं भगु :शास्त्रं श्रावियष्यत्यशेषत : ।। (१।५९ ।।)

अर्थ — इस धर्म-शास्त्र को भृगुमुनि आप सब त्रृषियों को सम्पूर्णस्वरूप में सुनायेंगे । निम्न श्लोकों से मनुस्मृति मूलत: ब्रह्माप्रोक्त सिद्ध होती है —

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासुजत्प्रमु: ।। (११।२४३ ।।)

अर्थ — प्रजापति ने इस धर्मशास्त्र को तपस्या करके बनाया ।

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादित: । विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ।।(१।५८ ।।)

अर्थ — मनुजी कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस धर्मशास्त्र को बनाकर प्रथम विधिपूर्वक मुझे उपदेश दिया । और फिर मैंने मरीचि आदि भुनियों को पढाया ।

इसी प्रकार अन्य परस्परविरोधी, प्रसंगविरोधी वर्णन भी मनुस्मृति में मिलते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक का सिर चकराने लगता है और फिर उसे इसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा होता है।

#### (५) मनु के व्यक्तित्व पर आंच —

महर्षि मनु को धर्मप्रवक्ता के रूप में सभी ने सर्वोच्च स्थान दिया है। परवर्ती शास्त्रों, त्रृषि-महर्षियों ने एकमत से मनु के विधानों को प्रमाण माना है और उन्हें प्रमाणिक, अधिकारी विद्वान्। "यद्वे किंच मनुरवदत् तद् मेषजम्" (जो कुछ मनु ने कहा है, वह औषध है — तै. सं. २।२।१०२) कहकर उन्हें सर्वाधिक आदर दिया। किन्तु परवर्ती पक्षपात — दुराग्रहबद, रूट, अन्धविश्वास और घृणा-विद्वेष से प्रेरित प्रक्षेपों के कारण पाठकों की दृष्टि में मनु की प्रतिष्ठा धूमिल हो गई। पाठकों के लिए प्रक्षेपों की परीक्षा तो सम्भव न हो सकी, किन्तु उन्होंने यह अवश्य मान लिया कि इस प्रकार का वर्णन करने वाला व्यक्ति कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रक्षेपों ने मनु के व्यक्तित्व का हनन किया है।

## (६) मनुस्मृति के प्रति घृणा का दृष्टिकोण —

उपर-वर्णित धिनौनी और अमानवीय बातों का मनुस्मृति में उल्लेख देखकर आज के व्यक्ति इसके प्रति उपेक्षा और घृणा की भावना रखने लगे हैं। कोई-कोई इसे 'स्वार्थी ब्राहमणों का पोथा' कहकर मजाक उड़ाने हैं। विशेषत : निम्नवर्ग तो इस के प्रति इसलिए आक्रोश प्रकट करने हैं, क्योंकि इसमें उनके प्रति पक्षपात और विद्वेष का वर्णन हैं। स्त्रियों की निन्दा देखकर स्त्रीवर्ग की मी इस ग्रन्थ के प्रति उदासीनता की भावना है। यह सब प्रक्षेपों के कारण है।

इस प्रकार प्रक्षेपों के कारण मनुस्मृति को विभिन्न हानियां हुई हैं और उस के सम्बन्ध में प्रान्तियां जन्मी हैं। अत: यह आवश्यक है कि मनुस्मृति के प्रक्षेपों का अनुसन्धान करके उन्हें दूर किया जाये जिससे मनुस्मृति का मौलिक शुद्ध रूप सामने आ सके। प्रक्षेपों के निकल जाने पर ही मनु एवं मनुस्मृति के प्रति जनता की श्रद्धा जाग सकती हैं। तभी मनुकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का वास्त्रिक चिंत्र सामने आ सकता है।

# तृतीय अध्याय

## मनु की प्रमुख मौलिक मान्यताएं और उनकी मौलिकता के आधार

पिछले अध्याय में, मनुस्मृति में पाये जाने वाले प्रक्षिप्त श्लोकों और उनके अनुसंघान में सहायक 'मानदण्डों' पर लक्षण-उदाहरण सहित पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करके प्रश्लेपानुसन्धान की पद्गित को स्पष्ट कर दिया गया है और भाष्य में भी उन-उन श्लोकों या मान्यताओं पर यथास्थान आधारमूत समीक्षा दी है, फिर भी इस विषय में बार-बार ये शंकाएं उठायी जाती हैं कि 'अमुक मान्यता को मौलिक क्यों माना गया ?' 'अमुक मान्यता को प्रक्षिप्त क्यों माना गया ?' 'अमुक मान्यता को प्रक्षिप्त कर रहे हैं, क्यों न उसे मौलिक स्वीकार किया जाये ?' आदि-आदि।

पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि कृतित्व के आधार पर निर्धारित प्रसंगविरोध, अन्तर्विरोध आदि सात मानदण्डों के अनुसार जो मान्यता मनुस्मृति-विरुद्ध सिद्ध होती है, वह प्रक्षिप्त मानी गयी है और मनुस्मृति-संगत मान्यता मौलिक । यहां मनु की कुछ प्रमुख मान्यताओं का, मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले उससे सम्बन्धित समग्र पक्ष-विपक्षात्मक विवरण को एकत्ररूप में प्रस्तुत करकं, और अधिक विवेचन किया जाता है, जिससे ये मान्यताएं और इनको मौलिक मानने की पद्धति और अधिक स्पष्ट हो सके।

मनुस्मृति की किसी भी मान्यता को मौिलक और प्रक्षिप्त मानने में सर्वसामान्य कारण या तर्क निम्त हैं —

- १. मनुस्मृति के प्रतिपाद्य, उसकी आधारमृत मावनाओं जो कि प्रसंग, विषय और शैली की दृष्टि से पूर्वापर क्रम से संगत हैं के अनुकूल वर्णन या मान्यताएं मौलिक हैं. और इनके विरुद्ध प्रक्षिप्त हैं। ये प्रक्षिप्त 'अन्तर्विरोध' या 'परस्परिवरोध' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।
- २. मनुस्मृति कुछ निधारित विषयों या प्रकरणों में आबद्ध है। किसी भी विषय के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर मनुस्मृति में उसका संकेत स्वयं किया गया है। उन विषय-संकेतों से सम्बद्ध वर्णन मौलिक है और उनसे बाह्य वर्णन प्रक्षिप्त हैं। ये प्रक्षेप 'विषयविरोघ' वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।
- मनुस्मृति के पूर्वापर प्रसंदक्रम से जुड़े हुए श्लोक मौलिक हैं, और उससे तालमेल न रखने वाले अथवा उस क्रम को भंग करने वाले श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ये 'प्रसंगविरोघ' के अन्तर्गत आते हैं।
- ४. मनुस्मृति की सरचना और वर्णन पद्धति की कुछ सुनिश्चित शैलियां मी पायी जाती हैं।' उन शैलियों में दले या अनुकूल वर्णन मौलिक हैं और उनसे विरुद्ध प्रक्षिप्त । इन समी को शैलीगत आधार' के अन्तर्गत रखा गया है।
- ५. मनु ने अपनी स्मृति का मूलस्रोत या आधार वेद को माना है, अत: स्पष्ट है कि मनुस्मृति में वेदानुकूल पायी जाने वाली मान्यताएं मौलिक हैं और उसके प्रतिकूल पायी जाने वाली प्रक्षिप्त हैं । यह बात मनु ने स्वयं मी स्वीकार की है । इस प्रकार के प्रक्षेपों को 'वेदविरोघ' की संज्ञा दी गयी है
  - ६. प्रक्षेप करने का कोई न कोई कारण अवश्य होता है । वह प्रक्षेप करने के पीछे 'निहितप्रवृत्ति'
- शैलियों के परिजान के लिए मनु. का पु.. तृतीय अध्याय में शैलीगत आधार और चतुर्ष अध्याय में 'मनुस्मृति की शैली' शीर्षक इन्टच्य है।
- वृ. १११२५ (२११०); ११३/ १११२४ (२१६), १११२७, १२८, १३०-१३४ (२१८, ५, ११-१४); ११२१ ३१; १२११०८, १०५, ११३, आदि।
- ३. १२।९५-९६ ।।

कही जा सकानी है। प्रक्षिप्त निर्धारण में इस प्रवृत्ति को भी घ्यान में रखा गया है। इसको घ्यान में रखना इसलिए भी आवश्यक है कि प्राचीनकाल में स्मृति या हस्तलेखों के द्वारा ही विद्याएं या शास्त्र सुरक्षित रखे जाते थे। इसकी बहुत अधिक संभावना है कि किसी श्लोक में स्मृतिदोष से पूर्वापरक्रम में परिवर्तन आ गया हो, और फिर वैसा ही लेखबद हो गया हो, अथवा हस्तलेख में त्रुटित होकर स्थानभ्रष्ट हो गया हो।

इन तर्क या आधारों में से किसी श्लोक पर एक आधार ही लागू होता है, तो कहीं एक से अधिक भी। इन आधारों के अनुसार मनुस्मृति में मौलिक सिद्ध होने वाली कुछ प्रमुख मान्यताएं निम्न हैं —

# १. मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मणा मान्य है, जन्मना नहीं --

मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर स्पष्ट और सांकेतिक रूप में ऐसे वर्णन हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण मूलत : कर्म से मानते हैं, जन्मना नहीं । किसी मो वर्ण में उत्पन्न बालक को माता-पिता अपने वर्ण या अन्य किसी मी वर्ण में दीक्षित करा संकते हैं, किन्तु शैक्षणिक काल में अन्तत : वर्ण का निश्चय, उसके गुण, कर्म, स्वमाव-संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है । बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमे परिवर्तन हो संकता है । कि इस मान्यता के विधायक या संकेतक स्थल —

इस मान्यता को प्रदर्शित करने वाले निम्न स्थल मनुस्मृति में प्राप्त हैं । ये सभी मनुस्मृति की आघारभूत भावना के अनुरूप, संकेतित विषय के अन्तर्गत, प्रसंगसम्मत और शैली के अनुकूल हैं — १।३१, ८७-९१; २।११-१४ (३६-३९), ७८(१०३), १०१(१२६), १४३(१६८);

४।२४५; १०।६५।।

इन सभी स्थलो' का अनुशीलन और विश्लेषण करने के अनन्तर इस विषयक निम्न निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं —

(१) (क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कर्मों का निश्चय करने की आवश्यकता नहीं थी;क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे । यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है. अपितु बहुत बार तो अज्ञान में विरोधी कर्म भी कर देता है । जब उस अवस्था में उसे जन्मत : ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति माना जा रहा है [१।९६] तो बाद में कर्मों के न करने या विरोधी कर्मों के करने से भी उसका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं होना चाहिए । लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और अवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं । यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी । कोई पालन करे या न कर व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा,क्योंकि उनका श्रेष्ठत्व-अश्रेष्ठत्व तो जन्म से ही निर्धारित हो ही चुका । लेकिन मनु ने कर्म के आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है । निम्न श्लोकों में उनकी अत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है —

शूद्रो ब्राहमणतामेति ब्राहमणश्चैति शूद्रताम् । श्रात्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तयेव च ।। (१०।६५ ।।)

अर्थात —श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राइमण और ब्राइमण श्रूद्र हो जाता है अर्थात गुणकर्मों

के अनुकूल कोई ब्राइमण हो तो ब्राइमण रहता है तथा जो ब्राइमण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राइमण, क्षत्रिय और वैश्य जो जाता है । इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समझना चाहिए ।

कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान — मनु ने इस श्लोक में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर आधारित माना है। इस मान्यता के सम्बन्ध में अन्य विवेचन २।३१, ८७-९१; १०७, ११।११४ श्लोकों में और उनकी समीक्षा में देखिये।

(ख) श्लोक की पुष्टि में प्रमाण — प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इसके अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है —

ं धर्मचर्य्यरा जघन्यो वर्ण : पूर्वं पूर्वं वर्णमापचते जातिपरिवृत्तौ ।। १ ।। अधर्मचर्य्यरा पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापचते जातिपरिवृत्तौ ।। २ ।।

धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ।। १।।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ।। २ ।।" (स. प्र. चतुर्थ समु.)

- (२) अपने धर्म-कर्मों को पालन न करने पर कोई मी व्यक्ति शूद्र बन जाता है, ऐसा मनु का मत है। यथा —(अ) वेद न पढ़ने पर दिज शूद्रता को प्राप्त करता है (योऽनधील्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय: ।।(२।१६८)। (आ) सन्ध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत होता है (न तिष्ठिति तु य: पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवत् बिठिष्कार्य: सर्वस्मात् द्विजकर्मण: ।।(२।१०३)। (इ) यथोक्त आयुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होकर दिज न बनने वाले व्यक्ति 'व्राप्त्य' संजक श्रुद्र कहलाते हैं [२।३७-४०]। (ई) नीचों की संगति से ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त करता है (उत्तमानुत्तभान्याच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मण: श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ।। (४।२४५)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते।
- (३) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कमों को सुधार लेता है और त्रुटियों के लिए प्रायश्चित कर लेता है तो वह पुन: अपने वर्ण का हो सकता है। मनु ने यह मान्यता, 'व्रात्य' संज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण ब्राह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चितों में प्रकट की है [११।१९१-१९६]। इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है।
- (४) मनु ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बहुप्पन, गुणों की योग्यता के आघार पर माना है [२।१३६ १३७, १५४, १५६] । मनु की यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनु जन्म के आघार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्म या गुणों को ही आघार मानते हैं ।
- (४) मनु ने वर्णों के कर्म बतलाते हुए ''लोकाना' विवृद्धयर्थम्'' (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) और ''सर्वस्थास्य तु गुप्त्यर्थम्'' (इस समस्त जगत की सुरक्षा के लिए १।८७) को

कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है। इन कारणों पर विशेष ध्यान देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कर्मों के आधार पर ही वर्ण-व्यवस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं। क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हों गये तो उससे समाज या जगत की क्या वृद्धि होगी? केवल उच्च लोगों की वृद्धि होगी। अपितु वृद्धि मी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा। उसे अपने स्तर की उन्नित का अवसर ही कहां मिलेगा? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन सिर्यंक होगा। इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है — वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजार्थ नहीं बनायीं अपितु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिए) चार वर्ण बनाये अर्थात् पहले प्रजार्थ बनीं जो जन्मना समान थीं, फिर उनमें से गुण कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे। इस प्रयोगपद्धित से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है।

(६) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति दी है... 'वर्णों वृणोत्ने;' (२।१।४) अर्षात कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने मी स्पष्ट किया है —

''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरणीया वरीतुमर्हा: । गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं स्नियन्ते ये ते वर्णा: ।'' (स्नृ. मा. मू. वर्णाश्रमधर्मविषय)

अर्थात् -- गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य अधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण हैं।

- (७) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार रखे गये हैं । नामों की व्युत्पत्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १।८७-९१ श्लोकों पर द्रष्टव्य हैं) ।

  (क) 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी
- (क) 'ब्राह्मण' नाम कर्मणा वर्णव्यवस्था का सूचक वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना और व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण दिया है और नामों से वर्णों के कर्मों का भी बोध होता है। 'ब्रह्मन' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्धेद' (अच्टा. ४।२।५९) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण' शब्द बनता है। इसकी व्यत्पत्ति हैं 'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वर्तमानो विचादि उत्तमगुणयुक्त : पुष्क : अर्थात् वेद और परमात्मा के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विचा आदि उत्तम गुणों को घारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाता है। मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण के प्रमुख कर्मों के रूप में वर्णित किया है।

ब्राहमणग्रन्थों के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है । निम्न वचनों में ब्राहमण के कर्तव्य उहिष्ट हैं —

- (अ) "आग्नेयो ब्राह्मण:"(तां. १५।४।६)। "आग्नेयो िह ब्राह्मण:"(काठ. २९।१०) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = यज्ञादि से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् यज्ञकर्ता ब्राह्मण होता है। (आ) "ब्राह्मणो च्रतमृत्" (तै. सं. १।६।७।२)। "व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्" (श. १२।६।२।४) = ब्राह्मण श्रेष्ठ व्रतों = कर्मों को धारण करने वाला होता है। सत्य बोलना व्रत का एक रूप है।
- (ह)...'गायत्री वै बाह्मणा:"(ऐ १।२८) ।"गायत्रो यज्ञ:"(गो. पू. ४।२४) ।"गायत्रो त्रै बृहस्पति:"(तां. ५।१।१५) = ब्राह्मण गायत्र होता है । गायत्र वेद. यज्ञ और परमात्मा को कहते हैं ।

- (ख) 'क्षत्रिय' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक (१) क्षणु हिंसा अथ वाली (तनादि) धातु से 'क्त:' प्रत्यय के योग से 'क्षत:' शब्द की सिद्ध होती है और 'क्षत' उपपद में त्रेड् = पालन करने अर्थ में (म्वादि) धातु से 'अन्येष्विप दृश्यते' (अष्टा. ३।२।१०१) सूत्र से 'उ:' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रिय:' स्वार्थ में 'इय:' होने से 'क्षत्रिय:'अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, 'क्षत्राद् घ:' (अ. ४।१।१३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घ: 'प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द बना। 'क्षत्रति रक्षति जनान् क्षत्रः' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, 'क्षण्यते हिंस्यते नश्यते पदार्थों येन स 'क्षतः' = घातादि: तत्त स्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः = आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय' कहते हैं।क्षाह्मण ग्रन्थों में 'क्षत्रं राजन्य:'(ऐ. ८।२; ३।४) 'क्षत्रस्य वा एतदूप' यद् राजन्य:' (श १३।१।५।३) = क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है, जो ग्रजा का रक्षक होता है।
- (२) यहां अपत्यार्थ में 'इय्' आदेश के योग से क्षत्रिय आदि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या मनु जन्म के आधार पर वर्ण मानते हैं ? इस शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है । वंश केवल जन्म से ही नहीं अपितु विद्याजन्म से मी वंश चलता है । अष्टाघ्यायीं २।१।१९ में 'संख्यावंश्येन' सूत्र में विद्या से जन्म माना है । मनुस्मृति २।११९ १२३ श्लोकों में स्पष्टत : विद्या के आधार पर जन्म माना है । इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणमाव और विद्या के आधार पर मी अपत्य आदि सम्बन्ध होते हैं । जैसे सूर्य, वरुण आदि की कोई पत्नी या अपत्य आदि नहीं होते, किन्तु फिर मी कार्य-कारण और गुणग्राहिता आदि के आधार पर अदिति का पुत्र आदित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या आदि, और वरुणानी, मैंत्रावरुण : आदि प्रयोग होते हैं ।
  - (३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्तव्यों का वर्णन ७।१ से ९।२२५ क्लोकों में है।
- (ग) 'वेश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक (१) ''विश :मनुष्यनाम'' (निघ. २ । ३) उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'अण्' । अथवा 'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यत्' ख्रान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना । ''यो यत्र-तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति सः 'वेश्य:' व्यवहारविद्यासु प्रविशति सः 'वेश्य:' व्यवहारविद्यासुशल: जनो वा' जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल जन 'वेश्य' होता है । ब्राहमण ग्रन्थों में —

ं एतद् वे वेश्यस्य समृद्धं यत् पशवः (ता. १८।४।६) 'तस्मादु बहुपशुर्वेश्वदेवो हि जागतो (वेश्यः)''(ता ६।११०) — पशुपालन से वेश्य की समृद्धि होती है, यह वेश्य का कर्तव्य है।

- (२) वैशय के विस्तार से कर्त्वयों का वर्णन द्रष्टव्य है ९।२२५-३३३ में ।
- (घ) 'शूद्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक (१) शुच् —शोकार्थक (भ्वादि) घातु से 'शुच्चेद्शच' (उणा. २ । १९) सूत्र से 'रक' प्रत्यय. उकार को दीर्घ च को द होकर 'शूद्र' शब्द बनता है। शूद्र: शोचनीय: शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साधुर अविद्यादिगुप्रसिहितो मनुष्यो वा'— शूद्र वह व्यक्ति होता है जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया और जिसे अपनी निम्न स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है,अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण की चिन्ता की जाती है, ऐसा सवक मनुष्य|ब्राहमण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है ''असतो वा एष सभ्भूतो यह शूद्र:'' (तै. ३ । २ । २ । २) असत : अविद्यात : । अज्ञान और अविद्या से जिसकी निम्न

जीवनस्थित रह जाती है, जो केवल सेवा आदि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य श्रूद्र होता है।

(२) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ण को भी प्राप्त कर सकता है।

[९।३५।।१०।६५]

- (३) भूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४ ३३५ श्लोकों में है । उन श्लोंको से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते तथा न घृणास्पद मानते हैं ।
- (द) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं इसमें अन्य प्रमाण भी हैं (क) शूद्र को वे हीन नहीं मानते अपितु 'शुचि': = पित्र 'उत्कृष्ट शुश्रुषु' आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हैं [९ । ३३५] । सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला मला अपित्र, अछूत, हीन कैसे हो सकता है ? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते हैं कि वह पढ़ता नहीं । उसका वेदाध्ययन रूपी दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता । १२६ में अज्ञानता के कारण ही यह कथन किया है ''यथा शूद्रस्त्रथेव स:''। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों कोद्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूपी दूसरा जन्म होता है 'द्विर्जायने इति द्विज: । शूद्र को 'एक जाति:' न पढ़ने के आधार पर कहा जाता है । देखिए प्रमाण 'ब्राह्मण: क्षत्रियों वैश्यस्त्रयों वर्णा: द्विजातय: । धनुर्थ एक जातिस्तु शूद्र: नास्ति तु पंचम: ।।' १० । ४ ।। (ग) मनु कर्मों के आधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं जो श्रेष्ठ धर्माकूल आर्य परम्पराओं में दीक्षित हैं, वे चारों वर्ण आर्य हैं १ (२) इनमें अदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१० ।४५]। (घ) मनु कर्म के आधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ आर्य और अश्रेष्ठ अनार्य मानते हैं । १० । ५७ ५८ में वे कर्मों के आधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं । ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्व करती हैं ।
- (९) १ । ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णय्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है । १ । १६, २३, २६ ३० श्लोकों के द्वारा यह कहा जा चुका है कि एक साथ अनेक प्रजाए' उत्पन्न हुईं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शृद्ध आदि के रूप में प्रजाए' उत्पन्न नहीं हुईं, अित्त समान मनुष्यों के रूप में हुईं । फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुखः बाहु, जंघा और पैर की साम्यता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया । १ । ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है । उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शृद्ध का बनाया । इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये । यह वर्णनक्रम (अनेक प्रजाओं की उन्पत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है । इन अनेक प्रमाणों से 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अत: इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कहलायेगी।
  - (१०) ब्राहमणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं । यथा (अ) स: (ब्रिज़िय:) ह दीक्षमाण एव ब्राहमणतामम्युपैति ।। (ऐ. ७ । २३) क्षित्रय दीक्षित होकर ब्राहमणत्व को प्राप्त कर लेता है ।
- (आ) 'नस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैश्यं वा बाहमण इत्येव बूयात्, बाहमणो हि जायने यो यज्ञाज तायने ।।' (शत. ३ । २ । १ । ४०)

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो अथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयनसंस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याग्रम में वेदाघ्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ग्राह्मण कर्म वाले होते हैं। बाद में कर्मानुसार क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं।

- (११) वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण ऐतरेय ब्राइमणं २ । १९ में कवष-ऐलूष नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है । जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्चवर्णस्य कहलाया —
- (क) ''त्रमृषयो वै सरस्वत्यां सत्तमासत,ते कवषमैलूषं सोमादनयन्, दास्या: पुत्र: कितपो । क्षाहमण: कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । . . . स बहिर्धन्वो दूबृह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत् 'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु इति ।।''
- अर्थात् 'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से विश्वित कर दिया । यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट-आचरण वाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया! (यज्ञ से बाहर निकाल देने पर ) वह कवष-ऐलूष पिपासा से संतप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया । वहां उसने 'अपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुन: अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया ।

यह सूक्त ऋकृ. १०। ३० वाँ है और वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम उल्लिखित है। इस ऋषि बारा कृट अन्य १०। ३१ — ३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि उन-उन सूक्तों के अर्थद्रष्टा हैं।

- (ख) छान्दोरयोपनिषद् में जाबाल की कथा आती है, जो अज्ञात कुल के होते हुए गुण-कर्मों सं ब्राह्मण बन गये । इसी प्रकार चांडाल कुल के मातङ्ग ऋषि ब्राह्मण हो गये । वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र क्षत्रियराजा के ब्राह्मण होने का वर्णन आता है । इस प्रकार गुण-कर्म से वर्णव्यवस्था और वर्णपरिवर्तन परम्परा से भी सिद्ध है ।
- (१२) वर्ण चार हैं—(क) मनु ने चार वर्णों की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित कैंं है। मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित अन्य समी व्यक्ति दस्यु हैं [१०। ४५] अन्य वर्णसंकर आदि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस मान्यता की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न श्लोक मी द्रष्टव्य है—१।३१, ८७-९१।३।२०।।४।४७।। ७।६८ ।। १०।४५, ६५, १३१।। १२।९७ आदि।
- (ख) चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण—अन्यत्र शास्त्रप्रन्थों में मी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति आर्येतर हैं,जिन्हें निषाद, असुर, राक्षस आदि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—
  - (अ) ''ऊर्जाद: उत यक्तियास: पंचजना: मम होत्रं जुषध्वम् ।'' (সূক্ १०।५३।४)

''पंचजना:—चत्वारो वर्णा: निषाद; पंचम इति औपमन्यव: ।'' (निरु. ३ । २ । ७)

चार वर्ण 🔫 ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्ध और इनसे मिन्न पांचवे निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं। (आ) ''चत्वारो वर्णा: । ब्राहमणो राजन्यो वैश्य: शूद्र:''

(श. ब्रा. ५।५।४।९)

''चत्वारो वै पुरुषा ब्राहमणो राजन्यो वैश्य: ।।''

(मैत्रा. सं. ४।४।६)

## कर्मणा-चातुर्वणर्य-व्यवस्था का आधार वेद —

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन आया है । इन मन्त्रों से मनु का भाव और स्पष्ट हो जाता है तथा ब्रह्मा के अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की म्नान्ति का भी निराकरण हो जाता है । जैसा कर्मों-गुणों के आधार पर आलंकारिक वर्णन वेद में है,वैसा ही मनुस्मृति में है । मन्त्र निम्न हैं—

## (क) ''यत्पुरुषं व्यदघु: कतिघा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत् किं बाह् किमूक पादा उच्येते । ।

(यजु. ३१।१०)

(यत्पुक्षयं.) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान ईश्वर कहाता है (कितिचा व्य.) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पादन हुआ है (कि बाह्) बल वीर्य्य, शूरता और युद्ध आदि विचागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है (किमूक) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है ? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

#### (ख) बाह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाह् राजन्य: कृत: ऊइ. तदस्य यद्वेश्य: पद्म्यां शृद्धो अजायतः।।

(यजु. ३१।११)

(ब्राहमणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आजा के अनुसार जो विद्या, सत्य-माषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकमों से ब्राहमवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है (बाहू राजन्य: कृत:) और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊक तदस्य.) खेती, व्यापार और सब देशों की माषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वेश्य वर्ण सिद्ध होता है (पद्म्यां शुद्धो.) जैसे पग सबसे नीच अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से श्रुद्धवर्ण सिद्ध होता है ।'' (स्नृ. भू. १२५-१२६)

(ग) इस आलकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राहमणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निम्न वचनों में ब्राहमण को समाज या मनुष्यों का सुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुआ नहीं—

(अ) बाहमणो मनुष्याणां मुखम्।" (ता. १।६।१)
= बाहमण मनुष्यों का मुख है।
(आ) अस्य सर्वस्य बाहणो मुख्यम् " (श. ३।९।१।१४)

## (ख) जन्मना वर्णव्यवस्था के विधायक स्थल और इस विषयक शंकाओं का निराकरण —

मनुस्मृति में जन्मना वर्णव्यवस्था खोजने वाले व्यक्ति प्रमुखत : निम्नस्थलों से इस विषयक आधार ग्रहण करते हैं —

- (१) १।२ में 'अन्तरप्रमवाणाम्'और १।१३७ (२।१८) में 'सान्तरालानाम्' पदें से वर्णसंकरों का वर्णन है। इस प्रकार मनु वर्णसंकरों के घर्मों का वर्णन भी करते हैं और जन्मना वर्ण तथा जातियां मानते हैं।
  - (२) १ । ९ द-१०० श्लोकों में जन्म के आधार पर ब्राह्मण की प्रशंसा है ।
- (३) २ । ११-१४ (२ । ३६-३९) उपनयनविषयक श्लोकों में शूद्र का उल्लेख नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मनु जन्म से ही शूद्र मानते हैं । जन्म से अन्य वर्णों के नामों का उल्लेख भी मनु की जन्मना-मान्यता की प्रवृत्ति को प्रकट करता है ।
- (४) दशम अध्याय में जन्म से ही माने गये वर्णसंकरों का तथा अन्य विविध जातियों का वर्णन है ।

#### इनका उत्तर क्रान्ध : दिया जाता है --

(क) इन श्लोकों में टीकाकारों ने 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का — ''संकीर्ण जातियों या वर्णसंस्कारों के'' यह अर्थ अशुद्ध किया है । इस पद का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये । इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ हैं —

२ । १८ [इस संस्करण के अनुसार १ । १३७] में 'अन्तरप्रभवाणाम्' के पर्यायवाची रूप में 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे यहाँ वर्णों के साथ 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ 'सान्तरालानाम्' शब्द का प्रयोग है । उस श्लोक में 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रम' है, अत : यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द 'अन्तरप्रभवाणाम्' शब्द का अर्थ 'आश्रमों के' होना चाहिये । यद्यंपि २।१८ [१।१३७] श्लोक में भी टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' शब्द का अर्थ 'संकीणं जाति' या 'वर्णसंकर'किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है । यतो हि, उस श्लोक में धर्म के चार मूलाघारों में से एक आघार 'सदाचार' [२ । ६, १२ या १ । १२५, १३१] का लक्षण किया है और बताया गया है कि 'ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत श्रेष्ठ आचरण है, वह 'सदाचार कहलाता है' । इस श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' य 'संकीणं जाति' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वर्णसंकरों का आचरण 'सवाचार' ही नही हो सकता और न ही उनके आचरण को उन श्लोकों में 'सवाचार' के रूप में माना है । इसका ग्रत्यक्ष ग्रमाण यह है कि वर्णसंकरों के धर्मवर्णन-ग्रसंग में अनेक स्थानों पर उनके आचरण

को निन्दनीय और गर्डित कहा है। उस प्रसंग में संकीण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं — "मानृदोषविगर्डितान्" = माता के दोष से निन्दित जन्म वाले [१० । ६], "ऋ्राचारविहारवान्" = क्रूर आचार-व्यवहार वाले [१० । ९], "अधमो नृणाम्" = मनुष्यों में नीच [१० । १२], "अञ्चलांस्तु यान्" = व्रतहीन [१० । २०], "पापात्मा मूर्जकण्टक:" = पापी आत्मा वाले मूर्जकण्टक [१० । २१], "ततो ऽप्यिषकदूषितान्" = उनसे मी अधिक दूषित आचरण वाले [१० ।२०], "जनयन्ति षनिर्धितान्" = निन्दित

सन्तानों को जन्म देते हैं [१०।२९]। इसी प्रकार संकीर्ण जातियों का 'अपसद' (नीच) 'अवध्यंसज' (पिततोत्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचियता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है। इनके अतिरिक्त उस प्रसंग में वर्णसंकरों के जो पशुहिंसा आदि धर्म बतालाये हैं, वे मनु के मत में धर्म न होकर दुष्कर्म हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके आचरण को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है? और न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है। इससे यह बोध होता है कि उक्त श्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' अर्थ करना संगत नहीं है, और मनु के विरुद्ध भी है। अत: वहां उसका 'आश्रम' अर्थ होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस श्लोक में 'अन्तरप्रमव' का अर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है।

(ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत और विशिष्ट रूप से आश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णनसंकरों के धर्मों का नहीं । यह भी ध्यान देने की बात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है । आश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे — द्वितीय अध्याय में — ब्रह्मचर्यात्रम का वर्णन है, तृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, षष्ठ में वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम का वर्णन है । साथ-साथ छठे अध्याय तक ब्राह्मण के कर्तव्य भी उक्त हो जाते हैं । फिर क्षत्रियों के शेष कर्तव्यों का वर्णन ७ । १ । से ९ । ३२५ तक है । वैश्य के अतिरिक्त कर्तव्यों का कथन ९ । ३२६ से ३३३ [ इस संस्करण में १० । १-६] तक तथा श्रुद्धों के कर्तव्यों का वर्णन ९ । ३३४-३३५ [इस संस्करण में १० । ७-६] में है । यदि 'अन्तरप्रम वाणाम्' का 'आश्रम' अर्थ न करके 'वर्णसंकर' अर्थ लिया जाये तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्म में आश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है तो इतने विस्तृत और प्रधान रूप से आश्रमों के धर्मों का विधान क्यों किया गया है ? वर्णों और आश्रमों के धर्मों का साथ-साथ और प्रधानतापूर्वक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों और आश्रमों के विषय में प्रश्न है, वर्णसंकरों के विषय में नहीं ।

(ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ आग्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं । १२ । ९७ में भी वर्णों के साथ आग्रमों का उल्लेख है — 'चातुर्वण्यं त्रयों लोका:चत्वारश्चाग्रमा: पृथक्' ) इसी प्रकार ७ । ३५ में भी राजा को वर्णों और आग्रमों के घर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं —

## स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां च राजा सुष्टोऽभिरक्षिता ।।

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहाँ वर्णों के साथ प्रयुक्त 'अन्तरप्रमव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है ।

(घ) मनुस्मृति में दश्नम अध्याय को छोड़कर वणों के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं मी वर्णसकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२।२६-३५ या २।१-१०] विवाहिविधि [३।२०] आदि प्रसंगों में जहाँ श्रुहों के लिए भी विधान किए हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है। दश्नम अध्याय में भी जो इनका वर्णन है वह वस्तुत: मौलिक न होकर प्रश्चित्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दश्म अध्याय के श्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से वर्णित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दश्म अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते

हैं — ''वर्णधर्मान्निबोधत'' १।१४४ [अन्य संस्करणों में २।२५]। इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा — ''एष धर्मविधि: कृत्स्नश्चातुर्वण्यस्य कीर्तित:'' १०।१४२ [अन्य संस्करणों में १०।१३१]। दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन है, आपद्रमें का नहीं। यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था और न ही अमीष्टता, किन्तु फिर मी किसी ने इस वर्णन को बलात मिलाया है।

इसी प्रकार १०। १५ [अन्यत्र १०। ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि आयों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं है। इनसे मिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे आर्य माषाएं बोलते हों अथवा म्लेच्छ माषाएं [१०। ५६(१०। ४५)]। यहां वर्णसंकरों का कोई उल्लेख नहीं। इससे वर्णसंकरों का वर्णन [१०। ५-७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता। जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णसंकर' अर्थ ग्रहण करना ही अनुपयुक्त एवं विरुद्ध है। अत: यहां भी 'वर्णसंकर' अर्थ न होकर 'आश्रम' अर्थ ही मनुस्मृतिसम्मत है।

- (ङ) मनु ने सक्षिप्त मूमिका के रूप में १। ८७-९१ श्लोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है। उससे स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते। इन श्लोकों से यह मी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के घर्मों का कथन अमीष्ट है, अन्य किसी वर्णसंकर आदि का नहीं। अत: यहाँ मी 'अन्तरप्रमव' का अर्थ वर्णसंकर करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'आश्रम' अर्थ ही प्रकरणसंगत हैं।
- (च) प्रतीत होता है कि जब वर्णसंकरों के प्रसंग का प्रक्षेप हुआ तो उन लोगों ने तदनुसार ही अन्तरप्रमव' और 'सान्तराल' शब्दों के अर्थों को भी परिवर्तित करके 'वर्णसंकर' अर्थ प्रचलित कर दिया । यही नहीं, अपने आशय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठमेद करने का भी प्रयास किया । तीन-चार हस्तिलिखत प्रतियों में 'अन्तर-प्रभवाणाम्' पद के स्थान पर 'संकरप्रभवाणाम्' पाठमेद मी मिलता है । यह पाठमेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त श्लोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था । यह पाठमेद तो प्रचलित नहीं हो पाया किन्तु इस पाठमेद के अनुसार अर्थ की भ्रान्ति अवश्य प्रचलित हो गई ।
- २. १ । ९ द-१०० श्लोक, १ । ९२-१०७ तक चलने वाले श्लोकों के बीच आते हैं और पूर्वापर दृष्टि से उनसे सम्बद्ध मी है। ये सभी श्लोक पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध हैं, और साकेतिक सृष्ट्युत्पत्ति विषय से बाह्य हैं। इन श्लोकों में मनुस्मृति को शास्त्र कहा गया है। शैली के आघार पर यह प्रयोग इन श्लोकों को परवर्ती सिद्ध करता है।
- ३. (क) उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं ११-१३ श्लोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया । यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका समाधान इस प्रकार है —
- (अ) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर मी निहित है। उपनयन में श्रुद्ध का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्म की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से श्रुद्ध नहीं मानते। यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे वह इन तीनों में उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है। पुन: शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त आचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णों का निश्चय करता है [२।१२१ (१४६), १२३ (१४८)]।

(आ) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को घारण नहीं कर सकता और वेदारम्म तथा उपनयन रूप ब्रह्मजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है। उपनयन से पूर्व अर्थात द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के बालक शूद्र ही होते हैं — 'जन्मना जायते शूद्र :, संस्करात् द्विज उच्यते'। इस प्रकार कोई भी बालक किसी वर्ण में दीक्षित हो सकता है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है — चतुर्थ: एकजातिस्त शुद्र :।। १०।४।।

इस प्रकार उपनयन आदि से पूर्व श्रुद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । द्विज की 'पतित' या 'श्रुद्र' होने की स्थिति अध्ययन के बाद आती है । द्विजों के अध्ययन और कार्यों में असमर्थ व्यक्ति ही श्रुद्र है [२ । १४-१५ (३९-४०)]

- (इ) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रवल युक्ति है कि मनु ने उपनयन के प्रसग में भूद के उपनयन का निषेध नहीं किया । अगर वे जन्म से ही भूद्र का अस्तित्व और वर्णनिर्धारण मानते तो इस प्रसग में पृथक से उसके उपनयन का निषेध करते।
  - (ख) 'ब्राह्मणस्य'आदि पदों का मनुसम्मत अर्थ —
- (अ) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' आदि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण के बालक का, 'राज :' या 'खित्रयस्य'— क्षत्रिय के बालक का, 'वैश्यस्य', 'दिश :' वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है। यह अर्थ श्लोक के पदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध मी। श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' आदि अर्थ किये जायें। इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १०।६५।। १। ८७-९१। १। १०७ श्लोक और उन पर समीक्षा]। इन अर्थों से ऐसा प्रतिमासित होता है जैसे जन्म के आधार पर वर्ण-प्रवेश है और वह मी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षिय का वैश्य मे। यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता।
- (आ) यहां ये पद वस्तुत: जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं। जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण वर्ण का वीक्षाकाल' आदि । मनसम्मत मान्यता के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को घारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं। इस अर्थ का संकेत मनु के 'ब्राह्मवर्चसकामस्य' [२।१२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है। इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है,जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार वीक्षा करा सकता है,और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में वीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्घारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है।
- (इ) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता ? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के आधार पर ये प्रयोग हैं । प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुसार सभी संस्कार करते हैं । पुन: उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का अन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२ । १२१ (१४६), १२३ (१४८)] : देखिये मनु ने इसी व्यवहार के आधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए 'बह्मवर्चसकामस्य' 'बलार्थिन:, 'वेश्यस्य इह अर्थिन: [२ । १२] पर्वे का प्रयोग किया है, जबकि इतने अल्पवय बालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिणाम का ज्ञान नहीं होता । इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत माष्य का अर्थ मी मनु के वर्णनानुरूप ही है ।
  - ४. उपर्युक्त विवेचन (संख्या १) से यह स्पष्ट हो गया कि मनुस्मृति में वर्णसंकरों का वर्णन

करना इसका प्रतिपाच नहीं है, न यह मान्यता मनु की आधारभूत मान्यताओं से मेल खाती है । अन्य शैली आदि विभिन्न कारणों से भी दशम अध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग परदर्ती एवं प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उनके वर्णन की शैली विधि-विधानात्मक न होकर ऐतिहासिक है । इस प्रकार वह वर्णन मनुविहित नहीं कहला सकता ।

# २. मांसभक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है ---

मनु मास भक्षण एवं पशुयज्ञ को निन्दा एवं पाप मानते हैं।उक्त दोनों बातें उनके मुख्य उद्देश्य, प्रतिपाद्य एवं मनुस्मृति की आधारमृत भावना के ही विरुद्ध हैं।

(क) उक्त मान्यता के विधायक एवं संकेतक स्थल —

मासमक्षण एवं पशुयज्ञ पाप है — २ । १५२ (१७७); ३ । ६८-६९; ४ । २, ६८, १७०, २४६; ५।५, ४५-४९, ५१ ।।

इन पर विचार करने के बाद निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं —

- १. 'अहिंसापालन' अथवा 'हिंसानिषेघ' की मान्यता मनुस्मृति की उन मान्यताओं में से एक है. जिन पर मनुस्मृतिरूप प्रासाद टिका हुआ है। यदि इन्हें मनुविहित मान लिया जाये तो मनुस्मृति की आधारमूत व्यवस्था ही खंडित हो जायेगी। मनु द्वारा विभिन्न स्थलों पर किये गये हिंसानिषेघ और अहिंसापालन के आदेशों के परिप्रेक्ष्य में यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि
- (अ) सर्वप्रकार की हिंसा या मांसमक्षण मनुविरुद्ध है. (आ) पशुयज्ञ मनुविरुद्ध है, और (इ) यज्ञ के उद्देश्य से पशुहिंसा करना भी मनुविरुद्ध है। यथा (क) मनु ने गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के लिए अनिवार्य रूप से पांच महायज्ञों का विधान किया है। इन यज्ञों के विधान का मुख्य उद्देश्य हिंसा की निवृत्ति ही है —

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युस्कर:। कण्डनी चोदकुम्मश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।। तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिमि:। पञ्च क्लृप्ता: महायज्ञा: प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।। (३।६८, ६९।।

जो व्यक्ति दैनिक जीवनचर्या में अज्ञानवश होने वाली छोटी-छोटी हिसाओं की निवृत्ति के लिए भी प्रायश्चित का विधान करता है, जिसमें परप्राणीपीड़ा की भावना भी नहीं है, और जो आजीविका भी ऐसी अपनाने का विधान करता है जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे [४।४] में जो पशुओं की सवारी करते हुए उनको चाबुक भी इस प्रकार मारने के लिए कहता है जिससे वे संतप्त न हों [४।६८] में, वह व्यक्ति पशुओं की हिसा और मासमक्षण का धिधान कदापि नहीं कर सकता। यह सर्वथा असमव है। आश्चर्य की बात तो यह है कि छोटी-छोटी हिसाओं के प्रायश्चित के लिए अर्थात उनके पाप की शुद्धि के लिए ही मनु पांच यजों का विधान कर रहे हैं और फिर लोग यजों में ही हिसा करने को मनुसम्मत सिद्ध करना चाहते हैं। यदि ऐसा है तो यजों से पाप-शुद्धि ही क्या हुई ?

२. मनु ने ५ । ४९ में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है — ''निवर्नेत सर्वमासस्य भक्षणात्'' — सब प्रकार के मास-भोजन से दूर रहे । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक स्थानों पर भी मासभक्षण का स्पष्ट निषेध है और हिंसक की निन्दा तथा अहिंसक की प्रशंसा एवं अहिंसा की प्ररेणा है —

४. ं अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रो हेण वा पुन :— विद्रो जीवेत् 🤖

५. विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यम् . . . प्रतोदेनातुदन्भूशम् । ' '

- (क) ''वर्जयेत् मधुमांसं च प्राणिनां चैव हिंसनम् ।।'' (२ । १५२ [१७७])
- (ख) 'वर्जयेत प्रधुमांसम्' (६ । १४)
- (ग) ''हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेघते ।'' (४ । १७०)
- (घ) ं'यो अहिंसकानि भूतानि हिनस्ति आत्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृतश्चेष न क्यचित् सुखेमेघते'' । (५ । ४५ ।।)
- (इ.) ''अहिंस्त्र: दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्ग तथाव्रत: । (४ । २४६)
- (च) ''विचरेत् नियत: नित्यं सर्वभूतानि-अपीडयन् ।।''(६ । ५२)
- (छ) 'अहिंसया च भूतानां अमृतत्वाय कल्पते।' (६।६०)
- (ज) ''यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सु : सुखमत्यन्तमश्नुते ।। (४ । ४६)
- ३. इतना ही नहीं, मांसप्राप्ति में किसी भी प्रकार का सहयोग देने वाले व्यक्ति को मनु घातक = पापी कहकर संबोधित करते हैं । निम्न श्लोक में आठ प्रकार के व्यक्तियों को पापियों में परिगणित किया गया है
  - (क) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता ऋयविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातका : ।।(४ । ४१ )

(अनुमन्ता) मारने की आज्ञा देने वाला (विशसिता) मांस काटने वाला (निहन्ता) पशु को मारने वाला (क्रय-विक्रयी) पशुओं को मारने के लिए मोल लेने-बेचने वाला (संस्कर्ता) पकाने वाला (उपहर्ता) परोसने वाला (च) और (खादक :) खाने वाला,(इति घातका :) ये सब हत्यारे और पापी हैं ।। ५१ ।।

- ४. भक्ष्यामक्ष्य प्रसंग [५।५, ६, ९, १०, २४, २५] श्लोकों से ज्ञात होता है कि मनु तामसिक, राजसिक और अमेध्यप्रभवं — अशुद्धस्थानोत्पन्न सभी पदार्थों को अभक्ष्य मानते हैं। बासी भोजन, लहसुन, प्याज आदि तामसिक, राजसिक भोजन के अन्तर्गत आते हैं तथा गन्दे स्थान में उत्पन्न पदार्थ और रक्त चर्बी आदि से युक्त मास आदि अमेध्यप्रभव है। कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं —
  - (क) लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च । अमस्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रमुवाणि च ।। (४।४ ।।)
  - (छा) नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवध: स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।।(४ । ४६ ।।)
  - (ग) समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य मक्षणात् ।। (४ । ४९ ॥)
- थ. मनु सान्त्रिक गुणों, पदार्थों को ही ग्राह्य और प्रशंसनीय मानते हैं और राजस-तामस को निन्छ । १ । सान्त्रिक गुणों से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है । १ यही मनु का धर्मशास्त्र के प्रवचन का उद्देश्य है ''ब्राह्मीय' क्रियने तनु :' [२ । ३ (२८)] तथा तामिसक-राजसिक पदार्थों का भक्षण करना मनु के मुख्य प्रतिपाद्य और उद्देश्य के ही विरुद्ध है ।
- ६. तृतीय अध्याय के यज्ञ-प्रसंगों में मनु ने कहीं भी मास्यज्ञ का विधान नहीं किया है। और वानप्रस्थ के प्रसंग में तो स्पष्टत : कह दिया है कि अन्तों से ही यज्ञ करें और वह भी 'मेध्य' = शुभ अन्त से —\_\_\_\_\_\_

है. रापापा २४ ।। १२ ।७ . २८ २९ ३२, ३३, ३४, ३६ ।।

७. १२ । ७. ३१ ३७ ८३ ।।

मुन्यन्नै : विविधे : मेध्ये : शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान् निर्वयेत् विधिपूर्वकम् । । (६ । ५ । ।)

मनु की मान्यता को समफने के लिए इन प्रमाणों से अधिक और क्या प्रमाण मिल सकते हैं । इसके बाद भी जो लोग मांसमक्षण और पशुयज्ञ को मनुसम्मत मानते हैं, वे मनु और मनुस्मृति के साथ अन्याय करते हैं ।

- ७. मांसमझण और पशुयज्ञ के विरोध में त्रेद के प्रमाण इस प्रसंग में मांस मझण की सिद्धि के लिए प्रक्षेपकर्ताओं ने यज्ञ की आड़ ली है । यज्ञों का विधान वेदों में है । अत :यहाँ वेदों के ही यज्ञसम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनसे पता चलेगा कि अपनी स्वार्थिसिद्धि के लिए स्वार्थी लोगों ने मिथ्या ही यज्ञ और वेद को बदनाम किया है —
- (क) 'अध्वर' अब्द ऋग्वेद में-१।२३।१७।।१।१३५।७।।१।४४।१३।।३।२४।२।।७।७२।४।।७।६।६।।, यजुर्वेद में-२७।१९।।३।११।।२१।११।।२१।४७।।४०।।४०।४०।।४।।७।६।६।।, यजुर्वेद में-२७।१९।।३।११।।२१।४७।।४७।।४०।।४०।।४०।।३।१४।।२१।५४।।४७७ स्वानं पर यज्ञार्य में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द की निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं —''अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरित हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेघ:''[नि.३।१७।। १।७] अर्थात् 'अध्वर यज्ञ का नाम है। 'ध्वर' हिंसार्थक धातु से बना है। जिसमें हिंसा न हो उसे अध्वर यज्ञ कहते हैं। इस संज्ञा से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती। यज्ञ के नाम पर पश्चित्वस्व करना स्वार्थी लोगों की उदरपूर्ति-हेतु कल्पना है।
- (ख) यजुर्वेद को कर्मकाण्ड का वेद माना जाता है । उसके प्रथम मन्त्र में ही पशुओं की अहिंसा की कामना है ''यजमानस्य पशुन् पाहि'' [यजु. १।१] अर्थात् 'यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा कीजिए ।'
- (ग) मांसाहारियों को यज्ञ सम्पादन का अधिकार नहीं यज्ञों में मांसविधान की चर्चा तो बहुत दूर की बात है। वेदों में,यज्ञ-विधान प्रसंगों में केवल यज्ञीय प्रवृत्ति के अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं) व्यक्तियों को ही यज्ञ करने का विधान है। निम्न वेदमंत्र प्रमाणरूप में उल्लेखनीय है। ''ऊर्जाद: उत्त यिहायास: पञ्चजना: मम होन्नं जुषध्वम्।''

(त्रृ. १०।५३।४)

अर्थात् केवल अन्नाहारी (मांसाहारी नहीं), और यज्ञीय प्रवृत्ति वाले पांचों प्रकार के (ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य, श्रुद्ध और निषाद) व्यक्ति यज्ञ-सम्पादन करें।

निरुक्तकार ने 'ऊर्ज' की व्युत्पत्ति और अर्थ दिये हैं — 'ऊर्गिति अम्मनाम, ऊजयंति इति सतः ।'' (निरु. २।२।७) अर्थात् 'ऊर्ज्' अन्न को कहते हैं, क्योंकि यह शरीर को प्राणप्रक्ति प्रदान करता है ।

इन सभी स्थलों की मनुस्मृति के विषय, प्रसंग के साथ अनुकूलता है, और शैली के अनुरूप
 भी है।

# (ख) मांससमर्थक स्थल और उनका विवेचन —

- (वा) ३।१२३, २६७-२७२ में विविध मासों से मृतकत्राद में तृष्ति ।
- (अ) ४।२६-२८ में नये अन्न या मासमक्षण के समग उनसे यह करना।
- (इ) ४।६, ७, ११-२३, २६-४४, ५०, ५२-५६ में चिमिन्न मांसों का विधान और उनको

गजपर्वक खाने की विधि तथा खण्डन-मण्डन।

- इन इलोकों में वर्णित मान्यताओं का उक्त मान्यताओं से विरोध है, अत: ये मान्य नहीं ।
- २. 'अ' भाग के श्लोक विषयविरुद्ध हैं । क्यों कि वहां पञ्चयज्ञों का विषय है, मृतकश्राद्ध वर्णन का नहीं । (विस्तृत विवेचन संख्या ३ पर देखिये, इसी मान्यता की समीक्षा में)
- ३. 'अ' माग के श्लोक मृतकश्राद्ध सम्बन्धी प्रसंग के अंश हैं, और यह प्रसंगविरुद्ध है। 'अ' प्राग के ५।११-२३ श्लोकों ने ५।१०, १४ के प्रसंग को मंग किया है, और ५।२६-४४ श्लोकों में नये सिरे से मासमक्षण की विधि-अविधि का प्रसंग प्रारम्भ किया है। यह भी अप्रासंगिक हैं।
  - ४. तीनों स्थलों की शैली निराघार, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं अयुक्तियुक्त है।
- ५. इन मांस-समर्थक प्रसंगों में परस्पर विरुद्ध विघान मी हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि ये प्रसंग अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में रचकर मिलाये गये हैं।

# ३. मृतक व्यक्तियों का श्राद्व मनुसम्मत नहीं —

# (क) जीवितश्राद्ध का वर्णन करने वाले स्थल —

३।८०-८२; ४।३०-३१।।

मनु ने पञ्चयज्ञों के प्रसंग में श्राद का क्रमबंद रूप से वर्णन किया है। वह श्राद जीवितों पर ही घटता है, मृतकों पर नहीं। मनु कहते हैं — 'श्राद्वों से पितरों का पूजन करें। यह श्राद प्रतिदिन करें। माता-पिता आदि वयोवृद्धों को प्रसन्न रखते हुए उन्हें अन्न, जल, फल-मूल आदि देकर यह श्रादकार्य करें। यही पितृयज्ञ कहाता है। ' इन श्लोकों में श्राद के लिए ऋषि, पितर, देव, मनुष्य आदि सभी जीवितों की ही गणना है। ४।३०-३१ में ऐसे ही लोगों को हव्य — मोज्य पदार्थों का बन, कव्य — उपयोगी घन, वस्त्र आदि का दान देने का विधान है। प्रमुख श्लोक द्रष्टव्य हैं। —

- (क) त्रृषयः पितरो देवा भूतान्यतिषयस्तथा। आशासते कुटुम्बिम्यस्तेम्यः कार्यं विजानता ।। (३।८०।।)
- (स्त) स्वाध्यायेनार्चयेदर्षान्होमैर्देवान्यथाविधि । पितृन्त्रादेश्च नृनन्नौर्मूतानि बलिकर्मणा ।। (३।८१ ।।)
- (ग) कुर्यादहरह: श्राह्मन्नाचेनोदकेन वा। पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृम्य: प्रीतिमावहन् ।। (३।८२ ।।)

इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है — पितृयज्ञ के दो मेद हैं — एक तर्पण, दूसरा श्राह्म । 'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृंश्च तर्पयन्ति = सुख्यमंन्त तत्तर्पणम्' । अर्थात् जिस कर्म से विद्वान्रूप देव, ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं । 'यत्तेषा' श्रद्धया सेवन' क्रियते तत् 'श्राह्म्' । अर्थात जो इन लोगों का श्रद्धा सेवन करना है, वह श्राह्म कहाता है ।

श्राह का अर्थ है — श्रहा से किया गया कार्य, जैसे श्रहापूर्वक माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करना, मोजन देना आदि । यही पितरों का तर्पण या पितृयज्ञ है । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात जो प्रत्यक्ष है उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं । क्योंकि, उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लम है । इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती । और जो उनका नाम लेकर देवे वह पवार्य उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुंचाना सर्ववा असम्भव है . . . . .

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं — देव, त्रृषि और पितर । 'पितर' से अभिप्राय मृतकों से नहीं अपितु जीवितों से हैं । 'पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्न-विद्या-सुशिक्षा-आदिदाने; ते पितर:'' — जो अन्न विद्या, सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राहमणों के प्रमाण द्रष्टव्य हैं —

- (अ) 'देवा वा एते पितर:'' (गो. उ. १।२४)
- (आ) ''स्विष्टकृतो वै पितर:'' (गो. उ. १।२५)

अर्थात् सुख सुविघाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान् व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं।

ये श्लोक अपने-अपने प्रसंग में सहज दंग से उक्त हैं, और विषय तथा शैली के अनुकूल हैं।

#### (ख) मृतकश्राद के विधायक स्थल -

(अ) ३।१२२-२८४ तक मृतकन्नाद्ध का एक स्वतन्त्र प्रसंग है।

इस प्रसंग का अपने पूर्वापरप्रंसग से न तो तालमेल है, न यह विषय संकेत के अनुसार है, और न मनु की मूल भावना के अनुकूल है। ऐसा निम्न कारणों से ज्ञात होता है —

 अन्तर्विरोध — इस प्रसंग में वर्णित विधानों के मनुस्मृति के अन्य विधानों से अनेक अन्तविरोध हैं —(१) १२२ से २८४ श्लोकों में मृतकन्नाद का विधान है । यह मान्यता मनुविरुद है। मनु ने पितृयज्ञ के रूप में जीवितों का श्राद और वह भी दैनिक रूप में विहित किया है [३।८०-८२ | विस्तृत रूप में द्रष्टव्य है ३।८५ पर अनुशीलन समीक्षा ] । मनु के अनुसार 'पितृ' या 'पितर' शब्द का अर्थ मी 'बुजुर्ग' 'पालक' है । देखिए ९।२८; २।१२६; [२।१५१] में 'पितु' शब्द का प्रयोग 'बुजुर्गों' के लिये किया है । (२) दैनिक पितृयज्ञ या श्राद घर पर विहित है, जबिक इन श्लोकों में वर्णित श्राद को वनों, नदीतीरों, एकान्त स्थानों [२०७] पर करने का कथन है । यह मिन्नता मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है । (३) मनु ने पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है और उससे भिन्न कोई क्रिया पितृयज्ञ में नहीं मानी [८०-८२] जब कि इन श्लोकों में ''पितृयज्ञं तु निर्वर्त्यं कहकर ''पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात् मासानुमासिकम्'' [१२२] के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन करने वाला इस विधान को पितृयज्ञ से मिन्न क्रिया मानता है । यह अतिरिक्त प्रथक श्राद्ध का विधान मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है । (४) पितृयज्ञ के प्रसंग में केवल अन्न, जल, फल-मूल से ही श्राद करना कहा है [६२], जब कि इस प्रसंग में मांस से श्राद करना अधिक फलदायक माना है [२६६-२७२]। (५) इस प्रसंग में अनेक श्लोकों में मासमक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२ | । यह मान्यता मनुस्मृति की मौलिक मान्यता के ही विरुद्ध है। मनु ने मासमक्षण को पाप और मासभक्षक को पापी कहा है [५।४३-५१] और हिंसा करने वाले के लिए पायश्चितों का विधान किया है [३।६८-६९]। विस्तृत समीक्षा ४।२६-२८ श्लोंको पर देखिये । (६) मनु कर्ता को ही स्वयं फल का मोक्ता मानते हैं [ १ । २४० ]

इस प्रसंग में श्रादकर्ता द्वारा पितरों का निस्तार [२२०-२२२], एक के श्राद से सात पीढ़ी के वंशजों को पुण्यफल-प्राप्ति [१४६], आदि कथन उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। (७) १३६, १३७, १५२-१५६, १६४-१६६, १८२ आदि श्लोकों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानने के संकेत हैं, जबिक मनुकर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। [१।८८; २।१४३ (१६८), १२२-१२३ (१४७-१४८)]। उक्त श्लोकों में वर्णित कर्म ब्राह्मणों के नहीं हो सकते। यदि उनमें ये कर्म हैं तो वे मनु की व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण नहीं कहला सकते। (८) २।८१ [१०६] में वेदाच्ययन को सर्वदा पुण्यदायक माना है, जबिक इस प्रसंग में श्राद्ध में वेदपाठ निषिद्ध है [१८८]। [९] प्रथम अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा द्वारा पञ्चमूतों के माध्यम से मानी है [१।६, १४-२०], जबिक इस प्रसंग में मरीचि आदि त्रृषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति कही है, जो प्रकृतिविरुद्ध बात है [२०१]। (१०) १।९१ में ब्रुद्धों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबिक इस प्रसंग में शृद्धों के एवर में ब्रुद्धों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबिक इस प्रसंग में ब्रुद्धों के एवर में ब्रुद्धों के लिए श्राद्ध हैं [२४१]। १९७ में ब्रुद्धों के पितर सुकाली माने जाते हैं। जब ब्रुद्धों के लिए श्राद्ध में स्पर्श तक का निषेध है तो ब्रुद्धों के यहां कौन से ब्राह्मण श्राद्ध खायेंगे? यदि नहीं खाते हैं तो फिर ब्रुद्धों के लिए श्राद्ध का विधान क्यों? (११) इस सम्पूर्ण प्रसंग में पितरों के लिए हव्य-कव्य आदि देन का विधान है किन्तु मनु के मत में जीवित व्यक्तियों को दिये जाने वाले मोज्य एवं हितार्थ देय वस्त्र, धन आदि दान 'हव्य-कव्य' कहलाते हैं। ४। १९०-३१ में देखिए मनु ने स्पष्टत: जीवित, धार्मिक विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग उक्त मान्यता के विश्व होने से प्रक्षिप्त है।

- २. प्रसंगविरोध —(१) ११७ वें श्लोक में गृहस्थीं को 'शेषमुक्' होने के लिए कहा है और ११८ वें श्लोक में 'यज्ञशेषमुक्' होने के लिए कहा है। २८५ वें श्लोक में इन्हीं बातों का विकल्प रूप में कथन है। यह कहना चाहिए कि २८५ वां श्लोक इनका 'अर्थवाद' रूप है। बीच के इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग को मंग करके एकवाक्यक्रमक वर्णन को तोड़ दिया है।
- (२) ११७-११८ और २८५ क्लोक में अतिथि यज्ञ से सम्बन्धित प्रसंग है, जिसमें गृहस्थी को कैसा मोजन करना चाहिए, यह स्पष्टीकरण है। इसके बीच में संबन्धियों की पूजा, राजा-स्नातक की पूजा [११९, १२०], बलिवैश्वदैव का विघान [१२१], पितृष्राद्ध का विघान [१२२-२८४], पूर्वपर प्रसंग-विरुद्ध है।
- (३)३।१२२ वें श्लोक में ''पितृयझं तु निर्वर्त्य'' कहकर नये सिरे से पितृग्राद्ध का प्रसंग श्रुरू किया गया है। यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो प्रसंगक्षम की दृष्टि से पितृयज्ञ के प्रसंग [३।८१, ८२] के साथ होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न होकर खण्डित क्रम में इसका वर्णन है। यह क्रम की असंगति इसे मौलिक सिद्ध नहीं करती। इस प्रकार इन प्रसंगविरोधों के आधार पर ये सभी ११९ से २८४ श्लोक प्रक्षिप्त है।
- 3. विषयविरोध ६७ वें श्लोक में ''वैवाहिकेड ग्नौ कुर्वीत . . . पञ्चयज्ञविधानं ह'' कहकर दैनिक पञ्चयज्ञों के वर्णन का संकेत किया है और समाप्तिसूचक ''एसत् व: अमिहितं सर्व विधानं पाञ्चयज्ञिकम्'' श्लोक से भी यही सिद्ध है कि ६७ से २८६ श्लोकों का विषय केवल दैनिक पञ्चयज्ञों का विधान करना है । १२२ से २८४ श्लोकों में दैनिक पञ्चयज्ञों से मिन्नं मासिक, त्रैमासिक आदि श्राद्धों का वर्णन है । यह वर्णन मनु के विषय-संकेत से बाहय होने से विषयविकद्ध है, अत: प्रक्षिप्त है ।

इस प्रकार मृतकश्राद की मान्यता मनुविहित न होकर अन्य द्वारा प्रांठाप्न है । मनु द्वारा वर्णित श्राद से अभिप्राय केवल जीवित वयोवदों की सेवा-सश्लूषा से है ।

# ४. नियोग प्रथा मनुविहित एवं वैदिक है —

#### (क) इस प्रथा के विधायक स्थल —

मनु ने ९।५६-५९, ६२, ६३ श्लोकों में बहुत स्पष्ट शब्दों में नियोग का विधान किया है । वे कहते हैं कि सन्तान का अभाव होने पर (पित के मरने पर अथवा जीते हुए भी सन्तानोत्पित्त में असमर्थ होने पर) स्त्री को अथवा विधवा को देवर अर्थात पित के माई से अथवा उसके वंशस्य पुरुष से सन्तान प्राप्त कर लेमी चाहिए । प्रमुख श्लोक है —

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यंगनियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।। (९।५९ ।।)

(१) नियोग का अर्थ है — 'सन्तान प्राप्ति के लिए किसी स्त्री अथवा विघवा को किसी अन्य पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्वीकृति देता ।' नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता है, उसी प्रकार नियोग भी होता है । इन्हीं के समक्ष पुत्र आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं । उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यथा चलना 'विधि का त्याग' है । मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तान प्राप्ति के लिए ही है, विलासिता के लिए नहीं । सन्तान प्राप्ति के पश्चात् यदि वे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो दण्डनीय होते हैं [९।६२-६३] ।

यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । इसमें वेदों, इतिहास और परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं —

- (२) वेदों में नियोग का विधान और इतिहास के प्रमाण
  - (क) उदीर्घ्य नार्यीमजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि । हस्तग्रामस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जीनत्वमिम सं बमूथ ।।

(त्रृ. ।मं. १०। सू. १८। मं. ८।।)

अर्थ — ''(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पित की आशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (अभि जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पित को (उपैहि) प्राप्त हो, और (उदीर्ध्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्रामस्य दिधिषों:) तुम विधवा के पुन: पाणिग्रहण करने वाले नियुक्त पित के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जिनित्वम्)जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्यु:) पित का होगा और जो तू अपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (अभि सम्बभूष) हो और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।''

(स. प्र. चतुर्थ सम्.)

(ख) (प्रश्न) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी? (उत्तर) जीते भी होता है — अन्यमिच्छस्य सुभगे पति मत्। स्नृ. मं. १०। सू. १०।।

जब पित सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवं तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि हे सुभगे ! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पित की (इच्छस्य) इच्छा कर क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति की आशा मन कर । तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पित की सेवा में तत्पर रहे । वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर

सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए ।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री ने किया और जैसा व्यास जी ने चित्रांगद और विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में घृतराष्ट्र और प्रम्बालिका में पाण्डु और दासी में विदुर की उत्पत्ति की । इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण है ।'' (स. प्र. चतुर्थ समु.)

(३) देवर शब्द का अर्थ और प्राचीन परम्परा का संकेत —

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित — 'पति का छोटा माई' अर्थ न होकर विस्तृत अर्थ है। निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है —

''देवर: कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ।।'' (३।१५)

अर्थात् — ''देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है, चाहे छोटा माई या बड़ा माई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो । उससे नियोग करे,उसी का नाम देवर है ।'' (म. दयानन्द, स. प्र. ११६)

आजकल यह केवल पित के छोटे माई के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कर्दावित यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पित के छोटे माई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रधा के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

(४) यहां यह स्पष्ट कर देना मी आवश्यक है कि इन दोनों मान्यताओं में 'नियोग-व्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता है। इसमें निम्न पोषक प्रमाण हैं — (क) नियोग-विधान की मान्यता पूर्वविहित और आधारमूत है। (ख) विषयसंकेतक श्लोकों में इस प्रसंग को प्रारम्भ और समाप्त करने का संकेत हैं [९।५६ और ९।१०३]। ये श्लोक अपने पूर्वापर प्रसंगों से श्लांखलावत जुड़े हैं, जो सिद्ध करते हैं कि यह मान्यता मौलिक है। (ग) ९।१४५-१४६ में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दायमाग का पूर्ण अधिकार विहित है। यह भी इस मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध करता है, और (घ) नियोग-विधि का त्याग करके उत्पादित पुत्र को धनाधिकार से ९।१४७ में वंचित किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु नियोग को ही स्वीकार्य मानते हैं, नियोगत्याग को नहीं।

#### (ख) इस परम्परा के खण्डनात्मक स्थल —

ज्यों ही नियोग प्रथा का विधान पूर्ण होता है, उसके पश्चात इसका खण्डन करने वाले श्लोक हैं। ९।६४-६८ श्लोकों में इस प्रथा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि नियोग नहीं कराना चाहिये, यह धर्महनन करना है। राजा वेन के समय यह पशुधर्म प्रचलित हुआ है, आदि-आदि।

- स्पष्ट है कि विधान के पश्चात् किया गया यह खण्डन परवर्ती है। विधान मौलिक और खण्डन उसकी प्रतिक्रिया में होता है, अत : यह नियोगविरोधी वर्णन मनुकृत नहीं है।
- २. पिछले प्रमाणों से यह मी सिद्ध हो गया है कि यह प्रथा वेदोक्त है, अत : अतिप्राचीन भी है । इन श्लोकों में इसे वेन राजा के समय की कहना गलत है । आचार्य कौटिल्य ने भी इसका विधान अपने अर्थशास्त्र में किया है । इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य कौटिल्य तक नियोग-व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है । उन्होंने प्र. ६०।अ. ४ में कारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है ।

इनके अतिरक्ति ये खण्डनात्मक श्लांक निम्न कारणों से मौलिक सिद्ध नहीं होते

- १. विषयविरोध विषय-संकेतक श्लोकों [९।५६, १०३] के निर्देशानुसार यह विषय स्त्रियों के लिए आपत्कालीन धर्मों और आपत्कालों संन्तानप्राप्ति का है। नियोग की मान्यता उस विषय से सम्बद्ध है, अत: मौलिक है। खण्डन की मान्यता का संकेतित विषय से कोई सम्बन्ध नहीं, अत: प्रक्षिप्त है।
- २. शैलीगत आधार ६६-६७ श्लोकों में राजा वेन के समय नियोग के विस्तार का कथन है । राजा वेन मनु से परवर्ती है, अत: ये श्लोक भी किसी व्यक्ति द्वारा रचकर मिलाये गये हैं । राजा वेन अंग देश का राजा था । इसके पिता का नाम अनंग था । यह मनु से बहुत पीढ़ियों पश्चात हुआ [महा. शान्ति. ५९।९६-९९] ।

विस्तार से समझाने के लिए उपर्युक्त मान्यताओं का पक्ष-विपक्ष की विवेचना पूर्वक विश्लेषण किया गया । इसी प्रकार अन्य मान्यताओं के विषय में समझना चाहिये । यहां कुछ अन्य मान्यताएं संक्षेप से प्रस्तुत की जा रही हैं, किन्तु विस्तारभय से उनका समग्र विश्लेषण नहीं किया जा रहा है । वह मनुस्मृति भाष्य में यथास्थान देखा जा सकता है ।

# ५. स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की धारणा —

- (क) बहुत से आलोचक मनु पर यह आक्षेप लगाते हैं कि मनु का स्त्रियों के प्रति बड़ा ही संकीर्ण, पक्षपातपूर्ण और निम्न दृष्टि कोण है । मनुस्मृति में कुछ ऐसे प्रक्षिप्त स्थल हैं जिनके कारण लोगों की यह घारणा बनी है, यथा २।४१-४२ (६६-६७); ५।१४७, १४८, १५३-१६२, १६४, १६६; ९।२, ३, १४-२४, आदि ।
- (१) किन्तु प्रक्षिप्तों के अतिरिक्त मनुस्मृति के प्रसंग, विषय, शैली के अनुकूल ऐसे बहुत सारे श्लोक हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनु ने स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान, श्रद्धा और उच्चता प्रदान की है। वे स्त्रियों को घर की स्वामिनी, गृहलक्ष्मी, देवी, गृहशोमा के विशेषणों से संबोधित करते हैं; और उन्हें घर के सुख का आधार मानते हैं। उनका सम्मान करने और उन्हें प्रसन्न रखने की प्ररेणा देते हैं। यहां मनुस्मृति में प्राप्त श्लोकों के आधार पर मनु की उन धारणाओं को स्पष्ट किया जाता है। निम्न श्लोकों में मनु द्वारा वर्णित स्त्रियों का उज्ज्वल, सम्माननीय और उच्चस्तरीय रूप द्रष्ट्य है—
  - (क) पिता, भाई, पित आदि द्वारा स्त्रियों का सत्कार करना चाहिए (क) पितृमि : भ्रातृमिश्चैता ..... पूज्या मूचियतव्याश्च । (३।५५)
  - (स्त्र) नारियों के सत्कार से दिव्यलामों व दिव्यगुणों की प्राप्ति (ग) यत्र नार्यस्नु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:। यत्रैतास्नु न पुज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।
  - (ग) वस्त्रों, आभूषणों से नारियों को सदा सत्कृत रखें तस्मादेता: सदा पूज्या: भूषणाच्छादनाशनै: । (३।४९)
  - (घ) नारी की प्रसन्नता में कुल को कल्याण निहित है सन्नुष्टो भार्यया भर्ना भर्त्रा भार्या नथैव च । यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ।। (३।३०)
  - (इ.) स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश --शोर्चान्त जामयो यत्र जिनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

- न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्वि सर्वदा ।। ५७ ।। (३७) (३।५७)
- (च) स्त्रियां घर की लक्ष्मी और शोमा हैं —
  प्रजनार्थं महाभागा: पूजार्हा गृहदीप्तय:।
  स्त्रिय: ग्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।। (९।२५)
- (छ) स्त्रियां घर के सुख का आधार हैं —
  अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
  दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मनश्च ह ।। (९।२८)
- (ज) स्त्रियाँ घर की स्वामिनी हैं —
  अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
  शौचे घर्में इन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे।।(९।११)
  सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
  सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया।।(४।१४०)
- (२) मन् स्त्री और पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं, न स्त्री के पुरुष की दासी या अधीनता में बंधी रहने वाली मानते हैं। वे दोनों को ही एक-दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करने वाली बातें कहते हैं; अपितु स्त्रियों को अधिक आदरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं। नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (अ) मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, अस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, अपितु समानता की भावना है।

स्त्रियों पर बन्धन डालकर रखने की प्रवृत्ति की व्यर्थता का कथन और स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से ही अपने आचरण को बनाने का समर्थन —

- (क) स्त्री को कोई भी दमनपूर्वक नहीं रख सकता न कश्चिद योषित: शक्त: प्रसहय परिरक्षितुम् । (९।१०)
- (ख) स्त्री स्वयं अपनी रक्षा करने से सुरक्षित हो सकती है अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैराप्तकारिमि:। आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ता: सुरक्षिता:।। (९।१२)
- (३) बिना किसी पक्षपात के, स्त्री-पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु ने स्त्री-पुरुषों को ऐसे सुझाव दिये हैं, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण अधीन रहने की मान्यता स्वत : खण्डित हो जाती है
  - (क) स्त्री-पुरुष मिलक्र रहें —

अन्योन्यस्य अव्यमिचारो मवेदामरणान्तिक:। एष: धर्म: समासेन ज्ञेय: स्त्रीपुंसयो: पर:।। (९।१०१)

(ख) स्त्री-पुरुष कमी न बिछुड़ें — तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ । यथा नामिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम् ।। (९।१०२)

#### (ग) स्त्री-पुरुष समान हैं, अत: सभी कार्य मिलकर करें

प्रजनार्थं स्त्रिय: सृष्टा: सन्तानार्थं च मानवा: । तस्मात्साघारणौ धर्म: श्रुतौ पत्न्या सहोदित: ।।

(९।९६)

इन मान्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ श्लोकों में जो दमनात्मक आग्रह से प्रेरित होकर आज्ञा दी है । यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती । यह मनु की व्यवस्थाओं के विरुद्ध है ।

- (४) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है, अपितु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दियां है। कुछ उदाहरण देखिए —
  - (क) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए —

''स्त्रिया: पंथा देय:।'' [(२।११३ (२।१३८)]।

- (ख) पत्नी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए 'भार्यया ... विवाद' न समाचरेत'' [४।१८०]।
- (ग) पत्नी आदि पर झूठा दोषारोपण नहीं करना चाहिए और न अपशब्द कहने चाहिएँ। यदि कोई ऐसा करे तो वह दण्डनीय है "मातरं पितरं जायाम् ... आक्षारयन् शतं दण्डयः" [८।१८०]।

# (ख) स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं यज्ञोपवीत का अधिकार मनुसम्मत —

कुछ श्लोकों में स्त्रियों के लिए गुरुकुलवास, वेदाध्ययन, मन्त्रपूर्वक क्रियाओं का निषेध मिलता है; यथा २।४१-४२ (६६-६७) ९।१८ आदि । ये समी प्रक्षिप्त हैं । अन्य अनेक स्थलों पर यहां तक कि स्वयं वेद में भी स्त्रियों के लिए समी धार्मिक कार्यों और वेदाध्ययन का विधान है ।

- (१) मनु प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री-पुरुष का समान अधिकार समझते हैं । २।४ [२।२९] श्लोक में जातकर्म के अवसर पर बालक के लिए चाहे वह कन्या हो अथवा पुत्र, दोनों के ही लिए मन्त्रोच्चारणपूर्वक शहद चटाने का विधान है ''मन्त्रवत् प्राशन' चास्य''। इससे स्पष्टत: सिद्ध है कि मनु मन्त्रोच्चारण या प्रवण आदि कार्यों में स्त्री-पुरुष का मेद नहीं करते। इसी प्रकार नामकरण आदि मी यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान है [२।८]। इस प्रकार ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्रों के निषेध का विधान इस मान्यता के विरुद्ध है।
- (२) इसी प्रकार ३।२ द में अग्निहोत्रपूर्वक स्त्रियों का दैविववाह करने का विधान किया है। अग्निहोत्र में मन्त्रोचारण हुआ ही करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु स्त्रयों की क्रियाएं मन्त्ररहित नहीं मानते। स्त्रियों की अन्त्येष्टि मी अग्निहोत्र से विहित है [५।१६७],विवाह मी स्वस्तिमन्त्रपूर्वक यज्ञ से विहित है [५।१५२]। ४१ वें श्लोक में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान इस विधान के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- (३) मनु ने घर में अग्निहोत्र आदि धर्मकार्यों के आयोजन की मुख्य जिम्मेदारी स्त्री को ही सौंपी है और यह आदेश दिया कि पुरुष को प्रत्येक धर्मकार्य स्त्री को साथ लेकर करना चाहिए — (क) "शौचे धर्में अन्नपक्त्यां च" (घर की शुद्धि, धर्मकार्यों का आयोजन और मोजन बनाना आदि की

जिम्मेदारी स्त्री को सौंपे) [९।११] (ख) ''अपत्यं धर्मकायाणि'' [९।२८] (सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन, अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य स्त्री के अधीन होते हैं)। (ग) ''तस्मात् साधारणो धर्म: श्रुतौ पत्न्त्या सहोदित:'' [९।९६] (साधारण से साधारण धर्मकार्य में भी पत्नी को सम्मिलित करना चाहिए)। इसी प्रकार २।१-३ [२।२६-२८] श्लोकों में मनु ने संस्कारों को समी के लिए समान रूप से आवश्यक मानते हुए शारीरिक एवं संस्कार-सम्बन्धी दोषों को हटाने वाला कहा है। वहां स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं माना। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं — एक तो यह कि सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं। अत: चाहे वह संस्कार स्त्री का हो अथवा पुरुष का, मन्त्रपूर्वक हो करना चाहिए। दूसरी यह कि संस्कार, द्विजाति वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक हैं, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष। इन दोनों श्लोकों में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाओं का विधान, विवाह को ही उपनयन संस्कार मानना, पतिसेवा को ही ब्रहमचर्याप्रम मानना घर के कामों को ही अग्निहोत्र मानना, उक्त विधानों के विरुद्ध हैं, अत: प्रक्षिप्त हैं।

- (४) स्त्रियों के वेदाध्ययन में स्वयं वेदों के प्रमाण इन श्लोकों में स्त्रियों के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण न करने आदि का कथन है। अतः यहां यह विचार कर लेना मी उपयोगी रहेगा कि इस विषय में स्वयं वेद क्या कहते हैं।
- (क) वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है "यथेमां वार्च कल्याणीम् आवदानि जनेम्य; । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय . . . . " (यजु. २६।२) अर्थात "परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्य:) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो . . . . . . . (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (ब्रुद्राय) ब्रुद्र और (स्वाय) अपने मृत्य वा स्त्रियां आदि (अरणाय) और अतिश्रुद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है ।" [स. प्र. ७४] ।
- (ख) इसी प्रकार अथर्ववेद में ''ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'' [६।५।१८] अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदों को पढ़ने और ब्रह्मचर्य को पालन करने के उपरान्त गृहस्थ की कामना करने वाली कन्या युवक पति का वरण करती है।
- (ग) स्त्रियों के उपनयन में ऋग्. १०।१०९।४ मन्त्र मी प्रमाण हैं ''मीमा जाया बाह्मणस्योपनीता'' इन प्रमाणों में स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, गुरुकुलवास आदि विधान सिद्ध होते हैं।
- (घ) वैदिक काल के इतिहास पर यदि दृष्टि डालकर देखें तो उससे मी स्त्रियों के लिए मन्त्रितिष आदि की बातें सिद्ध नहीं होतीं । ऐसी बहुत-सी ऋषिकाएं हुई हैं जो मंत्रद्रष्टा थीं । जिन-जिन सूक्तों के मन्त्रों का उन्होंने अर्थ-रहस्य जाना, उन सूक्तों पर उनके नाम ऋषि के रूप में आज मी उपलब्ध हैं । अकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार की लगमग २० ऋषिकाओं के नाम आते हैं । उनमें अदिति, जुहू इन्द्राणी, घोषा, गोघा, अपाला, रोमशा, लोपामुद्रा आदि उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय हैं । इसी प्रकार उपनिषदों में गार्गी, मैत्रैयी ब्रह्मतत्त्वजाता देवियों का वर्णन आता है । मनु ने अपनी स्मृति को वेदानुकूल और वेदाधारित माना है [१।१२५-१३२ (२।६-१३); १२।९४, ९५ २७, ९९, १०९, ११२, ११३ आदि ] । अत: स्वयं वेद में विहित इन मान्यताओं के विरुद्ध होने से उपर्युक्त आदेष नान्य नहीं है ।

# ६. शुद्र के विषय में मनु की घारणा —

- (१) शूद्र अस्पृश्य नहीं मनु ने शूद्र का कर्तव्य द्विजातियों की सेवा करना बताया है [१।९१] । इसी कर्तव्यनिर्घारण से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि मनु शूद्र को अस्पृश्य या घृणास्पद नहीं मानते ।
- (२) वस्तुत: जो व्यक्ति पढ़-लिख नहीं पाता और ऊपर के किसी वर्ण के योग्य नहीं होता वही शूद्र कहलाता है। इसी कारण २।१२६ में अज्ञानता के प्रतीकरूप में श्रुद्र की उपमा दी है — ''यथा शुद्रस्तथेव सः''।
- (३) शुद्ध को धर्मपालन का अधिकार शुद्ध को धर्मपालन का अधिकार है। २।२१३ (२३९) में ''अन्स्यादिप परं धर्मम्'' कहकर शुद्ध आदि से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को कहा है।
- (४) शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार श्रुद्र को वेदाध्ययन का अधिकार मी है। यह स्वयं यजु. २६।२ ''यथेमां वाचं कल्याणीम् . . . शूद्राय चार्याय च'' से संकेत मिलता है। इसकी व्याख्या पिछले 'स्त्री-वेदाध्ययन' सम्बन्धी प्रसंग में की जा चुकी है। वहां द्रष्टव्य है।
- (५) वेदों में शूद्र को यज्ञ आदि का विधान त्रृक्. १०।५२।४-५ में ''पञ्चजना: मसहोत्रं जुषध्वम्'' कहकर श्रुद्र को भी यज्ञ करने का आदेश है। निरुक्त २।२।७ में 'पञ्चजना:' की व्याख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, श्रुद्र और निर्णमवमोजी निषाद की गणना की है। इस पर विस्तृत विवेचन 'कमणा वर्णव्यवस्था' विषय में किया जा चुका है।
- (६) मनुस्मृति में कहीं-कहीं शुद्ध के प्रति घृणा, आक्रोश, असम्मान प्रकट करने वाले वर्णन हैं। ये सभी वर्णन परवर्ती प्रक्षेप हैं। मनु की यह शैली है कि वे अधर्मी, पापी या दोषी व्यक्ति को छोड़कर किसी के प्रति आक्रोश का भाव प्रकट नहीं करते। प्रत्येक विधान सहज और निर्लिप्त भाव से करते हैं। यथा, १।९१ का विधान सहज वर्णन है। मनु ने निम्न श्लोक में द्विजों को भी यह आदेश दिया है कि वह वृद्ध शुद्ध का सम्मान पहले करें —

''सोऽत्र मानार्ठ: शुद्रोऽपि दशमी' गत:'' [२।११२ (१३७)]

(७) शूद्र पवित्र है और उत्कृष्ट वर्ण प्राप्त कर सकता है —

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनष्ठंकृतः । बाह्मणाचाश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।। (९।३३५ ।)

(शुचि:) शुद्ध-पित्र [शरीर एवं मन से ], (उत्कृष्टशुग्रुषु:) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक) मधुरमाषी (अनहंकृत:) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण + आदि-आग्रय:) सदा ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा मे संलग्न शुद्ध मी (उत्कृष्टां जातिम् + अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तर्गत द्विजवर्ण को प्राप्त कर लेता है।।

इस श्लोक के वर्णन से मनु की श्रुद्र के प्रति यह घारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे श्रुद्र को हीन नहीं मानते अपितु पवित्र, उत्कृष्ट और उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का अधिकारी मानते हैं । यह मान्यता १०।६५ में मी वर्णित है ।

(८) उपनयन प्रसंग २।११-१४ (३६-३९) में कहीं भी भूद्र के लिए उपनयन का निषेघ नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि जन्म से कोई भूद्र नहीं होता। भूद्र कुल में उत्पन्न बालक भी दिज वर्णों में उपनयन करा सकता है। इस संक्षिप्त विवेचन से भूद्र के प्रति मनु की घार । स्पष्ट हो जाती है । इस विषयक कुछ विवेचन 'मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था' मान्यता शीर्षक में भी द्रष्टव्य है ।

### (७) स्वर्ग और नरक —

- (क) स्वर्ग या स्वर्गलोक से मनु का अभिप्राय मनु इस संसार से मिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते । सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है और दु:ख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में, जीवन में प्राप्त होते रहते हैं । इसमें प्रमाण हैं —
- (१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख और मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है। ३।७९ श्लोक में अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है और उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है।
  - (२) सुख के अर्थ या पर्यायवाची रूप में अन्यत्र भी स्वर्ग शब्द का प्रयोग किया है
    - (क) ''अस्वर्य चातिमोजनम्।'' २।३२ [२।५७]
    - (ন্ত্র) ''दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मन्श्च ह ।'' (९।२८।।)
    - (ग) ''स्वर्ग-आयुष्य-यशस्यानि व्रतानीमानि घारयेत् ।''(४।१३ ।।)
  - (३) अक्षय सुख अर्थात मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग
    - (क) ३।७९ श्लोक में **''स्वर्गमक्षयमिच्छता''।**
    - (ख) इदमन्विच्छता स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम् । (६।८४।।)
- (४) मनु ने १२।९, ३९-५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कमा के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों का वर्णन किया है । उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है ।
- (५) व्याकरण शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' श्रन्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लू-गतौ' धातु से 'ड प्रकरणेऽन्येष्विप दृश्यते अ. ३।२४ ८ वार्तिकसूत्र से 'ड :' प्रत्यय के योग से बनता है । गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं । 'स्व :' सुख का अनुमव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात सुख है ।
- (६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का अर्थ है । 'लोकृ दर्शने' घातु से लोक शब्द बनता है जिसका अर्थ 'स्थान' है । जहां स्वर्ग प्राप्त होता है — सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है ।
- (ख) नरक की कल्पना मनुविरुद्ध ४। ८१, ८७-९१ श्लोकों में इक्कीस नरक योनियों की गणना है और अक्षत्रिय राजा से दान लेने वाले को इन योनियों की प्राप्ति बतलायी है। मनु के मत में 'नरक' नाम की कोई योनि या स्थान विशेष नहीं है। यह मान्यता निम्न प्रमाणों के आधार पर मनुविरुद्ध और प्रक्षिप्त सिद्ध होती है —
- (१) नरक श्रन्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है। मनु ने २।३२ [२।४७] में सुख और ३।७९ में स्वर्ग शन्द का प्रयोग सुख और 'अक्षय सुख' के लिए किया है और ९।२८ में ''दारा धीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मनश्च ह'ं कहकर 'वर्तमान जीवन के सुख' के अर्थ में किया है। इससे स्पष्ट है कि स्वर्ग के विपरीतार्थक शन्द 'नरक' का अर्थ कोई योनि या स्थानविशेष नहीं,अपितु दु:ख ही है। निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी 'नरक' शन्द की इसी रूप में निरुक्ति की है ''नरकंन्यरकं नीचैर्गमनम् इति वा'अर्थात् दु:ख, अघ:पतन या अवनित का नाम

नरक है [निरुक्त १।३।११]।

- (२) मनु ने मृत्यु के उपरान्त जीव की केवल दो अवस्थाएं मानी हैं एक तो संसार में स्थावर-जंगम योनियों में जन्म [६।६३, ७४, १२।९, ३९-५२] या ब्रह्मप्राप्ति [४।१४९;६।८१ १२।११६, १२५] । इससे मी यही स्पष्ट है कि मनु के मत में नरक नाम की कोई पृथक योनि या स्थान नहीं है।
- (३) मनु ने १२।९, ३९ से ५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों की गणना की है। इस गणना में नरकयोनि का उल्लेख न होना मी यह सिद्ध करता है कि मनु 'नरक' को नहीं मानते। १२।५२, ७४, ८१, श्लोकों में तो मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति कर्मों के अनुसार पूर्वोक्त योनियों में ही शरीर-धारण करके इसी संसार में सुख-दु:ख भोगता है। अत: नरकों की कल्पना मनुविरुद्ध है।

# ८. प्रेतशुद्धि आदि का आडम्बर मनुविहित नहीं —

प्रेतशुद्धि, सूतकशुद्धि के नाम पर कुछ लोगों ने एक आडम्बर खड़ा कर दिया है। अशुद्धि कों दूर करने का सीधा-सा मतलब इतना ही है कि प्रेत, सूतक या किसी मी अन्य अशुद्धि से सम्पर्क होने पर जल आदि से शरीर की शुद्धि होती है और मन की अशान्ति रूपी अशुद्धि, जप आदि से दूर होती है [४।१०४, १०७, १०९]। बिना सम्पर्क के, दूर बैठे अशुद्धि मानना कोरा आडम्बर और अयुक्तियुक्त है। प्रेत शुद्धि और सूतकशुद्धि आदि के आडंबर का विधान करने वाला प्रसंग ४।४८-१०४ तक है। यह प्रसंग विभिन्न आधारों के अनुसार विषय, प्रसंग और शैली के विपरीत तथा मनुविहित सिद्ध न होकर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है उसके विश्लेषण से ये निष्कर्ष सामने आते हैं —

(१) प्रस्तुत विषय के प्रारम्भ का संकेत देने वाला श्लोक ४।४७ वां है और समाप्ति का संकेत देने वाला श्लोक ४।११० वां है। इन श्लोकों में दिये गये ''देहशुद्धिम् .... प्रवश्यामि'' ''एष शौचस्य व: प्रोक्त : शारीरस्य विनिर्णय:'' संकेतों के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि यह ''शरीर और शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, आत्मा आदि की शुद्धि'' को कहने का विषय है [इसकी पुष्टि के लिए ४।४७ की समीक्षा भी पढ़िये]।

इस आघार पर इस विषय में वही श्लोक मौलिक माने जा सकते हैं जो इस विषयसंकेत से सम्बद्ध हों। अपने संकेत के अनुसार ही मनु ने १०५-१०६ श्लोकों में पहले भूमिका रूप में श्रुद्धिकारक पवार्थों की गणना की है, फिर १०९ में अश्रुद्ध शरीर की 'अदिम: गान्नाणि श्रुद्धयन्ति' कहकर श्रुद्धि होना कहा है। क्रोघ, लालच, श्रूघर्माचरण आदि से मनुष्य के मन, बुद्धि, आत्मा आदि भी अश्रुद्ध हो जाते हैं, संकेतानुरूप, शरीरसम्बन्धी इन अवयवों की श्रुद्धि मी कह दी है। इस प्रकार १०५ से ११० श्लोक विषयानुरूप हैं। इस बीच में ५८ से १०४ तक जितने श्लोक हैं, इनमें शरीर की श्रुद्धि का वर्णन न होकर आशौच मनाने की अविधि, सिपण्ड एवं असिपण्डों के आशौच की विधि, सूतक-अश्रुद्धि, परदेश में रहने वालों की अश्रुद्धि आदि का वर्णन है, जो विषयविरुद्ध है।

(२) उपर्युक्त विषय का संकेत देने वाले श्लोकों के आधार पर मनु की एक मान्यता भी बन जाती है कि वे 'अशुद्धि के सम्पर्क से शरीरादि की अशुद्धि होना' ही मानते है और उसकी शुद्धि का उपाय है — ''अदिभ : गान्नाणि शुद्धयन्ति'' [१०९] अर्थात 'शरीर की शुद्धि जलों से होती है' आदि । ५८ से १०४ श्लोकों में जो भी कुछ वर्णित है वह मनु की इस मान्यता के विरुद्ध है और न इससे तालमेल खाती है — (क) ५८ से ६० श्लोक, जिनमें सिपण्ड-असिपण्ड के मेद से प्रतेशुद्धि

और अशुद्धि मानने की १-१० दिन तक ही चार अविध दर्शांकर उसको एक 'घार्मिककृत्य' के रूप में वर्णित किया है, वे मनु की उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। क्यों कि मनु केवल शरीर की अशुद्धि मानते हैं और यह सिपण्ड और असिपण्ड सबको समान रूप से होती है तथा उसकी अनेक दिनों की अविध नहीं होती। शरीर अशुद्ध हुआ तो जल से घोने से वह शुद्ध हो गया। इस प्रकार इन श्लोकों की व्यवस्था मनु सम्मत ही सिद्ध नहीं होती, अत : ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। शेष श्लोक इन पर आधारित हैं, अत : आधारमूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर वे स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेंगे। (ख) ७४, से ८४ श्लोकों में परदेश में रहने वालों की शुद्धि कहना भी मनुविरुद्ध है। जब किसी अशुद्धि का सम्पर्क ही नहीं हुआ तो फिर उनके शरीर की अशुद्धि ही कहां हुई ? (ग) ८५-८७, १०३ श्लोकों में शुद्ध को अस्पृश्य अर्थात अपवित्र माना है। मनु ऐसा नहीं मानते। वे शुद्ध को शुचि: अर्थात 'पवित्र' मानते हैं। [९।३३५]। अत : इन श्लोकों की मान्यता मनुविरुद्ध है।

- (३) ५ द से १०४ श्लोकों की मान्यता है 'सिपण्ड, असिपण्ड के भेद से चार अविधयों के [५८-६०] अनुसार 'भ्रुद्धि मनाना' । यह अयुक्तियुक्त वर्णन है, क्योंकि मृतक के सम्पर्क से यिद शरीर की अशुद्धि मानी गयी है तो वह सिपण्ड-असिपण्डों की समान होगी और उसकी शुद्धि जल से हो जायेगी । इसके लिए न तो अविध की कोई सार्थकता है और न सिपण्ड-असिपण्ड का भेद ही बनता है । यदि मानसिक अशुद्धि अर्थात् मन का शोक मानने की बात है,तो मन के शोक के लिए कोई अविब निश्चित नहीं हो सकती और न ही इस अविध में सबकी वह दूर हो सकती है । अत : यह व्यवस्था ही अयुक्तियुक्त है । मनु की व्यवस्थाएं युक्ति-युक्त होती हैं । इस विरोध के आधार पर भी ये श्लोक मनुसम्मत नहीं माने जा सकते ।
- (४) प्रसंगिवरोघ के आधार पर यदि इन श्लोकों को परखें तो ये सभी प्रसंगिवरुद्ध सिद्ध होते हैं। ५७ वें और ११० वें श्लोक में 'शरीर और शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि' कथन करने का संकेत है। उनके अनुसार इस प्रसंग का क्रम इस प्रकार बनता है
  - (क) शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी अवयवों की अशुद्धि की शुद्धि कहने के विषय का संकेत [५७]—
    - (ख) फिर १०५ में भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन —
- (ग) फिर शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी शुद्धियों का वर्णन [१०६-१०९], जो कि सर्व-सामान्य विधि के रूप में भावगाम्भीर्य से युक्त संक्षिप्त वर्णन हैं। इसमें शरीर-सम्बन्धी आत्मा, मन, बुद्धि. चरित्र की शुद्धि का उल्लेख हैं।

इस प्रकार मनु की मान्यता एवं विषय-संकेत [५७ तथा ११०] के अनुसार यह एक संगत क्रम बनता है। ५८ से १०४ श्लोकों ने उस क्रम को ही मंग कर दिया है और शरीरादि की शुद्धि से मिन्न अश्रुद्धि को 'धार्मिककृत्य' के रूप में मनाने की एक पृथक पूर्वापर प्रसंग से मिन्न ही व्यवस्था विहित् की है। शुद्धि की बात कहने के लिए पहले शुद्धिकारक पदार्थों का उल्लेख ही प्रासंगिक बनता है। इस आधार पर ५७ के बाद १०५ वा श्लोक प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध सिद्ध होता है। शेष बीच के सभी श्लोक प्रसंग-विरुद्ध प्रसंगमञ्जक होने के कारण प्रक्षिप्त है।

# त्रेदविषयक अनध्याय या निर्धारित अवधि में त्रेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन मनुसम्मत नहीं —

उक्त विधान करने वाले श्लोकों का प्रसंग ४।९५-१२७ में आता है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में वेदों का अनध्याय करना, श्रावणी पर सीमाबद्ध वेदाध्ययन और उसका उत्सर्जन, श्रुक्लपक्ष और कृष्ण पक्ष में वेद और वेदांगों के अध्ययन का विभाजन आदि बातें, मनु की मूलभावना, और शैली के अनुरूप नहीं है। इस प्रसंग के विश्लेषण से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(१) प्रतीत होता है कि वर्ष में साढ़े चार मास तक वेदाध्ययन करना, फिर उनका उत्सर्जन करना, बीच में विराम करना, शुक्ल पक्ष में वेदाध्ययन और कृष्ण पक्ष में वेदाणों का अध्ययन करना, ये व्यवस्थाएँ मनु से परवर्ती काल की हैं, जबिक मनुद्वारा विहित व्यवस्थाओं में शिथिलता आ गई थी । इन व्यवस्थाओं का मनुप्रोक्त व्यवस्थाओं से तालमेल नहीं बैठता, अपितु विरोध आता है । यथा — (क) मनु ने वेदों का अध्ययन समी द्विजों का आवश्यक और नैत्यिक कर्म माना है [१-६७-९०] । यदि पूर्वोक्त कर्मों का पालन कोई द्विज नहीं करता तो वह अपने वर्ण से पतित हो जाता है । विशेषरूप से वेदाध्यास को छोड़ने वाला द्विज शूद्रकोटि में गिना जाता है — ''योऽनधीत्य द्विजों वेदमन्यत्र कुरुत्ते स्नमम् । स जीवन्नेव शूद्रक्वं आशु गच्छिति सान्वय:'' [२।१४३ (१६६)] (ख) मनु ने वेदाध्ययन को नैत्यिक दिनचर्या कहा है और इस पवित्र कार्य में कमी अनध्याय नहीं माना है — ''छोदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि''।। [२।६० (१०५)] ''नैत्यके नास्त्यनाध्यायों स्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् । स्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्याय वषद्कृतम्''।। [२।६१ (१०६)] (ग) नैत्यिक वेदाध्ययन के विधायक अन्य प्रमाण मी दृष्टव्य हैं —

(अ) य: स्वाध्यायमधीते ऽ ब्दं विधिना नियत: शुचि: । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दिध घृतं मधु।।

२१८२ ।। (२।१०७)

(आ) आ हैव स नखाग्रेम्य: पर्मः तप्यते तप:। य: स्त्रग्र्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्यहम्।। (२।१४२ [१६७])

इसी प्रकार ग्रहस्थों के व्रतों में भी स्पष्ट निर्देश है ---

- (ह) सर्वाम् परिन्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिन: । यथातथाध्यापयंस्तु सा द्यस्य कृतकृत्यता ।। (४।१७।।)
- (ई) बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । निरूपं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान ।। (४।१९।।)
- (उ) ''स्वाध्याये चैव युक्त: स्यात् नित्यम'' (४।६४)
- (ক) ''स्वाध्याये नित्ययुक्त: स्यात्' (३।७५)

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वेदों का अध्ययन नित्यप्रति आवश्यक मानते हैं । मनु ने पांच महायज्ञों का जो प्रतिदिन विधान किया है, उनमें 'ब्रहंमयज्ञ' संध्योपासना और वेदाध्ययन का ही नाम है । इस प्रकार के प्रमाण मनुस्मृति में पर्याप्त मिलते हैं । ९५-१२७ श्लोकों में साढ़े चार मास वेद पढ़ना, फिर उनका उत्सर्जन गांव से बाहर करना, शुक्लपक्ष में वेद पढ़ना और कृष्णपक्ष में वेदांगों को पढ़ना आदि जो व्यवस्थाएँ दी गई हैं वे पूर्वमान्यताओं से तालमेल नहीं रखतीं और विरुद्ध मी हैं। जब प्रतिदिन ही वेद पढ़ने का विघान है तो फिर उनकी साढ़े चार मास तक पढ़ने के लिए प्रारम्भिक अनुष्ठान करना, फिर उत्सर्जन का अनुष्ठान करना आदि बातों का अवसर ही नहीं आता। अत: ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रसंग में कुछ और भी अन्तर्विरोध हैं—

- (२) ९५, १०८ श्लोकों में शूद्र के पास वेद न पढ़ने का विधान 'शूद्र को वेद पढ़ने का विधान नहीं है' इस मान्यता पर आधारित है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है और वेदविरुद्ध भी (इसके विस्तृत ज्ञान के लिए २।१४४-१४९ (१६९-१७४) श्लोकों पर 'अन्तर्विरोध' शीर्षक समीक्षा देखिये, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ भी ]।
- (३) १०९-१११, ११७, १२४, श्लोकों में मृतकश्राद्ध की मान्यता है । यह भी मनुविरुद्ध है [इसके लिए ३।११९-२८४ श्लोकों पर समीक्षा द्रष्टव्य है, और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ३ भी ] ।
- (४) ११२ में सूतक की मान्यता है । सूतक का वर्णन मनुप्रोक्त नहीं सिद्ध होता [इसके लिए क्रटट्य है ५।५६-१०४ श्लोकों पर 'विषयविरोध' शीर्षक समीक्षा क्योंकि सूतकविधान इसी प्रसंग के ६१-६२ श्लोकों में आता है ] ।
- (५) ११३ वें श्लोक में संघ्याकालों में वेद न पढ़ने का कथन है, जबिक पांचयज्ञों का विधान और संघ्योपासना का विधान संघ्याकालों में ही किया है [२ । ७६ —७६ (१०१-१०३), १५१ (१७६), ४ । ९२ —९४] ।
- (६) ११३ –११४ वें श्लोकों में पर्विदनों में वेदाध्ययन निषिद्ध है, जबिक ४ । २५; ६ । ९ में इन पर्वों के दिन विशेषयज्ञों को रचाने का विधान है और यज्ञ वेदमन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं ।
- (७) ११६ वें श्लोक में श्मशान में वेद न पढ़ने का कथन है जबकि ५ । १६७ में अन्त्येष्टि कर्म यज्ञसम्पादन द्वारा विहित है और यज्ञ में वेदमन्त्रों का उच्चारण होता है ।
- (८) ११२ वें में मांसभक्षण का वर्णन मनुविरुद्ध है | द्रष्टव्य –४।२६-२८ श्लोकों पर 'अन्तर्विरोघ' शीर्षक समीक्षा और इसी अध्याय में मान्यता संख्या २ भी | ।
- (९) १२३ -१२५ श्लोकों में वेदों की ध्वनियों का परस्पर विरोध दर्शाना मनु के २।७६ -७६ [५१ -५२] श्लोकों के विरुद्ध है। जब तीनों से एक-एक पाद निकालकर बनाया गया गायत्रीमन्त्र एक साथ उच्चारित किया जा सकता है तो वेदों की ध्वनि में क्या आपित है ? मनु- अनुसार सभी वेद ईश्वरप्रोक्त हैं।
- (१०) १०१ से १२६ श्लोकों में वेदों के अनध्यायों का विधान ही मनु के २।७९ ८१ [१०४ १०६] के विरुद्ध है। इन श्लोकों में मनु ने वैदाध्ययन में अनध्याय का निषेध किया है। इस प्रकार इन अन्तर्विरोधों के आधार पर ९५ से १२७ तक सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. विषयविरोध (°) १०१ से १२७ श्लोक विषयबाह्य हैं । इनका 'संतोगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ये व्रत हैं. अत : प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन ४ । ३३ ३४ पर द्रष्टव्य] ! (२) ये श्लोक इसलिए भी विषयविरुद्ध हैं क्योंकि शिष्यों को वेदाध्यापन का विषय द्वितीय अध्याय का है [२ । ४४ ४६ (६९ ७३). १३९ (१६४). १४० १४१ (१६५ १६६). ३ । १ २] । यहाँ गृहस्थियों के व्रतों का विषय है | ४ । १३] । अत : इस स्थान पर शिष्यों के अध्यापन-

अनघ्यापन, अध्याय-अनघ्याय का वर्णन विषयविरुद्ध है । यह द्वितीय अध्याय में ही संगत कहा जा सकता था ।

- ३. वेदिवरोध ९९, १०६ श्लोकों की शुद्र के पास वेद न पढ़ने की मान्यता स्वयं वेदिवरुद्ध है। वेद में शुद्र को यज्ञ करने और मन्त्रश्रवण का विधान है। प्रमाणार्थ द्रष्टव्य २।४२ और ९।३३५ की 'वेदिवरोध' शीर्षक समीक्षाएँ और इसी अध्याय में मान्यता संख्या ६ मी।
- ४. शैलीगत आधार (१) इस प्रसंग के १०३ वे श्लोक में 'मनुरब्रवीत' पद से स्पष्टत: यह मनुभिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त सिद्ध होता है। (२) इस प्रसंग के १०१ से १२७ श्लोकों की शैली रूढि पर आधारित है। ११४ व १२४ की शैली अयुक्तियुक्त है।

# १०. प्रायश्चित का अर्थ, उद्देश्य एवं फल —

'प्रायश्क्त' शब्द प्राय-चित पदों से समास में 'पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम्' (अष्टा. ६ । १ । १५७) से सुट आगम के योग से सिद्ध हुआ है । तपादि साधनपूर्वकं किल्विषनिवारणार्थं चित्तम्≤िनश्चयम्, प्रायश्चित्तम्ं । जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्तव्य कार्य को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता अनुभव करता है. तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप — कष्टसहन करता हुआ यह निश्चय करता है कि पुन: मैं यह पाप नहीं करूंगा ।' यह प्रायश्चित कहलाता है । ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता । जैसे कोई व्यक्ति किसी को अचानक गलत बात कह जाये और कहने के बाद उसे दु:ख अनुभव हो तो वह खेद प्रकट करता है । इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती और आगे वैसा न करने के लिए सावधान हो जाता है । इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना क्षीण होती है प्रायश्चित करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का अनुभव करता है उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है । वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है और सावधान रहता है | ११ । २२९ –२३० | । इस प्रकार प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि एक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख होता जाता है ।

यही मान्यता प्रायश्चित की परिभाषा वाले ११ । २३० और ११ । २३२ श्लोकों से सिद्ध होती है । और, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए अधर्म के फल को किसी अवस्था में निष्फल नहीं मानते —

ं न त्येव कृतो ६ धर्म : कर्तुर्भवति निष्फल : । ं (४ । १७३ ।।)

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाओं में जहां जिस श्लोक पर 'पाप से छूट जाना' आदि मान्यता वाले अर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं।

### ११. दायभाग का वितरण —

मनु ने दायभाग में पुत्र, पुत्री, पिता, माता सभी का अधिकार माना है। माता-पिता के जीवित रहते सारी सम्पति उन्हीं की रहती है। पुत्र उसे बंटा नहीं सकते [९। १०४]। हाँ, यदि पिता चाहं तो अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति को सन्तानों में बांट सकता है। मातापिता की मृत्यु के उपरान्त दायभाग के बंटवारे के कई विकला विहित हैं। सभी पुत्र मिलकर जिस प्रकार सहमत हों, उसी

विधि को अपना सकते हैं। यथा —

- १. सभी भाई मिलकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बाट लें [९ । १०४] ।
- २. अथवा इकट्ठे रहना चाहें तो ज्येष्ठ पुत्र सम्पूर्ण पैतृक सम्पत्ति को ग्रहण कर ले । वह छोटे माइयों के साथ माता-पिता के समान कर्तव्यों को निभाकर उनका पालन-पोषण करे । छोटे भी उसको माता-पिता के समान आदर दें [९ । १०५] । कर्तव्य न निभाने पर बड़ा भाई दण्डनीय होता है, |९ । २१३| और बड़े के स्थान पर आदरणीय नहीं होता [९ । ११०] ।
- ३. बड़े भाई की छत्रछाया में रहकर यदि बाद में भाई अलग होना चाहें तो पैतृक धन का विभाजन इस प्रकार होगा — कुल धन में से बड़े को धन का बीसवा भाग अतिरिक्त मिलेगा, मध्यम को उससे आधा, छोटे को चौथाई । यह उद्वारभाग कहलाता है [९ । ११२] ।

समफने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है — मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ९६० रुपये हैं। उसमें बड़े माई का बीसवां माग (९६०  $\div$  २० = ४८) ४८ रु. 'उद्वार' निकलेगा, मफले माई का बालीसवां माग (९६०  $\div$  ४० = २४) २४ रु. होगा, छोटे माई का अस्सीवां माग (९६०  $\div$  ८० = १२) १२ रु. 'उद्वार' होगा। 'उद्वार' का 'घन' बंटने के बाद शेष को सभी माई बराबर बांट लेंगे, यथा —४८ + २४ + १२ = ८४, ९६० — ८४ = ८७६, ८७६  $\stackrel{\checkmark}{-}$  ३ = २५२, इस प्रकार २९२ —२५२ रु. प्रत्येक के हिस्से में आये। इस विधि से बड़े माई को २९२ + ४८ = ३४० रु., उसमें मफले माई को २९२ + २४ = ३१६ रु., छोटे माई को २९२ + १२ = ३०४ रु. प्राप्त हुए। यह उद्वारमाग बड़ों को तभी मिलेगा जब वे अपने छोटे माइयों का पितृवत् पालन करेंगें।

उद्वार-भाग का विधान क्यों ? ९। १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्वार अंश के विभाजन के बाद समान-भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहत हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रम करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को अलग होते समय यह अधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाये होते हैं।

इस उद्धारभाग को निकालने के बाद शेष बचे धन को बराबर-बराबर बांट लिया जाता है। [९ । ११६]

- ४. अथवा उद्धार भाग न निकालें तो बड़ा भाई दो भाग सम्पत्ति ले, मध्यम डेढ़ और छोटा एक माग ग्रहण करे । [९ । ११७] ।
- 4. सभी भाई, बहनों को अपने-अपने भाग में से चतुर्थांश दायभाग प्रदान करें [९।११८]। माता का जो निजी धन होता है. उस पर कुमारी लड़िकयों का ही, अधिकार होता है। [९।१३१]। माता की मृत्यु पर माता के अधिकार में स्थित धन को सभी पुत्र और विवाहित पुत्रियाँ बराबर बाट लें [९।१९२] यह धन छह प्रकार का होता है।स्त्रीधन का विवरण मनु ने ९।१९४ –१९७ में दिया है— (१) अध्यग्नि = विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन. (२) अधि-आवाहिनकम् = पित के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन. (३) प्रीतिकर्म में प्राप्त धन = प्रसन्नता आदि के अवसर पर पित द्वारा प्रदत्त धन. (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन. (१) पिता से प्राप्त धन. (१) माता से प्राप्त धन।
  - ६. अपुत्रवान् पिता-माता की दायभागीय सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी उसकी कन्या ही होगी ।

वह सम्पत्ति अन्य किसी को नहीं दी जा सकती [९।१३०]।

- ७. अपुत्रवान् रहने पर पुत्री के पुत्र अर्थात् घेवते को गोद लेकर उसे मी सम्पूर्ण दायमाग दिया जा सकता है । यदि इसके बाद किसी दम्पती को पुत्र प्राप्त हो जाता है तो घेवते और पुत्र को समान माग मिल जायेगा [२ । १३१, १३४] ।
- द्र. नपुंसक, जन्म से अधे, बहरे, पांगल, वज्रमूर्ख और गूंगे, किसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग होने के कारण असमर्थ पुत्र, ये घन के भागी नहीं होते । अन्य भाई इनके घन का सरक्षण करते हुए इनका पूर्ण पालन-पोषण करें । हां, यदि ये विवाह करलें तो इनके पुत्र अपने पिता के उस घन के अधिकारी हैं [९ । २०१ –२०३] ।
- प्रजा, चोरी, डांका, आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति दायमाग से वंचित हो जाते हैं
   प्रश्रि । २१४ ।

# १२. मनुस्मृति में विवाह की आयु-

कुछ लोग मनुस्मृति के निम्न श्लोक के आधार पर मनुस्मृति में बालविवाह या अल्पायुविवाह की मान्यता को स्वीकार करते हैं। वस्तुत: यह उस समय का परवर्ती श्लोक है, जब युद्धों, अराजकता आदि कारणों से कन्याओं की सुरक्षा चिन्ताजनक बन गयी थी। उस भय या चिन्ता को दूर करने के लिए शास्त्रों में इस प्रकार के विधान ही कर दिये गये —

त्रिंशदवर्षोदहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षो ऽ ष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वर: ।। (९ । ९४)

अर्थ — गृहस्य धर्म का लोप न चाहता हुआ तीस वर्ष का पुरुष शीघ्र ही १२ वर्ष की मनोहारिणी कन्या से और २४ वर्ष का पुरुष आठं वर्ष की कन्या से विवाह करे।

इसका निराकरण मनु द्वारा विहित समावर्तन ३ । १ – ३, विवाह ३ । ४ – ६२ तथा स्त्रीघर्म ५ । १४७ – १६६, ९ ।१ – १०२ वर्णनों से हो जाता है । उन प्रसंगों के अध्ययन से इस विषयक निम्न निष्कर्ष सामने आते हैं –

(१) मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की आयु — अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहाँ विवाह की आयु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्रसंगवश उस पर यहाँ विस्तृत विवेचन किया जाता है।

वेदों में तथा अन्य शास्त्रों में मनुष्य की औसत आयु एक सौ वर्ष मानी गई है। इसी आधार पर वेदों में सौ वर्षों से अधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है—'तच्चश्वर्दिविहतं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं श्वर्षा श्रुणुयाम शरद: शतं प्रव्रवाम शरद: शतम् अदीना: स्याम शरद: शतं भूयश्च शरद: शतात् ।।' [यजु. ३६। २४]

(क) इस औसत आयु के आधार पर मनु ने मनुष्य-जीवन को चार अवस्थाओं में विमाजित करके उसकी अविधि निधारित की हैं—

> चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। (४।१।।५।१६९।।)

### वनेषु च विदृत्यैवं तृतीयं मागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ।।(६ । ३३ ।)

सौ वर्ष की आयु के इस प्रकार २५-२५ वर्ष के चार भाग होते हैं। आयु के प्रथमभाग में अर्थात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। द्वितीय भाग में अर्थात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रह। पुत्र का पुत्र होने पर अथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६।२] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर तृतीयभाग में अर्थात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे उसके,पश्चात् चतुर्थ भाग में सन्यासी बन जाये।

इन विघानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि ग्रुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष

है । उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए ।

(ख) स्त्री के विवाह की आयु — इसका संकेत मनु ने ९ । ९० श्लोक में दिया है — ''त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमतीसती । उच्चै तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशां पतिम् ।'' अर्थात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है ।

कन्याओं को मासिक धर्म सामान्यत : १३-१५ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होता है । तीन वर्ष के अनन्तर यह काल १६-१८ की ं मुं का होता है । अत : कन्या के विवाह की कम से कम आम़ १६ वर्ष है । २५ वर्ष का पुरुष ६६ वर्ष की कन्या से विवाह करे । इससे अधिक आयु में इतने हो अनुपात से विवाह होना चाहिए । क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुष के तुल्य होती है ।

- (ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्तव्यों का जो वर्णन किया है, जैसे गृहकार्यों में दक्ष होना. घर की साज-सज्जा, शुद्धि आदि में चतुर होना, आय-व्यय की समाल रखना [४ । १४०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुओं की समाल, धार्मिक अनुष्ठानों का संयोजन [९ । ११, २६-२८, २६, १०१], इनसे भी यह जात होता है कि ये किसी अल्पायु के लिए नहीं अपितु समभवार युवती के लिए विहित कर्तव्य हैं । इससे भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य आयु १६-१७ वर्ष या इससे ऊपर ही है।
- (२) आयुर्वेद के अनुसार विवाह की आयु इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण हैं, क्योंकि उनमें शरीर के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है । आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुम्नुत' में शरीर की वृद्धि और क्षीणता के आधार पर चार अवस्थाएं प्रदिशत की हैं और तदनुसार विवाह की आयु निर्धारित की हैं —

"चतस्त्रों अवस्था: शरीरस्य वृद्धि:, यौधनम्, संपूर्णता, किंचित् परिष्ठाणि: चेति । आषोडशात् वृद्धिः, आपञ्चविंशते: यौवनम्, आचत्वारिंशतः संपूर्णता, ततः किञ्चित् परिष्ठाणि: चेति ।" [सुक्रुत सुन्त्रस्थान ३५ । २५ ।।] = शरीर की चार अवस्थाए हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि = बद्धेतरी की अवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है,और चालीसवें में यौवन की परिपक्तता होती है । उसके पश्चात् शरीर की धातुओं में कुछ-कुछ र्ीणता आने लगती है ।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है। इससे पूर्व शरीर की घातुओं में अपरिपक्वता होती। है। अल्लियाह से जहाँ शरीर की धातुओं का विकास एक जाता है, वहाँ गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएं हो जाती है; जैसे —-गर्भ का न रहना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुबंल सन्तान का जन्म, जन्म के बार शीध्र मृत्यु सन्तान का अस्यस्थ रहना आदि। इसी कारण सश्रतकार ने २५ वर्ष से गर्व

पुरुष का, १६ वर्ष से पूष कन्या के विवाह का निषेध किया है । कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाले बताते हैं: । निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं द्रष्टव्य हैं ----

> पञ्चित्रिशे ततो वर्षे पुमान्नारी नु षोडशे । समत्वागतवीयौँ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।। (स्प्रत स्त्र. ३५ । १० ।।)

> कनषोडश वर्षायामप्राप्त : पञ्चिविंशतिम् । यद्याधते पुमान् गर्भं कुक्षिस्य : स विपद्यते ।। जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेदा दुर्बलेन्द्रिय :। तस्मादत्यन्तवालायां गर्भाधानं न कारयेत ।।

> > (सुश्रुत् श. १० । ४७-४८ ।।)

(३) **न्नेद में विवाह की आयु** — वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है । उप्**युक्त** प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर बतलायी गयी है । इस प्रकार वेदों में २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है । मन्त्र निम्न है —

''ब्रहमचर्येण कन्या युवानं निन्दते पतिम् ।।''

(अथर्ववेद ११।५।५।।)

अर्थात् — ''जैसे लड़के पूर्ण ब्रहमचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके अपने सदृश कन्या से ि विद्याह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रहमचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवित हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पित को प्राप्त होवे ।'' (सं. वि. वेदारम्भप्रकरण)

# १३. मनुस्मृति में मनुष्यों के त्रमृषि, पितर, देव आदि विभिन्न वर्ग —

मनु द्वारः २ । ११५-१३१ श्लोकों में वर्णित विभिन्न अध्यापयिता विद्वान ही स्तर के अनुसार त्रमृषि देव और पितर हैं । इनमें किसी विद्या के साक्षात द्रष्टा, विशेषज्ञ, 'त्रमृषि' कहलाते हैं । दिव्य-गुण-आचरण की प्रधानता वाले विद्वान 'देव', और पालक गुण कीप्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता आदि गुरुजन 'पितर' होते हैं । कुछ धर्ग,स्वभाव एवं प्रवृत्ति के आधार भी बनते हैं । देवों का नाम दिव्य स्वभाव की प्रधानता के कारण भी है । इसी प्रकार असुर, गान्धर्व, राक्षस, पिशाच भी स्वभाव संस्कार और प्रवृत्ति के कारण प्रसिद्ध होते हैं । मनुस्मृति में इनकी यत्र-तत्र चर्चा आती है । सभी वर्णनों के साररूप में, इनके विषय में मनु की मान्यता प्रदर्शित की जाती है —

## (क) अधि कौन ?

ंत्रमुत्री गतीं धानु से 'इन्' प्रत्यय और 'इग्नुपधान् किन् के योग से 'त्रृषि' शब्द की सिद्धि होती है । गिति के ज्ञान गमन और प्राप्ति, ये तीन अर्थ हैं । त्रृषि सबसे उच्चस्तर का बिद्धान व्यक्ति होता है । वेउसानों के अर्थों का दृष्टा, धर्म और इंश्वर का साक्षात्कार करने वाला आप्तपुरुष, त्रृषि कहलाता है । यह वेदा में और विद्याओं के गृह ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यना उसमें होती है । वहीं धर्माण्यतः होगा है ।

- (क) निरुद्ध्तकार ने ऋषि की निरुक्षित की है 'ऋषि: दर्शनात् । स्तोमान् दइर्श हत्यौपमन्यव: ।'' [निरु. २ । ११] अर्थात् ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है । औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है । इसी कार''साक्षात्कृतच्यमणि: ऋषयों: बमूबु: !'' अर्थात् ऋषि धर्म और ईश्वर के साक्षात्कर्ता होते हैं । [निरु. १ । २०] ।
  - (ख) ब्राहमणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं —

(अ) ''यो वै ज्ञातो ऽनूचान: स ऋषिरार्षेय:।'' (शा. ও । ৪ । ৮ । १९)

(आ) ''एते वै विप्रा यदुषय: ।।

(श. १।४।२।७)

- (ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है ---
  - (ह) न हायनैर्नपितितै: न वित्तेन न च बन्धुमि: । भृषयश्चिकिरे धर्म योऽनूचान: स नो महान् ।।
  - (ई) त्रमृषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयु:। प्रज्ञां यशश्च कीर्ति च ब्रह्मवर्चसमेव च ।। (४।९४)
  - (उ) आर्ष धर्मोपदेशम् च ।। (१२ । १०६ ।।)
- (ক্ত) ''अथ यदेवानुश्रवीत । तेनिर्धिम्यं ऋणं जायते, तद्भूयेम्य एतत् करोत्यूर्षाणाः निधिगोप इति हयनूचानमाहुः ।।''

(शत. १ ! ७ । ५ । ३)

ं अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देशेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीयों यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते । । ं (शत. १।४।५।३)

"अर्थ — सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकर्म' कहाता है, उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है और जो इन ऋषियों की सेवा करता है वह उनको सुख देने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जानके सबको पढ़ाता है; उसको ऋषि कहते हैं।

जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है सो आर्षेय अर्थात ऋषियों का कर्म कहाता है। उसे उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिए प्ररान्त करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान और विद्या को ग्रहण करने काला है उसका 'ऋषि' नाम होता है।''

(द. ल. ग्र. सं. २४५-२४४)

### (ख) देव कौन ?

'दिश्च क्रीड़ा-विकिमीबा-व्यवहार-द्युति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-मित्रु' (विकाद) बातु से 'पंचाबच्' से 'यच् प्रत्यय अथवा 'दिबु-मर्दने' (चुरादि) या 'दिबु-मर्ग्युजने' (चुरादि) धानु से 'अच्' प्रत्यय के भाग से 'देव' शब्द निष्यन्त होता है । देव वह और चतन में १००१ के होते हैं (विस्तृत विवरण १ । ६७ की समीक्षा में देन्द्रिण) । इस अलेक माववश्य से चंदत रव अभीष्ट हैं अतप्रथ में आता है —

(अ) ंद्वयं वा इदं न नृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या: ंइदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति ।

(शतपथ १।१।१।४-५)

''दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं अर्थात देव और मनुष्य । वहां सत्य और फूठ दो कारण हैं । जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करने वाले हैं, वे 'देव' और वैसे ही फूठ मानने और फूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं । जो फूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं । '' (द. ल. प्र. स. २४५ –२५५)

(ञा) विद्वांसो हि देवा: ।। (शत. ३।७।६।१०)

(इ) ये ब्राह्मणा: शुश्रुवांसोऽनुचानास्ते, मनुष्यदेवा:।। (शत. २।४।३।१४।।)

(ई) सत्यसंहिता त्रे देवा: ।। (ऐ. त्रा. १।१६)

अर्थात विद्वान मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है — 'दैवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, चोतनाद्वा खुस्थानो भवतीति वा । यो देव: स देवता' [निरु. १३ । १४] अर्थात दान देने से, प्रकाश करने से, प्रकाश होने से, चुस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देने वाले, दिव्यगुण एवं उत्तम आचरण वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। यथा — ''मातृदेवो भव, पिनृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।'' (प्रपा. ७ । ११)। मनुस्मृति में हमें ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं —

- (उ) ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यव : । येवा चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं व : शिश्वरुक्तवान् । । २ । १३१ । ।
- (क) न एन वृद्धो मवति येनास्य पिलतं शिरः। यो व गुवाऽण्यधीयानस्तं देवाःस्यविरं विदुः।।२।१२७।।

## २. 'दवता-अ'यचन' से अभिप्राय —

निरुक्त में कहा गया है कि ' यो देव:,सा देवता'' [७।४।१५] देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द में तह और टाप प्रत्यय के प्रयोग से देवता शब्द सिद्ध हुआ है। चेनन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होना है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताओं का देवता है। जह देव उपकंग के योग्य होते हैं, चेनन देव (विद्धान, माना, पिना आदि) सत्कार और सेवा के द्वारा प्रसान करने गत्य। लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, अन्य नहीं। अतः, यहां 'देवता अभ्यर्चनम्' से अभिप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से हैं। यदि कहीं अग्य हुन्छ, प्रकृष आदि जामों से देवताओं की स्तृति का वर्णन मिलता है तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा ही ही स्तृति अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तृति करना है। मिन्त-भिन्त देवों की स्तृति से अभिप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तृति करना । इस प्रकृत सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्त होर ने इसका इस एकर समें देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्त होर ने इसका इस एकर समें देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्त होर ने इसका इस एकर समें देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्त होर ने इसका इस एकर समें के समाहित होता है परमाद किया है ----

 (अ) 'महामाग्यादेवताया एक आत्मा अहुमा स्तूबते । एकस्यात्मनोहन्ये देवा : प्रत्यक् गाति भवन्ति । कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः आत्मेत्रैषां रथो मवति ।। आत्माश्वः आत्मायुधम्, आत्मेषवः सर्वं देवस्य देवस्य ।''

(निरुक्त ७।१।४)

अर्थात — एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है । सर्वशक्तिमस्त्रादि अनेक-विध ऐश्वयों से युक्त होने के कारण अनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, अन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यंगरूप हैं । उनका इसी में समाहार हो जाता है । उस एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं, इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है । इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुखप्राप्ति का कारण, गमनहेतु , आयुध — शत्रुओं का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा , इषु — वाण के समान सब दुष्टगुणों और दु :खों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमात्मा है । परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं । इस प्रकार अन्य सब देवता परमेश्वरवाची ही हैं ।

इसमें वेदों के प्रमाण हैं ---

- (आ) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य: सुपर्णो गुरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्यानमाहु; ।। (त्रा. १०।१६४।४६)
  - (इ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा:। तदेव शुक्रं तद्ब्रहम ता आप: स प्रजापति:।। (यजु. ३२।१।।)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए —

- (ई) आत्मैव देवता: सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्।। (१२।११९।।)
- (उ) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।। (१२।१२३।।)

(क) मनु ने अनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वीकार किया है। प्रमाणरूप में द्रष्टव्य हैं — २।७६-७६ (२।१०१-१०३), ४।९२-९३, १२।११६, ११९, १२२, १२५।।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में २ । १५१ [१७६] आदि श्लोकों में देवता-अभ्यर्चनम् का अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात संघ्या करने से है । अन्य अर्थ म्नान्तिपूर्ण हैं । इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है ।

इस प्रकार—देव, सात्त्विक, प्रवृति के [१२ । ४०] विद्वानों को कहते हैं, और अग्निहोत्र का भी देवयज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है । यज्ञ का विशेष अनुष्ठान और उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के अनुरूप ही हैं । यह विधि देवों — विद्वानों के कर्मानुरूप और सम्मत है, अत : ३ । २८ में इस प्रकार के विवाह को दैवविवाह

कहा है।

#### जड देवता---

चेतन देवों के अतिरिक्त, सूर्य, अग्नि, वायु, पृथिवी,अन्तरिक्ष, चुलोक, चन्द्रमा, नक्षत्र, दक्षप्राण = प्राण, जपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कर्म, कुकल, देवदत्त, धनजय, बारह मास-ये जड देवता कहलाते हैं । निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है—''देवो दानादा. दीपनादा, द्योतनादा, ग्रस्थानो भवतीति वा ।' (७ । ४ । १५) अर्थात्—'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या बुस्थानीय को देवता कहते हैं ।' सूर्य बुस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान द्रव्यों को प्रकाशित करता है, अत : देव या देवता है।

शतपथ ब्राहमण में देवताओं पर प्रकाश डालते हुए जड़ और चेतन-रूप में ३३ देवता परिगणित किये हैं---

ंस होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्रेव देवा इति । कतमे ते त्रयत्रिंशत इति ? अष्टी वसव: एकादश रुद्धा: द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत' इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च वयस्त्रिशाविति ।

कतमे वसव हति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, अन्तरिक्षं च, आदित्यश्च बौश्च चन्द्रमाश्च, नक्षत्राणि च एते वसव: ।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा: (प्राण:, अपान:, ज्यान:, समान: उदान :, नाग :, कूर्म : कुकल :, देवदत्त :, धन ञ्जूयश्च) आत्मा-एकादशस्ते । कतम आदित्या इति ? द्वादश मासा: संवत्सरस्य एते आदित्या: ।

(३) कतम इन्द्र, कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति तदाहु: । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स ब्रहमेत्यदित्याचक्षते । (शत. कां. १४ । प्रपा. १६) :

#### (ग) पित्र कौन ?

पान्ति पालयन्ति रक्षन्ति अन्त-विद्या-सुशिक्षा-आदिदानैः ते पितरः ''=जो अन्त विद्या. सुशिक्षा आदि से पालन-पोषण और रक्षण करते हैं,वे 'पितर' कहलाते हैं । इसमें ब्राहमणों के प्रमाण दृष्टव्य है---

- (अ) 'देवा वा एने पितरः'' (गो. उ. १।२४) (आ) ''स्विष्टकृतो वै पितरः'' (गो. उ. १।२५)

अर्थात सुखसुविधाओं द्वारा पालन-पोषण करने वाले और हितसम्पादन करने वाले विद्वान व्यक्ति 'पितर' कहलाने हैं।

(इ) मर्त्याः चित्ररः "(श. २ । १ । । ३ । ४) जीवित मनुष्य ही 'पितर हैं अर्थात मृत नहीं।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना और भ्रान्ति है । माता-पिता-पितामह-आवार्य आदि ही 'पित्र' कहलाते हैं।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है। ४। २५७ में उनके त्राण से उत्प्रण होने के लिए कहा है— "महर्षि-पितृ-देवाना गन्वानृण्यं यथाविधि" । यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है । मनुस्मृति के अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

- (ई) अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कवि: । पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृहय तान् ।।२ ।१२६ ।।
- (उ) पितरश्चेव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गति : ।।१२ । ४९ ।।
- (क) पितृदेवमनुष्याणां वेदचक्षुः सनातनम् ।। १२ । ९४ ।।
- (ए) दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मनश्च ह ।। ९ । २ ८ ।।
- (ऐ) ऋषय: पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा। आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्य: कार्य विजानता।। ३। ८०।।

मनु ने ४। ३०—३१ में जीवित. घार्मिक, वेदवित विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विघान किया है। वे श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। यही श्राद्ध है। हव्य-कव्य आदि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पैतृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं।

(औ) पितरों में वेद का प्रमाण-

ऊर्ज वहन्तीरमृतं घृतं पय: कीलालं परिस्तुतम् । स्वघास्य तर्पयत मे पितृन् ।।

(यजु. २।३४)

"अर्थ— पिता वा स्वामी अपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए आज्ञा देके कहे कि— (तर्पयत से पितृन्) जो मेरे पिता पितामह आदि, माता, मातामह आदि तथा आचार्य और इनसे मिन्न भी विद्वान लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करों। सेवा करने के पदार्थ यें हैं— (ऊर्ज वहन्ती) जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेक विघ रस (घृतम्) घी (पय:) दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्नुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो (स्वघास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगों! तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भागों से सदा सुखी रहो।" (द. ल. ग्र. सं. २४५—२५५)

(अं) पितरों की गणना और उनका अमिप्राय—

''जिनकी पित्रमंत्रा है और जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

१ — सोमसदः । २ — अग्निष्वात्ताः । ३ — बर्हिषदः । ४ — सोमपाः । ५ — हिवर्भुजः ६ — आज्यपः । ७ — सुकालिनः । । ६ — यमराजाः । ९ — पितृपितामहप्रपितामहाः । १० — मार्तृपितामहेषः । ११ — सगोत्राः । २ — आचार्यदिसम्बन्धिनः ।

- १ सोमसद: 'सोमे ईश्वरं सोमयोगे वा सीदन्ति ये सोमगुणाश्व' ते 'सोमसद: ' = जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण और शान्ति आदि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद' कहाते हैं
- २ अग्निष्वात्ता:— 'अग्निरीश्वर:, सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी = जल-स्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यै: ते 'अग्निष्वाता:' = अग्नि जो परमेश्वर वा मौतिक अग्नि, उनके गुणजात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं।

- ३ बर्डिषद :— 'बर्डिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मिण शम-दमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति 'ते 'बर्डिषद : ' जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या आदि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्डिषद' कहते हैं।
- ४ **स्रोमपा:— 'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा' ते 'सोपपा:'** = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानतें हैं. उनको 'सोमपा' कहते हैं।
- 4 **हिंबर्मुज:** 'हिंबिर्मुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिक' मोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषा' ते 'हिंबर्मुज: ं = जो अग्निहोत्र आदि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल को शुद्धि द्वारा सब जगत का उपकार करते और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हिंबर्मुज' कहते हैं।
- ह आज्यपा 'आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज् गतिक्षेपणयो:' घात्वर्थात् आज्यं विज्ञानम् दद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांस:' ते 'आज्यपा:' = घृत, स्निग्घपदार्थं और विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'आज्यप' कहते हैं।
- ७ सुकालिन: 'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभन: कालो येषां ते । यदा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूप: सदैव कालो येषां ते 'सुकालिन: ' मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर इंश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन कहते हैं ।
- द यमराजा: 'ये पक्षपात' विद्याय न्यायव्यवस्थाकर्तार: सन्ति' ते 'यमराजा: ' जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायव्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।
- ९ पितृ-पितामह-प्रपितामहा:—(पितृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषोगुणान् बासयन्त : तत्र वसम्त्रश्च, अनम्त्रघना : स्वान् जनान् घारयन्त : पोषयन्तश्च, बनुर्विशतिवर्षपर्यन्तेन श्रहमचर्येण विद्याभ्यासकारिण : स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितर : 'वसव :' विज्ञेया ईश्वरोधिप' = जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्ष पर्यन्त श्रहमचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है । (पितामह) 'ये पश्चपातरहिता दुष्टान् रोदयन्त : चनुश्चन्वारिशान् वर्षपयन्तेन श्रहमचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासा : ते 'रुद्रा:' स्वे पितामहाश्च ग्राह्या : तथा रुद्र ईश्वरोधिप' = जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्यन्त श्रहमचर्य से विद्याभ्यास कर पश्चपातरहित होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है । (प्रपितामह) 'आदिन्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका: विद्वांसोऽष्टचत्वारिशत् वर्षेणश्रहमचर्येण सर्व-विद्यासम्पन्ना : सूर्यवत् विद्याप्रकाशका : त आदित्या : स्वे प्रपितामहाशच ग्राह्या : तथा आदित्या विनाशीश्वरो वात्र गृह्यते' = जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त श्रहमचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' अथवा 'आदित्य' कहते हैं । तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष है उनकी मी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये ।
  - १० मात्-पितामही-प्रपितामहय: पित्रादिसदृश्यो मात्रादय: सेव्या: =

पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये । माता, दादी, परवादी आदि ।

- ११ सगोत्रा:— 'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीया:' = जो सपीपवर्ती ज्ञाति के पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।
- १२ आचार्यादिसम्बन्धिन: 'ये गुर्वादिसस्वयन्ता: सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीया: ' जो पूर्णिवद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए''। (द. ल. ग्रं. २४५-२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करना ही पितृयज्ञ है । मृतपितरों की कल्पना, म्रान्ति एवं अज्ञानता है ।

प्रजापित, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में तत्पर माता-पिता आदि गृहस्य विद्वानों को ही कहते हैं। उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं — ''प्रजा अपत्यनाम'' निघ. २।२।। प्रजापित: पाता वा पालियता वा' निरु. १०।४१।। ''पितर: प्रजापित:'' गो. उ. ६।१५।। ''पुरुष: प्रजापित:'' शत. ६।२।१।२३।। प्रजाओं को उत्पन्न करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापित होता है। पितर अर्थात् माता-पिता आदि प्रजापित होते हैं। सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता आदि गृहस्य विद्वानों द्वारा अनुमोदित, सम्मत और उनके आचरणानुरूप होने से ३।३० में वर्णित इस प्रकार के विवाह का नाम 'प्राजापत्य विवाह' है।

(घ) असुर कौन ?

न सुरा-असुरा: अर्थात जो देवताओं के समान नहीं हैं। जो देवताओं के समान नि:स्वार्थ, निर्वेर, परिहत, परोपकार, त्याग, तप, सिहण्णुता आदि भावनाओं वाले नहीं हैं। जो अपने देह और गाणों के ही पोषण में, अपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन और हितसाधनमें तत्पर रहते हैं; उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल आदि रचते हें, ऐसे व्यक्ति 'असुर' कहलाते हैं। इनमें निरुक्त और ब्राहमणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं — ''असुरता: स्थानेष्वस्ता, स्थानेष्य इति वा, असुरिति प्राणानामास्त: शरीरे भवति, तेन तहुन्त: ।'' निरु. ३ ।७ ।। ''(असुरा:) स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः:'' शत. ११।१।६।१ ।। मायात्येसुरा: (उपासते)'' शत. १०।५।२।१० ।। असु क्षेपणे (अदादि) धातु से 'असेरुरन्' (उणिदि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय से 'असुर' शब्द बना । 'असुर से 'सम्बन्ध रखने वाला' अर्थ में अण् प्रत्यय लगकर 'आसुर' बनता है । इस प्रकार दूसरे की भावनाओं की उपेक्षा करके धन और स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा अनुमोदित, सम्मत अथवा उनके आचरणानुरूप होने से ३।३१ में उस विवाह का नाम 'आसुर विवाह' है ।

#### (इ.) गन्धर्व कौन ?

गन्धर्व की व्युत्पत्ति है ''गाम् = वाचम् घरतीति गन्धर्व:'' अर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला । संगीत अर्थात् गाने, बजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी, आमोद-प्रमोद में व्यस्त, श्रृंगारप्रिय और कामुकप्रवृत्ति-प्रधान है, 'गन्धर्व' कहते हैं । ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश हाला गया है — ''रूपमिति गन्धर्वा: (उपासते) शत. १०।५।२।२।। ''योषित् कामा वै गन्धर्वा:' शत. ३।२।४।३।। ''स्त्रीकामा वै गन्धर्वा:'' ऐत. १।२७७ ।। कौ. १२।३।। गन्ध्ये में, मोदो में प्रमोदो में । तन्में युष्मासु

(गन्धर्वेषु) जै. उ. ३।२५।४ ।। ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित, सम्मत या उनके आचरणानुरूप होने से ३।३२ में वर्णित उस विवाह का नाम 'गान्धर्व विवाह' है ।

### (च) राक्षस कौन ?

रक्ष-पालने घातु से 'सर्वघातुष्म्योऽसुन्' (उणादि ४।१८९) सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय और 'इदम्' अर्थ में अण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है। निरुक्त ४।१८ में राक्षस की निरुक्त देते हुए कहा है — ''रक्ष: रिष्ठातव्यमस्माद्, रहिस क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते हित वा।'' अर्थात् जिससे घन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुंचाते और जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यमिचार आदि दुष्ट कर्मों में सिक्रय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं। इस प्रकार अपने स्वार्थ-साघन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने और पीड़ित करने वाले, अत्याचारी, अन्यायी, बलात्कारी स्वभावी और मांस-मदिरामोजी तमोगुणी [१२।४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप, उनसे अनुमोदित या सम्मत होने से ३।३३ में विहित उस विवाह का नाम 'राक्षस विवाह' है।

## (छ) पिशाच कौन ?

पिश्-अवयवे (तुदादि) घातु से 'क' प्रत्यय होने से 'पिशम्' पद बना । 'पिश्' उपपद से आइ:-पूर्वक 'चमु-अदने' घातु से 'ड:' प्रत्ययपूर्वक 'पैशाच' शब्द बनता है । अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश्र' घातु से अण्, 'इत्' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है । 'ये पिशितम् = अवयवीमूतं, पेशितं वा मांसं रुधिरादिकम् आचमन्ति मक्षयन्ति ते 'पैशाचा:'। प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, मिलन संस्कारों वाले, अत्यन्त तमोगुणी [१२।४४], अत्यन्त निम्न और घूणित स्वमाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के आचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से २।३४ में वर्णित उस विवाह का नाम 'पिशाच विवाह' है ।

### (ज) दस्यु कौन ?

वेदों में और प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग आता है। यहाँ मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं — 'आर्य' — श्रेष्ठ और 'दस्यु' — अश्रेष्ठ । मनु ने यहां बताया है कि आर्यों के चार वर्णों से धाह्य अर्थात् वर्णाश्रम घर्मों में अदीक्षित [१०।५७], धर्म का पालन न करके अधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से अविशष्ट सभी लोग वस्यु हैं । दस्यु शब्द का अर्थ और व्युत्पित भी इनके इसी आचरण पर प्रकाश डालते हैं — 'दस्यु-उपक्षये' घातु से 'यजिमनिशुन्धिदसिजनिम्यो युच्' (उणादि ३।२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता हे। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पित हैं — ''दस्यु दस्यते : क्षरार्थात् . . . उपदासयित कर्माणि'' — दस्यु वह है जो शुमकर्मों से क्षीण है या शुमकर्मों में बाघा डालता है। मनु का श्लोक निम्न हैं —

मुखबाहुरुपज्जानां या लोके जातयो बिहः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।।(१०।४५।।)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु + उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बिहि:) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें अदीक्षित (या जातयं:) जो जातियां हैं (म्लेच्छवाच: च आर्यवाच:) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या आर्यभाषाएं (ते सर्वें) वे सब

(दस्यव: स्मृता:) 'दस्यु' कहलाती हैं।

#### (फ) आर्य और अनार्य ---

चारों वर्णों में किसी एक वर्ण में दीक्षित, श्रेष्ठ संस्कारों, स्वभाव एवं आचरण वाला व्यक्ति आर्य कहलाता है । इसके विपरीत अनार्य होता है । मनु ने निम्न श्लोक में अनार्य के लक्षण दिखाये हैं —

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूप मिवानार्यं कर्ममि: स्वैर्विभावयेत् ।। १०।५७ ।।

(वर्ण-अपेतम्) वर्णों की दीक्षा से रहित अथवा वर्णों से बहिष्कृत (आर्यरूपम् + इव + अनार्यम्) श्रेष्ठ रहन-सहन और स्वभाव का दिखावा करने वाले किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित अनार्य (कलुषयोनिजम्) [कलुषयोनौ = दुष्टयोनौ जायते इति कलुषयोनिज:, तम् ] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारो या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वै: कर्ममि: विभावयेत्) उसके अपने कर्मों से पहचान ले अर्थात् जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो और अश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह अनार्य है।

(१) मनु ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी बर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल आवरण का पालन करने का कथन किया है । कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्मावरण में रुचि नहीं बनती । वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को स्वीकार नहीं करते [वार्णियतम्'], उनमें स्वभावगत अश्रेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है और धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है । ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं । दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों — कलुषयोनिजों या दस्युओं में ये संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उनकी पहचान करा देते हैं । ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है । वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं —

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिन : । जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मदिष : सुता : ।। ... भवति प्रजा निन्दितैर्निन्दिता नृणाम् –।।''

(२) इस श्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक अर्थ करना मनुसम्मत नहीं है । यहां स्पष्टत: समी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो आर्यरूप में अनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन्न होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वमाय वाले होते हैं । चाहे वे किसी मी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे ।

# १४. मनु और वेद —

मनु ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए उनको अपनी स्मृति का और धर्म का मूलस्रोत माना है। उन्हें पढ़ने का मानवमात्र को अधिकार है और प्रत्येक स्थिति में वे पठनीय है (इस विषयक विस्तृत विषेचन द्वितीय अध्याय में 'वेद विरोध' शीर्षकान्तर्गत देखिए)।



# चतुर्थ अध्याय

[ मनुस्मृति में अध्यायविभाजन, प्रकरण एवं वर्णाश्रमधर्मवर्णन पद्धति ]

# १. मनुस्मृति में अध्याय-विभाजन मौलिक नहीं —

मनुस्मृति में अध्यायों का विभाजन मौलिक अर्थात् मनुकृत नहीं है अपितु परवर्तीकाल में किसी ने किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुस्मृति परम्परा के ही किसी व्यक्ति ने सुविधा की दृष्टि से मनुस्मृति को अपने ढंग से व्यवस्थापित किया और उसमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी किये। आजकल प्राप्त होने वाली सभी प्रतियां अध्यायों में विभक्त मिलती है। यह मनुस्मृति का वास्तविक रूप नहीं है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुस्मृति का यह विभाजन भी काफी पहले हो चुका था। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ही मनुस्मृति की प्रति अध्याय रहित रूप अर्थात् मौलिक स्वरूप में नहीं मिलती। अध्याय-विभाजन करने वाले व्यक्ति से मनुस्मृति के अध्याय-विभाजन में दो स्थानों पर मूल हुई है। अध्याय-विभाजन पूर्णत: निर्मान्त या उचित नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि आज तक किसी भी विद्वान का ध्यान इस तुटि की ओर नहीं गया, वही गत्कत अध्याय-विभाजन प्रचलित रहता रहा है। इन तुटियों का विवेचन करने से पूर्व अध्याय-विभाजन की अमौलिकता पर चर्चा कर लेना उपयोगी होगा।

मनुस्मृति की रचना-शैली ही यह सिद्ध करती है कि उसमें अध्याय-विभाजन की गुंजाइश नहीं है ! मनुस्मृति की प्रवचन-शैली है, और ये सम्मृ प्रवचन श्रृंखला की कड़ियों के समान जुड़े हुए हैं 1 मूलत : इस शैली में न तो अध्याय-विभाजन हो सकता है और न उसकी आवश्यकता सिद्ध होती है । अध्याय विभाजन इसलिए भी नहीं हो पाता कि मनु जिस किसी भी विषय या प्रसंग को प्रारम्भ करते हैं उसके प्रारम, अन्त अध्वा दोनों स्थलों पर उस विषय का संकेत देते हैं । अधिकांश संकेत-स्थलों पर ऐसा है कि उसी श्लोक की एक पंक्ति में पूर्व विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी में ही अगल विषय के प्रारम होने का संकेत । कुछ स्थानों पर तो श्लोक के एक पाद में एक विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, वैश्व तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, विषय के तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत है और श्रेष तीन पादों में दूसरे विषय के आरम्भ या समापन का संकेत, विषय के

(अ) तृतीय अध्याय का अन्तिम २८६वां श्लोक है —

एदद्बोश्मिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् । द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ।। (३।२८६ ।।)

अर्थ — यह पांच महायज्ञों का समस्त विधान आपको बताया. और अब द्विजातियों की मुख्य आजीविकाओं का विधान सुनिए ।

यहां पहली पक्ति में 'पञ्चयज्ञविघान' विषय की समाप्ति का संकेत है और दूसरी ही पंक्ति में द्विजातियों की वृत्तियों के विषय को प्रारम्भ करने का संकेत किया है।

(आ) इसी प्रकार निम्न श्लोक की प्रथम पंक्ति में राजधर्म विषय की समाप्ति का संकेत है और द्वितीय में वैश्य-भुद्धों के कर्त्तव्यों को प्रारम्भ करने का —

> एवो ८ खिल: कर्मविधिकक्तो राज्ञ: सनातन:। इसं कर्मविधि विद्यात क्रमशो वैश्य-शृदुयो: ।।(९।३२५।।

अर्थ — यह एजा की सनातन और सम्पूर्ण कार्य करने की विधि कही । उन वैश्यों और शूद्रों की विधि को आगे वर्णित रूप में जानें ।

(इ) निम्न श्लोक में पूर्व के तीन पादों में पूर्व कहे चतुर्विध कर्म के विषय की समाप्ति का संकेत और अन्तिम एक पाद में अगले विषय को प्रारम्भ करने का —

### एव वो 5 मिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः । पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्म निबोधतः । (६।९७ । ।)

अर्थ — यह चार प्रकार का आश्रम धर्म आप से कहा । इस धर्म के पालन करने स पुण्य तथा कर मोक्ष पद की प्राप्ति होती है । अब इसके आगे राजाओं के कर्तव्य-कर्मों को सुनिए । इससे यह स्पष्ट होता है कि इस शैली में अध्याय-विमाजन अभीष्ट नहीं है, और जब पूर्वापर विषय । साथ-साथ संकेत होता रहता है तो अध्यायानुसार बांटने की आवश्यकता भी नहीं रहती । तुस्मृति की रचना-शैली अखण्ड है । यदि हम अध्याय-प्रिप्ताजन करते हैं तो या तो श्लोक को तोड़ना ड़ेगा या दूसरे विषय की संकेतिक पंक्ति पहले अध्याय में ही रखनी पड़ेगी जैसे कि प्रचलित 'स्करणों में रखी हुई है । एक विषय पूर्व विषय के साथ जो श्रृंखला की कड़ी के समान जुड़ा हुआ है ही यह सिद्ध करता है कि रचयिता को मूलत : अध्याय-विभाजन अभीष्ट नहीं था । अत : यह माना ाना चाहिये कि मनुस्मृति की आरंभिक प्रतियां उस अखण्ड शैली में ही रही होंगी । अध्याय-विभाजन हो जाने पर वह परम्परा बंद हो गई और अध्यायों में विभाजित रूप चल पड़ा । अध्यायों का विभाजन सुविधा के लिए किया गया और इसमें सुविधा है भी, अत : उसे हम भी रिवर्तित नहीं करना चाहते । किन्तु, उसमें प्रथम और नवम अध्याय के विभाजन में त्रुटि हुई है और अष्टम अध्याय के विभाजन में प्रान्ति, इनका निवारण करना आवश्यक है । नवम अध्याय में भी कृख परिवर्तन किया गया है ।

### क) प्रथम और द्वितीय अध्यायों के विभाजन में परिवर्तन —

अध्याय-विभाजनकर्ता ने मुख्य विषयों के अनुसार अध्यायों का विभाजन किया प्रतीत होता है। प्रत्येक अध्याय में एक-दो मुख्य विषय हैं, जैसे प्रयम अध्याय में — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति. द्वितीय अध्याय में — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याप्रमा तृतीय में — विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान, आदि। किन्तु प्रथम अध्याय का विभाजन गलत हुआ है, वह द्वितीय अध्याय के पच्चीसवें श्लोक के पश्चात होना चहिये। यतोहि —

(अ) मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के मुख्य दो विषय हैं — सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति । दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक ही मानकर वर्णित किया है । १ । २ में महर्षियों ने मनु से वर्ण एवं आग्रमों के धर्मों का कथन करने की प्रार्थना की थी । धर्मों का कथन करने से पूर्व धर्म-सम्बन्धी अन्य आवश्यक जानकारी का भी भूमिका के रूप में कथन करना आवश्यक था । १ । ४-५ से मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया और फिर १ । १०० से तथा २ । १ धर्म का प्रसंग प्रारम्भ किया । यह क्रम इसलिए अपनाया क्योंकि धर्मोत्पत्ति जगर्बाश्रत है । इस दृष्टि से मनु ने पहले सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन किया । २ । २५ में यह संयुक्त विषय समाप्त होता है । तहां मनु स्वयं संकेत देते हैं -—

एषा धर्मस्य वो योनि : समासेन प्रकीर्तिता । संभवश्वास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ।। अर्थ — यह धर्म जानने के समस्त कारणों को संक्षेप में वर्णन कर दिया और इस जगत की उत्पत्ति का भी वर्णन किया। अब वर्णों के धर्मों को सुनिए।

जब मनु ने इस विषय का समापन एक साथ किया है तो स्पष्ट है कि इस विषय को खण्डित करना गलत है। इस विषय की समाप्ति के बाद ही प्रथम अध्याय की समाप्ति होनी चाहिए। वर्तमान संस्करणों में १। ११९ वें श्लोक पर ही अध्याय समाप्त करना उक्त संकेतक श्लोक के विरुद्ध है।

- (आ) परम्परागत अध्याय-विमाजन में एक और त्रुटि यह है कि इसमें धर्म के प्रसंग को भी भंग कर रखा है । १ । ८७-९१ श्लोकों में वर्णों के कर्मविमाजन के साथ ही सृष्ट्युत्पित का प्रसंग पूर्ण हो जाता है और फिर १ । १०८-११० श्लोकों में धर्म की चर्चा मूमिका के रूप में की गई है, फिर २ । १ में 'यो धर्मस्त' निबोधत' कहकर धर्मोत्पित का प्रसंग प्रारम्भ किया गया है । अध्याय-विभाजनकर्ता ने धर्म की भूमिका के १ । १०८-११० श्लोकों को तो प्रथम अध्याय में रख दिया और धर्मोत्पित विषय द्वितीय अध्याय में आ गया । इस प्रकार प्रसंग भी भंग हो गया या विभाजित हो गया ।
- (इ) धर्म का विषय द्वितीय अध्याय में परिगणित होने से मुख्यविषयों के अनुसार अध्याय-विभाजन का वैज्ञानिक आधार भी नहीं बनता । इस प्रकार द्वितीय अध्याय में खण्डित विषय धर्मोंत्पति, संस्कार और ब्रहमचर्याश्रम, ये कई विषय हो जाते हैं ।

इन त्रुटियों को देखते हुए प्रथम अध्याय का विभाजन २ । २५ के पश्चात ही होना चाहिए।इससे प्रथम अध्याय का एक मुख्य और पूर्ण विषय होगा — सृष्ट्युत्पत्ति एवं धर्मौत्पत्ति; तथा द्वितीय अध्याय का विषय रहेगा — संस्कार एवं ब्रह्मचर्याश्रम । इस प्रकार करने से धर्म का प्रसंग तथा मुख्य विषय खण्डित नहीं होंगे और मनुस्मृति की संकेत शैली के अनुरूप अध्याय का विभाजन होगा ।

• इसीलिए हमने मनुसम्मत विधि के अनुसार २ । २५ वें के पश्चात् ही प्रथम अध्याय का विभाजन् किया है । इन २५ श्लोकों को प्रथम अध्याय में ही परिगणित कर लिया है । इस प्रकार प्रथम अध्याय के श्लोक बढ़कर १४४ हा गये हैं और द्वितीय अध्याय से २५ घट गये हैं । इस संस्करण में श्लोकों की संख्या इसी ढंग से दीं गई है ।

### (ख) अष्टम अध्याय के विभाजन में भ्रान्ति —

अष्टम अध्याय के विभाजन में जो त्रुटियाँ एवं भ्रान्तियां हुई हैं, वे ये हैं —

(अ) अष्टम अध्याय का विषय है — राजधर्म के अन्तर्गत 'अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकहमों) का निर्णय'। ८।४-७ श्लोकों में इनको एक-एक करके गिनाया भी है। ८।१-३ श्लोकों में इस विषय को प्रारम्भ करने का संकेत है और ९।२५० में इस विषय को संकेतपूर्वक समाप्त किया है —

### उदिनोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयो:। अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णय:।।

अर्थ — यह परस्पर विवाद करने वालों के १८ प्रकार के मुकदमों के निर्णय का विस्तृत ४र्णन किया गया ।

लेकिन अध्याय-विभाजनकर्ता ने अष्टम अध्याय को विभाजित करने समय इस एक विषय को स्रोपहल कर दिया है । अञ्चरह व्यवहारों में से पन्द्रह व्यवहार (स्त्री-संग्रहण तक) तो आठवे अध्याय में चले गये । इस प्रकार इन अध्यायों का विभाजन मनु की विषय-संकेत-शैली के विरुद्ध है ।

(आ) अध्याय-विभाजन करने वाले अथवा किसी परवर्ती व्यक्ति को, द । ४१९ पर अध्याय-विभाजन करते समय यह भ्रान्ति हो गई है कि यहाँ व्यवहार-निर्णय का विषय समाप्त हो गया है । और उसने देखा कि यहां विषय-समाप्ति-सूचक कोई श्लोक भी नहीं है,इसलिए उसने अपनी ओर से यह श्लोक रचकर मिला दिया —

> एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् । व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ।। (८ । ४२० ।।)

अर्थ — इस प्रकार राजा इन पूर्वोक्त समस्त विवादों को समाप्त कराकर सब प्रकार के दोषों को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है।

प्रक्षेपक को यहां भ्रान्ति हुई है, यहां व्यवहार समाप्त नहीं हुए हैं, अपितु अभी तीन व्यवहार नवम अध्याय में श्लेष हैं। जब वे पूर्ण हो गये, तब मनु ने अपना समाप्ति-सूचक श्लोक भी दिया है, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। यह श्लोक मनु की शैली के अनुसार भी उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। समी संस्करणों में इसी प्रकार विषय-समाप्ति की जा रही है। आश्चर्य है कि इस भ्रान्ति की ओर अभी तक विद्यानों का ध्यान नहीं गया है।

इस भ्रान्ति की पुष्टि एक और भ्रान्ति से भी होती है।

(इ) वह है विषय-सूची बनाने वाले की । विषय-सूची चाहे अध्यायविभाजनकर्ता ने बनायी है अथवा किसी अन्य परवर्ती ने, उसे मुख्य और गौण विषयों का सम्यक् ज्ञान नहीं था । 'व्यवहार-निर्णय' राजधर्म के अन्तर्गत एक मुख्य और विस्तृत विषय है, फिर उसके अठारह गौण विषय हैं ! किन्तु विषयसूची के श्लोकों को देखकर लगता है कि विषयसूची के निर्माता को 'व्यवहार-निर्णय' एक भिन्न विषय लगा है, जो आठवें में पूर्ण हुआ मान लिया और नवम अध्याय में श्लेष तीन व्यवहारों को स्वतन्त्र विषय मानकर पृथक-पृथक विषय के रूप में वर्णित कर दिया —

राज्ञश्च धर्ममिखलं कार्याणां च विनिर्णयम् ।।(१ । ११४ ।।) साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरिप । विभागधर्मे बुतं च कण्टकानां च शोधनम् ।।(११५ ।।)

अर्थ — (आठवें अध्याय में) साक्षियों के प्रश्नों का विधान, (नवम अध्याय में) पित-पत्नी के धर्म, विभागधर्म, जुए सम्बधी, और कण्टकभूत दोषों के दूरीकरण सम्बन्धी बातों का वर्णन है। (सातवें अध्याग में) राजा के सब धर्म तथा (द वें अध्याय में) सब कार्यों (मुकहमों) का निर्णय कहा है।

'साक्षिप्रश्निविधान' 'स्त्रीपुरुषधर्म' 'विभागधर्म' और 'द्यूत' विषय व्यवहार-निर्णय के अन्तर्गत ही आने वाले विषय हैं, पृथक नहीं । शायद बीच में खण्डित हो जाने के कारण यह भ्रान्ति हुई है । बस्तुत : ७. ८ और नवम अध्यायों में राजधर्म ही वर्णित हैं, और ये ७ । १ से प्रारम्भ होकर ९ । ३२४ में समाप्त हैं । उसके पश्चात बैश्य और शुद्र के कुछ कर्मों का वर्णन है ।

#### (ग) नवम अध्याय के विभाजन पर विचार —

वर्तमान में उएत्रच्य मनसभूनियों में नयम अध्याय में २३३ श्लोक उपलब्ध होते हैं । सप्तम, श्राटम और तबम अध्याय क ३२५ श्लोक तक रावनीति का निषय है । हैसा कि पहले कहा जा दुका है कि पनसभूति का अध्याय विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ अध्यायों के विभाजन में विभाजनकर्ता द्वारा भूलें हुई हैं । प्रकरण को समझे बिना अध्याय-विभाजन कर दिया है । इसी प्रकार इस अध्याय में भी भूल हुई है । विषय के साथ ९ । ३२६ से ९ । ३३६ श्लोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्तव्यों का वर्णन है, जोड़ दिये हैं । इनके साथ ही चातुर्वर्ण्यधर्म [२ १४४ (२ । २५) से ९ । ३३६ तक ] समाप्त हो जाते हैं और फिर दशम अध्याय में चातुर्वर्ण्यधर्म का उपसंहार है । क्योंकि वैश्य-शूद्र-धर्मवर्णन के ग्यारह श्लोकों के प्रकरण का कोई एक अध्याय उपयुक्त नहीं जंचता, अत: हमने इन श्लोकों को दशम अध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है । ९ । ३२५ श्लोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक अध्याय को समाप्त कर दिया है ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इसके अघ्यायों का विभाजन नये सिरे से किया जाये अथवा प्रक्षिप्त श्लोकों के संशोधन के साथ इसे प्रचलित रूप में स्वीकार कर लिया जाये ? इस के उत्तर में यही विचार किया गया है कि प्रधानत : प्रचलित को ही रखिलया जाये । वयों कि, इसके परिवर्तन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा और आठवाँ अघ्याय अत्यन्त विस्तृत हो जायेगा, उसमें लगभग सात-सौ श्लोक हो जायेगे जबिक नवम में १०-११ ही रह जायेंगे । अत : इन भ्रान्तियों की ओर घ्यान दिलाकर इस विभाजन को यथावत रख लिया गया है । सही बात तो यह है कि मनुस्मृति की शैली के अनुसार अथवा विषयों के अनुसार संतुलित अध्यायों में विभाजन नहीं हो सकता क्योंकि विषयानुसार अध्याय बांटने में किसी अध्याय में तो ६०० —७०० श्लोक होंगे और किसी में ५० —६०, और अध्यायों की संख्या भी बढ़ जायगी । इसलिए प्रयम और नवम अध्याय को छोड़कर शेष प्रचलित विभाजन को ही स्वीकार कर लिया, जिससे प्रचलित संस्करणों से बहुत अधिक अन्तर न पड़े और श्लोकों को मिलाने में असुविधा का सामना न करना पड़े । यतोहि, वर्तमान में सभी ग्रन्थ और उद्धरण प्रचलित संस्करणों की सख्या के अनुसार ही हैं ।

# २. भनुस्मृति के प्रकरण और उनकी सीमा का निर्धारण —

मनुस्मृति को उसकी संकेत-शैली के अनुसार कुछ मुख्य विषयों में अवश्य बांटा जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार करने से भी संकेतक श्लोक मुख्यविषय के अनुसार विभाजित होंगे, लेकिन उससे विषय या प्रसंग का ज्ञान होता जायेगा। वैसे छोटे-छोटे प्रसंग भी मनुस्मृति में अनेक हैं, उनकी गणना की जाये तो पूरी विषयसूची नैयार हो जायेगी, इसलिए यहां उनका उल्लेख करना विस्तारभय से संभव नहीं है। मुख्य या स्वतन्त्र विषयों का विभाजन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

#### मुख्यविषय का नामकरण

- १. भूमिका
- २. सृष्ट्युन्पति एवं धर्मोर्न्यान
- ३. संस्कार
- ४. ब्रहमचर्याप्रम
- ५. गृहस्थान्तर्गत विवाह
- गृहस्थान्तर्गत पञ्चयज्ञविधान
- ७. गृहस्थान्तर्गत वृत्तियां

#### श्लोक सीमा

१।१ से १।४ तक

१।५ से २। २५ तक

(इस प्रकाशन में १।५ से १४४ तक)

२।२६ से २।६८ तक

(इसमें २।१ से २।४२)

२।६९ से २।२४९ तक

(इसमें २ । ४५ से २ । २२४ तक)

३।१ से ३।६६ तक

३। ६७ में ३। २८६ तक

४।१ से ४।१३ तक

	484 00-414	
ς.	गृहस्थान्तर्गत स्नातकों के व्रत	४। १४ से ४। २६० तक
	गृष्ठस्थान्तर्गत मक्ष्यामक्ष्य	५।१ से ५।५६ तक
	गृष्ठस्थान्तर्गत शुद्धिवषय	५।५७ से ५।१४६ तक
११.	गृष्टस्यान्तर्गत स्त्रीधर्म	५।१४७ से ५।१६९ तक
१२.	वानप्रस्थाभ्रम	६।१ से ६।३२ तक
	संन्यासाभ्रम	६। ३३ से ६। ९७ तक
१४.	राजधर्मान्तर्गत राजा की सिद्धि और	७।१ से ७।२२६ तकः
	कर्तव्य	
१५.	राजधर्मान्तर्गत १८ प्रकार के	८।१-३ से ९।२५० तक
	व्यवहारों=मुकद्दमों का निर्णय	
१६.	राजधर्मान्तर्गत लोककण्टकों का	९।२५१-२५२ से ९।३२५ तक
	निवारण	
-	वैश्य-शूद्रों के कर्सव्य	९ । ३२६ से ५३६ तक
१८.	वर्णों के आपदर्म	१०।१ से १०।१३१ तक
१९.	प्रायश् <del>चित</del> -विधान	११।४४ से ११।२६५ तक
२०.	कर्मफलविघान	१२।१ से १२। ८२ तक

२१. कर्मफलविधानान्तर्गत नि:श्रेयस्कर १२। ८३ से १२। ११६ तक कर्मों का वर्णन हमने प्रचलित अध्यायों के विभाजन को रखते हुए इन मुख्य विषयों के शीर्षक व

हमने प्रचित्ति अध्यायों के विभाजन को रखते हुए इन मुख्य विषयों के शीर्षक तथा विषय की अविधि भी साथ-साथ दिखा दी है। इसके अतिरिक्त मनु के संकेतानुसार अवान्तर विषयों के भी शीर्षक दे दिये हैं। इससे विषय या प्रसंग के परिज्ञान में सरलता होगी।

# ३. मनुस्मृति में वर्णों और आश्रम धर्मों के वर्णन की पद्धति —

मनुस्मृति में वर्णों और आग्रमों के घमों का छठे अघ्याय की समाप्ति तक साथ-साथ वर्णन चलता है। विषयसंकेतक श्लोक के 'वर्णघर्मान्निको धत [१।१४४ (२।२५)] और उपसंहारात्मक ''एष वोड मिहितो घर्मो ब्राहमणस्य चतुर्विघ:''[६।९७] पदों को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रश्न वर्णों और आग्रमों [१।२] दोनों का किया था, फिर विषय-संकेतक श्लोकों में केवल वर्णघर्म की ही बात क्यों कही ? इसका समाधान मनु-शैली और अन्य श्लोकों से हो जाता है। उसे इस प्रकार समफना चाहिए —

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें आग्रमों के घर्म.वणों के साथ-साथ चलते हैं। वणों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही आकर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के घर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं। और छठे अध्याय में आग्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्तव्य भी पूर्ण हो जाते हैं। छठे अध्याय तक के चारों आग्रमों के घर्म और व्यावहारिक कर्तव्य सभी दिजों के लिए एक सदृश पालनीय हैं। जो विधान इन अध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वहीं बर्म-कर्म हैं [१ । ८८]।

उसके पश्चात शेष वर्णों के व्याजहारिक कर्तव्यों का कथन — 'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, अष्टर अध्याय और नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है । वैश्यों का ९ । ३२६ से ३३३ [इ संस्करण में १०।१ से १०। द्र तक ] तथा शूद्र के कर्तव्यों का कथन ९। ३३४-३३५ [इस संस्करण में १०।९-१० तक ] पूर्ण हो जाता है।

- (२) इस मध्य द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पञ्चम अध्यायों में गृहस्थाश्रम, षष्ठ में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का वर्णन है । आश्रमधर्मों को वर्णधर्मविषय के अन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंग संकेतक श्लोकों तथा उपसंहारात्मक श्लोकों से उसका कथन भी किया है [२।४३ (२।६८), २:२२४ (२।२४९), ३।२,६७,२८६,४।१,२५९,५।१६९,६।१३३,८७-६०] आदि।
- (३) इसी प्रकार इन अध्यायों में 'द्विज', विप्र', 'ब्राहमण' शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है।
- (४) मनु ने संभवत : इसी शैली के अनुरूप १।२ और १।१३७ [२।१८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रमव' और 'सान्तराल' शब्दों का प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है — 'वर्णानाम् अन्तरे प्रभव :=उत्पत्ति: निस्थिति: येषां ते अन्तरप्रमवा: = आश्रमा: । इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है । यहीमनु की शैली है ।



# पंचम अध्याय

# [महर्षि दयानन्द और मनुस्मृति तथा उनके द्वारा प्रक्षेपनिर्देशन]

# १. महर्षि दयानन्द द्वारा मनुस्मृति का गौरव बढ़ाना —

यद्यपि मनुस्मृति को अपने रचना-काल से ही सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है; किन्तु आधुनिक काल में मनुस्मृति की न तो पूर्वसदृश्न प्रतिष्ठा ही रह गयी है और न पूर्ववत् अकाट्य प्रामाणिकता । प्रक्षेपों से विकृत और गदली हो जाने के कारण मनुस्मृति का गौरव विनष्ट हो रहा था । महर्षि-दयानन्द ने उस गौरव की रक्षा की और उसे बढ़ाया । सर्वप्रथम, मनुस्मृति के प्रक्षेपों से विकृत स्वरूप की ओर संकेत करके लोगों का यह दृष्टिकोण बदला कि उपलब्ध गदला रूप मनुस्मृति का वास्तविक रूप है; और यह भी बताया कि इसमें अनेक प्रक्षेप हुए हैं; प्रक्षेपों से रिहत मनुस्मृति ही मान्य और अनुकरणीय है । फिर उसे आर्ष और प्रामाणिक घोषित किया तथा उसकी वेदानुकूलता की पुष्टि की । काशी-शास्त्रार्थ में महर्षि-दयानन्द ने कहा था —

ं'मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति, तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति ।''

अर्थात् — मनुस्मृति आदि भी वेदमूलक हैं, इससे इनका भी प्रमाण है । क्योंकि जो-जो वेदिवरुद्ध और वेदों से असिद्ध हैं, उनका प्रमाण नहीं होता ।

(द. शा. सं. पू. २१)

महर्षि-दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के ५१४ श्लोकों या श्लोक-खण्डों को प्रमाण रूप में उद्भत किया है । एवं बहुत सारे श्लोकों के भावों को ग्रहण किया है । इससे ही यह सिद्ध होता है कि महर्षि-दयानन्द की मनुस्मृति के प्रति गहरी निष्ठा थी और वे उसे प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ मानते थे । इतने अधिक प्रमाण उद्भत करके उन्होंने यह संकेत कर दिया कि धर्मप्रमाण में मनुस्मृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसे छोड़ा नहीं जा सकता । महर्षि ने वेदों के बाद यदि किसी शास्त्र के सर्वाधिक प्रमाण दिए हैं, तो वह मनुस्मृति ही है । महर्षि ने अपनी समस्त वैदिक मान्यताओं की व्याख्या ानुस्मृति के अलोकों से की है । मनुस्मृति के सम्बन्ध में जो मिथ्या भ्रान्तियाँ फैल चुकी थीं, महर्षि ने उन सबका उत्तर वेद के प्रमाणों से दिया और मनुस्मृति का परिमार्जित तथा उज्ज्वल स्वरूप हमारे समक्ष रखा । इस शास्त्र से महर्षि की तथा महर्षि से इस शास्त्र की प्रतिष्ठा चहुँ ओर फैल गई । असंख्य मत-मतान्तरों के प्रवल फंफावात के घोर अन्धकार तथा वेग के सामने अविचल तथा निर्भय रहने का महर्षि को जहां अदम्य साहस परमेश्वर की उपासना से, ज्ञान की ज्योति वेद-ज्ञान से. तथा तर्कशक्ति दर्शनों के गहन अध्ययन से मिली थी, वहां महर्षि के मनोबल को बढ़ाने वाला यह धर्मशास्त्र ही था । महर्षि जो वैदिक-वाङ्मय का मन्थन कर सके, तदर्थ कुशाग्रबुद्धि तथा तर्कणा शक्ति को देने वाला यही परमोपयोगी घर्मापदेश था । अन्य मतों की घज्जियाँ उडाने तथा अन्धविश्वास का समूल उन्मूलन करने का धैर्य 'यस्तके'णानुसन्धत्ते स धर्मो बेद नेतर:' (मनु. १२ । १०६) इत्यादि मनु के सत्य-वचनों ही से प्राप्त हुआ था । महर्षि ने जो ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में 'वेदानुकूल को प्रामाणिक तथा वेद-प्रतिकृल को अप्रामाणिक' मानने की मान्यता प्रस्तुत की है, इसका भी मूलाधार मनुस्मृति ही है । महर्षि ने काशी शास्त्रार्थ में सत्य ही कहा था -- ''जो-जो मन ने कहा है, सो-सो औषभी का औषभ है।''

महर्षि-दयानन्द द्वारा अत्यधिक प्रमाणों के उद्दत- मृद्दीतं किये जाने पर, धर्म-निर्णय के सन्दर्भ में मनुस्मृति की चर्चा पुन: बढ़ी और सभी वर्गों के लोगों का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। इस प्रकार महर्षि-दयानन्द ने आधुनिक युग में मनुस्मृति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया है।

महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृति की वैदिक मान्यताओं को ही नहीं स्वीकार किया, प्रत्युत मनु की वर्णन-शैली को मी उपादेय समफकर ग्रहण किया है। मनु की यह शैली है कि वे किसी मी विषय का वर्णन करने से पूर्व तथा अन्त में भी निर्देश अवश्य करते हैं। महर्षि ने भी सत्यार्थप्रकाशादि में इस शैली को अपनाकर आदि तथा अन्त में विषयों का निर्देश किया है। इसी प्रकार, जैसे मनु ने प्रथम ब्रहमचर्य, गृहस्थादि के घर्मों का वर्णन क्रमश: किया है, वैसे ही महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रथम ब्रहमचर्यआग्रम के नियमों शिक्षणविधि तथा पठन-पाठन गहस्थ आदि का वर्णन किया है।

### २. महर्षि के अर्थ एवं भावों का ग्रहण —

महर्षि ने वेदानुकूल मान्यताओं को परखा और उन्हें प्रस्तुत किया । उनकी पुष्टि के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के लगभग ५१४ श्लोकों या श्लोकखण्डों को उद्दृष्त किया है। अनेक श्लोकों के केवल भाव ग्रहण किये हैं । अपने ग्रन्थों में महर्षि ने मनुस्मृति के जिस-जिस श्लोक का भाष्य किया है, उस श्लोक पर भहर्षि का भाष्य देदिया गया है, शेष श्लोकों पर मेरा भाष्य है । वहां महर्षि का भाव मिला वहां मैंने अपने भाष्य के नीचे उनका भाव भी दे दिया है, तािक एक ऋषि की मान्यता को ऋषि के भाव से, अधिक गाम्भीयं पूर्वक समभा जा सके । एक ऋषिकृत ग्रन्थ पर ऋषि का भाष्य हो जाने से 'सोने में सुगन्थ' वाली कहावत चिरतार्थ हो जाती है और उसका महत्त्व भी कई, गुणा बढ़ जाता है ।

महर्षि के श्लोकों के अर्थ में वैशिष्ट्य है, और गाम्मीय है । उन्होंने मनु की मूल मावना को समभा है । इस प्रसंग में एक प्रमाण देना पर्याप्त होगा । मनु का निम्न श्लोक जितना प्रसिद्ध है, उसका अर्थ उतना ही अञ्यावहारिक रूप में प्रसिद्ध है —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता: । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया: ।। (३। ५६)

यहां सभी टीकाकारों ने यह अर्थ किया है — 'जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता रमण करते हैं ।' इस प्रकार अदृश्य देवताओं की कल्पना की गयी है । इस कल्पना से इसका अर्थ अविश्वसनीय, अध्यावहारिक, असंगत एवं हास्यास्पद बन गया । किन्तु महर्षि ने 'देवता:' का निरुक्त शास्त्र के आधार पर अर्थ ग्रहण करते हुए कहा है कि 'जिस घर में नारियों की पूजा अर्थात् सत्कार होता है, वहां देवता अर्थात् दिच्यगुण, दिच्य लाम, दिच्यसन्तानें, दिच्यभोग आदि प्राप्त होते हैं । यह प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि जिस घर में नारियों सत्कृत और प्रसन्न रहती हैं, उस घर का वातावरण अनेक सुखों से मरा-पूरा होता है । किवना व्यावहारिक और प्रास्तिक अर्थ है! (विस्तृत विवेचन भाष्य ने यथास्यान देखिए) ।

इस भाष्य में, श्लोकों पर महर्षि दयानन्द के ३४२ अर्थ उद्दत किये हैं और ८० श्लोकों पर केवल भाव उद्दत किया है। इस प्रकार ४२२ श्लोकों पर ऋषि के अर्थ और भाव है। महर्षि के जो अर्थ या भाव अक्षरश: उद्दत किये हैं, उन पर उद्दरणिषहन अंकित हैं। अर्थों में श्लोकों के मूल पद महर्षि के नहीं है, अपित पदार्थ सुविधा और भाष्य की एकरूपता के लिए लेखक की ओर से संयुक्त किये हैं। महर्षि के अर्थ या भाव में यदि कोई बृहत्कोछक में शब्द है तो वह भी लेखक की ओर से ही रखा। गया है, महर्षि का नहीं है।

महर्षि के अर्थों की अक्षुण्णता बनी रहे, इसका भी ध्यान रखा गया है। अपने ग्रन्थों में श्लोकों का अर्थ या भाव देते समय यदि महर्षि ने किसी पद को छोड़ा हुआ है, तो इस भाष्य में उस स्थान पर टिप्पणी के चिहन देकर उनके अर्थ के ठीक बाद वह पद देकर मैंने उसका अर्थ कर दिया है। पाठक भाष्य पढ़ते समय उसे उस स्थान पर संयुक्त करके अर्थ को समम लें।

#### सर्वप्रथम प्रक्षेप-निर्देशक —

यह श्रेय भी सर्वप्रथम महर्षि-दयानन्द को ही जाता है कि उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों में हुए प्रक्षेपों को पहचाना और उनका संकेत दिया । यों तो मेघातिथि, कुल्लूकमट्ट आदि ने भी पाठमेद के रूप में प्राप्त श्लोकों को प्रक्षिप्तरूप में दर्शाया है, किन्तु निहित स्वार्थी प्रवृत्तियों से हुए प्रक्षेपों की ओर सबसे पहले महर्षि-दयानन्द ने ही घ्यान आकृष्ट किया और इस दृष्टि से कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक उद्दत भी किया तथा प्रक्षिप्त श्लोकों को निकालने की प्रेरणा भी दी । मनुस्मृति में हुए प्रक्षेपों के बारे में उन्होंने अपने उपदेशों व ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उल्लेख किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

(क) ''अब मनु जी का धर्मशास्त्र कौन-सी स्थिति में है, इसका विचार करना चाहिए । जैसे ग्वाले लोग दूध में पानी डालकर उस दूध को बढ़ाते हैं और मोल लेने वालों को फंसाते हैं. उसी प्रकार मानवधर्मशास्त्र की अवस्था हुई है । उसमें बहुत-से दुष्ट क्षेपक श्लोक हैं, वे वस्तुत:भगवान मनु के नहीं हैं।''

(पू. प्र. पृ. ९१)

(ख) ''एक दिन स्वामी जी यह उपदेश दे रहे थे कि वर्णभेद गुण पर निर्मर है, न कि जन्म पर ; और अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के कुछ श्लोक पढ़ रहे थे. इस पर एक मनुष्य ने कहा कि मनुस्मृति में अन्य श्लोक इसके विरुद्ध मी हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि वे प्रक्षिप्त हैं।''
(द. जी. दे. प. ३५७)

कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों का स्वग्रन्थों में निर्देश —

(ग) सत्यार्थप्रकाश में निम्न श्लोकों की प्रक्षिप्त रूप में समीक्षा की है —

१. प्रोक्षितं मक्षयेन्मांसम् . . . . . . . । । (४ । २७ ।।)

अर्थ - यज्ञ में प्रोक्षण से शुद्ध किए मांस को खावे।।

२. न मांसमक्षणे दोषो न मधे न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा मूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ।।(४ । ४६ ।।)

(पृ. २८३, एकादश समु.)

अर्थः — माँस के खाने, शराब-पीने और शास्त्रविरुद्ध मैथुन (व्यमिचार) में कोई दोष नहीं है । ये सब प्राणियों की स्वामाविक प्रवृत्तियाँ हैं । इनसे निवृत्त होना अत्यन्त लामप्रद है ।

३. पुराणानि खिलानि च । । ३ । २३२ । । (स. प्र. पृ. ३२६)

(घ) ''ब्राह्मण लोगों में विद्या की कमी होती गई और अमिमान बढता गया ।..... जब देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आजा को मानते हैं; तब उन्होंने अनेक प्रकार के ब्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद और मूर्तिपूजन आदि वेदिवरुद्ध कमों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके । सर्वसाधारण,ब्राह्मणों से विमुख न हो जावें, इसलिए ऐसे-एसे श्लोक गढ़े गए —

#### अविद्वांश्चैव विद्वांश्च बाह्मणं दैवतं महत् । प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निदैवतं महत् ।।(९ । ३१७ ।।)

अर्थ — ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो अथवा मूर्ख, बड़ा देवता है । जैसे अग्नि हवन के लिए हो अथवा न हो, फिर भी बड़ा देवता है ।

> श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति । हुयमानश्च यज्ञेषु भूय एवामिवर्धते ।।(९ । ३१८ ।।)

अर्थ — तेजस्वी अग्नि का तेज श्मशानों में नी नष्ट नहीं होता है और यज्ञों में हवि को प्राप्त करके तो वह अग्नि अधिक बढ़ जाता है।

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख,वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिए। यथा —

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राहमणा : पुज्या : परमं दैवतं हि तत् ।।(९ । ३१९ ।।)

(पू. प्र. पू. १३४)

अर्थ — इस प्रकार चाहे बाह्मण कैसे भी अनिष्ट कर्मों में रत रहें, फिर भी वे सब प्रकार से पूज्य हैं। क्योंकि वह बहा देवता है।

(ंड·) ''मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक स्मृति ग्रन्थ (अपठनीय हैं)''। (त्रमृ. भू. ग्रन्थप्रामाण्य.)

उपर्युक्त घोषणा, विद्वान, आर्षभक्त तथा मत-मतान्तरों के जाल से विमुक्त, स्वार्थहीन, निष्पक्षक महर्षि-दयानन्द ही कर सके हैं, जिन्होंने वेद-ज्ञान के सूर्यसम प्रकाश में सत्यासत्य का निर्णय कर लिया था । और सत्यासत्य के निर्णय का माप -दण्ड मी हमारे लिए स्पष्ट किया । महर्षि दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है कि —

सदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य: ।।(न्यायदर्शन २ । ५७ ।।)

अर्थात — वह प्रमाण के योग्य नहीं होता, जिसमें मिथ्या बातों का वर्णन, परस्पर विरोधी तथा पुनरुक्त बातों का वर्णन हो ।

ये उद्धरण इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि महर्षि-दयानन्द ने मनुस्मृति के बिगड़े हुए रूप को पहचाना था और उसके सुघार के लिए सर्वप्रथम प्रयास किये थे। इस प्रकार साहित्य के अन्दर होने वाले प्रक्षेपों का निर्देश देने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति महर्षि-दयानन्द थे। उनकी इस अमूतपूर्व महत्त्वपूर्ण देन के लिए साहित्य-क्षेत्र के सभी व्यक्तियों को कृतज्ञता अनुभव करनी चाहिए!

# ४. महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्दत श्लोकों का प्रक्षेपान्तर्गमन —

महर्षि-दयानन्द द्वारा स्वग्रन्थों में की गई प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही मनुस्मृति के प्रक्षेपों को दूर करने का यह प्रयास किया जा रहा है। यह कहना चाहिए कि महर्षि-दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति करना ही इस कार्य का लक्ष्य है। इससे पूर्व भी आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने के प्रयास किये हैं, किन्तु उनमें कुछ सुनिश्चित आधार न अपनाने के कारण भ्रान्तियाँ एवं दोच रह गये हैं। कुछ एक ने तो महर्षि-दयानन्द द्वारा उद्धृत सम्पूर्ण प्रसंगों को ही प्रक्षिप्त घोषित कर दिया है। बिना किसी आधार के इस प्रकार करना दुस्साहस मात्र कहा जायेगा। कुछ विद्वानों ने

ाक्षिप्त कोटि में आने वाले विभिन्न श्लोकों को भी मौलिक मानलिया है, जिन्हें हमने सप्रमाण प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। हमने जो आधार अपनाये हैं, प्रसंगानुसार उनकी एक बार पुन: चर्चा कर देना उपयुक्त रहेगा। वे ये हैं —

- १. विषय-विरोध
- २. प्रसंग-विरोध
- ३. अन्तर्विरोघ
- ४. पुनर<del>ुक्तिया</del>ँ
- ५. शैली-विरोध
- ६. अवान्तर-विरोध
- ७. वेद-विरोध

इस कार्य को करते हुए हमारे सामने भी एक विवशता उत्पन्न हो आई है । उसे स्पष्ट कर देंना हम स्वयं आवश्यक समझते हैं । वह यह कि प्रक्षेंपों को निकालने को लिए जो 'आधार' हमने निर्धारित किये हैं, उनमें महर्षि दयानन्द द्वारा उद्दृत कुछ श्लोक भी आ गये हैं । महर्षि दयानन्द द्वारा उद्दृत श्लोक कैसे प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं, अथवा उन्हें प्रक्षिप्त क्यों स्वीकार किया जा रहा है तथा उन्हें मान लेने पर क्या उल्कमन पैदा हो जायेगी, इन बातों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है —

- १ मनुस्मृति के प्रक्षेपों को निकालने के इस उलफनपूर्ण और महाकिठन कार्य को पूर्ण करने के लिए हमने जो उपर्युक्त 'आधार' या 'मानदण्ड' निर्धारित किये हैं, वे विशुद्ध रूप से कृतित्व पर आधारित हैं, और वे सर्वमान्य हैं । इस अनुसन्धान कार्य को करते हुए किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं अपनाया है । यह प्रयत्न किया गया कि कृति की शैली के अनुसार ही उसका वास्तविक रूप प्रकाश में आये और यह कार्य सभी वर्ग के व्यक्तियों में समानरूप से मान्य हो सके । यदि ऐसा नहीं हो पाया तो इस कार्य की न तो कोई विशेष उपयोगिता ही सिद्ध होगी और न ही यह न्यायोचित ही होगा । इसिलए पक्षपातरहित होकर हमें यह कार्य करना पड़ा । महर्षि दयानन्द ने भी पक्षपातरहित को ही धर्म माना है । हमने उनकी इस बात को मानते हुए पक्षपातरहितता दिखाई है । उपर्युक्त आधारों की सीमा में आने वाले महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धत कुछ श्लोकों को हमने इस कारण प्रक्षिप्त को टे में रखा है कि यदि कुछ श्लोकों को इन नियमों से मुक्त कर दिया जाये तो फिर ये 'आधार' ही व्यर्थ सिद्ध होंगें और आधाररहित रूप में किया गया कार्य कभी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता ।
- २ महर्षि दयानन्द द्वारा उद्दत जितने श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं उनका मनुस्मृति की किसी मान्यता से विरोध नहीं है. अपितु वे प्रकरणविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त कोटि में आते हैं। इसे महर्षि की तुटि नहीं कहा जा सकता और न ही इस बात पर कोई आपित की जा सकती है; क्यों कि, एक तो महर्षि ने स्वतन्त्ररूप से मनुस्मृति के प्रक्षेप निकालने का कार्य नहीं किया और दूसरी बात यह है कि मनुस्मृति के उद्धरण लेते समय, प्रकरण इस दृष्टि से उनके विचार का विषय नहीं रहा। महर्षि स्वयं मनुस्मृति में अनेक प्रक्षेपों का होना मानते हैं। इसी अध्याय में इस विषय में उनकी सम्मतियां उद्दत की जा चुकी हैं। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति केश्लोकों के साथ यह शैली अपनायी है कि उद्धृत श्लोकों के साथ अध्याय और संख्या का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार हमारा यह कार्य उनके विरुद्ध नहीं जाता।
- ३ प्रक्षेपों के अन्तर्गत आने वाले महिष् के कुछ श्लोक ऐसे हैं जो प्रस्तग की दृष्टि से अपने पूर्व श्लोकों से सम्बद्ध हैं और वे पूर्व के आधारभूत श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, अत: उनके साथ सम्बद्ध

होने के कारण महर्षि द्वारा उद्दत श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत जो श्लोक प्रक्षेपान्तर्गत आये हैं,वे श्लोक तथा उनके प्रक्षेपान्तर्गमन के कारण या आधार निम्न हैं —

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव: ।
 ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत: ।।(१ । १० ।।)

(उद्यृत --- स. प्र. पृ. १९)

अर्थ — 'अप्' तत्त्व का नाम नारा है, और अप् तत्त्व परमात्मा से उत्पन्न होते हैं । वे अप्र हत्त्व परमात्मा के अयन — निवासस्थान हैं अर्थात् परमात्मा उनमें व्यापक है, अत : परमात्मा का नाम 'नारायण' है ।।

आधार -- महर्षि द्वारा उद्धृत इस श्लोक का स्वतन्त्र रूप से किसी मान्यता से विरोध नहीं है, किन्तु जिस पूर्वापर प्रसंग से यह सम्बद्ध है,वह प्रसंग अनेक 'आधारी' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है अत : उससे जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है । वह प्रसंग निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है --(१) मनुस्मृति में जगत की उत्पत्ति 'महत् ' आदि तत्त्वों के द्वारा सूक्ष्म से स्थल, स्युलतर और स्युलतम के क्रम से मानी है [१ । १४-२४] । ७-१३ श्लोकों के इस प्रसंग में अपने शरीर से प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से 'अप :' की सृष्टि, उनसे अण्डे का निर्माण [द-९], अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति [९, ११], फिर अण्डे के दो टुकड़े करके चुलोक,मूमिलोक आदि का निर्माण [१२-१३] आदि जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया उक्त मान्यता के विरुद्ध है । (२) ७ –१३ क्लोकों का यह प्रसंग प्रसंगविरुद्ध मी है, यतो हि १४-१८ क्लोकों में अभी सूक्ष्मतत्त्वों की उत्पत्ति कही जा रही है । उनकी उत्पत्ति के पश्चात ही स्यूल सृष्टि की उत्पत्ति समव है । किन्तु इस प्रसंग में सङ्गतत्त्वों की उत्पत्ति कहने से पूर्व ही स्यूलसृष्टि – समुद्र, बूलोक, पृथिवीलोक [१३] और अण्डाकाररूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति प्रदर्शित कर दी । यह क्रमविरुद्ध वर्णन इसे प्रसगविरोधी प्रक्षेप सिद्ध करता है। (३) यह प्रसंग इस प्रकार भी प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होता है कि इस प्रसंग/के १३ वें श्लोक की १४ वें से संगति नहीं जुड़ती । १३ वें में लोकों की रचना का वर्णन है,जबिक १४ से प्रकृति से 'महत' आदि की उत्पत्ति का वर्णन प्रारम्भ किया है । १४ वें के भाषा-प्रयोग को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्लोक छटे से सम्बद्ध है । क्योंकि छठे श्लोक में जगदुत्पत्ति के रूप में ही परमात्मा की प्रकटता विश्वलाते हुए 'तमोनुद:' 'महामृतादि वृत्तीजा:' विशेषण पठित है। इससे यह संकेत मिलता है कि इसके बाद प्रकृति से 'महत्' 'पञ्चमृत' आदि महामृतो' की उत्पत्ति प्रदर्शित करना ही रचयिता को अमीष्ट है। अण्डे आदि की उत्पत्ति दर्शाना अमीष्ट नहीं है (जैसा कि ९ – १३ श्लोको में वर्णित है), और वह उत्पत्ति १४ वे श्लोक से प्रदर्शित है, अत : छठे से १४वां श्लोक सम्बद्ध है । इस प्रकार बीच का यह ७-१३ श्लोकों का प्रसंग प्रसंगविरोधी सिद्ध होता है । प्रकरण-विरोध — इस श्लोक का प्रकरणविरोध सिंद होता है. यतो हि इसमें 'नारायण' शब्द

प्रकरण-।वराध — इस श्लाक का प्रकरणावराध सिद्ध हाता है, यता हि इसमें नारायण शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी गई है। यहां पूर्वापर प्रसंग में 'नारायण' शब्द की कोई चर्चा नहीं है। यहां पूर्वापर प्रसंग सृष्टि-तत्त्वों की उत्पत्ति का है।उसके बीच में किसी नाम की व्युत्पत्ति दर्शाना प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता। यदि यह कहा जाये कि द्वं श्लोक में 'आप:' शब्द आया था उसके प्रसंग से नारायण शब्द की उत्पत्ति दर्शा दी, तो इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि मनु की इस प्रकार की शैली नहीं है। यदि ऐसी शैली होती तो वे श्लोक में पठित 'स्वयंभू:' 'मगवान्' आदि नामों और विशेषणों की व्युत्पत्ति भी दर्शति।

- मरीचिमत्र्याङ्गरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
- प्रवेतसं वसिक्ठं च भृगुं नारदमेव च ।।(१।३५।।) एते मन्स्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः। देवान्देवनिकार्याश्च महर्षीश्चमितोजसः।।(१।३६।।) (उद्धृत —पूनाप्रवचन पृ. ९४)

अर्थ — मनु ने जिन दश प्रजापति महर्षियों को उत्पन्न किया, उनके नाम इस प्रकार हैं —मरीचि, अत्रि, अङ्गिरारा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, वसिष्ठ, भृगु और नारद। (१ । ३५) ।। इन महर्षियों ने सात दूसरे बहुत तेजस्वी मनुओं को उत्पन्न किया और देव, देवसमूह तथा अपरिमित शक्तिसम्पन्न महर्षियों को उत्पन्न किया। (१।३६)

प्रकरण-विरोध — (१) सिष्ट-उत्पत्ति का वर्णन १४ –२२ श्लोको' में वर्णित हो चका । उसके पश्चात २५ — ३० श्लोकों में उत्पन्न प्रजाओं के कर्मों की व्यवस्था का भी वर्णन किया जा चुका है । इससे यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग १४ --२२ श्लोकों में ही पूर्ण हो चुका । प्रसंग के पूर्ण होने के बाद पुन: मिन्न पद्धति से उसी सुष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है । ३२-४१ श्लोकों में पुन : सुष्टिरचना का वर्णन है, ये श्लोक मी उसके अन्तर्गत है और उन्हीं से सम्बद्ध हैं अत: प्रक्षेपान्तर्गत कहे जायेंगे।

ये उलोक इस प्रकार भी प्रक्षेपान्तर्गत आते हैं कि ये ३३ -३४ श्लोकों से सम्बद्ध हैं। (१) ३३ –३४ श्लोकों में ब्रहुमा के आये शरीर से पुरुष की उत्पत्ति, आये से स्त्री की, और उसमें विराट की उत्पत्ति, विराट से मनु और मनु से अन्य मनुओं की उत्पत्ति प्रदर्शित है । ये श्लोक १ । १६, १९, २३, २६ - ३१ के विरुद्ध हैं, इन श्लोकों में एक साथ अनेक प्राणियों की उत्पत्ति का होना प्रदर्शित है, ब्रहमा के वंश से नहीं । (२) और फिर जब उक्त श्लोकों में सभी प्राणियों की उत्पत्ति दिखा ही दी। है तो यहां फिर प्राणियों की उत्पत्ति दर्शाना स्वत : प्रसंगविरुद्ध है । (३) ३२-४१ श्लोकों के इस प्रसंग में महर्षियों से चर-अचर, स्थावर-जगम जगत की उत्पत्ति कहना प्रकृतिविरुद्ध भी है । इस प्रकार इन श्लोको का यह प्रसंग प्रक्षिप्त है और ये श्लोक पूर्वापर रूप से इस प्रसंग से सम्बद्ध हैं ये भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाते हैं।

४. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधि: ।।( २ । १६)

महर्षि ने इस श्लोक की यह एक ही पंक्ति उद्भत की है । अग्रिमपंक्ति में सिद्धान्त विरोध आने से उन्हें वह ग्राह्य नहीं थी । यहां महर्षि को केवल यह दिखलाना ही अमीष्ट है कि संस्कार,निषेक से अन्त्येष्टि पर्यन्त, सोलह होते हैं । मनुस्मृति में यह श्लोक पूर्वापर धर्ममूलवर्णन के प्रसंग के विरुद्ध है । यहां शास्त्राधिकार का प्रसंग नहीं है और न सोलह संस्कारों का । इसमें मनुस्मृति को 'शास्त्र' संज्ञा से अभिहित करना भी इसे शैली की दुष्टि से परवर्ती सिद्ध करता है (द्र. शैलीगन आधार मनु. का पन, द्वितीय अध्याय में)।

वसून् वदन्ति तु पितृन् रुद्धांश्चैव पितामहान् । प्रपितामहास्तयादित्याञ्ज्कुतिरेषा सनातनी ।।(३।२८४।।) (उद्धृत —पञ्चमहायज्ञविधि)

अर्थ - वसुओं को पितर, रुद्रों को पितामह और आदित्यों को प्रपितामह कहते हैं। यह प्राचीनकाल से सुनते आए हैं।

प्रकरण-विरुद्ध — (१) ११६ — ११८ श्लोकों में गृहस्थी के लिए अतिथि को खिलाकर खाने का विधान है, या फिर यज्ञशेष अन्न खाने का विधान है। २८५ वें श्लोक में 'यज्ञशेष' अन्न का लक्षण वर्णित है। यह कहना चाहिए कि ११६-११७ श्लोकों के ११८ और २८५ श्लोक अर्थवादरूप हैं, या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि ११८ वें श्लोक की वाक्यपूर्ति २८५ वें में होती है। बीच के श्लोकों ने उस वाक्यक्रम को भंग कर दिया है, अत : ये श्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं।

(२) इस् श्लोक में मनु से विरुद्ध कोई मान्यता नहीं है. किन्तु यह श्लोक जिस पूर्व वर्णन से प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध है,वह १२२ से २८३ श्लोकों का वर्णन मृतकन्नाद्ध का विधायक है । यह प्रसंग अनेक 'आधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उस प्रकरण से जुड़ा होने के कारण यह श्लोक भी प्रक्षेपान्तर्गत आ जाता है ।

# दशस्त्रासमं चक्र दशचक्रसमो ध्वज:। दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृप:।।(४।८५।)

, उद्धृत — सं वि. १५१)

अर्थ — दस कसाइयों के समान एक तेली, दस तेलियों के समान एक कलार दस कलारों के समान एक वेश्याजीवी और दस वेश्याजीवियों के समान एक राजा होता है।

आघार — यह श्लोक प्रसंग की दृष्टि से द्रिप्त वें श्लोक से सम्बद्ध है। द्रिप्त वें श्लोक में यह अक्षत्रिय से उत्पन्न राजा कसाई. तेली. कलार एवं भेष बदलकर जीविका करने वाला, इनसे दान न लेने का विधान है। द्रिप्त वें में उनकी तुलनात्मक शैली में निन्दा है। द्रिप्त वें श्लोक में जन्मना वर्ण-व्यवस्था की मान्यता प्रदर्शित की है.जो मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था [१। द्रुष्ठ —९१; २। इद्र (४३), १२६ (१०१) १४६ —१४६ (१२१ —१२३); ४। २४५ वें की मान्यता के विरुद्ध है। द्रिप्त वां श्लोक इस आधार पर प्रक्षिप्त है। उसके साथ जुड़ा होने के कारण द्र्य वां श्लोक मी प्रक्षिप्त कहा जायेगा।

# ७. गुरो: प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेष्ठं समाचरन् । प्रेतहारै: समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ।।(५ । ६५ ।।) (उद्दत —स. प्र. ३० पत्रविज्ञा, १०१)

अर्थ — मृत गुरु के पितृमेघ (अन्त्येष्टि) को करने वाला शिष्य मृतशरीर को उठाने वालों के साथ दश रात-दिन में श्रुद्ध होता है ।।

प्रकरणिवत्त — ५ । ५७ वें श्लोक में मनु ने देहशुद्धि और द्रव्यों को शुद्धि के विषय को कहने का कथन किया है । मूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का वर्णन १०५ —१०७ श्लोकों में वर्णित है उसके बाद १०९ वें में शरीर-शुद्धि का उपाय विहित है । इस प्रकार प्रसगक्रम की दृष्टि से ५७ के बाद उसकी भूमिकारूप १०५ —१०७ श्लोक होने चाहियें । बीच के ५ द से १०४ श्लोकों ने उस क्रिम को भंग करके सिपण्ड-असिपण्ड भेदों से मृतकशुद्धि तथा सूतकशुद्धि का वर्णन किया है । शुद्धिकारक पदार्थों के कथन से पूर्व ही शुद्धि के उपायों का वर्णन करना प्रसगक्रम की दृष्टि से असंगत है, अत : बीच के ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इनके अन्तर्गत आने से यह श्लोक भी प्रक्षिप्त कहलायेगा ।

द्र उपस्थमुदरं जिह्ना हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ।।(८ । १२५ ।) (स. प्र. १८१ प्र. स उद्वत) अध्य — मनु ने दण्ड के दस स्थान बताये हैं — जननेन्द्रिय, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पेर, आँख, नाक, दोनों कान, धन और शरीर ।

प्रकरणिवरुद्ध — (१) यहां पूर्वापर प्रसंग ८ । १२२ और १२६ —१३१ श्लोकों में अर्थदण्ड का चल रहा है । बीच में शरीरदण्डों का कथन करना पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध है । (२) १२४ वां श्लोक वर्णन-शैली के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है । उसमें प्रयोग — 'दश स्थानानि दण्डस्य मनु: स्वायम्भुवो 5 स्रवीत्' । स्पष्ट है कि इस श्लोक का प्रवक्ता स्वयं मनु नृहीं है, कोई अन्य व्यक्ति है । अत : इस आधार पर यह श्लोक भी प्रक्षिप्त है । १२५ वां श्लोक प्रसंग की दृष्टि से १२४ वें से सम्बद्ध है । उसका अर्थवाद है । अत : उसके प्रक्षिप्त होने पर १२५ वां स्वत : प्रक्षिप्त कहलायेगा ।

- ९. अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च। आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च।।(८।४१९।।)
- १०. एवं सर्वानिमान् रांजा व्यवहारान् समापयन् । व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमांगतिम् । ।(८ । ४२० ।।)

(उद्दत —स. प्र. पृ. १७५)

अर्थ — राजा प्रतिदिन राज-कार्यों, हाथी आदि सवारियों, आय-व्यय के लेखों, खानों और खजानों का निरीक्षण करे। (८।४१९)

इस प्रकार राजा इन सब विवादों को समाप्त कराता हुआ सब प्रकार के दोषों (पापों) को दूर कर देता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है। (८।४२०)

प्रकरणिवरुद्ध — ६ । ३ श्लोक से अठारह प्रकार के व्यवहारों (मुकहमों) का वर्णन शुरू हुआ था, जो ९ । २५० में समाप्त होता है । आठवें अध्याय के अन्त में केवल पन्द्रह व्यवहार ही समाप्त हो पाये हैं, और व्यवहारों के समाप्त-सूचक ये श्लोक सभी व्यवहारों की समाप्ति का संकेत देकर उसका फलकथन कर रहें हैं । प्रसंग या विषय समाप्त होने से पूर्व ही उसकी समाप्ति का संकेत करना कभी मौलिक रूप से नहीं हो सकता, अत : ये प्रसंगविरुद्ध और अशुद्ध हैं । अठारह व्यवहारों का समाप्तिसूचक मौलिक श्लोक ९ । २५० वा यथास्थान उपलब्ध है । ये अध्यायों की समाप्ति पर समाप्ति या उपसंहार-सूचक श्लोकों की एकरूपता बनाये रखने के लिए प्रक्षेप किये प्रतीत होते हैं । यहां विषय समाप्त न होने के कारण अध्यायकार को कोई समाप्तिसूचक श्लोक नहीं दिखाई पड़ा, अत : उसने स्वयं इस प्रकार का श्लोक रचकर मिला दिया ।

इस प्रकार तटस्य आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध हुए प्रकरणों के बीच में आने के कारण महर्षि के ये श्लोक मनुस्मृति के सन्दर्भ में प्रक्षिप्तकोटि में आ जाते हैं।



# मनुस्मृति शुद्राशुद्धि-पत्र

पृष्ठसंख्या	पंक्ति	<b>अ</b> शुद	शुद्ररूप
د	१५	द्योत नाथ	द्योतनार्थ
१९	१८	सष्टि	सृष्टि
૨૪	Ų	पेर	पैर
२५	२२	प्रविष	प्रविष्ट
२८	२४	जवात्मा	जीवात्मा
<b>₹</b> 0	१०	उत्पत्ति का नाम	उत्पत्ति का क्रम
80	१८	किय	किया
४१	३०	(खपना छूट गया है)	प्राप्त हो गया ।।
४६	ર	नसजन्	नसुजन्
પ્રસ	90	े काल	के काल
६ट	१७	र्आ लोग	आर्यलोग
<i>≅0</i>	१९	इय प्रत्यय	इय् आदेश
द्रप	२०	व्रताचारण	व्रताचरण
१०९	१६	अथात्	अर्थात्
,,	१७	नादयों, जा	नदियों', जो
,,	१८	दश, नदा	देश, नदी
**	१९	दाक्षण दशीय	दक्षिण देशीय
१००	२०	वाना नदियों क	दोनों नदियों के
,,	२१	आया, आयावर्त्त	आर्यौ, आर्यावर्त्त
,,	२६	पूव	पूर्व
,,	२७	दृषद्वता जा, पूवमाग,	दृषद्वती जो, पूर्वमाग,
		स कलक	से निकलके
**	२८	पूव, आर, म	पूर्व, और, में
११२	ર	आच ण	आचरण
१३८	ą	हयदइ मुख:	हयुदइ.मुख:
१५८	પ્	रसन	रसना
१५९	१	अधम	अधर्म
१५९	१६	चातन् केवलान्	<del>वै</del> तान्केवलान्
१७६	१८	चरणस्प	चरणस्पर्भ
१९१	२४	आंह 🕂 एव नखाग्रेभ्य :	आ नस्ताग्रेभ्य : ह 🕂 एव
१९२	१९	अकिक्षा	<b>अशिक्षा</b>
१९५	३२	२७६	१७६
२०९	११	दबवाना	दबाना

		٠,	
२१४	<b>ર</b> ્	करान	करना
२१७	૨	स्पप्त :	स्पष्टत :
२२१	રહ	विद्यमाम	विद्यमान
२२५	२९	दिजो	द्विजो
२२८	२९	तिता	पिता
२३६	३३	दे	देव
२५०	३१	गन	गमन
900	२२	विज्ञनम्	विज्ञानम्
२७०	<b>રૂ</b> ૨	श्रष्ठान	श्रेष्ठान्
३२४	१६	यज्ञाहु	यज्ञाहुति
३४२	२२	नैनामी त्	नैनमिक्षेत्
३५२	३२	अन्यादपि	अन्त्यादपि
३५७	१२	अनघयय	अनध्याय
३६१	३२	श्रयम्	श्रमम्
३६६	२१	दुलमाम्	दुर्लभाम्
३६७	१२	मूख	मूर्ख
३६९	듁	चपेच्च	जपे <del>टव</del>
રૂહ્ય	ş	ईष्या	ईर्ष्या
<b>३७</b> ८	૨૧	चवारमेत्	<del>च</del> ैवारमेत्
४६२	ર	चारिनपरिदम्	चाग्निपरिच्छदम्
४८८	ર્ય	व्यइति	व्याहृति
४९३	१४	<b>छ</b> टे	छोटे
५१२	१८	दिण्ड ;, सव,	दण्ड:, सर्वा:,
५२३	२२	सुदा	सुदास
५२५	5	स्यापयित	स्थापर्यितुम्
५२६	२०	िवास्य न:	दिवास्वप्न:
५३९	१२	प्रकाट	प्रकोटा
४५८	₹ું	जितेन्द्रय	जितेन्द्रिय
५६२	<u>ح</u> ً	(अध्वानम्)	(अध्वानम्) मार्ग की दूरी आदि
५६३	<b>3</b> 0	नियुत	निय <del>ुक्त</del>
५६३	38	कीक्मदनी	की आमदनी
५८६	રેષ્ઠ	यथा तु यानमतिष्ठेद	यदा तु यानमातिष्ठेद
५९०	१३	सवदिश्वु -	सर्वदिश्व
પ્ર	२३	युद्धन	युदेन
પ્રવષ્ઠ	२४	समस्त :	समस्ते :
५९६	8	सवषाम्	सर्वेषाम्
५९६	ą	नाना	बनाना

#### शुद्राशुद्धि-पत्र

४९८	१२	धर्मज्ञ' न	धर्मज्ञ' च
४९८	१७	छटे	छोटे
६०३	ş	प्रयन'	प्रयत्न
६०६	२२	सौंप वे	सौंप देवे
६०८	રૂ	राजधर्मान्तर्ग	राजधर्मान्तर्गत
६१७	३२	अनयौ	अनर्थौ
६२१	ધ્	घतयेत	घातयेत्
६२६	OŞ	लेख	के लेख
६३२	२३		(स्त्रिया: अपि असंभवे) उक्त
		पूर्वोक्त साक्षी न होने पर,	स्थानों में स्त्री की विद्यमानता
			न होने पर,
६४५	११	विरद्व	विरुद्ध
६४९	દ્	ये दण्हों	इन दण्डों
६५३	१	रप्यघरण	राप्यधरण
६५८	રુષ્ઠ	लौटान	लौटाने
६६७	8	चतुर्भग'	चतुर्भागं
६७३	5	निक्षेपस्य	निक्षिप्तस्य
६८३	१४	('अभृते भृति:' पदो' का	(अभृते भृति:) भरण-पोषण का
		अर्थ छूट गया है)	व्यय न लेने पर यह दूघ ही
			उसकी जीविका है।
905	१४	बड़ा घड़ा	दश बड़े घड़ों
७३६	१२	सवस्व	सर्वस्व
७३१	१५	जा वाला	जाने वाला
७३४	દ્	नारित	नास्ति
७७१	२५	पता	पिता
७७४	२२	अश, त्वषाम्	अंश, त्वेषाम्
905	२५	<b>जसी</b>	जैसी
<i>9</i> 9 <i>5</i>	२८	पुत्रा	पुत्री
७८२	१४	न्युकं	न्यरकं
द्धर	१२	आद	आदि
द३९	२६	विद्याध्यायन	विद्याध्ययन
द४९	१९	शदृशान्	सदृशान्
<b>589</b>	२८	लि <b>खा</b>	लि <b>खी</b>
<b>EXO</b>	१२	आर्यवर्त	आर्यावर्त
द्रप्र	२४	हन्तु :	हन्यु :
द्रप्रञ्	२७	मान्यता से	मान्यता के
द्रप्रप्त	રૂપ	<b>जाय</b> ते	जयन्ते

## मनुस्मृति

द्रप्रह	8	तत्र	यत्र
द्रप्र७	१	वर्णव्यवस्था है	वर्णव्यवस्थाकी है।
द्रप्रद	Ų	मृख	मूर्ख
द्ध १	२७	द्विजों के	द्विजों में
द्र६२	१७	ौली	शैकी
द्धर	२४	ब्राह्नयोनिस्था:	ब्रहनयोनिस्था :
द्रहर	२३	धर्मवेनेपुणम्	घर्म नैपुणम्
द्धप	ş	सन्	सन
<b>ದ</b> ಥಿ ದ	٩	जीविता 🕂 💝 🖰	जीवित 🕂
<b>ದ</b> ಥಿ ದ	१९	नार्त्ते <i>\$</i> त्तं	नार्त्तो <b>ऽ</b> त्तुं
<del>=190</del>	११	घातु	घान्य
<b>≈</b> 90	२८	न ल —	न ले —
द्र७२	<b>३</b> २	क जो	कि जो
द७३	ş	वर्णों की	वर्णों के
द्र७४	१६	दीक्षित हो सके	दीक्षित न हो सके
≈७४	२७	जी के	जी ने
८७४	२८	अनु.	मनु.
50≥	<b>३</b> १	संस्कारर्हमति	संस्कारमर्हति
262	२२-२३	कारण अयुक्तियुक्त है ।	कारण मनुसम्मत नहां है।
ददर्	.8	यज्ञार्थ	यज्ञार्थं
दद१	१९	विद्येत्	विद्येत .
८८४	१०	न यस्मिन्	न तस्मिन्
<b>८ ८</b> ६	२३	कुयाद	कुर्याद्
ದದದ	१७	ब्राह्मवादिषु	ब्रह्मवादिषु
ದದದ	२०	उपसेविनामू	उपसेविनाम्
ಜ ಜ	११	श्लोकों से	श्लोकों के
೯೭९	११	यज्ञप्रसंगों	यञ्जप्रसंगों में
द्र९६	१४	जैहमयं -	<b>जैह</b> म्य'
९०४	٩	पातकिनस्तेव	पातकिनस्त्वेव
९०४	१८	मास	मास
९०६	2	कुर्य :	कुर्यु :
<b>९१</b> ९	२४	नार्थ	नार्थ
९२१	ફ	पायश्चित	प्रायश्चित्त
९३०	ą	न्हें	उन्हें
९३७	<b>३</b> 0	पृथक्ता	पृथकता
९४१	१९	प्रत्येक	प्रेत्य
<b>૧</b> ૪૨	ā, c	कम	कर्म

## श्रुदाश्रुद्धि-पत्र

¥

९४२	२९	फल-फूल	फल-मूल
९५४	१७	अधम	अवर्म
९५४	२७	मानसा	मनसा
९५६	ર૪	तन्मत्राओं'	तन्मात्राखों
९५९	११	रजोगुण प्रघानता	सतोगुण प्रघानता
९६१	१४	ज्ञयम्	ज्ञेयम्
९६२	१४	अथसंग्रह, धर्म :	अर्थसंत्रह, धर्म :
९६३	२६	कम करने	कर्म करने
<b>९</b> ६७	१८	सावमौतिक :	सार्वभौतिक :
९६७	१९	सव:	सर्व :
९६९	१	क्रव्यदा:	क्रव्याचा :
990	٩	पस्करहयुम्	इयुपस्करम्
९७४	8	चदु र्जयम्	च दुर्जयम्
900	ય	प्रत्य	प्रेत्य
995	१२	आवश्यता	आवश्यकता
>>	ર૪	यथाय	यथार्थ
९व्ह	२६	धम	धर्म
990	१	धम	धर्म
**	१४	समतानाम्	समेतानाम्
९९२	ફ	अधर्म	अधर्मे
९९७	१८	अइलादक	आइलादक
९९९	२७	न्नियं	न्नित्य'

# अथ मनुस्मृतिः

# ऋथ प्रथमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'ग्रनुशीलन'-समीक्षाभ्यां सहितः]

(सृष्टि-उत्पत्ति एवं धर्मोत्पत्ति विषय १।५ से १।१४४ तक)

मनुस्मृति-मूमिका (१।१से१।४ तक)

महर्षियों का मनु के पास ग्रागमन---

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः। प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमबुवन् ॥ १ ॥ (१)

(महर्षयः) महर्षि लोग (एकाग्रम् + स्रासीनम्) एकाग्रतापूर्वक बैठे हुए (मनुम्) मनु के (स्रभिगम्य) पास जाकर, स्रौर उनका (यथान्यायम्) यथो-चित (प्रतिपूज्य) सत्कार करके (इदम्) यह (वचनम्) वचन (स्रब्रुवन्) बोले-।। १ ॥

महर्षियों का मनु से वर्णाश्रम-धर्मों के विषय में प्रश्न-

भगवन्सवंवर्णानां यथावदनुपूर्वशः। भ्रन्तरप्रभवाणां च धर्मान्तो वक्तुमहंसि ॥ २ ॥ (२)

(भगवन्) हे भगवन् ! ग्राप (सर्ववर्णानाम्) सब वर्णी = ब्राह्मण्, क्षत्रिय, वैश्य, जूद्र (च) ग्रीर (ग्रन्तरप्रभवाणाम्) सभी वर्णों के ग्रन्दर होने वाले ग्रर्थात् ग्राश्रमों = ब्रह्मचर्यं, गृहस्थ, वानप्रस्थ ग्रीर संन्यास के [वर्णानां ग्रन्तरे प्रभवः=उत्पत्तिः, स्थितिः येषां ते ग्रन्तरप्रभवाः = ग्राश्रमाः] (धर्मान्) धर्मों-कर्त्तंथ्यों को (यथावत्) ठीक-ठीक रूप से (ग्रनुपूर्वंशः) ग्रीर क्रमानुसार ग्रर्थात् वर्णों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर जूद्र के क्रम से तथा ग्राश्रमों को ब्रह्मचर्यं, गृहस्थ, वानप्रस्थ ग्रीर संन्यास के क्रम से (नः) हमें

(वक्तुम्) बतलाने में (म्रर्हसि) समर्थं हो ॥ २ ॥ (इस दूसरे श्लोक के प्रक्रन की पूर्ति १।३ में होगी ।)+

अन्य श्री टिडन्स: मनुस्मृति एक धर्मशास्त्र है [धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः २।१० (१।१२६)]। तदनुसार इसमें धर्म का ही प्रतिपादन है। मनुस्मृति में धर्म के स्वरूप तथा इस क्लोक में आये आघारभूत सब्द 'अन्तरप्रभवागाम्' पर यहां सप्रमाण विचार किया जाता है—

- (१) धर्म का स्वरूप—(क) व्याकरण की दिष्ट से 'धृत्र-धारणे' धातु से 'ग्रितिस्तु सुहुसृषृ ' [उएगादि १।१४०] सूत्र से प्राप्त 'मन्' प्रत्यय के योग से 'धर्म' शब्द सिद्ध होता है। 'धारणात् धर्म इत्याहु:' 'श्रियते ग्रनेन लोकः' ग्रादि व्युत्पत्तियों के ग्रनुसार 'जिसे ग्रात्मोन्नित पौर उत्तम सुख के लिए धारण किया जाये' ग्रथवा 'जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाये ग्रर्थात् व्यवस्था या मर्यादा में रखा जाये', उसे धर्म कहते हैं। इस प्रकार ग्रात्मा की उन्नति करने वाला, मोक्ष या उत्तम व्यावहारिक सुख देने वाला सदाचरण, कर्त्तव्य ग्रथवा श्रेष्ठ विधान (कानून), नियम, धर्म है।
- (ख) मनुस्मृति में धर्म को व्यापक ग्रर्थ में ग्रहण किया गया है। स्थूल रूप से उसे दो ग्रथों में वर्गीकृत किया जा सकता है—
  - १. मूख्य अर्थ (आध्यात्मिक उद्देश्यसाधक)
  - २. गौएा म्रथं (लौकिक व्यवहार-साधक)
- १. ब्राघ्यात्मिक क्षेत्र में, ब्राप्ता के उपकारक, निःश्रेयससिद्धि ब्रथांत् मोक्ष-प्राप्ति कराने वाले 'ब्राचरएा' को 'धर्म' कहते हैं। यह धर्म का मुख्य ब्रथ है। यही धर्म सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है, जो त्याज्य नहीं है। इसी का प्रतिपादन करना धर्मशास्त्रों का प्रमुख उद्देश्य है। मनु ने इस धर्म का वर्णन निम्न इलोक में किया है—

वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां च संयमः । धर्मक्रिया, म्रात्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ।। १२।५३।।

निम्न प्रमाणों से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है-

- (म्र) धर्मं शनैः संचिनुयात् "परलोकसहायार्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४।२३८॥
- (म्रा) धर्में ए हि सहायेन तमस्तरति सुदुस्तरम् ॥ ४।२४२ ॥
- (इ) धतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः । धीर्विद्या सत्यमकोघो दशकं धर्मलक्षराम् ॥ ६।६२ ॥

<sup>+ [</sup>प्रचलित ग्रर्थे—हे भगवन् ! सब वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा ग्रूद्र) श्रीर 'ग्रम्नष्ठादि' ग्रनुलोमज, 'सूत' ग्रादि प्रतिलोमज, तथा 'भूर्जंकण्टक' ग्रादि संकीर्णं जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये ग्राप योग्य हैं (ग्रतः उन्हें कहिए) ॥ २ ॥]

मनुस्मृति में धर्मपालन के परिणामस्वरूप जो फलप्राप्ति दिखायी है, वह भी इस अर्थ की मुख्यता की स्रोर संकेत करती है—

- (ई) एतद्वो ऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्। ग्रस्मावप्रस्युतो विष्रः प्राप्नोति परमां गतिम्।। १२।११६।।
- (उ) स्रनेन वित्रो वृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित्। ध्यपेत कल्मची नित्यं ब्रह्मलोके महीयते।।४।२६०॥

इस अर्थ की सिद्धि में प्रमाणरूप में १। १२८, २।१३४ [२। १५६], २।२२४ [२४६], ४। १३८, १५६, १७४, २३८, २३६, २४२, २४३, २६०।। ८।१६, १७, ८३ आदि स्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

- २. व्यावहारिक क्षेत्र में, त्रिविध = ग्रात्मिक, मानिसक, शारीरिक उन्नित कराने वाले, मानवत्व ग्रीर देवत्व का विकास करने वाले, उत्तम सुखसाधक श्रेष्ठ व्यावहारिक कर्त्तव्य, मर्यादाएँ ग्रीर विधान (कानून) धर्म कहलाते हैं। ये व्यावहारिक क्षेत्र के होने के कारण कर्म हैं. जिनमें देश-काल-परिस्थितिवश कुछ परिवर्तन भी ग्रा जाते हैं। इसमें निम्न प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—
  - (अ) न बूयात् सत्यमप्रियम् ।।४।१३८।।
  - (ग्रा) योषितां धर्ममापदि ।।१।५६।।
  - (इ) एव धर्मः स्त्रीपुंसयोः ।।६।१०१, १०३।।
  - (ई) द्युतधर्म निबोधत ।। १।२२० ।।
  - (उ) वण्डं धर्मं विदुः बुधाः ॥७।१८॥
  - (ऊ) राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि ॥७।१॥
  - (ए) विवाह—'ब्राह्मो धर्मः', 'दैवं धर्मैम्', 'ग्राषैं: धर्मः', 'ग्रासुरः धर्मः। ॥ ३।२७—३१। ग्रादि-ग्रादि॥

दर्शनशास्त्रों में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनके ग्रनुसार धर्म की परिभाषा निम्न है—

(म्र) ''यतोऽम्युदयनिःश्रेयसिसिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक १।१।२)

श्रथीत्—जिसके श्राचरण से (श्रभ्युदयः) मनुष्य की त्रिविध = श्राित्मक, मानसिक व शारीरिक उन्निति श्रीर व्यावहारिक उत्तम सुख की प्राप्ति एवं वृद्धि हो तथा (निःश्रेयसिद्धिः) मोक्षसुख की सिद्धि हो (सः धर्मः) यह श्राचरण या कर्त्तव्य धर्म है।

(ग्रा) "वोदनालक्षरागे धर्मः" (पूर्वमीमांसा १।१।२)

ग्रर्थात्—(चोदनालक्षणः) वेदों में मनुष्यों को करने के लिए जो कर्त्तब्य विहित किये हैं, वह (धर्मः) धर्म है ।

#### (२) 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का मनु-सम्मत अर्थ---

इस क्लोक में मेघातिथि, कुल्लूकभट्ट ग्रौर उनके ग्रनुयायी सभी टीकाकारों ने 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद का—''संकीएं जातियों या वर्णसङ्करों के' यह ग्रर्थ ग्रशुद्ध किया है। इस पद का ग्रर्थ 'ग्राश्रमों के' होना चाहिये। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ हैं—

(क) २। १८ [इस संस्करण के अनुसार १। १३७] में 'अन्तरप्रमवाणाम्' के पर्यायवाची रूप में 'सान्तराला**नाम्'** शब्द का प्रयोग किया है । जैसे यहाँ वर्णों के साथ 'अन्तरप्रभवाएगाम्' शब्द का प्रयोग है, वैसे ही उक्त श्लोक में भी वर्णों के कथन के साथ-साथ 'सान्तराला**नाम्' श**ब्द का प्रयोग है। उस क्लोक में '**सा**न्तरा-लानाम्' शब्द का ग्रर्थं 'ग्राश्रम' है, ग्रतः यहां भी उसके पर्यायवाची शब्द 'अपन्तरप्रभवाणाम्' शब्दका ग्रर्थ 'ग्राश्रमों के' होनाच।हिये। यद्यपि २ । १८ [१। १३७] क्लोक में भी टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' शब्द का श्रर्थ 'संकीर्ण जाति' या 'वर्णसङ्कर' किया है, किन्तु वह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। यतो हि, उस इलोक में धर्म के चार मूलाधारों में से एक ग्राधार 'सदाचार' [२।६,१२ या १। १२४, १३१] का लक्षण किया है, ग्रीर बताया है कि ''ब्रह्मावर्त देश के निवासी वर्णों ग्रौर ग्राश्रमों का, जो परम्परागत श्रेष्ठ ग्राचरण है, वह 'सदाचार' कहलाता है"। इस क्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसङ्कर' या 'संकीर्ण जाति' ग्रर्थ इसलिए ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णसङ्करों का ग्राचरण 'सदाचार' ही नहीं हो सकता और न ही उनके ग्राचरण को उन क्लोकों में 'सदाचार' के रूप में माना है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्णंसङ्करों के धर्मवर्णंन-प्रसङ्ग में ग्रनेक स्थानों पर उनके ग्राचरण को निन्दनीय ग्रीर गहित कहा है। उस प्रसङ्ग में संकीर्ण जातियों के लिए प्रयुक्त विशेषणों में कुछ इस प्रकार हैं—''मातृदोषविगहितान्''= 'माता के दोष से निन्दित जन्म वाले' [१०।६], "क्रूराचारविहारवान्" = क्रूर ग्राचार-व्यवहार वाले'[१०।६], ''ग्रधमो नृणामृ''≕'मनुष्यों में नीच'[१०।१२], ''अव्रतांस्त् यान्" चत्रतहीन' [१०।२०], ''पापात्मा भूजंकण्टकः" चपापी श्रात्मा वाले भूर्जकण्टक'[१० । २१],''ततोऽप्यधिकदूषितान्''='उनसे भी ग्रधिक दूषित ग्राच-रण वाले '[१०। २६] ''जनयन्ति विर्गीहतान्' = 'निन्दित सन्तानों को जन्म देते हैं' [१०। २६]। इसी प्रकार संकीणं जातियों का 'ग्रयसद' (नीच) 'अपघ्वंसज' (पतितो-त्पन्न) आदि शब्दों द्वारा नामकरण करना भी यह सिद्ध करता है कि रचयिता इन्हें निन्दित आचरण वाला मानता है । इनके ग्रतिरिक्त उस प्रसग में वर्णसंकरों के जो पशु-हिंसा ग्रादि धर्म वतलाये हैं,वे मनु के मत में धर्म न होकर दृष्कर्म हैं, जिनकी मनु ने स्थान-स्थान पर निन्दा की है। फिर उनके ग्राचरएा को 'सदाचार' कैसे कहा जा सकता है ? ग्रीर न उन्हें 'धर्म' कहा जा सकता है । इससे यह बोध होता है कि उक्त क्लोक में 'सान्तराल' शब्द का 'वर्णसंकर' ग्रर्थ करना संगत नहीं है, ग्रौर मनु के विरुद्ध भी है। ग्रतः वहां उसका 'ग्राश्रम' ग्रयं होना चाहिए। उसके पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होने से इस क्लोक में 'अन्तरप्रभव' का ग्रर्थ भी 'आश्रम' ही समीचीन है ।

- (ख) मनुस्मृति में वर्णों के धर्मों के साथ-साथ विस्तृत ग्रौर विशिष्ट रूप से ग्राश्रमों के धर्मों का ही कथन है, वर्णसंकरों के धर्मों का नहीं। यह भो ध्यान देने की वात है कि इस श्लोक में जिस क्रम से वर्णों ग्रौर ग्राश्रमों के धर्मों को बतलाने की इच्छा व्यक्त की है, ठीक उसी क्रम से ही मनुस्मृति में उसका उल्लेख है। ग्राश्रमों और वर्णों का क्रम साथ-साथ चलता है, जैसे—द्वितीय ग्रध्याय में—ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है, नृतीय से पञ्चम तक गृहस्थ का, पष्ठ में वानप्रस्थ एवं संन्यास ग्राश्रम का वर्णन है। साथ-साथ छठे ग्रध्याय तक ब्राह्मण के कर्त्तव्य भी उक्त हो जाते हैं। किर क्षत्रियों के शेष कर्त्तव्यों का वर्णन ७। १ से ६। ३२५ तक है। वैश्य के ग्रतिरिक्त कर्त्तव्यों का कथन ६। ३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०। १–६] तक,तथा शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन ६। ३३४-३३५ [इस संस्करण में १०। ७-६] में है। यदि 'अग्तरप्रमवाणाम्' का 'ग्राश्रम' ग्रथं न करके 'वर्णसंकर' ग्रथं लिया जाये,तो प्रश्न उठेगा कि जब प्रारम्भ में ग्राश्रमों के धर्म पूछने का प्रश्न ही नहीं है,तो इतने विस्तृत ग्रौर प्रधान रूप से ग्राश्रमों के धर्मों का साथ-साथ ग्रौर प्रधानतापूर्वंक वर्णन करने की मनु की यह शैली भी यह संकेत देती है कि इस श्लोक में वर्णों ग्रौर ग्राश्रमों के विषय में नहीं।
- (ग) मनुस्मृति में सर्वत्र वर्णों के साथ ग्राश्रमों का उल्लेख करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वर्णसंकरों की नहीं। १२। ६७ में भी वर्णों के साथ ग्राश्रमों का उल्लेख है—"चातुर्वण्यं त्रयो लोकाः चत्वारक्वाश्रमाः पृथक्" इसी प्रकार ७। ३५ में भी राजा को वर्णों ग्रीर ग्राश्रमों के धर्मों का रक्षक कहा है, वर्णसंकरों का उल्लेख ही नहीं—

#### स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सुष्टोऽभिरक्षिता।।

इस प्रवृत्ति के अनुसार भी यहां वर्णों के साथ प्रयुक्त 'श्रन्तरप्रभव' शब्द का अर्थ 'आश्रम' ही सिद्ध होता है।

(घ) मनुस्मृति मं, दशम ग्रध्याय को छोड़कर,वर्गों के साथ ग्रथवा स्वतन्त्र रूप से कहीं भी वर्णसंकरों की चर्चा या उल्लेख नहीं है। नामकरण संस्कार [२।२६-३५ या २।१-१०], विवाहिविधि [३।२०] ग्रादि प्रसङ्गों में,जहाँ शूद्रों के लिए भी बिधान किये हैं, वहां भी इनका उल्लेख नहीं है। दशम ग्रध्याय में भी जो इनका वर्णन है,वह वस्तुतः मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है (विस्तृत जानकारी के लिए दशम ग्रध्याय के क्लोकों की समीक्षा देखिए)। यतो हि, वह विषय प्रसंगविरुद्ध रूप से विग्तित है। मनु की विषय-संकेत-शैली से भी दशम ग्रध्याय का वर्णसंकरों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। वर्णों के धर्म-कथन का विषय प्रारम्भ करते हुए वे कहते हैं— "वर्णवर्मान्तिवोद्यत" १।१४४ [ग्रन्य सस्करणों में २।२५]। इसी प्रकार इस विषय की समाप्ति का संकेत करते हुए कहा— "एष धर्मविधः कृत्स्नक्वातुर्वण्यस्य कीतितः" १०।१४२ [ग्रन्य संस्करणों में १०।१३१]। दोनों ही स्थानों पर वर्णों के धर्मों के वर्णन का कथन

है, ग्रापद्धर्म का नहीं। यहां बीच में वर्णसंकरों के वर्णन करने का न तो प्रसंग था ग्रौर न ही ग्रभीष्टता, किन्तु फिर भी किसी ने इस वर्णन को बलात् मिलाया है।

इसी प्रकार १०। १५ [ग्रन्यत्र १०। ४] में स्पष्ट शब्दों में मनु ने उद्घोषित किया है कि ग्रायों के समाज में केवल चार वर्ण हैं, पांचवां कोई वर्ण नहीं है। इनसे भिन्न सभी दस्यु हैं, चाहे वे ग्रायं भागाएं बोलते हों ग्रथवा म्लेच्छ भाषाएं [१०। ५६ (ग्रन्यत्र १०। ४५)]। यहां वर्णंसंकरों का कोई उल्लेख नहीं। इससे वर्णंसंकरों का वर्णन [१०। ५—७३] मनुस्मृतिसम्मत या मौलिक सिद्ध नहीं होता। जब यह मनुस्मृतिसम्मत ही सिद्ध नहीं होता, तो इस ग्रन्थ में किसी शब्द से 'वर्णंसंकर' ग्रथं ग्रहण करना ही ग्रनुपयुक्त एवं विरुद्ध है। ग्रतः यहां भी 'वर्णंसंकर' ग्रथं न होकर 'ग्राश्रम' ग्रथं ही मनुस्मृतिसम्मत है।

- (ङ) मनु ने संक्षिप्त भूमिका के रूप में १। ८७-६१ दलोकों में एक-एक वर्ण का नामोल्लेख तथा उनका कर्मवर्णन किया है। उससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि मनु मनुष्य-समाज में चार वर्णों के स्रतिरिक्त कोई वर्ण नहीं मानते। इन दलोकों से यह भी संकेत मिलता है कि मनुस्मृति में मनु को केवल इन्हीं चार वर्णों के धर्मों का कथन करना स्रभीष्ट है, स्रन्य किसी वर्णमंकर स्रादि का नहीं। स्रतः यहाँ भी 'स्रन्तर-प्रभव' का सर्थ वर्णसंकर स्रादि करना मनु की मौलिकता के विरुद्ध है, इसका 'स्राध्रम' स्र्यं ही प्रकरणसंगत है।
- (३) प्रतीत होता है कि जब वर्णसङ्करों के प्रसंग का प्रक्षेप हुन्ना,तो उन लोगों ने तदनुमार ही 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दों के अथौं को भी परिवर्तित करके 'वर्णसकर' अर्थ प्रचलित कर दिया। यही नहीं, अपने आश्रय के अनुसार ऐसे लोगों ने पाठभेद करने का भी प्रयास किया। तीन-चार हस्तलिखित प्रतियों में 'अन्तरप्रभवा-णाम्' पद के स्थान पर संकरप्रभवाणाम्' पाठभेद भी मिलता है। यह पाठभेद वर्णसंकर सम्बन्धी प्रक्षिप्त दलोकों को मौलिक सिद्ध करने का ही एक प्रयास था। यह पाठभेद तो प्रचलित नहीं हो पाया, किन्तु इस पाठभेद के अनुसार अर्थ की आनित अवस्य प्रचलित हो गई।

## त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः । ग्रचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्यवित्त्रभो ॥ ३ ॥ (३)

(हि) क्योंकि (प्रभो) वेदज्ञ होने से धर्मोपदेश में समर्थ हे विद्वन् ! (ग्रस्य सर्वस्य) इस सब [१।४—१।१४४ (२।२४) में विणत] समस्त जगत् के, (ग्रचिन्त्यस्य) जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता ग्रथवा जिनमें ग्रसत्य कुछ भी नहीं है, ग्रौर (ग्रप्रमेयस्य) जिनमें ग्रपरिमित सत्यविद्याभों का वर्णन है, उन (स्वयम्भुवः विधानस्य) स्वयम्भू [१।६] परमात्मा द्वारा रचित [१।२३] विधानरूप वेदों के (कार्य-तत्त्वार्थवित्) कार्य=कर्त्तव्य-रूप धर्मीया प्रतिपाद्य विषयों के, तत्त्वार्थवित्=यथार्थरूप ग्रथवा उनके

रहस्यों को, स्रोर [द्वितीयार्थ में] वेदार्थों को जानने वाले (एक: त्वम्) एक ग्राप ही हैं [स्रर्थात् इस समय धर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् स्राप ही दिष्टगोचर हो रहे हैं, स्रतः स्राप ही उन्हें किहिये]।।

ग्रिमित्राय यह है कि वेद सब सत्यविद्याग्रों के विधायक ग्रन्थ हैं, इस प्रकार वे जगत् के विधान रूप ग्रर्थात् संविधान हैं। महिष लोग प्रशंसा-पूर्वक मनु से कह रहे हैं कि उन विधानरूप वेदों में कौन-कौन से करने योग्य कार्य ग्रर्थात् कर्त्तव्यरूप धर्म विहित हैं, उन्हें भलीभांति समभने वाले विशेषज्ञ विद्वान् ग्राप हैं, ग्रतः हमें वणीं ग्रीर ग्राश्रमों के धर्मों को बत-लाइये। (यह श्लोक १।२ का पूरक वाक्य है। दूसरे श्लोक में वणिश्रम धर्मों का प्रश्न है, ग्रतः इसमें उन्हों का जाता बताकर मनु की प्रशंसा की है। यही मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय है—'धर्मों का कथन')।। ३।। अ

''स्वयम्भू जो सनातन वेद हैं, जिनमें ग्रसत्य कुछ भी नहीं ग्रौर जिनमें सब सत्यिवद्याग्रों का विद्यान है, उनके ग्रर्थ को जानने वाले केवल ग्राप ही हैं।'' (ऋ० भू० ५८)

अर्ज्यू श्रीत्जन्य: कुल्लू कभट्ट ग्रादि प्रायः सभी टीकाकारों ने इस श्लोक का ग्रपूर्ण या त्रुटिपूर्ण ग्रर्थ किया है। उनके ग्रथों में निम्न त्रुटियां हैं—

- (१) 'ग्रस्य सर्वस्य' सर्वनामों को वेद के साथ जोड़ दिया है।
- (२) कुल्लुकभट्ट ने 'कार्य' का 'ग्रग्निष्टोम ग्रादि यज्ञकार्य' तथा-
- (३) 'तत्त्वार्यवित्' का 'ब्रह्म के ज्ञाता' ये श्रसंगत, सीमित श्रीर मनुस्मृति से श्रसम्मत श्रंथं किये हैं।

इनकी पुष्टि के लिए विस्तृत विचार करना ग्रावश्यक है-

(१) 'ग्रस्य सर्वस्य' पदों की सही संगति—(क) यहां 'ग्रस्य सर्वस्य' पदों का ग्रयं 'इस सब जगत् के' होना उपयुक्त एवं प्रासंगिक है। 'ग्रस्य' या 'इक्स्न' शब्दों का जब स्वतन्त्र रूप से प्रयोग होता है, तो मुख्यरूप से उसके तीन ग्रभिप्राय होते हैं—(१) उपस्थित या निकट की वस्तु की ओर संकेत, (२) निकट रूप से स्थित जगत्, (३) पूर्वापर विषय या वस्तु की ग्रोर संकेत। इन तीनों ही ग्रयों के ग्राघार पर यदि इन पदों को परखा जाये, तो इनका वेद के साथ सम्बन्ध न होकर 'जगत्' अर्थ ही व्यक्तित होता है। यतो हि ग्रगला वस्यमाए विषय या ग्रप्रिम प्रसंग जगत् का है, ग्रतः वेद के साथ इन पदों को नहीं जोड़ा जा सकता। इन से 'जगत्' की ग्रोर ही संकेत है। 'ग्रस्य' 'इदम्' ग्रादि पदों का प्रयोग स्वतन्त्ररूप से 'जगत्' के लिये करने की संस्कृत भाषा की सदैव प्रवृत्ति रही है। १। ६ में ''ग्रासीत् इदम्'' का प्रयोग भी 'जगत्' के लिए ही किया है।

अ [प्रचलित मर्थं -- क्योंकि हे प्रभो ! एक म्राप ही इस सम्पूर्ण मपीरुषेय, अचित्रः तथा मप्रमेय देद के मिनिष्टोमादि यज्ञकार्य भीर ब्रह्म के जानने वाले हैं ॥३॥]

(ख) इसके स्रतिरिक्त सब्टि-उत्पत्ति के इसी प्रसंग में दो स्रन्य स्थानों पर भी इन पदों का प्रयोग 'जगत्' म्रर्थ में ही किया है। यथा—सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्ण होते पर— "सर्वस्य ग्रस्य त सर्गस्य" [१। ५७], इस विषय को समाप्त भी इन्हीं पदों के स्वतन्त्र प्रयोग से किया है-"संभवश्च ग्रस्य सर्वस्य" [इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति कही। २।२४, इस संस्करण में १।१४४]। (ग) बौलों के द्राधार पर भी इन पदों का यहां 'जगत्' स्रर्थं सिद्धं होता है। १।५ से मनू ने जो सृष्टि-उत्पत्ति का विषय प्रारम्भ किया है, वह इन पदों के ही अनुसार है। इस श्लोक में कथन है कि 'इस जगत के विधान = वेद के ग्राप ज्ञाता हैं'। मनु ने इसी लिए धर्मों का कथन करने से पूर्व 'जगत' के स्वरूप को बतलाना प्रारम्भ किया, जिससे धर्मोत्पत्ति, धर्म की ग्रावश्यकता, महत्त्व एवं स्वरूप का परिज्ञान होकर उसके प्रति प्रेरित हो सकें। मनु ने यहां साङ्गोपाङ्क शैली अपनायी है। 'ग्रस्य सर्वस्य' पदों के द्वारा ही १।५ से प्रारम्भ होने वाले सृष्ट्यूत्पत्ति-विषय का संकेत है, ग्रीर इन्हीं पदों के प्रयोगपूर्वक इस विषय को समाप्त किया है-"संभवश्व अस्य सर्वस्य" [२।२५ या १।१४४] (घ) इस श्लोक में 'विधान' शब्द का वेदों के लिए जो प्रयोग किया है वह भी साभिप्राय होने से सार्थक है, तथा निमित्त-निमित्ती भाव-द्योतनार्थं प्रयुक्त है। वेद 'विधान' हैं स्रौर विधान किसी निमित्त से विहित होता है, अतः 'ग्रस्य सर्वं स्य' पदों से संकेतित जगत उनका निमित्ती है। 'वेद जगत् के लिये एक विघान है' यह भाव मनू ने ग्रन्य स्थानों पर भी प्रकट किया है, १२।६४ में वेदों को पित-दैव-मनुष्यों का सनातन 'चक्षु ' कहा है (पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चानुः सनातनम्) । यहां वेद के लिये 'चसुः' शब्द का प्रयोग लगभग 'विधान' के समान भ्रयं देने वाला है। जैसे 'चक्षु' कहने से यह बोध होता है कि यह इन्द्रिय प्राणियों को दिखाने के लिए है, उसी प्रकार 'विधान' कहने से भी यह बोध होता है कि यह किन्हीं के मार्गदर्शन के लिए है। इस प्रकार 'विधानस्य' के साथ प्रयुक्त भ्रस्य तु सर्गस्य पदों से 'जगत' श्रर्थ का ही संकेत मिलता है।

(२—३) 'कार्यतत्त्वार्यवित्' का संगत द्रार्थ—(क) 'कार्य' का 'अग्निष्टोम स्नादि यज्ञकार्य' स्रयं करना, और 'तत्त्व' का स्रयं 'ब्रह्म' करना भी स्रप्नासंगिक और मनुस्मृति से स्नसम्मत है। 'कार्य' से इस श्लोक में स्निभ्राय 'कर्त्तव्यों, प्रतिपाद्य विषयों या 'समस्त व्यावहारिक तत्त्वों' स्रर्थात् 'धर्मों से है। मनुस्मृति में [१।२] जिज्ञासा और प्रश्न का विषय 'धर्म' है, तो उसका प्रतिपाद्य या उत्तर का विषय भी 'धर्म' होगा। केवल यज्ञ या ब्रह्म का वर्णन करना, मनुस्मृति का प्रतिपाद्य नहीं है, स्रौर न दनके बारे में स्वतन्त्र रूप से जिज्ञासा ही प्रकट की गयी है। यज्ञादि धर्म के स्रङ्ग हैं, स्रौर स्वतः धर्मों के सन्तर्भूत हो जाते हैं। केवल यज्ञों स्रौर ब्रह्म को ही वेदों का कार्य या साध्य मान लेने से वेदों की उपयोगिता सीमित हो जाती है, जब कि मनु की मान्यता इसके विपरीत है। यनु केवल यज्ञ या ब्रह्म के लिए ही वेदों की प्रकटता नहीं मानते, स्रिपतु संसार के समस्त श्रेष्ठ व्यवहारों—धर्मों और ज्ञान-विज्ञान स्रादि का साधक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए निम्न श्लोक प्रमाण रूप में द्रष्टव्य है—

(ग्र) १।२१ में वेदों के द्वारा ही समस्त पदार्थों का नामकरण. उनके कर्मों का विधान, स्थितियों का विभाजन बताकर वेदों की बहुमुखी और व्यापक उपयोगिता को स्वीकार किया है—

#### "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देम्य एवादौ पृथक्संस्थाइच निर्ममे ॥

- (ग्रा) १२। ६७ में चारों वर्णों, ग्राश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से माना है।
- (इ) शब्द, स्पर्श स्रादि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है (१२। ६८)।
- (ई) १२। ६६ में समस्त व्यवहारों का सर्वोपरि साधक-शास्त्र वेद को ही कहा है।
- (उ) राजनीति की शिक्षा देने वाला [७।४३,१२।१००], धर्माधर्म का ज्ञान देने वाला [१२।१०६—११३] जगत् के श्रेष्ठ व्यवहारों का साधक [१।२३] शास्त्र वेद ही को कहा है।
- (ऊ) १२। ६४ में वेदों को पितृ-देव-मनुष्यों का 'चक्षु' (धर्म-ग्रथमं, ज्ञान-विज्ञान ग्रादि का दर्शाने वाला) कहा है।

इनके स्रतिरिक्त स्रौर भी ऐसे स्रनेक उदाहरण मिलेंगे, जिनमें मनु ने वेदों के कार्य या उद्देश्य को व्यापक माना है। स्रतः कुल्लूकभट्ट द्वारा केवल यज्ञ या ब्रह्म को ही वेदों का कार्य कहना मनु की धारणा के प्रतिकूल है।

- (ख) मनुस्मृति उपनिषदों की भांति केवल ग्राध्यात्मिक ग्रन्थ ही जहीं है जिसमें केवल यज्ञ ग्रीर ब्रह्म का ही दिग्दर्शन कराया गया हो; ग्रपितु समाज का विधान या धर्मशास्त्र भी है। यही कारण है कि मनुस्मृति में इनका वर्णन ग्रङ्गीरूप में न होकर ग्रंगरूप में है। १।१२५—१३४ [२।६—१५] इलोकों में मनु ने धर्म का निकास वेद से माना है। मनु का प्रमुख वचन है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'१।१२५। यज्ञ ग्रीर ब्रह्मप्राप्ति का इसके अन्दर स्वतः ही ग्रन्तभित हो जाता है, क्योंकि ये भी मनुष्यों के धर्म हैं। इस प्रकार कुल्लूकभट्ट का अर्थ मनुस्मृति-प्रतिपाद्य के ग्रनुरूप नहीं है!
- (ग) श्रौर यह श्रष्टं श्रप्रासंगिक भी है। १। २ में मनु से वर्णों श्रौर श्राश्रमों के धर्मों का प्रक्षन है। इलोकों की संगति ध्यान देने योग्य है— 'श्राप वर्णों श्रौर श्राश्रमों के सब धर्मों को बतलाने में समर्थ हैं [१। २] तथा जगत् के विधानरूप वेदों के कर्त्तव्यरूप धर्मों को जानने वाले श्राप ही एकमात्र व्यक्ति हैं [१। ३]। इस प्रकार जो यहां प्रक्ष्त रूप में प्रष्टव्य है, उस के मनु वेदज्ञ होने से ज्ञाता हैं, श्रौर जिसके वे ज्ञाता हैं, वही उनसे प्रष्टव्य हो सकता है। वही मनुस्मृति में प्रतिपादित है। मनुस्मृति में धर्मों का प्रतिपादन है। उसी का प्रक्ष्त है। उसी प्रक्ष के उत्तर के मनु ज्ञाता हैं, इसी लिए उनसे वह प्रक्ष किया गया है।स्मृति में मनु से प्रक्ष तो धर्मों का किया है,जबिक

उन्हें विशेषज्ञ विद्वान् बताया जा रहा है केवल यज्ञों और ब्रह्म का! और मनुस्मृति में प्रतिपादन है मुख्य रूप से घर्मों का! यह विसंगति पूछे गये प्रश्न ग्रीर ग्रागे प्रतिपादित विषय की एक रूपता से ही दूर हो सकती है। वस्तुतः यहाँ मनु की 'वेदों के ग्रथों का ज्ञाता और वेद के प्रतिपाद्य या वेद में विहित घर्मों का समक्षते वाला' कहना ही ग्रिभिन्ने ते है। इसकी पुष्टि बारह वें ग्रध्याय के १०८—११४ श्लोकों से भी हो जाती है, जिनमें वेदवेत्ता को ही धर्म का उपदेश करने का ग्रादेश है, ग्रन्य को नहीं। इसी योग्यता के कारण ही महिंव लोग मनु के पास जिज्ञासा लेकर पहुंचे हैं। श्रीर उन्हीं धर्मों को समक्षते की योग्यता का वे वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार इस भाष्य में प्रस्तुत ग्रथं ग्रधिक संगत, युक्तियुक्त और मनुसम्मत है।

मनु का महर्षियों को उत्तर---

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगिमतौजा महात्मिभः। प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षोञ्छू यतामिति ॥ ४ ॥ (४)

(तैः) उन (महात्मिभिः) महर्षि लोगों द्वारा (सम्यक्) भलीभांति श्रद्धासत्कार पूर्वक (तथा) उपर्युक्त प्रकार से (पृष्टः) पूछे जाने पर, (सः ग्रमितौजाः) वह ग्रत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु (तान् सर्वान् महर्षीन्) उन सब महर्षियों का (ग्राच्यं) यथाविधि सत्कार करके (श्रूयताम् इति) 'सुनिए' ऐसा (प्रत्युवाच) उत्तर में बोले।। ४।।

अन्य श्री टिंडन : प्रथम चार इलोकों की मौलिकता पर विचार—यद्यपि १-४ इलोक मनुप्रोक्त इलोकों की भांति मौलिक नहीं हैं, तथापि ये शैली, घटना ग्रीर प्रश्न के ग्राधार पर मौलिक ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि भूमिका के रूप में इनका उल्लेख है। (१) मनुस्मृति की शैली से यह विदित होता है कि मनु के भावों (जो प्रवचन के रूप में थे) का संकलन भृगु या किसी ग्रन्य शिष्य ने किया है। संकलयिता ने इन इलोकों के द्वारा मनु के पास महिष्यों के ग्राने की घटना ग्रीर उनके प्रश्न का भूमिका के रूप में उल्लेख किया है। (२) घटना मौलिक है। (३) प्रश्न भी मौलिक है, ग्रतः संकलन-शैली के ग्रनुसार ये श्लोक मौलिक ही माने जायेंगे। जैसा कि कुछ टीकाकारों ने पांचवें श्लोक से मौलिक मनुस्मृति का प्रारम्भ माना है, उनका यह विचार आन्तिपूर्ण है। मनुस्मृति संकलित शैली का ग्रन्थ है. इस दिष्ट से ये चारों श्लोक मौलिक मंकितनरूप में ही हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उपयोगी होगा कि इस शैली के ग्राघार पर टीका-कारों ने उन सभी श्लोकों को मौलिक मान लिया है जिनमें मनु के नामपूर्वक वर्णन है ('महर्षिमंनुना भृगुः' १।६०॥ 'उक्तवान् मनुः' १।११८॥ 'मनुना परिकीर्तितः' १।१२६॥ मनुरक्षवीत् ८।३३६॥ ग्रादि)। उनका कहना है कि मनु के भावों के ग्राधार पर भृगु ने मनुस्मृति को रचा है,ग्रतः इस प्रकार के श्लोक ग्रसंगत नहीं लगते। यह विचार भी भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि, (१) मनुस्मृति मनु के भावों को लेकर रचा ग्रन्थ नहीं है, ग्रिपितु मनु के भावों का यथावत् उसी शैली में संकलन है। (२) संकलन में मौलिक ग्रंशों के बीच में संकलियता की ग्रोर से कोई बात नहीं कहीं जाती; ग्रतः मनूक्तवान् 'ग्रादि पद वाले श्लोक संकलियता की ग्रोर से कहे होने के कारण प्रक्षिप्त हैं, मौलिक नहीं। (३) १। ४ में 'श्रूयताम्' कहकर मनु उत्तर देना ग्रारम्भ करते हैं। इस शैली से सिद्ध है कि इस श्लोक के बाद मनु के द्वारा कहे विचारों का उत्तमपुष्य की शैली के माध्यम से जो कथन है, वही मौलिक संकलन है, ग्रन्य द्वारा नामोल्लेख-पूर्वक प्रदिशत वर्णन प्रक्षिप्त है। ग्रतः उन सभी श्लोकों को मूल संकलन से परवर्ती माना जाना चाहिए जो उत्तमपुष्य की शैली में नहीं हैं।

# (जगदुत्पत्ति-विषय)

[१।५से १०७, १४४]

उत्पत्ति से पूर्व जगत् की स्थिति—

## म्रासीदिवं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । स्रप्रतक्यंमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥ (५)

(इदम्) यह सब जगत् (तमोभूतम्) सृष्टि के पहले प्रलय में ग्रन्ध-कार से ग्रावृत्त च्य्राच्छादित था। ...... उस समय (प्रविज्ञयम्) न किसी के जानने (ग्रप्रतक्यम्) न तर्क में लाने ग्रोर (ग्रलक्षणम् ग्रप्रज्ञातम्) न प्रसिद्ध चिह्नों मे युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था ग्रोर न होगा। किन्तु वर्त्तमान में जाना जाता है ग्रोर प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता ग्रोर यथावत् उपलब्ध है ﴿ । (स० प० २१३)

क्षि(सर्वतः) सब म्रोर (प्रसृप्तम् इव) सोया हम्रा-सा पड़ा था ॥५॥

अर्जुटरी टिउन्स: मनुस्मृति के प्रश्न घोर उत्तर की संगति—प्रायः सभी टीकाकारों ने यहाँ यह शंका उठायी है कि महर्षियों ने घमंविषयक प्रश्न किया था। [१।२] किन्तु मनु ने सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन प्रप्रासंगिक रूप से क्यों किया? कुछ ग्रालोचकों ने इस वर्णन को प्रप्रासंगिक के साथ-साथ विश् खिलत भी माना है ग्रीर कुछ ग्रनुसन्धाताग्रों ने इसे प्रक्षिप्त ही घोषित कर डाला। वस्तुतः यह वर्णन न तो ग्रप्रासंगिक है, न विश्व खिलत ग्रीर न प्रक्षिप्त। ग्रालोचकों ने इस वर्णन को उक्त ग्रारोपों से मढ़कर भूल की है। मनुस्मृति की शैली को पहचानने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि यह वर्णन प्रासंगिक, श्रु ख्वलाबद एवं मौलिक है। इसकी सिद्धि में निम्न युक्तियाँ एवं प्रमाण हैं—

(१) मनुस्मृति की शैली—मनुस्मृति कुछ प्रमुख विषयों में विभाजित है ग्रौर इसकी यह शैली है कि जब कोई भी विषय प्रारम्भ होता है तो उसके प्रारम्भ, ग्रन्त ग्रथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत होता है। यहाँ भी 'ग्रस्य सर्वस्य' [१।३] पदों से ग्रगले [१। ४] वक्ष्यमाण विषय के प्रारम्भ का संकेत किया ग्रीर ग्रन्त में १।१४४ [२।२४] में 'संभवद्यास्य सर्वस्य' कहकर इस विषय का समापन संकेत भी दिया है। उसी क्लोक में फिर साथ ही ग्रगले विषय का संकेत भी है। इस प्रकार इस विषय का प्रारम्भ ग्रीर समापन का संकेत मनु ने स्वयं ही दे दिया है, ग्रीर इस तरह यह विषय पृष्ट प्रश्न से ग्रीर ग्रगले विषय से श्रुङ्खला वत् जुड़ा हुग्रा है। इस स्थिति में इसे ग्रप्रा-संगिक या विश्रुङ्खलित नहीं कहा जा सकता। जिन ग्रालोचकों ने इसे प्रक्षित्त कहा है ने मनु की ग्रीलो को नहीं पकड़ पाये।

- (२) शैली के आधार पर इस प्रसङ्ग के व्यवस्थित ग्रीर प्रासंगिक सिद्ध हो जाने के पश्चात् ग्रब यहाँ प्रश्न उठता है कि ग्रालोचकों ग्रथवा टीकाकारों को इस प्रसङ्ग को ग्रप्रासंगिक, विश्व ह्वलित एवं प्रक्षिप्त कह देने की भ्रान्ति कैसे हुई? ग्रीर मनु ने ऋषियों द्वारा धर्मों की जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर मृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन क्यों प्रारम्भ किया? इसके उत्तर में निम्न स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं—
- (क) मनु ने प्रश्न के अनुसार ही उत्तर के विषय को चुना है और यह वर्णन २-३ इलोकों के प्रश्न में निहित अवान्तर जिज्ञासाओं के समाधान के लिए प्रारम्भ किया गया है, जो पूर्णतः व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध है। टीकाकारों द्वारा प्रश्न-वर्णन करने वाले २-३ इलोकों का सही और संगत अर्थन समभने के कारण ही यह भ्रान्ति और शब्दा उत्पन्न हुई है।

टीकाकारों ने द्वितीय श्लोक को तो एकमात्र स्वतन्त्र प्रश्न माना है ग्रौर तृतीय श्लोक को स्वतन्त्र प्रशंसा-वाक्य । संगति की शब्दि से दोनों को ग्रसम्बद्ध रखते हुए उन्होंने इनका ग्रर्थ निम्न प्रकार किया है—

द्वितीय क्लोक—'हे भगवन् ! ब्राह्मणादि चतुर्वणों और 'श्रम्बष्ठ ग्रादि श्रनु-लोमज, 'सूत' ग्रादि प्रतिलोमज तथा 'भूर्जकण्टक' ग्रादि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये ग्राप योग्य हैं (इसलिये उनको कहिये)।''

तृतीय क्लोक—''क्योंकि हे प्रभो! एक ग्राप ही सम्पूर्ण ग्रपौरुपेय, ग्रचिन्त्य तथा ग्रप्रमेय वेद के ग्रग्निष्टोम ग्रादि यज्ञकार्य के ग्रौर ब्रह्म के जानने वाले है।''

टीकाकारों द्वारा ऊपर प्रदिशित ग्रर्थ करने से यहां विषय-वर्णन की सङ्गिति का क्रम नहीं बन पाता। द्वितीय श्लोक में मनु से प्रश्न तो धर्मों के विषय में है ग्रीर नृतीय श्लोक में उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें विद्वान् वताया जा रहा है—वेद में विहित्त ग्रिगिष्टोम ग्रादि यज्ञों का ग्रीर ब्रह्म का। जबिक सङ्गत वात तो तभी मानी जा सकती है जब जिस विषय का प्रश्न किया हो, उस समय उसी विषय में उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा की जाय। यह क्या कि मनु से प्रश्न किसी ग्रन्य विषय का किया जा रहा है ग्रीर उनको विद्वान् किसी ग्रन्य विषय का बताया जा रहा है!

(ख) इसी प्रकार एक त्रुटि यह हुई कि तृतीय श्लोक के 'प्रस्य सर्वस्य' सर्वनामों

को वेदों का विशेषण मानकर स्रथं किया है, जबकि ये 'जगत्' स्रथं के संकेत देने वाले हैं।

वस्तुतः ये दोनों ही श्लोक सम्बद्ध ग्रीर एकवाक्यास्मक हैं। तृतीय श्लोक, द्वितीय श्लोक के वाक्य का पूरकवाक्य है। उनमें द्वितीय श्लोक में किये गयें प्रश्न के सन्दर्भ में कारणपूर्वक मनु की प्रशंसा है कि 'हम ग्रापके पास ही जिज्ञासा लेकर ग्राये हैं।' तृतीय श्लोक में जाकर यह वाक्य पूर्ण होता है—'क्योंकि ग्राप ही इस विषय के एकमात्र विशिष्ट विद्वान् हैं।' फिर चतुर्थ-पञ्चम श्लोकों से मनु जो उत्तर देना शुरू करते हैं, उसका चुनाव उन्होंने इन्हीं श्लोकों के 'ग्रस्य सर्वस्य' पदों के ग्रनुसार ही किया है। इन श्लोकों का ग्रथं इस प्रकार करना चाहिए—

'हे भगवन्! स्राप सब वर्णों एवं स्राश्रमों के धर्मों को ठीक-ठीक स्रीर क्रमशः वतलाने में समर्थ हैं, क्योंकि, हे प्रभो! इस जगत् के विधानरूप स्रपौरुषेय, स्रचित्त्य स्रीर स्रपरिमितज्ञानयुक्त वेदों के प्रतिपाद्य अथवा व्यावहारिक तत्त्व स्रर्थात् धर्मों स्रौर वेदार्थों के जाता एकमात्र स्राप ही हैं। (अतः हमें वर्णों एवं स्राक्षमों के धर्मों का प्रवचन कीजिए)।'' इस प्रकार वेदों में जिन बातों को धर्म बतलाया है, उनको या वेदों में विहित धर्मों को जानने वाले विधिष्ट विद्वान् मनु हैं। अथवा वेदों का प्रतिपाद्य धर्म भी है, यतो हि १।१२५, १३१ [२।६,१२] स्लोकों में धर्म का मूलस्रोत वेद को ही माना है, इसलिए भी मनु इस विषय के विद्वान् हैं। इसी विषय का मनु को प्रवचन करना है सौर इसी विषय में उनसे प्रश्न किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुम्ना कि जो पृष्ट-विषय है, उसी के सन्दर्भ में मनु की प्रशंसा है, जो प्रशंसित एवं पृष्ट-विषय है उसी का मनुस्मृति में प्रतिपादन है, यह सुसंगति वन जाती है।

- (ग) इन इलोकों में सक्षेप में मनु से यह कहा है कि 'इस जगत् के विधानरूप प्रपौर्षय वेदों के धर्मों को जानने वाले ग्राप हैं, ग्रतः हमें वर्णों एवं ग्राश्रमों के धर्मों को कहिए।' मनु ने इलोकों में ग्रन्तिनिहित जिज्ञासाओं के ग्रनुसार ही ग्रपने उत्तर को प्रारम्भ किया—'यह जगत्, जिसके लिए वेदों को विधानरूप में रचा, इसकी क्या स्थिति है ? [१। ४–६७], वेद जगत् के विधानरूप कैसे हैं ? क्योंकि वे ईश्वर से उत्पन्त हुए हैं ग्रीर उन्हीं से कर्मों, नामों का विभाजन तथा निर्धारण किया गया है [१।२१,२३,६७—६१] वेदों से धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है और यह धर्म किन लक्षणों वाला है ? [१।१२०—१४४ या २।१—२५] दस प्रकार तृतीय इलोक से उद्भावित होने वाली जिज्ञासाओं का १।१४४ [२।२४] तक कथन करके फिर द्वितीय इलोक के मुख्य प्रदर्त धर्मों के वर्णन 'पर ग्राते हैं ग्रीर १।१४४ [२।२४] में 'वर्ण धर्मान् निबोधत' कहकर उनका वर्णन शुरू करते हैं। इस प्रकार तृतीय इलोक के ग्रसंगत ग्रपं के कारण इस वर्णन को ग्रप्रासङ्गिक कहने की भ्रान्ति हुई है। (विस्तृत जानकारी के लिए१। ३ इलोक पर 'ग्रनुशीलन' नामक समीक्षा देखिए)।
- (३) १। ५ से १। १४४ (ग्रन्य संस्करणों के ग्रनुसार २। २५) इलोकों का यह वर्णन मनुस्मृति की भूमिका-रूप है। ग्रीर जिस प्रकार भूमिका में लेखक ग्रपने विषय

से सम्बद्ध सभी भावश्यक संभावित बातों की जानकारी दिया करता है, इसी प्रकार मन् ने धमों से सम्बद्ध सभी ग्रावश्यक संभावित जिज्ञासाओं के समाधान के लिए इस वर्णन को प्रारम्भ किया है। विषय की दृष्टि से यह ग्रावश्यक भी था। मनु ने इस वर्णन में जिन बातों का संक्षेप में वर्णन किया है, धर्मों का ग्रध्ययन करते समय वे शक्काएं सभी के मन में उठनी स्वाभाविक हैं, श्रतः भूमिका के वर्णन में, मनू ने पहले ही उनके विषय में अपना मत प्रकट कर दिया है। जैसे--मन्स्मृति में जिन धर्मों का वर्णन किया जा रहा है उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? [१।१२६ या २।१०] उस धर्म का क्यालक्षण है? [१।१२५,१३१ या २।६,१२] जिस जगतु में धर्म की ग्राव-श्यकता है उसकी क्या स्थिति है ? उसमें कर्मानुसार जीवों की गतियाँ किस प्रकार हैं ? [१। ५-५७, १। ४२-५०] जिससे व्यक्ति धर्म के प्रति प्रेरित हो सके। धर्मोत्पत्ति जगदाश्रित है, इसलिए धर्मोत्पत्ति से पूर्व जगदुत्पत्ति का वर्णन है। वेदों को धर्म का स्रोत इसलिए माना है क्योंकि वे अपौरुषेय हैं [१।२१-२३]। इस जगत् का उत्पत्ति, स्थिति श्रीर प्रलयकर्त्ता सर्वशक्तिमान परमात्मा है, वही वेदों और वेदों के द्वारा धर्मों का विधान करने वाला है, ग्रतः उस ईश्वर द्वारा विहित धर्मी का मनुष्यों को पालन करना चाहिए, इत्यादि बातों की जानकारी के लिए ही मनु जी ने यह वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया है। संध्या के मन्त्रों में 'ऋतञ्च सत्यञ्च' ग्रादि तीन मन्त्र हैं, उनको वेदोत्पत्ति, भाववृत्त ग्रथित् मुष्टि-उत्पत्ति, स्थिति ग्रीर प्रलय का वर्णन करने वाला कहा गया है, एवं इन मन्त्रों को 'ग्रघमर्षण' ग्रथति पाप दूरीकरणार्थ कहा जाता है। क्योंकि धर्माचरण से अधर्म की निवृत्ति होती है। अतः मनुस्मृति में कथित ये इलोक ग्रप्रासिङ्गक नहीं हैं। ग्रघमर्षण मन्त्रों में वेद की उत्पत्ति ईश्वर से बताई है।

(४) मनुस्मृति की साङ्गोपाङ्ग शैली—मनु ने साङ्गोपाङ्ग शैली अपनायी है। प्राचीन शास्त्रों में इस शैली का प्रचलन था यथा—'श्रयातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' (वेदान्त १।१-२)। इस शैली की यह पद्धित है कि सबसे महान् तत्त्व परमेश्वर के वर्णन को प्रारम्भ करके क्रमानुसार अपने विषय पर लाया जाता है। इससे दो बातों का संकेत मिलता है कि उस शास्त्र का चरमप्रयोजन ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करना है और उस विषय का उस परम तत्त्व से सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी धर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से दर्शाया है, क्योंकि धर्म वेदों के माध्यम से ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट हैं, और इन धर्मों का पालन करके मोक्षप्राप्ति या आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य वनाना इन शास्त्रों का चरम-उद्देश्य है। जैसे कहा भी है—''ब्राह्मीयं क्रियते तनुः [२। २६ या इस संस्करण में २। १]।

जगदुत्पत्ति श्रीर उसका क्रम---

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तोजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥ (६)
(ततः) तब (स्वयम्भूः) ग्रपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी

दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला (अब्यक्तः) स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला (तमोनुदः) 'तम' रूप प्रकृति का प्रेरक = प्रकटावस्था की ओर उन्मुख करने वाला (महाभूतादि वृत्तौजाः) अग्नि, वायु श्रादि महाभूतों को, 'आदि' शब्द से महत् ग्रहङ्कार ग्रादि को भी [१।१४ –१५] उत्पन्न करने की महान् शक्ति वाला (भगवान्) परमात्मा (इदम्) इस समस्त संसार को (ब्यञ्जयन्) प्रकटावस्था में लाते हुए ही (प्रादुरासीत्) प्रकट हुआ।।६॥ +

अन्य की ल्डिन : (१) स्वयम्भू का सही अर्थ — यहां कुल्लू कभट्ट ग्रांदि टीकाकारों ने 'स्वयम्भूः' का अर्थ 'स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाला' (स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति) यह विरुद्ध अर्थ किया है। इसी श्लोक में परमात्मा के लिए 'ग्रव्यक्तः' विशेषण प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है — 'जो कभी स्थूल रूप में प्रकट नहीं होता।' इससे स्पष्ट है कि परमात्मा सदा सूक्ष्म रूप में ही रहता है, कभी शरीरधारण नहीं करता। इसके विरुद्ध होने से कुल्लूक का उक्त अर्थ ग्रमान्य है।

इस प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द द्वारा प्रदत्त 'स्वयम्भू' शब्द की ब्युत्पत्ति उल्लेख-नीय है—''(भू सत्तायाम्) 'स्वयम्' पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। 'यः स्वयं भवति स स्वयंभूरीश्वरः' जो ग्राप से ग्राप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुग्ना है, इससे उस परमात्मा का नाम ''स्वयम्भू' है।" (स॰ प्र॰ प्र॰ समु॰) प्रमाण रूप में इसी श्लोक की समीक्षा में वेदमन्त्र 'घ' भाग देखिए।

(२) परमात्मा की प्रकटता से श्रीमप्राय—परमात्मा के प्रकट होने से भी यहां तात्पर्यं 'जगत् को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट होने' से हैं। इसी भाव की श्रीर इंगित करने के लिए ही मनु ने 'व्यव्जयन् इदम्' पाठ का प्रयोग किया है। यदि मनु को स्वतन्त्र रूप से ग्रथवा बिना जगत् की प्रकटता के ही परमात्मा की प्रकटता ग्रभीष्ट होती तो वे परमात्मा की प्रकटता के साथ जगत् की व्यक्तता वर्णित नहीं करते, श्रपितु पहले स्वतन्त्र रूप से परमात्मा की उत्पत्ति दश्ति, परमात्मा की उत्पत्ति के बाद फिर जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करते। जगत् की प्रकटता को देखकर ही परमात्मा की सत्ता प्रतीत होती है। जगत् को प्रकटावस्था में लाना ही परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति है, जगत् को प्रलयावस्था में लाना इसकी श्रप्रकटता है। १। ५२—५४ दलोकों में परमात्मा की इन्हीं श्रवस्थाओं को क्रमशः 'जाग्रत्' ग्रौर 'सुषुप्ति' कहा है। इन श्लोकों से उक्त बातों की पुष्टि भलीभांति हो जाती है। ग्रतः इस श्लोक में किसी शरीरधारी के रूप में परमात्मा की उत्पत्ति प्रदिश्त करना, श्रशुद्ध एवं मनुस्मृति के विरुद्ध है।

<sup>+ [</sup>प्रचलित अर्थ-तब स्वयम्भू (स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले), अव्यक्त = इन्द्रियों के अगोचर (नेत्र आदि इन्द्रियों से नहीं किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति प्रेरक), भगवान आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥]

- (३) सृष्टच स्पत्ति विषयक वेदमन्त्रों के प्रमाण नीचे प्रमाण रूप में वेदों के मृष्टच दुर्पति एवं पुरुषसूक्त के कुछ ऐसे मन्त्र उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनसे सृष्टच स्पत्ति विषय पर प्रकाश पड़ता है। इनमें परमेश्वर को निराकार, श्रजन्मा ग्रादि दशिया गया है। मनु ने इन्हीं भावों को १।५—६ श्लोकों में संकलित किया है—
  - (क) ''तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सिलर्लं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाम्चिपिहितं यदासीस्तप्सस्तन्महिना जायतंकम्।। (ऋ०१०।१२६।३)

यह सब जगत् सृष्टि से पहिले अन्यकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के एकदेशी आच्छा-दित था, पदचात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया॥" (स० प्र० २०७)

> (ख) ''नासटासीन्नो सदासीसदानीं नासीद्रजो नो घ्योमा परो यत् । किमावरीयः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गमीरम् ॥ (ऋ०१०।१२६।१)

(नासदासीत्) जब यह कार्यमुष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशिक्तमान् परमेश्वर ग्रौर दूसरा जगत् का कारण ग्रर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी, उस समय (असत्) शून्यनाम ग्राकाश ग्रर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं ग्राता सो भी नहीं था, क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था (नो सदासीत् तदानीं०) उस काल में सत् ग्रर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण ग्रौर तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है, वह भी नहीं था (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नो व्योमा०) विराट् ग्रयीत् जो सव स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था (किमाव०) जो यह वर्त्तमान जगत् है, वह भी शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढक सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढक सकता। उस जल से नदी में प्रवाह नहीं चल सकता, ग्रौर न कभी वह गहरा ग्रौर उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर ग्रनन्त है ग्रौर जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की ग्रपेक्षा से कुछ भी नहीं है।"

(ऋ० भू० ११७)

(ग) ''प्रजापितश्वरित गर्भे अन्तरजायमानो बहुषा विजायते ।''(यजु० ३१ । १६)

जो प्रजा का पित प्रथात् सब जगत् का स्वामी है वही जड़ भीर चेतन के भीतर भीर बाहर भन्तयिमी रूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् को उत्पन्न करके भ्रपने भ्राप सदा भ्रजन्मा रहता है।" (ऋ० भू० १३३)

(घ) निम्न वेद-मन्त्र में परमेश्वर को 'स्वयम्भू' विशेषण से ग्रिभिहित करते

हुए सूक्ष्म, अन्तर्यामी, शरीररहित, जन्म-मरण रहित और सृष्टि तथा वेदार्थों का प्रकाशक कहा है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमद्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविमंनीषी परिमू: स्वयम्मूर्यायातथ्यतोऽर्थान् व्यवधात् शाहवतीम्यः समाम्यः ॥ (यज्०४०। ८)

(ङ) "हिरण्यगर्भः समवतंताप्रे भूतस्य जातः पतिरेक द्यासीत्। स दाघार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविवा विवेम ॥ (ऋ०१०।१२१।१)

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का ग्राधार और जो यह जगत् हुग्रा है ग्रौर होगा, उसका एक ग्रद्धितीय पित परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था ग्रौर जिसने पृथिवी से लेके सूर्य्यपर्यंन्त जगत् को उत्पन्न किया है।"

(स॰ प्र॰ २०७)

(च) "पुरुष एवेदं सर्वे यद्भूतं यच्च मान्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (यजु०३१।२)

(पुरुष एवे॰) जो पूर्वोक्त विशेषणसहित पुरुष मर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुमा था जो होगा भौर जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है, उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है, क्योंकि वह (ईशान) मर्थात् सर्वशक्तिमान् है (म्रमृत) जो मोक्ष है उसका देने वाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं; सो परमेश्वर (म्रन्न) मर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इससे म्रलग भी है क्योंकि उसमें जन्म मादि व्यवहार नहीं हैं भौर अपने सामर्थ्य से सब जगत् का उत्पन्न भी करता है भौर म्राप कभी जन्म नहीं लेता।"

(ऋ० भू० १२०)

## (छ) ''तस्य स्वष्टा विवधत् रूपमेति ।'' (यजु० ३१ । १७)

जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्तमान था। जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्यरूप जगत् को रचता है, तब-तब कार्यजगत् रूप गुरावाला होके स्थूल बनके देखने में आता है।" (ऋ० भू० १३१)

ईश्वर की उत्पत्ति—

योऽसावतीन्द्रियप्राह्यः सूक्ष्मोऽन्यक्तः सनातनः । सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एवं स्वयमुक्तनौ ॥ ७ ॥

(यः श्रसी) जो यह (अतीन्द्रियग्राह्यः) भारमा के द्वारा भनुभव किया जा सकने वाला (सूक्ष्मः) सूक्ष्मरूप (भ्रव्यक्तः) भव्यक्त (सनातनः) निरय (सर्वभूतमयः) सब प्राणियों का ग्राश्रयस्थान भीर (भ्रचिन्त्यः) चितन द्वारा पार न पाया जा सकने वाला है (स एव) वही (स्वयम्) पहले स्वयं (उद्बमी) प्रकट हुमा ॥ ७ ॥ श्रप्-तत्त्व की सर्वप्रथम उत्पत्ति---

#### सोऽमिष्याय शरीरात्स्वात्सिसृसुर्विविधाः प्रजाः । ग्रंप एव ससर्जाऽऽवी तासु बीजमवासुजत् ॥ ८ ॥

(स्वात् शरीरात्) ग्रपने शरीर=प्रकृति से (विविधाः प्रजाः) ग्रनेक प्रकार की प्रजाग्रों की (सिसृक्षुः) सृष्टि करने की इच्छा वाले (सः) उस परमात्मा ने (ग्रभिष्याय) ध्यान करके (ग्रादौ) पहले (ग्रपः एव) ग्रप्-तत्त्व को ही (ससर्ज) रचा, ग्रीर फिर (तासु) उन ग्रप्तत्त्वों में (बीजम्) शक्तिरूपी बीज को (ग्रवासृजत्) छोड़ा ॥ ८॥

ब्रह्मा की उत्पत्ति-

तदण्डमभवद्वेमं सहस्राशुसमप्रमम् । तस्मिअज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वेलोकपितामहः ॥ ६ ॥

(तत्) फिर वह बीज (सहस्रांशुसमप्रभम्) हजारों सूर्यों की ज्योति के समान (हैमम् ग्रण्डम्) सुनहरी ग्रण्डे के रूप में (ग्रभवत्) परिणत हो गया (तिस्मन्) फिर उसमें (सर्वलोकपितामहः) सब लोगों के पितामह के समान (ब्रह्मा) ब्रह्मा (स्वयम्) श्रपने ग्राप (जज्ञे) उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥ 'नारायण' शब्द की निरुक्ति—

म्रापो नारा इति प्रोक्ता आपो व नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ १०॥

(ग्रापः नारा इति प्रोक्ताः) जल ग्रौर जीवों का नाम नारा हैॐ (ताः)वे + (ग्रयनं यत् + ग्रस्य) ग्रयन ग्रर्थात् निवासस्थान हैं जिसका (तेन नारायणः स्मृतः) इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम 'नारायण' है ॥१०॥ (स० प्र० १६)

🤲 (वै) क्योंकि (म्रापः) म्रप् नामक प्रकृति की प्रथम विक्षोभावस्था म्रथवा जीव (नरसूनवः) परमात्मा से उत्पत्ति = जन्मादि धारण करते हैं।

+ (पूर्वम्) सर्वप्रथम ।

ब्रह्मा के स्वरूप का कथन---

यत्तत्कारणमध्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । तद्विसुष्टः स पुरुषो भोके ब्रह्मोति कीत्यंते ॥ ११ ॥

(यत् तत्) जो वह उपर्युक्त (कारणम्) सृष्टि का कारण (नित्यम्) नित्य (ग्रन्थक्तम्) ग्रव्यक्त (सद्-ग्रसद् + ग्रात्मकम्) सत्-ग्रसत् स्वरूप परमात्मा है (तद् + विसृष्टः) उससे उत्पन्न (पुरुषः) पुरुष (लोके) लोक में (ब्रह्मा + इति) 'ब्रह्मा' इस नाम से (कीत्यंते) पुकारा जाता है ॥ ११ ॥

ग्रण्डे के दो खण्ड करना---

तस्मिन्नण्डे स**मगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।** स्वयमेवाऽऽरमनो ध्यानात्तवण्डमकरोदृद्विषा ॥ १२ ॥ (तस्मिन् + ग्रण्डे) उस<sup>्</sup>ग्रण्डे [१ । ६] में (परिवत्सरम्) एक वर्ष तक = ब्रह्मा के वर्षप्रमाण के अनुसार ३६० ब्राह्मदिन तक (उिषत्वा) निवास करके (सः भगवान्) उस भगवान् ने (स्वयम् + एव + आत्मनः ध्यानात्) स्वयं ही ग्रपने ध्यान से (तत् + ग्रण्डम्) उस ग्रण्ड को (द्विधा + ग्रकरोत्) दो टुकड़ों में कर दिया॥ १२॥ ग्रण्ड-खण्डों से लोकों की रचना—

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं सूमि च निर्ममे । मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ।।

(च) ग्रीर (सः) उस ब्रह्मा ने (ताम्यां शकलाम्याम्) उन दोनों टुकड़ों से (दिवं भूमि च) द्युलोक ग्रीर पृथिवीलोक की (च) ग्रीर (मध्ये) बीच में (व्योमः दिशः च ग्रष्टी) ग्राकाश ग्रीर ग्राठों दिशाग्रों की (च) तथा (ग्रपां शाश्वतं स्थानम्) जलों के नित्य स्थान—समुद्रों की (निर्ममे) रचना की ॥ १३॥

आनुश्रीत्जन्तः ७ से १३ श्लोकों का यह प्रसङ्ग एक भिन्न प्रसङ्ग के रूप में विणत है और यह मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है। निम्न 'ग्राघारों' की कसौटी पर यह प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

१. शैलीगत भाषार--(१) मनुस्मृति में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन एक निश्चित ग्रौर संक्षिप्त शैली से हुन्ना है।यह देखने में म्राया है कि मनू जहाँ भी कहीं सुष्टयुत्पत्तिका प्रारम्भ प्रयवा प्रलय दशति हैं,वहां वे सीघे मन = महत्तत्त्व की ही उत्पत्ति ग्रीर विलय का उल्लेख करते हैं, यथा—(क) प्रलयदशा के अनन्तर सृष्ट्यूत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता हुग्रा परमात्मा—'मृजतिमनः सदात्मकम्' [१।७४] 'मनः सृष्टि विकुरुते चोद्यमानं सिस्क्षया' [१।७४] (ख) प्रलयदशा ग्राने पर भी सीघे मन का उल्लेख है--- 'तस्मिन् स्विपिति सुस्थे तु कमात्मानः शरीरिणः । स्वकर्मस्यो निवर्तन्ते मनद्य ग्लानिमुच्छति'।। [१।४३] इसी प्रकार इस प्रसंग में भी मनुकी वर्णनशैली की पद्धति के अनुसार परमात्मा के सृष्टिरचना में प्रवृत्त होने के बाद, भन = महत् का ही सर्व-प्रथम उल्लेख है [१।६,१४]। इन बातों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुकी वर्णनशैली के अनुसार यहाँ छठ श्लोक में परमात्मा की प्रकटता के पश्चात् सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति दर्शाने वाला चौदहवां श्लोक ही होना चाहिए। बीच के ये श्लोक ग्रप्रासंगिक रूप से ब्रह्मा, द्युलोक ग्रादि की उत्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं, ग्रतः मनु की वर्णनशैली के अनुरूप न होने से प्रक्षिप्त हैं। (२) इन श्लोकों की भाषाशैली भी यह स्पष्ट करती है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं — (क) छठे श्लोक में स्वाभाविक क्रम से ग्रीर साधारण ढंग से परमात्मा की उत्पत्ति कह दी है, ग्रीर फिर इसके बाद ग्रानेवाला वर्ण्य विषय इसी क्रम श्रीर शैली से १४ वें श्लोक से प्रारम्भ होता है। बीच में 'योऽसी' [१। ७]—'जो यह परमात्माः वह ही पहले स्वयं उत्पन्न हुम्रा'—'स एव स्वय-मुद्दमौ' (१।७) कहकर पुनः परमात्मा की उत्पत्ति बतलाने का प्रसंग प्रारम्भ करके उसमें ब्रह्मा की उत्पत्ति का कथन करना यह सिद्ध करता है कि प्रचलित प्रसंग को तोड़कर 'योऽसौ' के द्वारा एक नये भिन्न प्रसंग की रचना की गई है, और उसे यहां क्षेपक के रूप में बलात डाल दिया है। 'स एव स्वयमुद्दबभी' वाक्यखण्ड की रचना

ही यह स्पष्ट करती है कि इसके मूल में किसी भिन्न कल्पना या प्रसंग को प्रारम्भ करने की आग्रहबद्धता है। अन्यथा छठे श्लोक में इसी अभिप्राय का कथन हो चुकने पर पुनः उसी भाव को इतने ग्राग्रह के साथ कहने की ग्रावश्यकता ही नहीं थी। सातवें क्लोक के इस भाव के प्रसंग का ग्रगले क्लोकों में 'सः' [१। c] 'तत्' [१। E] 'ताः' [१।१०] 'यत्तत्' [१।११] 'तस्मिन्' [१।१२] 'ताम्याम्' [१।१३] ग्रादि सर्व-नामों के द्वारा विस्तार किया गया है, लेकिन १४ में श्लोक से यह सम्बन्ध टूट-सा जाता है, जिससे यह लगता है कि इन श्लोकों का यह एक भिन्न प्रसंग है, जिसका न तो छठे क्लोक से प्रवाह जुड़ता है ग्रीर न १४ वें से। यदि यह मौलिक क्रम होता तो १। ७ में 'योऽसी' कहकर पूर्वश्लोक के भाव को पुनः ग्रीर नये ढंग से कहने की ग्राव-श्यकता नहीं **थी,** प्रपितु 'तत्' या 'सः' पदों के द्वारा उसी प्रवाहक्रम में जुड़ा होता, जैसे सातवें श्लोक से ५--- १३ श्लोक एक प्रवाहक्रम में जुड़े 🕏 । यह भाषाशैली की प्रवाह-भङ्गता इस प्रसंग को प्रक्षिप्त सिद्ध करती है। (ख) १४ वें क्लोक की प्रथम पंक्ति की शब्दावली तो ग्रत्यन्त स्पष्ट रूप से ७-१३ श्लोकों के प्रसंग को प्रक्षिप्त सिद्ध कर रही है तथा यह संकेत दे रही है कि १४ वें क्लोक का छठे से प्रसंग जुड़ता है, तेरहवें से नहीं। वह है-- "उद्बवह धारमनश्चेव मनः प्रयत् फिर परमात्मा ने स्वाश्रय से महत् को उत्पन्न किया। यहां 'च' ' एव' प्रसंगसंयोजक भ्रव्यय हैं। इस भ्रथं से यह स्पष्ट हुम्रा कि इस क्लोक से पूर्व प्रकृतिप्रेरक परमात्मा की उत्पत्ति का वर्णन होना चाहिए, फिर "ग्रास्मनइचैव मनः" ग्रीर प्रकृति के बाद मन = महत् की उत्पत्ति हुई। १३ वें श्लोक में पृथिवी, द्युलोक ग्रादि का वर्णन है, ग्रतः उसके बाद "ग्रात्मनः च एव" का प्रयोग संगत ही नहीं होता । इस प्रकार छठे श्लोक के बाद १४ वां होना चाहिए, बीच के ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। (ग) छड़े क्लोक में परमात्मा के लिये 'इदं महामृतादिक्यञ्जयन्' इन महा-भूत भादि तत्त्वों को उत्पन्न करते हुए पठित है, जो यह संकेत देता है कि मनू को पर-मात्मा द्वारा बह्या की उत्पत्ति ग्रभीष्ट नहीं है,या वे ग्रग्निम प्रसङ्ग में बह्या ग्रादि ग्रन्य किसी की उत्पत्ति का वर्णन नहीं दिखाना चाहते, ग्रपितु महत् महाभूत ग्रादि तत्त्वों की उत्पत्ति श्रीर उन्हीं का वर्णन करण लाहते हैं। इसके वारा करोंने क्रिया कर

का संक्षित्र प्रमुक्त पुष्य है आर उनम अव्याप्त वाय है, याद अण्ड की कल्पना द्वारा उसके दो दुकड़ों से चुलोक, पृथिवी और समुद्र की रचना मानी जाये,तो अनेक प्रश्न उठेंगे, कि जब अण्डे का निर्माण हुआ तो क्या संसार के प्रत्येक स्थान में वह अण्डा व्याप्त या अथवा कुछ स्थान को घेरे था? यदि सम्पूर्णरूप से व्याप्त था तो दुकड़े होने पर इतना आकाश का स्थान कैसे निकल आया? और यदि कुछ स्थान को घेरे था, तो बाकी स्थान में क्या था? यदि वहाँ आकाश था,तो अण्डे के दुकड़े करने के बाद आकाश का निर्माण क्या? यदि वहाँ आकाश था,तो अण्डे के दुकड़े करने के बाद आकाश का निर्माण क्या? यह कैसे हुआ कि अण्डे के एक दुकड़े से तो केवल पृथिवी बनी और शेष

एकटुकड़े से सारे सूर्य-चन्द्र म्रादि ग्रह बने जबिक सूर्य पृथिवी से बहुत बड़ा है। शेष ग्रह, पर्वत म्रादि ब्रह्माण्ड की चीजें कैसे, किससे बनीं; यह बताया ही नहीं। दिशाएँ कोई पृथक् वस्तुविशेष नहीं है, जिनका निर्माण करना पड़े। इस प्रकार म्रण्डे की प्रक्रिया से सृष्टिरचना की कल्पना ग्रयुक्तियुक्त है, जो मनुसद्दश विशेषज्ञ विद्वान् के वर्णन में स्थान नहीं पा सकती।

- २. पुनरुक्ति—शब्दों एवं भावों की दृष्टि से पुनरुक्ति मात्र है। छुठे श्लोक के भाव को सात्रवें श्लोक में कुछ नये विशेषणों को साथ जोड़कर पूर्ववत् कह दिया है, जिससे कोई नया प्रथं व्यक्त नहीं होता। पूर्व श्लोक में "ततः स्वयम्भू " प्रमात्मा इस संसार को प्रकट करते हुए प्रकट हुग्ना) कहा गया है। सात्रवें श्लोक में भी परमात्मा के उत्पन्न होने की बात कही है। शब्दों की पुनरावृत्ति भी— 'श्रव्यक्तः' की ज्यों की त्यों, 'स्वयम्भू प्रादुरासीत्' की 'स एव स्वयमुक्बभी' के रूप में है। स्पष्ट है कि एक नया प्रसङ्ग रचने के लिए "योऽसीं" कहकर पुनः भूमिका बनायी गयी है, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति कही जा सके। इस प्रकार पुनरुक्ति होने से यह श्लोक मौलिक नहीं है, श्रौर क्योंकि शेष ६—१३ श्लोकों के वर्णन का यह स्राधारभूत श्लोक है, अतः इस पर आधारित होने से वे भी मौलिक नहीं हैं।
- ३. ध्रन्तिंबरोध—प्रन्तिंवरोध के ग्राधार पर यह प्रसङ्ग मौलिक सिद्ध नहीं होता—(१) छठे श्लोक में अव्यक्त परमात्मा द्वारा ही समस्त जगत् की ग्रौर महाभूत ग्रादि तत्त्वों की उत्पत्ति कही है। इन श्लोकों में ब्रह्मा के द्वारा [६, १३] सृष्टित की उत्पत्ति कहना उसके विरुद्ध है। (२) छठे श्लोक में 'व्यक्जयन् इवं प्रादुरातीत्' ग्रथीत् इस जगत् को प्रकट करते हुए ही परमात्मा की प्रकटता या उत्पत्ति दर्शायी है, जबिक सातवें श्लोक में पहले परमात्मा की स्वतन्त्र रूप से उत्पत्ति दिखाई है ग्रौर फिर बाद में शेष जगत् की उत्पत्ति। दोनों मान्यताग्रों में यह पर्याप्त विरोध है। (३) मनु

े ०१) कहा है। इन **श्लोकों** 

मानना, ६, १७ दलोकों में उसे एकदेशीय मानना उक्त मान्यताओं के विरुद्ध है। उक्त विशेषणों से निर्दिष्ट ईश्वर न कभी जन्म धारण कर सकता है, न वह सर्वव्यापक होते हुए एकदेशी हो सकता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उपयोगी रहेगा कि छठे श्लोक में परमात्मा का जो प्रकट होना कहा है, वह जगत् की प्रकटता के रूप में ही प्रपने को प्रकट करना है, न कि किसी धारीरी के रूप में। सृष्टि को उत्पन्न करने के लिये सिक्रय होना ही। उसकी उत्पत्ति और प्रकटता है और सिक्रय न होना ही प्रसय दशा है। १। ५२-५४ श्लोकों में परमात्मा की इन अवस्थाओं को जाग्रत और सुष्टुप्ति के रूप में

वर्णित किया है। इन श्लोकों से 'ब्रह्मा शरीर धारण करके सृष्टि रचता है स्रौर फिर अन्तर्धान हो जाता है' [१।७---१२,५१],इस प्रक्षिप्त भ्रान्ति का भी खण्डन हो जाता है। (४) बीज से एक अण्डा बनना, अण्डे में केवल एक ब्रह्मा की उत्पत्ति और <sup>प्रण्डे</sup> से लोकों का निर्माण तथा ब्रह्मा से विराट, विराट् से मनु के वंशक्रम से जो सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना का प्रसङ्क है [१।७-१२,३२-४१,४०,४१], यह मनु-र्वाणत मौलिक ग्रौर मुख्य प्रसङ्ग से ग्रनेक प्रकार से खण्डित होने से विरुद्ध सिद्ध होता है—(क) मनु ने समस्त स्थावर जङ्गम जगत् की उत्पत्ति महत्, ग्रहंकार ग्रौर पञ्चभूतों के क्रम से मानी है [१।१४—१६,१८,१६,२०,२१,७४-७८], जब कि इस प्रसङ्ग में स्थावर की उत्पत्ति ग्रण्डे से [१।१२,१३] तथा प्राणियों की विराट् द्वारा [३२--४०] मानी है। (ख) मनुने एकसाथ स्रनेक प्राणियों स्रीर पदार्थों की रचना स्वीकार की हैं—'ब्यञ्जयन् इंदम्" [१।६] 'सर्वेषां तुनामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्' 'म्रानिवायुरविम्यस्तु' [१। २१] [१। २३] 'द्वन्द्वरयोजयेच्चेमाः सुलःदुला-विभिः प्रजाः [१।२७] 'यं त्यस्मिन कर्मणि' [१।२८] 'ब्राह्मणं क्षत्रियं वैद्यं गुद्रं च निरवर्तयत्' [१।३१] इनसे सिद्ध है कि केवल ब्रह्मा और उसके वंश से मुष्टि का प्रारम्भ मन्विरुद्ध प्रक्षिप्त कल्पना है। ग्राश्चर्य तो इस बात पर होता है कि इतने ग्रधिक स्लोकों में मनू ने एकसाथ स्पष्ट शब्दों में विभिन्न प्रकार की सुष्टि की उत्पत्ति कही है, ग्रीर वह भी उस श्लोक से पूर्व वर्णित है, जहां से ब्रह्मा द्वारा मुख्टि उत्पन्न करने की बात शुरू की है। [१।३२—४०], फिर भी प्रक्षेपक ने कैसे ब्रह्मा के बंश से मृष्टि-उत्पत्ति का वर्णान करने का दुस्साहस किया ग्रौर ग्रपने मन में यह सन्तोष कर लिया कि पाठक उसे भी मौलिक मान लेंगे! ये प्रमाण तो ब्रह्मा के वंश द्वारा सुष्ट्यु-पत्ति-वर्णन वाले श्लोकों [१।३२-४०] से पूर्व के हैं। इनके प्रतिरिक्त ग्रन्य ग्रनेक प्रमाण है, जो केवल ब्रह्मा की उत्पत्ति श्रीर फिर उसके वंश से श्रन्य मृष्टि की उत्पत्ति की मान्यता को एक कपोलकल्पित, निराधार श्रीर मनुविरुद्ध सिद्ध करते हैं—(ग) 'जरायुज, म्रण्डज, उद्भिज, स्वेदज प्राणियों मौर स्थावरों की एकसाथ मध्टि होना [१।४३-४६] 'कर्मात्मानः शरीरिएः' [१।५३-५४] म्रादि। (घ) यदि ब्रह्मा ग्रीर विराट् के वंश से ही सारी मुख्टि की उत्पत्ति मानी जाये तो मुख्टि के प्रारम्भ में पर-मात्मा द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ग्रौर शुद्रों का विभाजन कैसे होगा? जिस पर सारी मनुस्मृति ही बाधारित है। वर्णों के धर्मों का प्रश्न भी नहीं बनेगा ! (ङ) वेदों के साक्षात्कर्त्ता ग्रग्नि, वाय, ग्रादित्य किस वंश के होंगे ? (च) जब ब्रह्मा ने श्रपने ग्रर्द्ध-भाग से नारी की रचना करके विराट को उत्पन्न किया,तो विराट ने किस स्त्री से मनु को उत्पन्न किया? (छ) प्रथम श्लोक में विणत, मनु के पास प्रश्नकर्त्ता के रूप में ग्राने वाले महिप लोग किस प्रकार उत्पन्न हुए ग्रीर किस वंश के थे? (ज) जब केवल मनु से ही वंश चलातो मनुद्वारावर्णित ग्राठ प्रकार के विवाहों [३ /२०—४२] की परम्परा कहा और कैसे बनेगी? माता और पिता की पीढ़ियां, जिनका विवाह-सम्बन्ध में छोड़ने का ग्रादेश है [३।४], कहां से बनेंगी ? इस प्रकार इन प्रश्नों की यूक्तियां

ब्रह्मा के प्रसङ्ग को प्रक्षिप्त सिद्ध करती हैं। (५) मनु ने सृष्टि-उत्पत्ति ग्रीर उसके क्रम का वर्गोन प्रसङ्गानुसार १।७३—६० श्लोकों में पुनः किया है। वहां ब्रह्मा की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। वह वर्णन यहां के ब्रह्मा के प्रसङ्ग से रहित वर्णन से ही मेल खाता है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मा की उत्पत्ति से सम्बद्ध प्रसङ्ग मनुकृत नहीं है। यह मौलिक होता तो उस क्रम में भी कहीं न कहीं इसका उल्लेख ग्रवश्य होता।

४. प्रसंगविरोध-यह प्रसङ्घ 'प्रसङ्घविरोध' के ग्राधार पर भी ग्रसङ्घत ग्रौर प्रक्षिप्त सिद्ध हो रहा है-(१) मनु ने समस्त स्थावरजङ्गम जगत् की उत्पत्ति मह-दादि के क्रम से मानी है। वह क्रम तो १। १६ में पूर्ण होता है श्रीर द्युलोक, पृथ्वी तथा समुद्र ग्रादि स्थावर जगत तथा ब्रह्मा की उत्पत्ति उस क्रम के पूर्ण होने से पूर्व ही कह दी, जो सम्भव ही नहीं। इस प्रकार यह सम्प्रण ७-१३ ब्लोकों का प्रसङ्ग ग्रसङ्गत होने से प्रसङ्ग-विरुद्ध है। (२) यहां पांचवें श्लोक से सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसङ्ग प्रचलित है। उसके बीच में ईश्वर के 'बह्मा" नारायणः 'नामों की व्यूत्पत्ति देना अप्रा-सिङ्किक है। कोई यह कहे कि नामों का प्रसङ्घ ग्राने पर व्यूत्पत्ति का भी उल्लेख कर दिया, इसमें प्रप्रासिङ्गकता की कोई बात नहीं है , इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि यों तो मनु ने परमात्मा के लिए अनेक विशेषणों का उपयुक्त प्रसङ्कों में उल्लेख किया है, किन्तु कहीं भी उनकी व्यूत्पत्ति दर्शाने की प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती, जैसी कि विशेष रूप से इन दो नामों के साथ है। इस प्रसंद्ध में ब्राये 'स्वयम्भू:' 'भगवान्' 'मन्यरत:' तमोनुद:' [१।६] म्रादि नामों या विशेषणों की व्यृत्पत्ति भी नहीं दिखाई है। यदि व्युत्पत्ति दिखाने की मनुकी मौलिक प्रवृत्ति होती, तो क्रम से प्राप्त उक्त नामों श्रीर विशेषणों की व्यूत्पत्ति स्रवश्य दशति । इस प्रकार इन दो नामों की व्यूत्पत्ति का प्रदर्शन मृष्ट्युत्पत्ति प्रसङ्ग में ग्रसङ्गत एवं ग्रमौलिक है। (इस प्रसङ्ग की प्रक्षिप्तता के लिए १। ३२-४१. ५०-५१ ब्लोकों की समीक्षा भी द्रष्टव्य है)।

प्रकृति से महत् ग्रादि तत्त्वों की उत्पत्ति-

उद्बबर्हाऽऽत्मनश्चेव मनः सदसदात्मकम् । मनसञ्चाप्यहंकारमिमन्तारमोश्वरम् ॥ १४॥ (७) महान्तमेव चाऽऽत्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च। विषयागां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥ १५॥ (८)

(च) ग्रीर फिर उस परमात्मा ने (ग्रात्मनः एव) स्वाश्रयस्थित प्रकृति से (सद्-ग्रसद् + ग्रात्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे ग्रीर विकारी ग्रंश से कार्यरूप में जो ग्रविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक तत्त्व को (च) ग्रीर (भनसः ग्रिप) महत्तत्त्व से (ग्रिभमन्ता-रम्) 'में हूँ' ऐसा ग्रभिमान करने वाले (ईशारम्) सामर्थ्यशाली (ग्रहंकारम्) 'ग्रहंकार' नामक तत्त्व को (च) ग्रीर फिर उससे (सर्वाणि त्रिगुणानि) सब त्रिगुणात्मक पांच तत्मात्राग्रों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को

[१।१६,२७] (च) तथा (ग्रात्मानम् एव महान्तम्) ग्रात्मोपकारक ग्रथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को (च) ग्रौर (विषयाएाँ ग्रही-तृणि) विषयों को ग्रहण करने वाली (पञ्चेन्द्रियाणि) दोनों वर्गों की पांचों ज्ञानेन्द्रियों—ग्रांख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं चकार से पांच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को [२।६४—६६] (शनैः) यथाक्रम से (उद्बबर्ह) उत्पन्न कर प्रकट किया ॥१४,१५॥ [शेष उत्पत्ति ग्रगले श्लोक में है] श्र

श्चान्तु श्चारित्यन्तः : '१४-१५ दलोकों के प्रयं में भ्रान्ति ग्रीर सृष्ट्युत्पिल्त की प्रक्रिया — इन दोनों क्लोकों के ग्रयं को सही रूप में न समक्ष्ते के कारण
टीकाकारों एवं ग्रालोचकों को भ्रान्ति का शिकार होना पड़ा है। टीकाकारों ने सृष्टिउत्पत्ति की प्रक्रिया का यहाँ प्रतिक्रम से वर्णन माना है ग्रीर 'मनः सदसदात्मकम्'का
संकल्प-विकल्पात्मक मन ग्रयं किया है, ग्रीर फिर'मन से पूर्व ग्रहंकार, ग्रहंकार से पूर्व
महत्'इत्यादि रूप में ग्रयं किया है। लेकिन वह 'प्रतिक्रम' भी क्रमबद्ध रूप से नहीं सिद्ध
हो पाया; स्थोंकि १५वें क्लोक में महत्तत्त्व के बाद इन्द्रियों का वर्णन ग्रागया। इस
ग्रयं की भ्रान्ति के कारण ग्रालोचकों ने इन क्लोकों को विश्यक्क्ष्तिलत ग्रीर भ्रामक
घोषित कर दिया। वस्तुतः इन क्लोकों के ग्रयं को सही रूप में नहीं समभा गया है।
मनुस्मृति का ग्रीर सांख्यदर्शन का सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम मिलता है—'सत्त्वरक्तन्तमसं
साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः, ग्रहंकारात् चंचतन्मात्राणि, उभयमिन्त्रियम्। पञ्चतन्मान्नेम्यः स्मूलभूतानि पुरुष इति पंचविद्यतिगंणः॥'

(सांख्य १।६१)

(सत्त्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य ग्रथांत् जड़ता, तीन वस्तु मिलकर जो एक ग्रंघात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व = बुद्धि, उससे ग्रहंकार, उससे पाँच तन्मात्रा, सूक्ष्मभूत ग्रौर दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूत ये चौबीस, ग्रौर पच्चीसवां पुरुष ग्रथांत् जीव ग्रौर परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति ग्रविकारिएो। ग्रौर महत्तत्त्व, ग्रहंकार तथा पांच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्यं ग्रौर इन्द्रियों, मन तथा स्थूल भूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति = उपादानकारण ग्रौर न किसी का कार्यं है।" (स० प्र० २०६) यही क्रम यहां है।

(२) 'महत्तत्त्व' और 'मन' से श्रिमप्राय—'मन' 'महत्' 'बुद्धि' इन शब्दों का

क्ष [प्रचलित ग्रर्थ— ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-ग्रसत् ग्रात्मा वाले 'मन' की मृष्टि की तथा मन से पहले 'ग्रहम् इन्मैं' इस ग्रिभमान से युक्त एवं ग्रपने कार्य को करने में समर्थ ग्रहंकार की मृष्टि की ॥ १४ ॥ ग्रहंकार से पहले ग्रात्मोपकारक 'महत्' तत्त्व = बुद्धि की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् ग्रौर तमस् से युक्त) विषयों की ग्रौर रूप-रस ग्रादि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा ग्रादि पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पांच शब्दतन्मात्रा ग्रादियों की मृष्टि की ॥१५॥]

पर्यायवाची रूप में प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में मिलता है। यहां प्रथम पंक्ति में पठित 'मन' शब्द से ग्रभिप्राय 'महत्' नामक ग्राद्य कार्यत्तत्त्व से है। 'मन' इन्द्रिय प्रथमकार्य हो ही नहीं सकता। प्रकृति का प्रथम विकार 'महत्' है, ग्रतः यहां उसे ही 'मन' शब्द से व्यवहृत किया है। इसमें सांख्यदर्शन का प्रमाण भी है— "सहत् आख्यम् ग्राद्य कार्यं तन्मनः" [१।७२] ग्रर्थात्—प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्यं है, उसे 'महत्'कहते हैं ग्रौर उसे 'मन'भी कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुग्रा है।

१५वें इलोक की प्रथम पंक्ति में पठित 'महान्तम्' से ग्रिभिप्राय 'मन' इन्द्रिय से है। इसकी पुष्टि 'ग्रात्मानम्' विशेषण से हो हो जाती है। 'मन इन्द्रिय' का ही ग्रात्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। 'ग्रत् सातत्यगमने' धातु के ग्रनुसार 'ग्रात्मानम्' का ग्रर्थं निरन्तर गमनशील'वनता है। मन का यही स्वभाव है। इस प्रकार दोनों इलोकों का ग्रर्थं निश्चन्ति ग्रीर उचितक्रमयुक्त बन जाता है। चरकशास्त्र में,शारीर-

१। ६२— रै ६६ ब्लोकों में इसी प्रक्रिया के ग्रनुसार वर्णन किया है।

(३) 'ग्रात्मन: उद्वबर्ह' का श्रयं — यहां 'ग्रात्मन: उद्ववर्ह' पद प्रयोग से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि मन ग्रादि तत्त्व परमात्मा के किसी ग्रंश से बने हैं, जैसा कि नवीन वेदान्त में माना जाता है । मनु० १२।२४ में प्रकृति के पर्यायवार्च। मप में 'आत्मा'पद का प्रयोग किया है। यह 'आत्मा' नामक प्रकृति यत्त्व-रज- तम युक्त है, और इसका प्रथम विकार'महान्'है।यहां श्लोक काश्रभिप्राय है—'इन तत्त्वों को ग्रपने ग्राश्रय या स्वाश्रयस्थित प्रकृति से उत्पन्न कर प्रकट किया।' व्यापक ब्रह्म ग्रपने भीतर व्याप्य प्रकृति ग्रीर परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर बाहर स्यूलरूप कर, ग्राप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत ग्रानन्दमय हो रहा है।" (स॰ प्र०२१२) ''जो जिससे सूक्ष्म होता है, वही उसकी ग्रात्मा है ग्रथत् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है, जैसे लोहे में ग्रग्नि प्रविष्ट होके उसके सब ग्रवयवों में व्याप्त होता है।'' (ऋ०भू०४१) इस प्रकारमहत् ग्रादि की 'प्रकृति' ग्रात्मा है. ग्रतःयहाँ 'ब्रात्मनः' से ग्रभिप्राय **'प्रकृति'** से' है। इसकी पुष्टि में १।५३,५४ ग्रौर ५७ ब्लोक प्रभाग हैं। वहां यह स्पष्ट किया गया है कि प्रलयावस्था के समय यह समस्त जगत् ग्रपने प्रकृतिरूप में होकर सर्वव्यापक परमात्मा के ग्राश्रय में लीन हो जाता है। पुनः उत्पत्ति के समय परमात्मा उन्हें ग्रपने ग्राश्रय से निकाल कर जिलाता है = तत्त्वों को मंयुक्त करता है।

पञ्चमहाभूतों की सृष्टि का वर्णन--

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् । सन्निवेत्रयाऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥ (६)

(तेषां तु) ऊपर [१४—१५ में] वर्णन किये गये उन तत्त्वों में से (ग्रमित-ग्रोजसाम्) ग्रत्यधिक शक्तिवाले (षण्णाम् + ग्रपि) छहों तत्त्वों के (सूक्ष्मान् ग्रवयवान्) सूक्ष्म ग्रवयवों = सब्द, स्पर्श, हप, रस ग्रीर गन्ध ये

पांच तन्मात्राएं तथा छठे ग्रहंकार के सूक्ष्म ग्रवयवों को (ग्रात्ममात्रामु) उनके ग्रात्मभूत तत्त्वों के विकारी ग्रंशों ग्रर्थात् कारणों में मिलाकर (सर्व-भूतानि) सब पांचों सूक्ष्म महाभूतों—ग्राकाश, वायु, ग्रग्नि, जल ग्रोर पृथिवी की (निर्ममे) मृष्टि की ।। १६ ॥ +

अन्य श्री टिड र (१) पञ्चतन्मात्राम्रों से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति—
जो जिससे सूक्ष्म होता है, वह उस स्थूल की ग्रात्मा होता है। ग्रहंकार से पञ्चतन्मात्राम्रों की उत्पत्ति हुई है; ग्रतः ग्रहंकार पञ्चतन्मात्राम्रों की ग्रात्मा कहलायेगा।
इस प्रकार पञ्चभूतों की रचना की प्रक्रिया ग्रीर क्रम यह बना—पञ्चतन्मात्राम्रों के
ग्रात्मरूव तत्त्व ग्रहंकार के विकारी ग्रंश ग्रीर ग्राकाश के सूक्ष्म ग्रवयवों = शब्दतन्मात्राम्रों के मिलने से 'ग्राकाश' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। वायु के
ग्रात्मभूत तत्त्व ग्राकाश के विकारी ग्रंश तथा वायु के सूक्ष्म ग्रवयवों स्पर्शतन्मात्राम्रों
के मिलने से 'वायु' नामक महाभूत की रचना हुई। ग्रिग्न के ग्रात्मभूत तत्त्व वायु के
विकारी ग्रंश के साथ ग्रग्न के सूक्ष्म ग्रवयव ग्रर्थात् रूपतन्मात्राम्रों के संयोग से 'ग्रग्न'
नामक महाभूत की रचना हुई। जल के ग्रात्मभूततत्त्व ग्रग्नि के विकारी ग्रंश के साथ
जल के सूक्ष्म ग्रवयव ग्रर्थात् रसतन्मात्रा के संयोग से 'जल' नामक महाभूत वना ग्रीर
पृथिवी के ग्रात्मभूत तत्त्व जल के विकारी ग्रंश के साथ पृथिवी के सूक्ष्म ग्रवयव ग्रर्थात्
गन्धतन्मात्रा के सयोग से 'पृथिवी' नामक सूक्ष्म महाभूत की रचना हुई। [ब्रष्टव्य
१। ७५—७५ क्लोक]

(२) १६ व इलोक का संगत प्रयं—सभी टीकाकारों ने इस क्लोक का शुटिपूर्ण ग्रीर ग्रसङ्गत ग्रयं किया है। (१) टीकाकारों ने इसमं 'सर्वभूतानि निर्ममें' 'सब
प्राणियों की मुष्टि की' यह ग्रयं किया है। यहां यह ग्रयं करने की न तो संगित
ही है श्रीर न प्राणियों की उत्पत्ति कह देने से उत्पत्ति का प्रसङ्ग समाप्त-सा हो जाता
है। पुनः १६, २० इलोकों में समग्र जगत् की जो एकसाथ उत्पत्ति दर्शायी है, वह
पुनरुक्ति-सी हो जाती है; ग्रीर छः सूक्ष्म ग्रवयवों से प्राणिजगत् की उत्पत्ति मानने से
१६वें इलोक के सात ग्रवयवों द्वारा जगत्-रचना के कथन से भिन्नता ग्राती है। यहां
पगत ग्रयं पञ्चभूतों की उत्पत्ति का ही है। ग्रभी मुष्टि-उत्पत्ति के मुलतत्त्वों के वर्णन
का प्रसंग चल रहा है। १५वें इलोक में इन्द्रियों की उत्पत्ति कह दी है। उसके पश्चात्
पञ्चभूतों का क्रम ग्राता है, उनका संकेत इस श्लोक में है। इस प्रकार सभी तत्त्वों
की उत्पत्ति का क्रमबद्ध वर्णन पूरा हो जाता है। इसकी पुष्टि १।७४—७८ श्लोकों
से होती है। इन श्लोकों में पञ्चभूतों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन ठीक इसी प्रकार

<sup>े</sup> प्रचलित ग्रर्थ—ग्रनन्त शक्ति वाले उन छह (ग्रहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ग्रीर शब्द) के सूक्ष्म ग्रवयवों को उन्हीं के ग्रपने-ग्रपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की मृष्टि की ॥१६॥]

किया है। इस तरह ग्रर्थ करने से संगति तथा क्रमबद्धता ग्रा जाती है श्रीर विरोध ग्रादि त्रुटियां दूर हो जाती हैं।

(३) सृष्टि-उत्पत्ति विषय में शास्त्रों में अविरोध या विरोध—

प्रसङ्ग से यहां यह जिज्ञासा पैदा होती है —

" (प्रश्न) सृष्टि-विषय में वेदादि शास्त्रों का ग्रविरोध है वा विरोध ?

(उत्तर) स्रविरोध है।

(प्रक्त) जो म्रविरोध है तो —

''तस्माद्वा एतस्मात् आत्मनः श्राकाशः सम्मूतः । श्राकाशाद्वायुः, वायोरिनः, ग्रग्नेरापः, ग्रद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, श्रोषधिभ्योऽन्नम्, श्रन्नाद्वेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः ॥'' (ब्रह्मा० १)

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है। उस परमेश्वर श्रीर प्रकृति से श्राकाश = श्रवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वंत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उन्तन होता है। वास्तव में श्राकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना श्राकाश के प्रकृति श्रीर परमाणु कहाँ ठहर सकें। श्राकाश के परचात् वायु, वायु के परचात् श्रीन के परचात् जल, जल के परचात् पृथिवी, पृथिवी से श्रोषि, श्रीपिध्यों मे श्रन्न, श्रन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है; यहां श्राकाशादि क्रम से; श्रीर छान्दोन्य में श्रग्न्यादि; ऐतरेय में जल श्रादि क्रम से सृष्टि हुई। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ श्रादि से; मीमांसा में कर्म; वैशेषिक में काल; न्याय में परमाणु; योग में पुरुषार्थ; सांख्य में प्रकृति श्रीर वेदान्त में ब्रह्म से मृष्टि की उत्पन्ति मानी है। श्रव किसको सच्चा श्रीर किसको भुठा मानें?

(उत्तर) इसमें सब सच्चे, कोई भूठा नहीं। भूठा वह है जो विपरीत समभता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। जब महा-प्रलय होता है, उसके पश्चात् स्राकाशादि क्रम स्रथात् जब स्राकाश स्रोर वायु का प्रलय नहीं होता स्रोर स्रान्त स्रादि का होता है स्रान्त स्रादि कम से स्रोर जब विद्युत् स्राप्ति का भी नाश नहीं होता तब जल कम से मृष्टि होती है। स्रथात् जिस-जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय नोता है, वहां-वहां से मृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष स्रार्त हिरण्यगर्भ स्रादि सब नाम परमेश्वर के हैं। परन्तु विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में स्रवि-रोध देखो इस प्रकार है—मीमांसा में—''ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टान की जाये," वैशेषिक में—''समय न लगे विना बने ही नहीं", त्याय में—''उपादान कारण न होने से कुछ नहीं बन सकता'', सांख्य में—''तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता'', शौर वेदान्त में ''बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्त न हो सके'' इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें

वैसाही सृष्टिरूप कार्यकी व्याख्याछः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।" (स० प्र०२१६ — २२०)

ब्रह्मा के शरीर की निरुक्ति---

## यन्मूरयंवयवाः सुक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्। तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्ति मनीषिगाः॥१७॥

(यत्) क्योंकि (षट् सूक्ष्माः मूर्त्यवयवाः) प्रकृति रूपी मूर्ति के छः सूक्ष्म ग्रवयव ग्रौर (इमानि) उनकी कार्यभूत इन्द्रियौं ग्रौर पञ्चमहाभूत, ये (तस्य ग्राक्ष्यनित) उस परमात्मा के ग्राश्रित रहते हैं (तस्मात्) इसी कारण (मनीषणः) मनीषी लोग (तस्य मूर्तिम्) उस परमात्मा की प्रकृतिरूपी मूर्ति को (शरीरम् इति ग्राहुः) उसका शरीर कहते हैं।। १७॥

#### अनुश्रीलन: यह श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

प्रसङ्गिविरोध—(१) यहां मृष्ट्युत्पत्ति का क्रमानुसार वर्णन चल रहा है। उसके मध्य में उस क्रम को भङ्ग कर 'शरीर' का निर्वचन करने की कोई प्रासंगिकता ही सिद्ध नहीं है। (२) उपर्युक्त श्लोकों में न तो 'मूर्ति' शब्द ही ग्राया है ग्रौर न 'शरीर' शब्द, जिसके सन्दर्भ में निर्वचन करने की ग्रावश्यकता प्रतीत हो। बिना चर्चा के ही 'शरीर' का निर्वचन देना ग्रप्रासङ्गिक है, ग्रतः मौलिक भी नहीं है।

सूक्ष्म-शरीर से ग्रात्मा का संयोग—

# तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः। मनश्चावयवैः सुक्ष्मैः सर्वभूतकृदग्ययम्।। १८ ॥ (१०)

(तदा) तब जगत् के तत्त्वों की सृष्टि होने पर (सह कर्मभिः) ग्रपने ग्रपने कर्मों के साथ (महान्ति भूतानि) शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत (च) ग्रीर (सूक्ष्मैः श्रवयवैः मनः) समस्त सूक्ष्म श्रवयवों श्रर्थात् इन्द्रियादि के साथ मन (सर्वभूतकृत् + श्रव्ययम्) सब भौतिक प्राणि-शरीरों को जन्म = जीवन रूप देने वाले श्रविनाशी श्रात्मा को [क्योंकि जीवात्मा के संयोग से ही समस्त शरीरों में जीवन श्राता है श्रीर उसके वियोग से समाप्त हो जाता है।] (ग्राविशन्ति) ग्रावेष्टित करते हैं [ग्रीर इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है]।। १८।।।

अर्ज्युट्रिटिडन्सः (१)पञ्च महाभूतों के कर्म-पञ्चभूतों में स्राकाश का कर्म स्रवकाश देना है, वायु का गति, तेज का पाक, जल का एकत्रीकरण स्रौर पृथिवी का कर्म धारण करना है।

क्षः [प्रचलित ग्रर्थं—विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्ता उस ब्रह्म से ग्रपने-ग्रपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत ग्राकाश ग्रादि ग्रीर सूक्ष्म ग्रवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई ॥ १८॥]

(२) १८वें इस्रोक का संगत मर्थ — प्रायः सभी टीकाकारों ने इस इस्रोक का ग्रथं इस प्रकार किया है — 'विनाश-रहित एवं सब भूतों के कर्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पञ्चमहाभूत ब्राकाश ब्रादि श्रीर सूक्ष्म ब्रवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई।'

इस ग्रर्थ में निम्न त्रुटियाँ ग्राती हैं-

- (क) १।१४–१५ में मन की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से कही जा चुकी है, दो इलोकों के बाद पुनः मन की उत्पत्ति कहने की क्या ग्रावश्यकता थी? इस प्रकार यह ग्रनावश्यक पुनरुक्ति बन जाती है।
- (ख) टीकाकारों के इन स्रथों से वर्णन की कोई क्रमबद्ध संगति नहीं जुड़ती। १४-१५ क्लोकों में मन स्रादि तत्त्वों की उत्पत्ति वर्णित कर दी। १६वें में सब प्राणियों की उत्पत्ति दिखा दी। १७वें में परमात्मा के प्रकृति रूपी शरीर का निर्वचन दिखा दिया। फिर १८वें में पुनः मन श्रादि की उत्पत्ति कह दी। १६वें में फिर एक बार समस्त जगत् की उत्पत्ति दर्शा दी। इस प्रकार कोई क्रम नहीं बनता।
- (ग) १६वें क्लोक में छः तत्त्वों द्वारा प्राणिजगत् की रचना का कथन करने से ग्रौर १६वें में सात तत्त्वों द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति का कथन करने से, भिन्न कथन होने से विरोध ग्राता है।
- (घ) मनु ने जब मृष्ट्युत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करके सभी तत्त्वों की उत्पत्ति दर्शायी है, तो यह भी श्रावश्यक है कि उन तत्त्वों का श्रात्मा के साथ संयोग भी प्रदर्शित होना चाहिए। जीव के साथ तत्त्वों का संयोग प्रदर्शित न करने पर उत्पत्ति-वर्णन श्रधूरा ही रह जाता है, श्रीर मनुस्मृति में तो इस बात का वर्णन श्रीर भी श्रावश्यक है, क्योंकि मानव धर्म ही मनुस्मृति का श्रभीष्ट विषय है। केवल स्थूल जगत् की उत्पत्ति दर्शाना इसका मुख्य विषय नहीं है। किन्तु प्रचलित टीकाश्रों में श्लोक के श्रर्थं जिस प्रकार किये गय है, उनमें कहीं यह प्रसङ्ग नहीं श्राता। इस प्रकार यह श्रभाव पाठकों को खटकता है।

इस भाष्य में प्रस्तुत अर्थों के अनुसार ये सब त्रुटियां दूर हो जाती हैं तथा अन्य शास्त्रों की भांति सृष्ट्युत्पत्ति-वर्णन में पूर्णता और क्रमबद्धता भी बनी रहती है।

(ङ) सूक्ष्म शरीर के घटक-"पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्रह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है।" (स॰ प्र० नवम समु०) पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच सूक्ष्मभूत १।१४-१५ में परिगणित हैं। प्राण, श्रपान, व्यान, समान, उदान ये पांच प्राण हैं।

समस्त विनश्वर संसार की उत्पत्ति-

तेषामिवं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् । सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यःसम्भवत्यव्ययाद् व्ययम् ॥१६॥ (११) [इस प्रकार] (प्रव्ययात्) विनाशरिहत परमात्मा से ग्रीर द्वितीयार्थं में सृष्टि के मूल कारण श्रविनाशिनी प्रकृति से (तेषां तु) उन्हीं [१४-१५ में विणत] (महीजसाम्) महाशक्तिशाली (सप्तानां पुरुषाणाम्) सात तत्त्वों—महत्, ग्रहंकार तथा पाँच तन्मात्राग्रों के (सूक्ष्माम्यः मूर्तिमात्राभ्यः) जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी ग्रंशों से (इदम् व्ययम्) यह दश्यमान विनाशशील विकाररूप जगत् (सम्भवति) उत्पन्न होता है।। १६।।

अन्त्र श्रीत्य : यह समस्त विनाशशील जगत् संक्षेप में निन्न प्रक्रिया से प्रकटरूप में आता है। गत श्लोकों में यही प्रक्रिया और क्रम बतलाया है—

- (१) सृष्टि-उत्पत्ति का कम "जब मृष्टि का समय ग्राता है, तब परमातमा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम ग्रहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पाँच जानेन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ ग्रोर गुदा, ये पाँच कमें इन्द्रियां हैं, और ग्यारह्वां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पाँच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ग्रोषधियाँ, वृक्ष ग्रादि, उनसे ग्रन्न, ग्रन्न से वीर्यं और वीर्यं से शरीर होता है, परन्तु ग्रादि सृष्टि मैंग्रुनी नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमारमा बन।कर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैंग्रुनी मृष्टि चलती है।" (स प्र० २२२)
- (२) पुरुष के महत्तस्य आदि अर्थ—िन रुक्त २।१।३ में पुरुष की व्युत्पत्ति दी है—''पुरिशय: = पुरुष:।'' इस ग्राधार पर अपने कार्यपदार्थों में सूक्ष्मरूप से शयन करने अर्थात् स्थित रहने से महत्तस्य आदि सूक्ष्म तत्त्व 'पुरुष' कहलाते हैं। शत० ब्राह्मण में 'वायु' और 'अग्नि' महाभूत को 'पुरुष' सज्ञा से अभिहित किया है। [१३.६.२. १,१०.४.१.६]।
  - (३) सृष्टि में मनुष्यों की उत्पत्ति —
  - ''(प्रश्न) मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई वा पृथिवी आदि की ?
- (उत्तर) पृथिवी म्रादि की, क्योंकि पृथिवी आदि के विना मंनुष्य की स्थिति ग्रौर पालन नहीं हो सकता।" (स० प्र० २२३)
  - "(प्रश्न) सृष्टि के आदि में एक वा ग्रनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे?
- (उत्तर) स्रनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी मृष्टि में उत्पन्न होने के थे उनका जन्म सृष्टि के आदि में ईश्वर देता, क्योंकि "मनुष्या ऋषयश्च ये। ततो मनुष्या ऋषायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि स्रादि में अनेक अर्थात् सैंकड़ों, सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए स्रौर सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक माँ-वापों की सन्तान हैं।" (स० प्र० २२३)

पञ्चमहाभूतों के गुणों का कथन---

# म्राद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः। यो यो यावतिथक्ष्वेषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥ (१२)

(एषाम्) इन [१६वें में चिंचत] पश्चमहाभूतों में (स्राद्य + स्राद्यस्य गुणं तु) पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को (परः परः) परला-परला स्रर्थात् उत्तरोत्तर बाद में उत्पन्न होने वाला भूत प्राप्त करता है (च) स्रौर (यः) जो-जो भूत (यावितथः) जिस संख्या पर स्थित है (सः सः) वह-वह (तावद्गुणः) उतने ही स्रधिक गुणों से युक्त (स्मृतः) माना गया है ।। २०॥

अर्न्यू श्री त्उन्यः पञ्च महाभूतों का कम और गुरा — जैसे, पञ्च-महाभूतों का निश्चित कम है — १. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी । उनमें आकाश प्रथम स्थान पर है, इस प्रकार उसका केवल एक अपना शब्द गुण ही है। वायु द्वितीय स्थान पर है, अतः उसके दो पुरा हैं — एक अपने से पहले वाले आकाश का शब्द तथा दूसरा अपना स्पर्श गुण। इसी प्रकार तृतीय स्थानीय अग्नि में दो अपने से पहले वाले आकाश और वायु नामक भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श गुण हैं, तथा तीसरा अपना रूप गुण। चतुर्थ स्थानीय जल के इसी प्रकार चार गुण हैं — शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पंचमस्थानीय पृथिवी में पांच गुण हैं — शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध। इसे तालिका द्वारा निम्न प्रकार स्पष्ट किया जाता है —

# पञ्चमहामूतों का उत्पत्तिक्रम ग्रौर गुगों की तालिका (श्लोक १। २०, ७५ —७८ के वर्णनानुसार)

	१	२	ą	¥	ų
पञ्च महाभूतों का उत्पक्ति-क्रम-≫	ग्राकाश	वायु	ग्रग्नि	जल	पृथिवी
१. आकाश का निजी गुण →	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द	शब्द
२. वायुका निजी गुण 😁	; . ×	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श	स्पर्श
३ ग्रग्निकानिजीगुण 👈	· ; ×	×	रूप	रूप	रूप
४. जल का निजी गुण →	×	×	×	रस	रस
४. पृथिवीकानिजीगुण <del>→</del>	×	×	×	×	गन्ध
प्रत्येक महाभूत में कुल गुण 🤝	<b>?</b>	२	₹	γ	ų

वेदघट्दों से नामकरण एवं विभाग---

# सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देश्य एवाऽऽदौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥ (१३)

(सः) उस परमात्मा ने (सर्वेषां तु नामानि) सब पदार्थों के नाम [यथा-गो-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' स्रादि] (च) और(पृथक्-पृथक् कर्मािए) भिन्न-भिन्न कर्म [यथा—ब्राह्मए। के वेदाध्यापन, याजन; क्षत्रिय का रक्षा करना; वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार स्रादि (१। ८७— ६१) स्रयवा मनुष्य तथा अन्य प्राराणयों के हिंस्स-म्रहिस स्रादि कर्म (१। २६—३०)] (च) तथा (पृथक् संस्थाः) पृथक्-पृथक् विभाग [जसे— प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी स्रादि (१। ४२—४६)] या व्यवस्थाएं [यथा— चार वर्णों की व्यवस्था (१। ३१,१। ८७—६१)] (स्रादौ) मुब्दि के प्रारम्भ में (वेदशब्देम्यः एव) वेदों के शब्द से ही (निर्ममे) बनायीं स्रर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया।। २१।। -

अनुशीलनः (१) इस श्लोक के श्रर्थ पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

''इस वचन के अनुकूल आर्य लोगों ने वेदों का अनुकरण करके जो व्यवस्था की, वह सर्वत्र प्रचलित है। उदाहरणार्थ—सब जगत् में सात ही वार हैं, बारह ही महीने हैं ग्रौर बारह ही राशियां हैं, इस व्यवस्था को देखों (पू० प्र० ८६) वेद में भी कहा है—

#### शाहबतीभ्यः समाभ्यः ॥ (यजु० ४० । ८)

ग्रर्थात् ग्रादि सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याभ्रों का बोध किया है।" (स॰ प्र० २०८)

- (२) सृष्टि के प्रारम्भ में नामकरण ग्रिभिप्राय यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वेदशब्दों के द्वारा ही मनुष्यों को नाम, कर्म, विभाग ग्रादि का ज्ञान हुग्रा। परमात्मा ने वेदशब्दों के रूप में यह सब ज्ञान दिया। 'निर्ममें' से यहां भाव, नाम, कर्म, विभाग ग्रादि का ज्ञान वेदशब्दों में ग्रन्तिनहित करके लोगों को ग्रवगत कराने से है।
- (३) २१वें इलोक के कम पर विचार—प्रतात होता है कि यह ब्लाक मूलक्रम से खण्डित होकर ग्रागे-पीछे हो गया है। इस ब्लोक का किसी प्रक्षेप की प्रवृत्ति से या

प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। यह श्लोक क्रम को दृष्टि से २३वें (ग्रग्निवायुरिवम्यस्तु .....) के पश्चात् होना चाहिए। प्रसंग ग्रौर क्रम की दृष्टि से वहीं ठीक बैठता है, क्योंकि वेदों की रचना होने के बाद ही उनसे नाम, कर्म ग्रादि का ज्ञान होगा, पूर्व नहीं। वेदों की रचना का होना २३वें श्लोक में कहा जा रहा है ग्रौर उनसे नाम ग्रादि का निर्माण पहले ही विणत हो गया। इस प्रकार उचित क्रम नहीं बनता।

इसके अतिरिक्त वर्तमान प्रतियों में जो यह २१वें इलोक के रूप में है, यहां पूर्वापर प्रसंग उत्पत्ति की प्रक्रिया का है; इस इलोक से वह भंग हो रहा है। २०वें में सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया है, २२वें में उस प्रसंग का उपसंहार रूप में संक्षिप्त एक न कथन है। इन कथनों के बीच में वेदों के द्वारा नाम, कर्म आदि का ज्ञान होने का कथन करना असंगत है। इस क्रम में यह आपत्ति भी है। किन्तु इससे इसे प्रक्षिप्त नहीं समअ लेना चाहिए, यतो हि इस इलोक का प्रक्षिप्त प्रसंग या प्रवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्थानभ्रष्ट मात्र प्रतीत होता है।

(४) २१वें इलोक का संगत प्रयं—कुल्लू कमट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए व्यवस्थाओं के उदाहरण में—'कुम्हार का घड़ा बनाना, जुलाहे का कपड़ा बनाना' ये उदाहरण गलत और मनुविरुद्ध दिये हैं। यहां व्यवस्थाओं से अभिन्नाय है जैसे— चार वणों की व्यवस्था। इसे १!३१ में मनु ने कर्मानुसार परमास्मा-निर्मित माना है। इसी प्रकार राज्यव्यवस्था ग्रादि भी हो सकती है। मनु ने केवल चार वणों को माना है। उनके मत में कुम्हार, जुलाहा ग्रादि कोई जाति-उपजाति नहीं है, और नहीं ये जातियां या उनके ये कार्य ईश्वर-रचित हैं। मनु के अनुसार तो 'शिल्पकार्य' वैश्य का कार्य है; चाहे वह किसी भी प्रकार का शिल्पकार्य करे वैश्य ही कहलायेगा; कुम्हार या जुलाहा नहीं। मनु की व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति ग्राज बर्तन बनाने का कार्य कर रहा है, वह कल कपड़े बनाने का कार्य भी कर सकता है, परसों कोई भन्य; फिर भी वह वैश्य ही कहलायेगा; कुम्हार या जुलाहा नहीं। क्योंकि मनु ने ऐसी जातियों और उनके नामों का निर्धारण ही नहीं किया। जाति-उपजाति की कल्पनाएं वर्ण- व्यवस्थाओं की शिथिलता के पश्चात् कार्यरूढ़ि के ग्राधार पर ग्रवर समाज द्वारा की गई हैं। जतः उन्हें ईश्वररिचत व्यवस्था मानकर मनु के श्लोक में उदाहरण-रूप में देना गलत एवं मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपसंहार रूप में समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन-

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः । साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥ (१४)

[इस प्रकार १। ५—२० श्लोकों में विश्वात प्रक्रिया के अनुसार] (सः प्रभुः) उस परमारमा ने (कर्मात्मनां च देवानाम्) कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, ग्रग्नि, वायु ग्रादि देवों के (प्राणिनाम्) मनुष्य, पशु-पक्षी ग्रादि सामान्य प्राणियों के (च) ग्रौर (साध्यानाम्) साधक कोटि के विशेष विद्वानों के (गणम्) समुदाय को [१।२३ में विणित] (च) तथा (सनातनं सूक्ष्मं यज्ञम् एव) सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवाहमान सूक्ष्म संसार ग्रर्थात् महत् ग्रहंकार पञ्चतन्मात्रा ग्रादि सूक्ष्म रूपमय ग्रौर सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को (ग्रस्जत) रचा ।। २२ ।। %

अर्जुट्रोटिङ न् : (१) २२वें क्लोक का संगत सर्य — कुल्लू कभट्ट म्रादि टीकाकारों ने 'साध्य' का मर्थ 'सूक्सम्' विशेषण को उसके साथ जोड़कर 'सूक्ष्म देवयोनि-विशेष' किया है। यह मिध्या कल्पना मात्र है, क्योंकि मनुष्यों से भिन्न कोई देवयोनि जगत् में नहीं होती। १।४३–४६ क्लोकों में मनु ने सभी योनिगत प्राणियों का दिग्दर्शन कराया है। उनमें ऐसी कोई योनि उल्लिखित नहीं है। इस प्रकार की कल्पना मनु के उक्त क्लोकों के विरुद्ध जाती है। वस्तुतः, मनुस्मृति में जहां कहीं भी प्राणियों में देव, ऋषि, पितर म्रादि का उल्लेख म्राता है, वे मनुष्यों के स्तरविशेष हैं। योग्यता एवं स्तरविशेषानुसार ये मनुष्यों की ही संज्ञाएं हैं।

- (२) 'सूक्सम्' का मर्य यहां 'सूक्सम्' विशेषण को भी साध्यों के साथ जोड़ना सङ्गत नहीं है। मृष्टि-उत्पत्ति प्रक्रिया का वर्णन करने के उपरान्त उस सम्पूर्ण प्रसङ्ग का इस क्लोक में उपसंहार किया है, श्रौर एक त्र रूप में यह संकेत दिया है कि इस प्रकार परमात्मा ने जड़-चेतन, सूक्ष्म श्रौर स्थूल, विशेष श्रौर सामान्य ग्रादि विभिन्न रूपों में समस्त संसार को रचा है।
- (३) 'साध्यों' से सिमप्राय यहां प्राणियों से पृथक् साध्यों की पृथक् से गणना उनकी विशिष्टता की स्रोर इिक्नित करने के लिए की है। सृष्टि के प्रारम्भ में सभी प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनमें साधक कोटि के विशिष्ट संस्कारी व्यक्ति भी होते हैं। मनुस्मृति के क्लोक में इस शब्द को समभने के लिए साध्यकोटि के व्यक्तियों में जैसे स्रग्नि, वायु, रिव स्रादि ऋषियों का नाम उद्धृत किया जा सकता है। ये भी साधक कोटि के ग्रत्यन्त विशिष्ट संस्कारी जीव थे। तभी तो स्रनेक मनुष्यों में केवल इन्हीं को वेदजान प्रकट करने का श्रेय मिला। निरुक्तकार ने 'ऋषि' शब्द के निर्वचन के प्रसंग में ग्राचार्य ग्रीपमन्यव के मत का उल्लेख करते हुए इन तपस्वी साधकों को तपस्या में लीन रहने की साधना के परिणामस्वरूप वेदजान की प्राप्ति का कथन किया है। उससे इनके साध्यकोटि के व्यक्ति होने की बात ग्रीर पृष्ट हो जाती है। यथा—

"ऋषिः वर्शनात् । स्तोमान् ववर्श इति श्रोपमन्यवः। तश्चवेनांस्तपस्यमानान्त्रह्म स्वयम्म्बम्यानर्वत ऋषयोऽमवंस्तष्टवीलामृक्तिविज्ञायते।" (नि०२।३।१२)

क्ष [प्रचलित अर्थ — उस ब्रह्मा ने देव (इन्द्रादि), कर्मस्वभाव, प्राणी, अप्राणी पत्थर ग्रादि, साध्यगण ग्रीर सनातन यज्ञ (प्राग्निष्टोम ग्रादि) की सृष्टि की ॥ २२ ॥]

ग्रयात् वेदमन्त्रों का ग्रयं-दर्शन करने से ऋषि होता है, ऐसा ग्रौपमन्यव का मत है। प्रार-म्भिक ग्रग्नि ग्रादि ऋषियों को तपस्या करते हुए ग्रपौरुषेय वेदों का साक्षात्कार हुन्ना, ग्रतः वे ऋषि प्रसिद्ध हुए।

इन तपस्वी साधकों को साधना में लीन रहते हुए वेदज्ञान-प्राप्ति होने की चर्चा ब्राह्मणग्रन्थों में भी ग्राती है —

- (क) ''तेम्यस्तप्तेम्यस्त्रयो वेदा ग्रजायन्त, ग्रग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः ।'' (शत० ११ । ४ । २ । ३)
  - (स) ''म्रजान्ह वै पृश्नोंस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयं मू-ग्रभ्यानर्वत्त हवयोऽभवन् ।'' (तै० ग्रा० २ । ८)

श्रगले ही श्लोक में मनु ने भी इनका उल्लेख किया है। इस साधक कोटि में ग्रन्य ग्रनेक व्यक्तियों को भी माना जाता है। इसमें कुछ ग्रन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

- १. '<mark>'साध्याः देवाः₁साधनात्''</mark> (निरुक्त १२ । ४०)
- २. "साध्याः नाम देवाः (=वद्वांसः) आसन्" (ताण्ड्य व्रा० ६। ३। ४) महर्षि-दयानन्द ने इस शब्द को ग्रीर भी स्पष्ट कर दिया है—
- १. साधनसाध्याः (देबाः=विद्वांसी जनाः) (यजू० २६ । ११)
- २. साधनं योगाभ्यासादिकं कुर्वन्तो ज्ञानिनः (जनाः) (यजु० ३१। ६)
- ३. म्रन्यैविद्यार्थं संसेवितुमर्हाः (विद्वांसो जनाः) (ऋग्०१।१६४।५०)
- ४. साध्याः ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारक्च (ऋ० भू० ६१ सृष्टिविद्याविषयः)

इस प्रकार 'साघ्य' का ग्रर्थ 'साधक कोटि के विद्वान् विशेष' ही है। ग्रौर मनुस्मृति की भी ग्रन्तःसाक्षी है— "पितरक्षंव साघ्याक्ष्व द्वितीया सास्विकी गितिः" [मनु० १२।४६] ग्रर्थात् जो मध्यम सत्त्वगुणी जीव हैं, वे पितर व साध्य — कार्यसिद्धि के लिये सेवन करने योग्य ग्रध्यापकादि का जन्म पाते हैं। वेदों का ज्ञान देने वाले प्रारम्भिक ऋषि भी संसार के प्रथम ग्रध्यापक — शिक्षक थे।

साध्यकोटि के विद्वानों का वर्णन और मृष्टि के प्रारम्भ में साध्यकोटि के व्यक्तियों के उत्पन्न होने का उल्लेख वेद के पुरुषमुक्त में भी ग्राना है—

- १. "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)
- २. "तं यतं बहिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥" (यजु० ३१।६)
- ३. ''यत्पुरुषेएा हविषा देवा यज्ञमतन्वत । ' (यजु० ३१।१४)

''जो ब्रह्माण्ड का रचन-पालन श्रीर प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी को जगन् बनाने की सामग्री कहते हैं। पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ है।"

(ऋ० भू० १२७-१२८)

- (४) यज का ज्यापक सर्च और वेदों का उद्देश्य—इसी प्रकार प्रच लित टीका श्रों में किया गया यज शब्द का अर्घ भी संकुचित है। इस क्लोक में यज शब्द का 'हवन' यह सीमित अर्घ न होकर व्यापक अर्घ 'जगत्' है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियाँ दी जा सकती हैं—(क) मनु ने केवल होम-सम्पादन के लिए ही वेदों की उत्पत्ति नहीं स्वीकार की है, अपितु संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, व्यवहार ग्रादि की सिद्धि के लिए वेदों की उत्पत्ति मानी है। मनुस्मृति में अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसे ग्राशय दिये हैं। कुछ प्रमाणों से यह बात पुष्ट हो जायेगी—
  - (ग्र) १२।६७ में चारों वर्णों, ग्राश्रमों एवं तीनों कालों का ज्ञान वेदों से ही माना है।
  - (ग्रा) शब्द, स्पर्शे ग्रादि सूक्ष्म शक्तियों की वैज्ञानिक सिद्धि वेदों द्वारा ही मानी है। (१२।६⊏)
  - (इ) संसार के समस्त व्यवहारों का सर्वोत्तम साधकग्रन्थ वेद को कहा है। (१२।६६)
  - (ई) १२। ६४ में वेद को पितृ, देव, मनुष्यों का 'चक्षु' स्रथात् धर्म-स्रधर्म,-ज्ञान-विज्ञान अप्रदि का दर्शानेवाला कहा है।
  - (उ) इसी प्रकार राजनीति की शिक्षा देने वाला (७।४३; १२।१००) शास्त्र भी वेद ही है।
  - (ऊ) वेद सभी धर्मों का स्रोत एवं ग्राधार है। (२।६—१४)
  - (ए) १।२१ में वेदों के द्वारा ही संसार के समस्त पदार्थों ा नामकरण, विभाग, कर्मनिर्धारण यह सिद्ध करता है कि वेदों की उत्पत्ति केवल होम-सम्पादन के लिए ही नहीं, श्रिपतु जगत् में समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए हैं।
  - (एं) १।३ में वेदों को सब सत्यविद्याभ्रों का विधान करने वाला ग्रन्थ कहना, ग्रथवा जगत् का संविधान भ्रौर समस्त व्यवहारों का साधक ग्रन्थ कहना भी वेदों की उपयोगिता को व्यापक सिद्ध करता है।

इत प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वेदों की उपयोगिता के विषय में मनु की व्यापक दृष्टि है, यदि उसे केवल होम तक ही सीमित किया जायेगा तो उक्त मान्यताओं से उस का विरोध ग्रायेगा। इस ग्राधार पर यह भी कहा जा सकता है कि १।२३ में प्रयुक्त यज्ञसिद्धच्यंम्' पद का अर्थ भी 'होमसिद्धि के जिए' न होकर 'जगत् में समस्त व्यवहारों, धर्मों ग्रीर ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि के लिए' ग्रथवा 'जगत् की सिद्धि के लिए' यह ग्रथं होगा। इसी प्रकार यहां भी यज्ञ का व्यापक ग्रथं 'जगत्' ही ग्रह्ण होगा। इस में दोनों क्लोकों की यह सुसंगति भी बन जाती है कि 'परमात्मा ने संसार हो रचा (१।२२) ग्रीर उस संसार की सिद्धि के लिए ग्रथवा संसार में समस्त सिद्धियां

प्राप्त करने के लिये वेदों को रचा (१।२३)।' (ख)पुरुषसूक्त (यजु० ३१) में भी इसी शैली में ब्रह्माण्डरूप यज्ञ की उत्पत्ति का वर्णन है। यज्ञ के 'जगत्' अर्थ में निम्न प्रमाण हैं—

- (म्र) ''यज्ञो वै भुवनम्'' (तै० सं०३।३।७।५)
- (ग्रा) ''विराट् (संसारः) वै यज्ञः'' (श०१।१।१।२२)
- (इ) "वैराजः यज्ञः" (गो० पू० ५। २४; गो० उ० ६। १५)
- (ई) महर्षि दयानन्द ने (यजु० १३। १४) मन्त्र-भाष्य करते हुए जगत् को ही यज्ञ कहा है—"देवाः यज्ञं भ्रतन्दत"—पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ है। (ऋ० भू० ६३, सृष्टिविद्याविषयः)
- (ग) यहां 'यक्तम्' के साथ 'सनातनम्' विशेषण का प्रयोग भी 'जगत्' ग्रथं का पोषक है। क्योंकि, यक्त की क्रिया के रूप में सनातनता कभी नहीं हो सकती, ग्रतः यह विशेषण हवन ग्रथं में जुड़ता ही नहीं। न जुड़ने के कारण टीकाकारों ने खींचातानी कर के इसे जोड़ने का प्रयास किया कि—'वेदोक्त कर्म होने से ग्रथवा कल्पान्तर में भी यज्ञों का व्यवहार होनेके कारण यज्ञ सनातन हैं।' लेकिन इस प्रकार तो सभी वेदोक्त क्रियाए सनातन हैं, यज्ञों की ही उनसे क्या विशिष्टता होगी ? ग्रतः यह प्रयास निष्कल ही है। इस के ग्रतिरिक्त मनु ने १। ५७ में 'सनातन' के बिल्कुल पर्यायवाची शब्द के रूप में 'अजलम्' (सञ्जीवयित चाजल्लम्) विशेषण का प्रयोग 'जगत्' के लिये किया है, जो यहां भी यज्ञ के साथ 'सनातनम्' शब्दप्रयोग के 'जगत्' ग्रयंकापोषक है।

वेदों का ग्राविभवि---

# श्रग्निवायुरिवम्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोहः यज्ञसिद्धचर्यमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥ (१५)

उस परमात्मा ने (यज्ञसिद्धचर्षम्) जगत् में समस्त धर्म, ग्रर्थः काम, मोक्ष ग्रादि व्यवहारों की सिद्धि के लिए ग्रथवा जगत् की सिद्धि ग्रर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए [यज्ञे जगित प्राप्तव्या सिद्धिः यज्ञसिद्धिः, ग्रथवा यज्ञस्य सिद्धिः यज्ञसिद्धिः] (ग्राग्न-वायु-रिवम्यः तु) ग्राग्न, वायु ग्रोर रिव से ग्रथित् उन के माध्यम से (ऋग्यजुःसामलक्षणं त्रयं सनातनं ब्रह्म) ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को (दुदोह) दुहकर प्रकट किया।। २३।। अ

"जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि प्रादि चारों महिष्यों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये श्रीर उस ब्रह्मा ने श्रीन, वायु, श्रादित्य श्रीर श्रंगिरा से ऋग्यजु० साम श्रीर श्रथर्व का ग्रहण किया। (स॰ प्र०२०३)

श्रि प्रचलित ६ र्थ — उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिए श्रग्नि, वायु श्रौर सूर्य से निस्य ऋग्वेद, यजुः इ श्रीर सामवेद को क्रमशः प्रकट किया।। २३।।

"ग्रग्निवायुरिविम्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम्।।१। ३।। ग्रध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः किवः।२।१५१ (इस संस्करण में २।१२६) ग्रर्थात् इसमें मनु के क्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वोक्त ग्रग्नि, वायु, रिव ग्रीर ग्रंगिरा से ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था। जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि ग्रीर हम लोगों की तो कथा क्या ही कहनी है।" (ऋ० भू० १६)

अन्तु शरित्जन्तः (१) प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ शब्द का 'जगत्' स्रयं है। इसकी पुष्टि के लिए १। २२ की समीक्षा देखिए।

- (२) वेदोत्पत्ति विषयक वेदादि के प्रमाण—महर्षि मनुने अपनी स्मृति का मूलस्रोत वेद को माना है। वे वेदों को अपौरुषेय मानकर इस श्लोक में परमेश्वर से ही वेदोस्पत्ति मानते हैं। मनुने यह मान्यता वेदों से ही ग्रहण की है। देखिए स्वयं वेद भी इस मान्यता को वर्णित कर रहे हैं—
  - (क) तस्माद् यज्ञात् सर्वहृतः ऋचः सामानि जिज्ञरे । छन्दौसि जिजरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (यजु०३१।७)

श्रर्थं—उस सिन्निदानन्दस्वरूप, सब स्थानों में परिपूर्ण, जो सब मनुष्यों द्वारा उपास्य ग्रीर सब सामर्थ्यं से युक्त है, उस परब्रह्म से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ग्रीर छन्दांसि = ग्रथवंवेद ये चारों वेद उत्पन्न हुए।

(ल) यस्माहचो प्रपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकचन् । सामानि यस्य लोमानि प्रयचीङ्गिरसो मुख्यम् । स्कम्भं तं बृहि कतमःस्विदेव सः ।। (अथवं १०।४।२०)

ग्रथं—जो सर्वशिक्तमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (ग्राङ्किरसः) ग्रथवंवेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूप-कालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि ग्रथवंवेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान, ग्रौर ऋग्वेद प्राण के समान है (ब्रूहि कंतमः स्विदेव सः) चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं सो कौनसा देव है ? उसको तुम मुक्तसे कहो, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (स्कम्मं तम्) जो सब जगत् का धारण-कर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है, उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो।

(ऋ॰ भा॰ भू॰ वेदोत्पत्ति विषय)

ब्राह्मणों ने भी इस मान्यता को यथावत् स्वीकार किया है-

(ग) "एवं वा भ्ररेऽस्य महतो मूतस्य निःश्वसितमेतद् । यहग्वेदो यजुवेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गरसः ।।" (शत० १४।८)

ग्रर्थात् — उस महान् शक्तिशाली परमात्मा के निश्वासरूप में प्रकट ये चारों वेद हैं,जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ग्रौर ग्रङ्गिरा से प्रकट ग्रथवंवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। (घ) ''तेम्यस्तप्तेम्यस्त्रयो वेदा स्रजायन्त, सन्तेर्ऋं न्वेदो, वायोर्यंजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः ।" (श० ११।४।२।३)

ग्रर्थात्—उन तपस्वी ऋषियों के माध्यम से परमात्मा ने ग्रग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद इस प्रकार त्रयीविद्यारूप चार वेद प्रकट किये।

(३) बेदोरपित की मान्यता का ग्रन्यत्र दर्णन—मनु ने वेदों की ग्रपौरुषेय माना है, जैसा कि इस क्लोक में वर्णन है। ग्रपनी इस मान्यता की पुष्टि मनु ने ग्रन्यत्र भी ग्रनेक स्थानों पर की है, द्रष्टव्य हैं—१।३,२१॥ ११।२६४–२६५॥ १२।६४ क्लोक।

समयादि की उत्पत्ति-

कालं कालविमक्तींश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तया। सरितः सागराञ्खेलान्समानि विवमाणि च।। २४॥ तपो वाचं रति चैव कामं च क्रोथमेव च। सृष्टि ससर्जं चैवेमां ऋष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥ २४॥

[फिर उस परमात्मा ने] (ल्रष्टुम् + इच्छन्) सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा से (कालम्) समय (च) श्रौर (कालविभक्तीन्) समयविभागों—िनमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात ग्रादि को (नक्षत्राग्णि) नक्षत्रों—ग्रदिवनी, भरणी ग्रादि को (तथा ग्रहान्) तथा ग्रहों—सूर्यं, चन्द ग्रादि को (सिरतः) निदयों (सागरान्) समुद्रों (शैलान्) पर्वतों (च) ग्रौर (समानि विषमाणि) ऊँचे-नीचे स्थानों को (तपः वाचं र्रात च) ग्रौर तप, वाणी, प्रसन्नता (च) तथा (कामं क्रोघं एव) काम, क्रोघ को, (इमाः प्रजाः) इन सब प्रजाग्रों को (च) ग्रौर (इमां सृष्टिम्) शेष सारी सृष्टि को (ससर्जं) रचा ॥२४, २५॥

अन्य श्रीत्जनाः ये दोनों श्लोक निम्न ग्राधारों के श्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) पूर्वापर प्रसङ्ग के विरुद्ध हैं। २१ वें श्लोक में वेदों के द्वारा कर्मों का ज्ञान कराये जाने का कथन है, तदनुसार २६ वें में कर्मों के विवेचन का वर्णन है। कर्मों के प्रसङ्ग के बीच में सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन उस पूर्वापर प्रसङ्ग को भङ्ग कर रहा है। (२) सृष्ट्युत्पत्ति वर्णन का प्रसङ्ग २२ वें में पूर्ण हो चुका है, उसके वाद वेदोत्पत्ति और कर्मों का प्रसङ्ग है। उस प्रसङ्ग के समाप्त हो जाने पर पुनः नये सिरे से उन बातों का वर्णन करना ग्रसङ्गत है।
- २. शैलीगत माघार—(१) सृष्टि-उत्पत्ति के पूर्व-प्रसङ्ग में यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु ने प्राणि-शरीरों की रचना का वर्णन करने के लिए कुछ विस्तृत शैली प्रपनायी, लेकिन शेष जड़ जगत् की उत्पत्ति का संकेत मात्र दिया है [१।१६,२१]। इन श्लोकों में जड़ पदार्थों की उत्पत्ति का गणनापूर्वक विस्तृत उल्लेख इन्हें मनु की शैली का सिद्ध नहीं करता। (२) गणना या वर्णन की शैली म्रयुक्तियुक्त भी है। इसमें

प्रज्याप्ति दोष स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। कुछ पदार्थों एवं भावों की रचना का तो उल्लेख है और लोभ, मोह,वृक्ष ग्रादि बहुत से शेष पदार्थों का संकेत ही नहीं। पदार्थों के उल्लेख का कोई सुनिश्चित ग्राधार भी नहीं है। मनु की शैली में इस प्रकार की किमयां नहीं हैं, ग्रतः ये श्लोक मनु की शैली के नहीं हैं। (३) शब्दों का प्रयोग भी इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध कर रहा है। १।१६,१८,२२ में मनुष्यों-प्राणियों की उत्पत्ति कही जा चुकी है और उसके बाद वेदज्ञान की प्राप्ति का कथन भी हो चुका। किन्तु इन श्लोकों में—'स्रष्टु मिच्छन् इसाः प्रजाः' कहा जा रहा है प्रयीत् ग्रभी परमात्मा प्रजाग्रों की सृष्टि की इच्छा ही कर रहा है। यह प्रयोग इन्हें मनु की शैली, का सिद्ध नहीं करता। ये बाद में ग्रसङ्कत रूप से जोड़ दिये हैं।

धर्म-ग्रधर्म, सुख-दुःख ग्रादि का विभाग---

# कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मा व्यवेचयत् । द्वन्द्वेरयोजयच्चेमाः सुखदुः लादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥ (१६)

(च) ग्रौर फिर (कर्मणां विवेवार्थम्) कर्मों के विवेचन के लिए (घर्म-ग्रधमों) धर्म-ग्रधमें का (व्यवेचयत्) विभाग किया (च) तथा (इमाः प्रजाः) इन प्रजाग्रों को (मुखदु:खादिभिः द्वन्द्वेः) मुख-दु:ख ग्रादि द्वन्द्वों [=दो विरोधी गुणों या ग्रवस्थाग्रों के जोड़ों] से (ग्रयोजयत्) संयुक्त किया ॥२६॥

आनुर्धी का : धर्म-प्रधर्म के विभाग की चर्चा निम्न वेदमन्त्र में ब्राती है। वही भाव यहां मनु ने ग्रहण किया है —

"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः" (यजु० १६।७७)

(प्रजापितः) सब जगत् का ग्रध्यक्ष जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म ग्रौर ग्रसस्य जो अधर्म है (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने ग्रपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य ग्रौर भूठ को ग्रलग-ग्रलग किया है। '(ऋ० भा० भू० ६७)

सूक्ष्म से स्थूल के क्रम से सृष्टि का वर्णन---

म्राज्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्थानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवस्यनुपूर्वशः ॥२७॥ (१७)

(दशार्धानाम् तु) दश के म्राघे म्यात् पांच महाभूतों की ही (याः) जो (विनाशिन्यः) विनाशशील म्रयात् म्रपने म्रहङ्कार कारण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली (म्रष्ट्यः मात्राः स्मृताः) सूक्ष्म तन्मात्राएं कही गई हैं (ताभिः) उनके (साधं) साथ म्रयात् उनको मिलाकर ही (इदं सर्वम्) यह समस्त संसार (म्रनुपूर्वशः) क्रमशः—सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से (संभवति) उत्पन्न होता है।। २७।।

आन्त्रशीत्उन्त : २७ वें श्लोक के क्रम पर विचार-प्रतीत होता है कि

मूल प्रति में खण्डत हो जानेके कारण यह क्लोक स्थान अष्ट हो गया है। प्रसंग और क्रम की दिष्ट से यह १६वें के पश्चात् होना चाहिए, क्योंकि—(१) "कर्मणां च विवेकार्थं" इस क्लोक के पश्चात् इसका कोई क्रम नहीं जुड़ता। यहां प्रसंग को भंग करता है। (२) भूतों और तन्मात्राओं की उत्पत्ति और उनसे जगत् की उत्पत्ति का क्रम तथा प्रसंग १६वें तक पूर्ण हो जाता है। इस दिष्ट से भी यहां संगत है। (३) २० वें में एषाम्' कहकर तन्मात्राओं व पञ्चभूतों का ही वर्णन है। इस प्रयोग से यह संकेत मिलता है कि उससे पूर्व तन्मात्राओं के वर्णन का क्लोक होना चाहिए, जो प्रचलित पाठ में नहीं है। और इस प्रसंग में ऐसा और कोई दूसरा क्लोक है नहीं, जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन हो। यही एक क्लोक ऐसा है जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन हो। यही एक क्लोक ऐसा है जिसमें पञ्चतन्मात्राओं का वर्णन है। इस प्रकार २०वें क्लोक के एषाम्'पद से प्राप्त होने वाले एक क्लोक के स्रभाव का संकेत की क्लोक का २७वीं संख्या पर स्रसंगत होना, ये दोनों बातें इस क्लोक का उपयुक्त १६वें के पश्चात् नियत करती हैं। स्रतः यह इसी क्रम से रखा जाना चाहिए। असे मूल में प्रक्षेप की कोई भी प्रेरक-प्रवृत्ति संभव न होने के कारण इसे प्रक्षिप्त नहीं माना गया है।

जीवों का कर्मों से संयोग --- --

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं मेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥२८॥ (१८)

(सः प्रभुः) उस परमात्मा ने (प्रथमम्) सृष्टि के न्नारम्भ में (यं तु) जिस प्राणी को (यिस्मन् कर्मिण्) जिस कर्म में (न्ययुङ्क्त) लगाया (पुनः पुनः) प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में [१। ८०] (सः) वह फिर (सृज्यमानः) उत्पन्न होता हुग्रा ग्रर्थात् जन्म घारण करता हुग्रा (तदेव) उसी कर्म को ही (स्वयम्) ग्रपने ग्राप (भेजे) प्राप्त करने लगा ।। २८ ।।

हिस्राहिस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्।। २६।। (१६)

(हिंस्न + ग्रहिंस्ने) हिंसा [सिंह, व्याघ्न ग्रादि का] ग्रहिंसा [मृग ग्रादि का] (मृतु-कूरे) दयायुक्त ग्रीर कठोरतायुक्त (धर्म-ग्रधमों) धर्म तथा ग्रधमं (ग्रनृत ऋते) ग्रसत्य ग्रीर सत्य (यस्य) जिस प्राणी का (यत्) जो कर्म (सर्गे) मृष्टि के प्रारम्भ में (सः ग्रदधात्) उस परमात्मा ने धारण कराना था (तस्य तत्) उस को वहीं कर्म (स्वयम्) ग्रपने ग्राप ही (ग्रावि-शत्) प्राप्त हो गया ॥ २६ !!

अप्रज्ञू श्री त्ज न्यः जगदुत्पत्ति-प्रयोजन एवं कर्मफल— सृष्टि के ग्रारम्भ में प्राणियों के कर्मों की भिन्नता के कारण ग्रीर जगत्-रचना के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं— "(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

(उत्तर) .....प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता, और जीव क्योंकर भोग सकते थे?" (स॰ प्र०२१३)

"(प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंह म्रादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण, गाय म्रादि पशु, किन्हीं को वृक्षादि क्रुमि, कीट, पतंग म्रादि जन्म दिये हैं; इससे परमात्मा में पक्षपात म्राता है?

(उत्तर) पक्षपात नहीं स्राता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मा-नुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात स्राता।"

यथर्तुं लिगान्यृतवः स्वयमेवर्तुं पर्यये । स्वानि स्वान्यभिषद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥ (२०)

(यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुपर्यये) ऋतु-परिवर्तन होने पर (स्वयम् + एव) अपने आप ही (ऋतुलिंगानि) अपने-अपने ऋतुचिह्नों — जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आस्रमञ्जरी आदि को (अभिपद्यन्ते) प्राप्त करती हैं (तथा) उसी प्रकार (देहिनः) देह खारी प्राणो भी (स्वानि स्वानि कर्माणि) अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं ॥ ३०॥

चार वर्णों की व्यवस्था का निर्माण-

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाह् रुपादतः। बाह्यणं क्षत्रियं वैश्यं शुद्धः च निरवर्तयत्।। ३१।। (२१)

[फिर उस परमात्मा ने] (लोकानां तु) प्रजाम्नों म्रर्थात् समाज की (विवृद्धचर्यम्) विशेष वृद्धि = शान्ति, समृद्धि एवं प्रगति के लिए (मुखबाहु- ऊरु-पादतः) मुख, बाहु, जंघा ग्रौर पैर के गुणों की तुलना के ग्रनुसार क्रमशः (ब्राह्मएं क्षत्रियं वैश्यं च शूद्रम्) ब्राह्मएं, क्षत्रियं, वैश्यं ग्रौर शूद्र वर्णं को (निरवर्तयत्) निर्मित किया। म्रर्थात् चातुर्वण्यं-व्यवस्था का निर्माण किया। ३१॥ अ

अन्य क्यी त्य ना (१) चातुर्वण्यं व्यवस्था-निर्माण वेदों से—वेद में पुरुषसूक्त में चार वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन श्राया है। मनु ने इस इलोक में ठीक उसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति दर्शायी है। इन मन्त्रों से मनु का भाव ग्रौर स्पष्ट हो जाता है

<sup>% [</sup>प्रचलित अर्थ — लोक-वृद्धि के लिए ब्रह्मा ने मुख, बाहु, ऊरु ग्रीर पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर शूद्ध की मृष्टि की ।। ३१ ॥]

तथा ब्रह्मा के ग्रंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति की भ्रान्ति का भी निराकरण हो जाता है। जैसा कर्मों-गुणों के ग्राधार पर ग्रालंकारिक वर्णन वेद में है,वैसा ही मनुस्मृति में है। मन्त्र निम्न हैं—

''यत्पुरुषं व्यदघुः कतिषा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत् किं बाह् किमूरू पादा उच्येते ।।

(यजु० ३१।१०)

(यत्पुरुषं०) पुरुष उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान ईरवर कहाता है (कितचा व्य०) जिसके सामर्थ्य का ग्रनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उसमें चित्रविचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है, ग्रनेक कल्पनाग्रों से जिसका कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख ग्रथांत् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्त हुग्रा है (कि बाहू) बल वीर्य्य, शूरता ग्रीर युद्ध ग्रादि विद्यागुणों से किसकी उत्पत्ति हुई है (किमूरू) व्यापार ग्रादि मध्यम गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

बाह्यसोऽस्य मुखमासीत् बाह् राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैदयः पद्म्यां शुद्रो श्रजायत ॥

(यजु० ३१।११)

(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या, सत्य-भाषण आदि उत्तमगुण और श्रेष्ठकमों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कमं और गुणों के सिहत होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल-पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊल् तदस्य॰) बेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है (पद्म्यां शूद्रो॰) जैसे पग सबसे नीच अङ्ग है वैसे मुखंता आदि नीच अगुणों से शूद्रवर्ण सिद्ध होता है।" (ऋ॰ भू० १२५-१२६)

- (२) इस ग्रालंकारिक वर्णन की पुष्टि के लिए वेदों के व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। निम्न वचनों में ब्राह्मण को समाज या मनुष्यों का मुखरूप बताया है, मुख से उत्पन्न हुग्रा नहीं—
  - (ग्र) बाह्यणो मनुष्याणां मुखम् । (तां० १।६।१) बाह्यण मनुष्यों का मुख है।
  - (म्रा) ब्रस्य सर्वस्य बाह्यणो मुखम् । (श० ३।६।१।१४)

<sup>%</sup> यहां महिष दयानन्द द्वारा प्रयुक्त 'नीच' शब्द 'उच्च' का विलोमार्थक है, जो संस्कृत 'निम्न' का पर्यायवाची है, यह ग्राजकल की भाषा ग्रौर व्यवहार में प्रयुक्त 'नीच' घृणार्थक नीच ग्रर्थ में नहीं है। इसका ग्रर्थ है—'गुणों के ग्रनुपात में निम्न गुणों वाला।'

इस समाज या जगत् का ब्राह्मण मुखरूप है अर्थात् सर्व प्रमुख स्थान वाला है।

(३) वर्गोत्पत्ति-विषयक भ्रान्त कल्पना - इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट ने एक ग्रत्यन्त ग्रविश्वसनीय कल्पना की है,ग्रौर उसे उसी प्रकार के ग्रन्ध-विश्वास से पूष्ट किया है। उन्होंने इस श्लोक का श्रर्थ इस प्रकार किया है-- 'ब्रह्मा ने ग्रपने मूल से बाह्मण को पैदा किया, बाहुओं से क्षत्रिय को, जंघाओं से वैदर ग्रीर पैर से शुद्र को पैदा किया है'। इस अन्ध कल्पना पर कभी किसी का विश्वास न ने, शायद इसलिए उन्होंने यह वाक्य भी जोड़ा-"दैक्या च शक्त्या मुलाविस्यो बाह्यणाविनिर्माणं बह्मागो न विशक्त्वीयं श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रुतिः — ब्राह्मागोऽस्य मुखमासीत्" [ऋक १०।६०।१२]। अर्थात् — ब्रह्मा के मूल ग्रादि से ब्राह्मण ग्रादि का निर्माण दिव्य-शक्ति से हुग्रा है, इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह बात वेदों से सिद्ध है, वेद में कहा है—'ब्राह्मण इस परमात्मा का मुख हुन्ना।' वस्तुतः यहां ग्रालंकारिक वर्णन है, जिसका ग्रथं इस प्रकार बनता है कि परमात्मा ने मुख, बाह, जंघा ग्रीर पैर के गुणों के साम्य के अनुसार क्रमशः चारों वर्णों का निर्माण किया है। जैसे---७।४ में इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्र ग्रादि ग्राठ वस्तुग्रों के ग्रंश से राजा का निर्माण होना कहा है। स्पष्ट है कि इनसे राजा की रचना नहीं हो सकती, किन्तु आलं-कारिक रूप में यहां राजाग्रों में इनके गुणों का होना ग्रभिप्रेत है। ठीक इसी प्रकार यहां भी गुणों के साम्य के ग्राधार पर वर्णों की रचना का कथन है। कुल्लूक ने जिस पद को प्रमाण रूप में दिया है उसका अर्थ भी उत्पन्न होना नहीं बनता, अपित आलंकारिक रूप में 'ब्राह्मण मुखस्थानीय रूप में था, यह ग्रर्थ ही संगत होता है। दिव्य शक्ति भी श्रपनी एक निश्चित प्रक्रिया में काम करती है। दिव्य शक्ति होने का यह मतलब नहीं कि वह मुष्टिक्रम-विरुद्ध रूपमें कुछ भी कर डाले, अतः कुल्लुकका यह विश्वास भी बुद्धिसंगत नहीं है । शैली ग्रीर प्रसंगके श्रनुसार भी यदि विचार किया जाये तो इसका ग्रालंकारिक ही अर्थ बनता है, कुल्लूक भट्ट ग्रीर उनके अनुसरणकत्तिश्रों का ग्रर्थ ग्रसंगत सिद्ध होता है--(१) सृष्टि-उत्पत्ति-क्रम में १।१६,१६,२२ में मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति का होना कहा जा चुका है और उसके पश्चात ऋषियों से वेदज्ञान की प्रकटता [१।२३], प्रजाम्रों की सुख-दु:खादि से संयुक्ति [१।२६] म्रादि भी दिखायी जा चुकी है फिर दोबारा उत्पत्ति कैसी ? (२) मनुस्मृति में ब्रह्मा का प्रसंग प्रक्षिप्त है, ग्रतः उसका नाम जोड़कर ग्रर्थ करना भी उचित नहीं (इसके लिए १।७–१३ पर समीक्षा देखिए ।) ग्रीर परमात्मा सुक्ष्म, अञ्यय होने से शरीर धारण नहीं करता। ग्रतः उसके मृत्वादि की कल्पना भी नहीं हो सकती, उनसे उत्पत्ति ग्रादि की कल्पना का तो फिर प्रश्न ही नहीं। (३) यदि ब्रह्मा के माध्यम से यह उत्पत्ति मानी जाये, तो उस प्रसङ्ग से भी यह ग्रन्ध-कल्पना सिद्ध नहीं होती। यतोहि, ब्रह्मा के प्रसङ्ग में मृष्टि-उत्पत्ति का क्रम-'ब्रह्मा से विराट, विराट् से मनु और मनु से अन्य सृष्टि'–[१।३२–४१] इस रूप में उत्लि-खित है। उससे भी अनेक प्रकार से विरोध आता है—(क) मनू की उत्पत्ति बाद में

हुई दर्शायी गयी है और ब्राह्मण ग्रादि की उत्पत्ति पहले ही दिखा दी। (ग्र) जबउक्त ब्रह्मा की वंश-परम्परा से सारी सृष्टि-उत्पत्ति मानी है, तो ब्राह्मण ग्रादि पहले ही क्यों और किससे पैदा हुए? (ग) यदि ब्राह्मण ग्रादि को पहले उत्पन्न कर दिया था तो फिर विराट्, मनु ग्रादि की उत्पत्ति की ब्रह्मा को क्या ग्रावश्यकता थी? शृष्टि तो उन्हीं से चल जाती। (घ) जब मुख ग्रादि से ब्राह्मण ग्रादि की रचना कर डाली तो फिर 'विराट् को भी क्यों न किसी ग्रङ्ग से बनाया? उनके जन्म के लिए पहले स्त्री-रचना की क्यों ग्रावश्यकता हुई? [१।३२]। इस प्रकार ग्रनेकों युक्तियों से कुल्लूकभट्ट ग्रीर उनके ग्रनुसरणकत्तिंग्रों की कल्पना गलत ग्रीर ग्रसंगत सिद्ध होती है, ग्रतः ग्रालंकारिक ग्रर्थ ही मनु-ग्राभिग्रेत मानना चाहिए।

ब्रह्मा से स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति-

## द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्घेन पुरुषोऽमवत् । स्रर्धेन नारी तस्यां स विराजममुजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

वह ब्रह्मा (ग्रात्मनः + देहम्) ग्रपने शरीर के (द्विधा कृत्वा) दो भाग करके (ग्रधेन पुरुषः) ग्राधे से पुरुष ग्रीर (ग्रधेन नारी) ग्राधे से स्त्री (ग्रभवत्) हो गया (तस्याम्) फिर उस स्त्री में (स. प्रभुः) उस ब्रह्मा ने (विराजम्) 'विराट्' नामक पुरुष को (ग्रमुजत्) उत्पन्न किया ॥ ३२॥

मनुकी उत्पत्ति---

#### तपस्तप्त्वाऽसृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् । तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्नष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

(द्विजसत्तमाः) हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! (सः विराट् पुरुषः) उस विराट् नामक पुरुष ने (तपः तप्त्वा) तपस्या करके (यं तु श्रमुजत्) जिसको उत्पन्न किया (तम्) उसे (श्रस्य सर्वस्य) इस सब संसार के रचियता (माम्) मुक्ष मनु को (वित्त) समक्षो श्रयीत् वह मैं मनु ही हूँ ॥ ३३ ॥

दश प्रजापतियों की उत्पत्ति-

### म्रहं प्रजा सिस्धुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् । पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दशा। ३४।।

(प्रजाः सिसृक्षुः तु ग्रहम्) प्रजाग्रों की सृष्टि करने की इच्छा वाले मैंने (मनु ने) (सुदुश्चरम् तपः तप्त्वा) कठोर तपस्या करके (ग्रादितः) पहले (प्रजानां पतीन्) प्रजाग्रों के पतिरूप (दश महर्पीन्) दश महर्पियों को (ग्रमुजम्) उत्पन्न किया ॥३४॥

मरीचिमत्र्याङ्गरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्। प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारवमेव च॥ ३४॥

[वे दश प्रजापित ऋषि ये हैं]—मरोचि, ग्रित्र, ग्रिङ्गरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु ग्रौर नारद॥ ३४॥ पुनः सात मनुद्रों तथा देवों की सृष्टि-

एते मन्स्तु सप्तान्यानसृजन्मूरितेजसः। वेवान्वेवनिकायांश्च महर्षीश्चामितौजसः॥ ३६॥

(एते मर्नूस्तु) इन दश मनुत्रों ने (भूरितेजसः) श्रत्यधिक तेजस्वी (श्रन्यान् सप्तान्) श्रन्य सात मनुश्रों को (श्रमुजन्) उत्पन्न किया (च) श्रौर (देवान्) देवताश्रों (देविनकायान्) देवगणों (च) तथा (श्रमितौजसः) महातेजस्वी (महर्षीन्) महर्षियों को भी उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥

यक्ष ग्रादि की सृष्टि---

यक्षरक्षःपिशाचांश्य गन्धर्वाप्तरसोऽसुरात् ।
नागान्सर्पान्सुपणाँश्य पितृ णां च पृथगगणात् ॥ ३७ ॥
विद्युतोऽशिन मेघांश्र रोहितेन्द्रधमूँ वि च ।
उल्कानिर्घातकेत् श्य ज्योतीं ज्युष्यायचानि च ॥ ३८ ॥
किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधाँश्य विहंगमात् ।
पश्चमृगान्मनुष्यांश्य व्यालांश्योभयतोवतः ॥ ३६ ॥
कृमिकीटपतंगाँश्य यूकामिककमत्कुणम् ।
सर्वं च वंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ।
पृवमेतेरिवं सर्वं मिन्नयोगान्महात्मिमः ॥ ४१ ॥
यथाकमं तपोयोगात्सुष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ४१ ॥

(च) फिर (यक्ष-रक्ष:-पिशाचान्) यक्ष, राक्षस, पिशाचों को (गन्धवं + ग्रप्स-रक्ष: + सुरान्) गन्धवं, ग्रप्सराग्रों ग्रीर राक्षसों को (च) ग्रीर (नागान् सपिन् सुपर्णान्) नाग, सपं, गरुड़ों को (पितृणां पृथक् गणान्) पितरों के पृथक्-पृथक् गणों को, (च) ग्रीर (विद्युतः) बिजली, (ग्रश्नि) गिरने वाली बिजलियों; (मेघान्) बादलों को, (रोहित) सीचे इन्द्रघनुषों, (इन्द्रघनुषि) टेढ़े इन्द्रघनुषों को, (उल्का) उल्काग्रों, (निर्घात) उत्पात की ग्रावाजों, (केत्न्) पुच्छल तारों (च) ग्रीर (ज्योतीषि उच्च + ग्रवचानि) छोटे-वहे तारों को; (किन्नरान् वानरान् मत्स्यान्) किन्नरों, वानरों, मछलियों को (विविधान् विहङ्गमान्) विविध प्रकार के पिक्षयों को, (पश्न मृगान् मनुष्यान्) ग्राम्यपशुग्रों, वन्य-पशुग्रों, मनुष्यों को (उभयोदतः व्यालान्) दोनों ग्रोर दाँत वाले हिंसक पशुग्रों को; (क्रमि-कीट-पतंगान्) छोटे कीड़ों, बड़े कीड़ों, उड़ने वाले कीड़ों (ग्रूका-मिक्षक-मत्कुणम्) जूं, मक्खी, खटमलों (च सवं दंशमशकम्) ग्रीर सब इंसने वाले मच्छरों को (च पृथक्-विधम् स्थावरम्) विविध प्रकार के स्थावरों को उत्पन्न किया। (एवम्) इस प्रकार (एतः महात्मिभः) इन [१।३४] दश प्रजापित मनुग्रों ने (मत् नियोगात्) मेरे ग्रादेश से (तपोयोगात्) तपोबल के द्वारा (इदं सवं स्थावरजगमम्) यह सब स्थावर-जगम जगत् (यथाकर्म) कर्मानुसार (मृष्ट्यम्) रचा।। ३७-४१।।

अर्जुर्टी का ३२ से ४१ तक के श्लोकों का यह प्रसंग निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगविरोष─(१) सात मनुष्यों से चराचर जगत् की उत्पत्ति नहीं—इसमे सुब्दि-उत्पत्तिके एक साथ दो प्रसंग चल रहे हैं—एक, ग्रव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा द्वारा महत् म्रादि तत्त्वों से सुष्टि की रचना वाला—जो ५,६, १४-२३, २७-३१, ४२-४६, ५२-५७, ६७-७८ इलोकों में वर्णित है। दूसरा, ब्रह्मा भीर ब्रह्मा के वंशीय मनु द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति के कथनवाला; यह ७-१३, २४-२४, ३२-४१, ५०-५१, ५८-६३ ब्लोकों में विणित है। इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि दो प्रसंगों में से एक ही मौलिक हैं। सकता है, दोनों नहीं। क्योंकि, दोनों में परस्पर-विरोध है ग्रीर दोनों प्रसंगों के क्लोकों का क्रम भी नहीं जुड़ता। न दोनों प्रसंगों के श्लोकों की शैली ही मेल खाती है। इन दोनों में ग्रब्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा द्वारा तत्त्वों से सुष्टि-रचना का प्रसङ्ग ही मौलिक माना जा सकता है, यतो हि-(क) १। ५-६ में उसी परमात्मा से सुष्टि-उत्पत्ति बतलानी शुरू की थी और युक्तियों के ग्राधार पर वही सुष्टि ज्यान करने में समर्थ माना जा सकता है, (ख) तत्त्वों द्वारा सृष्टि-उत्ात्ति का क्रम ही युक्तियुक्त है । १ । ५-६ में '**महाभृता**दि ब्लीजाः' 'तमोनुबः' श्रादि विशेषणों से मन् ने इसी क्रम का संकेत दिया है, ब्रह्मा के वंश का नहीं। (ग) ब्रह्मा के प्रसंग वाले क्लोकों का, जहाँ भी वे क्षेपक के रूपमें डाले गये हैं, वहाँ के पूर्वापर क्लोकों से क्रम श्रीर संगति नहीं जुड़ती। उन्होंने मूल प्रसंग को स्थान-स्थान पर भंग कर दिया है। (ध) ब्रह्मा के प्रसंग वाले क्लोकों की शैली कल्पना पर माश्रित, म्रयुक्तियुक्त, म्रविश्वसनीय, सुनिश्चित माघार से रहित, म्रपरिष्कृत भौर गाम्भीयरहित है, जबिक मूलप्रसंग के श्लोकों की शैली में ये कमियाँ नहीं हैं। (ङ) किसी मनुष्य के द्वारा (जैसे मनु ग्रीर दश प्रजापितयों द्वारा) स्थावर ग्रीर पशु-पक्षी, कीट म्रादि की सृष्टि प्रकृतिविरुद्ध भौर ग्रमान्य है। इन युक्तियों से यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में ब्रह्मा का प्रसंग मौलिक नहीं है। इस प्रकार ३२-४१ श्लोकों का यह प्रसङ्घ भी ब्रह्मा के प्रसंग का ग्रंश होने के कारण प्रक्षिप्त है। (२) ये श्लोक पूर्वापर प्रसङ्ग के विरुद्ध हैं - उसे भंग कर रहे हैं। २४ वें श्लोक से कर्मों की चर्चा प्रारम्भ की थी। उसी क्रम में ३१ वें श्लोक में कर्मानुसार समाज में चार वणी का निर्माण दिलाया है। इसके बाद इनके कर्मों को बतलाना था। किन्तू मनू ने प्रसङ्ग बदलकर पहले प्राणियों के वर्ग और जन्मक्रम का वर्णन करना आवश्यक समभा, अतः ४२ वें श्लोक में इस प्रसङ्ग-परिवर्तन का उल्लेख कर दिया है। प्रथम पंक्ति में कर्म की चर्ची ३१ वें के स्राधार पर ही की गई है। स्रतः ३१ वें के पश्चात् ४२ वां श्लोक ही संगत है। ये उस सङ्गति को भंग करने के कारण प्रसङ्गविरुद्ध हैं। (३) १। १४-२३ क्लोकों में समस्त जगत की उत्पत्ति का कथन हो चुका है, ग्रीर इसी क्लोक के साथ जगदुत्पत्ति का यह प्रसङ्ग पूर्ण हो चुका। प्रसङ्ग समाप्त होने पर पुनः स्थावर-जंगम जगत् की उत्पत्ति कहना या एक भिन्न प्रसङ्ग प्रारम्भ करना, प्रप्रासङ्गिक है। इस हिंद से भी ये इलोक प्रसंगविरुद्ध हैं
  - २. अन्तिवरोध-इन श्लोकों की मान्यता के साथ त्रिकोणात्मक विरोध मिलता

हैं—(क) १। ५-६, १४-२३ श्लोकों में प्रव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा द्वारा तत्त्वों से सूष्टि रचना कही है, (ख) १। ७-१३, ५० ग्रीर-''एवं सवै स सृष्ट्वेदं मां च अचिन्त्य — पराक्रमः'' 'इस प्रकार यह ब्रह्मा इस समस्त संसार को ग्रीर मुफे (मनु को) उत्पन्न करके' [१। ५१] के ग्रनुसार इस सृष्टि की रचना ब्रह्मा से मानी है। तथा (ग) (३४-४१ श्लोकों में मनु ग्रीर उससे उत्पन्न दशप्रजापितयों को इस जड़-जंगम जगत् का रचिता कहा है। ये तीनों ही मान्यताएँ एक-दूसरे का विरोध करने वाली हैं। स्पष्ट है कि कोई एक मान्यता ही मौलिक होनी चाहिए। १।७-१३ ग्रीर इन ३२-४२ श्लोकों पर दी गई युक्तियों ग्रीर प्रमाणों के ग्राधार पर ग्रव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा से सृष्टि-उत्पत्ति वाली मान्यता ही मौलिक सिद्ध होतो है। शेष दोनों मान्यताएँ उसके विरुद्ध होने के कारण मनुप्रोक्त ग्रीर मौलिक न होकर प्रक्षिप्त हैं।

३. शैलीगत बाधार-मनु की शैली से इन श्लोकों की शैली भिन्न है-(१) मौलिक सुष्ट्युत्पत्ति-प्रसंग (१। ४-६, १४-२३) के क्लोकों की शैली साधार, परिष्कृत, युक्तियुक्त (एक सुनिश्चित प्रकृतिसिद्ध प्रक्रिया के अनुसार सृष्ट्युत्पत्ति दर्शाने वाली) है। किन्तु इन श्लोकों की शैली निराधार मुख्टिक्रम से विरुद्ध, ग्रपरिष्कृत ग्रीर ग्रयुक्तियुक्त है—(क) इन श्लोकों में सृष्ट्युत्पत्ति की कोई सुनिश्चित प्रक्रिया नहीं है। (ल) ३२ वें ब्लोक में ब्रह्मा के आधि भाग से पुरुष और आधि से स्त्री की रचना का वर्णन भी अयुक्तियुक्त, अविश्वसनीय, कपोल-कल्पित और अंधविश्वास पर श्राधारित है। (ग) ब्रह्मा ने तो अपने श्राधे भाग से निर्मित स्त्री में विराट् को उत्पन्न किया, लेकिन विराट् ने मनु को किस स्त्री द्वारा जन्म दिया [३२-३३], इसका उल्लेख ही नहीं। (घ) इसी प्रकार मनु ने दशप्रजापितयों को (३४), दशप्रजापितयों ने सात मनुत्रों को (३५-३६) किस स्त्री से जन्म दिया और वह स्त्री किससे पैदा हुई ? (ब्रह्मा से तो केवल एक ही स्त्री का निर्माण वतलाया है। जिससे विराट् हुग्रा, इन बाती का उल्लेख नहीं, केवल कल्पना दिखा दी है। (ङ) मनुष्यों से पशु-पक्षी, कीट-पतंग ग्रादि तथा जड़ वस्तुग्रों का जन्म होना प्रकृतिविरुद्ध है (३७-४१)। ये बातें इन इलोकों की शैली को निराधार, अयुक्तियुक्त और अपरिष्कृत सिद्ध करती हैं। इनका वर्गान केवल रूढ़ ग्रीर ग्रन्धकल्पना पर ग्राधारित है, (२) मौलिक प्रसंग में सृष्ट्यु-त्यत्ति का वर्णन गम्भीर स्रीर संक्षिप्त शैली से किया है । इसीलिए मनु ने प्राणियों स्रीर स्थावरों की गराना भी नहीं की, किन्तु इन ब्लोकों में परिगणना बैली स्रपनायी है, न तो इनके वर्णन में संक्षिप्तता है ग्रीर न गम्भीरता। इस इष्टि से भी ये इलोक मनुप्रोक्त नहीं सिद्ध होते। (१। ७-१३ की समीक्षाएं भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं)

इस प्रकार ग्रनेक ग्राधारों श्रौर युक्तियों से ये क्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। श्रौर इनके साथ-साथ ब्रह्मा से सम्बद्ध प्रसंग भी मनुस्मृति का मौलिक प्रसंग सिद्ध नहीं होता। प्राणियों की उत्पत्ति का प्रकार-

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् । तत्त्रया वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥ (२२)

(इह) इस संसार में (येषां भूतानाम्) जिन मनुष्यों का—वर्णगतं मनुष्यों का (यादशं कर्म) जैसा कर्म (कीर्तितम्) वेदों में कहा है (तत्) उसे (तथा) वैसे ही (१। ५७-६१) (च) ग्रौर (जन्मिन) उत्पन्न होने में (क्रम-योगम्) जीवों का जो एक निश्चित प्रकार रहता है, उसे (वः) ग्राप लोगों को (ग्रिमिधास्यामि) कहुँगा।। ४२।।

# अन्त्रशीत्उनः ४२ वं श्लोक की शैली एवं प्रयं पर विचार—

(१) सृष्टि-उत्पत्ति का प्रसंग समाप्त होकर वह प्रसंग कमों के वर्णन की ग्रोर चला गया था। किन्तु सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें ग्रमी शेष रह गई थीं, जिनसे ग्रवगत कराना, मनु को ग्रावश्यक लगा। इसलिए वे प्रसंग को बदलकर पुनः सृष्टि-उत्पत्ति पर लाये हैं, जिससे शेष ग्रग्रिम बातों की जानकारी दे सकें। पहले उस प्रसंग को बदलने का संकेत कर दिया है। मनु की यह एक शैली है कि जब भी वे कोई भिन्न प्रसंग शुरू करते हैं, उसका संकेत देते हैं। इस कारण प्रसंग-भिन्नता का दोष नहीं ग्राता (२) यहां 'कीर्तितम्' से 'वेदों में कहा है' यह भाव ग्रमिन्नत है। १। ३, २१, ८७ श्लोकों से यह पुष्ट होता है। इन श्लोकों में मनु ने यह भाव प्रकट किया है कि—परमात्मा ने जो भी कर्म ग्रादि बनाये, उनका ज्ञान वेदों के द्वारा करवाया। यहां वेदों में कहे कर्मों को ही मनु बतलायेंगे, यतो हि १।३ में मनु को 'कार्यतस्वायंवित' कहकर वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-ग्रधमों को ही जानने की इच्छा प्रकट की थी। (३) 'क्र-स्योगम्' से यहां क्रमानुसार ग्रयं लेना उचित नहीं है। जीवों के उत्पन्न होने में जो एक 'निश्चित प्रकार'रहता है, जैसे—मनुष्यादि जरायु से पैदा होते हैं। पक्षी, सर्प ग्रादि ग्रण्डों से, इत्यादि।यहां 'क्रमयोगं च जन्मिन' का इसी से ग्रभिप्राय है।

जरायुज-जीव----

# पशवश्च मृगाश्चेव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः॥ ४३॥ (२३)

(पशवः) ग्राम्यपशु गौ म्रादि (मृगाः) म्रहिसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरए। म्रादि (च) म्रौर (उभयोदतः व्यालाः) दोनों म्रोर दांत वाले हिंसक वृत्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र म्रादि (च) तथा (रक्षांसि) राक्षस (पिशाचाः) पिशाच (च) तथा (मनुष्याः) मनुष्य (जरायुजाः) ये सब 'जरायुज' म्रर्थात् भिल्लो से पदा होने वाले हैं।। ४३।।

अन्यूर्गीला : राक्षस और पिशाच का लक्ष्मण ३।३३, ३४ श्लोकों की समीक्षा में द्रष्टव्य है। श्रण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्का मत्स्यादच कच्छपाः।

यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ।। ४४ ।। (२४) (पक्षिराः) पक्षी (सर्पाः) सांप (नक्राः) मगरमच्छ (मत्स्याः) गं (च) तथा (कच्छपाः) कछए (च) ग्रौर (यानि) ग्रन्य जो (एवं

(पानएत.) पन्ना (सपा.) साप (मफ्रा.) मगरमण्डा (मरस्या.) मछिलयां (च) तथा (कच्छपाः) कछुए (च) भ्रौर (यानि) ग्रन्य जो (एवं प्रकारािए।) इस प्रकार के (स्थलजािन) भूमि पर रहने वाले (च) ग्रौर (ग्रौदकािन) जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब (ग्रण्डजाः) 'ग्रण्डज' ग्रथीत् ग्रण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं।। ४४।।

स्वेदज-जीव---

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् । ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किञ्चिबीदृशम् ॥ ४४ ॥ (२४)

(दंशमशकम्) डंक से काटने वाले हांस औरमच्छर ग्रादि(यूका)जूँ (मिक्षक) मिल्लियां (मत्कुणम्) खटमल (यत् च ग्रन्यत् किन्तित् ईद्शम्) जो ग्रीर भी कोई इस प्रकार के जीव हैं, जो (ऊष्मणः) ऊष्मा ग्रर्थात् सीलन ग्रीर गर्मी से (उपजायन्ते) पैदा होते हैं,। वे सब (स्वेदजम्) 'स्वेदज' ग्रर्थात् पसीने या सीलन से उत्पन्न होनेवाले कहाते हैं।। ४५।।

आजूर्यी का संस्कृत के शब्दकोशों के अनुसार, और जैसा कि इस श्लोक से भी ज्ञात होता है, यहां स्वेद शब्द का अर्थ व्यापक है। प्राकृतिक पदार्थों में उत्पन्न क्लिन्नता = सीलन या तापयुक्त सीलन प्राणियों के शरीर से उत्पन्न पसीना और नवमेघ कृत सेचन, ये सब 'स्वेद' कहलाते हैं। इन स्वेदरूपों से श्लोकोक्त तथा अन्य बहुत से लघु जीव उत्पन्न होते हैं। वे सब 'स्वेदज' कहलाते हैं।

उद्भिज्ज जीव तथा म्रोषिघयां—

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिएाः।

म्रोषच्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥ (२६)

(बीजकाण्डप्ररोहिणः) बीज श्रीर शाखा से उत्पन्न होने वाले (सर्वे स्थावराः) सब स्थावर जीव [एक स्थान पर टिके रहने वाले] बृक्ष ग्रादि (उद्भिज्जाः) 'उद्भिज्ज'—भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। इनमें— (फलपाकान्ताः) फल ग्राने पर पककर सूख जाने वाले श्रीर (बहुपुष्पफलो-पगाः) जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं,। (ओषध्यः) वे 'ग्रोषिध' कहलाते हैं।। ४६।।

वनस्पति तथा वृक्ष---

ब्रपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।

पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूमयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥ (२७)

(ये अपुष्पाः फलवन्तः) जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, (ते) वे (वनस्पतयः स्मृताः) 'वनस्पतियां' कहलाती हैं। [जैसे-बड़=वट, पीपल, गूलर आदि] (च) और (पुष्पिणः फिलनः एव) फूल लगकर फल लगने वाले (उभयतः) दोनों से युक्त होने के कारण (वृक्षाः) वे उद्भिज्ञ स्थावर जीव 'वृक्ष' (स्मृताः) कहलाते हैं।। ४७।।

गुल्म, गुच्छ, तृण, प्रतान तथा बेल---

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः। बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥ (२८)

(विविधम्) भनेक प्रकार के (गुच्छ) जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'भाड़' ग्रादि (गुल्मम्) एक जड़ से ग्रनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' ग्रादि (तथैव) उसी प्रकार (तृगाजातयः) घास की सब जातियां, (बीज-काण्डरुहाणि) बीज ग्रीर शाखा से उत्पन्न होने वाले (प्रतानाः) उगकर फैलने वाली 'दूब' ग्रादि (च) ग्रीर (वल्ल्यः) उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें (एव) ये सब स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं ॥ ४८॥

वक्षों में ग्रन्तश्चेतना---

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४६ ॥ (२६)

(कर्महेतुना) पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण (बहुरूपेण तमसा) बहुत प्रकार के प्रज्ञान ग्रादि तमोगुण से (वेष्टिताः) आवेष्टित = धिरे हुए या भरपूर (एते) ये स्थावर जीव [४६-४६] (सुख-दुःख-समन्त्रिताः) सुख ग्रीर दुःख के भावों से संयुक्त हुए (ग्रन्तःसंज्ञाः भवन्ति) ग्रान्तरिक चेतना वाले होते हैं। ग्रथित् इनके भीतर चेतना तो होती है, किन्तु चर प्राणियों के समान बाहरी कियाग्रों में प्रकट नहीं होती। ग्रत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना ग्रीर भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता।। ४६।।

अर न्यू क्यी कि न्यः वृक्षों की चेतनता पर विचार—मनु ने यहां वृक्षादि में चेतना तो स्वीकार की है, किन्तु वह चेतना बाह्यरूप में प्रकट होने वाली न होकर केवल ग्रान्तरिक मानी है। दूसरी बात यह है कि ये ग्रत्यिक तमोगुण से वेष्टित हैं। यद्यपि सुख-दु:ख के भावों से मुक्त चेतना इनमें है, किन्तु तमोगुरगाधिक्य के कारण उनकी अनुभूति इनमें नहीं है। जैसे मूज्छित प्राणी में चेतना होते हुए भी सुख-दुःल का ज्ञान नहीं होता। मतः वृक्षों के साथ सुख-दुःल का व्यवहार नहीं है। सुख-दुःल की अनुभूति उसी को होती है जो पञ्चेन्द्रियों से संयुक्त होता है, और उन इन्द्रियों के साथ उनके विषय का सम्बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। सांख्यदर्शन में कहा है—

#### पञ्चावयवयोगात्सुलसंवित्तिः ॥ ५ । २७ ॥

''जब पांचों इन्द्रियों का पांच विषयों के साथ सम्बन्ध होता है, तभी सुख वा दुःख की प्राप्त जीव को होती है। जैसे बिधर को गाली प्रदान, ग्रन्थे को रूप वा ग्रागे से सर्प, ज्याद्मादि भयदायक जीवों का चलाजाना, शून्य बहिरी वालों को स्पर्श, पिन्नस रोग वाले को गन्ध ग्रौर शून्य जिह्ना वाले को रस प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार उन जीवों की भी व्यवस्था है।'' (स॰प॰ द्वादश समु॰) इसी प्रकार वृक्षों को पीड़ा की ग्रनुभूति नहीं होती ग्रौर इसी कारण वृक्षों के काटने ग्रादि में हिंसा तथा हिंसाजन्य पाप नहीं होता।

सांसारिक गतियों का उपसहार-

## एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः । घोरेऽस्मिन्मूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५०॥

(ग्रस्मिन्) इस (घोरे) दुःखों से भरे (नित्यं सततयायिनि) निरन्तर प्रवाह-मान = प्रवाह से ग्रनादि (भूतसंसारे) प्राणियों के संसार में (ब्रह्मा + ग्राद्याः एतद् + ग्रन्ताः तु गतयः) ब्रह्मा से लेकर इन स्थावर योनियों की स्थिति पर्यन्त [१।४६] की गतियां-ग्रवस्थाएं (समुदाहुताः) कह दी हैं ॥ ५०॥

ब्रह्मा का ग्रन्तधनि---

एवं सर्वं स सृष्ट्वेवं मां चाचित्त्यपराक्रमः। ब्रात्मन्यन्तवंश्रे मूयः कालं कालेन पीडयन्।। ५१॥

(सः ग्रचिन्त्यपराक्रमः) वह ग्रनन्त शक्तिवाला ब्रह्मा (एवं सर्वे मृष्ट्वा) इस प्रकार समस्त संसार की रचना करके (च) ग्रौर (माम्) मुक्त मनु को उत्पन्न करके (कालं कालेन भूयः पीडयन्) प्रलयकाल को मृष्टि-उत्पत्ति के काल से पीड़ित करते हुए (ग्रात्मिन ग्रन्तर्देधे) परमात्मा में ग्रन्तर्धान हो गया ॥ ५१ ॥

अप्रज्ञुट्यी का स्थाप से ५०-५१ वें इलोक निम्न 'ग्राधारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं। ये ब्रह्मा के प्रसंग से सम्बद्ध हैं ग्रीर इनमें मनु को ग्रलौकिक व्यक्ति सिद्ध करने की चेट्या है—

१. प्रसङ्गिवरोध—(१) इन श्लोकों के द्वारायहाँ तक संसार की रचना दिखा-कर ग्रीर ब्रह्मा का ग्रन्तर्धान दिखाकर उस विषय का उपसंहार कर दिया है। जबकि ग्रगले १। ५० वें श्लोक तक ग्रभी परमात्मा द्वारा सृष्टि रचने की प्रक्रिया का वर्णन चल ही रहा है। प्रसंग-समाष्ति से पूर्व ही ब्रह्मा का ग्रन्तर्धान दिखाकर उपसंहार करना, प्रसंगिवरुद्ध है।

२. अन्तर्विरोध—'ब्रह्मा' व्यक्तिविशेष से मृष्ट्युरपत्ति नहीं—ये श्लोक ब्रह्मा द्वारा जगदुत्पत्ति करने के प्रसङ्ग से सम्बद्ध हैं, ग्रीर ब्रह्मा का प्रसंग ग्रनेक श्राधारों ग्रीर युक्तियों के मनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुका है (देखिये १।७-१३, ३२-४१ क्लोकों पर समीक्षा), स्रतः ये भी प्रक्षिप्त हैं। (२) १।६ में स्पष्टरूप से स्रव्यक्त परमात्मा द्वारा सुष्टि की उत्पत्ति बतलायी है, और जगत को प्रकट करने के रूप में ही उसकी प्रकटता (जगत् के पदार्थी ग्रीर कार्यविधि द्वारा 'परमात्मा है' इस प्रकार का निश्चय होना श्रादि) दिखलायी है। इन श्लोकों में ब्रह्मा द्वारा सारे संसार की उत्पत्ति कहना और शरीरधारी के रूप में उसका जन्म तथा फिर ग्रन्तर्घान होने का कथन, उसके विरुद्ध है। इसी प्रकार १।१६, ५४, ५७॥६।६५, ७३, ६१ ब्लोकों में भी, जहाँ सुष्टिकर्त्ता परमात्मा को सूक्ष्म, ग्रव्यय ग्रौर सर्वव्यापक कहा गया है, विरुद्ध है । क्योंकि इन विशेषणों से प्रतिपाद्य परमात्मा शरीर के रूप को धारण नहीं करता। (३) ग्रगले ही १। ५२-५४ इलोकों में परमात्मा के सुष्टि-उत्पत्ति में लीन होने को उसकी 'जागृ-तावस्था' ग्रीर प्रलय करके निवृत्त होने की ग्रवस्थाको 'शयनावस्था' कहकर ग्रालंकारिक रूप से वर्णन करना, इस बात को सिद्ध करता है कि सुष्टि-रचयिता परमारमा श्रव्यक्त भीर प्रव्यय रहता हमा कभी शरीरघारण श्रीर मन्तर्घान नहीं करता। वह एक ही प्रवस्था में रहते हुए केवल जागता (सुष्टि-उत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता) भीर सोता (प्रलय करके निवृत्त होता) है, जैसे - कोई मनुष्य कार्यों के सम्पादन के लिए जागता है ग्रीर निवृत्त होकर सोता है; किन्तु उसकी जीवनावस्था एक ही प्रकार की बनी रहती है। इन क्लोकों में प्रदर्शित ब्रह्मा के रूप में परमात्मा द्वारा शरीरघारण ग्रीर किर ग्रन्तर्धान, उक्त श्लोकों के विरुद्ध है। (४) १। ५२-५४ श्लोकों से यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि सुष्टिकर्त्ता परमात्मा अध्यक्त-ग्रथ्यय ग्रीर सुक्ष्म है तथा वह सुष्टि को उत्पन्न करके प्रलय तक नवीन सुष्टि-पदार्थों की रचना, स्थिति श्रीर संहार करने मं प्रवृत्त (जागता) रहता है, श्रीर फिर प्रलयकाल में ही निवृत्त (सोता) होता है। ५१ वें श्लोक में वर्णित 'सृष्टिकत्ता ब्रह्मा का मनुको रचकर ही ग्रन्तर्थान होना' वाली मान्यता उनत मान्यता के विरुद्ध सिद्ध होती है, क्योंकि प्रलयकाल तक सृष्टि के कार्य चलते रहते हैं। उक्त मान्यता के स्रनुसार तो वही सुष्टिकर्त्ता स्रव्यक्त परमात्मा ही उन्हें चलाता है - प्रलयावस्था तक । किन्तु ५१ वें की मान्यतानुसार बीच में ही ब्रह्मा के अन्तर्धान हो जाने पर फिर उन्हें कौन चलायेगा ? ५२ वें इलोक के अनुसार तो बह्या के ग्रन्तर्धान होने पर इस समस्त जगत को चेष्टारहित हो जाना चाहिए था। यदि यह कहें कि एकबार उत्पन्न करके फिर परमात्मा श्रव्यक्त रूपमें रहकर ही चलाता रहता है, तो यह संचालन तो बिना ब्रह्मा की उत्पत्ति के पहले भी कर सकता था । अतः यह भी ग्रसंगत कल्पना ही लगती है कि मनुको उत्पन्न करके श्रन्तर्घान हो गया। यदि श्रन्त-र्धान होना था तो वह 'विराट' को उत्पन्न करके क्यों नहीं हुन्ना ? (इस प्रसंग के मनानु-सार) सृष्टि का वंश तो उससे चल ही जाना था। (४) ६८-७३ इलोकों के भी ये विरुद्ध हैं। वहाँ ब्रह्मा के दिन-रात का प्रमाण बतलाते हुए सुष्टि-स्थिति के पूर्णकाल

चार ग्ररव, वत्तीस करोड़ वर्षों की कालाविध को ब्रह्म का एक दिन माना है। इसका ग्रिभिप्राय यह है कि इस सम्पूर्ण कालाविध पर्यन्त ब्रह्म (परमात्मा) जागता रहता— मृष्टिसञ्चालन में प्रवृत्त रहता है [५२-५७]।यहां,मनु को उत्पन्न करके ब्रह्मा का ग्रन्तर्धान हो जाना, उसकी कुछ कालाविध तंक की स्थिति का संकेत देता है,जो उक्त वर्षों से मेल नहीं खाती। इस प्रकार कालगणना से ब्रह्मा के इस कथन का विरोध पड़ता है। ग्रतः निश्चित है कि यह परमात्मा से भिन्न सृष्टिकर्त्ता के रूप में विणित ब्रह्मा, मनु-सम्मत नहीं है, ग्रीर नहीं इसके वर्णनों की मान्यताएँ मनुस्मृति के प्रसंगों से मेल खाती हैं; ग्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

परमात्मा की जाग्रत एवं सुषुष्ति ग्रवस्थाएँ---

यदा स देवो जागित तदेवं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्व निमीलति ॥४२॥ (३०)

(यदा) जब (सः देवः) वह परमात्मा [१। ६ में विणित] (जागित) जागता है प्रयीत् मृष्ट्युस्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है (तदा) तब (इदं जगत् चेष्टते) यह [१। ४२-४६ में विणित] समस्त संसार चेष्टायुक्त [प्रकृति से समस्त विकृतियों की उत्पत्ति पुनः प्राणियों का इवास- प्रश्वास चलना ग्रादि चेष्टाग्रों से युक्त] होता है, (यदा) भौर जब (शान्तात्मा) यह शान्त ग्रात्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर (स्विपित) सोता है ग्रर्थात् मृष्ट-उत्पत्ति, स्थिति के कार्यं से निवृत्त हो जाता है (तदा) तब (सवंम्) यह समस्त संसार (निमीलित) प्रलय को प्राप्त हो जाता है।। ५२।। परमात्मा की मुष्टित ग्रवस्था में जगत् की प्रलयावस्था—

तस्मिन्स्विपित **सुस्ये** तु कर्मात्मानः शरीरिणः । स्वकर्मम्यो निवर्तन्ते मनदच ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥ (३१)

(सुस्षे) मृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए (तिस्मिन् स्विपिति तु) उस परमा-त्मा के सोने पर (कर्मात्मानः) कर्मो—श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना म्रादि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे (शरीरिणः) देहघारी जीव भी (स्वकर्मम्यः, निवर्तन्ते) ग्रपने-ग्रपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं (च) ग्रौर (मनः) 'महत्' तत्त्व (ग्लानिम्) उदासीनता—सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की ग्रवस्था को या ग्रपने कारण में लीन होने की ग्रवस्था को (ऋच्छति) प्राप्त करता है।। ५३।।

आनुश्रीत्जना: मन शब्द से यहाँ 'महत्तत्त्व' अर्थ अभिप्रेत है। इसकी पृष्टि के लिए १। १४–१५ इलोकों की समीक्षा द्रष्टव्य है।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि । तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥ (३२) (तिस्मिन् महात्मिनि) उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में (यदा) जब (युगपत् तु प्रलीयन्ते) एकसाथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं (तदा) तब (ग्रयं सर्वभूतात्मा) यह सब प्राणियों का ग्राश्रय-स्थान परमात्मा (निर्वृतः) सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुग्रा-हुग्रा (सुखं स्वपिति) सुखपूर्वक सोता है।। ५४।।

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठित सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कर्मं तदोरक्रमति मूर्तितः॥ ५५॥

(अयं तु) यह जीव तो (तमः समाश्रित्य) अज्ञान का आश्रय कर (स + इन्द्रियः) इन्द्रियों सहित (चिरं तिष्ठिति) बहुत समय तक रहता है (च) किन्तु (स्वं कर्म न कुरुते) अपने कर्म नहीं करता है (तदा) फिर उसके पश्चात् (मूर्तितः) शरीर से (उत्क्रमिति) निकल जाता है ॥ ५५॥

## यदाखुमात्रिको मूत्वा बीजं स्थास्तु चरिच्छु च। समाविशति संसूच्टस्तवा मूर्ति विमुञ्चति।। ५६।।

(यदा) जब (ग्रणुमात्रिकः भूत्वा) ग्रणुमात्रिक होकर (स्थास्नु) स्थिरताशील स्यावर जीवों में (च) ग्रौर (चिरुणु) विचरणशील जीवों में (बीजम्) बीज के रूप में (संसुष्टः) ग्रपने सूक्ष्म ग्रवयवों से संयुक्त होकर (समाविशति) प्रवेश करता है (तदा) तब (मूर्तिम्) शरीर को (विमुञ्चिति) घारण करता है ॥ ५६॥

आन्य व्यक्ति का : (१) मणुमात्रिक होने से मित्राय यहां पुर्यंष्टक युक्त होने से लिया जाता है और भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु तथा म्रविद्या ये मिलकर पुर्यंष्टक कहलाते हैं।

- (२) ५५-५६ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनमें नवीन वेदान्तवाद के प्रभाव से प्रसङ्ग को मोड़ देने का प्रयास किया गया है। निम्न ग्रावारों पर ये श्लोक ग्रमौलिक सिद्ध होते हैं—
- १. प्रसङ्गिवरोष—(१) पूर्वापर श्लोकों के प्रसङ्ग से इनकी संगति नहीं है। १२ वें श्लोक से परमात्मा की जागृति ग्रीर सुषुष्ति का वर्णन करने का प्रसङ्ग चला या। इस प्रसङ्ग के ग्रनुसार ११ वें में जागृति का वर्णन हुग्रा है, ५३-५४ में सुषुष्ति का। दोनों ग्रवस्थाग्रों का वर्णन करके १७ वें में उन्हीं दोनों ग्रवस्थाग्रों का उपसंहार किया है। इससे सिद्ध है कि बीच में १५-५६ श्लोकों में जीव के वर्णन का या जीव की उत्क्रमण् ग्रीर शरीरधारण की स्थिति के कथन का यहां प्रसङ्ग ही नहीं था, ये ग्रनावश्यक रूप से डाल दिये गये हैं। श्लोकों के वर्णन के ग्रनुसार यहां १४ के पश्चात् १७ वां श्लोक संगत है। (२) परमात्मा की जागृति ग्रीर सुषुष्ति से जगत् के प्राणियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह ५२-५४ श्लोकों में संकेत से संक्षिप्त शैली में बतला दिया है। १३ वें श्लोक में प्राणियों का कर्मों से निवृत्त होना, मन का ग्लानि को प्राप्त होना—जो कि शरीर से जीव के उत्क्रमण के पश्चात् ही होता है, यह सब दिखाकर १४वें श्लोक में —'फिर जीव

उस परमात्मा में लीन हो जाते हैं' इस कथन के द्वारा पूर्वोक्त जीव की चर्चा को पूर्ण एवं समाप्त कर दिया है। एक चर्चा की पूर्णता एवं समाप्ति-संकेत के पश्चात् पुनः भिन्न प्रकार से उसी चर्चा को प्रारम्भ करना, ग्रन्य व्यक्ति के मत का द्योतक है। ग्रतः वह प्रसङ्ग-विरुद्ध है। इस दृष्टि से ये श्लोक भी प्रसंगविरुद्ध हैं।

२. अन्तिविरोध — मृष्टि-उत्पत्ति-प्रसंग [१।५-६,१४-२४] में प्राणिशरीरों की रचना दिखाते हुए मनु ने सात तत्त्वों (महदादि) और उनके विकारों जैसे — मन = महत्तत्त्व और उसके सूक्ष्म अवयवों से , मुख्यरूप से शरीररचना मानी है। वहां अणु-मात्रिक पद्धित का कोई संकेत नहीं है,अपितु अविनाशी आत्मा के साथ संयोग का वर्णन है, जबिक (१।१८-१६) यहां पुर्यंष्टक पद्धित से शरीर-रचना दिखलाई है। पूर्वंमान्यता और इस मान्यता की भिन्नता होने के कारण यह कथन अन्तिविरुद्ध है, अतः ये दोनों क्लोक प्रक्षिप्त हैं।

## एवं स जाग्रस्विप्नाम्यामिदं सर्वे चराचरम् । सञ्जोबयित चाजस्रं प्रमापयित चाब्ययः ॥ ५७ ॥ (३३)

(सः ग्रव्ययः) वह ग्रविनाशी परमात्मा (एवम्) इस प्रकार [५१-५४ के ग्रनुसार] (जाग्रत्-स्वप्नाम्याम्) जागने ग्रौर सोने की ग्रवस्थाग्रों के द्वारा (इदं सर्व चर-ग्रचरम्) इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः (ग्रजस्य सञ्जीवयित) प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है (च) ग्रौर फिर (प्रमापयित) मारता है ग्रर्थात् कारण में लीन करता है ॥ ५७॥

अर्जुट्यी ट्यन्ड: मान्यता एवं भावसाम्य के लिए इसकी पुष्टि में १२।१२४ श्लोक भी द्रष्टव्य है। इस शास्त्र का स्रध्यापन क्रम—

# इवं शास्त्रं तु क़ृत्वाऽसौ मामेव स्वयमावितः । विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादीस्त्वहं मुनीन् ।। ५८ ॥

(स्रसी) इस ब्रह्मा ने (इदं शास्त्रं तु कृत्वा) इस 'मनुस्मृति 'शास्त्र को रचकर (म्रादितः) सबसे पहले (माम् + एव) मुक्त मनु को ही (विधिवत् स्वयं ग्राहयामास) विधि-स्रनुसार स्वयं पढ़ाया (तु) ग्रौर फिर (म्रहम्) मैंने (मरीच्यादीन् मुनीन्) मरीचि स्रादि दश मुनियों [१।३४] को पढ़ाया ॥ ५८॥

भृगु द्वारा इस शास्त्र का प्रवचन-

एतद् वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्राविषयस्यशेषतः । एतद्वि मत्तोऽषिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५६ ॥

(त्रयं भृगुः) यह भृगु मुनि (एतत् शास्त्रम् श्रशेषतः) इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्णं रूप से (वः) श्राप लोगों को (श्राविष्यति) सुनायेगा (हि) क्योंकि (एपः मुनिः)

इस मुनि ने (एतत् सर्वम् स्रखिलम्) इस सम्पूर्णं मनुस्मृति शास्त्र को भन्नीभांति (मत्तः + स्रधिजगे) मुक्त मनु से पढ़ा है ॥ ५६ ॥

#### ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिमंनुना भृगुः । तानब्रवीहषीन्सर्वान्त्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

(ततः) उसके बाद (तेन मनुना तथा उक्तः) उस महर्षि मनु के द्वारा इस प्रकार कहने पर (सः महर्षिः भृगुः) वह महर्षि भृगु (प्रीतात्मा) प्रसन्नचित्त होकर (तान् सर्वान् ऋषीन्) जिज्ञासा की दृष्टि से ग्राये उन सब ऋषियों को (श्रूयताम् + इति ग्रज्जवीत्) 'सुनिय' ऐसा बोले ॥ ६० ॥

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवोऽपरे । सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महारमानो महौजसः ॥ ६१ ॥

(ग्रस्य स्वायम्भुवस्य मनोः) इस स्वायम्भुव मनु के (वंश्याः) वंश के (ग्रपरे महात्मानः महोजसः षड् मनवः) ग्रन्य महात्मा तथा महान् ग्रोजस्वी छः मनु ग्रोर हुए हैं, जिन्होंने (स्वाः स्वाः प्रजाः सृष्टवन्तः) ग्रपने-ग्रपने काल में ग्रपनी-ग्रपनी प्रजाग्रों की मृष्टि की थी।। ६१।।

## स्वारोचिषद्वोत्तमद्व तामसो रैवतस्तथा। चासुषद्व महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

उनके नाम हैं—स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष ग्रौर महातेजस्वी (विवस्वत् सुतः) विवस्वत का पुत्र—वैवस्वत ॥ ६२॥

> स्वायम्भुवाद्याः सप्तंते मनवो मूरितेजसः। स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽऽपुरचराचरम्।। ६३।।

(स्वायम्भुव + श्राद्याः एते सप्त भूरितेजसः मनवः) स्वायम्भुव श्रादि इन सात महातेजस्वी मनुग्नों ने (स्वे स्वे ग्रन्तरे) ग्रपने-ग्रपने मृष्टिकाल में (इदं सर्वं चराचरम् उत्पाद्य)इस समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करके(ग्रापुः)उसका पालन किया॥६३॥

अप्रन्तु श्री ट्या : भृगु के शिष्यों श्रीर मनुस्मृति-परम्परा के व्यक्तियों ने प्रसिद्धि के लिए भृगु को मनुस्मृति के साथ जोड़ने श्रीर मनु तथा मनुस्मृति को ग्रिधिक मान्यता, प्रतिष्ठा श्रीर प्रसिद्धि के लिए ब्रह्मा के साथ जोड़ने तथा मनु के वंश को ग्रिली- किक सिद्ध करने की प्रवृत्ति से इन श्लोंकों का प्रक्षेप किया है। ये ४० से ६३ श्लोक निम्न 'श्राधारों' के श्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. प्रसंगिवरोध— ये पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध हैं। ५२-५७ तक के पूर्व क्लोकों में परमात्मा की जाग्रत्-सुषुष्ति श्रवस्थाओं का श्रालङ्कारिक वर्णन है। जाग्रत्-सुषुष्ति श्रवस्थाएं दिन-रात सापेक्ष होने से उन श्रवस्थाओं की श्रविध का कथन करना ही श्राव-क्यक श्रीर प्रसंगप्राप्त था, श्रतः ६४-७३ क्लोकों में वह वर्णित है कि परमात्मा जिस दिन-रात में जागता श्रीर सोता है, उसकी कितनी श्रविध है। इस प्रकार ५२-५७ श्रीर ६४-७३ श्लोक एक ही प्रसंग की श्रुह्बला में जुड़े हुए हैं, तथा ५२-५७ श्लोक ६४-७३ श्लोकों की पृष्ठभूमि भी हैं। ६८ वें श्लोक में इस दिन-रात के प्रसंग को विणत करने का संकेत भी कर दिया है, जिससे ६४-७३ श्लोकों का प्रसंग ५२-५७ श्लोकों से ग्रीर भी सुनियोजित ढंग से जुड़ा होने का प्रमाण मिलता है। इन ५८ से ६३ श्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इनमें पूर्वापर श्लोकों से सम्बद्ध भी कोई बात नहीं है; ग्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

- २. अन्तिविरोध—(१) मनुस्मृति भृगुप्रोक्त और पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं—
  मनुस्मृति के मूल रचिता मनु हैं, ब्रह्मा नहीं। ५-वें श्लोक में इसके मूलरचिता ब्रह्मा
  को बताया गया है; यह विचार पूर्वोक्त विचार के विरुद्ध है। इस अन्तिवरोध के कारण
  ५-वां श्लोक प्रक्षिप्त है। ग्रीर क्योंकि, शेष ५६—६३ श्लोक उसी पर ग्राधारित हैं,
  ग्रतः उसके प्रक्षिप्त होने से वे स्वतः ही प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं। इस श्लोक में ग्राये
  विरोध को दूर करने के लिए टीकाकारों ने पर्याप्त प्रयास किया है, किन्तु उन का वह
  प्रयास 'तथाकथित' ही रहा। उनका कहना है कि इसके मूल प्रवक्ता ब्रह्मा हैं, तथापि
  इसे मनुकृत इसलिए कहा जाता है कि —(ग्र) मनु को ब्रह्मा ने शास्त्राशय रूप विधिनिपेध का ग्रघ्यापन कराया ग्रीर मनु ने उसका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ इस रूप में
  बनाया। (ग्रा) दूसरे मत के ग्रनुसार—इस ग्रन्थ के रचिता ब्रह्मा ही हैं, तथापि मनु
  ने इसका ज्ञान प्राप्त कर स्वरूप तथा ग्रथ के साथ इसे मरीचि ग्रादि के लिए प्रकाशित
  किया। ग्रतः यह मानवशास्त्र कहलाया। ये दोनों ही समाधान निराधार एवं ग्रयुक्तिगुक्त हैं। इसके विश्लेषण के लिए १। १—४ श्लोकों पर गहन दिष्टपात करना होगा।
  इन श्लोकों के भाव ग्रीर भाषा पर घ्यान देने से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—
- (क) मनुस्मृति ग्रपने मूलरूप में कोई पूर्वनिबद्ध शास्त्र नहीं है, ग्रपितु मूलरूप में, जिज्ञासा का प्रवचन के रूप में दिया गया उत्तर है, जिसका बाद में संकलन हुआ है। महर्षि लोग मनु के पास ग्राकर धर्मों को क्रमशः जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं [१। १—२] ग्रौर मनु उसका उत्तर देते हैं [१। ४]।
- (ल) इसके मूल प्रवक्ता भी मनु ही हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए १। ३ इलोक विशेष सहीयक हैं। महर्षि लोग प्रश्न पूछने के बाद प्रपने इस ग्राशय को कि हम ग्रापके पास ही यह जिज्ञासा लेकर क्यों ग्राये हैं, स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'ग्राप इस जगत् के विधानरूप, ग्रचिन्त्य ग्रीर ग्रप्रमेय वेदों के धर्मों ः व्यावहारिक तत्त्वों के ज्ञाता हैं, इसलिए हम ग्रापके पास ग्राये हैं। मनु ग्रपने समय के इस सामाजिक विषय के विशिष्ट विद्वान् थे। वे स्वयं इस विषय के ज्ञाता हैं, ग्रतः एव वे बतलाने में समर्थ हो सकते हैं कि कौनसा कार्य वेदों के ग्रनुसार धर्म है, ग्रीर कौनसा ग्रधमं। इसी कारण ऋषि लोग मनु के पास ग्राये हैं ग्रीर ग्रपनी जिज्ञासा प्रकट की है, न कि इसलिए कि उन्होंने ब्रह्मा से इसका ज्ञान प्राप्त किया है। यही कारण है कि मनु ग्रपने ज्ञान के ग्रनु सार सीधे वेद से विज्ञात बातों का ही मनुस्मृति में दिग्दर्शन कराते हैं [१। २३ २४,६७,१२५, १२६]। यदि यह ज्ञान ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त होता या ब्रह्मा द्वारा

प्राप्त होना इसकी विशेषता मानी जाती, तो ऋषि लोगों को यहां मनु के लिए 'वेदों का ज्ञाता' कहने की ग्रावश्यकता नहीं थी। वे यही कहते कि 'ग्राप को ही ब्रह्मा से इस ज्ञान को प्राप्त करने का ग्रहोभाग्य प्राप्त हुग्ना है, श्रतः ग्रापसे ही पूछने ग्राये हैं'। किन्तु ऐसा किसी प्रकार का संकेत न करके उनकी व्यक्तिगत विद्वत्ता का ही यहां संकेत स्पष्ट हो रहा है कि वे स्वयं ज्ञाता हैं, इसलिए ग्रपने ज्ञान के ग्राधार पर ही उन्हें उत्तर देना है—वेदों में खोजा हुग्रा ग्रपना ही ग्राशय बताना है, दूसरे का नहीं।

- (ग) यदि ब्रह्मा से यह ज्ञान प्राप्त किया होता ग्रीर ब्रह्मा के नाम के कारण ऋषियों को उस ज्ञान के प्रति ग्राकर्षण होता ग्रथवा मनु को ब्रह्मा के नाम से उसमें कोई विशिष्टता या ख्याति की बात नजर आती, तो मनु सभी बातों के साथ 'ब्रह्मा ने मुभे यह कहा, यह बताया या इसे उचित ठहराया, इसे नहीं' ग्रादि कहते या उनके मत का उल्लेख करते। किन्तु मनुस्मृति में ब्रह्मा के मत का कोई उल्लेख नहीं है। कहीं भी ब्रह्मा के मत का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि मनुस्मृति के साथ ब्रह्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। घ्यान देने योग्य बात तो गह है कि धर्माधर्म को प्रदर्शित करते समय या तो ऋषि-मुनियों के मत का उल्लेख किया है, या ग्रपने मत का ही। जब ऋषि मुनियों की मान्यता का ग्रनेक स्थानों पर संकेत है ['ग्राहु मनीषिणः' (१।१७) 'धर्मस्य मुनयो गतिम्' (१।११०॥२।६६, १२४) ग्रादि]—यदि ब्रह्मा का इसके साथ तिक भी सम्बन्ध होता, तो उसका उल्लेख तो प्रमुखता से ग्राता क्योंकि ब्रह्मा को इस विषय का मूल प्रवक्ता ग्रीर ग्रघ्यापयिता का स्थान दिया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति के मूल प्रवक्ता स्वयं मनु हैं, ब्रह्मा का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है।
- (घ) मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति स्रपने मूलरूप में कोई निबद्धशास्त्र के रूप में नहीं थी। जब शास्त्र के रूप में नहीं थी, तो इसके लिए मूल-संकलन में 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता। जब 'शास्त्र' का व्यवहार नहीं बनता, तो 'ब्रह्मा ने इस शास्त्र की रचना की' यह प्रयोग भी नहीं बनता। इस प्रयोग के न बनने से मनुस्मृति का ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।
- (ङ) मनुस्मृति प्रपने मूलरूप में ऋषियों की जिज्ञासा का दिया गया उत्तर है, जो प्रवचन के रूप में है। यह प्रवचनों के रूप में सुना-सुनाया गया है, अत एव प्रत्येक प्रसंग के आरम्भ और अन्त में सुनने-सुनाने के अर्थवाली क्रियाओं का प्रयोग है, यथा— 'वक्तुमहंसि' [१।२] 'अूयताम्' [१।४] 'वोऽनिषास्यामि' [१।४२] 'तं निबोधत' [१।१२०] 'एतद्वोऽनिहितं सर्वं [३।२८६] 'विधानं श्रूयताम्' [३।२८६] 'ममेदं सर्व-मुक्तवान्' [१२।११७] इत्यादि। मनु के शिष्यों ने उसका संकलन कियाहै, यह प्रारम्भ के १।१—४ इलोकों की शैली बतला देती है। 'स तैः पृष्टः' प्रयोग इसे संकलन सिद्ध करना है। संकलन के बाद ही मनुस्मृति ने 'शास्त्र' का रूप ग्रहण किया। श्रोर मौलिक संकलन वही कहा जा सकता है, जो मूलप्रवक्ता की बातों का यथावत् रूप में संकलन हो, जविक 'शास्त्र' संज्ञा का प्रयोग मौलिक नहीं हो सकता। क्योंकि, जो प्रवचन श्रभी

किसी संकलन के या शास्त्र के रूप में ही नहीं श्राये हैं, उन्हें मनु 'शास्त्र' कहकर कैसे पुकारते? स्पष्ट है कि मनुके प्रवचनों द्वारा 'संकलन' का रूप लेनेके बाद, जब वे 'शास्त्र' के रूप में विख्यात हो गये, तब जाकर इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये जिनमें इसे 'शास्त्र' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

इस प्रकार ४८—४६ ब्लोकों में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग उन्हें परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है।

- (च) कुछ विद्वानों की पूर्व प्रदिश्त उन दो युक्तियों के प्राधार पर यदि इसे मनुकृत माना जा सकता है, तो युक्ति देने वाले उन विद्वानों को चाहिए कि वे इसे प्रत्निम रूप में भृगुकृत मानें (भृगुसंकलित नहीं)। क्योंकि,यदि ग्राशय समफ कर—पढ़कर उसे बतलाने के कारण मनु इसके रचियता हैं, तो भृगु ने भी मनु के ग्राशय को महर्षियों के समक्ष ग्रपने शब्दों में कहा है [५८-६०]। इस प्रकार तो भृगु इसके रचियता हुए। इस प्रकार ये युक्तियां स्वयं युक्तिदाताग्रों की मान्यता को खंडित कर रही हैं, ग्रतः मान्य नहीं हैं। इन युक्तियों से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गई है कि मौलिक श्लोकों के ग्रनुसार,मनुस्मृति के साथ बह्या का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह मौलिक रूप से मनुकृत है, ग्रीर बह्या से सम्बन्ध जोड़ने वाले सभी प्रसंग परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं।
- (२) ६३ वें क्लोक में मनुश्रों द्वारा चर-ग्रचर जगत् की उत्पत्ति ग्रौर उसके पालन करने का कथन १।६,१४—२३ क्लोकों के प्रसंग के विरुद्ध है; उनमें चराचर जगत् की उत्पत्ति ग्रौरपालन,ग्रव्यक्त-सूक्ष्म परमात्मा द्वारा महदादि तत्त्वों के क्रम से माना है। यह कथन प्रकृति-विरुद्ध भी है। कोई भी शरीरधारी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, घरती, पर्वत ग्रादि की सृष्टि नहीं कर सकता (द्रष्टव्य—३२—४१ क्लोकों पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक टिप्पणियां)। इस प्रकार ६३ वां क्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। इस पर ग्राधारित ५८—६२ क्लोक इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने से स्वतः प्रक्षिप्त हो जाते हैं।
- (३) जैसे, इस मनुस्मृति के रचियता मनु को ब्रह्मा का प्रपौत्र [१।३२—३३] ग्रौर शिष्य [१।४८] कहकर भावी छह मनुग्रों [१।६१—६३] का भूतकाल में वर्णन करना कालविरुद्ध ग्रौर ग्रसंगत वर्णन है, उसी प्रकार भृगु को स्वायम्भुव मनु का पुत्र [१।३४] ग्रौर शिष्य [४८—४६] कहकर उसके द्वारा मनु के भावी वंश का भूत- काल की शैली में वर्णन करना [६०—६३] भी कालविरुद्ध, ग्रसंगत एवं ग्रन्तिवरुद्ध कथन है। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

निमेप, काष्ठा, कला, मुहूर्त श्रीर दिन-रात का काल-परिमाण —

निमेषा दश चाष्टो च काष्ठा त्रिशत्तु ताः कला। त्रिशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः॥ ६४॥ (३४) (दश च ग्रष्टो च) दश ग्रीर ग्राठ मिलाकर ग्रर्थात् ग्रठारह (निमेषाः) निमेषों [=पलक भपकने का समय] की (काष्ठा) एक काष्ठा होती है (ताः त्रिशत्तु) उन तीस काष्ठाग्रों की (कला) एक कला होती है (त्रिशत्कलाः) तीस कलाग्रों का (मुहूर्त्तः स्यात्) [४८ मिनट का] होता है, ग्रीर (तावतः तु) उतने ही ग्रर्थात् ३० मुहूर्तों के (ग्रहोरात्रम्) एक दिन-रात होते हैं ॥ ६४ ॥

आनुशिल्डना: (१) प्राचीन काल-परिमाण की ग्राधुनिक काल परिमाणों से तुलना—ग्राधुनिक काल-विभाग के ग्रनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है— न/४५ सैंकेण्ड का निमेष, ३ रे सैंकेण्ड की १ काष्टा, १ मिनट ३६ सैंकेण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

(२) ६४ वें इलोक की शैली पर विचार—यहां पाठकों को यह शंका हो सकती है कि जब मनु की शैली किसी भी विषय और प्रसंग के प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसका संकेत देने की है (जैसा कि भूमिका में प्रदिश्त है), तो यह काल-प्रमाण का प्रसंग बिना संकेत के क्यों प्रारम्भ कर दिया गया? इसके उत्तर में स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि इस प्रसंग का भी कई स्थानों पर संकेत है। ५२-५७ हलोकों में परमात्मा की जाग्रत् और सुषुष्ति अवस्थाओं की प्रसंग से चर्चा की थी। उसी से यह कालप्रमाण का प्रसंग सम्बद्ध है। वे इलोक इसकी भूमिकावत् हैं। आलंकारिक वर्णन करते समय सृष्टिकाल को परमात्मा की जाग्रत् अवस्था माना है और सुपुष्ति को प्रलय अवस्था। ये अवस्थाएं दिन और रात की अपेक्षा रखती हैं, ग्रतः परमात्मा का दिन कितना और रात कितनी होती है, यह बतलाना आवश्यक हुग्रा। उसे ही कहने के लिए प्रारम्भ में मानुष-दिन-रात का वर्णन करते हुए [६४-६४] ६- वें इलोक में परमात्मा के दिन-रात का वर्णन करने का संकेत दे दिया है, और ७३ वें में इस चर्चा को समाप्त किया है। इस प्रकार इन इलोकों के प्रसंग की कड़ी सुनिश्चित क्रम के पूर्विपर प्रसंगों से जुड़ी हुई है।

सूर्य द्वारा दिन-रात का विभाग —

ब्रहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके। रात्रिः स्वप्नायभूतानां चेष्टाये कर्मग्गामहः ॥ ६५ ॥ (६५)

(सूर्यः) सूर्य (मानुप-दैविके) मानुष=मनुष्यों के ग्रीर दैवी= देवों के (ग्रहोरात्रे) दिन-रातों का (विभजते) विभाग करता है, उनमें (भूतानां स्वप्नाय रात्रिः) प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है ग्रीर (कर्मणां चेष्टार्यं ग्रहः) कामों के करने के लिए 'दिन' होता है।। ६५।। पितरों के दिन-रात-

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः। कर्मचेष्टास्वहःकृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी॥ ६६॥

(पित्र्ये) पितरों के लिए (मासः) मनुष्यों का एक मास (रात्र्यहनी) रात-दिन के समान है, अर्थात् मनुष्यों के ३० दिन-रात का एक मास पितरों के एक दिन-रात होते हैं (तु पक्षयोः प्रविभागः) उनमें दो पक्षों का विभाग किया जातों है (कर्मचेष्टासु कृष्णः श्रहः) पितरों के काम करने के लिए 'कृष्णपक्ष' उनके दिन के समान है और (शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी) 'शुक्लपक्ष' सोने के लिए उनकी रात है।। ६६।।

# अन्यातिकनः यह श्लोक निम्न ग्राघारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध—(१) पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है। ६४-६५ श्लोकों में दिन-रात का प्रमाण बतलाते हुए मनुष्य ग्रीर दैविक दिन-रातों का वर्णन करने का संकेत किया है। तदनुसार ६५ वें श्लोक में मनुष्य दिन-रातों की वर्चा की है, ग्रीर शेष दैविक दिन-रात का वर्णन ६७ वें में है। ६५ वें श्लोक के संकेत के ग्रनुसार ६७ वां श्लोक ही होना चाहिए। ६६ वां श्लोक विना संकेत के वर्णित है ग्रीर पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहा है। ग्रतः प्रसंगविषद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- २. जैलीगत आकार—६४-७३ इलोकों के प्रसंग की शैली से यह स्पष्ट होता है कि पितरों से सम्बद्ध वर्णन मनु को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि ६४-६५ में दिन-रात बतलाये हैं, वे भी मानुष और दैविक ही हैं। और ६८ से ७२ इलोकों में जो युगों का वर्णन है, वह भी केवल मानुष और दैविक ही है; पितरों के युगों की वहां चर्चा तक नहीं है। यदि पितरों का वर्णन प्रासंगिक और मौलिक होता,तो युगों के प्रमाण में उनकी भी अवक्य चर्चा होती। अगले युग के प्रमाणों में पितरों की चर्चान होना, इन्हें मौलिक और मनुसम्मत सिद्ध नहीं करता; अतः यह प्रक्षिप्त है।
- 3. अन्तिविरोध—'मृत पितर' नामक कल्पना निराधार—३।८०—८२ श्लोकों के वर्णन से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो रही है कि पितर नामक कोई भिन्न योनि नहीं है, प्रत्युत माता-पिता आदि बुजुर्गों को ही पितर कहा जाता है; जक्त श्लोकों में मनु ने अन्न, फल, जल आदि से पितरों का दैनिक श्राद्ध विहित किया है, जिसका अभिप्राय माता-पिता आदि की श्रद्धापूर्वक की गई दैनिक सेवा से है। इस श्लोक में पितरों का वर्णन भिन्न योनि के रूप में दर्शाया गया है, अतः उक्त श्लोकों की मान्यता से इसका विरोध है।

#### महर्षि-दयानन्द द्वारा 'पितर' शब्द की व्यास्या-

(क) ''तीसरा पितृयज्ञ श्रर्थात् जिसमें जो विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे पितर माता-पिता श्रादि वृद्ध ज्ञानी श्रीर परमयोगियों की सेवा करनी॥''

(स॰ प्र॰ ४ सम्॰)

(ख) ''(तर्पयत मे पितृन्) जो मेरे पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा स्राचार्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, अवस्था अथवा ज्ञानवृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सब के ब्रात्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्त किया करो।।

(पञ्चमहायज्ञविधिः)

- (ग) ''जो सोमसदादि [सोमसदः. अग्निष्वात्ताः, विहिषदः, सोमपाः, हिवर्भुजः; आज्यपाः, सुकालिनः, यमराजाः, पितृपितामह्मप्रितामहाः, मातृ-पितामही-प्रितामहाः, सगोत्राः श्राचार्यादिसम्बन्धिनः] पितर विद्यमान श्रर्थात् जीवते हैं, उनको प्रीति से, सेवनादि से तृष्त करना।'' (पञ्चमहायज्ञविधिः)
  - (घ) "वसून् वदन्ति वै पितृन्०" ॥ (मनु० ३।२८४)

न्नीर मनु जी ने भी कहा है कि पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र, श्रीर प्रपिता-महों को त्रादित्य कहते हैं, यह सनातनश्रुति है।" (पञ्चमहायज्ञविधिः)

(ङ) मनुस्मृति में भी मृतक का नाम पितर नहीं है,प्रत्युत पितरों की उत्पत्ति क्रमानुसार बताई है। देखिये—

#### "पितरक्षेव साध्याक्ष्य द्वितीया सास्विकी गतिः॥" (मनु०)

जो मघ्यम सत्त्वगुण युक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्ता, वेदार्थवित्, विद्वान्, वेद, विद्युत् ग्रादि ग्रीर कालविद्या के ज्ञाता, रक्षक, ज्ञानी ग्रीर (साघ्य) कार्य-सिद्धि के लिये सेवन करने योग्य ग्रघ्यापक का जन्म पाते हैं।" (सत्यार्थ ० नवम समु०) [विशेष समीक्षा ३।८२ पर देखिए]।

दैवी दिन-रात उत्तरायण-दक्षिणायन-

दंवे रात्र्यहनी वर्षे प्रविभागस्तयोः पुनः । ब्रहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥ (३६)

(वर्षम्) मनुष्यों का एक वर्ष (दैवे रात्रि-म्रहनी) एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं (तयो: पुन: प्रविभागः) उन दैवी 'दिनरात' का भी फिर विभाग है—(तत्र + उदगयनम् म्रहः) उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर को म्रोर स्थिति म्रर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, म्रोर (दक्षिणा-यनम् रात्रिः स्यात्) सूर्य की दक्षिण की म्रोर स्थिति म्रर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है।। ६७।।

अद्भुश्री का दर्णन : (१) उत्तरायण-दक्षिणायन का विवेचन—इस श्लोक में दैवी दिन-रातों का वर्णन किया गया है। यहाँ देव शब्द से कोई लौकिक-अलौकिक प्राणिविशेष अभिन्नेत नहीं है, अपितु जड़-देवता सूर्य का आलंकारिक वर्णन है। ६५ वें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में सूर्य को मानुष और दैवी दिन-रातों का विभागकर्ता बतलाया गया है। उसी के क्रम से यहां उत्तरायण और दक्षिणायन रूपी दिन-रातों का वर्णन है। सूर्य के ये दोनों अयन छ:-छ: मास निम्न प्रकार से होते हैं—

ै १. भूमघ्यरेखा से उत्तर की ग्रोर सूर्य की स्थिति का काल ।

२. मकररेखा से उत्तर कर्करेखा की ग्रोर स्थित का काल।

३. माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, ग्राषाढ़—इन छह मासों का समय।

४. शिशिर, वसन्त श्रीर ग्रीष्म ऋतु का काल।

१ भूमघ्य रेखा से दक्षिण की स्रोर सूर्य की स्थिति का काल।

२. कर्क रेखा से दक्षिण मकररेखा की भ्रोर स्थित का काल।

३. श्रावण, भाद्रपद, ग्राश्विन, कार्तिक, ग्राग्रहायएः, पौष—
इन छह मासों का समय।

. ४. वर्षा, शरद्, हेमन्त ऋतुस्रों का काल ।

मानुष दिन उज्ज्वल एवं तीव्र प्रकाशमय होता है ग्रीर रात्रि ग्रनुज्ज्वल एवं मन्द प्रकाश (तारे चन्द्र स्रादि का प्रकाश) वाली होती है। इसी प्रकार उत्तरायण के समय ग्रीष्म ऋतू में सूर्य के प्रकाश ग्रीर ताप में तीवता की ग्रधिकता होती है, ग्रतः यह ग्रयन दिन के समान है। दक्षिणायन के समय हेमन्त ऋतु में सूर्य के प्रकाश ग्रीर ताप में स्वल्पता एवं मन्दता होती है, अतः वह अयन रात्रि के समान है। इस प्रकार दैवी दिन-रातों का स्रालंकारिक वर्णन है।

(२) सूर्य जड़ देवता है---निरुक्त में 'देव' शब्द की निरुक्ति इस प्रकार दी है---"देवो वानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्यानो भवतीति वा ।" (७।४।१५) ग्रयित्-'दान देने वाले, प्रकाशित करने वाले, प्रकाशित होने वाले या द्यस्थानीय को देवता कहते हैं।' सूर्य द्युस्थानीय है और अपने प्रकाश से सब मूर्तिमान् द्रव्यों को प्रकाशित करता है, ग्रतः देव या देवता है।

शतपथ ब्राह्मण में देवतात्रों पर प्रकाश डालते हुए जड़ ग्रीर चेतन रूप में ३१ देवता परिगणित किये हैं। उनमें वसुसंज्ञक देवताग्रों में 'सूर्य' को भी परिगणित किया है--

"स होवाच महिमान एवंबामेते त्रयस्त्रिशस्त्रेव देवा इति । कतमे ते त्रयत्रि-शत् इति ? प्रवटी वसवः, एकांदश रुद्धाः, द्वादशादित्यास्त एकत्रिशत्' इन्द्रश्चैव प्रजापतिञ्च त्रयस्त्रिशाविति ।

कतमे वसव इति ? अग्निश्च, पृथिवी च, वायुश्च, ग्रन्तिरक्षं च, ग्रादित्यश्च, द्यौरच, चन्द्रमारच, नक्षत्राणि च, एते वसवः।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्रारााः (प्राणः, ग्रपानः, स्थानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्म, कुकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्व) म्रात्मा-एकादशस्ते ।

कतम म्रादित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्य एते म्रादित्याः ।

(३) कतम इन्द्र, कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेयेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति ।

तदाहुः । यदयमेक इव पवते । कतम एको देव इति ? स बह्मेस्यादित्या॰ चक्षते । (शत० कां० १४ । प्रपा० १६)

इसके म्रतिरिक्त दिव्यगुरा भीर दिव्य कर्म वाले व्यक्ति भी देव कहाते हैं यथा—"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, ग्राचार्यदेवो भव म्रतिथिदेवो भव,।" (प्रपा० ७।११) [विस्तृत समीक्षा ३।८२ पर द्रष्टव्य है]।

ब्रह्म के दिन-रात का वर्णन---

बाह्यस्य तु क्षपाहस्य यत्त्रमाणं समासतः । एकंकशो युगानां तु क्रमशस्तन्त्रिबोघत ॥ ६८ ॥ (३७)

[मनु महर्षियों से कहते हैं कि](ब्राह्मस्य तु क्षपा + ग्रहस्य) ब्राह्म = परमात्मा के दिन-रात का (तु) तथा (एक किशः युगानाम्) एक-एक युगों का (यत् प्रमाणम्) जो कालपरिमाण है (तत्) उसे (क्रमशः) क्रमानुसार ग्रीर (समासतः) संक्षेप से (निबोधत) सुनो ।। ६८ ।।

अन्तुं श्रीत्जना: ब्राह्मदिन व ब्राह्मरात्रिका विशेष परिमाण (१।७२) में द्रष्टव्य है।

सतयुग का परिमाण-

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम् । तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशवच तथाविधः ॥ ६९ ॥ (३८)

(तत् चत्वारि सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम् ग्राहुः) उन दैवी [६७वें में जिनके दिन-रातों का वर्णन है] चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है। (तस्य) इस सतयुग की (यावत् + शती सन्ध्या) जितने दिव्य सौ वर्ष की ग्रर्थात् ४०० वर्ष की 'सन्ध्या' होती है ग्रौर (तथाविधः) उतने ही वर्षों का ग्रर्थात् ४०० वर्षों का (सन्ध्यांशः) 'संध्यांश'का समय होता है।।६९।।

श्रान्तु श्री ट्यार युगों का परिमाण—िकसी भी युग के पूर्वसिन्धिकाल को 'संघ्या' ग्रीर उत्तरसिन्ध काल को 'संघ्यांश' कहा जाता है। इलोक के ग्रनुसार सतयुग का कालपरिमाण—४००० +४०० (संघ्यावर्ष) +४०० (संघ्यांशवर्ष) = ४८०० दिव्यवर्ष बनता है। इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुना करना पड़ेगा। इस प्रकार ४८०० + ३६० = १७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है।

त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का परिमाण—

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥ (३६)

(च) ग्रीर (इतरेषु त्रिषु) शेष ग्रन्य तीन—त्रेता, द्वापर, कलियुगों

में (ससंघ्येषु ससंघ्यांशेषु) 'संघ्या' नामक कालों में तथा 'संघ्यांश नामक कालों में (सहस्राणि च शतानि एक-प्रपायेन) क्रमशः एक-एक हजार और एक एक सौ घटा देने से (तर्तन्ते) उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकल ग्राता है, ग्रर्थात् ४८०० दिव्यवर्षों का सत्युग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र श्रीर संघ्या ४०० वर्ष व संघ्यांश ४०० वर्ष में मे एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष +३०० संघ्यावर्ष +३०० संच्यांशवर्ष =३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी—२००० +२०० +२०० =२४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० +१०० +१०० =१२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है।। ७०।।

देवयुग का परिमाण---

यदेतत्परिसंस्थातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥ (४०)

(यद् + एतत्) जो यह (म्रादौ) पहले [६१-७० में] (चतुर्युगम्) चारों युगों को (परिसंख्यातम्) कालपरिमाण के रूप में गिनाया है (एतद्) यह (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का काल [मनुष्यों का एक चतुर्युगी का काल] (देवानाम्) देवताओं का (युगम्) एक 'युग' (उच्यते) कहा जाता है।। ७१।।

अन्तु श्री ट्य : बार युगों के परिमाण की तुलनात्मक तालिका— १२००० दिव्यवर्षों की एक चतुर्युंगी होती है। उसे मानुष वर्षों में बदलने लिए ३६० सं गुणा करने पर १२००० × ३६० = ४३,२०,००० मानुष वर्षों की एक चनुर्युंगी होती है। दोनों इलोकों के कालपरिमाण को तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

दिब्यवर्ष संध्यावर्ष संध्याञ्चवर्ष कुल दिब्यवर्षीको गुएग करनेसे मानुषवर्ष युगनाम 1000 + 800 + × ٥٥٥× ३६०= १७,२८,००० सतयुग 800 <del>=</del> ₹**००**× ३६०== १२,६६,००० त्रेतायुग 7000 + 300+ ३००== २४००× ३६० = ८,६४,००० द्वादरयुग २०० == **१**२००× ३६० === ४,३२,००० कलियुग 1000+ 100+ १०० == १०००० + १००० + १००० = १२००० — ३६० = ४३,२०,००० एकचतुर्या

ब्रह्म के दिन-रात का परिमाण—

देविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमहर्त्रेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥ (४१) (दैविकानां युगानाम् तु) देवयुगों को (सहस्रं परिसंख्यया) हजार से गुगा करने पर जो कालपरिमाण निकलता है, जैसे—चार मानुषयुगों के दिव्यवर्ष १२००० होते हैं, उनको हजार से गुगा करने पर १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का (ब्राह्मम्) परमात्मा का (एकं ग्रहः) एकं दिन' (च) ग्रौर (तावतीं रात्रिम्) उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एकं रात'(ज्ञेयम्) समभनी चाहिए।। ७२।।

अब्द्युट्ये टिंडन्स : चार मानुष युगों के दिण्यवर्ष — १२०००  $\times$  १०००  $\times$  १०००  $\times$  १००० (५२०,००,००,०००) दिल्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन ग्रथवा रात्रि हुई । यह १,२०,००००  $\times$  ३६०  $\times$  ४,३२,००,००,००० मानुषवर्षोंका कालपरिमाण बनता है । चार ग्रयब बत्तीस करोड़ मानुष वर्षों का सृष्ट्युत्पत्ति काल है, जो परमात्मा की जाग्रत् ग्रवस्था (सृष्टि में प्रवृत्त रहना) का दिन है । इतना ही काल सुष्टुप्ति ग्रवस्था (सृष्टिकार्यों से निवृत्त होकर प्रलय रखना) का रात्रि-काल है (यही १।५२ — ५७ व्लोकों में ग्रालंकारिक रूप से विणत है) ।

तद्वै युगसहस्रान्तं बाह्यं पुण्यमहर्विदुः। रात्रि च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३ ॥ (४२)

जो लोग (तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम् + म्रहः) उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पित्र दिन को (च) भ्रौर (तावतीम् एव रात्रिम्) उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को (विदुः) समक्रते हैं (ते वें) वे ही (म्रहोरात्रविदः जनाः) वास्तव में दिन-रात = सृष्टि-उत्पत्ति भ्रौर प्रलय के काल-विज्ञान के वेत्ता लोग हैं।। ७३।।

अर््युट्रिटिंडन् : वेदोत्पत्ति-समय पर विवार—महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में १। ६८ से ७३ श्लोकों को उद्धृत करके उनका भाव निम्न प्रकार प्रस्तुन किया है—

''प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, ग्राठ लाख, बावन हजार, नव सौ, छहत्तर ग्रर्थात् १,६६,०८,४२,६७६ वर्ष वेदों की ग्रौर जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं ग्रौर यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त्त रहा है।

प्रश्न--- यह कैसे निश्चय होय कि इतने ही वर्ष वेद ग्रौर जगत् की उत्पत्ति में वीत गये हैं ?

उत्तर—यह जो वर्तमान सृष्टि है इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनुका वर्त्तमान है। इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं—स्वायंभुव १, स्वारोचिष २, स्रौत्तमि ३, तामस ४, रैवत ४, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं स्रौर ७ (सातवां) वैवस्वत वर्त्त रहा है स्रौर सार्वीण स्रादि ७ (सात) मन्वन्तर स्रागे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ (चौदह) मन्वन्तर होते हैं श्रीर एकहत्तर चतुर्युं गियों का नाम मन्वन्तर घरा गया है, सो उस की गणना इस प्रकार से है कि (१७,२८,०००) सत्रह लाख श्रट्ठाईस हजार वर्षों का सतयुग रक्खा है; (१२,६६,०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम त्रेता; (८,६४,०००) आठ लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर श्रीर (४३,२०००) चार लाख, बत्तीस हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा श्रायों ने एक क्षण श्रीर निमेष से लेके एक नर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है,श्रीर इन चारों युगों के (४३,२०,०००) तितालीस लाख, बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युं गी नाम है।

एकहत्तर (७१) चतुर्युं गियों के प्रयात् (३०,६७,२०,०००) तीस करोड़, सतसठ लाख,बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है ग्रीर ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर ग्रयात् (१,५४,०३,२०,०००) एक ग्रबं, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हजार वर्ष हुए ग्रीर सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२५) श्रद्धाईसवीं चतुर्युंगी है। इस चतुर्युंगी में कलियुग के (४६७६) चार हजार नौ सौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४,२७,०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौवीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिए कि (१२,०५३,२६७६) बारह करोड़, पांच लाख, बत्तीस हजार, नव सौ छहत्तर वर्षे तो वंवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं ग्रीर (१८,६१,६७०२४) ग्रठारह करोड़ एकसठ लाख, सत्तासी हजार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सत्हत्तरवाँ है, जिस को आयंलोग विक्रम का (१६३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युंगी लिख प्राये हैं, उन एक हजार चतुर्युंगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रखी है ग्रीर उतनी ही चतुर्युंगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युंगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम ब्राह्मदिन रक्खा है; ग्रीर हजार चतुर्युंगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय ग्रयांत् कारण में लीन रखता है, उस का नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है। ग्रयांत् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन ग्रीर प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१, ६६,०८, ५२,६७६) एक ग्रबं, छानवे करोड़, ग्राठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं ग्रीर (२,३३,३२,२७०२४) दो ग्रबं, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हजार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से ग्रन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। ग्रागे ग्राने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना ग्रीर गत वर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये। जैसे ग्राज पर्यन्त घटाते बढ़ाते ग्राये हैं। '' (ऋ० भू० पृष्ठ २३-२४)

सुषुप्तावस्था से जागने पर सृष्टि-उत्पत्ति का प्रारम्भ—

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुघ्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥७४॥ (४३) (सः प्रसुप्तः) वह प्रलय-ग्रवस्था में सोया हुग्ना-सा [१। ५२-५७]

परमात्मा (तस्य ग्रहिनशस्य + ग्रन्ते) उस [१।६८-७२] दिन-रात के बाद (प्रति-बुध्यते) जागता है = मृष्टचु (पत्ति में प्रवृत्त होता है (च) ग्रौर (प्रति-बुद्धः) जागकर (सद्-प्रसद् + ग्रात्मकम्) जो कारणरूप में विद्यमान रहे ग्रौर जो विकारी ग्रंश से कार्यरूप में ग्रविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले (मनः) 'महत्' नामक प्रकृति के ग्राद्यकार्यतत्त्व की (मृजिति) सृष्टि करता है।। ७४।।

आनु शिल्जनाः (१) यहां सृष्टि-उत्पत्ति का नया प्रसंग प्रारम्भ नहीं किया गया है, त्रपितु पूर्वोक्त प्रसंग में [१।१४-१६] तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ भूतों की उत्पत्ति-प्रक्रिया का वर्णन नहीं हो पाया था, उसी शेष वर्णन को यहां विस्तार से दर्शाया है।

(२) इस श्लोक में मन का ग्रर्थ 'महत्तत्त्व' है,जो सॄष्टि-उत्पत्ति में प्रकृति का प्रथम कार्य है। इसकी पुष्टि के लिए विस्तृत समीक्षा १।१४-१४ के ग्रनुशीलन में देखिए।

सूक्ष्म पञ्चभूतों की उत्पत्ति के क्रम में ग्राकाश की उत्पत्ति-

मनः सृष्टि विकुरते चोद्यमानं सिस्क्षया। स्राकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुर्गं विदुः॥ ७५॥ (४४)

(सिसृक्षया) सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर वह परमात्मा (मन: मृष्टि विकुरुते) महत्तत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है ⇒ अहंकार के रूप में विकृत करता है (तस्मात्) फिर उस के विकारी ग्रंश से (चोद्य-मानम् ग्राकाशं जायते) प्रेरित हुगा-हुग्रा 'ग्राकाशं उत्पन्न होता है। (तस्य) उस ग्राकाश का (गुणं शब्दं विदुः) गुण 'शब्द' को मानते हैं। ७४।।

# आन्त हारित्र न्य : प्राकाशोत्पत्ति के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

''उस परमेश्वर और प्रकृति से ग्राकाश ग्रवकाश ग्रर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा है, उसको इकट्टा करने से भवकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में ग्राकाश की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि विना भाकाश के प्रकृति ग्रीर परमाणु कहां ठहर सकेंं?'' (स० प्र० ग्रष्टम समु०)

वायु की उत्पत्ति---

म्राकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुन्तिः। बलवाञ्जायते वायुः स वे स्पर्शगुराो मतः॥ ७६॥ (४४)

(ग्राकाशात् तु विकुर्वाणात्) उस ग्राकाश के विकारोत्पादक ग्रंश से (सर्वगन्धवहः) सब गन्धों को वहन करने वाला (शुचिः) शुद्ध ग्रौर (बल-

वान्) शक्तिशाली (वायुः) 'वायुं' (जायते) उत्पन्न होता है (सः वै) वह वायु निश्चय से (स्पर्शगुणः) 'स्पर्शं' गुरगवाला (मतः) माना गया है ॥७६॥ श्राम् की उत्पत्ति—

> वायोरिप विकुर्वागाद्विरोचिष्णुः तमोनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुख्यते ॥ ७७ ॥ (४६)

(वायोः + ग्रिप) उस वायु के भी (विकुर्वाणात्) विकारोत्पादक ग्रंश से (विरोचिष्णुः) उज्ज्वल (तमोनुदम्) ग्रन्थकार को नष्ट करने वाली (भास्वत्) प्रकाशक (ज्योतिः + उत्पद्यते) 'ग्रन्नि उत्पन्न होती है (तत् + रूप गुणम् + उच्यते) उसका गुण 'रूप' कहा है।। ७७।।

जल और पृथिवी की उत्पत्ति-

ज्योतिषश्च विकुर्वागाः वापो रसगुगाः स्मृताः । स्रद्भुषो गन्धगुगाः सूमिरित्येषा सृष्टिरावितः ॥ ७८ ॥ (४७)

(च) ग्रौर (ज्योतिषः विकुर्वाणात्) ग्रग्नि के विकारोत्पादक ग्रंश से (रसगुणाः ग्रापः स्मृताः) 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है ग्रौर (ग्रद्भ्यः) जल से (गन्धगुणा भूमिः) 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है (इति +एषा सृष्टिः + ग्रादितः) यह इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर [१।१४ से) यहां तक विणत सृष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है ।। ७८ ।।

आनुर्यो का ७५ से ७८ तक के श्लोकों की प्रक्रिया को ग्रौर स्पष्ट रूप से समभने के लिए १।१६ पर 'ग्रनुशीलन' में सं० १ समीक्षा भी द्रष्टुच्य है।

मन्वन्तर के काल-परिमाण---

यत्त्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुर्गां मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥ (४८)

(प्राक्) पहले क्लोकों में [१।७१] (यत्) जो (द्वादशसाहस्रम्) बारह हजार दिव्य वर्षों का (दैविकं युगम् + उदितम्) एक 'देवयुग' कहा है (तत्+एकसप्तितगुणम्) उससे इकहत्तर गुना समय ग्रर्थात् १२००० × ७१ == ५,४२,००० दिव्यवर्षों का ग्रथवा = ५,४२,००० दिव्यवर्षं × ३६० = ३०, ६७,२०,००० मानुषवर्षों का (इह मन्वन्तरम् उच्यते) यहां एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है।। ७६।।

> मन्वन्तराष्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥ (४६) (परमेष्ठी) वह सबसे महान् परमात्मा (ग्रसंख्यानि मन्वन्तराणि)

ग्रसंख्य 'मन्वन्तरों' को (सर्गः) सृष्टि-उत्पत्ति (च) ग्रौर (संहारः एव) प्रलय को (क्रीडन् इव) खेलता हुग्रा-सा (पुनः पुनः) वार-बार (कुरुते) करता रहता है ।। ८० ।।

अन्तु श्रीत्जना -- १।७६-८० श्लोकों को उद्भृत करके इनके भाव को महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है---

''इन श्लोकों में दैव-वर्षों की गणना की है ग्रर्थात् चारों युगों के वारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार ग्रसंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती ग्रनेक बार मृष्टि हो चुकी है ग्रौर ग्रनेक बार होयगी। सो इस मृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचना, पालन ग्रौर प्रलय करता है ग्रौर सदा ऐसे ही करेगा।" (पृ० २४)

मृष्टि प्रवाह से अनादि---

''(प्रक्त) कभी मृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं?

(उत्तर) नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बरावर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व मृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे सृष्टि, अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसका आदि वा अन्त नहीं। िकन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि-अन्त होता रहता है; क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव, जगत् का कारण, [ये] तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्तमान प्रवाह से अनादि है। जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता है कभी नहीं दीखता, फिर वरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिए।"

(स० ग० २२३)

# मनुप्रोक्त काल-परिमार्ग की तालिका (इसोक ११६४ से ११८० तक वर्षित)

न /४५ सेकेचड	३५ सेकेण्ड	१ मिनट ३६ सेनेण्ड	४८ मिनट या दो घड़ी	२४ घण्टेया ६० घड़ी		,	१ दिन या रात (दिव्य)		१ दिनरात (दिव्य)	१ वर्ष (दिव्य)	सतयुग का प्रमुखकाल-परिमाण	सतयुग का संघ्याकाल	सतपुग का सघ्यांशकाल	सतयुग का पूर्ण काल-परिमाण
१ निमेष	१ काष्ट्रा	१ कला	१ मुहुत्तं	१ दिनरात	१ पक्ष (मानव)	१ मास (मानब)	१ भयन (मानव)	(उत्तरायण या दक्षिसायन)	१ वर्ष (मानव)	३६० वर्ष (मानव)	= १४,४०,००० मानववर्षे	(' 000'88'8 ==	" ooo'8,8,'8 ==	(۱٬ ٥٥٥'عظار) ==
पलक गिरने का समय	१८ निमेष	३० काष्ट्रा	हैं। केला	३० महत्त	१५ दिनरात	२ पक्ष	६ मास		२ ग्रयन (१२ मास)	३६० दिनरात (दिव्य)	४,००० दिव्यवर्षे 🗙 ३६०	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	۷۰۰ ۱۰۰ ۹۰۰۶	۲٬ ۵۰۵٬۶

३,००० दिव्यवषं ×३६० ३०० ,,, ,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,
--

युगानुसार धर्म की पूर्णता एवं ह्लास---

#### चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे । नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्त्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

(कृते युगे) सतयुग में (सकलः धर्मः च सत्यम्) समस्त धर्म एवं सत्य (चतुष्पात्) चार पैरों वाला स्रथित् तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान वाला होता है (मनुष्यान् प्रति कश्चित् स्रागमः स्रधर्मेण न वर्तते) मनुष्यों में कोई भी लाभप्राप्ति अधर्म के द्वारा नहीं की जाती।। ८१।।

#### इतरेष्वागमाद्धमंः पावशस्त्रवरोषितः। चौरिकानृतमायाभिषंमंश्चापैति पावशः॥ ८२॥

(इतरेषु) ग्रन्य तीन युगों — त्रेता, द्वापर, किल में (ग्रागमात्) ग्रधमें के द्वारा लाभप्राप्ति करने के कारण (पादशः तु + ग्रवरोपितः) एक-एक चरण घटना जाता है (च) ग्रौर (चौरिक-ग्रनृत-मायाभिः) चोरी, भूठ, धोखा करना ग्रादि के कारण (धर्मः) धर्म (पादशः) चौथाई-चौथाई (ग्रपैति) कम होता जाता है।। ८२।।

#### ग्ररोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।

कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्सति पादशः॥ ८३॥

(कृते) सतयुग में मनुष्य (ग्ररोगाः) रोगरहित (सर्वसिद्धार्थाः) जिनके सव मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं,ऐसे तथा (चतुर्वर्षशतायुषः) चार सौ वर्ष की ग्रायु वाले होते हैं, ग्रीर (त्रेतादिषु) त्रेता, द्वापर, कलियुगों में (एषाम्भ्ग्रायुः) इनकी ग्रायु (पादशः हसति) चौथाई-चौथाई घटती रहती है।। ६३।।

## वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् । फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ५४ ॥

(मत्यानाम्) मनुष्यों की (वेदोक्तम्) वेदों में कही हुई (ग्रायुः च कर्मणाम् ग्राज्ञिषः) ग्रायु तथा कर्मों के फल (च) ग्रौर (ज्ञारीरिणाम् प्रभावः) देहधारियों पर होने वाले समस्त प्रभाव ये (लोके) इस संसार में (ग्रनुयुगम्) युगों के ग्रनुसार ही ग्रयान् ग्रच्छे युग में ग्रच्छाई प्रधिक ग्रौर वुरे युग में बुराई ग्रधिक, इस प्रकार (फलन्ति) फलदायक होते हैं॥ ८४॥

# द्मन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। श्रन्ये कलियुगे नृषां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८४ ॥

(कृतयुगे) सतयुग में (ग्रन्थे धर्माः) दूसरे धर्म माने हैं (त्रेतायां द्वापरे ग्रपरे) त्रेता ग्रीर द्वापर में उससे भिन्न धर्म हैं (कलियुगे ग्रन्थे) कलियुग में दूसरे धर्म हैं (युगह्रासानुरूपतः नणाम्) इस प्रकार युग के ह्रास के ग्रनुसार मनुष्यों के धर्म भी वदलते रहते हैं। [वे निम्न इलोक में हैं—]॥ ८५॥

#### तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुख्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहर्दानमेकं कली युगे।। ८६।।

(कृतयुगे) सतयुग में (तपः परम्) तप को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है (त्रेता-भाम्) त्रेतायुग में (ज्ञानम् + उच्यते) ज्ञान को श्रेष्ठ धर्म कहा है (द्वापरे) द्वापर युग में (यज्ञम् + एव + श्राहुः) यज्ञ को ही श्रेष्ठ धर्म कहते है (कली युगे एक दानम्) कलि-युग में दान ही एकमात्र श्रेष्ठ धर्म है।। ५६।।

आनुर्धोत्जनः ५१ से ५६ श्लोकों का यह प्रसंग निम्न ग्राधारों की कसीटी पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

- १. प्रसंगिवरोध-सुष्टघुत्पत्ति (१।५-२३) के पश्चात् २४ से ३१ श्लोकों में कमों की रचना, प्राप्ति स्रादि का वर्णन करते हुए प्रसंग कर्मचर्चा का चल पड़ा था। पर, क्योंकि मृष्टि-उत्पत्ति ग्रीर उसकी प्रक्रिया ग्रादि से सम्बद्ध कुछ कथनीय वातें ग्रीर भी रह गई थीं, जिन्हें बताना मन आवश्यक समभते थे, अतः १। ४२ श्लोक में यह कहकर कि प्राणियों के जो कर्म हैं, उन्हें आगे कहंगा,पहले जन्म-उत्पत्ति के निश्चित प्रकार को कहुँगा, (येवां तु याह्यां कर्म भूतानामिह कीर्तितम् । तत्तवा वोऽभिधा-स्यामि क्रमयोगं च जन्मनि) उस कर्मचर्चा के प्रसंग को बदलकर 'सुष्टि में जन्म या उत्पत्ति के निश्चित प्रकार' के प्रसंग को ४३ वें से शुरू कर दिया। इस संकेतक श्लोक के अनुसार ही मनू ने ४३ से ८० श्लोकों में उक्त प्रसंग की पहले चर्चा की है। संकेतक श्लो-कानुसार ८० वें स्लोक में यह मध्यचींचत प्रसंग पूर्ण होने के पश्चात फिर वही बीच में छुटा हुया कर्मचर्चा से सम्बद्ध प्रसंग'शुरु होना चाहिए था, जो ८७ वें श्लोक से प्रारम्भ है वीच में इन श्लोकों ने उस संकेतिसद्ध प्रसंग को भंग कर दिया है। इनमें अनावश्यक तथा श्रप्रासंगिक 'यूग के फलों' का वर्णन है, जिसका न तो संकेतक [१।४२] इलोक में ही वर्णन करने का संकेत है, न पूर्वापर प्रसंगों की शैली से सम्बन्ध है। यतो हि पूर्व प्रसंग भी मुष्टि रचना से सम्बद्ध है ग्रौर इनसे ग्रगला भी [कर्मों की सृष्टि का ५७--६१],जबिक इनमें रचना से सम्बद्ध वर्णन न होकर फलप्रदर्शन है। इस दृष्टि से ८० वें श्लोक के पर्वात = वां रलोक प्रासंगिक ग्रीर क्रमसिद्ध है, ग्रतः ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. शैलीगत द्याधार—(१) भाषा-प्रयोग-शैली से भी द० वें श्लोक के पश्चात् द७ वें श्लोक का क्रम सिद्ध होता है। द० वें श्लोक में कहा है कि 'परमात्मा इस सम्पूर्ण जगत् को बार-वार रचता है द्यौर संहार करता है।' इस श्लोक की क्रमसंगति के स्रनुसार ही द७ वें श्लोक में—'सर्वस्थास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थम्' पद का प्रयोग किया गया है। इस की संगति है—'इस सब जगत् की रक्षा के लिए प्रर्थात् जो ग्रभी इन पिछले श्लोकों [५—६०] में विणित हुग्ना है, इस जगत् की रक्षा के लिए। इस प्रकार 'सर्वस्थास्य' प्रयोग द७ वें श्लोक को द० वें से सम्बद्ध सिद्ध करता है। (२) दूसरी दिष्ट से भी देखें तो भी उक्त क्रम बनता है, क्यों कि द१—६६ श्लोकों में जगत् का वर्णन ही नहीं है, अतः इन श्लोकों के बाद 'ग्रस्य सर्वस्य' पद का प्रयोग ही नहीं बनेगा। यह तो

उन्हीं इलोकों के बाद बन सकता है, जिनमें पहले जगत् का वर्णन हो, ग्रौर वह ८० वें इलोक तक है। (३) इसके साथ-साथ ८१ वें इलोक की ८० वें से कोई संगति नहीं है, ग्रौर ८६ वें इलोक की भी ८७ वें से कोई संगति नहीं है। पूर्वापर प्रसंगों से इनका टूटा हुआ होना भी यह स्पष्ट करता है कि ये प्रसंग को तोड़कर डाले गये 'क्षेपक हैं। इस प्रकार जैली से ८० ग्रौर ८७ की ही संगति सिद्ध होती है।

- ३. विषयविरोध—१।४-५ इलोकों में मृष्टि-उत्पत्ति-पूर्वक धर्मोत्पत्ति के विषय का प्रारम्भ ग्रीर १।१४४ वें में 'यह समस्त जगत् की उत्पत्ति ग्रीर धर्म का निकास संक्षेप से कहा' (एवा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता। संमवश्वास्य सर्वस्यः "") कहकर विषयसमाप्ति के संकेत से यह ज्ञात होता है कि १।४-१४४ श्लोकों का विषय मृष्ट्युत्पत्ति ग्रीर धर्मोत्पत्ति का है। इस संकेत के अनुसार इस बीच इन्हीं से सम्बद्ध विषय मौलिक हो सकता है, ग्रन्य नहीं। ८१-६६ श्लोकों का वर्णन किसी भी उत्पत्ति या उसकी-प्रक्रिया से सम्बद्ध नहीं है। इनमें युगानुसार फलकथन है, यह विषय इस ग्रम्याय का है नहीं। इस प्रकार ये श्लोक विषय-भिन्नता के कारण विषयविरुद्ध हैं, ग्रतः एव प्रक्षिप्त हैं।
- ४. ग्रन्तिवरोध--युग या काल धर्म-अधर्म में कारण नहीं-इन इलोकों के वर्णन का मनुस्मृति की मौलिक मान्यतात्रों से ग्रनेक प्रकार से विरोध ग्राता है। (१) इन इलोकों में युग या काल को धर्म-ग्रधर्म का कारण माना है,जबिक मनुस्मृति का सारा ढांचा ही कर्म को धर्म-म्रधम का कारण मानने के सिद्धान्त पर म्राश्रित है। मनुस्मृति के अनुसार तो जब भी जो व्यक्ति बुरा कर्म (ग्रधर्म) करेगा, उसे बुरा फल मिलेगा ग्रीर ग्रच्छा कर्म करेगा, ग्रच्छा फल मिलेगा। मनुस्मृति में प्रोक्त धर्म वेदविहित हैं [१२३-२४,१२६],ग्रीर वेद नित्य हैं [१।४,२३--२४,१२।६४], ग्रतः वेदोक्त धर्म-ग्रधमों का फल भी नित्य ख़ौर एकजैसा है। इस प्रकार इन इलोकों में प्रदर्शित 'युग के अनुसार धर्म-अधर्म और फल की मान्यता' मनुस्मृति के मूल उद्देश्य के ही विरुद्ध है, ग्रतः ये श्लोक मौलिक नहीं हो सकते। (२) जब धर्म युगानूरूप चौथाई घटता ही है [१। ८२] अर्थात् स्वाभाविकरूप से घटता ही है, तो वह प्रत्येक स्थिति में घटेगा ही, यह उसकी स्वाभाविकता जो हुई ! फिर मनुस्मृति में धर्मपालन का कथन करने की क्या ग्रावश्यकता है ? (३) १। २४-२६ श्लोकों में मनु ने कमनिसार मृष्टि के प्रारम्भ में शरीरों की प्राप्ति दर्शायी है। यदि सतयुग में लोगों का सब सिद्धियों से युक्त होना माना जाये [१। ८१-८३] तो उस समय दः ल ग्रीर ग्रधर्म क्यों थे ? जब कि वह तो सतयूग का समय था। (४) ८५-८६ वें इलोक में चारों यूगों में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को ही धर्म माना है, जो कि मनुस्मृति की स्राधार-भूत मान्यता के ही विरुद्ध है। मनु ने अनेक स्लोकों में तप, ज्ञान, यज्ञ, और दान को शाश्वतकालीन श्रीर समानरूप से धर्म माना है और साथ-साथ उनके पालन का श्रादेश दिया है । [२।१६६-१६७ (२।१४१-१४२), २।१७५ (१५०) । ३ । ६७, ६६-७६;

४।१६-२०, २२७, २३३; ६।४-१२,७०,७५ म्रादि] मनुस्मृति में कहीं भी युग के म्रनुसार धर्म का पालन करने के लिए चर्चा नहीं है। (५) ६।३०१--३०२ क्लोकों में मनु ने राजा के म्राचरण को ही चारों युगों के रूप में माना है। इन क्लोकों में मनु की दो मान्यताएँ स्पष्ट हुईं-

(क) मनु कर्म के अनुसार धर्म-अधर्म या अच्छा-बुरा युग मानते हैं, युग या काल को धर्म-अधर्म का कारण नहीं मानते। (ख) इन क्लोकों के आलंकारिक वर्णन से यह स्पष्ट है कि मनु युगों को केवल 'कालप्रमाण'के रूप में ही स्वीकार करते हैं, गत क्लोकों में वर्णित रूप में नहीं। यदि इन क्लोकों के अनुसार मनु को युगफल अभीष्ट होता,तो वे ६।३०१–३०२ क्लोकों में कर्म करने के आधार पर राजा के युगों का आलंकारिक वर्णन न करते, उन्हें राजा के आचरण विशेष नहीं मानते, अपितु युग के अनुसार राजाओं के आचरण में परिवर्त्तन मानते। वे इस प्रकार हैं—

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञो वृत्तािशा सर्वािश राजा हि युगमुच्यते ॥ कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् । कर्मस्वम्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥

सतयुग, त्रेता, द्वापर ग्रौर किल, ये सब राजा के ही श्राचरणिवशेय हैं; इसिलए राजा को ही युग कहा जाता है। उद्यमरिहत राजा किलयुग होता है, जागकर भी कार्य न करने वाला राजा द्वापर, कार्यों में उद्यत रहना त्रेता श्रौर इस प्रकार के सुप्रबन्ध से कार्य करना कि राजा निश्चिन्त होकर विचरता रहे, वह सतयुग है।

इस प्रकार ग्रनेक ग्रन्तिवरोध भी इन क्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध करते हैं। ये रूढ़ एवं ग्रन्ध मान्यताग्रों का प्रक्षेप करने की भावना से प्रक्षिप्त किये गये क्लोक हैं। चारों वर्णों के कर्मों का निर्धारण—

> सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः । मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥ (५०)

(ग्रस्य सर्वस्य सर्गस्य) इस [५-८० पर्यन्त क्लोकों में विश्ति] समस्त संसार की (गुप्त्यर्थम्) गुप्ति ग्रर्थात् सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए (सः महाद्युतिः) महातेजस्वी परमात्मा ने (मुख-बाहु-उरु-पद्-जानाम्) मुख, बाहु, जंघा ग्रौर पैर की तुलना से निर्मितों के ग्रर्थात् क्रमशः ब्राह्माए, क्षत्रिय, वैश्य ग्रौर शूद्र वर्णों के (पृथक् कर्मािशा + ग्रकल्पयत्) पृथक्-पृथक् कर्म बनाये।। ८७।।

अर्जु श्रीट्डन्य: 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणा वर्णव्यवस्था की सूचक—(१) मनु ने वेद के स्राधार पर वर्णव्यवस्था का विधान किया है। यजु० ३१।१०-११ में जो वर्णव्यवस्था प्रदिशत की है, मनु ने उसी को यथावत् प्रस्तुत किया

है। यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। इस श्लोक में ग्रौर १।३१ में भी यह स्पष्ट किया है कि समाज में चारों वणों का निर्माण मुख, बाहु, ऊरु ग्रौर पैर की तुलना के अनुसार हुग्रा है, ग्रौर तदनुसार ही कर्मों का निर्धारण किया है [१।८८–६१] जो व्यक्ति इन कर्मों का पालन करेगा, वह उस-उस वर्ण का ग्रधिकारी होगा। (विस्तृत विश्लेपण के लिए १।३१ की अनुशीलन समीक्षा ग्रौर १।६२–१०७, २।११–१३, १०।६५ की अन्तविरोध शीर्पक समीक्षा द्रष्टव्य है)।

(२) स्वयं 'वर्ण' शब्द इस व्यवस्था को कर्माधारित व्यवस्था सिद्ध करता है। निरुक्त में वर्ण शब्द की ब्युत्पत्ति दी है— 'वर्णां वृग्गोतेः'' [२।१।४] स्रर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये वह 'वर्ण'है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

''वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हाः गुर्गाकर्माणि च हष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ।'' (ऋ० भा० भू० वर्गाश्रमधर्मविषय)

ग्रर्थात्—गुण-कर्मों को देखकर यथायोग्य ग्रधिकार जिसको दिया जावे,वह 'वर्गा'है।

(३) वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति से भी वर्णों के कर्मों का वोघ होता है। शब्द में जो भाव है,वही उस वर्ण का प्रमुख कर्म है। उन कर्मों को श्रपनाने से ही व्यक्ति उस वर्ण का ग्रघिकारी बनता है। (विस्तृत विश्लेषण १।८८—६१ श्लोकों के अनुशीलन में देखिए)।

ब्राह्मण के कर्म-

# ब्रध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। बानं प्रतिग्रहं चैव बाह्यगानामकल्पयत्॥ ५८॥ (५१)

"(ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों के (म्रध्ययनम्,म्रध्यापनम्) पढ़ना-पढ़ाना (तथा) तथा (यजन याजनम्) यज्ञ करना-कराना, (दानं च प्रतिग्रहम् एव) दान देना ग्रीर लेना, ये छः कर्म (ग्रकल्पयत्) है"।।८८॥ (स० प्र० ८९)

'(एक) निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को ग्रौर स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें (दो) —पूर्ण विद्या पढ़ें , (तीन) —ग्रश्निहोत्रादि यज्ञ करें, (चार) — भ्यज्ञ करावें, (पांच) — विद्या श्रयवा सुवर्ण ग्रादि का सुपात्रों को दान देवें, (छठा) —न्याय से भनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान लेवें भी''।

ंइनमें से तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में: श्रीर तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका हैं। परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥ मनु० ॥

जो दान लेना है, वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ाके स्रौर यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है।'' (सं० वि० १७४)

अद्भार कि नामों की व्याकरणानुसारी रचना ग्रीर व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि मनु ने कर्मानुसार ही वर्णों का नामकरण किया है, ग्रीर नामों से वर्णों के कर्मों का भी वोध होता है। 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (ग्रष्टा॰ ४।२।५६) ग्रर्थ में 'ग्रण्' प्रत्यय के योग से 'ब्राह्मण्' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति है—'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासनेन च सह वतंमानो विद्यादि उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः' अर्थान् वेद ग्रीर परमात्मा के ग्रध्ययन ग्रीर उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या ग्रादि उत्तम गुणों को धारण करने से व्यक्ति 'ब्राह्मण्' कहलाता है। मनु ने भी इन्हीं कर्मों को ब्राह्मण् के प्रमुख कर्मों के रूप में विश्वत किया है।

ब्राह्मराग्रज्ञ के वचनों में भी वर्णों के कर्मों का वर्णन पाया जाता है। निम्न वचनों में ब्राह्मरा के कर्त्तव्य उद्दिष्ट हैं ---

- (क) आग्नेयो ब्राह्मणः (तां० १५।४।८)। श्राग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ० २६।१०) == यज्ञाग्नि से सम्बन्ध रखने वाला श्रयात् यज्ञकत्ता द्वाह्मण होता है।
- (ग) गायत्रो व बाह्यणः (ऐ० १।२८)। गायत्रो यज्ञः (गो० पू० ४।२४)। गायत्रो व बृहस्पतिः (तां० ५।१।१५)

ः ब्राह्मण गायत्र होता है। गायत्र वेद, यज्ञ श्रीर परमात्मा को कहते हैं। क्षत्रिय के कर्म--

# प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेत्र च। विषयेष्यप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ ८६॥ (५२)

'दीघं ब्रह्मचर्यं से (अध्ययनम्) साङ्गोपांग वेदादि द्यास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) प्रग्निहोत्र ग्रादि यज्ञों का करना (दानम्) खुपात्रों को तिद्या, सुत्रणं ग्रादि ग्रीर प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाग्रों का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना (विषयेपु + ग्रप्रसिक्तः) विषयों में अनासक्त होके सदा जितेन्द्रिय रहना—लोभ, व्यभिचार, मद्यपानादि, नशा ग्रादि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलता ग्रादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना। ।। ६६।। + (स० प्र०१८५)

🕂 (क्षत्रियस्य समासतः) ये संक्षेप से क्षत्रिय के कर्म हैं ।। 🖘 ।।

"न्याय से प्रजा की रक्षा स्रर्थात् पक्षपात छोड़ के श्रेष्ठों का सत्कार स्रीर दुश्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन, दान, विद्या धर्म की प्रवृत्ति स्रीर सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) स्रग्निहोत्रादि यज्ञ करना वा कराना (मध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़ाना स्रीर विषयों में न फंसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर स्रात्मा मे बलवान् रहना।" (स० प्र० प्र० ६०)

अमृत्यु श्री टिडन् : 'क्षत्रिय' नाम कमंगा वर्ण व्यवस्था का सूचक—(१) क्षणु—हिंसा अर्थ वाली (तनादि) धातु से 'कतः' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में तैं इः —पालन करने अर्थ में (म्वादि) धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा०३।२।१०१) सूत्र से 'दृः' प्रत्यय, पूर्वपदान्त्याकारलोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'दृयः' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य-अपत्यं वा, 'क्षत्राद घः' (अ०४।१।१३८) सूत्र से जन्म लेने अर्थ में 'घः' प्रत्यय होकर क्षत्रिय शब्द वना। 'क्षदित रक्षति जनान् क्षत्रः' जो जनता की रक्षा का कार्य करता है अथवा, क्षण्यते हिस्यते नश्यते पदार्थों येन स 'क्षतः' — घातादिः, तत-स्त्रायते रक्षतीति क्षत्रः — आक्रमण, चोट, हानि आदि से लोगों की रक्षा करने वाला होने से क्षत्रिय को 'क्षत्रिय, कहते हैं। बाह्यण ग्रन्थों में — क्षत्रं राजन्यः (ऐ०६।२;३।४) क्षत्रस्य वा एतद्र्षं यद राजन्यः (श०१३।१।५।३) — क्षत्रिय 'क्षत्र' का ही रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

- (२) यहां ग्रपत्यार्थ में 'इय' आदेश के योग से क्षत्रिय ग्रादि शब्द बनाने में यह शंका उत्पन्त होती है कि क्या मनु जन्म के ग्राधार पर वर्ण मानते हैं ? इसकी शंका के निराकरण के लिए पुष्ट समाधान है । वंश केवल जन्म से ही नहीं ग्रपितु विद्याजन्म से भी वंश चलता है । ग्रष्टाघ्यायी २ । १ । १६ में 'संख्यावंश्येन' सूत्र में विद्या से जन्म माना है । मनुस्मृति २ । ११६—१२३ श्लोकों में स्पष्टतः विद्या के ग्राधार पर जन्म माना है । इस प्रकार गुणग्राहिता, कार्यकारणभाव, विद्या के ग्राधार पर भी ग्रपत्य ग्रादि सम्बन्ध होते हैं । जैसे सूर्य, वरुण ग्रादि की कोई पत्नी या ग्रपत्य ग्रादि नहीं होते, किन्तु किर भी कार्य-कारण ग्रौर गुणग्राहिता ग्रादि के ग्राधार पर ग्रदित का पुत्र ग्रादित्य, सूर्य की पत्नी सूर्या ग्रादि तथा वरुणानी, मैत्रावरुणः ग्रादि प्रयोग होते हैं । विस्तृत चर्ची 'मनुस्मृत्-ग्रनुशीलन' से दिन्त्य ।
- (३) क्षत्रिय के विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन ७ । १ से ६ । २२५ क्लोकों में है । वैक्ष्य के कर्म-

पश्चनां रक्षणं दानमिज्याघ्ययनमेव च । विशावपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।। ६० ॥ (५३) "(पशुरक्षा) गाय ग्रादि पशुग्रों का पालन-वर्धन करना (दानं) विद्या-धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का ब्यय करना (इज्या)
ग्रिग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (ग्रध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना
(विणिक्ष्य) सब प्रकार के व्यापार करना (कुसीद) एक सैकड़े में चार,
छः, ग्राठ, बारह, सोलह वा बीस ग्रानों से ग्रिधिक ब्याज ग्रीर मूल से दूना
ग्रियात् एक रुपया दिया हो तो सो वर्ष में भी दो रुपये से ग्रिधिक न लेना
ग्रीर न देना (कृषि) खेती करना (वैद्यस्य) ये वैद्य के कर्म हैं''।। ६०।।
(सं० प्र० ६१)

"(प्रध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) प्रग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) प्रन्नादि का दान देना, ये तीनों धर्म के लक्षण ग्रौर (पशूनां रक्षणम्) गाय ग्रादि पशुग्रों का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना (विणक् पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज ग्रादि के गुण जानना श्रौर सब पदार्थों के भावाभाव समभना (कुसीदम्) ब्याज का लेना क्ष (कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, ग्रन्न ग्रादि की रक्षा, खात ग्रौर भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना ग्रादि व्यवहार का जानना, ये चार कर्म वैद्य की जीविका।"

(स० वि० १७६)

% ''सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे, न देवे । जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे, न देवे । जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे''।

(स० वि • पृ० १७६ पर ऋ० दया० की टिप्पणी)

अन्य शीटा : 'वैश्य' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक— (१) ''विशः मनुष्यनाम'' (निषं २।३) उससे भावार्थ में 'यत्', उससे स्वार्थ में 'प्रण्'। प्रथवा 'विश्' प्रातिपदिक से प्रपत्यार्थ में 'प्रण्' छान्दस प्रत्यय से 'वैश्य' शब्द बना। ''यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यामु प्रविशति सः 'वैश्यः' व्यवहारविद्यामु श्रविशति सः 'वैश्यः' व्यवहारविद्यामुशालः जनो वा = जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रकृशित रहता है या विविध व्यावहारिक विद्याग्रों में कुशल जन 'वैश्य होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में—

"एतद् व वैदयस्य समृद्धं यत् पश्चः" (तां० १८।४।६) "तस्मादु बहुपशु-वैद्ववेवो हि जागतो (वैदयः) (तां ६।१।१०) = पशुपालनै से वैदय की समृद्धि होती है, यह वैदय का कत्तंव्य है।

<sup>(</sup>२) वैश्य के विस्तार से कर्त्तव्यों का वर्णन द्रष्ट्रव्य है ६।२२५ँ-३३३ में।

शूद्ध के कर्म ---

# एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समाविशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥ ६१॥ (४४)

"(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन—जिसको पढ़ने से विद्या न श्रा सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की (ग्रन-सूयया) निन्दा से रहित प्रीति से (शुश्रूषाम्) सेवा करना, (एकमेव कर्म) यही एक कर्म (समादिशत्) करने की ग्राज्ञा दी हैं"।। ६१।।

(सं० वि० १७७)

अर न्यू क्यी टिंड न्यः 'शूब्र' नाम कर्मणा व्यवस्था का सूचक—(१) शुच्— शोकार्थक (म्वादि) धातु से 'शुचेदंश्च' (उणा० २।१६) सृत्र से 'रक्' प्रत्यय, उकार को दीर्घ, च को द होकर 'शूब्र' शब्द बनता है। शूब्रः = शोचनीयः शोच्यां स्थितिमापन्नो वा, सेवायां साषुर् श्रविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा = शूब्र वह व्यक्ति होता है जो अपने अज्ञान के कारण किसी प्रकार की उन्नत स्थिति को नहीं प्राप्त कर पाया, और जिसे अपनी निम्न 'स्थिति होने की तथा उसे उन्नत करने की सदैव चिन्ता बनी रहती है अथवा स्वामी के द्वारा जिसके भरण-पोषण की चिन्ता की जाती है, ऐसा सेवक मनुष्य । बाह्मण ग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—''ग्रसतो वा एव सम्भूतो यत् शूब्रः'' (तै० ३।२।३।६) ग्रसतः = श्रविद्यातः । श्रज्ञान और श्रविद्या से जिसकी निम्न जीवनस्थित रह जाती है, जो केवल सेवा ग्रादि कार्य ही कर सकता है, ऐसा मनुष्य शूद्र होता है।

- (२) शूद्र के कर्त्तंव्यों के प्रसङ्ग में, शूद्र के प्रति मनु की घारणा क्या है, इस बात पर भी प्रकाश पड़ जाता है। मनु ने वहां शूद्र के लिए शुचि: 'पिवत्र' (शरीर एवं मन से), उत्कृष्ट शुश्रूषु: 'उत्तम सेवा करने वाला' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि मनु की शूद्र के प्रति हीन भावना नहीं है। सबकी सेवा करने वाला व्यक्ति श्रपवित्र कैसे कहा जा सकता है?
- (३) शूद्र जन्मना नहीं होता, किन्तु वह व्यक्ति शूद्र होता है, जो उपनयन में दीक्षित होकर ब्रह्मजन्म अर्थात् वेदाध्ययन रूपी द्वितीय जन्म को प्राप्त नहीं कर सका। दिजों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका अध्ययनरूपी दूसरा ब्रह्मजन्म उपनयन के समय होता है "दिर्जायते इति द्विजः।" शूद्र का यह दूसरा जन्म न होने से उसका पर्यायवाची शब्द 'एकजातिः' = एक जन्म वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि मनु जन्मना नहीं, व्यक्ति को कर्मणा शूद्र मानते हैं। देखिए मनु ने यह मान्यता १०।४ में प्रकट की है—

#### (४) वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्गा को भी प्राप्त कर सकता है । [१।३३५ ।। १०।६५]

(५) शूद्र के कुछ विस्तृत कर्त्तव्यों का वर्णन १।३३४-३३५ श्लोकों में है। उन श्लोंकों से मनु की शूद्र-सम्बन्धी यह मान्यता और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को जन्मना नहीं मानते तथा न घृणास्पद मानते हैं।

सब ग्रंगों में मुख की श्रेष्ठता एवं तद्वत् ब्राह्मणों की श्रेष्ठता ग्रीर महत्ता का वर्णन—

कथ्वं नाभेमं ज्ञतरः पुरुषः परिकीतितः। तस्मान्मेभ्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा।। ६२ ।।

(नाभेः ऊर्घ्वम्) नाभि के ऊपर (पुरुषः) पुरुष शरीर को (मेघ्यतरः परि-कीर्तितः) अपेक्षाकृत अधिक पवित्र माना गया है (तस्मात्) इस विचार के अनुसार (स्वयम्भुवा) ब्रह्मा ने (अस्य मुखम्) इस पुरुष के मुख को (मेघ्यतमम् उक्तम्) सर्वाधिक पवित्र कहा है।। ६२।।

#### उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्येव्व्याद् ब्रह्मण्डचैव घारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य घर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ ६३॥

(उत्तमांगो + उद्भवात्) उत्तम ग्रंग = मुख से उत्पत्ति होने के कारण (ज्यैष्ठ्-यात्) चारों वर्णों में सबसे पहले उत्पन्न होने से या सबसे बड़ा होने के कारण (च) ग्रीर (ब्रह्मणः धारणात्) वेद को धारण करने के कारण (ग्रस्य सर्वस्य + एव सर्गस्य) इस सम्पूर्ण संसार का ही (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (धर्मतः) धर्म से (प्रभुः) स्वामी है ॥ १३॥

> तं हि स्वयं मूः, स्वाबास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽस् जत् । हब्यकव्यामिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ६४ ॥

(तं हि) उस ब्राह्मण को (स्वयम्भूः) ब्रह्मा ने (तपः तप्त्वा) तपस्या करके (स्वात् + ग्रास्यात्) ग्रपने मुख से (हच्य-कच्य-ग्रामिवाह्माय) हव्य चदेवों का भाग कच्य = पितरों का भाग उन तक पहुंचाने के लिए (च) और (ग्रस्य सर्वस्य गुप्तये) इस सम्पूर्ण संसार की रक्षा के लिए (ग्रादितः + ग्रस्जुत्) सबसे पहले उत्पन्न किया॥ ६४॥

# यस्यास्येन सदाइनन्ति हत्यानि त्रिदिवौकसः। कथ्यानि चैव पितरः कि मृतमधिकं ततः॥ ६५॥

(यस्य + ग्रास्येन) जिस ब्राह्मण के मुख के द्वारा (त्रिदिवीकसः) देवता लोग (हव्यानि) हव्य भागों को (च) श्रीर (पितरः कव्यानि) पितर लोग कव्यभागों को (सदा + ग्रदनन्ति) सदा खाया करते हैं (ततः प्रधिकं कि भूतम्) उससे प्रधिक श्रेव्ठ कौन प्राणी होगा ? ॥ ६५॥

मूतानां प्राश्चिनः अच्छाः प्राश्चिनां बुद्धिजीविनः । बुद्धिमस्तु नराः श्रेच्छाः नरेषु बाह्यशाः स्मृताः ॥ १६ ॥

(भूताना प्राणिनः श्रेष्ठाः) सभी स्वावरों ग्रीर जंगम भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं (प्राणिना बुद्धिजीविनः) प्राणधारियों में बुद्धि से कार्य करने वाले जीव श्रेष्ठ हैं (बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः) बुद्धिजीवी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं ग्रीर (नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः) मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं।। ६६।।

> बाह्यराषु च विद्वांसी विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कृतर्रारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ १७॥

(च) और (बाह्मणेषु विद्वासः) बाह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं (विद्वत्सु कृत-बुद्धयः) विद्वानों में कर्त्तंच्य बुद्धि रखने वाले श्रेष्ठ हैं (कृतबुद्धिषु कर्त्तारः) कर्तंच्य बुद्धि रखने वालों में कर्त्तंच्यों को श्राचरण में लाने वाले श्रौर (कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः) उन श्राचरणकर्त्ताश्रों में भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं॥ १७।।

> उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाइवती। स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मसूयाय कल्पते॥ ६८॥

(विप्रस्य उत्पत्तः + एव) ब्राह्मण का जन्म होना ही (धर्मस्य शाश्वती मूर्तिः) धर्म की शाश्वत मूर्ति के रूप में है प्रयति उसका शरीर ही मानो धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति है (हि) क्योंकि (सः धर्मार्थम् + उत्पन्नः) वह धर्म-वृद्धि के लिए उत्पन्न होकर (ब्रह्मभूयाय कल्पते) मोक्ष-प्राप्ति के योग्य बनता है।। ६८।।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृषिव्यामधिजायते । र्ं ईदेवरः सर्वेमूताना धर्मकोद्यस्य गुप्तये ॥ ६६ ॥

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जायमानः हि) पैदा होते ही (पृथिव्याम् + ग्रिषजायते) पृथिवी पर सबसे बड़ा होता है, क्योंकि (सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये) सब प्राणियों के धर्मरूप खजाने की रक्षा करने के लिए (ईश्वरः) वही समयं है ॥ ६६॥

सर्वे स्वं ब्राह्मणस्येवं यत्भिचिष्णगतीगतम् । अव्ययनामिजनेनेवं सर्वं वे ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १००॥

(जगतीगतं यत् किंचित्) ससार भर में जो भी कुछ है (इद सब बाह्मणस्य स्वम्) यह सब बाह्मण का ही घन है (श्रेष्ठ्येन + श्रभिजनेन) सब वर्णों में श्रेष्ठ श्रौर पूर्वोत्पन्न होने से बड़ा होने के कारण (इद सब) इस सब घन का (व) निश्चय से (बाह्मण: + श्रहेंति) बाह्मण श्रधिकारी है॥ १००॥

स्वमेव बाह्याणी भुङ्कते स्वं वस्ते स्वं वदाति च । ब्रानुवांस्याद् बाह्याणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

[सभी घन बाह्मए। का होने के कारण] (ब्राह्मणः स्वम् + एव भुङ्क्ते) ब्राह्मण ग्रपना ही खाता है (स्व वस्ते) ग्रपना ही पहनता है (च) ग्रौर (स्वम् ददाति) ग्रपना ही दान करता है (इतरे जनाः हि) दूसरे लोग तो (ब्राह्मणस्य प्रान्शंस्यात् मुञ्जते) ब्राह्मण की दया के कारण ही सब पदार्थों का भोग करते हैं।। १०१।।

इस शास्त्र की रचना का प्रयोजन---

# तस्य कर्मविवेकार्यं शेवारणामनुपूर्वशः। स्वायम्भुवो मनुर्घोमानिवं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

(तस्य) उस ब्राह्मण के (ग्रनुपूर्वशः शेषाणाम्) ग्रीर क्रमशः शेष वर्णों— क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के (कर्मविवेकार्थम्) कर्मों के ज्ञान के लिए (स्वायम्भुवः घीमान् मनुः) ब्रह्मा के पुत्र बुद्धिमान् मनु ने (इदंशास्त्रम्श्रकल्पयत्) इस मनुस्मृति शास्त्र को बनाया है।। १०२।।

> विदुषा बाह्यस्पेनेदमध्येतंभ्यं प्रयत्नतः। शिष्येम्यश्च प्रवस्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित्।। ८०३॥

(विदुषा ब्राह्मणेन) विद्वान् ब्राह्मण को (इदं प्रयत्नतः ग्रघ्येतव्यम्) इस शास्त्र का प्रयत्नपूर्वक ग्रघ्ययन करना चाहिए (च) ग्रीर (शिष्येम्यः सम्यक् प्रवक्तव्यम्) शिष्यों के लिए ग्रच्छी प्रकार उपदेश करना चाहिए (ग्रन्येन केनचित् न) ग्रन्य किसी वर्णं के व्यक्ति को इसका प्रवचन नहीं करना चाहिए॥ १०३॥ इस शास्त्र के ग्रध्ययन का फल—

> इवं शास्त्रमधीयानो बाह्याणः शंतितवतः । मनोवाग्देहर्जनित्यं कर्मदोषैनं लिप्यते ॥ १०४ ॥

(इदं शास्त्रम् + मधीयानः) इस शास्त्र को पढ़ता-पढ़ाता हुन्ना (शंसितव्रतः व्राह्मणः) श्रेष्ठ व्रताचरण करने वाला ब्राह्मण (नित्यं) कभी भी (मनः + वाक्-देहजैं: कर्मदौषैं:) मानसिक वाचिक श्रीर शारीरिक कर्मदौषों से (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता॥ १०४॥

पुनाति पक्ति वंदयांश्च सप्त-सप्त-पराचरान्। पृथिवीमपि चैवेमां इत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति।। १०४॥

[इस शास्त्र को पढ़ने-पढ़ाने वाला बाह्यण] (पंक्तिम्) श्राद्ध की पंक्ति को (च पर + अवरान् सप्त-सप्त वंश्यान्) और आने वाली पुत्र-प्रपौत्र आदि, पहली पिता-दादा आदि सात-सात पीढ़ियों को (पुनाति) पवित्र करता है (च) और (इमां कृत्स्नां पृथिवीम् + अपि) इस सम्पूर्ण पृथ्वी को भी (सः एकः + अपि आईति) वह अकेला पाने का अधिकारी बन जाता है ॥ १०४॥

इवं स्वस्त्ययनं श्रोष्ठिमिवं बुद्धिविवर्षमम् । इवं यशस्यमायुष्यमिवं निःश्रोयसं परम् ॥ १०६ ॥ (इवं स्वस्त्ययनम्) यह शास्त्र कल्याण करने वाला है (इवं श्रोष्ठं बुद्धि- विवर्धनम्) यह बुद्धि बढ़ाने वाला श्रेष्ठ साधन है (इदं यशस्यम् + ग्रायुष्यम्) यह यश बढ़ाने वाला, ग्रायु देने वाला है (इदं निःश्रेयसं परम्) यह मोक्ष प्राप्त कराने में परम श्रेष्ठ साधन है ॥ १०६॥

इस शास्त्र का प्रतिपाद्य---

#### अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् । चतुर्णामपि वर्णानामाचारक्वेव शाक्वतः ॥ १०७ ॥

(ग्रस्मिन्) इस मनुस्मृति शास्त्र में (ग्रिखिलेन धर्मः) संपूर्ण धर्म को (च) श्रौर (कर्मणां गुणदौषी) कर्मों के गुण-दोषों को (च) तथा (चतुर्णाम् + ग्रिप वर्णानां शास्त्रतः श्राचारः) चारों वर्णों का सनातन ग्राचार-व्यवहार (उक्तः) कहा गया है ॥ १०७॥

अर न्यू टर्री टंडन्ड: इन क्लोकों में पक्षपातपूर्ण ढंग से ब्राह्मण की अयुक्ति-पूर्ण निराधार प्रशंसा की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ये १२ से १०७ तक के क्लोक निम्न ग्राधारों की कंसीटी पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगिवरोध---(१) १। ४२ वां ब्लोक प्रसंगका संकेत देने वाला ब्लोक है, ग्रीर १।१४४ वां इलोक इस ग्रध्याय के विषयों का संकेत देता है। इन दोनों श्लोकों से इस ग्रध्याय का वर्ण्यविषय ग्रीर उसका क्रम निश्चित हो जाता है। ४९ वें क्लोक में—विवक्षित कर्मचर्चा के प्रसंग को मध्य में ही छोड़कर पहले शेष सृष्ट्युरपत्ति सम्बन्धी बातों की जानकारी देने का कथन है; ग्रौर उसके बाद कर्मचर्चा को पूर्ण करने का संकेत है। तदनुसार ८० इलोक तक सुष्टि-सम्बन्धी जानकारी देकर ८७ से ६१ श्लोकों में कर्मों की सुब्टि का वर्णन किया है। ग्रब इसके बाद धर्मसम्बन्धी वर्णन ही होना चाहिए। क्योंकि, १४४ वें क्लोक में इस ग्रध्याय के केवल दो ही विषय संकेतित हैं—सृष्ट्युत्पत्ति और धर्मोत्पत्ति । तदनसार ६१ वें इलोक में कर्मोत्पत्ति-कथन के साथ सृष्टि-उत्पत्ति विषय का वर्णन पूर्ण हो जाने पर धर्मसम्बन्धी प्रसंग शुरू होनाचाहिए, जो १०५ से प्रारम्भ हुमा है, और १। १२० में इस प्रसंग को संकेतपूर्वक प्रारम्भ किया गया है। ये दोनों विषय परस्पर सम्बद्ध विषय हैं, ग्रतः उसी सम्बद्धता के क्रम से इन्हें रला गया है। ६२ से १०७ ब्लोकों में विश्वित ब्राह्मण की महिमा [६२—१०५] स्रीर शास्त्र की महिमा [१०६-१०७] की चर्चाए उक्त श्लोकों में संकेतित क्रम को भंग कर रही हैं। उक्त संकेतक ब्लोकों में इनके प्रसंग का कोई उल्लेख भी नहीं है। स्रतः पूर्वापर कर्म-धर्म के प्रसंग से ग्रसम्बद्ध होने के कारण ये श्लोक ग्रसंगत ग्रीर प्रक्षिप्त हैं।
  - (२) प्रसंग की पूर्वापर क्रमबद्धता भी द्रष्टव्य है। ५७—६१ क्लोकों में वर्णों के कमों का उल्लेख है और कर्मोल्लेख करके १०५—११० क्लोकों में तदनुसारी प्राचरण को ही परम धर्म कहा है। इस प्रकार पूर्वापर क्लोक प्रसंग श्रोर वर्णनर्शेली की एक क्रमबद्धता से जुड़े हैं। इन [६२—१०७] क्लोकों ने उस क्रमबद्धता को तोड़ दिया है, श्रोर बाह्मण तथा शास्त्र-महिमा की श्रसंगत एवं पूर्वापर प्रसंग की डिब्ट से

म्रनावश्यक बातों का वर्णन किया है। म्रतः पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध होने के कारण भी ये प्रक्षिप्त हैं।

- (३) १०२ से १०७ श्लोकों में—इस शास्त्र को पढ़ने के प्रधिकारी, शास्त्र की महिमा, इस शास्त्र में क्या विणित है, ग्रादि चर्चाएं हैं। वर्णन की दिष्ट से ये बातें या तो ग्रन्थ के प्रारम्भ में होती हैं या अन्त में, किसी भी प्रसंग को तोड़ कर बीच में नहीं। मनुस्मृति का प्रारम्भ ग्रीर अन्त इस प्रकार की शैली में है कि न तो वहां इन चर्चाग्रों को अवसर ही मिल सकता है, ग्रीर न ये रचियता का ग्रभीष्ट सिद्ध करतीं हैं। वहां इनका प्रक्षेप सम्भव नहीं हुग्रा, ग्रतः प्रक्षेपकर्ता ने यहां प्रसंग को तोड़ कर उक्त चर्चाग्रों का उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार इनका स्थानभ्रष्ट वर्णन ही इन्हें ग्रग्रासङ्गिक सिद्ध करता है। इन प्रसंगिवरोधों के ग्राधार पर ये ६२—१०७ श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।
- २. विषय-विरोध—१।१—४ श्लोकों से प्रारंभ किये गये विषय का समा-पन करते हुए मनु १।१४४ में कहते हैं—'यह धर्म की उत्पक्ति ग्रौर सम्पूर्ण जगत् की उत्पक्ति मैंने कही'। स्पष्ट है कि—जब मनु ने ग्रपने विषय की एक सीमा निश्चित कर दी है ग्रौर उसका संकेत भी कर दिया है, तो इस परिधि के श्लोकों में उक्त दोनों विषयों से सम्बद्ध वर्णन ही होना चाहिए; तभी वे विषयसंगत कहलायेंगे। इन श्लोकों के वर्णन उक्त दोनों विषयों से ग्रसम्बद्ध हैं, अतः विषय-विश्व होने से ये प्रक्षिप्त हैं।
- ३. शैलीगत आधार—(१) १०२ से १०७ श्लोकों में मनुस्मृति की एक पूर्वनिबद्ध शास्त्र के रूप में प्रशंसा है और मौलिक रूप में उसे 'शास्त्र' संज्ञा से व्यवहृत
  किया है। मनुस्मृति की शैली से यह सिद्ध होता है कि यह अपने मौलिक रूप में न तो
  कोई निबद्धशास्त्र था और न इसके लिए मनुद्धारा 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार ही करने
  का अवसर था (इसके लिए देखिए १।५८-६३ श्लोकों पर 'अन्तिवरोध' में समीक्षा—
  'ख')। मनुस्मृति अपने मूंलरूप में प्रवचन था, इस प्रकार न तो यह शास्त्र था,और न
  मौलिक रूप से प्रवचनों में इसे शास्त्र कहकर पुकारा या प्रशंसित किया जा सकता था।
  प्रवचनों के सङ्कलन के पश्चात् शास्त्ररूप में निबद्ध होने के पश्चात् ही मनुस्मृति से
  सम्बद्ध इस प्रकार के श्लोक मिलाये गये हैं जिनमें इसकी शास्त्ररूप में प्रशंसा है, या
  'शास्त्र-संज्ञा' का व्यवहार है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'शास्त्र' प्रयोग वाले ये श्लोक
  परवर्ती प्रक्षेप हैं। शेष पूर्व के ६२—१०१ श्लोक भी इनसे सम्बद्ध हैं और इनकी भूमिका
  हैं [१०२ से सिद्ध], अतः इनके प्रक्षिप्त सिद्ध होने से वे भी स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो
  जाते हैं।
- (२) मनुकी यह शैली है कि वे जिस किसी विषय या प्रसङ्ग को प्रारम्भ करते हैं तो उसके प्रारम्भ, अन्त अथवा दोनों स्थानों पर उसके कथन का संकेत देते हैं। इस शैली के ग्राधार पर यह कहा जा सकता है कि विना संकेत के जो प्रसङ्ग हैं, वे मनुकृत नहीं हैं। इन श्लोकों का प्रसङ्ग भी ऐसा है जिसके प्रारम्भ या अन्त में ग्रारम्भ या समापन का कथन नहीं है। अतः ये मनुकी शैली के नहीं हैं।

- (३) मनुस्मृति की प्रवचन शैली है। इसमें सभी प्रसङ्ग क्रमशः शृह्वलाबद्ध हैं। इस शैली में न तो विषयसूची का ही कहीं प्रसङ्ग ग्रा सकता है ग्रीर न मूलरूप में उसकी कोई विषयसूची बन सकती है। १०७ वें श्लोक में जो विषयों का उल्लेख है, यह परवर्तीकाल में डाला गया है।
- (४) इस प्रसङ्ग में ६२ से १०१ श्लोकों में ब्राह्मण की महिमा क:, १०२ से १०६ में मनुस्मृति की शास्त्ररूप में महिमा का प्रसङ्ग चलाया है। इस प्रकार महिमा का लम्बा प्रसङ्ग चलाने की शैली मनु की नहीं है, वे केवल ग्रर्थवाद रूप में ही संक्षिप्त पद्धति से प्रशंसा या निन्दा करते हैं।
- (५) इस प्रसङ्ग के ६४-६५ (देवों-पितरों द्वारा ब्राह्मण के मुख से हव्य, कव्य भक्षण करना), १०५ (सात-सात पिछली-ग्रगली पीढ़ियों को पिवत्र करना) श्लोकों की शैली ग्रयुक्तियुक्त ग्रौर निराधार है; ६८, १००, १०४, १०५, १०६ की ग्रतिशयो-क्तिपूर्ण तथा ६४, ६५, ६६, १००, १०१, १०३ श्लोकों की शैली पक्षपात से प्रेरित है। मनु की शैली में ये त्रुटियाँ नहीं हैं।
- (६) १०२ में "स्वायंभुवो मनुर्थोमानिवं शास्त्रमकत्यत्" प्रयोग से स्पष्ट है कि इसका रचियता कोई मनु से भिन्न व्यक्ति है। ग्रतः यह मनुकृत न होने से प्रक्षिप्त है, शेष इससे सम्बद्ध होने से स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेंगे।
- ४. घन्तिवरोष—(१) इन क्लोकों में जन्मना वर्णव्यवस्था का वर्णन है जबिक मनु की मौलिक मान्यता कर्मणा वर्णव्यवस्था मानने की है। विशेषकर ६८, ६६ क्लोकों में तो उत्पन्न होते ही ब्राह्मण को विशिष्ट व्यक्ति मान लिया है। इस जन्मना वर्णव्यवस्था का मनु से निम्न प्रकार विरोध ग्राता है—

# मनुस्मृति में वर्णव्यवस्था कर्मानुसार है—

(क) यदि मनु जन्म से ही किसी वर्ण को श्रेष्ठ या ग्रश्नेष्ठ मानते तो उन्हें वर्णों के कमों का निश्चय करने की ग्रावश्यकता नहीं थी, क्यों कि जो व्यक्ति जन्म के ग्राधार पर ही श्रेष्ठ या ग्रश्नेष्ठ माना जा रहा है तो वह वैसा ही रहेगा, चाहे कर्म करे या न करे। यतो हि शैशवावस्था ग्रीर कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए प्रतिपादित कर्मों को नहीं करता है, ग्रापतु बहुत बार तो ग्रजान में विरोधी कर्म भी कर देता है। जह उस अवस्था के जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति व्यक्ता जा रहा है। इन जल उस अवस्था के जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति व्यक्ता जा रहा है। इन वा वाहिए। लेकिन मनुस्मृति के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्था ग्रोर वर्णों के लिए कर्मों के निश्चय से यह स्पष्ट होता है कि मनु धर्म-ग्रधमं, कर्म ग्रीर व्यवस्था ग्रों से ही वर्णाव्यवस्था या व्यक्ति की श्रेष्ठता मानते हैं, जन्म से नहीं। यदि जन्म से ही श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया जाये तो मनुस्मृति की सम्पूर्ण कर्मव्यवस्था ही व्यर्थ हो जायेगी। कोई पालन करे या न करे व्यवस्था ग्रों का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा, क्यों कि जनका श्रेष्ठत्व ना जन्म से निर्धारित हो ही चुका। लेकिन मनु ने कर्म के जनका श्रेष्ठत्व-ग्रश्नेष्ठत्व तो जन्म से निर्धारित हो ही चुका। लेकिन मनु ने कर्म के

म्राधार पर वर्णव्यवस्था मानी है। निम्न इलोकों में उनकी म्रत्यधिक स्पष्ट घोषणा द्रष्टव्य है—

#### शूद्रो बाह्यस्तामेति बाह्यस्वरचेति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तयेव च ॥ १०।६५ ॥

श्रयात्—श्रेष्ठ-श्रश्रेष्ठ कर्मों के अनुसार शूद्र ब्राह्मण श्रीर ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अर्थात् गुराकर्मों के अनुकूल कोई ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्र के घर उत्पन्न भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है श्रीर जो उत्तम गृण-युक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैश्य हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय श्रीर वैश्य का भी वर्ण-परिवर्तन समक्षना चाहिए।

- (ख) अपने धमं-कमों को पालन न करने पर कोई भी व्यक्ति शूद्र वन जाता है, ऐसा मनु का मत है। यथा—(अ) वेद न पढ़ने पर द्विज शूद्रता को प्राप्त करता है (योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते अमम्। स जीवन्नेव शूद्रवमाशु गच्छिति सान्वयः।। २।१६८)। (आ) संध्योपासना न करने वाला व्यक्ति शूद्रवत् होता है (न तिष्ठिति तु यः पूर्वा नोपास्ते यदच पित्वमाम्। स शूद्रवत् बहिष्कायः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः॥ २।१०३)। (इ) यथोक्त आगुसीमा तक उपनयन में दीक्षित न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति 'त्रात्य' संजक शूद्र कहलाते हैं [२।३७-४०]। (ई) नीचों की संगति से बाह्यण शूद्रता को प्राप्त करता है (उत्तमानुत्तमानाष्ट्यन् होनान् हीनांदच वर्जयन्। बाग्रणः अंदितानेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्।। (४।२४५)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न तो मनु ने व्यक्ति को जन्म से ही श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ माना है और न जन्मना आधार पर वर्णव्यवस्था मानी है, यदि जन्मना इनका निर्धारण होता तो उक्तरूप से वे निम्न न बनते।
- (ग) इसके साथ ही शूद्रता को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है और श्रुटियों के लिए प्रायश्चित्त कर लेता है, तो वह पुनः अपने वर्ण का हो सकता है। मनु ने यह मान्यता, 'वात्य' सज्ञक शूद्रों के लिए और वर्णविरुद्ध कार्यों के कारण बाह्मण-वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में प्रकट की है [११। १६१ –१६६]। इस व्यवस्था से भी मनु की वर्णव्यवस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है।
- (घ) मनुने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और बड़प्पन गुणों की योग्यता के आधार पर माना है [२।१३६,१३७,१४४,१४६]। मनुकी यह मान्यता भी यह स्पष्ट करती है कि मनुजन्म के आधार पर श्रेष्ठता या उच्चता अथवा वर्णव्यवस्था नहीं मानते, अपितु कर्मया गुणों को ही आधार मानते हैं।
- (ङ) मनुने वर्गों के कमं बतलाते हुए "लोकानां त्रिवृद्धधर्षम्" (समाज की वृद्धि के लिए १।३१) धौर "सर्वस्थास्य तु गुप्स्थर्षम्" (इस समस्त जगत् की सुरक्षा के लिये २।८७) को कर्मनिर्धारण का कारण बतलाया है। इन कारणों पर विशेष ध्यान

देने पर यहां यह स्पष्ट मान्यता प्रकट हो जाती है कि मनु कमों के आधार पर ही वर्ण-व्य-वस्था मानते हैं, जन्म के अनुसार नहीं। क्योंकि, यदि जन्म से ही व्यक्ति श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, उच्च-निम्न निर्धारित हो गये तो उससे समाज या जगत् की क्या वृद्धि होगी? केवल उच्च लोगोंकी ही वृद्धि होगी। श्रिपतु वृद्धि भी कहां होगी, जो जिस स्तर का होगा वहीं रहेगा। उसे अपने स्तर की उन्नित का अवसर ही कहां मिलेगा? यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानें तो इन कारणों का कथन निर्धंक होगा। इन कारणों के कथन से एक और संकेत मिलता है—वह यह कि चार वर्णों के अनुसार प्रजाए नहीं बनायीं, श्रिपतु प्रजाओं की वृद्धि के लिये (प्रजाओं के लिये) चार वर्ण बनाये, अर्थात् पहले प्रजायें बनीं, जो जन्मना समान थीं, फिर उनमें से गुण कर्मानुसार चार वर्ण निर्मित किये गये, जिससे समाज-व्यवस्था में बंधकर वृद्धि करता रहे। इस प्रयोगपद्धित से भी कर्मणा वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है।

(च) (१) 'वर्ण' शब्द का अर्थ और ब्युत्पत्ति ही यह सिद्ध करते हैं कि मनु की ब्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा है। निरुक्त में 'वर्ण' शब्द की ब्युत्पत्ति दी है...'वर्णों वृग्गोते:' (२।१।४) अर्थात् कर्मानुसार जिसका वरण किया जाये,वह 'वर्ण' है। इस पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने भी स्पष्ट किया है--

"वर्णो वृत्णोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वरत्णीया वरीतुमहीः
गुत्गकर्मात्ति च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्ताः।"
(ऋ० भा० भू० वर्णाश्रमधर्मविषय)

ग्रर्थात् — गुण-कर्मों को देलकर यथायोग्य ग्रधिकार जिसको दिया जाये वह वर्ण है।

- (२) वर्णों के नाम उनके कर्मानुसार ही रक्षे गये हैं। नामों की ब्युदात्ति स्वयं उनके कर्मों का बोध कराती है (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १। ८७–६१ श्लोकों पर देखिए)।
  - (३) ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मणा वर्णव्यवस्था के स्पष्ट वर्णन मिलते हैं। यथा---
  - (म्र) सः (क्षत्रियः) ह दीक्षमाण एव बाह्यणतामम्युरैति।" (ऐ० ७।२३) क्षत्रिय दीक्षित होकर ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।
- (ग्रा) ''तस्मादपि (दीक्षितम्) राजन्यं वा वैदयं वा बाह्यए। इत्येव बूयात्, बाह्यणो हि जायते यो यज्ञाज् जायते ।।'' (शत०३।२।१।४०)

चाहे कोई क्षत्रियपुत्र हो ग्रथवा वैश्यपुत्र, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करके (उपनयन-संस्कार में) वह ब्राह्मण ही कहलाता है, ग्रथित ब्रह्मचयित्रम में वेदाघ्ययन के समय यज्ञ में दीक्षित होकर सभी व्यक्ति ब्राह्मण कर्म वाले होते हैं। वाद में कर्मानुसार क्षत्रिय ग्रीर वैश्य वनते हैं।

(छ) मनु कर्मणा वर्णं व्यवस्था मानते हैं, इसमें ग्रन्य प्रमाण भी हैं-(क) जूद

को वे हीन नहीं मानते प्रिपतु 'शुचिः' = पिवत्र 'उत्कृष्ट शुश्रूषु' प्रादि निशेषणों से सम्बोधित करते हैं [६।३३४]। सबके घरों में सब प्रकार की सेवा करने वाला भला प्रपिवत्र, प्रञ्जूत, या हीन कैसे हो सकता है ? (ख) मनु व्यक्ति को शूद्र इसलिए मानते हैं कि वह पढ़ता नहीं। उसका वेदाघ्यम रूपी दूसरा ब्रह्मजन्म नहीं होता। ब्राह्मण् क्षत्रिय—वैश्यों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका ब्रह्मजन्म रूपी दूसरा जन्म होता है—'द्विजायते इति द्विजः। शूद्र को 'एकजातिः' न पढ़ने के प्राधार पर कहा जाता है। देखिए प्रमाण् —''ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णाः द्विजातयः। चतुर्य एकजाति-स्तु शूद्रः नास्ति तु पंचमः॥' १०।४॥ (ग) मनु कर्मों के प्राधार पर मनुष्यों के दो वर्ग मानते हैं—(१)जो श्रेष्ठ धर्मानुकूल स्नार्य परम्पराग्नों में दीक्षित हैं वे चारों वर्ण स्नायं हैं। (२) इनमें स्नदीक्षित शेष सब दस्यु हैं [१०।४४]। (घ) मनु कर्म के स्नाधार पर ही व्यक्ति को श्रेष्ठ = स्नार्य मानते हैं। १०। ५७-५६ में वे कर्मों के स्नाधार पर इनकी पहचान करने को कहते हैं। ये सब बातें मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था की मान्यता को सिद्ध करती हैं।

- (ज) १। ३१ में भी मनु ने अपनी 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' की मान्यता का संकेत दिया है।१।१६,२३,२६—३० इलोकों के द्वारा यह कहा जा चुका कि एकसाथ अनेक प्रजाएं उत्यन्त हुईं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद आदि के रूप में प्रजाएं उत्यन्त नहीं हुई, अपितु समान मनुष्यों के रूप में हुई। फिर उन बहुत सारे मनुष्यों में से समाज की वृद्धि के लिए, एक व्यवस्था के रूप में चार वर्णों का मुख, बाहु, जंघा और पैर की साम्यता से (गुणकर्मानुसार) निर्माण किया। १। ३१ में आलंकारिक रूप में यह कथन है। उक्त अंगों का जो स्थान और कार्य शरीर में है, समाज में वही स्थान क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ध का बनाया। इस प्रकार योग्यता के आधार पर लोगों को चार वर्णों में विभक्त करके उनके कर्म भी योग्यतानुसार निश्चित किये। यह वर्णनक्रम (अनेक प्रजाओं की उत्यत्ति और फिर उनमें वर्णव्यवस्था) और आलंकारिक कथन कर्मानुसार वर्णव्यवस्था का संकेत देता है। इन अनेक प्रमाणों से 'कर्म णा वर्णव्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता सिद्ध होती है, अतः इसकी विरोधी 'जन्मना वर्णव्यवस्था' वाली मान्यता अन्तर्विरोध के आधार पर प्रक्षित्त कहलायेगी। [इस मान्यता के विषय में १। ३१,८७–६१॥ २। ११॥ १०। ६५ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।]
- (२) ६४ वें इलोक में ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति कही है। ६३ में भी उसे 'उत्तमाङ्गोद्भव' कहा है तथा ६२ में भी ब्रह्मा की चर्चा है। ब्रह्मा का प्रसङ्ग मौलिक नहीं है। इस प्रसङ्ग का मनुस्मृति की मान्यताओं से अनेक प्रकार से विरोध है। (इसके लिये द्रष्ट्रव्य हैं—१।७-१३, ३२-४१, ५०-५१ दलोकों पर समीक्षा) इस प्रकार ये तीनों इलोक भी प्रक्षिप्त हैं, और शेष प्रसङ्ग इनसे सम्बद्ध होने के कारण स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जायेगा।
  - (३) इसी प्रकार ६४-६५ में पितरों को पृथक् योनि विशेष के रूप में मानना

भी मनु-विरोधी मान्यता है (इसके लिये विस्तृत समीक्षा देखिये—३।११६—२८४ इलोकों पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक) इस ग्रन्तिवरोध के कारण ६४-६५ इलोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।शेष पूर्वापर प्रसङ्ग इनसे सम्बद्ध होने के कारण स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेंगे।

(४) १०५ वें श्लोक में पूर्वापर सात-सात पीढ़ियों की पिवत्रता मानी है। इसका ४१२४० की मान्यता से विरोध है, क्यों कि वहां कर्त्ता को फल का भोक्ता स्वयं माना है। श्रीर यदि एक व्यक्ति मनुस्मृति को पढ़कर पूर्वापर सात-सात पीढ़ियों को पिवत्र कर लेता है तो फिर ग्रगली सात पीढ़ियों को मनुस्मृति पढ़ने की क्या ग्रावश्य-कता है? उनका जीवन तो उस एक ग्रध्येता ने पिवत्र कर ही दिया। इस ग्रन्ति रोध के कारण १०५ वां श्लोक प्रक्षिप्त है। शेष पूर्वापर श्लोक इससे सम्बद्ध हैं, ग्रतः साथ की रचना होने से वे भी स्वतः प्रक्षिप्त कहे जायेंगे।

# (धर्मोत्पत्ति विषय की भूमिका)

(१। १०८ से ११० तक)

सदाचार परम धर्म-

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मातं एव च । तस्मावस्मिन्सवा युक्तो नित्यं स्यावात्मवान्द्विजः ॥१०८॥ (४४)

(श्रुत्युक्तः च स्मार्तः + एव) वेदों में कहा हुआ श्रीर स्मृतियों में भी कहा हुआ जो (ग्राचारः) ग्राचरण है (परमः धर्मः) वही सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं, (तस्मात्) इसीलिए (ग्रात्मवान् द्विजः) ग्रात्मोन्नति चाहने वाले द्विज को चाहिए कि वह (ग्रस्मिन्) इस श्रेष्ठाचरण में (सदा नित्यं युक्तः स्यात्) सदा निरन्तर प्रयत्नशील रहे ॥ १०८॥

उपरोक्त श्लोक देकर स्वामी जी ने निम्न मर्थ दिया है-

'कहने सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद श्रीर वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का ग्राचरण करना। इसलिये धर्मा-चार में सदा युक्त रहे।" (स॰ प्र० ४२)

"जो सत्य-भाषण।दि कर्मों का स्राचरण करना है, वही वेद स्रौर स्मृति में कहा हुस्रा स्रांवार है।" (स॰ प्र॰ २६०)

श्राचारहीन को वैदिक कर्मों की फलप्राप्ति नहीं---

म्राचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमझ्नुते । म्राचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलमाग्भवेत् ॥ १०६ ॥ (५६) (म्राचारात् विच्युतः विप्रः) जो धर्माचरण से रहित [द्विज] है वह (वेदफल न ग्रश्नुते) वेद-प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, ग्रीर जो (ग्राचारेए तु संयुक्तः) विद्या पढ़के धर्माचरएा करता है, वही (सम्पूर्णफलभाक् भवेत्) सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ।। ४०६ ॥ (स० प्र० ५२)

अन्यु श्री त्य . १०६ इलोक की सन्यत्र पुष्टि — ऋषियों की मान्यताएं श्रृङ्खलावत् एक संगति में जुड़ी होती हैं और वे प्रसङ्गवश, उन वचनों की पृष्टि स्वयं कर देते हैं। मनु ने इस क्लोक की मान्यता की पृष्टि प्रन्य क्लोकों में भी की है। उनसे इसकी व्याख्या पर भी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए इस क्लोक के भाव का ग्रन्य क्लोकों में स्पष्टीकरण—

- (क) यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्ववा। स व सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।। १।१३४ [२।१६०]।।
- (ल) वेदास्त्यागात्रव यज्ञात्रच नियमात्रच तपांसि च। न वित्रदुष्टमावस्य सिद्धि गच्छन्ति कहिचित्।। २।७२ (२।६७)।।

इन श्लोकों में उक्त वेद और वेदोक्त कर्मों में प्राचरणहीन व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती, ग्राचारवान् को मिलती है। इस प्रकार सदाचार से ही धर्म में गित होती है। सदाचार धर्म का मूल है—

एवमाचारतो हृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥ ११०॥ (५७)

(एवम्) इस प्रकार (म्राचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य) धर्म की (गतिम्)प्राप्ति, सिद्धि एवं म्रिभवृद्धि (दृष्ट्वा)देखकर (मुनयः) मुनियों ने (सर्वस्य तपसः परं मूलम्) सब तपस्याम्रों का श्रेष्ठ मूल ग्राघार (म्राचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है।। ११०।।

मनुस्मृति की ग्रव्यायानुसार विषय-सूची-

जगतक्च समुत्पांत संस्कारविधिमेव च। वतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥ दाराधिगमनं चैवं विवाहानां च लक्षणम् । महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च जाक्वतम् ॥ ११२ ॥ वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च। मक्ष्यामक्ष्यं च ज्ञोचं च ब्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥ स्त्रीधमंयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च। राजश्च धमंमिललं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥ साक्षिप्रक्रविधानं च धमं स्त्रीपुंसयोरिप । विमागधमं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११४ ॥ वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संमवम् । भ्रापद्धमं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधि तथा ॥ ११६ ॥ संसारगमनं चैव विविधं कर्मसंमवम् । निःश्रोयसं कर्मणां च गुण्यशेषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥ देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मां श्च शाश्वतान् । पाखण्डगण्यमांश्च शास्त्रोऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

- (च) और (जगतः समुत्पत्तिम्) जगत् की उत्यक्ति [प्रथम ग्रध्याय में]; (संस्कार विधिम् + एव) संस्कारों की विधि (ज्ञतचर्या) ब्रह्मचारी के व्रतों की विधि (उपचारम्) गुरुसेवा, ग्रभिवादन ग्रादि शिष्टता के व्यवहार [द्वितीय ग्रध्याय में]; (च) ग्रीर (स्वानस्य पर विधिम्) स्नान समावर्तन संस्कार की श्रेष्ठ विधि, (दाराधिगमनम्) विवाह के लिए स्त्री-प्राप्ति (च) ग्रीर (विवाहानां लक्षणम्) विवाहों के लक्षण (पञ्च- यज्ञविधानम्) पाँच यज्ञों का विधान (शाश्वत श्राद्धकल्पम्) श्राद्ध की सनातनिविधि [तृतीय ग्रध्याय में]; (वृत्तीनां लक्षणम्) वृत्तियों के लक्षण (च) तथा (स्वातकस्य व्रज्ञानि) स्नातक ग्रहस्थियों के त्रत [चतुर्यं ग्रध्याय में]; (च) ग्रीर (भक्ष्याभक्ष्य शौचं द्रव्याणां शुद्धः) भक्ष्याभक्ष्य, शरीरशुद्धि, द्रव्यों की शुद्धि; (स्त्रीधमंयोगम्) स्त्रियों के धर्म [पञ्चम ग्रध्याय में]; (तापस्य सन्यास मोक्षम् एव) वानप्रस्थ, सन्यासियों के धर्म एवं मोक्षविधान [पष्ठ ग्रध्याय में];
- (च) ग्रीर (राजः ग्रस्तिल धर्मम्) राजा के सभी धर्म [सप्तम ग्रध्याय में]; (कार्याणां विनिर्णयम्) ग्रभियोगों के फैसले, (सिक्षप्रश्निवधानम्) गवाहों से प्रश्न पूछने की विधि [ग्रष्टम ग्रध्याय में]; (स्त्रीपु सयोः ग्रपि धर्मम्) स्त्री-पुरुषों के धर्म (विभाग-धर्मम्) दायभाग के बटवारे के नियम (द्यूतम्) जुए का वर्णन (कण्टकानां शोधनम्) चोर, डाकू ग्रादि लोककण्टकों का निवारण, (वैश्यशूद्रोपचारम्) वैश्यशूद्रों के व्यवहार [नवम ग्रध्याय में]; (च) ग्रीर (संकीणीनां संभवम्) वर्णसंकरों की उत्पत्ति (वर्णानाम् ग्रापद्धमम्) वर्णों के ग्रापत्कालीन धर्म [दशम ग्रध्याय में]; तथा (प्रायश्चित्तविधम्) प्रायश्चित्त करने की विधि [ग्यारहवें ग्रध्याय में]; (च) ग्रीर (कर्मसंभवं त्रिविधं संसार-गमनम्) कर्मों के ग्राघार पर तीन प्रकार की समार की गतियां (निःश्रथमम्) मुक्ति-वर्णन (कर्मणां गुणदोवपरीक्षणम्) कर्मों के गुण-दोषों की परीक्षा [द्वादश ग्रध्याय में]; (दशधर्मान्) देश के धर्मों को (शाश्वतान् जातिधर्मां कुलधर्मान्) सनातन जातिधर्मों एवं कुलधर्मों को (च) ग्रीर (पाखण्डगणधर्मान्) पाखण्डी लोगों के धर्मों को (मनुः) मनु ने (ग्रस्मिन् शास्त्रे उक्तवान्) इस शास्त्र में कहा है।। १११-११६।

आनुश्रीत्जनः मनुस्मृति की विषयसूची का प्रसंग निम्न 'ग्राधारों' के ग्रनुसार प्राक्षप्त है—

१. प्रसंगविरोध—(१) ये श्लोक पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध हैं । यहाँ पूर्व[१०८-११०] ग्रौर पश्चात् के [१२०–१४४] श्लोकों का प्रसंगंधर्मसम्बन्धी है । बीच में ये विषय-सूची से सम्बद्ध क्लोक उसे भंग कर रहे हैं और इनमें अप्रासंगिक वर्णन है; अतः प्रसंगिवरुद्ध होने से ये प्रक्षिप्त हैं। (२) यदि विषयसूची मौलिक होती तो इसे या तो ग्रन्थके श्रारम्भ में होना चाहिए था या ग्रन्त में, बीच में विषयसूची की कोई संगित सिद्ध नहीं होती। यह ग्रसंगतता भी इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध करती है। (३) इस प्रसंग के १११ वें क्लोक की ११० वें से ग्रीर ११८ वें की १२० वें से [११६ वां प्रक्षिप्त है] कोई संगित नहीं जुड़ती, जिससे ये प्रसङ्गक्रम से खण्डित लगते हैं, ग्रतएव मौलिक नहीं हैं।

- (४) वर्गनक्रम श्रीर भाषाशैली से यह प्रमग पूर्व श्लोकों [६२ से १०७] से जुड़ा हुग्रा है। १०७ वें श्लोक में विषयसूची प्रारम्भ की थी, पर क्योंकि उसमें श्राचार शब्द आ गया श्रीर १०८—११० श्लोकों में श्राचार का वर्णन है, स्रतः उनसे जोड़कर प्रक्षिप्तों को मौलिक सिद्ध करने के लिए उस विषयसूची को १०८—११० श्लोकों के पीछे कर दिया। लेकिन १११ श्लोकों की ११० से श्रृ खला बिल्कुल भी नहीं जुड़ पाई, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि इन १०८—११० श्लोकों का पूर्वापर श्लोकों से कोई सम्बन्ध नहीं है। १११ वें श्लोक के 'च' की श्रनुवृत्ति उसे १०७ से जोड़ रही है। इस प्रकार यह तथा पूर्व ६२—१०७ श्लोकों का प्रसंग मूल प्रसंगों को खण्डित करके मिलाया हुआ है, स्रतः ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. विषयविरोध—१। १-५ प्रारंभिक श्लोकों में मृष्टघुत्पत्ति का विषय प्रारम्भ करने से ग्रीर १।१४४ समाप्ति सूचक श्लोक के 'एवा वर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीतिता संभवश्वास्य सर्वस्य .....।।' कथन द्वारा यहां श्लोकों का विषय मृष्टघुर-पित्त ग्रीर धर्मोत्पत्ति सिद्ध होता है। इस सीमा में इत विषयों से सम्बद्ध श्लोक ही विषयसंगत कहलायेंगे, अन्य विरुद्ध होंगे। १११ से ११८ श्लोकों में मनु द्वारा संकेतित विषयों से असम्बद्ध वर्णन है, अतः ये विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।
- ३. द्रौलीगत ग्राधार—(१) मनुकी यह शैली है कि जब भी वे कोई विषय या प्रसंग प्रारम्भ करते हैं, उसके प्रारम्भ, ग्रन्त या दोनों स्थानों पर उसका संकेत देते हैं। इस विषयसूची के श्लोकों के प्रसंग के प्रारम्भ या ग्रन्त में कोई संकेत नहीं है। इस प्रकार ये मनुकृत नहीं है, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं।
- (२) मनुस्मृति की मौलिक शैली 'प्रवचन शैली' है। मनुस्मृति के सभी विषय और प्रसंग इसी शैली में हैं और वे पूर्वापर रूप से जुड़े हुए हैं। इस शैली में विषयस्ची का न तो मौलिक रूप से कथन हो सकता है और न कहीं मध्य में उसे अवसर या स्थान की गुंजाइश है। इस प्रकार विषयस्ची के कथन का इस शैली से ही तालमेल नहीं खाता। यह 'संकलन के पश्चात् किसी ने सुविधा की दृष्टि से रचकर मिला दी है।
- (३) ११८ वें श्लोक में मनुस्मृति के लिए 'शास्त्र' सज्ञा का प्रयोग है। मौलिक रूप से यह प्रयोग व्यवहृत नहीं हो सकता (देखिए—६२—१०७ श्लोकों पर 'शैलीगत आधार' शीर्षक में समीक्षा संख्या—१)। यह इस श्लोक को परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध करता है। इसके प्रक्षिप्त होने से इससे जुड़े हुए शेप सभी श्लोक भी स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो

जाते हैं इसी प्रकार (४) 'जनतवाग्मनुः' प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि यह श्लोक मनुसे भिन्न व्यक्ति द्वारा रचित है, ग्रतः मनुकृत न होने से प्रक्षिप्त है।

४. श्रन्सविरोध—(१) इन श्लोकों में प्रदिशत विषय-सूची का ग्रन्थ के वर्णन से तालमेल नहीं बैठता। इम प्रकार दोनों में विरोध धाता है— श्रध्यायक्रम से प्रोक्त विषयों का उल्लेख करके ११८ वें श्लोक में प्रदिशत विषय—देशों के धर्म, जातियों के धर्म (यदि जाति का श्रर्थ यहाँ 'वर्ण' लें तो वह भी नहीं बनता, क्यों कि वर्णधर्मों के कथन की चर्चा १०७ वें में श्रा चुकी), कुलों के धर्म, पाखण्डियों के धर्म, ये इस ग्रन्थ में हैं ही नहीं (२) एक ही विषय के श्रन्तगंत श्राने वाले प्रसंगों को विभिन्न विषयों के रूप में परिगण्तित किया गया है। जैसे—११५ वें श्लोक में विणित 'साक्षित्रश्नविधान', 'स्त्रीपुरुषधर्म', 'विभागधर्म', 'वूत' ये ११४ वें में प्रदिशत 'कार्यविनिर्णय' के श्रन्तगंत ही हैं, पृथक् नहीं हैं। (३) कुछ मुख्य विषयों श्रीर प्रसंगों का उल्लेख ही नहीं है, जैसे—प्रथमाध्याय में धर्मोत्पत्ति कां, द्वादश श्रध्याय में त्रिविध गतियों श्रीर धर्मनिश्चय विधि का। इस प्रकार ये त्रुटियाँ इस प्रसंग को मौलिक सिद्ध नहीं करतीं।

भृगु द्वारा इस शास्त्र का प्रवचन-

## यवेरमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुमंया । तथेदं यूयमप्यद्य मरसकाशान्तिबोधत ॥ ११६ ॥

[महर्षियों से भृगु मुनि कहते हैं—] (यथा) जैसे (पुरा मया पृष्टः मनुः इदं शास्त्रम् उक्तवान्) पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुक्ते इस शास्त्र का उपदेश किया था (तथा) वैसे ही (ब्रद्य) ब्राज (यूयम् + ब्रिप) ब्राप लोग भी (मत् सकाशात्) मुक्त से (निबोधत) सुनो ॥ ११६॥

अर्जुटरी टिन्स: प्रसिद्धि के लिये भृगु को मनुस्मृति के साथ जोड़ने के लिए इस क्लोक का प्रक्षेप किया गया है। यह निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगिवरोष—(१) पूर्वापर प्रसंग [१०८-११० ग्रौर १२०-१४४] धर्मसम्बन्धी चल रहा था, उसके बीच में इस कथन की कोई प्रासंगिकता ही नहीं थी। इसमें प्रसंगन्तरित चर्चा है, जिससे वह प्रसंग भंग हो जाता है। ग्रतः प्रसंगिवरुद्ध है। (२) इलोकोक्त कथन का यहां वैसे भी कोई प्रसंग नहीं है जिसके ग्राधार पर यह स्पष्टीकरण देना पड़े कि 'पहले मैंने मनु से जैसे सीखी थी, वैसे ही तुम भी इसे सुनो' ग्रादि। यह ग्रसंगत कथन ही इसे ग्रप्रासंगिक सिद्ध करता है।
- २. विषयविरोध—इलोकोक्त वर्णन इस प्रध्याय के विषयों से ग्रसम्बद्ध है, ग्रतः विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है (देखिए ६२—१०७ श्लोकों पर 'विषयविरोध' शीर्षक समीक्षा)।

- ३. शैलीगत ग्राधार -- 'यथेदम् उक्तवाञ्खास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया' प्रयोग स्पष्टतः मनुकृत न होकर ग्रन्यरचित है। इसी प्रकार मनुस्मृति में मनुस्मृति के लिए ही उक्त 'शास्त्र' संज्ञा परवर्ती प्रयोग है। यह भी इसे प्रक्षिप्त सिद्ध करता है। (द्रष्टब्य है ६२---१०७ क्लोकों पर 'शैलीगत श्राधार' क्षीर्षक में समीक्षा संख्या--१)
- ४. भ्रन्तिवरोध—(१) मनुस्मृति मनुप्रोक्त ही है, ग्रन्य प्रोक्त नहीं। इस श्लोक में भुगुप्रोक्त कहना उक्त मान्यता के विरुद्ध है (देखिए १। ५८--६३ श्लोकों पर 'ग्रन्तविरोध' शीर्षक पर समीक्षा संख्या—१)। (२) महर्षि लोग ग्राये तो थे मनु से प्रश्न पूछने श्रीर वह भी इसलिए कि वे इस विषय के विशेष ज्ञाता हैं [१।१--४] ग्रीर यहां उत्तर दे रहे हैं---भृगु । यह बेतुकी, परस्पर विरोधी कल्पना है ।

# धर्मोत्पत्ति विषय

(१। १२० से १४४ तक)

विद्वानों द्वारा सेवित धर्म का वर्णन-प्रारम्भ-

विद्वाद्भिः सेवितः सद्भिनित्यमद्वेषरागिभिः। हृदयेनाम्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१२०॥ [२।१] (५८)

(ब्रद्धेषरागिभि: सद्भि: विद्वद्भि: नित्यं सेवित:) जिसका सेवन रागद्वेषरहित [श्रेष्ठ] विद्वान् लोग नित्य करें (यो हृदयेन + ग्रम्यनुज्ञातः धर्मः) जिसको हृ इय ग्रथीत् ग्रात्मा से सत्य कत्तंव्य जाने वही धर्म माननीय ग्रीर करगीय है। अ

🕸 (तं निबोधत) उसे सुनो ॥ १२० ॥ (स० प्र० २५६)

''जिसको सत्पूरुष रागद्वेषरहित विद्वान् ग्रपने हृदय से ग्रनुकूल जानकर सेवन करते हैं, उसी पूर्वोक्त को तुम लोग धर्म जानो।"

(सं वि पृ ०१८४)

सकामता-ग्रकामता विवेचन---

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता । काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगस्य वैदिकः ॥१२१॥ [२।२] (५६)

(हि) क्योंकि (इह) इस संसार में (कामात्मता) श्रत्यन्त कामात्मता (च) ग्रोर (ग्रकामात्मता) निष्कामता (प्रशस्ता न ग्रस्ति) श्रेष्ठ नहीं है। (वेर्दाधिगमः च वैदिकः कर्मयोगः) वेदार्थज्ञान भ्रौर वेदोक्त कर्म (काम्यः) ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं।। १२१।। (स॰ प्र॰ २५६)

''म्रत्यन्त कामातूरता ग्रीर निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ

नहीं, क्योंकि जो कामना न करेतो वेदों का ज्ञान ग्रौर वेदविहित कर्मादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें, इसलिये।'' (स० प्र०४८)

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।

बतानि यमधर्माञ्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ १२२ [२।३] (६०)

जो कोई कहे कि मैं निष्काम हूं वा हो जाऊं तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि —) (सर्वे) सब काम (यज्ञाः व्रतानि यमधर्माः) यज्ञ क्ष, सत्य-भाषणादि व्रत, यम-नियम रूरी धर्म ग्रादि (संकल्पजाः) संकल्प हो से वनते हैं (कामः वै) निश्चय से प्रत्येक कामना (संकल्पमूलः) संकल्पमूलक होती है ग्रर्थात् संकल्प से ही प्रत्येक इच्छा उत्पन्न होती है ।। १२२।।

(स० प्र० २५६)

% (संकल्पसंभवाः) संकल्प से सम्भव होते हैं (च) ग्रौर······

**अनुश्रीत्उनाः** यम श्रोर नियम ४। २०४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

श्रकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कहिचित् । यद्यद्धि कुरुते किचित्तत्तरकामस्य चेष्टितम् ॥१२३॥[२।४](६१)

(हि) क्योंकि (यत् यत् किंचित् कुरुते) जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन ग्रादि चलाये जाते हैं (तत्तत् कामस्य चेष्टितम्) वे सब कामना ही से चलते हैं। (ग्रकामस्य) जो इच्छा न हो तो ॐ (काचिद्क्रिया) ग्रांख का खोलना ग्रीर मींचना भी (न दश्यते) नहीं हो सकता।। १२३।। (स० प्र०२४६)

क्कि(इह) इस संसार में (क्राहिचित्) कभी भी।

"मनुष्यों को निश्चय करना चाहिये कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच, विकास का होना भी सर्वथा ग्रसम्भव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।

(स॰ प्र॰ ५२)

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् । यथा संकल्पितांइचेव सर्वान्कामान्समइनुते ॥१२४॥ [२।४] (६२)

(तेषु) उन वेदोक्त कर्मों में (सम्यक् वर्त्तमानः) अच्छी प्रकार संलग्न व्यक्ति (ग्रमरलोकतां गच्छिति) मोक्ष को प्राप्त करता है (च) ग्रौर (यथा संकल्पितान् सर्वान् एव कामान्) संकल्प की गई सभी कामनाग्रों को (समश्नुते) भलीभांति प्राप्त करता है।। १२४।।

अर्जुर्को ल्डन्सः वूलर हारा घोषित प्रेक्षिप्ता पर विचार—वूलर ग्रादिपाश्चास्य विद्वानों ने १२१ से १२४ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। उनकी युक्ति है कि यहां सकामता और निष्कामता का कोई प्रसंग नहीं है, ग्रतः ये श्लोक प्रसंगविरुद्धहैं। उनकी युक्ति मान्य नहीं है, क्योंकि १२५ वें क्लोक में धर्म का लक्षण कहा है और उनमें वेद का सर्वप्रथम एवं प्रमुख स्थान है। ये क्लोक अगले क्लोकों की भूमिका के रूप में हैं, १२१ वें क्लोक में जो 'वेद।धिगमः' शब्द का प्रयोग किया है, उससे यह संकेत मिलता है। इस प्रकार इनमें प्रसंगविरोध नहीं आता।

धर्म के मूलस्रोत ग्रौर ग्राधार--

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । स्रावारश्चेव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥१२४॥ [२।६] (६३)

(स्रिखिलः वेदः) सम्पूर्ण वेद स्रर्थात् चारों वेद (च) स्रीर (तद्-विदाम्) उन वेदों के पारंगत [जिन्होंने २।१ से २।२२४ में प्रोक्त विधिपूर्वक वेदाध्यम किया है] विद्वानों के (स्मृति-शीले) रचे हुए स्मृतिग्रन्थ स्रर्थात् वेदानुकूल धर्मशास्त्र स्रीर श्रेष्ठ गुर्गों से सम्पन्न स्वभाव (च) ग्रीर (साधू-नाम् एव स्नाचारः) श्रेष्ठ-सत्याचरण करने वाले पुरुषों का 'सदाचरण' (च+एव) स्रीर ऐसे ही श्रेष्ठ-सदाचरण वाले व्यक्तियों की (म्रात्मनः— तुष्टः) स्रपनी द्यात्मा की संतुष्टि एवं प्रसन्नता स्रर्थात् जिस काम के करने में स्नात्मा में भय, शंका, लज्जा उत्पन्न न हो, स्नितृत सात्त्विक संतुष्टि स्नौर प्रसन्नता का स्नुभव हो, ये चार (धर्ममूलम्) धर्म के मूलस्नोत = उत्पत्ति-स्थान या स्नाधार हैं ॥१२५॥%

"इसिनिये सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रग्गीत शास्त्र, सत्पुरुषों का ग्राचार ग्रीर जिस-जिस कमं में ग्रपना ग्रात्मा प्रसन्न रहे ग्रथात् भय, शंका, लज्जा जिसमें न हो उन कमों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई निथ्याभाषण चोरी ग्रादि की इच्छा करता है, तभी उसके ग्रात्मा में भय, शंका, लज्जा ग्रवश्य उत्पन्न होती है इसिलिए वह कमं करने योग्य नहीं है।" (स० प्र० २५७)

अत्युट्यो ट्यन्तः धमं के चार लक्षणों का स्वरूप—यह श्लोक मनुस्मृति के प्रमुख ग्राधारभूत श्लोकों में से एक है। यहां मनु द्वारा वर्णित धमं के चार लक्षणों पर मनूक्त मान्यताग्रों के परिप्रंक्ष्य में विचार किया जाता है तथा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है—

१. वेद- धर्म के चार मूलस्रोतों या साक्षात् लक्षणों में सर्वप्रथम स्थान वेद

श्चि[प्रचलित ग्रर्थ — सब वेद, उन्हें (वेदों को) जानने वालों (मनु श्रादि) की स्मृति श्रीर ब्राह्मणत्व श्रादि तेरह प्रकार के शील या राग-द्वेष-शून्यता, महात्माश्चों का श्राचरण श्रीर ग्रपने मन की प्रसन्नता (जहां धर्मशास्त्रों में ग्रनेक पक्ष कहे गये हैं, वहां जिस पक्ष वाले विधान को स्वीकार करने में श्रपना मन प्रसन्न हो), ये सब धर्म के मूल हैं।]

का है [१।१२५(२।६)]। चारों वेद धर्मनिर्णय में परमप्रमाण हैं [१।१३२(२।१३)]। इनको श्रुति भी कहा जाता है [१।१३२(२।१३)]। वेद श्रपौरुषेय श्रर्थांत् ईश्वर-रचित हैं [१।२३।। १२।६६] ग्रीर इन्हीं के द्वारा संसार की वस्तुग्रों, धर्मों का प्रथम ज्ञान प्राप्त होता है [१।२१]। वेद सब सत्य विद्याग्रों के भण्डार हैं [१।३,२१॥१२।६४, ६७-६६, ग्रादि]। क्योंकि चारों वेद धर्म के प्रथम मूलस्रोत हैं, ग्रतः इनका कुतर्क ग्रादि का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए [१।१२६(२।४०), १।१३०(२।४१)] ग्रीर इस प्रकार जो वेदों की ग्रवमानना करता है, वह नास्तिक है तथा समाज से बहिष्कार्य है [१।१३०(२।११)]। त्रयीविद्यारूप चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, ग्रथवंवेदको 'ग्रिखलवेद' कहा गया है [१।२३॥ ११।२६४॥ १२।११२]।

२. स्मृति और शील—चारों वेदों के ज्ञाता विद्वानों द्वारा रचित स्मृतियाँ ग्रीर उनका श्रेष्ठ गुणसम्पन्न स्वभाव, धर्म का दूसरा मूलस्रोत है। इन्हें धर्मशास्त्र भी कहते हैं [१।१२६(२।१०)]। जिन विद्वानों ने पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रीर धर्मपालन पूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेदों का श्रध्ययन-मनन किया है, वही प्रामाणिक धर्म-शास्त्र के प्रणेता हो सकते हैं तथा वही धर्म-विषयक संशय में प्रमाण हैं, ग्रन्य नहीं—

मनाम्नातेषु धर्मेषु कयं स्याविति चेद् सवेत् । यं शिष्टा बाह्यणाः बूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥१२।१०८॥ धर्मेणाधिगतो येस्तु वेदः सपरिबृहिणः । ते शिष्टा बाह्यणाः ज्ञेयाः अतिशत्यक्षहेतवः ॥१२।१०६॥

स्मृतियाँ वेदानुकूल होने पर ही प्रामाणिक हैं, इसी प्रकार स्वभाव भी। वेद विरुद्ध स्मृतियाँ त्रमान्य हैं [१२।१०६॥ १२।६४]।

- 3. सबाचार—धर्म का तीसरा मूलस्रोत 'सदाचार' है। श्लोक के पूर्व पदों में उक्त भाव के प्रध्याहार ग्रीर निम्नलिखित प्रमाणों से यह सिद्ध है कि 'वेदवेत्ता विद्वानों का 'श्रेष्ठ—सत्यावरण' ही 'सदाचार' है। क्योंकि धर्म के दूसरे लक्षण में वेदवेत्ताग्रों के स्वभाव को ही धर्म का स्रोत माना है। स्वभावानुसारी ग्राचरण होता है। इस प्रकार यह भी वेदवेत्ताग्रों का होना चाहिए। इसकी पुष्टि स्वयं मनु ने की है। १।१३६ (२।१७) में विव्यगुणों से युक्त विद्वानों द्वारा सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा है। उस देश में रहने वाले उन विद्वानों के ग्राचरण को ही 'सदाचार' माना है [१।१३७ (२।१६)]। उन्हों से समस्त शिक्षाएं ग्रहण करने का कथन है [१।१३६ (२।२०)]। १।१२० में भी रागद्वेष से रहित सदाचारी विद्वानों द्वारा मेवित ग्रीर उन द्वारा दृदय से मान्य ग्राचरण को धर्म माना है। वेदों में ग्रपारङ्गत विद्वानों का ग्राचरण 'सदाचार' नहीं कहा जा सकता।
- ४. 'आत्मनः तुष्टि' ग्रोर 'स्वस्य-ग्रात्मनः प्रियम्' का स्पष्टीकरण्—धर्म का नीया मूलस्रोत 'ग्रात्मा की संतुष्टि' ग्रोर 'ग्रपनी ग्रात्मा का प्रिय' कार्य है। इस स्रोत की स्पष्ट परिभाषा विचारणीय है। यहां प्रश्न उठता है कि सभी व्यक्तियों की

ग्रात्मा का िय कार्य धर्म है ग्रथवा एक स्तर विशेष की सीमा तक के व्यक्तियों की ग्रात्मा का प्रिय कार्य ? उत्तर में निविवाद रूप से कहा जा सकता है कि हर किसी की ग्रात्मा का प्रिय कार्य धर्म नहीं, प्रिपितु वेदानुकूल ग्राचरण वाले सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी ग्रपनी ग्रात्मा की संतुष्टि, प्रसन्नता ग्रौर प्रियता के ग्रनुकूल जो कार्य है, वही धर्म है। हर किसी के प्रिय को धर्म मानने में निम्न ग्रापत्तियां ग्रानी हैं—

- (क) चारों घर्म के स्रोतों की उच्चता, गम्भीरता का स्तर समानप्रायः होना चाहिए। यह नहीं कि एक अत्युन्नत स्तर का हो श्रीर एक निम्नतम। एक श्रोर देद धर्म के स्रोत हैं श्रीर दूसरी श्रोर हर किसी की आत्मा ही प्रमाण है। इस प्रकार तो व्यक्तियों की संख्या के अनुसार आत्मा के प्रिय कार्य भी पृथक्-पृथक् हो जायेंगे।
- (ल) ग्रगर यह कहें कि 'ग्रात्मा की प्रसन्तता' का ग्रभिप्राय यह है कि 'मैं नहीं चाहता कि कोई मुभे कब्ट दे तो मुभे भी ग्रौरों के साथ कब्टदायक व्यवहार नहीं करना चाहिए।' तो यह बात उन व्यवहारों में तो लागू हो जाती है जिनमें भय, शक्का, लज्जा, पीड़ा का सम्बन्ध है, ग्रन्य व्यवहारों में नहीं। इसमें ग्रव्याप्ति-दोष ग्राता है। जैसे कोई व्यक्ति संघ्योपासन, ग्रग्निहोत्र, विद्याप्राप्ति, शुद्धि ग्रादि कर्त्तव्यपालन नहीं करता ग्रौर ग्रितइन्द्रियासित, ग्रन्धविश्वास, ग्रन्धमान्यता ग्रादि से ग्रस्त है, तो वह चाहेग। कि मैं इन बातों के संदर्भ में किसी को कुछ नहीं कहता, तो दूसरे मुभे भी न कहें। दूसरों के कहने सेवह पीड़ा का अनुभव करेगा; जब कि धर्मविहत बात ग्रवश्य कथनीय ग्रौर पालनीय होती है। उनको दण्डपूर्वक भी कराने का विधान है।
- (ग) इसी प्रकार जो दुष्टसंस्कारी, राक्षससंस्कारी, तमोगुणी प्राणी हैं, बाल्य-काल से ही जो जीवहत्या, मांस-भक्षण ब्रादि कार्य करते ब्रा रहे हैं, उनमें इन कार्यों के प्रति भय, शङ्का, लज्जा की अनुभूति दिष्टगोचर नहीं होती। श्रतः उनकी 'श्रात्मा के प्रिय' को धर्म नहीं माना जा सकता।

इन ग्रापत्तियों के होने से यह कहा जा सकता है कि सभी की ग्रात्मा का प्रिय धर्म नहीं, ग्रपितु सद्गुणसम्पन्न, धार्मिक, पुण्यात्मा विद्वानों की ग्रात्मा के प्रिय कार्य ही धर्म हैं। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण उल्लेखनीय हैं—

- (घ) मनु ने धर्मकथन में प्रविद्वानों को प्रमाण नहीं माना, प्रिपितु उनको मानने से हानि की ग्राशक्क्षा प्रकट की है, केवल विशेषस्तर के विद्वानों को ही प्रमाण माना है [१२।११३-११४]। ग्रतः ग्रविद्वानों की ग्रात्मा का प्रिय कार्य धर्म का लक्षण नहीं हो सकता।
- (ङ) मनु ने प्रत्येक बात में वेदानुकूलता को ही धर्म में प्रमाण माना है, ग्रन्य को नहीं [१।१२७ (२।६), १।१२६ (२।६)।। १२।६४]। इस प्रकार वेदानुकूलता से हीन 'म्रात्मा के प्रिय कार्य' धर्म के सक्षण नहीं हो संकते।

**36** 

- (च) यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि मनु ने जहां-जहां म्रात्मा की संतुष्टि की बातें कही हैं, वे द्विजों के कर्त्तव्यों के प्रसङ्घ में कही हैं; उनसे भिन्न निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। मनु की व्यवस्था के म्रनुसार द्विजों को विद्वान्, धर्मात्मा, ग्रौर सद्गुण-सम्पन्न भवश्य होना चाहिए। इस प्रकार भी इस शब्द से व्याख्या से, उक्त ग्रर्थ पुष्ट होता है।
- (छ) ग्रात्मा का प्रिय क्या है? जिस कार्य में ग्रात्मा को भय; शङ्का, लज्ज। का अनुभव नहीं होता, ऐसे कर्म ही वस्तुतः ग्रात्मा के प्रसन्नताकारक कर्म हैं। इससे भिन्न कर्म 'श्रात्मा के प्रिय' नहीं कहे जा सकते [८।६६]। श्रौर ऐसे कर्म केवल सात्त्विक कर्म हैं, देखिए १२।२७, ३७ श्लोक। इनसे विपरीत रजोगुणी श्रौर तमोगुणी कार्य ग्रात्मा में प्रसन्नता नहीं करते [१२।३३,३४]। यदि प्रसन्नता श्रनुभव होती है तो वह वास्तविक नहीं है। मनु ने स्वयं स्पष्ट करते हुए कहा है—
  - (ग्र) ''सस्वस्य लक्ष्मणं धर्मः'' ॥ १२।३८॥ वे सतोगुण निम्न हैं—

वेदाम्यासस्तपोज्ञानं शौचिमिन्द्रियनिप्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता च सास्त्विकं गुरालक्षराम् ॥१२।३१॥

इस प्रमाणयुक्त विवेचन से यह सिद्ध हुम्रा कि सतोगुगी कार्यों से ही 'म्रात्मा की प्रसन्नता या संतुष्टि' होती है। सतोगुणी व्यक्तियों की प्रसन्नता ही धर्म का लक्षण हो सकता है। म्रतः श्लोकोक्त म्रर्थं ही मनुसम्मत है।

प्र. यह भी स्पष्ट कर देना मावश्यक है कि वेद से उत्तरवर्ती सभी धर्म स्रोतों में वेदानुकूलता का होना मनु ने ग्रनिवार्य माना है। मनु ने प्रत्येक धर्म को श्रुतिप्रामाण्य के ग्राधार पर ग्रहण करना विहित किया है—

सर्वं तु समवेश्येदं निखिलं ज्ञानचधुवा। अनुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै।। १।१२७(२।८)

६. 'धर्म क्या है' इसके ज्ञान के लिए १।२ की समीक्षा देखिए। [इन सभी बातों पर विस्तृत विवेचन 'मनुस्मृति–ग्रनुशीलन' में भी द्रष्टव्य है]।

वेद सर्वज्ञानमय---

यः किवल्कस्यचिद्धमीं मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽमिहितो वेवे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ १२६॥ [२।७]

(यः किश्वत् कस्यचिद् धर्मः) जो किसी का कोई धर्म (मनुना परिकीर्तितः) मनु ने कहा है (स. सर्वः) वह सब (वेदे प्रभिहितः) वेद में कहा हुआ है (हि) यतो हिं(सः) वह वेदज्ञान (सर्वज्ञानमयः) सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है।। १२६॥

अन्तुर्धीत्वनः : १२६ वां क्लोक निम्न 'ग्राधारों' पर प्रक्षिप्त है---

- १. शैलीगत प्राथार—(१) मनुस्मृति अपने मूलरूप में कोई ग्रन्थ या शास्त्र के रूप में नहीं थी। इसकी प्रवचनशैली इसे मौलिक रूप से प्रवचनों के रूप में ही सिद्ध करती है। इस श्लोक में भूतकालिक क्रिया के प्रयोग से इसे मूलतः एक ग्रन्थ या शास्त्र के रूप में इंगित किया है। स्पष्ट है कि प्रवचनों के संकलन के पश्चात् मनुस्मृति के 'संकलन' रूप में निबद्ध होने पर ही यह प्रशंसात्मक श्लोक बनाकर डाला गया है, ग्रतः प्रक्षिप्त है। (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १। ५०—५६ श्लोकों पर 'शैलीगत आधार' शीर्षक में संख्या—१ में देखिए) (२) १२६ वें श्लोक में 'मनुना परिकर्गिततः' प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि यह श्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति द्वारा रचित है, अतः प्रक्षिप्त है।
- २. प्रसंगविरोध—(१) पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है। पूर्वापर श्लोकों में धर्म के मूल का कथन ग्रीर स्पष्टीकरण है। १२४ वें में धर्म के मूल बतलाये थे फिर १२७— १२६ में उन स्रोतों को ग्रहण करने का कथन ग्रीर विवेचन है। बीच में इस श्लोक से उनका क्रम भंग हो रहा है, ग्रतः प्रसंगविरुद्ध है। (२) १२६ वें में कहा है कि मनु ने 'जो भी जिसका धर्म कहा है' लेकिन ग्रभी तक धर्म कोई नहीं कहा है। उक्त कथन या तो सभी धर्मों के कहे जाने के पश्चात् प्रासंगिक कहा जा सकता है। उक्त कथन के प्रसंग के प्रारम्भ में। यहां इन दोनों में से कोई प्रसंग नहीं है। धर्मों के कथन का प्रसंग १। १४४ में 'वर्णधर्मान्विधत्र' कहने के ग्रनन्तर २। १ से शुरू होता है। उसके पूर्व ही भूतकालिक प्रयोग ग्रसंगत है। इस प्रकार यह श्लोक ग्रप्रासंगिक होने से प्रक्षिप्त है। आत्मानुकूल धर्म का ग्रहण—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा। श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविज्ञेत वै।। १२७ ॥ [२।८] (६४)

(विद्वान्) [विद्वान्] मनुष्य (इदं सर्वं तु निखिलं समवेक्ष्य) सम्पूर्णं शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का म्राचार, म्रपने म्रात्मा के म्रविरुद्ध विचार कर [१। १२५ में विणत ] (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान नेत्र करके (श्रृतिप्रामाण्यतः) श्रृतिप्रमाण से (स्वधमें वे निविशेत) स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥ १२७॥

(स॰ प्र॰ २५६)

श्रुति-स्मृति-प्रोक्त धर्म के ग्रनुष्ठान का फल---

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि भानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ १२८॥ [२।६] (६४)

(हि) क्योंकि (मानवः) जो मनुष्य (श्रुति-स्मृति-उदितम्) वेदोक्त धर्म ग्रौर जो वेद से ग्रविरुद्ध स्मृत्युक्त (धर्मम् + ग्रनुतिष्ठन्) धर्म का ग्रनुष्ठान करता है, वह (इह कीर्ति च प्रत्य ग्रनुत्तमं सुखम्) इस लोक में कीर्त्ति ग्रौर मरके सर्वोत्तम सुख को (ग्रवाष्नोति) प्राप्त होता है ।। १२८ ।।

(स॰ प्र॰ २५७)

श्रुति और स्मृति का परिचय —

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो घर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ते सर्वार्येष्वमीमांस्ये ताम्यां घर्मो हि निर्वभौ ।।१२६॥[२।१०](६६)

(श्रुति: तु वेदः विज्ञेयः) श्रुति को वेद समभना चाहिए, ग्रौर (धमंशास्त्रं तु वे स्मृतिः) धमंशास्त्रं को स्मृति समभना चाहिए (ते) ये श्रुति ग्रौर स्मृति शास्त्र (सर्वार्थेषु) सब स्थितियों ग्रौर सव बातों में (ग्रमी-मांस्ये) कुतकं न करने योग्य हैं ग्रर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतकं का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, [इस ग्रर्थं की पुष्टि ग्रगले १३० वें श्लोक की शब्दावली से होती है, देखिए उसका ग्रथं], (हि) क्योंकि (ताम्याम) उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से (धमंः) धर्म (निबंभौ) उत्पन्न हुग्रा है।। १२६।।

अत्रुर्व्योत्जन्य: वेद श्रीर श्रुति नाम के कारण—वेदों के, वेद श्रीर

श्रुति ये दो नाम क्यों पड़े, इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

''(प्रश्न) वेद श्रौर श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताश्रों के क्यों हुए हैं ?

(उत्तर) ग्रयं भेद से, क्योंकि एक विद् धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी विद् धातु सत्तार्थक है, तीसरे विद् का लाभ ग्रयं है, चौथे विद् का ग्रयं विचार है। इन चार धातुओं से करण ग्रौर अधिकरण कारक में 'धन्न' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। तथा (श्रु) धातु श्रवण प्रयं में है। जिनके पढ़ने से यथार्थं विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है ग्रौर जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता ग्रादि का वेद नाम है। वैसे ही सृष्टि के ग्रारम्भ से ग्राज पर्यन्त ग्रौर ब्रह्मा ग्रादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याभों को सुनते ग्राते हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है।"

(ऋ० भू० २०-२१)

'जैसे छन्द ग्रौर मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्यवाची ग्रथित् संहिता भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम ग्रौर श्रुति भी वेदों के नाम हैं।'' (ऋ० भू० ७६)

श्रति-स्मृति का ग्रपमान करने वाला नास्तिक है--

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।

स साघुभिबंहिडकार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १३० ॥ [२।११](६७)

(य: द्विजः) जो कोई मनुष्य (ते मूले) वेद ग्रीर वेदानुकूल ग्राप्त-ग्रन्थों का (हेतुशास्त्राध्ययात्) तर्कशास्त्र के ग्राध्यय से (ग्रवमन्येत) ग्रपमान करे (सः) उसको (साधुभिः बहिष्कार्यः) श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि (वेदनिन्दकः) जो वेद की निन्दा करता है (नास्तिकः) वही नास्तिक कहाता है।। १३०।। (स० प्र० २५६) "जो तकंशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकालके बाहर कर देवें, क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।" (त० ल० वे० ख० ४६)

'जो वेद ग्रीर वेदानुकूल ग्राप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का ग्रपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति ग्रीर देश से बाह्य कर देना चाहिये '' (स॰ प्र० ५३)

अन्य शिल्ज ना : 'तर्क शब्द का विवेचन — इलोक १२६ श्रीर १३० में मनु ने वेदों श्रीर वेदवेत्ता व वेदानुसारी श्राचरण वाले ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्रों को 'तर्कशास्त्र का सहारा लेकर ग्रपमान न करने योग्य' कहा है। यहाँ तर्क से श्रीभन्नाय 'उचित तर्क' से नहीं,श्रपितु 'कुतर्क से है। यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट होती है—

- (क) मनु ने 'अवमन्येत' क्रिया का प्रयोग किया है, जिससे उनका भाव यह है कि तर्कशास्त्र की ग्राड़ लेकर कुतर्क से उनका ग्रपमान न करे।
- (ख) कुछ चीजें तर्क से परे होती हैं, जैसे-ईश्वररचित जगत् की प्रलयावस्था मनुष्य बुद्धि से 'ग्रप्रतक्यं' है ग्रथीत् बुद्धिगम्य नहीं है [१।४]। इसी प्रकार ईश्वर-प्रदत्त वेदज्ञान भी 'अचिन्त्य', 'ग्रप्रमेय' 'ग्रप्रतक्यं' अर्थात् मनुष्य-बुद्धि द्वारा पूर्णतः बुद्धिगम्य नहीं है [१।३,२१,२३]। मनु उसे पूर्णतः तर्कानुकूल ग्रथीत् युक्तिसंगत मानते हैं, ग्रतः वेदज्ञान पर तर्क करने की ग्रावश्यकता ही नहीं रहती। यदि कोई उसका खण्डन करता है, तो वह कुतर्क ही करता है।
- (ग) मनु और ग्रन्य शास्त्र भी तर्क को धर्म निश्वय में प्रमाण मानते हैं।शास्त्रों ने तर्क को एक ऋषि का रूप दिया है। किन्तु तर्क करने वाला व्यक्ति कौन हो सकता है, यह भी निर्धारित कर दिया है। तत्त्वज्ञानी शास्त्रवेत्ता व्यक्ति ही तर्क करने की योग्यता रखते हैं, ग्रन्य नहीं। मनु कहते हैं कि तर्क से धर्म का ज्ञान प्राप्त करें। साथ ही तर्क के योग्य कौन व्यक्ति हैं, यह भी स्पष्ट करते हैं
  - (प) प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्य धर्मगुद्धिममीष्सता ॥ १२ । १०५ ॥
  - (मा) आवं घर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केगानुसंघत्ते सः धर्मं वेद नेतरः ॥ १२ । १०६ ॥

- (इ) त्रं विद्यो हेतुकस्तर्की ......परिषद् स्यादृशावरा ॥ १२ । १११ ॥
- (घ) निरुक्तशास्त्र में तर्क को ऋषि के रूप में वर्णित करते हैं। उसके द्वारा वेदमन्त्रार्थों का निश्चय बतलाया है। लेकिन वहीं मनु वाली मान्यता भी स्पष्ट कर दी है कि अतपस्वी, अनुषि और अल्पविद्या वाले लोग तर्क की योग्यता नहीं रखते—

'अपि अ तितोऽपि तर्कतः, न तु पृथक्तवेन मन्त्रा निर्वक्तक्याः, प्रकरणहाः एव तु

निवंक्तब्याः नह्ये बु प्रस्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदिनृषु भूयो-विद्यः प्रशस्यो भवति' इत्युक्तं पुरस्तात्।

मनुष्या वा ऋषिषूत्कामत्सु वेदानबुवन्, को न ऋषिभविष्यतीति ? तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छन् मन्त्रार्यं चिन्ताभ्यूहमभ्यूरहस् । (परिशिष्ट ११।१३)

इस म्राधार पर उपर्युक्त योग्यताम्रों से रहित व्यक्ति को मनु ग्रौर शास्त्र तर्क करने के त्रयोग्य मानते हैं। विशेषरूप से वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के सन्दर्भ में। इसी ग्राणय से इन श्लोकों में वेदादि को अमीमांस्य और तर्क से ग्रनवमाननीय कहा है।

धर्म के चार आधाररूप लक्षण---

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्वियं प्राहुः साक्षाद्धमंस्य लक्षणम् ॥१३॥ [२।१२](६८)

"(वेद: स्मृति: सदाचार:) वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का म्राचरण (च) भ्रौर (स्वस्य म्रात्मन: प्रियम्), भ्रपने म्रात्मा के ज्ञान से भ्रविरुद्ध प्रियाचरण (एतत् चतुर्विधं धर्मस्य लक्षणम्) ये चार धर्म के क्ष्रु लक्षण हैं भ्रर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है"।। १३१।। (स॰ प्र०२५७)

अ (साक्षात्) सुस्पष्ट या प्रत्यक्ष कराने वाले .....

"श्रुति—वेद, स्मृति—वेदानुकूल ग्राप्तोक्त भनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का ग्राचार जो सनातन ग्रर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म ग्रीर ग्रपने ग्रात्मा में प्रिय ग्रर्थात् जिसको ग्रात्मा चाहता है जैसा कि सत्यभाषण, ये चार धर्म के लक्षण ग्रर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण ग्रसत्य का सवया परित्याग रूप ग्राचार है, उसी का नाम धर्म ग्रीर इसके विपरीत जो पक्षपातसहित ग्रन्यायाचरण, सत्य का त्याग ग्रीर ग्रसत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को ग्रधमं कहते हैं" (स० प्र० ५३)

अत्युर्शोत्जन्य—(क) धर्म एवं धर्म के मूलस्रोतों पर प्रामाणिक विस्तृत विवेचन १। १२५ पर द्रष्टव्य है।

- (ख) ऋषि दयानन्द ने धर्मकी व्याख्या दार्शनिक ग्राधार ग्रहण करके निम्न प्रकार दी है—
  - (ম्र) यतोऽम्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशे०१।१।२)

जिसके म्राचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस म्रर्थात् मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है।"

(म्रा) चोदना लक्षरगोऽर्थो धर्मः। (पू० मी०१।१।२) 🚲

'(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की ग्राज्ञा दी है, वहीं धर्म ग्रौर जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह ग्रधमं कहाता है। परन्तु वह धर्म ग्रम्येयुक्त अर्थात् ग्रधमं का ग्राचरण जो ग्रनथं है, उससे ग्रलग होता है। इससे धर्म का ही जो ग्राचरण करना है वहीं मनुष्यों में मनुष्यपन है। (ऋ० भू० ११४) धर्मजिज्ञासा में श्रुति परमत्रमाण और धर्मज्ञान के पात्र—

ग्रांता न त्रुति परनप्रमाण आर धमज्ञान क पात्र— ग्रयंकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

श्रथकामध्वसक्ताना घमज्ञान । वधायत । धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥१३२॥ [२।१३] (६६)

(ग्रथंकामेषु + ग्रसक्तानाम्) जो पुरुष ग्रथं — सुवर्णादि रत्न ग्रोर काम — स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते हैं (धर्मज्ञानं विधीयते) उन्हीं को धर्म का ज्ञान होता है (धर्मजिज्ञासामानाम्) जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे (प्रमाणं परमं श्रुतिः) वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्यों कि धर्म-ग्रधमं का निश्चय बिना वेद केठीक-ठीक नहीं होता!। १३२ ।। (स० प्र० ५३)

"परन्तु जो द्रव्यों के लोभ ग्रीर काम ग्रर्थात् विषय-सेवा में फंसा हुग्रा नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है।" (स॰ प्र० २४७)

"धर्शशास्त्र में कहा है कि—'ग्रथं ग्रीर काम में जो ग्रासक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।" (द० ल० वे० ल० ६)

"जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फंसे हुए हैं उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुग्रों के लिए परम प्रमारा वेद है।" वेदोक्त सब विधान धर्म हैं— (पू० प्र० १०५)

श्रुतिद्वैषं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ । उभाविप हि तौ धर्मो सम्यगुक्तौ मनीविभिः ॥१३३॥ [२।१४](७०)

(यत्र तु श्रुतिद्वैयं स्यात्) जहाँ कहीं श्रुति चवेद में दो पृथक् ग्रादेश विहित हों (तत्र) ऐसे स्थलों पर (उभौ) वे दोनों ही विघान (घमौँ स्मृतौ) धर्म माने हैं (मनी विभिः) मनी वी विद्वानों ने (तौ उभौ ग्रिपि सम्यक् धमौँ उक्तौ) उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है ॥ १३३ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१३४॥ [२।१४] (७१)

(उदिते) सूर्योदय के समय (च ग्रनुदिते) ग्रीर सूर्यास्त के समय (तथा) तथा (समयाष्युषिते)समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् प्रत्येक समय अथवा किसी भो निर्धारित किये समय में जिसे विशेष उपलक्ष्य में श्रायोजित यज्ञ ] (सर्वेथा यज्ञ: वर्तते) सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए (इति इयं वैदिकी श्रुति:) इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है।। १३४।।

अनुशिल्ज: अयंभेद-एक मत के अनुसार यहाँ प्रातः के तीन यज्ञसमयों का विकल्प है - 'उदिते' स्पूर्योदय होने पर, 'अनुदिते' स्पूर्योदय से पूर्व मक्षत्र दीखने तक, 'समयाध्युषिते' स्व नक्षत्रदर्शन बन्द होने से सूर्यदर्शन से पूर्व तक। ऐसा अर्थ करने पर सायंकाल का परिगणन नहीं होता। इस टीका का अर्थ ही ब्यापक एवं पूर्ण है। इस शास्त्र के पढ़ने के ग्रधिकारी —

निषेकादिइमज्ञानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।

तस्य ज्ञास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १३४ ॥ [२।१६]

(निषेक + म्रादि + श्मशानान्तः) गर्भाघान से लेकर ग्रन्त्येष्टिपर्यन्त (मन्त्रैः + यस्य विधिः उदितः) मन्त्रपूर्वक जिसके लिए विधियां कही गई हैं (तस्य) उसी प्रयत्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का (ग्रस्मिन् शास्त्रे अधिकारः ज्ञेयः) इस मनुस्मृति शास्त्र में म्राधिकार समक्षना चाहिए (ग्रन्यस्य कस्यचित् न) ग्रन्य किसी [शूद्र ग्रादि] का नहीं ॥ १३५॥

"मनुष्यों के शरीर ग्रीर ग्रात्मा के उत्तम होते के लिए निषेक अर्थात् गर्भाधान से लेके रमशानान्त ग्रथित् ग्रन्त्येष्टि मृत्यु के पश्चात् मृतक शरीर का विधि-पूर्वक दाह करने पर्यन्त १६ संस्कार होते हैं।" (स० वि० २७)

## अत्युद्धीत्उनः : यह श्लोक निम्न 'ग्राघारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगिदिरोध—(१) यह पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध है। यहाँ पूर्वापर प्रसंग धर्म के लक्षण और उनके विवेचन का चल रहा था। १२७—१३४ में ग्रन्य लक्षणों का विवेचन करके १३६-१३७ में ग्रविशब्द 'सदाचार' का विवेचन किया है। इस धर्म के चार लक्षणों के विवेचन के प्रसंग को इस इलोक ने भंग कर दिया है ग्रीर बीच में ग्रप्रा-संगिक रूप से शास्त्र के ग्रधिकार का वर्णन किया है। पूर्वार प्रसंग के विरुद्ध होने के कारण यह प्रक्षिप्त है। (२) यदि यह इलोक मौलिक होता तो स्थान की दिष्ट से इसे या तो ग्रन्य के प्रारम्भ में होना चाहिए था ग्रथवा ग्रन्त में। इस कथन की यहां बीच में कोई संगित सिद्ध नहीं होती। इसलिए भी यह ग्रसंगत एवं प्रक्षिप्त है।
- २. शैलीगत आधार—मौलिक रूप में मनुस्मृति में मनुस्मृतिके ही लिए 'शास्त्र' संज्ञा का व्यवहार नहीं बनता। इस संज्ञा का व्यवहार मनुस्मृति के 'संकलन' रूप में निबद्ध होने के पश्चात् किया गया है (विस्तारपूर्वक विवेचन के लिये देखिये १। ५८-५६ श्लोकों पर 'शैलीगत ग्राधार' शीर्षक समीक्षा) इस दिष्ट से यह श्लोक परवर्ती है, मौलिक नहीं, म्रत: प्रक्षिप्त है।
- ३. विषयविरोध—१। ४-५ ग्रीर १। १४४ 'संकेतक' स्लोकों के अनुसार यह धर्मोत्पत्ति का विषय प्रचलित है इसके सम्बद्ध स्लोक ही यहां विषयसंगत कहलायेंगे, ग्रन्य

ग्रसंगत होंगे। इस विषयक्षेत्र में शास्त्र के ग्रषिकार का कथन विषयविरुद्ध है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।

ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा---

सरस्वतीदृष्ट्वत्योर्वेवनद्योर्येवन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावतं प्रचक्षते ॥ १३६ ॥ [२ । १७] (७२)

(देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः) देव ग्रर्थात् दिव्यगुण ग्रौर दिव्य ग्राचरण वाले विद्वानों के निवास स युक्त सरस्वती ग्रौर दृषद्वती नदी-प्रदेशों के (यत् + ग्रन्तरम्) जो बीच का स्थान है (तम्) उस (देवनिर्मितम्-देशम्) दिव्यगुण एवं ग्राचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये ग्रौर निवास से सुशोभित देश को ('ब्रह्मावर्तम्' प्रचक्षते) 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है ॥१३६॥

[देव शब्द का 'दिव्यगुण ग्रीर ग्राचरण युक्त विद्वान्' शास्त्रप्रसिद्ध ग्रयं है। ग्रधिक जानकारी के लिए ३। ८२ पर 'देव' विषयक समीक्षा देखिए]!

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मावर्त्त के स्थान पर ग्रायविर्त्त पाठ ग्रह्ण करके निम्न व्याख्या दी है—

"(देवनद्योः सरस्वती-दृषद्वत्योः) देवनदियों—देव अर्थात् विद्वानों के संग से युक्त सरस्वती और दृषद्वती निवयों, उनमें सरस्वती नदी जो पिचम प्रान्त में वर्तमान उत्तर देश से दक्षिण समुद्र में गिरती है, जिसे सिन्धु नदी कहा जाता है और पूर्व में जो उत्तर से दक्षिण देशीय समुद्र में गिरतो है, जिसे ब्रह्मपुत्र के नाम से जानते हैं; इन दोनों निवयों के (यत् अन्तरम्) बीच (देवनिर्मितम्) विद्वानों आर्यों द्वारा सुशोभित (देशम्) स्थान (आर्यावक्तं प्रचक्षते) 'आर्यावक्तं' कहलाता है" ।। १३६ ।। ऋ० दया० पत्र वि० पृ० ६६—दिन्दो में अनूदित)

उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में इस श्लोक के साथ १४१वां या २।२२वां श्लोक संयुक्त करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम और होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर

जितने देश हैं उन सबको ग्रार्यावत्तं इसलिए कहते हैं कि यह ग्रार्यावर्त्त देव ग्रर्थात् विद्वानों ने बसाया ग्रीर ग्रायंजनों के निवास करने से ग्रार्यावर्त्त कहाया है। (पृ० २२४)

सदाचार का लक्षण---

तस्मिन्देशे य ब्राचारः पारंपर्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स मदाचार उच्यते ॥१३७॥ [२।१८] (७३)

(तिस्मिन् देशे) उस ब्रह्मावत्त देश में (वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्य-क्रमागतः यः श्राचारः) वर्णौ श्रौर श्राश्रमां का जो परम्परागत श्रर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो श्राचार है। (सः) वह (सदाचारः + उच्येने) सदाचार कहलाता है।। १३७।। %

अश्चितित्वनाः सान्तरालानाम् का सगत श्रयं—(१) इस दलोक में टीकाकारों ने 'सान्तरालानाम्' पद का 'वर्णसंकर या संकीर्ण जातियां' अर्थ अशुद्ध एव मनुविरुद्ध किया है। यहां परम्परागत आचार को 'सदाचार' के रूप में परिभाषित किया है, जब कि वर्णसंकरों के आचार को मनुस्मृति में 'सदाचार' के अन्तर्गत ही नहीं माना, प्रत्युत निन्द्य आचार कहा है [१०। ५-७३]। अतः यहां इस पद का अर्थ 'आश्रम' ही करना चाहिए। मनुस्मृति का प्रतिपाद्य विषय वर्णों और आश्रमों के धर्मोंका वर्णन करना है, वही प्रतिपादित है। प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषय को लक्षण के अन्तर्गत ग्रहण करने की कोई संगति भी सिद्ध नहीं होती। इस दिष्ट से भी 'आश्रम' अर्थ ही उपयुक्त है। १। २ इलोक में प्रयुक्त 'अन्तरप्रभवाणाम्' पद भी 'आश्रम' अर्थ का पोपक है और पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुग्रा है (विशेष जानकारी के लिए १। २ पर 'अनुशीलन' देखिए)।

(२) 'पारंपयंक्रम' से अभिप्राय—यहां परम्परागत से अभिप्राय 'सृष्टि-प्रारम्भ में वेदों के विधानों से प्रचलित आचरण' से है क्योंकि वर्णों-आश्रमों की परम्परा और किसी से प्रारम्भ नहीं हुई अपितु वेदों से ही हुई है [१।२३,३१] वेदों से ही वर्ण-व्यवस्था, नामकरण आदि किये गये [१।२१,८७] ऐसी मनु की मान्यता है। इसकी पुष्टि इस वात से भी हो जाती है कि मनु वेदविहित आचरण को ही 'सदाचार मानते हैं [४।१५५,१।१०८ आदि]

ब्रह्मिषदेश की सीमा---

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।

एव ब्रह्मिवदेशो वे ब्रह्मावतिदनन्तरः ॥ १३८ ॥ [२। १६]

<sup>% [</sup>प्रचित्ति प्रयं — उस देश में ब्राह्मण ग्रादि ग्रीर ग्रम्बष्ठ रथकार आदि वर्ण संकर जातियों का कुलपरम्परागत जो ग्राचार है, वही 'सदाचार' कहा जाता है।। १३७॥ (२।१८)।

(कुरुक्षेत्रं मत्स्याः पञ्चालाः च शूरसेनकाः) कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल ग्रीर शूर-सेनक (एषः) इनको मिलाकर बना (ब्रह्मावर्तात् + ग्रनन्तरः) ब्रह्मावर्त्तं से मिला हुग्रा (ब्रह्मिवदेशः) 'ब्रह्मिव देश' है ॥ १३८॥

### आनु श्रीत्जना : यह श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है--

- १. प्रसंगविरोध (१) यह क्लोक प्रचलित पूर्वापर प्रसंग को भंग करके मिलाया गया है। इसका प्रसंगविरोध प्रत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है। धर्म के लक्षणों का विवेचन करते हुए १३६ वें ब्लोक में 'सदाचार' का विवेचन प्रारम्भ किया है । पहले १३६ वें श्लोक में 'सदाचार' के ग्राधारभूत देश ब्रह्मावर्त की सीमा बतलायी ग्रीर फिर १३७ में उस देश के निवासी वर्णों ग्रौर ग्राश्रमस्यों के परम्परागत ग्राचरण को 'सदा-चार' के रूप में प्रमाण माना। इसी बात को १३८ वें में पूर्ण किया है। चूं कि इस देश में रहने वाले ब्राह्मणों का चरित्र स्रादर्श है, स्रतः उनसे सब लोग स्रपना-अपना चरित्र सीखें। इन तीनों इलोकों के वाक्य परस्पर जुड़े हुए हैं ग्रीर वह 'सदाचार' की चर्चा भी १३६ वें में जाकर पूर्ण होती है। इस श्लोक ने उस चर्चा के क्रम को भंग कर दिया है ग्रीर सदा-चार के विवेचन में प्रयक् देश की सीमा का ग्रत्रासंगिक कथन किया है। (२) इस ब्लोक के ग्राने से 'सदाचार' का विवेचन ग्रव्यवस्थित हो गया । १३६ वें में सदाचार के आधार स्थान की सीमा वर्णित की और १३७ वें में उसे सदाचार माना। अब. जिसे सदाचार माना है उसी को सीखने का कथन होना चाहिए, किन्तू १३८ में ब्रह्मिष देश का वर्णन ग्रा गया श्रीर फिर यह कहा गया कि इस देश के ब्राह्मणों से चरित्र की शिक्षा लें। 'सदाचार' तो ब्रह्मावर्त के निवासियों का आचरण हुआ, किन्तु शिक्षा ब्रह्मिष देश वालों से;यह वेतुकी बात हो गई। इस प्रकार इस क्लोक से विवेचन ग्रस्त-व्यस्त हो गया है। ग्रतः यह श्लोक मौलिक नहीं है।
- २. विषय-विरुद्ध—१२० वें (२।१) में विषय का प्रारम्भ करते हुए उसका संकेत भी दिया है कि 'यो धर्मः तं निबोधत' प्रर्थात् 'धर्म के विषय में सुनो। १४४ वें [२।२२५] में इस विषय की समाष्त्र का संकेत है- 'एवा धर्मस्य यो योनिः समासेन प्रकीतिता।' ब्रह्मावर्त की सीमा का वर्णन तो 'सदाचार' नामक धर्म के लक्षण के विषय को परिभाषित करने के लिये किया ।या है। ग्रतः विषयसंगत है। किन्तु धर्म के विषय के अन्तर्गत किसी देश की सीमा को प्रदर्शित करना विषयान्तर बात है, ग्रतः यह श्लोक विषयविरुद्ध है।

सारे संसार के लोग ब्रह्मावर्त के विद्वानों से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥१३६॥[२।२०](७४)

(एतद् देशप्रसूतस्य) इसी ब्रह्मावतं देश [१३६—१३७] में उत्पन्न हुए (ग्रग्रजन्मनः सकाशात्) ब्राह्मणों =विद्वानों के सान्निध्य से (पृथिव्यां- सर्वमानवाः) पृथिवो पर रहने वात्रे सब मनुष्य (स्वंस्वं) ग्रयने-म्रपने (चरित्रं **शिक्षेरन्)आचरण** ग्रर्थात् कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण् करें ।। १३६ ।।

महर्षि दयानन्द ने उसी म्रार्यावर्त के पाठ के म्रनुसार म्रर्थ किया है—

"इसी ग्रायावर्त में उत्पन्त हुए ब्राह्मणों ग्रयात् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, जूद्र, म्लेच्छ ग्रादि सब ग्रपने ग्रपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा ग्रीर विद्याम्यास करें।" (स० ५० २७३) मध्यदेश की सीमा—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादिष । प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीतितः ॥१४०॥ [२।२१] (७५)

(हिमबद्-विन्ध्ययोः मध्यं) [उत्तरमें] हिमालय पर्वत [ग्रीर दक्षिण में] विन्ध्याचल के मध्यवर्ती (विनशनात् + अपि यत् प्राक्) विनशन प्रदेश == सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का देश है (च) और (प्रयागात् प्रत्यक्) प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है, वह (मध्यदेशः प्रकीर्तितः) 'मध्यदेश' कहा जाता है।। १४०।।

ग्रार्यावर्त्त देश की सीमा---

म्रासमुद्रात्तु वे पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् । तयोरेबान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुघाः ॥१४१॥[२।२२] (७६)

(ग्रा-समुद्रात्तु वै पूर्वात्) जो पूर्व समुद्र से लेकर (ग्रा-समुद्रात्तु पिरिचमात्) पिरचम समुद्रपर्यन्त विद्यमान (तयोः एव गिर्योः ग्रन्तरम्) उत्तर में हिमालय ग्रीर दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे (बुधाः ग्रायीवत्तं विदुः) विद्वान् आर्यावर्त्तं कहते हैं ।। १४१ ।।

(ऋ० दया० पत्र० विज्ञा० ६६ हिन्दी-ग्रमुवाद)

वह स्रायावर्त्त यज्ञिय देश है, उससे परे म्लेच्छ देश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥१४२॥[२।२३](७७)

(तु) ग्रौर (यत्र) जिस देश में (स्वभावतः कृष्णसारः चरित) स्वाभाविक रूप से कृष्णमृग विचरण करता है (सः) वह [१४१ में वर्णित] ग्रार्यावर्त देश (यज्ञियः देशः ज्ञेयः) यज्ञों से सम्बद्ध = पवित्र, श्रेष्ठ ग्रयवा श्रेष्ठ कर्मौ वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समफ्तना । (ग्रतः परः तु) इस ग्रार्यावर्त से ग्रागे=परे तो (म्लेच्छदेशः) म्लेच्छभाषाभाषी व्यक्तियों ग्रथवा ग्रशिक्षित व्यक्तियों के देश हैं ।।१४२।। अ

"जो स्रार्यावर्त देश से भिन्न देश हैं वे दस्युदेश स्त्रीर म्लेच्छ देश कहाते हैं।" (स० प्र०२२४)

श्रिन्दुर्शिट्डन्ड: १४२ का सङ्गत प्रयं—(१) इस क्लोक का अन्य टीकाओं या भाष्यों में जो अर्थ मिलता है, वह प्रासिङ्गिक सिद्ध नहीं होता। (क) यतोहि, उस अर्थ के अनुसार इस क्लोक में 'यिज्ञय' और 'म्लेच्छ' देशों की एक परिभाषा-सी बन जाती है, जब कि यहां पूर्वापर प्रसङ्ग में यिज्ञय और म्लेच्छ देश की परिभाषाओं का कोई प्रसङ्ग नहीं बनता। (ख) यहाँ पूर्ववर्णन कुछ देशों की सीमाओं का है, और १४१ में उस प्रसङ्ग में आर्यावर्त की सीमा बतलायी है, अतः इस क्लोक का सम्बन्ध भी उसी के साथ बनता है। यह उसके प्रसङ्ग से विच्छिन्न क्लोक नहीं है। इस क्लोक में 'सः' पद इसे पूर्व क्लोक के साथ जोड़ने का संकेत करता है और 'तु' पद यह संकेत देता है कि उसी क्लोक की इसके साथ अनुवृत्ति है। पूर्व देश की विशेषता इसमें प्रदर्शित की है, इस प्रकार यह क्लोक उसका अर्थवाद है। (ग) पहले क्लोक में विणत देश का नाम 'आर्यावर्त' है और इस क्लोक में भी उसे यज्ञीय परम्पराओं के आधार पर आर्यो अर्थें परम्परा वाले व्यक्तियों का देश बताया है। ''यज्ञों वं अंध्ठतमं कर्म'' [शत० १।७।१।५] प्रमाण के अनुसार सभी श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहते हैं। उसके साथ इस क्लोक में कृष्ण-मृग विचरण करने की एक प्राकृतिक विशेषता भी अलग से कह दी है। इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ प्रासङ्गिक एवं मनुसम्मत है।

(२) इलोकार्थ में याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रमारा--

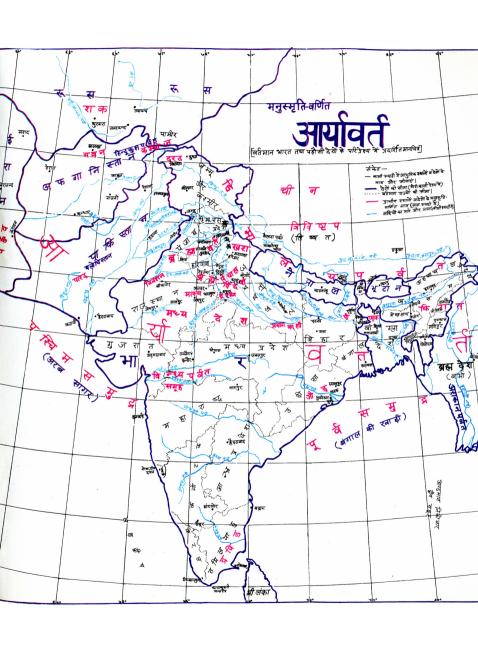
इस भाष्य में जो अर्थ किया गया है वही प्राचीन मान्यता के अनुरूप है, इसकी पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृति के एक क्लोक से हो जाती है। इस क्लोक में यज्ञीय देश की परिभाषा नहीं है, और न कृष्ण मृग को यज्ञीय देश का आधार या लक्षण माना गया है, अपितु कृष्णमृग का विचरण करना आर्यावर्त की एक विशेषता मात्र प्रदर्शित की गई है। प्राचीन मान्यता भी यही है। धर्मों के कथन का प्रारम्भ करते हुए याज्ञवल्क्य स्मृति में इस बात को इसी रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है—

मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽत्रवीन्मुनीन् । यस्मिन् देशे मृगः कृष्णः तस्मिन् धर्मान् निबोधत ॥ ग्राचा० २॥

ग्रथीत्—िमिथिला निवासी उस योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने थोड़ी देर विचार करके मुनियों से कहा—'जिस देश में काला मृग विचरण करता है या पाया जाता है, उस (ग्रायविर्त) देश में ग्रनुष्ठेय धर्मी को सुनो'॥

(२) 'म्लेच्छ' शब्द का ग्रभिप्राय—-इस श्लोक में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द विचार-

क्ष [प्रचित्तत प्रर्थ—जहाँ पर काला मृग स्वभाव से ही विचरण करता है, वह यज्ञीय' देश है, इसके ग्रतिरिक्त म्लेच्छ देश है ॥१४२॥]



## मानचित्र का विवरण

## (क) आर्यावर्त की सीमाएँ—

पूर्व में, समुद्र तक और पश्चिम में, पश्चिम समुद्र तक। उत्तर में, हिमवान् (हिमालय) पर्वत (पश्चिम में हिन्दूकुश से लेकर पूर्व में असम और अराकान पर्वतमाला तक भारत की सम्पूर्ण उत्तरी सीमा पर फैली हुई पूरी पर्वत श्रेणी को हिमवान् पर्वत कहा जाता रहा है। कैलाश पर्वत आदि इसी के अंग हैं)। दक्षिण में, विन्ध्य पर्वत (आधुनिक भूगोलवेत्ताओं के अनुसार विन्ध्य पर्वत पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में बिहार तक लगभग ७०० मील तक फैला हुआ है सतपुड़ा आदि इसी के भाग हैं)। इन दोनों पर्वत प्रदेशों और उनके मध्यवर्ती भूभाग को ''आर्यावर्त''कहा गया है (मनु० २। २२)।

मनुस्मृति में संक्षेप में आर्यावर्त का विस्तार प्रदर्शित किया गया है। इसमें परिगणित चारों दिशाओं के अन्तिम प्रदेशों से आर्यावर्त की सीमा सुनिश्चित हो जाती है और अन्य सभी प्रदेशों का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर में शक और चीन देशों से लेकर दक्षिण में द्रविड (तिमलनाडु) तक पश्चिम में पह्लव (ईरान) प्रदेश से लेकर पूर्व में किरात प्रदेश (ब्रह्मपुत्रं का पूर्व भाग) तक इसका विस्तार था। पश्चिम से पूर्व समुद्र भी इतना ही फैला है।

यहाँ प्रश्न होता है कि मनु ने केवल कुछ प्रदेशों का ही वर्णन क्यों किया? उत्तर में कहा जा सकता है कि यहाँ प्रसंगानुसार ही केवल आर्यों की व्यवस्था के उद्भव स्थान और उसको पूर्वत: अपनाने वाले केन्द्रीय भाग का वर्णन किया है, जिसे परवर्त्ध साहित्य में "धर्मदेश" भी कहा गया है। आर्यावर्त के प्रदेशों में परिगणित प्रदेश "मध्यप्रदेश" संज्ञा सापेक्षिक है, जो इस बात का संकेत देती है कि उस समय प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य प्रदेश भी आर्यावर्त के भाग थे, किन्तु उनमें कहीं-कहीं अनार्य या आर्यों से बहिष्कृत लोग भी बसते थे, जबिक केन्द्रीय भाग में ऐसा नहीं था (मनु० १०।४५)। १०।४३-४४ प्रक्षित श्लोकों को यदि अनुश्रुति

के समान मान लिया जाये तो उनसे भी यही जानकारी मिलती है कि इन श्लोकों में परिगणित देश या जातियाँ इन श्लोकों की रचना से पूर्व आर्य थीं। इससे आर्य देशों के सुदीर्घ विस्तार का ज्ञान होता है (इ० महा० अनु० ३५.१७-१८)।

## (ख) आर्यावर्त के प्रदेश या जनपद—

(१) ब्रह्मावर्त — मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त प्रदेश को सर्वोच्च महत्त्व का प्रदेश माना है। वहाँ के निवासियों का आदर्श आचरण ''सदाचार'' है। सदाचार की शिक्षा का यह एकमात्र केन्द्र है (२।१६-१८,२०)। भौगोलिक दृष्टि से यह एक लघु प्रदेश था, जो सरस्वती और दृषदवती देवनदियों के मध्यवर्ती भूखण्ड पर स्थित था। महाभारत में भी इसे ''धर्मक्षेत्र'' कहा है।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार, सरस्वती नदी, हिमालय पर्वतश्रेणी में शिवालिक-पहाड़ियों से उद्भूत होकर शिमला पटियाला (वर्तमान पंजाब प्रान्त) तथा सिरसा (वर्तमान हिरयाणा प्रान्त) के क्षेत्रों से प्रवाहित होकर ब्रह्मावर्त की पश्चिमोत्तरीय सीमाओं का निर्माण करती थी। इसकी भौगोलिक स्थित बदलती रही है। वैदिक साहित्य के अनुसार यह पश्चिम समुद्र में गिरती थी, जर्बाक अवान्तर साहित्य के अनुसार यह राजपूताना (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान) की मरुभूमि में विलुत्त हो गयी थी। यही स्थान ''विनशन'' नाम से प्रसिद्ध हुआ (तैत्ति० सं० ७.२.१.४; शत० ब्रा० १.४.१.१४; ऐत० ब्रा० १९.१.२; कौषी० ब्रा० १२.२.३; महा० वन० ८२.१११, शल्य० ३७.१)।

हिमालय पर्वतश्रेणी में शिवालिक-पहाड़ियों से ही उद्भूत दृषद्वती नदी, ब्रह्मावर्त की पूर्वी और दक्षिणी सीमाओं का निर्माण करती हुई यमुना के समानान्तर प्रवाहित होकर कुरुक्षेत्र के दक्षिण की ओर से होती हुई सरस्वती नदी में मिलती थी (महा० वन० ५.२;८३.४;२०४,२०५)। दोनों ही नदियों के तट ऋषियों, मुनियों, विद्वानों के निवास एवं आश्रमों से सुशोभित थे। इनके तटों पर यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। इसी कारण मनु ने इनको ''देवनदी'' कहा है। सम्प्रति, दोनों ही नदियों की पहचान को लेकर भूगोलवेताओं में मतभेद है। कुछ घग्घर को सरस्वती, चितंग या रक्षी को दृषद्वती

मानते हैं। अभी इन पर सुनिश्चित शोध की आवश्यकतः है।

(२) ब्रह्मर्षि देश — ब्रह्मावर्त के साथ लगते पूर्व दक्षिण प्रदेश को "ब्रह्मर्षि देश" नाम दिया गया है। इसमें निम्न जनपद परिगणित है—कुरुक्षेत्र (वर्तमान हरियाणा में इसी नाम से प्रसिद्ध एक जिला नगर और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेश), मत्स्य (वर्तमान राजस्थान में जयपुर और अलवर तथा भरतपुर का कुछ क्षेत्र), पंचाल (वर्तमान उत्तरप्रदेश के बरेली, बदायूँ और फर्रुखाबाद जिलों के क्षेत्र), शूरसेन (मथुरा और आसपास का क्षेत्र) (मनु०२।१९)।

हमारे शोधकार्य के अनुसार यह श्लोक प्रक्षित घोषित हुआ है। इसकी पृष्टि भौगोलिक वर्णन से भी हो जाती है। यतोहि कुरुक्षेत्र ब्रह्मावर्त प्रदेश के अन्तर्गत आ जाता है, और शेष तीनों जनपद "मध्यदेश" की सीमा में समाविष्ट है। अतः इसकी पृथक् भौगोलिक संरचना मनुसम्मत सिद्ध नहीं होती। प्रतीत होता है, ब्रह्मावर्त के अनुकरण पर परवर्ती काल में यह नामकरण किया गया और उसके उपरान्त मनुस्मृति में इसका प्रक्षेप हुआ।

(३) मध्यदेश — उत्तर में हिमालय पर्वत, दक्षिण में विध्यपर्वत, पूर्व में प्रयाग प्रदेश (आधुनिक इलाहाबाद) और पश्चिम में विनशन स्थान (वर्तमान पश्चिमी राजस्थान की मरुभूमि में सरस्वती नदी के लुह होने का स्थल) इनका मध्यवर्ती भूभाग "मध्यदेश" कहलाता था (मनु० २।२१)। यहाँ प्रयाग से नगर और जनपद दोनों का ग्रहण किया गया है, जिसमें काशी भी सम्मिलित थी।

## (ग) अन्य जनपद—

मनु० १०। ४३-४४ श्लोकों में बारह जातियों का नामोल्लेख है, जो देशाधारित या देश विशेष की संज्ञाएँ भी हैं। इनसे इन जनपदों के अस्तित्व का संकेत मिलता है। यद्यपि हमारे शोधकार्य के अनुसार ये श्लोक भी प्रक्षित हैं, तथापि सम्पूर्णता के लिए मानचित्र में इनको प्रदर्शित कर दिया गया है। वे हैं—

- (१) पौण्डूक बंगाल के दीनाजपुर, मालदह, राजशाही और बोगरा तथा रंगपुर (बाग्ला देश) के पश्चिमी क्षेत्र। राजधानी पुण्डूवर्धनपुर, आधुनिक ''महास्थान'' (जिला बोगरा)।
  - (२) औडू आधुनिक उड़ीसा का पुरी भुवनेश्वर का क्षेत्र

और पूर्वी उत्तरी क्षेत्र। उत्तर में जाजपुर तक था।

- (३) किरात ब्रह्मपुत्र की पूर्वी घाटी का क्षेत्र।
- (४) द्रविड—दक्षिण में कावेरी नदी के आसपास का क्षेत्र। वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश।
  - (५) पल्हव वर्तमान ईरान (फारस) का पूर्वी क्षेत्र।
- (६) पारद वर्तमान बलूचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगुला नदी प्रदेश और हिंगुलाज प्रदेशीय क्षेत्र।
- (७) शक शकों का मूलस्थान मध्य एशिया था। इनका निवास सायर और आक्सस (वक्षु) निदयों (वर्तमान रुस में) के समीपस्थ प्रदेश में माना जाता है। चीन की यूची जाति द्वारा खदेड़ें जाने के बाद इन्होंने पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में अपने प्रदेश बसाये और शनै:शनै: भारत के भीतरी प्रदेशों पर विजय प्राप्त की।
- (८) यवन—मूलतः यवन यूनान के निवासी थे। भारत से इनके सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल में थे। वहाँ से आकर कुछ यवन (यूनानी) आक्सस (वक्षु) नदी और हिन्दू कुश पर्वत के मध्यप्रदेश में बस गये थे। इस कारण उस क्षेत्र को ''यवन देश'' कहा गया है। बलख (अफगानिस्तान) इनकी राजधानी का क्षेत्र रहा है।
- (१) कम्बोज—दक्षिण-पश्चिम कश्मीर, वर्तमान ''पामीर'' और ''बदख्शां'' का क्षेत्र (अफगानिस्तान)।
  - ( १० ) दर—उत्तर-पश्चिम कश्मीर का गिलगित, हुंजा प्रदेश।
  - ( **११ ) खश**—गढ़वाल और उसका उत्तरवर्ती क्षेत्र।
  - (१२) चीन-वर्तमान चीन देश।

इनके अतिरिक्त भी दशम अध्याय में बहुत-सी ऐसी जातियों का उल्लेख है, जिन नाम पर परवर्ती काल में जनपदों का नाम पड़ा। जैसे-अन्ध्र, अम्बष्ट, मगध आदि। वहाँ इन जातियों को देशाधारित न मानकर ''वर्णसंकर'' सन्तान होने के कारण उस-उस नाम से विहित किया गया है। इस कारण इस मानचित्र में उन जातियों या जनपदों का उल्लेख नहीं किया गया है। णीय है। यहाँ म्लेच्छ शब्द का उत्तरकाल में रूढ़ 'ग्रपवित्र' या 'नीच' अर्थ नहीं है। 'म्लेच्छ प्रव्यन्तभाषी' प्रथंवान् धातु से 'घल्' प्रत्यय के योग से म्लेच्छ शब्द बनता है। जिसका प्रयं है—'ऐसे ग्रशिक्षत लोग जो अस्पष्ट—ग्रशुद्ध भाषा बोलते हैं।' दूसरे शब्दों में इनको हम यह भी कह सकते हैं—'जिन्होंने वर्णाश्रम धर्मानुसार शिक्षा-दोक्षा प्राप्त नहीं की है, ऐसे व्यक्ति।' उपर्युक्त प्रसङ्ग देशों की सीमा बतलाने का है, ग्रतः मनु कहते हैं कि उपर्युक्त देशों की सीमा के ग्रागे म्लेच्छ व्यक्तियों के देश हैं। उस समय ग्रशिक्षत देश भी थे, तभी तो मनु संसार के उन सभी देशों के लोगों को 'ब्रह्मावर्त' में ग्राकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए कह रहे हैं [१।१३६ (२।२०)]। यह सीमावर्णन का प्रसंग होने से उन लोगों के प्रति इस श्लोक में कोई हीन मान्यता का भाव प्रदर्शित नहीं किया गया है। मनु व्यक्तियों को हीन अगर मानते हैं तो कर्मणा मानते हैं, जन्मना नहीं; चाहे वह कोई भी व्यक्ति हो। ऊपर 'म्लेच्छ' का जो अर्थ प्रदर्शित किया है उसकी पुष्टि के लए उनका हो एक प्रमाण प्रस्तृत है—

मुसबाहूरपरजाना या लोके जातयो बहिः। स्तेज्ज्ञबाबः बार्यवाबः सर्वे ते बस्यवः स्मृताः॥१०।४५॥

यहां 'म्लेच्छों' के लिए 'म्लेच्छवाचः' प्रयोग व्यान देने योग्य है। द्विज कहाँ निवास करें---

एतान्द्रिजातयो देशान्संश्रयेरन्त्रयत्नतः । शुद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिर्काशतः ॥१४३॥ [२।२४]

(द्विजातयः) द्विजाति श्रयति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग (एतान् प्रयत्नतः संश्रयेरन्) इन उपर्युक्त देशों में प्रयत्न करके भाश्रय ग्रहण करें—निवास करें (वृत्ति-कशितः श्रूदः तु) जीविका के प्रभाव से पीड़ित श्रूद्र तो (यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेत्) जिस किसी देश में जाकर निवास कर सकता है।। १४३।।

अरहा कारिटा : १४३ वां श्लोक निम्न माधार के अनुसार प्रक्षिप्त है-

(१) इस क्लोक से यह घ्वनित होता है कि द्विज मार्यावर्त से बाहर न जायें या न बसें। यह परवर्ती रूदिवादी मान्यता है। मनु ने अष्टम प्रध्याय में स्वयं देश-विदेशों में नौकाम्रों द्वारा व्यापार करने का उल्लेख किया है [८।१५७,४०६]। भौर प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि द्विजों के अन्य देशों में शासन ग्रौर विवाह-सम्बन्ध ग्रादि रहे हैं। यह मान्यता निम्न प्रकार मनुविषद्ध है—

अन्सर्विरोध—(क) १। १३६ [२।२०] में मनु ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'ब्रह्मावर्त के निवासी विद्वानों से पृथिवीमण्डल के समस्त मानव ग्रपने-ग्रपने चित्रों-धर्मों की शिक्षा ग्रहण करें।' इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं (क) पृथिवी-मण्डल के ग्रन्य देशों में भी वर्णव्यवस्था थी ग्रीर मनु उन सभी वर्ण वाले व्यक्तियों को ब्रह्मावर्तनिवासी विद्वानों से ग्रपने श्राचरणों की शिक्षा ग्रहण करने के लिए कह रहे हैं। (ख) ग्रन्य देशों के जो लोग शिक्षा ग्रहण करके जायेंगे तो वे भी वैसा ही ग्राचरण रखेंगे जैसा ब्रह्मावर्त के विद्वानों का वर्णानुसारी ग्राचरणहै। इस प्रकार शिक्षा-दीक्षा के ग्रनुसार प्रत्येक देश में वर्णव्यवस्था होगी। यहां द्विजों के लिए केवल 'ग्रायीवर्त देश को ही निवास योग्य' कहना उक्त मान्यता के विरुद्ध है।

- (ग) मनु कर्म के आधार पर वर्ण का निश्चय मानते हैं, दश के आधार पर नहीं। कर्म के अनुसार वर्णव्यवस्था को अपनाकर व्यक्ति कहीं किसी स्थान पर रहता हुआ श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ कलहायेगा (इस मान्यता के लिए प्रमाण द्रष्टव्य हैं १।६२—१०७ इलोकों पर अनुशीलन समीक्षा में 'अन्तिविरोध' आधार पर)। इस प्रकार देश के श्राधार पर द्विजों और शुद्रों के कर्त्तव्यों का कथन मनु की इस मान्यता के विरुद्ध है।
  - (घ) मनुकी ये व्यवस्थाएं केवल म्रायिवर्तदेशीय लोगों के लिए ही नहीं हैं मिपतु समस्त संसार के लिए हैं—''सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपञ्जानां पृथकं कर्माण्यकस्पयत्।'' (१। ८७) स्रतः इन्हें देश की सीमाग्रीं तक बांघना मनुके उद्देश्य के ही विरुद्ध है। इस प्रकार यह श्लोक प्रक्षिप्त है।
  - (ड) मनु देश के आघार पर वर्णव्यवस्था नहीं मानते अपितु शास्त्रानुसार कर्मव्यवस्था के आघार पर मानते हैं। इसीलिए मनु ने १०। ४६ [अन्यत्र १०। ४६] में यह
    स्पष्ट कर दिया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों की दीक्षा से रहित जो लोग
    हैं, चाहे वे आर्य-भाषाए ही क्यों न बोलते हों, वे दस्यु हैं। इस वचन से यह भी अध्याहार
    होता है कि चोहे वे आर्यभाषाभाषी लोग आर्यावर्त या अन्य किसी भी देश में रहते हों,
    यदि उन्होंने वर्णों में दीक्षा नहीं ली है तो दस्यु हैं; और चाहे वे अन्यत्र देश में हैं, यदि
    दीक्षित हैं तो दस्यु नहीं, आर्य हैं। इस मान्यता के आधार पर भी यह श्लोक प्रक्षिप्त है।
    - (२) आर्यावर्त देश को छोड़ कर अन्य देशों में आर्यों के जाने, बसने, व्यापार करने, विवाहादि सम्बन्ध बनाने के विषय में मनुस्मृति को आधार मानकर महर्षि दया-नन्द ने जो अपने विचार दिये हैं, उनके कुछ उद्धरण निम्न हैं—
    - (क) ''इसी मार्यावर्त में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों म्रयौत् विद्वानों से भूगोल के सब मनुष्य—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ ग्रादि सब ग्रपने-अपने योग्य विद्याचिरत्रों की शिक्षा ग्रीर विद्याम्यास करें।" (स० प्र० २७३)
    - (ल) "मनुस्मृति में जो समुद्र में जाने वाली नौका पर कर लेना लिखा है वह भी आयार्वित से द्वीपान्तर में जाने के कारण है। और जब महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिये भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे, जो दोष मानते होते तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्यावर्त्तंदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य्य और अमण के लिये सब भूगोल में घूमते थे। और जो आजकल खूतछात और धर्म नष्ट होने की शंका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है।" (स० प्र० दशम समु०)

सृष्टि एवं धर्मोत्पत्ति विषय की समाप्ति का कथन, वर्णधर्मी का वर्णन प्रारम्भ-

एषा धर्मे र वो योनिः समासेन प्रकीतिता । सम्भवत्वारा सर्वस्य, वर्णधर्मान्निबोधत ॥१४४॥ [२।२४] (७८) (एषा) यह (धर्मस्य योनिः) धर्म की उत्पक्ति [१।१२० से १३६ तक (म्रथवा २ । १ से २ । २०)] (च) ग्रीर (म्रस्य सर्वस्य संभवः) इस समस्त जगत् की उत्पति [१।५ से ६१ तक] (समासेन) संनेप से (वः प्रकीर्तिता) ग्राप लीगों को कही, मृबः(वर्णधर्मान्)वर्ण-धर्मों को (निबोधत) सुनो –।।१४४॥

श्रान्तु श्रीटिंडन्डः (१) मनुस्मृति में मध्याय-विभाजन मौलिक नहीं— प्रथम श्रध्याय की समाप्ति इस श्लोक के बाद होनी चाहिए,११६ वें श्लोक के पश्चात् श्रध्याय की समाप्ति करना त्रुटिपूर्ण है। मनुस्मृति में श्रध्यायों का विभाजन मौलिक नहोकर परवर्ती है।

विभाजनकत्ता ने विषयों को अध्यायों का आधार बनाया है, जैसे-प्रथमाध्याय में मृष्टच त्यत्ति भीर धर्मोत्यत्ति विषय हैं, द्वितीय में ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म, तृतीय में गृहस्य से सम्बद्ध धर्म, आदि । किन्तु प्रथम ग्रध्याय का विभाजन विषयसंगत नहीं है। पता नहीं विभाजनकत्ती की किस भ्रान्ति के कारण यह त्रुटि रह गयी है। प्रथम अघ्याय में एक-दूसरे से सम्बद्ध दो विषय हैं - मृष्टघुत्पत्ति भौर धर्मोत्पत्ति। पारस्परिक घनिष्ठ सम्बद्धता के कारण मनु ने इन दोनों विषयों को एक मुख्य विषय मानकर वर्णित किया है। १।२ में मनू से महर्षियों ने धर्मों के कथन करने की प्रार्थना की थी। धर्मकथन के लिए भूमिका के रूप में धर्मोत्पत्ति, धर्मस्रोत ग्रादि का भी बत-लाना आवश्यक था, श्रीर ये जगदाश्रित हैं -- जगदुत्पत्ति के पश्चात् ही धर्म की उत्पत्ति, आवश्यकता और स्थिति बनती है-अत: इस दिष्ट से ग्रावश्यक समक्षकर मनु ने मृष्टि-उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। १।४-५ में इस मृष्ट्युत्पत्ति विषय का संकेत-पूर्वक प्रारम्भ है और १। ६१ में कर्मों की रचना के साथ वह पूर्ण होता है तथा १०८ वें इलोक से धर्म का प्रसंग प्रारम्भ होकर १।१४४ प्रिन्य संस्करणों के अनुसार २। २५] में समाप्त होता है। १। १४४ में मनू ने एकसाय ही इत विषयों की पूर्णता का संकेत दिया है-"एवा धर्मस्य वो योनि:"" संमवत्रवास्य सर्व "" जब मनु ने स्वयं उसका समापन एकसाय भीर १४३ वें के बाद कहा है, तो स्पष्ट है कि इससे पूर्व उस विषय को खण्डित नहीं किया जा सकता। यदि इन दोनों विषयो में एक मुख्टच त्पत्ति विषय की पूर्णता पर ही भ्रष्याय-विभाजन किया जाता,तो उसे भी एक ही विषय से युक्त होने के कारएा स्वीकार्य मान लिया जा सकता था किन्तु परम्परागत म्रध्याय-विभाजन में तो प्रसंग भी तोड़ रखा है। धर्म के भूमिका रूप १०८--११० इलोक तो प्रयम प्रध्याय में रह गये और शेष धर्म-वर्णन प्रसंग द्वितीय ग्रध्याय में चला गया। इस प्रकार प्रसंग ही विखण्डित हो जाता है। १४४ वें के बाद ग्रघ्याय में विभाजन होने से न तो प्रसंग ही खण्डित होगा और न विषय, प्रपित् मन के संकेत के अनुसार अध्याय की पूर्णता होती है। द्वितीय अध्याय के ये २५ क्लोक प्रथम अध्याय में परिगणित हो जाने से द्वितीय प्रष्यायों का विभाजन भी वैज्ञानिक ग्रीर सुव्यवस्थित रूप से हो जायेगा। मन्य प्रघ्यायों की भांति उसका—'ब्रह्मचयश्चिम के धर्म' यह एक ही मुख्य

विषय रह जायेगा। इस प्रकार कई त्रुटियों के कारण परम्परागत प्रव्यायविभाजन गलत है, प्रथम प्रव्याय की समाप्ति १।१४४ (२।२५ ग्रन्य प्रकाशनों में) के बाद होना चाहिए (ग्रन्य जानकारी के लिये भूमिका में 'ग्रव्याय-विभाजन' शीर्षक प्रव्याय पढ़िये) (२) मनस्मित में बार्गों ग्रीर ग्राथमधर्मों का साथ-साथ वर्णन—

यहां केवल 'वर्णवर्मान्निबोषत' ग्रीर १०।१६१ में "एषा धर्मविषिः कृत्स्नद्रचा-तुर्वर्थस्य कीर्तितः" इस उपसंहारात्मक पद को पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि मनु से प्रकृत वर्णों ग्रीर ग्राश्रमों [१।२] दोनों का किया था फिर विषय-संकेतक क्लोकों में केवल वर्णोंधर्म की ही बात क्यों कही ? इसका समाधान मनु-शैली ग्रीर ग्रन्य क्लोकों से हो जाता है। उसे इस प्रकार समक्षना चाहिए—

(१) मनुस्मृति की यह शैली है कि उसमें ब्राश्रमों के धर्म वर्णों के साथ-साथ चलते हैं। वर्णों के सुदीर्घ विषय के अन्तर्गत ही ब्राक्तर वे छठे अध्याय में ब्राह्मण वर्ण के धर्मों के साथ-साथ ही समाप्त हो जाते हैं। और, छठे अध्याय में ब्राश्रमधर्मों की पूर्णता के साथ-साथ ब्राह्मण वर्ण के धर्म और व्यावहारिक कर्तंच्य भी पूर्ण हो जाते हैं। छठे प्रध्याय तक के चारों ब्राश्रमों के धर्म और व्यावहारिक कर्तंच्य सभी द्विजों के लिए एक सदृश पाल-नीय हैं। जो विधान इन ग्रध्यायों में कहे हैं, ब्राह्मण के वही धर्म-कर्म हैं [१। ८८]।

उसके पश्चात् शेष वर्णों के व्यावहारिक कर्तव्यों का कथन—'क्षत्रियों' के लिए सप्तम, प्रष्टम प्रध्याय ग्रीर नवम के ३२५ वें श्लोक तक पूर्ण होता है। वैश्यों का ६।३२६ से ३३३ [इस संस्करण में १०।१ से १०। ८ तक] तथा शूद्र के कर्तव्यों का कथन ६।३२४-३३५ [इस संस्करण में १०।६-१० तक] पूर्ण हो जाता है।

- (२) इस मध्य द्वितीव प्रध्याय में ब्रह्मचर्यात्रम, तृतीय से पञ्चम प्रध्यायों में ग्रहस्थात्रम, पष्ठ में वानप्रस्थ ग्रीर संन्यासात्रम का वर्णन है। ग्रात्रमधर्मों को वर्णधर्म-विषय के ग्रन्तर्गत मानकर उन-उन विषयों के प्रसंगसंकेतक क्लोकों तथा उपसंहारात्मक क्लोकों से उसका कथन भी किया है [२।४३ (२।६८), २।२२४ (२।२४६), ३।२,६७,२८६,४।१,२५६,६।१,३३,८७-६०] आदि।
- (३) इसी प्रकार इन म्रघ्यायों में द्विज विम्न, ब्राह्मण शब्दों का स्थान-स्थान पर पर्यायवाचीरूप में प्रयोग है।
  - (४) मनु ने संभवतः इसी शैली के अनुरूप १।२ और १।१३७[२।१८] में आश्रम के लिए पर्यायवाची रूप में 'अन्तरप्रभव' और 'सान्तराल' शब्दोंका प्रयोग किया है, इसका अर्थ बनता है—'वर्णानाम् अन्तरे प्रभवः उत्पत्तिः शिवतिः येवां ते अन्तरप्रभवाः == आश्रमाः।" इसी शैली के अनुरूप आश्रमों का वर्णंधर्मों के अन्तर्गत ही कथन है। यह मनु की शैली है। [इस विषय पर विस्तृत विवेचन मनुस्मृति-अनुशीलन में इष्टव्य है]।

इति महीव मनुप्रोक्तायां सुरेग्द्रकुमारकृतिहग्बीजावाजाव्यसमन्वितायाम् अनुशीलन-समीक्षा-विमूचितायाम्य मनुस्मृतौ 'जगबुत्पत्ति-धर्मोत्पत्तिः' नामात्मकः प्रथमोऽध्यायः ॥

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-'अनुशोलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

(संस्कार एवं ब्रह्मचर्याशम-विषय)

(संस्कार २।१ से २।४३ तक)

संस्कारों को करने का निर्देश ग्रीर उनसे लाभ-

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैनिषेकादिद्विजन्मनाम्।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रत्य चेह च ॥१॥ [२।२६] (१)

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि (वैदिकै: पुण्यै: कर्मभि:) वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से (द्विजन्मनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैदय अपने सन्तानों का (निषेकादि: शरीरसंस्कार: कार्यः) निषेकादि [ = गर्भाधान ग्रादि ] संस्कार करें, जो (इह च प्रेत्य पावनः) इस जन्म वा परजन्म में पवित्र करने वाला है।। १।। (स० प्र० २५७)

अ न्यू शिटिका : संस्कारों के उद्देश्य और लाभ पर प्रकाश डालते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं— "जिस करके शरीर और ग्रात्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकता है ग्रीर सन्तान ग्रत्यन्त योग्य होते हैं। ग्रतः संस्कारों का करना सब मनुष्यों को ग्रति उचित है।" (सं० वि० भूमिका)

संस्कारों से बुरे संस्कारों का निवारण-

गार्भेहोंमैर्जातकर्मचौलमौञ्जीनिबन्धनैः । बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २॥ [२।२७] (२)

(गार्भें:) गर्भगुद्धिकारक गर्भकालीन ग्रर्थात् गर्भाघान, पुस्वन, सीमन्तोन्नयन संस्कारों से (जातकर्मचौल-मौञ्जीनिबन्धनेः) [जाते जन्मिन शैशवावस्थायां क्रियते यत् संस्कारकर्म तत् जातकर्म ] जन्म होने पर शैशवावस्था में जो संस्कार किये जाते हैं, वे जातकर्म कहलाते हैं। उनमें जातकर्म [२।४] नामकरण [२।५-६], निष्क्रमण [२।६], ग्रन्नप्राशन [२।६]; ग्रौर चौल ग्रर्थात् चूडाकर्म [२।१०], तथा मेखला-बन्धन प्रथात् उपनयन एवं वेदारम्भ ग्रादि [२।११-४३॥२।४४,४६-२२४]

(होमैं:) यज्ञ से सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों से (द्विजातीनाम्) द्विज बानकों के (बैजिकम्) बोज-सम्बन्धी=गरम्परागत पैतृक-मातृक ग्रंशों से उत्पन्न होने वाले (च) ग्रीर (गाभिकम्) गर्मकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले (एन:) बुरे ग्राचरण के संस्कारजन्य दोष एवं शारीरिक श्रगु-द्वियां (ग्रपमुज्यते) दूर हो जाते हैं ग्रर्थात् इन संस्कारों के करने से बालकों के बुरे संस्कार मिटकर शुद्ध-श्रेष्ठ संस्कार बनते हैं ॥२॥॥

अम्बुट्योट्डनः इस श्लोक के अर्थ की व्यापकता पर श्रीर संस्कारों की संख्या सम्बन्धी मान्यता पर विस्तृत विवेचन करना पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। क्योंकि, प्रचलित टीकाग्रों में इस श्लोक का श्रर्थ संकुचित एवं श्रपूर्ण मिलता है तथा मनु ने संस्कार कितने माने हैं, इस विषय में श्रनेक लेखकों को आन्ति हुई है।

- (क) 'गार्भें:' ग्रांदि पदों में अर्यव्यापकता (१) सर्वप्रथम संस्कारों के परि-गणन प्रसङ्ग में मनु की शैली को समक्ष लेना उपयोगी होगा। क्योंकि उस समय संस्कार बहुप्रचलित सर्वप्रसिद्ध कृत्य थे, ग्रतः मनु ने कहीं किसी संस्कार का केवल नामोल्लेख ही कर दिया, जैसे — निषेक संस्कार [२।१—२ में] किन्तु विधि नहीं दी। कहीं सांकेतिक रूप में एक सम्बन्ध के संस्कारों का परिगणन कर दिया है, जैसे 'गार्भेंं' कहने से सभी गर्भकालीन संस्कारों — गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन का ग्रन्तर्भाव हो गया, तो कहीं इस क्लोक में सबका नामोल्लेख न करके विधिवर्णन में उनका कथन कर दिया है, जैसे नामकरण, निष्क्रमण, ग्रन्नप्राशन का [२।४—६]। जिस संस्कार के विषय में मनु को जितना स्पष्टीकरण ग्रमीष्ट था, उतना ही किया है।
- (२) इस शैली के समक्षते के पश्चात् ग्रब इस श्लोक के शब्दों के ग्रथं की व्याप-कता पर विचार किया जाता है। (क) इस श्लोक में 'गार्में:' शब्द बहुवचनान्त है, जिसका अर्थ है—'गर्म-सम्बन्धी' या 'गर्मकालीन सभी संस्कार'। ग्रगर मनु को केवल गर्मा-धान संस्कार का परिगणन करना ही ग्रभीष्ट होता तो वे बहुवचन का प्रयोग नहीं करते। यह बहुवचनान्त प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि मनु इस शब्द से सभी गर्म-कालीन संस्कारों के परिगणन की अभीष्टता का संकेत करना चाहते हैं। वे गर्मकालीन संस्कार तीन हैं— १. गर्भाधान, २. पुसवन, ३. सीमन्तोन्नयन।
- ' (ख) इसी प्रकार इस क्लोक में 'जातकमें' भी केवल एक संस्कार का वाजक न होकर जन्म के उपरान्त बौंशव काल में होने वाले सभी संस्कारों का उपलक्षण है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि मनु ने विधिवर्णन प्रसंग में जातकमें के पश्चात् उन सभी का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया हैं। वे हैं—१. जातकमें [२।४], २. नाम-करण [२।४-६]; निष्क्रमण [२।६], अन्तप्राशन [२।६]।

<sup>%[</sup>प्रचलित अर्थ—गर्भ गुद्धिकारक हवन, चूडाकरण ग्रौर मौस्त्रीबन्धन (यज्ञी-पवीत) संस्कारों से द्विजों के वीर्य एवं गर्भ से उत्पन्न दोप नष्ट हो जाते हैं॥२७॥

(ग) इसी प्रकार 'मौञ्जीबन्धन' भी ग्रपने अन्तर्गत दो संस्कारों का अन्तर्भाव किये हुए है—एक उपनयन ग्रीर दूसरा—वेदारम्भ । क्योंकि ब्रह्मचारी उपनयनदीक्षा के अवसर पर मेखलाधारण करता है ग्रीर वेदाष्ट्रयन समाप्ति पर्यन्त उसे धारण कर रखता है । इस प्रकार इस नाम में व्यापक भाव है ।

#### (३) मनुस्मृति में सोलह संस्कार---

इस विवेचन के उपरान्त ग्रंब इस जिज्ञासा का समाधान भी निकल त्राता है कि मनु ने ग्रंपनी स्मृति में कितने संस्कारों का उल्लेख किया है। कोई मनुसम्मत १२ संस्कार मानते हैं, तो कोई कम-प्रधिक। वास्तविकता यह है कि मनु ने सांकेतिक, नामोल्लेख या विधिवणन के रूप में १६ संस्कारों का वर्णन किया है। पाठकों के परिज्ञान के लिए उनके वर्णनस्थल एवं ग्रंथ का यहां तालिका के रूप में दिग्दर्शन कराया जाता है—

सोलह संस्कारों की विवरण-तालिका				
संस्कार संस्या	नाम	संस्कार का उद्देश्य एवं विधि	मनुस्मृति में वर्णनस्थल	
		(प्रत्येक संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न होता है)		
१. गर्मा	घान संस्कार	सन्तानप्राप्ति के लिए वीर्यंनियेचन द्वारा गर्भस्थापन करना (गृहाश्रमी होने पर)	[२।२ में 'गार्केंं' पद से और २।१, २।११७ में]।	
२. <b>पुंत</b>	वन	स्त्री के गर्भाघान के चिह्न प्रकट होने पर दूसरे या तीसरे मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक की जानेवाली विधि।	[२।२ में 'गार्मेंंः' पद के अन्तर्गत]	
३. सीम	न्तोन्नयन	गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भस्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के भारोग्य के लिए की जाने वाली विधि।	[ " "]	
४. जात	कर्म	शिशुजन्म के समय किया जाने वाला संस्कार जिसमें सोने की शलांका से वालक को असमान मात्रा में थोड़ा-सा मधु और घृत चटाया जाता है।	[२।४ में]	

<b>x</b> .	नामकरण	जन्म के १० वें, बारहवें या किसी भी	
_	<b>6</b>	सुखमय दिन में वालक का नाम रखना।	[२।५–़ में]
€.	निष्क्रमरण	अधिक से ग्रधिक चतुर्य मास में बालक को घर से बाहर भ्रमण कराने के लिए निकालना प्रारम्भ करना।	[२।६ में]
<b>७</b> .	<b>श</b> न्नप्राश <b>न</b>	लगभग छठे मास में बालक को म्रन्न म्रादि सुपाच्य पौष्टिक भोजन का प्रारम्भ कराना।	[२।६ में]
۲.	मुण्डन (चूडाकर्म)		
		मुण्डन संस्कार कराना ग्रर्थात् प्रथम बार सिर के केश उतारना।	[२।३५ में]
€.	उपनयन	बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप	
		गुरुकुल में ले जाकर छोड़ना श्रीर गुरु	[२।११–४३ में]
•	<b>3</b>	द्वारा उसे यज्ञोपवीत की दीक्षा देना।	
१०.	वेदारम्भ	गुरु के पास रहकर श्रेष्ठ शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते हुए वेदों को पढ़ना।	[२।४४–२२४ में]
११.	केशास्त	युवावस्था के प्रारम्भ में केशकर्त्तन	[4100-4404]
• •		कराना ।	[२।४०]
<b>१</b> २.	समावर्तन	वेदों का अध्ययन और शिक्षा प्राप्त	
		करके गृहाश्रम को घारण करने के लिए	[३।१–३ में,
		स्नातक वनकरगुरुकुल को छोड़ घर	२।२२०–२२२
		में म्राना।	भी द्रष्टव्य]
₹₹.	विवाह	गृहस्थाश्रम में जाने के लिए स्त्री ग्रौर	
		पुरुष का सम्बन्ध होना (२५ वर्ष की	[३।४–६२-में]
	एवं	आयु के पश्चात्)।	
	गृहाश्रम	विवाहोपरान्त गृहस्य के धर्म ग्रौर	
	मंस्कार	कृत्यों का पालन करते हुए सन्तानी-	[ ३।६७-२८६,
		त्पत्ति करना ।	सम्पूर्ण चतुर्थ ग्रीर पंचमग्रध्यायों में]
<b>१</b> %.	बानप्रस्थ	सन्तानों के स्वावलम्त्री होने पर या ५०	
•		वर्षं की प्रायु के पत्त्वात् घर को त्याग	[६।१–३२ में]
		कर वन में रहते हुए तपस्या एवं	-
		ईश्वरभक्ति करना। वनस्य की दीक्षा	
		लेने का संस्कार।	

१५. संन्यास

सांसारिक भोग आदि की भावनाओं का और सर्वस्व का त्याग करके, पूर्ण वैरागी बन, परोपकारार्थ विचरण करने की दीक्षा लेना तथा बहा में लीन रहकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। [६।३३-६७ में, १२।८२-१२५ भी द्रष्टव्य]

१६. ग्रन्त्येष्टि

प्राणों के निकल जाने पर शरीर का [४।१६७ में] दाहकर्म होना।

(४) 'एनः' का म्रयं—एनः का म्रयं यहां पापक्षीणता नहीं है म्रपितु 'बुरे माचरण से उत्तरन दुष्ट संस्कार' यह अयं है। 'ईयते प्राप्यते दुःखम् मनेन इति एनः ग्रथमांचरणम् तज्जन्यः संस्कारदोषः क्षरीराशुद्धित्व ।' 'इण्गती' धातु से 'इणः म्रागसि' (उणादि ४।१६८) सूत्र से म्रसुन् प्रत्यय ग्रीर नुडागम से 'एनस्' शब्द सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि २।७७ [२।१०२] क्लोक से भी हो जाती है। वहाँ 'एनस्' के प्रयोग के साथ 'मलम्' का भी पर्यायवाची रूप में प्रयोग है जिसका ग्रयं संस्कारदोप की मलिनता का नष्ट हो जाना है।

वेदाघ्ययन, यज्ञ, व्रत ग्रादि से ब्रह्म की प्राप्ति-

स्वाध्यायेन व्रतेहींमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै:। महायज्ञैस्च यज्ञैस्च ब्राह्यीयं क्रियते तनुः॥३॥ [२।२८] (३)

"(स्वाध्यायेन) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने (वर्त ) ब्रह्मचर्य सत्यभाष-णादि नियम पालने (होमैं:) ग्रग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, ग्रसत्य का त्याग ग्रौर सब विद्याग्रों का दान देने (त्रैविद्येन) वेदस्य कमं-उपासना-ज्ञान विद्या के ग्रहण (इज्यया) पक्षेष्टचादि करने (सुतैः) सुनन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव ग्रौर ग्रतिथियों के सेवन रूप पंचमहा-यज्ञ ग्रौर (यज्ञैः) ग्रग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्याविज्ञानादि यज्ञों के सेवन से (इयं तनुः) इस शरीर को (ब्राह्मी क्रियते) ब्राह्मी ग्रर्थात् वेद ग्रौर परमे-ध्वर की भिनत का ग्राधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनता है। इतने साधनों के बिना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता"। । ३।। (स० प्र०४०)

"(स्वाघ्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने (जपै:) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतै:) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायजै: च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ. देवयज्ञ, पितृ-यज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का संग-सत्कार, सत्यभाषरा, परोपकारादि सत्कर्म श्रीर सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के दुराचार छोड़ श्रेष्ठचार में वर्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मरा का (क्रियते) किया जाता है।" (स० प्र० ८६)

"मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्रीप्रणत्रादि का ग्रथं विचार, ध्यान, ग्राग्निहोत्रादि होम, कर्म-उपासना ज्ञानिवद्या, पौर्णमास्यादि इष्टि, पंचमहायज्ञ, ग्राग्निष्टोम ग्रादि, न्याय से राज्यपालन, सत्योपदेश ग्रीर योगाम्यासादि उत्तम कर्मों से इस शरीर को (ब्राह्मी) ग्रयात् ब्रह्मसम्बन्धी करें। (सं० वि० १८१)

जातकर्म संस्कार का विधान---

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।

मन्त्रवस्त्राज्ञनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ ४ ॥ [२।२६] (४)

(पुंसः) बालक का (जातकर्म) जातकर्म संस्कार (नाभिवर्धनात्-प्राक्) नाभि काटने से पहले (विधीयते) किया जाता है (च) ग्रौर इस संस्कार में (ग्रस्य) इस बालक को (मन्त्रवत्) मन्त्रोच्चारणपूर्वक (हिरण्य-मधु-सर्पिषाम्) सुवर्ण, शहद ग्रौर घी ग्रर्थात् सोने की शलाका से [ग्रसमान मात्रा में] शहद ग्रौर घी (प्राशनम्) चटाया जाता है।। ४।।

अवस्तु शिंदिजना: 'वर्धन' शब्द का विवेचन—(१) 'वर्धनम्' शब्द 'वर्ध छेदनपूरणयोः' धातु से लयुट् प्रत्यय के योग से बना है, ग्रतः उसका ग्रर्थ 'काटना' है। बालक के उत्पन्न होने के पश्चात्,नाभि काटने से पूर्व, इस संस्कार की श्लोकोक्त प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। वह इस प्रकार की जाती है। बालक के उत्पन्न होने पर प्रथम गर्भाशय की झिल्ली से उसके नाभिस्थ नाल को पृथक् किया जाता है और सिरे को बांघ दिया जाता है। पुनः नाभि से कुछ इंच छोड़कर उस नाल को दो स्थानों से अच्छी प्रकार बांघा जाता है, जिससे कि बालक का रक्त न वहे। शेप भाग को काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इसी को नाभिवर्षन' किया कहते. हैं। इस किया से पूर्व शहद और घी चटाना विहित है। दूसरा इसका अभिप्राय यह है कि नाभिवर्षन से पूर्व जातकमें संस्कार प्रारम्भ किया जाता है। प्रसव समय निकट आने पर बालक का जिता प्रमूता पर जलप्रोक्षण करना है(द्र० पार०ग्० मूप १११६।१; गोमिल०२।७, ४२।१७) पुरोहितयज्ञस्थल पर बैठ पुण्याहवाचन करता है।

(२) महर्षि दयानन्द ने संस्कारिविधि में इस प्रक्रिया को इस प्रकारिविहित किया है— ''तत्पव्चात् घी और मधु दोनों बराबर मिलाके जो प्रथम सोने की शलाका कर रक्खी हो उस से बालक की जीभ पर—'ग्रो३म्' यह ग्रक्षर लिखके उस के दक्षिण कान में ''वेदोसीति''—तेरा गुष्त नाम वेद है, ऐसा सुनाके पूर्व मिलाये हुए घी ग्रौर मधुको उस सोने की शलाका से बालक को नीचे लिखे मन्त्र से थोड़ा-थोड़ा चटावे।" (सं० वि० ४७)

द्यों प्रते बदामि मधुनो घृतस्य देव सिवत्रा प्रसूतं मघोनाम् । द्यायुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शारदो लोके ग्रस्मिन् ॥ [ग्राश्व ग्रु० सु० १ । ५१ । १] (सं० वि० ४०)

### (३) जातकर्म में गृहसूत्रों के प्रमाण---

गृह्यसूत्रों ने मनुविहित विधि को ही ग्रहण किया है। ग्राव्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१ में जातकर्म में निम्न विधान विणित है — "कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्मात् सिप्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन श्राद्योत् ॥" ग्रर्थात् — वालक के जन्म के पत्त्वात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद ग्रीर धी चटाये।

नामकरण संस्कार-

नामधेयं दशस्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् । पृण्ये तियौ मुहर्ते वा नक्षत्रे वा गुरुगान्विते ॥४॥[२।३०](४)

(ग्रस्य) इस वालक का (नामथेयं तु) नामकरण संस्कार (दशम्यां वा द्वादश्याम्) दशवें वा बारहवें दिन (वा) ग्रयवा (पुण्ये तिथी वा मुहूर्ते, किसी भी पुण्य = ग्रनुकूल ग्रयात् मुविधाजनक तिथि या मुहूर्त में (वा) ग्रयवा (गुणान्विते नक्षत्रे) ग्रुभगुण वाले नक्षत्र में (कारयेत्) करावे ॥५॥

आनु शिल्ड ना: नामकरण में गृह्यसूत्रों के प्रमाण— गृह्यसूत्रों में नाम-करण की विधि कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है—

(क) ''नाम चास्मै दखुः। घोषवदाद्यन्तरन्तःस्यमभिनिष्ठानान्तं द्वयक्षरम्। चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेव पुंसाम्। प्रयुजानि स्त्रीलाम्।।"

(ब्राइव० गृह्य० १।१५।४–१० ।)

(ल) "दशस्यामुत्थाप्य पिता नाम कशेति । द्वपक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदा-द्यन्तरन्तःस्यं दीर्घीमिनिष्ठानान्तं कृतं कुर्यात् न तद्धितम् प्रयुजाक्षरम्-प्राकारान्तं स्त्रिये।" (पार० गृह्य० १ । १७ । १–४)

भावार्यं—दशवें दिन पिता नामकरण मंस्कार कराता है। बालक का नाम दो ग्रक्षर का या चार ग्रक्षर का हो ग्रीर वह घोषसंज्ञक ग्रथित् पांचों वर्गों के दो-दो ग्रक्षर छोड़ के तीसरे, चौथे, पाँचवें [ग, घ, ङ, ज, भ, ज, इ, ढ, ण, द, घ, न, व, भ, म, ये स्पर्शे] ग्रीर ग्रन्तस्थ ग्रथित् य, र, ल, व से युक्त, दीर्घंस्वरान्त नाम रखे। और नाम कृदन्त रखें तिद्धतान्त नहीं। विषमाक्षर ग्रीर आकारान्त नाम स्त्रियों के होने चाहिए।

### (ग) महर्षि दयानन्द ने नामकरण का निम्न काल दिया है-

नामकरण का काल—''जिस दिन जन्म हो, उस दिन से लेके १० दिन छोड़ ११ में या १०१ एक सौ एक में अथवा दूसरे वर्ष के आरम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम घरे"। (सं० वि० नामकरण संस्कार)

वणीनुसार नामकरण-

मङ्गल्यं ब्राह्मण्स्य स्यात्भित्रियस्यबलान्वितम् । वैदयस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥६॥[२॥३१](६) द्यमंबद्दबाह्मण्स्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् । वैदयस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रष्यसंयुतम् ॥७॥ [२॥३२](७)

(ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं स्यात्) ब्राह्मण का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—ब्रह्मा, विष्णु, मनु, शिव, ग्रग्नि, वायु, रिव, ग्रादि] रखना चाहिए (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (बल + ग्रन्वितम्) बल-पराक्रम-भावबोधक शब्दों से [जैसे—इन्द्र, भीष्म, भीम, सुयोधन, नरेश, जयेन्द्र, युधिष्ठिर ग्रादि] (वैश्यस्य धनसंयुक्तम्) वैश्य का धन-ऐश्वर्यं भाव-बोधक शब्दों से [जैसे—वसुमान्, वित्तेश, विश्वम्भर, धनेश ग्रादि] ग्रीर (शूद्रस्य तु) शूद्र का (जुगुष्सितम्) रक्षणीय, पालनीय भावबोधक शब्दों से [जैसे— सुदास, ग्रक्तिचन] नाम रखना चाहिए। श्रर्थात् व्यक्ति के वर्णसापेक्ष गुणों के ग्राधार पर नामकरण करना चाहिए।।।।।

[म्रथवा] (ब्राह्मएस्य शमंवद् स्यात्) ब्राह्मए का नाम शमंवत् कर्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख, ग्रानन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़-कर रखना चाहिए। जैसे—देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धमंदत्त, ग्रादि] (राज्ञः रक्षासमन्वितम्) क्षत्रिय का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़-कर रखना चाहिए [जैसे—महीपाल, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा] (वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तम्) वैश्य का नाम पुष्टि-समृद्धि द्योतक शब्दों को जोड़कर [जैसे—धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त] ग्रीर (शूद्रस्य) शूद्र का नाम (प्रष्यसंयुतम्) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए [जैसे—देवदास, धर्मदास, महीदास।]

<sup>%</sup> प्रचलित अर्थ — ब्राह्मण का मञ्जल-सूचक शब्द से युक्त, क्षत्रिय का बल-सूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन-वाचक शब्द से युक्त और शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चिहए।।२।३१॥ ब्राह्मण का 'शर्मी' शब्द से युक्त, क्षत्रिय का रक्षा-शब्द से युक्त, वैश्य का पुष्टि शब्द से युक्त और शूद्र का प्रेष्य (दास)शब्द से युक्त उपनाम (उपाधि) करना चाहिए।।२।३२॥]

प्रयात् व्यक्तियों के वर्णगत कार्यों के म्राघार पर नामकरण करना चाहिए।।७।।क्ष

"जैसे ब्राह्मण का नाम विष्णुशर्मा, क्षत्रिय का विष्णुवर्मा, वैश्य का विष्णुगुष्त ग्रीर शूद्र का विष्णुदास, इस प्रकार नाम रखना चाहिये। जो कोई द्विज शूद्र बनना चाहे तो अपना नाम दास शब्दान्त धर ले।"

(ऋ० प० वि० ३४६)

अनुर्वे किन्न : ६, ७ इलोकों के संगत प्रयं — प्रचलित टीकाओं में इन दोनों इलोकों के अर्थों में निम्न श्रुटियां पायी जाती हैं—

- (१) प्रचलित टीकाओं में इन दोनों श्लोकों का जिस पद्धित से अर्थ किया गया है उससे दोनों श्लोकों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। इन टीकाओं के अर्थ के अनुसार पहले श्लोक में चारों वर्णों का क्रमशः मङ्गलयुक्त, बलयुक्त, धनयुक्त और निन्दायुक्त नाम रखने का विधान है और द्वितीय में शर्मायुक्त, रक्षायुक्त, पुष्टियुक्त और दासयुक्त नाम रखने का कथन है। यहां सन्देह होता है कि पहले और दूसरे श्लोकों में ये भिन्त-भिन्न विधान क्यों हैं? तथा यह शङ्का होती है कि इस प्रकार के शब्दों को संयुक्त करके नाम रखने की परम्परा प्राचीन काल में अधिक नहीं मिलती। स्वयं मनु का नाम भी इस परम्परा के अनुसार नहीं है और दूसरा कोई विधान मनु ने दिया नहीं है, यह विरोध क्यों? इन अर्थों के अनुसार दूसरे श्लोक में एकरूनता नहीं बनती। शर्मा और दास तो उपाधियाँ मान लीं तथा रक्षा और पुष्टि को भाव मानकर अर्थ किया है। या तो सभी वर्णों के साथ उपाधियों का ही कथन होना चाहिए था या भावों का ही।
- (२) कुछ टीकाकारों ने द्विनीय श्लोक में 'शर्मत्रत्' का ग्रर्थ—'शर्मा' उपाधि-धारी, 'रक्षासमन्वितम्' का 'वर्मा' उपाधिधारी ग्रीर 'पुष्टिसंयुक्तम्' का 'गुष्त' उपाधि-धारी तथा 'प्रेष्यसंयुनम्' का दास उपाधिधीरी नामकरण, यह भ्रान्तिपूर्ण ग्रर्थ किया है।
- (३) प्रायः सभी टीकाकारों ने 'जुगुप्सितम्' शब्द का 'निन्दायुक्त' यह प्रशुद्ध ग्रौर मनुविरुद्ध ग्रथं किया है।

इन त्रुटियों का निराकरण निम्नप्रकार से किया जा सकता है-

- (१) वस्तुतः इन श्लोकों में विकल्प पूर्वक दो विधान हैं श्रीर दोतों में पर्याप्त श्रन्तर है। इन विधानों में दो प्रकार से भिन्तता है—
- (क) प्रथम क्लोकमें इच्छित वर्णानुसार व्यक्तिपरक गुणों या प्रवृत्तियों के आधार पर नामकरण करने का विधान है। जैसे ब्राह्मए वर्ण के लोगों में शुभस्व और श्रेष्ठत्व के गुणा होते हैं, अतः उसी प्रकार के भाववोधक शब्दों से उनका नामकरण करना चाहिए। क्षत्रिय वर्ण के लोगों में बल-पराक्रम प्रधान गुण होना चाहिए, अतः उनका नामकरण भी ऐसे शब्दों से करना चाहिए जिनमें इन भावों का स्रामास हो। इसी प्रकार वैद्यों में धनयुक्त होना उनका मुख्य गुणा होता है, अतः उनका नाम भी धनवान्-ऐश्वर्यवान्

होने के भावों को प्रकट करने वाले शब्दों द्वारा होना चाहिये। इसी प्रकार झूद्र द्विजों के आश्रय में रहता है, उन्हीं के आश्रय से उसका पालन एवं रक्षा होती है। ग्रतः उसका नामकरण ऐसे शब्दों से किया जाना चाहिए जिनमें उसके रक्षणीय श्रौर पालनीय होने के भाव अलकें।

- दूसरे श्लोक में व्यक्तियों के वर्णगत कर्मों के आधार पर नामकरण करने का विधान है, जैसे ब्राह्मण का कार्य उपकार द्वारा लोगों का कल्याण करना, विद्यादान द्वारा सुख देना आदि है तो उसके नाम में भी इस प्रकार के भावों का बोधक शब्द जोड़ने का कथन है। इसी प्रकार क्षत्रिय का कार्य रक्षा करना, वैश्य का पालन-पोषण करना, शूद का सेवा करना है तो उनके नामों के साथ भी तत्तत् भावबोधक शब्दों को जोड़ने का विधान है। शुभ-श्रेष्ठ, बलवान्, धनवान् होना, श्रीर श्राश्रित या रक्ष्य होना, ये वर्णों के व्यक्तिसापेक्ष गुण या प्रवृत्तियां हैं और सुखी बनाना, कल्याण करना, रक्षा करना, पालन-पोषण करना, सेवा करना, ये व्यक्तियों के वर्णगत कार्य हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक में गुण और प्रवृत्ति के श्रनुसार नामकरण करने का विधान है श्रीर द्वितीय में कार्यानुसार।
- (स) दूसरा अन्तर यह है कि प्रथम श्लोक में गुएा या प्रवृत्ति का बोध कराने वाले शब्दों से ही नाम रखने का विधान है, जबिक दूसरे श्लोक में कार्यानुसारी भाव को प्रकट करने वाले शब्दों को नाम के साथ जोड़ने का कथन है। दोनों ही प्रकार की परम्परा प्राचीनकाल में चलती रही है। इनके उदाहरण श्लोकों के म्रथों के साथ दशिये जा चुके हैं। इस प्रकार म्रथं की स्पष्टना से सभी सन्देहों, शंका भ्रों व त्रुटियों का निराकरण हो जाता है।
- (२) जिन टीकाकारों ने 'शमंवत्, शब्द को शाब्दिक रूप में ग्रहण करके शर्मा, वर्मा, गुप्त ग्रीर दास उपाबि-संयुक्त करने सम्बन्धी ग्रयं किया है, उन्होंने इस क्लोक के ग्रयं को संकुचित बना दिया है, ग्रीर ठीक प्रकार से नहीं समका है। शायद उन्हें यह आन्ति इस लिये हो गयी है कि प्रविचीन युग में केवल इन्हों शब्दों का पयोग परम्परा में ग्रधिक प्रचलित रहता रहा है। इस क्लोक में 'शमंवत्, से ग्रमिप्राय 'शर्मा' शब्द लगाने से नहीं है, ग्रपितु इस भाव का कोई भी शब्द नाम के साथ जोड़ने से हैं। यहां इन शब्दों को शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिये ग्रपितु इनके भाव को ग्रहण करना चाहिए। इस बात में क्लोकोक्त 'रक्षा' ग्रीर 'पुष्टि' भाववाचक शब्दों का प्रयोग प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि मनु को यहां 'शर्मा' शब्द ग्रभीष्ट होता तो वे क्षत्रिय के साथ 'रक्षा' शब्द का उल्लेख न करके 'वर्मा' शब्द का ही उल्लेख करते। इसी प्रकार वैश्य के साथ 'गुप्त' का; किन्तु उन्होंने इन शब्दों को भाववाचक रूप में ग्रहण किया है, जिसका ग्रभिप्राय यह हुआ कि उक्त भावों वाले किन्हों भी शब्दों को नाम के साथ जोड़े। उनमें शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास भी अन्तर्गत हो जाते हैं। केवल इन्हों शब्दों को जोड़ें ऐसा ग्रभिप्राय नहीं है जैसे—बाह्यण के नाम में शर्मा जोड़कर देवशर्मा भी रखा जा सकता है ग्रीर मित्र, प्रिय ग्रादि जोड़कर देविमित्र, देविप्रय आदि भी। इसी प्रकार क्षत्रिय के नाम में वर्मा जोड़कर

प्रतापवर्मा भी रखा जा सकता है ग्रौर इन्द्र, पाल, निवि ग्रादि जोड़कर प्रतापेन्द्र, विजयेन्द्र, महीपाल, बलनिधि ग्रादि भी । इस प्रकार इस क्लोक का व्यापक भाव है । उसे संकुचित करना भ्रान्तिपूर्ण है ।

(६) जुगुन्सित का संगत प्रथं - प्रथम श्लोक में 'जुगुन्सितम्' शब्द का 'निन्दा या 'घृणायुक्त' प्रर्थं करना भी उचित नहीं है। यह शब्दं 'गुपु रक्षणे' धात से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय के योग से बना है। स्वार्थ में होनेवाले प्रत्यय का ग्रपना कोई विशेष ग्रर्थ नहीं होता, त्रिपत धात के मूलार्थ का ही बोध कराता है। स्रतः 'गुप' धातु के 'रक्षा करने' म्रर्थं के मनुसार यहां 'जुगुप्सितम्' का रक्षणीय, पालनीय, माश्रय देने योग्य भाव वाला यह ग्रथं बनता है। इस शब्द का यही मूलायं है। निन्दावाचक ग्रथं भी प्रचलित है, किन्तु वह प्रचलन की दृष्टि से परवर्ती है। 'जुगुप्सा' शब्द का आज निन्दा, घृणा आदि अर्थ अधिक प्रचलित है। इसलिए हमारे मन में यही अर्थ पहले बैठ जाता है, किन्तु मनुस्मृति के श्लोक में यह अर्थ अभिप्रेत न होकर 'रक्षणीय' अर्थ अभीष्ट है। यही अर्थ मनुस्मृति की व्यवस्था हों के अनुरूप है, यतो हि मनु ने शूद्र को जो सब वर्णों की सेवा का कार्य सौंपा है (१। ६१) स्रोर वह उन्हीं के स्राक्षय से या उन्हीं की सूरक्षा में स्रपना निर्वाह करता है (१। ६१, ६। ३३४, १०। ६६)। इस शब्द का निन्दा अर्थन होने में एक ग्रीर प्रमाण यह है कि मनुस्मृति में शुद्र के प्रति घृणा या निन्दा की भावना कहीं नहीं है अपित उसकी स्वल्पयोग्यता के अनुसार निलिप्त भाव से उसके कर्मी का कथन है और उसे शुद्ध-श्रेष्ठ ग्रीर उत्तम गति के योग्य माना है (१।३३५) अगले ब्लोक में 'प्रेष्य-संयुतम्' शब्द से भी किसी प्रकार का निन्दा-घृणारूप भाव प्रकट न होकर शुद्र के 'सेव-कत्व' रूप कर्म का संकेत है। ग्रतः यहां 'जुगूप्सितम्' का 'निन्दायुक्त' ग्रर्थ करना मनुसम्मत ग्रीर उचित नहीं है।

स्त्रियों के नामकरण की विधि---

## स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विस्वष्टार्थं मनोहरम् । मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ८ ॥ [२।३३](८)

(स्त्रीणाम्) श्त्रियों का नाम (सुखोद्यम्) उच्चारण किया जा सकने वाला (ग्रक्कूरम्) कोमल वर्णों वाला (विस्पष्टार्थम्) स्पष्ट ग्रथं वाला (मनोहरम्) मन को ग्राकषंक लगने वाला (मंगल्यम्) मंगल ग्रर्थात् शुभ-भावयुक्त (दीर्घवर्णान्तम्) ग्रन्त में दीर्घ ग्रक्षर जाला, तथा (ग्राशीर्वाद+ ग्रभिधान-वत्) ग्राशीर्वाद् का वाचक होना चाहिये [जैसे--कल्याणी, वन्दना, विद्यावती, कमला, विमला, सुशीला, सुषमा, भाग्यवती, सावित्री, यशोदा, प्रियंवदा ग्रादि] ॥ ८ ॥

"जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पांच ग्रक्षर का नाम रखे श्री, ही, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि ।'' (सं० वि० नामकरण सं०) निष्क्रमण और अन्नप्राशन संस्कार-

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोनिष्क्रमणं गृहात्।

षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥६॥ [२।३४](६)

(शिशो:) बालक का (गृहात् निष्क्रमणम्) घर से [प्रथम बार] बाहर िकालने का 'निष्क्रमण संस्कार' (चतुर्थे मासि) चैथे मास में (कर्त्तं व्यम्) करना चाहिए और (ग्रन्तप्राशनम्) ग्रन्त खिलाने का संस्कार—'ग्रन्तप्राशन' (षष्ठे मासि) छठे मास में (वा) ग्रथवा (यत् कुले इष्टं मंगलम्) जब भी परिवार में ग्रभीष्ट ग्रथवा शुभ समय प्रतीत हो, तब करे।। १।।

"निष्क्रमण संस्कार उस को कहते हैं कि जो बालक को घर से जहां का वायुस्थान शुद्ध हो वहां भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब ग्रच्छा देखे तभी बालक को बाहर घुमावें ग्रथवा चौथे मास में तो भ्रवश्य भ्रमण करावें।" (सं० वि० ५५)

अनु शिल्डनाः निष्क्रमण श्रीर श्रन्तप्राशन में गृह्यसूत्रों के प्रमाण— इन संस्कारों के विषय में गृह्यसूत्रों में निम्न उल्लेख मिलता है—

- (क) ''चतुर्थे मासि निष्क्रमिएका सूर्यमुदीक्षयित तक्ष्मश्रुरिति ।" (पार० गृह्य० १।७५।५-६)
- = चतुर्थं मास में निष्क्रमण संस्कार करे। बालक को बाहर ले जाकर सूर्यंदर्शन कराये।
  - (ख) ''जननाद्यास्तृतीयो ज्यौरस्नस्तस्य तृतीयायाम् ।'' (गो० गृह्य० ५।८।१)
  - या फिर जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की तृतीया को निष्क्रमण करे।
  - (ग) ''बब्डे मासि म्रन्नप्राशनम् । दिधमधुषृतमिश्रितमन्नं प्राशयेत् ।" (म्राश्व० गृह्य० १।१६।१-५)
  - = छठे मास में बालक को अन्तप्राशन कराये और दही, शहद, घी मिश्रित भोजन चटाये।

''छठे महीने बालक को ग्रन्नप्राशन करावे ।'' (सं० वि० ५८)

मुण्डन संस्कार---

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।

प्रथमे उब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥१०॥ [२।३५] (१०)

(सर्वेषाम् + एवं द्विजातीनां चूडाकर्म) सभी द्विजातियों = ब्राह्मए, क्षित्रय, वैश्य वर्णों के इच्छुकों का [माता-पिता की इच्छा के ग्राधार पर यह प्रयोग है] चूडाकर्म = मुण्डन संस्कार (धर्मतः) धर्मानुसार (श्रुतिचोद-नात्) वेद की ग्राज्ञानुसार (प्रथमे + ग्रब्दे) प्रथम वर्षे में (वा तृतीये) ग्रथवा

तीसरे वर्ष में [म्रपनी सुविधानुसार] (कर्त्तव्यम्) कराना चाहिए।। १०॥
"यह चूडाकर्म म्रर्थात् मुण्डन बालक के जन्म से तीसरे वर्ष वा एक
वर्ष में करना। उत्तरायणकाल शुक्लपक्ष में जिस दिन म्रानन्दमंगल हो उस
दिन यह संस्कार करें।" (सं० वि० ६०)

अप्रन्तु टारी ट्यन्तः चूडाकर्म में प्रमाण-गृह्यसूत्रों में चूडाकर्म अर्थात् मुण्डन का यही काल विहित है—

- (क) "तृतीये वर्षे चौलम्।" (आस्व० गृह्य० १।१७।१)
- **=**तृतीय वर्ष में मुण्डन संस्कार किया जाता है।
- (ख) "सांतन्सरिकस्य चूडाकरएम्।" (पार० गृह्य० २।१।१)
- = एक वर्ष के बालक का मुण्डन किया जाता है। उपनयन संस्कार का सामान्य समय—

#### गर्भाब्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मश्रस्योपनायनम्।

गर्भादेकादशे राजो गर्भातु द्वादशे विशः ॥११॥ [२।३६](११) (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण वर्ण के इच्छुक का [माता-पिता की इच्छा के स्राधार पर प्रयोग है] (उपनायनम्) उपनयन च्चुरु के पास पहुचाना स्रर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार (गर्भाष्टमे + ग्रब्दे) गर्भ से स्राठवें वर्ष में (कुर्वीत) करे, (राज्ञः) क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (गर्भात् + एकादशे) गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, स्रोर (विशः) वैश्य वर्ण के इच्छुक का (गर्भात् द्वादशे) गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिए।।११। ॐ

#### अन्तरादिक ना : (१) 'बाह्माएस्य' आदि पर्वो का मनुसम्मत प्रर्थ-

- (क) ११-१३ श्लोकों में 'ब्राह्मणस्य' म्रादि पदों का प्रचलित टीकाओं में ब्राह्मण्य के बालक का, राज्ञः या क्षत्रियस्य == क्षत्रिय के बालक का, वैश्यस्य या विशः = वैश्य के बालक का, यह अर्थ मिलता है। यह अर्थ श्लोक के पेदप्रयोग के विरुद्ध है और मनु की मान्यता के विरुद्ध भी। श्लोक के पदों में 'बालक' अर्थ देने वाला कोई पद नहीं है, जिससे कि 'ब्राह्मण के बालक' म्रादि अर्थ किये जायें। इसी प्रकार मनु कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानते हुए कर्मणा वर्ण-परिवर्तन मानते हैं [देखिए १०।६४॥१।८०-६१।१।०० श्लोक मीर जन पर समीक्षा]। इन अर्थों से ऐसा प्रतिभासित होता है जैसे जन्म के माधार पर वर्णप्रवेश है भीर वह भी ब्राह्मण का ब्राह्मण वर्ण में, क्षत्रिय का क्षत्रिय वर्ण में, बैश्य का बैश्य वर्ण में। यह उक्त मान्यता से मेल नहीं खाता।
- (स) यहां ये पद वस्तुतः जातिवाचक न होकर वर्णसंज्ञावाचक हैं। जिनका अर्थ है 'ब्राह्मण्—वर्ण का दीक्षाकाल' 'क्षत्रियवर्ण का दीक्षाकाल' ग्रादि। मनुसम्मत मान्यता
- श्वि प्रचलित ग्रर्थ क्राह्मण्-वालक का गर्भ से माठवें वर्ष में, क्षत्रिय-वालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में ग्रीर वैश्य-वालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में 'उपवीत' (यज्ञोपवीत) संस्कार करना चाहिये ॥३६॥

के आधार पर अध्याहार से इनका अर्थ 'ब्राह्मण वर्ण को धारण करने के इच्छुक का' आदि अर्थ किये गये हैं। इस अर्थ का संकेत मनु के 'ब्रह्मवर्ष सकामस्य' [२।१२] आदि पदों से भी प्राप्त होता है। इस अर्थ की व्यापकता के अन्तर्गत दोनों प्रकार के भावों का समावेश हो जाता है। जो वंशपरम्परानुसार अपने वर्ण में दीक्षा दिलाना चाहे वह भी इस व्यवस्थानुसार दीक्षा करा सकता है और जो परिवर्तनपूर्वक अपने बालक को दूसरे वर्ण में दीक्षित कराना चाहे तो, वह भी उस निर्धारित समय-व्यवस्थानुसार करा सकता है।

- (ग) यहां यह शंका हो सकती है कि इतने ग्रन्पवयस्क बच्चों के साथ 'इच्छुक' पद का सम्बन्ध नहीं बनता? इसका स्पष्ट-सा उत्तर है कि माता-पिता की इच्छा के ग्राधार पर ये प्रयोग हैं। प्रारम्भ में माता-पिता अपने बच्चे को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के ग्रनुसार सभी संस्कार करते हैं। पुनः उसकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्णा का ग्रन्तिम निश्चय आचार्य करता है [२।१२१ (१४६), १२३ (१४८)]। देखिए मनु ने इसी व्यवहार के ग्राधार पर पांच वर्ष के बालक के लिए 'ब्रह्मवर्चसकामस्य' बलायिनः, 'वैश्यस्य इह ग्राथिनः' [२।१२] पदों का प्रयोग किया है, जबिक इतने अल्पचयस्क वालकों को ब्रह्मवर्चसकामना आदि की इच्छा, गम्भीरता एवं परिखाम का ज्ञान नहीं होता। इस प्रमाण के आधार पर प्रस्तुत भाष्य का अर्थ भी मनु के वर्णानानुरूप ही है।
- (२) उपनयन में शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं ११-१३ इलोकों में मनु ने उपनयन संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया। यहां प्रश्न उठता है कि यदि. मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं तो शूद्र का उल्लेख क्यों नहीं किया? इसका समाधान इस प्रकार है-—
- (क) इस प्रश्न में ही इसका उत्तर भी निहित है। उपनयन में शूद्र का उल्लेख न करने से यह संकेत मिलता है कि मनु उपनयन और वेदारम्भ की दीक्षा से पूर्व किसी को जन्म से शूद्र नहीं मानते। यह द्विज-दीक्षा का संस्कार है और वे द्विज तीन ही प्रकार के होते हैं। जो व्यक्ति जिस वर्ण की दीक्षा दिलाना चाहे, वह इन तीनों में से उसी वर्ण में प्रवेश ले सकता है। पुनः शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त ग्राचार्य अन्तिम रूप से उनके वर्णी का निश्चय करता है [२।१२१ (१४६), १२३(१४८)]।
- (ख) जो व्यक्ति इन तीनों वर्णों के गुणों को धारए। नहीं कर सकता और वेदारम्भ तथा उपनयन रूपी ब्रद्धजन्म को ग्रहण नहीं कर सकता वह शूद्र रह जाता है। उपनयन से पूर्व ग्रथीत् द्विजजन्म से पूर्व सभी वर्णों के वालक शूद्र ही होते हैं—'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते'। इस प्रकार कोई भी वालक किसी वर्णों में दीक्षित हो सकता है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

#### चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः ॥१०।४॥

इस प्रकार उपनयन ग्रादिसे पूर्व शूद्र का कोई निर्धारण न होने से उसके उल्लेख

की अरहायकता नहीं रहती । द्विजों के 'पतित' या 'शूद्र' होने की स्थिति बाद में स्राती ्रा१४–१५ (३६-४०)] ।

- (ग) मनु जन्मना वर्णव्यवस्था नहीं मानते, इसकी पुष्टि में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि मनु ने यहां शूद्र के उपनयन का निषेध नहीं किया। ग्रगर वे जन्मना शूद्र की स्थिति ग्रीर वर्णव्यवस्था मानते तो यहां पृथक् से निषेध करते। [द्रष्टव्य १।३१, ८७-६१, १०७॥१०।६५ की कर्मणाव्यवस्था-सम्बन्धी समीक्षा]
  - (३) गृह्यसूत्रों में भी उपनयन का विधान मनु के स्रनुसार है, यथा —

"अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। १। गर्माष्टमे वा। २। एकादशे क्षत्रियम्। ३। ६ । रशे वैश्यम्। ४। (ग्राश्वलायन गृह्मसूत्र)—-जिस दिन जन्म हुग्रा हो ग्रथवा जिस दिन गर्भे रहा हो उससे ग्राठयें वर्षे में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भे से ग्यारहवें वर्षे में क्षत्रिय के ग्रौर जन्म वा गर्भे से बारहवें वर्षे में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें॥" (सं० वि० ६४)

उपनयन का विशेष समय---

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलायिनः षष्ठे वैश्यस्येहाथिनोऽष्टमे ।।१२।। [२।३७](१२)

(इह ब्रह्मवर्चस-कामस्य) इस संसार में जिसको ब्रह्मतेज = ईश्वर, विद्या ग्रादि की शोघ एवं ग्रधिक प्राप्ति की कामना हो, ऐसे (विप्रस्य) वाहाण वर्ण की इच्छा रखने वाचे का [माता-पिता की इच्छा के ग्राधार पर प्रयोग है] उपनयन संस्कार (पञ्चमे कार्यम्) पांचवें वर्ष में हो करा देना चाहिये (इह बलाधिनः राज्ञः) इस संसारमें बल-पराक्रम ग्रादि क्षत्रिय-विद्याग्रों की शोघ एवं ग्रधिक प्राप्ति की कामना वाने क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का (पण्ठे) छठे वर्ष में ग्रीर (इह + ग्रधिनः वेश्यस्य) इस संसार में धन- व्ययं की शोघ एवं ग्रधिक कामना वाले वेश्य वर्णके इच्छुक का (ग्रष्टमे) ग्राठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करा देना चाहिये ॥ १२ ॥ %

''जिसको शीघ्र विद्या, वल स्रौर व्यवहार करने की इच्छा हो स्रौर वालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे स्रौर वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से स्राठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।'' (सं० वि० पृ० ६५)

हुई [प्रचलित स्रयं—वेदाघ्ययन स्रौर ज्ञानाधिक्य स्रादि तेज के लिये ब्राह्मण-वालक का गर्भ से पांचवें वर्ष में, हाथी, घोड़ा स्रौर पराक्रम स्रादि प्राप्ति के लिये क्षत्रिय -वालक का गर्भ से छंठे वर्ष में स्रौर स्रधिक धन तथा वेती स्रादि की प्राप्ति के लिये वैदय-वालक का गर्भ से स्राठवें वर्ष में 'यजोपवीत' संस्कार करना चाहिये॥ ३७॥]

अन्युर्शित्उन्यः श्लोकार्थ एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिए।

उपनयन की ग्रन्तिम ग्रवधि-

म्राषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते । म्राह्मावशास्त्रत्रबन्घोराचतुर्विशतेर्विशः ॥१३॥ [२।३८] (१३)

(ब्राह्मण्स्य) ब्राह्मण् वर्णं को घारण करने की इच्छा रखने वाले का (ग्रा-षोडशात्) सोलह वर्षं तक (क्षत्रबन्धोः) क्षत्रिय वर्णं के इच्छुक का (ग्रा-द्वाविशात्) बाईस वर्षं तक (विशः) वैश्य वर्णं के इच्छुक का (ग्रा-चतुविंशतेः) चौबीस वर्षं तक (सावित्री न + ग्रितवर्तते) यज्ञोपवीत का ग्रितिक्रमण नहीं होता ग्रर्थात् इन ग्रवस्थाग्रों तक उपनयन संस्कार कराया जा सकता है।।। १३।। । ।

आनु श्रीत्जनाः (१) श्लोकार्य एवं मान्यता-सम्बन्धी समीक्षा ११ वें श्लोक पर देखिये।

(२) ग्राश्वलायन गृह्यसूत्र में उपनयन काल के ग्रतिक्रमण का विधान निम्न है-

"आषोडरात् बाह्यएस्यानतीतकालः ॥ ५ ॥ श्राह्याविद्यात् क्षत्रियस्य, ग्राचतुर्वि शाह्यदस्य ॥ ६ ॥ (ग्रादव० गृह्यसूत्र १।१९।६)—बाह्यण के सोलह, क्षत्रिय के वाईस ग्रीर वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष से पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।"

(सं० वि० ६४)

उपनयन से पतित ब्रात्यों का लक्षण-

म्रत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः । सावित्रीपतिता द्वात्या भवन्त्यार्यविर्गाहताः ॥१४॥ [२।३६](१४)

(यथाकालम् + ग्रसंस्कृताः) निर्धारित समय पर संस्कार न होने पर (ग्रतः + ऊर्ध्वम्) इस [२।१३] श्रवस्था के बीतने के बाद (एते त्रयः + ग्रिप) ये तीनों [ब्राह्मण्, क्षत्रिय, वैश्य] ही (सावित्रीपितताः) सावित्रीयज्ञोपवीत से पतित हुए (ग्रायंविगहिताः) ग्रायं = श्रष्ठ व्यक्तियों द्वारा निन्दित (वात्याः भवन्ति) वात्यां = व्रत से पतित वात्यसंज्ञक कहलाते हैं ॥१४॥

अन्तु र्श्योट्डन्तः "म्रतः अर्ध्वं पतितसावित्रीका मवन्ति ॥ ६ ॥ (ग्राव्व० गृ० सू० १ । १६ । ६)

हैं प्रचितित सर्थ — सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, वाईस वर्ष तक क्षत्रिय की स्रोर चौबीस वर्ष तक वैदय की सावित्री का उल्लंघन नहीं होता। (स्रतः उक्त स्रवस्था होने के पहले ही तीनों वर्णों का यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये)।। । ३८ ]

यदि पूर्वोक्त काल में इनका यज्ञोपवीत न हो तो वे पितत माने जावें।"
(सं० वि० ६४)

वात्यों के साथ सम्बन्धविच्छेद का कथन-

# नैतेरपूर्तिविधिवदापद्यपि हि कहिचित् । बाह्यान्योनांदच सम्बन्धानाचरेद् बाह्यणः सह ॥१५॥

[२।४०] (१५)

(ब्राह्मणः) द्विजों में कोई भी व्यक्ति (एतै: + ग्रपूतैः सह) इन पिततों के साथ (किंहिचित् ग्रापिट + ग्रिपि हि) कभी ग्रापत्काल में भी (विधिवत्) नियम पूर्वक (ब्राह्मान्) विद्याध्ययन-ग्रध्यापन-सम्बन्धी (च) ग्रीर (यौनान्) विवाह-सम्बन्धी (सम्बन्धान्) व्यवहारों को (न ग्राचरेत्) न करे ॥ १४ ॥

वर्णानुसार मृगचर्मी का विधान---

## कार्ष्णरौरववास्तानि चर्मारिए ब्रह्मचारिएाः।

वसीरन्नानुपूर्व्येण शासकौमाविकानि च ॥१६॥ [२।४१] (१६) (ब्रह्मचारिसाः) तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी (ब्रानुपूर्व्येण) क्रमशः

(कार्ष्णरीरव-वास्तानि चर्मािए) [ग्रासन के रूप में बिछाने के लिए] काला मृग, रुरुमृग ग्रीर बकरे के चर्म को (च) तथा [श्रोइने-पहरने के लिये] (शाणक्षीम-ग्राविकानि) सन, रेशम ग्रीर ऊन के वस्त्रों को (वसीरन्) धारण करें।। १६।।

''एक-एक मृगचर्म उनके बैठने के लिए '' देना चाहिए।'' (सं৹বি৹৩২)

मेखला-विधान---

मौञ्जी त्रिवृत्समा इलक्ष्णा कार्या वित्रस्य मेखला । क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैदयस्य राणतान्तवी ॥१७॥ [२।४२] (१७)

(विश्रस्य) ब्राह्मण की (मेखला) मेखला = तगड़ी (मौञ्जी) 'मूंज' नामक घास की वनी होनी चाहिए (क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या) क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस 'मुरा' नामक घास की, श्रौर (वैश्यस्य) वैश्य की (शणतान्तवी) सन के सूत की बनी हो जो (त्रिवृत् समा) तीन लड़ों को एकत्र वांटकरके (श्लक्षणा कार्या) चिकनी बनानी चाहिए ॥१७॥

''ग्राचार्य सुन्दर चिकनी प्रथम वनाके रखी हुई मेखला को बालक के किट में बांबे।''

''ब्राह्मण की मुज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष संज्ञक तृण या वल्कल की ग्रीर वैश्य की ऊन वा शए की मेखला होनी चाहिए।''(सं० वि० ७४) मेखलाग्रों का विकल्प---

मुञ्जालामे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।

त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पश्वभिरेव वा ।।१८।। [२।४३](१८)

(मुञ्जालाभे तु) यदि उपर्युक्त मूँज श्रादि न मिलें तो [क्रमशः] (कुश + ग्रश्मन्तक-बल्वजेः) कुश, श्रश्मन्तक श्रीर बल्वज नामक घासों से (त्रिवृता) उसी प्रकार तिगुनी = तीन बटों वाली करके (एकेन ग्रन्थिना) फिर एक गांठ लगाकर (त्रा) श्रथवा (त्रिभिः पञ्चभिः + एव) तीन या पांच गांठ लगाकर (कर्त्तव्याः) मेखलाएं बनानी चाहिएँ ॥१८॥

वर्णानुसार यज्ञोपवीत —

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योध्वंदृतं त्रिदृत् । श्रागसूत्रमयं राज्ञो वंश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥१६॥[२।४४](१६)

(विप्रस्य) ब्राह्मण का (उपवीतम्) यज्ञोपवीत (कार्पासम्) कपास का बना (राज्ञः) क्षत्रिय का (श्रणसूत्रमयम्) सन के सूत का बना श्रीर (वैश्यस्य) वैश्य का (ग्राविक-सौत्रिकम्) भेड़ की ऊन के सूत का बना (स्यात्) होना चाहिए, वह उपवीत (ऊर्ध्ववृतम्) दाहिनी ग्रोर से बायीं ग्रोर का बटा हुग्रा, ग्रीर (त्रिवृत्) तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुग्रा होना चाहिए।।१६।।

वर्णानुसार दण्डविधान---

ब्राह्मणो बैल्वपालाञौ क्षत्रियो वाटलादिरौ । पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥२०॥ [२।४४](२०)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बैल्व-पालाशौ) बेल या ढाक के (क्षत्रियः) क्षत्रिय (वाट-खादिरौ) बड़ या खैर के (वैश्यः) वेश्य (पैलव + भ्रौदुम्बरौ) पीपल या गूलर के (दण्डान्) दण्डों को (धर्मतः) नियमानुसार (म्रहंन्ति) धारण कर सकते हैं।।२०।।

दण्डों का वर्णानुसार मान---

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः । ललाटसंमितो राज्ञः स्यातु नासान्तिको विशः ।।२१।।[२।४६](२१)

(प्रमाणतः) माप के अनुसार (ब्राह्मणस्य दण्डः) ब्राह्मण का दण्ड (केशान्तिकः) केशों तक (राज्ञः ललाटसंमितः) क्षत्रिय का माथे तक (कार्यः) वनाना चाहिए (तु) और (विशः) वैश्य का (नासान्तिकः स्यात्) नाक तक ऊंचा होना चाहिये ॥२१॥

दण्डों का स्वरूप---

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनिन्तृषिताः ।।२२।।[२।४७](२२)

(ते तु सर्वे) वे सब दण्ड (ऋजवः) सीधे (म्रव्नणाः) बिना गाँठ वाले (सौम्यदर्शनाः) देखने में प्रिय लगने वाले (नृगाम् म्रनुद्वेगकराः) मनुष्यों को बुरे या डरावने न लगने वाले (सत्वचः) छालसहित भ्रौर (म्रनग्निदूषिताः) बिना जले-भुलसे (स्युः) होने चाहियें।।२२।।

अस्तुर्शोत्जनः २० से २२ तक के श्लोकों का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार दिया है—

"ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्ववृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट भ्रूतक, वैश्य को पीलूवा गूलर वृक्ष का नासिका के श्रग्रभाग तक दंड प्रमाण और वे दंड चिकने, सूधे हों, श्रिग्न में जले, टेढ़े, कीड़ों के खाये हुये नहीं हों ।" (मं० वि० ७५)

भिक्षा-विधान---

प्रतिगृह्ये स्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् । प्रदक्षिणं परीत्याग्नि चरेद्रु शैक्षं यथाविधि ॥२३॥ ]२।४८ ] (२३)

(ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य) ऊपर वर्षिणत [२०-२२] दण्डों में अपने योग्य दण्ड घारण करके (च) और (भास्करम् उपस्थाय) सूर्य के सामने खड़ा होके (अग्नि प्रदक्षिणं परीत्य) यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा —परिक्रमा करके (यथाविधि) विधि-प्रनुसार [२।२४-२५] (भैक्षं चरेत्) भिक्षा मांगे।।२३।।

भिक्षा-विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भंक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः । भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥२४॥[२।४६](२४)

(उपनीतः द्विजोत्तमः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित ब्राह्मण्(भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे—'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) ग्रीर. (राजन्यः) क्षत्रिय (भवत्-मध्यम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे—'भिक्षां भवान् ददातु' या 'भिक्षां भवती ददातु' कहकर भिक्षा मांगे (तु) ग्रीर (वैश्यः) वैश्य (भवत्+उत्तरम्) 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर, जैसे—'भिक्षां ददातु भवान्' या 'भिक्षां ददातु भवती' कहकर भिक्षा मांगे ॥२४॥

"ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा मांगे तो 'भवान् भिक्षां दवातु' ग्रौर जो स्त्री से मांगे तो 'भवती भिक्षां ददातु' ग्रौर क्षत्रिय का बालक 'भिक्षां भवान् ददातुं ग्रौर स्त्री से 'भिक्षां भवती ददातु', वैश्य का बालक 'भिक्षां ददातु भवान्' ग्रौर 'भिक्षां ददातु भवती' ऐसा वाक्य वोले।'' (सं० वि० ७७)

भिक्षा किन से मांगे---

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्। भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।।२५॥[२।५०](२५)

[इन ब्रह्मचारियों को] (मातरं वा स्वसारम्) माता या बहन से (वा मातुः निजां भिगनीम्) ग्रथवा माता की सगी बहन ग्रथीत् सगी मौसी से (च) ग्रौर (या एनं न + ग्रवमानयेत्) जो इस भिक्षार्थी का ग्रपमान न करे उससे (प्रथमं भिक्षां भिक्षेत) पहले भिक्षा मांगे ॥२५॥

अनुरारित्रना: श्लोक २३ श्रीर २५ का भाव महर्षि-दयानन्द ने निम्न प्रकार ग्रहण किया है—

''तत्पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रहके माता-पिता, बहन-भाई, मामा-मौसी, चाचा ग्रादि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा मांगे।'' (सं० वि० ७७)

गुरु को भिक्षा-समर्पेण---

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया । निवेद्य गुरवेऽदनीयादाचम्य प्राङ्मुखः ग्रुचिः ॥२६॥ [२।५१] (२६)

(तत् भैक्षं तु समाहृत्य) उस भिक्षा को ग्रावश्यकतानुसार लाकर (यावत् + ग्रन्नम्) जितनी भी वह भोज्य सामग्री हो उसे (ग्रमायया) निष्कपट भाव से (गुरवे निवेद्य) गुरु को निवेदित करके (ग्रुचिः) स्वच्छ होकर (प्राङ्मुखः) पूर्व की ग्रोर मुख करके (ग्राचम्य) ग्राचमन करके (ग्रश्नीयात्) खाये ॥२६॥

"जितनी भिक्षा मिले वह श्राचार्य के श्रागे घर देनी, तत्परचात् श्राचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा ग्रन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे श्रीर वह बालक उस भिक्षा को ग्रपने भोजन के लिए रख छोड़े।"

(सं० वि० ७८)

चारों दिशाग्रों की ग्रोर मुख करके भोजन करने का फल-

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिगामुखः । श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्यूदङ्मुखः॥२७॥ [२।५२]

(प्राङ्मुखः) पूर्व की घोर मुख करके खाने वाला (आयुष्यं भुङ्क्ते) ग्रधिक ग्रायु को भोगता है (दक्षिणामुखः यशस्यं भुङ्क्ते) दक्षिण की ग्रोर मुख करके खाने वाला ग्रधिक यश को पाता है (प्रत्यङ्मुखः श्रियं भुङ्क्ते) पश्चिम की ग्रोर मुख करके खाने वाला धन को भोगता है ग्रौर (उदङ्मुखः ऋतं भुङ्क्ते) उत्तर की ग्रोर मुख करके खाने वाला सत्य को प्राप्त करता है।।२७॥

अनुवारिकना: २७ वां श्लोक निम्न 'बाषारों'के स्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होता है--

- १. ग्रन्तिवरोध २६ वें श्लोक में उपनयन विधि में केवल पूर्वाभिमुख होकर खाने का विधान है,जबिक, इसमें चारों दिशाओं में खाने का निर्देश है। यह पूर्व विधान से भिन्न होने के कारए। विरुद्ध है।
- २. प्रसंगिव रोष २६ वें श्लोक में केवल पूर्वाभिमुख होकर खाने की चर्चा थी। प्रसंगानुसार उसका महत्त्व दर्शाना तो प्रासंगिक हो सकता था, किन्तु इस श्लोक में चारों ही दिशाश्रों का महत्त्व दर्शाया गया है। इनमें तीन दिशाश्रों की कोई चर्चा या प्रसंग नहीं है। अतः प्रसंग के बिना ही इनका वर्णन करना प्रसंगविरुद्ध है।
- ३. शैलीगत माघार—इस श्लोक की शैली निराधार, म्रयुक्तियुक्त एवं स्रिति शयोक्तिपूर्ण है। भोजन करने का दिशाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, स्रौर न यश, स्रादि की प्राप्ति का कोई सम्बन्ध है। स्रौर यदि इतने सस्ते में ये लाभ प्राप्त हो सकते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिएँ, क्योंकि सभी किसी न किसी दिशा में मुख करके ही भोजन करते हैं। यदि इतनी म्रासानी से ये चीजें प्राप्त हो सकती हैं तो फिर इनकी प्राप्ति के लिए कठिन प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है? इसके म्रनुसार तो कोई भी व्यक्ति गरीब नहीं रहना चाहिए! यह इस प्रकार की शैली मनु की नहीं है।

भोजन से पूर्व ग्राचमन विधान-

उपस्पृत्रय द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः । भुक्त्वा चोपस्पृत्रोत्तम्यगद्भिः खानि च संस्पृत्रोत् ॥२८॥[२।५३] (२७)

(द्विजः) द्विज (नित्यम्) प्रतिदिन (उपस्पृश्य) ग्राचमन करके (समा-हितः) एकाग्र मन से (ग्रन्तम् + ग्रद्यात्) भोजन खाये (च) ग्रौर (भुक्त्वा) खाकर (सम्यक्) ग्रच्छी प्रकार (उपस्पृशेत्) कुल्ला करे (च) तथा (ग्रद्भिः खानि संस्पृशेत्) जल से नाक, मुख, नेत्र ग्रादि इन्द्रियों का स्पर्श करे ग्रयित् धोये।। २८।। ''नित्य·····भोजन के पूर्व शुद्ध जल का ग्राचमन किया करे।'' (सं० वि० ७६)

भोजन-सम्बन्धी स्रावश्यक विधान-

पूजये दशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् । दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ २६ ॥ [२ । ५४ ] (२८)

(नित्यम्) प्रतिदिन खाते हुए (ग्रशनं पूजयेत्) भोज्य पदार्थ का ग्रादर करे (च) ग्रौर (एतद् + ग्रकुत्सयन् + ग्रद्यात्) इसे निन्दाभाव से रहित होकर ग्रर्थात् श्रद्धापूर्वक खाये (हण्ट्वा हृष्येत् च प्रसीदेत्) भोजन को देख कर मन में उल्लास ग्रौर प्रसन्नता की भावना करे (च) तथा (सर्वशः प्रतिनन्देत्) उसकी सर्वदा प्रशंसा करे।।२६।।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति । स्रपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ३०॥ [२।४४] (२६)

(हि) क्योंकि (पूजितम् अशनम्) श्रद्धा-आदरपूर्वक किया हुम्रा भोजन (नित्यं बलं च ऊर्जं यच्छति) सदैव बल भीर स्फूर्ति देने वाला होता है (तु तत्+श्रपूजितम्) भीर वह अनादरपूर्वक (भुक्तम्) खाया हुम्रा (इदम् उभयं नाशयेत्) इन दोनों, बल भीर स्फूर्ति को नष्ट करता है ।।३०।।

> नोच्छिष्टं कस्यचिद्द्याग्न।द्याच्चैव तथाग्तरा। न चैत्रात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्विचद् व्रजेत्।। ३१।।

[२। ४६](३०)

(न कस्यचित् + उच्छिष्टं दद्यात्) न किसी को स्रपना भूठा पदार्थं दे (च) ग्रौर (तथा एव न ग्रन्तरा ग्रद्यात्) उसी प्रकार न किसी भोजन के बीच ग्राप खावे (न चैव ग्रति-ग्रशनं कुर्यात्) न ग्रधिक भोजन करे (च) ग्रौर (न उच्छिष्ट: क्वचिद् क्रेत्) न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये विना कहों इधर-उधर जाय ॥३१॥ (स० प्र० पृ० २६७)

अन्तुर्शोद्याः उच्छिष्ट खाने में दोष— उच्छिष्ट भोजन के प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द ने विस्तृत प्रकाश डाला है, जो उल्लेखनीय है—

प्रश्न-एकसाथ खाने में कुछ दोष है वा नहीं?

उत्तर—दोष है। क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से ग्रच्छे मनुष्य का रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ विगाड़ ही होता है; सुधार नहीं।

प्रश्त--- "गुरोरु च्छिष्टभोजनम्" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह म्रथं है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् ग्रन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना म्रथित् गुरु को प्रथम भोजन कराके शिष्य को भोजन करना चाहिए।

प्रश्न—जो उच्छिष्ट मात्र का निषेध है तो मिक्खयों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध ग्रौर एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है, पुनः उनको भी न खाना चाहिए।

उत्तर—सहत कथन मात्र ही उच्छिष्ट होता है परन्तु वह बहुत ही ओषिधयों का सार ग्राह्य; बछड़ा अपनी माँ के बाहर का दूध पीता है भीतर के दूध को नहीं पी सकता इसलिये उच्छिष्ट नहीं परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ का स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए। और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता। देखो ! स्वभाव से यह सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट का कोई भी न खाये। जैसे अपने मुख, नाक, आँख, उपस्थ और गुह्धे न्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श से घृणा नहीं होती वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार मृष्टिक्रम से विपरीत नहीं है। इसलिये मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट अर्थात् भूठा न खाय।

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं''। (स० प्र० दशम समुल्लास)

म्रनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥३२॥[२।५७](३१)

(म्रतिभोजनम्) म्रधिक भोजन करना (म्रनारोग्यम्) स्वास्थ्यनाशक (म्रनायुष्यम्) म्रायुनाशक (म्रस्वर्ग्यम्) सुख-नाशक (म्रपुण्यम्) म्रहितकर (च) म्रौर (लोकविद्विष्टम्) लोगों द्वारा निन्दित माना गया है (तस्मात्) इसलिए (तत्) उस म्रधिक भोजन करने को (परिवर्जयेत्) छोड़ देवे ॥३२॥

ग्राचमन-विधि---

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन निःयकालमुपस्पृशेत् । कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येगा कदाचन ॥३३॥ [२।५८] (३२) ग्रङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते । कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥३४॥ [२।५६] (३३)

(विप्रः) द्विज (नित्यकालम्) प्रतिदिन ग्राचमन करते समय (ब्राह्ये ए तीर्थेन) ब्राह्यतीर्थ [हाथ के ग्रंगुठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ग्रोर से ग्राचमन ग्रहण किया जाता है] से (वा) ग्रथवा (काय-त्रैदिशकाभ्याम्) कायतीर्थ = प्राजापत्य [किनष्ठा ग्रंगुली के म्लभाग के पास का स्थान] से या त्रैदिशक = देवतोर्थ [-ग्रंगुलियों के ग्रग्रभाग का स्थान] से (उपस्पृशेत्) ग्राचमन करे, (पित्र्येगा कदाचन न) पितृतीर्थ [ग्रंगूठे तथा तर्जनी के मध्य का स्थान] से कभी ग्राचमन न करे।।३३।।

(ग्रंगुष्ठमूलस्य तले) ग्रंगुठे के मूलभाग के नीचे का स्थान (बाह्यं-तीर्थं प्रचक्षते) ब्राह्मतीर्थं (ग्रंगुलिमूले कायम्) ग्रंगुलियों के मूलभाग का स्थान कायतीर्थं (ग्रंगे देवम्) ग्रंगुलियों के ग्रग्रभाग का स्थान देवतीर्थं ग्रौर (तयाः + ग्रधः पित्र्यम्) ग्रंगुलियों ग्रौर ग्रंगुठे का मध्यवर्ती मूल भाग का स्थान पितृतीर्थं (प्रचक्षते) कहा जाता है।।३४।।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् । खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥३५॥ [२।६०] (३४)

(पूर्वं ग्रप: त्रि: +ग्राचमेत्) पहले जल का तीन बार ग्राचमन करे (ततः) उसके बाद (मुखं द्विः प्रमृज्यात्) मुख को दो बार धोये (च) ग्रौर (खानि एव) नाक, कान, नेत्र ग्रादि इन्द्रियों को (ग्रात्मानं च शिरः एव) हृदय ग्रौर सिर को भी (ग्रद्भिः) जल से (स्पृशेत्) स्पर्श करे ॥३५॥

> ब्रनुष्णामिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्। शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥३६॥ [२।६१]

(शौचेष्सुः धर्मवित्) पवित्रता का इच्छुक धर्मात्मा व्यक्ति (ग्रनुष्णाभिः + ग्रफेनाभिः + ग्रद्भिः) ठंडे, भागरहित जल से (एकान्ते प्राग् + उदङ् मुखः) एकान्त स्थान में पूर्व या उत्तर की ग्रोर मुख करके (सर्वदा तीर्थेन ग्राचमेत्) सदैव तीर्थस्थान से ही ग्राचमन करे॥३६॥

हृद्गामिः पूयते विप्रः, कण्ठगामिस्तु भूमिपः। वैश्योऽद्भिः प्राशितामिस्तु, शूद्रः स्पष्टामिरन्ततः ॥३७॥ [२।६२]

(विप्रः हृद्गाभिः) ब्राह्मण हृदय तक गए हुए (भूमिपः कण्ठगाभिः) क्षत्रिय कण्ठ तक गए हुए (वैश्यः प्राशिताभिः) वैश्य मुख में गए हुए (शूद्रः अन्ततः स्पृष्टाभिः) शूद्र श्रोठों से स्पर्श किए हुए (श्रद्भिः पूयते) श्राचमन के जल से पवित्र होता है ॥३॥॥

#### अनुश्रीत्जनः ३६-३७ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

१. ग्रन्तिवरोध— ३६ वें श्लोक के विधान का मनुस्मृति के ग्राचमनवर्णन संवन्धी ग्रन्य विधानों से तालमेल नहीं बैठता—(१) २।१६७ श्लोक में दोनों संध्याग्रों में ग्राचमन करके गायत्री का जप करने का विधान हैं। २।७६-७७ में भी दोनों संध्याग्रों में गायत्री के जप का विधान हैं। इन श्लोकों में किसी दिशाविशेष की ग्रोर मुख करके

म्राचमन या संघ्या करने का निर्देश नहीं है, जिससे यह संकेत मिलता है कि जप या संघ्या किसी भी दिशा की म्रोर मुख करके की जा सकती है। जिस म्रोर मुख करके व्यक्ति संघ्या करेगा उसी स्थिति में ही म्राचमन करेगा। यहां जो पूर्व या उत्तराभिमुख हो कर भी म्राचमन करने का विधान है, इसकी उक्त वर्णन से तालमेल न बैठनेके कारण मन्त- विघद्धता म्रा जाती है। (२) इस श्लोक में जो एकान्त में म्राचमन करने का निर्देश है, उसका भी विरोध बनता है। २। २६ में उपनयन संस्कार के म्रवसर पर म्राचमन करने का विधान किया है। इसी प्रकार सभी संस्कारों मौर यज्ञों में भी लोगों के बीच म्राचमन किया जाता है। म्रतः एकान्त में ग्राचमन का निर्देश देने वाली विधि इससे तालमेल न खाने से इनके विरुद्ध है।

- २. प्रसंगिवरोध—२। १, २, ११—१४, ४३ श्लोकों से पहले स्पष्टरूप से सिद्ध है कि यहां द्विजातियों के कर्मों का ग्रीर उन्हीं की उपनयन विधि के वर्णन का प्रसंग है, शूद्र का इस विधि से कोई संबन्ध ही नहीं है। किन्तु ३७ वें श्लोक में शूद्र की ग्राचमन शुद्धि का भी वर्णन किया जा रहा है। इससे इस श्लोक की प्रसंगिवरुद्धता स्पष्ट होती है।
- 3. शैलीगत भ्राधार ३७वें श्लोक की शैली भ्रयुक्तियुक्त, निराधार एवं स्रितिशयोक्तिपुर्ण है। चारों वर्णों के व्यक्तियों में कोई शरीररचना की भिन्नता नहीं है, जो कोई तो स्राचमनजल के स्पर्शमात्र से शुद्ध हो जाये और कोई कण्ठ. हृदय या मुख में जाने मात्र से। यह तो मात्र एक प्रक्रिया है। इसी से जीवन की शुद्धता मान लेना स्रितिशयोक्ति है। यदि इसी से इतनी शुद्धता मिल जाती है तो फिर स्रन्य वैदिक क्रियाधों की क्या स्रावश्यक्ता रह जायेगी?

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः । सब्ये प्राचीन त्रावीतो, निवीती कण्ठसज्जने ॥३८॥ [२।६३](३४)

(द्विजः) द्विज (दक्षिण पाणौ उद्धृते) दाहिने हाथ को ऊपर रखने की अवस्था में [अर्थात् जब द्विज यज्ञोपवीत को दायें हाथ और कन्धे के नीचे लटकाकर तथा वायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनता है, तव] (उपवीति) 'उपवीती' (सब्ये) बायें हाथ को ऊपर रखकर पहनने की अवस्था में (प्राचीन अविति) 'प्राचीन आवीति' और (कण्ठसज्जने) गले में माला के समान पहनने की अवस्था में (निवीती) निवीतो' (उच्यते) कहलाता है ॥ ३८॥

मेखलादि की पुनर्ग्रहण-विधि—

मेललामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् । ग्रन्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥३६॥[२।६४[(३६) (मेखलाम् + म्रजिनं दण्डम् + उपवीतं कमण्डलुम्) मेखला, मृगचर्म, दण्ड. यज्ञोपवीत, कमण्डलु (विनष्टानि) इनके बेकार होने पर (ग्रप्सु प्रास्य) इन्हें बहते जल में फॉककर (ग्रन्यानि) दूसरे नयों को (मन्त्रवत् गृह्णोत) मन्त्रपूर्वक घारण करे।। ३६।।

अस् क्रिकेट नाः नष्ट उपवीत, दण्ड धादि का जल में प्रक्षेपण क्यों— इस क्लोक में विणित पदार्थों को मनु ने जल में डालने का जो विधान किया है उससे 'बहते जल' से ग्रभिप्राय है। क्योंकि स्थिर जल में किसी पदार्थ को डालने से गन्दगी बढ़ती है। स्थिर जल गन्दा भी होता है। इसी लिए मनु ने स्नान ग्रादि सभी प्रयोगों के लिए बहते जल के प्रयोग का ही विधान किया है (द्रष्टव्य ४। २०३ क्लोक)। केशान्त संस्करण कर्म—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।

राजन्यबन्धोद्वीविशे वैश्यस्य द्वचिषके ततः ।।४०।। [२६५[ (३७)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मएा के (षोडशे) सोलहवें (राजन्यबन्धोः द्वाविशे) क्षत्रिय के बाईसवें (वैश्यस्य) वैश्य के (ततः द्वचिधिके) [उससे दो वर्ष प्रधिक] प्रथात् चौबीसवें (वर्षे) वर्ष में (केशान्तः विधीयते) केशान्त कर्म = क्षौर मुंडन हो जाना चाहिए।

श्रयात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य दाढ़ी मूँछ श्रीर शिर के बाल सदा मुंडवाते रहना चाहिए अर्थात् पुनः कभी न रखना श्रीर जो शीतप्रधान देश हो तो कामचार है, चाहे जितना केश रखे। श्रीर जो अति उष्ण देश हो तो सब शिखा सहित छेदन करा देना चाहिये, क्यों कि शिर में बाल रखने से उष्णता श्रधिक होती है श्रीर उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी मूंछ रखने से भोजन पान अच्छे प्रकार नहीं होता श्रीर उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है। ॥ ४०॥ (स० प्र०२५८)

स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित संस्कारों का विधान—

भ्रमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीत्गामावृदशेषतः। संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाकमम्॥४१॥ [२।६६]

(स्त्रीएाम् इयम् ग्रावृत्) स्त्रियों की यह संस्कार की क्रिया (शरीरस्य संस्का-रार्थम्) शरीर की पवित्रता के लिए (यथाकालं यथाक्रमम्) यथासमय ग्रीर उपयुक्त क्रमानुसार (ग्रशेषतः अमन्त्रिका कार्या) पूर्णतः मन्त्ररहित करनी चाहिए॥४१॥

वैवाहिको विधिः स्त्री एां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽिनपरिकिया ॥ ४२ ॥ [२ । ६७] (स्त्रीणां वैवाहिकः विधिः) स्त्रियों का विवाह संस्कार (वैदिकः संस्कारः स्मृतः) उनका वेदोक्त (उपनयन) संस्कार कहा है [ स्रथात् उनके लिए पृथक् से उपनयन संस्कार की आवश्यकता नहीं] (पित-सेवा गुरौ वासः) पित की सेवा करना गुरुकुल- वास है (गृहार्थः + अग्निपरिक्रिया) घर के काम ही अग्निहोत्रादि धार्मिक क्रियायें हैं [ स्रथात् पृथक् से उनके लिए गुरुकुल-निवास स्रौर यज्ञादि की स्नावश्यकता नहीं] ॥ ४२॥

आनुर्धोत्जनः ४१ एवं ४२ वां श्लोक निम्न आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १ ग्रन्तिंवरोघ : स्त्रियों को वेदाध्ययन एवं उपवीत का ग्रिषकार मनुसम्मत— मनुस्मृति के विभिन्न विधानों से ऐसे संकेत मिलते हैं कि जिनसे यह स्पष्ट
  होता है कि मनु प्रत्येक धर्मकार्य में स्त्री-पुष्ठ्य का समान ग्रिषकार समभते हैं। उक्त
  दोनों इलोकों में विणित बातें मनुविरोधी हैं—(१) २।४ [२।२६] इलोक में जातकर्म के ग्रवसर पर बालक के लिए चाहे वह कन्या हो ग्रथवा पुत्र, दोनों के ही लिए
  मन्त्रोच्चारणपूर्वक शहद चटाने का विधान है "मन्त्रवत् प्राज्ञानं चास्य"। इससे
  स्पष्टतः सिद्ध है कि मनु मन्त्रोच्चारण या श्रवण आदि कार्यों में स्त्री-पुष्ठ्य का भेद नहीं
  करते। इसी प्रकार नामकरण ग्रादि भी यज्ञ और मन्त्रपूर्वक करने का विधान है
  [२। ८]। इस प्रकार ४१ वें इलोक में स्त्रियों के लिये मन्त्रों के निषेध का विधान इस
  मान्यता के विषद्ध है।
- (२) इसी प्रकार ३। २८ में ग्रग्निहोत्रपूर्वक स्त्रियों का दैविववाह करने का विधान किया है। ग्रग्निहोत्र में मन्त्रोच्चारण हुग्रा ही करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनु स्त्रियों की क्रियाएं मन्त्ररहित नहीं मानते। स्त्रियों की ग्रन्त्योष्ट भी अग्निहोत्र से विहित है [४।१६७,] विवाह भी स्वस्तिमन्त्रपूर्वक यज्ञ से विहित है [४।१६२]। ४१ वें इलोक में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाग्रों का विधान इस विधान के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- (३) मनु ने घर में ग्राग्निहोत्र ग्रादि धर्मकार्यों के ग्रायोजन की मुख्य जिम्मे-दारी स्त्री को ही सौंपी है ग्रौर यह ग्रादेश दिया है कि पुरुष को प्रत्येक धर्मकार्य स्त्री को माथ लेकर करना चाहिए—(क) "शौचे धर्म ग्रन्नपक्त्यां च"(घर की शुद्धि, धर्मकार्यों का ग्रायोजन ग्रौर भोजन बनाना ग्रादि की जिम्मेदारी स्त्री को सोंपे) [६।११] (ख) "अपत्यं धर्मकार्याएग" [६।२६] (सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन, ग्राग्निहोत्र आदि धर्मकार्य स्त्री के अधीन होते हैं)। (ग) "तस्मात् साधारणों धर्मः श्रुतो पत्त्या सहोदितः" [६।६६] (साधारण से साधारण धर्मकार्य में भी पत्नी को सम्मित्रित करना चाहिए)। इसी प्रकार २।१—३ [२।२६—२६] श्लोकों में मनु ने संस्कारों को सभी के लिए समान रूप से ग्रावश्यक मानते हुए शारीरिक एवं संस्कार-सम्बन्धी दोषों को हटाने बाला कहा है। वहां स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं माना। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि सभी संस्कार मन्त्रपूर्वक होते हैं,

ग्रतः चाहे वह संस्कार स्त्री का हो ग्रथवा पुरुष का, मन्त्रपूर्वकं ही करना चाहिए। दूसरी यह है कि संस्कार द्विजाति वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए ग्रावश्यक हैं, चाहे वह स्त्री हो ग्रथवा पुरुष। इन दोनों श्लोकों में स्त्रियों के लिए मन्त्ररहित क्रियाग्रों का विधान, विवाह को ही उपनयन संस्कार मानना, पितसेवा को ही ब्रह्मचर्याश्रम मानना, घर के कामों को ही ग्रग्निहोत्र मानना, उक्त विधानों के विश्व हैं, अतः ये प्रक्षिष्त हैं।

- २. प्रसंगिवरद्ध—२। ४३ [२।६८] वें श्लोक में इस प्रसंग को समाप्त करते हुए ग्रत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि—"एषः प्रोक्तः द्विजातीनाम् ग्रीपनायिनको विधिः" ग्रर्थात् 'यह द्विजों के उपनयन संस्कार की विधि कही है।' इससे ज्ञात होता है कि यहां केवल उपनयन संस्कार की विधि का प्रसंग है। इन दोनों श्लोकों में उपनयन संस्कार की विधि न होकर प्रसंगभिन्न बातें हैं, ग्रतः ये प्रसंगविरुद्ध हैं।
- ३. वेदविरुद्ध-स्त्रियों के वेदाध्ययन में वेद के प्रमाण-इन इलोकों में स्त्रियों के लिए वेदमन्त्रों का उच्चारण न करने ग्रादि का कथन है। ग्रतः यहां यह विचार कर लेना भी उपयोगी रहेगा कि इस विषय में स्वयं वेद क्या कहते हैं। (क) वेदों में सभी के लिए वेदवाणी का विधान है--- "यथेमां वाचं कल्याएीम आवदानि जनेम्यः। ब्रह्मराज-न्याम्यां शुद्राय चार्याय च स्वाय चारलाय "" (यजु: २६।२) प्रथति —"परमे-व्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेम्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्या-णीम्) कल्याण ग्रयति संसार ग्रीर मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (म्रावदानि) उपदेश करता हुँ वैसे तुम भी किया करो। ..... ······(ब्रह्मराजन्याम्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (ग्रयीय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र ग्रौर (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियां आदि (अरणाय) और अतिशुद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है।" [स॰ प्र॰ ७४]। (ल) इसी प्रकार स्रथ वंवेद में "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" [३।५।१८] प्रयति ब्रह्मचयिश्रम में रहकर वेदों को पढ़ने श्रीर ब्रह्मचर्य को पालन करने के उपरान्त गृहस्य की कामना करने वाली कन्या युवक पति का वरण करती हैं'---(ग) स्त्रियों के उपनयन में ऋग्० १०। १०६। ४ मनत्र भी प्रमाण है -- "मीमा जाया बाह्य एस्योपनीता" -- इन प्रमाणों से स्त्रियों के लिए ब्रह्मचयश्रिम, गुरुकुलवास ग्रादि विधान सिद्ध होते हैं। (घ) वैदिक काल के इति-हास पर यदि दृष्टि डालकर देखें तो उससे भी स्त्रियों के लिए मन्त्रनिषेध ग्रादि की बातें सही सिद्ध नहीं होतीं। ऐसी बहत-सी ऋषिकाएं हई हैं जो मन्त्रद्रष्टा थीं। जिन-जिन सुक्तों के मन्त्रों का उन्होंने ग्रर्थ-रहस्य जाना, उन सुक्तों पर उनके नाम ऋषि के रूप में ग्राज भी उपलब्ध हैं। ग्रकेले ऋग्वेद में ही इस प्रकार की लगभग ३० ऋषिकाग्रों के नाम म्राते हैं। उनमें म्रदिति, जुह, इन्द्राणी, घोषा, गोधा, भ्रपाला, रोमशा, लोपा-मुद्रा ग्रादि उदाहरण के रूप में उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार उपनिपदों में गार्गी, मैत्रेयी बह्मतत्त्वज्ञाता देवियों का वर्णन ग्राता है। मनु ने ग्रपनी स्मृति को वेदानुकूल ग्रौर वेदा. धारित माना है [१। १२४--१३२(२।६--१३); १२। ६४, ६४, ६७, ६६, १०६, ११२, ११३ ग्रादि ] इस ग्राधार पर भी ये श्लोक मनुविरुद्ध हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं।

४. धवान्तरिवरोध—इन दोनों क्लोकों में परस्पर भी विरोध है, जो इस बात को प्रकट करता है कि ये पृथक्-पृथक् व्यक्तियों द्वारा प्रक्षेप किये गये हैं। ४१ वें में तो कहा है कि 'ये क्रियाएं मन्त्ररहित करनी चाहिए" किन्तु ४२ वें में इन क्रियाओं को स्त्रियों के लिए परोक्षरूप से निषिद्ध कर दिया है। इसमें विवाह को ही उपनयन संस्कार पितसेवा को ही गुरुकुलवास, घर के कामों को ही ग्रग्निहोत्र कहा है। इस ग्राधार पर भी ये रचनाएं मनुसदश विद्वान् की सिद्ध नहीं होतीं।

उपनयन विधि की समाप्ति एवं ब्रह्मचारी के कर्मों का कथन-

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः । उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत ॥४३॥ [२।६८](३८)

(एषः) यह [२।११--४२] (द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्यञ्जकः) द्विजा-तियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली श्रर्थात् मनुष्यों को द्विज = ब्राह्माग्, क्षत्रिय श्रीर वैश्य बनाने वाली (पुण्यः) कल्याण्-कारक (श्रीपनाय-निकः विधि) उपनयन संस्कार की विधि (श्रोक्तः) कही, (कर्मयोगं निबो-घत) [श्रव उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के] कर्त्तव्यों को सुनो—।। ४३।।

आनुर्धित्वनः 'जस्पत्तिव्यंजकः' के श्रधिक स्पष्टीकरण एवं पुष्टि के लिए द्रष्टव्य हैं २।१२१—१२५ (१४६—१५०) क्लोक श्रीर उनकी समीक्षाएं।

## (ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य) २।४४ से २।२२४ तक

उपनयन के पश्चात् बह्मचारी को शिक्षा---

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छोचमादितः । म्राचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥४४॥ [२ ६६](३६)

(गुरुः) गुरु (शिष्यम् उपनीय) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके (ग्रादितः) पहले (शौचम्) शुद्धि = स्वच्छता से रहने की विधि (ग्राचारम्) सदाचरण ग्रीर सद्व्यवहार (ग्रिग्निकार्यम्) ग्रग्निहोत्र की विधि (संध्योपास-नम् + एव) ग्रीर सन्ध्या-उपासना की विधि (शिक्षयेत्) सिखाये।। ४४।।

"सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या" ग्रर्थात् भली-भांति जिसमें परमेश्वर का ध्यान करते हैं, ग्रथवा जिसमें परमेश्वर का ध्यान किया जाये, वह 'सन्ध्यां है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उपदेश करके संघ्योपासन को जो स्नान, स्राचमन, प्राणायाम स्रादि क्रिया हैं, सिखलावें। प्रथम स्नान, इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य भ्रवयवों की शुद्धि श्रीर श्रारोग्य श्रादि होते हैं।'' (स० प्र० ३६)

वेदाघ्ययन की विधि---

अध्येष्यमार्गस्त्वाचान्तो ययाज्ञास्त्रमुबङ्मुलः । ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ४५ ॥ [२।७०]

(अध्येष्यमाणः) पढ़ने की इच्छा वाला (यथाशास्त्रम् आचान्तः) जब शास्त्रोक्त विधि से आचमन करले (उदङ् मुखः) उत्तर की ओर मुख किये हो (ब्रह्माञ्जलिकृतः) ब्रह्माञ्जलि [दोनों हाथों को जोड़े हुए] बांधे हो (लघुवासा) हलके वस्त्र-धारण किये हुए, और (जितेन्द्रियः) एकांग्रचित्त हो तब (अध्याप्यः) पढ़ाने योग्य होता है अथवा तब पढ़ाना चाहिए॥ ४५॥

## आनु श्रीत्उनः : यह श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. ग्रन्तिवरोघ-इस श्लोक की व्यवस्था का मनु की अन्य व्यवस्थाओं के साथ तालमेल नहीं बैठता, अपितु विरोध भी आता है—(१) २।१७= [२०३] श्लोक में कहा गया है कि 'शिष्य गुरु के साथ ऐसे स्थान पर बैठे जहां गुरु की ओर से आने वाली वायू शिष्य की ओर, और शिष्य की ओर से आने वाली वायू गुरु की ओर न आ रही हो।' इस क्लोक के आधार पर यदि केवल उत्तराभिमुख होकर ही पढ़ाने का विधान मान लिया जाये तो उक्त व्यवस्था ही नहीं बनेगी क्योंकि अनेक बार उत्तर-दक्षिण की हवा चलती है। अतः यह विरोध आता है। (२) अघ्ययन की जो व्यावहारिक विधि आवश्यक थी वह ४६ वें इलोक में विंगत है। ४५ वें इलोक का ४६ वें इलोक से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह स्वतन्त्र विधिवास्य है। कोई कहे कि ४५वें इलोक के 'ब्रह्माञ्जलि-कृतः' का ४६ वें में अर्थवाद है, सो यह बात नहीं। ४६ वें श्लोक में "संहत्य हस्तौ श्रध्येयम्" यह स्वतन्त्र विधि है तथा "**स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः"** यह उस विधि का नामोल्लेख हैं। दो श्लोकों में ब्रह्माञ्जलि का विधान कोई संगत भी प्रतीत नहीं होता. अतः ४५ वां श्लोक प्रक्षिप्त है। ४६ वें को इस लिए प्रक्षिप्त नहीं कह सकते क्योंकि ७२ वें के साथ वह प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध है। (३) मनुस्मृति में अन्यत्र अनेक स्थानों पर यज्ञ, संघ्या, धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञानुष्ठानपूर्वक विवाह स्नादिका विधान है। इन प्रसंगों में भी वेद-मन्त्रों का उच्चारण होता है। वहां कहीं भी इस प्रकार की कोई शर्तनहीं है कि किस ब्रोर मुख होना चाहिए। अतः यहां उत्तराभिमुख की शर्त भी मनुसम्मत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यह युक्तियुक्त एवं व्यावहारिक नहीं है।

वेदाध्ययन से पहले गुरु को अभिवादन—

ब्रह्मारम्मेऽवसाने च पादौ ग्राह्मौ गुरोः सदा । संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जिलः स्मृतः ॥४६॥[२।७१](४०) (ब्रह्मारम्भे च ग्रवसाने) वेद पढ़ने के ग्रारम्भ ग्रौर समाप्ति पर (सदा गुरोः पादो ग्राह्मी) सर्देव गुरु के दोनों चरणों को छूकर नमस्कार करे [२।४७] (हस्तौ संहत्य श्रघ्येयम्) दोनों हाथ जोड़कर श्रभिवादन करने के बाद [गुरु से] पढ़ना चाहियेः (सः हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः) इसी [हाथ जोड़ने] को 'ब्रह्माञ्जलि' कहा जाता है ।।४६ ।।

गुरु को अभिवादन करने की विधि---

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः । सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो, दक्षिणेन च दक्षिणः ॥४७॥ [२।७२] (४१)

(गुरो: उपसंग्रहणम्) गुरु के चरणों का स्पर्श (ब्यत्यस्तपाणिना कार्यम्) हाथों को प्रदल-बदल करके [प्रणामकर्ता का बायां हाथ नीचे रह कर गुरु के बायें पैर का स्पर्श करे ग्रीर उसके ऊपर से दायां हाथ दायें चरण को स्पर्श करे] करना चाहिए (सब्येन सब्यः) बायें हाथ से बायां चरण (च) ग्रीर (दक्षिणेन दक्षिणः) दायें हाथ से दायां पैर का (स्प्रष्टब्यः) स्पर्श करना चाहिए।। ४७।।

अध्ययन के आरंभ एवं समाप्ति की विधि---

म्रध्येष्यमाणं तु गुरुनित्यकालमतिन्द्रतः । अधीष्य भो इति बूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ४८॥ [२।७३] (४२)

(गुरुः नित्यकालम्) गुरु सर्दैव पढ़ाते समय (ग्रतन्द्रितः) ग्रालस्यरहित होकर (ग्रध्येष्यमाणं तु) पढ़ने वाले शिष्य को ('भो ग्रधीष्व' इति ब्रूयात्) 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे (च) ग्रौर ('विरामः + ग्रस्तु' इति ग्रारमेत्) 'ग्रब विराम करो' ऐसा कहकर पढ़ाना समाप्त करे ॥ ४८ ॥

वेदाघ्ययन के ग्राद्यन्त में प्रणवोच्चारण का विधान—

ब्रह्मराः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशोर्यति ॥ ४६ ॥ [२।७४](४३)

(सर्वदा ब्रह्मण: म्रादी च ग्रन्ते प्रस्तवं कुर्यात्) [शिष्य] सर्देव वेद पढ़ने के म्रारम्भ मीर ग्रन्त में 'म्रो३म्' का उच्चारण करे (पूर्वम् अनोङ्कृतम्) ग्रारम्भ में म्रोंकार का उच्चारस न करने से (स्रवित) पढ़ा हुम्रा बिखर जाता है [=भलीभांति ग्रहस नहीं हो पाता] (च) म्रीर (पुरस्तात् विशीयंति) बाद में 'म्रो३म्' का उच्चारस न करने से पढ़ा हुम्रा स्थिर नहीं रहता।। ४६॥

अनुग्रीत्उनः : अध्ययन के ब्राह्मत में ब्रोंकारोच्चारण के लाभ—(१)

'ओ३म्' का उच्चारण करने से यहाँ मनु का अभिप्राय स्रोंकारोच्चारणपूर्वक मन को एकाग्र या समाहित करने से है। ग्रन्थत्र भी मनु ने सन्ध्योपासन भीर अध्ययन से पूर्व समाहित या एकाग्रचित्त होने के लिए कहा है [२।७६]। यह बिल्कुल सही मनोवैज्ञानिक बात है कि यदि छात्र मन को एकाग्र करके अध्ययन नहीं करता तो उसे पूर्णज्ञान ग्रहण नहीं होता, कुछ बिखरता रहता है और कुछ-कुछ ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार श्रध्ययन के पश्चात् भी एकाग्रता न रखने से पढ़ा हुम्ना स्थिर नहीं हो पाता। मन के एकदम ग्रन्थत्र जाने से संचित ज्ञान में गौणता और भुलावा-सा ग्रा जाता है, जबिक श्रध्ययन की समाप्ति पर ग्रधीत विषय के प्रति एकाग्रता बनाये रखने से वह स्थिर हो जाता है। २।७४ में इसी भाव को दूसरे ढङ्ग से स्मष्ट किया है कि यदि एक भी इन्द्रिय एकाग्रता को छोड़कर अपने विषय में लग जाती है तो उसके साथ ही व्यक्ति की बुद्धि भी उतनी कम होने लगती है।

- (२) इसमें कुछ योगदर्शन के प्रमाण श्रीर उन पर आधारित विचार उल्लेख-नीय हैं—
- (क) यह 'प्रणव' अर्थात् 'ग्रोम्' शब्द उस अनादि-अनन्त, सर्वव्यापक सृष्टि-रचियता परमात्मा का सबसे मुख्य नाम है। वह सबका श्रादि गुरु है। उसका स्मरण आदि-अन्त में करने से उसके सर्वज्ञता के गुणों की श्रोर प्रवृत्ति होकर बहुज्ञ बनने की भावना आती है। ["स एषः पूर्वेषामिष गुरुः कालेनानबच्छेदात्" "तस्य वाचकः प्रणवः" योगदर्शन १।२६,२७]।
  - (ल) तज्जपस्तवर्यमावनम् । योग १।२८।।

''इसी नाम का जप अर्थात् स्मरणः करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्तता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।"

(ऋ० भू० उपासना विषय)

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः। प्रागायामेस्त्रिमः पूतस्ततः स्रोकारमहंति॥५०॥ (२।७५)

(प्राक्कूलान् पर्युपासीनः) पूर्व की ग्रोर मुख वाले कुशासन पर बैठकर (पितत्रैः चैव पावितः) कुशनिर्मित पिवत्रों से (छींटे देने के लिए कुशाओं को एकत्र करके बनाये गए गुच्छे से) पिवत्र होकर (त्रिभिः प्राणायामैः पूतः) तीन प्राणायामों को करने पर (ततः +ग्रोंकारम् +अर्हति ∤ तब ग्रोंकार का उच्चारण करने योग्य होता है।। ५०।।

## अनुर्योत्जनः यहश्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

१. प्रमंगिवरोध—यह पूर्वापरप्रसङ्गिविरुद्ध है और पूर्वापरप्रसङ्ग को भङ्ग कर रहा है। ४६ वें बलोक में 'स्रोंकार' का विधान है स्रौर ५१ में स्रोंकार के स्वरूप और महत्त्व का वर्णन है, क्यों कि स्रोंकार का स्मरण करना स्रावश्यक है। इस प्रकार ५१ वाँ बलोक ४६ वें का स्रर्थवाद है। ५० वें बलोक ने उस सम्बद्धता को भङ्ग किया है स्रीर बीच में स्रोंकार-उच्चारण की शर्त का स्रनावश्यक वर्णन किया है। स्रतः यह प्रक्षिप्त है।

२ मन्तिवरोष — मोंकार भी वेदों से लिया गया शब्द है भीर गायत्री मन्त्र भी [२।५१-५३(७६-७८)]। एक तो मनु ने पुण्यदायक धर्मयुक्त बातों के लिए कहीं भी कोई शर्त नहीं लगायी है, भीर दूसरी बात यह है कि गायत्री, वेदाध्ययन को सब भवस्थाओं में भावस्थक तथा पुण्यदायक माना है (२।७६-८१ (१०१-१०६)] और ये व्यावहारिक भी नहीं है। क्या जब भी व्यक्ति भोंकार को जपेगा, चलते-फिरते इन शर्तों को पूरी कर सकेगा? इस प्रकार यह व्यवस्था मनु की मान्यताओं के विरुद्ध है।

'ग्रो३म्' एवं गायत्री की उत्पत्ति—

ग्रकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः । वेदवस्यान्त्रियस्य स्थापनाः

वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ५१ ॥ [२७६] (४४)

(प्रजापितः) परमात्मा ने (म्रकारम् उकारं च मकारं) म्रो३म् शब्द के 'म्र' 'उ' म्रीर 'म्' म्रक्षरों को [म्र+उ+म्=म्रोम्] (च) तथा (भूः भुवः स्वः इति) 'भूः' 'भुतः' 'स्वः' गायत्रो मन्त्र की इन तीन व्याहृतियों को (वेदत्रयात् तिरदुहत्) तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है।

[द्वितीय 'इति' का प्रयोग पादपूर्त्यथं है] ।। ५१।।

आनु श्री ट्यन् श्रोंकार श्रीर व्याहृतियों का विवेचन—इस श्लोक में प्रतिपादित मनु की मान्यता की निरुक्तकार ने भी विभिन्न ग्राचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए पुष्टि की है। ' चरवारि वाक् परिमिता पदानि" [ऋ० १।१६४।४५] मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं— "कानि तानि चरवारि पदानि ? ग्रोंकारः, महाव्याहृतयश्च इति ग्रावंम्।" [१३।६] ग्रथित् वाक्स्वरूप ब्रह्म या वेद का वर्णन करने वाले वे चार पद कौन से हैं ? ग्रोंकार ग्रथित् 'ग्रोम्' ग्रक्षर ग्रौर 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' ये तीन महाव्याहृतियी। इनको यास्क ने मनु के समान महत्त्व दिया है।

(१) 'भ्रोम्' मक्षर के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए ''ऋषोऽसरे परमे क्योमन् यस्मिन् देवा ग्राधिविद्दे निवेदुः'' [ऋ० १।१६४।३६] मन्त्र की व्याख्या में ग्राचार्य शाकपूणि ग्रीर बाह्मण ग्रेंन्य का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि मक्षर वह 'ग्रीम्' ही है ग्रीर यह 'ग्रोम्' अक्षर त्रयी विद्याख्य चारों वेदों का प्रतिनिधि है—''कतमत्तदेतन् प्रकारम् ? ग्रीमित्येश वागिति शाकपूणिः । 'एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सवी त्रयीं विद्यां प्रतिपत्तिः' इति च बाह्मणम् ।" [१३।६]।

महर्षि दयानन्द ने इसी म्राघार पर 'म्रोम्' को ईश्वर का सर्वप्रमुख नाम माना है—

"जो मकार उकार ग्रीर मकार के योग से 'ग्रोम्' यह ग्रक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है। जिसमें सब नामों के ग्रथं ग्रा जाते हैं। जैसा पिता-पुत्र का ग्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ग्रोंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है।" (द० ल० प० पृ० २३२)

#### (२) ''ग्रब तीन महाव्याहृतियों के भ्रयं संक्षेप से इस प्रकार हैं—

'भूरिति व प्राणः' 'यः प्राणयित चराचरं जगत् सः भूः स्वयंभूरीःवरः'
— जो सब जगत् के जीवन का ग्राधार प्राण से भी प्रिय ग्रीर स्वयंभू है, उस प्राण का वाचक होके 'भूः' परमेश्वर का नाम है। भुविरित्यपानः' यः सर्व दुःखमयानयित सोऽपानः'— जो सब दुःखों से रहित जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इस लिये उस परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। 'स्विरिति क्यानः' 'यो विविधं जगद् क्यानयित क्याप्नोति स क्यानः'— जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबको धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम स्वः' है।" (स॰ प्र०३६)

त्रिभ्यः एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहूत्।

तिदत्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥५२॥ [२।७७] (४५)

(परमेष्ठी प्रजापितः) सबसे महान् परमात्मा ने (तत्+इति+
ग्रस्याः सावित्र्याः ऋचः) 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री
ऋचा [=गायत्री मन्त्र] का (पादं पादम्) एक-एक पाद [प्रथम पाद है—
'तत्सवितुवंरेण्यम्,' द्वितीय पाद—'भर्गो देवस्य धीमहि', तृतीय पाद—'धियो
यो नः प्रचोदयात्'] (त्रिभ्यः+एव तु वेदेभ्यः) तीनों वेदों से (ग्रदूदुहत्)
दुहकर सार रूप में बनाया है ॥४२॥

'ग्रो३म्' एवं गायत्री के जप का फल---

एतदक्षरमेतां च जपन्थ्याहृतिपूर्विकाम् । संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ५३ ॥ [२।७८] (४६)

(एतत् + ग्रक्ष्रम्) इस [ग्रोम्] ग्रक्षर को (च) ग्रौर (व्याहृतिपूर्विकाम्) 'भूः भुवः स्वः' इन व्याहृतियों सहित (एताम्) इस गायत्री ऋचा [ = मन्त्र ] को ['ग्रो३म् भूभुंवः स्वः। तत्सिवतुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमिहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।'' इस मन्त्र को ] (वेदवित् विप्रः) वेद-पाठी द्विज्ञ (सन्व्ययोः जपन्) दोनों संघ्याग्रों — प्रातः, सायंकाल में जपते हुए (वेदपुण्येन युज्यते) वेदाव्ययन के पुण्य से ही युक्त होता है।। ४३।।

अस्तु श्रीत्जेन्द्र: 'ओम्' ईश्वर का मुख्यनाम—(१) यह 'ग्रोम्' ग्रक्षर परमेश्वर का सब से मुख्य वाचक नाम है। पुष्टि के लिए इसमें योगदर्शन का प्रमाण है—

#### (क) तस्य वाचकः प्रएावः ॥ १ । २७ ॥

'जो ईश्वर का भ्रोंकार नाम है, सो पिता-पुत्र के सम्बन्ध के समान है, भ्रौर यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे भ्रथे का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें भ्रोंकार सब से उत्तम नाम है।"

(ख) तज्जयस्तदर्थभावनम् । १ । २८ ॥

"इसलिए इसी नाम का जब अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता, और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो।" (ऋ० भू० उपासना विषय)

इसमें ग्रन्य शास्त्रों के प्रमाण भी उल्लेखनीय हैं---

- (ग) "भ्रोमित्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत"। (छान्दोग्य उपनिषद्)
- (घ) "ग्रोमिति-एतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपाख्यानम् ।"(माण्ड्क्य उपनिषद्)
- (ङ) "भ्रों लम्ब्रह्म"। यजु० ४०। १७॥

(कभी नष्ट न होने वाले उपासनीय परमेश्वर का 'स्रोम्' यह नाम है।)

- (२) मनुस्मृति में ग्रन्यत्र भी ग्रनेक स्थानों पर ग्रोम् ग्रौर सावित्री के जप का विशेष विधान है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है—११। २२२, २२५, २६५ इलोक।
  - (३) गायत्री मनत्र भीर उसका अर्थ---

ग्रो३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं मर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात् । (यजुर्वेद ३६। ३॥ ऋग्वेद ३। ६२। १०)॥

म्पर्य — '(ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का नाम है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं (भूः) जो प्राण का भी प्राण (भुवः) सब दुःखों से छुड़ाने हारा (स्वः) स्वयं मुख-स्वरूप और प्रपने उपासकों को सब मुखों की प्राप्ति कराने हारा है, उस (सिवतुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्य म्रादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ ग्रहण और घ्यान करने योग्य (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पिवत्र, शुद्धस्वरूप है (तत्) उसको हम लोग (धीमिहि) धारण करें (यः) यह परमात्मा (तः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म, स्वभावों में (प्र-चोदयात्) ग्रेरणा करे। ' (सं० वि० ७५)

(४) २।५१ की समीक्षाभी द्रष्टब्य है। उससे इस ब्लोक का भाव और ग्रिंघिक स्पष्ट हो सकेगा।

> सहस्रकृत्वस्त्वम्यस्य बहिरेतित्त्रकं द्विजः। महतोऽप्येनसो मासास्विचेवाहिर्विमुख्यते ॥ ५४ ॥ [२ । ७६]

(द्विजः) द्विज (एतत् त्रिकम्) इन तीनों स्रथात्, व्याहृतियां और गायत्री मनत्र को (बिहः) बाहर एकान्त में (सहस्रकृत्वः तु अभ्यस्य) एक हजार बार प्रतिदिन जपते हुए (महतः + ग्रिप + एनसः) बड़े भारी पाप से भी (मासात्) एक मास में (ग्रिहि-त्वचा + इव) सांप की केंचुलो के समान (विमुच्यते) छूट जाता है ॥ ५४॥

> एतयर्चा विसंयुक्तः काले च कियया स्वया । ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिगंहंगां याति साधुवु ॥ ५५ ॥ [२। ८०]

(ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-योनिः) ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैश्य वर्णमें जन्मा कोई द्विज (एतया + ऋचा) इस गायत्री मनत्र से (च) श्रीर (काले स्वया क्रियया) समयानुसार होने वाली संस्कार आदि क्रियाश्रों से (विसंयुक्तः) रहित होता हुआ (साधुषु गर्हणां याति) श्रेष्ठ लोगों में निन्दा का पात्र बनता है।। ५५।।

#### म्रोंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मगो मुखम् ॥ ५६ ॥ [२ । ८१]

(स्रोंकारपूर्विकाः तिस्रः स्रव्ययाः महाव्याहृतयः) जिनके पहले स्रोंकार = 'स्रोम्' है, ऐसी स्रविनाशिनी महाव्याहृतियां — 'भूः भुवः, स्वः, (च) स्रौर (त्रिपदा सावित्री) तीन पाद वाला गायत्री मन्त्र (ब्रह्मणः मुखं विज्ञेयम्) इसे वेद का मुख समक्षना चाहिए ॥ ५६॥

#### योऽघीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीरिण वर्षाण्यतन्द्रतः । स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खर्मूातमान् ॥ ५७ ॥ [२ ॥ ८२]

(यः) जो व्यक्ति (एतान्) इनको स्रर्थात् स्रोंकारसहित तीन महाव्याहृतियों स्रोर गायत्री को (त्रीणि वर्षाणि स्रहिन + स्रहिन स्रतिद्रतः स्रधीते) तीन वर्ष तक प्रति दिन आलस्यरहित होकर जपता है (सः) वह (वायुभूतः खमूर्त्तिमान्) वायुरूप = इच्छानु सार विचरण करने वाला स्रोर स्राकाशरूप = स्थ्मशरीरी होकर (परमृत्रह्म अभ्येति) परत्रह्म को प्राप्त कर लेता है।। ५७॥

एकाक्षरं परं व्यक्तः प्रारागायामः परं तपः। सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ५८ ॥ [२ । ८३]

(एकाक्षरं परं ब्रह्म) एक ग्रक्षर ग्रथित् 'श्रोम्' ही परंब्रह्म है (प्राणायामः परं तपः) प्राणायाम करना ही श्रेष्ट तप है (सावित्र्याः तु परं नास्ति) गायत्री से बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र नहीं है (मौनात् सत्यं विशिष्यते) मौन की ग्रपेक्षा सस्यभाषण विशिष्ट है ॥ ५८ ॥

> क्षाःन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः । अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्मः चैव प्रजापतिः ॥ ५६ ॥ [२ । ८४]

(वैदिक्यः सर्वाः जुहोतियजितिक्रियाः) वेदोक्त सब हवन, यज्ञ स्रादि क्रियायें (क्षरिन्त) विनष्ट हो जाती हैं (ग्रक्षरं च प्रजापितः ब्रह्म एव) 'ग्रोम्' यह ग्रक्षर स्रौर प्रजापित परमात्मा को ही (दुष्करं ज्ञेयम्) स्रविनाशी जानना चाहिए।। ५६।।
मानस जप की श्रेष्ठता—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशमिर्गुर्गैः । उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ६०॥ [२॥ ८४] (विधियज्ञात्) विधियज्ञ अर्थात् श्रमावस्या, पूर्णिमा स्रादि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों से (जपयज्ञः) जपयज्ञ = स्पष्टोच्चारण पूर्वक जप करना (दशिभ-र्गु णैः विशिष्टः) दश गुना विशेष है (उपांशु शतगुणः स्यात्) उपांशु = जिसमें धीरे-धीरे ग्रोठों से ही उच्चारण किया जाये, वह सौगुना विशेष है (मानसःसाहस्रः स्मृतः) मानस-जाप = [ग्रर्थ एवं ध्यानपूर्वक मन में किया जानेवाला जप] हजार गुना विशेष है ॥ ६०॥

#### ये पाकयज्ञाञ्चत्वारो विविधयज्ञसमन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति बोडशीम् ॥ ६१ ॥ [२ । ८६]

(विधियज्ञसमिन्वताः) विधियज्ञ सहित (ये चत्वारः पाकयज्ञाः) जो चार पाक-यज्ञ [पितृयज्ञ, होम, बिलवैश्वदेव और म्रतिथियज्ञ] (ते सर्वे जपयज्ञस्य) वे सब जपयज्ञ की (षोडशी कलां नार्हेन्ति) सोलहवीं कला के योग्य भी नहीं हैं ॥ ६१॥

> जप्येनैव तु संसिष्येद् बाह्याणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो बाह्याण उच्यते ॥ ६२ ॥ [२ । ८७]

(ब्राह्मणः जप्येन - एव संसिघ्येत्) ब्राह्मण तो जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है (ग्रत्र न संशयः) इसमें कोई सन्देह नहीं (ब्राह्मणः ग्रन्यत् कुर्यात् वा न कुर्यात्) ब्राह्मण ग्रन्य कुछ विहित [यज्ञ दान ग्रादि] कर्म करे या न करे (मैत्रः उच्यते) फिर भी परमात्मा का ग्रतिशय प्रिय कहलाता है।। ६२।।

अनुश्रीत्उना: ५४—६२ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

अन्ति विशेष — ५४ से ६२ व्लोकों का यह एक प्रसंग है श्रीर ये सभी व्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें गायत्री आदि की महिमा का वर्णन श्रतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से किया है जो मनु की मान्यताश्रों से विरीध में जाता है श्रीर श्रन्य व्यवस्थाश्रों से तालमेल नहीं खाता —

(१) ७६, ५२ क्लोकों में कुछ ग्रविधयों का निश्चित समय बतलाकर उतने काल तक गायत्री जाप करने से बड़े से बड़े पापों से मुक्ति ग्रीर ब्रह्मप्राप्ति होना कहा है। पहली बात तो यह कि मनु केवलमात्र गायत्री जप से ही नहीं ग्रपितु परमात्मध्यान, इन्द्रियसंयम ग्रादि अनेक नैःश्रेयस कमों की सिद्धि से मुक्ति प्राप्त होना मानते हैं १२। ५२-१२५), अतः यह मान्यता मनुविरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि मनु ने गायत्री जाप का ब्रह्मचारी के लिए प्रतिदिन के लिए ही अनिवायं विधान किया है (२। ५३ [७८] ७६-८१ [१०१-१०६], १६७ [२२२]) अतः वह २५ या ३६ वर्ष तक जबतक ब्रह्मचारी रहेगा, तब तक इसका जप करेगा, फिर इस अवधि के निश्चय की जरूरत नहीं पड़ेगी और यदि इतने से ही पापों से मुक्ति और ब्रह्म प्राप्ति हो जाति है, तो ब्रह्मचारी

१. 'मैतः' की व्याख्या---मित्रस्य = परमात्मनो ऽयं सम्बन्धी । मित्रप्राति० 'तस्येदमिति' सूत्रे णाण् प्रत्ययः ।

अपने ब्रह्मचर्य काल में कहीं इससे बढ़कर जाप करेगा, फिर उसको स्वतः ये लाभ प्राप्त हो जायेंगे; इस प्रकार भी उस के लिए इनकी आवश्यकता नहीं है।

- (२) ४६ वें इलोक में गायत्री को वेद का मुख बतलाया है और इसे अनश्वर कहा है। ४१-४३ इलोकों में गायत्री को वेद से निकला हुआ विगित ही कर चुके हैं। जिन अनेक इलोकों में मनु ने वेदों को अपौरुषेय माना है (१।२३; १२।६३—६४) उनसे वेदमन्त्र गायत्री की नित्यता भी स्वतः सिद्ध है, अतः यह कथन भी अनावश्यक है।
- (३) ८३ वें क्लोक में ओंकार को ही परब्रह्म कहना १।२३; २। ५१ [७६ [१२। ६३-६४ क्लोकों के विरुद्ध है; जिनमें ओंकार को वेदों से निकला और वेदों को परमात्म-रिचत माना है। परमात्मप्रदत्त ज्ञान या शब्द परमात्मा कैसे हो सकता है? प्राणायाम को परम तप कहना २। १३६—१४३ [१६४—१६८] क्लोकों के विरुद्ध है, जिन में वेदाभ्यास को सबसे बढ़कर तप माना गया है। इसी प्रकार सावित्री से बढ़कर किसी भी वस्तु को न बताना उन सभी क्लोकों के विरुद्ध है, जिनमें वेद और ईश्वर को सर्वोपरि बतलाया है (२।५१— ५३ [७६—ए८], १३६— १४३ [१६४—१६८] १२। ६१—६३ आदि)।
- (४) ८४ वें इलोक में वैदिक यज्ञादि क्रियाओं को नाशवान् कहना सम्पूर्ण मनुस्मृति के प्रतिपाद्य के ही विरुद्ध है। क्योंकि मनुवेदोक्त कर्मों को ही धर्म मानते हैं (१।
  १२४, १२८—१३२ [२।६,६—-१३]) और धर्मपालन से ही परजन्म की श्रेष्ठता
  तथा मुक्तिप्राप्ति मानते हैं (४।२३८—-२४३; ४।१४; १२।८२—-१२५) १।
  १२१—-१२३ [२।२—-५] इलोकों में स्पष्टतः कहा है कि यज्ञ, व्रत, यमधर्म आदि में
  स्थित रहने से व्यक्ति मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है। फिर ये क्रियाएँ निष्फल या
  नाशवान् कैसे हुईं? इस प्रकार यह मान्यता विरुद्ध है।
- (४) ५४— ५६ श्लोकों में जपयज्ञ और अन्य यज्ञों की तुलना मनु की मान्य-ताओं के विरुद्ध है, क्योंकि मनु ने तो पांचों यज्ञों को समान रूप से अनिवार्य, आवश्यक और पुण्यप्रद माना है (२।१४१ [१७६] ३।७० — ७५;४।२१ — ३२;६।५ — १२ आदि)। ये दोनों श्लोक ५४ से सम्बद्ध हैं और उसके अर्थवाद हैं। अतः उसके प्रक्षेप होने के कारण ये भी स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेंगे।
- (६) ८० वें श्लोक में 'योनिः' शब्द के प्रयोग से यह सकेत मिलता है कि इस श्लोक का रचियता दिजों को जन्मना मानता है। ८७ वें श्लोक में भी ब्राह्मण की जप-मात्र से सिद्धि मानने की पृष्ठभूमि में 'जन्मना' श्रेष्ठता' का संकेत है। जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानना मनुविषद्ध मान्यता है (इसके लिए विस्तृत विवेचन १। ६२ से १०७ श्लोकों पर 'अन्तिवरोध' शीर्षक में देखिये)।
- (3) ८० वें इलोक में गायत्री-जप न करने वाले के लिए केवल निन्दामात्र होना ही उसका फल दशिया है, जबिक २।७८ [१०३] में ऐसे व्यक्ति को मनु ने शूद्र मानकर द्विजों से बहिष्कृत करदेने का ग्रादेश दिया है। एक ही प्रसंग में यह भिन्नता भी विरोध की सूचक है।

- (८) ८७ वें इलोक में केवल 'जप' से ही ब्राह्मण की सिद्धि कहना और अन्य कर्मों की खूट देना उन सभी आधारभूत विधानों के विरुद्ध है जिनमें मनु ने सभी दिजों के लिए पांचों यज्ञों का ग्रनिवार्य विधान किया है और ब्राह्मण के यजन-याजन कर्म निश्चित किये हैं (१।८८)। स्वाध्याय, वत, यज्ञ, वेदाध्ययन, संस्कार आदि से ही ब्राह्मण वस्तुतः ब्राह्मण बनता है (२।३ [२८])। यदि इनका पालन नहीं करेगा तो वह ब्राह्मण ही कैसे हुआ? इस प्रकार इन अन्तिवरोधों के आधार पर ये सभी इलोक प्रक्षिपत हैं।
- २. **शैलीगत म्रधार**—इन सभी श्लोकों की शैली म्रतिशयोक्तिपूर्ण है स्रौर ६२ वें की पक्षपातपूर्ण भी है।

इन्द्रिय-संयम का निर्देश---

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्ट्रपहारिषु । संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥६३॥ [२।८८](४७)

(विद्वान् यन्ता वाजिनाम् इव) जैसे विद्वान्-सारिथ घोड़ों को नियम में रखता है वैसे (विषयेषु + प्रपहारिषु) मन ग्रौर ग्रात्मा को खोटे कामों में खेंचने वाले विषयों में (विचरताम्) विचरती हुई (इन्द्रियाणां संयमे) इन्द्रियों के निग्रह में (यत्नम्) प्रयत्न (ग्रातिष्ठेत्) सब प्रकार से करे ॥६३॥ (स॰ प्र० पृ० ४८)

"मनुष्य का यही मुख्य म्राचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करे, जैसे घोड़े को सारिथ रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है; इस प्रकार इनको म्रपने वश में करके म्रधर्म-मार्ग से हटाकर धर्ममार्ग में सदा चलाया करें।

(स॰ प्र॰ पृ० २५६)

जैसे सारिय घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी ग्राकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करें'। (सं० वि० पृ० ८४)

अहन्य का निह्न की व्युत्पत्ति'—'इदि—परमैश्वयें' धातु से ऋकि न्द्राप्रवक्ति' (उणादि० २।२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्र' प्रातिदिक से 'इन्द्रियमिन्द्रात्तिक हि। 'इन्द्र' प्रातिदिक से 'इन्द्रियमिन्द्रात्तिक हि। इन्द्रियमा इन्द्रः, श्रात्मा तत्करणं श्रा २।६३) से 'घन्' प्रत्यय निपातित है। इन्द्रियवान् इन्द्रः, श्रात्मा तत्करणं ज्ञानकर्म-ऐश्वयंप्राप्तेः साधनम् लिङ्गं चिह्नं वा तिविन्द्रियम्, शरीरावयवम्। प्रर्थात् =शरीर के वे श्रवयव जो श्रात्मा के ज्ञान-कर्म-ऐश्वयंदि की प्राप्ति के साधन या चिह्न हैं, वे इन्द्रिय हैं। श्रांख, नाक, कान, व हाथ, पैर, श्रादि मन सहित ग्यारह इन्द्रियां हैं।

ग्यारह इन्द्रियों की गणना---

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः । तानि सम्यक्त्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६४ ॥ [२।८६] (४८)

(पूर्वे मनीषिणः) पहले मनीषि-विद्वानों ने (यानि एकादश + इन्द्रियाणि + म्राहुः) जों ग्यारह इन्द्रियां कहीं हैं (तानि यथावत् + म्रानुपूर्वशः) उनको यथोचित क्रम से (सम्यक् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहता हुँ॥ ६४॥

श्रोत्रं स्वर्वसृषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्यं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता।।६४॥ [२।६०](४६)

(श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्ना) कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, [(च) ग्रौर (पञ्चमी) पांचवीं (नासिका) नासिका [=नाक् ] (पायु-उपस्थं हस्त-पादम्) गुदा, उपस्थ (=मूत्र का मार्ग) हाथ, पग (वाक्) वाणी (दशमी स्मृता) ये दश इन्द्रिय इस शरीर में हैं।। ६५।। (सं० वि० पृ० ८४)

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चेषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वज्ञः । कर्मेन्द्रियाणि पञ्चेषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥६६॥ [२।६१](५०)

(एषाम्) इनमें क्रिं (श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि) कान ग्रादि पांच ज्ञानेन्द्रिय ग्रीर (पायु-ग्रादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि) गुदा ग्रादि पांच कर्मे-न्द्रिय, (प्रचक्षते) कहाती हैं ॥ ६६ ॥ (सं वि० पृ० ८४)

🔆 (ग्रन्पूर्वशः) क्रमशः .....

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन---

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनीभयात्मकम् । यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पंचकौ गरगौ ॥६७॥ [२।६२] (४१)

(एकादशं मनः) ग्यारहवां मन है \* (स्वगुणेन उभयात्मकम्) वह अपने स्तुति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है (यस्मिन जिते) जिस मन के जीतने में (एतौ) ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों % (जितौ) जीत लिये जाते हैं ।। ६७ ।। (सं० वि० पृ० ६४) \* (ज्ञेयम्) ऐसा समभाना चाहिए ।। (अ(पञ्चकौ गणौ) पांचों-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय अर्थात् दसों इन्द्रियों ।।

अब्बुर्धी ट्यन्तः चरक में इन्द्रियां एवं इन्द्रियों के विषय—इन्द्रियों के अधिष्ठान एवं विषयों पर चरक शास्त्र में प्रकाश डाला गया है। विशेष ज्ञानकारी के लिए विवरण प्रस्तुत है। ज्ञानेन्द्रियां हैं—

(क) "तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राएां रसनं स्पर्शनम्-इति पञ्चिन्द्रियागि । पञ्चेन्द्रियद्रव्यागि खं वायुज्योंतिरापः भूरिति । पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानान्यक्षिणी कर्णों नासिके जिल्ला त्वक् चेति ॥

पञ्चेन्द्रियार्थाः शब्दस्ण्शं रूपरसगन्धाः ॥

(सूत्रस्थाने) (ग्र० ८ । ५-६)

श्रथीत्—चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, स्पर्श ये पांच इन्द्रियां हैं। क्रमशः तेज, ग्राकाश, पृथ्वी, जल ग्रीर वायु ये पांच इन्द्रियों के द्रव्य हैं। क्रमशः ग्रांख, कान, नाक, जीभ ग्रीर त्वचा इनके ग्रिषठान हैं। रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श क्रमशः इन्द्रियों के ग्रर्थ — विषय हैं।

(ख) कर्मेन्द्रयां---

हस्तपादं गुदोपस्यं जिह्वेन्द्रियमथापि च । कर्मेन्द्रियाणि पञ्चेव, पादौ गमनकर्माणि ।। पायूपस्यौ विसर्गार्थे, हस्तौ ग्रहणधारणे । जिह्वा वाग् इन्द्रियं वाक् च ॥

म्रथीत्—हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ, ग्रौर जिह्वाये पांच कर्नेन्द्रिय हैं। हाथों का कार्य ग्रहण करना, पावों का चलना, गुदा का मलत्याग, उपस्थ का मूत्रत्याग ग्रौर जिह्वा का कार्य बोलना है। (शारीरस्थान १।२३-२४)

(ग) मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। उसका कार्य चिन्तन, विचार, संकल्प ग्रादि करना है—

> चिन्त्यं शिचार्यमूह्यं च ध्येथं संकल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यथंसंज्ञकम् ॥

> > (विमानस्थान १। १६)

इन्द्रिय-संयम से प्रत्येक कार्य में सिद्धि-

इन्द्रियाणां प्रसङ्ग्नेन दोषमृच्छ यसंशयम् । संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धि नियन्छति ॥६८॥ [२।६३] (५२)

(इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन) जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने से (ग्रसंशयम्) निःसंदेह (दोषम् + ऋच्छति) दोषी हो जाता है (तु तानि सन्नियम्य एव) ग्रीर उन पूर्वोक्त [२।६५-६७] दश इन्द्रियों को वश में करके ही (ततः) पश्चात् (सिद्धि नियच्छिति) सिद्धि को प्राप्त होता है।।६८॥

"जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है।'' (स॰ प्र० पृ० ४८) ''जो इन्द्रिय के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करने हारे ग्रविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीवजन्म बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।'' (स० प्र० पृ० २५४)

"इन्द्रियों को विषयासक्ति ग्रीर ग्रधमं में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है ग्रीर जब इनको जीतकर धमं में चलाता है तभी ग्रभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है।" (स॰ प्र॰ पृ० २५६)

विषयों के सेवन से इच्छाग्रों की वृद्धि-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव सूय एवाभिवर्धते ॥६६॥ [२।६४] (५३)

यह निश्चय है कि (कृष्णवर्त्मा हिविषा एव) जैसे श्राप्ति में ईन्धन श्रीर घी डालने से (भूय एव + ग्राभिवर्धने) [श्राप्ति] बढ़ता जाता है (कामा-नाम् + उपभोगेन कामः न जातु शाम्यिति) वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासकत कभी नहीं होना चाहिए।। ६६।। (स० प्र० पृ० २५८)

विषय त्याग ही श्रेष्ठ है---

य वैदतान्त्राप्नुयारसर्वान्यश्चेतान्केषलांस्त्यजेत् । त्रापरमारसर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥७०॥ [२।६५](५४)

(यः + एतान् सर्वान् प्राप्नुयात्) जो इन सब इच्छाग्रों या सब विषयों का उपभोग करे (च) ग्रीर (यः एतान् केवलान् त्यजेत्) जो इन सब को त्याग दे (सर्वकामानां प्रापणात्) [इन दोनों बातों में] सब इच्छाग्रों या विषयों को प्राप्त = उपभोग करने से (परित्यागः) सर्वथा त्याग देना (विशि-ष्यते) ग्रधिक ग्रच्छा है ॥ ७०॥

> न तर्यतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया । विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥७१॥ [२।९६] (५५)

(विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि) विषयों में ग्रासकत इन इन्द्रियों को (ग्रसेवया) विषयों के सेवन के बिना (तथा संनियन्तुं न शक्यन्ते) वैसे ग्रासानी से वश में नहीं किया जा सकता। (यथा नित्यशः ज्ञानेन) जैसे कि नित्यप्रति ज्ञानपूर्वक वश में किया जा सकता है। मनुष्य विषयसेवन से दोषों को प्राप्त होता है ग्रौर विषयत्याग से सिद्धि को प्राप्त करता है, [२।६८] इत्यादि विषयत्याग के ज्ञान से इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है।। ७१।।

विषयी व्यक्ति को सिद्धि नहीं मिलती-

#### वेदास्त्यागइच यज्ञाइच नियमाइच तपांसि च।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धि गच्छिन्ति कहिचित्।।७२॥ [२।६७] (५६) (विप्रदुष्टभावस्य) जो अजितेन्द्रिय दुष्टाचारी पुरुष है, उस पुरुष कि (वेदर ह्यागुर्भू महाः नियमाः तपांसि) वेद पढ़ना,त्याग करना,यज्ञ (= अनि होत्राहि) करनी, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम) आदि करना, तप [=िनन्दास्तुति, और होनि-ल्याभ आदि द्वन्द्व का सहन] करना आदि कर्म (कहिचित) करनापि (सिद्धिन गच्छिन्ति) सिद्ध नहीं हो सकते।।७२॥ (सं० वि० पृ० ६४)

ं ''जी दुंष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम श्रीर तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।''

(सं० वि० पृ० ४६)

"जो ग्रजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विष्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम ग्रीर न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं।"

(स॰ प्र॰ पृ॰ २४८)

अर्जुर्रोट्डनः इस भाव की पुष्टि ग्रीर तुलना के लिए देखिए १।१०६-ग्रीर २।१३५ इलोक।

जितेन्द्रिय की परिभाषा-

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च हष्ट्वा च भुक्त्वा झात्वा च यो नरः । न हष्यति ग्लायति वा, स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ।।७३॥ [२।६८] (५७)

(जितेन्द्रियः स विज्ञेयः) जितेन्द्रिय उसको कहते हैं कि (यः नरः) जो [मनुष्य] (श्रुत्वा) स्तुति सुनके हुषं श्रीर निन्दा सुनके शोक (स्पृष्ट्वा) ग्रच्छा स्पर्श करके सुख श्रीर दुष्ट स्पर्श से दुःख (रुष्ट्वा) सुन्दर रूप देख के प्रसन्न श्रीर दुष्टरूप देख अप्रसन्न (भुक्त्वा) उत्तम भोजन करके ग्रानिन्दत श्रीर निकष्ट भोजन करके दुःखित (श्रात्वा न हृष्यित ग्लायित) सुगन्य म कि दुष्ट्य में अष्टित न विष्टा १ ७३॥ (स॰ प्र० पृ० २५६) एक भी इन्द्रिय के श्रसंयम से प्रजाहानि—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनास्य क्षरित प्रज्ञा हतेः पादादिवोदकम् ॥७४॥ [२।६६[(४८) (सर्वेषाम् इन्द्रियाणां तु) सब इन्द्रियों में यदि (एकम् इन्द्रियं क्षरित) एक भी इन्द्रिय ग्रपने विषय में ग्रासक्त रहने लगती है तो (तेन) उसी के कारण (ग्रस्य प्रज्ञा क्षरित) इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है (इते: पादात् + उदकम् इव) जैसे चमड़े के बर्त्तन = मशक में खिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है।। ७४।।

इन्द्रिय-संयम से सब ग्रथों की सिद्धि-

वज्ञे कृत्वेन्द्रियप्रामं संयम्य च मनस्तथा । सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥७४॥ [२।१००] (४६)

(इिन्द्रियग्रामम्) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय [इन दश इन्द्रियों के समूह को] (च) ग्रीर (मनः) ग्यारहवें मन को (वशे कृत्वा) वश में करके (योगतः तनुम् = ग्रक्षिण्वन्) युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुग्रा (सर्वान् ग्रर्थान् संसाधयेत्) सब ग्रर्थों को सिद्ध करे।। ७५।। (स० प्र० प्र० २५८)

"व्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में करके ग्रीर ग्रात्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाम्यास से शरीर को किचित्-किचित् पीड़ा देता हुग्रा ग्रपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।" (सं० वि० पृ० ८४)

अर्जु रारिटाना: 'योग' के अर्थ के सम्बन्ध में विवेचन देखिए ६।६५ पर सन्शीलन में।

सन्ध्योपासन-समय-

पूर्वी सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमकंदर्शनात् । पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥७६॥ [२।१०१] (६०)

(अर्कदर्शनात् पूर्वी संघ्याम्) दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः संघ्या (सम्यक् + ऋक्षिविभावनात् तु पश्चिमाम्) सूर्यास्त से लेकर [अच्छी प्रकार] तारों के दर्शन पर्यन्त सायंकाल में [(समासीनः) भली-भौति स्थित होकर] (सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्) सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें।। ७६।। (द० ल० पं० पृ० २३६)

संघ्योपासना का फल---

पूर्वी संध्यां जपंस्तिष्ठन्नेशमेनो ध्यपोहति । पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥७७॥ [२।१०२] (६१)

[मनुष्य] (पूर्वी संघ्यां जपन् तिष्ठन्) प्रातःकालीन संघ्या में बैठकर जप करके (नंशम् +एनः व्यपोहित) रात्रिकालीन मानसिक मिलनता या दोषों को दूर करता है (तु पिंचमां समासीनः) ग्रीर सायंकालीन संघ्या करके (दिवाकृतं मलं हिन्त) दिन में सिञ्चित मानिसिक मिलनता या दोषों को नष्ट करता है। [ग्रिभिप्राय यह है कि दोनों समय संघ्या करने से पूर्ववेला में ग्राये दोषों पर चिन्तन-मनन ग्रीर पश्चात्ताप करके उन्हें ग्रागे न करने के लिए संकल्प किया जाता है तथा गायत्री-जप से ग्रपने संस्कारों को शुद्ध-पिवत्र बनाया जा सकता है]।। ७७ ॥%

आनुश्रीत्जनाः 'एनः' शब्द का यहाँ 'संस्कारजन्य दोष' ग्रर्थ है। इस पर विस्तृत समीक्षा २।२[२।२७] पर द्रष्टव्य है।

संघ्योपासन न करनेवाला शुद्रवत्—

न तिष्ठित तु यः पूर्वां नोपास्ते यदच पिचमाम् । स शुद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥७८॥ [२।१०३] (६२)

(यः) जो मनुष्य (पूर्वां न तिष्ठित च पश्चिमां न उपास्ते) नित्य प्रातः ग्रीर सायं संघ्योपासन को नहीं करता (सः शूद्रवत्) उसको शूद्र के समान समभकर (सर्वस्मात् द्विजकर्मणः वहिष्कार्यः) [समस्त] द्विजकुल से ग्रलग करके शूद्रकुल में रख देना चाहिए।। ७ =।। (द०ल० पं०पृ० २३१) प्रतिदिन गायत्री-जप का विधान—

> अपां समोपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥७६॥ [२।१०४](६३)

(ग्ररण्यं गत्वा) जंगल में ग्रर्थात् एकान्त देश में जा (समाहितः) सावधान होके (ग्रपां समीपे नियतः) जल के समीप स्थित होके (सावि-त्रीम् + ग्रपि + ग्रधीयीत) सावित्री ग्रर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण, ग्रथ-ज्ञान ग्रीर उस के ग्रनुसार ग्रपने चाल-चलन को करे।। ७६॥ (स॰ प्र॰ ४१)

※(नैत्यकं विधिम् + आस्थितः) नित्यचर्या का अनुष्ठान करता
हुआ अर्थात् नित्यकर्मों के समान अनिवार्य रूप से •••••••••••

वेद, ग्रग्निहोत्र ग्रादि में ग्रनघ्याय नहीं होता —

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके। नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।।८०।। [२।१०५] (६४)

(वेदोपकरणे चैव) वेद के पठन-पाठन में (च) ग्रीर (नैत्यके स्वा-ध्याये) नित्यकर्म में ग्राने वाले गायत्री जप या संध्योपासना [२।७६] में (होम-मन्त्रेषु चैव) तथा यज्ञ करने में (ग्रनध्याये ग्रनुरोध: न ग्रस्ति) ग्रन-

श्लि प्रचित्त अर्थ — प्रातःकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुन्ना मनुष्य रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है, तथा सायकाल की संध्या में बैठकर जप करता हुन्ना मनुष्य दिन में किये पापों को नष्ट करता है।। १०२।।]

घ्याय का विचार या घ्राग्रह नहीं होता म्रर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ म्रनघ्याय का विचार लागू नहीं होता ।। ८० ।।

"वेद के पढ़ने-पढ़ाने, संध्योपासनादि पंचमहायज्ञों के करने श्रौर होममन्त्रों में ग्रनध्यायविषयक ग्रनुरोध (ग्राग्रह) नहीं है।" (स॰ प्र॰ पृ० ४६)

"वेद-पाठ, नित्यकर्म श्रीर होम-मन्त्रों में श्रनच्याय नहीं है। नित्य-कर्म का श्रभिश्राय यह है कि अपने मन का लक्ष्य परमेश्वर को बनाया जावे इसलिए प्रत्येक कर्म की समाप्ति पर यह कहा जाता है कि मैं इस कर्म या इसके फल को परमेश्वर के श्रपण करता हूँ।" (पू० प्र० पृ० १४४-१४५)

> नैत्यके नास्त्यनध्यायो, ब्रह्मसत्रं हि तत्त्मृतम् । ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥८१॥ [२।१०६] (६४)

(नैत्यके अनध्यायः न मग्नस्ति) नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता जैसे क्वासप्रक्वास स्दा लिये जाते हैं, बन्ध नहीं किये जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, न किसी दिन छोड़ना (हि) क्योंकि (अनध्याय-वषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम्) अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तमकर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है।।

🕸 (तत् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्) उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है .....।

जैसे भूठ बोलने में सदा पाप ग्रौर सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, यैसे ही बुरे कर्म करने में सदा ग्रनध्याय ग्रौर ग्रच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है।। द१।। (स० प्र०४)

अर्जु श्री का : 'वषट्कार' की ब्युत्पत्ति—'वह्' धातु से 'उषटि' के योग से 'वषट्' शब्द बनता है। यह अव्यय है। वषट् का अर्थ यज्ञादि धार्मिक क्रिया या आहुति है। इस प्रकार 'अन्ध्यायवषट्कृतम् बह्याहृतिहृतं पुण्यश्' पंक्ति का अर्थ बना—'अन्ध्याय की स्थिति में भी की गई धार्मिक क्रिया' या अग्निहोत्रादि में आहुति दान आदि कमें बह्ययज्ञ में दी गई उपासना रूप आहुति के सदृश पुण्यकारक होता है। ईश्वर का स्मरण होने से वह पुण्यदायक ही होता है। स्वाध्याय का फल—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दिध घृतं मधु ॥६२॥

[२।१०७] (६६,

(यः) जो व्यक्ति (म्रब्दं स्वाध्यायम्) जलवर्षक मेघस्वरूप स्वा-ध्याय को विदों का मध्ययन एवं गायत्री का जप यज्ञ, उपासना म्रादि [२।७६—८१] (शुचिः) स्वच्छ-पिवत्र होकर, (नियतः) एकाग्रचित्त होकर (विधिना) विधिपूर्वक (ग्रधीते) करता है (तस्य एषः) उसके लिए यह स्वाघ्याय (नित्यं) सदा (पयः दिध घृतं मधु क्षरित) दूध, दही, घी ग्रीर मधु को बरसाता है।

श्रभिप्राय यह है कि जिस प्रकार इन पदार्थों का सेवन करने से शरीर तृष्त, पुष्ट, बलशाली श्रीर नीरोग हो जाता है, उसी प्रकार स्वा-ध्याय करने से भी मनुष्य का जीवन शान्तिमय, गुरामय, ज्ञानमय श्रीर पुण्यमय या श्रानन्दमय हो जाता है, श्रथवा धर्म, श्रथं, काम, मोक्ष इनकी सिद्धि हो जाती है।। ८२।। अ

अर्जु करीट नः (१) स्वाध्याय से अभिप्राय—इस श्लोक में प्रालंकरिक वर्णन है। यहाँ दूध, घी और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का मुहावरे के रूप में प्रयोग है। ग्रायुर्वेद के ग्रनुसार दूध का मुख्य गुण तृष्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का बल-ग्रायु को बढ़ाना और शहद का शरीर-दोषों का नाश करना मुख्य गुण है। इनके ग्रनुसार वेद के स्वाघ्याय में भी मानवजीवन को शान्तिमय, गुणमय, ज्ञानमय, ग्रानन्दमय बनाने वाले गुण हैं। यही ग्रालंकारिक वर्णन का ग्रिभप्राय है। कुछ टीकाकारों ने इन्हें क्रमशः धर्म, ग्रयं, काम, मोक्ष का प्रतीक माना है। यहाँ मनु ने वेद के मन्त्र का भाव ज्यों का त्यों ग्रपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। सुलना कीजिए; वेद का मन्त्र है—

पावमानीर्यो ग्रघ्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ ऋ०६। ६७। ३२॥

(२) 'ग्रब्दम्' का संगत ग्रयं—इस श्लोक में 'ग्रब्दम्' शब्द का प्रयोग भी यौगिक है [ग्रयो ददाति इति ग्रब्दम् मेघस्वरूप् ] और इसका ग्रयं 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' यहाँ संगत होता है। 'ग्रब्दम्' शब्द का 'वर्ष' अर्थं करते हुए टीकाकारों ने जो यह अर्थं किया है कि 'जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पवित्र होकर एक वर्षं तक भी विधिपूर्वक वेदाष्ट्रयन करता है, उसे वह सर्वदा दूध, दही, घृत तथा मधु देता है' यह ग्रयं मनु के ग्रभिप्राय के ग्रनुकूल और प्रसंगानुकूल नहीं जचता। यह ग्रयं करने से निम्न ग्रापत्तियाँ रह जाती हैं—(क) वेदाष्ट्रयम, यज्ञ, उपासना को मनु ने द्विजमात्र का ग्रावश्यक कर्म माना है [१। ५६—१०] ग्रीर सभी स्थानों पर उसे ग्रनिवार्य घोषित करते हुए सदैव करते रहने का ग्रादेश है [२। ७७—६१ (१०२—१०६)]। ग्रतः मनु द्वारा उसके कुछ समय के महत्त्व को दशिन की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत

श्चि [प्रचलित प्रयं — जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा पितृत्र होकर एक वर्ष तक भी विधि पूर्वक वेदाघ्ययन करता है उसे यह सर्वदा दूध, दही, घी, तथा मधु देता है (जिन से वह देवों तथा पितरों को तृष्त करता है और वे सब इच्छा तथा जपयज्ञ को पूर्ण करने वाले होते हैं) ॥ २ । १०७ ॥]

होती। (ख) मनु ने ये सभी कर्म ब्रह्मचारियों के नौ, अठारह या छत्तीस वर्ष तक नित्य-कर्म के रूप में विहित किये हैं [३। १—२]।

जब इतने वर्षों तक ब्रह्मचारी-द्विजों को ये कर्म ग्रनिवार्य रूप से करने ही हैं तो यहाँ एक वर्ष तक के सीमित काल का उल्लेख करने का कोई प्रसंग ही नहीं बनता। (ग) 'अब्दम्' का ग्रर्थ 'वर्ष' करने छे इलोक में 'नित्यम्' शब्द का प्रयोग भी संगत नहीं बैठता। यदि वर्ष भर की सीमाका निर्धारण ही कर दिया है, तो ये लाभ स्वाध्यायी को वर्ष भर ही मिलेंगे, सदा कैसे मिल सकते हैं? यदि एक वर्ष तक स्वाध्याय करने से ये लाभ सदा मिल सकते हैं तो फिर एक वर्ष से ग्रधिक स्वाध्याय की ग्रावश्यकता और विधानों की क्या जरूरत है? शायद इसी उलभन को ग्रनुभव करते हुए कुछ टीकाकारों ने तो श्लोकार्य में 'नित्यम्' शब्द का ग्रयं ही छोड़ दिया। वस्तुतः यहाँ यौगिकार्य रूप में 'ग्रब्द' का प्रयोग है। जैसे बादल वर्ष यिता है, वैसे ही स्वाध्याय को भी इन लाभों का वर्ष यिता चता माना है। श्लोक में 'क्षरित' क्रिया का प्रयोग मी इस शब्द के 'मेष' ग्रयं का पोषक है। ग्रालंकारिक क्रिया का प्रयोग होने से ग्रयं तदनु-रूप ही ग्रहण करना उचित है।

(३) 'स्वाघ्याय' शब्द से मनु का ग्रभिप्राय वेदों का निरन्तर साङ्गोपाङ्ग अध्ययन, संघ्योपासना ग्रीर ग्रग्निहोत्र से है। यह उन्होंने स्वयं २। ७६—-६१ [२। १०४—-१०६] इलोकों में स्पष्ट कर दिया है। इसके ग्रतिरिक्त निम्न क्लोकों में भी स्पष्टतः वेदाघ्ययन ग्रादि को ही 'स्वाघ्याय' कहा है—[२।१४०—१४३(२।१६५—१६८); ४।१७—-२०,१४७—१४९; ११।२४४॥]

समावर्तन तक होमादि कर्त्तव्य करने का कथन---

म्रग्नीन्घनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोहितम् । आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥८३॥ [२।१०८](६७)

(कृतः + उपनयनः द्विजः) यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज (श्रग्नी-न्धनम्) ग्रग्निहोत्र करना (भैक्षचर्याम्) भिक्षावृत्ति (ग्रधःशय्याम्) भूमि में शयन (गुरोः हितम्) गुरु की सेवा (ग्रासमावर्तनात्) समावर्तन संस्कार [वेदाघ्ययन समाप्त करके घर लौटने तक ३।१—३] तक (कुर्यात्) करता रहे ।। ६३ ।।

पढाने योग्न शिष्य---

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो घार्मिकः शुचिः। श्राप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश घर्मतः ॥ ८४॥ [२।१०६] (६८) (ग्राचायंपुत्रः) ग्रपने ग्राचायं [गुरु] का पुत्र (शुश्रूषुः) सेवा करने वाला (ज्ञानदः) किसी विषय के ज्ञान का देने वाला (धार्मिकः) धर्मनिष्ठ व्यक्ति (शुचिः) छल-कपटरिहत ग्राचरण वाला (ग्राप्तः) धनिष्ठ व्यक्ति मित्र ग्रादि (शक्तः) विद्या ग्रहण करने में समर्थ ग्रयीत् बुद्धिमान् पात्र (ग्रयंदः) धन देने वाला (साधुः) हितेषी (स्वः) ग्रपने परिवार का, सम्बन्धी ग्रादि (दश धर्मतः ग्रध्याप्याः) ये दश धर्म से ग्रवश्य पढ़ाने योग्य हैं ॥८४॥

अद्भुट्येटिङन् : स्राप्त का प्रषं भीर व्याकरण— प्राप्त का शास्त्रों में स्रिविक प्रचलित सर्थं 'यथार्थंवकता' 'सत्यवक्ता' है, किन्तु साथ ही घनिष्ठ व्यक्ति भी स्रयं प्रचलित है। मनु० में देखिए स० ६। १ इलोक। 'स्राप्तू-व्याप्तौ' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'स्राप्त' शब्द सिद्ध होता है। यत् प्रत्ययान्त शब्द स्राप्त्या का निर्वचन करंते हुए निरुक्तकार ने लिखा है— "स्राप्त्या— स्राप्ताते" [१६।२।१६] इस प्रकार उक्त स्रयंमें आप्त की व्युत्पत्ति हुई— 'आप्नोति हृदये स्रात्मीयत्येन स स्राप्तः।'

प्रश्नादि के बिना उपदेश निषेध---

नापृष्टः कस्यचिद् ब्र्यान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।। ८५।। [२।११०](६६)

(न, ग्रपृष्टः) कभी बिना पूछे (च) वा (ग्रन्थायेन पृच्छनः) ग्रन्याय से पूछिते वाले को जो कि कपट से पूछिता हो (कस्यविद् न जूयात्) ऐसे किसी को उत्तर न देवे (मेधावी) उनके सामने अ बुढिमान् + (जडवत् ग्राचरेत्) जड़ के समान रहे, हाँ जो निष्कपट ग्रीर जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे भी उपदेश करे।। दर ।। (स॰ प्र॰ पृ० २४६)

%(जातन् ग्रपि हि) जानते हुए भी .....

+ (लोके) लोक में .....।

दुर्भावनापूर्वक प्रश्न-उत्तर से हानि --

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति ॥८६॥ [२।१११] (७०)

"(यः) जो (ग्रवमंगा) ग्रन्याय, पक्षपात, ग्रसत्य का ग्रहण, सत्य का पिरत्याग, हठ, दुराग्रह .... इत्यादि ग्रधमं कमं से युक्त होकर छल-कपट से (पृच्छिति) पूछता है (च) ग्रीर (यः) जो (ग्रधमंगा) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे ग्रीर न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो (तयोः +

ग्रन्यतरः प्रैति) पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है ग्रर्थात् निन्दित होता है। (वा) ग्रथवा (विद्वेषम्) ग्रत्यन्त विरोध को (ग्रधिगच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखी होते हैं॥" ५६॥ (द० ल० भ्र० पृ० ३४७)

अत्युटारिटानाः प्रैति से मिन्नाय— 'प्रैति' का प्रयोग यहाँ मुहावरे के रूप में हुआ है। मरजाने से म्रिभिप्राय यह भी है कि बिना उत्तर दिये सम्बन्ध तोड़ कर चले जाना। यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई दुर्भावना से पूछता या उत्तर देता है, तो उनमें से कोई एक व्यक्ति किनारा कर लेता है। यदि ऐसा नहीं करते तो उनमें दूसरी ग्रवस्था विवाद और विरोध की ग्रा जाती है।

विद्या-दान किसे न दें---

धर्मार्यो यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा । तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥८७॥ [२।११२](७१)

(यत्र धर्माथों न स्याताम्) जहाँ धर्म ग्रौर ग्रथंप्राप्ति न हो (वा) ग्रौर (तद्विधा शुश्रूषा ग्रपि) गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो (तत्र विद्या न वक्तव्या) ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए, क्योंकि (ऊषरे शुभं बीजम् + इव) वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है। जैसे बजर भूमि में बोया हुग्रा बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है।। ८७।।

कूपात्र को विद्यादान का निषेध---

विद्ययेव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना। स्रापद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्।। ८८॥

[२।११३<sup>\*</sup>] (७२)

(कामम्) चाहे (ब्रह्मवादिना) वेद का विद्वान् (विद्यया + एव समं मर्त्तव्यम्) विद्या को साथ लेकर मर जाये (हि) किन्तु (घोरायाम् आपदि + अपि) भयंकर आपत्तिकाल में भी (एनाम् इरिणे तुन वपेत्) इस विद्या को बंजर भूमि में न बोये अर्थात् जहां विद्या फलवती न हो, जा उसका विनाश या दुरुपयोग करे, ऐसे कूपात्र के लिये न दे, उसे न पढ़ाये। । ६६॥

विद्यादान-सम्बन्धी आख्यान एवं निर्देश-

विद्या बाह्यणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मां मा दास्तया स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ८६ ॥ [२।११४] (७३) [एक स्राख्यान प्रचलित है कि एक बार] (विद्या ब्राह्मणम् + एत्य + स्राह) विद्या विद्वान् ब्राह्मएग के पास स्राकर बोली—(ते शेवधिः स्रस्मि, माम, रक्ष) "मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर (माम् स्रसूयकाय मा दाः) मुक्ते मेरी उपेक्षा, निन्दा या ईंब्या द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर (तथा वीर्यवत्तमा स्याम्) इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती = महत्त्वपूर्ण स्रौर शक्तिसम्पन्न बन सक्गी"।। ८६।।

> यमेव तु शुचि विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् । तस्मे मां बृहि विद्राय निधिपायात्रमादिने ॥६०॥ [२।११४] (७४)

(यम् + एव तु शुनि नियतब्रह्मचारिणम्) "जिसे तुम छल-कपट रहित शुद्ध श्रद्धाभाव से युक्त, जितेन्द्रिय ग्रीर ब्रह्मचारी (विद्यात्) समभो (तस्मे ग्रप्रमादिने निधिपाय मां ब्रूहि) उस ग्रालस्यरहित ग्रीर इस खजाने की रक्षा एवं वृद्धि करने में समर्थ विप्र वेदभक्त जिज्ञासु शिष्य को मुभो पढ़ाना"।। ६०।।

अद्भुटि टिड न : विद्या के प्रास्थान का निरुक्त में वर्णन — ५-६० श्लोकों में मनु ने जिस विद्या के ग्रास्थान को वर्णित किया है, यह प्राचीन काल में बहु-प्रचलित मार्गनिदेंशक ग्रास्थान था। निरुक्त शास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ के कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें कुछ विस्तार से इसी ग्रास्थान का वर्णन है। भाव एवं शब्दसाम्य द्रष्टिव्य है। श्लोक इस प्रकार हैं—

- १. विद्याह व बाह्यएमाजगाम गोणय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। श्रम्यकायानुजवेऽयताय न मा ब्रूया वीयंवती तथा स्याम्।।
- य न्नावृत्गोत्यवितयेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं मन्येत थितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमञ्चनाहः।।
- म्रध्यापिता ये गुरुं नाबियन्ते विश्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
   यथैव ते न गुरोमॉजनीयास्तर्थव तान्न भुनवित भृतं तत् ॥
- ४. यमेव विद्याः शुचिमप्रमसं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्मेत् कतमञ्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ (निरु०२।१।४)

बिना पढ़ाये वेदग्रहण का निषेध-

बह्मयस्त्वननुकातमधीयानादवाप्नुयात् । स बह्मस्तेय संयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ६१ ॥ [२।११६]

(यः तु) जो मनुष्य (अधीयानात्) किसी पढ़ने-पढ़ाने वाले से (ग्रननुज्ञातं ब्रह्म

ग्रवाष्नुयात्) उसकी बिना ग्राज्ञा या स्वीकृति के वेदज्ञान को ग्रहण करता है (सः) वह (ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः) वह वेदज्ञान की चोरी का भागीदार होकर (नरकं प्रतिपद्यते) नरक में जाता है।। ६१।।

अन्तुर्शी लन्नः यह श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

१. म्रन्तिवरोध—(१) २। ५०—५१ [२। १०५—१०६] श्लोकों में वेद का अध्ययन-प्रध्यापन, श्रवण-श्रावण सभी प्रवस्थाओं में पुण्यदायक माना है, ग्रतः इस श्लोक में विना ग्राज्ञा के वेद श्रवण करने का विधान मनु की उक्त मान्यता के प्रतिकूल है। (२) २। १६६ [२। १६१] में मनु ने गुरु की प्रेरणा ग्रथवा विना प्रेरणा किये छात्र को वेदाध्ययन में संलग्न रहने का ग्रादेश दिया है। इस विधान से यह स्पष्ट होता है कि वेदाध्ययन या श्रवण के लिए कोई भी बन्धन मनुसम्मत नहीं है (३) इसी प्रकार नरकसम्बन्धी मान्यता भी मनुसम्मत नहीं है। इसके लिये देखिये ४। ५७ से ६१ श्लोकों पर 'ग्रनुशीलन' समीक्षा। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

गुरु को प्रथम ग्रभिवादन---

लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव च । आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमिभवादयेत् ॥६२॥ [२।११७] (७५)

(यतः) जिससे (लौकिकम्) लोक में काम ग्राने वाला—शस्त्रविद्या, ग्रथंशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान ग्रादि सम्बन्धी (वा) ग्रथवा (वैदिकम्) वेदविषयक (तथा) तथा (ग्राध्यात्मिकम् + एव) ग्रात्मा-परमात्मा सम्बन्धो (ज्ञानम्) ज्ञान (ग्राददीत) प्राप्त करे (तम्) उसको (पूर्वम् + ग्राभि-वादयेत्) पहले नमस्कार करे ॥ ६२ ॥

विप्र की श्रेष्ठता-ग्रश्नेष्ठता---

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः । नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाज्ञो सर्वविकयो ॥ ६३ ॥ [२।११८]

(सावित्रीमात्रसारः) केवल गायत्रीमन्त्र के सार का ज्ञाता (सुयन्त्रितः विप्रः ग्रिप वरम्) जितेन्द्रिय ब्राह्मण भी श्रेष्ठ है, किन्तु तीन वेदों का ज्ञाता (सर्वाशी) जो सब कुछ खाने वाला हो (सर्वविक्रयी) सब वस्तुग्रों का व्यापार करने वाला हो (अय-न्त्रितः) ग्रजितेन्द्रिय हो (न) वह श्रेष्ठ नहीं है। ६३।।

अनुश्रीत्जनः यह श्लोक निम्न प्रकार से प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगविरोध--यह इलोक प्रसंग के विरुद्ध है। पूर्वापर इलोकों में ग्रिभ-

वादन विधि का वर्णन कियागया है। इस क्लोक से वह क्रम टूट रहा है भौर न इसमें विश्वात बातों का यहां कोई सम्बन्ध है। अतः प्रसंगविरुद्ध होने से यह क्लोक प्रक्षिप्त है।

२. धन्तिवरोध — इस क्लोक में कहा है कि 'सब कुछ बेचने वाला' सब कुछ खाने वाला तीन वेदों का जाता अजितेन्द्रिय ब्राह्मण भी श्रेष्ठ नहीं है।' यहाँ सभी बातें मनुविरुद्ध हैं। विक्रय अर्थात् व्यापार का कार्य ब्राह्मण का नहीं है, यह वैश्य का कत्तंव्य हैं [१। ५६, ६।३२६ — ३३२]। जो विक्रय कार्य करेगा, मनु की व्यवस्था के अनुसार वह ब्राह्मण ही नहीं कहला सकता। इसी प्रकार द्विजातियों को मनु ने सब कुछ खाने की छूट नहीं दी है, तामसिक पदार्थों एवं माँस ग्रादि का निषेध करते हुए भक्ष्य-ग्रभक्ष्य के नियम निर्धारित किये हैं [४। ४, ६, ६, १०, २४, २४, ४३ — ४१]। इस ग्राधार पर सब कुछ खाने वाले को ब्राह्मण तो क्या, द्विजातियों के अन्तर्गत भी नहीं माना जाता। ये कथन मनु की व्यवस्था के विरुद्ध जा रहे हैं, ग्रतः यह श्लोक परवर्ती प्रक्षेप है।

गुरु की शय्या ग्रौर ग्रासन पर न बैठे—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।

शब्यासनस्थरचेवेनं प्रत्युत्यायाभिवादयेत् ॥ ६४ ॥ [२।११६ 🗓 (७६)

(श्रेयसा) गुरुजन म्रादि बड़ों द्वारा (म्रध्याचिरते) प्रयोग में लायी जाने वाली (शय्या—म्रासने) शय्या पलंग म्रादि म्रोर स्रासन पर (न समा-विशेत्) न बैठे (च) म्रोर (शय्यासनस्थः) यदि म्रपनी शय्या म्रोर म्रासन पर लेटा या बैठा हो तो (एनम्) इन गुरुजन म्रादि बड़ों को (प्रत्युत्थाय + म्रिभवादयेत्) उनके म्राने पर उठकर नमस्कार करे ॥ १४॥

वड़ों को अभिवादन से मानसिक प्रसन्नता-

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयिति ।

प्रत्युत्थानाभिवादाम्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ।।६५।।[२।१२०](७७)

(स्थिवरे + प्रायित) विद्या, पद, प्रायु ग्रादि में बड़ों के ग्राने पर (यून: प्राणाः) छोटों के प्राण (उत्क्रामित) ऊपर को उभारने-से लगते हैं प्रयीत् प्राणों में हलचल घवराहट-सी उत्पन्न होने लगती है (हि) किन्तु (प्रत्युत्थान-प्रभिवादाभ्याम्) उठने ग्रीर नमस्कार करने से (पुनः) फिर से (तान् प्रतिपद्यते) शिष्य प्राणों की सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है ग्रथित् प्राणों की घबराहट, हलचल ग्रीर उभराव दूर हो जाते हैं ॥६५॥%

श्विचिति मर्थ — युवा लोगों के प्राण वृद्ध लोगों के म्राने पर ऊपर चढ़ते हैं और म्रम्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है ॥ १२०॥]

अभिवादन और सेवा से श्रायु, विद्या, यश, बल की वृद्धि—
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धीपसेविनः ।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायको बलम् ॥६६॥ [२।१२१] (७८)

(ग्रभिवादनशोलस्य) ग्रभिवादन करने का जिसका स्वभाव ग्रीर (नित्यं वृद्धोपसेविनः) विद्या वा ग्रवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है (तस्य ग्रायुः विद्या यशः बलं चत्वारि वर्धन्ते) उसकी ग्रायु, विद्या, कीर्त्ति ग्रीर बल, इन चारों की नित्य उन्नति हुग्रा करती है।। ६६।।

(सं० वि० प्० ८४)

''जो सदा नम्र सुशील विद्वान् ग्रीर वृद्धों की सेवा करता है उसका ग्रायु, विद्या, कीर्ति ग्रीर बल ये चार सदा बढ़ते हैं ग्रीर जो ऐसा नहीं करता उनके ग्रायु ग्रादि चार नहीं वढ़ते''। (स॰ प्र॰ पृ० ४६)

अन्यू श्री टंडन्ड: प्रिमवादनादि से प्रायु-विद्या-बल-यश की वृद्धि कंसे ? यहां प्रश्न उठता है कि अभिवादनशील ग्रीर नित्यवृद्धोपसेवी त्यक्ति के आयु, विद्या, यश और वल कंसे बढ़ते हैं ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इन मान्यताग्रों का उत्तर मनु के भावों से खोजकर यहां स्पष्ट किया जाता है। उससे पूर्व, उत्तर से सम्बन्धित दो वातों को स्पष्ट करना आवश्यक है—एक तो यह कि जो व्यक्ति अभिवादनशील और सेवा करने की प्रवृत्ति का होता है, वह स्वभाव से ही विनम्न एवं मनोवैज्ञानिक वृष्टि से अधिक गुणग्राही होता है। उस पर सेव्य और ग्रभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव आता रहता है। दूसरी बात यह है कि वृद्ध व्यक्तियों से यहां वयोवृद्ध व्यक्तियों के साथ-साथ विशेषरूप से विद्या-ग्रनुभववृद्ध विद्वान् व्यक्तियों से अभिन्नाय है। मनु ने यह मान्यता २। १२६-१३१ [२।१५१—१५६] श्लोकों में स्पष्ट कर दी है, विशेष रूप से निम्न श्लोक में तुलनात्मक रूप में—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वं युवाऽप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥२॥१३१ [२।१६६]

इनके स्पष्टीकरणके उपरान्त अब उन चार लाभों पर विचार कियाजाता है ---

- (१) मनु ने २। ६७ से १०१ [२। १२२ से १२६] में स्रिभवादन का विधान किया है ग्रौर इसे प्रत्येक विद्यार्थी ग्रौर व्यक्ति के लिए श्रच्छा गुएा माना है। स्रिभ-वादनशील ग्रौर वृद्धसेवी व्यक्ति विनम्र होता है। उसके ग्रादर करने के स्वभाव, विनम्रता ग्रौर सेवा मुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सभी स्थानों पर प्रशंसा होती है। इस प्रकार उसका यश बढ़ता है।
- (२) ग्रभिवादनशील ग्रीर सेवा शुश्रूषा करने वाले व्यक्ति के इन गुणों से प्रभावित होकर विद्वानों की स्वाभाविक रूप से अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। वह ग्रपने इन गुणों के प्रभाव से विद्या-ग्रनुभव-वयोवृद्ध विद्वानों से उनकी

बुद्धि में ग्रन्तिनिहित ज्ञान को जैसे स्वतः श्राक्नुष्ट कर लेता है। एक बहुत उपयुक्त उदाहरण द्वारा मनु ने इस बात को स्वयं समभाया है—

> यया लनन् लनित्रेण नरोवार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुक्रुषुरिधगच्छति॥२।१६३ [२।२१८]

इन गुणों से रहित व्यक्ति को विद्या नहीं श्राती। यही कारण है कि विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों में मनु ने श्रीर सभी शास्त्रों ने सेवा भावना को श्रावश्यक माना है—"धर्मार्थों यत्र न स्यातां शुक्रूषा वाऽिष तद्विधा। तत्र विद्या न वक्तव्या = ॥ २।८७ [२।११२], "शुक्रूषुः "शब्याप्या दश धर्मतः" । २।८४ [२।१०६]। इस प्रकार विद्यावृद्धि होती है। श्रभवादनशील श्रीर सेवाभावी के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का स्नेह उमड़ पड़ता है श्रीर वह चाहता है कि मैं इसका जितना हो सके भला करूं।

(३-४) जो विद्यार्थी या व्यक्ति ग्रभिवादनशील, शुश्रूषु होकर विद्या-ग्रनुभव-वयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्तिष्य में रहेगा,तो उसे उनसे धर्म ग्रथित सदाचार शुद्धि, ईश्वरोपासना, श्रेष्ठ गुएा ग्रीर अनुभव, योगसिद्धि ग्रादि का ज्ञान एवं शिक्षा-दीक्षा प्राप्त होगी। ष्यान देने योग्य बात है कि यहाँ 'उपसेविनः' पद का प्रयोग है जिसका विशेष ग्रथं है—'वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना'। इन बातों को स्पष्ट करने के लिए मनु के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

> उपनीय गुरः शिष्यं शिक्षयेत् शौचमादितः । ग्राचारमग्निकार्यं च संघ्योपासनमेव च ॥ २ । ४४ [२ । ६६]

यही शिक्षाएं स्रभिवादनशील स्रौर विद्या-वयोवृद्धों के समीप गुरुवत् प्राप्त होती रहती हैं। तन, मन की शुद्धि से [४। १०६] नीरोग होकर, सदाचार, स्रग्निहोत्र-सन्घ्योपासना स्रादि धर्मपालन से स्रायु एवं बल की वृद्धि होती है। इसकी पुष्टि में मनु के कुछ उदाहरए। प्रस्तुत हैं—

- (क) शुद्धि एवं संन्ध्योपासना ग्रादि से ग्रायुवृद्धि-
  - उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
    पूर्वां संध्यां जपन् तिष्ठेत् स्वकाले चापरां चिरम् ॥
  - २. ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः। प्रज्ञां यशस्य कीर्ति च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ४ । ६३-६४ ॥
- (ख) सदाचार से ग्रायु-बल वृद्धि---
  - १. ग्राचाराल्लमते ह्यायुः ग्राचारादीप्सिताः प्रजाः ॥
  - २. सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः । श्रद्धमानोऽनसूयश्च शतं वर्षािण जीवति ।। ४।१५६, १५८ ॥

सदाचार से आयुर्विद्धि श्रीर दुराचार से अल्पायु-वर्णन सम्बन्धी अन्य श्लोक ४। १५७, ४। १३४, १। ४१-४२ भी द्रष्टब्य हैं।

- (ग) धार्मिक-सात्त्विक व्रतों से ग्रायु-यश ग्रादि की वृद्धि-
- १. स्वर्गायुष्ययशस्यानि वतानीमानि वारयेत् ॥ ४ । १३ ।

(वे व्रत ४।१४ से २५ मतक विहित हैं)

इन सब वल-ग्रायु-वर्धक वातों का ज्ञान-ग्रनुभव, विद्या-ग्रनुभव-वयोवृद्ध व्य-क्तियों के सान्निध्य से प्राप्त होता है, ग्रीर उनका सान्निध्य ग्रिभवादनशीलता, सेवा-शुश्रूषा से प्राप्त होता है। इस प्रकार श्लोकोक्त गुणों से बल ग्रीर ग्रायु की वृद्धि होती है।

श्राभवादन-विधि---

म्रभिवादात्परं वित्रो ज्यायांसर,भिवादयन् । म्रसौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥६७॥ [२।१२२](७६)

(विप्रः) द्विज (ज्यायांसम् + ग्रभिवादयन्) ग्रपने से बड़े को प्रणाम करते हुए (ग्रभिवादात् परम्) ग्रभिवादनसूचक शब्द के बाद ('ग्रहं ग्रसौ नामा ग्रस्मि' इति) 'मैं ग्रमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (स्वं नाम परिक्रीतंयेत्) ग्रपना नाम बतलाये, जैसे—ग्रभिवादये ग्रहं देवदत्तः हुए (श्रेष्ट्रिकेटिंग् से हैं ।। १७।।

नामघेयस्य ये केचिविभवादं न जानते। तान्त्राज्ञोऽहमिति बूयात्स्त्रयः सर्वास्तर्यव च ।। ६८ ।। [२।१२३]

(ये केचित्) जो कोई (नामघेयस्य ग्रिभवादं न जानते) ग्रिभवादन का उत्तर देते समय नामोच्चारए। पूर्वंक ग्रीभवादन करना नहीं जानते (च) ग्रीर (तथैव) उसी प्रकार (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों को भी (प्राज्ञः) बुद्धिमान् व्यक्ति ('ग्रहम् इति बूयात्') 'मैं हूँ' बस इतना ही कहे ग्रथित् नाम का उच्चारण न करे।। ६८।।

# अन्युर्धोत्जन्य : यह श्लोक निम्न ग्राधारों के अनुसार प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंगिवरोध — यह क्लोंक पूर्वापर प्रसंगिविरुद्ध है। इसके द्वारा पूर्वापर क्लोंकों का क्रम भंग हो रहा है। ६७ वें क्लोंक में ग्रिभिवादन की विधि बतलानी शुरू की थी और यह कहा कि 'ग्रिभिवादन करते समय अपने नाम का उच्चारण करे।' ६६ वें क्लोंक में इससे आगे की विधि का वर्णन करने हुए कहा गया है कि 'फिर अपने नाम के अन्त में 'भोः' शब्द का प्रयोग करे।' इस प्रकार ६७ वें क्लोंक से प्रारम्भ अभिवादन की विधि ६६ वें में पूर्ण होती है। इस क्लोंक के कारण वह क्रम ही टूट

गया है। इस क्लोक में विणित बातों का अभिवादन-विधि के बीच में कहने का कोई प्रसंग भी नहीं दनता। अतः यह प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

श्चन्तिंबरोध—(१) क्लोक में कहा है कि जो लोग नामोक्चारणपूर्वक अभि-वादन का उत्तर देना नहीं जानते उन्हें बिना नाम बताये ही नमस्कार करे, जबिक २।१०१ [२।१२६] में ऐसे व्यक्तियों को नमस्कार न करने का आदेश है। (२) इसी प्रकार इस क्लोक में सभी स्त्रियों को बिना नाम बताये ही नमस्कार करने का कथन है, जबिक २।१६१ [२।२१६] में गुरुनित्यों को पूर्णविधि से नामोक्चारण-पूर्वक नमस्कार करने का विधान है। इन दोनों ही विधानों के विरुद्ध होने से यह क्लोक प्रक्षित्त है।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने । नाम्नां स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः ॥६६॥[२।१२४](८०)

[२। ६७ में विहित प्रक्रिया पूरी होने के बाद फिर] (ग्रिभिवादने) ग्रिभिवादन में (स्वस्य नाम्नः ग्रन्ते) ग्रपना नाम बताने के पश्चात् ('भोः' शब्दं कीर्तयेत्) 'भोः' यह शब्द लगाये (हि) क्योंकि (ऋषिभिः) ऋषियों ने (भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः) 'भोः' के ग्रिभिप्राय को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है ग्रर्थात् 'भोः' संबोधन के उच्चारण में ही नाम का ग्रन्तर्भाव स्वतः हो जाता है [२।१०३] । 'जैसे—'ग्रिभिवादये ग्रहं देवदत्तः 'भोः'।।६६।।

ग्रभिवादन का उत्तर देने की विधि-

आयुष्मानभव सौम्येति वाच्यो वित्रोऽभिवादने।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते बाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१००॥ [२।१२५ [(६१) (ग्रिभिवादने) ग्रिभिवादन का उत्तर देते समय (विप्रः) द्विज को (सौम्य 'ग्रायुष्मान् भव' इति वाच्यः) 'हे सौम्य! ग्रायुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए (च) ग्रौर (ग्रस्य नाम्नः + ग्रन्ते ग्रकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः) नमस्कार करने वाले के नाम के ग्रन्तिम ग्रकार ग्रादि स्वरों को पहले ग्रक्षर सहित प्लुत की घ्विन [तोन मात्राग्रों के समय] में उच्चारण करे। जैसे—'देवदत्त' नाम में ग्रन्तिम स्वर ग्रकार है, जो 'त्' में मिला हुन्ना है। इस प्रकार 'त्' सहित ग्रकार को ग्रर्थात् ग्रन्तिम 'त' को ही प्लुत वोले। उदाहरण है—"ग्रायुष्मान् भव सौम्य देवदत्त ३'' ग्रथवा "ग्रायुष्मान् भव सौम्य यज्ञदत्त्व ३''।। १००।।

अभिवादन का उत्तर न देने वाले को अभिवादन न करें—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विष्रः प्रत्यभिवादनम् । नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१०१॥ [२।१२६] (८२) (यः विप्रः) जो द्विज (ग्रिभिवादस्य प्रत्यभिवादनस्) ग्रिभिवादन करने के उत्तर में ग्रिभिवादन करना नहीं जानता ग्रर्था नहीं करता (विदुषा सः न + ग्रिभिवाद्यः) बुद्धिमान् ग्रादमी को उसे अभिवादननहीं करना चाहिए, क्योंकि (सः यथा शूद्रः तथा + एव) वह शूद्र के समान है ।। १०१।।

वर्णानुसार कुशल प्रश्नविधि---

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१०२॥[२।१२७](८३)

[मिलने पर, अभिवादन के बाद] (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्) ब्राह्मणं कुशलं प्रच्छेत्) ब्राह्मणं से कुशलता—प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन म्रादि की निर्विद्यता, (क्षत्रबन्धुम् म्रानामयम्) क्षत्रिय के बल म्रादि की इिंट से स्वास्थ्य के विषय में, (वैदयं क्षेमम्) वैदय से क्षेम—धन म्रादि की सुरक्षा म्रोर म्रानन्द के विषय में (पृच्छेत्) म्रोर (शूद्रम् म्रारोग्यम् एव) शूद्र से स्वस्थता के विषय में (पृच्छेत्) पूछे। म्राभिप्राय यह है कि वर्णानुसार उनके मुख्य उद्देश्यसाधक व्यवहारों की निविद्यता के विषय में प्रधानता से पूछे॥ १०२॥

दीक्षित के नामोच्चारण का निषेध-

म्रवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानिष यो भवेत् । भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥१०३॥[२।१२८](८४)

(दीक्षितः) उपनयन में दीक्षित (यः यवीयान् + ग्रिप भवेत्) यदि कोई छोटा भी हो तो उसे (नाम्ना ग्रवाच्यः) नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिए (धर्मवित्) व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह (एनं 'भो' 'भवत्' पूर्वकम् ग्रिभभाषेत) ग्रपने से छोटे व्यक्ति को 'भों 'भवत्' जैसे ग्रादरबोधक शब्दों से सम्बोधित करे।। १०३।।

परस्त्री के नामोच्चारण का निषेध-

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः । तां बूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१०४॥ [२।१२६](८४)

(या परपत्नी च योनितः ग्रसम्बन्धा स्त्री स्यात्) जो कोई दूसरे की पत्नी ग्रीर योनि से सम्बन्ध न रखने वाली स्त्री ग्रर्थात् बहन ग्रादि न हो (ताम्) उसे ('भवति' 'सुभगे' 'भिगनी' इति + एवं ब्रूयात्) 'भवति!' [=ग्राप] 'सुभगे!' [=सौभाग्यविति!] 'भिगनी!' [=वहन] इस प्रकार के शब्दों से सम्बोधित करे।। १०४।।

पारिवारिक एवं सम्बन्धी जनों का ग्रभिवादन---

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वगुरानृत्विजो गुरून् । ग्रसावहमिति जूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥१०५॥ [२।१३०]

(मातुलान् पितृव्यान् श्वशुरान् ऋत्विज: च गुरून्) मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज ग्रौर गुरुजन ग्रादि बड़ों को (यवीयसः) यदि ये छोटे भी हों तो भी (प्रत्युत्थाय) उठकर ('ग्रहम् ग्रसौ इति' ब्रूयात्) 'मैं ग्रमुक' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करे।। १०५॥

मातृष्वसा मातुलानी व्वश्रूरथ पितृष्वसा। संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुमार्यया।। १०६ [२।१३१]

(मातृष्वसा) मौसी (मातुलानी) मामी (श्वश्रूः) सास (स्रथ) स्रौर (पितृष्वसा) बूग्रा (गुरुपत्नीवत् संपूज्या) ये गुरुपत्नी के समान ही पूजनीय हैं (ताः गुरुभार्यया समाः) क्योंकि वे गुरुपत्नी के समान स्तर की ही हैं।। १०६।।

म्रातुर्मार्योपसंप्राह्या सवर्णाहन्यहन्यि । विश्रोब्य तूपसंप्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोवितः ।।१०७॥ २।१३२॥

(सवर्णा भ्रातु:भाया) बड़े भाई की सवर्णा [ = ग्रपने वर्ण की] स्त्री का (ग्रहनि-ग्रहनि) प्रतिदिन (उपसंग्राह्म) चरणस्पर्श करके ग्रभिवादन करना चाहिए, ग्रौर (ज्ञाति-सम्बन्धियोषितः तु) जातिवालों तथा सम्बन्धियों की पत्नियों का तो (विप्रोष्यसंग्राह्मा) केवल परदेश से लौटकर ही चरणस्पर्श करके श्रभिवादन करना चाहिए, श्रन्यथा बिना चरणस्पर्श किये हीअभिवादनकरे॥ १०७॥

> पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि । मातृबद् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताम्यो गरीयसी ॥१०८॥ [२।१३३]

(पितुर्भगिन्याम्) पिता की बहन ग्रथांत् ब्रुग्ना (च) ग्रौरं,(मातुः) माता की बहन ग्रथांत् मौसी के साथ (च) तथा (ज्यायस्यां स्वसिर + ग्रपि) बड़ी बहन के साथ भी (मातृ-वन् वृत्तिम् + ग्रातिष्ठेत्) माता के समान बर्ताव करे, किन्तु (माता ताम्यः गरीयसी) माता उन सबसे ग्रधिक बड़ी [ग्रादरणीय] है ॥ १०८॥

नागरिकों ग्रादि से मैत्री-व्यवहार-

दशाब्दारुपं पौरसरुपं पञ्चाब्दारुपं कलाभृताम् । त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियारणां स्वत्पेनापि स्वयोनिवु ॥१०६॥[२।१३४]

(पौरसख्यं दश-ग्रव्द-ग्राख्यम्) नगर या ग्रामवासियों के साथ समान मित्रता का वर्ताव दश वर्षे की ग्रायु के ग्रन्तर तक होना चाहिए (कलाभृतां पञ्च-ग्रव्द-ग्राख्यम्) कलाग्रों के जानने वालों में पांच वर्षे के ग्रन्तर तक (श्रोत्रियाणां त्रि-ग्रव्दपूर्वम्) वेदपाठियों के साथ तीन वर्ष के अन्तर तक समान मित्रता का व्यवहार होना चाहिए [अर्थात् उक्त अन्तरों में बड़े-छोटे का अधिक विचार नहीं करना चाहिए] (स्वयोनिषु स्वल्पेन + अपि) किन्तु अपने कुल वालों में आयु का थोड़ा अन्तर होने पर भी छोटे-बड़े का व्यवहार रखना चाहिए।। १०६॥

बालक ब्राह्मण भी वृद्ध क्षत्रियों के पिता के समान-

बाह्यरां दशवर्षं तु शतवर्षं तु मूमिपम् । पितापुत्रौ विजानीयाद् बाह्यरास्तु तयोः पिता ॥११०॥ [२।१३५]

(दशवर्षं तु ब्राह्मणम्) दश वर्षं के तो ब्राह्मए। को (शतवर्षं तु भूमिपम्) श्रीर सौ वर्षं के क्षत्रियं को (पितापुत्री विजानीयात्) क्रमशः पिता श्रीर पुत्र समक्षना चाहिए (तयोः ब्राह्मणः तु पिता) उनमें ब्राह्मण ही पिता है।। ११०।।

अन्तुर्धी टाना: १०५ से ११० तक के श्लोक निम्न 'प्राधारों' के स्राधार पर प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषय-विरोध—१०४ से १०६ क्लोक विषयविरुद्ध हैं। द्वितीय अघ्याय का मुख्यविषय बहाचर्याश्रम है [२।४४ (२।६६),३।१—२]।२।४३—४४ [२।६—६६] क्लोकों में स्पष्टतः गुरु के पास रहते हुए ब्रह्मचारी के कर्तंव्यों का कथन करने का संकेत किया है। और २।१३६ [२।१६४] में भी कहा है—"अनेन कमयोगेन क्या संकेत किया है। और २।१३६ [२।१६४] में भी कहा है—"अनेन कमयोगेन विधयों के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुआ वेदज्ञान की वृद्धि के लिए तप करे। इसके अतिरिक्त २।६३ [१०६],१५०[१७६],१६६—१७६[१६४—२०३],१६४[२१६],२१६—२१६[२४१—२४४] आदि क्लोकों से भी यही स्पष्ट होता है कि इस अघ्याय में केवल गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी के कर्त्तंव्यों का विषय है। किन्तु इन क्लोकों में जो कर्त्तंव्य विहित हैं वे गुरुकुल के ब्रह्मचारी के न होकर ग्रहस्थ के हैं। गुरुकुलमें ब्रह्मचारी का मामा, चाचा, ऋत्विज, ब्रुधा आदि से सम्पर्क नहीं पड़ता और न ब्रह्मचारी के सास-ससुर ही होते हैं। गुरुकुल में रहते हुए भाई की स्त्री की भी वह प्रतिदिन कै से वन्दना करेगा? इस प्रकार से विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। यहां यह घ्यान देने की बात है कि ये अर्थवाद नहीं हैं अपितु विधिवाक्य हैं। अर्थवाद के रूप में तो सम्बद्ध वातें विषयसम्मत मानी जा सकती हैं।
- २. ग्रन्तिविरोष—(१) २।१११—११२ [२।१३६—१३७] इलोकों में गुणों की ग्रिधिकता के ग्राधार पर ज्येष्ठत्व माना है। इसी प्रकार २।१२४—१३१ [२।१५०—१५६] इलोकों के वर्णन से भी यही सिद्ध होता है कि मनु गुर्गों के ग्राधार पर ज्यक्ति को बड़ा मानते हैं।१६० वें इलोक में जन्म के ग्राधार पर ब्राह्मण को बड़ा कहना मनु की उक्त मान्यता के विरुद्ध है। (२) मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। कर्मों की श्रेष्ठता के कारण ही उन्होंने ब्राह्मण को सभी वर्णों में श्रेष्ठ कहा है।

११० वें क्लोक में दश वर्ष के बालक को क्षत्रिय के पिता-तुल्य कहना जन्मना वर्ण-व्यवस्था पर ग्राधारित है, ग्रतः यह मनु के विरुद्ध है। (इसके लिए विस्तृत समीक्षा १ ! ६२—१०७ क्लोकों पर देखिए )।

३ शैलीगत भाषार—११० वें श्लोक की शैली स्रतिशयोक्तिपूर्ण एवं पक्षपातपूर्ण है। मनु की शैली में ये त्रुटियां नहीं हैं। इस स्राधार पर भी यह प्रक्षिप्त है।

सम्मान के ग्राधार---

वित्तं बन्धुर्वयः कर्मं विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१११॥[२।१३६](८६)

(वित्तं बन्धुः वयः कर्म) एक—घन, दूसरे—बंधु, कुटुम्ब, कुल, तीसरी—म्रायु, चौथा—उत्तम कर्म (पञ्चमी विद्या भवति) ग्रौर पांचवीं— श्रेष्ठविद्या (एतानि मान्यस्थानानि) ये पांच मान्य के स्थान हैं, परन्तु (यद्-यद्+उत्तरं गरीयः) [जो-जो परला है वह म्रतिशयता से उत्तम है] घन से उत्तम बन्धु, बन्धु से म्रधिक म्रायु, ग्रायु से श्रेष्ठ कर्म ग्रौर कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर म्रधिक माननीय हैं ॥ १११ ॥

(स॰ प्र॰ पृ॰ २५६)

अन्य क्रिक्ट न्य : विशिष्ट विद्वान् सर्वधिक सम्मान्य — लौकिक श्रीर वैदिक क्षेत्र, दोनों में ही विशिष्ट विद्वान्व्यक्ति सर्वाधिक सम्मान्य होता है। ग्रन्य प्रमाशों सं भी यह बात स्पष्ट होती है—

"यथा ज्ञानपतीषु विद्यातः पुरुषितिशेषो भवति, पारोवर्यविश्मु खलु वेदिनृषु भूयोविद्यः प्रशास्यो भवति ।" (निरु० १ । १४) = जगत् में प्रधिक विद्याज्ञाता सबसे विशेष माना जाता है, इसी प्रकार वेदविद्यावेत्ताओं में भी जो प्रधिक वेदविद्या का ज्ञाता है, वह प्रधिक सम्मान्य एवं महान् है।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च। यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः ज्ञूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥११२॥ [२।१३७] (८७)

(त्रिषु वर्णेषु) तीनों वर्णों में ग्रथित् ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रीर वैश्यों में परस्पर (पञ्चानां यत्र भ्रयांसि गुणवन्ति स्युः) उक्त [२।१११] पांच गुणों में उत्तरोत्तर स्तर वाले ग्रधिक गुण जिसमें हों (ग्रत्र सः मानाहंः) समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है (दशमीं गतः शूद्र: +ग्रिप) तथा दशमी श्रवस्था श्रथित् नब्बे वर्ष से श्रधिक श्रायुवाला शूद्र भी सब के द्वारा सम्मान देने योग्य है।।११२।।

किस-किस के लिए मार्ग दें-

चिक्रणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः । स्त्रातकस्य च राज्ञश्च पंथा देयो वरस्य च ।।११३।।[२।१३८](८८)

(चक्रिणः) सवारी ग्रर्थात् रथ, गाड़ी ग्रादि में बैठे हुए को (दशमी-स्थस्य) दशमी ग्रवस्था वाले ग्रर्थात् नब्बे वर्ष से ग्रिधिक ग्रायु वाले को (रोगिणः) रोगो को (भारिएाः) बन्भ उठाये हुए को (स्त्रियः) स्त्री को (च) ग्रीर (स्नातकस्य) स्नातक को (राज्ञः) राजा को (च) तथा (वरस्य) दूहहे को (पन्था देयः) पहले रास्ता दे देना चाहिए ।। ११३ ॥

राजा और स्नातक में स्नातक अधिक मान्य-

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपाथियौ । राजस्नातकयोक्ष्येव स्नातको नृपमानभाक् ॥११४॥[२।१३६] (८६)

(तेषाम् तु) उन [२। ११३] सब के (समवेतानाम्) एकत्रित होने पर (स्नातक-पाथिवो मान्यो) स्नातक श्रोर राजा सबके सम्मान के योग्य हैं (च) ग्रोर (राजस्नातकयोः एव) राजा तथा स्नातक में भी (स्नातकः) स्नातक ही (नृपमानभाक्) राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है प्रथित स्नातक विद्वान सबसे श्रधिक सम्मान का पात्र है।। ११४।।

**ग्राचार्यका लक्षण—** 

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ ११४ ॥ |२ । १४० | (६०)

(यः उपनोय तु) जो यज्ञोपवीत कराके (सकल्पंच सरहस्यम्) कल्पसूत्र ग्रीर वेदान्तसहित (शिष्यं वेदम् मृग्नध्यापयेत्) शिष्यं को वेद पढ़ावे (तम् -|-ग्राचार्यं प्रचक्षते) उसको ग्राचार्यं कहते हैं।। ११५।।

(द० ल० वे० ५० ४)

"जो बाह्यएा, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवोत आदि धर्म क्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कलासहित पढ़ावे तो ही उसको स्राचार्य कहना चाहिए।" (द० ल० शि० पृ० ८०)

अन्तुर्थाहित्वन्तः कल्प से प्रक्रियाय- यहां 'कल्प' से किसी ग्रन्थ-निर्धेष में ग्रभिषाय नहीं है,श्रपितु वेदोक्त यज्ञ, धर्मक्रियाओं ग्रादि का निरूपण जिसमें होता है. उस विशा विशेष से हैं। उपाद्याय का लक्षण---

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ ११६ ॥ [२।१४१] (६१)

(यः) जो (वृत्ति + ग्रथंम्) जीविका के लिए (वेदस्य एकदेशम्) वेद के किसी एक भाग या ग्रंश को (ग्रिप द्वा पुनः वेदांगानि) या फिर वेदांगों = शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र ग्रीर ज्योतिष विद्याग्रों को (ग्रव्यापयित) पढ़ाता है (सः उपाष्यायः उच्यते) वह 'उपाष्याय' कहलाता है ॥ ११६॥

अन्युटारिटा : वेदांगों से यहां तत्तत् विद्याविशेष ग्रहण करनी चाहिए, कोई ग्रन्थिन नहीं।

पिता-गुरुकालक्षण---

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ ११७ ॥

[२।१४२] (६२)

(यः) यथाविधि) जो विधि-स्रनुसार (निषेकादीनि कर्माणि करोति) गर्भाधान स्रादि संस्कारों को करता है (च) तथा (स्रन्नेन संभावयित) ध्रन्न स्रादि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है (स विप्रः) वह विद्वान् द्विज (गुरुः + उच्यते) 'गुरु' कहलाता है ॥ ११७॥

"जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं।'' (द० ल० ग्रा० पृ० २७६)

"निपेक—ग्रथीत् ऋतु-प्रदान यह प्रथम संस्कार है। पिता निरेक करता है, इसलिए पिता ही मुख्य गुरु है।" (पू० प्र० पृ० ७७) ऋतिक का लक्षण—

त्र्रान्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मलान् । यः करोति वृतो यस्य स तस्य तस्यत्विगहोच्यते ॥११८॥[२।१४३](६३)

(यः वृतः) जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर (तस्य) उस वरण करने वाले के (अग्न्याययम्) श्रग्निहोत्र (पाकयज्ञान्) विलवैद्वदेव ग्रादि तथा पूर्णिमा ग्रादि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों को (ग्रग्निट्टोम म्यादिकान् मखान्) ग्रग्निष्टोम ग्रादि बड़े यज्ञों को (करोति) करता है (सः तस्य ऋत्विक् उच्यते) वह उस वरण करने वाले [यजमान] का 'ऋत्विक्'कहलाता है ॥ ११८॥

अर्नुर्रोटिन : ऋत्विज् का अधिकारी कौन—ऋत्विज् कैसे होने चाहिए, इस पर महिंप दयानन्द ने प्रकाश डाला है, जो उद्धरणीय है—"ऋत्विजों के लक्षण—ग्रन्छे विद्वान्, धार्मिक, जितेन्द्रिय, कर्म करने में कुशल, निर्लोभ, परोपकारी, दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, मुशील, वैदिक मत वाले, वेदिवत् एक, दो, तीन ग्रथवा चार का वरण करें।" (सं० वि० सामान्य प्र०)

ग्रध्यापक या ग्राचार्य की महत्ता---

य त्रावृणोत्यवितथं ब्रह्मगा श्रवगावुभौ। स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्मोत्कवाचन॥ ११६॥ [२।१४४ [ (६४)

(यः ब्रह्मणा) जो गुरु या स्नाचार्य वेदज्ञान के द्वारा (उभी श्रवणी स्नवितथम् स्नावृणोति) दोनों कानों को भलीभांति परिपूर्ण करता है [सुनाता-पढ़ाता है] (सः माता सः पिता ज्ञेयः) उसे माता, पिता समभ्रना चाहिए (तं कदाचन न द्रुद्धोत्) स्नीर उससे कभी द्रोह [=ईष्प-स्रपमान] न करे।। ११६।।

अस्तुरारिटा : ११६ की निरुत्त से तुलना—निरुत्त शास्त्र में महिंपि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ का इलोक उद्धृत किया है, जो मनु के इलोक से भाव ग्रीर शब्दों की दृष्टि से पर्याप्त मिलता-जुलता है। तुलना की जिए—

य श्रापृराोत्यविथेन कर्णी-श्रदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ।। (निरु० २।१।४) उपाध्याय, श्राचार्य, पिता, माता की तुलना—

> उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेगाातिरिच्यते ।। १२० ॥ [२।१४४)

(दश उपाध्यायान् आचार्यः) दश उपाध्यायों की अपेक्षा स्राचार्य (शतम् स्राचार्याणां पिता) सौ स्राचार्यों की अपेक्षा पिता (सहस्र पितृन् तु माता) हजार पितास्रों की अपेक्षा माता (गौरवेगा ⊹ स्रतिरिच्यते) गौरव में स्रधिक है ।। १२० ।।

## अनुश्रीलन-यह श्लोक प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध यह पूर्वापरप्रसंगिवरुद्ध है। इसने पूर्वापर प्रसंग के क्रम को भंग किया है। पहले ब्लोक में 'गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के माता-पिता कौन होते हैं' यह वतलाया है ग्रीर इससे ग्रगले ब्लोक में जन्म देनेवाले पिता ग्रीर ग्राचार्य रूप पिता की नुलना दिखाई है। उस क्रम को भंग करके इस ब्लोक में उपाध्याय ग्रादि से चर्चा प्रारम्भ करना ग्रसंगत है, ग्रतः यह प्रसंगिवरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- २. श्रन्तिविरोध इस श्लोक में जन्म देने वाले माता-पिता को अधिक उच्च कहा है, जबिक श्रगले १२१ — १२३ [१४६ — १४८] श्लोकों में कारण-प्रदर्शन पूर्वक स्पष्टतः श्राचार्य को माता-पिता से उच्च माना है तथा माता-पिता की गौराता का

कारण भी दिखलाया है। यहां प्रसंग भी गुरुकुल का है ग्रतः गुरु को ही उच्च दिखाना प्रसगानुकूल मान्यता मानी जा सकती है। इस विरोध के ग्राधार पर यह भी यह श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।

पिता से वेदज्ञानदाता ग्राचार्य बड़ा होता है-

उत्पादकब्रह्मदात्रोगेरीयान्ब्रह्मदः पिता । ब्रह्मजन्म हि विष्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १२१ ॥ [२।१४६](६५)

(उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः) उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या या वेद-जान देनेवाने पिता श्राचार्य | ११५ | में (ब्रह्मदः पिता गरीयान्) वेदजान देनेवाला आचार्यरूप पिता ही श्रधिक बड़ा और माननीय है (हि) क्योंकि (विप्रस्य) द्विज का (ब्रह्मजन्म) [शरीर-जन्म की श्रपेक्षा | ब्रह्मजन्म = उप-नयन में दीक्षित करके वेदाध्ययन एवं ईश्वरज्ञान कराना हो (इह च प्रेत्य शास्वतम्) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहने वाला है श्रर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु योग तथा विद्या के संस्कार मुक्तिप्राप्ति तक साथ देते हैं ॥ १२१॥

अस्तुर्शोद्धाः बह्मजन्म से अभिशाय—ग्राचार्यं उपनयन संस्कार के द्वारा वेदाष्ट्रयम ग्रीर ईश्वरज्ञान कराके एक जन्म प्रदान करता है, जिसे इस श्लोक में 'ब्रह्मजन्म' की संज्ञा दी है। यह जन्म शाश्वत सुखदायक है ग्रर्थात् मुक्तिपर्यन्त इस जन्म ग्रीर परजन्मों में सुखदायक है। इसी जन्म के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय. वैश्य को द्विज (दिर्जायते इति द्विजः) कहा जाता है। यह अनुष्ठान वेदाधारित ही है: द्वाटव्य है प्रमाणरूप में एक मन्त्र = जिसका भाव मनुस्मृति के २।११-१२,४३,४४ ग्रादि में भी ग्राता है—

भ्राचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिएां कृष्ठते गर्भमन्तः। तंरात्रीस्तिस्र उदरे बिमर्सितं जातं द्रष्टुममिसंयिग्त देवाः॥ (ग्रथवं०११।५।१)

श्राचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रि पर्यन्त संध्यो-पासनादि सत्युरुषों के ग्राचार की शिक्षा कर उसके ग्रात्मा के भीतर गर्भेत्रप विद्या-स्थापन करने के लिए उसको पूर्ण विद्वान् करदेता ग्रीर जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रीर विद्या को पूर्ण करके घर को ग्राता है तब उसको देखने के लिए सब विद्वान् लोग सम्मुख जाकर बडा मान्य करते हैं (सं० वि० ६४)

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूति तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते।। १२२।।[२।१४७](६६)
(माता च पिता यत् एन मिथः उत्पादयतः) माता स्रोर पिता जो इस

बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं, वह (कामात्) सन्तान-प्राप्ति की कामना से करते हैं (यत् + योनो- + प्रिभाजायते) वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है (तस्य तां संभूति विद्यात्) उसका वह साधारणरूप से संसार प्रकट होना मात्र जन्म है, प्रर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित करके शिक्षा के रूप में आचार्य ही देता है, जिससे मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है।।१२२॥

ग्राचार्यं द्वारा प्रदत्त ब्रह्मजन्म स्थिर होता है---

ब्राचार्यस्त्वस्य यां जाति विधिवद्वेदपारगः।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥१२३॥ [२।१४८](६७)

(वेदपारगः श्राचायंः) वेदों में पारगत श्राचायं [२।११५ (२।१४०)] (विधिवत्) विधि-प्रनुसार (सावित्र्या) गायत्रीमन्त्र की दीक्षापूर्वक [२।४४, ४६, ५१-५३] ग्रर्थात् उपनयन संस्कार से [२।११-१२] (ग्रस्य) इस विद्यार्थी या व्यक्ति के (यां जातिम् उत्पादयित) जिस जन्म प्रयीत् ब्रह्मजन्म को प्रदान करता है [द्रष्टव्य २।१२१,१२२,१२५ दलोक] (सा तु) वही जन्म तो (सत्या) वास्तविक मनुष्य जन्म है, (सा + ग्रजरा + ग्रमरा) वह जन्म ग्रजरता = कभी सीण न होना ग्रोर ग्रमरता — मृत्यु ग्रर्थात् विनाश को न प्राप्त होना ग्रादि गुणों से युक्त है ग्रर्थात् वेद ग्रोर ईश्वर-ज्ञान-रूपी जन्म में दीक्षित होकर मनुष्य ग्रजर-ग्रमर मुक्ति पद को प्राप्त कर लेता है। यही मनुष्य का सत्य ग्रर्थात् वास्तविक उद्देश्य है। सुशिक्षा के बिना मनुष्य भनुष्य नहीं वनता।। १२३।।

अर्जुट्रिटिङ्का: 'जाति' शब्दार्थं का विवेचन—'जन्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से 'जाति' शब्द निष्पन्त होता है। यहां यह 'जन्म' के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त है श्रीर 'ब्रह्मजन्म' के श्रथं में प्रयुक्त हुश्रा है, श्रन्य किसी जातिविशेष के लिए नहीं—

- (क) पूर्वापर क्लोकों में इन्हीं गुए वाले ब्रह्मजन्म का प्रसंग है। १२१ में माता से प्राप्त जन्म की अपेक्षा ब्रह्मजन्म को उस्कृष्ट एवं शाक्ष्वत बतलाया है। १२२ और १२३ क्लोक उसके अर्थवाद हैं। १२२ में माता-पिता से प्राप्त जन्म कम महत्त्व वाला किस कारण से है, यह स्पष्ट किया है। १२३ में ब्रह्मजन्म किस कारए से उत्कृष्ट है, यह स्पष्ट किया है। इस प्रकार उसी अर्थ की इसमें क्रमशः अनुवृत्त है।
- (ख) १२५ में भी ब्रह्मजन्म का कथन है, जो श्राचा<sup>ं</sup> या गुरु द्वारा प्राप्त होता है, उसे ही 'जाति' कहते **हैं**।

(ग) इस क्लोक में 'जाति' ब्रह्मजन्म के अर्थ में प्रयुक्त है। इसकी सिद्धि मनु हारा प्रयुक्त विशेषणों से ही हो जाती है। 'सत्या, ग्रजरा, ग्रमरा' विशेषण ग्रन्य किसी जाति में नहीं घटते ग्रपितु ब्रह्मजन्म में ही घटते, हैं, क्योंकि यही मुक्तिप्राप्ति में साधक होता है। देखिए—

"बाह्मीयं कियते तनुः" [२।३(२।२८), २।४३ (२।६८); २।२२४ (२।२४६); ४।१४; ४।१४८, १४६; ६।८१-८५ म्रादि]।

(घ) जाति का अर्थ 'जन्म' है। इसकी पुष्टि मनु स्वयं ६।२०१ वलोक द्वारा करते हैं। वहां "जात्यन्धविषरौ" अर्थात् 'जन्म से अंधे और बहरे' यह प्रयोग 'जन्म' अर्थ में है। इस प्रकार यहां भी 'जाति' शब्द का 'जन्म' अर्थ ग्रहण करना ही मनु-सम्मत है। इसी अर्थ में १०। ४ में भी इसका प्रयोग है—

### १. ''चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः" [१०।४।।]

गुरु का सामान्य लक्षण-

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः । तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तथा ।।१२४॥ [२।१४६](६८)

(यः यस्य) जो कोई जिस किसी का (श्रुतस्य अरुपं वा बहु उप-करोति) विद्या पढ़ाकर थोड़ा या ग्रधिक उपकार करता है (तम् +ग्रिप + इह) उसको भी इस संसार में (तया श्रुत + उपक्रियया) उस विद्या पढ़ाने के उपकार के कारण (गुरु विद्यात) गुरु समभना चाहिए।। १२४।।

विद्वान् बालक वयोवृद्ध से बड़ा होता है-

बाह्यस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता । बालोऽपि वित्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१२४॥[२।१४०](६६)

(ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता) ईश्वरज्ञान एवं वेदाघ्ययन के जन्म को देने वाला (स्वधर्मस्य च शासिता) श्रीर उसके ग्रपने धर्म का उपदेश देने वाला (विप्रः) विद्वान् (बालः + ग्रपि) बालक ग्रर्थात् ग्रल्पायु होते हुए भी (धर्मतः) धर्म से (वृद्धस्य पिता भवित) शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता ग्रर्थात् गुरु के समान बड़ा होता है।। १२५।।

उक्त विषय में प्राङ्गिरस का इष्टान्त-

म्रध्यापयामास पितृञ्चिशुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ।।१२६।।[२।१५१](१००) [इस प्रसंग में एक इतिवृत्त भी है] (ग्राङ्गिरसः शिशुः कविः) अंगिरा वंशी 'शिशु' नामक बालक (पितृन्) अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को (अध्यापयामास) पढ़ाया (ज्ञानेन परिगृह्य) ज्ञान देने के कारण (तान् 'पुत्रकाः' इति ह उवाच) उनको 'हे पुत्रो इस शब्द से सम्बोधित किया।। १२६।।

अन्तु शरिटा नः (१) 'कवि' शब्द की ब्युत्पत्ति—कविः शब्द 'कु-शब्दे' (ब्रदादि) धातु से 'श्रच इः' (उणादि ४। १३६) सूत्र से 'इः' प्रत्यय लगने से बनता है। इसकी निरुक्ति है—

'क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा विद्वांसः' (ऋ० द० ऋ० भू०) ''कविः क्रान्तदर्शनो भवति'' (निरुक्त १२। १३)

इस प्रकार विद्यात्रों के सूक्ष्म तत्त्वों का द्रष्टा, बहुश्रुत ऋषि व्यक्ति कवि होता है। इसे 'स्रतूचान' भी इस प्रसंग में कहा है [२। १२६] ब्राह्मणों में भी कवि के इस अर्थ पर प्रकाश डाला है —

"ये वा अनूचानास्ते कवयः" (ऐ०२।२)। "एते वै कवयो यहषयः" (श०१।४।२।६)। "ये विद्वांसस्ते कवयः" (७।२।२।४)। शुश्रुवांसो वै कवयः" (तै०३।२।२।३)।

(२) शियु अाङ्गिरस—यह अंगिरावंश का एक विद्वान् बालक था। बाल्यावस्था में मन्त्रद्रष्टा होने के कारण यह गुणाभिषान 'शिशु' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। इसका यह आख्यान ताण्ड्य ब्राह्मण १३।३।२३-२४ और पञ्चित्र ब्राह्मण १३।३।२४ में यथावत् आता है। वहां इसे 'मन्त्रकृतां मन्त्रकृत्' कहा है। ऋ० ६।११२ सूक्त इसी शिशु ऋषि द्वारा दृष्ट है। सामवेद में "यत्थोम चित्रम् " [साम० उ० ३।२।१३] तृच् को इसके द्वारा दृष्ट होने के कारण ही 'शैशव साम' कहा गया है।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः । । देवाइचैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ।।१२७।।[२।१५२](१०१)

(ग्रागतमन्यवः ते) [उनत संवोधन को सुनकर] गुस्से मे ग्राये हुए उन पितरों ने (तम् + ग्रथं देवान् ग्रपृच्छन्त) उस 'पुत्र' सम्बोधन के ग्रथं ग्रथवा ग्रीचित्य के विषय में देवताग्रों = बड़े विद्वानों से पूछा (च) ग्रीर तब (देवाः समेत्य एतान् ऊचुः) सव विद्वानों ने एकमत होकर इनसे कहा कि (शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान्) तत्त्वदर्शी शिशु ग्राङ्गिरस ने तुम्हारे लिए 'पुत्र' शब्द का सम्बोधन ठीक ही किया है।। १२७।। विद्वता के ग्राधार पर बालक ग्रीर पिता की परिभाषा—

न्नज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । न्नज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१२८॥[२।१५३](१०२) (ग्रज्ञ: व वाल: भवित) चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या-विज्ञान से रहित है वह बाल क ग्रीर (मन्त्रद: पिता भवित) जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बाल क को भी वृद्ध [= पिता] मानना चाहिए (हि) क्यों कि सब शास्त्र, ग्राप्त विद्वान् (ग्रज्ञं बालम् + इति) ग्रज्ञानी को बाल क (मन्त्रदंतु पिता इत्येव ग्राहु:) ग्रीर ज्ञानी को पिता कहते हैं ॥ १२ ६॥ (स॰ प्र० २५६)

''ग्रज्ञ ग्रर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा, वह निश्चय करके बालक होता है, ग्रीर जो मन्त्रद ग्रर्थात् दूसरे को विचार देनेवाला, विद्या पढ़ा विद्याविचार में निपुण है, वह पिता-स्थानोय होता है, क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने ग्रज्ञजन को वालक कहा ग्रीर मन्त्रद को पिता हो कहा है, इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्त होकर ज्ञानवान् ग्रवश्य होना चाहिए।

(सं वि व पृ व प्र)

ग्रवस्था ग्रादि की ग्रपेक्षा वेदज्ञानी की श्रेष्ठता---

न हायनैर्न पिल्तिन् वित्तेन न बन्धुभिः।

ऋषयश्चिकरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१२६॥ [२।१५४](१०३)

(हायनै:) ग्रधिक वर्षों के बीतने (पिलतै:) श्वेत बाल के होने (वित्तेन) ग्रधिक धन से (बन्धुभि:) बड़े कुटुम्ब के होने से (न) वृद्ध नहीं होता (ऋषय: धर्म चिक्रिरे) किन्तु ऋषि-महात्माग्रों का यही नियम है कि (न: यो ग्रत्चान: स महान्) जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में ग्रधिक है, वही वृद्ध पुरुष कहाता है ॥ १२६ ॥ (स० प्र० पृ० २५६)

धमंवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों. न पके केशों वा भूलते हुए अङ्गों न धन ग्रौर न बन्धु-जनों से बड़प्पन माना, किन्तु यही धर्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद-विवाद में उत्तर देनेवाला अर्थात् वक्ता हो, वह बड़ा है। '' (सं० वि० पृ० ६५)

अत्र क्यारित्ज न्याः 'श्रतूचान' सबसे महान्—श्रनु + वर् + लिट् उसको कानच् होकर शब्दिसिद्धि होती है। इस श्लोक में स्थापित मान्यता वैदिक क्षेत्र में यथा-वत् मान्य रही है। निरुक्त के निम्न वचनों में यही भाव है —

(क) ''यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषित्रिशेषो भवति, पारोदयं वित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ।'' (१ । १४) ''तस्माद् यदेव किञ्चिदनूचानः अभ्यूहति श्रार्षं तद् भवति ।'' (परिशिष्ट १३ ।११) ।

ग्रथित्— नैसे जगत् में ग्रधिक विद्याग्रों का ज्ञाता विशेष व्यक्ति माना जाता है उसी प्रकार वेदवेताग्रों में वेदविद्याग्रों का ग्रधिक ज्ञाता प्रशंसनीय प्रथित् सबसे महान् माना जाता है। वेद-वेदांगों में पारगत विद्वान् तर्क द्वारा जिस मन्त्रार्थ का ग्रनु-सन्धान करता है,वह ऋषिद्द ग्रर्थ ही होता है।

(ख) शतपथ ब्राह्मण में भी 'ग्रनुचान' व्यक्ति को विद्वानों में महानु माना है-"यो वै ब्राह्मणानामनुचानतमः स एवां वीर्यवत्तमः" ।। ४। ६। ६। ५।।।

श्रयत् -- जो बाह्यणों में परम विद्वान् है,वही इनमें ग्रत्यन्त बलवान् ग्रयत् सव से महान् है।

वर्णों में परस्पर ज्येष्ठता के आधार-

विप्रात्मां ज्ञानतो ज्येष्ठयं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।

वंश्यानां धान्यधनतः शृद्वाणामेव जन्मतः ॥१३०॥ । २।१४५ । (१०४)

(विप्रारणां जानतः) ब्राह्मण ज्ञान से (क्षत्रियारणां तु वीर्यतः) क्षत्रिय बल से (वैश्यानां धनधान्यतः) वेश्य धन-धान्य से श्रीर (श्रद्वाणां जन्मतः एव ज्येष्ट्यम्) शुद्र जन्म ग्रर्थात् ग्रधिक ग्रायु से वृद्ध | =बड़ा | होता है।।१३०।। (स॰ प्र॰ पु॰ २५६)

ग्रवस्था की ग्रपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व---

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदः ।।१३१॥ (२।१५६ । (१०५)

(नेन वृद्धः न भवति) उस कारण से वृद्ध नहीं होता (येन-भग्रस्य शिरः पलितम्) कि जिससे इसका शिर झुल जाये, केश पक जावें (य:+वै युवा + ग्रपि ⊹ ग्रधीयानः) किन्तू जो जवाने भी पढ़ा हुग्रा विद्वान् है (तं देवा स्थविरं विदः) उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना ग्रीर माना है ।। १३१ ।। (सं० वि० गु० ६५)

''शरोर के बाल स्वेत होने से बुढ़ा नहीं होता किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुम्रा है, उसी को विद्वान लोग बड़ा जानते हैं।" (सर्व प्रव पृव २५६) मुखंता की निन्दा तथा मुखं का जीवन निष्फल-

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो भृगः।

यक्च विजोऽनशीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१३२।। । २।१५७ । (१०६)

(यथा काष्ठमगः हस्ती) जैसे काठ का कठपुतला हाथी, वा (यथा-चर्ममयः मृगः) जैसे चमड़े का बनाया हुन्ना मृग हो (यः +च अनधीयान विप्रः) वैसे विना पढा हुग्रा विप्र ग्रर्थात् क्राह्मण वा बुढिमान् जन होता है (ते त्रयः नाम विभ्रति) उक्त वे हाथी, मृग ग्रीर विप्र तीनों नाममात्र धारएा करते हैं ।। १३२ ।। (सं० वि० पृ० ५५)

''जो विद्या नहीं पढ़ा है वह जैसा काठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है।" (स॰ प्र॰ प्र॰ २५६)

यथा बण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला । यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विव्रोऽनृचोऽफलः ।।१३३।। [२।१५८] (१०७)

(यथा स्त्रोषु षण्ढः ग्रफलः) जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है ग्रयात् सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकता (यथा गवि गौ: ग्रफला) ग्रीर जैसे गायों में गाय निष्फल है ग्रर्थात् जैसे गाय गाय से सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त कर सकती (च) ग्रीर (यथा ग्रज्ञे दानम्) जैसे ग्रज्ञानी व्य-क्ति को दान निष्कल होता है (तथा) वेसे ही (ग्रनुच: विप्र: ग्रफलम्) वेद न पढ़ता हुम्रा म्रथवा वेद के पाण्डित्य से रहित ब्राह्मण निष्फल है, म्रर्थात् उसका ब्राह्मणस्व सफल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का सबसे प्रधान कर्म है।। १३३।। गुरु-शिष्यों का व्यवहार---

ग्रहिसयैव मूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक्वेव मधुरा इलक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।।१३४।।[२।१५६](१०७)

(ग्रहिसया+एव भूतानाम्) (विद्वान् ग्रौर विद्यार्थियों को योग्य है कि) बैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के (श्रेय: + ग्रनुशासनं कार्यम्) कल्याण के मार्ग का उपदेशकरें (च) ग्रौर (मधुरा इलक्ष्णा वाक् प्रयोज्या) उपदेष्टा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें (धर्मम्+इच्छता) जो धर्म की उन्नति चाहे वह सदा सत्य में चले श्रीर सत्य ही का उपदेश करे ।। १३४।।

(स० प्र० पृ० ४६)

''इसलिये विद्या पढ़ विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वेरता से सब प्राणियों के कल्यामा का उपदेश करे भ्रौर उपदेश में वाणी मधुर भ्रौर कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि श्रीर श्रधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं।'' (स० प्र० प्र० २५६)

पिवत्र मन वाला ही वैदिक कर्मों के फल को प्राप्त करता है-

यस्य वाङ्मनसो शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वं सर्वमवाप्नोति वेदाःतोपगतं फलम् ॥१३४॥[२।१६०](१०६)

(यस्य वाङ्मनसी) जिस मनुष्य के वार्गी ग्रौर मन (शुद्धे च सम्य-ग्गुप्ते सर्वदा) शुद्ध सथा सुरक्षित सदा रहते हैं (स: वै) वही (सर्व वेदान्तोप- गतं फलं प्राप्नोति) सब वेदान्त म्रर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है।। १३५।। (स॰ प्र०४६)

अर्ज्युकारित्जनाः इस भाव की पुष्टि और तुलना के लिए १।१०६,२।७२ इलोक भी द्रष्टव्य हैं।

दूसरों से द्रोह ग्रादि का निषेध-

नार्वतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१३६॥ [२।१६१](११०)

मनुष्य (म्रार्तः + म्रिपि) स्वयं दुःखी होता हुम्रा भी (म्रहं तुदः न स्यात्) किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचावे (न परद्रोहकर्मधीः) न दूसरे के प्रति ईर्ष्या या बुरा करने की भावना मन में लाये (म्रस्य यया वाचा उद्विजते) इस मनुष्य के जिस वचन से कोई दुःखित हो (ताम् म्रलोक्यां न उदीरयेत्) उस ऐसी लोक में म्रप्रशंसनीय वाणी को न बोले।। १३६।।

ब्राह्मण के लिए ग्रपमान-सहन का निर्देश-

सम्मान्।द् बाह्मणो नित्यमुद्धिजेत विषादिव।

अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥१३७॥[२।१६२](१११)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विषात्+इव) विष के समान (सम्मानात्) उत्तम मान से (नित्यम्+उद्विजेत) नित्य उदासीनता रखे (च) श्रौर (श्रमृतस्य+ इव) श्रमृत के समान (ग्रवमानस्य सर्वदा श्राकांक्षेत्) श्रपमान की श्राकांक्षा सर्वदा करे श्रर्थात् ब्रह्मचर्यादि श्राश्रमों के लिए भिक्षा मात्र मांगते भो कभी मान की इच्छा न करे ।। १३७ ।। (सं० वि० पृ० ८५)

''संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुत्य डरता रहे। ग्रीर ग्रमृत के समान ग्रपमान की चाहना करता रहे। क्योंकि, जो ग्रपमान में डरता ग्रीर मान इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिण्यावादी ग्रीर पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा, चाहे प्रशंसा, चाहे मान, चाहे ग्रपमान, चाहे जोना, चाहे मृत्यु, चाहे हानि, चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे, चाहे कोई वैर वांगे, चाहे ग्रन, पान, वस्त्र, उत्तम स्थान न मिले चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे ग्रीर ग्रथमं का लण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किमी का न माने।' (सं० वि० पृ० २१६)

"वही ब्राह्मण समग्र वेद ग्रौर परमेश्वर को जानता है जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है ग्रौर श्रपमान की इच्छा श्रमृत के समान किया करता है।" (स॰ प्र० पृ० ५०) अर्जुट्रारेट्ड ना : स्रपमान सहन का कथन क्यों ?— श्रिभिषाय यह है कि सम्मान या लोक पणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फंसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है, वह विरक्त नहीं हो सकता—सांसारिक मोहों को नहीं त्याग सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है श्रीर वह उग्र होता चला जाता है। शास्त्रों के अनुसार मनुष्यनात्र का श्रीर विशेषतः श्राह्मण का उद्देश्य ब्रह्मणित करना है [२।३, श्रन्यत्र २।२०], श्रहंकार ब्रह्मश्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है। श्रपमान की कामना श्रीर सहिष्णुता से श्रहंकार क्षीण होता है, संसार से विरक्ति की भावना बढ़ती है, श्रपमान को सहने श्रयति निन्दा सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चित्र में निर्मलता श्राती है। इनसे ब्रह्मश्राप्ति के उद्देश्य को पाने में सहायता मिलती है। ६।४७-४० में मनु ने स्वयं इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है। इन भावों की पृष्ट के लिए ६।४७-४० भी द्रष्ट व्य हैं—

- (क) मिमपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतंव सर्वशः।म्रिमपूजितलाभंश्च यतिम्बतोऽपि बद्धचते ॥ ६।४८॥
- (ख) श्रतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥६।४७॥

मुखं ह्यवमतः क्षेते मुखं च प्रतिबुध्यते । मुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनक्ष्यति ॥१३८॥[२।१६३](११२)

(हि) क्यों कि (अवमत: सुख शेते) अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है (च) और (सुख प्रतिबुध्यत) सुखपूर्वक जागता है अर्थान् जागृत अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है। अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्याधित करने वाली मान-अपमान और उन से उत्पन्न होने वाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते तथा जागत व्यथित नहीं करती, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है। (अस्मिन् लोके सुखं चरति) वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है, तथा (अवमन्ता) अपमान में व्यथित होने वाला व्यक्ति (विनश्यात) [चिन्ता और शोक के कारण] विनाश को प्राप्त होता है।।१६८।।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१३६॥ [२।१६४] (११३)

(भ्रनेन क्रमयोगेन) इसी प्रकार से [उपर्युक्त निर्देशों के श्रनुसार] (संस्कृतात्मा द्विजः) कृतोपनयन द्विज कुमार भ्रौर ब्रह्मचारिणी कन्याक्षः (शर्नेः) धीरे-धीरे (ब्रह्माधिगमिकं तपः) वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को (संचिनुयात्) बढ़ाते चले जायें ।। १३६ ।। (स० प्र० ५०)

🕸 (गुरौ वसन्) गुरु के समीप श्रर्थात् गुरुकुल में रहते हुए .....

द्विज के लिए भेदाभ्यास की श्रनिवार्यता---

तपोविशेषैविविधेव तेश्च विधिचोदितैः।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।।१४०।। [२।१६५] (११४)

(द्विजन्मना) द्विजमात्र को (विधिचोदितेः तपोविशेषेः च विविधैः व्रतेः) शास्त्रों में विहित विशेष तपों [ब्रह्मचयंपालन, वेदाभ्यास, धर्म-पालन प्राणायाम, द्वन्द्वसहन ग्रादि २।१४१—१४२ (१६६—१६७); ६—७०--७२] ग्रौर विविध व्रतों [२।१४६—१६४ में प्रदर्शित] का पालन करते हुए (कृत्स्नः वेदः) सम्पूर्ण वेदज्ञान को (सरहस्यः) रहस्य पूर्वक ग्रायां पूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक (ग्रिधिगन्तव्यः) ग्रध्ययन व रके प्राप्त करना चाहिए।।१४०।।

वेदाभ्यास परम तप है--

वेदमेव सदाम्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परिमहोच्यते ॥१४१॥ [२।१६६] (११५)

(द्विजोत्तमः) द्विजोत्तम अर्थात् बाह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष (सदा तपः तप्स्यन्) सर्वकाल तपश्चर्या करता हुन्ना (वेदम् । एव अभ्यस्येत्) वेद का ही अभ्यास करे (हि) जिस कारण (विप्रस्य) बाह्मणा वा बुद्धिमान् जन को (वेदाभ्यासः) वेदाभ्यास करना (इ३) इस संसार में (परं तपः उच्यते) परम तप कहा है।। १४१।। (सं० वि० ८५)

आ हैव स नलाग्रेष्यः परमं तप्यते तपः। यः स्नाव्यपि द्विजोऽधोते स्वाध्यायः शक्तितोऽन्वहम् । १४२।।[२।१६७] (११६)

(यः द्विजः) जो द्विज (स्रग्वी-ग्रिप) माला घारण करके ग्रर्थात् गृहस्थी होकर भी (ग्रनु + ग्रहम्) प्रतिदिन (शक्तितः स्वाध्वायम् ग्रधीते) पूणं शक्ति से ग्रर्थात् श्रधिक से ग्रधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का ग्रध्ययन करता रहता है (सः) वह (आ नखाग्रेभ्यः ह + एव) निश्चय ही पैरों के नाखून के ग्रग्नभाग तक ग्रर्थात् पूणंतः (परमं तपः तप्यते) श्रेष्ठ तप करता है।।१४२।।

अत्र हुए रिटा कर : स्राची शब्द पर विचार—मनु ने माला आदि अलंकृत करने वाली वस्तुओं का धारण करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध किया है, [२।१५२ (१७७)॥], किन्तु ग्रहस्थेच्छुक के लिए समावर्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है [३।३] 'अविवागं तस्पद्मासीनम् ……। प्रतीत होता है कि माला धारण करना ग्रहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतन एक परम्परा थी। शायद वही परम्परा आज वर-वधू द्वारा परस्पर माला डालने के रूप में प्रचलित है। यह माल्यापंण

विवाह मंस्कार से पूर्व होता है। इस प्रकार 'स्नग्वी' प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ शब्द है, ग्रतः यहां इससे गृहस्थ ग्रथं ग्रहण किया गया है। वेदाम्यास के विना शूद्रत्व प्राप्ति —

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१४३॥[२।१६८](११७)

(यः द्विजः) जो ब्राह्मएा, क्षत्रिय श्रीर वैश्य (वेदम् अनधीत्य) वेद को न पढ़कर (श्रन्यत्र श्रमं कुरुते) भ्रन्य शास्त्र में श्रम करता है (सः) वह (जीवन् + एव) जीवता ही (सान्वयः) श्रपने वंश के सहित क्ष. (श्रूद्रत्वं गच्छति) श्रूद्रपन को प्राप्त हो जाता है ॥ १४३ ॥ (सं० वि० ८५)

🕸 (ग्रागु) शीघ्र ही .....।

"जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्र सहित जूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।" (स० प्र० ५०)

अश्निक्यो त्या से विदायम से कुरुम्ब की शूब्रता कैसे ? यहां शंका उत्पन्न होती है कि वेदाध्यम में श्रम न करने वाले व्यक्ति के साथ उसका कुटुम्ब क्यों ग्रीर कैसे शूद्रत्व को प्राप्त करता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा व्यक्ति शूद्र नहीं बनता, ग्रिपितु 'शूद्रत्व' को प्राप्त करता है । जो व्यक्ति वेदाध्यम में यत्न न करके ग्रन्यत्र श्रम करता है, उसमें विद्वत्ता ग्रीर धार्मिकता का हास होता जायेगा । ग्रिवद्वत्ता क कारए। वह शूद्रपन के स्तर पर ग्रा जायेगा। जब घर का प्रमुख व्यक्ति विद्वान् नहीं होगा तो उसके ग्राश्रित पुत्र-पौत्रादि भी अशिक्षा से ग्रस्त होकर शूद्रभाव को प्राप्त करेंगे। दिजों का मुख्य उद्देश्य वेदाध्यम है । इसे त्यागकर ग्रन्य कार्यों में श्रम करने वाला व्यक्ति द्विजत्वरहित हो जाता है । जैसे शूद्र वेदाध्यम से रहित होता है वैसा ही वह व्यक्ति हो जाता है ।

द्वितीय जन्म का निरूपरा-

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौक्रिजबन्धने।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १४४ ॥ [२ । १६६]

(श्रुतिचोदनात्) वेद में कहे अनुसार (द्विजस्य) द्विज का (मातुः + अग्रे + प्रधि-जननम्) माता से पहला जन्म (द्वितीय मौञ्जीबन्घने) दूसरा मेखला बॉयने के संस्कार अर्थात् उपनयन में (तृतीय यज्ञदीक्षायाम्) तीसरा यज्ञ की दीक्षा लेने से होता है ॥१४४॥

### तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १४५ ॥ [२।१७०]
(तत्र) उन तीनों जन्मों में (ग्रस्य) इस ब्रह्मचारी का (यत् मौञ्जीबन्धनचिह्नित)
गेखलावन्धन के चिह्नवाला जो ब्रह्मजन्म माना है (तत्र) उस समय (ग्रस्य) इस की
(सावित्रो माता तु + ग्राचार्य पिता उच्यते) गायत्री को तो माता ग्रौर ग्राचार्य को पिता
के समान कहा गया है ॥ १४५॥

## वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते । ब ह्यस्मिन्युज्यते कमं किञ्चिदाबौञ्जिबन्धनात् ॥१४६॥ [२।१७१]

(वेदप्रदानात्) वेदज्ञान देने के कारण (ग्राचार्य पितरं परिचक्षते) ग्राचार्य को पिता कहा गया है (ग्रा-मौञ्जीबन्धनात्) मेखलाबन्धन ग्रयात् उपनयन संस्कार से पूर्व (ग्रस्मिन्) इस द्विज पर (किंचिद् कर्म न युज्यते) किसी यज्ञ ग्रादि की जिम्मेदारी नहीं होती।। १४६।।

यज्ञोपवीत से पूर्व वेदमन्त्रोच्चारएा का निषेध-

# नामिन्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाहते ।

शूब्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते।। १४७।। [२।१७२]

(यावत्) जवतक [द्विज का] (वेदे न जायते) वेद में जन्म नहीं होता ग्रर्थात् उपनयन संस्कार नहीं होता (तावत्) तब तक वह (श्वेष्टेश हि समः) शूद्र के ही समान होता है [इसलिए] (स्वधानिनयनात् ऋते) मृतक संस्कार के सिवाय (ब्रह्म न + ग्रिभ-व्याहारयेत्) वेद का उच्चारण श्रथवा वैदिककर्म न कराये॥ १४७॥

## कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनिषयते । ब्रह्मणो ग्रहणं चैव कमेण विषिपूर्वकम् ॥ १४८॥ [२ । १७३]

(कृत-उपनयनस्य + ग्रस्य) उपनयन संस्कार होने पर ही इस ब्रह्मचारी के लिए (व्रतादेशनम्) व्रतों के ग्रादेश का पालन करना (च) ग्रीर (विधिपूर्वकम्) विधि के श्रनुसार (क्रमेण ब्रह्मणः ग्रह्णम् एव इष्यते) क्रमशः वेदज्ञान को प्राप्त करना श्रावश्यक है ॥ १४८॥

## यद्यस्य विहितं चर्मं यत्सूत्रं या च मेखला। यो वण्डो यच्च वसनं तत्तवस्य व्रतेष्वपि।। १४६ ॥ [२ । १७४]

(ग्रस्य) इस ब्रह्मचारी के (यत् चर्म, यत् सूत्रम्) जो-जो चर्म जो यज्ञोपवीत (च) ग्रीर (या मेखला) जो मेखला (यः दण्डः) जो दण्ड (च) तथा (यत् वसन विहित्तम्) जो वस्त्र विहित किये हैं [२। १६—४८] (तत्-तत् ग्रपि ग्रस्य व्रतेषु) वह सब भी इसके व्रतों के ग्रन्तगंत ही हैं। १४६॥

श्चर्युट्यीट्डन्: १४४ से १४६ तक के क्लोकों का यह प्रसंग निम्न श्राधारों पर प्रक्षिप्त है—

१. अन्तिवरोध—गूद्ध को मन्त्रोच्चारए का विधान मनुसम्मत—(१) १४४ वें इलोक में द्विजातियों के तीन जन्मों का होना दर्शाया गया है। यह मान्यता पूर्ववर्ती मान्यताओं से भिन्न है और एक नयी कल्पना है। २।१२२—१२३ [२।१४७—१४८] एलोकों में मनु ने द्विजों के दो ही जन्म माने हैं—प्रथम माता-पिता से तथा दूसरा भाषार्य द्वारा उपनयन संस्कार से। 'द्विज' शब्द से भी यह मान्यता स्पष्ट होती है—

'ढिर्जायते इति ढिजः' श्रयति जिसका उपनयन संस्कार के श्रवगर पर दूसरा जन्म होता है, इसलिए बाह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैदय को द्विज कहा जाता है। इन क्लोकों में द्विजों के ितीन जन्मों की कल्पना उक्त मान्यता से भिन्न होने के कारण विश्वह है।

- (२) इसी प्रकार १४५ वें ब्लोक के कुछ भिन्नतायुक्त वर्णन से भी ये ब्लोक श्रन्यप्रोकत प्रतीत होते हैं। यहां 'सावित्री' को माता के रूप में वर्णित किया है श्रीर 'श्राचायं' को पिता के रूप में, जबिक कुछ ही इलोक पूर्व ११६ [१४४] यें ब्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए आचार्य को ही संयुक्तरूप से माता-पिता घोषित किया है। इस प्रकार यह भिन्नता भी एक पारस्परिक विरोध है।
- (३) १४६—१४७ श्लोकों के वर्णन से यह गंकेत मिलता है कि ये श्लोक 'शूद्रों को वेद न पढ़ाने-सुनाने' की भावना से प्रेरित हैं। तभी तो १४७ वें में उपनयन से पूर्व वालक को शूद्र के समान वेदश्रवण का भ्रनधिकारी कह दिया है। यह विचार भी विश्व है। मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। मनु की व्यवस्था के अनुसार जो पढ़-लिख नहीं पाता वह व्यक्ति शूद्र है, तथापि उसके लिए किसी धमकायं का निपेध नहीं है। वह प्रत्येक धर्म का पालन कर सकता है। तभी तो २।२१३ [२।२३८] में 'श्रन्यादिप परं धर्मम्' प्रथात् 'शूद्र से भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा लेने' के लिए कहा है [इस सम्बन्ध में १।१०७ पर 'भ्रन्तिरोध' समीक्षा भी द्रष्टव्य है]
- (४) १४६— १४७ इलोकों में यह कहना भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है कि उपनयन से पूर्व वेदमन्त्रों का व्यवहार न कराये, क्योंकि इससे पूर्व के सभी जानकमं, नामकरण झादि संस्कार वेद-मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक ही होते हैं। २ । ४ [२ । २६] में मनु ने स्वयं मन्त्रोंच्चारणपूर्वक संस्कार करने का संकेत दिया है--- "मन्त्रयत् प्राज्ञानं चास्य ।"
- (१) २। ६०—६१ [२। १०५---१०६] इलोकों में मनु ने वेदाध्ययन को सदा सब झबस्थाओं में पुण्यदायक माना है। इन इलोकों में उपनयन ने पूर्व वेद का व्यवहार न करने को कथन उक्त इलोकों की मान्यता के विश्व है। इस प्रकार इन श्रन्त-विरोधों के कारण १४४—१४७ इलोक प्रक्षिप्त हैं। १४६ वां इलोक १४६---१४७ में और १४६ बां इलोक १४६ के 'व्रतादेशन' प्रसंग से जुड़ा होने के कारण स्वतः प्रक्षिप्त सिख हो जाता है।
- २. बेबबिवद्ध--- १४६-१४७ दलोकों में जो शूद्ध को वेदाध्ययन-श्रवण का सनिकार होने की भाषता का संकेत है, वह स्वयं वेद की मान्यताओं के विकद है। वेद में शूद्ध को भी वेद पठन-श्रवण का उल्लेख है। इसके लिए विस्तृत सभीक्षा २। ४१-४२ [२।६६-६७] दलोकों पर 'वेदविवद्ध' शीर्षक पर देखिए। मनुस्मृति के मूल श्राधार वेद है, सत: वेदविवद्ध मान्यता होने के कारण ये प्रक्षिप्त हैं।

गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के पालनीय विविध नियम—

सेवेतेमांस्तु नियमान्त्रह्मचारी गुरौ वसन्।

सन्नियम्येन्द्रियप्रामं तपोवृद्ध्धर्यमात्मनः ॥ १५० ॥ [२।१७५] (११८)

(गुरी वसन्) गुरु के समीप श्रर्थात् गुरुकुल में रहते हुए (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (श्रात्मनः तपोवृद्धधर्यम्) श्रपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये (इन्द्रियग्राम सन्नियम्य) इन्द्रियों के समूह [२।६४-६७] को वश में करके (इमान् +तु नियमान् सेवेत) इन ग्रागे विणत नियमों का पालन करे।।१४०।।

अन्य हार्रिटा : 'बहाचारी' शब्द की व्युत्पत्ति — ब्रह्मचारी शब्द 'ब्रह्मन्' शब्द उपपद में होने से 'चर गती' (भ्वादि) धातु से णिनिः प्रत्यय के योग से बनता है। विग्रह है — ब्रह्मिण वेदे चरितुं शीलं यस्य सः ब्रह्मचारी — वेदाध्ययन में जो निरन्तर रहता है वह 'ब्रह्मचारी' कहलाता है। प्रथम ग्राश्रम ब्रह्मचयित्रम है। इस ग्राश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात् दीक्षित होकर गुरुकुल में ग्रपने गुरु के साथ निवास करता है, तथा जबतक गृहस्थ ग्राश्रम में प्रविष्ट नहीं हो जाता तब तक वेदाध्ययन के साथ-साथ ब्रह्मचयित्रम के नियमों का पालन करता है।

ब्रह्मचारी के दैनिक नियम---

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याह् विविपतृतर्पणम् ।

देवताऽम्यर्चनं चैव सिमदाधानमेव च ॥१५१॥[२।१७६](११६)

[ब्रह्मवारी] (नित्यम्) प्रतिदिन (देव-ऋषि-पितृ-तर्पृणम्) विद्वानों, ऋषियों, ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों की ग्रभिवादन ग्रादि प्रसन्नताकारक कार्यों, से तृष्ति = संतुष्टि (च) ग्रीर (स्नात्वा शुचिः) स्नान करके, शुद्ध होकर (देवता + ग्रम्यचेनम्) परमात्मा की उपासना (च) तथा (सिमिद् + ग्राधानम्) ग्रग्निहोत्र भी (कुर्यात्) किया करे।। १५१ ॥ %

अद्भुट्ये टिडन् : ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-िश्तर कोन ? — कई व्याख्याकारों ने इस क्लोक का अर्थ आन्तिपूर्ण एवं मनुमान्यता से विरुद्ध किया है। इस क्लोक में गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए देव-ऋषि-िश्तृ-तर्णण और 'देवता - भभ्यचंन' का कथन है। यहां इन शब्दों के अर्थ एवं क्लोकाभित्राय को विवेचनापूर्व क स्पष्ट करना आवश्यक है, जिससे किसी प्रकार की आन्ति उत्पन्त न हो —

(१) देव, ऋषि, पितर ये विद्वानों और पालन-पोषणकर्ता ज्ञानवयोवृद्ध व्यक्तियों के स्तर विशेष हैं। पितृयज्ञ में 'मातृपितृतर्पण' की मान्यता को स्वीकारन

<sup>्</sup>रें प्रचितित अर्थ - ब्रह्मचारी नित्य स्नान कर देवताओं, ऋषियों तथा पितरों का तपंण, शिव भौर विष्णु भादि देव-प्रतिमाभों का पूजन तथा प्रातः एवं सायंकाल हवन करे।। १७६॥]

वाले व्यक्ति भी इस बातको शतप्रतिशत रूपमें स्वीकार करते हैं कि पितृयज्ञ का विधान केवल गृहस्थों-वनस्थों के लिए ही है, ब्रह्मचारी के लिए नहीं। लेकिन मनु ने ब्रह्मचारी के लिए भी 'देविषिपतृतर्पण' की बात कही है तो इसका स्पष्ट ग्रभिप्राय यह हुआ कि 'पितृतर्पण' का ग्रथं मृतकों के लिए श्राद्ध करना नहीं है, ग्रपितु यह एक ऐसा कार्य है जिसे ब्रह्मचारी भी कर सकते हैं। गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए कौन देव, श्रिष्टि ग्रीर पितर हो सकते हैं, इसका २। ११५—१३१ इलोकों में मनु ने गुरुजनों का वर्णन करके स्वयं संकेत दे दिया है। बाद में बताये हुए ब्रह्मचारी के कर्त्तं व्य उन्हीं विभिन्न स्तरीय गुरुजनों के साथ लागू हो सकते हैं। ग्रतः वे ही उसके देव, ऋषि, पितर हैं, न कि कोई किल्पत देव या मृत पितर आदि। विभिन्नस्तरीय इन संज्ञा शब्दों के ग्रथंज्ञान ग्रीर इनके स्वरूप को समक्षने के लिए ३। ६२ की समीक्षा में प्रमाणयुक्त विवेचन देखिये।

# (२) 'देवता-अभ्यर्चन' से अभिप्राय---

निरुक्त में कहा गया है कि "यो वेवः सा वेवता" [७।४।११] देव को ही देवता कहा जाता है। देव शब्द से तल् श्रीर टाप् प्रत्यय के योग से देवता शब्द सिद्ध हुग्ना है। चेतन देवों के सन्दर्भ में देव शब्द का सबसे प्रमुख अर्थ 'परमात्मा' होता है। क्योंकि परमात्मदेव ही सब देवताश्रों का देवता है। जड़ देव उपयोग के योग्य होते हैं, चेतन देव (विद्वान्, माता, पिता ग्रादि) सत्कार श्रीर सेवा के द्वारा प्रसन्न करने योग्य, लेकिन उपासना के योग्य केवल एक परमात्मा ही होता है, श्रन्य नहीं। ग्रतः यहां 'देवताऽभ्यर्चनम्' से श्रीभप्राय परमात्मदेव की उपासना करने से हैं; यदि कहीं श्रान, इन्द्र, वरुण ग्रादि नामों से देवताश्रों की स्तुति का वर्णन मिलता है तो वह भी उनके माध्यम से परमात्मा की ही स्तुति श्रीभप्रेत हैं। क्योंकि ये परमात्मा की ही दिव्यशक्तियां या गुण हैं, उसी के प्रत्य हों िभन्न-भिन्न देवों की स्तुति से श्रीभप्राय होता है परमात्मा के उस-उस गुण की स्तुति करना। इस प्रकार सभी देव एक परमात्मा में ही समाहित होते हैं। निरुक्तकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(म्र) ''महामाग्याह् वताया एक म्रात्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः, म्रात्मैवैषां रथो भवति, म्रात्मादवः, म्रात्मायुधम्, म्रात्मेववः, सर्वं देवस्य देवस्य ।'' (निरुक्त ७।१।४)

ग्रथीत्-एक परमात्मा देव ही मुख्य देव है। सर्वशक्तिमत्त्वादि ग्रनेक-विश्व ऐस्वयों से युक्त होने के कारण ग्रनेक नामों-गुणों से उसकी स्तुति की जाती है, ग्रन्य सभी देव इस महादेव परमात्मा के प्रत्यङ्गरूप हैं। उनका इसी में समाहार हो जाता है। उस एक ग्रिद्धितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म, कर्म ग्रीर ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। इनका रथ ग्रर्थात् जो रमण का स्थान, ग्रश्व ग्रर्थात् जो प्रमुख्त का कारण, गमनहेतु; ग्रायुष =

शत्रुश्रों का नाश करके विजय प्राप्त कराने हारा; इषु = बाण के समान सब दुष्टगुणों ग्रौर दु:खों का छेदन करने वाला शस्त्र, वही परमास्मा है। परमात्मा ने जितना-जितना जिस-जिस में दिव्यगुण रखा है उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है ग्रधिक नहीं। इस प्रकार ग्रन्य सब देवता परमेश्वरवाची हो हैं।

#### इसमें वेदों का प्रमाण है---

- (आ) इन्द्रं मित्रं वक्णमनिनमाहुरथो दिब्यः स सुपर्णो गरूरमान् । एकं सद्विप्रा बहुषा वदन्त्यन्तिं यसं मातरिक्वानमाहुः ॥ (ऋ०१०।१६४।४६)
- (इ) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रः तद्वह्य ता स्नापः स प्रजापितः ॥ (यजु०३२।१॥)

स्वयं मनुस्मृति के प्रमाण देखिए---

- (ई) ब्रात्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मन्यवस्थितम् । ब्रात्मा हि जनयत्येवां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ १२ । ११६ ॥
- (उ) एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्रारामपरे ब्रह्म ज्ञास्वतम् ॥ १२ । १२३ ॥
- (ऊ) मनु ने स्रनेक स्थानों पर उपास्य के रूप में केवल परमात्मा को ही स्वी-कार किया है। प्रमाणरूप में द्रष्टन्य हैं— २।७६-७८ (२।१०१-१०३), ४।६२-६३, १२।११८, ११६, १२२, १२४।।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'देवता-अभ्यर्चनम्' का यहां अर्थ परमात्मदेव की उपासना अर्थात् संध्या करने से है। अन्य अर्थ भ्रान्तिपूर्ण हैं। इस श्लोक में शिव, विष्णु की प्रतिमाओं के पूजन की कल्पना मनगढ़न्त है और अप्रामाणिक है।

#### (३) तर्पण का सही म्रिमप्राय---

'तृष्-तृष्तौ' घातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से 'तर्षण' शब्द सिद्ध होता है। जिस का अर्थ है — प्रसन्न करना। ''येन कर्मणा विदुषः देवान्, ऋषीन्, पितृ इच तर्पयन्ति == सुषयिति, तत् तर्पणम्।'' = जिस कर्म से विद्वान् देवों, ऋषियों और पितरों को तृष्त अर्थात् सुख और प्रसन्ततायुक्त करते हैं, वह तर्पण है। इसी प्रकार 'यत्तेषां अद्धया सेवनं क्रियते तत् आद्धम्' अद्धा से उनकी सेवा भ्रादि करना श्राद्ध कहलाता है। इस प्रकार तर्पण करना मृत में नहीं ग्रपितु जीवित व्यक्ति में ही संभव होता है। मनु इस श्लोक में यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्मचारी को प्रतिदिन विद्वान्, देवों, ऋषियों और पितरों को प्रसन्न करने वाले सेवा, भ्रन्त-भोजन, दान, भ्रभिवादन, मधुरभाषणा ग्रादि कार्य करने चाहिए, यही उनका तर्पण है। ब्रह्मचारी का यह कत्तंव्य है। इस प्रकार के

न्नाचरण से उसे विद्या की प्राप्ति शीघ्र ग्रीर सुगमतासे होती है। तर्पण के इस स्रर्थ की पुष्टि में मनु के निम्न इलोक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं—

- (अ) यथा सनन् खनित्रेण नरो वार्यधगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रुषुरधिगच्छति॥२।१६३॥
- (म्रा) स्वाध्यायेन।चंयेर्-ऋषीत् होमेर्देवात् यथाविधि । पितृत् श्राद्धैश्च नृतन्तेमू तानि यलिकमंशा ॥३ । ८१॥
- (इ) कुर्यावहरहः श्राद्धम् ग्रन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफर्नवर्षि दितृश्यः प्रीतिमावहन्।।३। ५२॥
- (४) प्रमुख गुरा के प्राधार पर ऋषि. देव, पितरों में ग्रन्तर---

इस प्रकार २ । ११४-१३१ इलोको मं वर्णित विभिन्न श्रष्ट्यापयिता विद्वान् ही स्तर के अनुसार ऋषि, देव और पितर हैं । इनमें किसी विद्वा के साक्षात् द्रष्टा, विशेषज्ञ ऋषि' कहलाते हैं । दिल्य-गुण श्राचरण की प्रधानता वाले विद्वान् 'देव' और पालक गुएा की प्रधानता वाले वयोवृद्ध व्यक्ति एवं माता-पिता भ्रादि गुरुजन 'पितर' होते हैं । ब्रह्मपारी को इनकी सेवा करनी चाहिए।

मच, मांस भादि का त्याग---

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्य मार्त्यं रसान्दित्रयः। ज्ञुक्तानि यान्ति सर्वाणि प्राणिमां चैव हिसनम् ॥१४२॥[२।१७७](१२०)

ब्रह्मचारी श्रीर ब्रह्मचारिणी (मधु-मासं गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः) गंध,क्ष माला, रस, स्त्री श्रीर पुरुष का संग (सर्वाणि यानि शुक्तानि) सब खटाई (प्राणिनां हिसनम्) प्राणियों की हिसा (वर्जयेत्) छोड़ देवें।। १४२।।

अ(मचु-मांसम्) मदकारक मदिरा ग्रादि पदार्थं ग्रीर मांस (स० प्र० पृ० ५०)

अञ्जूष्टि टिडन् : मचु का प्रयं — इस क्लोक में मचु का प्रयं मिदरा है। 'माचते इति सतः' जो मद — नशा उत्पन्न करे प्रयात् मिदरा मांग ग्रादि पदार्थ। मांस के साथ इस शब्द का प्रयोग ग्रीर वह भी निषेषात्मक रूप में होने से इस ग्रयं की पुष्टि स्वतः हो जाती है। शहद ग्रयं वाचक मघु को मनु भभवय नहीं मानते। यतो हि जातकमें में उसका भक्षण के लिए विधान है—

"मन्त्रवत् प्राज्ञनं चास्य हिरण्यमपुर्सापवाम्" २।४ [२।२६] मंजन, छाता, जूता मादि धारण का निषेध—

सम्यङ्गमंत्रन चाक्गोरपानच्छत्रवारगम्। कामं क्रोवं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१५३॥[२।१७८](१२१) (अभ्यंगम्) भगों का मर्दन—िबना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श (ग्रक्षणोः च ग्रञ्जनम्) ग्रांखों में ग्रञ्जन (उपानत्-छन्न-धारणम्) जूते, भीर छत्र का धारण (कामं क्रोधं लोभं च) काम, क्रोधं लोभ, मोह, भय, शोक, ईष्पां, द्वेष, का ग्रहण किया है। । (च) भीर (नर्त्तनं गीत-वादनम्) नाच, गान, बाजा बजाना श्विदनको भी छोड़ देवे यह पूर्वश्लोक से अनुवृत्ति ग्राती है। ॥१५३॥ (स० प्र०-पृ० ५०) ज्या, निन्दा, स्त्रीदर्शन ग्रादि का निषेध—

चूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।

स्त्रीलां च प्रं क्षालालम्भमुपघातं परस्य च ॥१५४॥[२।१७६](१२२)

(ज्ञतम्) ज्रूत (जनवादम्) जिस किसी की कथा (परिवादम्) निन्दा (ग्रनृतम्) मिण्याभाषण (स्त्रीणां प्रेक्षण् +ग्रालम्भम्) स्त्रियों का दर्शन, ग्राश्रय (परस्य उपघातम्) दूसरे की हानि ग्रादि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें। ।। १५४॥ (स० प्र०५०)

एकाकी शयन का विधान---

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।

कामाद्धि स्कन्दयरेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ।।१५५।।[२।१८०](१२३)

(सर्वत्र एकः शयीत) सर्वत्र एकाकी सोवे (रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत्) वीर्यस्खलित कभी न करे (कामात् हि रेतः स्कन्दयन्) काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि (म्रात्मनः वर्त हिनस्ति) म्रपने ब्रह्मचर्य वर्त का नाश कर दिया ॥ १५५ ॥ (स० प्र० पृ० ५०)

स्वप्नदोष मं प्रायश्चित्त-

स्व ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।

स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यूचं जपेतु ॥ १५६ ॥ [२ । १८१]

(ब्रह्मचारी द्विजः) ब्रह्मचारी द्विज (ग्रकामतः स्वप्ने शुक्र सिक्त्वा) ग्रनजाने में स्वप्न में वीर्यस्थलित होने पर (स्नात्वा) स्नान करके (अर्कम् + ग्रचंथित्वा) सूर्यं की पूजा करके ('पुनर्माम्' इति ऋचं त्रिः जपेत्) "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इस ऋचा को तीन बार जपे।। १५६॥

अनुर्धीत्उनः : यह श्लोक निम्न-रूप से प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिव रोध—१५०, [१७४] वें इलोक में इस प्रसंग को प्रारम्भ करते समय ब्रह्मचारी के कुछ नियमों का कथन करने का संकेत किया है। तदनुसार प्रन्य सभी प्रिप्रम इलोकों में ब्रह्मचारी के नियमों का वर्णन है। किन्तु इस इलोक में कोई नियम न होकर प्रायदिचत्त का वर्णन किया है। प्रायदिचत्त का वर्णन करना इसलिए भी मनुसम्मत श्रीर प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता क्योंकि श्रन्य नियमों के वर्णन के साथ कहीं उनके न करने पर प्रायश्चित्त का वर्णन नहीं है। यदि यह प्रासंगिक होता तो श्रन्य नियमों के साथ भी उनके उल्लंघन का प्रायश्चित्त दर्शाया गया होता। इस प्रकार श्रप्रासंगिक होने के कारण यह प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।

- २. अन्ति विशेष—इस अध्याय में श्रीर सम्पूर्णं मनुस्मृति में ही मनु ने केवल ईश्वर की पूजा—उपासना श्रीर श्रीनहोत्र श्रादि का विधान किया है। जड़ पदार्थों की पूजा का कहीं वर्णन नहीं है। इस श्लोक में सूर्यं की पूजा का कथन करना, इसे मनु की मान्यता श्रों के श्रनुकूल सिद्ध नहीं करता। श्रत: यह परवर्ती विधान है।
- ३. शैलीगत श्राधार—मनुस्मृति की शैली के श्राधार पर भी यह श्लोक यहाँ मौलिक सिद्ध नहीं होता। मनुस्मृति में दश श्रध्यायों में धर्मों के विधान हैं, श्रीर एकादश श्रध्याय में प्रायश्चित्त का विषय दिया है। जब प्रायश्चित्त-विधान के लिए मनु ने एक पृथक् विषय दिया है तो इस प्रकार के प्रायश्चित्त का वर्णन वहीं होना चाहिए। इस निश्चित की गई शेली से भी यह प्रतीत होता है कि यह श्लोक मनु की शैली के श्रनुरूप नहीं है।

भिक्षासम्बन्धी नियम---

उदकुम्भं सुमनसो गोशकुन्मृतिकाकुशान् । स्राहरेद्यावदर्यानि भेक्षं चाहरहृज्यरेत् ॥ १४७ ॥[२।१८२](१२४)

(उदकुम्भम्) पानी का घड़ा (सुमनसः) फूल (गोशकृत्) गोवर (मृत्तिका) मिट्टी (कुशान्) कुशाम्रों को (यावत् + ग्रर्थानि) जितनी स्रावरय-कता हो उतनी ही (म्राहरेत्) लाकर रखे (च) भौर (भैक्षम्) भिक्षा भी (म्रहः + म्रहः चरेत्) प्रतिदिन-प्रतिदिन मांगकर खाये।। १५७।।

किनसे भिक्षा ग्रहण करे—

वेद-यज्ञेरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु। ब्रह्मचार्याहरेद्रभेक्षं गृहेक्यः प्रयतोऽन्वहम् ।।१५८।।[२।१८३](१२५)

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (स्वकर्मसु प्रशस्तानाम्) अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और (वेदयज्ञैः + अहीनानाम्) वेदाघ्ययन श्रीर पञ्चमहायज्ञों से जो हीन नहीं ग्रर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के (गृहेम्यः) घरों से (प्रयतः) प्रयत्न पूर्वक (ग्रन्वहम्) प्रतिदिन (भक्षम् ग्राहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे।। १४८।।

किन-किन से भिक्षा ग्रहण न करे-

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु । अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १५६ ॥[२।१८४] (१२६) ब्रह्मचारी (गुरो: कुले न भिक्षेत) गुरु के परिवारों तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे (अन्य गेहानाम् अलाभे तु) अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो (पूर्व-पूर्व विवर्जयेत्) पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है।। १४६।।

पापकर्मं करने वालों से भिक्षा न लें-

सर्वं वाऽपि चरेव् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे ।

नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १६० ॥ [२।१८४]१२७]

(पूर्वोक्तानाम् + ग्रसंभवें) पूर्व [२।१४८-१४६] कहे हुए घरों के ग्रभाव में (सर्व वा + ग्रपि ग्रामं चरेत्) सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले (तु) किन्तु (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (वाचं नियम्य) ग्रपनी वाणी को नियन्त्रण में रखता हुग्रा (ग्रभिशस्तान्) पापी व्यक्तियों को (वर्जयेत्) छोड़ देवे ग्रर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी ग्रवस्था में भिक्षा-याचना के लिए वाणी न खोले।। १६०।।

सायं-प्रातः ग्रग्निहोत्र का पुनः विशेष विधान---

दूरदाहृत्य समिषः सन्निदध्याद्विहायसि।

सायम्प्रोतक्व जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १६१ ॥ [२ । १८६] १२८)

(दूरात् सिमधः ग्राहृत्य) दूरस्थान ग्रर्थात् जंगल ग्रादि से सिमधाएँ लाकर (विहायसि संनिद्ध्यात्) उन्हें खुले [=हवादार] स्थान में रख दे (ताभिः) ग्रीर फिर उनसे (ग्रतिद्वतः) ग्रालस्यरहित होकर (सायं च प्रातः) सायंकाल ग्रीर प्रातःकाल दोनों समय (ग्रांग जुहुयात्) ग्राग्नहोत्र करे।। १६१।।

"ग्रग्निहोत्र सायं-प्रात: दो काल में करे। दो ही रात-दिन की संघि-वेला हैं, ग्रन्य नहीं।" (स॰ प्र॰ पृ॰ ४१)

अन्य की त्रिमाएं किस-किस वृक्ष की स्रीमधाएं किस-किस वृक्ष की स्रीर कैसी होनी चाहिएं, इसके ज्ञान के लिए महर्षि दयानन्द का उद्धरण विशेष उपयोगी है—

"प लाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, म्रांब [म्राम] बिल्व म्रादि की समिधा वेदी के प्रमाण छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी, मलिन देशोत्पन्न ग्रीर श्रपवित्र पदार्थ ग्रादि से दूषित न हों, श्रच्छे प्रकार देख लेवें, श्रीर बराबर श्रीर बीच में चुनें। (सं० वि० सामान्य प्र०)

भिक्षा भ्रीर यज्ञ न करने पर प्रायश्चित्त-

ब्रकृत्वा भैक्षचरणमसमिष्य च पावकम् । ब्रनातुरः सप्तरात्रमवकीरिणवतं चरेत् ॥ १६२ ॥ [२ । १८७]

(धनातुरः) स्वस्थ होते हुए भी यदि ब्रह्मचारी (सप्तरात्रम्) सात दिन तक (भैक्षचरएां अकृत्वा) विना भिक्षा मांगे (च) तथा (पावकम् असिमध्य) अग्निहोत्र विना किये रहे तो वह (अवकीरिंग्वतं चरेत्) 'अवकीर्णी' नामक [११।११८] प्रायश्चित्त ब्रन करे॥ १६२॥

भैक्षेण वर्तयेन्तित्यं नैकान्नादी भवेद्वती। भैक्षेण वर्तिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता॥ १६३॥ [२॥ १८८]

(यती) ब्रह्मचारी (नित्य भैक्षेण वर्तयेत) प्रतिदिन भिक्षा मांगकर ही लाये (एक-ग्रन्नादी न भवेत्) किसी एक ही मनुष्य का ग्रन्न खाने वाला न बने (व्रतिनः भैक्षेग् वृत्तिः) ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा से वृत्ति चलाने को (उपवाससमा स्मृता) उपवास के समान ही माना है।। १६३॥

ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा सम्बन्धी अपवाद—

व्रतवद्वेववैत्रत्ये पित्र्ये कर्मण्ययाचिवत्। काममभ्यायतोऽक्षनीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते॥ १६४॥ [२। १८६]

त्रह्मचारी (देवदैवत्ये व्रतवत्) देवताग्रों के उद्देश्य से किये हुए यज्ञ आदि कर्म में व्रत के समान (ग्रथ) ग्रीर (पित्र्ये कर्मणि ऋषियत्) पितृकर्म स्थाद्ध ग्रादि में ऋषि के समान (कामम् ∣-ग्रभ्यितः) ग्रादरपूर्वक बुलाये जाने पर (ग्रश्नीयात्) भोजन कर ले (ग्रस्य व्रतंन लुप्यते) इस प्रकार से इसका व्रत भंग नहीं होता॥ १६४॥

> त्राह्मरास्यैव कर्मेंतदुर्यदिष्टं मतीषिभिः। राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्मं विधीयते ॥ १६४ ॥ [२ । १६०] ्

किन्तु (मनीपिभिः) विद्वानों ने (एतत् कर्म) यह कर्म [यज्ञ ग्रीर श्राद्ध में भोजन करना | (ब्राह्मणस्य निष्व उपदिष्टम्) ब्राह्मण के लिए ही विहित किया है (एयत् कर्म एवम्) यह कर्म इस प्रकार सं (राजन्यवैध्ययोः तुन विधीयते) क्षत्रियः ग्रीर वैध्य के लिये विहित नहीं किया है ॥ १६५ ॥

अन्दर्शोत्उनः १६२ से १६५ इलोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं-

- १ श्रन्तिवरोध—(१) १६२ वें श्लोक में 'श्रवकीणीं व्रत' का विधान न तो मनुप्रोक्त है न मनुस्मृति सम्मत, अपितु परवर्ती विधान है। इस विरोध के आधार पर यह श्लोक प्रक्षिप्त है। विस्तृत जानकारी के लिये ११। ४४ से १६० श्लोकों पर समीक्षा देखिये।(२) १६४-१६४ वें श्लोकों में देवकर्म और मृतक पितृ-श्राद्ध का विधान भी मनुविरुद्ध है। मनु ने केवल जीवित माता-पिता आदि की सेवा शुश्रूपा को ही श्राद्ध माना है [३। ८२]। इस मान्यता के विरुद्ध होने से ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। 'भृतकश्राद्ध मनुविरोधी है' इस मान्यता को विस्तृत रूप में जानने के लिये ३। ११६ से २८४: २। १५१ श्लोकों पर 'श्रन्तिवरोध' शीर्षक समीक्षा देखिए।
- २. प्रसंगिवरोष (१) १६३ वां ब्लोक प्रसंगिवरुद्ध है। १६० वें ब्लोक तक िक्षा-सम्बन्धी वर्णन पूर्ण करके १६१ वें ब्लोक में यज की चर्का प्रारम्भ हो चुकी थी। क्रमबद्ध प्रसंग पूर्ण होने के बाद दो ब्लोकों के अनन्तर पुतः भिक्षा का महत्त्व बतलाना अप्रासंगिक है। यदि यह ब्लोक प्रासंगिक एवं मौलिक होता तो इसे १६० से संयुक्त होना चाहिय था, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः यह अप्रासंगिक रूप से बिणत होने के कारण प्रक्षिपत है। (२) इसी प्रकार १६२ वां ब्लोक भी अप्रासंगिक है। १५० [१७५] वें ब्लोक में इस प्रसंग को प्रारम्भ करते समय ब्रह्मचारी के नियमों का कथन करने का गकत किया है। अन्य ब्लोकों में तदनुसार नियमों का कथन है किन्तु इसमें प्रायिक्चित्त का विधान प्रासंगिक होता तो अन्य नियमों के साथ भी उनके उल्लंघन पर प्रायिक्चित्त का विधान दिया होता। ऐसा न होने से यह मनुसम्मत एवं प्रासंगिक सिद्ध नहीं होता।
- ३. शैलीगत श्राधार—मनुस्मृति में यह शैली निश्चित है कि दश श्रध्यायों में धर्मों का वर्णन है, एकादश में प्रायश्चित्त का विषय। जब प्रायश्चित्त का विषय-पृथक् से विणित है तो इस प्रकार मध्य में प्रायश्चित्त का निर्देश देना मनु की शैली के अनुरूप नहीं है। यही कारण है कि इस प्रकार के एक-दो प्रक्षिप्त विधानों को छोड़-कर बीच में कहीं भी प्रायश्चित्त का विधान मनु ने नहीं किया है। इस साधार पर भी १६२ वां ब्लोक मौलिक सिद्ध नहीं होता।

गृह के सकीप रहते ब्रह्मचारी की मर्यादाएँ—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा । कुर्यादव्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १६६ ॥[२।१९१](१२६)

्गृरगा चोदितः) गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर (वा) अथवा (अप्र-चोदितः एव) विना प्रेरणा किये भी |ब्रह्मचारी] (नित्यम) प्रतिदिन (अध्य-यने) पढ़ने में (च) और (आचार्यस्य हितेषु) गुरु के हितकारक कार्यों में (यन्तं कुर्यात्) यत्न करे ॥ १६६॥ गुरु के सम्मुख सावधान होकर बैठे और खड़ा हो---

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च। नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मु बम् ॥१६७॥ [२।१६२] (१३०)

[गुरु के सामने बैठने या खड़े होने की ग्रवस्था में ब्रह्मचारी] (शरीरं च व च बुद्धि + इन्द्रिय + मनांसि एव च) शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों ग्रीर मन को भी (नियम्य) वश में करके ग्रर्थात् सावधान होकर (गुरो: मुखं वीक्षमाणः) गुरु के सामने देखता हुग्रा (प्राञ्जिलः) हाथ जोड़कर (तिष्ठेत्) बैठे ग्रीर खड़ा होवे।। १६७।।

गुरु के म्रादेशानुसार चले —

नित्य नुद्द्वृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।

आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१६८॥ [२।१६३](१३१)

(नित्यम् + उद्धृतपाणिः स्यात्) सदा उद्धृतपाणि रहे म्रर्थात् म्रोढ़नेके वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे [म्रोढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार म्रोढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुम्रा बायें कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा भ्रीर हाथ वस्त्र से बाहर निकला रह जाये] (साधु + म्राचारः) शिष्टसम्य म्राचरण रखे (सुसंयतः) संयमपूर्वक रहे ('म्रास्यताम्' इति उक्तः सन्) गुरु के द्वारा 'बैठों ऐसा कहने पर (गुरोः म्रिभमुखं म्रासीत) गुरु के सामने उनकी भ्रोर मुख करके बैठे।। १६६।।

गुरु से निम्न स्तर की वेशभूषा रखे---

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रयमं चास्य चरमं चैव संविज्ञेत् ॥ १६६ ॥ [२।१६४](१३२)

(गुरु-सन्निधौ) गुरुके समीप रहते हुए (सर्वदा) सदा (हीन + ग्रन्न +वस्त्र + वेष: स्यात्) ग्रन्न = भोज्यपदार्थ, वस्त्र ग्रौर वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे (च) ग्रौर (ग्रस्य प्रथमम् उत्तिष्ठेत्) इस गुरु से पहले जागे (च) तथा (चरमं संविशेत्) बाद में सोये ।। १६६ ।।

वातचीत करने का शिष्टाचार-

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानी न समाचरेत्। नासीनो न च भुद्धानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१७०॥[२।१६५](१३३)

(प्रतिश्रवण + संभाषे) प्रतिश्रवण श्रर्थात् गुरु की बात या स्राज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना, ग्रीर संभाषा—बातचीत, ये (श्यानः न समा-

चरेत्) लेटे हुए न करे (न + ग्रासीनः) न बैठे-बैठे (न भुञ्जानः) न कुछ खाते हुए (च) ग्रीर (न तिष्ठन्) न दूर खड़े होकर (न पराङ्मुखः) न मृह फेरकर ये बातें करे [करणीय शिष्ट स्थितियों का वर्णन १७१-१७२ में है]।। १७०।।

न्नासीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः । प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पदचाद्धावंस्तु घावतः ॥१७१॥[२।१६६](१३४)

(ग्रासीनस्य स्थितः) बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर (तिष्ठतः तु ग्रिः-गच्छन्) खड़े हुए गुरु के सामने जाकर (ग्राव्रजतः तु प्रति + उद्गम्य) ग्रिपती ग्रोर ग्राते हुए गुरु से उसकी ग्रोर शीघ्र ग्रागे बढ़कर (धावतः तु पश्चात् धावन्) दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर (कुर्यात्) प्रतिश्रवण ग्रौर बात-चीत [२।१७०] करे।।१७१।।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य गान्तिकम् । प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥१७२॥ [२।१६७](१३४)

(पराङ्मुखस्य + ग्रभिमुखः) गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर (च) ग्रौर (दूरस्थस्य ग्रन्तिकम् एत्य) दूर खड़े हों तो पास जाकर (शयानस्य तु) लेटे हों (च) ग्रौर (निदेशे एव तिष्ठतः) समीप ही खड़े हों तो (प्रराम्य) विनम्र होकर प्रतिश्रवण ग्रौर बातचीत करे।। १७२।।

गुरु से निम्न ग्रासन पर बैठे-

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ । गुरोस्तु चक्षुविषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १७३ ॥ [२।१६८] (१३६)

(गुरुसन्निघो) गुरु के समीप रहते हुए (ग्रस्य) इस ब्रह्मचारी का (शय्या + ग्रासनम्) विस्तर ग्रोर ग्रासन (सर्वदा) सदा ही (नीचम्) गुरु के ग्रासन से नीचा या साधारण रहना चाहिए (गुरोः तु चक्षुः विषये) ग्रोर गुरु की ग्रांखों के सामने (यथेष्टासनः न भवेत्) कभी मनमाने ग्रासन से न बैठे ग्रर्थात् शिष्टतापूर्वक बैठे ॥ १७३॥

गुरु का नाम न ले---

नोदाहरेवस्य नाम परोक्षमिप केवलम् । न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १७४॥ [२।१६६] (१३७)

(परोक्षम् म्रिप) पीछे से भी (ग्रस्य) म्रिपने गुरु का (केवलं नाम न +उदाहरेत्) केवल नाम न ले [म्रियीत् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'ग्राचार्य' 'गुरु' ग्रादि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, ग्रकेला नाम नहीं ] (च) ग्रीर (ग्रस्य) इस गुरु की (गित + भाषित + चेिटतम्) चाल, वागी तथा चेप्टाग्रों का (न ग्रनुकुर्वीत) ग्रनुकरण= नकल न उतारे ॥ १७४॥

गुरु की निन्दान सुने---

गुरोयंत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते। कर्णो तत्र पिघातव्यो गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥१७५॥ [२।२००] (१३८)

(यत्र) जहां (गुरोः परीवादः श्रिप वा निन्दा प्रवक्तंते) गुरु की बुराई ग्रयवा निन्दा हो रही हो (तत्र) वहां (कणौ पिधातव्यौ) ग्रपने कान बन्द कर लेने चाहियें ग्रयीत् उसे नहीं सुनना चाहिये (वा) ग्रयवा (ततः ग्रन्यतः गन्तव्यम्) उस जगह से कहीं ग्रन्यत्र चला जाना चाहिए।। १७५॥ ॥

श्र न्यू श्री ट्य न्य : 'कर्गां पिधातच्यो' मुहाबरा—इस क्लोक में ''कर्गां पिधातच्यों' मुहाबरे के रूप में प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय कान बन्द कर लेना नहीं है अपितु 'न सुनना' या 'ध्यान न देना' है। इसका हिन्दी में अनूदित मुहाबरा आज भी उसी अर्थ में प्रचलित है—'कान बन्द रखना' अर्थात् ध्यान न देना या न सुनना। इस के विपरीत 'कान धरना' या कान खुले रखना' मुहाबरे प्रचलित हैं। जिन का अर्थ है—ध्यान से सुनना।

गूर-निन्दा का फल-

परीवादारखरो मवति श्वा वं मवति निन्दकः। परिमोक्ता कृमिभंवति कीटो मवति मस्सरी।।१७६॥ [२।२०१]

(परीवादात् खरः भवति) गुरु की बुराई करने वाला शिष्य ग्रगले जन्म में गधा बनता है (निन्दकः वैश्वा भवति) निन्दा करने वाला कुत्ता बनता है (परिभोक्ता कृमिः भवति) गुरु के धन का उपभोग करने वाला छोटा कीड़ा बनता है ग्रौर (मत्सरी कीटः भवति) गुरु से ईर्ष्या करने वाला बड़ा कीड़ा बनता है ॥ १७६ ॥

# अनुर्योत्जना-यह १७६ वा बलोक निम्न रूप से प्रक्षिप्त है-

१. ग्रन्तिवरोध—मनुने १२। ६, २५—५२, ७४ क्लोकों में यह स्पष्ट मान्यता दी है कि व्यक्ति सत्त्व, रज, तमोयुक्त कर्मों की ग्रधिकता के ग्राधार पर उत्तम, मध्यम, ग्रधम ग्रथवा तिर्यंक् स्थावर ग्रीर मनुष्य ग्रादि योनियों को प्राप्त करता है, न कि केवल किसी एक ही कर्म से । ग्रीर फिर किसी कर्म के ग्राधार पर मनु ने कोई एक योनि भी निश्चित नहीं की है। इस क्लोक में एक ही कर्म से योनि का निश्चय कर

<sup>्</sup>रें प्रचलित अर्थ — जहां गुरु की बुराई या निन्दा होती हो वहां ब्रह्मचारी कान बन्द करले या वहां से अन्यत्र चला जाये ॥ २००॥ व

देना ग्रौर केवल इन्हीं कर्मों से ही इन योनियों के प्राप्त होने का करन करना, उक्त मान्यता के विरुद्ध होने से यह क्लोक प्रक्षिप्त है। (२) २।११७ [२।१४२] में गुरु द्वारा ग्रन्न ग्रादि से पालन-पोषण करने का निर्देश भी है। इस क्लोक में गुरु के पदार्थों का उपभोग करने वाले को ग्रगले जन्म में कृमि होना बताया है। यह उक्त वर्णन से विरुद्ध है।

२. शैलीगत मामार—इस श्लोक में त्रुटियों के कारण विभिन्न योनियों की प्राप्ति का कथन निरामार, अयुक्तियुक्त एवं मितिशयोक्ति पूर्ण है। इस प्रकार की शैली मनु की नहीं है।

गुरु को कब ग्रभिवादन न करे---

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।

यानःसनस्यश्चेवेनमवरु ह्याभिवादयेत् ।।१७७।।[२।२०२] (१३६)

(एनम्) शिष्य अपने गुरु को (दूरस्थः) दूर से (न + अर्चयेत्) नमस्कारन करें (न क्रुद्धः) न कोध में (न स्त्रियाः अन्तिके) जब अपनो स्त्री के पास बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करें (च) और (यान + श्रास-नस्थः) यदि सवारी पर बैठा हो तो (अवरुद्धा) उतरकर (एनम्) अपने गुरु को (अभिवादयेत्) अभिवादन करें ।। १७७ ।।

साय बैठने न बैठने सम्बन्धी निर्देश --

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुगा सह ।

असंश्रवे चैव गुरोर्न किचिदिप कीर्तयेत्।। १७८ ।। [२।२०३](१४०)

(प्रतिवाते) शिष्य की ग्रोर से गुरु की ग्रोर ग्राने वाली वायु में (च) ग्रीर (ग्रनुवाते) उसके विपरीत ग्रर्थात् गुरु की ग्रोर से शिष्य की ग्रोर ग्राने वाली वायु की दिशा में (गुरुणा सह न + ग्रासीत) गुरु के साथ न बैठे (घ) तथा (गुरो: ग्रसंश्रवे एव) जहां गुरु को ग्रच्छी प्रकार न सुनाई पड़े ऐसे स्थान में (किंचित् + ग्रिप न कीतंयेत्) कुछ बात न करे।। १७८।।

गुरु के साथ कहां-कहां बैठै--

गोऽक्वोब्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च। ब्रासीत गुरुणा सार्व शिलाफलकनीषु च।।१७६॥ [२।२०४] (१४१)

(गो + प्रश्व + उष्ट्रयान — प्रासादस्रस्तरेषु) बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, कंटगाड़ी पर भीर महलों अथवा घरों में बिछाये जानेवाले बिछीने पर (च) भीर (कटेषु) चटाइयों पर (च) तथा (शिला-फलकनीषु) पत्थर, तस्ता, नीका पर (गुरुखा सार्धम् प्रासीत) गुरु के साथ बैठ जाये।। १७६।।

गुरु के गुरु से गुरुतुत्य ग्राचरण-

गुरोगुँरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।

न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥१८०॥[२।२०४](१४२)

(गुरोः गुरौ सन्तिहिते) गुरु के भी गुरु यदि समीप भ्रा जायें तो (गुरुवत् वृत्तिम् भ्राचरेत्) उनसे भ्रपने गुरु के समान ही भ्राचरण करे (च) भ्रौर (स्वान् गुरून्) भ्रपने माता-पिता भ्रादि गुरुजनों के भ्राने पर (गुरुणा श्रनिमृष्टः न भ्रभिवादयेत्) गुरु से भ्रादेश पाये बिना भ्रभिवादन करने न जाये।। १८०।।

ग्रन्य ग्रघ्यापकों से व्यवहार---

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।

प्रतिषेयत्मु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्विप ।।१८१।।[२।२०६](१४३)

(विद्यागुरुषु) विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुग्नों में (स्वयोनिषु) प्रपने वंश वाले सभी बड़ो में (च) ग्रौर (ग्रधर्मान् प्रतिषेधत्सु उपिदशत्सु + ग्रिप) अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी (नित्या एतत् + एव वृत्तिः) सदैव यही [ऊपर विणत] बर्ताव करे।। १८१।। गुरुपुत्र ग्रादि से व्यवहार—

> श्रोयःसु गुरुवद्वृत्ति नित्यमेव समाचरेत्। गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोक्ष्येव स्वयन्त्रुषु ॥ १८२॥ [२।२०७]

(श्रेयःसु) बड़े लोगों में (च) श्रीर (श्रार्येषु गुरुपुत्रेषु) श्रेष्ठ गुरुपुत्रों में (च) यथा (गुरोः स्ववन्धुषु एव) गुरु के रिश्तेदारों में भी (नित्यं गुरुवत् एव वृति समाचरेत्) सदैव गुरु के समान ही वर्ताव करे।। १८२।।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।

न्नव्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमहंति ॥ १८३ ॥ [२ । २०८]

(गुरुसुतः) गुरु का पुत्र (बालः ता समानजन्मा) चाहे छोटा हो अथवा समान आयु वाला हो (वा) अथवा (यज्ञकर्मणि शिष्यः) यज्ञकर्म में दीक्षित होकर शिष्य बन चुका हो (अध्यापयन्) वह पढ़ाता हुआ (गुरुवत् मानम् म अर्हेति) गुरु के समान सम्मान का अधिकारी है।। १८३।।

उत्सादनं च गात्राणां स्नायनीच्छिष्टमोजने ।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोद्ग्वावनेजनम् ॥ १८४॥ [२ । २०६]

(गुरुपुत्रस्य) गुरुपुत्र के (गात्राणाम् उत्सादनम्) ग्रंगों का दबाना (स्नापन + उच्छिष्टभोजने) नहलाना, भूठा भोजन करना (च) ग्रौर (पादयोः ग्रवनेजनम्) पैरों का घोना (न कुर्यात्) ये कार्यं न करे ॥ १८४॥ १३

गुरुपत्नियों से व्यवहार---

गुरुवरत्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः। स्रसवरणस्ति संपूज्याः प्रत्युत्यानाभिवादनैः॥ १८४ ॥[२ । २१०]

(सवर्णाः गुरुयोषितः) गुरु के ग्रपने वर्णं की पित्नयां (गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः) गुरु के समान ही पूजनीय हैं (ग्रसवर्णाः तु) ग्रीर भिन्न वर्णं की गुरुपित्नयों का तो (प्रत्युत्थान + ग्रभिवादनैः) केवल उठने ग्रीर नमस्कार करने से ही (संपूज्याः) ग्रादर करना चाहिए ॥ १८॥॥

ग्रम्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च। गुरुपत्न्या न कार्यां किशानां च प्रसाधनम् ॥ १८६॥ [२।२११]

(ग्रम्यञ्जनम्) उबटन लगाना (स्नापनम्) स्नान कराना (च) ग्रौर (गात्र + उत्सादनम् एव) शरीर दबाना (च) तथा (केशानां प्रसाधनम्) बालों को संवारना (गुरुपत्न्या न कार्याणि) ये कार्यं गुरुपत्नियों के नहीं करने चाहियें ॥ १८६॥

अन्य श्रीत्वन : १८२ से १८६ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं-

१. अन्तिबरोध—(१) १८२ से १८४ श्लोकों में गुरुपुत्र के साथ भी गुरु जैसा व्यवहार करने का निर्देश है, चाहे वह शिष्य ही क्यों न हो। यह निर्देश २। ६२ [११७], १२४-१३१ [१४६--१५६] श्लोकों की मान्यता के विरुद्ध है। इन इलोकों में कहा गया है कि पढ़ाने वाला ही गुरु श्रीर बड़ा होता है श्रीर वही म्रादर के योग्य है। १२६ [१५१] वें क्लोक में म्राङ्गिरस का उदाहरण देकर तो मनु ने इस मान्यता को ग्रीर ग्रधिक स्पष्ट कर दिया है। ग्रतः गुरुपुत्र को गुरु द्वारा भी ब्रादर देना ब्रादि बातें मौलिक नहीं हैं। (२) १८५ वें श्लोक में जो सवर्ण ब्रौ ग्रसवर्ण पत्नियों के साथ पृथक्-पृथक् व्यवहार का विधान है, यह बहुपत्नीप्रथा भी मनुसम्मत नहीं है। मनु ने ५।१६७-९।८१ श्लोकों में ग्रत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह वर्णन किया है कि एक पत्नी के मरणोपरान्त ही द्विज दूसरी से नियोग कर सकता है। इस प्रकार बहुपत्नी रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ-साय इस बात से भी यह श्लोक परवर्ती प्रक्षेप सिद्ध होता है कि केवल इसी श्लोक में सवर्ण-प्रसवर्ण पत्नियों के साथ पृथक्-पृथक् व्यवहार करने का कथन है, प्रन्यत्र जहां भी गुरुपितनयों के साथ व्यवहार के निर्देश का कथन है, वहां कहीं भी सवर्ण-ग्रसवर्ण का भेद नहीं दर्शाया गया है [२।१८७—१६२ (२।२१२—२१७)]। (३) १८६ वें झ्लोक में गुरुपत्नी के तैलमर्दन ग्रादि के निषेध का विधान भी मौलिक नहीं है, क्योंकि जब २।१४२, १४४, १८७ [२।१७७, १७६, २१२] में स्त्रियों का दर्शन, स्पर्शन, म्रालिंगन ब्रह्मचारी के लिये पूर्णतः निषिद्धः कर चुके हैं तो फिर गुरुपत्नी की इस प्रकार की सेवाएं करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ-साथ यह बात भी विचारणीय है कि मनु ने ब्रह्मचारी को केवल गुरु की सेवा करने का ही ब्रादेश दिया है, गुरुपत्नी की सेवा करने का वर्णन कहीं नहीं किया है। इस प्रकार इन विरोधों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

युवती गुरुपत्नी के चरणस्पर्श का निषेध श्रीर उसमें कारण-

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।

पूर्णविश्वतिवर्षेण गुणदोषो विजानता ॥१८७॥ [२।२१२] (१४४)

(पूर्णविश्वतिवर्षेण) जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हैं ऐसे (गुणदोषी विजानता) गुण ग्रीर दोषों की समभने में समर्थ युवक शिष्य को (युवितः गुरुपत्नी तु) जवान गुरुपत्नी का (पादयोः न ग्रभिवाद्या) चरणों का स्पर्श करके ग्रभिवादन नहीं करना चाहिए [ग्रर्थात् बिना चरणस्पर्श किये ही उसका ग्रभिवादन करे। उसकी विधि २। १६१ में वर्णित है]।। १८७।।

युवति के चरण स्पर्श से हानि-

स्वभाव एव नारीणां नराणामिह दूवणम्।

म्रतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपहिचतः ॥१८८॥ [२।२१३] (१४४)

(इह) इस संसार में (एषः स्वभावः) यह स्वाभाविक ही है कि (नारीणां नराणां दूषण्म्) स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण् हो जाता है—दोष लग जाता है (श्रदः श्रर्थात्) इस कारण (विपिश्चितः) बुिद्धमान् व्यक्ति (प्रमदासु) स्त्रियों के साथ व्यवहारों में (न प्रमाद्यन्ति) कभी श्रसावधानी नहीं करते श्रर्थात् ऐसा कोई वर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की ग्राशंका हो।। १८८।। अ

श्रविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।

प्रमदा ह्य त्पर्थ नेतु कामक्रोधवशानुगम् ॥१८६॥ [२।२१४](१४६)

(लोके) संसार में (प्रमदाः) स्त्रियां (काम-क्रोध-वश + ग्रनुगम्) काम ग्रोर क्रोघ के वशीभूत होने वाले (ग्रविद्वांसम्) ग्रविद्वान् को (वा) ग्रथवा (विद्वांसम् + ग्रिप) विद्वान् व्यक्ति को भी (उत्पर्थ नेतुम्) उसके मार्ग से उखाड़ने में ग्रर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में (हि) निश्चय से (ग्रलम्) पूर्णतः समर्थ हैं ।। १८९ ।।

ग्रभिप्राय यह है कि स्त्रियों में हाव-भाव ग्रीर रूप सौन्दर्य के द्वारा

श्रि प्रचित्ति ग्रर्थ — स्त्रियों का यह स्वभाव है कि इस जगत् में श्रृङ्कार-चेष्टाग्रों के द्वारा व्यामोहित कर पुरुषों में दूपण उत्पन्न कर देती हैं, ग्रत एव विद्वान् पुरुष स्त्रियों के विषय में ग्रमावधानी नहीं करते किन्तु सर्वदा उनसे ग्रलगही रहते हैं।। २१३।।]

पुरुषों को मोहित कर लेने का पूर्ण सामर्थ्य है। उनके इन गुर्णों के कारण पुरुष उनके संसर्ग से स्वयं अथवा उन्हीं के प्रयत्न से सदाचार के मार्ग से भ्रष्ट हो सकता है।

स्त्रीवर्ग के साथ एकान्तवास निपेध---

मात्रा स्वला दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमिप कर्षति ॥१६०॥[२।२१४](१४७)

[मनुष्य को चाहिए कि] (मात्रा स्वस्ना वा दुहित्रा) माता, बहन ग्रथवा पुत्रो के साथ भी (विविक्त + ग्रासनः न भवेत्) एकान्त ग्रासन पर न बैठे या न रहे, ग्रथीत् एकान्तिनिवास न करे क्योंकि (वलवान् + इन्द्रिय-ग्रामः) शक्तिशाली इन्द्रियां (विद्रांसम् + ग्रिप) विद्वान् = विवेकी व्यक्ति को भी (कर्षति) खोंचकर ग्रपने वश में कर नेतीं हैं ग्रथीत् ग्रपने-ग्रपने विषयों में फंसाकर प्रथभ्रष्ट कर देती हैं।। १६०।।

''इस वाक्य का ग्रर्थ—इन्द्रियाँ इतनी प्रवल हैं कि माता तथा वहनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए ।'' (पूठ प्रठ १५)

युवति गुरुपत्नी के ग्रभिवादन की विधि-

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि । विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति सुवन् ॥१६१॥ [२।२१६] (१४८)

(कामं तु) श्रच्छा तो यही है कि (युवा) युवक शिष्य (युवतीनां गुरुपत्नीनाम्) जवान गुरुपत्नियों को (श्रसौ+ग्रहम्+इति ब्रुवन्) 'यह मैं श्रमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए (विधिवत्) पूर्ण विधि के श्रनुसार [२।६७,६६ । (भ्रवि) भूमि पर भुक्तकर ही (वन्दनं कुर्यात्) ग्रभिवादन करे।।१६१॥

विश्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् । गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ १६२ ॥[२ । २१७] (१४६)

शिष्य (सतां धमंम् + ग्रनुस्मरन्) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए ग्रथीत् यह विचारते हुए कि स्पियों को ग्रभिवादन करना शिष्ट व्यक्तियों का कत्तेत्र्य है (गुरुदारेषु) गुरुपत्नियों को (ग्रन्वहम् ग्रभिवादनं कुर्वीत) प्रतिदिन ग्रभिवादन करे (च) ग्रौर (विप्रोप्य) परदेश से लौटकर (पादग्रहण्म्) चरणस्पर्य कर ग्रभिवादन करे।। १६२।। गुरु सेवा का फल---

यया खनन्खनित्रेस नरो वार्यधिगच्छति । तया गुरुगतां विद्यां गुश्रृषुरिधगच्छति ।।१६३।। [२।२१८](१५०)

(यथा खिनत्रेण खनन् नरः) जैसे फावड़े से खोदता हुम्रा मनुष्य (वारि + म्रिधगच्छिति) जल को प्राप्त करता है (तथा) वैसे (शुश्रूषुः) गुरु की सेवा करने वाला पुरुष (गुरुगतां विद्याम्) गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उसको (म्रिधगच्छिति) प्राप्त होता है।। १९३।। (सं० वि० ८४)

ब्रह्मचारी के लिए केश-सम्बन्धी तीन विकल्प एवं ग्रामनिवास का निषेध-

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः । नेनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥१९४॥[२।२१९](१५१)

ब्रह्मचारी (मुण्डः वा जिटलः वा स्यात्) चाहे तो सब केश मुंडवा कर रहे, चाहे सब केश रखकर रहे (भ्रयवा) या फिर (शिखाजटः) केवल शिखा रखकर [शेष केश मुंडवाकर] (स्यात्) रहे। (एतम्) इस ब्रह्मचारी को (क्वचित् ग्रामे) किसी निवास स्थान में रहते (सूर्यः) सूर्य (न ग्रिभिनि-म्लोचेत्) न तो ग्रस्त हो (न=ग्रम्युदियात्) न कभी उदय हो ग्रर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवास स्थान पर रहते-रहते सूर्य ग्रस्त नहीं होना चाहिए ग्रीर न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए, ग्रिपतु उससे पूर्व ही संध्योपासन ग्रादि नित्यकर्मों के लिये वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए [२।७६,७६,

प्रमादवश सोते रहने पर प्रायश्चित्त-

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः । निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥१६५॥ [२।२२०](१५२)

(तं चेत्) यदि उसे (कामचारतः शयानम्) इच्छानुसार सोते हुए (सूर्यः ग्रिभ + उदियात्) सूर्यं का उदय हो जाये (ग्रिप वा) ग्रथवा (ग्रिव ज्ञानात् निम्लोचेत्) ग्रनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्यं ग्रस्त हो जाये तो (दिनं जपन् + उपवसेत्) दिनभर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे = खाना न खाये ॥ १६५॥

सूर्येग ह्यभिनिर्मु वतः शयानोऽभ्युदितश्च यः । प्रायश्चित्तमकुर्वाण युक्तः स्यान्महतैनता ॥१६६॥[२२१](१५३) (यः) जो (सूर्येण ग्रभिनिर्मु क्तः) प्रमाद में सूर्य के ग्रस्त हो जाने पर (च) श्रौर (शयान: + श्रम्युदित:) सोते-सोते सूर्य उदय होने पर (प्राय-श्वित्तम् श्रकुर्वाणः) प्रायश्चित्त नहीं करता है वह (महता + एनसा युक्तः स्यात्) बड़ श्रपराध का भागी बनता है श्रर्थात् उसे बड़ा दोषी माना जागेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये सबसे परमावश्यक कर्म संध्योपासन का विधान है श्रौर इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है।। १६६॥

आनुर्कोल्डनः 'एनः' के अर्थज्ञान के लिए २।२ [२।२७] पर भी समीक्षा द्रष्टव्य है।

संघ्योपासन का विधान एवं विधि-

म्राचम्य प्रयतो नित्यमुमे संघ्ये समाहितः।

शुची देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥१६७॥[२।२२२] (१५४)

ब्रह्मचारी (नित्यम्) प्रतिदिन (उभे संध्ये) प्रातः श्रीर सायं दोनों संध्याकालों में [२।७६,७७] (शुचौ देशे) शुद्ध स्थान में (श्राचम्य) श्राच-मन करके (प्रयतः) प्रयत्नपूर्वक (समाहितः) एकाग्र होकर (जप्यं जपन् उपा-सीत) परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे ॥ १६७॥

"नित्य संध्योपासन पूर्व शुद्ध जल का ग्राचमन किया करे।" (सं वि ७६)

स्त्री-शूद्रादि के उत्तम आचरण का भी ग्रनुकरण करे—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किचित्समाच रेत्।

तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥१६८॥[२।२२३](१४४)

(यदि स्त्री यदि + ग्रवरजः) यदि कोई स्त्री ग्रथवा शूद्र भी (किंचित् श्रेयः समाचरेत्) कोई श्रेष्ठ कार्य करें (तत्सर्व + ग्राचरेत्) उनसे शिक्षा लेकर उस पर ग्राचरण करना चाहिए (वा) ग्रथवा (यत्र) जिस शास्त्रोक्त कर्म में (ग्रस्य मनः रमेत्) इसका मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे।। १६८।।

त्रिवर्ग-सम्बन्धी मान्यताएँ---

धर्मार्थावुच्यते श्रोयः कामार्थो धर्म एव च । स्रयं एवेह वा श्रोयस्त्रिवगं इति तुस्थितिः ॥ १६६ ॥ [२ । २२४]

(इह) इस संसार में (धर्माथौं श्रेयः उच्यते) कोई धर्म ग्रौर ग्रर्थं को कल्याण-कारी कहते हैं (कामाथौं) कोई काम और ग्रर्थं को (च) ग्रौर (धर्मः + एव) कोई धर्म को ही (वा) अथवा (ग्रर्थः + चैव श्रेयः) कोई ग्रर्थं को ही श्रेय कहते हैं (त्रिवगंः इति तु स्थितिः) 'धर्म, ग्रर्थं ग्रीर काम इन तीनों का वर्ग ही इस संसार में श्रेयस्कर है' यही वास्तविक सिद्धान्त है ॥ १९६॥

आनुर्धे त्जनः धर्मं, काम, ग्रथं के स्वरूप के लिए ७। २६ की समीक्षा देखिए।

म्राचार्यंश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः। नार्तेनाप्यवमन्तरुषा बाह्याणेन विशेषतः॥ २००॥ [२। २२४]

(ग्राचार्य + चिता च एव माता पूर्वजः भ्राता) आचार्य, पिता, माता तथा वड़ा भाई (ग्रार्तेन + ग्रपि न ग्रवमन्तव्याः) स्वयं दुःखी होते हुए भी किसी को इनका ग्रपमान नहीं करना चाहिए (विशेषतः वाह्मणेन) विशेषरूप से ब्राह्मण को तो कभी इनका ग्रपमान नहीं करना चाहिए॥ २००॥

ब्राचार्यो ब्रह्माणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिक्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥ २०१॥ [२।२२६]

[क्योंकि] (म्राचार्यः ब्रह्मणः मूर्तिः) म्राचार्य वेद-ज्ञान देने से ब्रह्मा की मूर्ति रूप है (पिता प्रजापतेः मूर्तिः) पिता पालन करने से प्रजापित की मूर्ति है (माता पृथिव्याः मूर्तिः) माता पालन व सहनशीलता के कारण पृथिवी की मूर्ति है (स्वः भ्राता ग्रात्मनः मूर्तिः) अपना बड़ा भाई सहायक होने से ग्रपनी ग्रात्मा की ही मूर्ति है।। २०१।।

> यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्मवे नृगाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥२०२॥ [२२७]

(मातापितरी) माता भीर पिता (नृणां संभवे) सन्तानों को उत्पन्न श्रीर पालनपोषण करने में (यं क्लेशं सहेते) जिस कष्ट को सहन करते हैं (तस्य निष्कृतिः) उसका बदला (वर्षशतैः + श्रपि) सौ वर्षों में भी (न कर्तुं शक्या) नहीं चुकाया जा सकता ॥ २०२ ॥

> तयोनित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा। तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वे समाप्यते॥ २०३॥ [२। २२८]

(तयोः) उन दोनों मर्थात् माता-पिता का (च) म्रीर (माचार्यस्य) म्राचार्यं का (नित्यम्) प्रतिदिन (सर्वदा) हर समय (प्रियं कुर्यात्) प्रियं कार्यं करता रहे (तेषु तुष्टेषु एव) इन तीनों के संतुष्ट होने में ही (सर्वं तपः समाप्यते) सब तप पूर्णं हो जाता है।। २०३।।

तेवां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते। न तरनम्यनुज्ञातो पर्ममन्यं समाचरेत्।।२०४॥ [२।२२६] (तेषां त्रयाणां शुश्रूषा) आचार्यं, माता ग्रीर पिता इन तीनों की सेवा करना ही (परमं तपः उच्यते) श्रेष्ठ तप कहा गया है (तैः + म्रनम्यनुज्ञातः) इनकी म्रनुमति के बिना (म्रन्यं धर्मं न समाचरेत्) म्रन्य किसी धर्म का म्राचरण न करे ।। २०४ ॥

> त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय ब्राश्रमाः । त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २०४ ॥ [२ । २३०]

(ते + एव हि त्रयः लोकाः) वे ही तीनों — पृथ्वी, आकाश, ग्रन्तिक्ष लोक हैं (ते + एव त्रयः ग्राश्रमाः) वे तीनों ही तीन — ब्रह्मचर्यं, गृहस्थ एवं संन्यास आश्रम हैं (ते एव हि त्रयः वेदाः) वे ही तीन — ऋक्, यजुः, साम, वेद हैं (ते + एव त्रयः + ग्रग्नयः उक्ताः) वे ही तीन ग्रग्नियां [२।२०६] मानी हैं॥२०५॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिरणः स्मृतः । गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ २०६ ॥ [२।२३१]

(पिता वै गाईपत्यः + ग्राग्नः) पिता गाईपत्य ग्राग्न [=गृहपित के द्वारा यज्ञ में प्रज्वलित की जाने वाली ग्राग्न जिसे पिता ग्रापने बाद में ग्राप्नी सन्तान को सौंप देता है] के समान है (माता दक्षिणः ग्राग्नः स्मृतः) माता दक्षिण ग्राग्न [=यज्ञ में दक्षिण की ग्रोर स्थापित की जाने वाली ग्राग्न] के समान है (गुरुः तु ग्राहवनीयः) ग्रीर गुरु ग्राहवनीय = आहुति देने योग्य यज्ञ की ग्राग्न के समान है (सा अग्नित्रेता गरीयसी) इन तीनों ग्राग्नयों का समूह सर्वश्रेष्ठ है। ग्रांष्ट्र जिस प्रकार यज्ञ की इन तीन ग्राग्नयों का श्रेष्ठ फल है, वही फल इन तीनों की सेवा में है।। २०६॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्तेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही । दीप्यमानः स्ववपुषा देवविद्दिव मोदते ॥ २०७ ॥ [२।२३२]

(गृही) गृहस्थी व्यक्ति (एतेषु त्रिषु + स्रप्रमाद्यन्) इन तीनों की सेवा में प्रमाद न करता हुन्ना (स्ववपुषा दीप्यमानः) त्रपने शरीर से देदीप्यमान होता हुन्ना (दिवि देववत् मोदते) द्युलोक में = स्वर्ग में देवता के समान प्रसन्नता को प्राप्त होता है।। २०७।।

> इमं लोकं मातृमक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् । गुरुशुश्रूषया स्वेवं ब्रह्मलोकं समस्तुते ॥ २०८ ॥ [२।२३३]

[मनुष्य] (इमं लोकं मातृभक्त्या) इस पृथिवी लोक को माता की सेवा करने से (मध्यमं तु पितृभक्त्या) मध्यम ग्राकाश लोक को पिता की सेवा करने से (एवम्) इसी प्रकार (गृक्युश्रूपया) गृरु की सेवा करने से (ब्रह्मलोकं समझ्तुते) मोक्ष को प्राप्त करता है।। २० =।।

सर्वे तस्याहता धर्मा यस्येते त्रय ब्राहताः । अनाहतास्तु यस्येते सर्वोस्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २०६ ॥ [२ । २३४]

(यस्य एते त्रयः ग्राइताः) जिसने इन तीनों--ग्राचार्य, माता, पिता का ग्रादर

रखा है (तस्य सर्वे धर्माः ग्रास्ताः) मानों उसने सभी धर्मों का ग्रादर किया है ग्रर्थात् सभी धर्मों का पालन किया है (यस्य तु एते ग्रनास्ताः) जिसने इनका ग्रादर नहीं रखा (तस्य सर्वाः क्रियाः ग्रफलाः) उसकी सब श्रेष्ठ क्रियाएं निष्फल रहती हैं।। २०९ ॥

> यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूवां कुर्यात्प्रियिहिने रतः॥ २१०॥ [२ । २३४]

(ते त्रयः यावत् जीवेयुः) वे तीनों जब तक जीयें (तावत् ग्रन्यं न समाचरेत्) तब तक [इनकी सेवा-शुक्रूषा को छोड़कर] किसी ग्रन्य धर्म का प्रमुखता से पालन न करें (प्रियहिते रतः) उनके प्रिय ग्राचरण में लगा रहकर (तेषु + एव नित्यं शुक्रूषां कुर्यात्) उनकी ही सदा सेवा करता रहे।। २१०।।

तेवामनुपरोधेन ४/रत्र्यं यद्यदाचरेत्। तत्तन्निवेदयेत्तंत्र्यो मनोवचनकर्ममिः ॥ २११ ॥ [२ । २३६]

(तेषाम् + म्रनुपरोधेन) उन माता, पिता, म्राचार्यं के म्रविरुद्ध उनकी म्रनुमित . से (मनो-वचन-कर्मभिः) मन, वचन म्रौर कर्में के द्वारा (यद्-यद् पारत्र्यम् म्राचरेत्) जो-जो परलोक को ग्रुभ करने वाला कार्यं करें (तत्-तत्) उस सबको (तेम्यः) उनसे (निवेदयेत्) प्रकट कर दे ॥ २११ ॥

> त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते । एव घर्मः परः साक्षादुपघर्मोन्य उच्यते ॥ २१२ ॥ [२ । २३७]

(एतेषु त्रिषु हि) इन तीनों की सेवा करने से ही (पुरुषस्य इतिकृत्यं समाष्यते) पुरुष के सब कत्तंव्य पूर्ण हो जाते हैं (एषः साक्षात् परः धर्मः) यही पुरुष का साक्षात् सर्व श्रेष्ठ धर्म है (ग्रन्यः उपधर्मः उच्यते) ग्रन्य सभी धार्मिक कार्य इसकी ग्रपेक्षा गौण धर्म हैं ॥ २१२॥

अर्जुटर्रिटडन्: १६६ से २१२ तक के इलोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं---

१. विषयविरोध—ये २०० से २११ दलोक विषयविरुद्ध हैं। द्वितीय प्रध्याय का विषय ब्रह्मचर्यात्रम एवं ब्रह्मचारी ही के कत्तंव्यों से सम्बद्ध है [२।४४ (२।६६), ३।१—२,२।४३—४४ (२।६६—६६) | दलोकों में स्पष्टतः गुरु के पास रहते हुए ब्रह्मचारी को जो कत्तंव्य करने चाहिएँ, उन्हीं का कथन करने का संकेत दिया है। श्रीर २।१३६ [२।१६४] में भी कहा—"द्यानेन क्रमयोगेन "गुरौ बसन् संचित्रयात् ब्रह्माधिगिमकं तपः" अर्थात्—इन पूर्वोक्त विधियों के अनुसार ब्रह्मचारी गुरु के पास रहता हुन्ना वेदज्ञान की वृद्धि के लिए तप करे। इसके श्रतिरिक्त २।६३ [१०६], १५० [१७५], १६६-१७६ [१६४-२०३], १६४ [२१६], २१६-२९१ [२४१-२४६] इलोकों से भी स्पष्ट होता है कि इस श्रष्ट्याय में केवल उन्हीं कर्त्तंव्यों का जो गुरुकुल में रहते पालन करने होते हैं कथन है। किन्तु इन दलोकों में जो

कर्त्तंब्य कहे हैं वे ब्रह्मचारियों के न होकर घर में रहने वालों के हैं। २०७ वें श्लोक में तो स्पष्टत: "विजयेत गृही" शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार प्रतिदिन माता-िपता का प्रिय ग्राचरण करना [२०३], उनकी प्रतिदिन सेवा करना [२१०[ उनकी ग्राज्ञा लेकर प्रत्येक धर्मकार्य करना [२११], ग्रादि बातें घर से दूर गुरुकुल में रहते हुए संभव ही नहीं हैं। ये गृहस्थ के कर्त्तंब्य हैं। इस प्रकार यहां ये विषयविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। यहां यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ये श्लोक ग्रथंवाद के रूप में न होकर विधिवाक्य हैं।

- २. ग्रन्तिवरोष—(१) १६६ वें श्लोक में विभिन्न ग्राचारों का मत प्रदिश्ति करते हुए किसी के मत से केवल धर्म-ग्रर्थ को कल्याणकारक कहा है, किसी के मत से केवल 'ग्र्यं' को ही। यह मान्यता मनु के ग्रनुकूल नहीं है। मनु 'धर्म' को सर्वत्र ग्रनिवार्य मानते हैं। ४। १७६ में तो उन्हों ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है—''परित्यजेत् ग्रयंकामों यो स्यातां धर्मवर्जितों'' ग्रयंत् धर्म से रहित अर्थ ग्रीर काम का परित्याग कर देवे।' फिर केवल 'ग्रयं' को ही कल्याणकारक मानने का मत मनु को कैसे स्वीकायं हो सकता है? मनु ने धर्म-काम-ग्रयं तीनों को ग्रावश्यक ग्रीर समन्वित रूप से साध्य माना है। वे किसी शुभकार्य के परिणामस्वरूप तीनों की ही ग्रभिवृद्धि का उल्लेख करते हैं, यथा—''समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविवम्।'' 'त्रवर्गेणामिवधंते।'' [७।२६-२७]। इस प्रकार इस मान्यता से विरोध होने के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।
- (२) इसी प्रकार माता-िपता, आचार्य की सेवा में ही तप की पूर्णता कहना [२०४], इसी में सब कर्त्तव्यों की समाप्ति मानना [२१२], इन्हीं की सेवा को परमधर्म कहना [२१२], ग्रादि बातें मनुस्मृति के १।१०८; २।१४१ [२।१६६], ४।१४७ क्लोकों के विरुद्ध है, जिनमें प्राणायाम, वेदाम्यास ग्रादि को तप ग्रीर परमधर्म घोषित किया है।
- (३) २१० में इनके जीते जी अन्य कर्त्तंच्यों को न करने का कथन करना मनुस्मृति की सारी व्यवस्थाग्रों के ही विरुद्ध है। इस प्रकार मनुस्मृति में विहित सारे विधान अनावश्यक सिद्ध हो जाते हैं।
- (४) इसी प्रकार, २०४, २०६ क्लोकों में इन्हीं तीनों को तीन लोक, तीन वेद, तीन ग्राश्रम कहना भी मनुस्मृति की मूल मान्यता के विरुद्ध है। यदि वे ही तीनों वेद ग्रीर ग्राश्रम मान लिये जायें तो फिर वेदों ग्रीर ग्राश्रमों की ग्रावश्यकता ही नहीं रहती!
- (३) प्रसंगिबरोध इन क्लोकों से प्रसंग भी भंग हो रहा है। १६८ वें क्लोक में स्त्रियों ग्रीर निम्नस्तर के व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले श्रेष्ठ कर्मों का अनुकरण करने का निर्देश है। २१३ वें क्लोक में उसी चर्चा को ग्रर्थवाद के रूप में विस्तार करते हुए विजित किया है कि निम्नस्तर के व्यक्ति से विद्या ग्रीर धर्म का भी ग्रहण कर

लेवे । १६ प्रवें क्लोक की चर्चा २१३ वें से सम्बद्ध है । इन क्लोकों ने उसे तोड़ दिया है । इस प्रकार प्रसंगविरुद्ध वर्णन के कारण ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

निम्नस्तर के व्यक्ति से भी ज्ञान-धर्म की प्राप्त-

श्रद्धानः शुभां विद्यामाददौतावरादि । श्रन्त्यादि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादि ॥२१३॥[२।२३८](१४६)

(गुभां विद्यां श्रद्धानः) उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुम्रा पुरुष (ग्रवरात् + ग्रपि ग्राददीत) ग्रपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे (ग्रन्त्यात् + ग्रपि परं धर्मम्) नीच जाति से भी उत्तम धर्मे का ग्रहण करे, ग्रौर (दुष्कुलात् ग्रपि स्त्रीरत्नम्) निद्यकुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है।। २१३।। (सं० वि० ८५)

उत्तम वस्तुग्रों का सभी स्थानों से ग्रहण-

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादिष सुभाषितम् ।

अभित्रादिष सद्वृत्तममेध्यादिष काञ्चनम् ॥२१४॥ [२।२३६] (१५७)

(विषात् + ग्रिप + ग्रमृतं ग्राह्मम्) विष से भी ग्रमृत का ग्रहण कर लेना चाहिए, ग्रोर (वालात् + ग्रिप सुभाषितम्) बालक से भी उत्तम वचन को ग्रह्ण कर लेना चाहिए, ग्रोर (ग्रिमित्रात् + ग्रिप सद्-वृत्तम्) वैरी से भी श्रेष्ठ ग्राचरण सीख लेना चाहिए, तथा (ग्रिमेध्यात् + ग्रिप काञ्चनम्) ग्रशुद्ध स्थान ने भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २१४॥

''विष से भी ग्रमृत का ग्रहण करना, वालक से भी उत्तम वचन को ले लेना।'' (सं० वि० ⊏५)

स्त्रियो रत्नाग्ययो विद्या धर्मः शोचं सुभाषितम् । विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥२१४॥[२।२४०](१५८)

(स्त्रियः) उत्तम स्त्री (रत्नानि) नाना प्रकार के रत्न (विद्या) विद्या (धर्मः) सत्य (शौचम्) पवित्रता (सुभाषितम्) श्रेष्ठभाषण (च) ग्रोर (विविधानि शिल्पानि) नाना प्रकार की शिल्पविद्या श्रथीत् कारीगरी (सर्वतः सनादेयानि) सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रह्णा करें ॥ २१५॥ (स० प्र०६६)

अनुर्योत्जनाः इस अध्याय का विषय विद्या या शिक्षा प्राप्ति का है। २१३-२१५ दनोकों में विद्या-सम्बन्धी बात प्रमुखतः कहते हुए साथ ही अन्य सामान्य शिक्षाप्रद वार्ते भी कह दी हैं जो कि लोकोक्तिवत् प्रसिद्ध हैं। विद्या से सम्बद्ध होने के कारण ये सभी वचन प्रामंगिक एवं विषयसंगत हैं। श्रापत्ति काल में ग्रजाह्मण से विद्याध्ययन एवं उसके नियम-

म्रबाह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते। म्रनुवज्या च ग्रुश्रुषा यावदध्ययनं गुरोः ॥२१६॥ [२।२४२](१५६)

(म्राप्तकाले) म्रापत्ति काल में (म्रबाह्मणात्) म्रबाह्मण म्रर्थात् क्षत्रिय म्रादि से भी (म्रध्ययनम्) विद्या ग्रह्ण करना (विधीयते) विहित है (यावत् म्रध्ययनम्) शिष्य जव तक पढ़े तव तक (गुरोः म्रनुवज्या च गुश्रूषा) गुरु की म्राज्ञा का पालन म्रौर सेवा करे ॥ २१६ ॥

श्चन्तु श्ची त्जन्ताः स्रवाह्मण से विद्या प्राप्ति -- श्ववाह्मण से विद्याप्राप्ति की परम्परा मनु के परचात् भी रही है। यद्यपि विद्यादान ब्राह्मण का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है किन्तु सन्य वर्णों से भी विद्या प्राप्त की जा सकर्ता है इसकी पुष्टि मनु निम्न क्लोकों में पहले भी कर चुके हैं ---

- (क) श्रद्धानः शुभां विद्यामाददीतावरादिष । स्रन्त्यादिष परंधर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादिष ।। २ । २१३ (२३८)
- (ख) स्त्रियः रत्नान्यथो विद्या स्मादेयानि सर्वतः ॥ २।२१५(२४०)
- (ग) सुअुन ने भी इसका समयंत किया है (सूत्रस्यान द्वि० प्र०)

"ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुं महंति, राजन्यो द्वयस्य, वैदयो वैदय-स्येवेति । सूद्रमपि कुलगुरणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदिययेके ।' = ब्राह्मण तीनों वर्णा ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैदय; क्षत्रिय, क्षत्रिय श्रीर वैदय; तथा वैदय एक वैदय वर्णा को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। श्रीर जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्रसहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे यह मत श्रीक ग्राचार्यों का है (स० प्र० तृ० समु०)। उपनयन ग्रीर मन्त्रसहिताश्रों का निषेध यह इसलिए है कि वह निश्चित समय पर इस संस्कार का श्रिधकार खो बैठता है. इसो कारण वह शूद्र कहलाना है, किन्तु पढ़ना उसको भी चाहिए।

नाबाह्यणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् । बाह्यणे चानतूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥२१७॥[२।२४२] (१६०)

अनुत्तनां गति कांक्षन् गिष्यः) प्रति उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह (अन्नाह्मणे गुरौ) अन्नाह्मण गुरु के यहाँ (च) और (अन् + अनुत्राते न्नाह्मणे) वेदों में अपारंगत साङ्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ न्नाह्मण गुरु के समीप भी (आत्यन्तिकं वासं न वसेत्) न्नाजीवन निवास न करे [क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति एक जाती है। सांगों-

पांग वेदों के ज्ञाता विद्वान् के पास रहकर हो उन्नित की उत्तम गति तक पहुंच सकता है ]।। २१७।।

यदि त्वास्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले । युक्तः परिचरेदेनमाज्ञरीरिवमोक्षणात् ॥२१८॥ [२।२४३] (१६१)

(यदि तु) यदि ब्रह्मचारी शिष्य (गुरोः कुले) गुरुकुल में (म्रात्यन्तिकं वासं रोचयेत) जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो (म्राशरीर-विमो-क्षणात्) शरीर छूटनेपर्यन्त (एनम्) म्रपने गुरु की (युक्तः परिचरेत्) प्रयत्न पूर्वक सेवा करे ॥ २१८ ॥

श्राजीवन गुरु-सेवा का फल---

द्मा समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्। स गच्छत्यञ्जसा वित्रो बहाराः सच शाद्वतम् ॥२१६॥ [२ । २४४]

(यः तु) जो ब्रह्मचारी (म्रासमाप्तेः शरीरस्य) शरीर के त्याग होने तक स्रर्थात् मृत्युपर्यन्त (गुरु शुश्रूषते) गुरु की सेवा करता है (सः) वह (विप्रः) विद्वान् व्यक्ति (ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म) परमात्मा के नित्यपद मोक्ष को (म्रञ्जसा गच्छति) शीघ्र प्राप्त करता है।। २१६॥

# अन्तुर्शीत्उनः प्रस्तुत श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है-

श्चन्तिवरोध—(१) इस क्लोक में केवल गुरु-सेवा से ही ब्रह्म की प्राप्ति बतलायी है। मनु केवल एक ही कमं से नहीं अपितु सभी निःश्चेयस कमों के पालन से मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं [१२। ६३, ३१]।(२) मनु न १२। ६३ और ३१ में जो निःश्चेयस कमं परिगणित किये हैं यह कमं उनमें परिगणित नहीं है, श्चतः यह मनु की मान्यता से संगत नहीं है इस लिए प्रक्षिप्त है।(३) इसमें गुरुसेवा को श्चनावश्यक महत्त्व दिया है। यदि मृत्युपर्यन्त केवल गुरुसेवा करना ही मोक्षदायक है तो फिर श्चन्य मनुस्मृति-विहित विधानों की क्या आवश्यकता रहेगी? इस प्रकार यह क्लोक मनु की मूलव्यवस्था एवं धारणा के ही विरुद्ध है।

समावर्तन की इच्छा होने पर गुरुदक्षिए। का विधान एवं नियम-

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।

स्नास्वंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२२०॥ [२।२४५] (१६२)

(धर्मवित्) विधि का ज्ञाता शिष्य (स्नास्यन् तु) स्नातक बनने [समावर्तन कराने] की इच्छा होने पर (गुरुगा + स्राज्ञप्तः) गुरु से स्राज्ञा प्राप्त करके (शक्त्या) शक्ति के स्रनुसार (गुर्वर्थम) गुरु के लिए (स्राहरेत्) दक्षिगा प्रदान करे। किन्तु (पूर्वं गुरवे किचित् न उपकुर्वीत) समावर्तन

से पहने गुरु को दक्षिए।। २२०॥ गुरुदक्षिणा में देय वस्तुएं —

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् । धान्यं वासांसि वा शाकं गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२२१॥[२।२४६] (१६३)

[शिष्य यथाशिकत] (क्षेत्रम्) भूमि (हिरण्यम्) सोना (गाम्) गाय (ग्रश्वम्) घोड़ा (छत्र + उपानहम् + आसनम्) छाता, जूता, ग्रासन (धान्यम्) ग्रन्न [वासांसि) वस्त्र (वा) ग्रथवा (शाकम्) शाक (गुरवे) गुरु के लिए (प्रीतिम् + ग्रावहेत्) प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे ।। २२१ ।।

गुरु के निधन पर गुरुदक्षिए। का विधान---

म्राचार्येतु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुरान्विते। गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत्॥ २२२॥ [२। २४७]

(आचार्ये तु खलु प्रेते) म्राचार्यं की यदि मृत्यु हो जाये तो (गुणान्त्रिते गुरुपुत्रे) गुणवान् गुरुपुत्र में (गुरुदारे) गुरुपत्नी में (वा) प्रथवा (सिपण्डे) गुरु के वंश वाले योग्य व्यक्ति में (वृत्तिम्) दक्षिणा देने के कर्त्तव्य को (गुरुवत्) गुरु के समान (म्राचरेत्) करे म्रथीत् गुरु की मृत्यु हो जाने पर उक्त व्यक्तियों को गुरु के स्थान की दक्षिणा दे दे॥ २२२॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् । प्रयुक्रजानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ।। २२३ ॥ [२ । २४८]

(एतेषु + अविद्यमानेषु) इन [गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और सिपण्ड व्यक्ति] के विद्य-मान न होने पर शिष्य (स्नान-स्नासन-विहारवान्) स्नान, आसन [ = संघ्योपासन के लिए बैठना] तथा ग्रन्य नित्यकर्म करता हुन्ना (ग्रिग्निशुश्रूषां प्रयुञ्जानः) ग्रग्नि-होत्र करते हुए (ग्रात्मनः देहं साधयेत्) ग्रपने शरीर को साधे—तपस्या से संयमित करे॥ २२३॥

आनुश्रीत्जन्मः २२२ एवं २२३ वां श्लोक निम्न स्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

श्रन्तिषरोध—२२३ वें श्लोक के वर्णन से यह प्रकट होता है कि यदि गुरुपुत्र, गरुपत्नी श्रीर गुरु का कोई सिपण्ड व्यक्ति विद्यमान न हो तो शिष्य गुरु की श्रिग्न के पास रहकर ही जीवन पर्यन्त श्रपनी देह को साधे। इससे यह भी संकेत मिलता है कि वह गृहस्थाश्रम में भी न जाये। यह वात मनुस्मृति की व्यवस्थाओं से अनेक प्रकार से विरुद्ध जानी है। ३।२ में ही मनु ने ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सभी को गृहस्थ में जाने का निदेश दिया है। जहाँ तक गुरु की वात है, एक गुरु के दिवंगत हो जाने पर श्रन्य

गुरु को स्वीकार किया जा सकता है। अन्य गुरुको स्वीकार न किया जाये, मनुस्मृति में ऐसा कोई बन्धन नहीं है। अपितु २।२१४ [२४०] के इस कथन से—"स्त्रियः रत्नान्यथो विद्याः समावेयानि सर्वतः" तो विभिन्न गुरुओं से विद्या प्राप्त कराने का विधान है। इसी प्रकार २।११४–११६ [१४०--१४१]; १२४ [१४६] इलोकों में भी विभिन्न गुरुओं से विद्या प्राप्त कर लेने का सवेत है। जब विभिन्न गुरुओं से विद्या प्राप्त कर लेने का सवेत है। जब विभिन्न गुरुओं से विद्या प्राप्त करने की छूट है तो एक ही गुरु के भरोसे उसकी अनु पिस्थिति में जीवनभर बैठकर तपस्या करने वाली बात मनुस्मृति सम्मत सिद्ध नहीं होती। २२२ वां इलोक प्रसंग की दृष्टि से इससे सम्बद्ध है तथा उसका २२०-२२१ इलोकों के कथन से भी विरोध है, अतः वह भी प्रक्षिप्त है।

आजीवन ब्रह्मचर्यं पालन का फल---

एवं चरित यो विशो ब्रह्मचर्यमिविष्तुतः । स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २२४ ॥ [२ । २४६] (१६४)

(यः विप्रः) जो द्विज विद्वान् (एवम्) उपर्युक्त प्रकार मे (प्रविष्लुतः) ग्रखण्डित रूप से (ब्रह्मचर्यं चरति) ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करता है (सः उत्तमं स्थानं गच्छिति) वह उत्तम स्थान ग्रर्थात् ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है (च) ग्रौर (इह) इस संसार में (पुनः न ग्राजायते) पुनर्जन्म नहीं लेता ग्रर्थात् प्रवाह से चलने वाले जन्म-मरएा से छूट जाता है। [क्योंकि मोक्षसुख भी

कर्मों का फल है, ग्रतः वह सान्तकर्मों का ग्रनन्त फल नहीं हो सकता। ग्रतः मोक्ष-सुख की ग्रवधि पूरी होने पर जीव का फिर जन्म ग्रवश्य होता है।]।। २२४।।

> इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीमाष्यसमन्वितायाम् 'ग्रनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ संस्कार---ब्रह्मचर्याश्रमात्मको द्वितीयोऽध्यायः ।।



# ऋथ तृतोयोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-ग्रनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

# (समावर्त्तन, विवाह एवं पञ्चयज्ञविधान-विधय)

[समावर्त्तन ३। १---३ तक]

ब्रह्मचर्यं श्रीर वेदाध्ययन काल---

षट्त्रिंशवाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् । तद्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥ (१)

(गुरौ) गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी को (त्रैवेदिक व्रतम्) ज्ञान कर्म, उपासना रूप त्रिविध ज्ञानवाले वेदों के ग्रध्ययन सम्बन्धी ब्रह्मचर्य व्रत का (षट्त्रिशद्+ग्राब्दिकम्) छत्तीस वर्ष पर्यन्त (तत्+ग्राधिकम्) उस से ग्राये ग्रर्थात् ग्रठारह वर्ष पर्यन्त (वा) ग्रथवा (पादिकम्) उन छत्तीस के चौथे भाग ग्रर्थात् नौ वर्ष पर्यन्त (वा) ग्रथवा (ग्रहण + ग्रन्तिकम् + एव) जब तक विद्या पूरी न हो जाये तब तक (चर्यम्) पालन करना चाहिए ॥ १॥

"ग्राठवें वर्ष से ग्रागे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त ग्रयात् वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस ग्रीर ग्राठ मिलके चवालीस ग्रथवा ग्रठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य ग्रीर ग्राठ पूर्व के मिलके छब्बीस वा नौवर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तव तक ब्रह्मचर्य रक्खे।" (स॰ प्र०४४)

समावर्तन कब करे—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् । स्रविष्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥ (२)

(वेदान् वेदो वा वेदं यथाक्रमम् + ग्रधीत्य) प्रह्मचर्य से चार, तीन, दो ग्रथवा एक वेद को यथावत् पढ़ (ग्रविष्नुतब्रह्मचर्यः) ग्रखण्डित ब्रह्म-चर्य का पालन करके (गृहस्थाश्रमम् + ग्रावसेत्) गृहाश्रम को धारण करे॥ २॥ (सं० वि० ६८) "जब यथावत् द्रह्मचर्यं म्राचार्यानुकूल वर्त्तकर धर्म से चारों, तीन वा दो म्रयवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्यं खण्डित न हुम्रा हो वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे।" (स० प्र०७००००००)

अर्जुटरिटिंगः (१) समावर्तन से श्रीमप्राय—गुरु के समीप रहकर, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वेदों एवं वेदाङ्गशास्त्रों की शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल से घर वापिस लीटने का नाम 'समावर्तन' है। यह प्रधानतया गृहस्थ धारण के उद्देश्य से किया जाता है। 'सम्' ग्रीर 'ग्रा' उपसर्गपूर्वक 'वृत्—वर्त्तने' (भ्वादि) धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से समावर्तन शब्द निष्पन्त होता है। इसका शाब्दिक ग्रर्थ हें — 'वापिस लीटना'। यह एक संस्कार है, जिसको 'स्नान' भी कहा जाता है। इसीकारण समावर्तन करने वाले को 'स्नातक' कहा जाता है। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं — "त्रय एव स्नातका मवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याद्यतस्नातकक्वेति।"

<sup>्र</sup> पार० गृह्यसूत्र २। ४। ३२॥

ग्रथींत्—स्नातक (=गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त करके घर लौटने वाले शिक्षित व्यक्ति) तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक = जो विद्या को समाप्त करके किन्तु ब्रह्मचर्यं व्रत को पूर्ण न करके समावर्तन करते हैं, २. व्रतस्नातक = जो ब्रह्मचर्यं व्रत को समाप्त करके किन्तु विद्या को पूर्ण किये बिना स्नातक बनते हैं, ३. विद्याव्रतस्नातक = जो विद्या तथा ब्रह्मचर्यं व्रत दोनों को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं।

- (२) समावर्तन का काल और उसके आवश्यक नियम उपर्युक्त ३। १-२ श्लोकों में मनु ने समावर्तन के काल और उसके लिए आवश्यक नियमों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार समावर्तन के लिए प्रमुख दो नियम हैं —
- १. त्रयीविद्यारूप चारों वेदों के ग्रष्ययन-काल में ३६,१८ ग्रीर ६ वर्षों की तीन ग्रविध निर्धारित की हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए कम से कम नौ वर्ष तक गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचर्यत्रत का पालन करना ग्रनिवार्य है [३।१]।
- २. इसके साथ-साथ यह भी ग्रनिवार्य है कि द्विज कम से कम एक वेद का साङ्गोपांग ग्रघ्ययन ग्रवश्य करे। उससे अधिक दो, तीन, चार वेदों का ग्रघ्ययन करना उसकी इच्छा पर निर्भर है [३।२]।

इन दोनों नियमों को पूर्ण करके ही द्विज के लिए स्टातक बनकर गृहाश्रम को धारण करने का विधान है, भ्रन्यथा नहीं।

इन तथा मनु के अन्य वचनों के अनुसार समावर्तन का काल कम से कम २५ वर्ष के अनन्तर निर्वारित होता है। इसे दो प्रकार से स्वष्ट किया जा सकता है—

(क) उपनयन संस्कार में [२।११-१३(२।३६-३८)] मनु ने उपनयन काल में कई-कई विकल्पात्त्रक विधान दिये हैं। सामान्य ग्रवस्था में सबसे कम ग्रायु ८ वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होता है। ६ वर्ष कम से कम एक वेद के साङ्गोपाङ्ग ग्रघ्ययन का काल है। वेद के ग्रध्ययन से पूर्व उन्हें समक्तने के लिए प्रारम्भिक शिक्षा एवं सामान्य वेदाङ्गों [ ==शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष (छह)] का गम्भीर ज्ञान भी ग्रावश्यक है [२।११५(२।१४०)]।

इसमें वर्णोच्चारण शिक्षा से लेकर दर्शन-उपनिषदों तक ७-- वर्ष का समय लगता है। इस प्रकार - + - + १ == २५ वर्षों का कम से कम प्रारम्भिक वेद का पूर्ण शिक्षःकाल वनता है।

(व) मनुने २५ वर्ष तक गुरुकुल-निवास का विधान किया है उसके पश्चात् गृहस्थ में जाने का कथन है— "चतुर्थमायुषो मागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमा-युषो मागं कृतवारो गृहे वसेत् ।।" [४। १] यह श्रायु का पहला भाग २५ वर्ष तक का समय है । तब तक विद्यार्थी गुरुकुलवास करे । पुनः समावर्तन कर गृहस्थ बने । [इस विषय में विस्तृत वियेचन ३।४ की समीक्षा में पढ़िये]।

इस प्रकार प्रत्येक श्रवस्था में कम से कम २५ वर्ष तक श्रघ्ययन काल श्रवश्य होता है। उसके पश्चात् ही समावर्तन करना मनुसम्मत है।

> तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः। स्रग्विणं तल्प स्रासीनमहंयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥ (३)

(तं स्वधर्मेण प्रतीतम्) जो स्वधर्म ग्रर्थात् यथावत् ग्राचार्य ग्रीर शिष्य का धर्म है उससे युक्त (पितुः ब्रह्मदायहरम्) पिता = जनक वा ग्रध्यापक से ब्रह्मदाय ग्रर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रह्ण (श्रग्विणम्) ग्रीर माला का धारण करने वाले (तल्प ग्रासीनम्) ग्रपने पलग में बंठे हुए ग्राचार्य को (प्रथमं गवा ग्रह्येत्) प्रथम गोदान से सत्कार करे। वसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे।। ३।। (स० प्र०७६)

अन्तुर्शीत्जनः 'सग्वी' शब्द 'गृहस्थी' के लिए रूढ है और इसका मुहाबरे के रूप में प्रयोग होता है। देखिए २। १४२ पर विस्तृत विवेचन।

> (विवाह-विषय) [३।४ से ३।६६ तक]

गुरु की ग्राज्ञा से विवाह---

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि। उद्दहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षरणान्विताम्॥४॥ (४) (यथाविधि समावृत्तःः) यथावत् उत्तम रीतिसे ब्रह्मचर्य ग्रौर विद्या को ग्रहरा कर (गुरुरा + ग्रनुमतः स्नात्वा) गुरु की ग्राज्ञा से स्नान करके (द्विजः) ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रीर वैश्य (सवर्णाम्) ग्रपने वर्ण की (लक्षराान्वि-ताम) उत्तम लक्षरा युक्त (भार्याम्) स्त्री से (उद्वहेत) विवाह करे ॥ ४॥ (सं० वि० ६६)

''गुरु की स्राज्ञा से स्नान कर गुरुकुल से श्रनुक्रम पूर्वक स्राके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भ्रपने वर्णानुकूल सुन्दरलक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे।'' (स॰ प्र०७८)

अञ्जू ट्राटिंड न्यः (१) विवाह से अभिप्राय—'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह—प्रापणे, धातु ते 'धञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उद' उपसर्ग से इसका पर्याय-वाची 'उदवाह' शब्द बनता है। जिनका अर्थ है—'विशेष विधि पूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके पारस्परिक जिम्मेदारी को वहन करना।' यह एक शास्त्रसम्मत सामा-जिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुप सुख-सुविधा हेतु और गृहस्य के कर्त्तंव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और पारस्परिक दायित्वों को निभाते हैं। इस प्रकार रहकर सन्तानोश्यत्ति के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि करते हैं।

इसको मनुस्मृति में 'पािए। प्रहुए।' संस्कार भी कहा गया है। इसका भी यही ग्रभिप्राय है कि उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए एक-दूसरे का हाथ पकडना ग्रथित् सहारा देना।

(२) मनुस्मृति में स्त्री-पुरुषों के विवाह की श्रायु — प्रत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने यहां विवाह की ग्रायु का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु ग्रन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है। प्रसंगवश उस पर यहां विस्तृत विवेचन किया जाता है।

वेदों में तथा ग्रन्य शास्त्रों में मनुष्य की ग्रीसत प्रायु एक सौ वर्ष मानी गई है। इसी ग्राघार पर वेदों में सौ ग्रीर सौ वर्षों से ग्राधिक स्वस्थेन्द्रियों से युक्त जीवन-प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है—'तच्चशुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक मुख्यरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृख्याम शरदः शतं प्रववाम शरदः शतम् ग्रदीनाः स्थाम शरदः शतं मृयश्य शरदः शतात्।" [यजु० ३६। २४]

(क) इस ग्रौसत ग्रायुके ग्राधार पर मनुने मनुष्य-जीवन को निम्न चार ग्रवस्थाग्रों में विभाजित करके उसकी ग्रविध निर्धारित की है—

चतुर्यमायुषो भागमुषित्वाच्चं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। ४ । १ ॥ ४ । १६६ ॥
वनेषु च विहृत्यंवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्यमायुषो भागं त्यक्तवा सङ्गान्परिवजेत् ॥ ६ । ३३ ॥
सौ वर्षं की भ्रायु के इस प्रकार २४-२४ वर्ष के चार भाग होते हैं। भ्रायु के

प्रथमभाग में प्रथात् २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालन करना चाहिए। द्वितीय भाग में प्रथात् २५ के पश्चात् गृहस्थ बनकर रहे। पुत्र का पुत्र होने पर प्रथवा त्वचा, केश पक जाने पर [६।२] गृहस्थ से वानप्रस्थ बनकर,तृतीयभाग में प्रथात् ७५ वर्ष तक वनस्थ रहे। उसके पश्चात् चतुर्थ भाग में सन्यासी बन जाये।

इन विधानों से मनु ने यह स्पष्ट संकेत दिया है कि पुरुष की विवाह की आयु कम से कम २५ वर्ष है। उससे पूर्व विवाह नहीं होना चाहिए।

(ल) स्त्री के विवाह की माबु-इसका संकेत मनु ने ६।६० श्लोक में दिया है— "त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यु तुमती सती। अर्घ्यं तु कालावेतस्माद्विन्वेत सब्शं पतिम्।"

ग्रथात्-मासिक धर्म प्रारम्भ होने के पश्चात् तीन वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त कन्या स्वयंवर कर सकती है।

कन्याग्रों को मासिक धर्म सामान्यतः १३-१५ वर्ष की ग्रवस्था में प्रारम्भ होता है। तीन वर्ष के ग्रनन्तर यह काल १६-१८ की ग्रायु का होता है। ग्रतः कन्या के विवाह की कम से कम ग्रायु १६ वर्ष है। २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की कन्या से विवाह करे । इससे ग्रधिक ग्रायु में इतने ही ग्रनुपात से विवाह होना चाहिए। क्योंकि प्रजनन सामर्थ्य एवं शरीर-रचना की दृष्टि से १६ वर्ष की कन्या २५ वर्ष के पुरुप के तुल्य होती है।

- (ग) मनु ने विवाहोपरान्त स्त्री के कर्त्तं व्यों का जो वर्णन किया है, जैसे—
  गृह्वकार्यों में दक्ष होना, घर की साज-सज्जा, शुद्धि ग्रादि में चतुर होना, ग्राय-व्यय की
  संभाल रखना [४।१४०], गृह-स्वामिनी होना, सभी वस्तुत्रों की संभाल, धार्मिक
  ग्रनुष्ठानों का संयोजन [६।११,२६-२८,६६,१०१], इनसे भी यह ज्ञात होता है
  कि ये किसी ग्रल्पायु के नहीं ग्रिपतु समक्षदार युवती के लिए विहित कर्त्तं व्य हैं। इससे
  भी यह सिद्ध होता है कि कन्या की विवाह योग्य ग्रायु १६-१७ वर्ष से ऊपर ही है।
- (३) श्रायुर्वेद के श्रनुसार विवाह की श्रायु—इस विषय में वैद्यक ग्रन्थ सर्वोत्तम प्रमाण होते हैं, क्योंकि उनमें शरीर के श्राधार पर उचित-श्रनुचित का विवेचन होता है। श्रायुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में शरीर की वृद्धि श्रीर क्षीणता के श्राधार पर चार ग्रवस्थाएं प्रदर्शित की हैं, श्रीर तदनुसार विवाह की श्रायु निर्धारित की हैं—

"चतन्नो श्रवस्थाः शरीरस्य वृद्धिः, यौवनस्, संपूर्णता, किंचित् परिहाणिः चेति । श्रावोडशात् वृद्धिः, श्रापञ्चिविशतेः यौवनस्, श्राचत्वारिशतः संपूर्णता, ततः किंग्न्चित् परिहारिषः चेति ।" [सुश्रुत सूत्रस्थान ३४ । २४ ॥] = शरीर की चार श्रवस्थाए हैं, सोलहवें वर्ष से चौबीस तक वृद्धि = बढोतरी की श्रवस्था, पच्चीसवें वर्ष से यौवन का प्रारम्भ होता है और चालीसवें में यौवन की परिपक्वता होती है । उसके परचात् शरीर की धातुश्रों में कुछ-कुछ क्षीराता श्राने लगती है ।

यह युवावस्था ही विवाह की अवस्था होती है। इससे पूर्व शरीर की धातुम्रों

में प्रपरिपक्वता होती है। बालिवाह से, जहां शरीर की घातुओं का विकास रक जाता है, वहां गर्भ और सन्तान सम्बन्धी अनेक आशकाएं हो जाती हैं; जैसे—गर्भ का न रहना, गर्भसाव, गर्भपात, दुवंल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का अस्वस्थ रहना आदि। इसी कारण सुश्रुतकार ने २५ वर्ष से पूर्व पुरुष का, १६ वर्ष से पूर्व कन्या के विवाह का निषेध किया है। कुशल वैद्य २५ वर्ष के पुरुष और १६ वर्ष की कन्या को प्रजनन में समसामर्थ्य वाला बताते हैं। निम्न प्रमाणों में ये मान्यताएं दण्टव्य हैं—

पञ्चिवित्रे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडते।
समस्वागतवीर्यो तो जानीयात् कुशलो मिषक्।। सुश्रुत सूत्र० ३४ । १० ॥
कनषोडतः वर्षायामप्राप्तः पञ्चिविश्वतिस्।
वद्याघत्ते पुमान् गर्भे कुक्षिस्यः स विषद्यते॥
जातो या न चिरं जीवेत् नीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादस्यन्तवालायां गर्माघानं न कारयेत्॥ सुश्रुत १० १०।४७-४८॥

(४) वेद में विवाह की आयु—वेद में ब्रह्मचारिणी कन्या द्वारा युवक पुरुष को वरण करने का कथन है। उपर्युक्त प्रमाणों में युवावस्था २५ वर्ष के अनन्तर वतलायी गयी है। इस प्रकार वेदों में भी २५ वर्ष के अनन्तर ही विवाह की आयु मानी गयी है। मन्त्र है— "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥" अथ० ११। ५। ५। ५।

त्रर्थात्—''जैसे, लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण जवान होके स्रपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ युवित हो, अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पित को प्राप्त होवे।" (सं० वि० वेदारम्भप्रकरण)

विवाह-योग्य कन्या---

असिपण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ४ ॥ (४)

(या मातुः ग्रसिण्डा) जो स्त्री माता की छह पीढ़ी (च) ग्रौर (पितुः ग्रसगोत्रा) पिता के गोत्र को न हो (सा) वही (द्विजातीनाम्) द्विजों के लिए (दारकर्मणि) विवाह करने में क्ष (प्रशस्ता) उत्तम है।। ४।। क्ष (मैथुने) मैथुन के लिए (सं० वि० ६६)

''जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में नहो ग्रीर पिता के गोत्र की नहो उस कन्या से विवाह करना उचित है'' (स० प्र० ७६)

विवाह में त्याज्य कुल-

### महान्स्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः । स्त्रीसम्बन्धे दर्शतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥ (६)

(स्त्रीसंबन्धे एतानि दशकुलानि) विवाह में नीचे लिखे हुए दश कुल (गो+ग्रजा+ग्रवि+घनधान्यतः समृद्धानि महान्ति+ग्रिपि) चाहे वे गाय श्रू ग्रादि पशु घन ग्रीर घान्य से कितने ही बड़े हों (परिवर्जयेत्) उन कुलों की कन्या के साथ विवाह न करे।। ६।। (सं० वि० ६६)

क्षि(ग्रजा) बकरी (ग्रवि) भेड़ .....

"चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, म्रजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री, ग्रादि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह-सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग कर दे।" (स॰ प्र० ८०)

# होनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् । क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रकुष्ठिकुलानि च॥७॥(७)

वे दश कुल ये हैं—(हीनक्रियम्) एक — जिस कुल में उत्तम क्रिया न हो (निष्पुरुषम्) दूसरा— जिस कुल में कोई भी उत्तम पुरुष न हो (निरुद्धन्दः) तीसरा-जिस कुल में कोई विद्वान् न हो (रोमश + ग्रशंसम्) चौथा जिस कुल में शरीर के ऊपर बड़े-बड़े लोम हों, पांचवां — जिस कुल में बवासीर (क्षयी) छठा — जिस कुल में क्षयी (राजयक्ष्मा) रोग हो (ग्रामयावी) सातवां — जिस कुल में ग्राग्निमन्दता से ग्रामाशय रोग हो (ग्रपस्मारि) ग्राठवां — जिस कुल में मृगी रोग हो (श्वित्रि) नववां — जिस कुल में श्वेतकुष्ठ (च) ग्रीर (कुष्ठि कुलानि) दशवां — जिस कुल में गिलतकुष्ठ ग्रादि रोग हों उन कुलों की कन्या ग्रथवा उन कुलों के पुरुष से विवाह कभी न करे।। ७।। (सं० वि० ६६)

"जो कुल सिक्किया से हीन, सत्पुरुषों से रिहत वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ ग्रीर गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गु एा ग्रीर रोग विवाह करने वाले में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये उत्तम कुल के लड़के ग्रीर लड़िकयों का आपस में विवाह होना चाहिए।" (स० प्र० ८०)

विवाह में त्याज्य कन्याएं ---

नोइहेत्किपलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम्। नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्॥ ८॥ (८)

# नर्भवृक्षनदीनाम्नीं नात्थ्यपर्वतन।मिकाम् । न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ६ ॥ (६)

(किपलाम्) पीले वर्ण वाली (म्रिधिक + म्रङ्गीम्) म्रिधिक म्रङ्गवाली जैसी छंगुली म्रादि (रोगिणीम्) रोगवती (म्रलोमिकाम्) जिस के शरीर पर कुछ भी लोम न हों (म्रितलोमाम्) जिसके शरीर पर बढ़े-बड़े लोम हों (वाचाटाम्) व्यर्थं म्रिधिक बोलने हारी (पिङ्गलाम्) जिसके पीले बिल्ली के सदश नेत्र हों, तथा (ऋक्ष-वृक्ष-नदी-नाम्नीम्) जिस कन्या का ऋक्ष=नक्षत्र पर नाम ग्रर्थात् रेवती रोहिणो इत्यादि, क्ष्रू नदी=जिसका गंगा, यमुना इत्यादि (म्रल्य-पर्वत-नामिकाम्) पर्वत—जिसका विघ्याचला इत्यादि (प्रक्षी + म्रिहि-प्रेष्य-नाम्नीम्) पक्षी म्रर्थात् कोकिला, हंसा इत्यादि, म्रिह म्रर्थात् उरगा, भोगिनी इत्यादि, प्रेष्य—दासी इत्यादि म्रीर जिस कन्या का (भीषणानामिकाम्) कालिका, चंडिका इत्यादि नाम हो (न) उससे विवाह न करे।। द, ह।। (सं॰ वि॰ हह) क्ष्रू

🎎 (वृक्ष) तुलसिया, गेंदा, गुलाबा, चंपा, चमेली ग्रादि वृक्ष नाम वाली। (स॰ प्र॰ ८०)

न पीले वर्ण वाली, न ग्रधिक: ज़ी ग्रर्थात् पुरुष भे से लम्बी-चौड़ी ग्रधिक

१. महर्षि-दयानन्द ने (३।८) श्लोक के 'ग्रधिकांगी' शब्द के दो अर्थ किये हैं— (१) ग्रधिक अङ्ग वाली, जैसी छंगुली ग्रादि। (२) पुरुष से लम्बी चौड़ी। इस पर पौरािंगों का यह ग्राक्षेप मिथ्या है कि इस शब्द के दोनों ग्रर्थं नहीं बन सकते। देखिये इन ग्रर्थों की सिद्धि—

<sup>(</sup>१) प्रधिकाङ्गीम् = प्रधिकान्यंगानि यस्यास्ताम् । ग्रथीत् जिसके अधिक प्रङ्ग हैं, वह छंगुली ग्रादि । इस प्रयं में ग्रधिक' शब्द विशिष्ट वाची तथा 'ग्रङ्ग' शब्द ग्रवयववाची है ।

<sup>(</sup>२) अधिकाङ्गीम् — अधिकम् अङ्ग — शरीरं यस्यास्ताम् । स्रयीत् जिसका शरीर स्रधिक — लम्बा चौड़ा है, उसको । इस स्रयं में स्रधिक, 'स्रघ्यारूढ — बढ़ा हुस्रा स्रयं में स्रौर 'सङ्ग' शब्द सङ्ग समुदाय शरीर स्रयं का बोधक है। इन अर्थों में प्रमाण —

<sup>(</sup>क) 'ग्रधिकम्' ग्रष्टाघ्यायी (५।२।७३) सूत्र में 'ग्रघ्यारूढ' शब्द का उत्तर-पदलोप ग्रौर 'कन्' प्रत्यय से इस की सिद्धि की है। ग्रौर निरुक्त में 'ग्रधि' शब्द का 'उपरिभाव' ग्रथं भी बताया है। 'ग्रधीस्युपरिभावमैं इवर्यं वा।' (निरुक्त १।३)

हैं प्रचित्तत स्रयं—किपल (भूरे) वर्णवाली, स्रधिक (या कम) स्रङ्गों वाली (यथा—छह स्रगुलियों वाली या चार या तीन स्रगुलियों वाली स्रादि), नित्य रोगिस्सी रहने वाली, बिल्कुल रोम से रहित या बहुत स्रधिक रोमवाली, श्रिधिक बोलने वाली स्रौर भूरी-भूरी स्रांखों वाली कन्या से विवाह न करे।। पा]

बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरिहत न बहुत लोमवाली न बकवाद करने हारी श्रोर भूरे नेत्र वाली, न ऋक्ष श्रर्थात् श्रिहवनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई चित्तारि ग्रादि नक्षत्र नाम वाली; तुलिसया, गेंदा, गुलाबा, चंपा चमेली ग्रादि वृक्ष नाम वाली; गंगा, जमना ग्रादि नदी नाम वाली; चांडाली ग्रादि श्रन्य नाम वाली, विन्ध्या, हिमालया, पावंती ग्रादि पर्वत नाम वाली; कोकिला, मेना ग्रादि पक्षी नाम वाली; नागी, भुजंगा ग्रादि सर्प नाम वाली; माधोदासी. मीरादासी ग्रादि प्रेष्टय नाम वाली ग्रोर भीमकुं ग्रिर, चण्डिका, काली ग्रादि भीषण नाम वाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए, । क्योंकि ये नाम कुत्सित तथा ग्रन्य पदार्थों के भी हैं।" (स॰ प्र॰ ८०) विवाहयोग्य कन्या—

श्रम्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारएगामिनीम् । तनुलोमकेशवशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेस्त्रियम् ॥ १० ॥ (१०)

(ग्रन्यङ्ग +ग्रङ्गीम्) जिसके सरल सूधे ग्रङ्ग हों, विरुद्ध नहीं (सौम्यनाम्नीम्) जिसका नाम सुन्दर ग्रर्थात् यशोदा, सुखदा ग्रादि हो (हंस-वारएगगामिनीम्) हंस ग्रीर हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो (तनु-लोम-केशदरानाम्) सूक्ष्म लोम, केश ग्रीर दांत युक्त (मृदु + ग्रङ्गीम्) जिसके सब ग्रङ्ग कोमल हों, वैसी (स्त्रियम् उद्वहेत्) स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए।। १०।। (स० प्र० ८१)

'किन्तु जिसके सुन्दर ग्रंग, उत्तम नाम, हंस ग्रौर हस्तिनी के सड्श चाल वाली, जिसके सूक्ष्म केश ग्रौर सूक्ष्म दांत हों, जिस के सब ग्रंग कोमल हों, उस स्त्रो से विवाह करें '' (सं० वि० ६६)

भ्रातृरहित कन्या से विवाह में सावधानी-

यस्यास्तु न भवेड् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधमंत्राङ्कया॥ ११॥

<sup>(</sup>ल) 'ग्रङ्ग' शब्द ग्रवयव ग्रयं में तो प्रसिद्ध ही है किन्तु ग्रङ्गी = शरीर के लिए भी ग्राता है। जैसे 'येनाङ्गविकारः' (ग्र० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि मुनि ने 'ग्रङ्गी ग्रयं में ग्रङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। महाभाष्य में महर्षि-पतञ्जलि लिखते हैं—'अंगं शब्दोऽयं समुदायशबदः।' इस पर कैयट लिखते हैं —'अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्श-आदित्वा-दच् अत्ययान्तोऽत्रांगशब्दो निविष्टः।'

अतः 'ग्रङ्क' शब्द का केवल ग्रवयव ग्रथं मानकर महर्षि के ग्रयं पर आक्षेप करने वालों को प्रथम शास्त्रीयाध्ययन भलीभांति करना चाहिये। महर्षि दयानन्द व्याकरणादि के उद्भट्ट विद्वान् तथा योगी थे, वे शास्त्रविरुद्ध ग्रथं कैसे कर सकते थे?

(यस्याः तु भ्राता न भवेत्) जिस लड़की का कोई भाई न हो (वा) प्रथवा (पिता न विज्ञायेत) जिसके पिताका ज्ञान न हो (ताम्) ऐसी कन्या से (प्राज्ञः) बुद्धिमान् मनुष्य (पुत्रिकाधमंश क्क्रया) पुत्रिकाधमं [पुत्रिका उसको कहा जाता है जिसके ज्येष्ठ पुत्र को उसका नाना गोद ले लेता है] की शंका से (न उपयच्छेत) विवाह न करे।।११॥ सवर्ण कन्या के अतिरिक्त विवाह-विधान—

> स्वरापि द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मिण । कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥ शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते । ते च स्वा चंव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

(स्रग्ने) प्रथम रूप में (दिजातीनाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन दिजों को (दार-कर्मण) विवाह के लिए (सवर्णा प्रवस्ता) अपने वर्ण् की स्त्री उत्तम है (तु) किन्तु (कामतः प्रवृत्तानाम्) कामभावनाम्नों के स्राधार पर या उनके वशीभूत होकर विवाह में प्रवृत्त होने वाले लोगों के लिए [जैसे केवल मात्र सुन्दरता, प्राकर्पण प्रेमके कारण विवाह करना] (इमाः क्रमशः वराः स्युः) ये ग्रागे कही स्त्रियां क्रमशः विवाह के लिए श्रेष्ठ हैं— (शूद्रस्य भार्या शूद्रा एव) शूद्र व्यक्ति की परनी केवल शूद्रा ही हो (विशः सा च स्वा च स्मृते) वैश्य की परनी शूद्रवर्णं की स्त्री ग्रीर ग्रपने वर्णं की दोनों वर्णों में से हो सकती है, ऐसा विधान है (च) ग्रीर (राज्ञः ते च स्वा च एव) क्षत्रिय की परनी उन दोनों वर्णों अर्थात् शूद्र या वैश्य वर्णं की ग्रीर ग्रपने क्षत्रिय वर्णं की हो सकती है (ग्रग्रजन्मनः) ब्राह्मण की (ताः च स्वा च) वे अर्थात् शूद्रा वैश्या, क्षत्रिया सभी वर्णों की स्त्रियां परनी वन सकती है, ग्रीर ग्रपने ब्राह्मण वर्णं की स्त्री भी। इस प्रकार ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता है। १२, १३॥

शूद्र कन्या से विवाह का निषेध ग्रौर उससे हानियाँ—

न ब्राह्मश्रक्षत्रिययो रापद्यपि हि तिष्ठतोः । कस्मिश्चिदपि वृत्तान्ते शुद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

(ग्रापदि + ग्रपि हि निष्ठतोः) ग्राउत्ति में पड़े हुए(ब्राह्मणक्षत्रिययोः)व्राह्मण ग्रौर क्षत्रिय के लिए (कस्मिदिचत् + अपि वृत्तान्ते) किसी भी विधान या ग्रवस्था में (ग्र्ट्रा भार्या न उपदिश्यते) शूद्रा को पत्नी बनने का विधान नहीं है ।। १४ ।।

> हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्यागु ससन्तानानि शूद्रताम्॥१५॥

(द्विजातयः) द्विजाति लोग (मोहात्) मोह या काम में फंसकर (हीनजाति-स्त्रियम् उद्वहन्तः) हीन जाति की स्त्री से विवाह करके (ससंतानानि कुलानि + एव त्राशु शूद्रताम्) सन्तान सहित ग्रपने कुलों को ही शीझ शूद्रना को (नयन्ति) प्राप्त कराते हैं ग्रयातृ ऐसे परिवार शीझ शूद्र वन जाते हैं ॥ १५ ॥

### शूद्रावेदी पतस्यत्रेश्वतथ्यतनयस्य च। शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भूगोः।। १६ ॥

(शूद्रावेदी पतित) 'द्विज शूद्र-स्त्री के साथ विवाह करने से पतित हो जाता है' (ग्रत्रेः च उतथ्यतनयस्य) यह ग्रत्रित्र ऋषि ग्रीर उतथ्य ऋषि के पुत्र गौतम का मत है (सुतोत्पत्त्या, शौनकस्य) 'उसमें सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है' यह शौनक ऋषि का मत है (तत् + ग्रपत्यतया, भूगोः) 'पुत्र का पुत्र भी यदि शूद्रा से उत्पन्न होता है, तब वह पतित होता है' यह भृगु ऋषि का मत है।। १६॥

### शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मको यात्यघोगतिम् । जनियत्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

(शूद्रां शयनम् + म्रारोप्य) शूद्रा स्त्री के साथ रमण करके (ब्राह्मणः) ब्राह्मरण (म्रधोर्गात याति) पतित हो जाता है (तस्यां मुनं जनियत्वा) उसमें संतान उत्पन्न करके तो (ब्राह्मण्यात् + एव हीयते) अपने ब्राह्मणपन से ही गिर जाता है = उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है।। १७॥

#### वैविषित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु । नाइनन्ति पितृवेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

(यस्य तु) जिस व्यक्ति के यहां (दैव-पित्र्य + ग्रातिथेयानि) देव, पितर और ग्रितिथियों को उद्देश्य करके किये गये यज्ञ आदि कर्म (तत् प्रधानानि) उस शूद्र स्त्री की प्रधानता में होते हैं (तत् पितृदेवाः न + ग्रह्मनित) उसके भागों को पितर् ग्रीर देव ग्रहण नहीं करते (च) ग्रीर (सः स्वर्ण न गच्छति) उसे स्वर्ण प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

### वृष्क्षीकेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च। तस्यां चैत्र प्रमुतस्य निष्कृतिनं विधीयते ॥ १६ ॥

(वृपली-फेन-पीतस्य) जिसने शूद्र स्त्री के होठों के रस का पान कर लिया है उसकी (च) ग्रौर (निःश्वासोपहतस्य) जिसके मुख पर उसके सांसों का स्पर्श हुआ हो (च) तथा (तस्यां प्रसूतस्य) उस शूद्र स्त्री से जो उत्पन्न हुआ हो; उसकी (निष्कृतिः न विधीयते) कभी शुद्धि नहीं हो सकती, वह पतित ही रहता है ॥ १६ ॥

आनुर्योत्जनः ११ से १६ तक के क्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिण सिद्ध होते हैं—

१. प्रसंगिवरुद्ध — ६ स्लोक तक विवाह में ग्रयोग्य कन्याग्रों को वताकर स्लोक १० में योग्य कन्या के गुण लिखे हैं। ११ वें स्लोक में पुनः ग्रयोग्य का कथन है। यहाँ ६ वें तक ग्रयोग्य का प्रसंग समाप्त हो गया था, १० वें स्लोक में कन्या के गुणों का कथन है। २० वें स्लोक का प्रसंग १० वें के साथ है ११ वें के साथ नहीं है। ग्रतः प्रसंग-विरुद्ध है। यह स्लोक १० वें स्लोक का ग्रपवाद माना जाय तो इसका अर्थ होगा कि जिसके भाई नहीं हों, उस कन्या के साथ विवाह न करे। ग्रथीत् वह कन्या ग्रवि-

वाहित ही रहे या ग्रयोग्य वर ही उसे प्राप्त हो। ऐसा होना कन्या के साथ अन्याय ही है। धर्मानुसार यह उचित व्यवस्था नहीं होगी। जिस कन्या का पिता ग्रविज्ञात हो उसके ज्येष्ठ पुत्र को ग्रविज्ञात नाना कैसे गोद लेगा? ग्रतः 'पुत्रिका धर्मशङ्क्या' के प्रचलित ग्रयं के साथ परस्पर विरोध है। यदि इस वचन का ग्रयं यह किया जाये कि उस कन्या की पुत्रियाँ ही होंगी तब भी विरुद्ध है क्योंकि मनुवर्णित पुत्रोत्त्पति के कारणों की मान्यता से भी इसका मेल नहीं है [३।४८-४६]

- २. ग्रन्तिवरोध—(१) ११ वां श्लोक ६। १२७ के विधान के विरुद्ध है।
- (२) १२-१३ श्लोकों में कामभावना से प्रेरित होकर विवाह करने वालों के लिए कीनसा विवाह श्रेष्ठ या ग्रश्नेष्ठ है, यह बतलाया है ग्रीर वर्णानुसार उनका निश्चय किया है। ये दोनों ही बातें मनुस्मृतिसम्मत सिद्ध नहीं होतीं। यहां विचारणीय वात यह है कि जब कामभावना में ग्रासका होकर ही विवाह किया जा रहा है तो उसमें किस वर्ण के साथ किस वर्ण की स्त्री का विवाह होना चाहिए, यह निश्चय करने का ग्रवसर ही नहीं रहता, ग्रीर न ही उसमें किसी वर्ण के साथ विवाह होने पर श्रेप्ठता ग्रीर किसी ग्रन्य वर्ण के साथ विवाह होने पर अश्रेष्ठता वाली ही बात रहती है। इसी बात को ३। ३२ में मनू ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है--- "इच्छ्या अन्योग्यसंयोगः कन्यायाद्य वरस्य च । गान्धर्वः स तु विक्षेयो मैथून्यः कामसम्भवः॥" काम से प्रेरित विवाह में तो एक दूसरे की इच्छा से संयोग होता है श्रीर वह किसी भी वर्ण के पुरुष या स्त्री का किसी भी वर्ण की स्त्रीया पुरुष से हो सकता है। स्रतः इस स्राधार-व्यवस्था का निश्चय करना मनुस्मृति की मौलिक घारणा के अनुकूल नहीं है। दूसरी बात यह है कि मनु ने काम विवाह को चाहे वह किसी का किसी के साथ हो, निन्दित माना है [३।४१]। इन श्लोकों में उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह करने को श्रेष्ठ मानना [इमाः स्यः क्रमशो वराः" ३ । १२] उक्त मान्यता के विरुद्ध है । अतः ये दोनों इलोक परवर्ती काल के प्रक्षेप हैं।
- (३) १२—१३ इलोकों में जो निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह होना श्रेष्ठ माना है ग्रीर १४-१६ इलोकों में फिर शूद्रा स्त्रीसे ब्राह्मण, क्षत्रिय द्वारा विवाह करना निन्दित माना है, यह मान्यता भी मनुस्मृति की ग्रन्य मान्यताग्रों के प्रतिकूल है। यद्यपि मनु ने प्राथमिक रूप में सवर्ण भार्या का ही विधान किया है [३।४], किन्नु सवर्ण से विवाह न करके ग्रन्य वर्ण की स्त्री से विवाह करना मनु के मत से निन्दनीय है, ऐसी वात नहीं है।२।२१३,२४० [२।२३६,२६५] इलोकों में "स्त्रीरत्नं बुष्कुलाविप" "स्त्रियो रत्नानि "सिन्दनीय निस्त्री सर्वतः" ग्रयात् किसी भी वर्ण की श्रेष्ठ स्त्री से विवाह किया जा सकता है, यह कहकर सभी वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने की छूट दी है। इस ग्राधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी भी वर्ण में विवाह करें, वह विवाह ग्रश्रेष्ठ या निन्दनीय नहीं कहा जा सकता। इन इलोकों में शूद्रा से विवाह करने को निन्दनीय कहना ग्रीर निम्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह को उचित ठहराकर ग्रपने से उच्च वर्ण में विवाह को अनुचित मानना, उक्त मान्यताग्रों के विरुद्ध है।

- (४) मनु की यह भी मान्यता है कि वे वर्णानुसार कई विवाहों को तो अश्रेष्ठ मानते ही हैं, साथ ही विधि में भी श्रेष्ठता-ग्रश्नेष्ठता।मानते हैं। देखिए ३।२० में उन्होंने विवाह-विधियों को हितकारी ग्रीर ("प्रेर्य चेह हिताहितान्") कहा है, श्रीर इसी संकेतानुसार ३।३६-४२ श्लोकों में हितकारी विधि के अनुसार किये विवाहों के गुण श्रीर ग्रिहितकारी विधि के अनुसार किये विवाहों के गुण श्रीर ग्रिहितकारी विधि के अनुसार किये गये विवाहों के दोष बताये हैं। ३।२० में "चतु-राष्ट्र श्रिष्ट चर्णान् ग्रीर वर्णानाम्" पद विशेष ध्यान देने योग्य है। ये विधियां चारों वर्णों पर लागू हैं। इस मान्यता के ग्रनुसार ११--१६ श्लोकों के विधान मनुविरुद्ध सिद्ध होते हैं।
- (५) १२-१४ दलोकों में शूदा के प्रति घृणा, ग्रस्पृश्यता की भावना दर्शायी है और शूदा को तथा उसके सम्पर्क में ग्राने वाले व्यक्तियों को ग्रपवित्र माना है। शूद्र के श्वास लग जाने मात्र से द्विजाति श्रुट हो जाता है। ये मान्यतायें भी मनुसम्मत नहीं हैं। मनु ने कहीं भी शूद्र के प्रति घृणा, नीचता, ग्रस्पृश्यता या ग्रपवित्रता का भाव प्रकट नहीं किया है। मनु की व्यवस्थाग्रों पर घान देने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये बातें मनु-विरुद्ध हैं। मनु ने शूद्र का कार्यं तीन वर्णों की सेवा करना निर्धारित किया है [१।६१, ६। ३३४; १०। ६६]। जब घर में रहते हुए शूद्र प्रत्येक प्रकार का सेवा-कार्यं करेगा तो यह निश्चित ही है कि उसका स्पर्श ग्रादि भी होगा। इससे सिद्ध है कि मनु शूद्र को शारीरिक इष्टि से घृणास्पद या ग्रस्पृश्य नहीं मानते। यदि ऐसा मानते होते तो शूद्रों को सेवा का कार्य नहीं सौंपते। ६। ३३५ में मनु ने शूद्र के लिए शुचिः (==पवित्र) विशेषण का प्रयोग किया है, जो यह सिद्ध करता है कि इन श्लोकों में विणत भावनायें मनु की नहीं हैं।
- (६) १८ वें क्लोक में शूद्रा की प्रधानता से होने वाले देव, पितृश्राद्ध कर्मों में पितरों द्वारा हव्य-कव्य का ग्रहण न करने का कथन करना भी मनुविकद्ध है। मनु मृतक श्राद्ध को ही नहीं मानते, ग्रतः यह कथन प्रक्षिप्त है (इस मान्यता की विस्तृत विवेचना के लिए देखिये ३। ११६ से २८४ क्लोकों पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक समीक्षा)। प्रतीत होता है कि १२—१३ क्लोकों के प्रक्षेप के पश्चात् उनके खण्डन के लिए १४—१६ क्लोकों का प्रक्षेप हुग्रा है। इस प्रकार ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।
- ३. शैलीगत श्राधार—(१) इस प्रसंग के १६ वें क्लोक में महर्षि अति, गौतम और भृगु के मत का उल्लेख किया है। ये तीनों ही मनु से परवर्ती हैं। १।३५ वें क्लोक के अनुसार तो अश्व और भृगु, मनु की सन्तान हैं, अतः ये स्पष्ट परवर्ती हैं। परवर्ती व्यक्तियों का मत अपने से पूर्ववर्ती व्यक्ति की रचना में कभी मौलिक नहीं हो सकता है। इस आधार पर ये मनु की रचनायों न होकर परवर्ती प्रक्षेप हैं।(२) इस सम्पूर्ण प्रसंग में शूद्र के प्रति पक्षपातपूर्ण भावना प्रदिश्तित की गई है और १७ से १६ क्लोकों में अतिशयोक्तियुक्त कथन हैं। यह पक्षपात और अतिशयोक्तियूण शैली मनुसम्मत नहीं हैं।

६ से ६ श्लोकों में सभी वर्णों के लिए विवाह में त्याज्य कुलों एवं स्त्रियों का सर्वसामान्य विधान कर दिया है। इसके बाद 'वे विवाह कौन से हैं' यह प्रसंग अपेक्षित था, जिसको प्रारम्भ करने का संकेत २० वें श्लोक में— "चतुर्णाम् अपि वर्णानां प्रत्य चेह हिताहितान् " स्त्रीविवाहान् निबोधत।" कहकर किया है। किसी भी प्रसंग या विषय को प्रारम्भ करने की मनु की यही शैली है। अभी चारों वर्णों के विवाहों का उल्लेख तो कियः ही नहीं है, जबिक १२ से १६ श्लोकों में किस वर्ण को कौन से वर्ण से विवाह करना श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ है, यह विधान प्रसंग से पूर्व ही कर दिया। विवाहों के वर्णित किये जाने के पश्चात् ही इसे संगत कहा जा सकता था। प्रसंग में उपयुक्त क्रम से पूर्व ही यह वर्णन करना प्रसंगविरुद्ध है, अतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

म्राठ प्रकार के प्रचलित विवाह भ्रौर उनकी विधि—

चतुर्णामिप वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् । म्रष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्मिबोधत ॥ २० ॥ [११]

(चतुर्णाम् + म्रपि वर्णानाम्) चारों वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर शूद्र के (प्रेत्य च + इह हित + अहितान्) परलोक में ग्रीर इस लोक में हित करने वाले [३।३६-४०] तथा ग्रहित करने वाले [३।४१-४२] (इमान् ग्रष्टों स्त्रीविवाहान्) इन ग्राठ प्रकार के स्त्रियों के, साथ होनेवाले विवाहों को (सनासेन) संक्षेप से (निवोधत) जानो, सुनो ॥ २०॥

अस्तु श्रीटंडना : आठ विवाह श्रीर मनु की मान्यता—इस विषय संकेतक इलोक में मनु ने स्त्री-पुरुषों के दाम्पत्य सम्बन्ध में चारों वर्णों के लिए विशेष प्रक्रिया श्रीर योग्यतानुसार (जिस व्यक्ति पर जो लागू हो सकती है) ग्राठ विवाह विधियों का उल्लेख किया है। यद्यपि वर्णों के लिए यहां उल्लेख है किन्तु उनमें से प्रथम चार विवाहों को ही मनु चारों वर्ण वालों के लिए हितकारी [३।२०], उत्तम श्रीर धर्मानुकूल मानते हैं। शेष चारों —श्रासुर, गान्धर्व, राक्षस श्रीर पंशाच को निन्दित, ग्राहितकारी [३।२०], श्रीर ग्रधर्मानुकूल मानते हुए उन्हें 'दुविवाह' की संज्ञा से ग्रीमहित करते हैं [३।३६-४२]। निन्दित विवाहों को ग्रपनाने वाले व्यक्ति श्रीर उनकी प्रजा भी निन्दा होती है, ग्रतः वे निषद्ध हैं [३।४२]।

इसी प्रकार म्रापं विवाह में प्रचलित 'गोयुगल' देने की प्रथा को भी मनु स्रमान्य घोषित करते हैं। विनाःकुछ ले-देकर स्रार्ष विवाह करना ही धर्मानुकूल है [३।५३-५४] [द्रष्टत्य ३। २६ की समीक्षा भी]

बाह्यो देवस्तथेवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः । गान्धर्वो राक्षसञ्चेव पैशाचःचाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥ (१२) (ब्राह्यः देवः तथा 🕂 एव 🕂 म्रार्षः प्राजापत्यः तथा म्रासुरः) ब्राह्म, देव, श्रार्ष, प्राजापत्य, श्रासुर (गान्धर्वः राक्षसः च एव श्रधमः पैशाचः च श्रष्टमः) गान्धर्वं, राक्षस श्रीर +पैशाच ये विवाह श्राठ प्रकार के होते हैं ॥ २१॥ (सं० वि० ६६)

-⊢ (ग्रधमः) सबसे निन्दनीय·····

वर्णानुसार धर्म्य विवाह--

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ। तद्वः सर्वे प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२॥

(यस्य वर्णस्य यः धर्म्यः) जिस वर्ण का जो धर्मानुकूल विवाह है (च) स्रौर (यस्य यो गुणदोषो) जिसके जो गुण स्रौर दोष हैं (च) तथा (प्रसवे गुण + स्रगुरागन्) उनके स्रनुसार पुत्रोत्पत्ति करने में जो गुरा स्रौर दोष हैं (तत् सर्वं वः प्रवक्ष्यामि) वह सब तुमसे कहूँगा।। २२।।

षडानुपूर्व्या वित्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् । विट्युद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

(आनुपूर्व्या विप्रस्य षट्) गिनाये हुए क्रम से ब्राह्मए के लिए पहले छह ब्राह्म, दैव, ग्राषं, प्राजापत्य, ग्रासुर, गान्धवं, विवाह धर्मानुकूल हैं (ग्रवरान् चतुरः क्षत्रस्य) ग्रन्तिम चार ग्रसुर, गान्धवं, राक्षस और पैशाच क्षत्रिय के लिए (विट्- श्रूद्रयो तु ग्रराक्षसान् तान् एव धर्म्यान् विद्यात्) वैश्य ग्रीर शूद्र के लिए 'राक्षस विवाह को छोड़-कर शेष ग्रन्तिम तीन [आसुर, गान्धवं, पिशाच] को धर्मानुकूल विवाह समक्षें।। २३॥

चतुरो बाह्यणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः। राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशृद्वयोः॥ २४॥

(कवयः) विचारशील विद्वान् (ब्राद्यान् चतुरः) प्रारम्भ के चार विवाहों [ब्राह्म, दैव, ग्रार्ष, प्राजापत्य] को (ब्राह्मएस्य) ब्राह्मण के लिए (प्रशस्तान् विदुः) श्रेष्ठ मानते हैं (क्षत्रियस्य राक्षसम्) क्षत्रिय के लिए 'राक्षस विवाह' (वैश्यशूद्रयोः एकम् + ग्रासुरम्) वैश्य ग्रौर शूद्र के लिए 'ग्रासुर विवाह' को ही श्रेष्ठ मानते हैं ॥ २४॥

> पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यो स्मृताबिह । पैशाचश्चासुरश्चेव न कर्तव्यो कदाचन ॥ २५ ॥

(इह) इस लोक या व्यवहार में (पञ्चानां तु) ग्रन्तिम पांच विवाहों में से (त्रयः धम्याः) तीन [प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस] विवाह धर्मानुकूल हैं (हो — ग्रधम्यों स्मृतौ) शेप दो [ग्रासुर, पैशाच] विवाह ग्रधमिनुकूल हैं (पैशाचः च आसुरः) पैशाच ग्रौर ग्रासुर विवाह (कदाचन न कर्तव्यो) कभी नहीं करने चाहिएँ॥ २४॥

पृयक्पृयग्वा मिश्रो वा विवाही पूर्वचोदिती। गान्धर्वी राक्षसञ्चेत्र धन्यौ क्षत्रस्य तो स्मृतो।। २६।। (पूर्वचोदितौ गान्धर्वः च राक्षसः विवाहौ) पहले कहे हुए गान्धर्व ग्रौर राक्षस विवाह (पृथक्-पृथक् वा) ग्रलग-ग्रलग रूप में (वा) ग्रथवा (मिश्रौ) जब दोनों के लक्षग एक साथ ही मिलते हों तब भी (तौ) वे दोनों (क्षत्रस्य धम्यौ स्मृतौ) क्षत्रिय के लिए धर्मानुकूल माने हैं ॥ २६॥

#### अन्योत्जनः २२ से २६ तक के श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरुद्ध ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध हैं ग्रीर पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहे हैं। २० वें श्लोक में ग्राठ विवाहों को कहने के प्रसंग को प्रारम्भ करने का संकेत करके २१ वें में ग्राठों विवाहों को गिनाया है। नामों का उल्लेख करने के पश्चात्,स्पष्ट है कि उनके लक्षणों का वर्णन करना ग्रिपेक्षत ग्रीर संगत है, जो २७ वें श्लोक से प्रारम्भ है, किन्तु उस क्रम को तोड़कर बीच में इन श्लोकों में किस वर्ण को कौनसा विवाह करना उचित है, कौनसा ग्रनुचित, यह ग्रप्रासंगिक वर्णन कर दिया है, ग्रतः स्पष्टतः प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- २. ग्रन्तिवरोध—(१) २० वें क्लोक में इस प्रसंग को प्रारम्भ करते समय मनु ने जिन शब्दों का उल्लेख किया है ("चतुर्णाम् ग्रिष वर्णानां प्रत्य चेह हिताहितान्") उनसे दो वातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि ये विवाह चारों वर्णों के लिए ही समान रूप से पालनीय हैं। दूसरी यह कि 'हिताहितान्' कहकर मनु इन्हीं विधियों में ही श्रेष्ठता श्रीर ग्रश्नेठता मानते हैं। इसकी पुष्टि में ३६ से ४२ क्लोक भी प्रवल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनमें स्पष्टतः भी वर्णों के लिए प्रथम चार विवाहों को प्रशंसनीय माना है और ग्रन्तिम चार को निन्दित। इन क्लोकों में पृथक्-पृथक् वर्णों के लिए प्रथक्-पृथक् विवाह निश्चित करना, ग्रासुर, गान्ववं ग्रादि विवाहों को भी क्षत्रिय-वैश्यों के लिए श्रेष्ठ, धर्मानुसार मानना, उक्त व्यवस्था के विषद्ध है। इस ग्राधार पर ये क्लोक प्रक्षित्त हैं।
- ३. ग्रबान्तरिवरोध— इनमें ग्रवान्तरिवरोध भी द्रष्टव्य है। जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि ये रचनाएँ न तो मनुसद्दश विद्वान् की रचना हैं ग्रीर न किसी एक ही व्यक्ति की। २३ वें क्लोक में ब्राह्मण को आरम्भ के छह; क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर शूद्र को राक्षस विवाह को छोड़ कर पिछले चार विवाह ग्रच्छे कहे हैं, जबिक ग्रगले ही २४ वें क्लोक में इससे भिन्न रूप में ब्राह्मण को चार ग्रच्छे, क्षत्रिय को राक्षस विवाह ग्रच्छा ग्रीर वैश्य तथा शूद्र को ग्रासुर विवाह ग्रच्छा बताया है। २५ वें क्लोक में इन क्लोकों से भिन्न ही विधान है ग्रीर २६ वें में एक ग्रलग ही मान्यता है। इस विरोध के ग्राधार पर भी यह प्रसंग प्रक्षित्त है। ज्ञात होता है कि ये क्लोक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने एक-दूसरे के खण्डन के लिए भिन्न-भिन्न समय में प्रक्षेप किये हैं।

ब्राह्म ग्रथित् स्वयंवर विवाह का लक्षण-

म्राच्छाद्य चार्चियरवा च श्रुतिशीलवते स्वयम् । म्राह्य चार्न कम्याया बाह्यो धर्मः प्रकीतितः ॥ २७ ॥ (१३) (श्रुतिशीलवते, श्रवंियत्वा) कन्या के योग्य सुशील, विद्वान् पुरुष का सत्कार करके (ग्राच्छाद्य) कन्या को वस्त्रादि से अलंकृत करके (स्वयम् श्राह्य) उत्तम पुरुष को बुला अर्थात् जिसको कन्या ने प्रसन्न भी किया हो (कन्यायाः दानम्) उसको कन्या देना (ब्राह्मः धर्मः प्रकीतितः) वह 'ब्राह्म विवाह' कहाता है ॥ २७॥ (सं० वि० ६६)

असन्तु श्री का सा (१) बाह्य-विवाह का लक्षण एवं विवेचन — विद्वान् एवं श्रेष्ठ गुरा-कर्म-स्वभाव के वर को , जिसको कन्या ने स्वयं वरण कर प्रसन्न कि नि हो, आदरपूर्व क बुलाकर, वस्त्र ग्रादि से ग्रलंकृत कर, दोनों के ग्रादर-सत्कार पूर्व क कन्या प्रदान करना 'बाह्य-विवाह' है। इस विवाह में कोई लेन-देन नहीं होता। 'स्वयम् ग्राह्य' पदों से यह व्यंजित है कि कन्या द्वारा वर का चुनाव किया जाता है। सामान्यतः इसमें माता-पिता की भी सहमित होती है [किन्तु स्वयंवर में यह ग्रनिवार्य नहीं है ११६०-११]। इसमें कन्या की इच्छा प्रमुख होती है। यह विवाहों में सबसे उत्तम विधि है। वेदों में पारंगत विद्वानों द्वारा ग्रनुमोदित, सम्मत या उनके ग्राचरणानुरूप होने से इस का नाम 'बाह्य' है।

(२) बाह्य-विवाह ही स्वयंवर विवाह—कन्या द्वारा स्वयं पसन्द श्रीर प्रसन्न करके विवाहार्थ बुलाने के कारण ब्राह्य-विवाह ही स्वयंवर विवाह है। प्राचीन साहित्य में स्वयंवर प्रथा थी श्रीर इसको सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया है। विवाहों में यह ही सर्वश्रेष्ठ है। ६।६०-६१ में भी मनु ने कन्या को इसी स्वयंवर विवाह को करने का निर्देश दिया है—'विन्वेत सब्शं पितम्'—श्रपने सदृश योग्य पित का वरण करे। दैविववाह का लक्षण—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते । म्रलंकृत्य सुतादानं देवं धर्म प्रचक्षते ॥ २८ ॥ (१४)

(वितते तु यज्ञे) विस्तृत यज्ञ में (सम्यक् ऋत्विजे कर्म कुर्वते) बड़े-बड़े विद्वानों का वरण कर उसमें कर्म करने वाले विद्वान् को (ग्रलंकृत्य सुतादानम्) वस्त्र, ग्राभूषण ग्रादि से कन्या को सुशोभित करक देना (देव धर्म प्रचक्षते) वह देव विवाह' + ॥ २८॥ (सं० वि० ६६) और

+(प्रचक्षते) कहा जाता है।

अन्तु च्योत्जन्तः (१) वैव विवाह के लक्षण का स्पष्टीकरण-

<sup>%</sup> शिष्टित अर्थ-ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक् के लिए (वस्त्रालङ्कार आदि से) अलंकृत कन्या का दान करने को धर्मयुक्त 'दैव-विवाह' कहते हैं।। २ ⊏।।

श्लोकोक्त वचनों से स्रभित्राय स्पष्ट हुस्रा कि 'विवाह के उद्देश्य से स्रायोजित यज्ञ में विवाह के उद्देश्य से सम्मिलित होकर, यजीय क्रियास्रों को सम्पन्न करने वाले विद्वान् व्यक्ति का वरण कर (या पूर्व वरण किये हुए स्रीर स्नाकर यज्ञकर्म सम्पादित करते हुए विद्वान् को) वस्त्र, स्नाभूषणों स्नादि से स्नलंकृत कर कन्या प्रदान करना दैव विवाह है।

- (२) देव किनको कहते हैं? —देव, सात्त्विक प्रवृत्ति के [१२।४० विद्वानों को कहते हैं [द्रष्टव्य २।१२७ (२।१५२) इलोक ग्रीर ३। दरपर 'देव' शीर्षक समीक्षा], ग्रीर ग्रिग्नहोत्र को भी देवयज्ञ के नाम से ग्रिभिहित किया जाता है। यज्ञ का विशेष ग्रनुष्ठान ग्रीर उसमें यज्ञ कर्म करने वाले विद्वान् व्यक्ति को कन्यादान करना, ये दोनों बातें 'दैव' इस संज्ञा के ग्रनुष्ठप ही हैं। यह विधि देवों —विद्वानों के कर्मानुष्ठप ग्रीर सम्मत है, ग्रतः इसका नाम 'दैव विवाह' है।
- (३) ऋतिक का प्रसंगानुक स्वयं —ऋतिक शब्द यद्यपि 'यज्ञ करने वाले ब्राह्मण विद्वान्' के लिए अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु यहां प्रसंगविशेष से इस शब्द का विशेष प्रयं है। निरुक्त में ऋतिक की एक ब्युत्पोत्त यह भी दी है 'ऋतुषाजी मक्तीति वा' [निरु ३।४।१६]। ऋतौ कालविशेष, श्रवसरविशेष याजी यजनशील: याजनशीलो बा। ऋतु शब्द के 'कालविशेष' श्रीर 'उद्देश्यविशेष' श्रयं भी हैं। श्रवसर्विशेष या उद्देश्यविशेष के लिए यजन करने वाला भी ऋतिक कहलाता है। इस प्रकार विवाह प्रसंग में 'ऋत्विक्' शब्द का श्रयं हुशा— 'विवाह के उद्देश्य से श्रायोजित यज्ञ में, विवाह के उद्देश्य से यजन करने वाला श्रयांत् यज्ञीय क्रियाश्रों को सम्पादित करने वाला विद्वान् द्विज, जिसका विवाहार्य वरण किया जाता है।' विवाह-यज्ञ में 'वर' ही प्रमुख रूप से यज्ञीय क्रियाश्रों को सम्पन्न करता है। प्रायः सभी क्रियाण वरण केन्द्रत होती हैं।

प्रचलित टीकाग्रों में ऋत्विक् शब्द का प्रसिद्धार्थ 'यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण विद्वान्' ग्रहण करके 'ऋत्विज्' को ही कन्यादान करना दैविववाह बतलाया गया है। यह ग्रथं मनुवचन से विरुद्ध है श्रीर प्रसंगानुकूल नहीं है। यतो हि, (१) मनु ने ये सभी विवाह-विधियां चारों वर्णों के लिए विहित की हैं [३। २०] उनमें प्रथम चार सभी के लिए उत्कृष्ट हैं श्रीर अन्तिम चार सभी के लिए निन्ध हैं [३।३६-४२], (२) ग्राठ विवाहों में किसी भी विवाह का किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारण नहीं है ग्रिपितु योग्यता ग्रीर प्रक्रियानुसार है। दैविववाह को केवल 'ऋत्विक्' के लिए मानना उसके उद्देश्य को सीमित करना है, जो मनुसम्मत नहीं। ग्रन्य विवाह-विधियां जब सभी वर्णों के लिए हैं,नो दैव विवाह केवल ऋत्विक् व्यक्तियों के लिए वर्णिन हो, यह बात प्रसंगानुक् कुत नहीं है। इससे 'ऋत्विक्' शब्द के उपर्युक्त प्रभं की पुष्टि होती है।

ग्रार्षविवाह का लक्षण-

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २६ ॥ (१५) जो (वरात्) वर से (धर्मतः) धर्मानुसार (एकं गोमिथुनं वा द्वे) एक गाय बैल का जोड़ा स्रथवा दो जोड़े (स्रादाय) लेकर (विधिवत् कन्या प्रदानम्) विधि स्रनुसार स्रथीत् यज्ञादिपूर्वक कन्या का दान करना है (सः) वह (स्रार्षः धर्मः उच्यते) 'आर्षविवाह' कहलाता है ॥ २६ ॥

"দ্ক गाय बैल का जोड़ा ग्रथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना वह ग्रार्ष विवाह।" (सं० वि० ६६)

अस्तु शरी त्य न्यं : यह मनु का अपना विधान नहीं है। मनु की मान्यता ३। ४३ में है। इस पर स्वामी दयानन्द ने भी संस्कारविधि में टिप्पणी देकर लिखा है—

"यह बात मिथ्या है, क्योंकि ग्रागे मनुस्मृति में निषेध किया है ग्रीर युक्ति विरुद्ध भी है। इस लिए कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना ग्रार्ष विवाह है।" (सं० वि० पृ० ११६ विवाहप्रकरण)

(१) ग्राषंविवाह के विवाद का विवेचन—ग्रार्ष विवाह में कुछ ग्राचार्यों के मत में 'वर से एक गौ का जोड़ा लेकर कन्या प्रदान करने' का कथन है, जैसा कि इस क्लोक में है। किन्तु मनु ने इस विचार का ३। ५३-५४ में तीव्र शब्दों में खण्डन किया है।

इस श्लोक में गोयुगल का विधान होने और ३। ५३ में उसका निषेध होने से व्याख्याकारों ने यह जिज्ञासा और स्रापित प्रकट की है कि फिर प्रार्षविवाह का लक्षण क्या है, मनु ने इसको स्पष्ट नहीं किया। ग्रनेक व्याख्याकारों ने इसका समाधान नहीं किया है। कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि 'इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित है, जिसका स्रभिप्राय है कि विवाह में वान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल ले लेना चाहिए, लालचवश नहीं। मनु ने स्रग्निम ३। ५१-५४ श्लोकों में लालचवश शुल्क लेने का निषेध किया है, धर्मविधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं।'

यह समाधान बुद्धिसंगत श्रीर मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता। यह बात तो ठीक है कि ३। ४१-४४ रलोकों में मनु ने लालचवश धन श्रादि लेने का तीन्न शब्दों में निषेध किया है किन्तु इस श्लोक में विहित गोयुगल लेन के कथन को एक मत के रूप में प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट शब्दों में इसका खण्डन भी किया है—

आर्थे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुः मृषंव तत्।। ३। ५३।। मनु कहना चाहते हैं कि थोड़ा या बहुत, कैसा भी लेन-देन 'कन्या को वेचने' के समान है, ग्रतः नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार यह समाधान संतोपजनक नहीं है [३। ५४ की समीक्षा में एतत् सम्बन्धी विवेचनैं दृष्टव्य है]।

(२) प्रवेबिवाह का लक्षरा-प्रव प्रश्न उठता है कि प्रावेविवाह का लक्षण

क्या होगा? क्या मनु ने उसे स्पष्ट किया है? उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस विधि निषेध में ही इसका लक्षण स्पष्ट हो गया है, ग्रतः उसको पृथक् से कहने की ग्रावश्य-कता नहीं रहो। परिशेषन्याय से स्पष्ट हुग्ना कि 'बिना किसी लेन-देन के केवल विवाह संस्कारपूर्वक [विधिपूर्वक ३।२६] पूर्णतः सादगी से कन्या प्रदान करना, ग्रार्थ-विवाह है।' इस क्लोक में कन्या के ग्रलंकरण ग्रादि की भी चर्चा नहीं है, जबिक २७, २८, ३० में है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस विवाह में वस्त्र, आभूपण ग्रादि से ग्रलंकृत करने का भी कथन नहीं है। यह विवाह उनके बिना पूर्णतः सादगी से ही होता है। केवल विवाहसंस्कार करके ही वर-वधू ऋषित्व के ग्रनुरूप ग्रथित् त्याग, तप, गम्भीर निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर गृहस्थधारण का निश्चय करते हैं। ऋषिजन-सम्मत, अनुमोदित ग्रीर उनके ग्राचरणानुरूप होने से इसका नाम ग्रार्थ है।

(३) ऋषि कौन हैं ?—मन्त्रद्रष्टा या किसी विद्या के तत्त्वद्रष्टा = विशेषज्ञ विद्वान् व्यक्तियों को ऋषि कहा जाता है। इस विषयक विस्तृत विवेचन ३।८२ की 'ऋषि' शीर्षक समीक्षा में देखिए।

प्राजापत्य विवाह का लक्षण-

# सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च। कन्याप्रदानमभ्यक्यं प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥ (१६)

(प्रभ्यच्यं) कन्या ग्रीर वर को, यज्ञशाला में विधि करके ('उभी धर्मं सह चरताम्' इति) सब के सामने 'तुम दोनों मिलके गृहाश्रन के कर्मों को यथावत् करो' ऐसा (वाचा-ग्रनुभाष्य) कहकर (कन्याप्रदानम्) दोनों की प्रसन्नता पूर्वक पाणिग्रहण होना (प्राजापत्यः विधिः स्मृतः) वह प्राजापत्य विवाह कहाता है।। ३०।। (सं० वि० ६६)

आन्योटा : (१) प्राजापत्य-विवाह का लक्षण एवं विवेचन—वर-वधू को 'तुम साथ रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करो' यह कहकर कन्या को अलंकृत करके विधिपूर्वंक प्रदान करना, प्राजापत्य-विवाह है। इस क्लोक की प्रथम पंक्ति के पदों से यह व्यंजित होता है कि यह विवाह दोनों के माता-पिताओं के स्तर पर खोज करके निश्चित किया जाता है। इसमें वर-वधू की इच्छा गौण होती है या माता-पिता की इच्छा में ही ढली होती है। माता पिता जहाँ विवाह उपयुक्त समभते हैं, उसका निश्चय कर, विवाह सम्पन्न करके उन्हें गृहस्थ पालन की स्वीकृति दे देते हैं। इसमें भी कोई लेन-देन नहीं होता।

(२) प्रजापति किनको कहते हैं ?—प्रजापति, प्रजा अर्थात् सन्तान के पालन में निर्देश माता-पिता आदि गृहस्थ विद्वानों को कहते हैं। उन्हें 'पितर' भी कहा जाता है। इसमें ब्राह्मणों और निरुक्त के प्रमाण हैं—"प्रजा श्रयत्यनाम" निघ० २। २॥ प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा" निरु० १०। ४१॥ "पितर: प्रजापतिः" गो० उ० ६। १५॥

''पुरुषः प्रजापितः'' शत० ६।२।१।२३॥ प्रजामों को उत्पन्त करके उनका पालन करने के कारण पुरुष प्रजापित होता है। पितर ग्रर्थात् माता-पिता म्रादि प्रजापित होते हैं ['पितर' पर विस्तृत विवेचन ३। ६२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है]। सन्तानों का पालन करने वाले माता-पिता ग्रादि गृहस्थ विद्वानों द्वारा मनुमोदित, सम्मत ग्रौर उनके म्राचरणानुरूप होने से उसका नाम 'प्राजापत्य' है।

ग्रासुर विवाह का लक्षण-

ज्ञातिम्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायं चैव शक्तितः । कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥ (१७)

(ज्ञातिम्यः च कन्यायै) वर की जाति वालों ग्रीर कन्या को (शक्तितः द्रविण दत्त्वा) यथाशक्ति धन देके + (कन्याप्रदानम्) होम ग्रादि विधि कर कन्या देना (ग्रासुरः धर्मः उच्यते) 'ग्रासुर विवाह' कहाता है ।। ३१।। (सं० वि० १००)

(स्वाच्छन्द्यात्) ग्रपनी इच्छा से प्रथात् वर या कन्या की प्रमन्तता
 ग्रीर इच्छा का ध्यान न रखके......

अर्जुट्ये टिजन्य: (१) म्रामुर-विवाह का लक्षरण एवं विवेचन — धन के लोभी माता-पिता कन्या या लड़के की इच्छाम्रों की उपेक्षा करके या उन्हें महत्त्व न देकर, परस्पर धन ले-देकर, ग्रपनी इच्छा से जो विवाह कर देते हैं, वह 'ग्रामुर-विवाह' है। मनु इसे निन्दनीय ग्रीर ग्रधमं मानते हैं [३।४१-४२]।

(२) असुर किनको कहते हैं? 'न सुरा:—ग्रसुराः' ग्रथांत् जो देवताग्रों के समान नहीं हैं। जो देवताग्रों के समान निःस्वार्थ, निर्वेर, परिहत, परोपकार, त्याग, तप, सिहण्णृता ग्रादि भावनाग्रों वाले नहीं हैं। जो ग्रपने देह ग्रौर प्राणों के ही पोषण में, ग्रपने ही स्वार्थ, सुख-सुविधा, धन ग्रौर हितसाधनमं तत्पर रहते हैं, उसकी पूर्ति के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंच माया-जाल ग्रादि रचते हैं, ऐसे व्यक्ति 'ग्रसुर' कहला ते हैं। इसमें निरुक्त ग्रौर ब्राह्मणों के प्रमाण उल्लेखनीय हैं—''असुरताः स्थानेव्यस्ता, स्थानेव्यस्ता, स्थानेव्यस्ता, स्थानेव्यस्ता, रखानेव्यस्ता, रखानेव्यस्ते (ग्रसुराः) रखेव्ववास्येषु जुह्वतक्षेत्रः' शत० ११।१। ६।१॥ मायात्येसुराः (उपासते)' शत० १०।५।२।१०॥ ग्रसु क्षेपणे (ग्रदादि) धातु से 'ग्रसेक्रन्' (उपासते)' शत० १०।५।२।१०॥ ग्रसु क्षेपणे (ग्रदादि) धातु से 'ग्रसेक्रन्य' (उपासते)' शत० १०।५।२।२०॥ ग्रसु क्षेपणे (ग्रदादि) धातु से 'म्यसेक्रन्य' (जणादि १।४२) से 'उरन्' प्रत्यय सं 'ग्रसुर' शव्य वना। 'ग्रसुर से 'सम्वन्य रखनेवाला' ग्रयं में ग्रण्' प्रत्यय लगकर 'ग्रासुर' बनता है। इस प्रकार दूसरे की भावनाग्रों की उपेक्षा करके धन ग्रौर स्वार्थ-साधन में तत्पर व्यक्तियों द्वारा ग्रनुमोदित, सम्मत ग्रयं जनके ग्राचरणानुरूप होने से इसका नाम 'ग्रासुर-विवाह' है।

गान्धवं विवाह का लक्षण--

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः॥ ३२॥ (१८)

(वरस्य च कन्यायाः) वर भ्रौर कन्या की (इच्छया + भ्रन्योन्य-संयोगः) इच्छा ने दोनां का संयोग होना (मैथुन्यः) भ्रौर भ्रपने मन में यह मान लेना कि हम दोनों स्त्री-पुरुप हैं (कामसंभवः) यह काम से हुग्रा (सः तु गान्धर्वः विज्ञेयः) वह 'गान्धर्व विवाह' कहाता है ॥३२॥ (सं० वि० १००)

अन्य क्यो टउन्सः (१) गान्धर्व-विवाह का लक्षण एवं विवेचन—लड़का ग्रीर लड़की दोनों की इच्छा से परस्पर संयोग होकर शारीरिक सम्बन्ध स्थापित होना ग्रीर ग्रपने आपको पति-पत्नी के रूप में मानकर विवाह कर लेना, यह 'गान्धर्व-विवाह' है। यह कामभावना से होता है। मनु इसको निन्दनीय ग्रीर ग्रधमिनुकूल मानते हैं[३।४१-४२]। मनु ने यद्यपि इसमें धन ग्रादि लेने-देने की वात नहीं कही है, किन्तु कौटिल्थ ग्रष्व-शास्त्र के ग्रनुसार ऐसा विवाह करने वाले व्यक्ति को विवाह के समय कन्या के माता-पिता को वदले में धन देना पड़ता है [प्रक० ५८। ग्र० २]।

(२) गन्धर्य किन को कहते हैं ? गन्धर्व की ब्युत्पत्ति है "गाम् = वाचम् धरतीति गन्धर्वः" यर्थात् गाने की उत्तम वाणी को धारण करने वाला। संगीत यर्थात् गाने, वजाने, नाचने की कला में प्रवीण लोगों को, जो विलासी, ग्रामोद-प्रमोद में व्यस्त शृङ्कारप्रिय ग्रीर कामुकप्रवृत्ति-प्रधान हैं 'गन्धर्व' कहते हैं। ब्राह्मणों के निम्न प्रमाणों में इस पर प्रकाश डाला गया है—"रूपमिति गन्धर्वाः (उपासते) शत० १०। ४। २। २०॥ "योषित्कामा व गन्धर्वा" शत० ३। २। ४। ३॥ "स्त्रीकामा व गन्धर्वाः" ऐत० १। २७७॥ कौ० १२। ३॥ गन्धों मे, मोदों मे, प्रमादों मे। तन्मे गुष्मासु (गन्धर्वेषु) जै० उ० ३। २५। ४॥ ऐसे व्यक्तियों से ग्रनुमोदित, सम्मत या उनके ग्राचरणानुरूप होने से इस विवाह का नाम 'गान्धवं' है।

राक्षसं विवाह का लक्षण --

हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राञ्जसो विधिष्ठस्यते॥ ३३॥ (१६)

(हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा) हनन, छेदन अर्थात् वन्या के रोपने वालों का विदारण कर (क्रोशन्तीं कदतीं गृहात् प्रसद्धा कन्याहरएाम्) क्रोशती, रोती, कापती ग्रोर भयभीत हुई कन्या का + बलात्कार हरएा करके विवाह करना (राक्षस: विधि: उच्यते) वह 'राक्षस विवाह' अ । । ३३।। (सं वि १००)

+ (गृहात्) घर से····· अ8 (उच्यते) कहा जाता है । अस्तुर्शोद्यनः (१) राक्षस विवाह का लक्षए एवं विवेचन—कन्या के पक्ष वालों से मार-पीट, लड़ाई-अगड़ा ग्रादि करके रोती-चिल्लानी कन्या को बलात् उठा ले जाकर उससे विवाह करना 'राक्षस-विवाह' है। मनु के श्रनुसार यह विवाह भी निन्दनीय ग्रीर ग्रधमं है [३।४१-४२]। यद्यपि मनुस्मृति में इस विवाह में किसी लेन-देन का कथन नहीं है किन्तु कौटिल्य ग्रथंशास्त्र के वर्णनानुसार ग्रपहरणकर्ता को विवाह के बदले में कन्या के माता-पिता को धन देना पड़ता है [प्रक० ५६। ग्र०२]

(२) राक्षस किनको कहते हैं? रक्ष-पालने घातु से 'सर्वधातुम्योऽसुन्' (उणादि ४। १-६) सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय श्रीर 'इदम्' प्रथं में ग्रण् प्रत्यय के योग से राक्षस शब्द सिद्ध होता है। निरुवन ४। १० में राक्षस की निरुवित देते हुए कहा है—''रक्षः रिक्षित्त व्ययमस्माद्, रहिस क्षणोतीति वा, रात्रो नक्षते हित वा।'' ग्रर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण ग्रादि की रक्षा करनी पड़े, जो एकान्त ग्रवसर पाकर हानि पहुँचाता ग्रीर जो रात्रि में लूट-पाट, चोरी-व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों में सिक्रय हो जाते हैं, वे राक्षस हैं। इस प्रकार ग्रपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करने वाले, दूसरों को सताने ग्रीर पीड़ित करने वाले, ग्रत्थाचारी, ग्रन्थायी, बलात्कारी, स्वभाव के ग्रीर मांस-मदिराभोजी तमोगुणी [१२। ४४] व्यक्ति 'राक्षस' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के ग्राचरणानुरूप, उनसे ग्रनुमोदित या सम्मत होने से इसका नाम 'राक्षस विवाह' है।

पैशाच विवाह का लक्षण-

#### सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति । स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचहचाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥ (२०)

(सुप्तां मत्तां वा प्रमत्ताम्) जो सोती, पागल हुई वा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को (रहः यत्र + उपगच्छति) एकान्त पाकर दूषित कर देना (सः विवाहानाम् ग्रथमः पापिष्ठः पैशाचः) यह सत्र विवाहों में नीच से नीच = महानीच, दुष्ट ग्रतिदुष्ट, 'पैशाच विवाह' है।। ३४।।

(सं०वि० १००)

- अप्रत्युर्थारेट्डन्यः (१) पैशाच-विवाह का लक्षण एवं विवेचन—सोती हुई, पागल हुई या नशे में उत्मत्त कत्या को एकान्त श्रवसर में पाकर दूषित कर देना श्रीर उसमे विवाह करना, वह 'पैशाच विवाह' है। वह सब विवाहों में श्रत्यन्त नीच दुष्टनापूर्ण और पापरूप विवाह है। कौटिल्य के श्रनुमार उसमें भी विवाह करने वाले को विवाह के बदले कन्यापक्ष को धन देना पड़ता है [प्रक० ५६। श्र० २] ।
- (२) पिशाच किनको कहते हैं ?—पिश् स्रवयवे (तुदादि) धातु से 'क' प्रत्यय होन न 'पिशम्' पद बना। 'पिश' उपपद से आङ्पूर्वक 'चमु-स्रदने' धातु से 'डः' प्रत्यय-पूर्वक 'गैशाच' शब्द बनना है। स्रथवा 'पिशित' पूर्वपद से 'स्रश्' धातु से स्रण्, 'इत' का लोप, शकार को चकार होकर पैशाच बनता है। 'ये पिशितम् = स्रवयवीभूतं, पेशितं

वा मांसं रुथियादिकम् ग्राचमन्ति मक्षयन्ति ते पैशाचाः । प्राणियों का कच्चा मांस, रक्त तक खाने वाले, हिंसक, दुराचारी, ग्रताचारी, मिलन संस्कारों वाले, ग्रस्यन्त तमोगुणी [१२ । ४४], ग्रत्यन्त निम्न ग्रीर घृणित स्वभाव के व्यक्ति 'पिशाच' कहलाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के ग्राचरणानुरूप या उनसे अनुमोदित, सम्मत होने से इस विवाह का नाम 'पैशाच' है।

द्विजों की कन्यादान की विधि-

म्रद्भिरेव द्विजाग्रचाराां कन्यादानं विश्वरियते।
इतरेणां तु वर्गानामितरेतरकाम्यया ॥ ३४ ॥

(द्विजाग्रयाणाम् ग्रद्भिः एव) ब्राह्मण वर्णं वालों का जल लेकर संकल्प करने से (इतरेपां तु वर्णानाम् + इतरेतर-काम्यया) ग्रन्य वर्णों का परस्पर की इच्छा से (कन्या-दानम्) विवाह होना (विशिष्यते) श्रेष्ठ है ।। ३५ ।।

विवाहों के गुण-लाभ--

यो यस्पैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुराः । सर्वे शृरातु तं विशाः सर्वे कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

(एषां विवाहानाम्) इन विवाहों में (यस्य यः गुणः मनुना कीर्तितः) जिस विवाह का जो गुण मनु ने कहा है (विष्राः) हे विद्वानो ! (तं सर्वं मम कीर्तंयतः २४ णुत) उस सबको मुक्तसे कहते हुए सुनो ॥ ३६॥

> दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविशक्ष्म् । बाह्यीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितन् ।। ३७ ॥

(मुफ़तकृत् ब्राह्मीपुत्रः) अच्छे कर्म करने वाला ब्राह्मविवाह के विधि से उत्पन्न पुत्र (दश पूर्वान् परान् वश्यान् पितृन्) दश पहले पिता-पितामह आदि पूर्वजों को ब्रीर दश आने वाले पुत्र-पौत्र ग्रादि को (च) ब्रीर (एकविशकम् ब्रात्मानम्) इक्कीसर्वे अपने ग्रापको (एनसः मोचधेत्) पाप से छुड़ाता है ॥ ३७ ॥

> दैवोढाजः सुतक्ष्वेव सप्त-सप्त परावरान्। स्रावर्षेऽाजः सुतस्त्रीस्त्रीन्षद् षट् कायोढाजः सुतः ॥ ३८ ॥

(च) और (दैवोढाज: सुत:) दैव विवाह की विधि से विवाहित स्त्री से उत्तन्त पुत्र (सप्त-सप्त पर निश्चयान्) सात-सात पिछली और ग्राने वाली पीढ़ियों को (ग्रापीढाज: सुत: त्रीन्-त्रीन्) ग्रापं विवाह की विधि से विवाहित स्त्री से उत्पन्त पुत्र तीन पिछली ग्रीर तीन ग्राने वाली पीढ़ियों को (कायोढाज: सुत:) प्राजापत्य विवाह की विधि से विवाहित स्त्री से उत्पन्त पुत्र (पट्-पट्) छ: पिछली और छ: ग्राने वाली पीढ़ियों को पाप से छड़ाता है।। ३६॥

अन्युर्धीत्जना-३५ से ३८ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं---

- १. प्रसंगिवरोष—३४ वें श्लोक में विवाहों की परिभाषा का प्रसंग पूर्ण हो चुका है। इसके बाद उनके गुण-दोषों के विवेचन का प्रसंग स्रभीष्ट स्रौर संगत है, वह ३६ से ४२ श्लोकों में विणित है। स्रतः बीच में ३५ वें में विवाह की विधि का कथन, पुनः पीढ़ियों के पार उतारने का कथन या पुत्रों के गुणों का कथन स्रप्रासंगिक है। यद्यपि ३६-३८ श्लोकों में भी विवाहों के गुणों का वर्णन प्रतीत होता है, किन्तु यह मौलिक नहीं। है। इसकी पुष्टि में प्रसंग की डिब्ट से दो बातें कही जा सकती हैं—एक तो यह कि इन श्लोकों में विवाहों के गुणों का वर्णन परोक्षरूप से है, जबिक पुत्रों के गुणों का वर्णन प्रतिक ही। दूसरी यह कि सभी विवाहों के गुण-दोषों का सामूहिक विवेचन ३६ से ४२ श्लोकों में क्रमबद्ध स्रौर पूर्णरूप से किया गया है, स्रतः ये ही श्लोक मौलिक एवं प्रासंगिक हैं; ३५-३८ श्लोक नहीं।
- २. अन्तिवरोध—(१) ३५ वें श्लोक में विवाह की विधि बतायी गई है, जबिक २७ से ३४ श्लोकों में जो विवाहों का वर्णन है, वे स्वयं एक प्रकार की विधियां हैं। यह विधि उनसे भिन्न होने के कारण विरुद्ध है। ग्रीर जब एक बार विधियां कह दीं, तो पुनः विधि कहने की ग्रावश्यकता भी नहीं रहती। इस ग्राधार पर ३५ वां श्लोक प्रक्षिप्त है।
- (२) ३७—३८ क्लोकों में एक ही पुत्र द्वारा ग्रपनी ग्रगली ग्रौर पिछली कई-कई पीढ़ियों के पाप से छुड़ाने की बात का वर्णन ४। २४० के विरुद्ध है। उस क्लोक में मनु ने कर्त्ता को ही स्वयं पाप-पुण्यों का भोक्ता कहा है। जब कर्त्ता स्वयं भोक्ता है,तो दूसरा व्यक्ति उसके पापों को कैसे दूर कर सकता है?
- (३) यदि एक ही पुत्र को ग्रनेक पीढ़ियों के पापों को छुड़ाने वाला मान ित्या जाये, तो फिर उन ग्रागे ग्राने वाली पीढ़ियों को धर्म पर चलने की ग्रावश्यकता ही क्या रह जायेगी? क्योंकि उनके पापों को तो वह पुत्र दूर कर ही चुका है। इस प्रकार तो यह मान्यता सम्पूर्ण मनुस्मृति के विरुद्ध हो जाती है। क्योंकि मनुस्मृति में तो स्थान-स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति को धर्म का पालन करने के लिए कहा है। इन ग्रन्तियों के ग्राधार पर ३६---३८ श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. जैलीगत श्राधार—(१) ३६ वें ब्लोक में "यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीतितो गुराः। तं सर्वं श्रृणुतः "कीतंयतो मम।।" पदों से यह स्पष्ट संकेत मिल रहा है कि इनको कहने वाला मनु नहीं ग्रपितु मनु से भिन्न कोई व्यक्ति है। ग्रतः स्पष्टतः ये परवर्ती प्रक्षिप्त ब्लोक हैं। (२) ३७—३८ ब्लोकों में एक ही पुत्र द्वारा ग्रनेक ग्रगली-पिछली पीढ़ियों के उद्धार का कथन ग्रयुक्तियुक्त ग्रौर ग्रतिशयोक्तिपूर्ण है। यह जैली मनु की नहीं है।

प्रथम चार उत्तम विवाहों से लाभ---

बाह्यादिषु विवाहेषु चतुष्वेवानुपूर्वशः । बह्यवर्वस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमता ॥ ३६ ॥ (२१)

्री (ब्राह्म + ग्रादिषु चतुर्षु विनाहेषु) ब्राह्म, दैव, ग्रार्ष ग्रीर प्राजा-पत्य इन चार विवाहों में पािएग्रहण किये हुए स्त्रो-पुरुषों से (पुत्राः जायन्ते) जो सन्तान उत्पन्न होते हैं वे (ब्रह्मवर्चे स्विनः शिष्टसंमताः) वेदादि विद्या से तेजस्वीः बाप्त पुरुषों के संगति से ग्रत्युत्तम होते हैं ।। ३६ ।।

(सं० वि० १००)

🦀 (ग्रनुपूर्वशः) क्रमशः प्रारम्भ के ......

अर्जुर्क्यो ट्यन्यः यह वर्णन बालकों के उत्तम संस्कारों की सम्भावना के ग्राधार पर भावी जीवन के लिए किया गया है। वे बालक भविष्य में ग्रर्थात् बड़े होकर उक्तगुणों वाले बनते हैं।

रूपसत्त्वगुराोपेता धनवन्तो यशस्विनः । पर्याप्तभोगा र्घामण्डा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥ (२२)

वे पुत्र वा कन्या (रूप-सत्त्वगुण + उपेताः) सुन्दर रूप, वल-पराक्रम, शुद्ध बुद्धि ग्रादि उत्तम गुरायुक्त (धनवन्तः) बहुधन युक्त (यशस्विनः) पुष्य कीर्त्तिमान् (च) ग्रोर (पर्याप्तभोगाः) पूर्ण भोग के भोक्ता (धिमिष्ठाः) धर्मात्मा होकर (शतं समाः जोवन्ति) सौ वर्ष तक जीते हैं।। ४०।।

(सं० वि० १००)

म्रन्तिम चार विवाह निन्दनीय-

इतरेषु तु शिब्टेषु नृशंसानृतव।दिनः। जायन्ते दुविव।हेषु ब्रह्मधमंद्विषः सुताः॥ ४१॥ (२३)

(इतरेषु तु शिष्टेषु दुविवाहेषु) चार विवाहों से जो बाकी रहे चार-श्रासुर, गान्धर्व, राक्षस श्रीर पैशाच, इन चार दुष्ट विवाहों से उत्पन्न हुए (सुताः) सन्तात (नृशंसा + ग्रनृतवादिनः) तिन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी (ब्रह्मवर्मद्विषः) वेदधर्म के द्वेषो बड़े नीच स्वभाववाले (जायन्ते) होते हैं ॥ ४१ ॥ (सं० वि० १००)

श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान, बुरों से बुरी-

म्रनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरिनन्द्या भवति प्रजा। निन्दितैनिन्दिता मृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२॥ (२४) (म्रनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः प्रजा म्रनिन्द्या भवति) श्रेष्ठ विवाहों से सन्तान भी श्रेष्ठ गुण वाली होती है (निन्दितै: नृणां निन्दिता) निन्दित विवाहों से मनुष्यों की सन्तानें भी निन्दनीय कर्म करने वाली होती हैं (तस्मात्) इसलिए (निन्द्यान् विवर्जयेत्) निन्दित विवाहों को ग्राचरण में न लावे ॥ ४२॥

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग ग्रीर जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है, उन को किया करें।'' (सं० वि० १०२)

सवर्ण-ग्रसवर्ण कन्या से विवाह करने की विधि —

पारिणग्रहरणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते । असवर्णास्वयं नैयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतीदो वश्यकन्यया । वसनस्य दशः ग्राह्मा शुद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

(पाणिग्रहणसंस्कारः) हाथ पकड़कर विवाह की विधि पूरा करने का संस्कार तो (सवणांसु + उपदिश्यते) केवल ग्रपने वर्ण को स्थियों में विहित है (ग्रसवणांसु) ग्रपने वर्ण से भिन्न वर्ण की स्थियों से शादी करने में (उद्घाहकर्मणि) विवाह संस्कार में (अयं विधिः ज्ञेयः) यह ग्रागे कहा विधान समभना चाहिए...(उत्कृष्टवेदने) ग्रपने से ऊंचे वर्ण वाले व्यक्ति के साथ विवाह करने में (क्षत्रियया शरः ग्राह्यः) क्षत्रिय कन्या को [हाथ पकड़ने की ग्रपेक्षा] वाण पकड़ना चाहिए (वैश्यकन्यया प्रतोदः) वैश्य वर्ण की कन्या को वैल ग्रादि को हांकने का चावुक (शूद्रया वसनस्य दशा ग्राह्या) शूद्र कन्या को वस्त्र का किनारा पकड़ना चाहिए॥ ४३, ४४॥

#### अनुश्रीलना—४३--४४ श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

१. ग्रान्तियोध—(१) २० २१, २७—३४ क्लोकों मे जो विवाह कहे हैं, उन की विधियां भी साथ-साथ निर्दिष्ट हैं। यह कहना चाहिए कि उन विवाहों का भेद उन की विधि की भिन्नता पर ही ग्राधारित है। इन क्लोकों में विवाह की उनसे भिन्न विधियां उक्त हैं, यह भिन्नता विरोधसूचक है। और फिर जब विवाहों की विधि एक बार कह दी है, तो पुनः विधि के कथन की ग्रावश्यकता ही नहीं थी। (३) २०;२१,२७—३४ क्लोकों में जो विधियां कही हैं, वे सभी वर्णों के लिए समान हैं। उनमें मनु ने कोई सवर्ण-ग्रसवर्ण का भेद नहीं किया है, (३। २०)। इन क्लोकों में वर्णों और सवर्ण-ग्रसवर्ण का भेद जहीं किया है, (३। २०)। इन क्लोकों में वर्णों और सवर्ण-ग्रसवर्ण का भेद जहीं किया है, (३। २०)। इन क्लोकों में वर्णों और सवर्ण-ग्रसवर्ण का भेद जनत मान्यता के विषद्ध है। (३) जो विधियां इन क्लोकों में कही हैं वे ग्रन्तिम तीन विवाहों में तो लागू ही नहीं हो सकतीं। 'गान्थवं विवाह' में स्त्री-पुरुष का स्वेच्छा से संयोग होता है। 'रोक्षस विवाह' में ग्रपहरण किया जाता है। 'पैशाच विवाह' बलात्कारपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करने को कहते हैं। ग्रतः इन क्लोकों में उक्त

विधियों को करने का इन तीन विवाहों में स्रवसर ही नहीं रहता। इस प्रकार इन विधियों का मनु की पूर्वोक्त इलोकों की व्यवस्था से तालमेल ही नहीं बैठता। इससे स्पष्ट है कि ये विधान परवर्ती काल के हैं। इन अन्ति विधोक कारण ये दोनों इलोक प्रक्षिप्त हैं।

ऋतुकाल-गमन सम्बन्धी विधान---

## ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारिनरतः सदा । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्द्वतो रितकाम्यया ॥ ४४ ॥ (२४)

(ऋतुकाल। भिगामी स्यात्) सदा पुरुष ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे (स्वदारिनरतः सदा) और अपनी स्त्री के बिना दूसरी का सर्वदा त्याग रक्खे, वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सर्देव पृथक् रहे (तद्वतः) जो स्त्रीवत अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री ही से प्रसन्न रहता है, जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती (रितकाम्यया) वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब (एनां पर्ववर्जं व्रजेत्) पर्व अर्थात् जो उन ऋतुदान के सोलह दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उसको छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रित-फ्रिया कभी न करें।। ४५।। (सं० वि० २६)

अर्ज्यू श्री त्डन्यः (१) 'ऋतुदान में वर्जित पर्व — ऋतुदान में वर्जित पर्व ग्रमावस्या, पौर्ण्नासी, ग्रष्टभी तथा चतुर्दशी हैं। इनका वर्णन ४। १२८ में है। वहां भी यह निषेध है।

- (२) पर्वदिनों में समागम-निषेध क्यों ?—इन पर्वों के दिनों में समागम का निषेध इसलिए है क्योंकि इन दिनों को मनु ने धार्मिक दिन के रूप में मनाने का विधान करते हुए इन दिनों में विशेष यज्ञों का ग्रायोजन एवं वेदादि ग्रन्थों के स्वाध्याय का विधान किया है [४।२५॥६।६॥३।३॥]। इन धार्मिक कृत्यों के पालन के ग्रवसर पर जितेन्द्रिय रहना, संयम रखना ग्रावश्यक है, क्योंकि ग्रजितेन्द्रियावस्था में इन धार्मिक कर्मों के फल की सिद्धि नहीं होती [२।७२ (२।६७)]।
- (३) 'ऋतुकाल में गमन' गृर्स्य का ग्रावश्यक कर्त्तव्य गृहस्य हो जाने पर व्यक्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्रीगमन = सहवास करना, ग्रावश्यक कर्त्तव्य है; इसीलिए मनु ने कहा है 'ऋतुकाल।मिगामी स्यात' 'पर्ववर्जं वजेत्'। इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्यं कौटिल्य ने कारणपूर्वं के इस कर्त्तव्य को ग्रावश्यक बतलाया है ग्रीर इसको गृहस्य का धर्म विधान माना है। इस का पालन न करने पर उसके लिए दण्डव्यवस्या भी निर्धारित की है। वे कहते हैं ऋतुकाल में गमन करने से स्त्रियों के प्रथम्नव्य होने ग्रीर उनका ग्राचरण दूषित होने की ग्राशंका होती है। ऋतुकाल में गमन न करना ग्रपने

गृहस्थ धर्म का पालन न करना है, भौर ऐसे व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन न करने पर ६६ पण दण्ड दिया जाना चाहिये।—"तीर्थोपरोधो हि धर्मनधः इति कौटिल्यः।" [प्रक०६०। ग्र०४] "तीर्थेगृहमनागमने दण्णवितर्दण्डः।" [प्रक० ५८। ग्र०२]। किन्तु कामनारहित स्व स्त्री के साथ भी बलात् गमन न करे—"नाकामामुपेयात्" [प्रक० ५८। ग्र०२]।

इसी कारए मनु ने पित के दीर्घप्रवास काल में स्त्री को नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने की स्वीकृति दी है [६।७४]। कौटिल्य ने भी इसका समर्थन भ्रौर विभान किया है [ग्रर्थशास्त्र प्रक० ६०।४]।

स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल-

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । चर्जुभिरितरैः सार्थमहोभिः सद्विगहितैः ।। ४६ ।। (२६)

(स्त्रीणां स्वाभ।विक ऋतुः) स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल (षोडश रात्रयः स्मृताः) सोलह रात्रि का है अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेके सोलहवें दिन तक ऋतु समय है (इतरेः सद्विगहितेः चतुभिः ग्रहोभिः सार्धम्) उनमें से प्रथम की चार रात्रि ग्रर्थात् जिस दिन रजस्वला हो उस दिन से लेके चार दिन निन्दित हैं ॥ ४६ ॥ (सं० वि० २६)

प्रथम, द्वितीय, तृतीय ग्रीर चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श ग्रीर स्त्री पुरुष का स्पर्श ग्रीर स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे ग्रर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुग्रा पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे। क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ ग्रीर महा रोगकारक है।" (सं० यि० २६)

निन्दित रात्रियां---

तासामाद्याक्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या । त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥ (२७)

(तासाम् + स्राद्याः चतस्रः तु निन्दिताः) जैसे प्रथम को चार रात्रि ऋनुदान देने में निन्दित हैं (या एकादशी च त्रयोदशी) वैसे ग्यारहवीं श्रौर तेरहवीं रात्रि भी निन्दित हैं (शेषा तु दशरात्रयः प्रशस्ता) स्रौर बाकी रही दश रात्रि सो ऋनुदान में श्रेष्ठ हैं ।। ४७ ।। (गं० वि० २६)

अर न्युट्यो ट्या : (१) ऋतुगमन में निषद रात्रियां — ४६ वें श्लोक में स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल का समय १६ रात्रि का माना है। उनमें रजोदर्शन के दिन की रात्रि सहित प्रथम चार रात्रियां निन्दित हैं। इसी प्रकार रजोदर्शन के दिन

से ग्यारहवीं श्रौर तेरहवीं रात्रि भी ऋतुदान में निन्दित हैं। इस प्रकार सोलह रात्रियों में से दश रात्रियां ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ बचती हैं।

किन्तु इन दश रात्रियों के बीच यदि कोई पर्व अर्थात् अमावस्या, पौर्णमासी, अष्टमी और चतुर्दशी का दिन आये तो उसकी रात्रि में ऋतुदान न करे, ऐसा स्पष्ट निर्देश ४। १२८ और ३।४५ में है। इस प्रकार कभी सात-ग्राठ तो कभी दश रात्रियां ऋतुदान के लिए शेष बचती हैं।।

२. ऋतुकाल की निद्यित रात्रियों का कारण — रजोदर्शन काल में स्त्रीगमन से व्यक्ति की प्रज्ञा, तेज, वल, ज्योति आयु की हानि होती है। द्रष्टव्य ४।४०-४२ व्लोक।

पुत्र-ग्रौर पुत्री प्राप्त्यर्थ रात्रि की पृथक्ता—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्नासु रात्रिषु । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥ (२८)

(युग्मासु पुत्राः जायन्ते) युग्म स्रथीत् समसंख्या की रात्रियों-छठी, स्राठवीं, दशमी, द्वादशी, चतुर्दशी, षोडशी में समागम करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं (ग्रयुग्मासु रात्रिषु स्त्रियः) विषम संख्या वाली स्रर्यात् पांचवीं, सातवीं नवमी, पन्द्रह्वीं रात्रियों में लड़को उत्पन्न होती है (तस्मात्) इसलिए (पुत्रार्थी) पुत्र की इच्छा रखने वाले पुरुष (आर्तवे युग्मासु स्त्रियं संविशेत्) ऋतुकाल में समरात्रियों में स्त्री से समागम करे।। ४८।।

'जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, ब्राठवीं, दशमो, वारहवीं, चौदहवीं ग्रौर सोलहवीं, ये छः रात्रि ऋतुदानमें उत्तन जानें। परन्तु इनमें भी उत्तर-उत्तर श्रोष्ठ है ग्रौर जिनको कन्या की इच्छा होवे पांचवीं, सातवीं, नवमी ग्रौर पन्द्रहवीं, ये चार रात्रि उत्तम समर्भें। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे।'' (सं० वि० २१)

पुत्र ग्रौर पुत्री होने में कारण—

पुमान्युंसोऽथिके शुक्रे स्त्री भवत्यथिके स्त्रियाः । समेऽपुमान्युंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४६ ॥ (२६)

(पुंस अधिके शुक्रोपुमान्) पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र (स्त्रियाः अधिके स्त्रो) स्त्री का आर्त्तव अधिक होने से कन्या (समे + अपुमान्) तुल्य होने से नपुंसक पुरुष व वन्ध्या स्त्री क्षिणे च अल्पे विपर्ययः) क्षीण और

(सं० वि० २६ पर टिप्पणी)

१. ''रात्रि गणना इसलिए की है कि दिन में ऋतुदान का निषेध है।''

श्रत्पवीर्य से गर्भ का न रहना वा गिर जाना (भवित) होता है ।। ४६ ।। (सं० वि० २६)

🕸 (वा पुम्+स्त्रियौ) ग्रथवा लड़का-लड़की का जोड़ा.....

अनुर्गो कार्यः (१) अधिक शब्द से स्रिमप्राय—यहा स्रिधिक शब्द से 'मात्राधिक्य' स्रिभिप्राय नहीं है, स्रिप्तु 'सामध्यधिक्य' स्रिभिप्राय है। पुरुष के वीयं में स्रिधिक सामध्यं स्रिथ्या पुरुष-दीज के स्रिधिक सामध्यंशाली होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है। पुरुष की तुलना में स्त्री वीज के स्रिधिक सामध्यंशाली होने पर पुत्री, समान सामध्यं होने पर लड़का-लड़की का जोड़ा स्रथवा नपुंसक सन्तान स्रौर क्षीण सामध्यं या स्रत्य-सामध्यं का बीज होने पर गर्भपात, गर्भ का न रहना स्रादि होते हैं।

(२) प्राधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से विरोध नहीं — ग्रधिकतर लोगों का विचार है कि मनु की मान्यता का ग्राधुनिक चिकित्सा विज्ञान की मान्यता से विरोध ग्राता है। लेकिन मूलतः ऐसा नहीं है। ग्राधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के मतानुसार पुरुष के वीर्य में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं — १, एक्स, २. वाई। स्त्री के रज में केवल एक्स कीटाणु होते हैं । पुरुप का 'वाई' शुक्राणु जब स्त्री के 'एक्स' कीटाणु से मिलता है तव लड़का होता है। एक्स' के 'एक्स' से मिलने पर लड़की। संभोग के पश्चात् ये शुक्राणु गर्भ निलक्ताओं में दौड़कर स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करते हैं। जो शुक्राणु पहले प्रवेश कर जाता है, वही सन्तान रूप बनता है।

यहां भी मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रवल होगा वह उतना ही पहले जाकर डिम्ब में प्रवेश करेगा। पुरुष-शुक्रकीट ग्रधिक प्रवल होंगे तो वे दौड़ कर पहले प्रवेश करेंगे।यदि स्त्री को जन्म देने वाले कीट प्रवल होंगे तो वे प्रथम प्रवेश करेंगे। यहां भी सामर्थ्यं की ग्रधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में मूलाधार है। इसीलिए ग्रायुर्वेद-चिकित्सा में पुत्र-प्राप्ति चाहने वालों को पुरुषशुक्रसामर्थ्यं वर्धं क ग्रौपिधयां प्रदान की जाती हैं।

संयमी गृहस्थ भी ब्रह्मचारी--

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् । क्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ।। ५०॥ (३०)

(निन्द्यासु) निन्दित छह [३।४७] रात्रियों में (त्र) ग्रौर (ग्रन्यासु ग्रष्टासु रात्रिषु) इनगे भिन्न शेष दश रात्रियों में से किन्हीं ग्राठ रात्रियों में (स्त्रिय: त्रजयन्) स्त्रियों को छोड़ते हुए ग्रर्थान् उनसे समागम न करते हुए ध्यत्र तत्र ⊹श्राश्रमे वसन्) गृहस्थाश्रम में भी रहते हुए भी वह (ब्रह्म-

१. रजोदर्शन से लेकर पहली चार रात्रियां और पूर्णिमा. अमावस्या, चतुर्देशी तथा अष्टमी की रात्रियां, ये आठ रात्रियां स्वामी दयानन्द ने निन्दित कही हैं। (द्रष्टब्य मं० वि० २१)

चारी + एव भवति) ब्रह्मचारी ही होता है।। ५०।।

''जो पूर्व निन्दित ग्राठ रात्रि कह ग्राये हैं, उनर्में जो स्त्री का संग छोड़ देता है, वह गृहाश्रम में बसता हुग्रा भी ब्रह्मचारी ही कहाता है।'' (सं० वि २६)

अर्जु श्री टिन्स: कौन गृहस्य ब्रह्मचारी — निन्दित छह श्रीर शेष कोई भी ग्राठ रात्रियां ग्रथांत् चौदह रात्रियों को छोड़ कर, सोलह में से शेप वचीं केवल किन्हीं दो ही श्रेष्ठ रात्रियों में समागम करने वाला गृहस्य ब्रह्मचारी ही होता है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के ग्राचरण में संयम श्रीर जितेन्द्रियता आदि गुणों की प्रधानता होती है।। वर से कन्या का मूल्य लेने का निषेध—

न कन्यायाः पिता विद्वानगृह्णीयाच्छुत्कमण्वपि । गृह्णच्छुत्कं हि लोमेन स्यान्नरोऽपत्यिकक्यो ॥ ५१ ॥ (३१)

(विद्वान् कन्यायाः पिता) बुद्धिमान्, कन्या के पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में (ग्रणु + ग्रपि शुल्कं न गृह्णीयात्) थोड़ा सा भी शुल्क = मोल वा घन न ले (लोभेन शुल्कं गृह्ण्न् हि) लोभ में झाकर शुल्क लेने पर (नरः) वह मनुष्य (ग्रपत्यविक्रयी स्यात्) सन्तान को बेचने वाला ही कहाता है।।५१।।

> स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपहजीवन्ति बान्धवाः । नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगितम् ॥५२॥ (३२)

(ये बान्धवाः) जो वर के बान्धव = पिता, भाई ग्रादि रिश्तेदार (मोहात्) लोभ या तृष्णा के वशीभूत होकर (स्त्रीधनानि) कन्याग्रों के धनों को (नारीयानानि वा वस्त्रम्) कन्या पक्ष या कन्याओं को सवारी या वस्त्रों को लेकर (उपजीवन्ति) उपभोग करके जीते हैं (ते पापाः ग्रधोगित यान्ति) वे पापी लोग नीचगित को प्राप्त होते हैं।। ५२।।

अर्जुरारिन्जनाः स्त्रीधन विषरण्—३। ४२ में चर्चित स्त्रीधन का विवरण् मनु ने ६। १६४-१६७ में दिया है। प्रमुखतः यह धन छह प्रकार का होता है—(१) अध्यग्नि = विवाह संस्कार के अवसर पर दिया गया धन, (२) अधि-आवाहितकम् = पित के घर आते हुए पिता के घर से कन्या को प्राप्त धन, (३) प्रीतिकमें में प्राप्त धन = प्रसन्नता आदि के अवसर पर पित हारा प्रदत्त धन, (४) कन्या को भाई से प्राप्त धन, (४) पिता से प्राप्त धन, (६) माता से प्राप्त धन। विस्तृत विवरण नवम अध्याय में द्रष्टव्य है।

म्रार्ष-विवाह में भी गो-युगल लेने का निषेध-

ब्रार्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्। ब्रह्मोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३॥ (३३) (केचित्) कुछ लोगों ने (म्रार्ष) म्रार्ष-विवाह में (गोिस थुनं गुल्कम्) एक बैलों के जोड़े का गुल्क रूप में लेने का (म्राहुः) कथन किया है (तत्) वह (मृषा + एव) गलती है — मिथ्या ही है (म्राप + एवम्) नयों कि इस प्रकार (म्रल्पः + म्रापि वा महान्) थोड़ा म्रथवा ग्रधिक धन लेना-देना है (सः तावत्) वह निश्चय से (विक्रयः एव) बेचना ही है ।। ५३।।

''कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना आर्ष विवाह है।'' (सं० वि० पृ० ११६, विवाह प्रकरण में टिप्पगाी)

# यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः। ग्रर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ५४॥ (३४)

(ज्ञातयः) कन्या के भिता म्रादि या रिश्तेदार (यासां शुल्कं न + आददते) जिन कन्याम्रों के विवाह के लिए वर पक्ष से शुल्क नहीं लेते स्थात् वरपक्ष से विवाह करके बदले में बिना कुछ धन लिए विवाह कर देते हैं (सः विक्रयः न) इस प्रकार का विवाह 'कन्याम्रों को बेचना' नहीं कहलाता (तत् कुमारीणां म्रह्णम्) ऐसा विवाह वास्तव में कन्याम्रों का पूजा-सत्कार करना है (च) भ्रीर (केवलम् म्रानृशंस्यम्) कन्याम्रों के प्रति वास्तव में दया म्रीर स्नेह प्रदिश्तत करना है, बिना कुछ लिये वर को कन्या देना उसका म्रादर बढ़ाना है।। १४।।

आनुर्यो त्उनः मार्वविवाह में गुल्क लेना मनुविरुद्ध --- ३।२६ तें म्रापंविधि की जो व्यवस्था विहित है, ५१ से ५४ श्लोकों में उसके विरुद्ध मौर खण्ड-नात्मक वर्णन है। यहां यह शंका उपस्थित होती है कि कौन-सी मान्यता मौलिक या कौन सी भही मानी जाये या इनमें कौन सी प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

इन क्लोकों की शैली, शब्दावली को देखकर इसका समाधान उपलब्ध हो जाता है। मनुस्मृति का उद्देश्य ही हितकारी धर्मविधान करने का है, श्राहितकारी बात धर्म नहीं, इसलिए मनु उसको श्रधर्म घोषित करके उसका निषेध करते हैं। इस प्रसंग में

१. श्राजकल दहेज के भयंकर परिणाम स्थान-स्थान पर देखने, सुनने श्रीर पढ़ने में ग्रा रहे हैं। घन-लोभी दानव धनप्राप्ति के लालच में कितनी ही स्त्रियों को सता रहे हैं, जला रहे हैं, मौत के घाट उतार रहे हैं। विवाह एक व्यापार बनता जा रहा है। दाम्पत्य जीवन स्वर्ग न रहकर नरक का भयावह रूप धारण करता जा रहा है। महर्षि मनु ने विवाह में शुल्क लेने-देने की परम्परा में ऐसी ही भयंकर दशाश्रों का पूर्वदर्शन किया था। श्रतः विवाह में प्रत्येक प्रकार के लेन-देन का निषेध किया है, तािक लालच की भावना न रहे श्रीर कहा है कि विवाह एक सम्मान की वात है, लोभ की नहीं। गृहस्थ के सुख का श्राधार नारियां ही हैं। उनकी प्रसन्तता श्रीर श्रादर में ही गृहस्थ स्वर्ग है, निरादर श्रीर यातना देने में नरक है, कुलों की ग्रवनित श्रीर विनाश है।

सम्पूर्ण मनुस्मृति से भिन्त शैली ग्रौर शब्दावली है। तदनुसार उक्त शंका का समा-धान इस प्रकार है—

- (१) मनु ने ३। २०-३४ में जो ग्राठ विवाह प्रदर्शित किये हैं, वे उनके स्वयंकृत विधान नहीं हैं, ग्रिपतु उस समय जो किसी रूप में प्रचलित थे, उनका वर्णन मात्र किया है। इसी लिए मनु ने प्रंसग-संकेतक क्लोक ३। २० में "प्रेश्य चेह हित + ग्रिहितान्" का प्रयोग किया है। ग्रिहितकर कोई धर्म नहीं होने, किर भी यहां उनका वर्णन है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये विधान नहीं, मात्र प्रचलित प्रथायें हैं। ग्रिहितम चार विवाहों के लिए प्रयुक्त नाम भी इन्हें धर्म विधान सिद्ध नहीं करते, वे हैं ग्रासुर, गान्धर्व, राक्षस 'ग्रधम पैशाच'। इनकी जो विधियां हैं वे भी मनुस्मृति की मान्यताग्रों के ग्रनुसार निन्दनीय हैं। ३।४१-४२ में भी मनु ने इनकी निन्दा की है। उन्हें ग्रनार्यों की परम्परामाना है, ग्रीर निषेध रूप में विहित कर दिया है।
- (२) इतना ही नहीं ३। ३२-३४ में विहित कार्यों के लिए मनु ने ६। ३४२-३४७, में कठोर दण्डों का विधान भी किया है। वे इन वातों को बलात्कार व व्यभिचार मानते हैं [६। ३४४-३४६ ३४२-३४७], और ३। ३१ में विणत 'ग्रासुर विवाह' का ३४१- ४४ में खण्डन 'विक्रय के रूप में' कहकर किया है।
- (३) स्रव प्रश्न उठता है कि मनु की मान्यता क्या है, और इनमें धर्मविधान कौन से हैं। इसके उत्तर स्पष्ट हैं—(क) ३।२० में मनु ने जिन स्नारम्भिक चार विवाहों को इस जन्म और परजन्म के लिए हितकारी माना है। वे ही मनुविहित धर्मविधानात्मक विवाह हैं। देखिए ३।३६-४० में केवल स्नारम्भिक चार विवाहों की मनु ने स्वीकृति दी है। इनमें भी सार्प विवाह की परम्परा को मनु धर्म नहीं मानते, स्नतः उसमें सुधार करके स्नपनी मान्यता ५१-५४ में स्पष्ट कर दी है। (ख) दायभाग प्रकरण में भी मनु ने स्नपनी इस मान्यता की पुष्टि कर दी है। 'स्नामुर' स्नादि चार विवाहों में निःसन्तान स्त्री के धन का स्निकार उसके मरने पर पित को नहीं होता, क्योंकि वे विवाह मनु के स्नमुसार वैद्यानिक एवं धर्म्य नहीं हैं [६।१६७]। प्रारम्भिक चार विवाहों में निःसन्तान पत्नी की मृत्यु पर उसके धन का अधिकार पित को है, क्योंकि मनु के मत में ये विवाह धर्मानुकूल हैं [६।१६६]। इस प्रकार इन श्लोकों सौर पूर्व के श्लोकों में विरोध होते हुए भी मान्यता प्रदर्शन के कारण दोतों मौलिक ही हैं।

न्त्रियों के ग्रादर का विधान तथा उसका फल-

वितृभिर्भातृभिरवैताः पतिभिर्देषरैस्तथा । पूज्या मूर्वायतव्याश्च वहुकत्याणमीष्सुभिः ॥ ५५ ॥ (३५)

(पितृभिः भ्रातृभिः पतिभिः तथा देवरैः) पिता, भ्राता, पति श्रौर देवर

को योग्य है कि (एताः पूज्याः च भूषियतव्याः) भ्रपनी कन्या, बहन, स्त्री श्रीर भौजाई भ्रादि स्त्रियों की सदा पूजा करें भ्रयीत् यथायोग्य मधुर-भाषण, भोजन, वस्त्र, भ्राभूषण भ्रादि से प्रसन्त रक्खें (बहुकल्याणम् + ईप्सुभिः) जिन को कल्याण की इच्छा हो वे स्त्रियों को क्लेश कभी न देवें ।। ५५ ।। (सं० वि० १४७)

स्त्रियों का ब्रादर करने से दिव्य लाभों की प्राप्ति-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥ (३६)

(यत्र) जिस कुल में (नार्यः तु पूज्यन्ते) नारियों की पूजा स्रर्थात् सत्कार होता है (तत्र) उस कुल में (देवताः) दिव्यगुरा = दिव्य भोग स्रोर उत्तम सन्तान (रमन्ते) होते हैं (यत्र) स्रोर जिस कुल में (एतास्तु न पूज्यन्ते) स्त्रियों की पूजा नहीं होतो हैं (तत्र सर्वाः प्रफलाः क्रियाः) वहां जानो उन की सब क्रिया निष्फल हैं ॥ ५६ ॥ (सं० वि० १४८) अ

"जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके, देव संज्ञा धराके ग्रानन्द की क्रीड़ा करते हैं ग्रीर जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रिया निष्फल हैं।" (स॰ प्र०६६)

अप्र न्यू श्री ट्य न्यः ५६ इलोक का सही अर्थ-प्रचलित टीकाओं में इस इलोक का अर्थ कपोलकिल्पत, असंगत तथा मनु-ग्रसम्मत है। (१) टीकाकार किन्हीं देवताओं की कल्पना कर उनकी प्रसन्नता की बात तो कहते हैं, किन्तु उसके साथ दूसरी पंक्ति की संगति नहीं लगा पाते। ग्रगर पहली पंक्ति में देवताओं की प्रसन्नता की बात है तो दूसरी में नारियों के अनादर से उनकी श्रप्रसन्नता की बात होनी चाहिए थी, किन्तु इलोक में है कि 'उनकी सब क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं।' इस प्रकार उनके ग्रथं में संगति और तालमेल नहीं बैठता। (२) देवताओं की कल्पना मनु की मान्यता के विरुद्ध है [द्रष्टव्य ३। ५२ पर 'देव' विषयक ग्रनुशीलन]। (३) पूजा का अर्थ यहां सत्कार और सम्मान देना है। वस्तुतः यहां 'देवताः' का ग्रथं 'दिव्यगुण' 'दिव्यसन्तान' या 'दिव्यभोग' है। [प्रमाण २। १५१ (२। १७६) पर द्रष्टव्य] यही ग्रथं पूर्वापर प्रसंग से सिद्ध होता है। जहां नारियों का सरकार-सम्मान होता है, वहां नारियां प्रसन्न रहती हैं। उनकी प्रसन्तता से घर का वातावरण प्रसन्न एवं सुख-शान्तिमय होता है। नारी

श्रि [प्रचलित प्रयं — जिस कुल में स्त्रियों की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि द्वारा ग्रादर-सत्कार) होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं ग्रीर जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा नहीं होती, उस कुल में सब कमें निष्फल होते हैं ॥५६॥]

पर ही घर की सुख-शान्ति निर्मेर है [३। ४४, ६०, ६२। ६। २८], वही घर की स्रिष्टिशत्री देवी है [६।२६-२७], माता के रूप में वह निर्मात्री है [६।२६-२८]। इस प्रकार घर की सुख-शान्ति से घर में उत्तम भोग, उत्तम सन्तान, उत्तम शिक्षा, ऐश्वर्य, सुख-सफलता स्रादि दिव्यगुण पनपते हैं। जहां इसके विपरीत नारियो का स्नादर होता है, उस परिवार में स्रशान्तिके कारण सब क्रियास्रों में स्रसफलता प्राप्त होती है। परिवार में उन्नति, सुख स्नादि नहीं हो पाते। इसी भाव की विस्तृत व्याख्या मनु ने स्वयं ३। ४७-४८, ४६, ६० में भी की है।

इस प्रकार इस भाष्य का अर्थ संगत, मनुसम्मत एवं युक्तियुक्त है।

स्त्रियों के शोकग्रस्त रहने से परिवार का विनाश-

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् । न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वंदा ॥ ५७ ॥ (३७)

(यत्र) जिस कुल में (जामयः) स्त्रियाँ (शोचिन्त) श्रपने-श्रपने पुरुषों के वेश्यागमन, श्रत्याचार वा व्यभिचार शादि दोषों से शोकातुर रहती हैं (तत्कुलम् श्राशु विनश्यित) वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाता है (तु) श्रीर (यत्र एताः न शोचिन्ति) जिस कुल में स्त्रीजन पुरुषों के उत्तम श्राचरणों से प्रसन्न रहती हैं (तत् +िह सर्वदा वर्षते) वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।। १७।।

"जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है श्रीर जिस घर वा कुल में स्त्री लोग श्रानन्द से उत्साह श्रीर प्रसन्तता में भरी हुई रहती है, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।" (स॰ प्र॰ ६६)

> जामयो यानि गेहानि शपन्स्यप्रतिपूजिताः । तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥ (३८)

(यानि गेहानि) जिन कुल और घरों में (ग्रप्रतिपूजिताः जामयः) ग्रपू-जित ग्रर्थात् सत्कार को न प्राप्त होकर स्त्रोलोग (शपन्ति) जिन गृहस्थों को शाप देती हैं (तानि) वे कुल तथा गृहस्थ (कृत्याहतानि'+इव) जैसे विष देकर बहुतों को एक बार नाश कर देवें वैसे (समन्ततः विनश्यन्ति) चारों ग्रोर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं ।। ५८ ।। (सं० वि० ५८)

१. 'क्रुत्या' शब्द दुष्क्रिया मर्थ का भी बोधक है। देखिये महर्षि-दयानन्द का वेद-पाष्य (यजु॰ ३५।११) (सम्पादक)

"जो विवाहित स्त्रियां पित, माता, पिता, बन्धु श्रीर देवर श्रादि से दुःखित होके जिन घर वालों को शाप देती हैं, वे जैसे किसी कुटुम्ब भर को विष देके मारने से एक बार सबके सब मर जाते हैं, वैसे उनके पित श्रीदि सब श्रोर से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।" (ऋ० पत्र० वि० ४४४)

हित्रयों का सदा सत्कार-सम्मान रखें—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । मूर्तिकामैर्नरैनित्यं सत्कारेषुत्सवेषु च ॥ ४६ ॥ (३६)

(तस्मात्) इस कारण (भूतिकामैः नरैः) ऐश्वर्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को योग्य है कि (एताः) इन स्त्रियों को (सत्कारेषु च उत्सवेषु) सत्कार के अवसरों और उत्सवों में (भूषण+ग्राच्छादन+ग्रशनैः) भूषण, वस्त्र, खान-पान स्नादि से (सदा पूज्याः) सदा पूजा स्रर्थात् सत्कारयुक्त प्रसन्न रखें।। ५६ ॥ (स० वि० १४८)

"इसलिए ऐश्वयं की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार ग्रीर उत्सव के समय में भूषण, वस्त्र ग्रीर भोजन ग्रादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें।" (स॰ प्र०६६)

पति-पत्नी की परस्पर संतुष्टि से परिवार का कल्याण-

सन्तुष्टो भाषया भर्ता भर्ता भाषां तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वे ध्रुवम् ॥ ६० ॥ (४०)

हे गृहस्थो ! (यस्मिन् कुले) जिस कुल में (भायया भर्ता संतुष्टः तथै। भर्ता भार्या नित्यम्) भार्या से प्रसन्त पति तथा पति से भार्या सदा प्रसन्त रहती है (तत्र वै) उसी कुल में (ध्रुवं कल्याएाम्) निश्चित कल्याएा होता है। ग्रौर दोनों परस्तर ग्रप्रसन्त रहें तो उस कुल में नित्य कलह वास करता है।। ६०।। (सं० वि० १४७)

'जिस कुल में भार्या से भर्ता ग्रीर पित से पत्नी ग्रच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब सीभाग्य ग्रीर ऐश्वर्य निवास करते हैं।

(स० प्र० ६५)

पति-पत्नी में पारस्परिक ग्रप्रसन्नता से सन्तान न होना--

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् । म्रप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥ (४१)

(यदि हि स्त्री न रोचेत) यदि स्त्री पुरुष पर रुचि न रखे (पुमासं न

प्रमोदयेत्) वा पुरुष को प्रहर्षित न करेतो (ग्रप्रमोदात् पुनः पुंसः) ग्रप्रसन्नता से पुरुष के शरीर में (प्रजनं न प्रवर्तते) कामोत्पत्ति न होके संतान नहीं होते ग्रीय होते हैं तो दुष्ट होते हैं ॥ ६१ ॥ (सं० वि० १४७)

''जो स्त्री पति से प्रीति ग्रीर पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के ग्रप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता।'' (स॰ प्र॰ ६५)

स्त्री की प्रसन्नता पर कुल में प्रसन्नता-

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥ ६२॥ (४२)

(स्त्रियां तु रोचमानायाम्) जो पुरुष स्त्री को प्रसन्न नहीं करता तो उस स्त्री के अप्रसन्न रहने से (सर्वम् + एव न रोचते) सब कुल भर अप्रसन्न, शोकानुर रहता है (तु) ग्रीर (स्त्रियां रोचमानायाम्) जब पुरुष से स्त्री प्रसन्न रहती है तब (तत् सर्वं कुलं रोचते) सब कुल ग्रानन्दरूप दीखता है।।। ६२।। (स० वि० १४७)

'स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता है, उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है।'' (स० प्र० ६५)

कुलों को पतित करने वाले कर्म-

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च। कुलान्यकुलतां यान्ति बाह्यागातिक्रमेण च।। ६३।।

(कुविवाहै:) निन्दित विवाहों के करने से (क्रियालोपैः) यज्ञ म्रादि क्रियाग्रों के न करने से (च) ग्रीर (वेद + श्रनघ्ययनेन) वेद के न पढ़ने से (च) तथा (ब्राह्मण् ग्रतिक्रमेण्) ब्राह्मणों का निरादर करने या उनकी ग्राज्ञा न मानने से (कुलानि) सभी कुल (ग्रकुलतां यान्ति) पतित या नष्ट हो जाते हैं।। ६३।।

> शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यंश्च केवलः। गोभिरवंश्च यानेश्च कृष्या राजोपसेवया।। ६४।। भ्रयाज्ययाजनेश्चेव नास्तिक्येन च कर्मणाम्। कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः।। ६४॥

(शिल्पेन) कारीगरी की जीविका करने से (व्यवहारेण) व्यापार करने से (केवलैं: शूद्रा-म्रपत्यैः) केवल शूद्र स्त्री संतानों से (च) ग्रीर (गोभिः च ग्रद्रवैः) गौ, बैल तथा घोड़ों का व्यापार करने से (यानैः) सवारियों का व्यापार करने से या उनसे जीविका चलाने से (कृष्या) कृषि करने से (राजा + उपसेवयाँ) राजा की नौकरी करने से (च) तथा (ग्रयाज्ययाजनैः) यज्ञ कराने के ग्रयोग्य व्यक्तियों कायज्ञ कराने से (कर्मणां

नास्तिक्येन) श्रेष्ठ कर्मों के प्रति नास्तिक भावना रखने से (यानि हीनानि मन्त्रतः) जो परिवार वेदमन्त्रों से रहित हैं (कुलानि + ग्राशु विनश्यन्ति) ऐसे कुल शी घ्र ही नष्ट- अष्ट हो जाते हैं।। ६४,६५।।

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि। कुलसंस्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥ ६६॥॥

(तु) ग्रीर (मन्त्रतः समृद्धानि कुलानि) वेदमन्त्रों से समृद्ध कुल (ग्रल्पधनानि न् ग्रिप) बहुत थोड़े धनवाले होते हुए भी (कुलसंख्यां गच्छन्ति) विशिष्ट कुलों में गिने जाते हैं (च) ग्रीर (महत् + यशः कर्षन्ति) महान् यश को प्राप्त करते हैं ॥ ६६ ॥

अन्तु श्रीत्जनाः ६३ से ६६ तक सभी श्लोक निम्न 'श्राधारों' के श्रनु-सार प्रक्षिप्त हैं—

- १. ग्रन्तिवरोध (१) ६४ वाँ क्लोक मनुस्मृति की ग्रायारभूत त्यवस्था के ही विरुद्ध है। इसमें निर्दिष्ट शिल्प, कृषि एवं पशुरक्षा कमें वैश्य के ग्रीर राजा की सेवा क्षत्रिय का कमें है [१। ८६, ६०॥ ६। ३२४ ३३२ ग्रादि], ग्रीर इन्हीं के ग्राधार पर मनु ने वैश्य ग्रीर क्षत्रिय ग्रादि के वर्णभेद को माना है तथा स्थान-स्थान पर ग्रपने इन कर्त्तं क्यों के पालन से श्रेष्ठ गति की प्राप्ति होना कहा है। इस क्लोक में इनके ग्राधार पर कुल का विनाश मानना मनुस्मृति की ग्राधारभूत व्यवस्था के ही विरुद्ध जाता है। इस प्रकार यह क्लोक प्रक्षिप्त है। ग्रन्य पूर्वापर तीनों क्लोक इससे सम्बद्ध होने के कारण स्वतः प्रक्षिप्त विद्ध हो जाते हैं, क्योंकि ६४ वें की क्रिया ६५ वें में पूर्ण होती है ग्रीर ६६ वें के 'मन्त्रतस्तु समृद्धानि' शब्द ६५ वें के 'यानि हीनानि मन्त्रतः' शब्दों से सम्बद्ध हैं।
- २. प्रसङ्गिवरोध—विवाहों के गुण-ग्रवगुणों, लाभ-हानियों का वर्णन विवाहों के उल्लेख के बाद ३६ ४२ क्लोकों में उक्त हो चुका है, ग्रतः यहाँ पुनः उनका विवेचन करना प्रासंगिक नहीं है। (२) यहाँ पूर्वापर प्रसंग विवाह के पश्चात् स्त्री के साथ कैसा व्यवहार होने से क्या परिणाम होता है [५६–६२], तथा पति-पत्नी के क्या कर्त्तंब्य हैं [६७], इन बातों का है। इस बीच कुलों की उन्नति-प्रवनित का विवेचन संगतसिद्ध नहीं होता।
- ३. पुनरुक्ति—इन क्लोकों में कुछ बातों की पुनरुक्ति मात्र है, यथा—६३ वें क्लोक में उक्त 'क्रियालोपै:' पद की ६५ वें में 'प्रयाज्ययाजनेः नास्तिक्येन च कर्मराम् 'के रूप में तथा ६३ वें क्लोक में पठित 'वेदानध्ययनेन' पद की 'यानि हीनानि मन्त्रतः' के रूप में पुनरुक्ति ही है। इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ मनु—सदश विद्वान् की भाव-गाम्भीयंयुक्त रचनात्रों में उपलब्ध नहीं होतीं। ग्रतः ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।

# (पञ्चमहायज्ञ-विषय)

[३।६७ से ३।२८६ तक]

पञ्चमहायज्ञों का विधान---

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कमं यथाविषि । पञ्चयज्ञविषानं च पाँक चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥ (४३)

(गृही) गृहस्थी पुरुष (वैवाहिके ग्रग्नी) विवाह के समय प्रज्वलित की जाने वाली ग्रग्नि में (गृह्य कर्म यथाविधि) गृहस्थ के सभी कर्त्तव्यों को [जैसे पाचन, याजन ग्रादि] उचित विधि के ग्रनुसार (कुर्वीत) करे (च) ग्रौर (पञ्चयज्ञविधानम्) होम, दैव ग्रादि [३।७०] पांचों यज्ञों को (च) तथा (ग्रान्वाहिकीं पिक्तम्) प्रतिदिन का भोजन पकाना ये भी करे।। ६७।। पञ्चमहायज्ञों के ग्रनुष्ठान का कारण—

> पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोबकुम्भरच बध्यते यास्तु वाहयन्॥ ६८॥ (४४)

(चुल्ली) चूल्हा (पेषणी) चनकी (उपस्करः) भाड़ू (कण्डनी) स्रोखली (च) तथा (उदकुम्भः) पानी का घड़ा (गृहस्थस्य पंच सूनाः) गृहस्थियों के ये पांच हिंसा के स्थान हैं (याः तु वाहयन्) जिनको प्रयोग में लाते हुए गृहस्थी व्यक्ति (बध्यते) हिंसा के पापों से बंध जाता है ॥ ६८ ॥

> तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्ययं महर्षिभः। पञ्च क्लुप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ ६६॥ (४५)

(क्रमेण) क्रम से (तासां सर्वासां निष्कृत्यर्थम्) उन सब [३ । ६ ६] हिंसा दोषों की निवृत्ति या परिशोधन के लिए (गृहमेधिनां प्रत्यहम्) गृहस्थी लोगों के प्रतिदिन करने के लिए (महर्षिभि: पञ्चमहायज्ञाः क्लृप्ताः) महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है ।। ६६ ।।

पञ्चमहायज्ञों के नाम एवं नामान्तर—

भ्रध्यापनं बह्ययज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो देवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥ (४६)

(ग्रध्यापनं ब्रह्मयज्ञः) पढ्ना-पढ़ाना, संध्योपासन करना [सावित्री-मप्यधीयीत २।७६ (२।१०४)] ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है (तु) ग्रीर (तपण पितृयज्ञः) माता-पिता ग्रादि की सेवा-मुश्रूपा तथा भोजन ग्रादि से तृष्ति करना 'पितृयज्ञ' है (होमः दैवः) प्रातः सायं हवन करना 'सेवयज्ञ' है (बिलः भोतः) कोटों, पक्षियों, कुतों ग्रीर कुष्ठी व्यक्तियों तथा भृत्यों ग्रादि ग्राश्रितों को देने के लिए भोजन का भाग बचाकर देना 'भूतयज्ञ' या 'बिल-वैश्वदेवयज्ञ' कहलाता है (ग्रितिथिपूजनम्) ग्रितिथियों को भोजन देना ग्रीर सेवा द्वारा सत्कार करना (नृयज्ञः) 'नृयज्ञ' ग्रथवा 'ग्रितिथियज्ञ' कहाता है ।। ७०।।

## पंचैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैनं लिप्यते॥ ७१॥ (४७)

(यः) जो (एतान् पञ्चमहायज्ञान् शक्तितः न हापयित) इन पाँच महायज्ञों को यथाशक्ति नहीं छोड़ता (सः) वह (गृहे + ग्रिप वसन्) घरमें रहता हुए भी (नित्यम्) प्रतिदिन (सूनादोषैः न लिप्यते) चुल्ली = चूल्हा ग्रादि में हुए हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता [यतो हि यज्ञों के पुण्यों से उनका शमन होता रहता है]।। ७१।।

# देवताऽतिथिमृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः । न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥ (४८)

(यः) जो गृहस्थी व्यक्ति (देवता + म्रतिथि + भृत्यानां पितृणां च म्रात्मनः पञ्चानाम्) प्रग्नि म्रादि देवताम्रों को [हवन के रूप में], म्रतिधियों को [म्रतिथि यज्ञ के रूप में], भरण-पोषण की प्रपेक्षा रखने वाले या दूसरों की सहायता पर ग्राश्रित कुष्ठों, भृत्य ग्रादि के लिए [भूतयज्ञ या बिलवंश्वदेव यज्ञ के रूप में], माता-पिता, पितामह ग्रादि के लिए [पितृ-यज्ञ के रूप में] ग्रीर ग्रपनो ग्रात्मा के लिए [ब्रह्मयज्ञ के रूप में] इन पांचों के लिए (न निवंपति) उनके भागों को नहीं देता है, ग्रर्थात् पांच देनिक महायज्ञों को नहीं करता है (सः) वह (उच्छ्वसन् न जीवित) सांस लेते हुए भी वास्तव में नहीं जीता ग्रर्थात् मरे हुए व्यक्ति के समान है।। ७२।।

पञ्चयज्ञों के नामान्तर---

#### श्रहुतं च हुतं चेव तथा प्रहुतमेव च। बाह्यचं हुतं प्राश्चितं च पंचयज्ञान्त्रचक्षते ॥ ७३ ॥ (४६)

(पञ्चयज्ञान्) इन पांच यज्ञों को (ग्रहुतं हुतं प्रहुतं ब्राह्मचं हुतं च प्राशितं एव) 'ग्रहुत', 'हुत', 'प्रहुत', 'ब्राह्मचहुत' ग्रोर प्राशित भी (प्रचक्षते) कहते हैं ॥ ७३ ॥ जपोऽहृतो हुतो होमः प्रहृतो मौतिको बलिः। बाह्मचं हुतं द्विजाग्रचार्चा प्राशितं पितृतपंगम् ॥ ७४॥ (५०)

(म्रहुतः जपः) 'म्रहुत' 'जपयज्ञ' म्रर्थात् 'म्रह्मयज्ञ' को कहते हैं (हुतः होमः) 'हुतः' होम प्रर्थात् 'देवयज्ञ' है (म्रहुतः भौतिकः बिलः) 'प्रहुत' भूतों के लिए भोजन का भाग रखना म्रर्थात् 'भूतयज्ञ' या 'बिलवेश्वदेवयज्ञ' है (म्राह्मच हुतम्) 'म्राह्मचहुत' (द्विजामचार्चा) विद्वानों की सेवा करना म्रर्थात् 'म्रितिथयज्ञ' है (प्राश्चितं पितृतपंणम्) 'प्राश्चित' माता-पिता म्रादि का तपंण चत्रित करना 'पितृयज्ञ' है ।। ७४।।

द्रह्मयज्ञ एवं ग्रग्निहोत्र का विधान---

स्वाघ्याये नित्ययुक्तः स्याद्देवे चैवेह कर्मणि । दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७४ ॥ (४१)

(स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्) मनुष्य को चाहिए कि वह पढ़ने-पढ़ाने ग्रीर संघ्योपासन ग्रर्थात् ब्रह्मयज्ञ में नित्य लगा रहे ग्रर्थात् प्रतिदिन ग्रवश्य करे (च) ग्रीर (दैवे कर्मिंगा एव) देवकर्म ग्रर्थात् ग्रिग्नहोत्र भी ग्रवश्य करे (हि) क्योंकि (इह) इस संसार में रहते हुए (दैवकर्मण युक्तः) ग्रिग्न-होत्र करनेवाला व्यक्ति (इदं चर + ग्रचरं बिभित्) इस समस्त चेतन ग्रीर जड़ जगत् का पालन-पोषण करता है।। ७५।।

अर न्यु कारित्जनाः प्रिग्निहोत्र से जल-वायु की शुद्धि होकर भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और उससे प्रजायों तथा ग्रन्य पदार्थों का कल्याण होता है। इस प्रकार चर श्रीर ग्रचर जगत् का पोषएा होता है। ग्रगले ही क्लोक में इसका स्पष्टी-करण है।

ग्रग्निहोत्र से लाभ---

म्रानी प्रास्ताहृतिः सम्यगावित्यमुपतिष्ठते । मावित्याष्ट्रायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥ (५२)

[वह पालन-पोषण और भला इस प्रकार होता है] (अग्नी सम्यक् प्रास्ता+ग्राहुति:) ग्राग्न में ग्रच्छी प्रकार डाली हुई घृत ग्रादि पदार्थों की ग्राहुति (ग्रादित्यम् + उपतिष्ठते) सूर्य को प्राप्त होती है-सूर्य की किरणों से बातावरण में मिलकर अपना प्रभाव डालती है, फिर (ग्रादित्यात् + जायते वृष्टि:) सूर्य से वृष्टि होती है (वृष्टे: + ग्रन्नम्) वृष्टि से ग्रन्न पैदा होता है (तत: प्रजा:) उससे प्रजाभों का पालन-पोषण होता है।। ७६।।

अंद्रेज्य का उपकार होता है। इसको स्पष्ट करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"प्रश्न-स्या इस होम करने के बिना पाप होता है?

उत्तर—हां, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध पैदा होके वायु श्रीर जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थं उतना सुगन्य वा उससे श्रधिक वायु श्रीर जला में फैलाना चाहिए।"

(स॰ प्र॰ तृतीय समु॰ होम प्रकरण)

गृहस्थाश्रम की महत्ता एवं ज्येष्ठता---

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व स्राश्रमाः॥ ७७॥ (५३)

(यथा वायुं समाश्रित्य) जैसे वायु के ग्राश्रय से (सर्वजन्तवः वर्तन्ते) सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है (तथा) वैसे ही (गृहस्थम् +ग्राश्रित्य) गृहस्थ के ग्राश्रय से (सर्वे +ग्राश्रमाः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ ग्रीर संन्यासी ग्रथित् सब ग्राश्रमों का (वर्त्तन्ते) निर्वाह होता है ॥ ७७ ॥ (सं० वि० १४६)

> यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिर्गो दानेनान्नेन चान्वहम् । गृहस्थेतेव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥ (५४)

(यस्मात्) जिस से (त्रयः + ग्रपि + आश्रिमिणः) ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ ग्रीर सन्यासी, इन तीन ग्राश्रिमियों को (ग्रन्नेन दानेन ग्रन्वहम्) ग्रन्त-वस्त्रादि दान से नित्यप्रति (गृहस्थेन + एव धार्यन्ते) गृहस्थ धारण-पोषण करता है (तस्मात्) इसलिए (गृही-ग्राश्रमः ज्येष्ठः) व्यवहार में गृहाश्रम सवसे बड़ा है ॥ ७८ ॥ (सं० वि० १४६)

'जिससे गृहस्य ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ स्रौर संन्यासी तीन स्राश्रमों को दान स्रौर स्रन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही घारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है स्रर्थात् सब व्यवहारों में घुरंघर कहाता है।''

(स० प्र० १२२)

आनुरारित्जनाः गृहस्यो की ज्येष्ठता-सम्बन्धी मान्यता का कथन तथा ७७ श्लोक के समान ग्रालकारिक विधि में वर्णन ६। ८६-६० में द्रष्टव्य है।

गृहस्य के योग्य कौन---

स सन्धायः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिष्य्वता । सुखं चेहेच्छता निस्यं योऽघार्यो दुवंलेन्द्रियः ॥ ७६ ॥ (५४) स्त्री-पुरुषो ! जो तुम (ग्रक्षयं स्वर्गम् इच्छता च सुखम् इच्छता) श्रक्षय र मुक्ति-सुल श्रीर इस संसार के सुल की इच्छा रखते हो (यः दुर्ब-लेन्द्रियः ग्रवार्यः) जो दुर्बलेन्द्रिय श्रीर निर्बुद्धि पुरुषों के घारण करने योग्य नहों है (सः नित्यं प्रयत्नेन संघार्यः) उस गृहाश्रम को नित्य प्रयत्न से घारण करो ।। ७६ ।। (सं० वि० १५०)

''इसलिए जो मोक्ष ग्रौर संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का घारण करे।।'' (स० प्र० १२२)

अद्भुश्री टा : स्वर्ग से प्रिमिप्राय—इस श्लोक के प्रसंग में यहां मनु की स्वर्ग या स्वर्गलोक-सम्बन्धी मान्यताग्रों को स्पष्ट करदेना उपयोगी होगा, क्योंकि प्रायः इस सम्बन्ध में भ्रान्ति पायी जाती है। मनुस्मृति की मान्यताग्रों के सन्दर्भ में भी वह भ्रान्ति न हो, इसलिए यहां इस विषय पर विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। मनु इस संसार से भिन्न कोई स्वर्ग या नरकलोक नहीं मानते। सुख की प्राप्ति का नाम स्वर्ग है ग्रीर दु:ख की प्राप्ति का नाम नरक है, जो इसी संसार में जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। इसमें प्रमाण हैं—

- (१) मनु ने 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग इहसुख ग्रौर मोक्षसुख दोनों सुखों के लिए किया है। इस क्लोक में ग्रक्षय सुख ग्रर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग है ग्रौर उसके पर्यायवाची रूप में इहसुख के लिए 'सुख' का प्रयोग है।
- (२) मुख के ग्रर्थया पर्यायवाची रूप में ग्रन्यत्र भी स्वर्गशब्द का प्रयोग किया है—
  - (क) ''ग्रस्वर्ग्यं चातिमोजनम्।'' २। ३२ [२। ५७]
  - (ख) ''दाराधीनस्तथा स्वर्गः जितृगामात्मनश्च ह ।'' १ । २८ ॥
  - (ग) ''स्वर्ग-म्रायुष्य-यशस्यानि वतःनीमानि घारयेत्।'' ४ । १३ ॥
  - (३) ग्रक्षय सुख ग्रर्थात् मोक्षसुख के लिए स्वर्ग का प्रयोग---
    - (क) प्रस्तुत ३। ७६ इलोक में "स्वर्गमक्षयमिच्छता"।
    - (स) इदमन्विच्छतां स्वर्गम्, इदमानन्त्यमिच्छताम् ।" ६ । ५४ ॥
- (४) मनु ने १२। ६, ३६-५२ इलोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कर्मों के ग्रनुसार प्राप्त होने दाली योनियों का वर्णन किया है। उस प्रसंग में स्वर्गलोक या स्वर्गयोनि विशेष का कोई उल्लेख नहीं है।
- (प्र) ब्याकरणः शास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ-गतौ' धानु से '**ड प्रकरणेऽन्येस्विप दृस्यते** ग्र० ३ । २ ४≍ वार्तिकसूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता

हु प्रक्षय इतना ही मात्र है कि जितना समय मुक्ति का है। उतने समय में दु:ख का संयोग, जैसे विषयेन्द्रिय के संयोगजन्य सुख में होता, वैसा नहीं होता। ' (ऋषि दया० सं० वि० टिप्पणी गृहास्थाश्रम प्रकरण)

है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थं होते हैं। 'स्वः' सुख का अनुभव होना, सुख में प्रविष्ट होना, सुख की प्राप्ति होना ही स्वर्ग अर्थात् सुख है।

(६) इसी प्रकार 'स्वर्गलोक' का ग्रथं है। 'लोक्न दर्शने' धातु से लोक शब्द बनता है, जिसका ग्रथं 'स्थान' है। जहां स्वर्ग प्राप्त होता है-सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है। नरकसम्बन्धी विवेचन ४। ६१ की ग्रन्तिविरोध समीक्षा में देखिए।

## ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिष्यस्तया। स्राज्ञासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विज्ञानता ॥ ८० ॥ (५६)

(ऋषयः पितरः देवाः भूतानि तथा म्रतिथयः) ऋषि-मुनि लोग, माता पिता, ग्राग्नि ग्रादि देवता, भृत्य तथा कुष्ठी म्रादि ग्रीर ग्रातिथि लोग (कुटुम्बिभ्यः ग्राशासते) गृहस्थों से ही ग्राशा रखते हैं ग्रथीत् सहायता की म्रपेक्षा रखते हैं (विजानता तेभ्यः कार्यम्) ग्राप्ते गृहस्थ-सम्बन्धी व र्त्तव्यों को समभने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह इनके लिए सहायता कार्य करे।। = 0।।

आनुर्योत्जनः ऋषि, देवता, देव ग्रौर पितर के ग्रथंज्ञान के लिए ३।८२ की समीक्षा देखिए।

पञ्चयज्ञों के मुख्य कर्म-

### स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन्होमेर्देवान्यथाविधि । पितृन्श्राद्धेश्च नृनन्तेमू तानि बलिकमंगा।। ८१।। (४७)

(स्वाध्यायेन ऋषीन्) स्वाध्याय से ऋषिपूजन (यथाविधि होमैं: देवान्) यथाविधि होम से देवपूजन (श्राद्धैः पितृन्) श्राद्धों से पितृपूजन (ग्रन्नैः नृन्) ग्रन्तों से मनुष्यपूजन (च) ग्रौर (विलक्सणा भूतानि) वैश्वदेव विल से प्राणो मात्र का सत्कार करना चाहिए ॥ ८१ ॥ (द० ल० ग्र० २३)

अन्तुर्शीत्जनः इस श्लोक पर महर्षि दयानन्द ने प्रकाश डालते हुए लिखा है—

(१) ''इन क्लोकों से क्या ग्राया कि होम जो है, सो ही देवपूजा है, ग्रन्य कोई नहीं। ग्रीर होमस्थान जितने हैं, वे ही देवालयादिक शब्दों से लिए जाते हैं।

पूजा नाम सत्कार । क्योंकि **'अतिथिपूजनम्' 'होमैर्देवानचंग्रेत्'**— स्रतिथियों का पूजन नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर स्रौर मन्त्र, इन्हीं का सत्कार, इसका नाम है पूजा, ग्रन्थ का नहीं।'' (द० शा० ५४)

'इस कथन से <mark>प्रवाचीन देवालय प्रयात् मन्दिरों को कोई न समके, देवा</mark>लय का प्रयं तो यज्ञ्याला ही है ।" (पू॰ प्र० ६७) श्राद्ध का अर्थ है-श्रद्धा से किया गया कार्य, जैसे श्रद्धापूर्वक माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करना, भोजन देना आदि। यही पितरों का तर्पण या पित्यज्ञ है।

(२) स्वाध्याय-विषयक विस्तृत विवेचन एवं ग्रर्थं ३। ८२ पर देखिए। पितृयज्ञ का विधान—

> कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा । पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥ (५८)

गृहस्थ व्यक्ति (ग्रन्नाद्येन वा उदकेन ग्रपि वा पयः + मूल + फलैः) ग्रन्न ग्रादि मोज्य पदार्थों से ग्रीर जल तथा दूध से कन्दमूल, फल ग्रादि से (पितृम्यः प्रीतिम् ग्रावहन्) माता-पिता ग्रादि बुजुर्गों से ग्रत्यन्त प्रेम करते हुए (ग्रहः + ग्रहः श्राद्धं कुर्यात्) प्रतिदिन श्राद्ध = श्रद्धा से किये जाने वाले सेवा-सुश्रूषा, भोजन देना ग्रादि व र्तंव्य करे।। ८२।।

अरन्तु क्री कि ना : यहाँ पितृयज्ञ पर विस्तार से विचार किया जा रहा है। इससे श्राह श्रीर तर्पणविषयक बातों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ेगा तथा मृतकश्राह श्रीर तर्पण सम्बन्धी श्रान्तियाँ भी दूर हो सकेंगी। तीसरा 'पितृयज्ञ' श्रथीत् जिसमें जो देव, विद्वान्, ऋषि जो पढ़ने-पढ़ाने हारे पितर माता-पितादि वृद्ध ज्ञानी श्रीर परम योगियों की सेवा करनी होती है। इस विषय में विस्तृत विवेचन किया जाता है—पितृयज्ञ के दो भेद हैं—एक तर्पण, दूसरा श्राह । 'येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितृ इच तर्पयन्ति — सुखयन्ति तत्तर्पणम्'। श्रथात् जिस कर्म से विद्वान्रू पदेव, ऋषि श्रीर पितरों को सुखयुक्त करते हैं, उसे तर्पण कहते हैं,। 'यसेषां श्रद्धया सेचनं क्रियते' तत् 'श्राह्म्'। श्रयात् जो इन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, वह श्राह्म कहाता है। यह तर्पण श्रादि कर्म विद्यमान श्रयात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतको में नहीं। क्यों के, उनकी प्राप्ति श्रीर उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। श्रीर जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिए मृतकों को सुख पहुँचाना सर्वथा श्रसम्भव है……तर्पण श्रादि कमं में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि श्रीर पितर।" (द० ल० ग्र० मं० २४५)

#### (१) 'वितर' से म्रिभिशय--

विद्या, सुशिक्षा म्रादि से पालन-पोषण मीर रक्षण करत है के फितर कहलात है के देखल बाह्मणों के प्रमाण द्रष्टक्य हैं—

- (अ) "देवा वा एते पितरः" (गो० उ०१। २४)
- (आ) "स्विष्टकृतो वं पितरः" (गो० उ०१। २५)

ग्रर्थात् सुखसुविधाश्रों द्वारा पालन-पोषण करने वाले ग्रौर हितसम्पादन करने वाले विद्वान व्यक्ति 'पितर' कहलाते हैं। (इ) 'मर्त्याः पितरः' (श०२।१।३।४) मनुष्य ही 'पितर' हैं श्रथित मृत नहीं।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि मृत पितरों की मान्यता मात्र कल्पना श्रौर भ्रान्ति है। माता-पिता-पितामह-स्राचार्य श्रादि ही 'पितर' कहलाते हैं।

मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर इन्हीं व्यक्तियों को पितर कहा है। ४। २५७ में उनके ऋण से उर्ऋण होने के लिए कहा है— महींब-पितृ-देवानां गरवानृष्यं यथाविधि। यह जीवितों के साथ ही सम्भव हो सकता है। मनुस्मृति के ग्रन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

- (ई) ब्रध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः । पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ २ । १२६ ॥
- (ড) वितरहचैव साध्याइच द्वितीया सास्विकी गतिः ॥ १२ । ४६ ॥
- (ऊ) पितृदेवमनुष्यारगां वेदचक्षुः सनातनम् ॥ १२ । ६४ ॥
- (ए) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृगामारमनक्ष ह ॥ ६ । २८ ॥
- (ऐ) ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा। स्राज्ञासते कुटुम्बिम्यस्तेम्यः कार्यं विजानता ॥ ३ । ८० ॥

मनु ने ४। ३०—३१ में जीवित, धार्मिक, वेदिवत् विद्वानों को ही हव्य-कव्य देने का विधान किया है। वे श्लोक मनु की इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि हव्य-कव्य जीवित व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। यही श्राद्ध है। हव्य-कव्य ग्रादि श्राद्ध-सम्बन्धी बातों का मृतक पितृश्राद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं।

(ग्रौ) पितरों में वेद का प्रमाण ---

ऊजं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्नुहम् । स्वधास्य तपंयत मे पितृन् ॥ (यजु०२।३४)

"अर्थ — पिता वा स्वामी ग्रपने पौत्र, स्त्री, नौकरों को सब दिन के लिए ग्राज्ञा देके कहे कि — (तर्पयत मे पितृन्) जो मेरे पिता पितामह ग्रादि, माता, मातामह ग्रादि तथा ग्राचार्य ग्रीर इनसे भिन्न भी िद्धान् लोग ग्रवस्था ग्रथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सबकी ग्रात्माग्रों को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के हिंदी को उत्तय-उत्तय जल (ग्रमृतम्) ग्रनेक विध रस (ग्रुतम्) विभ (विश्व) दूव कोलालम्) ग्रनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तय-

पं (नियः) दूष ्कालालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्नुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रही (स्वधास्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो ! तुम सब हमारे श्रमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो।" (द० ल० ग्र० सं० २४४—२४४)

(ग्रं) पितरों की गएना ग्रीर उनका श्रमिप्राय-

''जिनकी पितृसंज्ञा है श्रीर जो सेवा के योग्य हैं वे निम्न हैं—

- १—सोमसदः—'सोमें ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति ये सोमगुरणाश्च' ते 'सोमसदः' = जो ईश्वर श्रीर सोमयज्ञ में निपुण श्रीर शान्ति श्रादि गुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं।
- २—ग्रिग्निष्वात्ताः—'अग्निरीक्ष्वरः सुष्ठुतया ग्राप्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा श्रग्ने-गुँगाज्ञानात् पृथिवी = जल-ध्योम-यान-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुहत्या श्राप्ता गृहीता यैः' ते 'ग्रग्निष्वात्ताः' = ग्रग्नि जो परमेक्ष्वर वा भौतिक ग्रग्नि, उनके गुणज्ञात करके जिन्होंने ग्रन्छे प्रकार ग्रग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'ग्रग्निष्वात्त' कहते हैं।
- ३. बहिषद: बहिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मिए। शम-दमादिषूत्रमेषु गुरोषु वा सीदिन्त' ते 'बहिषदः' == जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य, विद्या ब्रादि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बहिषद्' कहते हैं।
- ४—सोमपा:—'यज्ञेन उत्तमौषधिरसं पिकिति पाययिति वा' ते 'सोमपाः' = जो यज्ञ करके सोमलता ग्रादि उत्तम ग्रौषिघयों के रस के पान करने ग्रौर कराने वाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।
- ५— हिबर्भुजः—'हिबर्हुतमेव यक्तेन शोधितवृष्टिजलादिकं मोक्तुं मोजियतुं वा शीलमेपां' ते 'हिबर्भुजः' = जो ग्रग्निहोत्र ग्रादि यज्ञ करके वायु ग्रीर वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब जगत् का उपकार करते ग्रीर जो यज्ञ से ग्रन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हिविर्भुज्' कहते हैं।
- ६—आज्यपाः— 'आज्यं घृतम्, यद्वा 'म्रज् गतिक्षेपरायोः' धात्वर्थात् म्राज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वासः' ते 'आज्यपाः' = घृत, स्निग्धपदार्थं भ्रौर विज्ञान को कहते हैं। जो उनके दान से रक्षा करने वाले हैं, उसको 'म्राज्यप' कहते हैं।
- ७— मुकालिन:— 'ईश्वरिव द्योपदेशकर एस्य ग्रह एस्य च शोभनः कालो येदां ते। यदा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या मुखरूपः सदैव कालो येदां ते 'मुकालिनः' = मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर स्रीर सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय स्रीर जो सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको सुकालिन्' कहते हैं।
- ५—यमराजाः—'ये पक्षपातं विहाय न्यायब्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति' ते 'यमराजाः'—जो पक्षपात को छोड़कर सदा सत्य न्यायब्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं।
- एतृ-िषतामह-प्रिपतामहाः—(िषतृ) 'ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् वि दुषो गुराान्
   वासयन्तः तत्र वसन्तश्च, विज्ञानादि अनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च,

चतुर्विकातिवर्षपंग्तेन ब्रह्मचरेंण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाइच सन्ति, ते पितरः 'वसवः' विक्रे या ईक्वरोऽपि' = जो वीर्यं के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे ग्रीर चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' अथवा 'वसु' है। (पितामह) 'ये पक्षपातरिहता बुष्टान् रोदयग्तः चतुक्कस्वारिकात् वर्षपर्यग्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासाः ते 'रुद्राः' स्वे पितामहाक्षच ग्राह्याः तथा रुद्र ईक्वरोऽपि' = जो पिता का पिता हो ग्रीर चवालीस वर्ष पर्यग्तंन ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरिहत होकर दुष्टों को रुलाने वाला है, उसका नाम 'पितामह' ग्रीर 'रुद्र' है। (प्रिपितामह) 'ग्रादित्यवत् उत्तमगुण प्रकाशका' विद्वांसो ऽष्टचत्वारिकात् वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पग्नाः सूर्यवत् विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपिता महाक्ष ग्राह्याः तथा आदित्यो ऽविनाक्षीक्ष्यरो वात्र गृह्यते' = जो पितामह का पिता ग्रीर ग्रादित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक ग्रहतालीस वर्ष पर्यन्त बह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब जगत् का उनकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' ग्रथवा 'ग्रादित्य ' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरु में उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

- १०—मातृ-पितामही-प्रिपतामह्यः—पित्राविसदृश्यो मात्रावयः सेव्याः = पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये। माता, वादी, परदादी ग्रादि।
- ११—सगोत्राः—'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः' = जो समीपवर्तीं ज्ञाति के पूरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं।
- १२—म्राचार्यादिसम्बन्धिनः—'ये गुर्वादिसख्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः'—जो पूर्णविद्या के पढ़ाने वाले श्रौर श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए"। (द० ल० ग्रं० २४५—२५५)

इस प्रकार उपर्युक्त गुण वाले जीवित व्यक्तियों को ही 'पितर' कहा जाता है, उनकी सेवा करनी ही पितृयज्ञ है। मृतपितरों की कल्पना भ्रान्ति एवं ग्रज्ञानता है। (२) 'देव' से ग्रमिप्राय—

'दिवु = क्रीड़ा-विजिगीया-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्त-कान्ति-गतिषु' (दिवादि) घातु से 'पचाद्यच्' से 'अव् वृ' प्रत्यय अयवा 'दिवु मदंते' (चुरादि) या 'दिवु परिकूजने' (चुरादि) घातु से 'अच्' प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्त होता है। देव जड़ श्रीर चेतन दो प्रकार के होते हैं (विस्तृत विवरण १। ६७ की समीक्षा में देखिए)। इस श्लोक में देव शब्द से चेतन देव श्रभीष्ट हैं। शतपथ में श्राता हैं—

(म्र) "द्वयं वाऽइवं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा म्रनृतं मनुष्याः 'इवमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येम्य देवानुपैति ।

(शतपथ १।१।१।४---४)

''दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञाएं होती हैं श्रयात् देव और मनुष्य। वहां सत्य श्रीर भूठ दो कारण हैं। जो सत्य बोलने, सत्य मानने श्रीर सत्य कर्म करने वाले हैं वे 'देव' श्रीर वैसे ही भूठ मानने श्रीर भूठ कर्म करने वाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो भूठ से श्रलग होके सत्य को प्राप्त होवें वे देवजाति में गिने जाते हैं।''

(द० ल० ग्र० सं० २४५—२५५)

- (आ) विद्वांसो हि देवाः (शत०३।७।६।१०)
- (इ) ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः ॥

(शत०२।४।३।१४॥

(ई) सत्यसंहिता व देवाः (ऐ० ब्रा० १। १६)

स्रयात् विद्वान् मनुष्यों को देव कहते हैं। निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है — ''देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो मनतीति दा। यो देवः स देवता'' [निरु० ७।१५] स्रयात् दान देने से, दीप्त होने से, प्रकाशित करने से, दुस्थानीय होने से 'देव' कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्यास्रों से प्रकाशित और विद्यास्रों का दान देने वाले, दिव्यगुए। एवं उत्तन स्राचरए। वाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है।

मनुस्मृति में ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। निम्न क्लोक द्रष्टव्य हैं—

- (उ) ते तमर्यमपुच्छन्त देवानागतमन्यवः । देवाद्यतन्त्रसमेत्योसन्याय्यं वः शिशुख्कतवान् ॥ २ । १२७ ॥
- (क) न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः । यो वं युवाऽप्यषीयानस्तं देवाः स्थविरं त्रिदुः ॥ २ । १३१ ।।

#### (३) ऋषि से अभिप्राय---

'ऋषी गती' धातु से 'इन्' प्रत्यय श्रीर 'इगुपधात् कित्' के योग से 'ऋषि' शब्द की सिद्धि होती है। गित के ज्ञान, गमन श्रीर प्राप्ति, ये तीन श्रयें हैं। ऋषि सबसे उच्च-स्तर का विद्वान् व्यक्ति होता है। वेदमन्त्रों के श्रयों का द्रष्टा, धर्म श्रीर ईश्वर का साक्षात्कार करने वाला ग्राप्तपुरुष ऋषि कहलाता है। वेद, वेदायों ग्रीर विद्याग्रों के गूढ़ ज्ञान को प्रत्यक्ष कराने की योग्यता उसमें होती है। वही धर्मोपदेष्टा होता है।

- (क) निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है—ऋषिः दर्शनात्। स्तोमान् दवर्श इत्यौपमन्यवः।" [निरु० २। ११] अर्थात् ऋषि वेदायों श्रीर विद्याश्रों के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने-कराने वाला होता है। श्रीपमन्यव श्राचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से ऋषि होता है। इसी प्रकार 'साक्षात्कृतधर्मागः ऋषयोः बसूवः।" श्रयत् ऋषि धर्म श्रीर ईश्वर के साक्षात्कर्ता होते हैं। [निरु० १। २०]।
  - (ल) ब्राह्मणों में भी ऋषि की यही विशेषताएं वर्णित की हैं—

- (अ) "यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः।" (श०४।३।४। १६)
- (आ) "एते वै विन्ना यहषयः।" (श०१।४।२।७)
- (ग) महर्षि मनु ने भी ऋषिचर्चा के प्रसंग में इन्हीं विशेषताश्रों का उल्लेख किया है—
  - (इ) न हायनैर्नपिलतैः न वित्तेन न च बन्धुमिः। ऋष्ययःचकिरे धर्म योऽनूचानः स नो महान्।। २ । १२६ ।।
  - (ई) ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वात् दीर्घमायुरवाप्नुयुः । प्रज्ञां यशस्य कीति च ज्ञह्मवर्षसमेव च ॥ ४ । ६४ ॥
  - (उ) ब्रावं धर्मीपवेशम् च।। १२। १०६॥
- (ऊ) ''म्रथ यदेवानुव्रवीत । तेर्नाषम्य ऋगं जायते, तद्ध्येम्य एतत् करोत्यू-षीगां निधिगोप इति ह्यनुचानमाहः ॥" (शत० १।७।५।३)

"श्रथार्षेयं प्रवृशीते । ऋषिम्यःचैवेनमेतद्देवेम्यःच निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृशीते ।।" (शत० १ । ४ । ३ )

"श्रयं—सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है 'ऋषिकमं' कहाता है, उस पढ़ने श्रीर पढ़ाने से ऋषियों का ऋण श्रयात् उनको उत्तम-उत्तम पदायं देने से निवृत्त होता है ग्रीर जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार श्रयात् विद्याकोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याशों को जानके सबको पढ़ाता है; उसको 'ऋषि' कहते हैं।

जो पढ़के, पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो प्रार्थेय प्रयत्ति ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुग्रा उन ऋषियों ग्रीर देवों के लिए प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् ग्रति पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् ग्रीर विद्या को ग्रहण करने वाला है उसका 'ऋषि' नाम होता है।" (द० ल० ग्र० सं० २४५–२४४)

इस प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन से यह सिद्ध हो गया है कि पितर, ऋषि, देव जीवित मनुष्यों के स्तरविशेष पर ग्राधारित या विशेषगुणों के ग्राधार पर रखी गई संज्ञाएं हैं। संक्षेप में विद्या के प्रत्यक्षदर्शन के प्रमुख गुण वाले 'ऋषि', ग्राचरण में दिव्य-गुणों की प्रधानता के गुण वाले विद्वान् 'देव' ग्रीर पालक गुण वाले वयोवृद्ध विद्वान् या पिता ग्रादि 'पितर' हैं।

पितृयज्ञ ग्रीर बलिवैश्वदेव में किसको जिमाये---

एकमप्याशयेद्विप्रं भित्रर्थे पाञ्चयक्तिके । न चैवात्राशयेत्कञ्चिद्धदेववेवं प्रति द्विजम् ॥ ५३ ॥

(पाञ्चयाज्ञिके पित्रर्थे) प्रतिदिन के पांच यंज्ञों के अन्तर्गत आने वाले पितृयज्ञ के

निमित्त तो चाहे (एकम् + म्रिप विप्रम् श्राशयेत्) एक भी विद्वान् ब्राह्मण को जिमादे = भोजन खिला दे (च + एव) किन्तु (वैश्वदेवं प्रति) बलिवैश्वदेव यज्ञ के निमित्त (कंचित् द्विजं न त्राशयेत्) किसी ब्राह्मण को भोजन न कराये ॥ ८३ ॥

## अन्तुर्शीत्उनः यह श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

१. ग्रन्तिवरोध—(१) ६२ वें श्लोक में दैनिक रूप से ग्रन्त, जल, फल-मूल ग्रादि से पितरों के लिए श्राद्ध करने का कथन है, जिसका ग्रिभिप्राय माता-पिता ग्रादि वयोवृद्धों की सेवा-सुश्रूषा करना है। मनु ने वयोवृद्धों को ही 'पितर' कहा है, देखिए २।१२६ [२।१५१] में 'पितृन्' शब्द के प्रयोग को। इस श्लोक में न तो ब्राह्मणों को जिमाने की ही चर्चा है ग्रीर न ही ब्राह्मणों का भोजन कराने का कोई प्रसंग। ग्रतः ६३ वें श्लोक में पितृयज्ञ में एक ब्राह्मण को भोजन कराने का कथन करना ६२ वें श्लोक के विरुद्ध है। (२) ६३ वें श्लोक में पितरों के लिए एक ब्राह्मण को भोजन कराने का कथन करना मृतकश्राद्ध की मान्यता पर ग्राधारित है, यह मान्यता मनुविरुद्ध है [देखिए ३।११६ से २६४ श्लोकों पर ग्रन्तिवरोध समीक्षा]। (३) इसी प्रकार वैश्वदेव यज्ञ में ब्राह्मण को भोजन कराने का निषेध करना भी व्यवस्था से तालमेल नहीं खाता, क्योंकि ६४—६२ श्लोकों में वैश्वदेव यज्ञ के विधान में जिमाने या न जिमाने का कोई उल्लेख नहीं है ग्रीर इस यज्ञ में ब्राह्मण को जिमाने या न जिमाने के कथन की कोई संगति ही नहीं है, क्योंकि यह तो भूतों के लिए मात्र बिल निकालकर रखने का यज्ञ है। इस प्रकार यह श्लोक इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर प्रक्षिप्त है।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान-

## वैश्ववेवस्य सिद्धस्य गृह्योऽग्नौ विधिपूर्वकम् । म्राम्यः कुर्याद्वेवताम्यो बाह्यसो होममन्वहम् ॥ ८४॥ (५९)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण एवं द्विज व्यक्ति (गृह्ये अग्नौ) पाकशाला की अग्नि में (विधिपूर्वकम्) विधिपूर्वक (सिद्धस्य वैद्यवेदस्य) सिद्ध=तैयार हुए बिलवेश्वदेव यज्ञ के भाग वाले भोजन का (अन्वहम्) प्रतिदिन (आम्यः देवताम्यः होमं कुर्यात्) इन देवताश्रों = ईश्वरीय दिव्यगुणों के चिन्तन-पूर्वक आहुति देकर हवन करे।। इ४।।

"चौथा वैश्वदेव—ग्रर्थात जब भोजन सिद्ध हो तब जो कुछ भोजनार्थ वने उसमें से खट्टा लवणान्त ग्रोर क्षार को छोड़के घृत, मिष्टयुक्त ग्रन्न लेकर चूल्हे से ग्रग्नि ग्रलग घर निम्नलिखित मन्त्रों से विनयपूर्वक होम नित्य करे (सत्यार्थ • चतुर्थ समु •)

अन्य कारित जन्म : यज्ञ में लवरणान्न की साहुति नहीं—यज्ञ में लवरण-युक्त पदार्थ की साहुति डालने का विधान नहीं है। लवरणयुक्त भोजन को स्वयं के लिए प्रयोग करना चाहिए स्रौर लवरारहित ग्रन्न, पदार्थ, मिष्टान्न स्रादि की यज्ञ में स्राहुति देनी चाहिए। मनु ने ६। १२ में यह मान्यता स्पष्ट की है।

> भ्रानेः सोमस्य चैवादौ तयोऽचैव समस्तयोः। विश्वेभ्यदचैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च॥ ८४॥ (६०)

(ब्रादो) प्रथम (ब्रग्ने: सोमस्य च एव) ब्रग्नि = पूज्य परमेश्वर श्रोर सोम = सव पदार्थों को उत्पन्न श्रोर पुष्ट करके सुख देने वाले 'सोमरूप' परमात्मदेव के लिए ['श्रोम् अग्नये स्वाहा' 'श्रो सोमाय स्वाहा' इन मन्त्रों द्वारा] (च) श्रोर (तयोः समस्तयोः) उन्हीं देवों के सर्वत्र व्याप्त रूपों के लिए सयुक्त रूपों [ श्रोम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहां इस मन्त्र के द्वारा] श्रग्नि = जो प्राण् अर्थात् सब प्राणियों के जीवन का हेतु है श्रोर सोम = जो अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है (च) श्रोर (विश्वेभ्यः देवेभ्यः एव) विश्वदेवों = सतार को प्रकाशित या संचालित करनेवाले ईश्वरीय गुणों के लिए ['श्रों विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहां इस मन्त्र द्वारा] (च) तथा (धन्वन्तरये एव) धन्वन्तरि = जन्म-मरण श्रादि के अवसर पर श्राने वाले रोगों का नाश करने वाले ईश्वर के गुण के लिए ['श्रों धन्वन्तरये स्वाहां इस मन्त्र से] विलवेश्वदेव यज्ञ में श्राहृति देवे।। ५४।।

कुह्वं चैवानुमत्ये च प्रजापतय एव च। सहद्यावापृथिक्योक्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६॥ (६१)

(च) और (कुह्वं) अमावस्या की अधिष्ठात्री ईश्वरोय शक्ति अर्थात् कृष्णपक्ष का रचनेवाला परमेश्वर की शक्ति के लिए ['ग्रों कुह्वं स्वाहां' मन्त्र से] (च) तथा (अनुमत्य) पूर्णिमा की अधिष्ठात्रो ईश्वरीय शक्ति अर्थात् शुक्लपक्ष का निर्माण करने वाली परमश्वर की शक्ति के लिए या परमेश्वर की चितिशक्ति के लिए [ग्रों अनुमत्यं स्वाहा मन्त्र से] (प्रजापतये एव) सब जगत् को उत्पन्न करने वाल परमेश्वर के सामर्थ्य गुण के लिए ['ग्रों प्रजापतये स्वाहां' मन्त्र से] (सहद्यावापृथिव्याः) ईश्वर द्वारा उत्पादित द्युलोक और पृथिवी लोक की पृष्टि के लिए [ग्रों सहद्यावापृथिवोभ्यां स्वाहां' मन्त्र से] (तथा अन्ततः) और अन्त में (स्विष्टकृते) अभाष्ट सुख देने वाले ईश्वर गुण के लिए ['ग्रों स्विष्टकृते स्वाहां' मन्त्र से] जाहुति देवे ।। ६ ।।

एवं सम्यग्घविहुँ त्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् । इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बील हरेत् ॥ ८७ ॥ (६२) (एवम्) इस प्रकार (सम्यक् हविः हुत्वा) श्रच्छी तरह उप*र्यु <sub>दित</sub>*  प्राहुतियाँ देकर (सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्) सब दिशाओं में घूमकर (सानुगेम्यः इन्द्र + अन्तक + अप्पति + इन्द्रम्यः) परमेश्वर के सहचारी गुर्गों इन्द्र = सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त होना, अन्तक = यम अर्थात् न्यायकारी होना, या प्राणियों के जन्म-मरण का नियन्त्रण रखने वाला गुण, अप्पति = वरुण अर्थात् सबके द्वारा वरणीय सबसे श्रेड परमात्मा, इन्द्र = सोम अर्थात् आनन्द-दायक होना इनके लिए स्मरणपूर्वक [क्रमशः 'श्रों सानुगायेन्द्राय नमः' मन्त्र से पूर्व दिशा में, श्रों सानुगाय यमाय नमः' से दक्षिण दिशा में, 'श्रों सानुगाय वरुणाय नमः' से पश्चिम दिशा में, 'श्रों सानुगाय सोमाय नमः' से उत्तर दिशा में (बलि हरेत्) भोजन के भाग अर्थात् बलि को रखे।। ५७।।

मरुद्रम्य इति तु हारि क्षिपेदप्स्व द्भूच इत्यपि।

वनस्पतिम्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्।। ८६३। (६३) (मरुद्म्य: इति तु द्वारि) मरुत्=जीवन के संचालक प्राणरूप

(मरुद्भ्यः इति तु द्वार) मरुत् = जावन के संचालक प्राणक्ष्य परमात्मा के स्मरणपूर्वक ['ग्रों मरुद्भ्यो नमः' मन्त्र से] द्वार पर (ग्रद्भ्यः इति + ग्रिप ग्रुप्सु) सर्वत्र व्याप्त ग्रीर सम्पूर्ण जगत् के ग्राश्रय रूप परमात्मा के स्मरणपूर्वक ['ग्रोम् ग्रद्भ्यो नमः से], जलों में (क्षिपेत्) बलि भाग को डाले (एवम्) इसी प्रकार (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों के समीप [ग्रों वनस्पतिभ्यो नमः' से], (मुसल + उल्लूखले) मूसल ग्रीर ऊलल के समीप (हरेत्) बलि रखे।। द=।।

उच्छीर्षके श्रियं कृर्याद् भद्रकाल्यं च पादतः। ब्रह्मवास्तोष्पतिस्यां तु वास्तुमध्ये बॉल हरेत्॥ ८६॥ (६४)

(श्रियं उच्छीर्षके) सबके द्वारा सेश्य परत्मात्मा की सेवा से राज्यश्री अथवा लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये ['ग्रों श्रियं नमः' से] ईशान कोण की ग्रोर (च) ग्रोर (भद्रकाल्यं पादतः) परमात्मा की कल्याणकारी शक्ति की प्राप्ति के लिए [ग्रों भद्रकाल्यं नमः' से] पृष्ठभाग ग्रर्थात् नैर्ऋं त्य कोण की ग्रोर (कुर्यात्) बलिभाग रखे (तु) ग्रोर (ब्रह्मवास्ताकातिम्याम्) ब्रह्म—वेदविद्या की प्राप्ति के लिए वेदविद्या के दाता परमात्मा के लिए वास्तोष्प-ति नगृहसम्बन्धी पदार्थों के दाता ईश्वर से सहायता के लिए ['ग्रों ब्रह्म-पतये नमः' 'ग्रों वास्तुपतये नमः' इन से] (वास्तुमध्ये विल हरेत्) घर के मध्य-भाग में बलिभाग रखे।। ८६।।

विश्वेम्यश्चेव देवेम्यो बलिमाकाश उत्किपेत्। दिवाचरेम्यो मूतेम्यो नवतंचारिभ्य एव च ॥ ६०॥(६४) (च) ग्रीर (विश्वेम्य: देवेम्यः) संसार के साधक गुणों की प्राप्ति के लिए संसार के संचालक परमात्मा या विद्वानों के दिव्य गुर्गों की प्राप्ति लिए (ग्राकाशे बलिम् उत्किपेत्) ['ग्रो विश्वेम्यः देवेम्यः नमः' से] ग्राकाश की ग्रोर या घर के ऊपर बलिभाग रखे (च) तथा (दिवाचरेम्यः भूतेम्यः) दिन में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए ['ग्रों दिवाचरेम्यो भूतेम्यः नमः'] (नक्तंचारिम्यः एव) ग्रोर रात्रि में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए ['ग्रों नक्तंचारिम्यो भूतेम्यो नमः' मन्त्र से] बलि रखे।। ६०।।

# पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलि सर्वात्ममूतये। पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्।। ६१ ॥ (६६)

(सर्वात्मभूतये) सब प्राणियों में व्याप्त या ग्राश्रयरूप परमात्मा की सत्ता का स्मरण करने के लिए [ ग्रों सर्वात्मभूतये नमः' से ] (पृष्ठवास्तुनि बिल कुर्वीत) घर के पृष्ठभाग में बिलभाग रखे (सर्वं बिलशेष तु) शेष बिलभाग को (पितृभ्यः) माता-पिता, ग्राचार्य, ग्रितिथ, भृत्य ग्रादिकों को सम्मानपूर्वक भोजन कराने की भावना को स्मरण करने के लिए [ग्रों पितृभ्यः स्वधायभ्यः स्वधा नमः' इस मन्त्र से ] (दक्षिणतः हरेत्) घर के दिक्षण भाग में रखे।। ६१।। ॥

## शुनां च पतितानां च श्वयचां पापरोगिणाम्। वायसानां कृमीणां च शनकैनिवंपेद् भुवि।। ६२।। (६७)

(च) ग्रौर (शुनां पिततानां श्वपचां पापरोगिएगां वायमानां च कृमीणां) कुत्ता, पितत, चांडाल, पापरोगी, काक ग्रौर कृमी इन छः नामों के छः भाग (भुवि शनकैः निवंपेत्) पृथिवी में घरे ।। ६२ ।। (सं० वि० १६४)

इस प्रकार 'श्वम्यो नमः, पिततेम्यो नमः, श्वपचेम्यो नमः, पापरो-गिम्यो नमः, वायसेम्यो नमः, कृमिम्यो नमः' से बिल धरकर पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी ग्रथवा कुत्ते, कौवे ग्रादि को दे देवे । यहां नमः शब्द का ग्रथं ग्रन्न ग्रथीत् कुत्ते, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे ग्रीर कृमि ग्रथीत्

श्री महर्षि-दयानन्द ने ८५ से ६१ दलोकों का भाव ग्रहण करके स० प्र० १०० से १०२, पञ्चमहायज्ञविधि द० ल० ग्र० २५८ — २६३ तथा सं० वि० १६२ — १६४ पर बिलवेश्वदेव यज्ञ का वर्णन किया है, इन सभी इलोकों में दिये गये मन्त्र तथा उनका भाव वहीं से ले लिया गया है, विधियां भी वहीं हैं। विस्तृत होने के कारण उस वर्णन को यहां उद्धत नहीं किया जा रहा है। विशेष ग्रध्ययन के लिए पाठक उक्त पुस्तक में देख सकते हैं।

चींटी म्रादि को म्रन्त देना यह मनुस्मृति म्रादि की विधि है— (सत्यार्थ वनुर्थ समु०)

वलि रवने से उत्तम गति--

्वं यः सर्वमूतानि काह्मणो निश्यमचंति। स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना॥ ६३॥

(यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (एवं नित्यं सर्वभूतानि ग्रर्चित) इस उपर्युक्त प्रकार से प्रतिदिन सब प्राणियों की पूजा करता है (सः) वह (तेजोमूर्तिः ऋजुना पथा) तेजस्वी बनकर सीधे-सरल मार्ग से (परंस्थानं गच्छिति) उत्तम स्थान को ग्रर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ६३ ॥

आज़ु श्रीत्यना : यह श्लोक निम्न 'मानदण्ड' के आधार पर प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध इस श्लोक ने पूर्वापर वर्णनक्रम को भंग कर दिया है। ६२ वें श्लोक में विलवैश्वदेव का विधान पूर्ण हुमा है, और ६४ वें में "कृत्वा एतत् बलिकर्म" शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट हो रहा है कि विलवैश्वदेव यज्ञ की विधि की पूर्णता के बाद यह श्लोक होता चाहिए। तभी दोनों श्लोकों का भाषा के श्रनुसार वाक्यक्रम जुड़ेगा। इन दोनों के बीच में ६३ वें श्लोक में बलिवैश्वदेव के फल का कथन संगत नहीं बैठता, श्रतः यह प्रक्षिप्त है।
- २. श्रन्तिवरोध—इस क्लोक में केवल बिलवैक्वदेव से ही मुक्ति होना कहा है। जबिक मनु श्रनेक नै:श्रेयस कर्मों से मुक्ति मानते हैं [१२। ८२—११६]। ग्रतः इस क्लोक का कथन मनुसम्मत न होने से प्रक्षिप्त है।

ग्रतिथियज्ञ का विधान---

कृत्वैतद् बलिकर्मेवमितिथि पूर्वमाशयेत्। भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिगो ॥ १४ ॥ (६८)

(एतत् विलक्षमं कृत्वा) उपर्युक्त [३। ८४—६२] बिलवैश्वदेव यज्ञ करके (पूर्वम् ग्रतिथिम् ग्राज्ञायेत्) पहले ग्रतिथि को भोजन खिलाये (च) तथा (भिक्षत्रे व्रह्मचारिणे विधिवत् भिक्षां दद्यात्) भिक्षा के लिए ग्राये हुए ब्रह्मचारी के लिए विधिपूर्वक भिक्षा देवे ॥ ६४ ॥

> यत्युष्यफलमाप्नोति गां दस्या विधिवद्गुरोः। तत्युष्यफलमाप्नोति मिक्षां दस्या द्विजो गृही ॥ ६५ ॥

(गुरोः विधिवत् गां दत्त्वा) गुरु के लिए विधि स्रनुसार गौ दान देने से (यत् पुण्य-फलम् ब्राप्नोति) जिस पुण्यरूप फल को गृहस्थी प्राप्त करता है (तत् पुण्यफलं गृही द्विजः) उसी पुण्यरूप फल को गृहस्थी द्विज (भिक्षां दत्त्वा स्राप्नोति) भिक्षा देकर प्राप्त करता है ॥ ६४॥

#### मिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् । वेदतत्त्वार्यविदुषे बाह्यागायोपपादयेत् ॥ ६६ ॥

गृहस्थी व्यक्ति (विधिपूर्वकं सत्कृत्य) विधि के ग्रनुसार सत्कार करके (वेद-तत्त्वार्यविदुषे) वेद के सिद्धान्त ग्रीर ग्रर्थ को जानने वाले विद्वान् (ब्राह्मणाय) ब्राह्मण के लिए (भिक्षां वा उदपात्रम्) भिक्षा ग्रीर जलपात्र को (उपपादयेत्) समर्पित करे।।६६।।

> नश्यन्ति हव्यकव्यानि नरागामविजानताम् । भस्मीमृतेषु वित्रेषु मोहादृत्तानि वातृमिः ॥ ६७ ॥

(दातृभिः) दाता व्यक्तियों द्वारा (भस्मीभूतेषु विश्रेषु मोहात् दत्तानि) जिनका ब्राह्मणपन नष्ट हो गया है ऐसे ब्राह्मणों को मोह = श्रज्ञान या मोहवश दिये गये (हव्यकव्यानि) हव्य = होम ग्रादि द्वारा देवताश्रों को दिये गये दान ग्रौर कव्य = पितरों को दिये गये पदार्थों का दान (ग्रविजानतां नराणाम्) ऐसे श्रज्ञानी लोगों के (नश्यन्ति) निष्फल हो जाते हैं ॥ ६७॥

### विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु। निस्तारयति दुर्गाच्च महतद्वैव किल्विवात्।। ६८ ।।

(विद्यातपः समृद्धेषु विप्रमुखाग्निषु) विद्या ग्रीर तपस्या से समृद्ध विद्वानों की मुखरूपी ग्राग्नि में (हुतम्) ग्राहुति के समान दिया गया दान (महतः दुर्गात् च किल्वि- षात् एव) महान् क्लेश ग्रीर महान्पाप से (निस्तारयति) निश्चय से तारता है ॥६८॥

आर्येट्येट्य: ६५ से ६८ श्लोक निम्न 'मानदण्डों' के स्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) ६४ वें क्लोक में बिलवैश्वदेव यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् "ग्रितिंथ पूर्वम् ग्राश्येत्" कहकर ग्रागे ग्रितिथियज्ञ का वर्णन करने का संकेत दिया है। इस क्लोक में जितना ग्रावश्यक था जतना भिक्षा का भी विधान कर दिया। ग्रव पहले, यह प्रसङ्ग बुद्धिसङ्गत सिद्ध होता है, कि ग्राये हुए ग्रितिथ का किस प्रकार सत्कार करे, जो ६६ वें क्लोक में उक्त है। इस प्रकार ६४ वें क्लोक के साथ ६६ क्लोक की संगति बैठती है। बीच में भिक्षा का फल, कैसे बाह्यणों को हव्य-कव्य देने चाहिए ग्रादि वातों के वर्णन ने इस संगति को भंग कर दिया है, ग्रतः ये क्लोक प्रयंगिवरुद्ध हैं। (२) जब ६४ ग्रीर ६६ वें क्लोक में पूर्वापर प्रसंग ग्रांतिथियज्ञ या ग्रांतिथ सम्बन्धी है, तो इस प्रसंग में भिक्षा का फल-कथन या कैसे बाह्यणों को हव्यकव्यों का दान देना चाहिए, यह प्रसंग स्वतः अप्रासंगिक है। ग्रतः प्रसंगविरुद्ध होने से ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. अन्तिविरोध—(१) ६६—६८ इलोकों में विद्या आदि से युक्त श्रीर विद्या आदि से रहित ब्राह्मणों का जो भेद किया गया है, उससे यह संकेत मिलता है

कि ये श्लोक उस काल की रचना हैं जब कर्मणा वर्णव्यवस्था शिथिल होकर जन्मना भी मानी जाने लगी थी। क्योंकि मनुतो ग्रध्ययन-ग्रध्यापन कर्म वालों को ही ब्राह्मण मानते है [१।८७-८८; १०।७४-७६]। ग्रतः विद्यारिहत का ब्राह्मण होना ही नहीं बनता। इस प्रकार यह वर्णन मनु की मान्यता के विरुद्ध सिद्ध होता है। (२) ६८ वें श्लोक में पापों से तारने वाली बात का वर्णन भी मनु के ४।२४० श्लोक के विरुद्ध है। उस श्लोक में तथा १२।३ - ६ श्लोकों में प्रत्येक कर्म का फल ग्रवश्य प्राप्त होना कहा है।

3. शैलीगत आधार— ६५ वें श्लोक में गायदान के समान भिक्षा-दान का फल कहना, ६७ वें में दानफल का नष्ट होने का कथन, ६६ वें में पापों से तर जाने का कथन निराधार, अयुक्तियुक्त एवं अतिशयोक्तिपूर्ण है। मनु के विधानों में ये त्रुटियां नहीं मिलतीं।

## संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। ग्रन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ६६ ॥ (६६)

(तु) ग्रौर (संप्राप्ताय ग्रतिथये) ग्राये हुए ग्रतिथि के लिए (विधिपूर्वकं सत्कृत्य) व्यवहारोचित विधि के ग्रनुसार सत्कार करके (यथा-शक्ति) शक्ति के ग्रनुसार (ग्रासन + उदके च ग्रन्नम् एव) ग्रासन ग्रौर जल तथा ग्रन्न भी (प्रदद्यात्) प्रदान करे।। ६६।।

> शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनिष जुह् वतः । सर्वे सुकृतमादसे बाह्मगोऽनिचितो वसन् ।। १०० ॥

(शिलान्' ग्रिप उञ्छतः) शिलाएं = [कटे हुए सेत में बची ग्रन्त की बालियां] बुगकर जीविका चलाते हुए (नित्यं पञ्चाग्नीन् + ग्रिप जुह्नतः) प्रतिदिन पांच महायज्ञों को करते हुए भी उसके घर में (ब्राह्मणः + ग्रनिवतः वसन्) यदि कोई ब्राह्मण-ग्रितिथ बिना सत्कार किये रह जाता है तो वह (सर्वं सुकृतम् + ग्रादत्ते) उसके सारे पुण्य को हर ले जाता है।। १००।।

### अन् श्रीलनः यह श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगविरोध—६६ वें श्लोक में, ग्राये हुए ग्रांतिथि का यथाशक्ति सत्कार करने का कथन है ग्रीर १०१ वें श्लोक में उस 'यथाशक्ति' भाव की ग्रथंवाद रूप में व्याख्या है। बीच ने प्रतस्कृत जिल्लिका अलकान प्रसंतिक है, बीच उससे इनका क्रम भंग हो गया है, ग्रतः प्रसंगविरुद्ध होने से यह श्लोक प्रक्षिप्त है।
  - २. अन्तर्विरोध इस क्लोक में 'असत्कृत अतिथि द्वारा गृहस्थी के सब पुण्योंका

१. पाणिति धातुपाठ में 'शिलान्' पद में 'शिल षिल उञ्छे' (तुदादि०) उञ्छ सर्थ लिखा है स्रोर "सूमी पतितस्यैकैकस्य करणस्योपादानम् उञ्छः "स्रर्थात् खेत कटने के बाद खेत में पड़े हुए एक-एक करण का ग्रहरण करना उञ्छ कहलाता है। लोक में 'शिल्ला' शब्द से इसका स्रब भी व्यवहार होता है। (सम्पादक)

हरण कर ले जाने का कथन' मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने ४। २४० में कत्ती को कमों का स्वयं भोक्ता माना है, श्रतः कोई दूसरा किसी के पुण्यों या अपुण्यों को नहीं ले सकता इस प्रकार अन्तर्विरोध के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

३. शैलीगत आधार—इस श्लोक में 'सारे पुण्यों का हरण केवल ग्रसत्कार मात्र से कर लेना' ग्रादि कथन की शैली ग्रयुक्तियुक्त ग्रीर ग्रतिशयोक्तिपूर्ण है, ग्रतः यह मौलिक नहीं है।

सज्जनों के घर में सत्कारार्थ सदा उपलब्ध वस्तुएं —

## तृगानि मूमिरुकं वाक्चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥ (७०)

(तृणानि) बैठने के लिए ग्रासन (भूमिः) बैठने या सोने के लिए स्थान (उदकम्) पानी (च) ग्रौर (सूनृता वाक्) सत्कारयुक्त मीठी वाणी (एतानि + ग्रिपि) सत्कार करने की ये बातें या वस्तुएं तो (सतां गेहे) श्रेष्ठ सम्य व्यक्तियों के घर में (कदाचन न + उच्छि चन्ते) कभी भी नष्ट नहीं होतों ग्राथीत् श्रेष्ठ-सम्य व्यक्ति इनके द्वारा तो ग्रवश्य ही सत्कार करते हैं।। १०१।।

म्रतिथि का लक्षण--

एकरात्रं तु निवसन्नितिथिक्राह्मिगः स्मृतः । स्रानित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादितिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥(७१)

(ब्राह्मणः) विद्वान् व्यक्ति (एकरात्रं तु निवसन्) जो एक ही रात्रि तक पराये घर में रहे तो उसे (श्रितिथिः स्मृतः) श्रितिथि कहा गया है (यस्मात् हि ग्रनित्गं स्थितः) क्योंकि जिस कारण से वह नित्य नहीं ठहरता है ग्रथवा जिसका ग्राना ग्रनिश्चित होता है, इसी कारण से उसे (ग्रितिथिः उच्यते) ग्रतिथि कहा जाता है।। १०२।।

"जिसके ग्रागमन की की वित्यत तिथि न हो ग्रौर स्थिति भी जिस की ग्रनियत हो, वह ग्रतिथि कहलाता है। ग्रतिथियज्ञ का ग्रथिकारी वही है, जो विद्वान् हो एवं जिसका ग्राना, जाना ग्रौर ठहरना ग्रनियत हो, वह चाहे किसी वर्ण का हो उसकी सेवा करना यह एक श्रेष्ठ कर्म है।"

(पू০ प्र० १४३)

श्रतिथि कौन नहीं होते--

नैकग्रामीरामतिथि विप्रं साङ्गतिकं तथा । उपस्थितं गृहे विद्याद्दभार्या यत्राग्नयोऽपि वा ।। १०३ ॥ (७२) (यत्र भार्या अपि वा अग्नयः) जिसके घर में पत्नी हो और पंचयज्ञों की अग्नि जहां प्रज्ज्वित रहती हो अथवा जहां पाकाग्नि प्रज्ज्वित होती हो ऐसे (एकग्रामीणं तथा साङ्गितकं विप्रंगृहे उपस्थितम्) एक गांव में रहने वाला तथा मित्र विद्वान् यदि घर में ग्राया हुग्रा हो तो (ग्रितिथि न विद्यान्) उसे श्रितिथि के रूप में न समभे ।। १०३।।

दूसरों के यहां खाने की भावना से पाप-

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः । तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥ (७३)

(ये गृहस्थाः) यदि गृहस्थ होके (परपाकम् उपासते) पराये घर में भोजनादि की इच्छा करते हैं तो (ते स्रबुद्धयः तेन) वे बुद्धिहीन गृहस्थ स्रन्य से प्रतिग्रह रूप पाप करके (प्रेत्य) जन्मान्तर में (स्रन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति) स्रन्नादि के दातास्रों के पशु बनते हैं क्योंकि स्रन्य से स्रन्न स्रादि का ग्रहण करना स्रतिथियों का काम है, गृहस्थों का नहीं।। १०४।।

(सं० वि० १५०)

अनु जो लन : जो गृहस्य लोभ-लालच के वशीभूत होकर यही मानते रहते हैं कि अपनी बचत हो जाए और दूसरों के यहां खाने का अवसर मिलता रहे। ऐसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जो जीवन भर दूसरों के भोजन में मन रखते हैं, उन्हें परजन्म में पशुत्व प्राप्त होता है। क्यों कि उनमें पशुत्व के संस्कार प्रबल और प्रभावी हो जाते हैं।

घर से अतिथि को न लौटाये---

म्रप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेथिना । काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानदनन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥ (७४)

(गृहमेधिना) गृहस्थी को चाहिए कि (सूर्योढ: स्रितिथ: स्रप्रणोद्यः) सायंकाल सूर्यं ग्रस्त होते देख ग्राये हुए ग्रितिथ को वापिस न लौटाये ग्रीर (काले प्राप्त: वा ग्रकाले) चाहे समय पर ग्राये ग्रथवा ग्रसमय पर (ग्रस्य गृहे ग्रनश्नन् न वसेत्) इस गृहस्थी के घर में कोई ग्रितिथ बिना भोजन के नहीं रहे।। १०५।।

ग्रतिथिपूजन सुख-ग्रायु-यशोदायक---

न वे स्वयं तदश्नीयादितिथि यन्न भोजयेत्। धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वाऽतिथियूजनम् ॥ १०६ ॥ (७५)

(यत् ग्रतिथिं न भोजयेत्) जिस पदार्थं को ग्रतिथि को नहीं खिलावे

(तत् वै स्वयं न अश्नीयात्) उसे गृहस्थी स्वयं भी न खावे, अभिप्राय यह है कि जैसा स्वयं भोजन करे वैसा ही अतिथि को भी दे (अतिथिपूजनम्) अतिथि का सत्कार करना (धन्यं यशस्यम् आयुष्यं वा स्वर्ग्यम्) सौभाग्य, यश, आयु और सुख को देने और बढ़ाने वाला है।। १०६।।

अर जुरिटिन : स्रितिथसेवा यश-स्रायु-सुख-सीसाग्य वर्षक -- जिस प्रकार सिवादनशील श्रीर वृद्धसेवी व्यक्तियों के यश, विद्या, श्रायु, बल बढ़ते हैं, उसी प्रकार मनु द्वारा विहित [४। १०६] विद्वान्, धार्मिक, सद्गुण सम्पन्न स्रितिथियों की सेवा करने से यश मिलता है। उनके सान्तिध्य से स्रच्छे स्राचरण की, धर्म की, श्रेष्ठ गुगों की शिक्षा से स्रायु, सौभाग्य श्रीर सुख बढ़ते हैं, [२। ६६ (२। १२१) की स्रनुशीलन समीक्षा भी द्रष्टब्य]।

श्रासनावसथौ शय्यामनुबज्यामुपासनाम्। उत्तमेषुतमं कुर्याद्धीने होनं समे समम्।। १०७ ।। (७६)

जब गृहस्य के समीप स्रतियि स्रातें तव (स्रासन + स्रावसथी) स्रासन, निवास (श्रयम् + स्रनुद्रज्याम् + उपासनाम्) श्रयम, पश्चात् गमन स्रोर समीप में बैठना स्रादि सत्कार जैसे का वैसा स्रथीत् (उत्तमेषु + उत्तमं, समे समं, हीने हीनं कुर्यात्) उत्तम का उत्तन, मध्यम का मध्यम स्रोर निकृष्ट का निकृष्ट करे, ऐसा न हो कि कभी न समभें ।। १०७।। (सं० वि० १५०) दोवारा भोजन पकाने पर बिलयज नहीं —

> वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्। तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बील हरेत्॥ १०८॥ (७७)

(वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते) वैश्वदेव यज्ञ के समाप्त होने पर स्रर्थात् भोजन बनने स्रोर उसकी यज्ञ में स्राहुतियां दे देने के पश्चात् भी (यदि + ग्रन्यः + ग्रातिथः + ग्रावजेत्) यदि कोई स्रोर स्रतिथि स्रा जाये तो (तस्य + ग्रिप यथाशक्ति स्रन्तं प्रदद्यात्) उसको भो यथाशक्ति भोजन कराये (वर्लिन हरेत्) दुवारा भोजन बनाने के बाद बलिभाग नहीं निकाले ॥ १०८॥

श्र न्यू श्री टिंडन्यः विलोक ६४ से १०० तक के विषय में सत्यार्थप्रकाश वतुर्य समल्लास में निम्न प्रकार लिखा है—''ग्रब पांचवीं ग्रतिथिसेवा—ग्रतिथि उसको कहते हैं कि जिस की कोई तिथि निश्चित न हो ग्रथित् ग्रकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक सब के उपकारार्थ सर्वत्र धूमनेवाला पूर्ण विद्वान् परमयोगि-संन्यासी गृहस्थ के यहाँ ग्रावे तो उसको प्रथम पाद्य, ग्रध्यं ग्रीर ग्राचमनादि तीन प्रकार का जल देकर पश्चात् ग्रासन पर सत्कारपूर्वक विठालकर खान, पान ग्रादि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवासुश्रूषा करके, प्रमन्त करे। पश्चात् सत्संग करे। उनसे ज्ञान-विज्ञान ग्रादि जिनसे धर्म, ग्रथं, काम ग्रीर

मोक्ष की प्राप्ति होवे ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और ग्रपना चाल-चलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे"।

संस्कार विधि गृहाश्रम के ग्रतिथियज्ञ प्रकरण में निम्न प्रकार लिखा है-

''पांचवा जो घार्मिकः, परोपकारी, सत्योपदेशक, पक्षपात रहित, शान्त, सर्व हितकारक विद्वानों की ग्रन्नादि से उनसे प्रश्नोत्तर आदि करके विद्या प्राप्त होना 'अति-थियज्ञ' कहाता है, उसको नित्य किया करें।''

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञान्तर्गत स्रतिथियज्ञ-विधान में निम्न प्रकार लिखा है—''श्रव पांचवां स्रतिथियज्ञ स्रर्थात् जिसमें स्रतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा सत्यवादी, छल-कपट रहित स्रोर नित्य भ्रमण करके विद्यः धर्म का प्रचार स्रोर स्रविद्या स्रधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको स्रतिथि कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के स्रनेक प्रमाण हैं।"

#### न मोजनार्थं स्वे वित्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् । मोजनार्थं हि ते शंसम्बान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०६ ॥

(विप्रः) द्विज (भोजनार्थम्) ग्रन्छा भोजन पाने के लिए (स्वे कुलगोत्रे न निवेद-येत्) ग्रपने कुल ग्रीर गोत्र की दुहाई न दे ग्रथित् ग्रपने बड़े कुल या प्रतिष्ठित वंश की प्रशंसा करके ग्रन्छा भोजन पाने की प्रवृत्ति प्रकट न करे (हि) क्योंकि (भोजनार्थ ते शंसन्) भोजन पाने के लिए उन कुल-गोत्रों की प्रशंसा करने वाला व्यक्ति (वुधैः) विद्वानों द्वारा ('वान्ताशी' इति उच्यते) 'उगलकर खाने वाला' इस निन्दित विशेषण से सम्बोधित किया जाता है।। १०६॥

> न बाह्यएस्य त्वतिथिगृहे राजन्य उच्यते। वैदयसूद्रौ सला चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११०॥

(ब्राह्मणस्य गृहें) ब्राह्मण के घरपर द्याये हुए (राजन्यः वैश्यश्द्री) क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर शूद्र (सखा) मित्र (च) तथा (ज्ञातयः) रिश्ते-नातेदार (च) ग्रीर ग्रीर (गृरुः एव) गुरु भी (प्रतिथिः न उच्यते) ग्रतिथि नहीं कहलाते हैं ॥ ११०॥

यदि त्वतिथिधर्में शिव्यो गृहमः व्रजेत्। भुक्तवत्सुच विश्रेषु कामं तमिष भोजयेत्।। १११।।

(यदि तु + म्रातिथिधमेंण) यदि त्रातिथि के रूप में (क्षत्रियः गृहम् - जात्रजेत्) क्षत्रिय भी घर में ग्रा जाये (विष्रेषु भुक्तवत्सु) तो ब्राह्मण ग्रतिथियों के भोजन कर नेने पर (तम् + ग्रपि काम भोजयेत्) उसको भी इच्छानुसार भोजन करा देवे ॥ १११ ॥

> वैदयसूद्राविप प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधामणौ । भोजयेत्सह भृत्येस्तावानृदांस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

(कुटुम्बे) परिवार अर्थात् घर पर (वैश्यशूदो = अति अतिथिधर्मिणां प्राप्तौ) वैश्य और सूद्र भी अतिथि के रूप में आ जायें तो (तौ) उन दोनों वर्ण वालों को (आनृ- शंस्यं प्रयोजयन्) कृपाभावना रखता हुम्रा (भृत्यैः सह भोजयेत्) सेवकों के साथ भोजन करा दे ॥ ११२ ॥

आनु श्रीट्यनः १०६ से ११२वें तक के श्लोक निम्न ब्राधारों के ब्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिबरोध—(१) १०८ वें इलोक में 'यदि वैद्यदेव यज्ञ करने के पदचात् कोई स्रतिथि स्रा जाये तो उसे भी भोजन करादेवे, दोबारा बिल न रखे।' यह कहने से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि स्रतिथियों के भोजन के सम्बन्ध में संभी विधान पूर्ण हो चुके हैं। उसके बाद उससे भिन्न स्रन्य विकल्पात्मक विधान ११३—११६ में विणत हैं। एक प्रसंग के पूर्ण हो जाने पर पुनः ११०—११२ इलोकों में स्रतिथि की परिभाषा का कथन, किसको किस प्रकार खिलाना चाहिए स्रादि बातों का वर्णन प्रसंगविरुद्ध है। (२) 'किसको स्रतिथि नहीं मानना चाहिए' यह प्रसंग पहले ही १०३ वें इलोक में विणत हो चुका है। इन इलोकों में फिर से उसी प्रकार की बातों का वर्णन किया है।यदि ये इलोक मौलिक होते तो ये १०३ के साथ सम्बद्ध होने चाहियें थे। किन्तु वहाँ न होकर प्रसंगसमाप्ति पर पुनः इनका वर्णन करना यह सिद्ध करता है कि ये किसी धन्य व्यक्ति द्वारा परवर्ती काल में जोड़े गये हैं।
- २. पुनरुक्ति—१०३ में सांगतिक ग्रयीत् मित्र को ग्रतिथि मानना एक बार कहा जा चुका है। उसके बाद "इतरान् ग्रिष संख्यादीन् "गृहमागतान् " भोजयेत्" [११३] के ग्रतिरिक्त विकल्पात्मक विधान से भी यही संकेत मिलता है कि मनु ने मित्र को ग्रतिथि से भिन्न माना है। ११० वें श्लोक में ग्रन्य व्यक्तियों के साथ पुनः एक बार 'सखा' को ग्रतिथि न मानने का निर्देश है—एक बार इस बात का कथन होने पर उसी प्रसंग का पुनः कथन करना पुनरुक्ति मात्र है—इससे स्पष्ट होता है कि यह मनु की रचना न होकर श्रन्य व्यक्ति की है। इस प्रकार यह श्लोक तथा इससे प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध १११ ग्रीर ११२ वाँ श्लोक स्वतः ही प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं।
- है. ग्रन्तिवरोध—(१) मनु ने १०३ श्लोक में जिन व्यक्तियों को ग्रतिथि न मानने का निर्देश दिया है, उससे ज्ञात होता है कि मनु वर्ण के ग्राधार पर किसी विशिष्ट वर्ण के व्यक्ति को ही ग्रतिथि नहीं मानते, ग्रपितु सभी को ग्रतिथि मानते हैं। यदि मनु को वर्ण के ग्राधार पर ग्रतिथि रूप ग्रभीष्ट होता तो वे उस श्लोक में या उसके साथ वर्ण के ग्राधार पर श्री ग्रितिथि मानने का निर्देश देते। ११०—११२ श्लोकों में पूर्व व्यवस्था से भिन्न वर्णाधारित व्यवस्था है। यह भिन्नता विरोध की सूचक है। (२) मनु ने वैश्य ग्रीर शूद्र की स्थित में पर्याप्त ग्रन्तर माना है। वैश्य द्विजों में परिगणित है, जबिक शूद्र द्विजों से निम्न है। ११२ वें श्लोक में वैश्य-शूद्र को समान स्थित वाला दिखलाना, मनु की व्यवस्था से तालमेल नहीं रखता। इससे संकेत मिलता

है कि इस प्रसंग का वर्णन किसी अन्य व्यक्ति की व्यवस्था है। (३) १०६ वें इलोक में कुल-गोत्र को कहकर भोजन की इच्छान करने का कथन है। इस विधान से यह प्रतीत होता है कि यह उस परवर्तीकाल का विधान है जब कुल और गोत्र के ग्राधार पर वड़प्पन माना जाने लगा था। मनु के ग्रानुसार तो वड़प्पन के केवल पांच ग्राधार हैं—वित्त, वन्धु, ग्रवस्था, कमं और विद्या [२।१११—११२ (१३६—१३७)]। इनमें कहीं कुल-गोत्र के ग्राधार पर वड़प्पन का उल्लेख नहीं है। जब मनु के समय में वड़प्पन के ये ग्राधार ही नहीं थे, तो उनके ग्राधार पर विधान करने का ग्रवसर ही नहीं ग्राता। इस ग्राधार पर १०६ वा इलोक परवर्ती काल का प्रक्षेप है। (४) ४। २६—३० में ग्रतिथि सेवा का विधान वर्णानुसार नहीं ग्रपितु कर्मानुसार है। ये इलोक उसके भी विरुद्ध हैं।

म्रतिथियों से भिन्न व्यक्तियों को भोजन—

इतरानिष सस्यादीन्सम्प्रीत्या गृहमागतान् । सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ (११३)(७८)

(संप्रीत्या) प्रीतिपूर्वक (भायया सह गृहम् + म्रागतान् इतरान् सख्यादीन् ग्राप) पत्नी कं साथ घर में स्राये स्रन्य मित्र स्रादि को भी (सत्कृत्य) सत्कारपूर्वक (यथाशक्ति स्रन्नं भोजयेत्) शक्ति कं स्रनुसार भोजन करावे।। ११३।।

त्रतिथियों से पहले किन को भोजन दें—

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गिभिग्गीः स्त्रियः । स्रतिथिभ्योऽप्र एवंतान्भोजयेदविचारयन् ॥११४॥(७६)

(मुवासिनी: च कुमारी:) नव विवाहिता और अल्पवयस्क कन्याओं (रोगिए:) रागियों का (गिभएगी: स्त्रियः) गर्भवती स्त्रियों को (एतान्) इन्हें (ध्रतिथिभ्यः निग्रग्रं स-एव) अतिथियों से पहले हो (अविचारयन्) विना किसी संदह के अर्थान् बड़े-छोटे को पहले-पोछे भोजन कराने का विचार किये विका (भोजयेन्) खिला दे ॥ ११४ ॥

> ग्रदस्वा तु य एतेभ्यः पूर्व भुङ्क्तेऽविवक्षणः । स भुञ्जानो न जानाति स्वगृधं जीग्धमात्मनः ॥ ११४ ॥

(यः श्राविचक्षणः) जो मूर्ख ग्रहस्थ (एतस्यः श्रदत्त्वा) इन्हें भोजन न देकर (पूर्व भुङ्क्त) पहले स्वयं सालेता है (सः) वह (श्रात्मनः इवग्रधः जिष्धम्) अपने को कुत्ते श्रीर गीयों द्वारा स्वायं जाने को (न जानाति) नहीं जानता। श्रथित् ऐसे व्यक्ति को मरने पर कुत्ते, गीय स्वाते हैं॥ ११५॥

अन्तर्थी त्जनः : यह श्लोक निम्न प्रकार से प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

- १. प्रसंगिबरोध—दम्पती को भोजन कब करना चाहिए, यह विघान तो ११६ वें क्लोक में किया है, किन्तु इस क्लोक में उससे पूर्व ही भोजन करने का फल-कथन पहले ही कर दिया। यह स्पष्टतः असगत है। म्रर्थवाद विधिवाक्य के पश्चात् माता है, पहले नहीं। इस म्राधार पर यह क्लोक प्रक्षिप्त है।
- २. ग्रन्तिवरोध—इस क्लोक के वर्णन से यह ज्ञात होता है, जैसे कि वर्णन करने वाला मृत्यु के उपरान्त कारीर की ग्रन्त्येष्टि क्रिया होना नहीं मानता । यह मान्यता मनुविरुद्ध है। मनु ने मरने पर दाहक्रिया का विधान किया है [४।१६७—१६८]। जब कारीर का दाह हो गया तो उसका कुत्तों; गीधों द्वारा खाये जाने का प्रक्र ही नहीं उठता। इस विरोध के ग्राधार पर यह क्लोक प्रक्षिप्त है।
- ३. शंलीगत श्राधार—इस क्लोक की शैली अयुक्तियुक्त एवं अतिशयोक्ति-पूर्ण है। न तो कुत्तों, गीधों से शरीर को खाये जाने वाली बात बुद्धिसंगत है और न केवल पहले खाने मात्र से ही इतने अधिक कष्ट का होना मान्य है।

गृहस्थ दम्पती को सबके बाद भोजन करना ग्रौर यज्ञशेष भोजन करना—

## भुक्तवत्स्वथ वित्रेषु स्वेषु मृत्येषु चैव हि।

भुद्भीयातां ततः पश्चादविशष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥ (८०)

(म्रथ विप्रेषु भुक्तवत्सु) विद्वान् स्रतिथियों द्वारा भोजन कर लेने पर (च) स्रोर (स्वेषु भृत्येषु एव हि) स्रपने सेवकों स्रादि के खा लेने पर (ततः पश्चात्) उसके बाद (स्रविशिष्टम् तु) शेष बचे भोजन को (दम्पती भुञ्जी-याताम्) पति-पत्नी खायें ॥ ११६ ॥

> देवान्षीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः । पूजियत्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥ (८१)

(देवान्) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानों को, (ऋषीन्) विद्या के प्रत्यक्ष-कर्त्ता मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों को, (मनुष्यान्) साधारण भनुष्यों को (च) ग्रौर (पितृन्) जीवित माता-पिता ग्रादि पालक व्यक्तियों को (च) तथा (गृह्याः देवताः) ईश्वरीय दिव्यगुणों [३। ८४—६०] के चिन्तनपूर्वक यज्ञ में ग्राहुति देकर ग्रौर गृहस्थ द्वारा भरण-पाषण की ग्रपेक्षा रखन वान ग्रसहाय, ग्रनाथ, कुष्ठी, भृत्य [३। ६१—६२] ग्रादि को (पूजियत्वा) भोजन-दान द्वारा सत्कृत करके ग्रौर उनका भाग निकालकर (गृहस्थः) गृहस्थ (ततः पश्चात्) उसके बाद (शेषभुक् भवेत्) इनसे शेष बचे भोजन को खाने वाला हो ग्रर्थात् उस शेष भोजन को खाया करे।। ११७।। ﷺ

हिंदिषत स्रयं—देवतास्रों, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों, गृहस्थित शालिग्राम स्रादि प्रतिमास्रों की पूजा (देविषिपृतर्गण, स्रतिथ्यादि भोजन, प्रतिमादि पूजन) कर गृहस्थ शेष बचे हुए सन्त का भोजन करे।। ११७।।]

अर्जुटरी ट्यां : गृह्यवेवता — (१) यहां 'गृह्यवेवता' से अभिप्राय श्लोक ३। ८४ — ६१ में विणत ईश्वरीय दिव्य गुणों से है, जिनके स्मरण, श्राहुतिपूर्वक गृहस्य के श्राश्रय की अपेक्षा रखने वाले प्राणियों के लिए भोजन का भाग निकाला जाता है। इसी श्रमिप्राय को मनु ने ''सूतानि बलिकर्मणा" [३। ८१] पर्दों से तथा ३। ७२ में 'मृत्यानाम्' पद से स्पष्ट किया है।

(२) देवता, ऋषि, पितर शब्दों के विस्तृत म्नर्यंज्ञान के लिए ३। ८२ की समीक्षा तथा भूमिका देखिए।

म्रघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारगात् । यज्ञशिष्टाशनं ह्ये तत्सतामन्नं विधीयते ।। ११८ ।। (८२)

(यः केवलम् ग्रात्मकारणात् पचित) जो व्यक्ति केवल ग्रपना पेट
भरने के लिए ही भोजन पकाता है (सः) वह (ग्रघं भुङ्क्ते) केवल पाप को
खाता है ग्रर्थात् इस प्रवृत्ति से स्वार्थं ग्रादि की पाप भावना ही बढ़ती है
(हि) क्योंकि (एतत्) यह उपर्युक्त [११७] (यज्ञशिष्ट + अशनम्)यज्ञों से
शेष भोजन ही (सताम् + ग्रन्नं विधीयते) सज्जनों का ग्रन्नं माना गया है।
इसके विपरीत बिना यज्ञ का भोजन ग्रसत्पुरुषों का भोजन है।। ११८।।

राजा ग्रादि का सत्कार-

रार्जात्ववस्नातकगुरून्त्रियश्वशुरमातुलान् । स्रहंयेन्मधुपर्केंग परिसंवत्सरात् पुनः॥ ११६॥

(राजा + ऋत्विक् + स्नातक-गुरून्) राजा, ऋत्विज् = पुरोहित, स्नातक, गुरु को (प्रिय स्वशुर-मातुलान्) प्रिय मित्र ग्रथवा दामाद, स्वशुर और मामा को (पिरसंवत्सरात् पुनः) एक वर्ष के पश्चात् ग्राने पर (मधुपक्रेंण ग्रहेंयेत्) उनका मधुपकं [ = दही, दूध, घी, शहद, मीठा, इन पाँच पदायों के मिश्रण से बनाया गया द्रव-पदार्थ जो सम्मान के लिए भेंट किया जाता है] से सत्कार करें ॥ ११६॥

राजा च श्रोत्रियइचैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ । मधुपर्केण सम्पूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

(राजा च श्रोत्रिय: ') राजा धौर वेदपाठी (यज्ञकर्मणि उपस्थितौ एव) यदि यज्ञ कर्म में ग्रावें तभी (मधुपर्केण संपूज्यौ) मधुपर्क द्वारा पूजनीय हैं (ग्रयज्ञे तु न इति स्थिति:) यज्ञ से भिन्न समय में मधुभकं से पूजनीय नहीं हैं, ऐसी मान्यता है ॥ १२०॥

> सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य परन्यमन्त्रं बलि हरेत् । वैश्वदेवं हि नामैतस्सायं प्रातिवधीयते ॥ १२१ ॥

१. 'श्रोत्रियँरछन्दोऽघीते' (ग्र० ४।२।८४) इससूत्र से 'छन्दोऽघीते' इस वाक्यार्थ में 'श्रोत्रियन्' शब्द का निपातन किया है। ग्रतः वेद पढ़ने वाले को 'श्रोत्रिय' कहते हैं। (सं०)

(साय तु + ग्रन्तस्य सिद्धस्य) सायंकाल के भोजन के पक जाने पर (पत्नी + ग्रमन्यं बिल हरेत्) पत्नी मन्त्रोच्चारण किये बिना इस भोजन में से बिलभाग निकाल कर रखे (हि) यतो हि (एतत् वैश्वदेव नाम) यह बिलवैश्वदेव नामक यज्ञ (सायं-प्रातः विधीयते) सायं ग्रीर प्रातःकाल दोनों समय करना विहित है।। १२१।।

मृतकश्राद्ध का विधान एवं तत्सम्बन्धी नियम---

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्यं विश्रक्ष्वेन्दुक्षयेऽग्निमान् । पिण्डान्याहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ।।

(अग्निमान् विप्रः) ग्रग्निहोत्री द्विज को चाहिए कि (पितृयज्ञं तु निर्वत्यं) दैनिक पितृयज्ञं करके (मास + ग्रनुमासिकम्) प्रतिमास (इन्दुक्षये) चन्द्रमा के क्षीण होने वाले दिन ग्रथात् ग्रमावस्या को (पिण्डान्वाहार्यक श्राद्धं कुर्यात्) 'पिण्डान्वाहार्यक = पिण्ड + ग्रनु + ग्राहार्यक — पिण्डदान देने के पश्चात् जिसमें ब्राह्मणों को भोजन खिलाया जाये, उस श्राद्धं को करे ॥ १२२॥

पितृगां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः । तच्वामिषेगा कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयस्नतः॥ १२३ ॥

(बुधाः) विद्वान् लोग (पितृणां मासिकं श्राद्धम्) पितरों के मासिक श्राद्धको (ग्रन्वाहार्यं विदुः) 'पिण्डान्वाहार्यक' नामक श्राद्ध कहते हैं (च तत्) ग्रीर इस श्राद्ध को (प्रयत्नतः) यत्नपूर्वक (प्रशस्तेन ग्रामिषेण) उत्तम मांस के द्वारा सम्पन्न करना चाहिए [३।२६६-२७२] ॥ १२३॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः । यावन्तरचेव येश्चान्नेस्तान् प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

(तत्र) उस पितृयज्ञ के श्राद्ध में (ये द्विजोत्तमाः भोजनीयाः स्युः) जो श्रेष्ठ ब्राह्मण जिमाने चाहिएं (च) ग्रौर (ये वर्ज्याः) जिनका जिमाना वर्जित है (च) तथा (यावन्तः) जितने जिमाने चाहिएँ (च) ग्रौर (यै: ग्रन्नैः) जितने प्रकार के भोजनों से जिमाने चाहिएं (तान्) इन सब बातों को (ग्रशेषतः) पूर्णरूप से (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा—
।। १२४।।

### हो देवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा। भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे।। १२५॥

(सुसमृद्धः + ग्रिप) धनवान् व्यक्ति भी (दैवे द्वौ) देवयज्ञ के उद्देश्य से जिमाने में दो ब्राह्मणों को (पितृकार्ये त्रीन्) पितृयज्ञ में तीन को (वा) ग्रयवा (उभयत्र) एक + एकम्) दोनों यज्ञों में केवल एक-एक ब्राह्मण को ही (भोजयेत्) जिमाये (विस्तरे न प्रसज्जेत) ग्रधिक विस्तार में न पड़े ग्रयत् इससे ग्रधिक को जिमाने का प्रयत्न न करे।।१२५।।

#### सित्क्वयां देशकाली च शीचं ब्राह्मग्गसम्पदः। पञ्चेतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥ १२६॥

(जिस्तरः) श्रधिक विस्तार की भावना (सित्कियाम्) सत्कार (च) श्रौर (देश-कालौ) देश, काल (शौचम्) पिवत्रता (ब्राह्मणसंपदः) सुपात्र ब्राह्मणों का मिलना (पञ्च + एतान् हन्ति) इन पांच बातों को नष्ट कर देती है (तस्मात्) इस कारण (विस्तरंन + ईहेत) विस्तार की इच्छा श्राद्धदाता न करे।। १२६॥

#### प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विषुक्षये। तस्मिन् युक्तस्येति नित्यं प्रेतकृत्येव लौकिकी॥ १२७॥

(पित्र्यं नाम) पितृयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध (एषा प्रेतकृत्या विधुक्षये प्रथिता) यह मरे हुए पिता ग्रादि से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया ग्रमावस्या के दिन करने के लिए प्रसिद्ध है (तिस्मन् नित्यं युक्तस्य) इस क्रिया को सदा करने वाले को (लौकिकी प्रेतकृत्या एति) लौकिक प्रेतकृत्या प्राप्त होती है ग्रर्थात् पुत्र-पौत्र धन-धान्य ग्रादि की प्राप्त होती है ।। १२७ ॥

#### भोत्रियायैव देयानि हज्यकव्यानि दातृभिः। म्रहंत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलसू॥ १२८॥

(दातृभिः) दाताओं को चाहिए कि वे (म्रह्तिमाय श्रोत्रियाय विप्राय एव) सुयोग्य वेदपाठी ब्राह्मण को ही (हब्य-कव्यानि) देवयज्ञ के उद्देश्य से दिये जाने वाले और पितृयज्ञ के उद्देश्य से दिये जाने वाले दान (देयानि) दें, क्योंकि (तस्मै दत्तं महाफलम्) उसको दिया गया दान ही महान् पुण्यकल को देता है।। १२८।।

आनुश्रीत्जनाः हव्य-कव्य पर विस्तृत विवेचन ४। ३१ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

एकंकमिप विद्वांसं देवे पित्र्ये च मोजयेत्। पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान् बहुनिप ॥ १२६ ॥

(दैवे च पित्र्ये) देवकर्म और पितृकर्म में (विद्वांसम्) सुर्योग्य वेदविद्वान् को (एकै-कम् + श्रीप भोजयेत्) जो एक-एक को भी जिमाता है (पुष्कलं फलम् + श्राप्नोति) वह बहुत फल को पा लेता है (ग्रमन्त्रान् बहून् + श्रीप न) लेकिन वेदहीन वहुत-से ब्राह्मणों को भी जिमाने से फल नहीं मिलता ॥ १२६ ॥

#### दूरादेव परीक्षेत बाह्यणं वेदपारगम्। तीर्यं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

(नेदपारगं ब्राह्मणं दूरात् + एव परीक्षेत) वेद में पारंगत विद्वान् ब्राह्मण की श्राद्धदाता दूर से ही ग्रर्थात् बुलाने से पहले ही ग्रच्छी प्रकार परीक्षा कर ले ग्रीर फिर बुलाये (हि) क्योंकि (तत्) वही (तीर्थम्) तीर्थं के समान पापों से तारनेवाला है (हव्य

कव्यानां प्रदाने) ग्रीर हव्य-कव्यों का दान करने के लिए (सः अतिथिः स्मृतः) उसे ही श्रेष्ठ ग्रतिथि माना गया है ॥ १३०॥

#### सहस्रं हि सहस्राणामनृषां यत्र भुञ्जते। एकस्तान् मन्त्रवित् त्रीतः सर्वानहंति वर्मतः॥१३१॥

(यत्र) जिस श्राद्ध में (श्रनृचाम्) वेदों के न जानने वाले (सहस्राणां हि सहस्रम्) हजारों का गुना एक हजार श्रव्यात् दस लाख ब्राह्मण भी (भुङ्क्ते) भोजन करते हैं (तान् सर्वान् प्रीतः एकः मन्त्रवित् धर्मतः श्रहेंति) उन सबकी तुलना में भोजन आदि से संतुष्ट-प्रसन्न हुवा एक वेद का विद्वान् ब्राह्मण धर्मात्मा होने के कारण श्रिषक फल देता है।। १३१।।

#### ज्ञानोत्कृष्टाय वेयानि कव्यानि च हर्नीवि च। त्र हि हस्तात्रमृत्विषी विवरेणैव शुद्धपतः॥ १३२॥

(हवींषि च कव्यानि) हव्य ग्रीर कव्य (ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि) उत्तम ज्ञानी व्यक्ति को ही देने चाहिएँ (हि) क्योंकि (ग्रसृग्-दिग्घौ हस्तौ) खून से सने हाथ (रुघिरेण एव न शुष्यतः) खून से घोने से शुद्ध नहीं होते ग्रथात् मूर्खता में किये गये पापों की शुद्धि मूर्ख व्यक्तियों को जिमाने से नहीं हो सकती। यह तो ज्ञानी व्यक्तियों को जिमाने से होती है। १३२॥

#### यावतो ग्रसते ग्रासान् हञ्यकव्येष्वमन्त्रवित्। तावतो ग्रसते प्रत्य वीप्तशूलब्द्यंयोगुडान्॥ १३३॥

(श्रमन्त्रवित्) वेद का न जानने वाला ब्राह्मण (हव्यकव्येषु) हव्य-कव्यों में (यावतः ग्रासान् ग्रसते) जितने ग्रास खाता है (ग्रेस्य) मरकर श्राद्ध करने त्राला (तावतः) उतने ही (दीप्तशूलिंड्ट-ग्रयोगुडान्) तपे हुए दुघारे अस्त्रों ग्रीर लोहे के गोलों को खाता है ग्रयांत् उसे इतने भयंकर कष्ट मिलते हैं ॥ १३३॥

> ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केल्तित्तपोनिष्ठास्तयाऽपरे। तपः स्वाध्यायनिष्ठाइच कर्मनिष्ठास्तयाऽपरे॥ १३४॥ ज्ञाननिष्ठेषु कथ्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः। हथ्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वेष ॥ १३५॥

(केचित् द्विजाः) कोई ब्राह्मण (ज्ञाननिष्ठाः) ज्ञान-साधना में तल्लीन रहते वाले हैं (तथा) श्रीर (श्रपरे तपोनिष्ठाः) कुछ दूसरे तपस्या में संलग्न रहते हैं (च) श्रीर (तपः-स्वाध्याय-निष्ठाः) कुछ तपस्या श्रीर वेद के स्वाध्याय में प्रयत्नशील रहने वाले हैं (तथा) तथा (श्रपरे) कुछ दूसरे (कर्मनिष्ठाः) यज्ञादि कर्मों में लगे रहने वाले हैं। इस प्रकार ये चार प्रकार के ब्राह्मण हैं। (कथ्यानि) श्राद्धसम्बन्धी दान-सत्कार (यत्नतः) यत्नपूर्वंक (ज्ञाननिष्ठेषु) ज्ञानी ब्राह्मणों को ही (प्रतिष्ठाण्यानि) देने चाहिएँ (ह्रव्यानि तु) ग्रीर देवकर्म सम्बन्धी दान-सत्कार तो (सर्वेषु + एव चतुर्षु + ग्राप यथान्यायम्) सभी चारों प्रकार के ब्राह्मणों को यथायोग्यता के ग्रनुसार दे देने चाहिएँ ॥ १३४, १३४ ॥

> स्रश्रोत्रियो विता यस्य पुत्रः स्याद् वेदपारगः। स्रश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात् पिता स्यात् वेदपारगः॥ १३६॥ ज्यायांसमनयोविद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता। मनत्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति॥ १३७॥

(यस्य पिता स्रश्नोत्रियः) जिसका पिता वेद का विद्वान् न हो (पुत्रः वेदपारगः स्यात्) भौर पुत्र वेद का विद्वान् हो (वा) स्रथवा (पुत्रः स्रश्नोत्रियः स्यात्) पुत्र वेद का विद्वान् हो तथा (पिता वेदगारगः स्यात्) उसका पिता वेद का विद्वान् हो तो (स्रनयोः) इनमें (यस्य पिता श्रोत्रियः स्यात्) जिसका पिता वेद का विद्वान् हो उसे (ज्यायांसं विद्यात्) बड़ा समभना चाहिए [श्राद्धदान के लिए] (मन्त्रसंपूजनार्थम् तु) किन्तु वेद-मन्त्रों के पूजन के लिए (इतरः) दूसरा ही [जिसका पिता विद्वान् न हो किन्तु स्वयं विद्वान् हो वह] (सत्कारम् स्रहंति) सत्कार पाने योग्य है ॥ १३६, १३७ ॥

न श्राद्धे मोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः। नारि न मित्रं यं विद्यासं श्राद्धे मोजयेद् द्विजम् ॥ १३८॥

(मित्रं श्राद्धे न भोजयेत्) मित्र ब्राह्माण को श्राद्ध में न जिमावे (ग्रस्य घनैः संग्रहः कार्यः) ऐसे मित्र का तो केवल धन देकर ही ग्रादर-सत्कार करना चाहिए (यं न ग्रारि न मित्रं विद्यात्) जिसे न तो शत्रु समभे न मित्र समभे (तं द्विजं श्राद्धे भोजयेत्) उस ब्राह्मण को श्राद्ध में जिमावे ॥ १३८॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हर्वीषि च। तस्य प्रेरय फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च॥ १३६॥

(यस्य) जिस व्यक्ति के यहां (श्राद्धानि च हवीं थि) कव्य ग्रीर हव्य ग्रर्थात् श्राद्धदान ग्रीर देवयज्ञ के उद्देश्य से दिये जाने वाले दान (मित्रप्रधानानि) मित्रों को उद्दिष्ट करके दिये जाते हैं (तस्य श्राद्धेषु च हवि: षु च प्रत्य फलं नास्ति) उसके श्राद्ध = कव्यों ग्रीर हव्यों का परलोक में फल नहीं मिलता ॥ १३६॥

यः सङ्गतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः। सः स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाघमः॥ १४०॥

(यः मानवः) जो मनुष्य (मोहात्) मोहभावना में माकर (श्राद्धेन संगतानि कुरुते) श्राद्ध के द्वारा मित्रों को प्रसन्न करता है या श्राद्ध में मित्रों को जिमा प्रपनी मित्रता को सुरद करता है (सः द्विज + ग्राधमः श्राद्धमित्रः) वह द्विजों में नीच श्राद्ध में

मित्रता बनाने वाला व्यक्ति (स्वर्गात् लोकात् च्यवते) स्वर्गलोक के अधिकार से पतित हो जाता है ॥ १४० ॥

> सम्मोजनी साऽभिहिता पैशाची दक्षिएगा द्विजैः । इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

(द्विजै:) विद्वानों ने (सा संभोजनी दक्षिणा) मित्रों को भोजन और दान रूप में दी जाने वाली उस दक्षिणा को (पैशाची ग्रमिहिता) पिशाचों द्वारा की जाने वाली क्रिया कहा है (तु) और (ग्रन्धा गौ एकवेश्मिन इव) जैसे ग्रन्थी गाय एक घर में ही पड़ी रहती है कहीं इघर-उघर नहीं जा सकती, ऐसे ही (सा) वह दानिक्रिया (इहैव लोके ग्रास्ते) इसी लोक में रह जाती है, ग्रथित परलोक में जाकर शुभ फल नहीं देती। १४१।।

#### यथेरितो बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्। तथाऽनुचे हविर्देन्दा न दाता लभते फलम्।। १४२।।

(यथा + ईरिएो बीजम् + उप्त्वा) जैसे बंजरभूमि में बीज बोकर (वप्ता) बीज बोने वाला (फल न लभते) उसके उत्पत्ति रूप फल को नहीं प्राप्त कर पाता है (तथा) वैसे ही (ग्रनुचे) वेद के श्रविद्वान् को (हिवः दत्त्वा) हव्य-कव्य देकर (दाता फल न लभते) दानी व्यक्ति कोई फल नहीं पाता ॥ १४२॥

> वातृत्प्रतिप्रहीतृंश्च कुरते फलमागिनः। विदुवे विक्षणां वस्वा विधिवतृ प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

(विधिवत् विदुषे दक्षिणां दत्त्वा) दाता व्यक्ति विधिपूर्वक विद्वान् व्यक्ति को दक्षिणा देकर (दातृन् च प्रतिग्रहीतृन्) दान देने वालों ग्रीर दान लेने वालों-दोनों को (प्रेत्य च इह फलभागिनः कुरुते) परलोक में ग्रीर इस लोक में दोनों ही जगह फल का भागी बनाता है।। १४३।।

कामं श्राद्धे ऽचंयेन्मित्रं नाशिरूपमिप स्वरिम् । द्विवता हि हविर्भुक्तं मवति प्रत्ये निष्फलम् ॥ १४४ ॥

श्राद्ध में मित्र से भिन्न कोई सुयोग्य व्यक्तिन मिलने पर (कामम्) चाहे (श्राद्धे मित्रम् प्रचेंयेत्) श्राद्ध में मित्र का ही श्राद्ध-दान से सत्कार कर दे (ग्रिपि तु) किन्तु (अरिम् ग्रिभिरूपं न) शत्रु विद्वान् भी हो तो उसकों न जिमावे (हि) क्योंकि (द्विषता भुक्तं हिवः) शत्रु के द्वारा खाया गया श्राद्ध (प्रेश्य निष्फलं भवति) परलोक में फलरहित ही रहता है।। १४४।।

यत्नेन मोजयेच्छाद्धे बह्द्वं वेदपारगम्। शास्त्रान्तगमथाध्ययुं छन्दोगं तु समाप्तिकम्।। १४५।। (श्राद्धे) श्राद्धमें (बहु + ऋचम्) जो बहुत ऋचाग्रों = मन्त्रों का ज्ञाता हो, (वेदपारगम्) जो वेदों में पारंगत हो, (शास्तान्तगम्) जो वेदों की शासाम्रों — ब्राह्मण, उपनिषदों म्रादि का ज्ञाता हो, (ग्रय) म्रथवा (म्रघ्वर्युंम्) यज्ञों का ज्ञाता ऋत्विज हो, (छन्दोगं तु समाप्तिकम्) जिसने वेदों को भ्राद्यन्त पढ़ा हो, ऐसे ब्राह्मण को (यत्नेन भोज-येत्) यत्नपूर्वक जिमावे —।। १४४।।

एवामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धर्मीचतः । पित्गां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुवी ॥ १४६ ॥

(एषाम् + ग्रन्यतमः ग्रन्थितः) इनमें [३।१४४] से कोई एक भी ब्राह्मण पूजित होकर (यस्य श्राद्धं भुञ्जीत) जिसके श्राद्ध को खाता है (तस्य पितृणां साप्तपौरुषी शाश्वती तृष्तिः स्यात्) उस श्राद्ध देने वाले के पितरों की सात पीढ़ी तक निरन्तर तृष्ति होती है ॥ १४६॥

> एव वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हृथ्यकव्ययोः । अनुकल्पस्त्वयं ज्ञोयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ।। १४७ ॥

(हव्यकव्ययोः प्रदाने) हव्य-कत्र्यों के देने में (एषः वै प्रथमः कल्पः) यह कपर विषात विधान प्रथम कोटि का मान्य विधान है (सदा सिद्भः + अनुष्ठितः अयम् अनुकल्पः ज्ञेयः) सदा श्रेष्ठ विद्वानों के द्वारा किया जाने वाला द्वितीय कोटि का श्राद्धसम्बन्धी विधान निम्न है।। १४७॥

मातामहं मातुलं च स्वस्नीयं दबशुरं गुरुम्। बौहित्रं विट्पॉत बन्धुमृत्विग्याज्यौ च मोजयेत्॥ १४८॥

(मातामहम्) नाना को (मातुलम्) मामा को (स्वस्रीयम्) मानजे को (श्वशुरम्) ससुर को (गुरुम्) गुरु को (दौहित्रम्) घेवते को (विट्पतिम्) दामाद को (बन्धुम्) बन्धु-बान्धवों को (च) ग्रौर (ऋत्विक् + याज्यों) ऋत्विज तथा यज्ञकर्ता को भी (भोजयेत्) श्राद्ध में जिमा देवे।। १४८।।

न ब्राह्म्यणं परीक्षेत देवे कर्मिण धर्मवित्। वित्रये कर्मिण तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः॥१४६॥

(धर्मे वित्) धर्म की मर्यादा को जानने वाला गृहस्थ व्यक्ति (दैवे कर्मिण् देवकर्म के उद्देश्य से किये जाने वाले दान ग्रादि कार्यों में (ब्राह्मणं न परीक्षेत) ब्राह्मण की यीग्यताग्रों की विशेष परीक्षा न करे (तु) किन्तु (पित्र्ये कर्मणि प्राप्ते) पितृकर्म = श्राद्ध के ग्रवसर पर (प्रयत्नतः परीक्षेत) सावधानी पूर्वक परीक्षा करे ॥१४६॥ श्राद्ध में ग्रपांक्तेय ब्राह्मण्—

> ये स्तेनपतितक्लीका ये च नास्तिकवृत्तयः। तान् हत्वकव्ययोजित्रानमहीत् ुसंहरक्षीत्।। १५० ॥

(ये स्तेन +पितत + क्लीबाः) जो चोर, पितत, नपुंसक हैं (च) और (ये नास्तिक वृत्तयः) जो नास्तिक स्वभाव वाले हैं (तान् विप्रान्) इन ब्राह्मणों को (हव्य-कव्ययोः) हव्य-कव्यों के देने के लिए (मनुः अनहिन् अबवीत्) मनु ने अयोग्य कहा है।। १५०॥

#### जटिल चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा। याजयन्ति च ये पूर्गास्तौरच श्राद्धे न मोजयेत्॥ १५१॥

(स्रनधीयानं जटिलं च) स्रध्ययन से रहित ब्रह्मचारी को स्रयीत् जो वेशभूषा स्रादि से ब्रह्मचारी बना हो किन्तु पढ़ता न हो (दुर्बेलस्) किसी रोग के कारण कीए शरीर बल वाले (तथा) तथा (कितवस्) जुग्रारी को (च) ग्रीर (ये पूगान् याजयन्ति) जो बहुत सारे लोगों का यज्ञ कराते हों (तान् श्राद्धे न भोजयेत्) उन्हें श्राद्ध में न जिमावे।। १५१।।

## चिकित्सकान् देवलकान्मांसविक्रयिएस्तथा । विपर्गेन च जीवन्तो वर्ड्याः स्युर्हच्यकच्ययोः ॥ १५२ ॥

(चिकित्सकान्) वैद्यों को (देवलकान्) पुजारियों को (तथा) तथा (मांस-विक्रियिगाः) माँस बेचने वाले को (च) और (विषणेन जीवन्तः) जो व्यापार करके जीविका करते हों (हव्यकव्ययोः वर्ज्याः स्युः) इनको हव्य-कव्य नहीं देने चाहिए। ॥ १४२ ॥

#### प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनकी श्यावदन्तकः। प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वाष्ट्रं विस्तया॥ १५३॥

(ग्रामस्य राज्ञः च प्रेष्यः) गांव का श्रीर राजा का नौकर (कुनली) बिगड़े नालूनों वाला (श्यावदन्तकः) काले दाँत वाला (च) श्रीर (गुरोः प्रतिरोद्धा एव) गुरु का विरोध करने वाला (श्यक्ताग्निः) जिसने पंचयज्ञाग्नियों का त्याग कर दिया है (तथा) तथा (वार्धुषिः) ब्याजलोर—ये श्राद्ध में जिमाने के लिए वर्जित हैं ॥१५३॥

#### यक्ष्मी च पशुपालक्ष्म परिवेत्ता निराकृतिः। ब्रह्मद्विट् परिवित्तिक्ष्म गुर्गाम्यन्तर एव च ॥ १५४॥

(यक्ष्मी) तपेदिक का रोगी (पशुपालः) पशुग्नों का पालन करके जीविका करने वाला (परिवेता) बड़े भाई के ग्रविवाहित रहते <mark>उससे पूर्व विवाह करने वाला</mark> [३।१७१] (निराकृतिः) देवताग्नों या यज्ञादि शुभ कार्यों का खण्डन करने वाला

१. 'पूग' शब्द का अयं — 'नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्घकामप्रधानाः संघाः' अर्थात् विभिन्न जातियों के मनुष्यों का ऐसा समूह, जिनकी प्राजीविका नियत न हो और अयं — नाम-प्रधान हो। (सम्भादक)

(ब्रह्माढ्दि) ब्राह्मणों या वेदों का द्वेषी (च) ग्रीर (परिवित्तिः) छोटे भाई के विवाह कर लेने पर ग्रविवाहित वचा बड़ा भाई [३।१७१] (च) ग्रीर (गर्गाम्यन्तर एव) किसी घर्मविरुद्ध समुदाय का सदस्य—इन्हें भी श्राद्ध में नहीं रजमाना चाहिए ॥१५४॥

### कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च। पौनभंवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

(कुशीलवः) नाचने-गाने वाला (ग्रवकीर्णी) व्यभिचारी (च) ग्रीर (वृप-लीपतिः - एव) शूद्रा स्त्री का पति (पौनर्भवः) किसी स्त्री के दूसरे पति से उत्पन्न पुत्र (काणः) काणा (च) तथा (यस्य गृहे उपपतिः) जिसके घर उसकी स्त्री का जार रहता हो—इन्हें भी श्राद्ध में नहीं जिमाना चाहिए॥ १४४॥

### मृतकाष्यापको यश्च भृतकाष्यापितस्तया। शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥ १५६॥

(यः भृतक + ग्रध्यापकः) जो वेतन लेकर पढ़ाता हो (तथा) तथा (यः) जो (भृतक + ग्रध्यापितः) वेतन लेने वाले से पढ़ा हो (ग्रूद्रशिष्यः) शूद्र का शिष्य (गुरुः च एव) ग्रौर शूद्र का गुरु (वाग्दुष्टः) दुष्ट वाणी बोलने वाला (कुण्डगोलकौ) कुण्ड = ग्रसली पिता के होते हुए भी जो जार से उत्पन्न हुग्ना हो, गोलक = जो ग्रसली बाप की मृत्यु के पश्चात् जार से पैदा हुग्ना हो — ये भी श्राद्ध में नहीं जिमाने चाहिए। ॥ १४६॥

#### अकाररणपरित्यक्ता मातापित्रोगुं रोस्तथा । बाह्यं योंनेक्च सम्बन्धंः संयोगं पतितंगंतः ॥ १५७ ॥

(मातापित्रो तथा गुरोः म्रकारणपरित्यक्ता) माता, पिता तथा गुरु को विना कारण छोड़ देनेवाला (च) ग्रीर (पितितैः ब्राह्मैः यौनैः संबन्धैः गतः) पितत व्यक्तियों के साथ [२।१५ (४०), ६।२३७-२३६] पठन-पाठन संबन्धी तथा विवाह-सम्बन्धी सम्बन्धःस्थापित करने वाला—ये श्राद्ध में नहीं जिमाने चाहिएं॥१५७॥

## म्रगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविकयी। समुद्रमायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः॥ १५८॥

(ग्रगरदाही) घर में ग्राग लगाने वाला (गरदः) विप देने वाला (कुण्डादी) कुण्ड नामक संतान [३। १७४] के साथ खाने-पीने वाला (सोमविकयी) सोम श्रोपिध का व्यापार करने वाला (समुद्रयायी) समुद्र की यात्रा करके परदेश में जाने वाला (स) भीर (बन्दी) खुशामद के गीत नाकर जीविका चलाने वाला—चारण, भाट ग्रादि (तैलिकः) तेली (कूटकारकः) भूठी गवाही देने वाला—ये भी श्राद्ध में जिमाने के लिये विजत हैं।। १४८।।

भित्रा विवरमानद्व कितवो मद्यपस्तया। पाचरोग्यमिदास्तद्व दान्मिको रसविक्रयी।। १५६।। (च) त्रीर (पित्रा विवदमानः) पिता के साथ अगड़ा करने वाला (कितवः) धूर्त (तथा) तथा (मद्यपः) शराव पीने वाला (पापरोगी) पापों से हुए कुष्ठ स्त्रादि रोगों वाला (च) स्त्रीर (स्रभिशस्तः) श्राप से ग्रस्त या कलंकी (दास्भिकः) पाखण्डी (रसिवक्रयी) रसों को बेचने वाला—ये भी श्राद्ध में वर्जित हैं॥ १५६॥

### धनुःशरागां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः। मित्रध्रुग्ध्रुतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तर्येव च ॥ १६०॥

(च) स्रोर (घनुः शराणां कर्ता) घनुष स्रोर वाणों को बनाने वाला (च) नथा (यः स्रग्नेदिधिषूपितः) मृत बड़े भाई की स्त्री को कामवासना के वशीभूत होकर पत्नी वनाने वाला व्यक्ति [३। १७३] (मित्रध्रुग्) मित्र से धोखा करने वाला (द्यूतवृत्तः) जुम्रारी (तथा च) स्रोर (पुत्राचार्यः) स्रपने पुत्र को स्राचार्य स्रथित् गुरु बनाकर पढ़ने वाला—ये सभी श्राद्ध में नहीं जिमाने चाहिएँ॥ १६०॥

#### भ्रामरी गण्डमाली च विवन्धयो पिशुनस्तथा। उन्मत्तोऽन्यस्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१॥

(भ्रामरी) मृगीरोगी (गण्डसाली) गण्डमाला का रोगी (श्वित्री) श्वेतकुष्ठ का रोगी (ग्रय) ग्रीर (पिशुनः) चुगुलखोर (उन्मत्तः) पागल (च) तथा (ग्रन्धः) ग्रन्धा (वेदनिन्दक. एव) वेद की निन्दा करने वाला (वर्ष्याः स्युः) ये श्राद्ध में वर्जित हैं।। १६१।।

#### हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति । पक्षिगां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तर्थेव च ॥ १६२ ॥

(हस्ति-गो-म्रश्व-उष्ट्र-दमकः) जो हाथी; बैल, घोड़ा ऊंट ग्रादि को सिखान वाला हो (च) तथा (यः नक्षत्रै: जीवति) जो नक्षत्र, राशि ग्रादि बताकर जीविका करता हो (यः च) ग्रीर जो (पक्षिणां पोषकः) पक्षियों को पालने वाला हो (च) ग्रीर (युद्धाचार्यः) युद्धविद्या सिखाने वाला—ये भी श्राद्ध में जिमाने के लिए वर्जित हैं ॥१६२॥

## स्रोतसां भेदको यःच तेषां चावरणे रतः। गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३॥

(च) ग्रीर (यः स्रोतसां भेदकः) जो भरनों को तोड़नेवाला हो (तेषाम् ग्रावरणे रतः) तथा जो उन्हें रोकने वाला हो (गृहसंवेशकः) घर बनाकर जीविका चलाने वाला (दूतः) दूत का काम करने वाला (च) ग्रीर (वृक्षारोपकः एव) पेड़-पौधों को लगाने वाला, ये सभी श्राद्ध में वर्जित हैं।। १६३।।

श्वकीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च। हिंस्तो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४॥ (श्वक्रीडी) कुत्तों को पालने वाला (श्येनजीवी) बाज पक्षी से जीविका चलाने वाला (च) तथा (कन्यादूषकः एव) कन्या के साथ बलात्कार करने वाला (हिंस्रः) हत्यारा (वृषलवृत्तिः) शूद्र की नौकरी करने वाला (गणानां चैव याजकः) अनेक समुदायों के यज्ञ कराने वाला—ये भी शाद्ध में वर्जित हैं ॥ १६४॥

> म्राचारहीनः क्लीवश्च नित्यं याचनकस्तथा। कृषिजीयी क्लीपवी सद्भिमिन्दत एव च ॥१६४॥

(ग्राचारहीनः) ग्राचार से पतित (च) ग्रीर (क्लीवः) नपुंसक (तथा नित्यं याचनकः) तथा जो प्रतिदिन मांगकर खाने वाला हो (क्रुपिजीवी) खेती करके जीविका चलाने वाला (क्लीपदी) मोटे पाँव [हाथीपांव] की बीमारी वाला (च) और (सिद्धः निन्दितः एव) सज्जनों द्वारा निन्दित—ये भी श्राद्ध में वर्जित हैं॥ १६५॥

औरश्चिको माहिषिकः परपूर्वापितस्तथा। प्रेतनिर्यातकद्वेव वर्जनीयाः प्रयत्नतः॥१६६॥

(श्रीरिश्रकः) भेड़-बकरियों को पालकर जीविका चलाने वाला (माहिषिकः) भैसों से जीविका चलाने वाला (तथा परपूर्वापितः) विधवा स्त्री का पित श्रथवा श्रन्य से विवाहित स्त्री का उसके बाद होने वाला पित (च) श्रीर (प्रेतिनिर्यातकः) मुदौँ को ढोने वाला (प्रयत्नतः वर्जनीयःः) इन्हें श्राद्ध में यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए॥ १६६॥

एतान् विगहिताचारानपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् । द्विजातिऽवरो विद्वानुमयत्र विवर्जयेन् ॥ १६७ ॥

(एतान्) इन उपरिवर्णित [३।१४८-१६६] (गहित + म्राचारान्) निन्दनीय ग्राचरण वाले (ग्रपांक्तेयान्) श्राद्ध की पंक्ति में बैठाने के ग्रयोग्य (द्विजाधमान्) नीच ब्राह्मणों को (द्विजातिप्रवरः विद्वान्) द्विजातियों में श्रेष्ठ विद्वान् व्यक्ति (उभयत्र) दोनों स्थानों पर ग्रर्थात् देवकर्मे और पितृकर्म में (विवर्जयेत्) छोड़ देवें ॥१६७॥

## न्ति न्नाह्म शास्त्रवनधीयानस्तृशाग्निरिव शाम्यति । तस्मै हर्ष्यं ने दातव्यं न हि मस्मनि ह्रयते ॥ १६८ ॥

(श्रनधीयानः बाह्मणः तु) बिना पढ़ा-लिखा बाह्मण तो (तृणाग्निः + इव शाम्यति) तिनकों की आग की तरह है, जो शीघ्र ही बुक्त जाती है (तस्मै) उसको (हव्यं न दातव्यम्) हव्य श्रादि दान-भाग नहीं देना चाहिए (हि) क्यों कि (अस्मिन न ह्यते) राख में कभी श्राहुति नहीं दी जाती। श्रभिप्राय यह है कि जैसे राख में श्राहुति देना निर्यक है, वैसे ही राख के समान बाह्मणत्व-रूपी तेज से हीन बाह्मए। को भी दान दे गा निष्फल होता है।। १६८॥

म्रपाङ्क्तवाने यो दातुर्भवत्यूर्घ्वं फलोदयः। वैवे हृषिषि पित्रये वा तत्प्रवक्ष्याम्यज्ञेषतः॥१६६॥ (दैवे हिविष वा भित्र्ये) देवयज्ञकर्म श्रयवा पितृकर्म में (ग्रपाङ्क्तदाने) पंक्ति में बैठने के ग्रयोग्य ब्राह्मणों को हव्य-कव्य देने से (दातुः यः ऊष्ट्वें फलोदयः भवति) दाता को जो परलोक में फल मिलता है (तत्) उसे (ग्रशेषतः प्रवक्ष्यामि) सम्पूर्ण रूप से कहता हूँ—॥ १६६॥

ग्रपाङ्क्तेय ब्राह्मणों को दान देने से फल की ग्रप्राप्ति—

#### अवर्तर्यद् द्विजैर्भुक्तं परिवेत्तादिमिस्तथा । अपाङ्क्तेयैर्यदन्येश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

(श्रव्रतैः) व्रतों के पालन से रहित [ब्रह्मचर्य, यज्ञ ग्रादि व्रत] (तथा परिवेत्ता + ग्रादिभिः) तथा परिवेत्ता संज्ञक [३।१७१] ग्रादि द्वारा (च) ग्रीर (ग्रन्यैः ग्रपांक्तेयैः भुक्तम्) जो दूसरे पंक्ति में बैठने के ग्रयोग्य ब्राह्मण हैं उनके द्वारा खाये गये ग्रन्न को (वै) निश्चय से (तत् रक्षांसि भुञ्जते) उसे राक्षस खाते हैं,ग्रर्थात् वह निष्फल रहता है ।। १७०।

### दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽप्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः॥१७१॥

(यः) जो व्यक्ति (स्रग्नजे स्थित) बड़े भाई के रहते हुए (दारा + अग्निसंयोगं कुरुते) उससे पहले विवाह और गृहस्थ के पंचयज्ञ स्रादि को करता है (सः परिवेत्ता विज्ञेयः) उसे 'परिवेत्ता' कहा जाता है (तु) स्रौर (पूर्वजः) उसका वह बड़ा भाई (परिवित्तिः) 'परिवित्ति' कहलाता है।। १७१।।

#### परिवित्तः परिवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्वे ते नरकं यान्ति वातृयाजकपञ्चमाः॥१७२॥

(परिवित्तिः परिवेत्ता च यया परिविद्यते) परिवित्ति, परिवेत्ता ग्रौर जिस कन्या से विवाह करता है वह (दातृ-याजक-पञ्चमाः) कन्या को ब्याहने वाला ग्रौर विवाह यज्ञ कराने वाला,ये पांचों (ते सर्वे नरक यान्ति) सब के सब नरक में जाते हैं।। १७२॥

## भ्रातुम् तस्य भार्यायां योऽनुरुष्येत कामतः। धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः॥ १७३॥

(मृतस्य श्रातुः) मरे हुए भाई की (भायियाम्) पत्नी से (यः) जो (कामतः अनुरज्येत) कामवासना के वशीभूत होकर उससे संयोग करता है (ग्रिपि) चाहे (धर्मेण नियुक्तायाम्) नियोगधर्म के अनुसार नियुक्त होकर भी यदि वह संतानोत्पत्ति के बिना काम के वशीभूत होकर संयोग करता है (सः दिधिषूपितः ज्ञेयः) उसे 'दिधिषूपितः' कहा जाता है।। १७३॥

परवारेषु जायेते हो सुतौ कुष्यगोलको । पत्यो जीवति कुण्यः स्वालकृते सर्वार प्रोतकः ॥ १७४ ॥ (परदारेषु) पराई स्त्री से (कुण्डगोलको) 'कुण्ड' और गोलक ये दो प्रकार के पृत्र उत्पन्न होते हैं (पत्यो जीवित कुण्डः) पित के जीते हुए जो दूसरे पित से सन्तान उत्पन्न होती है वह 'कुण्ड' संज्ञक कहलाती है (भर्तरि मृते गोलकः स्यात्) पित के मरने पर दूसरे पित से उत्पन्न सन्तान 'गोलक' कहाती है ॥ १७४॥

### तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राशानौ प्रत्य चेह च। दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम्।। १७४।।

(परक्षेत्रे जातौ तौ प्राणिनौ तु) पराई स्त्री में उत्पन्न हुए वे दोनों प्राणी ग्रथित् कुण्ड ग्रीर गोलक (प्रदायिनाम्) दाताग्रों के द्वारा (दत्तानि हव्यकव्यानि) दिये गये हव्यकव्यों को (प्रेत्य च + इह नाशयेते) परलोक ग्रीर इस लोक दोनों ही स्थानों पर नव्ट कर देते हैं, अतः उन्हें हव्य-कव्य न दे।। १७४।

#### न्नपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपद्यति । तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिज्ञः ॥ १७६ ॥

(ग्रपाङक्त्यः) पंक्ति में बैठने के ग्रयोग्य व्यक्ति (यावतः पाङ्क्त्यान् मुञ्जानान् + ग्रनुपश्यित) जितने भी पंक्ति में बैठने के सुपात्र ब्राह्मणों को खाते हुए देख लेता है (तत्र) वहां (बालिशः दाता) मूर्खदाता (तावतां फलं न प्राप्नोति) उतने ही खाने वालों का फल प्राप्त नहीं कर पाता ॥ १८६॥

#### वीक्ष्यान्य नवतेः कागाः षष्टेः क्षित्री शतस्य तु । पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते पत्सम् ॥ १७७ ॥

(वीक्ष्य) श्राद्ध में भोजन करते हुए ब्राह्मणों को देखकर (ग्रन्धः नवतेः) ग्रन्धा नक्ष्वे के (काणः षष्टेः) काएमा साठ के (तु) ग्रौर (क्ष्वित्री शतस्य) क्ष्वेतकुष्ठी सौ के (पापरोगी सहस्रस्य) कुष्ठ ग्रादि पापों से होने वाले रोगों का रोगी हजार ब्राह्मणों के (दातुः फलं नाशयते) जिमाने वाले दाता के फल को नष्ट अर्थात् निष्फल कर देता है।। १७७।।

### यावतः संस्पृशेवङ्गं र्वाह्मणाञ्छूद्रयाजकः। तावतां न भवेदातुः फलं दानस्य पौतिकम्।। १७८॥

(शूद्रयाजकः) शूद्रों को यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण (यावतः ब्राह्मणान्) जितन ब्राह्मणों को (श्रङ्काः संस्पृशेत्) श्रङ्कों से छूता है (दातुः) दाता को (तावता दानस्य पौतिक फल न भवेत्) उतने ही ब्राह्मणों के दान का शुभ फल प्राप्त नहीं होता ॥१७६॥

#### वेदविच्चापि विश्रोऽस्य लोभात् कृत्वा प्रतिग्रहम् । विनाशं व्रजति क्षित्रमामपात्रमिवाम्मसि ॥ १७६ ॥

(वेदविद् विप्रः अपि) वेद का ज्ञाता विद्वान् भी (ग्रस्य) इस श्द्रयाजक का (लोभात् प्रतिग्रहं कृत्वा) लोभ के कारण दान लेकर (ग्रम्भसि ग्रामपात्रम् + इव) जैसे जल में निट्टी का कच्चा घड़ा गल जाता है ऐसे (क्षिप्रं विनाशं व्रजित) शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ॥ १७६ ॥

> सोमविक्रयिएो विष्ठा मिष्णे पूर्यशोरिएतम्। नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्षुषौ ॥ १८०॥

(सोमिवक्रियणे दत्तं विष्ठा) सोम बेचने वाले को दिया गया दान विष्ठा [ = मल] के तुल्य होता है (भिष्णे पूयशोणितम्) वैद्य को दिया गया दान मवाद और खून के समान होता है (देवलके नष्टम्) पुजारी को दिया गया दान निष्फल (तु) और (वार्षु षो स्रप्रतिष्ठम्) व्याजखोर को दिया गया दान व्यर्थ होता है ॥ १८०॥

यतु वार्गिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्। भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनभंवे द्विजे॥ १८१॥

(तु) ग्रीर (वाणिजके दत्तम्) व्यापार करने वाले ब्राह्मण को दिया गया दान (तत् न + इह न + ग्रमुत्र भवेत्) वह न इस लोक में फलदायक होता है, न परलोक में (तथा) वैसे ही (पौनर्भवे द्विजे) दूसरा पित करने वाली स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण को दिया गया दान (भस्मान हुतं हत्र्यम् इव) राख में डाली गयी ग्राहुति के समान निष्फल होता है।। १८१॥

इतरेषु त्वपाङ्क्तघेषु यथोद्दिष्टेष्वसाषुषु । मेदोनृङ्मांसमज्जास्यि वदन्त्यन्नं मनीदिगाः ॥ १८२ ॥

(इतरेषु तु + ग्रपांक्त्येषु) दूसरे,पंक्ति में बैठने के ग्रयोग्य व्यक्तियों (तु) ग्रौर (यथोड्ब्टेषु + ग्रसाधुषु) जो जो निकृष्ट ब्राह्मण गिना ग्राये हैं उनको दिये गये (ग्रन्नम्) श्राद्ध के ग्रन्न को (मनीषिणः) मनीषी लोग (मेद + ग्रमुङ् + मांसमज्जा + ग्रस्थि वदन्ति) मेदा, लहू, मांस, चरबी ग्रौर हड्डी के समान कहते हैं ग्रथीत् वह ग्रन्न इनके खाने के समान है, ग्रतः उन्हें ग्रन्न नहीं खिलाना चाहिए॥ १८२॥

पाङ्क्तेय ब्राह्मण--

अपाङ्क्तघोपहता पङ्क्तिः पाब्यते यैद्विजोत्तनैः। तान्तिबोधत कात्स्न्येन द्विजाग्रघान् पङ्क्तिपावनान्।। १८३।।

(ग्रपाङ्क्त—उपहता पंक्तिः) पंक्ति में न बैठने योग्य लोगों से दूषित की हुई पंक्ति (यैं: द्विजोत्तमैं: पाब्यते) जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र हो जाती है (तान् पिंड्क्तिपावनान् द्विजाग्रधान्) उन पंक्ति को पवित्र करने वाले श्रेष्ठ द्विजों को (कात्स्न्येंन निवोधत) पूर्ण रूप से जानो ॥ १ = ३ ॥

न्नग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च । श्रोत्रियान्वयज्ञाद्यचेव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ १८४ ॥ (सर्वेषु वेदेषु च सर्वप्रवचनेषु ग्रग्याः) जो सब वेदों में ग्रीर उनके प्रवचन करने में ग्रयवा वेदांगों में पारंगत हैं, वे (च) तथा (श्रोत्रिय + ग्रन्वयजाः एव) वेद-पाठियों के वंश में जन्म लेने वाले ब्राह्मण् (पंक्तिपावनाः विज्ञेयाः) पंक्ति को पवित्र करने वाले समक्षने चाहिएँ॥ १८४॥

> त्रिणाचिकेतः पञ्चानिस्त्रिसुदर्णः वडङ्गवित्। बह्यदेयात्मसन्तानो ज्येष्टसम्या एव च॥ १८४॥ वेदार्यवित् प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः। इतायुइचंद विश्वोया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः॥ १८६॥

(त्रिणाचिकेतः) ग्रध्वर्यु वेद के भाग को पढ़ने तथा उसका व्रत करने वाले (पञ्चाग्निः) पंचमहायज्ञों को करने वाले (त्रिसुपर्णः) बह्वूच का वेदभाग पढ़ने तथा उसका व्रत करने वाले (षडङ्गवित्) वेद के छह ग्रङ्गों [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष] को जानने वाला (ब्रह्मदेयात्मसन्तानः) ब्रह्मविवाह की विधि से विवाहित व्यक्तियों की सन्तान (च) ग्रौर (ज्येष्ठसामगः एव) सामवेद की गायन विद्या का विशेषज्ञ (वेदार्थवित्) वेदों के ग्रथं का ज्ञाता (च प्रवक्ता) ग्रौर वेदों का व्याख्यान करने वाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (सहस्रदः) हजार गौग्रों का दानी (च) तथा (शतायुः एव) सौ वर्ष की ग्रायु वाला (ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः विज्ञेयाः) इन ब्राह्मणों को पंक्ति को पवित्र करने वाला जानना चाहिए ॥ १८५, १८६॥

पूर्वे द्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते । निमन्त्रयेत् त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान् यथोदितान् ॥ १८७ ॥

(श्राद्धकर्मण + उपस्थित) श्राद्ध का समय ग्राने पर (पूर्वेद्यः वा ग्रपरेद्यः) पहले दिन ग्रथवा उससे अगले दिन (यथोदितान्) जैसे ऊपर कहे हैं वैसे (त्र्यवरान् विप्रान्) तीन ब्राह्मणों को (सम्यक् निमन्त्रयेत्) सत्कारपूर्वक श्राद्ध में निमन्त्रित करे।। १८७।।

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा मवेत्सदा । न च छुन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

(पित्रये निमन्त्रितः द्विजः) श्राद्धः में निमन्त्रितः किये जाने पर वह निमन्त्रित द्विज (सदा नियतात्मा भवेत्) पूर्णतः संयमी बनकर रहे (च) श्रीर (छन्दांसि न श्रधीयीत) उस समय वेदमन्त्रों का पाठ न करे (च) तथा (यस्य श्राद्धम्) जिसके यहां श्राद्ध हो (तत् भवेत्) वह भी इसी प्रकार इनका पालन करे।। १८८॥

निमन्त्रितान् हि पितर उपितष्ठन्ति तान्द्विजान् । वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८६ ॥

(हि) क्योंकि (पितरः) पितर लोग (तान् निमन्त्रितान् द्विजान्) उन न्यौते हुए ब्राह्मर्गों के (उपतिष्ठन्ति) पास म्राते हैं (च) म्रौर (वायुवत् म्रनुगच्छन्ति) वायु के समान पीछे-पीछे चलते हैं (तथा) वैसे ही (श्रासीनान् + उपासते) बैठे हुन्नों के साथ बैठे रहते हैं ॥ १८६॥

केतितस्तु यथान्यायं हथ्यकथ्ये द्विजोत्तमः। कथञ्चिदप्यतिकामन् पापः सुकरतां व्रजेत् ॥ १६०॥

(यथान्यायं केतितः तु द्विजोत्तमः) यथोचित सत्कारपूर्वक निमन्त्रित किया हुआ ब्राह्मण (हव्यकव्ये) देवकर्म श्रीर पितृकर्म में (कथंचित् — श्रिपि — श्रिकामन्) थोड़ा-सा भी बुराया नियमों से विरुद्ध श्राचरण करने पर (पापः सूकरतां व्रजेत्) वह पापी ग्रगले जन्म में सूग्रर का जन्म पाता है ॥ १६०॥

म्रामन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषस्या सह मोदते । दातुर्यद् बुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वे प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

(यः तुश्राद्धे ग्रामिन्त्रतः) ग्रौर जो ब्राह्मण श्राद्ध में निमन्त्रित किये जाने पर (वृषल्या सह मोदते) शूद्र स्त्री के संग रमण करता है तो (दातुः यत् किंचित् दुष्कृतम्) दाता का जितना भी पाप है (तत् सर्वे प्रतिपद्यते) उस सबको वही प्राप्त करता है।। १६१॥

श्रक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिराः। न्यस्तशस्त्रा महामागाः पितरः पूर्वदेवताः॥ १६२॥

(पितरः) पितर लोग (अक्रोधनाः) क्रोध से रहित होते हैं, (शौचपराः) वे पितत्रता में तत्पर रहने वाले, (सततं ब्रह्मचारिणः) सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, (न्यस्तशस्त्राः) शस्त्रादि से रहित ग्रर्थात् किसी को पीड़ा न पहुँचाने वाले, (महाभागाः) महान् सौभाग्य से युक्त और (पूर्वदेवताः) सबसे प्रथम देव हैं ॥ १६२ ॥

पितरों की उत्पत्त-

यस्माबुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः । ये च यैरुपचर्याः स्यूनियमैस्तान्निबोधत ॥ १६३ ॥

(एतेपां सर्वेषा यस्मात् + उत्पत्तिः) इन पूर्वोक्त पितरों की जिस-जिस से उत्पत्ति हुई है (ये चयैः नियमैः उपचर्याः स्युः) ग्रीर जो-जो पितर जिन-जिन व्यक्तियों के द्वारा जिन नियमों से सेवा किये जाने योग्य हैं (तान्) उन सब वातों को (ग्रशेषतः निवोधत) भलीभांति सुनो ॥ १६३॥

मनोहॅरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः। तेवामृषीएगं सर्वेषां पुत्राः पितृगएगः स्मृताः ॥ १६४ ॥

(हैरण्यगर्भस्य मनोः) हिरण्यगर्भ = ब्रह्मा के पुत्र मनु के (ये मरीच्यादयः सुताः) जो मरीचि त्रादि [दश १।३४] पुत्र हैं (तेषां सर्वेषाम् ऋषीगाां पुत्राः) उन सब ऋषियों के जो पुत्र हैं वे (पितृगणाः स्मृताः) 'पितर' माने गये हैं ॥ १६४ ॥ विराट्मुताः सोमसदः साघ्यानां पितरः स्मृताः । ग्रन्निव्वातात्रच देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १६५ ॥

(विराट्सुताः सोमसदः) विराट् के पुत्र 'सोमसद्' (साध्यानां पितरः स्मृताः) साध्यों के पितर माने गये हैं (च) ग्रीर (मारीवाः लोकित्रश्रुताः ग्रग्निष्वात्ताः) मरीचि के लोकप्रसिद्धपुत्र 'अग्निष्वात्त' (देवानाम्) देवताग्रों के पितर हैं ॥ १६५ ॥

> वैत्यदानवयक्षाराां गन्धर्वोरगरक्षमाम् । सुपर्राकन्नराणां च स्मृता बहिषदोऽत्रिजाः ।। १९६ ॥

(ग्रित्रजाः बहिषदः) अति के पुत्र 'बहिषद्' (दैत्यदानव-यक्षाणाम्) दैत्य, दानव, यक्षों के (गन्धर्व-उरग-रक्षसाम्) गन्धर्व, सर्प-नाग, राक्षसों के (च) ग्रीर (सुपर्ण-किन्नराणाम्) सुपर्ण ग्रीर किन्नरों के (स्मृताः) पितर माने हैं ॥ १९६ ॥

> सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः । वैद्यानामाज्यपा नाम जूदाणां तु सुकालिनः ॥ १६७ ॥

(सोमपा नाम विप्राणाम्) 'सोमपा' नामक पितर ब्राह्मणों के हैं (ह वर्भुं जः क्षत्रि-याणाम्) ,हिवर्भुं ज्' क्षत्रियों के (ग्राज्यपा नाम वैश्यानाम्) ग्राज्यपा' नामक वैश्यों के (सुकालिनः तु शूद्राणाम्) सुकाली शूद्रों के पितर हैं ॥ १६७ ॥

> सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः। पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः॥१६८॥

(सोमपा: तु कवे: पुत्राः) सोमपा कवि = भृगु के पुत्र हैं (हविष्मन्त: ग्रङ्किर: सुताः) हविर्मुं ज् ग्रङ्किरस् के पुत्र हैं (पुलस्त्यस्य + ग्राज्यपा. पुत्राः) पुलस्त्य के पुत्र आज्यपा हैं (विसष्ठस्य सुकालिनः) विसष्ठ के पुत्र सुकाली हैं ।। १६८ ।।

अग्निराधानग्निराधान् काग्यान् बहिषरस्तथा । स्राग्निष्वासादव सोम्यादव विप्राणामेव निरिद्यात् ॥ १६६ ।।

(ग्रग्निदग्ध-प्रतग्निदग्धान् काव्यान् तथा बहिषदः) ग्रग्निदग्ध, ग्रन्निदग्ध, काव्य तथा बहिषद (च) ग्रौर (ग्रग्निष्वात्तान् च सौम्यान्) ग्रग्निष्वात्त ग्रौर सौम्य (विप्राणाम् +एव निर्दिशेत्) बाह्मणों के ही पितर माने गये हैं ॥ १६६॥

अनुशीलन : १९५-१९६ श्लोक-वर्णित पितरों के लक्षण एवं अर्थ ३। ६२ श्लोक की समीक्षा में द्रष्टव्य हैं।

> य एते तु गराा मुख्याः वितृणां परिकीतिताः । तेषामपीह विजेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

(ये + एते पितृणां मुख्याः गणाः परिकीर्तिताः) जो ये पितरों के मुख्य गण [३। १६४-१६६] कहे गये हैं (तेषाम् + म्रापि) उनके भी (पुत्रपौत्रमनन्तकम्) ग्रनन्त पुत्र-पौत्रों को (इह विज्ञेयम्) इस संसार में पितर समक्षता चाहिए॥ २००॥ ऋषिम्यः पितरो जाताः पितृम्यो देवमानवाः । देवेम्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

38

(ऋषिम्यः पितरः जाताः) [मरीचि ग्रादि३। १६४] ऋषियों से पितर उत्पन्त हुए हैं (पितृम्यः देवमानवाः) पितरों से देवता ग्रीर मनुष्य उत्पन्त हुए हैं (तु) तथा (देवेम्यः चरं स्थाणु सर्वं जगत् ग्रनुपूर्वशः) देवताग्रों से चर-ग्रचर सम्पूर्णं जगत् क्रमशः उत्पन्त हुग्रा है ॥ २०१॥

राजतैर्माजनैरेषामयो वा राजतान्वितः। वार्येपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥ २०२॥

(राजतैः स्रथो वा राजतान्वितैः भाजनैः) चांदी के स्रथवा चांदीमिश्रित स्रन्य धातुओं से बने बर्तनों से (एषा श्रद्धया दत्तं वारि + स्रिप) इन पितरों को श्रद्धापूर्वक दिया गया जल भी (स्रक्षयाय + उपकल्पते) स्रक्षय सुख प्रदान करने वाला होता है ॥ २०२॥

देवकर्म से पितृकर्म श्रेष्ठ-

देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते । दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३॥

(द्विजातीनाम्) द्विजों के लिए (देवकार्यात् पितृकार्यं विशिष्यते) देवताग्रों के उद्देश्य से किये गये यज्ञ ग्रादि देवकर्मं की तुलना में पितरों के उद्देश्य से किया गया श्राद्ध ग्रादि कर्म विशेष माना गया है (हि) क्योंकि (दैतं पूर्वं पितृकार्यस्य) देवकर्म पहले किये जाने के कारग पितृकार्यः चितरश्राद्ध का (ग्राप्यायन श्रुतम्) पूरक माना गया है।। २०३॥

तेवामारक्षमूतं तु पूर्वं देवं नियोजयेत्। रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्।। २०४॥

(तेषाम् + ग्रारक्षभूतं तु) उन पितरों की रक्षा करने वाला होने के कारण (पूर्व दैवं नियोजयेत्) पहले देवकार्य के ग्रनुष्ठान का ग्रायोजन करे (हि) क्योंकि (ग्रारक्ष-वर्जितं श्राद्धम्) देवकार्यं द्वारा अरक्षित पितृश्राद्ध कार्यं को (रक्षांसि विलुम्पन्ति) राक्षस नष्ट कर देते हैं ॥ २०४॥

देवकर्म भौर पितृश्राद्ध की विधियां-

वैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्। पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षित्रं नश्यति सान्वयः॥ २०५॥

(तत्) उस पितृश्राद्ध को (दैवाद्यन्तम् ईहेत) देवकायं के पश्चात् ही करे (तत्) उसे (पित्राद्यन्तं न भवेत्) कभी पितृश्राद्ध के बाद नहीं करना चाहिए (पित्राद्यन्तं तु + ईहमानः) पितृश्राद्ध के अन्त में देवकायं को करने वाला व्यक्ति (सान्वयः क्षित्रं नश्यित) वंशसहित शीघ्र नष्ट हो जाता है।। २०५॥

#### शुर्षि देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्। दक्षिणात्रवर्णं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत्।। २०६॥

[पितृश्राद्ध करने के लिए) (शु च विविक्तं देशम्) स्वच्छ-पवित्र श्रीर एकान्त स्थान को (गोमयेन + उपलेपयेत्) गोबर से लिपवावे (च) श्रीर (प्रयत्नेन दक्षिणाप्रव-णम् एव उपपादयेत्) प्रयत्नपूर्वंक उस स्थान को दक्षिण की श्रोर ढलवां रखता हुआ बनावे ॥ २०६॥

#### भवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि। विविक्तेषु च तुष्यन्ति दलेन पितरः सदा॥ २०७॥

(ग्रवकाशेषु) खुले = भीड़रहित (उक्षेषु) ग्रौर जल के सेचन से पवित्र (च नदी-तीरेषु एव हि) ग्रौर नदीतट (च) तथा (विविक्तेषु) एकान्त स्थानों पर (दत्तेन) दिये गये श्राद्ध से (पितरः सदा तुष्यन्ति) पितर सदा सन्तुष्ट होते हैं ॥ २०७॥

मासनेषूपक्लुप्तेषु बहिष्मत्सु पृथक्पृथक् । उपस्पृष्टोवकान् सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०५ ॥

(पृथक्-पृथक् उपक्लुप्तेषु बहिष्मत्सु श्रासनेषु) पूर्वोक्त स्थानों पर सबके लिए श्रासन-श्रंलग विद्याये कुशाओं से बने भासनों पर (उपस्पृष्ट-उदकान् तान् विप्रान्) जल से स्वच्छ हुए [हाथ-पैर घोने, स्नान करने भादि से] विद्वानों को (सम्यक्) सत्कार पूर्वक (उपवेशयेत्) बैठावे ॥ २० मा

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् । गन्धमारुयः सुरमिमिरचयेद् देवपूर्वकम् ॥ २०६ ॥

(तु) ग्रीर फिर (तान् मजुगुप्सितान् विप्रान् ग्रासनेषु उपवेश्य) उन ग्रनिन्दित सुपात्र विद्वान् त्राह्मणों को ग्रासनों पर बिठाकर (सुरिभिभिः गन्धमाल्यैः) सुगन्धियों से युक्त चन्दन, केसर ग्रादि पदार्थों ग्रीर मालाग्रों से (देवपूर्वकम् अर्चयेत्) देवकार्यं में निमन्त्रित त्राह्मणों के साथ पूजन करे।। २०६।।

तेवामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि । सन्ती कुर्यादनुकातो बाह्यस्मी बाह्यस्मीः सह ॥ २१० ॥

(ब्राह्मणः) श्राद्ध करने वाला द्विज (तेषाम्) उन ब्राह्मणों के ग्रर्घ्य के साथ (उदकं सपवित्रान् तिलान् + श्रिप ग्रानीय) जल, कुशाएं ग्रौर तिलों को लाकर या एकत्र मिलाकर रखे (ग्रनुज्ञातः) फिर उनसे ग्राज्ञा पाकर (ब्राह्मणैः सह ग्रग्नौ कुर्यात्) ब्राह्मणों के साथ बैठकर ग्रग्नि में ग्राह्मति डाले—ग्रग्निहोत्र करे।। २१०।।

> म्रानेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः । हविदनिन विधिवत् पद्मचात्सन्तर्पयेत्पितृन् ॥ २११ ॥

(ग्रादितः) पहले (ग्रग्नेः सोमयमाभ्यां च) ग्रग्निदेवता, सोम ग्रौर यमदेवता के लिये (हविदिनिन ग्राप्यायनं कृत्वा) श्राहुति देकर ग्रौर इस प्रकार उनकी तृष्ति करके

(पश्चात्) उसके बाद (विधिवत् पितृन्) विधि के श्रनुसार पितरों को संतृष्त करे॥ २११॥

> म्रान्यमावे तु विप्रस्य पालावेवोपपादयेत्। यो ह्यान्तः सहिजो विश्रमन्त्रवर्शिमरुच्यते॥ २१२॥

(ग्रग्नि + ग्रभावे तु) यदि ग्रग्नि का ग्रभाव हो तो (विप्रस्य पाणौ + एव + उपपाददेत्) विद्वान् ब्राह्मण के हाथ पर पूर्वोक्त तीन ग्राहुतियां रख दे (हि) क्योंकि ('यः ग्रग्नि: सः द्विजः मन्त्रदिशिभः विप्रैः उच्यते) 'जो अग्नि है वह ब्राह्मण ही है' ग्रथित् 'ग्रग्निदेवता के समान ही ब्राह्मण पवित्र एवं ग्रादरणीय है' ऐसा मन्त्रद्रष्टा महर्षियों ने कहा है ॥ २१२॥

ब्रकोधनान्सुप्रसादान्वदत्न्येतान्युरातनान् । लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छाद्वदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

[मन्त्रद्रष्टा ऋषि] (श्रक्रोधनान् सुप्रसादान् पुरातनान् लोकस्य श्राप्यायने युक्तान् एतान् द्विजोत्तमान्) क्रोधरिहत, प्रसन्तमुख, पुरातन या सर्वोच्च, संसार की उन्नित में संलग्न रहने वाले इन ब्राह्मणों को (श्राद्धदेवान् वदन्ति) 'श्राद्ध के देवता' कहते हैं।। २१३।।

द्मपसन्यमन्त्रो कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् । अपसन्येन हस्तेन निवंपेदुवकं भुवि ॥ २१४ ॥

(अग्नो कृत्वा) पूर्वोक्त प्रकार अग्नि में म्राहुति देकर (विक्रमं सर्वम् म्रपसव्यम् म्रावृत्य) क्रमशः सब श्राद्ध के पदार्थों को दक्षिण भाग में सम्भालकर रखके (अपसव्येन हस्तेन) दार्थे हाथ से (भुवि उदकं निवंपेत्) पिण्डदान रखने की भूमि पर जल छिड़के।। २१४।।

त्रींस्तु तस्माद्धविः शेषात्पिडान्कृत्वा समाहितः। औदकेनैव विधिना निवंपेद्दक्षिणामुखः॥ २१५॥

(तस्मात् + हिवः शेषात्) उस हवन से बचे हुए भोज्य पदार्थ से (त्रीन् तु पिण्डान् कृत्वा) तीन पिण्ड बनाकर (समाहितः) एकाग्रचित्त होकर (दक्षिणामुखः)दिक्षण की ग्रोर मुख करके (ग्रीदकेन विधिना एव निवंपेद्) जल छिड़कने की विधि के ग्रनुसार [३।२१४] ही भूमि पर [कुशाग्रों पर] रख दे ॥२१५॥

न्युप्य पिण्डास्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् । तेषु वर्भेषु तं हस्तं निमृज्यास्लेपमागिनाम् ॥ २१६ ॥

(प्रयतः विधिपूर्वंकं तान् पिण्डान् न्युप्य) सावधान हो विधिपूर्वंक उन पिण्डों को कुशाओं पर रखकर (ततः) उसके बाद (लेपभागिनां तं हस्तं तेषु दर्भेषु निमृज्यात्)

हाथ में लगे ग्रन्न को पितरों का भाग मानकर ग्रपने हाथ को उन पिण्ड वाले कुशाग्रों से पोंछ दे।। २१६।।

#### माचम्योदनपरावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्। षड्ऋतृंश्च नमस्कुर्यात्यित्नेत च मन्त्रवत्।। २१७॥

फिर यजमान (उदक् परावृत्य) उत्तर की श्रोर मुख करके (आचम्य) श्राचमन करके (शनैः + श्रसून् त्रिः + श्रायम्य) घीरे-धीरे प्राणों को तीन बार नियन्त्रित करके श्रर्थात् तीन प्राणायाम करके (षड्ऋतून्) वसन्त श्रादि छह ऋतुश्रों को (च) श्रौर (पितृन्) पितरों को (मन्त्रवत् नमस्कुर्यात्) मन्त्रपूर्वक [''श्रों नमो वः पितरो रसाय'' यजुः २।३२] नमस्कार करे।। २१७॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः। श्रवजिद्रोच्च तान्पिंडान्यथान्युप्तान्तमाहितः॥ २१८॥

(पुनः) फिर (शेषम् उदकम्) लाकर रखे उस [३।२१०] जल से शेष बचे जल को (पिण्डान्तिके शनै: निनयेत्) पिण्डों के समीप धीर से डाल देवे (च) और फिर (समाहित) एकाग्र होकर (यथान्यु-तान् तान् पिण्डान् ग्रवजिन्नेत्) जिस क्रम से वे पिण्ड रखे गये थे उसी क्रम से उन पिण्डों को सूधे ॥२१८॥

> पिण्डेम्यस्त्वित्पकां माद्रां समादायानुपूर्वद्यः। तेनैव विप्रानासीनान्विधवत्पूर्वमाद्ययेत्॥ २१६॥

(म्रनुपूर्वेशः) क्रमशः (पिण्डेम्यः + तु + म्रिल्पकां मात्रां समादाय) सभी पिण्डों से योड़ा-योड़ा भाग लेकर (म्रासीनान् विप्रान्) बैठे हुए ब्राह्मणों को (विधिवत् पूर्वं तेन + एव म्राशयेत्) विधिपूर्वंक पहले उसी भाग से मोज्यभाग खिलावे ॥ २१६ ॥

भ्रियमार्गे तु पितरि पूर्वेषामेव निवंपेत्। विश्रवद्वाऽपि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥ २२०॥

(पितरि श्रियमार्गो तु) पिता के जीवित होते हुए (पूर्वेषाम् + एव निर्वेपेत्) पूर्वेज दादा-पड़दादा ग्रादि का श्राद्ध करे (ग्रिपि वा) ग्रथवा (तं स्वकं पितरम्) उस अपने जीवित पितर को भी यदि श्राद्ध में निमन्त्रित करना चाहे तो (विप्रवत् ग्राशयेत्) निम-न्त्रित बाह्मणों के समान बुलाकर भोजन करावे ॥ २२०॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः। पितुः स नाम सङ्कीत्यं कीतंयेत्प्रपितामहम्॥ २२१॥

(यस्य पिता निवृत्तः स्यात्) जिसका पिता मर गया हो (च) ग्रौर (पितामहः ग्रिप जीवेत्) दादा ग्रभी जीवित हो (सः) वह श्राद्धदाता (पितुः नाम संकीत्यं) पहले पिता के नाम पिण्डदान देकर (प्रिपतामहं कीर्तयेत्) फिर पड़दादा के नाम पिण्डदान करे।। २२१॥

#### पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुक्जीतेत्यत्रवीन्मनुः। कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥ २२२॥

(वा) श्रयवा ('पितामहः तत् श्राद्धं भुञ्जीत' इति मनुः श्रव्नवीत्) 'दादा ही उस श्राद्ध के ग्रन्न को खाये' ऐसा मनु ने विधान किया है (वा) ग्रयवा (समनुक्तातः) दादा से ग्राज्ञ। पाकर (स्वयम् + एव कामं समाचरेत्) श्राद्धदातापौत्र यजमान स्वयं इच्छानुसार श्राद्ध का भोजन करने वालों को चुनले ॥ २२२ ॥

### तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् । तित्पण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वर्षेषामस्त्रिवति सुवन् ॥ २२३ ॥

(तेषां हस्तेषु तु सपिवत्रं तिल + उदकं दत्त्वा) उन ब्राह्मणों के हाथों में कुशाम्रों सिहत तिलिमिश्रित जल देकर ('एषां स्वधा ग्रस्तु' इति ब्रुवन्) 'इनके लिए यह कल्याण-कारी हो' ऐसा कहते हुये [ग्रर्थात् 'इदं पित्रे स्वया ग्रस्तु' कहकर पिता के लिये, 'इदं पित्रों स्वया ग्रस्तु' कहकर पिता के लिये, 'इदं पितामहाय स्वधा ग्रस्तु' कहकर दादा के लिये] (तत् पिण्डाग्रं प्रयच्छेत) वह निकाला हुग्रा पिण्ड का भाग [३।२१६] ब्राह्मणों को प्रदान करे॥ २२३॥

#### पाणिम्यां तूपसङ्गृह्य स्वयमन्नस्य विधितम् । विप्रान्तिके पितृन्ध्यायञ्खनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

फिर श्राद्धकर्ता (ग्रन्नस्य विधितम्) ग्रन्न के भरे पात्र को [स्वयं पाणिम्याम् उपसंगृह्य) स्वयं ग्रपने हाथों से पकड़कर (पितृन् ध्यायन्) पितरों का मन ही मन ध्यान करते हुये (विप्रान्तिके) ब्राह्मणों के सामने (शनकैः + उपनिक्षिपेत्) धीरे से परोसे या रख दे॥ २२४॥

उमयोर्हस्तयोर्मु क्तं यदन्नमुपनीयते । तद्वित्रलुम्पन्त्यमुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२४ ॥

(उभयोः हस्तयोः मुक्तम्) दोनों हाथों से रहित ग्रयात् एक ही हाथ से (यत् + ग्रन्नम् + उपनीयते) जो भोज्यान्न ब्राह्मणों के सामने रखा या दिया जाता है (तत्) उस ग्रन्न को (दुष्टचेतसः ग्रमुरा सहसा प्रलुम्पन्ति) दुष्ट मन वाले राक्षस ग्रचानक छीन लेते हैं ग्रयात् वह भोज्यान्न पितरों के पास नहीं पहुँचता, ग्रतः एक हाथ से भोजन नहीं देना चाहिए ॥ २२५ ॥

गुराांक्च सूपकाकाद्यान् पयो दिध घृतं मधु । विन्यसेत् प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥ मक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ॥ हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरमीणि च ॥ २२७ ॥

(पूर्वम्) पहले (समाहितः प्रयतः) सावधान होकर उमंग के साथ (सूप-शाक + म्राद्यान् पयः दिधः घृतं मधुः गुरुान्) दाल-शाक म्रादि, दूध, घी, शहद ग्रादि गुण-कारी

व्यञ्जनों को (विविधं भक्ष्यं च भोज्यम्) विविध भक्ष्यपदार्थ-लड्डू झादि भोज्य-खीर झादि (मूलानि च फलानि) मूली, जिमीकंद झादि मूल, झाम झादि फल (च) झौर (हृद्यानि मांसानि) दिल को रुचिकर लगने वाले मांस (मुरभीणि च पानानि) तथा सुगन्धित पेय पदार्थ (भूमौ + एव विन्यसेत्) सामने भूमि पर [उनके पात्रों को] रख दे॥ २२६, २२७॥

> उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः। परिवेषयेत प्रयतो गुणान् सर्वान् प्रचोवयन्।। २२८॥

(तत् सर्वम् उपनीय) उस उपयुक्त सब भोज्य सामग्री को पास लाकर (सुस-माहितः) सावधानी के साथ (प्रयतः) प्रसन्नतापूर्वक (सर्वान् गुणान् प्रचोदयन्) उनके गुणों को —विश्वपताग्रों को कहते हुए (शनकैः परिवेषयेत) धीरे-धीरे परोसे ॥ २२०॥

> नास्त्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत्। न पादेन स्पृतेदन्नं न चैतदवयूनयेत्।। २२६।।

भोजन परोसते समय (जातु) कभी भी (न + म्रस्नम् + म्रापातयेत्) म्रास्त न गिरावे मर्यात् रोये नहीं (न कुप्येत्) न क्रोध करे (न + मनृतं वदेत्) न भूठ बोले (पादेन मन्तं न स्पृशेत्) पैर से भोज्यान्त या किसी मन्तपात्र को न खुये (न च + एतत् + म्रवधूनयेत्) भौर न कभी मन्त को पात्र में उछालकर डाले ॥ २२६ ॥

> म्रस्नं गमयति प्रेतान् कोपोऽरीननृतं शुनः । पादस्पर्शस्तु रक्षांति दृष्कृतीनवयुननम् ॥ २३० ॥

उस समय (म्रस्नं प्रेतान् गमयित) म्रांसू गिगना उस भोज्यान्न को भूत-प्रेतों के पास पहुंचा देता है (कोपः + म्ररीन्) क्रोध करना शत्रुम्रों के पास (म्रन्तं शुनः) भूठ बोलना कुत्तों के पास (पादस्पर्शः तु रक्षांसि) पैरों से स्पर्शं करना राक्षसों के पास (म्रवधूननं दुष्कृतीन्) उछालना पापियों के पास श्राद्ध के म्रन्त को पहुँचा देता है, म्रतः ये क्रियाएं नहीं करनी चाहिए ॥ २३०॥

यद्यद्रोजेत विप्रेभ्यस्तत्तवृदद्यादमत्सरः । ब्रह्मोद्यादच कथाः कुर्यात् पितृशामेतवीप्सितम् ॥ २३१ ॥

(विप्रेम्यः यत् + यत् रोचेत) ब्राह्माएों को जो-जो वस्तु रुचिकर लगे (तत् + तत् भ्रमत्सरः दखात्) यजमान उस-उस वस्तु को दुःखरहित होकर दे दे (च) तथा (ब्रह्मोच्याः कथा कुर्यात्) परमात्मसम्बन्धी चर्चाएं करे (एतत् पितृएाम् ईप्सि-तम्) यह सब पितरों को भ्रम्खा लगता है।। २३१॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पत्र्ये वर्मशास्त्राणि चैवं हि। श्रास्यामानीतिहासास्त्र पुराणानि विसानि च।। २३२।।

(पित्र्ये) पितरश्राद्ध में (स्वाध्यायं च धर्मशास्त्राणि) वेद ग्रीर धर्मशास्त्रों को

----

(ब्राख्यानानि + इतिहासान् पुराणानि च खिलानि श्रावयेत्) कथाश्रों, इतिहास, पुराग्गों तथा खिलतूक्तों [शिवसंकल्प, श्रीसूक्त ग्रादि] को सुनाये ग्रयित् सुनाने की व्यवस्था करे।। २३२॥

हर्वयेद् ब्राह्मार्गास्तुष्टो मोजयेच्च शनैः शनैः। अन्नाखेनासकृष्येतान् गुर्गश्च परिचोदयेत्।। २३३।।

(तुष्टः बाह्यणान् हर्षयेत्) स्वयं प्रसन्न होता हुम्रा बाह्यणों को भी प्रसन्न करे (च) भ्रोर (शनैः शनैः भोजयेत्) धीरे-धीरे शान्तिपूर्वक खिलावे मर्थात् उतावला-पन या शीझता न करे (मन्नाद्येन च गुणैः) भोज्यान्न के नाम से और उसके गुणों को कहकर (एतान् म्रसकृत् परिचोदयेत्) इन बाह्यणों से बार-बार म्राम्ह करे ॥ २३३॥

> वतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन मोजयेत्। कुतपं चासने दद्यातिलंडच विकिरेन्महोस्।। २३४।।

(व्रतस्थम् + प्रिप दौहित्रम्) यदि ब्रह्मचारी हो तो धेवते को भी (यद्तेन श्राद्धे भोजयेत्) यत्नपूर्वक श्राद्ध में जिमावे (च) ग्रीर (ग्रासने कुतपं दद्यात्) बैठने के लिए नेपाली कंवल दे (च) तथा (महीं तिलैं: विकिरेत्) उस स्थान पर तिल बिखेरदे ॥२३४॥

> त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः। त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमकोषमत्वराम्।। २३४ ॥

(श्राद्धे) श्राद्ध कर्म में (दौहित्रः कुतपः तिसाः त्रीणि पितत्राणि) घेवता, नेपासी कंबल और तिल, ये तीन पितत्र माने हैं (च) और (ग्रत्र) इस श्राद्ध में ('शौचम् + ग्रकोघम् + ग्रत्वराम्' त्रीणि प्रशंसन्ति) पितत्रता रखना, क्रोघ न करना, जल्दबाजी न करना, इन तीन बातों की प्रशंसा होती है ॥ २३४॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद् भुभीरंस्ते च वाग्यताः। न च द्विजातयो ब्रूयुर्वात्रा पृष्टा हविगुँगान्।। २३६।।

(सर्वम् - प्रान्तम् अत्युष्णं स्यात्) सब भोज्यान्त अत्यन्त गर्मे हों (च) श्रीर-(ते वाग्यताः भुञ्जीरत्) वे बाह्यण मौन होकर भोजन करें (द्विजातयः) खाने वाले बाह्यणः (दात्रा पृष्टा) श्राद्धदाता के पूछते पर भी (ह्विगुं णान् न बूयुः) भोज्यान्त के गुणों का वर्णन न करें।। २३६॥

पितरों को कौनसा **ग्रन्त प्राप्त नहीं होता**—

याबबुष्णं भवत्यन्तं याबदहनन्ति वाग्यताः। पितरस्ताबबहनन्ति याबन्तीका हुविर्गुगाः॥ २३७॥

(यावत् मन्तम् उष्णं भवति) जब तक मन्त गर्म होता है (यावत् वाग्यताः म्रश्न-न्ति) जब तक बाह्यण मौन होकर भोजनं करते हैं (यावत् हविषु गाः न + उन्ता) जब तक [खाने वालों के द्वारा] प्रन्त के गुर्गों का वर्णन नहीं किया ज्या (पितरः तावत् ग्रन्ति) पितर लोग तभी तक ग्रन्त को खाते हैं, अन्यथा वह अन्त पितरों के पास नहीं पहुँचता ॥ २३७ ॥

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते तद्वभुङ्क्ते विक्षणामुखः । सोपानत्कश्च यद्वभुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

(यत् वेष्टितशिरा भुङ्क्ते) जो शिर १र पगड़ी म्रादि बाँधकर भोजन करता है (यत् दक्षिणामुखः भुङ्क्ते) जो श्राद्ध के भोजन को दक्षिएा की म्रोर मुख करके खाता है (यत् सोपानत्कः भुङ्क्ते) जो जूतों सिह्त भोजन करता है (तत् वै रक्षांसि भुङ्जते) उस ग्रन्न को निश्चय से राक्षस खाते हैं ग्रर्थात् वह पितरों के पास नहीं पहुंचता॥२३८॥

श्राद्ध जिमाते समय सावधानियां-

चाण्डालक्ष्म वराहक्म कुक्कुटः क्वा तथैव च । रजस्त्रला च षण्डक्म नेक्षेरन्नक्नतो द्विजान् ॥ २३६॥

(चाण्डाल: वराह: कुक्कुट: ब्वा रजस्वला च पण्डः) चाण्डाल, सूत्रर, मुर्गा, रजस्वला स्त्री ग्रौर नपुंसक (ग्रश्नत: द्विजान् न + ईक्षेरन्) खाते हुए ब्राह्मणों को न देखें या देख पायें ॥ २३६ ॥

> होमे प्रदाने मोज्ये च यदेनिरिमवीक्ष्यते। देवे कर्माणि पित्र्ये वा तद् गच्छत्यययातथम्।। २४०॥

(दैवे कर्मणि वा पित्र्ये) देवकर्म भ्रथवा श्राद्धकर्म में (होमे प्रदाने च भोज्ये) हवन करने में, दाउ देने में श्रीर श्राद्ध खिलाने में (यत् + एिमः + ग्रामिवीक्ष्यते) जो वस्तु इनके द्वारा देख ली जाती है (तत् + ग्रयथातथं गच्छिति) वह वस्तु फलहीन हो जाती है, वृथा जाती है ॥ २४०॥

> झारोन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः। श्वा तु हिष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः॥ २४१॥

(सूकरः त्राणेन) सूत्रर सूघने से (कुक्कुटः पक्षवातेन) मुर्गा पखों की हवा से (इवा इप्टिनियानेन) कुत्ता देखने से (ग्रवरवर्णजः स्पर्शेन) निम्नवर्ण में उत्पन्न शूद्र स्पर्शं करने से (हन्ति) श्राद्ध की वस्तु को फलहीन कर देता है ॥ २४१ ॥

> खञ्जो वा यदि वा काराो दातुः प्रेथ्योऽपि वा भवेत् । हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत् पुनः ॥ २४२ ॥

(खञ्जः) लंगड़ा (यदि वा काणः) स्रथवायदि कोई काणा व्यक्ति (दातुः प्रेष्यः + ग्रिपि भवेत्) चाहे कोई श्राद्धदाता का नौकर हो (वा) स्रथवा (हीन-अति-रिक्त-गात्रः) छोटे या बढ़े स्रथवा कम या स्रधिक स्रङ्कों वाला व्यक्ति श्राद्ध पर स्रा जाये तो (पुनः तम् + स्रपि + स्रपतयेत्) उसे भी वहां से दूर हटादे ॥ २४२ ॥

#### बाह्याएं निष्ठुकं वाऽपि मोजनार्यमुपस्थितम् । बाह्याएंरम्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

(भोजनार्थम् + उपस्थितं ब्राह्मणं वा भिक्षुकम् अपि) भोजन की इच्छा से आये हुए किसी अन्य ब्राह्मण और भिखारी का भी (ब्राह्मणैः + अभ्यनुज्ञातः) श्राद्ध में निम-नित्रत ब्राह्मणों की अनुमित लेकर (शिवततः प्रतिपूजयेत्) यथाशक्ति सत्कार कर दे॥ २४३॥

श्राद्ध में ग्रन्य भाग---

#### सार्ववर्षिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिगा । समुत्सृजेव् भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥ २४४ ॥

(सार्वर्विणकम् + अन्नाद्यम्) सब प्रकार के भोज्यान्न को (सन्नीय) लेकर (वारिणा ग्राप्लाव्य) पानी से सानकर या उस पर पानी के छीटे देकर (भुक्तवताम् + ग्रग्रतः) भोजन कर चुके ब्राह्मणों के सामने (भुवि विकिरन्) घरती पर बिखेरता हुग्रा (समुत्सृजेत्) छोड़ देवे ॥ २४४॥

#### म्रसंस्कृतप्रतीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् । उच्छिष्टं मागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरक्च यः ॥ २४५ ॥

(यः दर्भेषु विकिरः उच्छिष्टम्) जो कुशासनों पर बिखेरा गया है वह जूठा अन्त (असंस्कृतप्रतीतानाम्) मरने पर जिन बच्चों का अग्निसंस्कृतप्रतीतानाम्) मरने पर जिन बच्चों का अग्निसंस्कृतप्रतीतानाम्) इत बालकों का तथा (कुलयोषितां त्यागिनाम्) कुलस्त्रियों का त्याग करने वालों का (भागधेयं) भाग होता है ॥ २४५ ॥

#### उच्छेषरां मूमिगतमजिह्यस्याशठस्य च। दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

(पित्र्ये) पितृश्राद्ध में (भूमिगतम् उच्छेत्रणम्) भूमि पर गिराहुम्रा झूठा प्रन्त (म्रजिह्मस्य च म्रज्ञाठस्य दासवर्गस्य) कुटिलतारहित मौर घूर्ततारहित दासवर्ग का (भागघेयं प्रचक्षते) भाग कहा जाता है ॥ २४६ ॥

पिण्डदान-सम्बन्धी विधान-

## म्रासपिण्डिक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु। म्रदैवं मोजयेच्छ्राद्वं पिण्डमेकं तु निर्वपेत्।। २४७।।

(ग्रासपिण्डक्रिया संस्थितस्य तु द्विजातेः) सर्पिडीकरण क्रिया पर्यन्त मरे हुये द्विजाति का तो (ग्रदैवं श्राद्ध भोजयेत्) देवकर्म के ब्राह्मणों से रहित श्राद्ध करना चाहिये (तु) ग्रौर (एकं पिण्ड निवंपेत्) केवल एक ही पिण्डदान करे।। २४७।।

सहिषण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः। अनर्यवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः॥ २४८॥ (धर्मतः) धर्मानुसार (ग्रस्य) इस व्यक्ति की (सहिपण्डक्रियायां कृतायां तु) सिपण्डीकरण क्रिया करने पर तो (सुतैः) पुत्रों को चाहिए कि वे (ग्रनया + एव + ग्रावृता) इसी सम्पूर्ण रीति के ग्रनुसार (पिण्डनिर्वेपणं कार्यम्) पिण्डदान करें ॥२४६॥ श्राद्ध भोजन के बाद की विधियां —

## श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति । स मुढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४६ ॥

(यः) जो ब्राह्मण (श्राद्धं भुक्त्वा) श्राद्ध में जीमकर (उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छिति) झूठा भोजन श्रद्ध को देता है (सः मुढः) वह मूर्खं व्यक्ति (ग्रवाक्शिराः) नीचे शिर किये हुए (कालसूत्रं नरकं याति) कालसूत्र नाम क नरक में जाता है ॥२४६॥

## श्राद्वभुग्वृषलीतर्ल्यः तदहर्योऽविगञ्छति । तस्याः पुरीवे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

(श्राद्धभुक्यः) श्राद्ध में भोजन करने वाला जो व्यक्ति (तत् + ग्रहः वृषली-तल्यम् ग्रिधगच्छति) उस दिन शूद्रा स्त्री के साथ रमण करता है तो (तस्य पितरः) उसके पितर (तस्याः पुरीषे) उस शूद्रा की विष्ठा में (तत् मासं शेरते) एक मास तक सोते हैं।। २४०॥

## पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः । म्राचान्तांत्रवानुजानीयादमि मो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

भोजन कर चुकने पर (स्वदितम् + इति पृष्ट्वा) 'ग्राप लोगों ने स्वादपूर्वकं भोजन कर लिया है न'? इस प्रकार पूछकर (ततः) उसके बाद (तृष्तान् + ग्राचामयेत्) तृष्त हुए उन ब्राह्मणों को ग्राचमन करावे (च) ग्रार (ग्राचान्तान्) आचमन कर चुकने पर (भो ग्राभिरम्यताम् + इति ग्रनुजानीयात्) 'यहां ग्राप ग्राराम कीजिये' ऐसा कहे।। २४१।।

## स्वधाऽस्त्रिवत्येव तं बूयुर्बाह्यस्यास्तवनन्तरम् । स्वधाकारः परा ह्याज्ञीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २४२ ॥

(तत् नं-ग्रनन्तरम्) भोजन कर चुकनं के पश्चात् (ब्राह्मणाः तं 'स्वधा ग्रस्तु' इति ब्रूयुः) ब्राह्मण लोग उस यजमान को 'स्वधा ग्रस्तु' यह कहकर ग्राशीविद दें (हि) क्योंकि (सर्वेषु पितृकर्मस्) सब पितृकर्मों में (स्वधाकारः परा ग्राशीः) स्वधा कहना सबसे उत्तम ग्राशीविद है।। २५२।।

ततो भुवतवतां तेषामन्नदेखं निवेदयेत्। यथा ब्र्युस्तथा कुर्यादनुकातस्ततो द्विजैः ॥ २४३ ॥

(तेषां भुक्तवताम्) उन बाह्यणों के भोजन कर चुकने पर (ततः) उसके बाद

(अन्तरोषं निवेदयेत्) श्राद्ध के रोप अन्त के बारे में उनसे निवेदन करे (ततः) तब (द्विजै अनुज्ञातः) ब्राह्मणों से आज्ञा पाकर (यथा ब्रूयुः) जैसा वे कहें (तथा कुर्यात्) तदनुसार करे।। २५३॥

## पित्र्ये स्विवतिमात्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् । सम्यन्त्रमित्यम्थुदये देवे रुचितमित्यपि ।। २५४ ॥

यजमान को (पित्र्ये) पितृश्राद्ध में (स्विदितम् + इित + एव वाच्यम्) 'क्या आपने स्वादपूर्वक भोजन कर लिया ?' यह पूछना चाहिए (गोण्डे तु मुश्रुतम्) गोण्डी श्राद्ध में 'सुश्रुतम्' (ग्रम्युदये सम्पन्नम् इित) ग्राम्युदियक श्राद्ध में 'सम्पन्नम्' (दैवे 'रुचितम्' इित + ग्राप) दैवश्राद्ध में 'रुचितम्' यह कहकर पूछना चाहिये ॥ २४४॥

# म्रपराह्न्स्तथा दर्मा वास्तुसम्पादनं तिलाः। सृष्टिमृष्टिद्विजाद्याग्रघाः श्राद्वकर्ममु सम्पदः॥ २४४॥

(प्रपराह्मः दर्भाः वास्तुसंगादनं तथा तिलाः) दोगहर के पश्चात् का समय, कुशाए, घर की स्वच्छता तथा तिल, (सृष्टिः) दान देना, (सृष्टिः) [अन्नादि का विशेष विश्व से संस्कार (च) ग्रीर (द्विजाग्रघाः) श्रेष्ठ ब्राह्मण, (श्राद्धकर्मसु संपदः) श्राद्ध कर्मों में ये संपत्तियां हैं॥ २५५॥

# दर्माः पवित्रं पूर्वाह्णो हिवच्याणि च सर्वशः । पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ।। २५६ ॥

(दर्भाः पितत्रं पूर्वाह्मः सर्वेशः च हिवष्याणि) कुशाएं, मन्त्र, दोपहर से पूर्व का समय भ्रौर सब हिवयां (यत् च पितत्रं पूर्वोक्तम्) भ्रौर जो पहले क्लोक में पितत्र बातें कही हैं (हब्यसंपदः विज्ञेयाः) इन्हें देवकर्म की संपत्ति समभना चाहिए।। २५६॥

## मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् । ग्रक्षारलवर्णं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

(मुन्यन्तानि) मुनियों के ग्रन्त [नीवार ग्रादि] (पयः सोमः) दूष, सोमलता का रस (च यत् ग्रनुपस्कृतं मांसर्म्) ग्रौर जो दुर्गन्धि तथा विकार से रहित मांस है वह (च) तथा (ग्रक्षारलवणम्) सेंधा नमक (प्रकृत्या हविः + उच्यते) ये वस्तुए स्वभाव से हवि के योग्य मानी गई हैं ॥ २५७ ॥ ्र-

## विस्त्रय बाह्यणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः श्रुचिः । दक्षिणां दिशामाकाङ्क्षत् याचेतेमान्वरान्पितृन् ॥ २४८ ॥

(तान् तु बाह्यणान् विसृज्य) उन श्राद्ध में निमन्त्रित बाह्यणों को विदा करके (नियतः वाग्यतः शुचिः) एकाग्रचित्त, मौन श्रौर पवित्र होकरं (दक्षिणां दिशम् + श्राका-ङ्क्षन्) दक्षिण दिशा की ग्रोर मुख करके (पितृन् इमान् वरान् याचेत) पितरों से इन वरों को मौंगे ॥ २५८॥

#### वातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च। श्रद्धाः च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्टिवति ॥ २५६ ॥

(नः) हमारे वंश में (दातारः वेदाः च संतितः एव स्रिभवर्षन्ताम्) दानी, वेदों का अध्ययन-म्रध्यापन तथा संतान इनकी सदा वृद्धि हो (च) श्रौर (नः श्रद्धा) हमारी श्रद्धा-भावना (मा व्यगमत्) कभी नष्ट न हो (च) ग्रौर (नः बहुदेयम् ग्रस्तु + इति) 'हमारे घर में दान देने के लिए बहुत धन-धान्य हो' इस प्रकार वर मांगे॥ २५६॥

> एवं निर्वपर्णं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्। गां विश्रमजर्मान्न वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत्।। २६०।।

(एवं निर्वपएां कृत्वा) इस प्रकार पिण्डदान करके (तत् + अनन्तरम्) उसके बाद (तान् पिण्डान्) उन दान किये पिण्डों को (गां विप्रं वा म्रजम्) गौ, ब्राह्मण या बकरे को (प्राशयेत्) खिला दे (वा) म्रथवा (ग्रग्नि वा ग्रप्सुक्षिपेत्) ग्रग्नि या जल में फेंक दे॥ २६०॥

> पिण्डनिर्वपरां केचित्परस्तादेव कुर्वते । वयोगिः लादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽस्मु वा ॥ २६१ ॥

(केचित्) कोई विद्वान् (परस्तात् + एव पिण्डिनवंपरां कुवंते) ब्राह्मणों के भोजन के पश्चात् ही पिण्डों को फोंकने का विधान करते हैं (ग्रन्थे वयोभिः खादयन्ति) दूसरे कुछ विद्वान् पक्षियों को खिलाने को कहते हैं (ग्रनले वा ग्रन्सु प्रक्षियन्ति) कुछ आग या पानी में फोंकने का विधान करते हैं ॥ २६१ ॥

> पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिडमद्यात् सम्यवसुतार्थिनी।। २६२।।

(पितृपूजनतत्परा सुतार्थिनी पतिव्रता धर्मपत्नी) पितरों के पूजन में तत्पर, पुत्र की इच्छा करने वाली पतिव्रता धर्मपत्नी (ततः मध्यमं तु पिण्डं सम्यक् श्रद्यात्) उनमें से बीच के पिण्ड को श्रद्धापूर्वक खाये।। २६२।।

> आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेघासमन्वितम्। घनवन्तं प्रजावन्तं सास्विकं धार्मिकं तथा।। २६३।।

वह पिण्ड का भोजन करने वाली स्त्री (ग्रायुष्मन्तम्) ग्रायुष्मान् (यशो मेधासम-न्वितम्) यश ग्रौर बुद्धि से युक्त (धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं तथा धार्मिकं सुतं सूते) धन वान्, संतानवान् सात्त्विक तथा धार्मिक पुत्र को जन्म देती है।। २६३।।

> प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिम्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानिप भोजयेत् ॥ २६४ ॥

फिर (हस्तौ प्रक्षाल्य) दोनों हाथ धोकर (ग्राचम्य) ग्राचमन करके (ज्ञातिप्रायं

प्रकल्पयेत्) जातिवालों को भोजन करावे (ज्ञातिम्यः सत्कृतं दत्त्वा) जातिवालों को सत्कारपूर्वक ग्रन्न देकर (बान्धवान् + ग्रिप भोजयेत्) ग्रपने भाई तथा रिक्तेदारों को भी भोजन करावे ॥ २६४॥

उच्छेषणं तु यत्तिष्ठेद्यावद्वित्रा विसर्जिताः। ततो गृहबलि कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ २६५॥

(यावत् विप्राः विसर्जिताः) जब तक निमन्त्रित ब्राह्मण् विदान हो जायें (तावत् उच्छेत्रणं तु तिष्ठेत्) तव तक उनसे बचा हुग्रा भोजन ज्यों का त्यों रखा रहने दे (ततः गृहबलि कुर्यात्) उसके बाद बलिवैश्वदेव करे तथा प्रन्य घर ग्रादि के व्यक्तियों को भोजन करावे ॥ २६५॥

हिवर्येच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते । पितृम्यो विधिवद्दशं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

(पितृभ्यः विधिवद् दत्तं हिवः) पितरों के लिए विधिपूर्वक दी गई हिव (यत् चिररात्राय) जो बहुत काल तक के लिए फलदायक रहती है भीर (यत् श्रानन्त्याय कल्प्यते) जो भ्रनंत तृष्ति के लिए होती है (तत्) उसे (भ्रशेषतः प्रवक्ष्यामि) पूर्णंरूप से कहता हूँ—॥ २६६ ॥

पितरों को तृष्तिदायक ग्रन्न एवं मांस ग्रीर तृष्ति की ग्रविध-

तिलैब्रीहियवैर्माषेरिद्भिम् लफलेन वा। वस्तेन मासं तृष्यन्ति विविवत्पितरो नृगाम्॥ २६७॥

(नृगां पितरः) मनुष्यों के पितर (तिलैं: द्रीहियनैं: माषै: + ग्रद्भिः वा मूल-फलेन विधिवत् दत्तेन) तिल, चावल, जौ, उड़द, जल ग्रौर कन्दमूल, फलों को विधि-पूर्वक देने से (मासं तृष्यन्ति) एक मास तक तृष्त रहते हैं ॥ २६७ ॥

> द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु। स्रौरभ्रोणाय चतुरः शाकुनेनाय पञ्च वै।। २६०॥

पितर (मत्स्यमांसेन द्वौ मासौ) मछली के मांस से दो महीने तक (हारिएोन तु त्रीन् मासान्) हिरए। के मांस से तीन मास तक (ग्रथ श्रौरभ्रोए। चतुरः) श्रौर मेंढ़े के मांस से चार मास तक (ग्रथ) तथा (शाकुनेन वै पञ्च) पक्षियों के मांस से पांच महीने तक तुष्त रहते हैं।। २६८।।

> षण्मासाञ्चागमासेन पार्वतेन च सप्त वै। अष्टावेरास्य मासेन रौरवेरा नवैव तु॥२६६॥

(छागमांसेन षण्मासान्) बकरी के मांस से छह महीने (च) श्रीर (पार्षतेन सप्त) चित्रमृग के मांस से सात महीने (एएएस्य मांसेन श्रष्टी) काले मृग के मांस से

श्राठ महीने तक (रौरवेरा नव एव तु) रुरु नामक मृग के माँस से नौ महीने तक पितर तृप्त रहते हैं।। २६६।।

> दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः। शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशेव तु।। २७०॥

(वराह-महिष-ग्रामिषैः दशमासांस्तु तृष्यन्ति) सूत्रर श्रीर भैंसे के मांस से दस मास तक पितर तृष्त रहते हैं (शशकूमेंयोः मांसेन एकादश मासान् एव) खरगोश ग्रीर कछुए के मांस से ग्यारह मास तक पितर तृष्त रहते हैं ॥ २७० ॥

> संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च। बार्ध्रीणसस्य मांसेन तृष्तिद्वीवशवाधिकी॥ २७१॥

(गब्येन पयसा च पायसेन संवत्सरं तु) गौ के दूध श्रीर उसकी लीर से एक वर्षं तक (वार्श्वीं एसस्य मांसेन) श्रीर वार्श्वीं एस बकरे के मांस से (द्वादशवार्धिकी तृष्तिः) बारह वर्षं तक पितरों की तृष्ति मानी है।। २७१।। अर्क्ष

कालशाकं महाशस्काः खड्गलोहामिषं मधु। स्रानस्त्यायैव करूप्यन्ते मुग्यन्नानि च सर्वशः॥ २७२॥

(कालशाकं महाशल्काः खड्ग-लोह-ग्रामिषम्) कालशाक नामक शाकितशेष, कांटेदार मछली या काले बथुए का शाक, गेंडा, लाल बकरे का मांस (मधु) शहद (च) ग्रीर (सर्वशः मुन्यन्नानि) सब प्रकार के मुनि-ग्रन्नों से (ग्रानन्त्याय + एव कल्प्यन्ते) ग्रनन्त काल तक पितर तृष्त रहते हैं॥ २७२॥

> यत्किञ्चिन्सबुना मिश्रं प्रदद्यातु त्रयोदशीम् । तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षामु च मघासु च ॥ २७३ ॥

(वर्षासु मधासु) वर्षाकाल में मधा नक्षत्र में (त्रयोदशीम्) त्रयोदशी तिथि के दिन (यत् किंचित् मधुना मिश्रं प्रदद्यात्) जो कोई भी वस्तु मधु से मिश्रित करके दी जाये (तत् + ग्रापि + ग्रक्षयम् + एव स्यात्) वह वस्तु भी ग्रक्षय तृष्ति देने वाली है ॥ २७३॥

म्रपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् । पायस मबुसपिम्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४॥

[पितर लोग यह च।हा करते हैं कि-] (ग्रिप नः कुले स जायात्) हमारे कुल में ऐसा कोई उत्पन्न हो (यः त्रयोदशीं तिथिम्) जो त्रयोदशी तिथि के दिन (च) तथा कुञ्जरस्य प्राक्छाये) हाथी की छाया जब पूर्वदिशा की भ्रोर जाने लगे अथित् दोपहर

<sup>्</sup>री पानी पीते समय, लम्बे होने के कारण जिसके दोनों कान स्रोर जीभ जल का स्पर्श करते हों, जो क्षीणशक्ति हो, जिसका सफेद रंग हो, जिसकी स्रनेक संतानें हो चुकी हों; उस बूढ़े बकरे को 'वार्घीएास' कहते हैं।

बाद के समय में (नः) हमारे लिए (मधुसर्पिम्यां पायसं दद्याद्) शहद और घी से मिली हुई खीर श्राद्ध में दे॥ २७४॥

#### यद्यद्दाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः । तत्तरिवत्गां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

जो मनुष्य (श्रद्धासमन्वितः) श्रद्धा से युक्त होकर (विधिवत्) विधिपूर्वक (सम्यक् यद् +यद् +ददाति) श्रच्छी प्रकार जो-जो पदार्थ पितरों को देता है (तत् + तत् पितृणां परत्र + प्रानन्त र् + ग्रक्ष रं भवित) वह सभी पितरों को परलोक में ग्रनन्त श्रीर प्रक्षय तृष्ति देने वाला होता है ॥ २७५॥

#### कृष्णयक्षे दशस्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्। श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः।। २७६।।

(कृष्णपक्षे चतुर्दंशीं वर्जियत्वा) कृष्णपक्ष में चतुर्दंशी को छोड़कर (दशम्यादौ) दशमी से लेकर ग्रमावस्या तक (तिथयः श्राद्धे यथा प्रशस्ताः) तिथियां श्राद्ध में जैसी श्रेष्ठ होती हैं (तथा न इतराः) वैसी ग्रन्य तिथियां नहीं होतीं [प्रतिपदा से नवमी तक तथा चतुर्दशी] ॥ २७६॥

#### युक्ष कुर्बन्दिनक्षं व सर्वान्कामान्समश्नुते । अयुक्ष तु पितृन्सर्वान्त्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

(युक्षु दिन-ऋक्षेषु कुर्वन्) सम तिथियों [द्वितीया चतुर्थी, म्रादि] ग्रीर सम नक्षत्रों [भरणी, रोहिणी, म्राद्री ग्रादि] में श्राद्ध को करने वाला द्विज (सर्वान् कामान् समरनुते) सब मनोरथों को पूर्णं करता है (ग्रयुक्षु तु सर्वीन् पितृन्) ग्रसम तिथियों [प्रतिपदा, तृतीया म्रादि] ग्रीर ग्रसम नक्षत्रों [म्रश्विनी, कृत्तिका, मृगश्चिरा ग्रादि] में पितरों का श्राद्ध करने वाला व्यक्ति (पुष्कलां प्रजां प्राप्तोति) बहुत-सी संतान प्राप्त करता है ॥ २७७ ॥

## यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते । तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्मावपराह्मो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

(यथा चैव) जैसे (पूर्वपक्षात ग्रपरः पक्षः) पूर्वपक्ष ग्रथित शुक्लपक्ष से ग्रपरपक्ष ग्रथित कृष्णापक्ष (विशिष्यते) विशेष होता है (तथा) वैसे ही (पूर्वाह्मात ग्रपराह्मः) दोपहर के पूर्वसमय से दोगहर के बाद का समय (श्राद्धस्य विशिष्यते) श्राद्ध का ग्रधिक फल देन वाला है।। २७ ८।।

## प्राचीनावीतिना सम्यगपसन्यमतन्त्रिणा। पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवहुर्भेपाणिना॥ २७६॥

(प्राचीनावीतिना) दाहिने कन्धे के ऊपर बायें कास्त्र के नीचे लटकते हुए यज्ञी-पवीत पहन कर [२।३८] (अपसब्यम् + अतिन्द्रणा) अपसब्य और आलस्यरहित होकर (विघिवत् दर्भपाणिना) विधिपूर्वक कुशा हाथ में लेकर (आनिधनात्) मृत्यु-पर्यन्त (सम्यक् भित्र्यं कार्यम्) श्रद्धापूर्वक पितरों का श्राद्ध करना चाहिए ।। २७६ ।।

> रात्री श्राद्धं न कुर्वीत राक्सी कीर्तिता हिसा। सन्घ्ययोक्सयोक्क्षेत्र सूर्ये चैवाविरोदिते ॥ २८० ॥

(रात्री श्राद्धं न कुर्वीत) रात के समय श्राद्ध न करे (हि) क्योंकि (सा राक्षसी कीर्तिता) रात को 'राक्षसी' = श्राद्ध का कल नष्ट करने वाली कहा है (च) ग्रीर (उभयोः संघ्ययोः एव) दोनों संघ्याग्रों ग्रयीत् प्रातःकाल तथा सायंकाल (व) तथा (सूर्ये ग्रविरोदिते) सूर्यं के निकलने के थोड़ी देर बाद तक भी ग्रथीत् दोपहर से पूर्व तक श्राद्ध न करे।। २८०।।

त्रैमासिक श्राद्ध का विधान---

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निवंपेत् । हेमन्तग्रीष्मवर्षामु पाञ्चयिक्तकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

प्रतिमास श्राद्ध न किये जा सकने पर (ग्रनेन विधिना) इस उपर्युक्त विधि से (हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षासु) हेमन्त, ग्रीष्म ग्रीर वर्ष ऋतुग्रों में (ग्रब्दस्य तिः इह श्राद्धं निवंपेत्) वर्षं में तीन बार यहां पितरों का श्राद्ध करे (पाञ्चयज्ञिकम् + ग्रनु + ग्रहम्) पञ्चयज्ञों के ग्रन्तर्गत ग्राने वाले श्राद्ध को तो प्रतिदिन ही करे।। २८१।।

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽन्नौ विधीयते । न दर्शेन विना श्राद्धमाहितारनेद्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

(लौकिके + अग्नौ) लौकिक अग्नि में अर्थात् प्रतिदिन की यज्ञाग्नि में (पैतृयज्ञः होमः न विधीयते) पितरों का श्राद्ध सम्बन्धी यह विशेष यज्ञ नहीं किया जाता है (स्राहि-ताग्नेः द्विजन्मनः) स्रौर स्रग्निहोत्री ब्राह्मण को चाहिए कि वह (दर्शेन विना श्राद्धं न) स्रमावस्या के बिना श्राद्ध न करे॥ २८२॥

> यदैव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः । तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयत्नियाफलम् ॥ २८३ ॥

(द्विजोत्तमः) जो ब्राह्मण (स्नात्वा) स्नान करके (पितृन् यत् + ग्रद्भः) तपंयित) पितरों को जो जलदान से तृष्त करता है (तेन + एव) वह उसी से ही (कृत्स्नं पितृयज्ञ-क्रियाफलम् ग्राप्नोति) सम्पूर्णं पितृश्राद्धकर्म के फल को प्राप्त कर लेता है

॥ २५३ ॥

पिता ग्रादि की वसु ग्रादि संज्ञाएँ---

वसुन्ववन्ति तु पितृत् रुद्रांश्चैत्र पितामहान् । प्रपितामहास्तथावित्याञ्चुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥ (पितृन् तु वसून्) पितरों को वसु (च) ग्रौर (पितामहान् रुद्रान्) पितामहों को रुद्र (तथा) ग्रौर (प्रपितामहान् ग्रादित्यान्) प्रपितामहों को ग्रादित्य (वदन्ति) कहते हैं (एषा सनातनी श्रुतिः) यह सनातन श्रुति है।। २८४।। (द० ल० पृ० २५६)

अन्तुर्धी त्वन्तः ११६ से २५४ तक श्लोक निम्न श्राधारं पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगिवशेष—(१) ११७ वें श्लोक में गृहस्थी को 'शेषमुक्' होने के लिए कहा है ग्रीर ११८ वें श्लोक में 'यज्ञशेषभुक्' होने के लिए कहा है। २८५ वें श्लोक में इन्हीं बातों का विकल्प रूप में कथन है। यह कहना चाहिए कि २८५ वां श्लोक इनका 'ग्रार्थवाद' रूप है। बीच के इन श्लोकों ने उस पूर्विपर प्रसंग को भंग करके एकवाक्या-समक वर्णन को तोड़ दिया है।
- (२) ११७-११८ श्रीर २८५ वें श्लोक में श्रतिथि यज्ञ से सम्बन्धित प्रसंग है, जिसमें गृहस्थी को कैसा भोजन करना चाहिए यह स्पष्टीकरण है। इसके बीच में संबन्धियों की पूजा, राजा-स्नातक की पूजा [११६, १२०] बिलवैश्वद्वेव का विधान [१२१], पितृश्राद्ध का विधान [१२२-२८४] पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध है।
- (३) १२२ वें क्लोक में "पितृयज्ञं तु निर्वर्त्यं" कहकर नये सिरे से पितृश्राद्ध का प्रसंग शुरू किया गया है। यदि यह प्रसंग मौलिक होता तो प्रसंगक्रम की दिष्ट से पितृयज्ञ के प्रसंग [३।८१,८२] के साथ होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न होकर खण्डित क्रम में इसका वर्णन है। यह क्रम की ग्रसंगति इसे मौलिक सिद्ध नहीं करती। इस प्रकार इन प्रसंगविरोधों के ग्राधार पर ये सभी ११६ से २८४ क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. विषयविरोध—६७ वें श्लोक में "वैवाहिके अनी कुर्वीत "पञ्चयज्ञविधातं च" कहकर दैनिक पञ्चयज्ञों के वर्णन का संकेत किया है और समाप्तिसूचक "एतः । वः अमिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयित्तकम्" श्लोक से भी यही सिद्ध है कि ६७ से २८६ श्लोकों का विधय केवल दैनिक पञ्चयज्ञों का विधान करना है। १२२ से २८४ श्लोकों में दैनिक पञ्चयज्ञों से भिन्न मासिक, त्रैमासिक ग्रादि श्राद्धों का वर्णन है। यह वर्णन मनु के विधय-संकेत से बाह्य होने से विधयविरुद्ध है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।
- ३. अन्तिवरोष: मृतकश्राद्ध मनुविषद्ध है—इस प्रसंग में विणित विधानों के मनुस्मृति के अन्य विधानों से अनेक अन्तिवरोध हैं—(१) १२२ से २८४ क्लोकों में मृतकश्राद्ध का विधान है। यह मान्यता मनुविषद्ध है। मनु ने पितृयज्ञ के रूप में जीवितों का श्राद्ध और वह भी दैनिक रूप में विहित किया है [शान०—६२] [विस्तृत रूप में द्रष्टव्य है शान्य पर अनुशीलन समीक्षा]। मनु के अनुसार पितृ या 'पितर' शब्द का अर्थ भी 'बुजुर्ग' 'पालक' है। देखिए ११२६; २११२६; [२।१५१] में 'पितृ' शब्द का प्रयोग 'बुजुर्गे' के लिये किया है। (२) दैनिक पितृयज्ञ या श्राद्ध घर पर विहित है जब कि इन क्लोकों में विणित श्राद्ध को वनों, नदीतीरों, एकान्त स्थानों [२०७] पर

करने का कथन है। यह भिन्नता मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है। (३) मनु ने पितृयज्ञ को ही श्राद्ध माना है और उससे भिन्त कोई क्रिया पितृयज्ञ में नहीं मानी [ ८०-८२] जब कि इन क्लोकों में "पितृयज्ञं तु निर्वत्यं" कहकर "पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यातृ मासानुमासिकम्" [१२२] के विधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्णन करने वाला इस विधान को पित्यज्ञ से भिन्न क्रिया मानता है। यह प्रतिरिक्त पृथक श्राद्ध का विधान मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। (४) पितृयज्ञ के प्रसंग में केवल अन्त, जल, फल-मूल से ही श्राद्ध करना कहा है [८२], जब कि इस प्रसंग में मांस से श्राद्ध करना ग्रधिक फलदायक माना है [२६६-२७२]। (५) इस प्रसंग में ग्रनेक ब्लोकों में मांसभक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२]। यह मान्यता मनुस्मृति की मौलिक मान्यता से ही विरुद्ध है। मनु ने मांसभक्षण को पाप श्रीर मांसभक्षक को पापी कहा है [४।४३-५१] भीर हिंसा करने वाले के लिये प्रायदिचत्तों का विधान किया है [३।६८-६६]। [विस्तृत समीक्षा४।२६-२८ इलोकों पर देखिये]। (६) मन् कत्ती को ही स्वयं फल को भोक्ता मानते हैं [४।२४०]। इस प्रसंग में श्राद्धकर्त्ता द्वारा पितरों का निस्तार [२२०-२२२], एक के श्राद्ध से सात पीढ़ी के वंशजों की पुण्यफल प्राप्ति [१४६], भ्रादि कथन उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। (७) १३६, १३७, १५२-१५६, १६४-१६६, १८२ म्रादि श्लोकों में वर्णव्यवस्था को जन्मना मानने के संकेत हैं, जबकि मन् कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं [१।८८; २।१४३ (१६८), १२२-१२३ (१४७-१४८) ]। उक्त इलोकों में वर्णित कर्म ब्राह्मणों के नहीं हो सकते, यदि उनमें ये कर्म हैं, तो वे मनु की व्यवस्था के प्रनुसार बाह्यए। नहीं कहला सकते। (८) २। ८१ [१०६] में वेदाध्ययन को सर्वेदा पुण्यदायक माना है, जबकि इस प्रसंग में श्राद्ध में वेदपाठ निषिद्ध है [१८८]। [६] प्रथम ग्रध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा द्वारा पञ्चभूतों के माध्यम से मानी है [१।६,१४-२०] जबिक इस प्रसंग में मरीचि आदि ऋषियों से चराचर जगत् की उत्पत्ति कही है, जो प्रकृतिविरुद्ध वात है [२०१]। (१०) १। ६१ में शूद्रों का कर्म द्विजों की सेवा करना कहा है, जबिक इस प्रसंग में शुद्धों का श्राद्ध के पदार्थों से स्पर्श करना भी निषिद्ध है [२४१]। १६७ में शुद्रों के पितर सुकाली माने हैं। जब शुद्रों के लिए श्राद्ध में स्पर्श तक का निपेध है तो शूदों के यहां कौन से ब्राह्मण श्राद्ध लायेंगे? यदि नहीं लाते हैं तो फिर शूद्रों के लिए श्राद्ध का विधान क्यों? (११) इस सम्पूर्ण प्रसंग में पितरों के लिए हव्य-कव्य ग्रादि देने का विधान है किन्तु मनु के मत में जीवित व्यक्तियों को दिये जाने वाले भोज्य एवं हितार्थं देय वस्त्र, धन ग्रादि दान 'हव्य-कव्य' कहुलाते हैं। ४। ३०-३१ में देखिए मनु ने स्पष्टतः जीवित, धार्मिक विद्वानों को हव्य-कव्य देने का कथन किया है। यह सम्पूर्ण प्रसंग उक्त मान्यता के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

इस प्रकार मनेक मन्तिवरोधों के आधार पर यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। [देव, पितर म्रादि के विषय में विस्तृत विश्लेषण ३। ५२ की समीक्षा में देखिए]।

४. अवान्तरविरोध-इस प्रसंग में अनेक प्रवान्तरविरोध भी हैं, जिनसे यह जात होता है कि यह प्रसंग न तो किसी मनुसद्द विद्वान की रचना है और न किसी एक व्यक्ति की रचना । यथा-(१) १३६-१३७ इलोकों में वेदज्ञानरहित पुत्र को भी श्राद्ध में योग्य माना है श्रीर १४२-१४६ में वेदरहित को श्राद्ध के श्रयोग्य कहा है। (२) १२६ में देवकर्म में वेदहीन ब्राह्मण को जिमाने का निषेध है, लेकिन १४६ में कह दिया कि इस प्रकार की बातों की जांच-पड़ताल न करे। (३) सम्पूर्ण प्रसंग में स्रनेक स्थानों पर मांसभक्षण का विधान है [१२३, २२७, २५७, २६६-२७२] स्रौर १५२ में मांसविक्र ता बाह्मण को जिमाने के श्रयोग्य माना है। (४) १५१ में ब्रह्मचारी को श्राद में जिमाने का निषेध है भीर १८६, १६२, २३४ में जिमाने का विधान है। यहाँ तक कि उसे 'पंकितपावन' तक कहा है। (५) १९६-१९७ इलोकों में शुद्रादि सभी वर्णों के लिये श्राद्ध करना कहा है श्रीर २४१ श्रादि में शूद्र का स्पर्शनिषेष, शूद्र की रिष्टि से श्राद्ध के पुण्य का नष्ट होना आदि वर्णित है। (६) १६४-२०१ में मनु के वंशाजों को ही पितर माना है और २२०-२२२ में अपने मृतपूर्वजों को। (७) १६६-१७३ तक श्लोकों में पशुधों के मांस से कई-कई मास, वर्ष और श्रनन्तकाल तक पितरों की तृष्ति होना बताया है; फिर मासिक [१२२], त्रैमासिक [२८१] स्रादि श्राद्ध करने की ग्रावश्यकता ही क्या रह जाती है? (-) २७० में सूत्रर के मांस का श्राद्ध कराने से दस मास तक पितरों की तृष्ति मानी है और २४१ में सूग्रर के सुंघने से श्राद्ध का भोजन ही दूषित होना कहा है। (६) १३८ में मित्र को श्राद्ध में न जिमाने का विधान है और १४४ में जिमाने का। इस प्रकार ग्रन्य ग्रनेक ग्रवान्तरविरोध भी इस प्रसंग में हैं, किन्तु-विस्तार-भय के कारण उन्हें यहाँ नहीं दर्शाया जा रहा है।

प्र. ज्ञांलीगत प्राधार—(१) १९४-२०१ इलोकों में मनु के परवर्ती वंशजों का 'पितर' रूप में उल्लेख करना और १५० में 'मनुरबवीत' तथा २२२ में 'मब्रवीत मनुः' पद का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि ये इलोक तथा इनसे सम्बद्ध अन्य यह प्रसंग मनु से भिन्न किसी परवर्ती व्यक्ति की रचना है, म्रतः स्पष्टतः प्रक्षिप्त है। (२) इस सम्पूर्ण प्रसंग की शैली अयुक्तियुक्त, निराधार एवं म्रतिशयोक्तिपूर्ण है। इनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—(क) मित्र बाह्यण को जिमाने से श्राद्ध का फलन मिलना [१३६—१४१], (ख) म्रयोग्य बाह्यणों द्वारा खाया श्राद्ध राक्षसों को पहुंचना [१७०], (ग) म्रयोग्य बाह्यणां और शृद्ध मादि के द्वारा श्राद्ध खाते बाह्यणों को देख लेने मात्र से दाता का पुण्य नष्ट होना मौर श्राद्ध का फलहीन हो जाना [१७६, २३६—२४२], (घ) राक्षसों द्वारा श्राद्ध के फल को नष्ट करना [२०४] (ङ) म्रघे बाह्यणां द्वारा श्राद्ध खाते बाह्यणों को देखने पर नब्बे बाह्यणों के जिमाने का फल नष्ट होना, काणे से साठ का, कुष्ठी द्वारा सौ का, क्षयी द्वारा हजार का फल नष्ट होना [१७७], (च) एक हाय द्वारा प्रदत्त मन्न बाह्यणों को न लगकर राक्षसों को लगना [२२५] आदि-म्रादि।

गृहस्थ के लिए दो ही प्रकार के भोजनों का विधान-

विद्यसाज्ञी भवेन्निस्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः । विद्यसो भुक्तज्ञेषं तु यज्ञज्ञेषं तथाऽमृतम् ॥ २८४ ॥ (८३)

गृहस्थी को चाहिए कि वह (नित्यं विघसाशी भवेत्) प्रतिदिन 'विघस' भोजन को खाने वाला होवे (वा) अथवा (अमृतभोजनः) 'अमृत' भोजन को खाने वाला होवे (भुक्तशेषं तु 'विघसः') अतिथि, मित्रों आदि सभी व्यक्तियों के खा लेने पर बचे भोजन को 'विघस' कहा जाता है [३।११६] (तथा) तथा (यज्ञशेषम् 'अमृतम्') यज्ञ में आहुति देने के बाद बचा भोजन 'अमृत' कहलाता है। [३।११७-११८]।। २८५।।

अर्जु श्री टिंड : यज्ञ व और शेष भुक् भोजन में अन्तर — यज्ञ शेष ग्रीर भुक्त शेष भोजन में एक अन्तर यह है कि 'भुक्त शेष' ग्रन्न मीठे ग्रीर लवण से युक्त कोई भी भोजन हो सकता है किन्तु 'यज्ञ शेष' भोजन लवण रहित ही होता है। लवण युक्त पक्वान्न की ग्राहुति ग्रिग्निहोत्र में नहीं डाली जाती। यज्ञ में लवण युक्त भोजन का मनु ने निषेध किया है [६।१२]। ग्रहस्थ लवण युक्त भोजन को बिलभाग निकालने पर और ग्रितिथयों आदि के लाने के पश्चात् लाये। यही भुक्त शेष है। यही विघस है। यज्ञाहुति से ग्रविशब्द लवण रहित भोजन यज्ञ शेष ग्रीर ग्रमृत है।

उपसंहार--

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् । द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥(८४)

(एतत् वः) यह तुम्हें (सर्वं पाञ्चयित्तकं विधानम् स्रभिहितम्) सम्पूर्णं पञ्चयज्ञसम्बन्धी विधान कहा है। स्रब स्रागे (द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयताम्) द्विजातियों की मुख्य स्राजीविका स्रौर जीवनचर्या के विधान को सुनो—।। २८६।।

> इति महर्षि-मनुत्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतिहन्दीमाष्यसमन्वितायाम् 'अनुत्रीलन' समीक्षावित्रूषितायाञ्च मनुस्मृतौ गृहस्याश्रमे समावर्त्तनविवाह-पञ्चयज्ञविषानात्मकस्तृतीयोऽज्यायः ॥

# ऋथ चतुर्थोऽध्यायः

[हिन्दी-भाष्य-'ग्रनुशीलन' समीक्षाभ्यां सहितः]

[गृहस्थान्तर्गत स्राजीविका एवं व्रत विष्य] [आजीविका ४।१ से ४।१२ तक]

ग्रायु के द्वितीय भाग में गृहस्थी बनें ---

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः। द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।।१॥ (१)

(द्विजः) द्विज—ब्राह्मण, क्षेत्रिय, वैश्य (ग्राद्यम्) पहले (ग्रायुषः चतुर्थं भागम्) ग्रायु के चौथाई भाग तक [कम से कम पच्चीस वर्ष पर्यन्त] (गुरौ उषित्वा) गुरु के समीप रहकर अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए ग्रघ्ययन ग्रौर ब्रह्मचर्यपालन करके (ग्रायुषः द्वितीयं भागम्) ग्रायु के दूसरे भाग में (कृत-दारः) विवाह करके (गृहे वसेत्) घर में निवास करे।। १।।

आनुर्धीत्उन् : विवाह की आयु के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन ३। ४ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

गृहस्थी की परपीड़ारहित जीविका हो-

अद्रोहेणैव सूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्याय विद्रो जीवेदनापदि॥ २॥ (२)

(विप्रः) द्विज व्यक्ति (ग्रनापित) ग्रापित्तरिहतकाल में (भूतान।म् ग्रद्रोहेण + एव) दूसरे प्राणियों को जिससे किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे (वा) ग्रथवा (पुनः) ऐसी वृत्ति न मिलने पर बाद में (ग्रल्पद्रोहेण) जिसमें प्राणियों को कम से कम पंड़ा हो ऐसी (या वृत्तिः) जो वृत्ति = ग्राजीविका हो (ता समास्थाय जीवेत्) उसको ग्रपनाकर जीवनिर्वाह करे।। २।। धनसंग्रह जीवनयात्रा चलाने मात्र के लिए हो—

यात्रामात्रप्रसिद्धचर्यं स्वैः कर्मभिरगहितैः। श्रक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्॥३॥(३)

(स्वै: अगहितै: कर्मभि:) अपने अनिन्दित अर्थात् श्रेष्ठकर्मां से

(शरीरस्य ग्रक्लेशेन) शरीर को ग्रधिक कष्ट न देते हुए (यात्रामात्र-प्रसिद्धधर्यम्) केवल जीवनयात्रा को चलाने के उद्देश्य से ही [ग्रर्थात् जिससे जीवन कष्टरहित रूप में चलता रहे ग्रीर उसमें ग्रधिक ऐश्वर्य भोग की कामना न हो] (धन-संचयं कुर्वीत) धन का संचय करे।। ३।। जीविकाग्रों के भेद—

> ऋतामृताभ्यां जीवेत्त्, मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वान स्वनुस्या कदाचन ॥ ४ ॥

(ऋत+ग्रमृताम्याम्) 'ऋत' या 'ग्रमृत' से (मृतेन वा प्रमृतेन) 'मृत' या 'प्रमृत' से (वा) ग्रयवा (सत्य+ग्रनृताम्याम्+ग्रपि) 'सत्यानृत' जीविका से (जीवेत्) जीविका चलाये (श्ववृत्त्या कदाचन न) किन्तु श्ववृत्ति = दूसरे की सेवा करके उसके ग्राश्चित रहते हुए चापलूसी पूर्वक जीवन बिताने की वृत्ति से कभी जीवन निर्वाह न करे।। ४।।

ऋतमुञ्छिशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तुयाचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ४ ॥

(उञ्छ-शिलम् ऋतं ज्ञेयम्) उञ्छ = कटे हुए खेत में पड़े दाने जिनको ग्रंगुलियों से बीना जाये उसे ग्रौर शिल = कटे खेत में पड़ी रह जाने वाली बालियों को चुनकर जीविका चलाने को 'ऋत' समभना चाहिए (ग्रयाचितम् ग्रमृतं स्थात्) विना मांगे प्राप्त होने वाला धन 'ग्रमृत' जीविका होती है (याचितं भैं सं तु मृतम्) भिक्षा मांगकर जीविका करना 'मृत' ग्रौर (कर्षणं प्रमृतं स्मृतम्) खेती करना 'प्रमृत' जीविका कही है।। १।।

सस्यानृतं तु बांशिषयं तेन चैवापि जीव्यते । स्वा क्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

(वाणिज्यं तु सत्यानृतम्) व्यापार को 'सत्यानृत' कहते हैं (तेन च + एव + ध्राप जीव्यते) इसके द्वारा भी जीविका चलायी जा सकती है (सेवा श्ववृत्तिः + ध्रास्याता) दूसरे की सेवा करके उसके ग्राश्रित रहते हुए चापलूसीपूर्वक जीवन बिताना 'श्ववृत्ति' कहलाती है (तस्मात्) वह कुत्ते जैसी वृत्ति है इसलिये (ताम्) उस ग्राजीविका को (परिवर्जयेत्) छोड़ देवे ॥ ६॥

धान्यसंग्रही के भेद---

कुसूलघान्यको वा स्यात्कुम्मीघान्यक एव वा । ग्यहैहिको वाऽपि मवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥ चतुर्गामपि चैतेवां द्विजानां गृहमेघिनाम् । ज्यायान्यरः परो झेयो धर्मतो सोकजित्तमः ॥ ५ ॥ द्विज (कुसूलधान्यकः वा स्यात्) चाहे प्रन्नभण्डार [ = खता ] में धान्यसंग्रह करने वाला हो (वा) ग्रयवा (कुम्भीधान्यकः + एव) मिट्टी के बृहदाकार घड़े में धान्य संग्रह करने वाला हो (वा ग्रिप) ग्रयवा (त्रि + ग्रह + ऐहिकः) तीन दिन के भरण-पोषण के योग्य धान्यसंग्रह करने वाला हो (वा) ग्रयवा (ग्रव्यस्तिकः एव भवेत्) केवल एक ही दिन के लिए धान्य रखने वाला हो [यह द्विज की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु] (एपां चतुर्णाम् + ग्रिप ग्रहमेधिनां द्विजानाम्) इन चारों प्रकार के ग्रहस्थी द्विजों में (परः परः ज्यायान् ज्ञेयः) बाद-बाद वाले को बड़ा या श्रेष्ठ समक्तना चाहिए (धर्मतः लोकजित्तमः) वयोंकि वह संयम ग्रपरिग्रह ग्रादि धर्मों के पालन से इस लोक को जीतने वाला है। ७, ८।।

षट्कर्मेंको भवत्येषां त्रिमिरन्यः प्रवतंते। द्वाम्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति।। १।।

(एपाम् एकः षट्कमं भवति) इनमें एक छः कमों से जीविका करने वाला होता है (ग्रन्यः त्रिभिः प्रवर्तते) दूसरा तीन कमों से जीविका करता है (एकः द्वाम्याम्) एक ग्रर्थात् तीसरा दो कमों से (तु) ग्रौर (चतुर्थः ब्रह्मसत्रेण जीवित) चौथा वेदाष्ययन की जीविका से ही जीता है ।। ६ ।।

> वर्तयंश्व शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः । इष्टीः पार्वायनान्तीया केवला निवंपेत्सदा ॥ १० ॥

(शिलोञ्छाम्यां वर्तयन्) शिल ग्रौर उञ्छ से जीविका करने वाला द्विज भी (ग्रिग्निहोत्रपरायणः) ग्रग्निहोत्र करने में तत्पर रहे ग्रौर (सदा) सदैव (केवलाः) सब (पार्वनान्तीयाः इष्टीः निर्वपेत्) पर्व ग्रौर वर्ष के ग्रन्त में होने वाले [दर्शपौर्णमास ग्रादि] यज्ञों को करता रहे ।। १० ।।

आनुर्योत्जनः ४ से १० श्लोकों का यह प्रसंग निम्न 'श्राधारों' के ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

१. अन्तिवरोध — प्रस्तुत प्रसंग में कुछ वृत्तियों का उल्लेख है, ग्रौर यह बताया गया है कि संचय की दिष्ट से कौन श्रेष्ठ है। ४ से १० इलोक सभी परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रसंग के वर्णन का मनुस्मृति की मान्यताओं से विरोध है ग्रौर मौलिक व्यवस्थाग्रों से तालमेल नहीं बैठता — (१) १। ५७ – ६१ इलोकों में चारों वर्णों के कमों का वर्णन है। उनमें कुछ कमं वर्णों की प्राजीविकाएँ भी हैं [६। ३२५ – ३३३, ३३४, ३३४ (इस संस्करण में १०। १ – ३)]। कमों के प्राधार पर ही मनु ने वर्णों का विभाजन किया है। यहाँ सभी द्विजों के लिए पूर्वोक्त ग्राजीविकाग्रों से भिन्न ग्राजीविका की व्यवस्था देना ग्रौर सभी के लिए ग्राजीविका की समान व्यवस्था देना, पूर्वोक्त व्यवस्था तथा मान्यता से विरुद्ध है। (२) इन इलोकों में 'सेवा' को भी एक द्विजा-तियों की [३। २६६] ग्राजीविका माना है (४, ६) जबकि पूर्व व्यवस्था के ग्रनुसार

'सेवा' द्विजातियों का नहीं ग्रपितु शूद्र का कर्म है [१। ८७-६१; ६। ३३४-३३४]। अतः यह ग्राधारभूत विरोध इस प्रसंग की प्रक्षिप्तता का सूचक है। (३) ६ वें इलोक मं गृहस्थी द्विजों के स्राजीविका के स्राघार पर चार वर्ग-छः कर्मों से स्राजीविका करने वाला, तीन कर्मों से, दो कर्मों से ग्रीर एक कर्म से ग्राजीविका करने वाला-वताये हैं। यह व्यवस्था भी १। ५७-६१ ग्रीर १। ३२५-३३५ (इसमें १०। १-३), श्लोकों के विरुद्ध है। इन श्लोकों में किसी भी वण के व्यक्ति के लिये श्राजीविका हेतु छ: कर्मग्रीर (वैश्य को छोड़कर) चार कर्मविहित नहीं हैं। (४) इन ब्लोकों में दिजों की एक वृत्ति 'याचित' अर्थात् 'भिक्षा मांगना' [४, १] भी कही है। चुकि यह गृहस्थियों का विषय है [३। २८६; ४। १] श्रतः ये विधान गृहस्थों के लिए ही माने जायेंगे। मनू ने गृहस्थ के लिए कहीं भी भिक्षा का विधान नहीं किया है, अपित स्वयं घर में पकाने का विधान है और स्वयंन पकाकर दूसरों के भोजन का लालच करने वाले गृहस्थी की निन्दा की है [३।६७; १०४]। भिक्षा का विधान केवल शेष तीन ग्राश्रमों के लिए है [२।१५६-१६० (१८४-१८४); ६।५५, ५७], प्रत्युत वानप्रस्थी को भी केवल विशेष प्रवस्था में ही भिक्षा मांगने की छट है [६। २७]। सामान्य अवस्था में उसके लिए भी स्वयं पकाकर खाने का विधान है [६। ४, ७, १२, १३]। इस प्रकार इन अन्तर्विरोधों के श्राधार पर यह ४—१० क्लोकों का प्रसंग प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।

२ प्रसंगिबरोध—२-३ क्लोकों में इस प्रसंग के प्रारम्भिक वर्णन से यह जात होता है कि मनु यहाँ 'श्राजीविका कैसी अपनानी चाहिए' केवल यही कहना चाहते हैं। ग्राजीविका श्रों का परिगएान नहीं, क्योंकि वह तो पहले कहा ही जा चुका [१। ८७-६१]। ११-१२ क्लोकों में भी यही वर्णन हैं। बीच के इन क्लोकों ने उस प्रसंग-क्रम को भंग कर दिया है। 'ग्राजीविका कैसी होनी चाहिए, कैसी नहीं' इस चर्चा का प्रसंग तीसरे क्लोक के बाद ११ वें में है। ग्रतः तीसरे से ११ वां ही प्रसंग की इष्टि से सम्बद्ध है, शेष प्रक्षिप्त हैं।

शास्त्रविरुद्ध जीविका न हो--

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन। अजिह्यामशठां शुद्धां जीवेद्दशह्यणजीविकाम्॥ ११ ॥ (४)

गृहस्थ (वृत्तिहेतोः) जीविका के लिये भी (लोकवृत्तं न वर्तेत) कभी शास्त्रविरुद्ध लोकाचार का वर्ताव न वर्ते, किन्तु जिसमें (ग्रजिह्माम् + ग्रशठां शुद्धाम्) किसी प्रकार की कुटिलता, मूखता, मिथ्यापन वा अधर्म न हो (ब्राह्मगाजीविकां जीवेत्) उस वेदोक्त कर्मसम्बन्धी जीविका को करे ।। ११।। (सं० वि० १५१)

<u>ी सर्</u>

सन्तोष सुख का मूल है, ग्रसन्तोष दु:ख का---

सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। १२ ॥ (५)

(मुखार्थी) मुख चाहने वाला व्यक्ति (परमं सन्तोषम् ग्रास्थाय) ग्रत्यन्त संतोष को घारण करके (संयतः भवेत्) संयतः च्य्रधिक धन के संग्रह की इच्छा न रखने वाला बने (हि) क्योंकि (संतोषमूलं मुखम्) संतोष मुख का ग्राधार है (विपर्ययः) उससे उल्टा ग्रर्थात् ग्रसंतोष (दुःखमूलम्) दुःख का ग्राधार है।। १२।।

(स्नातक गृहस्थियों के व्रत) [४। १३ से ४। २५६ तक]

गृहस्थों के लिए सत्वगुणवर्धं क व्रत-

न्नतोऽन्यतमया वृत्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि घारयेत् ॥ १३ ॥ (६)

(ग्रतः) इसलिए (स्नातकः द्विजः) स्नातक गृहस्थी द्विज (ग्रन्यत-मया) निर्धारित [१। ५७-६१] वृत्तियों में से ग्रपेक्षाकृत किसी श्रेष्ठ (वृत्त्या) ग्राजीविका से (जीवन्) जोवनिर्वाह करते हुए (स्वर्ग-प्रायुष्य-यशस्यानि इमानि व्रतानि धारयेत्) सुख, ग्रायु ग्रीर यश देने वाले इन व्रतों को धारण करे—।। १३।।

आनुशीलाः मनु स्वर्ग को सुख का पर्यायवाची मानते हैं। द्रष्टव्य ३। ७६ पर समीक्षा।

गृहस्थों के लिये सत्वगुणवर्धक व्रत-

वेदोदितं स्वकं कर्मं नित्यं कुर्यादतिन्द्रतः । तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्.।। १४ ।। (७)

ब्राह्मणादि द्विज (वेदोदितं स्वकं कर्म) वेदोक्त श्रपने कर्म को (ग्रतिन्द्रतः नित्यं कुर्यात्) श्रालस्य छोड़के नित्य किया करें (तत् हि यथा-शक्ति कुर्वत्) उसको ग्रपने सामर्थ्यं के श्रनुसार करते हुए (परमां गित प्राप्नोति) मुक्ति पर्यन्त पदार्थों को प्राप्त होते हैं।। १४।। (सं वि १७७)

ग्रधमं से धनसंग्रह न करें-

नेहेतार्थान्त्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मगा। न विद्यमानेष्वर्थेषु नात्यामपि यतस्ततः॥ १५॥ (८) गृहस्थ (प्रसंगेन ग्रर्थान् न ईहेत) कभी किसी दुष्ट के प्रसंग से द्रव्य-संचित न करे (न विरुद्धेन कर्मणा) न विरुद्ध कर्म से (न विद्यमानेषु + ग्रर्थेषु यतस्ततः) न विद्यमान पदार्थ होते हुए उनको गुप्त रखके ग्रथवा दूसरे से छल करके ग्रीर (न + ग्रात्याम् + ग्रपि) चाहे कितना ही दुःख पड़े तदिप ग्रधमं से द्रव्यसंचय वभी न करे।। १५।। (सं० वि० १७७)

इन्द्रियासक्ति-निषेध-

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः। स्रतिप्रसक्ति चेतेषां मनसा संनिवर्तयेत्।। १६॥ (६)

(सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु कामतः न प्रसज्येत) इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फंसे (च) ग्रौर (एतेषाम् ग्रतिप्रसिक्तम्) विषयों की ग्रत्यन्त प्रसिक्त ग्रर्थात् प्रसंग को (मनसा संनिवर्तयेत्) मन से ग्रच्छे प्रकार दूर करता रहे।। १६॥ (सं० वि० १७७)

स्वाच्याय से कृतकृत्यता-

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ (१०)

(स्वाघ्यायस्य विरोधिनः सर्वान् ग्रर्थान् परित्यजेत्) जो स्वाघ्याय ग्रीर धर्मविरोधी व्यवहार वा पदार्थ हैं उन सब को छोड़ देवे (यथा तथा ग्रघ्यापयन् तु) जिस किमी प्रकार से विद्या को पढ़ाते रहना ही (सा हि + ग्रस्य कृतकृत्यता) गृहस्थ को कृतकृत्य होना है ।। १७ ।। (सं० वि० १७८)

अर्जुटरील्डन्तः स्वाध्याय के विस्तृत स्रथं के लिए देखिए २ 1 5 २ [२ । १०७] पर सनुशीलन ।

वयसः कर्मणोऽपंस्य श्रुतस्यामिजनस्य च। वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह् ॥ १८॥

(वयसः कर्मणः + म्रर्थस्य श्रृतस्य च ग्रभिजनस्य) ग्रपने ग्रायु, कर्म, धन, वेद ग्रीर कुल के ग्रनुसार (वेष-वाक्-बुद्धि-सारूप्यम् ग्राचरन्) वेष, वाणी ग्रीर बुद्धि का व्यवहार करता हुन्ना (इह) इस संसार में (विचरेत्) विचरण करे, रहे ॥ १८॥

# अस्तुर्धोत्जनाः १८ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध—यह इलोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है ग्रीर उस पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहा है। १७ ग्रीर १६ वें इलोक में स्वाध्याय का प्रसंग है। बीच में 'किस प्रकार विचरण करना चाहिये' यह कथन ग्रसंगत है, ग्रत: यह इलोक प्रक्षिप्त है। २. विषयविरोध—यह प्रस्तुत विषय से भी विरुद्ध है। इस बात का 'सत्वगुण-वर्धक' होने से कोई सम्बन्ध नहीं है श्रीर न ही यह कोई 'व्रत' हो सकता है [विस्तृत विवेचन ४। ३६-३६ श्लोकों पर देखिए]।

> बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्यवेश्चेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १६ ॥ (११)

हे स्त्रीपुरुषो ! तुन (यन्यानि आगु बुद्धिवृद्धिकराणि च हितानि शास्त्राणि) जो घर्म-धन और बुद्धधादि को ग्रत्यन्त शोघ बढ़ाने हारे हित-कारी शास्त्र हैं उनको (व) और (वैदिकान् निगमान) वेद के भागों की विद्याओं को (नित्यम् ग्रवेक्षेत) नित्य देखा करो ॥ १६ ॥ (सं० वि० १७८)

"जो शोघ्र बुद्धि, धन ग्रौरहित को वृद्धि करने हारे शास्त्र ग्रौर वेद हैं उनको नित्य सुनें ग्रौर सुनावें, ब्रह्मचयिश्रन में जो पढ़े हों। उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा ग्रौर पढ़ाया करें। (स० प्र०६८)

> यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २०॥ (१२)

(पुरुषः) मनुष्य (यथा-यथा शास्त्रं समिधगच्छिति) जैसे-जैसे शास्त्र का विचार कर उसके यथार्थ भावको प्राप्त होता है (तथा-तथा विजा-नाति) वैसे वैसे ग्रिधिक जानता जाता है (च) ग्रीर (ग्रस्य विज्ञानं रोचते) इसकी प्रीति विज्ञान ही में होती जाती है।। २०।। (सं० वि०१७८)

"क्यों कि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, उसी में रुचि बढ़ती रहती है।"

(स∘ प्र० ६८)

पंचयज्ञों के पालन का निर्देश---

ऋषियज्ञं देवयज्ञं मूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाज्ञादित न हापयेत्।। २१।। (१३)

(ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं नृयज्ञं च पितृयज्ञम्) ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, बिलवेश्वदेवयज्ञ, स्रतिथियज्ञ स्रोर पितृयज्ञ इनको (सर्वदा यथाशक्ति न हापयेत्) सदा हो जहां तक हो कभी न छोड़े ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः। अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

(एके यज्ञशास्त्रविदः जनाः) कोई-कोई यज्ञशास्त्र के वेत्ता लोग (एतान् महा-

यज्ञान् ग्रनीहमानाः) इन महायज्ञों को न करके (इन्द्रियेषु + एव सततं जुह्विति) पांच इन्द्रियों में ही सदा हवन करते हैं ग्रथीत् इन्द्रियों को विषयों में ग्रासक्त नहीं होने देते ॥ २२॥

#### वाच्येके जुह्निति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा। वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिवृंत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

(एके) कोई-कोई (वाचि च प्राणे) वाणी और प्राण में ही (म्रक्षयां यज्ञितवृंति पश्यन्तः) यज्ञ के म्रक्षय फल का प्राप्त होना मानकर (सर्वदा) सदा ही (वाचि प्राणं च प्राणे वाचं जुह्वित) वाणी में प्राण का स्रौर प्राण में वाणी का हवन करते हैं ग्रथित प्राण स्रौर वाणी का संयम करते हैं। २३॥

## ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मेखैः सदा। ज्ञानमूलां क्रियामेषां पत्रयन्तो ज्ञानचक्षुवा॥ २४॥

(ग्रपरे विप्राः) दूसरे कुछ विद्वान् (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञान रूपी नेत्र से ही (एषां ज्ञानमूलां क्रियां पश्यन्तः) इन ज्ञानमूलक क्रियाग्रों की उत्पत्ति को देखते हुए (ज्ञानेन + एव एतैः मखैः यजन्ति) ज्ञान से ही इन पञ्चमहायज्ञों को करते हैं ग्रथित् ब्रह्मज्ञान में ही तल्लीन रहते हैं ॥ २४॥

अनुशरिकना: २२ से २४ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- ? मन्ति शिष—यह गृहस्थों के लिए कर्त्तव्यों का विधान करने का प्रसंग है। मनु की यह निश्चित एवं मौलिक मान्यता है कि प्रत्येक गृहस्थ को दैनिक पांच महायज्ञ मिनवार्य रूप से करने चाहिए [३।६७—७२,७६—११८]। यहां तक कि वानप्रस्थी को भी इन यज्ञों का पालन म्निवार्य कहा है [६।४,६,७—१२]। इनसे पहले वाले श्लोकों में भी स्पष्ट निर्देश है—"यथाशक्ति न हापयेत्" म्रथात् 'जहां तक यत्न हो सके इन यज्ञों को न छोड़े।' इन श्लोकों में यज्ञों के विकल्प दिये हैं और कुछ शास्त्र-वेत्ताओं के मत हैं। इन विकल्गों के वर्णन से यह मिन्नाय स्पष्ट हो रहा है कि उपर्युक्त यज्ञों के स्थान पर म्रमुक पद्धित भी ग्रपनायी जा सकती है। ये विकल्प या भिन्न व्यवस्थाएँ मनु की उक्त मान्यता एवं व्यवस्था के विरुद्ध हैं, म्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. प्रसंगिक्द्रोष ये क्लोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध हैं। २१ वें क्लोक से पांच यज्ञों का विधान है और २५ वें क्लोक में तथा आगे उसकी अर्थवादरूप में व्यास्या है। इस पूर्वापर सम्बद्धता क्रम को इन क्लोकों ने भग कर दिया है, अतः ये प्रसंगिवरुद्ध होने से भी प्रक्षिण्त हैं।
- ३. विषयविरोध—यज्ञों का विधान और उनकी विधियों के विषय का वर्णन तृतीय ग्रध्याय में है। यहां केवल कर्त्तब्यों या व्रतों का विषय है [१४,२५६]। इस

विषय में होम की भिन्नविधियां देना विषयविरुद्ध है। यदि ये विधियां मौलिक होतीं तो इनका वर्णन तृतीय श्रध्याय में ही विषयसम्मत कहा जा सकता था, क्योंकि मनु ने रवयं विषयों का एक निश्चित क्रम बनाया हुआ है, श्रतः वे स्वयं अपने निश्चित विषयक्रम से बाहर नहीं जा सकते। इस प्रकार इन विकल्पों का वर्णन यहां मौलिक नहीं है।

म्रग्निहोत्र का विधान---

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा । दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २४ ॥ (१४)

गृहस्थ (सदा) प्रतिदिन (द्यु-निशोः ग्राद्यन्ते) दिन-रात के ग्रादि ग्रौर ग्रंत में ग्रर्थात् सायं प्रातः सन्धिवेलाग्रों में (ग्रग्निहोत्रम्) ग्रग्निहोत्र (जुहु-यात्)करे(च)ग्रौर(अर्धमासान्ते-दर्शेन)ग्रावे मास के ग्रन्त में दर्शयज्ञ ग्रर्थात् ग्रमावस्या का यज्ञ करे (च) तथा (एव हि पौर्णमासेन) इसी प्रकार मास पूर्णहोने पर पूर्णमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे ॥ २५॥

> सस्यान्ते नवसस्येष्टचा तथर्त्वन्ते द्विजोऽष्वरैः । पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैमंजैः ॥ २६ ॥

(द्विजः) द्विज को चाहिए कि वह (सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या) ग्रन्न पकने के बाद 'नवसस्येष्टि यज्ञ' (तथा ऋतु — ग्रन्ते ग्रध्वरैः) उसी प्रकार ऋतुग्रों की समाप्ति पर 'ऋतुयज्ञ' (ग्रयनस्य ग्रादौ तु पशुना) ग्रयनों के ग्रादि में 'पशुयज्ञ' (समान्ते सौमिकै-मंखैः) वर्ष के ग्रन्त में ग्रग्निष्टोम ग्रादि यज्ञों को करे॥ २६॥

> नानिष्ट्वा नवसस्येष्टचा पशुना चाग्निमान्द्विजः। नवान्नमद्यान्त्रांसं वा दीर्घमायुजिजीविवुः॥ २७॥

(दीर्घम् + ग्रायुः जिजीविषुः ग्रग्निमान् द्विजः) लम्बी ग्रायु की कामना करने वाला ग्रग्निहोत्री द्विज (नवसस्येष्ट्या च पशुना ग्रनिष्ट्वा) 'नवसस्येष्टि यज्ञ' ग्रौर 'पशुयज्ञ' किये बिना (नवं + ग्रन्नं वा मांसं न ग्रद्यात्) नये ग्रन्न ग्रौर मांस को न खाये ॥ २७॥

## नवेनार्नाचता ह्यस्य पशुहृष्येन चाग्नय:। प्राराानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगिषनः।। २८।।

(हि) क्योंकि (नवेन पशुहव्येन म्रनिवताः) नये मन्न म्रौर नये पशुमांस से बिना पूजी हुई (म्रग्नयः) यज्ञाग्नियां (म्रस्य नवान्न म्रामिषगिधनः) इस नये मन्न म्रौर मांस को खाने की म्रभिलाषा रखने वाले व्यक्ति के (प्राग्गान् + एव + म्रत्तुम् + इच्छन्ति) प्राणों को ही खाना चाहती हैं॥ २८॥

अन्तुर्शीत्जनाः २६ से २८ इलोक निम्न ग्रावार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. अन्तिवरोध: मांसमक्षण और पशुयज्ञ अनुविश्द्ध—इन श्लोकों में दो मान्यताएं विणित हैं—एक तो—पशुयज्ञ करना अथवा यज्ञ में पशुमांस की आहुति देना और दूसरी—मांसभक्षण को उचित मानना। ये दोनों ही मान्यताए मनु की मौलिक मान्यताओं के विश्द्ध हैं। यदि इन्हें मनुसम्मत कहा जायेगा तो मनुस्मृति की आधारभूत व्यवस्था ही खंडित हो जाती है। नीचे इस सम्बन्ध में मनु की कुछ मान्यताओं का उल्लेख किया जा रहा है जिनसे एकसाथ ही यह सिद्ध हो जायेगा कि (१) सर्वप्रकार की हिंस: या मांसभक्षण मनुविश्द्ध है, (२) पशुयज्ञ मनुविश्द्ध है, और (३) यज्ञ के उद्देश्य से पशुहिंसा करना भी मनुविश्द्ध है। यथा—(१) मनु ने गृहस्थियों और वानप्रस्थियों के लिए अनिवार्य रूप से पांच महायज्ञों का विधान किया है। इन यज्ञों के विधान का मुख्य उद्देश्य हिंसा की निवृत्ति ही है—

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महिषिभः । पञ्च क्लुप्ताः महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ३ । ६८, ६६ ॥

जो व्यक्ति दैनिक जीवनचर्या में ग्रज्ञानवज्ञ होने वाली छोटी-छोटी हिंसाग्रों की निवृत्ति के लिए भी प्रायिक्चित्त का विधान करता है, जिसमें परप्राणीपीड़ा की भावना भी नहीं है ग्रौर जो ग्राजीविका भी ऐसी ग्रपनाने का विधान करता है जिसमें किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे [४।२], जो पशुग्रों की सवारी करते हुए उनको चाबुक भी इस प्रकार मारने के लिए कहता है जिससे वे संतष्त न हों [४।६८], वह व्यक्ति पशुग्रों की हिसा ग्रौर मांसभक्षण का विधान कदापि नहीं कर सकता। यह सर्वया ग्रसंभव है। ग्राक्चयं की बात तो यह है कि छोटी-छोटी हिसाग्रों के प्रायक्चित्त के लिए ग्रयीत् उनके पाप की शुद्धि के लिए ही मनु पांच यज्ञों का विधान कर रहे हैं ग्रौर फिर लोग यज्ञों में भी हिसा करने को मनुसम्मत सिद्ध करना चाहते हैं। यदि ऐसा है तो यज्ञों से पायशुद्धि ही क्या हुई ?

इसके श्रतिरिक्त १।४८,४६,५१ में मनुने मब प्रकार के मांसभक्षण का निषेध एवं निन्दा की है तथा मांसभक्षण में थोड़ा-सा भी सहयोग देने वाले को 'पापी' घोषित किया है—

> अनुमन्ता विश्वसिता निहन्ता क्रयदिकयी। संस्कृता चोपहर्ता च कादकक्ष्वेति घातकाः ॥ ६ । ५१ ॥

मनुस्मृति में ग्रन्य ग्रनेक स्थानों पर मांसभक्षण का निषेध है ग्रौर हिंसक की निन्दा तथा ग्रहिंसक की प्रशंसा एवं ग्रहिंसा की प्रेरणा है—

- (क) ''वर्जयेत् मधुमांसं च प्राश्निनां चैव हिंसनम्।'' (२। १५२ [१७७])
- (ल) "वर्जयेत् मधुमांसम्" (६। १४)
- (ग) "हिंसारतइच यो नित्यं नेहासी सुखमेधते।" (४। १७०)
- (घ) "यो ब्रॉहसकानि मूतानि हिनस्ति आत्मसुलेच्छया। स जीवंदच मृतदचेत्र न क्वचित् सुलमेघते" । ४ । ४४ ॥
- (ङ) ''ग्रहिलः दमदानाम्यां जयेत् स्वर्गतयात्रतः।'' (४। २४६)
- (च) "विवरेत् नियतः नित्यं सर्वमूतानि ग्रपीडयन् ॥" (६। ५२)
- (छ) ''ग्रहिसया च भूतानां ग्रमृतत्वाय कल्पते ।'' (६ । ६०)

इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मनु सर्वप्रकार की हिंसा का निषेध ग्रीर निन्दा करते हैं। तृतीय ग्रष्ट्याय के यज्ञ-प्रसंगों में मनु ने कहीं भी मांसयज्ञ का विधान नहीं किया है। ग्रीर वानप्रस्थ के प्रसंग में तो मनु ने स्पष्टतः कह दिया है कि ग्रन्नों से ही यज्ञ करे ग्रीर वह भी 'मेध्य' = शुभ ग्रन्नों से —

> मुन्यन्नैः विविधः मेध्यैः शाकमूलफलेन वा। एतानेव महायज्ञान् निवंपेत् विधिपूर्वकम् ॥ ६ । ५ ॥

इस प्रकार इन श्लोकों में प्रदर्शित मान्यता का मनुकी मौलिक मान्यताग्रों के साथ विरोध है, ग्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

- (२) वेदिवरुद्धः मांसमक्षण श्रीर पशुयक्त के पिरोध में वेद के प्रमाण— इस प्रसंग में मांसभक्षण की सिद्धि के लिए प्रक्षेपकर्त्ताध्रों ने यज्ञ की श्राड़ ली है। यज्ञों का विधान वेदों में है। श्रतः यहाँ वेदों के ही यज्ञसम्बन्धी प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिनसे पता चलेगा कि श्रपनी स्वार्थिसिद्धि के लिए स्वार्थी लोगों ने मिथ्या ही यज्ञ श्रीर वेद को बदनाम किया है—
- (क) 'म्रघ्वर' शब्द ऋग्वेद में १।२३।१७॥ १।१३४।७॥ १।४४। १३॥३।२४।२॥ ७।७२।४॥ ८।६। ८॥ यजुर्वेद में ३७।१६॥३।११॥ २१।४७ म्रादि स्रतेक स्थानों पर यज्ञार्य में प्रयुक्त हुम्रा है। इस शब्द की निरुक्ति करते हुए ऋषि यास्क लिखते हैं—''अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरति हिंसाकर्मा तस्म्रतिषेषः" [नि०३।१७॥ १।७] म्रप्यत् 'म्रघ्वर' यज्ञ का नाम है। 'ध्वर' हिंसार्यंक धातु से बना है। जिसमें हिंसा न हो उसे म्रघ्वर—यज्ञ कहते हैं। इस संज्ञा से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं होती। यज्ञ के नाम पर पशुहिंसा करना स्वार्थी लोगों की उदरपूर्ति-हेतु कल्पना है।

- (ल) यजुर्वेद को कर्मकाण्ड का वेद माना जाता है। उसके प्रथम मन्त्र में ही पशुप्रों की प्रहिसा की कामना है—''यजमानस्य पशुन् पाहि'' [यजु १।१] प्रयात् 'यज्ञ करने वाले के पशुग्रों की रक्षा की जिए।'
- (ग) मांसाहारियों को यज्ञ सम्पादन का श्रिधकार नहीं यज्ञों में मांसविधान की चर्चा तो बहुत दूर की बात है। वेदों में यज्ञ-विधान प्रसंगों में केवल यज्ञीय प्रवृत्ति के, श्रन्नाहारी (मांसाहारी नहीं) व्यक्तियों को ही यज्ञ करने का विधान है। निम्न वेदमन्त्र प्रमाणरूप में उल्लेखनीय है—

''ऊर्जादः उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम् ।"

(死0 201 231 8)

त्रर्थात् केवल ग्रन्नाहारी (मांसाहारी नहीं), ग्रीरयज्ञीय प्रवृत्ति वाले पांचों प्रकार के (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैदय, शूद्र वर्ण ग्रीर निषाद) व्यक्ति यज्ञ-सम्पादन करें।

निरुक्तकार ने 'ऊर्ज' की व्युत्पत्ति ग्रीर ग्रथं दिये हैं — क्रांगिति ग्रन्ननाम, क्रजंयित इति सतः।'' [निरु०३।२।७] ग्रथात् 'ऊर्ज' ग्रन्न को कहते हैं क्योंकि यह शरीर को प्राणशक्ति प्रदान करता है।

३. शैलीगत श्राधार—२७—२८ श्लोकों की शैली भी अयुक्तियुक्त है। नये अन्न या पशुमांस को यज्ञ में डाले बिना खाने से यज्ञाग्नि खाने वाले के प्राणों को कैसे खा जायेगी? उसका और खाने का क्या सम्बन्ध है? और फिर नया अन्न तो प्रतिवर्ष होता है किन्तु नये वर्ष के साथ नया मांस कैसे हुआ।? इस प्रकार की शैली मनुसम्मत नहीं है।

त्रतिथिसत्कार का विधान--

म्रासनाशनशय्याभिरद्भिम् लक्लेन वा । नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तिदोऽनचितोऽतिथिः ॥२६॥ (१४)

(ग्रस्य गेहे) इस गृहस्थी के घर में (किश्चत् ग्रतिथिः) कोई भी ग्रतिथि (शिवततः) शिवत के ग्रनुसार (ग्रासन + ग्रशन शय्याभिः) ग्रासन, भोजन, बिछौना ग्रादि से (वा) ग्रथवा (ग्रिइ्भः-मूल-फजेन) जल, कन्दमूल ग्रीर फल ग्रादि से (ग्रनिंवतः न वसेत्) बिना सत्कार किये न रहे ग्रथीत् यथाशिक्त सब का सत्कार करना चाहिये ॥ २६॥

सत्कार के भ्रयोग्य व्यक्ति-

पा<del>खण्डिनो विकर्मस्याग्बंडालव्रतिकाञ्छठान्।</del> हेतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेगापि नार्चयेत्।। ३० ॥ (१६) (पाखण्डिनः) पाखण्डी (विकर्मस्थान्) वेदों की स्नाज्ञा के विरुद्ध चलने वाले (बैडालव्रतिकान्) बिडालवृत्ति वाले [४।१६४] (शठान्) हठी (हैतुकान्) बकवादो (च) स्रौर (बकवृत्तीन्) बगुलाभक्त मनुष्यों का [४।१६६] (वाङ्मात्रेण+स्रिप न अर्चयेत्) वाणी से भी सत्कार नहीं करना चाहिए।।३०॥ (पू० प्र०१४३)

"िकन्तु जो पाखण्डी, वेदिनन्दक, नास्तिक, ईश्वर वेद ग्रीर धर्म को न मानें ग्रधमिचरण करने हारे हिंसक, शठ निष्याभिमानी, कुतर्की ग्रीर बकवृत्ति ग्रर्थात् पराये पदार्थं हरने वा बहकाने में बगुले के समान ग्रतिथि वेषधारी बनके ग्रावें उनका वचनमात्र से भी सत्कार गृहस्थ कभी न करे।" (सं० वि० १५०)

'(पाखंडी) स्रर्थात् वेदनिन्दक, वेदिविरुद्ध स्राचरण करने हारे (विकर्मस्थ) जो वेदिविरुद्ध कर्म का कर्त्ता मिध्याभाषणादियुक्त, जैसे बिड़ाल छिप स्रोर स्थिर रहकर ताकता-ताकता भपट से मूषे स्रादि प्राणियों को मार स्रपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम बैडालवृत्ति (शठ) स्रर्थात् हठी, दुराग्रही, स्रिभमानी स्राप जाने नहीं, स्रोरों का कहा माने नहीं (हैतुक) कुतर्की, व्यर्थ बकने वाले जैसे कि स्राजकल के वेदान्ती बकते हैं, हम ब्रह्म स्रोर जगत् मिध्या है, वेदादि शास्त्र स्रोर ईश्वर भी कल्पित है, इत्यादि गपोड़ी हांकने वाले (बकवृत्ति) जैसे बक एक पैर उठा, ध्यानावस्थित के समान होकर भट मच्छी के प्राण हरके स्रपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे स्राजकल के वैरागी स्रोर साखी स्रादि हठी दुराग्रहो, वेदिवरोधी हैं; ऐसों का सत्कार वाणीमात्र सें भी न करना चाहिए।'' (स० प्र० १०३)

सत्कार के योग्य व्यक्ति---

# वेदविद्याद्रतस्नाताञ्क्लोत्रियान्गृहमेषिनः । पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ (१७)

(वेदिवद्यावतस्तातान्) वेदों के विद्वान्, ज्ञानी ग्रीर जो ब्रह्मचयं व्रत का पालन करके स्नातक बने हैं उनका, तथा (श्रोत्रियान् गृहमेधिनः) वेद-पाठी =वेदज्ञाता गृहस्थियों का (हव्यकव्येन) भोज्य पदार्थों ग्रीर वस्त्रदान ग्रादि से (पूजयेत्) सत्कार करे (विपरीतान् च वर्जयेत्) ग्रीर जो इनसे विपरीत हैं उन्हें छोड़दे।। ३१।।

अप्रन्य क्यी त्या हुन्य-कन्य वान्यों का विवेचन--हुन्य-कन्य के सम्बन्ध में परवर्त्ती टीकाकारों---भाष्यकारों को पर्याप्त भ्रान्ति रही है। वे परवर्त्ती पौराणिक रूढ़ायों के ग्राधार पर इन्हें मृतक पितृश्राद्ध ग्रादि के साथ जोड़ते हैं, मनुस्मृति में इनका ग्रथं मृतकश्राद्ध ग्रादि से सम्बन्धित नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि मनु मृतकश्राद्ध को मानते ही नहीं। यह इस क्लोक से भी सिद्ध है। यहां स्पष्टतः जीवित विद्वानों को ह्य-कथ्य देने का कथन कर रहे हैं [ग्रन्य प्रमाण द्रष्टव्य हैं ३। ८१-८२ और ३।२८४ की समीक्षा में] मनुस्मृति में इनके घात्वनुसारी ग्रथं हैं—-

- (क) 'हु दानादानयोः' (जुहो०) धातु से 'यत्' प्रत्यय के योग से हव्य शब्द बनता है। यज्ञप्रसंग में ह्व्य का प्रयं हवीं वि = ग्राहुतियां [निरु० ८।७] होता है, किन्तु व्यवहार में 'हृव्यम् = अत्तव्यम् दृष्यम्' 'दातव्यं दानादिकं वा' = धार्मिक विद्वानों [४।३०-३१] को भोज्य पदार्थों का भोजन ग्रादि का दान 'हव्य' कहलाता है।
- (ल) कव्य शब्द 'किव' प्रातिपदिक से साध्वर्थ या हितार्थ में 'यत्' के योग से बनता है। किव शब्द का अर्थ भी क्रान्तदर्शी स्मूक्ष्मद्रष्टा विद्वान् होता है [द्रष्टव्य २।१२६ (२।१५१) पर अनुशीलन]। 'कव्यः क्रान्तप्रक्राश्च विद्वांसः, तेभ्यो हितानि कर्माणि कथ्यानि'' [ऋ० द० यजु० २ ' २६]। 'कब्यः हितार्थ प्रवत्तं द्रव्यम्' विद्वानों के हित के लिए दिये जाने वाले धन, वस्त्र आदि दान 'कव्य' कहलाते हैं।
- (ग) किन्तु जहां 'हृय्य-कव्य का युःम शब्द के रूप में प्रयोग होता है, वहां इसका समन्वित और विस्तृत अर्थे होता है—-'विद्वानों को दान में दिये जाने वाले मोजन-छादन, उपहार ग्रादि सम्बन्धी सभी पदार्थ।'

भिक्षा एवं बलिवैश्वदेव का विधान-

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना । संविभागश्च मूतेभ्यः कत्तंव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२॥ (१८)

(गृहमेधिना) गृहस्थों को (शक्तितः + ग्रपचमाने भ्यः) ग्रपने हाथ से जो पका नहीं सकते हैं, ऐसे ब्रह्मचारी, संन्यासी ग्रादि को (दातव्यम्) ग्रन्त देना चाहिए (च) ग्रीर (ग्रनुपरोधतः) जिससे परिवार के भरण-पोषण में बाधा न पड़े इस प्रकार (भूते भ्यः सविभागः कर्तव्यः) प्राणियों — ग्रसहाय, विकलांगादि मनुष्यों तथा कुत्ता, पक्षी ग्रादि के लिये भंजिन का भाग भी निकालना चाहिए।। ३२।।

भूख की ग्रवस्था में राजा से धनग्रहण-

राजतो धनमन्विच्छेस्संसीदन्स्नातकः श्रुघा।

याज्यान्तेवासिनोर्वाऽपि स्वन्यत इति स्थितिः ।। ३३ ।।

(स्नातकः श्रुघा संसीदन्) स्नातक भूख से पीड़ित होता हुम्रा (राजतः) राजा से

(अपि वा) अथवा (याज्य + अन्तेवासिनः धनम् + अन्विच्छेत्) यजमान अथवा किसी शिष्य से धन मांगले (अन्यतः तुन इति स्थितिः) और किसी से नहीं मांगे, ऐसी मर्यादा है।। ३३।।

#### न सीदेत्स्नातको विप्रः सुषा शक्तः कथञ्चन । न जीर्णमलबद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

(स्नातकः विष्ठः) स्नातक विद्वान् (क्षुधाशक्तः) भूख के वशीभूत होकर (कथंचन) कभी भी (न सीदेत्) दुःखी न हो (च) ग्रौर (विभवे सित) धन होने पर (न जीर्एंमलवत् वासा भवेत्) फटे-पुराने ग्रौर मैंने कपड़ों में न रहे ॥ ३४ ॥

#### अनु श्रीत्जना : ३३-३४ श्लोक निम्न कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. विषयविरोध---प्रस्तुत विषय का संकेत देने वाले क्लोक ४। १३ श्रौर ४। २५६ हैं। इन दोनों क्लोकों में विषय का संकेत निम्न पदों द्वारा स्पष्ट श्रौर निक्ष्मित होता है---

> प्रारम्भ में—''स्वर्ग-ब्रायुष्य-यशस्यानि वतानि इमानि धारयेतृ' ॥ ४।१३ ॥ समाप्ति पर—''स्नातकव्रतकल्पक्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः'' ॥ ४।२५६ ॥

इन पदों से इस ग्रध्याय के १३ से २५६ क्लोकों का विषय यह निश्चित हुग्रा कि इनमें—

- (क) ऐसे व्रतों का विधान होना चाहिए जो एक इढ़ संकल्प के रूप में धारण किये जा सकते हों, श्रीर —
- (ल) वे स्वर्ग, ग्रायु तथा यशदायक हों, तथा --
- (ग) सत्वगुणवर्धं कहों अर्थात् सत्वगुण की वृद्धि से उनका सम्बन्ध होना चाहिये।

संक्षेप में प्रस्तुत विषय—'स्वर्ग-आयु-यश देने वाले सत्वगुणवर्धक व्रतों' का है। अय यहाँ विचारणीय वात यह है कि 'सत्वगुण' का क्या लक्षणा माना जागे ? इसके उत्तर में मनु का ही ब्लोक स्राधाररूप में स्वीकार किया गया है—

वेदाम्यासः तपो ज्ञानं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः ।
 धर्मक्रियात्मिचन्ता च सास्विकं गुरालक्षराम् ॥ १२।३१ ॥

त्रर्थात्— वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच = शुद्धि, इन्द्रियसंयम, धर्मक्रियात्रों का पालन, परमात्मा का या आत्मा का चिन्तन ये सरवगुण के लक्षण हैं।

इस दलोक में अन्य सभी बातें तो स्पष्ट हैं, 'धर्मक्रिया' शन्द पर कुछ और विचार करना अपेक्षित रह जाता है। धर्मक्रिया = धर्म के आचरण, धर्म के लक्षणों का वर्णन करने वाले दलोकों से स्पष्ट हो जाते हैं —

भृतिः क्षमा बमोऽस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः। बीविद्या सत्यमकोषो दशकं धर्मलक्षराम्।। ६। ६२।।

मनु ने १२। ३८ में सत्वगुण को श्रीर स्पष्ट कर दिया है— "सस्वस्य लक्ष्मणं धर्मः" श्रयत्— 'धर्म सत्वगुण का लक्षण है।

इस प्रकार प्रस्तुत विषय में मनु के इन श्लोकों को आधार बनाकर 'घर्मक्रिया' शब्द के प्रन्तर्गत मनु द्वारा प्रोक्त लक्षणों [१२।३१], सभी धर्मलक्षणों [६।६२] धर्मों, जैसे—सदाचार [१।१०८], ग्रहिंसा [६५२,६०;४।१७०,२४६], दान [४।२२७] ग्रादि तथा धार्मिक कृत्यों, जैसे—पञ्चमहायज्ञ ग्रादि का ग्रहण किया गया है। इन्हों को सत्वगुणवर्धक माना जायेगा।

इस श्राधार पर यह निश्चित हुग्रा कि १३ से २५६ क्लोकों में ऐसे वर्णन वाले क्लोक विषयसम्मत माने जायेंगे जो वत हों ग्रर्थात् एक रढ़संकल्प रूप में जिनको धारण किया जा सके श्रीर जो स्वर्ग-श्रायु-यशोदायक, सत्वगुणवर्षक हों। इस कसौटी पर जो क्लोक पूरे नहीं उतरेंगे, इसका मतलब यह होगा कि वे मनु के विषय-संकेत के श्रनुसार नहीं हैं; श्रतः वे विषय-विरुद्ध हैं। इस श्राधार पर वे प्रक्षिप्त कहलायेंगे।

- (१) ३३-४४ श्लोक विषयविरुद्ध हैं क्योंकि इनका 'सत्वगुण वर्धन' से स्रौर 'त्रतों' से कोई सम्बन्ध नहीं है।
- २. प्रसंगिवरोध—ये क्लोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध भी हैं। २१ वें क्लोक में पञ्चमहायज्ञों का विधान करके उसके ग्रियम क्लोकों में पंचमहायज्ञों के विस्तृत वर्णन का प्रसंग शुरू किया था। तदनुसार ३२ वें में बिलवैश्वदेवयज्ञ का वर्णन है ग्रीर ३५ वें में स्वाध्याय का कथन होने से ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ का निर्देश है। इस पूर्वापर यज्ञों के प्रसंग में स्नातक के क्षुधाकालीन कर्त्त व्यों का कथन करना ग्रप्रासंगिक है। इस ग्राधार पर भी ये क्लोक प्रक्षिष्त सिद्ध होते हैं।

स्वाघ्याय में तत्रर रहना---

क्लृप्तकेशनसःमश्रुदीन्तः शुक्लाम्बरः शुचिः। स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३४ ॥ (१६)

(क्लृप्त-केश-नल-शमश्रुः) केश, नालून ग्रीर दाढ़ी कटवादा रहे (दान्तः) संयमी रहे (शुक्लाम्बरः) स्वच्छ वस्त्र धारण करे (शुचिः) शुद्धता रखे (च) ग्रीर (नित्यं स्वाघ्याये च ग्रात्मिहतेषु युक्तः स्यात्) प्रतिदिन वेदों के स्वाघ्याय ग्रीर ग्रपनी ग्रात्मा की उन्नति में लगा रहे ।। ३५ ।। लाठी, कमण्डल ग्रादि का धारण—

> वंगर्वी धारयेद्यच्टि सोदकं च कर्मण्डलुम्। यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले॥३६॥

(वैरावीं यष्टि धारयेत्) बांस की लाठी घारए करे (च) ग्रीर (सोदकं कमण्डलुम्) जलभरा करंडलु (यज्ञोपवीत वेदंच गुभे रौक्मे कुण्डले) यज्ञोपवीत, वेद तथा सुवर्णं से निर्मित सुन्दर कुंडल [ == बाले ] घारण करे ॥ ३६ ॥

त्याज्य बातें---

## नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यस्तं कदाचन । नोयसृष्टं न वारिस्यं न मध्यं नमसो गतम् ॥ ३७ ॥

(उद्यन्तम् ग्रस्त यन्तम् ग्रादित्यं कदाचन न + ईक्षेत) उदय होते हुए, ग्रस्त होते हुए सूर्यं को कभी न देखे (न उपसृष्टं न वारिस्थं न नभसः मध्यं गतम्) न ग्रह्म लगे, न जल में प्रतिबिम्ब वाले, न ग्राकाश के बीच में गये सूर्यं को देखे ॥३७॥

#### न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति। न चोवके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥३८॥

(वत्सतन्त्रीं न लङ्घयेत्) बछड़े के बाँघने की रस्सी को कभी न लांघे (च) श्रौर (वर्षति न प्रधावेत्) बरसते में कभी न दौड़े (स्वयं रूपम् उदके न निरीक्षत) अपनी परछाई को पानी में न देखे (इति धाररणा) ऐसी मान्यता है।। ३८।।

मृदं गां दैवतं वित्रं घृतं मधु चतुष्पयम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३६ ॥

(मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथं च प्रज्ञातान् वनस्पतीन्) मिट्टी, गाय, देवस्थान, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध ग्रर्थात् पूज्य वृक्षों—पीपल, बड़ ग्रादि को (प्रदक्षिगानि कुर्वीत) दायों ओर रखके जाये।। ३६।।

# अनुव्योत्जनः ३६,से ३६ इलोक प्रक्षिप्त हैं---

- १. विषय-विरोध ये सभी श्लोक विषयबाह्य हैं। इनका सत्वगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और नहीं ये व्रत हैं। अतः विषय-विरोध के आधार पर ये प्रक्षिप्त हैं (विस्तृत जानकारी के लिए ४। ३३-३४ में 'विषय विरोध' शीर्षक आधार की समीक्षा देखिए)।
- २. मन्तिविरोध—(१) २।२० [४४] में पृथक्-पृथक् वर्णों के लिए पृथक्-पृथक् वृक्षों की लाठियां विहित हैं, ३६ वें में बांस की लाठी का विधान उससे भिन्त होने के कारण विरुद्ध है। (२) २।२३ [४८], ७६ [१०१] इलोकों में सूर्य-दर्शन का विधान ग्रीर कथन है, ३७ वें में सूर्य-दर्शन का निषेध उसके विरुद्ध है।
- ३. दौलीगत म्राभार—३७—३६ दलोकों की दौली रूढ़ मीर म्रयुक्तियुक्त है। इनमें विणित बातों का न तो कोई कारण है म्रीर न इनमें कोई बुद्धिसंगत कारण हो सकता है। ३६ वें में विणित बातें तो व्यावहारिक रूप में संमव ही नहीं है।

रजस्वलागमन-निषेध एवं उससे हानि-

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्त्तवदर्शने । समःनशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥ (२०)

(प्रमत्तः + ग्रिप) कामातुर होता हुग्रा भी (ग्रार्तवदर्शने) मासिक धर्म के दिनों में (स्त्रियं न + उपगच्छेत्) स्त्री से सम्भोग न करे (च) ग्रीर (तया सह समानशयने न शयीत) उसके साथ एक बिस्तर पर न सोये।। ४०।।

रजसाऽभिष्लुतां नारीं नरस्य ह्यापुनच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुक्चेव प्रहीयते।। ४१।। (२१)

(हि) क्योंकि (रजसा + म्रिभिष्लुतां नारीं) रजस्वला स्त्री के (उप-गच्छतः नरस्य) पास जाने वाले = संभोग करने वाले मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च म्रायु एव प्रहीयते) बुद्धि, तेज, वल, नेत्रज्योति म्रौर म्रायु, ये सब घटते हैं ॥ ४१॥

रजस्वलागमन-त्याग से लाभ--

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिष्लुताम्। प्रज्ञा तेजो बलं चभुरायुश्चैव प्रवर्धते॥ ४२॥ (२२)

(रजसा समिभ्लुतां तां विवर्जयतः) रज निकलती हुई श्रर्थात् उस रजस्वला स्त्री से संभोग न करने वाले (तस्य) उस मनुष्य के (प्रज्ञा तेजः बलं चक्षुः च ग्रागुः एव प्रवर्धते) बुद्धि, तेज, बल, नेत्रज्योति ग्रौर ग्रायु ये सब बढ़ते हैं।। ४२।।

स्त्री को किन ग्रवस्था श्रों में न देखे ---

नाइनीयाद्मार्यया सार्ध नैनामीक्षेत चाइनतीम्। क्षुत्रतीं जुम्ममारणां वा न चासीनां यथासुखम्।। ४३ ॥

(भायंया सार्धं न + ग्रहनीयात्) स्त्री के साथ एक थाली में भोजन न करे (च) ग्रौर (एनाम् ग्रहनतीं न ईक्षेत) इसको खाते हुए न देखे (क्षुवतीम्) छींकती हुई को (जृम्भमाणाम्) जंभाई लेती हुई को (च) तथा (यथामुखम् ग्रासीनां न) मनमाने ग्रासन से सुखपूर्वक बैठी हुई को भी न देखे ॥ ४३॥

> नः इजयन्तीं स्वके नेत्रे न चाम्यकामनावृताम् । न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

(स्वके नैत्रे ग्रञ्जयन्तीं) ग्रपने नेत्रों में ग्रञ्जन लगाती हुई को (ग्रनावृताम्

ग्रभ्यक्ताम्) नंगी होकर तैल लगाती हुई या नहाती हुई को (प्रंसवन्तीम्) जब वच्चा उत्पन्न कर रही हो तब (तेजस्कामः द्विजोत्तमः न पश्येत्) तेज की कामना रखने वाला द्विज उसे न देखे ॥ ४४ ॥

मल-मूत्रादि त्याग में वर्ज्य बातें -

नान्त्रमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्। न मुत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।। ४४।।

(एकवासा ग्रन्नं न ग्रद्यात्) एक वस्त्र पहने भोजन न करे (नग्नः स्नानं न ग्राचरेत्) नंगा होकर स्नान न करे (पिथ भस्मिन गोव्रजे मूत्रं न कुर्वीत) मार्गं में राख में ,गौशाला में पेशाब न करे ॥ ४४ ॥

> न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्गादेवःयतने न चल्मीके कदाचन ॥ ४६॥ न ससस्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नवीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके॥ ४७॥

(न फालकृष्टे) न जुते हुए खेत में (न जले) न पानी में (न चित्याम्) न ईंटों के भट्टे या ग्रावे में (न पर्वते) न पहाड़ पर (न जीएं देवायते) न पुराने खण्डहर पड़े देवालय में (न कदाचन वल्मीके) न कभी दीमक की बंबी (= बमीठा) में (न ससत्वेषु गर्तेषु) न जीव रह रहे हों ऐसे बिलों में (न गच्छन्) न चलते हुए (न स्थितः) न खड़े हुए (न नदीतीरम् + ग्रासाद्य) न नदी के किनारे पर (च) ग्रौर (न पर्वतमस्तके) ग्रौर न पहाड़ के शिखर पर पेशाब करे॥ ४६,४७॥

वाय्वग्निवित्रमादित्यमपः पश्यंस्तर्यंव गाः। न कदाचन कुर्जीत विष्मृत्रस्य विसर्जनम्॥४८॥

(तथैव) उसी प्रकार (वायु-म्रग्नि-विप्रम् + म्रादित्यम् + म्रपः गाः पश्यन्) वायु, ग्रग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल ग्रौर गौ को देखते हुए (कदाचित् विट्-सूत्रस्य विसर्जनं न कुर्वीत) कभी भी मल-सूत्र का त्याग न करे ॥ ४८ ॥

> तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृगादिना । नियम्य प्रयतो वाचं संत्रीताङ्गोऽवगुष्ठितः ॥ ४६ ॥

(काष्ठ-लोष्ठ-पत्र-तृण-ग्रादिना तिरस्कृत्य) लकड़ी, मिट्टी का ढेर, शाखा, घास ग्रादि की ग्रोट करके—छिपाकर (प्रयतः वाचं नियम्य) प्रयत्नपूर्वक वाणी पर संयम रखते हुए (ग्रवगुण्ठितः) शरीर को कपड़े से ढककर (संवीताङ्कः) प्रङ्गों को = शरीर को इकट्ठा = संकुचित-सा करके (उच्चरेत्) मल-मूत्र का त्याग करे ॥ ४६ ॥

मूत्रोच्चारसमुत्सगं दिवा कुर्यादुवङ्गमुखः। दक्षिरणामिमुखो रात्रौ संघ्ययोश्च तथा दिवा ।। ४० ।। (दिवा तथा संघ्ययोः) दिन में तथा दोनों संघ्याग्नों में (उदङ्मुखः) उत्तर की श्रोर मुख करके (रात्रौ दक्षिण ग्रभिमुखः) रात में दक्षिण की श्रोर मुख करके (मूत्र-उच्चार-समुत्सर्गं कुर्यात्) जिस किसी प्रकार सुख श्रनुभव करे उघर मुख करके मल-मूत्र का त्याग करे।। ४०।।

खायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः। यथासुल्लमुक्तः कूर्यात्प्राणाबाधामयेषु च।। ५१।।

(द्विजः) द्विज (रात्रौ वा घहिन) रात या दिन में (छायायाम् + ग्रन्धकारे वा) बादलों की छाया हो जाने पर प्रथवा कुहरे ग्रादि से ग्रन्थेरा हो जाने पर (च) ग्रौर (प्राण-बाधाभयेषु) चोर, सिंह ग्रादि किसी कारण से प्राणबाधा का भय उपस्थित होने पर (यथासुखमुखः कुर्योत्) जिस किसी प्रकार सुख ग्रनुभव करे उधर ही मुख करके मल-मूत्र त्याग करे।। ५१।;

प्रत्योंन प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्। प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः॥ ५२॥

(प्रति + ग्रांग्न प्रतिसूर्यं प्रतिसोम + उदक-द्विजान् प्रतिगां च प्रतिवातम्) ग्राग्नि के सामने, सूर्यं के सामने. चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गाय, हवा, इनकी ग्रोर मुख करके (मेहतः) मल-मूत्र त्याग करने से (प्रज्ञा नश्यित) मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है।। ५२।।

विविध त्याज्य वातें---

नाग्नि मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्। नामेष्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेतु॥ ५३॥

(श्रिग्नं मुक्षेन न उपधमेत्) श्राग को कभी मुख से न फूँके (च) श्रीर (नग्नां स्त्रियं न + ईस्रोत) नंगी स्त्री को न देखे (श्रग्नौ श्रमेघ्यं न प्रक्षिपेत्) श्रिग्न में कोई गन्दी वस्तु [विष्ठा श्रादि] न फेंके (च) श्रीर (पादौ न प्रतापयेत्) श्राग में पैरों को न सेके = तापे ॥ ५३॥

ग्रवस्तान्नोपदध्याञ्च न चैनममिलङ्घयेत्। न चैनं पादतः कूर्यान्न प्राख्यावमाचरेत्॥ ५४॥

(च) तथा इस म्राग को (म्रषस्तात् + न + उपदघ्यात्) खाट म्रादि के नीचे न रखे (च) म्रौर (एनं न म्रिमलङ् घयेत्) इसे कभी न लांघे (न च + एनं पादतः कुर्यात्) म्रौर न इसे पैरों से स्पर्श करे - हटाये (प्राणबार्ध न म्राचरेत्) कोई ऐसा काम न करे जिससे प्राणों का भय हो ॥ ५४॥

> नाइनीयात्संषिवेसायां न गञ्छेन्नापि संविद्येत् । न चंव प्रतिसेव मूर्मि नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ४४ ॥

(सन्धिवेलायाम्) संघ्या के समय (न + अध्नीयात्) न खाये (न गच्छेत्) न कहीं रास्ते पर जाये (न संविधेत्) न सोये (च) और (न भूमि प्रलिखेत्) न भूमि को कुरेदे (न + ग्रात्मनः स्रजम् उपहरेत्) न ग्रपने गले में पहनी माला को दूसरे को पहनावे।। ४४।।

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा व्ठीवनं वा समुत्स्वेत्। अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा।। ५६॥

(ग्रप्सु) जल में (मूत्रं पुरीषं ष्ठीवनं लोहितं वा विषाणि वा ग्रन्यत् ग्रमेघ्य-लिप्तम्) पेशाब, विष्ठा, श्रूक, खून, ग्रथवा विष या ग्रपवित्र वस्तु से लिपी कोई वस्तु (न समुत्सृजेत्) न फेंके ॥ ५६॥

> नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्। नोदक्याऽभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः॥ ५७॥

(शून्यगेहे एक: न सुप्यात्) सूने घर में स्मकेला न सोये (श्रेयांसंन प्रबोधयेत्) अपने से बड़े सोते हुए को न जगावे (उदक्यया न ग्रभिभाषेत) रजस्वला से बातचीत न करे (च) ग्रौर (ग्रवृत: यज्ञं न गच्छेत्) बिना वरण किये ऋत्विज बनकर यज्ञ में न जाये॥ ५७॥

म्रग्न्यागारे गवां गोष्ठे त्राह्मणानां च संनिष्धे। स्वाष्याये मोजने चंव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत्।। ४८।।

(प्रग्नि + म्रागारे) म्रग्निशाला में (गवां गोष्ठे) गौशाला में (ब्राह्मणानां सन्निषो) ब्राह्मणों के पास (स्वाघ्याये) वेद के म्रघ्ययन के समय (च) तथा (भोजने) भोजन में (दक्षिएां पाणिम् + उद्धरेत्) कपड़े से दाहिनी भुजा को बाहर रखे ।। ५८ ॥

> न वारयेद्गां घयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्। न दिवीन्द्रायुषं हब्द्वा कस्यचिद् दर्शयेद् बुधः ॥ ५६ ॥

(धयन्तीं गांन वारयेत्) जल पीती हुई गाय को न हटाये या रोके (च) श्रीर (कस्यचित् न ग्राचक्षीत) न किसी से बताये (बुधः) बुद्धिमान् को चाहिए कि (दिवि) दिन में (इन्द्रायुधं इष्ट्वा) इन्द्रधनुष को देखकर (कस्यचित् न दर्शयेत्) किसी को न दिखाये ॥ ५६ ॥

नाषामिके वसेद् ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् । नैकः प्रपद्येताव्यानं न चिरं पर्वते बसेत्॥ ६०॥

(ग्रघामिके ग्रामे न वसेत्) ग्राघमिकों के गांव में न रहे (न भृशं व्याधिबहुले) न ऐसे गांव में रहे जहां बहुत बीमारी फैली हो (एकः ग्रघ्वानं न प्रपद्येत) श्रकेला किसी निर्जन मार्गपर न चले (पर्वते चिरं न वसेत्) पहाड़ पर बहुत समय तक न रहे ॥ ६० ॥

#### न शूद्रराज्ये निवसेन्नाथामिकजनावृते। न पालण्डिगरणाकान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैन् भिः॥६१॥

द्विज (शूद्रराज्ये न निवसेत्) शूद्र के राज्य में न रहे (श्रधार्मिकजन + श्रावृते न) ग्रधार्मिक लोगों से घिरे राज्य में भी न रहे (पाखण्डिगण + श्राक्रान्ते) पाखण्डियों के समूहों से घिरे (ग्रन्त्यर्जै: नृभि: उपसृष्टे न) शूद्र या चाण्डाल लोगों से घिरे या भरे गाँव में भी न वसे ॥ ६१ ॥

#### न भुञ्जीतोब्षृतस्तेहं नातिसौहित्यमावरेत्। नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराज्ञितः॥ ६२॥

(उद्धृतस्तेहं न भुञ्जीत) जिसमें से चिकनायी निकाल ली है ऐसे पदार्थ को न खाये (ग्रिति + सौहित्यं न ग्राचरेत्) बहुत ग्रधिक न खावे (न + ग्रतिप्रगे) न बहुत सबेरे (न + ग्रतिसायम्) न बहुत शाम वीते खाये (प्रातः + ग्राशितः सायं न) प्रातःकाल यदि बहुत खा लिया हो तो सायंकाल न खाये॥ ६२॥

## न कुर्वीत वृथा चेष्टां न वार्यञ्जिलिना विवेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्वात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

(वृथः चेष्टां न कुर्वीत) व्यथं की चेष्टाएँ न करे (ग्रञ्जिलना वारि न पिबेत्) ग्रंजिल से जल न पीये (भक्ष्यान् उत्संगे न भक्षयेत्) खाने के पदार्थों को गोद में रखकर न खाये (जातु कुतूहली न स्यात्) कभी विना प्रयोजन के किसी बात को जानने की इच्छा न रखे॥६३॥

#### न नृत्येदथवा गायेन्त वादित्रास्यि वादयेत्। मास्फोटयेन्त च क्ष्वेडेन्त च रक्ती विरावयेत्॥ ६४॥

(न नृत्येत् ग्रयवा गायेत्) न नाचे ग्रौर न गाये (वादित्राणिनवादयेत्) न बाजे बजाये (न + ग्रास्फोटयेत्) न ताली बजाये (न क्ष्वेडेत्) न दाँत किङ्किङ्गवे (च) ग्रौर (रक्तः न विरावयेत्) ग्रनुरागभाव में मग्न होकर ग्रभद्र शब्द न करे॥ ६४॥

## न पादी धात्रयेतकांस्ये कदाचिदपि माजने। न मिन्नमाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते॥ ६५॥

(कांस्ये भाजने कदाचित् + ग्रिप पादौ न धावयेत्) कांसे के बर्तन में कभी पैर न घोये (भिन्नभाण्डं न भुञ्जीत) टूटे बर्तन में कभी न खाये (भावप्रतिदूषिते न) मन को प्रिय न लगने वाले वर्तन में भी भोजन न करे।। ६५॥

#### उपानहीं च वासक्व धृतमन्त्रैनं धारयेत्। उपज्ञीतमलङकारं स्त्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

(त्रन्यैः धृतं उपानही च वासः न धारयेत्) दूसरों द्वारा एकवार धारण किये । गये जूते त्रौर वस्त्रों को धारण न करे (उपवीतम् + ग्रलंकारं स्नजं च करकम् + एव) यज्ञोपवीत, श्राभूषण, माला श्रौर कमण्डलु भी दूसरों के द्वारा धारण किये हुए धारण न करे।। ६६।।

अनुर्धोत्जना: ४३ से ६६ तक के क्लोक निम्न प्राधारों पर प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषयविरोध ४५ से ६६ बलोक विषयबाह्य हैं। ये न तो व्रत ही हैं श्रौर न इनका 'सत्वगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध है। ग्रतः प्रक्षिप्त हैं, [विस्तृत विवेचन ४।३३— ३४ ब्लोकों पर द्रष्टक्य है 'विषयविरोध' शीर्षक श्राधार]।
- २. ग्रन्तांवरोध—(१) ४३ वें ब्लोक में पत्नी के साथ खाने का निपेध है, जबिक ३। ११३, ११६ में साथ खाने का विधान है। (२) ४३-४४ ब्लोकों में पत्नी को विभिन्न ग्रवस्थाओं में न देखने का कथन है। जिस स्त्री के साथ सदा एक तरहना है, उसके साथ इस प्रकार की साधारण बातों का निषेध करना विरोधी बातें हैं; जो कि ग्रमंभव हैं। (३) ५५ ग्रीर ६२ वें ब्लोक में संधिवेलाओं में खाने का निषेध है, जब कि पञ्चयज संधिवेलाओं में ही किये जाते हैं ग्रीर उनके बाद ही मनु न भोजन करने का विधान किया है [३। ११६]। (४)६१ वें ब्लोक में 'शूद्धराजा' की मान्यता मनु की व्यवस्था से मेल नहीं खाती, त्र्यों कि मनु कर्मणावर्णव्यवस्था मानते हैं। जो शूद्ध है वह राजा नहीं है, ग्रीर जो राजा है, वह वर्णव्यवस्था के ग्रनुसार क्षत्रिय है। [१। =७-६१]।
- ३. शैलीगत म्राधार --प्रायः सभी श्लोकों की शैली रूढ़ एवं ग्रयुक्तियुक्त है। इतमें किसी बात के साथ कारएा नहीं दर्शाया गया है, जहाँ दर्शाया भी है तो उसका कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नहीं है। मनु की शैली रूढ़ एवं ग्रयुक्तियुक्त नहीं है।

सवारी कित पशुश्रों से न करे या करे—

न।विनीतेर्बजेद्धुयेंर्न च क्षुद्ध्याधिपीडितेः। न भिन्नश्रुङ्गाक्षिखुरेर्न वालिधिविरूपितेः॥ ६७॥ (२३)

(ग्रविनोतः) बिना सिलाये हुए (क्षुद्-व्याधि-पीडितः) भूल प्रोर रोग से पीड़ित (भिन्न-श्रृग-प्रक्षि-लुरः) जिनके सींग, नेत्र ग्रौर खुर टूट गये हैं (वाल + ग्राधिविरूपितः) जिनकी पूंछ कटी या घायल हो, ऐसे (धुर्येः न त्रजेत्) जूए में जुतने वाले घोड़े, बेल ग्रादि पशुग्रों पर चढ़कर न जाये ।। ६७ ।। विनोतेस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैलंक्षणान्वितः।

वर्णरूपोपसंपन्नेः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥ (२४)

(विनोतेः) सिखाये हुए (लक्षरा + मन्वितेः) सुन्दर लक्षणों से युक्त (वर्ण-रूप + उपसपन्नेः) मुन्दर रंग-रूप से युक्त (म्राग्रुगेः) शीन्नगामी पशुम्रों से (प्रतोदेन भृशम् ग्रतुदन्) चाबुक की मार से बहुत पीड़ा न देता हुम्रा (त्रजेत्) सवारी करे।। ६८।।

बालसूर्यंदर्शन म्नादि निषेध—

बालातपः प्रेतयूमी बर्ज्यं मिन्नं तथाऽऽसनम्। न ख्रिन्द्यान्नखलोमानि बन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्॥ ६६॥

(बालातपः) बालसूर्यं की घूप (प्रेत घूमः) जलते हुऐ मुदें का धूत्रां (तथा) तथा (भिन्तम् ग्रासनं वर्ण्यम्) फटा ग्रासन इनको छोड़ देना चाहिए (नख-लोमानि न छिन्द्यात्) नाखून ग्रौर रोमों को न तोड़े-फाड़े (नखान् दन्तैः न उत्पाद्येत्) नाखूनों को दांतों से न उखाड़े ॥ ६६ ॥

न मृत्लोष्ठं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

(मृद्लोष्ठं न मृद्नीयात्) मिट्टी के ढेले को हाथ से न मसले या फोड़े (करजैं: तृणं न छिन्दात्) ग्रंगुलियों से तिनकों को न तोड़े (निष्फलम् आयत्याम् ग्रंमुख-उदयं कर्म न कुर्यात्) बिना प्रयोजन वाला ग्रीर भविष्य में जिससे दु: अ प्राप्त हो ऐसा कोई काम न करे।। ७०।।

लोब्डमर्वी तृएाच्छेदी नखखादी च यो नरः। स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च।। ७१।।

(लोष्ठमर्दी) ढेले को मलने वाला (तृणच्छेदी) तिनकों को तोड़ने वाला (नख-खादी) नाखूनों को दांतों से काटने वाला (सूचकः) चुगुलखोर (च) ग्रीर (अशुचिः) ग्रपवित्र रहने वाला (यः नरः) जो मनुष्य है (सः) वह (प्राशु विनाशं व्रजित) शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है ॥ ७१॥

> न विगर्ह्या कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्। गवां च यानं पृष्ठेन सर्वयंव विगहितम् ॥ ७२ ॥

(विगर्ह्य-कथान कुर्यात्) उद्ग्ष्डता से — बहसबाजी से बातें न करे (माल्यं बहिः न घारयेत्) माला को वस्त्रों के बाहर न पहने (च) और (गवां पृष्ठेन यानं सर्वथा + एव विगर्हितम्) गौम्रों की पीठ पर चढ़कर सवारी करना सर्वथा निन्दनीय काम है।। ७२।।

म्रद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम् । रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

(वृतं ग्रामं वा वेश्म) परकोटा से घिरे गांव या घर को (ग्रद्वारेण न + ग्रतीयात्) बिना द्वार वाले स्थान से कूद-फांद कर न जाये (रात्री) रात के समय (वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्) वृक्षों की जड़ों को दूर से छोड़कर जाये ॥ ७३ ॥

नाक्षः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानही हरेत् । शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्यं न चासने ॥ ७४ ॥ (ग्रक्षैः कदाचित् तुन क्रीडेत्) जुम्रा कभी भी न खेले (उपानही स्वयं न हरेत्) जूते ग्रपने हाथों में लेकर न चले (शयनस्थः न मुज्जीत) सोते हुए चलेटे हुए कभी न खाये (न पाणिस्थम्) न हाथ पर खाने की वस्तु रखकर खाये (च) ग्रीर (न ग्रासने) न बैठने के ग्रासन पर खाने की वस्तु रखकर खाये ॥ ७४॥

## सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिते रवी। न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिव् व्रजेत्॥ ७४॥

(इह) इस लोक में (म्रस्तिमिते रवौ) सूर्यास्त होने पर (सर्वं तिलसंबद्धं न + म्रद्यात्) तिल से बनी कोई भी वस्तु न खाये (नग्नः न शयीत) पलंग म्रादि पर कभी नंगा होकर न सोये (उच्छिष्टः क्विविद् न द्रजेत्) भूठे मुंह-हाथ कहीं न जाये ।। ७५ ।।

### ब्राद्वेपादस्तु भुञ्जीत नार्द्वेपादस्तु संविशेत्। ब्राद्वेपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाष्त्रयात्।। ७६।।

(आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत) पैर घोकर भोजन करे (तु) किन्तु (ब्रार्द्रपादः न संविशेत्) गीले पांव न सोये (ब्रार्द्रपादः तु भुञ्जानः) पांव घोकर खाने वाला (दीर्घम् + (ब्रायुः + ब्रवाप्नुयात्) लम्बी श्रायु को प्राप्त करता है ॥ ७६ ॥

#### श्रचक्षुविषयं दुगं न प्रपद्येत कहिचित्। न विष्मुत्रमुदीक्षेत न बाहुम्यां नदीं तरेत्॥ ७७॥

(ग्रचक्षुः विषयं दुगैं किंहिचित् न प्रपद्येत) जो कभी ग्रांखों से देखान हो ऐसे किले में कभी न जाये (विष्मूत्रं न उदीक्षेत) विष्ठा ग्रौर मूत्र को कभी न देखे (बाहुम्यां नदीं न तरेत्) भुजाश्रों के सहारे से कभी नदी को पार करने का प्रयास न करे॥ ७७॥

## म्रिबितिष्ठेन्न केशांस्तु न सस्मास्थिकपालिकाः। न कार्पासास्थि न तुवान्दीर्घमायुजिजीविषुः॥ ७८॥

(दीधंम् + आयुः जिजीविषुः) लम्बी स्रायु चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह (केशान् भस्म + ग्रस्थि-कपालिकाः कार्पासास्य तुषान् न ग्रधितिष्ठेत्) बाल, राख, हड्डी, ठींकरा, कपास की लकड़ी और भुस इन पर न बैठे॥ ७८॥

## अनुशीलनः : ६६ से ७० तक के श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषयविरोध—ये सभी श्लोक विषयबाह्य हैं। इन श्लोकों में वर्णित बाते न तो व्रत हैं ग्रौर न उनका 'सत्वगुण-वर्धन' से कोई सम्बन्ध है। इस आधार पर ये प्रक्षिप्त हैं। [विस्तृत विवेचन ३३—३४ श्लोकों पर द्रष्टव्य है।]।
- २ अन्तर्विरोध—(१) ६६ वें में बालातप का निषेध है जब कि २।२३ [४८] ७६ [१०१] में प्रातःकालीन सूर्यं के दर्शन ग्रादि का विधान है। (२) ६६ वें में नाखून

काटने का निषेध है जब कि ४। ३५ में नाखून काटकर साफ रखने का विधान कर चुके हैं। (३) ७६ में पांव घोकर खाने की व्यवस्था दी है। जब कि २।२८ [५३] में केवल ग्राचमन पूर्वक भोजन की व्यवस्था दी है।

- ३. पुनरिक्त ७४ वें श्लोक का चतुर्थपाद र।३१ [४६] के चतुर्थपाद की ज्यों की त्यों पुनरावृत्ति है "न चोच्छिष्टः क्वचिद् इत्रेत्"। यह स्रनावश्यक एवं स्रमौलिक है।
- ४. **शैलीगत स्राधार** ६६,७०,७२,७३,७५ ७ श्लोकों की शैली रूढ़ है स्रौर ७१,७६, की स्रयुक्तियुक्त तथा स्रतिशयोक्तिपूर्ण है।

दुष्टों का संग न करे - -

न संवतेच्च पतितेनं चाण्डालेनं पुल्कसैः । न मूर्खेर्नावलिप्तैश्च नास्त्यैनीन्त्यावसायिभिः ॥ ७६ ॥ (२४)

मज्जनगृहस्य लोगों को योग्य है कि (न पिततैः, न ग्रन्त्यैः, न चांडालैः, न पुल्कसैः) जो पितत, दुष्टकर्म करने हारे हों न उनके, न चांडाल, न कंजर(न मूर्खैःन ग्रविलप्तैः च न ग्रन्त्य + ग्रवसायिभिः संवसेत्) न मूर्खे न निष्णाभिमानी, ग्रौर न नीच निश्चय वाले मनुष्यों के साथ कभी निवास करें।। ७६ ।। (सं० वि० १७-)

शूद्र को उपदेश ग्रादि का निषेध---

न शुद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्। न चास्योपदिशेद्धमं न चास्य व्रतमादिशेत्।। ८०।।

(श्द्राय मितम् उच्छिष्टं हिविष्कृतं न दद्यात्) शूद्र को शिक्षा, **झूठा** भोजन श्रीर हवन का शेष भोजन या प्रसाद न दे (च) श्रीर (श्रस्य धर्मं न उपदिशेत्) इसको कभी धर्मका उपदेश न करे (च) तथा (श्रस्य वृत्तं न श्रादिशेत्) इसको कभी वृतों क। उपदेश भी न करे॥ ८०॥

> यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति वतम् । सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव यद्जति ॥ ५१॥

(हि) क्योंकि (यः ग्रस्य धर्मम् + ग्राचप्टे) जो इस शूद्र को धर्म का उपदेश देता है (च) ग्रीर (यः व्रतम् ग्रादिशति) जो व्रत का उपदेश करता है (सः) वह उपदेश करने वाला (ग्रसंवृतं नाम तमः तेन सह एव मज्जिति) 'ग्रसंवृत' नाम क नरक में उस शूद्र के साथ ही जाकर डूबता है ॥ ८१॥

न संहताभ्यां पाश्मिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः । न स्रृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ५२ ॥ (संहताभ्यां पाणिभ्याम् ग्रात्मनः शिरः न कण्डूयेत्) दोनों हाथों से एकसाथ ग्रपने सिर की न खुजलाये (च) और (एतत् — उच्छिष्टः न स्पृशेत्) सिर को झूठें हाथों से कभी न छुये (च) तथा (ततः बिना न स्नायात्) सिर को पहुले धोये बिना स्नान न करे।। ८२॥

> केशप्रहान्प्रहारांश्व शिरस्येतान्विवर्जयेत्। शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गः किञ्चिवपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

(शिरिस केशग्रहान् च प्रहारान् एतान् विवर्जयेत्) सिर के बालों को पकड़कर लड़ना, ग्रीर सिर में चोट मारना, इन बातों को छोड़ देवे (शिरः स्नातः तैलेन) सिर में तैल लगाकर (किचिद् + ग्रीर ग्रङ्गं न स्पृशेत्) उन हाथों से किसी ग्रंग को न छुये।। ६३।।

श्रक्षत्रिय राजा से दान का निषेध---

न राजः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः। सुनादकथ्वजवतां वेद्येनैव च जीवताम्।। ८४।।

(अराजन्य प्रसूतितः राजः) जो क्षत्रिय से उत्पन्न न हुम्रा हो, ऐसे राजा से (न प्रतिगृह्धोयात्) दान न ले (सूना-चक्र घ्वजवतां च वेशेन एव जीवतां न) कसाई, कुम्हार, शराब बेचने वाले स्रोर वेप बदलकर जीविका करने वालों का भी दान न ले।। प्रश्वा

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः। दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नुपः॥ ८५॥

(दशसूनासम चक्रम्) दशहत्या के समान चक्र अर्थात् कुम्हार, गाड़ी से जीविका करने हारे (दश चक्रसमः घ्वजः) दश चक्र के समान घ्वज अर्थात् घोबी, मद्य को निकाल कर बेचने हारे (दशघ्वजसमः वेशः) दश घ्वज के समान वेश अर्थात् वेश्या, भंडुग्रा, भांड, दूसरे की नकल अर्थात् पायाण मूर्तियों के पूजक (पुजारी) आदि, और (दश वेशसमः नृपः) दश वेश के समान अन्यायकारी राजा होता है, उनके अन्न आदि का अतिथि लोग कभी ग्रहण न करें॥ ५५॥ (सं वि १५१)

दश सूनासहस्राणि यो बाहयति सौनिकः। तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥ ८६॥

(यः सौनिकः) जो कसाई (दशसूनासहस्राणि वाह्यिति) दशहजार हत्याए करता है (राजा तेन तुल्यः स्मृतः) राजा को उसके समान समक्षा गया है (तस्य प्रति-ग्रहः घोरः) उसका दान ग्रहुण करना वड़ा भयानक है।। ८६।। मक्षित्रय राजा से दान लेने से नरकप्राप्ति-

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति सुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः। स पर्यायेगा यातीमान्नरकानेकविद्यातिम्।। ८७।।

(यः) जो कोई (लुब्बस्य) लोभी (उत् + शास्त्रवर्तिनः) श्रीर शास्त्रों की मर्यादाश्रों का उल्लंघन करने वाले (राज्ञः प्रति गृह्णाति) राजा का दान ग्रहणा करता है वह (इमान् एकविशर्ति नरकान् पयियण याति) इन इक्कीस नरकों में क्रम से जाता है —॥ ५७॥

तामिस्नमन्यतामिक्सं महारौरवरौरवौ।

नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च॥ ५६॥

संजीवनं महावीचि तपनं सम्प्रतापनम्।

संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिप्रतिकम्॥ ५६॥।

लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नवीम्।

असिपत्रवनं चैव लोहवारकमेव च॥ ६०॥

(तामिस्रम् + प्रन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ) तामिस्र, प्रन्धतामिस्र, महारौरव और रौरव (नरफं कालसूत्रं च महानरकम्) कालसूत्रनरक ग्रौर महानरक (संजीवनं महावीचि तपनं संप्रतापनं संहातं सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्) संजीवन, महावीचि, तपन, संप्रतापन, संहात, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्तिक (लोहशंकुं च ऋजीषं पन्थानं शाल्मलीं नदीं ग्रसिपत्रवनं च लोहदारकम् एव) लोहशंकु, ऋजीष, पन्था. शाल्मली, वैरतरग्गी नदी, ग्रसिपत्रवन और लोहदारक ये इक्कीस् नरक हैं।। प्रम्थिः।

एतद्विदन्तो यिद्वांसो बाह्यणा बह्यवादिनः । न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥ ६१ ॥

(एतत् विदन्तः) इस बात को जानते हुए (प्रेत्य श्रेयः + ग्रभिकांक्षिणः) परलोक में कल्याण चाहने वाले (ब्रह्मवादिनः विद्वांसः ब्राह्मणाः) ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण (राज्ञः न प्रतिगृह्णन्ति) राजा से दान नहीं लेते हैं ॥ ११ ॥

आनुर्धी त्उना : ५० से ६१ श्लोक निम्न 'प्राधारां' के प्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. श्रन्तिवरोध—(१) ८०-८१ वें क्लोकों में शूद्र को विद्या, धर्म, त्रतोपदेश देन का निषेध और निन्दा है। यह मान्यता जन्मना वर्णव्यवस्था पर श्राधारित है और जन्मना वर्णव्यवस्था मनुविरुद्ध है [देखिये १।६२—१०७ पर समीक्षा]। मनु की व्यवस्था के अनुसार वही शूद्र है जो पढ़-लिख नहीं पाता या बुद्धि की दिष्ट से श्रयोग्य है। मनु ने १०।१२६ में स्पष्ट कहा है "न धर्मात्प्रतिषेषनम्" श्रथींत् शूद्र के लिए धर्मपालन का कोई निषेध नहीं है। इसी प्रकार २।२१३ [२३८] में "अन्यादिष परं

धर्मम्" कहकर शूद्रादि से भी धर्म की शिक्षा ग्रहण करने को कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्मपालन का शूद्र को कोई निषेध नहीं है। विवाह के अवसर पर यज्ञादि धर्मिक्रयाओं का शूद्रों के लिए भी मनु ने द्विजों के समान ही विधान किया है। ४।२० में चारों वर्णों के लिए विवाहों का प्रसंग शुरु करके २० वें में दैविवाह का वर्णन यज्ञानुष्ठान पूर्वक है, वह शूद्र के लिए भी द्विजों के समान पालनीय है। इन बातों से सिद्ध होता है कि शूद्र को धर्म, उपदेश, त्रत आदि का निषेध मनुसम्मत नहीं है, श्रतः ये तीनों क्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) ५४ क्लोक में अक्षत्रिय से उत्पन्त राजा का दान न लेने का कथन है। यह मान्यता भी जन्मना वर्णव्यवस्था पर श्राधारित है, जो मनुविरुद्ध है [इसके लिए भी १।६२—१०७ पर समीक्षा देखिए] मनु कर्मणावर्णव्यवस्था मानते हैं, ग्रतः विधिवत पढ़के कर्मानुसार बना प्रत्येक राजा क्षत्रिय है। इस ग्राधार पर ५४ वाँ क्लोक तथा इससे सम्बद्ध ग्राग्रम ६१ तक के क्लोक प्रक्षिप्त हैं। (३) ५६ वें क्लोक में राजा के दान को निन्दनीय कहा है, जब कि १।५६, ७।७६, ५१, ६२ क्लोकों में राजा के लिए 'दान देना' विहित है।

- (४) नरक की करुपना मनुविरुद्ध— ६१, ८७—६१ दलोकों में इक्कीस नरक योनियों की गएाना है श्रीर श्रक्षत्रिय राजा से दान लेने वाले को इन योनियों की प्राप्ति बतलायी है। मनु के मत में 'नरक' नाम की कोई योनि या स्थान विशेष नहीं है। यह मान्यता निम्न प्रमाणों के श्राधार पर मनुविरुद्ध सिद्ध होती है—
- (क) नरक शब्द स्वर्गं का विपरीतार्थं क है। मनु ने २।३२ [२। ५७] में सुख और ३।७६ में स्वर्गं शब्द का प्रयोग सुख ग्रीर 'ग्रक्षय सुख' के लिए किया है, ग्रीर ६।२५ में ''दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनद्य हु" कहकर 'वर्तमान जीवन के सुख' के ग्रथं में किया है। इससे स्पष्ट है कि स्वर्गं के विपरीतार्थं क शब्द 'नरक' का ग्रथं कोई योनि या स्थानविशेष नहीं ग्रिपतु दुःख' ही है। निरुक्त में महर्षि यास्क ने भी 'नरक' शब्द की इसी रूप में निरुक्त की है—"नरकं न्यरकं नीवैगंमनम् इति वा ग्रथित् दुःख, ग्रथःपतन या ग्रवनित का नाम नरक है [निरुक्त १।३।११]।
- (त) मनु ने मृत्यु के उपरान्त जीव की केवल दो स्रवस्थाएं मानी हैं—एक तो संसार में स्थावर-जंगम योनियों में जन्म [६।६३,७४,१२।६,३६—५२] या ब्रह्म-प्राप्ति [४।१४६;६।=१;१२।११६,१२५]। इससे भी यही स्पष्ट है कि मनु के मत में नरक नाम की कोई पृथक् योनि या स्थान नहीं है।
- (ग) मनु ने १२। ६, ३६ से ५२ श्लोकों में मृत्यु के बाद जीव को उसके कमीं के अनुसार प्राप्त होने वाली योनियों की गणना की है। इस गणना में नरकयोनि का उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि मनु 'नरक' को नहीं मानते। १२। ५२, ७४, ६१, श्लोकों में तो मनु ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में अपना मत व्यक्त किया है कि व्यक्ति कमीं के अनुसार पूर्वोक्त योनियों में ही शरीर-धारण करके इसी संसार में मुख-दुःख भोगता है। अतः नरकों की कल्पना मनुविरुद्ध है। इस आधार पर उक्त श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

- (५) ८१, ८७-६१ श्लोक इस प्रकार भी मनु की मान्यता के विरुद्ध हैं, वयों कि मनु किसी एक ही कमें से किसी एक योनि की प्राप्ति या निश्चय नहीं मानते, श्रपितु किस ग्रच्छे-बुरे कमों के ग्राधार पर उत्तम, मध्यम, श्रधम योनियों की प्राप्ति मानते हैं [१२। २-६, ३६-५२]। इन श्लोकों में एक ही कमें के ग्राधार पर नरक की योनियों का निश्चय उक्त मान्यता के विरुद्ध है।
- ३. विषयविरोध— ५०-५३ श्लोक विषयबाह्य हैं। इनका न तो सत्वगुण-वर्धन' से कोई सम्बन्ध है श्रीर न ये व्रत हैं। इस ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत समीक्षा ४। ३३ — ३४ श्लोकों पर द्रष्टव्य है]।
- ४. श्रैलीगत स्राघार— ८० ८१ श्लोकों की शैली पक्षपातपूर्ण एवं द्वेष-भावात्मक है। ८१, ८५, ८६ — ६१ की स्रयुक्तियुक्त एवं स्रतिशयोक्तिपूर्ण है। ८२-८३ श्लोकों की शैली रूढ़ है। मनुकी शैली में ये त्रुटियां नहीं हैं।

ब्राह्ममुहूर्त में जागरण-

ब्राह्ये मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ६२ ॥ (२६)

(ब्राह्मे मुहूर्ते बुघ्येत) रात्रि के चौथे प्रहर ग्रथवा चार घड़ी रात से उठे (धर्माथौ) ग्रावश्यक कार्य करके धर्म ग्रीर ग्रथं (कायक्लेशान् च तन्मूलान्) शरीर के रोगों ग्रीर उनके कारणों को (च) ग्रीर (वेदतत्त्वार्थम् +एव ग्रनुविन्तयेत्) परमात्मा का घ्यान करे, कभो ग्रधमं का ग्राचरण न करे।। ६२।। (स० प्र०१०४)

संघ्योपासन ग्रादि नित्यचर्या का पालन एवं उससे दीर्घायु की प्राप्ति —

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः। पूर्वौ सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्॥ ६३॥ (२७)

(उत्थाय) उठकर (म्रावश्यकं कृत्वा) दिनचर्या के म्रावश्यक शीच म्रादि कार्य सम्पन्न करके (कृतशीचः) स्नान म्रादि से स्वच्छ-पिवत्र होकर (समाहितः) एकाग्रवित्त होकर (पूर्वा संघ्यां जपन् चिरं तिष्ठेत्) प्रातः कालीन संघ्योपासना करता दुआ देर तक बैठे (च) भ्रीर (स्वकाले) उपयुक्त समय पर (म्रपराम्) सायंकालीन संघ्या में भी चिरकाल तक उपासना करे ॥६३॥ ऋषयो वीर्यसम्ध्यस्वाहीर्यमायुरवाष्नुयुः।

प्रज्ञां यशक्य कीर्ति च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ६४ ॥ (२८)

(अन्त्रयः) मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषियों ने (दीर्घसंघ्यत्वात्) देर तक संघ्यो-पासना करने के कारण (दीर्घम् + आयुः, प्रज्ञां, यशः, कीर्ति, च ब्रह्मवर्चसम् अवाष्नुयुः) लम्बी आयु, बुद्धि, यश, प्रसिद्धि और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है ॥ ६४॥

श्चान्तुर्ह्योत्जन्तः बीर्घसन्थ्या से बीर्घ-मायु मादि की प्राप्ति—(१) गायत्री मादि वेदमन्त्रों का जप संध्या है [२।७६ (१०४)] म्रीर यह नैत्यिक यज्ञों एवं स्वाध्याय के म्रन्तगंत आता है। स्वाध्याय से मायु, तेज-बल मादि की प्राप्ति २। ६२ (१६७) में भी वर्णित है। तुलनायं द्रष्टव्य है।

- (२) गायत्री म्रादि वेदमन्त्रों के मननपूर्वक दीर्घसन्ध्या = उप।सना एवं ईश्वर से बुद्धि की प्रार्थना करने से बुद्धि की प्राप्ति होती है। वेदमन्त्रों के अनुसार माचरण से म्रायु की प्राप्ति, फिर श्रेष्ठिमाचरण से प्रसिद्धि एवं यश की प्राप्ति होती है। वेदमन्त्र पूर्वक मनन-चिन्तन, आचरण से ब्रह्मतेज बद्धता है। मनुष्य वेद म्रीर ईश्वर के ज्ञान में समर्थ होता जाता है [२। ५३ (७८)]। इस प्रकार दीर्घ सन्ध्या से इलोकोक्त लाभ मिलते हैं।
- (३) 'सन्घ्या' शब्द का अर्थ २।७७-७६ [१०३-१०४] इलोकों में श्रीर उनकी समीक्षा में देखिए।

श्रावणी-उपाकर्म---

## श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाऽप्युपाकृत्य यथाविषि । युक्तदछन्दांस्यधीयीत मासान्विशोऽर्घपञ्चमान् ॥ ६५ ॥

(श्रावण्याम् ग्रिप वा प्रोष्ठपद्याम्) श्रावणी ग्रथवा भाद्रपद पूर्णमासी को (यथा-विधि उपाक्तत्य) विधि ग्रनुसार उपक्रम-ग्रनुष्ठान करके (विष्रः) द्विज (ग्रधंपचमान् मासान्) साढ़े चार मास तक (युक्तः) लग्नपूर्वक (छन्दांसि-। ग्रधीयीत) वेदों का स्वा-घ्याय करे।। ६५।।

### पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्वहिक्त्सर्जनं द्विजः । माघशुक्तस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥ ६६ ॥

(द्विजः) वेदपाठी द्विज (पुष्ये) पुष्य नक्षत्र में (वा माघगुक्लस्य प्रथमे + महिन प्राप्ते) ग्रथवा माघगुक्ल की प्रतिपदा को (पूर्वाल्ले) दोपहर से पहले समय में (बहिः) बाहर अनुष्ठानपूर्वक (छन्दसाम् उत्सर्जनं कुर्यात्) वेदों के स्वाध्याय की समाप्ति करे अर्थात् उस विशेष स्वाध्याय की मविध को पूर्णं करे।। ६६।।

## ययाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सगं छन्दसां बहिः। विरमेत्पक्षिग्गां रात्रि तदेवैकमहनिशम्॥ ६७॥

(यथाशास्त्रंतु) शास्त्र में कही विधि के स्रनुसार (एवं वहिः छन्दसाम् उत्सर्गं कृत्वा) इस प्रकार बाहुर स्रनुष्ठान में वेदों के स्वाष्याय की अवधि को समाप्त करके (पक्षिणीं रात्रिम्) उत्सर्ग वाले दिन की रात को (तत् + एव + एकम् म्रहः + निशम्) उसी प्रकार ग्रगले दिन मौर रात को (विरमेत्) वेदाध्ययन से ग्राराम करे।। ६७॥

भत अर्ध्व तु ख्रन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् । वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु सम्पठेत् ॥ ६८ ॥

(तु) और (ग्रतः ऊर्घ्वम्) इसके पश्चात् (शुक्लेषु) शुक्लपक्ष के दिनों में (नियतः) नियमपूर्वक (छन्दांसि पठेत्) वेदों को पढ़े (च) तथा (कृष्णपक्षेषु) कृष्णपक्ष के दिनों में (सर्वाणि वेदाङ्गानि संपठेत्) सब वेदाङ्गों [शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरक्त] को भलीभांति पढ़े।। ६८।।

> नाविस्त्रष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ। न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीस्य पुनः स्वपेतु ॥ ६६ ॥

(विस्पष्ट न अधीयीत) अस्पष्ट स्वर में वेदों को न पढ़े (न शूद्रजनसन्निधी) न शूद्रों के पास (निशान्ते) रात के अन्तिम प्रहर में (ब्रह्म + ग्रधीत्य) वेद पढ़कर (परि-श्रान्तः) थककर भी (पुनः न स्वपेत्) फिर न सोवे ।। ६६ ।।

> यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्। ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि।। १००॥

(यथा + उदितेन विधिना) शास्त्र में कही गई विधि के अनुसार (नित्यम्) प्रतिदिन (छन्दस्कृतं पठेत्) गायत्री का पाठ करें (च) श्रीर (श्रनापदि) आपत्तिरहित समय में (द्विजः) द्विज (युक्तः) लग्नपूर्वक (छन्दस्कृतं ब्रह्म एव) छन्दः पूर्वक वेद का भी पाठ करे।। १००।।

विविध ग्रनध्यायों का विधान---

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो दिवजंयेत् । ग्रध्यापनं च कुर्याएाः शिष्याएां विधिवृर्वकम् ।। १०१ ॥

(म्रधीयांनः) वेदाष्ययन करने वाला और (विधिपूर्वक शिष्यासाम् ग्रध्यापनं कुर्वाणः) विधिपूर्वक शिष्यों को वेद पढ़ाने वाला गुरु (नित्यम्) सदैव (इमान् ग्रनध्या-यान् विवर्जयेत्) इन ग्रनष्यायों को करे ग्रयीत् वेदों का पढ़ना-पढ़ाना छोड़दे ॥ १०१॥

आनुराित्जनः अध्याय और अनध्याय का स्वरूप एवं विवेचन स्वयं मनु ने विगित किया है। देखिए २। ७६-५२ [१०४-१०७] इलोक।

> कर्णश्रवेऽनिले रात्री दिवा पांमुसमूहने। एती वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते॥ १०२॥

(रात्री कर्णश्रवे प्रनिले) रात में कानों को जिसकी घावाज मुनाई पड़े ऐसी हवा चल रही हो (दिवा पांसुसमूहने) दिन में धूलभरी हवा चल रही हो (वर्षासु) वर्षाकाल में (एती) इन दोनों स्थितियों को (अघ्यायज्ञाः) ग्रघ्ययन की विधि के ज्ञाता (ग्रनघ्यायी प्रचक्षते) ग्रनघ्याय का समय कहते हैं।। १०२।।

### विद्युस्तिनितवर्षेषु महोत्कानां च सम्प्तवे । ग्राकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरत्नवीत् ॥ १०३ ॥

(विद्युत्-स्तिनितवर्षेषु) जो बिजली चमकती हो श्रीर गरज-गरजकर वर्षा हो रही हो (च) और (महा + उल्कानां संप्लवे) बड़े-बड़े उल्कापात हो रहे हों तो (एतेषु) इन समयों में (मनुः) महर्षि मनु ने (श्राकालिकम्) उस दिन से श्रगले दिन उसी समय तक का (अनध्यायम् श्रव्रवीत्) श्रनध्याय कहा है।। १०३॥

#### एतांस्त्वम्युदितान्विद्याद्यवा प्रादुष्कृताग्निषु । तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदशंने ॥ १०४ ॥

वर्षा ऋतु में (प्रादुष्कृत + ग्रग्निषु) होम के लिये ग्रग्नि प्रज्ज्वलित करते समय (यदा) जव (एतान् श्रम्युदितान् विद्यात्) इन को प्रकट हुआ जाने ग्रयात् जब बिजली कड़के, गरजे ग्रौर वर्षा बरसे, (तदा) तव (ग्रन्घ्यायं विद्यात्) ग्रन्घ्याय जाने (च) किन्तु (ग्रनृतौ) वर्षा से भिन्न ऋतुग्रों में (ग्रभ्रदर्शने) बादल छा जाने पर ही ग्रन्घ्याय जाने ॥ १०४॥

## निर्घाते मूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने । एतानाकालिकान्विद्यादनप्र्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

(ऋती + श्रिप) वर्षाऋतु में भी यदि (निर्घात) आकाश में उत्पातसूचक शब्द हो तो (भूमिचलने) भूकम्प श्राया हो (च) श्रीर (ज्योतिषाम् उप-सर्जने) ग्रहों के परस्पर संघर्ष होने पर (एतान्) इन समयों को (ग्राकालिकान् श्रनध्यायान् विद्यात्) उस समय से ग्रगले दिन उसी समय तक का अनध्याय समय जाने।। १०५।।

#### प्रादुष्कृतेष्वग्नियु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने । सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ तथा दिवा ॥ १०६ ॥

(प्रादुष्कृतेषु + ग्रग्निषु) यदि प्रातःकाल होम की ग्रग्नि प्रज्ज्वित करते समय (विद्युत्-स्तिनित-नि.स्वने) बिजली कड़कने, बादल गरजने तथा वर्षा होने पर (सज्योतिः शेषे) सूर्यं की ज्योति रहने तक (ग्रनध्यायः स्यात्) ग्रनध्याय होता है (रात्रौ) यदि रात्रि में होम की ग्रग्नि प्रज्ज्वित करते समय यही बातें हों तो (यथा दिवा) जैसे दिन में शाम तक, वैसे ही ग्रगले सवेरे तक ग्रनध्याय रहता है।। १०६।।

## नित्यानध्याय एव स्याव् ग्रामेषु नगरेषु च। धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

(धर्मनैपुण्यकामानाम्) धर्म में निपुणता चाहने वाले लोगों का (ग्रामेषु पूर्ति-गन्धे) गांबों ग्रीर नगरों में बुरी गंध फैल जाने पर (सर्वदा नित्य — श्रनध्यायः एव स्यात्) प्रतिदिन पूर्णतः अनध्याय ही रहता है ॥ १०७ ॥

#### भ्रन्तर्गतशवे ग्रामे वृदलस्य च सन्निष्वौ। भ्रनध्यायो रुद्यमाने समबाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

(म्रन्तर्गतद्यावे ग्रामे) जहां गांव में कोई मुर्दी पड़ा हो (च) ग्रीर (वृषलस्य सन्निधौ) शूद्र के पास (रुद्यमाने) जहां रोने की ध्विन ग्रा रही हो (च) तथा (जनस्य समवाये) जहां लोंगों की बहुत भीड़ हो वहाँ (ग्रनष्यायः) ग्रनष्याय होता है।। १०८।।

#### उदके मध्यरात्रे च विष्मूत्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टः श्राद्वभुक्षेव मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥ १०६ ॥

(उदके) जल में रहते हुए (च) श्रीर (मध्यरात्रे) श्राधी रात में (विष्मूतस्य विसर्जन) मल-मूत्र त्यागते समय (उच्छिष्टः) जूठे हाथ-मुँह (श्राद्धभुक् चैव) श्राद्ध में भोजन करते ही तुरन्त बाद (मनरा। +श्राप न चिन्तयेत्) मन से भी वेद का चिन्तन न करे।। १०६॥

## प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् । ज्यहं न कीतंयेव् ब्रह्म राज्ञो राहोक्च सूतके ॥ ११० ॥

(दिजः) ब्राह्मण (विद्वान्) विद्वान् (एकोहिष्टस्य केतनं प्रतिगृह्म) एक ही ब्राह्मण को जिमाने के उद्देश्य से दिये गये निमन्त्रण को स्वीकार करके (राजः) राजा के (च) ग्रीर (राहोः) सूर्य-चन्द्र के ग्रह्मण के समय होने वाले (सूतके) सूतक में (त्रि + ग्रहं ब्रह्म न कीनेयेत्) तीन दिन तक वेद न पढ़े॥ ११०॥

## यावदेकानुद्विष्टस्य गन्धो लेपङ्च तिष्ठति । विश्रस्य विदुषो देहे तावद् ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

(विदुप: विप्रस्य देहे) विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में (यावत्) जब तक (एकानु-ह्षिटस्य) एकोह्षिष्ट श्राद्ध की (गन्धः च लेपः) गन्ध या लेप (तिष्ठिति) रहे (तावत्) तब तक (ब्रह्म न की गैंयेत्) वेद को न पढ़े।। १११।।

## शयानः प्रौदपादश्य कृत्वा चैवावसिक्यकाम् । नाघीयीतामिषं जग्व्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

(शयानः) लेटे हुए (च) ग्रीर (प्रौढपादः) ग्रासन पर पैर फैलाकर (च + एव) तथा (ग्रवसिक्थका कृत्वा) भुटनों को मोड़ कर बैठने की मुद्रा बनाके ग्रथित उकड़ बैठकर (ग्रामिष च स्तक + ग्रन्नाद्यम् + एव जग्व्वा) मास ग्रीर सूतक = जन्म-मृत्यु से उत्पन्न ग्रशीच के ग्रन्न को खाकर (न + ग्रधीयीत) वेद न पढ़े।। ११२।।

## नीहारे बाएगाब्दे च संघ्ययोरेव चोमयोः। म्रमावस्याबतुर्दत्रयोः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

(नीहारे) कोहरे के समय (च) ग्रीर (बाएाशब्दे) बाणों का शब्द होने पर (च) तथा (उभयो: संद्ययो: + एव) प्रातः, सायं दोनों संद्याग्रों में (च) ग्रीर (ग्रमावस्या- चतुर्दश्योः पौर्णमासी + ब्रब्टकासु) ग्रमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णमासी, ब्रब्टमी के दिन भी वेद नहीं पढ़ना चाहिए ॥ ११३ ॥

> म्रमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी । ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ यस्मात्ताः परिवर्जयेत ॥ ११४ ॥

(स्रमावस्या गुरुं हन्ति) स्रमावस्या गुरु को मार देती है (चतुदंशी शिष्य हन्ति) चतुदंशी शिष्य को मारती है (स्रष्टक + पौर्णमास्यौ ब्रह्म) स्रष्टमी स्रौर पूर्णमासी वेद को ही नष्ट कर देती हैं (तस्मात्) इसलिए (ताः परिवर्जयेत्) उन्हें छोड़ देवे स्रर्थात् इन दिनों में वेद न पढ़ें।। ११४॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविक्ते तथा। इवलरोज्ट्रेच क्वति पङ्कौचन पठेंद् द्विजः ॥ ११४॥

(पांसुवर्षे) घूलि वर्षा के समय (दिशां दाहे) दिशाश्रों में ज्वालाएँ उठ रही हों तब (तथा गोमायु विरुते) तथा गीदड़ों के रोने का शब्द सुनते समय (च) श्रीर (श्व-खर-उष्ट्रे रुवति) कुत्ता, गधा श्रीर ऊंट के रोने के शब्द के समय (च) तथा (पंक्ती) जहाँ इनका भुण्ड या पंक्ति इकट्ठी बनी हुई हो वहाँ (द्विज: न पठेत्) द्विज वेद न पढ़े ॥११५॥

> नाधीयीत इमशानान्ते ग्रामान्ते गोवजेऽपि वा । वसित्या मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

(श्मशानान्ते) श्मशान के पास में (ग्रामान्ते) गांव के पास में (वा) और (गोव्रजे + ग्रिप) गौशाला में भी (मैथुनं वासः विसत्वा) मैथुन के समय का वस्त्र पहनकर (र्) तथा (श्राद्धिकं प्रतिगृह्य) श्राद्ध के ग्रन्न आदि पदार्थों का दान लेकर (न + ग्रधीयीः) वेद न पढे।। ११६।।

> प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिन्द्राद्धिकं भवेत् । तदालम्याप्यनभ्यायः पान्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

(श्राद्धिकं यत् किंचित् प्राणि वा यदि वा + ग्रप्राणि भवेत्) श्राद्धसम्बन्धी जो कोई भी पदार्थ चाहे वह जीव == गौ ग्रादि हो ग्रथवा ग्रजीव — वस्त्र, पात्र ग्रादि हो (तत् ग्रालभ्य) उसे लेकर (ग्रनध्यायः) ग्रनध्याय ही होता है (हि) क्योंकि (द्विजः) ब्राह्मण को (पाणि + ग्रास्यः) हाथ ही है मुख जिसका, ऐसा ग्रयात् जिसके हाथ में दान चला गया तो समक्षना चाहिए कि वह भी श्राद्ध के ग्रन्न की तरह मुख में जाकर पितरों के पाम पहुंच गया, इस प्रकार की विशेषता वाला (स्मृतः) कहा है ॥ ११७॥

चौरैरुपप्तुते ग्रामे सम्भ्रमे चाग्निकारिते। ग्राकालिकमनघ्यायं विद्यात् सर्वाद्भुतेव् च ॥ ११८॥

(ग्रामे चौरै: + उपप्लुते) गांव में चोरों द्वारा कोई उपद्रव कर देने पर (संभ्रमे) घबराहट होने पर (च) गौर (ग्रग्निकारिते) ग्राग लगने पर (च) तथा (सर्व + ग्रद्भ-

तेषु) सभी <mark>प्रद्भुत घटनाम्रों के घटने पर (आकालिकम्) उस समय से म्रगले दिन उसी</mark> समय तक के लिए (अनघ्यायं विद्यात्) म्रनघ्याय समभना चाहिए॥ ११८॥

> उपाकर्मिण चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतं। ग्रह्मकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासुच रात्रिषु॥ ११६॥

(उपाकर्मणि) वेदाघ्ययन के प्रारम्भ का अनुष्ठान करते समय (च) श्रौर (उत्सर्गे) वेदाघ्ययन का उत्सर्गः = विसर्जन करने पर (ग्रष्टकासु तु) मार्गशीर्ष मास की पूणिमा के बाद तीन ग्रष्टमी तिथियों में (त्रिरात्रं क्षपणां स्मृतम्) तीन रात ग्रर्थात् तीन दिन-रात का ग्रनघ्याय कहा है (च) श्रौर (ऋत्वन्तासु रात्रिषु ग्रहोरात्रम्) ऋतुग्रों के अन्त की रात्रियों में एक दिन-रात का ग्रनघ्याय होता है ॥ ११६॥

नाधीयीताष्ट्रवमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्। न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिसस्यो न यानगः॥ १२०॥

(ग्रदवं वृक्षं हस्तिनं नावं खरं उष्ट्रम् ग्रारूढः) घोड़ा, वृक्ष, हाथी, नौका, गथा, ऊंट, इन पर चढ़कर (इरिणस्थः) बंजर भूमि पर बैठकर (यानगः) किसी सवारी पर जाता हुग्रा (न + ग्रधीयीत) वेद न पढ़े ॥ १२० ॥

> न विवादे न कलहे न सेवायां न सङ्गरे। न मुक्तमात्रे नाजीर्गो न विभित्वा न शुक्तके।। १२१।। ग्रतियि चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा मृशम्। रुधिरे च स्नृते गात्राच्छस्त्रेगा च परिक्षते।। १२२।।

(विवादे) विवाद [बहसबाजी] हो जाने पर (कलहे) लड़ाई हो जाने पर (सेनायां संगरे) सेना के बीच में, युद्ध में (भुक्तमात्रे) खाने के एकदम बाद (अजीर्णे) अपच होने पर (विमत्वा) वमन होने पर (शुक्तके) खट्टी डकारों के समय (च) और (अतिथिम् अननुज्ञाप्य) अतिथि से बिना आज्ञा लिए (मारुते वा + अति वा भृशम्) तेज हवा चलने पर और चलते रहने पर (च) तथा (गात्रात् रुधिरे स्नुते) शरीर से खून निकलने पर (च) और (शस्त्रेण परिक्षते) हथियार से घायल होने पर वेद न पढ़े ॥१२१, १२२॥

सामध्यनापृथ्यजुती नाधीयीत कदाचन। वेदस्याधीत्य वाष्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३॥

(सामध्वनी) जहां सामवेद की ध्वनि ग्रा रही हो, वहाँ (कदाचन) कभी भी (ऋग्यजुपी न + ग्रंथीयीत) ऋग्वेद ग्रौर यजुर्वेद को न पढ़े (वा) ग्रयवा (वेदस्य ग्रन्तम् ग्रंथीत्य) एक वेद को ग्रन्त तक पढ़कर (च) ग्रौर (ग्रारण्यकम् + ग्रंथीत्य) वेद के एक भाग को ग्रन्त तक पढ़कर दूसरे वेद और दूसरे भाग को उस दिन न पढ़े ।।१२३।।

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः । सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याग्जचिष्यंनिः ॥ १२४ ॥ (ऋग्वेदः देवदैवत्यः) ऋग्वेद के देवता 'देव' हैं (तु) ग्रीर (यजुर्वेदः मानुषः) यजुर्वेद के देवता 'मनुष्य' हैं (सामवेदः पित्र्यः स्मृतः) सामवेद के देवता 'पितर' माने गये हैं (तस्मात् तस्य घ्विनः अ्रशुचिः) इसलिए उन दोनों वेदों की तुलना में सामवेद की घ्विन अर्पवित्र है ॥ १२४॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहृम् । क्रमज्ञः पूर्वमन्यस्य पश्चाह्वेदमधीयते ॥ १२४ ॥

(विद्रांसः) विद्वान् लोग (एतत् त्रयीनिष्कर्षं विदन्तः) इन तीनों वेदों के रहस्य को जानते हुए (ग्रन्वहं क्रमशः पूर्वम् + अभ्यस्य) प्रतिदिन क्रमानुसार पहले-पहले वेद को पढ़कर (पश्चात्) बाद में (वेदम् + ग्रधीयते) सामवेद का ग्रध्ययन करते हैं॥ १२५॥

#### पशुमण्डूकमार्जारस्वसर्प्रनकुलाखुमिः । श्रन्तरागमने विद्यादनध्यायमहनिक्सम् ॥ १२६ ॥

(पशु-मण्डूक-मार्जार-श्व-सर्प-नकुल-आखुभिः ग्रन्तरागमने) पशु, मेंढक, बिल्ली, कुत्ता, साप, नेवला ग्रीर चूहा इनके बीच से या सामने से निकल जाने पर (अहर्निशम् ग्रनध्याय विद्यात्) दिन-रात का ग्रनध्याय, समक्षना चाहिए ॥ ४२६ ॥

## द्वावेव वजंग्रेग्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायसूमि चाशुद्धामात्मानं चाशुचि द्विजः ॥ १२७ ॥

(च) और (द्विजः) द्विज (ग्रशुद्धां स्वाध्यायभूमिम्) ग्रशुद्ध स्वाध्यायस्थान को ग्रर्थात् ग्रशुद्ध स्वाध्यायस्थल होने पर वहां स्वाध्याय को (च) और (ग्रशुचिम् आत्मानम्) ग्रशुद्ध ग्रात्मा और शरीर-मन को ग्रर्थात् शरीर, मन, ग्रात्मा जब ग्रपवित्र हों तो उस समय स्वाध्याय को (नित्यं प्रयत्नतः वर्जयेत्) सदैव प्रयत्नपूर्वक छोड़ देवे, (द्वौ) ये दोनों (ग्रनध्यायौ एव) 'ग्रनध्याय' ही हैं।। १२७।।

आनुर्धी का १२७ तक सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनका प्रक्षेप निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार सिद्ध होता है—

१. ग्रन्तिवरोध: 'ग्रनध्याय' मनुविरुद्ध—(१) प्रतीत होता है कि वर्ष में साढे चार माम तक वेदाध्ययन करना, फिर उनका उत्सर्जन करना, वीच में विराम करना, शुक्ल पक्ष में वेदाध्ययन ग्रीर कृष्ण पक्ष में वेदाङ्गों का ग्रध्ययन करना, ये व्यवस्थाएँ मनु से परवर्ती काल की हैं, जब कि मनु द्वारा विहित व्यवस्थाग्रों में शिथिलता ग्रागई थी। इन व्यवस्थाओं का मनुप्रोक्त व्यवस्थाग्रों से तालमेल नहीं बैठता ग्रीर विरोध ग्राता है। यथा—(क) मनु ने वेदों का ग्रध्ययन सभी द्विजों का ग्रावश्यक और नैत्यिक कर्म माना है [१-५७—६०]। यदि पूर्वोक्त कर्मों का पालन कोई द्विज नहीं करता तो वह ग्रपने वर्ण से पतित हो जाता है। विशेषरूप से वेदाभ्यास को छोड़ने वाला द्विज शूद्रकोट में गिना जाता है—''योऽनधीत्य द्विजो वेदमग्यत्र कुरते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रकं ग्राशु गच्छित सान्वयः" [२।१४३(१६५)](ख)मनु ने वेदाध्ययन को नैत्यिक दिनचर्या कहा है और इस पवित्र कार्य में कभी अनध्याय नहीं माना है—''वेदो-

पकरएों चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके । नानुरोघोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि"॥ [२। ८० (१०५)] "नैत्यके नास्त्यनाध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतस् । ब्रह्माहृतिहृतं पुण्यमनध्याय वषट्कृतस्"॥ [२। ८१ (१०६)] (ग) नैत्यिक वेदाध्ययन के विधायक अन्य प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

- (क) यः स्वाध्यायमधीते अदं विधिना नियतः शुचिः । तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दिध धृतं मधु ॥ २।८२ ॥ (२।१०७)
- (ख) म्रा हैव स नखाग्रेम्यः परमं तत्यते तयः। यः स्नग्व्यपि द्विजो ऽघीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥ (२।१४२[१६७])

इसी प्रकार गृहस्थों के व्रतों में भी स्पष्ट निर्देश है ---

- (क) सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्त्राघ्यायस्य विरोधिनः । ययातथाघ्यायंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४ । १७ ॥
- (ल) बुद्धिवृद्धिकराप्याशु धन्यानि च हितानि च। नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांत्रचैव वैदिकान् ॥ ४। १६ ॥
- (ग) ''स्त्राध्याये चैव युक्तः स्यात् नित्यम्'' (४ । ६४)
- (घ) ''स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्" (३। ७५)

इत प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु प्रत्येक व्यक्ति के लिए वेदों का ग्रध्ययन नित्यप्रति ग्रावश्यक मानते हैं। मनु ने पांच महायज्ञों का जो प्रतिदिन विधान किया है, उनमें 'ब्रह्मयज्ञ' संघ्योपासना ग्रौर वेदाध्ययन का ही नाम है। इस प्रकार के प्रमाण मनुस्मृति में पर्याप्त मिलते हैं। ६५—१२७ श्लोकों में साढ़े चार मास वेद पढ़ना, फिर उनका उत्सर्जन गांव से बाहर करना, गुक्लपक्ष में वेद पढ़ना ग्रौर कृष्णपक्ष में वेदाङ्कों को पढ़ना आदि जो व्यवस्थाएँ दी गई हैं वे पूर्णमान्यताओं से तालमेल नहीं रखतीं ग्रौर दिख्द भी हैं। जब प्रतिदिन ही वेद पढ़ने का विधान है तो फिर उनका साढ़े चार मास तक पढ़ने के लिए प्रारम्भिक ग्रनुष्ठान करना, फिर उत्सर्जन का ग्रनुष्ठान करना आदि बातों का ग्रवसर ही नहीं ग्राता। ग्रतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इस प्रसंग में कुछ ग्रौर भी ग्रन्तविरोध हैं—

- (२) ६६, १०८ इलोकों में शूद्र के पास वेद न पढ़ने का विधान 'शूद्र को वेद पढ़ने का विधान नहीं है' इस मान्यता पर ग्राधारित है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है ग्रीर वेदविरुद्ध भी [इसके विस्तृत ज्ञान के लिए २। १४४-१४६ (१६६-१७४) ब्लोकों पर 'ग्रन्तिविरोध' शीर्षक समीक्षा देखिये]।
- (३) १०६—१११, ११७, १२४, ब्लोकों में मृतकश्राद्ध की मान्यता है। यह भी मनुविरुद्ध है [इसके लिए ३।११६—२८४ ब्लोकों पर समीक्षा द्रष्टव्य है]।
  - (४) ११२ में सूतक की मान्यता है। सूतक का वर्णन मनुप्रोक्त नहीं सिद्ध होता

[इसके लिए द्रष्टव्य है ५। ५८—१०४ क्लोकों पर 'विषयविरोघ' शीर्षक समीक्षा क्योंकि सूतकविधान इसी प्रसंग के ६१-६२ क्लोकों में स्राता है]।

- (५) ११३ वें इलोक में संघ्याकालों में वेद न पढ़ने का कथन है, जबिक पांच-यज्ञों का विधान ग्रौर संघ्योपासना का विधान संघ्याकालों में ही किया है [२।७६— ७८ (१०१-१०३), १४१ (१७६), ४। ६२— ६४]।
- (६) ११३ ११४ वें इलोकों में पर्वदिनों में वेदाध्ययन निषद्ध है, जबिक ४।२५; ६।६ में इन पर्वों के दिन विशेषयज्ञों को रचाने का विधान है, ग्रौर यज्ञ वेदमन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।
- (७) ११६ वें क्लोक में क्मशान में वेद न पढ़ने का कथन है, जबकि ४। १६७ में ग्रन्त्येष्टि कर्म यज्ञसम्पादन द्वारा विहित है, ग्रीर यज्ञ में वेदमन्त्रों का उच्चारण होता है।
- (८) **११२** वें में मांसभक्षण का वर्णत मनुविरुद्ध है [द्रष्टय्य—४ । २६—२८ इलोकों पर 'त्रन्तर्विरोय' शीर्षक समीक्षा ] ।
- (६) १२३—१२५ क्लोकों में वेदों की ध्विनयों का परस्पर विरोध दर्शाना मनु के २।७६—७ प्रि?—५३] क्लोकों के विरुद्ध है। जब तीनों वेदों से एक-एक पाद निकालकर बताया गया गायत्रीमन्त्र एकसाथ उच्चरित किया जा गकता है तो वेदों की ध्विन में क्या त्रावित्त है ? मनु-स्रनुसार सभी वेद ईश्वरप्रोक्त हैं।
- (१०) १०१ से १२६ क्लोकों में वेदों के ग्रनध्यायों का ही विधान मनु के २। ७६— ६१ [१०४— १०६] के विरुद्ध है। इन क्लोकों में मनु ने वेदाध्ययन में ग्रनध्याय का निषेध किया है। इस प्रकार इन ग्रन्तिविरोधों के ग्राधार पर ६५ से १२७ तक सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. विषयविरोष (१) १०१ से १२७ श्लोक विषयबाह्य हैं। इनका 'सत्वगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ये व्रत हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन
  ४। ३३ ३४ पर द्रष्टव्य]। (२) ये श्लोक इसलिए भी विषयविरुद्ध हैं क्योंकि
  शिष्यों को वेदाध्यापन का विषय द्वितीय ग्रध्याय का है [२।४४—४८(६६—७३),
  १३६ (१६४), १४०—१४१ (१६५—१६६), ३।१—२]। यहाँ गृहस्थियों के व्रतों
  का विषय है [४।१३]। ग्रतः इस स्थान पर शिष्यों के ग्रध्यापन-ग्रनध्यापन, अध्यायग्रनध्याय का वर्णन विषयविरुद्ध है। यह द्वितीय ग्रध्याय में ही संगत कहा जा
  सकता था।
- ३. वेवविरोध—६६, १०८ श्लोकों की शूद्र के पास वेद न पढ़ने की मान्यता स्वयं वेदविरुद्ध है। वेद में शूद्र को यज्ञ करने और मन्त्रश्रवण का विधान है। प्रमाणार्थ द्रष्टन्य २।४२ ग्रौर ६।३३५ की 'वेदविरोध' शीर्षक समीक्षाएँ।
  - ४. शैलीगत श्राधार-(१) इस प्रसंग के १०३ वें श्लोक में 'मनुरब्रवीत्' पद

से स्पष्टतः यह मनुभिन्न व्यक्ति द्वारा प्रोक्त सिद्ध होता है। (२) इस प्रसंग के १०१ से १२७ इलोकों की शैली रूढ़ि पर ग्राघारित है। ११४ व १२४ की शैली अयुक्ति-युक्त है।

स्त्रीगमन में पर्वदिनों का त्याग करे-

श्रमावस्यामध्यमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्। ब्रह्मचारी भवेग्नित्यमप्युतौ स्नातको द्विजः॥ १२ ॥ (२६)

(स्नातकः द्विजः) गृहस्य द्विज को चाहिये कि वह (ऋतौ स्रिपि) ऋतु-काल होते हुए भी (स्रमावस्याम् + स्रिष्टमीं पौर्णमासीं च चतुर्दशीम्) स्रमावस्या, स्रष्टमी, पूर्णिमा स्रौर चतुर्दशी के दिन (ब्रह्मचारी भवेत्) ब्रह्म-चारी रहे ॥ १२८॥

"जब ऋनुदान देना हो तब पर्व अर्थात् जो उन ऋनुदान १६ दिनों में पौर्णमासी, अमावस्या, चतुर्दशी वा अष्टमी आवे उस को छोड़ देवे। इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें।"

(संस्कारविधि गर्भाधान संस्कार प्रकरण।)

आ जुर्वो त्य नाः तुलनायं द्रष्टव्य है ३। ४५ इलोकं। वहाँ भी मनु ने पर्व दिनों में ऋतुदान का निषेध किया है।

खाने के बाद स्तान ग्रादि का निषेध-

न स्नानमाचरेव् भुरुवा नातुरो न महानिशि । न वासोमिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२६ ॥

गृहस्य द्विज (भुक्त्वा) खाकर (ग्रातुरः) रोगी होने पर (महानिशि) आधी रात के समय (ग्रजस्न वासोभिः सह) सभी कपड़ों को पहने हुए (अविज्ञाते जलाशये) जिसकी थाह ग्रादि का ज्ञान न हो ऐसे तालाब या जलस्थान में (स्नानं न ग्राचरेत्) स्नान न करे ॥ १२६॥

> देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा। नाक्रामेत्कामतद्यायां बभ्रुको दीक्षितस्य च ॥ १३०॥

गृहस्थ द्विज (देवतानाम्) देवमूर्तियों की (गुरोः) गुरु की (राज्ञः) राजा की (तथा स्नातक + आचार्ययोः) तथा स्नातक और स्राचार्य की (वश्रुणः) तेजस्वी व्यक्ति (च) स्रौर (दीक्षितस्य) यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति की (छायाम्) छाया को (कामतः) जान-वूक्षकर (न स्राक्रामेत्) न लांघे ॥ १३० ॥

मध्यन्विनेऽधंरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् । सन्घ्ययोरुमयोद्गचंव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥ गृहस्थ द्विज (मध्यन्विने) दोपहर के समय (च) ग्रीर (ग्रर्धरात्रे) ग्राधी रात के समय (च) तथा (सामिषं श्राद्धं भुक्त्वा) श्राद्ध का मांसयुक्त भोजन करके (च एव) ग्रौर (उभयोः संघ्ययोः) प्रातः तथा सायं दोनों संघ्याकालों में (चतुष्पथं न सेवेत) चौराहे पर न जाये ॥ १३१ ॥

## उद्वर्तनमपस्नानं विष्मुत्रे रक्तमेव च। इलेष्मनिष्ठभूतवान्तानि नाधितिष्ठेसु कामतः।। १३२।।

गृहस्थ द्विज (उद्वर्तनम् + प्रपस्तानं विष्मुत्रे च रक्तम् + एव) उबटन का मल, स्नान का मल, मल-मूत्र श्रीर खून (श्लेष्मिनिष्ठ्यूत-वान्तानि) खकार या पीक, धूक श्रीर वमन, इन पर (कामतः न + श्रिधितिष्ठेत्) जानवृक्षकर न बैठे ॥ १३२ ॥

## अनुर्वेत्जनाः १२६-१३२ तक श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं--

- १. दिषयविरोध—इन श्लोकों में वर्णित बातें विषयबाह्य हैं। इनका 'सत्व-गुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है श्रीर न ये व्रत कहला सकते हैं [विवेचन ४। ३३— ३४ श्लोकों पर द्रष्टव्य है]।
- २. श्रन्तिवरोध—१३१ वें श्लोक में मृतकश्राद्ध की मान्यता श्रीर मांसभक्षण की मान्यता का वर्णन मनुविरुद्ध है, ग्रतः यह श्लोक इस आधार पर भी प्रक्षिप्त है [इसके लिये देखिये क्रमशः ३।११६ से २५४ श्रीर ४।२६—२८ श्लोकों पर 'ग्रन्त-विरोध' शोर्षक समीक्षा।]

परस्त्री-सेवन का निषेध एवं त्याज्य व्यक्ति --

# वैरिणं नोपसेवेत सह।यं चैव वैरिगः। ब्रधार्मिकं तस्करं च परस्येव च योषितम् ॥ १३३ ॥ (३०)

गृहस्थ द्विज (वैरिणम) शत्रु (च) ग्रीर (वैरिएा: सहायं) शत्रु के सहायक (ग्रधामिकं तस्करं च परस्य योषितम्) ग्रधामिक, चोर, पराई स्त्री ने (न सेवेत) मेलजोल न रखे ग्रर्थात् परस्त्री-गमन न करे।। १३३।।

परस्त्री-सेवन से हानियाँ---

# न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥ (३१)

गृहस्थ द्विज का (इह लोके) इस संसार में (पुरुषस्य वनायुष्यम् ईट्यं किचन न हि विद्यते) पुरुष की स्रायु को घटाने वाला ऐसा कोई काम नहीं है (यादशम्) जैसा कि (परदारा-उपसेवनम्) परस्त्रीगमन करना है ॥१३४॥

इन तीनों का भ्रपमान न करे-

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ (भूष्णुः) अपनी उन्नित-समृद्धि चाहने वाला गृहस्य द्विज (क्षत्रियं सर्पं च बहु-श्रुतं ब्राह्मणम्) क्षत्रियः सांप और अनुभवी एवं ज्ञानी ब्राह्मण, इनको (कृशान् + अपि) अपने से कमजोर की भी (कदाचन) कभी (न + अवमन्येत) अपमानित न करे ॥१३५॥

## एतत्त्रयं हि पुरुवं निर्देहेदवमानितम्। तस्मादेतस्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान्।। १३६॥

(हि) क्योंकि (एतत् त्रयम् अवमानितम्) ये तीनों अपमानित होने पर (पुरुषं निदंहेत्) पुरुष को भस्म कर देते हैं (तस्मात्) इसलिए (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् गृहस्थ द्विज को चाहिए कि वह (एतत् त्रयं नित्यं न + अवमन्येत) इन तीनों को अपमानित न करे।। १३६।।

## अनुर्धोत्जन-१३५-१३६ श्लोक प्रक्षिप्त हैं-

- १. विषयविरोध ये दोनों इलोक विषयविरुद्ध हैं। इनमें वर्णित बातें न तो 'सत्वगुणवर्धन' से सम्बद्ध हैं भ्रौर न ये व्रत ही कहे जा सकते हैं, भ्रतः प्रक्षिप्त हैं। द्रष्टव्य ४। ३३–३४ पर समीक्षा]
  - २. अन्ति वरोध इन क्लो कों में अपमानित ब्राह्मण द्वारा व्यक्ति को बदले में भस्म किये जाने का भय प्रदिश्तित है, जबिक २। १३७ [१६२] में मनु ने अपमान से अपमानित न होकर उसे अमृत के समान मानने के लिए ब्राह्मण को आदेश दिया है, आरेर २। १३६ [१६१] में स्वयं दुःखी होकर भी दूसरे का मन न दुःखाने का आदेश है। उससे यह विरुद्ध वर्णन है, अतः दोनों क्लोक प्रक्षित हैं।

ब्रात्महीनता की भावना मन में न लाये —

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः । श्रामृत्योः श्रियमन्बिच्छेन्नेनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७॥ (३२)

गृहस्य द्विज कभी (पूर्वाभिः + ग्रसमृद्धिभिः) प्रथम पुष्कल धनी होके पश्चात् द्वरिद्र हो जायें, उससे (आत्मानं न + ग्रवमन्येत) ग्रपने ग्रात्मा का ग्रपमान न करे कि 'हाय हम निर्धन हो गयें' इत्यादि विलाप भी न करे, किन्तु (आमृत्योः) मृत्युपर्यन्त (श्रियम् + ग्रन्विच्छेत्) लक्ष्मी को उन्नति में पुरुषार्थं किया करें, ग्रीर (एना दुलभां न मन्येत) लक्ष्मी को दुर्लम न समभें।। १३७।। (सं० वि० १७८)

अञ्चर्णिट्य : स्रिभिप्राय यह है कि धन स्रादि के स्रभाव की स्थिति स्राने पर या स्रापत्तिकाल में मनुष्य को कभी स्रपने मन में स्रात्महीनता, निराशा, हताशा की भावना नहीं स्राने देनी चाहिए। अपितु इन बातों को त्यागकर सतत पुरुषार्थ में प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही मनुष्य जीवन की सफलता समृद्धि श्रीर उन्नति का ग्राघार है।

सत्य तथा प्रियभाषण करे-

सत्यं ब्रूयात्त्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमित्रयम् । त्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनासनः ॥ १३८ ॥ (३३)

(सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्) सदा प्रिय सत्य दूसरे का हितकारक बोले (अप्रियं सत्यं न ब्रूयात्) अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले (अनृत च प्रियं न ब्रूयात्) अनृत अर्थात् भूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले क्षेट्रा। १३८।। (सं० प्र० १७)

幾 (एषः सनातनः धर्मः) यह सनातन धर्म है। (सं॰ वि॰ १७८)

''मनुष्य सर्देव सत्य बोले और दूसरे का कल्या एकारक उपदेश कर, काणे को काणा, मूर्ख को मूर्ख ग्रादि ग्रिप्य वचन उनके सम्मुख कभी न बोले ग्रीर जिस मिथ्याभाषए से दूसरा प्रसन्न होता हो उसको भी न बोले,यह सनातन धर्म है।।'' (संग्वित १७८)

भद्र व्यवहार करे-

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्। शुष्कवरं विवादं चन कुर्यात्केनचित्सह।। १३६।। (३४)

(भद्र भद्रम्+इति ब्रूयात्) सदा भद्र प्रयात् सबके हितकारी वचन बोला करे (गुब्कवरं विवादं च केनचित् सह न कुर्यात्) गुब्कवर ग्रयात् बिना ग्रपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे (भद्रम्+इत्येव वा वदेत्) जो-जो दूसरे का हितकारी हो ग्रोर बुरा भी माने तथापि कहे बिना न रहे।। १३६।। (स० प्र० ६७)

> नातिकस्यं नातिसायं नातिमध्यन्दिने स्थिते । नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृवर्लः सह ॥ १४० ॥

(न+ग्रतिकल्यम्) न बहुत सबेरे (न+अतिसायम्) न बहुत शाम को (न+ ध्रतिमध्यंदिने स्थिते) न बिल्कुल दोपहर के समय (न+ग्रज्ञातेन समम्) न किसी ग्रज्ञात व्यक्ति के साथ (न+एकः) न बिल्कुल ग्रकेले (न वृषलैं: सह) न शूद्रों के साथ (गच्छेत्) जाये ॥ १४० ॥

## अनुर्वोत्जन-१४० वां श्लोक प्रक्षिप्त है-

१. विवयविरोध-यह विपवबाह्य है। इसका 'सत्वगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध

नहीं है स्रीर न यह वत हो सकता है [द्रष्टब्य ४ । ३३ —३४ पर समीक्षा ।] हीन, विकलांग स्रादि पर ब्यंग्य न करे—

> होनाङ्गानितिरिक्ताङ्गान्त्रिद्याहोनान्त्रयोऽधिकान् । रूपद्रश्यविहोनांश्च जातिहोनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ (३४)

(होन + ग्रङ्गान्) कम ग्रंगों वालों या ग्रपंगों पर (ग्रतिरिक्त + ग्रङ्गान्)
ग्रधिक ग्रंगों वाले (विद्याहीनान्) मूर्ख (वय + ग्रिविकान्) ग्रायु में वड़ (च)
ग्रीर (रूप-द्रव्य-विहोनान्) रूप ग्रीर धन से रहित (च) ग्रीर (जातिहोनान्)
ग्रपने से निम्न वर्णे वाले इन पर (न ग्राक्षिपेत्) कभी ग्रातेप [=व्यंग्य या
मजाक] न करे।। १४१।।

गाय ग्रादि का उच्छिष्ट हाथ से स्पर्श निषेध-

न स्पृशेत्पारिणनोच्छिष्टो विश्रो गोबाह्यरणानलान् । न चापि पश्येदशुचिः सुस्यो ज्योतिर्गरणान्दिवि ।। १४२ ॥

(विप्रः) ब्राह्मण (उच्छिष्टः) झूठे मुंह-हाथ रहते हुए (पािराना) ग्रपने झूठे हाथ से (गो-ब्राह्मण-ग्रनलान्) गौ, ब्राह्मण ग्रौर ग्राग, इनका (न स्पृशेत्) स्पर्शन करे (च) ग्रौर (ग्रशुचिः) ग्रपवित्र होते हुए (सुस्थः ग्रिप) स्वस्थ दशा में भी (दिवि ज्योति-गेणान् न पश्येत्) द्युलोक में ग्रह-तारों को नृदेखे । १४२ ॥

> स्पृष्ट्वैतानशुर्विनित्यमिद्भः प्रागानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नामि पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

(म्रशुचिः) अपिवत्र रहते हुए (एतान् स्पृष्ट्वा) इन—गी, ब्राह्मण स्रीर स्राग को छुकर (नित्यम्) सदैव (प्राणान् सर्वाणि चैव गात्राणि) प्रारोन्द्रियों—स्रांख, नाक, स्रादि स्रीर शरीर के स्रन्य स्रंगों—शिर, हाथ, पैर स्रादि को (स्रद्भिः अनुस्पृशेत्) जल से स्पर्शं करे (तु) और (नामि पाणितलेन) नामि का हथेली से स्पर्श करे ॥ १४३ ॥

> म्रनातुरः स्त्रानि खानि न स्पृशेदिनिमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

(ग्रनातुरः) स्वस्थ रहते हुए ग्रथित् विना किसी शारीरिक कष्ट के सामान्य ग्रवस्था में (ग्रनिमित्ततः) विना प्रयोजन के (स्वानि खानि) ग्रपनी इन्द्रियों को (न स्पृशेत्) न छूपे (च) ग्रौर (सर्वाणि + एव रहस्यानि रोमाणि) सब गुप्त स्थानों के रोमों को (विवर्जतेत्) न छूपे ।। १४४॥

अनुवारित्जनः १४२ से १४४ तक श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं---

१. त्रिषयिवरोध - इन श्लोकों का 'सत्वगुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है

और न ये त्रत ही हो सकते हैं, त्रत: विषयबाह्य होने से विषयविरुद्ध प्रक्षेप हैं, [विशेष द्रष्टब्य ४। ३३–३४ पर 'विषयविरोध' समीक्षा।]

२. **शैलीगत ग्राघार**—१४२-१४३ श्लोकों की शैली रूढ़, ग्रयुक्तियुक्त एवं निराधार है। गाय ग्रादि को छूकर ग्रंगस्पर्श से क्या शुद्धि हो जायेगी? वह तो घोने से होगी।

कल्याणकारी यज्ञ-संघ्या म्रादि कार्यं करे---

मंगलाचारयुक्तः स्यात्त्रयतात्मा जितेन्द्रयः । जपेच्च जुहुयाच्चेव निस्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥(३६)

(मंगल + ग्राचार + युक्तः) कल्याणकारी कार्यो में लगा रहने वाला या श्रेष्ठ ग्राचरणवाला (प्रयतात्मा) उन्ति के लिए सदा प्रयत्त्वाले (जितेन्द्रियः) जितेन्द्रिय (स्यात्) रहे (च) ग्रीर (नित्यम्) प्रतिदिन (ग्रतन्द्रितः) ग्रालस्यरहित होकर (जपेत्) जपोपासना करे (च एव) तथा (अग्नि जुहुयात)अग्नि में हवन करे।। १४५।।

यज्ञ-संघ्या ग्रादि कल्याणकारी कार्यों से लाभ---

मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्मतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६॥ (३७)

(मंगल + प्राचार + युक्तानाम्) जो सदाकस्यास्मकारी कार्यों में लगे रहते हैं प्रथवा जो श्रेष्ठ भाचारण का पालन करते हैं (च) श्रीर (नित्यं प्रयतात्मनाम्) जो सदा भात्मा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं (च) तथा (जपताम्) जो परमात्मा का जाप करते हैं (जुह्वताम्) जो हवन करते हैं, उनकी (विनिपातः) श्रवनति (न विद्यते) नहीं होती श्रर्थात् उनका जीवन पतन की श्रोर नहीं जाता ॥ १४६॥

वेदाम्यास परमधर्म है--

वेदमेवाम्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः । तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥ (३८)

द्विज (नित्यम्) सदा (यथाकालम्) जितना भी ग्रधिक समय लगा सके उसके ग्रनुसार (ग्रतन्द्रितः) ग्रालस्यरहित होकर (वैदम् + एव + ग्रम्य-सेत्) वेद का ही ग्रम्यास करे (हि) क्योंकि (तम् ग्रस्य पर धर्मम् ग्राहुः) उस वेदाम्यास को इस द्विज का सर्वोत्तम कर्त्तव्य कहा है (ग्रन्यः उपधर्मः उच्यते) ग्रन्य सब कर्त्तव्य गौण हैं ॥ १४७॥ वेदाम्यास का कथन भीर उसका फल-

# वेदाम्यासेन सततं शोचेन तपसैव च। अब्रोहेगा च मृतानां जाति स्मरति पौर्विकीम् ॥१४८॥ (३६)

मनुष्य (सततं वेदाभ्यासेन) निरन्तर वेद का श्रभ्यास करने से (शौचेन) श्रात्मिक तथा शारीरिक पवित्रता से (च) तथा (तपसा) तपस्या से (च) श्रौर (भूतानाम् श्रद्रोहेण) प्राणियों के साथ द्रोहभावना न रखते हुए श्रर्थात् श्राहंसाभावना रखते हुए (पौविकीं जाति स्मरति) पूर्वजन्म की श्रवस्था को स्मरण कर लेता है।। १४८।।

श्रान्त हारित्जना: योगवर्शन से जन्मज्ञान की पुन्टि—योगदर्शनकार ने भी इस मान्यता को २।३६ सूत्र में विश्वात किया है। मनु ने वेदाम्यास, ग्रहिसा शौच — श्रशुद्धिभाव से ग्रसंसर्ग, ग्रादि द्वारा पूर्वजन्म एवं जन्मकारणों का बोध होना कहा है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी है—

#### "ग्रपरिग्रहस्थैयें जन्मकथंता संबोधः॥"

अपरिग्रह में ग्राहिसा, वेदादि श्रेष्ठ शास्त्रों तथा श्रेष्ठों की संगति, विषयों में श्रनासक्ति ग्रादि बार्से होती हैं। इन ग्रपरिग्रह की बातों में स्थिरता होने से भूत और वर्तमान जन्मों एवं जन्मकारसों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

# पौर्विकी संस्मरञ्जाति बहाँ वाभ्यसते पुनः । बह्याभ्यासेन चाजस्नमनन्तं सुखमदनुते ॥ १४६॥ (४०)

(पौर्विकीं जाति संस्मरन्) पूर्वजन्म की ग्रवस्था का स्मरण करते हुए (पुनः ब्रह्म + एव + ग्रम्यसते) फिर भी यदि वेद के श्रम्यास में लगा रहता है तो (ग्रजस्नं ब्रह्माभ्यासेन) निरन्तर वेद का ग्रम्यास करने से (ग्रनन्तं सुखम् + ग्रहनुते) मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लेता है ॥ १४६ ॥

अर्जु र्योट्डनः इन्हीं भावों की तुलना के लिए द्रष्टव्य है १२। १०२ श्लोक।

धार्मिकचया की विविध बातें---

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पवंसु नित्यशः । पितृ श्चैवाष्टकास्वर्चे नित्यमन्त्रष्टकासु च ॥ १५० ॥

(पर्वेसु) ग्रमावस्या, पूर्णिमा ग्रादि पर्वो में (नित्यक्षः) सर्वेदा (सावित्रान् च शान्तिहोमान् कुर्यात्) सावित्री देवता वाले (गायत्री मन्त्रादि ) ग्रीर ग्रनिष्ट-निवृत्ति के लिए शान्ति-होमों को करे (च एव) तथा (ग्रष्टकासु च ग्रन्वष्टकासु) ग्रष्टमी तथा नवमी तिथियों में (नित्यम्) सदैव (पितृन् ग्रर्चेत्) पितरों का पूजन करे।। १५०।।

> दूराबावसथान्मुत्रं दूरात्पादावसेचनम् । उच्छिष्ट्यान्निनिषेकञ्च दूरादेव समाचरेत् ॥ १४१ ॥

(मूत्रम् ग्रावसथात् दूरात्) मल-मूत्र आदि निवास स्थान से दूर ही करे (पाद + ग्रवसेचनम् दूरात्) पैरों का धोना भी दूर ही करे (च) ग्रीर (उच्छिष्ट + अन्न-निषेकम्) झूठे ग्रन्न को फेंकना भी (दूरात् + एव समाचरेत्) दूर ही करे ।। १५१ ॥

> मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनाअनम्। पूर्वाह्ह एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

(मैत्रम्) मलत्याग (प्रसाधनम्) शरीर-भ्रुंगार (स्नानम्) स्नान (दन्तघावनम्) दातुन (ग्रज्जनम्) भ्रंजन (च) भ्रौर (देवतानां पूजनम्) देवपूजा भ्रादि, ये (पूर्वाह्नु एव कुर्वीत) दिन के प्रथम प्रहर भ्रथींत् प्रातःकाल ही कर लेने चाहिएँ ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेल् धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्। ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु॥ १५३॥

(पर्वसु) पर्वों के दिनों में (रक्षार्थम्) अपनी रक्षा की कामना से (दैवतानि) देवस्थानों-पवित्र स्थानों (च) तथा (धार्मिकान् द्विजोत्तमान्) धार्मिक विद्वानों (ईन्वरं च गुरून् + एव) राजा तथा गुरुग्नों के पास (ग्रिभिगच्छेत्) जाया करे।। १५३।।

अन्तुर्शोत्जनः १४० से १४३ तक श्लोक निम्न 'म्रायारों' पर प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषयविरोध—-१५१—-१५३ इंलोक विषयबाह्य होने से प्रक्षिप्त हैं। इनका 'सत्वगुणवर्धन' से और व्रतरूप होने से कोई सम्बन्ध नहीं है। [द्रष्टब्य ४। ३३—-३४ पर समीक्षा]।
- २. अन्ति विरोध—(१) १५० वां श्लोक ग्रष्टमी के दिन मृतकश्राद्ध का विधायक है, यह मान्यता मनुविरुद्ध है [देखिए ३।११६—२५४ पर समीक्षा। (२) मनु ने पर्वों के दिन विशेष यज्ञों का विधान किया है [४।२५], देवताग्रों के दर्शनों के लिए जाने का नहीं। मनु के मन में ऐसे कोई देवता मान्य नहीं, वे तो होम को ही 'देवयज्ञ' कहते हैं [३।७०]। ग्रनः ये दोगों ही व्यवस्थाएँ मनुविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

वृद्धों का ग्रमिवादन एवं स्वागत---

अभिवादयेद् वृद्धाःच दद्याच्चैवासनं स्वकम् । कृता्शिक्पासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१४४॥ (४१) (वृद्धान्) सदा ियावृद्धों स्रौर वयोवृद्धों को (स्रभिवादयेत्) नमस्ते ग्रर्थात् उनका मान्य किया करे (स्वकम् ग्रासनं च एव दद्यात्) जब वे ग्रपने समीप ग्रावें तब उठकर, मान्यपूर्वक ग्रपने ग्रासन पर वैठावे (च). ग्रीर (कृत + ग्रञ्जलिः + उपासीत) हाथ जोड़के ग्राप समीप बैठे, पूछे वह उत्तर देवे (गच्छतः पृष्ठतः + ग्रन्वियात्) ग्रीर जब जाने लगें तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर, विदा करे।। १४४।। (सं० वि० १७६)

सदाचार की प्रशंसा एवं फल----

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्ममु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १४४ ॥ (४२)

गृहस्थ सदा (ग्रतिन्द्रितः) ग्रालस्य को छोड़कर (श्रुति-स्मृति + उदितम्) वेद ग्रौर मनुस्मृति में वेदानुकूल कहे हुए (स्वेषु कर्मसु सम्यङ् निबद्धम्) ग्रपने कर्मों में निबद्ध (धर्ममूलं सदाचारं निदेवेत) धर्म का मूल सदाचार ग्रर्थात् जो सत्य ग्रौर सत्पुरुष ग्राप्त धर्मात्माग्रों का ग्राचरण है, उसका सेवन सदा किया करें।। १५५।। (सं० वि० १७६)

म्राचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । म्राचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हत्त्यलक्षणम् ॥१५६॥(४३)

(म्राचारात् हि म्रायुः) धर्माचरण से दीर्घायु (म्राचारात् + ईप्सिताः प्रजाः) म्राचार मे उत्तम सन्तान (म्राचारात् म्रक्षय्यं धनम्) म्राचार से म्रक्षयः धन (लभते) प्राप्त होता है (म्राचारः मलक्षर्णं हन्ति) धर्माचरण बुरे म्रधमं-युक्त लक्षर्णों का नाश कर देता है।। १४६।।

"धर्माचरण ही से दीर्घायु, उत्तम प्रजा ग्रीर ग्रक्षय धन मनुष्य को प्राप्त होता है ग्रीर धर्माचरण बुरे ग्रधमंयुक्त लक्षणों का नाश कर देता है।" (सं वि०१७६)

"इसिलये निध्याभाषणादि रूप प्रधर्म को छोड़ जो धर्माचार प्रर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण ग्रायु ग्रीर धर्माचार से उत्तम प्रजा तथा ग्रक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षराों का नाश करता है उसके ग्राचरण को सदा किया करे।" (स॰ प्र० १०७)

दुराचार से हानि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।। १४७ ।।(४४) (दुराचारः हि पुरुषः) जो दुष्टाचारी पुरुष है वह (लोके निन्दितः) संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त (दुःसभागी) दुःसभागी (च) भ्रोर (सततं व्याधितः) निरन्तर व्याधियुक्त होकर (भ्रल्पायुः + एव भवति) भ्रल्पायु का भी भोगने हारा होता है।। १५७॥ (स० प्र०१०८)

"ग्रीर जो दुष्टाचारी पुरुष होता है वह सर्वत्र निन्दित दु:खभागी ग्रीर व्याधि से ग्रन्पायु सदा हो जाता है।" (सं० वि० १७६)

> सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः। श्रद्धानोऽनसूयक्ष्य क्षतं वर्षाणि जीवित ॥ १५८ ॥ (४५)

(यः) जो (सर्वलक्षराहीनः + ग्रिप सदाचारवान्) सब ग्रच्छे लक्षणों से हीन भी होकर सदाचारयुक्त (श्रद्धधानः) सत्य में श्रद्धा (च) ग्रीर (ग्रनसूयः) निन्दा ग्रादि दोषरहित होता है (श्रतं वर्षाण जीवति) वह सुख से सी वर्ष पर्यन्त जीता है।। १४८।। (सं० वि० १७६)

परवश कर्मी का त्याग-

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यात्तेन वर्जयेत्। यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्तेवेत यत्नतः ॥ १४६ ॥ (४६)

मनुष्य (यत्-यत् परवशं कमं) जो पराधीन कमं हो (तत्-तत् यत्नेन वर्जयेत्) उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े (तु) श्रौर (यत्-यत् श्रात्मवशं स्यात्) जो-जो स्वाधीन कमं हो (तत्-तत् यत्नतः सेवेत) उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे ॥ १५६॥ (सं० वि० १७६)

"जो-जो पराधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न से त्याग ग्रीर जो-जो स्वाधीन कर्म हो उस-उस का प्रयत्न के साथ सेवन करे।" (स० प्र० १०८) सुख-दुःख का लक्षण—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षरां सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥ (४७)

क्यों कि (परवशं सर्वं दुःखम्) जितना परवश होना है वह सब दुःख, ग्रीर (ग्रात्मवशं सर्वं सुखम्) जितना स्वाधीन रहना है वह सब सुख कहाता है (एतत् समासेन सुखदुःखयोः लक्षणं विद्यात्) यही संक्षेप से सुख ग्रीर दुःख का लक्षण जानो ॥ १६० ॥ (सं० वि० १८०)

'क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख श्रीर जो-जो स्वा-धीनता है वह-वह सब सुख, यहो संक्षेप से सुख श्रीर दुःखःका लक्षण जानना चाहिए।'' (स॰ प्र० १०८) श्रात्मा के प्रसन्तताकारक कार्य ही करे-

# यत्कर्मं कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः । तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१॥(४८)

(यत् कर्म कुर्वतः) जिस कर्म के करने से (ग्रस्य ग्रन्तरात्मनः परि-तोषः स्यात्) मनुष्य की ग्रात्मा को संतुष्टि एवं प्रसन्नता का ग्रनुभव हो ग्रयात् भय, शंका, लज्जा का ग्रनुभव न हो (तत्-तत् प्रयत्नेन कुर्वीत) उस-उस कर्म को प्रयत्नपूर्वक करे (विपरीतं तु वर्जयेत्) जिससे संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो उस कर्म को न करे ॥ १६१॥

आनुशरिजनाः स्रात्मा के प्रसन्तताकारक कार्यं किस प्रकार के होते हैं, इसके लिए विस्तृत विवेचन १। १२४ [२।६] पर 'स्रात्मनस्तुष्टि' शीर्षंक स्रनु-शीलन देखिए।

माता-पिता-ग्राचार्यादि की हिंसा न करे---

# श्राच'र्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् । न हिस्याद् बाह्यसान्गाःच सर्वाःचेव तपस्विनः ॥१६२॥(४६)

(ग्राचार्यं प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुं ब्राह्मणान् गाः च सर्वान् तप-स्विनः) वेद को पढ़ाने वाला, वेद का प्रवचन करने वाला, पिता. माता, गुरु, ब्राह्मण्, गाय ग्रीर सभी तपस्वी इनको (न हिंस्यात्) प्रताड़ित न करे ग्रंथात् इनके प्रतिकृल ग्राचरण न करे ॥ १६२ ॥

नास्तिकता, वेदनिन्दा ग्रादि निपिद्ध कर्म-

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥१६३॥ (४०)

(नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां कुत्सनम्) नास्तिकता, वेद की निन्दा ग्रीर बिद्वातों की निन्दा (देखं दम्भं मानं क्रोबं च तैक्षण्यं वर्जयेत्) देख, पाखण्ड, ग्राभमान, क्रोध, उग्रता चतेजी इनको छोड़देवे ॥ १६३ ॥

शिष्य को केवल शिक्षार्थ ताड़ना करे --

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्कुद्धो नैव निपातयेत्। स्रन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्टचर्यं ताडयेत् तौ।।१६४॥ (५१)

(पुत्रात् वा शिष्यात् ग्रन्यत्र) पुत्र ग्रौर शिष्य से भिन्न (परस्य दण्डं न + उद्यच्छेत्) ग्रन्य किसी व्यक्ति पर दण्डा न उठाये ग्रर्थात् दण्डे से न सारे (क्रुद्धः एव न निपातयेत्) ग्रौर क्रोधित होकर भी किसी को न मारे, ताडनान करे, (तौ तु शिष्टचर्यं ताडयेत्) उन पुत्र भ्रौर शिष्य को भी केवल शिक्षा देने के लिये ही ताड़ना करे।। १६४॥

'परन्तु माता, पिता तथा ग्रष्ट्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भयप्रदान ग्रौर भीतर से कृपाइष्टि रखें''।

(स॰ प्र॰ द्वितीय समु०)

बाह्मण की हिंसा से नरक-

#### बाह्यणायावगूर्येव द्विजातिर्वेषकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्रो नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

(द्विजातिः) द्विज व्यक्ति (वधकाम्यया) मारने की इच्छा से (ब्राह्मणाय + ग्रवगूर्य + एव) ब्राह्मण पर केवल दंडा उठाने मात्र से ही (शतं वर्षाणि तामिस्र नरके परिवर्तते) सौ वर्ष तक 'तामिस्र' नामक नरक में भटकता रहता है ॥ १६५॥

## ताडियत्वा तृरोनापि संरम्भाग्मितपूर्वकम् । एकविशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

(मितपूर्वंकम्) जानबूरककर (संरम्भात्) क्रोधपूर्वंक (तृणेन + ग्रिप) तिनके से भी (ताडियत्वा) मारने से वह व्यक्ति (एकविंशतिम् + आजातीः) इक्कीस जन्मों तक (पापयोनिषु जायते) पापयोनियों [कुत्ता, बिल्ली आदि ] में जन्म लेता है ॥ १६६॥

> म्रयुध्यमानस्योत्पाच माह्यएस्यासृगङ्गतः । बुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

(श्रयुष्यमानस्य ब्राह्मणस्य) लड़ने की इच्छा से रहित ब्राह्मण के (अङ्गतः श्रसृण् उत्पाद्य) किसी श्रङ्ग से [चोट मारकर] खून निकालने से (नरः स्रप्राक्ततया) वह मनुष्य अपनी इस मूर्खता के कारण (प्रेत्य) परलोक में (सुमहत् दुःखम् श्राप्नोति ) बड़ा भारी दुःख प्राप्त करता है ॥ १६७॥

### शोणितं यावतः पांसुश्संगृह्णाति महीतलात् । तावतोऽज्वानभुत्राग्यैः शोणितोत्पावकोऽद्यते ॥ १६८ ॥

(शोणितम्) ब्राह्मण के शरीर से निकला हुम्रा खून (महीतलात् यावतः पासून् संग्रह्णाति) पृथ्वी के जितने घूलिकणों को ग्रहण करता है मर्थात् जितने घूलिकण उस रक्त से भीगते हैं (शोणित + उत्पादकः) वह रक्त निकालने वाला (म्रमुत्र) परजन्मों में (तावतः + ग्रब्दान्) उतने ही वर्षों तक (ग्रन्यैः) म्रन्य हिंसक जीवों द्वारा (म्रद्यते) खाया जाता है।। १६८॥

न कदाचित् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदिप । न ताडयेत्गुणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसूक् ॥ १६६ ॥ (तस्मात्) इसलिए (कदाचित् द्विजे न ग्रवगुरेत् + ग्रिपि) कभी किसी ब्राह्मण पर दंडा भी न उठावे (तृणेन + ग्रिपि न ताडयेत्) तिनके से भी न मारे (गात्रात् + असृक् न स्नावयेत्) ब्राह्मण के शरीर से सह न बहाये ॥ १६९॥

## अन्य श्रीत्डनः १६५ से १६९ तक के क्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. भन्तिवरोध—(१) १६५ वें क्लोक में प्रदिश्ति नरक की मान्यता मनुविरुद्ध है, ग्रतः यह क्लोक प्रक्षिप्त है। शेष १६६—१६६ तक क्लोक इसके प्रक्षिप्त होने से स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि यह क्लोक उनका आधारभूत क्लोक है [नरक मनुविरोधी मान्यता है, इसके लिए विशेष समीक्षा ४।५०—६१ क्लोक पर 'ग्रन्तिवरोध' शीषंक में देखिए]। (२) इन क्लोकों में एक कमंद्वारा एक या विभिन्त नीच योनियों में जाने का कथन ग्रीर निर्णय करना मनुविरुद्ध है। मनु ग्रनेक कमों के ग्राधार पर योनियों की प्राप्ति मानते हैं ग्रीर वह भी उत्तम, मध्यम, ग्रधम ग्राधार पर किसी एक योनि का निक्चय नहीं देते [१२।३—६, ३६—५२]। इस ग्राधार पर ये सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. प्रसंगविरोध—(१) ये क्लोक पूर्वापर प्रसङ्गविरुद्धहैं। १६४ में किसी को न मारने और हिंसा न करने का कथन है, १७० वें में हिंसाकर्ता का फल प्रदिश्ति है। इस प्रकार १७० वां क्लोक १६४ से सम्बद्ध है या प्रयंवादरूप है। उस सम्बद्धता को इन क्लोकों ने भंग कर दिया है। और बीच में केवल ब्राह्मण को न मारने का वर्णन, उसका फलकथन असंगत भी है। (२) ये क्लोक यदि मौलिक होते तो इन्हें प्रसंगक्रम की इच्टि से १६२ वें से सम्बद्ध होना चाहिए था, क्यों कि उस क्लोक में कहा है—"न हिस्यात ब्राह्मणान गारख।" उससे सम्बद्ध न हो कर कुछ क्लोकों के परचात पुनः उसी प्रसंग को शुरू करना असंगत है और यह इन्हें परवर्ती प्रक्षेप शिद्ध करता है।
- ३. शैलीगत आधार—इन सभी श्लोकों की शैली अयुक्तियुक्त एवं अति-शयोक्तिपूर्ण है। तिनके से मारने से ही इक्कीस पापयोनियों में जाना, जितने श्विरकण ब्राह्मण के रक्त से भीगें उतने ही वर्षों तक कुत्तो द्वारा खाया जाना, आदि बातें प्रलापसद्दश हैं। मरने के बाद जब अन्त्येष्टि होगी तो कुत्ते कहां से खायेंगे? इस निश्चय का भी क्या आधार है कि जितने कर्ण रक्त से भीगे हैं उतने ही वर्ष उसको अन्य प्राणी खाते हैं? इस प्रकार की शैली मनुसद्दश विद्वान् की नहीं है।

श्रधमें-निन्दा एवं ग्रधमें से दु:खप्राप्त---

म्रघामिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंतारतक्च यो नित्यं नैहासौ सुखमेघते ॥ १७० ॥ (४२)

(यः श्रघामिकः नरः) जो श्रघामिक मनुष्य है (च) श्रौर (यस्य हि अनृतं घनम्) जिसका श्रधमं से संचित् किया हुशा घन है (च) श्रौर (यः

नित्यं हिंसःरतः) जो सदा हिंसा में प्रर्थात् वैर में प्रवृत्त रहता है (ग्रसी) वह (इह) इस लोक ग्रीर परलोक ग्रर्थात् परजन्म में (सुखंन एघते) सुख को कभी नहीं प्राप्त हो सकता ।। १७० ।। (सं० वि० १८०)

# न सीवन्निप धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्। स्रधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥ (५३)

(ग्रधार्मिकाणां पापानां ग्राशु विपर्ययम्) ग्रधार्मिक पापियों का [१७४ में विरात रूप में यदि पापों से उनकी उननित ग्रोर समृद्धि हो गई है तो भी] शोघ्र ही उलटा विनाश होता है (पश्यन्) यह समभते हुए (धर्मेण सोदन् +ग्रपि) धर्माचरण से कःट उठाता हुग्रा भी (ग्रधमें मनः न निवेशयेत्) ग्रथमें में मन को न लगावे ग्रयीत् धर्म का हो पालन करता रहे।। १७१।।

## नाधर्मश्चिरितो लोके सद्यः फलित गौरिव। शर्नेरावर्तमानस्तु कर्नु मूं लानि कृत्ति।। १७२॥ (४४)

मनुष्य निश्चय करके जाने कि (लोके) इस संसार में (गौ: + इव) जैसे गाय की सेवा का फल दूध म्रादि शोझ प्राप्त नहीं होता वैसे ही (चिरितः म्रघमं: सद्यः न फलित) किये हुए ग्रथमं का फल भो शौझ नहीं होता (तु) किन्तु (शने: कर्त्तु: ग्रावर्त्तमानः) धोरे-धोरे ग्रथमंकर्ता के सुखों को रोकता हुमा (मूलानि कृन्तित) सुख के मूलों को काट देता है, पश्चात् ग्रधमी दुःख ही दुःख भोगता है।। १७२।। (सं० वि० १८०)

"िकया हुम्रा म्रथमं निष्फल कभो नहीं होता परन्तु जिस समय म्रथमं करता है, उसी समय फल भी नहीं होता; इसलिए म्रज्ञानी लोग म्रधमं से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह म्रधमीचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है।" (स० प्र० १०४)

## यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु। न त्वेव तु कृतोऽशमः कर्तु भेवति निष्फलः ॥ १७३॥ (४४)

(यदि न + ग्राह्मिन) यदि ग्रधमं का फल कर्ता की विद्यमानता में न हो तो (पुत्रेषु) पुत्रों (पुत्रेषु न चेन् नष्तृषु) यदि पुत्रों के समय में न हो तो न।तियों = पोतों के समय में ग्रवश्य प्राप्त होता है (तु) किन्तु (न एव तु) यह कभी नहीं हो सकता कि (कर्त्तुः ग्रधमंः निष्फलः भवति) कर्ता का किया हुम्रा कर्म निष्फल होवे ।। १७३ ।। (सं • वि० १८०)

अनुर्धीत्रनः कर्मफल का भोक्ता कीन ? ४। २४० में कत्ती को

ही सुकृत-दुष्कृत का भोक्ता माना है, जबिक यहाँ किये हुए प्रधमं का फल पुत्र-पौत्रों तक प्राप्त होना कहा है। इस प्रकार विरोध-साप्रतीत होता है। िकन्तु इनमें परस्परिवरोध नहीं है। वहां व्यक्तिगत स्तर पर किये जाने वाले सुकृत-दुष्कृत का कर्ता को व्यक्तिगत रूप में ही भोक्ता माना है, जबिक यहाँ प्रसंग ग्रधमं पूर्वक भोगों के संग्रह का है ४।१७०—१७४]। व्यक्ति, हिंसा, ग्रधमं ग्रादि से [४।१७०] यदि धनसंग्रह करता है ग्रीर वह एकाएक समृद्ध होता हुग्रा भी दृष्टिगत होता है, किन्तु ग्रन्ततः समूल विनाश के रूप में उसे फल भोगना पड़ता है [४।१७०]। ग्रधमं, हिंसा ग्रादि से प्राप्त किये धनभोगों के सेवन में जो-जो भी पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक जन सम्मिलत होते हैं, वे भी उस ग्रधमं में भागीदार होने के कारण उसके फल को भोगते हैं। इसकी पुष्टि के लिए हिंसा के प्रसंग में मनु की मान्यता ५।५१ में देखिए। वहां हिंसा में किसी भी प्रकार भाग लेने वाले प्रत्येक ग्राठ प्रकार के व्यक्तियों को ग्रधमीं — पापी माना है। इसी प्रकार सभी ग्रधमों के कामों में समक्षना चाहिए। जब वह अधमीं है तो उसके दुख:रूप फल का भी भागी होगा। किन्तु कर्त्ता के भोगने योग्य निजी फल को कोई नहीं बाँट सकता है। [४।२४०]। सब अपने-ग्रपने फल कोभोक्ता स्वयं होते हैं।

# म्रघर्मेग्गंधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥ (५६)

(तावत् ग्रधमें ए। +एधते) जब ग्रधमीत्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैता तालाब के बंध को तोड़ जल चारों ग्रोर फैल जाता है वैसे) मिथ्याभाषएा, कपट, पाखण्ड ग्रर्थात् रक्षा करने वाले वेदों का खण्डन, ग्रीर विश्वासघात ग्रादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर, प्रथम बढ़ता है (ततः) पश्वात् (भद्रािए। पश्यित) धनादि ऐश्वर्य से खान, पान, वस्त्र, ग्राभूषएा, यान, स्यान, मान, प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है (सपत्तान् जयित) श्रन्याय से शत्रुत्रों को भी जीतता है (ततः) पश्चात् (समूलः तु विनश्यित) शीघ्र नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ कटा हुग्रा वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे ग्रधमीं नष्ट हो जाता है। १७४॥ (स॰ प्र०१०४)

आन्युटारित्ङन्य : ग्रधमं दुःख का कारण है श्रीर धर्म मुख का कारण है । इस मान्यता की पुष्टि के लिए ६ । ६४ इलोक द्रष्टव्य है ।

सत्यधर्मका पालनकरे ---

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे **चंवार**मेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५॥ (५७)

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि (सत्यधर्म + ग्रायं-वृत्तेषु) सत्यधर्म ग्रीर ग्रायं ग्रर्थात् उत्तम पुरुषों के ग्राचरणों (च) ग्रीर (शीचे) भीतर-बाहर की पित्रता में (सदा ग्रारमेत्) सदा रमण करें (वाक्+बाहु+उदर+ संयतः च घर्मेण) ग्रपनी वार्गी, बाहू उदर को नियम ग्रीर सत्यधर्म केंट्र साथ वर्त्तमान रखके (शिष्यान्-शिष्यात्) शिष्यों को सदा शिक्षा किया करें।। १७५॥ (सं० वि०१८०)

"जो वेदोक्त सत्यधर्म प्रथात् पक्षपातरहित होकर सत्य के ग्रहण स्रोर ग्रसत्य के परित्याग, न्यायरूप, वेदोक्त धर्मादि ग्रागं ग्रर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करें।" (स० प्र० १०४)

"सत्य, धर्म, श्रायं श्रर्थात् ग्राप्त पुरुषों के व्यवहार ग्रीर शीच = पित-त्रता हो में सदा गृहस्य लोग प्रवृत्त रहें श्रीर सत्यवाणी भोजनादि के लोभ रहित हस्तपादादि की कुचेष्टा छोड़कर धर्म से शिष्यों ग्रीर सन्तानों को उत्तम शिक्षा सदा किया करें।" (सं० वि० १४१)

धर्मवजित ग्रथं-काम का त्याग-

# परित्यजेदर्थकामौ यो स्वातां धर्मविजितौ। धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविकुष्टमेव च॥ १७६॥ (४८)

(ग्रथंकामो यो धर्मवर्जितो स्यातां परित्यजेत्) यदि बहुत-सा धन, राज्य ग्रोर अपनी कामना ग्रधमं से सिद्ध होतो हो तो भो ग्रधमं सर्वथा छोड़ देवें (च) ग्रोर (धर्मम् ग्रपि + ग्रमुखोदकंम्) वेदविरुद्ध धर्माभास जिसके करने से उत्तरकाल में दु:ख (च) ग्रोर (लोकविक्रुष्टम् एव) संसार की उन्नति का नाश हो वैसा नाममात्र धर्म ग्रोर कर्म कभी न किया करें।। १७६।। (सं० वि० १५१)

"जो धर्म से वर्जित धनादिपदार्थ श्रीर काम हो उनको सर्वथा शीघ्र छोड़देवे श्रीर जो धर्माभास श्रथीत् उत्तरकाल में दुःखदायक कर्म हैं श्रीर जो लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्त करने वाले कर्म हैं उनसे भी दूर रहें।" (मं० वि० १८१)

अन्तु श्री कनः (१) श्लोक में उक्त वातों को उदाहररापूर्वक स्पष्ट किया जाता है—

- (क) धर्मविजित अर्थ = जैसे चोरी, डकैती, छल-कपट, हिंसा ग्रादि से प्राप्त धन। ऐसा धन धर्मविजित है दिष्टव्य ४।२, ३, ११, १५।। ६। ३०-३६]।
- (त) **धर्मवर्जितकाम** = जैसे ग्रतिविषयासक्ति [४।१६], परस्त्रीगमन [४।१३३ — १३४], वाल्यकाल में विवाह [३।१ — ४], पर्वदिनों में या ऋतुकाल के विना स्त्रीसमागम [३।४५।४।१२८] विधिरहित नियोग [६।५६ — ६३] ग्रादि कार्य धर्मविरुद्ध कामभावना के ग्रन्तर्गत ग्राते हैं।

- (ग) उत्तरकाल में असुखकारक धर्म = जैसे स्त्री-पुत्रों के रहते हुए सर्वस्व दान कर देना या ग्रतितपस्या से शरीर को क्षीण करना [२।७५ (२।१००)] ग्रादि बात धर्माभास हैं, जिनसे उत्तरकाल में दुःखप्राप्ति होती है।
- (घ) लोकिटिकुष्ट धर्म = काणे को काणा कहना, हीन को हीन कहना, श्रादि बातें सत्य होते हुए भी लोकिनिन्दित एवं शिष्टधर्म के विरुद्ध हैं। मनु ने कहा है—'सत्य बोलें किन्तु प्रिय सत्य बोलें [४।१४१]।
- (२) धर्म, ग्रर्थ, काम का स्वरूप— धर्म, ग्रर्थ, काम के स्वरूप को समभने के लिए ७।२६ की समीक्षा देखिए।

चपलता का त्याग----

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः। न स्याद्वारचपलश्चेव न परद्रोहकर्मधीः॥ १७७॥ (५६)

(पाणि-पाद-चपलः न) हाय-पैरों से चंचलता के कार्य न करे (नेत्र-चपलः न) म्रांखों से चंचलतायुक्त काम न करे (ग्रनृजुः) कुटिलता न करे (वाक्-चपलः एव न) वाएगो से चपलता न करे (च) म्रोर (परद्रोह-कर्मधोः न स्यात्) दूसरों की हानि या द्वेष के कर्मों में मन लगाने वाला न बने ।। १७७ ।।

> येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७= ॥(६०)

(येन + ग्रस्य पितरः) जिस मार्ग से इसके पिता (पितामहाः याताः) पितामह चले हों (तेन यापात्) उस मार्ग में सन्तान भी चले, परन्तु (सतां मार्गम्) जो सत्पुरुष पिता, पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें ग्रौर जो पिता-पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें (तेन गच्छन् न रिष्यते) क्यों कि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता ॥ १७ = ॥

विवाद न करने योग्य व्यक्ति---

ऋत्विक्पुरोहिताचार्येर्मातुलातिथिसंश्रितः । बालवृद्धातुरैर्वेद्येर्जातिसम्बन्धिबान्धवैः ।। १७६ ।। (६१) मातािषतृभ्यां जामीभिश्रात्रा पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ।। १८०।।(६२)

"(ऋरिवक्) यज्ञ का करने हारा (पुरोहित) सदा उत्तम चाल-चलन का शिक्षाकारक (भ्राचार्य) विद्या पढ़ाने हारा (मातुल) मामा (শ্रतिथि) ग्रर्थात् जिसकी कोई ग्राने की निश्चित तिथि न हो (संश्रित) ग्रपने ग्राश्रित (बाल) बालक (वृद्ध) बूद्ढे (ग्रातुर) पीड़ित (वैद्य) ग्रायुर्वेद का ज्ञाता (ज्ञाति) स्वगोत्रस्थ वा स्ववर्णस्थ (सम्बन्धी) स्वसुर ग्रादि (बान्धव) मित्र (माता) माता (पिता) पिता (जामी) बहन (श्राता) भाई (भार्या) स्त्री (दुहित्रा) पुत्री श्र (दासवर्गेण) ग्रौर सेवक लोगों से (विवादं न समाचरेत्) विवाद ग्रर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करें ।। १७६, १८० ।।

(स॰ प्र० १०४--१०५)

**%** (पुत्रेण) पुत्र के साथ .....

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वेषापैः प्रमुख्यते । एर्मिजतेश्च जयति सर्वौल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

(गृही) गृहस्थी (एतैः विवादान् संत्यज्य) इनके साथ बहुस या अगड़ा न करके (सर्वपापैः प्रमुच्यते) सब पापों से छूट जाता है (च एभिः जितैः) स्रीर इन्हें जीतकर स्थित् स्रपने मधुर व्यवहार से इनके मनों को जीतकर (इमान् सर्वान् लोकान् जयित) इन सब लोकों को जीत लेता है।। १८१।।

ग्राचार्यो बह्यलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः। ग्रितिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चित्वजः।। १८२।। जामयोऽप्तरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः। सम्बन्धिनो ह्यपां लोके पृथिक्यां मातृमातुलौ।। १८३।।

(ग्राचार्यः ब्रह्मलोक + ईशः) आचार्यं ब्रह्मलोक का स्वामी है (पिता प्राजापत्ये प्रभुः) पिता प्रजापित लोक का स्वामी है (तु) और (ग्रितिथिः इन्द्रलोक + ईशः) ग्रितिथि इन्द्रलोक का स्वामी (च) तथा (ऋत्विजः) ऋत्विज (देवलोकस्य) देवलोक का स्वामी है (जामयः ग्रन्परसां लोके) बहनें ग्रन्परा लोक की (बान्धवाः) मित्र ग्रादि (वैश्वदेवस्य) वैश्वदेव लोक के (सम्बन्धिनः ग्रपां लोके) सम्बन्धी वरुण लोक के (मातृमातुलौ पृथिव्याम्) माता-पिता और मामा पृथिवी लोक के स्वामी हैं॥ १८२, १८३॥

म्राकाशेशास्तु विशेषा बालवृद्धकृशातुराः । भ्राता ज्येष्टः समः पित्रा मार्या पुत्रः स्वका तनुः ।। १८४ ।। छाषा स्वो दत्सवर्गश्च दुहिता कृपर्णं परम् । तस्मादेतैरिधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सर्वा ।। १८४ ।।

(बाल-वृद्ध-कृश-ग्रातुराः तु आकाश + ईशाः विज्ञेयाः) बालक, बूढ़े, कम-जोर, बीमार व्यक्तियों को ग्राकाश का स्वामी समभता चाहिए (ज्येष्ठः भ्राता पित्रा समः) बड़ा भाई पिता के समान है, (भार्या पुत्रः स्वका तनुः) स्त्री ग्रौर पुत्र ग्रपने शरीर के समान हैं (च) तथा (दासवर्गः) सेवक-वर्ग (स्व-छाया) ग्रपनी छाया के समान है (दुहिता परं कृपणम्) कन्या परम कृपा की पात्र है (तस्मात्) इस कारण् (एतै: + ग्रिघिक्षप्तः) इनसे तिरस्कृत होकर भी (ग्रसंज्वरः सदा सहेत) गुस्सा या बुरा न मानकर सदा सहन करता रहे।। १८४, १८५।।

## अनुर्योत्जनः १८१ से १८५ स्लोक प्रक्षित हैं—

- १. अन्तिविशेष-— (१) १०१ श्लोक में कहा है कि '१७६-१८० श्लोकोक्त व्यक्तियों से विवाद छोड़ देने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। यदि इतने से ही पापमुक्ति हो जाती है तो मनुस्मृति-विहित धमं ही निरथंक सिद्ध हो जाते हैं! फिर उनके पालन की क्या आवश्यकता है? (२) ११।२१०—२३२ में मनु ने पापों के लिए प्रायश्चित्तों का विधान किया है। इस श्लोक के कथन का उन श्लोकों की व्यवस्थाग्रों से विरोध है, ग्रतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है ग्रीर शेष १८२—१८५ श्लोक क्योंकि इसी पर ग्राधारित हैं, ग्रतः ये भी स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं। (३) इन सभी श्लोकों में विभिन्न लोकों की गणना भीर उनकी प्राप्ति का कथन करना भी मनुविरुद्ध है। मनु मृत्यु के बाद जीव की दो ही गतियां मानते हैं— एक तो सांसारिक योनियों में जन्म [६१६३,७४, १२१६, ३६—५२, ७४, ६१] या फिर ब्रह्मप्राप्ति [४। १४६, ६।८१, १२१६, १२४]। ग्रतः यह लोकों की प्राप्ति का वर्णन प्रक्षिप्त है।
- २. शैलीगत आषार इन क्लोकों में निर्दिष्ट व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न लोकों का स्वामी बतलाना भी श्रयुक्तियुक्त है। विवाद करने के साथ कोई पाप-पुण्य का भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार १८१ १८५ क्लोकों की शैली श्रयुक्तियुक्त है श्रौर १८१ वें की श्रतिशयोक्तिपूर्ण भी है।

प्रतिग्रह का लालच न रखे --

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् । प्रतिग्रहेरा ह्यस्याञ्च बाह्यं तेजः प्रशःभ्यति ॥१८६॥ (६३)

ब्राह्मण (प्रांतप्रहः सभर्थः + ग्रिप) दान लेने का ग्रधिकारी होते हुए भी (तत्र प्रसंगं वर्जयेत्) दान-प्राप्ति में ग्रासिक्तभाव ग्रर्थात् उसीसे धनसग्रह का लालच रखने की भावना को छोड़ दवे (हि) क्यों कि (प्रतिग्रहेण) दान लेने में ग्रासिक्त रखने से (ग्रस्य ब्राह्म तेजः) इसका ब्राह्मतेज (ग्राग्रु-प्रशाम्यति) शोघ शान्त होने लगता है।। १८६।।

प्रतिग्रह की विधियाँ-

न द्रव्यारामिवज्ञाय विधि धर्म्यं प्रतिप्रहे । प्राज्ञः प्रतिप्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुषा ॥ १८७ ॥ (६४) (प्राज्ञः) बुद्धिमान् ब्राह्मण को चाहिए कि (द्रव्याणां प्रतिग्रहे धर्म्यं विधिम् मिविज्ञाय) द्रव्यों के दान लेने में धर्म की विधि को बिना जाने (क्षुधा म्रवसीदन् मिन्निप) भूख से पीड़ित होता हुम्राभी (प्रतिग्रहं न कुर्यात्) दानग्रहण न करे।। १८७॥ अ

अर न्यू श्री ट्या : बानप्रहण की धर्मविधि — इस क्लोक में प्रतिग्रहरूप में द्रव्यों की दान लेने की धर्मविधि क्या है, इसकी समक्षते के लिए मनु की निम्न मान्यताएँ व प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

- (१) १। ८८ में वेदाष्ययन-प्रध्यापन, यजन-याजन में निरन्तर रत व्यक्ति को ही दान लेने का ग्रधिकार दिया है। दान लेने के वे ही ग्रविकारी हैं, जो इन कार्यों को धर्म मानकर निरन्तर करते हैं; इस बात का निर्देश मनु ने स्थान-स्थान पर किया है [२।७६-८१ (२।१०४-१०७), २।१४०-१४३ (२।१६५-१६८); ४।१७-२०,३१,१४७,१४६,११।२४५॥]। इस प्रकार धर्मविधि का एक भाग यह है कि ग्रधिकारी ही दान लें।
- (२) उपर्युक्त कार्यों में तल्लीन न रहने वाले व्यक्ति, वेद को एकबार पढ़कर उसका ग्रम्यास-मनन न करने वाले व्यक्ति, ग्रतपस्वी, स्वभाव से छली-कपटी ग्रादि दान लेने के ग्रनधिकारी हैं [४।३०, १६०—१६६ ग्रादि]। ग्रनधिकारियों को दिया गया दान निष्फल होता है ग्रीर लेने वाले पापी होते हैं।
- (३) स्रधर्मी स्रौर वेद, यज्ञ स्रादि से हीन व्यक्तियों से दान नहीं लेना चाहिए [२।१४८,१६० (२।१८३,१८४)।
- (४) मनुद्वारा भक्ष्यरूप में विहित पदार्थ दान में ग्राह्य हैं। निषिद्ध ग्रभक्ष्य मांस तामसिक ग्रादि पदार्थ ग्रग्नाह्य हैं [४। ४—६, ४४—५१; ६।१४ ग्रादि ], ग्रौर सांसारिक विषयों में फंसाने वाले पदार्थ भी ग्रग्नाह्य हैं [६।४८, ४७, ४४, २६ ग्रादि]। इन बातों को जानना 'प्रतिग्रह की धर्मविधि' का ज्ञान करना है।

#### हिरण्यं मूमिमश्वं गामन्तं वासस्तिलान्धृतम् । प्रतिगृह्णन्तविद्वांस्तु सम्मीमवति बारवत् ॥ १८८॥

(हिरण्यं भूमिम् + ग्रन्थं गाम् + ग्रन्थं वासः तिलान् घृतम्) सोना, भूमि, घोड़ा, गौ, ग्रन्थ, वस्त्र, तिल ग्रौर घी (ग्रविद्वान् तु प्रतिगृह्धन्) श्रविद्वान् ब्राह्मण् इनके दान को ग्रह्ण करके (दारुवत् भस्मी भवति) लकड़ी के समान जल जाता है ॥ १८८॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूगोँग्चाप्योषतस्तनुम्। अश्वश्चासुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८६॥

<sup>% [</sup>प्रचलित अर्थ— द्रव्यों के दान लेने में उनकी धर्मयुक्त विधि (ग्राह्म देवता, प्रतिग्रहमन्त्र ग्रादि) को बिना जाने भूख से पीड़ित होता हुग्रा भी बुद्धिमान् ब्राह्मण दान को न ले।। १८७॥]

(हिरण्यं च ग्रन्तम् ग्रायुः) सोना ग्रौर ग्रन्त आयु को (भूः च गौः ग्रिपि तनुम्) भूमि और गौ शरीर को (ग्रश्वः चक्षुः) घोड़ा नेत्र को (वासः स्वचम्) वस्त्र त्वचा को (घृतं तेजः) घी तेज को (तिलाः प्रजाः) तिल संतान को (उषतः) जला देते हैं ॥१८६॥

#### अनुरातिनः : १८५—१८६ श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) पूर्वापर क्लोक प्रतिग्रह लेने की धर्मविधि [१८७] और उसके ग्रथंवादरूप [१६० ग्रादि] हैं, उनके बीच में कुछ वस्तुग्रों की गणना ग्रीर उनका फल-वर्णन प्रसंगभञ्जक है। (२) १८७ में धर्मविधि के जानने का कथन है न कि वस्तुओं के दान लेने की हानि कहने का। अतः इन दोनों क्लोकों का १८७ के प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार ये प्रसंगिवरुद्ध प्रक्षेप हैं।
- २. अन्ति विद्यान् मनु ने १। प्यानि ने ना ग्रिषकार विद्वान् ब्राह्मणों को दिया है, जो वेदाध्ययन-अध्यापन में जीवन-यापन करते हों। ग्रतः ग्रविद्वान् द्वारा दान लेना उसके विरुद्ध है।
- ३. शैलीगत आधार इनकी शैली भी अयुक्तियुक्त है। दान लेने श्रीर भस्म होने में कोई कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। अतिशयोक्तिपूर्ण कथन करना मनु की शैली नहीं है।

दान लेने के ग्रनधिकारी तीन प्रकार के व्यक्ति-

म्रतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिद्विजः। ग्रम्भस्यरमप्लबेनेव सह तेनैव मज्जति।:१६०॥(६५)

एक—(ग्रतपाः) ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादि तपरिहत, दूसरा—(ग्रन-घीयानः) बिना पढ़ा हुग्रा—तीसरा (प्रतिग्रहरुचिः) ग्रत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेने वाला, ये तीनों (ग्रदमप्लवेन ग्रम्भिस इव) पत्थर की नौका से समुद्र में तैरने के समान (तेन सह एव मज्जित) ग्रपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं।। १६०।। (स० प्र०१०४)

अन्तुर्शोटतनाः 'स्रनधीयानः' की व्याख्या के लिए देखिए ४। १६२ की समीक्षा।

#### तस्मादिवद्वान्बिमियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् । स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १६१ ॥

(तस्मात्) इसलिए (म्रविद्वान्) म्रविद्वान् (यस्मात्-तस्मात् प्रतिग्रहात् विभि-यात्) सभी प्रकार के दान ग्रहण से डरे ग्रयीत् न ले (हि) क्योंकि (स्वल्पकेन + म्रिप्) थोड़ा-सा भी दान लेने से (म्रविद्वान्) ग्रविद्वान् व्यक्ति (पङ्के गौः + इव सीदिति) कीचड़ में फंसी गौ के समान कष्ट पाता है ।। १६१ ।।

#### अनुश्रीत्जनः १६१ वां श्लोक प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगविरोध पूर्वापर क्लोकों में तीन प्रकार के व्यक्तियों को दान न देने का कथन है। १६० का ही वर्णन १६२ में पृथक् संज्ञा के रूप में है। इस प्रकार इनकी वाक्यात्मक संगति है। इस क्लोक ने उसे भंग कर दिया है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।
- २. **ग्रन्तविरोध**—इस आधार पर भी यह प्रक्षिप्त है [द्रष्टच्य ४। १८६ की ग्रन्तविरोध समीक्षा]।

न वार्यपि प्रयच्छेत् बैडालव्रतिके द्विजे। न तकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्।। १६२॥ (६६)

(धमिवत्) धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि (बंडाल-व्रतिके द्विजे) 'बंडालव्रतिक' [=िविल्ली जैसे स्वभाव वाला ४। १६४] को (बकव्रतिके) 'बकव्रतिक' [=बगुले जैसे स्वभाव वाला ४। १६६] (विष्रे) ब्राह्मण् को (ग्रवेदविदि) वेद को न जानने-पढ़ने वाले ब्राह्मण् को (वारि+ ग्रपि न प्रयच्छेत्) जल भी न दे ।। १६२ ।।

अब्बार्गोट्डनः तीन प्रकार के ग्रसम्मान्य व्यक्ति—इस श्लोक में १६० में विणत व्यक्तियों को साद्यपरक दूसरी संज्ञाओं से विणत किया है, जैसे— ग्रनधीयानः —श्रवेदिवत्, ग्रतपाः —सत्याचरण से रहित किन्तु द्विजनामधारी ग्रयित् वकन्नविक (ढोंगी), प्रतिग्रहरुचिः (प्रतिग्रह का लालची) — बैंडालन्नतिक । ग्रागे ४।१६५ —१६६ ग्राबिरी दो के लक्षण भी स्पष्ट कर दिये हैं। ये वेदानुसार ग्राचरण के त्याग करने वाले हैं। इस प्रकार इस श्लोक में पुनरुक्ति न होकर उनके स्पष्ट गुणों के आधार पर पर्यायवाची संज्ञाण दी हैं।

- (२) 'स्रनधीयानः या स्रवेदिवत्' का यहां स्रथं स्रविद्वान् नहीं है, स्रिपितु उन व्यक्तियों से स्रभिप्राय है जो एक बार वेद पढ़कर उसका निरन्तर स्रव्ययन-अभ्यास, मनन-चिन्तन छोड़ देते हैं। ऐसे लोग वेदों के विद्वान् नहीं होते। मनु ने ब्राह्मणों को सदैव वेदों का स्वाध्याय-स्रभ्यास करते रहने का निर्देश दिया है [२।७६—६१ (२१।१०४—१०७), २।१४०—१४३ (२।१६४—१६६), ४।१७—२०,१४७,१४६,११।२४५ स्रादि] निरन्तर वेदाभ्यासी यजन-याजनशील, वेदाध्ययन-स्रध्यापन कराने वाले को ही मनु दान लेने का स्रधिकार देते हैं [१। ६६,४।३१]। स्रन्य सुद्रवत् होते हैं [२।१४३]।
- (३) ४। ३० में भी इन व्यक्तियों और इस प्रकार के अन्य व्यक्तियों को भी दान-सम्मान न देने का कथन है।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्याजितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १६३ ॥ (६७) (विधिना र्म्याजतं धनम् एतेषु त्रिषु दत्तं हि) जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है वह दान (दातुः ग्रनर्थाय भवति) दाता का नाश इसी जन्म (च) ग्रीर (ग्रादातुः परत्र एव) लेने वाले का नाश परजन्म में करता है।। १६३।। (स० प्र० १०५)

> यया प्लवेनौपलेन निमञ्ज्ञ युदके तरन्। तथा निमञ्जतोऽघस्तादका दातृप्रतीच्छको।। १६४।। (६८)

(यथा उपलेन प्लवेन) जैसे पत्थर की नौका में बैठकर (उदके तरन् निमज्जिति) जल में तरने वाला डूब जाता है (तथा) वैसे (ग्रज्जौ दातृ-प्रति + इच्छकौ) ग्रज्ञानी दाता ग्रीर गृहीता दोनों (ग्रधस्तात् निमज्जतः) ग्रधो-गति ग्रथीत् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥ १६४ ॥ (स० प्र० १०५)

बैडाल व्रतिक का लक्षरा---

धर्मध्वजी सदा लुब्धवद्याचिको लोकदम्भकः । बैडालवृतिको ज्ञेयो हिस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१६५॥ (६६)

(धर्मघ्वजी) धर्म कुछ भी न करे परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे (सदालुब्बः) सर्वदा लोभ से युक्त (छाद्मिकः) कपटी (लोकदम्भकः) संसारी मनुष्यों के सामने प्रपने बड़ाई के गपोड़े मारा करे (हिस्रः) प्राणियों का घातक ग्रन्य से वैरबुद्धि रखने बाला (सर्व + ग्रभिसन्धकः) सब ग्रच्छे श्रोर बुरों से भी मेल रखे उसको (बैंडालव्रतिकः ज्ञेयः) बेंडालव्रतिक ग्रर्थात् बिड़ाल के समान धूर्त्तं ग्रीर नीच समभो।। १६५।। (स० प्र० १०५)

**अन्तराहिन्तः** इनका वर्णन ४। ३०, १६२ में भी द्रष्टव्य है।

बकद्रतिक का लक्षण--

म्रघोद्दष्टिनेंष्कृतिकः स्वार्यसाधनतत्परः। शठो मिण्याविनीतश्च बकन्नतचरो द्विजः॥१६६॥ (७०)

(ग्रधोद्दाष्टः) कीर्त्त के लिए नीचे द्दार रखे (नैष्कृतिकः) ईष्यंक, किसी ने उस का पैसा भर श्रपराध किया हो तो उस का बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे (स्वार्थमाधनतत्परः) चाहे कपट, श्रधमं, विश्वासघात क्यों न हो ग्रपना प्रयोजन साधने में चतुर (शठः) चाहे ग्रपनी बात भूठी क्यों न हो परन्तु हठ कभी न छोड़े (मिथ्याविनीतः) भूठ-मूठ ऊपर से शील, सन्तोष श्रोर साधुता दिखलावे, उस को (बकबतचरः द्विजः) बगुले के समान नीच समभो।। १६६।। (स० प्र० १०६)

अप्रज्ञुरुप्रीट्यन्य: बकब्रतिक व्यक्तियों की चर्चा ग्रीर निन्दा ४। ३०, १६२ में भी द्रष्टव्य है।

> ये बकन्नतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः। ते पतन्त्यन्थतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा।। १६७।।

(ये बकब्रितनः च ये मार्जारिलिङ्गिनः विष्राः) जो बगुले के स्वभाव के और जो बिल्ली जैसे स्वभाव के ब्राह्मण विद्वान् हैं (ते) वे (तेन पापेन कर्मणा) उस पापयुक्त स्वभाव ग्रीर कर्म के कारण (ग्रन्धतामिस्ने पतन्ति) 'ग्रन्थतामिस्न' नामक नरक में पड़ते हैं।। १६७॥

#### न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्। व्रतेन पापं प्रच्छाच कुर्वन् स्त्रीशूब्रदस्मनम् ॥ १६८ ॥

(धर्मस्य + अपदेशेन) धर्म के बहाने से (पाप कृत्वा) पाप करके (स्त्रीशूद्रदम्भनं कुर्वन्) स्त्री-शूद्रों के समान पाखड करता हुआ (व्रतेन पाप प्रच्छाद्य) व्रत से पाप को ढकने के लिए (व्रतं न चरेत्) प्रायश्चित्त व्रतं न करे अर्थात् व्रतं करने से मेरा पाप तो छूट जायेगा, यह मानकर धर्म की आड़ में पाप कार्यन करे और न व्रतं का दिखावा करे।। १६८।।

## प्रेत्येह चेह्या विप्रा गहांन्ते ब्रह्मवाविमिः । खब्मनाऽऽचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ।। १६६ ॥

(ईडशाः विप्राः) ऐसे विद्वानों की (प्रेत्य + इह) परलोक ग्रौर इस लोक में भी (ब्रह्मवादिभिः गद्धांन्ते) ब्रह्मवादी लोग निन्दा करते हैं (च) ग्रौर (यत् यतं छद्मना + उपचरितम्) जो व्रत कपट से किया जाता है वह (रक्षांसि गच्छति) राक्षसों को पहुँचता है ॥ १६६॥

## म्रलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति । स लिङ्गिनां हरस्येनस्तिर्यं योनौ च जायते ॥ २००॥

(यः) जो व्यक्ति (अलिङ्गी) उन गुणों से युक्त न हो श्रीर (लिङ्गिवेषेन) दिखावे के रूप में उक्त गुणों का पाखंड करके (वृत्तिम् + उपजीवित) श्राजीविका चलाता है (सः) वह पाखण्डी व्यक्ति (लिङ्गिनाम् एनः हरित) जो वास्तविक पुरुष हैं उनके पाप का भागीदार होता है (च) श्रीर (तिर्यक्योनौ जायते) वह नीच योनियों में जन्म पाता है।। २००।।

श्चर्यु ह्यी त्उन्तः १६७ से २०० तक के श्लोक निम्न 'स्राघारों' के स्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. अन्तिवरोध—(१) १६७ वें श्लोक में 'ग्रन्धतामिस्र' नामक नरक में जाने

का कथन मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु के मतानुसार नरक नामक कोई योनि या स्थानविशेष ही नहीं है [देखिए ४। ८०—६१ इलोकों पर 'ग्रन्तविरोध' शीर्षक में 'नरक' सम्बन्धी समीक्षा]। (२) १६६ वें ब्लोक में व्रतों का राक्षसों को पहुँचना तथा २०० में दूसरों के पापों को लेने का कथन मनु के ४। २४० वें ब्लोक के विरुद्ध है। उसमें कर्ता को स्वयं फलों का भोक्ता माना है। इन ग्रन्तविरोधों के ग्राधार पर परस्पर—सम्बद्ध ये चारों ब्लोक प्रक्षिप्त हैं।

दूसरों के स्नान किये जल में न नहाये ---

## परकीयनियानेषु न स्नायाच्च कदाचन। नियानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१॥ (७१)

(परकीयनिपानेषु कदाचन न स्नायात्) दूसरों के हौज या टब में कभी न नहाये (तु) क्योंकि (स्नात्वा) वहां नहाकर (निपानकर्त्तुः दुष्कृ-तांशेन लिप्यते) हौज या टब वाले की गन्दगी या वीमारी से नहाने वाला लिप्त हो जाता है श्रर्थात् उसकी वीमारियां लग जाती हैं ॥ २०१ ॥ ﴿

अर्जुर्रोट्डन्: 'दुष्कृत'का यहाँ 'पाप' ग्रथं ग्रप्रामंगिक एवं ग्रयुक्तियुक्त है। प्रसंगानुसार 'रोगकारक मल' ग्रथं ही उचित है।

## यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहास्मि च । अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

(ग्रस्य) किसी व्यक्ति के (ग्रदत्तानि) विना दिये या विना ग्राज्ञा के (यान-शय्या + ग्रासनानि च कूप + उद्यानगृहािएए) सवारी, पलंग, ग्रासन, कूग्रां, वगीचा ग्रीर घर, इनका (उपभुञ्जानः) प्रयोग करके (एनसः तुरीयभाक् स्यात्) उसके चौथे हिस्से के पाप का भागी होता है।। २०२।।

# अनुशीलनः २०२ वां श्लोक प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगिवरोध—यह पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है। २०१ में 'कहां नहीं नहाना चाहिए' यह वर्णन किया था २०३ में 'कहां नहाना चाहिए' यह कथन है। इस सम्बद्ध चर्चाक्रम को इस क्लोक ने भंग कर दिया है ग्रीर प्रसंगिभन्न वातों का वर्णन किया है, ग्रातः प्रक्षिप्त है।
  - २. विषयविरोध--यह विषयवाह्य श्लोक है। इसमें वर्णित वातों का 'सत्व-

<sup>्</sup>र्र्फ [प्रचलित भ्रयं—दूसरों के बनवाये हुए जेलागय (पोखरा, वावड़ी, कुग्रां ग्रादि) में कभी स्नान न करे। ग्रीर स्नान कर उक्न जलाशय बनवाने वाले के पाप के चौथाई भाग से (स्नान करने वाला मनुष्य) युक्त होता है।। २०१॥]

गुणवर्धन' से कोई सम्बन्ध नहीं है और न यह वृत कहा जा सकता है (द्रप्टव्य ४ : ३३-३४ पर समीक्षा), ग्रतः प्रक्षिप्त है ।

किन जलों में स्नान करे-

नदीषु देवलातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गतंत्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥ (७२)

(नदीपु) नदियों में (देवखातेषु) प्राकृतिक जलाशयों में (तडागेषु) तालाबों में (सर:सु) भरनों में (व) श्रीर (गर्तप्रस्रवणेषु) ऐसे गड्ढों में जिनका बहता पानी हो, बावड़ी श्रादि में (नित्यं स्नानं समाचरेत्) सदा स्नान करना चाहिए ॥ २०३॥

यम-सेवन की प्रधानता---

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः । यमान्यतत्यकुर्वागो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४॥ (७३)

(यमान् सततं सेवेत) यमों का सेवन निश्य करे (नित्यं नियमान् न) केवल नियमों का नहीं, क्योंकि (यमान् ग्रकुर्वागः) यमों को न करता हुग्रा ग्रीर (केवलान् नियमान् भजन्) केवल नियमों का सेवन करता हुग्रा भी (पतित) ग्रपने कर्त्तं व्य से पतित हो जाता है, इसलिए यमसेवनपूर्वक नियम-सेवन नित्य किया करे।। २०४।। (सं० वि० ८५)

अवस्तु श्री त्उन्त : (१) यमसेवन के बिना पतन कंसे ?— यहाँ मनुने कहा है कि 'मनुष्य यमों का पालन न करके यदि नियमों के ही पालन में लगा रहे तो उसके पितन होने का भय रहता है।' क्यों कि यम मुख्यरूप से ग्रात्मा से संबद्ध ग्राचरए। हैं, जबिक नियम प्रमुखतः बाह्याचरण हैं। केवल बाह्याचरएगों के सेवन में व्यक्ति की ग्रात्मिक उन्तित नहीं हो सकती ग्रीर न उसकी ग्रात्मा में इढ़ता रहती है। ग्रात्मा से संबद्ध श्रेष्ठाचरणस्य यमों के पालन से मनुष्य वस्तुतः श्रेष्ठ वन जाता है। बाह्याचरए। वाला व्यक्ति पाखण्ड भी कर सकता है, जबिक ग्रात्मिक ग्राचरए। में पाखण्ड नहीं होता। इस प्रकार केवल नियमों के पालन के स्तर तक व्यक्ति के पतन की संभावना बनी रहती है।

(२) य**मों श्रौर नियमों की गराना एवं व्याख्या**—योगदर्शन २।३०—४५ सूत्रों में इनकी गणना की गई है। यहां यमों और नियमों का संक्षेप से उल्लेख किया जाना है—

"अहिंसा सत्य अस्तेय-ब्रह्मचर्य-ग्रपिग्रहाः यमाः।" (योग० २।३०)

ं(१) अहिंसा— ग्रथित सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणिकों के साथ वैर छोड़ के प्रेम — प्रीति से वर्त्तना । (२) सत्य— अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो। वैसा ही सत्य बोले, करे और माने। (३) अस्तेय—अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना। इसी को चोरी-त्याग कहते हैं। (४) ब्रह्मचर्य — अर्थात् विद्या पढ़ने के लिए बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसर्वे वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना; परस्त्री, वेश्या आदि का त्यागना; सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना; और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना। (५) अपिग्रह — अर्थात् विषय और अभिमान आदि दोषों से रहित होना। "(ऋ० भा० भू० उपासना विषय)

"शौब-सन्तोष-तयः-स्वाच्याय-ईश्वरप्रियानानि नियमाः ।" (योग० २।३२)

"(१) शौच — अर्थात् पिवत्रता करनी। सो भी दो प्रकार की है— एक भीतर की और दूसरी बाहर की। भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याम्यास, सत्सङ्ग आदि शुभगुणों के श्राचरण से होती है श्रौर वाहर की पिवत्रता जल ग्रादि से शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र, खाना-पीना आदि शुद्ध करने से होती है। (२) सन्तोष — जो सदा धर्मानुष्ठान से श्रत्यन्त पुरुषार्थं करके प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना, किन्तु श्रालस्य का नाम सन्तोष नहीं है। (३) तप — जैसे सोने को अग्नि में तपाके निर्मल कर देते हैं, वैसे ही श्रात्मा और मन को धर्माचरण श्रौर शुभगुणों के ग्राचरण कप तप से निर्मेश कर देना। (४) स्वाष्ट्याय — प्रर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना-पढ़ान ग्रौर श्रोकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना, और (५) ईश्वरप्रणिधान — श्रर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, श्रात्मा श्रौर मन के प्रेमभाव से श्रात्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिए समर्पण करना।"

(ऋ॰ भा॰ भू० उपासना विषय)

म्रभक्षय शोजन --

1333<del>--</del> (

7777

in the second

ब्रह्मलीलमेतत्सायूनां यत्र जुद्धत्यमी हविः। प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।। २०६॥

(यत्र अमी हिवः जुह्नित) जिसमें स्त्री और शूद्र आहुति डालते हैं (एतत्) वह यत्र (साधूनाम् अञ्जीलम्) अष्ठ लोगों की श्री का नाशक होता है (एतत् देक्कां प्रती-पम्) और इस प्रकार का यत्र देवताओं के प्रतिकृत होता है (तस्मात्) क्विक्ट (तत परिवर्जयेत्) उसे छोड़ दे॥ २०६॥

#### मतक्रुद्धातुराएगं च न भुञ्जीत कदाचन। केशकीटावयन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः॥ २०७॥

(च) ग्रीर (मत्त-क्रुद्ध + ग्रातुराएगाम्) पागल, क्रोधी, रोगी, इनका (केश-कीट-ग्रवपन्नम्) जिसमें बाल या कीडे पड़ गये हों (च) ग्रीर (पदा स्पृष्टम्) पैरों से छुत्रा हुग्रा भोजन (कामतः न भुञ्जीत) जानबूम कर न खाये।। २०७॥

> भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया। पतित्रिगावलीढं च जुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८॥

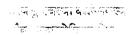
(भ्रूणध्ना + स्रविक्षितम्) भ्रूणहत्यारे द्वारा देखा हुम्रा (च) स्रौर (उदक्यया संस्पृष्टम्) रजस्वला स्त्री द्वारा स्पशं किया हुम्रा (च) तथा (पतित्रणा + अवलीढम्) पक्षी का झूठा किया हुम्रा (च) और (शुना संस्पृष्टम् + एव) कुत्ते का छुम्रा भोजन भी न करे।। २०८।।

## गवा चान्नमुपान्नातं घुष्टान्नं च विशेषतः । गर्गान्नं गर्गिकाऽन्नं च विदुषा च जुगुप्सितम् ॥ २०६॥

(च) ग्रौर (गवा उपाझातम् अन्नम्) गाय के द्वारा सू घा हुग्रा अन्न (विशेषतः घुष्टान्नम्) किसी व्यक्ति के लिए विशेषरूप से घोषित ग्रर्थात् निश्चित किया हुग्रा ग्रन्न (गणान्नम्) किसी समुदाय विशेष का ग्रन्न (च) और (गणिका + अन्नम्) वेश्या का अन्न (च) तथा (विदुषां जुगुप्सितम्) विद्वानों द्वारा निन्दित ग्रन्न भी न खाये।। २०६।।

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णोर्वार्धुं विकस्य च। दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च॥ २१०॥

(स्तेनगायनयोः) चोर ग्रौर गाने वाले के (तक्ष्णोः वार्षु विकस्य) बढ़ई ग्रौर स्थापा के कि व कार्यक कदस्य च निगडस्य प्रज्ञ में दीक्षित, कंजूस और रथ-कर्मा के कि कि कार्यक्रिय करिया करिया करिया



रप्राप्ता (क्यारमणस्व) पालण्डी का (च) ग्रीर (शुक्तम्) जिसमें खटास या खमीर उठ ग्राया हो (पर्युपितम्) बासी (च) तथा (शूद्रस्य + उच्छिष्टम् + एव) शूद्र का झ्ठा अन्त न खाये ॥ २११ ॥

> चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टमोजिनः । उग्रान्नं सूतिकाऽन्नं च पर्याचान्तमनिर्देशम् ॥ २१२ ॥ (चिकित्सकस्य) वैद्य का (मृगयोः) शिकारी ग्रौर व्याध का (क्रूरस्य) निर्देयी

का (उच्छिष्टभोजिनः) झूठा खाने वाले का (उग्रान्नम्) उग्र स्वभाव वाले का अन्त (सूर्तिका + ग्रन्नम्) प्रसूता का (पर्याचान्तम्) बहुतों के भोजन करते समय जहाँ कोई बीच में ही ग्राचमन कर ले, उस अन्त को (च अनिर्दशम्) और मरणशौच के दश दिन होने से पूर्व किसी का अन्त न खाये॥ २१२॥

#### म्रनिचतं वृथामांसमवीरायाःच योषितः । द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवस्रुतम् ॥ २१३ ॥

(ग्रनिवतम्) बिना आदर के दिया गया ग्रन्न (वृथामांसम्) यज्ञ के या देवताओं के उद्देश्य के बिना बनाया माँस (च) तथा (अवीरायाः योषितः) सन्तानहीन स्त्री का अन्न (द्विषत् + ग्रन्नम्) वैरी का अन्न (नगरी + अन्नम्) नगराष्ट्यक्ष का ग्रन्न (पितत मंग्रन्नम्) पितत का अन्न (अवक्षुतम्) जिस पर छींक दिया हो, उस ग्रन्न को न खाये॥ २१३॥

#### पिशुनानृतिनोक्ष्चान्नं क्रतुविक्रयिसस्या । ज्ञैत्रुषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

(पिशुन + अनृतिनः ग्रन्नम्) चुगलखोर तथा भूठे व्यक्ति का अन्न (तथा क्रतु-विक्रयिणः) तथा मूल्य लेकर यज्ञ करने वाले का ग्रन्न (शैलूष-तुन्नवाय + ग्रन्नम्) नट और जुलाहे का ग्रन्न (च) ग्रौर (कृतघास्य + ग्रन्नम् + एव) कृतघन == िकये हुए उपकार को न मानने वाले का ग्रन्न भी न खाये॥ २१४॥

#### कर्मारस्य निवादस्य रङ्गावतारकस्य च। सुवर्णकर्तुं वेंगस्य शस्त्रविकयिगस्तथा ॥ २१४ ॥

(कर्मारस्य) लोहार का (निवादस्य) मछिहार का (च) ग्रौर (रङ्गावतारकस्य) नाटक खेलने वाले का (सुवर्णकर्तुः) सुनार का (वेणस्य) बाँस से ग्राजीविका करने वाले का (तथा शस्त्रविक्रयिएाः) तथा हथियार बेचने वाले का ग्रन्न न खाये ॥ २१५ ॥

## श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च । रञ्जकस्य नुशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

(श्ववताम्) कुत्ते पालने वालों का (शौण्डिकानाम्) शराव वेचने वालों का (चैलनिर्णेजकस्य) धोबी का (रञ्जकस्य) रंगरेज का (नृशंसस्य) घातक का (च) श्रौर (यस्य गृहे उपपतिः) जिसके घर में जार रहता हो, उसका श्रन्त न खाये ॥ २१६ ॥

#### मृष्यन्ति ये चोपपति स्त्रीजितानां च सर्वशः । ग्रनिर्वशं प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

(च) तथा (ये उपपित मृष्यन्ति) जो ग्रपने घर में जार को रखते हैं (सर्वशः स्त्रीजितानाम्) जो सब प्रकार से स्त्रियों के वशीभूत रहते हैं (ग्रनिर्दशं प्रेतान्नम्) दश

दिन से पूर्व प्रेत वाले घर का ग्रन्न (च) तथा (श्रतुष्टिकरम् + एव) मन को जो अञ अरुचिकर लगे, उसको नहीं खाना चाहिए।। २१७॥

## राजान्नं तेज न्नादत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्षसम् । न्नायुः सुवर्णकारान्नं यशस्यमीवर्कातनः ॥ २१८॥

(राजा + ग्रन्न तेजः ग्रादत्ते) राजा का अन्न तेज को नष्ट करता है (शूद्र + ग्रन्न ब्रह्मवर्चसम्) शूद्र का ग्रन्न ब्रह्मतेज को नष्ट करता है (मुवर्णकार + अन्नम् आयुः) सुनार का ग्रन्न ग्रायु को (चर्म + अवकर्तिनः यशः) चमार का अन्न यश को नष्ट करता है ॥ २१८॥

#### कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च । गरुगान्नं गरिगकान्नं च लोकेम्यः परिकृत्तति ॥ २१६ ॥

(कारुक + म्रन्नं प्रजां हन्ति) कारीगर का अन्त सन्तान को मारता है (निर्णेज-कस्य बलम्) धोबी का म्रन्न बल का नाश करता है (गणान्तं च गणिकान्तं लोकेम्यः परिक्वन्तित) समुदायविशेष का म्रौर वेश्या का म्रन्न उत्तम लोकों की प्राप्ति से वंचित कर देता है ॥ २१६ ॥

#### पूर्वं चिकित्सकस्यान्नं पुँदचल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् । विष्ठा वार्षुं विकस्यान्नं शस्त्रविकयिगो मलम् ॥ २२० ॥

(चिकित्सकस्य अन्तं पूर्यम्) वैद्यका ग्रन्त राद = विकृत रक्त (पुंश्चल्या तु ग्रन्तम् + इन्द्रियम्) व्यभिचारिणी स्त्रीका अन्त वीर्ष (वार्षु पिकस्य ग्रन्तं विष्ठा) व्याजखोर का अन्त विष्ठा (शस्त्रविक्रयिणः मलम्) शस्त्र वेचनं वाले का ग्रन्त मल के समान है ॥ २२०॥

#### य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः । तेषां त्वगस्थिरोमारिंग वदन्त्यन्नं मनीषिगः ॥ २२१ ॥

(ये एते + अन्ये तु + अभोज्यः नाः क्रमशः परिकीतिताः) ये जो और भी अभक्ष्य अन्त क्रमशः [४। २०५ से २२० तक] कहे हैं (तेषां तु अन्तम्) उनके अन्त को (मनीषिणः) विद्वान् लोग (त्वक् + अस्थि + रोमाणि वदन्ति) त्वचा, हड्डी और रोम के समानं कहते हैं ॥ २२१॥

## भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममस्या क्षपणं त्र्यहम्। मत्या भुक्त्वाऽऽचरेत्कृच्छ्रं रेतो विष्मुत्रमेव च ॥ २२२ ॥

(ग्रतः + ग्रन्यतमस्य + ग्रन्नम् + ग्रमत्या भुक्तवा) इनमें से किसी का भी ग्रन्त अनजाने में खाकर (त्रि + ग्रहं क्षयणम्) तीन दिन तक उपवास करे (मत्या भुक्तवा) जानवूक्षकर खाकर (कृच्छ्रं चरेत्) 'कृच्छ्रं' नामक प्रायश्चित्त करे (च) ग्रौर (रेतः + विट् + मूत्रम् + एव) वीर्यं, विष्ठा, मूत्र खाकर भी 'कृच्छ्रं' व्रत करे ॥ २२२ ॥

#### नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः । श्रावदीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३॥

(विद्वान् द्विजः) विद्वान् ब्राह्मण को चाहिये कि (ग्रश्नाद्धिनः शूद्रस्य पक्वान्तं न + ग्रद्यात्) श्राद्ध के ग्रनधिकारी का पका ग्रन्त न खाये, किन्तु (ग्रवृत्तौ) खाने के लिये कहीं भी कुछ न मिलने पर (ग्रस्मात्) इस शूद्र से (एकरात्रिकम् ग्रामम् + एव ग्राददीत) एक रात भोजन करने योग्य कच्चे ग्रन्त को ही ले ले॥ २२३॥

## श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुं वेः । मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्तमकल्पयन् ॥ २२४॥

(कदर्यस्य श्रोत्रियस्य) कंजूस वेदपाठी (च) ग्रौर (वदान्यस्य वार्धु पेः) दानी व्याजखोर के ग्रन्त को (मीमांसित्वा) गुण-दोष विचार कर (देवाः) देवताग्रों ने (उभयम् ग्रन्तं समम् ग्रकल्पयन्) दोनों के ग्रन्त को समान बताया है।। २२४।।

## तान्त्रजापितराहैत्य मा कृष्वं विषमं समम् । श्रद्धापूर्तं ववान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

किन्तु (प्रजापित: तान् एत्य ग्राह) ब्रह्मा उनके पास ग्राकर बोले कि (विषमं समं मा कृष्वम्) ग्रसमान को समान मत बतलाग्रो (वदान्यस्य श्रद्धापूतम्) दानी ब्याजखोर का ग्रन्त श्रद्धा से दिया गया होने के कारण पित्र है तथा (ग्रश्रद्धया + इतरम् हतम्) ग्रश्रद्धा से दिया गया कंजूस वेदपाठी का ग्रन्त ग्रपित्र है, इस प्रकार दोनों ग्रन्त समान नहीं हैं, अपितु श्रद्धा से दिया गया ग्रन्त या दान श्रेष्ठ माना है।। २२४।।

श्रद्धा से दानकार्य करे-

## श्रद्धयेष्टं च पूर्वं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः। श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागर्तर्धनैः॥ २२६॥

(स्रतन्द्रितः) स्रालस्य रहित होकर (श्रद्धया) श्रद्धा से (नित्यम्) सदा (इण्टम्) यज्ञादि का स्रायोजन (च) श्रीर (पूर्तम्) क्रूया, तालाब स्रादि का निर्माण (क्रुयित्) करे (सु + स्रागतैः धनैः) ईमानदारी से कमाये धन से (श्रद्धाकृते ते) श्रद्धापूर्वक किये गये ये कार्य (अक्षये भवतः) स्रक्षा फल को देने वाले होते हैं ॥ २२६॥

आनुश्रीत्जना: २०५ से २२६ श्लोक निम्न 'म्राधारों' पर प्रक्षिण सिद्ध होते हैं—

१. ग्रन्तिविशेष—(१) इस सम्पूर्ण प्रसंग के प्रारम्भिक या ग्राधारभूत इलोक २०५—२०६ हैं। २०५ थें से 'न'''' भुक्रजीत बाह्यएाः क्वचित्' कहकर यहां निषिद्ध भोजनों का प्रसंग शुरू किया गया है। ये दोनों इलोक कई तरह से मनु की मान्यताग्रों से विरुद्ध हैं, यथा—(क) इन इलोकों में अश्लोत्रिय के द्वारा प्रारम्भ किये गये यज्ञ में जीमना निषिद्ध है। पहली बात तो यह है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति में यज्ञों में जीमने का कहीं विधान नहीं है। हां, मृतकश्राद्ध के प्रसंग में देव ग्रीर पितृयज्ञ में विधान है किन्त वह मान्यता मन्विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि मन् की व्यवस्था के त्रनुसार यज्ञ कराना **बाह्मणों का कर्त**ध्य है [१।८८]; ग्रीर बाह्मण वहीं होता है जो वेदपाठी या अध्ययन-ग्रध्यापन कर्मवाला हो । ग्रतः ग्रश्नोत्रिय द्वारा यज्ञ प्रारम्भ करने की व्यवस्था ही मनुसम्मत नहीं है। (ख) इनमें बहुतों को यज्ञ कराने वाले के यज्ञ में भी खाने का निषेध है। मनू ने यज्ञों का विधान सभी द्विजों के लिए किया है श्रीर इन्हें पुण्यदायक कृत्य माना है। स्रतः जो व्यक्ति इन्हें जितना स्रधिक करेगा मन् के मता-नुसार वह उतना ही धर्म का पालन करने वाला माना जायेगा। अतः यह कल्पना भी मनुसम्मत नहीं है। (ग) स्त्री और नपुंसकों द्वारा ग्राहुति दिए जाने वाले यज्ञ की निन्दा भी मनुसम्मत नहीं है। मनुने यज्ञ का निषेश किशी भी व्यक्ति के लिए नहीं किया है। स्त्रियों के लिए मन् ने स्पष्टत: यज्ञ का विधान किया है [देखिये २। ४१-४२ (६६-६७) पर समीक्षा]। म्रतः यह मान्यता भी मनुविरुद्ध है। इन ग्रन्तविरोधों के आधार पर ये दोनों ही इस प्रसंग के आधारभूत इलोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। आधार भूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर शेष २०७-२२६ सभी श्लोक स्वतः प्रक्षेपा-न्तर्गत मा जाते हैं। इस प्रसंग में मन्य कुछ भन्तर्विरोध भी हैं - (२) २१०, २२०, २२४---२२६ इलोकों में 'ब्याज देने वाले' व्यक्ति के ग्रन्त को अभक्ष्य ग्रीर निन्दनीय माना है, जबकि मनू ने ब्याज लेना वैश्यों का कर्म बतागा है [१। ६०]। अतः मनू की व्यवस्था के अनुसार यह कार्य निन्छ नहीं है। निन्छ होने से ये इलोक भी सनुसम्मत सिद्ध नहीं होते। (३) २१३ में मांसभक्षण का वर्णन मनुविरुद्ध है दिखिये ४। २६ — २८ पर समीक्षा । (४) २२३ में मृतकश्राद्ध का वर्णन भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है (देखिए ३। ११६---२ पर 'म्रन्तविरोध शीर्षक)। (५) इस प्रसंग में विभिन्न जातियों का उल्लेख है, जैसे --- २१४ में दर्जी का; २१४ में लूहार, सुनार का; २१८ में सुनार, चमार का भ्रादि। मनु की वर्णव्यवस्था के अनुसार ये कोई जातियां नहीं हैं, ग्रिपतु वैश्य के कर्म हैं। ग्रीर इस प्रसंग में इनके अन्न की निन्दा कहना भी मन्-विरुद्ध है। क्योंकि मनु वैश्यों की गणना द्विजों के अन्तर्गत करते हैं और उनके द्वारा किये जाने वाले ये कार्य भादरयोग्य हैं। जातियों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि ये श्लोक मनुसे परवर्ती हैं। श्रतः मनुकी व्यवस्था से तालमेल नहीं खाते। इन ग्रन्तिवरोघों के ग्राघार पर ये श्लोक तथा इनसे सम्बद्ध ग्रन्य सभी पूर्वापर श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. विषयविरोध — २०५ से २२५ इलोक विषयबाह्य हैं। ये न तो व्रत ही हैं श्रीर न इनका 'सत्वगुणवर्धन' के साथ कोई सम्बन्ध है। श्रिपतु २०५ — २०६ इलोक तो सत्वगुणविरोधी हैं, अत: ये विषयविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत जानकारी के लिए ४। ३३ — ३४ पर 'विषयविरोध' शीर्षक देखिये]।

३. शैलीगत म्राधार—इस प्रसंग में २१३,२१८, २१६—२२१ ब्लोकों की शैली अधुक्तियुक्त एवं अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अपशब्दात्मक है। यह शैली मनु की नहीं है।

दानधर्म के पालन का कथन---

# दानधर्मं निषवेत नित्यमं ष्टिकपौर्तिकम् । परितुष्टेन भावेन पात्रमःसाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ (७४)

द्विज (पात्रम्+आसाद्य) सुपात्र को देखकर (परितुष्टेन भावेन) सात्त्विक स्रर्थात् निःस्वार्थं स्रोर निर्लोभ भाव से श्रेष्ठ कार्य के लिए [१२।२७—३७] (शक्तितः) शक्ति के स्रनुसार (नित्यम्) सदैव (पेष्टिक-पौतिकम्) यज्ञों के स्रायोजन-सम्बन्धो स्रोर पौतिक=उपकारार्थं क्स्रा, तालाब स्रादि निर्माण-सम्बन्धी (दानधर्मं निषेवेत) दानधर्मं का पालन करे स्रर्थात् दान दिया करे।। २२७॥

यत्किचिदिप दातब्यं याचितेनानसूयया । उत्पत्स्यते हि तत्मात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

(याचितेन) किसी के मांगने पर (यत् + किचित् + ग्रिप) जो कुछ थोड़ा-बहुत (ग्रनसूयया दातव्यम्) ईर्ष्या या दुःखरहित होकर ग्रवय्य देना चाहिए (हि) क्योंकि (तत् पात्रम् उत्परस्यते) दान लेने वालों में कभी तो ऐसा सुपात्र मिलेगा ही (यत् मर्वतः तारयित) जो सब दुःखों से पार कर देगा ॥ २२६ ॥

> वारिदस्तृष्तिज्ञाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिश्टां दीयदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२६ ॥

(वारिद: तृष्तिम्) जल का दाता संतृष्टि को (प्रन्तद: ग्रक्षय्यं सुलम्) ग्रन्त का दाता ग्रक्षय मुल को (तिलप्रद: इष्टां प्रजाम्) तिल का दाता ग्रभीष्ट संतान को (दीपद: उत्तमं चक्षुः) दीक्क का दात देते वाला उत्तम ग्रांख को (ग्राप्नोति) प्राप्त करता है।। २२६।।

> भूमिदो भूमिमाप्नोति दोर्घमःयुहिरण्यदः । गृहदोऽग्रचारिष वेदमानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

#### वासोबद्दचन्द्रसालोक्यमदिवसालोक्यमश्वदः स्रमङ्कदः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रष्टमस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

(वासोदः चन्द्रसालोक्यम्) वस्त्र का दाता चन्द्रलोक को (ग्रश्वदः ग्रश्वि-सालोक्यम्) घोड़े का दाता ग्रश्विनीकुमार लोक को (ग्रनडुद्दः पुष्टां श्रियम्) बैल का दाता ग्रत्यधिक लक्ष्मी को (गोदः ब्रध्तस्य विष्टपम्) गाय का दाता सूर्यंलोक को पाता है ॥ २३१ ॥

> यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः। धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसाष्टिताम् ॥ २३२ ॥

(यान-शय्याप्रदः भार्याम्) सवारी श्रीर पलंग का दातापत्नीको (श्रभयप्रदः ऐश्वर्यम्) श्रभय का दाता ऐश्वर्य को (धान्यदः शाश्वतं सौख्यम्) धान्यों का दाता श्रनन्त सुख को (ब्रह्मदः ब्रह्मसाध्टिताम्) वेद का दाता ब्रह्मा की समानता को प्राप्त करता है।। २३२।।

अन्यूर्योल्डन: २२८ से २३ रलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

- १. श्रन्तिवरोध—(१) २२६ वें क्लोक में दान लेने वाले के द्वारा 'दानदाता को तारना' यह मान्यता मनुविरुद्ध है। ४।२४० में मनु ने केवल कर्त्ता को ही अपने सुकृत और दुष्कृत कर्मों का भोनता माना है। तदनुसार ही अगला जन्म मिलता है [१२।३—६, ३६—५२, ७४]। अतः दूसरे कर्मों में दूसरा फलभोक्ता नहीं हो सकता। (२) २२६, २३२ क्लोकों में अन्न और धान्य के दान से अक्षय मुख की प्राप्ति होना कहा है। यदि केवल इतने मात्र से ही अक्षय मुख की प्राप्ति हो जायेगी तो फिर मनुस्मृति प्रोक्त सब धर्म और नैःश्रेयसकर कर्म ही व्यर्थ हो जाते हैं। मनु ने तो धर्मपालन और नैःश्रेयसकर कर्मों से ही अक्षय मुख की प्राप्ति हो मानु ने तो धर्मपालन और नैःश्रेयसकर कर्मों से ही अक्षय मुख की प्राप्ति मानी है [६।६७; १२।६२—१२६]। अतः यह कथन मनुविरुद्ध हैं। (३) २३१ में विभिन्न लोकों की प्राप्ति भी मनुविरुद्ध है। मनु मृत्यु के उपरान्त किसी लोक आदि की प्राप्ति नहीं मानते, अपितु संसार में पुनर्जन्म या मुक्ति, ये दो अवस्थाए ही मानने हैं [६।६३,७४, ६१; १२।११६,२२४]। इन अन्तर्विरोधों के आधार पर ये सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. शैलीगत आधार—इन सभी श्लोकों की शैली अयुवितयुक्त, अतिशयोक्ति-पूर्ण है। क्योंकि इनमें परिगणित पदार्थों का और उनके फलों का कोई सम्बन्ध नहीं है। और इस प्रकार तो प्रत्येक व्यक्ति इन लाभों को प्राप्त कर सकता है फिर अन्य धर्मों के पालन की क्या ग्रावश्यकना रह जाती है? मनु की शैली में ये त्रुटियाँ नहीं होतीं।

वेद-दान की सर्वश्रेष्ठता --

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीदासस्तिलकाञ्चनसर्विषाम् ॥ २३३ ॥ (७४) (सर्वेषाम् एव दानानाम्) संसार में जितने दान हैं स्रर्थात् (वारि-ग्रन्त-गो-मही-वासः-तिल-कांचन-सर्पिषाम्) जल, ग्रन्त, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण ग्रौर घृतादि इन सब दानों से (ब्रह्मदानं विशिष्यते) वेदविद्या का दान ग्रतिश्रेष्ठ है।। २३३।। (स० प्र०७६)

> येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति। तसत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः॥२३४॥

दाता (येन येन तु भावेन) जिस-जिस कामना से (यत् यत् दानं प्रयच्छति) जो-जो दान देता है। (तत् तत्) उस-उस को (तेनैव भावेन) उसी भाव से (प्रतिपूजितः प्राप्नोति) ग्रादरपूर्वक प्राप्त करता है।। २३४।।

> योऽचितं प्रतिगृह्णाति ववारयांचतमेव च। ताबुमौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विषयंये।। २३५॥

(यः भ्राचितं प्रतिग्रह्णाति) जो स्रादरपूर्वंक दिए हुए को लेता है (च) भ्रौर (ग्राचितम् + एव ददाति) जो स्रादरपूर्वंक देता है (तौ + उभौ) वे दोनों (स्वगं गच्छतः) स्वगं लोक को जाते हैं (विपर्यंये तु नरकम्) निरादर से देने भ्रौर लेने वाले तो नरक में जाते हैं।। २३४।।

न विस्मयेत तपसा वर्वविष्ट्वा च नानृतम् । नार्तोऽप्यपवरेद्विप्रान्न दश्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

(तपसा न विस्मयेत) तप करके भ्राश्चर्यं न करे [िक मैंने इतनी कठिन तपस्या कर ली (इष्ट्वा अनुत न वदेत्) यज्ञ करके भूठ न बोले (भ्रातं: मश्रपि विप्रान् न श्रप-वदेत्) बाह्यणों से पीड़ित होता हुन्ना भी उन्हें बुरा न कहे (दत्त्वा न परिकीर्तयेत्) दान देकर अपनी बड़ाई न करे ॥ २३६॥

> यज्ञोऽनृतेन क्षरित तयः क्षरित विस्मयात्। स्रायुर्विप्रापविदेन दानं च परिकीर्तनात्॥२३७॥

(अनुतेन यज्ञः क्षरित) भूठ बोलने से यज्ञ का फल नष्ट हो जाता है (विस्मयात् तपः क्षरित) ग्राश्चर्यं करने से तप का फल (विश्र + ग्रपवादेन श्रायुः) ब्राह्मणों की बुराई करने से ग्रायु (च) ग्रौर (परिकीर्तनात् दानम्) अपनी बड़ाई करने से दान का फल नष्ट हो जाता है।। २३७॥

आनुश्रीत्उनः २३४ से २३७ तक के श्लोक निम्न स्राधारों के स्रनु-सार प्रक्षिप्त है—

१. विषयविरोध — इन क्लोकों में वर्णित बातें न तो व्रत के अन्तर्गत ही मानी जा सकती हैं और न इनका 'सत्त्वगुरावृद्धिकर' के साथ कोई सम्बन्ध है, अतः ये विषय-

बाह्य होने के कारण 'विषयविरोध' के स्राधार पर प्रक्षिप्त हैं [िवस्तृत विवेचन ४। ३३—३४ क्लोक पर 'विषयविरोध' कीर्षक में द्रष्टव्य है]।

- २. ग्रन्तिवरोध— (क) २३४-२३५ श्लोकों के वर्णन में 'नरक प्राप्ति' का कथन करना मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु नरक नामक स्थान या योनि विशेष को नहीं मानते [देखिए ४। ८७-६१ श्लोकों पर 'अन्तिवरोध' शीर्षक में नरक सम्बन्धी समीक्षा]।(ख) २३६— २३७ श्लोकों में यज्ञ, तप ग्रादि कर्मों के फल का नष्ट हो जाना विहित है। मनु के सिद्धान्तानुसार कर्मों का फल तो भोगने पर ही नष्ट हो सकता है। मनु कर्मों के अनुसार ही पुनर्जन्म की प्राप्ति मानते हैं [४।२४०; १२।३—६,३६—५२,७४ ग्रादि]। यदि इतनी छोटी बातों से ही इन धर्मकार्यों का फल नष्ट होना मानलिया जाये तो इसका मतलब यह हुग्रा कि यज्ञादि धर्मकार्यं उनकी ग्रपेक्षा स्वल्प फलवाले हैं! यह वर्णन मात्र काल्पनिक है। (ग) २३४ वें श्लोक में 'जिस भाव से जो दान करेगा वह उसी वस्तु को प्राप्त करेगा' यह मान्यता भी मनुसम्मत नहीं है। मनु दान ग्रादि धर्मों से किन्हीं वस्तु ग्रों की प्राप्ति नहीं, ग्रपितु सुख की प्राप्ति होना मानते हैं। ४।२४२,२४६ में उन्होंने यह मान्यता दर्शायी है। उसके आधार पर ये श्लोक मनु-विरुद्ध हैं। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. शैलीगत श्राधार—इन सभी इलोकों की शैली श्रयुक्तियुक्त एवं श्रित-शयोक्तिपूर्ण है। इनमें वर्णिन बातों श्रीर उनके फलों का परस्पर कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, श्रतः ये मनुविरुद्ध हैं।

धर्मसंचय का विधान एवं धर्मप्रशंसा-

## धर्मं शनैः सिवनुयाद्वल्मीकिमव पुत्तिकाः । परलोकसहायायः सर्वमूतान्यवीडयन् ॥ २३८ ॥ (७६)

(पुत्तिका वल्मोकम् + इव) जैसे पुत्तिका ग्रर्थात् दीमक वल्मोक ग्रर्थात् बांबी को बनातो है वैन (सर्वलोकानि + ग्रपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (परलोक-महायार्थम्) परलोक ग्रर्थात् परजन्म के सुखार्थ (शनैः धर्मं सचिनुयात्) धोरे-धोरे धर्म का संचय करे।। २३८।।

(स० प्र० १०६)

''जैसे दीमक धीरे-धीरे वड़े भारी घर को बना लेती हैं, वैसे मनुष्य परजन्म के सहाय के लिए सब प्राणियों को पीड़ा न देकर धर्म का सचय धीरे-धीरे किया करे।'' (सं० वि० १८१)

आनु श्रीत्जन्तः यहाँ 'धीर-धीर' सं ग्राभिप्राय भावधानी पूर्वक धर्म-पालन करने से है। जैसे दीमक ग्रपनी बांबी को बनाते हुए मावधानी बरनती है ग्रीर उसे गिरने नहीं देती इसी प्रकार मनुष्य भी ग्रपने को कभी धर्म सं गिरने न दे। कहीं कोई श्रधर्म न हो जाये, इस बात की सावधानी रखे।

## नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३६॥ (७७)

(हि) क्योंकि (प्रमुत्र) परलोक में (न पिता-माता, न पुत्र-दारा न ज्ञाति: सहायार्थं तिष्ठतः) न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न सम्बन्धी सहाय कर सकते हैं, किन्तु (केवलः धर्मः तिष्ठिति) एक धर्म हो सहायक होता है।। २३६।। (स॰ प्र॰ १०६)

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते। एकोऽनुभुङ्कते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥ २४०॥ (७८)

(एक: जन्तः प्रजायते एक + एव प्रलोयते) अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है (एक: सुकृतम् एक: + एव च दुष्कृतम् अनुभुङ्क्ते) एक ही धर्म के फल सुख और अधर्म के दुःखरूप फल को भोगता है।।२४०।। (स॰ प्र०१०६)

अस्तुर्शोट्डनः कर्मफल का भोक्ता कर्ता—(१) इस श्लोक में व्यक्तिगत स्तर के सुकृत, दुष्कृत करने पर कर्ता को ही फल का भोक्ता माना है। किन्तु यदि उसके साथ प्रधर्म में ग्रीर ग्रथमें से प्राप्त उसके भोगों, धर्मों में ग्रन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं तो उस ग्रधमें का फल उनको भी प्राप्त होता है। मनु ने यह मान्यता ग्रथमें से धनसंग्रह के प्रसंग में [४। १७० में] स्पष्ट की है [४।१७३]। (द्रष्टव्य ४। १७३ पर भी इस विषयक ग्रनुशीलन)। ग्रभिप्राय यह है कि कर्त्ता के भोगने योग्य निजी फल को कोई दूसरा नहीं बांट सकता।

(२) सत्यार्थप्रकाश चतुर्थं समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने २४० दलोक के पश्चात् एक ग्रन्य श्लोक भी उद्भृत किया है, जो प्रचलित पाठों में नहीं है। किन्तु महाभारत उद्योगपर्व ३३।४७ में मिलता है।

क्लोक निम्त है--

एकः पापानि कुरुते फलं भूडलते शहाजनः।

महाजन अथाद कुंदुन्य उलको भाक्ता है। भोगने वाले दोप-भागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कत्ता ही दोप का भागी होता है।। (स॰ प्र० चतुर्थ समु०)

यहाँ महर्षि दयानन्द ने श्रपराधकर्म की दिष्ट से कर्त्ता को ही दोषी माना है। दोषभागी होने के कारण वही उस अपराध में दण्डनीय होता है। कुटुम्ब ग्राश्रित होता है, उसे पापकर्म से लायी कमाई का कभी ज्ञान नहीं होता तो कभी होता है। इस प्रकार भोक्ता होते हुए भी कर्त्ता न होने के कारण कुटुम्ब उस ग्रपराथ कर्म में दोषी नहीं माना गया है। किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर पाप फल की प्राप्ति में वह भागी अवश्य है। [४। १७०]।

> मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्यवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१॥ (७६)

(मृतं शरीरं काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ उत्सृष्य) जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उसको क्ष मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे (वान्यवा: विमुखा: यान्ति) बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं, कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता, किन्तु (धर्मः + तम् + अनुगच्छति) एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है।। २४१।। (स॰ प्र० १०६)

क्क (काष्ठ) लकड़ी स्रौर .....

तस्माद्धमं सहायाथं नित्यं संचिनुयाच्छनेः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरित दुस्तरम्।। २४२।। (८०)

(तस्मात्) उस हेतु से (सहायार्थम्) परलोक ग्रर्थात् परजन्म में सुख ग्रौर जन्म के सहायार्थ (नित्यं धमँ शनैः संचिनुयात्) नित्य धमं का संचय धीरे-घीरे करता जाये (हि) क्योंकि (धर्मेण सहायेन) धर्म ही के सहाय से (दुस्तरं तमः तरित) वड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है ।। २४२ ।। (स० प्र०१०७)

> भर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिश्विषयः। परलोकं नयस्याञ्च भास्वग्तं खज्ञारीरिराम्।।२४३।।(८१)

(धर्मप्रधानम् पुरुषम्) किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान सम्भक्ता (तपसा हतकित्विषम्) जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तंव्य पाप दूर हो गया, उस को (भास्वन्तम्) प्रकाशस्वरूप (खशरीरिणम्) और आकृष्ण

८. ८. १०८०। २ (स**० ४० १०**५)

उत्तमों की संगति करे-

उत्तमे रुत्तमेनित्यं सम्बन्धानःचरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमास्त्यजेत् ॥ २४४॥ (८२)

(कुलम् + उत्कर्षं निनीषुः) जो मनुष्य ग्रपने कुल को उत्तम करना चाहे (ग्रधमान् + ग्रधमान् त्यजेत्) वह नीच-नीच पुरुषों का सम्बन्ध छोड़-

कर (नित्यम् उत्तमैः उत्तमैः सह सम्बन्धान् म्नाचरेत्) नित्य ग्रच्छे-म्रच्छे पुरुषों से सम्बन्ध बढ़ाता जावे ॥ २४४ ॥ (सं० वि० १८१) +

अर्जुट्यी ट्यन् : यहां उत्तम का ग्रथं बड़ा नहीं है अपितु श्रेष्ठ है, श्रीर श्रधम का 'नीच'। यह श्रगले अर्थवादरूप श्लोक से भी सिद्ध है।

> उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शुद्रताम् ॥ २४५॥ (८३)

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (उत्तमान्-उत्तमान् गच्छन्) श्रेष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्तियों से सम्बन्ध बढ़ाते हुए (च) ग्रौर (हीनान्-हीनान वर्जयन्) नीच-नीच व्यक्तियों से सम्बन्धों को छोड़ते हुए (श्रेष्ठताम्+एति) ग्रौर ग्रधिक श्रेष्ठता को प्राप्त करता है (प्रत्यवायेन) इसके विपरीत व्यवहार करने से (शूद्रताम्) वह शूद्रता को प्राप्त हो जाता है ॥ २४५॥

अब्द्वारिट न : २४५ में बाह्मण शब्द से मिन्नाय — इस श्लोक में 'बाह्मण' शब्द उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुमा है। इसी प्रकार ग्रन्य वर्णों को भी श्रेष्ठता और शृद्धता प्राप्त होती है, यह अभिप्राय भी इस श्लोक में सिन्नहित है। मनु की यह शैली है कि कहीं-कहीं छन्दपूर्त्य अथवा उपलक्षण रूप में उस प्रकार के शब्दों का प्रयोग विस्तृत ग्रथं के लिए करते हैं; यथा — प्राणायामों का विधान सबके लिए है, किन्तु ६। ७० में सभी वर्णों के लिए बाह्मण शब्द का उपलक्षणरूप में प्रयोग है। इसी प्रकार ६। ६१ में चारों ग्राश्रमवासियों के लिए धर्म के लक्षणों का विधान करते हुए भी उसी प्रसङ्ग में ६। ८०, ६४ श्लोकों में 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया है, जो उपलक्षण रूप में है। २।१५ में भी बाह्मण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग है।

श्रेष्ठ स्वभाव बाला बनें--

हढकारी मृदुर्वान्तः क्रूराचारैरसंवसन्। स्राहिस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥ (८४)

(दृढ़कारी) स्दा दृढ़कारी (मृदुः) कोमल स्वभाव (दान्तः) जितेन्द्रिय (क्रूराचारः + ग्रसंवसन्) हिंसक, क्रूर, दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने हारा क्रू(तथावतः) धर्मात्मा (दम-दानाम्या स्वर्गं जयेत्) मन को जीत ग्रीर विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होते ॥ २४६ ॥ (स० प्र०१०७)

क्ष (ग्रहिस्रः) हिंसा के स्वभाव से रहित .....

<sup>+ [</sup>प्रचलित अर्थ — वंश को उन्नत करने की इच्छा वाला सर्वदा (श्रपने से) बड़ों-बड़ों के साथ सम्बन्ध करे ग्रीर (ग्रपने से) नीचों-नीचों को छोड़ दे (उनसे सम्बन्ध न करे)॥ २४४ ॥ ]

दान सम्बन्धी विविध बातें---

एधोदकं मूलफलमन्नमम्युद्यतं च यत्। सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम्।। २४७।।

(अभ्युद्धतम्) विना मांगे मिले (एध - उदकम्) लकड़ी, जल (मूल-फलं च यत् ग्रन्तम्) मूल, फल ग्रीर जो ग्रन्त हो उसको (मधु ग्रथ - ग्रभयदक्षिणाम्) शहद ग्रीर ग्रभयदान को (सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्) सबसे ले ले ।। २४७ ॥

न्नाहृताम्युद्यतां भिभां पुरस्तादप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिप्राह्यामपि बुष्कृतकर्मगः ॥ २४८ ॥

(ग्रप्रचोदिताम्) लेने वाले द्वारा स्वयं भथवा ग्रन्य किसी के द्वारा प्रेरणा न की हुई (ग्रम्युद्यताम्) लाने वाले के द्वारा स्वयं लाकर (पुरस्तात् ग्राहृतां भिक्षाम्) सामने रख दी गई भिक्षा (दुष्कृतकर्मणः ग्रपि) बुरे कर्म करने वाले की भी (ग्राह्याम्) ग्रहृण कर लेनी चाहिए (प्रजापितः मेने) ऐसी ब्रह्मा जी की मान्यता है।। २४ ८।।

नाइनन्ति पितरस्तस्य दश वर्षांगि पञ्च च। न च हृद्यं वहत्यग्नियंस्तामम्यवमन्यते ॥ २४६ ॥

(यः) जो व्यक्ति (ताम् + ग्रिम + ग्रिवमन्यते) उस भिक्षा को ग्रपमानित करता है ग्रर्थात् स्वीकार नहीं करता है (तस्य) उसके (पितरः) पितर (दश वर्षाण च पञ्च) पन्द्रह वर्ष तक (न + ग्रदनित) श्राद्ध के ग्रन्न को नहीं खाते (च) ग्रीर (ग्रिग्नः) यज्ञ की अग्नि (हव्यं न वहति) हिव को उन तक नहीं पहुंचाती ॥ २४६ ॥

श्चयां गृहान्कुशान्गन्धानयः पुष्पं मग्गीन्दिषि । धाना मत्स्यान्पयो मासं शाकं चैव न निर्नु देत् ॥ २४० ॥

(शय्यां ग्रहान् कुशान् गन्यान् + अपः पुष्पं मणीन् दिध धानाः मस्स्यान् पयः मांसं च शाकं) पलंग, घर, कुश, सुगन्धित पदार्थं, जल, फूल, मिणयां, दही, धान्य, मछली, दूध, मांस ग्रौर शाक इन पदार्थों को (न निर्नु देत्) दान लेने से मना न करे ॥ २५०॥

गुरून्भृत्यादचोज्जिहीर्थन्नचिष्यन्वेवतातिथीन् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृष्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

(गुरून्) माता-पिता ग्रादि गुरुजनों (च) ग्रौर (भृत्यान्) सेवकों का (उज्जि-हीर्षन्) भररापोषण करने के लिए (देवता + ग्रितथीन् ग्रिचिष्यन्) देवताग्रों ग्रौर ग्रिति-थियों के पूजन के लिए (सर्वतः प्रतिग्रह्णीयात्) सब से दान ग्रहण कर ले (तु) किन्तु (ततः) उस दान से (स्वयं न तृष्येत्) स्वयं तृष्त न हो ग्रर्थात् उसे ग्रपने उपयोग में न लाये॥ २५१॥

> गुरुषु त्वभ्यतीतेषु बिना वा तंगृहे बसन्। भ्रात्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृङ्खीयात्साषुतः सदा।। २४२।।

(गुरुषु तु + ग्रम्यतीतेषु) माता-पिता म्रादि गुरुजनों की मृत्यु हो जाने पर (वा) ग्रथवा (तैः बिना गृहे वसन्) उनसे म्रलग म्रकेले ही घर में रहते हुए (म्रात्मनः वृत्तिम् + ग्रिन्वच्छन्) ग्रपनी म्राजीविका के लिए (साधुतः सदा गृह्णीयात्) श्रेष्ठ लोगों से सदा दान ग्रहण करले।। २५२।।

## ब्राधिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ । एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यञ्चात्मानं निवेदधेत् ॥ २५३ ॥

(ग्राधिक) ग्राधे में खेती करने वाला (कुलिमित्रम्) कुल का मित्र (गोपालः) ग्वाला (दास-नापितौ) अपना सेवक और नाई (च) ग्रौर (यः) जो (ग्रात्मानं निवेद-येत्) स्वयं को सेवा के लिए ग्रर्पण करदे (एते शूद्रेषु भोज्यान्नाः) इन शूद्रों के यहाँ भोजन कर लेना चाहिए॥ २५३॥

#### याहशोऽस्य मवेदात्मा याहशं च चिकीवितम् । यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ :।

(ग्रस्य) इस शूद्र की (यादशः ग्रात्मा भवेत्) जैसी कुलशील की स्थिति हो (च) ग्रीर (यादशं चिकीषितम्) जैसी इच्छा हो (च) तथा (यथा एनम् ग्रपचरेत्) जिस प्रकार इस ब्राह्मण की सेवा करना चाहे (तथा) उसी प्रकार (ग्रात्मानं निवेदयेत्) ग्रपने को निवेदन कर दे ग्रथीत् सब बातें स्पष्ट करके स्वयं को सेवा के लिए ग्रप्ण करदे।। २४४।।

# आम्बर्धीत्डन्तः २४७ से २५४ तक के श्लोक प्रक्षिप्त हैं-

- १. विषयविरोध(२) इन क्लोकों में वर्णित बातें विषयबाह्य हैं। इनका न तो 'सत्वगुणवर्धन' विषय से कोई सम्बन्ध है और न ये व्रत ही कहला सकते हैं। ग्रतः विषयविरोध के ग्राधार पर सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन ४।३३-३४ क्लोकों पर 'विषयविरोध' के ग्रन्तगैत द्रष्टव्य है]।
- २. श्रन्तिविरोध—(१) १। प्रः, श्लोक में 'दान लेना' ब्राह्मण का कर्म निश्चित किया है, अतः वह सभी धर्मानुसारी वस्तुओं का दान ग्रहण कर सकता है। २४७—२५० श्लोकों में कुछ वस्तुओं का दान ग्रहण कर लेना या न लेने की व्यवस्था मनु की उक्त व्यवस्था से तालमेल नहीं खाती, श्रतः विरुद्ध है। (२) २४८ श्लोक में स्वयं लाकर दी गई भिक्षा को निषेध न करने का कथन है। भिक्षा तो ग्रयाचित होती ही नहीं। याचित को ही भिक्षा कहते हैं। २।२३-२४ [४८-४६], २५-२६ [५०-५१], १५७-१६० [१८२-१८४] ग्रादि श्लोकों में मनु ने याचित को ही भिक्षा कहा है, ग्रतः इस श्लोक में ग्रयाचितको भिक्षा कहना ही मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। (३) २।१६० [१८४] में बुरे लोगों से भिक्षा प्राप्त करना निषिद्ध है। २४८ में बुरे लोगों से भिक्षा प्राप्त करने के लिए कहना उसके विरुद्ध है। प्रजापित का नाम जोड़कर ग्रपनी बात को प्रामाणिक बनाने की प्रवृत्ति इसके प्रक्षिप्त होने को ग्रीर ग्रधिक पुष्ट करती

है। (४) २६४ में मृत पितरों के श्राद्ध की मान्यता मनुविष्द्ध है [देखिए ३। ११६-२८४ पर 'अन्तिवरोध' शीर्ष के]। (५) २५० में मांसभक्षण का विधान मनु की मान्यता के विषद्ध है [देखिए ४। २६—-२८ श्लोकों पर टिप्पणी—'अन्तिवरोध']। (६) २५३ में 'नापित' जाति की गणना मनु की कर्मणा वर्ण व्यवस्था के विषद्ध है। मनु केवल चार वर्णों को मानते हैं, ग्रत: उनकी व्यवस्था में जातियों क वर्गी करण नहीं है। सेवा करना शूडों का कार्य है और वे अपने सेवा-कार्यों में यथेच्छ्या परिवर्तन भी कर सकते हैं, अत: यह वर्णन उक्त मान्यता के विषद्ध है [द्रष्टच्य १। ६२-११० पर समीक्षा]। २५४ में 'अस्य' तथा 'एनं' पद पूर्व श्लोक से सम्बद्ध हैं, इन अन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

भूठ बोलने वाला पापी है---

योऽन्यथा सन्तमःत्मानमन्यथा सःसु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन श्रात्मापहारकः ॥ २४५ ॥(८५)

(यः) जो व्यक्ति (ग्रन्यया सन्तम् + ग्रात्मानम्) स्वयं ग्रन्यथा होते हुए अपने आपको (सत्सु) सज्जनों में (ग्रन्यथा भाषते) ग्रन्यथा = कुछ का कुछ वतलाता है (सः) वह (लोके) लोके में (पापकृत्तमः) ग्रति पापी माना जाता है, क्योंकि वह (ग्रात्मा + ग्रपहारकः स्तेनः) ग्रपनी ग्रात्मा का हनन करने वाला चोर है।। २४४।।

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः । तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकुन्नरः ॥२५६॥ (८६)

(वाचि सर्वे म्रर्थाः नियताः) जिस वाणी में सब अर्थं = व्यवहार निश्चित हैं (वाङ्मूलाः) वाणी ही जिनका मूल भ्रोर (वाण् विनि सृताः) जिस वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं (यः नरः) जो मनुष्य (तां वाचं स्तेनयेत्) उस वाणी को चोरता म्रर्थात् निथ्या भाषण करता है (सः सर्वस्तेयकृत्) वह जानो सब चोरी म्रादि पाप ही को करता है, इसलिए निथ्याभाषण को छोड़के सदा सत्यभाषण ही किया करे।। २५६।।

''परन्तु यह भी ध्यान में रखे कि जिस वाणी में ग्रर्थ ग्रर्थात् व्यव-हार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उनका मूल ग्रीर वाग्गी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाग्गी को जो चोरता ग्रर्थात् निथ्या-भाषण करता है, वह सब चोरी ग्रादि पापों वा करने वाला है।''

(स॰ प्र॰ १०७)

योग्य पुत्र में गृह-कार्यों का समर्पण---

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि । पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यत्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥ (८७)

(यथाविधि) उक्त विधि के अनुसार (महर्षि-पितृ-देवानाम् आनृण्यं गत्वा) त्यक्ति [ब्रह्मचर्य-पालन एवं अध्ययन-अध्यापन से] ऋषि-ऋण को [माता-पिता आदि बुजुर्गों की सेवा एवं सन्तानोत्पित्ति से] पितृ-ऋण को [यज्ञों के अनुष्ठःन से] देवऋण को चुकाकर (सर्व पुत्रे समासज्य) घर की सारी जिम्मेदारी पुत्र को सौंपकर [तत्वश्चात् वानप्रस्थ लेने से पूर्व जव तक घर में रहे तब तक] (माध्यस्थम् + आश्रितः) उदासौन भाव के आश्रित होकर अर्थात् सांसारिक मोह-माया के प्रति विरक्त भाव रखते हुए (वसेत) घर में निवास करे।। २५७।।

अर्जुट्यीट्डन्ट: महर्षि, देव, पितृ शब्दों की विस्तृत विशेष व्याख्या के ज्ञान के लिए ३। दर देखिये।

ग्रात्मचिन्तन का ग्रादेश एवं फल---

एकाकी चिन्तयेग्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः । एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥२४८॥ (८८)

(नित्यम्) प्रतिदिन (विविक्ते) एकान्त में बैठकर (एकाकी) श्रकेला श्रर्थात् स्वयं प्रपनी ग्रात्मा में (श्रात्मनः हितं चिन्तयेत्) ग्रपने कल्याण की बातों का चिन्तन करे (हि) क्योंकि (एकाको चिन्तयानः) एकाकी चिन्तन करने वाला व्यक्ति (परं श्रेयः + ग्रिधगच्छिति) ग्रिधकाधिक कल्याण को प्राप्त करता जाता है।। २५८।।

विषय का उपसंहार---

एषोविता गृहस्थस्य वृत्तिवित्रस्य शाश्वती । स्नातकव्रतकल्पश्च सस्ववृद्धिकरः शुभः ॥२५६॥ (८६)

(एषा) यह (गृहस्थस्य विप्रस्य) गृहस्थ द्विज की (शाश्वती वृत्तिः) नित्य की वृत्ति या दिनचर्या (उदिता) कही (च) ग्रीर (सत्त्ववृद्धिकरःशुभः) सत्वगुण की वृद्धि करने वाला श्रेष्ठ (स्नानकत्रतकत्यः) स्नातक गृहस्थ के व्रतों के विधान को भी कहा ।। २५६ ।।

म्रनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्। व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते॥ २६०॥ (६०) (वेदशास्त्रवित् विप्रः) वेदशास्त्र का ज्ञाता द्विज (म्रनेन वृत्तेन वर्तयन्) इस जीविका या व्यवहार से वर्ताव करता हुम्रा (व्यपेतकल्मषः) पापरहित पुण्यजीवी होकर (नित्यं ब्रह्मलोके महीयते) सदा ब्रह्मलोक मर्थात् ब्रह्म में मग्न रहकर म्रानन्द को प्राप्त करता है।। २६०।।

अस्तुर्शोद्या : 'लोक दर्शने' घातु के अनुसार 'लोक' शब्द का 'दर्शन' या 'स्थान' अर्थ भी है। यहां ब्रह्मनोक का अर्थ ब्रह्मदर्शन अथवा परमात्मा में आश्रय प्राप्त करना = लीन होना है। मोक्ष में जीव परमात्मा के आश्रय में रहकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने हैं।

इति मह्िषमनुत्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतिहन्दीमाध्यसमन्वितायाम् अनुशीलन— समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ गृहस्थवृत्ति-व्रतात्मकृष्यवर्थोऽध्यायः ॥



# च्यथ पञ्चमोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-अनुज्ञीलनसमीक्षाम्यां सहितः]

(गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्याभक्ष्य-देह्युद्धि-द्रव्यशुद्धि-स्त्रीधर्म-विषय)

[भक्ष्याभक्ष्य ५।१ से ५। ५६ तक]

ऋषियों का भृगु मे प्रश्न---

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदमूचुर्महात्मानमनलप्रमवं भृगुम् ॥ १ ॥

(यथा + उदितान्) पूर्वं कहे हुए (स्नातकस्य धर्मान् श्रुत्वा) स्नातक गृहस्थ के कर्त्तंव्यों को सुनकर (ऋषयः) ऋषि लोग (महात्मानम् + धनलप्रभवं भृगुम् + ऊचुः) महात्मा, तेजस्वी महर्षि भृगु से यह वोले---।। १।।

> एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् । कथं मृत्युः प्रमवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

(प्रभो) हे प्रभो ! (एवं यथोक्तं स्वधर्मम् + म्रनुतिष्ठताम्) इस शास्त्र में कहे हुए म्रपने धर्मों का पालन करने वाले (वेदशास्त्रविदां विप्राग्गाम्) वेदशास्त्र के विद्वानों की (मृत्यु: कथं प्रभवति) मृत्यु कैसे हो जाती है ? ॥ २ ॥

> स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः। श्रूयतां येन दोवेण मृत्युविप्राञ्जिघांसति ॥३॥

(सः) वह (धभिरमा मानवः भृगुः तान् महर्पीन् उवाच) धर्मात्मा मनु के पुत्र भृगु उन ऋषियों से कहने लगे (येन दोषेण विप्रान् मृत्युः जिघांसति) जिस दोप के कारण विद्वानों को मृत्यु मार देती है, उन्हें (श्रूयताम्) सुनो — ॥ ३ ॥

> म्रनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्। म्रालस्यादन्नदोषाच्च मृत्युविप्राञ्जिषांसति ॥ ४ ॥

(वेदानाम् ग्रनभ्यासन) वेदों का अभ्यास छोड़ देने से (च) ग्रीर (ग्राचारस्य वर्जनात्) सदाचार को छोड़ देने से (ग्रालस्यान्) ग्रालस्य के कारण (च ग्रन्नदोपात्) ग्रीर ग्रन्त-दोष के कारण (मृत्युः विप्रान जिवासिन) मृत्यु विद्वानों को मारना चाहनी है।। ४।।

अन्तुर्शोत्जनः १—४ तक के श्लोक निम्न 'म्राधारों' के म्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं —

- १. शैलीगत श्राधार (१) वर्णन-शैली से यह स्पष्ट झात होता है कि इनमें ऋषि लोग भृगु से प्रश्न कर रहे हैं और भृगु उसका उत्तर दे रहे हैं। इस प्रकार ये श्लोक मनुप्रोक्त नहीं हैं। इसका संकलियता कोई भृगु से भी भिन्न व्यक्ति है। (२) सम्पूर्ण मनुस्मृति में मनु की एक निश्चित शैली यह है कि वे जब भी किसी विषय या प्रसङ्ग को प्रारम्भ या समाप्त करते हैं तो उसके प्रारम्भ, समाप्ति श्रथवा दोनों स्थानों पर उसको कहने का संकेत करते हैं [१।१२०] (२।१), २।४३ (६८), ३।२८३ ४।२५६ आदि]। बीच में प्रश्नोत्तर शैली से वर्णन करना मनु की शैली नहीं है। ये चारों इलोक मनु की शैली से भिन्नता रखते हैं।
- २. प्रसङ्खिरोध-इन चारों इलोकों का मनुस्मृति के प्रग्रिम भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी क्लोकों से प्रसंग नहीं जुड़ता और न तालमेल बैठता है। (१) ४। २ में प्रश्न केवल वेदशास्त्रवेत्ताम्रों के लिए पूछा गया है, जब कि भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी विधान सभी द्विजातियों के लिए किया जा रहा है, जैसे - "ग्रमश्याणि द्विजार्त नाम" [४। ४]. "स्नेहाक्तं द्विजाति भिः" (४। २४)। (२) ४। २ में प्रक्त पूछा गया है कि 'स्वधर्म में स्थित वेदशास्त्रवेत्ताग्रों को मृत्यू कैसे मारती है ? श्रीर उत्तर है— 'ग्रन्न आदि दोघों के कारण मृत्यू विघ्रों को मारती है।' फिर ग्रागे भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का वर्णन है। भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग में विश्वत पदार्थों से ग्रीर उनकी वर्णनशैली से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रमंग न तो इन चार इलोकों से सम्बद्ध है, ग्रीर न इनका उत्तर ही है। क्योंकि इस प्रसंग में भक्ष्याभक्ष्य पदार्थ मृत्युकारक अथवा जीवनदायक आधार पर विहित नहीं किये गये हैं ग्रिपित सात्त्विक, तामिसिक या राजसिक, पवित्रता ग्रीर ग्रपवित्रता, श्रेष्ठता ग्रीर ग्रश्नेष्ठना तथा पाप ग्रीर पुण्य के आधार पर भक्ष्य ग्रीर स्रभक्ष्य माने हैं। प्रमाण के लिए पांचवां श्लोक पर्याप्त है-"लशनं गुंजनं चैव" श्रमक्ष्याणि द्विजातीनाम्" यहाँ तामसिकता के श्राधार पर निषेध है, श्रीर "श्रमेध्य प्रभवारिंग च" यहाँ ग्रपवित्रता के ग्राधार पर । इनका मृत्युकारक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार इस प्रसंग में विशत पूर्व के दश दिनों का गौ का दूध, स्त्रीदुध, कांजी स्रादि पदार्थों का भी इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार प्रथम चार बलोकों में वर्णित प्रक्तोत्तर के इस प्रसंग से कोई सम्बद्धता नहीं है ग्रौर उसे दिखाया गया है इस प्रसंग के ग्राधार रूप में । इस ग्राधार के ग्रनुसार ये चारों ब्लोक प्रक्षिप्त हैं ।
- ३. श्रवान्तरावरोध-—इन चारों श्लोकों में प्रदिश्तित प्रश्न ग्रीर उत्तर में भी परस्पर कोई संगति नहीं है, जिससे यह ज्ञात होता है कि ये श्लोक किसी विद्वान की रचता नहीं हैं। (१) द्वितीय श्लोक में प्रश्न है—'स्वधर्म में स्थित देवताग्रों को मृत्यु कैसे मारती है ?' उत्तर है—'वेदों के ग्रनम्यास से, ग्राचार के त्याग से, ग्रालस्य ग्रीर ग्रन्न के दोगों के कारण'। यहां विचारस्मीय यह है कि जो व्यक्ति शास्त्रीक्त स्वधर्म के

पालन में लगे हैं वे वेदों का अभ्यास, सदाचार का पालन भी अवश्य करेंगे और आलस्य तथा अभक्ष्य पदार्थों से दूर रहेंगे; यदि वे इन दोनों से युक्त हैं तो 'स्वधर्म में स्थित कैसे हुए। इसी प्रकार जो वेदशास्त्रों के वेत्ता हैं, वे वेदों का अभ्यास न करें यह कैसे हो सकता है ? और यदि वेदाभ्याम ही नहीं करते तो वेदशास्त्रों के वेत्ता कैसे हो सकते हैं ? इस प्रकार प्रश्न और उत्तर परस्पर विरुद्ध हैं। (२) प्रश्न पूछा गया है—वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु कैसे होती है और उत्तर है—'अन्त आदि दोपों से।' क्या अन्त-दोप से रहित वेदशास्त्रवेत्ताओं की मृत्यु नहीं होती? इस प्रकार यह प्रश्न भी अपूर्ण है। यदि प्रश्न यह होता कि 'स्वधर्म में स्थित वेदवेत्ताओं की अकालमृत्यु को जोती है ?' तो भी कुछ उचित माना जा सकता था। इस प्रकार अवान्तर विरोध के कारण भी ये श्लोक मनुसद्दा ऋषि द्वारा प्रोक्त प्रतीत नहीं होते।

विशेष—प्रतीत होता है कि मनु की शैली का 'विषय का संकेत देने वाला' मूल बलोक इन बलोकों को मिलाते समय हटा दिया गया और फिर वह लुप्त हो गया। १२ वें अध्याय के प्रारम्भ में भी ऐसा ही किया गया है। उस स्थान का मूल बलोक कुछ प्रतियों में उपलब्ध है। वह इस बात का प्रमाण है कि लोगों ने मनुनंहिता को भृगुसंहिता के रूप में बदलने की भरसक कोशिश की है।

द्विजातियों के लिए ग्रभक्ष्य पदार्थ-

## लशुनं गृञ्जनं चैव पलाष्डुं कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेश्यप्रभवाश्णि च ॥ ४ ॥ (१)

(लशुनं गुञ्जनं पलाण्ड्ंच कवकानि) लहसुन, सलगम, प्याज, कुकुरमुत्ता [छत्राक या कुम्हठा | (च) स्रौर (स्रमेध्यप्रभवागि) स्रशुद्ध स्थान में होने वाले सभी पदार्थ (द्विजातीनाम् स्रभक्ष्यागि) द्विजातियों के लिये स्रभक्ष्य हैं ।। ४ ।।

"द्विज ग्रयीत् वाह्मण क्षत्रिय, वैश्य प्रौर जूदों को मलीन, विष्ठा, मूत्रादि के संसगं से उत्पन्न हुए शाक फल-मूलादि न खाना।"

(स॰ प्र॰ २६४)

अस्तुर्गो कि ना : गृञ्जन का सर्थ शलगम—(१) यद्यपि 'गृञ्जन' शब्द का वर्तमान में 'गाजर' सर्थ प्रसिद्ध है, किन्तु प्राचीन काल में यह 'शलगम' के लिए मुखक्ष से प्रयुक्त होता था। धन्वन्तरि निघण्ड करवीरादि वर्ग ४। १० में गृञ्जन की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'गृञ्जन के मूल पर शिखा होती है, यह यवनों को बहुत प्रिय है, गोलवत् है, गांठरार मूल है। इसके प्रत्य नाम हैं— शिल्क कन्द, कन्द, डिण्डीरमोदक। वह स्वाद में कटु, उण्ण श्रीर दुर्गन्ध युक्त है'—-गुञ्जनं शिक्षमूलं च यवनेष्टं च वर्तुलम्। प्रियमूलं शिक्षाकन्दं कन्दं डिण्डीरमोदकम्॥ गृञ्जनं कटुकोष्णं च कुर्गन्धं गुल्म—

नाशनम्।" ये लक्षण वर्तनान प्रसिद्ध पीत, रक्तया कृष्ण अर्ण और लम्बे आकार वाले गाजर में नहीं घटते।

(२) परिगणित पदार्थों के समस्य होने में कारण—इन पदार्थों को स्रभक्ष्य इस कारण माना गया है कि स्रायुर्वेद के स्रनुसार इनमें दुर्गु एग की प्रमुखता है। ये सभी दुर्गन्धयुक्त पदार्थ हैं। लहशुन स्नद्यन्त राजसिक है, प्याज स्नत्यन्त तामसिक है, शलगम भी राजसिक है, खन्नाक को दूरित पदार्थ माना गया है। मिलन भीर तामसिक-राजसिक भोजन से खाने वाले का मन भी वैसा ही वनता है। स्ननः ये निषद्ध हैं। [स्रभक्ष्य पदार्थों का विधान ६। १४ में भी द्रष्टव्य है।]

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृज्ञचनप्रभवांस्तथा । ज्ञेलुंगव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्णयेत् ॥ ६ ॥

(लोहितान् वृक्षनिर्यासान्) लाल वृक्षों का गोंद (तथा वृश्चनप्रभवान्) तथा वृक्षों को काटने से निकालने वाला रस (शेलुम्) ल्हमौड़े का फल (च गव्यं पेयू गम्) स्रीर गाय की पेवसी [ = खीस ] इन्हें (प्रत्यनेन विवर्जयेत्) प्रयस्तपूर्वक छोड़ देवे॥ ६॥

#### वृथा कृसरसंयावं पायसापूर्यमेव च । अनुराकृतमांसानि वेवान्नानि हवींषि च ।। ७ ॥

(वृथा क्रसर-संयावं च पायस-म्रपूपम् + एव) देवता स्रों के उद्देश्य के बिना वनाये गये तिलिमिश्रित चावल, हलुवा, खीर, मालपूप्रा (अनुपाकृतमांमानि) मन्त्रों के उच्चारण से शुद्ध न किया हुम्रा मांस (देवान्नानि) देवता स्रों के भोग के पदार्थ (च) और (हवींपि) होम से पहले की हिव, इनको भी छोड़ देवे।। ७।।

# अन्योजना : ६ - ७ इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

श्रन्तिवरोध—सातवें श्लोक में मांसभक्ष ए का वर्णन है। किसी भी प्रकार के मांस का भक्ष ए करना मनु की मान्यता के विश्व है [विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ४। २६— २८ श्लोकों पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक समीक्षा ]। छठे श्लोक की 'विवर्जयत्' क्रिया से सातवां श्लोक भी सम्बद्ध है। दोनों श्लोकों की सम्बद्धता के कारण दोनों श्लोक साथ के हैं। सातवां श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर छठा स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाना है।

## ग्रनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा। ग्राविकं सन्धिनीक्षीरं विदत्सायाइच गोः पयः ॥ ६॥ (२)

(ग्रनिदंशायाः गोः क्षोरम्) ज्याई हुई गौ का पहले दश दिन का दूध (ग्रीष्ट्रम्) ऊंटनीका (तथा ऐकशकम्) तथा घोड़ी ग्रादि का (ग्राविकम्) भेड़ का (संधिनीक्षोरम्) सांड के संसर्ग को चाहने वाली गौ का दूध (च) ग्रीर (विवत्साया: गो: पयः) जिसका वछड़ा या बछिया मर गई हो उस गौ के दूध को भी छोड़ देवे । ['वर्ज्यानि' क्रिया ऋग्निम क्लोक में है]।। দ।।

स्रारप्यानां च सर्वेषां मृगार्गां माहिषं बिना। स्त्रीक्षीरं चैव वर्ग्यानि सर्वेगुक्तानि चैव हि ॥ ६ ॥ (३)

(माहिषं बिना) भेंस के दूध को छोड़कर (सर्वेषाम् ग्रारण्यानां मृगा-णाम्) सव जंगली पशुग्नों का दूध (च) ग्रौर (स्त्रीक्षीरम्) स्त्री का दूध (वर्ज्यानि) वर्जित हैं (च+एव) तथा (सर्वशुक्तानि) सब प्रकार के खट्टे पदार्थ भी वर्जित हैं।। हु।।

भक्ष पदार्थ---

दिध भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दिधसंभवन् । यानि चैवाभिषुयन्ते पृष्यमूलफलैः शुभैः ॥१०॥ (४)

(गुक्तेषु) खट्टे पदार्थों में (दिध च सर्व दिधसभवम् भक्ष्यम्) दही ग्रौर दही से बनने वाले सभी छाछ, मक्खन ग्रादि पदार्थ खाने योग्य हैं (च) ग्रौर (यानि) जितने पदार्थ (ग्रुभैः) हितकारी या गुराकारक (पृष्कामूल-क्लैः ग्रभिष्यन्ते) फून, मूल, फलों से तैयार किये जाते हैं, वे भी खाने योग्य हैं।। १०।।

अन्य हो कि ना : श्रेष्ठ भक्ष्य पदार्थों का विधान ६। ७, १३ में भी द्रष्टव्य है—

कव्यादाञ्छकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः । ग्रनिदिष्टांद्रचेकशफाष्टिट्टिमं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

(क्रव्यादान्) कच्चा मांस खाने वाले गीध, चील ग्रादि को (तथा सर्वान् ग्राम-वासिनः राकुनान्) तथा सब गांव में रहने वाले कबू र, चिड़िया, ग्रादि पक्षियों को (ग्रनिदिप्टान् एकराफान्)जिनका विधाननहीं किया है ऐसे एकखुर वाले गधा ग्रादि को (च) ग्रीर (टिट्टिमं विवर्जयेन्) टटिहरी पक्षी को छोड़ देवे ॥ ११ ॥

> कलविङ्कं प्लबं हंसं प्रकाह्यं ग्रामकुक्कुटस् । सारसं रज्जुर्वातं च दास्त्रहं शुकसाकि ।। १२ ॥

(कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटं सारसं रज्जुवालं दात्पूहं च शुक-सारिके) गोरैया, बत्तक, हंस, चकवा, गांव का मुर्गा, सारस, रज्जुवाल — जंगली मुर्गा, जलकौआ, तोता और मैना, इनको भी छोड़ दे ॥ १२ ॥

> प्रनुदाञ्जालपादांश्च कोयध्टिन बिबिब्धिशन्। निमज्जतश्च मत्स्यादान् शौनं बल्झुरमेव च ॥ १३ ॥

(प्रतुदान्) चोंच से काटकर खाने वाले पक्षी 'कठफोड़ा' ग्रादि (जालपादान्) जिनके पैर फिल्ली से जुड़े हों (कोयष्टि) कोहड़ा नामक पक्षी (नखिवष्किरान्) खाने की वस्तुग्रों को नाखूनों से बिखेरकर खाने वाले तीतर आदि (च) ग्रौर (निमज्जतः मत्स्यादान्) पानी में गोता लगाकर मछिलयों को खाने वाले पक्षी (शौनम्) कसाई-खाने का मांस (च) तथा (वल्लूरम्) सूखा मांस—इनको भी न खाये।। १३।।

#### वकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्। मत्स्यादान्विड्वराहांस्च मत्स्यानेव च सर्वशः॥ १४॥

(बकं बलाकां काकोलं खञ्जरीटकम्) बगुला, वत्तक, पहाडी कौआ, खंजन पक्षी इनके मांस को (च) और (मत्स्यादान्) मछली खाने वाले मगरमच्छ ग्रादि विड्वराहान्) विष्ठा खाने वाले सुग्रर आदि (च) तथा (सर्वेशः एव मत्स्यान्) सभी मछिलियों के मांस को न खाये।। १४॥

## यो यस्य मांसमध्नाति सः,तन्मांसाद उच्यते। मतस्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मःस्यान्विवर्जयेत्।। १५ ॥

(यः यस्य मांसम् + ग्रश्नाति) जो जिसके मांस को खाता है (सः) वह (तत्) मांसादः + उच्यते) वह उसके मांस को खाने वाला कहाता है (मत्स्यादः) किन्तु मछ- लियों के मांस को खाने वाला (सर्वमांसादः) सर्वमांसभक्षी होता है (तस्मात्) इस कारण (मत्स्यान् विवर्जयेत्) मछलियों का मांस नहीं खाना चाहिए॥ १५॥

## पाठीनरोहितावाद्यो नियुक्तौ हव्यकव्ययोः। राजीवान्सिहतुण्डांदच सशल्कांदचेव सर्वद्यः॥१६॥

किन्तु (हब्य-कब्ययोः नियुक्तो) हव्य ग्रीर कब्य के लिए समर्पित (पाठे:न-रोहितो) पाठीन और रोहू मछलियां (आद्यो) खा लेनी चाहिएँ (च) ग्रीर (राजीवान् सिंहतुण्डान् सर्वेशः सशल्कान् एव) राजीव, सिंहतुण्ड और सब् काँटेदार मछलियों को भी इस विधि से खा लेना चाहिए।। १६।।

## न मक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् । मक्ष्येष्विप समुद्दिष्टान्सर्वान्यञ्चनलांस्तथा ॥ १७ ॥

(एकचरान्) ग्रकेले विचरण करने वाले सांप आदि (अज्ञातान् मृग-द्विजान्) जिनके मांस के गुणदोषों का ज्ञान न हो ऐसे पशु तथा पक्षियों का (भक्ष्येषु + अपि समुद्दिष्टान्) भक्ष्य बताये गए पशुपक्षियों में भी जिनके गुणदोषों का ज्ञान न हो उन्हें (तथा सर्वान् पञ्चनखान्) तथा सब पञ्चनखों जैसे बन्दर, लंगूर आदि को न खाये॥ १७॥

क्वात्रिषं शस्यकं गोषां लड्गकूर्मशशास्तथा। भक्ष्यान्यञ्चनलेष्वाहुरनुष्ट्रांक्चैकतोद्यतः ॥१८॥ (श्वाविध शल्यक गोधां तथा खड्ग-कूर्म-शशान्) सेह या शाहो नामक प्राणी, शल्यक, गोह, गेंडा, कछुग्रा और खरगोश इनको (पञ्चनखेपु) पांच नाखून वालों में (च) तथा (अनुष्ट्रान्) ऊट को छोड़कर (एकतोदतः) एक ओर के दाँत वाले पशुग्रों को (भक्ष्यान् ग्राहुः) खाने योग्य कहा है।। १८।।

## छत्राकं विड्वराहं लशुनं ग्रामकुक्कुटम्। पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥ १६ ।

(छत्राकं विट्वराहं लगुनं ग्रामकुक्कुटम्) छत्राक —कुम्हठा, विष्ठा खाने वाला सूत्रर, लहसुन, गांव का मुर्गा (पलाण्डुं च गुञ्जनं मत्या जग्ध्वा) प्राज और सलगम को जानवूक्षकर खाने से (द्विजः पतेत्) द्विज पतित हो जाता है ॥ १६ ॥

श्रमत्यैतानि षड् जगध्वा कृच्छ्नं सान्तपनं चरेत्। यतिचान्द्रायरां वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २०॥

(एतानि षट् अमत्या जग्ध्वा) ऊपर वर्णित इन छ वस्तुम्रों को अनजाने में खाकर (कृच्छ्ने सान्तपनं वा यतिचान्द्रायणं चरेत्) कष्टप्रद 'सान्तपन' [११।२१२] अथवा 'यतिचान्द्रायण' [११।२१८] नामक प्रायश्चित्त करे (म्रिप शेषेषु) स्रौर शेष बची वस्तुओं को खाकर (म्रहः उपवसेत्) एक दिन उपवास करे।।२०॥

#### संवत्सरस्यंकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः। श्रज्ञातभुक्तशुद्धरुयं ज्ञातस्य तु विशेषतः॥२१॥

(द्विजोत्तमः) श्रेष्ठ द्विज (श्रज्ञातभुक्तशुद्धघर्यम्) अनजाने में खाई गई ग्रभक्ष्य वस्तुओं की शुद्धि के लिए (संवत्सरस्य एकम् + अपि कृच्छ्रं चरेत्) वर्ष भर में एक 'कृच्छ्रं' [११।२११] प्रायिष्टत्त ही कर ले [तो भी पर्याप्त है] (तु ज्ञातस्य) किन्तु जानवू अकर खाये हुएं की शुद्धि के लिये (विशेषतः) विशेषरूप से कहे गये प्रायिष्टित्तों को ही करे॥ २१॥

## यज्ञार्थं ब्राह्मार्गवंध्याः प्रशस्ता भृगपक्षिराः। भृत्यःनां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा॥२२॥

(ब्राह्मणैं:) क्राह्मणों को (अतर्णात्) के लिये (प्रकार क्राप्यक्षिणः) उत्तम पशुओं और पक्षियों को (बध्याः) मार लेना चाहिय (च) और (भृत्यानां वृत्त्यर्थम्) एव) सेवकों के पालन-पोषण के लिये मार लें (पुरा ग्रगस्त्यः हि ग्राचरत्) प्राचीन काल में महर्षि ग्रगस्त्य ने भी ऐसा ही किया था॥ २२॥

बभूवृहि पुरोडाज्ञा मध्याणां मृगयक्षिणाम् ।
पुराणेष्विप यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेसु च ॥ २३ ॥
(हि पुराणेषु — ग्रिप यज्ञेषु च ब्रह्मक्षत्रसवेषु) क्योंकि पहले भी यज्ञों में श्रीर

ब्राह्मण क्षत्रियों के संयुक्त यज्ञानुष्ठानों में (भक्ष्याणां मृग-पक्षिणाम्) भक्ष्य कहे गये पशु और पक्षियों के (पुरोडाशाः बभूवुः) पुरोडाश-यज्ञ के लिये निर्मल अन्न या हिवष्यान्न बने हैं।। २३।।

## अन्तुर्योत्जनः : ११-२३ श्लोक निम्न प्रकार से प्रक्षिप्त हैं-

- १. अन्तर्विरोध—सभी प्रकार का मांसभक्षण और यज्ञों में मांस डालना मनु की मान्यता के विरुद्ध है, ग्रतः ये इलोक प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत जानकारी के लिये ४।२६— २८ इलोकों पर समीक्षा देखिये 'ग्रन्तविरोध' शीर्षक]।
- २. प्रसंगिवरोध - ये श्लोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध हैं श्रीर पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहे हैं। १० वें श्लोक में दही श्रीर दही से बन पदार्थों के खान का विधान किया है और २४ वें में दही से बन पदार्थों में छुत श्रीर छुतनिर्मित पदार्थों के भक्षण का विधान है। बीच के मांसभक्षण सम्बन्धी वर्णन ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इस प्रकार प्रसंगिवरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

## यत्कि विस्नेहसंयुक्तं भोज्यं भोज्यमगहितम् । यत्पर्यु षितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्।। २४ ॥ (४)

(प्रगहितम्) दोषरहित या अनिन्दित अर्थात् निन्दित मांस ग्रादि भोजन [४।४४-४६, ४१] से रहित और (यत् कि चित् भोज्य स्नेह-संयुक्तम्) जा कोई खाने की वस्तु चिकनाई अर्थात् घृत श्रादि से मिलाकर बनायां गयी हो (तत् पर्यु पितम् + अपि) वह बासी भी (भोज्यम्) खा लनी चाहिए (च) तथा (यत् हिवः शेषं भवेत्) जो यज्ञ की हिव से बची खाद्य-वस्तु हो वह भी (श्राद्यम्) खा लेनी चाहिए।। २४॥

# चिर स्थितमि त्वाद्यमस्नेहानतं द्विजातिभिः। यवगोधूमजं सर्वं पयसद्येव विक्रिया।। २४।। (६)

(द्विजातिभिः) द्विजातियों को (यव-गोन्नमजं सर्वम्) जौ स्रौर गेहूं से बने पदार्थ (च) तथा (पयसः विक्रिया एव) दूध के विकार से बने खोया, मिठाई स्रादि पदार्थ (ग्रस्नेहाक्तम्) घृत स्रादि चिकनी वस्तु के मेल से न बने हों तो भी (चिरस्थितम् + ग्रिप) देर से बने हुए भी (ग्राद्यम्) खा लेने चाहिएं।। २४।।

मांसभक्षण की यज्ञीय विधि---

एतदुक्तं द्विजातीनां मक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधि मक्षणवर्जने ॥ २६ ॥ (एतत् द्विजातीनां भक्ष्य + ग्रभक्ष्यम् ग्रशेषतः उक्तम्) यह द्विजातियों का भक्ष्य ग्रीर ग्रभक्ष्य पूर्ण रूप से कहा (ग्रतः) ग्रव (मांसस्य भक्षणवर्जने विधि प्रवक्ष्यामि) मांस के खाने ग्रीर छोड़ने की विधि को कहंगा—॥ २६ ॥

## प्रोक्षितं मक्षयेन्मांसं बाह्यशानां च काम्यया। ययाविधि नियुक्तस्तु प्राशानामेव चात्यये॥ २७॥

मनुष्य (प्रोक्षितम्) मन्त्रों से पिनत्र किया हुम्रा मांस (ब्राह्मणानां काम्यया) व्राह्मणों की इच्छा हो तब (च) ग्रौर (यथानिधि नियुक्तः) शास्त्रोक्त निधि के म्रनुसार यज्ञ के लिए ग्रिपित मांस (च) ग्रौर (प्राणानाम् ग्रत्यये एव) प्राणों के संकट में पड़ जाने पर (मांसं भक्षयेत्) मांस खा ले ॥ २७॥

## प्रारणस्यान्नमिवं सर्वं प्रजापतिरकल्यत्। स्थावरं जङ्कमं चैव सर्वं प्रारणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

(प्रजापितः) प्रजापित ने (इदं सर्वं स्थावरं च जङ्गमम्) यह सब स्थावर [ग्रन्न, शाक, फल ग्रादि] ग्रीर चर [पशु-पक्षी ग्रादि] संसार (प्राणस्य + ग्रन्नम्) जीव के खाने के लिए ग्रन्न के रूप में ग्रीर (सर्वं प्राणस्य भोजनम्) सव कुछ जीव के भोजन के लिए (अकल्पयत्) बनाया है।। २८॥

#### चराणामन्नमचरा वंब्द्रिणामप्यवंब्द्रिणः । ग्रहस्तात्र्च सहस्तानां श्रूराणां चैव भीरवः ॥ २६ ॥

(ग्रचराः चराणाम्) स्थावर घास, फल-फूल ग्रादि लाद्य वस्तुएं चर प्राणियों के (ग्रदंष्ट्रिणः दंष्ट्रिणाम्) दांत-जाड़ से रहित प्राणी दांत-जाड़ वालों [ब्याघ्र ग्रादि] के (च) ग्रीर (ग्रहस्ताः) हाथ से रहित [मछली ग्रादि] (सहस्तानाम्) हाथ वालों [मनुष्य ग्रादि] के (च) तथा (भीरवः श्रराणाम्) डरपोक वहादुरों के (ग्रन्न) ग्रन्न ग्रयांत् भक्ष्य हैं ॥ २६ ॥

## नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्त्रारिएनोऽहन्यहन्यि । धात्रैव सुष्टा ह्याद्याश्च प्रारिएनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

(ग्रत्ता) लाने का ग्रधिकारी मनुष्य (ग्राद्यान् प्राणिनः) भक्ष्य प्राणियों को (ग्रहिन + ग्रहिन + ग्रिप भ्रदन्) प्रतिदिन लाते हुए भी (न दुष्यित) किसी पाप का भागी या दोषी नहीं होता (हि) क्योंकि (ग्राद्याः प्राणिनः) लाने के लिए प्राणी (च) ग्रीर (ग्रत्तारः) उनको लाने वालों को (धात्रा एव सृष्टाः) परमात्मा ने ही बनाया है ॥ ३०॥

यज्ञाय जिम्बर्मांसस्येत्येष देवो विधिः स्नृतः। ग्रतोऽन्यया प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥३१॥ (यज्ञाय मांसस्य जिष्धः) यज्ञ के लिए मांस का खाना (इति + एषः दैविविधः स्मृतः) यह 'देविविधि' मानी गयी है (ग्रतः + ग्रन्थया प्रवृत्तिः तु) इस से भिन्न विधि से माँस खाना तो (राक्षसः विधिः + उच्यते) 'राक्षसविधि' कही गयी है ॥ ३१॥

#### क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा। वेवान्पितृं स्वाचंपिरवा सावन्मांसं न बुष्यति ॥ ३२ ॥

(क्रीत्वा) खरीदकर (वा) अथवा (स्वयम् अपि + उत्पाद्य) स्वयं मारकर मांस तैयार करके (वा) अथवा (पर + उपकृतम्) दूसरे के द्वारा भेंट किये गये (मांसम्) मांस को (देवान् च पितृन् अर्वेियत्वा खादन्) देवताओं और पितरों को अर्पण करके खाने से (न दुष्यिति) मनुष्य दोषभागी नहीं होता ॥ ३२ ॥

#### नाद्यादविषिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः । जम्ब्दा ह्यविषिना मांसं प्रेरय तैरद्यतेऽवदाः ॥ ३३ ॥

(ग्रनापदि) ग्रापत्तिरहित काल में (मांसविधिज्ञः द्विजः) मांस खाने की विधि को जानने वाला द्विज (ग्रविधिना) उक्त विधि के बिना (न + ग्रद्यात्) मांस को न खाये (हि) क्योंकि (ग्रविधिना मांसं जण्डवा) विधिरहित रूप से मांस खाकर (प्रेत्य) परलोकों में (तैः) उन खाये गये प्राणियों द्वारा (ग्रवशः + ग्रद्यते) बलात् खाया जाता है।।३३॥

#### न ताहरा भवत्येनो मृगहन्तुर्धनायिनः। याहरा भवति प्रत्य वृथामांसानि सावतः॥ ३४॥

(धनायिन: मृगहन्तुः) धन के लिए पशुश्रों को मारने वाले व्यक्ति को भी (तादशम् एनः न भवित) वैसा पाप नहीं होता (यादशम्) जैसा (वृथामांसानि खादतः) देवताश्रों के उद्देश्य के बिना मांस खाने वाले को (प्रेत्य) मरने के बाद होता है।। ३४॥

## नियुक्तस्तृ ययान्यायं यो मासं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पश्चतां याति संभवानेकविद्यतिम्।। ३५ ॥

(यः मानवः) जो मनुष्य (यथान्यायं नियुक्तः तु मांसं न + प्रक्ति) यथाविधि श्राद्ध या मधुपर्के मेंसमपित मांस को नहीं खाता है (सः) वह (प्रेत्य) मरकर (एकशिशर्ति संभवान् पशुतां याति) इक्कीस जन्मों तक पशुओं का जन्म पाता है ॥ ३५॥

## स्रसंस्कृतान्यशून्मन्त्रैर्नाद्याद्वित्रः कदाचन । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छादवतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

(विप्रः) बाह्मण को चाहिए कि (कदाचन) कभी भी (मन्त्रैः असंस्कृतान् पश्न् न + प्रदात्) मन्त्रों से पवित्र न किये गये पशुमासों को न खाये (शास्वतं विधिम् + म्रास्थितः) सनातन विधि में म्रास्था रखकर (मन्त्रैः संस्कृतान् तु ग्रद्यात्) मन्त्रों से पवित्र किये गये मांसों को ही खाये ॥ ३६ ॥

कुर्याद् घृतपञ्चं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा। न त्वेच तु वृथा हन्तुं पञ्चमिच्छेत्कदाचन।। ३७॥

(संगे) पशुमांस लाने की ग्रधिक इच्छा होने पर (घृतपशुं कुर्यात्) घी का पशु बनाकर लाले (तथा) ग्रथवा (पिष्टपशुं कुर्यात्) चून काही पशुबनाकर लाले (तु) किन्तु (कदाचन) कभी भी (वृथा एव) यश्मदि उद्देश्य के बिना (पशुं हुन्तुं न तु इच्छेत्) पशुको मारने की भी इच्छान करे, फिर लाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ॥ ३७॥

> यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो हि मारणम् । वृषापशुष्टनः प्राप्नोति प्रेरय जन्मनि जन्मनि ।। ३८ ।।

(वृथापशुष्टनः) यज्ञ-देवता म्रादि के बिना पशुम्रों को मारने वाला (प्रेत्य) मरकर (जन्मिन जन्मिन) जन्म-जन्मान्तरों में (यावन्ति पशुरोमाणि) जितने उस मारे गये पशु के रोम हैं (तावत्कृत्वा हि) उतनी ही बार (मारण प्राप्नोति) मारा जाता है।। ३८॥

यज्ञार्यं एशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञञ्च भूत्यं सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३६ ॥

(स्वयम्भुवा) ब्रह्मा ने (स्वयम्) स्वयं (पशवः) पशुक्रों को (यज्ञार्थम् एव सृष्टाः) यज्ञ के लिए ही बनाया (च) और (यज्ञः) यज्ञ (सर्वस्य भूत्यै) सब के कल्याण के लिए है (तस्मात्) इस कारण से (यज्ञे वधः- मश्रवधः) यज्ञ में 'पशु श्रादि श्राणियों की हिंसा करना' श्राहंसा ही हं।। ३६॥

> भोषध्यः पश्चवो वृक्षास्तियंञ्चः पक्षिरास्तया । यज्ञार्यं निधनं प्राप्ताः प्राप्तुवत्त्युरस्तीः पुनः ॥ ४० ॥

(अोषघ्यः) स्रोषधियाँ (पशवः) पशु (वृक्षाः) वृक्ष (तिर्यञ्चः) तिर्यक्योनि बाले साँप, कछुए स्रादि (तथा पिक्ष्याः) तथा पक्षीः (यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः) यज्ञ के लिए मृत्यु को प्राप्त होकर (पुनः उत्सृतीः प्राप्नुवन्ति) फिर उद्धार या उत्तम योनि को प्राप्त करते हैं।। ४०॥

मधुपकें च यज्ञे च पितृदैवतकर्मिए। अत्रैव पज्ञचो हिस्या नान्यत्रेत्यक्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

(मधुपर्के यज्ञे पितृ-दैवत-कर्मणि) मधुपर्क में, यज्ञ में, श्राद्धः श्रीर देवकर्म में (भ्रत्र + एव पक्षवः हिंस्याः) केवल इन्हीं स्थानों पर पशुश्रों की हिंसा करनी चाहिए (भ्रन्यत्र न) ग्रीर कहीं नहीं (इति मनुः अत्रवीत्) ऐसा मनु ने कहा है ॥ ४१ ॥

#### एष्वर्येषु पश्चित्त्त्त्रसन्वेदतत्त्वायं विद् द्विजः । झारमानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमं गतिम् ॥ ४२ ॥

(वेदतत्त्वार्थवित्) वेद के रहस्य को जानने वाला (द्विजः) द्विज (एषु + अर्थेषु पश्न् हिंसन्) ऊपरवर्णित इन अवसरों में पशुओं की हिंसा करके (आत्मानं च पशुम्) अपने को और पशु को (उत्तमां गिंत गमयित) उत्तम गिंत प्राप्त कराता है ॥ ४२ ॥

गृहे- गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः। नावेदिविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्॥४३॥

(गृहे गुरो वा अरण्ये निवसन्) घर में, गुरु के यहां अथवा जंगल में रहते हुए (आत्मवान् द्विजः) आत्मा की उन्नित या पवित्रता चाहने वाला द्विज (आपदि — अपि) आपत्ति काल में भी (अवेदविहितां हिंसाम्) वेदविरुद्ध हिंसा को (न समाचरेत्) न करे।। ४३।।

# या वेदिवहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे। ग्रहिसामेव तां विद्याद्वेदाद्वर्मी हिं निवंभी।। ४४॥

(ग्रस्मिन् चर + ग्रचरे) इस चर-ग्रचर संसार में (या हिंसा वेदिवहिता नियता) जो हिंसा वेदों के विधानों द्वारा निश्चित की है (ताम् अहिंसाम् + एव विद्यात्) उसे अहिंसा ही समक्षना चाहिए (हि) क्यों के (धमं:) धमं (वेदात् निबंभी) वेद से उत्पन्न हुआ है ॥ ४४॥

# अन्तुर्धोत्जना : २६ से ४४ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. धन्तिवरोध—सभी प्रकार के मांसभक्षण की मान्यता और पशुयज्ञ का विधान सर्वथा मनु की मान्यता के विषद्ध है; ग्रतः ये सभी इलोक प्रक्षिप्त हैं। (विस्तृत जानकारी के लिए ४। २६—२८ इलोकों पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक समीक्षा देखिए)।
- २. प्रसंगिवरोध ५।२४ २५ क्लोकों में मांस ब्रादि से रहित ब्रिनिदित भोजन करने का कथन किया है। तदनुसार ४५ ४६, ५१ क्लोकों में मांस का भोजन निन्दित है ब्रीर वह किस प्रकार निन्दित है, यह वर्णित किया गया है (इस प्रकार २४ २५ क्लोकों की ४५ वें क्लोक से प्रसंगगत सम्बद्धता है। इन क्लोकों में इनसे विरुद्ध निन्द्ध भोजन का ही वर्णन किया है, जिससे प्रसंग भंग हो गया है। ब्रतः ये क्लोक प्रसंगविरुद्ध प्रक्षेप हैं।
- ३. शैलीगत झाधार—४१ वें श्लोक में 'झबबीत मनुः' पद से यह श्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति द्वारा रिचत सिद्ध होता है, चतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है; और पूर्वापर प्रसंग मण्डन-खण्डन या वेद के नाम से मण्डनात्मक रूप में होने से पूर्णतः इससे सम्बद्ध है। चतः इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाता है।
  - ४. अवान्तर विरोध-प्राश्चर्य की बात तो यह है कि मौसभक्षण की सिद्धि

के लिए प्रक्षेप करने वाले व्यक्तियों ने ऐसी ग्रन्थता से प्रक्षेप किये हैं कि उन्हें ग्रपने पूर्वापर क्लोकों का भी घ्यान नहीं रहा। ये प्रक्षेप करने वाले भी अनेक व्यक्ति रहे हैं। .. इनकी परस्पर की बातों में भी ग्रनेक विरोघ हैं ग्रौर मांससम्बन्धी सभी प्रमुख प्रसंगों में विरोधी विधान हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी प्रसंग ग्रप्रामाणिक हैं। मांसमिक्षयों के जो मन में प्राया वैसा श्लोक बनाकर डाल दिया। मांसभक्षण की सिद्धि के लिए परलोक, पुण्य, यज्ञ, वेद, प्राचीन ऋषि, सबकी ग्रांड ली। ग्रपने स्वार्थ के लिए यज्ञ ग्रीर वेद को भी बदनाम ग्रीर दूषित किया। ग्रपनी बातों की सिद्धि के जो युक्तियाँ दी हैं वे अत्यन्त खिछली, हास्यास्पद, श्रीर स्वार्थपूर्ण हैं, जैसे —यज्ञ के लिए मांस खाना पूण्यदायक और देवताओं की विधि है, और यज्ञ के बिना अपनी शरीर-पुष्टि के लिए मांस लाना राक्षसों का कार्य है [४। ३१]। देवता श्रीर राक्षस में अन्तर कितनी स्रासानी से हो गया ! इसी प्रकार निम्न स्रवान्तरिवरोधों से कुछ ऐसी ही म्रन्य वच्चों जैसी बातें स्पष्ट हो जायेंगीं---(१) ४।१४, १५ श्लोकों में मछलियों का खाना पूर्णतः निषिद्ध है, धौर १६ वें में निमन्त्रण में मछली खा लेने का विधान है। (२) ३। २६८ से २७२ श्लोकों में कहा है कि श्राद्ध में मछली का मांस खाने से दो महींने तक पितर तुप्त होते हैं, सुकर के मांस से दशमास, कखुए के मांस से ग्यारह मांस, गेंडे के मांस से अनन्त वर्ष तक पितर तृष्त होते है, किन्तु ४। १८---१६ में इनका मांस न खाने का विधान है भीर कहा है कि इनका मांस खाने से द्विज पतित हो जाता है। (३) ५।२२ में कहा है कि स्त्री, सेवक ग्रादि के पालन के लिए पशु-पक्षी मारने चाहिए भीर ४। ३८ में कहा है कि यज्ञ के बिना पशुश्रों की मारने वाला, जितने पश्चों को मारता है, उतने ही जन्म लेकर बदले में वह भी मारा जाता है। (४) ४। ११—१६ क्लोकों में कुछ पशुमों को भक्ष्य ग्रीर कुछ को अभक्ष्य कहा है, जबकि ४ । ३० में कहा है कि ब्रह्मा ने सारे पशु-पक्षियों को खाने के लिए रचा है। उनके खाने में मनुष्य दुषित नहीं होता।

इस प्रकार मांसभक्षण के सभी प्रसंग हास्यास्पद बातों से भरे हैं, जिनसे वे ग्रप्रामाणिक ग्रीर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

५. वेदिवरोष—इस प्रसंग में मांसभक्षण की सिद्धि के लिए प्रक्षेप करने वालों ने वेद की झाड़ ली है और मांसभक्षण को वेदिविहित माना है। स्वार्थी लोगों ने प्रपनी उदरपूर्ति के लिए भूठ ही वेदों को और यज्ञ को बदनाम करने का प्रयास किया है। 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' की झाड़ लेकर उसे भोजन प्रकरण में लागू करके अपने झाचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने की कोशिश की गई है। यह बात यहां लागू ही नहीं होती। यतोहि यहां भोजन का प्रसंग हैं और इसमें मांसविधान को वेद-सम्मत बताने के लिए इस युक्ति का प्रयोग किया गया है। मांसभक्षण प्रयवा यज्ञ में हिंसा का वेदों कें स्पष्टक्प से निषेध किया है। यहां तक कि केवल धन्नाहारी (प्रयाद मांसाहारी नहीं) व्यक्तियों को यज्ञ करने का अधिकार दिया है। प्रमाणयुक्त विस्तृत विवेचन के लिए ५। २६—२८ की 'वेदिवरोध' समीक्षा वेखिए।

निन्दित भोजन मांस हिसामूलक होने से पाप है-

# योऽहिंसकानि मूतानि हिनस्त्यात्ममुखेच्छया। स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेषते॥ ४५॥ (७)

(यः) जो व्यक्ति (म्रात्मसुख + इच्छया) स्रपने सुख की इच्छा से (म्राहिसकानि भूतानि) कभी न मारने योग्य प्राणियों की (हिनस्ति) हत्या करता है (सः) वह (जीवन् च मृतः) जीते हुए म्रीर मरकर भी (क्वचित् सुखं न एधते) कहीं भी सुख को प्राप्त नहीं करता।। ४५।।

श्चान्त का टिन्दाः ४५ वं श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार— १।२४—२५ श्लोकों में 'ग्रगॉहतम्' पद से ग्रनिन्द्य मोजन का विधान किया है। मांस ग्रादि का भोजन शास्त्र एवं लोक—दोनों द्वारा निन्दित है। उन श्लोकों की प्रसंगप्राप्त्यनुसार ४५—४६, ५१ श्लोकों में इस बात का वर्णन किया है कि—'मांस एक निन्दित भोजन है, ग्रीर किस प्रकार वह निन्दित है।' इस प्रकार २४—२५ श्लोकों से ४५ वें श्लोक की प्रसंगसम्बद्धता सिद्ध होती है।

## यो बन्धनवधक्लेशान्त्राणिनां न चिकीषंति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमञ्जूते ॥ ४६॥ (८)

(यः) जो व्यक्ति (प्राणिनां बन्धन-वध-क्लेशान् न चिकीर्षति) प्राणियों को बन्धन में डालने, वध करने, उनको पीड़ा पहुंचाने को इच्छा नहीं करता (सः) वह (सर्वस्य हितप्रेष्सुः) सब प्राणियों का हितेषी (ग्रत्यन्तं सुखम् + ग्रक्तुते) बहुत ग्रधिक सुख को प्राप्त करता है।। ४६।।

## यद्धचायति यस्कुरुते धृति बच्नाति यत्र च । तदबाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७॥ (६)

(यः) जो व्यक्ति (किंचन न हिनस्ति) किसी भी प्राणी की हिसा नहीं करता वह (यत् घ्यायति) जिसका घ्यान करता है (यत् कुरुते) जिस काम को करता है (च) ग्रीर (यत्र धृति बघ्नाति) जहां घेर्ययुक्त मन को लगाता है (तत्) उसको (ग्रयत्नेन) सुगमता से (ग्रवाप्नोति) प्राप्त कर जेता है ॥ ४७॥

#### नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्विचत् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥(१०)

(प्राणिनां हिंसाम् श्रकृत्वा क्वचित् मांसंन उत्पद्यते) प्राणियों की हिंसा किये बिना कभी मांस प्राप्त नहीं होता (च) श्रीर (प्राणिवधः) जीवों

की हत्या करना (न स्वर्ग्यः) सुखदायक नहीं है (तस्मात्) इस कारण (मांसं विवर्जयेत्) मांस नहीं खाना चाहिए ।। ४८ ।।

> समुत्पत्ति च मांसस्य वधवन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षाणात् ॥ ४६ ॥ (११)

(च) ग्रीर (मांसस्य समुत्पत्तिम्) मांस की उत्पत्ति जैसे होती है उसको (देहिना वघ-बन्घी) प्राणियों की हत्या ग्रीर बन्घन के कब्टों को (प्रसमीक्य) देखकर (सर्वमांसस्य भक्षणात्) सब प्रकार के मांसभक्षण से (निवर्तेत) दूर रहे।। ४९।।

न मक्षयति यो मांसं विधि हिस्वा विशाचवत् । स लोके प्रियतां याति व्याधिमिश्च न पीडचते ॥ ५०॥

(यः) जो मनुष्य (पिशाचवत्) राक्षस के समान (विधि हित्वा) भक्ष्य-अभक्ष्य की विधि =ित्यमों को छोड़कर (मांस न भक्षयिति) श्रमक्ष्य मांस को नहीं खाता है (सः) वह (लोके प्रियता याति) लोके में प्रेम को प्राप्त करता है (च) ग्रीर (व्याधिभिः न पीडचते) रोगों से पीड़ित नहीं होता ॥ ५०॥

## अनुश्रीत्जना : ५० वाँ इलोक प्रक्षिप्त है—

- १. ग्रन्तिवरोध—मनु की मान्यता के अनुसार सभी प्रकार का मांसभक्षण निषिद्ध और निन्दित है। इस श्लोक में 'विधि' शब्द द्वारा केवल विधिरहित मांस की निन्दा है, शेव न्याय से 'विधिपूर्वक' मांस का समर्थन है; अतः यह मान्यता मनुविरुद्ध है [विस्तृत समीक्षा ४। २६—२८ पर देखिए]।
- २. प्रसंगिवरोध पूर्वापर प्रसंग सर्वप्रकार के मांसभक्षण के निषेध का है। ४६ वें "निवर्तेत सर्वसांसस्य भक्षणात्" कहा है ग्रीर ५१ वें में मांसप्राप्ति से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को पापी माना है। बीच में विधि ग्रीर अविधि के ग्राधार पर मांसभक्षण की निन्दा या प्रशंसा पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है। अतः ५० वां क्लोक प्रक्षिप्त है।
- ३. शैलीगत बाघार—इसकी शैली भी अयुक्तियुक्त है। 'विधिरहित मांस खाने वाला रोगों से पीड़ित होता है और विधिपूर्व के खाने वाला पीड़ित नहीं होता' यह कथन निराधार है। मांस के गुण यज्ञ में डालकर खाने से कदापि नहीं बदल सकते। इस प्रकार भी यह प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।

मांसभक्षण-प्रसंग में ब्राठ प्रकार के पापियों की गणना-

अनुमन्ता विश्वसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ ४१॥ (१२) (अनुमन्ता) मारने की ग्राज्ञा देने वाला (विश्वसिता) मांस को काटने, वाला (निहन्ता) पशु को मारने वाला (क्रय-विक्रयी) पशुश्रों को मारने के लिए मोल लेने श्रीर बेचने वाला (संस्कर्ता) पकाने वाला (उपहर्ता) परोसने वाला (च) श्रीर (खादकः) खाने वाला (इति घातकाः) ये सब हत्यारे श्रीर पापी हैं।। ११।।

''ग्रनुमित = मारने की ग्राज्ञा देने, मांस के काटने, पशु ग्रादि के मारने, उनको मारने के लिए लेने ग्रीर बेचने, मांस के पकाने, परोसने ग्रीर खाने वाले, ग्राठ मनुष्य घातक = हिंसक ग्रयीत् ये सब पापकारी हैं''।
(द० ल० गो० ४११)

श्रान्तु श्रारित्जन्तः जैसे हिंसा के पाप में माठ प्रकार के पापी होते हैं उसी प्रकार ग्रन्य अधर्म के कार्यों में भी ये सब पापी होते हैं, ग्रीर सभी को उसका फल मिलता है। इसकी सिद्धि के लिए ४। १७३ वाँ क्लोक प्रमाणरूप में द्रष्टव्य है।

> स्वमासं परमासेन यो वर्षयितुमिञ्छति । मनस्यत्र्यं पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्स्यपुष्यकृत् ॥ ५२ ॥

(पितृन्-देवान् अनम्यच्यं) पितरों भीर देवताभों को विना पूजे (यः) जो व्यक्ति (परमांसेन) दूसरे प्राणियों के मांस से (स्वमांस वर्षेयितुम् + इच्छिति) अपने मांस को बढ़ाना चाहता है (ततः + अन्यः अपुण्यकृत् न + अस्ति) उससे बढ़कर पापी कोई दूसरा नहीं है।। ४२।।

वर्षे वर्षेऽस्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि चन खावेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।। ५३।।

(यः) जो व्यक्ति (शत समाः) सौ वर्ष तक (वर्षे वर्षे + मश्वमेधेन यजेत) प्रतिवर्ष श्रश्वमेध यज्ञ करता है (च) श्रौर (यः) जो (मांसानि न खादेत्) मांस नहीं खाता (तयोः पृण्यफलं समम्) उन दोनों के पुण्य का फल बराबर होता है।। ५३।।

फलमूलाशनैर्मेध्येर्मुन्यन्नानां च मोजनैः। न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवजनात्॥ ५४॥

(मेघ्यै: फल-मूल-ग्रशनै:) पितत्र फल-मूल खाने से (च) श्रीर (मुनि + ग्रन्नानां भोजनै:) नीवार ग्रादि मुनियों के ग्रन्न चावलादि खाने से भी (तत् फलं न ग्रवाप्नोति) वह पुण्यफल नहीं प्राप्त होता (यत्) जो (मांसपरिवर्जनात्) मांस के छोड़ने से होता है।। ४४।।

मां सः मक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहा**इम्यहम् ।** एतन्मांसस्य मांसस्यं प्रवदन्ति मनीविराः ॥ ५५ ॥

(इह ग्रहं यस्य भ पम् ग्रद्मि अमुत्र मां सः भक्षयिता) इस जन्म में मैं जिसके

मांस को ला रहा हूं परजन्म में 'माम् मुक्ते, सः = वह [मां + सः] लायेगा' (एतत् मांसस्य मांसत्वम्) यही मांस का मांसपन प्रर्थात् ग्रमित्राय या मांस लाने का फल (मनीषिणः प्रवदन्ति) विद्वान् लोग बतलाते हैं।। ५५॥

> न मांसमक्षरा बोदो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेवा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। ५६॥

(न मांसभक्षा दोषः) न मांस खाने में कोई दोष है (न मछे) न शराब पीने में (च) श्रीर (न मैथुने) न किसी के साथ मैथुन करने में ही बुराई है (एषा भूताना प्रवृत्तिः) यह प्राणियों का स्वभाव ही है (तु) किन्तु (निवृत्तिः महाफला) इनका त्याग करना महान् फल देने वाला है। श्रतः इन्हें त्याग देना चाहिए।। ४६।।

अर्जुटरिटनाः ५२ से ५६ क्लोक निम्न माधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. ग्रन्तिवरोध— (१) ५२ वां दलोक विधिपूर्वक मांसभक्षण का विधायक है ग्रीर ५६ वां सर्व प्रकार के मांसभक्षण का । मनु ने सब प्रकार से मांसभक्षण का निषेध किया है। मांसभक्षण तो क्या, उसमें सहयोगी भी दोषी हैं [५। ५१]। मनु-विरुद्ध मान्यता होने से ये दलोक प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत समीक्षा ४। २६—२६ पर द्रष्ट्रच्य है।] (२) इसी प्रकार मद्यविवान भी मनुविरुद्ध है। मनु ने ''वर्जयेत् मधुमांसं च" [२। १५२ (१७७); ५। १४] कहकर मधु ग्रर्थात् मद्य का स्पष्टतः निषेध किया है। (३) ५२ वें दलोक में मृतकश्वाद्ध की मान्यता के ग्राधार पर मांसभक्षण का संकेत है। यह मान्यता भी मनुविरुद्ध है [देखिए ३। ११६ से २८४ दलोको पर 'ग्रन्तिवरोध' शीषंक]। (इसी प्रकार किसी एक ही कमं द्वारा परजन्म की योनि का निश्चय करना (५५) भी मनुविरुद्ध है। मनु ग्रनेक कमों के ग्राधार पर उत्तम, मध्यम, अधम योनियों की प्राप्ति मानते हैं [१२। ३—६, ४०—५२, ७३—७४]। इस प्रकार ग्रनेक ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये दलोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रंलीगत भाषार—५३ वें क्लोक में सी वर्ष तक के श्रव्ययेष यज्ञों के फल तथा मांस न खाने के फल की समानता का निक्चय करना, ५४ वें में मुन्यन्नों से भी बढ़कर मांस छोड़ने के फल का निक्चय करना आदि बातें निराधार एवं श्रयुक्तियुक्त तथा भ्रतिशयोक्तियूणं शैली की हैं। इनका ऐसा निक्चय न तो किसी मानदण्ड से संभव है श्रीर न सम्बद्धता है।

(गृहस्थान्तर्गत देहशुद्धि-विदय)
[४। ४७ से ४। ११० तक]
देहशुद्धि प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धि तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावरनुपूर्वशः॥ ४७॥ (१३)

(चतुर्णाम् + ग्रपि वर्णानाम) ग्रब मैं चारों वर्णों की (ग्रन्पूर्वशः) क्रमशः [पहले] (देहशुद्धिम्) शरीर ग्रीर शरीरसम्बन्धी शुद्धि [१०५ —११०] (च) ग्रीर [िफर] (तथा+एव) उसी प्रकार चारों वर्णों के लिए (द्रव्यशुद्धिम्) पात्र, वस्त्र म्रादि पदार्थों की शुद्धि [१११--१४६] को (प्रवक्ष्यामि) कहुंगा—।। ५७ ।। 🔆

अन्तुरारित्जना : 'वेहशुदिम्' पाठ मौलिक—इस क्लोक के प्रथम पाद में 'प्रेतग्रद्धिम्' पाठ प्रचलित संस्करणों में प्रचलित है। इसके स्थान पर 'देहगुद्धिम्' पाठ होना चाहिये, ऐसा मनू की शैली ग्रीर विषयविवेचन से संकेत मिलता है। प्रतीत होता है कि अन्य प्रक्षेपों के समान कालान्तर में जब प्रेत-जन्म श्रादि में शुद्धि क्रिया एक कर्म-काण्ड का रूप ले गयी, तब यह पाठभेद करके प्रेतादि विषयक श्लोक मिला दिये गये। इस पाठ की अमौलिकता और 'देहशुद्धिम्' पाठ की मौलिकता निम्न प्रमाणों एवं युक्तियों से सिद्ध होती है--

- (क) मनुकी यह शैली है कि वे जिस विषय का प्रारम्भ जिस विषयसंकेत से करते हैं, उसी संकेत से उसकी समाप्ति करते हैं [द्रष्टव्य ३। २८६ श्रीर ४। २५६॥ द। १ और १। २४०।। १०। १३१ भीर ११। २६६ आदि], लेकिन यहां उस शैली से विपरीत विषय का प्रारम्भ प्रेतगुद्धि से दर्शाया गया है [४।४७] ग्रीर समाप्ति 'शारीरशुद्धि' से [४।११०]। विषय समाप्ति सूचक क्लोक के पदों से यह सिद्ध होता है कि यह 'शारीरशुद्धि' का विषय थान कि प्रेतशुद्धि का। ग्रतः इस क्लोक में समा-नार्थक 'देहशुद्धि' शब्द ही मनुसम्मत सिद्ध होता है।
- (ख) मन ने इस प्रसंग का वर्णन भी देह [४।१०४], गात्र [४।१०६], शरीर [११०] म्रादि शब्दों से किया है, जो यह सिद्ध करता है कि यह वर्णन प्रेतविषयक नहीं ग्रपित् देहशुद्धि-विषयक है।
- (ग) प्रचलित पाठ के अनुसार यदि प्रेतशुद्धि पाठ को सही मानकर यहाँ इसी विषय का प्रसंग मान लिया जाये, तो यह श्रापत्ति श्राती है कि प्रेतशुद्धि-विषय में दन्तो-त्पत्तिकालीन शुद्धि, सुतकशुद्धि, मन, श्रात्मा श्रादि की शुद्धि का वर्णन क्यों किया ? प्रेत के मन भ्रौर ग्रात्मा होते ही नहीं। इस प्रकार विषयसंकेतक क्लोक में श्रौर वर्णन में तालमेल का न होना भी यह सिद्ध करता है कि प्रक्षेपों का समायोजन करने के लिये यह पाठभेद बाद में किया गया है। शैलीश्व खला में जुड़ाहुआ पाठ 'देहशुद्धिम्' ही है, और मन तथा ग्रात्मा ग्रादि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ हैं। ग्रतः इसी पाठ को मान्य पाठ के रूप में स्वीकार किया है।

<sup>%</sup> प्रिचलित अर्थ - प्रचलित संस्करणों में इस क्लोक के प्रथम पाद में 'देह-

के स्थान पर 'प्रेतगुद्धिम्' पाठ ग्रहण करके निस्न श्रर्थ प्रचलित है—
''चारों वर्णों के प्रेतगुद्धि (मरणाशीच से गुद्धि) तथा द्रव्यगुद्धि (तैजसादि पदायों की शुद्धि) को क्रम से यथायोग्य कहुंगा।। ५७।।

ग्रशुद्धि के समय---

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूढे च संस्थिते। प्रशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते॥ ५८॥

(दन्तजाते) बालक के दांत निकलते समय (च) ग्रौर (ग्रनुजाते) दांत निकलने के बाद (च) तथा (कृतचूडे) मुण्डन संस्कार करने के पीछे, (संस्थिते) मृत्यु हो जाने पर (सर्वे बान्धवाः ग्रगुद्धाः) सब कुटुम्बी ग्रगुद्ध हो जाते हैं (तथा च) ग्रौर उसी प्रकार (सूतके उच्यते) पुत्रोत्पत्ति में भी ग्रगुद्धि मानी जाती है।। ४८।।

दशाहं शावमाशौचं सिपण्डेषु विवीयते। भ्रवीक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५६ ॥

(सिपण्डेषु) एक उदर या कुटुम्ब के लोगों में (शावम् + ग्राशोचम्) शव सम्बन्धी शुद्धि (दश + ग्रहम् ग्रस्थनां संचयनात् ग्रविक् त्रि + ग्रहं वा एक + ग्रहम् + एव विधी-यते) दश दिन तक, या ग्रस्थि चुनने से पहले तीन दिन तक, ग्रथवा एक ही दिन की विद्वित की है।। १६।।

अर्जुर्धो किन्सः पिण्ड का प्रथं शरीर है। सपिण्ड का मर्थ है—'एक ही माता-पिता के शरीर से जन्म लेने वाले व्यक्ति प्रथति भाई-वहन'।

सिपण्डता ग्रीर समानोदक भाव---

सिश्डिता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

(सापण्डता तु) सगापन तो (सप्तमे पुरुषे विनिवर्त्तते) सातवीं पीढ़ी में समाप्त हो जाता है (तु) श्रीर (समानोदकभावः) घनिष्ठपन (जन्म-नाम्नोः श्रवेदने) जन्म श्रीर नाम के ज्ञात न रहने पर छूट जाता है ॥ ६० ॥

अर्जु क्यी त्य ना 'समानीदकभावः' मूलार्थं में एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है—'एक जल का दूसरे जल में मिलकर एक हो जाना'। इसका अभिप्राय, 'विनिष्ठ-पन' के व्यवहार से है। घनिष्ठता रहते हुए हो जन्म और नाम आदि का ज्ञान रहता है, घनिष्ठता न रहते पर बहु नहीं रहता । तब जाकर स्वयानीदकार जानिष्ठा जाता है।

# यथेवं शादमाशीचं सपिण्डेषु विधीयते। जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुग्गं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

(यया) जैसे (इदं शावम् + पाशौ व सिपण्डेषु विधीयते) यह मृतक-बुद्धि सिपण्डों के लिए विहित की है (एवम्) इसी प्रकार (निपुणं बुद्धिम् + इच्छताम्) भलीभांति बुद्धि चाहने वालों के लिए (जनने + प्रियि स्यात्) जनम के समय भी होती है ॥ ६१॥ सूतक ग्रीर मृतक-सम्बन्धी विधान---

#### सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् । सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः॥ ६२॥

(शावम् + म्राशीचं सर्वेषाम्) मृतक-आशीच सब कुटुम्ब वालों के लिए है (सूतकं तुमातािपत्रोः) किन्तु सूतक = पुत्रजन्म के समय की अधुद्धितों केवल माता-िपता के लिए है, इनमें भी (सूतकम्) जन्म देने की अशुद्धि तो वस्तुतः (मातुः + एव स्यात्) माता की ही होती है (पिता उपस्पृश्य शुचिः) पिता तो [अशुद्धि के सम्पर्कं में आने पर] जल से धोकर या स्नान करके ही शुद्ध हो जाता है।। ६२।।

निरस्य तु पुमाञ्छकम्प्रसृपस्पृत्रयंव शुद्धयति । वैजिकादमिसम्बन्धावनुरुन्ध्यादयं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

(पुमान्) पुरुष (शुक्र निरस्य) वीर्यपात करके (उपस्पृश्य + एव शुद्धधित) नहाने से ही शुद्ध हो जाता है (बैजिकात् + अभिसम्बन्धात्) परस्त्री में बैजिक सम्बन्ध अर्थात् गर्भस्थिति होने से (त्रि + श्रहम् श्रधम् श्रनुरुन्ध्यात्) तीन दिन तक पाप की शुद्धि करे।। ६३।।

समीपस्थ बान्धवों की शुद्धि की विधि तथा प्रविध-

अङ्गा चैकेन राष्ट्रया च त्रिरात्रेरेव च त्रिमिः। शवस्पृशो विशुव्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः।। ६४।।

(शवस्पृशः) मुर्दे को छूने वाले (एकेन ग्रह्मा च रात्र्या) एक दिन ग्रौर रात में (त्रिरात्रैः एव च त्रिभिः) ग्रौर तीन को तीन से गुणा करने पर श्रयति नौ, इस प्रकार दश दिन में (विशुद्धधन्ति) शुद्ध होते हैं (उदकदायिनः त्रि + ग्रहात्) जलदान करने वाले तीन दिन में शुद्ध होते हैं।। ६४।।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेघं समाचरन् । प्रेतहारः समं तत्र दशरात्रेण शुद्धचित ॥ ६५ ॥

(प्रेतस्य गुरोः) जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतक शरीर जिसका नाम प्रेत है उसका (पितृमेधं समाचरन शिष्यः) दाह करने हारा शिष्य (प्रेतहारैः समम्) प्रेतहार प्रयति मृतक को उठाने वालों के साथ (तत्र दशरात्रेण शुद्धचिति) दशवें दिन शुद्ध होता है ॥ ६५ ॥ (स॰ प्र०३०)

अत्यु श्री टिडन् : महिष दयानन्द ने यह श्लोक प्रेत किसको कहते हैं, केवल उसका ग्रथं दशिन के उद्श्य से प्रयुक्त किया है। प्रश्नकर्त्ता की बात का उन्हीं की मान्यता से उत्तर दिया है। यहां शुद्ध प्रकरण नहीं है, ग्रतः महिष जी की वहां इस श्लोक को प्रामाणिक मानने की भावना भी नहीं है।

#### रात्रिमिर्मासतुल्यामिर्गर्भस्रावे विशुद्धपति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

(गर्भस्नावे) गर्भस्नाव हो जाने पर (मासतुल्याभिः रात्रिभिः) जितने मासका गर्भ हो उतनी ही रात्रियों में स्त्री (विश्द्धचित) शुद्ध होती है (साघ्वी रजस्वला) पतिव्रता रजस्वला स्त्री (रजिस + उपरते) रज बन्द हो जाने पर (स्नानेन) स्नान करने से शुद्ध हो जाती है ॥ ६६ ॥

#### नृणामकृतचूडानां विशुद्धिनैशिकी स्मृता। निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते।। ६७॥

(स्रकृतचूडानां नृणां विशुद्धिः) जिन बालकों का मुण्डन संस्कार नहीं हुन्न। हैं जनकी शुद्धि (नैशिकी स्मृता) एक रात में हो जाती है (तु) किन्तु (निर्वृत्तचूड़कानां शुद्धिः) मुण्डन हो चुकने पर [मरने वालों की] शुद्धि (त्रिरात्रात् इष्यते) तीन रात में होती है।। ६७।।

#### कनद्विवार्षिकं प्रेतं निदघ्युर्बान्धवा बहिः। प्रलंकृत्य शुचौ सूमावस्थिसंचयनाहते।। ६८॥

(बान्धवा) कुटुम्बीजन (ऊनिद्ववार्षिकं प्रेतम् प्रलंकृत्य) दो वर्ष से कम प्रायु के बच्चे के शव को वस्त्रों में लपेटकर (बिहः) गांव के बाहर (शुचौ) शुद्ध स्थान में (ग्रस्थिसंचयनात् ऋते) ग्रस्थिसंचय की क्रिया के बिना (भूमौ निदम्युः) भूमि में गाड़ दें।। ६८।।

#### नास्य कार्योऽन्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया। स्ररण्ये काष्ठ्रवस्यक्त्वा क्षपेयुस्ध्यहमेव च ॥ ६६ ॥

(ग्रस्य) इस बालक की (अग्निसंस्कारः न कार्यः) ग्रग्निसंस्कार की क्रिया नहीं करनी चाहिए (च) ग्रीर (न उदकक्रिया कार्या) न जलदान क्रिया करनी चाहिए (ग्ररण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा) जंगल में लकड़ी के समान छोड़कर ग्रयात् गाड़कर (त्रि + ग्रहम् + एव क्षपेयुः) तीन दिन तक ग्राशीच मनार्वे ॥ ६६ ॥

#### नात्रिवर्षस्य कर्तस्या बान्धवैरुदकक्रिया। जातदन्तस्य वा कुर्युनिस्नि वापि कृते सति ।। ७०॥

(बान्धवैः) कुटुम्बियों को (ग्रित्रिवर्षस्य उदक्षक्रिया न कर्तब्या) तीन वर्ष से कम ग्रायु वाले बालक की जलदान क्रिया नहीं करनी चाहिए (जातदन्तस्य) दांत निकल जाने पर (वा) ग्रीर (नाम्नि कृते सित ग्रिप) नामकरण संस्कार करने पर मृत्यु होने के बाद-जलदान करें।। ७०।।

> सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् । जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

(सब्रह्मचारिण ग्रतीते) सहपाठी ब्रह्मचारी के मरने पर (एक + ग्रह क्षपणं स्मृतम्) एक दिन की शुद्धि कही है (एक + उदकानां जन्मनि तु) समानोदकों [४।६०] के यहां जन्म होने पर (त्रिरात्रात् शुद्धिः इष्यते) तीन रात की शुद्धि कही गयी है ।।७१॥

#### स्त्रीत्गामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्धचन्ति बान्धवाः । यथोपतेनैव कल्पेन शुद्धचन्ति तु सनामयः ॥ ७२ ॥

(ग्रसंस्कृतानां स्त्रीणां तु) जिनका वाग्दान हो चुका है किन्तु विवाह संस्कार नहीं हुग्रा है, ऐसी स्त्रियों की मृत्यु होने पर (बान्धवाः) पितपक्ष के रिश्तेदार (त्रि— ग्रहात् शुद्धचन्ति) तीन दिन में शुद्ध होते हैं (तु) ग्रीर (सनाभयः) स्त्री के वंश के लोग (यथोक्तेन एव कल्पेन शुद्धचन्ति) इसी पूर्वोक्त विधान के ग्रनुसार ही शुद्ध होते हैं ॥ ७२ ॥

#### अक्षारलवर्णान्नाः स्युनिमप्जेयुरच ते त्र्यहम् । मांसाद्यनं च नादनीयुः द्ययीरंदच पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

(ते) वे बान्धव (त्र्यहम्) तीन दिन तक (ग्रक्षारलवण + ग्रन्नाः स्युः) समुद्री-नमक से रहित भोजन करें (च) ग्रीर (निमज्जेयुः) नदी, तालाब ग्रादि में डुबकी लगा-कर स्नान करें (च) तथा (मांस + ग्रशन न श्रश्तीयुः) मांस का भोजन न करें (च) ग्रीर (क्षिती पृथक् शयीरन्) घरती पर ग्रलग-ग्रलग सोयें।। ७३।।

#### सन्निषावेष वै कल्पः शावाशीचस्य कीर्तितः। स्रसन्निषावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिवाग्यवैः।।७४॥

(एषः) यह (शाव + म्राशीचस्य कल्पः) मृतक-शुद्धि का विधान (सिन्तिधी कीर्तितः) पास में रहने वालों के लिए कहा (म्रसिन्धी) दूर होने पर (संबन्धिबान्धवैः) सम्बन्धियों भीर कुटुम्बियों को (म्रयं विधिः क्रेयः) मृतकशुद्धि की यह विधि करनी या समभनी चाहिए॥ ७४॥

विदेशस्य बान्धवों की शुद्धि ग्रौर ग्रविध--

विगतं तु विवेशस्यं भृषुयाद्यो ह्यनिर्देशम् । यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिभंवेत् ॥ ७५ ॥

(यः) जो बान्धव (विदेशस्यं विगतम् ग्रनिर्देशं श्रृणुयात्) परदेश में गये की मृत्यु का समाचार दश दिन से पहले सुन ले तो (दशरात्रस्य यत् शेषं तावत् + एव + ग्रशुचिः भवेत्) वह दश दिन पूरा होने में जितने दिन शेष हों उतने ही दिन तक प्रशुद्ध रहता है।। ७५।।

अतिकान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिनंदेत्। संदत्सरे व्यतीते तुन्युष्ट्वेवापो विशुद्ध्यति॥ ७६॥ (च) भीर (दश + अहे अतिकान्ते) दश दिन के बीत जाने पर (त्रिरात्रम् + भण्जिः भवेत्) तीन रात तक अणुद्ध रहता है (तु) भीर (संवत्सरे व्यतीते) एक वर्ष के बाद मृत्यु का समाचार सुनने पर (भ्रापः स्पृष्ट्वा विशुद्धधित) केवल जल का स्पर्शं करने से ही शुद्ध हो जाता है ॥ ७६॥

निर्देशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासा जलमाप्तुत्य शुद्धो भवति मानवः॥ ७७॥

(मानवः) मनुष्य (ज्ञातिमरणं च पुत्रस्य जन्म निर्देशं श्रुस्वा) सम्बन्धी की मृत्युं श्रीर पुत्र के जन्म का समाचार दश दिन बीत जाने पर सुनकर (सवासा जलम् + आप्लुत्य शुद्धः भवति) वस्त्रसहित जल में स्नान करके शुद्ध हो जाता है।। ७७।।

बाले देशान्तरस्ये च पृथक् पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्तुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति।। ७८।।

(वाले देशान्तरस्थे) बालक के परदेश में रहते हुए (च) ग्रीर (पृथक्षिण्डे) सिपण्ड से भिन्न व्यक्ति के (संस्थिते) मर जाने पर (सवासा जलम् + ग्राप्लुत्य) वस्त्र-सिहत जल में स्नान करके (सद्यः एव विशुद्धचित) शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।। ७८।।

> अन्तर्वशाहे स्यातां चेत्पुनमंश्राजन्मनी। तावत्स्यादशुचिवित्रो यावत्तत्स्यादनिवंशम्।। ७६।।

(अन्तः दशः + म्रहे चेत्) दश दिन के भ्रन्दर ही यदि (पुनः मरणजन्मनी स्याताम्) फिर मरण या जन्म हो जाये तो (विद्रः) द्विज (यावत् भ्रनिदंशं स्यात्) जब तक पहले वाली मृत्युशुद्धि या जन्मशुद्धि के दश दिन पूरे न हो जायें (तावत् अशुचिः स्यात्) तब तक अशुद्ध रहता है।। ७६।।

अन्य ग्रशुद्धियों की विधि-

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च परन्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ५० ॥

(ग्राचार्ये संस्थिते सित) ग्राचार्य की मृत्यु हो जाने पर (त्रिरात्रम् आशौचम् आहुः) तीन दिन का ग्राशौच कहा है (च) ग्रीर (तस्य पुत्रे च पत्न्याम्) उस ग्राचार्य के पुत्र तथा परनी की मृत्यु पर (दिवारात्रम् + इति स्थितिः) एक दिन-रात का ग्राशौच होता है, ऐसी मान्यता है ॥ ५०॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिभंबेत्। मातुले पक्षिणीं रात्रि शिष्यित्विग्वान्थवेषु च ॥ ८१ ॥

(तु) ग्रीर (श्रोत्रिये उपसंपन्ने) वेदपाठी के मरने पर (त्रिरात्रम् + ग्रशुचिः भवेत्) तीन दिन तक ग्राशीच होता है (च) ग्रीर (मातुले शिष्य-ऋत्विक्-बान्धवेषु)

नामा, शिष्य, ऋत्विज् भीर रिश्तेदारों के मरने पर (पक्षिणी रात्रिम्) दो रात और उनके बीच एक दिन का भ्राशीच होता है।। ८१।।

> प्रेते राजिन सम्यातिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः । अभोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ५२ ॥

मनुष्य (यस्य विषये स्थितः) जिसके राज्य में रहता हो ऐसे (राजिन प्रेते) राजा के मर जाने पर (सज्योतिः) यदि दिन में मरा हो तो सूर्यास्त तक भ्रौर यदि रात में मरा हो तो सवेरे तारे छिपने तक आशौच रहता है (तु) और (अश्रोत्रिये) श्रवेद-पाठी (कृत्स्नम् मन्नूचाने) सम्पूर्णं वेद-वेदांग जानने वाले (तथा गुरो) तथा गुरु के मरने पर (ग्रहः) एक दिन का ग्राशौच रखे॥ ५२॥

शुद्धचे द्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः। वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्धचित ॥ ८३॥

मृतक त्रशुद्धि में (विप्रः दश + ग्रहेन शुद्धिये त्) ब्राह्मण दश दिन में शुद्ध होता है (भूमिपः द्वादश + ग्रहेन) क्षत्रिय बारह दिन में (वैश्यः पञ्चदश + अहेन) वैश्य पन्द्रह दिन में (शूद्रः मासेन शुद्धधित) शूद्र एक मास में शुद्ध होता है।। ८३।।

न वर्षयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः। न च तत्कर्म कुर्वागः सनाम्योऽप्ययुचिभंवेत्।। ८४।।

(श्रथ + श्रहित न वर्धयेत्) श्रशुद्धि के दिनों को इससे [५। ८३] श्रधिक न बढ़ाये (श्रिनिषु क्रियाः न प्रति + ऊहेत्) यज्ञ करना न छोड़े (तत् कर्म कुर्वाणः) इस यज्ञ कर्म को करने पर (सन। स्यः + श्रिप + श्रशुचिः न भवेत्) सिपण्ड व्यक्ति भी श्रशुद्ध नहीं होता ॥ ८४॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा। शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ।। ८४ ।।

(दिवाकीर्तिम् उदक्यां पतितं सूतिकां शवं च तत् स्पृष्टिनं स्पृष्टवा) चाण्डाल, रजस्वला, पतित, प्रसूता, शव ग्रीर उस शव को छूने वाले इन सवको छूकर (स्नानेन एव गुड्रयति) स्नान करने से ही शुद्ध होता है।। ८५।।

> श्राचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने। सौरान्मंत्रान्यथोस्साहं पावमानीइच शक्तितः॥ ८६॥

(ग्रशुचि: दर्शने) यदि ग्रपिवत्र व्यक्तियों के दर्शन हो जायें तो (नित्यम्) सर्वदा (ग्राचम्य) ग्राचमन करके (प्रयतः) सावधान होकर (यथोत्साहम्) उत्साहपूर्वक (सौरान् मन्त्रान्) सूर्यसम्बन्धी मन्त्रों को ["उदुत्यं जातवेदसं देव" (यजु० ३३ । ३१)

मन्त्र] (च) ग्रौर (पावमानीः) पवित्र करने वाली ऋचाओं को [ ''पुनन्तु मा देवजनाः'' त्रादि ऋ० ६। ६७। २७–३२] (शक्तितः जपेत्) यथाशक्ति जपे॥ ८६॥

### नारं स्पृष्ट्वास्य सस्तेहं स्नात्वा विश्रो विशुद्ष्यति । आवस्यैव तु निःस्तेहं गामालस्यार्कमीस्य वा ॥ ५७ ॥

(विप्रः) द्विज (नारं सस्तेहं ग्रस्थि स्पृष्ट्वा) मनुष्य की गीली हड्डी को खूकर (स्तात्वा विशुद्धपति) स्तान करने से शुद्ध होता है (तु) भीर (निःस्नेहम्) सूखी हड्डी को छूकर (आचम्य) आचमन करने से ही (वा) प्रथवा (गाम् + ग्रालम्य) गौको स्पर्श करने से (ग्रर्कम् + ईक्ष्य) या सूर्य के दर्शन करने से ही शुद्ध हो जाता है।। ५७॥

#### आदिच्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेशैव शुद्धचति ॥ ८८ ॥

(म्रादिष्टी) ब्रह्मवारी (आव्रतस्य समापनात्) ब्रह्मवर्यं व्रत के पूर्णं न होने तक (उदकं न कुर्यात्) जलदान क्रिया न करे (समाप्ते तु) व्रत समाप्त हो जाने पर (उदकं कु:वा) जलदान देकर (विरावेण + एव शुद्ध्यति) तीन दिन-रात में शुद्ध हो जाता है।। ८८॥

#### वृथासङ्करजातानां प्रवण्यासु च तिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८६ ॥

(वृथा + संकरजातानां च प्रव्रज्यासु तिष्ठताम्) जो वृथा उत्पन्न हुए हैं प्रथीत् जो धर्म-कर्म से हीन हैं ग्रीर जो वर्णसंकर हैं उनको तथा परिव्राजकों की (च) ग्रीर (ग्रात्मन: त्यागिनाम् एव) ग्रात्महत्या करने वालों की (उदकक्रिया निवर्तेत) जलदान क्रिया न करे।। ८९।।

#### पालण्डमाश्रितानां च च स्तीनां च कामतः। गर्भमतृद्वहां चैव सुरापीनां च योषिताम्।। ६०।।

(च) और (पालग्डम् + ग्राश्रितानाम्) जो स्त्रियां पालण्ड रचती हैं (च) ग्रीर (कामतः चरन्तीनाम्) इच्छानुसार विचरण करने वाली ग्रर्थात् व्यभिचारिणी (गर्भ-भर्तृ-द्रुहाम्) गर्भपात भौर पति से द्रोह करने वाली (च) तथा (सुरापीनां योषिताम्) शराब पीने वाली—इन स्त्रियों की जलदान क्रिया नहीं करनी चाहिए॥ ६०॥

#### आचार्यं स्वमुपाघ्यायं पितरं मातरं गुरुम्। निर्हृत्यतु बती प्रेतान्न ब्रतेन वियुज्यते ॥ ६१ ॥

(व्रती) ब्रह्मचारी (स्वम् स्राचार्यम् उपाष्ट्रायं पितरं मातरं गुरुं प्रेतान् तु निर्हृत्य) ग्रयने प्राचार्यः, उपाष्ट्रयायः, पिताः, गुरुं, इनके शवीं को उठाकर (व्रतेन न वियुज्यते) व्रतः से हीन नहीं होता ॥ ६१ ॥

#### दक्षिरोन मृतं श्रूद्धं पुरद्वारेग निर्हरेत्। पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः।। ६२ ॥

(मृतं शूद्र दक्षिणेन पुरद्वारेण) मृत शूद्र को नगर के दक्षिण द्वार से तथा (द्विजन्मनः) द्विजों के शवों को (यथायोगम्) कमशः (पश्चिम-उत्तर-पूर्वेः तु) पश्चिम द्वार से वैश्य को, उत्तर द्वार से क्षत्रिय को श्रीर पूर्व द्वार से ब्राह्मण को (निहंरेत्) श्मशान में ले जाये।। ६२।।

#### न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिएगम्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥ ६३॥

(राजां व्रतिनां च सित्रणाम्) राजायों को, ब्रह्मचारियों को, यज्ञ कराने वालों को (ग्रघदोषः न ग्रस्ति) मृतक-स्रशुद्धि नहीं लगनी (हि) क्योंकि (ते) ये (ऐन्द्र स्थानम् + उपासीनाः सदा ब्रह्मभूताः) इन्द्र के स्थान पर बैठे हुए सदा ब्रह्मरूप होने हैं ॥ ६३ ॥

#### राज्ञो माहास्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते। प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्।। ६४।।

(माहात्मिके स्थाने) महान्या महत्त्वपूर्ण पद पर बैठने के कारण (राज्ञः) राजा की (सद्यः शौचं विधीयते) तत्काल ही शुद्धि हो जाती है (प्रजानां परिरक्षार्थम् + स्रासनम् त्रत्र कारणम्) प्रजास्रों की रक्षा के लिए राजा का राजपद पर बैठना ही इ.स शीघ्र शुद्धि का कारण है ॥ ६४॥

#### डिम्माहबहुतानां च विद्युता पायिवेन च। गोबाह्यरास्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पाथिवः॥ ६५ ॥

(च) ग्रौर (डिम्भ + ग्राहवहतानाम्) विद्रोह या दंगे में ग्रीर युद्ध में मारे गयों की (विद्युता च पार्थिवेन) विजली ग्रौर राजा द्वारा दण्ड दिये जाने पर मरे हुग्रों की (च) ग्रौर (गो-ब्राह्म ग्राह्म ग्रयों एव) गौ ग्रौर ब्राह्मण के लिए मरे हुग्रों की (च) तथा (यस्य पार्थिव: इच्छिति) जिसकी शुद्धि राजा चाहता है, उसकी भी तत्काल शुद्धि हो जाती है।। ६४।।

#### सोमाग्यर्कानिलेन्द्रागां त्रित्ताप्पत्योर्यमस्य च । ग्रष्टानां लोकपालानां वयुर्धारयते नृपः ॥ ६६ ॥

(सं.म.ग्राग्त-ग्रर्क-अनिल-इन्द्राणां वित्त +ग्रप्यत्योः च यमस्य) सोम = चन्द्रमा, ग्राग्न, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुवेर, वरुण ग्रीर यम (ग्रप्टानां लोकपालानां वपुः नृपः धारयते) इत ग्राठ लोकपालों के जारीरिक गुणों को राजा धारण करता है ॥ ६६ ॥

> लोकेद्दर्भिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाश*ां* हि मर्त्यानां लोकेशश्रभवाष्ययम् ॥ ६७ ॥

(राजा लोकेश + अधिष्ठितः) राजा लोकपालों के श्रंश या गुर्गों से संपन्त है (ग्रस्य + श्रशौचं न विधीयते) इसलिए इसको ग्रशौच नहीं लगता (हि) क्योंकि (मर्त्यानां शौच + ग्रशौचं लोकेश-प्रभव + अप्ययम्) मनुष्यों का यह शौच ग्रौर ग्रशौच क्रमशः लोकपालों से उत्पन्त होता है ग्रौर नष्ट होता है, इस प्रकार उनके ग्रंशों से युक्त होने के कारग राजा को अशुद्धि लग ही नहीं पाती ।। ६७॥

उद्यतेराहवे शस्त्रैः क्षत्रधमंहतस्य च। सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ६८ ॥

(ब्राहवे) युद्ध में (उद्यतैः शस्त्रैः) लड़ने के लिए उठाये गये हिथयारों से (च) श्रीर (क्षत्रधर्महृतस्य) क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए मरे सैनिक को (सद्यः यज्ञः संतिष्ठते) तत्काल यज्ञवाला श्रेष्ठ फल मिलता है (तथा + अशौचम् + इति स्थितिः) तथा उपे श्रशौच नहीं लगता, ऐसा निश्चय है।। ६८।।

वित्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुषम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टि शुद्धः कृतक्रियः।। ६६ ।।

(कृतक्रियः विष्ठ. ग्रपः स्पृष्ट्वा शुद्धचिति) आशीच का क्रियाकर्म करके वाह्मण जल के स्पर्श से शुद्ध होता है (क्षित्रियः वाहन + ग्रायुधम्) क्षित्रिय सवारी ग्रीर शस्त्र को (वैश्यः प्रतोदं वा रश्मीन्) वैश्य चाबुक या लगाम को (शूदः यिष्टिम्) शूद्र लकड़ी को स्पर्श करके शुद्ध होता है।। ६६।।

ग्रसपिण्डों की प्रेतशुद्धि-

एतद्वोऽभिहितं शौचं सिपण्डेषु द्विजोत्तमाः । ग्रसिपण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धि निबोधत ॥ १०० ॥

(द्विजोत्तमाः) हे श्रेष्ठ द्विजो ! (एतत् सिपण्डेषु शौचम् ग्रिभिहितम्) यह सिपण्डों की मृतकशुद्धि कही (सर्वेषु ग्रसिपण्डों की मृतकशुद्धि कही (सर्वेषु ग्रसिपण्डों की मृतकसम्बन्धी शुद्धि को सुनो—॥ १००॥

श्रसिपण्डं द्विजं प्रेतं विश्रो निर्हृत्य बन्धुत्रत्। विशुद्धचिति त्रिरात्रेग मानुराप्तांक्व बान्धवान्।। १०१।।

(विप्रः) ब्राह्मण (ग्रसपिण्ड प्रेत द्विज बन्धुरत् निर्हृत्य) ग्रसपिण्ड मृत ब्राह्मए को बन्धु के समान उठाकर (च) ग्रीर (मातुः +ग्राप्तान् बान्धवान्) माता के सगे बांधवों को उठाकर (तिरात्रेण विशुद्धधित) तीन रात में शुद्ध होता है ॥ १०१॥

> यद्यन्तमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति । अनदन्नन्तमङ्गय न चेत्तहिमन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

(यदि तेषाम् ग्रन्नम् + ग्रत्ति) यदि प्रेत को ले जाने वाला उन मृतक के परिवार

वालों का अन्न लाता है तो (दश + अहेन + एव शुद्धचित) दश दिन में ही शुद्ध होता है (अनदन् + अन्नम्) यदि उनके अन्न को न लाता हो (न चेत् तस्मिन् गृहे वसेत्) और न उनके घर में रहता हो तो (अह्ना + एव) एक दिन में ही शुद्ध होता है ॥ १०२॥

ग्रनुगम्येच्छवा प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च। स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्नि घृतं प्राध्य विशुद्धचति ॥ १०३॥

(ज्ञाति च अज्ञातिम् एव प्रेतम् इच्छया अनुगम्य) मनुष्य अपने वंश के और बिना वंश वाले प्रेत के पीछे इच्छापूर्वक जाकर (सचैलः स्नात्वा) कपड़ों सहित नहाकर प्रर्थात् उस समय धारण किये हुए उन वस्त्रों को भी धोकर और स्वयं नहाकर (ग्रनिं स्पृष्ट्वा) अग्नि का स्पर्शं करके (ग्रतं प्राश्य) घी चाटकर (विशुद्ध्यित) शुद्ध हो जाता है।। १०३।।

#### न त्रिप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शुद्रेण नाययेत् । श्रस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्र संस्पशंदुषिता ॥ १०४ ॥

(स्वेषु तिष्ठत्सु मृत वित्रं शूद्रेण न नाययेत्) ग्रपने वर्ण या वंश वालों के होते मृत ब्राह्मारा को शूद्रों से उठवाकर न ले जाये (हि) क्योंकि (शूद्रसंस्पशंदूषिता सा ग्राहुति: ग्रस्वर्ग्या स्यात्) शूद्र के स्पर्श से दूषित हुई वह शरीर की श्राहुति स्वर्ग में पहुँचाने वाली नहीं होती ॥ १०४॥

आनु श्रीत्जना: ४८ से १०४ तक के क्लोक निम्न आधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. विश्यविरोध—प्रस्तुत विषय के प्रारम्भ का संकेत देने वाला इलोक ५७ वाँ है ग्रीर समाप्ति का संकेत देने वाला इलोक १९० वां है। इन इलोकों में दिये गये ''देहगुद्धिम् ' ' प्रव शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः'' संकेतों के ग्रनुसार यह स्पष्ट होता है कि यह ''शरीर ग्रीर शरीर से सम्बन्धित मन, बुद्धि, ग्रात्मा ग्रादि की शुद्धि' को कहने का विषय है [इसकी पुष्टि के लिए ४। ५७ की समीक्षा भी पढ़िये]।

इस ग्राधार पर इस विषय में वही क्लोक मौलिक माने जा सकते हैं जो इस विषयसंकेत से सम्बद्ध हों। ग्रपने संकेत के श्रनुसार ही मनु ने १०५-१०६ क्लोकों में पहले भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों की गणना की है, फिर १०६ में श्रशुद्ध शरोर की 'श्रिष्मः गात्राणि शुद्धपन्ति' कहकर शुद्धि होना कहा है। क्रोध, लालच, ग्रधर्मा-चरण ग्रादि से मनुष्य के मन, बुद्धि, ग्रात्मा ग्रादि भी श्रशुद्ध हो जाते हैं, संकेतानुरूप शरीरसम्बन्धी इन ग्रवयवों की शुद्धि भी कह दी है। इस प्रकार १०५ से ११० क्लोक विषयानुरूप हैं। इस वीच में ५० से १०४ तक जितने क्लोक हैं, इनमें शरीर की शुद्धि का वर्णन न होकर आशौच मनाने की ग्रविष, संपिण्ड एवं ग्रसपिण्डों के आशौच की विधि, सूतक-म्रशुद्धि, परदेश में रहने वालों की म्रशुद्धि म्रादि का वर्णन है, जो विषय-विरुद्ध है।

- २. श्रन्तवरोध : प्रेतशुद्धि का श्राडम्बर मनुविरुद्ध उपर्यु कत विषयसकेत देने वाले प्लोकों के आधार पर मनुकी एक मान्यता भी बन जाती है कि वे 'स्रशुद्धि के सम्पर्क से शरीरादि की अशुद्धि होना' ही मानते हैं और उसकी शुद्धि का उपाय है— ''अद्भिः गात्राणि शुद्धचन्ति'' [१०६] प्रयति 'शरीर की शुद्धि जलों से होती है' ग्रादि । ५८ से १०४ श्लोकों में जो भी कुछ विणत है, वह मनू की इस मान्यता से विरुद्ध है और न इससे तालमेल खाती है—(१) ५ द से ६० श्लोक, जिनमें सपिण्ड-ग्रसिपण्ड के भेद से प्रेतशद्धि ग्रौर अशुद्धि मानने की १–१० दिन तक की चार ग्रवधि दर्शाकर उसको एक 'धार्मिककृत्य' के रूप में विशात किया है, वे मनू की उक्त मान्यता के विरुद्ध हैं। क्योंकि मन् केवल शरीर की अशुद्धि मानते हैं और वह सपिण्ड श्रीर स्रसपिण्ड सबको समान रूप से होती है तथा उसकी अनेक दिनों की अविध नहीं होती। शरीर अशब हमातो जल में घोने से वह शुद्ध हो गया। इस प्रकार इन श्लोकों की व्यवस्था मनु-. सम्मत ही सिद्ध नहीं होती, श्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं । शेष श्लोक इन पर श्राधारित हैं, ग्रतः ग्राधारभूत श्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर वे स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेंगे। (२) ७४ से द४ इलोकों में परदेश में रहने वालों की शुद्धि कहना भी मनुविरुद्ध है। जब किसी अशब्धिका सम्पर्क ही नहीं हुआ। तो फिर उनके शरीर की अशब्धि ही कहां हई? (३) -४--७, १०३ श्लोकों में शूद्र को अस्पृश्य प्रयात् प्रपवित्र माना है। मन् ऐसा नहीं मानते। वे शूद्र को 'शुचिः' अर्थात् 'पवित्र' मानते हैं [६। ३३४]। म्रतः इन श्लोकों की मान्यता मनुविरुद्ध है।
- ३. शैलीगत प्राघार—५८ से १०४ श्लोकों की मान्यता है—'सिपण्ड, असिपण्ड के भेद से चार अविधयों के [५८—६०] अनुसार अशुद्धि मनाना'। यह अयुक्तियुक्त वर्णन है, क्योंकि मृतक के सम्पर्क से यदि शरीर की अशुद्धि मानी गयी है तो वह सिपण्ड-असिपण्डों की समान होगी और जसकी शुद्धि जल से हो जायेगी। इसके

हैं । श्रेषः यह व्यवस्था है। अधुनिष्ठापुष्य है । अधु की व्यवस्थाए कुन्येत-युक्त होती हैं । इस विरोध के ब्राधार पर भी ये श्लोक मनुसम्मत नहीं माने जा सकते ।

४. प्रसंगिवरोध — प्रसङ्गिविरोध के आधार पर यदि इन क्लोकों को परखें तो ये सभी प्रसङ्गिविरुद्ध सिद्ध होते हैं। ५७ वें ग्रीर १९० वें क्लोक में 'शरीर ग्रीर शरीर-सम्बन्धी ग्रवयवों की ग्रशुद्धि की शुद्धि' कथन करने का संकेत है। उनके ग्रनुसार इस प्रसंग का क्रम इस प्रकार बनता है—

- (क) शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी स्रवयवों की श्रशुद्धि की शुद्धि कहने के विषय का संकेत [५७]—
  - (ख) फिर १०५ में भूमिका रूप में शुद्धिकारक पदार्थों का परिगणन---
- (ग) फिर शरीर एवं शरीर-सम्बन्धी शुद्धियों का वर्णन [१०६-१०६], जो कि सर्व-सामान्य विधि के रूप में भावगाम्भीयं से युक्त संक्षिप्त वर्णन है। इसमें शरीर-सम्बन्धी ग्रात्मा, मन, बुद्धि, चरित्र की शुद्धि का उल्लेख है।

इस प्रकार मनु की मान्यता एवं विषय-संकेत [५७ तथा ११०] के अनुसार यह एक संगत क्रम वनता है। ५० से १०४ इलोकों ने उस क्रम को ही भंग कर दिया है और शरीरादि की शुद्धि से भिन्न अशुद्धि को 'धार्मिककृत्य' के रूप में मनाने की एक पृथक् पूर्वापर प्रसंग से भिन्न ही व्यवस्था विहित की है। शुद्धि की बात कहने के लिए पहले शुद्धिकारक पदार्थों का उल्लेख ही प्रासंगिक बनता है। इस आधार पर ५७ के बाद १०५ वां इलोक प्रसंग की दृष्टि से सम्बद्ध सिद्ध होता है। शेष बीच के सभी इलोक प्रसंग-विरुद्ध या प्रसंगभञ्जक होने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

देह शुद्धिकारक पदार्थों की गणना —

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् । वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ।। १०५ ॥ (१४)

(ज्ञानं तपः ग्रग्निः +ग्राहारः मृद्मनः वारि + उपाञ्जनं वायुः कर्मं ग्रर्ककालौ) ज्ञान, तप, ग्रग्नि, ग्राहार, मिट्टी, मन = विचार, जल, लेप करना, वायु, कर्म, सूर्यं ग्रौर काल (देहिनां शुद्धः कर्तृं िए) ये प्राणियों की शुद्धि करने वाले पदार्थं हैं ॥ १०५॥

उ 🗽 .. छापन भृक्षारिशाचः शुचिः॥ १०६ ॥ (१५)

(ग्रर्थशीचं सर्वेषाम् + एव शीचानां परं स्मृतम्) जो धर्म ही से पदार्थों का संचय करना है वही सब पिवत्रताश्रों में उत्तम पिवत्रता ग्रर्थात् (यः + ग्रथें ग्रुचिः सः ग्रुचिः) जो ग्रन्याय से किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता वही पिवत्र है, किन्तु (मृद्-वारि-ग्रुचिः न ग्रुचिः) जल, मृत्तिका ग्रादि से जो पिवत्रता होती है वह धर्म के सदश उत्तम नहीं होती।। १०६।।

(सं० वि० १५२)

धर्माचरण से विविध चरित्र दोषों की शुद्धि-

क्षान्त्या शुद्धचन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः । प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७॥ (१६)

(विद्वांसः क्षान्त्या) विद्वान् लोग क्षमा से (ग्रकार्यकारिएः दानेन) दुष्टकर्मकारी सत्संग ग्रीर विद्यादि शुभगुणों के दान से (प्रच्छन्नपापा जप्येन) गुप्त पाप करने हारे विचारसे त्यागकर (तपसा वेदवित्तमाः) ग्रीर ब्रह्मचर्यं तथा सत्यभाषणादि से वेदवित् उत्तम विद्वान् (शुध्यन्ति) शुद्ध होते हैं ॥ १०७॥ (सं० वि० १४२)

अप्रज्ञा क्रिक्ज : दान से शुद्धि मनु ने ४। २३३ में कहा है -- "सर्वे-षामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।" वेदादि से श्रेष्ठता की प्राप्ति होती है। इन मान्यता श्रों की पृष्टि के लिये द्रष्टव्य है ११। २२६ श्रोर ११। २२७ श्लोक। शुद्ध होने से यहां श्रभिप्राय पापभावना से रहित होने से है, पापफल के क्षीण होने से नहीं। द्रष्टव्य ११। २२७ पर एतद्विषयक श्रनुशीलन।

> मृत्तोयैः शुद्धचते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति । रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८॥

(शोध्यं मृत् + तोयै: शुध्यते) मल ग्रादि से दूषित वस्तु मिट्टी ग्रीर जल से शुद्ध होती है (नदी वेगेन शुद्धचित) नदी बहती धारा से शुद्ध होती है (मनोदुष्टा स्त्री रजसा) मन से दूषित स्त्री रजस्वला होकर (द्विजोत्तमः संन्यासेन) ब्राह्मएा संन्यास धारण करने से शुद्ध होता है ॥ १० = ॥

अप्रज्ञुक्योल्जन्मः १०८ वां श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त है-१. **शंली एवं त्रिषय-विरोध**— १०८ वां श्लोक प्रक्षिप्त है— [विस्तृत जानकारी के लिए ५८ से १०४ श्लोकों की समीक्षा देखिए] मन से दूषित स्त्री रजस्वला होकर कैसे शुद्ध होगी, इसमें कोई कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। यह ग्रयुक्तियुक्त शैली है।

शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि की शुद्धि—

म्रद्भिगात्राणि शुद्रध्यन्ति मनः सत्येन शुद्धचित । विद्यातपोभ्यां मूतात्मा बुद्धिर्श्वानेन शुद्धचित ॥ १०६॥ (१७)

(म्रद्भिः गात्रागि शुद्धचिन्ति) जल से शरीर के बाहर के स्रवयव (सर्येन मनः) सत्याचरण से मन (विद्यातपोभ्यां भूतात्मा) विद्या और तप स्रर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के स्रनुष्ठान करने से जीवात्मा (ज्ञानेन बुद्धिः शुद्धचिति) ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थीं के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय पवित्र होती हैं ।। १०६ ।। (स० प्र०३६) "िकन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पितृत्र होते हैं आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण हो से पितृत्र तथा बुद्धि-ज्ञान से ही शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं" (सं० वि० १४२)

> एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः। नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृखुत निर्णयम् ॥ ११० ॥ (१८)

(एषः) यह (शारीरस्य शौचस्य विनिर्णयः) शरीर सम्बन्धी स्रथीत् शरीर, मन, स्रात्मा की शुद्धि का निर्णय (वः प्रोक्तः) तुमसे कहा, स्रब (नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः निर्णयं शृणुत) विभिन्न प्रकार के पदार्थों की शुद्धि का निर्णय सुनो--॥ ११०॥

# (द्रव्य-शुद्धि विष्य) [४।१११ से ४।१४६ तक]

पात्रों की शुद्धिका प्रकार---

तैजप्तानां मणीनां च सर्वस्य। इममयस्य च। भस्मनाऽद्भिमृंदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभः ॥१११॥ (१६)

(तैजसाम्) तंजस पदार्थ प्रयात् चमकोले सोना ग्रादि की (घ) ग्रीर (मएगोनाम्) मिएगयों के पात्रों की (च) ग्रीर (सर्वस्य + ग्रश्मनयस्य) सब प्रकार के पत्थरों के पात्रों की (शुद्धिः) शुद्धि (मनीपिभिः) विद्वानों ने (भस्मना + ग्रद्भिः च मृदा एव उक्ता) भस्म = राख, जल ग्रीर मिट्टी से कही है।। १११।।

निर्लेषं काञ्चनं भाण्डमिद्भिरेव विशुद्ध्यित । ऋब्जमञ्ममयं चैव राजतं चःनुपस्कृतम् ॥११२॥ (२०)

(निर्लेपम्) जिसमें किसी चिकनाई, जूठन म्रादि का लेप न लगा हो ऐसा (काञ्चनम्) सोने का (भाण्डम्) पात्र, (प्रव्रम्) जल में उत्पन्न होने वाले मोती शंख म्रादि से बना पात्र (च) म्रौर (म्रश्मयम्) पत्थरों के पात्र (म्रनुपस्कृतं राजतम्) चित्रकारी की खुदाई से रहित चांदी का पात्र (म्रद्भिः +एव विगुद्धचित) केवल जल से ही गुद्ध हो जाता है ॥ ११२॥

अन्युर्गोत्जनः यहां 'निलेपम्' शब्द का सम्बन्ध प्रत्येक प्रकार के पात्र से है।

#### अपामग्नेश्च संयोगाद्धंमं रौप्यं च निर्वभौ। तस्मासयोः स्वयोग्यैव निर्गोको गुरावसरः।। ११३।।

(हैम च रौप्यम्) सोना ग्रौर चांदी (अपां च ग्रग्ने: संयोगात् निर्बभौ) जल और संयोग से उत्पन्त हुए हैं (तस्मात्) इसलिए (तयोः) उन दोनों पदार्थों से बन पात्रों की (निर्णेकः) शुद्धि (स्वयोग्या + एव) अपने उत्पतिस्थान ग्रथित् जल ग्रौर अग्नि ग्रयित् राख या तपान से ही (गुणवत्तरः) बहुत अच्छी होती है ।। ११३॥

# **अन्तुर्शीत्वनाः ११३** वां श्लोधः निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है---

- श्रन्तिवरोध—स्वर्ण ग्रादि की शृद्धि ा उल्लेख १११ वें श्लोक में हो चुका है, इस श्लोक में पुन: िन्त प्रकार से शुद्धि का उल्लेख ग्रनावश्यक एवं विरुद्ध है।
- २. शैलीगत स्राधार—इस ब्लोक की वर्णनशैली स्रयुक्तियुक्त है। यहां जो कारण दर्शाया गया है, इसका शुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। यों तो सभी धातुए स्रग्नि स्रीर जल के संयोग से निकली हैं फिर केवल चांदी स्रीर सोने को ही पृथक् से इस रूप में कहना स्रयुक्तिपूर्ण है।

# ताम्रायःकांस्यरंत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथाह**ं कर्त्तंव्यं** क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥(२१)

(ताम्र + ग्रय:-कांस्य-रैत्यानां त्रपुगः च सीसकस्य शौचम्) तांवा, लोहा, कांसा, पोतल, रांगा श्रौर सीसा, इनके वर्तनों की शृद्धि (यथाईम्) यथाग्रावश्यक (क्षार + ग्रम्ल + उदक वारिभिः) राख, खट्टा पानी श्रौर जल से (कर्त्तत्र्यम्) करनी चाहिए ।। ११४ ।।

> द्रवारणां चैव सर्वेषां श्द्धिरुत्पवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च वारवाणां च तक्षरणम् ॥ ११४ ॥ (२२)

(सर्वेषां द्रवाणाम्) सब घी, तैल ग्रादि द्रव पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि उत्पवनम्) छान लेने से (च) ग्रीर (संहनानां प्रोक्षणम्) ठोस वस्तु जैसे लकड़ी को चौकी ग्रादि की पोंछने से (च) तथा (दारवाणाम् तक्षणम्) लकड़ी के पात्रों की शुद्धि छीलने से (स्मृतम्) मानो है।। ११४।।

यज्ञ पात्रों की शुद्धि का प्रकार—

# मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मिंगा। चमसानां ग्रहाणां च शृद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥ (२३)

(यज्ञकर्मणि) यज्ञ करते समय प्रयुक्त (यज्ञपात्राणाम) यज्ञ के पात्रों (चमसानां च ग्रहाणां गुद्धिः) चमचों ग्रीर कटोरों की गुद्धि (पाणिना मार्जनं तु प्रक्षालनेत) हाथ से रगड़कर मांजने ग्रीर धोने से होती है ॥ ११६॥ अनुश्रीत्उनः यह शुद्धि चिकनाईरहित पात्रों की कही है।

चरूणां स्रुक्त्रवाराां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा। स्वयज्ञूर्यशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७॥ (२४)

[घृत ग्रादि की चिकनाई लगे पात्रों की शुद्धि की विधि है—] (चरू-णाम्) यन के लिए पाक बनाने के पात्र चहस्थाली ग्रादि (स्नुक्सुवाएगम्) स्नुक् ग्रीर स्नुव नामक चम्मचित्रशेष पात्रों की (स्पय-शूर्प-शकटानाभ्)स्पय= तलवार की ग्राकृति का खदिर वृक्ष का बना खड्ग, शूर्प=छाज, शकट= यज्ञीयपदार्थ ढ़ोने की गाड़ी (च) ग्रीर (मुसल+उल्खलस्य च) मूसल ग्रीर ऊखल ग्रादि यज्ञीय पदार्थों की (शुद्धिः) शुद्धि (उष्णेन वारिएगा) गर्म जल से घोने से होती है।। ११७।।

अञ्चारिका : यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण — मनु ने यहां संकेतरूप मं कुछ ही पात्रों का उल्लेख किया है। ब्राह्मणप्रन्थों ग्रीर श्रीतसूत्र प्रन्थों में ग्रनेक यज्ञीय साधनों और यज्ञपात्रों का वर्णन ग्राता है। इलोकोक्त पात्रों का सामान्य परिचय इस प्रकार है — (१) स्नुक्—यद्यपि स्नुक् ग्रीर स्नुवों के ग्रनेक प्रकार हैं, किन्तु प्रमुखतः चार स्नुक् हैं — जुहुः, उपभृत्, ध्रुवा ग्रीर ग्रिग्होत्रहवनी। (२) स्नुव— वैकङ्कत स्नुव ग्रीर खादिर स्नुव दो प्रमुख हैं। (३) स्पय — खदिर वृक्ष की लकड़ी का बना २२ ग्रंगुल लम्बा खड्ग। (४) शूर्यं — पदार्थों की सफाई के लिए छाज। (५) शकट — यज्ञ का सामान ढोने की गाड़ी। (६) मुसल-उल्लूखल — ऊखल सामान्यतः पलाश का वना होता है ग्रीर नाभि तक छंचाई वाला होता है। मूसल सामान्यतः शिर तक लम्बा खदिर का बना होता है। ये इच्छाप्रमाण में ग्रीर ग्रन्य वृक्ष के भी हो सकते हैं।

प्रनय प्रमुख यज्ञपात्र ग्रौर यज्ञोपयोगी पदार्थ हैं—(७) ग्राज्यस्थाली, (८) पुरोडाशपात्री, (६) प्रणीता, (१०) शस्या, (११) श्रुतावदानम्, (१२) उपवेष:, (१३) मकराकारकूर्वः, (१४) इषत्, (१४) उपलः, (१६) षडवत्तम्, (१७) ग्रिश्चः, (१८) ग्राध्यः, (१८) होत्रासनम्, (१८) ग्राध्यः, ग्राधः, (१४) ग्राधः, ग्राधः, ग्राधः, (१४) ग्राधः, ग्राधः, (१४) ग्राध

अन्य वस्त्रादि पदार्थौं की शुद्धि---

श्रद्भिरतु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥(२५) (बहूनां धान्यवाससां शौचम् ग्रिइभः प्रोक्षणम्) बहुत-से ग्रन्नों ग्रौर वस्त्रों की शुद्धि जल से पोंछने ग्रर्थात् डुबाने मात्र से हो जाती है (तु) किन्तु (ग्रत्यानाम्) कुछ ग्रन्न एवं वस्त्रों की (शौचम्) शुद्धि (ग्रिट्भः प्रक्षालनेन विधीयते) जल से मलकर धोने से होती है।। ११८।।

# चैलवच्चर्मगां गुद्धिर्वेदलानां तथैव च। शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११६॥ (२६)

(चर्मगां गुद्धिः चैलवत्) चमड़े के वर्तनों की गुद्धि वस्त्रों के समान होती है (वैदलानां तथैव) वांस के पात्रों की गुद्धि भी उसी प्रकार होती है (च) ग्रीर (शाक-मूल-फलानां गुद्धिः धान्यवत् इष्यते) शाक, कन्दमूल ग्रीर फलों की गुद्धि ग्रन्नों के समान [४। ११८] जल में धोने से होती है।। ११९।

## कौज्ञेयाविकयोरूषंः कुतपानामरिष्टकैः । श्रीफर्लरंग्रुपट्टानां क्षौमःग्गां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥ (२७)

(कौशेय + म्राविकयोः) रेशमी ग्रीर ऊनी वस्त्रों की शुद्धि (ऊषैः) क्षारिमिश्रित पदार्थों से (कुतपानाम्) कम्बलों की शुद्धि (ग्रिरिंटकैः) रीठों से (ग्रंशुपट्टानां श्रीफलैंः) सन ग्रादि से बने कपड़ों की शुद्धि बेलफलों से (क्षीमाणां गौरसर्षपैः) अलसी आदि की छाल से बने वस्त्रों = वल्कल वस्त्रों की शुद्धि सफेद सरसों से होती है।। १२०।।

# क्षौमवच्छङ्कश्रङ्काणामस्थिदन्तमयस्य च। गुद्धिवजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा॥ १२१॥ (२८)

(शंख-शृङ्गाणां ग्रस्थि-दन्तमयस्य शुद्धिः) शंख, सींग, हड्डी, दांत, इन से बने पदार्थों की शुद्धि (विजानता) बुद्धिमान् व्यक्ति को (क्षौमवत्) छाल = वल्कल से बने वस्त्रों के समान (बा) ग्रथवा (गोमूत्रेण + उदकेन) गोमूत्र ग्रौर पानी से (कार्या) करनी चाहिए ॥ १२१॥

## प्रोक्षणातृ एकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति । मार्जनोपाञ्जनेर्वेदम पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥ (२६)

(तृण-काष्ठं च पलालम्) घास, काष्ठ ग्रीर पुत्राल से वना पदार्थं (प्रोक्षणात् गुद्धचित) जल में इबाकर पोंछने से गुद्ध होता है (वेश्म) घर की गुद्ध (मार्जन + उपाञ्जनैः) धोने-बुहारने ग्रीर लीपने से होती है (मृद्+मयं पुनः पाकेन) निट्टो का पात्र या पदार्थं फिर ग्राग में पकाने से गुद्ध होता है।। १२२।।

# मद्येमू त्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोग्तितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३॥ (३०)

(मद्यै: मूत्रै: पुरोषै: ष्ठीवनै: पूयशोिएतिः) शराब, मूत्र, मल, थूक, राद, खून इनसे (संस्पृष्टं मृन्मयम्) लिपा हुन्ना मिट्टी का बर्तन (पुन: पाकेन नैव गुद्धचेत) फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होता ॥ १२३ ॥

# संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च। गवां च परिवासेन भूमिः गुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४॥ (३१)

(संमार्जन + उपाञ्जनेत सेकेन + उल्लेखनेन च गयां परिवासेन पञ्चभिः) बुहारना, लीपना, छिड़काव करना या धोना. खुरचना ग्रीर गौग्रों का निवास—इन पांच कामों से (भूभिः गुड़चिति) भूमि गुद्ध होतो है ॥१२४॥

## पक्षिजाधं गवाद्यातमवयूतमवस्तुतम्। दूषितं केञकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेगा शुद्ध्यति ।। १२५ ।।

(पक्षिजग्धम्) पक्षी से खाया हुम्रा (गवा + ग्राघ्रातम्) गौ के द्वारा सूंघा हुम्रा (ग्रवधूतम्) पैर से छूम्रा हुम्रा (ग्रवक्षुतम्) जिस पर किमी ने छींक दिया हो, वह पदार्थ (केशकीटैं: दूषितम्) केश म्रौर कीटों से विगड़ा हुम्रा पदार्थ (मृत्प्रक्षेपेण शुद्धचित) मिट्टी के डालने से शुद्ध होता है ॥ १२५॥

#### अनुराित्जना-१२५ वां श्लोक निम्नप्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. विवयविरोध—११० वें श्रौर १४६ वें ब्लोक के संकेतानुसार प्रस्तुत विषय 'दैनिक उपयोग में आने वाले वर्तन, वस्त्र ग्रादि पदार्थों की शुद्धि' का है। इस ब्लोक में उन पदार्थों से भिन्त वस्तुश्रों का वर्णन करना विषयविरुद्ध है।
- प्रसङ्गिवरोध—१२४ ग्रौर १२६ ब्लोकों में पूर्वापर प्रसङ्ग वाह्य उपयोग के पदार्थों की शुद्धि का है। इस ब्लोक में भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि का वर्गान पूर्वापर प्रसङ्ग-विरुद्ध है।
- ३. **शैलीगत श्राधार—भ**क्ष्य पदार्थ मिट्टी गेरने मात्र से शुद्ध नहीं होते । इस प्रकार इसकी शैली भी निराधार-अयुक्तियुक्त है ।

# यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपइच तत्कृतः । तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यगुद्धिषु ॥ १२६ ॥ (३२)

(यावत्) जव तक (ग्रमेध्य + ग्रवतात्) ग्रशुद्ध वस्तु से (तत्कृतः गन्धः च लेपः) उस ग्रशुद्ध वस्तु की गन्ध ग्रीर लेप [ — लगा होना ] (न ग्रपेति) नहीं दूर हो जाता है (सर्वासु द्रव्यशुद्धिपु) मिट्टी ग्रीर जल से धोये जाने वाले सव पदार्थों की गुद्धि के लिए उन्हें (तावत्) तबतक (मृर्+वारि ग्रादेयम्) मिट्टी ग्रीर जल से धोते रहना चाहिए ॥ १२६ ॥

<mark>शुद्ध और</mark> अशुद्ध वस्तुओं की गणना—

त्रीिंग देवाः पवित्राणि बाह्यगानामकल्पयत् । अहष्टमद्भिर्निग्लिनं यच्च वाचा प्रशस्यते ।। १२७ ।।

(देवाः) देवताओं ने (त्रीणि ब्राह्मणानां पित्रशाणि अकल्पयन्) तीन प्रकार की वस्तुओं को ब्राह्मणों के लिए पितत्र कहा है—एक तो (अहष्टम्) जिसकी अपितत्रता ग्रांखों से न देखी गई हो (ग्रद्भिः निणिक्तम्) जिसकी ग्रपितत्रता की शङ्का होने पर जिस पर जल छिड़क दिया गया हो (च) ग्रौर (यत् वाचा प्रशस्यते) जिसको वाणी के द्वारा ग्राह्मण लोग पितत्र कह दें।। १२७॥

न्नायः शुद्धाः भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् । ग्रस्याःताइचेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ।। १२८ ।।

(यासुगोः वैतृष्ण्यं भवेत्) जिस पानी को पीकर गौ तृष्त हो जाये (च) ग्रौर (अमेध्येन ग्रव्याप्ताः) जिसमें कोई ग्रपवित्र वस्तु [हड्डी, मांस, मल ग्रादि] न पड़ी हो (गन्थ-वर्णं-रस-ग्रन्विताः)जिनकी गन्य, रङ्ग ग्रौर स्वाद ठीक हो, ऐसे(भूमिगताः ग्रापः शुद्धाः) भूमि में स्थित या भूमि पर बहने वाला पानी शुद्ध होता है ॥ १२८॥

> नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् । ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२६ ॥

(कारुहस्तः नित्यं शुद्धः) कारीगर का हाथ सदा शुद्ध होता है (च) श्रीर (यत् पण्ये प्रसारितम्) जो वस्तु वाजार में वेचने के लिए रखी गयी है (ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यम्) ब्रह्मचारी को प्राप्त भिक्षा, ये (नित्यं मेघ्यम्) सदा पवित्र रहने वाली वस्तुएं हैं; (इति स्थिति:) ऐसी मान्यता है ॥ १२६॥

नित्ययास्यं शुचिः स्त्रीणां शकुनिः फलपातने । प्रस्नवे च शुचित्रंत्सः श्वा मृगप्रहणे शुचिः ॥ १३०॥

(स्त्रीणाम् ग्रास्यं नित्यं श्वाचः) स्त्रियों का मुख सदा पवित्र होता है (फल-पातने शकुनिः) फल गिराने से पक्षियों का मुख पित्र होता है ग्रथीत् वह फल ग्रपित्रत्र नहीं होता जिसे पक्षी ग्रपने मुख से काटकर गिराते हैं (च) ग्रीर (प्रस्नवे वत्सः श्वाचः) दूध दुहाते समय वछड़े का मुख पित्र है अर्थात् वछड़े के द्वारा स्तनों से दूध पीने के वाद वह दूध अशुद्ध नहीं होता (मृगग्रहणे क्वा श्वाचः) हिरण को पकड़ने में कुत्ते का मुख पित्र है।। १३०।।

> श्वमिहंतस्य यन्मांसं शुचिस्तन्मनुरस्रवीत् । कृष्याद्मिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाचे श्च बस्युमिः ॥ १३१ ॥

(श्विभिः हतस्य) कुत्तों के द्वारा मारे हुए (च) तथा (क्रव्य + ग्रद्भिः हतस्य) कच्चा मास खाने वाले पशुभ्रों द्वारा मारे हुए (च) ग्रौर (ग्रन्यैः पण्डाल + ग्राद्यैः) ग्रन्य चाण्डाल व्याध ग्रादि द्वारा मारे हुए (दस्युभिः) राक्षसों द्वारा मारे हुए पशुका (यत् मांसम्) जो मांस है (तत् मनुः शुचिः ग्रब्रवीत्) उसे मनु नेपवित्र कहा है।।१३१॥

> अध्व नाभेगीनि लानि तानि मेध्यानि सर्वशः । यान्यथस्तान्यमेध्यानि देहास्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

(नाभेः ऊर्घ्वं यानि खानि) नाभि से ऊपर जितनी इन्द्रियां हैं (तानि सर्वशः मेघ्यानि) वे सव शुद्ध हैं (यानि) जो (ग्रधस्तात्) नाभि से नीचे की इन्द्रियां हैं वे (च) ग्रीर (देहात् च्युताः मलाः) धरीर से निकलने वाले सभी मल (ग्रमेध्यानि) ग्रपवित्र हैं ॥ १३२॥

मक्षिका विद्युद्दछाया गौरक्वः सूर्यरक्ष्मयः। रजो भूर्वायुरग्निक्च स्पर्शे मेध्यानि निर्विशेत्।। १३३।।

(मिक्षका, विश्रुष:, छाया, गौ, अश्वः, सूर्यरश्मयः, रजः, भूः, वायुः च ग्रग्निः) मधुमक्खी, उड्कर पड़ते जलकण, छाया, गौ, घोड़ा, सूर्य की किरऐं, धूल, भूमि, वायु, अग्नि ये सब (स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत्) स्पर्श करने में पवित्र होते हैं अर्थात् इनके स्पर्श से अपवित्रता नहीं होती ॥ १३३॥

ि विष्त्रत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वायविष्यमर्थवत् । वैहिकानां सलानां च शुद्धिषु द्वादशस्विषि ॥ १३४॥ वसा शुक्रमसृङ्गज्जा मूत्रविद् झारणकर्णविद् । इलेटमाश्रुद्विका स्वेदो द्वादशैते नृगां मलाः ॥ १३४॥

(विष्मूत्र-उत्सर्ग-शुद्धधर्थम्) मल-मूत्र त्याग के वाद की शुद्धि के लिए (च) ग्रीर दैहिकानां मलानां ढादशमु + ग्रिप शुद्धिषु) शरीर के मलों की बारह प्रकार की शुद्धि के लिए (ग्रर्थवत्) ग्रावश्यकता के अनुसार (मृत् + वारि + आदेयम्) मिट्टी और जल का उपयोग करना चाहिए। (नृणां ढादश मलाः एते) मनुष्यों के बारह शारीरिक मल ये हैं—(वसा, शुक्रं, ग्रस्क्, मज्जा, मूत्र, विट्, घ्राण-कर्णविट्, श्लेष्मा, ग्रश्नु, दूषिका, स्वेदः,) चर्वी, वीर्यं, खून, मांस, मूत्र, विष्ठा, नाक और कान का मैल, थूक, आंसू, ग्रांख का मैल ग्रीर पसीना ।। १३४, १३४।।

एका लिङ्गे गुदे तिस्नस्तर्यंकत्र करे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६॥

(शुद्धिम् + ग्रभीप्सता) शुद्धि चाहने वाले व्यक्ति को (लिङ्को एका) लिङ्कापर एक बार (गृदे तिस्रः) गुदापर तीन बार (तथा एकत्र करे दश) तथा शुद्धि में इनके सम्पर्क में स्राने वाले बायें हाथ में दस बार (उभयोः सप्त) दोनों हाथों में सात-सात बार (मृदः दातव्या) मिट्टी से धोना चाहिये ॥ १३६॥

ब्रह्मचारी और संन्यासियों के लिए शुद्धि प्रकार—

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुएां ब्रह्मचारिएगाम् । त्रिगुरणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

(एतत्) यह (शौचं गृहस्थानाम्) गृद्धि का विधान गृहस्थों के लिए है (ब्रह्म-चारिणां द्विगुणम्) ब्रह्मचारियों को इससे दुगनी शुद्धि करनी चाहिए (वनस्थानां त्रिगुणं च) वानप्रस्थियों को तिगुनी (तु) और (यतीनां चतुर्गुणम्) संन्यासियों को चौगुनी शुद्धि करनी चाहिए।। १२७।।

विभिन्न प्रकार की श्रशुद्धियों की शुद्धि का प्रकार—

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृक्षेत् । वेदमध्येष्यमाणक्च अन्नमक्नंक्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

(मूत्रं वा पुरीषं कृत्वा) मूत्र या मल त्यागकर [शुद्धि के उपरान्त] (च) ग्रौर वेदम् — ग्रध्येष्यमाणः) वेद पढ़ना प्रारम्भ करने से पूर्व (च) तथा (अन्नम् — अक्ष्तन्) भोजन के समय (सर्वदा) सदा (ग्राचान्तः खानि उपस्पृशेत्) ग्राचमन करके इन्द्रियों का स्पर्शे करे।। १३८।।

> त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृष्यात्ततो मुखम् । ज्ञारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३६ ॥

(शारीरं शौचम् + इच्छन् हि) शरीर की शुद्धि को चाहने वाला व्यक्ति (पूर्व त्रिः + ग्राचामेत्) पहले तीन बार ग्राचमन करे (ततः मुखं द्विः प्रमृज्यात्) फिर दो बार मुख को धोये (तु) किन्तु (स्त्री-शूद्रः तु सक्तृन्-सकृत्) स्त्री ग्रौर शूद्र तो एक-एक वार ही ग्राचमन ग्रौर मुखप्रक्षालन करें॥ १३६॥

> शूद्रारणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् । वैश्यवच्छोचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च मोजनम् ॥ १४० ॥

(न्यायर्वितनां शूद्राणाम्) शास्त्रोक्त कर्त्तन्यों के श्रनुसार श्राचरण करने वाले शूक्षों का (वपनं मासिकं कार्यम्) मुख्डन प्रतिमास कराना चाहिए (च शौचकल्पः वैश्यवत्) श्रौर उनके जन्म-मरण-सूतक विधान भी वैश्य के समान मानने चाहिएं (च) श्रौर तथा (द्विजोच्छिष्टं भोजनम्) द्विजों द्वारा खाने से छोड़ा जूठा भोजन करना चाहिए ॥ १४० ॥

> नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विद्रुषोऽङगे पतन्ति याः । न इमश्रूरिंग गतान्यास्यं न दन्तान्तरिंघष्ठितम् ॥ १४१ ॥

(याः मुख्याः विप्रुषः 🕂 ग्रङ्को पतन्ति) जो मुख से निकलने वाली बूंदें हैं वे, तथा

(ग्रास्यं गतानि इमथूणि) मुख में गये दाढ़ी-मूंछ के बाल, (दन्त + ग्रन्तः + ग्रधिष्ठितम्) दांतों के भीतर लगा हुग्रग् ग्रन्न, ये (उच्छिष्टं न कुर्वते) मनुष्य को जूठा या श्रपवित्र नहीं करते ।। १४१ ।।

#### स्रृक्षस्ति विन्दवः पादौ य श्राक्षाभयतः परान् । भौमिकस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

(ये परान् ब्राचामयतः) जो दूसरों को पानी पिलाते समय (बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति) नीचे गिरने वाली जल की बूंदें पैरों को छूती हैं (ते भौमिकैः समा ज्ञेयाः) वे भूमि के जल के समान पिवत्र समभनी चाहिएं (तैः + श्राप्रयतः न भवेत्) उनसे अपिवत्र नहीं होता ॥ १४२॥

#### उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन । स्रनिधार्येव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

(कदाचन) जो कभी (द्रव्यहस्तः उच्छिप्टेन संस्पृष्टः) कोई भक्ष्य पदार्थ स्रथवा सन्य कोई पदार्थ हाथ में लिए हुए हो स्रौर किसी जूठे मुह-हाथ वाले व्यक्ति से छू जाये तो (तत् द्रव्यम् स्रनिधाय एव) वह द्रव्य नीचे रखे विना स्रथति हाथों में रखा हुस्रा (म्राचान्तः) स्राचमन करके ही (शुचिम् + इयात्) शुद्ध हो जाता है ॥ १४३॥

#### बान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राज्ञनमाचरेत्। स्राचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।। १४४॥

(वान्त: तु विरिक्तः) वमन होने पर श्रौर दस्त लगने के बाद (स्नात्वा) स्नान करके (घृत-प्राशनम् + श्राचरेत्) घी को चाटकर शुद्ध हो जाता है (श्रन्नं भुक्त्वा एव श्राचामेत्) श्रन्न श्रर्थात् भोजन करते ही जो वमन हों जाये तो केवल श्राचमन ही करे (मैथुनिन: स्नानं स्मृतम्) मैथुन करने वाले को तो शुद्धि के लिए स्नान करना कहा है॥ १४४॥

#### सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीब्योक्त्वाऽनृतानि च । पीत्वाचोऽघ्येष्यमारगञ्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४४ ॥

(सुष्त्वा क्षुत्वा भुक्त्वा निष्टिण्य) सोनं से उठने पर, छींककर, भोजन करके, थूककर (च) त्रौर (ग्रनृतानि उक्त्वा) भूठ बोलकर (ग्रपः पीत्वा च श्रघ्येष्यमाणः) जल पीकर ग्रौर वेद पढ़ने से पहले (प्रयतः + ग्राप सन् ग्राचामेत्) किसी काम में व्यस्त होते हुए भी ग्रर्थात् कार्य की शीघ्रता हो, तब भी ग्रवश्य ग्राचमन करे।। १४५॥

अन्तु श्री त्उन्तः १२७ से १४५ श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. विषयविरोध—विषयसंकेत श्लोक ११० ग्रौर १४६ के ग्रनुसार प्रस्तुत

विषय द्रव्यों == वर्तन, वस्त्र भादि पदार्थों की गृद्धि करने के उपायों के वर्णन करने का है। इससे सम्बद्ध वर्णन ही यहां विषयसम्मत माने जा सकते हैं, इससे भिन्न विषयविरुद्ध कहलायेंगे। इन क्लोकों में न तो इस प्रकार के पदार्थों का वर्णन है और न शृद्धि का, ग्रिपितु क्या शृद्ध है और क्या ग्रशुद्ध यह वर्णन किया गया है। ग्रतः ये सभी क्लोक विषय-विरुद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

- २. प्रसंगिवरोध द्रव्यों की शुद्धि का प्रसंग १११ वें क्लोक से प्रारम्भ हुया है ग्रीर १२६ वें क्लोक तक विभिन्त पदार्थों का वर्णन करके १२६ वें में शेप सभी पदार्थों के लिए सामूहिक रूप में यह विधान करके कि 'जब तक ज्ञानुद्ध पदार्थ कुत वस्तु में से अशुद्ध पदार्थ की गन्ध और लेप दूर न हो जाये, तब तक उस वस्तु की शुद्धि के साधन मिट्टी ग्रीर जल का प्रयोग करे, इसका उपसहार कर दिया है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि मौलिक रूप से यह प्रसंग यहां समाप्त हो गया है। एक पूर्वप्रसंग के पूर्ण हो जाने के वाद पुतः उस सम्बन्ध के वर्णनों का प्रसंग प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है। इस ग्राधार पर १२७ से १४५ तक सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. श्रन्तिवरोध—इन श्लोकों में विणित श्रनेक वातों का मनु की मान्यताश्रों से विरोध है—(१) १२७ में केवल ब्राह्मणों की वाणी से ही किसी वस्तु के पिवत्र हो जाने का कथन १११—१२६ श्लोकों की व्यवस्थाश्रों के विरुद्ध है। इस प्रकार तो ये सब विधान निर्फ्यंक हो जाते हैं। (२) १३०, १३१ श्लोकों में मांस क्षिण का उल्लेख मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु ने सब प्रकार के माँस भक्षण को निपिद्ध माना है [विस्तृत जानकारी के लिए ४। २६-२= श्लोकों पर अन्तिवरोध शीर्षंक श्राधार देखिए]। (३) १४० वें श्लोक में शूद्रों को द्विजों का जूठा भोजन खाने का विधान २। ३१ [४६] के विरुद्ध है। उसमें जूठा भोजन किसी को न देने का कथन है। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये तथा इनसे सम्बद्ध ग्रन्य सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ४. शैलीगत श्राधार—प्रायः इत सभी ब्लोकों की शैली श्रयुक्तियुक्त एवं ग्रिति शयोक्तिपूर्ण है। जैसे कुछ उदाहरण (१) ब्राह्मणों द्वारा वाणी से 'शुद्ध' कह देने से ही वस्तु का शुद्ध होना [१२७] (२) वाजार में रखी प्रत्येक वस्तु का शुद्ध होना, कारीगर का हाथ सदा शुद्ध होना [१२६], (३) स्त्रियों का युख सदा शुद्ध होना, कुत्तों से मारे गये पशु का मांस्र शुद्ध होना [१३०, १३१] (४) चालीस-चालील तथा श्रद्धांस वार मिट्टी मलने से हाथों की शुद्ध का विधान [१३७] (४) जुलाब के वाद घृतभक्षण से शुद्धि होना [१४४] श्रादि सभी कथन मनु की शैली के विरुद्ध हैं। (६) १३१ वें में 'मनुरत्रवीत्' पद से यह श्लोक श्रन्थोक्त सिद्ध होता है। इन शैलियों के श्राधार पर भी यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रक्षिन्त है।

एष शौचविधिः फ्रत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथेव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्तिबोधता। १४६ ॥ (३३) (एषः) यह (सर्ववर्णानां कृत्स्नः शौचिविधिः) सब वर्णौ के लिए सम्पूर्ण शरीर-शुद्धि (च) ग्रौर (तथा + एव) उसी प्रकार (द्रव्यशुद्धिः) पदार्थौ की शुद्धि (वः उक्तः) तुम्हें कही (स्त्रीणां धर्मान् निबोधत) ग्रब स्त्रियों के धर्मौ = कर्त्तवर्यौ को सुनो — ॥१४६॥

# (गृहस्थान्तर्गत पत्नीधर्म विषय) [४। १४७ से ४। १६६ तक]

स्त्री-स्वतन्त्रता का निषेध---

( )

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता। न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥१४७॥

(बालया वा युवत्या वा वृद्धया भ्रिप योषिता) बालिका, युवती अथवा वृद्धा-वस्था को प्राप्त स्त्री को भी (गृहेषु स्वातन्त्र्येण किंचित् कार्यं न कत्तंव्यम्) स्वतन्त्र होकर भ्रथित् पिता, पित, पृत्र भ्रादि की भ्राज्ञा लिये बिना कोई कार्यं नहीं करना चाहिए ॥ १४७॥

## बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पारिणप्राहस्य यौवने । पुत्रारणां मर्तरि प्रेते न मजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

स्त्री (बाल्ये पितुः वशे तिष्ठेत्) बचपन में पिता के अधीन रहे (यौवने पाणि-ग्राहस्य) ग्रुवावस्था में पित के ग्राधीन (भर्तंरि प्रेते पुत्राणाम्) पित के मरने पर पुत्रों के ग्राधीन रहे (स्त्री स्वतन्त्रतां न भजेत्) स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे ।। १४८ ॥

आनु शिटा न्यः १४७-१४८ श्लोक निम्न 'ग्रावारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. विश्वयविरोध—यहां मुख्यविषय विवाहित स्त्री-पुरुषों का चल रहा है। इसका संकेत विषय को प्रारम्भ करने वाले ४। १ श्रौर विषय की समाप्ति की सूचना देने वाले ४। १६६ श्लोक की "द्वितीयमायुषों मागं कृतवारों गृहें बसेत्" से मिलता है। इसी गृहस्थों के मुख्य विषय के अन्तर्गत १४६ से १६५ श्लोकों में स्त्रियों के धर्मों का वर्णन है। प्रस्तुत अवान्तर विषय का संकेत देने वाले श्लोक ५।१४६ श्रौर ५।१६७ हैं। इन श्लोकों के निम्न पदों—"स्त्रीणां धर्मान् निबोधत" [१४६] "एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीम्" [१६७] पर घ्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विषय केवल 'विवाहित स्त्रियों के धर्मों के वर्णन' का है। एक तो यह विषय हो केवल गृहस्थियों के कत्तं व्यों का है श्रौर फिर इस प्रसङ्ग में "एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीम्" पदों से यह श्रौर भी स्पष्ट संकेत दे दिया है कि 'इस प्रकार का श्राचरण करने वाली सवर्णां भायां को'।

इन क्लोकों में स्त्रियों के वही कर्त्तव्य बतलाये हैं जो पतिगृह में करणीय हैं। इन संकेतों एवं प्रमाणों से यही सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत विषय 'पतिगृह में पालनीय स्त्रियों के कर्त्तंब्यों' का है श्रथवा 'पति से सम्बद्ध कर्तं व्यों' का है। इस वर्णन में इससे भिन्न वर्णन वाले क्लोक विषयविरुद्ध कहलायेंगे। (१) इस स्राधार पर १४७-१४८ क्लोक विषयविरुद्ध हैं क्योंकि इनमें विवाहित स्त्रियों के कर्त्तव्य न होकर विषयभिन्न वर्णन है। दोनों ही श्लोकों में बाला द्वारा घर में स्वतन्त्रतापूर्वंक कोई कार्य न करने का उल्लेख और बाल्यावस्था में पिता के वश में रहने का कथन पति या पतिगृह से सम्बद्ध नहीं रखता। वाला का पतिगृह से क्या सम्बन्ध ? यदि कोई कहे कि इनमें वर्णित ग्रन्य दो बातों का पति से सम्बन्ध है, उसके साथ ही बाला का भी वर्णन कर दिया, तो यह युक्ति भी बृद्धिसङ्कत नहीं है। क्योंकि यह बात तो बाला क्या बालक के साथ भी लागू होती है ग्रीर बाल्या-वस्था में कीन बाला या बालक पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करता है, या कर सकता है ? म्रतः य**ह** कथन ही म्रनावश्यक सिद्ध होता है, भ्रौर न ही यह कोई 'विधान' वनता है। इससें यह संकेत मिलता है कि ये श्लोक किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा मिलाये गये हैं.जो स्त्रियों को पुरुषों के सर्वथा अधीन रखने के पूर्वाग्रह से ग्रस्त था। मनु की मान्यताश्रों में इस प्रकार का पूर्वी ग्रह नहीं होता। (२) ये श्लोक इस लिए भी विषयविरुद्ध सिद्ध होते हैं कि यह विषय पति या पतिगृह से सम्बद्ध स्त्रियों के कर्नव्यों को बतलाने का है। इन इलोकों में बतलायी गयी बातें कर्न्ज्य नहीं हैं, ये तो आदेश हैं और वे भी उग्रशैली में। म्रतः ये विषयसम्मत सिद्ध नहीं होते । इन विषयविरोधों के म्राधार पर ये दोनों ही वलोक प्रक्षिप्त हैं।

२. ध्रन्तिंदोध—मनु की स्त्री-सम्बन्धी मान्यताएं—(१) मनुस्मृति के विषय ग्रौर प्रसङ्ग की श्रृङ्खला से ग्राबद्ध (दूसरे शब्दों में इन्हें मौलिक श्लोक कह सकते हैं) श्लोकों से मनु की यह मान्यता स्पष्ट हो जाती है कि वे स्त्री ग्रौर पुरुष में न तो कोई पक्षपातपूर्ण ग्रन्तर करते हैं, न स्त्री को पुरुष की दासी या ग्रधीनता में बंबी रहने वाली मानते हैं। वे दोनों को ही एक-दूसरे की भावनाग्रों का समान रूप से ग्रादर करने वाली बातें कहते हैं, ग्रपितु स्त्रियों को ग्रधिक ग्रादरपूर्वक रखने की बातें कहते हैं। नीचे कुछ श्लोक प्रमाणरूप में दिये जा रहे हैं, जिनसे इन बातों की पुष्टि होती है कि (ग्र) मनु की स्त्रियों के प्रति पक्षपातपूर्ण, दमनात्मक, ग्रस्वतन्त्रतापूर्वक रखने की भावना नहीं है, ग्रपितु समानता की भावना है। यथा—

- (क) पितृभिः स्रातृभिश्चैता प्राप्तिम्या भूषितव्याश्च (३।४४)
- (स) यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः। (३।५६)
- (ग) तस्मादेताः सदा पूज्याः भूषरणाच्छादनाशनैः। (३।५६)
- (घ) संतुष्टो मायया मर्तामर्त्रामार्यातयैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणंतत्र वैध्रुवम्।। (३।६०)

- (ग्रा) स्त्रियों पर बन्धन डालकर रखने की प्रवृत्ति की व्यथंता का कथन ग्रीर स्त्रियों द्वारा स्वयं ग्रपने विवेक से ही ग्रपने ग्राचरगा को बनाने का समर्थन—
  - (ङ) न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । (६ । १०)
  - (च) भ्ररक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिमिः। भ्रात्मानमात्मनायास्तुं रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः।। (६।१२)
- (इ) विन: किनी पक्ष गत के, स्त्री पुरुष दोनों को समानस्तर का मानते हुए मनु के स्त्री-पुरुषों को सुक्षाव, जिनसे स्त्री की पुरुष के पूर्ण ग्रधीन रहने की मान्यता स्वतः खण्डित हो जाती है—
  - (छ) ग्रन्थोन्यस्य ग्रन्थमिवारो भवेदामरणान्तिकः। एवः धर्मः समासेन क्षेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥ (६।१०१)
  - (ज) तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तुकृतिकियौ। यया नामिचरेतां तौ वियुक्तौ इतरेतरम्॥ (६। १०२)
  - (क) प्रजनार्यं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्यं च मानवाः । तस्मात्साघारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ (६। ६६)

इत मान्यतात्रों के ग्राघार पर कहा जा सकता है कि १४७-१४८ क्लोकों में जो दमनात्मक ग्राग्रह से प्रेरित होकर ग्राज्ञा दी है, यह मनु की मान्यता नहीं हो सकती। यह मनु की व्यवस्थात्रों के विरुद्ध है। (२) इन श्लोकों की ग्रिभिव्यक्तिशैली का ठीक ग्रगले क्लोक १४६ से ही विरोध स्पष्ट दीखता है। १४६ वें श्लोक में मनु कोई ग्रादेश या ग्राज्ञा नहीं थोप रहे, ग्रिपितु स्त्रियों के लिए हितकारी बात को मुभाव रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस क्लोक में न इच्छेत्' ग्रयत् 'स्वयं ही न चाहे' पद घ्यान देने योग्य है। 'न इच्छेत्' के कयन में ग्रीर "न स्वातन्त्र्येश कर्तंच्यं किचित् कार्यम्" "न मजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्" में कितना ग्रन्तर ग्रीर विरोध है! ६।२८ से यह व्यक्त होना है कि स्त्रियों को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। ग्रिभ्यक्ति की शैली ही इन दो मान्यताओं को भिन्न कर देती है। इस प्रकार इन मान्यताओं के ग्राधार पर भी ये क्लोक प्रक्षिप्त है।

- (ई) मनु ने स्त्रियों को कहीं भी हीनभावना से नहीं देखा है, श्रिपतु कहीं-कहीं तो पुरुषों से बढ़कर उन्हें सम्मान दिया है। कुछ उदाहरण देखिए—
  - (ञ) स्त्री के लिए मार्ग छोड़ देना चाहिए— "स्त्रियः पंथा देयः" [२।११३ (२।१३८)]।
  - (ट) पत्नी से लड़ाई-ऋगड़ा नहीं करना चाहिए— "मार्यया™विवादं न समाचरेत्" [४ । १८०] ।
  - (ठ) पत्नी ग्रादि पर भूठा दोषारोपणा नहीं करना चाहिए ग्र**ौर न ग्र**पशब्द

स्त्री के पिता, पति, पुत्र से मलग रहने से हानि की म्राशंका—

पित्रा भन्नी मुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री गहाँ कुर्यादुमे कुले ॥ १४६ ॥ (३४)

(स्त्री) कोई भी स्त्री (पित्रा भर्ता वा सुतै: ग्रिप) पिता, पित ग्रयवा पुत्रों से (ग्रात्मन: विरहं न इच्छेत्) ग्रपना विछोह = ग्रलग रहने की इच्छा न करे (हि) क्योंकि (एषां विरहेण) इनसे ग्रलग रहने से (उभे कुले गर्ह्यों कुर्यात्) यह ग्राशंका रहतो है कि कभी कोई ऐसी बात न हो जाये जिससे दोनों — पिता तथा पित के कुलों की निन्दा या बदनामी हो जाये। ग्रभिन्राय यह है कि स्त्रों को सर्वेदा पुरुष की सहायता ग्रपेक्षित रखनी चाहिए, उसके बिना उसकी ग्रमुरक्षा को ग्राशंका बनी रहती है।। १४६॥

परती में कौत से गुण होने चाहिएँ—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चानुक्तहस्तया। १५०॥ (३५)

स्त्री को योग्य है कि (सदा प्रहृष्टया) ग्रतिप्रसन्तता से (गृहकायंषु दक्षया) घर के कामों में चतुराई युक्त (सुसंस्कृत + उपस्करया) सब पदार्थों के उत्तम संस्कार, घर की शुद्धि (च) ग्रोर (व्यये ग्रमुक्तहस्तया भाव्यम्) व्यय में ग्रत्यन्त उदार रहे। ग्रथीत् सब चीजें पित्र ग्रीर पाक इस प्रकार बनावे जो ग्रीषधरूप होकर शरीर वा ग्रात्मा में रोग को न ग्राने दवे। जो-जो व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पित ग्रादि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे।। १५०।। (सं० प्र०६६)

"स्त्री को योग्य है कि सदा ग्रानित्त होके चतुरता से गृहकायों में वर्तमान रहे तथा ग्रन्नादि के उत्तम संस्कार, पात्र, वस्त्र, गृह ग्रादि के संस्कार ग्रीर घर के भौजनादि में जितना नित्य धन ग्रादि लगे उस के यथायोग्य करने में सदा प्रसन्न रहे।।" (स० वि० १४८)

वित की सेवा-सुश्रूषा करे-

यस्मै बद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमतेः पितुः । तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥१५१॥(३६) (पिता तु एनां यस्में दद्यात्) पिता इस स्त्री को जिसे दे दे प्रयात् जिसके साथ विवाह करे (वा) प्रथवा (पितुः प्रनुमतेः भ्राता) पिता की सहमित से भाई जिससे विवाह कर दे (तं जीवन्तं शुश्रूषेत) उसके जीवित रहते हुए उसकी सेवा करे (च) और (संस्थितं न लङ्घयेत्) पित के रूप में साथ स्थित रहते हुए अवमानना, व्यभिचार आदि से उसका उल्लंघन न करे। अन्यार्थ में-मर जाने पर व्यभिचार से पितव्रत-धर्म का उल्लंघन न करे। १११ स्टू

अप्रस्तु कारित्जन्तः 'संस्थित' शब्द का विवेचन—'सम्' पूर्वक 'स्था' धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से संस्थित शब्द बनता है। प्रन्य टीकाकारों ने इसका केवल रूढार्थ 'मरने पर' प्रयं किया है किन्तु वह उतना प्रासंगिक नहीं है, यतोहि—(१) यहां जीवित प्रवस्था में साथ-साथ रहते हुए स्त्री के कत्तं ब्यों के विधान का प्रसंग है। [४।१४६]। इस क्लोक में भी जीवित प्रवस्था का ही प्रसंग है। (२) श्रीर पित के मरने पर, श्रावस्थकता पड़ने पर मनु ने नियोग का विधान किया है [६। ४६–६३]। इस प्रकार इस भाष्य में किया प्रर्थ— 'पत्नी के रूप में साथ रहते हुए प्रवमानना ग्रादि से ग्रीर व्यभिचार श्रादि से पतिव्रत धर्म का उल्लंघन न करे' प्रासंगिक एवं मनुसम्मत है। (३) ६।७६,५१ क्लोकों में विशेष कारणों से और विदेशगमन में अधिक समय बीतने पर जीते जो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए नियोग अथवा विवाह का विधान किया है। इस प्रकार प्रथम अर्थ अधिक मनुसम्मत प्रतीत होता है। यद्यपि 'पित के मर जाने पर पत्नी व्यभिचार से पतिव्रत धर्म का उल्लंघन न करे' यह अर्थ भी स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु इसे नियोग या पुनविवाह निषेध के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

स्त्री पर विवाह के बाद पति का स्वामित्व-

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः । प्रयुज्यते विवाहेषु प्रवानं स्वाम्यकारएम् ॥ १४२ ॥ (३७)

(विवाहेषु) विवाहों में (स्वस्त्ययनं च प्रजापतेः यज्ञः) जो स्वस्ति-पाठ [= शुभकामना के लिए मन्त्रपाठ] ग्रीर प्रजापति-यज्ञ किया जाता है वह (ग्रासां मङ्गलार्थं प्रयुज्यते) इनके कल्याण की भावना से ही किया जाता है (प्रदानं स्वाम्यकारणम्) विवाह में स्त्रियों को पति के लिए सौंप

श्चि [प्रचलित अर्थ — पिता या पिता की अनुमित से भाई इस (स्त्री को) जिसके लिऐ दे ग्रयीत जिसके साथ विवाह कर दे, (स्त्री) जीते हुए उस (पित) की सेवा करे, उसके मरने पर (भी व्यभिचार, उसके श्राद्ध ग्रादि का त्याग तथा पारलौकिक कार्य के खण्डन से) उस पित का उल्लैंघन न करे।। १५१।।]

देना ही इन पर पित का अधिकार होने का कारण है अर्थात् जो विवाह संस्कारपूर्वक स्त्रो को पित के लिए दे दिया जाता है, इस दान के पश्चात् ही उन पर पित का अधिकार होता है, उससे पूर्व नहीं।। १५२।।

> मनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः । सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ।। १५३ ।।

(मन्तौ च ऋतुकाले) ऋतुरहित काल में और ऋतुकाल में (इह च परलोके) इस लोक और परलोक में (योषितः) स्त्री का (मन्त्रसंस्कारकृत् पितः) मन्त्रों द्वारा विहित संस्कार में वरण किया गया पित (योषितः नित्य सुखस्य दाता) स्त्री को सदा सुख देने वाला है ॥ १५३ ॥

> विशीलः कामवृत्तो वा गुर्गौर्वा परिवर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साध्या सततं देववत्पति:॥ १५४॥

(माध्व्या स्त्रिया) पतिव्रता स्त्री को चाहिए कि वह (विश्वीलः) बुरे स्त्रभाव वाले (वा कामवृत्तः) अथवा स्वेच्छाचारी परस्त्री गमन करने वाले (वा) अथवा (गुणैः परिवर्जितः) गुणों से रहित (पतिः) पति की भी (सततं देववत् परिचर्यः) सदा देवों के समान सेवा- पूजा करे।। १५४।।

नास्ति स्त्रीराां पृथग्यज्ञो न द्वतं नाप्युपोषराम्। पति शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे मश्यते॥ १४४॥

(स्त्रीगां पृथक् यज्ञः न + अस्ति) स्त्रियों के लिए पित से भिन्त न कोई यज्ञ है (न वर्ज न उपोषगाम् ग्रिपि) न कोई वर्ज है और न कोई उपवास ही का विधान है (येन पित शुश्रूषते) जो वह पित की सेवा करती है (तेन) इसी कार्य से (स्वर्गे महीयते) स्वर्गे में जाकर ग्रानन्द को प्राप्त करती है।। १४४।।

> पाश्चित्राहस्य साघ्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा । पतिलोक्तमभीष्सन्ती नावरेत्किञ्चिवप्रियम् ॥ १५६ ॥

(पितलोकम् + ग्रभीप्सन्ती साध्वी स्त्री) पितलोक की चाहना करने वाली पितव्रता स्त्री (जीवतः वा मृतस्य पाणिग्राहस्य) जीवित या मृत पित के प्रति (किंचित् + ग्रप्तियं न + ग्रावरेत्) कुछ भी ग्रप्रिय अर्थात् जीवित अवस्था में उसकी इच्छा के विरुद्ध और मरने पर यश-नाशक ग्राचरण न करे।। १५६॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफर्नः शुनैः। न तु नामापि गृह्णीयात्यत्यौ प्रेते परस्य तु॥ १५७॥

(पत्यौ प्रोते) ग्रपने पति के मर जाने पर (कामम्) चाहे '(शुभै पुष्प-मूल-फलैं: देहं झपयेत्) श्रेष्ठ पुष्प, कन्दमून, फन खाकर ही शरीर को मिटा दे (तु) किन्तु (परस्य नाम - श्रिष न गृह्णीयाद्) दूसरे पति का नाम भी न ले ।। १५७ ।।

#### पञ्चम ग्रह्याय

#### श्रासीतामरएगत्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिएगे। यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्।। १४८।।

(यः एकपत्नीनां धर्मः तम् + श्रनुत्तमं काङ्क्षन्ती) जो पतिव्रता स्त्रियों का धर्म है, उस उत्तम धर्म की कामना करने वाली स्त्री (ग्रामरणात्) [पति के मरने पर] मृत्युपर्यन्त (नियता) नियमपूर्वक (क्षान्ता) मन में शान्ति रखते हुए (ब्रह्मचारिणी ग्रासीत्) ब्रह्मचारिणी रहे।। १५८।।

#### म्रनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिरणाम् । विवं गतानि विश्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ।। १५६ ॥

(विप्राणाम् ग्रनेकार्तन सहस्राणि कुमारश्रह्मचारिणाम्) ब्राह्मणों में कई हजार कुमार ब्रह्मचारी हुए हैं जो (कुलसंतितम् अकृत्वा) सन्तानोत्पत्ति न करके ही (दिवं गतानि) स्वर्ग प्राप्त कर गये।। १५६।।

#### मृते मर्तिर साध्वी स्त्री ब्रह्मवर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मवारिणः॥ १६०॥

(यथा ते ब्रह्मचारिणः) जैसे वे ब्रह्मचारी बिना संतान उत्पन्न किये स्वगं को प्राप्त करगये इसी प्रकार (भर्तिर मृते) पित के मरजाने पर (साध्वी स्त्री) पितव्रता स्त्री (प्रपुत्रा + ग्रिप) पुत्ररहित होती हुई भी (ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता) ब्रह्मचर्ये का पालन करती हुई (स्वगं गच्छित) स्वर्ग में जाती है।। १६०॥

#### श्रदत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमितवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

(या तु स्त्री) जो कोई स्त्री (ग्रपत्यलोभात्) संतान के लालच से (भर्तारम् + श्रितवर्तते) पित का उल्लंघन करती है प्रथीत् किसी परपुरुष से सन्तान उत्पन्न करती है (सा) वह (इह) इस लोक में (निन्दाम् + श्रवाष्नोति) निन्दा को प्राप्त करती है (च) श्रीर (पितलोकात्) पितलोक से भी (हीयते) भ्रष्ट हो जाती है।। १६१।।

#### नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे। न द्वितीयस्य साध्वीनां स्वचिद्भतौपविस्यते॥ १६२॥

(इह) इस संसार में (ग्रन्य-उत्पन्ना च ग्रन्यपरिग्रहे ग्राप प्रजा न ग्रस्ति) दूसरे पुरुप से प्राप्त सन्तान ग्रौर दूसरे की स्त्री में उत्पन्न सन्तान, सन्तान नहीं कहलाती (च) ग्रौर (साष्वीना द्विनीय: भर्त्ता क्वचित् न उपदिश्यते) पतित्रता स्त्रियों के लिए दूसरा पति करने का विधान कहीं नहीं किया है ॥ १६२ ॥

अर्जुर्को त्या : १५३ से १६२ व्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं— १. श्रन्तवरोध — इस प्रसंग में पति की अनावश्यक महिमा प्रविशत करके केवल

स्त्रियों के लिए ही सारे कर्त्तव्य निश्चित कर दिये हैं श्रीर पूरुष को सब तरह छुट कर दी है। यह एक पक्षीय स्नामहबद्ध वर्णन मनु की मान्यतास्रों से विरुद्ध पडता है। (१) १५३ में परलोक में भी पति को सूख देने वाला कहा है, जबकि मनुस्मृति का सिद्धान्त कर्मके ब्राधार पर सुल-दु:ल की प्राप्ति का है। किसी दूसरे के सहारे से ग्रगला जन्म नहीं मिलता,ग्रपित श्रपने अच्छे-बूरे कर्मों के आधार पर ही अगला अच्छा या बूरा जन्म मिलता है। अपने कर्मों का जीव स्वयं भोक्ता है दिखिए ४। २४०, १२। ३, ८। २४, ३६— ४२, ७४]। (२) १५४ में गुराहीन भीर परस्त्रीगामी पति को देवता मानकर पूजा करने का कथन है। मनुस्मृति में स्त्रियों ग्रीर पुरुषों को समान व्यवहार का निर्देश है। किसी वर्ग के साथ पक्ष-पात की भावना नहीं है दिखिए ३ । ५५, ५६, ६० ।। ६ । २८, १०१, १०२] । ६ । १०१-१०२ में स्पष्ट कहा है कि स्त्री-पूरुष परस्पर ऐसा ग्राचरण करें जिससे ग्रापस में मतभेद या मलगाव का म्रवसर न भ्राये। १५४ वां श्लोक इन उद्भृत श्लोकों से विरुद्ध है। (३) १५५ में स्त्रियों के लिए पृथक से यज्ञ का निषेध किया है और पतिसेवा के अन्तर्गत ही सभी धर्मकार्यों को माना है। १। २८ में कहा है - "ग्रयत्यं धर्मकार्याएा" दाराधीनः'' ग्रयत्—'सन्तानोत्पत्ति, यज्ञ ग्रादि धर्मकार्य स्त्री के ही ग्रधीन हैं'। ६।११ में भी ''शौचे धर्मेंऽन्नपक्त्यां च'' ग्रथित्—'घर की शुद्धि, धर्मानुष्ठान ग्रीर भोजन पकाने में स्त्रियों को लगाये'। ६। ६६ में "तस्मातृताधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः"। ३। ११८ में 'दम्पती के लिए यज्ञशेष भोजन का विधान, ये सभी प्रमाण धर्मकार्यों में स्त्रियों का भी स्वतन्त्र ग्रीर समान ग्रधिकार सिद्ध करते हैं। ग्रन्य प्रमाण २।४१-४२ [६६-६७]के ब्रनुशीलन 'ब्रन्तर्विरोघ' शीर्षक पर द्रष्टव्य हैं। (४) १५६ में परजन्म में पतिलोक की कल्पना मनुसम्मत नहीं है। मनु मृत्यू के बाद दो ही गति मानते हैं या तो संसार में जन्म या मुक्ति [द्वादश ग्रघ्याय]। (४) १५७ से १६२ इलोक, ६।५६ से ६३ तथा ७६ क्लोकों के विरुद्ध हैं। इनमें स्पष्ट शब्दों में नियोग विधि का विधान है। (६) १५३ से १६२ ब्लोकों की मान्यताएँ मनुविषद्ध हैं इसके ज्ञान के लिए ५। १४७-१४८ इलोकों पर भी 'ग्रन्तिवरोघ' शीर्षक समीक्षा द्रष्टव्य है। इन ग्रन्तिवरोघों के ग्राधार पर ये सभी इलोक प्रक्षिप्त हैं।

पूर्वपति को छोड़कर दूसरे श्रेष्ठ पति को ग्रपनाने की निन्दा-

पति हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेषते । निन्द्यंव सा भवेत्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥ (३८)

[विवाह होने के बाद तुलनात्मक रूप में] किसी अच्छे व्यक्ति के मिलने की संभावना हाने पर (या स्वम् अपकृष्ट पति हित्वा उत्कृष्ट पति विवेवते) जो स्त्री अपने निम्न कुल या गुणों वाले पति को छोड़कर उत्तम कुल या गुणों वाले पति को छोड़कर उत्तम कुल या गुणों वाले पति का सेवन करती है (सा) वह (लोके निन्दा + एव भवेत्) लोगों में निन्दा प्राप्त करती है (च) ग्रीर (परपूर्वा + इति उच्यते) 'पहले यह दूसरे की पत्नी थी' यह उसके विषय में व्यंग्य किया जाता है।। १६३।।

#### व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् । श्टुगालयोनि प्राप्नोति पायरोगैश्व पीडचते ॥ १६४ ॥

(स्त्री भर्त्तुः व्यभिचारात् तु) स्त्री पित का उल्लंघन ग्रथीत् उस पित को छोड़ परपुरुष से संपर्क करने से (लोके) लोक में (निन्द्यतां प्राप्नोति) निन्दा को ही प्राप्त करती है (श्रुगालयोगि प्राप्नोति) ग्रौर मरकर गीदड़ की योगि में जन्म पाती है (च) तथा (पापरोगै:पीडघते) कुष्ठ ग्रादि पापरोगों से पीड़ित होती है।। १६४।।

# **अन्तु र्ग्योट्डन्:** १६४ वां श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगिवरोध पूर्वापर प्रसंग इस श्लोक से टूट रहा है। १६३ में कहा है एक पित को छोड़ उससे अच्छे पित को अपनाने पर लोक में उस स्त्री की निन्दा होती है और इस भाव की पूर्ति १६५ में कही है जो मन, वाणी और शरीर से अपने पित के अनुकूल रहती है लोक में उसकी साध्वी के रूप में प्रशंसा होती है। बीच में स्त्री के व्यभिचार के फल का कथन असंगत है। जो आवश्यक फल था वह १६३ में ही कहा जा चुका है।
- २. **शैलीविरुद्ध**—इसकी शैली निराधार श्रौर श्रपशब्दयुक्त है, जो मनु की शैली से विपरीत है।
- ३. अन्ति वरोष एक ही कर्म के फलरूप में श्रुगाल योनि का निर्णय ग्रौर पापरोगों से पीड़ित होने का निर्णय मनु के सिद्धान्त से विरुद्ध है। मनु तो ग्रनेक कर्मों से मिलकर किसी योनि की प्राप्ति मानते हैं [देखिए १२। ६, ३६-५२, ७४] पति के ग्रनुकूल ग्राचरण से पत्नी ग्रधिक सम्मान्य होती है —

#### पति या नाभिचरित मनोवःग्देहसंयता। सा भर्त लोकमाप्नोति सिद्धः साध्वीति चोच्यते॥ १६५ ॥ (३६)

(या) जो स्त्री (मन:-वाक्-देह-संयता) मन, वाणी ग्रीर गरीर को संयम में रखकर (पति न + ग्रिभचरित) पति के विरुद्ध ग्राइरण नहीं करती (सा) वह (भर्तृ लोकम् + ग्राप्नोति) पतिलोक ग्रर्थान् पति के हृदय में ग्रादर का स्थान प्राप्त करती हैं (च) ग्रीर (मिद्भः 'साध्वो' + इति उच्यते) श्रेष्ठ लोग उसको 'पतिव्रता या ग्रच्छी पत्नी' कहकर प्रशंसा करते हैं।। १६५।। १८

अर्जुटर्रिट्डन्द्र: 'लोक' शब्द का विवेचन—'लोकम्' शब्द 'लोक दर्शने' धानु से सिद्ध होता है। इस प्रकार इसका श्रर्थ 'इंटिट', 'दर्शन' 'स्थान' भी है। यहां 'मर्तृ-लोकम् आप्नोति' मुहाबरे के रूप में प्रयुक्त है, जिसका श्रर्थ है — 'पनिश्रना स्थी

श्रि प्रचलित ग्रयं—मन, वचन तथा काम से संयत रहती हुई जो स्त्री पित के विरुद्ध कोई कार्य (व्यभिचार ग्रादि) नहीं करती है, वह पितलोक को प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन 'पितव्रता' कहते हैं।। १६४।।

पति के हृदय स्थान में बस जाती है या पति की दिष्ट में प्रिय, श्रादरणीय बन जाती है। यहां परलोक ग्रादि का कोई प्रसंग नहीं है।

#### ग्रनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता। इहाग्रचां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६॥

जो (नारी) स्त्री (मनः + वाक् + देह-संयता) मन, वाणी और शरीर से संयम-पूर्वक रहकर (अनेन वृत्तेन) इस आचरण से रहती है वह (इह अग्रघां कीर्तिम् + आप्नोति) इस लोक में उत्तम कीर्ति को प्राप्त करती है (च) और (परत्र पतिलोकम्) मरकर पतिलोक को प्राप्त करती है।। १६६॥

#### अन्यू शिल्जनः १६६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

- १. अन्तिविरोध मनु के मत में परलोक में पितलोक नामक कोई स्थान या स्थिति विशेष नहीं है। वे या तो प्राणियों के रूप में पुनर्जन्म मानते हैं या मुक्ति। वे अनेक कर्मों से किसी जन्म की प्राप्ति मानते हैं, केवल एक पितसेवा के आधार पर ही नहीं [देखिए--द्वादश अध्याय]।
- २. शैली विरद्ध जहां कहीं भी विषय के ग्रन्त में मनु ने फलकथन कहा है वहां या तो उत्तम गित की प्राप्ति का फल बताया है ग्रथवा ब्रह्म की प्राप्ति का फल [देखिए २।२४६, ४।२६०, ६।८५,६७,ग्रादि], इनके ग्रतिग्क्त मनु ने कोई फल नहीं कहा है। यह श्लोक मनु की फलकथन की शैली से भिन्न होने के कारण प्रक्षिप्त है।
- ३. प्रसंगिवरोध—१६७ वें श्लोक के 'ए वंवृत्तां' पद से यह सकेत मिलता है कि १६७ वां श्लोक स्त्री-धर्मविधान सम्बन्धी प्रसंग से सीधा जुड़ा है। १६६ वें में फलकथन से प्रसंग की समाप्ति हो जाती है ग्रीर निरन्तरता नहीं रहती, जबिक 'एवं' शब्द निरन्तरता का द्योतक है। इस प्रकार यह श्लोक बीच में प्रसंग की निरन्तरता को तोड़ने के कारण प्रक्षिण्त सिद्ध हो रहा है।

स्त्री की मृत्यु पर यज्ञ से अग्निसस्कार—

# एवं वृत्तां सवणां स्त्रों द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । बाहयेबिग्नहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥ (४०)

(एव वृत्तां सवर्गां स्त्रीम) इस पूर्वोक्त म्रावरण का पालन करने वाली स्त्री को (पूर्वमारिणीम्) यदि वह पति से पहले ही मर जाये तो (धर्मवित्) धर्म का जानने वाला व्यक्ति (यज्ञपात्रेः) यज्ञपात्रों का प्रयोग करके (ग्रिग्निहोत्रेण दाहयेत्) म्रान्निहोत्र विधि से उसका दाहसंस्वार करे। १६७।। अनुशिक्तः यज्ञपात्रों का परिचय एवं विवरण ५।११७ की समीक्षा में देखिए।

मार्यायै पूर्वमारिण्यै दस्वाग्नीनन्त्यकर्मिण । पुनर्दारिक्रयां कुर्यात्पुनराधानमेव च॥ १६८ ॥

(पूर्वमारिण्ये भार्याये अन्त्यकर्मणि अग्नीन् दत्त्वा) अपने से पूर्व मरजाने वाली पत्नी का अन्त्येष्टि कर्मके द्वारा अग्नि में दाहसंस्कार करके (पुनः दारक्रियाम् कुर्यात्) फिर विवाह करे (च) और (पुनः आधानम् + एव) फिर पांच महायज्ञाग्नियों का आधान करे—पंचमहायज्ञ करे॥ १६८॥

#### अन् राहिन्द : १६८ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध—(१) प्रसंगसंकेतक इलोक ५। १४६ के स्रनुसार उपसंहारा-त्मक इलोक १६६ से पूर्व तक, यहां केवल-स्टियों के धर्मों के कथन का प्रसंग है। इस प्रसंग में पुरुषों के लिए विधान करना प्रसंगसंकेतक इलोक के स्रनुसार प्रसंगविरुद्ध है। (२) ४। १४६ में प्रारम्भ किये स्त्रीधर्न-प्रसंग का समापन १६७ वें में 'एवं वृत्तां सवएगैं स्त्रीम्' कहकर कर दिया है। ये गज्द यह संकेत करते हैं कि इसके पश्चात् इस-सम्बन्धी कोई वर्णन न होकर उपसंहार ही हो सकता है। प्रसंगसमाप्ति के पश्चात् पुनः प्रसंगविरुद्ध कथन स्त्रसंगत है, इस प्रकार यह इलोक प्रक्षिप्त है।

उपसंहार---

# अनेनं विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्। द्वितीयमायुवो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ १६६॥ (४१)

(ग्रनेन विधिना) इस [४।१ से ४।१६ तक] पूर्वोक्त विधि से रहते हुए (पञ्चयज्ञान् न हापयेत्) पंचयज्ञों को कभी न छोड़े और (ग्रायुषः द्वितीयं भागम्) ग्रायु के दूसरे भाग तक (कृतदारः) विवाह करके श्रर्थात् विवाहोपरान्त स्त्री-महित (गृहे वसेत्) घर में निवास करे।।१६६।।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतहिन्दीभाष्य समन्वितायाम्, 'ग्रनुशीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ गृहस्थान्तर्गत-भक्ष्या-भक्ष्य-देहशुद्धिद्रव्यशुद्धि-स्त्रीधमीविषयात्मकः पञ्चमोऽध्यायः ॥



# ऋथ षष्ठोऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-ग्रनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(वातप्रस्थ-संन्यास-धर्म-विषय)

(वानप्रस्थ-विषय)

[६।१से६।३२ तक]

नानप्रस्थ धारए करे-

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः । वने वसेत् नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ (१)

(एवम्) पूर्वोक्त प्रकार (विधिवत् स्नातकः द्विजः) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यं से पूर्ग विद्या पढ़के समावत्तंन के समय स्नानविधि करने हारा द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रौर वैश्य (विजितेन्द्रियः नियतः यथावत् गृहाश्रमे स्थित्वा) जितेन्द्रिय, जितात्मा होके, यथावत् गृहाश्रम करके (वने वसेत) वन में बसे ।। १ ।। (सं० वि० १६०)

'इस प्रकार स्नातक यर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज स्रयात् ब्राह्मण्, क्षत्रिय स्रोर वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा स्रोर

<sup>(</sup>२) बानप्रस्य घारण में बाह्यणां के प्रमाण — वानप्रस्थ का विधान बाह्यण ग्रन्थों में ग्रीर वेदों में विहित है। यहाँ नुलनार्थ शत० का० १४ का वचन प्रस्तुत है—

<sup>&</sup>quot;बह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रवजेत्।"
= बह्मचर्याश्रम पूर्णं करके गृहस्थ बने, गृहस्थाश्रम को पूर्णं करके वानप्रस्थ बने, वान-प्रस्थ स्राक्षम को पूर्णं करके संन्यासी बने।

<sup>(</sup>३) वेद का प्रमाण ६। २ पर उल्लिखित है।

वानप्रस्थ धारण का समय---

#### गृहस्थस्तु यदा पद्मयेद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्येव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥ (२)

(गृहस्थ: तु) गृहस्थ लोग (यदा) जब (ग्रात्मन: वली-पलित पश्येत्) ग्रपनी देह का चमड़ा ढीला ग्रीर श्वेत केश होते हुए देखें (च) ग्रीर (ग्रपत्यस्य + एव ग्रपत्यम्) पुत्र का भी पुत्र हो जाये (तदा) तब (ग्ररण्यं समाश्रयेत्) वन का ग्राश्रय तेवें ॥ २ ॥ (सं० वि० १६०)

''परन्तु जब गृहस्य शिर के केश श्वेत ग्रीर त्वचा ढीली हो जाये ग्रीर लड़के का लड़का भी हो गया हो तब वन में जाके बसे'।

(स॰ प्र॰ १२४)

अद्भार्त का देव के प्रभारा मनु ने ६।२—४ इलोकों में वेद के प्रभारा मनु ने ६।२—४ इलोकों में वेद के ग्राधार पर विधान किये हैं। तुलनार्थं द्रष्टक्य है ऋग्वेद १०।४।५ का वेदमन्त्र—

#### "कूचित् जायते सनयासु नव्यो, वने तस्यो पलितो यूमकेतुः।"

ग्रथीं (क्चित्) जब किसी भी घर में (सनयासु नव्यः जायते) प्राचीन सन्तितयों ग्रथींत् ग्रवस्थानृद्ध गृहस्थों में नवीन सन्तित पैदा हो जाये ग्रथींत् ग्रपने पुत्र का भी पुत्र चर्पात्र हो जाये, या (पिलतः) पके केशों वाला हो जाये [६।२ में विणित] तब (धूमकेतुः) धूमकेतुः चग्रिन ग्रथींत् ग्रिन्नहोत्र ग्रादि सामग्री लेकर (वने तस्थी) वन में प्रस्थान करे—वानप्रस्थ बन जाये [६।४ में विणित] "वनर्गू चनगामिनी" [निरु० ३।१४] ग्रकेला ग्रथवा पति ∴ीर पत्नी दोनों वनगामी चानप्रस्थ वनें।।

वानप्रस्थ धारण की विधि---

स्टल्ड्य ग्राय्यमाहारं सर्वं नेत परिच्छ्रदस् ।

तन्यम् - ्रस्तु गाव

ज जरता हुद् च्याकाका जाहार (च) ग्रीर (सर्वम् एव परिच्छदम्) घर के सब पदार्थों को (संत्यज्य) छोड़के (पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य) पुत्रों में ग्रपनी पत्नी को छोड़ (वा सह+एव) ग्रथवा सङ्ग में लेके (वनं गच्छेत्) वन को जावे ।। ३ ।। (सं वि १६१)

''सब ग्राम के ग्राहार भौर वस्त्र ग्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को

छोड़ पुत्रों के पास स्त्रो को रख वा भ्रपने साथ लेके वन में निवास करे"। (स॰ प्र०१२४)

# ग्रिग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छ दम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्यं निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥ (४)

जब गृहस्य वानप्रस्य होने की इच्छा करे तब (ग्रग्निहोत्रं च गृह्यम् ग्रग्निपरिच्छदं समादाय) ग्रग्निहोत्र को सामग्री-सहित लेके (ग्रामात् नि:सृत्य) गांव से निकल (ग्ररण्यं जितेन्द्रियः निवसेत्) जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे।। ४।। (सं० वि० १६१)

''साङ्गोपाङ्ग ग्रग्निहोत्रको लेकर ग्राम से निकल दढ़ेन्द्रिय होकर ग्ररण्य में जाकर बसे'ं। (स० प्र० १२४)

वानप्रस्य के लिए पञ्चयज्ञों का विधान-

#### मुन्यन्नैविविधेर्मेध्यैः शाकमूलफलेन दा। एतानेव महायज्ञान्निषेपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥ (४)

(विविध: मुन्यन्नै:) नाना प्रकार के सामा [=नीवार] स्रादि स्रन्न (मेध्यै: शाक-मूल-फलेन) सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कंदादि से (एतान् + एव महायज्ञान् विधिपूर्वकं निर्वपेत्) पूर्वोक्त [३।७०॥६।७-१२ में विणत] महायज्ञों को अक्ष करे ॥ ५॥ (स० प्र० १२४)

🕸 (विधिपूर्वकम्) पूर्वोक्त विहित विधि [३।६६-१०८ के] ग्रनुसार…

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्त्रगे तथा। जटाइच बिमुयान्नित्यं इमश्रुलोमनलानि च।। ६।।

(चर्म वा चीरं वसीत) मृगचर्म ग्रादि ग्रौर वस्त्रनिर्मित कपड़े पहने (प्रगे तथा सायं स्नायात्) प्रातःकाल तथा सायंकाल स्नान करे (च नित्यं जटा: स्मश्रु-लोम-नखानि विभृयात्) ग्रौर सदा सिर के बाल, दाढ़ी-मूंछ, लोम ग्रौर नखों को रखे ।। ६ ।।

अनुश्रीत्जनः यह श्लोक निम्न ग्राधार के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होता है—

े प्रसङ्गायि के प्रस्ति पूर्व कि प्रवाह कि विरुद्ध है और उसे भङ्ग कर रहा है। प्रवें क्लोक में कहा है कि—"एतान एव महायज्ञान निवंपेन विधिपूर्वकम्" ग्रर्थात् विधिपूर्वक इन (ग्रागे विधित्त) यज्ञों को करे। इस क्लोक के संकेत के ग्रनुसार ग्रागे वानप्रस्थ के लिए विहित यज्ञों का ही विधान होना चाहिए ग्रीर वह ७-१२ क्लोकों में है। सातवें क्लोक में ग्रतिथि यज्ञ का विधान है। इस प्रकार इस क्लोक में प्र वें में संकेतित प्रसङ्ग के विरुद्ध वर्णन है ग्रीर पूर्वापर प्रसङ्ग कम को भङ्ग कर दिया है।

म्नतिथि-यज्ञ एवं पितृ-यज्ञ का विधान---

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्वालं भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभिक्षाभिरचयेदाश्रमागतान् ॥७॥ (६)

(यत् भक्ष्यं स्यात्) जो भी खाने का पदार्थ हो [६। ४] (ततः) उससे हो (बिल दद्यात्) बिलवेश्वदेव यज्ञ करे (च शक्तितः भिक्षाम्) श्रीर यथाशक्ति भिक्षाभी दे (ग्राश्रम + ग्रागतान्) ग्राश्रम में श्राये ग्रितिथियों को (ग्रप् + मूल-फल-भिक्षाभि) जल, कन्दमूल, फल ग्रादि प्रदान करके (ग्रचंयेत्) उनका सरकार करे।। ७।।

ब्रह्मयज्ञ का विधान---

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मेत्रः समाहितः । बाता नित्यमनादाता सर्वमूतानुकम्पकः ॥ ६ ॥ (७)

(स्वाघ्याये) स्वाघ्याय ग्रर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में (नित्ययुक्तः) नियुक्त (समाहितः) जितात्मा (मैतः) सव का मित्र (दान्तः) इन्द्रियों का दमनशील (दाता) विद्या ग्रादि का दान देने हारा (सर्वभूत + ग्रनुकंपकः) सव पर दयालु (ग्रनादाता) किसी से कुछ भी पदार्थन लेवे (नित्यं स्यात्) इस प्रकार सदा वर्तमान रहे ॥ ६॥ (स० प्र० १२५)

"वहां जङ्गल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त मन ग्रीर इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री भी समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन ग्रर्थात् प्रसंग कभी न करे. सब से मित्रभाव, साव-धान, नित्य देने हारा ग्रीर किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राग्गीमात्र पर अनुकंपा = कुपा रखने हारा होवे।" (सं० वि० ४६१)

ग्रग्निहोत्र का विधान---

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि । दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः॥ ६॥ (८)

वानप्रस्थ (यथाविधि) पूर्वोक्त विधि के ग्रन्सार (ग्रग्निहोत्रम्) दैनिक यज्ञ-पञ्चनहायज्ञों को (च) ग्रौर (वैतानिकम्) विशेष ग्रवसरों पर किये जाने वाले (दर्गं च पौर्णमासं पर्व ग्रस्कन्दयन्) ग्रमावस्या ग्रौर पूर्णिमा ग्रादि पर्वो पर किये जाने पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए (योगतः जुहुयात्) निष्ठा-पूर्वक किया करे।। ६॥

अनुराहिन: 'वैतानिक' से प्रमिशाय—'वैतानिक शब्द से विस्तृत

अर्थात् विशेष अवसरों पर आयोजित होने वाले यज्ञों से अभिप्राय है। यज्ञों के साथ 'वैतानिक' शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है। ६। १० का वर्णन उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है। द्रष्टव्य है ७। ७५-७६ और २। ११५ (२। १४३) श्लोकों के प्रयोग। २। ३ [२। २८] में भी ऐसे महायज्ञों का विधान है।

विशेष यज्ञों का भ्रायोजन करे-

#### ऋक्षेड्टचाग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्। तुरायणं च क्रमशो दक्षस्यायनमेव च॥१०॥(६)

(ऋक्षेड्टि) नक्षत्रयज्ञ (ग्राग्रयणम्) नये अन्न का यज्ञ (च) श्रीर (चातुर्मास्यानि) चातुर्मास्य का यज्ञ (च) तथा (क्रमशः तुरायणं च दक्ष-स्यायनं एव श्राहरेत्) क्रमशः उत्तरायण श्रीर दक्षिणायन, इन श्रवसरों पर भो विशेष यज्ञों का श्रायोजन करे।। १०।।

अर्जुटरीट्डनः : नक्षत्रों की गणना—(१) नक्षत्र परिवर्तन के समय भी विशेष या बृहत् यज्ञ का अनुष्ठान करे। नक्षत्र २७ हैं—'१. अश्विनी, २. भरणी, ३. कृत्तिका, ४. रोहिणी, ४. मृगशीषं, ६. आद्रां, ७. पुनवंसु, ६. पुष्प, ६. आश्लेषा, १०. मघा, ११. पूर्वाकाल्गुनी, १२ उत्तराफाल्गुनी, १३ हस्त, १४. चित्रा, १४. स्वाति, १६. विशाखा, १७. अनुराधा, १८. ज्येष्ठा, १६. मूल, २०. पूर्वाषाढ़ा, २१. उत्तराषाढा २२. श्रवण, २३. धनिष्ठा, २४. शतभिषज्, २४. पूर्वाभाद्रपदा, २६. उत्तराभाद्रपदा, २७. रेवती।

- (२) चातुर्मास्य यज्ञ प्रत्येक चार महीने के पश्चात् अनुष्ठेय यज्ञ अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन, ग्रीर ग्राषाढ़ के प्रारम्भ में।
- (३) सूर्यं की भूमध्यरेखा से उत्तर की स्रोर स्थित, जो मकर से कर्क संक्रान्ति तक का काल है, उसे उत्तरायण कहते हैं।
- (४) सूर्यं की भूमध्यरेखा से दक्षिण की ग्रोर स्थित का समय दक्षिणायन कहलाता है। (ग्रयन विषयक विस्तृत विवेचन १। ६७ की समीक्षा में द्रष्टव्य है)।

इन ग्रवसरों पर विशेष यजों का ग्रनुष्ठान करे।

बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान---

वासन्तशारवैर्मेध्येर्मुन्यन्तैः स्वयमाहृतैः । पुरोडाशांश्चरूःच्चेव विधिवन्तिवेपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ (१०)

(वासन्त-शारदेः मेध्यैः स्वयम् + म्राहृतः म्रन्तैः) वसन्त म्रीर शरद् ऋतु में प्राप्त होने वाले पवित्र म्रीर स्वयं लाये हुए नीवार म्रादि मुनि-म्रन्नों से (पुरोडाशान् च चरून् विधिवत् पृथक् निर्वपेत्) पुरोडाश स्रौर चरु नामक यज्ञीय हथ्यों को विधि स्रनुसारं स्रलग-स्रलग तैयार करे ॥ ११ ॥

> देवताभ्यस्तु तद्गृहुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः । शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥ (११)

(तत् मेध्यतरं वन्यं हिवः देवताम्यः हुत्वा) उस पिवत्र, वन के ग्रन्नों से निर्मित हिव को देवताग्रों [३। ८४-६४] के लिये होम कर च्याहुित देकर (शेषम्) शेष भोजन को (च) ग्रीर (स्वयं कृतं लवणम्) ग्रपने लिए बनाये गये लवणयुक्त पदार्थों को (ग्रात्मिन युञ्जीत) ग्रपने खाने के लिए प्रयोग में लाये।। १२।।

आर् श्री टा : 'लवएशब्द-विवेचन'—यहां 'लवण' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक लवणयुक्त भोजन' है। व्याकरणानुसार संसृष्ट अर्थ में लवए। शब्द से ''लवणा-ल्लुक्" [अ०४।४।२४] सूत्र द्वारा पूर्वप्राप्त ठक् प्रत्यय का लुक् हो जाता है, अत 'लवण' शब्द ही रह जाता है, किन्तु उपर्युक्त रूप में अर्थ व्यापक रहता है।

विविव भोजन करे -

स्थलजोदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च। मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्चफलसम्भवान् ॥ १३ ॥ (१२)

(स्थलज + ग्रौदक-शाकानि) भूमि ग्रौर जल में उत्पन्न शाकों को (मेघ्यवृक्ष + उद्भवानि पुष्प-मूल-फलानि) पिवत्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फूल, कन्दमूल ग्रौर फलों को (च) ग्रौर (फलसंभवान् स्नेहान्) फलों से प्राप्त होने वाले रसों, तैलों या ग्रकों को (ग्रद्यात्) खाये।। १३।।

आन्त्र्योत्जनाः भक्ष्य पदार्थों का विधान ५। ५-१०, २४-२५ में भी द्रष्टन्य है।

ग्रभक्ष्य पदार्थ---

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च। मूस्तृणं शिग्रुकं चंव श्लेष्मातकफलानि च।। १४।। (१३)

(मधु) मदकारी मदिरा, भांग ब्रादि पदार्थ (मांसम्) सब प्रकार के मांस (च) ब्रौर (भौमानि कवकानि) भूमि में उत्पन्न होने वाले कवक = छत्राक = कुकुरमुत्ता (च) ब्रौर (भूस्तृणम्) भूतृण नामक [=शरवाण] शाकविशेष, (शिब्रुकम्) सफेद सहिजन (च) ब्रौर (श्लेष्मातकफलानि) लिसौड़े के फल (वर्जयेत्) इन्हें भोजन में विजित रखे ब्रर्थात् न खाये।। १४।। अर्जुटरी ट्या : (१) यहां मधुका अर्थ 'मद अर्थात् नशा करने वाले मिदिरा, भांग ब्रादि पदार्थ है। मांस के साथ पिटत 'मधु' शब्द का अर्थ 'मिदिरा' होता है। 'शहद' अर्थ इसलिए ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि मनु ने उसे भक्ष्य (२।४) माना है। प्रमाणयुक्त अर्थविवेचन २।१५२ [२।१७७] में देखिए।

(२) ग्रामक्य पदार्थों का वर्णन ४। ४ तथा २। १७७ में भी है। इन पदार्थों को सभी ग्राश्रमवासियों के लिए ग्रामक्य माना है।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुःयन्नं पूर्वसञ्चितम् । जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १४ ॥ (१४)

(पूर्वसंचितं मुन्यन्तम्) पहले इकट्ठे किये हुए नोवार स्रादि मुनि-श्रन्नों को (च) स्रोर (जीर्णानि वासांसि) पुराने वस्त्रों को (च) स्रोर (शाक-मूल-फलानि) पूर्वसंचित शाक, कन्दमूल, फलों को (ग्राक्वयुजे मासि त्यजेत्) स्रादिवन के महीने में छोड़ देवे भ्रर्थात् नये ग्रह्ण करे।। १४।। वानप्रस्थ ग्रामोत्पन्न पदार्यं न खाये—

> न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्। न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६॥ (१४)

(फालकृष्टम्) हल से जोती हुई भूमि में उत्पन्न पदार्थों को (केनचित् उत्सृष्टम् + प्रिप्) किसी के द्वारा दिये जाने पर भी (च) श्रौर (ग्रामजातानि मूलानि च फलानि) ग्राम में उत्पन्न किये गये मूल श्रौर फलों को (श्राक्तः + श्रपि न श्रश्नीयात्) भूख से पीडित होते हुए भी न खाये।। १६।।

अद्भुद्धिका : वानप्रस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुभों के निषेष में कारण—वनस्थ के लिए ग्रामोत्पन्न वस्तुभों का निषेध इसलिए है कि उसकी गृहस्थ सदश सुखासिवत में प्रवृत्ति न हो। इस श्लोक का सम्बन्ध २६ वें से है, जो इस इलोक के निषेध का कारणरूप वर्णन है। विशेष समीक्षा २६ वें स्लोक के अनुशीलन में देखिए।

> म्राग्निपश्वाद्यानो वा स्यात्कालपश्वभुगेव वा। महमकुट्टो भवेद्वाऽिप दन्तोलूसलिकोऽपि वा।। १७।।

वानप्रस्य (ग्रनिपक्व + ग्रशनः) ग्रनिन में पकाकर लाने वाला हो (वा) ग्रथवा (कालपक्वभुक् + एव) समय पर स्वयं पके फल ग्रादि को लाने वाला (स्यात्) हो (वा) या (ग्रदमकुट्टः) पत्थर से कूटकर लाने वाला (वा) ग्रथवा (दन्त + उलूलिकः + ग्रिप भवेत्) दांतों से चवाकर या ऊलल में कूटकर लाने वाला हो।। १७।।

सद्यः प्रकालको वा स्यान्माससम्बद्यिकोऽपि वा। वण्मासनिषयो वा स्यात्समानिषय एव वा।। १८।।

वानप्रस्य (सद्यः प्रक्षालकः) एक दिन के लिए (वा) प्रथवा (माससंचियकः

स्यात्) एक मास तक संवय करके रखने वाला (वा) ग्रथवा (वण्मासनिचयः) छः महीने तक संवयकरके रखने वाला (वा) या (समानिचयः एव) एक वर्षे तक संवय करके रखने वाला (स्यात्) होवे ॥ १८ ॥

#### नक्तं चान्नं समझ्नीयाद्दिवा वाऽऽहृत्य शक्तितः । चतुर्यकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १६ ॥

(शक्तित: प्रन्तम् प्राहृत्य) यथाशक्ति प्रन्त लाकर (नक्तं वा दिवा समक्तीयात्) रात या दिन में खाये (वा) वा (चतुर्यंकालिकः) चौथे पहर में खाये (वा) प्रथवा (ग्रय्टमकालिकः स्यात्) ग्राठ पहर में एक बार ही खाये ।। १६ ।।

#### चान्द्रायएविधानैर्वा शुक्लकुष्णे च वर्तयेत्। पक्षान्तयोर्वाऽप्यक्तीयाद्यवागूं स्वयितां सकृत्।। २०॥

(वा) प्रयवा (शुक्त-कृष्णो) शुक्तपक्ष ग्रीर कृष्णपक्ष में (चान्द्रायणविधानैः वर्तयेत्) चान्द्रायण वर्त के श्रनुसार लाये [११।२१६] (वा) ग्रथवा (पक्षान्तयोः क्वथितां यवागूं सकृत् ग्रश्नीयात्) दोनों पक्षों के ग्रन्त में पकी हुई रूप्सी को एक-एक बार ही खाये।। २०।।

#### पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वतंग्रेस्सदा । कालपक्वैः स्वयंशीर्णेर्वेकानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

(म्रिप वा) श्रयवा (वैलानसमते स्थितः) वानप्रस्थ म्राश्रम में स्थित व्यक्ति (कालपक्वैः स्वयंशीर्गैः) म्रपने म्राप निश्चित समय पर पके हुए म्रोर स्वयं टूटकर गिरे हुए (केवलै: पुष्पमूलफलैं: सदा वर्तयेत्) केवल फूल, कन्दमूल मौर फलों से ही सदा निर्वाह करे॥ २१॥

विविध तपस्याग्रों का विधान-

#### भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रवर्देविनम् । स्यानासनाम्यां विहरेत्सवनेषूप्रयन्नपः ॥ २२ ॥

(भूमी विपरिवर्तेत) भूमि पर लेटे (वा) अथवा (दिनं प्रपद्दैः तिष्ठेत्) दिन में कुछ समय पैरों पर खड़ा रहे (स्थान + ग्रासनाम्याम्) कभी ग्रासन पर बैठकर कभी उठकर (सवनेषु ग्रपः उपयन्) प्रातः, सायं, दोपहर कालों में स्नान करता हुग्रा (विह्रेत्) ग्रपना समय बिताये।। २२॥

#### ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभावकाशिकः। श्राद्वंवासास्तु हेमस्ते समशो वर्षयंस्तपः॥ २३॥

(क्रमशः तपः वर्धयन्) वानप्रस्थी क्रमशः ग्रपने तप को बढ़ाता हुग्ना (ग्रीब्मे पञ्च तपाः तु स्यात्) ग्रीब्म ऋतु में पञ्चाग्नियों में तपे (वर्षासु मश्च-ग्रवकाशिकः) वर्षा ऋतु में बरसात में नग्न होकर बैठे (हेमन्ते श्राद्वैवासा तु) हेमन्त ऋतु में गीले कपड़े धारण कर रखे॥ २३॥

> उपस्पृशंस्त्रिषवएां पितृन्वेवाश्च तर्पयेत्। तपश्चरंश्चोग्नतरं शोवयेद् देहमात्मनः॥ २४॥

(त्रिषवराम् उपस्पृशन्) तीः ों कालों में स्नान करके (पितृन् च देवान् तर्ण्येत्) पितरों और देवताओं का तर्पण करे (च) और (उग्रतर तपं चरन् ग्रात्मनः देहं शोषयेत्) कठोर तपस्या करते हुए ग्रपने शरीर को सुखाये।। २४॥

म्रग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविषि । म्रनिनरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलकलाज्ञनः ॥ २४ ॥

(यथाविधि वैतानान् अग्नीन् + आत्मिन समारोप्य) विधि-स्रनुसार वैतान सम्बन्धी ग्रग्नियों को प्रपनी ग्रात्मा में रखकर ग्रथित् कठिन तपस्या से वानप्रस्थ की सिद्धि पाकर (ग्रनिनः) ग्रग्नियों को त्यागकर-पकाने की क्रिया को छोड़कर (ग्रनिकेतः) गृह को त्यागकर (मुनिः) मौन धारण करके (मूल-फल + ग्रशनः स्यात्) मूल, फल न्नाकर रहे ॥ २४॥

आनुशीला : १७ से २५ तक के श्लोक निम्न 'स्राधारों' के स्राधार पर प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिबरोध—(१) यहां पूर्वापर प्रसंग वानप्रस्थी के भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी विधानों का है। ये इलोक उस प्रसंग से भिन्न तथा क्रमभञ्जक रूप में हैं। १३ वें इलोक से वा । प्रस्थ के भक्ष्याभक्ष्य का प्रसंग शुरू किया था। १४-१६ इलोकों में वानप्रस्थी के लिए ग्रभक्ष्य सम्बन्धी विधान विहित करते हुए १६ वें में पीड़ित श्रवस्था में भी ग्राम्य भक्ष्य पदः थों को न खाने का विधान है, श्रीर २६ वें में ग्राम्य पदार्थों को क्यों नहीं खाना चाहिए उसका कारण बताया है। इस प्रकार भक्ष्याभक्ष्य के प्रसंग का पूर्ण हो जाने का संकेत मिलता है। प्रसंग के बाद तत्सम्बन्धी विकल्प होते हैं। वह विकल्प २७ वें में दिया है। इलादि प्राप्त न होने पर श्रात्तं —पीड़ित ग्रवस्था में वनवासियों से भिक्षा लाने की खूट है। इस वर्णन से यह जात होता है कि १६ वें के बाद उसके कारण को स्पष्ट करने वाला २६ वौ तथा भक्ष्याभक्ष्य प्रसंग से सम्बद्ध विकल्प का वर्णन करने वाला २७ वौ इलोक होना चाहिए। बीच में इन इलोकों ने उनके क्रम को भंग कर दिया है। इन इलोकों में खाने के प्रकार [१७], संचय के विधान [१८], पुन: भक्ष्यपदार्थों का विधान [१६—२१], हठीय तपस्या [२२-२४] श्रादि बातों के वर्णन से २६—२७ वें इलोकों का क्रम भंग हो गया है।
- (२) वानप्रस्थ के लिए भक्ष्य-पदार्थों का वर्णन १३ वें क्लोक में किया है। भक्ष्य सम्बन्धी स्नावश्यक वर्णन पूरा करके १४-१६ में स्रभक्ष्य-सम्बन्धी विधानों का वर्णन

है। इससे यह संकेत मिलता है कि मनु को भक्ष्यसम्बन्धी जितना वर्णन स्रभीष्ट था, वह १३ वें में ही पूर्ण कर दिया, तभी उसके बाद प्रन्य विधानों का वर्णन शुरू किया है। १६-२१ ग्रीर २५ क्लोकों में पुन: भक्ष्य-सम्बन्धी प्रसंग ग्रीर वह भी १३ वें से छुछ ग्रंशों में मिलता-जुलता नये सिरे से प्रारम्भ है। एक ही प्रसंग में, एक प्रसंग समाप्त हों। के बाद पुन: उन्हीं वातों का नये सिरे से प्रसंग प्रारम्भ करना ग्रप्रासंगिक है, ग्रतः यह प्रसंगविरुद्ध है।

- (३) इसी प्रकार धान्यादि के संचय की चर्चा १५ वें में वर्णित है। बीच में ग्रन्थ विधान होकर पुनः १८ वें में संचय की चर्चा उठाना भी ग्रप्रासंगिक है ग्रीर यह इसे प्रक्षिप्त सिद्ध करता है।
- २. **ग्रन्तिवरोध**—इस प्रसंग के सभी श्लोकों का मनुकी पूर्वमान्यताश्रों से विरोध है—
- (१) १८-१६ वें श्लोकों में एकदिन, एक मास, छः मास और एक वर्ष तक घान्यादि संचय के विकल्प दिए हैं, जबिक १५ वें में वर्षभरतक घान्यादि संचय रखने का संकेत है। ११ वें में वसन्त और शरद्ऋतु में ग्रन्नों को संचय करने का कथन है। इस प्रकार संचय-सम्बन्धी संकेत पहले देने के पश्चात् पुनः १८ वें श्लोक में संचय-सम्बन्धी व्यवस्था की ग्रावश्यकता भी नहीं है, और यह भिन्नता पूर्व श्लोकों से विद्य है। ग्रन्नसंग्रह में यह व्यवस्था लागू भी नहीं हो सकती। यतो हि नीवार ग्रादि ग्रन्न तो ऋतु-विशेष के समय ही उपलब्ध हो सकते हैं।
- (२) १६ वें में भोजन के चार समय दिये हैं, जबिक ७, १२ इलोकों से गह स्पष्ट विधान है कि बिल ग्रादि निकालकर यज्ञों के बाद भोजन करे। १६ वें इलोक में जो विधान किया है, यह कोई विधान ही नहीं बनता। दिन में चार बार खाना है तो व्यक्ति ग्रपनी इच्छा से कभी भी खा सकता है। इस विधान से कोई नियम ही नहीं बनता। २० वें में ग्रमावस्या-पूणिमा के दिन केवल एक बार लप्सी खाने का बन्धन है, जबिक पूर्व इलोकों की व्यवस्थाओं में ऐसा कोई बन्धन न होकर विभिन्न पदार्थों को खाने की छूट है [४, ७, १२, १३]।
- (३) २२-२५ दलोकों में हठयुक्त तपस्या का विधान करते हुए घरीर को सुखाने के लिए कहा है। यह विधान मनुसम्मत नहीं हैं, क्योंकि मनु इसको तप ही नहीं मानते। मनु ने तो प्राणायाम, वेदाघ्ययन, जितेन्द्रियता म्रादि को ही तप माना है। [२। १३६ (१६४), १४१ (१६६), १४२ (१६७), १४० (१७४), ६। ७०-७२]। इसके साथ-साथ मनु ने ऐसे तप का म्रादेश दिया है जिससे शरीर का क्षय या हानि न हो [२। ७४ (१००)]—"म्रक्षिण्वन् योगतः तनुम्।"
- (४) २४ वें क्लोक में वानप्रस्थी को पितरों के तर्पण के लिए कहा है। गुर्ता तरें के तर्पण की मान्यता मनुविरुद्ध है। इसके लिए देखिए ३। ११६ से २५४ क्लोकी प

'श्रन्तिवरोध' शीर्षं क श्राधार । इस प्रकार इन श्रन्तिवरोधों के श्राधार पर ये सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।

३. पुनरिक्त — एक ही प्रसंग में कुछ बातें पुन: कही गई हैं, जिनकी ग्रावश्यकता नहीं थी — (१) १३ वें में वानप्रस्थी को फल-मूल ग्रादि खाने का विधान कर दिया है, किन्तु इस प्रसंग में २१ वें ग्रीर २५ वें में पुन: वही विधान कर दिया। (२) २-३ में गृह को त्यागने का कथन कर दिया है, किन्तु २५ वें में फिर 'ग्रानिकेत: स्यात्' कहकर गृह-त्याग का विधान किया है। इन पुनरित्यों से यह ज्ञात होता है कि इन श्लोकों का यह प्रसंग किसी ग्रन्य द्वारा रिचत है।

सांसारिक सुर्कों में ग्रासिक न रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करे—

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी घराश्यः। शरणेष्वमभश्चेत्र वृक्षमूलनिकेतनः॥ २६॥ (१६)

(मुलार्थेषु श्रप्रयत्नः) शरीर के मुल के लिए श्रतिप्रयत्न न करे, किन्तु (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ग्रर्थात् श्रपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषयचेष्टा कुछ न करे (धराशयः) भूमि में सोवे (शरणेषु + ग्रममः + च + एव) ग्रपने वा स्थकीय पदार्थों में ममता न करे (वृक्षमूलनिकेतनः) वृक्ष के मूल में बसे ।। ।। २६ ॥ (स० प्र०१२४)

अद्भे क्ये कि इस स्थाप की संगति का त्रिवेचन — इस स्थोक की संगति १६ वें से है। उसमें सभी धामोत्पन्न पदार्थों का ग्रहण न करने का ग्रादेश है, चाहे कोई भेंट के रूप में भी लाया हो। इस स्थोक में उसका कारण प्रदिश्ति है कि वनस्थ की गुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए। तभी वह मोह-समता से खुटकारा प्राप्त कर सकता है। ऐसा न करने पर विषयों की ग्रोर प्रवृत्ति बढ़ती है। संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है — भैक्षे प्रसक्तो हि यतिविध्येष्विष सम्जति (६। ४४)

श्रयात्—भिक्षा के लालच में मन रखने वाला संन्यासी विषयों में भी फंस जाता है। यही धारणा १६ और २६ वें ब्लोों के मूल में है। तपस्वियों के घरों से भिक्षा का ग्रहण—

्तापसेष्वेयः वित्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहभेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु॥२७॥ (१७)

[अथवा] (तापरेषु + एव विषेषु) जो जंगल में पढ़ाने और योगाप्यास करने हारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान लोग रहते हों (अन्येषु गृहमधिषु द्विजेषु वनवासिषु) जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, उनके घरों में से ही क्ष्र (भैक्यम् + ब्राहरेत्) भिक्षा ग्रहण करे।। २७॥ (सं० वि० १६१) क्ष्र (यात्रिकम्) जीवनयात्रा चलाने योग्याप्याप्याप्त

#### ग्रामाबाहृत्य वाऽवनीयावष्टौ ग्रासान्वने वसन्। प्रतिगृह्य पुटेनैव पारिंगना शकलेन वा।। २८॥

(वने वसन्) वन में रहते हुए [यदि वन में भिक्षा न मिले तो] (ग्रामात्) गांव से (पुटेन पािणना वा शकलेन प्रतिगृह्य) दोनों हाथ ग्रथवा सकोरा इनमें ग्रह्ण करके (ग्राहृत्य) भिक्षा लाकर (ग्रष्टी ग्रासान् ग्रश्नीयात्) केवल ग्राठ ग्रास [ = मुंह] भोजन करे।। २ ।:

# अन्युर्गोत्जनः यह २८ वाँ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

१ मन्तिवरोध— १६ वें इलोक में पीड़ित ग्रवस्था में भी वानप्रस्थ को गांव का ग्रन्न, फल ग्रादि लेने का स्पष्ट शब्दों में निषेध है। इस इलोक में विकल्प रूप में गांव से भिक्षा प्राप्त करने का कथन करना उस इलोक के विरुद्ध है। २७ वें इलोक में वानप्रस्थी को विकल्प में भिक्षा का विधान किया है। वहां भी केवल वनवासी वानप्रस्थ ग्रादि द्विजों के यहां से भिक्षा लेने का कथन है— "तापसेष्वेव विशेषु " वनवासिषु" इस विधान से भी गांव की भिक्षा का निषेध है।

धात्मशुद्धि के लिए वेदमन्त्रों का मनन-चिन्तन-

4 54 44

#### एताश्चान्याश्च सेवेत वीक्षा वित्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २६ ॥ (१८)

(वने वयन्) इस प्रकार वन में बसता हुआ (एताः च + अन्याः दीक्षाः सेवेत) इन ग्रीर श्रन्य दीक्षाग्रों का सेवन करे (च) ग्रीर (ग्रात्मसंसिद्धये) ग्रात्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए (विविधाः ग्रीपनिषदीः श्रुतीः) नाना प्रकार की उपनिषद् प्रर्थात् ज्ञान ग्रीर उपासना-विधायक श्रुतियों के ग्रयौं का विवार कियाकरे ।। २६ ।। (सं० वि० १६१)

आनु श्रीत्जनाः यहां उपनिषद् से 'पुस्तकविशेष' अर्थ अभिन्नेत नहीं अपितु 'उपनिषद् विद्या' से अभिन्नाय है।

#### ऋषिमित्रीह्मणैश्चेव गृहस्येरेव सेविताः। विद्यातपोविवृद्धचर्यं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३०॥ (१६)

(ऋषिभि: ब्राह्मणै: गृहस्थै: एव) ऋषियों, ब्राह्मणों प्रौर गृहस्थों ने भी (विद्या + तप: विवृद्ध प्रथम्) विद्या ग्रौर तप की वृद्धि के लिए (व) ग्रौर (शरीरस्य शुद्धये) शरीर की शुद्धि के लिए (सेविता:) इन दीक्षा ग्रौर श्रुतियों [६। २६] का सेवन किया है।। ३०।।

#### अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्यगः। स्रानिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः।। ३१॥

(शरीरस्य म्रानिपातात्) शरीर छूटने तक (वारि + म्रानिल + म्राशनः) जल भीर वायु का भक्षण करके रहता हुम्रा (युक्तः) योगसाधना में तत्पर रहकर (ग्रपराजितां दिशम् ग्रास्थाय) अपराजित दिशा में स्थित होकर श्रयत् मृत्यु अवस्था म्राने पर (म्रजिह्मगः व्रजेत्) शान्त-भाव से शरीर त्याग दे॥ ३१॥

#### म्रासां महिषचर्यात्गां त्यक्त्वाऽन्यतमया तनुम्। वीतशोकमयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

(ग्रासा महर्षिचर्याणाम् ग्रन्यतमया तनु त्यक्त्वा) इन महर्षियों की दिनचर्याग्रों का पालन करते हुए किसी एक दिनचर्या के ग्रनुसार शरीर को छोड़ने से (वीतशोकभयः विप्रः) शोक ग्रौर भय से रहित हुग्रा विद्वान् (ब्रह्मलोके महीयते) मुक्ति में जाकर ग्रानन्द पाता है ॥ ३२॥

आन्युट्यीट्डन्य: ३१-३२ क्लोक निम्न ग्राधारों के प्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं —

- १. प्रसङ्गिवरोष—मनु ने ३३ वें श्लोक में वानप्रस्थ के पश्चात् संन्यास लेने का विधान करते समय "वनेषु च विहृत्य एवम्" पदों का प्रयोग किया है। इस प्रकार 'वनों में विहार करके' इस निरन्तरता-बोधक क्रिया से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि इस श्लोक का प्रसङ्ग या सम्बन्य ३० वें से जुड़ा हुआ है और बीच में समाप्ति-सूचक कोई वर्णन अभीष्ट नहीं है। ३१—३२ श्लोकों में वानप्रस्थ में रहते हुए शरीर त्याग करना, और उसका फलप्रदर्शन उक्त प्रयोग से सङ्गत सिद्ध नहीं होता। अतः प्रसङ्ग-वर्णन-सम्बद्धता को भङ्ग करने के कारण ये दोनां श्लोक प्रसङ्गविरुद्ध प्रक्षेत्र हैं।
- २. श्रन्तिवरोध—(१) ३१ वें श्लोक में वानप्रस्थी को केवल जल-वायु पर रहने के लिए कथन करना ६। ४, ७, ११, १२, श्लोकों के विरुद्ध है। इनमें अनेक भक्ष्य-पदायों का विधान है। (२) ३१ वें श्लोक में और ३२ वें श्लोक में व्यक्ति को मृत्युपर्यन्त वानप्रस्थी बने रहने का संकेत दिया है। यह ३३-३४ श्लोकों के विरुद्ध है। क्योंकि मनु ने निश्चित समयानुसार आश्रम परिवर्तन का विधान किया है और उसे सभी के लिए आवश्यक माना है। (३) ३१ वें श्लोक में 'अपराजित दिशा' में जाने का वर्णन मनु-प्रोक्त सिद्ध नहीं होता। यतोहि मनु तो केवल मुक्ति या ब्रह्म की शरण में जाने का कथन करते हैं [६। ६१, ६५, ४१, १६०, १२। १६६, १२५]। इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग उनके वर्णन में नहीं गिलता।

# (संन्यास-धर्म-विषय)

#### [६।३३ से ६। ८४ तक]

संन्यास ग्रहण का विघान----

वनेषु च विहत्येवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषोभागंत्यक्तवा सङ्गान्यरिवजेत्।। ३३ ॥ (२०)

(एवं वनेषु ग्रायुषः तृतीयं भागं विहृत्य) इस प्रकार जंगलों में ग्रायु का तीसरा भाग ग्रर्थात् ग्रधिक से ग्रधिक पच्चीस वर्ष ग्रथवा न्यून से न्यून बारह वर्ष तक विहार करके (ग्रायुषः चतुर्थं भागम्) ग्रायु के चौथे भाग ग्रर्थात् सत्तर वर्ष के पश्चात् (संगान् त्यक्त्वा) सव मोह ग्रादि संगों को छोड़ कर (परित्रजेत्) परिव्राजक ग्रर्थात् संन्यासी हो जावे।। ३३॥

(सं० वि० १६८)

"इस प्रकार वन में भ्रायुका तीसरा भाग श्रर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके भ्रायुके चौथे भागमें संगों को छोड़ के परिवाट् ग्रर्थात् संन्यासी होजावे"। (स॰ प्र०१२६)

आन्य क्यी क्या : 'परिवाजक' की ध्युत्पत्ति— परिव्रजन करने से श्रिम-प्राय परिव्राजक ग्रथीत् संन्यासी होने से है। 'परिव्रजित-इति परिव्राजकः' = जो सांसा-रिक एषणाग्रों को स्यागकर लोकोपकार के लिए विचरण करे, वह परिव्राजक ग्रथीत् संन्यासी होता है। संन्यासी की परिभाषा ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार की है—

''संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि स्रावरण, पक्षपात छोड़के, विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे स्रर्थात् ''सम्यङ् न्यस्यन्त्यशमीचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं संस्कर्म स्वास्ते उपविश्वति स्थिरी सवित येन स, संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासो ।''

(सं० वि० संन्यास प्रकरण)

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतशेमो जितेन्द्रियः। जिञ्जाबलिपरिश्रान्तः प्रवजन्त्रेत्य वर्षते॥ ३४॥

(हुतहोमः) जिसने सदा यज्ञ किये हैं ऐसा (भिक्षाबलि-परिश्वान्तः) किया ग्रीर बलिवैश्वदेव यज्ञ से थका हुमा अर्थात् जो सदा से इन कर्मों को निभाा मा रहा है (जिलेन्द्रियः) जितेन्द्रिय द्विज (म्राश्रमात् + म्राश्रमं गत्वा) क्रमशः एक भ्राश्रम से दूसरे माश्रम में जाकर (प्रवृजन्) संन्यास लेकर (प्रेस्य वर्षते) मरकर परजन्म में उन्ति को हों प्राप्त करता है ॥ ३४॥

#### ऋरणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। त्रनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥३५॥

(त्रीणि ऋषानि घ्रपाकृत्य) तीन ऋणों—ऋषि-ऋण, देवऋण, और पितृऋण को चुकाकर (मनः मोक्षे नित्रेशयेत्) मन को मोक्ष में लगाये (ग्रनपाकृत्य तु) ऋणों को न चुकाकर (मोक्षं सेवमानः) मोक्ष को चाहने वाला ब्यक्ति (ग्रघः व्रजित) ग्रधोगित को प्राप्त करता है। रिष्ठ ॥

आन्यूर्धी ट्यन्तः ३४-३५ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं--३४ वां श्लोक पुनरुक्त है, क्योंकि ३३ वें में जो क्रम बताया है उसका विकल्प ३८ वां श्लोक है।

१. श्रन्तिवरोष—इस श्लोक में पूर्व के तीन श्राश्रमों के पालन किये बिना मोक्षप्राप्ति की इच्छा करने वाले की श्रधोगित कही है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। मनु ने ६। ८० में सभी श्राश्रमों को परम गित देने वाला कहा है, फिर श्रधोगित दायक कहना उसके विरुद्ध है। (२) ६। ३-८४ श्लोकों में गृहस्थ से सीधा सन्यास लेने का कथन है, यह श्लोक उसके भी विरुद्ध है। (३) इसी प्रकार २।२४४ में ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए ही ब्रह्मप्राप्ति होना स्वीकार किया है। इस श्लोक में तीन श्राश्रमों के बिना मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करने पर श्रथोगित की प्राप्ति कहना उसके भी विरुद्ध है।

# म्रधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः । इष्ट्या च शदिततो यज्ञैमंनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥ (२१)

(विधिवत् वेदान् अघीत्य) विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़कर (धर्मतः पुत्रान् च उत्पाद्य) श्रीर गृहाश्रमी होकर, धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर (शक्तितः यज्ञैः इष्ट्वा) वान अस्य में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके (मोक्षे मनः निवेशयेत्) मोक्ष में प्रर्थात् संन्यासाश्रम में मन को लगाये ॥ इद्या (सं० वि० १६८)

#### ग्रनधीरय द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् । ग्रनिष्ट्वा चेत्र यजैदव मोक्षमिच्छन्त्रजस्यधः ॥ ३७ ॥

(द्विजः) द्विज (वेदान् अनधीत्म) वेदों को न पढ़कर (तथा सुतान् अन् + उत्पाद्य) तथा पुत्रोत्पत्ति न करके (च) और (यज्ञैः अनिष्ट्या) यज्ञों को न करके (मोक्षम् + इच्छन्) मोक्ष [सन्यास्] चाहता हुआ (अधः वज्ञति) अधोगति को प्राप्त करता है ।:३७॥

🙏 अनुराहिन्य: ३७ वा श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षित है--

१. भ्रस्तिवरोध—'पूर्व तीनों ग्राक्षमों के पालन के बिना मोक्ष की इच्छा करने से 'ग्रधोगितः की प्राप्ति कहना' मनु की मान्यताग्रों के विरुद्ध हैं। इसके लिए ६। ३५ वें इलोक पर 'ग्रन्तिवरोध' शीर्षक समीक्षा देखिए।

परमात्मा-प्राप्ति हेतु गृहाश्रम से भी संन्यास ले शकता है-

प्राजापत्यां निरूप्येष्टि सर्ववेदसदक्षिणाम् । स्रात्मन्यग्नीन्समारोप्य द्वाह्मणः प्रवजेदु गृहात् ॥ ३८ ॥ (२२)

(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इिष्टं निरूप्य) प्रजापित परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (प्रग्नोन् ग्रात्मिन समारोप्य) ग्राहवनीय, गाईपत्य ग्रीर दाक्षिणात्य सज्ञक ग्रग्नियों को ग्रात्मा में समारोपित करके (ब्राह्मणः गृहात् प्रवजेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से ही सन्यास लेवे।। ३८॥ (सं० वि० १८८)

"प्रजापित श्रर्थात् परमात्मा की प्राप्ति के अर्थ इिष्ट श्रर्थात् यज्ञ करके उसमें यज्ञादि शिखाचिह्नों को छोड़ श्राहवनीयादि पांच अग्नियों को, प्राण, श्रपान, व्यान, उदान श्रीर समान इन पांच प्राणों में श्रारोपण करके बाह्मण ब्रह्मवित् घर से निकलकर संन्यासी हो जावे।। ३६।।"

(स॰ प्र॰ १२८)

अप्रसूर्योट्डन्य: संन्यास वानप्रस्य से ग्रीर सीधे गृहस्य से भी—यद्यपि संन्यासाश्रम में जाने का सामान्य क्रम वानप्रस्थ के पश्चात् ही है, जिसका विधान क्रमा- नुसार ६। ३३ में किया गया है। इस क्रम की ग्रपनाकर मनुष्य सांसारिक निःसारता एवं उसके कष्टों की ग्रनुभव कर लेता है ग्रीर उसके 'काम' ग्रादि विकार शान्त हो जाते हैं। उसमें वैराग्य के संस्कार उत्पन्न होने लगते हैं।

किन्तु विशेष स्थिति में सीधे ब्रह्मचर्य ग्रीर गृहस्थ से भी संन्य।स लेने का विधान ३६-४१ श्लोकों में किया है। जब व्यक्ति 'काम' ग्रादि विकारों पर नियंत्रण कर लेता है ग्रीर पूर्ण वैरागी बन जाता है, तो उस स्थिति में वानप्रस्थ से पूर्व भी सन्यास ग्रहण कर सकता है, ग्रन्थया नहीं [देखिए ६।४१ पर ग्रनुशीलन]। इन सभी श्लोकों में ये भाव स्पष्ट किये गये हैं।

इस प्रकार ३८-४१ इलोक वैकल्पिक विशेष विधान हैं, इस कारण ६।३३ से इनका विरोध नहीं स्राता।

> यो दत्त्वा सर्वमूतेम्यः प्रवजत्यभयं गृहात्। यस्य तेनोमया लोका भवन्ति बह्यवादिनः ॥ ३६॥ (२३)

(यः सर्वभूतेम्यः श्रभयं दत्त्वा) जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान सत्योपदेश देकर (गृहात् प्रवजित) गृहाश्रम से हो संन्यास ग्रहण कर लेता है (तस्य ब्रह्मवादिनः तेजोमया लोकाः भवन्ति) उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपन्शक संन्यासी को मोक्ष-जोक ग्री र सब लोक-लोकान्तर तेजोमय (ज्ञान से प्रकाशमय) हो जाते हैं।। ३६।। (सं० वि० १६६) "जो सब भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर, घर से निकलके संन्यासी होता है, उस ब्रह्मवादी अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्म आदि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूपलोक प्राप्त होता है।" (स० प्र०१२६)

अन्य क्यों टिंड न्यः संन्यासी द्वारा श्रमयदान.— संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वेरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है। यह अभयदान की प्रतिज्ञा बाह्यणग्रन्थों में भी इसी प्रकार विहित है—

"पुत्रैवणा वित्तं वणा लोकेवणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेम्योऽमयमस्तु ।" (शत० १४। ६।४।१)

संसार में सन्तान-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, प्रसिद्धि-प्राप्ति की ये तीन इच्छाएं ही प्रधान हैं। जिनके वशीभूत होकर व्यक्ति ईंण्यां-द्वेष ग्रादि में फंसता है। इनसे मुक्त होकर ही व्यक्ति वास्तव में संन्यासी बनता है। तब उनसे सब प्राणियों को ग्रभय होता है।

यस्मादण्यपि मूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतक्वन ॥ ४०॥ (२४)

(यस्मात् द्विजात्) जिस द्विज से (भूतानाम् म्रण् + म्रिपि भयं न + जरपद्यते) प्राणियों को योड़ा-सा भी भय नहीं होता (तस्य) उसको (देहात् विमुक्तस्य) देह से मुक्त होने पर (कुतश्चन भयं न म्रिस्त) कहीं भी भय नहीं रहता।। ४०।।

वैराग्य होने पर गृहस्थ या ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यासग्रहण-

म्रागारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः । समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परित्रजेत् ॥ ४१ ॥.(२५)

(कामेषु समुपोढेषु निरपेक्षः) जब सब कामों को जीत लेवे श्रीर उनकी श्रपेक्षा न रहे (पवित्र + उपितः) पवित्रात्मा श्रीर पतित्रान्तः करण (मुनिः) मननशील हो जावे (श्रागारात् + श्रीभिनिष्क्रान्तः) तभी गृहाश्रम से निकलकर (परित्रजेत्) संन्यासाश्रम का ग्रहण करे श्रथवा ब्रह्मचर्य से ही संन्यास का ग्रहण करलेवे ॥ ४१ ॥ (सं० वि० १६६)

अर न्यू टारी टिडन्स: गृहस्य से संग्यास—३८-४१ दलोकों में गृहरय से भी संन्यास लेने का वैकल्पिक विधान है। ब्रह्मचर्य या गृहस्य या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास लेने का विधान ब्राह्मणग्रन्थों में इसी प्रकार पाया जाता है, किन्तु वह विशेष ग्रवस्था में है। इसे ऋषि दयानन्द ने निम्न प्रकार उद्धृत किया है—

''द्वितीय प्रकार—'बरहरेव विश्जेत् तवहरेव प्रक्रजेव् वनाद् वा गृहाद् वा।' यह ब्राह्मण प्रभ्य का वाक्य है। म्रयं — जिस दिन इढ़ वैराग्य प्राप्त होवे, उसी दिन, चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुम्रा हो, प्रथवा वानप्रस्थ माश्रम का म्रनुष्ठान न करके ग्रहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में इढ़ वैराग्य श्रीर यथः यं ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

#### तृतीय प्रकार--- 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।'

यह भी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण ग्रवण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य ग्रीर पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा ग्रांत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरिहत होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, ग्रीर जिसको इद निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सक्गा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के सन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।" (सं० वि० सन्यास प्रकरण)

संन्यासी एकाकी विचरण करे-

## एक एव चरेन्नित्यं सिद्धचर्यमसहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपद्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥ (२६)

(एकस्य सिद्धिम् संपश्यन्) ग्रकेले की ही मुक्ति होती है, इस बात को देखते हुए (सिद्ध्यर्थम्) मोअसिद्धि के लिए (असहायवान्) किसी के सहारे या ग्राश्रय की इच्छा से रहित होकर (नित्यम्) सर्वदा (एक:+एव चरेत्) एकाकी ही विचरण करे ग्रर्थात् किसी पुत्र-पौत्र, सम्बन्धो, मित्र ग्रादि का ग्राश्रय न ले ग्रीर न उनका साथ करे, इस प्रकार रहने से (न जहाति न हीयते) न वह किसी को छोड़ता है, न उसे कोई छोड़ता है ग्रथित् वह मोइरहित हो जाता है ग्रीर मृत्यु के समय बिछुड़ने के दुःख की भावना समाप्त हो जाती है।। ४२।।

निलिप्त भाव से गांवों में भिक्षा प्रहए। करे-

ग्रनिग्निकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽसंकुमुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥ (२७)

वह सन्यासी (म्रनिग्नः) म्राहवनीयादि म्रग्नियों से रहित (म्रनिकेतः) मीर कहीं म्रपना स्वाभिमत घर भी न बांधे (म्रन्नार्यं मामम् म्राश्रयेत्) मीर मन्त-वस्त्र म्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे (उपेक्षकः) बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता (म्रयंकुसुकः) म्रीर स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमाहितः) परमेश्वर में म्रपनी भावना का समाधान करता हुमा (स्यात्) विचरे।। ४३।। (मं वि० १६६) क्ष

अन्य का दिना : 'मनिनः' का समिप्राय-मनिन पद के प्रसङ्ग में महिष दयानन्द ने जो विशिष्ट टिप्पणी दी है, वह उल्लेखनीय है—

"इसी पद से भ्रान्ति में पड़के संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग ग्रन्ति को नहीं छूते। यह पाप संन्यासियों के पीछे लंग गया। यहां ग्राहवनीय ग्रादि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है।" (सं० वि० १६६, संन्यास प्रकरण)

(२) प्रचलित टीकाश्रों में 'उपेक्षकः' का अव्यावहारिक, प्रयुक्तियुक्त श्रयं प्रचलित है।

# कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता । समता चैब सर्वेस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

(कपालम्) मिट्टी का बर्तन (वृक्षमूलानि) रहने के लिये वृक्षों की जड़ (कुचैलम्) ग्रनाकर्षक वस्त्र या वल्कल (ग्रसहायता) किसी के ग्राश्रित न होना (च) ग्रौर (सर्वस्मिन् समता एव) सबमें समान दिष्ट (एतत्) ये (मुक्तस्य लक्षणम्) मुक्त व्यक्ति के लक्षण हैं॥ ४४॥

#### आन्त्रशीत्जना: ४४ वाँ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध—(१) यहां संन्यासी या परिव्राजक के लिए विधानों का प्रसंग चल रहा है। 'मुक्त' का न तो यहां पूर्वापर रूप में कोई प्रसङ्ग है ग्रौर न ही कोई चर्चा; ग्रतः इस क्लोक में जो 'मुक्त' का लक्षण दिखाया है, यह प्रसङ्गविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- (२) इस प्रकार के लक्षण जब पूर्वापर प्रसङ्घ से ग्रसम्बद्ध होते हैं, तो प्रसङ्घक्रम की उपयुक्तता की दृष्टि से या तो वे प्रसंग के प्रारम्भ में ही होते हैं, या फिर ग्रन्त में। यों ही कहीं भी उनका वर्णन कर देना उनकी ग्रमौलिकता को प्रकट करता है।

जीवन-मरण के प्रति समद्दि-

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् । कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं मृतको यथा ॥ ४५ ॥ (२८) (न जीवितम् ग्रभिनन्देत) न तो ग्रपने जीवन में ग्रानन्द ग्रीर (न

% [प्रचित्त प्रयं — लौकिक ग्रग्नियों से रहित, गृह से रहित, शरीर में रोगादि होने पर भी चिकित्सा ग्रादि का प्रबन्ध न करने वाला, स्थिर बुद्धि वाला, ब्रह्म का मनन करने वाला, ग्रौर ब्रह्म में भी भाव रखने वाला संन्यासी भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करे।। ४३॥] मरएाम् ग्रिभिनन्देत) न मृत्यु में दुःख माने, किन्तु (यथा) जैसे (भूतकः निर्देशम्) क्षुद्र भृत्य ग्रपने स्वामी की ग्राज्ञा की बाट देखता रहता है वैसे ही (कालम् + एव प्रतीक्षेत) काल ग्रौर मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहे ॥ ४५॥ (स॰ वि० १६६)

श्रान्य श्री ट्या : काल की प्रतीक्षा कैसे ?—यहां स्वामी-भृत्य के उदा-हररापूर्वक काल की प्रतीक्षा से ग्रीभिप्राय यह है कि संन्यासी मृत्यु का भय ग्रपने मन में न रखे, ग्रिपितु मृष्टिक्रम की व्यवस्थानुसार प्राप्त होने वाली मृत्यु को सन्नतापूर्वक स्वीकार करने के लिए तैयार रहे। योगदर्शन साधन पाद सूत्र ६ में मृत्यु के भय को 'ग्रीभिनिवेश' कहा है भीर उसे पंचक्लेशों में माना है—'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रहोऽभिनिवेशः।" संन्यासी को यह भय या क्लेश नहीं होना चाहिए ग्रिपितु स्वामी की ग्राज्ञा को सुनकर प्रसन्नता ग्रनुभव करने वाले भृत्य के समान मृत्युरूपी ईश्वरीय नियम को स्वीकार करके भयरहित प्रसन्नता का ग्रमुभव करना चाहिए।

पवित्र एवं सत्य ग्राचरणं करे---

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥ (२६)

(हिष्टिपूतं पादं न्यसेत्) जब सन्यासी मार्ग में चले तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथियी पर हिष्ट रखके चने (वस्त्रपूत जलं पिवेत्) सदा वस्त्र से छानके जल पिये (सत्यपूतां वाचं वहेत्) निरन्तर सत्य ही बोले (मनःपूतं समाचरेत्) सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर ग्रसत्य को छोड़ देवे ॥ ४६ ॥ (स० प्र० १२६)

"चलते समय म्रागे-म्रागे देखके पग घरे, सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे, सबसे मत्य वाणी बोले म्रर्थात् सत्योपदेश ही किया करे, जो कुछ ब्यवहार करे वह सब मन की पिवत्रता से म्राचरण करे।" (सं० वि० १६६) भूषमान को सहन करे—

> म्रतिवादांस्तितिक्षेत नावसन्येत कञ्चन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।। ४७॥ (३०)

(ग्रतिवादान् तितिक्षेत) ग्रपमानजनक वचनों को सहन करले (कंचन न + ग्रवमन्येत) कभी किसी का ग्रपमान न करे (च) ग्रीर (इम देहम् + ग्राश्रित्य) इस शरीर का ग्राश्रय लेकर ग्रर्थात् ग्रपने शरीर—मन, वाणी, कमं से (केनचित् वैरं न कुर्वीत) किसी से वैर न करे ॥ ४७॥ क्रोध ग्रादि न करे-

कृद्धचन्तं न प्रतिकृष्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वारावकीणां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥ (३१)

(क्रुद्धचन्तं) जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे स्रथवा (स्राक्रुण्टः) निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि (न प्रति-क्रुद्धचेत्)। उस पर स्राप क्रोध न करे (कुशलं वदेत्) किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे (च) भ्रौर (सप्तद्वार + प्रवकीणी वाचम् + अनृतां न वदेत्) एक मुख के, दो नासिका के, दो ग्रांख के भ्रौर दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी मिथ्या कारण से कभी न बोले ।। ४८।। (स० प्र० १२६)

आन्य श्री त्जनाः ४७-४८ श्लोकों के भावों की पुष्टि ग्रीर तुलना के लिए २। १३६-१३७ [२। १६१-१६२] श्लोक भी द्रष्टव्य हैं। मनुने वहां यही विचार प्रकट किये हैं। ६। ५८ में भी इस मान्यता का कारण स्पष्ट किया है।

आध्यात्मिक ग्राचरण में स्थित रहे-

म्रध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः। म्रात्मनेव सहायेन सुलार्थी विचरेविह।।४६॥ (३२)

(इह ग्रव्यात्मरितः + ग्रासीन) इस संसार में ग्रात्मिनिष्ठा में स्थित (निरपेक्षः) सर्वथा ग्रपेक्षारिहत (निरामिषः) मौस, मद्य ग्रादि का त्यागी (ग्रात्मनः + एव सहायेन) ग्रात्मा के सहाय से ही (सुखार्थी) सुखार्थी होकर (विचरेन) विचरा करे ग्रोर सबको सत्योपदेश करता रहे।। ४६।।

(सं० वि० १६६)

''अपने ग्रात्मा ग्रोर परमात्मा में स्थिर, ग्रपेक्षारहित, मद्य-मांसादि-वर्जित होकर, ग्रात्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर, इस संसार में धर्म ग्रोर विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहें' (स० प्र०१२६)

भोजन पाने के लिए पाखण्ड न करें---

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कहिचित्।। ५०।।

(उत्पात-निमित्ताभ्याम्) भूकम्प ग्रादि उत्पात को बताकर या उसके भय से ग्रातिकत करके ग्रौर ग्रांख का फड़कना ग्रादि के फल बताकर (नक्षत्र + अङ्गिविद्यया) राहु, केतु ग्रादि ग्रह-तारों के शुभ-ग्रशुभ फल बताकर, हस्तरेखा ग्रादि देखकर (ग्रनु-

शासन + वादाम्याम्) धर्मं का ग्रनुशासन बताकर या वाद-विवाद ग्रादि बातों से कहि-चित् भिक्षां न लिप्सेत) कभी भिक्षा प्राप्त करने की इच्छा न करे ॥ ५० ॥

#### न तापसैर्काह्मार्णैर्वा वयोभिरिप वा इविभः। ग्राकीर्गं भिक्षकैर्वाऽन्यैरागारमुपसंद्रजेतु ॥ ५१ ॥

(तापसै: ब्राह्मणै: वयोभि: श्विभ: ग्रिष वा ग्रन्यै: भिक्षुकै:)तपस्वियों,ब्राह्मणों, पक्षियों, कुत्तों ग्रीर दूसरे भिक्षुकों से (ग्राकीणम् ग्रागारम्) भरे घर में (न उपसंत्रजेत्) भिक्षा न मांगे।। ५१॥

**अन्युग्रिटंड न्यः** ५०-५१ दोनों श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) ४६ ग्रीर ५२ वें श्लोक पूर्वापर प्रसंग 'संन्यासी को किस प्रकार विचरण करना चाहिए' इस बात से सम्बद्ध हैं—''विचरेत् इह" [४६], ''विचरेत्-नियतः'' [५२]। यह कहना चाहिए कि इन दोनों श्लोकों के वाक्य परस्पर सम्बद्ध हैं। इन दोनों श्लोकों ने उस प्रसंग या सम्बद्धता को भंग कर दिया है, अतः ये प्रसंगिवरुद्ध हैं। (२) इनमें 'भिक्षा किस-किस प्रकार नहीं मांगनी चाहिए' इससे सम्बन्धित निषेध हैं। भिक्षा मांगने का प्रसंग ५५ वें श्लोक में शुरू होता है, प्रसंग से पूर्व ही भिक्षा न मांगने का कथन करना ग्रप्रासंगिक है। पहले विधिवाक्य ग्राने पर ही 'निषेध वाक्य' ग्राते हैं, विधान से पूर्व निषेध की कोई संगति ही नहीं है। ग्रतः ये दोनों श्लोक प्रसंग-विरोध के ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रन्तिवरोध (१) मनु ने श्राजीविका के लिए स्पष्ट रूप से केवल एक काल की भिक्षा का विधान किया है [४४], फिर ४० वें श्लोक में वर्णित कार्यों से भिक्षा मांगने का कोई प्रश्न नहीं उठता। इसके साथ ही मनु ने संन्यासी को सब प्रकार के सङ्गों से (लोभ-मोह ग्रादि से) बचने के लिए कहा है [३३, ५७], ग्रव इन कार्यों का सन्यासी के लिए करना स्वत: निषि**द्ध हो** जाता है । इस प्रकार यह व्यवस्था म**नू से** तालमेल न**हीं** खाती। यह उस काल की परवर्ती रचना है जब सन्यासी वास्तव में सन्यासी नहीं रह गये थे ग्रीर विभिन्न ग्राडम्बरों से भिक्षासंग्रह करने लग गये थे। यह तालमेल न होना विरोध का द्योतक है। (२) इसी प्रकार यों भी इस वर्णन का मनू की व्यवस्थाओं से तालमेल नहीं बैठता कि मनू ने आजीविकाओं के वर्णन में किसी भी वर्ण की आजीविकाएं नहीं दिखलायी हैं [१। ५७-६१, ६। ३२५-३३५ (१०।१-११)]। इस प्रकार ये विरुद्ध हैं। (३) ५१ वें श्लोक में यह कहना कि 'जिस घर में अन्य तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कूत्ते आदि विद्यमान हों वहां भिक्षा न मांगे' मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। मनु ने पश्-पक्षियों का भाग भी निकालने के लिए कहा है। साथ ही भिक्षा देने के लिए ब्रादेश है ब्रीर साथ ही सभी आये अतिथियों को भोजन देने का विधान है। जब तक गृहस्य इनमें से दोनों या तीनों बातें पालन नहीं करता तो बलिवैश्वदेव यज्ञ ग्रौर ग्रतिथि यज्ञ पूर्ण नहीं होते [३। ६२, ६४, ६६, १०५, १०८, ११३ स्रादि]।

मुण्डनपूर्वक गेरुवे वस्त्र घारण करके रहे-

# क्लृप्तकेशनलक्ष्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वमूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥ (३३)

(क्लुप्त-केश-नख-रमश्रुः) केश, नख, दाढ़ी, मूंछ को छेदन करबावे (पात्री दण्डी कुसुम्भवान्) पात्र, दण्ड ग्रीर कुसुम्भ आदि से रगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके (नियतः) निश्चितात्मा (सर्वभूतानि + ग्रपीडयन्) सब भूतों को पीड़ा न देकर (विचरेत्) सर्वत्र विचरे ।। ५२ ।।

(स० प्र० १२६)

'सब शिर के बाल, दाढ़ी, पूछ ग्रीर नखों को समय-समय पर छेदन कराता रहे। पात्री, दण्डो ग्रीर कुसूंभ के रंगे हुए अवस्त्रों को धारण किया करे। सब भूत = प्राणिमात्र को पीड़ा न देता हुन्ना द्वात्मा होकर नित्य विचरा करें'। (सं० वि० १६६)

> भ्रतंजसानि पात्राणि तस्य स्युनिवंगानि च। तेवामद्भिः स्मृतं शौषं चमसानामिवाध्यरे॥ ५३॥

(तस्य पात्राणि ग्रतैजसानि च निर्वणानि स्युः) इस संन्यासी के पात्र [सोना, चांदी ग्रादि] धातुत्रों से बने न हों ग्रीर टूटे-फूटे ग्रयंवा छिद्रादियुक्त न हों (तेवाम्) उन पात्रों की (अध्वरे चमसानाम् + इव) यज्ञ में जैसे चमचों की शुद्धि कही है वैसे (ग्रद्भिः शौचं स्मृतम्) जल से ही शुद्धि मानी है ॥ ५३॥

> द्यलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽत्रवीत्।। ५४॥

(म्नलाबुं दारुपात्रं मृन्मयं तथा वैदलम्) तुम्बा, लकड़ी का बर्तन, मिट्टी से बना तथा बांस से बना (एतानि यतिपात्राणि) ये पात्र संन्यासियों के लिए (स्वायभुवः मनुः म्रब्रवीत्) स्वयम्भू के पुत्र मनु ने कहे हैं ॥ ४४॥

# आनुश्रील्डनः : ५३-५४ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

१. शैलीगत ग्राधार—५४ वें क्लोक में "मनुः स्वायंभुवोऽत्रवीत्" पद से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि यह क्लोक मनु से भिन्न व्यक्ति द्वारा रचित है। दूसरी यह कि मनु से परवर्ती काल की रचना है। इस ग्राधार पर यह क्लोक प्रक्षिप्त है। ५३ वां क्लोक इससे ही सम्बद्ध है, ग्रतः वह इसके प्रक्षिप्त होने से स्वतः प्रक्षिप्त हो जाता है।

<sup>🖇 &#</sup>x27;'ग्रथवा गेरू से रंगे वस्त्रों को पहने''। (सं० वि० २०१ पर टिप्पणी)

एक समय ही भिक्षा मांगे---

# एककालं चरेद्र भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिविषयेष्वपि सज्जति ॥ ४४॥ (३४)

संन्यानी (ए हकालं भैक्षं चरेत्) एक ही समय भिक्षा मांगे (विस्तरे न प्रसज्जेत) भिक्षा के ग्रन्थिक विस्तार ग्रर्थात् लालच में न पड़े (हि) क्यों-कि (भैक्षे प्रसक्तः यति ) भिक्षा के लालच में या स्वाद में मन लगाने वाला संन्यासी (विषयेषु + ग्रन्थि सज्जति) विषयों में भी फंस जाता है ।। ५५ ।।

> विवूमे सन्तमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसम्याते मिक्षां नित्यं यतिक्वरेत्।। ५६॥

(विधूमे सन्) जब घर में रसोई बनाने का घुप्रां उठना बन्द हो गया हो (ग्रमुसले) जब मूसल की ग्रावाज न ग्राती हो (बि + ग्रङ्कारे) जब भोजन पकाने वाली पिन बुक्त गई हो (भुक्तवत् + जने) परिवार के लोगों ने जब खाना खा लिया हो (शरावसंपाते वृत्ते) खाने के वर्त्तन खाना खाकर डाल दिये हों, ऐसे समय (यितः नित्यं भिक्षां चरेत्) संन्यासी सदा भिक्षा मांगे॥ ५६॥

#### अन्तु श्रीत्जना : ५६ वां श्लोक प्रक्षिप्त है—

- १. प्रसंगिवरोध पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है। ४४ वें श्लोक में भिक्षा का विधान करके भिक्षा में यित को ग्रासक्त न होने का कयन है। इसका अर्थवादरूप ४७ वाँ श्लोक है, जिसमें भिक्षाप्राप्ति पर प्रसन्न ग्रीर भिक्षा-ग्रप्राप्ति पर दुःखी न होने का वर्णन है; जो ग्रासक्त न होने वाली बात का ही व्याख्या रूप है। ४६ वें श्लोक ने इस सम्बद्ध प्रतंग को भंग कर दिया है। ग्रतः यह श्लोक इस ग्राधार के ग्रनुसार प्रक्षिप्त है।
- २. अन्तिविरोध—इस श्लोक में विहित विधान मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। इस श्लोक में यह कहा है कि यित तब घरों से भिक्षा मांगे जब घर के सभी व्यक्ति खा चुके हों और भूठे वर्तन अलग रख दिये हों, जब कि ३। ६४ में गृहस्थ को बिलवैश्वदेव यज्ञ करने के उपरान्त ही भिक्षा देने का विधान है और फिर अतिथियों को खिलाकर सबके बाद अर्थात् भिक्षा आदि दे चुकने के पश्चात् केंग्र भोजन को खाने का निर्देश है [३। ११६, ११७]। इस विरोध से स्पष्ट है कि यह श्लोक किसी मनु से भिन्न व्यक्ति की व्यवस्था है, अत: प्रक्षिप्त है।

भिक्षा न प्राप्त होने पर दुःख का स्रनुभव न करे-

म्रलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् । प्राण्यात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७॥ (३५) (म्रलाभे विषादी न स्यात्) भिक्षा के न मिलने पर दुःखी न हो (च स्रीर (लाभे न हर्षयेत्) मिलने पर प्रसन्तता स्रतुभव न करे (मात्रासंगात् विनिगंतः) अधिक-कम, स्रच्छी-बुरी भिक्षा की मात्रा का मोह न करके स्रयात् जैसी भी भिक्षा मिल जाये उसे ग्रहण करके (प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्) केदल स्रपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे।। ५७।।

प्रशंसा-लाभ म्रादि से बचे---

#### म्रभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतेव सर्वशः । म्रभिपूजितलाभेश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धचते ॥ ५८ ॥ (३६)

(तु) ग्रोर (ग्रिभपूजितलाभान्) बहुत श्रधिक ग्रादर-सत्कार से मिलने वाली भिक्षा या ग्रन्य सभी लाभों से (सर्वशः एव जुगुप्सेत) सर्वथा उपेक्षा वरते, क्योंकि (ग्रिभिपूजितलाभैः मुक्तः + ग्रिप यितः बद्धघते) बहुत ग्रधिक ग्रादर-सत्कार से प्राप्त होने वाली भिक्षा से ग्रथवा लाभों से मुक्त संन्यासी भी विषयों के बन्धन में फंस जाता है ॥ ५८॥

इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाए---

# म्रत्पान्नाम्यवहारेण रहः स्थानासनेन च। ह्नियमाणानि विषयेरिन्द्रियाणि निवतंयेत् ॥ ५६॥ (३७)

(विषयै: ह्रियमाणानि इन्द्रियाणि) विषयों से खिंचने वाली इन्द्रियों को (ग्रन्प + ग्रन्न + ग्रम्यवहारेण) थोड़ा भोजन करके (च) ग्रौर (रहः स्थान + ग्रासनेन) एकान्त स्थान में निवास करके (निवर्तयेत्) वश में करे।। ४६।।

#### इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेगा च। अहिंसया च मूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६०॥ (३८)

(इन्द्रियाणां निरोधेन) इन्द्रियों को ग्रधमिचरण से रोक (रागद्वेष-क्षयेगा) राग, द्वेष को छोड़ (च) ग्रीर (भूतानाम ग्रहिसया) सब प्राणियों से निर्वेर वत्तंकर (ग्रमृतत्वाय कल्पते) मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे।। ६०।। (स० प्र०१२६)

"जो संन्यासी बुरे कामों से इन्द्रियों के निरोध, राग-द्वेषादि दोषों के क्षय ग्रीर निर्वेरता से सब प्राणियों का कल्याण करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।" (सं० वि० १६६)

अद्भुटारें टिंडन्ड: 'इन्द्रियनिरोध' में योग के प्रमाण-योगदर्शन के सूत्रों द्वारा इस क्लोक की व्याख्या को समक्षने में पर्याप्त सहायता मिलती है। ''योगविचत्त- वृत्तिनिरोधः" [१।२] ग्रयात् योग से इन्द्रियों के विषयों का निरोध होता है ग्रीर यह निरोध "अन्यासवैराग्याभ्यां तिन्नरोधः [१।१२] ग्रम्यास-वैराग्य से सिद्ध होता है। "सुलानुशयी रागः" "दुःलानुशयी होदः" [२।७, ८] = सुल की तृष्णा राग है, दुःलिषय में क्रोध भावना द्वेष है। इनके त्याग से और "ग्रहिसा-प्रतिष्ठायां तत्सिन्नधौ वैरत्यागः" [२।३५], ग्रहिसा सिद्धि से निर्वेरता प्राप्त करके व्यक्ति मोक्ष के लिए सामध्ये बढ़ाने में सफल होता है।

मनुष्य-जीवन की दु:खमय गति-स्थितिया श्रीर उनका चिन्तन-

श्रवेक्षेत गतीर्नृ गां कर्मदोषसमुद्भवाः। निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये॥ ६१॥ (३६)

(कर्मदोषसमुद्भवाः नृगां गतीः) कर्मों के दोष से होने वाली मनुष्यों की कष्टयुक्त बुरी गतियों (च) ग्रीर (निरये पतनम्) कष्टों का भोगना (च) तथा (यमक्षये यातनाः) प्रागाक्षय में मृत्यु के समय होने वाली पीड़ाग्रों को (अवेक्षेत)विचारे ग्रीर विचारकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करे।। ६१।।

> विप्रयोगं प्रियेश्चेव संयोगं च तथाऽप्रियेः । जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२॥ (४०) देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च सम्भवम् । योनिकोटिसहस्रे वु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३॥ (४१)

(च) श्रौर (प्रियै: विप्रयोगम्) प्रियजनों से वियोग हो जाना (तथा श्रिव्रयै: संयोगम्) तथा शत्रुश्नों से संपर्क होना श्रौर उससे फिर कब्टप्राप्ति होना (च) श्रौर (जरया श्रीभभवनम्) बुढ़ापे से श्राक्रान्त होना (च) तथा (व्याधिभि: उपपीडनम्) रोगों से पीड़ित होना (च) श्रौर (ग्रस्मात् देहात् + उत्क्रमराम्) फिर इस शरीर से जीव का निकल जाना (गर्भे पुन: संभवम्) गर्भ में पुन: जन्म लेना (च) श्रौर इस प्रकार (ग्रस्य + ग्रन्तरात्मनः) इस जीव का (योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः) सहस्रों प्रकार की श्रर्थात् श्रनेकविध योनियों में शावागमन होना — इनको विचारे श्रौर इनके कब्टों को देखकर मुक्ति में मन लगावे।। ६२, ६३।।

**श्रधर्म से दुः**ख ग्रौर ध**र्म से सुख-**प्राप्ति—

म्रधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् । धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥ (४२)

(शरीरिएगां दु:खयोगं प्रधमंप्रभवम् एव) यह निश्चित है कि प्राणियों को सभी प्रकार के दु:ख ग्रधमं से ही मिलते हैं (च) ग्रीर (ग्रक्षयं सुखसंयोगं धर्मार्थप्रभवम् एव) अक्षयसुखों = मोक्षको ग्रवधि तक रहने वाले सुखों की प्राप्ति केवल धर्म कारण वाले कर्मों से ही होती है। इसको भी विचारे ग्रौर तदनुसार धर्मा चरण करे।। ६४।।

अप्रज्ञुक्यों क्टान्य: भ्रथमं से दुःख की प्राप्ति कैसे होती है इसका वर्णन ४। १७०-१७६ में द्रष्टव्य है।

योग से परमात्मा का प्रत्यक्ष करे-

सुक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेऽवध्मेषु च॥६४॥(४३)

(च) ग्रीर (योगेन परमात्मन: सूक्ष्मताम) योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को (च) तथा (उत्तमेषु च ग्रधमेषु देहेषु समुत्पत्तिम्) उत्तम तथा ग्रधम शरीरों में जन्मप्राप्ति के विषय में (ग्रवेक्षेत) विचार किया करे ॥६४॥

अस्तुर्शोत्जनाः योग की परिमाषा एवं योग से ईश्वर प्राप्ति — योग-दर्शन में योग की परिभाषा ग्रीर उससे परमात्मा की प्राप्ति इस प्रकार बतलाबी है —

- (क) '**'योगदिचसवृत्तिनिरोधः''** = चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। [१।२]।
- (ल) पुनः चित्तवृत्तियों के निरोध से समाधिसिद्धि होने पर "तदा द्रष्ट्यूस्वरूपे ध्रवस्थानम्" [१।३] = तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है। इसमें वेद का प्रमाण भी उल्लेखनीय है —

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।

द्यग्नेज्योतिनिचाय्य पृथिक्या म्रव्याभरत्।। ऋ०१।४।२॥

श्रर्थं—''(युञ्जानः) योग करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व स्रथित् ब्रह्मज्ञान के लिए (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सिवता) परमेश्वर उनकी (धियम्) दुंद्ध को स्रपनी कृपा से स्रपने में युक्त कर लेता है। (स्रग्नेः ज्योति०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (स्रध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही लक्ष्मण है।"

(ऋ० भू० उपासना विवय)।

दूषित ग्रादि प्रत्येक ग्रवस्था में धर्म का पालन ग्रावर रक---

दूषितोऽिय चरेद्धमें यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु मूतेषु न लिङ्गः धमंकःररणम्॥ ६६॥ (४४)

(दूषितः + ग्रिप धर्म चरेत्) यदि संन्यासी को मूर्ख ससारी लोग निन्दा ग्रादि से दूषित वा ग्रपमान भी करें तथापि धर्म ही का ग्राचरण करे (यत्र तत्र + ग्राश्रमे रतः) ऐमे ही प्रन्य ब्रह्मचर्याश्रमादि के मनुष्यों को करना उचित है (सर्वेषु भूतेषु समः) सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखे, इत्यादि उत्तम काम करने ही के लिए संन्यासाश्रम का विधि है, किन्तु (लिङ्गं धर्मकारणं न) केवल दण्डादि चिह्न धारण करना ही धर्म का कारण नहीं है।। ६६।। (सं० वि० १६६)

"कोई संमार में उसको दूषित वा भूषिन करे तो भी जिस किसी माश्रम में वर्तता हुग्रा पुरुष ग्रयित् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा ग्रीर ग्रन्थों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। ग्रीर यह ग्रपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु ग्रीर कषायवस्त्र ग्रादि चिह्नधारण धर्म का कारण नहीं है, सब मनुष्यादि शाणियों के सत्यो-परेश ग्रीर विद्यादान से उन्नति करना संन्यासो का मुख्य कर्म है"।।

(म० प्र० १२६)

धर्माचरण के बिना बाहरी दिखावे से श्रेष्ठ फल नहीं---

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रह्मादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७॥ (४४)

(यद्यपि कतकवृक्षस्य फलम्) यद्यपि निर्मली वृक्षा का फल (ग्रम्बु-प्रसादकम्) पीसके गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदिपि (तस्य नामग्रहणात् + एव) बिना डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से (वारि न प्रसीदिति) उसका जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥ ६७ ॥

(स० प्र० १२६)

"यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला है तथापि उसके नामग्रहण मात्र से जल शुद्ध नहीं होता किन्तु उसको ले, पीस, जल में डालने ही से उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है; वैसे नाममात्र ग्राश्रम से कुछ भो नहीं होता किन्तु श्रपने-ग्रपने ग्राश्रम के धर्मयुक्त कर्म करने ही से ग्राश्रमधारण सफल होता है, ग्रन्यथा नहीं।" (सं० वि० १६६)

> आर्जुर्शिट्डन्ड: कतक वृक्ष के फल को हिन्दी में 'रीठा' कहते हैं। संरक्षणार्थं जन्तुनां रात्रावहनि वा सदा। शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुषां चरेत्।। ६८।।

(शरीरस्य - प्रत्यये एव) शरीर से पीड़ित होते हुए भी (जन्तूनां सरक्षणार्थम्) छोटे-छोटे प्राणियों की रक्षा के लिए (रात्री वा ग्रहिन सदा) रात ग्रीर दिन में सदा (वसुधां सभीक्ष्य चरेत्) धरती पर देखकर ग्रर्थात् उनकी हत्या न हो, यह ध्यान रखते हुए विचरण करे।। ६८।।

#### म्रह्मा राज्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः। तेषां स्नात्वा विशुद्धचर्यं प्रागायामान्वड(चरेत्।। ६६।।

(यितः) संन्यासी (अङ्का च राज्या) दिन और रात में (ग्रज्ञानतः यान् जन्तून् हिनस्ति) ग्रज्ञान से जिन प्राणियों की हत्या करता है (तेषां विशुद्धवर्थम्) उनकी शुद्धि के लिए (षट् प्राणायामान् ग्राचरेत्) छः वार प्राणायाम करे।। ६६।।

अन्यूर्गीत्त्रनाः ६८-६६ श्लोक निम्न 'स्राधारों' के सनुसार प्रक्षिण

- १. ग्रन्तिंवरोध—(१) इन क्लोकों में विणित बातें मनु की व्यवस्था के ग्रनुसार विधान ही नहीं बनतीं ग्रीर न तालमेल बैठता है। इन क्लोकों में 'चलते समय होने वाली लघुप्राणियों की हिंसा के पाप से छुटने के लिए प्राणायाम करने के लिए' कहा है। यह संन्यासी का प्रायक्वित्त है। मनु ने ७०—७२ क्लोकों में प्राणायाम करना यित की दिनचर्या में ही विहित किया है। जब उसे प्रतिदिन प्राणायाम करने ही हैं, तो फिर पृथक् से उन द्वारा प्रायक्वित्त कैसा? इसका ग्रभिप्राय यह हुग्ना कि 'प्राणायाम' प्रायक्वित्त नहीं है। ७१—७२ क्लोकों में मनु ने प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषों का निवारण माना है। इन क्लोकों में प्राणायाम से पापनिवृत्ति कहना मनु को उस मान्यता के विरुद्ध है।
- २. शैलीगत श्राधार—(१) (क) पाप छूटने ग्रीर प्राणायाम का कोई सम्बन्ध नहीं है, (ल) रात्रि के ग्रन्धकार में कोई व्यक्ति कैसे लघुप्राणियों को देख सकता है? इस प्रकार इन दोनों श्लोकों की शैली ग्रयुक्तियुक्त है। (२) मनु की निश्चिंत की गई शैली के ग्रनुसार प्रायश्चित्त का विधान ११ वें ग्रध्याय में है, अतः यहां केवल एक ही बात का प्रायश्चित्त वर्णान उनकी शैली के ग्रनुरूप न होने से मौलिक नहीं है।
- ३. पुनरुक्ति—६८ वें श्लोक में ४६ वें श्लोक के "हष्टिपूतं न्यसेत् पादम्" पद की पुनरुक्ति मात्र है। इस पुनरुक्ति के स्राधार पर भी ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

प्राणायाम स्रवश्य करे---

प्राणायामा ब्राह्मशस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । स्याहृतित्रणवैयुषता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७०॥ (४६)

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण प्रथात् ब्रह्मवित् व्यक्ति या संन्यासी के द्वारा जो (विधिवत्) विधि के अनुसार (व्याहृति-प्रण्वे: युक्ताः) प्रण्व प्रथीत् श्रोङ्कारपूर्वक ग्रोर 'भूः, भुवः, स्वः' ग्रादि सप्तव्याहृतियों के जप सहित [श्रनुशीलन में प्रदिशत ] (त्रयः +श्रपि) तीनों प्रकार के वाह्म, ग्राम्यन्तर, स्तम्भक, प्राणायाम श्रथवा न्यून से न्यून तीन प्राणायाम (कृताः) किये जाते हैं, (परमं तपः विज्ञेयम्) वह इसका परम = उत्तम तप होता है।। ७०।।

11714011

"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् सन्यासी को उचित है कि श्रोंकारपूर्वक सप्तव्याहितयों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे। यही सन्यासी का परम तप है।" (स० प्र०१२६)

अपन्य क्यो टिक न्यः (१) प्रास्तायाम की विधि योगदर्शन में विहित है। १। २७-२८ में ग्रोंकाँरपूर्वक ईश्वर जप का भी विधान है। यहां वही विधि व्यासभाष्य पर ग्राधारित ऋषि दयानन्द के भाष्यसहित प्रस्तुत की जाती है। इस विधि को ग्रपना कर उपासक ग्रशुद्धिसय, ईश्वर-सिद्धि ग्रीर वलपराक्रम की वृद्धि करे—

#### प्राणायाम का लक्षण-

- (क) तस्मिन् सति इवास-प्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्रारागयामः ॥ २ । ४६ ॥
- ' जो वायु वाहर से भीतर को ग्राता है, उसको श्वास ग्रीर जो भीतर से वाहर जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं। उन दोनों के जाने-ग्राने के विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को प्राणायाम कहते हैं।"

#### (ख) प्रच अर्दनविधार एगाभ्यां वा प्रारास्य ।। १ । ३४ ।।

"जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुख़ पूर्वक जितना वन सके उतना बाहर ही रोके। पुनः धीरे-धीरे भीतर ले के पुनरिप ऐसे हो करें। इसी प्रकार बारम्वार ग्रम्थास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से ग्रात्मा स्थिर हो जाता है। इन तीनों के स्थिर होने के ममय ग्रप्ते ग्रात्मा के बीच में जो ग्रानन्दस्वरूप, ग्रन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मगन हो जाना चाहिए। जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर ग्राता है फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार ग्रपते ग्रात्मा को परमेश्वर के बीच में वारम्बार मगन करना चाहिए" (ऋ० भू० उपासना विषय)

- (२) प्राणायाम के भेद प्राणायाम के भेदों का वर्णन करते हुए योगदर्शन में प्रमुखरूप से प्रणायाम के तीन भेद माने हैं—
  - (ग) स तु बाह्याम्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्यामिः परिहष्टो दीर्घसूरमः
  - (घ) बाह्याम्यन्तरविषयापेक्षी चतुर्यः ॥ २ । ५१ ॥

वे मुख्य चार भेद हैं,बाह्य विषय = रेचक, ग्राभ्यन्तर = पूरक ग्रीर स्तम्भवृत्ति । ये देशकाल संख्यानुसार दीर्घ, सूक्ष्म होते हैं । चौथा भेद 'वाह्याभ्यन्तरविषयापेक्षी' है । इनकी विधि निम्न प्रकार है —

(१) रेचक = श्वास को भीतर से वमन के समान बाहर निकालना और उसे उसी स्थिति में रोकना = नियम्त्रण करना।

- (२) पूरक = श्वास को वाहर से भीतर धारण करके उसी स्थिति में रोकना = नियन्त्रण करना।
- (३) स्तम्भक == ग्राते, जाते, जहां के तहां श्वास को रोकना या ग्रन्दर रोके श्वास को बाहर निकलते समय पुनः पुनः रोकना, वाहर रोके श्वास को ग्रन्दर ग्राते समय पुनः पुनः रोकना ग्रादि स्तम्भक प्राणायाम है।
- (४) जैसा कि योगसूत्र में ही कहा गया है 'बाह्याम्यन्तरिवषयापेक्सी' ग्रर्थात् जब स्वास भीतर से वाहर को ग्रावे, तव बाहर ही कुछ-कुछ रोकता रहे ग्रीर जब बाहर से भीतर जावे तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, यह चौथा भेद है। इसकी पृथक् गणना इस कारण है क्योंकि यह बाह्याम्यन्तर पर ग्राधारित है।

कोई-कोई बाह्य = रेचक ग्रीर ग्राम्यन्तर = पूरक के साथ रोकना प्रक्रिया को नहीं मानते। यह विचार ठीक नहीं। इस प्रकार तो वे मात्र उच्छ्वास निःश्वास, प्रश्वास ही कहलायेंगे। प्राणायाम गव्द का अर्थ ही उनकी इस मान्यता को गलत सिद्ध कर देता है। ग्रायाम का ग्रर्थ है = 'प्रसार, विस्तार, फैलाव या नियन्त्रण' इस प्रनार प्राणायाम शब्द का ग्रर्थ हुग्रा 'प्राण का विस्तार या नियन्त्रण' करना। प्राणायाम शब्द सभी भेदों के साथ संयुक्त है। ग्रतः उनका ग्रर्थ भी प्राणायाम शब्द के ग्रर्थ को साथ जोड़कर करना चाहिए। जैसे = बाह्यश्राणायाम, ग्राम्यन्तरप्राणायाम, स्तम्भकप्राणायाम।

#### (३) प्रारायाम मन्त्र---

शास्त्रों में व्याहृतियों की गणना तीन ग्रौर सात के रूप में मिलती है। ऋषि दयानन्द ने सात व्याहृतियों की गणना स्वीकार करके प्राणायाम की विधि प्रदर्शित की है, क्योंकि तीन व्याहृतियां उनके ग्रन्तर्गत ही हो जाती हैं। उन्होंने व्याहृति ग्रौर मन्त्र निम्न प्रकार दिये हैं—

"इस पिवत्र आश्रम को सफल करने के लिए संन्यासी पुरुष विधिवत् योगशास्त्र की रीति से सात व्याहृतियों के पूर्व सात प्रणव लगाके जैसा कि प्राणायाम का मन्त्र लिखा है, उसको मन से जपता हुआ तीन भी प्राणायाम करे तो जानो अत्युत्कृष्ट तप करता है।" (सं० वि० १६६)

वह प्राणायाम मन्त्र इस प्रकार है-

''म्रों मूः, ओं भुवः, म्रों रवः, ओं महः, म्रों जनः, भ्रों तरः, भ्रों सत्यम्।'' इस रीति से कम से कम तीन ग्रीर ग्रधिक से ग्रधिक इवशीत प्र एगागाम करे।'' (सं० वि० १५६)

प्राणायाम से इन्द्रियों के दोपों का क्षय-

बह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोवाः प्राग्गस्य निप्रहात् ॥ ७१ ॥ (४७) (हि) क्यों कि (यथा ध्मायमानानां धातूनां मलाः दह्यन्ते) जैसे अपिन में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं (तथा प्राग्यस्य निग्रहात्) वैसे हो प्राग्णों के निग्रह से (इन्द्रियाणां दोपाः दह्यन्ते) मन म्रादि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत हो जाते हैं ॥ ७१ ॥ (स० प्र० १२६)

अर न्यू क्यी त्य न्य : प्राणायाम से दोषों का निवारण—इसमें योगदर्शन का प्रमाण भी है—

(क) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीष्तिरःविदेकस्यातेः ॥ २ । २५ । । प्राणायाम भी योग का एक प्रमुख ग्रंग है ।

''जब मनुष्य प्रारागाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में प्रशुद्धि का नाश ग्रौर ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके ग्रात्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।'' (स० प्र० तृ० स ु०)

"इसी प्रकार बारंबार स्रम्यास करने रे प्राण उपासक के वश में हो जाता है शौर प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से ब्रात्मा भी स्थिर हो जाता है।" (ऋ० भू० उपासना विषय)

#### (ख) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ २ । ५२ ॥

प्रें, णायाम सिद्धि ग्रौर प्राणायाम पूर्वक उपासना के पश्चात् ग्रात्मा के ज्ञान को ढांपने वाला इन्द्रियों का दोष —ग्रज्ञानरूपी जो ग्रावररा है, वह नष्ट हो जाता है। ग्रौर ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। महर्षि दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—

"प्राण ग्रपने वश में होने से मन ग्रौर इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थं बढ़कर बुद्धि तीन्न सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन ग्रौर सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र प्रहण करती है। इससे मनुष्य शरीर में वीर्थ्यवृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समक्षकर उपस्थित कर लेगा।"

(स॰ प्र॰ तृ॰ सम्॰)

प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार से दोवों का क्षय---

### प्रारागायामैदंहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् । प्रस्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनामीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥ (४८)

इसलिए संन्यामी लोग (प्राणायामैं: दोषात्) प्राणायामों से दोषों को (धारणाभि: किल्विषम्) धारणाओं से अन्तः करण के मैल को (प्रत्या-हारेण संसर्गात्) प्रत्याक्षार मे संग से हुए दोषों (च) और (ध्यानेन + अती-क्ष्वरात् गुण त्) ध्यात मे अविद्या, प्रभगत आदि अनीक्ष्वरता के दोषों को छुड़ा के पक्षपातरहित आदि ईश्वर के गुणों को धारण कर (दहेत्) सब दोषों को भस्म करदेवे।। ७२।। (सं० वि० २००) 'इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से म्रात्मा, म्रन्त:करण भौर इन्द्रियों के दोष, धारणाम्रों से पाप, प्रत्याहार से संगदोष, ध्यान से भ्रनीश्वरता के गुणों म्रर्थात् हर्ष, शोक भौर म्रविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें। (स॰ प्र॰ १३०)

अन्य क्यो का सप्रमाण विवेचन योगदर्शन के स्राधार पर प्रस्तुत किया जाता है—

- १. प्रागायाम से इन्द्रियों के दोशों का दहन किस प्रकार होता है, यह ६।७१ की समीक्षा में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।
- २. घारणाओं से अन्तः करण के किल्विष अर्थात् बुराई को दूर करे। "देशबन्ध- दिचलस्य घारणा" (योग ३।१) = "धारणा उसको कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है उसका विचार करना।" (ऋ० भू० उपासनाविषय) अथवा बुराइयों को, दोषों को समक्षकर उनको छोड़ने के लिए ब्रतों को घारण करना भी धारणा है।

"िकच धार**णासु च योग्यता मनसः।**" (योग०२। ५३) = धारणाश्रों से मन में ज्ञान की योग्यता श्रौर विवेक बढ़ता है। जिससे बुराइयों का त्याग होता है। ['किल्विषम्' के अर्थं पर विशेष श्रनुशीलन ८। ३१६ पर भी द्रष्टब्य है]।

३. प्रत्याहार के द्वारा संसर्गजन्य दोष को छोड़ें। **"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य** संब**रूपानुकार इवेन्द्रियागां प्रत्या**हारः"। योग०२। ५४॥

"प्रत्याहार उसका नाम कि जब पुरुष ग्रपने मन को जीत लेता है तब इन्द्रियों का जीतना ग्रपने ग्राप हो जाता है क्योंकि मन हो इन्द्रियों को चलाने वाला है।" (ऋ० भू० उपासनाविषय) परिणामस्वरूप इन्द्रियां ग्रपने-ग्रपने विषयों के संगों, ग्रभि-मान ग्रादि दोषों से निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्याहार से मन स्ववश में हो जाता है ग्रीर इन्द्रियों पर दढ़ वशीभूतता हो जाती हैं—

"ततः परमावश्यतेन्द्रयालाम्।" योग २ । ५५ ॥

''तव वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा ग्रौर चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने मे सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, ग्रसत्य में कभी नहीं।" (ऋ० भू० उपासना-विषय)

योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी अपरिग्रह को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

''विषयाणामजंन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसाबोल्दर्शनात् अस्वीकरणम् अपरि-ग्रहः ।'' (योग २ । २०) = विषयों में ग्रर्जनदोल, रक्षणदोल, क्षयदोल, संगदोल तथा हिंसादोल देखने से उनका जो ग्रस्वीकार ग्रर्थात् त्याग है, वह ग्रपरिग्रह कहा जाता है । ४. घ्यान से अनीश्वर गुणों अर्थात् अविद्या, अज्ञान प्रादि का त्याग करके ईश्वरीय गुणों को घारण करना। "तत्र प्रत्ययंकतानता घ्यानम्" (योग०३।२) = "धारणा के पीछे उसी देश में घ्यान और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और प्रानन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भिक्त के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मगन हो जाना। इसी का नाम घ्यान है।"

(ऋ॰ भू॰ उपासना विषय)

प्र. 'किल्विषनाश' के लिए द्रष्टव्य ११। २२७ पर श्रनुशीलन श्रीर शब्दार्थ के लिए प्र.। ३१६ का श्रनुशीलन ।

ध्यान से पदार्थ-ज्ञान-

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतास्मिः। घ्यानयोगेन सम्पद्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः॥ ७३॥ (४६)

(उच्च + अवचेषु भूतेषु) बड़े-छोटे प्राणी और अप्राणियों में (अकृता-त्निभ: दुर्जेयाम् अस्य + अन्तरात्मनः गितम्) जो अगुद्धात्माओं से देखने के योग्य नहीं है, उस अन्तर्यामी परमात्मा को गित अर्थात् प्राप्ति को (ध्यान-योगेन संपश्येत्) ध्यानयोग से ही संन्यासी देखा करे॥ ७३॥

(सं० वि० २००)

अर्ज्य क्रिटिक ना: 'ध्यानयोग' के लिए ६। ७२ पर अनुशीलन संख्या ४ द्रष्टक्य है।

यथार्थं ज्ञान से कर्मबन्धन का विनाश-

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कमेभिनं निबद्धचते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥ (५०)

(सम्यक् दर्शनसंपन्नः) जो संन्यासी यथार्थज्ञान वा षड्दर्शनों से युक्त है (कर्मभिः न निबद्धचते) वह दुष्टकर्मों से बद्ध नहीं होता (तु) भ्रौर (दर्शनेन विहीनः) जो ज्ञान, विद्या, योगाभ्यास, सत्संग, धर्मानुष्ठान वा षड्दर्शनों से रहित विज्ञानहीन होकर संन्यास लेता है वह संन्यास पदयी भ्रौर मोक्ष को प्राप्त न होकर (संसारं प्रतिपद्यते) जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है। ७४॥ (सं० वि० २००)

**अन्तुर्ध्योद्धन्तः वर्शन एवं ध्यानयोग विवेचन**—(१) उपर्युंक्त ७२-७३

श्लोकों में उका यथार्थ ज्ञान से ध्यानयोग की सिद्धि होने पर परमात्मा के दर्शन होते हैं ग्रीर वह—

#### तत्र ध्यानजमनाशयम् ।। योग० ४ । ६ ॥

जो घ्यानयोग से सिद्ध चित्त है वह यथार्थ ज्ञान से ग्रनाशयम् — कर्मवासना ग्रौर क्लेशवासना से रहित होता है। कर्मों से बद्ध नहीं होता। उसके कर्म दग्धबीज के समान होने से फिर फलोन्मुख नहीं होते। वहीं फिर मोक्ष की स्थिति में पहुंचता है।

(२) दर्शनों से यहां पुस्तकविशेष दर्शन-ग्रन्थों से ग्रभिप्राय नहीं है, ग्रिपतु 'दर्शन विद्यात्रों' से ग्रभिप्राय है। ईश्वर ग्रादि तत्त्वों का प्रत्यक्ष ज्ञान करानेवाली विद्या को 'दर्शनविद्या' कहा जाता है।

ग्रहिंसा ग्रादि वैदिक कर्मों से परमात्मा पद की प्राप्ति—

ब्रहिसयेन्द्रियःसङ्ग्रीवंदिकैश्चैव कर्मिः। तपसश्चरणैश्चोग्रीः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७४ ॥ (५१)

(ग्रहिसया) सब भूतों से निर्वेर (इन्द्रिय + ग्रसंगैः) इन्द्रियों ने विषयों का त्याग (वैदिकै: कर्मभिः) वेदोक्त कम (च) ग्रीर (उग्नैः तपदवरणैः) ग्रत्युग्र तपदवरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त सन्यासी ही सिद्ध कर ग्रीर करा सकते हैं, ग्रन्य नहीं ॥ ७५ ॥ (स० प्र० १३०)

"श्रीर जो निर्वेर, इन्द्रियों के विषयों के बंधन से पृथक् वैदिक कर्मा-चरणों श्रीर प्रःणायाम, सत्यभाषणादि उत्तम उग्र कर्मों से सहित संन्यासी लोग होते हैं, वे इसी जन्म इसी वर्तमान समय में परमेश्वर की प्राप्तिरूप पद को प्राप्त होते हैं, उनका संन्यास लेना सफल श्रीर धन्यवाद के योग्य है''। (स॰ प्र०२००)

अपवित्र जरीर का त्याग—

ध्वस्थित्यूणं स्नायुयुनं मांसशोणितलेपनम् । चर्मावनद्वं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयो: ॥ ७६ ॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासिमनं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(ग्रिन्थिस्यू ग्रां स्नायु ग्रुतं मांसशोणित लेपनं चर्मावन द्धं मूत्रपुरी पयोः दुर्गेन्धिपू ग्रांम्) हिंड्डियों के ढांचे रूप, स्नायु रूपी रस्सी वाले, मांस ग्रीर लहू से भरे, चमड़ी से ढके, मूत्र ग्रीर विषठा की दुर्गेन्धि से भरे (जराशोक समाविष्टम्) वृद्धावस्था ग्रीर शोक से युक्त (रोगायतनम्) रोगों के घर (ग्रातुरम्) भूख-प्यास ग्रादि से पीड़ित होने वाले (रजस्वलम्) रजोगुणवाले या मिट्टीरूप (च) (ग्रिनित्यम्) नष्ट होने व ले (इनं भूत + ग्रावासं त्यजेत्) इस महाभूतों के आश्रयस्थान ग्रर्थात् शरीर को छोड़ देवे ॥ ७६, ७७॥

#### नदीकूतं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनियंथा। तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छाद् ग्राहाद्विमुच्यते॥ ७८॥

(यथा वृक्षः नदीकूलम्) जैसे वृक्ष नदी के किनारे को (वा) ग्रथवा (यथा शकुनिः वृक्षम्) जैसे पक्षी वृक्ष को बिना किसी दुःख ग्रौर मोहके छोड़ देता है (तथा) वैसे ही (इमंदेहं त्यजन्) इस शरीर को छोड़ कर व्यक्ति (कृच्छ्रात् ग्राहात् विनुच्यते) दुःख रूपी मगरमच्छ से छूट जाता है ग्रथित उसे दुःख नहीं होता ॥ ७८ ॥

#### त्रियेषु स्वेबु सुकृतमित्रयेषु च दुष्कृतम्। विसुज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माम्येति सनातनम्।। ७६।।

योगी (स्वेषु प्रियेषु सुकृतम्) अपने प्रियजनों में पुण्यों को (च) श्रीर (अप्रियेषु दुष्कृतम्) शत्रुओं में पाप को (विमृज्य) छोड़कर (ध्रानयोगेन सनातन ब्रह्म +अम्येति) ध्यानयोग के द्वारा सनातन ब्रह्म ==परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ७६॥

आनुशीलनाः ७६ से ७६ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं—

 प्रसंगिवरोध—(१) ये क्लोक पूर्वापर प्रसंग विरुद्ध हैं। पूर्वापर प्रसंग 'सङ्गी' से विमुक्त होकर निःस्पृह होनेके वर्णन का है । ७५ वें इलोक में 'ग्रसङ्क्तः' पद से विषयों से निःस्पृह होने का कथन है, फिर ८० वें में सङ्गों से मुक्त होकर निःस्पृह होने का फल है ग्रीर ८१ वें में ''**रयक्रवा सङ्गान् शनैः शनैः''** पदों से इस बात का उपसंहार है । इस प्रकार ७५ वां श्लोक ८०-८१ से सम्बद्ध है ग्रौर ८० वां श्लोक ७५ वें का 'ग्रर्थवाद' है । इन रलोकों ने उस प्रसंग की सम्बद्धता को भंग कर दिया है और इनमें जो वर्णन है, पूर्वापर रूप से ग्रसम्बद्ध है। (२) इन श्लोकों में जो शरीर त्यागने का वर्णन है, वह भी इसे ग्रग्रिम प्रसंग से ग्रसम्बद्ध सिद्ध करता है। ५० वें इलोक में नि:स्पृह होने का फल बताते हुए इस जन्म और परजन्म में सुख का प्राप्त होना कहा है। यदि इन इलोकों के ग्रनुसार पहले ही शरीर त्याग का विधान उपयुक्त मान लिया जाये तो फिर 'इस जन्म में सुख-प्राप्ति' के फलकथन की क्या संगति है ? इससे यह संकेत मिलता है कि ८० वें इलोक से पूर्व शरीरत्याग का वर्णन मनु को सभीष्ट नहीं है। इस प्रकार का वर्णन प्रसंग के ग्रन्त में ग्राता है जो ८१-८२ में है। (३) यहां पूर्वापर स्थानों पर ग्रभी यित के कर्त्तव्यों की समाप्ति से पूर्व ही उनकी फलप्राप्ति का कथन करना, जैसा कि ७८-७१ वें इलोकों में दर्शाया गया है, यह ग्रसंगत है। इस प्रकार का फलकथन तो सब कर्त्तव्यों के पूर्ण होने पर ही करना संगत हुन्ना करता है, जो ८१-८२ में है भी। इस प्रकार ७८-७६

श्लोक और इनसे सम्बद्ध अन्य पूर्ववर्ती श्लोक अप्रासंगिक हैं। इन प्रसंगविशों के आधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. श्रन्तिबिरोध — (१) ६। ६६ में संन्यासी को सभी प्राणियों से समान भावना रखने वाला कहा है। वह राग-द्वेष से मुक्त होकर [६। ६०] एकाकी विचरण करता है [३३, ४२]। मनु का संन्यासी के लिए यही विधान है। ७६ वें इलोक में संन्यासी के प्रियंजन श्रीर शत्रुश्मों का वर्णन उस मान्यता के विरुद्ध है। जब मनु-द्वारा वर्णित रूप में व्यक्ति संन्यासी ही हो गया तो फिर प्रियं या शत्रु का प्रश्न ही नहीं उठता। (२) मनु ने ४। २४० में कर्ता को स्वयं कर्मफल का भोवता माना है। ७६ वें इत्रोक में 'धित द्वारा श्रच्छे कर्मों को प्रियों के लिए छोड़ते तथा बुरे कर्मों को शत्रुश्मों के लिए छोड़ते का वर्णन करना, उक्त मान्यता के विरुद्ध है। इस श्राधार पर ७६ वां इलोक प्रक्षिप्त है। पूर्ववर्ती इलोक क्योंकि प्रसंग की दिष्ट से उससे सम्बद्ध हैं, श्रतः वे इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेंगे।

निःस्पृहता से सुख एवं मोक्षप्राप्ति-

यदा भावेत भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः । तदा सुरूमवाप्नोति प्रत्य चेह् च शादवतम् ॥ ६० ॥ (५२)

''जब संन्यासी सब भावों में ग्रर्थात् पदार्थों में निस्पृह, कांक्षारहित ग्रौर सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में ग्रौर मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।'' (स० प्र० १३०)

परमात्मा में प्रधिष्ठान---

िर

m; 48 (44)

(भ्रतेन विष्यता) इस विष्य स (शनै: शनः) धीरै-घीरे (सर्वात् संगात् त्यक्त्वा) सब संग से हुए दोषों को छोड़के (सर्व-द्वन्द्व-विनिर्मुक्तः) सब

<sup>% &#</sup>x27;'निरन्तर शब्द का इतना ही श्रयं है कि मुक्ति के नियत समय के मध्य में दु:ख आकर विघ्न नहीं कर सकता।" (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

हर्ष-शोक।दि द्वन्द्वों से विशेषकर निर्मुक्त होके (ब्रह्मणि +एव + ग्रवितष्ठते) विद्वान् संन्यासी ब्रह्म ही में स्थिर होता है ।। दश्।। (सं० वि० २००)

> ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदिभन्नाब्दितम् । न ह्यनध्यात्मवित्किद्वितक्रियाफलमुपाइनुते ॥ ८२॥ (५४)

(यत्+एतत्+म्रिभिशन्दितम्) यह जो कुछ पहले कहा गया है (एतत् सर्वम्+एव घ्यानिकम्) यह सब ही घ्यानयोग के द्वारा सिद्ध होने वाला है (म्रन्+ग्रघ्यात्मवित् किचत्) ग्रघ्यात्मज्ञान से रहित कोई भी व्यक्ति (क्रियाफलं न हि उपाश्नुते) उपर्युक्त कर्मों के फल को नहीं पा सकता ॥६२॥

> म्रिषयतः महा जपेशिषदैविकमेव च। म्राज्यात्मिकं चसततं वेदान्तामिहितं चयत्।। ८३।।

(अधियज्ञम्) यज्ञ-सम्बन्धी (च) ग्रीर (ग्राधिदैविकम्) देवता-सम्बन्धी (च) तथा (वेदान्त + ग्रिभिहितं यत् ग्राध्यात्मिकम्) वेदों में जो परमात्मा-सम्बन्धी वर्णन है ऐसे (ब्रह्म) वेदमन्त्रों को (सततं जपेत्) निरन्तर जाप किया करे ॥ ८३॥

### अन्तर्योत्जनः : ५३ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

प्रसंगिवरोध—(१) यह श्लोक पूर्वापर प्रसंग को भंग कर रहा है। दर वें श्लोक में घ्यान को संन्यास का ग्राधार बतलाते हुए उपसंहार किया था। इसी प्रकार दर में संन्यास का महत्त्व बतलाते हुए उपसंहार है। 'इदम्' शब्द के एकवचनात्मक प्रयोग से दर्थ वां श्लोक दर वें से जुड़ता है और इस शब्द से 'संन्यास' ग्रथं ग्रभिप्रेत है। इस ब्लोक ने इस संकेतित सम्बद्धता को भंग कर दिया है। ग्रतः यह प्रसंगिवरुद्ध है। (२) संन्या-साश्रम के विधानों के पूर्ण होने के बाद द? से दर्श श्लोकों में उसका उपसंहारपूर्वक फलक्ष्यन है। यह प्रसंग द? से शुरू है। इस प्रसंग के बीच दर्श वें श्लोक में कर्त्तंच्यों का विधान करना ग्रप्रासंगिक है। यदि यह श्लोक मौलिक होता तो विधिवचनों के साथ कर्त्तंच्यों के प्रसंग में द? वें श्लोक से पहले ही होता। यहां पूर्वापर प्रसंग से भिन्न वर्णन होने के कारण प्रसंगत्निहदध है। अतः प्रक्षिप्त है।

### इदं शररामज्ञानामिदमेव विजानताम् । इदमन्दिच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४॥ (४४)

(इदम् स्रज्ञानां शरणम्) यही स्रज्ञानियों का शरण स्रर्थात् गौण-सन्यासियों ग्रौर (इदम् + एव विजानताम्) यही विद्वान् सन्यासियों का (इद स्वर्गम् इच्छताम्) यही सुख की खोज करने हारे, ग्रौर (इदम् + ग्रानन्त्यम्-

+इच्छताम्) यही ग्रनन्ते सुख की इच्छा करने हारे मनुष्यों का ग्राश्रय है"।। ८४।। (सं० वि० २००)३

''जो विविदिषा ग्रर्थात् जानने की इच्छा करके गौण संन्यास लेवे, वह भी विद्या का ग्रम्यास, संस्पुरुषों का संग, योगाम्यास ग्रीर श्रोंकार का जप ग्रीर उसके ग्रर्थ परमेश्वर का विचार भी किया करे।'' (सं० वि० २००)

अनुर्धी का भोक्षमुख का माध्य परमात्मा—(१) परमेश्वर मोक्ष सूल और ग्रन्य सूल का ग्राश्रय है, इसका विधायक एक वेदमन्त्र तुलनार्थ द्रष्टव्य है-

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ऋ०१।४।३॥ ग्रर्थ-''(वयम्) हम लोग (स्वग्याय) मोक्समुख के लिए (शक्त्या) यथायोग्य सामध्यं के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके, ग्रंपने ग्रात्मा को शुद्ध करें कि जिससे (युक्तेन मनसा) ग्रपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाश रूप आनन्द को प्राप्त हों।" (ऋ० भू० उपा० विषय)

(२) इसकी संगति वेद से नहीं ग्रपितु परमात्मा से है। परमात्मा ही मोक्षसुख म्रादि के लिए शरण हो सकता है। टीकाकारों ने इसका जो वेदपरक म्रथं किया है वह प्रसंगानुकूल नहीं है। यहां प्रसंग परमात्मा की प्राप्ति का है।

उपसंहार--

### अनेन क्रमयोगेन परिवर्जित यो द्विजः। स विध्रयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ५४ ॥ (४६)

(म्रनेन क्रमयोगेन) इस क्रमानुसार संन्यास-योग से (यः द्विज: परि-वजिति) जो द्विज अर्थात् बाह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यास ग्रहण करता है (सः इह) वह इस संसार ग्रीर शरीर में (पाप्मानं विध्य) सब पापों को छोड़-छुड़ाके (पर ब्रह्म + प्रधिगच्छिति) परब्रह्म को प्राप्त होता है।। ८५।।

(सं० वि० २००)

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियताःमनाम् । वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निकायता । ६६ ॥

१. "ग्रनन्त इतना ही है कि मुक्ति-सुख के समय में ग्रन्त ग्रर्थात् जिसका नाश न होवे। " (सं० वि० २०२, टिप्पणी)

२. [प्रचलित प्रयं-नेदायं को नहीं जानने वालों के लिए यही वेद शरण (गित) है, (न्योंकि ग्रर्थज्ञान के बिना भी वेदपाठ करने से पारक्षय होता है) ग्रीर वेदार्थ जानने वालों के लिए स्वर्ग (तथा मोक्ष) चाहने वालों के लिए भी यही वेद झरण (गति) है।। ५४॥]

(एगः) यह (नियतात्मनां यतीनां धर्मः वः अनुशिष्टः) मन को वश में करने वाले संन्यासियों का धर्म तुमसे कहा, ग्रब (वेदसंन्यासिकानां कर्मयोगं निबोधत) 'वेद-संन्यासियों' के कर्मों को सुनो ॥ ५६॥

#### अर्जुशीलनः : ५६ वां इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगविरोध यह श्लोक प्रसंगविषद्ध है। इसमें 'वेदसंन्यासियों' के कर्म कहन का संकेत किया है, जबिक इससे अग्रिम श्लोकों में ग्राश्रमधर्म कहने के बाद उनका उपसंहार है। यदि यह श्लोक मौलिक होता तो इससे अगले ही श्लोक से 'वेदसंन्या-सियों' के कर्मों का वर्णन प्रारम्भ होना चाहिए था। सारी मनुस्मृति में, संकेत के बाद ही वर्णन किया गया है, यह निश्चित शैली है। किन्तु यहां ऐसा नहीं है। इस प्रकार यह संकेत अप्रासंगिक है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।
- २. ग्रन्तिवरोध—(१) मनु ने केवल चार ग्राश्रम माने हैं [६। द७]। उनका क्रमशः वर्णन करते हुए सन्यासाश्रम के कर्त्तं ब्र्य ३३ से द५ श्लोकों में कहे जा चुके हैं। इस प्रकार चार ग्राश्रम पूर्ण हुए। इस ग्राधार पर 'वेदसन्यासियों' की पृथक् कल्पना ही मनुविरुद्ध है। (२) यदि 'वेदसन्यासिक' का ग्रर्थ 'वेदविहित कर्मों को छोड़ ने वाले व्यक्ति' किया जाये तो यह मान्यता मनु एवं सम्पूर्ण मनुस्मृति के ही विरुद्ध है। मनु ऐसे व्यक्ति को सन्यासी तो क्या 'द्विज' भी नहीं मानते, उसे शूदवत् कहते हैं [२।१४३ (१६८)]। वेद-विहित कर्मों को छोड़ना मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है, क्योंकि उन्होंने वेद को ही ग्रपनी स्मृति का ग्राधार माना है। यह 'वेदोक्त कर्मों' को करने के मनु के ग्रादेश के भी विरुद्ध है। [२।१ (२६),४।१४]।

ग्राश्रम-धर्मों की समाप्ति पर उपसंहार-

### ब्रह्मचारी गृहस्थरच वानप्रस्थो यतिस्तया । एते गृहस्थप्रभवारचत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७॥ (५७)

(ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः तथा यतिः) ब्रह्मचर्यं, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास (एते चत्वारः पृथक् ग्राश्रमाः) ये चारों ग्रलग-ग्रलग ग्राश्रम (गृहस्थप्रभवाः) गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

ग्राश्रमधर्मों के पालन से मौक्ष की ग्रोर प्रगति—

# सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥ (५८)

(एते सर्वे + ऋषि क्रमशः यथाशास्त्रं निषेविताः) ये सब क्रमानुसार शास्त्रोक्तः विधानों के ऋनुसार पालन करने पर (यथा + उक्तकारिणं विष्रम्) कर्त्तव्यों का यथोक्त विधि से पालन करने वाले द्विज को (परमां गित नयन्ति) उत्तम गित को प्राप्त कराते हैं।। ८८।। गृहस्य की श्रेष्ठता---

सर्वेषामि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्य उच्यते श्रेष्ठः स श्रीनेतान्विमति हि ॥ ८६॥ (५६)

(वेद-स्मृतिविधानतः) वेदों श्रीर स्मृतियों में कहे श्रनुसार (एषां सर्वेषाम् + ग्राप) इन सब श्राश्रमों में (गृहस्थः श्रेष्ठः उच्यते) गृहस्थ सबसे दायित्त्वपूर्ण होने से श्रेष्ठ है (हि) क्योंकि (सः) वह (एतान् त्रीन् बिर्मात) इन तीनों का ही भरण-पोषण करता है श्रर्थात् उत्पत्ति श्रीर जीवनयापन की दृष्टि से ये तीनों श्राश्रम गृहस्थाश्रम पर श्राश्रित हैं।। ८९।।

अद्भुर्को टिडन् : गृहस्य कैसे तीन आश्रमों ग्रीर सबका भरण-पोषण करता है, इसका कारणपूर्वक वर्णन ३।७८,८० में वर्णित है। ३।७७ में इसको भाषार बताया है।

गृहस्य समुद्रवत् है---

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् । तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्ये यान्ति संस्थितिम् ॥ ६० ॥ (६०)

(यथा सर्वे नदी-नदाः सागरे संस्थिति यान्ति) जैसे सब बड़े-बड़े नद श्रीर नदी सागर में जाकर स्थिर होते हैं (तथैं व) वैसे ही (सर्वे ग्राश्रमिणः) सब ग्राश्रमी (गृहस्थे संस्थिति यान्ति) गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं।। ६०।। (सं० वि० १५०)

"जैसे नदी ग्रीर बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते। वेसे गृहस्य हो के ग्राश्रय से सब ग्राश्रम स्थिर रहते हैं। बिना इस ग्राश्रम के किसी ग्राश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता।" (स॰ प्र०१२२)

श्चान्तु रुप्ती ट्यन्तः तुलना के लिए देखिए ३। ७७ वर्ग श्लोक । चतुर्भिरपि चैवैतैनित्यमाश्रमिभिद्विजैः । दशलक्षराको धर्मः सेवितस्यः प्रयत्नतः ॥ ६१ ॥ (६१)

(एतै: चतुभि: ग्राश्रमिभि: द्विजै:) इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्य, वान-प्रस्च प्रीर सन्यासियों को योग्य है कि (प्रयत्नतः) प्रयत्न से (दशलक्षणकः धर्मः सेवितअ्यः) दश लक्षणपुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन नित्य करें ॥ ६१ ॥ (स० प्र० १३०)

धर्म के दश लक्षण---

घृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः । घीविद्या सत्यमक्रोघो दशकं घर्मलक्षराम् ॥ ६२ ॥ (६२)

पहिला लक्षण-(धृति) सदा धैर्य रखना, दूसरा-(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति मान-ग्रपमान, हानि-लाभ ग्रादि दु:खों में भी सहनशील रहना; तीसरा-(दम) मन को सदा घर्म में प्रवृत्त कर ग्रधमं से रोक देना ग्रथित् ग्रधमं करने को इच्छा भी न उठे, चौथा--(ग्रस्तेय) चोरी त्याग ग्रथित् बिना म्राज्ञा वा छत्र-कपट. विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ का ग्रहण करना चोरी, ग्रीर इसको छोड़ देना साह-कारी कहाती है, पांचवां—(शोच) राग-द्वेष पक्षपात छोड़के भीतर स्रोर जल, मृतिका, मार्जन ग्रादि से बाहर की पवित्रता रखनी, छठा—(इन्द्रिय-निग्रह) ग्रधमिचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना, सातवां — (घीः) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक ग्रन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, ग्रालस्य, प्रमाद म्रादि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थी का सेवन, सत्पुरुषों का संग, योगा-म्यास से बुद्धि बढ़ाना; ग्राठवां—(विद्या) पृथिवो से लेके परमेश्वर पर्यन्त ययार्थ ज्ञान ग्रीर उनसे यथायोग्य उनकार लेना; सत्य जैसा ग्रात्मा में वैसा मन में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में बर्तना, इससे विपरीत अविद्या है, नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसाही समफना, वैसाही बोलना, वैसा ही करना भी; तथा दशवां—(स्रक्रोध) क्रोघादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना (धमलक्षणम्) धमं का लक्षण है।। ६२।। (स॰ प्र॰ १३१)

श्रन्तु श्रीत्जनाः धर्म के लक्षणों की विशेष व्याख्या—संस्कार विधि में भी महिष दयानन्द ने इस क्लोक को उद्धृत करके इसका भाष्य किया है। वहां उन्होंने 'ग्रिहिसा' को भी धर्म का लक्षण मानकर धर्म के ग्यारह लक्षण माने हैं। यहां वे उद्धृत किये जाते हैं—

"धर्म न्याय नाम, पक्षपात छोड़कर सत्य ही का म्राचरण ग्रौर ग्रसत्य का सर्वदा पित्त्याग रखना, इस धर्म के ग्यारह लक्षण हैं—(ग्रहिंसा) किसी से वैर बुद्धि करके उसके ग्रनिष्ट करने में कभी न वर्त्ता, (धृतिः) सुख-दुःख, हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म में ही स्थिर रहना, (क्षमा) निन्दा स्तुति मानापमान का सहन करके धर्म ही करना (दमः) मन को ग्रधम से सदा हटाकर धर्म में ही प्रवृत्त रखना, (ग्रस्तेयम्) मन, कर्म, वचन से ग्रन्याय ग्रौर ग्रधम से पराये द्रव्य का स्त्रीकार न करना (शौचम्) रागद्वेषादि त्याग से ग्रात्मा ग्रौर मन का पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना, (इन्द्रियनिग्रहः) श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों को ग्रधम से हटाके धर्म ही में चलाना, (धीः) वेदादि सत्यविद्या, ब्रह्सचर्य, सत्सग करने ग्रौर कुसंग, दुव्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढ़ाते रहना (विद्या) जिससे भूभि से लेके परमेश्वर पर्यन्त का यथार्थ बोध होता है, उस विद्या को प्राप्त होना, (सत्यम्) सत्य मानना, सत्य

बोलना, सत्य करना, (म्रक्रोघः) क्रोघादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म कहाता है. इसका ग्रहण श्रीर ग्रन्थाय पक्षपात सहित ग्राचरण ग्रघमं जो कि हिंसा, वैरबुद्धि, ग्रधमं, ग्रसहन, मन को ग्रधमं में चलाना, चीरी करना, ग्रपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीतकर ग्रथमं में चलाना, कुसंग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, ग्रविद्या जो कि ग्रधमचिरण ग्रज्ञान है उसमें फंसना, ग्रसत्य मानना, ग्रसत्य बोलना, क्रोघादि दोषों में फंसकर ग्रथमीं दुष्टाचारी होना, ये ग्यारह ग्रधमं के लक्षण हैं, इनसे सदा दूर रहना चाहिए॥" (सं० वि० ग्रहाश्रम प्र०)

दश लक्षणात्मक धर्मपालन से उत्तम गति--

दश लक्षणानि घर्मस्य ये वित्रा समधीयते । स्रघीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ६३ ॥ (६३)

(धर्मस्य दशलक्षणानि) धर्म के दश लक्षर्गों का (ये विप्राः) जो द्विज (सम् + ग्रधीयते) ग्रघ्ययन-मनन करते हैं (च) ग्रौर (ग्रधीत्य) पढ़कर-मनन करके (ग्रनुवर्तन्ते) इनका पालन करते हैं (ते) वे (परमां गांत यान्ति) उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।। १३।।

> दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्तमाहितः। वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥ ६४॥

(दशलक्षणकं धर्मम् + ग्रनुतिष्ठन्) दशलक्षणों वाले इस धर्म का पालन करते हुए (समाहितः) सावधान होकर (विधिवत् वेदान्तं श्रुत्वा) विधि के ग्रनुसार उपनिषदों को सुनकर (ग्रनृणः द्विजः) तीनों — देव, ऋषि ग्रौर पितृऋ्गों से उऋँग हुग्रा द्विज (संन्यसेत्) संन्यास धारण करे।।।। १४।।

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्। नियतो वेदमम्यस्य पुत्रदेवर्ये सुखं वसेत्।। ६५ ॥

(सर्वकर्माणि सन्यस्य) सब घर के कार्यों से मुक्त होकर (कर्मदोषान् + अपानुदन्) कर्मों से उत्पन्न दोषों को दूर करता हुआ (नियतः वेदम् + अभ्यस्य) नियम-पूर्वक वेद का अभ्यास करता हुआ (पुत्र-ऐस्वर्ये) पुत्र के द्वारा प्राप्त सुख-साधनों से (सुख वसेत्) उसके प्राश्रय में सुखपूर्वक रहे॥ ६५॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यंपरमोऽस्पृहः। संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्।। ६६।।

(एवं कर्माणि संन्यस्य) इस प्रकार सब कार्यों को छोड़कर (स्वकार्यपरमः) अपने कर्त्तंच्यों के पालन में लगा रहकर (ग्रस्पृहः) सभी इच्छाओं से रहित होकर (संन्यासेन एन: ग्रपहत्य) संन्यास से पाप को नष्ट करके (परमां गींत प्राप्नोति) द्विज परम गिंत को प्राप्त कर लेता है।। ६६।।

### अरन्य श्रीत्जना : १४ से १६ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. ग्रन्तिकरोध—इन श्लोकों में दी गई व्यवस्था मनु की व्यवस्थाओं से विषद्ध है—(१) ६४ वें श्लोक में धर्म के दश लक्षणों को सुनकर संन्यास लेने का कथन है। पहली बात तो यह है कि इन लक्षणों को सुनकर संन्यास ही क्या लेना? ये तो वे कत्तंव्य हैं जिनका पालन ब्रह्मचारी, ग्रहस्थी, वानप्रस्थ, संन्यासी सभी को मृश्युपर्यन्त करना होता है। ६। ६१ में यह स्पष्ट शब्दों में ही कहा है, फिर उन्हें सुनकर संन्यास का लेना? यह श्लोक ६१ के विषद्ध जाता है। दूसरी बात यह है कि मनु की व्यवस्था में इन चार आश्रमों से ग्रलग ऐसी कोई व्यवस्था नहीं, जो इनमें दिखायी है। मनु ने संन्यास का विधान ६। ३३—६५ में कर ही दिया है। ग्रतः यह भिन्न प्रकार की व्यवस्था देना मनुविषद्ध है। (२) मनु ने तो पिछले [३३—६५] श्लोकों में घर एवं सभी 'सङ्गों' (=साथ, मोह, लोभ ग्रादि) को छोड़कर संन्यासी होने को कहा है। ग्रतः इन श्लोकों में धर्म के लक्षण सुनकर संन्यास लेना, घर में रहने की व्यवस्था देना, ऐश्वर्य में रहना आदि वातें पिछले सभी विधानों के विषद्ध हैं। संन्यासियों की बात तो दूर रही मनु ने तो वानप्रस्थ को भी घर-बार छोड़कर वन में चले जाने का ग्रादेश दिया है [६। १—४]। इस प्रकार मनु की व्यवस्थाग्रों के विषद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ग्राश्रमधर्मी एवं ब्राह्मण धर्मी का उपसंहार-

एष वोऽभिहितो धर्मो बाह्यग्रस्य चतुर्विघः। पुण्योऽक्षयफलः प्रत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ६७॥ (६४)

मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! (एष: चतुर्विष: ब्राह्मण्रस्थं घमं:) यह चार प्रकार स्रथात् ब्रह्मचर्यं, गृहस्थ, वानप्रस्थ स्रीर संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धमं है (पुण्यः प्रेत्य प्रक्षयफलः) यहां वर्तमान में पुण्य-स्वरूप स्रीर शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप श्रक्षय स्रानन्द का देनेवाला संन्यासधमं है ﴿ (राज्ञां धमं निबोधत) इसके स्रागे राजास्रों का धमं मुक्ते सुनो—॥ ६७॥ (स० प्र० १३२)

अं (ग्रभिहितः) वह कह दिया है ......

अन्य कारिक का साह्यण शब्द का उपलक्षणात्मक प्रयोग — इस श्लोक में बाह्यण शब्द का 'बाह्यण' प्रयं के साथ-साथ उपलक्षण रूप में प्रयोग है। १।१४४ [२।२४] श्लोक से वर्णाश्रम धर्मों का प्रारम्भ किया है। तदनुसार यहां तक ब्राह्मण वर्ण के सम्पूर्ण धर्म — धार्मिक तथा लौकिक कर्तंव्य पूर्ण हो गये हैं और साथ-साथ दिजों के चारों ग्राश्रमों (दितीय श्रध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम, तृतीय से पंचम में गृहस्य और पष्ठ

मनुस्मृति:

808

में वानप्रस्थ भ्रोर संन्यास) के धर्म भी [६। ६१] पूर्ण हो गये हैं। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द से क्षत्रिय भ्रोर वैश्य भी ग्रहण होते हैं।

बाह्मण शब्द ग्रहण करने का एक विशेष ग्रिभिप्राय यह भी है कि सभी द्विज संन्यासाश्रम में ग्रांकर संन्यास के घर्मों को धारण करके ब्रह्मरव प्राप्त करते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति का एक ही उद्देश्य होने से उनके कर्त्तंच्यों में कोई ग्रन्तर नहीं रह जाता। ग्रतः ब्राह्मण शब्द से ही उनका ग्रहण किया है। इन ग्रध्यायों में विभिन्न स्थानों पर द्विज, विप्र शब्दों को ब्राह्मण के पर्यायवाची रूप में भी ग्रहण किया है, यथा २। १५, ६। ६१, ६३, ६७ के भाव ग्रीर शब्दों में प्रयोग है।

श्वित महर्षि-मनुत्रोक्तायां सुरेन्द्रदुआरकृतहिन्दी-माध्यसमन्वितायाम् प्रनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ वानप्रस्थसंग्यास-धर्मविषयकः वष्ठोऽज्यायः ॥



# ऋथ सप्तमोऽध्यायः

### [हिन्दीभाष्य-म्रनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

(राजधर्म विषय)

[७।१ से ह। ३३६ तक]

राजा की नियुक्ति एवं सिद्धि (७।१ से ७।३५ तक) —

राजधर्मान्त्रवस्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। संभवत्व यथा तस्य सिद्धित्व परमा यथा॥ १॥ (१)

ग्रब मनु जी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण ग्रौर चारों ग्राश्रमों के व्यवहार कथन के पदचात् (राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि) राजधर्मों को कहेंगे कि (यथावृत्तः नृपः भवेत्) जिस प्रकार का राजा होना चाहिए [७।३६-१।३२४] (च) ग्रौर (तस्य यथा संभवः) जैसे उसका संभव = बनना (च) तथा (यथा परमा सिद्धिः) जैसे उसको परमसिद्धि प्राप्त होवे [७।१—३४] उसको सब प्रकार कहते हैं ॥१॥ (स०प्र०१३८)

राजा बनने का ग्रधिकारी कौन?

ब्राह्म प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेल यथाविषि । सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षलम् ॥ २ ॥ (२)

(बाह्य संस्कार प्राप्तेन क्षत्रियेण) जैसा परम विद्वान् ब्राह्यण होता है वैसा विद्वान् श्रु सुशिक्षित होकः क्षत्रिय को योग्य है कि (ग्रस्य सर्वस्य) इस सब राज्य की (परिरक्षणम्) रक्षा (यथान्यायं कर्तव्यम्) न्याय से यथावत् करे ॥ २॥ (स० प्र० १३८)

श्रुः (यथाविधि) पूर्ण विधि के अनुसार अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावतंनकाल तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए......

राजा बनने की ग्रावश्यकता-

ब्रराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्वृते भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ (३) (हि) क्यों कि (ग्रराजके ग्रस्मिन् लोके) राजा के बिना इस जगत् में (सर्वत: भयात् विद्रुते) सब ग्रोर भय व्याकुलता फैल जाने के कारण (ग्रस्य सर्वस्य रक्षार्थम्) इस सब समाज ग्रौर राज्य की सुरक्षा के लिए (प्रभु: राजानम् + ग्रसृजत्) प्रभु ने 'राजां पद को बनाया है ग्रर्थात् राजा बनाने की प्रेरणा मानवों के मस्तिष्क में दी है।। ३।। राजा के ग्राठ विशिष्ट गुण—

### इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चेव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४॥ (४)

यह सभेश राजा (इन्द्र) इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वयंकर्त्ता (म्रिनिल) वायु के समान सबको प्राणवत् प्रिय ग्रीर हृदय की बात जानने हारा (यम) यम-पक्षपातरिहत न्यायाधीश के समान वर्त्तने वाला (ग्रकिंग्णाम्) सूर्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक, ग्रंधकार ग्रर्थात् ग्रविद्या ग्रन्याय का निरोधक (ग्रग्ने:) ग्रिनि के समान दुव्टों को भस्म करने हारा (वरुणस्य) वरुण ग्रर्थात् बांधने वाले के सदृश दुब्टों को ग्रनेक प्रकार से बांधने वाला (चन्द्र-वित्तेशयोः) चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को ग्रानन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापित होवे क्ष ॥ ४॥ (स० प्र० १४०)

श्र (शाश्वती: मात्रा निर्हृत्य च) इनकी स्वाभाविक मात्राग्रों = गुणों के ग्रंशों का सार लेकर ईश्वर ने 'राजा' के व्यक्तित्व का निर्माण किया है। ('च' से पूर्वश्लोक के 'राजानम् ग्रमुजत्' क्रिया को ग्रनु-वृत्ति है)।

### अस्तु व्योत्जनः राजा के ग्राठ विशिष्ट गुणों की व्याख्या-

- (क) महर्षि मनुने इस श्लोक में कहा है कि राजा को ग्राठ विशिष्ट गुणों से युक्त होना चाहिए। जैसे निम्न ग्राठ ईश्वरीय दिव्यशक्तियों का कार्य या स्वभाव है, वैसाही राजा का स्वभाव ग्रीर ग्राचरण होना चाहिए। मनुने ६।३०३ से ३११ इलोकों में स्वयं इन गुणों की व्याख्या की है, जो निम्न प्रकार है—
- (१) इन्द्र [=वृष्टिकारक शक्ति] जैसे भरपूर जल बन्साकर जगत् का तृष्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजाग्नों को सुख-सुविधाएं, ऐस्वयं प्रदान करे। उनकी कामनाग्नों को पूर्ण कर संतुष्ट रखे [६।३०४]। इदि परमैश्वयं स्वादि धातु से 'ऋजेन्द्राग्नवष्त्र' (उणादि २।२०) सूत्र से 'रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्रते वा ऐस्वयं कर्मणः'' (निरुक्त १०।८] = ऐस्वयं प्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है। ७।७ में इसके पर्यायवाची रूप में 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

- (२) वायु—जैसे सब प्राणियों, स्थानों में प्रविष्ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को प्रपने गुष्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट होकर सब स्थानों की, प्रपनी तथा शत्रु की प्रजाग्नों की बातों की जानकारी रखनी चाहिए [६।३०६]। [वायुः = वा गतिगन्धनयोः ग्रदादि धातु 'क्रवापाजि॰' (उणादि १।१) सूत्र से 'उः' 'प्रत्यय। 'वायु-वितेवें सेवां स्याव गतिकर्मणः' [निरु० ११।५)]। ६।३०६ में 'मारुत' का प्रयोग है।
- (३) यम [ = ईश्वर की मारक या नियन्त्रक शक्ति] जैसे कर्मफल का समय ग्राने पर प्रिय ग्रीर शत्रु सबको धर्मपूर्वक ग्रयित् न्यायानुसार दण्डित करता है या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी ग्रपराध करने पर प्रिय, शत्रु सभी प्रजाग्रों को न्यायपूर्वक दण्ड देना चाहिए ग्रीर उनको ग्रपने नियन्त्रण में रखना चाहिए [६।३०७]। ७।७ में मनु ने यम का 'धर्मराट्' पर्यायवाची ग्रहण किया है। धर्म ग्रयात् न्यायपूर्वक शासन करने वाला 'धर्मराट्' होता है। ['यमु उपरमे' म्यादि धातु से कर्त्तरि पचाद्यच्। ''यमः यच्छतीति सतः" (निरु० १०। १६)]।
- (४) प्रकं स्पूर्य जैसे अपनी किरणों द्वारा बिना संतप्त किये जलग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट ग्रीर हानि पहुंचाये बिना [७। १२८-१२६] कर ग्रहण करे [६। ३०५]। [ग्रर्च पूजायाम् म्वादि धातु से 'कृदाधाराचिकलिम्यः कः' (उणादि ३।४०) सूत्र से 'कः' प्रत्यय]। ६।३०५ में पर्यायवाची रूप में 'ग्रादित्य' का प्रयोग है।
- (५) म्राग्न जैसे म्राग्न म्रशुद्धि का नाश करके शुद्धि करने वाली होती है मौर तेजयुक्त होती है, उसी प्रकार राजा म्रापराध, हानि एवं दुष्टता करने तथा प्रजा को पीड़ित करने वालों को प्रभावशाली ढंग से संतापित करने वाला एवं दण्ड से सुधारने वाला होवे [६। ३१०]। [म्राग-गतौ धातु से ''अङ्गे नं लोपइच' (उणादि ४।५०) सूत्र से 'नि:' प्रत्यय, नि लोप।]
- (६) वरण = जल जैसे अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फंसा लेता है, उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले [६।३०८]। [वृब्-वरणे स्वादि धातु से कृव्वारिम्य उनन्' (उणादि ३। ५३) सूत्र से 'वर्डा' प्रत्यय]।
- (७) चन्द्र—जैसे चन्द्र शीतलता प्रदान करता ग्रीर पूर्णिमा के चांद को देखकर जैसे हृदय में प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार राजा प्रजाग्रों को शान्ति तथा प्रसन्नता प्रदान करने वाला होवे। उसे राजा के रूप में पाकर प्रजा को हर्ष का श्रनुभव हो [६।३०६]। [चिंद ग्राह्मादने दीप्ती च म्वादिघातु से 'स्कायितां क्रिजविज्यिक' (उणादि २।१३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय।] ७।७ में 'सोम' पर्यायवाची है।
  - (=) वित्ते ज्ञा प्रथित् धनाढच । ७ । ७ में कुबेर और ६ । ३११ में इसके पर्याय-

वाची के रूप में 'घरा' 'पृथ्वी' शब्दों का ग्रहण है। जैसे घरती था घनस्वामी परमेश्वर समान भाव से सब प्राणियों का पालन-पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरिहत होकर समानभाव से प्रजाम्रों का पुत्रवत् पालन करें [१। ३११]

#### (ख) वेद में राजा के ब्राठ गुणों का वर्णन--

मनु के इस विधान का स्राधार वेद है। राजा के ये गुण भी वेदमन्त्रों के स्राधार पर ही वर्णित किये हैं। द्रष्टब्य है एक मंत्र—

> सोमस्य राज्ञो वरुणस्य घर्मिण बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मिण । तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धार्तिवधातः कलशां ग्रमक्षयन् ।। (ऋ०१०।१६७।३)

श्रयं—(राज्ञः सोमस्य वहणस्यघमंणि) राजा=ग्रग्नि, सोम=चन्द्रमा, ग्रीर वहणस्य=जल के धमं में (उ) तथा (बृहस्पतेः म्रनुमत्या शमंणि) बृहस्पति=सूर्य, म्रनुमत्या=लक्ष्मी ग्रयात् वित्तेश या धरा के ग्राश्रय में (मघवन् ! धात ! विधात !) ग्रीर हे इन्द्र ! हे वायु ! हे यम ! (ग्रहम् ग्रद्य तव उपस्तुती) मैंने तुम्हारी उपस्तुति= सान्निध्य में रहकर, तुम्हारे गुणों का धारण करके (सोमकलशान् अभक्षयन्) ऐश्वयं कलशों ग्रयात् राज्यश्वयों का सेवन किया है। ग्रभिन्नाय यह है कि इन गुणों के ग्रशों को धारण करके तदनुसार ग्राचरण से राज्यसंचालन में सफलता न्नाप्त की है।

राजा दिव्यगुणों के कारण प्रभावशाली —

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राम्यो निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वमृतानि तेजसा ॥ ५ ॥ (५)

(यस्मात्) क्योंकि (एषां सुरेन्द्राणाम्) इन [७।४] शक्तिशाली इन्द्र प्रादि दिव्यशक्तियों के (मात्राभ्यः) सारभूत गुणरूपी ग्रंश से (नृपः निर्मितः) 'राजा' पद को बनाया है (तस्मात्) इसीलिए (एषः) यह राजा (तेजसा) प्रपने तेज=शक्ति प्रभाव से (सर्वभूतानि ग्रभिभवति) सब प्राणियों को वशीभूत एवं पराजित रखता है।। १।।

18/ Will To 10 25

(एषः) जो (म्रादित्यवत्) सूर्यवत् प्रतापी (मनःसि) सबके वाहर श्रीर भीतर मनों को ॐ (तपित) श्रपने तेज से तपाने हारा है (एनं भुवि) जिसको पृथिवो में (स्रभिवीक्षितुम) कड़ी दृष्टि से देखने को (कश्चित्+ श्रपिन शक्नोति) कोई भी समर्थनहीं होता।। ६।। (स० प्र०१४१)

🎇 (च चक्षंषि) ग्रौर देखने वालों की ग्रांखों को ......

अस्तुर्शोत्कन् ः राजा में तेजस्विता, प्रभावशालिता म्रादि गुण होने चाहिएं। इन गुणों से युक्त होकर राजा सफल एवं प्रजामों पर प्रभावी रहता है।

> सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् । स कुबेरः स वरुगः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ (७)

(सः) वह राजा (प्रभावतः) ग्रपने प्रभाव = सामर्थ्य के कारण (ग्रिनः) ग्रिप्त के समान दुष्टों = ग्रपराधियों का विनाश करने वाला (च) ग्रीर (वायुः) वायु के समान गुष्तचरों द्वारा सर्वत्र गतिशील होकर प्रस्पेक स्थिति की जानकारी रखने वाला (ग्रकः) सूर्य द्वारा किरणों से जलग्रहण करने के समान कष्टरहित कर = टैक्स ग्रहण करने वाला (सोमः) चन्द्रमा के समान शान्ति — प्रसन्तता देने वाला (धर्मराट्) न्यायानुसार दण्ड देने वाला (कुबेरः) ऐश्वयंप्रद परमेश्वर के समान समभाव से प्रजा का पालन करने वाला (वश्णः) जलीय तरंगों या भंवरों के समान ग्रपराधियों ग्रीर शत्रुष्टों को बन्धनों या कारागार में डालने वाला ग्रीर (सः) वही (महेन्द्रः) वर्षाकारक शक्ति इन्द्र के समान सुख-सुविधा का वर्षक = प्रदाता (भवति) है।। ७।।

"ग्रीर जो ग्रपने से ग्रग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्म, प्रकाशक, धन-वर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाष्यक्ष सभेश होने योग्य होवे।" (स॰ प्र॰ १४१)

अप्रनुश्रीत्जनाः इन शब्दों की व्याख्या मनुने स्वयं की है। देखिए ७।४ की समीक्षा तथा ६।३०३—३११ श्लोक।

राजा की श्रवमानना न करें-

बालोऽपि नावमन्त्रच्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ ८॥

(भूमिप: बालं: + प्रिप) राजा यदि बालक भी हो तो भी (मनुष्य + इति न + क्याः) के कार्या कार्या सम्भक्तर उसका सप्रमान नहीं करना कार्याः (हि) के क्यां करका कार्याः (हि)

शक्ति विद्यमान है।। ८॥

एकमेव बहत्यग्निर्नरं दुवपर्सापराम् । कुलं बहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ६ ॥

(अग्निः) ग्राग तो (दुरुपस्पिग्ग्म्) ग्रसावधानी से उसके पास जाने वाले (एकं नरम् एव दहति) अकेले उस ग्रादमी को ही जलाती है, किन्तु (राजाग्निः) राजा की क्रोधाग्नि तो (सपशु-द्रव्य-संचयं कुलं दहित) पशु, सम्पत्ति-सहित सम्पूणं कुल को ही जला देती है।। ६।।

### कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्ति च देशकाली च तत्त्रतः। कुरुते धर्मसिद्धपर्यं विश्वरूपं पुनः पुनः॥ १०॥

(सः) वह राजा (कायँ शिक्तं च देशकालौ) कायं, शिक्तं ग्रौर देश तथा समय का (तत्त्वतः ग्रवेक्य) ठीक-ठीक विचार करके (धर्मसिद्धधर्यम्) धर्मं की सिद्धि के लिए—धर्मं = कानून का रक्षण एवं पालन कराने के लिए (पुनः पुनः विश्वरूपं कुरुते) बार-बार नाना प्रकार के रूप [७। ७ में उक्त] धारण करता है।। १०।।

#### यस्य प्रसादे पद्मा श्रीविजयक्व पराक्रमे। मृत्युक्व वसति क्रोधे सर्वतेजोभयो हि सः।। ११।।

(यस्य) जिस राजा के (प्रसादे) प्रसन्त होने में (पद्मा) लक्ष्मी (च) ग्रौर (पराक्रमे विजयः) पराक्रम में विजय (च) ग्रौर (क्रोधे मृत्युः वसित) क्रोध में मौत बसिती है (सः) वह राजा (सर्वतेजोमयः हि) सर्वप्रकार के तेज से युक्त है।। ११॥

#### तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरते मनः ॥ १२ ॥

(तम्) उस राजा को (यः तु) जो भी कोई (संमोहात्) स्रज्ञानवश (द्वेष्टि) द्वेष करता है (सः) वह व्यक्ति (प्रसंशयं विनश्यित) निःसंदेह विनाश को प्राप्त हो जाता है (हि) क्योंकि (राजा) राजा (तस्य विनाशाय) उसके विनाश के लिए (ग्राशु मनः प्रकुरुते) शीघ्र ही मन लगाता है ॥ १२ ॥

#### अन्तु श्रीत्उनः : ५-१२ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं--

- १. प्रसंगिबरोध ये पाँच श्लोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध हैं। ७ वें श्लोक में राजा के विशेष गुण बताये हैं, और १३ वें में फिर यह कहा है कि 'इसलिए उसके द्वारा नियत धर्म का पालन करे।' इस प्रकार १३ वां श्लोक ७ वें से सम्बद्ध है, और ७ वें का भाव १३ वें में पूर्ण होता है। बीच में इन श्लोकों ने उस पूर्वापर प्रसंग की सम्बद्धता को भंग कर दिया है और राजा के स्वभाव से सम्बद्ध पूर्वापर प्रसंग से असम्बद्ध वर्णन किया है। अतः ये प्रसंगिवरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।
- २. ग्रन्तिवरोध इन क्लोकों में राजा को उसके व्यक्तिगत स्वभाव के ग्राधार पर लक्ष्मीदायक ग्रीर मृत्युकारक विशित करते हुए उसके विनाशक रूप का वर्णन है। यह वर्णन मनु के वर्णन से मेल नहीं खाता। मनु व्यक्तिगत आधार पर नहीं,ग्रिपितु धर्म भीर ग्रधमें के ग्राधार पर राजा को न्यायानुसार उचित दण्ड का विधान करते हैं

[७।२,१६,२६,२७,२८,६,३४६,३०७,३११], ग्रनुचित दण्ड का निषेध करते हैं।[७।४८,५१] ग्रत:ये मनुकी मान्यताग्रों के विरुद्ध होने से प्रक्षिःद हैं।

### तस्माद्धमं यमिष्टेषु स व्यवस्येग्नराधिपः । म्रनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं घमं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ (८)

(तस्मात्) इसलिए (सः नराधियः) वह राजा (यं धर्मम्) जिस धर्म ग्रर्थात् कानून का (इव्टेषु व्यवस्येत्) पालनीय विषयों में निर्धारण करे (च) ग्रौर (ग्रनिष्टेषु ग्रितिष्टम्) अपालनीय विषयों में जिसका निषेध करे (तं धर्मन विचालयेत्) उस धर्म ग्रर्थात् कानून का उल्लंघन न करे।। १३।।

दण्ड की सृष्टि ग्रीर उपयोग विधि ---

### तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीक्वरः ॥ १४ ॥ (६)

(तस्य + ग्रथों) उस राजा के लिए (पूर्वम्) सृष्टि के प्रारम्भ में ही (ईरवर:) ईश्वर ने (सर्वभूताना गोप्तारम्) सब प्राणियों की सुरक्षा करने वाले (ब्रह्मतेजोमयम्) ब्रह्मतेजोमय ग्रथीत् शिक्षाप्रद शौर ग्रपराधनाशक गुण वाले (घर्ममात्मजम्) धर्मस्वरूपात्मक (दण्डम् + ग्रस्णत्) दण्ड [= सजा] को रचा ग्रथीत् दण्ड देने की व्यवस्था का विधान किया ॥ १४॥

### तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च। भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्त चलन्ति च।। १४।।

(तस्य भयात्) उस दण्ड के भय से ही (सर्वाणि) सब (स्थावराणि च चराणि भूतानि) स्थावर ग्रीर जङ्गम प्राणी (भोगाय कल्पन्ते) भोगों को भोगने के लिए समर्थ होते हैं (च) ग्रीर (स्वधमित् न चलन्ति) ग्रपने धर्म से विचलित नहीं होते ।। १४ ।।

#### अनुश्रीतनः १५ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

- १. विषयविरोध—७। १, १४ ब्लोकों के विषय-संकेत के श्रनुसार यहां राजा का धर्म विहित है श्रीर तदनुसार प्रजाशों के लिए दण्ड-विधान श्रभीष्ट है। ईश्वरीय दण्ड का वर्णन उक्त विषय के विरुद्ध है, श्रतः प्रक्षिप्त है।
- २. प्रसंगिवरोध पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है। पूर्वापर चर्चा राजा द्वारा प्रजा को दिये जाने वाले दण्ड एवं उसके प्रभाव की है। १४ वें क्लोक में "तस्यायें" कहकर स्पष्टतः राजा के लिए दण्ड का कथन विहित है, श्रीर १६ वें में स्पष्टतः "ग्रन्थाय-वर्तिषु" पद का प्रयोग करके कहा है कि उसे अन्यायी प्रजाग्रों में करे। वीच में स्थावरों

के लिए दण्ड का वर्णन पूर्वापर प्रसंगविषद्ध है। १६ वें के ''तम्'' पद से भी इस क्लोक का प्रसंग १४ वें से जुड़ता है, १५ वें के फलप्रदर्शन से नहीं। ग्रतः यह प्रक्षिप्त है।

> तं वैशकाली शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः । यथार्हतः संप्रणयेन्न्रेध्वन्यायर्वातवु ॥१६॥ (१०)

(देशकाली शक्ति च विद्याम्) देश, समय, शक्ति स्रोर विद्या स्रयीत् स्रपराध के स्रतुसार उचित दण्ड का जान, इन बातों को (तत्त्वतः स्रवेक्ष्य) ठोक-ठीक विचार कर (स्रन्यायवित्षु) स्रन्याय का स्राचरण करने वाले (नरेषु) लोगों में (तम्) उस दण्ड को (यथाईतः संप्रणयेत्) यथायोग्य रूप में प्रयुक्त करे॥ १६॥

दण्ड का महत्त्व —

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः। चतुर्णामाश्रम। एगं च धर्मस्य प्रतिमुः स्मृतः।।१७॥ (११)

(सः दण्डः पुरुषः राजा) जो दण्ड है वही पुरुष, राजा (सः नेता) वही न्याय का प्रचारकर्ता (च) ग्रीर (शासिता) सब का शासनकर्ता (सः) वही (चतुर्णाम् + ग्राश्रमाणां च धमंस्य प्रतिभूः स्मृतः) चार वर्ण ग्रीर चार ग्राश्रमों के धमं का प्रतिभू ग्रार्थात् जामिन् [=जिम्मेदार] है।। १७।। (स॰ प्र॰ १४१)

वण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा वण्ड एवाभिरक्षति । वण्डः सुस्तेषु जार्गति वण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥ (१२)

वास्तव में (दण्डः सर्वाः प्रजाः शास्ति) दण्डः दण्डिवधान ही सब प्रजाग्नों पर शासन रखता है, (दण्डः +एव) दण्ड ही (ग्रिभिरक्षिति) प्रजाग्नों की सब ग्रोर से [दुष्टों ग्रादि से] रक्षा करता है (सुष्तेषु) सोतो हुई प्रजाग्नों में (दण्डः जागिति) दण्ड ही जागता रहता है ग्रर्थात् प्रमाद ग्रीर एकान्त में होने वाले ग्रपराधों के समय दण्ड का ध्यान ही उन्हें भयभीत करके उनमे रोकता है, दण्ड का भय एक ऐसा भय है जो सोते हुए भी बना रहता है, इसीलिए (बुधाः) वुद्धिमान् लोग (दण्ड धर्म विदुः) दण्ड = दण्डिवधान को राजा का प्रमुख धर्म मानते हैं।। १८।।

"वही दण्ड प्रजा का शासनकर्ता, सब प्रजा का रक्षक है। सोते हुए प्रजास्य जनों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड को ही धर्म कहते हैं।" (स॰ प्र॰ १४१)

"ग्रीर जैसा विद्वान् लोग दण्ड ही को धर्म जानते हैं, वैसा सब लोग

जानें। क्यों कि दण्ड ही प्रजा का शासन श्रर्थात् नियम में रखने वाला, दण्ड ही सब का सब श्रोर से रक्षक, श्रौर दण्ड ही सोते हुश्रों में जागता है। चोरादि दुष्ट भी दंड ही के भय से पाप कर्म नहीं कर सकते''।।

(सं० वि० १५२)

न्यायानुसार दण्ड ही हितकारी-

समीक्ष्य स घृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः। श्रसमीक्ष्य प्रगातिस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १६ ॥ (१३)

(सम्यक् समीक्ष्य घृतः) जो दण्ड ग्रच्छे प्रकार विचार से घारण किया जाये तो (सः) वह (सर्वाः प्रजाः रञ्जयित) सब प्रजा को ग्रानित्दित कर देता (ग्रसमीक्ष्य प्रणीतः तु) ग्रौर जो बिना विचारे चलाया जाये तो (सर्वतः विनाशयित) सब ग्रोर से राजा का विनाश कर देता है।। १६।। (स० प्र०१४१)

### यदि न प्रणयेद्राजा वण्डं वण्ड्ये व्वतन्द्रितः। शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवस्तराः॥ २०॥

(यदि राजा) यदि राजा (ग्रतिनद्रतः) ग्रालस्य छोड़कर ग्रर्थात् सावधानी से (दण्डयेषु दण्डं न प्रणयेत्) दण्ड के ग्रधिकारी ग्रपराधियों में दण्ड का प्रयोग न करे तो (बलवत्तराः) ग्रधिक शक्तिशाली लोग (दुबंलान्) दुबंल लोगों को (शूले मत्स्यान् + इव) जैसे लोहे की सींक में मछिलयों को भूनते हैं ऐसे (ग्रपक्ष्यन्) भून डालें ग्रर्थात् जीवित ही न रहने देवें ॥ २०॥

#### अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्वविस्तया । स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिश्चित्प्रवर्तेताघरोत्तरम् ॥ २१ ॥

श्रीर—(काकः पुरोडाशम् श्रद्धात्) कीवे पुरोडाश = यज्ञ के लिए निर्मित ग्रन्न की ग्राहुति को ला जायें श्रयात् धूर्तं ग्रीर बदमाश लोग श्रेष्ठों की सम्पत्ति को हड़पलें (च) तथा (श्वा हिवः लिह्यात्) कुत्ते हिव को चाट जायें श्रयात् दुष्ट लोग सब धर्मों को नष्ट-भ्रष्ट कर दें (च) ग्रीर (किस्मिश्चित् स्वाम्यं न स्यात्) किसी का किसी चीज पर श्रिथकार न रहे (श्रघर + उत्तरं प्रवर्तेत) सब श्रस्तव्यस्त हो जाये = सब मर्यादायें भंग हो जायें ॥ २१ ॥

#### सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लमो हि शुचिनंरः। वण्डस्य हि मयात्सर्वे जगद्भोगाय कल्पते॥ २२॥

(सर्वः लोकः दण्डजितः) सब लोग दण्ड के वशीभूत होकर ही कर्त्तंव्यों का पालन करते हैं (हि) क्योंकि (शुचिः नरः दुर्लभः) स्वाभाविक रूप से पवित्र प्रधात् ईमानदारी से स्वयं ही कर्तन्थों का पालन करने वाले लोग दुर्लभ—विरले ही होते हैं (दण्डस्य हि भयात्) दण्ड के भय से ही (सर्व जगत्) सब लोग (भोगाय कल्पते) कर्त्तन्थों को पालन करने के लिए और दण्डों को भोगने के लिए उद्यत होते हैं ॥ २२ ॥

> बेववानवगन्धर्वा रक्षांति पतगोरगाः। तेऽपि मोगाय कल्पन्ते दण्डेनेव निपीडिताः॥ २३॥

(देव-दानय-गन्धर्वाः) देव, दानव, गन्धर्व (रक्षांसि पतग-उरगाः) राक्षस, पक्षी, सांप (ते + ग्रिप) वे सब भी (दण्डेन + एव निपीडिताः) दण्ड के डर से भयभीत होकर ही (भोगाय कल्पन्ते) ग्रपने भोगों को भोगने के लिए उद्यत होते हैं ॥ २३॥

### अन्तुर्धोत्जनः २० से २३ तक श्लोक निम्नप्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. विषयिवरोध—७। १, १४ श्लोकों के म्रनुसार प्रस्तुत विषय राजा द्वारा प्रजःः को दिये जाने वाले दण्ड म्रीर उसके परिणामों का है। २२, २३ वें श्लोकों में विणित जगत्, मछली, पक्षी, सर्प म्रादि राजा के विषयान्तर्गत नहीं म्राते। यहां ईश्वरीय दण्ड का कथन विषयिवरुद्ध है, म्रतः प्रक्षिप्त है।
- २. प्रसंगिवरोध—(१) २४ वां इलोक १६ वें के 'म्रसमीक्ष्य' का ग्रर्थवादरूप है। इलोक १८ में दण्ड का महत्त्व बतलाते हुए १६ में उसे विचार ग्रीर न्यायपूर्वंक देने का कथन है, ग्रीर श्रविचारपूर्वंक देनेसे २४ वें में उसकी हानियों का वर्णन है। इस प्रकार १६ ग्रीर २४ वें इलोक की वाक्यात्मक संगति है। बीच के २०-२३ इलोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है, ग्रतः ये मौलिक नहीं हैं। (२) दण्ड के ग्रभाव में होने वाली ग्रव्यवस्थाग्रों के वर्णन का प्रसंग १८ तक वर्णित हो चुका, पुनः १६ के बाद फिर उन्हीं का वर्णन उठाना प्रसंगविषद है। इस कारण भी ये मौलिक नहीं सिद्ध होते।

# दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः। सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्ण्डस्य विश्वमात्॥ २४॥ (१४)

(सर्ववर्णाः दुष्येयुः) बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित (च) ग्रीर (सर्व-सेतवः भिद्येरन्) सब मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायें (दण्डस्य विश्वमात्) दण्ड के यथावत् न होने से (सर्वलोकप्रकोगः भवेत्) सब लोगों का प्रकोप [=ग्राक्रोशः] हो जावे ॥ २४॥ (स० प्र०१४१)

# यत्र क्यामो लोहिताक्षो दण्डक्चरित पापहा । प्रजास्तत्र न मुह्मन्ति नेता चेत्साधु पक्यित ॥ २४ ॥ (१४)

(यत्र) जहां (श्याम: लोहिताक्षः पापहा) कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र भयकर पुरुष के समान पापों का नाश करने हारा (दण्डः चरति) दण्ड विचरता है (तत्र प्रजा: न मुह्यन्ति) वहां प्रजा मोह को प्राप्त न हो के ग्रानन्दित होती हैं (नेता साधु पश्यति चेत्) परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ।। २५ ।। (स० प्र० १४१)

श्चान्य शिक्याः दण्ड का म्रालंकारिक चित्र—दण्ड का इस श्लोक में म्रालंकारिक वर्णन के म्राधार पर रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग का ग्रीर क्रोधयुक्त लाल श्रांखों वाला व्यक्ति भयकारी प्रतीत होता है, उसी प्रकार दण्ड भी भयकारक है, ग्रीर ग्रपराधियों-पापियों को क्रोधाग्न में जला देने वाला होता है। उसके भयंकर रूप का घ्यान करके ही प्रजाएं ग्रपने कर्त्तं व्यों में प्रमाद नहीं करतीं। किन्तु वह तब है जब राजा पक्षपातरहित होकर ग्रपराधियों को न्यायानुसार ग्रीर ग्रवश्य दण्डित करे।

दण्ड देने का ग्रधिकारी राजा कौन-

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् । समीक्ष्यकारिएां प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६॥ (१६)

(तस्य संप्रणेतारं राजानम् म्राहुः) उस दण्ड को म्रच्छे प्रकार चलाने हारे उस राजा को कहते हैं कि (सत्यवादिनं समीक्ष्यकारिएाम्) जो सत्य-वादी, विचार ही करके कार्य का कर्त्ता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् विद्वान् (धर्म-काम-म्रथं-कोविदम्) धर्म, काम ग्रीर म्रथं का यथावत् जानने हारा हो ॥२६॥ (सं० वि० १५२)

"जो उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी, विचार के करने हारा, वृद्धिमान्, धर्म, ग्रथं ग्रौर काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलाने हारा विद्वान् लोग कहते हैं"। (स॰ प्र०१४२)

श्चर्यु श्चिरिट न्यः धर्म, अयं और काम का स्वरूप — धर्म-प्रथं-काम-मोक्ष का शास्त्रों में बहुशः वर्णन श्राता है। यहां इन्हें कुछ विस्तार से स्पष्ट करना लाभप्रद रहेगा। इन्हें 'पुरुषार्थचतुष्टय' के नाम से भी जाना जाता है। धर्म-प्रथं-काम के वर्ग को 'त्रिवर्ग' कहते हैं।

(१) धर्म का स्वरूप—'धारणातृ धर्मः' 'ध्रियते स्रनेन लोकः इति' व्युत्पत्तियों के अनुसार प्रत्येक धारण किया जाने वाले सदाचरण, श्रेष्ठ विधान या समाज-व्यवस्था को धर्म कहा जाता है। मनुस्मृतिकार मुख्यरूप से ''यतो सम्युदयिनःश्रेयसिसिद्धः स धर्मः'' (वैशे० १।१।२) अर्थात् जिसके स्राचरण करने से उत्तम सुख, स्रात्मिक-मानसिक-शारीरिक त्रिविध उन्नित स्रीर मोक्षसुख की प्राप्ति हो, उसको धर्म मानते हैं। विभिन्न इलोकों में मनु ने इन मान्यतास्रों को स्पष्ट किया है [४।२३८, २३६, १५६, २४२, १७४, २२०॥६।६२॥२।६ (१।१२८)] स्रादि। इस सम्बन्धी विस्तृत विवेचन १।२ की समीक्षा में देखिए।

- (२) काम-कामनाओं की पूर्ति, कामविकारों की शान्ति, (जो धमंपूर्वक हो)
- (३) मर्थ-धन ग्रीर सांसारिक ऐश्वयं की प्राप्ति ,(जो धर्मपूर्वक हो)
- (४) मोक्स---जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारापाकर मुक्ति की स्थिति में रहना।

धर्म प्रत्येक स्थिति में स्वीकार्य और पालनी होता है और मोक्षप्राप्ति भी सबका परम उद्देश्य हैं, किन्तु काम और अर्थ के विषय में छूट नहीं है, अपितु मनु ने उन्हें सीमित और विहितरूप में ही ग्राह्य माना है। वे ही ग्रर्थ और काम ग्राह्य हैं जो धर्मानुकूल हैं, श्रन्य त्याज्य हैं—

- (क) "परित्येजदर्थकामी यौ स्यातां धर्मवर्जितौ"। ४। १७६।।
- = धर्म से रहित अर्थ और काम असेवनीय हैं।
- (ख) ''अर्थकामेण्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।'' [१ । १३२ (२ । १३)]
- = ग्रथं ग्रौर काम में ग्रासक्ति न रखने वाले व्यक्ति को ही धर्म का ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त होती है।
  - (ग) भ्रथंसिद्धि के नियम-

नेहेतार्थान् प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा। त विद्यमानेष्वर्थेषु नात्र्यामपि यतस्ततः ॥ ४ । १५ ॥

(घ) कामसिद्धि की सीमाएं---

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः। अतिप्रसक्ति चैतेषां मनसा संनिवतंयेत्॥४।१६॥

धर्मानुकूल काम श्रीर अर्थ कौनसे हैं, इसकी मनुने विभिन्न स्थानों पर चर्चा भी की है। अन्यत्र भी इस प्रकार की सीमाएं विहित हैं—

- (ङ) काम-संतुष्टि के विषय में मनु ने प्रत्येक मनुष्य ग्रौर राजा को जितेन्द्रिय रहते हुए कामसेवन का विधान किया है [७।४४]। ऋतुकालाभिगामी होने का निर्देश है। ऐसे नियम का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ही होता है [३।४५,५०]। ग्रितिकामासिक्त का निषेध है, क्योंकि वह हानिकारक है [७।२७,४८]। एक सीमा में ही कामसिद्धि होनी चाहिए।
- (च) इसी प्रकार धन-ऐश्वयं की प्राप्ति भी धर्मपूर्वक ही रखनी चाहिए। इस विषय में लालची न होने का निर्देश हैं [७।४६], क्योंकि अर्थलालची व्यक्ति के धर्म भ्रादि सब समूल नष्ट हो जाते हैं। अर्थ-शुचिता को मनु ने जीवन में भ्रावश्यक माना है [५।१०६]। इसीलिए अर्थप्राप्ति के लिए साधारण व्यक्तियों की भी सीमा बांधी है, और कहा है कि वह संतोषपूर्वक दूसरे प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचाते

हुए म्रथंप्राप्ति करें [४।२,३,११,१२]। राजाम्रों के लिए भी म्रथंसंब्रह के लिए समुचित निर्देश ७।१२७-१२६,१३६;६।३०५ में दिये हैं।

इन धर्मादि की सिद्धि के आवश्यक नियमों-विधानों के ज्ञाता को श्रीर तदनुसरर ग्राचरण करने वाले को 'धर्मकामार्थकोविद' कहा जाता है। इनकी प्राप्ति करना मनुक्य-जीवन का उद्देश्य है, श्रीर इनकी सिद्धि होना मनुष्य जीवन की सफलता और सुख का प्रतीक माना जाता है।

म्रन्यायपूर्वक दण्डप्रयोग राजा का विनाशक-

तं राजा प्रणयन्सम्य क् त्रिवर्गेगाभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रो वण्डेनैव निहन्यते ॥ २७॥ (१७)

(तं सम्यक् राजा प्रणयन्) जो दण्ड को ग्रच्छे प्रकार राजा चलाता है (त्रिवर्गण + ग्रभिवद्धंते) वह धमं, ग्रथं ग्रौर काम की सिद्धि को वढ़ाता है ग्रौर जो (कामात्मा) विषय में लंपट (विषमः) टेढ़ा, ईब्धों करने हारा (क्षुद्रः) क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है (दण्डेन + एव निहन्यते) वह दण्ड से ही मारा जाता है।। २७॥ स० प्र०१४२)

अर्जुटारेट्डन्: 'विषमः' का ग्रिमप्राय — 'विषमः' से इस श्लोक में 'न्याय में ईव्या ग्रादि के कारण ग्रसमान बर्ताव ग्रथित् पक्षपात' करने से ग्रिमप्राय है। पक्षपातयुक्त दण्डव्यवस्था होने से राजा का विनाश हो जाता है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्थरश्चाकृतात्मिभः। धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सवान्धवम्॥२८॥ (१८)

(दण्डः हि सुमहत् तेजः) दण्ड बड़ा तेजोमय है (स्रकृतात्मभिः दुर्घरः) उसको स्रविद्वान् स्रधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता (धर्मात् विचलितं नृपम् + एव) तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का क्ष (हन्ति) नाश कर देता है।। २८।। (स० प्र०१४२)

🕸 (सबान्धवम्) कुलसहित .....

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्। अन्तरिक्षगतांद्रचैव मुनीन्देवांद्रच पीडयेत्॥ २६॥

(ततः) उसके बाद वह दण्ड (दुर्गं राष्ट्रं च सचरावरं लोकम्) किला, देश ग्रौर चराचर जगत् को (च) तथा (ग्रन्तरिक्षगतान् मुनीन् च देवान्) ग्रन्तरिक्ष में रहने वाले मुनियों ग्रौर देवों को (पीडयेत्) नष्ट कर देता है ॥ २६ ॥

अनुश्रीत्उनः २६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध—(१) पूर्वापर क्लोकों में राजा द्वारा प्रजा को दिये जाने वाले दण्ड की चर्चा है। २६ वें क्लोक में राजा से असम्बद्ध दण्ड का वर्णन पूर्वापर चर्चा से भिन्न होने के कारण प्रसंगिवरुद्ध है। (२) क्लोकों में प्रयुक्त पदों से भी २० और ३० क्लोकों की ही परस्परसम्बद्धता सिद्ध होती है। २० वें में "दण्डो हि सुमहत् तेजः" प्रयोग है, तदनुसार ३० वें में "सः असहायेन "" का प्रयोग है। बीच में २६ वें क्लोक ने इस भाषा की सम्बद्धता को भी भंग कर दिया है, और उसके "तत " पीडयेत्" से ३० वें के प्रयोग का सम्बन्ध भी नहीं जुडता।
- २. विषयविरोध—चराचर के पदार्थों पर दण्ड का प्रभाव राजा के विषया-न्तर्गत नहीं है, यह ईश्वरीय दण्ड के प्रभाव का वर्णन विषय-विरुद्ध है (विस्तृत समीक्षा ७ । २३ पर 'विषयविरोध' में देखिए) ।

#### सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना। न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३०॥ (१६)

(ग्रसहायेन मूढेन) जो राजा उत्तम सहायरिहत, मूढ़ (लुब्धेन) लोभी (ग्रकृतबुद्धिना) जिसने ब्रह्मचर्यादि उत्तम कर्मी से विद्या ग्रीर बुद्धि की उन्नित नहीं की (विषयेषु सक्तेन) जो विषयों में फंसा हुग्रा है (सः) उससे वह दण्ड (न्यायतः नेतं न शक्यः) कभी न्यायपूर्वक नहीं चल सकता ॥३०॥ (सं० वि० १५३)

"क्योंकि जो ग्राप्तपुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों मैं ग्रासक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।" (स० प्र० १४२)

### शुचिना सत्यसन्वेन यथाशास्त्रानुसारित्या। प्रापेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन घीमता॥३१॥ (२०)

ग्रीर (गुचिना) जो पिनत्र (सत्यसन्धेन) सत्याचार ग्रीर सत्पुरुषों का संगी (यथाशास्त्र + ग्रनुसारिएगा) यथावत् नीतिशास्त्र के ग्रनुकूल चलने हारा (मुसहायेन) श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त (धीमता) बुढिमान् है (दण्डः प्रणेतः शक्यते) वही न्यायक्ष्यी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है के स्वार्थ से स्वर्थ होता

''इसलिए जो पित्रत्र, सत्पुरुषों का संगी, राजनीतिशास्त्र के अनुकूल चलने हारा, धार्मिक पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् राजा हो, वही इस दण्ड को धारण करके चला सकता है।'' (सं० वि० १५३)

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याव् भृत्रावण्डरच त्रात्रुषु । सुहुरस्वित्तद्याः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥ (स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्यात्) राजा अपने राज्य में न्याय के अनुसार दण्ड का प्रयोग करे (च) और (शत्रुषु भृशदण्डः) शत्रुओं में कठोर दण्ड का प्रयोग करे (स्निग्धेषु सुहृत्सु प्रजिह्यः) प्रिय मित्रों में सरल व्यवहार करे (ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः) ब्राह्मणों पर क्षमा का व्यवहार रखे ॥ ३२ ॥

#### अर्जु श्रीत्उनः : ३२ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है --

- १. प्रसंगिवरोध-पूर्वापर ३१ श्रीर ३३ श्लोकों का प्रसंग राष्ट्र में न्यायानु-सार, शास्त्रानुसार दण्ड देने के विधान का तथा उससे लाभप्राप्ति का है। बीच में 'शत्रुश्रों, मित्रों श्रीर ब्राह्मणों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए' यह वर्णन पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है।
- २. श्रन्तिवरोध—(१) मनु ने राजनीतिशास्त्र के ७-६ श्रघ्यायों में सर्वत्र न्यायानुसार, दण्ड एवं बर्तीव श्रादि करने का कथन किया है। इस क्लोक में ब्राह्मणों को जो क्षमा करने का कथन है वह उसके विपरीत है, श्रिपतु श्रपराध करने पर ब्राह्मणों को श्रिधक दण्ड देने की व्यवस्था है। [=1३०६, ३३४-३३६; ७।१७-१८; ६।२४६, ३०७, ३११ श्रादि]। इस प्रकार अन्तिवरोध के कारण यह क्लोक प्रक्षिप्त है। (२) ८। ३४७ से भी इसका स्पष्ट विरोध है, वहां मित्र श्रादि देखे बिना न्यायानुसार दण्ड श्रीर समानदृष्ट रखने का कथन है।

न्यायानुसार दण्डादि देने से राजा की यशोवृद्धि—

### एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः । विस्तीर्यते यशो लोके तेलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ (२१)

(एवं वृत्तस्य नृपतेः) इस प्रकार न्यायपूर्वक [१३-३१] दण्ड का व्यवहार करने वाले राजा का (शिलोञ्छेन ग्रिपि+जीवतः) शिल-उञ्छ से निर्वाह करने वाले ग्रर्थात् धनहीन राजा का भी (यशः) यश (ग्रम्भिसि तैलिबिन्दुः इव) जैसे पानी पर डालने से तैल की बूँद चारों ग्रोर फैल जाती है ऐसे (लोके विस्तीर्यते) सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है।। ३३।।

अर्जुटारेट्डन्ड: काटने के बाद खेत में पड़ी बालियों को 'शिल' कहते हैं और पड़े रह गये दानों को 'उञ्छ' कहते हैं। 'शिल-उञ्छ से जीना' यह एक मुहावरा है, जिसका अभिप्राय धन या ऐश्वर्यहीन होना है। न्यायानुसार चलने वाला स्वल्य धन-सम्पत्ति वाला राजा भी यश पाता है। ७। १४८ में भी इसी भाव को एक मुहावरे के द्वारा व्यक्त किया है।

न्यायविरुद्ध ग्राचरण से यशोनाश-

म्रतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः। संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४॥ (२२) (म्रत: तु विपरीतस्य) इस व्यवहार से विपरीत चलने वाले ग्रर्थात् न्याय श्रीर सावधानीपूर्वक दण्ड का व्यवहार न करने वाले (ग्रजितात्मन: नृपतेः) अजितेन्द्रिय राजा का (यशः) यश (ग्रम्भिस घृतबिन्दुः + इव) जल में पड़े घी के समान (लोके संक्षिप्यते) लोक में कम होता जाता है।। ३४।।

राजा की नियुक्तिनामक विषय का उपसंहार—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।। ३५।। (२३)

(स्वे स्वे धर्मे निविष्टानाम्) ग्रपने-ग्रपने धर्मों में संलग्न (ग्रनुपूर्वशः सर्वेषां वर्णानां च ग्राश्रमाणाम्) क्रमशः सब वर्णो ग्रोर ग्राश्रमों का (राजा ग्राभिरक्षिता सृष्टः) राजा को 'सुरक्षा करने वाले के रूप में' बनाया है ग्रथित् राजा के पद पर ग्रासीन व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह सब वर्णस्थ ग्रीर ग्राश्रमस्थ व्यक्तियों को उनके धर्मों में प्रवृत्त रखे। समाज को धर्म ग्रथित् नियम-व्यवस्था में चलाने के लिए ही राजा ग्रीर राज्य की सृष्टि होती है।। ३५।।

अर्जु रारिटा राजा वर्णाश्रम धर्मी का रक्षक होना चाहिये—मनु के श्लोक में वर्णित मान्यता को यथावत् ग्रहण करते हुए कौटिल्य ने भी 'वर्ण-आश्रम-धर्मी ग्रीर मर्यादाग्रों की रक्षा करना' राजा का प्राप्त कर्त्तव्य बतलाया है—

चतुर्वर्गाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षराात्। नद्यतां सर्वधर्माराां राजधर्मप्रवर्त्तकः ।। [प्र०५६-५७। ग्र०१]

राजा की जीवनचर्या ग्रीर भृत्यों ग्रादि की नियुक्ति सम्बन्धी विधान-

तेन यद्यत्समृत्येन कर्त्तन्यं रक्षता प्रजाः। तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ३६॥ (२४)

(तेन) उक्त राजा को (सभूत्येन) अपने अमात्य, मन्त्री आदि सहा-यको হলিব

(यथावत् प्रवक्ष्यामि) ठीक-ठीक कहूंगा— ॥ ३६ ॥

अन्य श्री त्उन्तः भृत्य से भ्रमिप्राय—राजा की भीर से भरण-पोषण की अपेक्षा रखने वाले सभी व्यक्ति भृत्य होते हैं। 'मृत्यः — बिमर्तेः मृ-धातोः व्यप् तक् च'। इस प्रकार ग्रमात्यों, मन्त्रियों से लेकर ग्राधाण सेवक तक सभी कर्मचारी भृत्यवर्ग में ग्राते हैं, द्रष्टव्य ७। २२६ क्लोक। ग्रिंग्रम सम्पूर्ण प्रसंग, जिसमें ग्रमात्यों-

मन्त्रियों से लेकर साधारण सेवकादि की नियुक्ति का विधान है, भी इसी ग्रर्थ का द्योतक है। इस विषय में ७। २२६ की समीक्षा भी द्रष्टव्य है।

राजा वेदवेत्ता ग्राचायौँ की मर्यादा में रहे-

बाह्यसान्वर्यु पासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः । त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेतेषां च शासने ॥ ३७ ॥ (२४)

(पार्थिवः) राजा (प्रातः + उत्थाय) सबेरे उठकर [७।१४५ में विणित दिनचर्या को सम्पन्न करने के बाद] (त्रैविद्यवृद्धान् विदुषः ब्राह्मणान्) ऋक्, साम, यजु रूप त्रयीविद्या [१।२३॥११।२६४॥] में बढ़े-चढ़े प्रथीत् पारंगत ग्राचार्य, ऋत्विज् ग्रादि [७।४३॥७।७६] विद्वान् ब्राह्मणों की (परि + उपासीत) ग्रीभवादन ग्रादि से सत्कार एवं शिक्षा के लिए संगति करे (च) ग्रीर (तेषाम्) उन शिक्षक विद्वानों के (शासने तिष्ठेत्) निर्देशन ग्रीर मर्यादा में ग्रपना जोवन रखे।।३७॥

अद्भुश्री ट्यन्त : राजा की जीवनचर्या और दिनचर्या — (१) राजा के सम्पूर्ण जीवन के लिए जो विधान हैं, वे जीवनचर्या के अन्तर्गत आते हैं। ये विधान दैन-न्दिन न होकर जीवन में आवश्यकतानुसार पालन किये जाते हैं। इस ७। ३७ श्लोक से लेकर १। ३२५ तक इनका वर्णन है। ७। १४५-२२६ तक राजा की दैनिकचर्या का वर्णन है, जो विषय की दिव्ह से जीवनचर्या के अन्तर्गत आ जाती है [द्रष्टव्य ७। १४५ की समीक्षा]। वहां प्रतिदंत पालनीय कर्त्तव्य विहित हैं।

- (२) इलोकार्य पर विचार—यहां यह विधान जीवनचर्या की दिष्ट से किया गया है। अतः उसी दिष्ट से प्रातः विद्वानों से शिक्षा ग्रहण करने का कथन है। किन्तु इसकी व्याख्या ७। १४५ की सहायता से पूर्ण होगी। वहां प्रथम पहर में उठकर पहले राजा को सन्ध्या, ग्रग्निहोत्रादि ग्रावश्यक दिनचर्या करने का विधान है, पुनः विद्वानों की सङ्गित का कथन है। इस प्रकार यहां उस श्लोक के ग्रनुसार ग्रथं लगाया गया है, जो मनुसम्मत है।
- (३) राजा की जीवनचर्या ग्रीर कीटिलीय ग्रथंशास्त्र—यद्यपि कीटिलीय ग्रथंशास्त्र हैं सन्य कालों के सार राज्य के साथ-साथ स्वतन्त्र चिन्तन भी है, किन्तु उनसें काला हैं सन्य कालों के सार राज्य के साथ-साथ स्वतन्त्र चिन्तन भी है, किन्तु उनसें काला जास्त्र रहा है। उसमें प्रथम प्रकरण के प्रथम तीन ग्रध्यायों में वर्णाश्रम धर्मों का वर्णन ग्रौर दण्ड की महिमा का कथन है। पुनः राजा की जीवनचर्या ग्रादि का मनुस्मृति क्रम से उल्लेख है। वहां राजा की जीवनचर्या का कथन करते हुए कौटिल्य ने इन बातों पर निम्न प्रकार प्रकाश डाला है—"वृद्धसंयोगेन प्रज्ञास्र" [प्र०३। ग्र०६]।

"मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा । य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः । [प्र०३। ग्र०६] "पुरोहितम् .....कुर्वीत । तमाचार्यं शिष्यः, पितरं पुत्रो, मृत्यः स्वाभिनमिव चानुवर्तेत" [प्र०४।ग्र०८]।

श्रयात् विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। स्राचार्य ग्रादि गुरुजन श्रीर स्रमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को गलत कामों से रोकते रहें। जैसे आचार्य के निर्देशन में शिष्य, पिता के निर्देशन में पुत्र, स्वामी के निर्देशन में भृत्य चलता है, उसी प्रकार अपने ऋत्विक् के निर्देशन में राजा चले।

राजा शिक्षक वेदवेत्ताग्रों का ग्रादर-सत्कार करे---

### वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदिवदः शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८॥ (२६)

(च) ग्रीर उन (शुचीन्) शुद्ध हृदयवाले (वेदिवदः) वेद के ज्ञाता (वृद्धान् विप्रान्) ज्ञानतपस्या में बढ़े-चढ़े ब्राह्मणों की (नित्यं सेवेत) प्रति-दिन सेवा ग्रर्थात् ग्रादर-सत्कार करे (हि) क्योंकि (सततं वृद्धसेवी) सदैव ज्ञान ग्रादि से बढ़े-चढ़े विद्वानों को सेवा करने वाला राजा (रक्षोभिः +ग्रिप पूज्यते) राक्षसों द्वारा भी पूजा जाता है। ग्रर्थात् मर्यादाम्रों-व्यवस्थाम्रों को भंग करने वाले पापकर्मकारी राक्षस भी उस राजा से भयभीत होकर वश में रहते हैं, फिर मनुष्यों को तो बात हो क्या है! वे तो स्वतः वशोभूत रहेंगे ।। ३८।।

राजा वेदवेत्ताग्रों से ग्रनुशासन की शिक्षा ले-

तेम्गोऽधिगच्छेद्विनयं विनीताःमापि नित्यशः । विनीतात्मा हि नृपतिनं विनश्यति कहिचित् ॥ ३६ ॥ (२७)

(विनीत + म्रात्मा + म्रिप) विनयी म्रर्थात् म्रनुशासन-मर्यादाम्रों में रहने के स्वभाव वाला होते हुए भी राजा (तेम्बः) उन [७। ३७-३८] वेद-वेता गुरुजनों से (नित्यशः) प्रतिदिन (विनयम् म्रिधगच्छेत्) म्रनुशासन म्रीर मयीदा की शिक्षा ग्रहण करे (हि) क्योंकि (विनीत + म्रात्मा नृपितः) म्रनुशासन में रहने के स्वभाव वाला राजा (किहिचित् न विनश्यति) [स्वच्छन्द या उद्धत होकर म्रनर्थकारो कार्य न करने के कारण] कभी विनाश को प्राप्त नहीं करता ॥ ३६ ॥

अस्तु श्रीत्जन्तः राजा के श्रनुशासन-विषय में कौटिल्य का मत— श्राचार्य कौटिल्य ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

> (क) ''विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः । ग्रनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः ॥'' [प्र०२।ग्र०४]

स्रथित्-विद्यावान् स्रीर स्रनुशासन-मर्यादा में रहने वाला तथा प्रजास्रों के हित में तत्पर राजा ही सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करता है।

### (ल) ''इन्द्रियजयस्य मूत्रं विनयः । विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा । वृद्धोपसेवाया विज्ञानम् ।'' [चाण० सू० ५-७]

- = इन्द्रियजय का मूल विनय अर्थात् अनुशासनबद्ध रहना है। अनुशासन का मूल वृद्धों की संगति और सेवा है और वृद्ध = पारंगत विद्वानों की संगति का मूल विशिष्ट ज्ञानार्जन करना है।
  - (ग) ''ग्रविनीतस्वामिलामान् अस्वामिलामः श्रेयान् ।" [चा० सू० १४]
- चित्रयहीनच्य्रनुशासन या मर्यादा में न रहने के स्वभाव वाले राजा की प्राप्ति की अर्पेक्षा राजा का न होना ही श्रेयस्कर है।

**अनुशासनविहीन राजाश्रों के विनाश के उदाहरएा**—

बहुत्रोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः। वनस्या ग्रपि राज्यानि विनयारप्रतिपेदिरे।। ४०।।

(ग्रविनयात्) ग्रनुशासित स्वभाव न होने के कारण (बहवः राजानः) बहुत से राजा (सपरिच्छदाः नष्टाः) कुल सहित वितष्ट हो गये, ग्रौर (विनयात्) अनुशासित होने के कारण (वनस्याः +ग्रपि) वन में रहने वाले लोगों ने भी (राज्यानि प्रतिपेदिरे) राज्य प्राप्त कर लिये ॥ ४० ॥

> वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषःचैव पार्थिवः । सुदाः पैजवनःचैव सुमुखो निमिरेव च ।। ४१ ।।

(ग्रविनयात्) ग्रविनम्र = अनुशासनविहीन होने के कारण (वेनः) वेन (च) ग्रीर (पायिवः नहुषः) राजा नहुष (विनष्टः) नष्ट हो गया (च) ग्रीर (पैजवनः सुदाः सुमुखः च निमिः एव) पिजवन के पुत्र सुदास,सुमुख ग्रीर नेमि नामक राजा भी नष्ट हो गये।। ४१।।

**त्र**नुशासनप्रिय राजाग्रों की समृद्धि के उदाहरण—

पृषुस्तु विनयाद्वाज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च। कुवेरश्च धनैश्वयं बाह्मण्यं चैव गाधिजः॥ ४२॥

(तु) और (विनयात्) विनम्नता के = म्रनुशासित म्राचरण् के कारण (पृथुः च मनुः एव राज्यं प्राप्तवान्) पृथु भौर मनु ने राज्य प्राप्त किया (च) तथा (कुबेरः धन-ऐश्वयंम्) कुबेर ने धन-ऐश्वयं को (च) भौर (गाधिजः) गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने (ब्राह्मण्यम् एव) ब्राह्मण्यत्व प्राप्त कर लिया।। ४२।।

अन्य श्रीत्यनः ४०-४२ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. शैलीगत श्राधार—४०-४२ श्लोकों का यह एक प्रसंग है, जिसमें श्रविनय से राजाओं का विनाश श्रीर विनय से कुछ राजाओं की समृद्धि उदाहरणपूर्वंक वर्णित हैं। ४२ वें श्लोक में मनु का भी उल्लेख है। स्पष्टतः यह मनु से भिन्न किसी श्रन्य की रचना है, जो परवर्ती होने से प्रक्षिप्त है। श्रन्य श्लोक इससे प्रसंग की दिष्ट से सम्बद्ध होने के कारण स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

राजा विद्वानों से विद्याएं ग्रहण्करे-

### त्रैविद्येम्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीति च शाःवतीम् । स्रान्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाःच लोकतः ॥४३॥(२८)

राजा ग्रीर राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे (त्रैवि-द्येम्यः) चारों वेदों की कर्म, उपासना, ज्ञान विद्याग्रों के जानने वालों से (त्रयीविद्याम्) तीनों विद्या (शाश्वतीं दण्डनीतिम्) सनातन दण्डनीति (ग्रान्वीक्षिकीम्) न्यायविद्या (ग्रात्मिवद्याम्) ग्रात्मिवद्या ग्रर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मिवद्या (च) ग्रीर (लोकतः वार्त्तारम्भान्) लोक से वार्त्ताग्रों का ग्रारम्भ (कहना ग्रीर सुनना) सीख-कर—सभासद् या सभापति हो सकें।। ४३।। (स० प्र०१४४)

अन्तुर्शिट्डन् : (१) विद्याप्रहण के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार— कौटिल्य ने इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

- (क) "वृत्तोपनयनस्त्रयोमान्वीक्षकीं च शिष्टेस्यः, वार्त्तामध्यक्षेस्यः, दण्डनीति वक्तृप्रयोक्तृस्यः श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते, प्रज्ञाया योगो, योगादात्मवत्तेति विद्या-सामर्थ्यम् ।" [की० ग्रर्थं० प्र०२ । ग्र०४]
- च्डपनयन के पश्चात् राजा शिष्ट [मनु० १२।१०६] ग्रर्थात् सदाचारी वेद-वेत्ताग्रों से त्रयीविद्या ग्रीर न्यायविद्या को सीक्षे । विविध विभागीय ग्रष्ट्यक्षों से व्यापार ग्रीर वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति सीक्षे । क्योंकि शास्त्रादि श्रवस्य से बुद्धि का विकास होता है । उससे योग में रुचि ग्रीर योग से ग्रात्मबल प्राप्त होता है । यही विद्या का सुपरिस्माम है ।
- (ख) "वृद्धसेवाया विज्ञानम् । विज्ञानेन म्रात्मानं सन्पादयेत् । सम्पादिसात्मा जितात्मा भवति ।" [चाण० सू० प्र-६]
- =वेदवेत्ता विद्वानों से विशेष विद्याज्ञात प्राप्त करके श्रात्मा की उन्नित करे। श्रात्मोन्नित से सम्पन्न ही जितेन्द्रिय हो सकता है।
- (२) त्रयीविद्या सम्बन्धी विशेष विस्नृत ज्ञान के लिए द्रष्टच्य हैं १।२३॥ ११।२६४ ब्लोक ग्रीर उनकी समीक्षा।

जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाग्रों को वश में रख सकता है-

इन्द्रियागां जये योगं समातिष्ठेदिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्यापयितुं प्रजाः ॥४४॥ (२६)

जब सभासद् और सभापित (इन्द्रियाणां जये समातिष्ठेत्) इन्द्रियों को जीतने प्रर्थात् ग्रपने वश में रखके सदा धर्म में वर्ते और ग्रधमं से हटें-हटाए रहें, इसलिए (दिवानिशं योगम्) रात-दिन नियत समय में योगाम्यास भी करते रहें (हि) क्योंकि (जितेन्द्रियः) जो जितेन्द्रिय कि ग्रपनी इन्द्रियों— जो मन, प्राण् ग्रीर शरीर प्रजा है इसको जीते बिना (प्रजाः वशे स्थापियतुं शक्नोति) बाहर की प्रजा को ग्रपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता ।। ४४ ।। (स॰ प्र॰ १४४)

अद्भुटारेट न्यः कौटिल्य द्वारा इन्द्रियजय पर प्रकाश — मनु ने इन्द्रिय-जय अर्थात् जितेन्द्रियता को ही प्रधान रूप से राज्यवशीकरण का गुण माना है। राजा की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास स्रादि सभी बातों का उद्देश्य इन्द्रियजय होता ही है। इन सबका परस्पर सम्बन्ध है, जैसा कि श्लोक ३७, ३६, ४३ में और उनकी समीक्षा में दिखाया जा चुका है। कौटिल्य ने भी मनु के अनुसार इन्द्रियजय को सर्व-प्रमुख महत्त्व दिया है और अपने अर्थशास्त्र तथा सूत्र ग्रन्थ में प्रकाश डाला है—

(क) "विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोममानमदहर्षत्यागात्कायः। कर्गात्वगक्षिजिह्वाद्राग्गेन्द्रियाणां शब्दस्यश्रेरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः। शास्त्रानुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवद्येन्द्रियक्ष्यानुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनद्यति।" [कौ० प्रर्थं० प्र०३। प्र०४]

"जितातमा सर्वार्येः संयुज्यते ।" [चा० सू० १०]

अर्थात्—विद्या श्रीर विनय का हेतु = उद्देश्य इन्द्रियजय है। श्रतः काम, क्रोघ, लोभ, मान, मद श्रीर हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जीभ श्रीर नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस श्रीर गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है। श्रथवा संक्षेप में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्त्तं व्यों के सम्यक् श्रनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्त्तं व्यों के विपरीत श्राचरण करने वाला इन्द्रियलोलुप राजा सारी पृथिवी का श्रधिपति होता हुश्रा भी शीघ्र विनष्ट हो जाता है। जितेन्द्रिय राजा ही समस्त समृद्धियों को प्राप्त करता है।

(२) इन्द्रियजय का मनुप्रोक्त लक्षण २।७३ [२।६८] में देखिए। वेद में भी स्पष्ट कहा है कि राजा जितेन्द्रिय ग्रथित् ब्रह्मचारी रहकर ही तपस्या से राष्ट्र की रक्षा कर सकता है — प्रजाओं को वश में कर सकता है। मनुने उसी भाव को इस श्लोक में ग्रहण किया है —

"क्रह्मचर्येग तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ॥" ग्रथर्व० ११। ४। ४॥ व्यसनों की गराना—

दश कामसमुत्थानि तथाब्टो क्रोधजानि च। व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विदर्जयेत्॥४५॥ (३०)

द्दोत्साही होकर (दश कामसमुत्थानि च ग्राप्टी क्रोधजानि) जो काम से दश [७।४७] ग्रीर क्रोध से ग्राठ [७।४८] (व्यसनानि) दुष्ट व्यसन (दुरन्तानि) कि जिनमें फंसा हुग्रा मनुष्य कठिनता से निकल सके उनको (यत्नेन विवर्जयेत्) प्रयत्न से छोड़ ग्रीर छुड़ा देवे।।४५।। (स० प्र०१४४)

> कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः। वियुज्यतेऽर्थं धर्माम्यां क्रोधजेष्वात्मनेव तु ॥ ४६॥ (३१)

(हि) क्योंकि (महीपितः) जो राजा (कामजेषु प्रसक्तः) काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फंसता है (ग्रर्थ-धर्माभ्यां वियुज्यते) वह ग्रर्थ अर्थात् राज्य-धन-ग्रादि ग्रीर धर्म से रहित हो जाता है। (तु) ग्रीर (क्रोधजेषु) जो क्रोध से उत्पन्न हुए ग्राठ बुरे व्यसनों में फंसता है (ग्रात्मना एव) वह शरीर से भी रहित हो जाता है।। ४६।। (स॰ प्र॰ १४४)

दश कामज व्यसन---

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गगाः॥ ४७॥ (३२)

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं .......(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (ग्रक्षः) ग्रक्ष ग्रर्थात् चोपड़ खेलना, जूग्रा खेलना ग्रादि (दिवास्वप्नः) दिन में सोना (परिवादः) काम कथा वा दूसरों की निंदा किया करना (स्त्रियः) स्त्रियों का ग्रितिसंग (मदः) मादक द्रव्य ग्रर्थात् मद्य, ग्रफीम, भांग, गांजा, चरस ग्रादि का सेवन (तौर्य-त्रिकम्) गाना, बजाना, नाचना व नाय कराना सुनना ग्रीर देखना [ये तीन बातें] (वृथाट्घा) वृथा इधर-उधर घूमते रहना (दशक कामजः गराः) ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं।। ४७।। (स॰ प्र०१४४)

अस्तुरुक्तित्व : 'तौर्यत्रिकम्', 'मृगया', 'स्त्रियः' शब्दों पर विशेष

विचार—(१) तूर्यं चतुरही या वाद्य को कहते हैं, तिकम्—नाचना, गाना, वजाना इन तीन क्रियाम्रों के समूह को कहा जाता है। इस प्रकार तौर्यंत्रिकम् का ग्रर्थं 'वाद्यों के साथ नाचना, गाना, बजाना' होता है। (२) 'स्त्रियः' बहुवचन [७। ४० में भी] के प्रयोग से मनु प्रपनी उस मान्यता की ग्रोर संकेत तथा उसकी पुष्टि कररहे हैं कि राजा को भी एक से ग्रधिक स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए। एक ही स्त्री से विवाह करना चाहिए। (३) ("मृगं याति ग्रनया सा मृगया, घत्रयं कः") पशुम्रों का पीछा करना ग्रर्थात् शिकार करने की क्रिया।

क्रोधज ग्राठ व्यसन-

पैजुन्यं साहसं द्रोह ईर्ध्यासूयार्थदूषणम् । वाग्वण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टटकः ॥ ४८॥ (३३)

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं—(पैशुन्यम्) पैशुन्य प्रथात् चुगली करना (साहसम्) बिना विचारे बलात्कार से किसी स्त्री से बुरा काम करना (द्रोहः) द्रोह रखना (ईष्यः) ईष्यां ग्रर्थात् दूसरे की बडाई वा उन्नित देखकर जला करना (ग्रस्या) असूया—दोषों में गुगा गुणों में दोषारोपण करना (ग्रर्थदूषणम्) ग्रर्थदूषणा ग्रर्थात् ग्रधमंयुक्त बुरे कामों में धन ग्रादि का व्यय करना (वाग् दण्डगम्) कठोर वचन बोलना ग्रीर बिना ग्रपराध के कड़ा वचन (च) वा (पारुष्यम्) विशेष दण्ड देना (अष्टकः-क्रोधजः + ग्रिप गणः) ये ग्राठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं।। ४८।।

(स॰ प्र०१४४)

सभी व्यसनों का मूल लोभ---

द्वयोरप्येतयोर्मू लं यं सर्वे कवयो विदुः। तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतायुभौ गणौ ॥ ४६॥ (३४)

श्रीर (एतयो: द्वयो: +श्रिप मूलं यं लोभम्) जो इन कामज श्रीर क्रोघज श्रठारह दोषों के मूल जिस लोभ को (सर्वे कवय: विदुः) सब विद्वान् लोग जानते हैं (तं यत्नेन जयेत्) उसको प्रयत्न मे राजा जीते क्योंकि (तत्+गो+एतो+उभौ गएगो) लोभ ही से पूर्वोक्त श्रठारह श्रीर श्रक्य दोष भी बहुत से होते हैं।। ४६।। (सं० वि० १५३)

"जो सब विद्वान् लोग कामज ग्रौर क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे ये सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े"। (स॰ प्र० १४५)

कामज ग्रीर क्रोधज व्यसनों में ग्रधिक कष्टदायक व्यसन-

पानमक्षाः स्त्रियश्चेव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गरो।। ४०।। (३४)

(कामजे गणे) काम के व्यसनों में बड़े दुर्गु रा, एक (पानम्) मद्य ग्रादि ग्रर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा—(ग्रक्षाः) पासों ग्रादि से जूप्रा खेलना, तोसरा—(स्त्रिय एव) स्त्रियों का विशेष सङ्ग, चौथा—(मृगया) मृगया [=शिकार] खेलना (एतत्) ये ﷺ (चतुष्क कष्टतमं विद्यात्) चार महादुष्ट व्यसन हैं।। ५०।। (स० प्र०१४५)

🎇 (यथाक्रमम्) क्रम से पूर्व-पूर्व के ग्रधिकाधिक ......

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे। क्रोधजेऽपि गर्गे विद्यात्कष्टमेतित्त्रकं सदा ॥ ४१॥ (३६)

(च) और (क्रोधजे + म्रिप गणे) क्रोधजों में (दण्डस्य पातनम्) बिना म्रिपराध दण्ड देना (वाक् पारुष्य + म्रियंदूषणे) कठोर वचन बोलना भ्रीर धन ग्रादि का ग्रन्याय में खर्च करना (एतत्-त्रिकं सदा कष्टं) ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दु:खदायक दोष हैं + 11 ५१ 11 (स० प्र०१४५) + (विद्यात्) ऐसा जाने ।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिराः। पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्वचसनमात्मवान्।। ५२ ॥ (३७)

(ग्रस्य सप्तकस्य वर्गस्य) इस [५०-५१ में विश्वित] सात प्रकार के दुर्गुं गों के वर्ग में (सर्वत्र + एव + ग्रनुषिङ्गणः) जो सब स्थानों पर सब मनुष्यों में पाये जाते हैं (ग्रात्मवान्) ग्रात्मा की उन्नित चाहने वाला राजा (पूर्वं पूर्वं व्यसनं गुरुतरं विद्यात्) पहने-पहले व्यसन को ग्रिधिक कष्टप्रद समभे ।। ५२ ।।

"जो ये सात दुर्गु ए दोनों कामज ग्रीर क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व ग्रर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से ग्रन्याय से दंड देना, इससे मृगया खेलना. इसस स्त्रियों का ग्रत्यन्त सङ्ग, इससे जूग्रा ग्रर्थात् यूत करना ग्रीर इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है"। (स० प्र० १४५)

व्यसन मृत्यु से भी ग्रधिक कष्टदायी-

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽघो त्रजति स्वर्यात्यव्यसनो मृतः ॥ ५३ ॥ (३८) (व्यसनस्य च मृत्योः च) व्यसन ग्रीर मृत्यु में (व्यसनं कष्टम् + उच्यते) व्यसन को ही ग्रधिक कष्टदायक कहा गया है, क्योंकि (व्यसनी) व्यसन में फंसा रहने वाला व्यक्ति (ग्रधः ग्रधः याति) दिन-प्रतिदिन दुर्गुणों ग्रीर कष्टों में गिरता ही जाता है या ग्रवनित को ही प्राप्त होता जाता है, किन्तु (ग्रव्यसनी) व्यसन से रहित व्यक्ति (मृतः) मरकर भी (स्वर्याति) स्वर्ग=सुख को प्राप्त करता है ग्रर्थात् उसे परजन्म में सुख मिलता है।।५३।।

"इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फंसने से मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जायेगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायेगा तो भी सुख को प्राप्त होता जायेगा। इसलिए विशेष राजा को और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपान आदि दुष्टकामों में न फंसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त, गुरा-कर्म-स्वभावों में सदा वर्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें" (स॰ प्र० १४६)

मन्त्रियों की नियुक्ति —

# मोलाञ्छास्त्रविदः शूरांत्लब्घतक्षान्कुलोद्भवान् । सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वोत परीक्षितान् ॥४४॥(३६)

(मीलान्) स्वराज्य-स्वदेश में उत्पन्न हुए (शास्त्रविदः) वेदादि शास्त्रों के जानने वाले (शूरान्) शूरतीर (लब्धलक्षान्) जिन्के लक्ष्य ग्रीर विचार निष्फल न हों, ग्रीर (कुलोद्गतान्) कुलीन (परीक्षितान्) ग्रच्छे प्रकार सुपरीक्षित (सप्त वा ग्रष्टी) सात वा ग्राठ (सचिवान्) उत्तम, धार्मिक, चतुर मन्त्रो (प्रकुर्वीत) करे ।। ५४ ॥ (स० प्र०१४६)

"ग्रौर जो ग्रपने राज्य में उत्पन्न, शास्त्रों के जानने हारे, शूरवीर, जिनका विचार निष्फल न होवे, कुलोन, धर्मात्मा, स्वराज्यभक्त हों, उन सात या ग्राठ पुरुषों को ग्रच्छी प्रकार परीक्षा करके मन्त्री करे; ग्रौर इन्हीं की सभा में ग्राठवां वा नववां राजा हो। ये सब मिलके कर्त्तव्याकर्त्तव्य कामों का विचार किया करें"। (सं० वि० १४४)

''स्रपने राज्य ग्रीर देश में उत्पन्न हुए, वेद वा शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, कित, गृहस्थ, ग्रनुभवकर्त्ता, सात ग्रथवा ग्राठ धार्मिक बुद्धि-मान् मन्त्री राजा को रखने चाहिएँ''। (पू॰ प्र॰ १११) अर्जुर्रोटिङ न्यः नियुक्ति से पूर्व प्रमात्यों की परीक्षा निधि—नियुक्ति से पूर्व प्रमात्यों की दढ परीक्षा करनी चाहिए। प्रयंशास्त्र में प्राचार्य कौटित्य ने परीक्षा की प्रकट और गुष्त विधियां बतायी हैं—

(क) प्रकटिविधि—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं ग्राप्तपुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान ग्रौर उनकी ग्राथिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की, नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति ग्रौर चतुरता की, व्याख्यानों एवं सभाग्रें द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता ग्रौर प्रतिभा की; ग्रापत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव ग्रौर सहनशक्ति की; व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दढ़ स्वामिभिक्त की; सहवासियों एवं पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, ग्रप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे।

[कौ० ग्रर्थं० प्र०४। ग्र०८] 🎇

(स) गुप्तविधि—(१) धर्मोपधा —गुप्त धार्मिक उपायों से ग्रमात्य के हृदय की पिवत्रता की परीक्षा करना। (२) ग्रथोपधा—गुप्त ग्राधिक लोभ की वातों से, (३) कामोपधा—गुप्त कामसम्बन्धी ग्राकर्षणों से, (४) भयोपधा—गुप्त भय ग्रादि प्रदर्शित करके ग्रमात्यों के हृदय की पिवत्रता की परीक्षा करे।

गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएं करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य ग्रमात्य कार्यं पर नियुक्त किया जाना चाहिए।

कौटिल्य का मत है कि घर्मपरीक्षा में पितत्र सिद्ध ग्रमात्यों को न्यायालय में, ग्रथंपरीक्षामें पितत्र को करसंग्रह ग्रीर कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पितत्र को ग्रन्त:-पुर ग्रीर विलासस्थानों में, तथा भयपरीक्षा में पितत्र को ग्रङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त करना चाहिए [कौ० ग्रयं० प्र० ४। ग्र० ६]। श्र

<sup>्</sup>रे ''तेषां जनपदमवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत । समानिवद्ये म्यः शिल्पं, शास्त्र-चक्षुष्मत्तां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारियष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागत्म्यं प्रतिमानवत्त्वं च, ग्रापद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहृत्वं च, संध्यवहाराच्छौचं मैत्रतां हढ-भक्तित्वं च, मंवासिम्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगम्-अस्तम्मम्-ग्रचापत्यं च, प्रत्यक्षतः संप्रियत्वम्-ग्रवीरत्वं च।" [प्र०४। ग्र०८]

<sup>% &#</sup>x27;'मन्त्रिपुरोहितसलः सामान्येष्वधिक रखेषु स्थापियत्वा अमात्यानुग्रधाप्तिः शोधयेत् । '''ं तत्र धर्मोपधागुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, प्रयोपधानुद्धान् समाहर्त-सन्निधातृ-निचयकर्ममु, कामोपधागुद्धान् बाह्याभ्यन्तरिवहाररक्षामु, मयोपधागुद्धान् प्रासन्नकार्येषु राजः । सर्वोपधागुद्धान् मन्त्रिर्णः कुर्यात् । सर्वत्राशुचीन् लिन्द्रस्यहस्तिवनकर्मान्तेषुपयोजयेत् ।''

राजा को सहायकों की स्नावश्यकता में कारण-

## भ्रपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्। विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्॥ ५५॥ (४०)

(म्रिपि) क्योंकि (विशेषतः + म्रसहायेन) विशेष सहाय के बिना (यत् सुकरं कमं) जो सुगम कमं है (तत् + म्रिपि) वह भी (एकेन दुष्करम्) एक के करने में कठिन हो जाता है (किन्तु) जब ऐसा है तो (महोदयं राज्यम्) महान् राज्य-कमं एक मे कैसे हो सकता है ? इपलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य को निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है।। ४४।। (स॰ प्र०१४६)

"क्यों कि सहायता बिना लिए साधारण काम भी एक को करना कठिन हो जाता है। फिर बड़े भारी राज्य का काम एक से कैसे हो सकता हैं? इसलिए एक को राजा बनाना श्रीर उसो की बुद्धि पर सारे काम का बोभ रखना बुद्धिमत्ता नहीं हैं"। (पू॰ प्र॰ १११)

मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करे-

## तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिवग्रहम् । स्यानं समुदयं गुप्ति लब्धप्रशमनानि च ॥५६॥ (४१)

इससे सभापति को उचित है कि (नित्यम्) नित्यप्रति (तैः सार्धम्) उन [७ । १४] राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ (सामान्यम्) सामान्य करके किसी से (सन्धि-विग्रहम्) सन्धि = मित्रता, किसी से विग्रह = विरोध, (स्थानम्) स्थित समय को देखकर के चुपचाप रहना, ग्रपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब ग्रपना उदय ग्रर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तिम्) मूल राज, सेना, कोश ग्रादि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो-जो देश प्राप्त हों उस-उस में शान्ति-स्थापना, उपद्रव-रहित करना (चिन्तयेत्) इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ।। १६॥ (स० प्र० १४६)

"महाराजा को उचित है कि मिन्त्रयों समेत छः बातों पर विचार करे—१. मित्र, २. शत्रु में चतुरता, ३. ग्रपनी उन्नित, ४. अपना स्थान, ४. शत्रु के ग्राक्रमण से देश की रक्षा, ६. थिजय किये हुए देशों की रक्षा, स्वास्थ्य ग्रादि प्रत्येक विषय पर विचार करके यथार्थ निर्णय से जो कुछ ग्रपनी ग्रोर दूसरों की भलाई की बात विदित हो उसे करना"।

(पू० प्र० १११)

#### तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विदश्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥ (४२)

(तेषाम्) उन सभासदों का (पृथक्-पृथक् स्वं स्वम् + ग्रभिप्रायम् उपलभ्य) पृथक्-पृथक् ग्रपना-ग्रपना विचार ग्रीर ग्रभिप्राय को सुनकर (समस्तानां कार्येषु) सभी के द्वारा कथित कार्यों में (ग्रात्मनः हितम्) जो कार्य ग्रपना ग्रीर ग्रन्य का हितकारक हो (विद्यात्) वह करने लगना श्रा । १७।। (स॰ प्र०१४७) (पूना॰ प्र१११ पर भी)

अध्यात्—वही कार्य करे।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मर्गेन विपश्चिता। मन्त्र्येत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्।। ५८॥

(राजा) राजा (सर्वेषां तु विशिष्टेन विपश्चिता ब्राह्मणेन) सबसे प्रधान विद्वान् ब्राह्मण के साथ (षाड्गुण्यसंयुतम्) सन्धि, विग्रह, यान, ग्रासन, द्वैधीभाव ग्रौर ग्राक्षय, इन छः विषयों [७। ५६, १६०] सहित (परमं मन्त्रं मन्त्रयेत्) ग्रत्यन्त गूढ़ मन्त्रणाग्रों पर विचार करे।। ५८।।

नित्यं तस्मिन्समाइवस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् । तेन सार्षे विनिश्चित्य ततः कर्म समारमेत् ॥ ५६ ॥

ग्रीर (तिस्मन् नित्यं समाद्यस्तः) उस पर सदा विद्यास रखते हुए (सर्वेकार्याणि निःक्षिपेत्) राज्य के सब कामों के भार को सौँप दे, ग्रीर (तेन सार्धं विनिध्चत्य) उसके साथ ही पहले कोई निर्णय लेकर (ततः कर्मं समारभेत्) फिर सब कामों को ग्रारम्भ करे।। ५६।।

अनु श्री का १५-१६ श्लोक निम्न 'श्राषारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिंद होते हैं -

- १. प्रसंगिवरोध—ये दोनों इलोक पूर्वापर असंग के विरुद्ध हैं। पूर्वापर इलोकों का प्रसंग ग्रावश्यकतानुसार अनेक मन्त्रियों की नियुक्ति और उन सभी के सहयोग से कार्य चलाने का है। बीच में एक ही ब्राह्मण से मन्त्रणा करना और केवल उसी की सलाह पर कार्य ग्रारम्भ करना ग्रादि वर्णन पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध है। ६० वें इलोक के "ग्रन्यानिष प्रकुर्वीत" पद स्पष्टतः इसे ५४—५७ इलोकों से सम्बद्ध करता है। इन इलोकों ने उस सम्बद्धता को भंग कर दिया है।
- २. श्रन्तिवरोध—(१) ५६ वें क्लोक में सिन्ध, विग्रह, ग्रादि की मन्त्रणा ग्रनेक मिन्त्रयों के साथ करने का स्पष्टतः विधान किया है ग्रीर उन्हीं की सम्मित लेकर पुनः स्वयं निर्णय लेने का कथन है। इन क्लोकों में एक ब्राह्मण से विशेष मन्त्रणा, उसी पर सब राज्यभार सौंपना, उसी की सलाह से कार्य प्रारम्भ करना ग्रादि व्यवस्थाएं उक्त

हो। (२) १४१ ग्रीर २२६ इलोकों में केवल रुग्णावस्था में ही अमात्यों पर राज्यभार सौंपने का निर्देश है, प्रतिदिन नहीं। इन इलोकों में प्रतिदिन एक ही ब्राह्मण को कार्य सौंप देना उसी की सलाह से कार्य करना ग्रादि बातें उनकी व्यवस्था के विरुद्ध हैं। (३) १४६, २१६ ग्रीर उनके मध्यगत सभी इलोकों में षाड्गुण्य की मन्त्रणा ग्रानेक मन्त्रियों के साथ मिलकर करने का निर्देश है। इन इलोकों की व्यवस्था उनके भी विरुद्ध है। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये इलोक प्रक्षिप्त हैं।

भावश्यकतानुसार ग्रन्य ग्रमात्यों की नियुक्ति—

श्रन्यानिप प्रकुर्वीत शुचीन्त्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्तृ नमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६०॥ (४३)

[ग्रावश्यकता पड़ने पर] (ग्रन्यान् ग्रिपि) ग्रन्य भी (शुचीन्) पिव-त्रात्मा (प्राज्ञान्) बुद्धिमान् (ग्रवस्थितान्) निश्चित बुद्धि (सम्यक्-अर्थ-समाहत् न्) पदार्थों के संग्रह करने में ग्रितचतुर (सुपरीक्षितान्) सुपरीक्षित (ग्रमात्यान् प्रकुर्वीत) मन्त्री करे।। ६०।। (स०प्र०१४७)

"इसी प्रकार ग्रन्य भी राज्य ग्रीर सेना के श्रिषकारी जितने पुरुषों से राज्यकार्य सिद्ध हो सके उतने ही पिवत्र, धार्मिक विद्वान् चतुर, स्थिर बुद्धि पुरुषों को राज्यसामग्री के वर्धक नियत करे।"

(सं० वि० १५४)

## निवर्तेतास्य पावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः । तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्त्रकुर्वोत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥ (४४)

्री (याविद्भः नृभिः इतिकर्त्तःयता निवर्तेत) जितने मनुष्यों से कार्य्यं सिद्ध हो सके (तावतः) उतने (स्रतिद्धतान्) स्रालस्परिहत (दक्षान्) वलवान् स्रोर (विचक्षणान्) बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को (प्रकुर्वीत) स्रधिकारी स्रर्थात् नौकर करे।। ६१।। (स॰ प्र०१४७)

器 (ग्रस्य) इस राजा का .....

अवन्तु श्री त्यान्य : 'इतिकत्तं स्थता' का अभिप्राय — यहां 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है। इसका अर्थ है 'पूर्णता' या 'समाप्ति'। इस प्रकार 'इतिकर्त्त स्थता' का अर्थ हुआ — 'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता'। जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्ण रूप से सम्पन्न हो सकें, उतनों की राजा नियुक्ति करले। पुनः उनके अधीन अन्य सहयोगी अधिकारियों, भृत्यों की नियुक्ति करे। यह अगले इलोक में 'तेषामर्थे' पद से उक्त है। अगले इलोक की इससे वाक्यगत संगति है।

ग्रमात्यों के सहयोगी ग्रधिकारियों की नियुक्ति—

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गगतान् । शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥ (४४)

[५४-६१ में वर्णित] (तेषाम् + प्रयों) इनके प्रधीन (शूरान्) शूरवीर (दक्षान्) बलवान् (कुलोदगतान्) कुलोत्पन्न (शुचीन्) पिवत्र भृत्यों को (ग्राकरकर्मान्ते) बड़े-बड़े कर्मों में, ग्रीर (भीरून् + ग्रन्तिनिवेशने) भीरू = डरने वालों को भोतर के कर्मों में (नियुञ्जीत) नियुक्त करे।। ६२।। (स० प्र०१४७)

प्रधान दूत की नियुक्त---

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वेशास्त्रविशारतम् । इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचि दक्षं कुलोद्दगतम् ॥ ६३ ॥ (४६)

(कुलोद्गतम्) जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न (दक्षम्) चतुर (शुनिम्) पितृत्र (इङ्गित + ग्राकार + चेष्टज्ञम्) हावभाव शौर चेष्टा से भोतर हृदय ग्रीर भिवष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा (सर्वशास्त्रविशारदम्) सब शास्त्रों में विशारद=चतुर है (दूतम् एव प्रकुर्वीत) उस दूत को रक्षे ॥ ६३ ॥ (स० प्र० १४७)

"तथा जो सब शास्त्र में निपुण नेत्रादि के संकेत, स्वरूप तथा चेष्टा से दूसरे के हृदय की बात को जानने हारा, शुद्ध, बड़ा स्मृतिमान्, देश, काल जानने हारा, सुन्दर, जिसका स्वरूप बड़ा, वक्ता भीर भ्रपने कुल में मुख्य हो, उस भीर स्वराज्य भीर परराज्य के समाचार देने हारे भ्रन्य दूतों को भी नियत करे।" (सं॰ वि० १५४)

श्रेष्ठ दूत के लक्षण-

भनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् । वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४॥ (४७)

वह ऐसा हो कि (ग्रनुरक्तः) राज-काम में ग्रत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त (शुचिः) निष्कपटो, पवित्रात्मा (दक्षः) चतुर (स्मृतिमान्) बहुत समय की बात को भो न भूलने वाला (देशकालिक्त्) देश ग्रीर कालानुकूल वर्तमान का कर्त्ता (वशुष्पान्) सुन्दररूपयुक्त (वीतभीः) निर्भय, ग्रीर (वाग्मो) बड़ा वक्ता (राज्ञः दूतः प्रशस्यते) वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है।। ६४।। (स॰ प्र०१४७)

## म्रमात्ये दण्ड म्रायत्तो दण्डे वैनियकी क्रिया। नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ॥ ६५॥ (४८)

(ग्रमात्ये दण्डः) ग्रमात्य को दण्डाधिकार (दण्डे वैनयिकी क्रिया) दण्ड में विनय = ग्रनुशासित क्रिया ग्रर्थात् जिससे ग्रन्यायरूप दण्ड न होने पावे (नृपतौ कोशराष्ट्रे) राजा के ग्रधीन कोश ग्रौर राष्ट्र (च) तथा सभा के ग्रशीन सब कार्य, ग्रौर (दूते संधिविपर्ययौ) दूत के ग्रशीन किसी से मेल वा विरोध करना (ग्रायक्तः) ग्रधिकार देवे ॥ ६५ ॥ (स० प्र०१४८)

अर न्यू रिटिन् : राजा श्रीर श्रमात्यों के कार्यों का विभाजन — राजा को राष्ट्र श्रीर राष्ट्रीय स्तर के कार्यविभाग सेना तथा कोश == खजाना श्रादि अपने सीधे नियन्त्रण में रखने चाहिएं। ग्रमात्यों को दण्ड-न्याय श्रादि का श्रधिकार सौंप देवे श्रीर दण्डाधिकारियों को प्रनुशासन बनाये रखने या शिक्षा व्यवस्था श्रादि का श्रधिकार सौंप। दूत के श्रधीन संधि श्रीर विरोध श्रादि की नीतियों का निर्धारण होना चाहिए। ये प्रधान श्रमात्य श्रपने-अपने विभागों का संचालन करें श्रीर राजा से सम्पर्क रखें। इस प्रकार कार्य सुचाह रूप से सम्पन्न होता है।

दूत के कार्यं--

## दूत एव हि संघत्ते भिनस्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः॥६६॥ (४९)

(हि) क्यों कि (दूत: एव) दूत ही ऐसा व्यक्ति होता है जो (संघत्ते) शत्रु ग्रोर ग्रपने राजा का मेल करा देता है (च) ग्रोर (संहतान् भिनित+ एव) मिले हुए शत्रुग्रों में फूट भी डाल देता है (दूत: तत् कर्म कुरुते) दूत वह काम कर देता है (येन मानवा: भिद्यन्ते) जिससे शत्रुग्रों के लोगो में भी फूट पड़ जाती है।। ६६।।

"दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल ग्रीर मिले हुए दुब्टों को फोड़-तोड़ देवे, दूत वह कमें करे जिससे शत्रुग्रों में फूट पड़े।" (स० प्र० १४८)

अन्तुर्थी त्य को कीटिल्य के अनुसार दूत के कार्य — आचार्य कीटिल्य ने विस्तार से दूत के कार्यों का वर्णन किया है—

> प्रेवणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः। उपजापः सुहृद्देभेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥ बन्धुरस्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः। समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः॥ [प्र०१८। ग्र०१४]

प्रथित्—ग्रपे राजा का संदेश दूसरे राजा के पास ले जाना ग्रीर उसका

लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को वनाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के पक्ष के पुरुषों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुष्तचरों अथवा सैनिकों को आपत्ति से पूर्व निकाल लाना, शत्रु के वांधवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रु देश में कार्यरत अपने गुष्तचरों के कार्य का निरीक्षण, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रु बान्धवों को शर्त के आधार पर छोड़ना, दोनों राजाओं की भेंट आदि कराना, दूत के कार्य हैं।

## स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितः। म्राकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीषितम् ॥६७॥ (५०)

(सः) वह दूत (ग्रस्य) शत्रु-राजा के (कृत्येषु) ग्रसंतुष्ट या विरोधी लोगों में (च) ग्रीर (भृत्येषु) राजकर्मचारियों में (निगृढ+इङ्गित+ चेष्टितः) गुष्त संकेतों एवं चेष्टाग्रों से (ग्राकारम्) शत्रु राजा के ग्राकार = भाव (इङ्गितम्) संकेत = हाव (चेष्टाम्) चेष्टा = प्रयत्न को तथा (चिकीर्षि-तम्) उसके ग्रभिलषित कार्य, उसकी इच्छाग्रों को (विद्यात्) जाने ॥ ६७ ॥

अर्जुट्ये टिजन्स: (१) कृत्य शब्द का राजनीतिपरक अर्थ — यहां 'कृत्य' शब्द राजनैतिक योगरू दि है। 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो, धन, स्त्री सम्पत्ति श्रादि के लोभ से ग्रपने पक्ष में किये जा सकते हैं। कौटिल्य ग्रर्थ शास्त्र में इनके चार भेद बतलाये हैं—

#### **कृद्ध**लुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः । [कौ० ग्रर्थं०-प्र० ८।ग्र० १२]

शत्रु राज्य के जो व्यक्ति ग्रपने राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रु बक्टत्य', जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुट्धकृत्य', जो डर के कारए। दवे रहते हैं वे 'भीतकृत्य', ग्रौर जो राजा से ग्रपमानित किये गये हैं वे 'ग्रपमानितकृत्य' कहलाते हैं। दूत का यह कर्म है कि उपर्युक्त लुट्ध ग्रौर क्षुट्ध व्यक्तियों ग्रौर कर्मचारियों से शत्रु राजा के गुप्त रहस्यों को जाने।

(२) इङ्गित और आकार का अर्थ — 'इंगितमन्यथावृत्तिः । आकृतिग्रहण-माकारः ।'' [कौ० ग्रर्थं० प्र० १० । ग्र० १४] = स्वाभाविक क्रियाग्रीं के विपरीत भिन्न चेप्टाएं 'इंगित' कहलाती हैं। चेप्टाग्रीं को प्रकट करने वाले ग्रंगों की ग्राकृति 'ग्राकार' कहलानी है ।

#### बुद्ध्वा सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्। तथा प्रयश्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीड्येत्॥ ६८॥ (५१)

वह सभापित ग्रीर सब सभासद् वा दूत ग्रादि (तत्त्वेन) यथार्थ से (परराजिचिकिषितम्) दूसरे विरोधी राजा के राज्य का ग्रभिप्राय (बुद्ध्वा)

जानकर (तथा प्रयत्नम् + ग्रातिष्टेत्) वैसा यत्न करं (यथा) कि जिससे (ग्रात्मानं न पीडयेत्) ग्रपने को पीड़ा न हो ।। ६८।। (स० प्र० १४८)

राजा के निवास-योग्य देश---

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६६ ॥ (५२)

राजा (जाङ्गलम्) जांगल प्रदेश = जहां उपयुक्त पानी बरसता हो, बाढ़ न ग्राती हो, खुली हवा ग्रीर सूर्यं का पर्याप्त प्रकाश हो, धान्य ग्रादि बहुत उत्पन्न होता हो (सस्यसंपन्नम्) हरा-भरा (ग्रायंप्रायम्) श्रेष्ठ लोगों का बाहुल्य (ग्रनाविलम्) रोगरहित (रम्यम्) रमणीय (ग्रानतसामन्तम्) विनम्रताका व्यवहार करने वाले निवासो (सु + ग्राजीव्यम्) अच्छी ग्राजीविकाग्रों से सम्पन्न जो हो (देशम् + ग्रावसेत्) ऐसे देश में निवासस्थान करे।। ६६।।

छः प्रकार के दुर्ग---

धन्त्रदुर्गं महोदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥ (५३)

(धन्वदुर्गम्) धन्वदुर्ग—मरुस्थल में बना किला जहां मरुभूमि के कारण जाना दुर्गम हो (महोदुर्गम्) महोदुर्ग—पृथिवी के अन्दर तहखाने या गुफा के रूप में बना किला या मिट्टो की बड़ा-बड़ी मेढों से विरा हुआ (अप्+दुर्गम्) जलदुर्ग —जिसके चारों और पानी हो (वा) अथवा (वार्क्षम्) वृक्षदुर्ग —जो घने वृक्षों के वन से विरा हो (नृदुर्गम्) नृदुर्ग —जो सेना से घरा रहे, जिसके चारों और सेना का निवास हो (वा) अथवा (गिरदुर्गम्) गिरिदुर्ग —पहाड़ के ऊपर बनाया पहाड़ों से घरा किला (समाश्वित्य) बनाकर और उसका आश्वय करके (पुरं वसेत्) अपने निवास में रहे।।००।।

महर्षि दयानन्द ने 'धन्वदुर्णप्' के स्थान पर 'धनुर्दुर्गम्' पाठ लेकर इस दलोक का ऋषं इस प्रकार किया है—

"इस लिए सुन्दर जगल धन-धान्य युक्त देश में (धनुर्दु ग्रेम) धनुर्धारी पुरुषो से गहन (महीदुर्गम) मिट्टी से किया हुग्रा (ग्रब्दुर्गम) जल से घेरा हुग्रा (वार्क्षम) ग्रर्थात् चारों ग्रोर वन (नृदुर्गम) चारों ग्रोर सेना रहे (गिरिदुर्गम) ग्रर्थात् चारों ग्रोर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इस के मध्य में नगर बनावे।" (सुरुप्त १४६)

अन्य हारे टिन्स : कीटिलीय प्रयंशासत्र में चार प्रकार के दुर्ग —कीटिल्य ने ग्रपने ग्रयंशास्त्र में केवल चार दुर्गों का ही उल्लेख किया है—

(१) ग्रीदक = जलदुर्ग, (२) पार्वत = गिरिदुर्ग, (३) धान्वन = धन्वदुर्ग, (४) वनदुर्ग = वृक्षदुर्ग ।

पर्वतदुर्गं की श्रेष्ठता---

सर्वेण तु प्रयत्नेन शिरिदुगै समाश्रयेत्। एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुगै विशिष्यते॥ ७१॥ (४४)

राजा (सर्वेण तु प्रयत्नेन) सब प्रकार से प्रयत्न करके (गिरिदुर्गं समाश्रयेत्) 'पर्वतदुर्गं' का ही ग्राश्रय करे—बनाकर रहे (हि) क्योंकि (बाहुगुण्येन) सब दुर्गों में ग्रधिक विशेषताग्रों के कारण (गिरिदुर्ग विशिष्यते) पर्वतदुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ है, अतः यह यत्न रखना चाहिए कि 'पर्वतदुर्गं' ही बन सके।। ७१।।

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

(एषाम्) इन पूर्वोक्त [७०] छः दुर्गों में (ग्राद्यानि त्रीणि) ग्रादि के तीन प्रकार के दुर्गों में (मृग-गर्ताश्रयाः + अप्सराः) मृग, बिलों में रहने वाले चूरे ग्रादि ग्रीर जल-चर प्राणी मगरमच्छ ग्रादि (ग्राश्रिताः) रहते हैं, ग्रीर (उत्तराणि त्रीणि) ग्रगले तीनों में (क्रमशः) क्रमशः वृक्ष, नृ ग्रीर गिरिदुर्ग में (प्लवङ्गम-नर + ग्रमराः) वानर, मनुष्य ग्रीर देवता निवास करते हैं ॥ ७२॥

#### यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः। तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्॥ ७३॥

(यथा) जैसे (दुर्ग-म्राश्रितान् + एतान्) म्रपने-म्रपने दुर्ग में रहते हुए (शत्रवः न + उपिंहसन्ति) शत्रु-प्राशी इन्हें नहीं मार पाते हैं (तथा) वैसे ही (दुर्गसमाश्रितम् नरम्) दुर्ग के आश्रय में स्थित राजा को (ग्ररयः न हिसन्ति) शत्रु लोग नहीं मार पाते हैं॥ ७३॥

## अस्तुर्शोत्उनः : ७२-७३ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं--

१. अन्तर्विरोध—(१) इन श्लोकों में ग्रलग-ग्रलग दुर्गों में ग्रलग-ग्रलग प्राणियों का वास बतलाया है ग्रीर मनुष्यों का वास केवल 'नृदुर्ग' में कहा है जबिक ७० वें श्लोक में सभी दुर्ग मनुष्यों के वास के लिए बताये जा रहे हैं (२) ७१ वें श्लोक में राजा के लिए गिरिदुर्ग का महत्त्व बताते हुए उसी में रहने का प्रयत्न करने का निर्देश है, जबिक इन श्लोकों में 'गिरिदुर्ग' में देवताविशेशों का निवास माना है। इस अन्तर्विरुद्ध वर्णन के ग्राधार पर ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. प्रसङ्गिवरोध — ७० वें में सभी दुर्गों की गएना की है श्रौर फिर ७१ वें में गिरिदुर्ग का महत्त्व वर्णित है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि रचियता को ग्रन्य दुर्गों का वर्णन श्रभीष्ट नहीं है। इस प्रकार इन श्लोकों में पुनः सभी दुर्गों का वर्णन मौलिक प्रतीत नहीं होता। "श्रीण श्राद्यानि" पदों का प्रयोग भी इन श्लोकों को ७१ वें से सम्बद्ध सिद्ध नहीं करता। इनकी सम्बद्धता तभी मानी जा सकती थी, जब ये ७० वें के पश्चात् ही होते। इस प्रकार प्रसङ्गक्रम से टूटे होने के कारण भी ये प्रक्षिप्त हैं।

दुर्ग का महत्त्व---

एकः शतं योधयति प्राकारस्यो धनुर्धरः। शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते।। ७४॥ (४४)

(प्राकारास्थः) नगर के चारों ग्रोर प्राकार = प्रकोट बनावे क्योंकि उस में स्थित हुग्रा (एकः धनुर्धरः) एक वोर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष (शतम्) सौ के साथ, ग्रौर (शतं दशसहस्राणि) सौ दश हजार के साथ (योत्रयित) युद्ध कर सकते हैं (तस्मात् दुर्गं विधीयते) इसिलए ग्रवश्य दुर्गं का बनाना उनित है।। ७४।। (स॰ प्र॰ १४८)

तत्स्यावायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः। ब्राह्मणैः शिल्पिभर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ (५६)

(तत्) वह दुगैं (आयुध) शस्त्रास्त्र (धन-धान्येन वाहनैः) धन, धान्य, वाहन (ब्राह्मणैः) ब्राह्मण्, जो पढ़ाने उपदेश करने हारे हों (शिल्पिभः) कारीगर (यन्त्रैः) यन्त्र—नाना प्रकार की कला (यवसेन) चारा-घास (वा) ग्रीर (उदकेन) जल ग्रादि से (सम्पन्नं स्यात्) सम्पन्न ग्रथीत् परिपूर्ण हो।। ७५।। (स० प्र०१४८)

राजा का निवास-गृह —

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः । गुप्तं सर्वेतुं कं ग्रुभ्नं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥ (५७)

(तस्य मध्ये) उसके मध्य मैं (जल-वृक्ष-समन्वितम्) जल, बृक्ष,-पुष्पादिक युक्त (गुष्तम्) सब प्रकार से रक्षित (सर्व + ऋतुकम्) सब ऋतुश्रों में सुखकारक (शुश्रम्) श्वेतवर्ण (ग्रात्मनः गृहम्) ग्रयने लिए घर (सुपर्याप्तम्) जिसमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा (कारयेत्) वनवावे।। ७६।। (स० प्र०१४८) राजा के विवाहयोग्य भायी-

तदध्यास्योद्वहे.द्भार्यां सवर्णाः लक्षणान्विताम् । कुले महति संमूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥ (५८)

इतना प्रथात् ब्रह्मचयं से विद्या पढ़के यहां तक राज-काम करके परचात् (रूपगुरा + प्रनिवताम्) सौन्दयं रूप गुरायुक्त (ह्याम्) हृदय को प्रति-प्रिय (महित कुले संभूताम्) बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न (लक्षरा + ग्रन्विताम्) सुन्दर लक्षरायुक्त (सवर्गां भार्याम् उद्वहेत्) ग्रपने क्षत्रिय कुल की कन्या जो कि ग्रपने सहा विद्यादि गुण-कर्म-स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को ग्रगम्य समभक्तर दिट से भी न देखे।। ७७।। (स० प्र० १४६)

★ तत् + अध्यास्य = पूर्वोक्त राज भवन में निवास करके पुरोहित का वरण एवं उसके कर्तव्य—

पुरोहितं च कुर्वीत वृण्यादेव चर्त्विजः। तेऽस्य गृह्याग्णि कर्माणि कुर्यु वैतानिकानि च ॥ ७८॥ (५६)

(पुरोहितं च ऋत्विजं वृण्यात् एव प्रकुर्वीत) पुरोहित ग्रौर ऋत्विक् का स्वीकार इसलिए करे कि (ते) वे (गृह्याणि च वैतानिकानि श्रस्य कर्माणि कुर्युः) ग्रग्निहोत्र ग्रौर पनेष्टि ग्रादि सब राजघर के कर्मों को करें ग्रौर ग्राप सर्वेदा राजकार्य में तत्पर रहे।। ७८॥ (स० प्र०१४६)

आनुश्री टिन्स: वैतानिक और गृह्य कर्म—यहां 'वैतानिक' शब्द का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलने वाले 'यज्ञों' से और 'गृह्य कर्मों' से घर के धार्मिक अनुष्ठानों और दैनिक पञ्चमहायज्ञों से अभिप्राय है। ७६ में क्लोक में वैतानिक यज्ञों को स्पष्ट कर दिया है। राजा को समयानुसार पञ्चमहायज्ञों के अति रिक्त बृहत् यज्ञों का आयोजन भी करते रहना चाहिए। इन कार्यों के लिए पुरोहित या ऋत्विक् का वरण किया जाता है। २।११८ [२।१४३] में ऋत्विक् का लक्षण करते हुए भी इन सभो यज्ञों की गणना की है, वही भाव इस क्लोक में है।

#### यजेत राजा क्रतुभिविविधैराष्तदक्षिणैः। धर्मार्थं चैव विश्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७६ ॥ (६०)

(राजा) राजा (म्राप्तदक्षिएाँ: विविधः क्रतुभिः) वहुत दक्षिणा वाले स्रनेक यज्ञों को (यजेत) किया करे (च) तथा (घर्माथंम) धर्म के लिए (विप्रेक्यः) विद्वान् ब्राह्मणों को (भोगान् च धनानि दद्यात्) भोग्य वस्तुत्रों एवं धनों का दान करे।। ७६।।

#### सांबत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्दबलिम् । स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत पितृवन्नुषु ॥ ८०॥ (६१)

+ (सांवत्सरिकं बिलम्) वार्षिक कर (म्राप्तैः म्राहारयेत्) म्राप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे (च) म्रोर जो सभापतिरूप राजा म्रादि प्रधान पुरुष हैं वे सब (म्राम्नायपरः) सभा-वेदानुकूल होकर ॐ (नृषु पितृवत् वर्तेत) प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्ते ।। ८० ।। (स० प्र०१५०)

> + (राष्ट्रात्) राष्ट्र म्रर्थात् राज्यवासियों से······· % (लोके) राज्य में······

अर्जुट्यील्डन्द्र: आप्त और बिल का विशेष प्रयं—'ग्राप्त' ग्रीर 'बिल' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में बहुप्रयोग के ग्राधार पर इनके ग्रपने विशेष ग्रयं रूढ़ हो गये हैं—

- (१) 'म्राप्तः' शब्द 'म्राप्लृ व्याप्ती' (स्वादि) धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। म्रयने विषय में पूर्णतः व्याप्त म्रयत् व्यापक मीर प्रत्यक्ष ज्ञान रखने वाले धार्मिक व्यक्ति को 'म्राप्त' कहते हैं। राजा को प्रत्येक विभाग में मुख्य म्रधिकारी ऐसे म्राप्तपुरुष रखने चाहिएँ।
- (२) बिल का अर्थ होता है—अन्त या भोजन आदि से यज्ञार्थ निकाला गया शेष भाग = अंश । जैसे बिलवैश्वदेव यज्ञ में भोजन का कुछ अंश प्राणियों के लिए निकाल कर रखा जाता है। यहां, राजा जो अन्त के छठे भाग के रूप में प्रजाओं से कर लेता है, उसे 'बिल' कहा गया है। कर के विभिन्न रूपों और उनके अन्तर को समक्षने के लिए देखिए द। ३०७ पर शनुशीलन।

विविध विभागाष्यकों की नियुक्ति—

म्रध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः। तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम्।। ८१।। (६२)

राजा (विविधान्) ग्रनेक (विपिश्चतः ग्रध्यक्षान्) मेधावी, प्रतिभा-शाली, योग्य विद्वान् ग्रध्यक्षों को (तत्र तत्र) ग्रावश्यकतानुसार विभिन्न विभागों में (कुर्यात्) नियुक्त करे (ते) वे विभागाध्यक्ष (ग्रस्य) इस राजा के द्वारा नियुक्त (सर्वाणा) ग्रन्य सब (कार्याणि कुर्वताम्) ग्रपने ग्रधीन कार्य करने वाले (नृणाम्) कर्मचारी लोगों का (ग्रवेक्षरन्) निरीक्षण किया करें।। दशा।

"उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के ग्रध्यक्षों को सभा नियत करे। इनका यही काम है—जितने-जितने, जिस-जिस काम के राजपुरुष होवें, नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं। जो यथावत् करें तो उनका सत्कार भ्रौर जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड दिया करे।" (स० प्र०१५०)

अन्युर्गो त्उन्तः (१) कीटिल्य के अनुसार विभागाध्यक्ष—म्राचार्यं कीटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र०२०। अ०६ से ४२। ३४ तक अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति, और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन; विभाग और कार्यानुसार होना चाहिए। कीटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष निम्न हैं—

- १. सेनाध्यक्ष = सम्पूर्ण सेनाम्रों का निरीक्षक, २. को अध्यक्ष = खजाने का ग्रघ्यक्ष. ३. ग्राकराष्यक्ष = लानों का ग्रध्यक्ष, ४. ग्रक्षपटलाष्यक्ष = ग्राय-व्यय का महा-निरीक्षक, ५. कोष्ठगाराध्यक्ष = कोठारी, ६. श्रायूधगाराध्यक्ष = युद्ध-सामग्री का ग्रध-कारी, ७. पण्याध्यक्ष = बाजार का नियन्त्रक ग्रधिकारी, ८. कूप्याध्यक्ष = वन की वस्तुग्रों का ग्रध्यक्ष, ६. स्वर्णाध्यक्ष =सोने-चांदी का ग्रध्यक्ष, १०. लोहाध्यक्ष = लोहा ग्रादि धातुत्रों का ग्रघ्यक्ष, ११. सीताष्यक्ष = कृषि विभाग या कर के रूप में एकत्रित धान्य का ग्रघ्यक्ष, १२. शुल्काघ्यक्ष = च्ंगी का ग्रधिकारी, १३. पौतवाध्यक्ष = तोल-माप का नियन्त्रक ग्रंघिकारी, १४. मानाध्यक्ष = देश-काल के मानों का नियन्त्रक, १५. सूत्राध्यक्ष =वस्त्र या सूत व्यवसाय का ग्रध्यक्ष, १६. सूनाध्यक्ष = वधस्थान का ग्रधिकारी, १७. नगराध्यक्ष = नगर का प्रमुख ग्रधिकारी, १८. नावाध्यक्ष = नौका परिवहन का ग्रधि-कारी, १६. गो-म्रध्यक्ष = गौ म्रादि दुधारू पशुम्रों का व्यवस्थापक म्रधिकारी, २०. म्रहवा-ध्यक्ष= अश्वशाला का अधिकारी, २१. हस्ति-अध्यक्ष = हस्तिशाला का अधिकारी, २२. रथाध्यक्ष = रथसेना का श्रधिकारी, २३. पत्त्यध्यक्ष = पैदल सेना का श्रधिकारी २४. मुद्राध्यक्ष = मुद्रा-व्यवस्था का ग्रिधिकारी, २५. विविताध्यक्ष = चरागाह का ग्रध्यक्ष २६. लवणाध्यक्ष = टकसाल का ग्रधिकारी, २७. धर्माध्यक्ष = धर्म-निर्णायक ग्रधिकारी।
- (२) विषक्तित्वत् का अयं 'विपश्चित्' 'प्रतिभाशाली मेधावी विद्वान्' को कहते हैं। निरुक्त ३। १५ में कहा है ''विपश्चित् मेधावी-नाम।'' राजा योग्य, प्रतिभाशाली, मेधावी, विद्वानों को ही विविध विभागों में श्रष्ट्यक्ष नियुक्त करे।

राजा स्नातक विद्वानों का सत्कार करे -

ब्रावृत्तानां गुरुकुलाद्विष्राणां पूजको भवेत्। नृपाणाः मक्षयो ह्येष निधिर्बाह्योऽभिधीयते ॥ ८२॥ (६३)

(नृपाणां ब्राह्मः एषः ग्रक्षयः निधिः विधीयते) सदा जो राजाओं को वेद-प्रचाररूप ग्रक्षय कोश है (गुरुकुलात् ग्रावृत्तानां पूजकः भवेत्) इसके प्रचार के लिए कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से ग्रावे, उसका सत्कार, राजा ग्रीर सभा यथावत् करें (विश्राए।म्) तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें। इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर ग्रत्यन्त उन्नति होती है।। ८२।। (स. प्र०१५०)

#### न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नव्यति । तस्माद्राज्ञा निधातव्यो जाह्यागुष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

(तम्) उस प्रक्षयनिधि को (न स्तेनाः च न प्रिमित्राः हरन्ति) न चोर श्रीर न शत्रु हर सकते हैं (व) तथा (न नश्यित) न कभी नष्ट होती है (तस्मात्) इसलिए (राज्ञा) राजा को (ब्राह्मणेषु + श्रक्षयः निधिः निधातव्यः) ब्राह्मणों में श्रक्षयनिथि स्था- पित करनी चाहिए श्रयात् धन-धान्य ग्रादि का दान देना चाहिए ॥ ५३॥

#### न स्कन्दते न व्ययते न विनद्दयति कहि चित्। विष्ठिमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मग्रस्य मुखे हुतम्॥ ८४॥

(ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्) ब्राह्मणों के मुख में होमा गया पदार्थ ग्रयित् ब्राह्मणों को दिया गया दान (ग्रिग्निहोत्रेम्यः वरिष्ठम्) ग्रिग्निहोत्र करने से भी श्रेष्ठ फलदायक है, क्योंकि वह (न स्कन्दते) न तो व्यर्थ गिरता है (न व्यथते) न सूखता है (व) ग्रीर (न विनश्यति) न कभी नष्ट होता है जबिक ग्रग्निहोत्र में दिया गया ग्राहुति रूपी दान कुछ व्यर्थ बिखर जाता है, कुछ सूख जाता है ग्रीर कुछ जलकर नष्ट हो जाता है।। ५४।।

#### सममन्नाह्यणे दानं द्विगुणं न्नाह्यणनुवे। प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे।। ५४॥

(ग्रज्ञाह्मणे दानं समम्) ज्ञाह्मण वर्णं से भिन्न व्यक्ति को दान देने में समान फल मिलता है ग्रथीत उस दान का न ग्रच्छा ग्रौर न बुरा फल मिलकर वह बराबर रहता है (ब्राह्मण बुवे) ब्राह्मण कहाने वाले मात्र व्यक्ति को दान देने से (द्विगुणम्) दुगुना फल (प्राधीते) पढ़ने वाले को देने से (श्वतसाहस्रम्) लाख गुणा (वेदपारगे) वेदों में पारंगत विद्वान् को दान देने से (ग्रनन्तम्) ग्रनन्त फल मिलता है ॥ ८५ ॥

#### पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धानतयैव च। म्रह्मं वा बहुवा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥ ८६॥

(पात्रस्य हि विशेषेण) पात्र की विशेषता से स्रयात् दान लेने वाला जैसा जैसा सुपात्र है उसके स्रनुसार (च) स्रौर (श्रद्धानतया) श्रद्धा से दान रेने पर (दानस्य) दान देने का (स्रत्यं वा बहु वा) थोड़ा-बहुत तो स्रवश्य ही (प्रेत्य) परलोक में (फलम् + स्रक्ते) फल प्राप्त होता है।। ६६॥

आनुश्रीत्जनाः ५३ से ५६ इलोक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

प्रसंगिवरोध—(१) ८२ वें इलोक में राजा के द्वारा गुरुकुल से ग्राये स्नातकों

का सत्कार करने का निर्देश है, दानका नहीं। ग्रतः उसके साथ जोड़कर ब्राह्मणों को दान देने ग्रीर उसकी महिना का वर्णन करने का प्रसंग ग्रसंगत है। (२) ब्राह्मणों को दान देने की चर्चा ७६ वें क्लोक में हो चुकी है। यदि उस सम्बन्ध में रचयिता को कुछ ग्रीर कहना ग्रमीष्ट होता,तो वे उसी क्लोक के बाद साथ ही इन बातों का वर्णन करते। किन्तु ऐसा न करके ग्रगले क्लोक से भिन्न बातों की चर्चा शुरू की है जो यह संकेत देती है कि मनु को दान के विषय में जो कहना था वह ७६ वें क्लोक में ही पूर्ण कर दिया। एक प्रसङ्क के पूर्ण होने के बाद कुछ ही ग्रन्तर पर पुनः उसे प्रारम्भ करना प्रसङ्किवरुद्ध है। इस ग्राधार पर ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।

- २. प्रन्तिवरोध—(१) ८३-८४ श्लोकों में ग्राग्निहोत्र से भी बढ़कर ब्राह्मणों को दान देने की महिमा कही है। यह मान्यता मनु के विरुद्ध है, यतोहि—(क) मनु के मत में दान देने से बढ़कर ग्राग्निहोत्र है, क्योंकि उससे यह शरीर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनता है [२।३ (२८)]। (ख) दान को उतना ग्रानिवार्य और ग्रावश्यक नहीं माना है जितना स्थान-स्थान पर अग्निहोत्र करने को सबके लिए ग्रानिवार्य ग्रीर ग्रावश्यक माना है [२।३ (२८), ४४ (६६), ८०-८१ (१०५-१०६), ८३ (१०८), १६१ (१८६), ३।६७-७६, ४।२१-२५, ४।१६६, ६।४-११ ग्रादि]। (ग) ग्रीर फिर दान तो पञ्चयक्रों का एक भाग मात्र है, जैसे भिक्षादान ग्रादि [३।६४]। जब दान ग्रङ्ग ग्रीर पञ्चयक्रों का एक भाग मात्र है, जैसे भिक्षादान ग्रादि [३।६४]। जब दान ग्रङ्ग ग्रीर पञ्चयक्रों को एक भाग मात्र है, जैसे भिक्षादान ग्रादि [३।६४]। जब दान ग्रङ्ग ग्रीर पञ्चयक्र ग्रङ्गी हों तो स्वतः ग्राग्निहोत्र की प्रमुखता सिद्ध होती है। इस प्रकार ये श्लोक मनु की मान्यता के विरुद्ध हैं। (२) ८५-६६ श्लोकों में पात्रों का वर्णन करते हुए 'ग्रब्राह्मण' को भी दान लेने का पात्र सिद्ध किया है। यह मनु की ग्राधारभूत मान्यता के ही विरुद्ध है। मनु ने केवल ब्राह्मण को ही दान लेने का ग्रधिकारी घोषित किया है [१।८८,१०।७५-७६]। ग्रन्य वर्णों को केवल दान देने मात्र का ग्रादेश है। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
  - ३. शैलीगत आधार—सभी श्लोकों की शैली म्रतिशयोक्तिपूर्ण है म्रीर ८५-८६ की म्रयुक्तियुक्त भी। क्योंकि दान का फल पात्र को देखकर नहीं, म्रपितु उसके उद्देश्य या उपयोग पर आधारित है। समान, द्विगुण, सहस्रगुण, म्रादि का निश्चय करना भी निराधार बात है। इस म्राधार पर भी ये मनुप्रोक्त सिद्ध नहीं होते।

युद्ध के लिए गमन तथा युद्धसम्बन्धी न्यवस्थाएँ— समोत्तमाधमै राजा त्वाहतः पालयन्त्रजाः ।

हिं ुरू ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ५ ६ ६ ५ १ । (६४)

(प्रजाः पालयन् राजा) जब कभो प्रजा का पालन करने वाले राजा को (सन-उत्तम-ग्रधमें: ग्राहृतः तु) प्रपने से तुल्य, उत्तम ग्रीर छोटा संग्राम में ग्राह्वान करे तो (क्षात्रं धर्मम् + ग्रनुस्मरन्) क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके (संग्रामात् न निवर्तेत) संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो प्रर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे श्रपनी ही विजय हो ।। ५७ ।। (स० प्र०१५०)

#### संग्रामेष्वनिर्वातत्वं प्रजानां चैव पालनम्। शुश्रूषा बाह्याणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्।। ८८।।

(संग्रामेषु + ग्रनिवर्तित्वम्) संग्राम से न टलना (च) ग्रौर (प्रजानां पालनम्) प्रजाग्नों का पालन करना (च) तथा (ब्राह्मणानां शुश्रूषा) ब्राह्मणों की सेवा करना (राज्ञां परं श्रेयस्करम्) ये बार्ते राजा के लिए परम कल्याणकारी हैं ॥ ६८ ॥

#### अस्तु शरित्र न्यः वद वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होता है-

- १. प्रसंगिवरोय यह ८६ वां श्लोक पूर्विपरप्रसंग को मंग कर रहा है। पूर्विपर प्रसंग संग्राम से न लौटने का वर्णन करने का है। ६७ वें में संग्राम से न लौटने का कथन है, श्रीर ६६ में उसका फल विशात है। दूसरे शब्दों में ६७ वें में पराङ् मुख न होने का कथन है, श्रीर ६६ में अपराङ् मुख रहने का फलकथन है। इस प्रकार ६७ वें श्लोक का ६६ वां अर्थवाद रूप है, श्रतः ये परस्पर सम्बद्ध भी हैं। बीच के इस श्लोक ने उस सम्बद्धता को भंग कर दिया है श्रीर राजा के परम श्रेयस्कर कर्तं क्यों का पूर्विपर प्रसंगिविषद्ध वर्णन किया है। कोई यह कहे कि "संप्रामेषु अनिवित्तरवम्" इसी प्रसंग से सम्बद्ध है, तो यह भी मान्य नहीं, क्योंकि ६७ श्रीर ६६ श्लोकों में इसी बात का तो वर्णन है। इस प्रकार प्रसंगिवषद्ध होने से यह प्रक्षिप्त है।
- २. श्रन्तिवरोध इसमें राजा के श्रेयस्कर कर्मों का वर्णन करते हुए 'ब्राह्मणों की सेवा' भी राजाओं का एक मुख्य कर्म माना है। १। ५७; ७। १४४ इलो कों के अनुसार क्षत्रिय-धर्म के अनुसार प्रजाओं का पालन करना ही क्षत्रिय का मुख्य धर्म है, वही उसके लिए श्रेयस्कर है। ब्राह्मणों की सेवा क्षत्रिय के लिए कोई श्रतिरिक्त कर्जव्य नहीं है, श्रतः यह कथन मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता।

# म्राहवेषु मियोऽन्योन्यं जिञ्जांसन्तो महीक्षितः।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८६ ॥ (६५)

(ब्राह्वेषु) जो संग्रामों में + (ब्रन्यः + ग्रन्यं जिघांसन्तः) एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए (महीक्षितः) राजा लोग (परं शक्त्या श्रवराङ्मुखाः) जितना सामध्यं हो बिना डरे, पीठ न दिखा (युड्यमानाः) युद्ध करते हैं, वे (स्वर्गयान्ति) सुख को प्राप्त होते हैं।।

इससे विमुख कभी न हो किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने छिप जाना उचित है। क्योंकि, जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोधाग्नि में सामने ग्राकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ।। ८६ ।। (स॰ प्र०१५०)

**+**(मिथः) परस्पर······

न कूटैरायुर्षेहंन्याद्युघ्यमानो रखे रिपून्। न करिएमिनीपि विग्धेनीनिज्यलिततेजनैः॥ ६०॥

(रणे रिपून् युष्यमानः) युद्ध में शत्रुधों को मारते हुए राजा (कूटैः श्रायुधैः) घोला युक्त शस्त्रास्त्रों से [जैसे बाहर लकड़ी दीखती हो श्रीर श्रन्दर विषेणा लोहे श्रादि का शस्त्र छिपा हो] (किएभिः) कर्णी के श्राकार के बाणों से [जो श्रागे से नुकीले श्रीर मध्य से चौड़े होने के कारण शरीर में लगने के बाद निकलते नहीं] (दिग्धैः) विषबुक्षे बाणों से (ग्रग्निज्वलित-तेजनैः श्रिप) और जिनका फलक श्रग्नि में तप रहा हो श्रर्थात् तपते बाणों से भी (न हन्यात्) न मारे।। ६०॥

#### अनुर्धीत्उनः : ६० वां श्लोक प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंगिवरुद्ध — यहाँ प्रस्तुत पूर्वापर प्रसंग 'किन-किन व्यक्तियों को परस्पर युद्ध करते समय नहीं मारना चाहिए' इससे सम्बद्ध है। किन्हीं हथियारों से न भारने का प्रसंग नहीं है। म्रतः बीच में हथियारों से न मारने का कथन पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है म्रतः प्रक्षिप्त है।

युद्ध में किन को न मारे ---

न च हन्यात्स्थलारूढ़ं न क्लीबं न कृताद्धालिम् । न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ६१ ॥ (६६) न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् । नायुष्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ६२ ॥ (६७) नायुष्यमनप्राप्तं नातं नातिपरिक्षतम् । न भौतं न परावृत्तं सता धर्ममनुस्मरन् ॥ ६३ ॥ (६८)

(न स्थल + ग्रारूढम्) युद्ध समय में, न इघर-उघर खड़े, (न क्लीबम्) न नपुंसक, (न कृत + ग्रञ्जलिम्) न हाथ जोड़े हुए, (न मुक्तकेशम्) न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, (न ग्रासीनम्) न बैठे हुए, (न 'तव ग्रस्मि'' इति वादिनम्) न "मैं तेरे शरण हूं" ऐसे + को, (न सुप्तम्) न सोते हुए, (न विसन्नाहम्) न मूर्छा को प्राप्त हुए, (न नग्नम्) न नग्न हुए (न निरायुष्ठम्) न ग्रायुष्ठ से रहित, (न + ग्रयुष्ट्यमानम्) न युद्ध न करते हुए देखने वाले को, (न परेण समागतम्) न शत्रु के साथी, (न + ग्रायुष्ट-व्यसन-प्राप्तम्) न ग्रायुष्ठ के ग्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, (न ग्रात्म्) न दुःखी

(न + म्रातिपरिक्षतम्) न म्रत्यन्त घायल, (न भीतम्) न डरे हुए म्रीर (न परावृत्तम्) न पलायन करते हुए पुरुष को (सतां धर्मम् + म्रजुस्मरन्) सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए (हन्यात्) योद्धा लोग कभी मारे।। + (वादिनम्) कहते हुए—

"किन्तु उनको पकड़के, जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रखदे श्रीर भोजन श्राच्छादन यथावत् देवे। श्रीर जो घायल हुए हों उनको श्रीषध श्रादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिढ़ावे, न दुःख देवे, जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर घ्यान रखे कि स्त्री, वालक, वृद्ध श्रीर आतुर तथा शोक युक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनमें लड़कों को श्रपने सन्तानवत् पाले श्रीर स्त्रियों को भी पाले, उनको श्रपनी बहन श्रीर कन्या के समान समक्ते कभी विषयासक्ति की दिष्ट से भी न देखे। जब राज्य श्रच्छे प्रकार जम जाये श्रीर जिनसे पुन:-पुन: युद्ध करने की शंका न हो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेजदेवे। श्रीर जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना संभव हो उनको सदा कारागार में रखे। ६१, ६२, ६३।। (स० प्र०१५०)

युद्ध से पलायन करन वाला अपराधी होता है -

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परै:। भुतुर्पद् दुष्कृतं किचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ६४॥ (६६)

(यः तु) भीर जो (संप्रामे) युद्धक्षेत्र में (परावृत्तः) पीठ दिखाकर भाग जाये, ग्रयवा (भीतः परंः हन्यते) डरकर भागता हुग्रा शत्रुग्नों के द्वारा मारा जाये, उसे (भर्त्तुः) राजा की ग्रोर से प्राप्त हाने वाला (यत् किचित् दृष्कृतम्) जो भो कुछ दण्ड, ग्रयराधीभाव व बुराई है (तत् सर्वं प्रतिपद्यते) उस सब का पात्र बनकर वह दण्डनीय होता है ग्रर्थात् राजा के मन से उसकी श्रष्ठिता का प्रभाव समाप्त हो जाता है [६५] ग्रौर राजा उसकी सुख-सुविधा को छीनकर दण्ड देता है।। ६४।।%

"ग्रीर जो पलायन ग्रर्थात् भागे ग्रीर डराहुग्रा भृत्य शत्रुग्रों द्वारा गारा जाये वह उस स्वामी के ग्राराध का प्राप्त हाकर दण्डनीय होवे।" (स० प्र० १५०)

अर्जुटरीट्यन्द्रः 'दुष्कृत' म्रादि पाप के पर्यायवाची शब्दों का मर्थ समभने के लिए द्रष्टब्य ८।३१६ पर मनुशीलन ।

अध्याति अर्थ]—युद्ध में डरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है; वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है ॥ ६४ ॥

# य न्यास्य सुकृतं किचिदमुत्रार्थमुपाजितम् । भर्ता तस्तर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ६५ ॥ (७०)

(च) श्रीर (यत् किंचित् ग्रस्य सुकृतम्) जो उसकी प्रतिष्ठा है (ग्रमुत्रार्थम् + उपाजितम्) जिससे इस लोक श्रीर परलोक में सुख होने वाला था [६६, ६७ ग्रादि] (तत् सर्वं भर्ता ग्रादत्ते) उसको उसका स्वामी ल लेता है (परावृत्तहतस्य तु) जो भागा हुग्रा मारा जाये उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल नष्ट हो जाता श्रीर उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त होता है जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो।। ६४।।

(स० प्र० १५०)

रयाइवं हस्तिनं छत्रं घनं घान्यं पश्चित्त्त्रयः। सर्वेद्रव्यागि कुप्यं च यो यज्जयित तस्य तत्।। ६६ ॥ (७१)

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि (यः यत्) लड़ाई में जिस-जिस ग्रमात्य वा ग्रम्थस ने (रथ + ग्रश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः) रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, गाय ग्रादि पशु ग्रीर स्त्रियां (च) तथा (सर्वद्रव्याणि) ग्रन्य प्रकार के सब द्रव्य (कुप्यम्) ग्रीर घो, तेल ग्रादि के कुप्पे (जयति) जीते हों (तत् तस्य) वही उस-उस का ग्रहण करे।। ६६।। (स० प्र०१४०)

जीते हुए धन से राजा को 'उद्धार' देना-

राज्ञश्च वद्युरुद्धारिमत्येषा वैदिकी श्रुतिः। राज्ञा च सर्वयोधेम्यो दातव्यमपृथिजितम्॥ १७॥ (७२)

(च) परन्तु सेनास्य जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से (उद्धारं राज्ञः दद्युः) सोलहवां भाग राजा को देवें (च) ग्रीर (राज्ञा) राजा भी (सर्वयोधेम्यः) सेनास्थ यौद्धाग्रों को (ग्र2थक्जितम्) उस घन में जो सब ने मिलकर जीता हो (दातब्यम्) सोलहवां भाग देवे।।

"श्रीर जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री श्रीर सन्तान को उसका भाग देवे श्रीर उसकी स्त्री तथा ग्रसमय लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समयं हो जावें तव उनको यथायोग्य श्रिषकार देवे। जो कोई श्रपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय श्रीर श्रानन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंघन कभी न करें"।। १७ ।।

(स॰ प्र० १५०)

## ्षोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः। अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून् ॥ ६८ ॥ (७३)

(एषः) यह [८७-६७] (ग्रनुपस्कृतः) ग्रनिन्दित (सनातनः) सर्वदा मान्य (योधधर्मः प्रोक्तः) योद्धाग्रों का धर्म कहा, (क्षत्रियः) क्षत्रिय व्यक्ति (रणे रिपून धनन्) युद्ध में शत्रुग्नों को मारते हुए (ग्रस्मात् धर्मात् न च्यवेत) इस धर्म से विचलित न होवे ॥ ६८॥

राजा द्वारा चिन्तनीय बातें---

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः। रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्।। ६६ ॥ (७४)

राजा और राजसभा (ग्रलब्धं च + एव लिप्सेत) ग्रलब्ध की प्राप्ति की इच्छा (लब्धं प्रयत्नतः रक्षेत्) प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे (रक्षितं वर्धयेत्) रक्षित को बढ़ावें (च) ग्रीर (वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्) बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गीपदेशक तथा ग्रसमर्थं ग्रनाथों के पालन में लगावे ॥ ६६ ॥ (न॰ प्र०१५२)

#### एतच्चतुर्विषं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् । ग्रस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥ (७५)

(एतत् चतुर्विधम्) यह चार प्रकार का (पुरुषार्थप्रयोजनम्) राज्य के लिए पुरुषार्थं करने का उद्देश्य (विद्यात्) समभना चाहिए, राजा (ग्रत-न्द्रितः) ग्रालस्य रहित होकर (ग्रस्य नित्यं सम्यक् ग्रनुष्ठानं कुर्यात्) इस उद्देश्य का सर्वेव पालन करता रहे।। १००।।

"इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने, स्रालस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य स्रनुष्ठान करे।" (स॰ प्र० १५४)

> अलब्धिमन्छेद्<mark>ष्ण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।</mark> रक्षितं वर्षये**द् वृद्धचा वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥ (७**६)

(दण्डेन म्रलब्धम् + इच्छेत्) दण्ड से म्रप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा (म्रवेक्षया) नित्य देखने से (लब्धं रक्षेत्) प्राप्त की रक्षा (रक्षित वृद्धचा वर्धयेत्) रक्षित की वृद्धि ग्रर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे (वृद्धम्) ग्रीर वढ़े हुए धन को पूर्वोक्त [६६] मार्ग में नित्य व्यय करे क्षा । १०१ ॥

(स० प्र० १४२)

🕸 प्रर्थात् (पात्रेषु निःक्षिपेत्) सुपात्रों एवं योग्य कर्मी में व्यय करे।

"राजाधिराज पुरुप म्रलब्ध राज्य की प्राप्ति की इच्छा दण्ड से, भीर प्राप्त राज्य की रक्षा देखभाल करके, रिक्षत राज्य भीर धन को व्यापार भीर व्याज से वढ़ा भीर सुपात्रों के द्वारा सत्यविद्या भीर सत्यधर्म के प्रचार म्रादि उत्तम व्यवहारों में बढ़े हुए धन म्रादि पदार्थों का व्यय करके सबकी उन्तति सदा किया करें।। (संव विव १५५)

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृत्तपौरुषः । नित्यं संवृतसंवायों नित्यं छिद्रानुसायंरेः ॥ १०२ ॥ (७७)

राजा (नित्यम् + उद्यतदण्डः स्यात्) सदैव न्यायानुसार दण्ड का प्रयोग करने में तत्पर रहे, (नित्यं विवृतपौरुषः) सदैव पराक्रम दिखलाने के लिए तैयार रहे, (नित्यं सवृतसंवार्यः) सदैव राज्य के गोपनीय कार्यों को गुप्त रखे, (नित्यम ग्ररेः छिद्रानुसारी) सदैव शत्रु के छिद्रों = किमयों को खोजता रहे ग्रीर उन त्रुटियों को पाकर ग्रवसर भिलते ही ग्रपने हित को चतुराई से पूर्ण कर ले।। १०२।।

अरन्तु श्रीत्जनाः 'छिद्र' शब्द की ब्युत्पत्ति एवं ग्रथं ७।१०५ के म्रतु-शीलन में द्रष्टव्य है।

> नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नपुद्धिजते जगत्। तस्मात्सर्वाणि मूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्।। १०३॥ (७८)

(नित्यम् + उद्यतदण्डस्य) जिस राजा के राज्य में सर्वदा दण्ड के प्रयोग का निश्चय रहता है तो उससे (कृत्स्नं जगत् उद्विजते) सारा जगत् भयभीत रहता है (तस्मात्) इसीलिए (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (दण्डेनैव प्रसाधयेत्) दण्ड से साधे प्रर्थात् दण्ड के भय से प्रनुशासन में रखे।। १०३।।

ग्रमायवैव वर्तेत न कथंचन मायया। बुद्धयेतारित्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥ (७६)

(कथंचन) कदापि (मायया न वर्तेत) किसी के साथ छल से न वर्ते (ग्रमायया + एव) किन्तु निष्कपट होकर सबसे बर्ताव रखे (च) ग्रीर (नित्यं स्वसंवृतः) नित्यप्रति ग्रपनी रक्षा करके (ग्रिरिप्रयुक्तां मायां बुघ्येत) शत्रु के किये हुए छल को जानके निवृत्त करे।। १०४।। (स० प्र० १५२)

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूमं इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ (८०)

(पर: ग्रस्य छिद्रं न विद्यात्) कोई शत्रु ग्रपने छिद्र ग्रथीत् निर्वलता को न जान सके (तु) ग्रीर (परस्य छिद्रं विद्यात्) स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे (कूर्म+इव ⊹ग्रङ्गानि) जैसे कछुग्रा ग्रपने ग्रंगों को गुप्त रखता है वैसे (म्रात्मनः विवरं गूहेत् रक्षेत्) शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रखे।। १०५।। (स० प्र०१४२)

अर्जुटारेट्डन्सः (१) खिद्र का सर्थ— त्रुटि, कमजोरी, निर्वेलता आदि ऐसी कमी जिससे शत्रु लाभ उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके। 'खिनित यत् तत् खिद्रम् = यूनस्वम्'। 'खिधिर् द्वैषीकरणे' धातु से 'स्फायित क्लिंगः'' (उणादि २.१३) सूत्र से रक् प्रत्यय के योग से खिद्र शब्द सिद्ध होता है।

(२) कौटिल्य द्वारा उद्धत इलोक — मनुका यह इलोक कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र प्रक० १०। ग्र० १४ में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है।

## बकविचन्तयेदथिन्सहवच्च पराक्रमेत्। वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।। १०६ ॥ (८१)

(बकवत् ग्रर्थान् चिन्तयेत्) जैसे बगुला घ्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है वैसे ग्रर्थसंग्रह का विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थं ग्रीर बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए (सिंहवत् पराक्रमेत्) सिंह के समान पराक्रम करे (वृकवत् ग्रवलुम्पेत) चीते के समान छिपकर शत्रु श्रों को पकड़े (च) ग्रीर समीप में ग्राये बलवान् शत्रु श्रों से (शशवत् विनिष्पतेत्) सुस्से [=खरगोश] के समान दूर भाग जाये ग्रीर पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥ १०६॥ (स० प्र० १५२)

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः । तानानयेद्वर्शः सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ ॥ १०७॥ (८२)

(एवं विजयमानस्य) इस प्रकार विजय करने वाले सभापित के राज्य में (ये परिपन्थिन: स्युः) जो परिपंथी स्रर्थात् डाकू-लुटेरे हों (तान्) उनको (साम+म्रादिभिः) साम=मिला देना, दाम=कुछ देकर, भेद=तोड़-फोड़ करके अ (वशम् म्रानयेत्) वश में करे ॥ १०७ ॥ (स० प्र०१४३)

(उपक्रमैं:) इन उपायों से·······

श्च न्यु क्यी क्या : परिपन्यित् का व्याकरण — 'परिपन्यित्,' शब्द 'ख्वन्दिस परिपन्यिपरिपरिणौ पर्यवस्थातिर' (ग्र० १।२।६६) सूत्र के श्रनुसार वेद में निपातन रूप है। पाणिन के श्रनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत-साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है। इसके 'शत्रु', 'चोर', 'डाक्रू', 'लुटेरा', 'कार्यों में रुकावट डालने वाला' ग्रादि ग्रथं हैं।

१०७, ११० श्लोकों में उक्त 'परिपंथी' शब्द का व्यापक प्रयं है। इससे उक डाक्, चोर, लुटेरों का भी ग्रहण है जो प्रजाम्रों के म्रतिरिक्त, राज्य के विकास में रोड़ा ग्रटका कर बाधा डालने वाले, विरोध करके ग्रराजकता फैलाने वाले ग्रीर राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करने वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे व्यक्ति को राजः कठोरता से वश में करे।

# यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमेस्त्रिभः । दण्डेनेव प्रसह्यौतांदछनकैवंशमानयेत् ॥ १०८ ॥ (८३)

(यदि) यदि (ते) वे शत्रु डाक्, चार पदि (प्रथमैः त्रिभिः उपायैः न तिष्ठेयुः तु) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद इन तोन उपायों से शान्त न हों या वश में न ग्रायें तो राजा (एतान्) इन्हें (दण्डेन + एव) दण्ड के द्वारा ही (प्रसद्ध) बलपूर्वक (शनकैः वशम् + ग्रानयेत्) सावधानीपूर्वक वश में लाये।। १०८।।

"ग्रौर जो इनसे वश में न हों तो ग्रितिकठिल दण्ड से वश में करे।" (स॰ प्र०१५३)

#### सामादीनामुपायानां चतुर्गामपि पण्डिताः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्रामिवृद्धये ॥ १०६ ॥

(पण्डिताः) पण्डित लोग (साम + आदीनां चतुर्णाम् + श्रिप उपायानाम्) साम ग्रादि [साम, दाम, भेद, दण्ड] चारों उपायों में (नित्यं राष्ट्र-ग्रभिवृद्धये) राष्ट्र की सतत-वृद्धि के लिए (साम-दण्डो प्रशंसन्ति) साम ग्रीर दण्ड की ही प्रशंस। करते हैं॥ १०६॥

#### अस्तु खरित्जना : १०६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध यह इलोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध है। पूर्व के १०७-१०८ इलोकों में ग्रौर पश्चात् के ११० वें इलोक में 'परिपिन्यियों को वश में करने ग्रीर उन्हें विनष्ट कर देने की चर्चा है। इस प्रकार ११० वां इलोक वाक्यक्रम की दृष्टि से १०८ वें से सम्बद्ध है। बीच में इस इलोक ने उस सम्बद्धता को भक्क कर दिया है ग्रौर साम-दण्ड की प्रशंसा का पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध वर्णन किया है। ग्रतः प्रसंगिवरुद्ध होने से यह प्रक्षिप्त है।
- २. अन्तिविरोध—इस क्लोक में साम आदि चार उपायों में केवल साम और दण्ड को ही प्रशंसनीय माना है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। क्योंकि मनु तो साम, दाम, दण्ड, भेद, चारों उपायों को प्रयोग करने योग्य मानकर उनका विधान करते हैं। जब विधान किया है तो वे मनु के मत में प्रशंसनीय भी हैं [७। ५६, १५६, १६०, १६१, १६४, १६७, १८८]। ठीक इससे पूर्व के १०७ वें क्लोक में पहले साम, दाम, भेद इन तीन उपायों का विधान है। इस अन्तिवरोध के आधार पर भी यह क्लोक प्रक्षिप्त है।

#### यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति। तथा रक्षेन्नुपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ १९०॥ (८४)

(यथा) जैसे (निर्दाता) धान्य का निकालने वाला (६ क्षम उद्धरित धान्यं च रक्षति) छिलकों को ग्रलग कर धान्य की रक्षा करता ग्रर्थात् टूटने नहीं देता है (तथा) वैसे (नृपः) राजा (परिपन्थिनः हन्यात्) डाकू-चोरों को मारे (च) ग्रीर (राष्ट्रं रक्षेत्) राज्य की रक्षा करे।। ११०।। (स० प्र०१५३)

राजा प्रजा का शांषएा न होने दे-

मोहाद्वाजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया। सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥१११॥(८४)

(यः राजा) जो राजा (मोहात् अनवेक्षया) मोह से, अविचार सें (स्वराष्ट्रं कर्षंयति) अपने राज्य को दुबंल करता है (सः) वह (राज्यात्) राज्य से (च) और (सबान्धवः जोवितात्) बन्धुसहित जीने से पूर्व हो (अचिरात्) शीघ्र (अश्यते) नष्ट-अष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥

(स॰ प्र० १५३)

प्रजा के शोषण से हानि---

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा। तथा राज्ञामित प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षगात् ॥ ११२॥ (८६)

(यथा) जैसे (प्राणिनां प्राणाः) प्राणियों के प्राण (शरीरकर्षणात् क्षीयन्ते) शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं (तथा) वैसे ही (राष्ट्रकर्षणात्) प्रजाग्रों को दुवंल करने से (राज्ञाम् + ग्रपि प्राणाः) राजाग्रों के प्राण ग्रर्थात् बलादि बन्धुसहित (क्षीयन्ते) नष्ट हो जाते हैं।। ११२।। (स० प्र०१५३)

श्चान्तु श्वारित्जन्तः राष्ट्रकर्षण से प्रमिप्राय—क्लोक १११-११२ में राष्ट्र-कर्षण से ग्रभिप्राय यह है कि डाकू-लुटेरों द्वारा या स्वयं राजा द्वारा, श्रन्य प्रजाजनों, श्रयवा राजपुरुवों द्वारा किसी भी प्रकार से प्रजा का कोवण-उत्वीड़न होना। जिस प्रजा में शोषण-उत्वीड़न बढ़ जाता है, उस राजा का राज्य रूपी शरीर भी नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र के नियन्त्रण के उपाय---

राष्ट्रस्य सङ्ग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्। मुसंगृहोतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेघते॥ ११३॥ (८७) इसलिए राजा (राष्ट्रस्य संग्रहे) राष्ट्रं की सुव्यवस्था, नियन्त्रण एवं ग्रभितृद्धि के लिए (नित्यम्) सदैव (इदं विधानम् ग्राचरेत्) इस निम्न विणित व्यवस्था [११४-१४४] को लागू करे (हि) क्योंकि (सुसंगृहीत-राष्ट्रः पार्थिवः) सुरक्षित, नियन्त्रित तथा सुव्यवस्थित राष्ट्रं वाला राजा ही (सुखम् + एधते) सुखपूर्वक रहते हुए बढ़ता है--उन्नति करता है।। ११३।।

"इसलिए राजा ग्रीर राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत् सिद्ध हो। जो राजा राज्य पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसको सदा सुख बढ़ता है।"

(स॰ प्र॰ १५३)

नियन्त्रम् केन्द्रो ग्रीर राजकाय लियों का निर्माण-

# ह्योस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥ (८८)

इसलिए (द्वयोः त्रयाणां पञ्चानां मध्ये) दो, तोन स्रौर पांच गांवों के बीच में (गुल्मम् + प्रधिष्ठितम्) एक-एक नियन्त्रण केन्द्र या उन्नत राजकार्यालय बनाये (तथा ग्रामशतानाम्) इसी प्रकार सौ गांव तक कार्या-लयों का निर्माण करे [जैसा कि ७। ११५-११७ में वर्णन है, उसके स्रनुसार] (च) स्रौर इस व्यवस्था के स्रनुसार (राष्ट्रस्य संग्रहं कुर्यात्) राष्ट्र को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं वशीभूत रखे॥ ११४॥

"इसलिए दो, तीन, पांच ग्रीर सी गांव के बीच में एक राज-स्थान रखके जिसमें यथायोग्य भृत्य ग्रीर कामदार ग्रादि राजपुरुषों को रखकर सब राज्यों के कार्यों को पूर्ण करे।" (स० प्र० १५३)

**प्रवर प्रधिकारियों ग्रादि की नियुक्ति**—

ग्रामस्याधिपति कुर्याद्दशग्रामर्गति तथा। विश्वतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च।। ११४॥ (८६)

(ग्रामस्य + ग्राधिपति कुर्यात्) एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे (तथा दशग्रामपतिम्) उन्हीं दश के ऊपर दूसरा (विशति + ईशम्) उन्हीं वीस ग्रामों के ऊपर तोसरा (शत + ईशम्) उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर वीथा (व) ग्रोर (सहस्रपतिम् + एव) उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचनां पुरुष रखे।

ग्रयति जैसे ग्राजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दशग्रामों में एक थाना प्रौर दो थानों पर एक बड़ा थाना भ्रौर उन पांच थानों पर एक तहसील ग्रीर दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है''।। ११४।। (स॰ प्र॰ १४३)

#### ग्रामदोषान्तमृत्पन्नान्ग्रामिकः गनकैः स्वयम् । शंसेव ग्राम शोशाय दशेशो विश्वतीशिन ।। ११६ ॥ (६०)

इसी प्रकार प्रबंध करे ग्रीर ग्राजा देवे कि (ग्रामिकः) वह एक एक ग्रामों के पति (ग्रामदोषान् समुत्पन्नान्) ग्रामों में नित्पप्रति जो-जो दोप उत्पन्न हों उन-उनको (शनकै: स्वयम्) गुप्तता से (ग्रामदशेशाय) दशग्राम के पति को (शंसेत्) विदित कर दे, ग्रौर (दशेश:) वह दश ग्रामाधिपति उसो प्रकार (विंशति + ईशिने) बीस ग्राम के स्वामी को दशग्रामों का वर्तनान [ = की स्थिति ] नित्यप्रति जनादेवे ।। ११६ ।। (म० प्र०१५३)

## विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयत्। शंसेद ग्रामशतेशस्त्र सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ (६१)

(तु) स्रोर (विशतीशः) बोस ग्रामों का स्रिधिपति (तत् सर्वम्) बीस ग्रामों के वर्तमान को [=बीस ग्रामों की स्थिति को] (शतेशाय निवेदयैत्) शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे (शतेशः तु) वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति (स्वयम्) ग्राप (महस्राधिपति, ग्रर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को (शंसेत) सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें।। ११७॥

(स॰ प्र॰ १५३)

## अनुचीलनः

#### राज्यसंरक्षण के लिए मनुप्रोक्त नियन्त्रणकेन्द्र-कार्यालय-व्यवस्था-तालिका

१—केन्द्रीय कार्यालय राजघानी म्रर्थात् राजा	का किला (७।६६-७६)
२—प्रत्येक नगर में एक सचिवालय	(७।१२१)
३—सौ गांवों पर मुख्य कार्यालय	(७।११४-१ <i>१७</i> )
४ – वीस गांवों पर कार्यालय	( ,, ,, )
५—दश गांवों पर कार्यालय	( ,, ,, )
६—पांच गांवों पर कार्यालय	( ,, ,, )

#### ७-दो गांवों पर फिर एक कार्यालय

( ,, ,, )

ाष्ट्र स ५३० स

[म्रपने से ऊपर-ऊपर के कार्यालयों को प्रतिदिन की गतिविधियों से सूचित करें, (७। ११५-११७)]

> यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिमिः। अन्नपानेन्घनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्।। ११०।।

(ग्रामवासिभः) ग्रामवासियों द्वारा (प्रत्यहम्) प्रतिदिन (यानि अन्न + पान + इन्धन + ग्रादीनि राजप्रदेयानि) जो-जो ग्रन्न, पेयवस्तु, ईन्धन ग्रादि राजा को देय पदार्थ हैं (तानि) उन्हें (ग्रामिकः ग्रवाप्नुयात्) गाँव का ग्रध्यक्ष ग्रहण कर ले॥ ११८॥

#### वशी कुलं तु भुञ्जीत विशो पञ्च कुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११६ ॥

(दशी) दश ग्रामों का श्रिषपित (कुल भुञ्जीत) एक 'कुल' की भूमि का ग्रपने लिए उपयोग करे (च) ग्रीर (विशी) बीस गांव का स्वामी (पञ्चकुलानि) पांच 'कुलों' की भूमि को (ग्रामशताध्यक्षः ग्रामम्) सौ ग्रामों का स्वामी एक 'गांव' को (सहस्राधिपितः पुरम्) हजार गांवों का स्वामी एक 'नगर' को ग्रपने लिए उपयोग करें।। ११६।।

अर्जुर्योट्डन्: कुल का मर्य — 'कुल' का यहां विशेष स्रभिप्राय है। हरीत स्मृति में दी क्यी परिभाषा के अनुसार छह बैलों द्वारा एक साथ चलाये जाने वाले हल को 'मध्यम हल' कहा जाता है। ऐसे दो हलों अर्थात् बाहर बैलों द्वारा जोती जाने वाली भूमि को एक 'कुल' कहा जाता है।

११८-११६ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध — ये दोनों श्लोक पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध हैं। पूर्वापर श्लोकों का प्रसंग राज्यव्यवस्था के लिए अध्यक्षों की नियुक्ति और उनकी कार्य करने की प्रणाली का है। ११७ वें में 'सहस्रपित' तक की कार्यविधि का उल्लेख है, फिर ''तेषां ग्राम्याणि कार्यां कि के कि उन्हों कि कि

सम्बद्ध है। इन दोना श्लोकों ने उस सम्बद्धता श्रौर पूर्वापर प्रसंग को भंगकर दिया है। श्रौर इनमें कुछ श्रध्यक्षों की श्राजीविका का पूर्वापर-प्रसंग के विरुद्ध वर्णन है, अतः ये प्रक्षिप्त हैं।

२. अन्तर्विरोध—(१) मनुने प्रजाधों से केवल राजा को ही कर लेने का विधान किया है [७।१२७-१३०]। इन क्लोकों में कुछ ग्रध्यक्षों द्वारा ग्रपने लिए पदार्थों के लेने का विधान उक्त ब्यवस्था के विरुद्ध है (२)७।१२५ में राज्य में नियुक्तः पुरुषों की जीविका निश्चित करने का विधान है, यह व्यवस्था उसके विरुद्ध है। (३) इस प्रकार की यह व्यवस्था मनुसम्मत नहीं लगती। क्योंकि इन क्लोकों में केवल कुछ श्रम्यक्षों के लिए ही श्राजीविका दर्शायी है, श्रन्य श्रमात्य श्रादि की जीविकाशों का वर्णन नहीं दिखाया। यह श्रपूर्णता भी इसे मनुभिन्न सिद्ध करती है। मनु ने तो सभी राजपुरुषों के लिए वेतन देने की एक व्यवस्था दर्शा दी है [७। १२४], जो सभी पर पूर्णं रूप से लागू होती है। इन अन्तिवरोधों के श्राधार पर भी ये मौलिक सिद्ध नहीं होते।

#### तेषां ग्राम्यारिष कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि । राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येवतन्द्रितः ॥ १२० ॥(६२)

(तेषाम) उन पूर्वोक्त भ्रष्टयक्षों [११६-११७] के (ग्राम्याणि कार्याणि) गांवों से सम्बद्ध राजकार्यों को (च) ग्रीर (पृथक् कार्याणि एव हि) ग्रन्य भिन्न-भिन्न कार्यों को भी (राज्ञ: + ग्रन्य: स्निग्ध: सचिव:) राजा का एक विश्वासपात्र प्रमुख मन्त्री [७। ५४] (ग्रतन्द्रित:) ग्रालस्यरहित होकर (पश्येत्) देखे ।। १२०।।

"ग्रीर एक-एक, दश दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापित वैसे करें जिनमें एक राजसभा में ग्रीर दूसरा ग्रध्यक्ष ग्रालस्य छोड़कर सब न्याया-धीश राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें"। (स० प्र०१५३)

आनु शिल्डन : मनु ने विभिन्न श्लोकों में समुचित राज्य-संचालन के लिए तीन सभाग्रों की संरचना का तथा उनमें काम करने वाले प्रधिकारियों का कथन किया है। सुगमता के लिए उन्हें एक त्र स्थान पर प्रग्रिम तालिका के रूप में दिखाया जा रहा है। ग्राजकल भी भारत में इसी प्रणाली का अनुसरण किया जा रहा है। ग्राजकल किया जा रहा है। ग्राजकल तीन पालिकाएं राज्यसम्बन्धी व्यवस्थाग्रों को निपटाती हैं,

## 🍀 🔑 अस्ति है। अस्ति स्वर्ग कार्ल कार्ल परिष**्),**

- (२) कार्यंपालिका (विधानों एवं नियमों को क्रियात्मक रूप देने वाले ग्रिध-कारी/कर्मचारियों का वर्ग),
- (३) न्यायपालिका (न्याय करने वाले स्रिधिकारी गण)। तालिका इस प्रकार है

#### [धर्म का निरचय, धर्मसंशय में निर्णय देना १२। १०८, ११०, ११२, जिसमें दश स्रीर क-दश सदस्यों की परिषद् व उसके सदस्य गृहस्थाश्रम का एक प्रतिनिधि विद्यान् धर्मनिर्णय समा या विधानपरिषद् वानप्रस्थ आश्रम का एक प्रतिनिधि ०. न्यायशास्त्र का जाता, तक ७. ब्रह्मचयित्रम का एक प्रतिनिधि कम से कम तीन विद्वान् होते हैं] कारण-ग्रकारण का ज्ञाता ५. निरुक्त शास्त्र का ज्ञाता मनुप्रोक्त राज्यसंचालन के लिए सभा/मन्त्री/ग्राधिकारी/कर्मचारी-प्रणाली (तालिका) ख-तीन सदस्यों की परिषद १. ऋकविद्या का जाता सामविद्या का जाता धमंशास्त्र का जाता २. यजुरिद्धा का ज्ञाता करने वाला विद्वान् राजा [मुस्य राजसभाष्ट्यक्ष, कोई भी विद्वान्,जितेन्द्रियक्षत्रिय ७ । २—७] बिद्वान् == हेत्क न्याय करने का कार्यं ट। १, ११-१. राजा या राजा का मिष्ठकत विद्यान् ३. मुकद् मोंके मनुसार उस-उस विषय २. वेदविद्यात्रों के जाता तीन विद्यान् मुख्य न्यायाचीश (८।१,११) बह्मसमा या न्यायसमा के सलाहकार (८।१) ३. सहयोगी प्रधिकारी एवं दूताधिकारी [ये सब एक प्रमुख मन्त्री के ग्रधीन होंगे १. ७-८ प्रमुख मन्त्री, मावश्यकतानुसार अधिक भी। (७। १४-१७, ६०-६१) ग्रौर प्रत्येक प्रमुख मन्त्री ग्रपने-ग्रपने विभागों [राज्य संचालन का कार्यं, नीति निर्धारण] (७।६२,६३,६८) (०११-४११।०) १० कर्मचारी गण (७।⊏१,१२०,१२२-१२५) तया कर्मचारियों का निरीक्षणकरे,(७।१२०)] (१३ '०३ । ६) ४. विभागों के ग्रध्यक्ष (७। ८१) राजसमा ४. सहस्रगमप्रधान ७. बोसग्रामप्रधान ६. शतग्रामप्रधान <. दश्ग्रामप्रधान २ क्रवर सचिव एकंग्रामप्रधान

नगरों में सचिवालय का निर्माण-

**@**:

### नगरे नगरे चंकं कुर्यात्सर्वार्थं चिन्तकम्। उच्चं: स्थानं घोररूपं नक्षत्रागामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ (१३)

राजा (नगरे नगरे) बड़े-बड़े प्रत्येक नगर में (एक म्) एक-एक (नक्ष-त्राणां ग्रहम् इव) जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा है इस प्रकार विशाल ग्रीर देखने में प्रभावकारी (घोररूपम्) भयकारी ग्रर्थात् जिसे देखकर या जिसका ध्यान करके प्रजाग्रों में नियमों के विरुद्ध चलने में भय का ग्रनुभव हो (सर्व + अर्थचिन्तकम्) जिसमें सब राजकार्यों के चिन्तन ग्रीर प्रजाग्रों की व्य-वस्था ग्रीर कार्यों के संचालन का प्रबन्ध हो ऐसा (उच्चै: स्थानम्) ऊंचा भवन ग्रर्थात् सचिवालय (कूर्यात्) बनावे ॥ १२१ ॥

"बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर, उच्च श्रीर विशाल जैसा कि चन्द्रमा ह, वैसा एक-एक घर बनावे। उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें। जिन नियमों स राजा श्रीर प्रजा की उन्नति हो वैसे-वैसे नियम श्रोर विद्या प्रकाशित किया करें"। (स० प्र० १४४)

राजकर्मचारियों के ग्राचरण का निरीक्षण-

## स ताननुपरिकामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् । तेषां वृतं परिणयेत्सस्यप्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥ (६४)

(सः) वह [७। १२० में वाएत] सचिव = प्रमुख मन्त्री (तान् सर्वान् सदा स्वयम् अनुपरिकामेत्) उन निर्मत [७। १२१] सब सचिवालया का सदा स्वयं घूम-फिरकर निरीक्षण करता रहे (च) और (राष्ट्रे) देश में (तत्+चरैः) अने दूतों के द्वारा (तेषां वृत्तं परिणयेत्) वहां नियुक्त राज-पुरुषों के आचरण की गुप्तरीति से जानकारी प्राप्त करता रहे।। १२२।।

"जो नित्य घूमने वाला सश्ःपित हो उसके ग्रधीन सब गुप्तवर ग्रीर दूतों को रखे, जो राजपुरुष ग्रीर भिन्न-भिन्न जाति के रहें, उन स सब राज ग्रीर प्रजा पुरुषों के सब दोष ग्रीर गुण गुप्तरीति से जाना करे। जिनका ग्रपराघ हो उनको दंड ग्रीर जिनका गुए हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे"। (स० प्र० १४५—१५६)

रिश्वतलोर कर्मचारियों पर इष्टि रखे-

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । मृत्या भवन्ति प्रायेगा तेम्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३॥ (६४) (हि) क्योंकि (प्रायेण) प्रायः (राज्ञः रक्षाधिकृताः भृत्याः) राजा के द्वारा प्रजा को सुरक्षा के लिए नियुक्त राजसेवक (परस्वादायिनः) दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतलोर ग्रीर (शठाः) ठग या घोला करने वाले (भवन्ति) हो जाते हैं (तेम्यः) ऐसे राजपुरुषों से (इमाः प्रजाः रक्षेत्) अपनी प्रजाओं की रक्षा करे अर्थात् ऐसे प्रयत्न करे कि वे प्रजाओं के साथ या राज्य के साथ ऐसा बर्ताव न करपायें।। १२३।।

"राजा जिनको प्रजा की रक्षा का ग्रधिकार देवे वे धार्मिक, सुपरी-क्षित विद्वान, कुलीन हों। उनके ग्राधीन प्रायः शठ ग्रौर परपदार्थ हरने वाले चोर-डाकुग्रों को भी नौकर रखके, उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके, उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत करें"। (स० प्र०१५६)

रिश्वतखोर कर्मचारियों को दण्ड-

# ये कार्यिकेश्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः। तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्॥ १२४॥ (६६)

(पापचेतसः) पापी मन वाले (ये) जो रिश्वतखोर स्रौर ठग राजपुरुष (कार्यिकेम्यः) यदि काम कराने वालों स्रौर मुकद्दमे वालों से (ग्रर्थं गृह्णियुः एव) फिर भी धन स्रर्थात् रिश्वत ले ही लें तो (तेषां सर्वस्वम् + स्रादाय) उनका सब कुछ स्रपहरण करके (राजा) राजा (प्रवासनम् कुर्यात्) उन्हें देश निकाला दे दे ।। १२४ ।।

"जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सर्कें। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाये तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे।" (स० प्र० १५६)

कर्मचारियों के वेतन का निर्धारण-

राजा कर्ममु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च । प्रत्यहं कल्पयेद्दवृत्ति स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ (६७)

(राजा) राजा (कर्मसु युक्तानाम्) राजकार्यों में नियुक्त राजपुरुषों (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च) ग्रीर (प्रेष्यजनस्य) सेवकवर्ग की (कर्म + ग्रनुरूपतः) पद ग्रीर काम के ग्रनुसार (प्रत्यहम्) प्रतिदिन की (स्थानं वृत्ति कल्पयेत्) कर्मस्थान ग्रीर जीविका निश्चित कर दे।। १२४।।

"जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भलीभांति हो स्रीर वे भलीभांति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा-भूमि राज्य की स्रोर से मासिक वा वार्षिक स्रथवा एक बार मिला करे। स्रीर जो वृद्ध हों उनको भी स्राधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रखे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे परचात् नहीं। परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुणा के अनुसार स्रवश्य देवे। स्रीर जिसके वालक जब तक समर्थ हों स्रीर उनको स्त्री जीती हो तो उन सब के निर्वाहार्थ राज की स्रोर से यथा-योग्य धन मिला करे। परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रखें"। (स० प्र०१६६)

## पणी देयोऽवकुष्टस्य षडुत्कुष्टस्य वेतनम् । षाध्मासिकस्तथाच्छादो घान्यद्रोणस्तु मासिकः॥१२६॥(६८)

(प्रवकृष्टस्य पर्णः) निम्नस्तर के भृत्य को कम से कम एक पण ग्रीर (उत्कृष्टस्य षट्) ऊचे स्तर के भृत्य को छः पर्ण (वेननं देयः) वेतन प्रतिदिन देना चाहिए (तथा) तथा उन्हें (षाण्मासिकः ग्राच्छादः) प्रति छः महीने पर ग्रोढ़ने पहरने के वस्त्र [=वेशभूषा] (तु) ग्रीर (मासिकः धान्यद्रोणः) एक महीने में एक द्रोण [६४ सेर] धान्य=ग्रन्न, देना चाहिए।। १२६।।

अद्भुटारेट्डन् : कीटिल्य के श्रनुसार मन्त्रियों से सेवकों तक का मरण-पोश्ण ध्यय—श्राचार्य कीटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर के श्रनुसार राजा के परिजनों से लेकर, मन्त्रियों, श्रमात्यों, श्रध्यक्षों, निम्नस्तरीय कर्मचारियों तक की भृति = भरण-पोषण व्यय या वेतन का निर्धारण किया है। कीटिल्य के श्रनुसार धन श्रीर भूमि दोनों ही भृति के रूप में प्रदान करनी चाहिएँ। भूमि के सम्बन्ध में यह शतं रखी है कि उसे कोई बेच नहीं सकता, न गिरवी रख सकता है [प्रक० १७। अ० १]। उन्होंने भृति या वेतन का निर्धारण प्रमुखरूप से निम्न प्रकार किया है—

- १. ऋत्विक्, म्राचार्यं, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, भीर रानी, इनको प्रतिवर्षे प्रइतालीस हजार परा दिये जायें।
- २. द्वारपाल, अन्तःपुर का अधिकारी, श्रायुषाष्यक्ष, समाहत्ती कर संग्रह का अधिकारी, कोष्ठागाराप्यक्ष, इनको चौबीस हजार पण प्रतिवर्ष ।
- ३. राजकुमार के भाई, उपसेनापित, व्यापाराष्यक्ष, नगराष्यक्ष, कृषि-ग्रध्यक्ष ग्रादि को एक **ह**जार पर्गा प्रतिवर्ष ।
- ४. प्रथम श्रेणी के वास्तुकर्मविशेषज्ञ, हस्ति-प्रश्व-रथ-ग्रध्यक्ष, दण्डाधिकारी भाठ सौ पण वेतन प्रतिवर्ष।

इसी प्रकार सेना के विविध विभागीय भ्रष्यक्षों को, सैन्य-शिक्षकों को दो दो हजार पएा से भ्राठ सौ पण प्रतिवर्ष। शिल्पी, श्राय-विभाग के कर्मचारी, क्लर्क, गुप्त-चर, वैद्य, गायक, वादक, श्रादि को एक हजार पण से एक सौ वीस पएा तक प्रतिवर्ष वेतन का विधान किया है [प्र०६१। ग्र०३]। कर-ग्रहण सम्बधी व्यवस्थाएं—

> क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्। योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य विशाजो दापयेत्करान्॥ १२ ॥ (६६)

(क्रय-विक्रयम्) खरोद और विक्री (अध्वानम्) मार्ग की दूरी आदि (भक्तम्) भोजन (च) तथा (सपरिव्ययम्) भरण-पोषएा का व्यय (च) और (योगक्षेमम्) लाभ वस्तु की प्राप्ति एवं सुरक्षा और जनकल्याण (सप्रेक्ष्य) इन सब बातों पर विचार करके (विणिज: करान् दापयेत्) राजा को व्यापारी से कर लेने चाहिएं।। १२७।।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मगाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेश्सततं करान् ।।१२८।। (१००)

(यथा) जैसे (राजा) राजा (च) ग्रीर (कर्मणां कर्ता) कर्मी का कर्त्ता राजपुरुष व प्रजाजन (फलेन युज्येत) सुखरूप फल से युक्त होवे (तथा) वैसे (ग्रवेक्ष्य) विचार करके (नृपः) राजा तथा राज्यसभा (राष्ट्रे करान् सततं कल्पयेत) राज्य में कर-स्थापन करे।। १२८।।(स० प्र० १५६)

> ययाल्पाल्पमदनःयाद्यं वार्योकोवत्सषट्मदाः। तयाल्पाल्पो ग्रहोतव्यो राष्ट्राद्वाज्ञाब्दिकः करः ॥१२६॥(१०१)

(यथा) जैसे (वार्योक:-वत्स-षट्पदाः) जोंक, बछड़ा ग्रौर भंवरा (ग्रहा + ग्रहाम् ग्राद्यम् अदिन्ति) थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थं को ग्रहण करते हैं (तथा) वेपे (राज्ञा राष्ट्रात्) राजा प्रजासे (ग्रह्यः + ग्रह्पः) थोड़ा-थोड़ा (ग्राब्दिकः करः गृहीतव्यः) वाषिक कर लेवे ।। १२६ ।।

(स० प्र० १५६)

पञ्चाशाङ्गाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः । धान्यानामध्यमो भागः षष्ठो द्वादश एव या ॥ १३० ॥ (१०२)

(राजा) राजा को (पशु-हिरण्ययोः) पशुम्रों ग्रौर सोने के लाभ में से (पञ्चःशत् भागः) पचासवां भाग, ग्रौर (धान्यानां षष्ठः, ग्रष्टमः वा द्वादशः एवं ग्रादेयः) म्रन्नों का छठा, ग्राठवां या ग्रधिक से म्रधिक बारहवां भाग ही लेना चाहिए ॥ १३०॥

"जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण ग्रौर चादी का

जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल ग्रादि ग्रन्नों में छठा ग्राठवाँ वा बारहवां भाग लिया करे, ग्रीर जो घन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान ग्रादि खाने-पीने ग्रीर धन से रहित होकर दुःख न पावें।'' (स० प्र०१६४)

> म्राददोताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसिंपषाम् । गन्धौषिधरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ (१०३)

(स्रथ) स्रोर (द्वांस-सर्विषाम्) गोंद, मधु, घी (च) स्रोर (गन्ध-ग्रोषिध-रसानाम्) गंध, स्रोषिध, रस (च) तथा (पुष्य-मूल-फलस्य) फूल, मूल स्रोर फल, इनका (षड्भागम् स्राददीत) छठा भाग कर में लेवे ।।१३१॥

> पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च। मुन्मयःनां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।। १३२ ॥ (१०४)

(च) ग्रीर (पत्र-शाक-तृणानाम्) वृक्षपत्र, शाक, तृगा (चर्मणां वैदलस्य चमड़ा, बांसनिर्मित वस्पुणं (मृण्नयानां भाण्डानाम्) मिट्टी के बने बर्तन (च) ग्रीर (सर्वस्य ग्रश्मयस्य) सब प्रकार के पत्थर से निर्मित पदार्थ, इनका भी छठा भाग कर ले।। १३२।।

अस्तु श्री टिडन् : मनुशेक्त कर-व्यवस्थाएं सर्वप्राचीन एवं सर्वाधिक मान्य—मनु सर्वप्रथम समाजव्यवस्थाग्रों के प्रवर्तक थे। एक राजा के रूप में उन्होंने इन व्यवस्थाश्रों को लागू कर समाज को व्यवस्थित एवं संगठित किया। ग्रन्य व्यवस्थाग्रों की तरह जिस कर-व्यवस्था का उन्होंने निर्धारण किया था, लगभग वैसी हो ग्राज तक चलती ग्रा रही है। इससे ज्ञात होता है कि मनु की व्यवस्थाग्रों ग्रीर मनुस्मृति की समाज में सर्वोच्च मान्यता थी। इसकी पृष्टि कौटिल्य ग्रथंशास्त्र के निम्न वचनों से होती है—

"मात्स्यन्यायाभिमूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजानं चिकिरे। धान्य-षड्मागं पण्य-दशमागं हिरण्यं चास्य भागक्षेयं प्रकल्पयामासुः । तेन भृताः राजानः प्रजानां योग-क्षेमवहाः । तेवां किल्विवं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवशस्य प्रजानाम् ।"

प्रिक० ८। ग्र० १२]

प्रयात्—'जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया। इस प्रन्याय से पीड़ित हुई प्रजाग्नों ने अपनी सुरक्षा ग्रौर कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को ग्रपना राजा नियुक्त किया। ग्रौर तभी से प्रजाग्नों ने ग्रपनी खेती की उपज का छठा माग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा कुछ सुवणं राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया। इस कर को पाकर राजाग्नों ने प्रजाग्नों की सुरक्षा ग्रौर कल्याण की सारी जिम्मेदारी ग्रपने ऊपर स्वीकार की। इस प्रकार ये निर्धारित 'कर' ग्रौर 'दण्ड'-व्यव-

स्थाएं प्रजाश्रों के कष्टों को निवारण करने श्रौर उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

#### च्चियमारगोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियारकरम्। न च श्रुघाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्।। १३३।।

(म्रियमाएा: + म्रिप राजा) मरने जैसी स्थिति में पहुंचा हुम्रा भी राजा (श्रोतियात् करं न म्राददीत) वेदपाठी विद्वान् से करं न ले (च) म्रीर (म्रस्य विषये वसन्) इसके राज्य में रहते हुए (श्रोतियः क्षुधान संसीदेत्) कोई वेदपाठी भूख से न मरने पाये॥ १३३॥

#### यस्य राजस्तु विष्ये श्रोत्रियः सीदित शुघा। तस्यापि तत्सुघा राष्ट्रमिष्टरेशुंव सीदिति ॥ १३४॥

(यस्य राजः तु विषये) जिस राजा के राज्य में (श्रोतियः) वेदपाठी विद्वान् (क्षुत्रा सीदित) भूख से पीड़ित या मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। (तस्य तत् राष्ट्रम् ग्रिप) उसका वह देश भी (ग्रचिरेण + एव क्षुघा सीदित) शीघ्र ही भूख ग्रंथित् दुर्भिक्ष से पीड़ित हो जाता है।। १३४।।

#### भृतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्ति धम्या प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतःचैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

इसलिए (ग्रस्य श्रुत-वृत्ते विदित्वा) इस विद्वान् के शास्त्रज्ञान ग्रीर ग्राचरण को जानकर (घम्याँ वृत्ति प्रकल्पयेत्) जीविका निश्चित कर दे (च) ग्रीर (पिता ग्रीरसं पुत्रम् + इव) जैसे पिता ग्रपने सगै पुत्र की रक्षा करता है वैसे ही (एनं सर्वतः संरक्षेत्) इस वेदपाठी की सब तरह से सुरक्षा करे॥ १३ ४॥

#### संरक्ष्यमाणो राज्ञो यं कुरुते धर्ममन्वहसू। तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च॥१३६॥

(राज्ञा संरक्ष्यमाणः) राजा के द्वारा सुरक्षित रहता हुमा वेदपाठी विद्वान् (ग्रन्वहम्) प्रतिदिन (यं धर्मं कुरुते) जिस धर्मं का पालन करता है (तेन) उस धर्म से (राज्ञः द्रविणम् ग्रायुः वर्धते) राजा के धन, ग्रायु बढ़ते हैं (च) ग्रीर (राष्ट्रम् + एव) राष्ट्र की भी ग्रभिवृद्धि होती है ॥ १३६॥

अन्तुर्शीत्त्रनाः १३३ से १३६ श्लोक निम्न 'श्राधारों' पर प्रक्षिप्त सिंद होते हैं—

१. प्रसंगिबरोष—ये क्लोक पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध हैं। पूर्वापर क्लोकों का प्रसंग व्यापारियों से किस प्रकार, किन वस्तुओं पर थोड़ा या बहुत कर लेने का है। बीच में श्रोतिय से करन लेने का वर्णन करने वाले ये क्लोक उस प्रसंग को भंग कर रहे हैं, और इनका वर्णन भी श्रप्रासंगिक है। प्रतः इस झाधार पर ये प्रक्षिप्त हैं।

- २. अन्तिविरोध—(१) १३५-१३६ श्लोकों में श्रीत्रिय की वृत्ति निश्चित करने का कथन ब्राह्मण के लिए नियत ग्राजीविकाग्रों के विश्द्ध है। ब्राह्मण के लिए याजन, ग्रध्यापन ग्रीर दानग्रहण ये ग्राजीविकायों कही हैं, वृत्ति लेना नहीं [१।८८; १०।७५,७६]। यदि वह ब्रह्मचारी है तो भिक्षा का विधान है [२।१५८-१६० (१८३-१८५)]। इन श्लोकों की व्यवस्था उक्त व्यवस्था के भी विश्द्ध है, ग्रतः ये श्लोक तथा इनसे सम्बद्ध पूर्व के श्लोक इस ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं।
- ३. शैलीगत ग्राधार—१३४ ग्रीर १३६ श्लोकों की शैली ग्रातिशयोक्तिपूर्ण एव ग्रयुक्तियुक्त है। मनु की शैली इस प्रकार की त्रुटियों से युक्त नहीं है।

#### याँकि चिदिष वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्। व्यवहारेगा जीवन्तं राजा राष्ट्रे प्रथम्जनम् ॥ १३७ ॥ (१०५)

(राष्ट्रे) राज्य में (ज्यवहारेण जीवन्त पृथक्जनम्) व्यापार से जोविका करने वाले प्रत्येक व्यक्ति से (राजा) राजा (यत् किंचित् + प्रिप) जो कुछ भी (वर्षस्य करसंज्ञितम्) वार्षिक करके रूप में निर्घारित होता हो वह भाग (दापयेत्) राज्य के लिए दिलवाये प्रर्थात् ग्रहण करे।। १३७।।

#### कारुकाञ्छिल्पिनःचैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः । एकैकं कारयेत्कमं मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

(कारुकान्) कारीगर (शिल्पिनः) कलाकार (च) तथा (शूद्रान् म्रात्मोप-जीविनः) ऐसे शूद्र जो सेवान करके प्रपने आश्रित किसी कार्य से म्राजीविका करते हैं, उनसे (महीपितः) राजा (मासि मासि) प्रत्येक मास में (एकं-एकं कर्म कारगेत्) एक-एक काम करवा ले ग्रर्थात् कर न ले ॥ १३८॥

#### आनुशीलानाः १३५ वाँ श्लोक निम्न 'म्राधार' पर प्रक्षिप्त है-

१ अन्तिवरोध— (१) १०।१२० वें क्लोक में कारीगरों, शिलिपयों, शूढ़ों आदि से मुफ्त काम कराना केवल राजाकी आपत्कालीन स्थिति में ही विहित है। यहां मास-मास में एक-एक काम कराने का कथन उसके विरुद्ध है। (२) कारीगरी आदि कार्य वैश्यों के हैं और शूद्र भी यदि कोई आत्मोपजीविका अर्थात् अपने आपत्काल में अपने आश्रय का [१०।६६] कोई कारीगरी कोई साधन अपनाता है तो वह मी व्यापार में ही गिना जायेगा। ऐसे छोटे व्यापारियों से भी ७। १३० में थोड़ा कर लेने का विधान है। यहां काम कराने का विधान उसके भी विरुद्ध है। इन अन्तिवरोधों के आधार पर यह स्लोक प्रक्षिन्त है।

करग्रहण में प्रतितृष्णा हानिकारक—

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया । उण्डिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥१३६॥(१०६) (स्रितितृष्णया) स्रितिलोभ से (आत्मनः) स्रपने क्ष (परेषां मूलम्) दूसरों के सुख के मूल को (न उच्छिन्दात्) उच्छिन्न प्रर्थात् नष्ट कदापि न करे (हि) क्योंकि जो + (मूलम् उच्छिन्दन्) व्यवहार श्रीर सुख के मूल का छेदन करता है वर् (स्रात्मानं च तान् पीडयेत्) प्रपने श्रीर उन को पीड़ा ही देता है।। ११६।। (स० प्र०१४६)

#### **% (च) ग्रौर**⋯⋯

+ (आत्मनः) ग्रवने .....

तीक्ष्णश्चेव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्चेव मृदुश्चेव राजा भवति संमतः॥ १४०॥ (१०७)

(महीपितः) जो महीपित (कार्यं वीक्ष्य) कार्यं को देखकर (तीक्ष्णः च मृदुः एव स्यात्) तीक्ष्ण और कोपल भी होवे (तीक्ष्णः च एव) वह दुष्टों पर तीक्ष्ण (च) और (भृदुः एव) श्रेष्ठों पर कोमल रहने से (राजा संमतः भवति) ग्रतिमाननीय होता है ॥ १४०॥ (स॰ प्र०१५६)

रुग्णावस्था में प्रधान ग्रमात्य को राजसभा का कार्य सौपना —

ग्रमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् । स्थापयेदासने तस्मिन्धिन्नः कार्येक्षरो नृणाम् ॥ १४१ ॥ (१०८)

(नृणां कार्येक्षणे खिन्नः) प्रजा के कार्यों की देखभाल करने में रुग्णता मादि के कारण प्रशक्त होने पर (तिस्मिन् ग्रासने) उस अपने म्रासन पर (धर्मजम्) न्यायकारी धर्मज्ञाता (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (दान्तम्) जितेन्द्रिय (कुलोद्गतम्) कुलोन (ग्रमात्यमुख्यम्) सबसे प्रधान ग्रमात्य = मन्त्री को (स्थापयेत्) बिठा देवे ग्रर्थात् रुग्णावस्था में प्रधान ग्रमात्य को ग्रपने स्थान पर राजकार्य संपादन के लिए नियुक्त करे।। १४१।।

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तंब्यमात्मनः । युक्तश्चेवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥ (१०६)

(एतम्) इस प्रकार (सर्वम् इतिकर्त्तव्यं विधाय) सब राज्य का प्रवन्ध करके (युक्तः) सदा इसमें युक्त (व) ग्रीर (ग्रप्रमत्तः) प्रमाद रहित होकर (ग्रात्मनः इमाः प्रजाः परिरक्षेत्) ग्रपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे।। १४२।। (स० प्र०१५७)

> विक्रोशन्त्योयस्य राष्ट्राद्धियन्ते बस्युभिः प्रजाः । संपद्ययः समृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥१४३॥(११०)

(यस्य सभृत्यस्य संपर्यतः) जिस भृत्यसिहत देखते हुए राजा के (राष्ट्रात्) राज्य में से (दस्युभिः विक्रोशन्त्यः प्रजाः ह्रियन्ते) डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थं ग्रीर प्राणों को हरते रहते हैं (सः मृतः) वह जानो भृत्य-ग्रमात्यसिहत मृतक है (न तु जीवित) जीता नहीं है ग्रीर महादुःख पाने वाला है ॥ १४३ ॥ (स॰ प्र०१५७)

## क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानःमेव पालनम्। निर्विष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥ (१११)

इसलिए (क्षत्रियस्य) राजाओं का (प्रजानाम् + एव पालनम्) प्रजा-पालन ही करना (परः धर्मः) परम धर्म है (निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा) ग्रीर जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है [७ । १२७-१३२] ग्रीर जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा (धर्मण युज्यते) धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरोत दुःख को प्राप्त होता है। [७ । ३०६-३०६] ।। १४४ ।। (स० प्र० १४७)

राजा के दैं।निक कर्त्तव्य---

## उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः । हुताग्निर्वाह्यणांश्चाच्यं प्रविशेत्स ग्रुभां सभाम् ॥१४५॥(११२)

(पिश्चमे यामे उत्थाय) जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ (कृत-शौचः) शौच श्रौर (समाहितः) सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान (हुताग्निः) श्रग्निहोत्र (ब्राह्मणान् श्रच्यं) विद्वानों का सत्कार (च) श्रौर भोजन करके (गुभां सभां प्रविशेत) भीतर सभा में प्रवेश करे।। १४५।। (स० प्र०१५७)।

अस्तु श्री ट्यां (१) 'बाह्मणान् अर्घ' का सही प्रिमिशय—प्रस्तुत इलोक में राजा की नैत्यिकचर्या का वर्णन करते हुए 'ब्राह्मणान् च अर्घ्यं' शब्दों का प्रयोग है। यहां कुछ टीका एव भाष्यकार—'राजा प्रातःकाल ब्राह्मणों की पूजा करे'— यह अर्थ करते हैं, जो मनुसम्मत नहीं है। ब्राह्मण, वेदिवद्याओं के विद्वानों को कहते हैं। इसके लिए सप्रमाण विवेचन १। ८८ पर द्रष्टिंग्य है। 'अर्च् पूजायाम्' से 'अर्घ्यं' प्रयोग सिद्ध हुआ है। यहां अर्चा या पूजा का अर्थं 'सरकार-सम्मान या अभिवादन' ही मनु को अभिन्नेत है। इस प्रकार इसका अर्थं हुआ—'राजा प्रातःकाल उठकर विद्वानों का अभिन

१. [प्रचलित अर्थ — राजा रात्रि के ग्रन्तिम प्रहरमें उठकर शौच (शौच, दन्त-धावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन ग्रौर ब्राह्मणों की पूजा कर गुप्त सभा (मन्त्रणाग्रह) में प्रवेश करे॥ १४५॥] वादन करे। इस प्रकार उनसे सम्मान-सत्कार का भाव रखे। 'इस म्रर्थ की पुष्टि में इस धातु का मनुद्वारा म्रन्यत्र किया गया प्रयोग प्रमाण रूप में उल्लेखनीय है—

- (क) गुरु के म्रिभवादन के लिए विधान करते हुए कहा है— "दूरस्थो न म्रबंयेत एनम्"२।१७७ (२।२०२)
- (ल) इसके पर्यायवाची रूप में ग्रिभवादयेत् का प्रयोग है— "स्वान गुरून ग्रिभवादयेत्" २। १८० (२। २०४)
- (ग) श्रिभवादन, सत्कार श्रीर सम्मान के श्रर्थ में निम्न प्रयोग भी द्रष्टव्य है— "आवृत्तानां गृरकुलादिवप्राणां पूजकः भवेत्।" ७ । ५२
- (घ) श्रंन्यत्र भी राजा द्वारा विद्वानों को ग्रिभवादन आदि से सम्मान दिये जाने का निर्देश है —

"राजास्नातकयोः चैव स्नातको नृपमानमाक्।" २। ११४ (२। १३६)

अय प्रश्न उठता है कि प्रातःकाल राजा के समीप अभिवादनीय विद्वान् कीन हो सकते हैं? उत्तर है—ऋत्विज्ञ, वेदविद्या आदि के प्रदाता विद्वान् जिनसे राजा को मनु ने दैनिक अग्निहोत्र आदि कराने का तथा विद्या ग्रहण करने का विधान किया है [७।४३,७८ आदि]। इस प्रकार इस भाष्य में किया गया श्लोकार्य मनुसंगत है। [इष्टब्य ७।४३,७८ की समीक्षा भी।]

(२) राजा की सामान्य दिनचर्या— इस श्लोक से लेकर ७। २२४ तक मनु
ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन कराया है। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ
ऐसी ही दिनचर्या कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रदक्षित की है। इसमें राजा सुविधा व
देश-काल श्रादि के श्रनुसार परिवर्तन भी कर सकता है। तुलनात्मक रूप में दिनचर्या
की तालिका इस प्रकार है—

सप्तम अघ्याय

# मनु-प्रोरत राजा की दिनचर्या

	कालविशेष	काला <b>व</b> धि	दिन के कार्य	इलोक
9.	रात्रि का ग्रन्तिम याम (तीन घण्टे कासमय) ग्रष्टम याम		जागरण, नैत्यिक कार्य, संघ्या-ग्रग्निहोत्र, भोजन, ग्राचार्य ऋत्विज् ग्रादि विद्वानों की संगति, उनसे ग्रघ्ययन एवं स्वाघ्याय।	७।३७, १४४॥
२	दिन का प्रथम याम	७–१०	प्रजासभा (दरवार) का ग्रायोजन, उसमें प्रजा के कष्टों का श्रवण एवं समाधान। धर्मार्थकामों, राज्यमण्डल की प्रकृतियों, पञ्चवगों, षड्गुणों, दूतों ग्रौर गुप्तचरों के करणीय कार्यों, युद्ध-सम्बन्धी थोजनाग्रों पर मन्त्रियों-ग्रमात्यों से गुप्त मन्त्रणा।	७।१४७— २१५॥
<b>a</b>	द्वितीय याम (मध्याह्न)	₹०-₹	शस्त्रास्त्रों का ग्रम्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्वाम।	७।२ <b>१</b> ६ २२१।।
8	तृतीय याम	<b>१-</b> ४	मुकह्मों एवं राज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन।	७।२२ <b>१</b>
¥	चतुर्थयाम	¥-'3	सेनाम्रों, शस्त्रास्त्रों, युद्धवाहनों ग्रौर तैयारियों का निरीक्षण।	७।२२२
Ę	पंचम याम (रात्रिसंघ्या काल)	1	सायंकालीन नैत्यिक कार्यं, संघ्योपासना। गुप्तचरों, दूतों ब्रादि के समाचार सुनना ब्रौर उन्हें ब्रग्निम कर्त्तव्य समभाना। भोजन।	
5	षष्ठ याम (रात्रि) सप्तमयाम (रात्रि)			७।२२५

मनुस्मृतिः

#### कौटिल्य-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

याम (पहर)	दिन के कार्य और उनकी निश्चित कालावधि
(रात्रि) ग्रष्टम याम	जागरण, नैत्यिक, एवं शास्त्रीय कर्त्तंच्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक गुप्तचरों को प्रेषित करना ।
प्रथम याम	ऋत्विक्, ग्राचार्यग्रादिकी संगति, वैद्य से भेंट, रक्षाव्यवस्था ग्रीर ग्राय-व्यय-व्यवस्था की जानकारी।
द्वितीय याम (दिन)	पुरवासियों एवं जनपदवासियों के कार्यों पर विचार (राजदरवार), स्नान, भोजन, स्वाध्याय।
तृतीय याम	न्नाय-व्यय की संभाल, विविध ग्रिधिकारियों की नियुक्ति <b>आदि, मन्त्रिपरि-</b> षद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय ।
चतुर्थं याप	स्वतन्त्रतापूर्वक विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण ।
पंचम याम (संघ्या)	सेनापति के साथ युद्धसम्बन्धी मन्त्रगा । संघ्योत्रासना, गुप्तचरों के समाचार जानना, स्नान, भोजन ।
षष्ठ, सप्तम याम (रात्रि)	<b>र्</b> शयन
	[म्रर्थशास्त्र, प्रकरण १४ । म्र० २८]

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने---

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।

विस्ज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्तह मन्त्रिभः ॥ १४६ ॥ (११३)

(तत्र) उस [१४६ में विशात] सभा में जाकर (स्थितः) बैठकर या खड़े होकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य) वहां ग्राई हुई सब प्रजाग्नों की समस्याम्रों, कब्टों का संतुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके (विसर्जयेत्) भेज दे (च) म्रीर फिर (सर्वाः प्रजाः विसृज्य) सब प्रजाम्रों को विसर्जित करने के बाद (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मन्त्रियों (७।४५) के साथ राज्यश्यवस्था पर विचार-विमर्श करे।। १४६।।

"वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे ग्रीर उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे।"

(ব০ স০ १४७)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाश्रों के स्थान-

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः। ग्ररण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदिभभावितः॥ १४७॥ (११४)

(गतः) पश्चात् उसके साथ घूनने को चचा जाये (गिरिपृष्ठं वा रहः प्रामादम्) पर्वत की शिखर ग्रथवा एकान्त घर (वा) वा (ग्ररण्ये नि:शलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी नहो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (ग्रविभावितः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विवार करे।। १४७।। (स० प्र०१५७)

अर्जुट्यो ट्यन्सः (१) 'निःशलाके स्ररण्ये' का समिप्राय—यहां 'निःशलाके स्ररण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है, जिसका ग्रभि प्राय है—'ऐसा स्थान जहां तिनके के सरश छोटे से छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणाभेदक वस्तु की उपस्थिति की संभावना न हो।

(२) मन्त्र <mark>गास्थल के सम्बन्ध में कौटित्य के विवार</mark> — ग्राचार्य कौटित्य ने अपने ग्रर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है —

"त बुद्देशः संवृतः कथानामिनःस्रावी पक्षिमिरप्यनाक्षोक्यः स्यात् । श्रूयते हि शुकसारिकामिर्मन्त्रो मिन्नः दवमि*न्ग्ये*च्च तिर्यग्योनिमिः ।" [प्र०२०।१४]

= मन्त्रणास्थल ग्रत्यन्त सुरक्षित ग्रीर गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहां पक्षी तक भी न भांक सके (फिर मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता ग्रीर मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा ग्रन्य पुश-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

मन्त्रणा की गोपनीयता का महत्त्व---

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः । स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्कते कोशहीनोऽपि पाथिवः ॥१४८॥(११४)

- (यस्य) जिस राजा के (मन्त्रम्) गूढ़ विचार (पृथक् जनाः समाग्यान जानन्ति) ग्रन्य जन मिलकर नहीं जान सकते ग्रर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध, परोपकारार्थ सदा गुष्त रहे (सः कोशहीनः + ग्राप्य पार्थिवः) वह धनहोन भो राजा (क्रत्स्तां पृथिवीं मुङ्कते) सब पृथिवी का राज्य करने में समर्थ होता है।। १४८।। (स० प्र०१६८)
- अर्जुर्शोल्डनः (१) मन्त्र शब्द का राजनीतिपरक सर्थ 'मन्त्र' शब्द के सर्थ पर यहां विशेष विचार अपेक्षित है। राजनीति के प्रसंग में 'मन्त्र' गोपनीय विचार-विमर्श को कहा जाता है। जिसमें गृप्त बातों पर रहस्यमय विचार किया जाये, वह मन्त्रणा कहलाती है। मन्त्र शब्द 'मित्र गुप्तभाषणे' गुप्त विचार करना सर्थ में, इस घातु से घत्र प्रत्यय के योग से सिद्ध हुस्रा है। निरुक्त में 'मन्त्राः मननात्' कहकर निरुक्ति दी है। मनन करने के कारण राजनीति के रहस्यों को और वेद-मन्त्रों को मन्त्र कहते हैं।
- (२) ''को शहीनोऽपि पायिवः'' का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है। इसी प्रकार के भावों की ग्रमिब्यक्ति ७। ३३ में द्रष्टब्य है।

#### ंजडनूकान्यबधिरांस्तैर्यंग्योनान्वयोतिगान् । स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मंत्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४६ ॥

(जड-मूक-ग्रन्थ-त्रिधरान्) मूर्खं, गूगे, ग्रन्धे, वहरे (तैयंक् + योनान्) तियंक्-योनि के तोता-मैना ग्रादि पक्षी (वय: + ग्रातिगान्) बूढ़े (स्त्री-म्लेच्छ-व्याधितव्यङ्गान्) स्त्री, म्लेच्छ, विकलांगों वाले इनको (मन्त्रकाले + ग्रपसारयेत्) मन्त्रणा के समय हटा है।। १४६।।

#### भिन्दरत्यवसता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तर्थय च। स्त्रियदर्चं विशेषेण तस्मातत्राहतो भन्नेतृ॥ १५०॥

(अवमताः) कभी अपमानित कर देने पर ये (तथा) तथा (तैर्यंक् + योनाः) तोता-मैना आदि (च) श्रौर (विशेषेणा स्त्रियः एव) विशेषरूप से स्त्रियां (मन्त्रं भिन्दन्ति) गुष्त रहस्यों को प्रकट कर देते हैं (तस्मात्) इसलिये (तत्र स्नाइतः भवेत्) उनको दूर हटाने का यत्न करे ॥ १५०॥

- अन्य र्वाटिक : १४६-१५० व्लोक निम्न 'म्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—
- १ मन्तिवरोध (१) इन दोनों इलोकों में विणत व्यवस्था का मनु द्वारा पूर्व उक्त व्यवस्था से मेल नहीं बैठता। १४७ वें इलोक में स्पष्ट निर्देश है कि ऐसे स्थान में जाकर गुप्त मन्त्रणाएं करे जहां बिल्कुल शून्य, एकान्त हो मौर जहां तिनके के टुकड़े भर की उपस्थिति भी न हो। फिर वहां इन इलोकों में उक्त प्राणियों के होने का स्वतः

प्रक्त नहीं उठता। ग्रतः यह कथन ही ग्रनावश्यक है। (२) दूसरी बंग्त यह है कि मन्त्रणा के समय राजा के पास विकलांग, गूंगे, बहरों का जाने का प्रक्त ही उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार कोई भी किसी को ग्राने नहीं देता। (३) तीसरी बात यह है कि गूँगे, बहरों द्वारा मन्त्रणा कैसे सुनी ग्रीर बतायी जायेगी? यदि कोई कहे कि शत्रु किन्हीं साधनों से सम्पन्त करके इनके द्वारा मन्त्रणा को जान सकता है, तो वह तो ग्रीर भी ग्रन्थ ग्रनेक प्रकार के व्यक्तियों द्वारा जान सकता है, फिर यहाँ केवल इन्हीं की गर्गान (व्यथं है। इस प्रकार इन क्लोकों का वर्णन मनु की व्यवस्था से तालमेल नहीं खाता ग्रीर ग्रनावश्यक है।

२. प्रसंगिबरोध — पूर्वापर प्रसंग गुप्तमन्त्रणा के फल एवं काल का है, ग्रतः उसके मध्य में कुछ प्राणियों को हटाने का प्रसंग ही नहीं जुड़ता। मन्त्रण स्थान का प्रसंग १४७ वें में है। उसके साथ होने पर भी इन बातों का कुछ प्रासंगिक ग्रीचित्य माना जा सकताथा, किन्तु उसके बाद मनु ने गुप्तमन्त्रणा का फल प्रदिशत किया है। पुनः स्थान ग्रीर वहां से किसी को हटाने ग्रादि की चर्चा चलाना प्रसंगिवरुद्ध है। इसी ग्रसम्बद्धता से यह संकेत मिलता है कि यह वर्णन मनु को अभीष्ट नहीं था। इस प्रकार प्रसंगक्रम के कारण भी ये प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

धर्म, काम, ग्रर्थ-सम्बन्धी बातों पर चिन्तन करे-

मध्यंदिनेऽवंरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः। चिन्तयेद्धमंकामार्थान्तार्थं तैरेक एव वा।। १५१।। (११६)

(मध्यंदिने) दोपहर के समय (वा) ग्रयवा (विश्वान्तः विगतकतमः) विश्वाम करके थकान-प्रालस्यरहित हो कर स्वस्य व प्रसन्न शरीर ग्रौर मन से (ग्रधंरात्र) रात के किसो समय (धप काम-ग्रयीन्) धर्म, काम ग्रौर ग्रयंसम्बन्धो वातों को (तं: सार्धम्) उन मन्त्रियों के साथ मिलकर (वा) ग्रयवा परिस्थिति विशेष में (एक एव) ग्रकेले ही (चिन्तयेत्) विचारे॥ [विन्तयेत् क्रिया का ग्रन्वय १४८ तक चलता है]॥ १५१॥

अर्ज्युटरिट्ड न्द्रः (१) राजा द्वारा पर्स-काम-प्रयं पर चिन्तन—राजा को प्रसन्त मन से धर्म-काम-प्रयं सम्बन्धी बातों पर देश-काल-कार्य को देख कर प्रकेले ग्रथवा ग्रन्य मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन विचार करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा—

''देश-काल-कार्यवशेन त्वेकेन सह, द्वाभ्याम्, एको वा यथासामर्थ्यं मन्त्रयेत ।'' [प्र०१०। प्र०१४]

- (२) धर्म, काम, ग्रथं के स्वरूप पर विस्तृत विवेचन ७। २६ पर द्रब्टव्य है।
- (३) 'अर्घ' शब्द का यहाँ 'एक भाग' ग्रर्थं में प्रयोग है। संप्रविभाग ग्रर्शं में

नहीं। जैसे 'नगरार्घ' का 'नगर का एक भाग' स्रर्थ है। उसी प्रकार यहां 'रात्रि के किसी भाग में ' स्रर्थ है।

धर्म, ग्रर्थ, काम में विरोध को दूर करे--

### परस्वरविषद्धानां तेषां च समुपार्जनम्। कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥ (११७)

(त) ग्रीर (तेषां परस्परिवरुद्धानां समुपार्जनम्) उस धर्म-ग्रयं-काम में परस्पर विरोध ग्रा पड़ने पर उसे दूर करना ग्रीर उनमें अभिवृद्धि करना (च) ग्रीर (कन्यानां कुमाराणां सम्प्रदानं च रक्षणम्) कन्याग्रों ग्रीर कुमारों का गुरुकुलों में भेजना ग्रीर उनकी सुरक्षा तथा विवाह व्यवस्था का भी विचार करे ॥ १५२॥

"राजा को योग्य है कि सब कन्या श्रीर लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस श्राज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना ग्रर्थात् राजा की श्राज्ञा से श्राठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़को किसी के घर में न रहने पार्वे। किन्तु ग्राचार्यकुल में रहते हैं जब तक समावत्तंन का समय न श्रावे तब तक विवाह न होने पार्वे"। (स० प्र० ७६)

दूतसंप्रेषण भीर गुप्तचरों के भाचरण पर इब्टि-

दूतसंप्रेष्णं चैव कार्यशेषं तथैव च। म्रन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३॥ (११८)

(च) श्रीर (दूतसंप्रषणम्) दूतों को इघर-उघर भेजना (तथैंव कार्यशेषम्) उसी प्रकार श्रन्य शेष रहे कार्यों को पूर्ण करना (च) तथा (श्रन्तःपुर-प्रचारम्) श्रन्तःपुर=महल के श्रान्तरिक श्राचरणों--गतिविधियों एवं स्थितियों (च) श्रीर (प्रिणिघोनां चेष्टितम्) नियुक्त गुष्तचरों के श्राचरणों एवं गति विधियों पर भी ध्यान रखे, विचार करे।। १५३।।

ग्रष्टविध कर्म ग्रादि पर चिन्तन-

क्रस्नं चाष्टिविधं कर्म पञ्चवगं च तत्त्वतः। स्रनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १४४ ॥ (११६)

(च) ग्रीर (कृत्स्नम् ग्रष्टिविधं कर्म) सम्पूर्ण ग्रष्टिविध कर्म (च) तथा (पञ्चवर्गम्) पञ्चदर्ग की ब्यवस्था (ग्रनुरागी) ग्रनुराग=लगाव ग्रीर ग्रपराग=स्नेह का ग्रभाव=द्वेष (च) तथा (मण्डलस्य प्रचारम्) मण्डल की गतिविधि एव स्राचरण [७।१४४-१४७ में वक्ष्यमाण] (तत्त्वतः) इन बातों पर ठोक ठीक चिन्तन करे।।१४४।।

अर्जुट्रिट्यन्द्रः (१) अष्टिविध कर्मों के विशव का समाधान—मनुने इस क्लोक में राजा के प्रष्टिविध कर्मों की गणना न करके केवल "कृत्सनं च प्रष्टिविधं कर्मं" कहकर संकेतमात्र दिया है। भाष्यकारों ने इसकी व्याख्या में प्रपने-अपने मत देकर राजा के प्रष्टिविध कर्मं गिनाये हैं। इन कर्मों में मतभेद होने से यह बात विवादा-स्पद-सी बनगयी है ग्रीर परवर्ती व्याख्याकार केवल ग्रपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मत देकर इस क्लोक की व्याख्य। करके ग्रागे चल देते हैं।

यहां विचारणीय बात यह है कि क्लोक ७ ।१४४-२२६ तक मनु ने राजा की दिनचर्या के अन्तर्गत गुप्तमन्त्रणा या मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करने योग्य विषयों का उल्लेख किया है [७ । १४७-२१४] । इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतः कह दी हैं, इस क्लोक में केवल संख्या का उल्लेख कर दिया है । इसका अर्थ करते समय हम दो बातों पर ध्यान देंगे—(१) मन्त्रणा में परिगणित बातों से भिन्न अष्टविध बातें होनी चाहिएं, क्योंकि एक ही स्थान पर पुनक्षित का होना बुद्धिसंगत नहीं । (२) 'क्रत्स्नम्' विशेषण अपना विशेष अर्थ देकर यह संकेत करता है कि ये अष्टविध कमें राजा के समग्र कर्त्तव्य हैं। इनके आधार पर मनन से मनुस्मृति में ही अष्टविध कमों का उल्लेख पाया जाता है।

७। ३६ से १४४ तक क्लोकों में मनु ने 'भृत्यों सहित राजा के समग्र कर्त्तं क्यों' का वर्णन किया है। दूसरे शब्दों में निष्कर्ष रूप में वह राजा की जीवनचर्या है; ग्रतः कहा जा सकता है कि वही राजा के सम्पूर्ण ग्रष्टिविध कमें हैं। जीवनचर्या के प्रसंग में पहले परिगणित होने के कारण यहां दिनचर्यों के प्रसंग में उनका परिगणन नहीं किया। इस प्रकार राजा के ग्रष्टिवध कमों को मनुस्मृति से बाहर कोजने की ग्राव- क्यकता नहीं रहती। वे निम्न प्रकार हैं—

#### (क) मनुप्रोक्त राजा के ग्रष्टविध कर्म-

- (१) श्राचार्य ऋतिवक् स्रादि वेदों के विद्वानों की संगति श्रीर उनसे शिक्षाग्रहण [७ । ३७, ३६, ४३], (२) इन्द्रियजय श्रीर उससे व्यसनों से बचाव [७ ४४५३], (३) मन्त्रियों, श्रमात्यों, दूतों, श्रम्यक्षों आदि की नियुक्ति श्रीर उनसे कार्यसम्पादन [७।१४-६८], (४) दुर्गनिर्माण [७ । ६६-७७], (५) युद्ध के लिए प्रशिक्षित
  तथा सन्तद्ध रहना [७ । ८०-१०६], (६) श्रपराधियों श्रादि को न्यायपूर्वक दण्डित
  करना श्रीर इस प्रकार प्रजा को शान्ति, समृद्धि, सुरक्षा प्रदान करना [७।१०७-१२४],
  (७) वेतन ग्रादि देना [७ । १२४-१२६], (८) करसंग्रह्स [७ । १२७-१४२]।
  - (ल) 'उशनस् स्मृति' में राजा के ग्रष्टिविध कर्म ये गिनाये हैं---

#### ''ग्रावाने च विसर्गे च प्रैवनिवेधयोः। पञ्चमे चार्यवचने व्यवहारस्य चेक्षर्णे॥ वण्डगुद्धचोस्तथा युक्तस्तेनाष्ट्रगतिको नृपः।''

श्रयति—राजा के श्रष्टिविध कमें ये हैं—१. श्रादान = करों का लेना, २. विसर्ग = कमंचारियों को वेतन देना, ३. प्रैंग = मम्त्री, राजदूत श्रादि को कार्यों पर भेजना, ४. निषेध = विरुद्ध कार्यों को न करना, ५. श्रयंवचन = राजाज्ञा का पालन कराना, ६. व्यवहार का देखना—मुकद्दमों को निपटाना, ७. दण्ड = दण्डदेना, ८. शुद्धि—पापियों-श्रपराधियों को प्रायश्चित श्रादि से सुधारना।

- (ग) मेधातिथि ने अष्टविध कर्म निमामाने हैं-
- १. नहीं किये कार्य का स्रारम्भ, २. स्रारम्भ किये कार्यों की समारित, ३. पूर्ण किये कार्य का प्रसार, ४. कर्म के फलों का संग्रह करना, ५. साम, ६. दाम, ७. दण्ड, ८. भेद। स्रथवा—१. व्यापार का मार्ग, २. जल में सेतु बांधना, ३. दुर्ग बनाना, ४. किये हुए कार्य के संस्कारों का निर्णय, ५. हाथी पकड़ना, ६. खानों की प्राप्ति करना, ७. शून्यस्थान में प्रवेश, ८. काष्ठ के बनों को कटवाना।
- (२) 'पञ्चवर्ग' से म्रामिप्राय (क) अर्थशास्त्र में म्राचार्यं कौटिल्य ने मन्त्रणा के प्रसंग में 'पञ्चाङ्गमन्त्र' के नाम से पांच विचारणीय बातों का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में परम्परा से प्रचलित यही व्याख्यान पञ्चवर्ग से अभीष्ट है। यहां गनु ने भी मन्त्रणा प्रसंग में ही पञ्चवर्ग का उल्लेख किया है। पञ्च- ग्रंग ये हैं—(१) कार्यों को ग्रारम्भ करने का उपाय, (२) पुरुष श्रीर द्रव्यसम्पत्ति, (३) देश-काल का विभाग, (४) विष्नों का प्रतीकार करना, (५) कार्यसिद्धि, ['कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धि:-इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः'' प्रक० १०। ग्र० १४]।
- (ल) कुल्लूकभट्ट ने निम्न पांच प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था को 'पञ्चवर्ग' कहा है। किन्तु इस मान्यता में एक—दो ग्रापत्तियां ग्राती हैं—(१) १५३ वें श्लोक में समग्र रूप में गुप्तचरों के कार्यों की व्यवस्था का कथन हो चुका है, (२) परम्परागत रूप में शास्त्रों में केवल पांच ही नहीं, ग्रापितु प्रमुख गुप्तचरों के ग्रन्य वर्ग भी हैं। ग्रतः कौटिल्यप्रोक्त 'पंचांग' इस प्रसंग में ग्राधिक संगत लगता है। कुल्लूक द्वारा वर्णित पांच प्रकार के गुप्तचर निम्न हैं—
- १. कापटिक (छल, कपट के व्यवहार से भेदों को जानने वाला), २. उदा-स्थित (संन्यासी या साधु के वेश में महान् व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध करके बैठाना ग्रीर इस प्रकार गुप्त भेदों की जानकारी देने वाला), ३. कृषक (नकली किसान बनकर गुप्तचरी करने वाला), ४. वाणिजक (नकली व्यापारी के रूप वाला), ४. तापस व्यंजक (नकली तपस्वी के रूप वाला)।
  - (३) अनुराग और अपराग-अपनी श्रीर धत्रुराजा की प्रजाओं में तथा अन्य

राजाओं में अनुराग = कौन राजा से स्नेह रखने वाला है, और कौन अपराग = देव रखने वाला है; इन पर विचार करना। इन्हीं दो तत्त्वों को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में [प्रक० ८–६ में] कृत्य और अकृत्य पक्ष के रूप में विणित किया है। कृत्य जिनको किसी लालचवश राजा से तोड़ा-फोड़ा जा सके अर्थात् असतुष्ट, अपरागी। ये प्रमुखरूप से कृद्ध, लुड्ध, भीत और अवमानित चार प्रकार के होते हैं [देखिए ७। ६७ की समीक्षा]। अकृत्य = जिनको फोड़ा न जा सके, संतुष्ट प्रजाजन, अनुरागी। स्वप्रजा-जनों और शत्रुप्रजाजनों की भांति अन्य राजाओं के स्नेह और द्वेष पर भी राजा विचार करे।

(४) मण्डल— १५५ से १५७ श्लोकों में विश्वित प्रकृतियों को 'मण्डल' कहा जाता है। राजा इन सबकी गितिविधियों, स्थितियों, ग्राचरणों पर गम्भीर रूप से विचार करे। ग्रर्थशास्त्र [प्र०६७। ग्र०२] में आचार्य कौटिल्य ने इन बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल को चार प्रकृतिमण्डलों में बांटा है। उसका विवरण १५७ पर प्रदर्शित है।

राज्यमण्डल की विचारणीय चार मूल प्रकृतियां-

## मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १४४ ॥ (१२०)

(च) ग्रीर (मन्यमस्य प्रचारम्) 'मध्यम' राजा के ग्राचरण ग्रीर गितिविधि तथा (विजिगीषोः चेष्टितम्) 'विजिगीषुं राजा के प्रयत्नों का (च) तथा (उदासीनप्रचारम्) 'उदासीन' राजा की स्थिति-गितिविधि [७। १५८] का (च) (शत्रोः एव) शत्रु [७। १५८] राजा के ग्राचरण एवं स्थिति गितिविधि ग्रादि का भी (प्रयत्नतः) प्रयत्वपूर्वक विचार करे ग्रथात् विचार करके तदनुसार प्रयत्न भी करे = ग्राचरण में लाये।। १५५।।

अर्ज्यू क्यी टिन्स : मध्यम आदि चार मूल प्रकृतिरूप राजाम्नों के लक्षरा— ग्राचार्य कौटिल्य ने 'मण्डल' की प्रकृतियों की व्याख्या ग्रपने ग्रयंशास्त्र [प्र०६७] में करते हुए इन राजाग्रों के निम्न लक्षण वतलाये हैं—

- (१) मध्यम "ग्ररिविजिगीष्वोभू म्यनन्तरसंहतासंहतयोरनुग्रहसमयों निग्रहे चासंहतयोर्मध्यमः ।" = ग्ररि ग्रीर विजिगीषु राजाग्रों से भिन्न वह राजा जो उनकी संधि में संधि का समर्थक रहे ग्रीर उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक रहे, वह 'मध्यम' कहलाता है।
- (२) विजिगीषु—''राजा आत्मद्रस्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः।'' = जो राजा ग्रात्मसम्पन्न हो, ग्रमात्य ग्रादि द्रव्यप्रकृतियों से सम्पन्न [७। १५७] हो, नीति का ग्राश्रय लेने वाला हो, ऐसा विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला राजा 'विजिगीषु' कहाता है।

- (३) उदासीन—"अरिविजिगीषुमध्यानां बहुः प्रकृतिस्यो बलवत्तरः संहता-संहतानामरिविजिगीषुमध्यमानामनुप्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानाम्, उदासीनः।" = ग्रिरि, विजिगीषु ग्रीर मध्यम इनसे भिन्त राजा, जो शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान् हो, तथा ग्रिरि, विजिगीषु ग्रीर मध्यम की संधि में सिध का समर्थक एवं उन तीनों के विग्रह में विग्रह का समर्थक 'उदासीन' ग्राचरण वाला राजा कहलाता है। मनु के ग्रनुसार विजिगीषु ग्रीर शत्रु से परला == बाद की सीमा वाला राजा 'उदासीन' है [७।१५८]।
- (४) शत्रु—मनु के प्रनुसार विजिगीषु राजा की सीमा से लगता हुग्रा [ प्रनन्तर-मिर विद्यात् ७ । १५६ ] राजा शत्रु होता है । कौटिल्य शत्रुग्नों के भेदोपभेद प्रदिशत करते हुए लिखते हैं— "भूम्यनन्तरः प्रकृत्यमित्रः तुल्यामिजनः सहजः । विरुद्धो विरोध-ियता वा कृत्रिमः ।" विजिगीषु राजा की सीमा से लगा हुग्रा राजा और विजिगीषु के में वश उत्पन्त समान दायभाग चाहने वाला राजा, ये दोनों 'सहजशत्रु' हैं । किसी कारण से विरोधी हो जाने वाला या किसी दूसरे को विरोधी बना देने वाला 'कृत्रिम शत्रु' कहलाता है ।

ःराज्यमण्डल की विचारणीय ग्राठ ग्रीर मूलप्रकृतियां—

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः। म्रज्टो चान्याः समास्याता द्वादशेव तु ताः स्मृताः ॥१५६॥ (१२१)

(समासतः) संक्षेप में (एताः मण्डलस्य मूलं प्रकृतयः) ये चार [मध्यम, विजिगीषु, उदासीन ग्रीर शत्रु.] राज्यमण्डल की मूल प्रकृतियां = मूल रूप से विचारणीय स्थितियां या विषय हैं (च) ग्रीर (ग्रष्टी ग्रन्थाः समाख्याताः) ग्राठ मूल प्रकृतियां ग्रीर कही गई हैं (ताः तु द्वादश एव स्मृताः) इस प्रकार वे कुल मिलाकर [४+==१६] बारह होती हैं ।। १५६ ।।

अब्दुर्शोट्डनः शेष आठ मूलप्रकृतिरूप राजामों के लक्षरा—'मण्डल' मं मूलप्रकृतियां बारह हैं। इनमें से चार—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन भौर शत्रु नामक प्रकृतियों का वर्णन १५५ वें श्लोक में हो चुका है। शेप म्राठ प्रकृति भौर हैं जिनकी गणना शायद ग्रतिप्रसिद्धि के कारण मनु ने इस श्लोक में नहीं की है। कौटिल्य ने मनु के क्रम भौर विधानानुसार इन पर अपने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार म्राठ प्रकृति निम्न हैं—

मित्रराजा— मनु के श्रनुसार शत्रु राजा की सीमा से लगता हुआ उसके बाद वाला राजा विजिगीय का 'मित्र' होता है ["ग्ररेरनन्तरं मित्रम्" ७ । १४८] । कौटिल्य ने भी यही कहा है— "मूम्येकान्तरा मित्रप्रकृतिः।" [प्रक ६७ । अ०२]। (२) शत्रु का मित्र राजा, (३) मित्र का मित्र राजा, (४) शत्रु मित्र का भी मित्र राजा (४) पाष्टिणग्राह (वह पृष्ठवर्ती राजा जो विजिगीयुद्वारा कहीं आक्रमण के लिए ग्रपने राज्य से जान के बाद पीछे से उसके राज्य पर माक्रमण कर देता है), (६) माक्रन्द (जो अपने मित्र राजा को किसी की सहायता करने से रोकता है या जिसकी राजधानी म्रपने राज्य के निकट लगती हो), (७) पाष्टिणग्राहासार ('पाष्टिणग्राह' को घेरकर रखने वाला या उस पर माक्रमण करने वाला राजा), (६) माक्रन्दासार—('म्राक्रन्द' राजा को घेरकर रखने वाला या उसपर माक्रमण करने वाला राजा। इन सभी राजामी तथा इनकी स्थितियों पर राजा को हर समय घ्यान रखना चाहिए।

ग्राचार्य कौटिल्य ने इनकी गणना निम्न प्रकार की है-

'तस्मात् मित्रम्, ग्ररिनित्रम्, मित्रमित्रम्, ग्ररिमित्रमित्रम्, चानन्तयँग् भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात् । पश्चात् पाष्टिगप्राहः, आक्रन्दः, पाणिप्राहासारः, ग्राक्रन्दा-सारः, इति ।'' [प्रक०६७ । ग्र०२]

राज्यमण्डल की प्रकृतियों के बहत्तर भेद-

म्रमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता ह्यं ताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ।।१५७॥(१२२)

(स्रमात्य-राष्ट्र-दुर्ग-स्रयं-दण्ड-स्राख्याः) मन्त्री, राष्ट्र, किला, कोष, दण्ड नामक (स्रपराः पञ्च) स्रोर पाँच प्रकृतियां हैं (प्रत्येक कथिता हि एताः) पूर्वोक्त [१४४-१४६] बारह प्रकृतियों के साथ ये मिलकर स्रथात् पूर्वोक्त प्रत्येक बारहों प्रकृतियों के पांच-पांच भेद होकर इस प्रकार (संक्षेपेण द्विसद्तितः)संक्षेप से कुल ७२ प्रकृतियां [=विचारणीय स्थितिया या विषय] हो जाती हैं। १२ पूर्व की स्रोर १२ के ४-५ भेद से ६० इस प्रकार १२×५=६०+१२=७२ हैं।। १४७॥

अद्भुष्टि टिन्ड सं बहत्तर प्रकृतियां—इन क्लोकों के अनुसार बारह मूल-प्रकृतियां हैं—१. विजिगीषु, २. मध्यम, ३. उदासीन, ४. शत्रु, ४. मित्रराजा, ६. मित्र का मित्रराजा, ७. शत्रु का मित्रराजा, ८. पार्किणग्राह, १०. ग्राक्रन्द, ११. पार्किणग्राहासार, १२. ग्राक्रन्दासार। पांच द्रव्य प्रकृतियां—१. मत्री, २. राष्ट्र, ३. किला, ४. कोष, ४. दण्ड हैं। एक-एक मूल प्रकृति के पांच प्रकृतियों के साथ मिलकर पांच भेद हो जाते हैं प्रथीत् एक मूलप्रकृति भौर पांच उसके भेद इस प्रकार एक मूलप्रकृति के छः भेद हुए। यथा, प्रथम मूलप्रकृति 'विजिगीषु' है। उसके छह भेद बनेंगे—१. विजिगीषु राजा, २. विजिगीषु मंत्री, ३. विजिगीषु राष्ट्र, ४. विजिगीषु किला, ४. विजिगीषु कोष, ६. विजिगीषु दण्ड। इसी प्रकार मिलकर ग्रन्थ मूल प्रकृतियों के भेद बनेंगे। इस प्रकार बारह प्रकृतियों के १२ × ६ = ७२ बहत्तर भेद होते हैं। कौटिल्य ने मूलप्रकृतियों में तीन-तीन का एक वर्ग बनाकर उनके साथ पांच प्रकृतियों को मिलाकर ३ × ४ = १४ + ३ = १८ का एक प्रकृतिमण्डल माना है। इस प्रकार चार प्रकृतिमण्डल का एक 'मण्डल' विणित किया है [ग्रर्थशास्त्र प्रक० ६७]।

इस प्रकार राजा प्रत्येक मूलप्रकृति पर श्रौर फिर उनकी प्रत्येक द्रव्यप्रकृति (ग्रमात्य श्रादि पांच) पर पूर्णं ज्ञान सहित विचार करे। विचार करके यथोचित उपाय करे ग्रौर विघ्न ग्रादि को दूर करे। पूनः विजयार्थं यात्रा करे।

शत्रु, मित्र ग्रौर उदासीन की परिभाषा-

ग्रनन्तरमॉर विद्यादरिसेविनमेव च। ग्ररेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्॥१५८॥ (१२३)

(अनन्तरम्) अपने राज्य के समीपवर्ती राजा को (च) श्रीर (श्ररि-सेविनम्) शत्रुराजा की सेवा-सहायता करने वाले राजा को (श्रिर विद्यात्) 'शत्रु' ही समभे (श्ररेः + श्रनन्तरं मित्रम्) श्रिर से भिन्न अर्थात् शत्रु से विपरीत श्राचरण करने वाले श्रर्थात् सेवा-प्रहायता करने वाले राजा को श्रीर शत्रुराजा को सोमा से लगे श्रगले राजा को मित्र' श्रोर (तयोः परम्) इन दोनों से भिन्न परवर्ती राजा को (उदासीनम्) जो न सहायता करे न विरोध करे, उसे 'उदासीन' राजा (विद्यात्) समभना चाहिए।। १४८॥

> तान्सर्नानभिसंदघ्यात्सामादिभिरपक्रमैः । व्यस्तैरचेव समस्तैरच पौरुषेण नयेन च ॥ १४६॥ (१२४)

(तान् सर्वान्) उन सब प्रकार के राजाग्रों को (साम + ग्रादिभिः + उपक्रमैः) 'साम' ग्रादि [साम, दाम, दण्ड, भेद] उपायों से (व्यस्तैः) एक-एक उपाय से (च) ग्रथवा (समस्तैः) सब उपायों का एक्साथ प्रयोग करके (पौरुषेण) वीरता से (च) तथा (नयेन) नीति से (ग्रभिसंदध्यात्) वश में रखे।। १५६।।

सन्धि, विग्रह ग्रादि षड्गुणों का वर्णन-

संधि च विग्रहं चैव यानमासनमेव च। द्वैवीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेस्सवा ॥१६०॥ (१२४)

(सन्धिम्) सन्धि (विग्रहं यानम् ग्रासनं द्वैधीभावं च संश्रयं) विग्रह, यान, ग्रासन, द्वैधीभाव ग्रीर संश्रय इन (पड्गुणान् एव) छः गुणों का भी (सदा चिन्तयेत्) राजा सदा विचार-मनन करे ॥ १६० ॥

अश्चिरी कार्यः (१) सुखपूर्वक रहने के लिए शत्रुराजा से कुछ ले-देकर मिलाप कर लेना या किसी राजा से मिलकर प्राक्रमण करने के लिए तैयार कर लेना 'सन्धि' है। (२) युद्ध, विरोध, तोड़फोड़ ग्रादि पैदा करना 'विग्रह' है। (३) युद्ध के लिए चढ़ाई करना यान' कहलाता है। (४) शत्रु को घेरकर पड़े रहना या ग्रपनी शक्ति की क्षीणता के कारण शत्रु राजाशों से छेड़छाड़ किये बिना चुपचाप भावी ग्राक्र-मण की ताक में पड़े रहना 'ग्रासन' है। (५) ग्रपनी विजय के लिए ग्रपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर देना या शत्रु-सेना में विभाजन कर देना 'द्वैधीभाव' है। (६) किसी बलवान् राजा का स्राक्षय ग्रहण कर लेना 'संश्रय' है।

## न्नासमं चैव यानं च संधि विग्रहमेव च। कायं वीक्य प्रयुञ्जीत द्वेषं संश्रयमेव च।।१६१।। (१२६)

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है जो (ग्रासनम्) ग्रासन = स्थिरता (यानम्) यान = शत्रु से लड़ने के लिए जाना (सिधम्) संध = उनसे मेल कर लेना (विग्रहम्) दुष्ट शत्रुग्नों से लड़ाई करना (द्वैधम्) द्वैध = दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना (च) ग्रीर (संश्रयम्) संश्रय = निबंलता में दूसरे प्रबल राजा का ग्राश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म (कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत) यथायोग्य कार्यं को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए।। १६१॥ (स० प्र०१४८)

संधि ग्रीर उसके भेद---

## संघि तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च । उमे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्नृतः ॥१६२॥ (१२७)

(राजा) राजा, (सन्धि विग्रहं यान + ग्रासने द्विविधः च संश्रयः) संधि, विग्रह, यान, ग्रासन, द्वेधोभाव ग्रौर संश्रय (द्विविधं तु) दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको (विद्यात्) यथावत् जाने ॥ १६२ ॥ (स० प्र० १४८)

## समानयानकर्मा च विपरीतस्त्रथैव च। तदा त्रायत्तिसंयुक्तः संधिज्ञेयो द्विलक्षराः ॥१६३॥ (१२८)

(तदा तु आयितसंपुक्तः) तात्कालिक फल देने वाली और भविष्य में भी फल देने वाली (सन्धि) सन्धि [७।१६६] (द्विलक्षणः ज्ञेयः) दो प्रकार को संगभनी चाहिए—१ (समानयानकर्मा) शत्रु राजा पर आक्रमण करने के लिए किसी अन्य राजा से मेल करके उसके साथ आक्रमण करना, (तथैव) उसी प्रकार २. (विपरोतः) पहने से विपरोत अर्थात् शत्रुराजा से आक्रमण न करने के लिए मेल करके कोई समभौता कर लेना [यह अपनी वल-स्थिति को देखकर उचित अवसर तक होता है ७। १६६] ॥ १६३॥ १

१. [प्रचलित ग्रर्थ — सन्धि के दो भेद हैं — (१) समानयानकर्मा सन्धि ग्रीर (२) ग्रसमानयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानघर्मा' नामक सन्धि है। तथा (२) तात्कालिक या भविष्य मे लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'ग्राप इधर जाइये, में इधर जाता हूं' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'ग्रस-मानधर्मा' नामक सन्धि है।। १६३॥]

"(सन्धः) शत्रु से मेल ग्रथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वत्-मान ग्रौर भविष्यत् में करने के काम बरावर करता जाये; यह दो प्रकार का मेल कहाता है।" (स० प्र०१५८)

अनुर्शित्जन्तः इस श्लोक में किया हुमा 'विपरीत' का ग्रर्थं मनुसम्मत है, जो ७। १६६ से सिद्ध होता है। प्रचलित टीकाओं में किया गया ग्रर्थं 'सिन्ध' ही नहीं कहला सकता।

विग्रह ग्रीर उसके भेद--

स्वयंकृतश्च कार्यार्थंमकाले काल एव वा। मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥ (१२६)

(विग्रह: द्विविध: स्मृत:) विग्रह [७। १७०] दो प्रवार का होता है—(काले) चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में (वा) ग्रथवा (ग्रकाले एव) ग्रनिश्चित किसी भी समय में (१) (कार्यार्थम्) कार्य की सिद्धि के लिए (स्वयंकृत:) स्वयं किया गया विग्रह (च) ग्रौर [२] (मित्रस्य ग्रपकृते) किसी के द्वारा मित्रराजा पर ग्राक्रमण या हानि पहुंचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया विग्रह ।। १६४।।

''(विग्रह) कार्यमिद्धि के लिए उचित समय या अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अगराध करने वाने शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिये।'' (स॰ प्र०१४८)

यान ग्रीर उसके भेद-

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यहच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविषं यानपुच्यते ॥१६५॥ (१३०)

(ग्रात्यिक कार्ये प्राप्ते) ग्रक्तमात् कोई कार्य प्राप्त होने में + (एका-किनः) एकाकी (च) वा (मित्रेण संहतस्य) मित्र राजा के साथ मिलके शत्रु की ग्रोर जाना [ = चढ़ाई करना ७। १७१] (द्विविधं यानन् + उच्यते) यह दो प्रकार का गमन [ = यान ] कहाता है।। १६५ ।। (स॰ प्र० १४८)

+ (यदच्छया) स्वतन्त्रतापूर्वक .....

ग्रासन ग्रीर उसके भेद-

क्षीरणस्य चेव क्रमशो दैवारपूर्वकृतेन वा। मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतसासनम् ॥१६६॥ (१३१) % (क्रम्शः) स्वयं किसी प्रकार क्रम से (क्षीणस्य एव) क्षीण हो जाये प्रयात् निर्वेल हो जाये (व) प्रथवा (मित्रस्य अनुरोधेन) मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना (दिविधम् अ।सनं स्मृतम्) यह दो प्रकार का आसन [७। १७२] कहाता है।। २६६।। (स० प्र०१४=)

देधीभाव ग्रीर उसके भेद---

वलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये । द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥ (१३२)

(षाड्गुण्य-गुएगवेदिभिः) षड्गुणों के महत्त्व को जानने वालों ने (द्वैषं द्वितियं कीत्यंते) द्वैषोभाव [७। १७३] दो प्रकार का कहा है—(कार्या- थंसिद्धये) कार्य की सिद्धि के लिए १—(बलस्य स्थितिः) सेना के दो भाग करके एक भाग सेना को सेनापित के ग्राधीन करना (च) ग्रीर २—(स्वा- भिनः) सेना का एक भाग राजा द्वारा ग्रपने ग्राधीन रखना ।। १६७।।

"कार्यक्षिद्धि के लिए सेना के दो विभाग करके विजय करना दो प्रकार का 'द्वैध' कहाता है। ' (स० प्र० १५६) संश्रय ग्रीर उसके भेद—

> म्रर्थसंपादनार्थं च पीडचमानस्य शत्रुभिः। साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संभ्रयः स्मृतः ॥१६=॥ (१३३)

(शत्रुभि: पीडचमानस्य) शत्रुमों द्वारा पीड़ित होकर (प्रथंसम्पाद-नाथंम्) अपने उद्देय की सिद्धि अथवा म्रात्मरक्षा के लिए किसी राजा का म्राश्रय लेना (न) मीर (व्यपदेशायं साधुषु) भावी हार या दुःख से बचने के लिए किसी श्रेष्ठ राजा का म्राश्रय लेना ये (द्विविध: संश्रय: स्मृत:) दो प्रकार का 'संश्रय' [७ । १७४] कहलाता है ।। १६८ ।।

"एक—िकसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो; दो प्रकार का आश्रय लेना कहाता है।" (स॰ प्र॰ १५६)

सन्धिका समय---

यदावगच्छेदायत्यामाधिवयं ध्रुवमात्मनः । तदात्वे चाल्पिकां पोडां तदा संधि समाश्रयेत् ॥१६६॥(१३४) (यदा + ग्रवगच्छेत्) जब यह जाने ले कि (तदात्वे) इस समय युद्ध करने से (ग्रह्मिकां पीडाम्) थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी (च) ग्रीर (ग्रायत्याम्) पश्चात् [=भिविष्य] में करने से (ग्रात्मन: ध्रुवम् ग्राधिक्यंग्र) ग्रपनी वृद्धि ग्रीर विजय ग्रवश्य होगी (तदा सिंध समाश्रयेत्) तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज रखे।। १६६।। (स० प्र० १५६)

विग्रह का समय---

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतोमृशम् । ग्रस्युच्छ्रतं तथाऽऽरमानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥ (१३४)

(यदा सर्वाः प्रकृतीः) जब अपनी सब प्रजा वा सेना (भृशम्) ग्रत्यन्त (प्रहृष्टाः) प्रसन्न (ग्रत्युच्छितम्) उन्नतिशील ग्रीर श्रेष्ठ (मन्येत) जाने (तथा) वैसे (आत्मानम्) ग्रपने को भी समभ्रे (तदा विग्रहं कुर्वीत) तभी शत्रु से विग्रह = युद्ध कर लेवे ।। १७०॥ (स० प्र०१४१)

यान का समय---

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वक्म् । परस्य विपरीतं च तदा यायाद्विपुं प्रति ॥ १७१ ॥ (१३६)

(यदा स्वकं वलम) जब म्रंपने बल म्रंथीत् सेना को (हुव्टं पुष्टं भावेन मन्येत) हर्षं ग्रोर पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने (च) ग्रोर (परस्य) शत्रु का बल (विपरोत्तम) ग्रंपने से विपरीत निबंल हो जावे (तदा रिपृप्रति यायात्) तब शत्रु की ग्रोर युद्ध करने के लिए जावे।। १७१।।

(स ०प्रः १५६)

ग्रासन का समय —

यदा तु स्यात्परिक्षोणो वाहनेन बलेन च। तदासीत प्रयत्नेन ज्ञनकः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२॥ (१३७)

(यदा) जब (बलेन वाहनैन) सेना, वल, वाहन से (परिक्षोणः स्यात्) क्षीरा हो जाये (तदा) तव (ग्ररीन् शनकैः प्रयत्नेन सान्त्वयन्) क्षत्रग्नों को घीरे-घीरे प्रयत्न से शान्त करता हुग्ना (ग्रासीत) ग्रपने स्थान में बैठा रहे।। १७२।। (स० प्र०१५६)

द्वैधीभाव का समय-

मन्देतःरि यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्। तदा द्विघा वलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मतः॥ १७३॥ (१३८) (यदा राजा) जब राजा (ग्ररि सर्वथा वलवत्तरं मन्येत) बहुको ग्रत्यन्त बलवान् जाने (तदा) तब (द्विधा बलं कृत्वा) द्विगुण। वा दो प्रकार की सेना करके (ग्रात्मन: कार्यं साधयेत्) ग्रपना कार्यं सिद्ध करे ।। १७३ ।। (स० प्र० १५६)

संश्रय का समय---

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्। तदातु संश्रयेत्क्षित्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४॥ (१३६)

(यदा) जब ग्राप समक्त लेवे कि ग्रब (परवलानां तु गमनीयतमः भवत्) शीघ्र शत्रुग्नों की चढ़ाई मुक्त पर होगी (तदा तु) तभी (धार्मिकं विलिनं नृपं क्षिप्रं संश्रयेत्) किसी धार्मिक वलवान् राजा का ग्राक्षय शोघ्र ले लेवे।। १७४।। (स॰ प्र॰ १५६)

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च। उपसेवेत तं नित्यं सर्वयःनेर्गुरुं यथा।। १७५ ॥ (१४०)

(यः) जो (प्रकृतीनाम) प्रजा भीर ग्रपनी सेना (च) ग्रीर शत्रु के बल का (निग्रहं कुर्यात्) निग्रह करे ग्रथीत् रोके (तं सर्वयत्नैः) उसकी सब यत्नों से (गुरुं यथा) गुरु के सदश (निह्यम् उपधेवेत) नित्य सेवा किया करे।। १७५॥ (स० प्र० १५६)

यि तत्र।पि संपन्धेद्दोषं संश्रयकारितम्। सुयुद्धमेव तत्रापि निविदाङ्कः समाचरेत्॥ १७६॥ (१४१)

(संश्रयकारितं यदि तत्र + ग्रापि दोषं संपश्येत्) जिसका ग्राश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो (तत्र + ग्रापि) वहाँ भी (सुयुद्धम + एव) ग्रच्छे प्रकार युद्ध हो को (निविशङ्कः समाचरेत्) निःशंक होकर करे ॥१७६॥ (स० प्र०१४६)

> सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः। यथाऽस्याभ्यधिका न स्युमित्रोदासीनशत्रवः॥ १७७॥ (१४२)

(नीतिज्ञः पृथिवीपितः) नीति का जानने वाला पृथिवीपिति राजा (यथा) जिस प्रकार (ग्रस्य) इसके (मित्र-उदासीत-शत्रवः) मित्र, उदासीन =तटस्थ ग्रीर शत्रु (ग्रधिकाः न स्यु) ग्रधिक न हो (तथा सर्व - उपायैः कुर्यात्) ऐसे सब उपायों से वर्ते ॥ १७७॥ (स० प्र० १६१)

त्रायति सर्वकार्याए। तदात्वं च विचारयेत् । स्रतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥ (१४३) (सर्वकार्याणां तदात्वम) सब कार्यों का वर्तमान में कर्त्तव्य (च) ग्रीर (ग्रायितम्) भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए (च) ग्रीर (ग्रतीतानां सर्वे-षाम्) जो-जो काम कर चुके, उन सबके (तत्त्वतः गुणदोषौ विचारयेत्) यथार्थता से गुण-दोषों को विचार करे। पश्चात् दोषों के निवारण ग्रीर गुणों की स्थिरता में यहन करे।। १७ = ।। (स० प्र०१६१)

> न्नायत्यां गुगदोषज्ञस्तदात्वे क्षित्रनिद्ययः। न्नतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिनिभिनूयते॥ १७६॥ (१४४)

(ग्रायत्यां गुणदोषज्ञः) जो राजा भविष्यत् ग्रर्थात् ग्रागे करने वाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता (तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः) वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्ता, ग्रौर (प्रतीते कार्यशेषज्ञः) किये हुए कार्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है (शत्रुभिः न + अभिभूयते) वह शत्रुग्नों से पराजित कभी नहीं होता ॥ १७६ ॥ (स० प्र० १६१)

राजनीति का निष्कर्ष---

यथैनं नाभिसंदध्युमित्रोदासीनज्ञत्रवः । तथा सर्वे संविदध्यादेव सामासिको नयः ॥ १८० ॥ (१४४)

(सर्वे तथा विद्यात्) सब प्रकार के राजपुरुष, विशेषसभापित राजा ऐसा प्रयत्न करें कि (यथा) जिस प्रकार (मित्र-उदासीन-शत्रवः) राजादि जनों के नित्र, उदासीन ग्रीर शत्रु को वश में करके (न + प्रभि-संद्युः) श्रन्यथा न करपावें, ऐसे मोह में न फसे (एषः सामासिकः नयः) यही संक्षेप से नय ग्रर्थात् राजनोति कहाती है।। १८०।। (स० प्र०१६१)

अर्ज्य क्यी त्य न्याः मित्र, उदासीन ग्रीर शत्रु के लक्षण क्रमशः ७। २०६, २१०, २११ में देखिए।

श्राक्रमण के लिए जाना ग्रीर ब्यूहरचना ग्रादि की व्यवस्था—

यदा तु यानमातिष्ठेवरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः। तदाऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः॥१८१॥ (१४६)

(प्रभुः) राजा (यदा) जब भी (ग्ररिराष्ट्रं प्रति) शत्रुके राज्य पर (यानम् म ग्रातिष्ठेत्) चढ़ाई करे (तदा) तत्र (ग्रनेन विधानेन) इस निम्न- लिखित विधि से (शनैः) सावधानोपूर्वक (ग्ररिपुरं यायात्) शत्रु पर चढ़ाई करे। १८१॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः। फाल्गुनं वाऽय चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥ (महीपितः) राजा को चाहिए कि (शुभे मार्गशीर्षे मासि) शुभ स्रथीत् चढ़ाई के लिए उपयुक्त मार्गशीर्ष के महीने (स्रय) श्रीर (फाल्गुन वा चैत्र मासी) फाल्गुन ग्रयवा चैत्र के महीने में (यथाबलम्) श्रपनी सेना श्रीर शक्ति के श्रनुसार (यात्रां प्रति यायात्) शत्रु की श्रीर विजययात्रा के लिए चढ़ाई करे।। १८२॥

> भ्रन्येष्विप तु कालेषु यथा पत्त्येद् ध्रुवं जयम्। तदा यायाद्विगृह्येव व्यसने चोरिथते रिपोः॥१८३॥

(ग्रन्येषु + ग्रापि कालेषु) ग्रन्य कालों में भी (यदा जयं ध्रुवं पश्येत्) जब ग्रपनी विजय को निश्चित समभे (च) ग्रथवा (रिपोः व्यसने उत्थिते) शत्रु के ग्राप्ति में फंसे होने पर या शत्रु के राज्य में कोई उपद्रव हुपा देखकर (तदा) ऐसे समय में (विगृह्य + एव यागात्) ग्रपनी ग्रोर से ही भगड़ा करके चढ़ाई शुह कर दे।। १८३।।

## अनुर्योटानाः १८२--१८३ श्लोक प्रक्षिप्त हैं--

- १. अन्तिवरोध—(१) इनसे पूर्व इस प्रसंग के विधायक दलोक से ही इन का विरोध है। १८१ वें में स्पष्टतः "यदा तु यानमातिष्ठेत् " तदा तदा या यात्" शब्दों का प्रयोग है जो यह सिद्ध करता है कि जब भी राज़ा अपनी स्थिति को देखकर आक्रमण करने जाये यह उसके विचार पर है। किर इन क्लोकों में मास का निक्चय करना उससे भिन्न और विरुद्ध विधान है।(२) ७।१७१ में भी कभी भी आक्रमण करने का आदेश है, ये क्लोक उसके भी विरुद्ध हैं। यह समिभ्रण 'यान' नामक नीति के ही विरुद्ध हैं।
- २ प्रसंगविरोध—१८१ वें श्लोक में प्रसंग का भी संकेत है। तदनुसार यह प्रसंग 'श्राक्रमणार्थ जाते समय कैसी व्यवस्था से जाना चाहिए' इस वर्णन का है। यही वात श्रिश्रम ७।१८४--२०७ से पुष्ट होती है। यहां समय निर्धारित करने का प्रसंग-विषद्ध वर्णन है, श्रतः प्रक्षिप्त हैं।
- ३. श्रवान्तरिवरोध—१८२ श्रीर १८२ में परस्पर भी श्रयति श्रवान्तर विरोध भी है। १८२ में एक शुभ समय निश्चित किया है तो १८३ में कोई निश्चय ही नहीं : इस प्रकार भी ये मनुक्कत सिद्ध नहीं होते।

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च ययाविधि । उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यश्विधाय च ॥१८४॥ (१४७)

जब राजा शत्रुम्रों के साथ युद्ध करने को जावे तब (मूले विधानं तु) ग्रपने राज्य की रक्षा का प्रवन्ध (च) ग्रौर (यात्रिकम्) यात्रा की सब सामग्री (यथाविधि कृत्वा) यथाविधि करके (ग्रास्पदम् एव उपगृह्य) सब सेना, यान, वाहन, शस्त्र, ग्रस्त्र ग्रादि पूर्णं लेकर (चारान् सम्यक् विधाय) सर्वत्र दूतों प्रधीत् चारों ग्रोर के समाचारों को देने वाने पुरुषों

को गुप्त स्थापन करके शत्रुग्नों की स्रोर युद्ध करने को जावे।। १८४।। (स॰ प्र०१६१)

त्रिविध मार्ग का संशोधन करे-

## संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वक्तम् । सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥१८४॥ (१४८)

(त्रितिधं मार्गं संशोध्य) तीन प्रकार के मार्गं ग्रर्थात् एक--स्थल = भूमि में दूसरा-जन = समुद्र वा निदयों में, तीसरा-ग्राकाश मार्गों को शुद्ध बनाकर भूमिमार्ग में रथ, ग्रश्व, हाथी, जल में नौका ग्रीर ग्राकाश में विमान ग्रादि यानों से जावे (न) ग्रीर (षड्विधम्) पैदल, रथ, हाथी, घोड़ शस्त्र ग्रीर ग्रस्त्र, खान-पान ग्रादि सामग्री को यथा बत् साथ ने (वलं स्वकम्) वलयुक्त पूर्ण (सांपरायिककल्पेन) किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके (ग्रिरपुरं शनै: यायात्) शत्रु के नगर के समोप धीरे धीरे जावे ॥ १८४॥ (स० प्र० १६१) प्र

अर्जुटरीट्डन: त्रिविध मार्ग का मनुसम्मत प्रयं — प्रचलित टीकाग्रों में त्रिविश मार्ग का ग्रंथ — 'जङ्गल, यनूप ग्रीर ग्राटविक किया है। यह मनुसम्मत सिद्ध नहीं होता, ग्रीर सही भी नहीं है। इस प्रकार ग्रंथ करने से तीनों केवल भूमि के ही एक मार्ग के ग्रन्तर्गत ग्राजाते हैं। इस भाष्य में दिया गया ग्रंथ मनुसम्मत है। इस की सिद्धि है। १६२ से होती है। वहां स्थलयुद्ध ग्रीर जल में जलयान ग्रादि से युद्ध करने का वर्णन है। इस प्रकार त्रिविध मार्गों का 'स्थल, जल, ग्राकाश मार्ग ही प्रासंगिक सिद्ध होता है। ग्रनूर इसी के ग्रन्तर्गत ग्राजाता है समुद्रीयानो की चर्चा ६। १५७, ४०६, ४०६ में भी ग्राती है। उस काल में ये यान थे।

न्नाक्रमण के समय शत्रु ग्रीर शत्रुमित्र पर विशेष रिष्ट रखे —

शत्रुसेविनि नित्रे च गूढे युक्ततरो भवेद् । गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६॥ (१४६)

(शत्रसंविति गूढे मित्रे) जो भीतर से रात्रु से मिला हो और अपने साथ भी ऊपर से मित्रवा रखे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे (गत-प्रत्यागते एव) उसके ब्राने जाने में, उपने बात करने में (युक्ततरः भवेत्) ब्रत्यन्त सावधानी रखे (हि) क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मिल्को (वण्टतरः रिपुः)

१. [प्रचित्तत ग्रार्थ-- जङ्गल, अनूप तथा ग्राटविक भेद से तीन प्रकार के मार्गों को पेड़, लता, भाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊंची भूमि को वरावर कराने से गमन के योग्य वनाकर ग्रीर हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सेना एवं कार्यकर्ता रूप छः प्रकार के वल (सेना) उचित भोजन-वस्थ, मान-सत्कार एवं ग्रीषध ग्रादि से शुद्ध कर यात्रा के योग्य विधान में धीरे-धीरे शत्रु के देश को प्रस्थान करे।। १८५।।

बड़ा 🎇 रात्रु समभना चाहिए ।। १८६ ।। (स० प्र० १६१) क्ष कष्टदायक "

व्युहरचनाएं ---

वण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा। वराहमकराभ्यां वा सुच्या वा गहडेन वा ।। १८७ ।। (१५०)

+(दण्डयूहेन) दण्ड के समान सेना को चलावे (शकटेन) जैसा शकट ग्रर्थात् गाड़ी के समान (वराह मकराम्याम्) वराह जैसे सूपर एक दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं कभी सब मिलकर मुण्ड हो जाते हैं वैसे; जैसे मगर **पा**नी में चलते हैं वैसे सेना को बनावे (सूच्या वा गरुडेन वा) जैसे मुई का प्रयभाग सुक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वसी शिक्षा से सेना को बनावे; नीलकण्ठ [=गरुड] ऊपर नीचे भपट्टा मारता है इस प्रकार सेना को बनाकर (यायात्) लड़ावे ।। १६७ ।।

(स० प्र०१६१)

+ (तत् मार्गम्) चढ़ाई करते समय मार्ग में..........

आनुरारिन्डनः (१) जिनमें ग्रागे बलाष्यक्ष हो, बीच में राजा, ग्रन्त में सेनापति ग्रौर उनके श्रगल-बगल एक-एक पंक्ति हाथी सवारों की, उन पंक्तियों के साथ एक पंक्ति घुड़सवारों की, फिर साथ में पदातियों की पंक्तियाँ; इस प्रकार दण्डे के समान तथा लम्बी पंक्ति के श्राकार में सेना की मोर्चाबन्दी को 'दण्डव्यूह' कहते हैं।

- (२) गाड़ी के समान ग्रागे से पतली ग्रीर पीछे-पीछे ग्रधिक फैलाववाली सना की रचना को 'शकटब्यूह' कहा जाता है।
- (३) आगे ग्रीर पीछे के भागों में पतली, मध्यभाग में ग्रधिक फैलाव वाली सेनारचना को 'वराहब्यूह' कहते हैं। इसमें सैनिक एक दल के पीछे एक दल बढते जाते हैं, जैसे ही शत्रु उन्हें कम समभकर मुकाबला करता है, तो पिछली सेना भूज्ड बनाकर हमला कर देती है। उनके पीछे रक्षा के लिए तथा सावधानी के लिए हल्की सेनापंक्ति रहती है।
- (४) जिसका ग्रग्नभाग मोटा, मध्य का उससे ग्रधिक लम्बाकार होते हए भी विस्तृत हो ग्रीर पृष्ठभाग पतला हो, उस सेना-रचना को 'मकरव्यूह' कहा जाता है।
- (५) ग्रग्नभाग से नुकीली ग्रीर पृष्ठभाग से स्थूल एवं विस्तृत ग्राकार वाली सेनारचना को 'सूचीब्यूह' कहते हैं।
  - (६) ग्रागे का कुछ भाग नुकीला ग्रीर उसके पीछे दो भागों में विस्तत रूप में दूर तक फैली हुई सेना की संरचना को 'गरुडव्यूह' कहते हैं। इसमें प्रप्रपंक्ति जब शत्र-

सेना से लड़ने लगती है, श्रौर शत्रु सेना भी जब सामने होकर संघर्ष करने लगती है,तो श्रग**ल**-वगल में फैली सेना शत्रु सेना पर श्रगल-बगल से ऋपट्टा मारकर दबाने की कोशिश करती है।

> यतञ्च भयमाशङ्कोत्ततो विस्तारयेद्वलम् । पद्मेन चैव ब्यूहेन निविज्ञेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥ (१५१)

(यतः भयम् + आशंकेत्) जिधर भय विदित हो (ततः) उसी स्रोर (बलं विस्तारयेत्) सेना को फैलावे (पद्मे न एव ब्यूहेन) सब सेना के पतियों को चारों स्रोर रखके पद्मब्यूह स्रयात् पद्माकार चारों स्रोर से सेनास्रों को रख के (स्वयं निश्विशेत) मध्य में स्राप रहे।। १८८।। (स॰ प्र०१६१)

आन्य कारिता का निर्मा के पुष्प की तरह एक दल के पीछे दूसरे दल के रूप में चारों ग्रोर गोलाकार रूप में सेना को खड़ा करना ग्रीर मध्य में राजाया सेनापित का होना, इस मोर्चाबन्दी को 'पद्मब्यूह' कहा जाता है।

सेनापतिबलाध्यक्षो सर्वेदिक्षु निवेशयेत्। यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं च कल्पयेदिशम् ॥ १८६॥ (१४२)

(सेनापित-बलाध्यक्षी) सेनापित और बलाध्यक्ष ग्राज्ञा को देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ाने वाले वोरों को (सर्वेदिक्षु निवेशयेत्) ग्राठों दिशाग्रों में रखें (यतः भयम् + ग्राशंकेत्) जिस ग्रोर से लड़ाई हाती हो (तां प्राचीं दिशंक रूपयेत्) उसी ग्रोर सब सेना का मुख रखे।

परन्तु दूसरी स्रोर भी प्रकाप्तबंध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पादर्व से शत्रुकी घात होने का सम्भव होता है।। १८६।। (स० प्र०१६२)

अन्तु श्री लं नः (क) "तां प्राचीं दिशं कल्पयेत्" प्रयात् 'उसे ही पूर्विदशा मान ले' यह एक मुहावरा है, जिसका ग्रयं है उसी दिशा को मुख्य मानकर उसी की ग्रोर मुख कर लेना अर्थात् शक्ति लगाना।

गुल्मांत्रच स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंन्ततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभोरूनविकारिरणः ॥१६०॥ (१४३)

(गुल्मान्) जो गुल्म अर्थात् दृढस्तम्भो के तुल्य (ग्राप्तान्) युद्धविद्या में मुशिक्षित, धामिक (स्थाने च युद्धे कुशलान्) स्थित होने ग्रीर युद्ध करने में चतुर (ग्रभीरून्) भयरहित (च) ग्रीर (ग्रविकारिएाः) जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो + उनको (समन्ततः स्थापयेत्) सेना के चारों ग्रीर रखे ।। १६० ।। (स० प्र०१६२)

+ (कृतसंज्ञान्) निश्चित संकेतों को समभने वाले.....

## संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्। सुच्या वज्रेगा चैवैतान्ब्यूहेन य्यूह्य योधयेत् ॥१६१ (१५४)

(ग्रल्पान् संहतान् योधयेत्) जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिलकर लड़ावे (कामं विस्तारयेत् बहून्) ग्रीर काम पड़े तो उन्हीं को भट फैला देवे, जब नगर दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूच्या वज्जेण ब्यूह्य) 'सूचीब्यूह' तथा वज्ज- ब्यूह' जैसा दुधारा खड़्ग दोनों ग्रीर युद्ध करते जायें ग्रीर प्रविष्ट भी होते चलें, वैसे ग्रनेक प्रकार के ब्यूह ग्रर्थात् सेना को बनाकर (योधयेत्) लड़ावे।। १६१।। (स० प्र०१६२)

'जो सामने (गत्र हो) तोप वा (मुशुण्डी) वन्दूक छूट रही हो तो 'सर्प ग्यूह' ग्रर्थात् सपंके समान सोते-सोते चले जायें, जब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ग्रोर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक ग्रादि से उन शत्रु ग्रों को मारें ग्रथवा वृह पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें ग्रीर मारें, वीत्र में ग्रच्छे-प्रच्छे सवार रहें, एकवार धावा कर शत्रु की सेना को छिन-भिन्न कर पकड़ लें ग्रथवा भगा दें।'' (स॰ प्र० पष्टसमु०)

अप्रन्य क्यी कि स्वास प्रकार दुधारी तलवार शरीर में नोक से घुसकर दोनों ग्रोर से काटती जाती है, उती प्रकार सेना की इस प्रकार मोर्चाबन्दी करना कि वह सामने लड़ती हुई शत्रु-सेना में प्रविष्ट होती जाये ग्रीर ग्रगल बगल भागों से दूसरी सेनापंक्तियां लड़ें तथा इस प्रकार रक्षा भी करें कि किसी बगल से घूमकर शत्रु घेर न ले, इस मोर्चाबन्दी को 'वज्रव्यूह' कहते हैं।

## स्यन्दनाइवैः समे युद्धचे दनूपे नौद्विपैस्त्था। वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुर्धः स्थले ॥१६२॥ (१५५)

(समे युध्येत् स्यन्दन + प्रश्वैः) जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ, घोड़े ग्रीर पदातियों से (प्रनूपे नौ-द्विपैः) जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका ग्रीर थोड़े जल में हाथियों पर (वृक्ष-गुल्म + प्रावृते) वृक्ष ग्रीर भाड़ी में (चापैः) वाएा (तथा) तथा (स्थले) स्थल बालू में (प्रसि चर्म + प्रायुधैः) तलवार ग्रीर ढाल से युद्ध करें-करावें।। १६२।। (स० प्र० १६२)

## आन्तुव्योत्ञन्तः मनुत्रोक्त युद्धनीति एवं उसके ग्रंग-प्रत्यंग (तालिका)

१. युद्धनीति के स्राधार	२. युद्धार्थ सेना	३. सेना के अधिकारी
१. साम (७।१५६,१६८,२००) २. दाम ( ,, ,, ) ३. भेद ( ,, ,, ) ४. दण्ड ( ,, ,, ) ५. सिम्ध (७।१६०,१६२,१६३ १६६) ६. विग्रह (७१६०,१६४,१७०।) ७. यान (७।१६०,१६४,१७१) ६. ग्रासन (७।१६०,१६६,१७२) ६. द्वैधी भाव (७।१६०,१६७,१७३) १०. सश्चय (७।१६०,१६८,१७४)	<ol> <li>पैदल-मेना (७।१८४,१६२)</li> <li>रथसवार सेना ( ,, ,,)</li> <li>भुड़सवार सेना ( ,, ,,)</li> <li>हाथीसवार सेना ( ,, ,,)</li> <li>जल सेना ( ,, ,,)</li> <li>वायु सेना ( ,, ,-)</li> </ol>	१≂६)

४. युद्ध में ब्यूहरचना	५. शस्त्रास्त्र-संकेत-वर्णन	
१. दण्डन्यूह (७।१८७) २. शकटन्यूह (,, ,,) ३. वराहन्यूह (,, ,,) ४. मकरन्यूह (,, ७।१६१) ६. गरुडन्यूह (,, ७।१६६) ७. पद्मन्यूह (७।१८८) ८. वज्रन्यूह (७।१८८)	१. घनुष (७।७४,१६२) २. बाण (७।६०,१६२) ३. तलवार (७।१६२) ४. ढाल (७।१६२) ४. कूटायुध (७।६०) ६. शक्ति (८।३१४) ७. वहणपाश (६।३०८) ८. लीहदण्ड (८।३१४)	

#### कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्छूरसेनजान् । दीर्घांत्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १६३ ॥

(कुरुक्षेत्रान्) कुरुक्षेत्र—निवासी (मत्स्यान्) विराट् नामक प्रदेश—निवासी (पञ्चालान्) कान्यकुब्ज और ग्रहिच्छत्र प्रदेश के निवासी (शूरसेनजान्) मथुरा प्रदेश के निवासी (दीर्घान् च लघून् एव नरान्) बड़े कद वाले ग्रथवा छोटे कद वाले भी हों तो भी उन योद्धा नरों को (ग्रग्र + ग्रनी केषु योजयेत्) सेना में सबसे ग्रग्नभाग में नियुक्त करे॥ १६३॥

आनुर्धीत्उनः १६३ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होता है-

- १. प्रसंगिवरोध—यहाँ पूर्वापर प्रसंग युद्ध के सर्वसामान्य नियमों एवं उनके प्रकारों का है, किसी देश-विशेष के सैनिकों का या किसी देश-विशेष के लिए नहीं है। ग्रतः यह क्लोक पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध है।
- २. प्रन्तिवरोध—(१) इस क्लोक में कुछ देशविशे यों के सैनिकों को सेना के अग्रभाग में रखने का निर्देश है। प्रक्त उठता है कि जिन देशों के पास ये सैनिक नहीं हैं वे इन्हें कहां से लायेंगे? इस प्रकार यह कोई विधान ही नहीं बनता। मनुस्मृति के विधान सभी देशों के सभी वर्णों के व्यक्तियों के लिए सर्वसामान्य रूप से विहित हैं। इनके साथ किसी क्षेत्रविशेष में सीमित करने वाली बात नहीं जोड़ी जा सकती है। १।१३६ [२।२०] में मनु ने स्वयं कहा है कि 'इन धर्मों की शिक्षा पृथ्वी पर स्थित समस्त देशों के मानव प्राप्त करें'। फिर यह स्मृति केवल इसी क्लोक में विणत देशों के लिए कैसे सीमित हो सकती है? इस ग्रन्तिवरोध के ग्राधार पर यह क्लोक प्रक्षिप्त है। (२) इन देशों का विभाजन मनु से परवर्ती है [इसके लिए १।१३८ (२।१६) पर समीक्षा द्रष्टव्य है]। इस ग्राधार पर भी यह क्लोक मनुप्रोव्त नहीं है।

सेना का उत्साहवर्धन--

प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्म तांश्च सम्यवपरीक्षयेत्। चेष्टाश्चेव विजानीयादरीन्योधयतामपि॥ १६४ ॥ (१४६)

(व्यूह्य बलं प्रहर्षयेत्) जिस समय युद्ध होता हा तो उस समय लड़ने वालों को उत्साहित और हर्षित करें, जब युद्ध बंद हा जाये तब जिससे शौरं ग्रीर युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों [ =वचनों] से सबके चित्त को खान-पान, ग्रस्त्र-शस्त्र, सहाय और श्रोषधादि से प्रसन्न रखे, व्यूह् के बिना लड़ाई न करे, न करावे + (योधयताम् + ग्रिव चेष्टाः विजानीयात्) लड़ती हुई ग्रपनी सेना को चेष्टा को देखा करे कि (सम्यक् परीक्षयेत्) ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है।। १६४।। (स० प्र०१६२)

+ (ग्ररीन्) शत्रुत्रों से .....

शत्रुराजा को पीड़ित करने के उपाय-

उपरुष्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्। दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १६५ ॥ (१५७)

किसी समय उचित समभे तो (ग्रिरम् उपरुघ्य ग्रासीत) शत्रु को चारों ग्रोर से घरकर रोकरखे (च) ग्रौर (ग्रस्य राष्ट्रम् उपपीडयेत्) इसके राज्य को पीड़ित कर (ग्रस्य) शत्रु के (यवस-ग्रन्न-उदक-इन्धनम्) चारा, ग्रन्न, जल ग्रौर इन्धन को (सततं दूषयेत्) नष्ट दूषित कर दे।। १६५॥ (स० प्र०१६२)

भिन्द्याच्चेव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा। समवस्कन्दयेच्चेनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा।। १६६ ।। (१५८)

शत्रुके (तडागानि) तालाब (प्राकार) नगर के प्रकोट (तथा परिखाः) ग्रीर खाई को (भिन्दात्) तोड-फोड दे (रात्री एनं वित्रासयेत्) रात्रि में उनको भय देवे (च) ग्रीर (सम् + ग्रवस्कन्दयेत्) जीतने का उपाय करे।। १६६॥ (स० प्र०१६२)

शत्रुराजा के ग्रमात्यों में फूट---

उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्। युक्ते च देवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः॥ १६७॥ (१५६)

(उपजप्यान्) शत्रु के वर्ग के जिन ग्रमात्य, सेनापित ग्रादि में फूट डाली जा सके, उनमें (उपजपेत्) फूट डाल दे (च) ग्रौर इस प्रकार (तत् कृतं बुध्येत) शत्रु राजा की योजनाग्रों की जानकारी ले ले (च) ग्रौर (जयप्रेप्सुः) विजय का इच्छुक राजा इस प्रकार (ग्रपेतभीः) भय छोड़कर (युक्ते देवे) उचित ग्रवसर पर (युध्येत) युद्ध-ग्राक्रमण शुरू कर देवे ॥१९७॥

साम्ना दामेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।

विजेतुं प्रयतेतारीत्र युद्धेन कदाचन ॥ १६८ ॥ (१६०)

(साम्ना) 'साम' से (दामेन) 'दाम' से (भेदेन) 'भेद' से (समस्तैः) इन सब उपायों मे एकसाथ (ग्रयवा) ग्रथवा (पृथक्) ग्रलग-ग्रलग एक-एक से (ग्ररीन् विजेत् प्रयतेत) शत्रुग्रों को जीतने का प्रयत्न करे (कदाचन युद्धेन न) कभी पहले युद्ध से जीतने का यत्न न करे।। १६८।।

म्रनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युष्यमानयोः। पराजयश्व सङ्ग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्।। १६६॥ (यस्मात्) नयोकि (सम्रामे युष्यमानयोः विजयः च पराजयः) युद्धं में लड़त समय विजय ग्रौर हार (ग्रनित्यः दृश्यते) श्रनिश्चित होती हैं (तस्मात् युद्धं विवर्जयेत्) इसलिए युद्ध करना छोड़ देवे ॥ १६६ ॥

#### अन्य शिल्ज : १६६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिव ोध— (१) पूर्वापर १६ व २०० श्लोकों में नीतिपूर्वक क्रमशः सामादि उपाय अपनाने का कथन है। अन्तिम उपाय युद्ध को अन्त में ही अपनाने का निर्देश है। इस प्रकार उक्त दोनों श्लोकों की वाक्यात्मक सम्बद्धता है। इस श्लोक के युद्धिनिषेध वर्णन ने उस प्रसंग और सम्बद्धता को भंग कर दिया है। अतः प्रसंगभञ्जक प्रक्षेप है। (२) १८१ से यह युद्ध का ही प्रसंग प्रारम्भ हुम्रा है, जिसमें २०१ तक युद्धों के विधान हैं। इस प्रसंग के बीच युद्धवर्जन का कथन प्रसंगिवरुद्ध है।
- २ अन्तर्विरोध—१८१ से २०० श्लोकों तक मनु ने युद्ध करने का कथन किया है। यहां युद्ध से पराजय होने के भय से निवृत्त होने का कथन इन सभी श्लोकों के विरुद्ध है। इस ग्राधार पर भी यह प्रक्षिप्त है।

# त्रयाः गुन्धेत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २००॥ (१६१)

(पूर्वोक्ताना त्रयाणाम् + म्रपि + उपायानाम् म्रसंभवे) पूर्वोक्त साम, दाम, भेद तोनों ही उपायों में से किशी से भी विजय की संभावना न रहने पर (सम्पन्नः) सब प्रकार से तंयारी करके (तथा युध्येत) इस प्रकार युद्ध करे (यथा) जिससे कि (रिपृन् विजयेत) शत्रुम्भों पर विजय कर सके ॥ २००॥ राजा के विजयोगरान्त कर्नन्य —

जित्वा सम्पूजयेद् देवान्बाह्यगांश्चेव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहारांश्च स्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ (१६२)

(जित्वा) विजय प्राप्त करके (धार्मिकान् देवान् ब्राह्मणान् एव) जो धर्माचरणवाले विद्वान् ब्राह्मण हों उनको हो (पूजयेत्) सत्कृत करे ग्रथात् उनको ग्रभिवादन करके उनका ग्राशीर्वाद ले (च) ग्रौर (परिहारान् प्रद-द्यात्) जिन प्रजाजनों को युद्ध में हानि हुई है उन्हें क्षतिपूर्ति के लिए सहा-यता दे (च) तथा (ग्रभयानि ख्यापयेत्) सब प्रकार के ग्रभयों की घोषणा करा दे कि 'प्रजाग्रों को किसो प्रकार का कोई कष्ट नहीं दिया जायेगा अतः वे सब प्रकार से भय-ग्राशंका-रहित हो कर रहें ।। २०१।।

हारे हुए राजा से प्रतिज्ञापत्र ग्रादि लिखवाना---

सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम्। स्थापयेत्तत्र तद्वंदयं कुर्याच्च समयक्रियाम्।। २०२।। (१६३) (एषां सर्वेषाम्) विजित प्रदेश की इन सब प्रजाम्नों की (चिकीर्षितम्) इच्छा को (समासेन विदित्वा) संक्षेप से प्रथात् सरसरी तौर पर जानकर कि वे किसे अपना राजा बनाना चाहती हैं, या कोई ग्रौर विशेष ग्राकांक्षा हो उसे भी जानकर (तत्र) उस राजिसहासन पर (तत् वंदयम्) उस प्रशेश की प्रजामों में से उन्हीं के वंश के किसी व्यक्ति को (स्थापयेत्) बिठा देवे (च) ग्रौर (समय-क्रियाम् कुर्यात्) उससे सन्धिपत्र = शर्तनामा लिखा लेवे [कि ग्रमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना है, ग्रमुक मेरी इच्छा से। इसी प्रकार ग्रन्य कर, ग्रनुशासन ग्रादि से सम्बद्ध बातें भी उसमें हों]।। २०२॥

प्रमाराानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्ययोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषेः सह ॥ २०३ ॥ (१६४)

(तेषां यथोदितान् धर्म्यान्) उन विजित प्रदेश की प्रजास्रों या नियुक्त राजपुरुषों द्वारा कही हुई उनकी न्यायोचित [ चवंध ] बातों को (प्रमार्णानि कुर्वीत) प्रमाणित कर दे स्रर्थात् प्रतिज्ञापूर्व क स्वीकार कर ले। स्रिम-प्राय यह है कि उनकी न्यायोचित वातों को मान लेवे स्रीर जो स्रमान्य बातें हों उनको न माने (च) स्रीर (प्रधानपुरुषे: सह एनम्) प्रधान राजपुरुषों के साथ बन्दीकृत इस राजा का (रत्नै: पूजयेत्) उत्तम वस्तुयें प्रदान करते हुए यथायोग्य सत्कार रखे।। २०३।।

"जीतकर उनके साथ प्रमाण प्रयात् प्रतिज्ञा ग्रादि लिखा लेवे ग्रौर जो उचित समय समभे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे ग्रौर उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी ग्राज्ञा के ग्रमुकूल ग्रर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके ग्रमुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे। ग्रौर ऐसे पुरुष उनके पास रखे कि जिससे पुनः उपद्वत न हो। ग्रौर जो हार जाये, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्न ग्रादि उत्तम पदार्थों के दान से करे ग्रौर ऐसा न करे कि जिससे उसको योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रखे, जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर ग्रानन्द में रहे।" (स० प्र०१६४)

म्रादानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् । अमीष्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४॥ (१६४)

क्यों कि (ग्रादानम् + ग्रियकरम्) संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना ग्रिप्रीत (च) ग्रीर (दानं प्रियकारकम्) देना प्रीति का कारण है, ग्रीर (काले युक्तम्) समय पर उचित क्रिया करना (ग्रिभीप्स्तानाम् + ग्रर्थानाम्) उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना (प्रशस्यते) वहुत उत्तम है ।। २०४ ।। (स० प्र० १६२)

#### सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे। तयोर्देवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

(इदं सर्वं कर्म आयत्तम्) संसार के सब काम (दैव-मानुषे विघाने) दैव = भाग्य और मनुष्य के आधीन हैं (तयोः) उन दोनों में (दैवं तु श्रचिन्त्यम्) भाग्य तो श्रचिन्त्य ग्रर्थात् अज्ञात होता है (मानुषे क्रिया विद्यते) मनुष्य के करने से कोई काम पूरा किया जा सकता है।। २०४।।

## अन्यक्षीत्जनः २०५ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध — यह क्लोक पूर्वार प्रसंग के विरुद्ध है। पूर्व के २०२-२०४ क्लोकों में विजित राजा को बन्दी बनाकर रखने का सुभाव है और २०६ में उसका विकल्प है कि यदि बन्दी न बनावे तो उसे मित्र बनाकर उसे ही राज्य।सन पर रखकर लीट ग्राये। इस प्रकार पूर्वार क्लोक को परस्पर सम्बद्धता को इस क्लोक ने भंग कर दिया है। इस विगित मानुष दैव कर्मों का यहां पूर्वापर प्रसंग से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रसंगविरोध के ग्राधार पर यह प्रक्षिप्त है।

## सह वाऽपि वजेद्युक्तः संधि कृत्वा प्रयत्नतः। मित्रं हिरण्यं भूमि वा संपद्म्यंस्त्रिविधं फलम् ॥२०६ ॥(१६६)

[यदि पूर्वोक्त कथनानुसार (७। २०२--२०३) राजा को बन्दी न बनाकर उसके स्थान पर दूसरा राजा न बिठाकर उसे ही राजा रखे तो] (ग्रियिवा) ग्रथवा (सह युक्तः) उसी राजा के साथ मेल करके (प्रयत्नतः सिन्ध कृत्वा) बड़ी सावधानी पूर्वक उससे सिन्ध करके ग्रथीत् सिन्धिपत्र लिखाकर (सित्रं हिरण्यं वा भूमि त्रिविधं फलं सम्पश्यन्) मित्रता, सोना ग्रथवा भूमि की प्राप्ति होना, इन तीन प्रकार के फलों को देखकर ग्रथीत् इनकी उपलब्धि करके (ब्रजेत्) वापिस लौट ग्राये।। २०६।।

## पार्षिणग्राहं च सप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले। नित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्।। २०७॥ (१६७)

(मण्डले) अपने राज्य में (पार्ष्यिग्राहम्, 'पार्ष्यिग्राह' संज्ञक राजा [१५६] (तथा) तथा (आक्रन्द संप्रेक्ष्य) 'आक्रन्द' संज्ञक राजा का [१५६] ध्यान रखके (मित्रात् + ग्रथापि + ग्रमित्रात्) मित्र प्रथवा पराजित शत्रु से (यात्राफलम् + ग्रवाष्नुयात्) युद्धयात्रा का फल प्राप्त करे। अभि-प्राय यह है कि ग्रपने पड़ोसी राजाग्रों से सुरक्षा के लिए या उनको वस में

करने के लिए कौन से फल की ग्रधिक उपयोगिता होगा, यह सोचकर शत्रुया मित्र से वही-वही फल मुख्यता से प्राप्त करे।। २०७।।

सच्चा नित्र सबसे बड़ी शक्ति-

हिरण्यमूमिसन्त्राप्त्या पार्थियो न तथंथते। तथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृञमण्यायतिक्षमम्।। २०६ ॥ (१६६)

(पाथिवः) राजा (हिरण्य-भूमि-सम्प्राप्त्या) सुवर्ग ग्रौर भूमि की प्राप्ति से (तथा न एथते) वैसा नहीं बढ़ता (यथा) कि जैसे (ध्रुवम्) निश्चल प्रेमयुक्त (ग्रायतिक्षमम्) भविष्यत् की बातों को सोचने ग्रौर कार्य-सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र (ग्रिप कृशम्) ग्रथवा दुर्वल मित्र को भी (लब्ध्वा) प्राप्त हो के बढ़ता है।। २०८।। (स० प्र० १६४)

प्रशंसनीय मित्र राजा के लक्षण---

धर्मतं च कृतनं च तुष्टप्रकृतिमेत्र च। ग्रमुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते॥ २०६॥ (१६६)

(धर्मज्ञम) धर्म को जातने (च) श्रीर (कृतज्ञम्) कृतज्ञ स्रथात् किये हुए उपकार को सदा मानने वाले (तुष्टप्रकृतिम्)प्रसन्न स्वभाव (सनुरक्तम्) श्रनुरागी (स्थिरारम्भम्) [=स्थिरतापूर्वक मित्रता या कार्य करने वाला] (लबुमित्रम्) लबु = छोटे मित्र को प्राप्त होकर (प्रशस्यते) प्रशंकित होता है।। २०६॥ (स० प्र० १६४)

कष्टकर रात्रु के लक्षण-

प्राज्ञं कुत्रीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च। कृतज्ञं यृतिमन्तं च कब्टमाहुरीर बुधाः ।। २१० ।। (१७०)

सदा इस वात को इइ रखे िक कभी (प्राज्ञम्) बुद्धिमान् (कुलीनम्) कुलीन (जूरम्) जूरबोर (दक्षम्) चतुर (दातारम्) दाता (कृतज्ञम्) िकये हुए को जाननेहारे (च) ग्रौर (धृतिमन्तम्) धर्यवान् पुरुष को (ग्रिरम् कष्टम् + ग्राहु) शत्रु न बनावे क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा वह दु;ख पानेगा % ॥ २१०॥ (स॰ प्र०१६४)

🕸 (बुधा) विचारणील विद्वानों का ऐसा मत है।

उदासीन के लक्षण-

त्रार्यंता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुएविदिता। स्यौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ (१७१) उदासीन का लक्षण—(आर्यता) पुरुषज्ञानम्) जिसमें प्रशंसित गुण-युक्त ग्रच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान (शौयम्) शूरवीरता (च) ग्रौर (करुण-वेदिता) करुणा भी (स्थौलनक्ष्यं सनतम्) स्थूल लक्ष्य ग्रथीत् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे (उदासीनगुणोदयः) वह उदासीन कहाता है।। २११।। (स० प्र०१६५)

राजा द्वारा ग्रात्मरक्षा सबसे ग्रावश्यक-

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुकृद्धिकरीमपि। परित्यजेन्नुपो भूनिमात्मार्यमदिचारयन्।। २१२।। (१७२)

(नृपः) राजा (ब्रात्मार्थम्) अपने राज्य की रक्षा के लिए (क्षेन्याम्) ब्रारोग्यता मे युक्त (सस्यप्रदाम्) धान्य-घास ग्रादि से उपजाऊ रहने वाली (नित्यं पशुवृद्धिकरीम्) सदैत्र जहाँ पशुग्री की वृद्धि होती हो, ऐसी भूमि को भी (अविचारयन्) बिना विचार किये (परिन्यजेत्) छोड़ देवे ग्रर्थात् विजयी राजा को देनी पड़े तो दे दे, उसमें कष्ट ग्रनुभत्र न करे ॥ २१२ ॥

ब्रापदर्थं धनं रक्षेद्वारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद्वारेरपि धनैरपि॥ २१३॥ (१७३)

श्रापित में पड़ने पर (ग्रापत् + ग्रथंम्) ग्रापित से रक्षा के लिए (धनं रक्षेत्) धन की रक्षा करे, श्रीर (धनं: + ग्रपि) धनों की ग्रपेक्षा (दारात् रक्षेत्) स्त्रियों की ग्रयीत् परिवार की रक्षा करे (दारे: + ग्रपि धने: + ग्रपि) स्त्रियों से भी ग्रीर धनों से भी ग्रात्मरक्षा करना सबसे ग्रावस्यक है। यदि उसको रक्षा नहीं हो सकेगी तो वह न परिवार की रक्षा कर सकेगा ग्रीर न धन की न राज्य की।। २१३॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो मृशम् । संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सुजेद् बुधः ॥ २१४ ॥ (१७४)

(सर्वाः स्रापदः भृशं सह समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्य) सब प्रकार की स्राप-त्तियां तीव्र रूप में स्रोर एकसाथ उपस्थित हुई देखकर (बुधः) बुद्धिमान् (संयुक्तान्) सम्मिलित रूप से स्रोर (वियुक्तान्) पृथक्-पृथक् रूप से स्रर्थात् जैसे भी उचित समभे (सर्व + उपायान् मृजेत्) सब उपायों को उपयोग में लावे ।। २१४ ॥

> उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांद्रच कृत्स्नकाः । एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ।। २१५ ।। (१७५) (उपेतारम्) उपेता =प्राप्त करनेवाला ग्रर्थात् स्वयं (उपेयम्) उपेय =

प्राप्त करने योग्य स्रर्थात् शत्रु (च) ग्रीर (सर्व + उपायान्) सब विजय प्राप्त करने के साम, दाम, ग्रादि उपाय (एतत् त्रयम्) इन तीन वातों को (कृत्स्नशः समाश्रित्य) सम्पूर्ण रूप से ग्राश्रय करके ग्रर्थात् विचार करके ग्रीर अपनी क्षमता देखकर (ग्रर्थंसिद्धये प्रयतेत) राजा ग्रपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्न करे, इन्हें विना विचारे नहीं ।। २१५ ।।

मन्त्रणा एवं शस्त्राम्यास के बाद भोजनार्थं ग्रन्तःपुर में जाना—

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभः। व्यायम्यः प्लुत्य मध्याह्मे भोवतुमन्तः पुरं विशेत्।।२१६॥(१७६)

(एवम्) इस प्रकार (राजा) राजा (इदं सर्वम्) यह पूर्वोक्त [७। १४६—२१४] सब (मंत्रिभिः सह समन्त्र्य) मन्त्रियों के साथ विचार-विनर्श करके (त्र्यायम्य) व्यायाम प्रयात् शस्त्रास्त्रों का ग्रम्यास करके (ग्राप्लुत्य) स्नान करके फिर, (मध्याह्ने ) दोपहर के समय (भोक्तुम्) भोजन करने के लिए (अन्तःपुरं विशेत्) ग्रन्तःपुरं प्रयात पत्नी ग्रादि के निवास-स्थान में प्रवेश करे।। २१६।। राजा गुपरीक्षित भोजन करे—

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्येः परिचारकैः । सुपरोक्षितमःनाद्यमद्यान्मन्त्रैविषापहैः ।। २१७ ।। (१७७)

(तत्र) वहां ग्रन्तःपुर में जाकर (ग्रात्मभूतैः) गम्भीर प्रेम रखने वाले, विश्वासपात्र (कालजैः) ऋतु स्वास्थ्य, ग्रवस्था ग्रादि के ग्रनुसार भोज्य पदार्थों के खाने के समय को जानने वाले (प्रहार्येः) शत्रु भों द्वारा फूट में न ग्राने वाले (परिचारकैः) सेवकों =पाकशालाध्यक्षों, वैद्यों ग्रादि के द्वारा (विषापहै: मन्त्रैः) विषनाशक युक्तियों या उपायों से (सुपरीक्षितम्) ग्रच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए (ग्रन्ताद्यम्) भोजन को (ग्रद्यात्) खाये।। २१७ ।। भ

'भोजन सुपरोक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्धक, रोगविनाशक, स्रनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन-पान ग्रादि सुगन्धित-मिष्टादि ग्रनेक रसयुक्त उत्तम करे।'' (स॰ प्र॰ पष्ठ समु०)

अन्त्र्योत्डनः इस श्लोक में "कालज्ञः" ग्रौर 'विषापहैः मन्त्रः' पदों

१. [प्रचलित ग्रथं — वहां अन्तः पुर में अपने तुल्य, भोजन समय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्त आदि को विषनाशक मन्त्रों से (गाष्टादि मन्त्रों को जपकर) भोजन करे।। २१७।]

पर किसी को भ्रान्ति न हो इसलिए इन पर विस्तृत प्रकाश डालना भ्रावश्यक है। क्यों-कि, ग्राजकल ये शब्द और वाक्य भ्रम्य अर्थों में रूढ हो गये हैं ग्रौर टीकाकारों ने युक्ति-संगत ग्रर्थ नहीं दिये हैं—

- (१) 'कालक्क' का प्रासंगिक ग्रोर मनुसम्मत ग्रयं कालक्क का शब्दायं 'काल को जानने वाला' होता है, जो ज्योतिषी ग्रयं में भी रूढ़ है, किन्तु यहां इसका यह श्रयं नहीं। शब्दकोशों में कालक्क का ग्रयं 'किसी कार्य के उचित समय या श्रवसर को जानने वाला' भी मिलता है। संस्कृत-साहित्य में भी यह ग्रयं प्रचलित है। यहां भी यही अर्थ है। फिर यहां प्रसंग भोजन का है, ग्रतः भोजन के प्रसंग में ही उसका ग्रयं बनेगा। इस प्रकार इस क्लोक में कालक्क का ग्रयं—'स्वास्थ्य, अवस्था, ऋतु ग्रादि के अनुसार भोज्य पदार्थों या भोजन के समय को जानने वाला' यह ग्रयं है। यही उपयुक्त एवं प्रासंगिक है।
- (२) 'विषापहै: मन्त्रै:' पदों के म्रर्थ पर विवार—'मन्त्र' का म्रर्थ भी 'विचार' या 'युक्ति' एवं 'विचारात्मक उपाय' होता है। दि जिए ऋ ०१। १५२। २; १। ६७। २ मन्त्रों पर ऋषि दयानन्द का भाष्य] इस प्रकार ''विपापहै: मन्त्रै:'' का इस इलो क में किया गया अर्थ ही उचित एवं युक्तिसंगत है। म्रन्य टीकाम्रों का म्रर्थ बुद्धिगम्य एवं युक्ति-संगत नहीं है। केवल मन्त्रों ज्वारण से विष दूर होना म्रसंभव वात है।
- (३) कौटिल्य ग्रयंशास्त्र में राजा को मोजन-सम्बन्धी निर्देश मनु के समान कौटिल्य ने भी राजा को परीक्षित, सुरक्षा में निर्मित, विषादि से रहित ग्रीर सुस्वादु भोजन करने का निर्देश दिया है। कौटिल्य के ग्रनुसार राजा का भोजन एकान्त ग्रीर सुरक्षित पाकशाला में तैयार होना चाहिए। वहां विष ग्रादि की परीक्षा करने वाले वैद्य हों। वैद्यों एवं पाकशालाष्ट्यक्ष द्वारा राजा के सामने स्वयं खाकर परीक्षित तथा ग्रिंग अग्रैर पशु-पिक्षयों के ग्रागे डालकर परीक्षित भोजन, जलपान ग्रादि राजा को करना चाहिए। वैद्यों को विभिन्न विषनाशक ग्रुक्तियों से भोजन की परीक्षा करनी चाहिए तथा विषमारक उपायों की तैयारी रखनी चाहिए। [प्रक० १६। ग्र० २०] कौटिल्य के इन वचनों से भी इस ब्याख्या के किये ग्रयों की पुष्टि होती है।

#### विषष्टनैरगर्वश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्। विषष्टनानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

(च) ग्रीर (ग्रस्य) इस राजा के (सर्वद्रव्याणि) उपयोग में लाये जाने वाले सब पदार्थों में (विष्टनै: ग्रगदैः) विषनाशक ग्रौषधियां, (योजयेत्) डाते (च) ग्रीर राजा

१. ''तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजभ्यासन्नाः स्युः । भिषक् भैषज्यागा-रादास्वादिशिद्धमौषधं गृशीःवा पाचकपोषकाभ्यामाःमना च प्रतिस्थाद्य राजे प्रयच्छेत् । पानं पानीयं चौषधेन व्याख्यातम् ।''

<sup>&#</sup>x27;'गुंते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत् । तद्वाजा तथेव प्रति भुञ्जीत, पूर्वमानये वयोभ्यश्च बलि कृत्वा ।'' [प्रक० १६ । ग्र० २०]

(नियतः) म्रावश्यक रूप से (विषघ्नानि) विषों को नष्ट करने वाली (रत्नानि) मणियौँ या रत्न ग्रीयिधयां (सदा धारयेत्) सदा धारण करे ।। २१८ ।।

> परीक्षिताः स्त्रियःचैनं व्यजनोदकयूपनैः। वेषामरणसंगुद्धाः स्रृहोयुः सुसमाहिताः॥२१६॥

(च) ग्रौर (वेप + ग्राभरण-संगुद्धाः) वेशभूषा ग्रौर ग्राभूषणों से स्वच्छ (सुस-माहिताः) सावधानी रखने वाली (परीक्षिताः) परीक्षा ली हुई (स्त्रियः) स्त्रियाँ (एनम्) इस राजा की (व्यजन-उदक-धूपनैः) चंवर, जल ग्रौर धूप ग्रादि से (स्पृशेयुः) सेवा करें।। २१६॥

अन्य श्रीत्वनः २१८—२१६ श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध— (१) २१६-२१७ में राजा के परीक्षित भोजन की चर्चा है, फिर २२० में उसी प्रकार परीक्षित यान-ग्रासन ग्रादि के प्रयोग का कथन है। इस प्रकार २१६-२१७ ग्रौर २२० की परस्पर प्रसंग सम्बद्धता है। इनके बीच रत्नधारण, स्त्रियों द्वारा सेवा, ग्रादि का प्रमंग उस पूर्वापर सम्बद्धता को भंग कर रहा है। (२) २२० वें क्लोक में पठित 'एवम्' पद स्वतः ही इसकी प्रसंगसम्बद्धता २१७ से सिद्ध कर रहा है। जैसे भोजन ग्रादि में परीक्षा, सुरक्षा, विक्वसनीयता ग्रादि बातों की सावधानी बरते, ऐसे ही यान-ग्रासन ग्रादि में भी वरते। इस प्रकार २१७ से २२० की वाक्यात्मक एकता है। उसे इन क्लोकों ने भंग कर दिया है, ग्रतः ये प्रसंगिवरुद्ध प्रक्षेप हैं।
- २. ग्रन्तिरोध—(१) २१७ वें श्लोक में राजा को स्पष्टतः पुरुगसेवक रखने का कथन है, स्त्रीसेवकों का कथन नहीं। २१६ में स्त्रियों को सेवक रूप में रखने के वर्णन का, उसके साथ तालमेल नहीं है। (२) राजा के लिए प्रत्येक प्रकार की स्त्रियों का संग-सेवन [स्वस्त्री को छोड़कर] मनु ने निषिद्ध किया है [७।४७, ४०,७७,]। यह श्लोक उनके भी विरुद्ध है। (३) मनु ने द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक जो वेषभूषा तथा वस्त्रधारण ग्रादि की व्यवस्थाएं दी हैं [२।११,३६-३६॥४। ३५ ग्रादि] उनमें केवल यज्ञोपवीत ही सदाधार्य बतलाया है। यदि रत्न ग्रादि धारणीय होते तो वहां उनका भी उल्लेख होता। यहां रत्न ग्रादि धारण का कथन मनु की पूर्वोक्त व्यवस्थाग्रों से तालमेल नहीं खाता। यैसे भी रत्नधारण करने से उदरस्थ विष की निवृत्ति बुद्धिगम्य ग्रीर युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार २१८ वां श्लोक भी प्रक्षिण है।

खाद्य पदार्थी के समान ग्रन्य प्रयोज्य साधनो में सावधानी-

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशते। स्नाने प्रसाधने चैव सर्वातंकारकेषु च ॥ २२०॥ (१७८) राजा (यान-शय्या-ग्राह्मन-अशने) सवारी, सोने के साधन पलंग ग्रादि, ग्रासन, भोजन (स्नाने च प्रसाधने) स्नान ग्रीर श्रुंगार प्रसाधन उबटन ग्रादि (च) ग्रीर (सर्व + ग्रलं कारकेषु) सब राजिचह जंसे ग्रलं कार ग्रादि साधनों में भी (एवं प्रयत्नं कुर्वीत) इसी प्रकार योग्य सेवकों द्वारा परीक्षा कराने की सावधानी बरते [जैसे २१७ श्लोक में उक्त भोजन में वरतने को कहा है] ।। २२०।।

अब न्यू क्यी ट्यं को दिल्य हारा यान आदि के प्रयोग में सावधानी का निर्देश — यतोहि राजा के विरुद्ध शत्रुओं द्वारा प्रतिपल पड्यन्त्र रचे जाते हैं, अतः राजा को प्रत्येक कार्य में सुरक्षार्थ सावधानी रखने का निर्देश हैं। कौ टिल्य ने इस निर्देश को और विस्तारपूर्वक विणत किया है। उनके अनुसार दादी-मूं छ के उपयोग में आने वाले साथनों, वस्त्रों, राज-अलकरणों, माल्यापंग, स्नान, यात, आसत, पशु-वाहत आदि प्रत्येक की पहले विश्वसतीय सेवकों द्वारा राजा के सामने परीक्षा होनी चाहिए। कहीं उनमें विषययोग या घोला न हो। तत्पश्चात् राजा के प्रयोग में लाने चाहिएं। भोजन के बाद विश्वाम और राज्यकार्यों का चिन्तन—

भुक्तदान्त्रिहरेरचैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विह्रःय तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ (१७६)

(च) ग्रौर [२१६-२१७ में कहे ग्रनुसार] (भुक्तवान्) भोजन करके (ग्रन्तःपुरे) अन्तःपुर = रिनवास में (स्त्रीभिः मह) पत्नी ग्रादि पारिवारिक जन के साथ (विहरेत्) आमोद-प्रमोद या विश्राम करे (तु) ग्रौर (विहत्य) विश्राम करके (पुनः) तदनन्तर (यथाकालम्) यथासमय (कार्याणि चिन्त-येत्) कार्यो ग्रयित् मुकद्दमों [६।१-६ में विणित] तथा ७। ५४-२१५ में विणित राज्यकार्यो पर विचार करे।। २२१।।

अरु क्ये टिक न्यः 'स्त्रीभिः' पद से स्रमिप्राय—इस इलोक में 'स्त्रीभिः' शब्द का स्रयं प्रचलित टीकाम्रों में 'बहुपरिनयां या रानियां' किया है, जो मनुविरुद्ध है। यहां इस इलोक में इसका स्रयं 'पत्नी स्रादि पारिवारिक स्त्रियां' या पारिवारिक जन है। इस की पुष्टि में निम्न प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) मनु ने द्विजों के लिए ग्रीर राजा के लिए स्पष्टत: एक पत्नी का विधान

१. 'कल्पकप्रसाधकाः स्नानगुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वशिकहस्ता-दादाय परिवरेशुः । श्रात्मवसुषि निवेश्य वस्त्रमात्यं दद्युः, स्नानानुलेपनप्रधर्षचूर्गा-वासस्तानीयानि स्ववक्षो बाहुषु च । एतेन परस्मादागतकं व्याख्यातम् ।''मौलपुरुषा-भिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् नात्रं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम् ॥'' [प्रक०१६। अ०२०|

२. [प्रचलित म्रर्थ — भोजन कर राजा रिनवास में रानियों के साथ विहार (क्रीड़ा ग्रादि) करेतथा यथासमय फिर राजकार्यों का चिन्तन करे॥ २२१॥]

किया है— उद्वहेत दिजो भार्या सवर्णा तक्षरणान्यिताम्" [३।४]। तदध्यास्य उद्वहेद् भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम् [७।७७] ग्रीर ग्रन्यत्र यह ग्रादेश दिया है कि पित-पत्नी कोई भी ऐसा कार्यन करें जिससे जीवन भर वियोग का ग्रवसर ग्राये [६।१०१, १०२]। इससे सिद्ध है कि मनु के मत में एक से ग्रिधक स्त्रियों का विधान नहीं है।

- (२) मनु ने एक से अधिक श्रयात् बहुत स्त्रियों का सेवन राजा के लिए स्पष्टतः বিভিন্ন किया है। ७। ४७, ५० श्लोक द्रष्टव्य हैं।
- (३) महर्षि दयानन्द ने भी इस श्लोक का भाव ग्रहण करते हुए सत्यार्थ प्रकाश में उपर्युक्त ग्रथं ही ग्रहण किया है—''भोजन के लिए ग्रन्तःपुर ग्रथित् पत्नी ग्रादि के निवास स्थान में प्रवेश करे (पृ० १६४)

इन प्रनाणों के स्राधार पर इस भाष्य का स्रथं मनुसम्मत है। सैनिकों एवं शस्त्रादि का निरीक्षण —

> अलंकृतश्च सम्परयेदायुधीयं पुनर्जनम् । वाहनानि च सर्वाण् शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥ (१८०)

(च) ग्रीर (पुनः) फिर (ग्रलंकृतः) कवच, शस्त्रास्त्रों [७ । २२३ में भी] एव राजिचह्नों, राजवेशभूषा ग्रादि से सुसिज्जित होकर (ग्रायुधीयं) जनम्) शस्त्रधारी सैनिकों (व) ग्रीर (वाहनानि) रथ, हाथी, घोड़े ग्रादि वाहनों (सर्वारेण शस्त्राणि) सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों—शस्त्रभण्डारों (च) ग्रीर (ग्राभरणानि) आभूषणों [धातुएं, रत्न आदि] और सुरक्षा-संभाल ग्रादि का (संपश्येत्) निरीक्षण करे ॥ २२२॥

आनुश्रीत्जनः महर्षि दयानन्द ने ७। १४५, १४६, २१६, २२१ श्रीर २२२ इलोकों का संक्षेप में भाव ग्रहण किया है, जो इस प्रकार है—

''पूर्वीक्त प्रातःकाल समय उठ, शौचादि संन्ध्योपासन, श्रग्निहोग कर व करा, सभा में जा, सब भृत्य श्रीर सेनाध्यक्षों के साथ मिल उनको हरित कर नाना प्रकार की ब्यूहिशिक्षा ग्रथित् कवायद कर-करा, सब घोड़े, हाथी, गाय श्रादि स्थान; शस्त्र श्रीर श्रस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख सब पर दिष्ट नित्य-प्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, ब्यायामशाला में जा ब्यायाम करके भोजन के लिए 'श्रन्तःनुर' श्रथीत् पत्नी श्रादि के निवास-स्थान में प्रवेश करे।''

(ল০ স০ १६५)

संघ्योपामना तथा गुषाचरों ग्रौर प्रतिनिधियों के सन्देशों को सुनना—

संध्यां चोपास्य शृद्धयादन्तर्वेश्मिन शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चेव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥(१८१)

(च) ग्रौर फिर (संध्याम् उगस्य) सायंकालीन संध्योपासना करके

(शस्त्रभृत्) शस्त्रास्त्र धारण किया हुमा राजा (म्रन्तर्वेश्मिन) महल के भीतर गुप्तचर गृह में (रहस्य + म्राल्यायिनाम्) राज्य के रहस्यमय समा-चारों को लाने में नियुक्त गुप्तचरों (च) ग्रीर (प्रणिधीनाम्) दूतों ग्रीर गुप्तचराधिकारियों के (चेष्टितम्) कार्यों एवं समाचारों को (शृणुयात्) सुने ॥ २२३ ॥

आनु श्री ल्डन्सः यहां ७। १५३ की पुनरुक्ति नहीं है। वहां इन वातों की योजना पर मन्त्रणा का प्रसंग है। यहाँ योजनाबद्धरूप से नियुक्त अधिकारियों-गुष्तचरों की सूचनाएँ (रिपोर्टें) सुनने का कथन तथा राजा की सायं कालीन दिन-चर्या है।

गुप्तचरों को समक्राकर सायंकालीन भोजन के लिए अन्तःपुर में जाना---

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥(१८२)

(तु) ग्रीर फिर (तं जनम्) उन सब लोगों को (प्रत्यत् सम् + ग्रनुज्ञाप्य) ग्रीर ग्रागे के लिए जो कुछ समक्ता-कहना है उस सबका ग्रादेश देकर (पुनः) फिर (ग्रन्तःपुरं गत्वा) ग्रन्तःपुर में जाकर वहां (स्त्रीवृतः) स्त्री के साथ या दितीयार्थ में ग्रंगरिक्षका स्त्रियों से सुरक्षित (कक्षान्तरं भोजनार्थं प्रविशेत्)भोजनशाला के कमरे में भोजन करने के लिए प्रवेश करे॥ २२४॥ '

अद्भुट्योट्डन्यः (१) 'स्त्रीवृतः' का मनुसम्मत भ्रेषं—प्रचलित टीकाओं में 'स्त्रीवृतः' का अर्थ 'दासियों से घिरा' किया गया है जो मनुविषद है— (१) मनु ने राजवर्ष में कहीं भी राजा के जिए दासियों का विधान नहीं किया है। (२) पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों का संग निविद्ध किया है [इष्टब्य ७। २२१ की समीक्षा], (३) ७। २०८, २२१ में भी इसी का प्रसंग है। वहां स्त्री का अर्थ पत्नी है। वह इस भाष्य के अर्थ का पोयक है।

यदि 'स्त्रीवृतः' का ग्रर्थं ग्रंगरक्षिका स्त्री-सैनिकों या ग्रंगरक्षिका परिचारिकाग्रों से सुरक्षितं किया जाये, जैसा कि कौटिल्य का भी मत है; तो मनु से विरोध नहीं ग्राता। किन्तु दासी ग्रर्थं मनुसम्मत नहीं है '

(२) 'स्त्रीवृतः' की कीटिल्य के दृष्टिकोण से व्याख्या—ग्राचार्य कीटिल्य ने ग्रयने ग्रयंशास्त्र में राजा को ग्रात्मरक्षा के लिए जो निर्देश दिये हैं, उनमें से इस क्लोक के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। (१) कीटिल्य ने ग्रनेक उदाहरण देकर बतलाया

१. [प्रचलित अर्थ-इसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाम्रों (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर म्रन्तःपुर में प्रवेश करे ॥ २२४॥]

है कि रानियों ने पड्यन्त्र की शिकार होकर बहुत-से राजाओं को मार हाला। ग्रतः ग्रपनी रानी के महल में भी राजा को एकाकी नहीं जाना चाहिए। साथ में प्रौढ़ ग्रंगरिक्षका स्त्रियां होनी चाहिएँ। (२) कौटिस्य ने राजा को ग्रन्तः कक्ष के समीप वाले दूसरे कक्षों में धनुर्धारी ग्रंगरिक्षकाओं को रखन का विधान किया है। उसके बाद के किशों में पुरुष रक्षकों को रखने का निर्देश है। यह सुरक्षा के दिष्टिकोण से है। इस प्रकार कौटिस्य के वर्णन के ग्रनुसार 'स्त्रीवृतः' का ग्रर्थ 'ग्रंगरिक्षका शस्त्रधारी' हिट्यों से सुरक्षित'भी हो सकता है।

राहि शयनकाल-

तत्र भुक्त्वा पुनः किचित्त्र्यंघोषैः प्रहर्षितः। संविशेतु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः।। २२४।। (१८३)

(तत्र) वहां (भुक्त्वा) भोजन करके (पुनः) उसके पश्चात् (तूर्यघोषंः) प्रहिष्तिः) शहनाई-तुरही स्रादि वाजों के संगीत से मन को प्रसन्न करके (संविशेत्) सो जाये (तृ) स्रोर (गतक्लमः) विश्वाम करके श्रान्तिरहित होकर (यथा- कालम् उत्तिष्ठेत्) निश्चित समय स्रर्थात् रात्रि के पिछने पहर ब्राह्म-मुहूर्त्त में [७ । १४५] उठे ।। २२५ ।।

> एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः। ग्रस्वस्थः सर्वमेतत्तु मृन्येषु विनियोजयेत्।। २२६।। (१८४)

(अरोगः) स्वस्थ श्रवस्था में (पृथिवीपितः) राजा (एतत् विधानम् +ग्रातिष्टेत्) इस पूर्वोक्त विधि से कार्यों को करे (ग्रस्वस्थः) ग्रस्वस्थ हो जाने पर (एक्त् सर्व तु) यह सब कार्याभार (भृत्येषु) पृथक् पृथक् विभागों में नियुक्त प्रमुख मन्त्री ग्रादि [७ । ५४, १२०, १४१, ८।६-११] को (विनि-योजयेत्) सौंप देवे ।। २२६ ।।

अनुद्धील्डनः (१) इलोकवर्णन पर विचार—यहां ७।१४१ मादि दलोकों की पुनरु कित नहीं है। इस स्लोक का मिन्नाय यह है कि रुग्णावस्था मादि की स्थिति में प्रपन-प्रपने विभाग के प्रमुख स्रमात्यों या सभाग्रों के मधिकृतं प्रमुखों को प्रपना कार्य निरोक्षण के लिए सीं। देव, केवल एक को ही नहीं। यह राजा की संक्षेत्र में दिनचर्या या कार्यपद्धित है। पृथक्-पृथक् विभागों के प्रसंगानुसार यही पद्धित ७। ५४, ८१ १२०, १४१॥ ८। ६-११ स्लोकों में कही है। उस का इस स्लोक में उपसंहार है।

१. ''ग्रन्तर्गृहगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पःयेत् । न काञ्चिदिमगम्छेत् ।'' [प्रक० १५ । ग्र० १६] ''शयनादुत्थितः स्त्रीगर्णैर्घन्विमिः परिगृह्येत ।'' [प्रक० १६ । ग्र० २०]

(२) भृत्य शब्द के भ्रयं पर विचार—भृत्य शब्द का ध्राजकल प्रधिक प्रचलित ग्रयं 'नौकर' है। यह एक पक्ष में रूढ हो गया है। इस क्लोक में भृत्य से नौकर श्रयं की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। यहां भृत्य से ग्रीभिप्राय उन सभी श्रिधकारियों कर्मचारियों से है जो राजा के ग्राधित मन्धी से लेकर कर्मचारी तक हैं। भृत्य का अर्थ 'ग्रमात्य' ग्रीर 'मन्धी' ग्रथं भी है श्रीर संस्कृत-साहित्य में प्रचलित है। ७।३६—६२ क्लोकों के प्रसंग में भृत्य शब्द के ग्रन्तगंत मन्धियों, ग्रमात्यों से लेकर निम्न कर्मचारी तक परिगिणत हैं। कौटिल्य ग्रथंशास्त्र में भी भृत्य ग्रीर ग्रमात्यों से लेकर कर्मचारी वर्ग एवं ग्राचार्य ग्रीर पुरोहित तक गृहीत हैं। [देखिए' भृत्यभरणीय' नामक ६१ वां प्रकरण।]

इति महर्षि-मनुद्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतिहन्दीमायाभाष्यसमन्वितायाय् श्रनुशीलन-समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्पृतौ राजधर्मात्मकः सप्तमोऽध्यायः ॥



# श्रथ अप्टमो ऽध्यायः

[हिन्दीभाष्य-स्रनुज्ञोलनसमीक्षाभ्यां सहित:]

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहार-निर्णय)

[८।१ से ६। २५० पर्यन्त]

व्यवहारों ग्रथति मुकद्मों के निर्णय के लिए राजा का न्यायसभा में प्रवेश -

व्यवहारान्दिहक्षुस्तु बाह्यगौः सह पाथिवः । मन्त्रज्ञैमन्त्रिभिद्यवेव विनीतः प्रविद्येत्सभाम् ॥ १ ॥ (१)

(व्यवहारान्) व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमों [८।४-७] को (दिदक्षुः तु) देखने अर्थात् निर्णय करने का इच्छुक (पाधितः) राजा (ब्राह्मणैः) न्याय- ज्ञाता विद्वानों [८।११] (मन्त्रज्ञैः) सलाहकारों (च) और (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के (सह) साथ (विज्ञीतः) विनोतभात्र एवं वेश से [८।२] (सभां प्रविशेत्) राजसभा =न्यायालय [८।१२] में प्रवेश करे ॥१॥

अक्टू श्री टडन्स: (१) मन्त्रज्ञ और बाह्यए का विशेष अभिप्राय — इस दलोक में 'मन्त्रज्ञैं:' से अभिप्राय मुकद्दमों में उस-उस विश्वय के सलाह्कारों से हैं। 'मन्त्रिभिः' से अभिप्राय उस-उस विभाग के प्रमुख मन्त्रियों से या अमारयों से हैं जो राजा हारा न्याय के लिए अधिकृत विहान के रूप में नियुक्त किये जाते हैं [७। ५४, ६०, ६।११]। बाह्यण शब्द से यहां अभिप्राय वेदविद्या थों के जाता न्यायाधीश, श्रोत्रिय विहानों से हैं, जिनका वर्णन ब्रह्मसभा अर्थात् न्यायाधीश विद्वानों की सभा के रूप में ६।११ में अप्राया है। बाह्यण से यहां यह आन्ति नहीं होनी चाहिए कि वह ब्राह्मण वर्ण का व्यक्ति ही होना चाहिए। वेदों के प्रत्येक विद्वान् के लिए ब्राह्मण, विष्ठ अर्थाद शब्दों का प्रयोग अप्राता है [द्वष्टव्य ६।११ और १।६६ पर समीक्षा]। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग यहां विशेषाभिप्राय से है। वह अभिप्राय यह है कि न्यापाधीश ब्रह्म प्रयोत् वेदों के विशेषवेत्ता और धार्मिक गुणप्रधान विद्वान् प्रवश्य होने चाहिए, इसीलिए ६।११ में 'वेदविदः' का प्रयोग किया है।

(२) विनीत होने का उद्देश्य — राजा को विनीत भाव एवं वेशभूषा से न्याया-लय में जाने के कथन का उद्देश्य यह है कि साक्षी ग्रादि उसके कठोर भावों को देखकर् भयभीत न हों ग्रीर बिना घबराहट के स्वाभाविक रूप से ग्रपनी बात कह सकें। अगले ही श्लोक में इसी उद्देश्य से 'विनीत वेषामरणः' पद का भी प्रयोग किया गया है।

(३) वेदमन्त्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है। मनु ने उसी के म्रनुरूप व्यवस्था दी है---

# श्रुषि श्रृत्कर्ण बह्मिनिः, देवरन्ने सवाविनः । आ सीदन्तु बहिषि मित्रोऽग्नर्यमा प्रातर्यावारगोऽज्वरम् ॥

यजु० ३३। १४ ॥

भाषार्थ—(श्रुत्कणं) प्रार्थी के वचन को सुनने वाले कानों से युक्त (प्राप्ते) ग्राप्ति के तुत्य तेजस्वी विद्वान् वा राजन्! (सयाविभः) साथ चलने वाले, (विद्विभिः) कार्यं के निर्वाहक (देवैः) विद्वानों के साथ (ग्रष्टवरम्) हिंसारहित राज्यव्यवहार को [ऐसा मुकह्मा जिसमें किसी के साथ ग्रन्थाय न हो] (श्रुषि) सुन। (प्रातर्यावाणः) प्रातः राजकार्यों को प्राप्त कराने वाले, (भित्रः) पक्षपात से रहित सबका भित्र ग्रौर (अर्थमा) ग्रयं = वैदय वा स्वामी जनों का मान करने वाला न्यायाधीश (बर्हिषि) ग्राकाश के तुल्य विद्याल सभा में (आसीदन्तु) विराजमान हों।

भावार्यं—सभापति राजा, सुपरीक्षित धमात्यजनों को स्वीकार करके, उनके साथ सभा में बैठकर, विवाद करने वालों के वचनों को सुनकर, यथार्थं न्याय करे। (महर्षि-दयानन्दभाष्य)

न्यायसभा में मुकद्दमों को देखें--

तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पारिष्युद्यम्य दक्षिणम् । विनीतवेवाभरणः पद्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥२॥ (२)

(तत्र)वहां न्यायालयामें (विनीत-वेष + प्राभरणः) विनीतावेश भूषा-आभूषणों से युक्त होकर (प्रासीनः प्रिप वा स्थितः) सुविधानुसार बैठकर प्रथवा खड़ा होकर (दिक्षणं पाणिम् + उद्यम्य) दाहिने हाथ को उठाकर (कार्य-णाम्) मुकद्दमे वालों के (कार्याणि) कार्यो = विवादों को (पश्येत्) देखे = निणय करे [७। १४६ में राजसभा में भी इसी प्रकार सुविधानुसार खड़े या बैठने की व्यवस्था का कथन है ]।। २।।

श्रान्तु टार्डिट्डन्ड: मुहाबरे पर विचार—इस इलोक में 'दिक्षणं पाषिम् उद्यस्य' का एक शुहाबरे के रूप में प्रयोग है। यह क्रिया 'मपनी बात कहना' या 'निर्णय देना' प्रारम्भ करने की 'प्रतीक' है। इसका यह मित्राय नहीं है कि जब तक निर्णय दे तब तक दायां हाथ उठाने रखे, मित्रु यह है कि विवाद करते हुए लोगों को सुनकर मपनी बात या निर्णय कहते समय दायां हाथ उठाकर संकेत करे। जो सामने वाले लोगों के लिए इस बात का प्रतीक या संकेत होता है कि राजा या न्यायाधीश मुब ग्रपनी बात कहना चाहते हैं। यह परम्परा ग्राज भी प्रचलित है। बड़ी-बड़ी सभाग्रों में, श्रेणियों में, भीड़भरे न्यायालयों में बोलते हुए लोगों को चुप करने ग्रीर ग्रपनी बात कहने के लिए वक्ता हाथ उठाकर संकेत करता है। लोग चुप होकर उसकी बात को सुनने के लिए घ्यान लगाते हैं।

ग्रठारह प्रकार के मुकड्मे---

प्रत्यहं देशहष्टेश्च शास्त्रत्र्ष्टेश्च हेतुभिः। ग्रष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक्॥३॥(३)

सभा, राजा ग्रीर राजपुरुष सब लोग (देशहण्टै: च शास्त्रदृष्टै: च हेतुभिः) देशाचार ग्रीर शास्त्रव्यवहार के हेतुग्रों से (प्रष्टादशसु मार्गेषु) निम्नलिखित ग्रठारह [६।४-७] विवादास्पद मार्गों में श्रिविवादयुक्त कर्मों का निर्णय (प्रति + ग्रहम्) प्रतिदिन श्रिकिया करें।

श्रीर जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पार्वे श्रीर उनके होने की ग्रावश्य-कता जानें, तो उत्तमोत्तम नियम बांधे कि जिससे राजा श्रीर प्रजा की उन्नति हो ।। ३ ।। (स० प्र०१६६)

🕸 (निबद्धानि) बांधे म्रर्थात् नियत किये गगे····· ৠक्ष्(पृथक्-पृथक्) म्रलग-म्रलग······

स॰ प्र० १७६ पर स्वामी जी ने पुनः श्लोक की प्रथम पंक्ति उद्भृत करके लिखा है— "जो नियम राजा श्रीर प्रजा के सुखकारक ग्रीर धर्मयुक्त समफ्रो, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राज-सभा बांधा करें"।

श्रान्तु श्री त्जना: 'पृथक्-पृथक्' पदों से यहां यह अभिप्राय है कि राजा — जो श्रठारह प्रकार के विवाद हैं उनमें पृथक्-पृथक् विवाद से सम्बन्धित विद्वानों, सलाहकारों श्रीर मन्त्रियों के साथ मिलकर, विचार करके निर्णय करे।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संमूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकमं च॥४॥ (४)
वेतनस्येव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ ४॥ (४)
सोमाविवादधमंत्रच पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चेव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥६॥ (६)
स्त्रीपंधमों विभागत्रच द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यस्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥७॥ (७)
अठारह मार्ग ये हैं—(तेषाम्) उनमें १—(ऋगादानम्) किसी से

ऋरण लेने-देने का विवाद [६।४७-१७६], २—(निक्षेप ) धरोहर ग्रर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ घरा हो ग्रीर मांगे पर न देना [६।१७६-६६६], ३—(ग्रस्वामिविक्रयः) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे [८।१६७-२०४], ४— (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर ग्रत्याचार करना [ = व्यापार में ग्रन्याय करना ] [ द । २०६-२११ ], ५—(दत्तस्य ग्रनपकर्म च) दिये हुए पदार्थ को न देना  $\lceil = \rceil$  २१२-२१३ $\rceil$ , = -(वेतनस्य+एव च+ग्रदानम्) वेतन ग्रर्थात् किसी की 'नौकरी' में से ले लेनाया कम देना 🕒 । २१४-२१७], ७—(संविदः च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना ि⊏ । २१८-२२१ ोे, ८—(क्रय-विक्रय +ग्रनुशयः) क्रय-विक्रयानुशय अर्थात् लन-देन में भगड़ा होना [६। २२२-२२६], ६—(स्वामि-पालयो: विवादः) पशु के स्वामी ग्रीर पालने वाने का भगड़ा [द।२२६-२४४], १०—(सीमा-विवादधर्मः च) सीमा का विवाद [=। २४५-२६५], ११-१२—(पारुष्ये दण्ड वाचिके) किसी को कठोर दण्ड देना [८।२७८-३००], कठोरवासी का बोलना [८।२६६-२७७], १३--(स्तेयम्) चोरी-डाका मारना [८।३०१-:४३], १४--(साहसम् एव) किसी काम को बलात्कार से करना [८।३४४-३५१], १५--(स्त्रीसंग्रहणम् एव च) किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना [८ । ३५२-३८७], १६—(स्त्री-पुम्+धर्मः] स्त्री ग्रीर पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना [६। १-१०२], १७—(विभागः) विभाग ग्रर्थात् दायभाग में वाद उठाना [ ६। १०३-२१६ ], १८ — (द्युतम् म्राह्वयः + एव च) युत प्रयत् जड्पदार्थ ग्रीर [ग्राह्वय] = समाह्वय ग्रथत् चेतन को दाव में घरके जूम्रा खेलना [१।२२०-२५०], (ग्रष्टादश + एतानि) ये प्रठारह प्रकार के (व्यवहारस्थिती पदानि) परस्परविरुद्ध व्यव-हार के स्थान हैं।। ४-७।। (स० प्र०१६६)

# एषु स्थानेषु मूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् । धर्मं शास्वतमाश्रित्य कुर्यास्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥ (८)

(एषु स्थानेषु) इन [८।४—७] व्यवहारों में (भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्) बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के (कार्यविनिर्णयम्) न्याय को (शास्वतं धर्मम् ग्राधित्य) सनातन-धर्म का ग्राध्रय करके (कुर्यात्) किया करे ग्रार्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे।।८।। (स० प्र०१६६)

राजा के स्रभाव में मुकद्मों के निर्णय के लिए मुख्य न्यायाधीश विद्वान् की नियुक्ति—

यदा स्वयं न कुर्यातु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मग्रां कार्यदर्शने ॥ ६ ॥ (६) (यदा) जब कभी [िकसी विशेष कारण प्रयवा कार्य की प्रधिकता के कारण] (नृपतिः) राजा (स्वयं कार्यदर्शनम्) खुद मुकद्मों का निरोक्षण एवं निर्णय (न कुर्यात्) न करे (तदा) तब (ब्राह्मणम् विद्वांसम्) धार्मिक वेदवेत्ता विद्वान् [८। ११] को (कार्यदर्शने) मुकद्मों के निरोक्षण एवं निर्णय के लिए (नियुञ्ज्यात्) नियुक्त कर दे।। ६।। '

"धार्मिक विद्वानों को घर्मसभा-म्रधिकारी ""मान के सब प्रकार से उन्नति करें।" (स॰ प्र० षष्ठ समु०)

आनुश्रीत्जनाः बाह्मण का मर्थं 'धार्मिक वेदवेत्ता न्यायाधीश' है। देखिए मगले क्लोक पर मनुशीलन।

मुख्य न्यायाधीश तीन विद्वानों के साथ मिलकर न्याय करे-

सोऽस्य कार्याण संपश्येत्सभ्येरेव त्रिभिन्नुंतः। सभामेव प्रविश्याग्रचामासीनः स्थित एव वा ॥ १०॥ (१०)

(सः) वह (त्रिभिः सम्यैः वृतः) तीन म्रन्य सभा के सदस्यों [८।११] के साथ (सभा प्रविश्य) न्यायालय में जाकर (म्रासीनः वा स्थितः एव) बैठकर म्रथवा खड़ा होकर (म्रस्य) राजा के (कार्याणि) कामों को (संप-श्येत्) भली प्रकार देखे ।। १०।।

अदिन्दु श्री टिक न्द्र : न्यायप्रसंग में बाह्यए भीर बह्यसमा से अमिप्राय— मित्रम द। ११ श्लोक में बह्यसभा की परिभाषा की है। परिभाषा से पूर्व ६-१० श्लोकों में न्यायसभा के निर्माण का कथन है। इन श्लोकों में विणत विद्वानों से द। ११ में विणत बह्यसभा बनती है। बह्यसभा का ग्रर्थ — 'वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा'। इसी प्रकार ६वें श्लोक में 'ब्राह्यएा' शब्द का प्रयोग ब्राह्यए। वर्ण के लिए नहीं है, अपितु इस विशेष अभिप्राय से है कि राजा द्वारा अधिकृत जो विद्वान् न्यायाधीश नियुक्त किया जाये वह विशेष रूप से सब वेदों का विद्वान् श्रीर धार्मिकगुए। प्रधान होना चाहिए। वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों की सभा होने के कारण ही द। ११ में न्यायसभा को 'ब्रह्यसभा' कहा गया है। वहां स्पष्टतः 'वेदविदः' विशेषण भी उक्त श्रष्यं को पुष्ट करता है। इस प्रसंग में ब्राह्मण शब्द ब्राह्मण वर्ण के लिए नहीं श्रपितु वेदवेत्ता न्यायाधीश विद्वानों के लिए है।

यहां यह शंका उठ सकती है कि ७। १४१ में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग न करके 'म्रमात्यप्रमुख' को भ्रपने बाद कार्य सौंपने का वर्णन है। इसका उत्तर यह है कि वहां

रै. [प्रचलित सर्वं - यदि राजा स्वयं विवादों (मुकह्मों) का स्याय (फैसला) न करे तो उस कार्यं को देखने के लिए विद्वान् बाह्याएं को नियुक्त करे ॥ १ ॥]

राजसभा संचालन के लिए सर्वप्रमुख मन्त्री को कार्य सौंपने का विधान है, ग्रीर वह भी केवल रुग्णावस्था में। यहां ब्रह्मसभा प्रथात न्यायसभा के लिए मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति का प्रसंग है। राजसभा के लिए प्रशासनिक गुणविशेषों वाला व्यक्ति उत्तरिष्ठिकारी होता है, ग्रीर न्याय के लिए न्यायगुणों की विशेष योग्यता वाला व्यक्ति। ग्रतः उस रुलोक ग्रीर इसका प्रसंग ही अलग है। दूसरी बात यह है कि यहां रुग्णावस्था में नियुक्ति का विधान नहीं हैं, ग्रिपतु अकेला राजा प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता, समयाभाव ग्रादि कारणों से ग्रपने स्थान पर वह किसी भी अधिकृत विद्वान् को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करे—यहां यह ग्रीभप्राय है। जितनी न्यायसभा होंगी, उसके ग्रनुसार वे ग्रनेक भी हो सकते हैं। [इस विषय पर १। ८८, ८। १ की समीक्षा—२ भी द्रष्टव्य हैं]। मनुस्मृति में सभी वर्ण के वेदवेत्ता विद्वानों के लिए ब्राह्मण, द्विज, विप्र ग्रादि शब्दों का पर्यायवाची रूप में प्रयोग हुगा है [द्रष्टव्य ४। २४५ पर समीक्षा]।

ब्रह्मसभा (न्यायसभा) की परिभाषा--

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विद्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञदचाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः।। ११।। (११)

(यस्मिन्) जिस (देशे) स्थान में (वेदविदः) वेदों के ज्ञाता (त्रयः विप्राः) तीन विद्वान् (निपीदन्ति) बैठते हैं (च) ग्रीर (राज्ञः ग्रधिकृतः विद्वान्) एक राजा द्वारा नियुक्त उस विषय का वेदवेत्ता विद्वान् बैठता है (तां ब्रह्माणः सभा विदुः) उस सभा को 'ब्रह्मसभा' ग्रर्थात् न्यायसभा कहते हैं।। ११।।

मुकद्मों के निर्णय में धर्म की रक्षा की प्रेरणा-

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभा यत्रोपतिष्ठते । शल्यं चास्य न कुन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥ (१२)

(यत्र) जिस सभा में (ग्रधमेंण विद्धः धर्मः) ग्रधमें से घायल होकर धर्म (उपतिष्ठते) उपस्थित होता है (च ग्रस्य शत्यं न कृन्तिन्त) जो उसका शत्य ग्रयीत् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना ग्रीर ग्रधमें का छेदन नहीं करते ग्रथीत् धर्मी को मान. ग्रधमी को दण्ड नहीं मिलता (तत्र) उस सभा में (सभासदः विद्धाः) जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समभे जाते हैं ॥ १२॥ (स० प्र०१६६)

"प्रधमं से धमं घायल होकर जिस सभा में प्राप्त होवे उसके घाव को यदि सभासद् न पूर देवें तो निश्चय जानो कि उस सभा में सब सभासद् ही घायल पड़े हैं।" (सं० वि० १८४) न्यायसभा में सत्य ही बोले श्रीर न्याय ही करे-

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । म्रबुवन्विबुवन्वाऽपि नरो भवति किल्विबी ॥ १३ ॥ (१३)

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि (सभां न प्रवेष्टव्यम्) सभा में कभी प्रवेश न करे (वा) ग्रीर जो प्रवेश किया हो तो (समञ्जलम्) सत्य ही (वक्तव्यम्) बोले (नरः ग्रज्जुवन्) जो कोई सभा में ग्रन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे (अपिवा) ग्रथवा (विश्रुवन्) सत्य, न्याय के विरुद्ध बोले वह (किल्विषो भवति) महापायी होता है ॥ १३ ॥ (स० प्र०१६७)

"मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुग्राभी ग्रमत्य वात को सुनके मौन रहे ग्रथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य ग्रतिगापी है।"

(सं० वि० १८४)

अश्राह्म क्रिकेट : 'किल्विषम्' शब्द पर विशेष विचार न । ३१६ की समीक्षा में द्रब्टब्य है। पापी होने से यहां ग्राभिप्राय दोषभागी एवं ग्रपयशभागी होने से है।

भ्रन्याय करने वाले सभासद् मृतकवत् हैं—

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १४॥ (१४)

(यत्र) जिस सभा में (प्रेक्षमाणानाम्) बैठे हुए सभासदों के सामने (ग्रघमें एा हि घमं:) ग्रवमं से धमं (च) ग्रीर (ग्रनृतेन सत्य) भूठ से सत्य का (हन्यते) हनन होता है (तत्र) उस सभा में (सभासदः हताः) सब सभा सद् मरे से ही हैं।। १४।। (संविक १८४)

"जिस सभा में ग्रधमं से धर्म, ग्रसत्य से सत्य, सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं; जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।" (स॰ प्र॰ १६७)

भारा हुन्ना धर्म मारने वाले को ही नष्ट कर देता है-

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तब्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥१५॥(१५)

(हतः धर्मः एव) मारा हुग्रा धर्म (हन्ति) मारने वाले का नाश, ग्रीर (रक्षितः धर्मः) रक्षित किया हुग्रा धर्म (रक्षति) रक्षक की रक्षा करता है (तस्मात्) इसलिए (धर्मः न हन्तव्यः) धर्म का हनन कभी न करना, इस डर से कि (हतः धर्मः) मारा हुम्रा धर्म (नः मा स्रवधोत्) कभी हमको न मार डात्रे ।। १४ ।। (स० प्र० १६७)

'जो पुरुष धर्म का नाश करता है, उभी का नाश धर्म कर देता है और जो धर्म को रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है, इस लिए मारा हुया धर्म कभी हमको न मार डाले, इस भय से धर्म का हतन स्रर्थात् त्याग कभी न करता चाहिए।'' (सं वि १८४)

धर्महन्ता वृषल कहाता है---

# वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥ (१६)

(यः) जो (भगवान् वृषः हि धमंः) सब ऐश्वयों के देने स्रौर सुखों की वर्षा करने वाला धमं है (तस्य हि + स्रलम् कुरुते) उसका लोप करता है (तम्) उसो को (देवाः) विद्वान् लोग (वृषलं विदुः) वृषल स्रर्थात् शूद्र स्रौर नीच जानते हैं (तस्मात्) इसलिए, किसी मनुष्य को (धर्मन लोपयेत्) धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥ १६॥ (स॰ प्र० १६७)

''जो सुख की वृद्धि करने हारा, सब ऐश्वर्य का दाता धम है, उसका जा लोप करता है, उसको विद्वान् लोग वृषल ग्रर्थात् नीच समभते हैं।'' (स० वि०१-५)

धर्म ही परजन्मों में साथ रहता है-

## एक एव सुहृद्धमीं निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ (१७)

इस संसार में (एक: धर्म: एव सुहृद्) एक धर्म ही सुहृद् [=िनत]
है (यः) जो (निधने+ग्रिय+ग्रनुयाति) मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता
है (ग्रन्यत् सर्वं हि) ग्रीर सब पदार्थं वा संगी (शरीरेण समं नाशं गच्छिति)
शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं ग्रर्थात् सब संग छूट जाता
है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ।। १७ ॥ (स० प्र०१६७)

ग्रन्याय से सब सभासदों की निन्दा-

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ।। १८ ॥ (१८)

राजसभा में पक्षपात से किये गये ग्रन्याय का ग्रधमं (पादः) चौथाई (प्रथमेंस्य कत्तीरम्) ग्रथमं के कर्त्ता को (पादः) चौथाई (साक्षिणम्) साक्षी को (ऋच्छति) प्राप्ट होता है, ग्रीर (पादः) चौथाई ग्रंश (सर्वान् सभासदः)

ोष सब न्यायसभा के सदस्यों को तथा (पादः) चौथाई (राजानम्) राजा को (ऋच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् उस बुराई की बदनामी सभी को प्राप्त होती है।। १८।।

"जब राजसभा में पक्षपात से ग्रन्थाय किथा जाता है, वहां ग्रधमं के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक ग्रधमं के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों ग्रीर चौथा पाद ग्रधमीं सभा के सभापित राजा को प्राप्त होता है।" (स० प्र० १६७)

अर्जु र्रो ट्यन्त : अधर्म शब्द से प्रमिशाय—ग्रधमं शब्द से यहां ग्रभि-प्राय प्रन्याय या दोषभागी होने से है। ये सब इसी प्रकार ग्रपयश के भागी बनकर बुराई को प्राप्त होते हैं। प्रजाएं इन सबकी निन्दा करती हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन द। ३१६ पर द्रष्टव्य है।

राजा यथायोग्य व्यवहार से पापी नहीं कहलाता--

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कत्तरिं निन्दाऽहों यत्र निन्दाते ॥ १६ ॥ (१६)

(यत्र) जिस सभा में (निन्दा + ग्रहं: निन्दाते) निन्दा के योग्य की निन्दा, स्कृति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड ग्रीर मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहां (राजा च सभासदः) राजा ग्रीर सब सभासद (ग्रनेनाः + तु मुच्यन्ते) पाप से रहित ग्रीर पितत्र हो जाते हैं (कर्त्तारम् एनः गच्छिति) पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है।। १६।। (स० प्र०१६७) शृद्ध धमंप्रवन्ता न हो—

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद् बाह्यणबुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेनं तु शूद्रः कथञ्चन ॥ २०॥

(जातिमात्र-उपजीवी) केवल जाति के श्राघार पर ही जीविका करने वाला श्रयीत् जो कर्मों से ब्राह्मण नहीं है ऐसा (ब्राह्मण ब्रुवः) श्रपने को ब्राह्मण कहने वाला व्यक्ति (कामम्) चाहे (नृपतेः) राजा का (धर्मप्रवक्ता स्यात्) धर्मवक्ता = न्यायकत्ती हो सकता है (तु) किन्तु (शूदः कथञ्चन न) शूद कभी भी ग्रीर किसी ग्रवस्था में भी न्यायकत्ती नहीं तो सकता ॥ ३०

यस्य श्रुद्धस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पत्र्यतः ॥ २१ ॥

(यस्य राज्ञः) जिस राजा के यहां (शूद्रः धर्मेविवेचनं कुरुते) शूद्र व्यक्ति धर्म = न्याय का विचार करता है (तत् राष्ट्रम्) उसका वह राज्य (तस्य पश्यतः) उसके देखते-देखते (पक्क्को गौ: + इव सीदित) की चड़ में फंसी गौ के समान दुःखी होता है ॥ २१ ॥

#### यद्वाष्ट्रं शूद्रमूयिष्ठं नास्तिकाकान्तमद्विजम् । विनश्यत्याशु तस्कृत्स्नं वृभिक्षव्याधिवीडितम् ॥ २२ ॥

(यत् राज्यम्) जो राज्य (शूद्रभूयिष्ठम्) शूद्रों की म्रधिकता वाला (नास्तिक-म्राक्रान्तम्) नास्तिकों से परिपूर्ण (म्रद्विजम्) द्विज वर्णों से रहित है (तत्) वह (कृत्स्नम्) पूरा राष्ट्र (म्राशु) शीघ्र ही (दुभिक्ष-व्याधि-पीडितम्) अकाल म्रीर रोगों से पीड़ित होकर (विनश्यति) नष्ट हो जाता है।। २२।।

> धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः । प्रराम्य लोकपालेम्यः कार्यवर्शनमारमेत् ॥ २३ ॥

राजा (धर्मासनम्) धर्मासन प्रयात् न्यायाधीश के श्रासन पर (ग्रिधिष्ठाय) बैठ-कर (संवीतांगः) शरीरांगों को ढककर (समाहितः) सावधान होकर (लोकपालेम्यः) लोकपालों [७।१४] को प्रणाम करके (कार्यदर्शनम् + ग्रारभेत्) मुकद्दमों को देखना प्रारम्भ करे॥ २३॥

अन्त्रक्रीत्जनः २० -- २३ श्लोक इस प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं --

- १. प्रसंगिवरोध (१) पूर्वापर क्लोकों में 'धर्म-प्रधर्म के विवेचन की प्रेरणा एवं धर्म से लाभ ग्रधर्म से हानि' के वर्णन का प्रसंग है। इस प्रसंग के बीच में 'धर्म का प्रवक्ता कौन हो' यह वर्णन ग्रप्रासंगिक है, इससे प्रसंग भंग हो जाता है। (२) धर्म-प्रवक्ता का निर्णय = 18-११ क्लोकों में विद्वित हो चुका है, १२ वें क्लोक से दूसरा प्रसंग प्रारम्भ हो जाता है। कहे हुए प्रसंग को पुनः प्रारम्भ करना भी ग्रसंगत है। ग्रतः २० २३ क्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं।
- २. ग्रन्तिकोध—(१) २०—२२ इलोकों में जन्मना जातीय ग्राधार पर विधान किया है, यह मनुविरुद्ध है। मनुग्मृति कर्मणा वर्णव्यवस्था को मानती है [इसके लिए द्रष्टव्य है १।६२-१०१ इलोकों पर 'ग्रनुशीलन' समीक्षा] (२) ८।६-११ इलोकों में स्पष्टतः वेदवेत्ता विद्वानों को 'धर्नप्रवक्ता' माना है, पुनः इन इलोकों में जन्मना जाति के ग्राधार पर 'धर्म-प्रवक्ता' का कथन करना उक्त इलोकों के विरुद्ध है। प्रतीत होता है ये इलोक परम्पराग्नों के विकृत होने के बाद रचकर मिलाये हैं, ग्रन्यथा कुछ इलोकों में पहले स्पष्ट विधान होने के बाद इन की ग्रावश्यकता ही नहीं है। इस प्रकार अन्त-विरोधों के ग्राधार पर ये इलोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. पुनरुक्ति २३ वें श्लोक में पुनरुक्ति है, क्योंकि न।२ में यही कथन हो चुका है।पुन: उसी कथन की प्रावश्यकता नहीं है।

ग्रयानयां वृत्ती बुद्ध्या धर्माधर्मी च केवली । वर्णक्रमेरा सर्वाणि पश्येरकार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥ (ग्रयं — ग्रनथौ) ग्रयं — मुकद्दमे की वास्तविक स्थिति तथा ग्रनथं मिध्यास्थिति (च) श्रीर (धर्म + श्रथमीं) धर्म-प्रधर्म (केवली उभी बुद्ध्वा) केवल इन दोनों पक्षों को श्रच्छी प्रकार जानकर श्रथीत् पक्षशात रहित होकर (वर्णक्रमेण) वर्णों श्रथीत् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, श्रूद्र क्रम से (कार्यिणाम्) मुकद्दमे वालों के (सर्वाणि-कार्याण) सब मुकद्दमों को (पश्येत्) देखें = निर्णय करे।। २४।।

## आनुश्रीत्जनः २४ वां श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है।

- १. श्रन्तिवरोष—(१) मनु ने सम्पूर्ण मनुस्मृति में कहीं भी वर्णानुक्रम से सुविधा की व्यवस्था नहीं दी है। जहां इस प्रकार की कुछ बातें भी हैं, तो वे प्रक्षिप्त सिद्ध हुई हैं। इस क्लोक में यह पक्षपातपूर्ण व्यवस्था मनुविरुद्ध है। (२) कार्यों मुकद मों का निर्णय करने का अन्यत्र भी कथन है लेकिन वहां इप प्रकार की व्यवस्था न होकर सर्वसामान्य व्यवस्था है [८।१,२,८,६,१०]। यह व्यवस्था उनसे भिन्त होनेसे प्रकार है।
- २. प्रसंगिवरोध—यहां पूर्वापर प्रसंग १६ एवं २५ में निर्ग्य करने की विधि श्रीर सावधानी करने का है। कार्यों को देखने के कथन का प्रसंग ६। १-१० में एक-वार कहा जा चुका है। उसी कही हुई बात या उसी प्रसंग को पुनः कहना श्रनावस्यक एवं प्रसंगिवरुद्ध है। श्रतः प्रक्षिप्त है।

निर्एाय में हावभावों से मन की पहचान--

ब'ह्यै विभावयेत्लिङ्गै भीवमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेव्यितेन च ॥ २५ ॥ (२०)

न्यायकर्ता को (बाह्यं:) वाहर के (लिङ्गें:) चिह्नों से [वेशभूषा, चाल. शरीर की मुद्राएं, ग्रादि के लक्षणों से] (स्वर-वण-इङ्गित-ग्राकारं:) स्वर—बोलते समय कत्रना. घबराना, गद्गद् होना ग्रादि से; वर्ण—चेहरे का फीका पड़ना. लिजत होना ग्रादि से; इङ्गित—मुकद्देमे के ग्रीभयुक्तों के परस्पर के संकेत. सामने न देख मकना, इचर उचर देखना ग्रादि से; ग्राकार—मुख, नेत्र ग्रादि का ग्राकार वनाना, कौपना, पसीना ग्राना ग्रादि (चश्रुष्ण) ग्रांकों में लिएको प्रोति क्यांकार वनाना, कौपना, पसीना ग्राना ग्रादि (चश्रुष्ण) ग्रांकों में लिएको प्रोति क्यांकार वनाना, कौपना, पसीना ग्राना ग्रादि

ा, ज्यूच जमीन कुरेदना, सिर खुजलाना ग्रादि में (नृणाम) मुक्द् में ग्रामिल लोगों के (ग्रन्तगंत भावम) मन के ग्रमलो भावों को (विभावयेत्) भांप लेना—जान लेन। चाहिये।। २४।।

ग्राकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्ग्तं मनः ॥ २६॥ (२१) (ग्राकारैः) ग्राकारों से (इङ्गितैः) संकेतों से (गःया) चाल से (चेष्टया) चेष्टा = हरकत से (च) ग्रौर (भाषितेन) बोलने से (च) तथा (नेत्र-वक्त्र-विकारैः) नेत्र एवं मुख के विकारों = हावभावों से (अन्तर्गतं मनः) मनुष्यों के मन का भीतरी भाव (गृह्यते) मालूम हो जाता है ॥ २६॥

बालधन की रक्षा---

बालदाय। दिकं रिक्थं ताबद्वाजाऽनुपालयेत्। यावत्स स्थात्समाञ्चलो यावच्चातीतज्ञेशवः ॥ २७॥ (२२)

(राजा) राजा (बाल-दाय + म्रादिकं रिक्थम्) वालक म्रथीत् नाबा-लिग या म्रनाथ वालक की पैतृक सम्पत्ति ग्रीर ग्रन्य धन-दौलत की (तावत्) तब तक (म्रनुपालयेत्) रक्षा करे (यावत् मः) जबतक वह वालक (समावृतः स्यात्) समावर्तन संस्कार होकर म्रथीत् गुरुकृत से स्नातक बनकर [३।१-२] म्राये (च) ग्रीर (यावत्) जबतक वह (म्रतीहशेशवः) वालिग हो जाये।। २७।।

वन्ध्यादि के धन की रक्षा---

वन्थ्याऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च । पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥ (२३)

(वन्ध्या + अपुत्रासु) बांक ग्रीर पुत्रहीन (निष्कुलासु) कुलहीन ग्रर्थात् जिसके कुल में कोई पुरुष न रहा हो (पितवतासु) पितवता स्त्री ग्रर्थात् पित के परदेशगमन ग्रादि के कारण से जो स्त्री ग्रकेली हो (विधवासु) विधवा (च) ग्रीर (ग्रातुरासु) रोगिणी (स्त्रीषु) स्त्रियों की सम्पत्ति की (रक्षणम) रक्षा भी (एवम्) इसी प्रकार ग्रर्थात् उनके समर्थ हो जाने तक [१।२६] (स्यात्) करनी चाहिए, इनकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है।। २=।।

> जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः । ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २६ ॥ (२ )

(तासां की वन्ति पा) उन [बारक में उक्त] जीती हुई स्त्रियों के (तत्) धन को (ये स्वबान्धवाः) जो उनके रिश्तेदार या भाई-वन्यु (हरेयुः) हर लें, कब्जा लें (तु) तो (धार्मिकः पृथिवीपितः) धार्मिक राजा (तान्) उन व्यक्तियों को (चीरदण्डेन) चोर के समान दण्ड से (शिष्यात्) शिक्षा दे ग्रयीत् चोर के समान दण्ड देकर [दा३०१-३४३] उनको सही रास्ते पर लाये।। २६।।

प्रणब्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । स्रवीक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिहरित् ॥ ३०॥ (२५) (प्रणब्टस्वानिकं रिक्थम्) मालिक से रहित घन ग्रर्थात् लावारिस घन को (राजा) राजा (त्रि + ग्रब्धम्) तीन वर्षं तक (निघापयेत्) सुरक्षित रखे (त्रि + ग्रब्धात् ग्रर्थाक् स्वामी हरेत्) तीन वर्षं से पहले यदि स्वामी ग्रा जाये तो वह उसको ले ले [=1३१] (परेण नृपितः हरेत्) उसके बाद उसे राजा ले ले ।। ३०।।

# ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । संवाद्य रूपसंख्यादोन्स्वामी तद् द्रव्यमहंति ॥३१॥ (२६)

(यः) जो कोई ('मम+इदम्' इति ब्रूयात्) उस लावारिस धन को 'यह मेरा हैं ऐना कहे तो (सः यथाविधि अनुयोज्यः) उससे उचित विधि से पूछताछ करे अर्थात् धन की संख्या, रंग, समय पहचान ग्रादि पूछे (का-पंख्या + आदीन्) धन का स्वरूप, मात्रा ग्रादि बातों को (संवाद्य) सही-सही बताकर हो (स्वामी तत् द्रव्यम् + ग्रहंति) स्वामी उस धन को लेने का ग्रिधकारी होता है ग्रथी त् सही-सही पहचान बताने पर राजा उस धन को लौटा दे।। ३१।।

# ग्रवेदयानो नष्टस्य देशं क∴लंच तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्त्तमं वण्डमहंति ॥ ३२ ॥ (२७)

जो व्यक्ति (नष्टस्य) नष्ट हुए या खोये हुए धन का (देशं कालं वर्णं रूपं च प्रमाणम्) स्थान, समय, रंग, स्वरूप ग्रौर मात्रा की (तत्त्वतः ग्रवेदयानः) सही-सही वतलाकर सिद्ध नहीं कर पाता ग्रथीत् जो भूठ ही उसधन को हड़पने की कोशिश करता है तो वह (तत् समंदण्डम् + ग्रहंति) उस धन के बराबर दण्ड भुगतने का हकदार है ग्रथीत् उसे उतना ही दण्ड देना चाहिए ॥ ३२॥

## श्राददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वाऽपि सतां घर्ममनुस्मरन्॥ ३३॥ (२८)

किसी के (प्रएष्ट + ग्रिथिगतात्) नष्ट या खोये धन के प्राप्त होने पर उसमें मे (नृपः) राजा (सतां धर्मम् + ग्रनुस्मरन्) सज्जनों के धर्म का ग्रनुसरण करता हुया ग्रर्थात् न्यायपूर्वक धिन के स्वामी की ग्रवस्था को ध्यान में रखकर] (षड्भागं दशमम् ग्रिप वा द्वादशम् ग्राददंत) छठा, दशवां ग्रथना बारहवां भाग कर-रूप में ग्रहण करे।। ३३।।

'राजा द्वारा सुरक्षित धन' की चोरी करने पर दण्ड---

प्रणब्दाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तंरिधिष्ठितम्। यांस्तत्र चौरानगृह्णीयःतान् राजेभेन घातयेत्॥ ३४॥ (२६) (प्रग्राष्ट स्रिघिगतं द्रश्यम्) चुरा लेने के बाद प्राप्त किये गये धन को राजा (युक्तैः) योग्य रक्षकों के (स्रिघिष्ठितं रक्षेत्) पहरे = सुरक्षा में रखे (तत्र) स्रगर उस पहरे में से भी चोरी करते हुए (यान् चौरान् गृह्णीयात्) जो चोर पकड़ जायें [चाहे वे पेशे तर चोर हों स्रथवा रक्षक राजपुरुष] (तान् राजा + इभेन घातयेत्) उन्हें राजा हाथी से कुचलवाकर मरवा डाले।। ३४।।

# ममायमिति यो बूयान्निधि सत्येन मानवः । तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३४ ॥ (३०)

(निधिम) चोरी से प्राप्त घन को (यः मानवः) जो मनुष्य ('म्रयं मम + इति' सत्येन बूयात्) रंग, रूप, तोल, संख्या म्रादि की ठीक पहचान के द्वारा 'यह वास्तव में मेरा है' ऐसा सच-सच बतला दे तो (राजा) राजा (तस्य षड्भागं वा द्वादशम् + एव म्रादतीत) उस धन में से छठा या बारहवां-भाग कर के रूप में लेने म्रीर शेष घन उसके स्वामी को लौटा दे॥ ३४॥

## ग्रनृतं तु. वदन्दण्डयः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् । तस्यैव वा निधानस्य संस्थायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६॥ (३८)

(प्रनृतं तु वदन्) ग्रगर कोई भूठ बोले ग्रयीत् किसी घन पर भूठा दावा करे या भूठ ही ग्रपना बतलावे तो ऐसे अपराधी को (स्विक्तस्य + ग्रष्टमय् + अंगं दण्डचः) ग्रपना कहे जाने वाले उस घन का ग्राठवां भाग जुर्माना करे (वा) ग्रयवा (संख्याय) हिसाब लगाकर (तस्य + एव निघानस्य ग्रत्पीयसीं कलां) उस दावे वाले घन का कुछ भाग जुर्माना करे।। ३६।।

गड़े हुए धन का स्वामी ब्राह्मण---

#### विद्वास्तु बाह्माराो हब्द्वा पूर्वोपनिहितं निषिम् । भन्नेवतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिहि सः ॥ ३७ ॥

(विद्वान् ब्राह्मणः तु) यदि विद्वान् ब्राह्मण (पूर्वं + उप-निहितम्) कहीं पहले के रखे हुए (निधिम्) धन को (ब्ष्ट्वा) देखकर प्रथात् देख ले तो (प्रशेषतः + प्रापि + प्राददीत) उस सम्पूर्णं धन को ही ले ले प्रयाद् राजा या मन्य व्यक्ति को उसका हिस्सा न दे (हि) क्यों कि (सः सर्वस्य प्रधिपतिः) ब्राह्मण सारे संसार का स्वामी है ॥ ३७॥

#### यं तु पत्र्येन्निधि राजा पुराणं निहितं क्षितौ। तस्माइ द्विजेम्यो बस्वार्थमर्थं कोशे प्रवेशयेत्॥ ३८॥

(राजा) राजा (क्षितौ निहितं यं पुराणं निर्धि पश्येत्) पृथ्वी में गड़े हुए किसी पुराने घन को देख ले स्रयीत् प्राप्त कर ले (तु) तो (तस्मात् द्विजेम्य: सर्घं दत्त्वा) उसमें

से ग्राधा ब्राह्मणो को दान देकर (ग्रर्थं कोशे प्रवेशयेत्) ग्राधा ग्रपने खजाने में जमा करले।। ३ = ।।

## निधीनां तु पुरागानां धातूनामेव च क्षितौ । मर्घभाग्रक्षगात्राजा भूमेरधिपतिहि सः ॥ ३६ ॥

(पुराणानां तु निधीनाम्) पुराने धनों या खजानों (च) ग्रौर (क्षितौ धातूनाम् एव) पृथ्वी में प्राप्त होने वाली धातुग्रों की खानों का (रक्षरणात् राजा ग्रर्धभाक्) रक्षक होने के कारण राजा ग्राधे भाग का ग्रधिकारी है (हि) क्योंकि (सः भूमेः + ग्राधिपतिः) राजा पृथ्वी का स्वामी है ॥ देह ॥

अनुर्होत्जनाः ३७ से ६६ श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगिबरोध पूर्वापर क्लोकों में चोरी गये घन को देन की व्यवस्था का वर्गान है। उस प्रसंग को इन ३७ से ३६ क्लोकों ने भंग कर दिया है। गड़े हुए घन का पूर्वापर रूप से कोई प्रसंग नहीं है। अतः ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. भ्रन्तिवरोध—(१) इन श्लोकों में जातीय श्राधार पर ब्राह्मण को सबका भ्रिषिपति माना है, यह मनु की कर्मणा वर्णव्यवस्था के विरुद्ध है [द्रष्टव्य १।६२—१०१ पर 'ग्रनुशीलन-समीक्षा]
- (२) ब्राह्मण् द्वारा किसी भी धन को देखकर 'कब्जा जताना' भी मनु की ब्यवस्थाग्रों के विरुद्ध है। मनु ब्राह्मणों को अपने कर्मों से ही जीविका-उपार्जन करने और सन्तोष एवं त्यागपूर्वक जीवनयात्रा चलाने को कहते हैं [१। ८७, ४। २, ३, १२] इस प्रकार ये दलोक प्रक्षिप्त हैं।

## वातव्यं सववर्णेभ्यो राज्ञा चौरेहृंतं घनम्। राजा तदुपयुञ्जानद्वौरस्याप्नोति किल्विवम्।। ४०।।

(चौरै: हुन धनम्) चोरों के द्वारा चुराया गया धन [उन चोरों से प्राप्त करके या प्राप्त हो जाने पर] (राजा) राजा को (सर्ववर्णेम्यः दातव्यम्) सव वर्ण वालों को ग्रर्थात् जिस वर्ण के व्यक्ति का यह धन है, उसी को दे देना चाहिए (राजा तत् + उप-युञ्जानः) राजा उस धन को ग्रपने उपयोग में लाने पर (चौरस्य किल्विषम् ग्राप्नोति) चोर के ग्रपराध का भागी होता है।। ४०॥

#### जातिजान ग्वान्धर्माञ्छ्रे शीधर्माञ्च धर्मवित्। समीक्ष्य कुलधर्माञ्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ ४१॥

(धर्मवित्) धर्मंज राजा (जाति-नानपदान् धर्मान्) जाति = वर्णों के धर्मों को ग्रौर जानपद = देशधर्मों को (च) तथा (श्रेणीधर्मान्) वर्णिक्वृत्ति, कृषिवृत्ति ग्रादि के श्रेणीधर्मों को (च) श्रीर (कुलधर्मान्) कुलों में प्रचलित परम्यराश्रों को (समीक्ष्य) देखकर (स्वधर्म प्रतिपादयेत्) ग्रपनी व्यवस्थाओं को लागू करे॥ ४१॥

## अनुर्योत्डनः ४०-४१ वें खोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. अन्तिवरोध — मनु ने धर्म-िर्णय के लिए कुल ग्रीर जाति को कहीं ग्राधार नहीं माना है। वे सर्वत्र धर्मशास्त्र, धर्म, सत्य को ही मुख्य रूप से ग्राधार मानते हैं ग्रीर साधारण मामलों में देश ग्रीर काल को भी (८। ८, ४४, ४५, १२६)। यदि कुल ग्रीर जाति को निर्णय का ग्राधार मान लिया जाये तो फिर धर्मशास्त्र की क्या ग्रावश्यकता रह जायेगी? कुलों के ग्राने-ग्रपने धर्म प्रचलित हो जायेंगे! इस प्रकार इस श्लोक का उक्त ब्लोकों से ग्रीर मनुस्मृति के उद्देश्य से ही विरोध है, ग्रतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है। ४० वां श्लोक भी प्रक्षिप्त है, क्योंकि इससे पूर्व (८। ३३) कहा है कि जिसका धन है उसको टे दे, कुछ भाग राजा ले, यहां परस्पर विरुद्ध कथन है।

कर्त्तव्यों में संलग्न व्यक्ति सबके प्रिय-

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः । प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मः यवस्थिताः ।।४२॥ (३२)

(स्वानि कर्माणि कुर्वाणाः) ग्रयने-ग्रपने कर्त्तं क्यों को करते हुए ग्रौर (स्वे-स्वे कर्मणि +ग्रविस्थिताः) ग्रयने-ग्रपने कर्त्तं ग्र्य कर्मों में स्थित रहने वाले मानवाः) मनुष्य (दूरे सन्तः +ग्रिय) दूर रहते हुए भो (लोकस्य प्रियाः भवन्ति) समाज के प्यारे ग्रथीत् लोकिय होते हैं । ४२।।

राजा या राजपूरुष विवादों को न बढ़ायें---

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाष्यस्य पूरुषः। न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं क्यंचन।।४३॥ (३३)

(राजा ग्रिपि+ग्रस्य पुरुष:) राजा ग्रथवा कोई भी राजपुरुष (स्वयं कार्यं न+उपपादयेत्) स्वयं किसी विवाद को उत्पन्न न करें, ग्रौर न बढ़ायें (च) ग्रौर (ग्रन्येन प्रापितम् ग्रथंम्) अन्य किसी भी व्यक्ति द्वारा बताये या प्राप्त कराये गये धन को (कथंचन) किसी भी स्थिति में (न ग्रमेत्) स्वयं हड़पने की इच्छा न करें [जवतक 'यह बन किसका है' यह सिद्ध न हो जाये ग्रौर वह लावारिस (७। २०) सिद्ध न हो जाये, तब तक राजा उसे ग्रपने ग्रधिकार में न ले ग्रौर कोई राजपुरुष उसको बोच में ही हड़पने न पाये]।। ४३।।

अप्रज्युक्यों कि न्यः श्लोक ८। २६ की ८। ४४ से प्रसंग की सम्बद्धता है। यहां ८। ७ तक १८ प्रकार के मुकद्दमों की गणना करके ८। ४५ तक 'सत्य-सही निर्णय कैसे करें' मनु ने यह प्रसंग वर्णित किया है। संकेतित क्रमानुसार पहला मुकद्दमा भी द। ४७ से प्रारम्भ होता है। इस बीच बालधन, स्त्रीधन, लावारिस धन नष्ट हुए धन ध्रादि से सम्बन्धित बातें प्रसंगानुकूल नहीं हैं। इस प्रकार के शेष सभी विवान मुकद्मों के निर्णय के ग्रन्त में ६। १५१ के परचात् वर्णित किये हैं। इनमें नष्ट या चोरी गये धन की चर्चाएँ हैं और चोरी-विवाद वाले ही दण्ड वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि ये सभी इलोक स्थानभ्रष्ट होकर यहां जुड़ गये हैं, ये चोरी-विवाद निर्णय (६। ३०१-३४३) के अन्तर्गत होने चाहियें।

दलोक ८। २६ की ८। ४४ से प्रसंगगत सम्बद्धता भी है। इस ग्राधार पर इन सबको प्रक्षिप्त कहने का श्राधार भी बन सकता है, पर क्योंकि इनमें कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है। ये सर्वसामान्य ग्रावश्यक विधान हैं। मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है। शैली भी मनुसम्मत है। ग्रतः हमने इन्हें प्रक्षिप्त नहीं माना है।

श्रनुमान प्रमाण से निर्णय में सहायता-

यथा नयत्यस्क्षातेर्वृगस्य मृगयुः पदम् । नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥४४॥ (३४)

(यथा) जैसे (मृगयुः) शिकारी (म्रसृक्पातैः) खून के घब्बों से (मृगस्य पदं नयति) हिरण के स्थान को प्राप्त कर लेता है (तथा) वैसे ही (नृपतिः) राजा या न्यायकर्ता (म्रनुमानेन) ग्रनुमान प्रमाण से (घर्मस्य पदम्) धर्म के तत्त्व ग्रर्थात् वास्तविक न्याय का (नयेत्) निश्चय करे ॥४४॥

> सत्यमर्थं च संप्रदेवात्माममय साक्षिणः। देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधी स्थितः।। ४५ ॥ (३५)

(व्यवहारिवधी स्थितः) मुक्ट्सी का फैसला करने के लिए तैयार हुन्ना राजा (सत्यम् च न्नर्थम्) मुक्ट्से की सत्यता, न्याय-उद्देश्य (न्नात्मा-नम्) ग्रपनी ग्रात्मा के ग्रान्तरिक निर्णय की (ग्रय साक्षिणः) ग्रीर साक्षियों का (च) तथा (देशं रूपं च कालम्) देश, स्वरूप एवं समय की (सपश्येत्) श्रच्छी प्रकार देखे = विचार करे।। ४५।।

अर्जु र्यो टिउन्स: आत्मा के निर्णय का क्या प्रिमित्राय है, इसे समकने के लिए देखिए १।१२५ (२।६) पर इस सम्बन्धी अनुशीलन।

सिद्भराचरितं यस्याद्यामिकैश्च दिजातिभिः। तब्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्।। ४६ ॥

(सदिभः) श्रेष्ठ लोगों (च) ग्रौर (थार्मिकै: द्विजातिभिः) धार्मिक विद्वानों ने (यत् + ग्राचरितं स्यात्) जो ग्राचरण किया है (देश-कुल-जातीनाम् + ग्रविरुद्धम्) देश,

कुल तथा जाति के विरुद्ध जो न हो (तत्) उस व्यवहार के ग्रनुसार (प्रकल्पयेत्) राजा निर्णय दे ।। ४६ ।।

## आनुरारिता: ४६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. ग्रन्तिवरोध—मनु ने निर्णय का ग्राधार धर्मशास्त्र, धर्म, सत्य को माना है ग्रीर साधारण मामलों में देश, काल को भी (८।८, ४४-४५, १२६), किन्तु कुल, जाति को नहीं। पिछले ही इलोक में सभी बातें स्पष्ट कही हैं, किन्तु फिर भी ग्रगले क्लोक में प्रक्षेपक ने एक ग्रीर विधान कर दिया। जिसमें देश के साथ कुल और जाति को भी जोड़ दिया। यदि कुल ग्रीर जाति के ग्राधार पर निर्णय किया जाये तो फिर इस धर्मशास्त्र की ही क्या ग्रावश्यकता रह जायेगी? इस प्रकार उक्त क्लोकों से तथा मनुस्मृति के उद्देश्य से इस क्लोक का विरोध है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है।

# १, ऋण लेने-देने के विवाद का न्याय (८।४७-१७८ तक)

ऋण का न्याय---

# ब्रधमर्णार्थसिद्धचर्यमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥ (३६)

(ग्रधमणं +ग्रथंसिद्धचर्यम्) ग्रधमणं = कर्जदार से ग्रपना धन वसूल करने के लिए (उत्तमर्गोन चोदितः) उत्तमणं = कर्ज देने वाले ग्रर्थात् वनी की ग्रोर से प्रार्थना करने पर राजा (धनिकस्य विभावितम् ग्रथंम्) धनी का वह लेख ग्रादि से सिद्ध निश्चित किया हुग्रा धन (ग्रधमणीत् दापयेत्) कर्जदार से दिलवाये।। ४७।।

> यैयेँक्पायैरर्थं स्वं प्राप्पुयादुत्तर्माएकः। तैस्तैक्पायैः संगृह्य दापयेदधर्माएकम्।। ४८।।

(उत्तर्माणकः थैः +यैः + उपायैः स्वम् + अर्थं प्राप्नुयात्) कर्जदाता जिन-जिन उपायों से ग्रपने घन को प्राप्त कर सके, राजा (तैः + तैः + उपायैः) उन-उन उपायों से (ग्रघमणिकम्) कर्जदार को (संग्रह्म) वश में करके (दापयेत्) घन दिलवाये ॥ ४८ ॥

> धर्मेण •यवहारेण छलेनाचरितेन च। प्रयुक्तं साध्येदर्थं पञ्चमेन बलेन धः॥ ४६॥

(धर्मेण व्यवहारेण छलेन + आचिरितेन) धर्म से, व्यवहार से, छल से, ग्राचिरित से (च) ग्रौर (पञ्चमेन बलेन) पांचवें उपाय शक्ति से (प्रयुक्तम् ग्रर्थम् साधयेत्) दिये हुए धन को प्राप्त कराये।। ४६॥

यः त्वयं साधयेदर्यमुत्तमर्गोऽधर्माग्यकात् । न स २ नाऽभियोक्तस्यः स्वकं संसाधयन्वनम् ॥ ५० ॥ (यः) जो (उत्तमणंः) कर्जदाता (म्रधमणिकात्) कर्जदार से (स्वयम् म्रथं साधयेत्) स्वयं ही घन वसूल करता हो तो (स्वकं घन संसाधयन्) प्रपने धन को वसूल करते हुए (सः) वह घनी (राज्ञान म्रभियोक्तव्यः) राजा को नहीं रोकना चाहिए म्रयित् उसे वसूल करने दे॥ ५०॥

आनु शिल्डन: ४८ से ५० तक के क्लोक निम्न श्राधारों के श्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) पूर्वापर क्लोकों का प्रसंग न्यायालय में साहूकार द्वारा प्रार्थना करने की विधि का है। इस बीच 'किन-किन उपायों से धन दिलावें' ग्रादि बातों का वर्णन ग्रसंगत है। (२) जब साहूकार न्यायालय में प्रार्थना करने के लिए ग्राया हुग्रा है, तो वह न्यायालय के माध्यम से धन प्राप्त करेगा। ५० वें क्लोक में 'स्वयं धन वसूल करने देने' की बात का वर्णन इस सम्पूर्ण पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध है। जब वह न्यायालय में प्रार्थना कर रहा है, तो स्वयं धन वसूल करने का ग्रवसर ही कहां रह जाता है? (३) यहां केवल निर्णय देने का और दण्ड-व्यवस्था का प्रसंग है व्यवहार, छल ग्रादि की बात कहना ग्रसंगत बातें हैं। (४) ४७ का ५२ वें क्लोक से प्रसंग जुड़ता है। बीच के क्लोकों से न्यायालय में की जाने वाली विधि भंग हो रही है। इस प्रकार ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. ग्रन्तिवरोध—इन क्लोकों में व्यवहार, छल ग्रादि के द्वारा साहूकार का धन दिलाना, स्वयं धन वसूल करने देना ग्रादि बातें मनुद्वारा विहित व्यवहार-निर्णय की इस सम्पूर्ण व्यवस्था से ही विरुद्ध हैं। इस व्यवस्था में विवाद उत्पन्न होने पर साक्षी आदि द्वारा राजा को धर्मयुक्त निर्णय देने का विधान है (८। ८-६, ५२-१२२), इन क्लोकों में उक्त बातों का इस व्यवस्था में ग्रवसर ही नहीं रहता।

## म्रर्थेऽपय्यमानं तु करगोन विभावितम्। वापयेद्धनिकस्यार्थं वण्डलेशं च शक्तितः॥ ५१॥ (३७)

[४७ वें में उक्त धन का] (करणेन विभावितम्) यदि लेख, साक्षी म्रादि साधनों से उस कर्ज का लिया जाना निश्चित हो जाये (तु) म्रीर (म्रर्थे + म्रपव्ययमानम्) कर्जदार कर्ज में लिये गये धन से मुकर जाये तो [राजा] (धनिकस्य + म्रर्थं दापयेत्) धनी का वह धन भी वापिस दिलवाये (च) म्रीर (शक्तितः दण्डलेशम्) उसकी शक्ति, धन म्रादि के म्रनुसार कुछ न कुछ दण्ड भी म्रवस्य करे।। ५१।।

ऋणदाता से ऋण के लेख ग्रादि प्रमाणों को मांगना-

म्रपह्नवेऽधमणंस्य देहीत्युक्तस्य संसवि । म्रभियोक्ता विशेद्देदयं करणं वाऽन्यदुद्दिशेत् ॥ ४२ ।। (३८) (संसिद) न्यायालय में ('देहि + इति' + उक्तस्य) न्यायाधीश के द्वारा 'धनी का धन दे दो' ऐसा कहने पर (प्रधमर्णस्य ग्रपह्नवे) यदि कर्जदार कर्ज लेने से मुकरने की बात कहे तो (ग्रभियोक्ता) मुकद्दमा करने वाला धनी (देश्यम्) प्रत्यक्षदर्शी साक्षी = गवाह को (दिशेत्) प्रस्तुत करे (वा) ग्रीर (ग्रन्यत् करणम् उद्दिशेत्) ग्रन्य प्रमारण भी प्रस्तुत करे ।। ५२ ।।

मुकद्मों में ग्रप्रामाणिक व्यक्ति—

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः । यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीताश्चावबुष्टयते ॥ ५३ ॥ (३६) ग्रपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्रपधावति । सम्यक्प्रिशाहितं चार्यं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥ (४०) ग्रसंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः । निरुच्यमानं प्रश्नं च नैच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ (४१) बूहीत्युक्तश्च न बूयादुक्तं च न विभावयेत् । न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥ (४२)

(यः) जो ऋ एवाता १—(ग्रदेश्यं दिशति) भूठे गवाह ग्रौर गलत प्रमारापत्र प्रस्तुत करे, (च) ग्रौर २—(यः) जो (निर्दिश्य) किसी वात को प्रस्तुत करके या कहकर (अपहनुते) उससे मुकरता है या टालमटोल करता है, ३—(यः) जो (विगीतान् ग्रंघर-उत्तरान् +ग्रर्थात् न +ग्रवबुध्यते) कही हुई ग्रगली-पिछली बातों को नहीं घ्यान में रखता ग्रर्थात् जिसकी ग्रगली-पिछली बातों में मेल न हो, ४—(यः) जो (ग्रपदेश्यम् + ग्रपदिश्य पुनः म्रपधावति) म्रपने तर्कों को प्रस्तुत करके फिर उनको बदल दे—उनसे फिरजाये, ५ — जो (सम्यक् प्रिशाहितम् अर्थं पृष्टः सन्) पहले अच्छी प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कही हुई बात को न्यायाधीश द्वारा पुनः पूछने पर (न+ग्रभि-नन्दति) नहीं मानता, उसे पुष्ट नहीं करता, ६—(ग्रसंभाष्ये देशे साक्षिभि: मिथः संभाषते) जो एकान्त स्थान में जाकर साक्षियों के साथ घुलमिलकर चुप-चुप बात करे, ७—(निरुच्यमानं प्रश्नं न+इच्छेत्) जांच के लिए पूछे गये प्रश्नों को जो पसंद न करे, ५—(च य: + ग्रिप निष्पतेत्) ग्रीर जो इधर-इघर टलता फिरे (च) तथा ६— ('ब्रूहि' इति + उक्तः न ब्रूयात्) 'कहो' ऐसा कहने पर कुछ न कह सके, १०—(च उक्त न विभावयेत्) ग्रीर जो कही हुई वात को सिद्ध न कर पाये, ११—(न पूर्वापर विद्यात) पूर्वापर बात को न समभे ग्रथीत् विचलित हो जाये, (सः तस्मात् ग्रथीत् हीयते)

वह उस प्रार्थना किये गये धन से हार जाता है ग्रर्थात् न्यायाधीश ऐसे व्यक्ति को हारा हुग्रा मानकर उसे धन न दिलावे।। ५३—५६।।

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्मस्यः कारगौरेतैहींनं तमिष निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ (४३)

('भे साक्षिणः सन्ति' इति + उक्त्वा) पहले 'मेरे साक्षी हैं' ऐसा कह-कर ग्रीर फिर गवाही के समय न्यायाधीश के द्वारा ('दिश' इति + उक्तः) 'साक्षी लाग्नो' ऐसा कहने पर (यः न दिशेत्) जो साक्षियों को पेश न कर सके तो (धर्मस्थः) न्यायाधीश (एतैः कारणैः) इन कारणों के ग्राधार पर भी (तम् + ग्रिप हीनं निर्दिशेत्) मुकद्मा दायर करने वाले को पराजित घोषित कर दे॥ ५७॥

> श्रभियोक्ता न चेद्र ब्रूयाद्वध्यो दण्डचश्च धर्मतः । न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रुयाद्धमें प्रति पराजितः ॥ ५८॥ (४४)

(ग्रिभियोक्ता न चेत् क्रूयात्) जो ग्रिभियोक्ता = मुकह्मा करने वाला पहले मुकह्मा दायर करके फिर ग्रपने मुकह्मे के लिए कुछ न कहे तो वह (धर्मतः) धर्मानुसार (वध्यः) सजा के योग्य (च) ग्रौर (दण्डच) जुर्माना [४६] करने योग्य है, इसी प्रकार यदि (त्रिपक्षात् न चेत् प्रब्रूयात्) तीन पस्तवाड़े ग्रर्थात् डेढ़ मास तक ग्रिभियोगी ग्रपनो सफाई में कुछ न कह सके तो (धर्म प्रति पराजितः) धर्मानुसार = कानून के श्रनुसार वह हार जाता है ॥ ४८॥

यो यावन्निह्नु वीतार्षं मिथ्याय।वित वा वदेत् । तो नृपेण ह्यधमंज्ञौ दाप्यो तद् द्विगुएां दमम् ॥ ५६॥ (४५)

(यः) जो कर्जदार (यावत् ग्रथं निह्नुवीत) जितने घन को छिपावे ग्रयात् ग्रधिक घन लेकर जितना कम बतावे (वा) ग्रथवा जो कर्ज देने वाला (यावति मिण्या वदेत्) जितना भूठ बोले ग्रथात् कम घन देकर जितना ज्यादा बतावे (नृपेण) राजा (तौ ग्रधमंज्ञौ) उन दोनों भूठ बोलने वालों को (तत् द्विगुणं दमम् दाप्यौ) जितना भूठा दावा किया है, उससे दुगुने धन के दण्ड से दण्डित करे।। ५६।।

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो घनैषिणा। त्र्यवरैः साक्षिमिर्माच्यो नृपबाह्यणसन्निधौ॥ ६०॥

(धनैषिणा कृतावस्थः) धन चाहने वाले = मुद्दई के द्वारा मुकद्दमा दायर करने पर (पृष्टः) भीर न्यायाषीश द्वारा कर्जदार से पूछने पर (अपव्ययमानः तु) यदि वह मना कर दे अर्थात् यह कहे कि 'मैंने कोई कर्ज नहीं लिया या मैं देनदार नहीं हूं' तो उस स्थिति में अर्थी को (नृपन्नाह्मणसन्निधौ) राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश न्नाह्मण के सामने (त्र्यवरै: साक्षिभि: भाव्यः) कम से कम तीन साक्षियों के द्वारा अपना पक्ष प्रमाणित करना चाहिये ॥ ६०॥

#### अन्य शिल्ज : ६० वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

(१) अन्तिवरोध—इस श्लोक में कम से कम तीन साक्षियों को प्रस्तुत करने का कथन न तो व्यावहारिक है और न मनुसम्मत। साक्षी तो समय, घटना और परिस्थिति के अनुसार कम-अधिक होते हैं [न।७३]। यही कारण है कि साक्षी-प्रसंग के श्लोकों में अन्यत्र कहीं भी मनु ने इस प्रकार की शर्त नहीं रखी है [न।४४, ५७, ६१, ६३ ६४, ६न—६१ आदि]। यहां उनसे भिन्न व्यवस्था होने से अन्तिवरोध के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

साक्षी कौन हों---

याहशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः । ताहशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥ (४६)

(धिनिभिः) साहूकारों प्रथित् धन देने वालों को (व्यवहारेषु) मुकद्दमों में (यादशाः साक्षिणः कार्याः) जैसे साक्षी बनाने चाहियें (तादशान्) उनको (च) ग्रौर (तैः) उन साक्षियों को (यथा ऋतं वाच्यम्) जैसे सत्य वात कहनी चाहिए, उसे (सम्प्रवक्ष्यामि) ग्रब ग्रागे कहूँगा—।। ६१ ।।

गृहिरणः पुत्रिरणो मौलाः क्षत्रविद्शूद्वयोनयः। अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमहंन्ति न ये केविदनापदि।। ६२।।

(गृहिणः) गृहस्य (पुत्रिगाः) पुत्र वाले (मौलाः) पहले से वहां निवास करने वाले (क्षत्र-विद्-शूद्रयोनयः) क्षत्रिय, वैश्य ग्रीर शूद्र व्यक्ति, (ग्रर्थी + जक्ताः) धनी के कहने पर (साक्ष्यम् + अर्हेन्ति) साक्षी हो सकते हैं, (ग्रनापदि) ग्रापत्तिरहित काल में (ये केचित् न) हर कोई साक्षी नहीं हो सकता ॥ ६२ ॥

# अन्तुर्व्योत्जनः यह ६२ वां श्लोक निम्न ग्राधार पर प्रक्षिप्त है—

- १. अन्तिवरोध—(१) ६३ वें श्लोक में साक्षियों की जो विशेषताएं कही हैं यह श्लोक उनसे भिन्न विशेषताएं दे रहा है। ये विशेषताएं ताक्षी के श्रेष्ठ होने की द्योतक नहीं हो सकतीं, श्रतः ६३ वें श्लोक से भिन्नता होने के कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है (२) इस श्लोक में ब्राह्मण को इस व्यवस्था में परिगणित नहीं किया है, जबकि ६३ में श्लोक में साक्ष्य के लिए सभी वर्णों का विधान है।
  - २. प्रसंगविरोप-६१ वें क्लोक की ६३ से सम्बद्धता है। ६१ वें में कहा है कि

'साक्षी कैसे होने चाहियें, ग्रब मैं यह कहूँगा' ग्रौर वे ६३ में विश्तित हैं। ६१ ग्रीर ६३ में 'कार्याः' शब्द उन्हें परस्पर सम्बद्ध कर रहा है। ६२ में 'साक्षी कौन हो सकते हैं, कौन नहीं' यह कथन पूर्वापर श्लोकों की सम्बद्धता को भंग कर रहा है। ग्रतः यह प्रसंगविरुद्ध प्रक्षेप है।

# म्राप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वेधमंविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥६३॥ (४७)

(सर्वेषु वर्णेषु) सत्र वर्णों में (ब्राप्ताः) धार्मिक, विद्वान् निष्कपटी (सर्व-धर्मिवदः) सब प्रकार धर्म को जानने वाले (ब्रलुब्धाः) लोभरिहत सत्यत्रादियों को (कार्येषु) न्यायव्यवस्था में (साक्षिणः कार्याः) साक्षी करे (विपरीतान् तु वर्जयेत्) इससे विपरीतों को कभी न करे ।। ६३।। (स० प्र०१६८)

## अनुश्रीत्जनः : साक्षी शब्द पर विचार-

साक्षी शब्द के अर्थ ग्रीर व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस वात या घटना का प्रत्यक्षद्रष्टा होता है। सहपूर्वक ग्रक्षि से इनिः प्रत्यय ग्रथवा साक्षात् ग्रव्यय से 'साक्षादृद्रष्टिर संज्ञायाम्' [ग्रप्टा० ५।२।६१] से 'इनि' प्रत्यय होकर 'साक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है। साक्षिन्-यः साक्षात् कर्ताः साक्षात् व्रष्टा' यः सः साक्षी। श्लोक में 'ग्राप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की ग्रभिव्यक्ति हुई है।

साक्षी कौन नहीं हो सकते--

# नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः । न हष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥(४८)

(ग्रर्थसम्बन्धिनः) धनी से ऋगा ग्रादि के लेने-देने का सम्बन्ध रखने वाले (न कर्त्तं व्याः) साक्षी नहीं हो सकते (न भ्राप्ताः) न घनिष्ठ=मित्रादि (न सहायाः) न सहायक—नौकर ग्रादि, (न वैरिणः) न ग्रभियोगी के शतु ग्रादि, (न इष्टदोषाः) जिसको साक्षो पहले भूठी सिद्ध हो चुकी है वे भी नहीं (न व्याधि + ग्रार्ताः) न रोगग्रस्त, पीड़ित ग्रीर (न दूषिताः) न ग्रपराधी = सजा पाये ग्रीर दूषित आचरण वाले ग्रधर्मी व्यक्ति साक्षो हो सकते हैं।। ६४।।

## न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्यो न संगेम्यो त्रिनिगंतः॥ ६४॥

(নৃपतिः) राजा को (कारक-कुशीलवौ) कारीगर श्रीर नट-भाट श्रादि को (श्रोत्रियः) वेदपाठी को (लिङ्गस्यः) ब्रह्मचारी को (सङ्गम्यः विनिर्गतः) मोहमाया से

पृथक् हुए ग्रथित् संन्यासी को भी (साक्षी न कार्यः) साक्षी नहीं बनाना चाहिए।। ६४।।

#### नाष्यधीनो न वक्तव्यो न वस्युनं विकर्मेन्नत् । न बुद्धो न शिशुनेंको नाल्यो न विकलेन्द्रियः॥ ६६ ॥

(ग्रधि + ग्रधीनः) पूर्णतः ग्रधीन व्यक्ति नौकर ग्रादि को (वक्तव्यः) लोकिनिन्दित को (दस्युः) कूर कर्म करने वाले को (विकर्मकृत्) बुरे कर्म करने वाले को (वृद्धः) बूढ़े को (शिशुः) बालक को (एकः) एकाकी घूमने वाले को (ग्रन्त्यः) नीच (विकलेन्द्रियः) ग्रपाहिज को भी साक्षी न बनावे ॥ ६६॥

#### नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो सुत्व्ह्णोपपीडितः। नश्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः॥ ६७॥

(न + ग्रातंः) न शोकप्रस्त को (न मत्तः) न नशे के ग्रादी को (न + उन्मत्तः) न पागल को (न क्षुत्- तृष्ण + उपपीडितः) भूख-प्यास से सताये हुए को (न श्रमातंः) न थके हुए को (न कामार्तः) न कामग्रस्त को (न क्रुद्धः) न क्रोधी (न तस्करः) न चोर को साक्षी बनावे ॥ ६७ ॥

श्रन्यु श्रीत्जना: ६५ से ६७ तक श्लोक निम्न म्राधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. ग्रन्तिवरोध—(१) ६५ वें श्लोक में कारीगर, नट आदि को साक्षी के लिए निषिद्ध किया है। प्रतीत होता है कि ये श्लोक उस समय के विधान हैं जब परम्पराएं विकृत होकर वर्णव्यवस्था जातिगत ग्राधार पर होने लगी थी, क्योंकि कारीगर कोई भिन्नजाति नहीं, यह वैश्यों का ही कमें है। जब वैश्य साक्षी के लिए उपयुक्त माने हैं (६।६३,६६) तो कारीगर का पृथक् से निषेध करना इस व्यवस्था के ग्रनुकूल नहीं है। (२) ६६ वें श्लोक में ग्रन्त्यज को साक्ष्य के लिए निषद्ध किया है, जबिक ६६ वें में स्पष्ट विधान है। इस विरोध के कारण ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. पुनरुक्ति—६६-६७ श्लोकों में विणित प्रायः सभी व्यक्ति ६४ वें श्लोक के अन्तर्गत ही आ जाते हैं, जैसे 'व्याधिप्रस्त' में विकलेन्द्रिय, आर्त, मत्त, उन्मत्त, श्रमातं, कामातं आदि और 'दूषिताः ह्व्यदोषाः में दस्यु, विकर्मकृत्, अन्त्य, तस्कर आदि। इस प्रकार ये श्लोक ६४ वें की पुनरुक्ति ही हैं। कोई स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण बात इनमें नहीं हैं।

विशेष प्रसंगों में साक्षी विशेष-

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युं द्विजानां सहशा द्विजाः । शूद्राक्व सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ।।६८।।(४६)

(स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः) स्त्रियों की साक्षी स्त्री, (द्विजानां द्विजाः) द्विजों के द्विज (शूद्राणां शूद्राः) शूद्रों के 🎇 शूद्र (म्रन्त्यानाम् + म्रन्त्ययोनयः

कुर्युः) म्रन्त्यजों केअन्त्यजसाक्षी हों ।। ६८ ।। (स० प्र०१६६) ॐ(सद्द्यः) सद्द्यबलवाले⋯⋯⋯(सन्तः) साधुस्वभाव के⋯⋯⋯

## अनुरारिता : (१) साक्षीविशेषों के कथन का उद्देश-

पूर्वापर साक्षी-वर्णन सम्बन्धी श्लोकों से, श्रीर विशेषरूप से ८।६३,६४,६६,७२ श्लोकों से यह स्पष्ट है कि साक्षी कोई भी हो सकता है। इस क्लोकों में जो विशेष साक्षियों का कथन है वह विशेष श्रीभप्राय से है। जैसे स्त्रियों के जो स्त्रीसम्बन्धी प्रसंग हैं, उनमें स्त्रियां ही ठीक साक्षी हो सकती हैं। इसी प्रकार द्विजों श्रीर श्रूडों के वर्णान्तर के जो निजी प्रसंग हैं, उनमें उसी वर्ण के साक्षी प्रामाणिक श्रीर सही सिद्ध हो सकते हैं। इस विशेष कथन का यही श्रीभप्राय है।

(२) ग्रन्त्यज कौन?—चारों वर्णों में जो दीक्षित नहीं होकर वर्णबाह्य रह जाते हैं, वे लोग अन्त्यज ग्रर्थात् अन्त्यस्थानीय हैं।

ऐकान्तिक ग्रपराधों में सभी साक्षी मान्य हैं-

म्रनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् । म्रन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥(५०)

(अन्त + वेश्मित) घर के अन्दर एकान्त में हुई घटना में (वा) अथवा (अरण्ये) जंगल के एकान्त में हुई घटना में (अपि च) और (शरीरस्य अत्यये) रक्तपात आदि से शरीर के घायल हो जाने की अवस्था में (यः कित्वत् अनुभावो) जो कोई अनुभव करने वाला या देखने वाला हो वहीं (विवादिनाम्) विवाद करने वालों का (साक्ष्यं कुर्यात्) साक्षी हो सकता है, चाहे वह कोई भी हो ।। ६९।।

> स्त्रियाऽप्यसम्मवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा।। ७०।।

(स्त्रिया; + अपि + असम्भवे) उक्त स्थानों में स्त्री की विद्यमानता न होने पर (बालेन स्थिनिरेणवा शिष्येण बन्धुना दासेन ग्रिपवा भृतकेन कार्यम्) बालक, बूढ़े, शिष्य, बन्धु, दास ग्रीर नौकर को भी साक्षी देनी चाहिए॥ ७०॥

> बालवृद्धातुराखां च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा।। ७१।।

राजा (बाल-वृद्ध + अःतुराणाम्) वालक, बूढ़े ग्रीर दुःखी लोगों की (च) ग्रीर (उित्सवतमनसाम्) ग्रस्थिर मन वाले व्यक्तियों की (साक्ष्येषु मृषा वदताम्) साक्षी में भूठ बोलते हुए (ग्रस्थिरां वाचं जानीयात्) ग्रस्थिर वाणी को जान लेवे ॥ ७१ ॥

अन्यूर्गीत्उनः : ७०-७१ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. प्रसंगविरोध-—(१) ६६ वें ग्रीर ७२ वें ब्लोक में साक्षियों की परीक्षा न करने का समान प्रसंग है। इस बीच ग्रभाव में साक्षी व्यक्तियों का परिगणन ग्रीर उनकी परीक्षा का कथन इस प्रसंग को भंग करने वाला है, ग्रतः प्रसंगविरुद्ध है।
- २. अन्तिवरोध— (१) ७० वें क्लोक में यह ब्विन है कि न्त्री की साक्षी आपत्काल में ही होती है, यह भावना ६० वें क्लोक के विरुद्ध है। (२) ७० वें क्लोक में दासप्रथा की चर्चा है, यह मनुविरुद्ध है। मनु दास का अस्तित्व नहीं मानते, वे तो शूद्रवर्ण को स्वीकार करते हैं और उनका कार्य स्वेच्छ्या सेवाकार्य चुनना है [१।६१]। (३) ७१ वें क्लोक में वूढ़े, वालक, आदि की अस्थिर वाणी से उनकी गवाही की परीक्षा का कथन है, जविक अन्य क्लोकों में सब ही के लिए यह निर्देश है [०।२५,२६,७०]। फिर अलग से यह कथन अनावश्यक है। (४) जब ६६ वें क्लोक में एकान्त में प्रत्येक को साक्षी के लिए उपयुक्त स्वीकार किया है तो पुनः इन क्लोकों में अभावकालीन साक्षियों की गणना करना निर्यंक है, और उक्त क्लोक की भावना से विरुद्ध है। इस आधार पर ये क्लोक प्रक्षिण्ट हैं।

बलात्कार ग्रादि कार्यों में सभी साक्षी हो सकते हैं-

# साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहगोषु च। वाग्दण्डयोक्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिगः।। ७२।। (५१)

(सर्वेषु साहसेषु) जितने बलात्कार के काम, (स्तेयसंग्रहणेषु च) चोरी व्यभिचार (वाक्दण्डयो: च पारुष्ये) कठोरवचन, दंडनिपातनरूप ग्रपराध हैं (साक्षिण: न परीक्षेत) उनमें साक्षी की परीक्षा न करे ग्रौर ग्रत्यावश्यक भी समभ्रें, क्योंकि ये काम सब गृष्त होते हैं।। ७२।। (स० प्र० १६६)

## अनुर्योत्डनः साक्षी-परीक्षा निषेष का कारण-

ग्रिभिप्राय यह है कि इनमें कोई भी प्रत्यक्षदर्शी गवाह प्रामाणिक हो सकता है। क्योंकि ये बातें गुप्तरूप से या एकान्त में होती हैं, श्रतः उत्तम आचरण या स्तर वाले व्यक्ति ही वहां उपस्थित हों, यह संभव नहीं।

साक्ष्यों में निश्चय ---

# बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ।। ७३ ।। (४२)

श्रं (साक्षिद्वेथे बहुत्वम्) दोनों ग्रोर की साक्षियों में से बहुपक्षानुसार (समेषु तु गुणोत्कृष्टान्) तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के ग्रनुकूल (गुणिद्वंथे द्विजोत्तमान्) ग्रीर दोनों के साक्षी उत्तमगुणी ग्रीर तुल्य हों तो द्विजोत्तम म्रर्थात् ऋषि महर्षि म्रौर यतियों की साक्षो के म्रनुसार न्याय करे।। ७३।। (स० प्र०१६६)

क्ष (नराधिप:) राजा या न्यायाधीश .....

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चेव सिद्धचित । तत्र तत्यं बुवःसाक्षी धर्मार्थाम्यां न हीयते ॥ ७४ ॥ (५३)

(साक्ष्यं सिद्धचिति) दो प्रकार से साक्षी होना सिद्ध होता है (समक्ष-दर्शनात्) एक—साक्षात् देखने (च) ग्रीर (श्रवणात्) दूसरा -सुनने से (तत्र साक्षी सत्यं ब्रुवन्) जब सभा में पूछें तव जो साक्षी सत्य बोलें (धर्म + ग्रायां न हीयते) वे धर्महीन ग्रीर दण्ड के योग्य न होवें ग्रीर जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों।। ७४।। (स० प्र०१६६)

> साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विबुवन्नार्यसमित । ग्रवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ।। ७४ ।। (४४)

(ग्रार्यसंसिद) जो राजसभावा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में (साक्षी) साक्षी (इष्ट-श्रुतात् + ग्रन्यत् विद्रुवन्) देखने ग्रीर सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (ग्रवाङ्नरकम् + ग्रम्येति) ग्रवाङ्नरक = ग्रर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्तमान समय में प्राप्त होवे (च) ग्रीर (प्रेत्य स्वर्गात् हीयते) मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ ७५ ॥ (स॰ प्र०१६६)

> यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृख्याद्वाऽपि किञ्चन । पृष्टस्तत्रापि तद् बूयाद्यथादृष्टं ययाश्रुतम् ॥ ७६॥ (५५)

प्रत्यक्षदर्शी मनुष्य (ग्रनिवद्धः + ग्रिप) साक्षी के रूप में न बुलाऐ जाने पर भी [वादी वा प्रतिवादी के द्वारा] (यत्र किश्वन ईक्षेत ग्रिप वा श्रृणुयात्) जहाँ कुछ भी देखाया सुना हो (पृष्टः) न्यायाधीश के पूछने पर (तत्र + ग्रिप) वहां (पथादृष्टं यथाश्रृतं तर् द्रूयात्) जैसा देखा या सुना है, वैसा ही कह दे ग्रर्थात् न्याय के लिए स्वयं साक्षोरूप में पहुंच जाये।। ७६।।

> एकोऽनुब्धस्तु साक्षी स्याद् बह्वचः शुच्योऽिय न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धे रस्थिरत्वात् दोवैश्चान्येऽिय ये वृताः ॥ ७७ ॥

(म्रलुट्ध: तु एक: साक्षी) लोभरिहत यदि एक भी हो तो वह साक्षी ठीक (स्यात्) होता है। (स्त्रीबुद्धे: म्प्रिस्थरत्वात् शुच्य बह्वघः स्त्रियः न) स्त्रियों के ग्रस्थिर बुद्धि होने के कारण ग्रात्मशुद्धि से गुक्त हों ग्रौर वहुत हों तो भी स्त्रियां साक्षी रूप में ठीक नहीं हैं (च) ग्रौर (ये ग्रन्थे दोषैं: वृताः) जो कोई [चोरी ग्रादि] दोषों से ग्रुक्त हैं, वे भी साक्षी नहीं हो सकते।। ७७।।

### अस्तुर्धोत्जना: ७३ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोष यहां पूर्वापर प्रसंग साक्षी लेने की विधि का चल रहा है, बीच में स्त्री को साक्षी के लिए अनुपयुक्त कहना प्रसंगभञ्जक वर्णन है। (२) साक्षी के लिए कौन उपयुक्त है, कौन अनुपयुक्त, इस विधान का प्रसंग पहले (८। ६३-६४) आ चुका है। प्रसंग समाध्ति के पश्चात् पुतः नये सिरे से उस प्रसंग को कहना अप्रासंगिक है
- २. श्रन्तिविरोध—इस क्लोक में स्त्री को साक्षी के लिए निविद्ध माना है, जबिक ६ वें क्लोक में उसे स्पष्टतः साक्षी माना है। उसके विरुद्ध होने से यह प्रक्षिप्त है।
- ३. पुनरुक्ति इस श्लोक में 'निर्लोभ' गुण के ग्राधार पर साक्षी को ठीक माना है। यह बात 'ग्रजुट्धाः' शब्द से ६३ वें श्लोक में ही कह रखी है, ग्रतः यह मात्र उसकी पुनरुक्ति ही है।

स्वाभाविक साक्ष्य ही ग्राह्य है---

स्वभावेनेव यद् ब्र्युस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् । भ्रतो यदन्यद्विब्र्युर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥ (५६)

(तर् ग्राह्मम्) साक्षी के उस वचन को मानना (यत्) जो (स्वभा-वेन + एव व्यावहारिकं ब्रूयुः) स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोलें (ग्रतः + ग्रन्यत् + यत् + विब्रूयुः) ग्रौर सिखाये हुए, इससे भिन्न जो-जो वचन बोलें (तत्) उस-उसको क्ष (ग्रपार्थकम्) न्यायाधीश व्यथं समभे ॥ ७८ ॥

(स॰ प्र॰ १६६)

अ (धर्मार्थम्) सही न्याय के हेतु .....

साक्ष्य लेने की विधि-

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानिषप्रत्यिषसन्तिषी । प्राड्विवाकोऽनृयुक्चीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥७६॥ (५७)

(प्रिय-प्रत्यिथसिन्नधी) जव प्रथीं =वादी ग्रीर प्रत्यर्थी =प्रितिवादी के सामने (सभान्तः प्राप्तान् साक्षिणः) सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को (सान्त्वयन्) शान्ति पूर्वक (प्राड्विवाकः) न्यायाधीश ग्रीर प्राड्विवाक् ग्रर्थात् वकील या वैरिस्टर (तेन विधिना) इस प्रकार से (ग्रनुयुक्कीत) पूछें—।। ७६ ।। (स० प्र०१६६)

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः। तद् बूत सर्वे सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता।। ५०।। (५८) हे साक्षि लोगो ! (ग्रस्मिन् कार्ये) इस कार्य में (ग्रनयो: द्वयो: मिथ: चेव्टितम्) इन दोनों के परस्पर कर्मों में (यत् वेत्थ) जो तुम जानते हो (तत्) उसक को (सत्येन बूत) सत्य के साथ बोलो (हि) क्योंकि (युष्मा-कम्) तुम्हारी (ग्रत्र) इस कार्य में (साक्षिता) साक्षी है।। ५०।।

(स० प्र० १६६)

器 (सर्वम्) सब………

### सत्यं साक्ष्ये बुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्ति वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥८१॥ (४६)

(साक्षी) जो साक्षी (सत्यं बुवन्) सत्य बोलता है (पुष्कलान् लोकान् + प्राप्नोति) वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म, ग्रीर उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है (इह च + ग्रनुत्तमां कीर्तिम्) इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है (एषा वाक् ब्रह्मपूजिता) क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार ग्रीर तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित ग्रीर मिथ्यावादी निन्दित होता है।। ६१।। (स० प्र०१६६)

**%(साक्ष्ये) साक्ष्य-व्यव**हार में .....

साक्ष्येऽनृतं वदन्पार्श्वंध्यते वारुर्एमृंशम्। विवशः शतमाजातीस्तरभात्साक्ष्यं वदेहतम्॥ ५२॥

(साक्ष्ये + अनृतं वदन्) गवाही में भूठ बोलने वाला आदमी (भृशम्) प्रत्येक जन्म में (वाक्ष्यै: पाशै: बघ्यते) वहण-पाशों से बंध जाता है। (विवश: शतम् + आजाती:) और विवश होकर सौ जन्मों तक इसी प्रकार कष्ट भोगता रहता है (तस्मात्) इसलिए (साक्ष्यम् ऋतं वदेत्) साक्षी सत्य ही बोले।। ८२॥

# अन्त्र्व्योत्डनः ८२ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिपत है—

- १. प्रसंगिवरोध पूर्वापर क्लोकों में सत्यसाक्षी के लाभों का वर्णन चल रहा है, जिससे ज्ञात होता है कि ये दोनों क्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। बीच में अनृतभाषण के दण्ड का वर्णन करने से इनकी प्रसंगसम्बद्धता भंग हो गई है। अतः यह क्लोक प्रसंग-भञ्जक होने से प्रक्षिप्त है।
- शैलीगत ग्राधार—इस क्लोक में निराधार एवं ग्रतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है।
   सौ जन्म निश्चित करने ग्रौर वरुणपाशों से बंधने की बात का कोई ग्राधार नहीं है। मनु की शैली इस प्रकार निराधार एवं काल्पनिकता से युक्त नहीं है।

### सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ६३ ॥ (६०)

(सत्येन साक्षी पूयते) सत्य बोलने से साक्षी पितत्र होता ग्रौर (सत्येन धर्मः वर्धते) सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है (तस्मात्) इस से (सर्ववर्णेषु) सब वर्णी में (साक्षिभिः) साक्षियों को (सत्यं हि वक्तव्यम्) सत्य ही बोलना योग्य है।। ८३।। (स० प्र०१६६)

साक्षी ग्रात्मा के विरुद्ध साक्ष्य न दे-

स्रात्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथाऽऽत्मनः । माऽवमंत्थाः त्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥६४॥ (६१)

(स्रात्मनः साक्षी स्रात्मा + एव हि) स्रात्मा का साक्षी स्रात्मा (तथा + स्रात्मनः गितः + स्रात्मा) स्रोर स्रात्मा की गित स्रात्मा है, इसको जानके हे पुरुष ! तू (नृणाम् उत्तमं साक्षिणम्) सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी (स्वम् + स्रात्मानम्) श्रपने स्रात्मा का (मा + स्रवमंस्थाः) स्रपमान मत कर सर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे स्रात्मा, मन, वाणी में है वह सत्य, स्रोर जो इससे विपरीत है वह मिथ्या भाषण है ॥ ८४ ॥ (स० प्र०१६६)

अर न्यू शिट्ड न्यः 'म्रात्मा स्वयं म्रात्मा का साक्षी किस प्रकार होता है' इस पर विशेष-विस्तृत विचार के लिए देखिए १। १२५ [२।६] पर 'म्रात्मनस्तुष्टि' सम्बन्धी सनुशीलन।

> मन्यन्ते व पापकृतो न किञ्चत्पश्यतीति नः। तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः॥ ५४॥

(नः कश्चित् न पश्यित इति) 'हमें कोई नहीं देख रहा है' ऐसा (पापकृतः वै मन्यन्ते) पाप करने वाले समभते हैं (तु) किन्तु (तान्) उन्हें (देवाः) देवता [६। ६६ में वर्णित] (प्रपश्यिन्ति) देखते हैं श्रीर (स्वस्य एव + श्रन्तरपूरुषः) उनका श्रपना श्रन्त-रात्मा ही उनको देखता है।। ६४।।

> द्योभू मिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः। रात्रिः संध्ये च धर्मद्रच वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्।। ८६।।

(द्यौ: भूमि: + प्राप: हृदयम् चन्द्र-प्रकं-ग्रग्नि-यम-ग्रिनिलाः) त्राकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रग्नि, यम, वायु (रात्रिः) रात्रि (च) ग्रौर (संघ्ये) दोनों संघ्याकाल = प्रातःकाल एवं सायंकाल (च) ग्रौर (धर्मः) धर्म, ये (सर्वदेहिनाम्) सब प्राणियों के (वृत्तज्ञाः) व्यवहार को जानने-देखने वाले हैं॥ ६६॥

### देवबाह्यणसान्निष्ये साक्ष्यं पृष्छेहतं द्विजान्। उदङ्मुखान्त्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्नो वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

(शुचिः) शुद्ध-पवित्र हुन्ना न्यायकर्ता (पूर्वाह्में) प्रातःकाल के समय में (देव-ब्राह्मण्-सान्निष्ये) देवता श्रीर ब्राह्मणों के समीप (उदङ्मुखान् वा प्राङ्मुखान्) उत्तर या पूर्व की श्रीर मुख कराके (शुचीन् द्विजान्) शुद्ध-पवित्र हुए द्विजों से (ऋतं साक्ष्यं पृच्छेत्) ठीक-ठीक साक्षी पूछे।। ८७।।

### ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पाणिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वेदयं शुद्रं सर्वेस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

(ब्राह्मणं 'ब्रूहि' इति पृच्छेत्) ब्राह्मण को 'कहो' ऐसा पूछे ('सत्य ब्रुहि' + इति पाथिवम्) 'सत्य बोलो' इस प्रकार क्षत्रिय से पूछे (गो-बीज-काञ्चनैः वैश्यम्) 'गौ, बीज, सोना चुराने से जो पाप होता है, वही पाप भूठी साक्षी से तुम्हें होगा' ऐसा कहकर वैश्य से पूछे (तु) श्रौर (सर्वैः पातकैः शूद्रम्) 'सब पाप लगेंगे जो भूठी साक्षी दोगे तो' ऐसा कहकर शूद्र से पूछे ।। ८८ ।।

#### बह्माच्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः। मित्रद्रहः कृतच्नस्य ते ते स्युब्वतो मृषा।। ५६॥

(ब्रह्मघ्नः) ब्रह्महत्यारों को (स्त्री-बालघातिनः) स्त्रियों ग्रीर बालकों के हत्यारों को (मित्रद्रहः) मित्रद्रोही को (च) तथा (कृतघ्नस्य) कृतघ्न को (ये लोकाः स्मृताः) जो नरकलोकों की प्राप्ति मानी है (ते ते) वे सब (मृषा बुवतः स्युः) भूठी साक्षी देने वाले को मिलते हैं॥ ६६॥

### जन्मप्रमृति यत्किञ्चित्पुण्यं मद्र ! त्वया कृतम् । तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि बूयास्स्टमन्यथा ।। ६० ।।

(भद्र) हे भद्र ! (यदि त्वम्) यदि तू (ग्रन्यथा ब्रूया:) गलत या भूठ साक्षी देगा तो (जन्मप्रभृति) जन्म से लेकर ग्रव तक (यत् किंचित् पुण्यं त्वया कृतम्) जो कुछ पुण्य तूने किया है (ते) तेरा (तत् सर्वम्) वह सब पुण्य (शुन: गच्छेत्) कुत्तों को मिलेगा, ऐसा पूछते समय साक्षी को कहे।। ६०।।

अनुर्धी त्उनः ५५ से ६० तक के श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगाव रोघ—(१) पूर्वापर क्लोक ८४ एवं ६१ में ब्रात्मा को ब्राधार मानकर सत्य साक्षी देने का कथन है, जिससे इन दोनों क्लोकों की प्रसंग की ६६०ट से सम्बद्धता ज्ञात होती है। बीच के इन प्रसंगभिन्न क्लोकों ने उस प्रसंगसम्बद्धता को भंग कर दिया है, ब्रतः ये क्लोक प्रसंगविरुद्ध हैं। (२) साक्षियों से न्यायकर्त्ता किस प्रकार प्रक्त करे यह प्रसंग ७६, ७८-८० क्लोकों में विणित हो चुका है ब्रीर उसके पश्चात् सत्य-

साक्षी के महत्त्व का प्रसंग है। एक प्रसंग के समाप्त होने पर नये सिरे से पुनः ५७-६० श्लोकों में उसी प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है।

- २. ग्रन्तिविशेष---न्यायाधीश राजा एवं विद्वानों द्वारा साक्षियों से प्रश्न पूछने की विधि ७६-८० श्लोकों में विहित कर दी है। यहां ८७-८८ में उससे भिन्न विधि का वर्णन किया है। पुन: भिन्न विधि को दर्शाना विश्वदाता है। ग्रतः विरोध के कारण ये तथा इन पर ग्राधारित ८६-६० श्लोक प्रक्षिप्त हैं। ८७ वें श्लोक में विणित विधि तो सम्भव भी नहीं, क्योंकि साक्षी तो न्यायाधीश की ग्रीर मुंह करके साक्षी देते हैं।
- ३. शैलीगत म्राधार—शैली की दिष्ट से इन श्लोकों का वर्णन निराधार, म्रयुक्तियुक्त [८४, ८६, ८६], म्रतिशयोक्तिपूर्ण [८६, ६०] एवं भ्रभद्र [६०] है। मनु की शैली में ये त्रुटियां नहीं हैं। ८४—८६ में जड़ वस्तुओं को द्रष्टा के रूप में स्वीकार किया है, जो बेतुकी बात है। ये प्राणियों के अच्छे भीर बुरे काम का निश्चय कैसे कर सकते हैं?

### एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यस्वं कल्याण ! मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥६१॥ (६२)

(कल्याण) हे कल्याण को इच्छा करने हारे पुरुष । (यत् त्वम्) जो तू (ग्रहम् एकः ग्रस्मि इति) 'मैं ग्रकेला हूँ' ऐसा (ग्रात्मानं मन्यसे) ग्रपने ग्रात्मा में जानकर निथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है, किन्तु (एपः ते हृदि) जो दूसरा तेरे हृदय में (नित्यं पुण्यपापेक्षिता मुनिः स्थितः) ग्रन्तर्यामोरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखने वाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ।। ६१ ।। (स० प्र०१६६)

### यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चैदविवादस्ते मागङ्गां मा कुरून् गमः॥ १२॥

(यः तव हृदि) जो तेरे हृदय में (एषः वैवस्वतः यमः देवः स्थितः) यह वैवस्वत परमात्मदेव स्थित है (तेन चेत् ते + अधिवादः) उसके साथ यदि तेरा कोई विवाद नहीं है अर्थात् उससे मेल है तो (मा गङ्गाम् मा कुरून् गमः) [अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए या उन्हें दूर करने के लिए] गंगा या कुरुक्षेत्र को मत जाओ अर्थात् उसे इन स्थानों पर जाने की आवश्यकता नहीं है।। ६२।।

> नग्नो मुण्डः कवालेन निक्षार्थी क्षुत्विपासितः । अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साध्यमनृतं वदेत् ॥ ६३ ॥

(यः ग्रनृतं साक्ष्यं वदेत्) जो व्यक्ति भूठी गवाही देता है वह (नग्नः मुण्डः शुत्-पिपासितः ग्रन्थः) नगा, सिर मुँडाए, भूखा-प्यासा ग्रीर ग्रन्था होकर (कपालेन भिक्षार्थी) खोपड़ी हाथ में लेकर भिखारी बनके (शत्रुकुलं गच्छेत्) शत्रुकुल में जाकर भीख मांगता है [परजन्म या इस जन्म में ही]।। ६३॥

### ग्रवाक्शिरास्तमस्यन्ये कित्यिषी नरकं व्रजेत्। यः प्रदनं वितयं व्र्यास्पृष्टः सन् घर्मनिद्वये।। १४॥

(यः) जो (धर्मनिश्चये) धर्म का निर्णय करने के लिए (पृष्टः सन्) पूछने पर (प्रश्नं वितथं बूयात्) प्रश्न का गलत या भूठ उत्तर दे तो वह (किल्विषी) पापी (ग्रवाक्-शिराः) नीचा मुंह किये (ग्रन्धे तमिस नरकं व्रजेत्) महा ग्रन्धकारमय नरक में जाता है।। ६४॥

#### ग्रन्धो मत्स्यानिवाइनाति सः न**रः कण्टकैः** सह् । यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ६५ ॥

(यः) जो साक्षी (सभां गतः) न्यायालय में जाकर (ग्रर्थवैकल्यम् + ग्रप्रस्यक्षम् भाषते) सही बात को गलत ग्रथवा ग्रनदेखी को देखी हुई कहता है (सः नरः) वह मनुष्य (कण्टकै: सह मस्त्यान् ग्रन्धः इव ग्रश्नाति) कांटों समेत मछली को खाने वाले ग्रन्धे के समान दुःखी होता है अर्थात् उसे परिणाम में प्राप्त होने वाला कब्ट दिखाई नहीं पड़ता, उस समय का मुख समभकर वह भूठ बोलता है ॥ ६४॥

### अन्य श्रीत्जनः १२ से १५ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १ प्रसंगिवरोध— ६१ ग्रीर ६५ वें क्लोक की प्रतंग की सम्बद्धता है, क्योंकि इनमें ग्रात्मा के ग्राधार पर साक्ष्य का कथन है। बीच के क्लोकों ने उस प्रसंगसम्बद्धता को भंग कर दिया है, ग्रतः ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. ग्रन्तिंवरोध—(१) ६२ वें श्लोक में गंगा ग्रीर कुरुक्षेत्र को तीर्थंस्थान के रूप में माना है, जबिक मनु इस प्रकार किसी स्थान को तीर्थं के रूप में नहीं मानते। उन्होंने सर्वत्र निराकार ईश्वर के ध्यान का विधान किया है [२। ६६, ७६—७८, १०१—१०७, ६। ४६, ६०, ६४, ७३, ७४]। ग्रतः यह श्लोक मनु की मान्यताग्रों के विरुद्ध है। (२) ६४ वें श्लोक में नरक का विधान है, यह मनुविरुद्ध है। मनु नरक नामक कोई स्थान-विशेष नहीं मानते [द्रष्टश्य ४। ८७-६१ पर 'ग्रनुशीलन'] इस प्रकार ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. शैलीगत श्राधार—६३-६५ श्लोको की शैला निराधार, श्रयुक्तियुक्त एवं श्रतिशयोक्तिपूर्ण है। मनु की शैली में ये त्रुटियाँ नहीं हैं।

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते । तस्मःन्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ६६ ॥ (६३) (यस्य वदतः) जिस बोलते हुए पुरुष का (विद्वान् क्षेत्रज्ञः) विद्वान् ग्नर्थात् शरीर का जानने हारा स्नात्मा (न + म्नभिशंकते) भीतर शंका को प्राप्त नहीं होताॐ (तस्मात् + म्नन्यम्) उससे भिन्न (देवाः) विद्वान् लोग (श्रेयांस पुरुषं न विदुः) किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ।। ६६ ।।

(स० प्र० १६६)

ॐ (लोके) जगत् में .....

अप्रन्तु श्री टिंडन्तः आत्मा में किन बातों और कार्यों से शंका, भय ग्रादि इत्पन्न होते हैं ग्रीर किनसे नहीं इस विषय पर विस्तृत विवेचन १। १२५ [२।६] पर 'ग्रात्मनस्तुष्टिः' शीर्षक ग्रनुशीलन के ग्रन्तगंत देखिए।

> यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः संख्यया तस्मिञ्च्यु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ६७ ॥

(सौम्य) हे सौम्य ! (साक्ष्यं + ग्रन्तं वदन्) साक्षी में भूठ बोलकर मनुष्य (यावतः बान्धवान् + यस्मिन् हन्ति) जितने बान्धवों को जिस भूठ को बोलकर मारता है ग्रथात् मारने का फल प्राप्त करता है (तावत संख्यया तस्मिन् ग्रनुपूर्वंशः शृणु) उनकी गिनती उस-उस भूठ के ग्रनुसार क्रमशः सुनो —।। ६७ ।।

> पञ्च पत्रवनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते। शतमञ्चानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥ ६८॥

(पशु + ग्रन्ते पञ्च) पशु के विषय में भूठी साक्षी देकर पाँच को (हन्ति) मारने के पापफल को प्राप्त करता है (गौ + ग्रन्ते) गौ के विषय में (दश हन्ति) दश को मारता है (ग्रश्च + ग्रन्ते शतं हन्ति) घोड़े के विषय में भूठ बोलने से सौ बान्धवों को मारता है (पुरुष + ग्रन्ते सहस्रं हन्ति) किसी मनुष्य के विषय में भूठी साक्षी देकर हजार बान्धवों को मारता है ॥ १ ।

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं बदन्। सर्वे भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ६६ ॥

(हिरण्यार्थे + अन्तत वदन्) सुवर्णं के विषय में भूठ बोलने पर (जातान् च अजा-तान् हिन्त) उत्पन्न हुए और अभी उत्पन्न न हुए पुत्रों को मारता है (भूमि + अन्ति सब हिन्ति) भूमि के विषय में भूठ बोलने पर सबको ही मारने का फल पाता है, इस लिये (भूमि - अन्ततम्) भूमि के विषय में भूठ (मा स्म वदीः) कभी मत बोलो ॥६६॥

> श्रप्तु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने। ग्रब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च॥१००॥

(ग्रप्सु) जलों के विषय में (भोगे च मैथुने) स्त्रियों के साथ भोग या मैथुन में (ग्रब्जेषु च + एव रत्नेषु) मोतियों आदि सब जल में प्राप्त रत्नों के विषय में (च)

भ्रीर (सर्वेषु + भ्रश्ममयेषु) सब पाषाणमय रत्नों के विषय में (भूमिवत् इति + म्राहुः) भूमि के समान ही फल कहा है ॥ १००॥

> एतान्दोषानवेक्ष्य स्वं सर्वाननृतमाषणे। यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१॥

इसलिये (त्वम्) हे साक्षी मनुष्य तू (ग्रनृतभाषणे) भूठ बोलने में (एतान् सर्वान् दोषान् + ग्रवेक्ष्य) इन सब दोषों ग्रर्थात् दुःखों को देखकर (यथाश्रुतम् यथादष्टम्) जो जैसा सुना है, जो जैसा देखा है (सर्वम् + एव + ग्रञ्जसा वद) वह सब ठीक-ठीक कहो ॥ १०१॥

> गोरक्षकान्वास्मिजिकांस्तया कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान्वार्षु विकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

(गोरक्षकान्) गो-पालकः (राणिजिकान्) वासिज्य करने वाले (कारु-कुशीलवान्) कारीगर श्रीर नट (प्रेष्यान्) रोवक या दास (च) श्रीर (वार्धुषिकान्) ब्याज लेने वाले (विप्रान्) ब्राह्मणों के साथ, न्यायकर्त्ता (शूद्रवत् + श्राचरेत्) शूद्र की तंरह ग्राचरण करे।। १०२।।

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यया नरः। न स्वर्गाज्ययते लोकाद्वैवी वाचं वदन्ति ताम्॥ १०३॥

(म्रथेंषु) मागे कहे हुए विषयों में (जानन् + म्रिप) सही बात को जानते हुए भी (तरः) भनुष्य (घर्मतः) धर्मबुद्धि से म्रयीत् भलाई के लिये (म्रन्यथा वदन्) भूठ बोलने पर भी (स्वर्गीत् लोकात् न च्यवते) स्वर्गलोक से नहीं गिरता, क्योंकि (ताम् दैवीं वाचं वदन्ति) ऐसे वचनों को 'दैवीवाणी' कहा जाता है।। १०३।।

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रतींक्तौ मवेद्वधः। तत्र वस्तव्यमनृतं तद्वि सत्याद्विशिष्यते॥ १०४॥

(यत्र) जिस विषय में (ऋत + उक्तौ) सत्य बोलने पर (शूद्र-विट्-क्षत्र-विप्राणाम् वधः भवेत्) शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय या किसी ब्राह्मण का प्राणवध होता हो (तत्र ब्राह्मतं वक्तव्यम्) वहां भूठ बोल देना चाहिए (हि) क्योंकि (तत्) वह भूठ बोलना (सत्यात् विशिष्यते) सत्य से श्रच्छा है।। १०४।।

> वाग्वैवत्यैक्व चठिमयंजेरंस्ते सरस्वतीम्। स्रनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृति पराम्।। १०४॥

(ते) वे भूठ बोलने वाले (तस्य ब्रन्टतस्य + एनसः) उस भूठ बोलने के गए से (परां निष्कृति कुर्वाणा) पूर्णतः छुटकारा प्राप्त करने के लिए (वाग् दैवत्यैः) 'वाग् देवता' वाली (चक्भिः) चरुग्रों = ब्राहुतियों से (सरस्वती यजेरन्) सरस्वती का यजन करें ॥ १०४॥

#### कूष्माण्डेर्वापि जुहुयाद्चृतमग्नौ यथाविषि । उदित्यचा वा वारुण्या तृचेनाव्दैवतेन वा ॥ १०६॥

(वा) ग्रथवा (कूष्माण्डै: +ग्रिप) कूष्मांडमंत्रों [यद्देवादेवहेडनम्०" यजु० २०।१४] से (यथाविधि ग्रग्नो घृतं जुहुयात्) विधिपूर्वक ग्रग्नि में घृत की ग्राहुति दे (वा) ग्रथवा (उत्+इति+ऋचा वारुण्या) "उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्०" [यजु० १२।१२] इस वारुणी ऋचा से (वा) ग्रथवा (ग्राप्+दैवतेन तृचेन) जल देवता वाली 'ग्रापो हिष्ठा॰" [यजु० ११। ५०] ग्रादि तीन ऋचाओं से घृत का हवन करे।। १०६।।

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृगादिषु नरोऽगदः । तहगां प्राप्नुयात्सवं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

(अगदः नरः) रोगरिहत मनुष्य (ऋणादिषु) ऋण ग्रादि लेन-देन के व्यवहारों में यदि (त्रिपक्षात् साक्ष्यम् ग्रबुवन्) तीन पक्ष ग्रथात् डेढ़ महीने तक साक्षी नहीं दे तो (तत् सर्व ऋणं प्राप्नुयात्) साहूकार उस सब ऋण को प्राप्त करने का श्रिषकारी हो जाता है (च) ग्रौर.(सर्वतः दशबन्धम्) सारे धन का दसवां हिस्सा दण्डरूप में राजा को भी देवे।। १०७।।

#### यस्य दृष्ट्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः । रोगोऽनिक्रातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८॥

(यस्य साक्षिणः) जिस साक्षी के (उक्तवाक्यस्य) साक्षी देने के (सप्ताहात्) एक सप्ताह के भीतर (रोगः + ग्रग्निः + ज्ञातिमरणम् दृश्येत) रोगोत्पत्ति होनः, घर आदि में ग्राग लगना, सम्बन्धी की मृत्यु होना ग्रादि हो जाये तो भी (ऋ णंदा न्यः) उससे ऋ ण लौटा लेना चाहिए (च) और (सः दमम्) वह व्यक्ति दण्ड का ग्रधिकारी भी होता है।। १० ८।।

साक्षी में शपथ दिलाने का कथन-

म्रसाक्षिकेषु स्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः। म्रविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि सम्मयेत्।। १०६॥

(मिथः विवदमानयोः) परस्पर भगड़ने वाले दो पक्षों में (ग्रसाक्षिकेषु ग्रर्थेषु) यदि गवाह न हों तो ऐसे व्यवहारों में (सत्यं तत्त्वतः ग्रविन्दन्) सच्चाई को ठीक-ठीक न जान पाने पर (शपथेन + ग्रपि लम्भयेत्) शपथ दिलवाकर भी सत्य बात को जाने ॥ १०६॥

> महर्षिशिश्च वेर्वेश्च कार्यार्थं शपयाः कृताः । वसिष्ठश्चापि शपयं शेपे पैजवने नृपे॥११०॥

(महर्षिभः च देवैः) महर्षियों भीर देवताओं ने भी (कार्यायंम्) कार्यसिद्धि के लिए (शपथाः कृताः) पर्थे की थीं —'कसमें खाई थीं' (वसिष्ठः भ्रिप) ऋषि वसिष्ठ ने

भी (पैजवने नृपे) पिजवन के पुत्र सुदास राजा के सामने (शपथं शेपे) शपथ ली थी॥ ११०॥

> न वृषा शपयं कुर्यात्स्वल्पेऽप्ययं नरो बुधः । वृषा हि शपयं कुर्वन्त्रोत्य चेह च नश्यति ॥ १११॥

(स्वल्पे + अपि अर्थे) छोटे से विषय में भी (बुध: नरः) समक्षदार मनुष्य (वृथा शपयं न कुर्योत्) मिथ्या शपथ न करे (हि वृथा शपथं कुर्वेन्) क्योंकि मिथ्या शपथ करने पर वह मनुष्य (इह च प्रेत्य नष्यति) इस जन्म और परजन्म में भी विनाश को प्राप्त होता है।। १११।।

> कामिनीचु विवाहेचु गर्वा मध्ये तथेन्वने। ब्राह्मणाम्युपपत्ती च शपवे नास्ति पातकम्।। ११२।।

(कामिनीषु) स्त्रीसंभोग के विषय में, (विवाहेषु) विवाह-सम्बन्ध में (गवां भक्ष्ये) गौग्रों के चारे के विषय में (इन्बने) इन्बन के लिए (ब्राह्मण + श्रम्युपपत्ती) ब्राह्मण की रक्षा के विषय में श्रयात् इन लाभों की प्राप्ति के लिए (श्रपथे पातकं नास्ति) श्रपथ लेने में कोई पाप नहीं होता ।। ११२।।

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुर्धः । गोबीजकाञ्चनैवेंदयं शूद्रं सर्वेस्तु पातकैः।। ११३ ।।

(वित्रं सत्येन शापयेत्) ब्राह्मण को 'सत्य' के नाम से शपथ करावे (क्षत्रियं वाहन- ग्रायुधैः) क्षत्रिय को वाहन ग्रीर शस्त्रास्त्र की (वैश्यं गो-बीज-काञ्चनैः) वैश्य को गी, बीज ग्रीर सुवर्णं ग्रादि की (शूद्रं सर्वेः पातकैः) शूद्र को 'सब पातकों' के नाम से शपथ करावे ॥ ११३॥

अग्नि वाहारयेदेनमंप्सु चैनं निमज्जयेत्। युज्ञदारस्य वाप्येनं शिरासि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

(वा) ग्रयवा (एनम्) साक्षी को (ग्रग्निम् ग्राहारयेत्) अग्नि खिलाये ग्रग्निपरीक्षा करके देखे (व) ग्रीर (ग्रप्सु निमज्जयेत्) जल में गोता लगवावे (वा) अथवा (एनं पुत्रदारस्य शिरांसि पृथक् स्पर्शयेत्) इसे पुत्र ग्रीर परनी के सिर को पृथक्-पृथक् स्पर्श कराके शपथ दिलवाये ॥ ११४॥

यमिद्धो न बहत्यन्तिरापो नोन्मज्जयन्ति च। न चातिमृच्छति क्षित्रं स ज्ञेयः शपये शुचिः ॥ ११४ ॥

(यम्) जिसको (इद्धः ग्रग्निः न दहित) जलती हुई ग्रग्नि न जलावे (च) ग्रौर (ग्रापः न + उन्मज्जयन्ति) जल न डुबायें (च) तथा (क्षिप्रं न ग्रार्तिम् + ऋच्छिति) जो शीध्र ही किसी बड़े कष्ट को न प्राप्त हो (सः शपथे शुचिः श्रेयः) वह शपथ के विषय में सच्चा समक्षना चाहिए।। ११४।।

#### वत्सस्य द्वामिशस्तस्य पुरा भ्राता यवीयसा। नाग्निवंदाह रोमापि सत्येन चगतः स्पशः॥ ११६॥

(पुरा) प्राचीन काल में (वत्सस्य) ऋषि वत्स को (यवीयसा भ्राता ग्रिमश-स्तस्य) उसके छोटे भाई वैमात्र ने लांछन लगाया था [कि 'तू ब्राह्मण नहीं है, शूद्र की सन्तान है। इसकी शपथ के लिए उसकी अग्निपरीक्षा हुई थी] किन्तु ग्रिग्निपरीक्षा में (सत्येन) सच्चाई के कारण (जगतः स्पशः ग्रिग्नः रोमापि न ददाह) सारे जगत् के ग्रच्छे-बुरे का ज्ञान रखने वाली ग्रिग्न ने उसके एक रोम को भी नहीं जलाया॥ ११६॥

आर्जुर्को टिजन्दः १७ से ११६ श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. मन्तविरोध—(१) ६७-१०१ इलोकों में नरक ग्रीर १०३-१०६ में स्वर्ग को मान्यता मनु के विरद्ध है। मनु स्वर्ग-नरक नामक कोई पृथक् स्थान नहीं मानते [द्रष्टव्य ४। ८७—६१ श्लोकों पर श्रनुशीलन]। इन्हीं श्लोकों में एक व्यक्ति के कर्मी का श्रनेकों को भोक्ता माना है। यह मान्यता ४।२४० के विश्व है। उसमें मनु ने कर्त्ता को ही भोक्तामानाहै। (२) १०२ में वैद्य ग्रीर जूद कर्मवाले व्यक्तियों को भी बाह्मण माना है जो मनू के विधान से विरुद्ध है [१। ८८]। प्रतीत होता है ये उस समय के मिलाये श्लोक हैं, जब कर्मणा वर्णव्यवस्था भंग होकर जन्मना प्रचलित हो चुकी थी। (३) पिछले सम्पूर्ण प्रसंग में सत्यसाक्षी देने के लिए प्रेरणा एवं विधान है [७४-७६, द१-द४, ६१, ६६], किन्तु १०४-१०६ क्लोकों में कुछ ग्रवसरों पर भूठी साक्षी की खुट है। (४) १०६-११६ श्लोकों में साक्षी के श्रमाव में शपथ कराने की बात कही है, जब-कि द। १८२ में साक्षी के स्रभाव में गुप्तचरों द्वारा जानकारी प्राप्त करने का निर्देश है। इस प्रकार शपथ मनुसम्मत नहीं है। (५) १०६—११६ में शपथ को भी न्याय का म्राघार माना है, जबिक द। ५२ में केवल लिखा-पढ़ी स्रीर साक्षी को ही निर्णय का माधार कहा है। शयथ लेना मनुसम्मत नहीं है, क्योंकि मनु साक्षी भी विशेषगुण वालों को ही स्वीकार करते हैं [ - । ६३] सब को नहीं। शपय तो हर कोई उठा सकता है, म्रतः मनु के मतानुसार निर्णय में शपथ प्रामाणिक नहीं। इन मन्तिवरोधों के कारण उक्त क्लोक प्रक्षिप्त हैं। शेष इन पर श्राधारित होने के कारण स्वयं प्रक्षिप्त कहलायेंगे। (६) १०६-११६ ब्लोकों में शपथ की विधि मन् विख् है, क्योंकि मन् पहले ८।७६-८४ श्लोकों में 'साक्षी देने-पूछने की विधि' का वर्णन कर चुके हैं। वहां शपथ की कहीं गराना या उल्लेख नहीं है प्रपित सत्य को ही साक्षी का ग्राधार माना है। इन इलोकों में साक्षी में उससे भिन्न व्यवस्था विरुद्ध होने से मनुसम्मत नहीं।
- २. शैलीगत स्नाधार—(१) १०६-११६ में शपथ के प्रसंग में मनु से परवर्ती सुदास, विस्वत्र, वैमात्र, वत्स स्नादि व्यक्तियों का उल्लेख हैं। स्पष्ट हैं ये श्लोक परवर्ती काल की रचनाएं हैं। (२) इन सभी श्लोकों की शैली निराधार, प्रयुक्तियुक्त एवं स्निशयोक्तिपूर्ण हैं। ११४—११५ में स्निन, जल स्नादि की परीक्षाएं दी हैं। स्निन का

धर्मं जलाना है। वह पवित्र और श्रपवित्र सभी को श्रवश्य ही जलायेगी। श्रग्नि श्रादि को पवित्र साक्ष्य का श्राधार मानना सर्वया बेतुकी बातें हैं। इस श्राधार पर भी ये इलोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

३. ग्रवान्तर विरोध—वैसे तो इन ब्लोकों में पर्याप्त ग्रवान्तर विरोध हैं, किन्तु १०४ ग्रीर १०४ का ग्रवान्तर विरोध तो उल्लेखनीय हैं। १०४ में सत्य से ग्रसत्य को श्रेष्ठ मानकर पाप नहीं माना है, ग्रीर १०५—१०६ में उस ग्रसत्य को पाप मानकर शुद्धि तथा प्रायिच्चित्त के लिए 'वाग्दैवत्य' मन्थों से यजन का कथन हैं। कैसी विरुद्ध ग्रीर हास्यास्पद बात हैं? मनुसद्दश ऋषि इस प्रकार का कथन कदापि नहीं कर सकते, ग्रतः ये क्लोक ग्रप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त हैं।

भूठी गवाही वाले मुकद्दे पर पुनर्विचार---

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥११७॥ (६४)

(यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु) जिस-जिस मुकद्देमे में (कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्) यह पता लगे कि भूठी या गलत साक्षी हुई है (तत्-तत् कार्यं निव-तेत) उस-उस निर्णय को रद्द करके पुनः विचार करे, क्योंकि वह (कृतं च + ग्रवि + ग्रकृतं भवेत्) किया हुग्रा काम भी न किये के समान है ॥११७॥

ग्रसत्य सा**क्ष्य के ग्राधार**—

### लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तर्यंव च । अज्ञानाद्दबालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥११८॥ (६५)

(लोभात् मोहात् भयात् मैत्रात् कामात् क्रोधात् ग्रज्ञानात् च बाल-भावात् साक्ष्यम्) जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, ग्रज्ञान ग्रौर वालकपन से साक्षी देवे (वितथम् + उच्यते) वह सब मिथ्या समभी जावे।। ११८।। (स० प्र० १७१)

असत्य साक्ष्य में दोषानुसार दण्डव्यवस्था-

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्। तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याग्यनुपूर्वशः॥११६॥ (६६)

(एषाम्) इन [८।११८] लोभ म्रादि कारणों में से (म्रन्यतमे स्थाने) किसी कारण के होने पर (यः म्रनृतं साक्ष्यं वदेत्) जो कोई भूठी साक्षी देता है (तस्य) उसके लिए (दण्डविशेषाद्) दण्डविशेषों को (म्रनु-पूर्वशः) क्रमशः (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा [८।१२० –१२२]।।११६।।

"इनसे भिन्न स्थान में साक्षो भूठ बोले उसको वक्ष्यमाण स्रनेकविष दण्ड दिया करे।" (स० प्र० १७१)

### लोभात्सहस्रं वण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाव् द्वौ मध्यमौ वण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गु राम् ॥१२०॥(६७)

(लोभात् सहस्रं दण्डचः) जो लोभ से भूठी गवाही दे तो 'एक हजार पर्ण' का दण्ड देना चाहिए (मोहात् पूर्वं साहसम्) मोह से देने वाले को 'प्रथम साहस', (भयात् द्वौ मध्यमौ दण्डौ) भय से देने पर दो 'मध्यम साहस' का दण्ड दे (मैत्रात्) मित्रता से भूठी गवाही देने पर (पूर्वं चतुर्गुं एाम्) 'प्रथम साहस' का चार गुना दण्ड देना चाहिए ॥ १२०॥

"जो लोभ से भूठी साक्षी देवे तो उससे १४।।=) [पन्द्रह रुपये दश आने] दण्ड लेवे। जो मोह से भूठी साक्षी देवे उससे ३।।।=)।। [तीन रुपये साढ़े चौदह ग्राने] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे १४।।=) [पन्द्रह रुपये दश ग्राने] दण्ड लेवे, ग्रौर जो पुरुष मित्रता से भूठी साक्षी देवे उससे १४।।=) [पन्द्रह रुपये दश ग्राने] दण्ड लेवे।" (स० प्र० षष्ठ समु० परोपकारिणी सभा प्रकाशन ३४ वां संस्करण)

### कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । स्रज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥ (६८)

(कामात् दशगुणं पूर्वम्) काम से भूठी गवाही देने पर दशगुना 'प्रथम साहस' (क्रोधात् तु त्रिगुणं परम्) क्रोध से देने पर तिगुना 'उत्तम साहस' (स्रज्ञानात् द्वे शते पूर्णे) स्रज्ञान से देने पर दो सौ 'पण' स्रोर (बालिक्यात् शतम्+एव तु) बालकपन में देने से सौ 'पण' दण्ड होना चाहिए ॥१२१॥

"जो पुरुष कामना से मिध्या साक्षी देवे उससे ३६—) [उनतालीस रुपये एक ग्राना] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से भूठी साक्षी देवे उससे ४६।।।=) [छंयालीस रुपये चौदह ग्राने] दण्ड लेवे। जो पुरुष ग्रज्ञानता से भूठी साक्षो देवे उससे ३=) [तीन रुपये दो ग्राने] दण्ड लेवे, ग्रौर जो बालकपन से मिध्यासाक्षी देवे तो उससे १।।—) [एक रुपया नौ ग्राने] दण्ड लेवे।' (स० प्र० उपर्युक्त संस्करण षष्ठ समु०)

#### **मनुस्मृतिः**

# अस्तुरुप्रित्डन्तः (१) साहसदण्ड, उनका प्रमाण एवं प्रविचीन

मुद्रार्ग्नों से तुलना–तालिका— (क)— (श्लोक द । १३द में वर्णित)

साहस नाम	पण	रुपये-ग्राने में
१. प्रथम या पूर्वसाहस	२५०	३॥। = )॥ तीन रुपये साढ़ेचौदह म्राने
२. मध्यम साहस	५००	७॥ ) सात रुपये तेरह म्राने
३. उत्तम या परसाहस	१०० <b>०</b>	१५॥ = ) पन्द्रह रुपये दश म्राने

(ख)— १ पए। का—१ पैसा ४ पैसे का—१ ग्राना १६ आने का } या }—१ रुपया ६४ पण का

### (२) भूठी साक्षियों में श्रयंदण्ड एवं उनकी अर्वाचीन मुद्राग्रों से तुलना—तालिका— (श्लोक ८। १२०—१२१ में वर्णित)

ग्रपराध वर्णित दण्डनाम रुपये-आने-पंसे पण 8 लोभ से भूठी 8000  $\xi \chi \Pi = )$ हजार पण साक्षी देने पर [पन्द्रह रुपये दश ग्राने] २ मोह से भूठी ३॥।=)॥ पूर्व साहस साक्षी में [तीन रुपये साढे चौदह ग्राने] भय से भूठी साक्षी में ₹ दो मध्यम साहस १५॥=) १००० [पन्द्रह रूपये दर्श ग्राने ] ४ मैत्री से भूठी १५॥= चार गुणा साक्षी में [पन्द्रह रुपये दश ग्राने] प्रथम साहस काग से भूठी X दश गुणा [ उनतालींस रुपये एक ग्राना] साक्षी में प्रथम साहस Ę क्रोध से भूठी ४६॥=) तीन गुणा ३००० साक्षी में [ खयालीस रुपये चौदह म्राने] उत्तम साहस b म्रज्ञान से भूठी ₹=) [तीन रुपये दों ग्राने] साक्षी में दो सौ पण .२०० ς बालकपन से भूठी साक्षी में एक इपया नौ आने सौ पए १००

एतानाहुः कोटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीविभिः। धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२॥ (६६)

(धर्मस्य + म्रज्यभिचारार्थम्) धर्म का लोप न होने देने के लिए (च) म्रीर (म्रधर्मनियमाय) म्रधर्म को रोकने के लिए (कौटसाक्ष्ये) भूठी या गलत गवाही देने पर (मनीषिभिः प्रोक्तान्) विद्वानों द्वारा विहित (एतान्-दण्डान् + म्राहुः) इन[६।११६-१२१] दण्डों को कहा है।। १२२।।

> कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धामिको नृपः । प्रवासयेहण्डयिरवा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

(धार्मिक: नृपः) घार्मिक राजा (कौटसाक्ष्यं कुर्वाणान्) भूठी साक्षी देने वाले (त्रीन् वर्णान्) तीन वर्णा वालों —क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनको (दण्डियत्वा प्रवासयेत्) दण्ड देकर देश से निकालदे (तु) किन्तु (ब्राह्मणं विवासयेत्) ब्राह्मण को [विना दण्ड दिये] देशनिकाला ही देदे ॥ १२३॥

दश स्थान।नि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽत्रवीत्। त्रिषु वर्लोषु यानि स्पुरक्षतो ब्राहालो वजेत्॥ १२४॥

(मनुः स्वायंभुवः) स्वायंभुव मनुने (त्रिणु वर्णेपु यानि स्युः) क्षत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र इन तीन वर्णों पर लागू होने वाले (दण्डस्य दण स्थानानि श्रव्रवीत्) दण्ड के दस स्थान बतलाये हैं [ = । १२५ में ] (ब्राह्मणः श्रक्षतः व्रजेत्) ब्राह्मण विना दण्ड के ही चला जाये ॥ १२४ ॥

उपस्थमुबरं जिल्ला हस्तौ पाशौ च पञ्चमम्। चक्रुर्नासा च कर्गों च धनं देहस्तयैव च।। १२४॥

(उपस्थम्) उपस्थेन्द्रिय (उदरम्) पेट (जिह्वा) जीभ (हस्तौ) दोनों हाथ (च) ग्रौर (पञ्चमम्) पांचवां स्थान (पादौ) दोनों पैर (चक्षुः) ग्रांख (नासा) नाक (कणौ) दोनों कान (धनम्) धन (च) ग्रौर (देहः) शरीर, ये दण्ड के दस स्थान हैं ॥ १२५॥

आनुबारित्जना : १२३ से १२५ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. अन्तिविरोध—(१) १२३ वें श्लोक में आह्यण को दण्ड से मुरक्षित रखकर केवल देशनिकाला देने का कथन श्रीर अन्य वर्णों को सभी दण्ड देन का कथन पक्ष-पातपूर्ण है तथा मनु की मौलिक मान्यता के विरुद्ध है। मनु वारों वर्णों को दण्डनीय मानते हैं, अपितु समभदार श्रीर जिम्मेदार होने के कारण, अपराध करने पर, उत्तरोत्तर वर्णों को श्रिषक एवं श्रवस्य दण्डनीय मानते हैं (७। १७, ८। ३३४-३३८)।
  - २. दौलीगत माधार-(१) १२४-१२५ इलाकों में "मनुःस्वायंभुवः मनवीत्"

पद स्पष्ट संकेत देते हैं कि ये श्लोक मनु से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की रचनाएं हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं। (२) १२३ की शैली में पक्षपात की भावना है।

दण्ड देते समय विचारणीय बातें-

### भ्रमुबन्धं परिज्ञाय देशकाली च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डचे षु पातयेत्॥ १२६॥ (७०)

न्यायकर्ता (म्रनुबन्धम्) म्रपराधी का इरादा, षड्यन्त्र या बार-बार किये गये म्राराध को (च) मौर (तत्त्वतः देशकाली) सही रूप में देश मौर काल को (परिज्ञाय) जानकर (च) तथा (सार-प्रपराधी) म्रपराधी की शारीरिक एवं म्राथिक शक्ति मौर म्रपराध का स्तर (म्रालोक्य) देख-विचार कर (दण्डचेषु दण्डं पातयेत्) दण्डनीय लोगों को दण्ड दे ॥ १२६ ॥

"परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है ग्रौर लिखेंगे, जैसे—लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुग्ये दश ग्राने दण्ड लिखा है; परन्तु जो ग्रत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, ग्रौर धनाढच हो तो उसमे दूना, तिगुना ग्रौर चौगुना तक भी ले लेवे ग्रर्थात् जैसा देश, जैसा काल ग्रौर जैसा पुरुष हो उस का जैसा अपराधः हो वैसा ही दण्ड करे।" (स० प्र० १७२)

### श्रधर्मदण्डनं लोके यशोष्टनं कीर्तिनाशनम् । श्रस्वर्ग्यं च परत्राणि यस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥ (७१)

(लोके अधर्मदण्डनम्) क्योंकि इस संवार में जो अधर्म से दण्ड करना है वह (यशोध्नं कीर्तिनाशनम्) पूर्वप्रतिष्ठा ग्रीर भविष्यत् में, ग्रीर परजन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करने हारा है (च) ग्रीर (परत्र + ग्रपि-ग्रस्वर्ग्यम्) परजन्म में भी दुःखदायक होता है (तस्मात्) इसलिये (तत् परिवर्जयेत्) ग्रधर्म-युक्त दण्ड क्सी पर न करे।। १२७।। (स॰ प्र०१७)

### स्रदण्डचः न्दण्डयन् राजा दण्डचांश्चेवाप्यदण्डयन् । स्रयशो महदाप्तोति नरमं चेत्र गच्छति ॥१२८॥(७२)

(राजा) जो राजा (दण्डचान् ग्रदण्डयन्) दण्डनीयों को न दण्ड (ग्रदण्ड्यान् दण्डयन्) ग्रदंडनीयों को दण्ड देता है ग्रर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता श्रीर जिसको दण्ड देना न चाहिए उस का दण्ड देता है वह (महन् ग्रयशः ग्राप्नोति) जोता हुग्रा बड़ी निन्दा को (च) श्रीर (नरकम् एव गच्छिति) मरे पोछे बड़े दु:ख को प्राप्त होता है; इसलिए जो ग्रपराध करे उसको सदा दण्ड देवे श्रीर ग्रनपराधी को दण्ड कभी न देवे।। १२८।। (स॰ प्र०१७१) "जो राजा म्रनपराधियों को दण्ड देता भीर म्रपराधियों को दण्ड नहीं देता है, वह इस जन्म में बड़ी म्रपकीर्ति को प्राप्त होत: भीर मरे परचात् नरक म्रथात् महादु:ख को पाता है।" (स० वि० १५३)

> वाग्यण्ड प्रथमं कुर्याद्धिग्वण्डं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२६॥ (७३)

(प्रथमं वाक् + दण्डम्) प्रथम वाणी का दण्ड स्रर्थात् उसकी 'निन्दा' (तत् + प्रनन्तरम्) दूसरा (धिक् + दण्डम्) 'धिक्' दण्ड स्रर्थात् तुभको धिक्तार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया (तृतीयं धनदण्डम्) तीसरा— उससे धन लेना, स्रीरक्ष (वधदण्डम्) 'वध' दण्ड स्रर्थात् उसको कोड़ा या बंत से मारना वा शिर काट देना %। १२६ ॥ (स० प्र०१७१)

🕸 (ग्रतः परम) इस दण्ड से न सुधरे तो उसके पश्चात् ......

🖇 (कुर्यात्) करे

वधेमापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ! तदेषु सर्वमप्येतत्त्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥१३०॥ (७४)

राजा (एतान्) इन अपराधियों की (यदा) जब (वधेन + अपि) शारीरिक दण्ड से भी (निग्रहीतुं न शक्नुयात्) नियन्त्रित न कर सके (तदा + एषु) तो इन पर (सवंम + अपि + एतत् चतुष्टयं प्रयुञ्जीत) सभी उपर्यक्त [८। १२६] चारों दण्डों को एकसाथ और तीव्ररूप में लागू कर देवे।। १३०।।

लेन-देन के व्यवहार में काम ग्राने वाले बाट ग्रीर मुद्राएं—

लोकसंव्यवह।रार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि । ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ (७४)

म्रब मैं (ताम्र-रूप्य-सुवर्णानां या संज्ञाः) तांवा, चाँदी, सुवर्ण म्रादि की 'पण' म्रादि मुद्राएं म्रौर 'माष' म्रादि बाटों की संज्ञाएं (लोकव्यवहारार्थम्) मोल लेना-देना म्रादि लोकव्यवहार के लिए (भुवि प्रथिताः) जगत् में प्रसिद्ध हैं (ताः) इन सबको (म्रशेषतः प्रवक्ष्यामि) पूर्णरूप से कहता हूँ ॥ १३१ ॥

तोल के पहले मापक त्रसरेणु की परिभाषा—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥१३२॥ (७६) (भानौ जालान्तरगते) सूर्यकी किरणों के मकान की खिड़कियों के भ्रन्दर से प्रवेश करने पर [उस प्रकाश में] (यत् सूक्ष्मं रजः इत्यते) जो बहुत छोटा रजकण (कर्ण) दिखाई पड़ता है (तत्) वह (प्रमाणानां प्रथमम्) प्रमाणों = मापकों भ्रयीत् तोलने के बाटों में पहला प्रमाण है, भ्रीर उसे ('त्रसरेणु' प्रचक्षते) 'त्रसरेणु' कहते हैं।। १३२।।

[महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को 'त्रसरेणु' के लक्षण-प्रसंग में 'पूना प्रवचन में पृष्ठ ८० पर उद्घृत किया है]

लिक्षा-राजसर्षप-गौरसर्षप की परिभाषा---

त्रसरेणवोऽज्टो विज्ञेया लिक्षेका परिमाणतः । ता राजसर्वपस्तिस्नस्ते त्रयो गौरसर्वपः ॥१३३॥ (७७)

[तोलने में] (परिमाणतः) माप के भ्रनुसार (भ्रष्टो 'त्रसरेणवः') भ्राठ 'त्रसरेणु' की (एका 'लिक्षा' विजेया) एक 'लिक्षा' होती है भ्रोर (ताः तिस्रः 'राजसर्षपः) उन तीन लिक्षाभ्रों का एक 'राजसर्षप' (ते त्रयः गौरसर्षपः) उन तीन 'राजसर्षपों' का एक 'गौरसर्षप' होता है ॥ १३३॥

मध्ययव, कृष्णल, माप ग्रौर सुवर्ण की परिभाषा--

सर्षयाः षट् ययो मध्यस्त्रिययं त्वेककृष्णलम् । यञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥१३४॥ (७८)

(षट् सर्षपाः मघ्य-प्रवः) छः गौरसषंपों का एक 'मघ्ययव' परिमाण होता है (तु) ग्रौर (त्रियवम् एक कृष्णलम्) तीन मध्ययवों का एक 'कृष्णल' = रत्ती (पञ्च-कृष्णलकः माषः) पाँच कृष्णलों = रित्तयों का एक 'माष' [सोने का] ग्रौर (ते षोडश मुवर्णः) उन सोलह माषों का एक 'सुवर्ण' होता है ॥ १३४॥

पल, घरण, रौप्यमाषक की परिभाषा-

पलं सुवर्गाद्रचत्वारः पलानि घरगं दश। द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः।। १३४।। (७६)

(चत्वारः सुवर्णाः 'पलम्') चार सुवर्णों का एक 'पल' होता है (दश पलानि 'घरणम्') दश पलों का एक 'घरण' होता है (द्वे कृष्णले समधृते 'रौप्यमाषकः' विज्ञेयः) दो कृष्णल = रत्ती तराजू पर रखने पर उनके बराबर तोल का माप एक 'रौप्यमाषक' जानना चाहिए ॥ १३४ ॥

रौप्यधरण, राजतपुराण, कार्षापण की परिभाषा --

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः। कार्षापणस्तु विज्ञेथस्ताम्त्रिकः कार्षिकः पणः॥१३६॥ (८०) (ते षोडश 'घरणं' स्यात्) उन सोलह रौप्यमाषकों का एक 'रौप्यधरण' तोल का माप होता है (च) ग्रौर एक ('राजतः पुरागः') चौदी का 'पुराण' नामक सिक्ता होता है (ताम्रिकः कार्षिकः प्रगः) तांबे का कर्षभर ग्रर्थात् १६ माषे वजन का 'प्रगं' ('कार्षापगः' विज्ञेयः) 'कार्षापण' सिक्का समभना चाहिए ॥ १३६॥

रौप्यशतमान, निष्क की परिभाषा-

### धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः। चतुःसौर्वाणको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ १३७॥ (८१)

(दश धरणानि) दश रौष्यधरणों का ('राजतः शतमानः' ज्ञेयः) एक चांदी का शतमान' जानें, स्रौर (प्रमाणतः) प्रमाणानुसार (चतुः सौर्वाणकः 'निष्कः' विज्ञेयः) चार सुवर्ण का एक 'निष्क' [ = स्रशर्फी ] जानना चाहिए।। १३७।।

### अद्भुर्क्योत्जनः (१) तोलने के प्रमाणों का विवेचन ग्रीर तालिका—

(क) इलोक १३२ से १३६ तक लेन-देन के व्यवहार में काम आने वाले तोल के प्रमाणों प्रर्थात् बाटों का वर्णन है। उनमें त्रसरेणु से कृष्णल — रत्ती (गुंजा) तक के प्रमाण भूमि में उत्पन्त पदार्थों पर आधारित थे। माव से धरण तक के सोने के ग्रौर कृष्णल से रौप्यशतमान तक के चौंदी के बाट होते थे। तालिका के अनुसार उनका विवरण निम्न प्रकार है—

```
४ त्रसरेणु
                         १ लिक्षा
                         १ राजसर्षंप (छोटी काली सरसों)
 ३ लिक्षा
 ३ राजसर्षप
                         १ गौरसर्षप (सफेद सरसों)
 ६ गौरसर्षप
                         १ मध्ययव (न बड़ा,न छोटा जी)
                         १ कृष्णल = गुंजा या रत्ती
 ३ मध्ययव
 ५ कुष्णल (रत्ती) =
                         १ माष (सोने का) बना
                                    लगभग माने भर वजन)
                                                           सोने से
                         १ सुवर्णया कर्ष (लगभग रुपये भर
१६ माष
                                                             बाट
                        १ पल (लगभग छटांक)
४ सुवर्ण
१० पल
                        १ घरण
 २ कृष्णल रत्ती ==
                        १ रौप्यमाषक
                                                          चौंदी से
१६ रोप्यमाषक
                        १ रोप्यघरण
१० रोप्यधररा
                        १ रोप्यशतमान
```

- (ल) कौटिल्य द्वारा विश्वित तोल-प्रमाश-कौटिल्य ने प्रपने प्रयंशाम्त्र में मनु के तोल-प्रमाशों को लगभग उसी रूप में उद्भृत किया है। उनसे मनुप्रोक्त प्रमाशों पर प्रकाश भी पड़ता है--
- (म्र) कौटिल्य के स्रनुसार सोने के तोलप्रमाशों में पांच रती स्रथवा दस उड़द के दाने के बराबर एक सुवर्णमाय कहोता है। सोलह सुवर्णमाय का एक मवर्णया एक कर्ष, स्रोर चार कर्ष का एक पल होता है।
- (ग्रा) चांदी के तोल प्रमाणों में ग्रठ्ठासी सफेद सरसों के परिणाम का एक रूप्य-माषक होता है। मनु के ग्रनुसार २ कृष्णल या छत्तीस गौर सर्षप का रूप्यमाषक है। सोलह रूप्यमाषक का एक धरण होता है।
  - (२) मुद्राएं और उनकी तालिका-
- (क) मनुने तोल के ग्राधार पर ही ग्रर्थ मुद्राग्रों का निर्माण [१३६-१३७] कहा है। मुद्राएं तांवा, चांदी ग्रीर सोने की होती थीं। उनकी तालिका इस प्रकार है—

४ सुवर्ण के समभार में (लगभग एक छटांक)

#### (ख) कौटिल्य द्वारा विणत मुद्राएं---

म्राचार्य कौटित्य ने चांदी म्रौर तांबे की मुद्राम्रों का उल्लेख करते हुए उनकी रचनाविधि भी बतलायी है। मनु ने भी कार्षापर्या के विषय में 'ताम्निकः कार्षिकः पणः' शब्दों का उल्लेख कर उसके रचनातत्त्व की म्रोर संकेत किया है। उसकी पूर्णविधि कौटित्य ने दी है, जो इस प्रकार है—

(ग्र) चांदी के सिक्के, जिनको कौटिल्य ने 'पण' संज्ञा दी है, शायद वही मनु के अनुसार 'राजतपुराण' है। चांदी से बना होने के कारण संभवतः यही परकाल में रूप्यक ग्रीर रुपैया का रूप धारण कर गया। कौटिल्य के अनुसार—लवरणाध्यक्ष = टकसाल के अध्यक्ष को चाहिए कि वह पण, अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण नामक चार चांदी के सिक्कों को विधिपूर्वक ढलवाये। एक पण १६ माष का होता है। उसमें ११ माष चांदी; ४ माष तांबा; तथा रांगा, लोहा, सीसा या ग्रंजन में से कोई धातु १ माष हो। इसी अनुपात से छोटे सिक्कों में ये धातुए डालें।

१. "धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः। पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुष्कलं पलम्।"

<sup>&</sup>quot;म्राच्टाशीतिगौरसर्वेपा रूप्यमावकः । ते वोडश धरणम्।"

(ग्रा) तांबे के सिक्के को कौटिल्य ने 'माषक' संज्ञा दी है। लेकिन वह भी १६ माषे का है, जिसे मनु ने 'कार्षापण' कहा है। इसके भी चार प्रकार के सिक्के बनते हैं— माषक, ग्रधंमापक, पादमापक (काकणी), ग्रष्टभागमापक (ग्रधंकाकणी)। इनमें माषक में ११ माष ताम्बा, ४ माष चांदी, ग्रीर १ माष लोहा, तीसा, रांगा या ग्रजन में से कोई एक घातु होती है। इससे छोटे सिक्कों में इसी ग्रनुपात से कम हो जाती है।

पूर्व-मध्यम-उत्तमसाहस की परिभाषा-

पणानां द्वे शते सार्घे प्रथमः साहसः स्नृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥१३८॥ (८२)

(द्वे शते सार्थे पणानां प्रथमः साहसः' स्मृतः) ढाई सौ पण का एक प्रथम 'साहसं माना है (पश्च 'मध्यमः' विज्ञेयः) पाँच सौ पर्गा का 'मध्यम साहसं समक्षना चाहिए (सहस्रं तु + एव उत्तमः) एक हजार पण का 'उत्तम साहसं होता है।। १३=।।

श्र च्यो टिंड न्यः पूर्व, मध्यम श्रोर उत्तम साहस की सीमा — कीटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, श्रंपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस साहस में परिगणित मानी गई है। उनके मतानुसार — २५० पण तक पूर्वसाहस, २५१ से ५०० पण तक मध्यम सहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जायेगा। श्राचार्य कीटिल्य ने श्रयंशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इसी प्रकार प्रस्तुत किया है — "४० से २०० पण तक प्रथम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहलाता है।" दोषानुसार इस श्रवधि का कोई भी दण्ड हो सकता है।

### ऋरणे देये प्रतिज्ञाते पंचकं शतमहंति। स्रपह्नवे तद् द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम्॥ १३६॥

(ऋगो देये प्रतिज्ञाते) कर्जदार के द्वारा मुकह्मे में 'ऋण देना' स्वीकार कर लिए जाने पर (पंचकं शतम् + अहंति) सैंकड़ा पर पांच पण दण्ड करना योग्य है (अप- ह्नवे) यदि कर्जदार भूठ बोले और बाद में ऋण देना सिद्ध हो जाये तो (तत् द्विगुणम्)

१. लवरणाध्यक्षः चतुर्भागताम्त्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनामन्यतमाषबीज-युक्तं कारयेत् पर्णम्, ग्रर्थपर्णं पादमध्यमार्गामिति । पादाजीवं ताम्ररूपं मावकमर्धमाषकं काकरणीमर्थकाकरणीमिति ।" [प्रक० २८ । ग्र० १२]

उसका हुगुना म्रथात् दशगृना दण्ड दे (तत् मनोः + म्रनुशासनम्) यही मनु की व्यवस्था है ॥ १३६ ॥

### **अन्यक्रीत्वनः १३६** वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

- १. अन्तिवरोध---यह दण्डिवधान ८। ५६ में विहित दण्ड-व्यवस्था से भिन्त है। उसके विरुद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त है।
- २. शैलीगत आधार—"तत् मनोः श्रनुशासनम्" पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी अन्यः व्यक्ति द्वारा रिचत है, ग्रतः परवर्ती होने से प्रक्षिप्त है।

ऋगा पर ब्याज का विधान---

## विसच्छविहितां वृद्धि सृजेद्वित्तविर्वाधनीम् । ग्रज्ञीतिभागं गृह्णीयान्नासाद्वार्थुं विकः ज्ञते ॥१४०॥ (८३)

(विसष्ठिविहिताम्) [िदए हुए ऋगा पर] प्रयंशास्त्र के विद्वान् द्वारा विहित (वित्तविधिनीम्) धन को बढ़ाने वाली (वृद्धिम्) वृद्धि अर्थात् ब्याज को (मुजेत्) ले, किन्तु (वार्यु विकः) ब्याज लेने वाला मनुष्य (शते अशीति-भागम्) सौ पर ग्रस्सीवां भाग ग्रर्थात् सवा रुपया सैकड़ा ब्याज (मासात्) मासिक (गृह्णीयात्) ग्रहण करे ग्रर्थात् इससे ग्रधिक ब्याज न ले [यह ग्रिधिक से ग्रिधिक की सीमा हैं।] ।। १४०।।

'सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे ।''(सं० वि० १७६ में टिपाणी)

अप्रमुख्यो कर्टः इस श्लोक में 'विसष्ठ' शब्द को देखकर यह भ्रम होता है कि यह कोई विसष्ठ नाम का व्यक्ति हुग्रा है ग्रौर उसने व्याज लेने की व्यवस्था निर्धारित की है, मनु ने उसी को यहां प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। अनेक टीका-कार इस भ्रान्ति के शिकार हुए हैं ग्रौर उन्होंने इसको 'नाम' मानकर 'विसष्ठ ऋषि' यह ग्रथं कर दिया है। इस शब्द का यहां 'मर्थशास्त्र के ज्ञाता विद्वान्' ग्रथं है। इसकी पुष्टि में निम्न युक्तियां हैं—(१) मनु ने प्रसंगानुसार ग्रन्यत्र भी उस-उस विषय के ज्ञाता विद्वानों को मूल्य, शुल्क ग्रादि के निर्धारण में प्रमाण माना है, ग्रौर स्वयं उनका निर्धारण स्वल्परूप में करके शेष उन्हों पर छोड़ दिया है, जैसे—िकराया निर्धारण के लिए ६। १६६ में उस विषय के विशेषज्ञों पर ही यह निर्धारण का काम छोड़ा है। इसी प्रकार यहां भी है, इसीलिए इस शब्द का उक्त ग्रथं

१. [प्रविलत अर्थं —विसष्ठ मुनि द्वारा प्रतिपादित धनवर्धक सूद ले, वह ऋण-द्रव्य का १/८० भाग हो प्रयत् सवा रुपया प्रतिशत मासिक सूद लेना चाहिए ॥१४०॥]

मनु-म्रिभिश्वेत है। द। १५७ में इस शब्द के पर्यायवाची रूप में 'म्रथंदिशनः' शब्द का प्रयोग है। इसका भी भाव वही है। (२) वेदादि में विसष्ठ शब्द इसी मर्थं में प्रयुक्त हुमा है, यथा—ऋ॰ १. ११२. ६ तथा ७. ३३. १३ में विसष्ठ शब्द का मर्थं महिष दयानन्द ने यही किया है—''यो वसित धनादि कर्मसु सोऽतिशयस्तम् उत्तमविद्वासम्।" इस म्राधार पर यहाँ उक्त मर्थं ही समीचीन एवं ग्राह्म है।

ग्रर्थशास्त्रियों द्वारा ब्याज की व्यवस्था के निर्धारण का उल्लेख करते हुए मनु ने व्याज की यह ग्रधिकतम सीमा निर्धारित की है। इससे ग्रधिक ब्याज ग्रहण नहीं करना चाहिए, इस उल्लेख से मनु का यही ग्रभिप्राय है।

### द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरम्। द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्ययं कित्विषी ॥ १४१ ॥

(वा) अथवा (सतां घर्मम् म् अनुस्मरन्) श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करता हुआ अर्थात् श्रेष्ठों का आचरण मानता हुआ (दिक शतं गृह्णीयात्) दो रुपया सैंकड़ा मासिक ब्याज ले ले (दिकं शतं हि गृह्णानः) दो रुपया सैंकड़ा ब्याज लेने पर (अर्थंकिल्विधी न भवति) धन के विषय में पाप का भागी नहीं होता ॥ १४१ ॥

### द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चमं च शतं समम् । मासस्य वृद्धि गृह्णीयाद्वरणिनामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

व्याज लेने वाला (वर्णानाम् + अनुपूर्वशः) वर्णों के क्रम से श्रयात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य श्रौर शूद्र-क्रम के श्रनुसार क्रमशः (द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चमं शतं मासस्य वृद्धि गृह्णीयात्) दो रुपये सैंकड़ा, तीन रुपये सैंकड़ा, चार रुपये सैंकड़ा श्रौर पांच रुपये सैंकड़ा मासिक व्याज ले ।। १४२ ।।

### **अनुश्रीत्जन्म**ः १४१—१४२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

१. ग्रन्तिवरोध—(१) मनु ने १४० वें इलोक में सवा रुपया सैंकड़ा ब्याज की दर सभी के लिए समान रूप से निर्धारित की है। इन इलोकों में दो रुपये से पांच रुपये तक व्याज लेने का विधान करना और वर्णानुक्तम से ब्याज का विधान, ये दोनों ही विधान मौलिक व्यवस्था से विरुद्ध हैं, अतः ये प्रक्षिप्त हैं। (२) १४१ वें की भाषा ही यह बतलाती है कि यह परवर्ती रचना है। 'सतां धर्मम् ग्रनुस्मरन्' की दुहाई देना ग्रौर 'न भवित ग्रर्थाकिल्विषी' का कथन रचियता की हीनभावना को प्रकट करता है। (३) १५३ वें श्लोक में शास्त्रविरुद्ध ब्याज न लेने का कथन है ग्रौर शास्त्रसम्मत ब्याज १४० वें में विहित है। इन श्लोकों में विहित विधान शास्त्रविरुद्ध होने से ये प्रक्षिप्त हैं।

लाभ वाली ीरवी पर ब्याज नहीं-

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीबीं वृद्धिमाप्नुयात् । न चाधेः कालसंरोघान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥ (८४) (सोपकारे) उपकार ग्रर्थात् साथ के साथ लाभ पहुंचाने वाली (ग्राघो) बंघक रखी घरोहर — गिरवी [जैसे भूमि, घर, गो ग्रादि] पर (कौसीदीं वृद्धि न तु + एव ग्राप्नुयात्) ब्याज रूप में प्राप्त धनवृद्धि बिल्कुल न ले (च) ग्रीर (कालसंरोधात्) बहुत समय बीत जाने पर भी (ग्राधेः) उस घरोहर को (न निसर्गः) रखने वाले के ग्रधिकार से छुड़ाया नहीं जा सकता है ग्रर्थात् रखने वाले की ही वह वस्तु रहेगी (न विक्रयः) न दूसरे को बेचा जा सकता है।। १४३।।

धरोहर-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ (उन पर ऋण-व्याज ग्रादि की व्यवस्था)---

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भु झानो वृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥१४४॥(८५)

(बलात्) गिरवी को रखने वाला व्यक्ति जबरदस्ती (म्राधिः न भोक्तव्यः) किसो की धरोहर = गिरवी को उग्योग में न लाये (भुञ्जानः) यदि वह उस वस्तु को उपभोग में लाता है तो (वृद्धिम् + उत्सृजेत्) ब्याज को छोड़ देवे ग्रथवा (एनं मूल्येन तोषयेत्) धरोहर रखने वाले व्यक्ति को उसका मूल्य देकर संतुष्ट करे (ग्रन्यथा) ऐसा न करने पर (ग्राधिः + स्तेनः भवेत्) 'धरोहर का चोर' कहलाएगा ग्रर्थात् चोर के दण्ड का भागी होगा।। १४४।।

### म्राधिइचोपनिधिइचोमौ न कालात्ययमहंतः । म्रवहार्यो भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥१४४॥ (८६)

(ग्राघः) घरोहर = गिरवी (च) ग्रौर (उपिनिधः) मुहरबन्द दी हुई ग्रमानत (उभौ) ये दोनों (काल + ग्रत्ययम्) समय की सीमा के (न ग्रह्तः) योग्य नहीं हैं ग्रर्थात् इन पर कोई समय की सोमा लागू नहीं होती कि इतने दिनों के पश्चात् ये जब्त हो जायेंगी (तौ) ये (दीर्घकालम् + ग्रवस्थितौ) लम्बे समय तक रहने के बाद भो (ग्रवहायौँ भवेताम्) लौटाने योग्य होती हैं।। १४५।।

### संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन । धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्यो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥ (८७)

(संप्रीत्या भुज्यमानानि) परस्पर प्रेमपूर्वक उपभोग में लायी जाती हुई वस्तुएं (धेनुः) गौ (वहन्) बोभ या सवारी म्रादि ढोने के लिए (उष्ट्रः) ऊंट (म्रश्वः) घोड़ा (च) म्रौर (यः) जो (दम्यः) हल म्रादि में जोता जाने बाला वैल म्रादि (प्रयुज्यते) उपभोग में लाया जाता है, वह (कदाचन न नश्यन्ति) कभी भी श्रपने पूर्व स्वामी के स्वामित्व से नष्ट नहीं होते, और प्रयोग करने वाले के नहीं होते ।। १४६ ।।

### यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्तिषौ प्रेक्षते धनी। भुज्यमानं परैस्तुरुणीं न स तस्लब्धुमहंति॥१४७॥

(धनी) धन का स्वामी व्यक्ति (यत् किचित्) जिस किसी वस्तु को (सिन्नधौ) प्रयने सामने (दश वर्णीएा) दश वर्ष तक (पर्रै: भुज्यमानम्) दूसरों के द्वारा उपभोग में लाये जाते हुए (तूष्णी प्रेक्षते) चुपचाप देखता रहे ग्रर्थात् न रोके-टोके न वापिस ले तो (सः) वह व्यक्ति (तत् + लब्धुं न ग्रहंति) उस वस्तु को पाने का ग्रिधकारी नहीं रहता ॥ १४९॥

### म्रजडक्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते । मग्नं तद्वचव्हारेरा भोक्ता तद् द्रव्यमहंति ॥ १४८ ॥

(म्रजड: त्रपोगण्ड: चेत्) यदि किसी वस्तु का स्वामी समक्षदार भीर बालिग हो भीर उसकी वस्तु (ग्रस्य विषये भुज्यते) मालिक के देखते हुए या जानकारी में रहते उपभोग में लायी जाती है तो (तत् व्यवहारेण भग्नम्) वह वस्तु उसके म्रधिकार से नष्ट हो जाती है ग्रयत् पूर्वस्वामी का हक नहीं रहता (भोक्ता तत् द्रव्यम् + म्रहंति) भोगने वाला ही उस वस्तु का हकदार हो जाता है ॥ १४८॥

म्राधिः सीमा बालघनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः। राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न मोगेन प्रशाहयति।। १४६ ॥

(ग्राघः) बन्धकरूप में रखी धरोहर (सीमा) खेत, गांव ग्रादि की सीमा (बालधनम्) बालक का धन (निक्षेपः) बिना मुहरबन्द धरोहर (उपिनिधिः) मुहरबन्द धरोहर (स्त्रियः) स्त्रियां (राजस्वम्) राजधन (श्रोत्रियस्वम्) वेदपाठी का धन (भोगेन न प्रणब्यित) इनका भोग करने पर भी इन पर से पूर्वस्वामी का स्वामित्व नष्ट नहीं होता ॥ १४६ ॥

#### यः स्वामिन।ननुज्ञातमाधि भुङ्कतेऽविवक्षाराः। तेनाधंवृद्धिमेष्टिनच्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः।। १५०।।

(यः) जो (ग्रविचक्षणः) नासमभ व्यक्ति (स्वामिना + ग्रननुज्ञातम्) स्वामी के द्वारा बिना ग्राज्ञा प्राप्त किये (आधि भुङ्कते) बंधक का उपमोग करता है (तस्य भोगस्य निष्कृतिः) उस वस्तु के भोग कर लिने के बदले (तेन) धरोहर रखने वाले को (ग्रर्धवृद्धिः + भोक्तव्या) ग्राधा व्याज ही लेना चाहिए ग्राधा छोड़ देना चाहिए।। १५०।।

**अन्यूर्धीत्उन्यः** १४७ से १५० श्लोक निम्न ग्राधार के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं— १. ग्रन्तिंदोघ—इन क्लोकों में दी हुई व्यवस्थाएं पूर्विद्ति १४३—१४६ क्लोकों की व्यवस्थाओं से विरुद्ध हैं, ग्रतः ये प्रक्षिप्त हैं। (१) १४७—१४६ में कुछ स्थितियों में धरोहर पर से स्वामी का ग्रधिकार नष्ट होना माना है, जबिक १४३—१४६ क्लोकों में ग्रधिकार कभी नष्ट न होने का स्पष्ट विधान है (२) पूर्व क्लोकों में जब यह कह दिया कि धरोहर को बिना भोगे ग्रथवा भोग लेने पर किसी भी स्थिति में मूलस्वामी का ग्रधिकार नष्ट नहीं होता, पुनः १४६ में कुछ वस्तुओं का ग्रलग से विधान करने की ग्रावश्यकता ही नहीं रहती, ग्रतः यह विगन व्यर्थ है। (३) १४६ में स्त्री को भी धरोहर की वस्तु माना है, यह मनु की मान्यता से विषद्ध है। सम्पूणं पूर्वापर प्रसंग को देखने से स्पष्ट होता है कि मनु केवल जड़ धन-सम्पत्ति एवं पशुग्रों को ही धरोहर की वस्तु मानते हैं [६।२७–३०,१४३,१४६]। पत्नी को एक ही व्यक्ति 'पति' की सिङ्गिनी माना है [४।१५१,१६५]। (४) धरोहर को भोगने पर उसका ब्याज पूर्णं रूप से छोड़ देने और क्षतिपूर्ति करने का विधान १४४ में दिया है। १५० वें में उससे विषद्ध विधान है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है।

दुगुने से प्रधिक मूलघन न लेने का ग्रादेश-

### कुसीदवृद्धिद्वेंगुण्यं नात्येति सकृदाहृता । धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥ (८८)

(सकृत्+ग्राह्ता) एकबार लिए ऋण पर (कुसीदवृद्धिः) ब्याज की वृद्धि (हैगुण्यं न +ग्रत्येति) मूलधन दुगुने से ग्रधिक नहीं होनी चाहिए। (धान्ये) ग्रन्नादि धान्य (सदे) वृक्षों के फल (लवे) ऊन (वाह्ये) भारवाहक पशु बैल ग्रादि (पञ्चतां न +ग्रतिक्रार्मात) मूल से पांच गुने से ग्रधिक नहीं होने चाहिएँ॥ १४१॥

"सवा रुपये संकड़े से अधिक चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे, जब दूना धन आ जाये उस से आगे कौड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उस का धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे"। (सं० वि० १७६ में टिप्पणी)

> कृतानुसारादिधका व्यतिरिक्ता न सिद्धचित । कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमहैति ॥ १४२ ॥

(कृतानुसारात्) परस्पर निश्चित हुए व्याज से (ग्रधिका व्यतिरिक्ता न सिद्धचिति) ग्रधिक क्याज लेना ठीक नहीं है (पञ्चकं शतम् + ग्रहंति) ग्रधिक से ग्रधिक पांच रुपये सैंकड़ा तक व्याज लिया जा सकता है (तं कुसीद्रपथम् + ग्राहुः) इसी को व्याज के लेन-देन का सही व्यवहार माना गया है ॥ १४२ ॥

आनुरारिटानाः १५२ वां र**ोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है**—

- १. श्रन्तिवरोध—(१) १४० वें क्लोक में सवा रूपये सैंकड़ा व्याज की एक दर निश्चित कर दी है। इस क्लोक में पाँच रूपये सैंकड़े तक की छूट का कथन करना उसके विरुद्ध है, ग्रत: प्रक्षिप्त है। (२) १५३ वें क्लोक में व्याजसम्बन्धी सभी निषेधों का एक-साथ वर्णान है। वहां निश्चित हुए ब्याज से अधिक न लेने का कथन है। इस क्लोक में ग्रिग्रिम क्लोक की एक बात को ही विणित कर दिया है, जो ग्रनावश्यक है।
- २. प्रसंगिवरोध—व्याजदर के निर्धारण का प्रसंग १४० वें श्लोक में प्राचुका है। उसके पश्चात् धरोहर का प्रसंग है। दूसरा प्रसंग ग्राने के पश्चात् पुनः पहला व्याज दर प्रसंग उठाना भी प्रसंगिवरुद्ध है, इसलिए भी यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

कौन-कौन से व्याज न ले---

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चाहष्टां पुनर्हरेत्। चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका चया।। १५३।। (८६)

(ग्रतिसांवत्सरीं वृद्धिन हरेत्) एक वर्ष से ग्रधिक समय का ब्याज एक बार में न ले (च) ग्रौर (ग्रह्ण्टां पुन: न हरेत्) किसी कारण से एक बार छोड़े हुए ब्याज को किर न मांगे (चक्रवृद्धिः) ब्याज पर लगाया हुग्रा ब्याज (कालवृद्धिः) मासिक, त्रैमासिक या ब्याज की किश्त देने के लिए निश्चित किये गये काल पर व्याज लेकर ग्रगले ब्याज की दर को बढ़ा देना (कारिता) कर्जदार की विवशता, विपत्ति ग्रादि के कारण दवाव देकर शास्त्र में निश्चित सीमा से श्रधिक लिखाया या बढ़ाया गया ब्याज (कायिका) ब्याज के रूप में शरीर से वेगार करवाना या शरीर से काम कराके ब्याज उगाहना, ये ब्याज भी न ले ।। १५३ ।।

प्नः ऋगपत्रादि लेखन---

### ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुं मिच्छेत्पुनः क्रियाम् । स दत्त्वा निजितां वृद्धि करणं परिवर्तयेत् ।।१४४।।(६०)

(यः) जो कर्जदार (ऋणं दातुम्+ग्रशक्तः) निर्धारित समय पर ऋण न लौटा सकता हो ग्रीर (पुनः क्रियां कर्तु म्+इच्छेत्) फिर ग्रागे भी क्रिया = उस ऋण को जारी रखना चाहता हो तो (सः) वह (निजितां वृद्धिं दत्त्वा) उस समय तक के ब्याज को देकर (करण् परिवर्त्तयेत्) 'लेन-देन का कागज' नया लिख दे।। १५४।।

म्रदर्शियत्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् । यावती संभवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमहंति ॥ १४४ ॥ (६१) (म्रदर्शयित्वा) यदि कर्जदार ब्याज न दे सके तो (तत्र + एव हिरण्यं परिवर्तयेत्) ब्याज को मूलधन में जोड़कर उस सारे हिरण्य = धन का नया कागज लिख दे (यावती बृद्धिः संभवेत्) उस पर फिर जितना ब्याज बनेगा (तावतीं दातुम् + म्रहेंति) उतना उसे देना होगा ।। १५५ ।।

चक्रवृद्धि समारूढो देशकालव्यवस्थितः । ग्रतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १४६ ॥ (६२)

(चक्रवृद्धि समारूढः) उपर्यु क्त [ ६।१५५] प्रकार से वार्षिक ब्याज को मूलधन में जोड़कर चक्रवृद्धि ब्याज लेने वाला व्यक्ति (देश-काल-व्यवस्थितः) देश और काल-व्यवस्था में वन्धकर ब्याज-ले [देशव्यवस्था अर्थात् स्थान या देश की उपयुक्त व्यवस्था जैसे नकद राशि पर दुगुने से अधिक न ले; व्यापारिक अन्न, फल ग्रादि पर पांच गुने से अधिक न ले; और सवा रुपये सैकड़े को अधिकतम सोमा तक जितना ब्याज जिस स्थान या देश में लिया जाता है उस व्यवस्था के अनुसार (६।१४०, १५१)। कालव्यवस्था—वर्ष के निर्धारित समय के बाद हो सूद को मूलधन में जोड़ना, पहले नहीं ] (६।१५५) (देशकालो अतिकामन्) देश, काल की व्यवस्था को भंग करने पर (तत् फलं न अव। प्नुयात्) ब्याज लेने वाला उस ब्याज को लेने का हकदार नहीं होता।। १५६।।

समुद्रयानों का किराया-भाड़ा निर्धारण---

समुद्रयानकुशला देशकालार्थंदिशनः । स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७॥(६३)

(समुद्रयानकुशलाः) समुद्रपार देशों तक व्यापार करने में चतुर श्रीर (देशकालार्थदर्शिनः) देश, काल के अनुसार श्रथंशास्त्र के ज्ञाता विद्वान् (यां वृद्धि स्थापयन्ति) जिस ब्याज या भाड़े का निश्वय करें (सा तत्र + ग्रिधिगमं प्रति) वही ब्याज या भाड़ा लाभप्राप्ति के लिए ठीक है [ऐसा समभना चाहिए]।। १५७।।

जमानती सम्बन्धी विधान-

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेदूदर्शनायेह मानवः। भ्रदर्शयन्त तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८॥ (६४)

(यः मानवः) जो व्यक्ति (यस्य) जिस कर्जदार का (इह दर्शनाय) महाजन के सामने या न्यायालय के सामने उपस्थित करने का (प्रतिभूः तिष्ठेत्) जमानती वने (श्रदर्शयन्) उस कर्जदार को उपस्थित न कर सकने पर (तस्य ऋणम्) उसका लिया हुम्रा कर्ज (स्वधनात् प्रयच्छेत्) जमानती म्रपने धन से दे ।। १५८ ।।

### प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् । दण्डगुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमहंति ॥१४६॥ (६५)

(प्रातिभाग्यम्) जमानत के रूप में स्त्रीकार किया गया धन (वृथा-दानम्) ग्यर्थ में देने के लिए कहा गया दान, या व्यर्थ प्रथवा कुपात्र को कहा गया दान (ग्राक्षिकम्) जूब्रा-सम्बन्धी धन (च) ग्रीर (यत् सीरिकम्) जो शराव-ग्यय सम्बन्धी धन (च) तथा (दण्ड-शुल्क-ग्रवशेषम्) राजा की श्रोर से दण्ड के रूप में किया गया जुर्माने का धन ग्रीर कर, चुंगी ग्रादि का धन (पुत्र: न दातुम् + ग्रहंति) पुत्र को नहीं देना चाहिए।। १४६।।

### दर्शनप्रतिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ।। १६० ।। (६६)

(दर्शन-प्रातिभाव्ये तु) कर्जदार को उपस्थित करने का जमानती होने में तो (पूर्वचोदितः विधिः स्यात्) पहले [८।१४६ में] कही हुई विधि लागू होगी किन्तु (दान-प्रतिभुवि प्रेते) ऋगा ग्रादि देने का जमानती होकर [कि ग्रगर कर्जदार नहीं देगा तो मैं द्गा] पुनः जमानती के मर जाने पर (दायादान् मग्रपि दापयेत्) राजा जमानत के धन को उसके वारिस पुत्र ग्रादिकों से भी दिलवाये ।। १६० ॥

### श्रदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृग्गम् । पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ।। १६१ ।। (६७)

(श्रदातिर पुन: विज्ञातप्रकृतों) श्रदाता जमानती की प्रतिज्ञा की ऋगदाता को जानकारो होने की स्थिति में श्रयात् यदि जमानती ने ऋण देने की जमानत नहीं ली हैं, किन्तु केवल ऋणी को ऋणदाता के सामने नियत समय पर उपस्थित करने की जमानत ली है, श्रोर जमानती की इस प्रतिज्ञा को ऋणदाता जानता भी है ऐसे (प्रतिभुवि प्रते पश्चात्) जमानती के मर जाने के बाद (दाता केन हेतुना ऋणं परीप्सेत्) ऋणदाता किस कारण ग्रयात् ग्राधार पर [उसके पुत्रादि से] ऋण प्राप्त करने की इच्छा करेगा? श्रयात् वह उसके पुत्र ग्रादि से ऋण प्राप्त करने का हकदार नहीं है । १६१।

निरादिष्टधनक्ष्चेतु प्रतिमूः स्यादलंघनः। स्वधनादेव तद्द्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः॥१६२॥ (६०) (चेत्) यदि (प्रतिभूः निरादिष्टधनः) ऋगी ने भ्रपने जमानती को धन सौंप रखा हो (च) भौर (भ्रलंघनः स्यात्) ऋगी ने जमानती से ऋग-दाता को वह घन लौटा देने की भ्राज्ञा न दो हो तो ऐसी स्थिति में (निरा-दिष्टः) वह भ्राज्ञा न दिया हुम्रा जमानती भ्रथवा मरने पर जमानती का पुत्र (तत् स्वधनात् + एव दद्यात्) [ऋगदाता के मांगने पर] उसका धन भ्रपने घन में से ही लौटा देवे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है ।।१६२।।

म्राठ प्रकार के व्यक्तियों से लेन-देन म्रप्रामाणिक है-

### मत्तोन्मत्तार्ताध्याघीनैर्बालेन स्थविरेण वा। म्रसंबद्धकृतक्वेव व्यवहारो न सिद्धचित ॥१६३॥ (६६)

(मत्तः) नशे में ग्रस्त (उन्मत्तः) पागल (—ग्नार्तः) शारीरिक रोगी (—ग्नाधि) मानसिक रूप से दुःखी या विपत्तिग्रस्त (—ग्नधीनः) ग्रधीन रहनेवाले नौकर ग्नादि से (बालेन) नाबालिंग से (वा) ग्रथवा (स्थविरेण) बहुत बूढ़े से (च) ग्नौर (ग्रसंबद्धकृतः) सम्बद्ध व्यक्ति के पीछे से किसी ग्रन्य व्यक्ति से किया गया (व्यवहार) लेन-रेन (न सिद्धचिति) प्रामाणिक ग्रथीत् मानने योग्य नहीं होता ॥ १६३॥

शास्त्र भ्रीर नियमविरुद्ध लेन-देन ग्रप्रामाणिक—

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यास्त्रतिष्ठिता । बहिरचेद्भाष्यते धर्माः नयताद्वचावहारिकात् ॥१६४॥(१००)

(भाषा) कोई भी बात या पारस्परिक प्रतिज्ञा (चेत्) यदि (धर्मात्) धर्मशास्त्र प्रयात् कातून में (नियतात् व्यावहारिकात्) निश्चित व्यवहार से (बहि: भाष्यते) बाह्य प्रयात् विरुद्ध की हुई है (यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात्) चाहे वह लेख ग्रादि द्वारा प्रमाणित भी हो तो भी (सत्या न भवति) सत्य = प्रामाणिक या मान्य नहीं होती।। १६४।।

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् । यत्र वाऽप्युर्पाध् पद्म्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥१६५॥ (१०१)

(योग+ग्राधमन—विक्रीतम्) छल-कपट से रखी हुई धरोहर श्रीर बेची हुई वस्तु (योगदान—प्रतिग्रहम्) छल-कपट से दी गयी श्रीर ली गई यस्तु (वा) ग्रथवा (यत्र श्रिप + उपिंध पश्येत्) जिस-किसी भी व्यवहार में छल-कपट दिखायी पड़े (तत् सर्वं विनिवर्तयेत्) उस सब को रह् या श्रमान्य घोषित कर दे।। १६५।। कुटुम्बार्थं लिए गये धन को कुटुम्वी लौटायें-

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः । बातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तं रिप स्वतः ॥१६६॥(१०२)

(कुटुम्बार्थं व्ययः कृतः) यदि किसी व्यक्ति ने परिवार के लिए ऋण लेकर खर्च किया हो ग्रीर (यदि ग्रहीता नष्टः स्यात्) यदि ऋगा लेने वाले की मृत्यु हो गई हो तो (तत्) वह ऋगा (बान्धवैः) उसके पारिवारिक सम्बन्धियों को (विभवतैः + ग्रिप) चाहे वे ग्रलग-ग्रलग भी क्यों न हो गये हों (स्वतः) ग्रपने घन में से (दातव्यम् स्यात्) देना चाहिए।। १६६।।

> कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि यं व्यवहारं समाचरेत् । स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ।।१६७॥(१०३)

(ग्रधि + ग्रधीन: + ग्रिप) कोई ग्रधीनस्थ व्यक्ति [पुत्र, पत्नी ग्रादि] भी यदि (कुटुम्बार्थे) परिवार के भरगा-पोषण के लिए (स्वदेशे वा विदेशे वा) स्वदेश वा विदेश में (यं व्यवहारम् + ग्रावरेत्) जिस लेन-देन के व्यव-हार को कर लेवे (ज्यायान्) घर का बड़ा = मुखिया ग्रादमी (तं न विचा-लयेत्) उस व्यवहार को टालमटोल न करे ग्रथीत् उसे स्वीकार करके चुकता कर दे।। १६७।।

बलात् कराई गई सब बातें ग्रमान्य—

बलाद्दत्तं बलाद् भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् । सर्वान्बलकृतानथनिकृतान्मनुरद्भवीत् ।। १६८ ।।

(बलात् दत्तम्) जबरदस्ती दी हुई वस्तु (बलात् भुक्तम्) जबरदस्ती उपभोग में लायी वस्तु (च + ग्राप) ग्रौर (बलात् लेखितम्) जबरदस्ती लिखवाये गये कागज आदि (सर्वात् बलकृतान् + ग्रथान्) सभी जबरदस्ती से किये गये कामों को (मनुः ग्रकृतान् अन्नवीत्) मनु ने नहीं किये गये ग्रथांत् ग्रमान्य कहा है।। १६८॥

त्रयः परार्थे क्लिझ्यन्ति साक्षिगाः प्रतिमूः कुलम् । चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढघो विगङ् नृपः ॥ १६६ ॥

(साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्) साक्षिलोग, जमानती, पारिवारिकजन (त्रयः परार्थे विलश्यिन्त) ये तीनों सदा दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं (तु) ग्रौर (विष्ठः ग्राढघःवणिक् नृपः) ब्राह्मण, साहूकार = ऋणदाता, व्यापारी ग्रौर राजा (चत्वारः उपचीयन्ते) ये चार दूसरों से समृद्ध होते हैं ॥ १६६ ॥

म्रनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पाणिवः। न चादेयं समृद्धोऽपि सुक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत्।। १७०।। (परिक्षीण: + म्रिप पाधिवः) धन से क्षीण हुमा भी राजा (मनादेयं न म्राद-दीत) न लेने योग्य म्रियोत् म्रनुचित धन को न ले (समृद्धः + म्रिप) भ्रौर धन से समृद्ध होते हुए भी (आदेयम्) लेने योग्य अर्थात् उचित (सूक्ष्मम् + म्रिप + म्र्यं न उत्सृजेत्) थोड़े धन को भी न छोड़े ॥ १७०॥

### श्रनादेयस्य च।दानादादेयस्य च वर्जनात्। दौबंत्यं स्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नत्यति ॥ १७१ ॥

(ग्रनादेयस्य ग्रादानात्) अनुचित धन के लेने से (च) ग्रीर (ग्रादेयस्य वर्जनात्) लेने योग्य उचित धन के छोड़ने से (राज्ञः दौबंत्यं ख्याप्यते) राजा की दुर्बंलता समभी जाती है (स.) ग्रीर वह राजा [इस ग्रधमं के कारण] (इह च प्रेत्य नश्यति) इस जन्म में [ग्रपयश के कारण] ग्रीर परजन्म में [ग्रधमं फल के कारण] विनाश को प्राप्त होता है।। १७१।।

### स्त्रादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षरणात्। बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्षते ॥ १७२ ॥

(स्व + म्रादानात्) उचित धन लेने से (वर्णसंसर्गात्) वर्णों के परस्पर ठीक सम्बन्ध रखने से (च) म्रौर (म्रवलानां रक्षणात्) निर्बलों की रक्षा करने से (राज्ञः बलं संजायते) राजा की शक्ति बढ़ती जाती है और (सः) वह (इह च प्रेत्य वर्धते) इस जन्म और परजन्म में समृद्धि को प्राप्त होता है [:तु'पादपूर्त्यर्थ है] ॥ १७२ ॥

### तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये । वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितकोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

(तस्मात्) इसलिए (स्वामी) राजा (यमः + इव) यमराज के समान (स्वयं प्रिय + ग्रप्रिये हित्वा) अपने प्रियं तथा ग्रप्रियं को त्यागकर (जितक्रोधः) क्रोध को जीत-कर (जितेन्द्रिय) इन्द्रियों को वश में करके (याम्यया वृत्त्या) यम के सदश समानभाव से (वर्तेत) वर्ताव करे।। १७३॥

### यस्त्वधर्मेंगा कार्यागा मोहात्कुर्यान्तराधिपः । स्रविरात्तं दूरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

(यः तुनराधिपः) जो राजा (मोहात्) मोह से वशीभूत होकर (अधर्मेण) अधर्मपूर्वक (कार्याणि कुर्यात्) कार्य करना है (तं दुरात्मानम्) उस दुष्टात्मा राजा को (अविरात्) शीघ्र ही (शत्रवः वशे कुर्वन्ति) शत्रु लोग वश में कर लेते हैं ॥ १७४॥

#### कामकोषौ तु संयम्य योऽर्थान्थ्रमेंस प्रस्यति । प्रजास्त्रप्रनुवर्तन्ते ससुद्रमित्र सिन्धवः ॥ १७५ ॥

(यः) जो राजा (कामक्रोधो तु संयम्य) काम और क्रोध को त्यागकर (ग्रर्थान्) मुकद्भों को (धर्मेण) धर्म = न्याय के श्रनुसार (पश्यित) देखता है = निर्णय करता है

(तं) उस राजा को (सिन्धवः समुद्रम् + इव प्रजाः ग्रनुवर्तन्ते) जैसे निदयौ समुद्र का ग्रनुगमन करती हैं, वैसे प्रजाएं भी उसका ग्रनुगमन करती हैं।। १७५।।

### यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स रात्रा तच्चतुर्भागं वाप्यस्तस्य च तद्धनम्।। १७६।।

(यः) जो कर्जदार (छन्देन साधयन्तम्) स्वेच्छा से धन वसूल करते समय (धिनकं नृषे निवेदयेत्) ऋणदाता धनी की राजा को शिकायत करे तो (राज्ञा सः तत् चतुर्भागं दाप्यः) राजा उस व्यक्ति को चतुर्थांश धन से दिण्डत करे (च) ग्रौर (तस्य तत् धनम्) उस धनी का सारा धन भी दिलवाये॥ १७६॥

### कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधर्माणकः । समोऽवकुष्टजातिस्तु दद्याच्छ्ने यांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

(स्रधर्माणकः) कर्जदार व्यक्ति यदि ऋए। देने में स्रसमर्थं हो (तु) स्रौर (समः + स्रवक्तृष्टजातिः) समान या निम्न जाति का हो तो (धिनकाय) धिनक के यहां (कर्मणा + स्रिप समं क्रुर्यात्) शरीर का काम करके भी व्याज या ऋण को चुका दे (तु) किन्तु यदि वह (श्रेयान्) ऊँची जाति का है तो (तन् + शनैः दद्यात्) उस ऋण या व्याज को थोड़ा-थोड़ा करके किश्तों में चुका दे।। १७७॥

अनुराह्मिकनः १६८ से १७७ श्लोक निम्न ग्राधार के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. शैलीगत आधार—१६८ वें क्लोक में "मनुः ग्रववीत्" पदों से यह स्पष्ट जात होता है कि यह रचना मनु से भिन्न परवर्ती व्यक्ति की है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर इस पर ग्राधारित ग्रन्य सभी क्लोक स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं।
- २. प्रसंगिवरोध— (१) पूर्वापर क्लोक में 'ऋण देने-लेने' का प्रसंग है। १६६ से १ और क्लोकों में राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है, जो यहाँ असंगत है। इस असंगित के कारण ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) ऋण लेने-देने से सम्बन्धित सभी बातों का प्रसंग १६७ तक पूर्ण हो चुका है। प्रसंग-समाप्ति के पश्चात् १७६-१७७ में पुनः साहूकार ग्रीर कर्गदार का प्रसंग चनाना प्रसंगिवरुद्ध है। अतः इस ग्राधार पर ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. ग्रन्तिवरोध १७७ वें बलोक में जो महाजन द्वारा ऋ एा के बदले काम कराने का कथन किया है, वह मनु की व्यवस्था से विरुद्ध है। यहाँ राजा के द्वारा निर्णय करने का प्रसंग है, न कि महाजन द्वारा स्वयं निर्णय लेने का। न्यायालय में प्रार्थना करने पर राजा निर्णय करके या तो धन दिलायेगा या उसे दण्ड देगा, भीर धन किस प्रकार लौटाना है, यह निर्णय भी राजा ही देगा [८। १६६]। इस ग्राधार पर भी यह क्लोक प्रक्षिप्त है।

ग्रनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृगाम्। साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्यांगि समता नयेत् ॥ १७८ ॥ (808)

(राजा) राजा (मिथः विवदतां नृणाम्) परस्पर भगड़ते हुए मनुष्यों के (साक्षि-प्रत्ययसिद्धानि कार्याणि) साक्षी ग्रीर लेख ग्रादि प्रमाणों से प्रमाणित मुकद्मों को (ग्रनेन विधिना) इस उपर्युक्त [८।१ से ८।१७७] विधि से (समता नयेत्) सबसे बराबर न्याय करता हुन्ना निर्णय करे ।। रेष्ट्र ।।

(२) धरोहर रखने के विवाद का निर्णय (१७६-१६६]

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद् बुधः ॥ १७६ ॥ (१०५)

(बुधः) बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि वह (कुलजे) कुलीन (वृत्त-सम्पन्ने) ग्रच्छे ग्राचरण वाले (धर्मज्ञे) धर्मात्मा (सत्यवादिनि) सत्यवादी (महापक्षे) विस्तृत व्यापार या बहुत परिवार वाले (आर्ये धर्निनि) श्रेष्ठ धनवान् व्यक्ति के यहां (निञ्जेपं निक्षिपेत्) धरोहर रखे ।। १७६ ।।

> यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमथँ यस्य मानवः। स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ।। १८० ।। (१०६)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (मानवः) मनुष्य (यम् + ग्रर्थम्) जिस धन को (यस्य हस्ते) जिस किसी के हाथ में (यथा निक्षिपेत्) जैसे प्रथीत् मुहरबन्द या बिना मुहरबन्द, साक्षियों के सामने या एकान्त में, जैसी धन की मात्रा ग्रवस्था ग्रादि के रूप में रखे (सः) वह धन (तथा + एव) वैसो स्थिति के अनुसार ही (ग्रहीतव्यः) वापिस लेना चाहिए क्योंकि (यथा दायः तथा ग्रहः) जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थ द्रष्टब्य दा१६५]

11 250 11

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति। स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ।। १८१।। (१०७)

(यः) जो धरोहर रखने वाला (निक्षेप्तः निक्षेपम्) धरोहर रखाने वाले के द्वारा अपनी धरोहर के (याच्यमानः) मांगने पर (न प्रयच्छिति) नहीं लीटाता है तो [धरोहर रखाने वाले के द्वारा न्यायालय में प्रार्थना करने पर] (तत् निक्षेष्तु: + ग्रसन्निधौ) धरोहर रखाने वाले की ग्रनुपस्थिति में या परोक्षरूप से (प्राड्विव।केन सः याच्यः) न्यायाधीश उससे घराहर मांगे [दा१द२] ग्रर्थात् धरोहर लौटाने के लिये उससे पूछताछ ग्रादि करे। ।। १द१।।

### साक्ष्यभावे प्रिश्चिभिवंयोरूपसमन्वितः । अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥ (१०८)

(साक्षी + ग्रभावे) दिये गये धरोहर-धन को सिद्ध करने के लिए यदि साक्षी न हों [तो उसकी जांच-पड़ताल का एक उपाय यह है कि राजा] (वय:-रूप-समन्वितः) समयानुसार ग्रवस्था ग्रीर विविध रूप बनाने की कला में चतुर (प्रणिधिभिः) गुप्तचरों के द्वारा (ग्रपदेशः) विभिन्न बहानों एवं तरीकों से (तत्त्वतः) जो नकली प्रतीत न हों ग्रर्थात् ऐसी स्वा-भाविक पद्धित से (तस्य) उस अभियोगी के यहां (हिरण्यं संन्यस्य) स्वर्ण ग्रादि धरोहर ग्रादि का धन रखवाकर फिर मांगे ॥ १८२॥

### अनुरारित्रनाः हिरण्य से विशेष ग्रमिप्राय--

'हिरण्य' का प्रसिद्ध अर्थ स्वणं है। किसी भी अतिमूल्यवान् वस्तु को भी 'हिरण्य' कहा जाता है। यहां 'हिरण्य' रखकर परीक्षा करने की विधि बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यतोहि लालची व्यक्ति महंगी वस्तु पर अधिक लालच प्रकट करेगा, जिससे उसकी भावना प्रकट हो जायेगी कि इसने इस प्रकार का अपराध किया है अथवा नहीं।

### स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् । न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ (१०६)

(सः) वह घरोहर लेने वाला स्रभियोगी व्यक्ति [ स्रनेक बार, विभिन्न प्रकार के उपायों से परीक्षा करने के पश्चात्] (यदि यथान्यस्तं यथाकृतं प्रतिपद्येत्) यदि रखी हुई घरोहर को ईमानदारी से ज्यों का त्यों वापिस कर देता है तो (यत् परं: + स्रभियुज्यते) जो दूसरों के द्वारा उस पर स्रभि योग लगाया गया है (तत्र न किचित् विद्यते) उसमें कुछ सच्चाई नहीं है, ऐसा समक्तना चाहिए ॥ १८३॥

> तेषां न बद्याद्यदि तु तिद्धरण्यं यथाविधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४॥ (११०)

(यदि तु) ग्रीर ग्रगर (तेषां तत् हिरण्यम्) उन गुप्तचरों द्वारा रखो गई स्वर्ग ग्रादि घरोहर को (यथाविधि) ज्यों का त्यों (न दद्यात्) न लौटावे तो (उभौ निगृह्य) धरोहर रखाने वाले तथा गुप्तचरों द्वारा रखी गई, उन दोनों घरोहरों को अपने वश में लेकर (दाप्यः स्यात्) घरोहर रखने वाले को दण्डित करे (इति धर्मस्य घारणा) ऐसा धर्मानुसार दण्ड-विधान है ॥१८४॥

> निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नइयतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाज्ञिनौ ॥ १८४ ॥ (१११)

(नित्यम्) कभी भी (निज्ञेप+उपनिधो) बिना मुहरबन्द = गिरवी धरोहर स्रोर मुहरबन्द धरोहर (स्रनन्तरे प्रति) देने वाले से भिन्न निकट-तम व्यक्ति को [चाहे वे पुत्र स्रादि ही क्यों न हो ॣ (न देयों) नहीं देनी चाहियें (तो) ये (विनिपाते नश्यतः) देने वाले के मर जाने पर नष्ट हो जाती हैं स्रर्थात् लौटानी नहीं पड़तीं (तु) स्रोर (स्रनिपाते) जीवित रहते हुए (स्रनाशिनो) कभी नष्ट नहीं होतीं।। १८५।।

> स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे। न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेष्तुत्रव बन्धुभिः ॥१८६॥(११२)

(मृतस्य ग्रनन्तरे प्रति) धरोहर देने वाले के मरजाने पर उसके वारिसों को (यः स्वयम् + एव दद्यात्) जो व्यक्ति स्वयं ही धरोहर लौटा दे तो (सः) उस व्यक्ति पर (न राज्ञा) न तो राजा को (न निक्षेप्तुः बन्धिभः) ग्रौर न धरोहर रखाने वाले के उत्तराधिकारी बान्धवों को (नियोक्तव्य): किसी प्रकार का दावा या संदेह करना चाहिए।। १८६।।

ग्रच्छलेनेव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्। विचार्यं तस्य वा वृत्तं साम्नेव परिसाधयेत् ॥१८७॥ (११३)

(तम् + म्रथंम) यदि उस व्यक्ति के पास कुछ धन रह भी गया है तो उस धन को (अच्छलेन) छलरहित होकर (प्रीतिपूर्वकम् + एव) प्रेमपूर्वक ही (अन् + इच्छेत्) लेने की इच्छा करे (वा) भीर (तस्य वृत्तं विवायं) उसके भलेपन को ध्यान में रखते हुए [कि उसने स्वयं ही कुछ धन लौटा दिया] (साम्ना + एव पिरसाधयेत्) शान्तिपूर्वक या मेल-जोल से ही धन-प्राप्ति के काम को सिद्ध करले।। १८७।।

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने । समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥(११४)

(एषु सर्वेषु निक्षेपेषु) उपर्युक्त सब प्रकार के बिना मुहरवन्द निक्षेपों में (परिसाधने) विवादों का निर्णय करने के लिए (विधिः स्यात्) यह विधि [दा१द२ ग्रादि] कही गयी है ग्रीर (समुद्रे) मोहरवन्द धरोहरों में (यदि तस्मात् न हरेत्) यदि उसमें से मुह्र को तोड़कर रखने वाला कुछ नहीं लेता है तो (किञ्चित् न + ग्राप्तुयात्) वह किसी दोष का भागी नहीं होता॥ १८८॥

## चौरेह्र्तं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा। न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किञ्चन ॥१८६॥ (११४)

(तस्मात्) रखे हुए घरोहर में से (यदि सः किञ्चन न सहरित) यदि घरोहर लेने वाला कुछ नहीं लेता है ग्रीर घरोहर (चौरें: हृतम्) चोरों के द्वारा चुरा ली जाये (जलेन + ऊढम्) जल में बह जाये (वा) या (ग्रिग्निना एव दग्धम्) ग्राग से ही जल जाये तो (न दद्यात्) घरोहर लेने वाला घरोहर को न लौटाये ॥ १८६॥

#### निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्ताः मेव च। सर्वे रुपायैरन्विच्छेच्छपयैश्चेव वैदिकैः ॥ १६०॥

(निक्षेपस्य + ग्रपहर्तारम्) धरोहर का ग्रपहरण करने वाले ग्रथीत् वापिस न लौटाने वाले का (च) ग्रौर (ग्रनिक्षेष्तारम् + एव) बिना दिये ही घरोहर मांगने वाले का (सर्वे: उपायै:) सब साम, दण्ड आदि उपायों से (च) ग्रौर (वैदिकै: शपयै:) वैदिक शपयों से (अनु + इच्छेत्) निर्णय करे ।। १६०॥

### अन्तुरारित्जन्य: १६० वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. ग्रन्तिवरोध-—(१) इस क्लोक में घरोहर ग्रादि का निर्णय शपथ ग्रौर साम, दाम ग्रादि उपायों से बताया है, जबिक पिछला सारा प्रसंग इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि विवादों का निर्णय लिखा-पढ़ी एवं साक्षियों से करना चाहिये (०। ५२, ५७; ६। ४४, ४५)। (२) शपथ को मनु ने कहीं सत्य या न्याय का ग्राधार नहीं माना है। यदि शपथ को ही सत्य का ग्राधार मान लिया जाये तो, यों तो सभी शपथ कर लेंगे! इस तरह राजा को ग्राकृति-संकेत आदि से लोगों के ग्रन्तर्मन को जानने की (६। २५, २६) ग्रावश्यकता ही कहां रह जाती है? मनु इस बात को सत्य का ग्राधार नहीं मानते, इसलिए सच्चे, भूडे साक्षियों की परख की बात कहते हैं ग्रौर साक्षियों के ग्रभाव में वे गुप्तचरों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का विधान करते हैं (६। १६२-१६४)। इस विरोध के कारणा यह इलोक प्रक्षिप्त है।

# यो निक्षेपं नार्पयति यदवानिक्षिप्य याचते । तानुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तस्समं दसम् ॥१६१॥(११६)

(यः) जो (निक्षेपंन + ग्रपंयित) धरोहर को वापिस नहीं लौटाता (च) ग्रीर (यः) जो (ग्रनिक्षिप्य याचते) बिना धरोहर रख्ने भूठ ही मांगता है (तो + उभौ) वे दोनों प्रकार के व्यक्ति (चौरवत् शास्यौ) चोर के समान दण्ड के भागी हैं (वा) अथवा (तत् समंदमं दाप्यौ) बताये गये धन के बराबर अर्थदण्ड के द्वारा दण्डनोय हैं।। १९१।।

> निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं वापयेद्दमम् । तयोगनिधिहर्तारमविशेषेण पायिवः ॥ १६२ ॥

(पार्थिवः) राजा (निक्षेतस्य + प्रपहृतारम्) धरोहर का अपहरण करने वाले ग्रथित् वापिस न लौटाने वाले को (तत् समंदमंदापयेत्) उस धरोहर के बराबर का अर्थदण्ड करे (तथा) उसी प्रकार (प्रविशेषेण) 'समानरूप से उत्तना ही दण्ड ृ(उप-निधिहर्तारम्) उपनिधि हरने वालों को भी दे॥ १६२॥

# अन्तु श्रीत्उनः : १६२ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

पुनक्षित—१६१ वें क्लोक में निक्षेपहर्ताको समान दण्ड देने का विधान कर दिया है। उपनिधिका विधान भी उसी में भ्रन्तभूत हो जाता है। १६२ में पुनः उस बात का कथन पुनक्षितमात्र है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।

उपधाभिश्च यः किश्वत्परद्वव्यं हरेन्नरः। ससहायः सहन्तव्यः प्रकाशं त्रिविधैर्वेधैः॥ १६३॥ (११७)

(यः किश्चत् नरः) जो कोई मनुष्य (उपधािभः) छल -कपटया जाल-साजी से (परद्रव्यं हरेत्) दूसरों का धन हरण करे (सः) राजा उसे (सस-हायः) उसके सहायकों सहित (प्रकाशम्) जनता के सामने (विविधेः वधैः हन्तव्यः) विविध प्रकार के वधों [कोड़े या बेंत मारना, हाथ-पैर काटना श्रादि] से दण्डित करे।। १६३।।

# निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्तिष्ठौ । तावानेव स विज्ञेयो विज्ञुवनशण्डमहंति ॥१९४॥ (११८)

(कुलसन्तिघो) साक्षियों के सामने (येन) जिसने (यः च यावान् निक्षेपः कृतः) जो वस्तु ब्रोर जितना धरोहर के रूप में रखा है (सः) वह (तावान्+एव विज्ञेयः) उतना ही समभता चाहिए ग्रर्थान् धरोहर घटतो या बढ़ती नहीं है (विश्रुवन्) उसके विरुद्ध कहने वाला भो (दण्डम्+ग्रहंति) दण्ड का भागी होता है ।। १९४।।

> मियो दायः कृतो येन गृहीतो मिय एव वा । मिय एव प्रदातन्यो यथा दायस्तया ग्रहः ॥१९४॥ (११६)

(येन मिथः दायः कृतः) जिस व्यक्ति ने विना साक्षियों के परस्पर ही सहमति से घरोहर या घन दिया है (वा) ग्रथवा (मिथः एव गृहीतः) उसी प्रकार एकान्त में ग्रहण किया है उन्हें (मिथः एव प्रदातव्यः) उसी प्रकार एकान्त में लौटा देना चाहिए (यथा दायः तथा ग्रहः) क्योंकि जैसा देना वैसा ही लेना होता है [तुलनार्थ द्रष्टव्य ६। १६०] ॥ १६५॥

# निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च । राजा विनिर्णयं कुर्यावक्षिण्वन्न्यासधारिरणम् ॥१६६॥ (१२०)

(एवम) इस प्रकार [८।१७६ से ८।१६५ तक] (निक्षिप्तस्य) घरो-हर के रूग में रखे गये (च) ग्रीर (प्रीत्या + उपनिहितस्य घनस्य) प्रेमपूर्वक उपनिधि ग्रादि के रूप में रखे गये घन का (न्यासधारिएाम् ग्रक्षिण्वन्) जिससे घरोहर रखने वाले को किसी प्रकार की हानि न हो ऐसे (राजा विनिर्णयं कुर्यात्) राजा निर्णय करे।।१६६।।

# (३) तृतीय विवाद 'ग्रस्वािमिविक्रय' का निर्णय—१९७-२०५ दूसरे की वस्तु बेच देना—

विक्रीग्गीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः । न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥१६७॥(१२१)

(यः) जो मनुष्य (ग्रस्वामी) किसी वस्तु का स्वामी नहीं होता हुग्रा भी (स्वामी + ग्रसंमतः) उस वस्तु के ग्रसली स्वामी की ग्राज्ञा लिए बिना (परस्य स्वं विक्रीणीते) दूसरे की सम्पत्ति को बेच देता है (ग्रस्तेनमानिनम्) चोर होते हुए भी स्वयं को चोर न समभने वाले (स्तेनं तम्) उस चोर व्यक्ति की (साक्ष्यं न नयेत) साक्षी या बातों को प्रामाणिक न माने ।।१६७।।

# म्रवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् । निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चोरिकत्विषम् ॥१६८॥(१२२)

(स्रवहार्यः सान्वयः एव भवेत्) यदि इस प्रकार [८। १६७] सम्पत्ति को बेचने वाला वंश से स्वामी का उत्तराधिकारी हो तो (षट्शतं दमम्) राजा उस पर छह सो पण दण्ड करे स्रोर यदि वह (निरन्वयः) स्वामी के वंश का न हो, तथा (स्रन्यसरः) या कोई जबरदस्ती उस सम्पत्ति पर स्रिधकार करने वाला हो तो वह (चौरिकित्विषं प्राप्तः स्यात्) चोर के दण्ड को [८। ३०१-३४३] प्राप्त करने योग्य होगा ।। १६८। ग्रस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा। श्रकृतः स तु विक्रयो व्यवहारे यथा स्थितः ॥१६६॥ (१२३)

(ग्रस्वामिना) वास्तविक स्वामी के बिना (यः तु दायः वा विक्रयः कृतः) जो कुछ भी देना या बेचना किया जाये (व्यवहारे यथा स्थितिः) व्यवहार के नियम के अनुसार (सः तु श्रकृतः विज्ञेयः) उस कार्य को 'न किया हुआ,' ही समक्षना चाहिए।। १९९।।

> सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः ववचित् । द्रागमः कारएां तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥२००॥ (१२४)

(यत्र सम्भोगः दृश्यते) जहां किसो वस्तु का उपभोग किया जाना देखा जाये (स्नागमः कवित् न दृश्यते) किन्तु उसका स्नागम = स्नाने का साधन या स्नोत न दिखाई पड़े (तत्र) वहाँ (म्नागमः कारणम्) स्नागम = वस्तु का प्राप्ति के स्नोत या साधन के होने का प्रमाण मानना चाहिए (संभोगः न) उपभोग करना उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं है (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है। स्रर्थात्—िकसी वस्तु के उपभोग करने से कोई व्यक्ति उसका स्वामो नहीं बन जाता स्रिपतु 'उचित प्राप्ति' को सिद्ध करने पर ही उसे उस वस्तु का स्वामी माना जा सकता है। २००॥

विक्रयाद्यो घनं किञ्चिद् गृह्णीयात्कुलसन्निघौ । क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते घनम् ॥२०१॥ (१२४)

(यः) जो ब्यक्ति (कि खित् विक्रयात्) किसी वस्तु को बेचकर (धनं गृह्णीयात्) धन प्राप्त करना चाहे तो वह (कुलसिन्नधी) साक्षियों या कुल के लोगों के बीच में (विशुद्धं क्रयेण हि) उस बेची जाने वाली वस्तु की खरीददारी को विशुद्ध प्रमाणित करके ही (न्यायतः धनं लभते) न्यायानुसार धन प्राप्त करने का ग्रधिकारी होता है ग्रर्थात् जिस वस्तु को वह बेच रहा है वह विशुद्ध रूप से उसकी है या उसने कानूनी तौर पर खरीद रखी है, यह बात सिद्ध करने पर ही वह उस बेची हुई वस्तु के धन को प्राप्त करने का ग्रधिकारी है, ग्रन्यथा नहीं। जो उसकी विशुद्ध खरीदारी को प्रमाणित नहीं कर सकता, वह न उस वस्तु को बेचने का हकदार है ग्रीर न उसके विक्रय के धन को प्राप्त करने का।। २०१।।

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः। ग्रदण्डचो मुख्यते राज्ञा नाष्टिको लभते घनम् ॥२०२॥ (१२६) (ग्रय मूलम् + ग्रनाहार्यम्) ग्रगर कोई वस्तु न लेने योग्य ग्रर्थात् अवैध सिद्ध होतो है अर्थात् मूलरूर से वह कहाँ से आयी है और किस की है यह पता न हो और खरीददार ने उस वस्तु की (प्रकाश-क्रय-शोधितः) लोगों के सामने शुद्ध रूप से खरीददारी की है, तो ऐसी स्थिति में उस अवैध वस्तु का खरीददार (राज्ञा अदण्डचः मुच्यते) राजा के द्वारा दण्डनीय नहीं होता, राजा उमे छोड़ दे, और (नाष्टिकः धनं लभते) जिसका वह धन मूलरूप से हैं. उसे लौटा दे।। २०२।।

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमहंति । न जासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥२०३॥ (१२७)

(ग्रन्येन ग्रन्यत् संसृष्टरूपम्) एक वस्तु में उससे मिलते-जुलते रङ्ग-रूप वाली कम कीमत वाली या खराब वस्तु मिलाकर (न विक्रयम् + ग्रहित) नहीं बेची जा सकती (च) श्रीर (न ग्रसारम्) न बेकार वस्तु (न न्यूनम्) न तोल में कम (न दूरेण तिरोहितम्) न दूर से ग्रस्पष्ट दिखने वाली वस्तु को बेचना प्रामाणिक है।। २०३।।

श्रान्तुर्शित्जन्तः इस प्रकार से वस्तुर्शों का बेचना भी दूसरे की वस्तु बेचने के समान दण्डनीय है। श्रीर इस प्रकार मिलावट या घोला करने वाला व्यक्ति भी चोर के समान दण्डनीय होता है [१६७-१६८] या १। २८६-२८७ के श्रनुसार दोष देखकर दण्ड दे।

ब्रन्यां चेद्दर्शयित्वा वोढुः कन्या प्रदीयते । उमे त एकशुल्केन वहेदित्यव्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

(स्रन्यां दर्शयित्वा) किसी सुन्दर दूसरी कन्या को दिखाकर (वोदुः) वर को (स्रन्या चेत् कन्या प्रदीयते) स्रगर उससे भिन्न दूसरी कन्या ब्याह दी जाये (ते उभे) उन दोनों को (एक शुल्केन) एक कन्या के लिए निश्चित किये गयेः उसी मूल्य में (वहेत्) वर विवाह कर ले जाये (इति मनुः स्नब्रवीत्) ऐसा मनु ने कहा है।। २०४।।

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैयुना । पूर्व दोवानभिरुयाच्य प्रदाता दण्डमहीत ॥ २०५ ॥

(उन्मत्तायाः) पागल (कुष्ठिन्या) कोढ़ी (च) श्रीर (या स्पृष्टमैथुना) जिसके साथ पहले मैथुन हो चुका है (पूर्व दोपान् + श्रीभस्याप्य) ऐसी कन्या के दोषों को पहले बतलाकर (प्रदाता) जो वर को कन्या प्रदान करता है (दण्ड न + श्रहंति) वह दण्डनीय नहीं होता।। २०५।।

अत्र क्र्यू है हिन्दु क्या : २०४— २०५ व्लोक निम्न स्नाधारों पर प्रक्षिप्त हैं। १. जीलीगत स्नाधार—-२०४ व्लोकोक्त 'इति सक्रवीत् मनुः' पदों द्वारा यह श्लोक मनु से भिन्न किसी म्रन्य परवर्ती व्यक्ति की रचना सिद्ध होती है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है । २०५ वां श्लोक इससे सम्बद्ध है, ग्रतः इसके प्रक्षिप्त होने पर वह भी स्वतः प्रक्षिप्त बन जाता है ।

- २. प्रसंगविरोध—यहाँ १६७ से 'दूसरे की वस्तु को बेचने' के विवाद निर्णय का प्रसंग है। इससे कन्या को बदलने की चर्चा करना प्रचलित प्रसंग से विरुद्ध बात है, श्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. अन्तर्विरोध—इन इलोकों के वर्णन से ध्वनित होता है कि इन इलोकों का रचयिता कन्या को विक्रय की वस्तु मानता है। यह मान्यता मनु के विरुद्ध है। मनु ने विना शुल्क के विवाहों का विधान किया है (३।५१—५४)। इस प्रकार शुल्क का प्रश्न ही नहीं उठता।
- (४) चतुर्थ विवाद 'सासूहिक व्यापार' का निर्णय [२०६-२११] मिलजुलकर उन्नित या व्यापार करना—

ऋत्विष्यिव वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहाययेत्। तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्नृभिः॥ २०६॥

(यदि यज्ञे वृतः ऋदिवक्) यदि यजमान के द्वारा यज्ञ मं वरण किया हुग्रा ऋत्विक् [२।११८] (स्वकर्म परिहापयेत्) किसी कारण से ग्रपने काम को पूरा नहीं करता तो (कर्म + ग्रनुरूपेण तस्य) जितना उसने काम किया है उसके हिसाव से उसको ग्रीर (सह कर्तृभिः) उसके सहयोगियों को (ग्रंशः) उनका हिस्सा (देयः) देन चाहिए ॥ २०६ ॥

> दिक्षिणासु च दत्तासु स्वकमं परिहापयन्। कृत्स्नमेत्र लभेतांशमन्येनैत च कारयेत्॥ २०७॥

(च) और यदि (दत्तामु दक्षिणामु) सारी दक्षिणा पहले दे देने पर (स्वकर्म परिहापयन्) फिर यदि कोई व्यक्ति अपना काम पूरा नहीं करता तो (कृत्स्तम + एव क्राची कर्म को कि कि कि कि कि कि कि कि कि कि

#### र्यास्मन्कर्भणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत मजेरन्सर्व एव वा ॥ २०५॥

(यस्मिन् कर्मिणि) जिस कार्य में (याः तु प्रत्यङ्गदक्षिणाः उक्ताः स्युः) जो-जो प्रत्येक विभागानुसार दक्षिणाएं कही हैं (सः + एव) वह मुख्य व्यक्ति ही (ताः + ग्राद-दीत) उन सव को ले ले [ग्रीर फिर कार्यानुसार ग्रन्यों को वाट दे] (वा) ग्रथवा (सर्वे एव भजेरन्) सभी व्यक्ति पहले ही श्रपना हिस्सा निश्चित करलें [श्रौर फिर कार्य करें]।। २०६।।

## रयं हरेत चाध्वर्युं बंह्याधाने च वाजिनस् । होता वाऽपि हरेदश्वमुक्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०६ ॥

(प्राधाने) आधान कार्य में (ग्रध्वर्यु: रथं हरेत) 'ग्रध्वर्युं' रथ को ले (ब्रह्मा वाजिनम्) 'ब्रह्मा' घोड़ को (होता ग्रध्वम्) 'होता' घोड़े को (च) ग्रौर (उद्गाता ग्रनः क्रये) 'उद्गाता' सोमक्रय के लिए शकट = गाड़ी को (हरेत्) प्राप्त करे॥ २०६॥

## अनुशरिकनाः २०६--२०६ तक श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं--

१. प्रसंगिवरोध — प्रसंग-संकेतक श्लोक (८।४) के ग्रनुसार यहां साक्षा व्या-पार का प्रसंग है। इस प्रसंग में प्रत्येक साक्षे व्यापार से सम्बन्धित साधारण व्यवस्था है न कि पद-विशेष के ग्राधार पर वस्तुग्रों के विभाजन की व्यवस्था। इन श्लोकों में केवल यज्ञ-कार्य में वस्तुग्रों के विभाजन का उल्लेख इस प्रसंग के ग्रनुकूल नहीं है। (२) इससे उक्त चार श्लोकों में 'साक्षे व्यापार में विभाजन की व्यवस्था' का वर्णन न होने से इनकी सम्बद्धता है। इस प्रकार प्रसंगविरोध के ग्राधार पर ये प्रक्षिप्त हैं।

# सर्वेषामधिनो मुख्यास्तदर्थेनाधिनोऽपरे । तृतोयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥२१०॥ (१२८)

[अपने धनव्यय के चनुसार] (सर्वेषां मुख्याः प्रधिनः) सत्र साभी-दारों मे जो मुख्य हैं, वे कुल ग्राय के ग्रांथे भाग को लें (ग्रपरे ग्रंधिनः तत् ग्रंधिन) दूसरे नंबर के साभीदार उनने ग्रांथा भाग ग्रहण करें (तृतीयिनः तृतीयांशाः) तीसरे नम्बर के साभीदार उन मुख्यों से एक तिहाई भाग लें (च) ग्रौर (चतुर्थांशाः पादिनः) चौथे हिस्से के हिस्सेदार एक चौथाई हिस्सा लें। इस प्रकार साभी का व्यापार करें।। २१०।।

# ्य सम्मित्त व**र्षास्य कुर्वद्वित्तिह् सानवैः ।** तः समित्रिक्ताः अस्य स्वर्वस्य (५५०)

(इह) इस ससार में (संभूय स्वानि कर्मािए कुर्वद्भिः मानवैः) भिल-जुलकर ग्रपने काम करने वाले मनुष्यों को (ग्रनेन विधियोगेन) इस विभि के श्रनुसार (ग्रंशप्रकल्पना कर्त्तव्या) श्रापस के भाग का बंटवारा करना चाहिए ग्रथीत् जिसका जितना साभे का शंश है तदनुसार ही लाभांश प्राप्त करना चाहिए ॥ २११ ॥

# (४) पञ्चम विवाद 'दिये पदार्थ को न लौटाना' का निर्णय—— (२१२—२०३)

दान की हुई वस्तु को लौटाना-

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मेचिद्याचते धनम्। पश्चाच्च न तथा तत्स्यात्र हेयं तस्य तद्भवेतु ॥२१२॥ (१३०)

(येन) जिसने (कस्मैचित् याचते) किसी चंदा मांगने वाले को (धर्मार्थं धनं दत्तं स्यात्) धर्मकार्यं के लिए धन दिया हो (च) ग्रौर (पश्चात्) बाद में (तथा तत् न स्यात्) उस याचक ने जैसा कहा था वह काम नहीं किया हो तो (तस्य तत् न देयं भवेत्) उसको वह धन देने योग्य नहीं रहता ग्रथात् वह धनं उससे नापिस ले ले।। २१२।।

यदि संसाधयेत्तत् दर्पाल्लोभेन वा पुनः। राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः।।२१३॥ (१३१)

(पुनः) वापिस मांगने पर भी (दर्पात् वा लोभेन) ग्रिभमान या लालचवश (यदि तत् संसाधयेत्) फिर भी उस घन को वह याचक मनमाने काम में लगाये ग्रर्थात् वापिस न करे तो (राज्ञा) राजा (तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः) उसके चोरीरूप ग्रपराध की निवृत्ति के लिए (सुवर्ण दाप्यः स्यात्) एक 'सुवर्ण' [८। १३४] के दण्ड से दण्डित करे, ग्रीर धन भी दिलवाये।। २१३।।

(६) षष्ठ विवाद 'वेतन-ग्रादान' का निर्णय--(२१४-२१७) वेतन देने, न देने का विवाद--

> दत्तस्यैषोदिता धर्म्या ययावदनपक्रिया। ग्रत अर्थ्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥ (१३२)

(एषा) ये [८।२१२-२१३] (दत्तस्य) दिये हुए दान को (यथावत् + ग्रनपक्रिया) ज्यों की त्यों न लौटाने की क्रिया (धर्म्या) धर्म के ग्रनुसार (उदिता) कही ।

(म्रतः + ऊर्घ्वमः) इसके बाद म्रब (वेतनस्य + म्रनपिक्रयाम्) वेतन न देने के विषय का (प्रवक्ष्यामि) वर्गान करूंगा ॥ २१४॥

> भृतो नार्तो न कुर्याचो दर्गाःकर्म यथोदितम्। स दण्डचः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्।।२१४।। (१३३)

(यः) जो (भृतः) सेवक (ग्रनातः) रोगरहित होते हुए भी (यथा कि उदितं कमं) यथा निश्चित काम को (दर्पात्) ग्रहंकार के कारण (अ कुर्यात्) न करे (सः प्रष्टी कृष्णलानि दण्डचः) राजा उस पर ग्राठ 'कृष्णला [७।१३४] दण्ड करे (च) ग्रीर (ग्रस्य वेतनं न देयम्) उसे उस समय का वेतन न दे॥ २१५॥

म्रार्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः । स वीर्यस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥ (१३४)

यदि सेवक (स्वस्थः सन्) स्वस्थ रहता हुग्रा (यथाभाषितम् मग्रादितः कुर्यात्) जैसा पहले कहा था या निश्चय हुग्रा था उसके ग्रनुसार ठीक-ठीक काम करता रहे तो (सः) वह (ग्रातंः तु) बीमार होने पर भी (तत् दीर्घस्य कालस्य + ग्रापि वेतनं लभेत) उस लम्बे समय के वेतन को पाने का ग्राधि-कारी होता है।। २१६।।

ययोक्तमार्तः सुस्यो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् । न तस्य वेतनं वेयमल्पोनस्यापि कर्मगुः ॥ २१७ ॥

(म्रार्तः वा सुस्थः) रोगी हो या स्वस्थ हो (यः) जो सेवक (यथोक्तं कर्मं न कारयेत्) निश्चित किये या कहे काम को न करे या न कराये तो (म्रल्प + ऊनस्य + म्रिप कर्मणः) यदि उस काम में से थोड़ा-सा भी काम बाकी छोड़ देता है तो (तस्य वेतनं न देयम्) उस पूरे ही काम का वेतन उसे नहीं देना चाहिए ॥ २१७॥

# अवस्तुर्धीत्जन्तः २१७ वां श्लोक निम्न म्राघार पर प्रक्षिप्त है-

- १. म्रन्तिवरोध—२१६ वें श्लोक में ठीक काम करने वाले कर्मचारी को रुग्एाकाल का वेतन देने का म्रादेश है, किन्तु २१७ में पूरा करने पर ही वेतन देने का म्रादेश है। २१६ से विरोध होने के कारएा बाद का यह विधान प्रक्षिप्त है।
- (७) सप्तम विवाद 'प्रतिज्ञा विरुद्धता'का निर्णय—[२१८—२२१] कृत-प्रतिज्ञा से फिर जाना—

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः। म्रत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयमेदिनाम्॥ २१८॥ (१३४)

(एषः) यह [८।२१५-२१६](वेतनअदानकर्मणः)वेतनन देने का (धर्मः) नियम (म्रखिलेन + उक्तः) पूर्णरूप से म्रर्थात् सभी के लिए कहा ।

(म्रतः ऊर्घ्वम्) इसके बाद म्रब (समयभेदिनाम्) की हुई प्रतिका

या ब्यवस्था को तोड़ने वालों के लिए (धर्मम्) विधान (प्रवक्ष्यामि) कहुँगा।। २१८।।

## यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् । विसंवदेत्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१६ ॥(१३६)

(यः) जो (नरः) मनुष्य (ग्राम-देश-संघानाम्) गांव, देश या किसी समुदाय = कम्पनी ग्रादि से (सत्येन संविदं कृत्वा) सत्यवचनपूर्वक प्रतिज्ञा, व्यवस्था, ठेका या इकरार करके (लोभात् विसंवदेत्) फिर लोभ के कारण उसे भंग कर देवे (तं राष्ट्रात् विप्रवासयेत्) राजा उसे राष्ट्र से बाहर निकाल दे।। २१६।।

# निगृह्य दापयेच्चेनं समयव्यभिचारिणम् । चतुः सुत्रर्णान्विष्नव्कारुछतमानं च राजतम् ॥ २२०॥ (१३७)

(च) भौर (एनं समयव्यभिचारिणम्) इस प्रतिज्ञा या व्यवस्था को भंग करने वाले को [अपराध के स्तरानुसार] (निगृह्य) पकड़कर (चतुः सुवर्णान्) चार 'सुवर्णं' [८।१३४] (षट् निष्कान्) छह 'निष्क' [८।१३७] (राजतं शतमानम्) चौदी का 'शतमान' [८।१३७] (दापयेत्) दण्ड दे।

#### एतदृण्डविधि कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः। ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्।। २२१।। (१३८)

(घार्मिक: पृथिवीपति:) धार्मिक राजा (ग्राम-जाति समूहेषु) गाँव, वर्णे ग्रीर समुदाय-सम्बन्धी विषयों में (समय-व्यभिचारिएााम्) प्रतिज्ञा या व्यवस्था का भंग करने वालों पर (एतत्) यह उपर्युक्त [८।२१६–२२०] (दण्डविधिम्) दण्ड का विधान (कुर्यात्) लागू करे ।। २२१ ।।

# (८) ऋष्टम विवाद 'क्रय-विक्रय' का निर्णय—[२२२-२२८]

खरीद-विक्री का विवाद---

# क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुस्यो भवेत् । सोऽन्तर्वशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चेवाददीत वा ॥२२२॥ (१३९)

(किंचित् क्रीत्वा) किसी वस्तु को खरीदकर (वा) ग्रथवा (विक्रीय) वेचकर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह+ग्रनुशयः भवेत्) मन में पश्चाताप शनुभव हो (सः) वह (ग्रन्तर्दशाहात्) दश दिन के भीतर (तत् द्रव्यम्) उस ययावत् वस्तु को (दद्यात्) लौटा दे (वा) भ्रयवा (भ्राददीत एव) लौटा ले ।। २२२ ।।

## परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्। श्राददानो ददच्चैव राज्ञा दण्डचः शतानि षट्॥२२३॥ (१४०)

(तु) परन्तु (दश + ग्रहस्य परेण) दश दिन के बाद (न दद्यात्) न तो वापिस दे (ग्रिपिन दाययेत्) ग्रीर न वापिस ले इस ग्रविध के बीतने पर (ग्राददानः) यदि कोई वापिस ले (च + एव) या (ददत्) व।पिस दे तो (राज्ञा षट्शतानि दण्डचः) राजा उस पर छः सौ पण [८।१३६] का जुर्माना करे।। २२३।।

#### यस्तु दोषवतीं कन्यामनास्याय प्रयच्छति। तस्य कुर्यान्भृषो दण्डं स्वयं षण्णात्रीतं पर्णान्।। २२४।।

(यः तु) जो व्यक्ति (दोपवतीं कन्याम्) किसी भी दोष से युक्त कन्या को (ग्रनाख्याय) विनादोप बनाये ग्रथित् धोके से (प्रयन्छिति) वर को देता है (तस्य) उस पर (नृपः) राजा (स्वयं पण्णवित् पर्णान् दण्डं कुर्यात्) स्वयं छियानवे पण का दण्डं करे।। २२४।।

#### अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः। स शतं प्राप्तुयाद्ग्ष्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥ २२५॥

(यः मानवः) जो मनुष्य (द्वेषेण) द्वेष के कारण (कन्यां तु स्रकन्या - इति क्रूयात्) किसी कन्या को 'यह' कन्या नहीं है, ऐसा स्राक्षेप लगाये स्रौर (तन्याः द्रोपम् + स्रदर्शयन्) उसके किसी से संभोग स्रादि सम्बन्धों को सिद्ध न कर सके तो (सः शतं दण्डं प्राप्नुयात्) वह सौ पण दण्ड पाने योग्य है ॥ २२५॥

पारिणग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाकन्यासु क्वचिन्नृणां सुप्तधमंक्रिया हि ताः॥ २२६॥

(पाणिग्रहणिका मन्त्राः) विवाह-विषयक मन्त्र (कन्यासु + एव प्रतिष्ठिताः) कन्याग्रों के विवाह में उच्चारण करने के लिए ही विहित हैं (ग्रकन्यासु क्वचित् न) क्षतयोनि स्त्रियों के लिए कहीं भी नहीं कहे (हि) क्योंकि (ताः लुप्तधर्मेक्रियाः) वे क्षतयोनि स्त्रियां धर्म से पतित होती हैं ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहिणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षराम् । तेषां निष्ठातु विजेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥ २२७ ॥

(पाणिग्रहणिका मन्त्राः) विवाहविषयक मन्त्र ही (नियतं दारलक्षणम्) निश्चित-रूप से पत्नी होने के प्रमाण हैं (तेषां निष्ठा तु) उन मन्त्रों की पूर्णता या सिद्धि

(विद्विद्भि: सप्तमे पदे विज्ञेया) विद्वानों को सातवें पद के पूरा होने पर समऋनी चाहिये उससे पूर्व विवाह-संस्कार पूर्ण नहीं माना जाता ॥ २२७ ॥

अर्जुर्रोट्डन : २२४-२२७ श्लोक निम्न ग्राधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगिवरोध : (१) प्रस्तुत प्रसंग 'खरीद-विक्री के विवाद' का है। इस प्रसंग में कन्यादान का वर्णन करना ग्रसंगत है। (२) पूर्वापर २२३, २२८ इलोकों में वस्तुग्रों की खरीद से सम्बन्धित व्यवस्था का वर्णन होने से इलोकों की प्रसंगसम्बद्धता है। इन इलोकों के भिन्न वर्णन ने उस क्रम को भंग कर दिया है। देखिए पूर्वापर इलोक पश्चा-त्ताप ग्रनुभव होने पर उस वस्तु के लौटाने से सम्बन्धित हैं। ग्रतः बीच के इलोक प्रसंग-भक्तक होने से प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रन्तिवरोध इन श्लोको क रचियता की मान्यता कन्या को विक्री की वस्तु मानने की प्रतीत होती है, जो मनुविरुद्ध है। मनु ने तो चार विवाहों को उचित माना है श्रीर इन सभी में शुल्क लेन-देने का स्पष्ट निषेध किया है [२-२०, २६-३४, ३६-४१ ४१-५४]

## यस्मित्यस्मित्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्। तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत्।। २२८।। (१४१)

(यस्मिन् यस्मिन् कार्ये कृते) जिस-जिस कार्य के करने पर (यस्य) जिस व्यक्ति को (इह + अनुशयः भवेत्) दिल मैं पश्चात्ताप अनुभव हो (तम्) उस व्यक्ति को राजा (अनेन विधानेन) इस उक्त [=1२२२—२२७] विधान के अनुसार (धर्मे पथि निवेशयेत्) धर्मयुक्त मार्ग पर स्थापित करे।। २२ ॥

(६) नवम विवाद 'पालक-स्वामी' का निर्णय——(२२६-१४४) पशु-स्वामी म्रोर खालों का विवाद—

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे । विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धमंतस्वतः ॥ २२६ ॥ (१४२)

श्रव मैं (पगुषु) पगुश्रों के विषय में (स्वामिनां च पालानां व्यति-क्रमे) पगु-मालिकों श्रीर चरवाहों में मतभेद हो जाने पर जो भगड़ा खड़ा हो जाता है (विवादम्) उस विवाद को (धर्मतत्त्वतः) धर्मतत्त्व के श्रनुसार (यथावत्) ठीक-ठीक (सम्प्रवक्ष्यामि) कहुँगा—॥ २२६॥

> दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे। योगक्षेमेऽन्यथा चेतु पालो वक्तव्यतामियात्॥ २३०॥(१४३)

(दिवा पाले वनतव्यता) [स्वामी द्वारा पशु चरवाहे को सौंप दिये जाने पर] दिन में चरवाहे पर बुराई या दोष ग्रायेगा [यदि पशु कोई नुकसान करता है या पशु का नुकसान होता है तो] (रात्री तद्गृहे स्वामिनि) रात को स्वामी के घर में पगुग्नों को सौंप देने पर स्वामी पर दोप ग्रायेगा (ग्रन्यया) इसके ग्रतिरिक्त (योगक्षमे चेत् तु) यदि दिन-रात पूर्णतः पशु-सुरक्षा या देखभाल की जिम्मेदारी चरवाहे पर हो तो उस स्थित में (पालः वक्तव्यताम् + इयात्) चरवाहा ही बुराई या दोष का भागी माना जायेगा।। २३०।।

गोपः क्षीरमृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते मृत्यः सा स्यात्पालेऽमृते मृतिः ।।२३१।।(१४४)

(यः तु गोपः क्षोरभृतः) जो चरवाहा स्वामी से वेतन न लेकर दूध लेता हो (सः भृत्यः दशतः वराम्) वह नौकर प्रथम दश गायों में जो श्रेष्ठ गाय हो उसका दूध (गोस्वामी + अनुमतेः दुद्धात्) गोस्वामी की अनुमति लेकर दुहलिया करे (अभृते पाले सा मृतिः स्यात्) भरण-पोषण का व्यय न लेने पर यह दूध ही चरवाहे का पारिश्रमिक है।। २३१।।

> नब्टं विनब्टं कृमिभिः व्वहतं विषमे मृतम् । होनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥ (१४५)

(नष्टम्) यदि कोई पशु खो जाये (कृिमि: विनष्टम्) कीड़ों के पड़ने से मरजाये (श्वहतम्) कुत्ते खा जायें (विषये मृतम्) विपत्ति में फंसकर या ऊंचे-नीचे स्थानों में गिरने से मरजाये (पुरुषकारेण हीनम्) चरवाहे के द्वारा पुरुषार्थं न करने के कारण या उपेक्षा के कारण पशु नष्ट हो जाये तो (पालः ए श्र प्रदद्यात्) चरवाहा हो उस पशु का देनदार है।। २३२।।

विद्युष्य तु हृतं चौरेनं पालो दातुमहैति । यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥२३३॥ (१४६)

(विघुष्य तु चौरैः हृतम्) यदि पशुको जबरदस्ती चोर ले जायें (च) ग्रौर (यदि देशे च काले स्वामिनः स्वस्य शंसित) यदि चरवाहा देश-काल के ग्रनुसार शोघ्र हो अपनी ग्रोर से स्वामो को इसकी सूचना दे देता है तो (पालः दातुन ग्रहित) चरवाहा उस पशुका देनदार नहीं होता ॥ २३३ ॥

> कर्गो चर्न च बालांश्च बस्ति स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्कानि दर्शयेत् ॥२३४॥ (१४७) (पशुषु मृतेषु) पशुग्रों के स्वयं मरजाने पर चरवाहा उस पशु के

(कणी) दोनों कान (चर्म) चमड़ा (बालान्) पूंछ ग्रादि के बाल (बस्तिम्) मूत्रस्थान (स्नायुम्) नसें (रोचनाम्) चर्बी (ग्रङ्कानि दर्शयेत्) इन चिह्नों को दिखा दे ग्रीर (स्वामिनां दद्यात्) स्वामी को उसकी लाश सौंप दे॥ २३४॥

अस्तु श्री त्उन् : चिह्नों के परिगणन से ग्रिमिप्राय — इलोक में परि-गणित चिह्नों को दिखाने का यह ग्रिमिप्राय है कि उन्हें देखकर स्वामी परीक्षण से यह-समभले कि पशु स्वाभाविक मौत से भरा है। किसी लालच या बदले की भावना के कारण इसे विष ग्रादि से मारा नहीं गया।

> ब्रजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । यां प्रसह्य वृक्षो हन्त्यात्पाले तत्कित्विषं भवेत् ॥२३४॥(१४८)

(यजा + प्रविके) वकरी ग्रीर भेड़ (वृकै: संरुद्धे) भेड़ियों के द्वारा घेर लिए जाने पर (पाले तु ग्रनायित) यदि चरवाहा उन्हें बचाने के लिए यहन करने न ग्राये तो (यां प्रसद्धा वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को ग्राक्र-मण करके जवरदस्ती भेड़िया मार जाये तव (पाले तत् किल्विषं भवेत्) चरवाहे पर उसका दोष होगा ग्रायांत् वही उसका देनदार होगा।। २३४।।

> तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने । यामुत्प्लुत्य तृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्विषी ॥२३६॥ (१४६)

(तासां चेत् + ग्रवरुद्धानाम्) चरवाहे ने यदि घेरकर वकरियों ग्रीर भेड़ीं को संभाल रखा है ग्रीर उनके (वने मिथः चरन्तीनाम्) वन में भुण्ड बमाकर चरते समय (याम् + उत्प्लुत्य वृकः हन्यात्) जिस बकरी या भेड़ को एकाएक उछलकर भेड़िया मार जाये तो (तत्र पालः न किल्विषी) वहाँ चरवाहा दोषी नहीं होता ग्रर्थात् देनदार नहीं होता ॥ २३६॥

> धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः। श्रम्यापातास्त्रयो वाऽपि त्रिगुराो नगरस्य तु ॥२३७॥ (१५०)

पशुस्रों के बैठने व घूमने-फिरने के लिए (ग्रामस्य समन्तात्) गांव के चारों स्रोर (धनु शतम) १०० धनुप स्रर्थात् चार सौ हाथ तक (वा) स्रयवा (त्रयः शम्यापाताः) तीन वार छड़ी फेंकने से जितनी दूर जाये वहां तक (ग्रिप तु) स्रोर (नगरस्य त्रिगुणः) नगर में इससे तोन गुना (परीहारः) भूखण्ड (स्यात्) होना चाहिए ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं घाग्यं विहिस्युः पशवो यदि । न तत्र प्ररायेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥२३८॥ (१४१) (तत्र) उस पशुस्थान के पास (यदि ग्रपरिवृतं घान्यं पशवः विहिस्युः) यदि विना घेरा या वाड़ बांबे ब्रन्नों को पशुनष्ट कर दें तो (नृपतिः) राजा (तृत्र) उस विषय में (पशुरक्षिणां दण्डंन प्रणयेत्) चरवाहों को दण्ड न दे ।। २३८ ।।

# वृति तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्र**ं न वारयेत्सर्वं इवसूकरपुखानुगम् ॥२३**६॥ (१५२)

(तत्र) उस पशुस्थान में (याम् + उष्ट्रः न विलोकयेत्) जिससे ऊंट उसके ऊपर से धान्य को न खा सके इतनी ऊंची (वृति कुर्यात्) बाड़ का घेरा बनाये (च) श्रीर उसमें (स्व-सूकर-मुख + अनुगम्) कुत्ते तथा सूश्ररों का मुंह जा सके ऐसे (सर्व छिद्रं वारयेत्) सब तरह के छिद्रों को न छोड़ं या बन्द कर दे ।। २३६ ।।

# पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामः न्तीयेऽथवा पुनः। सपालः शतदण्डार्ही विपालान्वारयेत्पशून्।।२४०॥ (१५३)

(परिवृते) वाड़ से युक्त (पिथ) पशुद्रों के स्रावागमन के रास्ते में (क्षेत्रे) खेतों में (ग्रथवा) या (ग्राम + स्रन्तीये) गांव या नगर के समीप वाले पशुस्थानों में पशुस्रों द्वारा नुकसान पंडुचाने पर (सपालः शतदण्ड + स्रहें:) चरवाहा सौ पण दण्ड का [द। १३६] भागी है (विपालान पशून वारयेत्) किन्तु यदि वे पशु यों ही घूमने वाले स्रर्थात् विना पालक के हों तो उन्हें केवल वहां से हटा दे।। २४०।।

# क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं परामर्हति । सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति घारराा ॥२४१॥ (१५४)

(अन्येषु क्षेत्रेषु तु पशुः) उपयुंक्त श्लोक [६। २४०] में विश्तित खेत आदि भिन्न स्थानों में यदि पशु नुकसान करदें तो (सपाद पणम् + अर्ह्ति) सवा पण दण्ड होना चाहिए [चरवाहा या मालिक जिसकी देखरेख में वह नुकसान हुआ है उसको] (सर्वत्र तु) जहां अधिक या पूरा खेत ही नष्ट कर दिया हो तो (क्षेत्रिकस्य सदः देयः) उस खेत वाले को पूरा हर्जाना देना होगा (इति धारणा) ऐसी नियम की व्यवस्था है।। २४१।।

## म्रनिर्वशाहां गां सूतो वृषान्वेवपश्र्रेंस्तथा। सपालान्वा विपालान्वा न वण्डचान्मनुरव्रवीत् ॥ २४२ ॥

(स्रनिर्देशाहां सूतां गाम्) दश दिन के भीतर की व्याई हुई गौ (वृषान्) सांड (तथा) तथा (देवपशून्) देवताओं के उद्देश्य स्रर्थात् यज्ञादि के लिए छोड़े गये पशु (सपालान् वा विपालान्) चाहे ये चरवाहे सिंहत खेत को चरजायें चाहे बिना चरवाहे के (मनुः दण्डचान् न अववीत्) मनु न किसी को भी दण्ड न देने का विधान किया है ॥ २४२ ॥

#### क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुराो भवेत् । ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानास्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥

(क्षेत्रियस्य + ग्रत्यये) किसान के द्वारा लापरवाही बरतने के कारण जो नुक-सान हुन्ना हो तो (भागात्) राजा को देय कर से (दशगुणः दण्डः भवेत्) दशगुना दण्ड उस पर होना चाहिए (क्षेत्रिकस्य + ग्रज्ञानात् भृत्यानां तु) यदि किसान की जानकारी के बिना उसके नौकरों से खेत का नुकसान हो जाये तो किसान पर (ततः + ग्रर्धदण्डः) उससे ग्राधा ग्रथात् पांच गुना दण्ड होना चाहिए ॥ २४३ ॥

## अन्त्रा टिंग्न : २४२-२४३ व्लोक प्रक्षिप्त हैं-

- १. दौलीगत आधार—२४२ वें क्लोक में 'मनु प्रक्रवीत्' पदों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि यह क्लोक मनु से भिन्न किसी ग्रन्य परवर्ती व्यक्ति की रचना है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है। २४३ वां इससे सम्बद्ध होने पर स्वतः प्रक्षिप्त है।
- २. प्रसंगिवरोध प्रस्तुत प्रसंग 'पशुद्वारा हानि करने पर किसका ग्रपराध माना जाये' इस विषयक है। २४३ वां क्लोक इस प्रसंग से बाह्य होने के कारण प्रसंग-विरुद्ध है, ग्रतः प्रक्षिप्त है।

# एतद्विधानमातिष्ठेद्वार्मिकः पृथिवीपतिः । स्वामिनां च पञ्जां च पालानां च य्यतिक्रमे ॥२४४॥ (१४४)

(धार्मिकः पृथिवीपितः) धार्मिक राजा (स्वामिनां पश्नां च पालानां व्यतिक्रमे) स्वामी, पशु और चरवाहा इनमें कोई मतभेद या भगड़ा उप-स्थित हो जाने पर (एतत् विधानम् + ग्रातिष्ठेत्) उपर्युक्त [६। २२६-२४३] विधान के श्रनुसार निर्णय करे।। २४४।।

# (१०) सोमा-सम्बन्धी विवाद (२४५–२६५) ग्रौर उसका निर्णए——

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्धयोः । ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाञ्चेषु सेतुषु ॥२४५॥ (१५६)

(द्वयोः ग्रामयोः) दो गांवों या दो समूहों का (सीमां प्रति विवादे समुत्पन्ने) सीमा-सम्बन्धी भगड़ा या मुक्दमा खड़ा हो जाने पर (ज्येष्ठे मासि) ज्येष्ठ के महीने में (सेतुषु सुप्रकाशेषु) सीमा-चिह्नों के स्पष्ट दीखने

के बाद (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णंय करे [यह समय उन 'विवादों के लिए है जिनका वर्षा ग्रादि ग्रन्य कालों में निर्णय न हो सके ] ।। २४५ ।।

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोघाश्वत्यक्तिशुकान् । शात्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिराश्चेव पादपान् ॥२४६॥ (१५७) गुल्मान्वेर्गू श्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च । शरान्कुब्जकगृत्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥२४७॥ (१५८)

(च) ग्रौर सीमा को निश्चित करने के लिए राजा (सीमानृक्षान् कुर्वीत) सीमा को बतलाने के चिह्नरूप नृक्षों को लगवाये—(न्यग्रोध) बड़ (+ग्रश्वत्य) पीपल (—िकशुकान्) ढाक (शाल्मलीन्) सेमल (साल-तालान्) साल ग्रौर ताड़वृक्ष (च) ग्रौर (क्षीरिणः पादपान्+एव) दूध वाले ग्रन्य वृक्षों को [जैसे—गूलर, पिलखन ग्रादि] (गुल्मान्) भाड़वाले पौधों (विविधान् वेणून्) विविध ग्रकार के बांसवृक्ष (शमी-वल्ली-स्थलानि) सेम की बेल तथा ग्रन्य भूमि पर फैलने वाली लताएं (सरान्) सरकंडे या मूज के भाड़ (च) ग्रौर (कुडजकगुल्मान्) मालती पौध के भाड़ों को लगवाये (तथा सीमा न नश्यित) इस प्रकार करने से सीमा नष्ट नहीं होती—सुरक्षित रहती है।। २४६—२४७॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवरणानि च । सीमासन्धिषु कार्यारिण देवतायतनानि च ॥२४८॥ (१५६)

(तडागानि) तालाब (उदपानानि) कूएं (वाध्यः) बावडियां (प्रस्न-वाणि) नाले (च) तया (देवतायतनानि) देवस्थान = यज्ञशालाएं आदि (सीमासन्धिषु कार्याणि) सोमा के मिलने के स्थानों पर बनवाने चाहिएं।। २४८।।

> उपच्छन्नानि चाप्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत्। सीमाज्ञाने नृगां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्।।२४६॥ (१६०)

> ग्रदमनोऽस्थीनि गोबालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः । करोषमिष्टकाङ्गारांदछर्करा बालुकास्तथा ॥२५०॥(१६१)

> यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्रभूमिनं भक्षयेत्। तानि सन्धिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्।।२५१॥(१६२)

राजा (लोके) संसार में (सीमाज्ञाने) सोमा के तिषय में (नृणाम्) मनुष्यों का (निश्यं विषयंयं वीक्ष्य) सदैव मतभेद पाया जाता है, इस बात को घ्यान में रखता हुग्रा (ग्रन्यानि उपच्छन्नानि सोमालि ङ्गानि कारयेत) दूसरे गुष्त सोमाचिह्नों को भो करवा दे; [जैसे—] (प्रश्मनः) पत्थर (ग्रह्यीत) हिंडुयां (गोवालान्) गौ ग्रादि पशुग्नों के बाल (तुषान्) तुस= वावलों के खिलके ग्रादि (भह्म) राख (करालिकाः) खोपडियां (करीषम्) सूखा गोवर (+इष्टक) ईंटें (+ग्रंगारान्) कोयले (शर्करा) पत्थर की रोडियां =कंकड़ (तथा) तथा (वालुकाः) वालू रेत (च) ग्रौर (यानि एवं प्रकारािण) जितने भी इस प्रकार के पदार्थ हैं जिन्हें (कालात् भूमिः न भक्षयेत्) वहुत समय तक भूमि ग्रपने का में न मिला सके (नािन) उनकी (ग्रप्रकाशािन) गुष्तक्ष्य से ग्रथीत् जमीन में दवाकर (मोमायां कारयेत्) सीमास्यानों पर रखवादे ।। २४६-२५१।।

# एते लिङ्गेर्नयत्सीमां राजा विवदमानयोः।

पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च॥ २५२॥ (१६३)

(राजा) राजा (विवदमानयोः) सीमा के विषय में लड़ने वालों की (एतैं: लिङ्गें:) इन [= १४६--२५१] चिह्नों से (च) तथा (पूर्वभुक्त्या) पहले जो उसका उपभोग कर रहा हो, इस ग्राधार पर (च) ग्रौर (सततम् + उदकस्य + ग्रागमेन) निरन्तर जल के प्रवाह के ग्रागमन के ग्राधार पर [कि पानी किस ग्रोर से ग्राना है ग्रादि] (सीमां नयेत्) सीमा का निर्णय करे ।। २५२।।

## यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामि दर्शने । साक्षित्रत्यय एव स्यात्सीमावादिविनिर्णयः ॥ २५३ ॥(१६४)

(यदि लिङ्गानाम् + ग्रपि दर्शने) यदि सीमाचिह्नों के देखने पर भी (संशय एव स्यात्) संदेह रह जाये तो (साक्षीप्रत्यय एव) साक्षियों के प्रमाण से (सीमावाद-विनिर्णयः स्यात्) सीमाविषयक विवाद का निर्णय करे ॥ २५३ ॥

# ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः। प्रव्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोदचैव विवादिनोः॥२५४॥ (१६४)

राजा (प्रामीयककुलानां च तयोः विवादिनोः समक्षम्) गाँवों के कुलीन पुरुषों ग्रीर उन वादी-प्रतिवादियों के सामने (सोम्नि) सीमा-स्थान पर (साक्षिणः) साक्षियों से [द।६२-६३] (सीमालि क्लानि प्रष्टव्याः) सीमा-चिह्नों को पूछे ॥ २५४॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्वयम् । निबन्नीयात्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः ॥२४४॥(१६६) राजा के द्वारा (पृष्टाः) पूछने पर ग्रर्थात् जांच-पड़ताल करने पर (सीम्नि निश्चयम्) सीमा-निश्चय के विषय में (ते समस्ताः यथा ब्रूपुः) वे सब—साक्षी ग्रीर गाँव के उपस्थित कुलीन पुरुष जैसे एकमत होकर कहें—स्वीकार कर लें (तथा सीमां निश्चमीयात्) राजा उसी प्रकार सीमा को निर्धारित करदे (च) ग्रीर (तान् सर्वान् एव नामतः) उन उपस्थित सभी साक्षियों एवं पुरुषों के नामों को भो लिखकर रख ले [जिससे पुनः विवाद उपस्थित होने पर यह ज्ञात हो सके कि किन-किन लोगों के समक्ष या गवाहो से यह निर्णय हुग्रा था] ।। २५५ ।।

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वी स्नश्वणो रक्तवाससः । सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैनंयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

(ते) वे साक्षी (शिरोभिः उर्वी गृहीत्वा) शिर पर मिट्टी रखकर (स्रग्विणः) गले में माला पहनकर (रक्तवाससः) लाल कपड़े पहनकर (स्वैः स्कृतैः शापिताः) ग्रपने-ग्रपने पुण्यों की शपण खाकर [िक यदि हम भूठ बोलेंगे तो हमारे ग्रब तक किये सब पुण्य नष्ट हो जायें] (समञ्जसं नयेयुः) सीमा के विषय में स्पष्ट निर्ण्य दें॥ २५६॥

#### यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिएाः । विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युद्धिशतं वसम् ॥ २४७ ॥

(यथा + उक्तेन नयन्तः) ठीक ठीक ज्यों की स्यों बात कहने पर (ते सत्य साक्षिणः पूयन्ते) वे सच्चे साक्षी पिनत्र ग्रर्थात् निर्दोष होते हैं (तु) यदि (विपरीतं नयन्तः) भूठी गवाही दें तो (द्विशतं दमं दाप्याः स्युः) राजा उन पर दो सौ पण दण्ड करे॥ २५७॥

# अन्य शीलनः : २४६-२४७ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. ग्रन्तिवरोध—साक्षियों से सम्बद्ध सभी नियम ग्रीर व्यवस्थाग्रों का विधान गत साक्षीनिर्णय [८। ५७-१३०] प्रसंग में हो चुका है। इन इलोकों में उनसे भिन्न व्यवस्था होने के कारण ये इलोक मनुविरुद्ध हैं, ग्रत: प्रक्षिप्त हैं।

इसी प्रकार साक्षियों की दण्ड-व्यवस्था भी वहां वर्णित है। यहां वर्णित दण्ड भी भिन्न होने के कारण विरुद्ध है। शपथ-पद्धति मनु-सम्मत नहीं है [इस विषय पर द्रष्टव्य है ८। ६७ — ११६ श्लोकों पर समीक्षा 'अन्तर्विरोय]'।

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः । सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निषौ ॥२५८॥ (१६७) (साक्षी + ग्रमावे) यदि सीमा-विषय में साक्षियों का भी ग्रमाव हो (तु) तो (सामन्तवासिनः चत्वारः ग्रामाः) समीपवर्ती चार गांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति (राजसन्तिषी) राजा या न्यायाधीश के सामने (प्रयताः) पक्षपात-रहितभाव से (सीमाविनिर्णयं कुर्युः) सीमा का निर्णय करें ग्रर्थात् सीमा निर्णय के विषय में ग्रपना मत दें ।। २५८ ।।

#### सामन्तान।ममावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिरणाम् । इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २४६ ॥

(सीम्नि साक्षिणाम्) सीमाविषयक साक्षियं के रूप में (सामन्तानां तु मौलानाम् अभावे) यदि समीपवर्ती गांववालों का और सीमा के मूलजाता प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभाव हो तो (इमान् वनगोचरान् पुरुषान् अपि + अनुयुञ्जीत) राजा इन [आगे द। २६०] वन में घूमने वाले पुरुषों से भी साक्षी के रूप में पूछताछ करे—॥ २४६॥

#### व्याघाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूललानकान् । व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिगः ॥ २६० ॥

(व्याधान्) शिकारियों से (शकुनिकान्) पक्षियों को मारने वालों से (गोपान्) चरवाहों से (कैवर्तान्) मछलियां मारकर ग्राजीविका करने वालों से (मूलखानकान्) कन्द-मूल आदि खोदकर संग्रह करने वालों से (व्यालग्राहान्) सपेरों से (उञ्छवृत्तीन्) ग्रन्नादि द्वाद्य पदार्थों को चुनकर जीविका चलाने वालों से (च) और (यान् वनचारिणः) दूसरे जो वन में विचरण करते हैं, उनसे सीमा के विषय में पूछे ॥ २६० ॥

#### ते पृष्टास्तु यथा इयुः सीमासन्धिषु लक्षराम् । तत्त्रया स्थापयेद्राजा धर्मेरा ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

(पृष्टाः तु) राजा के द्वारा प्छने पर (ते सीमासन्धिषु यथा लक्षणं क्रू युः) वे लोग गाँवों की सीमाग्रों के मिलने के स्थानों पर जैसे चिह्न बतलावें (राजा तत् द्वयोः ग्रामयोः तथा) राजा उन दोनों गावों की सीमा को वैसे ही (धर्मेण स्थापयेत्) धर्मानुसार निश्चित करदे।। २६१॥

आनुर्वोट्डन: २४६ से २६१ श्लोक निम्न श्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. प्रसंगिवरोध—(१) प्रथम बात तो यह है कि चार-चार ग्राम के व्यक्ति होने पर साक्षियों का ग्रभाव नहीं हो सकता, फिर भी यदि ग्रभाव हो तो मनुने गुप्तचरों द्वारा जानकारी प्राप्त करने का विधान किया है [६।१६२], ग्रयोग्य साक्षियों द्वारा नहीं।(२) मनु ने साक्षी-प्रसंग में साक्षियों के जो गुण दिये हैं [६।६३,६४], ये साक्षी उस विधान के ग्रनुरूप नहीं हैं। ग्रपितु वहां 'न दूषिताः' [६।६४] कहकर ऐसे दूपित ग्राचरण वाले व्यक्तियों को साक्षी होने के लिए स्पष्ट निषेध किया है। ग्रतः यह व्यवस्था मनुप्रणीत नहीं हो सकती। इन म्राधारों के मनुसार ये क्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

#### क्षेत्रकृपतडागानामारामस्य गृहस्य च । सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥ (१६८)

(क्षेत्र-कुप-तडागानाम् + ग्रारामस्य) खेत, क्ष्मां तालाव, बगीचा (च) ग्रौर (गृहस्य) घर की (सीमा-पेतु-विनिर्णयः) सीमा के चिह्न का निर्णय (सामन्त-प्रत्ययः ज्ञेयः) उस गांव के प्रतिष्ठित-धार्मिक निवासियों की साक्षियों के ग्राधार पर करना चाहिए ॥ २६२ ॥

# सामन्ताश्चेन्नृषा बूयुः सेतौ विवदतां नृगाम् । सर्वे पृथव्युयगरण्डचा राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३॥ (१६६)

(नृगां सेतौ विवदताम्) दो ग्रामवासियों में परस्वर सीमासम्बन्धो विवाद उपस्थित होने पर (सामन्ताः चेत् मृषा ब्रूयुः) गांव के निवासी यदि भूठ या गलत कहें तो (राज्ञा) राजा (पृथक्-पृथक् सर्वे) उनमें से भूठ कहने वाले प्रत्येक को (मध्यमसाहसम् दण्डयाः) 'मध्यमसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे।। २६३।।

#### गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्। शतानि पञ्च दण्डचः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः ॥२६४॥(१७०)

(भीषया) यदि कोई भय दिखाकर (गृहं तडागम् + श्रारामं वा क्षेत्रं हरन) घर, तालाब, बगीचा ग्रथवा खेत को लेले, तो राजा उस पर (शतानि पञ्च दण्डचः) पाँच सौ पणों का दण्ड करे (ग्रज्ञानात् द्विशतः दमः स्यात्) यदि श्रनजाने में श्रधिकार करले तो दो सौ पणों का दण्ड दे श्रौर उस श्रधिकृत वस्तु को भी लौटाये।। २६४।।

# सीमायःमविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रविशेद्मूिमतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ (१७१)

(सीमायाम् + अविषद्धायाम्) चिह्नों एवं साक्षियों आदि उपर्युक्त [द। २४५-२६३] उपायों से सीमा के निर्धारित न हो सकते पर (धमवित् राजा स्वयम् एव) नगय का ज्ञाता राजा स्वयं ही (एतेषाम् - उपकारात्) वादी-प्रतिवादियों के उपकार अर्थात् हितों को व्यान में रखकर (भूमि प्रदिशेत्) भूमि-सीमा को निश्चित करदे (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रव्यवस्था है ॥ २६५॥

# (११) दुष्ट या कटुवाक्य बोलने-सम्बन्धो विवाद [२२६-२२७] श्रीर उसका निर्णय—

एषोऽिखलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वावपारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥(१७२)

(एषः) यह [६। २४५-२६५] (सीमा-विनिर्णये) सीमा के निर्णय करने के विषय में (धर्मः) न्यायविधान (ग्रखिलेन + ग्रभिहितः) पूर्णरूप से कहा।

(ग्रतः + ऊर्घ्वंम्) इसके बाद ग्रव (वाक्-पारुष्य-विनिर्णयम्) कठोर ग्रीर दुष्टवचन बोलने पर निर्णय (प्रवक्ष्यामि) कहुँगा – ॥ २६६ ॥

> शतं बाह्यसमाक् इय क्षत्रियो दण्डमहंति। वैश्योऽप्यर्थशतं द्वे वा शुद्रस्तु वधमहंति॥ २६७॥

(ब्राह्मणम् + म्राक्रुश्य) ब्राह्मण को कठोर या दुष्ट वचन कहने पर (क्षत्रियः शतं दण्डम् + म्रहेति) क्षत्रिय सौ पण दण्ड का भागी होता है (ग्रिपि वैश्यः म्रर्धशतं वा हे) ग्रीर वैश्य डेढ़ सौ वा दो सौ पण (तु) ग्रीर (शूद्रः वधम् + श्रहेति) शूद्र शारीरिक दण्ड का भागी होता है ॥ २६७॥

पञ्चाशब् बाह्याणो दण्डघः क्षत्रियस्यामिशंसने । बैश्वे स्यादधंपञ्जाशस्त्रक्षे द्वादशको दमः॥ २६८॥

(क्षत्रियस्य + ग्राभिशंसने) क्षत्रिय को निन्दात्मक वचन कहने पर (ब्राह्मणः पञ्चाशब्दण्डमः) ब्राह्मण को पचास पण दण्ड देना चाहिए (वैश्ये ग्रर्घपञ्चाशत् स्यात्) वैश्य को कहने पर पञ्चीस पण, और (शूद्रे द्वादशकः दमः) शूद्र को कहने पर बारह पण दण्ड ब्राह्मण को देना चाहिए।। २६८।।

समयसँ दिजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे। बादेव्यक्वनीयेषु तदेव द्विगुरां मवेत्।। २६६॥

(समवर्णे द्विजातीनां व्यतिक्रमे) समानवर्णं वाले द्विजों में परस्पर कठोर वचन कहने पर (द्वादरा + एव) बारह पए ही दण्ड होना चाहिए (भवचनीयेषु वादेषु) ग्रत्यन्त निन्दनीय वचन कहने पर (तदेव द्विगुएां भवेत्) वही उक्त दण्ड [८। २६७— २६९] दुगुना होगा ॥ २६९॥

क्कजातिर्देकातींस्तु वाचा दावसया क्षिपन्। जिह्नायाः प्राप्तुयाच्छेदं जयन्यप्रमवी हि सः।। २७०॥

(एकजातिः तु) यदि शूद्र (द्विजातीन् दारुणया वाचा क्षिपन्) द्विजातियों को

द्यत्यन्त कठोरयादुष्ट वाणीमें ग्राक्षेपकरेती (जिह्नायाः छेदं प्राप्नुयात्) उसकी जीभ को काटदेना चाहिए (हि) क्योंकि (सः जघन्यप्रभवः) वह शूद्र नीच से उत्पन्न है।।२७०।।

> नामजातिप्रहं त्वेषामिम्रहोहेरा कुर्वतः । निक्षेप्योऽयोमयः शङकुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥

(नाम-जातिग्रहं तु एपाम्) नाम और जाति का कथन करते हुए यदि शूद्र इन द्विजों को (ग्रिभिद्रोहेण कुर्वतः) द्रोहपूर्वक कठोर वचन कहे तो (ज्वलन् दश + ग्रङ्गुलः) जलती हुई दश ग्रंगुल लम्बी (अयोगयः शङ्कुः) लोहे की शलाका (ग्रास्ये निक्षेप्यः) इसं शूद्र के मुख में डाल देनी चाहिए॥ २७१॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राशामस्य कुर्वतः। तप्तमासेचयेत्तैलं वस्त्रे श्रोत्रे च पाण्यिवः॥ २७२॥

(ग्रस्य दर्पेण विप्राणां धर्मोपदेशं कुर्वेतः) यदि शूद घमण्ड में ग्राकर द्विजों को धर्म का उपदेश करे तो (पार्थिवः) राजा (तप्तं तैलं वक्त्रे श्रोत्रे ग्रासेचयेत्) तपा हुग्रा तैल शूद्र के मुख ग्रौर कानों में डलवादे ॥ २७२॥

आन्य हारिन्डन्त : २६७ से २७२ श्लोक निम्न 'म्राधारों' के मनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. अन्तिवरोध—(१) मनु की दण्डव्यस्था भेदभावयुक्त या ईष्या, द्वेष-भावना से युक्त नहीं है। वे निल्द एवं समभाव से सभी प्रजाजनों के लिए यथायोग्य, न्याययुक्त दण्ड का विधान करते हैं [६। ३०७, ३११; ७। २, १६, २७, ३०]। प्रिष्तु समभदार और जिम्मेदार होने के कारण उच्चवर्ण वालों को अधिक दण्ड देने का विधान करते हैं। [८।३३४—३३८, ३०६] इन श्लोकों में वर्णानुक्रम से अधिक दण्ड का विधान उक्त सभी मान्यतात्रों के विश्व है। इस प्रसंग के २७३—२७४ क्लोकों में भी सबके लिए समान व्यवस्था है। इस प्रकार इस व्यवस्था में अन्तिवरोध होने के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) २७० वें श्लोक में शूद्र को 'जधन्यप्रभवः' विशेषण देने से इन श्लोकों के रचियता की मान्यता जन्मना वर्णव्यवस्था की सिद्ध होती है। यह मान्यता भी मनुविश्व है। मनुकर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं [द्रष्टव्य १। ६२—१०१ पर 'अनुशीलन']
- २. शैलीगत आधार—इन सभी श्लोकों में और विशेषरूप से २७०—२७२ में शूद्र के प्रति आक्रोश एवं घृणात्मक भावना है, यह पक्षपात एवं दुराग्रह है। मनु की शैली निर्णिप्ततापूर्वक विधान करने की है, अतः यह शैली मनु की नहीं है। इस आधार पर भी ये श्लोक मनुप्रणीत सिद्ध नहीं होते।

श्रुतं देशं च जाति च कर्म शारीरमेव च। वितथेन बुवन्दर्णाद्दाप्यः स्यात् द्विशतं दमम् ॥२७३॥ (१७३) कोई मनुष्य किसी मनुष्य के (श्रुतम्) विद्या (देशम्) देश (जातिग्) वर्ण (च शारोरम् एव कमं) स्रोर शरीर-सम्बन्धी कमं के विषय में (दर्पात्) घमण्ड में स्राकर (वितथेन ब्रुवन्) भूठी निन्दा स्रथवा गलत बात मे स्रपमानित करे, उसे (द्विशतं दमं दाप्यः) दो सौ प्ण दण्ड देना चाहिए ॥ २७३॥

# कार्णं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽिप यथाविधम् । तथ्येनापि बुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥२७४॥(१७४)

किसी (काएाम्) काने को (ग्रिपि वा) ग्रथवा (खञ्जम्) लंगड़े को (वा) ग्रथवा (तथाविधम् + ग्रिप्) इसो प्रकार के ग्रन्य विकलांगों को (तथ्येन + अपि ब्रुवन्) वास्तव में वैसा होते हुए भी किसी को काना, लंगड़ा ग्रादि कहने पर (कार्षायणावरं दण्डं दाप्यः) कम से कम एक कार्षा-पण दण्ड करना चाहिए।। २७४।।

आन्य श्री त्य न्य : ग्रन्यत्र विधान से पुष्टि - मनु ने ४। १४१ में विकलांग व्यक्तियों को कटुवचन या ग्राक्षेत्रयुक्त वचन कहने का स्पष्टतः निषेध किया है। यहां उस विधान के विपरीत ग्राचरण करने वालों के लिए दण्ड का विधान है।

# मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् । म्राक्षारयञ्खतं वाप्यः पन्थानं चावदव् गुरोः ॥२७४॥ (१७४)

(मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्) माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटा, गुरु इनको (ग्राक्षारयन्) दोष लगाकर निन्दा करने पर (च) ग्रीर (गुरोः) गुरु को (पन्थानम् मृत्रदद्त्) रास्ता न देने पर (शतं दाष्यः) सौ पण दंड होना चाहिए ।। २७४ ।।

अतन्त्र श्रीत्य : ग्रन्यत्र विधान से पुष्टि—मनु ने ४। १७६-१८० में इन व्यक्तियों से किसी प्रकार का विवाद, लड़ाई-अगड़ा न करने का विधान किया है। उस विधान को भंग करके कटुवचन या आक्षेपयुक्त वचन कहने पर यह दण्ड-विधान है।

#### बाह्यणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता । बाह्यणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये स्वेव मध्यमः॥ २७६॥

(ब्राह्मण-क्षित्रयाभ्यां तु) ब्राह्मण ग्रीर क्षित्रय में परस्पर दुप्टवचन उपस्थित होने पर (विजानता) बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि वह (ब्राह्मएो पूर्वः साहसः) ब्राह्मण पर पूर्वसाहस (तु) ग्रीर (क्षित्रिये मध्यमः) क्षित्रिय पर मध्यम-साहस (दण्डः कार्यः) दण्ड करना चाहिए॥ २७६॥

#### विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजाति प्रति तस्याः । खेदवर्जं प्ररायनं दण्डस्येति विनिष्ठचयः ॥ २७७ ॥

(विट्-शूद्रयोः) वैश्य-शूद्र की परस्पर (स्वजाति प्रति) अपनी जाति के प्रति निन्दापूर्वक कहा-सुनी होने पर (एवम् + एव) इसी प्रकार अर्थात् वैश्य को प्रथम साहस तथा शूद्र को मध्यम साहस [६। २७६ के अनुसार] का दण्ड करे (छेदवर्ज प्रणयन्) शूद्र की जीभ न काटे (इति दण्डस्य तत्त्वतः विनिश्चयः) ऐसा दण्ड का सही-सही निश्चय है।। २७७।।

# अन्त्र्योत्जनः : २७६—२७७ श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. अन्तिवरोध—इन श्लोकों में विहित दण्डव्यवस्था मनुसम्मत नहीं है। [द्रष्टव्य ८। २६७—२७२ पर 'म्रनुशीलन']
- २. ग्रवान्तरिवरोध—प्रक्षिप्त क्लोकों में परस्पर भी विरोध है। २६७-२७२ क्लोकों में जो दण्ड-व्यवस्था दी है, इन क्लोकों की व्यवस्था उनसे मेल नहीं खाती। इससे प्रतीत होता है कि ये क्लोक भिन्न-भिन्न रंचियताओं के हैं।

# (१२) दण्ड से घायल करने या मारने सम्बन्धी विवाद[२७८–३००] ग्रौर उसका निर्णय—

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः । भ्रत अर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥२७८॥ (१७६)

(एषः) यह [८।२६७—२७७] (तत्त्वतः) ठीक-ठीक (वाक्पारुष्यस्य) कठोर वचन या दुष्ट वचन बोलने का (दण्डविधः) दण्डविधान (प्रोक्तः) कहा (ग्रतः + ऊर्घ्वम्) इसके पश्चात् ग्रव (दण्डपारुष्यनिर्णयम्) कठोर दंड से घायल करना या मारना ग्रथवा दंडे से कठोरतापूर्वक मारपीट करने पर निर्णय को (प्रवक्ष्यामि) वहँगा ।। २७८ ।।

## येन केनचिदङ्गेन हिस्याच्चेच्छ्रोष्ठमन्त्यजः। छेत्तव्यं तत्त्रदेवास्य तन्मनोरनुज्ञासनम्॥ २७६॥

(ग्रन्त्यजः) शूद्र (येन केनचित् + अङ्गेन) जिस किसी ग्रंग से (श्रेष्ठं हिंस्यात् चेत्) श्रेष्ठ ग्रथित् द्विजों पर प्रहार करे तो (तत् + तत् + एव ग्रस्य छेत्तव्यम्) राजा उसके उस-उस ग्रङ्ग को हो कटवादे (तत् मनोः + ग्रनुशासनम्) यही मनु का आदेश है।। २७१।।

> पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणि च्छेदनमहंति । पर्वतः प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमहंति ॥ २८०॥

(पाणिम्) हाथ (वा) ग्रथवा (दण्डम् उद्यम्य) हाथ से दंडा उठाकर प्रहार करने पर (पाणिच्छेदनम् + ग्रहेंति) शूद्र का हाथ कटवा देना चाहिए (कोपात्) क्रोध-पूर्वक (गादेन प्रहरन्) पैर से प्रहार करने पर (पादच्छेदनम् + ग्रहेंति) पैर काट देना चाहिए।। २८०।।

#### सहासनममिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कटघां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

(ग्रपकृष्टजः) यदि कोई शूद्र (उत्कृष्टस्य) ग्रपने से श्रेष्ठ ब्राह्मण के (सहा-सनम् + ग्रभिप्रेप्सुः) साथ एकसमान ग्रासन पर बैठने की कोशिश करे तो (कट्यां कृतान्द्रः निर्वास्यः) उसे कमर में दगवाकर देशनिकाला दे दे (वा) ग्रथवा (ग्रस्य स्फिचम् + ग्रवकर्तयेत्) इसके एक चूतड़ को कतरवा दे ॥ २८१ ॥

## न्नवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः । न्नवसूत्रयतो मेढ्मवशर्षयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

शूद्र यदि ब्राह्मए। का अपमान (दर्पात्) घमण्ड के कारण (अवनिष्ठीवतः) उस पर थूककर करेतो (नृपः) राजा, शूद्र के (द्वौ + ग्रोष्ठी छेदयेत्) दोनों ओठों को कटवा दे (अवसूत्रयतः) सूत्र फेंककर करेतो (मेढूस्) उसकी लिंगेन्द्रिय को, (अवदार्धयतः गुदम्) यदि अधोवायु के द्वारा करेतो गुदा को कटवा दे॥ २८२॥

## केशेषु गृह्धतो हस्तो छेरयेददिचारयन्। पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां मृषणेषु च ॥ २८३ ॥

यदि शूद्र ब्राह्मण को (केशेषु गृह्धतः) बालों से पकड़े तो राजा (प्रविचारयन् हस्तौ छेदयेत्) बिना विचारे शूद्र के दोनों हाथ कटवा दे, यदि (पादयोः) दोनों पैर (दाढिकायाम्) दाढ़ी (ग्रीवायाम्) गर्दन (च) ग्रौर (वृषणेषु) ग्रण्डकोशों को पकड़कर प्रहार करे तो भी दोनों हाथ कटवा दे ॥ २८३ ॥

## त्वग्मेदकः शतं वण्डघो लोहितस्य च वर्शकः। मांसमेत्ता तु वण्निष्कान्त्रवास्यस्त्वस्थिमेदकः॥ २८४॥

समान वर्ण वालों में मारकर (त्वक्भेदकः शतं दण्डयः) चमड़ी उखाड़ने वाले पर सौ पण दण्ड करे (च) ग्रौर (लोहितस्य दर्शकः) खून निकाल देने वाले पर भी सौ पण दण्ड करे (मांसभेता तु षट् निष्कः) मांसछेदन करने वाले को छह 'निष्क'। [८। १३७] दण्ड करे, ग्रौर (ग्रस्थिभेदकः तु प्रवास्यः) हड्डी तोड़ने वाले को तो देश- निकाला ही दे दे।। २८४।।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपन्नोगं यथा यथा। तथा तथा दमः कार्यो हिसायामिति घारणा।। २८५॥

(सर्वेषां वनस्पतीनां यथा-यथा उपभोगम्) सब वृक्ष ग्रादि वनस्पतियों का

जैसा-जैसा म्रधिक या कम उपयोग है, (हिंसायाम्) उनको नष्ट करने पर (तथा तथा दमः कार्यः) वैसा-वैसा ही दण्ड करे (इति धारणा) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है।। २८५॥

आनुशित्उनाः २७६ से २८५ इलोक निम्न प्राधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. म्रन्तिवरोध—इन क्लो कों में विणित दण्डव्यवस्था मनु की पद्धित से मेल नहीं खांती [द्रष्टव्य ८ । २६७—२७२ पर 'म्रनुशीलन']।इस विरोध के कारण ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं। मनु की व्यवस्था शूद्र को नहीं, म्रिपितु जो जितना म्रिधिक जिम्मेदार है, उसको उतना ही म्रिधिक दण्ड देने की है [८ । ३३६—३२८], ये क्लोक तदनुसार नहीं हैं।
- २. शैलीगत श्राधार—(१) इन श्लोकों की शैली भी मनु की तरह निलिप्त गम्भीर एवं समभावयुक्त न होकर पक्षपात, दुराग्रह एवं घृणापूर्ण है। इस कारएा भी ये प्रक्षिप्त हैं। २७६ में 'मनोः अनुशासनम्' पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह श्लोक मनुप्रणीत न होकर किसी दूसरे परवर्ती व्यक्ति की रचना है, ग्रतः प्रक्षिप्त है। इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर इससे सम्बद्ध ग्रौर इस पर ग्राधारित शेष २००—२०५ श्लोक स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं।
- ३. प्रसंगिव रोध—(१) २-६—२८८ क्लोकों में संक्षेप में समभाव से सम्पूर्ण दण्डपारुष्य की दण्डव्यवस्था कह दी है, जो मनु के विधानों के प्रनुकूल है। इस विधान का प्रसंग २८६ से ही प्रारम्भ होता है, यह क्लोकों की वर्णन-शैली से भी जात हो जाता है। उससे पूर्व भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं वाला यह प्रसंग ग्रसंगत है। इस ग्राधार पर भी ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) प्रस्तुत प्रसंग 'प्राणियों पर कठोर दण्ड से ताड़ना करने' का है। २८५ का विषय इस प्रसंग का विषय नहीं है, ग्रतः प्रसंगविरुद्ध है।

मनुष्याणां पश्नां च दुःलाय प्रहृते सित । यथा यथा महद् दुःलं दण्डं कुर्यात्तया तथा ॥२८६॥ (१७७)

(मनुष्याएगां च पश्नाम्) मनुष्यों ग्रीर पश्चिमां पर (दु:खाय प्रहृते सित) दु:ख देने के लिए दण्ड से प्रहार करने पर (यथा यथा महत् दु:खम्) जैसा-जैसा ग्रधिक कष्ट हो (तथा तथा दण्ड कुर्यात्) उसी के ग्रनुसार ग्रधिक-कम दण्ड करे।। २६६।।

म्रङ्गात्रपीडनायां च व्रणशोशितयोस्तथा। समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा।।२८७॥ (१७८)

(श्रंग + श्रवपीडनायाम्) किसी श्रंग के टूटने, कटने श्रादि पर (तथा) श्रीर (व्रण + शोणितयोः) घाव करने तथा रक्त बहाने पर (समुह्यानव्ययं दाप्यः) जब तक रोगी पहले जैसी श्रवस्था के रूप में ठीक न हो जाये तव

तक सम्पूर्ण ग्रीषध ग्रादि का व्यय मारने वाले से दिलवाये (ग्रथापि वा) श्रीर साथ ही (सर्वदण्डम्) उसे पूर्ण दण्ड भी दे ।। २८७ ।।

द्रथ्याणि हिस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा । स तस्योत्पादयेतुष्टि राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥ (१७६)

(यः) जो कोई (यस्य) जिस किसी के (ज्ञानतः स्रिप वा स्रज्ञानतः) जान कर स्रथवा स्रनजाने में (द्रव्याणि हिस्यात्) वस्तुस्रों को नष्ट कर दे तो (सः) वह स्रपराधी (तस्य तुष्टिम् + उत्पादयेत्) उसके मालिक को वस्तु या धन स्रादि देकर संतुष्ट करे (च) तथा (तत् समम् राज्ञे दद्यात्) उसके बराबर दण्ड रूप में राजा को भी दे।। २८८।।

चर्मचामिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च। मूल्यात्पञ्चगुरगो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च।। २८६।।

(चर्म-चार्मिक भाण्डेषु) चमड़ा, चमड़े के बर्तन (च) ग्रीर (काष्ठ-लोष्ठमयेषु) लकड़ी तथा मिट्टी के बर्तन (च) ग्रीर (पुष्प-मूल-फलेषु) फूल, कन्द, फल ग्रादि के नष्ट करने पर (मूल्यात् पञ्चगुराः दण्डघः) मूल्य से पांच गुना दण्ड राजा को देना चाहिए।। २८६।।

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च। दशातिवर्तनान्याहुः शेवे दण्डो विधीयते।। २६०॥

(यानस्य) रथ, गाड़ी ग्रादि सवारी (च) ग्रौर (यातुः) सारथी, गाड़ीवान् ग्रादि (च) ग्रौर (यानस्वामिनः एव) सवारी का मालिक (दश + ग्रतिवर्तनानि + ग्राहुः) इनके दश बार तक के ग्रपराधों को दण्डनीय नहीं माना है (शेषे) किन्तु उसके बाद (दण्डः विधीयने) दण्डविधान किया गया है।। २६०।।

> छिन्ननास्ये मग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते। स्रक्षभंगे च यानस्य चक्रमङ्गे तथंव च ॥ २६१ ॥

> छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररब्ध्योस्तर्थेत च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरक्रवीत् ॥ २६२ ॥

(छिन्ननास्ये) बैल की नथ टूट जाने पर (भग्नयुगे) रथादि का जूग्रा टूट जाने पर (तिर्यक्-प्रतिमुख + ग्रागते) उंची-नीची भूमि पर रथादि के तिरछा हो जाने पर (ग्रक्षभंगे) घुरा टूट जाने पर (तथैव यानस्य चक्रभङ्गे) उसी प्रकार रथादि का पिहया टूट जाने पर (च) श्रीर (यन्त्राणां छेदो एव) रथादि के ग्रन्थ यन्त्रों के टूट जाने पर (तथैव योक्त्ररश्म्योः) उसी प्रकार जोत श्रीर रास== रस्सी स्नादि टूट जाने पर ('ग्रपैहि' इति + ग्राकन्दे) 'हट जान्नो' 'हट जान्नो' ऐसा चिल्लाने पर यदि कोई नुकसान

होता है तो (दण्डंन) किसी को दण्ड नहीं होता (मनुः + ग्रज्जवीत्) ऐसा मनु ने कहा है।। २६१-२६२।।

#### यत्रापवर्तते युग्मं वैगुण्यात्त्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेदृण्डघो हिसायां द्विशतं दमम् ॥ २६३ ॥

(यत्र) जहां (प्राजकस्य) चनाने वाले की (वैगुण्यात्) ग्रयोग्यता के कारण (युग्मम् — अपवर्तते) रथादि टेढ़े तिरछे हो जाते हैं (हिंसायाम्) ऐसी स्थिति में कोई हिंसा होने पर (तत्र स्वामी द्विशतं दमं दण्डघः भवेत्) वहां [ग्रयोग्य चालक रखने के कारण] स्वामी पर दो सौ पण दण्ड करना चाहिए ॥ २६३॥

> प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमहंति। युग्यस्याः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्डचाः ज्ञातं ज्ञातम् ॥ २६४ ॥

(चेत्) यदि (प्राजक; ग्राप्तः भवेत्) चालक कुशल एवं ग्रनुभवी हो तो वहां (प्राजकः दण्डम् + ग्रईति) चालक ही दण्ड के योग्य होता है [पूर्व श्लोक में उक्त दो सौ पण दण्ड] (ग्रनाप्ते प्राजके) ग्रकुशल एवं ग्रनुभवरहित चालक के होने पर (सर्वे युग्यस्थाः शतं शतं दण्डचाः) सब गाड़ीसवार सौ-सौ पण दण्ड से दण्डनीय होते हैं। [ग्रयोग्य चालक द्वारा गाड़ी चलवाने के कारण] ॥ २६४॥

#### स चेत् पथि संरुद्धः पशुमिर्या रथेन वा। प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचास्तिः।। २६५ ॥

(सः चेत् तु) वह चालक यदि (पिथ) मार्ग में (पशुभिः वा रथेन संरुद्धः) पशुग्रों ग्रथवा रथ ग्रादि से ग्रवरोध होने पर रथादि चलावे (प्राणभृतः प्रमापयेत्) ग्रौर किसी प्राणी को मार देवे तो (तत्र) उस स्थिति में (ग्रविचारितः दण्डः) बिना विचारे ग्रवस्य दण्ड दे।। २६५।।

## मनुष्यमारणे क्षित्रं चौरवित्कित्विषं मवैत्। प्राण् भृत्सु महत्स्वर्षं गोगजोष्ट्रहयादिषु॥ २६६॥

(मनुष्यमारणे) चालक द्वारा किसी मनुष्य का वध होने पर (क्षिप्रं चौरवन् किल्विषं भवेत्) शीघ्र ही उसे चोर के समान अपराधी समक्षकर दण्ड दे अर्थात् एक 'उत्तम साहस' = एक हजःर पण से दण्डनीय होगा (गो-गज-उष्ट्र-हय-प्रादिषु महत्सु प्राणभृत्मु अर्थम्) गौ, हाथी, ऊंट, घोड़ा आदि बड़े पशुक्रों के मारने पर आधा अर्थात् पांच सी पण दण्ड होगा ।। २६६ ।।

#### क्षुद्रकाणां पश्चनां तु हिसायां द्विशतो दमः । पञ्चःशत्तु भन्नेदृण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २६७ ॥

(क्षुद्रकारणां पश्चनां तु हिंसायाम्) छोटे पशुश्रों की हिंसा होने पर (द्विशतः दमः) दो सौ परा दण्ड होना चाहिए (शुभेषु मृग-पक्षिपु) शुभ मृगादि श्रौर पक्षियों की हिंसा पर (पञ्चाशत् दण्डः भवेत्) पचास पण दण्ड होना चाहिए ॥ २९७ ॥

#### गर्वमाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाविकः। माधिकस्तु भवेदृण्डः श्वसुकरनिपातने।। २६८॥

(गर्दभ + ग्रजा + ग्रविकानां तु) गधा, बकरी, भेड़ ग्रादि के मरने पर (पञ्च-माषिक: दण्ड: स्यात्) पांच 'माषे' चांदी का दण्ड होगा (श्व-सूकर-निपातने) कुत्ता, सूत्रर के मारने पर (माषिक: दण्ड: भवेत्) चांदी का एक 'माषा' दण्ड चालक को होगा ॥ २६८॥

#### मार्या पुत्रक्व दासक्व प्रेष्यो भाता च सोदरः। प्राप्तावराधास्ताडघाः स्यू रज्ज्वा वेखुदलेन वा।। २६६।।

(भार्या, पुत्रः, दासः, प्रेष्यः च सोदरः भ्राता) पत्नी, पुत्र, दास, नौकर भीर सगा भाई (प्राप्त + ग्रपराधाः) इनके ग्रपराध करने पर (रज्ज्वा वा वेणुदलेन) रस्सी या बांस की पतली छड़ी से (ताङ्घाः स्युः) इनकी ताड़ना करे।। २६६।।

#### पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन। अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरिकित्विषम् ॥ ३००॥

(शरीरस्य पृष्ठतः तु) किन्तु रस्सी ग्रादि से शरीर के पृष्ठभाग च्पीठ भाग पर ताड़ना करे (कथञ्चन उत्तमाङ्गे न) कभी भी उत्तमांगों चमुख ग्रादि पर ताड़ना न करे (ग्रतः + ग्रन्थया तु प्रहरन्) इससे भिन्न प्रकार से या स्थानों पर ताड़ना करने पर (चौरकित्विष प्राप्यः स्यात्) चोर के दण्ड से दण्डनीय होगा ।। ३००।।

अन्यू शिल्डन्तः २८६ से ३०० तक श्लोक निम्न ग्राधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. शैलीगत श्राधार—२६२ वें क्लोक में "मनुः ग्रव्ववीत्" पदों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह क्लोक मनु से भिन्न किसी श्रन्य परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचा हुआ है, अतः प्रक्षिप्त है। २६० से २६८ तक के सभी पूर्वापर क्लोक प्रसंगक्रम की दृष्टि से इससे सम्बद्ध श्रीर इस पर श्राधारित हैं। इस क्लोक के प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर श्रन्य सभी सम्बद्ध क्लोक स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं। इस श्राधार पर ये क्लोक मनुप्रणीत सिद्ध नहीं होते।
- २. प्रसंगिवरोध—(१) प्रस्तुत प्रसंग [६।२७६] 'प्राणियों पर जान-बूक्षकर कठोर दण्ड से याघात करते' का है न कि भूल से होने वाली दुर्घटनाथ्रों का। इस प्रसंग में रथ, बैसगाड़ी ग्रादि से होने वाली दुर्घटनाथ्रों का। इस प्रसंग में रथ, बैसगाड़ी ग्रादि से होने वाली दुर्घटनाथ्रों का विधान ग्रसंगत है। इस ग्राधार पर प्रसंगवाह्य होने के कारण २६०—२६६ क्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) २६६ में सभी वस्तुश्रों की हानि का दण्ड एकसाथ कहकर प्रसंग को पूर्ण कर दिया है। इसके पश्चात् २६६ में कुछ वस्तुश्रों की पृथक् से पुनः व्यवस्था देना ग्रनावश्यक एवं प्रसंगविरुद्ध है। वस्तुएँ तो ग्रनेक हैं, यों तो सभी की हानि का दण्ड देना चाहिए था। इस प्रकार यह ग्रपूर्ण विधान

है,जो मौलिक नहीं है। (३) इसी प्रकार २६६-—३०० इलोक भी प्रसंग<mark>बाह्य हैं</mark>। यहां उपर्युंक्त दण्ड-व्यवस्था का प्रसंग है न कि ताड़न-विधि का।

३. अन्तिविरोध—(१) २६६ वें में 'दास' शब्द का उल्लेख इन श्लोकों को परवर्ती एवं मनुविरुद्ध सिद्ध करता है। मनु दासप्रधा का कहीं विधान नहीं करते। वे तो शूद्र को सेवक के रूप में विहित करते हैं [१।६१], जो अपनी इच्छानुसार किसी जी दिजाति की सेवा कर सकता है [६।३३४–३३४], बाध्य होकर नहीं। (२) ४।१६४ में पुत्र श्रौर शिष्य को छोड़ श्रन्य किसी की ताड़ना करने का निषेध है। इन श्लोकों में स्त्री, भृत्य ग्रादि की ताड़ना करना उसके विरुद्ध है।स्त्री की ताड़ना करने का विधान मनु के उन सभी श्लोकों के भी विरुद्ध है, जहां स्त्री को ग्रादर श्रौर समानता देने का कथन है। [३।४५–६२; ६।१०,१०१,१०२]। (३) ताड़ना तो क्या मनु भार्या से लड़ने तक का निषेध करते हैं [४।१६०]। इनके विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं।

# (१३) चोरी का विवाद (३०१-३४३) ग्रौर उसका निर्णय

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुव्यनिर्णयः । स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधि दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ (१८०)

(एषः) यह [८। २७६-३००] (दण्डपारुष्यनिर्णयः) दण्डे से कठोर मारपीट का निर्णय (ग्रिखिलेन + ग्रिभिहितः) पूर्णरूप से कहा।

(स्रत:) इसके पश्चात् स्रब (स्तेनस्य दण्डविनिर्णये) चोर के दण्ड का निर्णय करने की (विधि प्रवक्ष्यामि) विधि कहुंगा—।। ३०१।।

चोरों के निग्रह से राष्ट्र की वृद्धि-

परमं यत्नमातिष्ठेत्ततेनानां निग्रहे नृपः। स्तेनानां निग्रहोदस्य यशो राष्ट्रं च वर्षते॥ ३०२॥ (१८१)

(नृपः) राजा (स्तेनानां निग्रहे) चोरों को रोकने के लिए (परमं यत्नम् + ग्रातिष्ठेत्) ग्रिधिक से ग्रिधिक यत्न करे, क्योंकि (स्तेनानां निग्रहात्) चोरों पर नियन्त्रण होने से (ग्रस्य) इस राजा के (यशः च राष्ट्रं वर्षते) यश ग्रीर राष्ट्रं की वृद्धि होती है।। ३०२।।

चोरों से प्रजा की रक्षा श्रेष्ठ कर्त्तंव्य है-

म्रभयस्य हि यो दातां स पूज्यः सततं नृषः । सत्रं हि वर्धते तस्य सर्देवाभयदक्षिराम् ॥ ३०३ ॥ (१८२) (यः नृपः अभयस्य हि दाता) जो राजा प्रजाओं को अभय प्रदान करने वाला होता है अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजाओं को चोर श्रादि से किसी प्रकार का भय नहीं होता (सः सततं पूज्यः) वह सदैव पूजित होता है —प्रजाओं की श्रोर से उसे मदा श्रादर मिलता है, श्रोर (तस्य) उसका (अभयदक्षिणं सत्रं हि) अभय की दक्षिणा देने वाला यज्ञ-रूरी राज्य (सदैव वर्धते) सदा बढ़ता जाता है।। ३०३।।

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति २क्षतः। ग्रधर्मावपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः॥३०४॥

(रक्षतः राज्ञः) रक्षा करने वाले राजा को (सर्वतः धर्मपड्भागः भवति) सबके धर्म का छठा भाग मिलता है (ग्ररक्षतः) और रक्षा न करने पर (ग्रस्य) इस राजा को (ग्रधमित् + ग्रपि षड्भागो भवति) सबके ग्रथमें का भी छठा भाग मिलता है ॥ ३०४॥

#### यदघीते यद्यजते यद्ददाति यदचंति । तस्य यड्मागमाग्राजा सम्यग्मवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

(यत् + ग्रधीते) प्रजा का व्यक्ति जो भी पढ़ता है (यत् यजते) जो यज्ञ करता है (यद् ददाति) जो दान करता है (यत् + अर्चित) जो उपासना करता है (सम्यक् रक्षणात्) ग्रच्छी प्रकार रक्षा करने के कारण (राजा तस्य षड्भागभाक् भवित) राजा उस सबके छठे भाग का भागी होता है ॥ ३०५॥

#### अरन्युटारे त्व नाः ३०४ ग्रीर ३०५ वलोक निम्न प्रकार प्रक्षिण्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—इन क्लोकों के पूर्वापर ३०३ ग्रीर ३०६ क्लोकों में राज्यरूपी यज्ञ का वर्णन होने से उनमें प्रसंग की सम्बद्धता है। उस सम्बद्धता को इन क्लोकों ने भंग कर दिया है। प्रसंगभञ्जक होने के कारण ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. ग्रन्तिवरोध—इन क्लोकों में प्रजाजनों के धर्म, ग्रधमें तथा प्रत्येक कार्य में राजा का छठा भाग माना है। यह मान्यता ४।२४० के विरुद्ध है। उसमें कर्ता को ग्रपने कर्मों का स्वयं भोक्ता माना है।
- ३. जैलीगत आधार—इन इलोकों में छठे भाग के बटवारे का न तो कोई ग्राधार है, न कोई ग्रुक्तिसंगत कथन। इनकी निराधार एवं ग्रयुक्तियुक्त जैली होने से ये मनु-प्रणीत सिद्ध नहीं होते। मनु किसी निराधार एवं ग्रयुक्तियुक्त बातका विधान नहीं करते।

## रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांत्रच घातयन् । यजतेऽहरहर्यशैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥ (१८३)

(धर्मेण भूतानि रक्षन्) धर्मपूर्वक = न्याय पूर्वक प्रजाम्रों की रक्षा करता हुम्रा (च) ग्रीर (वध्यान् घातयन्) दण्डनीय या वध के योग्य लोगों को दण्डया वध करता हुम्रा (राजा) राजा (म्रहः + म्रहः सहस्र-शत-दक्षिणैः यज्ञैः यजते) यह समक्षो कि प्रतिदिन हजारों-सेंकड़ों दक्षिणाम्रों से युक्त यज्ञों को करता है म्रर्थात् इतने बड़े यज्ञों जैसा पुण्यकार्य करता है ॥ ३०६॥

प्रजा की रक्षा किये बिना कर लेनेवाला राजा पापी होता है—

# योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च सः सद्यो नरकं व्रजेत् ।। ३०७ ॥ (१८४)

(यः पाथिवः) जो राजा (श्ररक्षन्) प्रजाग्रों की विना रक्षा किये उनमें (बिलम्) छठा भाग ग्रन्नादि (करम्) टैक्स (शुल्कम्) महसूल (प्रतिभागम्) चुंगी (च) ग्रीर (दण्डम्) जुर्माना (ग्रादत्ते) ग्रहण करता है (सः सद्यः नरकं व्रजेत्) वह शीघ्र ही दुःख को प्राप्त होता है ग्रर्थात् प्रजाग्रों का व्यान न रखने के कारण उनके ग्रसहयोग से किसी-न-किसी कष्ट से श्राक्रान्त हो जाता है।। ३०७।।

आनु शिल्डना: ग्रन्न के छठे भाग को 'बलि' कहते हैं; प्रतिमास, छठे मास या वार्षिक रूप में लिया जाने वाला टैक्स 'कर'; व्यापारियों से लिया जाने वाला महसूल 'शुरूक'; फल, शाक ग्रादि पर लिया जाने वाला शुरूक 'प्रतिभाग' तथा ग्रपराध में किया जाने वाला जुर्माना 'दण्ड' कहलाता है।

# म्ररक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्। तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम्।। ३०८।। (१८४)

(ग्ररिक्षतारम्) प्रजाग्नों की रक्षा न करने वाले ग्रौर (बलिषड्भाग-हारिणम्) 'बलि' के रूप में छठा भाग ग्रहण करने वाले (तं राजानम्) ऐसे राजा को (सर्वेलोकस्य समग्रमलहारकम् + ग्राहुः) सब प्रजाग्नों की सारी बुराइयों को ग्रहण करने वाला कहा है ग्रर्थात् सभी प्रजाएँ ऐसे राजा की सभी प्रकार से बुराइयां करती हैं।। ३०८।।

# म्रनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं वित्रलुम्पकम् । म्ररक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०६ ॥ (१८६)

(स्रनपेक्षितमर्यादम्) शास्त्रोक्त मर्यादा के स्रनुसार न चलने वाले (नास्तिकम्) वेद स्रौर ईश्वर में स्रविश्वःस करने वाले (विप्रलुम्भकम्) लोभ स्रादि के वशोभूत (स्ररक्षितारम्) प्रजास्रों की रक्षा न करने वाले, स्रौर (स्रतारम्) कर स्रादि का धन प्रजास्रों के हित में न लगाकर स्वयं खा जाने वाले (नृषम्) राजा को (अक्षोगित विद्यात्) नीच समभना चाहिए

भ्रथवायह समभना चाहिए कि उसकी शीघ्र ही भ्रवनित या पतन हो जायेगा।।३०६।।

> अधार्मिकं त्रिभिन्ययिनिगृह्णीयात्प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥३१०॥ (१८७)

इसलिए राजा (निरोधनेन) निरोध = कैंद में बंद करना (वन्धेन) बन्धन = हथकड़ो, वेड़ी ग्रादि लगाना (च) ग्रौर (विविधेन वधेन) विविध प्रकार के वध = ताड़ना, ग्रंगच्छेदन, मारना ग्रादि (त्रिभिः न्यायेः) इन तीन प्रकार के उपायों से (प्रयत्नतः) यत्तपूर्वक (ग्रधानिकं निगृह्ह्योयात्) चोर ग्रादि दुष्ट ग्रपराधी को वश में करे।। ३१०।!

निग्रहेरा हि पापानां साधूनां संग्रहेण च। द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥३११॥ (१८८)

(हि) क्योंकि (पापानां निग्रहेण) पापी=दुव्टों को वश में करने ग्रीर दण्ड देने से (च) तथा (साधूनां संग्रहेण) श्रेष्ठ लोगों की सुरक्षा करने से (नृपाः) राजा लोग (द्विजातयः + इव + इज्याभिः सततं पूयन्ते) जैसे द्विजवर्ण वाले व्यक्ति यज्ञों से पवित्र होते हैं ऐसे ही पवित्र ग्रर्थात् पुण्यवान् ग्रीर निर्मल यशस्वी होते हैं ॥ ३११ ॥

> क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

(म्रात्मनः हितं कुर्वता प्रभुणा) ग्रपना कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि (क्षिपतां कार्यिणां बाल-वृद्ध + ग्रातुराणां नृणाम्) आक्षेप करने वाले अभियोगक-र्ताओं को बालक, वृद्ध ग्रीर रोग-विपत्ति ग्रादि से ग्रस्त लोगों को (नित्यं क्षन्तव्यम्) सदा क्षमा करदे॥ ३१२॥

> यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तेस्तेन स्वर्गे महीयते। यस्त्वैदवर्यानन क्षमते नरकं तेन गच्छति॥३१३॥

(यः) जो राजा (ब्रार्तैः क्षिप्तः मर्षयित) दुः खी लोगों के द्वारा ब्राक्षेप करने पर उन्हें सहन कर लेता है (तेन स्वर्गे महीयते) उससे वह स्वर्गे में पूजित होता है (यः तु) ब्रीर जो (ऐक्वर्यात् न क्षमते) श्रपने को शक्ति या समृद्धिशाली समक्षकर क्षमा नहीं करता (तेन नरकं गच्छति) उससे वह नरक को प्राप्त करता है।। ३१३।।

अनुवारित्जन्तः ३१२, ३१३ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगविरोध - यहा पूर्वापर प्रसंग ग्रपराधियों को दण्ड देने का है। इस के

बीच में वादी-प्रतिवादी म्रादि के म्राक्षेपयुक्त वचनों को क्षमा करने भीर उसके म्राधार पर स्वर्ग-नरक का वर्णन प्रसंगबाह्य है, म्रतः ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

- २. भन्तिवरोध—इन श्लोकों में राजा को स्वर्ग-नरक की प्राप्ति का कथन किया है। स्वर्ग-नरक नामक पृथक् लोक की मान्यता मनुविरुद्ध है [द्रष्टव्य ४।८७-६१ पर 'ग्रनुशीलन'], इस ग्राधार पर ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ३. शैलीगत श्राघार—इन श्लोकों में एक साधारण सी बात से स्वर्ग-नरक की प्राप्ति का कथन किया गया है। यह निराधार एवं अयुक्तियुक्त शैली है। मनु की शैली में ऐसी त्रृटियाँ नहीं हैं, श्रतः ये मनुप्रणीत नहीं हैं।

चोर की स्वयं प्रायश्चित्त की विधि-

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन घावता। श्राचक्षार्णेन तस्तेयमेवंकर्मास्मि शाघि माम् ॥३१४॥ (१८८)

[यदि चोर चोरी करने के बाद स्वयं उस ग्रपराध को ग्रनुभव कर लेता है तो उसके प्रायश्चित्त ग्रोर उससे मुक्ति के लिए ] (स्तेनेन) चोर को चाहिए कि वह (मुक्तकेशेन धावता) बाल खोलकर दौड़ता हुग्रा (तत् स्ते-यम् + ग्राचक्षाणेन) उसने जो चोरी की है उसको कहता हुग्रा 'कि मैंने ग्रमुक चोरी की है, ग्रमुक चोरी की है, ग्रादि (राजा गन्तव्यः) राजा के पास जाना चाहिए, ग्रोर कहे कि (एवंकर्मा + ग्रह्मि) 'मैंने ऐसा चोरी का काम किया है' 'मैं ग्रपराधी हूं (मां शाधि) मुफ्ते सजा दीजिए।। ३१४।।

अद्भार कि स्वयं प्रायश्चित्त करने की परमप्रा थी। चोर चोरी करने के परचात् यदि स्वयं यह अनुभव करता है कि मैंने यह बुरा कार्य किया है, और पकड़े जाने से पूर्व स्वयं ही उसका प्रायश्चित्त करना चाहता है, तो उसका यह तरीका है। सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर कहने पर और अपने आपको चोर के रूप में सबके तथा राज। के सामने प्रदर्शित करने पर बहुत बड़ा प्रायश्चित्त हो जाता है। स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति द्वारा पुनः अपराध करने की संभावना नहीं रहती। और लोग भी यह मान लेते हैं कि जब इसने स्वयं ही सार्वजनिक रूप से अपने आपको चोर घोषित करके अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है और प्रायश्चित्त कर रहा तो इसे और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं। इस श्लोक से तथा न। ३१६ से यह व्वनित होता है कि स्वयं इस प्रकार प्रायश्चित्त करने वाले व्यक्ति को राजा को क्षमा कर देना चाहिए। इस सबके बाद वह व्यक्ति दोषमुक्त मान लिया जाता है।

स्कन्घेनादाय मुसलं लगुडं वाऽपि खादिरम् । राषित चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥ (१६०) (स्कन्थेन मुसलम् ग्रिप वा खादिरं लगुडम्) चोर को कन्थे पर मुसल ग्रयवा खंर का दंड, (उभयतः तीक्ष्णां शक्तिम्) दोनों ग्रोर से तेज धार-वाली बरछी (वा) ग्रयवा (ग्रायसं दण्डम् एव) लोहे का दण्ड ही रखकर [राजा के पास जाना चाहिए ग्रीर कहे कि 'मैं चोर हूं, मुभे दण्ड दीजिए']।। ३१४।।

अपन्य र्ह्या रेट्ड न्यः इस श्लोक का पूर्व श्लोक के साथ सम्बन्ध है। ऊपर के श्लोक में दी हुई व्यवस्था के साथ इस श्लोक में कहे हुए विकल्पों में से चुनकर किसी एक व्यवस्था के प्रमुसार चोर को प्रायश्चित्त करना है।

टोषी को दण्ड न देने से राजा पापभागी होता है-

शासानोद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते । स्रशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति कित्विषम् ॥३१६॥ (१६१)

(शासनात्) सजा पाकर (वा) या (विमोक्षात्) [स्वयं प्रायिक्तत करने के बाद] राजा के द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर (स्तेनः) चोर (स्तेयात् विमुच्यते) चोरी के प्रपराध से मुक्त हो जाता है (तम् प्रशासित्वा तु) चोर को दण्ड न देने पर (राजा स्तेनस्य किल्विषम् ग्राप्नोति) राजा को चोर की निन्दा = बुराई मिलती है प्रथात् फिर प्रजाएं उस चोर के स्थान पर राजा को ग्रधिक दोष देती हैं।। ३१६।।

अवस्तु कारित्य हा (१) रामायण में उद्धृत मनुस्मृति के इलोक—यह इलोक तथा द। ३१८ वां इलोक, दोनों कुछ पाठान्तर से वाल्मीकि रामायण में उद्धृत मिलते हैं। बालि का ध्य करने पर, बालि राम पर अथमेंपूर्वक वध करने का आक्षेप लगाता है। राम बालि के श्राक्षेपों का उत्तर देते हुए अपने आचरण को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने के लिए मनु के निम्न इलोकों को प्रमाएारूप में उद्धृत करते हैं।

यहां विशेष घ्यान देने योग्य बात यह है कि इन श्लोकों के उद्धरण से मनुस्मृति का रचना-काल रामायण से पूर्व सिद्ध होता है। रामायण से पूर्व मनुस्मृति श्लोकबद्ध रूप में थी, यह रामायण में पठित 'श्लोकौ' शब्दों से ज्ञात होता है—"श्रू यते मनुना गीतौ श्लोकौ चरित्रवत्सलो। गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चिरितं मया॥" (किष्कि० १८।३०)। उद्धृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

राजिमिष् तरण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मेलाः स्वर्गमायाग्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुख्यते । राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किस्विषम् ॥ (किष्कि० १८।३१-३२) (२) मनुस्मृति में 'किल्विषम्' 'दुष्कृतम्' 'एनः' 'पापम्' 'ग्रधमं' आदि शब्द स्थान-स्थान पर ग्राते हैं। वहां इनसे ऐसे 'पाप' का अयं ग्रहरण नहीं करना चाहिए जो किसी दूसरे के किये का दूसरे को लग जाये। जहां-जहां द। १३, १३४, १६८, ८। ३१६-३१७ ग्रादि श्लोकों में इस शैली में वाक्यप्रयोग है या इस शब्द का प्रयोग है, वहां इसका ग्र्यं 'तिन्दा' 'दोष' 'ग्रधमं' या 'बुराई' है। निरुक्तकार ने इसी ग्र्यं को ब्युत्पत्ति से पुष्ट किया है—''किल्विषम् = किल्मियम्, कींत्तिमस्य मिनसीति। ग्रयांत् जो कीर्ति का नाश करे वह 'किल्विष' = बदनामी, बुराई या दोष है। 'किल इवैत्ये' धातु से 'किलव् क् च' (उणादि० १। ४०) सूत्र से 'टिपच्' प्रत्यय के योग से 'किल्विष' शब्द सिद्ध होता है। ग्रन्य स्थानों पर इसके पर्यायवाची रूप में भी ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो उपर्युक्त ग्रथों को पुष्ट करते हैं, जैसे—'मलहारकम्' [८। ३०८], एनस्' [२।२; ८। १६], 'ग्रधमं:' [८।१८] ग्रादि। ८। १९ में 'एन:' शब्द निन्दा अर्थ में प्रयुक्त है।

पापियों के संग से पाप-

अन्तादे भ्रूगहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिग्गी। गुरौ शिष्यदच याज्यदच स्तेनो राजनि कित्विषम् ॥३१७॥ (१६२)

(भ्रूणहा ग्रन्तादे मार्डिट) भ्रूणहत्या करने वाला उसके यहां भोजन करने वाले को भो निन्दा का पात्र बना देता है ग्रयांत् जैमे भ्रूणहत्यारे को बुराई मिलती है वसे ही उसके यहां घन्न खाने वाले को भी उसके कारण बुराई मिलती है (ग्रपचारिणी भार्या पत्यौ) व्यभिचारी स्त्री की बुराई उसके पति को मिलती है (शिष्य: गुरौ) बुरे शिष्य की बुराई उसके गुरु को मिलती है (च) ग्रौर (याज्य:) यजमान की बुराई उसके यज्ञ व राने वाले ऋत्विक गुरु को मिलती है (स्तेन: किल्विष राजिन) इसी प्रकार दण्ड न देने पर चोर की बुराई =िनन्दा राजा को मिलती है।। ३१७।।

राजाग्रों से दण्ड प्राप्त करके निर्दोषता-

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥ (१६३)

(मानवाः पापानि कृत्वा) मनुष्य पाप = ग्रपराध करके (राजिभः कृतदण्डाः तु) पुनः राजाग्रों से दिण्डित होकर ग्रर्थात् राजा द्वारा दिये गये दण्डिल प्रायश्चित्त को करके (निर्मलाः) पितृत्र = दोषमुक्त होकर (स्वर्गम् + ग्रायान्ति) सुख को प्राप्तः करते हैं (यथा सुकृतिनः सन्तः) जैसे ग्रच्छे कर्म करने वाले श्रेष्ठ लोग सुखी रहते हैं।ग्रभिप्राय यह है कि प्रायश्चित्त करने पर उस पापरूप ग्रपराध के संस्कार क्षीए। हो जाते हैं ग्रीर दोषी होने की

भावना नहीं रहती, उससे तथा पुनः श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सन्तों की तरह मानसिक शान्ति-सुख को प्राप्त करते हैं ।। ३१८ ।।

अन्तु श्रीत्डनाः स्वर्गे शब्द का ग्रथं 'सुख' है। द्रष्टव्य ६।७६ पर ग्रनु-शीलन।

विभिन्न चोरियों की दण्डव्यवस्था-

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिन्द्याच्च या प्रपाम् । स वण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१६॥ (१६४)

(यः तु) जो व्यक्ति (क्पात्) कूए से (रज्जुं घटं हरेत्) रस्सी या घड़ा चुरा ले (च) ग्रीर (यः) जो (प्रपां भिद्येत्) प्याऊ को तोड़े (सः) वह (माषं दण्डं प्राप्नुयात्) एक सोने का 'माषा' दण्ड का भागी होगा (च) तथा (तत् तस्मिन् समाहरेत्) वह सब सामान वहां लाकर दे ।। ३१६ ।।

धान्यं दशम्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽम्यधिकं वधः । शेषेऽप्येकादशगुर्णं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२०॥ (१६४)

(दशम्यः कुम्भेम्यः ग्रधिकं धान्यं हरतः) दश कुम्भ = बड़े घड़ों से ग्रधिक धान्य = प्रन्नादि चुराने पर (वधः) चोर को शारीरिक दण्ड मिलना चाहिए (शेषे तु) दश कुम्भ तक धान्य चुराने पर (एकादशगुण दाप्यः) ग्यारह गुना जुर्माना करना चाहिए (तस्य तत् धनं च) ग्रीर उस व्यक्ति का वह धन वापिस दिलवा दे।। ३२०।।

## तथा घरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः । सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ (१९६)

(तथा) इसी प्रकार (घरिममेयानाम्) घरिम=काँटे से, मेय=तोले जाने वाले (सुवर्ण-रजत+ग्रादीनाम्) सोना, चाँदी ग्रादि पदार्थों के १०० पल से ग्रीधक चुराने पर (च) ग्रीर (उत्तमानां वाससाम्) उत्तम कोटि के कपड़े (शतात्+ग्रम्यधिके) सौ से ग्रीधक चुराने पर (वधः) शारीरिक दण्ड से दण्डित करे ॥ ३२१॥

## पंचाशतस्वम्यधिके हस्तच्छेदनिषयते। शेषे त्वेकादशगुरां मूल्यादृण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥ (१९७)

(पंचाशतः तु + ग्रम्यधिके) [उपर्यु क्त = । ३२१ वस्तुग्रों के ] पंचास से ग्रधिक सौ तक चुराने पर (हस्तच्छेदनम् + इष्यते) हाथ काटने का दण्ड देना चाहिए (शेषे तु) पंचास से कम चुराने पर राजा (मूल्यात् एका- दशगुणं दण्डं प्रकल्पयेत्) मूल्य से ग्यारह गुना दण्ड करें स्त्रीर वह वस्तु वापिस दिलवाये ।। ३२२ ।।

> पुरुषाणां कुलीनानां नारी<mark>गां च विशेषतः ।</mark> मुख्यानां चेव रत्नानां हरगों वषमहात ।। ३२३ ॥(१६८)

(कुलीनानां पुरुषाणाम्) कुलीन पुरुषों (च) ग्रौर (विशेषतः नारी-एगाम्) विशेषरूप से स्त्रियों का (हरएगे) ग्रगहरएग करने पर (च) तथा (मुख्यानाम् एव रत्नानाम्) मुख्य हीरे ग्रादि रत्नों की चोरी करने पर (वधम् + ग्रहंति) शारीरिक दण्ड [ताड़ना से प्राणवध तक देना] चाहिए।। ३२३।।

> महापञ्चनां हरणे ज्ञस्त्राणामौषधस्य च। कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥३२४॥ (१६६)

(महापश्नाम्) हाथो, घोड़े म्रादि वड़े पशुम्रों के (शस्त्राणाम्) शस्त्रास्त्रों के (च) म्रीर (म्रीषधस्य) म्रोषधियों के (हरणे) चुराने पर (कालंच कार्यम् म्रासाद्य) समय [परिस्थिति] म्रीर चोरी के कार्य की गम्भी-रता को देखकर (राजा दण्डं प्रकल्पयेत्) राजा चोर को दण्ड दे।। ३२४।।

> गोषु ब्राह्मण्संस्थासु छूरिकायात्रच भेदने । पञ्चनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽवंपादिकः ॥ ३२४ ॥

(ब्राह्मए।संस्थासु गोषु) ब्राह्मण की गौम्रों के चुराने पर (च) और (छ्रिरिकायाः भेदने) पशुभ्रों के नाक छेदने पर (च) तथा (पशूना हरएों) पशुभ्रों के चुराने पर (सद्यः प्रधंपादिकः कार्यः) चोर का प्राधा पांव कटवा देना चाहिए॥ ३२५॥

सूत्रकार्पासिकण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।
दण्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च।। ३२६॥
वेणुवैदलसाण्डानां स्वणानां तयैव च।
मृन्मयानां च हरणे मृदो मस्मन एव च।। ३२७॥
मत्स्यानां पिक्षणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांतस्य मधुनद्दचेव यच्चान्यत्पशुसम्मवस्।। ३२८॥
प्रत्येवां चेवमादीनां मद्यानामोदनस्य च।
पश्वान्नानां च सर्वेवां तन्मूत्याद् द्विगुणो दमः।। ३२६॥

(सूत्र-कार्पास-किण्वानाम्) ऊन ग्रादि कः सूत, कपास, सुरा-बीज (गांमयस्य गुडस्य) गोवर, गुड़ (दध्नः) दही (क्षीरस्य) दूध (तक्रस्य) छाछ (पानीयस्य) जल (तृणस्य) तृण (वेणु-वैदल-भाण्डानाम्) बांस ग्रीर बेंत के बने बर्तन (लवणानाम्) सभी प्रकार के नमक (मृन्मयानाम्) मिट्टी के बर्तन (मृदः भस्मनः एव) मिट्टी, भस्म (मत्स्यानां पक्षिणाम्) मछली, पक्षी (तैलस्य चृतस्य) तैल, घी (मांसस्य मधुनः) मांस,

मधु (च) ग्रौर (यत् + ग्रन्यत् पशुसंभवम्) जो कुछ पशु से उत्पन्न होने वाले पदार्थं — सींग, चमड़ा, दांत, हड्डी ग्रादि (अन्येषां च एवम् + ग्रादीनाम्) इसी प्रकार के दूसरे पदार्थं (मद्यानाम् + ग्रोदनस्य) शराब, भात (सर्वेषां पक्वान्नानाम्) सभी पक्वान्नों के (हरएों) चुराने पर (तत् मूल्यात् द्विगुणः दमः) उस चुराई गई वस्तु के मूल्य से दुगुना दण्ड चोर पर होना चाहिये॥ ३२६-३२६॥

> पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च। अन्येष्टत्रपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः॥३३०॥

(पुष्पेषु) फूल (हरिते धान्ये) हरे धान्य (गुल्म-वल्ली-नगेषु) गुल्म, बेल, वृक्ष (श्रपरिपूतेषु श्रन्येषु) विना साफ किये धान्य के चुराने पर (पञ्चकृष्णलः दण्डः स्यात्) व्यंच 'कृष्णल' [८ । १३४] दण्ड करना चाहिए ॥ ३३० ॥

> परिपूतेषु धान्येषु ज्ञाकमूलफलेषु च। निरन्वये शतं वण्डः सान्त्रयेऽर्थशतं वमः ॥ ३३१ ॥

(परिपूतेषु धान्येषु) साफ किए हुए धान्य (शाकमूल-फलेषु) शाक, मूल, फल (निरन्थेय शतं दण्डचः) [इनके चोरी करने पर] स्वामी का जो चुराने वाला सम्बन्धी न हो तो सौ पएा दण्ड करना चाहिए (सान्वये + प्रर्धशनं दमः) यदि सम्बन्धी हो तो पचास पण दण्ड करना चाहिए ॥ ३३१॥

**अन्तुर्धीत्वनः** ३२५—३३१ श्लोक निम्न 'म्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगिवरोध—मनुष्यों का प्रपहरण, प्रन्त, भातु, वस्त्र प्रादि मुख्य वस्तु भीं की सामूहिक रूप से कुछ दण्डव्यवस्था का विधान करके ३२४ वें इलोक में प्रन्य सभी साधारण-विशेष वस्तु भों की दण्डव्यवस्था मनु ने राजा के विवेक पर ही छोड़ दी है। यह कहकर इलोक को पूर्ण कर दिया है कि 'समय भीर कार्य के अनुसार राजा स्वयं दण्ड होते।'

यह वाक्य न कहकर प्रत्येक दण्ड को स्वयं निर्धारित करते । अतः यह मानना पड़ेगा कि यहां दण्डव्यवस्था का यह प्रसंग पूर्ण हो गया है । इसके पश्चात् चोरी से सम्बन्धित विकल्पात्मक या सर्वसामान्य विधानों का वर्णन तो प्रास्गिक कहा जा सकता है, अन्य वर्णन नहीं । ३२५-३३१ श्लोकों में साधारण-साधारण वस्तुओं की दण्डव्यवस्था का उल्लेख किया है । प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् पुतः उस प्रसंग को उठाना प्रसंगविरुद्ध है एवं मनुस्मृतिकार के संकेत के विरुद्ध भी है, ग्रतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

ग्रन्तिवरोध—इन क्लोकों में ग्रनेक साधारण वस्तुग्रों के साथ-साथ मछली

मांस, शराब म्रादि वस्तुम्रों की चोरी की दण्डव्यवस्था भी दी है, जो इन इलोकों को मनु-प्रणीत सिद्ध नहीं करती, क्योंकि मनु चारों वर्णों के समाज में इन वस्तुओं का 'म्रस्तिस्व' ही स्वीकार नहीं करते। जब उनके मत में ये वस्तुएं समाज में होनी ही न चाहिएँ तो फिर वे इनकी दण्डव्यवस्था का उल्लेख भी नहीं कर सकते [द्रष्टव्य ३।१२०-२८४; ४।२६-२८ पर 'अनुशीलन' में मांस, मद्य-सम्बन्धी समीक्षा] इस म्राधार पर भी ये इलोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

साहस ग्रौर चोरी का लक्षण---

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्त्रसभं कर्मं यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वाऽपय्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥ (२००)

(ग्रन्वयवत्) वस्तु के स्वामी के सामने (प्रसमं यत् कमं कृतम्) बलाह्कारपूर्वक जो चोरो, डाका, बलाह्कार ग्रादि कमं किया जाता है ('साह्सम्' स्यात्) वह साहस = डाका डालना या बलाह्कार कार्य कहलाता है (निरन्वयम्) स्वामी के पीछे से छुपाकर किसी वस्तु को लेना (च) ग्रीर (यत् हृत्वा + ग्रप्वययते) जो किसी वस्तु को [सामने या परोक्ष में] लेकर मुकरना या चुराकर भाग जाना है (स्तेयं भवेत्) वह 'चोरी' कहलाती है।। ३३२।।

अप्रन्य ट्यारेट्ड न्य: साहस और चोरी का लक्षण — कौटिल्य ने मनु के शब्दों को ग्रहण करके अपने अर्थशास्त्र में साहस और चोरी का लक्षण किया है —

''साहसम् अन्वयवत् प्रसंभक्षमं । निरन्तये स्तेयम् भपन्ययने च ।'' [प्र०७४ । प्र० १७]

> यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्यास्मि स्तेनयेग्नरः । तमाद्यं दण्डयेद्राजा यदचाग्नि चोरयेद् गृहात् ॥ ३३३ ॥

(यः तुनरः) जो व्यक्ति (उपक्लृप्तानि एतानि द्रव्याणि) साफ करके अपने

(राजा तम् + ग्राद्य दण्डयेत्) राजा उसको आद्य ग्रथोत् 'प्रथम साहस' का दण्ड दे।

अस्तुर्ह्यो त्या स्वाक्षिक भी प्रसंगविरोध के आधार पर प्रक्षिप्त है विस्तृत विवेचन ३२५-३३१ क्लोकों पर 'म्रनुशीलन' में देखिए।

डाकू, चोरों के ग्रंगों का छेदन --

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते । तत्त्वदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पाणिवः ॥ ३३४ ॥ (२०१) (स्तेनः) चोर (यथा) जिस प्रकार (येन येन + ग्रङ्गोन) जिस-जिस ग्रङ्ग से (नृषु) मनुष्यों में (विचेष्टते) विरुद्ध चेष्टा करता है (ग्रस्य तत्-तत्+एव) उस-उस ग्रंग को (प्रत्यादेशाय) सब मनुष्यों को शिक्षा के लिए (पाणिवः हरेत्) राजा हरण ग्रर्थात् छेदन करदे ॥ ३३४॥ (स० प्र०१७२)

माता-िपता, श्राचार्य श्रादि सभी राजा द्वारा दण्डनीय हैं---

पिताऽऽचार्यः सुह्न्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्डघो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ (२०२)

(पिता म्राचार्यः सुहृत् माता भार्या पुत्रः पुरोहितः) चाहे पिता, म्राचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र म्रोर पुरोहित क्यों न हो (यः स्वधर्मे न तिष्ठिति) जो स्वधर्मे में स्थित नहीं रहता (राज्ञः स्रदण्डघः नाम न) वह राजाका स्रदण्डघ नहीं होता स्रर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे।। ३३४।। (स० प्र० १७)

भ्रपराध करने पर राजा को साधारण जन से सहस्रगुणा दण्ड हो-

कार्षापएं भवेदृण्डघो यत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेदृण्डघः सहस्रमिति घारणा॥ ३३६॥ (२०३)

(यत्र) जिस ग्रपराध में (ग्रन्यः प्राकृतः जनः) साधारण मनुष्य पर (कार्षापणं दण्डचः भवेत्) एक पैसा दण्ड हो (तत्र) उसी ग्रपराध में (राजा सहस्रं दण्डचः भवेत्) राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे श्रर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए ఈ ।

मंत्री ग्रर्थात् राजा के दीवान को ग्राठ सो गुणा, उससे न्यून को सात सो गुणा, ग्रीर उससे भी न्यून को छः सो गुणा, इसी प्रकार उत्तर-उत्तर ग्रर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य ग्रर्थात् चपरासी है उसको ग्राठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए। क्यों कि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को ग्रिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें; जैसे सिंह ग्रिक ग्रीर बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में ग्रा जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को ग्रपराध में प्रजापुरुषों से ग्रिक दण्ड होना चाहिए।। ३३६।। (स० प्र०१७२)

🎇 (इति घारणा) ऐसी शास्त्र-व्यवस्था है।

उच्चवर्णं के व्यक्तियों को मधिक दण्ड दे-

म्रष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् । षोडशैव तु वैश्यस्य द्वानिशत्कात्रियस्य च ॥ ३३७॥ (२०४)

बाह्यणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत् । द्विगुर्गा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुरगिवद्धि सः ॥३३८॥ (२०४)

वैसे ही (तत् दोषगुणवित् हि सः) जो कुछ विवेकी होकर (स्टेचे) चोरी करे (शूद्रस्य तु अष्टापाद्यम्) उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा (वैश्यस्य तु षोडश + एव) वेश्य को सोलह गुणा (क्षत्रियस्य द्वात्रिशत्) क्षत्रिय को बत्तीस गुणा (ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः) ब्राह्मण को चौंसठ गुणा (अपि वा शतम्) वा सौ गुणा (वा) अथवा (द्विगुणा चतुः षष्टिः) एक सौ अट्ठाईस गुणा (किस्वषं भवति) दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए।। ३३७-३३८।। (स० प्र०१७३)

अर्जुटरिट्यन्तः उच्चवर्णानुसार उच्चवरणः — उच्चवर्णानुसार उच्चदण्ड की व्यवस्था कौटिल्य तक यथावत् प्रचलित रही है। कौटिल्य ने भी अन्य वर्णीं की तुलना में अपराध करने पर ब्राह्मण को अधिक दण्ड देने का विधान किया है—

"बाह्य एतश्चेषां क्येष्ठघ नियम्येत ।" [प्र०६६। ग्र०१०]
= मारना ग्रादि प्रपराधों में यदि कोई ब्राह्मण सम्पिलत हो तो उसे अन्य वर्णस्थ जनों की ग्रपेक्षा ग्रधिक दण्डित किया जाये।

> वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च । तृश्ंच गोम्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरत्नवीत् ॥ ३३६ ॥

(वानस्पत्यं मूलफलम्) वनस्पतियों के मूल, फल (ग्रग्न्यर्थ दारु) यज्ञ के लिए सिमाधों की लकड़ी (तथैव) उसी प्रकार (गोम्यः ग्रासार्थं तृणम्) गौग्रों को चराने के लिए घास लेने को (मनुः ग्रस्तेयम् + ग्रज्ञवीत्) मनु ने चोरी नहीं माना है ।। ३३६ ।।

योऽत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत बाह्यणो धनम् । याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तर्थं सः ॥ ३४० ॥

(यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (ग्रदत्तादायिनः हस्तात्) नहीं दी गई वस्तु को चुराने वाले के हाथ से (याजन-प्रघ्यापनेन + ग्रपि) चाहे यज्ञ कराने ग्रथवा पढ़ाने की दक्षिणा के रूप में (धनं लिप्सेत) धन लेने की इच्छा करे तो (सः) वह ब्राह्मण (यथा स्तेनः तथैव) जैसे चोर है वैसा ही है ग्रथत् वह भी चोर के समान दण्डनीय है।।३४०।।

द्विजोऽघ्वगः क्षीरावृत्तिद्वीविक्ष् द्वे च मूलके। ग्रावदानः परक्षेत्रान्त दण्डं दातुमहंति ॥ ३४१॥

(ग्रध्वगः द्विजः) यात्रा करने वाले द्विज के पास यदि (क्षीरावृत्तिः) भोजन न रहे, ग्रीर ग्रपनी भूल मिटाने के लिए यदि वह (परक्षेत्रात् द्वौ + इक्षू च द्वे मूलके) दूसरे के खेन से दो गन्ने ग्रीर दो मूली (ग्राददान) ले ले तो (दण्डं दातुं न ग्रहीत) वह दण्ड देने के योग्य नहीं होता ॥ ३४१ ॥

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः । दासाइवरयहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरिकस्विषम् ॥ ३४२ ॥

(ग्रसंदितानां संदाता) दूसरे के खुले हुए पशुओं को अगने यहाँ बांधकर रखने वाला (च) ग्रीर (संदितानां च मोक्षकः) किसी के बंधे हुए पशुग्नों को [चोरी के उद्देश्य से] खोलने वाला (च) तथा (दास + अश्व-रथ-हत्तां) दास, घोड़ा ग्रीर रथ को चुराने वाला (चोरिकित्विषं प्राप्तः स्थान्) चोर के ग्रपराध ग्रीर दण्ड का भागी होगा।। ३४२।।

#### अन्तुर्शीत्वनः : ३३६ से ३४२ इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. शैलीगत स्राधार—३३६ श्लोक में ज़्क्त "मनुः स्रवनीत्" पदों से स्पष्टतः यह सिद्ध है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी सन्य परवर्ती व्यक्ति की रचना है, स्रतः प्रक्षिप्त है शेष श्लोकों का यह प्रसंग इसी श्लोक पर प्राधारित होने से स्वतः प्रक्षिप्त कहलायेगा।
- २- प्रसंगविरोध—ये सभी क्लोक प्रसंगविरोध के स्राधार पर भी प्रक्षिप्त हैं। इसके लिए देखिए ३२५—३३१ क्लोकों पर 'स्रनुशीलन' में यह स्राधार।

म्रनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥(२०६)

(राजा) राजा (श्रनेत विधिना) इस उपर्युक्त [६।३०२-३४२] विधि से (स्तेनिनग्रहं कुर्वाणः) चोरों को नियन्त्रित एवं दण्डित करता हुग्रा (ग्रस्मिन् लोके यशः) इस जन्म में या लोक में यश को (च) ग्रौर (प्रेत्य) परजन्म में (ग्रनुत्तमं सुखम) ग्रच्छे सुख को (प्राप्तुयात्) प्राप्त करता है ।।३४३ ।।

(१४) साहस = डाका, हत्या द्रादि बलात्कारपूर्वक किये गये अपराधों का निर्णद — [३४४ — ३५१]

ऐन्द्रं स्थानमभित्रेष्मुर्यशस्त्रचाक्षयमव्ययम् । नोपेक्षेत क्षणमि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४॥ (२०७) (ऐन्द्रं स्थानम्) राज्य के ग्रधिकारी धर्म (च) ग्रीर क्ष (यशः) ऐक्वर्य की (ग्रभिप्रेप्सुः) इच्छा करने वाला (राजा) राजा (साहसिक नरम्) बला-त्कार काम करने वाले डाकुग्रों को (क्षणम् + ग्रिप न + उपेक्षेत) दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ।। ३४४ ।। (स० प्र० १७३)

क्क (ग्रक्षयम् + ग्रव्ययम्) न नष्ट होने वाले तथा न कम होने वाले .....

साहसी व्यक्ति चोर से मधिक पापी-

## वाग्दुष्टात्तस्कराच्बैव दण्डेनैव च हिसतः । साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः । ३४४॥(२०८)

साहसिक पुरुष का लक्षण— (वाक्-दुःटात्) जो दुःष्ट वचन वोलने (तस्करात्) चोरी करने (दण्डेन एव हिंसतः) विता अपराध से दण्ड देने वाले से भी (साहसस्य कर्ता नरः) साहस, बलात्कार काम करने वाला है (पापकृत्तमः विज्ञ यः) वह अतीव पापी, दुष्ट है ।। ३४५ ।। (स० प्र० १७३)

डाकू को दण्ड न देने वाला राजा विनाश को प्राप्त करता है---

## साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयित पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥३४६॥ (२०६)

(यः पार्थिवः) जो राजा (साहसे वर्तमानं तु मर्थयति) साहस में वर्तमान पुरुष को न दण्ड देकर सहन करता है (सः ग्रागु विनाशं व्रजित) वह राजा शोघ्र हो नाश को प्राप्त होता है (च) ग्रौर (विद्वेषम् सुधिगच्छिति) राज्य में द्वेष उठता है ॥ ३४६॥ (स० प्र० १७.)

मित्र या धन के कारण साहसी को क्षमान करे-

## न मित्रकाररणाद्वाजा विपुलाद्वा धनागमात्। समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वमूतभयावहान् ॥३४७॥(२१०)

(न मित्रकारणात् वा विपुलात् धन ⊹ ग्रागमात्) न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी (राजा) राजा (सर्वभूतभय + ग्रावहान् साहसिकान्) सव प्राणियों को दुःख देने वाले साहसिक मनुष्य को (समुत्सृजेत्) बंधन-छेदन किये बिना कभो न छोड़े ॥ ३४७ ॥ (स० प्र० १७३)

विद्रोहकाल में द्विजातियों को शस्त्रधारण का भ्रादेश-

शस्त्रं द्विजातिभिर्प्राह्यं धर्मो यत्रोपरुघ्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विष्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥

#### म्रात्मनक्व परित्राणे दक्षिणानां च सङ्करे । स्त्रीवित्राम्युपपत्तौ च व्नन्थर्मेण न बुष्यति ॥ ३४६ ॥

(यत्र) जहाँ कहीं (धर्मः उपरुष्यते) धर्मों में स्रवरोध पैदा हो गया हो (च) तथा (कालकारिते) किसी समय या परिस्थिति के प्रभाव के कारण (द्विजातीना वर्णानां विप्लवे) द्विज वर्णों के बीच विद्रोह पैदा हो जाने सर (द्विजातिभिः शस्त्रं ग्राह्णम्) द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण कर लेना चाहिए।। ३४८।।

ग्रीर—(ग्रात्मन: परित्राणे) ग्रात्मरक्षा के लिए (च) तथा (दक्षिणानां सङ्करे) धन-सम्पत्ति की लूट-पाट में (स्त्री-वित्र + ग्रम्युपपत्ती) स्त्रियों ग्रीर विद्वानों पर विपत्ति ग्राने पर उनकी रक्षा के लिए (धनन्) हिंसा करने पर (धर्मण न दुष्यित) धर्म से = कानून के ग्रनुसार अपराधी नहीं होता ॥ ३४६ ॥

अनुरारिकन: ३४५-३४६ श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध ६ । ४ ७ इलोकों के संकेतानुसार यहां ३४४ इलोक से डाका, हत्या ग्रादि साहस के ग्रपराधों के निर्णय का वर्णन है। इन इलोकों के पूर्वापर इलोकों में भी वही वर्णन है। बीच के इन इलोकों में प्रचलित प्रसंग से भिन्न 'द्विजातियों द्वारा धर्मरोध और परस्पर विद्रोह की स्थिति में शस्त्र ग्रहण का विधान,' 'स्त्री तथा वित्र की रक्षार्थ शस्त्रधारण' ग्रादि वार्ते प्रसंगिवरुद्ध हैं। ये दोनों इलोक एक क्रिया द्वारा सम्बद्ध हैं, ग्रतः प्रथम के साथ द्वितीय भी प्रक्षिप्त ही घोषित होगा।
- २. श्रन्तिवरोष—धर्म का पालन कराना, धर्म का पालन न करने पर दण्ड देना, धर्म में श्राये श्रवरोधों को दूर करना श्रीर स्त्री, विश्र श्रादि सभी प्रजाजनों की रक्षा करना, ये राजा के कार्य विहित हैं। यदि द्विज स्वयं शस्त्र धारण करके श्रराजकता श्रीर धर्मावरोध श्रादि को दूर करने लगें तो इससे श्रराजकता ही बढ़ेगी। फिर राजा की क्या श्रावश्यकता रहेगी? [७।३,१७,२४,३४,१४३,१४४]। इस प्रकार ये दोनों श्लोक मनु की व्यवस्था के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। अगले श्लोक में इन भावों का स्वयमेव श्रन्तर्भाव हो जाता है।

आततायी को मारने में प्रपराध नहीं-

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं द्या बहुश्रुतम् । स्राततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥ (२११)

(गुरुं वा बाल-वृद्धी वा) चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र ग्रादिक बालक हों, चाहे पिता ग्रादि वृद्ध (ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्) चाहे ब्राह्मण् ग्रीर चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो (ग्राततायिनम् + ग्रायान्तम्) जो धर्म को छोड़ ग्रधमं में वर्तमान, दूसरे को विना ग्राग्राध मारने वाले हैं (ग्रविचारयन् + एव हन्यात्) उनको बिना विचारे मार डालना म्रर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥ ३५० ॥ (स० प्र० १७३)

## नाततायिवधे **दोषो हम्तुभंवति कश्चन।** प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥३५१॥ (२१२)

(ग्राततायिवधे) दुष्ट-पुरुषों के मारने में (हन्तु: कश्चन: दोष: न भवति) हन्ता को पाप नहीं होता (प्रकाशं वा + ग्रप्रकाशम्) चाहे प्रसिद्ध [=सबके सामने] मारे चाहे ग्रप्रसिद्ध [=एकान्त में] (मन्यु: तं मन्युं ऋच्छति) क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है।। ३५१।। (स॰ प्र०१७३)

## [१४] स्त्री-संग्रहरासम्बन्धी विवाद [३४२-३८७] तथा उसका निर्णय—

परवाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्तृन्महोपतिः । उद्वेजनकरेर्वण्डेरिछन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥३५२॥ (२१३)

(परदारा + ग्रभिमर्शेषु प्रवृत्तान् नृन्) [बलाहकार ग्रथवा सहमित-पूर्वक] परिक्रियों से व्यभिचार करने में संलग्न पुरुषों को (महीपितः) राजा (उद्धेजनकरें: दण्डैं: खिन्नयित्वा) व्याकुलता पैदा करने वाले [नाक, कान, हाथ ग्रादि काटना, दागना ग्रादि] दण्डों से ग्रङ्ग-भंग करके (प्रवासयेत्) देश से निकाल दे ॥ ३५२ ॥

#### तत्समुत्यो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः। येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते।।३५३।।

(हि) क्योंकि (तत्समुत्थः) उस परस्त्री व्यभिचार से (लोकस्य वर्णसंकरः जायते) लोक में वर्णसंकरः =दोगला पत्र पैदा होता है (येन) जिसके उत्पन्न होने पर (मूलहरः अधर्मः) धर्म के मूल को नष्ट करनेवाला श्रधर्म (सर्वनाशाय कल्पते) सर्वनाश करने में समर्थ होता है श्रर्थात् श्रधर्म के संस्कार वृद्धि एवं शक्ति को प्राप्त करते हैं ॥ ३५३॥

#### अस्तु शरिलनः : ३५३ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. ग्रन्तिवरोध—इस श्लोक में उक्त कारण युक्तियुक्त तथा मनु की व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। इसके वर्णन का पूर्व श्लोक के साथ तालमेल नहीं बैठता—(१) पूर्वश्लोक में व्यभिचार में प्रवृत्त सभी वर्ण के अपराधियों को दण्ड देने का कथन किया है। इस श्लोक में 'उसके कारण वर्णसंकर सन्तान का पैदा होना' कहा है। दोविभिन्न वर्ण के व्यक्तियों के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तान को 'वर्णसंकर' कहते हैं, जबिक व्यभिचार एक वर्ण के व्यक्तियों में परस्पर भी हो सकता है ग्रीर भिन्न वर्ण में भी। ग्रतः उससे 'संकर' पुत्र की उत्पत्ति का कथन तो उचित प्रतीत होता 'वर्णसंकर' मात्र कहना उचित नहीं। क्या इलोककार केवल भिन्न वर्णों के व्यभिचार को ही रोकना चाहता है, एक वर्ण में होने वाले को नहीं? जबिक ऊपर वाले इलोक में प्रत्येक के व्यभिचार के लिए दण्डव्यवस्था है। इस प्रकार ऊपर के कथन से इस इलोक का तालमेल नहीं बैठता। ग्रतः यह ग्रन्थप्रोक्त है। (२) इस इलोक में 'वर्णसंकर' को सर्वनाश में समर्थ ग्रीर धर्म के मूल का हन्ता माना है। इससे यह विचार ध्वनित होता है कि 'वर्णसंकर' को धर्म ग्रपने अनुसार नहीं ढाल सकता, वह धर्म को नष्ट करता है। यह भावना जन्मना वर्णव्यवस्था पर आधारित है। यह मनुविरुद्ध है, क्योंकि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। उनके मतानुसार एक वर्ण का व्यक्ति कर्मानुसार दूसरे वर्णों में दीक्षित हो सकता है [द्रष्टव्य १। ६२-१०१ पर 'अनुशीलन' ग्रीर ४। २४५; २। १६८; ६। २२-२४; १०। ६५ इलोक]। इस प्रकार विरोध के कारण यह खोक प्रक्षिप्त है।

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः। पूर्वमाक्षारितो दोषः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम्।।३५४।। (२१४)

(पूर्वं दोषें: स्राक्षारित: पुरुष:) जो व्यक्ति पहले परस्त्री-गमन-सम्बन्धी दोषों में प्रपराधी सिद्ध हो चुका है (रह: परस्य पत्न्या सभाषां योजयन) यदि वह एकान्त स्थान में पराई स्त्री के साथ कामुक बातचीत की योजना में लगा मिले तो (पूर्वसाहसं प्राप्नुयात्) उसको 'पूर्वसाहस' [८। १३८] का दण्ड देना चाहिए।। ३५४।।

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्। न दोषं प्राप्नुयात् किचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३४४॥ (२१४)

(यः तु पूर्वम् + स्रनाक्षारितः) किंन्तु जो पहले ऐसे किसी स्रपराध में स्रपराधी सिद्ध नहीं हुस्रा है, यदि वह (कारणात् स्रिभभाषेत) किसी उचित कारणावश बातचीत करे तो (किंचित् दोषं न प्राप्नुयात्) किसी दोष का भागी नहीं होता (हि) क्यों कि (तस्य न व्यतिक्रमः) वह कोई मर्यादा भंग नहीं करता ।। ३४५ ।।

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा। नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहरामाप्नुयात्।। ३४६।।

्र (यः) जो व्यक्ति (तीर्थे + ग्ररण्ये वने + ग्रिप वा नदीनां संभेदे) तीर्थस्थान, जंगल, छोटे वन ग्रथवा नदियों के संगम स्थान पर (परस्त्रियम् ग्रभिवदेत्) पराई स्त्री से बातचीत करे (सः) वह (संग्रहम्ण + ग्राप्नुयात्) स्त्रीसंग्रहणम् के दोप का भागी होगा ॥ ३५६ ॥

## अनुशीलनः ३५६ वा श्लोक प्रक्षिप्त है—

१. ग्रन्तिवरोध — ३५४ ग्रीर ३५५ इलोकों में जो व्यवस्था दी है, इस क्लोक में उससे भिन्त व्यवस्था है। एकान्त में बातचीत करने पर कौन ग्राराधी माना जायेगा कौन नहीं, यह उनमें स्पष्ट रूप से विणित है। यहां सभी को 'संग्रहण' का दोषी ठहराना उनके विरुद्ध है। ग्रतः प्रक्षिष्त है।

स्त्रोसंग्रहण की परिभाषा-

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् । सहखट्बासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ (२१६)

विषयगमन के लिए (उपचारक्रिया) एक-दूसरे को आर्काषित करने के लिए माला, सुगन्ध म्रादि श्रृंगारिक वस्तुम्रों का म्रादान-प्रदान करना (केलि:) विलासक्रीडाएं = छेड़खानी म्रादि (भूषणवाससां स्पर्शः) म्राभूषण म्रोर कपड़ों म्रादि का स्पर्श [शरीर-स्पर्श तो इसमें स्वतः ही परिगणित हो जाता है] (च) भौर (सह खट्वा + म्रासनम) साथ मिलकर म्र्यात् सटकर खाट म्रादि पर बैठना भौर साथ सोन , सहवास करना (सर्व संग्रहण स्मृतम्) ये सब बातें 'संग्रहण' = विषयगमन में मानी गयी हैं ॥ ३५७॥

स्त्रियं स्पृत्रेवदेशे यः स्पृष्टो वा मर्वयेतया । परस्परस्यानुमते सर्वं संप्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

(यः स्त्रियम् प्रदेशे स्पृशेत्) यदि कोई पुरुष किसी परस्त्री को न छूने योग्य स्थानों स्तन, जघनस्थल, गाल ग्रादि का स्पर्श करे (वा) अथवा (तया स्पृष्टः मर्षयेत्) स्त्री के द्वारा प्रस्पृश्य स्थानों को स्पर्श करने पर उसे सहन करे (परस्परस्य + ग्रनुमते) परस्पर की सहमति से होने पर भी (सर्व संग्रहणं स्मृतम्) यह सब 'संग्रहण' कहा गया है।। ३५८।।

त्रज्ञाह्मराः संग्रहणे प्राराान्तं वण्डमहंतिं। चतुर्णामपि वर्णानां वारा रक्ष्यतमाः सवा।। ३४६ ।।

(म्रज्जाह्मणः) जाह्मणेतर व्यक्तियदि (संग्रहणे) ब्राह्मण स्त्री के साथ संभोग करे तो (प्राणान्त दण्डम् + ग्रहैंति) प्राणहरण का दण्ड मिलना चाहिए, क्यों कि (चतुर्णाम् + ग्रपि वर्णानां दाराः सदा रक्ष्यतमाः) चारों वर्णों को स्त्रियां सदा रक्षा करने योग्य होती हैं ।। ३५६ ॥

> मिस्रुका वन्दिनःचैव दीक्षिता कारवस्तथा। संभाषणं सह स्त्रीमिः कुर्यु रप्रतिवारिताः॥ ३६०॥

(भिक्षुकाः) भिक्षार्थी (वन्दिनः) चारण-भाट म्रादि (दीक्षिताः) ऋत्विज (तथा कारवः) तथा रसोइया ये (म्रप्रतिवारिता. स्त्रीभिः सह संभाषणं कुर्युः) बिना किसी

रुकावट के स्त्रियों के साथ बातचीत कर सकते हैं ग्रर्थात् इनका बातचीत करना 'संग्रहण' दोष में नहीं ग्राता ।। ३६०।।

> न संभाषां परस्त्रीमिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धो माषमाणस्तु सुवर्णं वण्डमहंति ॥ ३६१ ॥

(प्रतिषिद्धः) स्वामी या अभिभावक द्वारा मना करने पर (परस्त्रीभिः संभाषां न समाचरेत्) परस्त्रियों के साथ वातचीत न करे (निषद्धः भाषमाणः तु) मना करने पर यदि कोई बातचीत करे तो वह (सुवर्णं दण्डम् + ग्रहंति) एक 'सुवर्णं' दण्ड के योग्य है।। ३६१।।

#### नैष चारणदारेषु विधिनित्मोपजीविषु। सञ्जयन्ति हि ते नारीनिगूढाइचारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

(एषः) स्त्रियों के साथ संग्रहण दोष का यह विधान (चारणदारेषु ग्रात्मोप-जीविषु न) नाचने-गाने वालों की स्त्रियों ग्रीर ग्रपनी पत्नी की वेदयावृत्ति पर जीविका चलाने वालों की स्त्रियों पर लागू नहीं होता, क्योंकि (ते हि नारी: सज्जयन्ति) वे तो ग्रपनी स्त्रियों को स्वयं सजाते हैं (च) ग्रीर (निगू इाः चारयन्ति) छुनकर संभोग के लिए भेजते हैं ॥ ३६२॥

> किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभात्रां चामिरावरत् । प्रैष्यासु चैकमक्तासु रहः प्रविजतासु च ॥ ३६३ ॥

(तु) तथापि (ताभिः) उन [८।३६२] स्त्रियों (च) और (प्रैष्यासु) दासियों (एकभक्तासु) किसी मंत में दीक्षित होकर विचरण करने वाली स्त्रियों (प्रव्रजितासु) वैरागिनों से (रहः संभाषाम् + ग्राचरन्) एकान्त में बातचीत करने पर (किंचित् एव तु दाप्यः स्यात्) कुछ दण्ड तो ग्रवश्य ही होना चाहिए ॥ ३६३ ॥

ग्रकामा-सकामा कन्या के रोवन में दण्ड विधान-

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमहंति। सकामां दूषयंस्तुत्यो न वधं प्राप्नुयान्तरः॥३६४॥

(यः तुल्यः नरः) जो समान वर्णं का पुरुष (ग्रकामां कन्यां दूषयेत्) संभोगेच्छा से रहित कन्या को बलात् दूषित करे (सः सद्यः वधम् + ग्रहेति) वह शीघ्र ही प्राणवष्य करने योग्य है (सकामां दूषयन्) संभोगेच्छा वाली कन्या को अर्थात् सहमित रखने वाली कन्या को दूषित करने पर (वधं न प्राष्तुपात्) वध-दण्ड के योग्य नहीं है,॥ ३६४॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चिदिष दापयेत् । जद्यन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद् गृहे ॥ ३६५ ॥ (उत्कृष्टं भजन्तीं कन्याम्) ग्रपने से ऊंचे वर्ण वाले व्यक्ति के साथ संभोग करने ४५ वाली कन्या को (किंचित् - प्रिपि न दापयेत्) कुछ भी दण्ड न दे (जघन्यं सेवमानां तु) किन्तु यदि कोई कन्या प्रपने से नीच वर्ण के साथ संभोग करे तो (ग्रहे संयतां वासयेत्) घर में बंद करके रखे, जिससे वह किसी से मिल न सके ॥ ३६५॥

#### उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वघमहंति। शुल्कं बद्यान्सेवमानः समामिच्छेत्यिता यवि।। ३६६।।

(उत्तमां सेवमान: जघन्य: तु) ग्रपने से उत्तम वर्ण की कन्या से संभोग करने वाला पुरुष (वधम् म्ब्रहिति) शारीरिक दण्ड के योग्य है (समां सेवमान:) समान वर्ण की कन्या से संभोग करने पर (यदि पिता इच्छेत्) यदि पिता स्वीकृति दे दे तो (शुल्कं दद्यात्) उसे अचित धन देकर उससे विवाह करने ॥ ३६६॥

#### अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्वेण मानवः। तस्याशु कर्ये श्रङगुल्यौ वण्डं चाहंति षट्शतम्।। ३६७।।

(यः मानवः) जो पुरुष (दर्पेण) घमण्ड में स्राकर (स्रभिषद्धा) बलात्कारपूर्वक (कन्यां कुर्यात्) किसी कन्या का कौमार्य भंग कर देतो (तस्य स्राशु सङ्गुल्यो कत्यें) उसकी शीघ्र ही राजा दो स्रंगुलियां कटवादे (च) स्रौर (षट्शतं दण्डम् + स्रहंति) छह सौ पण दण्ड करे।। ३६७।।

सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङगुलिच्छेदमाप्नुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

(तुल्यः) समान वर्णवाला पुरुष (सकामां दूषयन्) संभोगेच्छा से युक्त कन्या को कौमार्य भंग करके दूषित करदे तो (अङ्गुलिच्छेदं न + आप्नुयात्) उसकी भ्रंगुलियां न काटे (तु) ग्रिपि तु (प्रङ्गगिविनिवृत्तये) भविष्य में ऐसी घटना को रोकने के लिए (द्विज्ञतं दमं दाष्यः) उस पर दो सौ पण दण्ड करे ॥ ३६८॥

स्त्री द्वारा कौमार्य भंग करने पर दण्ड---

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद् द्विशतो दमः । शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिकाश्चैवाप्तुयाद् दश ॥ ३६९ ॥

(या कन्या एव कन्यां कुर्यात्) कोई कन्या ही यदि किसी कन्या का कौमार्य भग करदे (तस्याः द्विशतो दभः स्यात्) उसको दो सौ पण का दण्ड करे (च) और (द्विगुणं शुल्कं दद्यात्) उससे दुगुना अर्थात् चार सौ पण जुर्माना उस कन्या को दे (च) तथा (दश शिफाः ग्राप्नुयात्) दश कोड़ों की मार का दण्ड भी दोषी कन्या को मिले ॥ ३६६॥

#### या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्डचमहिति । सङ्ग्रुत्योरेव वा छेदं खरेणोइहनं तथा।। ३७० ॥

(या तुस्त्री कन्यां प्रकुर्यात्) यदि कोई महिला किसी कन्या का कीमायं भंग करदेतो (सा सद्यः मौण्डयम् + महिता) उसका शीघ्र सिर मुंडवा देना चाहिए (वा) या ंत्रज्ञुल्योः + एव छेदम्) दो ग्रंगुलियां काट देनी चाहिएँ (तथा) तथा (खरेण + उद्वहः नम्) उसको गघे पर बिठाकर भूमाना चाहिए ॥ ३७०॥

अन्तुर्शील्डनः : ३४८ से ३७० तक के श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के अनु-प्रक्षिप्त हैं।

- १. श्रग्तिंबरोध—(१) ये सभी क्लोक मनु की मौलिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं। मनु सभी अपराधियों के लिए निल्प्ति एवं समभाव से दण्ड का विधान करते हैं [७।२,१६, ६।३४६, ६।३०७,३११], अपितु समः दार एवं जिम्मेदार होने के कारण उच्चस्तरीय और उच्चवर्णीय व्यक्ति को अधिक द ड का विधान करते हैं। इन क्लोकों में उच्च-निम्न वर्ण के अनुसार क्रमशः कम और अधिक दण्ड का विधान करना मनु की उक्त व्यवस्था के विरुद्ध एवं पक्षपातभावयुक्त है। इस प्रसंग के ३५२—३५७,३७१,७२ इसोकों को इनकी पुष्टि के लिये देखिये, उनमें मनु की शैसी के अनुरूप सभी प्रपराधियों के लिए समान व्यवस्थाएं हैं। इस विरोध के कारण ये प्रक्षिप्त हैं।
- (२) ३५८ श्लोक का विधान मनावश्यक है, क्योंकि ये बातें ३५७ के म्रन्तगंत स्वतः समाहित हैं, मृतः यह प्रक्षिप्त है।
- (३) इन इलोकों में भार्या से जीविका करने वाले लोगों, दासी हित्रयों का उल्लेख है। मनुविहित व्यवस्था में इनका कहीं ग्रस्तित्व नहीं है, न वे भार्या से जीविक । को उचित मानते हैं और न दासीप्रथा को। वे सभी प्रकार के परस्त्री-पुरुष संभोग को दण्डनीय मानते हैं [६।३५२], और शूद्र को स्वेच्छ्या किसी भी द्विजाति की सेवा करने की स्वतन्त्रता देते हैं [१।६१,६।३३४, ३३५]। इनसे ज्ञात होता है कि ये परवर्ती अकृत-परम्पराकालीन दलोक हैं।
- (४) ३५६, ३६४-३६५ क्लोक ८।३५२ से विरुद्ध हैं। सकामा हों या म्रकामा, मन् के मत में सभी व्यभिचारिणी हैं और वे दण्डनीय हैं।
- (प्र) ३६६ वाँ इलोक ३। प्र१---प्र४ इलोकों के विरुद्ध है। इन अन्तर्विरोधों के गाधार पर ये सभी इलोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।
- २. प्रसंगविरोध ३५२ से 'स्त्रीसंग्रहण' विवाद की सार्वजनीन दण्डव्यवस्था देकर ३५७ में स्त्रीसंग्रहण की परिभाषा दी है। इस प्रकार परिभाषा का देना प्रसंगत्तमाप्ति का गंकेतक है। प्रसंगतमाप्ति के पश्चात् विकल्पत्स्मक या सम्बन्धित ज्यव-स्थाओं का विधान तो प्रासंगिक हो सकता है, अन्य नहीं। प्रसंगतमाप्ति के पश्चात् पुनः उस प्रसंग को भिन्नविधि से चलाना प्रसंगविरुद्ध है। अतः ये श्लोक प्रक्षिपत हैं।

दम्भपूर्वक व्यभिचार में प्रवृत्त होने पर स्त्री को दण्ड---

भर्तारं लङ्क्येद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदीवता। तां क्विभः लादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते।। ३७१।। (२१७)

(या तु स्त्री) जो स्त्री (ज्ञाति-गुरा-दर्पिता) ग्रपनी जाति, गुरा के घमण्ड से (भर्तारं लङ्घयेत्) पति को छोड़ व्यभिचार करे (ताम्) उसको (बहुसंस्थिते संस्थाते दत्रभिः राजा खादयेत्) बहुत स्त्री ग्रीर पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवाकर मरवाडाले ।। ३७१ ।। (स० प्र०१७४)

दमभपूर्वंक व्यभिचार में प्रवृत्त होने वाले पुरुष को दण्ड-

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त स्रायसे। अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र बह्ये तपापकृत्।। ३७२।। (२१८)

(पाप पुमांसम्) उसी प्रकार श्रपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री या वेश्यागमन करे उस पापी को (श्रायसे तप्त शयने) लोहे के पलंग को श्रग्नि से तपा लाल कर उस पर सुलाके अजीते को (तत्र पापकृत् दह्योत) बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म करदेवे।। ३७२।। (स० प्र०१७४)

৪ (ক।ष्ठानि श्रम्यादध्युः) लोग उस पर लकड़ियां रख दें (च) श्रीर……

अद्भुश्चिति द्वा : (१) ३७१-३७२ क्लोक 'प्रसंगिवरोघ' के श्राधार पर प्रक्षेपान्तर्गत इसलिए नहीं कहला सकते क्योंकि इनमें 'स्त्रीसंग्रहण' से सम्बन्धित विशेष स्थितियों की विशेष दण्ड-व्यवस्था है। अपने रूपसौन्दर्य एवं उच्चता के श्राधार पर अपने जीवनसंगी का तिरस्कार करते हुए दम्भपूर्वक जब कोई स्त्री या पुरुष पर-पुरुष-गमन या परस्त्रीगमन करे तो उनके लिये यह दण्डव्यवस्था है।

- (२) यह दण्डव्यवस्था अत्यन्त कठोर है। वह इसिलये कि दंभी व्यक्ति अपने दंभ में आकर बलात् सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करता है और अपने हठ पर अडिग रहता है। ऐसे व्यक्ति व्यवस्थाओं को बड़ी लापरवाही से भक्त करते हैं और अन्य सम्बद्ध व्यक्तियों का तिरस्कार करते हैं, अतः इनके लिए यह सार्वजनिक रूप से कठोर दण्ड-व्यवस्था विहित की है। महर्षि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में छठे समु० में प्रश्नोत्तर रूप में प्रकाश डाला है, जो विवेचन की हांट से उद्धरणीय है—
- "(प्रश्न) जो राजा वा रानी ग्रथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन वण्ड देवे ?
  - (उत्तर) सभा, ग्रथात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी ग्रधिक दण्ड होना चाहिये। (प्रश्न) राजादि उन से दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे?
- (उत्तर) राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। जब उसी को दण्ड न दिया जाय ग्रीर वह ग्रह्ण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे? ग्रीर जब सब प्रजा ग्रीर प्रधान राज्याधिकारी ग्रीर सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला

राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान ग्रीर सब समर्थ पुरुष ग्रन्थाय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबाके सब प्रजा का नाश कर ग्राप भी नष्ट हो जायें, ग्रर्थात् उस क्लोक के ग्रर्थ का स्मरण करो कि न्यायंयुक्त दण्ड ही का नाम राजा ग्रीर धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा कीन होगा ?

(प्रश्त) यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी ग्रङ्ग का बनाने हारा वा जिलानेवाला नहीं है, ऐसा दण्ड नहीं देना चाहिए।

(उत्तर) जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समफते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से ग्रलग रहेंगे ग्रौर बुरे काम को छोड़कर धर्ममार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सब के भाग में न ग्रावेगा। और जो सुगम दण्ड दिया जाय तो दुष्ट काम बहुत बड़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा प्रधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है,क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी देना पड़ेगा ग्रधात् जैसे एक को मनभर दण्ड हुग्ना ग्रौर दूसरे को पाव भर तो पाव भर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में ग्राध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा, तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समक्षते हैं? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो ६। सवा छः मन मनुष्य-जाति पर दण्ड होने से ग्राधक ग्रौर यही कड़ा तथा वह एक मन दण्ड न्यून ग्रौर सुगम होता है।"

वर्णानुसार दण्डव्यवस्था---

संबास रामिशस्तस्य बुष्टस्य द्विगुणो दमः। बात्यया सह संवासे चांडाल्या तातदेव तु ॥ ३७३ ॥

(संवरसर + ग्राभिशस्तस्य) एक वर्ष में ही पुन: दूसरी बार परस्त्रीगमन के दोष से दूषित होने वाले (दुष्टस्य) दुष्ट को (द्विगुण: दमः) दुगना दण्ड होना चाहिए (दात्यया) न्नात्या [१०।२०] और (चाण्डात्या सह संवासे) चाण्डाली स्त्री [१०।२६-२७] के साथ संभोग करने पर भी (तावत् + एव तु) उतना ही दण्ड श्रर्थात् दुगुना दंड होना चाहिए ॥ ३७३।।

श्रुद्धो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्। ागुरा कार्काः विकास

(गुप्त वा प्रगुप्त द्वैजात वर्णम् + प्रावसन्) सुरक्षित प्रथवा प्रसुरक्षित द्विजवर्णं की स्त्री से संभोग करने वाले (शूद्रः) शूद्र को (प्रगुप्तम्) यदि प्रसुरक्षिता से संभोग करे तो (प्रजु-सर्वस्वैः) लिङ्गेन्द्रिय एवं सर्वस्व = धन प्रादि से (हीयते) रहित करदेना चाहिए, भौर (गुप्तं सर्वेण) सुरक्षिता से करने पर धन प्रादि तथा प्राणग्रादि से भी रहित करदेना चाहिये प्रयात् सर्वस्वहरण करके प्राणवध करदे॥ ३७४॥

#### वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात् संवत्सरनिरोधतः। सहस्रं क्षत्रियो दण्डघो मौण्डयं मुत्रेण चाहंति ॥ ३७५॥

(वैश्यः) यदि वैश्य किसी सुरक्षिता द्विज-स्त्री के साथ संभोग करे तो (संवत्सर-निरोधतः सर्वस्वदण्डः स्यात्) एक वर्ष की कैद के साथ-साथ सर्वस्वहरण के दण्ड से दण्डित होना चाहिए (क्षत्रियः) क्षत्रिय को ऐसा करने पर (सहस्रं दण्डियः) एक हजार पण दण्ड होना चाहिए (च) और (मूत्रेण मौण्ड्यं अहंति) गधे के मूत्र से उसका सिर मुंडाना चाहिए।। ३७५।।

#### बाह्यणीं यद्यपुष्तां तु गच्छेतां वैद्यपाथियौ । वैदयं पञ्चदातं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्त्रिणम् ॥ ३७६ ॥

(यदि तु) यदि (वैश्यपार्थिवौ) वैश्य श्रीर क्षत्रिय (ग्रगुप्तां ब्राह्मणीं गच्छेताम्) श्रमुरक्षिता ब्राह्मणी से गमन करें तो (वैश्यः पञ्चशतम्) वैश्य को पांच सौ पण (तु क्षत्रियं सहस्रिएां कुर्यात्) और क्षत्रिय को एक हजार पण दण्ड करे।। ३७६।।

#### उमाविप तु तावेव बाह्यण्या गुप्तया सह। विष्तुतौ शूद्रवदृण्डयौ दाधव्यौ वा कटाग्निना।। ३७७।।

(तौ उभी + अपि) यदि वे दोनों - वैश्य, क्षत्रिय (गुप्तया ब्राह्मण्या सह) सुर-क्षिता ब्राह्मणी के साथ (विलुप्तौ) गमन करें तो (शूद्रवत् दण्ड्यौ) उन्हें शूद्र के समान दण्डित करे [८।३७४] (वा) ग्रथवा (कटाग्निना दग्धव्यौ) तिनकों की आग में जला दे।।३७७॥

#### सहस्रं ब्राह्मणो वण्डयो गुप्तां विश्रां बलाव् व्रजन् । शतानि पञ्च .वण्डयः स्याविच्छनस्या सह संगतः ॥ ३७५ ॥

(गुप्तां वित्रां बलात् व्रजन्) सुरक्षिता ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करने पर (ब्राह्मण: सहस्रं दण्डघः) ब्राह्मण को एक हजार पण का दण्ड दे तथा (इच्छन्त्या सह संगतः) इच्छा वाली — सहमति वाली के साथ संभोग करने पर (पश्वशतानि दण्डघः) पांच सौ पण दण्ड करे॥ ३७ = ॥

#### मौण्डचं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते । इत**ेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥** ३७६ ॥

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण का (मौण्डघम्) मुण्डन करा देना ही (प्राणान्तिकः दण्डः विधीयते) प्राणवध दण्ड कहा जाता है (इतरेषां तु वर्णानाम्) ब्राह्मण से भिन्न ग्रन्य वर्ण वालों को तो (प्राणान्तिकः दण्डः भवेत्) प्राणवध ही दण्ड होना चाहिए॥ ३७६॥

> न जातु काह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रजनमक्षतम् ।। ३८० ।। (सर्वपापेषु स्थितम् ग्रपि बाह्मणम्) सङ पापों में स्थित रहते हुए भी ब्राह्मण को

(जातु न हन्यात्) कदापि प्राणवध का दण्ड न दे (एनम्) बस इसे (समग्रधनम् + ग्रक्षतं राष्ट्रात् बहिः कुर्यात्) समस्तधन सहित, शरीरहानि किये बिना देश से बाहर निकाल दे॥ ३८०॥

#### म बाह्य एववाव् भूयानधर्मी विद्यते भुवि। तस्मादस्य वधं राजा मनसाऽपि न चिन्तयेत्।। ३८१।।

(ब्राह्मणवधात् + भूयान् + ग्रधर्मः) ब्राह्मण-वध से ग्रधिक पाप (भुवि न विद्यते) धरती पर दूसरा कोई नहीं है (तस्मात्) इसलिए (अस्य वधम्) ब्राह्मण के वध की बात (राजा मनसा + ग्रपि न चिन्तयेत्) राजा मन में भी न सोचे ॥ ३=१॥

#### वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो वजेत् । यो बाह्यण्यामगुप्तायां तावुमी वण्डमहंतः ॥ २८२॥

(चेत्) यदि (गुप्तां क्षत्रियां वैश्यः) सुरक्षिता क्षत्रिया से वैश्य (वा) स्रथवा (क्षत्रियः वैश्याम्) क्षत्रिय सुरक्षिता वैश्या से (व्रजेत्) गमन करे तो (त्रगुप्तायां ब्राह्मण्यां यः) ग्रसुरक्षिता ब्राह्मणी के गमन में जो दण्ड कहा है [८। ३७६] (तौ + उभौ दंडम् + ग्रह्तीः) उन्हें वही दंड देना चाहिए ॥ ३८२॥

#### सहस्रं बाह्यणो दण्डं दा यो गुप्ते तु ते त्रजन्। शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वं मवेद्दमः॥ ३८३॥

(गुप्ते ते तु व्रजन्) सुरक्षिता क्षत्रिय श्रीर वैश्या से गमन करने पर (ब्राह्मणः सहस्रं दण्डम्) ब्राह्मण को एक हजार पण दंड से (दाप्यः) दण्डित करना चाहिए। (क्षत्रियविशो: शूद्रायाम्) क्षत्रिय श्रीर वैश्य द्वारा सुरक्षिता शूद्रा से गमन करने पर (वै साहस्रः दमः भवेत्) उन्हें भी एक हजार पण दण्ड होना चाहिए।। ३८३॥

#### क्षत्रियायामगुष्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः। मूत्रेण मौण्डयमिच्छेतु क्षत्रियो दण्डमेव वा॥३८४॥

(स्रगुप्तायां क्षत्रियायाम्) स्ररक्षिता क्षत्रिया से गमन करने पर (वैश्ये पञ्चशतं दमः) वैश्य को पांच सौ पण दंड करना चाहिए (क्षत्रियः) क्षत्रिय (इच्छेत् तु) चाहे तो (मूत्रेण मौण्डचम्) मूत्र से मुण्डन कराये (वा) ग्रथवा (दण्डम् + एव) पांच सौ पण दण्ड करे।। ३८४।।

#### मगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा बाह्यणो व्रजन्। शतानि पञ्च वण्डयः स्यास्सहस्रं त्वस्यजस्त्रियम्।। ३८४।।

(प्रगुप्ते क्षत्रियावैश्ये वा शूद्रां व्रजन्) घ्ररक्षिता क्षत्रिया वैश्या ग्रथवा शूद्रा से गमन करने पर (ब्राह्मणः) ब्राह्मण को (पञ्च शतानि दण्ड्यः स्यात्) पांच सौ पएा दण्ड करना चाहिए (तु) ग्रौर (ग्रन्त्यजस्त्रियम्) चांडाल की स्त्री से गमन करने पर (सह-स्रम्) एक हजार पण दण्ड करना चाहिए ॥ ३८५ ॥ अन्तु श्रीत्जनः ३७३ से ३८४ तक श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त हैं।

- १. श्रन्तिवरोध—(१) इन श्लोकों की दण्डव्यवस्या पक्षपातपूर्ण, जातीय आधार पर ग्रसमान दण्डव्यवस्या है, जो मनु की मौलिक दण्डव्यवस्था की पद्धित के विरुद्ध है, ग्रतः ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं [विस्तृत विवेचन के लिए देखिए ३५८—३७० पर 'ग्रन्तिवरोध' समीक्षा]। (२) इन सभी श्लोकों में रक्षिता-अरिक्षता का भेद करके बहुविवाह का समर्थन किया है। यह भी मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही विवाह का विधान करते हैं [३।४-५; ४।१६७-१६८]।
- २. प्रसंगिवरोध-एक प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् पुनः उसी प्रसंग को प्रारम्भ करना प्रसंगिवरुद्ध है। ये श्लोक भी इसी प्रकार प्रसंगिवरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। विशेष देखिए ३५५-३७० पर 'प्रसंगिवरोध' समीक्षा।

पांच महा-ग्रपराधियों को वश में करने वाला राजा इन्द्र के समान प्रभावी-

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्। न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥३८६॥ (२१६)

(यस्य) जिस राजा के राज्य में (स्तेन: न + ग्रस्ति) न चेर (न + ग्रन्यस्त्रीगः) न परस्त्रीगामी (न दुष्टवाक्) न दुष्ट वचन का बोलने हारा (न साहसिकदण्डघ्नौ) न साहसिक डाकू ग्रौर न दण्डघ्न ग्रर्थात् राजा की ग्राज्ञा का भंग करने वाला है (सः राजा शक्रलोकभाक्) वह राजा ग्रतीव श्रेष्ठ है।। ३८६।। (स॰ प्र०१७३)

अर न्यू र्रोटिंड न्यः महर्षि ने यहां 'शक्त जोक माक्' पद का ग्रिमिशयः यं ग्रहण किया है। जिन टीकाकारों ने 'शक्र लोक भाक्' का 'इन्द्र लोक में जाने वाला' या 'स्वर्ग में जाने वाला' अर्थ किया है वह उचित नहीं है। इस पद का ग्रयं है कि वह राजा 'इन्द्र पद का ग्रयिकारी' ग्रयित् इन्द्र के समान श्रेष्ठ श्रीर शक्तिशाली राजा माना जाता है, वह इन्द्र के समान प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली हो जाता है। ग्रयं के स्लोक से भी इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके । साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ।।३८७।। (२२०)

(स्वके विषये) ग्रपने राज्य में (एतेषां पञ्चानां निग्रहः) इन पांचों प्रकार के व्यक्तियों पर काबू रखने वाला (राज्ञः) राजा (सजात्येषु साम्राज्यकृत्) सजातीय ग्रन्य राजाग्रों में साम्राज्य करने वाला ग्रर्थात् राजाग्रों में शिरोमणि बन जाता है (च एव) ग्रीर (लोके यशस्करः) लोक में यश प्राप्त करता े।। ३६७।।

ऋत्विज स्रोर यजमान द्वारा एक-दूसरे को त्यागने पर दण्ड—

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चत्विक्त्यजेद्यदि । शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥३८८॥(२२१)

(यः याज्यः) जो यजमान (कर्मिण शक्तं च ग्रदुष्टम्) काम करने में समर्थ ग्रीर श्रेष्ठ (ऋत्विजम्) पुरोहित को (त्यजेत्) छोड़ दे (च) ग्रीर (याज्यं ऋत्विजः त्यजेत्) ऐसे ही यजमान को पुरोहित छोड़दे तो (तयोः) उन दोनों को (शतं-शतं दण्डः) सौ सौ पण दण्ड करना चाहिए।। ६८५।। माता-पिता-स्त्री-पुत्र को छोड़ने पर दण्ड—

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमहंति । त्यजन्नपतितानेतात्राज्ञा दण्डचः शतानि षट् ।।३८६।। (२२२)

(न माता न पिता न स्त्री न पुत्रः त्यागम् + ग्रहंति) न माता, न पिता, न स्त्री ग्रीर न पुत्र त्यागने योग्य होते हैं (ग्रपतितान् एतान् त्यजन्) श्रपतित ग्रर्थात् निर्दोष होते हुए जो इनको छोड़े तो (राज्ञा षट् शत।नि दण्डचः) राजा के द्वारा उस पर छः सौ पण दंड किया जाना चाहिए।।३८६।।

अन्तुर्धो टिउन्तः : ३८८ श्रीर ३८६ श्लोक विषयविरोध के अन्तर्गत स्राते हुए भी प्रक्षिप्त प्रतीत नहीं होते । इन्हें स्थानश्रष्ट समक्षता चाहिए, क्योंकि (१) इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है और न ये किसी अन्य स्राधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (२) इस स्रध्याय में इनसे सम्बन्धित प्रसंग भी है । प्रतीत होता है कि ये श्लोक चौथे विवाद 'मिलकर उन्नति या व्यापार करना' (८। २०६–२११) विषय से खण्डित होकर स्थानश्रष्ट हुए हैं।

म्राश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मियः। न विब्रूयान्नृषो धर्मं चिकीषंन् हितमारमनः।। ३६०।।

(स्राथमेषु मिथः विवदताम्) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ स्रादि स्राश्रमों के विषय में पर-स्पर विवाद करने वाले (द्विजातीनां कार्ये) द्विजातियों के कार्यों में (स्रात्मतः हितं चिकीर्षन्) अपना हित चाहने वाला (नृपः) राजा (धर्मन विद्यूयात्) धर्म का निर्णय न दे॥ ३६०॥

> यथाहंमेतानम्यच्यं ब्राह्मणः सह पाथिवः। सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्म प्रतिपादग्रेत्॥३६१॥

(पार्थिवः) राजा (म्रादौ) पहले (एतान्) इन लोगों का (यथाईम् -्नग्रम्यर्च्यं) यथायोग्य सत्कार करके (ब्राह्मणैं: सह) ब्राह्मणों के माथ (सांत्वेन प्रशमय्य) सान्त्वना- युक्त बातों से इन्हें शान्त करके (स्वधर्म प्रतिपादयेत्) ग्रपने धर्म सम्बन्धी निर्णय का प्रतिपादन करे ।। ३६१ ।।

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कस्याणे विश्वतिद्विजे। अहविमोन्नयन्विप्रो दण्डमहंति माषकम्॥ ३६२॥

(विशतिद्विजे कल्याएों) जहां बीस ब्राह्मणों को भोजन कराना हो ऐसे किसी शुभ ग्रवसर पर (अहों) योग्य (प्रतिवेश्य + श्रनुवेश्यो ग्रभोजयन् विप्रः) प्रतिवेशी = पड़ौसी ग्रीर ग्रनुवेशी == निकटवर्ती स्थान में रहने वाले ब्राह्मण को भोजन न कराने वाले द्विज को (मायक दण्डम् + ग्रहंति) एक माषा दण्ड करना चाहिए।। ३६२॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् । तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३६३ ॥

(श्रोत्रियः) यदि कोई श्रोतिय (साधुम् श्रोत्रियम्) किसी प्रतिवेशी या ग्रनुवेशी सज्जन श्रोतिय को (भूतिकृत्येषु) मंगलकार्यों में (ग्रभोजयन्) भोजन न कराये तो (तत् द्विगुणं ग्रन्नं दाप्यः) उसको भोजन के दुगुणे ग्रन्न का दण्ड दे (च) और (हिरण्यं माष-कम्) एक माषा सोना दण्ड के रूप में ले॥ ३६३॥

अन्धो जडः पीठसपीं सप्तत्या स्थविरश्व यः। श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्यः केनचित्करम्।। ३१४।।

(ग्रन्धः) ग्रंधा (जडः) जड़ (पीठसर्पी) पीठ पर सादकर ले जाये जाने योग्य अर्थान् पंगु (च) ग्रौर (यः सप्तत्या स्थिविरः) जो सत्तर वर्ष का बूढ़ा हो (च) तथा (श्रोत्रियेषु + उपकुर्दन्) श्रोत्रियों का उपकार करने वाले, इनसे (केनचित् कर न दाष्यः) किसी भी प्रकार का कर न लेवे ॥ ३६४॥

> श्रोत्रियं व्याधितातों च बालवृद्धाविकञ्चनम् । महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९४ ॥

(श्रोत्रियं व्याधित + आतौं च) वेदपाठी, रोगी ग्रौर दुःखी व्यक्ति (बाल-वृद्धौ + ग्रांकञ्चनम्) बालक, वृद्ध, दिरद्र (महाकुलीनम्) उच्चकुल में उत्पन्न (च) और (ग्रायंम्) श्रेष्ठ ग्राचरण वाला, इन सवका (राजा सदा सम्पूजयेत्) राजा सदैव ग्रादर करे।। ३६४।।

धोवी श्रीर जुलाहे की व्यवस्था---

शाल्मलीफलके इलक्ष्णे नेनिष्यान्नेजकः शर्नः । न च वासांसि वासोर्भिनिहरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

(नेजकः) धोवी (इलक्ष्णो शाल्मलीफलके) चिकने सेमल के पटड़े पर (शनैः नेनिज्यात्) धीरे-घीरे कपड़े धोये (च) श्रीर (वासोभिः वासांसि न निहंरेत्) किसी के कपड़ों में दूसरे के कपड़े न मिलाये (च) और (न वासयेत्) न दूसरे को किसी के कपड़े पहनने को दे॥ ३६६॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् । अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३६७ ॥

(तन्तुवायः) कपड़ा बुनने वाला जुलाहा (दशपलम्) दस पल सूत ले [ग्रौर मांडी ग्रादि लगने के कारण बुनकर देते समय] (एकपलाधिकं दद्यात्) एक गल ग्रधिक ग्रयीत् ग्यारह पल सूत दे (ग्रतः ग्रन्थथा वर्तमानः) इससे थिपरीत वर्ताव करने पर राजा (द्वादशकं दनं दाप्यः) वारह पण दण्ड दे ।। ३६७ ॥

अनुश्रीत्जनः ३६० से ३६७ श्लोक निम्न 'ग्राधार' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषयितरोष ग्राटवें ग्रध्याय के ग्रारम्भ में ग्रष्टम-नवम ग्रध्यायों के १८ मुख्यितययों का स्वयं मनु ने संकेत दिया है [८।४-९]। उस निर्धारण के अनुसार आठवें ग्रध्याय में पन्द्रहवें 'स्त्रीसंग्रहण' विषय तक वर्णन है, जो ३२७ श्लोक में समाध्य हो जाता है। उसके पश्चात् सोलहवां 'स्त्री-पुरुष-धमं' विषय है, जो नवम ग्रध्याय के प्रथम श्लोक से प्रारम्भ होता है। इस वीच ये श्लोक बिना ही किसी विषय के हैं ग्रीर संकेतित विषयक्रम के विरुद्ध हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रन्तिंदरोध—इन सभी इलोकों का मनु की मान्यता से विरोध है, इसलिये भी ये प्रक्षिप्त हैं—(१) ३६०—३६१ इलोक १२। १०५–११३ के विरुद्ध हैं। उनमें राजा द्वारा निर्घारित परिषद् द्वारा धर्मेनिर्णय का श्रादेश है। (२) ३६२—३६३ की व्यवस्था मनु द्वारा कहीं भी स्वीकृत नहीं है। ब्राह्मणों को श्रपने कमीं द्वारा उपार्जन करके जीवनयात्रा चलानी चाहिए, दूसरों के यहां भोजन करना निन्दनीय है, यही मनु का मत है [३। १०४; ४। ३; १०। ७५—५६]। (३) ३६४—३६५ के विधान की श्रावद्यकता ही नहीं, वगोंकि राजा को कमाने वालों से ही कर लेने का विधान है (६। ३०७]। (४) ३६५ में 'उत्तम कुल में जन्म' को श्रादर का स्थान माना है। मनु कुल के श्राधार पर नहीं अपितु गुणों के श्राधार पर श्रादर के योग्य मण्यते हैं [२। १३६—१३७, १५४]। (५) ३६६—३६७ में परवर्ती जातीय व्यवस्था है, जो मनुविरुद्ध है [१। ६७-६१॥१। ११० की समीक्षा द्रष्टव्य]। इस श्राधार पर ये प्रक्षिप्त हैं।

विशेष—इन्हें स्थानभ्रष्ट इसलिए नहीं माना गया क्योंकि ये 'विषयविरोध' के साथ-साथ मनु की मान्यताओं के विरुद्ध भी हैं, श्रीर इस ग्रघ्याय में इनसे सम्बन्धित कोई प्रसंग भी नहीं है, जहां से ये स्थानभ्रष्ट हुए हों; ग्रतः प्रक्षिप्त ही हैं।

व्यापार में जुल्क एवं वस्तुक्रों के भावों का निर्धारण—्

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः। कुर्युरर्घ यथापण्यं ततो विशं नृपो हरेत् ॥ ३६८ ॥ (२२३) (शुल्कस्यानेषु कुशलाः) शुल्क लेने के स्थानों के शुल्कव्यवहार में चतुर (सर्वपण्यविचक्षणाः) सब बेचने योग्य वस्तुश्रों के मूल्य-निर्धारित करने में चतुर व्यक्ति (ययापण्यं ग्रर्धं कुर्यः) वाजार के अनुसार जो मूल्य निश्चित करें (ततः) उसके लाभ में से (नृपः विशं हरेत्) राजा वीसवां भाग कर-रूप में प्राप्त करे।। ३६८।।

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो लोभारसर्वहारं हरेन्नृषः ॥ ३६६ ॥ (२२४)

(राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि) राजा के प्रसिद्ध वरतन (च) ग्रीर (यानि प्रतिषिद्धानि) जिन वस्तुओं का देशान्तर में ले जाना निषिद्ध घोषित कर दिया है (लोभात् तानि निर्हरतः) लोभ दश उन्हें देशान्तर में ले जाने वाले का (नृपः) राजा (सर्वहारं हरेत्) सर्वस्व हरएा करले ।। ३६६ ।।

शुल्कस्थानं परिहरानकाले इत्यविक्रयो। निष्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्।। ४००।। (२२४)

(शुल्कस्थानं परिहरन्) चुंगो के स्थान को छोड़कर दूसरे रास्ते से सामान ले जाने वाला (अकाले) ग्रसमय में ग्रर्थात् रात आदिमें गुप्तरूप से (क्रयिक्क्यी) सामान खरोदने ग्रीर बेचने वाला (च) ग्रीर (संख्याने मिथ्या-वादी) माप-तौल में भूठ बतलाने वाला, इनको (ग्रष्टगुराम् + ग्रत्थयं दाष्यः) मूल्य के ग्राठ गुने दण्ड से दण्डित करे।। ४००।।

म्रागमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्यं सर्वगण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ (२२६)

(प्रागमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयो + उभौ) वस्तुम्रों के आयात निर्यात,रखने का स्थान, लाभवृद्धि तथा हानि (सर्वेपण्यानां विचार्य) खरीद-वेत्रने को वस्तुओं से सम्बन्धित सभी बानों पर विचार करके (क्रय-विक्रयौ कारयेत्) राजा मूल्य निश्चित करके वस्तुम्रों का क्रयविक्रय कराये ॥ ४०१॥

> पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चेषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥ (२२७)

(पञ्चरात्रे-पञ्चरात्रे) पांच-पांच दिन (ग्रथवा) या (पक्षे पक्षे गते) पन्द्रह-पन्द्रह दिन के पश्चात् (नृपः) राजा (एषां प्रत्यक्षम्) व्यापारियों के सामने (ग्रर्थसंस्थापनं कुर्वीत) मूल्य का निर्घारण करे।। ४०२।। तुला एवं मापकों की छह महीने में परीक्षा-

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् । षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेष परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ (२२८)

(तुलामानम्) तराज् (च) ग्रीर (प्रतीमानम्) प्रतिमान = बाट (सर्वं सुलक्षितं स्यात्) सब ठीक-ठीक रखने चाहिएँ ग्रीर (षट्सु-षट्सु च मासेषु) छ:-छः महीने में (पुनः + एव परीक्षयेत्) इनकी परीक्षा राजा करादे ॥ ४०३॥ (द० ले० सं० २०)

"मनुस्मृति में तो प्रतिमा शब्द करके रत्ती, छटांक, पाव, सेर श्रीर पंतेरी ग्रादि तोल के साधनों का ग्रहण किया है, क्यों कि तुलामान श्रयीत् तराजू श्रीर प्रतीमान वा प्रतिमा श्रयीत् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास श्रयीत् छः छः महीने में एक बार किया करें कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें श्रीर कदाचित् कोई करे तो उसको दण्ड देवें।" (ऋ० भा० भू० ३०३–३०४)

"पक्ष-पक्ष में वा मास-मास में अथवा छटवें छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करें ............तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे कि अधिक, न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हीं का नाम प्रतिमा है।"

(द० शा० सं० ५० एवं ऋ० प० वि० ११)

नौका-व्यवहार में किराया आदि की व्यवस्थाएं---

पणं यानं तरे वाप्यं पौरुषोऽर्धपर्णं तरे। पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४॥(२२६)

(यानं तरे पणम्) नाव से पार उतारने में खाली गाड़ी का एक पण किराया ले (पौरुषः तरे) एक पुरुष द्वारा ढोये जाने वाले भार पर (प्रधं-पणं दाप्यः) स्नाधा पण किराया ले (च) स्रौर (पशुः पादम्) पशु स्नादि को पार करने में चौथाई पण (च) तथा (योषित् रिक्तकः पुमान् पाद+ स्रार्धम्) स्त्री स्रौर खाली मनुष्य से एक पण का स्नाठवाँ भाग किराया लेये।। ४०४।।

> भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किदित्पुमांतक्चापरिच्छदाः ॥४०५॥ (२३०) (भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं सारतः दाप्यानि) वस्तुस्रों से भरी हुई

गाड़ियों को पार उतारने का किराया उनके भारी ग्रोर हल्केपन के ग्रनुसार देवे (रिक्तभाण्डानि) खाली बर्तन (च ग्रपरिच्छदाः पुगाँसः) ग्रीर निर्धन व्यक्ति (यत् किचित्) इनका थोड़ा सा किराया ले लेवे ॥ ४०५॥

## दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् । नदीतीरेषु तद्विद्यातसमुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६॥ (२३१)

(दीर्घ + ग्रध्विन) नदी का लम्बा रास्ता पार करने के लिए (यथा देशम्) स्थान के ग्रनुसार [तेज बहाव, मन्द प्रवाह, दुर्गम स्थल ग्रादि] (यथाकालम्) समय के ग्रनुसार [सर्दी, गर्मी, रात्रि ग्रादि] (तरः भवेत्) किराया निश्चित होना चाहिए (तत् नदीतीरेषु विद्यात्) यह नियम नदी-तट के लिए समभना चाहिए (समुद्रे नास्ति लक्षणम्) समुद्र में यह नियम नहीं है ग्रथीत् समुद्र में वहाँ की स्थिति के ग्रनुसार किराया निश्चित करना चाहिए।। ४०६।।

"जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदों में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे श्रीर महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा श्रनुकूल देखे कि जिससे राजा श्रीर बड़े-बड़े नौकाश्रों के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे।" (स० प्र० १७४)

#### र्गामिगा तु द्विमासादिस्तथा प्रविजतो मुनिः। बाह्यणा लिङ्किनक्ष्यैव म दाप्यास्तारिकं तरे॥ ४०७॥

(द्विमासादिः गर्भिणी) दो मास से ष्रिष्ठिक गर्भ वाली स्त्री (तथा प्रव्रजितः मुनिः) तथा सन्यासी, वानप्रस्थ (लिङ्गिनः च बाह्यणाः) ब्रह्मचर्यं में दीक्षित ब्रह्मचारी से (तरे तारिक न दाप्याः) पार उतारने में किराया नहीं लेना चाहिये ॥ ४०७॥

### अस्तुरारित्उनः : ४०७ वां श्लोक निम्नप्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध—(१) यह इलोक पूर्वीपर इलोकों के प्रसंग के विरुद्ध है। पूर्वीपर इलोकों में नाविकों भीर यात्रियों के मध्य सामान्य व्यापार-नियमों का उल्लेख है, किराये का नहीं। (२) किराये के विधान ४०५ तक वर्णित हो चुके हैं, पुनः उनका वर्णन प्रसंगिवरुद्ध है। (३) ये विकल्प हैं। विकल्पों का कथन भ्रन्त में ही प्रासंगिक होता है, मध्य में नहीं। मध्य में इनका वर्णन भी इन्हें प्रसंगिवरोधी सिद्ध करता है।

यन्नावि किचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः । तद्दाशेरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥ (२३२) (दाशानाम् अपराधतः) मल्लाहों की गलती से (नावि यत् किंचित् विशीर्येत) नाव में जो कुछ यात्रियों को हानि हो जाये (तत् + दार्शः + एव) उसे मल्लाहों ने (समागम्य स्वतोंशतः दातव्यमः) मिलकर अपने-अपने हिस्से में से पुरा करना चाहिए ॥ ४० = ॥

> एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः। दाज्ञापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥४०६॥(२३३)

(एषः) यह [ ना४०४-४० म] (नौयायिनां व्यवहारस्य निर्णयः उक्तः) नाविकों के व्यवहार का निर्णय कहा है (वाशापराधतः तोये) मल्लाहों के अपराध से जल में नष्ट हुए सामान के मल्लाह देनदार हैं (दैविके निग्रहः नास्ति) देवी विपत्ति के कारण [ ग्रांधी, तूफान ग्रांदि से ] हुई हानि के मल्लाह देनदार नहीं हैं ।। ४०६।।

अवसुर्धे किन्तः : श्लोक ३८८ से ४०१ श्लोकों में से ३६०-३६५ विभिन्त पाधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं। शेष श्लोकों ३८८, ३८६, ३६६, ३६८, ४०६, ४०८, ४०८ में कोई प्रक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है और ये सर्वसामान्य विधान हैं। इनका मनु की किसी मान्यता से विरोध नहीं है, शैली भी मनुसम्मत है। अतः प्रसंगानुकूल न होने पर भी हमने इन्हें प्रक्षिप्त घोषित नहीं किया। प्रतीत होता है कि ये स्थानभ्रष्ट हो गये हैं। इन सभी श्लोकों में जो विषय है वह 'मिलकर उन्नित या व्यापार करना' [८।२०६-२११] विषय से सम्बन्धित है, अतः ये उसी प्रसंग से खण्डित हुए ज्ञात होते हैं।

वैश्य श्रौर शुद्र से उनके कर्म कराये---

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीवं कृषिमेव च। पश्नां रक्षणं चैव दास्यं शुद्रं द्विजःमनाम् ॥ ४१०॥

राजा (वैश्यम्) वैश्य से (वाणिज्यं कुसीदं कृषि च पशूनां रक्षराम्) व्यापार, व्याज की जीविका, कृषि, पशुपालन (च) श्रीर (शूद्रं द्विजन्मनां दास्यं कारयेत्) शूद्र से द्विजातियों की सेवा करवाये ॥ ४१०॥

ં જે. જ**ુથ**લ્લા ફુસ્ટલ્સ અલ્ડિક કુંડ **૪૬**૬ તે

(क्षत्रियं वैश्यं च वृत्तिकशितौ) क्षत्रिय ग्रीर दैश्य यदि ग्रप्नी वृत्ति से ग्रपना पोषण न कर सकें तो (त्राह्मणः) द्राह्मण (ग्रानृशंस्येन) कृपापूर्वक (स्वानि कर्माणि कारयन्) उनके ग्रपने काम करवाकर (बिभृयात्) उनका भरण-पोषण करे ॥ ४११॥

> बास्यं तु कारयन् लोभाइ बाह्यणः संस्कृतान्द्विजान् । स्रनिच्छतः प्रामवत्वाद्वाज्ञा बण्डचः शतानि दट्।। ४१२॥

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (प्राभवत्वात् लोभात्) यदि श्रपनी प्रभुतः के कारण या लालच के कारण (संस्कृतान् द्विजान्) यज्ञोपवीत संस्कार में शिक्षत द्विजों से (श्रनिच्छतः दास्यं कारयेत्) उनकी इच्छा के बिना सेवा करवाये तो (राज्ञा षद् शतानि) राजा को छह सौ पण दण्ड से उसको (दण्ड्यः) दण्डित करना चाहिए।। ४१२।।

शूद्र से दासता कराये —

शूत्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायंव\_हि सुष्टोऽसौ ब्राह्मासस्य स्वयंभुवा।। ४१३।।.

(क्रीतं वा म्रक्रीतम् + एव) खरीदकर लाया हुम्रा हो म्रथवा वेतन देकर रखा हो (गूद्रं तु दास्यं कारयेत्) गूद्र से तो सेवाकार्यं ही कराये (हि) क्योंकि (स्वयंभुवा) ब्रह्मा ने (ब्राह्मणस्य दास्याय + एव हि म्रसी सृष्टः) ब्राह्मण की सेवा के लिए ही गूद्र को रचा है।। ४१३॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते । निसर्गेजं हि तसस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

(शूद्रः) शूद्र (स्वामिना निमृष्टः + ग्रपि) स्वामी के द्वारा छोड़दिये जाने पर् भी (दास्यात् न विमुच्यते) यासत्व से मुक्त नहीं होता (तत् तस्य निसगंज हि) दासपन का कार्य करना तो असका स्वाभाविक कर्म है (तस्मात् तत् कः ग्रपोहति) दासत्व से उसको कौन खुड़ा सकता है ? ग्रयत् कोई नहीं ॥ ४१४॥

सात प्रकार के शूद्र दास---

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदित्त्रमौ । पैत्रिको दण्डदासदच सप्तेते दासयोनयः ॥ ४१४ ॥

१—(घ्वजाहृतः) युद्ध में जीतने से प्राप्त हुग्रा, २—(भक्तदासः) भोजन पाने ग्रादि के लोभ से ग्राया हुग्रा, ३—(गृहजः) दासी से उत्पन्न, ४,४—(क्रीतदित्त्रमौ) मूल्य देकर खरीदा हुग्रा, किसी का दिया हुग्रा, ६—(पैत्रिकः) पिता-परम्परा से चला क्ष्या क

मार्या पुत्रक्व वासक्व त्रय एवाधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्वनम् ॥ ४१६ ॥

(भार्या पुत्रः च दासः) पत्नी, पुत्र और दास (त्रयः अधनाः स्मृताः) ये तीनः धनरहित कहे गये हैं (ते यत् समधिगच्छन्ति) ये जो भी कुछ कमाते या इकट्ठा करते हैं (तत् घनं तस्य) वह धन उसका ही होता है (यस्य ते) जिस के ये होते हैं ॥ ४१६ ॥

#### विस्नव्यं बाह्यणः शूद्राद् द्रव्योपावानमाचरेत्। न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भतुं हार्यंथनो हि सः ॥ ४१७ ॥

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण् (विस्नन्धम्) निस्सन्देह (शूद्रात् द्रव्य + उपादानम् + ग्राचरेत्) शूद्र से उसके धन को ले लेवे (हि) क्योंकि (तस्य स्वं किञ्चित् न ग्रस्ति) उसका ग्रपना धन कुछ भी नहीं है (सः हि भन् हार्यधनः) जो भी कुछ उसके पास है वह सब धन उसके स्वामी का है ॥ ४१७॥

#### बैश्यशूत्री प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिबं जगत् ॥ ४१८ ॥

राजा (वैश्यगूद्री) वैश्य और शूद्र से (प्रयत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (स्वानि कर्माणि कारयेत्) उनके अपने कर्त्तव्यों को करवाता रहे (हि) क्योंकि (तौ स्वकर्मभ्यः च्युतौ) इन दोनों के अपने कर्त्तव्यों को न करने से (इदं जगत् क्षोभयेताम्) ये इस सम्पूर्णं जगत् को विक्षुट्ध कर देंगे ॥ ४१८॥

#### ग्रहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्त्राहनानि च। ग्रायव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च॥४१६॥

राजा (ग्रहिन + ग्रहिन) प्रतिदिन (कर्मान्तान्) कर्मों की समाप्तियों को (वाहनानि) हाथी, घोड़े ग्रादि वाहनों को (नियतौ ग्रायव्ययौ) नियत ग्राय श्रीर व्यय (ग्राकरान्) 'ग्राकर' रत्नादिकों की खानें (च) ग्रौर (कोशम् + एव) कोष = खजाने को (अवेक्षेत) देखा करे। ४१६॥ (स॰ प्र०१७४)

#### एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन्। व्यपोद्धा किल्वियं सर्वे प्राप्नोति परमां गतिम्।। ४२०।।

(राजा) राजा (एवं सर्वान् + इमान् व्यवहारान्) इस एकार सब व्यवहारों को यथावत् (समापयन्) समाप्त करता-कराता हुग्रा (सर्वं किल्विषं व्यपोह्य) सब पापों को छुड़ाके (परमां गित प्राप्नोति) परमगित = मोक्षसुख को प्राप्त होता है।। ४२०॥ (स॰ प्र०१७४)

#### आनुर्धीत्उनः : ४१० से ४२० तक श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षित हैं-

- १. विषयविरोध मनुदारा निर्धारित विषयों से वाह्य होने के कारण ये इलोक विषयविरुद्ध हैं, ग्रनः प्रक्षिप्त हैं, विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ३६०-३६५ पर 'विषयविरोध' ग्राधार पर समीक्षा।
- २. प्रसंगिबरोध मनु के स्वयंखितित विषयसंकेतक श्लोकों [८।४-८] के अनुसार १८ व्यवहारों के निर्णय की समाप्ति १।२५० वें श्लोक में होती है। व्यवहारों की समाप्ति से पूर्व ही ४१६-४२० श्लोकों से व्यवहार निर्णय की समाप्ति का और

उनके फल का कथन करना श्रसंगत है। (२) वैश्य-शूद्रों के कर्मों का प्रसंग [६।३२६-३३५ (१०।१-१०)] में है, यहां ये प्रसंगविरुद्ध हैं।

- ३. अन्तिवरोध (२) ४१२-४१ दशोकों में दासप्रया का उल्लेख है ग्रीर उनसे बलात् काम कराने का विधान है। यह प्रया मनु के विरुद्ध है। काम कराने के बदले मनु ने वेतन देने का विधान किया है [६।२१४-२१६]। मनु की व्यवस्था में दास का 'ग्रस्तित्व' ही नहीं, जहां कहीं दास शब्द है भी तो उसका ग्रर्थ सेवक है [४।१६०]। उन्होंने तो शूद वर्ण माना है ग्रीर उसका सेवाकार्य निर्धारित किया है ग्रीर वह भी बलात् नहीं ग्रिपितु शूद को किसी द्विजाति की स्वेच्छ्या सेवा करने का ग्रिधकार दिया है [१।६१; ६। ३३४-३३४; १०।६६]। (२) ४१६ वां ४। १४० ग्रीर ६। १०४ के विरुद्ध है। इन ग्रन्तिवरोधों के ग्राधार पर भी यं इलोक प्रक्षिप्त हैं।
- ४. शैलीगत आधार— इन श्लोकों की शैली मनु की शैली की तरह निर्लिष्त एवं समभावयुक्त न होकर पक्षपात, दुराग्रह एवं घृणायुक्त है। इस आधार पर भी ये मनुप्रणीत सिद्ध नहीं होते। इन प्रक्षिप्त श्लोकों में ब्राह्मण को पथभ्रष्ट होने पर भी कोई दण्ड नहीं लिखा, ग्रतः इन विसंगतियों के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

विशेष—इन श्लोकों को स्थानभ्रष्ट न मानकर प्रक्षिप्त इसलिए माना है क्योंकि ये (१) 'विषयविरोध के साथ-साथ अन्य 'आधारों' पर भी प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, (२) इस अध्याय में इन श्लोकों से सम्बद्ध कोई प्रसंग भी नहीं है, जहां से खण्डित मानकर इन्हें स्थानभ्रष्ट कहा जा सके।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां .सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दीभाषा-भाष्यसमन्वितायाम् 'अनुज्ञीलन' समीक्षाविभूषितायाञ्च मनुस्मृतौ राजधर्मात्मकोऽष्टमोऽष्यायः ॥

# ऋथ नवमोऽध्यायः

(हिन्दीभाष्य-'ग्रनुशीलन'समीक्षाम्यां सहितः)

(राजधर्मान्तर्गत व्यवहारनिर्णय)

[ ह। १ से ह। २४० तक]

(१६) स्त्री-पुरुष-धर्मसम्बन्धी विवाद ग्रौर उसका निर्णय

(६।१ से १०२ तक)

पुरुषस्य स्त्रियाश्चेव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः । संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ (१)

[म्रब मैं] (घमें वर्त्मनि तिष्ठतोः) घमेमार्ग पर चलने वाले (स्त्रियाः च पुरुषस्य एव) स्त्री-पुरुष के (संयोगे च विष्रयोगे) संयोगकालीन = साय रहने तथा वियोगकालीन = म्रलग रहने के (शाश्वतान् धर्मान् वक्ष्यामि) सर्वेव पालन करने योग्य धर्मी = कर्त्तं व्यों को कहूंगा —।। १।।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैदिवानिशम् । विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या द्यारमनो वशे ॥ २ ॥

(स्वै: पुरुषै:) पित म्रादि म्रात्मीय जनों को चाहिए कि वे (दिवानिशम्) रात-दिन (स्त्रिय: म्रस्वतन्त्रा: कार्याः) स्त्रियों को स्वाधीन न रखें (विषयेषु सज्जन्त्य: म्रिप) म्रानन्दप्रद विषयों में लगी हों तब भी (म्रात्मन: वशे संस्थाप्याः) म्रपने वश में रखें ॥२॥

> पिता रक्षति कौमारे मर्ता रक्षति मौबने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमहैति॥३॥

(कौमारे पिता रक्षति) बचपन में स्त्री की रक्षा पिता करता है, (यौवने भर्ता रक्षति) युवावस्था में पित रक्षा करता है, (स्थविरे पुत्राः रक्षन्ति) बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं, (स्त्री स्वातन्त्र्य न म्रहंति) स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

अर्जु र्रो त्उनः २-३ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

अन्तिविरोध—ये स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विरोधी व्यक्ति द्वारा प्रक्षेप

किये गये क्लोक हैं। मनु स्त्री की स्वतन्त्रता को बलपूर्वक समाप्त करने के पक्षघर नहीं हैं, निजी प्रसंगों में वे उन्हें उनके हित को दिष्ट में रखकर सुफाव-मात्र देते हैं। पित-पत्नी को समानस्तरीय मानकर मनु ने ग्रनेक विधान किये हैं। उन क्लोकों की शैली भी ऐसी है जिसमें पित के साथ रहना न रहना पत्नी की इच्छा पर निर्मर माना गया है, यथा है। १०१-१०२, है। है ६, है। १०, द। २६ मनु की भावनाओं के उदाहरण हैं। ये दोनों क्लोक मनु की श्रन्य मान्यताओं के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। [इस विषय पर विस्तृत ग्रनुशीलन प्र। १४७-१४६ पर द्रष्टव्य है।]

## (स्त्री-पुरुष के संयोगकालीन दैनिक कर्त्तव्य)

स्त्री के प्रति कर्त्तंव्यपालन न करने वाले पिता, पति, पुत्र निन्दा के पात्र-

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः । मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥ (२)

(काले) विवाह की अवस्था में (श्रदाता) कन्या को न देने वाला अर्थात् विवाह न करने वाला (पिता वाच्यः) पिता निन्दनीय होता है (च) और (अनुपयन् पितः) [विवाह-पश्चात् ऋतुदिनों के अनन्तर] संगम न करने वाला पित निन्दनीय होता है (भर्तरि मृते) पित की मृत्यु होने के बाद (मातुः + अरक्षिता पुत्रः वाच्यः) माता की [भरण-पोषण आदि से] रक्षा न करने वाला पुत्र निन्दनीय होता है ॥ ४॥

थोड़े से कुसंग से भी स्त्रियों की रक्षा ग्रवश्य करें --

सूक्ष्मेम्योऽपि प्रसङ्गेम्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः । द्वयोहि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥ (३)

(सूक्ष्मेम्यः प्रसंगेम्यः ग्रिप) थोड़े कुसंग के ग्रवसरों से भी (स्त्रियः विशेषतः रक्ष्याः) स्त्रियों की विशेषरूप से रक्षा करनी चाहिए (हि) क्योंकि (ग्ररक्षिताः) ग्ररक्षित स्त्रियां (द्वयोः कुलयोः शोकम् + ग्रावहेयुः) दोनों कुलों = पति तथा पिता के कुलों को शोकसंतप्त कर देती हैं।। १।।

## इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्। यतन्ते रक्षितुं भार्यो भर्तारो दुर्बला अपि।। ६।। (४)

(सर्ववर्णानाम् इमम् उत्तमं धर्मं पश्यन्तः) सब वर्णों के इस पूर्वोक्त श्रेष्ठ धर्म को देखते हुए (दुर्बलाः भर्तारः ग्रिप) दुर्बल पित भी (भार्या रिक्षतुं यतन्ते) कुसंगों से ग्रपनी स्त्री की रक्षा करने के लिए यत्न करते हैं।। ६।। स्त्री पर ही परिवार की प्रतिष्ठा निर्भर-

स्वां प्रसूति चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति।। ७।। (४)

(प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि) प्रयत्नपूर्वं अपनी स्त्री की कुसंगतिसे रक्षा करता हुन्ना अर्थात् संरक्षण में रखता हुन्ना व्यक्ति ही (स्वां प्रसूतिम्) अपनी सन्तान (चिरत्रम्) ग्राचरण (कुलं च म्रात्मानम् एव) कुल मौर अपनी (च) तथा (स्वं धमम्) अपने धमं की (रक्षति) रक्षा करता है मर्थात् स्त्री के कुसंग में पड़ जाने से सब ही कुछ बिगड़ जाता है, क्यों कि स्त्री ही सुख म्नीर धमं का ग्राधार है [६।२८] ।। ७।।

जाया का लक्षण---

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ६ ॥ (६)

(पितः भार्यां संप्रिविश्य) पित वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके (गर्भः भूत्वा + इह जायते) गर्भ बनकर सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है (जायायाः तत् + हि जायात्वम) स्त्री का यही जायापन = स्त्रीपन है (यत्) जो (ग्रस्यां पुनः जायते) इस स्त्री में सन्तानरूप से पित पुनः उत्पन्न होता है।। द।।

अद्भुटारेट्डन् : जाया शब्द की सिद्धि घोर इसमें बाह्मए घादि के प्रमाण—'जाया' शब्द जनी प्रादुमिंव (दिवा०) धातु से 'जनेर्यंक्' (उणादि ४।१११) सूत्र से 'यक्' प्रत्यय, स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है। 'जायते यस्यां सा जाया' प्रथवा 'जायन्ते यस्याम् प्रपत्यानि सा जाया—पत्नी'—जिसमें सन्तान उत्पन्न होती हैं वह 'जाया' कहलाती है। इस क्लोक में जाया की परिभाषा दी हुई है। यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है। यथावत् भाव ऐतरेय ब्राह्मण ७।१३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—

- (क) ''पतिर्जायां प्रविश्वित, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते, तज्जाया जाया मवति यदस्यां जायते पुनः ।''
- (ख) ''म्राभिर्वा अहमिदं सर्वं जनियष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते ।'' (गो० ब्रा० पू० १ । २)
  - (ग) निरुक्त में भी पुत्र को पति का ग्रात्मारूप वताया है-

म्रङ्गादङ्गात् सम्मवित्त हृदयादिधजायते । आत्मा व पुत्रनामाति स जीव शरदः शतम् ॥ [निरु० २।१।४] जैसा पति वैसी सन्तान-

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् । तस्मात्प्रजाविशुद्धधर्यं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ६ ॥ (७)

(स्त्री यादशं हि भजते) स्त्री जैसे पित का सेवन करती है (तथाविधं सुतं सूते) उसी प्रकार की सन्तान को उत्पन्न करती है (तस्मात्) इसिलए (प्रजाविशुद्धचर्थम) सन्तान की शुद्धि के लिए (प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेत्) प्रयत्नपूर्वक स्त्री की कुसंग से रक्षा करे।। १।।

स्त्रियों की रक्षा बलपूर्वक नहीं हो सकती --

न किंदिचद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । एतंदिपाययोगेस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १०॥ (८)

(किश्चित्) कोई भी व्यक्ति (प्रसह्य) जबरदस्ती या दबाव के साथ (योषितः परिरक्षितुं न शक्तः) स्त्रियों की कुसंगों से रक्षा नहीं कर सकता (तु) किन्तु (एतै: + उपाययोगैः) इन स्रागे कहे उपायों में लगाने से (ताः परिरक्षितुं शक्याः) उनकी रक्षा की जा सकती है—।। १०।।

स्त्रियों को गृह एवं धर्मकामी में व्यस्त रखें-

स्रर्थस्य संप्रहे चैनां व्यये चैत्र नियोजयेत्। शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च परिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥(६)

(एनाम्) अपनी स्त्री को (अर्थस्य संग्रहे च व्यये) धन को संभाल श्रीर उसके व्यय की जिम्मेदारी में, (शीचे) घर एवं घर के पदार्थों की शुद्धि में, (धर्में) धर्मसम्बन्धी [६।६३] अनुष्ठान = अग्निहोत्र, संध्या, स्वाध्याय श्रादि में, (अन्नपक्त्याम्) भोजन प्रकाने में, (च) श्रीर (परि-णाह्यस्य वेक्षणे) घर को सभी वस्तुश्रों की देखभाल में (नियोजयेत्) लगायें।। ११।।

स्त्रियां ग्रात्मनियन्त्रण से ही बुराइयों से बच सकती हैं ---

म्ररक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः । स्रात्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥१२॥ (१०)

क्योंकि (स्राप्तकारिभिः पुरुषेः) विश्वसनीय पिता, माता,पित स्रादि पुरुषों द्वारा (गृहे रुद्धाः) घर में रोककर रखी हुई स्रर्थात् निगरानी में रखी जाती हुई स्त्रियां भी (स्रसुरक्षिताः) स्रसुरक्षित हैं =बुराइयों से वच नहीं पातीं (याः तु) जो तो (स्रात्मानम् स्रात्मना रक्षेयुः) स्रपनी रक्षा स्वयं करती हैं (ताः सुरक्षिताः) वस्तुतः वही [बुराई से] सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

स्त्रियों के दूषण में छः कारण-

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासदच नारीसंदूषगानि षट् ॥ १३ ॥ (११)

(पानभ) मद्य, भांग ग्रादि मादक द्रव्यों का पीना, (दुर्जनसंसर्गः) दुष्टपुरुषों का संग, (पत्या च विरहः) पितः वियोग, (ग्रटनम्) ग्रकेली जहां तहां व्यर्थ पाखंडी ग्रादि के दर्शन-मिस रे फिरती रहना, (च) ग्रीर (स्वप्नः +ग्रन्यगेहवासः) पराये घर में जाके शयन करना वा वास (षट् नारीसन्दूषणानि) ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं ॥ १३॥ (स० प्र० ११२)

स्त्रियों का स्वभाव-वर्णन-

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वर्षास संस्थितिः । सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ।। १४ ।।

(एताः न रूपं परीक्षन्ते) स्त्रियां न सुन्दर-ग्रसुन्दर रूप की परीक्षा करती हैं (ग्रासां न वयसि संस्थितिः) ये न अवस्थाविशेष पर घ्यान रखती हैं (सुरूपं वा विरूपं वा) सुन्दर हो या ग्रसुन्दर हो ('पुमान्' इति + एव भुञ्जते) बस 'यह पुरुष है' इतना ही देखकर उसके साथ भोग कर लेती हैं ॥ १४॥

पौँश्चल्याच्चलिचताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह मर्तृष्वेता विकुवंते।। १५।।

(पौरचल्यात्) पुरुष को देखते ही भोग की इन्छा होना, (चलिचतात्) चचल चित्तवाली होना, (नैस्नेह्यात्) स्थिर स्नेह का ग्रभाव होना, (स्वभावतः) स्त्रियों की इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारएा (यत्नतः विक्तताः ग्रिप) पितयों के द्वारा यत्नपूर्वक रक्षा की जाती हुई भी (एताः इह भर्तृषु विकुर्वते) ये स्त्रियां यहां जगत् में पितयों से विरुद्ध ग्राचरण कर जाती हैं।। १५।।

एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् । परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

('प्रजापितिनिसर्गजम्' स्रासाम् एवं स्वभावं ज्ञात्वा) ''परमात्मा ने स्त्रियों को स्वाभाविक रूप से ही ऐसा बनाया है'' इनका ऐसा स्वभाव जानकर (पुरुषः रक्षणं प्रति) पुरुष इनकी रक्षा के लिए (परमं यत्नम् + स्रातिष्ठेत्) स्रधिक से स्रधिक यत्न करे।। १६॥

शय्याऽऽसनमलङ्कारं कामं क्रोधननार्जवम् । द्वोहमावं कुचर्यां च स्त्रीम्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥ (शय्या + ग्रासनम् + ग्रलकारम्) शय्या, ग्रासन, ग्राभूषण, (काम क्रोधम् + श्रनार्जवम्) ाम, क्रोध, कुटिलता (द्रोहभावं च कुचर्याम्) द्रोह श्रीर निन्दित ग्राचरण, ये (मनु: स्त्रीम्य: + श्रकल्पयत्) मनु ने स्त्रियों के लिए ही बनाये हैं ॥ १७॥

> नास्ति स्त्रीएां क्रिया मन्त्रेरिति धर्मे व्यवस्थितिः । निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राक्ष स्त्रीम्योऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

('स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैः न ग्रस्ति') 'स्त्रियों की संस्कार ग्रादि क्रियाएं मन्त्रपूर्वक नहीं होतीं, (इति धर्में व्यवस्थितिः) यही धर्म में व्यवस्था है, (स्त्रियः) स्त्रियाँ (निरि-न्द्रियाः) धर्मशास्त्र के ज्ञान से हीन (च) ग्रीर (ग्रमन्त्राः) वेदादि के मन्त्रों के ग्रिषिकार से हीन हैं, ग्रतः वे (ग्रनृतम्) भूठ का रूप हैं ग्रर्थात् ग्रपवित्र हैं, (इति स्थितिः) ऐसी मान्यता है।। १८॥

## तथा च श्रुतयो बह्वयो निगीता निगमेष्विष । स्वालक्षण्यपरीक्षार्यं तासां श्रृणुत निष्कृतीः ॥ १६ ॥

(तथा च) स्त्रियों को व्यभिचारशील होने के कारण अपिवत्र सिद्ध करने वाले (निगमेषु + अपि) वेदों में भी (स्वालक्षण्यपरीक्षार्थम् बह्लघः श्रुतयः निगीताः) स्त्रियों के स्वभावानुरूप व्यभिचार की परीक्षा के लिए बहुत सी श्रुतियां कही हैं (तासां निष्कृतीः श्रुणुत) उनमें से एक प्रायश्चित्तरूप श्रुति सुनो—॥ १६॥

यन्मे माता प्रलुलुने विचरन्स्यपितव्रता। तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्त्रिक्षां २०॥

[कोई पुत्र अपनी माता के व्यभिचार को जानकर कामना करता है—] ('यत् मे माता) जो मेरी माता (विचरन्ती + अपितव्रता प्रजुषुभे) पराये घर में विचरण करती हुई पतिव्रत धर्म का त्याग कर परपुरुष की ओर आसक्त हुई है (तत् रेत: में पिता वृक्ताम्') उस अशुद्ध रजोरूप वीर्य को मेरा पिता शुद्ध करे, (इति + एतत् निदर्शनम्) यह प्रायश्चित्त रूप श्रुति का एक उदाहरए। है।। २०।।

ध्यायत्यनिष्टं यरिकचित्पारिगन्नाहस्य चेतसा । तस्यैष ध्यमिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

(चेतसा) मन से परपुरुषगमन की इच्छा करके स्त्री (पाणिग्राह्यस्य यत् किचित् अनिष्टं घ्यायित) पित के लिए जो कुछ श्रहित सोचती है (तस्य व्यभिचारस्य एषः) उस व्यभिचार का यह (सम्यक् निह्नवः उच्यते) अच्छी प्रकार शुद्धि करने वाला मन्त्र कहा गया है ॥ २१॥

> याहग्गुलेन मर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि। ताहग्गुला सा मवित समुद्रेलेव निम्नगा॥ २२॥

(स्त्री) स्त्री (यादक् गुणेन भन्नी) जैसे श्रच्छे या बुरे गुर्गो वाले पति के साथ (यथाविधि संयुज्येत) विधिपूर्वक विवाहित होती है (सा तादक् गुणा भवति) वह वैसे ही गुणों वाली हो जाती है (समुद्रेण निम्नगा इव) जैसे समुद्र में मिलकर नदी उसी की तरह के जल के गुणों वाली हो जाती है।। २२।।

> ग्रक्षमाला वसिष्ठेन संयुताऽधमयोनिजा। शारङ्की मन्दपालेन जगामाम्यहंगोयताम्।।२३॥

जैसी—(अधमयोनिजा ग्रक्षमाला) नीच योनि से उत्पन्न हुई 'म्रक्षमाला' नामक स्त्री (वसिष्ठेन संयुता) 'वसिष्ठ' से विवाहित होने से तथा (शारङ्की मन्दपालेन) 'शारङ्की' नामक स्त्री 'मन्दपाल' ऋषि से विवाहित होकर (म्रर्हेणीयतां जगाम) पूज्यता को प्राप्त हुई ॥ २३ ॥

> एताक्वान्याक्व लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः। उत्कर्षं योष्टितः प्राप्ताः स्वैः स्वैभतृं गुर्गः शुभैः ॥ २४ ॥

(एताः) ये [६।२३में वर्णित] (च) तथा (ग्रन्याः) इनसे भिन्न ग्रौर भी (ग्रपकृष्टप्रसूतयः योषितः) नीच योनि में उत्पन्न स्त्रियाँ (ग्रस्मिन् लोके) इस संसार में (स्वैः स्वैः शुभैः भर्तृ गुर्गैः) ग्रपने-ग्रपने पति के शुभ गुणों के कारण (उत्कर्षं प्राप्ताः) श्रेष्ठता को प्राप्त हुई हैं।। २४।।

### अनुश्रीत्जनः : १४-२४ श्लोक निम्न ग्राघारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्तहें-

- १. विषयविरोध—विषयसंकेतक ६।१ श्रीर ६।२५ वलोकों से प्रस्तुत विषय स्त्रीपुरुष के दैनिक संयोगकालीन धर्मों के कथन का निक्चय होता है। ६।१४-२४ वलोकों में स्त्रीपुरुष के संयोगकालीन कर्तव्यों का वर्णन न होकर केवल स्त्री-स्वभाव का निदात्मक विक्लेषण है,जो विषयबाह्य है। इस प्रकार संकेतित विषय से भिन्न वर्णन होने से ये सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. प्रसंगविरोध पुरुष द्वारा स्त्री की रक्षा करने का प्रसंग ६।११ तक पूर्ण हो चुका है भीर फिर १२-१३ में स्त्रियों के दूषण बतलाये हैं। १४-२४ क्लोकों में पुरुष को रक्षा के लिए कथन करने का यह नया प्रसंग पुनः प्रारम्भ कर दिया है। एक प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः उस प्रसंग का प्रारम्भ करना प्रसंगविरुद्ध है, श्रतः ये सभी प्रक्षिप्त हैं।
- ३. धारतिवरोध—(१) इन बलोकों में स्त्री को अनेक दुर्गुणों से युक्त दिखाकर उसे निन्दा धौर अनृत का रूप सिद्ध किया है। यह स्त्रियों के प्रति मनु की मौलिक भावना के विरुद्ध है। मनु स्त्रियों को आदरयोग्य, समानस्तरीय, घर की शोभा एवं पवित्र मानते हैं [६।२६, २=, ६६, १०१, १०२, ३। ४४—६३]। (२) १० वें बलोक में स्त्रियों को मन्त्रों का अधिकार न होने की मान्यता भी मनु-विरुद्ध है। मनु ने सभी धर्मकार्यों में स्त्री को आधार एवं पुरुष के समान अधिकारिणी कहा है [६।२८, ६६]। [विस्तृत विवेचन के लिए इष्टव्य २।६६ पर समीक्षा]। स्त्रियों के गर्भाधान से लिकर

सभी संस्कार यज्ञ श्रौर मन्त्रपूर्वक करने का विधान मनुने किया है [२।१–८।। ४।१६७॥]।

४. शैलीगत आधार—(१) १७ वें दलोक में 'मनुः ग्रकल्पयत्' पदों से यह दलोक तथा इससे सम्बद्ध १४-२४ दलोकों को पूर्वापर प्रसंग मनु से भिन्न ग्रन्य-रचित सिद्ध होता है। (२) २३-२४ दलोकों में ग्रक्षमाला-वसिष्ठ, शारङ्गी-मन्दपाल के विवाहों की चर्चा है। ये व्यक्ति मनु से परवर्ती हैं, ग्रतः ये दलोक भी परवर्ती हैं। (३) इन सभी दलोकों में पूर्वाग्रहबद्धता पूर्वक निन्दात्मक वर्णन है। मनु की शैली इस प्रकार की नहीं है, वे गुण-दोष के श्रनुसार प्रशंसा-निन्दा दिखाते हैं। इस शैली के श्राधार पर भी ये सभी दलोक प्रक्षिप्त हैं।

सन्तानोत्पत्ति-सबन्धी धर्म-

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा । प्रत्येह च सुलोदर्कान्प्रजावमान्तिबोधत ॥ २४ ॥ (१२)

(एषा) यह [६।१-२४] (स्त्रीपुसयोः नित्यं शुभा) रत्री-पुरुषों के लिये सदा शुभ = कल्याणकारी (लोकयात्रा उदिता) लोकव्यवहार कहा, श्रव (प्रेत्य च इह सुखांदर्कान्) परजन्म श्रीर इस जन्म में परिणाम में सुखदायक (प्रजाधमीन् निबोधत) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धो धर्मी को सुनो। २५।।

स्त्रियां घर की लक्ष्मी हैं---

प्रजनायँ महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः। स्त्रियः श्रियञ्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कञ्चन ॥ २६ ॥ (१३)

हे पुरुषो ! (प्रजनार्थं महाभागाः) सन्तानात्पत्ति के लिए महा-भाग्योदय करने हारी (पूजार्हाः) पूजा के योग्य (गृहदोप्तयः) गृहाश्रम को प्रकाशित करती, सन्तानोत्पत्ति करने-कराने हारी (गेहेषु स्त्रियः) घरों में स्त्रियाँ हैं वे (श्रियः) श्री ग्रर्थात् लक्ष्मीस्त्ररूप होती हैं (विशेषः कश्चन न ग्रस्ति) क्योंकि लक्ष्मी, शोभा, धन ग्रीर स्त्रियों में कुछ भेद नहीं है।। २६।। (सं० वि० १४६)

आनुश्री ट्यन: स्त्रियाँ लक्ष्मी रूप हैं—मनु ने जो स्थान तथा महत्त्व स्त्रियों को दिया है,वही समस्त प्राचीन साहित्य में है। इन भावों की तुलना की दिष्ट से निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

- (क) "श्रिमे वा एतव्रूपं यत्पत्न्यः" (शत० १३।२।६।७)
- (स) "गृहा वै पत्न्ये प्रतिष्ठा" (शत० ३।३।१।१०)

स्त्रियां लोकयात्रा का ग्राधार हैं---

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ (१४)

हे पुरुषो ! (ग्रपत्यस्य उत्पादनम्) ग्रपत्यों की उत्पत्ति (जातस्य परिपालनम्) उत्पन्न का पालन करने ग्रादि (लोकयात्रायाः प्रत्यहम्) लोक-व्यवहार को नित्यप्रति जो कि गृहाश्रम का कार्य होता है (स्त्रो निबन्धनं प्रत्यक्षम्) उसका निबन्ध करने वाली प्रत्यक्ष स्त्री है।। २७।। (सं वि० १४६) घर का मुख स्त्री पर निभंर है—

म्रपत्यं धर्मकार्याणि ग्रुश्रूषा रतिरुत्तमा। दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥ (१५)

(ग्रपत्यम्) सन्तानोत्पत्ति (धर्मकार्याणि) धर्म-कार्य (उत्तमा शुश्रूषा रतिः) उत्तम सेवा श्रीर रति (तथा ग्रात्मनः च पितृणां ह स्वर्गः) तथा शपना श्रीर पितरों का जितना सुख है वह सब (दाराधीनः) स्त्री ही के श्राधीन होता है ॥ २८॥ (सं० वि० १४६)

आनु श्रीत्जनः 'पित्णाम्' का यहां 'पिता-पितामह-प्रिपतामह म्रादि वयोवृद्ध म्रादि व्यक्ति' यह म्रथं है। इस विषय पर विस्तृत समीक्षा २।१५१[२।१७६] भौर ३।५२ पर देखिए।

> पति या नामिचरित मनोवाग्देहसंग्रता। सा मर्तृलोकमाप्नोति सिद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २६ ॥

(या) जो स्त्री (मनःवाक्देहसंयता पति न + ग्रिभिचरित) मन, वचन श्रीर शरीर को संयत रखती हुई पति का उल्लंघन नहीं करती (सा भतृ लोकम् + श्राप्नोति) वह पतिलोकों = पति के सुखों को प्राप्त करती है (च) श्रीर (सिद्धः 'साघ्वी' इति जच्यते । सण्यत्ये के दारा 'पतिवता' कही ज्याती है ॥ २० ।।

· .

न्नाप्नोति) लाक मानन्दा का प्राप्त करता ह (च) आर (शृगालयानम् आप्नोति) गीदड़ की योनि को प्राप्त करती है (च) तथा (पापरोगैः पीडचते) पापरोगों से पीड़ित होती है ॥ ३०॥

अन्तु र्रो त्उनः : २६-३० श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. विषयविरोध — ६।२५ वें विषयसंकेतक श्लोक के प्रनुसार प्रस्तुत विषय सन्तानोत्पिज्ञि+सम्बन्धी धर्मों के कथन का है। इन श्लोकों में 'स्त्री के ग्राचरण श्रौर उसका फल' प्रदर्शित है, जो विषय<mark>बाह्य वर्ण</mark>न है। इस विषयविरोध के म्राधार पर ये दोनों इलोक प्रक्षिप्त हैं।

- २. प्रसंगिवरोध पूर्वापर[२८-३१] श्लोकों में पुत्र-सम्बन्धी प्रसंग है। बीच में 'स्त्री के ग्राचरण ग्रीर उसके फल' सम्बन्धी ये श्लोक प्रसंगिभन्त हैं तथा उसके भञ्जक हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं।
- ३. पुनरुक्ति—ये दोनों ही श्लोक क्रमशः ५।१६४ और ५।१६४ की स्रक्षरशः पुनरुक्तियां हैं। इस स्राधार पर यहां ये प्रक्षिप्त हैं।

पुत्र पर ग्रधिकार के सम्बन्ध में आख्यान-

पुत्रं प्रत्युदितं सिद्भः पूर्वजैश्च महर्षिभिः। विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधतः।। ३१ ।। (१६)

(सद्भिः च पूर्वजैः महर्षिभिः) श्रेष्ठ व्यक्तियों तथा प्राचीन महर्षियों ने (पुत्रं प्रति) पुत्र के विषय में जो (विश्वजन्यं पुण्यम् उदितम्) सर्वजनहितकारी ग्रीर पुण्यदायक विचार कहा (इमम् उपन्यास निबोधत) इस 'शिक्षाप्रद विचार' को सुनो—॥ ३१॥

पुत्र पर ग्रथिकार-सम्बन्धी मतान्तर---

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वेधं तु भतंरि । स्राहुरुत्यादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥ (१७)

स्त्रा-30वं का क्षत्र और बाज रूप म तुलना-

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षेत्रज्ञीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥ (१८)

(नारी क्षेत्रभूता स्मृता) स्त्री को खेत के तुल्य माना है श्रीर (पुमान् बीजभूत: स्मृत:) पुरुष को बीज के तुल्य माना है (क्षेत्र-बीज-समायोगात्) खेत श्रीर बीज श्रर्थात् स्त्री श्रीर पुरुष के मिलने से (सवंदेहिनां सम्भवः) सव प्राणियों की उत्पत्ति होती है ॥ ३३ ॥

#### विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्स्वेव कुत्रचित् । उमयं तु समं यत्र सा प्रसुतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

[प्राणियों की उत्पत्ति में] (कुत्रचित् बीजं विशिष्टम्) कहीं बीज की प्रधानता होती है (कुत्रचित् स्त्रीयोनिः तु+एव) कहीं स्त्रीयोनि की प्रधानता होती है (उभयं तु यत्र समम्) किन्तु जहां दोनों की समान रूप से श्रेष्टंता है (सा प्रसूतिः प्रशस्यते) वह सन्तान प्रशंसनीय होती है।। ३४।।

#### बीजस्य चैव योग्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते । सर्वभूतप्रसृतिहि बीजलक्षगलक्षिता ॥ ३५ ॥

(बीजस्य च एव योन्याः च) बीज और योनि =क्षेत्र में (बीजम् + उत्कृष्टम् + उच्यते) बीज को प्रधान कहा गया है (हि) क्योंकि (सर्वभूतप्रसूतिः) सब प्राणियों की उत्पत्ति (बीजलक्षण-लक्षिता) बीज के लक्षणों के ग्रनुसार ही होती है।। ३५।।

### याह्यां तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते । ताह्योहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैद्यं ञ्जितं गुर्णैः ॥ ३६ ॥

(काल-उपपादिते क्षेत्रे) समय पर जोते गये खेत में (यादश तु बीजम् उप्यते) जैसा बीज बोया जाता है (स्वै: गुणै: व्यञ्जितम्) ग्रपने गुणों से युक्त वह बीज (तस्मिन् तादक् रोहति) उस खेत में बेसा ही उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

## इयं मूर्मिह् भूतानां शाक्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणान्कांक्ष्चित्वीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

[जैसे—] (इयं भूमिः हि) यह भूमि ही (भूतानां शाश्वती योनिः + उच्यते) देहधारियों = कीट, वृक्ष, गुल्म, लता आदि की सदा से ही क्षेत्र = उत्पत्तिस्थान रही है, किन्तु (वीजम्) कोई भी वीज (कांश्चित् योनिगुणान् पुष्टिषु न पुष्यति) योनि = क्षेत्र के किन्हीं गुणों को अपनी पुष्टि = अंकुररचना आदि में धारण नहीं करता अर्थात् सभी बीजों की शरीररचना वीज के अनुसार ही होती है, भूमि के अनुसार नहीं। इस प्रकार बीज ही प्रधान होता है।। ३७।।

### भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः । नानारूपारिए जायस्टे बीजातीत स्वभावतः । ३६ ॥

(भूमौ + अपि) भूनि ने भी (कृष्याली:) विवासों के द्वारा (एककेदार) एक ही खेत में (काल-उप्तानि वीजाति) समय-समय पर वोये गये भिन्न-भिन्न वीज (स्व-भावतः) अपने स्वभाव के अनुसार (नानारूपाणि जायन्ते) उन्हीं भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् भूमि का एक रूप होने पर भी बीजों का एक रूप नहीं होता ॥ ३८ ॥

ब्रीहयः शालयो मुद्गास्त्रिलामाषास्तया यवाः। यया बीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तया ॥ ३६ ॥ (ब्रीह्यः शालयः मुद्गाः तिलाः) साठी धान, चावल, मूंग, तिल (माषाः यवाः लशुना तथा ईक्षवः) उड़द, जौ, लहसुन ग्रौर ईख (ययाबीजं प्ररोहन्ति) ग्रपने बीज के ग्रनुरूप ही उत्पन्न होते हैं ग्रयीत् खेत का एक रूप होते हुए भी बीज में विभिन्नता होती है ॥ ३६ ॥

> श्रन्यदुष्तं जातमन्यदित्येतन्नोरपद्यते । उप्यते यद्धि तद्वीजं तत्त्वदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

('ग्रन्यत् + उप्तम् ग्रन्यत् जातम्' इति + एतत्) दूसरा बीज बोया गया हो ग्रोर उससे दूसरा ग्रंकुर पैदा हो गया हो ऐसा (न + उपपद्यते) कभी नहीं होता (यत् हि बीजम् उप्यते) जो बीज बोया जाता है (तत् + तत् एव प्ररोहिति) 'वह बीज उस ग्रपने ही ग्रंकुर के रूप में उत्पन्न होता है।। ४०।।

परस्त्री में सन्तानोत्पत्ति न करें-

#### तत्त्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना। ब्रायुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

(तत्) वह बीज (प्राज्ञेन) बुद्धिमान् (विनीतेन) विनम्र (ज्ञानविज्ञानवेदिना) ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता (म्रायुष्कामेन) दीर्घायु चाहने वाले व्यक्ति को (जातु) कभी भी (परयोपिति न वष्तव्यम्) परस्त्री में नहीं बोना चाहिए अर्थात् परस्त्री से सम्पर्क कर व्यभिचार स्रादि द्वारा स्रपने वीर्यरूपी बीज को व्यर्थ में नष्ट नहीं करना चाहिए ॥ ४१ ॥

### म्रत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः। यया बीजं न वष्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे।। ४२।।

(म्रत्र) इस परस्त्री बीजवपन के विषय में (पुराविदः) प्राचीन विद्वान् (वायु-गीताः कीर्तयन्ति) वायु का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि (पुसा) पुरुष को (परपरिग्रहे) परस्त्री में (बीज न वप्तव्यम्) बीज नहीं बोना चाहिए (यथा) जैसे वायु के द्वारा एक खेत से उड़ाकर दूसरे खेत में फेंका हुमा बीज उगने पर खेत के स्वामी का हो जाता है, बीज वाले का उस पर कोई म्रधिकार नहीं होता। उसी प्रकार परस्त्री में उत्पादित पुत्र भी उस स्त्री के पित का माना जाता है। उत्पानकर्ता का बीजवपन व्यर्थ जाता है। ४२।।

### नश्यतीषुर्यथा विद्धः ले विद्धमनुविद्धण्तः। तथा नश्यति वै क्षित्रं बीजं परपरिग्रहे।। ४३।।

(यथा) ग्रीर जैसे (विद्धम्) एक शिकारी द्वारा बींघे गये (खे) मृग के घाव में (ग्रनुविद्धचतः विद्धः इषुः नश्यित) बाद में बींघने वाले शिकारी के द्वारा फेंका हुग्रा बाण नष्ट हुग्रा माना जाता है (तथा) वैसे ही (परपरिग्रहे) दूसरे की स्त्री में (बीजम्) बोया हुग्रा बीज भी (क्षिप्रं नश्यित) तभी नष्ट हो जाता है।। ४३।।

#### पृथोरपीमां पृथिवीं मार्यां पूर्वविदो विदुः। स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम्॥ ४४॥

(पूर्वेविदः) प्राचीन इतिहास के ज्ञाता (इमां पृथिवीम्) इसी पृथ्वी को (पृथोः भार्यों विदुः) राजा पृथु की भार्या कहते हैं, क्योंकि (स्थाणुच्छेदस्य केदारम् + म्नाहुः) जो ठूंठ म्नादि को काटकर भूमि को संवारते हैं उन्हीं की वह भूमि मानी जाती है, म्नौर (शल्यवतः मृगम्) पहले बींधने वाले शिकारी का मृग होता है।। ४४॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह । विप्राः प्राहुस्तया चैतद्यो मर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

(यत् जाया + ग्रात्मा प्रजा ह) जो पत्नी, स्वयं पित ग्रीर सन्तान हैं, (एतावान् + एव पुरुषः) इन तीनों से मिलकर पुरुष पूर्णं बनता है (इति विग्नाः प्राहुः) ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं (तथा) ग्रीर (एतत्) यह मानते हैं कि (यः भर्ता सा प्रङ्गना स्मृता) जो पित है वही पत्नी है ग्रयित इन दोनों में कोई ग्रन्तर नहीं है ॥ ४५॥

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां मर्तुर्मायां विमुख्यते। एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम्।। ४६॥

(निष्क्रयविसर्गाम्यां भार्यां भर्तुः न विमुच्यते) बेच देने या त्याग करने से पस्नी पति से भ्रलग नहीं हो सकती (प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् एवं धर्मं विजानीमः) पह्ने प्रजापति द्वारा बनाये गये इस धर्मं को हम जानते-मानते हैं ॥ ४६ ॥

> सकुदंशो निपतित सकुत्कन्या प्रदीयते। सकुदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकुत्।। ४७ ॥

(ग्रंगः सकृत् निपतित) पुत्रादि के धन का विभाग एक बार ही होता है (कन्या सकृत् प्रदीयते) कन्या का दान ग्रंथीत् विवाह एक बार ही होता है ('ददानि' इति सकृत् + ग्राह) किसी वस्तु का दान एक बार ही होता है (सताम् एतानि त्रीणि सकृत्) सज्जनों के ये तीन कार्य एक बार ही हुग्ना करते हैं।। ४७।।

यया गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च। नोत्पादकः प्रजामागो तथैवान्याङ्गनास्विप ॥ ४८ ॥

(यथा) जैसे (गो + अश्व + उष्ट्र + दासीषु) गौ, घोड़ी, ऊंटनी, दासी में (च) और (महिषी + अजा + अविकासु) भैंस, बकरी, भेड़ में (उत्पादकः) सन्तान उत्पन्न करने वाला (प्रजाभागी न) सन्तान का अधिकारी नहीं होता (तथैंव + अन्याङ्गनासु + अपि) वैसे ही परस्त्रियों में सन्तान उत्पन्न करने वाला भी उस सन्तान को पाने का अधिकारी नहीं होता ॥ ४८॥

अन्युर्गोत्उन्य : ३४-४८ तक के क्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं :--

- 2. प्रसंगिवरोध—(१) ६।३१—३३ श्लोकों से यह एक नया प्रसंग प्रारम्भ किया गया है, जिसमें पुत्रोत्पादक दो प्रकार के व्यक्ति माने गये हैं; एक—विधिवत् विवाहित पति; दूसरा—परस्त्री में सन्तान उत्पन्न करने वाला विधिवत् प्रविवाहित व्यक्ति। इसमें जिज्ञासा उठायी गई है कि इनमें से 'पुत्र पर किसका प्रधिकार है?' इसी प्रसंग को दूसरे शब्दों में प्रसंगसमाप्ति पर बीज ग्रीर योगि की प्रधानता ग्रांर ग्रप्रधानता के रूप में कहा गया है [६। ५६]। इस जिज्ञासा के दो प्रकार के उत्तर इलोक ४६, ५२, ५३ में हैं। ३३ वें श्लोक में क्षेत्र और बीज का स्वरूप बताकर ४६ में ग्रक्षेत्रियों को फल पर ग्रनधिकार प्रदर्शित है। इस प्रकार प्रश्न-उत्तर की संगति की दृष्टि से ३३ वें श्लोक की ४६ वें श्लोक से प्रसंगसम्बद्धता है। बीच के ये श्लोक उस प्रसंग को भंग कर रहे हैं।
- (२) यह प्रसंग तो है पुत्र पर ग्रधिकार के निश्चय का, किन्तु ३४ वें श्लोक से एक नया भिन्न प्रसंग बीज ग्रौर योनि की श्रेष्ठता का उठाया गया है, जो ४८ तक चलता है। यह संकेतित प्रसंग से भिन्त [१।३२—३३, ६५] होने के कारण प्रसंगबाह्य है, अतः प्रसंगविरुद्ध प्रक्षेप है।
- २. अन्तिवरोध—(१) ६। ३४—४८ इलोकों के इस प्रसंग में कहीं बीज की समानता से सन्तान की श्रेष्ठता [३४], कहीं बीज की प्रधानता [३४ ४२], कहीं योनि की प्रधानता [४३—४८] बतलायी है। ये सब मान्यताएं ४६, ५२, ५३ में विणत निर्णयों के विरुद्ध हैं। संकेतित जिज्ञासा और उत्तर के भी विरुद्ध हैं। ४६, ५२, ५३ इलोकों में स्पष्टतः स्थितिवशात् बीजी और क्षेत्री के अधिकार का निर्णय दिया है; बीज और योनि की श्रेष्ठता का नहीं।
- (२) इन इलोकों में विश्तित वायु, मृग ब्रादि [४२—४४], पुरुष की पूर्णता [४४], एक बार कन्यादान [४६—४७], पशुष्रों की प्रया [४८] ब्रादि उदाहरणों का मनुष्यों की प्रवृत्ति ब्रीर परम्परा से मेल नहीं खाता ब्रीर न उनका उस प्रकार वंश ही चलता या अपनाया जाता है। ब्रातः इनका प्रस्तुत मुख्य कथन से तालमेल नहीं बैठता। इन अन्तिवरोधों के ब्राधार पर ये श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

परस्त्री में पुत्रोत्पत्ति करने पर पुत्र पर स्त्री का या स्त्री-स्वामी का ग्रधिकार— येऽक्षेत्रिएो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिएाः । ते वं सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४६ ॥ (१६)

[१।३३ की व्यवस्था में] (ये + ग्रक्षेत्रिणः बीजवन्तः) जो क्षेत्र-रहित हैं ग्रोर बीज वाले हैं (परक्षेत्रप्रवापिणः) तथा दूसरे के क्षेत्र में ग्रधीत् परस्त्री में बीज को बोते हैं = सन्तान उत्पन्न करते हैं (ते वे) निश्चय से (क्विचित्) कहीं भी (जातस्य सस्यस्य फलंन लभन्ते) उत्पन्न हुये ग्रन्न, सन्तान म्रादि के फल को नहीं प्राप्त करते म्रर्थात् उस सन्तान पर स्त्री के पित का म्रियकार होता है, बीज बोने वाले का नहीं ।। ४६ ।।

### यवन्यगोषु वृषमो वत्सानां जनयेञ्छतम्। गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षमम्॥ ५०॥

(यत्) जो (वृष्भः) सांड (अन्यगोपु) दूसरे की गौग्रों में (वत्सानां शतं जनयेत्) सैंकड़ों बछड़े उत्पन्न कर दे, तो भी (ते वत्साः गोमिनाम् + एव) वे बछड़े गौग्रों के स्वामी के होते हैं (ग्राषंभं स्कान्दित मोषम्) सांड का वीर्यसेचन करना व्ययं है, ग्राथीत् उसका फल नहीं मिलता ॥ ५०॥

## तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः। कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम्।। ५१।।

(तथैव) उसी प्रकार (ग्रक्षेत्रिणः) क्षेत्र के स्वामी न होते हुए (बीज परक्षेत्र-प्रवापिणः) ग्रपने बीज को दूसरे के क्षेत्र = स्त्री में बोते हैं (क्षेत्रिणाम् + ग्रयं कुवंन्ति) वे लोग क्षेत्रस्वामी का ही लाभ सिद्ध करते हैं (बीजी फलंन लभते) क्योंकि बीजवाला व्यक्ति उसके सन्तानरूपी फल को नहीं प्राप्त करता ॥ ४१ ॥

आनुश्रीत्यनः ५०—५१ श्लोक निम्न 'म्राधारों' के मनुसार प्रक्षिप्त हैं।

- १. अन्तर्विरोध ५० वें की मान्यता ५२ ५३ के विरुद्ध है, क्योंकि पशुप्रथा का मनुष्यों की वंशपरम्पराव ज्ञान-स्मरण परम्परा से तालमेल नहीं बैठता।
- २. प्रसंगिवरोध ४६ से ५२ का प्रसंग जुड़ता है। ४६ में परस्त्री में बीज-वपन करने के कारण का दिग्दर्शन है, उसका विकल्प ५२ में है। इन क्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर कर दिया है।
- ३. पुनरुक्ति—५१ वें श्लोक में ४६ की पुनरुक्तिमात्र है, ग्रतः यह प्रक्षिप्त है। ५० वां इसका ग्राधार होने के कारण इससे सम्बद्ध है, ग्रतः ५१ वें के प्रक्षिप्त होने से वह भी प्रक्षिप्त है।

पुत्र पर स्त्री या स्त्री-स्वामी के ग्रधिकार में कारण-

फलं त्वनिभसंघाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा। प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी।। ५२।। (२०)

क्योंकि (क्षेत्रिणां तथा बीजिनाम्) खेतवालों स्रर्थात् पर पुरुष से सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्रियों में स्रोरबीजवालों स्रर्थात् परक्षेत्र स्रर्थात् परस्त्री में संतान उत्पन्न करने वालों में (फलं तु म्रनिसंधाय) फल के लेने के विषय में बिना निश्चय हुए 'कि इस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला मन्न, सन्तान म्रादि फल किसका होगा' बीज-वपन करने पर (प्रत्यक्षं क्षेत्रिणाम् + म्र्यंः) वह स्पष्टरूप से क्षेत्रस्वामी का फल या उपलब्धि होती है; मर्थात् वह स जान स्त्री की ही होती है, क्योंकि (बीजात् योनिः गरीयसी) ऐसी स्थिति में बीज से योनि बलवती होती है।। ४२।।

समभौतापूर्वक पुत्रोत्पत्ति में पुत्र पर स्त्री-पुरुष दोनों का समानाधिकार-

क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतद्वीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ हुच्दौ बीजी क्षेत्रिक एव च ।। ५३ ।। (२१)

(यत्) परन्तु यदि (क्रिया + प्रम्युपगमात्) परस्पर मिलकर यह निश्चय करके कि इससे प्राप्त फल 'ग्रमुक का' या दोनों का होगा [जैसे कि विवाह या नियोग में किया जाता है], इस समभौते के साथ (एतत् बीजार्थं प्रदीयते) जो खेत बीज बोने के लिये दिया जाता है प्रर्थात् स्त्री यदि समभौते के साथ किसी के लिए सन्तान उत्पन्न करती है तो उस ग्रवस्था में (इह तस्य) इस लोक में उसके (बीजी च क्षेत्रिक: + एव भागनी इन्टी) बीजवाला श्रीर खेतवाला दोनों ही फल के ग्रधिकारी देखे गये हैं।। १३॥

> ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्रिकस्येव तद्बीजंन वप्ता लमते फलम्।। ५४।।

(स्रोघ-वात + स्राहृतं बीजम्) पानी के वेग के साथ बहुकर स्रौर वायु के द्वारा उड़ाकर लाया गया बीज (यस्य क्षेत्रे प्ररोहित) जिसके खेत में उगता है (तत् बीजं क्षेत्रिकस्य + एव) वह बीज खेत के स्वामी का ही होता है (वप्ता फलंन लभते) बीजवाला उसके फल को नहीं प्राप्त करता ॥ ४४॥

> एव धर्मो गवाश्वस्य वास्युष्ट्राजाविकस्य च । विहङ्गमहिषीरणां च विज्ञेयः असवं प्रति ॥ ५५ ॥

(एषः धर्मः) यही नियम [१।४६-५४] (गो + अश्वस्य दासी + उष्ट्र + अजा + अविकस्य च विहङ्ग-महिषीणाम्) गो, घोड़ी, दासी, ऊंटनी, वकरी, भेड़, पक्षी और भैंस, इनकी (प्रसवं प्रति विज्ञेयः) सन्तान के प्रति भी जानना चाहिए ॥ ५५ ॥

अबन्दु श्री ट्यन्तः ५४-५५ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं— १. सम्तर्विरोध—प्रसंगसंकेतक श्लोक ६। ३२, ३३ के सनुसार यहां पुत्र पर स्रिषकार बताने के निर्णयका वर्णन है, जिसे क्षेत्री-बीजी के उदाहरण [६।४६,५२,५३] द्वारा स्पष्ट किया गया है। इन श्लोकों में जल-वायुका उदाहरण [६४], पशु-प्रथा का विधान [४४], उक्त कथन से बाह्य हैं, भीर न मनुष्य-परम्परा के अनुकूल घटित होते हैं, म्रतः मुख्य कथन के विरुद्ध होने से ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

२. प्रसंगिवरोष— १।३२-३३ में जो जिज्ञासा उठायी थी, उसका उत्तर ४६, ५२,५३ में दिया जा चुका है। घापत्काल में सन्तान का विधान—५३ के बाद पुनः पूर्व-प्रसंग की बातों को उठाना प्रसंगिवरुद्ध है।

> एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोग्योः प्रकीर्तितम् । म्रतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥५६॥ (२२)

(एतत्) [यह ६।३१-५५] (बीजयोन्योः सारफल्गुत्वम्) बीज ग्रीर योनि को प्रधानता ग्रीर ग्रप्रधानता (वः प्रकीर्तितम्) तुमसे मैंने कही ।

(ग्रतः परम्) इसके बाद ग्रब मैं (ग्रापिद योषितां धर्मम्) ग्रापत्काल में [सन्तानाभाव में] स्त्रियों के धर्म को प्रवक्ष्यामि कहूँगा—।। ५६॥

बड़ी भाभी को गुरु-परनी के समान, छोटी को पुत्रवधू के समान माने---

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या वा गुरंपत्स्यनुजस्य सा । यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा च्येष्ठस्य सा स्मृता ॥५७॥ (२३)

(ज्येष्ठस्य भ्रातुः या भार्या) वड़े भाई की जो पत्नी होती है (सा अनुजस्य गुरुपत्नी) वह छोटे भाई के लिए गुरुपत्नी के समान होती है (तु या यवीयसः भार्या) भ्रौर जो छोटे भाई की पत्नी है (सा ज्येष्ठस्य स्नुषा) वह बड़े भाई के लिए पुत्रवधू के समान (स्मृता) कही गयी है, भ्रर्थात् भाइयों को भाई की पत्नी में उक्त प्रकार की पवित्र भावना रखनी चाहिए।। ५७।।

उनके साथ गमन में पाप-

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यौ यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापवि ॥५८॥ (२४)

(ज्येष्ठ: यबीयस: भार्याम्) बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ ग्रीर (यबीयान् + ग्रग्नज-स्त्रियम्) छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ (ग्रनापदि) ग्रापत्तिकाल [ = सन्तानाभाव ] के बिना (नियुक्तौ + ग्रपि गरवा) नियोग-विधिपूर्वक भी यदि संभोग करें तो वे (पतितौ भवतः) पतित माने जाते हैं।। ५६।।

सन्तानाभाव में नियोग से सन्तानप्राप्ति-

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताचिगन्तब्या सन्तानस्य परिक्षये ।।५६।। (२५) (सन्तानस्य परिक्षये) पति से सन्तान न होने पर अथवा किसी भी प्रकार से सन्तान का अभाव होने पर (सम्यक् नियुक्तया स्त्रिया) ठीक-ढंग में [परिवार और समाज में विवाहवत् प्रसिद्धिपूर्वक] नियोग के लिए नियुक्त स्त्री को (देवरात् वा सिंपडात् वा) देवर—स्वजातीय या अपने से उत्तम नर्णस्थ पुरुष से अथवा पति की छः पीढ़ियों में पति के छोटे या बड़े भाई से (ईप्सिता प्रजा अधिगन्तव्या) इच्छित सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए अर्थात् जितनी सन्तान अभोष्ट हो उतनी प्राप्त करले।। ५६।।

"सिंपड ग्रथीत् पित की छः पीढ़ियों में पित का छोटा वा बड़ा भाई, ग्रथवा स्वजातीय तथा ग्रयने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री-गुरुष ग्रौर विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है ग्रौर जब सन्तान का सर्वया क्षय हो तब नियोग होवे।" (स० प्र० चतुर्थ समु०)

"मनुजी ने लिखा है कि (सिपण्ड) प्रयात् पित की छः पीढ़ियों में पित का छोटा वा बड़ा भाई प्रयवा स्वजातीय तथा प्रपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्रों का नियोग होना चाहिए। परन्तु जो वह मृतस्त्री पुरुष ग्रीर विधवा स्त्रों सन्तानोत्पित्त की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है। ग्रीर जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो तब नियोग होवे। जो आपत्काल ग्रर्थात् सन्तानों की होने की इच्छा न होने में बड़े भाई की स्त्री से छोटे का ग्रीर छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानो-त्पित्त हो जाने पर भी पुनः वे नियुक्त ग्रापस में समागम करें तो पितत हो जायें। ग्रर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की श्रवधि है, इसके पश्चात् समागम न करें।" (स॰ प्र॰ चतुर्थ समु॰)

अर्जुट्ये टिउन्सः (१) नियोग की विधि—नियोग के लिए 'नियुक्त करना' या 'नियोग की विधि' से अभिप्राय यह है कि जैसे समाज और परिवार में प्रसिद्धिपूर्वक विवाह होता ह, उसी प्रकार नियोग भी होता है। इन्हीं के समक्ष पुत्र मादि प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चय होते हैं। उस निश्चय के अनुसार चलना 'विधि' है और अन्यया चलना 'विधि का त्याग' है। ऋषि दयानन्द ने इसी बात को प्रश्नोत्तररूप में स्पष्ट किया है—

''(प्रश्त) नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए?

(उत्तर) जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्रपुरुषों की अनुमित और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है वैसे नियोग में भी। अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने 'हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें तो पापी और जाति वा राज्य के दण्डनीय हों। महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे, गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्य्यंन्त पृथक् रहेंगे।" (स॰ प्र॰ चतुर्थ समु॰)

#### (२) देवर शब्द का ग्रर्थ--

मनुस्मृति या वैदिक साहित्य में देवर शब्द का प्रचलित —'पित का छोटा भाई' ग्रयं न होकर विस्तृत ग्रयं है । निरुक्त में 'देवर' शब्द की निरुक्ति निम्न दी है—

"बेवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते ॥" (३।१४)

श्रयात्—''देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पित होता है, चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई ग्रयवा ग्रपने वर्ण वा ग्रपने से उत्तम वर्ण वाला हो। जिससे नियोग करे, उसी का नाम देवर है।'' (म॰ दयानन्द, स॰ प्र॰ ११६)

त्राजकल यह केवल पित के छोटे भाई के प्रथं में रूढ़ हो गया है। इस रूढ़ि का कारण कदाचित् यह है कि स्त्री के विधवा हो जाने पर अधिकतर मृत-पित के छोटे भाई से ही उसका सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह नियोगविधि का ही एक परिवर्तित रूप है। इस परम्परा से प्राचीन काल में नियोगप्रथा के ग्रस्तित्व के संकेत मिलते हैं।

### (३) वेदों में नियोग का विधान---

(क) उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गृतासुंमेतसुपं शेष एहि । हस्तुग्राभस्यं दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमुभि सं वैभूथ ॥

ऋ । मं० १०। सू० १८। मं० ८॥

ध्रयं—''(नारि) विधवे तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पित की ग्राशा छोड़ के बाकी पुरुषों में से (ग्रिभ जीव लोकम्) जीते हुए दूसरे पित को (उपैहि) प्राप्त हो, ग्रौर (उदीष्त्रं) इस बात का विचार ग्रौर निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिघिषोः) तुम विधवा के पुनः पागिग्रहण करने वाले नियुक्त पित के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा तो (इदम्) यह (जिनत्वम्) जना हुग्रा बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पित का होगा ग्रौर जो तू ग्रपने लिये नियोग करेगी तो यह सन्तान (तव) तेरी होगी। ऐसे निश्चययुक्त (ग्रिभ सम्बभूथ) हो ग्रौर नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे।"

(स॰ प्र॰ चतुर्य समु॰)

(स्त) (प्रक्त) नियोग मरे पीछे ही होता है वा जीते पति के भी? (उत्तर) जीते भी होता है—

**ग्रन्यमिञ्छस्य सुभगे पति मत् ॥ ऋ॰ मं॰ १०। सू० १०॥** 

जब पति सन्तानोत्पत्ति में प्रसमर्थ होवे तब प्रपनी स्त्री को प्राज्ञा देवे कि हे सुभगे ! सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री तू (मत्) मुक्त से (प्रन्यम्) दूसरे पति की

(इच्छस्व) इच्छा कर क्यों कि ग्रब मुक्त से सन्तानोत्पत्ति की ग्राशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे परन्तु उस विवाहित महाशय पित की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त हो कर सन्तानोत्पत्ति में ग्रसमर्थ हो वे तब ग्रपने पित को ग्राजा देवे कि हे स्वामी! ग्राप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुक्तसे छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति की जिए।

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती श्रीर माद्री ने किया श्रीर जैसा व्यास जी ने चित्राङ्गद श्रीर विचित्रवीर्य के मरजाने के पश्चात उन श्रपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके श्रम्बिका में धृतराष्ट्र श्रीर श्रम्बालिका में पाण्डु श्रीर दांसी में विदुर की उत्पत्ति की। इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमारण है।" (स० प्र० चतुर्थ ० समु०)

नियोग में गमन-विधि---

#### विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ ६० ॥

(विधवायां नियुक्त: तु) विधवा स्त्रीमें नियोग के लिए लगाया पुरुष (घृताक्तः) ग्रपने शरीर में घी लगाकर (वाग्यतः) मौन होकर (निशि) रात्रि में (एकं पुत्रम्- उत्पादयेत्) संभोग करके एक पुत्र को ही उत्पन्न करे (न द्वितीयं कथंचन) दूसरा पुत्र कदापि उत्पन्न न करे।। ६०।।

### द्वितीयमेके प्रजननं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः। ग्रनिवृंत्तं नियोगार्थं पद्मयन्तो धर्मतस्तयोः॥ ६१॥

(एके तिंद्वदः) कुछ इस नियोगिविधि के ज्ञाता विद्वान् (ग्रनिवृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तः) 'एक पुत्र उत्पन्न करने से नियोग का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता' यह मानते हुए (स्त्रीषु) स्त्रियों में (द्वितीयं प्रजननं धर्मतः मन्यन्ते) दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने को धर्मानुसार ठीक मानते हैं ॥ ६१ ॥

## **अर्जुर्वोट्डनः** ६०-६१ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं---

१. ग्रन्तिवरोध—(१) इन क्लोकों में नियोग के द्वारा एक ग्रीर दो पुत्रों की प्राप्ति के लिए क्रमशः विधान किया है। यह विधान ६।५६ के विरुद्ध है, क्योंकि उस क्लोक में नियोग के द्वारा इच्छित सन्तान प्राप्त करने का कथन है, उसमें कोई सीमा निर्धारित नहीं (२) इन क्लोकों में जो सन्तान की सीमा और नियोग को प्रदिश्ति किया है, वह नियोग को ग्रनुवित मानने की भावना को ग्रभिव्यक्त करती है, यह मनु के विरुद्ध है [६।५६-५६]।

नियोग से पुत्र-प्राप्ति के बाद शरीर-सम्बन्ध नहीं-

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि । गुरुवच्च स्तुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥(२६) (यथाविधि) विधि अनुसार (विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु) विधवा में नियोग के उद्देश्य पूर्णे हो जाने पर फिर (गुरुवत् च स्तुषावत् च परस्परं वर्तेयाताम्) बड़े भाई तथा छोटे भाई की स्त्री से क्रमशः गुरुपत्नी तथा पुत्रवसू के समान [६। ४७] परस्पर बर्ताव करें।। ६२।।

नियुक्तौ यौ विधि हित्वा वर्तेयातां तु कामतः । तात्रुभौ पतितौ स्यातां स्नुषाग-गुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥(२७)

(नियुक्तो यो) नियोग के लिए नियुक्त बड़ा या छोटा भाई यदि (विधि हित्वा) नियोग को विधि = ब्यवस्था [समाज या परिवार में किये गये पूर्व निरुवयों] को छोड़ कर (कामतः वर्तेयाताम्) काम के वशोभूतः होकर संभोगादि करें (तु) तो (तौ + उभौ) वे दोनों (स्नुषाग-गुरुतल्पगौ पतितौ स्याताम्) पुत्रवस्थमन श्रौर गुरुयत्नीगमन के श्रपराघी माने जायेंगे [१। ५६]।। ६३।।

नियोगविधि का खण्डन---

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः । ग्रन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युःसनातनम्।। ६४ ॥

(द्विजातिभिः) द्विजातियों को चाहिए कि वे (विधवा नारी) विधवा स्त्री का (ग्रन्यिस्मिन् न नियोक्तब्या) देवर म्रादि म्रन्य पुरुष से नियोग न करावे (हि) क्यों कि (म्रन्यिस्मिन् नियुञ्जाना सनातनं धर्मं हन्युः) दूसरे पुरुष से नियोग कराकर वे सनातन धर्मं को नष्ट करते हैं।। ६४।।

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीत्यंते क्वचित्। न विवाहिवधायुक्तं विधवावेदनं पुनः॥ ६४॥

(उद्वाहिकेषु मन्त्रेषु न क्विचित् नियोगः कीर्त्यते) विवाह-सम्बन्धी मन्त्रों में कहीं भी नियोग का कथन नहीं है, ग्रीर (न विवाहिवधी पुन: विधवावेदनम् + उक्तम्) न विवाह-विधि में ही कहीं विधवा स्त्री का पुनः विवाह लिखा है ॥ ६५ ॥

তার্থ তি**ন্ধতি নির্বার** জন্মতার্থ **বিষ্ণালি** । তার্লভার স্লৌক্তি নির্বাহনের **২২** ।।

(वेने राज्यं प्रशासित) राजा वेन के शासनकाल में (मनुष्याणाम् + स्रिप प्रोक्तः ग्रयं पशुधर्मः) मनुष्यों के लिए विहित किया हुन्ना यह नियोग रूपी पशुधर्म (विद्वद्भिः द्विजैः विगहितः) विद्वान् द्विजों ने निन्दा के योग्य मानृा है ॥ ६६ ॥

> स महीमिललां भुञ्जन्राजीवप्रवरः पुरा। वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः॥ ६७॥

(पुरा) प्राचीन काल में (ग्रिखिलां महीं भुञ्जन्) सम्पूणं पृथ्वी का पालन करते हुए (सः राजिषप्रवरः) उस महाराजा वेन ने (काम + उपहतचेतनः) कामासिकत के कारण नष्टबुद्धि होकर (वर्णानां सङ्करं चक्रे) वर्णों में सङ्करपन को फैला दिया। ६७।।

#### ततः प्रभृति यो सोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ ६८ ॥

(ततः प्रभृति) राजा वेन के शासनकाल से (यः) जो व्यक्ति (प्रमीतपितकां भित्रयम् ग्रंपत्यार्थं नियोजयित्) मृतपित वाली विधवा स्त्री का सन्तानप्राप्ति के लिए परपुरुष से नियोग करवाता है (तं साधवः विगर्हन्ति) उसकी सज्जन निन्दा करते हैं ॥ ६८ ॥

अनुशिका ६४-६८ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के प्रनुसार प्रक्षिप्त हैं---

- १. ग्रन्तिवरोध—६४-६८ क्लोकों में पूर्वविहित [६।५६-६३] नियोगव्यवस्था का निषेध और निन्दा है। मनुसे विरुद्ध मान्यता होने के कारण ये क्लोक
  प्रक्षिप्त हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना भी ग्रावश्यक है कि इन दोनों मान्यता श्रों में
  'नियोग-व्यवस्था' मनु की मौलिक मान्यता है। इसमें निम्न पोषक प्रमाण हैं—(क)
  नियोग-विधान की मान्यता पूर्वविहित ग्रीर ग्राधारभूत है। (ख) विषयसंकेतक क्लोकों
  में इस प्रसंग को प्रारम्भ ग्रीर समाप्त करने का संकेत है [६।५६ ग्रीर ६। १०३]।
  ये क्लोक ग्रपने पूर्विपर प्रसंगों से श्रु खलावत जुड़े हुए हैं, जो सिद्ध करते हैं कि यह
  मान्यता मौलिक है। (ग) ६। १४५-१४६ में नियोग से उत्पन्न पुत्र को दायभाग का
  पूर्ण ग्रधिकार विहित है। यह भी इस मान्यता को मनुसम्मत सिद्ध करता है, ग्रीर
  (घ) नियोग-विध का त्याग करके उत्पादित पुत्र को धनाधिकार से ६।१४७ में वंचित
  किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनु नियोग को ही स्वीकार्य मानते हैं,
  नियोगत्याग को नहीं। (ङ) किसी बात के ग्रस्तित्व के बाद ही उसका खण्डन हो सकता
  है। इस खण्डन से यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व यह मान्यता प्रचलित थी, जैसा कि इन
  क्लोकों में ६६-६० में स्वयं भी स्वीकार किया है। इस प्रकार नियोग की मान्यता
  पूर्ववर्ती और मौलिक है। नियोग-खण्डन की मान्यता परवर्ती ग्रीर प्रक्षिप्त है।
- २. विषयविरोध—विषय-संकेतक श्लोकों [६।५६,१०३] के निर्देशानुसार यह विषय स्त्रियों के लिए ग्रापत्कालीन धर्मों ग्रीर ग्रापत्काल में सन्तानप्राप्ति का है। नियोग की मान्यता उस विषय से सम्बद्ध है, ग्रतः मीलिक है। खण्डन की मान्यता का संकेतित विषय से कोई सम्बन्ध नहीं, ग्रतः प्रांधाप्त है।
  - ३. शैलीगत ब्राधार-६६-६७ इलोकों में राजा वेन के समय नियोग के

विस्तार का कथन है। राजा वेन मनुसे परवर्ती है, ग्रतः ये श्लोक भी किसी व्यक्ति द्वारा रचकर मिलाये गये हैं।

सगाई के बाद पति की मृत्यु होने पर ग्रन्य विवाह का विधान-

यस्या म्नियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६६ ॥ (२८)

(वाचा सत्ये कृते) वाग्दान = सगाई करने के बाद [ग्रीर विवाह से पूर्व] (यस्याः कन्यायाः पतिः ग्रियेत) जिस कन्या का पित मर जाये (ताम्) उस कन्या को (निजः देवरः) पित का छोटा भाई (ग्रनेन विधानेन विन्देत) विवाह-विधान से प्राप्त कर ले ।। ६६ ।।

"जो ग्रक्षतयोनि स्त्रो विधवा हो जाये तो एति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है।" (इलोक की दूसरी पंक्ति उद्धृत करके यह उल्लेख है (स॰ प्र॰ ११७)

अक्ष्या कि कि स्वाप्त कि स्वाप्त का क्षाधार — यह श्लोक संकेतित [६।४६, १०३] विषय से सम्बद्ध है। विषयानुसार इसमें ग्रापत्कालीन स्थिति में स्त्री का कर्त्तंव्य विहित किया है।

ययाविध्यिधगम्यैनां शुक्लबस्त्रां शुचित्रताम् । मिथो मजेताप्रसवात्सकृत्सकृहतावृतौ ॥ ७० ॥

वह देवर (एनां यथाविधि + प्रिष्ठिगम्य) इसे विधिपूर्वक स्वीकार करके (शुक्ल-वस्त्राम्) सफेद वस्त्र धारण करने वाली (शुचित्रताम्) पवित्र व्रतवाली उस कन्या के साथ (ग्राप्रसवात्) गर्भधारण होने तक (सक्कृत्-सक्कृत्-ऋतौ मिथः भजेत) एक-एक बार प्रत्येक ऋतुकाल में संभोग करे।। ७०।।

न दस्त्रा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षरणः। दस्त्रा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम्।। ७१।।

(कस्यचित् कन्यां दत्त्वा) किसी को एकबार कन्यादान करके (विचक्षणः) बुद्धिमान् मनुष्य (पुनः न दद्यात्) पुनः दूसरे को न दे (दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि) एक बार देकर पुनः दूसरे को देता हुम्रा वह व्यक्ति (पुरुषानृतं प्राप्नोति) 'पुरुषानृत' दोष को प्राप्त करता है।। ७१।।

विधिवत्प्रतिगृह्यापि स्यजेत्कन्यां विगीहताम् । ज्याधितां विप्रदृष्टां वा छुचना चोषपादिताम् ॥ ७२ ॥

मनुष्य (विगर्हितां व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना उपपादिताम्) निन्दित ग्राचरण वाली, व्याधिग्रस्त, व्यभिचारिणी ग्रीर धोला करके दी गई (कन्याम्) कन्या को (विधिवत् प्रतिगृह्य प्रिप त्यजेत्) विधिपूर्वक ब्याह करके भी छोड़ देवे प्रयीत् छोड़ सकता है ॥ ७२ ॥

#### यस्तु बोषवर्ती कन्यामनास्यायोपपावयेत्। तस्य तद्वितयं कुर्यात्कन्यादातुर्वुरात्मनः॥ ७३॥

(यः तु) जो कोई कन्या का सम्बन्धी (दोषवती कन्याम् + अनाख्याय) किसी दोष से युक्त कन्या को उसके दोष को बिना बताये (उपपादयेत्) प्रदान कर दे तो (तस्य दुरात्मनः कन्यादातुः) उस दुरात्मा, कन्यादान करने वाले का (तत्) वह दान (वितथं कुर्यात्) व्यथं कर दे अर्थात् उस कन्या को वापिस लौटा दे ॥ ७३॥

## अन्यू श्रीत्जना : ७०-७३ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं-

- १. विषयविरोध विषयसंकेतक क्लोकों ६।५६, १०३ के स्रनुसार यह विषय सित्रयों के प्रापत्कालीन धर्मों भीर स्रापत्-काल में सन्तान-प्राप्ति का है। इन क्लोकों में देवर के लिए विधि [७०], पुनः कन्यादान न करना [७१], छल स्रादि से दी गई कन्या को लौटाना [७२–७३] स्रादि बातें संकेतित विषय से स्रसम्बद्ध हैं, स्रतः मौलिक नहीं।
- २. प्रसंगविरोध ६९ श्रीर ७४ व्लोकों में स्त्रियों के लिए श्रापत्काल के विधान हैं, जो परस्पर सम्बद्ध हैं। इन व्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इस प्रकार ये प्रक्षिप्त हैं।
- ३. ग्रन्तिवरोध—७१ वें श्लोक में पुनः कन्यादान ग्रर्थात् पुनः विनाह का निषेध ६।६६, १७६ के विरुद्ध है। उनमें विशेष परिस्थितियों में स्पष्टतः पुनिववाह का विधान है। शेष श्लोक इससे प्रसंग की दिष्ट से सम्बद्ध हैं, ग्रनः उसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने से स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं।

स्त्री को जीविका देकर पुरुष प्रवास में जाये-

# विधाय वृत्ति भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः। अवृत्तिकषिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितमत्यि।। ७४।। (२६)

(कार्यवान् नरः) किसी ग्रावश्यक कार्य के लिए परदेश में जाने वाला मनुष्य (भार्यायाः वृत्ति विधाय प्रवसेत्) ग्रपनी पत्नी की भरण-पोषण की जीविका देकर परदेश में जाये (हि) क्यों कि (ग्रवृत्तिकषिता स्थितिमती + ग्रपि स्त्री) जीविका के ग्रभाव से पीड़ित हो शुद्ध ग्राचरण वाली स्त्री भी (प्रदुष्येत्) दूषित हो सकती है।। ७४।।

ग्रथवा ग्रनिन्दित कलाग्रों से स्त्री जीविका कमाये-

विधाय प्रोषिते वृत्ति जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायेव जीवेच्छित्पैरगहितैः।। ७५ ।। (३०)
(वृत्ति विधाय प्रोषिते) जीविका का प्रबन्ध करके पति के परदेश

जाने पर (नियमम् + म्रास्थिता जीवेत्) स्त्री म्रपने पातिव्रत्य नियमों का पालन करती हुई जीवनयात्रा चलाये (म्रविधाय + एव तु प्रोषिते) यदि पति बिना जीविका का प्रबन्ध किये परदेश चला जाये तो (म्रगहितै: शिल्पे: जीवेत्) म्रिनिस्त शिल्पकार्यों [सिलाई करना, बुनना, कातना म्रादि] को करके म्रपनी जीवनयात्रा चलाये ॥ ७४॥

पति की प्रतीक्षा की अवधि और उसके पश्चात् नियोग-

प्रोवितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टो नरः समाः। विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥७६॥(३१)

विवाहित स्त्री (नरः धर्मकार्याथं प्रोषितः) जो विवाहित पति धर्म के लिए परदेश गया हो तो (ग्रब्दौ समाः) ग्राठ वर्ष (विद्यार्थं वा यशः + ग्रथं षट्) विद्या ग्रीर कीर्ति के लिए गया हो तो छः (कामार्थं त्रीन् तु वत्सरान्) धनादि कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक (प्रतीक्ष्यः) बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तोत्पत्ति कर ले। जब विवाहित पति श्रावे तब नियुक्त पति छुटजावे।। ७६।। (स० प्र०११६)

अनुर्धे किन्द्र : नियोगस्यवस्था शचीनपरम्परागत एवं कौटिल्य द्वारा उसना समर्थन — ग्राचार्य कौटिल्य तक नियोग व्यवस्था प्रचलित एवं मान्यता प्राप्त रही है। उन्होंने प्र०६०। ग्र०४ में नारण प्रदर्शनपूर्वक विभिन्न नियोगों का विधान किया है [विस्तृत विवेचन भूमिका में 'नियोग-मान्यता' पर द्रष्टव्य है]।

> संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः। अध्वं संवत्सरात्त्रेनां दायं हृत्वा न संवसेत्।। ७७॥

(द्विषन्तीं योपितं पितः) ग्रपने पित से द्वेषभाव रखने वाली स्त्री की उसका पित (संवत्सरं प्रतीक्षेत) एक वर्षं तक [सुत्ररने की] प्रतीक्षा करे (संवत्सरात् ऊर्ध्वं तु+ एनाम्) एक वर्षं के पश्चात् इसको (दायं हृत्वा) प्राभूषण ग्रादि छीनकर (न संवसेत्) ग्रपने पास न रखे॥ ७७॥

> न्नतिकामेत्प्रयत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा। सा त्रीन्मासान्यरित्याज्या विमूष्णपरिष्छ्वा॥ ७६॥

(या) जो स्त्री (प्रमत्तं मत्तं वा रोगातंग् +एव ग्रतिक्रामेत्) पागल, विक्षिप्त ग्रंथवा रोगपीड़ित होने पर ग्रपने पति की श्रवहेलना करे (सा) उसे (विभूषएापरि-च्छदा) ग्राभूषण, वस्त्र ग्रादि छीनकर (शीन् मासान् परित्याज्या) तीन मास तक छोड़ देवे । ७८ ॥

> उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिराम् । न त्यागोऽस्ति द्विबन्त्यादेच न च बायापवर्तनम् ॥ ७६ ॥

(उन्मत्तं पिततंक्लीबम् + श्रबीजं पापरोगिरां द्विषन्त्याः) स्थायी पागल, पितत, नपुंसक, जिसका वीयं न ठहरे, पापरोगी = कुष्ठ श्रादि से पीड़ित पित की उपेक्षा करने वाली स्त्री को (त्यागः न श्रस्ति) नहीं छोड़ा जा सकता (च) श्रीर (न दाय + श्रप-वर्तनम्) न उससे धन छीना जा सकता है।। ५६।।

#### मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्। ज्याधिता वाऽधिवेत्तज्या हिस्रार्थहनी च सर्वथा ॥ ८०॥

(या) जो स्त्री (मद्यपा) शराब पीने वाली, (ग्रसाधुवृत्ता) दुराचार वाली, (प्रतिकूला) पित के प्रतिकूल ग्राचरण करने वाली, (व्याधिता) व्याधिग्रस्त, (हिंसा) मारने वाली, (च) ग्रीर (सर्वदा ग्रर्थं ध्ती) सदा धन को नष्ट करने वाली (भदेत्) हो तो (ग्रधिवेत्तव्या) उसे छोड़कर दूसरा विवाह कर लेना चाहिए॥ ५०॥

## **अर्ज्युटारिट्डन्तः** ७७-८० श्लोक निम्न ग्राधारों के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. विषयविरोध—विषयसंकेतक इलोकों १।५६, १०३ के अनुसार यह विषय स्त्रियों के विधानों के लिए हैं। इसमें उनके आपत्कालीन कर्त्तव्य कहे हैं। इन इलोकों में पुरुषों के लिए विधान विषयबाह्य होने से विषयविरुद्ध प्रक्षेप हैं।
- २. प्रसंगिबरोध प्रमंग की दिल्ट से भी ७६ ग्रीर ८१ सम्बद्ध हैं। ७६ वें क्लोक में स्त्री की निर्देश है कि इतने-इतने वर्ष प्रतीक्षा करके दूसरे पुरुष से सन्तान प्राप्ति करले और इसी प्रकार ८१ वें में पुरुष को प्रतीक्षा करके दूसरी स्त्री से संतान प्राप्ति करने का कथन है। इन क्लोकों के मध्य में दुर्गुणाधारित त्याग का कथन उस प्रसंग को भंग करता है। यह प्रसंग समयाधारित है, ग्रतः परस्परसम्बद्ध है ग्रीर एक-वात्रयात्मक है।

पुरुग दूसरी स्त्री से सन्तान श्राप्ति कब करे —

## वन्ध्याष्टमेः धिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।। ८१।। (३२)

(त्रन्था + अष्टमे) वंष्या हो तो आठतें [विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री का गर्भ न रहे] (मृतप्रजाः तु दशमे) सन्तान होकर मरजायें तो दशनें (स्त्रोजननी एकादशे अब्दे) जब-जब हो तब-तब कन्या ही होतें, पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक (तु) और (अप्रियवादिनी) जो अप्रिय वोलने वाली हो तो (सद्यः) सद्यः उस स्त्री को छोड़कर (अधिवेद्या) दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करलेवे ॥ ६१॥ (स॰ प्र॰ चतुर्थं समु०)

> या रोगिरा स्यानु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कहिचित्।। ८२।। (या रोगिणी स्यात्) जो स्त्री रोगिणी हो (तु) किन्तु (हिता च शीलतः

सम्पन्ना) पित की हितैषिणी और सुशील भ्राचरण वाली हो (सा + भ्रनुज्ञाप्य + भ्रषि-वेत्तन्या) पित उससे भ्रनुमित लेकर दूसरा विवाह करले (च) और (किहिचित् न + भ्रवमान्या) असकी कभी भ्रवमानना न करे।। ८२॥

> अधिविन्ना तुया नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात्। सासद्यः संनिरोद्धव्यास्याज्या वांकुलसन्निषी॥ ८३॥

(ग्रधिविन्ना तुया नारी) [पूर्ववर्णित १।८०–८१ ग्रवस्था में] दूसरा विवाह करने पर जो स्त्री (रुषिता गृहात् निर्गेच्छेत्) क्रोध में ग्राकर घर से निकल जाये (सा सद्य: संनिरोद्धव्या) उसे तभी रोककर रखे (वा) ग्रथवा (कुलसन्निधी त्याज्या) उसके परिवारवालों के पास छोड़ आये।। ८३।।

> प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमम्युरयेष्वपि। प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्डचा कृष्णलानि वट् ॥ ८४ ॥

(या तु) जो स्त्री (प्रतिषिद्धा + प्रिप) पित के द्वारा निषेध करने पर भी (ग्रभ्यु-दयेषु मद्यम् ग्रिप) विवाह ग्रादि उत्सवों में मद्यपान करे (वा) ग्रथवा (प्रेक्षासमाजं गच्छेत्) नाचने ग्रादि की जगह जाये (सा षट् कृष्णलानि दण्ड्या) उसे छह कृष्णल [८।१३४] सुवर्णं से दण्डित करे।। ८४।।

> यदि स्वाइचापराइमैव विन्देरन्योषितो द्विजाः। तासां वर्णक्रमेगा स्याज्य्येष्ठचां पूजा च वेइस च ॥ ८४॥

(यदि द्विजाः) यदि द्विजवर्णं वाले (स्वाः च + ग्रपराः च + एव विन्देरन्) ग्रपने वर्णं वाली स्त्रियों के साथ एकसाथ विवाह करलें तो (तासाम्) उन पित्नयों का (वर्णक्रमेण ज्यैष्ठयं पूजा च वेश्म स्यात्) वर्णं के क्रम से बड़प्पन, ग्रादर, घर ग्रादि होगा ग्रर्थात् उत्तम वर्णं वाली को सबसे उत्तम उससे निम्न को उससे कम, इस प्रकार ये चीजें प्राप्त होंगीं॥ प्रशा

मर्तुः शरीरशुभूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् । स्वा चैव कूर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथञ्चन ॥ ८६ ॥

(सर्वेषाम्) उन सब पित्नयों में (भर्तु: शरीरशुश्रूषाम्) पित की भोजन म्नादि से सेवा (च) म्रीर (नैत्यकं धर्मकार्यम्) प्रतिदिन के म्निग्निश म्नादि धार्मिक कार्यं (स्वा एव कुर्यात्) पित की म्नपनी जाति की स्त्री ही करे (ग्रस्वजाति: कथंचन न) विजातीय स्त्री ये कार्यं कभी न करे।। ५६।।

> यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयाऽन्यया । यथा ब्राह्मगुचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तर्थेव सः॥ ८७ ॥

(यः तु) जो पित (सजात्या स्थितया) सजातीय स्त्री के होते हुए (मोहात्) मोह के वशीभूत होकर (ग्रन्थया तत् कारयेत्) विजातीय स्त्री से शरीर-सेवा ग्रादि कराये (सः) बहु (यथा ब्राह्मणचाण्डालः तथैव) ब्राह्मणी में शूद्र पति से उत्पन्न 'ब्राह्मण-चांडाल' के समान (पूर्वदृष्टः) विद्वानों ने माना है ॥ ८७ ॥

## आनुवरित्उनः : ५२-५७ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. विषयविरोध—विषयसंकेतक श्लोकों ६।५६, १०३ के अनुसार यह विषय स्त्रियों के लिए है भीर इसमें उनके आपत्कालीन कर्त्तं व्यविहित हैं। इन श्लोकों में पुरुषों द्वारा स्त्रियों के त्याग आदि का कथन विषयविरुद्ध होने से ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. ग्रन्तिवरोध— ५५-५७ श्लोकों में परवर्ण की स्त्रियों से विवाह का विधान तथा बहुपत्नीप्रया का वर्णन है। यह मान्यता मनुविरुद्ध है। मनु सवर्ण से विवाह का विधान करते हैं ग्रीर एक ही पत्नी रखने का ग्रादेश देते हैं [३।४-५॥७।७७,५०॥ १।१६७॥ ६।१०१-१०२]। इस कारण ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।

उत्तम वर मिलने पर कन्या का विवाह शीघ्र करदें---

## उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सवृशाय च। स्रप्राप्तामिप तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥ (३३)

यदि माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो (उत्कृष्टाय + ग्रिभिरूपाय सदशाय वराय) ग्रति उत्कृष्ट, शुभगुण, कर्म, स्वभाव वाले कन्या के सदश रूप-लावण्य ग्रादि गुणयुक्त वर ही को चाहें (ताम् ग्रप्राप्तां कन्याम् + ग्रपि) वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो तथापि (तस्मै दद्यात्) उसी को कन्या देना, ग्रन्य को न देना कि जिससे दोनों ग्रिति प्रसन्त होकर गृहाश्रम को उन्नति ग्रीर उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करें॥ इद ॥ (सं० वि० १०२)

गुणहीन पुरुष से विवाह न करें—

## काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यतुं मत्यपि । न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कहिचित्॥ ८६ ।। (३४)

(कामम्) चाहे (म्रामरए।त्) मरणपर्यन्त (कन्या) कन्या (गृहे) पिता के घर में (तिष्ठेत्) बिना विवाह के बैठी भी रहे (तु) परन्तु (गुणहीनाय) गुणहीन म्रसद्दश दुष्टपुरुष के साथ (एनां कहिचित् न प्रयच्छेत्) कन्या का विवाह कभी न करे।। ८६।। (सं॰ वि॰ १०२)

पूना-प्रवचन में इस क्लोक को उद्धृत करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—"इसी प्रकार मनु जी कहते हैं कि कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रखो, परन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो।" (पृ०२१)

"चाहे लड़का-लड़की मरएपयंन्त कुमार रहें परन्तु ग्रसद्श ग्रर्थात्

परस्पर विरुद्ध-गुरा-कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिए।'' (स॰ प्र० ८३)

कन्या स्वयंवर विवाह करे-

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यु तुमती सती। ऊच्ये तु कालादेतस्माहिन्देत सहशं पतिम्॥ ६०॥ (३४)

(कुमारी) कन्या (ऋतुमती सती) रजस्वला हो जाने पर (एतस्मात् कालात् + ऊर्ध्वम्) इस समय के बाद (त्रीणि वर्षाणि + उदीक्षेत) तीन वर्षे तक विवाह की प्रतीक्षा करे, तदनन्तर (सदृशं पति बिन्देत) अपने योग्य पति का वरण करे।।१०॥

' जब कन्या विवाह करने की इच्छा करे तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे।'' (सं० वि० १०२, स॰ प्र॰ ६३) स्वयंवर विवाह में पाप नहीं —

> म्रदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् । नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥६१॥ (३६)

(ग्रदीयमाना) पिता ग्रादि ग्रभिभावक के द्वारा विवाह न करने पर (यदि स्वयं भर्तारम् + ग्रधिगच्छेत्) जो कन्या यदि स्वयं पित का वरण करले तो (किंचित् एनः न ग्रवाप्नोति) वह कन्या किसी पाप की भागी नहीं होती (च) ग्रौर (न सा यम् ग्रधिगच्छिति) न उसे कोई पाप = दोष होता है जिस पित को यह वरण करती है।। ६१।।

> म्रलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदितं हरेत्॥ ६२॥

(स्वयंवरा कन्या) स्वयंवर करने वाली कन्या (पित्र्यं मातृकं वा भ्रातृदत्तम् ग्रलंकारं न + ग्राददीत) पिता, माता ग्रथवा भाई द्वारा दिये गये ग्राभूषण ग्रादि को न ले (यदि तंहरेत्) यदि ग्राभूषण ग्रादि को लेगी तो (स्तेना स्यात्) वह चोर कहलायेगी।। ६२।।

> पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरत्। स हि स्वाम्य।दतिकामेहतूनां प्रतिरोधनात्।। ६३।।

(ऋतुमतीं कन्यां हरन्) ऋतुमती कन्या को ग्रहण करने वालापित (पित्रे शुल्कं न दद्यात्) उसके पिताको कोई शुल्क न दे (हि) क्योंकि (ऋतूनां प्रतिरोधनात्) ऋतु-ग्रवरोध के कारण (सः) वह कन्या का पिता (स्वाम्यात् + ग्रतिक्रामेत्) उसके स्वामित्व से वंचित हो जाता है ॥ ६३ ॥

#### त्रिशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ६४ ॥

(त्रिशत्वर्षः) तीस वर्ष का युवक (द्वादशवार्षिकी हृद्यां कन्यां उद्वहेत्) बारह वर्ष की हृदय को प्रिय लगने वाली कन्या से विवाह करे (वा) ग्रथवा (त्र्यष्टवर्षः + ग्रष्टवर्षाम्) चौबीस वर्ष का युवक ग्राठ वर्ष की सुन्दरकन्या से विवाह करे (सत्वरः धर्में सोदित) इससे शीघ्र विवाह करने वाला गृहस्थ धर्म में कष्ट पाता है ॥ ६४॥

## बेबबतां पतिर्मार्यां विन्दते नेच्छ्यात्मनः। तां साध्वीं बिमुयोग्नित्यं बेवानां प्रियमाचरन् ॥ ६४ ॥

(पितः) पित (देवदत्तां भार्यां विन्दते) देवों द्वारा प्रदत्त पत्नी को ही प्राप्त करता है (ग्रात्मन: इच्छया न) ग्रपनी इच्छा से किसी स्त्री को नहीं प्राप्त करता, इस-लिए (देवानां प्रियम् + ग्राचरन्) देवताग्रों को प्रियं करता हुग्रा पित (तां साष्ट्रवीम्) उस साधु ग्राचरण वाली पत्नी को (नित्यं विभृयात) सदा भरण-पोषण ग्रादि से सन्तुष्ट रखे॥ ६५॥

**आन्युर्धीत्जन्तः १**२ से १५ व्लोक निम्न 'ग्राधारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. ग्रन्तिवरोध—(१) वर्णक्रम से विवाह ग्रादर-सत्कार, दायभागविभाजन ग्रादि का कथन भी मनुविरद्ध है, क्योंकि मनु ने सवर्णा स्त्री से विवाह का विधान किया है [३।४;७।७० ग्रादि]। (२) यदि गान्धर्व विधि से ग्रन्यवर्ण में भी विवाह होता है तो वह विवाह भी मान्य विवाहों में परिगणित है, तब भी ग्रादर-सत्कार में वर्णानुक्रम से भिन्नता रखने का प्रश्न नहीं उठता (३) इसी प्रकार ६२—६३ का ६०—६१ से, ६४—६५ का ३। १—५ श्लोकों से विरोध है। वहाँ युवावस्था में स्त्री के विवाह का विधान है।
- २. विषयिवरोध विषयसंकेतक इलोकों [६। १, १०३] के अनुसार यह विषय स्त्रियों के आपत्कालीन धर्मों के कथन का है। स्वयंवर विवाह करने वाली कन्या का पैतृक धन में प्रधिकार [६२], विवाह अवस्था [६२–६४] आदि बातों का वर्णन विषय से भिन्न वर्णन है, अत: विषयविरुद्ध है। इस आधार पर ६२ से ६४ इलोक प्रसिप्त हैं।

स्त्री पुरुष की म्रद्धौिंगनी---

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥६६॥ (३७) (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः) गर्भधारण करके सन्तानों की उत्पत्ति करने के लिए स्त्रियों की रचना हुई है (च) ग्रीर (सन्तानार्थं मानवाः) सन्तानार्थं गर्भाधान करने के लिए पुरुषों की रचना हुई है [दोनों एक दूसरे के पूरक होने के कारण] (तस्मात्) इसलिए (श्रुतौ) वेदों में (साधारणः धर्मः) साधारण से साधारण धर्मकार्यं का ग्रनुष्ठान भी (पत्न्या सह+ उदितः) पत्नी के साथ करने का विधान किया है।। ६६।।

श्चान्य श्रिक्ज : प्रत्येक धर्मकार्य पत्नी को सहमागिनी बनाकर करें— मनु ने इस क्लोक में पत्नी को पुरुष की पूरक ग्रीर ग्रधीगिनी का रूप माना है, ग्रीर प्रत्येक धर्मकार्य उसके साथ हुए बिना पूर्ण नहीं माना गया है। समस्त प्राचीन साहित्य में पत्नी की यही मान्य स्थिति रही है। जब पत्नी को पुरुष का ग्रधंभाग रूप ही मान लिया तो दोनों की स्थिति समान है। उसमें कोई पक्षपात की भावना नहीं है—

- (क) "अर्थो वा ह वा एव ग्रात्मनो यज्जाया, तस्माइ, यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते ग्रसर्वो हि तावद् भवति, ग्रथ यदैत्र जायां विन्दतेऽच प्रजायते, तर्हि हि सर्वो भवति।" (शत० ४।२।१।१०)
- (ख) "म्रयो म्रघों वा एष म्रात्मनः यत्पत्नी" (तैत्ति ॰ ३।३।५) शुल्क से कन्या-विवाहविषयक खण्डन-मण्डन-

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः। देवराय प्रदातस्या यदि कन्याऽनुमन्यते॥ ६७॥

(कन्यायां दत्तशुल्कायाम्) कन्या का विवाहशुल्क देने के बाद (यदि शुल्कदः म्रियेत) यदि विवाह से पूर्व ही शुल्क देने वाला वर मरजाये, तो (यदि कन्या म्रनुमन्यते) यदि कन्या की म्रनुमित हो तो उसका (देवराय प्रदातव्या) मरने वाले वर के छोटे भाई से विवाह कर देना चाहिए।। ६७।।

भावदीत न शूद्रोऽिप शुल्कं बुहितरं ददत्। शुल्कं हि गृह्णक्रुरुते छन्नं दृहितृविकथम्॥६८॥

(शूद्र: + ग्रिप) शूद्र भी (दुहितरं ददत्) कन्यादान करते हुए (शुल्कं न आददीत) वर से कन्याका शुल्क न ले [द्विजों द्वारा शुल्क लेने का तो फिर प्रवन ही नहीं उठता] (हि) क्योंकि (शुल्कं गृह्धन्त्) शुल्क लेताहुम्रा व्यक्ति (खन्नं दुहितृविक्रयं कुरुते) प्रच्छन्न रूप से कन्या को बेचता ही है, ऐसा समक्षता चाहिए।। ६८।।

एतत्तुन परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः। यवन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य वीयते॥ ६६॥

(यत् + अन्यस्य प्रतिज्ञाय) यह कि एक को कन्या तेने का वचन देकर (पुनः + अन्यस्य प्रदीयते) फिर वह दूसरे को दे दी जाये (एतत्) ऐसा (न परे साधवः चक्रः)

न प्राचीन सज्जनों ने किया (न ग्रपरे जातु) न वर्तनान में कोई करता है ग्रथीत् कन्यां का दान एक को ही होता है पुनः कन्यदान = विवाह नहीं होता ॥ ६६ ॥

#### नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु। शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविकयन्।। १००॥

(जातु + एतत् न + अनुशुश्रुम) निश्चय से ऐसा हमने कभी नहीं सुना कि (पूर्वेषु + अपि हि जन्नसु) पहले युगों में भी (शुल्कसज्ञेत मूल्येन) 'शुल्क' नामक मूल्य से (छन्नं दुहितृविकथम्) प्रच्छन्न रूप से किसी ने कन्या को बेचा हो ।। १०० ।।

## अरनुरारिकनाः ६७ मे १०० श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं-

- १. विषयविरोध विषयसंकेतक श्लोकों [६।१,१०३] के अनुसार यह विषय स्त्री के आपन्कालीन धर्मों के कथन करने का है। इन श्लोकों में देवर से विवाह [६७], शुल्क न लेने का कथन [६८-१००] विषय से भिन्न वर्णन है, अतः विषयविरुद्ध होने से ६७-१०० श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यह वर्णन ६।६६;३।५१-५४ में विणत भी हो चुका है अतः अनावश्यक है।
- २. प्रसंगिवरोध—पूर्विपर श्लोकों में [६६, १०१-१०३] विषय का उपसंहार करते हुए स्त्री-पुरुष को सदा साथ रहने त्रौर कभी भी वियुक्त न होने का कथन है। इन श्लोकों ने उस पूर्विपर प्रसंग को भंग करके प्रन्य बातों का वर्णन किया है, ग्रतः ये श्लोक प्रसंगिवरुद्ध प्रक्षिप्त हैं।

पति-पत्नी ग्रामरण साथ रहें-

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥१०१॥ (३८)

(स्नामरणान्तिकः) मरणपर्यन्त (स्रन्योन्यस्य + स्रव्यभिचारः भवेत्) पति-पत्नी में परस्पर किसी भी प्रकार के धर्म का उल्लंघन स्नौर विच्छेद न हो पाये (समासेन) संक्षेप में (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष का (एषः परः धर्मः ज्ञेयः) यहो साररूप मुख्य धर्म है ॥ १०१॥

बिछुड़ने के ग्रवसर न ग्राने दें --

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसो तु कृतक्रियौ। यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम्।। १०२।। (३९)

(कृतक्रियो स्त्रीपु सो) विवाहित स्त्री-पुरुष (नित्यं तथा यतेयाताम्) सदा ऐसा यत्न करें कि (यथा तो) जिस किसी भी प्रकार से (तो) वे (इतरेतरम्) एक-दूसरे से (वियुक्तो न + ग्रिभचरेताम्) ग्रलग न होवे = सम्बन्धविच्छेद न हो पाये ।। १०२ ।।

# [१७] दायमाग विवाद-वर्णन [६। १०३--२१६]

एष स्त्रीपुंसयोरक्तो धर्मो वो रतिसंहितः । स्रापद्यपत्यत्राप्तित्रच दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥ (४०)

(एषः) यह [६।१ से १०२ पर्यन्त] (स्त्रीपुंसयोः) स्त्री-पुरुष के (रित-संहितः धर्मः) रित=स्नेह या संयोग सिह्य [वियोगकाल के भी] धर्म (च) ग्रीर (ग्रापदि + ग्रपत्यप्राप्तिः) ग्रापत्काल में नियोगविधि से सन्तान-प्राप्ति [६।४६-६३] की बात (वः उक्तः) तुमसे कही। (दायभागं निबोधत) दायभाग का विधान सुनो—।। १०३।।

म्रलग होते समय दायभाग का बराबर विभाजन—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् । भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४॥ (४१)

(पितुः च मातुः ऊर्घ्वम) पिता ग्रौर माता के मरने के पश्चात् (भ्रातरः समेत्य) सत्र भाई एकत्रित होकर (पैतृकं रिक्थं समं भजेरन्) पैतृक सम्पत्ति को बराबर-बराबर बांट लें (जोवतोः ते हि ग्रनीशाः) माता-पिता के जीतित रहते हुए वे उस धन के अधिकारी नहीं हो सकते हैं।।। १०४॥

सम्मिलत रहने पर विभाजन का दूसरा विकल्प-

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमञ्जेषतः । शेषास्तमुपजीवेयुययंत्र पितरं तथा ॥ १०५ ॥ (४२)

[अथवा सम्मिलित रूप में रहना हो तो] (पित्र्यं धनम् + ग्रशेषतः ज्येष्ठः एव तु गृह्णीयात्) पिता के सारे धन को बड़ा पुत्र ही ग्रहण करले (शेषाः) ग्रीर याकी सत्र भाई (यथा + एव पितरम्) जसे पिता के साथ रहते थे (तथा तम + उपजीवेयः) उसी प्रकार बड़े भाई के साथ रहकर

मातृधन का विधान १६२ से है।

उमेच्छेन जातमात्रेरा पुत्री भवति मानवः। पितृगामनृगाद्यंच स तस्मात्सर्वमहृति।। १०६॥

(ज्येष्ठेन जातंमात्रेण) ज्येष्ठ पुत्र के उत्पन्न होते ही (मानवः पुत्री भवति) मनुष्य पुत्रवाला हो जाता है (च) ग्रीर (पितृणाम् + ग्रनृणः) वह पितरों के ऋण से छुट जाता है (तस्मात् सर्वम् + प्रहेति) इस कारण बड़ा पुत्र पिता <mark>की सब सम्प</mark>त्ति पाने का ग्रिधिकारी है ।। १०६ ।।

> यस्मिन्नृगां संनयति येन चानन्त्यमःनुते । स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्त्रिबुः ॥ १०७ ॥

(यस्मिन् + ऋगां संनयित) जिसके उत्पन्न होने पर पिता पितृ-ऋण से छुट जाता है (च) ग्रीर (येन + मानन्त्यम् + म्रहनुते) जिससे मुक्ति को प्राप्त करता है (सः एव धर्मजः पुत्रः) वह बड़ा ही धर्म से उत्पन्न पुत्र है (इतरान् कामजान् विदुः) म्रन्य छोटे पुत्र तो कामवासना से उत्पन्न हैं, ऐसा मानते हैं।। १०७।।

### अन्तुर्धोत्उनः १०६-१०७ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. प्रसंगिवरोध ये इलोक पूर्वापर प्रसग को मंग कर रहे हैं। १०५ वें इलोक में बड़े भाई को ही धनग्रहण करने का विकल्प है, ग्रीर उस श्रवस्था में छोटे भाइयों को कैसे रहना च।हिए यह कथन १०८ वें में है। यह समिभिए कि १०५ का वाक्य १०८ में पूर्ण होता है। इस बीच में ज्येष्ठ पुत्र की महिमा का कथन उस वाक्यक्रम को भंग कर रहा है। ग्रीर यहां यह ग्रनावश्यक एवं ग्रसंगत भी है। ग्रतः प्रसंगिवरुद्ध होने से ये इलोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रन्तिविरोध (१) १०६ में मिहमापूर्वक ज्येष्ठ पुत्र को ही सब धन का स्रिधकारी ठहराना १०४ के विरुद्ध है। मनु ने इस विकल्प को मुख्य नहीं श्रिपितु द्वितीय-स्थानीय विकल्प माना है। (२) १०७ वें इलोक में ज्येष्ठ पुत्र को धर्मज मानना, दूसरों को 'कामज' मानना भी मनु के विरुद्ध है। मनु ने स्रनेक पुनों की उत्पत्ति धर्मपूर्वक मानी है [६। ३६]।

बडे भाई का छोटों के प्रति कर्त्तंय्य-

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातृन्यवीयसः । पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥ (४३)

[सम्मिलित रहते हुए] (ज्येष्ठ:) बड़ा भाई (यवीयस: भ्रातृन्) प्रपने छोटे कार्लों को 'पिता +इव पुत्रान्) जंसे पिता ग्रपने पुत्रों का पालन पोषए। करता है ऐसे (पालयेत्) पाले (च) ग्रौर (ज्येष्ठे भ्रातरि) छोटे भाई बड़े भाई में (धर्मतः) धर्म से (पुत्रवत् +ग्रपि वर्तेरन्) पुत्र के समान वर्ताव करें ग्रथांत् उसे पिता के समान मानें।। १०८।।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयित विनाशयित वा पुन:। ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सिद्भिरगहितः॥ १०६॥ (ज्येष्ठः कुलं वर्धयिति) बड़ा भाई ही कुल की उन्नति करता है (वा) ग्रथवा (पुनः विनाशयित) यदि बुरा होता है तो कुल को विनष्ट कर देता है (लोके ज्येष्ठः पूज्यतमः) संसार में बड़ा भाई पूज्य है ग्रीर (सद्भिः + ग्रगहितः) सज्जनों के द्वारा प्रशंसनीय है।। १०६॥

### आनुर्धी कन्तः १०६ वां श्लोक निम्नं प्रकार प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंगिवरोध — पूर्वापर क्लोकों में बड़े भीर छोटे भाइयों के पारस्परिक व्यवहार का वर्णन है। इस क्लोक में ज्येष्ठ पुत्र की महिमा ने उस वर्णन-क्रम को भंग कर दिया है, अतः यह क्लोक प्रसंगिवरुद्ध प्रक्षिप्त है। वैसे भी दायभाग विधान के प्रसंग में यह महिमात्मक क्लोक प्रसंगत एवं भ्रनावश्यक है।

छोटों का बड़े भाई के प्रति कर्त्तंव्य --

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः । ग्रज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्सः संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥११०॥(४४)

किन्त् (यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (ज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों ग्रर्थात् पिता ग्रादि के समान बर्ताव करने वाला हो तो (सः पिता + इव, सः माता + इव संपूज्यः) वह पिता ग्रीर माता के समान माननीय है (यः तु) ग्रीर जो (ग्रज्येष्ठवृत्तिः स्यात्) बड़ों ग्रर्थात् पिता ग्रादि के समान बर्ताव करने वाला न हो तो (सः तु बन्धुवत्) वह केवल भाई या मित्र की तरह ही मानने योग्य होता है।। ११०।।

> एवं सह वसेयुर्ग पृथग्वा घमेकाम्यया । पृथग्विवर्धते घमेस्तस्माद्धम्या पृथक् क्रिया ।। १११ ।। (४५)

(एवम्) इस प्रकार (सह विषयुः) सब भाई साथ निलकर [६।४०४-११०] रहें (वा) ग्रयुवा (धूर्मकाम्यया) धर्म की कामना से (पृथक्) अलग-ग्रमग [६।१०४] रहें। (पृषक् धर्मः विवधते) पृथक-पृथक् रहने से धर्म का [सबके द्वारा अलग-प्रलग पञ्चमहायज्ञ ग्रादि करने के कारण] विस्तार होता है (तस्मात्) इस कारण (पृथक किया धर्म्या) पृथक् रहना भी धर्मानुकुल है।। १११।।

इकट्ठे रहकर भलग होने पर 'उद्धार' श्रंभ का विभाजन---

ज्येष्ठस्य विश्व उद्घारः सर्वद्रध्याच्य यद्वरम् । ततोऽर्थे मध्यमस्य स्यातुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥ (४६)

[सम्मिलित रहते हुए ग्रगर बड़े भाई छोटों का पालन-पोषण करें तो उनके बाद ग्रलग होते हुए] (ज्येष्ठस्य विशः उद्धारः) पिता के धन में से बड़े भाई का बीसवां भाग 'उद्धार' [=ग्रतिरिक्त भागविशेष होता है] (च) गौर (सर्वद्रव्यात् यत् वरम्) सब पदार्थों में से जो सबसे श्रेष्ठ पदार्थं हो वह भी (ततः + ग्रधंम) बड़े के 'उढ़ार' से ग्राघा उढ़ार (मघ्यमस्य) मभने भाई का ग्रथीत् चालीसवां भाग (तुरीयं तु यवीयसः स्यात्) चौथाई भाग ग्रथीत् ग्रस्सीवां भाग सबसे छोटे भाई का 'उढ़ार' होना चाहिए ॥ ११२॥

अवस्तु कारिन्जना: (१) उद्घार-भाग का विभाजन—'उद्धार' पैतृक सम्पत्ति में से पृथक् किये गये उस भाग को कहते हैं जिसका लाभ बड़े भाई को मिलता है, १०५—१११ क्लोकों की अनुवृत्ति के अनुसार यह 'उद्धार' तभी मिल सकता है जब बड़ा छोटों को पितृवत् पालन-पोषण करके बड़ा करे।

समभने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—मान लिया कि पैतृक सम्पत्ति ६६० रुपये है। उसमें बड़े भाई का बीसवां भाग (६६०  $\div$  २० = ४८ २० 'उद्धार' निकलेगा, मभने भाई का चालीसवां भाग (६६०  $\div$  ४० = २४) २४ रु होगा, छोटे भाई का ग्रस्सी वां भाग (६६०  $\div$  ५० 'उद्धार' होगा। 'उद्धार' का 'घन' बंटने के बाद शेष घन को सभी भाई बराबर बांट लेंगे, यथा - ४५ + २४ + १२ = ५४, ६६० - ६४ - ६५० + १२ +

(२) उद्घार-माग का विधान क्यों ?— १ । १०४ में पैतृक सम्पत्ति का समान विभाजन बतलाया है। इस श्लोक में उद्घार श्रंश के विभाजन के बाद समान - भाग का विभाजन है। यह विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विरोध है नहीं। यह वर्णन विभाजन के द्वितीय विकल्प [१०५] के प्रसंगान्तर्गत है। यह तभी प्राप्त होता है जब बड़े भाई अपने से छोटों का पालन-पोषण करें। सम्मिलित रहते हुए पिता के समान छोटों के निर्माण में श्रन करें। इसी श्रम के परिणामस्वरूप बड़े को श्रालग होते समय यह प्रधिक भाग मिलता है क्योंकि उसने छोटों की अपेक्षा ग्राधक कष्ट उठाये होते हैं।

ज्येष्ठक्वंव कनिष्ठक्व संहरेतां यथोदितम्। वेज्वे ज्येष्ठकनिष्ठाम्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

(ज्येष्ठः च किनष्ठः च) बड़ा भाई ग्रीर छोटा भाई (यथा + उदित सहरेताम्)
[६।११२ में] पूर्वोक्त विधि से ग्रपना ग्रपना 'उद्धार' ग्रहण करें (ज्येष्ठकिनिष्ठाम्यां ये
ग्रन्ये) बड़े ग्रीर छोटे से भिन्न जितने मक्तते भाई हों (तेषा मध्यमं घनं स्यात्) उनका
मध्यम भाग होना चाहिए ॥११३॥

सर्वेषां धनजातानामाववीताग्रचमग्रजः । यथ्य सातिशयं किचिद्दशतश्चाप्नुयादरम् ॥ ११४ ॥ (सर्वे गं घनजातानाम्) सभी प्रकार की धन-सम्पत्ति में से (ग्रग्रजः) बड़ा भाई (ग्रग्रचम् + आददीत) सर्वे श्रेष्ठ वस्तु को ले ले (च) ग्रौर (यत् किंचित् सातिशयम्) जो कोई एक ही श्रेष्ठ वस्तु हो तो वह भी बड़े को मिल सकती है (च) तथा (दशतः वरम् ग्राप्नुयात्) दश-दश गाय ग्रादि पशुग्रों में से एक श्रेष्ठ पशु बड़ा भाई प्राप्त कर ले [बड़े भाई को यह ग्रधिक धन ग्रतिरिक्त रूप में देने का कथन है] ॥ ११४॥

#### उद्वारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकमंसु। यस्किचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्षनम्।। ११४।।

(स्वकर्मं मुसंग्नानाम्) छोटे भाइयों के प्रपते कर्म में समुचित रूप में संलग्न होते हुए (दशसु उद्घार: न प्रस्ति) बड़े भाई को दश पशुप्रों में एक श्रेष्ठ पशु उद्घार रूप में नहीं प्राप्त होगा (तु) किन्तु (ज्यायसे मानवर्धनम्) बड़े भाई का सम्मान बढ़ाने के लिए (यद किंचित् +एव देयम्) उसे कुछ तो प्रधिक भाग देना चाहिए।। ११५।।

## **अन्तुरारित्जनाः ११३-१**१५ इलोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. अन्तिवरोध—(१) ११४ में सभी प्रकार की वस्तुओं में से श्रेष्ठ वस्तु लेने का कथन १०४ एवं ११२ के विरुद्ध है। उनमें सारे धन में से एक समान धन को लेने का कथन है। (२) ११५ वें की मान्यता ११२ वें के विधान के विरुद्ध है, ग्रतः दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. प्रसंगिवरोध पूर्वापर ११६ वें श्लोक में उद्धार भाग निकालने का प्रसंग है। इन दोनों श्लोकों ने उससे भिन्न वर्णन द्वारा उसे भंग कर दिया है, ग्रतः ये प्रसंग-विरुद्ध प्रक्षेप हैं। ११३ श्लोक में तथा ११६ में दो जगह उद्धार निकालने का कथन है। यह पुनरुक्त है। ११६ का कथन ग्रधिक स्पष्ट है, ग्रतः ११३ प्रक्षिप्त है।

### एवं समुद्धृतौद्धारे समानंशान्त्रकल्पयेत्। उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यावंशकल्पनाः॥ ११६ ॥ (४७)

(एवम् समुद्धृत + उद्धारे) इस प्रकार [६। १२-११३] 'उद्धार'
[=अतिरिक्त धनविशेष] के निकालने के बाद (समान्-प्रशान् प्रकल्पयेत्)
शेष धन को सनान भागों में बांट लें (तु उद्धारे + अनुद्धृते) यदि 'उद्धार'
पृयक् से नहीं निकालें तो (एषाम् ग्रंशकल्पना इमं स्यात्) उन भाइयों के
भाग का बंटवारा इस प्रकार करे।। ११६।।

सम्मिलित रहकर अलग होते हुए विभाजन की अन्य विधि —

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्नोऽष्यर्धं ततोऽनुजः । म्रांतमंत्रां यबीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥११७॥ (४८)

(ज्येष्ठाः एक-स्वधिकं हरेत्) बड़ा भाई 'एक प्रधिक' प्रर्थात् दो भाग

धन ग्रहण करे (तत् + प्रनुजः पुत्रः ग्राप्यधम्) उससे छोटा भाई डेढ़ भाग लें (यवीयांसः ग्रंशम् + ग्रंशम्) छोटे भाई एक-एक भाग सम्पत्ति का ग्रहण करें (इति धर्मः व्यवस्थितः) यही धर्म की व्यवस्था है।। ११७॥

## स्वेम्योंऽशेम्यस्तु कन्याम्यः प्रदद्युर्श्नातरः पृथक् । स्वात्स्वादंशाच्चतुर्मागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥११८॥(४६)

(भ्रातरः) सब भाई (कन्याभ्यः) ग्रविवाहित बहनों के लिए पृथक् (चतुर्भागम्) पृथक्-पृथक् चतुर्थां भाग (स्वेभ्यः प्रदद्यः) ग्रपने भागों से देवें (स्वान् स्वात् + ग्रंशात् ग्रदित्सवः) ग्रपने-ग्रपने भाग से चतुर्थां भाग न देने वाले भाई (पतिताः स्युः) पतित = दोषो ग्रौर निन्दनीय माने जायेंगे।। ११८।।

## अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधोयते ॥ ११६ ॥ (५०)

(ग्रजा + ग्रिविकम स + एक शकं विषमम्) वकरो, भेड़, एक खुरवाली घोड़ो ग्रादि के विषम होने पर (न जातु भजेत्) उन्हें [बेचकर धनराशि के रूप में] विभाजित न करें (विषमम् ग्रजाविकं तु) विषम रूप में वचे बकरी भेड़ प्रादि पशु (ज्येष्ठस्य + एव विधीयते) बड़े भाई को ही प्राप्त होते हैं।। ११६।।

नियोग से उत्पन्न पत्नियों के अनुसार दाय-व्यवस्था-

यबीयाञ्ज्येष्ठमार्यायां पुत्रमुखावयेद्यवि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो स्यवस्थितः ॥ १२०॥

(यदि यवीयान्) यदि छोटा भाई (ज्येष्ठभायां पुत्रम् + उत्पादयेत्) बहें भाई की स्त्री में 'नियोग' [६। ४८-६२] से पुत्र उत्पन्न करे तो (तत्र) उस स्थिति में (समः विभागः स्यात्) उस पुत्र को प्रपने चाचा ग्रादि के समान भाग होगा ग्रर्थात् वह ग्रपने ग्रसली पिता के सम्पूर्ण भाग का ग्रिथिकारी होगा किन्तु उद्घार भाग का नहीं (इति धर्मः ग्रयस्थाः) ऐसी धर्म की व्यवस्था है॥ १२०॥

### उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते । शिता प्रधानं प्रजने तस्माद्वमेंस्य तं भजेतु ॥ १२१ ॥

(उपसर्जनम्) गौणपुत्र श्रयांत् जो नियोगिविधि से छोटे भाई के द्वारा बड़े भाई की स्त्री में उत्पन्न हुमा है, वह (धर्मतः) धर्मानुसार (प्रधानस्य न — उपपद्यते) प्रधान-पृत्र श्रयांत् प्रपने ही पिता से उत्पन्न पुत्र के पूर्ण उद्धारादि भाग का श्रिषकारी नहीं होता, क्योंकि (प्रजने प्रधानं पिता) सन्तानोत्पत्ति में पिता की ही श्रयांत् बीज की ही प्रधानता होती है (तस्मात्) इस कारण (धर्मेण तं भजेत्) धर्मानुसार समभाग को ही ले ले॥ १२१॥

पुत्रः कनिष्ठो प्र्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः । कयं तत्र विमागः स्यादिति चेत्संशयो मवेत्।। १२२ ॥

(ज्येष्ठायां कनिष्ठः पुत्रः) यदि बड़ी परनी से उत्पन्न पुत्र छोटा हो (च) श्रीर (कनिष्ठायां पूर्वेजः) छोटी परनी से उत्पन्न पुत्र बड़ा हो (तत्र कथ विभागः स्यात्) उस स्थिति में कैसे बंटवारा होना चाहिए? (इति चेत् संशयः भवेत्) यदि ऐसा सन्देह हो तो—[उस सन्देह का समाधान स्रागे कहा है] ॥ १२२॥

एकं वृषममुद्धारं संहरेत स पूर्वजः। ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तद्गनानां स्वमातृतः॥१२३॥

(सः पूर्वजः) पहली विवाहित स्त्री का पुत्र (एकं वृषभम् + उद्धारं सहरेत) एक बैल 'उद्धार' रूप में प्रधिक ग्रहण करे (ततः अपरे) उसके बाद दूसरे पुत्र (स्वमातृतः तत् ऊनानां ज्येष्टवृषाः) प्रपनी माता के क्रम से जो छोटे हैं वे एक-एक बैल 'उद्धार' रूप में ले लें ॥ १२३॥

क्येट्टस्तु जातो क्येट्टायां हरेद्वृश्मशोडशाः । ततः स्वमातृतः शेषा मजेरन्निति घारणा ॥ १२४ ॥

(ज्येष्ठायां जातः ज्येष्ठः तु) ज्येष्ठ माता से उत्पन्त ब्रायु से भी ज्येष्ठ पुत्र (वृषभपोडशाः हरेत्) पन्द्रह गायों के साथ एक बैल ले (ततः शेषाः) उसके बाद शेष पुत्र (स्वमातृतः भजेरन्) ग्रपनी माता के विवाहक्रमानुसार शेष धन को बांट लें (इति धारणा) ऐसी मान्यता है ॥ १२४॥

सहशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः। न मातृतो ज्येष्ठचमस्ति जन्मतो ज्येष्ठचमुस्यते।। १२५।

(सदशस्त्रीषु जातानां पुत्राणाम्) समानजातीय स्त्रियों में उत्पन्त पुत्रों में (ग्रवि-शेषतः) जाति-सम्बन्धी विशेषता न होने से (मातृतः जर्येष्ठचं न ग्रस्ति) माता के ज्येष्ठत्व ग्राधार पर पुत्रों का ज्येष्ठत्व नहीं होता ग्रपितु (जन्मतः ज्येष्ठचम् + उच्यते) जन्मक्रम से ही ज्येष्ठत्व माना जाता है ॥ १२४॥

> जन्मज्येष्ठेन चाह्नानं सुब्रह्मण्यास्विप स्मृतम् । यमयोक्ष्वंत्र गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

(सुब्रह्मण्याम् + ग्रापि) 'सुब्रह्मण्या' नामक ऋचाग्रों में भी (जन्मज्येष्टेन ग्राह्मानं स्मृतम्) जन्मक्रम की ज्येष्ठता को ही माना गया है (च) ग्रीर (गर्भेषु यमयोः एव) गर्भ में एकसाथ जुड़वा पुत्र होने पर उनमें भी (जन्मतः ज्ये॰ठता स्मृता) प्रथम जन्म लेने वाले को ज्येष्ठ कहा गया है ॥ १२६॥

## अन्यू श्रीत्वना : १२० से १२६ श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. ग्रन्तविरोध—(१) १२०-१२१ वलोक १४५, १४६ की व्यवस्था के विरुद्ध हैं। (२) १२२-१२६ वलोकों में एकसाथ बहुपत्नी रखने वाले व्यक्ति के धन-का वर्णन है। बहुपत्नी-प्रथा ही मनुविरुद्ध है [४।१६७, ७।७७], अतः उसके दायभाग का विधान मनुकृत हो ही नहीं सकता। इस प्रकार ये सभी बलोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. प्रसंगिवरोध नियोग से उत्पन्न पुत्रों के दायभाग का प्रसंग सबके बाद १४५-१४७ इलोको में विणित है। प्रसंग से पूर्व विणित होने के कारण ये इलोक प्रसंग-विरुद्ध प्रक्षेप हैं। श्रीर यहां श्रनावश्यक भी हैं क्योंकि ये बातें वहां विणित हैं।

पुत्रिका करने का उद्देश्य---

म्रपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्। यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ १२७ । (५१)

(ग्रपुत्रः) पुत्रहीत गिता (ग्रस्यां यत् + ग्रप्तयं भवेत् तत् मम स्वधाकरं स्यात्') इस कन्या से जो पुत्र उत्तन्त होगा वह मुक्ते वृद्धावस्था में ग्रन्त-भोजन ग्रादि से पालत-पोषण करने वाला होगा ग्रीर इस प्रकार सुख देने वाला होगा' (ग्रनेन विधिना सुतां पुत्रिका कुर्वीत) ऐसा दामाद से कहकर कन्या को 'पुत्रिका' करे।। १२३।।

श्रान्तु श्री टिडना : (१) 'स्वधा' का मनुसम्मत स्रयं — इस दलोक में टीकाकार 'स्वधा' शब्द का श्राद्ध प्रसंग में पिण्डदान ग्रादि ग्रयं करते हैं, यह ग्रयं मनुसम्मत नहीं है। इस माप्य में दिया गया ग्रयं मनुसम्मत एवं प्रामाणिक है। उसमें निम्न प्रमाण एवं युक्तियां हैं — (क) मनु मृतकश्राद्ध नहीं मानते, ग्रतः उस प्रसंग का ग्रयं करना ही मनुविरुद्ध है [इसके लिए देखिए विस्तृत व्याख्यान ३। ६१, ६२ ग्रीर २६४ पर]। (ख) निरुक्तकार ने स्वधा शब्द का ग्रयं करते हुए लिखा है — 'स्वधा ग्रन्तनाम' [१। ६१], इनसे सिद्ध होता है कि 'स्वधाकार' का ग्रयं हुग्रा 'ग्रन्त-जलादि से पालन पोषण करने दाला, इस ग्रयं की पुष्टि ३। ६२ से भी हो जाती है। (ग) 'स्व' स्वजनों को भी कहते हैं, स्वान् — पितृन् वधाति यया विश्वया सा स्वथा' इस व्युत्पत्ति के ग्राधार पर वृद्धावस्था में ग्रन्त, जल, सेवा-सुश्रूपा ग्रादि से सुख देना ही 'स्वधा' क्रिया कहलायेगी। (घ) पुकीत्पत्ति का भी व्यक्ति का यही उद्देश्य होता है कि वह कष्टों से बचाये, सुख दे, वृद्धावस्था में संगले [इष्टव्य ६। १३ = इलोक एवं उस पर सपीक्षा]। (ङ) व्यक्ति को सबसे पहले यही इच्छा होती है कि उसकी सन्तान उसके लिए सुखदायी बने। इसीलिए पुत्रहीन व्यक्ति 'पुत्रिका' की विधि ग्रपनाता है। इस प्रकार 'स्वधाकर' का उपर्युक्त ग्रयं ही उपयुक्त है।

(२) **पुत्रिका धर्म**—पुत्रिका करने का स्रभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति का कोई पुत्र न हो किन्तु पुत्री हो, तो वह पुत्री का विवाह करते समय दाम।द पक्ष वालों से

यह निश्चय कर लेता है कि इससे जो प्रथम पुत्र होगा उसे मैं गोद लूंगा। ग्रथात् वह नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा। ऐसे निश्चय को 'गुत्रिकाधमें' कहते हैं।

### ग्रनेन तु विधानेन पुरा चक्ते ज्य पुत्रिका। विवृद्धपर्यं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

(पुरा) पुरातन काल में (स्ववंशस्य विवृद्धधर्यम्) ग्रापने वंश की वृद्धि के लिये (स्वयं दक्षः प्रजापितः)स्वयं दक्षप्रजापित ने भी (ग्रनेन तुविधानेन) इस विधि से (पुत्रिका चक्रे) पुत्रिका' की थी ॥ १२८॥

### वदौ स वज्ञ वर्माय कत्यपाय त्रयोदज्ञ। सोमाय राज्ञे सरकृत्य प्रीतात्मा सप्तविज्ञातिम् ॥ १२६ ॥

(सः) उस (प्रीतात्मा) प्रसन्न प्रात्मा वाले प्रजापित ने (मत्कृत्य) वस्त्र-प्राभूषण् ग्रादि से ग्रलंकृत करके (धर्माय दश) धर्मराज को दस कन्याए (कश्यपाय त्रयोदश) कश्यप की तेरह कन्याएं (सोमाय राजे सप्तिविश्वतिम्) सोम राजा के लिए सत्ताईस कन्याएं दी थी।। १२६।।

## अनुश्रीत्जना : १२५-१२६ श्लोक प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध १२७ भीर १३० ब्लोकों की परस्पर वाक्यात्मक सम्बद्धता है। १३० वां ब्लोक १२७ का स्रयंवाद है। बीच के ब्लोकों ने उस वाक्यगत सम्बद्धता को भंग कर दिया है। स्रतः प्रसंगभंजक होने के कारण ये ब्लोक मौलिक नहीं हैं।
- २. शैलीगत आधार—(१) दक्ष-प्रजापित की पौराणिक घटना का उल्लेख होने से ये दोनों श्लोक परवर्ती सिद्ध होते हैं, श्रतः परवर्ती व्यक्ति द्वारा रचित प्रक्षेप हैं। (२) प्रस्तुत प्रसंग के मनुप्रोक्त सभी श्लोकों की शैली विधानात्मक है, इन श्लोकों की ऐतिहासिक शैली इन्हें श्रन्यप्रोक्त सिद्ध करती है।

पुत्र के ग्रभाव में सारे धन की पुत्री ग्रधिकारिएी —

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मिनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्।। १३०।। (५२)

(यथा + एव ग्रात्मा तथा पुत्रः) जैसी ग्रांती ग्रात्मा है वैसा ही पुत्र होता है, ग्रीर (पुत्रेण दुहिता समा) पुत्र जैसी हो पुत्री होती है (नस्याम् + ग्रात्मिन तिष्ठन्त्याम्) उस ग्रात्मारूप पुत्री के रहते हुये (ग्रन्यः धनं कथं हरेत) कोई दूसरा धन को कैसे ले सकता है ? ग्रयात् पुत्र के ग्रामाव में पुत्री हो धन की ग्रधिकारिणी होती है ।। १३०।।

श्चर्युट्यीट्यन्यः पुत्र-पुत्री भारमारूप-निरुक्तकार ने दायभाग का विश्लेषण करते हुए मनु की मान्यता के अनुरूप पुत्र श्रीर पुत्री दोनों को दायभाग का त्रिधिकारी माना है। किसी प्राचीन ग्रन्य के क्लो कों को उद्भृत करके यास्क ने मनुकी इस मान्यता को निम्न क्लो कों द्वारा स्पष्ट किया है —

> म्रङ्गावङ्गारसम्मविस हृदयाविष जायसे । म्रास्मा व पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥ मिवशेषेण पुत्राणां दायो मवति धर्मतः । मियुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुषोऽक्रवीत् ॥ [निच० २।१।४]

श्रयात्—हे पुत्र ! तू मेरे श्रंग-अंग से उत्पन्न हुया है श्रीर मेरी श्रात्मा से प्रकट हुया है, श्रतः तू पुत्र मेरी श्रात्मा का ही रूप है। तू सैकड़ों बर्षों तक जीये।। धर्मानुसार पुत्र श्रीर पुत्री दोनों का समानभाव से दायभाग में श्रक्षिकार होता है— यह मान्यता सृष्टि के श्रादि में स्वायम्भुव मनु ने व्यक्त की है।

माता का धन पुत्रियों का ही होता है --

मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्कुमारीभाग एवं सः। दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्।। १३१।।(४३)

(मातुः तुयत् यौतकं स्यात्) माता का जो [विवाह मादि के मवसर पर निजी धन के रूप में पिता-भाई मे प्राप्त] धन होता है (सः कुमारी-भागः एव) वह कन्या का ही भाग होता है (च) तथा (म्रपुत्रस्य म्रस्तिलं धनं दौहित्रः एव हरेत्) पुत्रहीन नाना के सम्पूर्णं धन को धेवता ही प्राप्त कर लेवे।। १३१।।

> दौहित्रो ह्यांखलं रिक्थमपुत्रस्य वितुहंरेत् । स एव दद्याद् द्वी पिण्डी वित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

(म्रपुत्रस्य पितुः) दूसरे पुत्र के न होने पर म्रपने गिता का (म्रिलिलं रिक्यम् हि) सब धन भी (दौहितः हरेत्) धेवता ही ले सेवे (सः एव) ग्रौर वह (पित्रे च माता-महाय द्वी पिण्डी दद्यात्) म्रपने गिता तथा म्रपने नाना को पिण्ड देवे ॥ १३२॥

> पौत्रवौहित्रयोलोंके न विशेषोऽस्ति धर्मतः। तयोहि मातापितरौ सम्मूतौ तस्य देहतः।। १३३॥

(लोके) पंसार में (धर्मतः) धर्मानुसार (पौत्रदौहित्रयोः विशेषः न ग्रस्ति) पोते ग्रौर धेवते में कोई ग्रन्तर नहीं है (हि) क्योंकि (तयोः माताधितरौ) उन दोनों के क्रमशः पिता तथा माता (तस्य देहतः सम्भूतौ) उस शरीर से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३३ ॥

आनु श्रीत्वनः १३२-१३३ इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं ---

१. विषयविरोध — प्रस्तुत विषय [१।१०३] दायभाग के वर्णन का है इसमें पिण्डदान का वर्णन विषयबाह्य है। पुत्र ग्रादि का उद्देश्य कब्ट से वचाना है न कि पिण्डदान देना [६।१३८ की समीक्षा द्रष्टव्य] । इसी प्रकार १२७ से नाना के धनसे सम्बद्ध प्रसंग है, ग्रतः पिता के धन का वर्णन यहां ग्रनभीष्ट है । इस प्रकार विषयविरुद्ध होने से १३२ वां श्लोक प्रक्षिप्त है, १३३ वां उस पर ग्राधारित होने से वह भी प्रक्षिप्त है ।

२. शैलीगत आधार— १३ है वें की शैली अयुक्तियुक्त है। यदि इतने कारण मात्र से भेद समाप्त हो जाता है तो १२७ वें में पृथक् से 'पुत्रिका' करने की क्या आवश्यकता रहती है। और इस प्रकार तो पुत्रों के साथ दौहित्र का भी दायभाग में आवश्यक अधिकार होना चाहिए! अयुक्तिपूर्ण शैली होने के कारण यह स्लोक प्रक्षिप्त है।

पुत्रिका करने पर पुत्र होने की ग्रवस्था में दायब्यवस्था -

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ञ्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥१३४॥(४४)

(पुतिकायां कृतायां तु) 'पुतिका' कर लेने के बाद (यदि पुत्र: + अनुजायते) यदि किसी को पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में उन दोनों को [धेवता श्रीर निजपुत्र को] धन का समान भाग मिनेगा (हि) क्योंकि (स्त्रियाः ज्येष्ठता न + श्रस्ति) स्त्री को ज्येष्ठत्व = बड़े पुत्र की भांति 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होता। अतः धेवते को भी वह 'उद्धार' भाग नहीं प्राप्त होगा। १३४।।

म्रपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथञ्चन । धनं तत्पुत्रिकामर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

(कथञ्चन) किसी कारण (ब्रपुत्रायां मृतायाम्) बिना पुत्र के ही 'पुत्रिका' के मरजाने पर (तत् पुत्रिकाभर्ता एव) उस पुत्रिका का पति ही (ब्रविचारयन् घनं हरेत्) निस्चय से उस [श्वशुर] के धन को ले लेवे ॥ १३४ ॥

> म्रकृता वा कृता वाऽपि यं विन्देत्सह्झात्मुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

(कृता वा श्राकृता वा + ग्रिप) पुन्तिका' की गई हो ग्रथवान की गयी हो (सदशात सुतंविन्देत्) वह समान जातीय पित से जिस पुत्र को प्राप्त करे (तेन मातामहः पौत्री) उसी से पुत्रहोन नाना पुत्रवान् हो जाता है (दद्यात् पिण्डम्) वह दौहित्र ग्रपने नाना को पिण्डदान करे ग्रौर (धन हरेत्) नाना के धन को प्राप्त कर लेवे ॥ १३६॥

> पुत्रेण लोकाक्षयति पौत्रेणानस्यमःनुते। श्रय पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

(पुत्रेण लोकान् जयित) पिता पुत्र से स्वर्गीद लोकों को प्राप्त करता है (पीत्रेण + ग्रानन्त्यम् + ग्रश्नुते) पोते से ग्रनःत सुख को प्राप्त करता है (ग्रथ पुत्रस्य पौत्रेण) ग्रीर पड़पोते से (ब्रघ्नस्य विष्टपम् + ग्राप्तोति) सूर्यलोक को प्राप्त करता है।। १३७।।

## आनुर्वित्रनः : १३५-१३७ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. मन्तिवरोध (१) १३५ वें क्लोक की मान्यता मनु द्वारा विहित 'पुतिका प्रक्रिया' से विरुद्ध है। पुत्रिका इसलिए की जाती है कि 'उससे जो पुत्र होगा वह मेरा सुखदायक बनेगा' [१९१२ ७]। म्रतः एव उसकी नाना का घन मिलता है, किन्तु जब 'पुत्रिका' म्रपुत्रवती ही मर जाये तो वह प्रक्रिया स्वतः समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसका म्राधार नष्ट हो जाता है, म्रतः भर्ता का धन-प्रहण मनुसम्मत नहीं है। इस मकार का धन २११ —२१२ की व्यवस्था के म्रनुसार भाई-बहनों को जाता है। म्रतः यह क्लोक विरुद्ध मान्यता वाला होते से प्रक्षिप्त है। (२) १३६ की व्यवस्था १२७ के विरुद्ध है। इस प्रकार तो 'पुत्रिका' प्रक्रिया के विधान का कोई महत्त्व या भावश्यकता नहीं रहती। (३) १३७ वें क्लोक में सूर्यलोक म्रादि की प्राप्ति मनुविरुद्ध है। मनु ऐसा कोई पृथक से स्थान नहीं मानते। वे केवल मुक्ति म्रवस्था को मानते हैं [२।२४६, ४।२६०,६। ६१, ६५,६० च्यादि म्रोर, मनु म्रपने कर्मों का कर्ता को ही भोक्ता मानते हैं। दूसरे के कर्मों से कोई स्वगं नहीं प्राप्त करता है [४।२४०]। इस प्रकार तो म्रच्छे कर्मों की म्रावश्यकता ही नहीं, पुत्रपौत्री वाली सारी दुनिया ही स्वगं में चली जायेगी।
- २. विवयविरोध-प्रस्तुत विषय दायभाग-विधान का है, १३६ वें में पिण्ड-दान वर्णनिविषयबाह्य है, ग्रत: यह क्लोक विषयविरुद्ध है।

पुत्र का लक्षण---

# पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्युत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥ (५५)

(यः) जो (सुतः) पुत्र (पितरम्) माना-पिता को (पुम्नाम्नः नर-कात्) पुम् = वृद्धावस्था ग्रादि से उत्पन्न होने वाले दुःखों से (त्रायते) रक्षा करता है' (तस्मात्) इस कारण से (स्वयंभुवा स्वयमेव 'पुत्रः' इति प्रोक्तः) स्वयंभू ईश्वर ने वेदों में बेटे को 'पुत्र' संज्ञा से ग्रभिहित किया है [द्रष्टव्य है—'सर्वेषां तु स नामानि.....वेदशब्देभ्य एवादी...... निर्ममे'' १।२३] ।।१३६॥'

१. [प्रचलित धर्य — जिस कारण पुत्र 'पुम्' नामक नरकसे पितरों की रक्षा करता है। उस कारण से स्वयं ब्रह्मा ने उसे पुत्र कहा है।। १३८।।]

अबन्य का टिन्न : पुत्र का प्रथं और उद्देश— इस दलोक में मनु ने पुत्र शब्द की परिभाधा दी है। उस पर यहां विस्तार से विचार किया जाता है। इस परिभाषा से यह सिद्ध हो जाता है कि सांसारिक व्यक्तियों का पुत्रप्राप्ति का उद्देश्य यह होता है कि पुत्र, जीवन में, वृद्धावस्था में कप्ट से रक्षा करें और धन-ग्रन्न-जल ग्रादि से पालन-पोषण करें। इस परिभाषा से इस ग्रध्याय में विणत उन सभी मान्यताग्रों का खण्डन हो जाता है जिनमें पिण्डदान श्राद्ध ग्रादि के लिए पुत्रप्राप्ति मानी है। यहां प्रमाणों के साथ पुत्र शब्द का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है —

'पूज पत्रने' (क्रचादि) घातु से 'पुंची ह्रस्वद्रच' (उणादि ४।१६५) सूत्र से नत्र
प्रत्यय के योग से पुत्र द्राव्य सिद्ध होता है। इसकी निरुवित करते हुए ऋषि यास्क
लिखते हैं— "पुठ त्रायते' पिपरणाद्धा, पुम् = नरकं ततस्त्रायत इति वा" (२।११)
ग्रयति सभी प्रकार से मुरक्षा करता है, पालन-शेषण करता है अथवा पुम् नरक = कष्ट
को कहते हैं, उस वृद्धावस्था ग्रादि के कष्ट से रक्षा करता है, इसलिए बेटे का 'पुत्र' नाम
है। नरक किसे कहते हैं, इसका भी निरुवतकार ने स्पष्टीकरण किया है, कहीं किसी को
नरक नामक लोकविशेष की भ्रान्ति न हो जाये— "नरकं न्यरकं नीचेंगंभनम्,
नास्मिन् रमएं स्थानमत्पमप्यस्तीति वा" (१।१०) ग्रयति नरक कष्टपूर्ण गति, ग्रधःपतन को कहते हैं, इस कष्ट गति में थोड़ा-सा भी सुख-ग्राराम का स्थान नहीं है। इस
प्रकार कष्टपूर्ण स्थिति को नरक कहते हैं। पुत्र ग्रपने पिता-माता ग्रादि को उससे
बचाता है ४। दन-१० क्लोकों में इक्कीस नरकों की गणना है। वहां 'पुम्' नामक कोई
नरक परिगणित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि 'पुम्'का नरक-विशेष अर्थ न
होकर 'कष्टपूण स्थिति' अर्थ ही मनुसम्मत है। तुलनार्थ गोपथन्नाह्मण पू० १/२ की
परिभाषा भी उल्लेखनीय है—

"पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशतकारं तस्मात् त्राति पुत्रः, तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्" नरक कोई पृथक् लोक नहीं होता। इस विषयक विग्तृत अनुशीलन ४।६१ पर द्रष्टव्य है। [महिष दयानन्द ने इस श्लोक को यजु० ८।५ के मन्त्रार्थं के पुत्रार्थप्रसंग में उद्भृत किया है।]

> पौत्रदौहित्रयोलींके विशेषो नोपपद्यते । दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ १३६ ॥

(लोके) संसार में (पौत्र-दौहित्रयोः विशेषः न + उपपद्धते) पोते स्रीर घेवते में कोई स्रन्तर नहीं सिद्ध होता (हि) क्योंकि (पौत्रवत्) पोते के समान (बाहित्र स्रिप) घेवता भी नाना को (अमुत्र सन्तारयित) इस जन्म से मुखपूर्वक पार लगा देता है।। १३६॥

(पुत्रिकासुतः) पुत्रिकाका पुत्र (मातुः प्रथमतः पिण्डम्) ग्रपनी माता को

पहला पिण्ड (तस्याः पितुः द्वितीयम्) अपनी माता के पिता अर्थात् ाना को दूसरा पिण्ड भौर (तत् पितुः पितुः) उसके नाना के पिता अर्थात् पड़नानः को (तृतीयम्) तीसरा पिण्डदान करे।। १४०।।

## अन्त्र्योत्डनः : १३६-१४० श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

- १. ग्रन्तिवरोध—(१) मनु कत्ता को ही कर्मों का भोवता मानते हैं [४।२४०] उनके मत से दूसरे के कर्मों से कोई स्वर्ग ग्रादि को नहीं जाता। इस ग्राधार पर १३६ की 'पार तारने' की मान्यता विरुद्ध है, ग्रतः प्रक्षिप्त है। १४० वां इससे सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है (२) पुत्र का उद्देश्य दुःख से बचाना है पिण्डदान ग्रादि देना नहीं [६।१३८ समीक्षा द्रष्टश्य]।
- २. विषयविरोध प्रस्तुत विषय दायभाग विभाजन का है [६। १०३]। यहां पिण्डदान ग्रादि का विधान विषयबाह्य वर्णन है, ग्रतः १४० वां श्लोक विषय-विरुद्ध प्रक्षेप है।

दत्तकपुत्र के दायभाग का विधान---

उपपन्नो गुणैः सर्वेः पुत्रो यस्य तु बत्त्विमः । स हरेतेव तद्विक्यं सम्प्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः । १४१॥ (५६)

(यस्य तु दित्त्रमः पुत्रः) जिसका 'दत्तक' = गोद लिया हुम्रा पुत्र (सर्वै: गुर्गः उपपन्नः) सभी श्रेष्ठ या वर्णोचित पुत्रगुणों से [१ । १३८] सम्पन्न हो, (ग्रन्यगोत्रतः सम्प्राप्तः + ग्राप्) चाहे वह दूसरे वंश का ही क्यों न हो (सः तत् रिक्थं हरेत + एव) वह उस गोद है ने वाले पिता के धन को निश्चित रूप से प्राप्त करता है ॥ १४१ ॥

गोत्ररिक्ये जनियतुर्ने हरेड्डिटित्रमः क्वजित्। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति दरतः स्वक्षा ॥ १४२ ॥

(दित्रमः) 'दत्तक' पुत्र (क्विचित्) कहीं भी (जनियतुः गोत्रिरिक्ये न हरेत्) उत्पन्न करने वाले पिता के गोत्र और धन को नहीं प्राप्त करता (ददतः) गोद देने पर उसके (गोत्रिरिक्यानुगः) गोत्र और धनसम्बन्धी (पिण्डः स्वया व्यपैति) पिण्डदान और स्वया-कार्य [उत्पादक पिता के लिए] समाप्त हो जाते हैं॥ १४२॥

्ियुरः ु ः पुनिण्यान्तश्च वेवरात्। उमी तौ नाहंतो मागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

(ग्रितियुक्तासुतः च एव) ग्रितियोग [१। ४६-६१] विधि से श्रन्यपुरुष द्वारा उत्तन्त पुत्र (च) ग्रौर (पृत्रिन्था देवरात् ग्राप्तः) पृत्रवती होते हुए भी देवर से नियोग द्वारा प्राप्त पुत्र (तौ उभौ) ये दोनों (जारजातक-कामजौ) 'जारज' = व्यभिचार से उत्तन्त और 'कामज' = कामवासना के वशीभूत होकर उत्पन्त होने से (भागं न + ग्रह्नैतः) पितृवन के भागी नहीं होते ॥ १४३॥

### नियुक्तायामपि पुनान्नार्या जातोऽविधानतः । नैवार्तः पेतृकं रिक्यं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

(नियुक्तायां नार्याम् अपि) नियोग के लिए नियुक्त स्त्री में भी (अवित्रानतः जातः पुमान्) उचित विधि [विवाहवत् प्रसिद्ध करके नियोग] को छोड़कर उत्पन्न किया गया पुत्र (पैतृकं रिक्यं नैवाहंः) पितृधन का भागी नहीं होता (हि) क्योंकि (सः पतित + उत्पादितः) वह 'पितत' [६। ६३] से उत्पन्न होता है ॥ १४४॥

# **अन्त्र्योत्जनः १४२-१४४** इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं---

- १. ज्ञन्तिवरोध (१) १४२ वां क्लों है। इ। १८ ने विरुद्ध है। श्राद्ध में पिण्डदान आदि मनुविरुद्ध है। [द्रष्टका ३। २ ४ पर अन्तिवरोध समीक्षा] अतः प्रक्षिप्त है। (२) १४३ १४४ परस्पर सम्बद्ध क्लों के हैं। इतमें पुत्रवती स्त्री द्वारा नियोग से पुतः पुत्र प्राप्ति करने पर उस पुत्र को धनभाग से रहित कहा है और 'वृथापुत्र' माना है। यह मान्यता ६। ५६ के विरुद्ध है। उसमें मनु ने नियोग-विधि से इच्छानुसार सन्तान की प्राप्ति कही है।
- २. प्रसंगिबरोय १४३ १४४ श्लांक प्रमंगिवरुद्ध भी हैं। नियोगज पुत्रों के धनिवभाग का विधिवाक्य या प्रसंग प्रारम्भ करने वाला श्लोक तो १४५ है। १४६ में धनग्रहण का विधान हुमा है, किन्तु इन श्लोकों में उससे सम्बद्ध निषेष पहले ही कर दिया। विधान से पूर्व निषेष होना म्रयंगत है, अतः ये प्रसंगिवरुद्ध हैं। मौर यदि ये मौलिक होते तो १४६ के पश्चात् होते। वहां इन्हीं से मिलते-जुलते भावों वाला एक घौर भी श्लोक है, उसके रहते इनकी वैसे भी म्रावश्यकता सिद्ध नहीं होती। किन्तु 'पुत्रवती द्वारा पुतः नियोग न करने' के म्रायह को शास्त्रसम्मत करने के लिए प्रक्षेप-कार को ये श्लोक पहले ही मिलाने पड़े, क्यों कि १४७ से उसका अभिप्राय सिद्ध नहीं होता था।

नियोग से उम्पन्न क्षेत्रज पुत्र के दायभाग का विधान —

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः। क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४४॥ (४७)

(तन विस्कतायाय) निर्णात के जिल्ला कि विद्या के विश्व के जीरतः आतः पुष्पः, स्वां व पुष्पः का अल्लान्य हुआ क्षेत्रज पुत्र (हरेत्) पितृधन का भागी होता है; क्योंकि (यत् क्षेत्रिकस्य बीजम्) वह क्षेत्रिक =क्षेत्र स्वामी का ही बीज माना जाता है, यतोहि (सः धर्मतः प्रसवः) वह धर्मानुसार नियोग से [६।४६] उत्पन्न होता है ॥ १४४॥

> धनं यो बिभृयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेत च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य बद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥१४६॥ (५८)

(मृतस्य भ्रातुः) मरे हुए भाई के (धनं च स्त्रियम् + एव यः बिभृ-यात्) धन ग्रौर स्त्री की जो भाई रक्षा करे (सः + ग्रपत्यम् + उत्पाद्य) बह भाई की स्त्री में सन्तान उत्पन्न करके (भ्रातुः तत् धनं तस्यैव दद्यात्) भाई का वह प्राप्त सब धन उस पुत्र को ही दे देवे ॥ १४६ ॥

नियोगविधि के बिना उत्पन्न पुत्र दायभाग का अनिधकारी-

याऽनियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद्वाऽप्यवाप्नुयात् । तं कामजमरिक्थीयं वृथीत्पन्नं प्रचक्षते ॥१४७॥ (५६)

(या ग्रनियुक्ता) जो स्त्री नियोगिविधि [१। ५६] के बिना (ग्रन्यतः वा देवरात् ग्रांप) ग्रन्य सजातीय पुरुष से या देवर से भी (पुत्रम् ग्रवाप्नु-यात्) पुत्र प्राप्त करे (तम्) उस पुत्र को (कामजं वृथोत्पन्नम् ग्रिरिक्थीयम्) 'कामजं = कामवासना के वशीभूत होकर [१। ५६, ६३] उत्पन्न किया गया, 'वृथोत्पन्न' = व्यर्थ में उत्पन्न ग्रीर पितृधन का ग्रनिधकारी (प्रचक्षते) कहते हैं।। १४७।।

अब्द्रुटारेट नाः १४७ क्लोक की प्रसंगसम्बद्धता पर विचार—१४७ वें व्लोक में नियोगविधि को त्यागकर प्राप्त किये गये पुत्र को 'वृथा-उत्पन्न' पुत्र की संज्ञा दी है। यह विधान विवाहित वा विधवास्त्री के लिए है, स्रक्षतयोनि के लिए नहीं। स्रक्षतयोनि स्त्री के लिए इसमें स्रपवाद है। वह पुनविवाह कर सकती है सौर उससे उत्पन्न होने वाला पुत्र 'वैध' तथा पैतृक धन का स्रधिकारी माना जायेगा। इस भाव के स्रनुसार इस क्लोक का प्रसंग हा १७६ से जुड़ता है।

ग्रन्य वर्णों की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों की दायभाग-व्यवस्था—

एतद्विधानं विज्ञेयं विमागस्यैकयोनिवृ। बह्वीवृ चैकजातानां नानास्त्रीवृ निबोधत ॥ १४८ ॥

(एकयोनिषु) समान जाति वाली स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के (विभागस्य) घन-विभाजन का (एतत् विधानं विज्ञेयम्) यह विधान [६।१०३-१४७] समभ्रता चिहए। ग्रव (नानास्त्रीषु बह्वीषु) ग्रनेक जाति वाली बहुत सी स्त्रियों में (एकजातानां निबो-धत) एक पति से उत्पन्न पुत्रों का धन विभाग सुनो—॥ १४८॥

> ब्राह्मरास्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः। तासां पुत्रेषु जातेषु विमागेऽयं विधिः स्मृतः॥ १४६॥

(यदि ब्राह्मणस्य) यदि ब्राह्मण की (म्रानुपूर्व्यण चतस्रः तु स्त्रियः) वर्णानुक्रम से ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या श्रीर शूद्रा ये चार पत्नियां हों तो (तासां जातेषु पुत्रेयु) उनमें उत्पन्न पुत्रों में (विभागे + ग्रयं विधिः स्मृतः) विभाजन के लिए निम्न नियम माना गया है ॥ १४६ ॥

> कीनाशो गोवृषो यानमलङ्कारश्च वेश्म च । विश्रस्यौद्धार्टिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

(विप्रस्य) ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र के लिए (कीनाश: गोवृष:) खेती करने वाला बैल (यानम् + झलंकार: च वेश्म) सवारी, ग्राभूषण खेती ग्रीर घर (ग्रौद्धारिकं देयम्) ये 'उद्धार' घन के रूप में देने चाहिएँ (च) ग्रीर (प्रधानत: एकांश:) सबसे प्रधान होने के कारण सारे घन में से एक भाग देना चाहिए।। १५०॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद् वित्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्षमेवांशमंशं शुद्रासुतो हरेत्।। १५१।।

[पूर्व क्लोक के उद्घारभाग के निकालने पर शेष धन में से] (विप्रः ति + ग्रंशं दायाद हरेत्) ब्राह्मणी का पृत्र कुल पितृधन का तीन भाग ले ले (क्षत्रियासुतः दौ + ग्रंशो) क्षत्रिया का पुत्र दो भाग (वैश्याजः सार्धम् ग्रंशं + एव) वैश्या से उत्पन्न पुत्र डेढ़ भाग (शूद्रासुतः ग्रंशं हरेत्) शूद्रा में उत्पन्न पुत्र एक भाग ग्रहण करे॥ १५१॥

सर्वे वा रिक्यजातं तद्दशघा परिकल्प्य च। घम्पं विमागं कुर्वोत विधिनाऽनेन घर्भवित् ॥ १५२ ॥

(वा) ग्रथवा (तत् सर्वं रिक्थजातम्) उस सारे पितृधन को (दशधा परिकल्प) दश भागों में बांटकर (धर्मवित्) धर्म का ज्ञाता पुरुष (धनेन विधिना धर्म्यं विभागं कुर्वीत) इस निम्न विधि से धर्मगुक्त विभाग करे—॥ १५२॥

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्कत्रियासुतः। वैद्यापुत्रो हरेदृद्वचंशमंशं शूब्रासुतो हरेत्।। १५३।।

उनमें से (विप्र: चतुर: + ग्रंशान् हरेत्) ब्राह्मणी का पुत्र चार भाग पितृष्व ग्रहण करे (क्षत्रियासुत: त्रीन् + ग्रंशान्) क्षत्रिया का पुत्र तीन भागों को (वैश्यापुत्र: द्वि + ग्रंशं हरेत्) वैश्या का पुत्र दो भाग ले (शूद्रासुत: ग्रंशं हरेत्) शूद्रा का पुत्र एक भाग को ग्रहण करे।। १५३।।

> यद्यपि स्यातु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्। नाथिकं दशमादृद्याष्ट्रद्वापुत्राय धर्मतः॥ १५४॥

(यद्यपि) चाहे (सत्पुत्रः स्यात् म्रपि वा स्रसत्-पुत्रः भवेत्) द्विजवर्ण की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र से ब्राह्मण पुत्रवान् हो स्रयवा पुत्रहीन हो किन्तु (धर्मतः) धर्मानुसार (शूद्रापुत्राय दशमात् अधिकं न दद्यात्) शूद्रा के पुत्र को दसवें भाग से प्रधिक धन ब्राह्मण-पिता न दे।। १४४।।

### बाह्यसमियविशां श्रुद्धापुत्रो न रिक्यमान्। यदेवास्य पिता बद्यासदेवास्य धनं भवेत्।। १५४॥

(श्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्रापुत्रः) ब्राह्मण, क्षत्रिय भौर वैश्य व्यक्ति से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र (रिक्थभाक् न) कानूनी रूप से धन का भागी नहीं होता, श्रपितु (यत् + एव + ग्रस्य पिता दद्यात्) ग्रपनी इच्छा से जो कुछ इसका पिता दे देवे (तत्-तत् + एव + ग्रस्य धनं भवेत्) वही इस शूद्रापुत्र का धन होता है।। १४४।।

> समबर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्राः द्विजन्मनाम् । उद्घारं ज्यायसे दस्वा भजेरन्नितरे समम्।। १५६॥

(समवर्णासु ये जाताः) समानवर्णं की स्त्रियों में उत्पन्न हुए (द्विजन्मनां सर्वे पुत्राः) द्विजातियों के सभी पुत्र (ज्यायसे उद्धारं दस्ता) बड़े भाई को 'उद्धार' भाग देकर (इतरे सम भजेग्न्) शेष सब समान-समान भाग बांट लें॥ १५६॥

शूद्रस्य तु सवर्गेंव नान्या भार्या विषीयते। तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यंदि पुत्रशतं भवेत्।। १४७ ॥

(शूद्रस्य तु सवणि भार्या एव) शूद्र की तो अपने वर्ण की ही पत्नी होती है। (ग्रन्या न विधीयते) उसके लिये ग्रन्य वर्ण की भार्या का विधान नहीं है (यदि पुत्रकातं भवेत्) यदि शूद्र कें सौ पुत्र भी हों तो (तस्यां जाताः सम + ग्रंकाः स्युः) शूद्रा में उत्पन्न सभी पुत्रों का पितृधन में समान भाग होता है ग्रंथात् बड़े के लिए 'उद्धार' भाग नहीं होता ।। १५७।

बारह प्रकार के पुत्र --

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः । तेषां षड् बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥

(स्वायभुवः मनुः) स्वायभुव मनु ने (नृगां यान् द्वादश पुत्रान् + म्राह्) मनुष्यों के जो बारह प्रकार के [६। १५६— १७५] पुत्र कहे हैं (तेषां षड् बन्धु-दायादाः) उनमें छः [६। १५६] बान्धव दायाद = पितृधन के भागी होते हैं, तथा (षड् + म्रदायाद-वान्धवाः) पिछले छः [६। १६०] ग्रदायाद = पितृधन के मनिधकारी होते हैं।।१५८।।

दायभाग के ग्रधिकारी छह पुत्र-

भौरसः क्षेत्रजञ्ज्वेव दत्तः कृत्रिम एव च । गुढोत्पन्नोऽपविद्वश्च बायावा बान्धवाश्च षट् ॥ १४६ ॥

(ग्रीरसः क्षेत्रजः दत्तः कृत्रिमः गूढोत्पन्नः च ग्रपविद्धः) 'ग्रीरस' [६।१६६], 'क्षेत्रज' [६।१६७] 'दत्तक' [६।१६८], 'कृत्रिम' [६।१६६], 'गूढोत्पन्न' [६।१७०]

श्रीर 'श्रपविद्ध' [६।१७१] (षट् दायादाः बान्धवाः च) ये छः प्रकार के पुत्र 'दायाद' == पितृधन के श्रधिकारी श्रीर बान्धव कहलाने योग्य होते हैं ॥ १५६ ॥

दायभाग के ग्रनधिकारी छह पुत्र-

कानीनक्व सहोढक्व क्रीतः पौनभंवस्तया। स्वयंवतक्व शौद्रक्व षडवायादबान्धवाः॥१६०॥

(कानीन: सहोढ: क्रीत: पौनर्भव: स्वयंदत्तः च शौडः) 'कानीन' [६। १७२], [६।१७३] 'क्रीत' [६।१७४], 'पौनर्भव' [६।१७४], 'स्वयंदत्त' [६।१७७] ग्रौर सूद्रापुत्र [६।१७८] (षड् — ग्रदायादबान्थवाः) ये छः ग्रदायाद — पितृधन के ग्रनिध-कारी होते हैं।।१६०।।

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः सन्तरञ्जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः सन्तरंस्तमः॥१६१॥

(कुप्लवै: जल संतरन्) बुरी स्रयांत् दूटी - फूटी नौका से जल को पार करते हुए (याद्यां फलम् + ग्राप्नोति) मनुष्य जैसा फल प्राप्त करता है ग्रयांत् पानी में ही डूब जाता है (तमः संतरन् ताद्यां फलम्) ग्रन्थकार = दुःख को पार करते हुए वैसा ही फल मनुष्य (कुपृत्रै: ग्राप्नोति) बुरे पुत्रों को उत्पन्न करके प्राप्त करता है ग्रयांत् दुःख में ही निमग्न हो जाता है ॥ १६१॥

> यद्येकरिक्यिनो स्यातामौरसक्षेत्रजो सुनौ। यस्य यत्पैतृकं रिक्यं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

(यदि + एकरिक्थिनो) यदि एक धनवाले पिता के (ब्रौरस-क्षेत्रजो सुतौ स्याताम्) 'ग्रौरस' ग्रौर 'क्षेत्रज' दोनों ही पुत्र हों तो (यस्य यत् पैतृकं रिक्थम्) जिसका पैतृक धन है (तत् स गृह्णीत) उसको वह 'ग्रौरस' पुत्र ही ग्रहण करे (इतरः न) दूसरा 'क्षेत्रज' पुत्र धन का ग्रधिकारी नहीं होता ॥ १६२ ॥

> एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । ोवारा पानुसंस्थारी स्थानाम् सामित्रतस्य ॥ १६३ ॥

(पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः) थिता के धन का स्वामी (एकः एव +औरसः पुत्रः) अकेला औरस पुत्र ही होता है, वह (शेषाणाम् + म्रानृशंस्यार्थम्) शेष भाइयों को कृषा करता हुम्रा (प्रजीवनं प्रदद्यात्) जीवन चलाने के लिए मन्न-वस्त्रादि देता रहे ॥ १६३ ॥

ष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्। ग्रौरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

(ब्रौरसः) ब्रौरस पुत्र (पित्र्यं दायं विभजन्) पितृधन का विभाग करते हुए

(पैतृकात् धनात्) उस पैतृक धन से (क्षेत्रजस्य षष्ठं वा पञ्चमम् + एव प्रदद्यात्) क्षेत्रज पुत्र को छठा ग्रयवा पांचवां ही भाग देवे।। १६४॥

> न्नीरसक्षेत्रजो पुत्री पितृरिक्यस्य मागिनी। दज्ञापरे तु क्रमज्ञो गोत्ररिक्यांज्ञमागिन:॥१६५॥

(स्रोरस-क्षेत्रजो पुत्रो) केवल 'बोरस' स्रोर 'क्षेत्रज' पुत्र ही (पितृरिक्थस्य भागिनो) पितृयन के भागी हैं (स्परे दश तु) शेष दूसरे दश प्रकार के पुत्र तो (क्षमशः गोत्र-रिक्थ-स्रंश-भागिनः) गोत्र के ही भागी होते हैं स्रोर पूर्वपुत्र के अभाव में क्रमानुसार धनांश के भागी होते हैं।। १६५।।

ग्रीरस पुत्र का लक्षण---

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धियम्। तमौरसं विजानीयात्पुत्र प्रथमकल्पितम्॥१६६॥

(संस्कृतायां स्वक्षेत्रे तु) विवाह करके लायी हुई ग्रपनी पत्नी में (यत् + हि स्वयं यम् उत्पादयेत्) जो पुरुष स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करता है, (तं प्रथमकित्पतम्) उस प्रथमस्थानीय ग्रथात् सर्वश्रेष्ठ (पुत्रम्) गुत्र को (ग्रीरसं विजानीयात्) 'ग्रीरसं पुत्र जानना चाहिए।। १६६।।

क्षेत्रज पुत्र कालक्षण —

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा। स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

(प्रमीतस्य क्लीबस्य वा व्याधितस्य) मरे हुए नपु सक ग्रथवा व्याधिग्रस्त पुरुष की (स्वधर्मेण नियुक्तायां तस्पजः यः) धर्मानुसार नियोग में नियुक्त स्त्री से उत्पन्न जो पुत्र होता है (सः पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः) वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है ॥ १६७ ॥

दत्रिम पुत्र का लक्षण---

माता पिता वा वद्यातां यमिद्भः पुत्रमापवि । सहशं त्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो वत्त्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

(माता वा पिता) माता ग्रथवा पिता (यं सद्दशं पुत्रम्) जिस सवणं पुत्र को (ग्रापिद) ग्रपनी या लेने वाले की ग्रापत्कालीन स्थिति में (प्रीतिसंयुक्तम्) प्रेमपूर्वक ग्रीर (अदिभः) जल का संकल्प करके (दद्याताम्) दे देते हैं (सः सुतः दित्रमः ज्ञेयः) वह पुत्र 'दित्रम' == दक्तक जानना चाहिए ॥ १६८॥

कृत्रिम पुत्र का लक्षण---

सह्यं तु प्रकुर्याचं गुराबोवविश्वसराम् । पुत्रं पुत्रगुर्णेयुंक्तं स विज्ञेयक्च कृत्रिमः ॥ १६६ ॥ (गुण-दोष-विवक्षणम्) गुण-दोष को जानने वाले (पुत्रगुर्गौर्युंक्तम्) पुत्रस्व के गुणों से युक्त (यं सदशं पुत्रम्) जिस स्वर्गं पुत्र को (प्रकुर्यात्) कोई सनुष्य पुत्र मान लेवे (सः कृत्रिमः विज्ञेयः) वह 'कृत्रिम' पुत्र माना जाता है ।। १६९ ।।

अत्यु श्रीटिंडन्ड: दत्तक और कृतिम पुत्र में यह अनंतर है कि दत्तक पुत्र माता-पिता द्वारा दिया जाता है और कृतिम पुत्र अपनाने वाले के द्वारा स्वयं मान लिया जाता है।

गूढोत्पन्न पुत्र का लक्षण --

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः। स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः॥ १७०॥

(यस्य ग्रहे उत्पद्मते) जिसके घर में कोई पुत्र उत्पन्त हो जाता है (च) ग्रीर (न जायेत सः कस्य) यह मालूम नहीं पड़ता कि वह किसके बीज से उत्पन्त है (स ग्रहे गूढः उत्पन्तः) वह घर में गूढ रूप से उत्पन्त हुपा पुत्र (यस्य तत्पजः तस्य स्यात्) जिसकी स्त्री से उत्पन्त है, उसी पित का वह 'गूढोत्पन्न' पुत्र है॥ १७०॥

अपविद्ध पुत्र का लक्षण--

मातापितृज्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेस वा। यं पुत्रं परिगृह्णीयावपविद्धः स उच्यते।। १७१।।

(मातृ-पितृम्याम्) माता और पिता द्वारा (वा) ग्रयवा (तयोः + अन्यतरेण) माता-पिता में से किसी एक के द्वारा (उत्सृष्टं यं पुत्रं परिगृह्णीयात्) छोड़े हुए जिस पुत्र को जो ग्रहण करता है (सः ग्रपविद्धः उच्यते) वह उस पुरुष का 'ग्रपविद्ध' = परित्यक्त पुत्र कहाता है।। १७१॥

कानीन पुत्र का लक्षण ---

पितृवेदमनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः। तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोदः कन्यासमुद्भवम्।। १७२॥

(पितृवेश्मिन कन्या तु) पिता के घर में रहती हुई कन्या (रहः यं पुत्रं जनयेत्) गुप्त रूप से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है (तं नाम्ना कानीनं वदेत्) उस पुत्र को 'कानीन' कहते हैं (कन्यासमुद्भवं वोदुः) कन्या से उत्पन्न वह पुत्र उससे विवाह करने वाले पित का होता है ॥ १७२॥

सहोद पत्र का लक्षण --

या गर्मिस्सी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञाताऽपि वासती। वोदुः सः गर्मो भवति सहोढ इति चोच्यते॥ १७३॥ (ज्ञाता वा श्रज्ञाता + श्रिप) जानकारी होते हुए श्रथवा बिना जानकारी की स्थिति में (या गिंभणो सती संस्क्रियते) जो गिंभणी कन्या के साथ विवाह किया जाता है (सः गर्भः वोढुः भवति) उस गर्भं से उत्पन्न वह पुत्र विवाह करने वाले पित का होता है (व) श्रीर वह (सहोढः इति उच्यते) 'सहोढ' = 'साथ ढोकर लाया हुआ' कहाता है ॥ १७३॥

क्रीतपुत्र कालक्षण---

क्रीत्गीयाद्यस्त्वपत्यार्यं मातापित्रोयंमन्तिकात् । स कीतकः मुतस्तस्य सहजोऽसहजोऽपि वा ॥ १७४ ॥

(म्रपत्यायंम्) म्रपना पुत्र बनाने के लिए (सहशः वा म्रसहशः + म्रपि) सवर्णं या म्रसवर्णं (यम्) जिस पुत्र को (मातापित्रोः + म्रम्तिकात्) उसके माता-पिता के पास से (क्रीणीयात्) खरीदा जाता है (सः तस्य क्रीतकः सुतः) वह उस खरीदने वाले का 'क्रीत' पुत्र होता है ॥ १७४॥

पौनर्भव पुत्र का लक्षण---

या पत्या वा परित्यक्ता विषया वा स्वेच्छ्रया। उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते।। १७५॥

(या पत्या वा परित्यक्ता) जो पित के द्वारा छोड़ी गयी (वा) ग्रथवा (विधवा) विधवा स्त्री (स्वेच्छ्या पुनर्भूरका उत्पादयेत्) ग्रपनी इच्छा से दूसरे पुरुष को पित बना-कर पुत्र उत्पन्न करती है (सः पौनर्भवः उच्यते) उस पुत्र को 'पौनर्भव' कहते हैं।
।। १७४।

अर्ज्य हो टिजना: १४८ से १७५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनकी प्रधारानुसार समीक्षा १७७—१६१ श्लोकों पर समन्वित रूप में देखिए। ये सभी श्लोक श्रन्तिवरोध, प्रसंगविरोध, विषयविरोध एवं शैलीगत 'श्राधारों' के श्रनुसार प्रक्षिप्त हैं।

ग्रक्षतयोनि के पुनर्विवाह का विधान---

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गातप्रत्यागताऽपि वा। पौनभवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमहृति॥१७६॥(६०)

(सा चेत् ने मक्षतयोनिः स्यात्) वह स्त्री यदि 'म्रक्षत योनि =िजसका संभोगसम्बन्ध न हुम्रा हो, ऐसी हो (वा) चाहे वह (गत-प्रत्यागता + म्रिपि) पति के घर गई-म्राई हुई भी हो, (सा) वह (पौनभंवेन भर्त्रा) दूसरे पति के साथ (पुनः संस्कारम् + म्रहंति) पुनः विवाह कर सकती है।। १७६।।

''जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहरण मात्र संस्कार हुन्ना हो स्रौर

संयोग मर्यात् प्रक्षतयोनि स्त्री स्रोर म्रक्षतवीयं पुरुष हो, उनका स्रन्य स्त्री बा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए।'' (स० प्र०११२)

अब्दार्शिटिंड : १७६ इलोक की मौलिकता एवं प्रसंगसम्बद्धता में युक्तियां—(१) १७६ इलोक मौलिक है और इसका प्रसंग ६।१४७ से जुड़ता है। १४७ में अनियोग जुन को 'वृयोत्पन्न' कहकर उसे दायभाग का अनिधकारी घोषित किया है किन्तु अक्षतयोनि स्त्री के लिए वह नियम नहीं है, यह दर्शनि के लिए १७६ वां इलोक अपवाद रूप में विहित है। अक्षतयोनि स्त्री पुनर्विवाह कर सकती है और उससे जो सन्तान उत्पन्न होगी वह 'वैध' एवं दायभाग की अधिकारिणी होगी। यही इस इलोक का अभिप्राय है। (२) यह इलोक मौलिक है, प्रक्षिप्त इसलिए नहीं कहला सकता—(क) क्योंकि इसका पूर्वापर प्रक्षिप्त प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पूर्वापर प्रसंग से भिन्न अपवादात्मक विधान है जिसका १४७ से सम्बन्ध है (ख) पूर्वापर प्रसंग विविध प्रकार के पुत्रों की परिभाषा का है। १७५ वें में 'पौनर्भव' पुत्र की परिभाषा और १७७ में 'स्वयंदत्त' की है। इस इलोक में पुत्र-परिभाषा-प्रसंग न होकर अपवादा स्मक विधान है (ग) इसका १७५ के 'पौनर्भव' शब्द के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उसमें पौनर्भव' पुत्र के लिए कहा गया है और इसमें द्वितीय पित के लिए। इस प्रकार यह मौलिक विधान है।

स्वयंदत्त पुत्र का लक्षण---

मातायितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्। आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः॥१७७॥

(यः माता-पितृ-विहीनः) जो माता-पिता से विहीन हो (वा) ग्रथवा (ग्रकारणात् त्यक्तः स्यात्) ग्रकारणा जिसे छोड़ दिया गया हो, वह (यस्मै ग्रात्मानं स्पर्शयेत्) जिस पुरुष के लिये स्वयं को समर्पित कर दे (सः तु स्वयंदत्तः स्मृतः) वह उसका 'स्वयंदत्त' पुत्र कहलाता है।। १७७।।

पारशव पुत्र का लक्षण---

यं ब्राह्मराहेतु शूद्रायां कामाबुत्पावयेत्सुतम् । स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

(ब्राह्मणः तु) ब्राह्मण (शूद्रायां कामात् यं मुतम् + उत्पादयेत्) शूद्रा में कामवश होकर जिस पुत्र को उत्पन्न करता है (सः पारयन् + एव शवः) वह जीते हुए भी मरे हुए के समान है (तस्मात् पारशवः स्मृतः) इसीलिए उसे 'पारशव' कहा जाता है। ।। १७८॥

> बास्यां वा दासदास्यां वा यः श्लद्रस्य सुतो भवेत् । सोऽनुज्ञातो हरेबंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७६ ॥

(दास्यां वा दासदास्यां वा) दासी में या दास की दासी में (यः शूद्रस्य सुतः भवेत्) जो शूद्र से उत्पन्न पुत्र होता है (सः + अनुज्ञात) वह पिता से आज्ञा पाकर (ग्रंशं हरेत्) ग्रन्य पुत्रों के समान भाग ग्रहण कर ते (इति धर्मंः व्यवस्थितः) ऐसी धर्म की व्यवस्था है ॥ १७६॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश ययोदितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिरगः ॥ १८०॥

(यया + उदितान्) पूर्वविशात [६।१४६-१७८] (एतान् क्षेत्रजादीन् एकादश-मुतान्) इन क्षेत्रज स्रादि ग्यारह प्रकार के पुत्रों को (क्रिया + स्रलोपान्) वंशचालन स्रादि क्रियास्रों का लोप न हो, इसलिए (मनीषिणः) मनीषी लोग (पुत्रप्रतिनिधीन् म स्राहुः) पुत्रों का प्रतिनिधि मानते हैं ॥ १८०॥

> य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः। यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु।। १८१॥

(प्रसङ्गात्) ग्रीरस पुत्र के प्रसङ्ग में (ग्रन्यवीजजाः) दूसरे के वीर्य से उत्पन्न (यः + एने पुत्राः + ग्रमिहिताः) जो ये पुत्र कहे हैं (ते यस्य बीजतः जाताः) वे जिसके बीज से उत्पन्न होते हैं (ते तस्य) वे उसी के होते हैं (इतरस्य तुन) दूसरे ग्रथित क्षेत्र-स्वामी के नहीं ॥ १८१॥

भ्रातृरामिकजातानामेकइचेत्पुत्रवान्मवेत् । सर्वोस्तांस्तेन पुत्रेगा पुत्रिगो मनुरद्भवीत् ॥ १८२ ॥

(एकजातानां भ्रातृगाम्) एक माता-पिता से उत्तरन श्रयित् समे भाइयों में (एक चेत् पुत्रवान् भवेत्) एक भाई भी यदि पुत्रवाला हो जाये (तेन पुत्रेण तान् सर्वान् पुत्रिणः) उस एक पुत्र से ही सब भाइयों को पुत्रवान् होना (मनुः + श्रव्रवीत्) मनु ने कहा है।। १८२।।

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिशी भवेत्। सर्वास्तास्तेन पुत्रेश प्राह पुत्रवतीर्मनुः॥ १८३॥

(सर्वासाम् + एकपत्नीनाम्) सब एक पति वाली स्त्रियों में (एका चेत् पुत्रिणी भवेत्) यदि एक स्त्री भी पुत्रवती हो जाये तो (तेन पुत्रेण ताः सर्वाः पुत्रवतीः मनुः प्राह्) उस पुत्र से वे सभी स्त्रियां पुत्रवती हो जाती हैं, ऐसा मनु ने कहा है ॥ १८३॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रिक्थमहंति । बहवरचेतु सहशाः सर्वे रिक्थस्य मागिनः ॥ १८४॥

(श्रेयसः श्रेयसः + ग्रलाभे) [पूर्वोक्त (६। १५६-१६०) बारह प्रकार के पुत्रों में] श्रेष्ठ-श्रेष्ठ पुत्र के ग्रभाव में (पापीयान् रिक्थम् + ग्रहेति) हीन-हीन पुत्र पितृधन का भागी होता है (बहव: चेत् तु सद्शाः) यदि सभी समान गुण वाले हों तो (सर्वे रिक्थस्य भागिनः) सभी पितृधन के समान भागी होते हैं ॥ १८४॥

> न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्यहराः पितुः। पिता हरेबपुत्रस्य रिक्यं भ्रातर एव च॥ १८४॥

(पितुः रिक्यहराः पुत्राः) पिता के धन के ग्रधिकारी पुत्र ही होते हैं (न भ्रातर न पितरः) न तो सहोदर भाई अर्थात् चाचा, ताऊ आदि, भाई होते हैं और न पिता [अर्थात् पिता का पिता = दादा] ही, किन्तु (ग्रपुत्रस्य रिक्यं पिता हरेत्) ग्रपुत्र पुरुष के घन को पिता ले ले (च) ग्रीर (भ्रातरः एव) सगे भाई भी ले लें । ॥ १८५॥

त्रयालामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्यः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

(त्रयाणाम् - चिदकं कार्यम्) तीनों ग्रथीत् पिता, पितामह ग्रीर प्रिपतामह, इन तीनों को जलदान करना चाहिए (त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते) इन तीनों को ही पिण्डदान करना चाहिए (चतुर्थः एषां सम्प्रदाता; चौथा व्यक्ति इनको देने वाला होता है। (पञ्चमः न + उपपद्यते) इनके साथ पाँचों का कोई सम्बन्ध नहीं है।। १८६।।

सिपण्ड के ग्रभाव में दाय के ग्रधिकारी-

अनन्तरः सिवण्डाद्यस्तस्य यस्य धनं मवेत्। श्रतं अध्वं सकुल्यः स्यादान्वायः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥

(यः सिपण्डात् ग्रनन्तरः) जो सिपण्डों = वंशस्थों या रिक्तेदारों में निकट-निकट का व्यक्ति है (तस्य तस्य धन भवेत्) वही-वही मृतक के धन का भागी होगा (ग्रतः अध्वंम्) इसके बाद ग्रथित् सिपण्ड व्यक्ति के न होने पर (सकुत्यः ग्राचार्यः वा शिष्यः एव) सगोत्रीय निकट का ग्राचार्यं या शिष्य मृत व्यक्ति के घन का भागी होता है।। १८७॥

> सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्यमागिनः। त्रेविद्याः शुचयो दान्तास्तया धर्मो न हीयते ॥ १८८॥

(सर्वेषाम् + अपि + अभावे तु) सभी [पुत्र, पत्नी, सिगण्ड आदि] उत्तराधि-कारियों के सभाव में (त्रै विद्याः शुच्यः दान्ताः ब्राह्मणाः) तीनों वेदों के विद्वान्, शुद्ध आत्मा वाले, जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही (रिक्थभाशिनः) मृत-त्र्यक्ति के धन के भागी होते हैं (तया धर्मः न हीयते) इस प्रकार धर्म का लोप नहीं होता ।। १८८॥

> न्नहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा निःयमिति स्थितिः इतरेषां तु वर्णानां सर्वामावे हरेन्नृषः॥ १८६॥

(राज्ञाबाह्मण्यत्रव्यं नित्यम् ग्रहार्यम्) राजा को [निकट के व्यक्ति के अभाव में] ब्राह्मणों का धन कदाग्रिष्ठण न करना चाहिये (इति स्थितिः) ऐसी मान्यता है, (सर्व + अभावे) सभी उत्तराधिकारियों के अभाव में (इतरेषां तुवर्णानाम्) ब्राह्मण से भिन्त अन्य वर्णों का ही धन (नृपः हरेत्) राजा ले सकता है ॥ १८६॥

### संस्थितस्यानगरयस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत्। तत्र यद्विभयजातं स्यात्तत्तस्मन्प्रतिपादयेत्।। १६०॥

(स्निपत्यस्य संस्थितस्य) सन्तानहीन पति के मर जाने पर (सगोत्रात् पुत्रम् + आहरेत्) स्त्री सगोत्र पुरुष से नियोग करके [६। ५६-६१] पुत्र प्राप्त कर ले (तत् तत् रिक्यजातः स्यात्) उस स्थिति में मृत-पति का जो धन हो (तस्मिन् प्रतिपादयेत्) वह उस पुत्र को दे देवे ॥ १६०॥

## द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने । तयोर्वचस्य पित्र्यं स्यातस्त गृह्धीत नेतरः ॥ १६१ ॥

(द्वाभ्यां जाती) दो पिताओं से उत्पन्न (द्वी तु यो स्त्रियाः धने विवदेयानाम्) दो पुत्र यदि स्त्री अर्थात् माता के धन के विषय में विवाद = अगड़ा करें तो (तयोः यत् यस्य नित्रं स्यात्) उनमें से जो जिसके पिता का धन हो (सः तत् गृह्णीत) वह उसे ही ग्रहण करें (इतरः न) दूसरे पिता से उत्पन्न पुत्र दूसरे का भाग न ले ॥ १६१ ॥

अर्जुर्गोल्डनः १४८ से १७५ तथा १७७-१६१ तक के सभी श्लोव निम्न 'ग्राधारों' के प्रनुसार प्रक्षिप्त हैं —

१. मन्तिबरोध-(१) १४८-१७५,१७७-१६१ इलोकों में म्रनेक वर्णों की बहुपत्नियों से उरपन्न पुत्रों के दायभाग का वर्णन है। एकसाथ बहुविवाह की मान्यता ही मनुविरुद्ध है। मनु एक समय में एक ही स्त्री से विवाह की आज्ञा देते हैं और वह भी प्रधानरूप से सवर्णी से [४।१६७]। मनु ने सर्वत्र एकवचन का प्रयोग करके एक ही पत्नी करने का भी संकेत दिया है [३।४-५; ७।७७]। (२) १५८-१७५, १७७-१८४, १६०-१६१ बलोकों में विणित दायभाग जन्मना वर्णां व्यवस्था से प्रभा-वित है। कुछ पुत्रों को दायभाग का अधिकारी नहीं माना ग्रीर प्रथम पुत्र के रहते ग्रन्य निम्तपुत्रों को स्रनिधकारी माना है। यह व्यवस्था भी मनुसम्मत नहीं है। मनु बीज को प्रधान मानते हैं [ १ । ३३-५६ ], बीज की प्रधानता होने पर जिससे जो पत्र हुआ वह उसी के स्तर की सन्तान होगी; उसमें उच्च-निम्न का क्या प्रश्न है ? मनू कर्मणा वर्णाव्यवस्था मानते हैं [द्रष्टव्य १।१६२-१०७ पर समीक्षा]। कर्मणा वर्णव्यवस्था में सभी पुत्र कर्मानुनार समान हैं। इन श्लोकों में पुत्रों में अन्तर मनुसम्मत नहीं है। (३) १८५ वें इलोक की व्यवस्था २११-२१२ के विरुद्ध है। (४) १८७-१८६ में बाह्मणों ग्रादि के धनप्रहुण का कथन ५। ३० के विरुद्ध है, वहां राजा को धन प्रहरा का प्रधिकार कहा है। (५) १६०-१६१ में क्षेत्रज पुत्र के लिए दायभाग का निषेध ह। १४४-१४६ के विरुद्ध है। (६) १४८-१७४, १७७-१८० ग्रादि में वर्णित पुत्रों के भेद मनुसम्मत नहीं हैं। मनु ने दायभाग में केवल तीन प्रकार के पुत्रों की स्थिति

स्वीकार की है। वे हैं १. ग्रौरस [१०४-१३८], २. दत्तक [१४१], ३. नियोगज [१४५-१४७], ग्रन्यभेद मनुविद्धित नहीं हैं।

- २. शैलीगत आधार—१५८ वें श्लोक में "आह स्वायंभुवः मनुः" पदों से स्वष्ट सिद्ध होता है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी अन्य परवर्ती व्यक्ति द्वारा रिचत है, अतः प्रक्षिप्त है। शेव १५६-१८४ श्लोक इसी पर आधारित हैं, इससे सम्बद्ध हैं, अतः इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर वे स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जायेंगे।
- ३. विषयितिरोध १४ = १७४, १७७ १ ४ क्लोकों में द्वादशिवध पुत्रों का वर्णं न है। १ - ६ में पिण्डदान का वर्णं न है। यह वर्णं न विषयसंकेतक क्लोकों [६।१०३, १२०] में प्रदक्षित विषय से बाह्य है। यहां विषय दायभाग-वर्णं न का है, पुत्र-भेद प्रदर्शन का नहीं। इस प्रकार विषयविरुद्ध होने से ये क्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- ४. प्रसंगिवरोध—(१) १५८-१७५, १७७-१८४ इलोकों में पुत्रों के जो भेद बतलाये हैं वे यदि प्रसंग के प्रारम्भ में विणित होते, तभी प्रसंग-सम्मत कहे जा सकते थे। बीच में पुत्रों का वर्णन ग्रसंगत है, ग्रतः प्रसंगिवरुद्ध है। (२)। १८५-१८६ में दायभागके कुछ विकल्प दिये हैं। ये विकल्प प्रसंगसमाप्ति पर होते तो संगत माने जा सकते थे। ग्रभी दायभाग का विधान शेष है, उससे पूर्व ही विकल्पों का वर्णन ग्रसंगत प्रतीत होता है। (३) १४७ की १७६ से विधानात्मक सम्बद्धता है [द्रष्टन्य १४७, १७६ पर ग्रमुशीलन] बीच के श्लोकों ने उस प्रसंग को भंग कर दिया है।
- ५. पुनरुक्ति— १६० वें श्लोक में वर्णित बातें ६। १२०, १४५, १४६ में ग्रा चुकी हैं। पुन: उसी बात को कहना पुनरुक्ति है, ग्रत: यह प्रक्षिप्त है। १६१ वां इससे सम्बद्ध होने के कारण प्रक्षिप्त है।

# [मातृधन का विभाग]

मातृघन को भाई-बहन बराबर बांट लें-

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः । भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१६२॥ (६१)

(जनन्यां संस्थितायां तु) माता के मर जाने पर (सर्वे सहोदराः च सनाभयः भगिन्यः) सत्र सगे भाई ग्रौर सब सगी बहनें (मातृकं रिक्थं समं भजेरन्) माता के धन को बरावर-बरावर बांट लें ॥ १६२ ॥

> यःस्तासां स्युदुं हितरस्तासामि यथाह्रतः । मातामह्या घरात्किचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १६३ ॥ (६२)

(तासां याः दुहितरः स्युः) उन सगी बहनों की जो पुत्रियां हों (तासां + ग्रपि यथार्हतः) उनको भी यथायोग्य (प्रीतिपूर्वकं माता- मह्याः धनात् किंचित् प्रदेयम्) प्रेमपूर्वक नानी के धन में से कुछ देना चाहिए ॥ १६३ ॥

स्त्रीधन छः प्रकार का---

ग्रध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकमंणि। स्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥१६४॥(६३)

(स्त्रीधनं षड्विधं स्मृतम्) स्त्रीधन छः प्रकार का माना गया है—१ (ग्रिध - ग्रिगि) विवाहसंस्कार के समय दिया गया धन, २. (ग्रिध + ग्रावा-हिनकम्) पति के धर लायी जाती हुई कन्या को प्राप्त हुग्रा पिता के घर का धन, ३. (प्रीति कर्मिण च दत्तम्) प्रसन्नता के किसी अवसर पर पित ग्रादि के द्वारा दिया गया धन, ४. (भ्रातृ-मातृ-पितृ-प्राप्तम्) भाई से प्राप्त धन, ५. माता से प्राप्त धन, ६. पिता से प्राप्त धन।। १६४।।

श्रन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् । पत्यौजीविति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१६५॥(६४)

(यत् अन्वाधेयम्) जो अन्वाधेय अर्थात् विवाह के पश्चात् पिता या पित द्वारा दिया गया है, वह धन (च) और (यत् प्रीतेन पत्या दत्तम्) जो प्रीतिपूर्वक पित के द्वारा दिया गया धन है (वृत्तायाः) स्त्री के मरने पर (पत्यौ जीवित) और पित के जीवित रहते भी (तत्धनं प्रजायाः भवेत्) वह धन सन्तानों का ही होता है।। १६५।।

बाह्यादि विवाहों में स्त्रीधन का ग्रधिकारी पति-

बाह्यदेवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु । स्रप्रजायामतीतायां भर्तु रेव तदिष्यते ॥ १६६ ॥ (६५)

(ब्राह्म-दैव-म्रार्ष-गान्धर्व-प्राजापत्येषु यत् वसु) ब्राह्म, म्रार्ष, गान्धर्व, प्राजापत्य विवाहों में जो स्त्री को धन प्राप्त हुम्रा है (म्रप्रजायाम् + म्राती-तायाम्) स्त्री के सन्तानहीन मर जाने पर (तत् भर्तुः + एव इष्यते) उस धन पर पति का ही म्रधिकार माना गया है ।। १६६ ।।

ग्रासुरादि विवाहों में स्त्रीधन के उत्तराधिकारी-

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । ग्रप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥१९७॥ (६६)

(यत् तु ग्रस्याः) ग्रौर जो इस (ग्रासुरादिषु विवाहेषु दत्तं धनं स्यात्) 'ग्रासुर' ग्रादि विवाहों में दिया गया धन हो (ग्रप्रजायाम् + ग्रतीतायाम्)

पत्नी के निःसन्तान मर जाने पर (तत् मात।पित्रोः इष्यते) वह धन स्त्री के माता-पिता का हो जाता है ।। १६७ ।।

> स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन। ब्राह्मणो तद्वरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत्।। १६८ ।।

(स्त्रियां तुयत् वित्तं पित्राटतं भवेत्) स्त्री को जो पिता के द्वारा दिया गया धन हो, उसके मरने पर (तत् ब्राह्मणी-कन्या हरेत्) उसके धन को ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न कन्या लेले (वा तत् अपत्यस्य भवेत्) अथवा उमी की पुत्री को वह धन मिलेगा।। १६८।।

# अन्य श्रीत्जना : १६८ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. श्रन्तिविरोध—इस श्लोक में बहुपत्नी-प्रथा की मान्यता है, यह मनुविरुद्ध है [४ । १६७-१६८]। ग्रतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है ।

स्त्रियां कुटुम्ब से छिपाकर धन न जोड़ें—

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद् बहुमध्यगात् । स्वकादि च वित्ताद्धिः स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥१६६॥(६७)

(स्त्रियः) स्त्रियां (कुटुम्बात् बहुमध्यगात्) बहुत सदस्यों के कुटुम्ब से चुपके से धन ले-लेकर (निर्हारं न कुर्युः) ग्रपने लिए धनसंग्रह ग्रौर व्यय न करें (च) ग्रौर (स्वकात् वित्तात् ग्रिपि हि) ग्रपने धन में से भी (स्वस्य भर्तुः + ग्रनाज्ञया) ग्रपने पति की ग्राज्ञा के बिना व्यय न करें ।। १६६ ।।

> पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो घृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥२००॥(६०)

(पत्यो जोवित) पित के जोते हुए (स्त्रीभिः यः ग्रलंकारः धृतः भवेत्) स्त्रियों ने जो भ्राभूषण धारण किये हैं, [पित के मर जाने पर्] (दायदाः तं न भजेरन्) माता-पिता के धन के ग्रधिकारी पुत्र ग्रादि [माता के जीवित रहते] उसको न बांटें (भजमानाः ते पतन्ति) यदि वे उन्हें लेते हैं तो 'पितत' = दोषी कहलाते हैं।। २००।।

धन के मनधिकारी विकलांग-

म्रनंशो क्लीबपतितो जात्यन्थबधिरौ तथा। उन्मक्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ (६६)

(क्लीब-पितती) नपुसक, (जाति + ग्रन्ध-विधरी) जन्म से ग्रन्धे ग्रीर बहरे (उन्मत्त-जड़-मूका: च) पागल, वज्रमूर्ख और गूगे (च) ग्रीर (ये केचित् निरिन्द्रियाः) जो कोई िकसी इन्द्रिय से पूर्ण विकलांग हैं श्रीर ग्रस-मर्थ हैं (ग्रनंशी) ये लूले लगड़े ग्रादि सब धन के हिस्सेदार नहीं होते, क्यों-कि ये धन की सुरक्षा ग्रीर उपयोग के श्रयोग्य होते हैं ।। २०१।।

इन्हें भोजन छादन देते रहें-

सर्वेषामि तु न्याय्यं दातुं शषत्या मनीविणा । ग्रासःच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददःद्ववेत् ॥२०२॥(७०)

किन्तु (मनोषिएगा) बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि (सर्वेषाम् + ग्रिप शक्त्या) इन सबको ययाशक्ति (ग्रास + ग्राच्छादनम्) भोजन, वस्त्र ग्रादि (ग्रत्यन्तम्) अनिवायं रूप से (दातुम्) देना ही (न्याय्यम्) न्यायो-चित है, (ग्रददत् हि पतितः भवेन्) इस प्रकार न देने वाला 'पतित' माना जायेगा ।। २०२ ।।

यद्ययिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन । तेषामुत्पन्नतन्त्नामपत्यं दायमर्हति ॥२०३॥ (७१)

(गदि क्लोबादीनां कथंचन दारै: ग्राथिता स्यात्) यदि नपुंसक ग्रादि इन पूर्वोक्तों को भी विवाह करने की इच्छा हो तो (तेषाम् + उत्पन्ततन्तू-नाम्) इनके उत्पन्न 'क्षेत्रज' = नियोगज पुत्र ग्रादि (ग्रपत्यम्) सन्तान (दायम् + ग्रहंति) इनके धन की भागी होती है।। २०३।।

सम्मिलित रहते बड़े भाई के कमाये धन की व्यवस्था-

यरिकचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति । मागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिताः ॥ २०४॥

संयुक्त रूप से (पितरि प्रेते) पिता के मर जाने के पदवात् (ज्येष्ठः) बड़ा भाई (यत् किंचित् धनम् + ग्रधिगच्छति) जो कुछ पैतृक धन प्राप्त करता है (तत्र) उसमें (यदि विद्यानुपालिताः) यदि विद्यासम्पन्त हों तो (यवीयसां भागः) छोटे भाइयों का हिस्सा होता है, मूर्लों ग्रौर ग्रनपढ़ों का नहीं ॥ २०४॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं मवेत्। समस्तत्र विमागः स्यादिषश्य इति धारए।।। २०५॥

संयुक्त रहते यदि (ग्रविद्यानां तु सर्वेषाम्) बिना पढ़े-लिखे सब भाइयों के (ईहात: चेत् धनं भवेत्) प्रयत्नों [खेती, व्यापार ग्रादि] से धन एकत्रित हुग्रा हो तो (तत्र ग्रपित्र्य: सम: विभाग: स्यात्) उसमें पितृधन को छोड़कर बाकी धन में सबका समान भाग होगा (इति धारणा) ऐसी मान्यता है।। २०४॥

# अनुर्योत्जनः : २०४-२०५ इलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. मन्तिवरोध — (१) इन श्लोकों में पैतृक सम्पत्ति में म्रतपढ़ों के भाग का निषेध, केवल पढ़े-लिखों का म्रधिकार, ये दोनों वातें पूर्वोक्त विधानों से भिन्न हैं मौर विरुद्ध हैं। पूर्वोक्त विभाजन के वर्णनों में इस प्रकार का कहीं निषेध नहीं है, द्रष्टव्य ६। १०४, १०५, ११२, ११६, ११७, १६२, २१८ म्रादि। (२) इससे पूर्व २०१-२०२ श्लोकों में धन के म्रनिधकारी व्यक्तियों की गणाना की है। वहां म्रनपढ़ों का परिगणन नहीं है। जबिक वहां 'जड़' शब्द का प्रयोग है। इससे सिद्ध है कि यह विधान मौलिक नहीं। यदि 'म्रनपढ़' म्रनिधकारी होते तो वहीं इन का वर्णन होता। इस प्रकार मन्ति विरोध के आधार पर ये प्रक्षिप्त हैं।

# विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्। मैश्यमौद्वाहिकं चैव माधुनिककमेव च ॥ २०६॥ (७२)

(विद्याधनम् मैत्र्यम् च स्रौद्वाहिकं च माधुपिकि कम् + एव) विद्या के कारण प्राप्त, मित्र से प्राप्त, विवाह में प्राप्त स्रौर पूज्यता के कारण स्रादर सत्कार में प्राप्त (यत् यस्य धनम्) जो जिसका धन है (तत् तस्य + एत भवेत्) वह उसी का ही होता है।। २०६।।

# भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मगा । स निर्भाज्यः स्वकादंशारिकचिद्दस्वोपजोवनम् ॥२०७॥(७३)

(भ्रातृणां यः तु स्वकर्मणा शक्तः) भाइयों में जो भाई ग्रपने उद्योग से समृद्ध हो ग्रौर (धनं न ईहेत) पितृधन का भाग न लेना चाहे तो (सः) उसको भो (स्वकात् + ग्रंशात् किंचित् उपजीवनं दत्त्वा) ग्रपने-ग्रपने पितृ-धन के हिस्सों से कुछ धन देकर (निर्भाज्यः) ग्रलग करना चाहिए, बिल्कुल विना दिये नहीं ॥ २०७॥

## म्रनुपच्निन्पतृद्रव्यं श्रमेण यदुपाजितम् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमहंति ॥ २०८॥ (७४)

(पितृधनम् अनुपष्टनन्) पितृ-धन को बिल्कुल भी उपयोग में न लाता हुन्ना यदि कोई पुत्र (श्रमेण यत् + उपाजितम्) केवल अपने परिश्रम से धन उपाजित करे तो (स्वयम् + ईहित-लब्धं तम्) ग्रपने परिश्रम से संचित उस धन में से (दातुम् अकामः) किसी भाई को कुछ न देना चाहे तो (न ग्रहंति) न देवे ग्रयात् देने के लिए वह बाध्य नहीं है ॥ २०६॥

> पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्युत्रेभंजेत्सार्धमकामः स्वयमजितम् ॥ २०६ ॥ (७५)

(गितातु) यदि कोई पिता (ग्रन् + ग्रवाप्तं पैतृकं द्रव्यम्) दायरूप में ग्रप्राप्त पैतृक धन ग्रर्थात् ऐसा धन जो है तो परम्परा से पैतृक, किन्तु किसी कारण से वह उसके पिता के ग्रधिकार में नहीं रहा, इस कारण उसे पैतृक दायभाग के रूप में भी नहीं मिला, उसको (तत् + ग्राप्नुयात्) यदि वह स्वयं ग्रपने परिश्रम या उपाय से प्राप्त करले तो (तत् स्वयम् + ग्रजितम् धनम्) उस स्वयं के परिश्रम से प्राप्त किये धन को [जैसे गिरवी रखा हुग्रा धन] (ग्रकामः) यदि वह न चाहे तो (पुत्रैः सार्धम् न भजेत्) ग्रपने पुत्रों में न बांटे ग्रर्थात् ऐसा धन पिता के द्वारा स्वयं किये हुए धन जैसा है। उसका देना, न देना या विभाजन करना पिता की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा चाहे कर सकता है।। २०६।।

पुन: एकत्र होकर पृथक् होने पर उद्घार भाग नहीं—

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्युनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठघं तत्र न विद्यते ।।२१०।।(७६)

सब भाई (विभनताः) एक बार विभाग का बंटवारा करके (सह-जीवन्तः) फिर सम्मिलित होकर (यदि पुनः विभजेरन्) यदि फिर प्रलग होना चाहें तो (तत्र समः विभागः स्यात्) उस स्थिति में सबको समान भाग प्राप्त होगा (तत्र ज्येष्ठघं न विद्यते) तब उसमें ज्येष्ठ भाई का 'उद्धार' भाग [१।११२-११५] नहीं होता।। २१०।।

भाई के मरने पर उसके धन का विभाग-

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । स्रियेतान्यतरो वाऽपि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥(७७)

(येषां ज्येष्ठ: वा कनिष्ठः) जिन भाइयों में से बड़ा या छोटा भाई ग्रंशप्रदानतः हीयेत) ग्रपने भाग से वंचित रह जाये, (ग्नियेत वा ग्रन्यतरः ग्रिप) मर जाये ग्रथवा ग्रन्य किसी गृहत्याग ग्रादि कारण से भाग न लेवे तो (तस्य भागः न लुप्यते) उसका भाग नष्ट नहीं होता ग्रर्थात् उसके पुत्र पत्नी ग्रादि को प्राप्त होता है।। २११।।

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृब्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥ (७८)

[यदि पुत्र, स्त्री म्रादि न हों तो] (सिहताः सोदर्याः) सभी सगे भाई (च) म्रीर (ये संसृष्टाः भ्रातरः) जो सिम्मिलत भाई (च) तथा (सनाभयः भिगन्यः) सब सगी बहनें हैं, वे (सिमेश्य) एकत्रित होकर (तं समं विभजेरन्) उस धन को समान-समान बांट लेवें।। २१२।।

कर्त्तव्यपालन न करने पर बड़े भाई को उद्घार भाग नहीं-

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातृन् यवीयसः । सोऽज्येष्ठः स्यादभागदच नियन्तस्यदच राजभिः ॥ २१३॥ (७६)

(यः ज्येष्ठः) जो बड़ा भाई (यवीयसः भ्रातृन् लोभात् विनिकुर्वीत) छोटे भाइयों को लोभ में श्राकर ठगे, पूरा भाग न दे तो (सः + श्रज्येष्ठः) उसे बड़े के रूप में नहीं मानना चाहिए (भ) श्रीर (श्रभागः स्यात्) उसे बड़े भाई के नाम का 'उढ़ार भाग' [६। ११२-१११] भी नहीं देना चाहिए (च) श्रीर (राजभिः नियन्तव्यः) वह राजा के द्वारा दण्डनीय होता है।। २१३।।

दायधन से वंचित लोग---

सर्व एव विकर्मस्या नार्हन्ति भ्रातरो घनम्। न चादत्वा क्रनिष्ठेम्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम्।। २१४।। (८०)

(विकर्मस्थाः सर्वे + एव भ्रातरः) [जुम्रा खेलना, चोरी करना, डाका डालना म्रादि] बुरे कामों में संलग्न रहने वाले सभी भाई (धनंन + म्रहंन्ति) धनभाग को प्राप्त करने के म्रधिकारी नहीं होते (च) ग्रौर (किनष्ठेम्यः म्रदत्त्वा) छोटे भाइयों को बिना दिये = बिना बांटे (ज्येष्ठः यौतकंन कुर्वीत) बड़ा भाई म्रपने लिए पितृधन में से म्रलग से धन न ले ।। २१४ ।।

पितृ-धन का विषम विभाजन न करे-

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता बद्यात्कयञ्चन ॥ २१४ ॥ (८१)

(म्रविभक्तानां भ्रातृणां यदि सह उत्थानं भवेत्) सम्मिलित रूप में रहते हुए सब भाइयों ने यदि साथ मिलकर घन इकट्ठा किया हो तो (पिता) पिता (कथञ्चन पुत्रभागं विषमं न दद्यात्) किसी भी प्रकार पुत्रों के भाग को विषम ग्रर्थात् किसी को ग्रधिक किसी को कम रूप में न बांटे, सभी को बराबर दे।। २१५।।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् । संमृष्टास्तेन वा स्युविभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥ (८२)

(विभागात् ऊर्ध्वं जातः तु) धन का बंटवारा करके [पिता की जीवित ग्रवस्था में ही ] पुत्रों के ग्रलग हो जाने पर यदि कोई पुत्र उत्पन्न हो जाये तो (पित्र्यम् + एव धनं हरेत्) वह पिता के धन को लेले(वा) ग्रयवा (ये तेन संसृष्टाः स्युः) जो कोई पुत्र पिता के साथ सम्मिलित रूप में रह रहे हों तो (सः तैः सह विभजेत) वह उन सबके समान भाग प्राप्त करे।। २१६।।

इकलौते सन्तानहीन पुत्र के धन का उत्तराधिकार-

# अनपरयस्य पुत्रस्य माता बायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥ (८३)

(ग्रनपत्यस्य पुत्रस्य दायम्) सन्तानहीन ग्रौर पत्नीहीन पुत्र के धन को (माता + ग्रवाप्नुयात्) माता प्राप्त करे (च) ग्रौर (मातरि + ग्रिप वृत्तायाम्) माता मर गई हो तो (पितुः माता धनं हरेत्) पिता की माता प्रयात् दादी उसके धन को ले ले ।। २१७ ।।

# ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि । पद्मवाद् दृद्येत यांत्किचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ।। २१८ ॥(८४)

(सर्वस्मिन् ऋ एो च धने) पिता के सारे ऋण ग्रीर घन का (यथा-विधि प्रविभक्ते) विधिपूर्वक बंटवारा हो जाने पर (यत् किचित् पदचात् इत्येत) यदि बाद में कुछ ऋ एा ग्रीर धन के शेष रहने का पता लगे तो (तत् सर्वं समतां नयेत्) उस सबको भो समान रूप में बांट लें।। २१८।।

### वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्तमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारं च न विमाज्यं प्रचक्षते ॥ २१६ ॥

(वस्त्रं पत्रम् + ग्रलंकारम्) वस्त्र, वाहृत, आभूषण (कृतान्तम् + उदकं स्त्रियः) पक्वान्त, जल, स्त्रियां (योगक्षेमं) कल्याणसाधक पुरोहित ग्रादि (च) ग्रीर (प्रचा-रम्) मार्गं, इनको (विभाज्यं न प्रचक्षते) बंटवारे के योग्य नहीं कहा है ग्रयत् ये जिसके पास जैसे हो रहते हैं॥ २१६॥

# अन्त्रा दिन्तः २१६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. अन्ति (चि — (१) २१६ वां क्लोक पिछले दायभाग के विधानात्मक क्लोकों के विरुद्ध है, क्योंकि उनमें समस्त पैतृक सम्पत्ति का विभाजन करने का कथन है [६। १०४, २१८]। (२) इस क्लोक में स्त्रियों को अविभाज्य कहने से प्रतीत होता है कि क्लोककार दासियों की प्रथा को स्वीकार करता है। यह प्रथा भी मनु के विरुद्ध है। मनु दासदासी-प्रथा को नहीं मानते। वें केवल शूद्ध को सेवक के रूप में स्वीकार करते हैं, वह भी उसकी इच्छा से [१।६१,६।३३४—३३५,१०।६६]। स्रतः यह प्रक्षिप्त है।

# [१८] द्यूत-सम्बन्धी विवाद का निर्णय [२२०—२५०]

म्रयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः । क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥ (८४)

(स्रयम्) यह [६। १०३ - २१६] (वः) तुमको (विभागः) दायभाग का विधान (च) स्रोर (क्षेत्रज + स्रादीनां पुत्राणां क्रियाविधिः) 'क्षेत्रज' स्रादि पुत्रों को [६। १४५ - १४७] धन का भाग देने की विधि (क्रमशः उक्तः) क्रमशः कही।

> द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् । राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ (८६)

(राजा) राजा (द्यूतम्) जड़ वस्तुग्रों से बाजी लगाकर खेले जाने वाले 'जुग्रा' को (च) ग्रौर (समाह्वयम् + एव) चेतन प्राणियों को दाव पर लगाकर खेले जाने वाले 'समाह्वय' नामक 'जुग्रा' को [२२३] (राष्ट्रात् निवारयेत्) ग्रपने देश से समाप्त कर दे, क्योंकि (एतौ द्वौ दोषों) ये दोनों बुराइयाँ (पृथिवोक्षितां राजान्तकरणों) राजाग्रों के राज्य को नष्ट कर देने वाली हैं।। २२१।।

अरन्त कारिला : (१) चूत से हानि—इस श्लोक के भाव को समभ्रत के लिए परवर्ती उदाहरण महाभारत के समय का दिया जा सकता है। चूत ग्रीर समाह्वय के व्यसन के कारण पाण्डवों को ग्रपनी इज्जत ग्रीर राज्य सब कुछ लुटाना पड़ा था। परिणाम-स्वरूप कौरवों-पाण्डवों में भयंकर महाभारत-युद्ध हुगा, जिसमें कौरवों का विनाश हुग्रा ग्रीर पाण्डवों को विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

(२) वेदों में जूए का निषेध—वेदों में जूए की तीव्र शब्दों में निन्दा की है ग्रौर निषेघ किया है। ऋक् १०। ३४ सूक्त में जुग्रारी की दुर्दशा का दयनीय वर्णन है। इस सूक्त के १३ वें मन्त्र में ग्रादेश है—

श्रक्षमा दीव्यः = जूग्रा मत खेलो।

जूग्रा एक तस्करी है-

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद् देवनसमाह्नयौ । तयोनित्यं प्रतीघाते नृपतियंत्नवान्भवेत् ।। २२२ ।। (८७) (यत् देवन-समाह्नयौ) ये जो 'जुग्रा' ग्रौर 'समाह्नय' हैं (एतत् प्रकाशं तास्कर्यम्) ये प्रत्यक्ष में होने वाली तस्करो = चोरी हैं (नृपितः) राजा (तयोः प्रतीघाते) इनको समाप्त करने के लिये (नित्यं यत्नवान् भवेत्) सदा प्रयत्नशील रहे।। २२२।।

द्युत ग्रीर समाह्वय में भेद--

ग्रप्राणिभियंतिक्रयते तल्लोके चूतमुच्यते । प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥ (८८)

(ग्रप्राणिभिः यत् क्रियते) बिना प्राणियों ग्रर्थात् जड़ [ताश, पासा, कौड़ी, गोटो ग्रादि] वस्तुग्रों के द्वारा बाजी लगाकर जो खेल खेला जाता है (लोके तत् 'ग्रूतम्' उच्यते) लोक में उने 'ग्रूतं — ज्रुग्रा कहा जाता है ग्रीर (यः तु) जो (प्राणिभिः क्रियते) चेतन प्राणियों [मनुष्य, मुर्गा, तीतर, बटेर, घोड़ा ग्रादि] के द्वारा बाजो लगाकर खेला जाता है (सः 'समाह्वयः' विज्ञेयः) उसे 'समाह्वय' कहा जाता है ॥ २२३॥

द्यूतं समाह्ययं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा। तान्सर्वान्घातयेद्वाजा शूद्रांक्च द्विजिलिङ्गिनः ।। २२४ ।। (८६)

(यः) जो मनुष्य (द्यूतं च समाह्वयम् + एव) 'जूम्रा' म्रीर 'समाह्वय' (कुर्यात् वा कारयेत) स्वयं खेले या दूसरों से खिलायें (राजा) राजा (तान् सर्वान्) उन सबको (च) ग्रीर (द्विजलिङ्गिनः शूद्रान्) कपटपूर्वक द्विजों के वेश धारण करने वाले शूद्रों को (घातयेत्) शारीरिक दण्ड [ताड़ना, ग्रंगच्छेदन] ग्रादि दे ।। २२४ ।।

कितवान्कु शीलवान्क्रूरान् पाखण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षित्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥२२४॥(६०)

ग्रीर (कितवान्) जुग्नारियों, (कुशीलवान्) ग्रसम्य नाच-गानों से जीविका करने वाले, (कूरान्) कूर = ग्रत्याचारी ग्राचरण वाले, (पाखण्ड-स्थान्) ढोंग ग्रादि रचकर रहने वाले, (विकर्मस्थान्) शास्त्रविरुद्ध बुरे कर्म करने वाले, (शौण्डिकान्) शराब बनाने-बेचने वाले (मानवान्) इन मनुष्यों को (पुरात् क्षिप्र निर्वासयेत्) राजा ग्रपने राज्य से जल्दी से जल्दी वाहर निकाल दे।। २२४॥

अन्तर र्यो ट्या : 'कुशीलव' का अर्थ — 'कुशीलव' का विग्रह है 'कुिस्ततं शीलम् 'कुशीलम्' कुशीलम् ग्रस्य ग्रस्ति तः कुशीलवः" [मत्वर्थीय 'व' प्रत्यय] ग्रर्थात् जिनका निन्दनीय स्वभाव ग्रीर चेष्टाएं हैं, ग्रसम्य या भौंडे ढंग के नाच गानों से जीविका

करने वाले या राज्य में इस बहाने से कोई घ्रहितकर बात फैलाने वाले व्यक्तियों को 'कुशीलव' कहा जाता है।

> एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्ततस्कराः । विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥ (६१)

(एते प्रच्छन्न तस्कराः) ये [ ६।२२६] छुपे हुए तस्कर=चोर (राष्ट्रे वर्तमानाः) राज्य में रहकर (विकमंक्रियया) गलत ग्रीर बुरे कामों को कर-करके (नित्यम्) सदा (राज्ञः) राजाग्रों ग्रीर (भद्रिकाः प्रजाः) सज्जन प्रजाग्रों को (बाधन्ते) हानि ग्रीर दुःख पहुंचाते रहते हैं ॥२२६॥

चूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्। तस्माद् चूतं न सेवेत हास्यायंमपि बुद्धिमान्।। २२७।। (६२)

(एतत् चूतम्) यह 'जूम्रा' (पुराकल्पे प्रहृत् वैरकरं दृष्टम्) म्रब से पहले समय में भी महान् कष्ट एवं शत्रुता पैदा करने वाला देखा गया है (तस्मात्) इसलिए (बुद्धिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (हास्यार्थम् + प्रिप चूतं न सेवेत) हंसी-मजाक में भी 'जूम्रा' न खेते ॥ २२७॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्तिषेवेत यो नरः। तस्य दण्डविकल्पः स्याणयेष्टं नृपतेस्तथा।। २२८।। (६३)

(प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा) छुपकर वा सबके सामने (यः नरः तत् निषेवेत) जो मनुष्य 'जूषा' खेले (तस्य दण्डविकल्पः) उसका दण्ड-विधान निश्चित नहीं है (नृग्तेः यथेष्ट स्यात्) राजा की इच्छानुसार उसका दण्ड होता है ग्रर्थात् जूग्रा ग्रसह्य दुष्कर्म है [२ १, २२४] उससे होने वाली हानि को देखकर राजा जो भो चाहे ग्रधिक दण्ड दे दे ॥ २२८॥

क्षत्रबिट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।

जुमनि को धीरे-धीरे चुका दे ग्रर्थात् ब्राह्मण से काम न कराये ॥ २२६ ॥

स्त्रीबालोग्मस्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम् । शिफाविदलरज्वाद्यैविदध्यान्नूपतिर्दमम् ॥ २३०॥

(स्त्री-बाल-उन्मत्त-वृद्धानाम्) स्त्रियाँ, बालक, पागल, वृद्ध, (दरिद्राणां च रोगिणाम्) गरीब ग्रौर रोगी इनको (नृपतिः) राजा (शिफा-विदल-रज्जु + ग्राद्यैः) बेंत, बांस, रस्सी म्रादि से ताड़ना करके ही (दमं विदध्यात्) दण्ड दे म्रथात् इन पर मर्थदण्ड भीर कार्यदण्ड न करे।। २३०।।

अन्य खोलना : २२६-२३० श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. विषयविरोध—(१) विषयसंकेतक श्लोक ६। २२० के अनुसार यहां विषय 'चूत-सम्बन्धी' विधानों का है। इन श्लोकों में उक्त सामान्य दण्डव्यवस्था उक्त-विषय के विरुद्ध है, अतः असंगत होने से ये दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। (२) २२६ वें श्लोक में अन्य वर्णों से काम करा लेना किन्तु ब्राह्मण से काम न कराने का कथन, पक्षपातपूर्ण दण्डव्यवस्था का द्योतक है, जबिक मनु सब के लिए पक्षपातरिष्ट्वत सर्वसामान्य समान दण्डों का विधान करते हैं [६। ३०७, ३११]; अपितु ब्राह्मण को अधिक समभदार और जिम्मेदार होने से अधिक दण्ड देने का विधान करते हैं [८। ३३८]। अतः यह पक्षपात पूर्ण व्यवस्था मनुविरुद्ध है।

# मुकद्दमों के भ्रन्त में उपसंहार

रिश्वत लेकर अन्याय करने वालों को दण्ड-

ये नियुक्तास्तु कार्येण हन्युः कार्याणि कायिणाम् ।

धनोध्मणा प्रथमानास्तान्तिःस्वान्कारयेन्तृपः ॥ २३१ ॥ (६४) (कार्येषु नियुक्ताः तुये) मुक्रह्मों के कार्यों में राजा द्वारा लगाये गये जो प्रधिकारी-कर्मचारी (धन + उष्मणा पच्यमानाः) धन की गर्मी प्रथीत रिश्वत ग्रादि के लालच में श्रासक्त होकर (कायिणां कार्याणि हन्युः) वादी-प्रतिवादियों के मुक्रह्मों को बिगाड़ें (नृपः) राजा (तान् निःस्वान् कारयेत्) उनकी सारी संपत्ति छीन ले ॥ २३१ ॥

अर्जु श्री ट्यन्तः मुहावरे का प्रयोग ग्रीर उसका ग्रयं—धनोष्प्रणा पच्यमानाः यह एक मुहावरा है, जिसका ग्रयं है 'धन के लालच में पड़ने वाले लोग' या 'रिश्वत हडपने वाले'। ऐसे रिश्वतखोर व्यक्तियों की राजा सम्पत्ति छीन ले।

क्षात्व ज्यारंच हन्याद् ।द्वट्सविनस्तथा ।। २३२ ।। (६५)

(च) ग्रीर (कूटशासनकर्तृन्) राजा के निर्णयों को कपटपूर्वक लिखने वाले, (प्रकृतीनां दूषकान्) प्रकृति = प्रजा, मन्त्री, सेनापित ग्रादि को [१।२१४] रिश्वत ग्रादि बुरे कार्यों में फंसाकर विगाड़ने वाले, (स्त्री-बाल-ज्ञाह्मण्डनान् च) स्त्रियों, बच्चों ग्रीर विद्वानों की हत्या करने वाले, (तथा) तथा (द्विट्-सेविन:) शत्रु से मिलकर उसका भला करने वाले,

इनको (हन्यात्) वघ से दण्डित करे ग्रर्थात् इनको कठोर से कठोर ग्रौर कष्टप्रद दण्ड देना चाहिए ।। २३२ ।।

ठीक निर्णय को किसी दबाव या लालच में ग्राकर न बदले ---

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यःद्भवेत् । कृतं तद्धमंतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ।। २३३ ।। (६६)

(यत्र क्वचन) जहां किसी मुकह्मे में (तीरितम्) ठीक निर्णय किया जा चुका हो (च) श्रीर (ग्रनुशिष्ट भवेत्) किसी दण्ड का ध्रादेश भी दिया जा चुका हो (धर्मतः तत् कृतं विद्यात्) धर्मपूर्वक किये उस निर्णय को पूरा हुग्ना जानना चाहिए (तत् भूयः न निवतंयेत्) उस मुकह्मे का पुनः निर्णय न करे [यह लोभ या ममत्व ग्रादि के कारण श्रथवा ग्रकारण निर्णय न बदलने का कथन है, कारण विशेष होने पर तो पुनः निर्णय का कथन किया गया है (८। ११७; ६। २३४)] ॥ २३३॥

ग्रमात्यों ग्रीर न्यायाधीशों को ग्रन्याय करने पर दण्ड---

भ्रमात्याः प्राङ्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा । तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥ (६७)

(ग्रमात्याः वा प्राड्विवाकः) मन्त्री ग्रथवा न्यायाधीश (यत् कार्यम् + ग्रन्यथा कुर्युः) जिस मुकद्दमे के निर्णय को गलत या ग्रन्यायपूर्वक कर दें तो (तत्) उस मुकद्दमे के निर्णय को (नृपितिः) राजा (स्वयं कुर्यात्) स्वयं करे (च) ग्रीर (तान्) ग्रन्यायपूर्वक निर्णय करने वाले उन ग्रधि-कारियों को (सहस्रं दण्डयेत्) एक हजार पर्ण [=। १३६] दण्ड से दण्डित करे।। २३४।।

पाँच महापातकी भ्रोर उनको दण्ड—-

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतत्पगः।

्राह्म करने वाले (च) ग्रीर (गुरुतल्पगः) गुरु की पत्नी से संभोग करने वाले (स्तेयी) चोरी करने वाले (च) ग्रीर (गुरुतल्पगः) गुरु की पत्नी से संभोग करने वाले (एते सर्वे नराः) ये सब मनुष्य (पृथक्) पृथक्-पृथक् (महापातिकनः ज्ञेयाः) महापातिकी = महा-पापी समभने चाहियें ॥ २३४ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धम्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥ (प्रयहिचत्तम् + म्राकुर्वताम्) प्रायहिचत न करने पर (एतेषां चतुर्णाम् + म्रिप्) इन चारों को ही राजा (धर्म्यम्) धर्मानुसार (धनसंयुक्तं शारीरं दण्डं प्रकल्पयेत्) धन-दण्डसहित शारीरिक दण्ड [६। २३७] देवे ॥ २३६॥

> गुरुतल्पे मगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः। स्तेये च स्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

(गुरुतल्पे भगः कार्यः) गुरुपत्नी के साथ संभोग करने पर व्यभिचारी के माथे पर भग = योनि का चिह्न दगवा देना चाहिये (सुरापाने सुराध्वजः) शराब पीने वाले के माथे पर सुरापात्र का चिह्न (स्तेये श्वपद कार्यम्) चोरी करने वाले के माथे पर कुत्ते के पंजे का चिह्न दगवा देना चाहिये (ब्रह्महणि + प्रशिराः पुमान्) ब्राह्मण की हत्या करने वाले के माथे पर सिरकटे मनुष्य का चिह्न दगवा देना चाहिये॥ २३७॥

ब्रसम्मोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठचाविवाहिनः। चरेषुः पृथिवीं दीनाः सर्वधमंबहिष्कृता।। २३८॥

ये सब (असम्भोज्याः) भोजन न कराने योग्य, (ग्रसंयाज्याः) यज्ञ श्रादि न कराने योग्य, (ग्रसंपाठचाः) न पढ़ाने योग्य, (ग्रविवाहिनः) विवाह न करने योग्य ग्रौर (सर्वधर्मबहिष्कृताः) सभी धर्मकार्यों से बहिष्कृत किये हुए होकर (दीनाः पृथिवीं चरेयुः) बेसह रों की तरह पृथ्वी पर घूमें ॥ २३८॥

ज्ञातिसम्बन्धिभस्त्येते त्यक्तव्याः कृतलक्षर्गाः । निर्वया निर्नमस्कारास्तन्मने रनुशासनम् ॥ २३६ ॥

(कृतलक्षागाः एते) चिह्नों से दागे हुए ये [६।२३७] व्यक्ति (ज्ञातिसम्बन्धिभः त्यक्तव्याः) रिश्ते-नातेदारों द्वारा भी छोड़ दिये जाने चाहियें ये लोग (निदंयाः) दया करने योग्य नहीं हैं (निनंमस्काराः) ग्रौर नमस्कार करने योग्य भी नहीं हैं (तत् मनोः +ग्रनुशासनम्) यही मनु का ग्रादेश है ॥२३६॥

प्रायदिचत्तं तुकुर्वाणाः सर्ववर्णा ययोदितम् । ताल्क्या राज्य ललाटे स्युर्वाप्याल्युलमसाहसम् ॥ २४० ॥

्यया क्रा क्रिया क्रिया क्रियाश्चित्तं तु कुर्वाणाः) प्रायश्चित्तं करते वाले (सर्ववर्णाः) सब वर्णं वालों को (राज्ञा ललाटे न + अङ्क्या) राजा माथे पर दार्ग न लगवाये (तु) किन्तु (उत्तमसाहसं दाप्याः स्युः) उन्हें केवल 'उत्तमसाहस' [६।१३६] से दण्डित करे॥ २४७॥

> म्रागःसु बाह्यगस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः। विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥ २४१॥

(सुब्राह्मणस्य) पूर्वोक्त [६।२३५] अपराधों को यदि कोई गुणवान् ब्राह्मण

श्रकामपूर्वक करे तो (मध्यमसाहस: ग्रागः कार्यः) उस पर 'मध्यमसाहस' दण्ड करे (वा) ग्रीर सकामपूर्वक करने वाले ब्राह्मण को (सपरिच्छदः) गृहवस्तुग्रों सहित (सद्रव्यः) धनसहित (राष्ट्रात् विवास्य भवेत्) राष्ट्र से निकाल देना चाहिए॥ २४१॥

### इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः । सर्वस्वहारमहेन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

(स्रकामतः एतानि) स्रकामपूर्वक पूर्वोक्त (पापानि कृतवन्तः इतरे तु) स्रपराधों को करने वाले इतर वर्णों स्रथीत् क्षत्रियों, वैश्यों स्रोर शूद्रों को (सर्वस्वहारम् + स्रहेन्ति) सर्वस्व हरण का दण्ड देना चाहिए (तु कामतः) किन्तु सकामपूर्व क करने वालों को (प्रवासनम्) [सर्वस्वहरण के साथ] देशनिकाला भी देना चाहिए ॥ २४२ ॥

### नावदीत नृपः साधुर्महापातिकनो धनम् । स्रावदानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

(साधु: नृप:) श्रेष्ठ राजा (महापातिकन: धनं न + ग्राददीत) महापातिकयों का धन [दण्ड, कर ग्रादि किसी भी रूप में] ग्रहण न करे (लोभात् तत् ग्राददान: तु) लोभवश उनके धन को लेने पर (तेन दोषेण लिप्यते) उस-उस महापातक दोष से युक्त होता है ॥ २४३॥ ०

## ब्रप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपारयेत्। श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत्॥ २४४॥

(तं दण्डम्) महापाति कियों पर किये गये जुर्माने से प्राप्त धन को (ग्रप्सु प्रवेश्य) जल में डालकर (वरुणाय + उपपादयेत्) वरुण देवता को ग्रिपित कर दे (वा) ग्रथवा (श्रुतवृत्त + उपपन्ने ब्राह्मणों) शास्त्रों के विद्वान् ग्रीर सदाचारी ब्राह्मण को (प्रतिपादयेत्) दे देवे ॥ २४४ ॥

## ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डघरो हिसः। ईशः सर्वस्य जगतो बाह्यणो देदपारगः।। २४४॥

(हि) क्योंकि (वरुण: दण्डस्य ईश:) वरुण देवता दण्ड के धन का स्वामी है, इस कारण (स:) वह वरुण (राज्ञां दण्डधर:) राजाओं के दण्ड-धन को लेने का अधिकारी है भ्रीर (वेदपारग: ब्राह्मण:) वेदों में पारंगत ब्राह्मण (सर्वश्य जगत: ईश:) सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है, ग्रत: वह भी दण्डधन को लेने का अधिकारी है।। २४४।।

### यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भुषो धनागमम्। तत्र कालेन जःयन्ते मानवा दीर्घजीविनः॥ २४६॥

(यत्र) जिस देश में (राजा) राजा (पापकृद्म्यः धन + ग्रागमं वर्जयते) महा-

पातिकयों से धनग्रहण नहीं करता (तत्र) उस राज्य में (मानवाः) मनुष्य (कालेन दीर्घजीविनः जायन्ते) समयानुसार उत्तरोत्तर दीर्घजीवी होते हैं॥ २४६॥

## निष्पचन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाञ्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

(विशाम् उप्तानि सस्यानि) वैश्यों द्वारा बोये गये अन्तादि के बीज (यथा पृथक् निष्पद्यन्ते) ठीक-ठीक और पृथक्-पृथक् सभी उत्पन्न होते हैं (च) और (बालाः न प्रमीयन्ते) बालक नहीं मरते (च) तथा (विकृतं न जायते) किसी को कोई रोगविकार नहीं होता ॥ २४७ ॥

## बाह्यराग्नियमानं तु कामादवरवर्गाजम् । हन्याच्यित्रवैषोषायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

(कामात्) जानबूक्षकर (ब्राह्मणान् वाधमानम्) ब्राह्मणों को वाधा = पीड़ा पहुँचाने वाले (ग्रवरवर्णजम्) शूद्र को (नृपः) राजा (उद्वेजनकरैः) व्याकुलता पैतर करने वाले (चित्रैः वध + उपायैः हन्यात्) ग्रनेक प्रकार के वध के उपायों से मार डाले ॥ २४८ ॥

आनुशिकार: २३४—२४८ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. विश्वयविरोध-विषयसंकेत श्लोक ६। २२० के ब्रनुसार यहां 'द्यूत-सम्बन्धी' विधानों का विषय है और विषयसंकेतक श्लोक ६। ७ तथा ६। २४० से यह संकेतित है कि ब्रठारह प्रकार के मुकद्मों में यह ब्रन्तिम मुकद्मा है तथा इसके वर्णन के पश्चात् केवल उपसंहारात्मक श्लोकों का वर्णन [६।२३१-२३४,२४६] ही संगत माना जा सकता है, अन्य नहीं। इन श्लोकों में द्यूतधर्म से तथा उपसंहार से बाह्य वर्णन है, ब्रतः ये सभी श्लोक विषयविरुद्ध प्रक्षेप हैं। पूर्व वर्णित ब्रपने-ब्रपने विषयों में ही इन दण्डों का कथन करना संगत था। ब्रौर विषयानुसार वहां-बहां इन सभी ब्रपराधों की दण्ड-व्यवस्था मनु ने पहले कह भी दी है, ब्रतः उनका यहां पुनःकथन वंसे भी ब्रनावश्यक है। (२) ७—६ ब्रघ्यायों में राजा की दण्ड-व्यवस्था है, प्रायश्चित्त की नहीं। ब्रतः २३६ में प्रायश्चित्त न करने पर ही दण्ड का विधान इस विषय के विरुद्ध है, राजा तो ब्रपने नियमानुसार दण्ड देगा ही। श्रौर प्रायश्चित्तों का वर्णन ११ वें ब्रघ्याय में होना चाहिए था। इस प्रकार भी ये विषय-विरुद्ध हैं।
- २. प्रसंगविरोध—२३४ ग्रौर २५० श्लोकों में सभी १८ मुकड्मों के पश्चात् उपसंहारात्मक वर्णन है। इन श्लोकों ने उस वर्णन-प्रसंग को भंग करके पूर्व ग्राये प्रसंगों का बीच में पुनःवर्णन किया है। प्रसंगभञ्जक होने के कारण ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
  - ३. ग्रन्तिविरोध—(१) इन ब्लोकों का ग्राधारभृत ब्लोक २३५ वांहै।इस

२३५ वं की मान्यता तत्तत् प्रसंगों में मनुविहित पूर्व मान्यताग्रों से मेल नही खाती। द। ३६६ में विशिष्ट ग्रपराधियों की गणना करते हुए मनु ने चोर, परस्त्रीगामी, दुष्टवाक्, लुटेरा ग्रीर हत्यारा, इन व्यक्तियों को विशिष्ट ग्रपराधी माना है। यहाँ विशिष्ट महापातिकयों का परिगणन उनसे भिन्नरूप में है। वहां सर्वमान्य ग्राधार पर विशिष्ट ग्रपराधियों का परिगणन है, जब कि यहां व्यक्तिपरक [केवल ब्राह्मण ग्रीर गुरु] ग्राधार पर है, जो उचित नहीं है। (२) इन क्लोकों में उक्त दण्ड-व्यवस्था भी पूर्वविहित दण्ड-व्यवस्था श्रों से भिन्न होने के कारण विषद्ध है। [यथा—हत्या ६। २६६-२६६, परस्त्रीगामी ६। ३५२-३७२, मद्यपी ६। २२५]। (३) २४१-२४२, २४६ में पक्षपातपूर्णं दण्ड-व्यवस्था है, जो ६। ३०७, ३११, ६। ३३५-३३६ की भावना एवं व्यवस्था के विषद्ध है। (४) ३४३ - ३४७ क्लोकों की व्यवस्था उन पूर्वोक्त सभी क्लोकों के विषद्ध है जिनमें ग्रपराधियों पर जुर्माना करने, सर्वस्वहरण करने की राजा को ग्राजा दी है [६। २६६, ३२०, ३२२, ३३५-३३६] आदि।

४. शैलीगत श्राधार—२२६ वें श्लोक में "तत् मनोः श्रनुशासनम्" पदों से स्पष्ट है कि यह श्लोक मनु से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति की रचना है, अतः यह प्रक्षिप्त है और इसके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर इससे सम्बद्ध यह सम्पूर्ण पूर्वापर प्रसंग स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाता है।

## यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे । श्रधमी नृपतेर्हृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४६ ॥ (६८)

(ग्रवध्यस्य वधे) ग्रदण्डनीय को दण्ड देने पर (नृपतेः) राजा को (यावान् + ग्रधमं: इष्टः) जितना ग्रधमं होना शास्त्र में माना गया है (तावान् वब्यस्य मोक्षणे) उतना ही दण्डनीय को छोड़ने में ग्रधमं होता है (विनियच्छतः तु धमंः) न्यायानुसार दण्ड देना ही धमं है।। २४६।।

## उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥ (६६)

(ग्रयम्) यह [८।१से ६।२४६ तक] (निथः विवदमानयोः) परस्पर विवाद = भःगड़ा करने वाले वादी-प्रतिवादियों के (ग्रष्टादशसु मार्गेषु) ग्रठारह प्रकार के (व्यवहारस्य निर्णयः) मुकद्दमों वा निर्णय (विस्तरशः उदितः) विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५०॥

# एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुवंन्महीपतिः। देशानलब्धांत्लिप्सेत लब्धांइच परिपालयेत्॥ २५१॥ (१००)

(एवम्) इस पूर्वोक्त कही विधि के ग्रनुसार (धर्म्याणि कार्याणि कुर्वन्) धर्मयुक्त कार्यों को करता हुग्रा (महीपितः) राजा (ग्रलब्धान् देशान् लिप्सेत) स्रप्राप्त देशों को प्राप्त करने की इच्छा करे (च) स्रौर (लब्धान् परिपालयेत्) प्राप्त किये देशों का भलीभांति पालन करे।।२५१।। राजा द्वारा लोककण्टकों का निवारण—(६।२५२ से ३२५ तक)

> सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥ (१०१)

राजा (सम्यक् निविष्टदेशः) ग्राच्छे सस्यादिसम्पन्न देश का ग्राश्रय करके (च) ग्रीर वहां (शास्त्रतः कृतदुर्गः) शास्त्रानुसार विधि [७। ६६] से किला बनाकर (कण्टकोद्धरणे) ग्रपने राज्य से कंटकों = प्रजा या शासन को पीड़ित करने वाले लोगों को [२४६-२६०] दूर करने में (नित्यम् उत्तमं यत्नम् + ग्रातिष्टेत्) सदा ग्रिधकाधिक यत्न करे।। २५२।।

अम्बुट्योट्डन: लोककण्टक से स्रमिश्रय—समाज की व्यवस्था, सुख, शान्ति में श्रपराध और नियमविरुद्ध कार्य करके पीड़ा = बाधा पहुंचाने वाले लोग 'लोककण्टक' कहलाते हैं। लोककण्टक शब्द का स्रथं भी यही है—'लोगों को कांटे की तरह चुभकर पीड़ा देने वाले'। इनकी गणना ६।२५६—२६० में की है।

> रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् । नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥ (१०२)

(म्रायंवृत्तानां रक्षणात्) श्रेष्ठ माचरण वाले व्यक्तियों की रक्षा करने से (च) म्रोर (कण्टकानां शोधनात्) कण्टकों =क्ष्टदायक दुष्ट व्यक्तियों को दूर करने से (प्रजापालनतत्पराः नरेन्द्राः) प्रजाम्रों के पालन करने में तत्पर रहने वाले राजा (त्रिदिवं यान्ति) विस्तृत राज्य के उत्तम सुख को भोगते हैं।। २५३॥

श्रान्त हों दिन : 'त्रिदिवं यान्ति' मुहावरा—'त्रिदिवं यान्ति' यह भी एक मुहावरा है जिसका अर्थ है 'त्रिदिवं प्राप्नुवन्ति' — तीनों लोकों के राज्य को प्राप्त करते हैं अर्थात् उनका राज्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। यह मुहावरा आजकल भी हिन्दी में इसी अर्थ में प्रचलित है।

अशासंस्तस्करान्यस्तु बॉल गृह्णाति पाथिवः । तस्य प्रक्षुम्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहोयते ।। २५४ ॥ (१०३)

(यः तु पार्थिवः) जो राजा (तस्करान् म्रशासन्) चोर [६।२५७] म्रादि को नियन्त्रित-दण्डित न करता हुम्रा (बर्लि गृह्णाति) प्रजाम्रों से कर मादि ग्रहण करता है (तस्य राष्ट्रं प्रक्षुम्यते) उसके राष्ट्रं में निवास करने वाली प्रजाएं क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती हैं (च) म्रीर वह (स्वर्गात् परि-हीयते) राज्यसुख से क्षीण हो जाता है।। २५४।।

अद्भू श्री टिंडन्स : तस्कर का श्रयं श्री र च्युत्पित्त— 'तस्कर' विशेष ह्य से उस चोर को कहतें हैं जो प्रकट श्रीर गुप्त प्रत्येक प्रकार की चोरी प्रत्यक्ष ठगीं, जाल-साजी अथवा लूट के रूप में करता है। जो धन को लूटने के लिए हर गलत उपाय को प्रयोग में लाने में विश्वास रखता है। निघंटु ३।२४ में कहा है— "तस्कर: स्तेननाम" = चोर का नाम तस्कर है, कैसा चोर होता है वह? "तस्कर: तस्करो मवित । करोति यत् पापकिमिति नैश्वता:। तनोतेर्वा स्थात्सन्ततकर्मा मवित अहोराश्रकर्मा वा" [निहु ३।१४] श्रयात् जो पापकर्मों में लगा रहता है, वह तस्कर कहलाता है। चोरी के कार्य का विश्तार करता है श्रयवा दिन में भी रात में भी समय श्रीर परिस्थित के श्रनुरूप हर समय किसी न किसी चोरी करने के काम में लगा रहता है।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितन् । तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥२५५॥ (१०४)

(यस्य बाहुबलाश्रितम्) जिस राजा के बाहुबल = दण्डशिवत के सहारे (राष्ट्रं निभयं तु भवेत्) राष्ट्रं प्रर्थात् प्रजाएं [चोर ग्रादि से | निभय रहती हैं (तस्य तत्) उसका वह राज्य (सिच्यमानः द्रुमः इव) सींचे गये वृक्ष की भाँति (नित्यं वर्धते) सदा बढ़ता रहता है।। २५५।।

दो प्रकार के तस्कर-

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् । प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुमहोपतिः ॥२५६॥ (१०५)

(चारचक्षुः महीपितः) गुप्तचर ही हैं नेत्र जिसके ग्रथित् गुप्तचरों के द्वारा सब प्रजा का काम देखने वाला राजा (प्रकाशान् च + ग्रप्रकाशान् परद्रव्य + ग्रपहारकान्) प्रकट ग्रीर गुप्त रूप से दूसरों के द्रव्यों को चुराने वाले (द्विविधान् तस्करान् विद्यात्) दोनों प्रकार के चोरों की जानकारी रखे।। २४६।।

> प्रकाशवञ्चकास्तेषां नातापण्योपजीविनः । प्रच्छन्नवञ्चकास्स्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥२५७॥ (१०६)

(तेषाम) उन दोनों प्रकार के चोरों में (नानापण्य-उपजीविनः प्रकाशवञ्चकाः) नाना प्रकार के व्यापारी जो देखते-देखते माप,तोल या मूल्य में हेराफेरी करके ठगते हैं वे 'प्रकट-चोर' हैं (ये) ग्रोर जो (स्तेन-ग्राटिवकादयः) जंगल ग्रादि में छिपे रहकर चोरी करने वाले हैं (ते) वे (प्रच्छन्नवञ्चकाः) 'गुप्तचोर' हैं ॥ २५७॥

लोककण्टकों की गणना---

उत्कोचकादचौपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा।

मङ्गलादेशवृतः इच भद्राश्चेक्षर्णिकः सह ॥ २५८ ॥ (१०७)

असम्यक्कारिए।इचैत्र महामात्रादिचकित्सकाः।

शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५६ ॥ (१०८)

एवम(दीन्विजानीयास्त्रकाशांल्लोककण्टकान् ।

निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यालिङ्गिनः ॥ २६० ॥ (१०६)

(उत्कोचकाः) रिश्वतखोर, (ग्रीपिधकाः) भय दिखाकर धन लेने वाने (वञ्चकाः) ठग, (कितवाः) 'ज्र्यां से धन लेने वाले, (मंगलादेश-वृत्ताः) 'तुम्हें पुत्र या धन प्राप्ति होगी' इत्यादि मांगलिक वातों को कहकर धन लूटने वाले, (भद्रःः) साधु-संन्यासी ग्रादि भद्ररूप धारण करके धन ठगने वाले, (ईक्षणिकः सह) हाथ खादि देखकर भविष्य बताकर धन ठगने वाले, (ग्रसम्यक् कारिएाः महामात्राः) धन, वस्तु ग्रादि लेकर गलत तरोकों से काम करने वाले उच्च राजकमंचारी [मन्त्री ग्रादि]. (चिकित्सकाः) अनु-चित मात्रा में धन लेने वाले या ग्रयोग्य चिकित्सक (शिल्पोपचारयुक्ताः) ग्रनुचित मात्रा में धन लेने वाले शिल्पो [चित्रकार ग्रादि], (निपुणाः पण्ययोषितः) धन ठगने में चतुर वेश्याएं (एवम्+ग्रादीन्) इत्यादियों को (च) ग्रीर (ग्रन्यान्) दूसरे जो (ग्रायंलिङ्गिनः निगूदचारिणः ग्रनार्यान्) श्रेष्ठों का वेश या चिह्न धारण करके गुप्तरूप से विचरण करने वाले दुष्ट या बुरे व्यक्ति हैं, उनको (प्रकाशान् लोककण्टकान् विजानीयात्) प्रकट लोककण्टक = प्रजाग्रों को पीड़ित करने वाले चोर समभे ।। २५६ - २६०।।

अप्रज्यू क्यी त्जिन्य: भ्रोपिषक का अर्थ — 'श्रोपिषक' का अर्थ 'किसी प्रयोजन से कोई जालसाजी रचकर भय दिखाकर धन लूटने वाला व्यक्ति' होता है। भ्राजकल की भाषा में इन्हें ब्लैकमेल (भयादोहन) करने वाले कहते हैं।

> तान्विदित्वा सुचरितेर्गू ढेस्तत्कर्मकारिभिः। चारैश्चानेकसंस्थानेः प्रोत्साद्य वशमानयेत्।। २६१।। (११०)

(तत् कर्मकारिभिः) जिस विषय में जानकारी प्राप्त करनी है वैसा ही कर्म करने में चतुर, (गूढेः) गुप्त रहने वाले (सुचरितः) ग्रच्छे ग्राचरण वाले (ग्रनेक संस्थानः) ग्रनेक स्थानों में नियुक्त (चारंः) गुप्तचरों के द्वारा (तान् विदित्वा) उन ठगों या लोककण्टकों को मालूम करके (च) ग्रौर फिर (प्रोत्साद्य) उन्हें पकड़कर (वशम्+ग्रानयेत्) ग्रपने वश में करे, कारागृह में रखे अर्थात् उन पर ऐसा नियन्त्रण रखे कि वे ये काम न कर पायें।। २६१।।

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यवसारापराधतः ॥ २६२ ॥ (१११)

(राजा) राजा (स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः तेषां दोषान् + ग्रिभिल्याच्य) जो-जो उन्होने बुरा काम किया है भलीभांति उनके दोषों को घोषणा करके (सार ग्रपराधतः) उनके बल ग्रौर ग्रपराध के ग्रनुसार (सम्यक् शासनं कुर्वीत) न्यायोचित दण्ड से दण्डित करे।। २६२।।

निह दण्डाहते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः। स्तेनानां पापबुद्धीनां निमृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥ (११२)

(स्तेनानाम्) प्रकट चोरों, (क्षितौ निभृतं चरताम्) पृथ्वो पर गुप्त-रूप से विचरण करने वाले चोरों या ग्रन्य ग्रपराधियों तथा (पापबुद्धीनाम्) पाप कर्म में बुद्धि रखने वालों के (पापविनिग्रहः) पापों पर रोक (दण्डात् +ऋते नहि कर्तुं शक्यः) दण्ड के बिना नहीं हो सकती, ग्रतः दण्ड देने में कभी प्रमाद या शिथिलता न करे।। २६३।।

गुष्तचरों द्वारा किन स्थानों से अपराधियों का पता लगाये—

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।

चतुष्पथाइचैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥ (११३)

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च।

ज्ञून्यानि च।प्यगार।णि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ (११४)

एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मेः स्थावरजङ्गमेः।

तस्करप्रतिषेघार्यं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥ (११४)

(सभा-प्रपा + प्रपूपशाला) सभाग्रों के ग्रायोजन स्थल, प्याऊ, माल-पूप्रा ग्रादि बेचने का स्थान [भोजनालय, हलवाइयों की दुकान ग्रादि], वेश-मद्य-प्रन्त-विक्रयाः) बहुरूपी वेशभूषा, मद्य तथा ग्रनाज बेचने का स्थान [मण्डी ग्रादि], (चतुष्पथाः) चौराहे, (चैत्यवृक्षाः) प्रसिद्धवृक्ष जहां लोग इक्ट्ठे होकर बंठते हैं, (समाजाः) सार्वजनिक स्थान, (प्रेक्षणानि) मनोरंजन के स्थान, (जीर्ण + उद्यान + ग्ररण्यानि) पुराने बगीचे ग्रौर जंगल, (कारुक + ग्रावेशनानि) शिल्पगृह = संग्रहालय ग्रादि (शून्यानि ग्रगाराणि) सूने पड़े हुए घर, (बनानि च उपवनानि) वन ग्रौर उपवन, (राजा) राजा (एवं विधान् देशान्) ऐसे स्थानों में (तस्करप्रतिषेधार्थम्) चोरों के निवारण के

लिए (स्थावर-जङ्गमैः गुल्मैः) एक स्थान पर (पुलिस चौकी बनाकर) रहने वाले ग्रौर गश्त लगाने वाले सिपाहियों के दलों को (च) ग्रौर (चारैः) गुप्तचरों को (ग्रनुचारयेत्) विचरण कराये या नियुक्त करे ।। २६४–२६६।।

> तत्सहायैरनुगतेर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेण्चेव निपुर्गः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ (११६)

(तत् सहायै: + अनुगतैः) उन चोर आदि के सहायकों और अनुगामियों से (नानाकर्मप्रवेदिभिः निपुणैः पूर्वतस्करैः) अनेक प्रकार के कर्मी को जानने वाले चतुर भूतपूर्व चोरों से भी (विद्यात्) चोरों का पता लगावे (च) और पता लगने पर उन्हें (उत्सादयेत्) दण्डित करे। । २६७।।

भक्ष्यभोज्योपदेशेश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । शौर्यकर्मापदेशेश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥ (११७)

वे सहयोगी या गुप्तचर लोग (भक्ष्य-भोज्य-प्रपदेशैः) खाने के पदार्थों का लालच देकर (च) ग्रौर (ब्राह्मणानां दर्शनैः) ब्रह्मवेता विद्वानों के दर्शनों के बहाने (च) तथा (शौर्यकर्म-प्रपदेशैः) कोई शौर्यकर्म दिखाने के बहाने से (तेषां समागमं कुर्युः) उन चोर ग्रादि को सिपाहियों से मिला दें, गिरफ्तार करादें।। २६८।।

ये तत्र नोपसर्वयुर्मू लप्रणिहिताश्च ये। तान्त्रसह्य नृपो हन्यात्सिमत्रज्ञातिबान्यवान् ॥ २६९ ॥ (११८)

(ये) जो चोर श्रीर उनके सहयोगी (तत्र न + उपसर्पेयुः) उपर्युक्त स्थानों [२६८] पर न श्रावें (च) श्रीर (ये) जो चोर (मूलप्रिणिहिताः) पकड़े जाने की शंका से सावधान होकर बचते रहें श्रयीत् पकड़ में न-श्रावें तो (नृगः) राजा (सिमित्र-ज्ञाति-बान्धवान् तान्) मित्र, रिक्तेदार श्रीर बान्धवों सिहत उन चोरों को (प्रसह्य) वत्रपूर्वक पकड़ कर (हन्यात्) दण्डित करे।। २६६।।

प्रमाण मिलने पर ही दण्ड दे---

न होढेन विना चोरं घातयेद्धार्मिको नृपः। सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन्।। २७०॥ (११६)

(धार्मिकः नृपः) धार्मिक राजा (होढेन विना) चोरी का माल म्रादि प्रमाणों के बिना (चौरं न घातयेत्) चोर को न मारे, किन्तु (सहोढं स+ उपकरणम्) चोरी का माल, भ्रोर सेंध मारने भ्रादि के भ्रोजार ग्रादि प्रमारा उपलब्ध होने पर (म्रविचारयन् घातयेत्) म्रवश्य दण्डित करे ॥ २७० ॥

चोरों के सहयोगियों को भी दण्ड दे -

ग्रामेष्ट्रिय च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डायकाञ्चर्वेव सर्वास्तानिय घातयेत् ॥ २७१ ॥ (१२०)

(च) ग्रौर (ग्रामेषु + ग्रिविये केचित्) गांवों में भी जो कोई (चौराणां भक्तदायकाः भाण्ड-ग्रवकाशदाः) चोरों को भोजन देने वाले, वर्तन ग्रौर स्थान-शरण देने वाले हों (तान् सर्वान् अपि घातयेत्) राजा उन सबको भी दण्डित करे।। २७१।।

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांद्रवैव चोदितान्। स्रम्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥ (१२१)

राजा (राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्) राज्य में रक्षा के लिए नियुक्त (च) स्रोर (सामन्तान् चोदितान्) सीमास्रों पर नियुक्त राजपुरुषों को (स्रम्या-घातेषु मध्यस्थान्) यदि चोरी स्रादि के मामले में मिला हुस्रा पाये तो उनको भी (चौरान् + इत द्रुतं शिष्यात्) चोर के समान ही शीझतापूर्वक दण्ड दे, शीझतापूर्वक इसलिए जिससे प्रजास्रों के मन में राजपुरुष होने के कारण छूट जाने का संदेह न पनपे।। २७२।।

> यदवापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः । वण्डेनैव तमप्योवेत्स्वकाद्धमद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥

(यः धर्मजीवनः) जो धर्म की ग्राजीविका करने वाला ग्रर्थात् वर्णों के धर्मों का उपदेश कर जीविका चलाने वाला ब्राह्मण (धर्मसमयात् प्रच्युतः) ग्रपनी धर्ममर्यादा से भ्रष्ट हो जाये तो (स्वकात् धर्मात् विच्युतं हि तम् + ग्रिप) ग्रपने धर्म से भ्रष्ट हुए उस ब्राह्मण की भी (दण्डेन + एव ग्रोषेत्) दण्ड से ही ताड़ना करे।। २७३।।

# अन्य हारित्जन्म : २७३ वां श्लोक प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगविरोध — यहां पूर्वापर-प्रसंग चोरों एवं चोरों के सहायकों ग्रादि की दण्डव्यवस्था का है। इस बीच धर्म से भ्रष्ट ब्राह्मण के लिए दण्ड का कथन प्रसंगविरुद्ध है। अतः यह रलोक प्रक्षिप्त है।

सामूहिक हानि होने पर सहयोग न करने वाले को दण्ड---

ग्रामघाते हितामङ्गे पथि मोषाभिवर्शने । शक्तितो नाभिषावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छवाः ॥ २७४ ॥ (१२२) (ग्रामघाते) चोर ग्रादि के द्वारा गांव को लूटने के मौके पर (हिता-भक्ते) निदयों के तोड़ने पर (पिथ मोष-ग्राभिदर्शने) रास्ते में चोर ग्रादि से मुकावला होने पर (शिक्ततः न + ग्राभिघावन्तः) यथाशिक्त दौड़कर रक्षा न करने वालों को (सारिच्छदाः निर्वास्याः) गृहसामग्री सहित उस देश से निकाल देवे ॥ २७४ ॥

अर्ज्य श्री टिंडन्य : हिता का अर्थ और ब्युत्पित — 'हिता' का अर्थ नदी है। 'हि गतो वृद्धों च' धातु से कत प्रत्यय, स्त्रीलिष्ट्र में टाप् से 'हिता' शब्द की सिद्धि होती है। 'हिन्वन्ति गच्छन्ति याः ताः नद्यः' इस विग्रह से बहने वाली-गति करने वाली हिता अर्थान् नदी होती है। नदियां सामुहिक उपकार करने के लिए होती हैं। इसलिए उनको तोड़ने वालो का सामुहिक रूप से ही विरोध करना चाहिए।

राज्ञः कोषापहत्र्वेच प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विधिर्वर्वेग्डेररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥ (१२३)

(राज्ञः कोषहर्त् न्) राजा के खजाने को चुराने वाले (च) स्रौर (प्रति-कूलेषु स्थितान्) राज्य के विरोधो कार्यों में संलग्न (च) तथा (स्ररी गाम् उपजापकान्) शत्रुस्रों को भेद देने वाले, इन्हें राजा स्रौर (विविधेः दण्डैः घातयेत्) विविध प्रकार के दण्डों से दण्डित करे।। २७४॥

विभिन्न ग्रपराधियों को दण्ड-

संधि छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः । तेषां छित्त्वा नृषो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥ (१२४)

(ये तस्कराः) जो चोर (रात्रो सिन्ध छित्त्वा) रात को सेंध मारकर (चीर्य कुर्वन्ति) चोरो करते हैं (नृपः) राजा (तेषां हस्तौ छित्त्वा) उनके हाथ काटकर (तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्) तेज शूलो पर चढ़ादे ।। २७६ ।।

ग्रङ्गः लीर्ग्र न्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरगौ तृतीये वधमहंति ॥ २७७ ॥ (१२५)

राजा (प्रन्थिभेदस्य) जेबकतरे चोर की (प्रथम ग्रहे) पहली बार पकड़े जाने पर (श्रङ्क्वा): छेदयेत्) श्रंगुलियां कटवादे (द्वितीये हस्तचरणी) दूसरी बार पकड़े जाने पर हाथ-पर कटवादे (तृतीये वधम् + अहंति) तीसरी बार पकड़े जाने पर वथ करने योग्य है।। २७७।।

> ग्रग्निदान्भक्तदाँश्चेव तथा शस्त्रावक।शदान्। संनिधातृंश्च मोषस्य हत्याच्चौरमिवेश्वरः॥ २७८॥ (१२६) (ईश्वरः) राजा (मोषस्य ग्रग्निदान् भक्तदान् शस्त्र-प्रवकाशदान्

च संनिधातृन्) चोरों को ग्रग्नि, भोजन, शस्त्र, स्थान देने वाले ग्रौर चोरी के माल को रखने वाले लोगों को भी (चौरम्+इव हन्यात्) चोर की तरह ही [ह । २७७ जैमे] दण्डित करे ।। २७८ ।।

# तडागभेदकं हन्यादप्तु शुद्धरुधेन वा। यद्वाऽपि प्रतिसंस्कुर्याद् दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७६ ॥ (१२७)

राजा (तडागभेदकं हन्यात्) प्रजा के लिए बने तालाब ग्रादि को तोड़ने वालों का वध करे (वा) ग्रथवा (ग्रप्सु शुद्धववेन) जल में डुबोकर या साधारण तरीके से मारे (यद् वा + ग्राप्त) यदि (प्रतिसंस्कुर्यात्) तोड़े हुए को पुनः ठीक करवा दे तो (उत्तमसाहसं दाप्यः) 'उत्तमसाहसं का दण्ड [६। १३६] करे।। २७६।।

#### कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् । हस्त्यदवरथहत् इच हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८०॥

राजा (कोष्ठागार-म्रायुधागार-देवतागार-भेदकान्) राज्य के अन्नभण्डारों, शस्त्रभण्डारों ग्रीर यज्ञशालाग्रों को तोड़ने वालों का (हस्ती-म्रश्व-रथ-हर्तृ न् च) ग्रीर हाथी, घोड़े, रथ चुराने वालों का (म्रविचारयन् हन्यात् - एव) बिना विचारे निश्चित रूप से वध ही करे।। २८०।।

#### अन्तुर्धोत्जनः २८० वां श्लोक निम्नप्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध—यहां पूर्वापर प्रसंग तालाब-हानि से सम्बद्ध दण्डों का है। इस बीच में उससे भिन्न वर्णन ग्रसंगत एवं पूर्वापर २७६, २८१ ब्लोकों के वर्णनक्रम का भञ्जक होने से यह ब्लोक प्रक्षिप्त है।

# यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्। स्रागमं वाऽप्यपा भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१॥ (१२८)

(यः तु) जो व्यक्ति (पूर्वनिविष्टस्य तडागस्य) किसी के द्वारा पहले बनाये गये तालाब का (उदकं हरेत्) पानी चुराले (वा) अथवा (अपाम् स् आगमं भिद्यात्) जल आने का रास्ता तोड़दे (सः पूर्वसाहसं दाप्यः) उमे 'पूर्वसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे ॥ २८१॥

# समुत्सूजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापितः । स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेतः ॥ २८२ ॥ (१२६)

(यः तु) जो व्यक्ति (ग्रनापित) आपत्काल के बिना अर्थात् स्वस्थ ग्रवस्था में (राजमार्गे) सड़क पर मुख्य रास्ते या गली पर (ग्रमेठ्य समुत्सू-जेत्) मल, मूत्र ग्रादि डाले तो (सः द्वी कार्षापएं। दद्यात्) उस पर दो 'कार्षापर्गा' [६। १३६] दण्ड करे (च) स्त्रीर (स्राशु स्रमेध्यं शोधयेत्) तुरन्त उस गन्दगी को साफ करवाये ।। २६२ ।।

# म्रापद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा । परिभाषग्मर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ।: २८३ ॥ (१३०)

(श्रापद्गतः) कोई रोगी या श्रापितग्रस्त व्यक्ति (वृद्धा गर्भिस्पी वा कारः) बृद्ध, गर्भवती या बालक राजमार्ग को गन्दा करें तो (परिभाषसम् न अहंन्ति) उनको उसके न करने के लिए कहे या फटकार दे (च) श्रीर (त्त् शोध्यन्) उसकी सफाई कराले (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रमर्यादा है।। २८३।।

# चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः । श्रमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥ (१३१)

(सर्वेषां चिकित्सकानाम्) सभी चिकित्सकों में (ग्रमानुषेषु मिध्या प्रचरताम्) पशुग्रों की गलत चिकित्सा करने वालों को (प्रथम: दम:) 'प्रथम-साहस' [द। १३६] का दण्ड करे ग्रौर (मानुषेषु मध्यम:) मनुष्यों की गलत चिकित्सा करने पर 'मध्यम साहस' का दण्ड करे।।। २८४।।

#### संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः। प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८४ ॥ (१३२)

(संक्रम-ध्वज-यष्टीनाम्) संक्रम ग्रर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है (च) ग्रीर (प्रतिमानां भेदकः) प्रतिमा= छटांक ग्रादिक बटखरे, जो इन तीनों को तोड़ डाले वा ग्रधिक न्यून करदेवे (तत् सर्वं प्रतिकुर्यात्) उनको उससे राजा बनवा लेवे (च) ग्रीर (पञ्चशतानि दद्यात्) जिसका जैसा ऐश्वर्य है, उसके योग्य दण्ड करे—जो दरिद्र होवे तो उससे पांच सौ पैसा राजा दण्ड लेवे; ग्रीर जो कुछ धनाढच होवे तो पांच सौ रुपया उससे दण्ड लेवे; ग्रीर जो बहुत धनाढच होवे तो पांच सौ ग्रथा उससे दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे।। २८४।। (द० शा० ५१, प० वि० १२)

# म्रदूषितानां द्रव्याणां दूषणे मेदने तथा। मणीनामपवेधे च वण्डः प्रथमसाहसः।। २८६॥ (१३३)

(म्रदूषितानां द्रव्याएगां दूषएगे) म्रच्छी वस्तुम्रों में खराब वस्तुम्रों की मिलावट करके उन्हें दूषित करने पर (तथा) तथा (भेदने) म्रच्छी दस्तुम्रों को त्रिगाड़ने पर (च) स्रोर (मिणीनाम् + ग्रपवेधे) मिण स्रादि रत्नों को तोड़ने-फोड़ने के स्रपराध में (प्रथमसाहसः दण्डः) 'प्रथमसाहस' [८। १३८] का दण्ड दे ।। २८६ ।।

# समैहि च विषमं यस्तु चरेद्वा मूल्यतोऽिय वा । समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ (१३४)

(यः तु) जो (नरः) मनुष्य (समैः) समानमूल्य वाली वस्तुग्रों के बदले (ग्रिप वा मूल्यतः) ग्रथवा सही मूल्य से (विषमं चरेत्) कम वस्तु देने का व्यवहार करे, (पूर्वं वा मध्यमम् + एव दमं समाप्नुयात्) 'पूर्वसाहस' या 'मध्यमसाहस' [८। १३८] दण्ड का भागी होता है।। २०७।।

नन्धनानि च सर्वािग राजा मार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन् विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥ (१३४)

(राजा) राजा (सर्वाणि बन्धनानि) कारागार स्रादि (बन्धनगृह) (मार्गे निवेशयेत्) प्रधान मार्गो पर बनवावे (यत्र) जहां (दुःखिता विकृताः पापकारिणः दृश्येरन्) हथकड़ी, बेड़ी स्रादि से दुःखी हुए, बिगड़ी हुई हालत वाले अपराधी लोग दिखाई देते रहें [जिससे कि जनता के मन में प्रपराधों के प्रति भय की प्रेरणा उत्पन्न होती रहें] ॥ २८८॥

प्राकारस्य च मेत्तारं परिखाणां च पूरकम् । द्वाराणां चैव भङ्कतारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८६॥ (१३६)

राजा (प्राकारस्य भेत्तारम्) नगर के परकोटे को तोड़ने वाले (च) ग्रौर (परिखाणां पूरकम्) नगर के चारों ग्रोर की खाई को भरने वाले (च) तथा (द्वाराणां भक्तारम्) नगर-द्वारों को तोड़ने वाले व्यक्ति को (क्षित्रम् + एव प्रवासयेत्) तुरन्त देशनिकाला दे दे ॥ २८६ ॥

> अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः। मूलकर्माणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ।। २६० ।।

(सर्वेषु ग्रभिचारेषु) सब प्रकार के मारण उपायः करने पर (मूलकर्मणि ग्रनाप्तैः) यदि वह व्यक्ति मरा न हो तो उस ग्रवस्था में [मरने पर ग्रन्य दण्ड है] (च) ग्रौर (विविधासु कृत्यासु) विविध प्रकार के वशीकरण, उच्चाटन ग्रादि द्वारा ठगी, घोखा आदि करने पर में (द्विशतः दमः कर्त्तव्यः) दो सौ पण दण्ड करना चाहिए॥ २६०॥

> म्रबीजविक्तयी चैव बीजोरकृष्टं तयैव च । मर्यादाभेदकदचैव विकृतं प्राप्तुयाद्वधम् ॥ २६१ ।।

(अवीजिधिक्यी) उत्पन्त होने की शक्ति से रहित बीजों को बेचने वाला (तथैव

वीजोत्कृष्टम्) उसी प्रकार खराब बीज को उत्तम कहकर बेचने वाला (च) ग्रौर (मर्यादाभेदकः) सीमाग्रों को नष्ट करने वाला (विकृतं वधं प्राप्नुयात्) विकार करने वाले [हस्तच्छेदन ग्रादि] दण्ड का अधिकारी होता है।। २६१।।

#### सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पायिवः । प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २६२ ॥

(सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु) सभी लोककण्टकों में सर्वाधिक पापी सुनार को तो (पाधिवः) राजा (ग्रन्थाये प्रवर्तमानम्) यदि वह सोना-चांदी ग्रादि की चोरी, हेराफेरी ग्रादि ग्रन्थाय करे तो (क्षुरैं: लवशः छेदयेत्) छुरों से टुकड़े-टुकड़े करवा देवे।। २६२।।

#### सीताद्रव्यापहरसे शस्त्रासामीवधस्य च। कालमासाद्य कार्यं चराजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २६३ ॥

(सीताद्रव्य - ग्रपहरणे) कृषि के हल ग्रादि साधन चुराने पर (शस्त्राणाम् च ग्रीषधस्य) शस्त्रों ग्रीर ग्रीषधियों के चुराने पर (राजा) राजा (कार्यं च कालम् + ग्रासाद्य) कार्य की गम्भीरता ग्रीर समय को देखकर (दण्डं प्रकल्पयेत्) दण्ड का निश्चय करे।। २६३।।

अनुश्रीत्जनः २६०-२६३ श्लोक निम्न 'ग्राघारों' के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगविरोध-२६० वें श्लोक का प्रसंग हत्या-विषय [८।२८६-२८८] में, २६१ इलोक का प्रसंग मिलावट विषय [८।२०३] में, २६३ वें श्लोक का प्रसंग चोरी विषय [८।२०१-३३८] में विणत हो चुका है। यदि ये श्लोक मौलिक होते तो उसी प्रसंग में इनका कथम उपयुक्त था।पूर्वोक्त प्रसंग को पुनः कहना प्रसंगविरुद्ध है, ग्रनः ये प्रक्षिप्त हैं।
- २. श्रग्तिकरोध २६२ वां क्लोक जन्मना वर्णव्यवस्था पर श्राधारित है, जबिक मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं। मनु की व्यवस्था में 'स्वर्णकार' नामक जाति या व्यवसायी पृथक् से कोई नहीं है। यह कार्य वैश्यों का है [६।३२६,३२६]। यह उस समय का परवर्ती प्रक्षेप है जब व्यवसाय के श्राधार पर जातियाँ बन गई थीं। इन प्रकार विरुद्ध होने से यह प्रक्षिप्त है।
- ३. पुनरुक्ति २६३ वां श्लोक ३२४ की ग्रिधिकांशतः पुनरुक्तिमात्र है। स्रतः इस ग्राधार पर भी प्रक्षिप्त है।

सात राजप्रकृतियां---

स्वाग्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तया । सप्त प्रकृतयो ह्याताः सप्ताङ्गं राज्यमुख्यते ॥ २६४ ॥ (१३७( (स्वामी-म्रमात्यो पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्) १-स्वामी, २-मन्त्री, ३-किला, ४-राष्ट्र, ५-कोश, ६-दण्ड म्रोर ७-मित्र (एताः सप्त प्रकृतयः) ये सात राजप्रकृतियां हैं (सप्ताङ्गं राज्यम् + उच्यते) इनसे युक्त होने से राज्य 'सप्ताङ्गं = सात म्रङ्गों वाला कहलाता है।। २६४।।

# सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्वचसनं महत् ॥ २६५ ॥ (१३८)

(राज्यस्य + म्रासां सप्तानां कृतीनां त्) राज्य की इन सात प्रकृतियों में (अथाक्रमं पूर्वं पूर्वं व्यसनं महत् गुरुतरं जानीयात्) क्रमशः पहली पहली प्रकृति-सम्बन्धी म्रायित को बड़ी समभे [जैसे—राजा से कम मन्त्री पर म्रापत्ति, मन्त्री से कम किले पर म्रापत्ति म्रादि] ।। २६५ ।।

# सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् । स्रन्योन्यगुरावैशेष्यान्न किचित्रतिरिच्यते ॥ २६६ ॥ (१३६)

(इह) इसमें (त्रिदण्डवत्) तीन पायों पर स्थित तिपाई के समान (सप्ताङ्गस्य विष्टब्यस्य राज्यस्य) सात प्रकृतिकारी ग्रंगों पर स्थित इस राज्य में (ग्रन्योन्यगुणवैशेष्यात्) सभी ग्रंगों के ग्रपनी-ग्रपनी विशेषताश्रों से युक्त ग्रौर परस्पर ग्राधित होने के कारण (किंवित् न ग्रतिरिच्यते) कोई ग्रंग किसो से विशिष्ट या कम नहीं है ग्रथीत् ग्रपने-ग्रपने प्रसंग में सभी का विशेष महत्त्व है।। २९६।।

# तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते। येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥ २६७॥ (१४०)

यतो हि (तेषु तेषु तु कृत्येषु) उन प्रकृतियों के ग्रपने ग्राने कार्यों में (तत्-तत् + प्रङ्गं विशिष्यते) वह-वह प्रकृति-ग्रग विशेष है (यत् कार्यं येन साध्यते) जो कार्य जिस प्रकृति से सिद्ध होता है (तिस्मन् तत् श्रेष्ठम् + उच्यते) उसमें वही प्रकृति श्रेष्ठ मानो गई है। ग्रयात् समागनुसार सभी प्रकृतियों की श्रेष्ठता है, ग्रतः किसो को कम महत्त्वपूर्ण समक्षकर त्याज्य न समकें।। २६७।।

# चारेगोत्साहयोगेन च क्रिययैव च कर्मगाम्। स्वर्शोक्त परशक्ति च नित्यं विद्यान्महीपतिः॥ २६८॥ (१४१)

(चारेण) गुप्तचरों से (उत्साहयोगेन) सेना के उत्साह सम्बन्ध से (च) ग्रीर (कर्मणां क्रियया) राज्यशक्ति-वर्धक नये-नये कार्यों के करने से (महीपितः) राजा (स्वशिंत च परशिंक्त नित्यं विद्यात्) स्रपनी शक्ति स्रोर शत्रुकी शक्ति की सदा जानकारी रखे ॥ २६८॥

> पोडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च। म्रारमेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम्।। २६६।। (१४२)

(सर्वाणि पीडनानि) प्रपने तथा शत्रु के राज्य में स्राई सभी व्याधि, आपित स्रादि पीड़ाम्रों का (तथंत्र व्यसनानि) तथा व्यसनों [७।४५-५३] के प्रसार को (च) भौर (गुरु-लाघवं संचिन्त्य) बड़े-छोटे सर्थात् स्रपने स्रीर शत्रु राजा में कौन कम-स्रिधक शक्तिशाली है (संचिन्त्य) इन वातों पर विचार करके (ततः कार्यम् + स्रारभेत) उसके पश्चात् राजा सन्धि-विग्रह म्रादि [७।१६०-२१०] कार्य को स्रारम्भ करे।। २६६।।

म्रारमेतेव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीनिषेवते ॥ ३०० ॥ (१४३)

(श्रान्तः श्रान्तः) बार-बार हारा-थका हुम्राभी राजा (कर्माणि पुनः-पुनः ग्रारभेत एव) कार्यों को [७।१६०-२००] फिर-फिर स्रवश्य ग्रारम्भ करे (हि) क्योंकि (कर्माणि +ग्रारभमाणं हि पुरुषम्) कर्मों को ग्रारम्भ करने वाले पुरुष को ही (श्रीः निषेवते) विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है।। ३००।।

राजा के शासन में ही चार युग-

कृतं त्रेतायुगं चैवः द्वापरं कलिरेव चः। राज्ञो वृत्तानि सर्वारिण राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥ (१४४)

(कृतं त्रेतायुगं द्वापरं च किलः) सतयुग, त्रेतायुग द्वापरयुग ग्रीर किलयुग (सर्वाणि राज्ञः वृतािन) ये सब राजा के ही ग्राचार - व्यवहार विशेष हैं अर्थात् राजा जैसा राज्य को बनाता है उस राज्य में वैसा ही युग बन जाता है (राजा हि युगम् + उच्यते) वस्तुतः राजा ही 'युग' कहलाना है ग्रर्थात् राजा ही युगनिर्माता है ॥ ३०१॥

> किलः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्। कर्मस्वम्युद्यतस्त्रेता विचरस्तु कृतं युगम्।। ३०२।। (१४५)

(प्रसुप्तः किलः भवित) जब राजा सोता है ग्रर्थात् राज्यकार्य में उपेक्षा बरतता है तो वह 'किलयुग' होता है, (सः जाग्रत् द्वापरं युगम्) जब वह जागता है ग्रर्थात् राज्य कार्य को साधारणतः करता रहता है तो वह 'द्वापरयुग' है, ग्रीर (कर्मसु + श्रम्युद्यतः नेता) राज्य ग्रीर प्रजा-हितकारी

कार्यों में जब राजा सदा उद्यत रहता है वह 'त्रेतायुग' है, (विचरन् तु कृतं युगम्) जब राजा सभी कर्त्तव्यों को तत्परतापूर्वक करे ग्रीर ग्रपनी प्रजा के दुःखों को जानने के लिए राज्य में तत्पर होते हुए उन्हें जानकर न्यायानुसार सुख प्रदान करने के लिए उद्यत रहे, राजा का यह सत्ययुग है।। ३०२।। राजा के ग्राठ रूप—

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च। चन्द्रस्याग्नेः पृथिय्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥ (१४६)

(नृपः) राजा (इन्द्रस्य + ग्रर्कस्य वायोः यमस्य वरुणस्य चन्द्रस्य + ग्रग्नेः पृथिज्याः तेजः वृत्तम् चरेत्) इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, ग्रग्नि, पृथिवो इनके तेजस्वो स्वभाव के ग्रमुसार ही ग्रावरण-व्यवहार करे [द्रष्टव्य ७ । ४—७] ।। २०३ ।।

अद्भारती ट्या अन्यत्र विशिष्ट मार्ग की पुष्टि—मनु ने सप्तमाध्याय में 'राजा में कौत-कौन से विशिष्ट गुण होने चाहिएँ' इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए भी इन गुणों का वर्णन किया है। मनु ने यह भाव वेदमन्त्रों से ग्रहण किया है। द्रष्टब्य हैं ७। ४-७ श्लोक ग्रीर उनकी समीक्षा में वेदमन्त्र।

राजा का इन्द्ररूप ग्राचरण---

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति । तथाऽभिवर्षेत्स्त्रं राष्ट्रं कामेरिन्द्रवृतं चरन् ॥ ३०४ ॥ (१४७)

(यथा + इन्द्रः वार्षिकान् चतुरः मासान्) जैसे इन्द्र [ = वृष्टिकारक शक्ति] प्रत्येक वर्ष के श्रावण ग्रादि चार मासों में (ग्रभिप्रवर्षति) जल वरसाता है (तथा इन्द्रवतं चरन्) उसी प्रकार इन्द्र के व्रत को ग्राचरण में लाता हुग्रा राजा (स्वं राष्ट्रं कामै: अभिवर्षेत्) ग्रपने राष्ट्र को प्रजाग्रों की कामनाग्रों को पूर्ण करे, यही राजा का इन्द्रवत् ग्राचरण है।। ३०४।।

राजा का सूर्यंरूप ग्राचरण—

**ब्र**ष्टो मासान् यथाऽऽदित्यस्तोयं हरति रिमभिः।

तथा हरेत् करं राष्ट्रान्नित्यमकंत्रतं हि तत्। ३०५॥ (१४८) (यथा + ग्रादित्यः) जैसे सूर्यं (रिश्निभः) ग्रपनी किरणों से (ग्रष्टी

मासान् तोयं हरति) ग्राठ मान तक जलग्रहणंकरता है (तथा) उसी प्रकार राजा (राष्ट्रात् नित्यं करं हरेत्) राष्ट्र से कर ग्रहण करे (ग्रकंत्रतं हि तत्) यही राजा का 'ग्रकंत्रत' है ॥ ३०४ ॥

राजा का वायुरूप ग्राचरण —

प्रविदय सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः। तथा चारैः प्रवेष्टच्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ ३०६॥ (१४६) (यथा मारुतः) जैसे वायु (सर्वभूतानि प्रविश्य) सब प्राणियों में प्रविष्ट होकर (चरित) विचरण करता है (तथा) उसी प्रकार (चारै: प्रवेष्टब्यम्) राजा को गुष्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश रखना चाहिए (एतत् हि मारुतं त्रतम्) यही राजा का 'मारुतव्रत' है।। ३०६।।

राजा का यमरूप ग्राचरण--

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमद्रतम् ॥ ३०७ ॥ (१५०)

(यथा यमः) जिस प्रकार यम = ईश्वर की नियामक शिक्त = (काले प्राप्ते) कर्मफल का समय ग्राने पर (िश्यद्वष्यो नियच्छिति) प्रिय ग्रीर शत्रु सवको ग्रपने वश में करके दण्डित करता है (राजा तथा प्रजाः नियन्त-व्याः) राजा को उसी प्रकार ग्रपराध करने पर प्रिय- शत्रु सभी प्रजाग्रों को न्यायपूर्वक पक्षपातरहित दण्ड देना चाहिए (तत् हि.यमव्रतम्) यही राजा का 'यमव्रत' है ।। ३०७ ।।

राजा का वरुणरूप ग्राचरण---

वरुऐन यथा पार्श्वेद्ध एवाभिदृश्यते । तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥ (१५१)

(यथा) जिस प्रकार ग्रपराधी मनुष्य (वरुणेन पार्शः वद्धः एव + ग्राभिड्यते) वरुण के द्वारा पार्शों से ग्रयांत् जलीय या समुद्र की तरंगों, भंवरों रूपी बंधनों में फंसकर जंसे मनुष्य बंधा-जकड़ा हुग्रा दोखता है प्रयांत् ग्रवश्य बंध जाता है (तथा) उसी प्रकार राजा भी (पायान् (निगृह्णीयात्) पापियों = अपराधियों को सुधरने तक साम-दाम-दण्ड-भेद ग्रादि से वग में करके या बन्धन में = कारागार में डाने रखे (एतत् हि वारुणं व्रतम्) यही राजा का 'वरुणव्रत' है। ३०८।

अत्युट्यो टिउन्सः वरुणपाश का म्रार्थ—'वरुणपाश' के यद्यपि प्रसंगानु-सार ग्रनेक ग्रार्थ होते हैं। यहां महाभूतादि दिव्यशक्तियों के गुणों से गाजा के गुणों की तुलना की है, ग्रतः यहां वरुण का जल ग्रार्थ ग्रहण किया जा सकता है। ग्रार जैसे जल की उत्ताल तरंगें या भवर किसी वस्तु या व्यक्ति को वश में करके फंसा लेती हैं, उसी प्रशाद विविध बन्धनों से राजा दुष्टों को वश में करे। यह वरुणपाश का ग्रालंकारिक ग्रमिप्राय है।

राजा का चन्द्ररूप ब्राचरण---

परिपूर्णं यथा चन्द्रं हब्द्वा हुब्यन्ति सानवाः । तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रवृतिको नृषः ॥ ३०६ ॥ (१५२) (यथा) जिस प्रकार (परिपूर्णं चन्द्रं दृष्ट्वा मानवाः हृष्यन्ति) पूर्णं चन्द्रमा को देखकर मनुष्य प्रसन्न होते हैं (तथा) उसी प्रकार (यस्मिन् प्रकृतयः) जिस राजा को पाकर-देखकर उस द्वारा प्रदत्त सुखों से प्रजाएं स्वयं को हिषत ग्रनुभव करें (सः नृपः चान्द्रवृतिकः) वह राजा का 'चन्द्रवृत' है।। ३०६।।

राजा का ग्रग्निरूप ग्राचरण---

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु। दुष्टसामन्त्रहिस्रदच तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम्॥ ३१०॥ (१५३)

राजा (पापकर्मसु) पापियों में—पाप करने वालों के लिये (नित्यम्) सदैव (प्रतापयुक्तः तेजस्वी स्यात्) संतापित करने वाला और तेज से प्रभा-वित करने वाला होवे (च) और (दुष्टसामन्तिहिस्रः) दुष्ट मन्त्री ग्रादि का मारने वाला होवे (तत् + ग्राग्नेयं वतं स्मृतम्) यही राजा का 'ग्राग्नेयवत' कहा है।। ३१०।।

राजा का घरारू । ग्राचरण-

यथा सर्वाणि भूतानि घरा घारयते समम्। तथा सर्वाणि भूतानि बिग्नतः पाथिवं व्रतम्।। ३१'।। (१५४)

(यथा) जिस प्रकार (धरा) धरती (सर्वा**रिण भूता**नि समं धारयते) सन प्राणियों को समानभाव से धारण करती है (तथा) उसी प्रकार (सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः) समान भाव से सभी प्राणियों को धारण-पोषण करने वाले राजा का (पार्थिवं व्रतम्) यह 'पार्थिव व्रत' होता है।। ३:१॥

> एतं रुपायं रन्यंश्व युक्तो नित्यमतन्द्रितः । स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥ (१४४)

(राजा) राजा (एतैः ⊹उपायैः च ग्रन्यैः युक्तः) इन पूर्वोक्त उपायों तथा इनसे भिन्न जो ग्रौर उत्तम उपाय हों उनसे युक्त होकर (नित्यम् – ग्रतन्द्रितः) सदा ग्रालस्यहीन रहता हुग्रा (स्वराष्ट्रे च परे ⊹एव) ग्रपने राष्ट्र में रहने वाते ग्रौर दूसरे राष्ट्र से ग्राकर चोरो करने वाते (स्तेनान् निगृ्ह्णीयात्) चोरों को वश में करे ॥ ३१२ ॥

ब्राह्म**ण् के क्रोध की उग्र**ना—

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्। ते ह्योनं कुपिता हन्युः सद्यः सदलवाहनम् ॥ ३१३ ॥ राजा (पराम् + म्रापदं प्राप्तः म्रपि) महाविपत्ति में पड़ जाने पर भी (ब्राह्मणान् न प्रकोपयेत्) किसी कारण ब्राह्मणों को कुषित न करे (हि) क्योंकि (कुषिताः ते) क्रोध में आर्थे हुए ब्राह्मण (सबल-वाहनम् एनं सद्यः हन्युः) बलवाली सेनाग्रों व वाहनों सहित राजा को तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥ ३१३ ॥

# यैः कृतः सर्वमश्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः। । क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नत्येत्प्रकोष्य तान्॥ ३१४॥

(यै:) जिन ब्राह्मणों ने [क्रोधित श्रवस्था में शाप देकर] (ग्रिग्नः सर्वभक्ष्यः कृतः) ग्रिग्न को सर्वभक्षी बना दिया (च) ग्रीर (महोदिधः ग्रपेयः) समुद्र को न पीने योग्य खारा पानी वाला बना दिया (ग्राप्यायितः सोमः क्षयी) पूर्ण चन्द्रमा को क्षीण होने वाला बना दिया (तान् प्रकोप्य) उनको क्रोधित करके (को न नश्येत्) कौन नहीं नष्ट हो जायेगा? ग्रथांत् सभी नष्ट हो जायेंगे।। ३१४।।

#### लोकानन्यान्मृजेयुर्ये लोकपालांटच कोपिताः । देवान्कुर्युरदेवांटच कः क्षिण्वंस्तान्समृष्टनुयात् ॥ ३१५ ॥

(ये) जो ब्राह्मण (कुपिताः) क्रोध में ग्राकर (ग्रन्यान् लोकान् च लोकपालान् सृजेयुः) दूसरे लोकों ग्रीर लोकपालों को रच देते हैं (देवान् ग्रदेवान् कुर्युः) देवताग्रों को देवत्व से नष्ट कर देते हैं (तान् क्षिण्वन्) उन ब्राह्मणों को हानि पहुँचाकर (कः समृध्नुयात्) कौन समृद्धि प्राप्त कर सकता है? ग्रथित् कोई नहीं।। ३१४।।

#### यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोकाः देवाश्च सर्वदा। ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः।। ३१६ ॥

(यान् उपाश्चित्य) जिनका सहारा लेकर (लोका: च देवा: सर्वदा तिष्ठिन्ति) लोक श्रीर देवता सदा टिके रहते हैं (च) श्रीर (येषां ब्रह्म एव धन्म्) जिनका वेद ही धन है (जिजीविषु:) जीने की इच्छा वाला (क: तान् हिंस्यान्) कीन व्यक्ति उनको कष्ट पहुंचायेगा ? श्रर्थात् कोई-नहीं ॥ ३१६॥

## म्रविद्वांश्चैव विद्वांश्च बाह्याणो दैवतं महत्। प्राणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निवेवतं महत्।। ३१७।।

(स्रविद्वान् च विद्वान् च) स्रविद्वान् हो या विद्वान् हो (ब्राह्मणः महत् दैवतम्) ब्राह्मण महान् देवता है (यथा) जैसे (प्रणीतः च + स्रप्रणीतः स्रिग्नः) शास्त्रविधि से प्रज्वलित की गई स्रिग्न स्रीर साधारण स्रग्नि (महत् दैवतम्) दोनों ही महान् देवता हैं।। ३१७।।

#### इमज्ञानेष्विप तेजस्वी पावको नैव बुष्यित । हूयमानक्व यज्ञेषु मूय एवामिवर्धते ॥ ३१८ ॥

(तेजस्वी पावकः) जैसे तेजस्वी ग्रग्नि (श्मशानेषु + ग्रवि न + एव दुष्यति)

इमशान स्थान में भी अपिवत्र नहीं होती (यज्ञेषु हूयमानः च) अपितु यज्ञों में ब्राहुति देने पर (भूय: एव + अभिवर्धते) और अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है ॥ ३१८॥

> एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वया ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्।। ३१६ ॥

(एवम्) उसी प्रकार (यद्यपि ब्राह्मणाः) यद्यपि ब्राह्मण लोग (ग्रनिष्टेषु सर्व-कर्मसु प्रवर्तन्ते) सभी बुरे कामों में प्रवृत्त होते हैं, तो भी (सर्वथा पूज्याः) वे सव स्थितियों में पूज्य हो हैं (हि) क्योंकि (तत् परमं दैवतम्) ब्राह्मण सबसे थेव्ठ देवता है ॥ ३१६॥

अन्तु श्रीत्जनः ३१७—३१६ श्लोकों को प्रक्षिप्त मानकर इन्हें उद्धृत करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है—

"सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जायें, इसलिए ऐसे-ऐसे ब्लोक गड़े गये। " ग्राम्त के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख वह साक्षात् देवता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी ब्लोक डालकर ग्रांग् नवीन रचनाएं करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई ग्रीर मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिये। " यदि दुष्टाचरण वाले ब्राह्मण की कोई निन्दा करता, तो उसको ब्रह्मविरोधी कहकर उसकी हड्डी-हड्डी निकाल लेते थे" (पूना प्रवचन पृ० १२४)

> क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य बाह्यशान्त्रति सर्वशः । ब्रह्मं व सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसं भवम् ॥ ३२०॥

(क्षत्रस्य ब्राह्मणान् प्रति म्रतिप्रवृद्धस्य) क्षत्रिय यदि ब्राह्मणों से ऊपर होकर उन्हें पीड़ित करने लगें तो (सर्वशः ब्रह्म + एव संन्नियंतृ स्यात्) सब प्रकार से ब्राह्मण ही उनको दण्डित करे (हि) क्योंकि (क्षत्रं ब्रह्मसंभवम्) क्षत्रिय ब्राह्मण से उत्पन्न हैं।। ३२०।।

> अद्भिचोऽग्निर्बाह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुस्थितम् । तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शास्यति ॥ ३२१ ॥

(ग्रद्भ्यः + ग्राग्नः) जल से अग्नि उत्पन्त हुई तै (ब्रह्मतः क्षत्रम्) ब्राह्मण से क्षत्रिय (ग्रद्भमनः लोहम् ने उत्थितम्)पत्थर से लोहा निकला है (तेषां सर्वत्रगं तेजः) इनका सब पर प्रभाव करने वाला तेज (स्वासु योनिषु शाम्यति) ग्रपने-ग्रपने उत्पत्ति-स्थानों को पाकर शान्त हो जाता है —प्रभावहीन हो जाता है ॥ ३२१॥

नावहा क्षत्रमृष्नोति नाक्षत्रं बहा वर्धते। बहा क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ ३२२॥ (ग्रबहाक्षत्रं न ऋष्नोति) ब्राह्मण के बिनाक्षत्रिय समृद्धिको नहीं प्राप्त कर सकता ग्रीर (न ग्रक्षत्र ब्रह्म वर्धते) न ही क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण वृद्धि को प्राप्त कर सकता है (ब्रह्म च क्षत्र संपृक्तम्) ब्राह्मण ग्रीर क्षत्रिय मिलकर ही (इह च + अमुत्र वर्धते) इस लोक ग्रीर परलोक में वृद्धि को प्राप्त करते हैं ॥ ३२२॥

## दत्त्वा धनं तु विप्रेम्यः सर्वदण्डसमुश्यितम् । पुत्रे राज्यं समामुज्य कुर्वीत प्रायएां रखे ॥ ३२३ ॥

(सर्वदण्डसमुत्थितं धनम्) सब जुर्मानों से प्राप्त हुग्रा धन (विप्रेम्यः दत्त्वा) बाह्मणों को दान देकर, ग्रौर (पुत्रे राज्यं समामृज्य) पुत्र को राज्य सौंपकर (रणे प्रायणं कुर्वीत) राजा युद्ध में प्राणत्याग करे ॥ ३२३ ॥

अन्तुर्शोत्जनः ३१३ से ३२३ इलोक निम्न श्राधारों के सनसार प्रक्षिपत हैं—

- १. अन्तिवरोध इन श्लोकों का यह सम्पूर्ण प्रसंग अन्तिवरंभ के ग्राधार पर प्रक्षिप्त है। (१) ३१३ में ब्राह्मण को ग्रत्यन्त कोधी होना कहा है, जब कि ११६६, २७, ६१६ में ब्राह्मण के लिए क्रोध सवंथा त्याज्य कहा है। मनु के मत में ऐसे स्वभाव के व्यक्ति ब्राह्मण ही नहीं कहला सकते। (२) ३१४-३१६ में समुद्र, चन्द्रमा, लोकपालों ग्रादि के निर्माता ब्राह्मणों को माना है, जबिक २।१६०, १७६; ४।१६३ में परमात्मा को ही इन पदार्थों का निर्माता कहा है। कोई मनुष्य इन पदार्थों का निर्माण करे, यह हास्यास्पद एवं मूर्खंतापूर्णं वचन है। ३१७-३१६ में ग्रविद्वान् श्रीर निन्दित कार्यं करने वालों को भी ब्राह्मण माना है, यह मनु की मौलिक व्यवस्था के ही विरुद्ध है। मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं [इष्टव्य १।१०७ की समीक्षा] श्रीर निन्दित कर्मों एवं स्वकर्मत्याग से शूद्रत्वप्राप्ति मानते हैं [२।१०३; ४।२४५; १०।६५]। (४) ३२३ में जुर्माने का धन ब्राह्मणों को देने का कथन है। इस प्रकार ये श्लोक तथा इनसे सम्बद्ध इस प्रसंग के ग्रन्थ श्लोक प्रक्षिप्त हैं।
- २. विषयविरोध विषयसंकेतक श्लोकों ६ । २५२-२५३ से यहाँ 'लोककण्टकों के निवारण' का विषय है । ये श्लोक प्रचलित विषय के विरुद्ध हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं ।
- ३. शंलीगत आधार—इन सभी श्लोकों की शैली पक्षपात एवं स्रतिशयोक्ति-पूर्ण है। मनु की शैली में ये त्रुटियौं नहीं हैं। इस प्रकार भी ये प्रक्षिप्त हैं।

# एवं चरन् सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः। हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्मृत्यान्नियोजयेत्॥ ३२४॥ (१५६)

(पार्थिवः) राजा (एवं चरन्) पूर्वोक्त [७।१ से ६।३१२] प्रकार से ग्राचरण करता हुग्ना (सदा राजधर्मेषु युक्तः) सदा राजधर्मों में स्वयं संलग्न रह कर (सर्वान् भृत्यान् एव) सभी राजकर्मचारियों को भी (लोकस्य हितेषु नियोजयेत्) प्रजाग्नों के हित-सम्पादन में लगाये।। ३२४।। वैश्य-शुद्रों के कर्त्तव्य-

एकोऽखिलः कर्मविधिरुवतो राज्ञः सनातनः। इमं कर्मविधि विद्यारक्रमञो वैश्यशुद्धयोः॥ ३२५॥ (१५७)

(एषः) यह [७।१से ६।३२४ तक] (राज्ञः सनातनः ग्रिखिलः कर्मविधिः उक्तः) राजा की सनातन ग्रीर सम्पूर्णकार्यं करने की विधि कही।

ग्रब (वैश्य-शूद्रयोः) वैश्यों ग्रौर शूद्रों की (कर्मविधि इमं विद्यात्) कर्त्तव्यों की विधि को इस ग्रागे कहे अनुसार जानें —[उनका वर्णन ग्रप्रिम ग्रध्याय में है] ।। ३२५ ।।

असन्तु श्री त्उन्त : नवम प्रध्याय के विभाजन पर विचार — वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृतियों में नवम अध्याय में ३३६ इलोक उपलब्ध होते हैं। सप्तम, प्रष्टम ग्रौर नवम ग्रध्याय के ३२५ इलोक तक राजनीति का विषय है। मनुस्मृति का ग्रध्याय-विभाजन भी प्रकरणानुसार हुआ है, किन्तु कुछ ग्रध्यायों के विभाजन में विभाजनकर्ता द्वारा भूलें हुई हैं, प्रकरण को समभे बिना ग्रध्याय-विभाजन कर दिया है [इस पर विस्तृत विवेचन सप्रमाण 'मनुस्मृति में ग्रध्याय-विभाजन' शीर्षक में 'मनुस्मृति-ग्रनु-शीलन' में किया गया है]। इसी प्रकार इस ग्रध्याय में भी भूल हुई है। राजधर्म विषय के साथ ६। ३२६ से ६। ३३६ इलोक जिनमें वैश्य-शूद्रों के कर्त्तव्यों का वर्णन है, मिला दिये हैं। इनके साथ ही चातुर्वर्ण्यं धर्म [२। १४४ (२। २५) से ६। ३३६ तक] समाप्त हो जाते हैं श्रीर किर दशम ग्रध्याय में चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार है। क्योंकि वैश्य-शूद्र धर्मवर्णन के ग्यारह इलोकों के प्रकरण का कोई एक ग्रध्याय उपयुक्त नहीं जचता, ग्रतः हमने इन इलोकों को दशम ग्रध्याय में उपसंहार-वर्णन के साथ सम्मिलित कर दिया है। ६।३२५ इलोक के कथनानुसार यहीं इस राजधर्मात्मक ग्रध्याय को समाप्त कर दिया है।

[नवम ब्रध्याय के ३२६ से ३३६ श्लोक दशम अध्याय के ब्रन्तर्गत देखिए]

इति महींब-मनुत्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृतिहन्दीमाबाभाष्यसमन्वितायाम् ग्रनुतीलन-समीक्षाविमूबितायाञ्च मनुस्मृतौ राजधर्मात्मको नवमोऽध्यायः ॥

# अय दशमोऽध्यायः

# [हिन्दीभाष्य-म्रनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः] (चातुर्वर्ण्य-धर्मान्तर्गत-वैश्य-शूद्र के धर्म एवं चातुर्वर्ण्य धर्म का उपसंहार)

वैश्यों के कर्त्तव्य--

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् । वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पञ्चनां चैव रक्षरणे ।। ६।३२६॥ (१)

(कृतसंस्कारः) यज्ञोपवीत संस्कारपूर्वक शिक्षा समाप्ति के पश्चात्, समावर्तन के अनन्तर (वैश्यः) वैश्य (दारपरिग्रहं कृत्वा) विवाह करके (वार्त्तायां च पशूनां रक्षणे नित्ययुक्तः स्यात्) व्यापार में और पशुपा-लन में सदा लगा रहे ॥ ३२६॥

> प्रजापितीं है वैश्याय सुब्ट्वा परिददे पश्चन् । ब्राह्मरणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ६ । ३२७ ॥

(प्रजापितः हि पशून् सृष्ट्वा वैश्याय परिददे) प्रजापित ने पशुओं को रचकर वैश्यों को सौंपा (च) ग्रौर (सर्वाः प्रजाः) सब प्रजाओं को उत्पन्न करके (ब्राह्मणाय च राज्ञे) ब्राह्मण ग्रौर क्षत्रिय को प्रजाएं सौंप दीं॥ ३२७॥

> न च वैश्यस्य कामः स्याग्न रक्षेयं पश्चिति । वैश्ये चेच्छति नाग्येन रक्षितच्याः कथंचन ॥ ६ । ३२८ ॥

('पशून् न रक्षेयम्' इति) 'मैं पशुम्रों की रक्षा नहीं करूं गा' ऐसी (वैश्यस्य कामः न स्यात्) वैश्य को इच्छा नहीं करनी चाहिए (च) ग्रौर (वैश्ये इच्छिति) वैश्य के द्वारा पशुपालन की इच्छा करते रहने पर (ग्रन्येन कथंचन न रक्षितव्याः) ग्रन्य वर्ण वालों को पशुपालन का कार्यं नहीं करना चाहिए।। ३२८।।

# अनुशर्रित्जनः ३२७-३२८ इलोक प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगविरोध-पूर्वापर प्रसंग वैश्यों के समग्र कत्तं व्यों के वर्णन का चल रहा है। इस बीच 'प्रजापित द्वारा पशुश्रों की उत्पत्ति ग्रादि का उद्देश्य' कथन प्रसंगभञ्जक एवं विरुद्ध है।
  - २. शैलीगत बाधार-इन श्लोकों की वर्णनशैली से यह ज्ञात होता है कि ये

श्लोक उस परवर्ती काल की रचनाएं हैं जब वैश्यों में पशुपालन के प्रति स्रव्हि होने लगी। मन्यथा जब वैश्य के ही ये कमें निर्धारित कर दिये हैं तो वे उनके द्वारा स्रवश्य करणीय हैं। उसमें प्रजापित का हवाला देने की स्रीर ३।३२८ के कथन की स्रावश्यकता ही नहीं रहती।

३. अर्ग्तिकरोध—३२ ८ वें श्लोक में यह कहना कि 'जब तक वैश्य पशुपालन करे तब तक ग्रन्य वर्ण वाले यह कार्य न करें' मनु की व्यवस्था के विरुद्ध है। पशुपालन वैश्यों का ही कर्त्तंव्य है [१।६०; ६।३२६], ग्रन्यवर्णों का नहीं। यदि वे ग्रपने कर्त्तंव्यों का पालन नहीं करेंगे तो उसका उपाय यह नहीं है कि उनको ग्रन्य वर्ण करने लग जायें, ग्रिपतु वे राजा के द्वारा दण्डनीय होंगे [७।१७,३४]। ग्रतः इस ग्राधार पर परस्पर सम्बद्ध ये दोनों श्लोक प्रक्षिपत हैं।

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम्।। ६।३२६।। (२)

वैश्य (मणि-मुक्ता-प्रवालानाम्) मणि, मोतो, प्रवाल ग्रादि के (लोहानाम्) लोहे ग्रादि घातुग्रों के (च) ग्रीर (तान्तवस्य) कपड़ों के (गन्धानां च रसानाम्) सुगन्धित कपूर, कस्तूरी ग्रादि पदार्थों के ग्रीर रस-रसायनों [पारा, नमक ग्रादि] के (ग्रध-बल-ग्रबलं विद्यात्) मूल्यों के कम-ग्रिधिक भावों को जानें।। ३२६।।

बीजानामुन्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च । मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांदच सर्वंशः ॥ ६ । ३३० ॥ (३)

वैश्य (बीजानाम् + उप्तिवित् स्यात्) सब प्रकार के बीजों को वोने की विधि को जानें (च) ग्रौर (क्षेत्र-दोप-गुणस्य) खेतों के दोष-गुणों को जानें (च) तथा (मानयोगम्) तोलने के बाटों (च) और (तुलायोगान्) तराजुग्रों से सम्बद्ध (सर्वशः जानीयात्) सभी बातों की जानकारी रखें ॥ ३३० ॥

> सारासारं च भाण्डानां देशाभां च गुणागुणान्। लाभालाभं च पण्यानां पश्चनां परिवर्धनम्।।६।३३१।। (४)

(भाण्डानां सार-ग्रसारम्) वस्तुग्रों के ग्रच्छे-बुरेपन को (देशानां गुरा-म्रवगुणान्) देशों के गुणों म्रोर दोषों को (च) ग्रोर (पण्यानां लाभ-म्रामम्) बेची जाने वाली वस्तुग्रों की लाभ-हानि को, तथा (पश्नां परिवर्धनम्) पशुग्रों के संवर्धन के उपायों को वैश्य लोग जानें।। ३३१।।

मृत्यानां च मृति विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् । व्रग्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥६।३३२॥ (४) (भृत्यानां भृतिम्) नौकरों के वेतन, (नृणां विविधाः भाषाः) विविध देशों में रहने वाले लोगों की विभिन्न भाषाएँ (द्रव्याणां स्थान-योगान्) वस्तुग्रों के प्राप्तिस्थान तथा मिश्रण ग्रादि की विधियाँ (च) ग्रौर (क्रय-विक्रय+एव) खरीद विक्रो की विधि, इसको (विद्यात्) जानें।। ३३२।।

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् । दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेष प्रयत्नतः ॥ ६।३३३ ॥ (६)

वैश्य इस प्रकार [१।३२६-३३३] (धर्मेण) धर्मपूर्वक (द्रव्यवृद्धी उत्तमं यत्नम् + म्रातिष्ठेत्)पदार्थों को वृद्धि के लिए म्रधिक से म्रधिक यत्न करे (च) भीर (सर्वभूतानां प्रयत्नतः म्रन्नम् + एवं दद्यात्) सब प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक मन्न उपजाकर देता रहे ।। ३३३ ।।

वित्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।

शुश्रूषेव तु श्रूद्रस्य धर्मी नैश्श्रेयसः परः।। ६।३३४।। (७)

(वेदविदुषां विप्राणाम्) वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों (यशस्विनां गृहस्था-नाम्) यशस्वो गृह स्थियों की (शुश्रूषा + एव तु) सेवा करना ही (शूद्रस्य नैश्श्रेयसःपरः धर्मः) शूद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है।। ३३४।। शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति—

शुचिरुत्कृष्टशुभूषुर्मृ दुवागनहंकृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ६ । ३३५ ॥ (८)

(शुचिः) शुद्ध-पितत्र [शरीर एवं मन से], (उत्कृष्टशुश्रूषुः) अपने से उत्कृष्ट वर्ण वालों की सेवा करने वाला, (मृदुवाक्) मधुरभाषी (अनहंकृतः) अहंकार से रहित (नित्यं ब्राह्मण्+आदि-आश्रयः) सदा ब्राह्मण् आदि तोनों वर्णों की सेवा में संलग्न शूद्र भी (उत्कृष्टां जःतिम्+ अश्नुते) उत्तम ब्रह्मजन्मान्तगंत द्विजवर्णं को प्राप्त कर लेता है।। ३३५।।

अवस्तु श्री टिंडन्ड: (१) शूद्र को उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति — इन श्लोकों के वर्णन से मनु की शूद्र के प्रति यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि वे शूद्र को हीन नहीं मानते ग्रपितु पित्र, उत्कृष्ट ग्रीर उत्तम कर्मों से उच्चवर्ण प्राप्त करने का ग्रधिकारी मानते हैं। यह मान्यता १०।६५ में भी विणित है। न पढ़ने के कारण ही व्यक्ति शूद्र कहाता है, जन्मना नहीं। यही मनु की मान्यता है। इस विषय पर विस्तृत विवेचन १।३१,६१ पर तथा १।१०७ की ग्रन्तिवरोध समीक्षा में देखिए।१।६१ में शूद्र के के कर्म का वर्णन है।

(२) वेदों में शूद्र को यज्ञ झादि का विधान— ऋक्०१०।५३।४-५ में "पञ्चजनाः ममहोत्रं जुषव्वम्" कहकर शूद्र को भी यज्ञ करने का झादेश है। निरुक्त ३।२।७ में 'पञ्चजनाः' की व्याख्या में ब्राह्माएा, क्षत्रिय, वैदय, शूद्र झीर निरामिष-भोजी निषाद की गएना की है [विस्तृत विवेचन भूमिका में शूद्र विषय में द्रष्टव्य है]।

#### एवोऽनापि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुमः। स्रापद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तिग्नबोधसः॥ ६ । ३३६ ॥

(एषः) यह (स्रनापित) आपित्तकाल न होने पर (वर्णाना शुभः कर्मविधिः उक्तः) सव वर्णों की शुभ कार्यविधि कही।

स्रव (तेषाम् स्रापदि + स्रिपि यः) उन्हीं वर्णं वालों की स्रापत्कालीन जो कर्म-विधि है (तत् क्रमशः निवोधत) उसको क्रमशः सुनो--।। ३३६॥

आनुश्रीत्उन्तः यह श्लोक (१।३३६ वां श्लोक) निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है।

१. विषयितरोध—(१) यद्यपि इस श्लोक में पूर्व प्रघ्यायों की भांति वर्णित विषय की तथा ग्रगले ग्रघ्याय के विषय का निर्देश किया गया है। किन्तु १० वें ग्रघ्याय में ग्रापत्कालीन कार्यों का वर्णन न होने से यह श्लोक ग्रसंगत है। इस बात की पुष्टि दशमाघ्याय के ग्रन्तिम श्लोक (१०। १३१) से स्पष्ट रूप से हो रही है—

#### एव धर्मविधिः कृत्स्नवचातुर्वण्यंस्य कीर्तितः।

ग्रयत् दशमाध्याय में चारों वर्णों के सामान्य धर्म ग्रयवा कर्त्तव्य घर्मों का ही विधान है।

(२) नवम-दशम श्रघ्यायों की विषयवस्तु को देखकर यह स्पष्ट होता है कि चातुर्वण्य-घर्मविधि के ग्रन्तर्गत ही राजधर्म (क्षित्रियधर्म) का वर्णन् नवमाध्याय में (१। ३२४ श्लोक तक) करके ग्रागे दूसरे वर्णों के कर्मविधान किये हैं। इसलिये हीं १।३२४ में कहा है—

#### इमं कर्मविधि विद्यात् कानशो वैश्यशूद्रयोः।

स्रर्थात् राजधर्मं का वर्णन करके स्रब वैश्य-शूद्धों के कर्मों का विधान स्रागे करेंगे। स्रोर इस चातुर्वण्यं कर्मविधि का ही उपसंहार १०। १३१ में किया है। स्रतः नवम-दशम स्रव्यायों का पृथक् से विभाग जिसने भी किया है, उसने विषयवस्तु का ध्यान बिल्कुल भी रहीं रखा है।

(३) इन अध्यायों के वण्यं-विषय को ध्यान में रखकर चिन्तन करने से यह भी स्पष्ट होता है कि दोनों ग्रध्यायों के विषय-समाप्ति का सूचक श्लोक १०।१३१ है। इससे नवमाध्याय के ग्रन्तिम श्लोक को प्रक्षिप्त मानने से मनु के विषयनिर्देशक श्लोक का जो ग्रभाव खटकता है, वह भी नहीं रहता। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने के बाद किसी ने इन श्लोकों का बड़ी चतुरता से मिश्रण किया है। नवम-अध्याय के ग्रन्त में विषय का निर्देश करके दशमाध्याय के १३० श्लोक में विषय की समाप्ति की सूचना देते हुए लिख दिया है—

#### एते चतुर्णां वर्णानामायद्वर्माः प्रकीर्तिताः। यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम्।।

यदि इस श्लोक को सत्य माना जाये तो १०। १३१ वाँ श्लोक निर्यंक है और १२६ वें श्लोक में ग्रगले ग्रध्याय के विषय का निर्देश न होने से यह श्लोक मनु की शैली का नहीं है।

- २. अन्तर्विरोध—(१) १०।१३० श्लोक में कहा है कि इन ग्रापद्धमों को ग्रन्-ब्ठान करते हुए सब वर्णों के मनुष्य परमगति = मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। यदि ग्रापद्धमों के अनुष्ठान से मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है, तो सामान्य धर्मों का क्या फल होगा? ग्रतः यह ग्रतिशयोक्तिपूर्ण प्रथंवाद मन् की शैली से विरुद्ध है ग्रीर यदि ग्रापद्धर्म को मनुप्रोक्त माना जाये, तो भ्रापद्धर्म की परिभाषा क्या होगी ? श्रीर वह कितने समय तक मानी जाये ? श्रौर यह भी विचारना होगा कि क्या ये श्रापद्धर्म व्यावहारिक भी हैं या नहीं ? प्रापद्धमं में पडकर ब्राह्मण वैश्य के कृषि ग्रादि कर्म बिना साधनों के कैसे कर सकेगा ? श्रीर कृषि का फल तो तुरन्त नहीं मिलता, क्या तब तक वह श्रापत्काल में पड़ा हम्रा भुखा ही रहेगा? श्रीर यदि लेती श्रादि साधनों को जुटा लेता है, तो श्रापद्धमं ही क्या रहा? उपनिषद् में श्रापद्धर्म का एक उदाहरए। दिया गया है कि ऋषि ने श्रापत्काल में झठा ग्रन्न तो खालिया किन्तु झठा जल नहीं पिया। ग्रतः ग्रापरकाल को दीर्घकालीन मानकर कृषि स्रादि कार्यों की बात जन्ममूलक वर्णव्यवस्था को स्पष्ट करती है। ग्रीर यह मान्यता मनुकी नहीं है। मनुने कर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानी है। ग्रीर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शुद्र की त्राजीविका का श्वार वैश्य के ऊपर होता है। ग्रकालादि की दशा में धान्यादि के ग्रभाव में यह ग्रापत्ति आ सकती है, ग्रथवा शत्रुके हमला करने पर स्राजीविका का कष्ट हो सकता है। उस दशा में ब्राह्मण भी कृषि म्रादि कार्यं कैसे कर सकेगा ? [द्रव्यव्य १। १०७ पर कर्मणावणंव्यवस्था विषयक समीक्षा]।
- (२) दशमाष्याय में वर्णों के आपत्कालीन कमों का कथन मानना ठीक नहीं है। क्यों कि उनमें आपत् शब्द नहीं है, अतः स्पष्ट है कि इस अध्याय में चारों वर्णों के कमों के अन्तर्गत वैश्य व शूद्र के कमों का ही वर्णन किया गया है कि इन कमों को आजीविका के लिये करे और इनको धर्म मानकर। और चातुर्वर्ण्य धर्म से भिन्न वर्णसंकरों के कार्यों को तो कथमि आपद्धमं नहीं माना जा सकता। प्रतीत यह होता है १। ३२५ पर

यह ब्रघ्याय समाप्त हो गया। ब्रागे के इलोक शेष ब्रघ्याय के साथ सम्बन्धित हैं। ब्रापद् धर्म का वर्णन प्रक्षेप है। वर्णव्यवस्था तो जीविका के ब्राधार पर है ब्रीर उसका ब्रापद्धर्म दशमाध्याय में 'शुद्रो बाह्यणतामेति' श्लोक में है, शेष श्लोक प्रक्षेग किये गये हैं।

वंदोपदेश का ग्रथिकार बाह्यण को है-

म्रघीयीरंस्त्रयो वर्गाः स्वकर्मश्या द्विजातयः। प्रबूयाव् बाह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः॥१०।१॥

(त्रयः द्विजातयः वर्णाः) तीनों द्विजाति वर्णं — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (स्व-कर्मस्याः) ग्रयने-ग्रयने कर्मों के पालन में स्थित रहते हुए (१।८७-६१] (प्रधीयीरन्) वेद पढ़ें (ब्राह्मणः एषां प्रब्रूयात्) ब्राह्मण इन वर्णों को वेदों का प्रवचन करें (इतरौन) ग्रन्य वर्ण् (क्षत्रिय-वैश्य) वेद-प्रवचन न करें (इति निश्चयः) ऐसा निश्चय है।। १।।

#### सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान् यथाविधि । प्रबुषादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ १० । २ ॥

(ब्राह्माएः) ब्राह्मण (यथाविधि) यथोक्तविधि से [१।००-६१] (सर्वेषां वृत्यु-पायान् विद्यात्) सभी वर्णों के जीविका-उपायों को जागे (च) ग्रीर (इतरेभ्यः प्रब्नूयात्) ग्रन्य वर्णों को उनका उपदेश करे (च) ग्रीर (स्वयम् एव तथा भवेत्) स्वयं भी निय-मानुमार वैसा ही ग्राचरण करे।। २।।

#### वै शेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठचान्नियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मग्रः प्रभुः ॥ १० । ३ ॥

(वैशेष्यात्) विशेष गुणों वाला होने के कारण (प्रकृतिश्रेष्ठियात्) स्वभाव की श्रेष्ठता के कारण (नियमस्य धारणात्) धर्मनियमों को ग्रिषिकतापूर्वक धारण करने के कारण (च) और (संस्कारस्य विशेषात्) यज्ञोपवीत संस्कार के सब वर्णों से पूर्व होने की विशेषता के कारण [२।३७-३८ इस संस्करण में २।११-१३] (वर्णीनां ब्राह्मणः प्रभुः) वर्णों में ब्राह्मण वर्णे प्रमुख है ॥ ३॥

अन्य श्रीत्जना : १०।१-३ श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं--

- १. अन्तिवरोध अध्ययन-अध्यापन विषय के २। २१३-२१७ [२।२३--२४२] इलोकों में यह स्पष्ट कहा है कि विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण से भिन्न गुरु से भी करनी चाहिए। किन्तु यहाँ १०।१ इलोक में उससे विरुद्ध बात कही है कि ब्राह्मण से भिन्न वर्णों को पढ़ाने का अधिकार ही नहीं है। यद्यपि पठन-पाठन का कार्य ब्राह्मण का ही मनु ने माना है, पुनरिप मनु ने दूसरे वर्णों को भी आवश्यकता पड़ने पर निषेध नहीं किया है। १०।२-३ इलोक प्रथम इलोक से सम्बद्ध होने से मनु की मान्यता से विरुद्धता के कारण प्रक्षित्त हैं।
- २. विषयविरोध ब्राह्मण के धर्मों का वर्णन मनु ने छठे ग्रध्याय में किया है ग्रीर वहां स्पष्ट कहा है—

#### एव वोऽमिहितो धर्मो बाह्यएस्य चतुर्विषः । (मनु० ६।६७)

श्रीर सातवें, आठवें व नवमाध्यायों में राजधर्म का वर्णन किया है। श्रीर नवमाध्याय के १। ३२५ इलोक में राजधर्म (क्षत्रियधर्म) विषय का उपसंहार करते हुए कहा है—

## एवोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः। इमं कर्मविधि विद्यात् क्रमशो वैदयशुद्रयोः।।

इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के धर्मों का कथन करके वैश्य व शूद के धर्मों का कथन किया जायेगा। श्रीर इस चातु ग्रंण्यं धर्म का उपसंहार दशमाष्याय की समाप्ति पर मनु ने किया है—

#### एव धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वण्यंस्य कीस्तितः।

श्रतः इस चातुर्वर्ण्यं-धर्म के बीच में श्रन्य विषय का वर्णन करना श्रसंगत है। श्रीर ६। ३२५ इलोक के श्रनुसार वैश्य-शूद्र के धर्मों का वर्णन यहाँ होना चाहिए। इनके बीच में ब्राह्मए। का जो श्रयंवादात्मक वर्णन यहाँ किया गया है, वह विषय-विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

३. प्रसंगिवरोध — मनुने चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों का वर्णन करते हुए १०।४ में कहा है कि वर्ण चार ही होते हैं, पांचवां नहीं। इसलिए हमने चारों वर्णों के धर्मों का वर्णन किया है। यहां शूद्र के धर्मों के बाद पुनः ब्राह्मण की श्रेष्ठता या प्रशंसा करना प्रसंगविरुद्ध है।

वर्ण चार ही हैं— १।३३५ का १०।४ से उपसंहारात्मक प्रसंग सिद्ध होता है। धर्मों का कथन प्रारम्भ करते समय भी चार वर्णों का ही कथन किया है [१।१४४ (२।२५)]। इसका यह भी संकेत है कि अब और कोई वर्ण नहीं रहता जिसके धर्मों का कथन करना शेष हो।

# ब्राह्मग्गः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्यं एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तुपञ्चमः॥ १०।४ (६)

[ग्रायों के समाज में] (ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (त्रयः वर्णाः दिजातयः) ये तीन वर्णं विद्याष्ट्ययन-रूपी दूसरा जन्म प्राप्त करने वाले [२।१४६-१४८, इस संस्करण में २।१२१-१२३] हैं, ग्रतः दिज कहलाते हैं (चतुर्थः एकजातिः शूद्रः) चौथा विद्याष्ट्ययनरूपी दूसरा जन्म (द्विजजन्म) न होने के कारण एक जाति = एक जन्म वाला, ब्रह्मजन्म से रहित शूद्र वर्ण है (नास्ति तुपञ्चमः) पाचवां कोई वर्ण नहीं है ॥ ४॥

अप्रसुर्धि त्या है। वर्ण चार हैं—(क) मनुने यहां चार वर्णों की मान्यता ग्रत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित की है। मनुस्मृति में ग्रन्यत्र वर्णनात्मक रूप में चार वर्णों का ही वर्णन है। चार वर्णों की दीक्षा से रहित ग्रन्य सभी व्यक्ति दस्यु हैं

[१०। ४५] अन्य वर्णसंकर म्रादि संज्ञक कोई वर्ण नहीं। इस क्लोक की पुष्टि के लिए मनुस्मृति के निम्न क्लोक भी द्रष्टव्य है—१।३१, ८७–६१।३।२०।। ४।४७।। ७।६८॥ १०।४५, ६५, १३१।। १२।६७ म्रादि।

२. चार वर्णों में शास्त्रीय प्रमाण — ग्रन्यत्र शास्त्रग्रन्थों में भी चार वर्णों का ही उल्लेख आता है। इन चार वर्णों से शेष व्यक्ति ग्रार्येतर हैं जिन्हें निपाद, ग्रसुर, राक्षस ग्रादि विभिन्न वर्गकृत नामों से अभिहित किया जाता है—

(क) "ऊर्जाद: उत यज्ञियासः पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम् ।" (ऋक् १०।५३।४)

''पञ्चजनाः— चःवारो वर्गाः, निषादः पञ्चम इति ग्रौपमन्यवः ।'' (निरु० ३।२।७)

चार वर्ण = ब्राह्मरा, क्षतिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवें निपादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य हैं।

(ख) ''चत्वारो वर्णाः । ब्राह्मरणो राजन्यो वैदयः श्रृद्धः'' (श० ब्रा० प्राप्ताप्तार)

''चत्वारो वै पुरुषा बाह्माणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः ॥'' (मैत्रा० सं० ४।४।६)

वर्गसंकरों का वर्णन-

सर्ववर्णेषु तुरुयासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। द्यानुलोम्येन सम्प्रता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ १० । ५ ॥

(सर्ववर्गेषु) सव चारों वर्गों में (तुल्यासु श्रक्षतयोनिषु) सवर्गा, अक्षतयोनि, विवाहित पित्तयों में (आनुलोम्येन संभूता) वर्णानुक्रम से श्रयीत् ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न, क्षत्रिय से क्षत्रिया में उत्पन्न, इस क्रम से उत्पन्न हुई सन्तानें (जात्या ते + एव क्षेयाः) जन्म में वे उसी जाति की समक्षती चाहिएँ ॥ ४ ॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मानृदोषविगहितान् ॥ १० । ६ ॥

(श्रन्तरजातासु स्त्रीषु) दूसरे निम्न वर्णों की स्त्रियों में (द्विजै: + उत्पादितान् सुतान्) द्विजों के द्वारा उत्पन्न की गई सन्तानों को (मानृदोपत्रिगहितान्) [निम्न वर्ण होने के कारण] माता के दोष से निन्दित होते हुए भी (सदशान् + एव आहुः) पिता की जाति का ही मानने हैं ॥ ६॥

भिन्न वर्ण से उत्पन्न 'अपसद' सन्तानें ---

भ्रनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः। द्वयेकान्तरासु जातानां घम्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ १० । ७ ॥ (अनन्तरासु जातानाम्) दूसरे निम्न वर्णों की स्त्रियों में उत्पन्न सन्तानों की (एषः सनातनः विधिः) यह सनातन विधि है (द्वि-एक-अन्तरासु जातानाम्) दो श्रौर एक वर्णे के श्रन्तर वाली स्त्रियों में उत्पन्न सन्तानों की [जैसे ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न, क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न] (धर्म्य विधिम् इमं विद्यात्) धर्मानुकूल विधि को इस प्रकार जानो।। ७।।

बाह्यसाद्वैश्यकन्यायामम्बद्धो नाम जायते। निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥ १०॥ ८॥

(ब्राह्मणात् वैश्यकन्यायाम् जायते) ब्राह्मण से वैश्या में जो सन्तान उत्पन्न होती है (ग्रम्बष्ठः नाम) वह 'ग्रम्बष्ठ' कहाती है ग्रीर (शूद्रकन्यायाम्) ब्राह्मण से शूद्रा में जो सन्तान उत्पन्न होती है (निषादः) वह 'निषाद' कहाती है (यः पारशवः + उच्यते) जिसे 'पारशव' भी कहा जाता है ॥ ८॥

> क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्रशुद्रवपुर्जन्तुरुप्रो नाम प्रजायते ॥ १० । ६ ।।

(क्षत्रियात् शूद्रकन्यायाम्) क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान (क्षत्र-शूद्र-वृष्टुः जन्तुः) क्षत्रिय ग्रौर शूद्र के शरीर से उत्पन्न हुई यह (क्रूर-ग्राचार-विहारवान्) क्रूर-ग्राचार-व्यवहार वाली होने से (उग्रः प्रजायते) 'उग्र' नाम वाली होती है ॥ ६ ॥

वित्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्धयोः। वैद्यस्य वर्णे चैकस्मिन्वडेतेऽपसदाः रमृताः॥१०॥१०॥।

(विप्रस्य त्रिषु वर्गोषु) ब्राह्मण से निम्न तीन वर्णों में उत्पन्न हुई सन्तानें (नृपते: द्वयो: वर्णयो:) क्षत्रिय से निम्न दो वर्णों में उत्पन्न (च) ग्रीर (वैश्यस्य एकिश्मन् वर्णे) वैश्य के द्वारा निम्न एक वर्णे श्रूदा में उत्पन्न सन्तान (एते षड् 'ग्रपसदाः' रमृताः) ये छः प्रकार की सन्तानें 'ग्रपसद' = निकृष्ट मानी गयी हैं।। १०।।

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो मवति जातितः। वैदयाःमागभवेदेहौ राजवित्राङ्गनासुतौ ॥ १० । ११ ॥

(क्षत्रियात् विप्रकन्यायां जातितः सूतः भवति) क्षत्रिय से ब्राह्मग्य-कन्या में उत्पन्न सन्तान 'सूत' कहलाती है (वैश्यात्) वैश्य से (राजविष्राञ्जना-सुतो मागध-वैदेहौ) क्षत्रिय ग्रीर ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न सन्तान क्रमशः 'मागध' ग्रीर 'वैदेह' कहाती है ॥ ११ ॥

श्रूद्रादायोगवः क्षसा चण्डालक्ष्याधमो नृगाम्। वैदयराजन्यविश्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥ १०॥ १२॥ (श्रूद्रात्) श्रूद्र से (वैदय-राजन्य-विश्रासु) वैदया, क्षत्रिया स्रोर ब्राह्मणी में क्रमशः (ग्रायोगवः क्षत्ता नृणाम् ग्रधमः चण्डालः वर्णसंकराः जायन्ते) 'ग्रायोगव' 'क्षत्ता' ग्रीर मनुष्यों में नीच 'ग्रधम' नामक वर्णसंकर पैदा होते हैं ॥ १२॥

#### एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ । क्षत्त्वदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ।। १० । १३ ।।

(आनुलोम्यात्) ग्रनुलोम क्रम से (एकान्तरे) एक वर्ण के ग्रन्तर वाली स्त्री [१०। ६] में उत्पन्त सन्तात (ग्रम्बब्ठ उग्नी यथा स्मृतौ) 'ग्रम्बब्ठ' ग्रौर उग्न' जैसे कहे हैं (तत्-वत्) उसी प्रकार (प्रातिलोम्ये + ग्रित जन्मिन) प्रतिलोम क्रम से उत्पन्त होने वाले (क्षतृ-वैदेहको) 'क्षत्ता' और वैदेह' [१०। ११] माने हैं ग्रथात् ये सब समान स्तर के हैं।। १३।।

#### पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेगोक्ता द्विजन्मनाम् । ताननन्तरताम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १० । १४ ॥

(द्विजन्मनां ये) द्विजातियों से जो (क्रमशः ग्रन्तरस्त्रीजाः पुत्राः उक्ताः) क्रमशः ग्रनन्तर स्त्रियों मं—एक वर्ण के ग्रन्तर वाली स्त्री में उत्पन्न, दो वर्ण के ग्रन्तर वाली स्त्री में उत्पन्न, पुत्र कहे हैं (तान् + ग्रनन्तर नाम्नः तु मानृदोपात् प्रचक्षते) उन ग्रनन्तर सन्तानों को मानृदोप प्रधानता के कारण माता की जाति का ही माना है।। १४।।

#### त्राह्यरणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते । आमीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगय्यां तु धिग्वरणः ॥ १० ॥ १४ ॥

(ब्राह्मणात् + उग्रकन्यायाम्) ब्राह्मण से उग्रकन्या में (ग्रावृतः नाम जायते) 'ग्रावृत' नामक सन्तान उत्पन्त होती है (ग्रम्बष्ठकन्यायाम् + ग्राभीरः) ब्राह्मण से ग्रम्बष्ठकन्या में 'ग्राभीर' सन्तान (तु) ग्रौर (ग्रायोगव्यां थिग्वणः) ब्राह्मण से श्रायो-गव कन्या में 'थिग्वएा' नामक सन्तान उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

#### न्नायोगवश्व क्षत्ता च चण्डालश्वाधमी नृगाम्। प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादयसवास्त्रयः॥ १०॥ १६॥

(प्रातिलोम्येन शूदात्) प्रतिलोम क्रम से प्रथात् शूद्र से उच्चवर्णं की स्त्री में (ग्रायोगवः क्षत्ता च नृणाम् ग्रधमः चण्डालः जायन्ते) क्रमशः 'ग्रायोगव' 'क्षत्ता' ग्रीर मनुष्यों में नीच 'चण्डाल' उत्पन्त होते हैं (इयः ग्रपसदाः) ये तीनों प्रकार की सन्तानें शूद्र से भी नीच हैं।। १६॥

#### वं झ्यान्मागधवं देही क्षत्रियात्सूत एव तु । प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यदसदास्त्रयः ॥ १० ॥ १७ ॥

प्रतिलोम क्रम से (वैश्यात् मागध-वैदेही) वैश्य से उच्च वर्ण वाली स्थी में उत्पन्त सन्तानें क्रमशः 'मागध' ग्रीर 'वैदेह' (क्षत्रियात् सूतः एव) क्षत्रिय से बाह्मणी

में उत्पन्न 'मूत' नामक सन्तान (एते प्रतीपं जायन्ते) ये प्रतिलोम क्रम्म से उत्पन्न होने वाली (त्रयः श्रयसदाः) तीनों नीच मानी गई हैं ॥ १७ ॥

# जातो निवादाच्छूद्रःयां जात्या मत्रति पुक्कसः । शूद्राज्जातो निवाद्यां तुस वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १ । १८ ॥

(निषादान् शूद्रायां जातः) 'नियाद' से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान (जात्या पुक्कसः भवति) जाति से 'पुक्कस' कहाती है (शूद्रात् निपाद्यां जातः तु) शूद्र से निषाद कन्या में उत्पन्न सन्तान (कुक्कुटकः स्मृतः) 'कुक्कुट' संज्ञक होती है ॥ १८॥

# क्षत्रजीतस्तयोग्रायां म्बपाक इति कीर्र्यते ।

वैदेहकेन त्वम्बष्ठघामुत्रानो देश उपयते ॥ १० । १६ ॥

(तथा) उसी प्रकार (क्षत्: उग्रायां जातः) क्षत्ता से उग्रकन्या में उत्पन्न पृत्र (इवपाकः + इति कीःयंते) 'इवराक' नामक होता है (वैदेहकेन तु श्रम्बण्डयाम् + उत्पन्नः) वैदेह से अम्बण्डकन्या में उत्पन्न सन्तान (वेण उच्यते) 'वेण' संज्ञक कहाती है।। १६।।

#### द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् । . तान्सावित्रीपरिश्रव्यान्वात्यानिति विनिर्विशेत् ॥ १० । २० ॥

(द्विजातयः) द्विजवर्णं वाले (सवर्णासु) सवर्णं स्त्रियों में (यान् स्रव्रतान् जनयन्ति) जिन यज्ञोनवीत संस्कार से हीन रहने वाले पुत्रों को जन्म देते हैं (सावित्री-परिश्रव्टान् तान्) सावित्री से पतित रहने वाले उन पुत्रों को (ब्रात्यान् + इति विनि-विशेत्) 'ब्रात्य' संज्ञक कहा जाता है ॥ २० ॥

# व्रात्यात्तुं जायते वित्रात्पापात्मां भूजंकण्टकः । **आवन्त्यवाटधानौ**च पृष्यधः शैख एव च ॥ १० ॥ २१ ॥

(बात्यात् वित्रात्) 'बात्य' संज्ञक ब्राह्मण से सवर्णा में (भूजंकण्टक: पापात्मा जायते) 'भू र्गकण्टक' नामक पापी सन्तान उत्पन्न होती है। देशभेद से इसके (ब्रावन्त्य वाटधानी पुष्पध' ब्रीर 'शैख' ये चार ब्रीर भेद हैं। २१।।

#### भत्लो मत्त्रव राजन्याद् द्वात्यात् लिच्छिविरेव च ।

नटक्च करणक्चैव लसी द्रविड एव च।। १०। २२।। (राजन्यात् द्रात्यात्) स्वित्रय द्रात्य से सवर्णा में उत्पन्न पुत्रों के सात नाम होते हैं —( सस्ल: मस्ल: लिच्छिवि: नटः करणः लसः च द्रविडः) 'भस्ल' 'मस्ल',

'लिच्छिवि' 'नट' 'करण' 'खस' ग्रौर द्रविड़ ।। २२ ।।

वैदयास् जायते त्राश्यात्सुथन्याचार्य एव च । कारुवदच विजन्मा च मैत्रः सास्वत एव च ॥ १० । २३ ॥ (वैश्यात् ब्रात्यात्) ब्रात्य वैश्य से सवर्णा में (सुधन्वाचार्यः काश्रवः विजन्मा मत्रः च सात्वत एव) 'सुधन्वाचार्य' 'काश्रव' 'विजन्मा' 'मैत्र' ब्रीर 'सात्वत' संज्ञक सन्तान उत्पन्न होती हैं। [एक ही सन्तान के देशभेद से ये पृथक्-पृथक् नाम हैं]।।२३॥ वर्णसंकरों की उत्पत्ति में कारण—

भ्यमिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकमं गांच त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १० । २४ ॥

(वर्गानां व्यभिचारेण) वर्णों में परस्पर व्यभिचार होने से (स्रवेद्या वेदनेन) एक गोत्र वाली श्रगम्या स्त्री से विवाह करने से (च) श्रौर (स्वकर्मणां त्यागेन) अपने शास्त्रविहित कर्तंव्यों को छोड़ने से (वर्णसंकराः जायन्ते) 'वर्णसंकर' सन्तानें उत्पन्न होती हैं ॥ २४ ॥

संकी गाँयो नियों का वर्णन-

सङ्कीर्शयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः। ग्रन्योन्यस्यतिवक्तास्य तानु प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १० । २५ ॥

श्रव (प्रतिलोम-भ्रनुलोमजाः) प्रतिलोम ग्रौर ग्रनुलोम सम्बन्ध से (ग्रन्थोन्य-व्यतिपक्ताः) परस्पर मिश्रण होने से (संकीर्णयोनयः) जो संकीर्णयोनियां उत्पन्न होती हैं (तान् ग्रशेषतः प्रवक्ष्यामि) उन्हें पूर्ण रूप से कहूंगा—॥ २५॥

> सूतो वैदेहकद्भैव चण्डालक्ष्म नराधमः। मागमः सत्तुजातिकव तथाऽयोगव एव च।। १०। २६।। एते षट् सहज्ञान्वणाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु। मातुजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु॥ १०। २७॥

(सूतः वैदेहः नराधमः चण्डालः) १ सूत, २. वैदेह, ३. नीच चण्डाल, (मागधः क्षत्तुजातिः च ग्रयोगवः) ४. मागध, ४. क्षता, ६. ग्रयोगव (एते पट्) ये छः वर्ण-सकर (स्वयोनिषु सदद्यान् वर्णान् जनयन्ति) ग्रपनी वर्णं वाली स्त्रियों में ग्रपने ही वर्णं की सन्तानों को उत्पन्न करते हैं (प्रवरासु योनिषु) ग्रपने से श्रेष्ठ जाति की स्त्रियों में जन्यन्त, ये हीन वर्णं हैं ॥ २६ २७॥

ा । स्वाप्ति । स्वाप्

(यथा) जिस प्रकार (त्रयाणां वर्णानाम्) तीनों वर्णो— ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रीर वैदय में से (द्वयोः ग्रस्य ग्रात्मा जायते) दो वर्णो— क्षत्रिय ग्रीर वैदय में से उत्पन्न सन्तान इस ब्राह्मण की ग्रपनी ग्रात्मा ही उत्पन्न होती है ग्रर्थात् ग्रपनी ही जाति की होती है, (स्वयोन्यां तु) वह सन्तान ऐसी ही होती है जैसी सवर्णा में उत्पन्न सन्तान; (तथा वाह्म पुक्रमात् ग्रानन्तर्यात्) उसी प्रकार इतर वाह्म वर्णों में प्रतिलोम क्रम के अन्तर [वैश्य तथा क्षत्रिय से क्रमशः क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में] उत्पन्न सन्तान भी द्विज' ही होती हैं।। २८।।

ते चाऽपि बाह्यान्सुबह् स्ततोऽप्यधिकद्रधितान् । परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगहितान् ॥ १० । २६ ॥

(ते च + प्रिप) वे अयोगव [१०।१२] म्रादि वर्णसंकर वाले पुरुष (ततः + ग्रिप + ग्रिधकदूषितान्) प्रपने से भी म्रिधक दूषित, (बाह्यान्) समाज से बहिष्कृत म्रौर (विगहितान्) निन्दनीय सन्तानों को (परस्परस्य दारेषु जनयन्ति) परस्पर जाति की स्त्रियों में उत्पन्न करते हैं ॥ २६॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यस्चातुर्वण्यं प्रसूयते ॥ १० ॥ ३० ॥

(तथा) जैसे (शूद्रः) शूद्र (ब्राह्मण्यां बाह्मं जन्तुं प्रसूयते) द्राह्मणी में निन्दित 'चाण्डाल' पुत्र [१०।१२] को उत्पन्न करता है (तथा) उसी प्रकार (बाह्मः) वह 'चण्डाल' भी (चातुर्वंण्यें बाह्मतरं प्रसूयते) चार वर्णों की स्त्रियों में श्रपने से भी नीच-तम सन्तान को उत्पन्न करता है।। ३०॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्युनः। होना होनान्प्रसूयन्ते वर्णान्यञ्चवर्शव तु॥१०।३१॥

(बाह्याः) बाह्य प्रयोगव प्रादि (प्रतिकूलं वर्तमानाः) प्रतिलोम विधि से (पृनः) पृनः चारों वर्णों की स्त्रियों में (हीनाः हीनान्) ग्रीर ग्रपने निम्न वर्णे की स्त्रियों में (पञ्चदश + एव बाह्यतरान् वर्णान् प्रसूयन्ते) पन्द्रह प्रकार के ग्रपने वर्णे वाले नीचतम पुत्रों को उत्पन्न करते हैं ॥ ३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमनासं वासजीवनम् । सैरिन्ध्रं वागुरावृत्ति सूते वस्युरयोगवे ॥ १० । ३२ ॥

(दस्यु: श्रयोगवे सूते) दस्यु पुर: [१०।४५] 'श्रयोगव' स्त्री में जो सन्तान उत्पन्न करता है (सैरिन्ध्रम्) वह 'सैरिन्ध्र' संज्ञक होती है और वह (प्रसाधन-उपचार-ज्ञम्) केश-प्रसाधन में चतुर होती है (ग्रदासं दासजीवनम्) दास न होते हुए भी दास जैसा जीवन विताती है (वागुरावृत्तिम्) तथा हरिण ग्रादि का वध करके जीविका चलाती है।। ३२।।

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते । नृन्प्रज्ञंसत्यज्ञस् यो घण्टाताडोऽच्लोदये ॥ १० । ३३ ॥

(वैदेह: मैत्रेयकं माधूकं संप्रसूयते) वैदेह जाति वाला पुरुष 'स्रयोगव' कन्या में त्रेयक'' संज्ञक मधूरभाषी पुत्र को उत्पन्न करता है (यः) जो (स्ररुणोदये घण्टाताडः) प्रातःकाल घण्टा म्रादि बजाकर (म्रजस्रं नृन् प्रशंसित) सदा राजा म्रादि बड़े लोगों की प्रशंसा करके जीविका चलाता है।। ३३।।

# निषादो मार्गवं सुते दासं नौकर्मजीविनम्। कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिन:।। १०। ३४।।

(निषाद: नौकर्मजीविनं) 'निषाद' जातीय पुरुष ग्रयोगव कन्या में नाव से जीविका चलाने वाले (दासं मार्गवं सूते) 'दास' या 'मार्गव' संज्ञक सन्तान को उत्पन्न करता है (यम्) जिसको (ग्रायविर्तनिवासिनः कैवर्तम् + इति प्राहुः) ग्रायविर्त के निवासी कैवर्त = मल्लाह के नाम से पुकारते हैं।। ३४॥

#### मृतवस्त्रमृत्सु नारीषु गहितान्नाशनासु च। मवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ १० । ३४ ॥

(मृतवस्त्रभृत्सु) मृतकों के वस्त्र स्रर्थात् कफन आदि पहनने वाली (च) और (गिह्त + स्रन्न + स्रशनासु) निन्दित स्रीर झूठा सन्त खाने वन्ली (स्रायोगवीषु नारीषु) स्रायोगव जाति की स्त्रियों में (एते जातिहीनाः त्रयः पृथक् भवन्ति) ये हीनजाति वाली सन्तानें — सैरिन्ध मैत्रेय, मार्गव, पृथक्-पृथक् उत्पन्न [१०:३२-२४] होती हैं ॥३॥॥

## कारावरो निवादासु वर्षकारः प्रसूयते। वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिग्रामित्रतिश्रयौ॥ १०॥ ३६॥

(निषादात् तु) निपाद से वैदेह स्त्री में (कारावर: चर्मकार: प्रसूयते) 'कारावर' संज्ञक चमार जाति की सन्तान उत्पन्न होती है (वैदेहिकात् + ग्रन्ध-मेदौ) वैदेहिक से कारावर कन्या और निषाद कन्या में क्रमश: 'ग्रन्ध' श्रीर 'मेद' संज्ञक सन्तान उत्पन्न होती हैं (विह:-ग्रामप्रतिश्रयौ) जो गांव से बाहर निवास करती हैं।। ३६।।

## चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्तारव्यवहारवान् । म्राहिण्डिका निषादेन वैदेह्यामेच जायते ॥ १०।३७ ॥

(चाण्डालात्) 'चण्डाल' जाति के पुरुष से (त्वक-सार-व्यवहारवान्) बांसों के व्यापार से जीविका चलाने वाली (पाण्डुसोपाकः) 'पांडुसोपाक' संज्ञक सन्तान उत्पन्न होती है, ग्रौर (निषादेन वैदेह्याम् ग्राहिण्डिका जायते) निषाद से वैदेह-स्त्री में 'ग्राहिण्डिका' नामक सन्तान होती है।। ३७।।

#### चण्डालेन तु सोवाको मूलव्यसनवृत्तिमान्। पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगहितः॥ १०।३८॥

(चण्डालेन पुक्कस्यां सोपाकः पापः जायते) चण्डाल के द्वारा पुक्कसी स्त्री में 'सोपाक' संज्ञक पापी सन्तान उत्पन्न होती है, (मूलव्यसनवृत्तिमान्) राजाज्ञा से लोगों को फांसी की सजा देने की जीविका करने वाला यह जल्लाद (सदा सज्जन-गहितः) सज्जनों द्वारा सदा निन्दित माना गया है ॥ ३८॥

#### निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् । इमज्ञानगोचरं सुते बाह्यानामपि गहितम् ॥ १०॥३६॥

(चण्डालात् निषादस्त्री तु) चण्डाल से निषादस्त्री (ग्रन्थ्यावसायिनं पुत्रं सूते) 'ग्रन्थ्यावसायी' पुत्र को उत्पन्न करती है जो (श्मशानगोचरम्) श्मशान कार्यों से जीविका करता है ग्रीर (बाह्यानाम् + ग्रिंगि गहिंतम्) निकृष्ट जातियों में भी निकृष्ट है ॥ ३६ ॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदिशताः। प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्या स्वकमंभिः॥ १०।४०॥

(संकरे पितृ-मातृ-प्रदर्शिताः एता जातयः) वर्णसंकरों में पिता-माता के ग्राधार पर वर्णित इन जातियों को (स्वकर्मभिः) इनके कार्यों से (प्रच्छन्नाः वा प्रकाशाः) गुप्त ग्रथवा पूछकर प्रकट रूप से जान लेना चाहिए ॥ ४० ॥

> सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजर्धामणः। शुद्रारणां तु सधर्मारणः सर्वेऽपध्वंसजास्मृताः॥ १०।४१।।

(सजातिजा: + अनन्तरजाः) द्विजों में सबर्णा स्त्री से उत्पन्न श्रीर अपने से बाद के वर्ण वाली स्त्रियों में उत्पन्न [यथा-बाह्मण से बाह्मणी में क्षत्रिय से क्षत्रिया में वैश्य से वैश्या में उत्पन्न पुत्र तीन, श्रीर बाह्मण से क्षत्रिया तथा वैश्या में, क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न तीन, इस प्रकार छह] (षट् सुताः द्विजधर्मिणः) ये छः प्रकार के पुत्र द्विजधर्मी वाले हैं (सर्वे + अपध्वसजाः) शेष सभी प्रतिलोमविधि से उच्चवणं की स्त्रियों उत्पन्न पुत्र (श्रुद्राणां सधर्मणः स्मृताः) शूद्र जैसे धर्म वाले माने गये हैं।। ४१।।

तयोबीजप्रभावस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे। उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्टिह जन्मतः॥ १०। ४२॥

(ते) वे वर्णसंकरता से उत्पन्न सन्तानें (तप:-बीज-प्रभावैः) तपस्या करने से भीर उत्तम बीज के प्रभाव से (युगे युगे) सभी समयों में (इह मनुष्येषु) इस संसार के मनुष्यों में (जन्मतः उत्कर्षं च - प्रपक्षं गच्छिन्ति) जाति से श्रेष्ठ श्रीर नीच हो जाती हैं ॥ ४२ ॥

धर्म-पालन न करने से शूद्रता को प्राप्त जातियां---

शनकैस्तु कियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलस्वं गता लोके बाह्यणादर्शनेन च ॥ १० । ४३ ॥

(इमाः क्षत्रियजातयः) ये [१०।४४] क्षत्रिय जातियाँ (क्रियालोपात्) धार्मिक क्रियाम्रों के त्याग करने से (च) श्रीर (ब्राह्मण-ग्रदर्शनेन) ब्राह्मणों के उपदेशों को न मानने के कारण [प्रायश्चित्त ग्रादि के ग्रादेश-उपदेश] (लोके शनकैः वृषलत्वं गताः) स्रोक में धीरे-धीरे शूद्रता को प्राप्त हो गईं॥४३॥

#### पौण्डुकाक्चीड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः। पारवाः पह्नवाक्चीनाः किराता दरवाः खशाः॥१०॥४४

वे हैं — (पौण्ड्रकाः भ्रौड्र-द्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः) पौण्ड्रक, भ्रौड्र, द्रविड्र, काम्बोज, यवन, शक (पारदाः पह्लवाः चीनाः किराताः दरदाः खशाः) पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद भ्रौर शक, [ये पहले क्षत्रिय जातियां थीं] ॥ ४४ ॥

अनुविक्तः १०।५ से १०।४४ तक के श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं---

- १. विषयविरोध (१०।१-३) श्लोकों के प्रनुशीलन में सोद्धरण यह स्पष्ट किया है कि इस प्रध्याय में वैश्य व शूद्र वर्णों का वर्णन करके उपसंहार किया गया है। श्रीर यह बात १०।४ तथा १०।४५ तथा १०।१३१ श्लोकों से स्पष्ट है किन्तु इन में चारों वर्णों से भिन्न वर्णंसंकरों, संकीर्ण जातियों तथा चण्डलादि का वर्णन किया गया है।
- २. प्रसंगविरोध १०।४ श्लोक में चारों वर्णों की बात कहकर इनसे भिन्न वर्णों का निषेध किया है श्रीर १०।४५ में चारों वर्णों से भिन्न म्लेच्छ भाषा वोलने वालों को दस्यु कहा है। इनके बीच में वर्ण-संकरों व वर्णंसंकर-सन्तानों का वर्णंन प्रसंगविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- 3. अन्तिवरोध—(१) मनु की यह मौलिक मान्यता है कि वर्णव्यवस्था का आधार कमें है, जन्म नहीं [द्रष्टव्य १।३१, ८७-६१, १०७ क्लोक एवं समीक्षा] इसी [लिये १०।४ में कहा है कि जो बाह्यएा, क्षत्रिय, वैश्य नहीं बन सकता है, वह विद्या का जन्म न होने से एकजाति —एक जन्मवाला ही कहलाता है, द्विजन्मा नहीं। यदि वर्णव्यवस्था का आधार जन्म होता तो द्विजाति और एकजाति का भेद निरर्थंक ही हो जाता है। और इन क्लोकों में जन्म के आधार पर समस्त वर्णन किया गया है। अतः मनु की मान्यता से विश्वद है। और मनु ने चारों वर्णों के विवाहों के विषय में स्पष्ट कहा है—

उद्वहेत द्विजो भार्यां सव गाँ लक्ष गान्त्रितान् (म गु०३।४) अर्थात् द्विज सवर्णा स्त्री के साथ ही विवाह करें। और उद्वहेद्द भार्यां सवर्गां लक्ष गान्त्रितान् (७।७७)

स्रथीत् विवाह के अर्थ द्विजों के लिए सवर्णा स्त्रियों का होना ही विहित है। परन्तु (१०१६ में) स्रनुलोम्य विवाह (१०१६ में) प्रातिलोम्य विवाहों से उत्पन्न सन्तानों का वर्णन किया गया है, जिसमें स्रसवर्णा स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों का वर्णन किया गया है। यह मनु से विरुद्ध मान्यता है।

(२) इन क्लोकों में [१०।२४ इत्यादि में] स्पष्ट कहा है —वर्णंसंकर कौन श्रीर

कैसे होते हैं ? श्रौर [१०।३६ में] चर्मकारादि उपजातियों का वर्णन किया गया है। एवं १०।४३ में क्षत्रिय वर्ण का वृषलत्व-प्राप्ति का कारण लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि जिस समय जन्म के श्राधार पर वर्णों को माना जाने लगा श्रौर चर्मकारादि उपजातियों बन गईं, उस समय में किसी ने इन श्लोकों का प्रक्षेप किया है। मनु की मान्यता में श्रायों के चार ही वर्ण होते हैं श्रौर इनसे भिन्न दस्यु होते हैं [१०।४५]। इस शास्त्र में चारों वर्णों के धर्मों का ही कथन है, दस्युश्रों के नहीं। श्रतः यह वर्णसंकरादि का वर्णन प्रसंपविरुद्ध, श्रन्तिवरोधादि दोषयुक्त होने के कारण प्रक्षिप्त है।

(४) मनुने (६।३५ में) बीज की उत्कृष्टता से उत्तम सन्तान मानी है स्रौर ६।२६-२७ इलांकों में स्त्रियों को पूजनीय गृहदीप्ति स्रादि कहकर प्रशंसा की है। परन्तु १०।१७, २५ इलोकों में दिजों की स्त्रियों को भी निन्दनीय कहा गया है स्रौर सन्तान में दोष का कारण बीज को न मानकर माता को माना है। यह मनु के विधान के विरुद्ध है।

४. शैलीगत आधार—मनुस्मृति में मनु की शैली विधानात्मक है, ऐतिहासिक नहीं। परन्तु इन क्लोकों की शैली ऐतिहासिक है। इस विषय में निम्नलिखित कुछ उद्धरण देखिये—

कैवर्तमिति यं प्राहुरायीवर्त्तनिवासिनः ॥ (१०।३४)

शनकैंस्तु क्रियालोपादिसाः क्षत्रियजातयः ।। वृषलस्वं गता लोके० । (१०।४३)

पौण्ड्रकाश्चीड्रहविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः ।। (१०।४४) द्विजैवत्पावितान् सुतान् सद्शान् एव तानाहुः ॥ (१०।६)

ग्रतः इस ऐतिहासिक शैली से स्पष्ट है कि वर्णव्यवस्था में दोष ग्राने पर जन्म-मूलक जब भिन्न-भिन्न उपजातियां प्रसिद्ध हो गईं, उस समय इन इलोकों क। प्रक्षेप होने से मनु से बहुत परवर्ती काल के ये श्लोक हैं।

प्रवान्तर-विरोध—(१) १२ वें इलोक में वर्णसंकरों की उत्पत्ति का जो कारण लिखा है, २४ वें इलोक में उससे भिन्न कारण ही लिखे हैं। (२) ३२ वें इलोक में सिरन्ध्र की आजीविका केश-प्रसाधन लिखी है। ३३ वें में मैत्रेय की आजीविका घण्टा बजाना या चाटुका इता लिखी है और ३४ वें में मार्गव की आजीविका नाव चलाना लिखी है। किन्तु ३५ वें में इन तीनों की आजीविका मुदौं के वस्त्र पहनने वाली और झूठन) खाने वाली लिखी है। (३) ३६, ४६ इलोकों में कारावर जाति का और धिष्वण जाति का चर्मकार्य बताया है। जब कि कारावर निषाद की सन्तान है और धिष्वण बाह्मण की। (४) ४३ वें में क्रियालोप — कर्मों के त्याग से क्षत्रिय-जातियों के भेद लिखे हैं और २४ वें में भी स्ववर्ण के कर्मों के त्याग को ही कारण माना है परन्तु १२वें में

एक वर्ण के दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ प्रथवा पुरुष के साथ-सम्पर्क से वर्णसंकर उत्पत्ति लिखी है। यह परस्रर विरुद्ध कथन होने से मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकता।

चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों की संज्ञा-

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चायंवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥१०।४५॥ (१०)

(लोके) लोक में (मुख-बाहु + उरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य श्रोर शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) श्रेष्ठ कर्त्तव्यपालन न करने के कारण बहिष्कृत या इनमें श्रदीक्षित (या जातयः) जो जातियां हैं (म्लेच्छ-वाचः च श्रार्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छभाषाएं बोलती हैं या श्रार्यभाषाएं (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं ॥ ४५॥

महिष दयानन्द ने इस रलोक की द्वितीय गंक्ति उद्धृत करके लिखा है—''जो आर्यावतं देश से भिन्न हैं, वे दस्यु देश ग्रीर म्लेच्छदेश कहाते हैं।।'' (स॰ प्र० २२४)

अवस्त कारिताना : (१) क्लोक के प्रसंग पर विचार—१०।४ के पक्षात् वर्णनक्षम में १०। ४५ की सम्बद्धता सिद्ध होती है, क्योंकि चौथे क्लोक में मनुद्वारा विहित समाज में चार वर्णों का अस्तित्व भूमिका रूप में बतलाया है और कहा है कि पांचवां कोई वर्णं नहीं है। अब वर्णों में प्रदीक्षित या बहिष्कृत जो व्यक्ति रह गये हैं, उन्हें किस्के अन्तर्गत माना जाये ? यह बतलाना प्रासंगिक था। उसे ४५ वें क्लोक में वर्णित किया है कि शेष व्यक्ति 'दस्यू' हैं।

(२) बस्पु से मिन्नाय—वेदों में भीर प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'दस्यु' शब्द का पर्याप्त प्रयोग माता है। यहाँ मनु ने स्पष्ट किया है कि दस्यु कौन है। वेदों में मनुष्यों के दो वर्ग उक्त हैं—'म्रायं' = श्रेष्ठ भीर 'दस्यु' = भ्रश्रेष्ठ। मनु ने यहां बताया है कि मार्यों के बार वर्णों से बाह्य प्रयात् वर्णाश्रम धर्मों में ग्रदीक्षित [१०।५७] धर्म का पालन न करके भ्रधर्माचरण करने वाले चारों वर्णों से ग्रविशष्ट सभी लोग दस्यु हैं। दस्यु शब्द का भ्रयं भ्रीर व्युत्पत्ति भी इनके इसी भ्राचरण पर प्रकाश डालते हैं— 'दसु-उपक्षये' धातु से 'यिनमिनशुन्धिदसिन्जनिन्यो युच्' (उणादि ३।२०) से युच् प्रत्यय के योग से 'दस्यु' शब्द बनता है। निरुक्त ७।२३ में इसकी व्युत्पत्ति है— ''दस्यु दस्यतेः क्षयार्थात्...उपदासयित कर्माणि'' = दस्यु वह है जो शुभकर्मों से क्षीण है, या शुभकर्मों में बाधा डालता है।

श्रपसदों ग्रीर ग्रपध्वंसजों के कर्म---

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः । ते निन्दितैर्वतंयेयुद्धिजानामेव कर्ममिः ।। १० । ४६ ।। (द्विजानां ये ग्रपसदाः) द्विजों में जो 'ग्रपसद' [१०।१०] = उच्चवर्णं के पिता से निम्न वर्णं की स्त्री में उत्पन्न सन्तानें हैं (च) ग्रीर (ये ग्रपध्वंसजाः स्मृताः) जो ग्रपध्वंसज = उच्चवर्णं की स्त्रियों में निम्न वर्णं के पिता से उत्पन्न सन्तानें हैं (ते) वे सब (द्विजानाम् + एव निन्दितः कर्मभिः वर्तयेयुः) द्विजों के लिए निन्दित अर्थात् निषद्ध निम्नकोटि के कामों से ग्रपनी जीविका करें।। ४६॥

सूतानामक्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां चिएाक्पयः ॥ १० । ४७ ॥

(सूतानाम् + म्रश्वसारध्यम्) 'सूतों' का कर्म रथ हांकना, (म्रम्बष्ठानां विकि-त्सनम्) 'ग्रम्बष्ठों' का कर्म चिकित्सा करना, (वैदेहकानां स्त्रीकार्यम्) वैदेहकों का अन्तःपुर की रक्षा करना (माग घानां विणक्षयः) 'मागधों' का काम वाशिज्य में सहयोग देना है।। ४७।।

> मत्स्यघातो निवादानां तब्दिस्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चमदृगुनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ १० । ४८ ॥

(निषादानां मत्स्यवातः) 'निषादों' का कर्मं मछिलियां मारना (आयोगवस्य तिष्टः) ग्रायोगवों का बढ़ई गिरि, (मेद — ग्रन्धचुञ्चुमद्गूनाम्) मेद, ग्रन्ध्र, चुञ्चु मद्गु इनका कर्म (ग्रारण्यपषुर्हिसनम्) जंगली पशुग्रों की हिंसा करना है ॥ ४८॥

> क्षत्रुप्रपुक्कतानां तु बिलोकावधवन्धनम् । धिग्वरणानां चर्मकार्यं वेरणानां भाण्डवादनम् ॥ १० । ४६ ॥

(क्षत्-उग्र-पुक्कसानाम्)क्षत्ता, उग्र ग्रीर पुक्कसों का कार्यं (विलोकावधवन्वनम्) विल में रहने वाले जानवरों को पकड़ना-मारना है, (धिग्वरणानां चर्मकार्यम्) धिग्वणों का कार्यं चमड़े की वस्तुएं बनाना ग्रीर (वेणानां भाण्डवादनम्) 'वेणों' का कार्यं विविध-प्रकार के बाज बजाना है ॥ ४६ ॥

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषू । वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ १० । ५० ॥

(एते) ये वर्णंसंकर (चैत्यद्रुम-श्मशानेषु) प्रसिद्धवृक्षों के नीचे, श्मशानभूमियों के पास, (शैलेषु + उपवनेषु) पहाड़ों में, वन-उपवनों में (स्वकर्मभिः वर्तयन्तः) अपने कर्मों से जीविका करते हुए और (विज्ञानाः) जानकारी में रहते हुए (वसेयुः) रहें॥४०॥

> चण्डालश्वपचानां तु बहिर्घामारप्रतिश्रयः । श्रपपात्राश्व कर्तव्या घनमेषां श्वगर्दमम् ॥ १० । ५१ ॥

(चण्डाल-श्वपचानां तु प्रतिश्रयः ग्रामात् बहिः) 'चण्डालों' ग्रीर 'श्वपचों' का निवास भी गांव से बाहर-दूर होना चाहिये (च) ग्रीर इन्हें (शपपाश्चा कर्त्तव्याः) निन्दित पात्रों से युक्त कर देना चाहिए, (एषां धनं श्व-गर्दभम्) इनका धन कृते ग्रीर गर्धे हैं।। ११।।

#### वासांसि मृतचेलानि मिन्नमाण्डेषु मोजनम् । कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यक्षः॥ १० । ५२ ॥

(मृतचेलानि वासांसि) मरे हुए व्यक्ति के ये वस्त्र पहेंनें, (भिन्नभाण्डेषु भोजनम्) टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करें (म्रलंकार, काष्णियसम्) इनके स्राभूषण लोहे के बने हों, (च) स्रौर (नित्यशः परिव्रज्या) ये सदा एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहें।। ५२।।

#### न तैः समयमित्वच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ १० । ५३ ॥

(धर्मम् + आचरन् पुरुषः) धार्मिक व्यक्ति (तैः) उन चण्डालों ग्रीर श्वपचों के साथ (समयं न अन्विच्छेत्) किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे (तेषां व्यवहारः मिथः) उनका सभी प्रकार का व्यवहार परस्पर ही हो ग्रीर (सद्दग्नैः सह विवाहः) समान जाति वालों के साथ विवाह करें।। ५३।।

#### भ्रम्नमेषां पराषीनं देयं स्याद्भिन्नमाजने। रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ १०। ५४॥

(एष।म् ग्रन्नं पराघीनम्) इनका भोजन दूसरों के भरोसे पर हो ग्रीर वह (भिन्न-भाजने देयं स्यात्) टूटे बर्तनों में देना चाहिए (ते) वे (रात्रौ) रात के समय (ग्रामेषु च नगरेषु न विचरेयुः) गांवों और नगरों में न घूमें ॥ ५४॥

## विवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्नता राजशासनैः। ग्रबान्घवं शवं चैत्र निहंरेयुरिति स्थितिः॥ १०॥ ५५॥

(दिवा) दिन में भी (राजशासनै: चिह्नता) राजा की श्रोर से दिये गये चिह्न को श्रंकित करके (कार्यार्थं चरेयु:) केवल काम के लिए घूमें (च) श्रीर (श्रवान्धवं शवं निर्हरेयु:) लावारिस लाशों को उठाने का काम करें (इति स्थिति:) यह शास्त्रव्यवस्था है।। ४४।।

### वध्यांत्रच हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपात्रया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्यात्रवामरणानि च ॥ १० । ५६ ॥

(च) और (ययाशास्त्रं नृप + ग्राज्ञया) शास्त्रानुसार राजा की ग्राज्ञा से (वघ्यान् हन्युः) वघ्य लोगों को मारें ग्रथात् जल्लाद का काम करें (च) तथा (वघ्य-वासांसि शय्या + ग्राभरणानि गृह्हीयुः) वध किये लोगों के कपड़े, पलग, ग्राभूषण ग्रादि ले लें।। ५६।।

अर्जुटरीट्डन्: १०।४६ से १०।४५ तक इलोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. विषय-विरुद्ध---१०।१३१ इलोक के झनुसार इस म्रघ्याय का विषय 'चातु-

वंण्यंधमं 'है। किन्तु इनमें वर्णसंकरों से उत्पन्न सूतादि के कार्यों का वर्णन किया गया है। म्रतः यह चातुवंण्यं-धमं-विषय न होने से विषय-विरुद्ध वर्णन है। १०। ५१ में तो चण्डाल म्रादि के कार्यों का वर्णन किया गया है, जो चातुवंण्यं विषय से सर्वथा ही बाह्य है।

- २. ग्रन्तिवरोध—(क) महिष-मनु ने कर्मानुसार वर्णव्यवस्था मानी है, जन्म से नहीं। कर्मानुसार उच्चवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति निम्न वर्ण का ग्रीर निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण का हो सकता है। एतदर्थ १। ८७—६१, १। ३१, २। १६८, ४। २४४, तथा १०। ६४ इलोक द्रष्टव्य हैं। किन्तु इन [४६–५६] इलोकों में जन्म को ग्राधार मानकर ग्रम्बष्ठ, वैदेह, मागधादि के कार्य दिखाये हैं [विशेष विवेचन १।८८—६१, १०७ पर द्रष्टव्य]।
- (ख) मनु की मान्यता के अनुसार सभी प्रकार की हिंसा करना महापाप है। मांसभक्षणादि कार्यों को मनु ने राक्षसों का भोजन माना है। परन्तु १०।३२,४८,४६, क्लोकों में अन्य पशुओं की हिंसा, बिलों में रहने वाले प्राणियों को मारना और मछली मारना आदि को आजीविका माना है। अतः यह मनुविरुद्ध है [इस विषयक विशेष विवेचन द्रष्टव्य ४।२६–२८ पर]।
- (ग) १०। ४६ इलोक में निम्नवर्णों को निन्दित कमों से आजीविका करने का वर्णन किया है और उन निन्दित कमों को द्विजों के ही कमं माना है। जैसे व्यापार करना मागधों का कार्य [१०। ४७ में] लिखा है। क्या जो द्विजों के कमें हैं, वे निन्दित हो सकते हैं अथवा द्विजों के कमों को निन्दित यहा जा सकता है? व्यापार जैसे वैदय के कार्य को निन्दित बताना मनू की मान्यता के विरुद्ध है।
- (घ) मनु की मान्यता के अनुसार मानव-समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है, और जो इनसे भिन्न हैं उन्हें अनार्य (दस्यु) (१०। ४५ में) कहा है। इस ग्राधार पर वर्णसंकरादि से उत्पन्न अनेकों वर्ग मानना मनुसम्मत नहीं हो सकता।
- (ङ) मनु ने शूद्र को आर्य-वर्ण माना है और ६ । ३३५ में उसे शुचि: =पिवत्र (स्पृश्य) तथा उसे उत्तमगित पाने का अधिकारी बताया है। किन्तु यहाँ शूद्र को शृणित, निन्दनीय तथा अस्पृश्य [१० । ५३] बताकर उसके साथ सम्पर्क करने का भी निषेष किया है। यह मनु की मान्यता के विरुद्ध है। क्योंकि शूद्र का कार्य द्विजों की सेवा करना है। क्या बिना सम्पर्क के ही सेवा कार्य हो सकता है? [द्रष्टब्य ६।३३५ पर समीक्षा]।
- ३. शैलीगत श्राधार—इस श्राधार पर भी ये सभी श्लोक प्रक्षिप्त हैं। देखिए १०। १० पर यह समीक्षा। १०। ४५ में ब्राह्मणादि चारों वर्णों से भिन्न व्यक्तियों को मनु ने 'दस्यु' कहा है। उसके बाद दस्युग्नों के विषय में कथन करना ही संगत हो सकता है, जो कि १०। ५७-५ द स्तोकों में किया गया है। इनके बीच में दर्णसंवर सन्तानों

तथा चण्डालादि के कार्यों का वर्णन प्रसंग-किरुद्ध है। एकत्रणनात्मक संगित सम्बद्धता को भंग कर रहा है। स्रतः प्रक्षिप्त हैं।

दस्यु अयोत् प्रनार्यं की पहचान उसके कार्यं देखकर करें —

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कजुषयोनिजम् । अगर्यरूपिनवानार्यं कर्मभिः स्त्रीवभावयेत् ॥१०।५७॥ (११)

(वर्ण-प्रपेनम्) वर्णों की दीक्षा से रहित ग्रथवा वर्णों से बहिष्कृत (ग्रायंरूपम् + इव + ग्रनायंम्) श्रेष्ठ रहन सहन ग्रीर स्वभाव का दिखावा करने वाने किन्तु वास्तव में श्रेष्ठलक्षणों से रहित ग्रनायं (कलुषयोनिजम्) [कलुषयोनी = दुष्टयोनी जायते इति कलुषयोनिजः तम्] दुष्टसंस्कारों वाले व्यक्ति से उत्पन्न दुष्टसंस्कारी या दुष्टप्रवृत्ति वाले (स्वै: कर्माभः विभावयेत्) उसके ग्रपने कर्मों से पहचान ले ग्रथित जो श्रेष्ठ कर्मों को न करता हो ग्रीर ग्रश्रेष्ठ कर्मों को करता हो, वह ग्रनायं है [जैसा कि ग्रगले क्लोक में विणित हैं ]।। १७।।

अपनाशी टिडना: मनार्य भीर उसके लक्षरा—(१) मनु ने प्रश्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी वर्ण की दीक्षा ग्रहण कर उत्तम धर्मानुकूल ग्राचरण का पालन करने का कथन किया है। कुछ व्यक्ति इतने दुष्टसंस्कारों के होते हैं कि उनकी धर्माचरण में रुचि नहीं बनती। वे किसी भी वर्ण की दीक्षा को ग्वीकार नहीं करते ['वर्णपितम्'], उनमें स्वभावगत श्रश्नेष्ठता, कठोरता, निर्दयता होती है भीर धार्मिक क्रियाओं के प्रति उपेक्षा भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति ही अनार्य या दस्यु हैं। दुष्टसंस्कारयुक्त व्यक्तियों से उत्पन्न होने वाले दुष्टसंस्कारी व्यक्तियों क्षण्योनिकों या वस्युमों में ये संस्कार इतने प्रवल हो जाते हैं कि वे किसी-न किसी रूप में प्रकट होकर उसकी पहचान करा देते हैं। ४।४१-४२ में मनु ने दुष्ट कर्मों से दुष्टसंस्कारी सन्तानों की उत्पत्ति की ग्रीर संकेत किया है। वही कलुषयोनिज या दस्यु होते हैं—

इतरेष तु लिरुरेल तज्ञांसानतबादिनः । . ५ ५ ,

(२) इस क्लोक में उच्च-निम्न जातिपरक श्रर्थं करना मनुसम्मत नहीं है। यहां स्पष्टतः सभी ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख है जो श्रायं रूप में श्रनार्य होते हैं, दुष्टोत्पन होने से दुष्ट गुण-कर्म स्वभाव वाले होते हैं। चाहे वे किसी भी वर्ण में हों 'कलुषयोनिज' ही कहलायेंगे।

१. प्रचलित मर्यं — वर्णभ्रष्ट (हीन वर्ण वाले), श्रप्रसिद्ध, नीच जाति से उत्पन्न, देखने में सज्जन (उच्च जाति वाले किन्तु वास्तव में) नीच जाति वाले मनुष्य को उसके कर्मों (बर्तावों) से जानना चाहिये ॥५७॥

म्रनायों-दस्युम्रों के लक्षण-

श्रनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्कियात्मता। पुरुषं य्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥ १०। ५८॥ (१२)

(ग्रनायंता) अश्वेष्ठ व्यवहार (निष्ठुरता) स्वभाव की कठोरता (क्रूरता) निर्दयता (निष्क्रयात्मता) धार्मिक क्रियाओं [यज्ञ ग्रादि] के प्रति उपेक्षाभाव = न करने की भावना, ये लक्षण (लोके) लोक में (पुरुषं कलुषयोनिजं व्यञ्जयन्ति) पुरुष के दुष्टप्रवृत्ति या ग्रनायं होने को सूचित करते हैं कि यह आयंवणों के अन्तगंत नहीं है, क्योंकि ये आयों के लिए निषिद्ध हैं।। ५८।।

अर्मु श्रीट्यनः (१) १०।५६ में यह बतलाने पर कि वर्णों से बहिष्कृत या ग्रदीक्षित व्यक्ति दस्यु हैं, चाहे वे ग्रायंभाषा बोलने वाले हों भयवा म्लेच्छभाषा-भाषी। ग्रव उनकी पहचान का वर्णन करना प्रासंगिक था, वह १०। ५७-५८ में किया है। इस प्रकार ४५वें के पश्चात् वर्णनक्रम की सम्बद्धता की दृष्टि से १०। ५७-५८ इलोक उपयुक्त जंचते हैं।

(२) इन क्लोकों से मनुकी यह मान्यता स्रष्ट एवं सिद्ध हो जाती है कि मनु कर्मणा वर्णव्यवस्था मानते हैं।

> पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा। न कथंचन दुर्योनिः प्रकृति स्वां नियच्छति ॥ १० । ५६ ॥ (१३)

(दुर्थोनिः) बुरे जीवन वाला या बुरे माता पिता से उत्पन्न व्यं किंतें (पित्र्यं या मातुः शीलम्) पिता भयवा माता के स्वभाव को (वा उभयम् एव) ग्रयवा दोनों के हो स्वभाव को (भजते) ग्रवश्य धारण किये होता है, श्रीर वे (स्वां प्रकृति कथंचन न नियच्छति) ग्रपने स्वभाव को किसी प्रकार नियन्त्रित नहीं कर सकते ग्रर्थात् उनका वह बुरा स्वभाव किसो न लिकी को के स्वार हो। जिल्हा है। श्रितः उससे बुरे व्यक्ति का जान कर

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योतिसंकरः। संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽत्पमपि वा बहुः॥१०॥६०॥

(मुख्ये कुले प्रपि जातस्य) उत्तम कुल में उत्तनन मनुष्य भी (यस्य यौनिसंकर:

१. प्रचलित प्रयं—इस लोक में अनार्यता, निष्ठुरता, क्रूरता, क्रिया (यक्त-सन्ध्यावन्दनादि कार्य—)हीनता, ये सब नीच जाति में उत्पन्न पुरुष को मालूम करा देती हैं अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य को नीच जाति बाला जानना चाहिये ॥ ५८॥

स्यात्) जो वर्णसंकर होता है तो (नरः) वह मनुष्य (ग्रल्पम् + ग्रिपि वा बहु) थोड़ा या बहुत (तत् शीलं संश्रयति + एव) ग्रपने उत्पादक के स्वभाव को ग्रवश्य ग्रहण करता है।। ६०।।

## यत्र त्वेते परिष्वंसाज्जायन्ते वर्णं दूषकाः । राष्ट्रिकैः सह तद्वाष्ट्रं क्षिप्रमेव विनस्यति ॥ १० । ६१ ॥

(यत्र तु एते परिघ्वंसा: वर्णंदूषका: जायन्ते) जिस देश में वर्णों को दूपित करने वाले ये वर्णसंकर प्रधिकता से उत्पन्न होते हैं (तत् राष्ट्रम्) वह देश (राष्ट्रिक: सह) वहां के निवासियों सहित (क्षिप्रम् + एव विनश्यति) शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ६१ ॥

## बाह्याणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः। स्त्रीबालाम्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ १० । ६२ ॥

(ब्रःह्मणार्थे वा गवार्थे) ब्राह्मणों के लिये ग्रथवा गौरक्षा के लिए (स्त्री-बाल-ग्रम्युपपत्ती वा) स्त्री, बालक की रक्षा के लिए (ग्रनुपस्कृत: देहत्यागः) बिना किसी कामना के देह का बलिदान कर देना (बाह्मानां सिद्धिकारणम्) इन वर्णसंकरों के लिए सिद्धिदायक माना गया है ग्रथित् इन कार्योसे इनको स्वगं की प्राप्ति हो जाती है।।६२।।

## म्रहिसा सत्यमस्तेयं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ १०। ६३॥

(प्रहिंसा + सत्यम् + ग्रस्तेयं + शौचम् + इन्द्रियनिग्रहः) ग्रहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियसंयम (चातुर्वर्ण्ये सामासिकम् एतं घमं मनुः ग्रज्जवीत्) चारों वर्णों के लिए संक्षेप में यह धर्म मनु ने कहा है ॥ ६३॥

#### शूद्रायां ब्राह्मरणाज्जातः श्रेयसा चित्रप्रजायते । श्रश्रेयान् श्रेयसीं जाति गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ॥ १० । ६४ ॥

(ब्राह्मणात् शूद्रायां जातः) ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान [यदि कन्या हो और वह] (श्रेयसा चेत् प्रजायते) यदि ब्राह्मण से विवाह कर कन्या उत्पन्न करे तो इस प्रकार (ग्रासप्तमात् युगात्) तो सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न होने वाली सन्तान (ग्रश्रेयान् श्रेयसीं जाति गच्छति) निम्न जाति से उच्च जाित को प्राप्त कर लेती है।। ६४।।

्राह्मिक्या स्थापन स्यापन स्थापन स्यापन स्थापन स्य

१. प्रसंगिवरद्ध — १०।४५ में चारों वर्णों से भिन्त मनुष्यों को दस्यु कहकर १०। ५७-५ द क्लोकों में दस्युओं की कर्माधारित पहुचान बतायी है। मुख्य विषय चातु-वर्ण्य-धर्म का होने से मनु ने १०। ६५ में चारों वर्णों के विषय में कहा है कि चारों वर्णों का आधार भी कर्म ही है। उच्चवर्ण का व्यक्ति कर्मानुसार निम्नवर्ण का भौर निम्नवर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण का हो सकता है। इस चातुर्वर्ण्य-धर्मविषय के कर्मप्रसंग के मध्य में १०।६१ ग्रादि इलोकों में वर्णादुवकों का वर्णन प्रसंगविषद है।

- २. ग्रन्तिवरोध—(१) मनु की मान्यता कर्मानुसार वर्णव्यवस्था की है [द्रष्टव्य १।१०७ समीक्षा] किन्तु यहाँ १०। ४६-६० में जन्ममूलक सिद्ध करने के लिये जन्म की उत्कृष्टता दिखाई गई है।
- (२) मनु ने सवर्णों में विवाह को उत्कृष्ट माना है। [३।४।। ७।७७।।] किन्तु यहाँ १०। ६४ में वर्ण-संकर ब्राह्मण का विवाह शूद्रा के साथ मानकर उससे उत्पन्न सन्तान का वर्णन किया है, यह सवर्णविवाह की मान्यता से विरुद्ध है। यदि ऐसी सन्तान होती भी है, तो वह कर्मणा वर्ण को अपनाकर उसी वर्ण की कहलायेगी, और उसी जन्म में, क्योंकि मनु कर्म के आधार पर ही वर्ण मानते हैं।
- (३) १०।६१ श्लोक में कहा है कि वर्णसंकर-सन्तान राष्ट्रघातक होती है। किन्तु १०।६२ में कहा है कि यदि वर्णसंकर से उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण श्रीर गायों श्रादि की रक्षा के लिये शरीर त्याग कर देवें, तो इन्हें सिद्धि = स्वर्गादि उत्तमगति प्राप्त हो जाती है। क्या जो राष्ट्र-घातक हैं, वे राष्ट्र के लिये श्रपना बलिदान कर सकते हैं? मनु ने उत्तम कमों से उत्तम गित मानी है, किन्तु यहां निन्दित कमें करने वालों को देह-त्याग करने से ही सिद्धि लिखी है। यह परस्पर विरोधी होने से मनु की मान्यता नहीं है और मनु ने लिखा है—

#### महायशैक्ष यज्ञैक्ष बाह्मीयं क्रियते तनुः ।। (मनु० २।२८)

श्रयांत् बाह्मण का बारीर जन्म से नहीं बनता, किन्तु यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यों के करने से बनता है। किन्तु यहां १०।६४ में कहा है कि सात पीढ़ी के बाद बाह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान उत्तम वर्ण वाली बन जाती है। यह जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था मनुसम्मत नहीं हो सकती। यह बात श्रयुक्तियुक्त भी है कि जन्म के श्राधार पर सात पीढ़ियों में सन्तान उत्कृष्ट वर्ण में बिना कर्म के दीक्षित हो सकती है। मनु की मान्यता के श्रनुसार तो संस्कारों के करने श्रीर धर्मों के पालन से उसी जन्म में व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है। [१०।६४]

३. शैलीविरोध—मनु के समस्त धर्मशास्त्र में प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ तथा उपसंहार का ग्रवश्य निर्देश किया है, ग्रीर मनु ने विषय के विश्व कुछ नहीं कहा है। किन्तु यहां चातुर्वण्यं-विषय में वर्ण्य-संकर का विषय-विश्व वर्ण्य किया गया है। मनु ने ग्रपना नाम लेकर कहीं प्रवचन नहीं किया। किन्तु यहाँ (१०।६३ में) प्रक्षेप करने वाले ने ग्रपनी मिथ्या बातों को मनु से प्रमाणित कराने के लिये 'श्रव्यविन्मनुः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। जिस से स्पष्ट है कि ये श्लोक मनु से मिन्न किसी दूसरे व्यक्ति ने बनाकर मिलाये हैं।

कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन---

शूद्रो बाह्यणतामेति बाह्यणद्यवैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैदयात्तर्येव च ॥ १० । ६४ ॥ (१४)

#### [श्रेष्ठ-ग्रश्रेष्ठ कर्मों के ग्रनुसार ही---]

(शूदः बाह्मणताम् + एति) शूद्र बाह्मण (च) श्रीर (ब्राह्मणः शूद्र-ताम् + एति) ब्राह्मण शूद्र हो जाता है श्रयात् गुएकमों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र के गुएग वाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य श्रीर शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता श्रीर जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वेश्य हो जाता है (क्षत्रियात् जातम् + एवं तु तथैव वेश्यात् विद्यात्) वैसे ही क्षत्रिय श्रीर वैश्य के विषय में भी जान लेगा। ६४।।

(ऋ० भा० भू० ३१३)

"उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से जो शूद्र है वह वैश्य, क्षत्रिय भ्रीर बाह्मण, भ्रीर वैश्य क्षत्रिय भ्रीर बाह्मण, तथा क्षत्रिय ब्राह्मण, वर्ण के ग्रिध-कार भ्रीर कर्मों को प्राप्त होता है। वैसे ही नीच कर्म भ्रीर गुणों से जो ब्राह्मण है वह क्षत्रिय, वैश्य शूद्र भ्रीर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, तथा वैश्य, शूद्र वर्ण के श्रिधकार भ्रीर कर्मों को प्राप्त होता है।।" (सं० वि० १०६)

"जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैश्य के समान गुरा, कर्म, स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय श्रीर वैश्य हो जाय, वैसे ही जो ब्राह्मण क्षत्रिय श्रीर वैश्यकुल में उत्पन्न हुग्रा हो श्रीर उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदश हों तो वह शूद्र हो जाय, वैमें क्षत्रिय, वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण श्रीर शूद्र भी हो जाता है। श्रयात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे।"

(स॰ प्र॰ ८७)

ऋषि ने पूना प्रवचन में इस श्लोक को उद्धृत करके कहा है—
'श्रूद्र ब्राह्मण हो जाता है ग्रीर ब्राह्मण भी श्रूद्र हो जाता है.' इस
मनु के वाक्य का भी विचार करना चाहिए।'' (पृ० २०)

अवस्तु को दिन्ज न्यः (१) १०। ५७-५८ में कर्मानुसार म्लेच्छ व्यक्तियों की पहचान बतलाकर १०। ६५ में कर्मानुसार वर्ण का परिवर्तन हो जाना कहा है भ्रयति कर्मानुसार ग्रनायं व्यक्ति की पहचान तो होती ही है, कर्म के ग्राधार पर उच्च-निम्न वर्ण वाले के वर्ण का परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार १०। ५७-५८ के पश्चात सम्बद्धता की दृष्टि से १०। ६५ वाँ प्रासंगिक है।

(२) कर्मणा वर्णव्यवस्था का अतिस्पष्ट विधान—मनु ने इस श्लोक में ग्रत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णव्यवस्था को कर्मों पर ग्राधारित माना है। इस मान्यता के सम्बन्ध में म्रन्य विवेचन २ । ३१, ५७–६१; १०७, ११ । ११४ क्लोकों में म्रौर उनकी समीक्षा में देखिये ।

(३) क्लोक की पुष्टि में प्रमास — प्राचीन काल में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था प्रचलित थी। इसके अनेक प्रमास और उदाहरण मिलते हैं। श्रापस्तम्ब धर्मसूत्र १। ५। १०-११ में इसी मान्यता को स्पष्ट किया है—

"धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्व पूर्व वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्ती ॥ १ ॥ अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्ती ॥ २ ॥ धर्मीवरण से निकृष्ट वर्णं अपने से उत्तम उत्तम वर्णं को प्राप्त होता है स्रीर वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिस के योग्य होवे ॥ १ ॥

वैसे ग्रधर्माचरण से पूर्व ग्रयीत् उत्तम वर्णवाला मनुष्य ग्रपने से नीचे-नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है ग्रीर उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥"

(स॰ प्र॰ चतुर्थं समु॰)

(४) वर्ण-परिवर्तन का उदाहरण—ऐतरेय ब्राह्मण २।१६ में कवष-ऐलूप नामक व्यक्ति की एक घटना वर्णित है, जो वर्ण-परिवर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है। जन्मना निम्न जाति का व्यक्ति ऋषित्व के कारण ऋषियों में परिगणित होकर उच्च-वर्णस्य कहलाया—

"ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्तमासत ते कवधमैलूषं सोमादनयन्, दास्याः पुत्रः कितपोऽब्राह्मणः कयं नो मध्ये दीक्षिष्टेति ।...स बहिषंन्वोदूदह विवासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमण्डयन्—'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति ॥"

श्रयांत्—'ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का श्रायोजन किया। यज्ञ में भाग लेने के लिए श्राये हुए कवप ऐलूष को ऋषियों ने सोम से विञ्चत कर दिया। यह सोचकर कि यह दासीका पुत्र, कपट-श्राचरण वाला, श्रज्ञाह्मण किस प्रकार हमारे मध्य दीक्षित हो गया है! (यज्ञसे बाहर निकाल देने पर) वह कवष-ऐलूष पिपासा से सत्त हुश्रा बाहर जंगल में चला गया। वहां उसने 'श्रपोनप्त्र' देवता वाले सूक्त का 'श्रयंदर्शन किया' फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुनः श्रपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित कर लिया।

यह सूक्त ऋक्० १०। ३० वाँ है ग्रीर वेद में इस सूक्त पर इसी ऋषि का नाम जिल्लाखित है। इस ऋषि-द्वारा दृष्ट ग्रन्य १०। ३१–३४ सूक्त भी हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूक्तों पर लिखित ऋषि जन-जन सूक्तों के ग्रथंद्रष्टा हैं।

बीज ग्रीर क्षेत्र की श्रेष्ठता में निर्णय—

म्रनार्यायां समुत्यन्तो बाह्यरणात् यहच्छया । बाह्यय्यामप्यनार्यात् श्रेयस्यं क्वेति चेत्मधेतु ॥ १०॥ ६६ ॥ (ब्राह्मणात् यहच्छया) ब्राह्मण से,इच्छापूर्वक (ग्रनार्यायां ममुत्पन्नः) ब्रायेंतर स्त्री में उत्पन्न सन्तान और (ग्रनार्यात् ब्राह्मण्याम् मग्रिप्) ग्रनार्य व्यक्ति से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान, (क्व श्रेयस्त्वं चेत् भवेत्) इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है १ यदि ऐसी शंका हो जाये तो [ग्रगले क्लोक में उत्तर है]।। ६६।।

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो मवेद् गुणैः । जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्यं इति निस्चयः ॥ १० । ६७ ॥

(म्रायित् श्रनायियां नायां जातः) श्रायं से आर्येतर स्त्री में उत्पन्त हुई सन्तान (गुर्गः श्रायः भवेत्) गुणयुक्त होने से श्रायं है, श्रीर (ग्रनायित् + ग्रायियां जातः)श्रनायं व्यक्ति से श्रायां स्त्री में उत्पन्न सन्तान (श्रनार्यः) गुणहीन होने से ग्रनायं है (इति निश्चयः) यह निर्णय है ॥ ६७ ॥

ताबुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः । वैगुण्यारजन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिसोमतः ॥ १० । ६८ ॥

(तौ + उभौ + ग्रिप) वे दोनों ही सन्तानें (ग्रसंस्कार्यों) यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य नहीं हैं (इति घर्मः व्यवस्थितः) ऐसी धर्मव्यवस्था है, क्योंकि (पूर्वः जन्मनः वैगुण्यात्) पहला निन्दित योनि से उत्पन्न है ग्रौर (उत्तरः प्रतिलोमतः) दूसरा प्रतिलोम से उत्पन्न है ग्रथीत् निन्दित बीज से उत्पन्न है ॥ ६८॥

> मुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं सम्पद्यते यथा। तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमहेति।। १०। ६६।।

(यथा) जिस प्रकार (सुक्षेत्रे सुबीजं जातं सम्पद्यते) ग्रच्छे क्षेत्र में बीया गया ग्रच्छा बीज श्रेष्ठ पौषे के रूप में बनता है (तथा) उसी प्रकार (ग्रायीत् ग्रायीयां जातः) ग्रायं वर्ण से उसी ग्रायीवर्ण में उत्पन्त हुई सन्तान (सर्वं संस्कारम् + ग्रहंति) सभी संस्कारों की अधिकारिणी होती है ॥ ६६॥

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिएः। बीजमेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तुब्यवस्थितिः॥ १०।७०॥

(एके बीजं प्रशंसन्ति) कुछ विद्वान् बीज की प्रशसा करते हैं (ग्रन्ये मनीषिणः क्षेत्रम्) दूसरे मनीषी लोग क्षेत्र को श्रेष्ठ मानते हैं (तथा) वैसे ही (ग्रन्ये) कुछ (बीज- क्षेत्रे) बीज ग्रीर क्षेत्र दोनों को समान रूप से श्रेष्ठ मानते हैं (तत्र + इयं य्यवस्थितः) उस संदेहात्मक स्थिति में ऐसी शास्त्रव्यवस्था है—।। ७०॥

म्रक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरंव विनश्यति । म्रबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ।। १० । ७१ ।।

(अक्षेत्रे उत्सृष्टं बीजम्) ऊषर खेत में बोया गया बीज (ग्रन्तरा + एव विन-इयति) फल से पूर्वे ही नष्ट हो जाता है ग्रीर (ग्रबीजकं क्षेत्रम् + ग्रपि) वीज के बिना उत्तम खेत भी (केवलं स्थण्डिलं भवेत्) केवल मिट्टी मात्र रह जाता है, स्रतः दोनों ही श्रेष्ठ एवं प्रधान हैं।। ७१।।

### यस्माद्वीजप्रभावेगा तिर्यन्जा ऋषयोऽमवन् । पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्वीजं प्रशस्यते ।। १०। ७२।।

(यस्मात्) क्योंकि (तिर्यंक्जा ऋष्यः) तिर्यंक्योनि में उत्पन्न होकर भी [ऋष्यश्रुंग ग्रादि] कुछ ऋषि (बीजप्रभावेण) उत्तम बीज के प्रभाव से (पूजिताः च प्रशस्ताः अभवन्) पूज्य ग्रौर श्रेष्ठ कहलाये (तस्मात् बीजं प्रशस्यते) इसलिए बीज को ग्रिषिक श्रेष्ठ माना जाता है।। ७२।।

#### अनायंमायंकमिणमायं चानायंकिमिणम्। सम्प्रधायांत्रवीद्धाता न समी नासमाविति ॥ १० । ७३ ॥

(ग्रायंकमिए। म् भनायंम्) भ्रायं वर्णों के कर्म करने वाले अनायं (च) भ्रीर (ग्रनायंकमिणम् श्रायंम्) भनायौ के कर्मकरने वाले भायं, ये (न समी न + ग्रसमी) न तो समान हैं भ्रीर न ग्रसमान हैं (इति संप्रधायं धाता श्रववीत्) ऐसा निश्चय ब्रह्मा ने किया है श्रयत् न तो दूसरे वर्णों के कर्म करने से भ्रीर न ग्रयने वर्ण के कर्मों के त्याग से वर्णपरिवर्तन हो सकता है।। ७३।।

अर्जुर्गोट्डन : १०। ६६ से १०। ७३ तक के श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

- ?. विषय-विरोध—इस म्रध्याय के म्रन्तिम इलोक से स्पष्ट है कि इस म्रध्याय का विषय चातुर्वण्यं-धर्मों का वर्णन करना है। किन्तु इसमें वर्णसंकरो का (जो कि चारों वर्णों के म्रन्तर्गत न होने से बाह्य हैं) वर्णन किया गया है भीर बीज की उत्कृष्टता बताई गयी है। भ्रतः यह विषय-विरुद्ध वर्णान है।
- २. श्रन्तिवरोष—(क) महिष-मनुने शूद्र को भी श्रायं वर्ण माना है [१०।४, ४५, १।८८—६१]। मनु की मान्यता में मनुष्यों के दो ही भेद हैं—श्रायं श्रीर दस्यु। और चारों वर्णों से भिन्न जो मनुष्य हैं, वे १०।४५ के श्रनुसार दस्यु हैं। श्रतः शूद्र भी श्रायं वर्णा हैं।परन्तु १०।६६ श्रीर १०।७३ में शूद्र को 'श्रनायं' शब्द से कथन किया गया है, श्रतः यह विरुद्ध है।
- (ल) मनु ने द्विजों में सवर्ण-विवाह को माना है [२।४,१२] परन्तु यहां १०। ७८ में ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान का कथन करने से स्पष्ट है कि यहां श्रसवर्ण-विवाह को भी माना गया है, जो कि मनु की मान्यता से विरुद्ध है [इस विषय पर विशेष समीक्षा द्रष्टक्य ३।४,११–१६ पर]।
  - (ग) मनु की मान्यता में वर्णव्यवस्था कर्ममूलक है, जन्म-मूलक नहीं। परन्तु

१०। ६८ तथा १०। ७३ में जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था को ही माना गया है भीर वर्णों को ग्रपरिवर्तनीय माना गया है, यह १६। ६५ के कथन से विरुद्ध है

(घ) — महर्षि मनु ने 'ऋषि' शब्द को देव, जितर, म्रादि की भौति मनुष्यों का ही भेद माना है। इसलिए मनु ने [१२। ४६ में] ऋषि, देव, पितर, तथा साद्यों को दितीय सात्त्विकगित वाले माना है। मनु के पास [१।१] महर्षि जिज्ञासा लिये आए थे, जिनके उत्तर में मनु ने वर्णाश्रमधर्म का उपदेश किया। तिर्यंक् योनि पशु-पक्षी म्रादि की है। जैसे—'तियंक्स्वं तामसा नित्यम्०' (१२। ४०) यहाँ पर मनु ने मनुष्यों से भिन्त पशुपक्षी म्रादि की योनियों को ही तियंक् कहा है। म्रतः स्पष्ट है कि ऋषि म्रीर तियंक् योनि पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु यहाँ कहा है—

#### तियंग्जा ऋषयोऽभवन्।। (१०। ७२)

श्रयांत् तिर्यंक् = पशुपक्षी योनि में उत्पन्न होकर बीज के प्रभाव से ऋषि हो गये। क्या यह सम्भव है कि तिर्यंक् योनि वाला ऋषि बन जाये? क्या इस प्रवार स्वयं योनि बदलने में मानव का सामध्यं है? क्या दूसरी योनि हो सकती है, क्या पशुपक्षी बीज प्रभाव से ऋषि बन सकते हैं? ग्रतः यह कथन सृष्टि-नियम के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्या है। मनु सद्दश ग्राप्तपुरुष ऐसा मिथ्या प्रवचन कभी नहीं कर सकते [इस विषय पर विशेष विवेचन द्रष्टव्य है ३२-४१ पर]।

३. शैली- विरोध — मनु की वर्णन-शैली विधानात्मक हे। परन्तु 'तियंगा ऋषयोऽभवन्' (१०। ७२) यह ऐतिहासिक शैली है, भतः मनु की नहीं है। श्रीर १०। ७३ में कहा है कि — 'अक्रवीव् धाता'। श्रयीत् यह निश्चय ब्रह्मा ने किया है। यह भी मनु की शैली नहीं है। क्योंकि मनुस्मृति-धर्मशास्त्र मनुशोक्त है, ब्रह्मा द्वारा नहीं।

ब्राह्मण की ग्राजीविका के कर्म-

#### बाह्मणा ब्रह्मयोतिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः वट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ १० । ७४ ॥

(ब्रह्मयोनिस्थाः ये ब्राह्मणाः) ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य में स्थित ब्राह्मणों को (स्व-स्व कर्मणि + प्रवस्थिताः) श्रपने-प्रपने कर्मों में संलग्न रहते हुए (यथाक्रमं षट् कर्माणि सम्यक् उपजीवेयुः) क्रमानुसार छः कर्मों के ग्रनुसार जीवन चलाना चाहिए।। ७४॥

#### म्रघ्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। बानं प्रतिग्रहरुचैव षट्कमण्यिग्रजन्मनः॥ १०। ७५॥

(श्रघ्यापनम् म श्रध्ययनम्) श्रघ्यापन, श्रघ्ययन, (यजनं तथा याजनम्) यज्ञ-करना तथा कराना, (दानं च प्रतिग्रहः) दान देना श्रीर दान लेना, (श्रग्रजन्मनः षट् कर्माणि) ब्राह्मण के ये छः कर्म हैं॥ ७४॥

#### षण्णां तु कर्मगामस्य त्रीगि कर्मागि जीविका । याजनाध्यापने चैव विश्वद्वाच्च प्रतिग्रहः ॥ १० । ७६ ॥

(षण्णां तु कर्मणाम्) इन छः कर्मौ में (याजन-म्रध्यापने च विशुद्धात् प्रतिग्रहः) यज्ञ कराना, वेद-अध्यापन, ग्रौर श्रेष्ठ व्यक्तियों से दान लेना (त्रीणि कर्माणि ग्रस्य जीविका) ये तीन कर्म ब्राह्मण की जीविकाएं हैं ।। ७६ ॥

क्षत्रिय और वैश्य के कर्म-

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मगारक्षत्रियं प्रति । ग्रम्यापनं याजनं च तृतीयक्च प्रतिग्रहः ।। १० । ५७ ।।

(ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति) ब्राह्मण से क्षत्रियों के (ब्रघ्यापनं याजनं च तृतीयः प्रतिब्रहः) ब्रध्यापन, यज्ञ कराना ब्रौर तीसरा दान लेना, (त्रयः धर्माः निवर्त्तन्ते) ये कर्त्तव्य कर्म निवृत्तः हो जाते हैं ब्रयात् क्षत्रियों को ये नहीं क्र्रने होते ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरिनिति स्थितिः। न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः॥ १०। ७८॥

(तथैव) उसी प्रकार (एते) ये पूर्वोक्त तीनों कर्म (वैश्यं प्रति निवर्ते रन्) वैश्य को भी नहीं करने चाहिएं (इति स्थितिः) ऐसी शास्त्रव्यवस्था है (प्रजापितः मनुः) प्रजापित मनु ने (तौ प्रति तान् धर्मान् न म्राह्) उनक्षत्रियों भौर वैश्यों के लिए ये तीनों धर्म विजित कहे हैं।। ७६।।

> शस्त्रास्त्रभृष्यं क्षत्रस्य विशास्यशुकृषिविशः । प्राजीवनार्यं धर्मस्तु वानमध्ययनं यजिः ॥ १० । ७६ ॥

(क्षत्रस्य-शस्त्र-ग्रस्त्रभृत्वम्) क्षत्रिय के शस्त्रात्र घारण करना, ग्रीर (विशः विणक् पशु-कृषिः) वैश्य के व्यापार, पशु-पालन ग्रीर कृषिकार्यं, (आजीवनार्यम्) ये ग्राजीविकाएँ हैं, तथा (दानम् + ग्रघ्ययनं यिजः) दान देना, ग्रघ्ययन करना ग्रीर यज्ञ करना (धर्मः) दोनों वर्णों के धर्मं हैं ॥ ७६ ॥

वर्णों के प्रमुख कार्यं—

वेदाम्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षग्रम् । वार्ता कर्मेव वैद्यस्य विद्याग्टानि स्वकर्मस् ॥ १० । ८० ॥

(ब्राह्मणस्य वेदाम्यासः) ब्राह्मण का वेदाम्यास करना-कराना, (क्षत्रियस्य रक्षणम्) क्षत्रिय का रक्षा करना, (वैदयस्य वार्ताकर्म + एव) वैदय का व्यापार करना (स्वकर्ममु विशिष्टानि) ग्रपने-ग्रपने कर्मों में प्रधान कर्म हैं ॥ ८०॥

श्रापत्काल में ब्राह्मण की जीविका-

मजीवंस्तु यथोक्तेन बाह्मणः स्वेन कर्मणा। जीवेत्सत्रियमधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥ १०॥ ८१॥ (बाह्मणः तु) बाह्मण यदि (यथोक्तेन स्वेन कर्मणा ग्रजीवन्) पूर्वोक्त [१०। ७५-७६] ग्रपने कर्मों से जीवन-निर्वाह न कर सके तो (क्षत्रिय अर्मेण जीवेत्) क्षत्रिय के कार्मों [१०। ७६] को करके जीवन को चलावे (हि) क्योंकि (सः ग्रस्य प्रति + अनन्तरः) वह क्षत्रिय कर्मे ही बाह्मण का समीपवर्ती वैकल्पिक कर्मे है।। ८१।।

#### उमाम्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। कृषिगोरक्षमास्याय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ १० । ८२ ॥

(उभाम्याम् + ग्रिप ग्रजीवन् तु) यदि कभी दोनों वर्णों (ब्राह्मण व क्षत्रिय) के कार्यों से भी जीवन चलाना मुक्तिल हो जाये तो (कथं स्यात्? इति चेत् भवेत्) कैंसे करें? यदि यह शंका उठे तो (कृषि-गोरक्षम् + ग्रास्थाय) केवल कृषि ग्रौर गोरक्षा का कार्य करते हुए (वैश्यस्य जीविकां जीवेत्) इन वैश्य की जीविकां ग्रों को ग्रपनाकर जीवन चलाये।। ८२।।

#### वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मा्गः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषि यत्नेन वर्जयेत् ॥ १०॥ ८३॥

(वैश्यवृत्त्या + श्रिप जीवन् तु) वैश्य वृत्ति से जीविका चलाते हुए (ब्राह्मणः वा क्षत्रियः) ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय (हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिम्) हिंसा-प्रधान श्रीर पराधीन सेती के कार्य को (यत्नेन वर्जयेत्) यत्नपूर्वक छोड़ देवे, न करे ॥ ६३॥

## कृषि साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सिंहगहिता। भूमि भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखस् ॥ १० । ५४ ॥

(कृषि साधु + इति मन्यन्ते) कुछ लोग कृषि को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु (सा वृत्तिः सद् विगहिता) यह जीविका सज्जनों द्वारा निन्दित है, क्योंकि (ग्रयोमुखं काष्ठम्) खेती करते समय लोहे के फलक वाला काष्ठ ग्रर्थात् हल (भूमि च भूमिशयान् हन्ति) भूमि ग्रीर भूमि में रहने वाले जीवों की हत्या कर देता है।। ५४।।

#### इदं तु वृत्तिवैकल्यात् त्यजतो धर्मनैपुणम् । विद्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्षनम् ॥ १० । ८४ ॥

(वृत्तिवैकल्यात्) जीविका के श्रभाव में (धर्मनैपुणम् तु त्यजतः) धर्मनिष्ठा को छोड़ते हुए ब्राह्मण क्षत्रियों को (विट्पण्यम् + उद्धृत + उद्धारम्) वैश्यों के द्वारा बेचने पर लाभ देने वाली (इदं वित्तवर्धनं विक्रेयम्) ये निम्न धनवर्धक वस्तुयें बेचकर जीविका चलानी चाहिए — ॥ ५५॥

#### सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह । श्रदमनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ १० । ५६ ॥

(सर्वान् रसान्) सब रस, (कृतान्नं तिलै: सह) पक्वान्न, तिल, (प्रश्मनः लवणं पशवः च मानुषाः) पत्थर, नमक, पशु ग्रीर दास-दासी मनुष्य, इन्हें न बेचें।। ८६॥

#### सर्वं च तान्तवं रक्तं क्षाणक्षौमाविकानि च। अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले यथौषधीः॥ १०। ८७॥।

(रक्तं सर्वं तान्तवम्) रंगे हुए सब प्रकार के कपड़े (च शाणम्) ग्रीर सत, (क्षीम + ग्राविकानि) रेशम श्रीर ऊन के कपड़े, (ग्राप च ग्ररक्तानि स्युः) चाहे ये बिना रंगे हों तो भी न बेचें (फल-मूले तथा + अष्विधीः) फल, मूल तथा श्रीषियां भी न बेचें।। ८७॥

ग्रपः ज्ञस्त्रं विषं मासंसोमं गन्षादच सर्वेजः। क्षीरं क्षीवं दिध घृतं तैलं मचु गुक्क्यान्॥१०। ८८॥

(प्रप: शस्त्रं विषं मांसं, सोमं च सर्वशः गन्धान्) जल, सब शस्त्र, विष, मांस, सोमरस एवं सब प्रकार की सुगन्धित वस्तुएं (क्षीरं क्षौद्रं दिध घृतं तैलं मघु गुडं कुशान्) दूध, मोम, दही, घी, तैल, शहद, श्रीर कुशा इनको भी न बेचें ॥ ८८ ॥

> म्रारण्यादवः पशुरसर्वान्बंष्ट्रिग्रहवः वयासि च । मद्यं नीतिः च लाक्षां च सर्वादवैकशफास्तया ॥ १० । ८६ ॥

(सर्वान् ग्रारण्यान् दंष्ट्रिणः च पश्न्) सब प्रकार के जंगली ग्रीर दांतों से खाने वाले सिंह-बाघ आदि पशु, (च) ग्रीर (वयांसि) पक्षी (मद्यं नीलि लाक्षाम्) मदिरा, नील, लाख, तथा (सर्वान् एकशफान्) सब एक खुर वाले घोड़ा ग्रादि पशु, इनको भी न बेचें।। ८६।।

> कामनुत्पाच कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवतः। विक्रीगोत तिलाञ्कूताम्बर्मायंमविरस्थितीन्।। १० । ६० ।।

(कृषीवलः) खेती करने वाला बाह्मण (कामम्) इच्छा होने पर (कृष्यां तिलान् उत्पाद्य) कृषि में यदि तिल पैदा करे तो (श्रूद्रान् विक्रीणीत) वह उन्हें शूद्रों को बेच दे, या फिर (प्रचिरस्थान् धर्मार्थम्) बहुत दिनों तक उन्हें न रसकर यज्ञ प्रादि धर्मकार्यं के लिए दे दे ।। ६० ।।

> मोजनाम्यङ्जनाब्दानाद्यदम्यत्कुक्ते तिलैः । कृमिमूतः दवविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ १० । ६१ ॥

(भोजनात् अम्यञ्जनात् दानात्) खाने, उबटन के रूप में मलने ग्रीर दान देने के सिवाय (तिलै: यत् + ग्रन्यत् कुरुते) तिलों से जो कोई ग्रन्य कार्य-सम्पादन करता है, वह (पितृभि: कृमिभूत: सह श्वविष्ठायां मज्जित) पितरों सिहत कीड़ा बनकर कुत्ते की विष्ठा में पड़ा रहता है ॥ ६१ ॥

सद्यः पतित मांसेन लाक्षया लवजेन च।
प्रयहेण शूडो मवित ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ १०। ६२॥
(च लाक्षया लक्षोन) ग्रीर, लाक्षा तथा नमक बेचने से (मांसेन) मांस बेचने

से (सद्यः पतित) तुरन्त पितत हो जाते हैं, तथा (क्षीरिवक्रयात् ब्राह्मणः) दूध बेचने से ब्राह्मण (त्रि + ब्रहेन शूद्रः भवति) तीन दिन में शूद्र बन जाता है ॥ ६२ ॥

> इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः । बाह्यस्यः सप्तरात्रेण वैदयमावं नियम्छति ।। १० । ६३ ।।

(इतरेषां पण्यानां कामतः विक्रयात्) ग्रन्य निषिद्ध [१०।८६–८६) वस्तुग्रों के इच्छापूर्वक बेचने से (ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति) ब्राह्मण सात रातमें वैश्यत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

> रसा रसैनिमातभ्या न त्वेष लवणं रसैः। कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला घान्येन तत्समाः॥ १०। ६४॥

(रसाः रसैः निमातव्या) रसों को रसों से ही बदलकर लेना चाहिए (न तु लवणं रसैः) किन्तु नमक को किसी रस से नहीं बदलना चाहिये (कृतान्नं प्रकृतान्नेन) पक्वान्नों को कच्चे अन्नों से बदलना चाहिए (तिलाः तत्समाः धान्येन) तिलों को उनके बरावर धान्य से बदलना चाहिए॥ १४॥

ग्रापत्काल में क्षत्रिय की ग्राजीविका के कर्म-

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेगाप्यनयं गतः। न त्वेवं ज्यायसीं वृत्तिमिमन्येत कहिचित्।। १०। ६५॥

(राजन्यः) क्षत्रिय (सर्वेगा + श्रिप + अनयं गतः) सब प्रकार से असमयं होता हुमा (एतेन जीवेत्) इसी [१०।८२] कृषि मौर गोरक्षा कर्मं से जीविका चनाये (तु) किन्तु (किंहिचित्) कभी (ज्यायसीं वृत्ति न प्रभिमन्येत) भ्रपने उच्च वर्णं की वृत्ति [भ्रघ्यापन, याजन, दान लेना] को ग्रहण न करे॥ १५॥

> यो लोभावधमो जात्या जीवेबुत्कृष्टकर्मिनः। तं राजा निर्धनं कृत्वा लिप्रमेव प्रवासयेत्।। १०। ६६॥

(यः) जो (जात्या प्रधमः) निम्न वर्णं वाला (लोभात्) लोभवश होकर उत्कृष्टकमंभिः जीवेत्) ग्रपने से उच्चवर्णं के कभौं से जीविका करे तो (राजा) राजा (तं निर्धनं कृत्वा क्षिप्रम् == एव प्रवासयेत्) उसको धनहीन करके देश से शीझ निकाल दे॥ ६५ ...

वरं स्वषमीं विगुराो न पारक्यः स्वनुष्टितः । परषर्मेगा, जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥ १० । ६७ ॥

(विगुण: स्वधमं: वरम्) स्वल्प गुण वाला भ्रपना धमं भी श्रेष्ठ है (पारक्यः स्वनुष्ठित: न) दूसरे का भ्रष्छा धमं भी श्रेष्ठ नहीं है (हि) क्योंकि (परधमेंण जीवन्) दूसरे के धमं से जीविका करनेवाला मनुष्य (जातित: सद्य: पतित) भ्रपने वर्णं से तत्काल पतित हो जाता है ॥ १७॥

प्रापत्काल में वैश्य की भ्राजीविका के कर्म-

वैद्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्। ग्रनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च द्यावितमान्॥ १०। ६८॥

(वैश्यः स्वधर्मेण श्रजीवन्) वैश्य श्रपने कर्मों से जीविका चलाने में श्रसमधं होने पर (अकार्यागि श्रनाचरन्) निन्दित कार्यों को न करता हुश्चा (शूद्रवृत्त्या + श्रपि वर्तयेत्) शूद्र की वृत्ति से जीविका चलाये (च) श्रौर (शक्तिमान् निवर्त्तेत) समधं होते ही उस वृत्ति का त्याग करदे ॥ ६ ८ ॥

भापत्काल में शूद्र की ग्राजीविका के कर्म —

अशक्तुवंस्तु शुश्रूषां शुद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेस्कारुककर्ममिः ॥ १० । ६६ ॥

(शूद्रः) शूद्र (द्विजन्मनां गुश्रूषां कर्तुं स्रशक्नुवन् तु) द्विजों की सेवा करके जीविकां चलाने में ससमयं हो जाये, श्रौर (पुत्र-दारात्ययं प्राप्तः) स्त्री-पुत्र ग्रादि के ग्रमाव में पीड़ित होने लगे तो (कारक-कर्मभिः जीवेत्) कारीगरी के कार्यों से वह प्रपनी जीविका चला ले।। ६६।।

यैः कर्मिनः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १० । १०० ॥

(यै: कर्मभि: प्रचरितै:) जिन कर्मों के करने से (द्विजातयः शुश्रूष्यन्ते) द्विजातियों की सेवा या हित होवे (तानि कारुककर्माणि) उन कारीगरी के कार्मों को (च) ग्रौर (विविधानि शिल्पानि) विविध प्रकार के शिल्पकार्यों को शुद्र करे।। १००॥

बैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्त्राह्मणः स्वे पथि स्थितः। प्रवृत्तिकवितः सीवन्तिमं धर्मं समाचरेत्।।१०।१०१॥

(स्वे पथि स्थित: ब्राह्मणः) ग्रपने धर्ममार्गं पर स्थित ब्राह्मण (ग्रवृत्तिकर्षितः) जीविका के ग्रभाव से (सीदन्) पीड़ित हुग्ना-हुग्ना भी (वैद्यवृत्तिम् — अनातिष्ठन्) वैद्यवृत्ति का ग्रवलम्बन न करता हुग्ना (इस धर्मं समाचरेत्) इन निम्न धर्मों का पालन करे।। १०१॥

> सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् बाह्यागस्त्वनयं गतः । पवित्रं दृष्यतीत्येतद्वर्मती नोपपद्यते ॥ १० । १०२ ॥

(श्रनयंगतः बाह्यणः) जीविका-ग्रभाव की श्रापत्ति में पड़ा हुत्रा बाह्यण (सर्वेतः प्रति प्रगृह्णीयात्) सबसे [नीच श्रौर उत्तम सब से] दान लेले (पवित्रं दुष्यिति + इति + एतत्) पवित्र वस्तु कभी दूषित होती है, यह बात (धर्मतः न + उपपद्यते) धर्मानुसार नहीं सिद्ध होती ॥ १०२॥

#### नाध्यापनाद्याजनाद्वा गहिताद्वा प्रतिप्रहात्। दोवो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०॥ १०३॥

(ते) वे बाह्मण (ज्वलन-ग्रम्बु-समा) ग्राग्न ग्रीर जल के समान पवित्र हैं, ग्रतः (विप्राणाम्) बाह्मणों की (गींहतात् ग्रध्यापनात् याजनात् वा प्रतिग्रहात्) निन्दितों को पढ़ाने, यज्ञ कराने ग्रथवा उनसे दान लेने से (दोषः न भवित) कोई ग्रावित्रता नहीं होती ग्रथित् बाह्मण सर्वेषा पवित्र रहते हैं ॥ १०३॥

जीवितात्ययमापन्नो योजनमिला यतस्ततः। श्राकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते।। १०। १०४॥

(जीवित + ग्रत्ययम् + ग्रापन्नः) जीविका के ग्रभाव में प्राणसंकट में ग्रस्त (यः) जो ब्राह्मण (यतः ततः ग्रन्नम् + ग्रत्ति) जहां-तहां से भी ग्रथित् नीच से भी यदि ग्रन्न लेकर खा लेता है तो (आकाशम् + इव पङ्केन) जैसे ग्राकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता ऐसे ही (सः पापेन न लिप्यते) वह पाप से लिप्त नहीं होता ।। १०४॥

> मजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासपंद् बुभुक्षितः। न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥१०।१०५॥

(बुभुक्षितः म्रजीगर्तः) भूख से पीड़ित हुमा ऋषि म्रजीगर्त (सुतं हृन्तुम् + उपा-सर्पत्) म्रपने पुत्र ग्रुतःशेप को मारने के लिए तैयार हुमा था (क्षुत् प्रतीकारम् + म्राचरत्) भूख की निवृत्ति के लिए इस प्रकार का म्राचरण करने पर भी वह (पापेन न म्रलि-प्यत) पाप से लिप्त नहीं हुमा ।। १०५।।

> श्वमांसिमञ्ज्ञनार्तोऽतुं धर्मावर्मविषक्षणः । प्राणानां परिरक्षार्यं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १० । १०६ ॥

(धर्म + प्रधर्म-विचक्षराः) धर्म-प्रधर्म के विशेष ज्ञाता (वामदेवः) वामदेव ऋषि (प्राप्तेः) भूख से पीड़ित होकर (ध्व-मांसम् प्रत्तुम् इच्छन्) कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा करते हुए भी (प्राणानां परिरक्षार्यं न लिप्तवान्) प्राणों की रक्षा के लिए ऐसा करने के काररण पाप से लिप्त नहीं हुए ॥ १०६॥

मरद्वाजः कुषातंस्तु सपुत्रो विजने वने । बह्वीर्गाः प्रतिजन्नाह वृषोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १० । १०७ ॥

(विजने वने सपुत्रः महातपाः भरद्वाजः) निर्जन वन में पुत्रसहित निवास करने वाले महातपस्वी भरद्वाज मुनि ने (वृधोः तक्योः बह्वीः गाः प्रतिजग्राह) 'वृधु' नाकक बढ़ई से बहुत-सी गायें दानरूप में ग्रहण कर लीं ग्रर्थात् नीच से दान लेकर भी वे पाप से लिप्त नहीं हुए॥ १०७॥

भुषार्तश्चातुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् । चण्डालहस्ताबावाय धर्माधर्मविषक्षागः ॥ १० । १०८ ॥ (धर्म + ग्रधर्म-विचक्षणः) धर्म-ग्रधर्म के विशेषज्ञाता (विश्वामित्रः) विश्वामित्र ऋषि ने (अधार्तः) भूख से पीड़त होने पर (चण्डालहुस्तात् श्वजाधनीम् + ग्रादाय) चण्डाल के हाथ से कुत्ते की जङ्धा का मांस लेकर (ग्रत्तुम् + ग्रभ्यागात्) खाने को उद्यत हुए थे [किन्तु फिर भी वे पाप से लिप्त नहीं हुए]॥ १० =॥

दान का लोभ निन्दनीय-

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनावपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गहितः॥ १०। १०६ ॥

(प्रतिग्रहात् याजनात् तथैव + ग्रघ्यापनात् + ग्रिप) निन्दित दान लेने से, यज्ञ कराने से ग्रीर ग्रघ्यापन से (प्रतिग्रहः प्रत्यवरः) दान लेना सबसे निकृष्ट काम है, (विप्रस्य प्रत्य गहितः) यह ब्राह्मण के लिए परलोक में भी दुःल का कारण माना है।। १०६।।

याजनाध्यापने नित्यं कियेते संस्कृतात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु कियते शुद्राबप्यन्त्यजन्मनः ॥ १० । ११० ॥

क्योंकि (याजन-म्रध्यापने) यज्ञ कराना भीर म्रध्यापन ये काम तो (नित्यम्) सदा (संस्कृत + म्रात्मनां क्रियेते) यज्ञोपवीत संस्कार से युक्त व्यक्तियों के ही किये जाते हैं (तु) किन्तु (प्रतिग्रहः) दान तो (म्रन्त्यजन्मनः शूद्रात् + म्रिप क्रियते) निकृष्ट जन्म वाले शूद्र से भी लिया जाता है, अतः तीनों कर्मों में यह निकृष्ट है ॥ ११० ॥

> जपहोमैरपैत्येनो याजनाष्यापनैः कृतम्। प्रतिग्रहनिमित्तं तु स्यागेन तपसैव च॥१०।१११॥

(याजन-मध्यापनै: कृतम् + एनः) निन्दितों के यहाँ यज्ञ कराने भीर अध्यापन से लगा हुम्रा पाप तो (जपै: होमैं: + मपैति) जप भीर हवन करने से नष्ट हो जाता है (तु) किन्तु (प्रतिग्रहनिमित्तं त्यागेन च तपसा एव) निन्दित दान लेने से लगा हुम्रा पाप तो उस वस्तु के त्याग से भीर तप रूपी प्रायश्चित्त से नष्ट होता है।। १११।।

> शिलोञ्**छमप्याद**वीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ १० । ११२ ॥

(प्रजीवन् विप्रः) जीविका में प्रसमर्थ होने पर ब्राह्म्या (यतः + ततः शिल + उञ्छम् + प्रिय + प्राददीत) जहां-कहीं से शिल = काटने के बाद खेत में बची रह जाने वाली बालें, ग्रीर उञ्छ = काटने के बाद खेत में पड़े रह जाने वाले दाने, इन्हें बीनकर भी जीविका चला ले, क्योंकि (प्रतिग्रहात् शिलः श्रेयः) दान लेने से 'शिल' वीनकर जीविका चलाना ग्रच्छा है, ग्रीर (ततः उञ्छः ग्रिप प्रशस्यते) उससे तो 'उञ्छ' से जीविका करना भी ग्रच्छा है। ११२।।

## सीवद्भिः कुप्यमिन्छिद्दिमधंनं वा पृथिवीपतिः।

याच्यः स्यात्स्नातर्कीवप्रैरदित्संस्त्यागमहैति ॥ १० । ११३ ॥

(स्नातकै: विप्रैः) स्नातक विद्वानों को (सीदिद्भः) कष्टपीड़ित म्रवस्था में (कुप्यं घनं वा इच्छद्भिः) भोजन-वस्त्र, धान्य-घन की इच्छा होने पर (पृथिवीपितः याच्यः स्यात्( राजा से भी घन मांग लेना चाहिए (ग्रदित् सन् त्यागम् । ग्रहीत) दान देने की इच्छा न रखने वाले राजा से मांगना छोड़ दें, पुनः न मांगें।। ११३।।

अकृतं च कृतात्सेत्राद्गोरजाविकमेव च। हिरण्यं घान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वभवोषवत्।। १०। ११४।।

(कृतात् क्षेत्रात् अकृतम्) जोते-बोये खेत से बिना जोती बोई भूमि, (गोः + अजा + अविकम् + एव च) गौ, बकरी भेड़ और (हिरण्यं धान्यम् + अन्नम्) सोना, धान्य, अन्न, (पूर्वं पूर्वम् + अदोपवत्) इनमें पूर्वं न्यूवं का दान कम दोष वाला है अर्थात् दान में यथाशक्ति पूर्वं न्यूवं की वस्तुएँ ही लेनी चाहिएँ ।। ११४ ।।

धर्मानुकूल सात ग्राय---

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।

प्रयोगः कर्मयोगस्य सत्प्रतिग्रह एव च।। १०। ११४।।

(सप्त वित्तागमाः धर्म्याः) सात धन-प्राप्ति के साधन धर्मानुकूल माने गये हैं---१. (दायः) पैतृकधन, २. (लाभः) लाभरूप में प्राप्त धन, ३. (क्रयः) खरीदा हुम्रा, ४. (जयः) विजय में प्राप्त, ५. (प्रयोगः) व्याज ग्रादि से प्राप्त, ६. (कर्मयोगः) परि. श्रम से कमाया गया, ७. (च सत्प्रतिग्रहः एव) ग्रीर केवल श्रेष्ठ दान ॥ ११४ ॥

दश ग्राजीविकायें---

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्यं विपिताः कृषिः । भृतिर्मेक्यं कुसीदं च वश जीवनहेतवः ।। १० । ११६॥

(दश जीवनहेतवः) दस जीवन-निर्वाह के हेतु माने गये हैं — १. (विद्या) ग्रघ्या-पन, २. (शिल्पम्) कारीगरी ३. (भृतिः) वेतनप्राप्ति, ४. (सेवा) सेवा करना, ५. (गोरक्ष्यम्) गौ ग्रादि पशुभों की रक्षा, ६. (विपणिः) व्यापार, ७. (कृषिः) खेतीकार्य, ८. (धृतिः) शिलं उञ्छ ग्रादि से संतोषपूर्वक जीवन विताना, ६. (भैक्ष्यम्) भिक्षा-प्राप्ति, १०. (च कुसीदम्) ग्रीर व्याजप्राप्ति ॥ ११६ ॥

ब्राह्मण ग्रीर क्षत्रिय व्याज न ले---

बाह्यणः क्षत्रियो वापि वृद्धि नैव प्रयोजयेत्। कामं तु खलु धर्मायं वद्यात्पापीयसेऽस्पिकाम् ॥ १० । ११७ ॥

(क्राह्मणः वा क्षत्रियः श्रिप) क्राह्मण श्रीर क्षत्रिय (वृद्धि नैव प्रयोजयेत्) व्याज पर धन न दे (कामंतु) यदि व्याज पर धन देना भी चाहे तो (धर्मीर्यं खलु) केवल किसी धर्मकार्यं के लिए (अल्पिका पापीयसे दद्यात्) थोड़े व्याज पर पापी = चण्डास ग्रादिको देदे॥ ११७॥

अर्जुट्ये टिंडन्: १०। ७४-११७ ये सभी इलोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. विषय-विरोध — नवमाध्याय के उपसंहार में मनु ने लिखा है —
एवोऽखिलः कर्मविधिरक्तो राज्ञः सनातनः।
इमं कर्मविधि विद्यात् कमशो वैश्यशूब्रयोः।। (१। ३२५)

ग्रर्थात् चातुर्वर्ण्यंघमं के श्रन्तर्गत यह समस्त क्षत्रिय के घर्मों का वर्णन किया है ग्रीर ग्रब क्रम से वैदय व शूद्र के कर्मों का विधान करेंगे। ग्रीर दशमाघ्याय के ग्रन्तिम क्लोक में भी यही कहा है—

## एव धर्मविधिः कृत्स्नद्यातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ॥

अर्थात् चारों वणों के धमों का विधान सम्पूर्णता से कहा गया। इन दोनों हलोकों से इस प्रध्याय के विषय का निर्देश स्पष्ट है। किन्तु यहाँ ७४ से ८३ दलोकों में ब्राह्मण की प्राजीविका के कमों का विधान, ६५ में सित्रिय की प्राजीविका के, ६८ में वैदय की ग्रीर ६६ में शूद्र की प्राजीविका के कमों का विधान विषय निर्देशक दलोकों से विरुद्ध है। उस क्रम में वैदय के ६।३२६ से ६।३३३ दलोकों में ग्रीर शूद्ध के ६।३३४-३३५ दलोकों में कमों का विधान कर चुके हैं। मनु ने (१०।४ में) चातुर्वण्यं-धर्मों की समाप्ति पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वर्णं चार ही हैं, इनसे भिन्न पांचवां वर्णं कोई नहीं है। ग्रतः प्रतिपाद्य विषय के समाप्त होने पर पुनः उसका प्रकारान्तर से इसलिए कथन करना कि जन्म-मूलक उपजातियों से इनका सम्बन्ध जोड़ा जा सके, यह सर्वया ग्रनु-चित्र है। यह मनुप्रोक्त नहीं हो सकता, वयोंकि मनु एक विषय का प्रतिपादन एकत्र ही कर देते हैं।

- २. शैली विरोध—इन श्लोकों की शैली मनुसम्मत नहीं है। जैसे—(क) ७८ वें श्लोक में कहा है—'मनुराह प्रजापितः।' इससे स्पष्ट है कि ये श्लोक मनुसे भिन्न किसी ब्यक्ति ने मनुके नाम से बनाए हैं।
- (ख) ६१-६३ इलोकों की शैली ब्रतिशयोक्तिपूर्ण, घुणायुक्त, भयप्रदर्श-नात्मक ग्रीर रूढ़ होने से मनुप्रोक्त नहीं है। जैसे —६१ में पितरों के साथ कीड़ा बनकर कुत्ते की विष्ठा में पड़े रहना, १०३ में नमक व मांस बेजने से तुरन्त पतित होना, ग्रीर दूध बेचने से बाह्यण का तीन दिन में शूद्र हो जाना, ग्रीर निषिद्ध वस्तुग्रों के विक्रय से बाह्यण [१०४ में] सात रातों में वैदय बन जाता है।
- (ग) ग्रीर १०६ वें क्लोक में कहा है कि कोई निम्न वर्ण का व्यक्ति उच्चवर्ण की आजीविका न करे, यह भी मनु की मान्यता के विरुद्ध अयप्रदर्शन मात्र ही किया है। यदि किसी वर्ण का व्यक्ति निम्नवर्ण के कार्य कर सकता है तो उच्चवर्ण के कर्मी

पर प्रतिबन्ध क्यों ? मनु ने १०। ६५ वें श्लोक में 'शूब्रो बाह्य एतामेति' इत्यादि कह-कर शूद्र को बाह्यण भौर बाह्यण को कर्महीन होने पर शूद्र स्पष्ट रूप से माना है। ग्रतः उच्चवर्ण के कर्मों पर प्रतिबन्ध की बात मनुप्रोक्त नहीं है। यह सब जन्माश्रित वर्ण-व्यवस्था की मान्यता का ही प्रभाव है।

- (घ) और १०५-१०० क्लोकों की शैली विष्यात्मक न होकर ऐतिहासिक और अयुक्तियुक्त है। यह शैली मनु की नहीं है। जैसे—अजीगत्तं भूख से पीड़ित होकर पुत्र-हत्या करने के लिए तैयार होकर भी पाप-ग्रस्त न हुआ [११६]। वामदेव ने भूख से पीड़ित होकर कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा की भौर पाप-ग्रस्त न हुआ [११७]। भरद्वाज बढ़ई से दान में गायें लेकर भी पाप-ग्रस्त न हुआ [११८] और विश्वामित्र भूखा होने पर चण्डाल के हाथ से कुत्ते का मांस खाने को उद्यत हुए और पाप-ग्रस्त न हुए। ये सभी उदाहरण ऐतिहासिक शैली के होने से मनुप्रोक्त नहीं हैं। शौर ये प्रजीगतादि सभी व्यक्ति मनु से परवर्ती हैं, फिर मनु उनके उदाहरण कैसे दे सकते थे? मनु तो सृष्टि के ग्रादि में हुए हैं।
- (ङ) ग्रौर १०। १०४ में कहा है कि जैसे कीचड़ से ग्राकाश लिप्त नहीं होता, वैसे बाह्मण पाप से लिप्त नहीं होता। यह अयुक्तियुक्त व पक्षपातपूर्ण होने से मनुशोक्त नहीं हो सकता!
- 3. अन्तर्विरोध—(१) ८२ वें क्लोक में कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय की वृत्ति से जीविका न चला सके तो वैक्यवृत्ति के गोरक्षा और कृषि करके जीविका चलाये। किन्तु ८३—८४ क्लोकों में कृषि की निन्दा करके ब्राह्मण को कृषिकर्म करने का निषेध कर दिया है, और व्यापार करने का विधान कर दिया है।
- (२) ८८-८६ श्लोकों में मद्य-मांसादि के विक्रय का निषेध किया है। मनु की मान्यता में मद्यमांसादि राक्षसों का भोजन है श्रीर मांस के विक्रता को भी मनु ने घातक = पापी [४। ४२ में] कहा है। इससे स्पष्ट है कि मांसादि का विक्रय करना वैश्य के कर्मों में मनु नहीं मानते। किर यह निषेधारमक समस्त विधान परवर्ती समय का है कि जब मद्य-मांसादि का सेवन बढ़ने से विक्रय होने लगा था।
- (३) १०१-१०७ इलोकों में ब्राह्मणों के लिए निन्दित दानादि लेने का विधान किया गया है, जबकि ब्रन्यत्र [४।१६१-१६४ में] सर्वत्र विशुद्ध दान लेने का कथन है।१०४-१०८ इलोकों में मांस-भक्षण को उचित बताया है, जब कि मनु ने स्रापत्काल में भी हिंसा करने का [४।४१,४।४३ में] निषेध किया है।
- (४) १०६ इलोक में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए ब्याज पर धन देने की छूट दी है, जबकि १०। पर में ब्याज कार्य को ठीक नहीं माना है। १२०से १२८ तक के इलोकों में ऐसी बातें लिखी हैं कि जो १०१-१०८ तक इलोकों में कही बातों का विरोध कर रही हैं।

- (१) १०। ७४-६२ तक, १०। ६५, १०। ६८, और १०। ६६ क्लोकों में विशेष रूप से वैकल्पिक ऐसी व्यवस्थायें दी गई हैं कि यदि चारों वणों के व्यक्ति प्रपने अपने वर्ण के कार्यों से आजीविका न चला सकें तो प्रपने-अपने से निम्न वर्णों के वृत्ति-कर्मों से प्राजीविका कर सकते हैं। इन व्यवस्थाओं को देखकर हैं। प्रायः व्याख्या-कारों ने इनमें प्रापत्कालीन वर्णों के कर्म मानकर व्याख्यायें की हैं। किन्तु इन व्यवस्थाओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ये प्रक्षेप किसी जन्ममूलक वर्णव्यवस्था के मानने वाले ने किए हैं। इस विषय में कतिपय ग्रापत्तियाँ इस प्रकार हैं—
- (क) इन श्लोकों में कहा गया है कि यदि ब्राह्मणादि वर्ण प्रपने यथोक्त कमीं से ग्राजीविका न चला सकें तो ब्राह्मण क्षत्रियधमं = शस्त्रास्त्र घारण करके प्रजा की रक्षा करके प्रया वैश्य के धर्मों = कृषि ग्रीर व्यापार करके ग्राजीविका चलावे । इसी प्रकार दूसरे वर्ण भी करें । इन बातों को पढ़कर ही इस ग्रघ्याय को ग्रापद्धमं का माना जाने लगा । किन्तु यह मान्यता मनु की कदापि नहीं है । क्योंकि मनु ने गुण, कमं, स्वभाव से वर्णाव्यवस्था को माना है, जन्ममूलक नहीं । भीर जो गुण, कमं, स्वभाव से सच्चा ब्राह्मण है, वह ग्राजीविका न चला सके, यह बात मिथ्या है । हाँ ! जो ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर यथा में ब्राह्मण के कमं नहीं करता, वह ग्रवश्य ऐसी दशा को प्राप्त हो सकता है । जसे कोई योग्य चिकित्सक है, उसके भूखे मरने का प्रश्न ही नहीं उठता । ग्रीर यदि उसका पुत्र चिकित्सा करना नहीं जानता तो उसके लिए ग्राजीविका का प्रश्न उठ सकता है । इसी प्रकार इन श्लोकों का मिश्रण किसी जन्म-मूलक वर्णाव्यवस्था के पक्षपाती ने किया है, जो यह मानते हैं कि ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाला ही ब्राह्मण होता है, चाहे वह विद्यादि गुणों वाला हो या नहीं ।
- (ख) यदि कोई ऐसी बात कहे कि ये तो आपद्धमं कहे हैं, यह बात भी सत्य नहीं है। क्योंकि आपद्धमं की यहाँ कोई परिभाषा नहीं की है? आपद्धमं कितने समय तक होता है? यह निर्धारण भी कोई नहीं कर सकता। और दुर्जनतोषन्याय से मान भी लिया जाये कि आपित्त तो हरेक मनुष्य पर आ सकती है, तो यहाँ विचार करना चाहिए कि आपित्त का क्या स्वरूप है? क्या ऐसी स्थिति को आपित्त माना जाए, जिसमें बाह्मण बाह्मण के योग्य कार्यं न कर सके? ऐसी स्थिति दो प्रकार से आ सकती है—(१) एक अत्यधिक रुग्ण दशा आदि के कारण अथवा (२) बाह्मण के कर्मों की योग्यता न रखने के कारण। यदि रोगादि के कारण ऐसी दशा हुई है, तब तो वह क्षत्रिय या वैश्य के कर्म भी कैसे कर सकेगा? और यदि वह अयोग्य है, तो मनु की कर्ममूलक-वर्णव्यवस्था के अनुसार वह बाह्मण ही नहीं है। और जो ऐसी दशा में है कि भूखा मर रहा है, क्या वह क्षत्रिय या वैश्य के कर्मों को बिना साधनों के कर सकता है?
- (ग) मनु ने वर्णव्यवस्था का स्राधार कर्म माना है। द्रष्टव्य १।१०७ की समीक्षा जो व्यक्ति पढ़-लिखकर भी कर्मों से हीन है, वह भी ब्राह्मणादि द्विजों में परिगणित नहीं

किया जा सकता। मनु की मान्यता के अनुसार द्विजों की वर्णव्यवस्था का निर्धारण विद्या-समाप्तिपर आचार्य करता है। आचार्य विद्यार्जन के समय विद्यार्थी के गुणों, कर्मों तथा स्वभावों को जानकर ही वर्णों का निर्धारण करता है। जिसका थुण, कर्म व स्वभाव बाह्यण का है, क्या वह आपित्त के समय अपने गुण, कर्म स्वभाव को बदलकर दूसरे वर्णों के कार्य कर सकता है? बाह्यणवृत्ति का मनुष्य क्षत्रियवृत्ति के कार्य अथवा वैश्यवृत्ति के कार्य कर सकता है? अतः बाह्यण वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्णों के कार्य से आजीविका कर लेवे, यह वैकल्पिकव्यवस्था किसी जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था को मानने वाले मनुष्य की बुद्धि की उपज है, मनु की नहीं। इसी प्रकार १०। ६५ में क्षत्रिय के लिए वैश्यवृत्ति के कार्यों की व्यवस्था श्रीर १०।६६ में शूद्ध के लिए शिल्पकार्यों की वैकल्पिक व्यवस्था य परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं। बाह्यण की भौति क्षत्रियादि का आपत्-काल क्या हो सकता है? क्या प्रजापालन करने में असमर्थ क्षत्रिय वैश्य के कृषि, और व्यापारादि करने में असमर्थ वैश्य शूद्ध के कार्य कर सकता है? यदि आजीविका का ही केवल आपत्काल होता है, तो सब वर्णों को वैश्यके कर्म करने का ही प्रधिकार दे देना चाहिए! क्योंकि आजीविका के लिए धनार्जन का यही सर्वोत्तम उपाय है।

(घ) मनु के धनुसार जो बाह्मणादि तीनों वर्णों में दीक्षित नहीं सके, वह शूद्र हो सकता है, जन्म से नहीं। ऐसा व्यक्ति शारीरिक श्रम करके (द्विजों की मेवा करके) ध्राजीविका कर सकता है। उसके लिए (ग्रापत्कालीन) यह वैकल्पिक व्यवस्था बताना बिल्कुल ही ध्रसंगत है कि वह कारकमंं = शिल्पकमं करके जीविका चला लेवे। शूद्र के ध्रापत्काल से क्या ध्रमिप्राय है? यदि यह कही कि वह रोगादि से पीड़ित दशा में ग्रापद्गस्त होता है, तब तो वह शिल्पकमं भी कैसे करेगा? ग्रतः स्पष्ट है कि जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था के प्रचलित होने पर ऐसी दशा उत्पन्न हुई कि जो व्यक्ति शूद्र कुल में उत्पन्न हुग्रा है, किन्तु द्विजों का सेवाकार्य करने में ग्रसमर्थ है, क्योंकि उसके गुण कमं, स्वभाव शूद्र जैसे नहीं है, तब किसी ने यह वैकल्पिक व्यवस्था लिखी है कि वह शिल्पकमं से ग्राजीविका कर लेवे। किन्तु यह मान्यता मनुसम्मत न होने से मौलिक नहीं है।

(ङ) मनु जी ने भ्रायों को चार वर्णों में विभक्त करके स्पष्ट लिखा है — 'खतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ।'(मनु॰ १०।४)

प्रधात् मनुष्य-समाज के क्राह्मगादि चार ही वर्ण हैं, पांचवां कोई नहीं। किन्तु यहां प्रक्षेपक ने मनुकी इस मान्यता के विरुद्ध जन्ममूलक जो बढ़ई, सुनारादि उप-जातियाँ बन गई थीं, उनके ग्राधार पर लिखा है कि शूद्र कारुकर्म ≕िशल्पकर्म करके

१. आचार्यस्त्वस्य यां जाति विधिवद् वेदपारगः। उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥ (मनू०२। १४८)

भाजीविका करे। ये उपजातियाँ मनु की मान्यता के विरुद्ध तथा बहुत ही परवर्ती होने से प्रक्षिप्त हैं।

- (च) मनु ने इस शास्त्र में शिल्पकर्म को वैश्यवर्ण के कार्यों में अन्तर्निहित किया है, कारुक = शिल्पीनामक कोई पृथक् विभाग नहीं किया है। परन्तु इस शिल्पकर्म को चारों वर्णों से भिन्न उपजातियों का कर्म बताकर प्रक्षेपक ने स्वयं प्रपना भेद (परवर्ती होने से) प्रक्षिप्त सिद्ध कर दिया है। क्यों कि प्रक्षेपक के समय सुनार, कुम्हार, धोवी ग्रादि उपजातियों बन चूकी थीं।
- ४. पुनरुक्त एवं क्रमविरोध इन क्लोकों में पुनरुक्त स्नौर क्रमविरुद्ध वातें पर्याप्त रूप में कहीं हैं जिससे ये क्लोक मनुत्रोक्त कदापि नहीं हो सकते। जैसे—
- (क) ७४-६२ इलोकों में ब्राह्मण की आजीविका के लिए अनेक वैकल्पिक विधान किए हैं (जिनमें परस्पर विरोधी बातें भी हैं)। और १०। १०४ में कहा है कि ब्राह्मण जीविका के अभाव में 'इसंधर्म समाचरेत्' अर्थात् अगले क्लोकों में कहे अनुसार जीविका करे। यदि ये मनुप्रोक्त क्लोक होते तो क्रमशः एकत्र होते। शूद्र की आजीविका के बार पूरः ब्राह्मण-वृत्ति की बात उठाना असंगत है।

राजा के भ्रापत्कालीन कर्म —

चतुर्षमाववानोऽपि क्षत्रियो मागमापदि । प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विषात्प्रतिमुख्यते ।। १० । ११८ ॥

(क्षत्रियः) राजा (ग्रापिद) ग्रापत्काल में (चतुर्थम् + ग्राददानः + ग्रिप) धान्य ग्रादि का चतुर्थं भाग भी कर के रूपमें ग्रहण करता हुग्रा, ग्रौर (परं शक्त्या प्रजा रक्षन्) पूर्णशक्ति से प्रजाग्नों की रक्षा करता हुग्रा (किल्विषात् प्रतिमुच्यते) दोषी या बुराई के योग्य नहीं होता॥ ११८॥

> स्त्रचर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । ज्ञास्त्रेण वैदयात्रक्षित्वा धम्यंमाहारयेव् बलिम् ॥ १० । ११६ ॥

(तस्य विजयः स्वधर्मः) राजा का विजय प्राप्त करना धर्म है, (म्राहवे पराङ्-मुखः न स्यात्) उसे कभी युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए, भौर (शस्त्रेण वैश्यान् रिक्षत्वा) शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करता हुन्ना (धर्म्य बिलम् + म्राहारयेत्) धर्मपूर्वक कर ग्रहण करे ॥ ११६ ॥

> धान्येऽष्टमं विज्ञां शुल्कं विज्ञं कार्षापणावरम् । कर्मोपकरणाः शुद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १० । १२० ॥

श्रापत्तिकाल में राजा को (विशाम्) वैश्यों से (धान्ये + श्रष्टमम्) धान्य श्रादि का ग्राठवाँ भाग, श्रीर (विशं कार्धारणावरम्) सोने-चांदी ग्रादि का बीसवां-भाग कर लेना चाहिए (तथा शिल्पिन: कारवः शूद्राः कर्मोपकरणाः) तथा शिल्पी श्रीर कारीगर शूद्रों से काम करवा लेना चाहिए ।। १२०।।

ग्रभाव अवस्था में शुद्र के कर्त्तव्य-

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराषयेद्यदि । षनिनं वाप्युपाराष्य वैदयं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १० । १२१ ॥

(वृत्तिम् + स्राकांक्षन् शूद्रः) स्रभाव से पीड़ित होकर जीविका चाहता हुस्रा शूद्र (क्षत्रम् + स्राराधयेत्) किसी क्षत्रिय की सेवा कर ले (वा) स्रथवा (शूद्रः) वह शूद्र (धिननं वैश्यम् + स्राराध्य जिजीविषेत्) धनवान् वैश्यको सेवा करके जीविका चला ले।। १२१॥

#### स्वर्गार्थमुमयार्थं वा विप्रानाराधयेतु सः। जातबाह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता।। १०। १२२।।

(सः) वह शूद्र (स्वर्गायंम्) स्वर्ग-प्राप्ति के लिए (वा) स्रथवा (उभयायंम्) स्वर्गं स्रौर जीविका, दोनों की प्राप्ति के लिए (विप्रान् मे स्राराधयेत्) ब्राह्मणों की सेवा करे। (जातब्राह्मणशब्दस्य) क्योंकि वह ब्राह्मणों की सेवा के लिए ही उत्पन्न हुसा है (सा हि + ग्रस्य कृतकृत्यता) ब्राह्मणों की सेवा से ही वह कृतकृत्य होता है।। १२२।।

#### विश्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्स्यते । यवतोऽन्यद्वि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १० । १२३ ॥

(विप्र-सेवा + एव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यंते) ब्राह्मणों की सेवा करना ही शूद्रों का प्रधान कर्म कहा है (ग्रतः + ग्रन्यत् हि यत् कुक्ते) इसके म्रतिरिक्त वह जो भी काम करता है (तत् ग्रस्य निष्फलं भवति) उसका वह सब निष्फल जाता है ॥ १२३॥

प्रकल्प्या तस्य तैवृंतिः स्वकुटुम्बाद्ययार्हतः। ःशक्ति चावेश्य दाक्यं च मृत्यानां च परिग्रहम् ॥ १० । १२४ ॥

(तै:) ब्राह्मणों को चाहिए कि (शक्तिम्) काम करने की शक्ति (दाक्ष्यम्) कार्यचातुर्य (च) श्रौर (भृत्यानां परिग्रहम् + श्रवेक्ष्य) नौकरों का निर्वाह श्रादि देखकर (स्वकुटुम्बात् यथाहैतः तस्य वृत्तिः प्रकल्प्या) श्रपने कुटुम्ब से उस शूद्र की जीविका निर्घारित कर दे॥ १२४॥

उच्छिष्टमन्नं वातव्यं जीर्णानि वसनानि च । पुलाकाद्यवेव धान्यानां जीर्णाद्यवेव परिच्छवाः ॥ ॥ १० ॥ १२५ ॥

उस शूद्र को (उच्छिष्टम् + ग्रन्नम्) झूठा ग्रन्न, (जीर्णीन वसनानि) पुराने कपड़े (घान्यानां पुलाकाः) घान्यों के पुग्राल (च) ग्रौर (जीर्णाः परिच्छदाः) पुरानी गृहवस्तुएं, (दातव्यम्) ये सब देने चाहिएँ॥ १२४॥

न ज्ञूत्रे पातकं किंचिग्न च संस्कारमहित । नास्याधिकारो घर्मेऽस्ति न घर्मास्त्रतिबेघनम् ॥ १० । १२६ ॥ (शूद्रे किञ्चित् पातकं न ग्रस्ति) शूद्र के लिए कुछ भी पातक कार्य नहीं है, (संस्कारं न ग्रहेंति) वह यज्ञोपवीत ग्रादि संस्कारों के योग्य नहीं है (घर्में ग्रस्य + ग्रिध-कारः न ग्रस्ति) किसी घर्मकार्य में इसका ग्राघकार नहीं है (च) ग्रीर (घर्मात् प्रति-षेघनं न) घर्मकार्य करने का निषेध भी नहीं है।। १२६।।

> षमेंप्सवस्तु षमंज्ञाः सतां वृत्तमनुष्टिताः। मन्त्रवरुयं न बुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १० । १२७ ॥

(धर्म + ईप्सवः धर्मज्ञाः) धर्मकार्यं करने के इच्छुक, धर्म को जानने वाले, (सतां वृत्तम् + ध्रनुष्ठिताः) श्रेष्ठों के ग्राचरण का पालन करने वाले शूद्र (मन्त्रवर्ण्यं न दुष्यन्ति) मन्त्ररहित यज्ञ ग्रादि धर्मकार्यं करने पर पतित नहीं होते (च) ग्रपितु (प्रशंसां प्राप्नुवन्ति) प्रशंसा को प्राप्त करते हैं।। १२७।।

यया यया हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः । तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १० । १२८ ॥

(ग्रनसूयकः) दूसरों की निन्दा न करने वाला शूद्र (यथा यथा हि सद्वृत्तम् + ग्रातिष्ठति) जैसे-जैसे श्रेष्ठ ग्राचरण करता जाता है (तथा-तथा) वैसे वैसे (ग्रनिन्दितः) प्रशंसित होकर (इमंच ग्रमुं लोकं प्राप्नोति) इस लोक ग्रौर स्वर्गलोक को प्राप्त करता है।। १२८।।

्राक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंवयः । शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाघते ।। १० । १२६ ।।

(शक्तेन + म्रिप शूद्रेण) समर्थं होते हुए भी शूद्र को (धनसंचयः न कार्यः) धन-संग्रह नहीं करना चाहिए (हि) क्योंकि (शूद्रः धनम् + ग्रासाद्य) शूद्र धन को प्राप्त करके (ब्राह्मणान् + एव बाघते) ब्राह्मणों को ही पीड़ित करता है।। १२६।।

श्रन्तु श्रीट्डनः ये सभी (१०।११८-१२६) इलोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिबरोष—(क) मनु ने १।३२५ तक में क्षतिय-कर्मों का विधान किया है, उसके बाद वैश्य व शूद्र के कर्मों का प्रसंग है। किन्तु यहाँ क्षतिय के कर्मों का पुन-वैर्णन अप्रासंगिक है। इसी प्रकार शूद्र की वृत्ति तथा कर्म का वर्णन भी प्रथम कर चुके हैं, फिर नये ढंग से उसका वर्णन करना असंगत है। (ख) और यदि वर्णन करने की कोई आवश्यकता थी तो सभी वर्णों का क्रमशः करते! किन्तु यहां क्षतिय के बाद शूद्र का वर्णन करना पुनश्कत, असंगत तथा क्रमविश्द्र होने से प्रक्षिप्त है।
- २. अन्तिषि (क) १२१-१२३ दलोकों में यह वर्णन है कि शूद्र का ब्राह्मणों की सेवा करना ही परम धर्म है, किन्तु विशेष परिस्थित में अत्रिय और वैद्य के यहां भी ग्राजीविका कर सकता है। यह व्यवस्था मनुकी मान्यता से विरुद्ध और पक्षपातपूर्ण होने से मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि मनुने [१। ६६, ६।३३४-३३४]

द्विजन्मा = ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैदय तीनों वर्णों की सेवा करना ही शुद्र का धर्म माना है। (ल) ग्रीर १०। १२७ में शूद्रों के लिए मन्त्रवर्ज्य यज्ञों का विधान मनूसे विरुद्ध है। इस विषय में २। १७२ पर टिप्पणी द्रष्टव्य है। (ग) और १०। १२७ में शुद्र के लिए मुठा ग्रन्न तथा पटे पुराने वस्त्रों को देने का विधान भी शुद्रों के प्रति घृणा भावना प्रकट करता है। परन्तु मन् ने शुद्र को ६। ३३५ में पवित्र तथा उत्कृष्ट वर्ण को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार दिया है। ब्रतः मनु के संविधान में सम्मान का ब्राधार गुण, कर्म व स्वभाव है, श्रीर किसी भी व्यक्ति के प्रति घृणा-भावना के लिए मनू के शास्त्र में कोई स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में १। ६१ पर ग्रन्शीलन द्रष्टय्य है। (घ) मन् ने राजा के लिए ७। १३०-१३२ इलोकों में कर-विधान किया है कि कर किससे श्रीर किस प्रकार लेवे। पून: यहां १०। ११८-१२० श्लोकों में कर का विधान करना पुनरुक्त होने से निरर्थक है। इन्हें आपत्कालीन विधान भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहां कहे विभिन्न कर-विधानों से यहाँ कुछ भी विशेष नहीं कहा गया है। मन् ने कर विघान वर्णानुसार न करके केवल व्यापारादि कुछ ग्राय के साधनों पर किया है, किन्तु यहाँ (१०। १२० में) शुद्रों से कर के रूप में काम कराने का विधान उससे विपरीत है। क्षत्रिय का धर्म है कि वह सब प्रजा की रक्षा करे। उसमें ब्राह्मणादि सभी वर्णं भ्रा जाते हैं। परन्तु १०। ११६ में कहा है कि वैश्यों की रक्षा करके बलि = कर ग्रहण करे। क्या ग्राप्तकाल में दूसरे वर्णों की रक्षा नहीं करनी चाहिए? (ङ) १०। ११८ में कहा है कि क्षत्रिय प्रजा की रक्षा नहीं करता हुया पाप से खुट जाता है यह भी मनू की मान्यता से विरुद्ध है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है, किन्तु जो दुष्कर्म क्षत्रिय भी करता है, तो उसका फल उसे शबदय मिलता है।

३. शैलीगत भाधार— इन इलोकों में शूद्र के विषय में जो वर्णन किया गया है, उसकी शैली पक्षपातपूर्ण, घृणास्पद, दुराग्रहवृत्ति को प्रकट करने के कारण मनुसम्मत नहीं है

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीतिताः । यान् सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १०। १३० ॥

(एते) ये [इस दशमाध्याय में] (चतुणौ वर्णानाम् — प्रापत्-धर्माः प्रकीर्तिताः) चारों वर्णौ के ग्रापत्कालीन धर्म कहे हैं, (यान् सम्यक् श्रनुतिष्ठन्तः) इनका सम्यक् पालन करते हुए चारों वर्णों के व्यक्ति (परमां गर्ति क्रजन्ति) उत्तम उति को प्राप्त करते हैं।। १३०।।

आनुशिक्तनः १०।१३० वां श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. शैलीविरोध—मनुकी यह शैली है कि वे किसी विषय की समाप्ति पर पूर्व विषय का उपसंहार तथा श्रग्रिम विषय का निर्देश श्रवश्य करते हैं। इस श्लोक में इस शैली का श्रभाव है भीर १०। १३१ में पूर्व विषय का उपसंहार तथा श्रगले का निर्देश भी होने से यह श्लोक मौलिक है, १०। १३० वॉ श्लोक नहीं।

- २. मन्तिवरोध—(१) किसी परवर्ती प्रक्षेपक ने म्रापत्कालीन धर्मों के नाम से परवर्ती जन्म-मूलक वर्णव्यवस्था के ग्राधार पर इन क्लोकों का मिश्रण किया है। वयों कि 'म्रापत्काल' का म्राभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि दूसरे वर्णों के कमों को ही करने लग जाये ? और ब्राह्मण कमें करने वाला व्यक्ति क्षत्रिय या वैश्य के कमें कैसे कर सकता है ? (२) 'म्रापद्धमं' का क्या ग्राभिप्राय है, वह कितने समय के लिए होता है, यह इन क्लोकों में कहीं नहीं लिखा है। जिससे स्पष्ट है कि ये ग्रापद्धमं-नाम के क्लोक मौलिक नहीं हैं दशमाध्याय में कुछ क्लोकों को छोड़कर ग्रापद्धमं है भी नहीं। इसमे तो प्रक्षिक-तरवर्णों की उत्पत्ति तथा उनके कार्यों का वर्णन है, जिन्हें कोई भी ग्रापद्धमं नहीं मान सकता। अतः १०। १३० तथा ६। ३३६ दोनों ही क्लोक परवर्ती प्रक्षिप्त हैं।
- ३. विषय-विशेष १०। १३१ श्लोक में स्पष्ट कहा है कि 'चातुर्वर्ण्य-धर्म' विषय का ही इस ग्रध्याय में कथन किया गया है, ग्रापद्धमी का नहीं। ग्रतः ग्रापद्धमें का वर्णन विषय-विरुद्ध है।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वेण्यंस्य कीर्तितः । स्रतः परं प्रवक्ष्यानि प्रायश्चित्तविधि शुभम् ॥१०।१३१॥ (१५)

(एषः) [१।१ से १०। १३० तक] (चातुर्वर्ण्यस्य) चारों वर्णों के व्यक्तियों का (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (धर्मविधिः कीर्तितः) धर्म-विधान कहा है। (श्रतः परम्) इसके बाद अब (शुमं प्रायदिचत्तविधि प्रवक्ष्यामि) शुभ प्राय-रिचत्त की विधि को कहूँगा—।। १३१।।

इति महर्षि-मनुप्रोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत-हिन्दीभाषा-माध्यसमन्वितायाम् 'अनुशीलन' समीक्षाविमूषितायाञ्च मनुस्मृतौ चातुर्वर्ण्यंधर्मान्तर्गत-वैदय-शूद्रधर्मात्मको उज्ञमोऽध्यायः ।।

# अथ एकादशोऽध्यायः

## [हिन्दीभाष्य-म्रनुशीलनसमीक्षाभ्यां सहितः]

[प्रायश्चित्त-विषय]

(११। ४४ से २६५ तक)

दान एवं यज्ञसम्बन्धी विधान---

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वनं सर्ववेदसम्।
गुर्वर्षं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायाध्युंपतापिनः॥१॥
नवैतान्स्नातकान्विद्वाद् बाह्यणान्धर्ममिक्षुकान्।
निःस्वेम्यो देयमेतेम्यो दानं विद्याविशेषतः॥२॥

१. (सान्तानिकम्) सन्तानार्य विवाह का इच्छुक, २. (यक्ष्यमाणम्) यक्त करते का इच्छुक, ३. (प्रष्वयम्) मार्ग में चलने वाला, ४. (सर्वेदसम्) सर्वस्व दान में देने बाला, ४–७ (गुर्वर्ष पितृमात्रयंम्) गुरु, पिता, माता के लिए धन चाहने वाला द्र. (स्वाष्यायार्थी) पढ़ने का इच्छुक, ६. (उपतापिनः) रोगी या ग्रापद्ग्रस्त (एतान् नव स्नातकज्ञाह्यणान्) इन नौ स्नातक ज्ञाह्यणों को (धर्मिक्षकुकान् विद्याद्) धर्मिक्षकुक सममे, ग्रौर (एतेम्यः) इन्हें (निःस्वेम्यः) धनाभाव होने पर (विद्याविशेषतः) विद्या-विशेष को देखकर (दानं देयम्) [कम-ग्रविक, उत्कृष्ट-निम्न] दान देना चाहिए।। १–२।।

एतेम्यो हि द्विजाग्रेम्यो देयमन्तं सदक्षिएए । इतरेम्यो बहिर्वेदि कुतान्तं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

(एतेम्यः द्विज-म्रग्नेम्यः) इन नौ ब्राह्मण स्नातकों को (सदक्षिणम् + म्रन्नं देयम्) वेदी मर्थात् चौके में बुलाकर पक्वान्न देना चाहिए, भौर (इतरेम्यः) म्रन्य ब्राह्मणों को (बहिः वेदिः कृतान्नं देयम् + उच्यते) वेदि के बाहर पक्वान्न देने का विघान है।। ३॥

सर्व रत्नानि राजा तु यथाहं प्रतिपावयेत्। ब्राह्माणान्वेदविदुषो यज्ञार्यं चैव दक्षिणाम् ॥ ४॥

(राजा तु) राजा को (वेदनिदुष: ब्राह्मणान्) वेद के विद्वान् ब्राह्मणों को

(सर्वरत्नानि) सब प्रकार के रत्न (च) ग्रीर (यथार्य दक्षिणाम्) यज्ञ के लिए दक्षिणा रूप में धन (यथार्ट प्रतिपादयेत्) यथाशक्ति, दान में देने चाहिए॥ ४॥

> कृतवारोऽपरान्वारान्मिक्षित्वायोऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं तस्य ब्रच्यवातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

(कृतदार: यः) एक बार विवाहित जो ब्राह्मण (भिक्षित्वा) भिक्षा में धन लेकर (ग्रपरान् दारान् ग्रधिगच्छिति) दूसरा विवाह करता है (तस्य रितमात्रं फलम्) उसे मात्र संभोग का ही फल मिलता है, क्योंकि (सन्तितः तु द्रव्यदातुः) उस स्त्री में उत्पन्न सन्तान तो धन देने वाले की होती है।। १॥

धनानि तु ययाशक्ति वित्रेषु प्रतिपादयेत्। वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य (वेदवित्सु विविवतेषु विष्रेषु) वेद के वेत्ता, ग्रहत्यागी विद्वानों को (यथाशक्ति धनानि प्रतिपादयेत्) यथाशक्ति धनादि का दान करता है, वह (प्रेत्य स्वर्ग समझ्ते) मरने के बाद स्वर्ग को प्राप्त करता है।। ६।।

सोमयज्ञ का विधान---

यस्य त्रिवाबिकं भक्तं पर्याप्तं मृत्यवृत्तये। ग्रिधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमहंति॥७॥

(यस्य भृत्यवृत्तये) जिसके पास परिवार के पालन-पोषण के लिए (तिवाधिकं पर्याप्तं भक्तम्) तीन वर्ष तक पर्याप्त रहने वाला ग्रन्त है (वा-म्रिप) ग्रयवा (ग्रधिकं विद्येत) इससे ग्रधिक है (सः) वही व्यक्ति (सोमं पातुम् + ग्रहंति) सोम पीने श्रयति सोपयज्ञ करने का ग्रधिकारी है ॥ ७ ॥

म्रतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिवति द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

(ग्रतः स्वल्पीयसि द्रव्ये) इससे [११।७] कम ग्रन्न होने पर (यः द्विजः सोमं पिबित) जो द्विज सोमयज्ञ करता है (सः) वह (पीतसोमपूर्वः + ग्रिप तस्य फलं न ग्राप्तोति) पहले किये हुए सोमयज्ञ सिहत उसके फल को प्राप्त नहीं करता।। पा

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि । मध्वापातो विवास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ६ ॥

(शक्तः) जो दान देने में संलग्न व्यक्ति (स्वजने दुःखजीविनि) ग्रपने परिवार वालों के दुःखित रहते हुए (परिजने दाता) दूसरों को दान देता है, उसका दान (मघ्वा-पातः विष + ग्रास्वादः) पहले शहद के समान मीठा ग्रौर बाद में विष के समान कड़वा है, ग्रौर (सः) वह (धर्मप्रतिरूपकः) धर्म का पाखण्डी है।। ह।। भृत्यानामुपरोषेन यत्करोत्योध्वंदेहिकम् । तद्भवत्यमुक्तोदर्कं जीवतत्त्व मृतस्य च ॥ १० ॥

जो मनुष्य (भृत्यानाम् + उपरोधन) स्त्री-पुत्र म्रादि पालनीय जनों को पीड़ा में रखकर (म्रोध्वंदेहिकं करोति) परलोक-सुख की भावना से दान मादि करता है (तत्) वह दान (जीवतः च मृतस्य) जीवित अवस्था में मौर मृत्यु के बाद में भी (म्रसुखोदक भवति) दुःखदायक सिद्ध होता है।। १०॥

यज्ञार्यं बलात् भी धन लावे---

यज्ञक्चेरप्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्ग्रेन यज्यनः । बाह्यणस्य विद्येषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥ यो वैद्यः स्याद्वहुपशुर्हीनकतुरसोमपः । कुटुम्बात्तस्य तद् व्रव्यमाहरेखज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

(चेत्) यदि (यजवनः) किसी यज्ञ करने वाले का (विशेषेण ब्रह्मणस्य) विशेषतः ब्राह्मण का (एकेन + मज्जेन) एक मज्ज के म्रभाव में [धनाभाव में] (यज्ञः प्रतिकद्धः स्यात्) यज्ञ पूर्णं होने से रह जाये तो (धार्मिके राज्ञिन सित्) धार्मिक राजा के होते हुए (यः) जो (हीनक्रतुः + म्रसोमपः बहुपषुः वैश्यः स्यात्) यज्ञादि न करने वाला, सोमयज्ञ से हीन भौर बहुत पशु-सम्पत्ति वाला वैश्य होवे (तस्य कुदुम्बात्) उसके परिवार = घर से (यज्ञसिद्धये तत् द्रव्यम् + म्राहरेत्) यज्ञ की पूर्णता के लिए [बलात् भी] चन ले मावे ॥ ११-१२॥

म्राहरेत्त्रीिए। वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिवस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

(हे वा त्रीणि) दो या तीन प्रञ्जों से यदि यज्ञ पूरा न हो पा रहा हो तो (शूद्रस्य वेदमनः कामम् प्राहरेत्) शूद्र के घर से इच्छानुसार धन [बलात् भी] ले प्रावे (हि) क्योंकि (शूद्रस्य यज्ञेषु परिग्रहः न प्रस्ति) शूद्र का यज्ञों से कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १३ ॥

> योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेबविधारयन् ॥ १४ ॥

(यः) जो मनुष्य (शतगुः ग्रनाहिताग्निः) सौ गौग्रों का स्वामी होते हुए भी पञ्चयज्ञ ग्रादि न करता हो (च) ग्रौर (सहस्रगुः ग्रयज्वा) हजार गौग्रों का स्वामी होते हुए भी बड़े यज्ञ न करता हो (तयोः + ग्रिप कुटुम्बाम्याम्) उनके घर से भी (ग्र-विचारयन् ग्राहरेत्) विना विचारे बलात् घन ले ग्रावे॥ १४॥

भावाननित्याच्चावातुराहरेवप्रयच्छतः । तचा यशोऽस्य प्रचते धर्मदर्चेन प्रवर्धते ॥ १५ ॥ (म्रादानितिथात्) सर्वदा दान लेने वाले (च) श्रौर (अदातुः) स्वयं कभी दान न देने वाले (म्रप्रयच्छतः) श्रौर मांगने पर भी दान न देने वाले ब्राह्मएग के घर से (म्राहरेत्) बलपूर्वक धन ले मावे (तथा) इस प्रकार करने से (म्रस्य) धन लाने वाले का (यशः प्रथते) यश बढ़ता है (च) श्रौर (धर्मः एव प्रवर्धते) धर्म की भी वृद्धि होती है।। १४।।

भूला व्यक्ति कहीं से भोजन प्राप्त कर ले-

तथैव सप्तमे भक्ते मक्तानि वडनश्नता। भ्रष्टक्तनविघानेन हर्तव्यं हीनकर्मेणः॥१६॥

जिसको (भक्तानि षड् + ग्रनश्नता) छः जून = भोजन-समय ग्रथित् तीन दिन भोजन न मिला हो (तथैव सप्तमे भक्ते) ग्रीर उसी प्रकार यदि सातवें जून भी भोजन न मिले तो (हीनकर्मणः) नीच कम करने वाले मनुष्य के यहां से भी (ग्रश्वस्तन-विधाने-न हर्नेष्यम्) एक दिन का भोजन चोरी या बलपूर्वक भी ले ग्रावे ॥ १६॥

> सलात्सेत्रावगाराद्वा यतो वाऽप्युपलम्यते । म्राल्यातव्यं तु तत्तसमै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

पूर्वोक्त [११।१६] मवस्था में (खलात् क्षेत्रात् + मगारात् वा यतः मि + उपलम्यते) खिलहान से, खेत से, घर से मथवा जहां कहीं से भी मोज्यान्न मिलता है, ले मावे (यदि पृच्छिति) यदि धान्यस्वामी पूछता है कि—'तूने चोरी क्यों की? तो (तस्मै पृच्छते) उसके पूछने पर (तत् मास्यातव्यम्) मपनी स्थिति को बता दे कि 'मैं तीन दिन से भूका हूं'॥ १७॥

ब्राह्मएस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कवाचन। वस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुं महंति ॥ १८ ॥

किन्तु पूर्वोक्त प्रवस्था में [११। १६-१७] (क्षत्रियेण ब्राह्मणस्वं कदाचन न हतंन्यम्) क्षत्रिय को ब्राह्मण का धन कभी नहीं लाना चाहिए (तु) परन्तु (प्रजीवन्) जीने की प्रवस्था मुक्किल होने पर क्षत्रिय (दस्यु-निष्क्रिययोः) वर्णों से बहिष्कृत ग्रौर धर्मेक्रियाग्रों में उपेक्षाभाव रखने वाले ब्राह्मणों के यहां से (हतुं म् + ग्रहंति) बलपूर्वंक धन ला सकता है।। १८॥

दुष्टों से धन छीनकर श्रेष्ठों को देने में पुण्य —

बोऽताबुम्बोऽर्थमादाय साबुम्यः सम्प्रयञ्ज्ञति । स कृत्वा प्लबमात्मानं सम्तारयति ताबुमौ ॥ १६ ॥

(यः) जो मनुष्य (ग्रसाधुम्यः ग्रथंम् + ग्रादाय) दुष्ट लोगों से धन छीनकर (साधुम्यः सम्प्रयच्छति) श्रेष्ठ लोगों को देता है (सः) वह (ग्रात्मानं प्लवं कृत्वा) प्रपने

को नौका के समान बनाकर (तौ + उभौ सन्तारयित) उन दोनों को ग्रयित् जिसका धन लाया गया है ग्रीर जिसको दिया है, उनको दुःख से पार उतार देता है ॥ १६॥

#### यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विवुर्बुंशाः। भ्रयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुश्यते।। २०॥

(यज्ञशीलानां यत् धनम्) प्रतिदिन यज्ञ वालों का जो धन है (तत् बुधाः देवस्वं विदुः) उसको विद्वान् लोग 'देवताओं का धन' कहते हैं, श्रौर (ग्रयज्वनां यत् वित्तम्) यज्ञ न करने वालों का जो धन है (तत् ग्रासुरस्वम् उच्यते) उसको 'ग्रसुरों का धन' कहते हैं।। २०।।

भूख से पीड़ित बाह्मण की राजा जीविका ग्रादि निश्चित कर दे—

न तंस्मिन्धारयेद्वण्डं धार्मिकः पृथिकीपतिः। क्षत्रियस्य हि बालिक्याद् बाह्यणः सीदति क्षुषा ॥ २१ ॥

(धार्मिक: पृथिवीपितः) धार्मिक राजा (तिस्मिन्) उस वलपूर्वक धन लाने वाले [११।१६] को (दण्डं न धारयेत्) दण्डित न करे (हि) क्योंकि (क्षित्रयस्य बालिश्यात्) राजा की मूर्खंता के कारण ही (ब्राह्मणः क्षुधा सीदितः) ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है अर्थात् वस्तुतः ब्राह्मण को मोजनादि देना राजा का दायित्व है, यदि इसे कोई अन्य व्यक्ति चोरी आदि के द्वारा पूरा करता है, तो राजा उसे यह समक्षकर दण्ड न दे कि वह 'तेरे दायित्व को पूरा कर रहा है'।। २१॥

## तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः। श्रुतज्ञीले च विज्ञाय वृत्ति धम्यौ प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

(महीपितः) राजा (तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा) उस भूख से पीड़ित ब्राह्मण के परिवार को देखकर (च) श्रीर (श्रुत-शीले विज्ञाय) उसकी विद्या एवं स्वभाव को जानकर, तदनुसार (धम्या वृत्ति प्रकल्पयेत्) उसकी धर्मयुक्त जीविका निश्चित कर दे।। २२।।

## कल्पयित्वाऽस्य वृत्ति च रक्षेदेनं समन्ततः। राजा हि धर्मंषड्मागं यस्मात्प्राप्नोति रक्षितात्।। २३॥

(च) स्रौर (स्रस्य वृत्ति कल्पियत्वा) इसकी जीविका नियत करके (एनं सम-नततः रक्षेत्) इसकी सब भांति रक्षा करे (हि) क्योंकि (रक्षितात्) उस ब्राह्मण की रक्षा करने से (राजा यस्मात् धर्मषड्भागं प्राप्नोति) राजा उसके धर्म के छठे भाग के पुण्य को प्राप्त करता है।। २३।।

#### शुद्र से भिक्षा नहीं---

न यज्ञार्यं धनं शुद्राद्वित्रो भिक्षेत कहिचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥ (विप्रः) ब्राह्मण (यज्ञार्थम्) यज्ञ के लिए (श्रूद्रात् कहिंचित् न भिक्षेत) श्रूद्र से कभी भी भिक्षा न मांगे (हि) क्योंकि (भिक्षित्वा) श्रूद्र से भिक्षा मांगकर (यजमानः) यज्ञ करने वाला ब्राह्मण (प्रेत्य चण्डालः जायते) मरकर 'चण्डाल' बनता है।। २४॥ यज्ञ के धन को स्वार्थ के लिए प्रयोग करने वाला पापी—

यज्ञार्थमणं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति मासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

(यज्ञार्थम् + ग्रथं भिक्षित्वा) यज्ञ के लिए धन की भिक्षा लेकर (यः सर्वं न प्रयच्छिति) जो सारे धन को यज्ञार्थं नहीं देता है (सः) वह (विप्रः) ब्राह्मण् (शतं समाः भासतां वा काकतां याति) सौ वर्षं पर्यन्त गिद्ध या कौवे का जन्म पाता है ॥ २५ ॥

देवस्त्रं ब्राह्मग्रास्त्रं वा लोभेनोपहिनस्तियः। स पापारमा परे लोके गृश्लोच्छ्रिन्टेन जीवति।। २६।।

(यः) जो मनुष्य (देवस्व वा ब्राह्मणस्वम्) देवताम्रों के घन म्रथवा ब्राह्मणों के घन को (लोभेन + उपहिनस्ति) लोभवश अपने लिए प्रयोग करता है (सः पापात्मा) वह पापी (परे लोके) म्रगले जन्म में (गृध्र-उच्छिष्टेन जीवित) गिद्धों की झूठन लाकर जीता है ॥ २६॥

इिंग्ड वैदवानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये। क्लुप्तानां पश्चसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे॥ २७ ॥

मनुष्य (क्लृप्ताना पशुसोमानाम् — प्रसंभवे) शास्त्रविहित पशुयक्षों के न करने पर (निष्कृत्यर्थम्) उसके प्रायश्चित्त हेतु (अब्दपर्यये) नववर्षं के आरम्भ में (नित्यं वैश्वानरीम् इष्टि निवंपेत्) सदा वैश्वानर यक्त किया करे।। २७॥

ग्रनापत् काल में ग्रापत्काल के धर्मों का फल नहीं---

म्रापत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापवि द्विजः। स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्।। २८॥

(यः द्विजः) जो द्विज (म्रनापित) म्रनापत् काल में (म्रापत्कल्पेन धर्मं कुरुते) ग्रापत्काल के समान धर्मकार्यों को करता है (सः) वह (परत्र) परजन्म में (तस्य फलं न + ग्राप्नोति) उसके फल को नहीं प्राप्त करता है (इति विचारितम्) यह विचारी हुई वात है।। २८॥

> विश्वैश्व देवैः साध्येश्च बाह्यर्गश्च महविभिः । म्रापत्सु मरुगाद्भीतैवियेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २६ ॥

(विश्वैः देवैः साध्यैः ब्राह्मण्यैः च महर्षिभिः) सभी देवताश्रों, साध्यों, ब्राह्मणों ग्रौर महर्षियों ने (मरणार भीतैः) मृत्यु के डर से डरकर (ग्रापत्सु विधेः प्रतिनिधिः कृतः) भ्रापत्काल में ही मुरूयविघान के स्थान पर प्रतिनिधि धार्मिक कार्य किये हैं श्रयीत् ग्रनापत्काल में नहीं।। २६।।

> प्रभुः प्रयमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेविद्यते फलम् ॥ ३० ॥

(यः) जो मनुष्य (प्रमुः प्रथमकल्पस्य) समर्थं होते हुए भी अनापत् काल में, प्राथमिक रूप से विहित धर्मकार्यों को न करके (अनुकल्पेन वर्तते) गौण अर्थात् आपेन्त्रकाल के धर्मकार्यों को करता है (तस्य दुमंतेः) उस दुष्टबुद्धि मनुष्य को (तस्य सापरा-यिक फल न विद्यते) उस धर्मकार्यं का परलोक में प्राप्तव्य अभ्युदय रूप और पापनाश रूप फल नहीं मिलता ॥ ३०॥

बाह्मण अपराधियों को स्वयं दण्ड दे-

# न बाह्यणोऽवेदयेत किचिद्राजिन धर्मवित्। स्ववीयर्गीव ताट्यिष्ठपान्मानवानपकारिगाः॥३१॥

(धर्मवित् बाह्यणः) धर्म का ज्ञाता ब्राह्यण (किंचित्) किसी के किसी अपराध को (राजिन न अवेदयेत) राजा से न कहे, किन्तु (तान् अपकारिणः मानवान्) उन बुरा करने वाले मनुष्यों को (स्ववीयेण + एव शिष्यात्) अपनी शक्ति से ही दिण्डत करे।। ३१।।

#### स्ववीर्याद्वाजनीर्याच्च स्ववीर्यं बसवत्तरम् । तस्मारस्वेनैव वीर्येग निगृह्णीयावरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥

(स्ववीयांत् च राजवीर्यात्) [ब्राह्मण के लिए] प्रपनी शक्ति और राजा की शक्ति की तुलना में (स्ववीर्यं बलवत्तरम्) प्रपनी शक्ति ही प्रधिक बलवती है (तस्मात्) इसीलिए (द्विजः) ब्राह्मण (स्वेन + एव वीर्येण) अपनी ही शक्ति से (प्ररीन् निग्रह्ली-यात्) शत्रुओं को वश में करे ॥ ३२॥

#### श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्। बाक्शस्त्रं वै बाह्यगस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः॥ ३३॥

ब्राह्मण (ग्रथर्व-प्राङ्गिरसी: श्रुती: अविचारयन् कुर्यात्) ग्रथर्व वेद में अङ्गिरा के द्वारा कही हुई ऋचाओं को ग्रपनी ग्रापत्ति को दूर करने के लिए शत्रुग्नों पर प्रयोग करे, यतो हि (ब्राह्मएस्य वै वाक्शस्त्रम्) ब्राह्मण का वाणी ही शस्त्र है, इसलिए (द्विजः) ब्राह्मण (तेन ग्ररीन् हन्यात्) उससे शत्रुग्नों को मारे।। ३३।।

> क्षत्रियो बाहुवीयेंग तरेवापवनात्मनः। घनेन वैश्यशुद्धी तु जपेहोंमैद्विजोत्तमः॥३४॥

(क्षत्रियः आत्मनः ग्रापदम्) क्षत्रिय ग्रपनी आपत्ति को (बाहुवीर्येण तरेत्)

बाहुबल से दूर करे, और (वैदयशूद्री तु घनेन) वैदय तथा शूद्र घन की सहायता से, एवं (द्विजोत्तमः) ब्राह्मण (जपैः होमैः) जपों एवं यज्ञों से श्रापत्तियों को दूर करे।। ३४।।

# विषाता शासिता वक्ता मैत्रो बाह्याए उच्यते। तस्मै नाकुशलं बूयात्र शुष्कां गिरमीरयेत्॥ ३५ ॥

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (विघाता) धर्मों का विधान करने वाला, (शासिता) शिष्य ग्रादि को शिक्षा देने वाला, (वक्ता) वेदादि का प्रवचन करने वाला ग्रौर (मैतः उच्यते) सक्का मित्र =हितैषी होता है, इसलिए (तस्मै प्रकुशलं न बूयात्) उसको बुरा वचन नहीं कहना चाहिए, तथा (न शुष्का गिरम् + ईरयेत्) न रूखी वाणी बोलनी चाहिए॥ ३४॥

यज्ञ के ग्रनिधकारी लोग---

#### न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यावन्निहोत्रस्य नार्त्तो नासंस्कृतस्तया ॥ ३६ ॥

(न वै कन्या, न युवितः, न + ग्रल्पविद्यः, न वालिशः) न तो कन्या, न युविती, न थोड़ा पढ़ा हुग्रा, न सूर्षे, (न + आर्तैः तथा न + असंस्कृतः) न रोगी,न संस्कारों से हीन व्यक्ति (ग्रग्निहोत्रस्य होता स्यात्) यज्ञ करें।। ३६।।

#### नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

(एते) ये [११।३६] (च) तथा (यस्य तत् जुह्नन्तः सः) जिसका हवन करते हैं वे (नरके हि पतन्ति) नरक में जाते हैं (तस्मात्) इसलिए (वैतानकुशलः) यज्ञकर्म के ज्ञाता और (वैदपारगः) वेदों के विद्वान् को ही (होता स्यात्) यज्ञ करने वाला होना चाहिए ।। ३७॥

#### प्राजापत्यमबस्वाऽश्वमग्न्याधेयस्य बक्षिणम् । स्रनाहिताग्निभविति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

(विभवे सित ब्राह्मणः) धन होने पर भी जो ब्राह्मणः (ग्रग्न्याधेयस्य) ग्रग्निहोत्र में (प्राजापत्यम् ग्रश्वं दक्षिणाम् श्रदत्त्वा) प्रजापति देवता वाली श्रश्व की दक्षिणा नहीं देता, वह (ग्रनाहिताग्निः भवति) यज्ञ के फल को नहीं प्राप्त करता ॥ ३८ ॥

#### पुण्यान्यन्यानि कुर्बीत श्रद्धधानो जितेन्द्रियः । न त्वस्पदक्षिणीयंत्रेयेजेतेह कथञ्चन ॥ ३६ ॥

(श्रद्धानः जितेन्द्रियः) [धनाभाव होते हुए] श्रद्धालु, जितेन्द्रिय मनुष्य (मन्यानि पुण्यानि कुर्वीत) दूसरे पुण्यदायक कार्यं कर ले (तु) परन्तु (इह कथंचन) इस संसार में रहते हुए कभी भी (अल्पदक्षिएौं: यज्ञैः न यजेत) कम दक्षिणा वाले यज्ञ न करवाये।। ३६।।

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्ति प्रजाः पश्चन् । हन्त्यत्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ।। ४० ॥

क्योंकि (ग्रल्पदक्षिणः यज्ञः) कम दक्षिणा वाला यज्ञ (इन्द्रियाणि, यशः, स्वर्गम् + ग्रायुः, कीर्ति, प्रजाः, पशून् हन्ति) इन्द्रियों, प्रसिद्धि, स्वर्गे, ग्रायु, मरने के बाद का यश्च, सन्तान ग्रीर पशुर्यों को नष्ट कर देता है (तस्मात्) इस कारण (ग्रल्पधनः न यजेत्) थोड़े धन वाले को कभी यज्ञ नहीं कराना चाहिए ॥ ४० ॥

> ग्रग्निहोत्र्यपविष्याग्नीन्द्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

(ग्रग्निहोत्री बाह्मणः) जो ग्रग्निहोत्री बाह्मण = (कामकारतः) जानवूक्षकर (ग्रग्नीन् + ग्रपविष्य) ग्रग्निहोत्र नहीं करता, वह (मासं चान्द्रायणं चरेत्) एक मास तक चान्द्रायण वत [११।२१६] करे (हि) क्योंकि (तत् वीरहत्यासमम्) वह अग्निहोत्र का त्यागना पुत्रहत्या के समान कार्य है ॥ ४१॥

ये ज्ञूद्रादिधगम्यार्थमिन्दिहोत्रमुपासते । ऋत्विजस्ते हि ज्ञूद्रात्णां ब्रह्मवाविषु गर्हिता ॥ ४२ ॥

(ये) जो ऋत्विक् (शूद्रात् प्रयंम् प्रिष्यम्य) शूद्र से घन लेकर (अग्निहोत्रम् + उपासते) यज्ञ करने कराते हैं (ते हि शूद्राणाम् ऋत्विजः) वे शूद्रों के 'ऋत्विज्' कह-लाते हैं और (ब्रह्मवादिषु गहिताः) वेदपाठियों में निन्दित होते हैं ।। ४२ ।।

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाकम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

(वृषल-ग्रग्नि-उपसेविनाम्) शूद्रों से घन लेकर ग्रग्निहोत्र करने-कराने वाले (सततम् + ग्रज्ञानाम्) उन महा ग्रज्ञानियों के (मस्तक पदा ग्राक्रम्य) मस्तक पर पैर रखकर (दाता दुर्गाण संतरेत्) दान देने वाला शूद्र दुःखों को पार कर जाता है ग्रयित उस यज्ञ का पुण्यफल शूद्र को ही मिलता है ॥ ४३॥

आनुश्रीत्वनः ११।१ से ४३ व्लोक तक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध— (१) पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने के कारण ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं। १०।१३१ में प्रायश्चित्त का प्रसंग प्रारम्भ हुआ था और वह क्रम ११।४४ से जुड़ता है तथा इसी श्लोक से यह प्रसंग आगे चलता है। इस बीच में ग्राने वाले इन १—४३ श्लोकों ने उस प्रसंग को भंगकर दिया है, ग्रतः ये प्रसंगविरुद्ध हैं। (२) ४०।१३१ से ११।४ की तथा ११।४४ से ११।४३ श्लोक की प्रसंग की दृष्टि से कोई संगति नहीं जुड़ती। यह ग्रसंगित भी इन्हें प्रसंगविरुद्ध सिद्ध करती है।
  - २. अन्तिवरोध-(१) १। ८८ ॥ ७।७६, ८२, ८३ ॥ १० । ७५-७६, ग्रादि

श्लोकों में सभी ब्राह्मणों को समान रूप से दान लेने का श्रधिकार विहित हो चुका है। 'दान लेना' बाह्मणमात्र का विहित कर्त्तव्य उक्त है, फिर यहां कुछ ही बाह्मणों को [१-२] धर्मभिक्ष की संज्ञा देकर दान का विधान करने की ग्रावश्यकता ही नहीं रहती। १-४,६ रलोकों में यह विशिष्ट ग्रीर भिन्नव्यवस्था-जैसे-कृछों को वेदी के अन्दर बुलाकर दान देना कुछ को वेदी से वाहर आदि पूर्वीक्त व्यवस्था से भिन्न होने से विरुद्ध है। (२) ५ वें श्लोक में द्वितीय विवाह का विधान ५।१६७-१६८ में उक्त 'एक समय में एक ही विवाह' के विधान से विरुद्ध है। (३) १०।७६।। ११।१६४ श्लोकों में ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ ध्यक्तियों से ही दान लेने का निर्देश है, अश्रेष्ठों से दान लेने पर प्रायश्चित्त का विधान है। १६, १६ श्लोकों में अश्रेष्ठों के धन लेने का विधान ग्रीर १३-१६, १६ क्लोकों में ग्रपराथ विधि द्वारा धनग्रहण करने का विधान उक्त श्लोकों के विरुद्ध है। (४) मनुस्मृति के यज्ञप्रसंगों - २।६६, १०५, १०८।। ३। ६७-११८, २८५-२८६॥ ४।२१-२५॥६।४-१२ में कहीं भी सोमयज्ञ श्रौर वैश्वान रयज्ञ का विधान मन ने नहीं किया है। वहां ग्रप्रासंगिक रूप से उनका उल्लेख और गलत-ठीक सब विधियों से उनका सम्पादन करने का कथन ग्रादि बातें भिन्नव्यवस्था होने के कारण विरुद्ध हैं। (४) ३७ वें में नरक की मान्यता मनुविरुद्ध है दिखिए ४।६१।। १२।७५-८० श्लोकों पर समीक्षा] (६) थोड़े धन से यज्ञ न करने का विधान [श्लोक ७, ८] भी मनुसम्मत नहीं है। मनु ने तो ६।५,११ में नीवार ग्रादि से भी यज करने का निर्देश दिया है। (७) २।१०५-१०६ श्लोकों में यज्ञ जैसे कर्म को सर्वदा-सर्वथा पुण्य-दायक माना है, यहां ८, ३८-४० श्लोकों में ग्रल्पधन वाले और अल्पदिशाणा वाले यज्ञों से हानि का कथन उनके विरुद्ध है। (८) ३६-३७ में कन्या, स्त्री म्रादि के लिए यज्ञ का निषेध ६।२८, ६६, ११ इलोकों के विरुद्ध है। जिन इलोकों में स्त्रियों के लिए सभी प्रकार के धर्मकार्यों का पुरुषों के समान विधान किया है। (१) २० वें ब्लोक में पशुयज्ञ का विधान मनु के विरुद्ध विधान है। मनु सर्वेहिसाविरोधी है। दिखिए ४।२६ - २८ पर समीक्षा]। (१०) ब्राह्मणों को ११-१७, १६-२१ ब्लोकों में चोरी से श्रीर बलपूर्वक घन लेने का विधान २।१६१॥ ८।३०२, ३३२, ३३४-३३८, ३४४-३४१ श्लोकों के विरुद्ध है। इनमें ब्राह्मण के लिए किसी को पीड़ा श्रादि न देने का निर्देश है ग्रौर चोरी तथा साहसकर्म करने पर ग्रधिक दण्ड का विधान है। (११) ३१-३२ श्लोकों में ब्राह्मण को ग्रादेश दिया है कि वह ग्रपराधी के विषय मे राजा से न कहकर ग्रपने सामर्थ्य से ही उसे दण्ड दे। यह कथन सप्तम, ग्रष्टम, नवम ग्रष्ट्यायों के विधानों से विरुद्ध है। जहां दण्ड देने का श्रिषकारी केवल राजा को ही माना है। इस प्रकार इस प्रसंग के ग्रनेक इलोक मनुविरोधी सिद्ध हो रहे हैं, ग्रतः यह सारा प्रसंग ही प्रक्षिप्त है क्योंकि सभी क्लोक परस्पर सम्बद्ध हैं।

३. विषयविशेष — १०।१३१ क्लोक में मनु ने ग्रग्निम विषय — प्रायश्चित्त-विधि का वर्णन करने का संकेत किया है ग्रीर यह विषय ११।४४ से प्रारम्भ होकर ११।२६४ तक चलता है। इस बीच १-४३ क्लोकों में प्रायश्चित्त विषय से भिन्न दान के अधिकारी, यज्ञ के विधान म्रादि प्रसंगों का वर्णन विषयविरुद्ध है। यहां प्रायश्चित्त से सम्बद्ध वर्णन ही विषयानुकूल कहलायेगा। जो ४४ वें से प्रारम्भ होता है।

- ४. शैलीगत घाषार—(१) मनु की शैली किसी भी विषय या प्रसंग को प्रारम्भ करने से पूर्व उसका संकेत देने की है। वे प्रसंग के प्रारम्भ, ग्रन्त ग्रथवा दोनों स्थानों पर विषय या प्रसंग का संकेत देते हैं। इन ४३ इलोकों के प्रसंग का प्रारम्भ या ग्रन्त में कोई संकेत नहीं है, ग्रतः ये मनु की शैली के इलोक न होकर प्रक्षिप्त हैं। (२) इस प्रसंग के ग्रधिकांश इलोकों की शैली मनु की नहीं है, जैसे—३, ७, ८, १६, २०, २३, २४, २४, २६, २८, ३०, ३०, ४०, ४३ इलोकों की शैली निराधार है। १२—१६, २१—२३, ३१—३२, ३४, ४२—४३ इलोकों की पक्षपातपूर्ण, १३, १६, २४, ३७, ४१, ४३ की द्वेषपूर्ण ग्रीर १२—१६, ३८—३६ की शर्तपूर्ण तथा २४—२६, ३७ की ग्रग्रस्थ मयप्रदर्शन की शैली है। मनु की शैली में ये त्रुटियां नहीं हैं। ग्रधिकांश इलोकों की शैली मनु-विरुद्ध होने के कारण यह सारा प्रसंग ही प्रक्षिप्त है। क्योंकि शेष इलोक भी इन शैलीविरुद्ध इलोकों से सम्बद्ध हैं।
- ५. म्रवान्तरिवरोध—१३, १६, १८, १८ व्लोकों में शूद्र भीर नीच व्यक्ति का घन यज्ञ के लिए श्रेष्ठ श्रीर स्वीकार्य कहा है, जबिक २४, ४२, ४३, व्लोकों में इनका घन यज्ञार्य मस्वीकार्य और अग्रुभ माना है। इस प्रकार यह प्रसंग परस्पर विरोधी होने के कारण प्रक्षिप्त है।

# [ प्रायश्चित्त-सम्बन्धी-विधान ]

प्रायदिचत्त कब किया जाता है-

म्रकुर्वन्विहतं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायद्विचनीयते नरः ॥ ४४ ॥ (१)

(विहितं कर्मं अकुवंन्) शास्त्र में विहित कर्मों [यज्ञोपवीत संस्कार वेदाम्यास (११।१६१-१६२), संझ्योपासन, यज्ञ आदि] को न करने पर, (च) तथा (निन्दितं समाचरन्) शास्त्र में निन्दित माने गये कार्यों [बुरे कर्मों से धनसंग्रह (११।१६३) मद्यपान, हिंसा आदि] को करने पर (च) और (इन्द्रियमर्थेषु प्रसक्तः) इन्द्रिय-विषयों में अत्यन्त ग्रासक्त होने [काम, क्रोध, मोह में आसक्त होने ] पर (नरः प्रायिचत्तोयते) मनुष्य प्रायश्चित्त [४७] के योग्य होता है।। ४४।।

स्रकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (२)

(बुधाः) कुछ विद्वान् (प्रकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुः) प्रज्ञान-

वश किये गये पाप में प्रायिक्चित्त करने को कहते हैं (एके) ग्रीर कुछ विद्वान् (श्रुतिनिदर्शनात्) वेदों में उल्लेख होने के कारण (कामकारकृते + ग्रिपि ग्राहुः) जानकर किये गये पाप मैं भी प्रायिक्चित्त करने को कहते हैं ।। ४५ ।।

# अन्तु श्री ट्यन्तः यजु॰ ३६।१२ में प्रायश्चित्त का उल्लेख हुन्ना है— "निक्हरवे स्वाहा प्रायश्चित्त्वे स्वाहा भेवजाय स्वाहा ।"

म्रथात्— "(निष्कृत्त्यै) निवारण के लिए (स्वाहा) सस्यिक्तिया, (प्रायश्चित्त्यै) पापनिवारण के लिए (स्वाहा) सस्यिक्तिया ग्रीर (भेषजाय) सुख के लिए (स्वाहा) सस्य क्रिया का सदा प्रयोग करें।" (महिष दया० भाष्य)

अकामतः कृतं पापं वेदाम्यासेन शुध्यति । कामतस्तुकृतं मोहात्प्रायश्चितः पृथग्वियैः ॥ ४६ ॥ (३)

(ग्रकामतः कृतं पापम्) ग्रनिच्छापूर्वक किया गया पाप (वेदाम्थासेन गुध्यित) वेदाम्यास, तदनुसार बार-बार चिन्तन-मनन, ग्राचरण से गुद्ध होता है—पाप की भावना नष्ट होकर ग्रात्मा पवित्र होती है (मोहात् कामतः तु कृतम) ग्रासित से इच्छापूर्वक किया गया पाप [पापफल नहीं] (पृथक्-विधेः प्रायदिचत्तैः) ग्रनेक प्रकार के प्रायदिचत्तों के [११।२११—२२६] करने से गुद्ध होता है।। ४६।।

प्रायश्चित्त का ग्रर्थ---

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ ४७ ॥ (४)

('प्रायः' नाम तपः प्रोक्तम्) 'प्रायः' तप को कहते हैं ग्रीर (चित्तं' निश्चयः उच्यते) 'चित्त' निश्चय को कहते हैं (तपः-निश्चयसंयुक्तं 'प्राय-श्चित्तम्' इति स्मृतम्) तप ग्रीर निश्चय का संयुक्त होना ही 'प्रायश्चित्त' कहलाता है।। ४७।।

श्चान्य दिन्त : प्रायश्चित्त का सर्यं और उद्देश्य — 'प्रायश्चित्त' शब्द प्राय-चिति पदों से समास में 'पारस्कर प्रसृतीनि च संज्ञायाम्' (अष्टा० ६।१।१५७) से सुट् आगम के योग से सिद्ध हुमा है। तपादि साधनपूर्वकं किस्विवनिवारणार्थं चित्तम् निश्चयम् प्रायश्चित्तम्'। 'जब व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कार्यं को करके मन में उसके करने के प्रति खिन्नता स्रनुभव करता है, तब वह उसके दण्ड रूप में स्वयं तप = कष्टसहन करता हुमा यह निश्चय करता है कि पुनः मैं यह पाप नहीं करू गा।'

यह प्रायश्चित्त कहलाता है। ऐसा करने से मन में खिन्नता का भार नहीं रहता। जैसे कोई व्यक्ति किसी को ग्रचानक गलत बात कह जाये ग्रौर कहने के बाद उसे दुःख अनुभव हो, तो वह खेद प्रकट करता है। इससे उसके मन में खिन्नता नहीं रहती ग्रौर आगे वैसान करने के लिए सावधान हो जाता है। इसी प्रकार प्रायश्चित्त से पाप क्षीण नहीं होता, ग्रिपतु पाप-भावना क्षीण होती है [द्रष्टव्य ११। २२७ पर समीक्षा]। पुनः वह उस पाप को न करने के लिए निश्चय करता है ग्रौर सावधान रहता है [११।२२६ – २३०]। प्रायश्चित्त से मनुष्य की पापवृद्धि एक जाती है ग्रौर वह धर्म की ग्रोर उन्मुख होता जाता है।

बुरे कर्मों से शरीरविकार---

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा। प्राप्तुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्यथम्।।४८।।

(केचित् दुरात्मानः नराः) कुछ दुराचरण वाले लोग (इह दुश्चरितैः) इस जन्म के बुरे कर्मों के कारण (तथा केचित् पूर्वंकृतैः) तथा कुछ लोग पहले जन्म के बुरे कर्मों के कारण (रूरविपर्यंयम्) विकृत अङ्ग-आकृति आदि को (प्राप्तुवन्ति) प्राप्त करते हैं॥ ४८॥

> सुवर्णवीरः कौनरूपं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चम्यं गुरुतल्पगः ।। ४६ ॥

(मुवर्णचौरः कौनल्यम्) सोना चुराने वाला खराब नाखूनों वाला होता है (मुरापः श्यावदन्तताम्) शराब पीने वाला काले दांतों वाला, (ब्रह्महा क्षयरोगित्वम्) ब्राह्मण की हत्या करने वाला तपेदिक का रोगी, श्रौर (गुरुतल्पगः दौश्चर्म्यम्) गुरु-पत्नीगामी चर्म के विकार वाला होता है।। ४६।।

> पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् । बान्यवौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ४० ॥

(पिशुनः पौतिनासिक्यम्) चुगलखोर दुर्गन्धयुक्त नासिका वाला, (सूचकः पूतिवक्त्रताम्) भूडे दोय कहने वाला, दुर्गन्धयुक्त मुख वाला (धान्यचौरः श्रङ्गहीन-त्वम्) धान्यचौर किसी श्रङ्ग से रहित, श्रौर (मिश्रकः श्रातिरेक्यम्) मिलावट करने वाला श्रधिक श्रङ्गवाला होता है।। ५०॥

प्रमहत्ताऽऽनयायित्वं मौक्यं वागपहारकः । वस्त्रापहारकः दवैत्रयं पङ्गुतामस्वहारकः ॥ ५१ ॥

(ग्रन्नहत्ता भ्रामयावित्त्वम्) भ्रन्नचोर मन्दाग्निरोगी, (वाक् + श्रपहारकः मौक्यम्) बिना पढ़ाये चोरी से पढ़ने या सुनने वाला गूंगा, (वस्त्र + श्रपहारकः

क्वैत्र्यम्) कपड़ों का चोर सफेद कोढ़ का रोगी, ग्रौर (ग्रक्वहारकः पङ्गुटाम्) घोड़ा चुराने वाला लंगड़ा होता है ॥ ५१ ॥

#### एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगीहताः । जडमूकान्धबिधरा विकृताकृतयस्तया ॥ ५२ ॥

(एवम्) इस प्रकार (कर्मविशेषेण) कर्मभेद के ग्राधार पर (सद्-विगर्हिता) श्रेष्ठों में निन्दित (जड-मूक-ग्रन्धबिधराः तथा विकृत-ग्राकृतयः जायन्ते) मूर्खं, गूंगे ग्रन्थे, वहरे तथा बिगड़ी हुई ग्राकृति वाले लोग पैदा होते हैं।। ४२।।

आनुशिक्ता : ११।४८ से ५२ तक के श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. अन्तिवरोध—इन क्लोकों में प्रदिश्तित परिणामों का मनु के ग्रन्य वर्णन से विरोध है—(१) परजन्म के एक ही परिणाम का निक्चय कर देना ग्रथवा किसी भी एक कर्म के ग्राधार पर भविष्य में एक ही फल का निर्णय देने की पद्धित मनु की नहीं है। वे तो सात्त्विक, राजसिक ग्रीर तामसिक कर्मों के आधार ही फल मानते हैं और वह भी ग्रनेक कर्मों से [१२।२४—५२,७३—७४]। (२) यह बारहवें ग्रध्याय में कर्मफल के ग्रन्तर्गत ग्राने वाला प्रसंग है, लेकिन वहां इन फलों का या फल मिलने की ऐसी पद्धित का कोई वर्णन वा संकेत नहीं है। (३) ४६ में क्लोक में ब्रह्महत्यारा ग्रादि पातकों का उल्लेख इन क्लोकों को परवर्ती सिद्ध कर रहा है, क्योंकि यह चार महा-पातिकयों का वर्गीकरण मौलिक न होकर परवर्ती है [देखिए—११।४४—१६० क्लोकों पर समीक्षा]।
- २. शैलीगत भाषार—इन चारों इलोकों की शैली निराधार एवं अयुक्तियुक्त है।मनु की शैलीमें ये तृदियाँ नहीं हैं।४८ वां इलोक इन प्रक्षिप्त इलोकों से सम्बद्ध होने से प्रक्षिप्त है।

प्रायश्वित्त क्यों करना चाहिए---

चरितव्यमतो नित्यं प्रायिश्चतं विशुद्धये। निन्धं हि लक्षणेयुं कता जायन्तेऽनिब्कृतेनसः॥ ५३॥ (५)

[४६-४७ में वर्णित लाभ होने से] (ग्रतः) इसलिए (विशुद्धये) संस्कारों की शुद्धि के लिए (नित्यं प्रायिवच्तं चिरतव्यम्) सदा [बुरा काम होने पर] प्रायिवच्तं करना चाहिए, (हि) क्योंकि (ग्रिनिब्कृत-एनसः) पाप-शुद्धि किये विना मनुष्य (निन्द्यैः लक्षणैः युक्ताः जायन्ते) निन्दनीय लक्षणों से युक्त हो जाते हैं या मरकर पुनर्जन्म में होते हैं ॥ ५३॥

महापातकों का वर्णन-

बह्यहत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याद्वः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

(ब्रह्महत्या, सुरापानं, स्तेयं, गुरु-अङ्गनागमः) ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी और गुरुपत्नीगमन, (महान्ति पातकानि + आहुः) ये चार महापातक कहलाते हैं (च) और (तैः सह संसर्गः ग्राप) इनके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना, ये भी महापातक हैं ॥ ४४॥

महापातकों के समान कर्म---

मन्तं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोइवालीकनिर्वन्यः समानि ब्रह्महृत्यया ॥ ५५ ॥

(समुस्कर्षे अन्ततम्) ग्रपनी उन्नित करने के लिए ग्रसत्याचरण (राजगामि पैशुनम्) राजा से चुगलखोरी करना, (च) ग्रीर (गुरोः ग्रलीकर्निबंन्यः) गुरु से भूठ बोलना, ये (ब्रह्महत्यया समानि) ब्रह्महत्या के समान पातक हैं।। ५५।।

> बह्योज्भता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुद्वद्वयः। गहितानाद्ययोजन्धिः सुरापानसमानि षट्॥ ५६॥

(ब्रह्म-उज्भता, वेदनिन्दा) वेदों का त्याग, वेदों की निन्दा (कौटसाक्ष्य सुहृद्-वधः) भूठी गवाही देना, मित्र की हत्या करना, (गींहत-मनाद्ययोः जिम्बः) निन्दित और मभक्ष्य पदार्थों का खाना, ये (षट् सुरापानसमानि) छह मद्यपान के समान पातक हैं।। ५६।।

> निसेपस्यापहरणं नराइवरजतस्य च। मूमिवज्ञमणीनां च व्यमस्तेयसमं स्मृतम्।। ५७।।

(निक्षेपस्य + ग्रपहरणम्) धरोहर को हड़पना, (नर-ग्रश्व-रजतस्य-भूमि-वज्र-मणीनां च) मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, हीरा ग्रीर मणियों का ग्रपहरण करना (रुक्म-स्तेयसमं स्मृतम्) सुवर्णचोरी के समान हैं ॥ ५७ ॥

> रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वल्यकासु च। सच्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः॥ ५८॥

(स्वयोनीषु ग्रन्त्यजासु सस्युः च पुत्रस्य स्त्रीषु रेतः सेकः) अपनी सगी बहन, कुमारी, चण्डाली, मित्र भौर पुत्र की पत्नी से संभोग करना, ये (गुरुतल्पसमं बिदुः) गुरुपत्नीगमन के समान पातक हैं।। ५८।।

उपपातकों का वर्णन--

गोवषोऽयाण्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः । गुदमातृपितृत्यागः स्वाच्यायाग्ग्योः सुतस्य च ॥ ५६॥ (गोवधः + प्रयाज्यसंयाज्य-पारदार्य-प्रात्मविक्रयाः) गोह्रत्या, यज्ञ कराने के प्रयोग्यों के यहां यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन, प्रपनी आत्मा को बेचना, (गुरु-मातृ-पितृ-त्थागः) गुरु, माता, पिता को छोड़ देना, (च) भीर (स्वाष्याय-प्रग्न्योः सुतस्य) स्वाष्याय, प्राग्नहोत्र, बेटे को छोड़ देना, [ये उपपातक हैं]।। ४६।।

#### परिवित्तिताऽनुजेऽनूढे परिवेदनमेव च। तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

(परिवित्तिता + मनुजे + मनूढे) परिवित्ति = वह बड़ा भाई जिससे पहले उसके छोटे भाई ने विवाह कर लिया हो (च) भीर (परिवेदनम् + एव) परिवेत्ता = बड़े भाई से पूर्व विवाह करने वाला छोटा भाई [३।१७१] (तयोः कन्यादान च तयोः याजनम्) इन दोनों को कन्या देना और इनके यहां यज्ञ कराना ॥ ६०॥

#### कन्यायाः दूषर्णं चैव वाधुव्यं व्रतलोपनम् । तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

(कन्यायाः दूषराम्) कौमार्यं भंग करके कन्या को दूषित कर देना, (वार्षुं ध्यम्) ब्याज कमाना, (व्रतलोपनम्) ब्रह्मचर्यं आदि व्रत को नष्ट करना, (तडाग-प्राराम-दारासाम् च अपत्यस्य विक्रयः) तालाव, बगीचा, स्त्री ग्रीर पुत्र को बेचना ॥ ६१ ॥

# वात्यता बान्धवत्यागो मृत्याष्यापनमेव च । मृत्या चाष्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥

(बात्यता) बात्य होना [२।३६], (बान्धवत्यागः) सम्बन्धियों को त्यागना, (भृत्या + अध्यापनम् + एव) वेतन लेकर पढ़ाना, (भृत्या अध्ययन + आदानम्) वेतन देकर पढ़ाना (च) भौर (अपण्यानां विक्रयः) न बेचने योग्य पदार्थोंको बेचना ॥६२॥

# सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्त्तनम् । हिंसीवधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकमं च ॥ ६३॥

(सर्व-माकरेषु + मधीकारः) सभी खानों पर मधिकार करना, (महायन्त्र-प्रवर्तनम्) बढ़े-बढ़े यन्त्रों का प्रारम्भ करना, (ओषधीनां हिंसा) ओषधियों को नष्ट करना, (स्त्र्याजीवः) स्त्री से परपुरुष-संभोग, नृत्य म्रादि कराकर जीविका चलाना, (म्राभिचारः) मारण म्रादि कर्म रचना, (च) भौर (मूलकर्म) वशीकरण करना ॥६३॥

#### इन्थनार्थमञ्जूष्कारणां द्रुमाणामवपातनम् । स्रात्मार्थं च क्रियारम्मो निग्दितास्नादनं तथा ॥ ६४ ॥

(इन्धनार्थम्) इन्धन के लिए (म्रशुष्काणां दुमाणाम् । म्रवपातनम्) हरे पेड़ों को काटना (मात्मार्थं क्रिया-भारम्भः) प्रत्येक कार्यं प्रपने स्वार्थं की सिद्धि के उद्देश्य से करना (तथा निन्दित-मन्न-मदनम्) तथा निन्दित मन्न लाना ॥ ६४॥

#### भ्रताहिताग्निता स्तेयमृ्गानामनपिकया। ग्रसच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च किया॥ ५५॥

(ग्रन-ग्राहिताग्निता स्तेयम् + ऋणानाम् + ग्रनपिक्रया) यज्ञ करने में उपेक्षा-भाव, चोरी करना, ऋण लेकर न लौटाना, (ग्रसत्-शास्त्र-ग्रधिगमनम्) मिथ्या शास्त्रों को पढ़ना, (च) ग्रौर (कौशीलव्यस्य क्रिया) नाच-गान-वाद्य का काम करना ॥ ६५ ॥

धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवग्रम् । स्त्रीशुद्रविद्क्षत्रद्रधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

(धान्य-कुप्य-पशु-स्तेयम्) धान्य, तांबा ग्रादि धातु और पशुग्रों की चोरी करना, (मद्यप-स्त्रीनिषेवणम्) शरायी स्त्री के साथ संभोग करना, (स्त्री-शूद्र-विट्-क्षत्र-वधः) स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय की हत्या करना, (च) ग्रीर (नास्तिक्यम्) नास्तिक-भाव (उपपातकम्) ये सब [११।५६–६६] उपपातक कहलाते हैं ॥ ६६॥

जातिभ्रंशकारक कर्म-

वाह्यसम्बद्धाः । ज्ञत्या प्रातिरघ्नेयमद्ययोः। जैह्ययं च मेथुनं पुंसि जातिश्रंशकरं स्मृतम्।। ६७।।

(ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा) ब्राह्मण को पीड़ा पंहुचाना (ग्रद्योयमद्ययोः द्यातिः) न सूंधने योग्य वस्तुश्रों श्रीर मद्य को सूंघना, (जैह्मधम्) कुटिलता (च) श्रीर (पुंसि मैथुनम्) पुरुष के साथ मैथुन करना, ये (जातिश्रंशकरं स्मृतम्) जातिश्रष्ट करने वाले कर्म हैं॥ ६७॥

वर्णसंकर बनाने वाले कर्म--

खराक्वोष्ट्रमुगेमानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

(खर-ग्रव्य-उष्ट्र-मृग-इभानाम् | ग्रजा-अविक-वधः) गघा, घोड़ा, ऊंट, मृग, हाथी, बकरी, भेड़ की हृत्या करना (तथा मीन-ग्रहि-महिषस्य च) तथा मछली, सांप और भैंस इनकी हत्या करना, (संकरीकरणं ज्ञेयम्) ये वर्णंसंकर बनाने वाले कमें हैं॥ ६८॥

ग्रपात्र करने वाले कर्म--

निन्दितेम्यो घनादानं वाशिज्यं शूद्रसेवनम् । स्रपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च मावणम् ॥ ६६ ॥

(निन्दितेभ्यः धन-म्रादानम्) निन्दित व्यक्तियों से धन लेना, (वाणिज्यम्) व्यापार करना, (शूद्रसेवनम्) शूद्र की सेवा करना, (च) ग्रीर (ग्रसत्यस्य भाषणम्) भूठ बोलना, ये (ग्रपात्रीकरणं ज्ञेयम्) ग्रपात्र करने वाले कमें हैं।। ६६।।

मलिन करने वाले कर्म-

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फर्लथःकुसुमस्तेयमर्थयं च मलावहम् ॥ ७० ॥

(कृमि-कीट-वय: + हत्या) छोटे कीड़े, बड़े कीड़े, पक्षी इनकी हृत्या करना, (मद्य प्रनुगत-भोजनम्) मद्य के साथ लाये हुए पदार्थ को खाना, (फल-एघ:-क्रुसुम-स्तेयम्) फल, लकड़ी, फूलों की चोरी (च) श्रीर (अर्घैर्यम्) उग्रता करना, ये (मल-प्रावहम्) मिलन करने वाले कर्म हैं।। ७०।।

महापातकों स्रौर उपपातकों के प्रायश्चित्त-

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथंक् । यैयैंर्वतैरपोह्युन्ते तानि सम्यङ् निबोधत ॥ ७१ ॥

(एतानि सर्वाणि एनांसि) ये सब [११ । ५४-७०] पाप (पृथक्-पृथक् यथा + उक्तानि) पृथक्-पृथक् स्रौर सही-सही कहे, सब (यैः यैः व्रतैः + प्रपोहचन्ते) जिन-जिन प्रायश्चित्तों से ये पाप नष्ट होते हैं (तानि सम्यक् निबोधत) उन्हें स्रच्छी प्रकार सुनो-।। ७१ ।।

ब्रह्महृत्या का प्रायश्चित्त-

ब्रह्महा द्वादशसमाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्। भैक्षात्र्यात्मविशुद्धधर्यं कृत्वा शबशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

(ब्रह्महा) ब्रह्महत्यारा (ब्रात्मिविशुद्धधर्यम्) प्रपनी ब्रात्मा की शुद्धि के लिए (शविशरः ध्वजं कृत्वा) कटे हुए सिर का चिह्न मंकित करके या उस चिह्न की पताका रखते हुए (भैक्षाशी) भिक्षा मांगकर रहते हुए (द्वादशसमाः) बारह वर्ष तक (वने) वन में (कुटी कृत्वा वसेत्) कुटिया बनाकर रहे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुवामिच्छ्याऽऽत्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

(वा) अथवा ब्रह्महत्यारा (ग्रास्मनः इच्छया) ग्रपनी हार्दिक इच्छा से (शस्त्र-भृतां विदुषां लक्ष्यं स्यात्) शस्त्रधारी विद्वानों का निशाना बन जाए अर्थात् स्वयं उनके सामने जाकर अपने को नष्ट कर ले (वा) ग्रथवा (सिमद्धे ग्रग्नों) जलती हुई भाग में (तिः + भ्रवाक्शिराः) तीन बार नीचे को सिर करके (भारमान प्रास्येत्) ग्रपने को फेंके [इस प्रकार या तो जलकर मर जायेगा, यदि बचा भी रहेगा तो उसका प्राय-श्चित्त पूर्णं हो जाएगा]।। ७३।।

यजेत वाऽद्विमेधेन स्वीजिता गोसवेन वा। अमिजिद्विद्वविज्वस्यां च त्रिवृताग्निष्टुताऽपि वा।। ७४ ॥ (वा) ग्रथवा (ग्रह्वमेधेन स्वीजिता गोसवेन ग्रभिजित्-विद्विजिद्म्यां त्रिवृता म्रपि वा म्रग्निष्टुता यजेत) अश्वमेघ, स्वर्जित्, गोसव, म्रभिजित्, त्रिवृत् या म्रग्नि-ष्टुत् यज्ञ करे ॥ ७४ ॥

#### जपन्वाऽत्यतमं वेदं योजनामां शतं व्रजेत्। बह्यहरयाऽपनोदाय मितभुङ् नियतेन्द्रियः॥ ७५॥

(वा) अथवा (ब्रह्महत्या + ग्रपनोदाय) ब्रह्महत्या के पाप को दूर करने के लिए (मितमुङ् जितेन्द्रियः) स्वल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर (ग्रन्यतमं वेद जपन्) किसी एक वेद का जप करता हुमा (योजनानां शत वजेत्) सौ कोस पैदल चले ॥ ७५॥

> सर्वस्व वेदविदुषे बाह्मणायोपपादयेत्। घनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

(दा) ग्रथवा (सर्वस्वम्) ग्रपनी घन-सम्पत्ति (वेदविदुपे ब्राह्मगाय उपपादयेत्) वेद के ज्ञाता ब्राह्मण को दान में दे दे (वा) ग्रथवा (जीवनाय + ग्रलं धनम्) किसी ब्राह्मण को जीवनपर्यन्त जीने के लिए पर्याप्त घन या (सपरिच्छदं गृहम्) सब वस्तुग्रों से युक्त घर दान में दे॥ ७६॥

> हविष्यभुग्वाऽनुसरेश्वितस्रोतः सरस्वतीम् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिवे वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥

(वा) मथवा (हिवष्यभुक्) हिवष्य अन्त—नीवार ग्रादि स्नाता हुग्रा (प्रति-स्नोतः सरस्वतीम् ग्रनुसरेत्) किसी प्रसिद्ध स्रोत से चलकर सरस्वती नदी के समाप्ति-स्थान तक जाये (वा) या (निथताहारः वं) थोड़ा भोजन करके रहते हुए (वेदस्य संहितां वैत्रिः जपेत्) वेद की किसी संहिता का तीन बार जप करे ।।७७।।

> कृतवापनो निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोबाह्यसहिते रतः ॥ ७८ ॥

(वा) प्रथवा (गो-ब्राह्मणहिते रतः) गौओं ग्रीर ब्राह्मणों के हित में लगा (कृतवापनः) सिर मुंडाकर (ग्रामान्ते गोव्रजे ग्राश्रमे वा वृक्षमूले निवसेत्) गाँव के पास, गोशाला, ग्राश्रम या वृक्ष के नीचे [४२ वर्ष तक] निवास करे।। ७८॥

# ब्राह्मणार्ये गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ७६ ॥

(वा) भ्रयवा (ब्राह्मणार्थे गवार्थे) ब्राह्मण भीर गी की रक्षा के लिए (सब प्राणान् परित्यजेत्) [उन पर किसी भ्रापित्त का भ्रवसर ग्राने पर] तत्काल ग्रपने प्राणों की बाजी लगा दे (च) भ्रीर (गो-ब्राह्मणस्य गोप्ता) [इस प्रकार जीवित रह जाने पर भी] वह गी, ब्राह्मणा का रक्षक मनुष्य (ब्रह्महत्यायाः मुच्यते) ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।। ७६।।

#### त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वश्वितस्य वा। विश्रस्य तन्त्रिमित्ते वा प्राणालामे विमुख्यते ॥ ८० ॥

(वा) अथवा [चोरों-डाकुग्रों द्वारा ब्राह्मण के यहां धन चुराने के ग्रवसर पर] (त्रिवार प्रतिरोद्धा) तीन बार ब्राह्मण के धन को चोरों से बचाने वाला, (वा) या (सर्वस्वम् + ग्रवजित्य) चुरा लेने पर सारे धन को उनसे जीतकर लौटा लाने वाला (वा) ग्रथवा (विप्रस्य तन्निमित्ते प्राणालाभे) ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए प्राणों को न्यो आवर करने वाला (विमुच्यते) ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।। ८०।।

#### एवं हदवतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहित ॥ ८१ ॥

(एवम्) इस प्रकार [११।७२-८०] (नित्यं स्टब्रतः) सदा व्रत को स्वृता से पालन करता हुआ, (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचर्य से रहता हुआ, (समाहितः) एकाप्रचित्त रहता हुआ ब्रह्महत्यारा (द्वादशे वर्षे समाप्ते) बारह वर्षे पूर्ण होने पर (ब्रह्महत्यां व्यपोहित) ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।। ८१।।

### शिष्ट्वा वा मूमिदेवानां नरदेवसमागमे। स्वमेनोऽत्रभृथस्नातो हयमेषे विमुख्यते।।

(वा) श्रयवा (हयमेघे) श्रव्यमेघ यज्ञ के श्रवसर पर (भूमिदेवानां नरदेव-समागमे) राजाओं के श्रीर ब्राह्मणों के एकत्रित होने पर (स्वम् — एनः शिष्ट्वा) श्रपने पाप को कहकर (श्रवभृथस्नातः) श्रवभृयस्नान = यज्ञ-समाप्ति पर किये जाने वाले स्नान को करने के पश्चात् (विमुच्यते) ब्रह्महत्या के पाप से छूट जाता है।। ८२।।

#### धर्मस्य ब्राह्मराो मूलमग्नं राजन्य उच्यते। तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्धपति॥ ५३॥

(धर्मस्य मूलं ब्राह्मणः) धर्मं के मूल ब्राह्मण होते हैं, श्रीर (श्रग्नं राजन्यः उच्यते) धर्मं के श्रग्नभाग क्षत्रिय-राजा होते हैं (तस्मात्) इसी कारण (तेषां समागमे) उनके एकत्र होने पर, ब्रह्महत्यारा (एनः विख्याप्य शुद्धधित) श्रपने पाप को प्रसिद्ध करके शुद्ध हो जाता है।। ६३।।

### ब्राह्मणः सम्भवेनैव वेवानामि वैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

(ब्राह्मणः सम्भवेन + एव) ब्राह्मण उत्पत्तिकाल श्रयांत् जन्म से ही (देवा-नाम् + श्रिप दैवतम्) देवताश्चों का भी बड़ा देवता है (च) और (लोकस्य प्रमाणम्) लोक श्रयांत् मनुष्यों का प्रमाणरूप है, (हि अत्र ब्रह्म एव कारणम्) क्योंकि इसमें वेद ही कारण है।। ६४।।

# तेवां वेदविदो ब्र्युस्त्रयोऽप्येनः मुनिष्कृतस् । सा तेवां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

(तेषां त्रयः वेदिवदः) उन ब्राह्मणों में तीन वेद के वेत्ता ब्राह्मण (ग्रिपि + एनः सुनिष्कृतं ब्रूयुः) जो भी पापों का प्रायश्चित्त कहें (सा तेषां पावनाय स्यात्) वही प्रायश्चित्त उनको पवित्र करने वाला है (हि) क्योंकि (विदुषां वाक् पवित्रा) विद्वानों की वाणी पिवत्र होती है।। ८५।।

अतोऽन्यतममास्याय विधि विश्रः समाहितः। ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया।। ८६ ॥

(म्रतः) इसीलिए (विप्रः) ब्राह्मण आदि पापकत्तां (समाहितः) सावधान होकर (ग्रन्यतमं विधिम् + ग्रास्थाय) उपयुंक्त विधियों में से किसी एक प्रायश्चित्त-विधि को ग्रपनाकर (म्रात्मवत्-तया) ग्रात्मशुद्धि करके (ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहित) ब्रह्महत्या के पाप से छुट जाता है।। ८६।।

> हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्। राजन्यवैदयौ चेजानावात्रेयोमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

(ग्रविज्ञातं गर्भम्) ग्रनजाने में गर्भ को, (इजानौ राजन्यवैश्यौ) यज्ञ करते हुए क्षत्रिय वैश्यों को, (च) ग्रौर (ग्रात्रेयीम् + एव स्त्रियम्)रजस्वला स्त्री को (हत्वा) मारने के बाद (एतत् + एव व्रतं चरेत्र) यही ब्रह्महत्या वाले प्रायश्चित्त करे ॥ ८७ ॥

उन्स्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुघ्य गुरुं तथा । प्रपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

(साक्ष्ये प्रनृतं उक्त्वा) गवाही में भूठ बोलकर (तथा गुरु प्रतिरुघ्य) श्रौर गुरु पर मिथ्या दोष लगाकर (निक्षेपम् ग्रपहृत्य) घरोहर को हड़पकर (च) श्रौर (स्त्री-सुहृद्वमं कृत्वा) स्त्री तथा मित्र की हत्या करके भी उपर्युंक्त प्रायश्चित्त करे ॥ ८८॥

> इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् । कामतो बाह्यागवधे निष्कृतिनं विधीयते ॥ ८६ ॥

(श्रकामतः द्विजं प्रमाप्य) श्रनिच्छापूर्वक ब्राह्मण की हत्या करने पर (इयं विशुद्धिः + उदिता) यह पाप-शुद्धि कही है, (कामतः ब्राह्मणविषे) इच्छापूर्वक ब्रह्महत्या करने पर (निष्कृतिः न विधीयते) उसका कोई प्रायक्वित्त नहीं होता श्रयत् वह पाप प्रायक्वित्तों से भी शुद्ध नहीं होता ॥ ८९॥

सुरापान का प्रायश्चित्त-

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिवेत् । तया स काये निर्वेग्धे मुख्यते किल्विषात्ततः ॥ ६० ॥ (द्विजः) ब्राह्मण (मोहात्) मोहवश (सुरां पीत्वा) मद्यपान करके (ग्रग्निवणाँ सुरां पिबेत्) ग्राग के समान तपती शराब पीये (तया काये निर्दंग्धे) उस तपती शराब से उसका मुख-गला ग्रादि जलने पर (सः ततः किल्विषात् मुच्यते) वह उस मद्यपान के पाप से मुक्त हो जाता है।। ६०।।

### गोमूत्रमग्निवणं वा पिबेदुवकमेव वा। पयो घृतं वाऽऽमरणाद् गोशकृद्रसमेव वा।। ६१।।

(वा) ग्रथवा (ग्रग्निवर्णं गोमूत्रम् उदकं पयः घृतं वा गोशकृत्रसम्) तपते हुए गोमूत्र, जल, दूध, घी अथवा गोबर के रस को (ग्रामरणात् पिबेत्) जब तक मर न जाये तब तक पीये ॥ ६१ ॥

### करणान्वा मक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृत्रिशि । सुरापानापनुस्ययं बालवासा जटी व्वजी ॥ ६२ ॥

(वा) म्रथवा (सुरापान-अपनुत्त्यर्थम्) शराब पीने के पाप से छूटने के लिए (बालवासा जटी ध्वजी) बालों से बने वस्त्र पहनकर, जटाएं घारण करके, सुरापात्र का चिह्न या ध्वजा रखते हुए (म्रब्दम्) एक वर्ष पर्यन्त (निश्चि सक्कत्) रात के समय एक बार (कर्णान् वा पिण्याकम्) चावल के कर्णों को चुगकर वा तिल की खल (भक्षयेत्) खाये।। ६२।।

### सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुख्यते । तस्माद् बाह्यराराजम्यो वैदयस्य न सुरां पिवेत् ॥ ६३ ॥

(ग्रन्नाना वै मल सुराम्) ग्रन्नों के मल को 'सुरा' कहते हैं (च) ग्रीर (मलं पाप्मा उच्यते) 'मल' 'पाप' को कहते हैं (तस्मात्) इस कारण ग्रर्थात् सुरापान, पाप को ही पीना है, अतः (ब्राह्मण-राजन्यो च वैश्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय ग्रीर वैश्य (सुरां न पिबेत्) शराब न पीयें।। ६३।।

#### गौडी पैट्टी च माघ्वी च विज्ञोया त्रिविधा सुरा। यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ ६४॥

(गौडी, पैष्टी च माघ्वी) गौडी = गुड़ से बनी, पैष्टी = ग्राटे से बनी, माघ्वी = महुए से बनी, (त्रिविधा सुरा विज्ञेया) ये तीन प्रकार की सुरा होती है। यथा + एव + एका तथा सर्वाः) जैसी एक है वैसी ही सब हैं अर्थात् सब बराबर हैं, ग्रतः (द्विजो-त्तमैं न पातव्याः) द्विजातियों को ये नहीं पीनी चाहिएँ॥ ६४॥

#### यक्तरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुराऽऽसवम् । तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामध्नता हविः ॥ ६५ ॥

(मद्यं मांसं सुरा + ग्रासवम्) मद्य, मांस, सुरा ग्रासव, ये (यक्ष-रक्षः-पिशाच-ग्रन्नम्) यक्षों, राक्षसों भौर पिशाचों के खाने की वस्तुएं हैं, (देवानां हविः ग्रदनता ब्राह्मरोगन) देवताओं की हिव अर्थात् यज्ञशेष जैसा पवित्र भोजन करने वाले द्विजवर्ग को (तत् न + म्रत्तव्यम्) ये वस्तुएं नहीं खानी चाहिए।। ६५॥

> म्रमेध्ये वा पतेन्मत्तो बैदिकं वाऽप्युदाहरेत्। भ्रकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः॥६६॥

क्योंकि (मदमोहित: ब्राह्मण: मत्तः) शराब के नशे में मतवाला हुम्रा ब्राह्मण शराब पीकर (म्रमेध्ये वा पतेत्) या तो गन्दगी में गिरेगा, (वा वैदिकम् + उदाहरेत्) भ्रथवा वेदवाक्यों को वकेगा (वा) प्रथग (अन्यत् भ्रकार्यं कुर्यात्) भ्रौर दूसरे न करने योग्य बुरे कार्यं करेगा [इस कारण शराब नहीं पीनी चाहिए]।। ६६॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाय्यते सकृत्। तस्य व्यवैति ब्राह्मण्यं शुद्रस्यं च स गण्छति ।। ६७ ।।

(यस्य कायगतं ब्रह्म) जिसका शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा (सक्त मद्येन + ब्राप्ताब्यते) एक बार भी यदि शराब में डूब जाता है प्रयत् जो ब्राह्मण एक बार भी शराब पी लेता है (तस्य ब्राह्मण्यं व्यपैति) उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है (च) श्रीर (स: शूद्रत्वं गच्छति) वह शूद्र बन जाता है।। ६७।।

सुवर्ण-चोरी का प्रायदिचत्त---

एवा विचित्राऽभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः । अतः उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिस् ॥ ६८ ॥

.**ल**ः

(एषा) यह [११।६०-६७] (सुरापानस्य विश्वित्रा निष्कृतिः म्रिमिहिता) शराब पीने की ग्रनेक प्रकार की पापशुद्धि कही, (ग्रतः + ऊर्ध्वम्) ग्रब इसके बाद (सुवर्ग्यस्तेयनिष्कृति प्रवक्ष्यामि) सोने की चोरी का प्रायश्चित्त कहूंगा—॥ ६८॥

त अने (राजान<mark>े तु ग्राभिगम्य</mark>)

्राजी के कार्याक्षर (रवनामें ख्यानपम् भू यात्) श्रपनी चोरी को बतलाकर कहे कि - ('भवान् माम् श्रनुशास्तु' इति) 'श्राप मुभे दण्ड दें' ॥ ६६ ॥

> गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यातु तं स्वयम् । वधन शुद्धचति स्तेनो बाह्यसस्त्रपसैव तु ॥ १००॥

तब (राजा मुसलं ग्रहीरवा) राजा मुसल लेकर (स्वयं सकृत् हृन्यात्) उसे एक बार माड़े, इस प्रकार (बधेन) शारीरिक दण्ड से या इस स्थित में मर भी जाने से (स्तेन: शुद्धघित) चोर शुद्ध हो जाता है (तु) किन्तु (ब्राह्मण: तपसा + एष) ब्राह्मण तप से ही शुद्ध हो जाता है प्रयाद ब्राह्मण को न मारे।। १००।।

#### तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम् । चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद् ब्रह्महरणो व्रतम् ॥ १०१ ॥

(सुवर्णस्तेयजं मलं तपसा + ग्रपनुनुत्सु तु द्विजः) सोने की चोरी के पाप को प्रायश्चित्त रूपी तप से दूर करने की इच्छा वाला द्विज (चीरवासा) पुराने वस्त्रों को घारण करता हुआ (ग्ररण्ये ब्रह्महणः व्रतं चरेत्) वन में जाकर ब्रह्महत्या वाला प्रायश्चित्त [११।७२] करे।। १०१।।

गुरुस्त्री-गमन का प्रायश्चित्त---

एतैव तैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । गुरुस्त्रीगमनीयं तुं वर्तरेमिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

(द्विजः एतैः वर्तैः) द्विज व्यक्ति उपयुक्त वर्तों से [११। ६६-१०१] (स्तेय-कृतं पापम् श्रपोहेत) सुवर्णं-चोरी के पाप को दूर करे, (गुरुस्त्रीगमनीयं तु एभिः वर्तैः श्रपानुदेत्) गुरुस्त्रीगमन के पाप को इन निम्न वर्णित [१०३-१०६] वर्तों से दूर करे--- ॥ १०२॥

> गुरुतत्त्व्यभिमार्व्यनस्तप्ते स्वप्यावयोमये । सूर्मी ज्वलम्ती स्वाहिलब्येन्मृत्युना स विशुद्धपति ॥ १०३॥

(गुरुतल्पी) गुरु की पत्नी से संभोग करने वाला व्यक्ति (एन: अभिभाष्य) अपने पाप को बतलाकर (तप्ते अयोमये स्वप्यात्) तपते हुए लोहे के पलंग पर सो जाय अथवा (ज्वलन्तीं सूर्मीं सु + भ्राह्लिष्येत्) जलती हुई लोहे की स्त्रीमूर्ति को आलिङ्गन-बद्ध करले, इस प्रकार (मृत्युना) मृत्यु होने से (स: विशुद्धधित) वह शुद्ध होता है।। १०३॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याषाय चाञ्जलो । नैःक्टं ि विश्वमातिष्ठेवानियातावजिल्लामः ॥ १०४॥

काटकर (च) ग्रीर (ग्रञ्जली ग्राधाय) उन्हें ग्रंजलि में रलकर (ग्रजिह्मगः) कुटिल भावना का त्याग करके (ग्रानिपातात्) जब तक मरकर भूमि में न गिरजाये तब तक (नैऋंतीं दिशम् + ग्रातिष्ठेत्) नैऋंत दिशा की ग्रीर चलता रहे ॥ १०४॥

> खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने । प्राजापत्यं चरेत्कृष्क्रमम्बसेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

(वा) प्रथवा (खट्वाङ्गी) 'खट्वाङ्ग' = खाट के चिह्न से युक्त ब्वजा को धारण किये हुये, (चीरवासा) पुराने वस्त्र पहने (शमश्रुकः) जटाएं रखे (विजने बने) निर्जन वन में जाकर 'समाहितः) एकाग्र होकर (एकम् ग्रब्दं प्राज्यापत्यं कुच्छ्नं चरेत्) एक वर्षं तक 'प्राज्यापत्यं नामक [११। २११] कुच्छ्नवत को करे।। १०४।।

मनुस्मृतिः

### चान्द्रायसं वा त्रीन्मासानम्यस्येन्नियतेन्द्रियः । हविष्येसा यवाग्वा वा गुरुतत्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

(वा) श्रथवा (गुरुतल्पापनुत्तये) गुरुस्त्रीगमन के पाप की शुद्धि के लिए (नियते-न्द्रियः) जितेन्द्रिय होकर, (हविष्येण वा यवाग्वा) हविष्यान्न वा लपसी खाते हुए (त्रीन् मासान् चान्द्रायणम् श्रभ्यस्येत्) तीन मास तक 'चान्द्रायण' व्रत [११। २१६–२२०] करे॥ १०६॥

#### उपपातिकयों के प्रायश्चित्त-

#### एतैर्द्रं तैरपोहेयुर्महापातिकनो मलम् । उपापातिकनस्त्वेवमेभिर्नानाविषेद्रं तै : ।। १०७ ।।

(महापातिकनः) महापातिकी लोग (एतैः व्रतैः मलम् प्रपोहेयुः) इन पूर्वोक्त [११।७२-१०६] प्रायश्चित्तों से श्रपने पापों को दूर करें, और (उपपातिकनः तु) उपपातिकी लोग [११।५६-६६] (एभिः नानाविधैः व्रतैः एवम्) निम्नविणित प्रनेक-प्रकार के व्रतों से इस प्रकार प्रपने पापों को दूर करें—।। १०७।।

### उपपातकसंयुक्ती गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् । कृतवापो वसेबुगोच्छे चर्मणा तेन संबृतः ॥ १०८॥

(उपपातकसंयुक्तः गोष्टाः) उपपातक से संयुक्त गो-हत्यारा (कृतवापः) मुण्डन कराकर (तेन चर्मणा संवृतः) गौ के चमड़े को घोढ़े रहकर (यवान् पिवेत्) यदों = जौ को पीता हुआ (मासं गोष्ठे वसेत्) एक मास तक गोशाला में निवास करे ।। १०८ ।।

#### चतुर्यकालमञ्जीयादकारलवर्णं मितम् । गोमुत्रेणाचरेत्स्नानं द्वी मासौ नियतेन्द्रयः ॥ १०६ ॥

इसके बाद (द्वी मासी) दो मास तक (नियतेन्द्रियः) जितेन्द्रिय होकर (गोमू-त्रेण स्नानम् आचरेत्) गोमूत्र से स्नान करता हुआ (चतुर्यकाल मितम् अक्षारलवणम् अद्गतियात्) चौथे काल में थोड़ा एवं खटाई-नमक से रहित भोजन करे [एक बार खाकर तीन जून = मोजन समय न खाये इस प्रकार चौथे काल भोजन करे]॥ ११०॥

# दिवाऽनुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन्तूर्ध्वं रजः पिबेत् । गुश्रुषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

(दिवा ता: तु गा: + ग्रनुगच्छेत्) दिन में उन गौशाला की गौग्रों के पीछे, जाये, (तिष्ठत् + ऊर्ध्वं रज: पिबेत्) उनके रक्तने पर उनके पीछे, रुक्कर चलने से उठने वाली धूल का पान करे, (शुश्रूषिरवा) उनकी सेवा करके (रात्री नमस्कृत्य वी रासनं वसेत्) रात में उन्हें नमस्कार करके वीरासन से बैठा रहे॥ ११०॥

#### तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेस् व्रजन्तीष्वप्यनुवजेत्। आसीनास् तथाऽऽसीनो नियतो बीतमस्सरः ॥ १११ ॥

(नियत: वीतमत्सरः) नियमानुसार प्रतिदिन, क्रोघरिहत होकर (तिष्ठन्तीषु + अनुतिष्ठेत्) उन गौग्रों के खड़ा होने पर खड़ा हो जाये, (व्रजन्तीषु + प्रिप + अनु-व्रजेत्) चलने पर उनके पीछे चले, (तथा) उसी प्रकार (ग्रासीनासु ग्रासीनः) उनके बैठने पर बैठजाये।। १११॥

> ब्रातुरामनिशस्तां वा बीरव्याद्रादिनिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैविमोचयेत् ॥ ११२ ॥

(म्रातुराम्) रोगी (वा) म्रथवा (चौर-व्याघ्र-म्रादिभिः भर्यः म्रभिशस्ताम्) चोर, बाघ म्रादि के भय से डरी हुई (वा) म्रथवा (पितताम्) गिरी हुई, म्रथवा (पङ्कलग्नाम्) कीचड़ में फंसी हुई गौ को (सर्व-उपार्यः विमोचयेत्) सब उपायों से छुड़ाये॥ ११२।।

> उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा मृशम् । न कुर्वीतारमनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

(उष्णो, वर्षति वा शीते) ग्रत्यधिक गर्भी, वर्षा व सर्दी होने पर (वा मारुते भृशं वाति) तेज ग्रांधी चलने पर (शक्तितः) यथाशक्ति (गोः ग्रत्राणां कृत्वा) गौ की रक्षा विना किये (ग्रात्मनः न कुर्वीत) ग्रपनी रक्षा न करे ग्रयात् गौ की ही रक्षा करे।। ११३।।

आत्मनो यदि वाऽन्येषां गृहे क्षेत्रेऽषवा सले । मक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव बस्तकम् ॥ ११४॥

(ग्रात्मन: यदि वा + ग्रन्येषाम्) ग्रपना या दूसरे के (ग्रहे क्षेत्रे ग्रथवा खले) घर, खेत या खिलहान में (भक्षयन्तीं च पिबन्तं वत्सकम्) चारा खाती हुई ग्रीर दूध पीते हुए बछड़े को (न कथयेत्) न हटाये ॥ ११४॥

> त्रनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं त्रिमिर्मासंग्येपोहति ॥ ११५॥

(यस्तु गोघ्नः) जो गोहत्यारा (ग्रनेन विधिना गाम् + ग्रनुगच्छति) इस पूर्वोक्त विधि [११। १०५-११४] से गौग्रों के सेवा करता है (सः) वह (त्रिभिः मासैः) तीन मास के भन्दर (गोहत्याकृतं पापं व्यपोहति) गोहत्या के किये पाप को नष्ट कर देता है।। ११४।।

> वृवभैकादशा गाश्च वद्यात्सुचरितव्रतः। ग्रविद्यमाने सर्वस्वं वेदविवृग्यो निवेदयेतृ॥ ११६॥

इस प्रकार (सुचरितवृतः) ग्रच्छी प्रकार वृत करने के बाद वह (वृषभएकादशा:-

गाः वेदिविद्म्यः दद्यात्) एक सांड भीर दश गायें वेद के विद्वान् ब्राह्मण् को दान में देवे (भ्रविद्यमाने) इनके न होने पर (सर्वस्वं निवेदयेत्) भ्रपना भ्रन्य सब धन ब्राह्मणों को दान कर दे ।। ११६ ।।

> एतदेव वर्त कुर्यु रुपपातिकनो द्विजाः । अवकीर्णीवरुर्यं शुद्धार्यं चान्द्रायसमयापि वा ॥ ११७ ॥

(ग्रवकीर्गीवर्ज्यम्) 'ग्रवकीर्गी नामक [११।१२०] पापी को छोड़कर (जप-पातिकनः द्विजाः) शेष जपपातकी द्विज [११।४६–६०] (शुद्धधर्यम्) ग्रपनी पापशुद्धि के लिए (एतत् +एव वृतं कुर्युः) यही गीहत्या वाला प्रायश्चित्त [११।१०५–११४] करें (वा) ग्रथवा (चान्द्रायग्णम् + ग्रथ + ग्रपि) 'चान्द्रायग्ग' [११।२१६–२१६] वृत को करें ।। ११७।। ग्रयकीर्गी का प्रायश्चित्त—

भवकीर्णी तुं काणेन गर्दमेन चतुष्पये। पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्द्धाति निशि ॥ ११८ ॥

(भवकीर्गी तु) भवकीर्णी [११। १२०] पुरुष (काणेन गर्दभेन) कार्गो गर्घ पर चढ़कर (चतुष्पये) चौराहे पर जाकर वहां (पाकयक्त-विधानेन) पाकयक्रविधि से (निशि निर्ऋात यजेत) रात के समय 'निर्ऋात' नाम देवता के उद्देश्य से यक्त करे।। ११८।।

> हुत्वाऽग्नी विधिवद्धोमानन्ततदव समेत्युचा । वातेन्द्रगुरुवद्गीनां जुहुयास्मर्थिषाऽऽहृतीः ॥ ११६ ॥

(विधिवत् भ्रग्नौ होमान् हुत्वा) विधि के भ्रनुसार भ्रग्नि में हवन करके (भ्रन्ततः) उसके बाद ('समा' इति ऋचा) 'समासिञ्चन्तु मरुतः ' ' ' ' ' इस मन्त्र से (वात-इन्द्र-गुरु-वह्नीनां सर्पिषा + भ्राहुतीः जुहुयात्) वायु, इन्द्र, गुरु तथा भग्नि के उद्देश्य से घी की भ्राहुति देकर हवन करे ॥ ११६॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः। मृतिकमं वृतस्थानुर्धमंत्रा दृह्यवादिनः॥ १२०॥

(त्रतस्यस्य द्विजन्मनः) ब्रह्मचर्यावस्था में रहने वाला जो द्विज (कामतः रेतसः सेकम्) इच्छापूर्वक किसी स्त्री से संभोग करता है (धर्मज्ञाः ब्रह्मवादिनः) घामिक ब्रह्मवेत्ता लोग उसके इस कार्यको (व्रतस्य घतिक्रमम् घादुः) 'व्रत का ग्रतिक्रमण करना' मानते हैं, यही व्यक्ति 'भ्रवकीणी' होता है।। १२०।।

मारुतं पुरुहतं च गुरुं पावकमेव च। चतुरो व्रतिनोऽभ्येति बाह्यं तेजोऽवकीरिंगनः ॥ १२१ ॥ (ग्रवकीरिंगनः व्रतिनः बाह्यं तेजः) संभोग से व्रत को भंग करने वाले व्रतदीक्षत द्विज का बाह्यतेज == ब्रह्मचर्यकाल में भजित तेज (मारुतं पुरुहूतं गुरुं च पावकम् + एव चतुरः अभ्येति) वायु, इन्द्र, गुरु ग्रीर भग्नि इन चारों के पास चला जाता है अर्थात् उसका ग्रजित तेज नष्ट हो जाता है।। १२१।।

> एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दमाजिनम् । सप्तागारांश्वरेद्भंशं स्वकमं परिकीतंयन् ॥ १२२ ॥

(एतिस्मिन् + एनिस प्राप्ते) इस 'ग्रवकीर्गी' पाप के करने पर (गर्दभ + ग्रजिनं विसत्वा) गधे की खाल ग्रोढ़कर (स्वकर्म परिकीर्तयन्) ग्रपने कर्म को बतलाते हुए (सप्त + ग्रागारान् भैक्ष चरेत्) सात घरों से प्रतिदिन भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेम्यो लब्घेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृत्रांस्त्रिषवण् त्वब्देन स विशुद्धचित ॥ १२३ ॥

श्रीर (तेम्यः लब्धेन भैक्षेण) उन घरों से प्राप्त भिक्षा को लेकर (एककालिकं वर्तयन्) एक समय भोजन करता हुआ, भीर (त्रिषवणम् + उपस्पृशन् तु) प्रतिदिन तीन समय स्नान करता हुआ (सः) वह 'श्रवकीणीं' (श्रव्देन विशुद्धचित) एक वर्षं में शुद्ध हो जाता है।। १२३।।

जातिभ्रंशकर कर्मों का प्रायश्चित्त-

जातिभ्रंशकरं कर्मं कृत्वाऽन्यतमिम्छ्या। चरेत्सान्तपनं कृच्छ्नं प्राजापत्यमनिष्छ्या।। १२४।।

(इच्छया) इच्छापूर्वेक (अन्यतमं जातिभंशकरं कर्म कृत्वा) किसी जाति-भ्रंशकर [११। ६७] कर्म को करके (सान्तपनं कृच्छृं चरेत्) 'सान्तपन' नामक [११। २१२] कृच्छु वत को करे, और (अनिच्छया प्राजापत्यम्) अनिच्छ।पूर्वेक इनको करने पर 'प्राजापत्य' [११। २११] व्रत करे।। १२४।।

ग्रपात्र ग्रीर वर्णसंकर करने वाले कर्मों का प्रायश्चित्त-

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोषनमैन्दवम् । मलिनोकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२४ ॥

(सङ्कर-भ्रपात्र-कृत्यामु) संकर बनाने वाले [११।६८] ग्रीर ग्रपात्र करने वाले [११।६८] कर्नों में से किसी कर्म को करके (मासम् + ऐन्दवं शोधनम्) एक मास तक चान्द्रायण तत [११।२१६-२२०] करने से शुद्धि होती है, ग्रीर (मिलनीकरणीयेषु) मिलन [११।७०] करने वाले कर्मों को करके (त्र्यहं यात्रकः तन्तः स्यात्) तीन दिन गर्म लपसी साथे ॥ १२४॥

क्षत्रिय ग्रादि के वध का प्रायश्चित --

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः कत्रियस्य वधे स्मृतः । वैद्येऽष्टमांको वृत्तस्ये शुद्धे क्रेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥ (क्षत्रियस्य वये) क्षत्रिय की हत्या करने पर (ब्रह्महत्यायाः तुरीयः स्मृतः) ब्रह्महत्या का चौषा भाग प्रयति तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या का [११। ७२–८०] प्रायिचत्त करे (वृत्तस्थ वैदये अष्टमांशः) कर्त्तंथों में संलग्न वैदय के वध करने पर ग्राठवां भाग ग्रयति डेढ़ वर्ष तक ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करे (शूद्रे तु षोडशः ज्ञेयः) शूद्र के वध पर सोलहवां भाग ग्रयति नौ मास तक ब्रह्महत्या वाला प्रायश्चित्त करे ।। १२६।।

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्रा गा वद्यास्मुचरितवतः ॥ १२७ ॥

(प्रकामतः तु राजन्यं विनिगात्य) प्रतिच्छापूर्वं क क्षत्रिय का वध करके (द्विजो-त्तमः) ब्राह्मण (सुचरितद्रतः) ग्रच्छी तरह द्रत का पालन करने के बाद (वृषभ-एक-सहस्राः गाः दद्यात्) सौंड सहित एक हजार गायों का दान ब्राह्मागों में करे ॥ १२७॥

> ज्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महरूगो वृतम् । वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतमः॥ १२८॥

(वा) भ्रयवा (नियतः) जितेन्द्रिय होकर, (जटी) जटायें घारण किया हुमा, (ग्रामात् दूरतरे वृक्षमूलनिकेतनः वसन्) गाँव से दूर किसी पेड़ के नीचे निवास करता हुमा (त्रि + मब्दं ब्राह्मणः वृतं चरेत्) तीन वर्षं तक ब्रह्महत्या वाला प्रायश्चित्त करे॥ १२८॥

एतदेव चरेवब्बं प्रायदिचलं द्विजोत्तमः । प्रमाप्य वैदयं वृत्तस्यं दद्याच्चैकदातं गवाम् ॥ १२६॥

(वृत्तस्यं वैश्य प्रमाप्य) कर्तं श्यों का ठीक से पालन करने वाले वैश्य का प्रनि-च्छापूर्वंक वघ करके (द्विजोत्तमः) ब्राह्मण (एतत् + एव प्रायश्चित्तम् + प्रब्दं चरेत्) इसी [११।१२=] प्रायश्चित्त को एक वर्ष तक करे (च) ग्रीर (गवाम् एकशतं दद्यात्) सौ गौग्रों का दान करे ॥ १२६ ॥

> एतदेग वर्तं कृत्स्नं वण्मासान् श्रुवहा चरेत्। वृवभैकावशा वापि वद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १२०॥

(शूद्रहा) शूद्र की हत्या करने वाला द्विज (एतत् + एव क्रुत्स्नं व्रतम्) इसी सम्पूर्ण प्रायश्चित्त [११।१२८] को (षण्मासान् चरेत्) छह मास तक करे (प्रिपि वा) श्रीर (वृषभ एकादशाः सिताः गाः) एक सांड सहित दश सफेद गार्ये (विप्राय दद्यात्) ब्राह्मण को दान में देवे ।। १३०।।

ग्रन्य पशु-पक्षी-कीट ग्रादि के वधों का प्रायदिचत्त---

मार्जारनकुली हत्वा चार्ष मण्डूकमेब च । दवगोघोलूककाकादच द्यूबहत्त्यावतं चरेत् ।। १३१ ।। (मार्जार-नकुली चार्ष मण्डूकं दव-गोघा उल्क-काकान् च हत्वा) बिल्ली, नेवला, नीलकण्ठ, मेंडक, कुत्ता, गोह, उल्लू ग्रीर कीग्रा, इनकी हत्या करने पर (शूद-हत्यावतं चरेत्) शूद-हत्या वाला [११।१३०] प्रायदिचत्त करे॥ १३१॥

पयः पिबेरित्ररात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत्। उपस्पृत्रोत्स्रवन्त्यां वा सुकतं वाऽध्वेवतं अपेत्।। १३२।।

(वा) अथवा (त्रिरात्रं पयः पिबेत्) तीन दिन-रात केवल दूध पीकर रहे, (वा) या (योजनम् अध्वनः त्रेजेत्) एक कोस तक पैदल चले, (वा) अथवा (स्रवन्त्याम् + उपस्पृशेत्) बहती नदी में स्नान करे (वा) अथवा (अप्दैवतं सूक्तं जपेत्) जलदेवता वाले सूक्त ['ग्रापो हिष्ठाः मयो भुवस्ताः ''(ऋ•१०६) ग्रादि मन्त्रों ] का जाप करे।। १३२।।

#### प्राप्ति कार्ल्णायसी वद्यात्सर्पे हत्वा द्विजोत्तमः । पलालमारकं वण्डे सैसकं चैकमावकम् ।। १३३ ॥

(द्विजोत्तमः) ब्राह्मण (सर्ग हत्वा) सांप को मारकर (काष्णियसीम् + अश्रिम्) काले लोहे से बनी छड़ (दद्यात्) दान करे, (षण्डे पलालभारकम्) नपु सक को मारकर एक गाड़ी पुत्राल, (च) ग्रीर (एकमाषकं सैसकम्) एक प्राशा सीसा ब्राह्मए। को दान करे।। १३३।।

# घृतकुम्भं चराहे तु तिलद्रोगं तु तिसिरौ । शुके द्विहायनं वस्तं क्रीञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

(वराहे) सूत्रार को मारते पर (चृतकुम्भम्) एक घी से भरा घड़ा, (तित्तिरी तु तिलद्रोणम्) तीतर की हत्या करने पर एक द्रोण=१५ सेर तिल, (शुके द्विहायनं वत्सम्) तोते को मारकर दो वर्ष का बछड़ा, भीर (क्रीञ्च हत्वा तिहायनम्) क्रींच पक्षी को मारकर तीन वर्ष का बछड़ा, ब्राह्मण को दान में देवे।। १३४।।

# हत्वा हंसं बलाकां च बकं बहिरामेव च। वानरं त्र्येनमासौ च स्पर्शयेद्द ब्राह्मरागय गाम् ॥ १३४ ॥

(हंसं वलाकां बकं बहिएां वानरं च्येन-मासी च हत्वा) हंस, छोटा बगुला बगुला, मोर, बन्दर, बाज ग्रीर मुर्गा, इनको मारकर (ब्राह्मणाय गां स्पर्शयेत्) ब्राह्मण को एक गाय दान में सीपे ॥ १३४॥

#### वातो वद्याद्वयं हत्वा पञ्च नीलान्वृवान्गजम् । मजमेवावनस्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६॥

(हयं हत्वा वासः) घोड़े को मारकर कपड़ा, (गर्ज पञ्च नीलान्वृषान्) हाथी को मारकर पांच नीले बैल, (ग्रजधेषी खरं हत्वा) बकरी, भेड़, गधा इनको मारकर (एक हायनम् ग्रनड्वाहं दद्यात्) एक वर्षं का बैल दान करे॥ १३६॥

#### क्रश्याबांस्तु मृगान्हस्वा घेनुं वद्यात्पयस्विनीम् । स्रकथ्याबान्वरसतरीमुख्टं हत्वा तु कृष्णसम् ॥ १३७ ॥

(क्रव्यादान् मृगान् हृत्वा) मांस खाने वाले शेर, बाघ म्रादि पशुम्रों को मारकर (पयस्विनों घेनुं दद्यात्) दूघ वाली एक गाय का दान करे, (ग्रक्रव्यादान् वत्सतरीम्) मांस न खाने वाले हिरण ग्रादि पशुम्रों को मारकर एक बड़ी बिछ्या, (उष्ट्रं तु हत्वा कृष्णलम्) ग्रीर ऊंट को मारकर एक कृष्णल = रत्ती [८। १३४] सोना दान करे॥ १३७॥

#### जीतकामुं कबस्ताचीःपृथग्दद्याद्विशुद्धये । चतुर्गामपि वर्गानां नारीहंत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

(चतुर्णाम् + भ्राप वर्णानाम्) चारों वर्णों की (ग्रनवस्थिताः नारीः हस्वा) धर्म पर न चलने वाली ध्यभिचारिखी म्रादि स्त्रियों की हत्या करके (विशुद्धये) उस पापशुद्धि के लिये (पृथक् जीनकार्मुं कबस्तावीन् दद्यात्) वर्णक्रम से क्रमशः चमड़े का कुष्पा, भनुष, बकरी भौर भेड़, दान में दे॥ १३८॥

#### बानेन वधनिर्णेकं सर्पावीनामशक्तुवन् । एकंकशश्चरेत्कृच्छ्ं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३६॥

(सर्प-ग्रादीनां वधनिणॅकम्) सर्पं ग्रादि के वध का निवारण (दानेन ग्रशक्नुवन्) पूर्वोक्त [११।१३३-१३८] दान से करने में ग्रसमर्थं होने पर (द्विजः) द्विज (पाप-ग्रपनुत्तये) पाप-निवृत्ति के लिए (एक कशः क्रच्छूं चरेत्) एक पाप के लिए एक-एक क्रच्छू व्रत करे ॥ १३६॥

# मस्यमता तु सस्वाना सहस्रस्य प्रमापणे। पूर्णे चानस्यनस्पना तु शूब्रहत्यावृतं चरेतृ॥१४०॥

(श्रस्थिमतां तु सत्त्वानाग्) हड्डी वाले छोटे जीवों में (सहस्रस्य प्रमापणे) एक हजार की हत्या करने पर (च) ग्रीर (ग्रनस्थ्नां पूर्णे ग्रनिस) बिना हड्डी वाले गाड़ी भर छोटे जीवों की हत्या करने पर (श्रूद्रहत्यावृतं चरेत्) श्रूद्रहत्या [११।१३०] का प्रायश्चित्त करे ॥१४०॥

#### किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादिस्थमता वये। अनस्पनां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्धपति ॥ १४१ ॥

(ग्रस्थिमतां वधे) हड्डी वाले क्षुद्र-जन्तुग्रों का वध करने पर (विप्राय किञ्चित् + एव तु दद्यात्) बाह्यएा को कुछ ही दान करे (च) ग्रीर (ग्रनस्थनां हिंसायां प्राणायायेन गुद्धधित) बिना हड्डी वाले क्षुद्रजन्तुग्रों की हत्या करने पर प्राणायाम से ही गुद्धि हो जाती है।। १४१।।

#### फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च बीरुधाम् ॥ १४२॥

(फलदानां तु वृक्षाणाम्) फल देने वाले धाम, सेव धादि वृक्षां के, (गुल्म-वल्लीलतानाम्) फाइ, पेड़ों के साथ चढ़ने वाली लताएं और भूमि पर फैलने वाली सताएं, (च) और (पुष्पितानां वीरुधाम्) फूल वाले पेड़, इनके काटने पर (ऋक् शतं जप्यम्) एक सौ बार गायत्री मन्त्र का जप करे॥ १४२॥

म्रन्नाचनानां सस्वानां रसनानां च सर्वशः। फलपुष्पोद्भवानां च मृतप्राशो विशोधनम्॥१४३॥

(ग्रन्नाचजानां सर्वशः रसजानां च फल-पुष्प-उद्भवानां सत्वानाम्) ग्रन्नों, मैं उत्पन्न तथा सब रसों, फलों ग्रीर फूलों में उत्पन्न होने वाले की हों का वध करके (इतप्राशः विशोधनम्) घी चाटने से शुद्धि हो जाती है।। १४३।।

> कृषिजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने । वृधालम्मेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोवतः॥ १४४॥

(कृषिजानां च वने स्वयं जातानाम् श्रोधधीनाम्) कृषि के साथ [सांठी ग्रादि], श्रीर जंगल में स्थयं उत्पन्न होने वाली [ब्राह्मी] श्रोषधियों को (वृथालम्भे) व्यर्थं नष्ट करने पर (एकं दिनं पयोव्रतः) एक दिन केवल दूध ही पीते हुए रहकर (गाम् अनु-गच्छेत्) गौ की सेवा करे।। १४।।

प्रभक्य-भक्षण का प्रायश्चित्त-

एतेर्द्रतेरपोह्यं स्यादेनो हिसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं श्रृणुतानाद्यमक्षरो ॥ १४५ ॥

(ज्ञान-प्रज्ञानकृतं हिंसासमुद्भवं कृत्स्नम् एनः)ज्ञान या ग्रज्ञान से की गई हिंसा से होने वाले सव पापों को (एतैं: व्रतैः + ग्रपोद्धां स्यात्) इन पूर्वोक्त [११ । १००-१४४] व्रतों से नष्ट करना चाहिये। ग्रब (ग्रनाद्य-भक्षणे श्रुणुत) ग्रभक्य पदार्थों के खाने पर किये जाने वाले प्रायश्चित्तों को सुनो— ।। १४५ ॥

> स्रज्ञानाद्वावर्णी पीत्वा संस्कारेर्णैव शुद्धपति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

(ग्रज्ञानात् वारुगीं पीत्वा) ग्रज्ञान से वारुणी मदिरा को पीकर (संस्कारेण एव गुद्धधित) पुनः संस्कार [११।१५१] करने से गुद्ध हो जाता है, ग्रीर (मितपूर्वम्) जानबूभकर पीने पर (ग्रनिर्देश्यं प्राणान्तिकम् ⊹इति स्थितिः) निश्चय ही मरकर ही गुद्धि होती है, ऐसी शास्त्रथ्यवस्था है ॥१४६॥

> अपः सुरामाजनस्या मद्यमाण्डस्थितास्तया। पञ्चरात्रं पिबेस्पीत्वा शङ्खपुष्पीभृतं पयः॥१४७॥

(सुराभाजनस्याः तथा मद्यभाण्डस्थिताः ग्रपः पोस्वा) सुरापीने के बर्तन का तथा शराब बनाने के घड़े का पानी पीकर(पञ्चरात्रं शङ्खपुब्पीश्वतं पयः पिबेत्) पांच रात तक शंखपुष्पी बूटी मिलाकर ग्रीटाया हुग्रा दूष पीये ॥ १४७ ॥

#### स्पृष्ट्वा बस्वा च मिंदरां विधिवत्प्रतिगृह्य च । ज्ञुद्रोच्छिष्टाञ्च पीत्वापः कुज्ञवारि पिबेत्त्र्यहम् ॥ १४८ ॥

(मिदरां स्पृष्ट्वा च दत्त्वा च विधिवत् प्रतिगृह्य) मिदरा को स्पर्शं करके या देकर ग्रयवा विधि पूर्वं क लेकर (च) ग्रौर (शूद्र-उच्छिष्टाः ग्रयः पीत्वा) शूद्र का झूठा पानी पीकर (त्र्यहं कुशवारि पिबेत) तीन दिन तक कुश = डाभ उबाला हुग्रा पानी पीये॥ १४ = ॥

#### बाह्यणस्तु सुरापस्य गन्धमाझाय सोमपः । प्रालानप्सु त्रिराचम्य घृतं प्राद्य विद्युघ्यति ॥ १४६ ॥

(सोमपः ब्राह्मणः) सोमयज्ञ करने वाला ब्राह्मण (सुरापस्य गन्धम् + प्राघ्नाय) शराब पीये हुए के मुख की गन्ध सूंघकर (प्राणान् प्रप्सु त्रि + प्राचम्य) प्राणायाम पूर्वक तीन ग्राचमन करके (घृतं प्राध्य विशुद्धचित) किर घी चाटने से शुद्ध हो जाता है ॥ १४६॥

#### म्रज्ञानात्प्रात्त्य विष्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च । पुनः संस्कारमहंन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५०॥

(विद्-मूत्रं सुरासंस्पृष्ट्म् + एव म्रज्ञानात् प्राध्य) मल, मूत्र भीर शराब से खूमा हुमा भ्रग्नादि भोज्य पदार्थ म्रज्ञान से खा लेने पर (त्रयः द्विजातयः वर्णाः) तीनों द्विजाति वर्णं (पुनः संस्कारम् + म्रह्नंन्ति) पुनः संस्कार करने से ही शुद्ध होते हैं॥ १५०॥

#### वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या वतानि च। निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्मिण ॥ १५१॥

(द्विजातीनां पुनः संस्कारकर्में ण) पूर्वोक्त [११।१५०] ग्रवस्था में प्रायिक्त करते समय द्विजातियों के पुनः संस्कार करने में (वपनं मेखला दण्डः च मैक्सचर्या व्रतानि) मुण्डन, मेखला, दण्ड, भिक्षा मांगना, ये व्रत (निवर्तन्ते) नहीं किये जाते हैं ॥ १५१॥

#### म्रमोज्यानां तु भुक्त्वाग्नं स्त्रीशुद्रोच्छिष्टमेव च । जग्म्वा मासममक्ष्यं च सप्तरात्रं यवास्पिबेत् ॥ १५२ ॥

(श्रभोज्याताम् मन्तं भुक्त्वा) जिनका मन्तं नहीं खाना चाहिए [४। २०४ --२२०] उनका मन्तं खाकर (च) भ्रौर (स्त्री-शूद्र-उच्छिष्टम् +एव) स्त्रियों तथा

शूदों का झूठा ग्रन्न लाकर (च) तथा (ग्रभक्यं मांसं जग्ब्वा) ग्रभक्य मांस को लाकर मनुष्य (सप्तरात्रं यवान् पिबेत्) सात रात तक केवल सत्तू पीकर रहे ॥ १५२ ॥

> शुक्तानि च कवायांत्रच पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः । ताबद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्त व्रजत्यघः ॥ १५३ ॥

(द्विजः) द्विज (मेघ्यानि शुक्तानि च कषायान् प्रिप पीत्वा) पवित्र कांजी ग्रादि खट्टी वस्तुएं ग्रीर कसैले पदार्थों को पीकर (तावत् + ग्रप्रयतः भवति) तब तक ग्रप-वित्र ही रहता है (यावत् तत् ग्रथः न व्रजति) जब तक वह पीया हुआ पदार्थं पचकर मलरूप में बाहर नहीं निकल जाता है।। १५२॥

विड्वराहलरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः । प्राज्य मुत्रपुरीवाणि द्विजञ्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

(विड्वराह-खर-उष्ट्राणां गोमायोः कपि-काकयोः) ग्राम्य सूत्रर, गधा, ऊंट, गीदड़, बन्दर, कौआ, इनके (मूत्रपुरीषाणि प्राध्य) मूत्र-मल को खा लेने पर (द्विजः चान्द्रायणं चरेत्) द्विजः चान्द्रायणं वत [११।२१६-२२०] करे।। १४४॥

शुष्कार्णि भुक्त्वा मांसानि मौमानि कवकानि च । अज्ञातं चैव सुनास्यमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १४४ ॥

(शुष्कानि मांसानि) सूखे हुए मांस, (भौमानि कवकानि) भूमि में उत्पन्न होने वाले छत्राक, (अज्ञातं च सूनास्य भुक्त्वा) प्रज्ञात ग्रीर कसाईखाने का मांस खाकर (एतत् +एव व्रतं चरेत्) यही [१४४ का] व्रत करे ॥ १४४ ॥

> कव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे । नरकाकखराणां च तप्तकुच्छ्नं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

(क्रव्याद-सूकर-उष्ट्राणां कुक्कुटानां नर-काक-खराणां भक्षणे) मांसभक्षी पशुद्रों, सूत्रर, ऊंट, मुर्गा, मनुष्य, कौशा श्रीर गधा, इनका मांस खाने पर (तप्तक्रुच्छ्रं विशोधनम्) तप्तक्रुच्छ् व्रत [११। २१४] से शुद्धि होती है।। १५६॥

> मासिकान्नं तु योऽइनीयादसमावर्तको द्विजः । स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

(यः ग्रसमावतंकः द्विजः) जो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित द्विज (मासिक + ग्रन्नम्-ग्रश्नीयात्) मासिक श्राद्धादि के अन्न को खा ले तो (सः त्रीण = ग्रह्मित + उपवसेत्) वह तीन दिन उपवास करे (च) ग्रीर (एक + ग्रहम् उदके वसेत्) एक दिन केवल पानी पीकर रहे ॥ १५७ ॥

> ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कर्यचन । स भृष्वा प्राकृतं कृष्छं व्रतशेवं समापयेतु ॥ १५८ ॥

(यः ब्रह्मचारी) जो ब्रह्मचारी (कथंचन) किसी प्रकार (मधुमांसम् अश्नीयात्) मधु = मद्य या मांस का अक्षण कर ले तो (सः प्राकृतं कृच्छ्ं कृत्वा) वह प्राजापत्य व्रत [११।२११] को करके (व्रतशेषं समापयेत्) प्रपने शेष ब्रह्मचर्यं काल को पूरा करे।। १५ =।।

#### विडालकाकालू व्छिष्टं जग्ध्वा इवनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुबर्चलाम् ॥ १५६॥

(बिडाल-काक-म्राखु-उच्छिष्टम्) बिल्ली, कौम्रा, चूहा, इनके झूठे मन्त को, (च) भौर (क्व-नकुलस्य) कुत्ते तथा नेवले के झूठे अन्त को, (च) भौर (केश-कीट-म्रवपन्नं जग्व्वा) केश-कीट पड़े अन्त को खाकर (ब्रह्मसुवर्चलां पिवेत्) ब्रह्मसुवर्चला बूटी का क्वाथ पीये ॥ १४६॥

> ग्रमोज्यमन्नं नात्तव्यमारमनः शुद्धिमिच्छता । ग्रज्ञानभुक्तं तुत्तार्यं शोध्यं वाष्याशु शोधनः ॥ १६० ॥

(ग्रात्मनः शुद्धिम् + इच्छता) ग्रपनी शुद्धि चाहने वाले मनुष्यों को (ग्रभोज्यम् + ग्रन्नं न ग्रत्तव्यम्) ग्रभक्ष्य जन्न नहीं खाना चाहिए, (ग्रज्ञानभुक्तं तु + उत्तार्यम्) यदि ग्रज्ञानता से खाया गया है तो वमन कर देना चाहिए (वा) या (ग्रांशु शोधनैः शोध्यम्) शीघ्र शुद्धिकारक उपायों से शुद्धि कर लेनी चाहिए।। १६०।।

चोरी का प्रायश्चित्त-

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः। स्तेयदोषापहृत्रंगां व्रतानां श्रूयतां विधिः॥१६१॥

(एषः) यह [११। १४६-१६०] (म्रनाद्य-म्रदनस्य) म्रभस्य पदार्थों के लाने पर (व्रतानां विभिः विविधः उक्तः) प्रायश्चित्तों की म्रनेक विधियां कहीं। म्रब (स्तेय-दोष-म्रपहतृं एगं व्रतानां विधिः श्रूयताम्) चोरी के दोष को दूर करने वाले प्रायश्चित्तों की विधियां सुनो—।। १६१।।

धान्यान्नधनवौर्याणि कृत्वा कामाइ द्विजोत्तमः । स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

(द्विजोत्तमः) ब्राह्मण (स्वजातीयग्रहात् + एव) किसी ब्राह्मण के घर से ही (कामात् घान्य-प्रन्त-घन-चौयिष्णि कृत्वा) इच्छापूर्वक घान्य, प्रन्त तथा घन की चोरी करके (कृच्छ-प्रबदेन विशुद्धघति) एक वर्ष तक कृच्छ्न्त्रत [११। २११] करते रहने से शुद्ध होता है।। १६२॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । हृपवापीजलानां च शुद्धित्रचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥ (मनुष्याणां स्त्रीणां क्षेत्र-गृहस्य च कूप वापी-जलानां हरणे) मनुष्य, स्त्री, क्षेत्र, घर श्रौर क्ष्मा, बावड़ी का पानी, इनकी चोरी करने पर (चान्द्रायएां शुद्धिः स्मृतम्) चान्द्रायएा व्रत [११। २१६–२२०] से ही शुद्धि मानी है।। १६३।।

द्रव्याणामल्पसारणां स्तेयं कृश्वाऽन्यवेश्मतः । चरेरसांतपनं कृच्छ्ं तन्निर्याख्यात्मगुद्धये ॥ १६४ ॥

(अन्यवेश्मतः अल्पसाराणां स्तेयं कृत्वा) दूसरे के घर के थोड़े मूल्य की वस्तुओं की चोरी करके (आत्मशुद्धये) अपनी शुद्धि के लिए (तत् निर्यात्य) पहले उन्हें लौटाकर पुनः (सांतपनं कृच्छुं चरेत्) सांतपन कृच्छु वत [११।२१२] करे।। १६४।।

> मध्यमोज्यायहरुणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलानां च पठचगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

(भक्ष्य-भोज्य-त्रपहरणे) लाने योग्य लह्डू आदि, भोज्य लीर आदि के चुराने गर (च) और (यान-शय्या-ग्रासनस्य पुष्प-मूल-फलानां च) सवारी, पलंग, ग्रासन, फूल, मूल और फल, इनकी चोरी करने पर (पश्चगव्यं विद्योधनम्) पञ्चगव्य [गाय का दूध, धी, मूत्र, गोबररस और दही से बनने वाली औषध] पीने से शुद्धि होती है।। १६४।।

तृराकाष्ठद्रमाराां च शुष्कान्तस्य गुडस्य च । चेलचर्मामिषाराां च त्रिरात्रं स्यादमोजनम् ॥ १६६ ॥

(तृण-काष्ठ-द्रुमाणां शुष्क-ग्रन्मस्य गुडस्य चेल-चर्म-मिषाणां च) तिनकाघास, लकड़ी, पेड़, सूखा ग्रन्न, गुड़, कपड़ा, ग्रीर चमड़ा मांस, इनकी चोरी करने पर (त्रिरा-त्रम् श्रभोजनं स्यात्) तीन रात तक उपवास करे ॥ १६६ ॥

> मिर्गिमुक्ताप्रवालानां ताम्त्रस्य रजतस्य च। म्रयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं करणान्नता ॥ १६७ ॥

(मणि-मुक्ता-प्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य भ्रयः-कांस्य-उपलानां च) मणियां, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसा भ्रौर पत्थर, इनकी चोरी करने पर (द्वादश — भ्रहं कण-भ्रन्नता) बारह दिन तक कण चुग-चुगकर साये॥ १६७॥

> कार्पासकीटजीर्गानां द्विष्ठाफैकशफस्य च। पक्षिगन्घीषघीनां च रज्ज्वाइचैव श्यहं पयः ॥ १६८ ॥

(कार्पास-कौट-जीर्णानां द्विशक-एक शकस्य पक्षि-गन्ध-मौषधीनां च रज्ज्वाः एव) कपास, रेशम, ऊन, दो खुर वाले पशु गाय-भेंस मादि, एक खुर वाले पशु घोड़ा-गधा म्रादि, पक्षी, गन्ध, म्रोषधियां मौर रस्सी, इनकी चौरी करने पर (त्र्यहं पयः) तीन दिन केवल दूध पीकर रहे॥ १६८॥

श्रगम्या-गमनीय का प्रायदिचत्त-

एतंब्रँतरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। ग्रगम्यागमनीयं तु व्रतरेमिरपानुदेतु॥१६६॥

(द्विजः) द्विज (एतैः व्रतैः स्तेयक्कतं पापं श्रपोहेत) इन [११।१६२-१६६] व्रतों से चोरी करने से उत्पन्न पाप को दूर करे। (ग्रगम्या-गमनीयं तु) सम्भोग न करने योग्य स्त्री से सम्भोग करने से उत्पन्न पापों को (एभिः व्रतैः + ग्रपानुदेत्) इन निम्न [११।१७०-१७८] प्रायश्चित्तों से दूर करे॥१६६॥

गुरुतस्पन्नतं कुर्याद्वेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु । सस्यः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजामु च ॥ १७० ॥

(स्वयोनीषु सध्यु:-पुत्रस्य स्त्रीषु कुमारीषु — ग्रन्त्यजासु च) ग्रपनी सगी वहन मित्र की पत्नी, पुत्र की पत्नी, कुमारी, चण्डाली, इनसे (रेतः सिक्त्वा) संशोग करके (गुरुतल्पत्रतं कुर्यात्) गुरुपत्नीगमन वाला प्रायश्चित्त [११।१०३-१०६] करे।।१७०॥

> पैतृष्वतेयीं भगिनीं स्वलीयां मातुरेव च । मातुरव जातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

(पैतृष्वसेयीं मातुः भगिनीं स्वस्नीयां एव, मातुः भ्रातुः तनयां गत्वा) बूमा की बेटी, मौसी की बेटी, ग्रौर मामा की बेटी इनसे संभोग करके (चान्द्रायएां चरेत्) चान्द्रा-यण व्रत [११।२१६–२२०] करे ॥ १७१ ॥

एतास्तिलस्तु मार्यार्थे नोपयञ्छेत् बुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्यूपयन्नथः ॥ १७२ ॥

(बुद्धिमान्) बुद्धिमान् मनुष्य (एताः तिस्रः तु भार्यार्थे न + उपयच्छेत्) उक्त तीन कन्याग्रों [११।१७१] को पत्नी के रूप में न स्वीकार करे, क्योंकि (ताः ज्ञातित्वेन + अनुपेयाः) वे बांधव होने से विवाह करने योग्य नहीं हैं, (उपयन् हि ग्रधः पतित) इनसे विवाह करने वाला मनुष्य नरक में जाता है ॥ १७२॥

> ममानुषीषु पुरुष उदस्यायामयोनिषु । रेतः सिक्त्वा जले चैव कृष्ट्युं सान्तपनं चरेतु ॥ १७३

(श्रमानुषीषु) मनुष्य से भिन्न जाति की भैंस, घोड़ी, गाय ग्रादि में (उद-क्यायाम्) रजस्वला स्त्री में, ग्रीर (ग्रयोनिषु) योनि से भिन्न स्थान मुल, गुदा ग्रादि में (रेतः सिक्त्वा) वीर्यक्षरण करके ग्रयाँत् इनमें संभोग करके (च) और (जले एव) जल में वीर्यक्षरण करके (सांतपनं कृच्छ्र चरेत्) सांतपनं कृच्छ्र वृत [११।२१२] करे।। १७३।।

मैयुनं तु समासेम्य पुंसि योविति वा द्विजः। गोयानेऽप्यु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत्॥ १७४॥ (पु सि मैथुनं समासेन्य) पुरुष के साथ मैथुन करके (च) ग्रीर (गोयाने अप्सु च दिवा ेषिति) बैलगाड़ी में, जल में ग्रीर दिन में स्त्री के साथ मैथुन करके (द्विजः सवासाः स्नानम् — ग्राचरेत्) द्विज वस्त्रसहित स्नान करे।। १७४।।

> चण्डाल-म्रन्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो वित्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५॥

(चण्डाल-म्रन्त्य-स्त्रियः) चण्डाल और म्रन्य नीच वर्णों की स्त्रियों के साथ (गत्वा) संभोग करके, (मुक्त्वा) साथ खाकर (च) भ्रौर (प्रतिगृह्या) उनसे दान लेकर, (म्रज्ञानात् विप्रः पत्ति) म्रज्ञानपूर्वक इन कामों को करने से ब्राह्मण 'पतित' हो जाता है भ्रौर (ज्ञानात् साम्यं गच्छिति) ज्ञानपूर्वक करने से उनके समान जाति वाला हो जाता है।। १७५॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुष्यादेकवेदमनि । यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥ १७६ ॥

(विप्रदुष्टां स्त्रियम्) व्यभिचारिणी स्त्री को (भक्ता एकवेश्मनि निरुष्यात्) पति एक घर में रोककर रखे, और (यत् परदारेषु पुसः) जो परस्त्रीगमन में पुरुष का प्रायश्चित्त विहित है (तत् व्रतम् एनां चारयेत्) वही प्रायश्चित्त इसी स्त्री से कराये।। १७६।।

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत् सहशेनोपयन्त्रिता। कृच्छ्ं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतस् ॥ १७७॥

(सदृशेन-उपयन्तिता) सजातीय पुरुष के साय दूषित हुई (सा) वह स्त्री (चेत् पुनः प्रदुष्येत्) यदि फिर संभोग करके दूषित हो जाये तो (प्रस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणम् + एव पावनं स्मृतम्) इस स्त्री के लिए क्रच्छ्रं चान्द्रायण वर्त [११। २१२, २१६-२२०] ही शुद्धिकारक माना गया है।। १७७।।

> यत्करोत्येकरात्रेगा वृषलीसेवनाद् द्विजः। तद्दर्भेक्षमुग्जपन्नित्यं त्रिमिर्वर्षेथ्यंपोहति ॥ १७५ ॥

(द्विजः) द्विज (वृषलीसेवनात् यत् एकरात्रेण करोति) चण्डाली से संभोग करके जो एक ही रात में पाप कमाता है (तत्) वह (त्रिभिः वर्षेः) तीन वर्षों तक (नित्यं भैक्षभुक्जपन् व्यपोहति) प्रतिदिन भिक्षा का भोजन खाने और जप करने से दूर हो जाता है।। १७८।।

पतितों से संसर्ग का प्रायदिचल --

एवा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः। पतितैः सम्प्रयुक्तानामिमाः श्रुखुत निष्कृतीः॥ १७६॥

(एषा) यह [११। १२६-१७८] (चतुर्णा पापकृतां निष्कृतिः उक्ताः) चार

प्रकार [हिंसा, प्रभक्ष्यभक्षण, चोरी ग्रीर ग्रगम्या से संभोग] के पाप कर्मों की शुद्धि कही। ग्रब (पतितैः सम्प्रयुक्तानाम् इमाः निष्कृतीः श्रृश्युत = ) पतितों के सम्पर्कं से उत्पन्न पापों की निम्न-वर्णित शुद्धियाँ सुनो—॥ १७६॥

संवत्सरेगा पतित पतितेन सहावरन्। याजनाष्ट्यापनाद्यौनाग्न तु यानासनाशनात्।। १८०॥

(पिततेन सह) पितत व्यक्ति के साथ मिलकर (याजन + अध्यापन-योनात्) यज्ञ कराने, पढ़ाने और विवाह सम्बन्ध करने से (संवत्सरेण पतित) एक वर्ष में पितत हो जाता है, (तु) किन्तु (यान + आसन + अधनात् न) साथ सवारी करने बैठने और खाने से पितत नहीं होता ।। १८०।।

> यो येन पतितेनेवां संसर्गं याति मानवः। स तस्यैव वृतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये।। १८१।।

(एषाम्) इन पिततों में (येन पिततेन यः मानवः संसर्गं याति) जिस पितत के साथ जो मनुष्य संसर्गं करता है (सः) वह (तत्संसर्गविशुद्धवे) उस संसर्गं जन्य पाप की शुद्धि के लिए (तस्य एव व्रतं कुर्यात्) उन्हीं पिततों वाला प्रायश्चित्त करे ॥ १८१॥

पतितस्योवकं कार्यं सिपग्डैबन्धित्रंबहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्युत्विग्गुरुसन्निषौ ॥ १८२ ॥

(पिततस्य + उदकम्) पितत व्यक्ति की जलदानिक्रया (सिपण्डै: बान्धवै:) सगे बान्धवों को (बिहि:) गांव के बाहर, (निन्दिते + ग्रहिन) निन्दित तिथि नवमी ग्रादि में, (सायाह्ने) सायंकाल, (ज्ञाति-ऋत्विक्-गुरु-सिन्निधौ) बान्धवों, ऋत्विक् ग्रीर गुरु के समक्ष (कार्यम्) करनी चाहिये ॥ १८२॥

वाती घटममां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पवा। महोरात्रमुपातीरन्नशीचं बाग्मवः सह ॥ २८३ ॥

(ग्रपा पूर्णं घटम्) जल से भरे घड़े को (दासी पदा प्रेतवत् पर्यं स्येत्) दासी ग्रपने पैर से प्रेत की तरह अर्थात् दक्षिण दिशा की ग्रोर मुख करके ठोकर मारकर गिरादे [यही पतितों के लिए जलदान की विधि है] ग्रीर सब सिपण्ड (बान्धवै: सह) सभी बान्धवों के साथ (ग्रहोरात्रम् ग्रगोचम् उपासीरन्) एक दिन-रात तक ग्रगौच मनावें।। १८३॥

निवर्तेरंक्व तस्मास्तु सम्मावरणसहासने । वायाद्यस्य प्रवानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

(तस्मात् तु) उस महापातकी से (सम्भाषण-सह-प्रासने) बात-चीत करना, एक ग्रासन पर बैठना, (दायाद्यस्य प्रदानं च सौकिकी एव यात्रा) धन भाग देना ग्रीर लोकव्यवहार, इन सबको (निवर्तेरन्) न करें ॥ १८४॥

#### ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यहनम् । ज्येष्ठांशं प्राप्तुयाच्चास्य यवीयान्गुरातोऽधिकः ॥ १८४ ॥

उस महापातकी का (ज्येष्ठता निवर्तेत) यदि वह बड़ा भाई है तो बड़ापन का प्रधिकार समाप्त हो जाता है (च यत् ज्येष्ठी + आप्यं धनम्) और जो ज्येष्ठ को 'उढ़ार' धन [६।११२] प्राप्त होता है, वह भी न मिलेगा, (च) भीर (अस्य गुणतः + प्रधिकः यवीयान् ज्येष्ठांशं प्राप्नुयात्) इसका गुणवान् छोटा भाई उस'उढ़ार' भाग को प्राप्त करेगा।। १८५॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्ममपां नवम् । तेनैव सार्वं प्रास्येयुः स्नात्वा पुन्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

(प्रायश्चिते तु चिरिते) पतित के प्रायश्चित्त कर लेने पर, बान्धव लोग (तेन + एव सार्धं पुण्ये जलाशये स्नात्वा) उसके साथ शुद्ध जलाशय में स्नान करके (पूर्णं-कुम्भम् + प्रपां नवं प्रास्थेयुः) जल से पूर्णं नथे घड़े को वहीं पर फैंक दें ।। १८६ ।।

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविद्य भवनं स्वक्यु । सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि ययापूर्वं समावरेतु ॥ १८७ ॥

(सः) वह प्रायश्चित्त किया हुम्रा (तं घटम् + अप्सु प्रास्य) उस घड़े को जल में फेंकने के पश्चात् (स्वकं भवनं प्रविदय) ग्रपने घर में प्रवेश करके (सर्वाणि ज्ञाति-कार्याणि) सब जाति-सम्बन्धी कार्यों को (यथापूर्वं समाचरेत्) पूर्वंवत् करे ॥ १८७ ॥

> एतदे विधि कुर्याचोवित्सु पतितास्विष । वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुक्त्य गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

(पिततासु योषित्सु ग्रिप) पितत हुई स्त्रियों के साथ भी (एतत् + एव विधि कुर्यात्) वही प्रायश्चित्त विधि [११। १८२-१८७] करे, (ग्रहान्तिके वसेयुः) वे स्त्रियौ घर के समीप ही रहें, ग्रौर (वस्त्र-मन्त-पानं देयम्) उन्हें वस्त्र, मन्त, पीने की वस्तुएँ देते रहें॥ १८८॥

एनस्विभिरिनिण्यतेर्नार्थं किचित्सहाचरेत्। कृतनिर्णेजनांद्रचेय न जुगुप्सेत कहिचित्।। १८६॥

(मनिणिक्तैः एनस्विभिः सह) प्रायश्चित्त नहीं किये हुए पापकत्तांमीं के साथ (किंचित् अर्थे न श्राचरेत्) किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए (च) और (क्वतिनर्गोजनान् किंहिचित् न जुगुप्सेत) प्रायश्चित्त किये हुम्रों से कभी घृणा न करे— उनकी निन्दा न करे ॥ १८६॥

बालघ्नांत्रच कृतघ्नांत्रच विशुद्धानिष धर्मतः । शरणागतहन्तुं दच स्त्रीहन्तुं दच न संबसेत् ।। १६०।। (बालघ्नान् कृतघ्नान् शरणागतहन्तुन्) बालकों के हत्यारे, कृतघन, शरणा- गतों के हत्यारे, स्त्रियों के हत्यारे, इनके (धर्मतः विशुद्धान् + म्रिपि) धर्मानुसार शुद्ध हो जाने पर भी (न संवसेत्) इनसे संसर्ग न करे ।। १६०॥

अन्य हारिकन्य: ११। ५४ से १६० तक सभी क्लोक प्रक्षिप्त हैं। इनके 'ग्राघार' निम्नलिखित हैं—

- १. ग्रन्तिवरोध महापातक एवं उपपातकों के वर्गीकरण ग्रीर प्रायश्चित्त-निश्चय का यह प्रसंग मौलिक सिद्ध नहीं होता। इस प्रसंग का पूर्वोक्त मनुस्मृति की व्यवस्थाग्रों से तालमेल न होकर ग्रनेक प्रकार से विशेष है —
- (१) यहां चार प्रकार के अपराधियों को विशिष्ट अपराधी मानकर 'महा-पातकी' की संज्ञा दी है किन्तु हत्या प्रसंग [६। २७६-३००] में ब्रह्मयज्ञ का, चोरी-प्रसंग में [६।३०१-३४३] स्वर्ण की चोरी का, परस्त्रीगमन प्रसंग में [६।३५२-३६७] गुरुपत्नीगामी का पृथक् से विशिष्ट अपराधी के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि यह विभाजन मनु का मौलिक नहीं है। यदि यह विभाजन मौलिक होता तो उक्त प्रसंगों में इनके लिए विशिष्ट दण्ड की व्यवस्था होती।
- (२) ८। ३८६ में विशिष्ट अपराधियों की गणना करते हुए चोर, परस्त्रीगामी, दुष्टवाक्, लुटेरा और हत्यारा, इन व्यक्तियों को भी समाविष्ट किया है, और राजा को इन पर विशेष नियन्त्रण रखने का आदेश है। यहाँ चार महापातिकयों का परिगणन उक्त क्लोक से भिन्न है और अपराध के आधार पर विभाजन न करके व्यक्तिपरक आधार लिया है, जैसे—परस्त्रीगमन में अपराध का आधार न लेकर केवल गुरुपत्नीगामी को ही विशिष्ट अपराधी माना है। हत्यारा मात्र होना आधार न मानकर केवल ब्रह्महत्यार को और प्रत्येक चोर को नहीं, अपितु केवल स्वर्ण की चोरी करने वाले को ही महापातकी माना है। यह विभाजन पिछले विभाजन से पृथक् है और इसकी आधार पढ़ित भी भिन्न है।
- (३) यहां स्वर्णंचोर को महापातकी और रजत ग्रादि चुराने वाले को उप-पातकी मानकर दोनों के लिए भिन्न-भिन्न दण्डों की व्यवस्था दी है, जबिक = । ३२१— ३२२ में इनकी चोरी को समान मानकर समान दण्ड की व्यवस्था है। ग्रीर यहाँ दोनों के दण्ड में कोई संतुलन न होकर दिन-रात का ग्रन्तर है। स्वर्णंचोर के लिए वारह वर्ष तक बहाहत्या का प्रायदिचत्त करने का ग्रादेश है [११।१०१]; और रजत, मोती ग्रादि चुराने वाले के लिए केवल बारह दिन चावल खाकर रहने का विधान है! [११।१६७]। एक स्थान पर तो दोनों को समान स्तर का चोर माना है ग्रीर दूसरे स्यान पर रजत चोर को ग्रत्यन्त सामान्य चोर मानकर उसके लिए दण्ड भी नाम-मान्न है!
- (४) (क) २१० से २२६ श्लोकों में मनुने प्रायश्चित्त के व्रत बतलाते हुए कहा है कि इन उपायों से पापियों की शुद्धि करें; किन्तु ७२ से १०४, १०५ से ११६

११८ से १२३, १२६ से १३८, १४० से १५३, १६६, १६०, १६५, १६७, १६८, १७०, १७२, १७४, १७५, १७८, १८२ से १८८ स्लोकों में प्रायश्चित्त के लिए जिन वत या विधियों का कथन है, वे उक्त वतों से भिन्न हैं। मनु के अनुसार तो उन्हीं वतों में से प्रायश्चित्त के लिए वत निश्चित किये जाने चाहियें थे। यह भिन्नता भनु के विधान से विश्व है, और किसी श्रन्य व्यक्ति द्वारा विहित है।

- (ख) ६० में सुरा पीने का प्रायश्चित्त सुरापान से बताया है। क्या कभी पाप से ही पाप की निवृत्ति होती है ? यह ऋषि-विहित विधान नहीं हो सकता।
- (प्र) २२६ से २३३ श्लोकों से यह स्पष्ट है कि प्रायिश्वत्त मृत्युकारक नहीं होना चाहिए। वह ऐसा होना चाहिए जिससे मनुष्य शेष जीवन में पुनः उस पाप को न करें। आगे ग्राने वाले समय में ग्रपराघों की ग्रोर से सावधान रहने के लिए ग्रौर किये हुए ग्रपराध पर पश्चात्ताप करने के लिए प्रायिश्वत्त होता है, यह उक्त श्लोकों से सिद्ध है। इस प्रसंग में महापातिकयों को मृत्यु के रूप में [७३, ७६, ८६, ६०, ६१, १००, १०३, १०४, १४६] प्रायश्चित्त विहित है, जो मनु की व्यवस्था से विश्द्ध है।
- (६) ५६ वें क्लोक में भूठी साक्षी को सुरापान के समान महापातक मानकर प्रवास के प्रवास प्रायश्चित ब्रह्महत्या का ही प्रायश्चित कहा है, जबिक प्रारश्च से १२२ क्लोकों में भूठी साक्षी के प्रपराध में कुछ प्रार्थिक दण्ड ही विहित है। उसमें भीर इस दण्ड में दिन-रात की ग्रसमानता है। प्राश्चित रूप २२ क्लोकों में भूठी साक्षी का महापातक के रूप में कोई विशिष्ट रूप से उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि यहाँ यह विभाजन मनुकृत नहीं है।
- (७) इसी प्रकार धरोहर हड़पने के अपराध के प्रायश्चित्त में श्रीर श्रष्टम अध्याय में विहित दण्ड में भी पर्याप्त असमानता है श्रीर न वहां इस अपराध का महा-पातक के रूप में उल्लेख है [११। ४७, ८८॥ ८। १७६-१६६]।
- (८) ६२ वें श्लोक में द्रव्य लेकर पढ़ाना उपपातक माना है, जबिक २। १४१ में इस प्रकार के ग्रध्यापक को 'उपाध्याय' संज्ञा देकर द्रव्य लेकर पढ़ाने के विधान का संकेत है। २। १०६ में तो स्पष्ट शब्दों में 'द्रव्यदाता' को पढ़ाने का कथन है।
- (६) हत्या-अभियोग के प्रसंग [८। २७८-३००] में मनु ने सभी व्यक्तियों के लिए एक-जैसा विधान किया है और उनकी दण्डव्यवस्था भी समान है। यहां ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-हत्या के लिए कम-ग्रधिक प्रायद्वित्त का विधान उस व्यवस्था-पद्धति से भिन्न है तथा भेदभावपूणें है।
- (१०) इस प्रसंग में अनेक स्थानों पर प्रायश्चित्त में दान देने का विधान है। ७६ वें क्लोक में तो स्पष्ट आदेश है कि अपना सर्वस्व बाह्यएं को दान देने से ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। यह मनु-मत के विपरीत है। मनु ने बाह्यणों को केवल सत्प्रतिग्रह लेने का ही विधान किया है [२। १६०।। ४। १६०], असत्प्रतिग्रह

निषिद्ध ही नहीं श्रपितु निन्दित माना है, श्रीर इसी अध्याय में ग्रसत्प्रतिग्रह लेने वालों के लिए प्रायदिचल का विषान किया है [१६३-१६६]। इससे स्पष्ट है कि ग्रपराधी लोगों से ब्राह्मणों को दान लेने का अधिकार नहीं है, ग्रतः इस प्रसंग में वींजत सम्पूर्ण दानविधि ग्रमौलिक है।

- (११) ६। २२५ में शराबी के लिए केवल 'देशनिकाला' दण्ड का विधान है और यहाँ मृत्युकारक प्रायश्चित्त [६०, ६१, १४६] विहित है। दोनों व्यवस्थाओं में पर्याप्त अन्तर और विरोध है। इस प्रकार ये अन्तर्विरोध इस सम्पूर्ण प्रसंग को ग्रमौलिक और प्रक्षिप्त सिद्ध करते हैं।
- २. श्रवान्तरिवरोध इस प्रसंग में पातकों के विभाजन तथा उनकी दण्ड-व्यवस्था में पुनक्कितयां, श्रसंतुलन, परस्परिवरुद्धता श्रीर श्रस्यिधिक विश्वं खलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रसंग न तो मौलिक है श्रीर न किसी एक व्यक्ति द्वारा रिचत है तथा न किसी विद्वान् व्यक्ति द्वारा रिचत है। इस प्रसंग में निम्न त्रुटियां हैं—
- (१) ५४ वें श्लोक में मद्यपान को महापातक माना है, स्त्रीर ६६ वें श्लोक में मद्यप की गणना उपपातकियों में है।
- (२) दण्डों के विकल्पों में अत्यधिक ग्रसमानता है, जो बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होती; जैसे—(क) ६०, ६१, १४६ क्लोकों में मदिरा पीने पर मृत्यु द्वारा ही चुद्धि मानी है, ग्रीर ६२ वें क्लोक में उसके विकला में एक वर्ष तक चावल पर रहना ही विहित है। (ख) ७३ वें क्लोक में ब्रह्महत्या का प्रायश्चित मृत्यु विहित है, ग्रीर ६२— ६३ में ग्रक्षमध्य म में ब्राह्मणों ग्रीर राजा के समक्ष ग्रपना पाप कहकर स्तान कर लेना मात्र ब्रह्महत्या को दूर करने वाला प्रायश्चित्त कहा है। (ग) गुरुस्त्रीगामी के लिए १०३, १०४ क्लोकों में मृत्यु का प्रायश्चित्त बताया है, ग्रीर १०६ में केवल तीन मास तक हविष्य ग्रीर नीवार से चान्द्रायणव्रत करने से उक्त महापातक की चुद्धि मान ली। इस प्रकार इन विकल्पों में कोई संतुलन ग्रीर तालमेल नहीं है।
- (३) ५५ वें इलो क में असत्य भाषण को महापातक मानकर ब्रह्महत्या के समान माना, है ग्रीर ६६ वें इलो क में असत्यभाषण को साधारण-सा अपराध 'अपात्रीकरण' माना है।
- (४) ५६ वें बलोक में 'वेदनिन्दा' को महापातक माना है, जबिक ६६ वें बलोक में 'नास्तिकता' को उपपातक माना है। मनु के मत में वेदनिन्दा ही नास्तिकता है ["नास्तिको बेदनिन्दकः" (२।११)]।
- (४) ४४-४७ इलोकों में म्रनेक ग्रपराधों को महापातकों के समान गिना है किन्तु महापातकों के प्रायश्चित्त-विधान प्रसंग [८६ से १०६] में उनका प्रायश्चित्त वर्णित नहीं है, वे हैं—ग्रपनी उन्नांत के लिए भूठ बोलना, राजा के सामने चुगली

करना, वेदत्याग, वेदनिन्दा, निन्दित तथा अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, वज्र ग्रौर मणियों की चोरी।

- (६) इसी प्रकार कुछ अपराधों को महापातकों के प्रसंग [५४-५८] में नहीं गिना, किन्तु इनके प्रसंग में उनका प्रायश्चित्त विहित है; वे हैं—गर्भपात, यज्ञ करते हुए क्षित्रय और वैश्य की हत्या, रजस्वला स्त्री की हत्या एवं स्त्री-हत्या [८७-८८]।
- (७) ६६ वें श्लोक में स्त्री-हत्या को उपपातक माना है, किन्तु ८८ वें श्लोक में उसे महापातक मानकर स्त्री-हत्यारे के लिए ब्रह्महत्या का प्रायश्वित्त विहित है।
- (न) ४६ वें श्लोक में निन्दित और अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण को महापातक के समान माना है और ६४ वें श्लोक में उपपातक माना है।
- (६) ५७ वें क्लोक में मनुष्य, घोड़ा, चांदी ग्रादि की चोरी को महापातक के समान माना है ग्रीर उनका प्रायिक्त अत्यन्त साधारण कहा है [१६३, १६७]। ग्राक्चर्य की बात तो यह है कि स्वणं की चोरी करने पर तो ब्रह्महत्या का बारह वर्ष तक प्रायिक्त है ग्रीर मनुष्यों तथा स्त्रियों की चोरी करने पर केवल चान्द्रायणव्रत ही प्रायिक्त माना है [१६३]। इसी क्लोक में मनुष्यों ग्रीर स्त्रियों की चोरी तथा क्यें ग्रीर बावड़ी के जल की चोरी को भी समान माना है !
- (१०) एक ही प्रसंग में तीन स्थानों पर [ ५७, ६५, ६६ ] चोरी का परिगणन किया गया है; जो झनावश्यक है।
- (११) वेदत्याग, वेदपाठ-स्याग, निन्दा भ्रौर नास्तिकता, जो कि मनु के विचार में एक नास्तिकता के भ्रन्तर्गत ही भ्राते हैं [२।११], उनका इस प्रसंग में तीन बार उल्लेख है [५६,५६,६६]।
- (१२) इसी प्रकार उपपातकों के एक ही प्रसंग में ग्रग्निहोत्र-त्याग के अपराध का दो बार परिगणन है [४६, ६५]।
- (१३) इसी प्रकार परस्त्रीगमन, कन्यादूषण, वृतलोप, स्त्रीसेवन मादि एक ही प्रकार की बातों का केवल उपपातक प्रसंग में ही तीन बार उल्लेख है, [४६. ६१, ६६]।
- (१४) कन्यादूषण को ४६ में महापातकों के अन्तर्गत गिना है, और ६१ में उपपातकों के अन्तर्गत।
- (१५) पातकों के परिगणन-क्रम में ग्रीर उनके प्रायश्यित वर्णन-क्रम में ताल-मेल नहीं है। गणना के भनुसार महापातकी, उनके संसींगयों के प्रायश्यित, उपपातकी जाति श्रंशकर, संकरीकरण, भपात्रीकरण, मलावह, इस क्रम से प्रायश्यित विधान होना चाहिए, किन्तु इसमें अत्यधिक विश्वं खलता है भीर संसींगयों के लिए सबसे अन्त में फल-श्रिधान किया है। १२६ से १७६ ब्लोकों का बर्णन परिगणन क्रम के भाषार पर १२४ से पूर्व होना चाहिए था। फलकथन का प्रसंग इतना विश्वं खलित है कि परि-

गणनक्रम के मनुसार उसमें बहुत कम प्रायिक्त क्रमबद्धरूप से मिलते हैं। ५४ वें क्लोक से तो यह संकेत मिलता है कि केवल महापातिकयों का संसगं ही महापातक है, किन्तु संसगों का प्रयिक्त सभी ग्रपराधों के वाद टेकर सभी ग्रपराधियों के संसगें को पातक का रूप दे दिया है।

- (१६) स्त्री-वध को उपपातकों के ग्रन्तगंत माना है, श्रीर उसका प्रायश्चित्त महापातकों के समान महापातकों के प्रसंग में दिया है [६६, ८८]।
- (१७) ग्रसंतुलन का श्रत्यधिक श्राद्ययंपूर्ण उदाहरण १३१ वां क्लोक है, जिसमें शूद्र के जीवन को बिलाव, नेवला, मेंढक, कुत्ता, उल्लू श्रादि के समानस्तर का मानकर इन सबकी हत्या पर एक ही प्रायश्चित्त विहित किया है।
- (१८) एक अपराध का एक स्थान पर ही प्रायश्चित्त होन। चाहिए, किन्तु इस प्रसंग में एक ही अपराध का कई-कई स्थानों पर प्रायश्चित्त विहित है और वह भी भिन्न-भिन्न। जैसे—(क) सर्पहत्या को 'संकरीकरण' पाप मानकर १२५ वें में चान्द्रा— यणव्रत असका प्रायश्चित्त विहित है। पुनः १३३, १३६ में उससे भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है। (ख) घोड़ा, हाथी, भेड़, गधा आदि की हत्या का ६८, १२५ में भी प्रायश्चित्त है, और १३६ में भी। (ग) मद्य के साथ के पदार्थों के भक्षण का प्रायश्चित्त ७०, १२५ में भी है, और उससे भिन्न १४७—१४६ में भी। (घ) फल आदि की चोरी का प्रायश्चित्त ७०, १२५ में भी है, और उससे भिन्न १६५ में भी। इन सभी की गणना दो-दो बार पृथक्-पृथक् अपराधों के नाम से की गई है, जो किसी एक रचयिता द्वारा असम्भव है।
- (१६) १६० वें क्लोक में कहा है कि कृत्रक्त, शरणागत के हत्यारे यदि प्रायक्तित्त भी कर चुके हों तो भी इनके साथ व्यवहार न करे, जबकि इन दोनों ग्रय-रायों का पिछले पातकों में कहीं भी उल्लेख नहीं है।
- (२०) प्रायश्चित्तविधान प्रसंग में मनु की बौली में चार प्रसंग प्रारम्भ किये हैं, वे हैं—१२६-१४१ में हिंसाजन्य पापों का प्रायश्चित्त, १४६-१६० में ग्रमक्ष्यभक्षण का, १६१-१६० में चोरी का, १६६-१७० में ग्रगम्यागमन का प्रायश्चित्त कहा है, श्रीर इन चारों प्रसंगों की समाष्त्रि का संकेत १७६ में है, किन्तु ग्रपराधगणना प्रसंग में इस क्रम या नाम से इन प्रसंगों का परिगणन कहीं नहीं है।
- ३. प्रसंगिवरोध प्रायश्चित्त-विषयक प्रसंग का संकेत देने वाला दलोक ४४ वाँ है। इसमें स्पष्ट शब्दों में तीन बातों का संकेत दिया है—
  - (क) विहित कमों को न करने पर,
  - (ख) निन्दित कर्म करने पर, ग्रीर---
  - (ग) इन्द्रियविषयों में श्रासक्त होने पर श्रर्थात् श्रालस्य, कामवासना आदि में पड़ने से मनुष्य प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

उक्त क्लोकों में जो संकेत दिये हैं, ब्रियम प्रसंग में इनके ब्राघार पर वर्णन नहीं है; जबिक मनु की शैली के अनुसार संकेत-क्लोक के अनुसार ही अग्निम वर्णन होना चाहिए। अग्निम प्रसंग को व्यानसे देखने से वह दो भिन्न प्रसंगोंमें विभाजित हुआ प्रतीत होता है। पहला प्रसंग ५४ से १६० क्लोक तक है, और दूसरा १६१ से २०६ क्लोक तक। पहले प्रसंग की समाप्ति का संकेत १७६ में दिया है और फिर अपराधियों के संसर्ग करने वालों के लिए विधान है, और १८६-१६० में इस प्रथम प्रसंग का उपसंहार है।

अब यहां विचारणीय बात यह है कि जब अपराधों के प्रायक्ष्मित का एक प्रसंग समाप्त हो गया तो पुनः १६१ से प्रायक्ष्मित वर्णन प्रारम्भ करने का क्या तुक था? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह द्वितीय प्रसंग ही मौलिक है और प्रथम प्रसंग प्रक्षिप्त है। इसमें निम्न युक्तियां हैं—

- (१) प्रथम प्रसंग [४४-१६० तक] भ्रनेक श्राधारों पर अमौलिक और प्रक्षिप्त सिद्ध हो रहा है और शैली की दृष्टि से भी मनु-प्रोक्त नहीं लगता।
- (२) यह प्रथम प्रसंग संकेत श्लोक ४४ के प्रनुसार नहीं है। उसका प्रारम्भ भी मनु की शैली में नहीं है। मनु की शैली के प्रनुसार, पातकों की गणना से पूर्व उसको कहने का संकेत होना चाहिए था।
- (३) द्वितीय प्रसंग मनु के संकेत-क्लोक ४४ वें के प्रमुसार नहीं है। इस प्रसंग में १६१ वां क्लोक "अकुर्वन् विहितं कर्म" का दिग्दर्शन है। १६२-१६६ क्लोक "निन्दितं च समाचरन्" के और २०३ क्लोक "प्रसक्तक्चेन्द्रियार्थेषु" का दिग्दर्शन है। शेष सभी प्रपराधों का प्रायक्चित्त शक्ति और काल के ग्राधार पर करने के लिए संकेत करके [२०६] इस प्रसंग को संक्षेप में समाप्त कर दिया है।
- (४) १६२ वें श्लोक के शब्द इस बात को सिद्ध करते हैं कि मनु ने इस प्रसंग को संक्षेप में विणत करके समाप्त किया है, और ५४ से १६० श्लोकों के विस्तृत वर्णन का मौलिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस श्लोक में मनु ने सभी विकर्मस्थ (निन्दित या व्यवस्था-विश्द्ध कमें करने वाले) लोगों के लिए एक ही पद द्वारा—"प्रायश्चित्तं चिक्तोषंन्त विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः" कहकर सामान्य विधान कर दिया है। यदि मनु को एक-एक अपराध की गणना का और उसके विस्तृत प्रायचित्त वर्णन का अभीष्ट होता तो वे एक ही पद में सभी व्यक्तियों को और सभी निन्दित कर्मों को एक न समाद्वत नहीं करते। इस श्लोक से यही सिद्ध है कि प्रथम प्रसंग अमौलिक है और द्वितीय प्रसंग मौलिक है।

इस प्रकार प्रसंगिवरोध के ग्राधार पर यह प्रसंग ग्रसंगत सिद्ध होता है। प्रसंगानुसार १३ वें क्लोक के पक्षात् १६१ वां क्लोक होना चाहिए। बीच के ये सभी क्लोक ग्रप्तासंगिक हैं।

४. शैलीगत माबार - सम्पूर्ण प्रसंग में महापातक एवं उपपातक तथा अन्य

पातकों के विभाजन श्रीर उनकी दण्ड-व्यवस्था में श्रत्यधिक विश्व खलता तथा अस-तुलन-युक्त शैली है। इनका विभाजन भी किराधार है। इसी प्रकार इस प्रसंग की वर्णनशैली श्रतिशयोक्तिपूर्ण, निराधार श्रीर श्रयुक्तियुक्त है। मनु की शैली में ये बुटियाँ नहीं हैं। श्रतः यह प्रसंग प्रक्षिप्त है।

वात्यों का प्रायश्चित्त---

## येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविषि । तांद्रवारियत्वा त्रीन्कृच्छान्ययाविध्युपनाययेत्।।१६१॥ (६)

(येषां द्विजानां सावित्री) जिन द्विजों का यज्ञोपवीत संस्कार (यथा-विधि) उचित समय [इस संस्करण में २।११-१३] पर (न + म्रनूच्येत) नहीं हुम्रा हो, (तान्) उनको (त्रीन् कृच्छ्रान् चारियत्वा) तीन कृच्छ् व्रत [११।२१२] कराके (यथाविधि + उपनाययेत्) विधिपूर्वक उनका उपनयन संस्कार कर देना चाहिए।।१६१।।

निन्दित कर्म करने वालों का प्रायश्चित्त --

प्रायिक्चतं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः । ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १६२ ॥ (७)

(विकर्मस्थाः तु ये द्विजाः) स्रपने घामिक कर्त्तव्यों का त्याग कर देने सौर निन्दित कर्म करने पर जो उपनयनयुक्त द्विज (प्रायदिचत्तं चिकी- घंन्ति) प्रायदिचत्तं करके स्रपने को शुद्ध करना चाहते हैं (च) सौर (ब्रह्मणा परित्यक्ताः) वेदादि के त्यागने पर जो प्रायदिचत्तं करके शुद्ध होना चाहते हैं (तेषाम् म प्राप् + एतत् + स्रादिशेत्) उन्हें भी पूर्वोक्तं व्रत [११। १६१] करने को कहें।। १६२।।

ा ि जनस्

**्यर**ः

कार र विनिष्य

आंतप्रह, प्रात्या का याजन श्राांद्र (यत् धनम् + श्रर्जयन्ति) जो धन इकट्ठा करते हैं (तस्य उत्सर्गेग्) उस धन के लौटाने, (च) और उसके बाद (तपसा जप्येन एव शुद्ध-धन्ति) तप और जप [११। १६४-१६६] करने से शुद्ध होते हैं ।। १६३ ।।

जपित्वा त्रीणि स।वित्र्याः सहस्रारिः समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीरवा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १६४ ॥

ब्राह्मण (समाहितः) एकाग्र होकर (त्रीणि सहस्राणि सावित्र्याः जिपत्वा) तीन हजार गायत्री मन्त्र जपकर, ग्रीर (गोष्ठे मासं पयः पीत्वा) गोशाला में रहते हुए एक

मास तक गौ के दूध पर रहकर (ग्रसत् प्रतिग्रहात् मुच्यते) निन्दित दान लेने के अपराध मे मुक्त होता है।। १६४।।

> उपवासकृशं तं तु गोवजात्पुनरागतम्। प्ररागतंत्रति पृच्वेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ?।। १६४॥

(उपवासकृशं गोवजात् पुनः + म्रागतम्) केवल दूध लेने के उपवास से दुर्बल हुए, गोशाला से वापस लौटे, (तं प्रणतं प्रति पृच्छेयुः) उस प्रायश्चित्तकत्ति विनम्न बाह्मण से ग्रन्य बाह्मण पूछें कि ('सौम्य ! कि साम्यम् + इच्छिसि' इति) 'हे सौम्य ! क्या हम लागों के समान होना चाहते हो ?'॥ १६५॥

#### सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेश्चयसं गवाम् । गोमिः प्रवितिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १६६ ॥

(विशेषु सत्यम् + उक्त्वा तु) वह प्रायश्चित्त करके लौटने वाला ब्राह्मण उनके प्रश्न के उत्तर में 'हां मैं भागे निन्दित उपायों से धनसंग्रह नहीं करूं गा' इस प्रकार सत्य प्रतिज्ञा करके, फिर (गवां यवसं विकिरेत्) गौश्रों के आगे चारा डाले, ब्राह्मण फिर (गोभिः प्रवितिते तीर्थे तस्य परिग्रहं कुर्युः) गौश्रों के बैठने के स्थान या भ्राने-जाने के मार्ग पर उसका पुनः ग्रहण [ = जाति में मिलाना] करें ॥ १६६॥

आनुर्योट्डन: ये चार (१०।१६३—१६६) व्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

/१. प्रसंगिष-(१) १०। १६१ वें इलोक में यज्ञोपवीत-संस्कार से हीन दिजों के लिए तीन कुच्छू वर्तों का विधान प्रायदिचत्तरूप में किया है। ग्रीर १६२ वें इलोक में भी 'एतवादिज्ञेत्' कहकर उन्हीं का संकेत किया है। केवल ब्राह्मण की शुद्धि के उपायों का कथन प्रसंगिवरुद्ध है। (२) १६२ से सभी व्यक्तियों के सभी विकर्मों या कर्मों के प्रपालन का कथन हो गया है। ग्रतः यहां ब्राह्मण के कर्मों की गणना की

तथा वैश्य तीनों वणों का ग्रहण होता है, और द्विजों के प्रायश्चित्त से ब्राह्मण, क्षात्रय तथा वैश्य तीनों वणों का ग्रहण होता है, और द्विजों के प्रायश्चित्त से ब्राह्मण का भी प्रायश्चित्त हो जाता है, तो पृथक् से ब्राह्मण के लिए एक नवीन विधान करना मौलिक नहीं कहा जा सकता। भीर ब्राह्मण के लिए यदि पृथक् व्यवस्था की गई है, तो फिर क्रम से क्षत्रियादि के लिए भी पृथक् व्यवस्था होनी चाहिये थी। श्रीर यदि पृथक् वणों के लिए मनु को प्रायश्चित्त विधान श्रभीष्ट होता तो द्विजों की सामान्य व्यवस्था किस के लिए होगी? यदि ब्राह्मण [१६३] जप, तप से खुद्ध हो जाता है तो क्रच्छ्रव्रतों की ब्राह्मण के लिए ग्रावश्यकता नहीं है? ग्रतः ये दोनों विधान परस्पर समन्वय के बिना विरोधी हो जायोंगे।

- ३. पुनवस्त मनु ने ११।२२५ २२६ श्लोकों में गायत्री म्रादि मन्त्रों के जय से दिजों की शुद्धि मानी है। श्रीर २२७ में तप म्रादि साधन भी लिखे हैं। फिर यहां ब्राह्मण के लिए [१६३—१६४] जप, तप से शुद्धि का विधान पुनव्कत होने से मान्य नहीं हो सकता। श्रीर जप-तप से भिन्न यज्ञ करना, म्राहिसादि का पालन करना [२२२] म्रपने दोष को कहने श्रीर वेदाम्यासादि करना [२२७], क्या ब्राह्मण के लिए इनकी ग्रावश्यकता नहीं है? ग्रतः द्विजों के प्रायश्चित्त से ब्राह्मण का पृथक् प्रायश्चित्त विधान पुनव्कत एवं पक्षपातपूर्ण है।
- ४. शैलीविरोध—१६४ वें में कहा है कि ब्राह्मण प्रायिश्वत के लिए गोशाला में जाकर एक मास तक दूध पीये, ग्रीर १६६ में कहा है कि गायों के ग्राने-जाने का स्थान तीर्थ होता है, वहां जाकर ब्राह्मण की शुद्धि होती है। इस प्रकार की ग्रयुक्तियुक्त एवं पक्षपातपूर्ण बार्ते मनुप्रोक्त कदापि नहीं हो सकतीं। गाय के दूध में बहुत गुण हैं, ग्रीर गायों की सेवा करना उत्तम कार्य है, परन्तु गायें जिस स्थान पर बैठती हैं, अथवा जिस स्थान से ग्राती-जाती हैं, उस स्थान को तीर्थ = शुद्धि का स्थान मानना पौराणिक कल्पना होने से मिथ्या है।

ग्रन्य विविध प्रायश्चित्त-

वात्यानां याजनं कृत्वा परेवामन्त्यकमं च। व्यक्तिचारमहीनं च त्रिमिः कृच्युं व्यंपोहति ॥ १६७॥

(वात्यानां याजनम्) वात्यों का यज्ञ, (परेषाम् + ग्रन्त्यकर्म) परायों अर्थात् अन्त्यजों का ग्रन्त्येष्टि कर्म, (ग्रिभिचारं च अहीनं कृत्वा) मारण, मोहन, उच्चा-टन ग्रादि ग्रिभिचारं कर्म, ग्रीर 'ग्रहीन' नामक यज्ञ करके (त्रिभिः कृच्छ्रः व्यपोहिति) तीन कृच्छ्र वर्तो [११। २११] से शुद्ध होता है। १९७।।

शरागागतं परित्यज्य वेदं विष्लान्य च द्विजः । संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेवति ॥ १६८ ॥

(शरणागतं परित्यज्य) शरणागत का त्याग करके (च) भ्रौर (वेदं विष्लाव्य) वेद पढ़ने के भ्रनिवकारी को वेद पढ़ाकर (संवत्सरं यवाहारः) एक वर्ष तक जौ का भोजन करने पर (तत् पापम् — भ्रपसेवित) उस पाप को दूर करता है ॥ १६ - ॥

> इवन्प्रगालसर्रेर्वेष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च । नराइवोष्ट्रवराहैइच प्राएगयामेन शुष्यति ॥ १६६ ॥

(श्व-शृगाल-खरै: ग्राम्यै: क्रव्याद्भि: नर-ग्रश्व-उष्ट्र-वराहै: च दष्टः) कुत्ता, गीदड़, गंघा, गांव के मांसभक्षी पशु बिल्ली ग्रादि, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट ग्रीर सूग्नर के काटने पर (प्राणायामेन शुद्धघति) मनुष्य प्राणायाम करने से शुद्ध हो जाता है ॥१६६॥

#### वच्छान्नकालता मासं संहिताजप एव वा। होमाश्च सकला निरयमपाङ्क्तघानां विशोधनम् ॥ २००॥

(ग्रपाङ्क्त्यानां विशोधनम्) पंक्तिबाह्य [३।१५०-१६६] मनुष्यों की शुद्धि (मासं षष्ठ-ग्रन्न-कालता) एक मास तक छठे जून = मोजन समयःभोजन करने से (वा) ग्रथवा (संहित जपः) एक संहिता का जप करने से (च) ग्रौर (नित्यं सकलाः होमाः) प्रतिदिन सभी पञ्चयत्रों के करने से होती है ॥ २००॥

उष्द्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः। स्नात्वा तु वित्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुष्यति ।। २०१॥

(विप्रः) द्विज (कामतः) इच्छापूर्वेक (खरयानम्) गधा-गाड़ी (च) ग्रीर (उष्ट्र-यानं सभारुह्य) ऊंटगाडी पर चढ़कर, ग्रीर (दिग्वासाः स्नात्वा) नंगे होकर स्नान करके (प्राणायामेन शुद्धघति) प्राणायाम करने से शुद्ध होता है ॥ २०१॥

> विनाद्भिरप्सु वाप्यातंः शारीरं सन्निवेश्य च । सर्चेलो बहिराप्लुस्य गामालम्य विशुष्यति ॥२०२॥

(आर्तः) रोगी मनुष्य (विना + अद्भिः वा प्रप्सु प्रिप्) जल के बिना प्रथवा जल में (शारीरं सन्निवेश्य) शरीर से उत्पन्न मल-मूत्र करके (बिहः सर्चैलः प्राप्लुत्य) गांव से बाहर वस्त्रसिहत स्नान करके (गाम् + आलम्य विशुद्धधित) गौ का स्पर्श करने से शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

अप्रन्य कारी त्जन्यः १६७ से २०२ इलोक प्रसंगविरोध, विषयविरोध, ग्रन्त-विरोध एवं शैलीगत ग्राधार पर प्रक्षिप्त हैं। इनकी समीक्षा ११।२०४--२०८ इलोकों पर एकत्र रूप में वेखिये।

वेटोक्त कर्मों के स्याग का प्रायश्चित्त-

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समितक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३॥ (८)

(वेदोक्तानां नित्यानां कर्मणां समितिक्रमे) वेदोक्त नैतियक [म्रिग्निहोत्र, संघ्योगासन म्रादि] कर्मों के न करने पर (च) म्रीर (स्नातकन्नत-लोपे) ब्रह्मचर्यावस्था में व्रतों [भिक्षाचरण म्रादि] के न करने पर (म्रभो-जनं प्रायश्चित्तम्) एक दिन उपवास रखना ही प्रायश्चित्त है।। २०३।।

आनुशिक्जः तुलनार्थं द्रष्टव्य है २।१६५ [२ ।२२०] क्लोक। बाह्मण को फटकारने ग्रीर मारने पर प्रायक्ष्वित्त—

> हुक्कारं बाह्यसम्बोक्तवा स्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनक्तन्नहः शेवमिनवाच प्रसावयेत् ॥ २०४॥

(ब्राह्मणस्य हुङ्कारं उक्त्वा) ब्राह्मण को 'हूँ ऊं ऊं .....'बाव्दोच्चारण से फटकार कर, (गरीयसः त्वम्-कारम्) बड़ों को 'तू' कहकर (स्नात्वा) स्नान करके (शेषम् ग्रहः ग्रनश्न्) शेष दिन में बिना खाये रहे ग्रीर (ग्रिभवाद्य प्रसादयेत्) उन्हें अभिवादनपूर्वक प्रसन्न करे।। २०४।।

#### ताडियत्वा तृरोनापि कण्ठे वाऽऽबच्य वाससा । विवादे वा विनिजित्य प्रशिपत्य प्रसादयेतु ॥ २०५॥

(तृणेन + म्रपि ताडियत्वा) ब्राह्म एको िम्न वर्णस्थ द्विज तिनके से भी मार-कर (वा) या (कण्ठे वाससा + म्राबध्य) गले में करड़ा डाल खींचकर (वा) म्रथवा (विवादे विनिजित्य) विवाद में जीतकर (प्रणिपस्य प्रसादयेत्) उसके चरणों में नम-स्कार करके प्रसन्न करे॥ २०४॥

### स्रवपूर्य स्वब्दशतं सहस्रमित्रहस्य च। जिद्यासया बाह्यसम्बद्धाः नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६॥

मनुष्य (ब्राह्मणस्य जिघांसया) ब्राह्मण को मारनेकी इच्छा सं (श्रवपूर्य + तु अब्दशतम्) दंडा उठाकर सौ वर्ष तक (च) ग्रीर (अभिहत्य सहस्रम्) दंडा मारकर एक हजार वर्ष तक (नरकं प्रतिपद्यते) नरक में पड़ा रहता है ॥ २०६ ॥

> शोिएतं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले । ताबन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेतृ ॥ २०७॥

(शोणितम्) मारने पर ब्राह्मण के शरीर से निकला हुम्रा खून (महीतले) धरती पर पड़कर (यावतः पांसून् संग्रह्माति) जितने घूलिकणों को गीला करता है (तावन्ती + अब्दसहस्राणि) जतने ही हजार वर्ष तक (तत्कक्ता नरके वसेत्) मारने वाला नरक में रहता है।। २०७।।

> प्रवर्ष्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रो कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोशितम् ॥ २०८॥

(विप्रस्य भवगूर्य) ब्राह्मण को मारने की इच्छा से दण्डा उठाकर (कृच्छ चरेत्) कृच्छ वर्त [११।२११] करे, (निपातने भ्रतिकृच्छम्) मारने पर स्रतिकृच्छ द्वत [११। १२३] करे, और (शोणितम् उत्पाद्य कृच्छ-प्रतिकृच्छ्रौ कुर्वीत) रक्त बहाकर कृच्छ श्रीर श्रतिकृच्छ दोनों वर्त करे।। २०६।।

आनु शिल्डन : ११। २०४ से २०८ तक के इलोक निम्न प्राधारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

१. प्रसंगिवरोष — संकेत क्लोक ११। ४४ के अनुसार इस प्रसंग के १६१-१६२, २०३ क्लोक ही मौलिक एवं प्रासंगिक सिद्ध होते हैं, शेष अप्रासंगिक हैं। [देखिए ५४ से १६० क्लोकों पर प्रसंगिवरुद्ध समीक्षा]।

- २. विषयविरोध—इस प्रसंग के १६८, १६६-२०२, २०४ इलोकों के वर्णन ४४ इलोक में निर्दिष्ट विषय के अनुरूप न तो पाप हैं ग्रीर न पापरूप में पूर्वविणित हैं। ग्रतः विषयान हड़ होने से ये इलोक प्रक्षिष्त हैं।
- ३. ग्रन्तिवरोध—(१) १६८-२०२, २०४, २०४,-२०७ क्लोकों में विधियाँ २१० से २२६ क्लोकों के ग्रन्दर वर्णित विधियों से भिन्न हैं, ग्रतः यह विरुद्ध वर्णन है। (२) २०५ से २०८ के प्रसंग में नरक का वर्णन मनु-विरुद्ध है। नरक की मान्यता मनु-सम्मत नहीं है [देखिए ४। ८७-६१ क्लोकों पर समीक्षा]।
- ४. शैलीगत आघार—२०२ की रूढ शैली है, २०५–२०८ की शैली पक्षपात-पूर्ण, अयुक्तियुक्त एवं निराधार स्रतिशयोक्तिपूर्ण है। मनु की शैली में ये त्रुटियां नहीं हैं। अविह्नित कर्मों के लिए प्रायदिचत्त-निर्णय—

# अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये। शक्ति चावेक्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०६॥ (६)

(स्रनुक्तिनिष्कृतीनां तुपापानाम्) जिनका प्रायदिचत्त नहीं कहा है ऐसे अपराधों के (अपनुत्तये) दोष को दूर करने के लिए (शक्तिं च पापम् अवेक्ष्य) प्रायदिचत्तकर्ता की शक्ति स्रीर स्रपराध को देखकर (प्रायदिचत्तं प्रकल्पयेत्) प्रायदिचत्त का निर्णय कर लेना चाहिए।। २०१।।

प्रायश्चित्तों का परिचय-वर्णन-

# यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति । तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि दैविषिपितृसेवितान् ॥२१०॥ (१०)

(मानवः) मनुष्य (यै: +ग्रम्युपायैः) जिन उपायों से (एनांसि व्यप-कषंति) पापों =अपराधों को [पापफलों को नहीं] दूर करता है, ग्रब मैं (देव-ऋषि-पितृ-सेवितान्) विद्वानों, ऋषियों =तत्त्वज्ञानियों ग्रीर पिता ग्रादि वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा सेवित (तान् ग्रम्युपायान् वः वक्ष्यामि) उन उपायों को तुमसे कहूँगा—॥ २१०॥

अन्य क्यी ट्यन्तः (१) मनु ने यहां देव = विद्वानों, ऋषियों, पितरों द्वारा सेवित-विहित प्रायदिचत्तों का विधान किया है [११।२११-२२४] मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर देव-ऋषि-पितरों की मान्यताओं का उल्लेख आता है [२।१२६-१३१ (२।१५१-१५६) आदि]। परम्परागतरूप में ये प्रचलित रहे हैं। देव-ऋषि-पितर शब्दों के अर्थ को समभने के लिए विशेष विवेचन ३।६१-६२ पर देखिए।

(२) 'एनः' के म्रर्थं पर २।२ [२।२७] के म्रनुशीलन में प्रकाश डाला गया है। वहां द्रष्टव्य है।

- (३) यह व्रतों के प्रसंग को प्रारम्भ करने का कथन करने के लिए प्रसंग-संकेतक क्लोक है।
- (४) व्रतों से पाप-फल की निवृत्ति नहीं अपितु पापकर्म ग्रयति पापभावना नष्ट होती है। देखिए सप्रमाण ग्रनुशीलन–११। २२७ पर।

प्राजापत्य व्रत की विधि---

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् । त्र्यहं परं च नावनीयात्त्र्याजापत्यं चरन्द्विजः ॥२११॥ (११)

(प्राजापत्यं चरन् द्विजः) 'प्राजापत्य' नामक व्रत का पालन करने वाला द्विज (त्रि + ग्रहं प्रातः) पहले तीन दिन प्रातःकाल ही, (त्रि + ग्रहं सायम्) फिर तीन दिन केवल सांयकाल, (त्रि + ग्रहम् श्रयाचितम् ग्रद्यात्) उसके पश्चात् तीन दिन बिना मांगे जो मिले उसका ही भोजन करे (च) श्रौर (परंत्रि + ग्रहं न श्रश्नीयात्) उसके बाद फिर तीन दिन उपवास रखे। [यह प्राजापत्य व्रत है] ॥ २११॥

असन्तु श्री ट्यन्त : योगदर्शन में 'कृष्ट्र' म्रादि वतों का उद्देश्य—मनु-स्मृति में चित्त की प्रशुद्धि को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है। इसकी पुष्टि योगदर्शन और उसके व्यासभाष्य में की गई है—"कायेन्द्रियसिद्धरशुद्धि-क्षयात्तपसः" प्रयात् तप के द्वारा शरीर और इन्द्रियों की प्रशुद्धि दूर होकर शरीर रोगरहित और चित्त प्रादि इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं [२।४३]।

२। ३२ सूत्र के भाष्य में तप की व्याख्या में कुच्छु, चान्द्रायण आदि व्रतों को भी परिगणित किया है— "व्रतानि चैषां यथायोगं कुच्छ-चान्द्रायण-सान्तपनादीनि।" ग्रयीत् तप के ग्रन्तर्गत कुच्छ्वत, चान्द्रायणवत, सान्तपनव्रत ग्रादि व्रत भी ग्राते हैं। इनका शरीर की ग्रनुकूलता के ग्रनुसार पालन करना चाहिए। इस प्रकार व्रतों से मानसिक पाप की ग्रशुद्धि सीण होती है।

कृच्छ सान्तपन व्रत की विधि-

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दिध सिपः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासक्च कृच्छ्नं सांतपनं स्मृतम्॥ २१२॥ (१२)

क्रमशः एक-एक दिन (गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दिधः सिंपः कुश + उद-कम्) गोमूत्र, गोबर का रस, गोदूध, गौ के दूध का दही, गोघृत श्रीर कुशा =दर्भ से उबला जल, इनका भोजन करे (च) श्रीर (एकरात्र + उपवासः) फिर एक दिन-रात का उपवास रखे, यह (कृच्छ्रं-सांतपनं स्मृतम्) 'कृच्छ्रं सांतपन' नामक वृत है।। २१२।। ग्रतिकृच्छ व्रत की विधि—

एकेकं ग्रासमञ्जीयात्त्र्यहाणि त्रीिंग पूर्ववत् । त्र्यहं चोपवसेवन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥ (१३)

(ग्रतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः) 'ग्रतिकृच्छ्र' नामक वत को करने वाला द्विज (पूर्ववत्) पूर्व विधि [११। २११] के अनुसार (त्रि + ग्रहाणि त्रीणि) तीन दिन केवल प्रातःकाल, तीन दिन केवल सायंकाल, तीन दिन विना मांगे प्राप्त हुपा (एक-एकं ग्रासम् + ग्रहनीयात्) एक-एक ग्रास भोजन करे (ग्रन्त्यं त्रि + ग्रहं च + उपवसेत्) श्रीर अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। [यह 'ग्रतिकृच्छ्र' वत है]।। २१३।।

तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि-

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्। प्रतित्र्यहं पिबेद्रष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः॥ २१४॥ (१४)

(तप्तकृच्छ्नं चरन् विप्रः) 'तप्तकृच्छ्नं व्रत को करने वाला द्विज (उष्णान् जल-क्षीर-घृत-प्रनिलान् प्रतित्र्यहं पिबेत्) गर्म पानी, गर्मदूध, गर्म घो ग्रीर वायु प्रत्येक को तीन-तीन दिन पीकर रहे, ग्रीर (सकृत्स्नायी) एक बार स्नान करे, तथा (समाहितः) एकाग्रचित्त रहे।। २१४।।

अर्ज्य करीटिंड न्यः इस क्लोक में 'वायु पीना' एक मुहावरा है जिसको आजकल 'हवा के सहारे जीना' रूप में भी प्रयोग करते हैं इसका अर्थ— 'बिना कुछ खाये पीये रहना' है अर्थात् अन्तिम तीन दिन बिना कुछ खाये-पीये रहे।

पराककृच्छ वा की विधि—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वावशाहमभोजनम् । पराको नाम कुच्छोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

(यतात्मनः + श्रप्रमत्तस्य) 'जितेन्द्रिय श्रीर सावधानीपूर्वक रहते हुए (द्वादश श्रहम् + श्रभोजनम्) बारह दिन तक भोजन न करना' (श्रय पराकः नाम कृच्छ्रः) यह 'पराक नामक कृच्छ्रवत है, (सर्वपाप श्रपनोदनः) यह सब पापों के संस्कारों की शुद्धि करने वाला है।। २१४।।

अनुर्यो ल्डन्सः यह (११।२१५ वाँ) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त है—

१. प्रसंगविरोध — ११।१६१ वें क्लोक में तीन कुच्छ, व्रतों का निर्देश किया है। ग्रीर उनका विधान २१२ से २१४ क्लोकों में किया गया है। ग्रीर २१५ वें क्लोक में उनसे भिन्न-पराक कुच्छ, व्रत का विधान किया है, यह पूर्वोक्त निर्देश से संगत नहीं है। और पूर्वोक्त कृच्छ वर्तों से इस पराक कृच्छ में समानता भी नहीं है। क्योंकि उन वर्तों में बिल्कुल भोजन का परित्याग नहीं किया है, किन्तु इसमें निरन्तर १२ दिन के भोजन का निषेध करना ग्रव्यायहारिक है। प्रायश्चित्त का ग्रभिप्राय या उद्देश्य विशुद्धि है, जीवन समाप्त करना नहीं। ग्रतः तीन कृच्छों से भिन्न, ग्रसंगत, उनसे भिन्न प्रकार का तथाप्रायश्चित्तके उद्देश्य से हीन होने से पराककृच्छ मनुप्रोक्त नहीं है।

२. ग्रन्तिंवरोध — प्रायिश्वत्त का उद्देश्य संस्कारों को शुद्ध करना श्रीर भिवष्य में फिर उस त्रृटि को न करना है, पापों को समाप्त करना नहीं है। क्योंकि मनु की मान्यता यह है कि कृत पापों का फल ग्रवश्य मिलता है। किन्तु इस श्लोक में कहा है कि 'पराककु च्छ्र' वत से सब पापों का नाश होता है। यह कथन मनुप्रोक्त नहीं हो सकता। ग्रीर यह बात प्रायश्चित के उद्देश्य से भिन्त होने से मान्य नहीं हो सकती।

चान्द्रायण व्रत की विधि-

## एकैकं ह्रासयेरियण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । उपस्कृशंस्त्रिषवरणमेतच्चान्द्रायरणं स्मृतम् ॥२१६॥ (१४)

[पूर्णिमा के दिन पूरे दिन में १५ ग्रास भोजन करके किर] (कृष्णे एक-एकं पिण्डं हासयेत्) कृष्णपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन प्रतिदिन कम करता जाये, [इम प्रकार करने हुए ग्रमावस्या को पूर्ण उपवास रहेगा, किर शुक्लपक्ष-प्रतिपदा को पूरे दिन में एक ग्रास भोजन करके] (शुक्ले वर्षयेत्) शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन पूरे दिन में बढ़ाता जाये, इस प्रकार करते हुए (त्रिषवणम् + उपस्पृशन) तीन समय स्नान करे, (एतत् चान्द्रा-यणं स्मृतम्) यह 'चान्द्रायणं त्रत कहाता है।। २१६।।

यवमध्यम चान्द्रायणवृत की विधि-

## एतमेव विधि कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतञ्चरंत्रचान्द्रायएां व्रतम् ॥ २१७ ॥ (१६)

(यवमध्यमे) यवमध्यम विधि में ग्रथांत् जैसे जो मध्य में मोटा होता है, ग्रागे-पीछे पतला; इस विधि के फ्रनुसार (चान्द्रायण चरन) 'यवमध्यम चान्द्रायण वत' करते हुए, व्यक्ति (शुक्ल-पक्ष-ग्रादि-नियतः) शुक्लपक्ष को पहले करके (एतम् +एव कृत्स्नं विधिम्) इसी पूर्वोक्त [११। २१६] सम्पूर्ण विधि को (ग्राचरेत्) करे ग्रथांत् शुक्लपक्ष से प्रारम्भ करके प्रथम दिन से एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाता जाये, पूणिमा को पूर्ण भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष के प्रथम दिन से एक-एक ग्रास घटाता जाये ग्रीर ग्रमावस्या के दिन निराहार रहे।। २१७।।

यति चान्द्रायण वृत की विधि-

#### म्रव्टावक्टौ समझ्नीयात्पिण्डान्मध्यंविने स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायसं चरन् ॥ २१८ ॥

(यतिचान्द्रायणं व्रतं चरन्) 'यतिचान्द्रायण' व्रत को करने वाला व्यक्ति (नियतात्मा) जितेन्द्रिय रहकर, (हविष्याशी) हविष्य भोजन करता हुम्रा (मध्यदिने म्रप्टो + म्रप्टो पिण्डान् समश्नीयात्) मध्याह्म काल में [एक मास तक] म्राठ-म्राठ ग्रास भोजन किया करे।। २१८॥

शिशुचान्द्रायण वत की विधि---

चतुरः प्रातरवनीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः। चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतस्।। २१६ ॥

(विप्रः) द्विज (समाहितः) व्रत में सावधान रहता हुम्रा (चतुरः पिण्डान् प्रातः अश्नीयात्) चार ग्रास प्रातःकाल खाये, भौर (चतुरः सूर्ये ग्रस्तमिते) चार सूर्यास्त होने पर सायंकाल को खाये, (शिशुचान्द्रायणं स्मृतम्) यह शिशुचान्द्रायणं व्रत है ॥ २१६ ॥

आनुर्रोट्डनः ये दो (११।२१८–२१६) श्लोक निम्नलिखित कारणों से प्रक्षिप्त हैं—

१. अन्तिविरोध — इन दोनों इलोकों में चान्द्रायण व्रत से भिन्न बात कही है। चान्द्रायण व्रत में चन्द्र के न्यून व पूर्ण होने की भौति भोजन की न्यूनाधिक मात्र होती है। जैसे-जैसे चन्द्रमा घटता-बढ़ता है, वैसे-वैसे भोजन भी न्यूनाधिक करना होता है। किन्तु यहाँ उससे प्रसंबद्ध बात कही गयी है कि मध्याह्न में ग्राठ-ग्राठ ग्रास खावे ग्रथवा प्रातः सायं चार-चार ग्रास खावे। श्रीर दिन में प्रातः, सायं आदि समयों से चन्द्र का कोई सम्पर्क नहीं होता, अतः इन्हें चान्द्रायण कहना भी उचित नहीं। परवर्ती किसी प्रक्षेपक ने इन्हें नामसाम्य से ही मिलाया है।

ययाकयंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः। मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्येति सलोकताम्।। २२०।।

द्विज (समाहितः) एकाग्र रहकर (यथाकथंचित्) जैसे भी हो सके उसी प्रयस्त को करके (मासेन हिवध्यस्य पिण्डानां तिस्रः ग्रशीतीः ग्रश्नन्) एक मास में तीन ग्रस्सी ग्रथित्  $\sim \times$  ३ = २४० ग्रास ग्रथित् प्रतिदिन ग्राठ ग्रास खाकर यदि रहता है वह (चन्द्रस्य सलोकताम् एति) चन्द्रस्लोक को प्राप्त कर लेता है ॥ २२०॥

एतद्रुद्वास्तथावित्या वसवश्चाचरन्वतम् । राजाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिमिः ॥ २२१ ॥

(हद्राः ग्रादिर मः वसवः महतः महर्षिभिः) हद्रों, ग्रादित्यों, वसुओं तथा महती

ने महर्षियों के साथ (एतत् वृतं सर्व-प्रकुशलमोक्षाय ग्राचरन्) यह वृत सब पापों के नाश के लिए किया था।। २२१।।

# **अन्तुर्व्योत्जन्मः** २२०-२२१ वलोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त हैं-

१. ग्रन्तिवरोध—(१) क्लोक २२६ से यह स्पष्ट है कि ये प्रायश्चित्त की विधियाँ ग्रपराघों की शुद्धि के लिए हैं न कि परलोकीय स्थितियों की प्राप्ति के लिए। इन क्लोकों में 'चन्द्रलोक की प्राप्ति के उद्देश्य का कथन मनु से भिन्न उद्देश्य है ग्रौर २२६ वें क्लोक के उद्देश्य संकेत के भी विश्व है। (२) ग्रौर फिर, पुनर्जन्म या मुक्ति के ग्रातिरिक्त मनु के मत में ग्रन्य कोई लोक या स्थितिविशेष नहीं है, जहाँ मरकर जीव जायें। मनु ने सारी मनुस्मृति में यही दो स्थितियाँ मानी हैं। चन्द्रलोक की कल्पना मनुविश्व है। २२१ वाँ क्लोक इससे सम्बद्ध है, ग्रतः साथ ही वह भी प्रक्षिप्त है।

व्रत-पालन के समय यज्ञ करें---

# महाव्याहृतिभिर्होनः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् । स्रहितासत्यमकोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥ (१७)

प्रायश्चित्तकाल में (ग्रन्वहम्) प्रतिदिन (स्वयम्)प्रायश्चित्तकर्त्ता को स्वयं (महाव्याहृतिभिः होनः कर्त्तव्यः) महाव्याहृतियों [भूः, भुवः, स्वः ग्रादियुक्त मन्त्रों से ] हवन करना चाहिए (च) ग्रीर (ग्रहिसा-सत्यम्- ग्रक्रोध-ग्राजंवं मनाचरेत्) ग्रहिसा, सत्य, क्रोधरहित रहना, कृटिलता न करना, इन बातों का पालन करे।। २२२।।

अर्जुर्शिट्डन् : महाव्याहृतियुक्त होममन्त्र—महाव्याहृतियों से युक्त कुछ प्रसिद्ध मन्त्र निम्न हैं, जो यज्ञ में ग्राज भी ग्राहृतिदान के लिए प्रयुक्त होते हैं—

(क) ग्रग्निप्रज्वलित करने का मन्त्र --

भी मूर्भुवः स्वर्धौरिव मून्ना पृथिवीव वरिम्ला। तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायावधे।। यजु० ३।४।।

(ख) घृताहुति मन्त्र---

भ्रों मूरग्नये स्वाहा । इदमग्नये-इदं न मम ।।१।। भ्रों भुवर्वायवे स्वाहा । इदं वायवे-इदं न मम ।।२।। भ्रों स्वरादित्याय स्वाहा । इदमादित्याय-इदं न मम ।।३॥ भ्रों मूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः इदं न मम ।।४॥ (सं० वि० सामान्यप्रकरण)।

(ग) अन्य हैं ऋक्० ६।६६।१६—२१॥१०।१२१।१०॥ स्रौर 'गायत्री मन्त्र' [क्लोक २।५३ (२।७८) की समीक्षा में उद्धत] स्रादि।

### त्रिरहस्त्रिनिशायां च सर्वासां जलमाविशेत्। स्त्रीशुद्रपतिसांद्रचैव नामिमावेत कहिंचित्।। २२३।।

(तिः + ग्रहः च त्रिः निशायाम्) तीन बार दिन में भौर तीन बार रात में (सवासा स्नानम् + ग्राचरेत्) वस्त्रसहित स्नान करे (च) भौर (स्त्री-शूद्र-पतितान् एव कहिंचित् न + ग्राभभाषेत) स्त्री; शूद्र भौर पतितों से कभी बातचीत न करे ॥ २२३ ॥

स्यानासनाम्यां विहरेदशक्तोऽघः शयीत वा।

# बह्मचारी व्रती च स्याद् गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४॥

तथा दिन-रात (स्थान-ग्रासनाम्यां विहरेत्) बैठा रहे या खड़ा रहे (वा) अथवा (ग्रशक्तः ग्रधः शयीत) ग्रशक्त होने पर भूमि पर लेट जाये, (और) (ब्रह्मचारी, व्रती, गुरु, देव-द्विज-प्रचंकः स्यात्) ब्रह्मचारी, व्रती रहे, गुरु, देव ग्रीर ब्राह्मणों की पूजा करे॥ २२४॥

**अनुशिल्डनः** २२३-२२४ इलोक निम्न श्राषारों के अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगविरोध—ये क्लोक पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं। २२२ वें क्लोक में सावित्रीपूर्वक यज्ञ करने का कथन है स्त्रीर २२४ वे में उसी बात को पूरा करते हुए कहा है कि 'सावित्री का जप भी करें'। बीच में उस प्रसंग को तोड़कर विभिन्न बातों का विधान अप्रासंगिक है।
- २. शैलीगत आधार—(१) २२४ वें श्लोक में 'च' शब्द का प्रयोग भी यह सिद्ध करता है कि इस श्लोक का सम्बन्ध २२२ वें से हैं। क्योंकि, वहाँ सावित्री के द्वारा होम का विधान है ग्रीर यहाँ 'सावित्रीं च जपेत्' उस ग्रयं की अनुवृत्तिपूर्वंक उसके जाप का विधान है। (२) २२३ वें श्लोक की शैली पक्षपातपूर्ण है, इसमें ऊँच-नीच भावना के ग्राधार पर स्त्री, शूद्र आदि से बात न करने का वर्णन है। मनु की शैली में यह त्रुटि नहीं है।
- ३. धन्तिवरोध स्त्री, शूद्र ग्रादि को ग्रपित मानकर उनके साथ प्रायिक्त काल में बात न करने का विधान स्पष्टत: परवर्ती प्रक्षेप है। यह उस समय का प्रक्षेप है जब इन्हें हीन और ग्रपित माना जाने लगा। मनु ने तो स्त्री ग्रीर शूद्र को सेवा का कार्य सीपा है ग्रीर उस रूप में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के साथ सम्बन्ध रहता है। अतः मनु की व्यवस्था के ग्रनुसार ये हीन नहीं हैं। और, स्त्री को तो मनु ने पवित्र तथा प्रत्येक धर्मकार्य में सहभागिनी कहा है [६।११, २६, २८, ६६], फिर उसके साथ तो पृथकताया हीनता का प्रक्त ही नहीं ग्राता।

वत-पालन के समय गायत्री म्रादि का जप करें---

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्वेष्वेव त्रतेष्वेवं प्रायश्चितार्थमादृतः ॥२२५॥ (१८) प्रायश्चित्तकर्तां प्रायश्चित्तकाल में (नित्यम्) प्रतिदिन (शिक्ततः) शिक्त के ग्रनुसार ग्रिधिक से ग्रिधिक (सात्रित्रीं च पित्रत्राणि जपेत्) सात्रित्री = गायत्रीं मन्त्र ग्रीर 'पित्र करने की प्रार्थना' वाले मन्त्रों का जप करे, (एवम्) ऐसा करना (सर्वेषु + एव व्रतेषु) सभी व्रतों में (प्राय-श्चित्तार्थम् + ग्राहनः) प्रायश्चित्त के लिए उत्तम माना गया है ॥ २२५॥

अर्जुर्शोत्डनाः (१) पवित्रताकारक मन्त्र---मन को दुर्गुणों से हटा-कर पवित्र करने की भावना वाले कुछ मन्त्र निम्न हैं---

### (क) ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रन्तन्त म्रा सुव।। यजु०३०। ३।।

अर्थं—''हे (सिवतः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वयंयुक्त (देव) शुद्ध स्वरूप, सब सुक्षों के दाता परमेश्वर! ग्राप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यंसन ग्रीर दुःखों को (परा, सुव) दूर कर दीजिए (यत्) जो (भदम्) कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव ग्रीर पदार्थ हैं (तत्) वह सब हमको (ग्रा, सुव) प्राप्त कीजिए।" (सं० वि० ईश्वरस्तुति० प्रकरण)।

- (ख) शिवसंकल्पसूक्त के मन्त्र "**द्यों यग्जाग्रतो दूरमुदैति**०" श्रादि यजु० ३४। १–६॥
- (ग) गायत्री मन्त्र भ्रयंसहित [देखिए २।५३ (२। ७८) पर उद्धृत] इत्यादि 'दुर्गुंणों को दूर कर सद्गुणों को धारएा करने की भावना वाले' मन्त्रों का जप प्रायश्चित्त में करे। मानस पापों के प्रायश्चित्त की विधि—

एतेद्विजातयः शोध्या वर्तेराविष्कृतेनसः। ग्रनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रेहोंमेदच शोधयेत्।। २२६ (१६)

(म्राविष्कृत-एनसः द्विजातयः) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट हो गया है. ऐसे द्विजातियों को (एतैः व्रतः शोध्याः) इन पूर्वोक्त [११।२११-२१४] व्रतों से गुद्ध करें, ग्रौर (ग्रनाविष्कृतपापान तु) जिनका पाप क्रियारूप में प्रकट नहीं हुमा है ग्रधीन ग्रन्तः करण में ही पाप-भावना उत्पन्त हुई है, ऐसों को (मन्त्रेः च होमैं: शोधयेन) मन्त्र-जपों [११।२२४] ग्रौर यज्ञों में गुद्ध करें अर्थात् मानसिक पापों की गुद्ध [पाप-फलों की नहीं] जपों एवं यज्ञों = संध्योपासन-ग्राग्नहोत्र ग्रादि से होती है।। २२६।।

अर्ज्युक्रिटिक न्यः तुलनार्यं निम्न ५। १०७ श्लोक भी द्रष्टव्य है— क्षान्त्या शुद्धधन्ति विद्वांसी वानेनाकार्यकारिएः। प्रक्यन्त्रपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः।। पांच कर्मों से प्रायश्चित्त में पापभावना से मुक्ति-

### ख्य पनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च। पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ।। २२७ ।। (२०)

(ख्यापनेन) ग्रपनी त्रुटि ग्रीर उसके लिए दु:ख ग्रनुभव करते हुए सर्वसाधारण के सामने किये हुए ग्रपने दोष को कहने से [११।२२६] (ग्रनुतापेन) पश्चात्ताप करने से [११।२२६–२३२] (तपसा) व्रतों [११।२४४–२४१, २३३] की साधना से, (ग्रध्ययनेन) वेदाम्यास से [११।२४४–२४६] (पागकृत् पापात् मुच्यते) पाप करने वाला [पाप-फल से नहीं व्यपितु] पाप-भावना से रहित हो जाता है (तथा) ग्रीर (ग्रापदि) ग्रापद्गसन व्याधि, जरा ग्रादि से पीड़ित ग्रवस्था में ग्रपराध होने पर (दानेन) प्रायश्चित-हेतु सत्संग ग्रीर परोपकारार्थ दान देने से भी पापभावना समाप्त होकर निष्पापता ग्राती है।।२२७॥'

अद्भुट्योट्यन् : (१) प्रायश्चित्त से पाय-फल से नहीं पापमावना से मुक्ति—(क) प्रायश्चित के इस प्रसंग में यहाँ यह स्पष्ट कर देना प्रावश्यक है कि प्रायश्चित से किये हुए पाप का फल क्षीण नहीं होता अपितु पाप-भावना नष्ट होती है ग्रीर ग्रागे वह पाप नहीं किया जाता। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति किये हुए पाप-कर्म पर पश्चात्ताप का ग्रनुभव करता है, उसके दण्ड के रूप में तपश्चरण करता है। यही मान्यता प्रायश्चित्त की परिभाषा वाले ११। २३० ग्रीर ११।२३२ श्लोक से सिद्ध होती है। ग्रीर, दूसरा मनु का प्रमाण यह है कि मनु किये हुए ग्रथमं के फल को किसी ग्रवस्था में निष्फल नहीं मानते—

#### "न त्वेव कृतोऽधर्मः कर्तुं भंदति निष्फलः।" ४।१७३।।

(ख) इन प्रमाणों के ग्राधार पर कहा जा सकता है कि प्रचलित टीकाग्रों में जो प्रत्येक क्लोक पर 'पाप से छूट जाना' ग्रादि मान्यता वाले ग्रर्थ किये हैं, वे मनुसम्मत नहीं हैं।

इस भाष्य में जहाँ-जहाँ भी 'पाप से छूटना' ग्रादि ग्रर्थ किये हैं उनका ग्रभिप्राय 'पापफल से छूटना नहीं' अपितु 'पापभावना से छूटना' है। इस मान्यता की पुष्टि के लिए ११।२३० के ग्रनुशीलन में देखिए महर्षि दयानन्द की मान्यता।

(२) इस मान्यता की तुलना—तुलनार्य द्रष्टव्य है ५।१०७ श्लोक का पद— ' वानेनाकार्यकारिएाः (शुद्धधन्ति)"।

१. [प्रचलित ग्रयं — ग्रपने ग्रापको सर्वसाधारण में कहने, पश्चात्ताप करने से, कठिन तपश्चरण से, अध्ययन (वेदादि पाठ, जप ग्रादि) से, ग्रौर (इन सब कर्मों की शक्ति नहीं रहने पर) दान करने से पापी मनुष्य पाप से छूट जाता है ॥ २२७॥]

(३) प्रापत्काल में दान द्वारा पापमावना से मुक्ति पर विचार--इलोक में प्रापत्काल में पापभावना से मुक्ति के लिए दान देने का विवान किया है। यह सत्संग, विद्या आदि शुभगुणों का और परोपकारार्थ धन के दान का विधान है। मनु ने स्वयं कहा है—''सर्वेषामेव दानानां बह्यवानं विशिष्यते''—संसार में जितने दान हैं, उनमें वेद और ईश्वर-विद्या का दान और श्रेष्ठ गुणों का दान सर्वोत्तम है [४।२३३]। धन को श्रेष्ठ पात्र के लिए परोपकारभावना से देना, धन का दान कहलाता है। ग्रन्य भावना से दिया गया धन 'दान' नहीं होता [४।१८७-१६६]। मनु ने ४।२२७ में दान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मनुष्य सुपात्र को सात्त्वक भाव से समाज के परोपकार के लिए दान दे। इसके साय-साथ संध्या-यज्ञ-जप ग्रादि भी करे। ग्रब प्रश्न उठता है कि ग्रापत्काल क्या है? इसका स्पष्ट-सा उत्तर यह है कि इस प्रसंग में विहित वतों को जब व्यक्ति करने में वास्तव में ग्रसमयं हो जाता है, जैसे ग्रतिव्याधि, ग्रतिजरा ग्रादि की ग्रवस्था में, तब वह व्यक्ति दान की विधि को ग्रपनाये। यह भी एक तप का भेद है। इस दानव्रत के साथ ग्रन्य मन्त्रजप, होम ग्रादि की विधि ग्रन्य व्रतों के समान ही करे।

सबके सामने ग्रपना अपराध कहने से पापभावना से मुक्ति-

यथा यथा नरोऽधमं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधमंशा मुच्यते ।। २२८ ।। (२१)

(ग्रधमं कृत्वा) ग्रधमंयुक्त ग्राचरण करके (नरः) मनुष्य (यथा-यथा स्वयम् ग्रनुभाषते) जैसे-जैसे ग्रपने पाप को लोगों से कहता है (तथा तथा ग्रहः त्वचा + इव) वैसे-वैसे सांप की केंचुली के समान (तेन + ग्रधमें ए मुच्यते) उस ग्रधमं से — ग्रपराध-जन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है ग्रीर लोगों में उसके प्रति ग्रपराधी होने की भावना सनाप्त होती जाती है ।। २२=।।

श्रनुताप करने से पाप-भाषना से मुक्ति—

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गहंति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२६ ॥ (२२)

श्रोर, (तस्य मनः यथा यथा) उसका मन = श्रात्मा जैसे-जैसे (दुष्कृतं कमं गहंति) किये हुए पाप-श्रपराध को धिक्कारता है [कि मैंने यह बुरा कार्य किया है ......शादि] (तथा तथा तत् शरीरम्) वैसे-वैसे उसका शरीर (तेन श्रधमेंण मुच्यते) उस श्रधमं-श्रपराध से मुक्त-निवृत्त होता जाता है श्रर्थात् बुरे कमं को बुरा मानकर उसके प्रति ग्लानि होने से शरीर श्रीर मन बुरे कार्य करने से निवृत्त होते जाते हैं।। २२६।।

तपपूर्वक पुनः पाप न करने के निश्चय से पापभावना से मुक्ति-

# कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः ।।२३०।। (२३)

मनुष्य (पापं हि कृत्वा) पाप = ग्रपराघ करके (संतप्य) ग्रीर उतके लिए पश्चात्ताप करके (तस्मात् पापात् प्रमुच्यते) उस पाप-कमं से छूट जाता है [पाप-फल से नहीं] प्रर्थात् उस पाप को करने में पुनः प्रवृत्ति नहीं करता, ग्रीर (पुनः एवं न कुर्यात्) फिर कभी इस प्रकार का कोई पाप नहीं करूंगा (इति निवृत्त्या) इस प्रकार निश्चय करने के बाद पापों से निवृत्ति होने से (सः तु पूयते) वह व्यक्ति पिवित्राचरण वाला बन जाता है।। २३०॥ प

अद्भुटिशिटिकाः इस श्लोक को पूना-प्रवचन में (पृ० ६३-६४) ऋषि-दयानन्द ने उद्धृत किया है—''ग्रव कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता यह हमारा मत है, तो फिर पश्चा-त्ताप का कुछ भी उपयोग नहीं है क्या? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु ग्रागे पाप करना बन्द हो जाता है।''

कर्मफलों पर चिन्तन करने से पाप-भावना से मुक्ति-

# एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् । मनोवाङ्मूर्त्तिर्भानत्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ (२४)

(प्रेत्य कर्मफल-उदयम्) 'मरकर कर्मों का फल ग्रवश्य मिलेगा' (मनसा एवं संचिन्त्य) मन में इस विचार को, रखते हुए मनुष्य (मनः-वाक्मूर्त्तिभिः) मन, वाणो ग्रोर शरीर से (नित्यं शुभंकर्म समाचरेत्) सदा शुभ
कार्यं करे।। २३१।।

पाप-भावना से मुक्ति चाहने वाला पुनः पाप न करे-

स्रज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृश्वा कर्म विगहितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥ (२४)

(ग्रज्ञानात् यदि वा ज्ञानात्) ग्रज्ञान से ग्रथवा जानबूक्षकर (विग्रहितं कर्मं कृत्वा) निन्दित कर्म करके (तस्मात् विमुक्तिम् + ग्रन्विच्छन्) मनुष्य उस पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा पाने के लिए (द्वितीयं न समाचरेत्)

१. प्रचलित धर्म — पापी मनुष्य पापकर्म करके उसके लिए ध्रनुताथ (पछताबा) कर पाप से छूट जाता है तथा 'फिर मैं ऐसा निन्दित कर्म नहीं करू गा' इस प्रकार संकल्प रूप से उसका त्याग कर वह पवित्र हो जाता है ॥ २३०॥

दुबारा पाप न करे [तभी पाप-प्रवृत्ति से छुटकारा मिल सकता है, म्रन्यथा नहीं । ] ।। २३२ ।।

तप तब तक करें जब तक मन में प्रसन्नता श्रा जाये-

यस्मिन्कमंण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।

तिस्मस्तावत्तपः कुर्याद्यावत् विटकरं भवेत्।। २३३।। (२६) (यस्मिन् कर्माण कृते) जिस कर्म के करने पर (ग्रस्य मनसः ग्रलाघवं स्यात्) मनुष्य के मन में जितना दुःख पश्चाताप ग्रर्थात् ग्रसन्तोष एवं ग्रप्रसन्नता होवं (तस्मिन्) उस कर्म में (यावत् तुष्टिकरं भवेत्) जितना तप करने से मन में सुप्रसन्नता एवं संतुष्टि हो जावे (तावत् तपः कुर्यात्) जतना ही तप करे, ग्रर्थात् किसी पाप के करने पर मनुष्य के मन में जब तक ग्लानिरहित पूर्ण संतुष्टि एवं प्रसन्नता न हो जाए तब तक स्वेच्छा से तप करता रहे।। २३३।।

तप की महिमा-

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्। तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेदद्यशिमः ॥ २३४ ॥

(दैव-मानुषकम् इदं सर्वं सुखम्) इस संसार में देवताओं श्रीर मनुष्यों के सब सुखों का (तपः मूलम्) तप ही मूल है (तपः मध्यम्) तप ही मध्यभाग है श्रयात् तप से ही सुख स्थिर होता है, श्रीर (तपः + श्रन्तम्) तप से ही श्रन्त है श्रयात् तप से ही सुख लक्ष्य तक पहुंचता है, ऐसा (वेददिशिभः बुधैः प्रोक्तम्) वेदवेत्ता विद्वानों ने कहा है।। २३४।।

> ब्राह्मराएस्य तथे ज्ञानं तयः क्षत्रस्य रक्षराम् । वैद्यस्य तु तयो वार्ता तयः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३४॥

(ब्राह्म एस्य तपः 'ज्ञानम्') ब्राह्म ए का तप 'ज्ञान' है (क्षत्रस्य तपः 'रक्षणम्') क्षत्रिय का तप 'रक्षा करना' है, (वैश्यस्य तपः 'वार्ता') वैश्य का तप 'व्यापार' है श्रीर (ज्ञूदस्य 'सेवनम्' तपः) ज्ञूद्र का 'सेवा करना' तप है ॥ २३५॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः। तपसैव प्रपत्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्।।२३६॥

(संयत-ब्रात्मानः फल-मूल-ग्रनिल-ग्रहानाः ऋष्यः) संयम रखने वाले फल, मूल एवं वायु का भक्षण करके रहने वाले ऋषि लोग (तपसा + एव) तप से ही (सचरा-चरं त्रैलोक्यं प्रपश्यन्ति) चर-ग्रचर सहित तीनों लोकों को प्रत्यक्ष करते हैं।। २३६॥

श्रीषधान्यगदो विद्या देवी च विविधा स्थितः।
तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥ २३७॥
(श्रीषधानि + श्रगदः विद्या देवी च विविधा स्थितिः) श्रीषधियां, श्रारोग्य,

विद्या ग्रोर देवत्व प्राप्ति की विविध स्थितियाँ, ये (तपसा + एव प्रसिद्धचन्ति) तप से ही प्राप्त होती हैं, ग्रोर (तेषां तपः हि साधनम्) उनका तप ही साधक कारण है । २३७ ।

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।। २३८ ।।

(यत् दुस्तरम्) जो भी कठिनता से पार करने योग्य कार्य है, (यत् दुरापम्) जो कठिनता से प्राप्त होने योग्य कार्य या उद्देश्य है, (यत् दुर्गम्) जो दुर्गम कार्य है, (यत् दुर्गम्) जो कठिनता से करने योग्य कार्य है, (सर्व तु तपसा साध्यम्) वह सब तप से ही सिद्ध हो सकता है, और (तपः हि दुरितक्रमम्) तप का श्रितिक्रमण किसी भी कार्य में नहीं हो सकता श्रर्थात् तप की कम-ग्रधिक रूप में प्रत्येक कार्य में श्रावश्यकता पड़ती है।। २३८।।

महापातिकनश्चैव दोषाश्चाकार्यकारिगाः । तपसैव सुतप्तेन मुख्यन्ते क्रिल्विचात्ततः ॥ २३६ ॥

(महापातिकनः) महापातकी (च) श्रीर (दोषाः) अपराधी (स्रकार्यकारिएाः) निन्दित-निषिद्ध कर्म करने वाले (ततः किल्विषात्) उस पाप से (सुतप्तेन तपसा एव मुच्यन्ते) अच्छी प्रकार किये गये तप से खूट जाते हैं।। २३६॥

कीटाइचाहिपतङ्गाइच पशवश्च वयांसि च। स्थावराशि च मूतानि दिवं यान्ति तयोबलात् ॥ २४० ॥

(कीटाः म्रहिः पतङ्काः पदावः वयांसि) कीट-पतग, सांप, पत्तगे, पशु, पसी (च) म्रीर (स्थावराणि भूतानि) स्थावर वृक्ष-लता म्रादि जीव (तपः बलात् दिवं यान्ति) तपस्था के बल से ही स्वगं को पाते हैं ॥ २४० ॥

> यस्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्त्तिमर्जनाः । तत्सर्वे निर्देहत्त्याञ् तपसेव तपोघनाः ॥ २४१ ॥

(जनाः) मनुष्य (मनः-वाक्-मूर्तिभिः) मन, वाणी श्रीर शरीर से (यत् किञ्चित् +एनः) जो कुछ पाप करते हैं (तपोधनाः तपसा + एव) तपस्वी लोग तप से ही (तत् सर्वे ग्राशु निदंहन्ति) उन सब पापों को शीझ भस्म कर लेते हैं।। २४१।।

> तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मग्रस्य विवोकसः। इज्याद्य प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

(तपसा + एव) तप से ही (दिबोकसः) देवता लोग (विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य इज्याः प्रतिगृह्धन्ति) विशुद्ध ब्राह्मण के यज्ञों को ग्रहण करते हैं (च) ग्रीर (कामान् संवर्धयन्ति) उनके मनोरथों को बढाते हैं॥ २४२॥

> प्रजापतिरिवं शास्त्रं तपसैवासूजत्प्रभुः । तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

(तपसा + एव प्रभु: प्रजापितः) तप से ही समर्थ हुए प्रजापित ने (इदं शास्त्रम् + ग्रसूजत्) इस शास्त्र की रचना की (तथैव) उसी प्रकार (ऋषयः) ऋषि लोगों ने भी (तपसा वेदाः प्रतिपेदिरे) तप से वेदों की सुष्टि की ।। २४३ ।।

इत्येतरूपसो देवा महामाग्यं प्रचक्षते । सर्वस्यास्य प्रपञ्चन्तस्तपसः पुण्यमुक्तमम् ॥ २४४ ॥

(ग्रस्य सर्वस्य) इस समस्त संसार के प्राणियों की (तपसः उत्तमं पुण्यं प्रपश्यन्तः) तप से ही उत्तम पुण्यों की प्राप्ति को देखकर (देवाः) देव प्रथित् विद्वान् लोग (तपसः इति + एतत् महाभाग्यं प्रवक्षते) तप के इस [११।२३४-२४३] माहात्म्य का कथन करते हैं ॥२४४॥

अस्तु श्रीत्जनाः २३४ से २४४ इलोक निम्न ग्राधार के ग्रनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिवरोध—(१) २२७ वें श्लोक में ग्रगले वर्णन का संकेत करके ग्रियम श्लोकों में तदनुसार क्रमशः एक-एक बात का वर्णन है। उस श्लोक के क्रम के ग्रमुसार २३ वें श्लोक में 'तप' का विधान होने पर 'वदाध्ययन' का विधान प्रासंगिक तौर पर होना चाहिए। यह २४५ वें श्लोक में है। ग्रतः २३३ के पश्चात् २४५ वां श्लोक क्रमबद्ध है, शेप प्रक्षिप्त हैं। (२) इन श्लोकों में प्रायश्चित्ताभिमुख या प्रायश्चित्त से सम्बन्धित तप का वर्णन न होकर सर्वसामान्य तप की महिमा है, जब कि प्रसंग यहां केवल प्रायश्चित्त-सम्बन्धी तप का है। जैसे—इस प्रसंग में ब्राह्मण का तप ज्ञान ग्रादि के कहने तथा तप से तिर्यंक्योनियों की श्रेष्ठजनम-प्राप्ति वर्णन से कोई सम्बन्ध नहीं है। (३) इस सर्वशामान्य तपवर्णन प्रसंग की इस प्रकार भी प्रायश्चित्त प्रसंग से कोई संगति सिद्ध नहीं होती कि २१० से २२६ श्लोकों में कहे गये वत ही प्रायश्चित्त के लिए तप माने हैं; उनसे भिन्न तम प्रायश्चित्त के लिए प्राह्म नहीं हैं। २३३ वें श्लोक में उन्हीं तपों को करने का कथन है। फिर, शेष श्लोकों में भिन्न तप का कथन ग्रीर उसकी महिमा स्वतः ग्रसंगत सिद्ध हो जाती है। ग्रतः यह ११ श्लोकों का प्रसंग प्रक्षिप्त है।
- २. शैलीगत आघार—(१) यह प्रसंग मनु की शैली के विरुद्ध है। जैसे कि २४४ वें श्लोक में स्वयं इस प्रसंग में स्वीकार किया है कि 'ये तप की महिमा बतलायी है, यह महिमा-वर्णन की शैली मनु की नहीं है। यह एक विधानशास्त्र है, इसमें महिमा के रूप में नहीं अपितु विध्यात्मक रूप में विधान होते हैं, भाषा भी विध्यात्मक होती है। इसके साथ ही मनु की शैली इस प्रकार की है कि वे किसी बात की लाभहानि सामान्यतः तो कह जाते हैं किन्तु उसका विस्तृत प्रसंग नहीं छेड़ते जैसे कि यहाँ यह महिमा का प्रसंग है। यह प्रसंग मनु का न होकर प्रक्षिप्त है। (२) इस प्रसंगमें

२४० की शैली निराधार, प्रयुक्तियुक्त श्रीर श्रतिशयोक्तिपूर्ण है। मनु की शैली में ये किमयौं नहीं हैं।

वेदाभ्यासादि से पाप-भावनाओं का क्षय---

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याञु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥ (२७)

(ग्रन्वहं शक्त्या वेदाभ्यासः) प्रतिदिन वेद का ग्रविक-से-ग्रिधक ग्रध्ययन-मनन (महायज्ञक्रियाः) पञ्चमहायज्ञों का ग्रनुष्ठान, (क्षमा) तप-सिह्ण्युता, ये क्रियायें (महापातकजानि + ग्रपि पापानि) बड़े पापों से उत्पन्न पापभावनाग्रों या दुःसंस्कारों को भी (नाशयन्ति) नष्ट कर देती हैं।। २४५।।

वेदज्ञानाग्नि में पाप-भावना विनष्ट होती है-

यथैधस्तेजसां विह्नः प्राप्तं निर्वहिति क्षरणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं वहित वेदविद् ॥ २४६॥ (२८)

(यथा विह्नः तेजसा) जैसे ग्रग्नि ग्रपने तेज से (प्राप्तम् एघः क्षणात् निर्देहित) समीप ग्राये काष्ठ ग्रादि इंधन को तत्काल जला देती है (तथा) वैसे ही (वेदिवत्) वेद का ज्ञाता (ज्ञान-ग्रग्निना सर्व पापं दहित) वेद-ज्ञान रूपी ग्रग्नि से सब ग्राने वाली [पाप-फलों को नहीं] पाप-भावनाग्रों को जला देता है—पापसंस्कारों को भस्म कर देता है।। २४६।।

अरन्युटारिटा :—इन्ही भावों की तुलना के लिए १२।१०१ श्लोक भी द्रष्टव्य है। मनु ने वहाँ भी इसी मान्यता को प्रकट किया है।

(१) ज्ञान से मुक्ति में सांख्यदर्शन का प्रमाण—मनु ने ११।२६३—२६५ श्लोकों में भी इस मान्यता की पुष्टि की है कि 'वेदों का वेत्ता विद्वान् वेदज्ञान से मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।' १२।८३, ८५, १०४ में भी वेदाम्यास स्रौर परमाश्मज्ञान को मुक्ति का साधन माना है। सांख्यदर्शन में भी इस मान्यता का उल्लेख है—

शानान् मुक्तिः ३।२३॥

श्रर्थात् वेदज्ञान ग्रीर परमात्मज्ञान से जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाती है।
गुप्त पापो का प्रायश्चित्त—

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायित्वत्तं यथाविषि । ग्रत कव्वं रहस्यानां प्रायदिषत्तं निवोधतः ॥ २४७ ॥

(इति + एतत्) यह (एनसां प्रायिक्तं यथाविधि उक्तम्) पापों का प्रायिक्ति विधि सिहत कहा (ग्रत: अर्ध्वम्) ग्रब इसके पश्चात् (रहस्यानां प्रायिक्तं निबोधत) गुप्त पापों का प्रायिक्तं सुनो—॥ २४७॥

### सव्याहृतिप्ररावकाः प्राराायामास्तु बोडरा । प्राप भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

(सव्याहृतिप्रणवकाः षोडश प्राणायामाः) महाव्याहृतियों [भूः भुवः स्वः] सिहत ग्रोंकार का जप ग्रीर सोलह प्राणायाम (ग्रहरहः मासात् कृताः) प्रतिदिन एक मास तक करने से वे (भ्रूणहण्म् + ग्रिप पुनन्ति) भ्रूणहत्यारे को भी पवित्र कर देने हैं ॥ २४८॥

अन्तु शरेटानः व्याहतियुक्त प्राणायाम-मन्त्र श्रीर प्राणायाम की विधि ६।७० के अनुशीलन में देखिए।

#### कौरसं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशृध्यति ॥ २४६ ॥

(कौत्सम् 'ग्रापः' इति + एतत्) कौत्स ऋषि वाले ''ग्रपः नः शोशुचदघम्'''
'''''' [ऋक्० म०१ । सू० ६७] सूक्त को, (वासिष्ठं 'प्रति' इति + ऋचम्) वसिष्ठ
ऋषि वाली ''प्रतिस्तोमेभिष्षसं वसिष्ठाः'' [ऋक्० म०७ । सू० ६०] इस ऋचा वाले
सूक्त को, ('माहित्रं' च 'शुद्धवत्यः') 'माहित्रं'—''महित्रीणामवोऽस्तु'' [ऋक्० १०।
१८५] ग्रीर 'शुद्धवती'—''एतोग्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्''''''''''''''''' [ऋक्० ६ । ६५
७-६] इन सूक्तों को [एक मास तक प्रतिदिन सोलह-सोलह वार प्राणायाम पूर्वक ११ ।
२४८] (जप्त्वा) जपकर (सुरापः + ग्रिप विशुद्धघित) शराव पीने वाला भी शुद्ध हो
जाता है ॥ २४६ ॥

### सक्रुग्जप्त्वास्य वामीयं शिवसंकल्पमेव च। स्रवहृत्य सुवर्णं तु क्षरणाङ्ग्रवति निर्मलः ॥ २४० ॥

(सुवण तु ग्रवहृत्य) सोने की चोरी करके [वह व्यक्ति] (ग्रस्य वामीयं च शिव-संकल्पम् + एव) 'ग्रस्य वामीय' सूक्त [ऋक्०१ म०। १६४ सू०] ग्रौर 'शिवसंकल्प' नामक सूक्त [''यज्जाग्रतो दूर-मुदैतिः (यजु०३४।१-६)'''] को (सकृत् जप्स्वा) [एक मास तक] प्रतिदिन एक-एक बार जपकर (क्षणात् निर्मंलः भवति) तत्काल शुद्ध हो जाता है।। २५०।।

### हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च। जपित्वा पौरुवं सुक्तं मुख्यते गुरुतत्पगः॥ २५१॥

(गुरुतल्पगः) गुरुपत्नीगामी पुरुष ('हिविष्पान्तीयम्' 'नतमंह' 'इति' च इति ग्रम्यस्य) 'हिविष्पान्तीय' सूक्त ['हिविष्पान्तमजरं स्विविदि' (ऋक्०१०। ८०)] ग्रौर 'नतमंह' सूक्त [["नतमंहो न दुरितम्" [ऋ०८।१२६] ग्रथवा ''इति वा इति मे मनः'' [ऋक्०१०।११६] को जपकर (च) तथा (पौरुषं सूक्तं जित्वा) 'पुरुष सूक्त' ["सहस्रशीर्षा पुरुषः "" [ऋक्०१०।६०] को एक मास तक जपकर (मुच्यते) पाप से खुट जाता है।। २५१।।

#### एनसां स्यूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् । स्रवेत्युचं जपेवब्दं यस्किचेदमितीति वा॥२४२॥

(स्यूल सूक्ष्माणाम् एनसाम् प्रपनोदनं चिकीर्षन्) इनसे [११।२४८-२५१] भिन्न ग्रन्य वड़े ग्रौर छोटे पार्यो की गुद्धि चाहने वाला मनुष्य ('ग्रव' इति च 'यित्कचेदम्' इति ऋचं वा) ''ग्रव ते हेळो वरुण नमोभिः'' [ऋक्०१।२४।१४] इस ग्रथवा ''यित्कञ्चेदं वरुण दैथ्ये जने'' [ऋक्०७।८६।४] इस ऋचा को (ग्रब्दं जपेत्) एक वर्षं तक जपे।।२५२।।

#### प्रतिगृह्याप्रतिप्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगिहतम् । जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २४३ ॥

(स्रप्रतिग्राह्मं प्रतिग्राह्म) स्रग्नाह्म वस्तुत्रों एवं दान को लेकर (विगहितं च सन्तं भुक्त्वा) निन्दित सन्त को खाकर (मानवः) मनुष्य (तरत्समन्दीयं जपन्) 'तरत्समन्दी धावति " ऋचा वाले सूक्त [ऋक् ६। ५८] को जपकर (त्रि + स्रहात् पूयते) तीन दिन में पवित्र हो जाता है।। २५३।।

#### सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमम्यस्य शुध्यति । स्रवन्त्यामाचरन्त्रनानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २४४ ॥

(बहु-एनाः) बहुत पाप किया हुम्रा मनुष्य (सोमारोद्रं तु) ''सोमारुद्रा धारयेथा-मनुर्यम्'' [ऋरु० ६। ७४] इस ऋचा वाले सूक्त को (च म्रयंमएाम् इति तृचम्) ग्रौर ''ग्रयंमणं वरुणं मित्रं ं [ऋरु० ४। २।४] इन तीन ऋचाम्रों को (स्रवन्त्यां स्नानम् + ग्राचरन्) बहती नदी में स्नान करके (मासम् + ग्रम्यस्य श्घ्यति) एक मास तक जप करके शुद्ध हो जाता है।। २४४।।

### अभ्यार्षमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्याप्सु मासमासीत भैक्षभुक्॥ २५५॥

(एनस्वी) कोई भी पाप करने वाला मनुष्य ('इन्द्रम्' इति + एतत् सप्तकम् अब्द-अर्घ जपेत्) ''इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्'' इन सात ऋचाओं को [ऋक्० १।१०।६] छह मास तक जपे, और (अप्सु अप्रशस्तं कृत्वा) जल में मल-मूत्र आदि गन्दगी डालकर (मामं भैक्षभुक् आसीत) एक मास तक भिक्षा मांगकर खाये ॥ २४४॥

#### मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः। सुगुर्वेप्यपहत्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम्।। २४६।।

(द्विजः) द्विज मनुष्य (शाकलहोमीयैः मन्त्रैः ग्रब्दं घृतं हुत्वा) शाकलहोमीय् [''देवकृतस्यैनसो ''' इत्यादि ग्राठ मन्त्र । यजु० ६।१३] मन्त्रों से एक वर्ष तक घृत से हवन करके (वा) ग्रथवा ('नमः' इति ऋचं जप्त्वा) ''नमः इन्द्रश्व ' ' इस ऋचा का एक वर्ष पर्यन्त जप करके (सुगुरु + ग्राप + एनः हन्ति) बड़े से बड़े पाप को भी भस्म कर देता है ॥ २५६ ॥

अर्जुटरीटउन्तरः शाकलहोमीय मन्त्र—कात्यायन श्रौतसूत्र १०।६६ के अनुसार यजु० ८।१३ "देवकृतस्यैनसो अवयजनमिस" मन्त्र से लेकर "वयं हि त्वा प्रयति यक्ते" [२।२०] मन्त्र तक ग्राठ मन्त्र शाकलहोमीय माने गये हैं।

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेइगाः समाहितः । ग्रम्यस्याद्वं पावमानीर्भेक्षाहारो विशुष्यति ॥ २४७ ॥

(महापातकसंयुक्ताः) महापातक से युक्त मनुष्य (समाहितः) व्रत में सावधान रहता हुग्रा (ग्रब्दं गाः ग्रनुगच्छेत्) एक वर्षं पर्यन्त गौग्रों की सेवा करे, इस प्रकार (भैक्षाहारः पावमानीः ग्रम्यस्य विशुद्धचिति) भिक्षा मांगकर भोजन करता हुग्रा और "यः पावमानीरुघ्येति "" [ऋक्० ६। ६७। ३१-३२] ऋचाग्रों का प्रतिदिन ग्रम्यास करता हुग्रा शुद्ध होता है ॥ २५७॥

ग्ररण्ये वा त्रिरम्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् । मुच्यते पातकैः सर्वेः पराकैः शोधितस्त्रिमिः ।। २४८ ।।

(वा) अथवा (त्रिभिः पराकैः शोधितः) तीन 'पराक कृच्छ्र' व्रतों [११।२१६] से शुद्ध होकर (ग्ररण्ये) वन में (प्रयतः) सावधानीपूर्वेक (वेदसंहिताम् त्रिः + ग्रम्यस्य) वेदसंहिता का तीन बार ग्रम्यास करके (सर्वैः पातकैः मुच्यते) सब पापों से मुक्त हो जाता है।।२६८।।

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्मोऽम्युपयन्नयः । मुच्यते पातकैः सर्वेस्त्रिर्जापत्वाऽघमर्षणम् ॥ २५६ ॥

(त्रि + ग्रहम् उपवसेत्) मनुष्य, तीन दिन उपवास रखे, ग्रौर(त्रिः + ग्रह्नः ग्रपः ग्रम्युपयन्) उस काल में तीन बार स्नान करते हुए (ग्रघमर्षणं त्रिः जिपत्वा) ग्रघमर्षण सूक्त ["ऋतञ्च सत्यञ्च ……" [ऋक्० १०। १६०] ग्रादि] का तीन बार दिन में जप करके (सर्वेः पातकैः मुच्यते) सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥ २४६ ॥

यथात्र्वमेषः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः। तथाऽघमर्षगां सूक्तं सर्वपापापनोदनम्॥ २६०॥

(यथा क्रतुराट् अश्वमेधः) जैसे सब यज्ञों का राजा अश्वमेषयज्ञ (सर्वपाप-अप-नोदनः) सब पापों को नष्ट करने वाला है (तथा) उसी प्रकार (अधमर्षणं सुक्तं सर्व-पाप-अपनोदनम्) 'अधमर्षण सूक्त' [ऋक्० १०। १६०] भी सब पापों को नष्ट करने वाला है।। २६०।।

> हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नप्तपि यतस्ततः । ऋग्वेवं धारयन्त्रिप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ॥ २६१ ॥

(इमान् त्रीन् लोकान् हत्वा) इन तीनों [पृथ्वी, त्राकाश, द्युलोक] लोकों की हत्या करके सर्यात् बहुत सारी हत्याएँ करके भी, तथा (यतः ततः स्रवनन् + प्रिप) इषर

उधर निषिद्ध स्थानों पर भोजन करके भी, तथा (विप्रः ऋग्वेदं धारयन्) ब्राह्मग्रा ऋग्वेद को धारण करने पर (किंचन एनः न प्राप्नोति) किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता ॥ २६१ ॥

#### ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः। साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुख्यते॥ २६२॥

मनुष्य (समाहितः) एकाग्रचित्त होकर (ऋक्संहिताम्) ऋग्वेद को, (या) वा (यजुषाम्) यजुवेद को, (वा) अथवा (सरहस्यानां साम्नाम्) उपनिषदों सहित साम-वेद को (त्रिः + अभ्यस्य) तीन बार जगकर (सर्वेपापैः प्रमुच्यते) सब पापों से छूट जाता है।। २६२।।

आन्त्रश्रीत्उन्तः ११। २४७ से २६२ श्लोक तक निम्न ग्राधारों के मनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. प्रसंगिविशेष— (१) ये श्लोक पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध हैं। २४६ वें श्लोक में उपमापूर्वक 'वेदवित्' का उल्लेख किया था और २६३—२६४ श्लोकों में उपमा ग्रौर 'वेदवित्' की परिभाषा दी है। क्रम के ग्रनुसार २४६ के पश्चात् २६३ वा श्लोक होना संगत्त सिद्ध होता है। ये श्लोक उस प्रसंग को तोड़ रहे हैं, ग्रतः प्रक्षिप्त हैं। (२) २२७ वें श्लोक में जिस वर्णन का संकेत दिया है। उसके क्रम से 'वेदाध्ययन' का वर्णन ही यहाँ प्रासंगिक है। ये रहस्यों का प्रायश्चित्त उस श्लोक के ग्रनुसार ग्रसंगत है, 'वेदाध्ययन' सम्बन्धी २४५, २४६, २६३, २६४ श्लोक ही प्रासंगिक है, और २२७ श्लोक के ग्रनुसार हैं। (३) इस प्रक्षिप्त प्रसंग के ग्रन्तिम श्लोक २६२ से २६३ की कोई संगति भी नहीं खुड़ती,क्योंकि २६३-२६४ में 'त्रिवृत् वेद' ग्रौर 'वेदवित्' का लक्षण हैं, जब कि २६२ ग्रौर उससे पूर्व के श्लोकों में रहस्यांगों सहित वेदों का वर्णन है।
- २. विषयविरोध—४४ वें इलोक में मनु ने प्रायिश्वत्त विषय का संकेत दिया है। उसके अनुसार रहस्य पापों के प्रसंग का कोई संकेत नहीं मिलता। अर्थ के अनुसार यदि इन्हें गुप्त-पाप भी मान लिया जाये तो भी इनकी संगति नहीं बैठती। क्योंकि, प्रत्येक विधान के साथ प्रकट पाप की भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि यहाँ प्रकट पापों के प्रायश्चित्त का ही विषय है, रहस्यों का नहीं। स्पष्टता के लिए २२६ वें इलोक में मनु ने ''वतैराविष्कृतैनसः'' पद का प्रयोग किया है। इस प्रकार यह रहस्य पापों का वर्णन [२४७-२६२] विषयविषद्ध होने से प्रक्षिप्त है।
- ३. शैलीगत-म्राघार—इस सम्पूर्ण प्रसंग की शैली निराधार एवं म्रतिशयोक्ति-पूर्ण है, यथा—"क्षरणाद्भवति निर्मलः" [२४०] "पूर्यते मानवस्त्र्यहात्" [२५३] म्रादि।
  - ४. अन्तर्विरोध (१) इस प्रसंग में रहस्यों का प्रायश्चित्त कहा है, जब कि

इस प्रायश्चित्त प्रसंग में 'रहस्य' संज्ञा से किन्हीं पापों का उल्लेख नहीं है। ग्रतः यह कल्पना मनुविरुद्ध है।

- (२) विषय के अनुसार जिस प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त मनु को अभीष्ट या, उनको प्रकट और अप्रकट रूप देकर प्रकट पापों के प्रायश्चित्त की विधि २१० से २२६ श्लोकों में विहित की है, और अप्रकट पापों की शुद्धि "मन्त्रेहीं मैडच" से २२६ में कहकर उस प्रसंग को वहीं समाप्त कर दिया है। अतः यहां रहस्य नाम से पुनः उल्लेख करना और उनकी भिन्न विधियाँ निश्चित करना मनुविश्द्ध है।
- (३) इस प्रसंग में रहस्य-पापों का उल्लेख करके कहीं तो जब से शुद्धि मानी है और कहीं कृच्छ प्रादि व्रतों से। इससे स्पष्ट है कि यह प्रसंग भिन्न व्यवस्थाओं का प्रसंगहै जो २१० से २२६ के ग्रन्तर्गत विहित व्यवस्थाओं से विरुद्ध है।
- (४) यहां केवल जप ब्रादि से ही पाप से मुक्ति मानी है, जब कि पिछले प्रसंग में ख्यापन, ब्रनुतापन, तप ब्रौर वेदाध्ययनपूर्वंक पुनः ग्रपराध न करने के संकल्प से पाप को शुद्धि मानी है। इस विधि में विरोध है [२२७-२३३]।
- (४) २६१ वें श्लोक में कहा है कि वेदज्ञ को तीन लोकों का वध करने पर भी पाप नहीं लगता । मनु के अनुसार ब्राह्मण सभी वेदज्ञ होते हैं ग्रौर यह प्रायश्चित्त उनके लिए भी विहित है । ग्रतः उक्त धारणा निरायार एवं मनुविरोधी है ।

वेदज्ञान-रूपी तालाब में पापभावना का डूबना---

यथा महाह्नदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति । तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥२६३॥ (२६).

(यथा) जैसे (क्षिप्तं लोष्टम्) फेंका हुम्रा ढेला (महाह्रदं प्राप्य वि-नक्ष्यति) बड़े तालाब में गिरकर पिघलकर नष्ट हो जाता है (तथा) उसी प्रकार (त्रिवृति वेदे) तीन विद्याग्नों वाले वेदों के ज्ञान में (सर्वं दुश्चरितं मज्जति) सब बुरे ग्राचरण नष्ट हो जाते हैं।। २६३।।

वेदवित् का लक्षण---

ऋचो यजूं वि चान्यानि सामानि विविधानि च। एव ज्ञेयस्त्रिवृद्धेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥२६४॥ (३०)

(ऋचः) ऋचाएँ (यजूंषि) यजुष् मन्त्र (च) ग्रौर (ग्रन्यानि विविधानि सामानि) इनमे भिन्न सामवेद के ग्रनेक मन्त्र (एषः त्रिवृत् वेदः ज्ञेयः) यह तीनों 'त्रिवृत्वेद' जानना चाहिए, (यः एनं वेद सः वेदिवत्) जो इस त्रिवृत्वेद = त्रयीविद्या ग्रर्थात्, सभी वेदों को जानना है, वही वस्तुतः 'वेदवित्ता' है।। २६४।।

अन्तुर्शील्डन्तः त्रयीविद्या का श्रीमप्राय एवं श्रन्यत्र वर्णन-मनु ने

तीन वेदरूप त्रयीविद्या का वर्णन १। २३ ग्रीर १२। १११-११२ में भी किया है।

मीमांसा दर्शन में — जहां म्रथंव्यवस्था के साथ-साथ पादव्यवस्था भी है म्रथित् जो मन्त्र म्रथिनुसार छन्दोबद्ध हैं, वे ऋक्मन्त्र कहे गए हैं। जो इन विशेषताओं के साथ गाये भी जा सकते हैं, वे साममन्त्रऔर शेष गद्यरूप यजुष्मन्त्र हैं। इस प्रकार चारों वेद त्रयीविद्यारूप हैं। सूत्र हैं — तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः॥ २।१।३५-३७॥ कहीं-कहीं ज्ञान-कर्म-उपासनापरक मन्त्रों के स्राधार पर भी चारों वेदों को त्रयीविद्यारूप माना गया है।

ईश्वर भी एक ज्ञेय वेद है ---

म्राद्यं यत्न्यक्षरं ब्रह्म त्रयो यस्मिन्प्रतिष्ठिता । स गुह्योऽन्यस्त्रिबृद्धेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥ (३१)

श्रीर, (यत् त्रि + ग्रक्षरम् श्राद्यं ब्रह्म) जो तीन श्रक्षरों वाले प्रमुख नाम 'ओम्' से उच्चरित होने वाला सबका श्रादिमूल परमेश्वर है, (यस्मिन् त्रयी प्रतिष्ठिता) जिसमें तीनों वेदिवद्याएँ प्रतिष्ठित हैं, (सः ग्रम्यः गुह्यः त्रिवृत्वेदः) वह भी एक गुष्त श्रयात् ग्रद्धय-सूक्ष्म 'त्रिवृत्वेद' हैं; (यः तं वेद सः वेदिवत्) जो उसको जानता है, वह 'वेदवेता' कहलाता है।। २६४।।

अर्जुटरी क्टा : अध्यत्र ६ र्णन — मनुने 'स्रोम्' का वर्णन २। ५१ (२। ७६) में किया है। इसके प्रतिरिक्त १। ३॥ १। २३ स्रौर १२। ६४, १११-११२ इलोकों में भी वेद को ईश्वररचित घोषित किया है।

इस श्लोक में 'ग्रोम्' नाम वाच्य परमेश्वर को स्वयं एक वेद का रूप माना है क्यों कि परमेश्वर सर्वज्ञाता है। वही वेदों का रचियता है। इसका उल्लेख मनु १।२३ में करचुके हैं। इस सम्बन्धी वेदों के प्रमाणों के लिए देखिए उस श्लोक पर ग्रमुशीलन। उस सूक्ष्म-निराकार परमात्मा को वेदवेत्ता ही जान सकते हैं और जो उस परमेश्वर का साक्षात् कर लेता है वही वास्तविक 'वेदवेत्ता' है।

प्रायश्चित्त विषय का उपसंहार—

एष वोऽभिहितः कृत्स्नः प्रायदिचत्तस्य निर्णयः । निःश्रेयसं धर्मविधि विप्रस्येमं निबोधत ॥ २६६ ॥ (३२)

(एषः) यह [११। ४४-२६५ तक] (वः) तुम्हें (प्रायश्चित्तस्य कृत्स्नः निर्णयः ग्रभिहितः) प्रायश्चित्त का सम्पूर्ण [ग्रपराध, उनका प्रायश्चित्त एवं प्रायश्चित्तविधि] निर्णय कहा ।

श्रव (विश्रस्य इमंनिश्त्रेयसंघर्मविधिम्) ब्राह्मण के इस [१२।१-१२४] मोक्ष के धर्मविधान श्रर्थात् कर्मविधान को (निबोधत) सुनो—॥२६६॥

इति महाँव-मनुशोक्तायां सुरेन्द्रकुमारकृत हिन्दी-मावाभाष्य-समन्वितायाम् 'ब्रमुज्ञीलन' समीक्षाविभूवितायाम्ब मनुस्मृतौ प्रायदिवत्त-विवयात्मक एकावज्ञोऽध्यायः ॥

# अथ द्वादशोऽध्यायः

[हिन्दी-भाष्य 'ग्रनुशीलन' समीक्षाम्यां सहितः ] (कर्मफल-विधान एवं निःश्रेयस कर्मी का वर्णन)

[१२।३ से ११६ तक]

ऋषियों का भृगु से प्रश्न---

चातुर्वर्णस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ। कर्मणा कलनिर्वृति शंस नस्तस्वतः पराम्॥१॥

(ग्रनघ!) हे पापरहित भृगु! (स्वया चातुर्वर्ण्यस्य ग्रयं कृत्स्नः धर्मः उक्तः) ग्रापने चारों वर्णों के सम्पूर्णं धर्मं कहे, ग्रब (नः) हमें (कर्मणां परां फलनिवृत्ति तत्त्वतः शंस) कर्मों की परमार्थरूप-फलप्राप्ति तात्त्विक रूप से कहिए॥ १॥

भुगू का ऋषिग्रों को उत्तर---

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः । ग्रह्य सर्वस्य शृक्षुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

(सः धर्मातमा मानवः भृगुः) उस धर्मातमा मनुपुत्र भृगु ने (तान् महर्थीन् उवाच) उन प्रश्नकत्ता महर्षियों से कहा कि श्रव आप (श्रस्य सर्वस्य कर्मयोगस्य निर्णयं श्रृणुत) इस सब कर्मों के निर्णय को सुनिये।। २।।

आनु हारे त्य : १-२ इन क्लोक निम्न ग्राधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

१. ज्ञैलीगत ग्राधार—(१) इन श्लोकों में महर्षियों द्वारा भृगु से प्रश्न श्रीर भृगु द्वारा उनका उत्तर देने का वर्णन होने से स्पष्टतः ये मनुप्रोक्त नहीं हैं, श्रपितु, भृगु से भी परवर्ती किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचकर संकलित किये गये हैं। (२) मनुस्मृति की ग्रैली इन श्लोकों से मेल नहीं खाती। मध्य में वह प्रश्नोत्तररूप में नहीं है। प्रारम्भ में एक बार जिज्ञासा प्रकट की गई है और पुनः उसका उत्तर है [१।२-४]। सम्पूर्ण ग्रंथ में यह शैली है कि मध्य में प्रश्न न होकर एक प्रचलित विषय को समाप्त करके श्रग्निम विषय का मनु स्वयं संकेत करते हैं। [१।१४४;३।२६६;४।२५६,६।१,६७;७।१,श्रादि]। इस प्रकार ये ग्रैली के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

२. ग्रन्तिवरोध — १। २-४ श्लोकों में महर्षियों द्वारा मनु से प्रश्न पूछना ग्रौर मनु द्वारा उनका उत्तर देना, इस बात को सिद्ध करते हैं कि मनुस्मृति मनुप्रोक्त है। इन श्लोकों में भृगु से प्रश्नोत्तर के वर्णन से इसे भृगुप्रोक्त सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, जो उक्त श्लोकों के विरुद्ध है। इस ग्रन्तिवरोध के ग्राधार पर भी ये प्रक्षिप्त हैं। [विशेष टिप्पणी द्रष्टव्य १ / ११६ पर]।

प्रतीत होता है कि मौलिक विषयसंकेतक श्लोक ११। २६६ को निकालकर किसी भृगु-ग्रनुयायी ने इन श्लोकों को मिला दिया। ११। २६६ के रूप में रखा गया श्लोक कुछ प्राचीन पुस्तकों में अब भी उपलब्ध है। मनुस्मृति की शैली के ग्रनुरूप होने से यही श्लोक मौलिक है। १२। ८२, ११६ श्लोकों का इस श्लोक से मेल भी खाता है।

त्रिविध कर्मों का ग्रीर त्रिविध गतियों का कथन--

शुभाशुभकलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ (१)

(मनः-वाक्-देहसंभवं कमं) मन, वचन ग्रीर शरीर से किये जाने वाले कमं (शुभ-प्रशुभ-फलम्) शुभ-ग्रशुभ फल को देने वाले होते हैं, (कमंजा नृणाम्) ग्रीर उन कमों के श्रनुसार मनुष्यों की (उत्तम-ग्रथम-मध्यमाः गतयः) उत्तम, मध्यम ग्रीर ग्रधम ये तीन गतियाँ = जन्मावस्थाएँ होती हैं।। ३।।

मन कर्मी का प्रवर्तक ---

तस्येह त्रिविघस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः । दशलक्षरायुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥४॥ (२)

(इह) इस विषय में (देहिन: मनः) मनुष्य के मन को (तस्य त्रिविधस्य + ग्रिपि त्रि + ग्रिधिष्ठानस्य दशलक्षण्युक्तस्य) उस उत्तम, मध्यम, ग्रिप्य भेद से तीन प्रकार के; मन, यचन, क्रिया भेद से तीन ग्राश्रय वाले ग्रीर दशलक्षणों [१२।५-७] से युक्त कर्म का (प्रवर्तकं विद्यात्) प्रवृत्त करनेवाला जानो ॥४॥

त्रिविध मानसिक बुरे कर्म ---

परद्रव्येष्वभिष्यानं मनसानिष्टिक्तनम् । वितथाभिनिवेशस्च त्रिविधं कर्मं मानसम् ॥ ५ ॥ (३)

(त्रिविधं गानसं कर्म) मानसिक कर्मी में ते तीन मुख्य श्रधर्म हैं (परद्रव्येषु + ग्रभिध्यानम्) परद्रव्यहरएा श्रथवा चोरी [का विचार] (मनसा + ग्रनिष्टचिंतनम्) लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष करना, ईंब्रा करना, (वितथ + ग्रभिनिवेशः) वितथाभिनिवेश अर्थात् मिच्या निश्चय करना ।। ধু ।। (उप३ेश मञ्जरी ३४)

चतुर्विध वाचिक बुरे कर्म---

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः । स्रसंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥ (४)

(वाङ्मयं चतुर्विधं स्यात्) वाचिक ग्रधमं चार हैं—(पारुष्यम्) पारुष्य ग्रथीत् कठोरभाषण । सब समय, सब ठौर मृदुभाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी ग्रन्थे मनुष्य को 'ग्रो ग्रंथे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषणा होने के कारण ग्रधमं है। (अनुतं च + एव) अनृत-भःषण ग्रथीत् भूठ बोलना, (पैशुन्यं च + ग्रिप) पैशुन्य ग्रथीत् चुगली करना, (ग्रसम्बद्ध प्रलापः) ग्रसम्बद्धप्रलाप ग्रथीत् जानबूभकर [लांछन या बुराई वनाकर] बात को उड़ाना ॥ ६ ॥ (उपदेश मञ्जरी० ३४)

त्रिविध शारीरिक बुरे कर्म-

श्रवतानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्। १७॥ (४)

(शारीरं त्रिविधं स्मृतम) शारीरिक **अधर्म** तीन हैं—(ग्रदत्तानाम् +उपादानम्) चोरी (हिंसा च + एव) हिंसा ग्रर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, क्ष (परदारोपसेवा) रंडीबाजी वा व्यभिचारादि कर्म करना ॥ ७॥ (उपदेशमञ्जरी० ३४)

क्ष (ग्रविधानतः) शास्त्रविरुद्ध रूप में करना [शास्त्र में कुछ हिसाएँ विहित हैं, जैसे—ग्रापत्काल में ग्राततायी की हिसा (८।३४८-३५१), हिस्रपशु की हिसा, [युद्ध में शत्रुधों की हिसा ग्रादि]।.....

जैसा कर्म उसी प्रकार उसका योग---

मानसं मनसैवायमुपभुङ्कते शुभाशुभन् । वाचा वाचाकृतं कर्मं कायेनैव च कायिकम् ॥ ८॥ (६)

(ग्रयम्) यह जीव (मानसं शुभ + ग्रशुभं कर्म मनसा + एव) मन से जिस शुभ वा ग्रशुभ कर्म को करता है उसको मन, (वाचाकृतं वाचा) वारणी से किये को वारणी, (च कायिकं कायेन + एव) ग्रीर शरीर से किये को शरीर से (उपभुङ्क्ते) सुख-दु.ख को भोगता है।। ८।।

(स० प्र० नवम समु०)

### शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ६ ॥ (७)

(नरः) जो नर (शरीरजैः कर्मदोषैः स्थावरतां याति) शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने ग्रादि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्ष ग्रादि स्थावर का जन्म. (वाचिकैः पिक्षमृगताम) वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी ग्रीर मृग ग्रादि तथा (मानसैः ग्रन्त्यजातिताम्) मन से किये दुष्टकर्मों से चंडाल ग्रादि का शरीर मिलता है।। १।।

(स॰ प्र॰ नवम समुल्लास)

त्रिदण्डी की परिभाषा---

बाग्वण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तर्थंव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिवण्डीति स उच्यते ॥ १०॥

(वाक्-दण्डः मनोदण्डः तथा कायदण्डः) वाग्दण्ड, मनोदण्ड श्रीर शरीरदण्ड (एते यस्य बुद्धौ निहिताः) ये तीन दण्ड जिसकी बुद्धि में स्थित हैं (सः 'त्रिदण्डी' इति + उच्यते) वह वस्तुतः 'त्रिदण्डी' = तीनों को दमन करने वाला श्रथित् संन्यासी कहलाता है।। १०॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामकोषौ तु संयम्य ततः सिद्धि नियच्छति ॥ ११ ॥

(काम-क्रोधी संयम्य) काम और क्रोध को रोककर (मानवः) जो मनुष्य (एतत्) इन [१२।१०] (त्रिदण्डं सर्वभूतेषु निक्षिप्य) तीन दण्डों का सब प्राणियों में व्यवहार करता है (ततः सिद्धि नियच्छति) वह उस व्यवहार से सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।। ११।।

क्षेत्रज्ञ ग्रीर भूतात्मा —

योऽस्यात्मनः कारियता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुर्षः ॥ १२ ॥

(यः + ग्रस्य + ग्रात्मनः कारियता) जो इस ग्रात्मा को कर्मों में प्रवृत्त करता है (तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते) उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है, ग्रीर (यः कर्मािएा करोित) जो कर्मों को करता है (बुर्धः सः भूतात्मा उच्यते) विद्वान् उसे 'भूतात्मा' कहते हैं ॥ १२ ॥

फल का श्रनुभवकत्ता जीवात्मा---

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेवयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३॥ (सर्वदेहिनाम् ग्रन्यः) सब प्राणियों का शरीर से भिन्न (जीवसंज्ञकः सहजः ग्रन्तरारमा) 'जीव' नामक स्वाभाविक श्रारमाहै, श्रयति जीवारमा है (येन जन्मसु) जो प्रत्येक जन्म में (सर्व सुखं च दुःखं वेदयते) सब सुख ग्रीर दुःख को ग्रनुभव करता है ॥ १३॥

> तावुमौ भूतसंप्रक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ।। १४ ॥

(भूतसंपृक्तौ तौ + उभौ महान् च क्षेत्रज्ञः) पञ्चभूतों से मिले हुए वे दोनों 'महान्' भौर 'क्षेत्रज्ञ' (उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तम्) बड़े-छोटे सब प्राणियों में स्थित उस परमात्मा को (ब्याप्य तिष्ठतः) ग्राश्रित करके रहते हैं ॥ १४॥

म्रसंस्या मूर्तयस्तस्य निष्यतन्ति शरीरतः। उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥

(तस्य शरीरतः) उस परमात्मा के शरीर से (ग्रसंख्याः मूर्तयः निष्पतन्ति) ग्रसंख्य जीव निकलते हैं (याः) जो (उच्च-ग्रवचानि भूतानि सतनं चेष्टयन्ति) वड़े-छोटे सभी प्राणियों को कर्मों में प्रवृत्त कराते हैं ॥ १४॥

पञ्चम्य एव मात्राम्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृ्णाम् । शरीरं यातनार्थोयमन्यदृत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

(दुष्कृतिनां नृएाम्) बुरे कर्म करने वाले मनुष्यों का (प्रेत्य) मरकर (यात-नार्यः) फलस्वरूप यातनाग्नों को भुगतने के लिए (ग्रयम् + ग्रन्यत् शरीरम्) इस संसार में दूसरा शरीर (पञ्चम्यः एव मात्राम्यः ध्रुवम् उत्पद्यते) पञ्चतन्मात्राग्नों से, निश्चित रूप से उत्पन्न होता है।। १६॥

> तेनानुभूय ता यामीः शरीरेगोह यातनाः। तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥१७॥

(तेन शरीरेण) उस शरीर से (इह) इस संसार में (ताः यामीः यातनाः अनुभूय) मृत्यु-तम्बन्धी यातनाग्रों को भोगकर वे (तासु + एव भूतमात्रासु) उन्हीं महाभूतों की तन्मात्राओं में (विभागशः प्रलीयन्ते) यथायोग्य लीन हो जाते हैं। १७॥

सोऽनुभूयासुलोदकान्दोषान् विषयसङ्गजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

(सः) वह प्राणी (विषयसङ्गगान् ग्रमुखोदकान् दोषान् अनुभूय) रूप, स्पर्श आदि विषयों के संसर्ग से उत्पन्न दुःख-पूर्ण पापफलों को भोगकर, (ब्यपेतकल्मषः) निष्पाप होकर, (तौ + उभौ महौजसौ ग्रभ्येति) उन दोनों महापराक्रमी 'महत्' ग्रौर 'परमात्मा' का ग्राश्रय करता है ॥ १८ ॥

> तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह। याम्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १६ ॥

(तौ) वे दोनों महत् श्रीर परमात्मा (श्रतिन्द्रतौ) तत्परतापूर्वक (सह) मिलकर (तस्य धर्म च पापं पश्यतः) जीव के धर्म श्रीर पाप को देखते हैं। (याभ्यां सम्पृक्तः) जिनसे युक्त होकर वह जीव (इह च प्रेत्य सुख-श्रसुखं प्राप्नोति) इस जन्म श्रीर परजन्म में सुख-दु:ख को प्राप्त करता है।। १६।।

यदाचरित धर्मं स प्रायशोऽधर्ममत्पशः। तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥ २०॥

(यत् सः प्रायशः धर्मम्) यदि वह जीव प्रधिक धर्म का (च) श्रीर (श्रव्पशः ग्रधमम् श्राचरति) थोड़ा श्रधमं का श्राचरण करता है तो (तैः एव भूतैः आवृतः) उन पञ्चमहाभूत श्रादि से युक्त होकर (स्वर्गे सुखम् + उपाश्नुते) स्वर्ग में सुख भोगता है।। २०।।

यदि तु प्रायशोऽधमं सेवते धर्ममल्पशः। तैर्भृतैः स परिस्यक्तो यामी प्राप्नोति यातनाः॥ २१॥

(यदि तु) त्रौर यदि (प्रायशः श्रधमंम् त्रल्पशः धर्मं सेवते) त्रधिक स्रधमं ग्रौर थोड़ा धर्म का स्राचरण करता है तो (सः) वह जीव (तैः भूतैः परित्यक्तः) उन पञ्च-भूतों से छूटकर अर्थात् मरकर (यामीः यातनाः प्राप्नोति) यम-यातनाग्रों को भोगता है ॥ २१ ॥

> यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । ताम्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

(ताः यामीः यातनाः प्राप्य) उन यम-सम्बन्धी यातनाओं को भोगकर (वीतकल्मषः सः जीवः) निष्पाप हुम्रा वह जीव (तानि + एव पञ्चभूतानि पुनः भागशः म्रप्येति) उन्हीं पञ्चभूतों को पुनः यथायोग्य रूप से प्राप्त करता है ग्रथित् मानव-जन्म को पा लेता है।। २२॥

एता हृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽचर्मतश्चेव धर्मे दृष्यात्सवा मनः ॥ २३ ॥

मनुष्य को चाहिए कि (स्वेन + एव चेतसा) ग्रपने मन से स्वयं (ग्रस्य जीवस्य धर्मतः च ग्रधर्मतः एताः गतीः हष्ट्वा) इस जीव की धर्म-ग्रधर्मं से प्राप्य गतियों को देख-विचारकर (सदा धर्में मनः दघ्यात्) सदा धर्में में मन लगावे ॥ २३॥

आनुशिका : १०---२३ श्लोक निम्न माधारों के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं---

१. विषयविरोध—११। २६६, १२। ३-४, ५१, ५२ इलोकों में उक्त वचनों के अनुसार प्रस्तुत विषय कर्मफलविधान का है। १०—११ इलोकों में त्रिदण्डों का वर्णन इस विषय से बाह्य होने के कारण विरुद्ध है, ग्रतः ये इलोक प्रक्षिप्त हैं।

- २. प्रसंगिवरोध १२। ३-४, ५१ क्लोकों के वर्णन से मनु ने प्रस्तुत प्रसंग का एक निश्चित क्रम नियत कर दिया है। वह यह कि यह प्रसंग कर्मफलविधान का है, उस प्रसंगक्षम में पहले त्रिविध कर्मों का वर्णन और फिर त्रिविध गतियों का वर्णन होगा। तदनुसार ५—६ क्लोकों में त्रिविध कर्मों का वर्णन है, और २४—५१ में त्रिविधगतियों के न्नाधार एवं उनका वर्णन है। १०-२३ क्लोकों ने संकेतित चर्चा से भिन्न चर्चाओं का वर्णन करके उस नियत प्रसंग को भंग कर दिया है। इन क्लोकों में वर्णित न्नास्मा न्नादि का विवेचन या गतियाँ पूर्वापर प्रसंग से मेल नहीं खातीं। न्नातः ये सभी क्लोक प्रसंगभञ्जक होने से प्रसंगविषद हैं, इस प्रकार प्रक्षिप्त हैं।
- ३. श्रन्तिंवरोध—-(१) १५ वें श्लोक का वर्णन १।६-१६, १६ श्रादि इन सभी श्लोकों के विरुद्ध है, जिनमें परमात्मा द्वारा प्रकृति और श्रात्मा के संयोग से प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। (२) २०-२२, २७ श्लोकों में स्वर्ग श्रीर नरक लोकों का वर्णन मनु की मान्यता के विरुद्ध है। मनु 'स्वर्ग' मुख का नाम ग्रीर नरक, दुःख का नाम मानते हैं, पृथक् लोकविशेष नहीं मानते। [३।७६; ६। २८]। इसी कारण १२। ३६-५१, ७४ श्लोकों में इसी लोक में योनियों की प्राप्ति का कथन है। इस प्रकार ये श्लोक श्रन्तिंधान के श्राधार पर प्रक्षिप्त हैं, शेष श्लोक इनसे सम्बद्ध होने के कारण इनके प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जायेंगे।

प्रकृति के भ्रात्मा को प्रभावित करने वाले तीन गुण-

सत्त्वं रजस्तमञ्ज्ञेव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् । यैर्व्याप्येमान्त्र्यितो भावान्महान्सर्वानञ्जेषतः ।। २४ ।। (८)

(सत्त्वं रजः च तमः एव त्रीन् ग्रात्मनः गुणान् विद्यात्) सत्वगुणः, रजोगुण ग्रीर तमोगुणः, इन तीनों को [आत्माको प्रभावित करनेवाले ]प्रकृति के गुणः समभ्तें, (महान्) महत्तत्त्व = प्रकृति का प्रथम विकार [१।१४] (यैः) जिन इन तोन गुणों से (ग्रशेषतः) विना किसी पदार्थं को छोड़े (इमान् सर्वान् भावान् व्याप्य स्थितः) इन समस्त प्रकृति के कार्यरूप पदार्थों को व्याप्त करके स्थित है ॥ २४॥

अन्तु शिल्डनाः 'म्रात्मा' शब्द का अयं प्रकृति भी होता है। यहाँ यही अयं प्रासंगिक है। इस अयं से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन १। १५ पर द्रष्टव्य है।

जिस गुण की प्रधानता, वैसी ही आत्मा---

यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनाति रच्यते । स तदा तद्गुराप्रायं तं करोति शरीरिणम् ।। २४ ।। (६)

(यः गुरगः एषां देहे) जो गुण इन जीवों के देह में (साकल्येन + ऋति-

रिच्यते) ग्रधिकता से वर्तता है (सः तदा तं शरीरिणम्) वह गुण उस जीव को (तद्गुराप्रायं करोति) ग्रपने सदश कर लेता है।। २५।। (स० प्र० नवम समु०)

> सस्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् । एतद्वचान्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥ (१०)

(सत्त्वं ज्ञानम्) जब म्रात्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, (म्रज्ञानं तमः) जब म्रज्ञान रहे तब तम, (रागद्वेषो रजः स्मृतम्) म्रौर जब राग-द्वेष में म्रात्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए (एतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः एतत् व्याप्ति-मत्) ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं।। २६।। (स० प्र० नवम समु०)

ग्रात्मा में सत्वगुण प्रधानता की पहचान---

तत्र यत्त्रीतिसंयु₹तं किचिदात्मिन लक्षयेत्। प्रज्ञान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपघारयेत्।। २७।। (११)

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि (तत्र ब्रात्मिन यत् किंचित् प्रीतिसंयुक्तम्) जब ब्रात्मा में प्रसन्तता (प्रशान्तम् + इव शुद्धाभं लक्षयेत्) मन प्रसन्न प्रशान्त के सदश शुद्धभानयुक्त वर्ते (तत् + उपधारयेत् सत्त्वम्) तब समभना कि सत्त्वगुण प्रधान श्रीर रजोगुण तथा तमोगुण श्रप्रधान हैं।। २७।। (स० प्र० नवम समु०)

श्रात्मा में रजीगुण प्रधानता की पहचान-

यतु दुः खसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः । तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥ (१२)

% (यत् तु स्रात्मनः) जब स्रात्मा स्रोरमन (दुःलसमायुक्तम् + स्रिप्रीतिकरम्) दुःलसंयुक्त प्रसन्ततारिहत विषय में (सततं हारि) इघर-उधर गमन स्रागमन में लगे (तत् विद्यात् रजः) तब समक्षना कि % रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुए स्रोर तमोगुण स्रप्रधान है।। २८।। (स॰ प्र॰ नवम समु॰)

🖇 (देहिनाम्) प्राशियों के .....

🗱 (प्रतिपम्) सत्वगुण का विरोधी .....

श्रात्मा में तमोगुण की प्रधानता की पहचान-

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमब्यक्तं विषयात्मकम् । स्रप्रतक्यंमिक्तियं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २६ ॥ (१३) (यत् तु मोहसंयुक्तं स्यात्) जव मोह ग्रयात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुन्ना ग्रात्मा ग्रोर मन हो, (ग्रव्यक्तम्) जव ग्रात्मा ग्रोर मन में कुछ विवेक न रहे, (विषयात्मकम्) विषयों में ग्रासक्त, (ग्रप्रतक्यंम्) तर्क-वितकं रहित, (ग्रविज्ञेयम्) जानने के योग्य न हो, (तत् +उपधारयेत् तमः) तब निश्चय समक्षता चाहिष् कि इन समय मुक्त में तमोगुण प्रधान, ग्रोर सत्त्व गुरा तथा रजोगुरा ग्रप्रधान है।। २६।। (स॰ प्र॰ नवम समु॰)

त्रयासामिप चैतेषां गुसानां यः फलोदयः। अग्रचो मध्यो जघन्यश्व तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ ३०॥ (१४)

भ्रब (यः) जो (च + एतेषां त्रयाणाम् + भ्रिष भ्रग्रघः मध्यः च जघन्यः फलोदयः) इन तीनों गुणों का उत्तम, मध्यम भ्रौर निकृष्ट फलोदय होता है (तम् भ्रशेषतः प्रवक्ष्यामि) उसको पूर्ण भाव से कहने हैं।। ३०।।
(स० प्र० नवम सम्०)

सत्वगुण को प्रत्यक्ष कराने वाले लक्षण-

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचिमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मेक्रियात्मिचन्ता च सात्त्विकं गृगुलक्षगुम् ॥ ३१ ॥ (१५)

जो (वेदाम्यासः तपः ज्ञानम्) वेदों का स्रम्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि (शौचम् + इन्द्रियनिग्रहः) पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह (धर्मक्रिया च स्रात्मिचन्ता) धर्मक्रिया श्रीर स्रात्मा का चिन्तन होता है (सात्त्विकं गुरालक्षणम्) यही सत्त्वगुरा का लक्षरा है ।। ३१।।

(स॰ प्र॰ नवम समु०)

रजोगुण के लक्षण--

आरम्भरुचिताऽश्रेर्यमसत्कार्यपरिग्रहः । विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुएलक्षरएम् ॥ ३२ ॥ (१६)

जब रजोगुण का उदय, सत्त्वगुण ग्रीर तमोगुण का ग्रन्तर्भाव होता है तब (ग्रारम्भ-रुचिता) ग्रारम्भ में रुचिता, (ग्रधेयंम्) धैर्यत्याग (ग्रस-त्कार्यपरिग्रहः) ग्रसत् कर्मों का ग्रहण, (ग्रजस्रं विषय-उपसेवा) निरन्तर विषयों की सेवा में प्रोति होतो है (राजसं गुणलक्षणम्) तभी समभना कि रजोगुण प्रवानता से मुक्त में वर्त रहा है।। ३२।। (स० प्र० नवम समु०) तमोगुण के लक्षण—

> लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रोयं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षराम् ॥३३॥ (१७)

जब तमोगुए। का उदय और [शेष] दोनों का बन्तर्भाव होता है. तब (लोभः) ग्रत्यन्त लोभ ग्रर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, (स्वप्नः) ग्रत्यन्त ग्रालस्य ग्रीर निद्रा, (ग्रधृतिः) धैयं का नाश, (क्रीयंम्) क्रूरता का होना (नास्तिक्यम्) नास्तिक्य ग्रर्थात् वेद ग्रीर ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, (भिन्नवृत्तिता) भिन्न-भिन्न ग्रन्तः करए। की वृत्ति (च) ग्रीर (प्रमादः) एकाग्रता का ग्रभाव, (याचिष्णृता) ग्रीर किन्हीं व्यसनों में फंसना होवे, तब (तामसं गुए। लक्षणम्) तमोगुए। का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है।। ३३।। (स० प्र० नवम समु०)

चयाणामि चैतेषां गुराानां त्रिषु तिष्ठताम् । इवं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षराम् ॥ ३४॥ (१८)

(त्रिषु तिष्ठताम्) तीनों कालों [भूत, भविष्यत् ग्रीर वर्तमान]
में विद्यमान रहने वाले (एतेषां त्रयाणाम् + ग्रीप गुणानाम्) इन तीनों
गुणों के (गुणलक्षणं क्रमशः) 'गुणलक्षणं को कमशः (सामासिकम् इदं ज्ञीयम्) संक्षेप में इस प्रकार [१२। ३४-३८] समभें।। ३४।।

(स॰ प्र॰ नवम समु॰)

तमोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा-

यरकमं कृत्वा कुर्वेश्च करिष्यंश्चेव लज्जिति। तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुग्गलक्षणम्।। ३४।। (१६)

(यत् कर्म कृत्वा) जब ग्रपना भ्रात्मा जिस कर्म को करके, (कुर्वन्) करता हुम्रा (च) भ्रोर (करिष्यन् + एव लज्जिति) करने की इच्छा से लज्जा, शंका भ्रोर भय को प्राप्त होवे (तत् ज्ञेयं सर्व तामसं गुरालक्षणम्) तब जानो कि मुभ में प्रवृद्ध तमोगुण है।। ३५।। (स॰ प्र॰ नवम समु॰)

रजोगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाषा—

येनास्मिन्कर्मं गा लोके स्यातिमिच्छति पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तिद्वज्ञेयं तु राजसम् ॥३६॥ (२०)

(येन कर्मणा) जिस कर्म से (ग्रस्मिन् लोके) इस लोक में जीवातमा (पुष्कलां ख्यातिम्+इच्छति) पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, (ग्रसंपत्ती न शोचित) दरिद्रता होने में भो चारण, भाट ग्रादि को [ग्रपनी प्रसिद्धि के लिए] दान देना नहीं छोड़ता, (तत् विज्ञेयं तु राजसम्) तब समक्षना कि मुक्त में रजोगुण प्रवल है।। ३६।। (स॰ प्र० नवम समु०) सत्वगुणी कर्म की संक्षिप्त परिभाष:---

यत्सर्वेगेच्छति ज्ञातं यन्न लज्जित चाचरन्। येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७॥ (२१)

श्रीर जब मनुष्य का श्रातमा (सर्वेण ज्ञातुम् + इच्छिति) सब से जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाये, (यत् च श्राचरन् न लज्जिति) श्रच्छे कामों में लज्जा न करे (च) श्रीर (यन श्रस्य श्रात्मा तुष्यिति) जिस कमं से श्रात्मा प्रसन्न होवे श्रर्थात् धर्माचरण ही में रुचि रहे (तत् सत्तव-गुणलक्षणम्) तब समक्षना कि मुक्त में सत्त्वगुण प्रबल है।। ३७।।

(स॰ प्र॰ नवम समु०)

तीनों गुणों के प्रधान उद्देश्य व पारस्परिक श्रेष्ठता---

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थं उच्यते। सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्टचमेषां यथोत्तरम्॥ ३८॥ (२२)

(तनसः लक्षणं कामः) तमोगुण का लक्षण काम, (रजसः तु+म्रथंः) रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा, (सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः) सत्त्वगुण का लक्षण धर्मसेवा करना है, (एषां यथोत्तरं श्रेष्ठिचम्) परन्तु तमोगुण से रजोगुण ग्रीर रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है।। ३८।। (स०प्र० नवम समु०)

> येन यस्तु गुरोनेषां संसारान्त्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३६ ॥ (२३)

(एषाम्) इन तीन गुणों में (येन गुणोन) जिस गुण से (यः तु) जो मनुष्य (संसारान् प्रतिपद्यते) जिस सांसारिक गति को प्राप्त करता है (तान्) उन सबको (ग्रस्य सर्वस्य यथाक्रमं समासेन वक्ष्यामि) समस्त संसार के क्रम से, संक्षेप से कहुँगा।। ३६।।

"म्रब जिस-जिस गुणों से, जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उस के को किसारे हैं।" विकास समुक

तीन गुर्गों के म्राधार पर तीन गतियां -- .

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्तवं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥ (२४)

(सात्त्विकाः देवत्वम्) जो मनुष्य सात्त्विक हैं वे देव ग्रर्थात् विद्वान्, (राजसाः मनुष्यत्वम्) जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, (च) ग्रौर (तामसाः तियंवत्वम्) जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीचगति को (यान्ति) प्राप्त करते हैं, (इति + एषा त्रिविधा गतिः) इस प्रकार यह ित्रविध गति है । ४० ।। (स॰ प्र० नवम समु०)

अवस्तुर्होरिट देव शब्द के प्रयंशान एवं देवकोटि के व्यक्तियों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए २।१४१ पर 'देव' विषयक प्रमुशीलन द्रष्टव्य है।

तीन गतियों के कर्म, विद्या के ग्राधार पर तीन गौण गतियां-

त्रिविधा त्रिविधेवा तु विज्ञेया गौगिकौ गतिः।

अथमा मध्यमाध्यचा च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥ (२४)

(एषा त्रिविधा) ये तीन प्रकार की [सत्त्व, रज, तम] गतियाँ (कर्मविद्या विशेषतः) कर्म ग्रीर विद्या की विशेषताग्रों के ग्राधार पर प्रत्येक की पुनः (ग्रधमा, मध्यना च ग्रग्रधा) ग्रधम, मध्यम ग्रीर उत्तम भेद से (त्रिविधा गौणिकी गतिः विज्ञेया) तीन-तीन प्रकार की गौण गतियाँ होती हैं [१ । ४२-५०] ॥ ४१॥

# तीन गतियों के तीन-तीन भेद श्रौर तदनुसार जन्मावस्थाओं के फल

तामस गतियों के तीन भेद-

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च सकच्छपाः । पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥(२६)

(जघन्या तामसी गितः) जो ग्रत्यन्त तमोगुणी हैं वे (स्थावराः) स्थावर वृक्षादि [१।४६-४६] (कृमिकीटाः मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः पशवरच मृगाः) कृमि, कोट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु श्रीर मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ (स० प्र० नवम समु०)

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गहिताः । सिहा व्याच्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥ (२७)

(मध्यमा तामसी गितः) जो मध्यस तमोगुणी हैं वे (हस्तिनः तुरंगाः) हाथी, घोड़ा, (शूद्राः म्लेच्छाः निन्दिताः) शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करने हारे, (सिहाः व्याघ्राः वराहाः) सिंह, व्याघ्र, वराह ग्रयीत् सूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं।। ४३।। (स० प्र० नवम समु०)

चाररणाश्च सुर्थणाश्च पुरुषाश्चेव दाम्भिकाः। रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीवृत्तमा गतिः॥४४॥ (२८) (तामसीषु उत्तमा गितः) जो उत्तम तमोगुणी हैं वे (चारणाः सुपर्णाः दाम्भिकाः पुरुषाः) चारण=जो कि किवत्त, दोहा म्रादि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं, सुन्दर पक्षी, दाम्भिक पुरुष म्रर्थात् म्रपने सुख के लिए म्रपनी प्रशंसा करने हारे, (रक्षांसि पिशाचाः) राक्षस जो हिंसक, पिशाच = म्रानाचारी म्रर्थात् मद्य म्रादि के म्राहारकर्त्ता म्रीर मिलन रहते हैं वह उत्तम तमोगुण के कमं का फल है। । ४४।। (स० प्र० नवम समु०)

अर्जू श्रील्डनः राक्षस ग्रीर पिशाच शब्दों पर विस्तृत विवेचन ३।३३-३४ की समीक्षा में देखिये।

राजस गतियों के तीन भेद-

भल्ला मल्ला नटाइचैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताइच जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ (२६)

(जघन्या राजसी गितः) जो ग्रधम रजोगुणी हैं वे (फल्लाः) भल्ला ग्रार्थात् तलवार ग्रादि से मारने वा कुदार ग्रादि से खोदने हारे, (मल्लाः) मल्ला ग्रार्थात् नौका ग्रादि के चलाने वाले, (नटाः) नट, जो बांस ग्रादि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना ग्रादि करते हैं, (शस्त्रवृत्तयः पुरुषाः) शस्त्र-धारी भृत्य, (च) ग्रीर (मद्यपानप्रसक्ताः) मद्य पीने में ग्रासक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल हैं।। ४५।। (स॰ प्र० नवम समु०)

> राजानः क्षत्रियाश्चेव राज्ञां चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥ (३०)

(मध्यमा राजसी गितः) जो मध्यम रजोगुर्गी होते हैं वे (राजानः क्षित्रयाः) राजा, क्षित्रयवर्णस्थ, (राज्ञां पुरोहिताः) राजाभ्रों के पुरोहित, (वादयुद्धप्रधानाः) वाद-विवाद करने वाले-दूत, प्राड्विवाक=वकील, वैरिस्टर, युद्धविभाग के भ्रध्यक्ष के जन्म पाते हैं।। ४६।।

(स॰ प्र॰ नवमसमु॰)

गन्धर्वा गुह्यका घटा विद्युधानुष्यरः े तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीवृत्तमा गतिः॥४७॥ (३१)

(राजसीषु उत्तमा गितः) जो उत्तम रजोगुणी हैं वे (गंधर्वाः) गंधवं = गाने वाले, (गृह्यकाः) गृह्यक=वादित्र बजाने वाले, (गृह्यकाः) यक्ष = धनाढ्य, (विबुधा भ्रनुचराः) विद्वानों के सेवक, (तथा + एव सर्वाः भ्रष्तरसः) भीर भ्रष्तरा श्रयात् जो उत्तम रूप वाली स्त्री का जन्म पाते हैं।। ४७।।
(स० प्र० नवमसम०)

श्रन्तुर्शीत्जनः गन्धर्वं शब्द पर विस्तृत प्रामाणिक विवेचन ३।३२ की समीक्षा में द्रष्टव्य है।

सात्त्विक गतियों के तीन भेद-

# तापसा यतयो वित्रा ये च वैमानिका गणाः। नक्षत्राणि च वैत्याइच प्रथमा सास्विकी गतिः।।४८। (३२)

(तापसाः) जो तपस्वी, (यतयः) यति, संन्यासी, (विप्राः) वेदपाठी, (वैमानिका गएगः) विमान के चलाने वाते, (नक्षत्राणि) ज्योतिषी, (च) भ्रौर (दैत्याः) दैत्य श्रर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं उनको (प्रथमा साह्यिकी गति) प्रथम सत्त्वगुरा के कर्म का फल जानो ॥ ४८॥ ।

(स॰ प्र॰ नवम समु॰)

अर नुर्रिट नाः ४८ वं इलोक के प्रचलित अयं में मशुद्धि — टीका-कारों ने इस श्लोक में म्राये 'नक्षत्र' शब्द का जड़ नक्षत्र विशेष म्रयं किया है, जो मनु की मान्यता के विरुद्ध है। १२। २३, २४, ३५, ३७, ४०, ४१ श्लोकों के म्रनुसार इन श्लोकों में जीव की गतियों का निरूपण किया गया है, जड़ वस्तुम्नों का नहीं। नक्षत्र कोई योनिविशेष नहीं हैं। वे तो जड़ पदार्थ हैं, म्रतः यह म्रयं सही नहीं है। इस भाष्य में किया गया लाक्षणिक म्रयं 'ज्योतिषी' म्रयात् 'नक्षत्र-विज्ञान का वेत्ता' म्रयं मनु-सम्मत है। यहाँ लक्षणा शब्दशक्ति से ही अयं की निष्पत्ति होगी।

#### यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतीं विवत्सराः। पितरञ्चेव साध्याञ्च द्वितीया सास्विकी गतिः॥ ४६॥ (३३)

(द्वितीया सात्त्विकी गितः) जो मध्यम सत्त्वगुरायुक्त होकर कर्म करते हैं वे जीव (यज्वानः) यज्ञकर्त्ता, (ऋषयः देवाः) वेदार्थवित् विद्वान्, (वेदाः ज्योतीषि वत्सराः) वेद, विद्युत् ग्रादि ग्रीर काल-विद्याके ज्ञाता, (पितरः) रक्षक, ज्ञानी (च) ग्रीर (साध्याः) साध्य — कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य ग्रध्यापक का जन्म पाते हैं।। ४६।।

(स॰ प्र॰ नवम समु॰)

# अन्तर्रोटानाः ४६ वें श्लोक के प्रचलित अर्थ में प्रशुद्धि-

१. [प्रचलित अर्थ-तपस्वी (वानप्रस्थ), यति (संन्यासी-भिक्षु), ब्राह्मण, वैमानिक गएा, नक्षत्र ग्रीर दैत्य, जघन्य सास्विकी गतियाँ हैं ॥ ४८॥ ]

२. [प्रचलित अर्थ — यजवा (विधिपूर्वक अनुष्ठान किये हुए), ऋषि, देव, वेद (इतिहास-प्रसिद्ध शरीरधारी वेदाभिमानी देयविशेष), ज्योति (भ्रुव आदि), वर्ष (इतिहास प्रसिद्ध शरीरधारी संवत्सर), पितर (सोमप आदि), और सौष्य (देव-योनि-विशेष); ये मध्यम सास्विकी गतियाँ हैं ॥ ४६ ॥

- (१) टीकाकारों ने 'ज्योतींषि' का 'घ्रुव तारे' म्रादि म्रथं किया है, यह १२।२३, २४, ३४, ३७, ४०, ४१ क्लोकों के संकेत के विरुद्ध है। जड़ वस्तु की कोई योनिविशेष नहीं होती। यह प्रसंग जीवों की योनियों का है। इसका लाक्षणिक अर्थ 'विद्युत् म्रादि के ज्ञाता' ही संगत है।
- (२) देव, साध्य ग्रीर पितरों की पृथक् योनिविशेष की कल्पना कपोलकित्त है। मनु के मत में देव ग्रीर पितर मनुष्यों के ही स्तरिवशेष हैं [इस विषयक विस्तृत विवेचन २।१५१ (२।१७६) की समीक्षा में द्रष्टब्य है,] साध्यविषयक समीक्षा १।२२ पर द्रष्टब्य है]।

# ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मी महानव्यक्तमेव च। उत्तमां सात्त्विकीमेनां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५०॥ (३४)

(उत्तमां सात्त्विकीं गतिम्) जो उत्तम सत्त्वगुरायुक्त होके उत्तम कर्म करते हैं वे (ब्रह्मा) ब्रह्मा स्मव वेदों का वेता, (विश्वसृजः) विश्वसृज सब मृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनाने हारे, (धर्मः) धार्मिक, (महान् च प्रव्यक्तम् + एव) सर्वोत्तम बुद्धियुक्त ग्रीर प्रव्यक्त के जन्म ग्रीर प्रकृतिविशत्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।। ५०।।

(स॰ प्र॰ नवमसमू॰)

- अस् क्रु क्रिंगिट्य : (१) ५० वं इलोक के प्रचलित अर्थ में अशुद्धि—(१) इस क्लोक में टीकाकारों द्वारा 'ब्रह्मा' और 'विश्वसृजः' से मरीचि आदि केवल ब्रह्मा से कुछ व्यक्तियों का ग्रहण करना मनुसम्मत नहीं है। चतुमुं ख ब्रह्मा की कल्पना निराधार है। इसी प्रकार मरीचि आदि भी 'विश्वसृजः' नहीं हैं। मृष्टि-स्रष्टा तो केवल ईश्वर को बताया है [१।६, १४-१५, १६, २२, ३३॥]। ये तीनों पूर्व श्लोक में ऋषिकोटि के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। मनुस्मृति में इनसे सम्बद्ध प्रसंग अनेक आधारों पर प्रक्षिप्त सिद्ध होता है [१।११-१३,३२-४१, ५०, ५१ की समीक्षा]। इनका अर्थ 'ब्रह्मा सब वेदों का वेत्ता' और विश्वसृजः सब मृष्टि को जानकर विविध विमानवादि यानों को बनाने हारे' यही संगत है। (२) इसी प्रकार 'धर्म' 'महान्' और 'ग्रव्यक्त' ये अमूत्तं और जड़ पदार्थं हैं, इनकी कोई योनिविशेष नहीं होती। यहाँ केवल जीवों की योनियों के वर्णन का प्रसंग है, ग्रतः इनके लाक्षणिक अर्थ ही प्रसंगसमत हैं।
  - (२) प्रकृतिविशित्व सिद्धि का विवेचन-प्रव्यक्त 'मूल प्रकृति' को कहते हैं।

१. [प्रचलित प्रयं—बह्या (चतुर्मुंख), विश्वस्रष्टा (मरीचि म्रादि), (शरीर-बारी) धर्म, महान्, प्रव्यक्त (सांख्यप्रसिद्ध दो तत्त्वविशेष); इनको विद्वान् उत्तम सात्त्विक गतियौ कहते हैं।। ४०॥]

म्रज्यक्त से यहाँ म्रभिप्राय उन योगी जनों से है जो 'प्रकृतिविशित्व' की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे योगी उत्तम सात्त्विक गति को प्राप्त होते हैं।

प्रकृति वशित्वसिद्धि का वर्णन योगदर्शन में म्राया है-

"ततो मनोजवित्वं विकरणमावः प्रधानजयदृ ।" [विभूति० ४८]

अर्थात्—इन्द्रियजय सिद्धि होने पर पुनः इन्द्रियों की विषयग्रहणवृत्ति में संयम करने से, मन के समान इन्द्रियों में गतिशीलता — स्फूर्ति और शक्ति आना, शरीर की अपेक्षा के बिना सूक्ष्म और दूरस्थ विषयों के ज्ञान की प्राप्ति और प्रधानजय — प्रकृति के विकारों को वश में करना; ये तीन सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं।

प्रधानजय ही प्रकृतिविशत्व सिद्धि है। इसकी सिद्धि पर योगी प्राकृतिक विकारों से ग्रवाधित रहकर कार्य कर सकता है। योगदर्शन में इस सिद्धि को 'मधु-प्रतीका' कहा है, जिसका ग्रथं है 'मोक्षानन्द की प्रतीकरूप' सिद्धि। इसके बाद योगी मोक्षप्राप्ति की स्थिति में पहुंच जाता है।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः। त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥ (३५)

(त्रिप्रकारस्य कर्मणः) मन, वचन, शरीर के भेद से तीन प्रकार के कर्मों का (त्रिविधः) सत्वगुण, रजोगुण ग्रीर तमोगुण नामक तीन प्रकार का फल, तथा (त्रिविधः) किर उनकी उत्तम, मध्यम, ग्रधम भेद से तीन-तीन गितयों वाने (सावंभौतिकः कृत्स्नः संसारः) सर्वभूतयुक्त सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का (एषः सवंः समुद्दिष्टः) यह पूर्ण वर्णन किया ॥ ४१॥

(स॰ प्र॰ नवम समु॰)

विषयों में ग्रासक्ति से ग्रीर ग्रधमेंसेवन से दुःखरूप जन्मों की प्राप्ति-

इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्नस्यासेवनेन च। पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२॥ (३६)

(इन्द्रियाणां प्रसंगेन) जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी (धर्मस्य + ग्रमेवनेन) धर्म को छोड़कर ग्रधमं करने हारे (अविद्वांसः) ग्रविद्वान् हैं (नराधमाः पापान् संसारान् संयान्ति) वे मनुष्यों में नीच जन्म, बुरे-बुरे दुः लरूप जन्म को पाते हैं।। ५२।। (स० प्र० नवम समु०)

कर्मानुसार जीव को योनियों की प्राप्ति-

यां यां योनि तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा। क्रमशो याति बोकेऽस्मिस्तत्तत्त्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

(म्रयं जीव. े यह जीव (इह) इस संसार में (येन येन कर्मणा) जिस-जिस कर्म

से (म्नस्मिन् लोके यां यां योनि याति) इस संसार की जिस-जिस योनि = जन्म को प्राप्त करता है (तत् तत् सर्व क्रमशः निवोधत) उस सबको क्रमशः सुनो- ।। ५३।।

> बहुन्वर्षगणान्धोरान्नरकान्त्राप्य तत्क्षयात् । संसारान्त्रतिषद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

(महापातिकनः) महापातकी [११। ५४ [ मनुष्य (बहून्-वर्षगणान् घौरान् नरकान् प्राप्य) भ्रनेक वर्षसमूहों तक भयंकर नरकों को पाकर (तत् क्षयात्) पापों के उपभोग रूप क्षीणता के अनन्तर (इमान् संसारान् प्रतिपद्यन्ते) संसार में निम्न योनियों को प्राप्त करते हैं— ॥ ५४॥

> इवसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ४४ ॥

(ब्रह्महा) ब्रह्महत्यारा (श्व-सूकर-खर-उष्ट्राणां गो-ग्रजा-ग्रवि-मृग-पक्षिणां चण्डालपुक्कसानाम्) कुत्ता, सूग्रर, गधा, ऊंट, गौ, बकरी, भेड़, मृग, पक्षी, चण्डाल [१०। १६] ग्रौर पुक्कस [१०। १८], (योनिम् + ऋच्छति) इन योनियों को प्राप्त करता है।। ५४।।

कृमिकीटपतङ्गानां विष्भुजां चैव पक्षिणाम् । हिलालां चैव सस्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

(सुरापः ब्राह्मणः) सुरा पीने वाला ब्राह्मण (क्रुमि-कीट-पतङ्गानां विड्भुजां च पक्षिणाम्) कृमि, कीट, पतङ्गे, विष्ठा खाने वाले पक्षी कीवे म्रादि, (च) म्रीर हिस्राणां सत्त्वानाम्) हिसक शेर म्रादि पशु, इनकी (व्रजेत्) योनि को प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

> लूताहिसरटानां च तिरझ्वां चाम्बुवारिएगम् । हिस्राएगं च पिद्याचानां स्तेनो वित्रः सहस्रक्षः ॥ ५७ ॥

(स्तेनः विष्रः) चोर बाह्मण (लूता-घ्रहि-सरटानां तिरश्चाम् ग्रम्बुचारिणां पिशाचानाम्) मकडी, सांप, गिरगिट, तियंक् अन्तुओं की, मगर ग्रादि जलचर जीव, हिंसक स्वभाव के पिशाच बादि की (सहस्रशः) योनियों में हुजारों बार जन्म लेता है

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यावां विष्ट्रणामपि। ।। १८ ।। क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ।। १८ ॥

(गुरुतल्पगः) गुरुपत्नी-गामी (तृण्-गुल्म-लतानां क्रव्यादां दंष्ट्रिणां च क्रूरकर्म-कृताम्) घास, भाड़ीदार पौषे, बेल, कच्चे मांस को खाने वाले, दाढ़ वाले बाघ ग्रादि, और क्रूर कर्म करने वाले, इनकी योनियों में (शतशः) सैंकड़ों बार जन्मता है।। ५८॥

> हिस्रा मबन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽमध्यमक्षिरणः । परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतास्यस्त्रीनिवेविरणः ॥ ५६ ॥

(हिस्रा: कथ्यादा: मवन्ति) हिंसक मनुष्य कच्चे मांस खाने वाले बाघ ग्रादि की योनि को प्राप्त करते हैं, (ग्रमक्ष्यभक्षिण: क्रमयः) ग्रमक्ष्य मोजन करने वाले कृमि बनते हैं, (स्तेनाः) चोर (परस्पर-ग्रादिनः) ग्रापस में एक दूसरे को खाने वाले सांपनेवला ग्रादि बनते हैं, ग्रीर (ग्रन्त्यस्त्रीनिषेविण: प्रेताः) चण्डाल ग्रादि नीचों की स्त्री से संभोग करने वाले प्रेत बनते हैं।। ४६।।

#### संयोगं पतितैर्गरवा परस्यैव च योवितम् । ग्रपहृत्य च विप्रस्वं मवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

(पितितैः संयोगं कृत्वा) पितित लोगों के साथ संसर्गं करने पर (परस्य एव योषितम्) परस्त्री के साथ संसर्गं करके, (च) ग्रीर (विप्रस्वम् ग्रपहृश्य) ब्राह्मण के धन को चुराने पर (ब्रह्मराक्षसः भवति) मनुष्य ब्रह्मराक्षस का जन्म पाता है ॥ ६० ॥

#### मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोमेन मानवः । विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृं वु ॥ ६१ ॥

(मानव<sup>·</sup>) मनुष्य (लोभेन) लोम के वशीभूत होकर (मणिमुक्ता-प्रवालानि च विविधानि रत्नानि) मणि, मोती, प्रवाल = मूंगा ग्रीर ग्रन्य रत्न (हुश्वा) चुराकर (हेमकतृंषु जायते) सुनार का जन्म पाता है ॥ ६१ ॥

#### धान्यं हृत्या भवत्यासुः कांस्यं हंसी जलं प्लवः । मधु वंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ।। ६२ ।।

मनुष्य (धान्यं हृत्वा म्नाखुः) धान्य चुराकर परजन्म में चूहा, (कांस्यं हंसः) कांसा चुराकर हंस, (जलं प्लवः) जल चुराकर मेंढक, (मधु दंशः) बहद चुराकर डांस, (पयः काकः) दूध चुराकर कौन्ना, (रसंदवा) रस चुराकर कुत्ता, (धृतं नकुलः) घी चुराकर नेवला (भवति) बनता है।। ६२।।

#### मासं गृष्ट्रो वपा मङ्गुस्तैलं तैलपकः स्नगः। चौरीवाकस्तु लवलं बलाका शकुनिर्देषि॥६३॥

(मांसं ग्रुधः) मांस चुराकर गीध, (वपां मद्गुः) चर्बी चुराकर 'मद्गु' नामक जलचर पक्षी, (तैलं तैलपकः खगः) तैल चुराकर 'तैलपक' नामक पक्षी, (लवणं चोरी-वाकः) नमक चुराकर 'चोरीवाक' नामकपक्षी, (दिष बलाका शकुिनः) दही चुराकर बगुला पक्षी परजन्म में बनता है ॥ ६३ ॥

#### कौशेयं तित्तिरिहृत्वा क्षीमं हृत्वा तु वर्षुरः। कार्पासतान्तवं क्षीञ्चो गोषा गां वागुरो गुडम् ॥ ६४ ॥

(कौशेयं हृत्वा तितिरिः) रेशम के वस्त्र को चुराकर तीतर, (क्षौमं हृत्वा दर्दुरः) प्रतसी भ्रादि से बने वस्त्र चुराकर बड़ा मेंढक, (कार्पासतान्तवं क्रौञ्चः)

कपास के वस्त्र चुराकर क्रौंच पक्षी, (गां गोघा) गौ चुराने वाला गोह, ग्रौर (गुडं वाग्गुदः) गुड़ चुराने वाला परजन्म में वाग्गुद = चमगीदड़ पक्षी वनता है।। ६४।।

> खुच्छुन्दरिः शुमान्गन्धान् पत्रशाकं तु बहिरगः। श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः॥ ६४ ॥

(शुभान् गन्धान् खुच्छुन्दरिः) श्रेष्ठ सुगन्धों को चुराने वाला छछुन्दर, (पत्र-शाकं तु विहिणः) पत्तों वाले शाक चुराकर मोर, (कृतान्नं श्वावित्) पक्वान्न को चुराने वाला सेंह [=कांटेदार गरीर वाला एक पशु], (विविधम् श्रकृतान्नं तु शल्यकः) श्रनेक प्रकार के कच्चे श्रन्त चुराकर भाऊ चूहा परजन्म में बनता है।। ६४।।

> बको मवित हुत्वार्शिन गृहकारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हुत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

मनुष्य (म्रिग्नि हृत्वावकः) अग्नि को चुराकर बगुला, (उपस्करं गृहकारी भवित) गृहोपयोगी वस्तुम्रों को चुराकर गीली मिट्टी से घर बनाने वाला लोहनी नामक कीड़ा होता है, और (रक्तानि वासांसि हृत्वा) रंगे हुए कपड़ों की चोरी करने वाला (जीवजीवकः जायते) चकोर पक्षी बनता है।। ६६॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽहवं फलमूलं तु मर्कटः। स्त्रीमुक्षः स्तोकको बारि यानान्युब्दः पञ्चनजः॥ ६७॥

(मृगेभं वृकः) हाथी नामक पशु को चुराकर भेड़िया, (ग्रश्वं व्याघ्रः) ग्रश्व को चुराकर बाध, (फलमूलं मर्कंटः) फल-मूल को चुराकर बन्दर, (स्त्रीम् + ऋक्षः) स्त्री को चुराकर भालू, (वारि स्तोककः) जल चुराने वाला चातक, (यानानि + उष्ट्रः) वाहनों को चुराने वाला ऊंट, (पशून् + ग्रजः) पशुग्रों को चुराने वाला बकरा बनता है।। ६७॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यमगहृत्य बलान्नरः । अवदर्ययाति तिर्येक्त्वं जण्वा चैवाहृतं हविः ॥ ६८ ॥

(नरः) मनुष्य (यत्-वा तत्-वा परद्रव्य बलात् गपहृत्य) जो कोई भी वस्तु ग्रथित् साधारण से साधारण वस्तु भी बलात् लेकर, (च) और (ग्रहुतं हिवः जग्ष्वा) बिना आहुति दिये-हवन किये भोजन करके (ग्रवश्यं तिर्यंक्त्वं याति) अवश्यं तिर्यंक् योनि में जाता है ॥ ६८॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाष्नुयुः। एतेषामेव जन्तूनां मार्यात्वमुपयान्ति ताः॥ ६६॥

(स्त्रिय: ग्रिपि + एतेन कल्पेन) स्त्रियाँ भी इसी प्रकार (हृत्वा) चोरी करके (दोषम् + ग्रवाप्नुयुः) दोषी बनती हैं, ग्रौर (ताः) वे (एतेषाम् + एव जन्तूनां भार्यात्वम् + उपयान्ति) इन्हीं प्राणियों की पत्नियाँ बनती हैं।। ६६।।

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापि । पापान्संसृत्य संसारान्त्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

(वर्णाः) चारों वर्ण वाले (ग्रनापदि) बिना ग्रापत्तिकाल के (स्वेभ्यः स्वेभ्यः कर्मभ्यः च्युताः) ग्रपने-ग्रपने कर्मों को त्यागकर (पापान् संसारान् संसृत्य) पापी योनियों में जन्म लेकर, किर (शत्रुषु प्रेष्यतां यान्ति) शत्रुग्नों के यहाँ दास बनते हैं।। ७०।।

वान्ताश्युल्कामुलः प्रेतो वित्रो धर्मात्स्वकाष्ठ्युतः। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥ ७१॥

(स्वकात् धर्मात् च्युतः विप्रः) ग्रपने धर्म से भ्रष्ट हुग्रा ब्राह्मण् (वान्ताशी + उल्कामुखः प्रेतः) वननभक्षी ग्रीर ज्वाला के मुख वाला प्रेत वनता है, (च) ग्रीर (क्षत्रियः) ग्रपने धर्म से भ्रष्ट क्षत्रिय (ग्रमेष्य-कुणपाशी कटपूतनः) गन्दगी ग्रीर शव को खाने वाला 'कटपूतन' नामक कीड़ा बनता है।। ७१।।

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकश्च भवति शूब्रो धर्मात्स्वकाष्ट्युतः ॥ ७२ ॥

(वैश्यः) धर्म मे श्रष्ट वैश्य (पूयभुक् मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतः भवति) पीप खाने वाला 'मैत्राक्षज्योतिक' नामक प्रेत बनता है, (च) ग्रौर (स्वकात् धर्मात् च्युतः) ग्रपने धर्म से श्रष्ट (शूद्रः) शूद्र (चैलाशकः भवति) 'चैलाशक' नामक प्रेत बनता है।। ७२।।

अन्तुर्शोत्जनाः ५३ से ७२ श्लोक निम्न 'ग्राधारों' के ब्रनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं.--

- १. प्रसंगिवरोध—(१) ये श्लोक पूर्वापर प्रसंगिवरुद्ध हैं। ५२ वें श्लोक में इन्द्रियों को विषयों में लगाने से पापयुक्त होने की बात कही थी भ्रीर ७३ वें श्लोक में उसी बात को पूरा करते हुए कहा गया है कि 'विषयी जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं वैसे ही उनमें उनकी रुचि बढ़ती जाती है।' ७४ वें श्लोक में इसी बात को पूर्ण किया है। बीच में इन श्लोकों ने उस वाक्यक्रम-प्रसंग को भंग कर दिया है, भ्रीर अप्रासंगिक वर्णन किया है।
- (२) ५३ वें श्लोक की न तो ५२ वें से ही कोई संगति जुड़ती है ग्रीर न इस प्रसंग के श्रन्तिम श्लोक ७२ वें की ७३ वें से कोई संगति है। इस प्रकार भी ये ५३ से ७२ श्लोक प्रसंगविरुद्ध सिद्ध होते हैं।
- २. अन्तिबरोध— (१) ३६-५१ दलोकों के प्रसंग से ५३-७२ दलोकों के इस प्रसंग की व्यवस्थाओं का विरोध है। पूर्व प्रसंग में सत्त्व, रज और तम की अधिकता के आधार पर योनियों का निर्णय है, जबिक यहाँ एक-एक कर्म के आधार पर एक-एक योनि का निर्णय दिया है। (२) मनु किसी एक ही कर्म के आधार पर किसी

योनि की प्राप्ति नहीं मानते अपितु धनेक कर्मों के ध्रनुसार मानते हैं [१२।७४]। इस प्राधार पर भी इन क्लोकों की व्यवस्थाएँ विरुद्ध हैं। (३) इस प्रसंग के ग्राधार रूप क्लोक ५३-५४ हैं। इनमें जीव द्वारा नरक-योनियों में जाने का वर्णन है, जो मनु की मौलिक मान्यता के विरुद्ध है [देखिए ४।८७-६१ क्लोकों पर ध्रन्तिवरोध समीक्षा]। इस प्रकार ध्रन्तिवरोध के ग्राधार पर ग्राधार भूत क्लोकों के प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाने पर, इन पर ग्राधारित शेष [५४-७२] सारा प्रसंग स्वतः प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाता है। इसी ध्रन्तिवरोध के अन्तर्गत ५६, ७१, ७२ क्लोक भी, जिनमें कि प्रतयोनियों की चर्चा है, प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं। इस प्रकार ग्रन्तिवरोध के ग्राधार पर ५३ से ७२ क्लोकों का यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रक्षिप्त है।

३. श्रैलीगत आघार—(१) ५३ से ७२ श्लोक तक के इस सम्पूर्ण प्रसंग की शैली निराघार, निन्दायुक्त-अतिशयोक्तिपूर्ण श्रौर श्रप्रत्यक्ष भयप्रदर्शन की शैली है। यह मनु की शैली नहीं हैं, क्योंकि मनु की शैली में ये प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। (२) वर्णन-शैली से भी ये श्लोक परवर्ती काल की रचनाएँ सिद्ध होती हैं। कुछ वर्णनों का मनु के वर्णन से तालमेल नहीं बैठता। ५३ से ७२ श्लोक तक के प्रसंग में ६१ वें श्लोक में मणि-मुक्ता आदि श्रुराने वाले व्यक्ति को सुनार की योनि में जन्म होना बताया है। मनु की वर्णव्यवस्था में सुनार नाम की कोई जाति नहीं है। [१। ६७-६१]। श्रपितु, स्वर्ण, मणि, मुक्ता श्रादि से सम्बन्धित कार्य वैश्य का बताया है [६। ३२६॥ १०। ६८-६६ इनमें शिल्पकार्य वैश्य का सिद्ध है]। इससे स्पष्ट है कि परवर्ती काल में जब विभिन्न जातियों का प्रचलन हुशा तब यह श्लोक रचकर मिलाया गया शौर इससे सम्बद्ध पूर्वापर शेष प्रसंग भी साथ ही मिलाया गया। इस प्रकार यह प्रसंग परवर्ती काल का प्रक्षेप है। (३) ५५—६० श्लोकों में महापातिकयों के उल्लेखपूर्वक फलकथन भी इसके परवर्ती होने का संकेत देता है क्योंकि ब्रह्महत्या, गुश्यत्नीगमन श्रादि के ग्राधार पर महापातक श्रौर महापातिकयों का वर्गीकरण मौलिक न होकर परवर्ती है।

[देखिए ११। ५४-१६० क्लोकों पर समीक्षा]।

विषयों के सेवन से पाप-योनियों की प्राप्त-

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता तेषां तेषुपजायते ॥ ७३ ॥ (३७)

(विषयात्मकाः) विषयी स्वभाव के मनुष्य (यथा-यथा विषयान् निषेवन्ते) जैसे-जैसे विषयों का सेवन करते हैं (तथा तथा) वैसे-वैसे (तेषु तेषां कुशलता + उपजायते) उन विषयों में उनकी ग्रासिक ग्रधिक बढ़ती जाती है।। ७३।।

तेऽन्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥ (३८) फिर (ते ग्रत्पबुद्धयः) वे मन्दबुद्धि मनुष्य (तेषां पापानां कर्मणाम् + ग्रम्यासात्) उन विषयों से उत्पन्न पापकर्मों को बारम्बार करते हैं, ग्रीर उनके कारण पुनः (तासु-तासु योनिषु) पापकर्मों से प्राप्त होने वाली उन-उन योनियों में ग्रर्थात् जिस पाप से योनि प्राप्त होती है [१२।३६-५१] उसे प्राप्त करके (इह) इसी संसार में (दुःखानि प्राप्नुवन्ति) दुःखों को भोगते हैं।।७४।।

पापियों को प्राप्त होने वाले दु:ख---

तामिस्राविषु चोग्रेषु नरकेषु निवर्तमम्। स्रसिपत्रवनावीनि बन्धनच्छेवनानि च।। ७५।।

पापी मनुष्य (उग्नेषु तामिस्नादि नरकेषु विवर्तनम्) घोर तामिस्न आदि नरकों में श्रावागमन के चक्कर काटते रहते हैं (च) श्रौर (ग्रसिपत्रवन-आदीनि बन्धन-छेदनानि) 'ग्रसिपत्रवन' श्रादि नरकों में बन्धन, छेदन आदि दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥ ७५ ॥

> त्रिविधाःचैव संपीडाः काकोलूकैश्च मक्षराम् । करम्मडालुकातापान्कुम्मीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

वे (विविधाः संपीडाः) भ्रानेक प्रकार की पीड़ाभ्रों को भोगते हैं, (व) और उन्हें (काक-उलूकैः भक्षणम्) कीवे तथा उल्लू खाते हैं, (करम्भ-बालुका-तापान् च दारुणान् कुम्भीपाकान्) वे तपते बालू में संताप भ्रौर भयंकर कुम्भीपाक नरक को प्राप्त होते हैं। ७६।।

संमवांश्च वियोनीषु बुःलप्रायासु नित्यशः । शीतातपामिघातांश्च विविधानि स्रयानि च ।। ७७ ।।

वे (नित्यशः दुःखप्रायासु) सदा दुःखपूर्णं, (वियोनीषु संभवाः) निन्दित योनियों में जन्मते हैं, (च) ग्रीर (शीत-ग्रातप-अभिषातान् विविधानि भयानि) सर्दी, गर्मी की पीड़ाग्रों ग्रीर विविध प्रकार के भयों को प्राप्त करते हैं ॥ ७७ ॥

> ग्रसकृद्गभैवासेषु वासं जन्म च वारुणम्। बन्धनानि च कारुठानि परप्रेव्यत्वमेव च॥ ७८॥।

वे पापी मनुष्य (गर्भवासेषु ग्रसकृत् वासम्) गर्भों में बार-बार निवास, (दारुएां जन्म) कष्टमय जन्म, (काष्ठानि बन्धनानि) कठोर यातनायों, (च) ग्रौर (परप्रेष्यत्वम् +एव) दूसरों के दास होना ग्रादि दुःख पाते हैं ॥ ७ ॥

> बन्षुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव बुर्जनैः । द्रव्याजनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ।। ७६ ।।

(च) और (बन्धु-प्रियवियोगान्) बान्धवों और प्रियजनों का वियोग, (दुर्जनै: सह संवासः) दुष्टों के साथ निवास, (द्रव्य-अर्जनं च नाशम्) धनसंग्रह के प्रयासों का

कष्ट भीर उसका नाश, (मित्र-धमित्रस्य-ग्रर्जनम्) कष्ट से मित्र-प्राप्ति ग्रीर शत्रुग्रों की वृद्धि ग्रादि दुःखों को प्राप्त करते हैं ॥ ७६ ॥

#### जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिमिश्चोपपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च बुर्जयम् ॥ ८० ॥

(च) ग्रौर (अप्रतीकारां जराम्) ग्रसाध्य वृद्धावस्था, (ब्याधिभिः उपपीडनम्) व्याधियों से कष्ट, (तान्-तान् विविधान् क्लेशान्) ग्रनेक प्रवार के क्लेश (च) ग्रौर (दुर्जयं मृत्युम्) ग्रनिवायं मृत्यु-दुःख को प्राप्त करते हैं ॥ ८०॥

## आनुर्वो त्उनः ७५ से ८० श्लोक निम्न प्रकार से प्रक्षिप्त हैं-

- १. श्रन्तिवरोध—(१) पूर्वापर [७४ एवं ८१ में] प्रसंग श्रच्छे-बुरे कर्मों का साधारण रूप में फलकथन का है, श्रीर उसकी परस्पर सम्बद्धता भी दृष्टिगत होती है। ७५—६० श्लोकों में विशेष दुःखों एवं योनियों की प्राप्ति का वर्णन पूर्वापर प्रसंग के विरुद्ध एवं उसको भंग करने वाला है। (२) ७५ का ७४ से श्रीर ६० वें श्लोक का ६१ से प्रसंग नहीं जुड़ता। यह श्राधार भी इन्हें प्रसंगमञ्जक श्रीर पूर्वापर प्रसंग-विरुद्ध सिद्ध करता है। (३) श्रच्छे-बुरे कर्मों के फल श्रीर गतियों के वर्णन का प्रसंग गत २६-५१ श्लोकों में वर्णित हो चुका है। उस प्रसंग के समाप्त होने पर पुनः दुःख-प्राप्ति वर्णन का प्रसंग खुरू करना भी इसको श्रसंगत सिद्ध करता है। इस प्रकार प्रसंगविरोध के श्राधार पर ये श्लोक प्रक्षित हैं।
- २. अन्तिवरोध—(१) यहां ७४ वें इलोक का "तासु तासु इह योनिषु" चरण विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें विल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि पापाचरण करने वाले तदनुरूप उन-उन योनियों में इस संसार में ही जन्म ग्रहण करते हैं, श्रीर उन योनियों का वर्णन ३६—५१ में हो चुका है। पुनरिप श्रिप्रम इलोकों में नरक श्रादि में जाने का विरुद्ध वर्णन किया गया है। यह प्रक्षेपकत्ती की ग्रन्धता का द्योतक है। (२) इस प्रसंग का श्राधार-इलोक ७५ वाँ है, जिसमें तामिल, श्रिष्ट वर्णन व्यादि नरकों के प्राप्त होने का कथन है। नरक नामक पृथक लोक की मान्यता मनु-विरुद्ध है [इसके लिए द्रष्टव्य है ४। ८७—६१ पर समीक्षा]। इस इलोक के प्रक्षिप्त सिद्ध होने पर इस पर आधारित शेष सभी इलोक स्वतः प्रक्षिप्त कहुलायेंगे। इस प्रकार श्रन्तिवरोध के ग्राधार पर भी यह सम्पूर्ण प्रसंग प्रक्षिप्त है।

श्रासक्ति-निरासक्ति के श्रनुसार फलप्राप्ति—

यादृशेन तु भावेन यद्यस्कमं निषेवते । तादृशेन शरीरेण तत्तरफलमुपाइनुते ॥ ६१॥ (३६)

मनुष्य (यादशेन तु भावेन) जैसी ख्रच्छी या बुरी भावना से और उनमें वैसी दढ़ ख्रासक्ति या निरासक्ति है उसके धनुसार (यत्यत् कर्म

निषेवते) जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है, (ताइक्षेत क्षरीरेण) वैहे-त्रैसे ही क्षरीर पाकर (तत्तत् फलम् + उपाक्ष्तुते) उन कर्मी के फलों को भोगता है।। ८१।।

श्चिन् श्विति द्वार : इलोकार्य पर विचार — इस इलोक के ग्रयं को समभाने के लिए ६। ६० इलोक सहायक है — "यदा मावेन भवित सर्वभावेषु निस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।" — "जब व्यक्ति सब पदार्थों में ग्रपने भाव से निःस्पृह हो जाता है तो वह लौकिक ग्रीर मोक्षसुख को प्राप्त करता है । इसी ग्राधार पर यहाँ वर्णन है । जो व्यक्ति जितनी दृढ़ स्पृहा — आसिक्त या निःस्पृहा — ग्रनासिक्त से कर्म-सेवन करेगा, उसे उसी के ग्रनुसार कम-अधिक ग्रच्छा-बुरा फल मिलेगा।

नि:श्रेयसकर कर्मी का वर्णन-

एव सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः । निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येवं निबोधत ॥ ६२॥ (४०)

(एषः) यह [१२। ३--१] (कर्मणां फलोदयः) कर्मों के फल का उद्भव (ववः) सम्पूर्ण रूप में (वः समुद्धिण्टः) तुमसे कहा।

न्नव (विप्रस्य) विद्वानों या ब्राह्मण म्नादि द्विजों के (निःश्रेयसकरं कर्म निबोधत—) मोक्षदायक कर्मों को सुनो ।। द२ ।।

छह निःश्रेयसकर कर्म-

## वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । धर्मक्रियाऽत्मचिन्ता च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ (४१)

(वेदाभ्यासः, तपः, ज्ञानम्, इन्द्रियाणां संयमः, धर्मक्रिया, च ग्रास्म-चिन्ता) वेदों का ग्रभ्यास [१२।६४-१०३], तप = व्रतसाधना [१२। १०४], ज्ञान = सत्यविद्याओं की प्राप्ति [१२।१०४], इन्द्रियसंयम [१२।६२], धर्मक्रिया = धर्मपालन एवं यज्ञ ग्रादि धार्मिक क्रियाओं का त्रनुष्ठान श्रीर ग्रात्मचिन्ता = परमात्मा का ज्ञान एवं घ्यान, ये छः (निःश्रेयसकरं परम्) मोक्ष प्रदान करने वाले सर्वोत्तम कर्म हैं।। ६३।।

अर्ज्य श्री त्जन्य : स्लोक में पाठभेद— उपलब्ध संस्करणों में इस श्लोक के तृतीय पाद में "ग्रीहंसा गुरुसेवा च" पाठ मिलता है। यह पाठभेद किया गया है जो

१. प्रचलित अर्थ — इस श्लोक के तृतीय पाद में 'धर्मक्रिया आत्मचिन्ता च' के स्थान पर प्रचलित संस्करणों में ,, आहिसा गुरुसेवा च" पाठ मिलता है। तदनुसार प्रचलित अर्थ इस प्रकार है—(उपनिषद के सहित) वेद का अभ्यास, (प्राजापत्य आदि) तप, (ब्रह्मविषयक) ज्ञान, इन्द्रियों का संयम, श्रीहंसा और गुरुजनों की सेवा; ये ब्राह्मणों के लिए श्रेष्ठ मोक्षसाधक छः कर्म हैं।। ६३॥

मनुस्मृति के मनुरूप नहीं है। यहां ''धर्मकियाऽस्मचिन्ता च'' पाठ ही उपयुक्त है। इसकी पुष्टि में निम्न प्रमाण हैं —

- (१) ८३ वें श्लोक में निःश्रेयस कर्मों की परिगणना है, परिगणना के बाद छह कर्मों से सम्बन्धित व्याख्यान ८५-११५ श्लोकों में है। इस व्याख्यान में 'श्र्राहसा' श्रीर 'गुरुसेवा' का कहीं उल्लेख नहीं है, श्रिपतु 'श्रात्मज्ञान' श्रीर 'वर्मिकया' का है। श्लो-कार्य में तत्तत् वर्णन वाले श्लोकों की संख्या दे दी है।
- (२) मनु ने सास्त्रिक कर्मों को ही निःश्रेयस कर्म माना है। इस श्लोक में श्रन्य सभी कर्म तो वहीं हैं, केवल दो में पाठभेद कर दिया है। सास्त्रिक कर्मों का वर्णन १२। ३१ में है। वही पाठ यहाँ ग्रहण करना मनुसम्मत है,क्यों कि वही कर्म मनु-मत से सर्वश्रेष्ठ हैं श्रीर वहीं मुक्तिदायक हो सकते हैं। ग्रतः प्रस्तुत पाठ सही है।

#### ग्रात्म-ज्ञान का वर्णन

#### सर्वेवामिप चैतेवा शुमानामिह कर्मणाम् । किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ।। ८४ ॥

(एषां सर्वेषाम् + ग्रिपि शुभानां कर्मणाम्) इत [१२। ८३] सब श्रेष्ठ कर्मों में (इह) इस लोक में (पुरुषं प्रति) मनुष्य के जिए (किंचित् श्रेयस्करतरं कर्म उक्तम्) कुछ श्रेष्ठ एक कर्ममाना है।। ८४।।

# अस्तुर्धीत्जन्तः ५५ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगविरोध— ५५ वें इलोक के "सर्वेवाम् अपि चैतेवाम्" पदों से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि वह इलोक ६३ से सम्बद्ध है। ६३ में छः कर्गों का वर्णं न है और ६५ से उन सभी में श्रोध्य का प्रथम रूप से वर्णन है, और इस इलोक से पूर्वापर इलोकों की सम्बद्धता मंग हो रही है। मतः प्रक्षिप्त है।

**ग्राल्नज्ञान स**्ंि ः वर्ष है-

सर्वेषामि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्धचप्रचं सर्वेषिद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥६५॥ (४२)

(एषां सर्वेषाम् + प्रिवि) इन सब [१२। ८३] कर्मों में (ग्रात्मज्ञानं परं स्मृतम्) 'परमात्नज्ञान' सर्वश्रेष्ठ कर्म माना है, (तत् + हि सर्वविद्यनाम् ग्रग्रचभ्) यह सब विद्याश्रों में सर्वप्रमुख कर्म है (ततः ग्रमृतं प्राप्यते) इससे मुक्ति प्राप्त होती है।। ८४।।

आर्ज्य हारित्र का : इसी मान्यता को मनु ने ६। ८१, ८२, ८४ में विणत किया है। तुलनायं द्रष्टव्य हैं।

'ग्रमृत' शब्द के <mark>प्रयंज्</mark>ञान के लिए १२। **१०**४ व्लोक पर श्रनुशीलन देखिए। प्रवृत्त-निवृत्त कर्मों का वर्णन—

वण्णामेवां तु सर्वेवां कर्मणां प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वेदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

(एषां सर्वेषां पण्णां कर्मणाम्) इन सभी छः कर्मों से (वैदिकं कर्म) वैदिक कर्म को (इह च प्रेत्य) इस लोक भीर परलोक में (सर्वेदा श्रेयस्करतरं ज्ञेयम्) सदा अधिक कल्याणकारी समक्षना चाहिए ॥ ६६ ॥

> वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेवतः। ग्रन्तर्भवन्ति क्रमशस्त्रस्मिस्त्रस्मिन्क्रयाविधौ॥ ८७॥

(वैदिके कर्मयोगे) वैदिक-कर्मसमूह में (एतानि सर्वाणि) ये सभी छ: कर्म (तिस्मन्-तिस्मन् क्रियाविषो) वेद में उक्त तत्तत् कर्म की क्रिया-सम्बन्धो विधि में (ग्रशेषतः) सम्पूर्णरूप में (क्रमशः) क्रमानुसार (ग्रन्तर्मवन्ति) ग्रन्तर्भूत हो जाते हैं।। ८७।।

#### मुलाम्युवयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च। प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविषं कर्मं वैदिकम् ॥ ८८ ॥

(वैदिकं कर्म द्विविधम्) वैदिक-कर्म दो प्रकार के हैं-(सुस्र-ग्रम्युदयिकं 'प्रवृत्तम्') सुख प्रदान करने वाले 'प्रवृत्तकर्म' (च) ग्रीर (नैःश्रेयसिकं 'निवृत्तम्') मुक्ति प्रदान करने वाले 'निवृत्तकर्म' = निष्काम कर्म ॥ ८८॥

> इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीरयंते। निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपविदयते॥ ८६॥

(इह वा ग्रमुत्र) इस लोक या परलोक में (काम्यम्) इच्छापूर्वक किया गया काम (प्रवृत्तं कर्मं कीर्त्यंते) 'प्रवृत्तकर्मं' कहलाता है, ग्रीर (ज्ञानपूर्वं तु निष्कामम्) ज्ञान-पूर्वंक निष्काम भावना से युक्त होकर जो कर्मं किया जाता है वह (निवृत्तम् उप-दिश्यते) 'निवृत्तकर्मं' कहाता है ॥ ८९ ॥

> प्रवृत्तं कर्मं संसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु मूतान्यस्येति पञ्च वै ॥ ६० ॥

मनुष्य (प्रवृत्तं कर्मं संसेध्य) प्रवृत्तं कर्मं को करके (देवानां साम्यताम् +एति) देवों की समानता पाता है, भीर (निवृत्तं सेवमानः) निवृत्तं कर्मं करके (वै) निश्चितं रूप् से (पञ्चभूतानि + अत्येति) पञ्चभूतों का भतिक्रमण कर जाता है भयौं जण्म-मरण के बन्धन से खूटकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १०॥ अर्जुट्ये कि ज्ञाः ५६ से ६० इलोक निम्न 'श्राधारों' के अनुसार प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं—

- १. प्रसंगविरोध पूर्वापर प्रसंग ग्रात्मज्ञान से सम्बन्धित है। बीच में उस प्रसंग को भंग करके वैदिक-कर्म का प्रसंग उठाना ग्रसंगत है। इस ग्रसंगति के ग्राधार पर ये ६६ से ६० तक सभी श्लोक प्रक्षिग्त हैं।
- २. विषयविरोध— ६२ वें श्लोक में नैश्श्रेयसकर कर्मों का विषय प्रारम्भ किया था फिर उस प्रसंग में प्रवृत्त-निवृत्त कर्मों का विवेचन विषयविरुद्ध है। ६८ वे श्लोक में पूर्वापर प्रसंग को तोड़कर स्रलग से प्रवृत्त-निवृत्त कर्मों का विषय प्रारब्ध है।
- ३. अवान्तरिव रोध ५६ में क्लोक में कहा है कि इन पूर्वोक्त छः कर्मों से वैदिक कर्म ही श्रेष्ठ हैं श्रीर फिर अगले ही ५७ वें क्लोक में कह दिया कि ये सभी छह कर्म वैदिक कर्मयोग के अन्तर्गत हैं। ये ही सभी वैदिक हैं तो पूर्व क्लोक में वैदिक कर्म को उत्कृष्ट श्रीर पृथक् से वैदिक कहने की क्या आवश्यकताथी? इस प्रकार दोनों ही क्लोकों में विरोध आता है।
- ४. ग्रन्तिवरोष— ५३ वें क्लोक में मनु द्वारा उक्त सभी कमं वैदिक या वेदोक्त ही हैं। इन क्लोकों में वैदिक-कमं को पृथक् से श्रेष्ठ कहुना या उसका इस रूप में पुन: उल्लेख करना, इन क्लोकों की खण्डनात्मक भावना का द्योतक है। स्पष्ट है कि यह किसी का भिन्न मत है, ग्रतः मनुविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त है। यहाँ इस वर्णन की आवश्यकता भी सिद्ध नहीं होती।

# सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मिन । समं पत्रयन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ६१ ॥ (४३)

(सर्वभूतेषु म्रात्मानम्) सब चराचर पदार्थौ एवं प्राणियों में पर-मात्मा की व्यापकता को (च) भौर (म्रात्मिन) परमात्मा में (सर्वभूतानि) सब पदार्थौ एवं प्राणियों के म्राश्रय को (समं पश्यन्) समानभाव से देखता हुम्रा म्रर्थात् यथार्थं ज्ञानपूर्वक सर्वत्र परमात्मा की स्थिति का म्रनुभव कर सर्वदा उसी का ध्यान करता हुम्रा (म्रात्मयाजी) परमात्मा का उपासक मनुष्य (स्वाराज्यम् + म्रधिगच्छति) परमात्मसुख म्रर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।। ६१।।

अन्य श्री का स्थं (२) 'स्वाराज्यम्' का स्थं — 'स्वप्रकाशेन शक्त्या वा चराचरं जगत् राजयित प्रकाशयित सः स्वराट् — ब्रह्म — जो प्रपने प्रकाश या वल से समस्त चराचर जगत् को प्रकाशित — उत्पन्न करता है, वह परमात्मा । स्थवा 'स्वप्रकाशेन राजते प्रकाशते इति स्वराट् — ब्रह्म, तस्य भावः स्वाराज्यम् — ब्रह्मत्वम्' — जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता है वह ब्रह्म — परमात्मा है। स्वराट् का भाव 'स्वाराज्य — ब्रह्मत्व प्राप्ति' है स्रर्थात् मुक्ति को प्राप्त हो जाना ।

(२) इलोक की वेदमन्त्र से तुलना — इलोकोक्त मान्यता का स्राधार वेद है। इस पर निम्न मन्त्र से प्रकाश पड़ता है, तुलनार्थं द्रष्टव्य है—

#### यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।

तत्र कः मोहः कः शोकऽएक्स्यमनुपश्यतः ॥ यजु०४०।७॥ ग्रथं—''(यस्मिन्) जिस परमात्मा, ज्ञान-विज्ञान ग्रथवा धर्म के विषय में (विजानतः) सम्यक् ज्ञाता जन के लिए (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (ग्रात्मा) ग्रयने ग्रात्मा के समान (एव) ही (ग्रभूत्) होते हैं; (तत्र) उस परमात्मा में विराजमान (एकत्वम्) परमात्मा के एकत्व को (ग्रनुपश्यतः) ठीक-ठीक योगाभ्यास के द्वारा साक्षात् देखने वाले योगी जन को (कः) क्या (मोहः) मोह ग्रीर (कः) क्या (शोकः) क्लेश (ग्रभूत्) होता है। "यु० भाष्य ऋ० दया०]

भाव यह है कि वह विद्वान् शोक-मोह भादि से ऊपर उठकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इंस भाव की तुलना के लिए १२। **११६, १**२५ क्लोक एवं उन पर ब्रनुक्तीलन भी द्रष्टब्य है।

(३) द्यात्मयाजी की ब्युत्वित एवं अर्थ-- 'क्यात्मिन यण्टुं शीलमस्य इति ग्रयीत् जो परमात्मा में यजनशील है, उसकी संगति एवं उसका घ्यान करता है। परमात्मा के उस उपासक को 'ग्रात्मयाजी' कहते हैं।

# (२) इन्द्रियसंयम का वर्णन

म्रात्मज्ञान, इन्द्रियसंयम का कथन भीर इनसे जन्मसाफल्य-

यथोवतान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः। आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥६२॥ (४४)

(दिजोत्तमः) श्रेष्ठ दिज (यथोक्तानि + ग्रिप कर्माणि परिहाय) उसके लिए विहित यज्ञ ग्रादि कर्मों को [संन्यासी ग्रवस्था में] छोड़कर [३। ३४, ४३] भी (ग्रात्मज्ञाने शमे च वेदाभ्यासे यत्तवान् स्थात्) परमात्मज्ञान, इन्द्रिसंयम [२। ६८-७५] ग्रौर वेदाभ्यास = वेद के चिन्तन-मनन में प्रयत्नशील ग्रवस्य रहे ग्रर्थात् इनको किसी भी ग्रवस्था में न छोड़े।। ६२।।

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्येतस्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ६३॥ (४४)

(एतत् हि) ये [१२। ६२] तीनों कर्म द्विजों के, (विशेषतः ब्राह्म-णस्य जन्मसाफल्यम्) विशेष रूप से ब्राह्मए। के जन्म को सफल ब्नाने वाले हैं। (द्विजः) द्विज व्यक्ति (एतत् प्राप्य हि कृतकृत्यः भवति) इनका पालन करके ही कर्त्तंभ्यों की पूर्णता प्राप्त करता है, (ग्रन्यथान) इनके बिना नहीं ।। ६३ ।।

अनुरािता : बाह्मण को विशेष रूप से इसलिए कहा गया है क्योंकि बाह्मण के जीवन का प्रमुख उद्देश्य ही परमात्मा-प्राप्ति होता है।

# (३) वेदाभ्यास का वर्णन

वेद सबका चक्षु है---

पितृदेवमनुष्याणां वेवश्यक्षुः सनातनम्। भ्रज्ञवयं चाप्रमेयं च वेदज्ञास्त्रमिति स्थितिः ॥ ६४ ॥ (४६)

(पितृ-देव-मनुष्याणाम्) पितृ-संज्ञक रक्षक ग्रीर पालक पिता ग्रादि, विद्वान ग्रीर ग्रन्य मनुष्यों का (वेदः सनातनं चक्षः) वेद सनातन नेत्र= मार्गप्रदर्शक है, (च) ग्रीर वह (ग्रशक्यम्) ग्रशक्य ग्रथीत् जिसे कोई पुरुष नहीं बना सकता, इस लिए प्रपौरुषेय है, (च) तथा (ग्रप्रमेयम्) ग्रनन्त सत्यविद्याभ्रों से युक्त है, (इति स्थितिः) ऐसी निश्चित मान्यता है ॥६४॥

अरन्तुर्शीट्डन्स: १।३,२३ में भी वेद को सपीरुषेय, सप्रमेय कहा गया है।

वेदविरुद्ध-शास्त्र अप्रामाणिक---

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुट्ट्यः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥६५॥ (४७)

(याः स्मृतयः वेदबाह्याः) जो ग्रन्थ वेदबाह्य, (याः च काः च कुद्ध्यः) कुत्सित पुरुषों के बनाये, संसार को दुः सागर में डुबोने वाले हैं, (ताः सर्वाः निष्फलाः) वे सब निष्फल (प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि स्मृताः) ग्रसत्य, ग्रन्धकाररूप इस लोक ग्रीर परलोक में दुःखदायक हैं।। ६५।। (स॰ प्र॰ एकादश समू॰)

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्। तान्यवीक्कालिकतया निष्कलान्यनुतानि च।। ६६।। (४८)

(यानि + म्रतः मन्यानि कानिचित् उत्पद्यन्ते) जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं (तानि + ग्रवीक् कालिकतया च्यवन्ते) वे ग्राधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, (निष्कलानि च ग्रन्तानि) उनका मानना निष्फल ग्रौर भूठा है ।। १६ ।। (स० प्र० एकादश समु०)

अवस्था कि कार कार कार से अभिप्राय-यहां वेदिवरुद्ध प्रन्थों के बाबुनिक होने से मिनप्राय यह है कि वेदों की मान्यताएँ प्राचीनतम एवं सनातन है, किन्तु वेदविरुद्ध ग्रन्थों की मान्यताएँ परवर्ती हैं, श्रीर वे सत्य न होने से, बनती हैं, फिर नष्ट हो जाती हैं। वेदों की मान्यताश्रों की तरह सनातन नहीं। ईश्वरीय ज्ञान होने से वेदों की मान्यताएँ सनातन हैं।

वेद से वर्ण, ग्राश्रम, लोक, काल ग्रादि का ज्ञान-

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाञ्चत्वारञ्चाश्रमाः पृथक् । मूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिच्यति ॥ ६७ ॥ (४६)

(चातुर्वण्यंम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य, शूद्र, ये चार वर्ण ग्रीर इनकी व्यवस्था, (त्रयः लोकाः) पृथ्वा, ग्राकाश एवं द्युलोक ग्रथीत् समस्त भूमण्डल के लोक, ग्रह ग्रादि, (चत्वारः ग्राश्रमाः पृथक्) ब्रह्मचयं, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों के पृथक्-पृथक् विधान, (च भूतं भव्यं भिवष्यम्) ग्रीर भूत, भिवष्यत्, वर्तमान सभी कालों की विद्या, (सवं वेदात् प्रसिद्ध्यित) ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध, प्रकट ग्रीर ज्ञात होती हैं ग्रथीत् इन सब व्यवस्थाग्रों ग्रीर विद्याग्रों का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है।। ६७।।

''चार वर्ण, चार ग्राश्रम, भूत, भविष्यत् ग्रीर वर्तमान ग्रादि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं।'' (ऋ० भा० भू० वेदविषय),

अद्भु श्री ट्यन्तः मनु ने यही मान्यता १।२१ में विश्वत की है। तुल-नार्थं प्रस्तुत है—"सर्वेदां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देन्य एवादी पृथक् संस्थादव निमंमे ॥

पञ्चभूत ग्रादि सूक्ष्म शक्तियों का ज्ञान वेदों से---

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसी गन्धश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसुतिगुराकर्मतः ॥ ६८ ॥ (५०)

(शब्दः स्पर्शः रूपं रसः पञ्चमः गन्धः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस श्रीर पञ्चम गन्ध, ये (प्रसूति-गुण-कर्मतः) उत्पत्ति, गुण श्रीर कार्य के ज्ञानरूप से (वेदात् + एव प्रसूयन्ते) वेदों से ही प्रसिद्ध = विज्ञात होते हैं श्रर्थात् इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्तिज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान श्रीर उत्पन्न समस्त जड़-चेतन संसार का ज्ञान-विज्ञान, वेदों से प्राप्त होता है।। ६८।।

वेद सुखों का साधन है-

बिर्भात सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ६६ ॥ (५१) (सनातनं वेदशास्त्रम्) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो (सर्व-भूतानि बिभिति) सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्रािण्यों का धारण भ्रौर सब सुखों को प्राप्त कराता है, (तस्मात् एतत् परं मन्ये) इस कारण से [मनु ग्रादि] हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं, ग्रौर इसी प्रकार मानना भी चाहिए (यत्) क्यों कि (जन्तो: ग्रस्य साधनम्) सब जीवों के सब सुखों का साधन यही है।। ६६।। (ऋ) भा० भू० वेदविषय-विचार)

वेदवेत्ता ही सफल राजा, सेनापित व न्यायायीश हो सकता है-

संनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च। सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १००॥ (४२)

(सेनापत्यम्) सब सेना (च) ग्रीर (राज्यम्) सेनापितयों के ऊपर राज्याधिकार, (दण्डनेतृह्वम् + एव) दंड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का ग्राधिपत्य, (च) ग्रीर (सवंलोक-ग्राधिपत्यम्) सब के ऊपर वर्तमान सर्वाधोण राज्याधिकार, इन चारों ग्रधिकारों में (वेदशास्त्रवित् + ग्रहंति) सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिए ग्रथित् मुख्य सेनापित, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश, ग्रीर प्रधान राजा, ये चार सब विद्याग्रों में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ।। १००।। (स० प्र० पष्ठ समु०)

"जो वेदशास्त्रविद्, धर्मात्मा, जितेम्द्रिय, न्यायकारी स्रीर स्रात्मा के बल से युक्त पुरुष होवे उसी को सेना, राज्य, दण्डनीति स्रोर प्रधान पद का स्रधिकार देना, स्रन्य क्षुद्राशयों को नहीं।"

(सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अप्रज्ञा क्यों का प्रयं 'वेदशास्त्रवित् प्रहंति' का प्रयं 'वेदशास्त्र का ज्ञाता ही उसके योग्य हो सकता है' यह है। ऋषि दयानन्द ने इसे प्रेरणार्थक रूप में निरूपित किया है। राज्य-संचालन वाली मान्यता की तुलना के लिए ७।२ द्रष्टक्य है तथा 'दण्डनेतृत्व' की तुलनार्थं—७।३१। वहाँ वेद शास्त्रवेत्ता को ही इसके योग्य माना है।

वेदज्ञानाग्नि से कर्म दोषों का नाश---

यथा जातबलो विह्नर्वहत्याद्रीनिष द्रुमान्। तथा दहित वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः॥ १०१॥ (५३) (यथा) जैसे (जातबल: विह्नः) धघकती हुई स्राग (स्राद्रीन् द्रुमान् ग्रिप दहित) गीले वृक्षों को भी जला देती है (तथा) उसी प्रकार (वेदज्ञः) वेदों का जाता विद्वान् (ग्रात्मनः कर्मजं दोषं दहित) ग्रयने कर्मों से उत्पन्न होने वाले मंस्कार-दोषों को जला देता है ग्रर्थात् वेदज्ञान रूपी ग्रग्नि से दुष्ट संस्कारों को मिटाकर ग्रात्मा को पवित्र रखता है।। १०१।।

अन्तु श्रीत्जनाः तुलनायं द्रष्टव्य हैं ११। २४४, २४६, २६३। वहाँ भी यही मान्यता है। अनुशीलन द्रष्टव्य—११।२२७॥

वेदज्ञान से परमगति की स्रोर प्रगति-

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्। इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥१०२॥ (५४)

(वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः) वेदशास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् (यत्र-तत्र + ग्राश्रमे वसन्) किसी भी ग्राश्रम में रहता हुआ, (इह + एव लोके तिष्ठन्) इसी वर्तमान जन्म मे ही (ब्रह्मभूयाय कल्पते) ब्रह्मप्राप्ति के लिए अधिकाधिक समर्थ हो जाता है।। १०२।।

अर्जुर्गोत्जनः इसी मान्यता की पुष्टि के लिए तुलनायं द्रष्टत्रा है ४। १४६ इलोक।

> ब्रज्ञेभ्यो प्रन्थिनः श्रेष्ठा प्रन्थिभ्यो धारिग्गो वरा: । धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

(म्रजेम्य: म्रन्थित: श्रेष्ठाः) अनपढ़ों से ग्रन्थों को पढ़ने वाले श्रेष्ठ हैं, (ग्रंथिम्य: धारिण: वराः) पढ़ने वालों से ग्रंथों को स्मरण करने वाले श्रेष्ठ हैं, (धारिम्य: ज्ञानित: श्रेष्ठाः) स्मरण करने वालों से ग्रंथों को जानने वाले श्रेष्ठ हैं, ग्रीर (ज्ञानिम्य: व्यव-सायितः) ज्ञानियों से पढ़े हुए को ग्राचरएा में लाने वाले श्रेष्ठ हैं ॥ १०३॥

#### अन्तुर्धीत्जना: १०३ वाँ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

१. प्रसंगिवरोध — यह दलोक यहाँ ग्रप्रासंगिक एवं ग्रनावश्यक प्रतीत हो रहा है। यहाँ पूर्वप्रसंग निःश्रेयस कर्मों के वर्णन में वेद-ज्ञान के महत्त्ववर्णन का है। इस दलोक में सर्वसाधारण ग्रन्थों के ग्रध्ययन या उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का वर्णन है, जिसकी पूर्वप्रसंग से कोई संगति नहीं है। कोई यह माने कि ये बातें वेद से सम्बन्धित हैं, तो यह विचार भी उपयुक्त नहीं जंचता, क्योंकि न तो इसमें वेद का उल्लेख है, भीर न यहाँ इस चर्चा की ग्रावश्यकता, ग्रीर मनु ने वेदों का साधारण ग्रंथों के रूप में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है

# (४-५) तप भ्रौर विद्या का वर्णन

तप से पापभावना का नाश भीर विद्या से भ्रमृतप्राप्त-

तपो विद्या च वित्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमञ्जूते ॥ १०४ ॥ (५५)

(विप्रस्य) विष्र के लिए (तपः च विद्या) तप = श्रेष्ठव्रतों का धारण श्रीर साधना, श्रीर विद्या = सत्यविद्याश्रों का ज्ञान, ये दोनों (पर निश्नेयस-करम्) उत्तम मोक्षसावक हैं. वह विष्र (तपसा किल्विषं हन्ति) तप से पापभावना को नष्ट करता है, श्रीर (विद्यया + श्रमृतम् + श्रश्नुते) वेदादि सत्यविद्या के यथार्थं ज्ञान से स्रमरता = मोक्ष को प्राप्त करता है।। १०४।।

अवन्य कारित्य : (१) पापमावना का विनाश—श्रेष्ठवर्तों के घारण से ग्रीर प्राशायाम ग्रादि तथों के पालन से ग्रात्मा की पापभावना या ग्रायुद्धि का क्षय होता है। इसकी पुष्टि में ग्रन्यत्र विणत मान्यनाएँ निम्न इलोकों में द्रष्टव्य हैं। ६।७०-७२॥ ११।२२७।

(२) अमृत का अर्थ — 'मृङ् प्राणत्यागे' तुदादि घातु से 'क्तः' प्रत्यय के योग से और नज् समास में 'श्रमृतम्' शब्द सिद्ध होता है, जिसका जन्म-मृत्यु से रहित श्रयित् मोक्षसुख अर्थ होता है। मनुष्य वेद आदि सत्यविद्या के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मोक्षसुख को इसलिए श्रमृत कहा जाता है कि जब तक मुक्ति-सुख का समय रहता है, तब तक यह सुख नष्ट नहीं होता, बीच में दुःख श्राकर इसे नष्ट नहीं करता। यजु० ४०। १४ में यह वाक्य यथावत् श्राता है— "विद्यया- अमृतमानृते।"

## (६) धर्म का वर्णन

घर्मज्ञान के लिए त्रिविध प्रमाणों का ज्ञान---

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीष्तता ॥ १०५ ॥ (५६)

(धर्मशुद्धिम् + प्रभोष्सता) धर्म के वास्तविक तत्त्व को जानने के ग्रिभलाषी मनुष्य को (प्रत्यक्षम् ग्रनुमानं च विविधागमं शास्त्रम्) प्रत्यक्ष-प्रमाण, ग्रनुमान-प्रमाण ग्रीर वेद एवं विविध वेदमूलक शास्त्र-प्रमाण, (त्रयं सुविदितं कार्यम्) इन तीनों का ग्रच्छी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।। १०५।।

अनुव्योत्जनः तीन प्रमाण और उनके लक्षण-प्रत्यक्ष, ग्रनुमान

त्रीर शास्त्र या शब्द-प्रमाणों को समक्षते के लिए यहाँ उन पर विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है। स० प्र० प्रथम समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने न्यायदर्शन के सूत्रों को उद्धृत करके इनकी विस्तृत ग्रीर गम्भीर व्याख्या की है। यहाँ वही उद्धृत की जाती है—

#### (१) प्रत्यक्ष प्रमारा-

"इन्द्रियार्थंसन्तिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमञ्यपदेश्यमञ्यमिचारि ज्यवसायास्मकं प्रत्यक्षम् ॥"
- न्याष० ॥ ग्रध्याय १ । ग्राह्मिक १ । सूत्र ४ ॥

"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिल्ला श्रीर घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंघ के साथ शब्यवहित श्रयांत् श्रावरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का श्रीर मन के साथ ग्रात्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य श्रयांत् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह-वह ज्ञान न हो। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'तू जल ले श्रा' वह लाके उसके पास धरके बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इन दो श्रक्षरों की संज्ञा लाने वा मंगवाने वाला नहीं देख सकता है। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है, श्रीर जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्द-प्रमाण का विषय है। 'श्रव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा, ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है। 'श्रवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि 'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा श्रीर कुछ है' 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त' जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है किन्तु जो श्रव्यपदेश्य,श्रव्यभिचारि श्रीर निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।"

#### (२) मनुमान प्रमाण-

''ग्रय तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेववत्सामान्यतो दृष्टञ्च ॥''

न्याय० ॥ ग्र० १ । ग्रा० १ । सु० ५ ॥

"जो प्रत्यक्षपूर्वंक ग्रयांत् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुमा हो उसका दूर देश से सहचारी एक देशके प्रत्यक्ष होने से ग्रव्यत्यवी का ज्ञान होने को ग्रनुमान कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में घूम को देखके ग्रन्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का भान होता है। वह ग्रनुमान तीन प्रकार का है। एक 'पूर्वंवत्' जैसे बादलों को देख के वर्षा, विवाह को देख के सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहां-जहां कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो वह 'पूर्वंवत्'। दूसरा 'शेषवत्' अर्थात् जहां कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षां का, पुत्र को देखके पिता का, मृष्टि को देखके ग्रनादि कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का भीर पाप-पुण्य के आचरण देखके सुख-दुःख का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा 'सामान्यतोद्दृष्ट', जो कोई किसी का कार्य कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधम्यं एक-दूसरे के साथ हो जेसे कोई भी बिना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना बिना गमन के कभी नहीं हो सकता। अनुमान शब्द का अर्थ यही है कि अनु अर्थात् 'प्रत्यक्षस्य परचान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' जो प्रत्यक्ष के परचात् उत्पन्न हो जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।"

#### (३) शास्त्र अर्थात् शब्द-प्रमाण---

''म्राप्तोपदेशः शब्दः।" (न्याय १।१।७)

"जो म्राप्त म्रर्थात् पूर्णं विद्वान्, धर्मात्मा, परोकार-प्रिय, सत्यवादी, पुरुवार्थी, जितेन्द्रिय पुरु जैसा म्रपने म्रात्मा में जानता हो ग्रौर जितसे मुख पाया हो उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो म्रर्थात् जितने पृथ्वी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष ग्रौर पूर्णं ग्राप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को शब्द-प्रमास जानो।"

शब्द-प्रमाण प्रयात् वेद भीर वेदमूलक शास्त्रों का वर्णन मनु ने धर्मपूलों में भी किया है। इस विषयक विवेचन १। १२५ [२।६] की समीक्षा में 'वेद' ग्रीर 'स्मृति' शीर्षकों के ग्रन्तर्गत देखिये।

इन प्रमाणों स्त्रीर वेदादि शास्त्रों से धर्म के वास्तविक रूप का निश्चय होता है, ग्रन्यथा नहीं। स्रगले क्लोक में इसी मान्यता का कथन है।

वेदानुकूल तर्क से धर्मज्ञान-

म्रार्षं धर्मो । वेशं च वेदशास्त्राऽवि रोधिना । यस्तर्केणानुसंघते सः धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६॥ (५७)

(यः) जो मनुष्य (ग्रार्षं च धर्मोपदेशम्) वेद ग्रौर ऋषिविहित धर्मोपदेश [१११२५ (२।६)] ग्रर्थात् धर्मशास्त्र का (वेदशास्त्र-ग्रविशोधना तर्केण ग्रनुसंघत्ते) वेदशास्त्र के ग्रनु ूल तर्क के द्वारा ग्रनुसंघान करता है (सः धर्म वेद न + इतरः) वही धर्म के तत्त्व को समभ पाता है, ग्रन्य नहीं।। १०६।।

अद्भुश्चितिक न्यः तकं से अभिप्राय — यहाँ तकं से प्रभिप्राय है प्रमाणों ग्रीर वेदों के ग्रमुकूल सत्यनिश्चय करना। इनसे विरुद्ध बातें तकं नहीं हैं। विरुद्ध बातें कुतकं हैं। मनु के मबानुसार तकं के ग्राघार पर वेद निर्भान्त हैं, ग्रतः वेदोक्तः धर्म भी खरे हैं। फलस्वरूप उन पर तकं की ग्रावश्यकता नहीं रहती। जो कोई तकं का नाम लेकर वेदों का खण्डन करता है वह तकं नहीं, ग्रपितु कुतकं करता है, ग्रीर ऐसा व्यक्ति नास्तिक है। [इष्टव्य १।१३० (२।११) की समीक्षा भी]।

#### नैःश्रेयसिवं कर्म यथोदितमशेषतः। मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते॥ १०७॥

(इदम्) यह (म्रशेषतः) पूर्णां रूप से (नैं:श्रेयसं कर्म यथा + उदितम्) निःश्रेयस कर्म यथावत् कहे। म्रब (म्रस्य मानवस्य शास्त्रस्य) इस मनुरचित शास्त्र का (रहस्यम् + उपदिश्यते) रहस्य बतालाया जाता है।। १०७॥

## आन् श्रीत्यना : १०७ वाँ श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है-

- १. प्रसंगिवरोध (१) प्रचलित प्रसंग का संकेत देने वाला इलोक ८३ वाँ है। यहां उसमें विणित नै:श्रेयस कर्मों का वर्णन किया जा रहा है। उसी प्रसंग में १०५ वें इलोक से 'धर्मिक्रया' का वर्णन प्रारम्भ हुग्रा है श्रीर यह ११५ तक चलता है। बीच में उस पूर्वापर वर्णन से भिन्न वर्णन होने के कारण यह इलोक ग्रनावश्यक एवं ग्रप्रा-संगिक है।
- (२) मनु ने नै:श्रेयस कर्मों का प्रसंग प्रारम्भ करने का सकेत ५२ वें श्लोक में दिया था ग्रीर उसकी समाप्ति का संकेत ११६ वें श्लोक में है। इस श्लोक में ग्रपूर्ण प्रसंग के बीच में ही नै:श्रेयस कर्मों के प्रसंग की समाप्ति का संकेत देना भी इसे असंगत सिद्ध करता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे बलात् प्रसंग को परिवर्तित करना चाहा है। क्योंकि, अगले विषय का इस श्लोक में जो संकेत है वह भी गलत है। ग्रगले श्लोकों में धर्मनिर्णय की विधि के उपाय वर्णित हैं,जब कि इस श्लोक में 'मानवमात्र के रहस्य' को कहने का संकेत है। इस ग्राधार पर भी यह प्रक्षिप्त सिद्ध होता है।
- (३) वर्णनक्रम की नैरन्तर्य-शैली भी इस बात की द्योतक है कि यहाँ कोई प्रसंग नहीं वदला गया है। ग्रतः इस श्लोक की यहाँ ग्रावश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार भी यह प्रसंग में बाधक है।
- १. जैलीगत ग्राधार—(१) "मानवस्य ज्ञास्त्रस्य" (मनुरचित ज्ञास्त्र) पद से स्पष्ट है कि यह मनुप्रोक्त क्लोक नहीं है। (२) मूलरूप में मनुस्मृति ज्ञास्त्र न होकर प्रवचन थे, यह इसकी जैली से सिद्ध होता है। प्रत्येक प्रसंगके प्रारम्भ में 'श्रूयताम्' 'निबोधत' ग्रादि क्रियाग्रों का प्रशोग इसको मूलरूप में 'प्रवचन' ही प्रमाणित करता है ग्रीर १। १-४ क्लोकों में ऋषियों का मनु के पास ग्राकर ग्रपनी जिज्ञासा रखना ग्रीर मनुद्वारा 'श्रूयताम्' कहकर उनकी जिज्ञासा का उत्तर देना [१। २-४] भी उक्त युक्ति में विशिष्ट प्रमाए है।

म्रविहित धर्मों का विधान शिष्टविद्वान् करें---

श्रनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चे.द्भवेत् । यं शिष्टा बाह्यणा ब्र्युः स धर्मः स्यादशिङ्कतः ॥ १०८॥ (५८) (ग्रनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यात् ? इति चेत् भवेत्) जो धर्मयुक्त व्यवहार, मनुस्मृति म्रादि में प्रत्यक्ष न कहे हों, यदि उनमें शंका होवे तो तुम (यं शिष्टाः ब्राह्मणाः ब्रूयुः) जिसको शिष्ट, [१०६] म्राप्त विद्वान् कहें (सः म्रशंकितः धर्मः स्यात्) उसी को शंकारहित कर्त्तव्य-धर्म मानो ।। १० = ।। (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

शिष्ट विद्वानों की परिभाषा--

धर्मेगाधिगतो येस्तु वेदः सपरिवृंहगः। ते शिष्टा बाह्यगा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ १०६॥ (५६)

शिष्ट सब मनुष्यमात्र नहीं होते किन्तु (यै: तु धर्मेण सपरिवृंहणः वेद: ग्रिधगतः) जिन्होंने पूणं ब्रह्मचर्यं ग्रीर धर्म से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हों, ग्रीर जो (श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः) श्रुतिप्रमाण ग्रीर प्रत्यक्ष ग्रादि प्रमाणों ही से विधि का निषेध करने में समर्थं, धार्मिक, परोपकारी हों (ते शिष्टा: ब्राह्मणा: ज्ञेयाः) वे ही शिष्ट पुरुष होते हैं।। १०६।।

(संवि गृहा प्र)

तीन या दश विद्वानों की धमंनिणीयक परिषद्-

बशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् । त्र्यवरा वापि वृत्तस्या तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥ (६०)

(दशावरा वृत्तस्था वा त्रि + ग्रवरा परिषद्) न्यून से न्यून दश विद्वानों ग्रथवा बहुत न्यूम हों तो तोन विद्वानों की सभा (यं धर्म परि-कल्पयेन्) जैसी व्यवस्था करे, (तं धर्म न विचालयेत्) उस धर्म ग्रर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे।। ११०।। (स० प्र० षष्ठ समु०)

"गृहस्य लोग छोटों, बड़ों वा राजकार्यों के सिद्ध करने में कम से कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक्त), तर्क-कर्त्ता, नैरुक्त = निरुक्तशास्त्रज्ञ, धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्य विद्वानों अथवा अतिन्यूनता करें. तो तीन वेदवित् (ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ और सामवेदज्ञ) विद्वानों की सभा से कर्त्तश्याकर्त्तंत्र्य, धर्म और अवर्म का जैसा निरुत्रय हो, वैसा ही आचरण किया करें।"

(सं० वि० गुहाश्रम प्र०)

"वंसे शिष्ट न्यून से न्यून दश पुरुषों को सभा होवे अथवा वड़ें विद्वान् तीनों की ही सभा हो सकती है। जो सभा से धर्म-कर्म निश्चित हों, उनका भी आवरण सब लोग करें।" (सं० वि० गृहाश्रम प्र०) धर्मपरिषद् के दश सदस्य --

त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रै त्रयद्याश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥ (६१)

(दशावरा स्यात्) उन दशों में इस प्रकार के विद्वान् होवें— (त्रैविद्यः) तीन वेदों के विद्वान् (हैतुकः) चौथा हैतुक अर्थात् काररा-अकाररण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवां— तर्की = न्यायशास्त्रवित्, (नैरुक्तः) छठा — निरुक्त का जानने हारा, (धमंपाठकः) सातवां — धमंशास्त्र-वित् (त्रयः च पूर्वे धाश्रमिरणः) प्राठवां — ब्रह्मचारी, नववां - गृहस्थ, ग्रौर दशवां — वानप्रस्थ, इन महात्माग्रों की (परिषत् स्यात्) सभा होवे ॥ १११॥ (सं० वि० गृहाश्रम प्र०)

अद्भार विद्या : त्रयी विद्या — ऋक्, यजुः साम और श्रथर्व — ये चारों वेद त्रयीविद्या रूप कहलाते हैं। इस विषयक विस्तृत विवेचन ११। २६५ के श्रनुशीलन में द्रष्टव्य है।

"इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र निरुक्त, धर्मशास्त्र ग्रादि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्य ग्रीर वानप्रस्थ हों, तब वह सभा कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएँ।" (स० प्र० षष्ठ समु०)

धर्मपरिषद् के तीन सदस्य---

# ऋग्वेदविद्यर्जुविच्च सामवेदविदेव च । ज्यवरा परिचन्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥(६२)

(च) तथा (ऋग्वेदिवत् यजुर्वेदिवत् च सामवेदिवत् + एव) ऋग्वेद-वित् यजुर्वेदिवत् श्रीर सामवेदिवत् (त्रि + ग्रवरा धर्मसंशयिवर्णये परिषत् ज्ञेया) इन तीनों विद्वानों की भी सभा धर्मसंशय प्रर्थात् सब व्यवहारों के निर्णय के लिए होनी चाहिए ॥ ११२ ॥ (सं० वि० ग्रहाश्रम प्र०)

"ग्रीर जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद ग्रीर सामवेद के जानने वाले तीन सभासद हो के व्यवस्था करें उस सभा की कीहुई व्यवस्था का भीं कोई उल्लंघन न करे।।" (स॰ प्र॰ षष्ठ समु॰)

वेद का एक विद्वान् भी घसंख्य मूलों से धर्मनिर्एंय में प्रमाण है-

एकोऽपि वैदिवद्धमें यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो घर्मी नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥ (६३) (एकः प्रपि वेदवित्) यदि एक प्रकेला सब वेदों का जानने हारा द्विजों में उत्तम संन्यासी (यं धर्म व्यवस्येत्) जिस धर्म की व्यवस्था करे (सः परः धर्मः विज्ञेयः) वही श्रेष्ठ धर्म है, (म्रज्ञानाम् स्रयुतेः उदितः न) ग्रज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो बुछ व्यवस्था करें, उनको कभी न मानना चाहिए ॥ ११३ ॥ (स० प्र० षष्ठ समु०)

"दिजों में उत्तम प्रयात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी, स्रकेला भी जिस घमं व्यवहार के करने का निश्चय करे, वही कर्त्तव्य परम धमं समभना किन्तु स्रज्ञानियों के सहस्रों, लाखों स्रोर करोड़ों पुरषों का कहा हुआ धमं-व्यवहार कभी न मानना चाहिए।" (स० वि० गृहाश्रम प्र०)

धर्मपरिषद् का सदस्य कौन नहीं हो सकता---

भ्रवतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रज्ञः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥ (६४)

(ग्रवतानाम्) जो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण ग्रादि व्रत (ग्रमन्त्राणाम्) वेदिवद्या वा विचार से रिहत, (जातिमात्र-उपजीविनाम्) जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान है, (सहस्रशः समेतानाम्) उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी (परिषत्त्वं न विद्यते) सभा नहीं कहाती ॥ ११४॥

(स॰ प्र॰ षष्ठ समु॰)

अर न्यू कारिटिंड न्यः जाति का ग्रयं जन्म— मनुस्मृति में जाति शब्द 'जन्म' ग्रयं में प्रयुक्त है, ग्रतः यहाँ जाति का ग्रयं जन्म ही है। यहाँ ऐसे व्यक्तियों का धर्म-परिषद् में निषेध किया है जो जन्म के ग्राधार पर प्रपने को श्रेष्ठ समभते हों, उत्तम वर्ण होने का ग्रभिमान करते हों किन्तु गम्भीरता ग्रीर विधिपूर्वक जिन्होंने विद्याग्रहण न की हो। इसकी पुष्टि के लिए १। १२३ [२। १४८] का ग्रनुशीलन द्रष्टव्य है।

मूलों द्वारा निर्णीत धर्म से पापवृद्धि का भय--

यं वदन्ति तमोमूता मूर्खा धर्ममतिहृदः । तत्पापं शतधा मूत्वा तहृकतृननुगच्छति ॥ ११५ ॥ (६५)

(तमोभूताः मुर्खाः) तमोगुण अर्थात अविद्या से युक्त, मूखं (अतिद्वदः) वेदोक्त धर्मज्ञान से शून्य जन (यं धर्मं वदन्ति) जिस धर्म का उपदेश करते हैं, (तत् पापम्) वह धर्मरूप में अधर्मरूप पाप (शतधा भूत्वा) सो गुणा होकर अथवा सैकड़ों रूपों में फैलकर (तत् +वक्तृन् +अनुगच्छति) उन वक्ताओं को लगता है अर्थात् उससे सैकड़ों पाप फैलते हैं और उनको बुराई वक्ताओं को मिलती है।। ११५।।

"जो अविद्यायुक्त, पूर्ख, वेदों के न जानने वाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं।। (स॰ प्र॰ षष्ठ समु॰

अस्तु श्री त्या : मूलाँ द्वारा विहित धमं से हानि— वेदः दि शास्त्र श्रीर प्रमाणादि में अपारंगत मूर्खं व्यक्तियों द्वारा कथित धमं वस्तुतः धमं नहीं होता । क्यों- कि वे धमं के स्वरूप के ज्ञाता नहीं होते । ग्रधमं को धमं के रूप में विहित करने से सैकड़ों प्रकार की श्रविद्याएँ, श्रान्तियाँ, पनपती हैं, फिर उनसे पाप की वृद्धि होती है। इस प्रकार समाज रसातल को चला जाता है । उस समाज की स्थित संग्रुतप्रसिद्ध उक्ति वाली होती है—'ग्रन्थनंव नीयमानाः यथान्थाः' ग्रन्थ के सहारे उसके पीछे चलने वाले जैसे उसके साथ ही गत्तं में गिरते हैं, वैसे मूलाँ के पीछे चलने वाले मूर्खता, ग्रज्ञानान्धकार ग्रादि से ग्रस्त होकर श्रवनित को प्राप्त होते हैं। निःश्रेयस कर्मों का उपसंहार—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्। ग्रस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६॥ (६६)

(एतत्) यह [१२। ५३-११४] (परं निःश्रेयसकरं सर्वं वः ग्रभि-हितम्) मोक्ष दने वाले सर्वोत्तम कर्मों का पूर्ण विधान तुम से कहा, (विप्रः) विद्वान् द्विज (ग्रस्मात् +ग्रप्रच्युतः) इसकी बिना छोड़े पालन करता हुग्रा (परमां गति प्राप्नोति) उत्तम गति ग्रथीत् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।। ११६।।

एवं स मगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया। धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्।। ११७।।

(एवम्) इस प्रकार (सः भगवान् देवः) उन भगवान् मनु देवता ने (लोकानां हितकाम्यया)ः लोगों के हित के लिए (धर्मस्य सर्वं परमं गुह्यम्) धर्म का सब ब्रह्मन्त गोपनीय रहस्य (मम उक्तवान् इदम्) मुक्त से जो कहा था, वह यही है ॥ ११७ ॥

# अनुश्रीलनः ११७ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

- १. शैलीगत भाषार—ग्रन्थों के प्रारम्भिक श्लोक १। २-४ की वर्णन-शैली से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मनु से ही ऋषियों ने प्रश्न किये हैं ग्रीर मनु ही उनका उत्तर देते हैं। इस श्लोक में भृगु द्वारा स्वयंप्रोक्त होने का कथन उस कथन से विरुद्ध है [इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है भूमिका में शैलीगत ग्राधार]। यह किसी भृगु-अनुयायो द्वारा रचकर मिलाया गया श्लोक है, जो प्रक्षिप्त है।
- २. प्रसंग-विरोध प्रस्तुत प्रसंग तिःश्रेयस कर्मों के वर्णन का है। ११६ वें इलोक में निःश्रेयस कर्मों के वर्णन की समाप्ति का संकेत किया है, किर उनसे सम्बन्धित उपसंहारात्मक वर्णन है। सभी वर्णन पूरा हुया ही नहीं है कि इस इलोक में धर्मोयदेश के पूर्ण होने का कथन कर दिया। इस प्रकार निःश्रेयस कर्मों के वर्णन ग्रीर उपसंहार के वीच में प्रसंगभिन्न वर्णन होने से ग्रीर मध्य में ही समाप्ति-सूचक वाक्य

होने से यह प्रसंगविषद्ध ग्रसंगत श्लोक है, ग्रतः प्रक्षिप्त है। ईश्वरद्रष्टा प्रधर्म में मन नहीं लगाता—

> सर्वमात्मिन सम्पद्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वे ह्यात्मिन संपद्यग्नाधर्मे कुरुते मनः ॥११८॥ (६७)

(समाहित:) जो सावधान पुरुष (ग्रसत् च सत् च सर्वम्) ग्रसत्का-रण ग्रीर सत्कार्यरूप जगत् को (ग्रात्मिन संपद्येत) ग्रात्मा ग्रर्थात् सर्व-व्यापक परमेश्बर में देखे, (अधर्मे मनः न कुरुते) वह कभी ग्रपने भन को ग्रथमंगुक्त नहीं कर सकता, (हि) क्योंकि (सर्वम् ग्रात्मिन संपद्यन्) वह परमेदवर को सर्वेज जानता है।। ११८॥ (द० ल० भ्रा० नि० १६६)

अर्जुटरीट्डन् : सवंत्र परमात्मा के प्रतुमव-ज्ञान से प्रधमंनिवृत्ति— यह सम्पूर्ण संसार प्रकट ग्रीर अप्रकटरूप है। कार्यंरूप में यह प्रकट है ग्रीर कारणरूप में अप्रकट है। परमात्मा सम्पूर्ण संसार में ज्याप्त रहता है। जो ज्यक्ति सदा इस बात का ग्रनुभव जरता है, वह किसी भी स्थान पर ग्रीर किसी भी समय में प्रधमं नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि मुक्तें प्रत्येक स्थान ग्रीर समय में सर्वज्यापक परमात्मा देख रहा है। इस प्रकार की ग्रनुभूति एवं ज्ञान से मनुष्य ग्रधमं से दूर रहता है।

गरमेश्वर ही सबका निर्माता, फलदाता ग्रीर उपास्य है —

म्रात्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् । भ्रात्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिगाम् ॥११६॥ (६८)

(ग्रात्मा + एव सर्वाः देवताः) ग्रात्मा ग्रर्थात् परमेश्वर ही सब व्यव-हार के पूर्वोक्त देवताग्रों को रखनेवाला, (सवम् + ग्रात्मि + ग्रवस्थितम्) ग्रीर जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा (एषां शरीरिगां कर्मयोगं जनयित) सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देने हारा है।। ११९।। (द० ल० भ्रा० नि १९६)

महिष द्वारा स्रांशिक या केवल प्रमाण रूप में यह श्लोक निम्न सन्य स्थानों पर उद्धृत है-(१) द० ल० भ्रा॰ नि॰ १७२, (२) द० ल० वे० ख० २४, (३) द० शा॰ ५३, (४) ऋ॰ प॰ वि॰ १३, (५) ल० वे॰ स्रंक १२५।

अर्जुर्टारेट्डन्डः (१) परमात्मा ही सब देवताओं का देवता—ईश्वर सबसे प्रमुख देव है। ग्रन्य सभी देवताओं का वही रचयिता है। उन देवताओं के वर्णन से भी परमात्मा का ग्रहुण होता है। इस विषय पर निरुक्त में प्रकाश डाला गया है—

"महाभाग्याहेवताया एक ग्रात्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनी ग्रम्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।''ग्रात्मा सर्वे देवस्य देवस्य।" [७ । ४] श्रर्थात्—महान् ऐरवर्यंशाली होने के कारण उसी परमात्मा की ही विभिन्न रूपों में स्तुति की जाती है। शेष सभी देव उस परमात्मा के ही द्वारा प्रकाशित या दिव्य-गुणयुक्त हैं। वही सबका रचियता है। वही परमात्मा ही सब देवों का देवता है।

- (२) परमात्मा के ग्राश्रय में ही समस्त जगत् स्थित है—इस विषय में स्रनेक वेदमन्त्रों में प्रकाश डाला गया है। द्रष्टव्य है १।६; १२।१२४,१२५ क्लोक पर
- (३) श्रन्यत्र वर्णन —परमात्मा ही जीवों को कमों से संयुक्त करके उन्हें फल प्रदान करता है। इस विषय में मनु ने १। २६–३० क्लोकों में भी प्रकाश डाला है।

इन्द्रियों में आकाश आदि का ध्यान---

लं सन्निवेशयेरलेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् । पिनतृहष्टचोः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥ मनसीन्दुं विशः श्रोत्रे क्वान्ते विष्णुं बले हरम् । वाष्यान्त मित्रमुस्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

(सेषु सम्) नासिका मादि शरीर के छिद्रों में माकाश की, (वेष्टन-स्पर्शने अनिलम्) वेष्टा तथा शरीररूप शारीरिक वायु में वायु को, (पिक्त-इष्टघो: परं तेजः) उदर तथा नेत्रों के तेज में तेज को, (स्नेहे + प्रपः) शरीर के जल में जल को (च) ग्रीर (मूर्तिषु गाम्) शरीर के पार्थिव भागों में पृथ्वी को, (मनिस + इन्दुम्) मन में चन्द्रमा को, (श्रोत्रे दिशः) कानों में दिशामों को, (क्रान्ते विष्णुम्) चरणों में विष्णु को, (बले हरम्) बल में शिव को, (वाचि + ग्राग्नम्) वाणी में ग्राग्न को, (उत्सर्गे मित्रम्) गुदा में मित्र को (प्रजने च प्रजापतिम्) शिक्न में प्रजापति को व्याप्त सममकर (संनिवेशयेत्) ध्यान लगाये॥ १२०-१२१॥

श्चार्क्या अनुसार प्रक्षिप्त हैं—

- १. अन्तिविरोध—इन क्लोकों में विणित व्यानिविधि, आकाश, वायु, चन्द्रमा, विष्णु आदि का व्यान, मनु की मान्यता से न तो तालमेल खाता है और न मनुसम्मत है। मनु केवल एक निराकार परमात्मा के व्यान और उपासना का विधान करते हैं, विष्णु, चन्द्रमा आदि का नहीं। वे आत्मा में परमात्मा के व्यान का विधान करते हैं, शरीरांगों में नहीं। ये क्लोक मनु के उन सभी क्लोकों से विषद्ध हैं, जिनमें मनु ने एक निराकार परमात्मा का आत्मा में व्यान करने का कथन किया है [२। १००—१०४; ६। ६४, ७२-७४; १२। ५४, ६१, ११६, ११६, १२२, १२४ आदि]। इस आधार पर ये प्रक्षिप्त हैं।
  - २. प्रसंगिवरोध-पूर्वापर ११६, १२२ ब्लोकों में निराकार परमात्मा का

स्वरूप-विषयक वर्णन है। इन इसोकों ने विभिन्न उपासनाम्रों का वर्णन करके उस प्रसंग को भंग कर दिया है। इस प्रकार ये प्रसंग विरुद्ध प्रक्षेप हैं।

परम सूक्ष्म परमास्मा को जानें---

# प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरि । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यातं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥ (६६)

(सर्वेषां प्रशासितारम्) जो सबको शिक्षा देने हारा, (अणोः + ग्रिप अणीयांसम्) सूक्ष्म से सूक्ष्म, (रुवमाभम्) स्वप्नकाशस्वरूप, (स्वप्नधी-गम्यम्) ममाधिस्थ बुद्धि मे जानने योग्य है, (तं परं पुरुषं विद्यात्) उसको परम पुरुष जानना चाहिए॥ १२२॥ (स॰ प्र० प्रथम समु०)

महिष द्वारा श्रपने ग्रन्थों में यह श्लोक निम्न स्थानों पर प्रमाण या पदांश के रूप में उद्धृत किया गया है—

(१) द० शा० ५३, (२) उपदेश-मञ्जरी ५२, (३) द० ल० वेदां ह १२६, (४) ऋ० प० वि० १३, (५) द० ल० आ० नि० १६६, (६) ऋ० भा० मू० १११।

अर्जुटर्रिट्डन्ड: (१) परमात्मा के स्वरूप एवं गुर्णों का वर्णन— मनु ने इस श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप कहा है। वही परमात्मा सबका ज्ञानदाता या शिक्षक है। इसी भाव को मनु ने १। २१ में दूसरे प्रकार से विणित किया है।

यह सूक्ष्म परमात्मा ही जानने या मानने योग्य है, ग्रन्य नहीं । यह समाधि के द्वारा ग्रंथीत योगाम्यास से जाना जा सकता है ।

- (२) इलोक की वेदमन्त्रों से तुलना—इस ध्लोक में वर्णित ईश्वर के स्वरूप, गुण एवं प्राप्तव्य विधि तथा प्रेरणा का ग्राधार वेद के मन्त्र ही हैं। निम्न मन्त्रों को देखकर प्रतीत होता है कि यह श्लोक उनका साररूप है—
  - (क) स पर्यागाच्छुक्रमकायमत्रगमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविमंतीवी परिमूः स्वयम्भूर्यायातच्यतोऽर्यान् व्यवधाच्छादवतीम्यः समाम्यः ॥ यजु० ४० । ८ ॥

अर्थ — "हे मनुष्यो ! जो बहा (शुक्रम्) शी घ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, (ग्रकायम्) स्थूल, सूक्ष्म ग्रीर कारण शरीर से रिहत है, (अत्रणम्) छिद्ररिहत एवं जिसके दो टुकड़े नहीं हो सकते (ग्रस्नाविरम्) नाड़ी ग्रादि के बन्धन से रिहत है (शुद्धम्) ग्रविद्या ग्रादि दोषों से रिहत होने से सदा पित्र है, (ग्रपापिविद्धम्) जो कभी भी पाप से युक्त, पाप करने वाला ग्रीर पाप से ग्रेम करने वाला नहीं है, वह (परि + ग्रगात्) सर्वत्र व्यापक

है, जो (किदः) सवंज्ञ, (मनीषी) सब जीवों की मनोवृत्तियों को जानने वाला, (परिभूः) दुष्ट-पािपयों का तिरस्कार करने वाला, (स्वयम्भूः) ग्रनादिस्वरूप वाला, जिसकी संयोग से उत्पत्ति ग्रीर वियोग से विनाश नहीं होता, जिसके माता-पिता कोई नहीं ग्रीर जिसका गर्भवास, जन्म, वृद्धि ग्रीर क्षय नहीं होते हैं; वह परमात्मा (शाश्वती म्यः) सनातन, ग्रनादिस्वरूप वाली, ग्रपने स्वरूप की इष्टि से उत्पत्ति ग्रीर विनाश से रहित (समाम्यः) प्रजा के लिए (याथातथ्यतः) यथार्थता से (ग्रथान्) वेद के द्वारा सब पदार्थों का (व्यदधात्) अच्छी तरह से उपदेश करता है। (सः) वह परमात्मा ही तुम्हारे लिए उपासना करने योग्य है।" [ऋ० दयानन्दयजु:भाष्य]।

(स) वेवाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यव एँ तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्या विद्यतेऽयनाय ।। यजु० ३१।१८

ग्नर्थं—''हे जिज्ञासु! मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (महान्तम्) महान् गुणों से युक्त (ग्नादित्यवर्णम्) सूर्य के प्रकाश के तुल्य जिसका स्वरूप है, उस स्वप्रकाश स्वरूप परमात्मा को (तमसः) ग्नज्ञान वा श्रन्थकार से (परस्तात्) परे वर्तमान स्वस्वरूप से पूर्णं (वेद) जानता हूं। (तमेव) उसी को (विदित्वा) जानकर ग्राप (मृत्युम्) दुःखदायक मृत्यु को (ग्निति + एति) लांघते हो; (ग्रन्यः) इससे भिन्न (पन्याः) मार्गं (ग्रयनाय) ग्रभीष्ट स्थान मोक्ष के लिए (न विद्यते) नहीं है।"

[यजु॰ भाष्य ऋ॰ दयानन्द]

परमात्मा के अनेक नाम---

# एतमेके वदन्त्यिंन मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्रारामपरे ब्रह्म ज्ञाञ्चतम् ॥ १२३ ॥ (७०)

(एतम् एके) इस परमात्मा [१२।१२२] को (एके) कोई (ग्रग्निम्) 'ग्रग्नि', (ग्रन्ये प्रजापित मनुम्) कोई प्रजापित परमात्मा को 'मनु' (एके इन्द्रम्) कोई 'इन्द्र', (परे प्राणम्) कोई 'प्राण', (ग्रपरे शास्वतं ब्रह्म) दूसरे कोई शास्वतं 'ब्रह्म', (वदन्ति) कहते हैं ।। १२३।।

''स्वप्रकाश होने से 'म्रग्नि', विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने ग्रोर परमेश्वयंवान् होने से 'इन्द्र', सबका जीवनमूल होने से 'प्राण', ग्रोर निरन्तर ब्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।''

(स॰ प्र॰ प्रथम समु०)

महर्षि द्वारा प्रमाण रूप में म्रन्यत्र उद्धृत—(१) प० वि०१३, (२) द० ल० भ्रा० नि० १९६, (३) उपदेशमञ्जरी ५२, (४) द० शा० ५३; (५) द० ल० वेदांक १२६।

अस्तु रारित्य : (१) परमात्मा के गीण नाम ग्रीर उनके ग्रर्थ-मनु

ने परमेश्वर का सबसे मुख्य नाम 'ग्रोश्म्' माना है [२।४६—५३]। यहाँ उसी 'ग्रोश्म्' पदवाच्य परमात्मा के कुछ ग्रन्य गौरा नामों का उल्लेख किया है। इन नामों से भी उसी सूक्ष्म, सर्वान्तयाँमी, सर्वंप्रकाशक परमात्मा [१२।१२२] का बोध होता है। नीचे इनकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित की जा रही है, जिससे इन शब्दों के परमात्मपरक ग्रयं का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुर्गों पर भी प्रकाश पड़ता है—

- १. श्रीन—'श्रञ्जु गितपूजनयोः' या 'श्रग-प्रिग गतो' धातुश्रों से श्रीन शब्द सिद्ध होता है। गित के तीन श्रयं होते हैं ज्ञान, गमन श्रीर प्राप्ति। पूजन का श्रयं सत्कार है। 'योऽञ्चिति, श्रव्यते, श्रगत्यङ्गतेति सोऽयमिनः' श्रयीत् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र, जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य श्रीर पूजा के योग्य है, उसको 'श्रीन' कहते हैं। वह परमातमा का नाम है। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है 'श्रात्मा एव अग्निः' [शत० ६।७।१।२०], 'श्रीनरेव ब्रह्म' [शत० १०।४।१।१]।
- २. मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' घातुओं से मनु शब्द सिद्ध होता है। 'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः, जो विज्ञानरूप श्रीर ज्ञान करने योग्य है, इस कारण ईश्वर का नाम 'मनु' है।
- ३. प्रजापित—प्रजा श्रीर पित दो पदों में समास होकर 'प्रजापित' शब्द बनता है। 'प्रजायाः पितः = पालकः, रक्षकः प्रजापितः' प्रजाश्रों का पालक श्रीर रक्षक होने से परमात्मा का नाम 'प्रजापित' है। निरुक्त में भी यही व्युत्पित्त है 'प्रजापितः पाता वा पालियता वा' = प्रजापित रक्षक श्रीर पालक होता है। ब्राह्मण- ग्रन्थों में कहा है ''ब्रह्म वै प्रजापितः" [शत० १३।६।२।८], ''प्रजापितिह आत्मा" [शत० ६।२।२।१२]।
- ४. इन्द्र—'इदि परमैश्वयें' घातु से ऋष्त्रेन्द्रा० (उणादि०२।२८) सूत्र से रन् प्रत्यय के योग से 'इन्द्र' गब्द सिद्ध होता है। 'इन्द्रित परमैश्वयंवान् भवित स इन्द्रः'— जो ग्रिखल ऐश्वयंयुक्त है, इस कारण परमात्मा का नाम इन्द्र है। 'इन्दिर्वा ऐश्वयंकर्मणः" [निरु० १०।८]। "यो ह खन्नु वाव प्रकापितः स उ वावेन्द्रः"

(तै॰ १।२।२४]।

- ५. प्रारण-प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' घातु से 'प्राण' शब्द सिद्ध होता है। प्रारण-नात् प्राण:-सबका जीवनमूल होने से जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है। ''प्रारणापानी देवः = ब्रह्मः'' [गो०१।२।११]।
- ६. ब्रह्म-- 'बृहि वृद्धी' धातु से 'बृ'हेर्नोऽच्च' (उणादि ०४। १४६) सूत्र से मनित् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। 'योऽखितं जगत् निर्माणेन बहंयति वर्द्धयति स ब्रह्मः.--जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर वढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम

ब्रह्म है। निरुक्त के ब्रनुसार—''**ब्रह्म परिवृढं सर्वतः''** [निरु० १। ६]—सर्वोच्च, सबसे बड़ा, सर्वेव्यापक, सबसे शक्तिशाली होने से ईश्वर का नाम 'ब्रह्म' है।

- (२) वेद मन्त्रों में ईश्वर के गौए नामों का वर्णन—वेदमन्त्रों में ईश्वर के ग्रनेक गौए। नामों का उल्लेख ग्राता है। श्लोक का भाव इन मन्त्रों पर ग्राधारित प्रतीत होना है—
  - (क) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो विश्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् । एतं सद्वित्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिक्वानमाहुः ।। ऋक् १।१६४।४६।

श्रथीत्-परमात्मा एक है। एक होते हुए भी विद्वान् लोग भिन्त-भिन्त गुणों के कारण उसे भिन्त-भिन्त नामों से सम्बोधित करते हैं, जैसे-इन्द्र = ऐश्वयंशाली, मित्र = सबके द्वारा प्रीति करने योग्य, वरुण = वरणीय श्रग्ति = ज्ञानस्वरूप एवं पूजा के योग्य, दिव्य, = तेज:-स्वरूप एवं श्रद्भुतगुणयुक्त, सुपणं = उत्तम पालन श्रौर पूर्णकर्म-युक्त, गरुत्मान् = महान् स्वरूप एवं बलवाला, यम = न्यायकारी, मातरिश्वा = वायु के समान श्रनन्त बल वाला। ये सभी परमात्मा के नाम हैं।

(ल) तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्तं तद् बह्य ताऽम्रापः सः प्रजापतिः।। यजु० ३२ । १ ।।

ग्रर्थात्—वह सूक्ष्म, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमात्मा ज्ञानस्वरूप ग्रीर पूज्य होने से 'ग्रिग्न' कहलाता है, प्रलयकाल में सबको ग्रहण करने वाला होने से वही 'ग्रादित्य' है, ग्रनन्त बलवान् होने से 'वायु', ग्रानन्दस्वरूप एवं ग्राह्णादक होने से 'चन्द्रमा', शुद्ध-स्वभाव होने से 'ग्रुक', सबसे महान् होने से 'ब्रह्म', सर्वत्र व्यापक होने से 'ग्रापः' ग्रीर सब प्रजाशों का स्वामी एवं पालक होने से वही परमात्मा 'प्रजापित' कहलाता है।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही संसार को चक्रवत् चलाता है —

एषः सर्वारिंग मूतानि पञ्चभिन्यां प्य मूर्तिभिः । जन्मवृद्धिक्षयंनित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४॥(७१)

(एषः) यह परमात्मा (पञ्चभिः मूर्तिभिः सर्वाणि भूतानि व्याप्य) पञ्च महाभूतों से सब प्राणियों को युक्त करके ग्रर्थात् उनकी उत्पत्ति करके ग्रीर उनमें व्याप्त रहकर (जन्मवृद्धि-भयैः नित्यं चक्रव्रत् संसारयित) उत्पत्ति, वृद्धि ग्रीर विनाश करते हुए सदा चक्र की तरह संसार को चलाता रहता है।। १२४।।

अञ्चार्टी ट्यन्तः अन्यत्र वर्णन—ितराकार, सूक्ष्म परमात्मा इस संसार का उत्पत्ति-वृद्धि ग्रीर विनाशकत्ती है। यह मान्यता १। ५७, ८० इलोकों में विणित है। तुलनार्थं द्रष्टव्य है।

(२) उपर्युक्त स्वरूप वाला परमात्मा जगत् का उत्पत्ति-प्रलयकर्ता और

उम्में वेदों, उपिनवदों के प्रमाण—वेदों ग्रीर उपिनवदों में विश्वित मान्यता को ग्रह्ण करके मनु ने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस जगत् के उत्पिति-वृद्धि-प्रलयकर्ता परमात्मा का स्वरूप १२।१२२—१२३ इलोकों में प्रदिश्तित किया है। वही इस संसार का निर्माण-संहार करने वाला है, कोई ग्रन्य नहीं। इस विषय में वेदों ग्रीर उपिनवद् के प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

#### (क) इयं विस्विटियंत चा बसूव यदि वा वधे यदि वा न। यो श्रस्याध्यक्षः परमे ब्योमन्स्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।

ऋ०। मं० १०। सू० १२६। मं० ७॥

हे (ग्रङ्ग) मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण श्रौर प्रलयकर्ता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है। उसको तू जान श्रौर दूसरे को सृष्टिकर्ता मत मान।

## (ल) हिरण्यगर्भः समवत्तंताग्रे भूतस्य जातः पितरेक झासीत् । स वाबार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविवा विधेम ।।

ऋ०। मं० १०। सू० १२१। मं० १॥

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का ग्राधार ग्रीर जो यह जगत् हुग्रा है ग्रीर होगा, उसका एक ग्रह्वितीय पित परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था, ग्रीर जिसने पृथिवी से लेके सूर्यंपर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की ग्रेम से भिवत किया करें॥

# (ग) पुरुषऽएवेद्ध सर्वं यद्भूतं यच्च भाष्यम् ।उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।

यजुः। ग्र० ३१। मं० २॥

हे मनुष्यो ! जो सब में पूर्णं पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृषिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है; वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्य जगत् को बनाने वाला है ॥

> (घ) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यमिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्य तद्बस्य ॥ तैत्तिरीयोपनि०३।१॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीते श्रीर जिसमें प्रलय को प्राप्त होते हैं; वह ब्रह्म है। उसके जानने की इच्छा करो।

(इ) जन्माद्यस्य यतः ॥ वेदान्त ग्र०१। सूत्र०२॥

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति भीर प्रलय होता है; वही ब्रह्म जानने योग्य है। (स॰ प्र॰ श्रष्टम समु॰)

अन्य मन्त्र १। ६ के अनुशीलन में भी द्रष्टव्य हैं। समाधि से ईरवर एवं मोक्ष-प्राप्ति—

> एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माम्येति परं पदम् ॥ १२४ ॥ (७२)

(एवम्) इसी प्रकार समाधियोग से (यः) जो मनुष्य (सर्वभूतेषु ग्रात्मानं पश्यित) सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है (यः श्रात्मना सर्वसम्पताम् + एत्य) वह सबको ग्रपने ग्रात्मा के समान प्रेमभाव से देखता है (परं पदं ब्रह्म ग्रम्येति) वही परमपद जो ब्रह्म-परमात्मा है उसको यथा-वत् प्राप्त होके सदा ग्रानन्द को प्राप्त होता है ।। १२४ ।।

(द० ल० भ्रा० नि० १९६)

अप्रन्युट्यी त्उन्यः सत्र प्राणियों में आत्मवत् भाव एवं परमात्मवर्शन से मुक्ति—मनु ने यह मान्यता एवं भाव वेदों से यथावत् रूप में ग्रहण किया है। तुल-नार्थ एवं ग्रर्थस्पष्टीकरण के लिए निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपत्रयति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो नि विचिकित्सिति ॥ यजु० ४० । ६ ॥

श्रयं—(यः) जो मनुष्य (श्रात्मन्तेव) ग्रात्मा ग्रयांत् परमातमा में तथा श्रपने श्रात्मा के सदश (सर्वाणि भूतानि) समस्त जीव ग्रीर जगत् के जड़ पदार्थों को (श्रनु-पर्यति) श्रनुकूलता से, श्रयवा धर्माचरण श्रीर योगाम्यास श्रादि से देखता है (च) ग्रीर (सर्वभूतेषु) समस्त प्राणियों ग्रीर प्रकृतिस्थ पदार्थों में (ग्रात्मानम्) सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को देखता है (ततः) ऐसे सम्यक्दर्शन के बाद (न विचिक्तिसति) वह संशय को प्राप्त नहीं होता श्रयांत् संशयरहित होकर निभ्रंम ज्ञान से परमात्म-पद = मोक्ष को प्राप्त कर लेता हैं। उसे संसार श्रीर परमात्म-ज्ञान के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता।

इस शास्त्र के भ्रष्ययन का फल —

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्रिजः। भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्तृयाव्गतिम् ॥ १२६ ॥

(इति + एतत् भृगुप्रोक्तं मानवं शास्त्रं पठन्) इस भृगु द्वारा प्रोक्त मनु-रिचत शास्त्र = मनुस्मृति को पढ़ने वाला (द्विजः) द्विज (नित्यम् भाचारवान् भवित) सदा प्राचारवान् रहता है, श्रीर (यथेष्टां गर्ति प्राप्तुयात्) इच्छित गति को प्राप्त करता है ॥ १२६॥

# अन्तुर्धीत्जन्तः १२६ वां श्लोक निम्न प्रकार प्रक्षिप्त है—

१. शैलीगत बाषार—(१) १। २-४ श्लोकों की वर्णनशैली से यह शास्त्र मनुरिचत एवं मनुप्रोक्त सिद्ध होता है। इस श्लोक में इसे भृगुप्रोक्त कहना ग्रसंगत है [इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है भूमिका में 'शैलीगत ग्राधार' पर विवेचन]। इस प्रकार यह प्रक्षिप्त है। (२) सम्पूर्ण मनुस्मृति की यह शैली है कि किसी भी विषय का उपसंहार करते समय तदनुसार ग्राचरण करने का श्रेष्ठ फल दर्शाया गया है, पढ़ने का नहीं। मनुस्मृति की शैली के ग्रनुसार एक उपसंहार १२५ वें श्लोक में हो चुका, १२६ वें में न तो पुनः उपसंहार की ग्रावश्यकता रह जाती है ग्रीर न पढ़ने का फल दिखाना मनु की शैली के ग्रनुरूप है। इस प्रकार यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

इति हरपाणामान्तीयगुरुकुलक्षज्जरेऽघीतिवद्येन, तत्र भवतामाचार्यभगवान्देवानामन्तेवासिना, हरपाणाप्रान्तान्तगंतरोहतकमण्डले 'मकड़ोलीं नाम्नि ग्रामे लब्धजन्मना, श्रीगहर्रासहशान्तिदेवीतनयेन, सुरेन्द्रकुमारेण कृत मनुस्मृतेः हिन्दीं भाष्यम्, प्रक्षिप्त-श्लोकानुसन्धानयुताऽथ च विविधविषयविमर्श-सम्पन्ना 'ग्रनुशीलन' नामिका समीक्षा च पूर्तिमगात् ॥



# मनुस्मृतिश्लोकानामुभयपंक्ति-अनुऋमणिका

#### म्रावश्यक निर्देश-

- इस ग्रनुक्रमणिका में क्लोकों की प्रथम पंक्ति (प्रथमार्घ) बड़े टाइप में दी गयी है ग्रीर द्वितीयपंक्ति (द्वितीयार्घ) छोटे टाइप में है।
- २. इस ग्रन्थ में द्वितीय ग्रध्याय के पहले २५ इलोक विषय के ग्राधार पर पहले ग्रध्याय में जोड़ दिये गये हैं। इस प्रकार प्रथम ग्रध्याय के ग्रन्त में २५ इलोक बढ़ गये हैं ग्रोर द्वितीय के कम हो गये हैं। किन्तु ग्रनुक्रमणिका में प्रचलित पाठों के ग्रनुसार ही इलोक-संख्या दी गई है। प्रथम और द्वितीय ग्रध्याय में वह प्रचलित संख्या इलोकों के ग्रन्त में बृहत्कोष्ठक में दी गई है। ग्रनुक्रमणिका का मिलान करते समय इन दोनों ग्रध्यायों में बृहत्कोष्ठक की संख्या देखें।
- ३. इसी प्रकार नवम ग्रध्याय के ग्रन्त के ११ इलोक दशम ग्रध्याय के श्रारम्भ में जोड़े गये हैं। उन पर ग्रनुक्रमिण्का में ग्रध्याय इलोक-संख्या नवम की ही उल्लिखित है। उन्हें दशम ग्रध्याय में देखें। दशम अध्याय में भी प्रचलित इलोकसंख्या इलोकों के बाद बृहत्कोष्ठक में दी गई है। श्रनुक्रमिण्का की संख्या उसी से मिलायें।

पंक्ति-पूर्वभाग	म्रध्याय/ <b>इलोक</b>	पंक्ति-पूर्वभाग	म्रध्याय/इलोक
श्रंशमंशं यवीयांसः	<b>८</b> ।११७	अकृत्वा भैक्षचरएां	२।१८७
प्रकन्येति तुयः कन्यां	<b>८। २</b> २४	भ्रक्रव्यादान्वत्सतरीं	११।१३७
ग्रकामतः कृतं पापम्	११४६	ग्रक्रोघनाः शौचपराः	31883
म्रकामतः कृते पापे	११।४५	<b>प्रको</b> घनान्सुप्रसादान् ्	३।२ <b>१</b> ३
ग्रकामतस्तु राजन्यम्	११।१२७	<b>ग्रक्लेशेन श</b> रीरस्य	.४। ३
ग्रका <b>म</b> स्य क्रिया काचिद	२।४	ग्रक्षभङ्गेच यानस्य	<b>51</b> २६१
ब्रकारं चाप्युकारं च	२।७६	ग्रक्षमाला वसिष्ठेन	<b>ह</b> ।२३
श्रकारणपरित्यक्ता माता	३।१५७	श्रक्षरं दुष्करं ज्ञेयं	२।८४
ग्रकारश्चास्य नाम्नोऽस्ते	२।१२५	ब्रक्षारलॅंबरागनाः स्युः	१७३
श्रकार्यं मन्यत्कुयद्वि	११।६६	ग्रक्षारलव <b>गां</b> चैव	३।२५७
<b>प्रकुर्वन् विहित</b> जूमें	११.४४	ग्रक्षेत्रे बीजमुत्स्ष्टम्	१०।७१
<b>श्रकृतः</b> स तु विशेषः	51888	म्रगम्यागमनीयं तु	११।१६६
प्रकृतम्य कृतात् क्षेत्रात्	१०।११४	म्रगारदाही गरदः	३।१५८
<b>प्रकृता वा कृता वा</b> पि	ध।१३६		

<b>त्रगुप्तमङ्गसर्वस्वैः</b>	<b>८।३७४</b>	ग्रज्ञातं चैव सूनास्यं	११।१५५
म्रगुप्ते कित्रियावैश्ये	ニョラニメ	भ्रज्ञात <u>भ</u> ुक्तशुद्धयर्थम्	र्यार १
ग्राग्न बाहारयेदेनम्	<b>८।११४</b>	म्रज्ञानभुक्तं तूत्तार्यम्	११।१६०
ग्रग्निदग्धानम् ग्निदग्धान्	33918	म्रज्ञानात् प्राप्त्ये विष्मूत्रम्	११।१५०
ग्रग्निदान् मक्तदांत्रचैव	<b>६।२७</b> =	स्रज्ञानाद् द्वेशते पूर्णे <sup>"</sup> े	<b>दा</b> १२१
ग्रग्निपकांशनी वा स्यात्	६।१७	श्रज्ञानाद् बालभावाच्च	न।११न
म्रग्निवायुरविभ्यस्तु	१।२३	श्रज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्	१श२३२
ग्रिग्निष्यात्ताश्च देवानां	४३१।€	प्रज्ञानाद्वारुएीं पीत्वा <sup>े</sup>	११।१४६
ग्रग्निष्वात्तांश्च सौम्याश्च	33915	<b>ग्रजेम्यो प्रस्थिनः भेड</b> ठाः	१२।१०३
ग्रग्निहोत्रं च जुरुपात्	४।२५	ग्रज्ञो भवति वै बालः	राष्ट्रभ
अग्निहोत्रं समादाय	६।४	ग्रज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्	61880
म्रग्निहोत्र्यपविष्याग्नीन्	११।४१	<b>ग्रण्डजाः पक्षि</b> गः सर्पाः	8188
श्रग्नीनात्मनि वैतानान्	६।२५	अण्यो मात्रा विनाशिन्यः	१।२७
ग्रग्नीन्मनं भैक्षचर्याम्	२।१०८	द्मत अध्वं तु छन्दांति	४।६५
ग्रग्नेः सोमयमाभ्यां च	३।२११	न्नत अध्वं त्रयोऽप्येते	३११६
ग्रग्नेः सोमस्य चैवादी	31⊏⊀	म्रत ऊर्घ्वं प्रवक्ष्यामि दण्ड	<b>५।२७</b> ५
श्रग्नी कुर्यादनुज्ञातः	३।२१०	ग्रत ऊर्घ्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं	<b>८।२</b> १८
ग्रानी प्रास्ताहृतिः सम्यक्	३।७६	मत ऊर्घ्वं प्रवक्ष्यामि वाक्	<b>८।२६</b> ६
ग्रान्यागारे गर्वा गोष्ठे <sup>ं</sup>	४।४८	ग्रत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेनने	<b>द</b> ।२१४
अग्न्यमावे तु विप्रस्य	३।२१२	श्रत ऊर्घ्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्ण	११।६५
श्रान्याघेयं पारुयज्ञान्	२।१४३	भ्रत ऊर्घ्वं रहस्यानां	११।२४७
श्रप्रचाः सर्वेषु वेदेषु	३।१८४	ग्रत ऊघ्वै सकुल्यः	61850
ग्रग्रघो मध्यो जघन्यरच	१२।३०	ग्रतः परं प्रवक्ष्यामि प्राय	१०।१३१
श्रुष्टं स केवतं भुङ्क्ते	३।११⊏	<b>ग्र</b> तः परं प्रवक्ष्यामि योषितां	<b>&amp;</b> 14 &
श्रङ्गावपीडनायां च	51750	भ्रतः स्वल्पीयसि द्रव्ये	११।=
म्रङ्ग् लीग्रंन्थिभेदस्य	१।२७७	<b>म्रतपास्त्वनधीयानः</b>	४।१६०
म्रङ्गुल्योरेव वा छेदं	≂।३७०	म्रतस्तु विपरीतस्य	७।३४
ब्रङ्ग व्हमूलस्य तले	राप्रह	श्रतिक्रमं व्रतस्याहुः	११।१२०
प्रचक्षविषयं दुर्ग	४।७७	ग्रतिकारते दशाहे च	५१७६
<b>श्रचित्र्</b> यस्याप्रमेयस्य	१।३	ग्रतिक्रामन्देशकाली	51 <b>१</b> ५६
श्रविरात्तं दुरात्मानं	<b>८</b> ।१७४	भ्रतिकामेत् प्रमत्तं या	2013
ग्रच्छलेनैय चान्यिच्छेर्	८। १८७	श्रतिथि चाननुज्ञाप्य	४।१२२
<b>ग्रजड</b> श्चेदपोगंडो	द। १४द	म्रतिथिम्योऽग्र एवैतान्	३।११४
ग्रजमेषावनड् <b>व</b> ।हं	११।१३६	मतिथिस्त्विन्द्रलोकेशः	81853
ग्रजाविके तुंसंरुष्टि	<123X	ग्रतिप्रसक्ति चैतेषां	४१६
स्रजाविकं तु विषमं	21813	ग्रतिवादों स्तितिक्षे <b>त</b>	६१४७
ग्रजाविक सैकशफ्य	38813	श्रतीतानां च संवेषां	७।१७५
ग्रजिह्यामगठां शुद्धां	४।११	श्रतीते कार्यशेषज्ञ:	७।१७६
म्रजीगर्तः सुतं हन्तुम्	१०।१०५	<b>ग्रतंज</b> सानि पात्रांगि	६।५३
म्रजीवंस्तु यथोक्तेन	१०।८१	<b>प्रतोऽन्यतंममास्याय</b>	११।८६
ग्रज्ञं हि बालिमत्याहुः	रा१४३	ग्रतोऽन्यतमया वृत्त्या	8183
•		•	•

•	• • •	_
डलो ज्ञाना र	रुभयपंक्ति-प्र	तकमा जका
**********	3 "I T I I NO "	3,4000

\$00P

	•	•	
म्रतोऽन्यया तु प्रहरन्	51३००	<b>ग्रध</b> स्तान्नोपबध्या <del>च्य</del>	४।५४
म्रतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु	४।३१	ग्रधामिकाणां पापानां	४।१७१
भ्रतोऽन्यथा वर्तमानः	<b>63</b> 512	अधार्मिको नरो यो हि	४।१७०
श्रतो यदन्यद्वित्रुयुः	5195	<b>ग्र</b> घामिकंतस्करंच	४।१३३
म्रतोऽयान्ति प्रमाद्यन्ति	२।२१३	ग्रघामिकं त्रिमिन्ययिः	<b>५</b> ।३१०
ग्रत्युच्चित्रं तथाऽऽत्मानं	७।१७०	ग्रिक्षकं वापि विद्येत	१११७
श्रत्युष्णं सर्वमन्तं स्याद्	३।२३६	ग्रधितिष्ठेन्न केशांस्तु	४।७८
म्रत्र गाथा वायुगीताः	६।४२	अधियज्ञं ब्रह्म जपेत्	६।८३
ग्रत्रैव पशवो हिस्याः	प्रा४१	श्रिधिवन्नातुयानारी	१।८३
ग्रथ पुत्रस्य पौत्रेण	७६१।३	ग्रधीत्य चानुवर्तन्ते	६।६३
श्रथ मूलमनाहाय्यं	<b>८।२०</b> २	भ्रधीत्य विधिवद्वेदान्	६।३६
अदण्ड्यान् दण्डयश्राजा	<b>८।१२८</b>	श्रघीपीरंस्त्रयो वर्गाः	१०।१
ग्रदण्ड्घो मुच्यते राज्ञा	<b>८</b> ।२०२	ग्रधीष्व भो इति ब्रुयात्	२ ७ ३
श्रदतोनामुपादानं	१२।७	म्रधोहिंडर्नें ब्हुति <b>क</b> े	४।१९६
ग्रदत्तान्युप <b>भुञ्</b> जानः	४।२० <b>२</b>	भ्रष्यक्षान्विविधान् कुर्यात्	७।८१
म्रवत्त्वा तु य <b>ए</b> तेम्यः	३।११५	ग्र <u>घ्यग्न्यध्यावाह</u> निक	83913
ग्रदर्शयन्स तं तस्य	51845	<b>ब्रध्याश्मरतिरासीनः</b>	3813
श्रदशंयित्वा तत्रैव	≒।१५५	<b>ग्र</b> ध्यापनमध्ययनं · · ·	
<b>म्रदातरि पुनर्वाता</b>	<b>518€</b>	···दानं प्रतिप्रहं <b>चैव</b>	<b>१</b> 155
ब्रदीयमाना भत्तरिम्	8313	<b>श्रध्यापनमध्ययनं</b> · · ·	•
म्रदूषितानी द्रव्याराम्	<b>६।२</b> ८६	···दानं प्रतिग्रह <b>च्चैव</b>	१०।७५
ग्रदेष्टमद्भिनिणिक्तं <sup>°</sup>	४।१२७	ग्रध्यापनं च कुर्वाणः	४।१०१
भ्रदेश्यं यश्च विश्वति	नार्	ग्रध्यापनं ब्रह्मयज्ञः	३१७०
ग्रदैवं भोजयेच्छाद्धं	३।२४७	ग्रध्यापनं याजनं च	१०१७७
अद्भिरेव द्विजाप्रचाराां	2137	<b>ग्रध्यापयन्गुरुसुतो</b>	२।२०=
अद्भिगीत्राणि शुद्धचन्ति	प्रा१०६	ब्रध्यापयामासं पितृन्	२।१५१
ग्रद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचम्	५।११८	ब्रध्येष्यमार्गं तु गुरुः	२।७३
ग्रद्भेषो गन्धगुणा भूमि:	१।७८	<b>प्रध्येष्यमा</b> णस्त्वाचान्तः	२।७०
ग्रद्भयोऽग्निर्बह्मतः अत्रम्	<b>ह</b> ।३२१	श्रनंशी क्लीबपतिती	<b>ह</b> ।२०१
अद्यात् काकः पुरोडाशं	७।२१	अनग्निरनिकेतः स्याद्	६।४३
मद्रोहेण च भूतानां	४।१४८	श्रनग्निरनिकेतः स्यान्मुनि	६।२४
मद्रोहेराँव मूतानां	رايج	म्रनडुहः श्रियं पुष्टां	४।२३१
म्रहारेण च नातीयात्	४।७३	ग्रनदन्ननमह्नैव न	४।१०२
ग्रघमर्णायं सिघ्ययं म्	5180	म्रनधीत्य द्विजो वेदान्	६।३७
अधमा मध्यमाग्रधा च	१२।४१	मनध्यायो रुद्यमाने	४।१०८
ग्रधर्मदण्डनं लोके	51१२७	ज्रनन्तरः स <b>पिण्डाद्यः</b>	ह। १८७
प्रधर्मप्रमयं चैत्र	६।६४	ग्रनन्तरमॉर वि <b>द्याद्</b>	७।१५८
ग्रधमदिपि षड्भागः	८।३०४	ब्रनग्तरासु जातानाम्	१०१७
ग्रधमें ए च यः प्राह	२।१ <b>११</b>	भ्रनपत्यस्य पुत्रस्य	<b>ह</b> ।२१७
अधर्मेणैधते तावत्	४।१७४	भनपाकृत्य मोक्षं तु	<b>६</b> 1३४
ग्रधमी नृपतेर ष्टः	ह।२४ <b>ह</b>	ग्रनपेक्षित <b>मर्यादं</b>	द।३० <b>६</b>
	61736	~ 1 *14111111111	,-

ग्रनभ्यच्यं पितृन्देवान्	प्राप्तर	घनुमन्ता विशसिता	પ્રાપ્ર १
प्रनम्यासेन वेदानां <sup>े</sup>	प्राप्	<b>प्रनुरक्तं</b> स्थिरारम्भं	७।२०६
म्रनयैवावृता कार्यं	३।२४८	<b>प्र</b> नुरक्तः शुचि <b>र्व</b> क्षः	७१६४
म्रनचितं वृथा मांसं	४।२१३	<b>प्रनुरागापरागौ च</b>	७।१५४
ग्रनस्थ्नां चैव हिंसायां	११।१४१	<b>प्रनुवज्याच शुश्रूषा</b>	२।२४ <b>१</b>
ग्रनाचरन्नकार्याण	१०।६८	<b>ग्र</b> नुष्णाभिर <b>फेनाभिः</b>	२।६१
ग्रनातुरः स <b>प्त</b> रात्रं	२।१८७	ग्रन् <b>तस्यैनसस्तस्य</b>	<b>५</b> ।१०५
ग्रनातुरः स्वानि लानि	४।६४४	अन्तावृतुकाले च	४।१५३
ग्रनारतास्तु यस्यैते	२।२३४	भ्रनृतं च समुत्कर्षे	११।४५
ग्रनादेयं नाददीत	<b>८।१७०</b>	भ्रनृतं तु वदन्दण्ड्यः	<b>८।३६</b>
अनादेयस्य चादानात्	<b>५।१७</b> १	श्रनेकानि सहस्राणि	४।१५६
अनाम्नातेषु धर्मेषु	१२।१०८	अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति	६।८४
ग्रनारोग्यमनायु <u>ष्यं</u>	२।५७	अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा	२।१६४
अनार्यता निष्ठुरता	१०।५८	ग्रनेन तु विधानेन	६। १२८
ध्रनायं <b>मा</b> यंकर्माण् <b>य</b>	१०।७३	ग्रनेन नारीवृत्ते <b>न</b>	५।१६६
<b>प्रनार्यायां समुत्पन्नः</b>	१०।६६	ग्रनेन विधिना नित्यम्	५।१६६
<b>ग्र</b> नाविष्कृतपापांस्तु	<b>१</b> २।२२६	ग्रनेन विधिना यस्तु	११।११५
अनाहिताग्निता स्तेयम्	११।६५	अनेन विधिना राजा कुर्वाएाः	८।३४३
ग्रनाहिताग्नि <b>भंव</b> ति	११।३८		
ग्रनिच्छतः प्राभवत्वात्	=।४१२	भ्रनेन विधिना राजा मियो	<b>८।१७</b> ८
ग्रनित्यं हि स्थितो यस्मात्	३।१०२	ग्रनेन विधिना श्राद्धं	३।२५ <b>१</b>
ग्रनित्यो विजयो यस्माद्	७११६६	म्रनेन विधिना सर्वान्	६।८१
म्रनिधायेव तद्द्रव्यं	प्रा१४३	द्यनेन विधियोगेन	51२ <b>११</b>
म्रनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः	३।४२	म्रनेन विप्रो वृत्तेन	४।२६०
म्र <b>नियुक्तासुत</b> श्चेव	<b>६।१</b> ४३	ग्रन्तःपुरप्रचारं <b>च</b> ्	७।१५३
म्रनिद्शाया गोः क्षीरं	X15	ग्रन्तःसंज्ञा भवन्त्येते	3818
ग्रनिदेशाहां गां सूतो	=1585	ग्रन्तरप्रभवाणां च	१।२
म्रनिर्देशं च प्रेतान्नं	४।२१७	ग्रन्तरागमने विद्याद <u>्</u>	४।१२६
ग्रनिदिष्टौश्चैकश <b>फान्</b>	५।११	भ्रन्तग्तशवे ग्रामे	४।१०५
म्रनिवृतं नियोगायं	<b>६</b> ।६१	अन्तर्द्शाहे स्यातां चेत्	३०१४
म्रनिष्टं चाप्यनिष्टेषु	७।१३	ग्रन्तर्भवन्ति क्रमशः	१२।८७
म्रविष्ट्वा चैव यज्ञैश्च	६।३७	म्रन्तर्वेश्मन्यर्ण्ये वा	<b>८।६</b> ६
ग्रनीहमानाः सत्तं	४।२२	ग्रन्थो जडः पीठसपी	<b>८१३</b> ६४
भ्रमुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः	३।१४७	ग्रन्धो मत्स्यानिवाइनाति	नाहर्
ग्रनुक्तनिष्कृतीना <u>न्</u> तु	११।२०६	ग्रन्धः शत्रुकुलं गच्छेत्	53।≂
त्रनुगम्येच्छया प्रतम्	४।१०३	म्रन्नपानेन्धनादीनि	७।११८
ग्रनुद्वेगकरा <b>नृ</b> णां	२।४७	भ्रन्नमेवां पराधीनम्	१०।५४
म्रनुपद्मन् पितृद्रस्यम्	<b>ह</b> ।२०८	ग्रन्नह्तां <b>ऽऽमयावित्वम्</b>	११।५१
श्रनुपाकृतमांसानि -	प्रा७	म्रन्नादेर्भू एता माष्टि	<b>८१३</b> १७
अनुबन्धं परिभाय	<b>दा</b> १२६	भन्नाद्यजानां सत्त्वानाम्	११।१४३
ग्रनुमावी तु यः कश्चित्	5158	ग्रन्नाचेनासकृच्चेतान्। -	३।२३३

<b>ग्र</b> त्यादि परं <b>धर्म</b>	२।२३⊏	ग्रपि भ्रूणहणं मासात्	११।२४८
ग्रन्नं चैव यथाशक्ति	3318	म्रपि यत्सुकरं कर्म	७।५५
म्रन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा	४।१६४	ग्रपुण्यं लोकविद्विष्टं	२।५७
ग्रन्यदुर्प्त जातमन्यत्	6180	अपुत्रायां मृतायान्तु	१३१३ इ
श्रन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना	धा६४	भ्रपुत्रोऽनेन विधिना	६।१२७
अन्यानपि प्रकुर्वीत	७।६०	म्रपुष्पाः फलवन्तो ये	१।४७
अन्यां चेद् दर्शयित्वाऽन्या	<b>८।</b> २०४	ग्रपूजितं तुतद् भुक्तं	रा४४
ग्रन्ये कलियुगे नृणां	१।५५	ग्रपः शस्त्रं विषं मासम्	१०।८८
अन्ये कृतयुगे धर्माः	१।५५	भ्रपः सुरामाजनस्याः	११।१४७
ग्रन्येषां चैत्रमादीनां	51३२६	श्रप्रजायामतीतायां भर्तु	<b>ह। १</b> ६६
ग्रन्येष्वपरिपूते <b>ष्</b>	८।३३०	भ्रप्रजायामतीतायां माता	ह1१६७
ग्रन्वेष्वपि तु कालेषु	७।१८३	अत्रणोद्योऽतिथिः सायं	३।१०५
श्रन्योन्यगुण वैशेष्यात्	<b>ह</b> ।२ <b>६</b> ६	भ्रप्रतक्यमिविज्ञेयं तम	<b>१</b> २।२ <b>६</b>
ग्रन्योन्यव्यतिषक्ता <b>श्च</b>	१०।२५	श्रप्रतक्रयंमविज्ञेयं प्रसुप्तं	१।४
<b>ग्रन्योग्यस्या</b> व्यमिचारः	<b>६</b> ।१०१	म्रप्रमोदात्पुनः पुंसः	३।६१
ग्रन्वाधेयञ्च यद् दत्तम्	E18EX	भ्रप्रयत्नः सुखार्थेषु	६।२६
ग्रप एव ससर्जादी	१।८	ग्रप्रशस्तं तुं कृतवाप्सु	११।२४४
म्रपत्यं धर्मकार्याणि	<b>ह</b> ।२८	भ्रप्राशिमियंत् क्रियते	ह।२२३
म्रपत्यलोमाद्या तु स्त्री	४।१६१	श्रत्राप्तामपि तो तस्मै	8155
ग्रपत्यस्यैव चापत्यं	६।२	म्रप्सु प्रविश्य तं दण्डम्	६।२४४
अपिट्यापदेश्यं च	दा <b>र्</b> ४	म्रप्सु प्राध्य विनष्टानि	राहर
<b>ग्र</b> पदेशैंश्च संत्यस्य	<b>५।१</b> ५२	अप्सु भूमिवदित्याहुः	=1800
ग्रपपात्राश्च कर्तव्या	१०।५१	श्रबान्धवं शवं चैव	१०।५५
<b>ग्रपराजितां वास्याय</b>	६।३१	ग्रबीजकमि क्षेत्रं	१०।७१
ग्रपराह्मस्तथा दर्माः	३।२५५	म्रबीजविक्रयी चैव	<b>ह</b> ।२ <b>६</b> १
ग्रपसव्यमग्नी कृत्वा	३।२१४	ग्रब्जमश्ममयं चैव	४।११२
ग्रपमव्येन हस्तेन	३।२१४	म्रब्जेषु चैव रत्नेषु	51800
ग्रपह्नवे तद् द्विगुणं	51१३६	घ्रव्वार्षे मिन्द्रमित्येतत्	११।२५५
म्रपह्नवेऽघम एंस्य	51X2	<b>भ्रमाह्य</b> एगादघ्ययनं	२।२४ <b>१</b>
ग्रपहृत्य च नि:क्षेपं	११।८८	ग्रजाह्मराः संप्रहरा	32517
ग्रपहृत्य च विप्रस्वं	१२।६०	<b>ग्र</b> बुवन्वि <b>बु</b> वन्वापि	51१३
ग्रपहृत्य सुवर्णं तु	११।२५०	म्रभक्षाणि द्विजातीनां	राप
ग्रपाङ्क्तवाने यो वातुः	३।१६६	भ्रमयस्य हि यो दाता	<b>५</b> ।३०३
श्रपाङ् <b>रते</b> यैर्यदन्यैश्च	३।१७०	ग्रभिचारमहीनं च	११।१६७
अपाङ्कतयोपहता पङ्क्तः	३।१८३	ग्रभिचारेषु सर्वेषु	ह। २६०
म्रपाङ्कतचो यावतः	३।१७६	म्रभिजिद्विस्वजिद्म्यां वा	११।७४
<b>अपात्रीकर</b> णं <b>जे</b> यं	११।६६	अमिपूजितला मस्ति	ँ६।४⊏
अपामग्नेदच संयोगात्	४।११३	म्रभिपूजितला भैंश्च	६।४८
ग्रपां समीपे नियतः	२।१०४	म्रभियोक्तादिशे <b>द्</b> देश्यं	दाप्रर
म्रपि <del>चेत्स्</del> युररक्तानि	१०१८७	ग्रमियोक्ता न चेंद् नूयात्	۳1 <b>५</b> ح
अपि नः स कुले जायात्	३।२७४	म्रमिवादनशीलस्य 🖺	२।१२१
•			

प्रमिवादयेषु वृद्धांश्च	४।१५४	अरक्षितारं राजानं	51305
अभिवादात्परं विप्रः	<b>२</b> ।२२२	<b>म्ररक्षितारमत्तारं</b>	51३०६
म्रमिशस्तस्य षण्डस्य	४।२११	भ्ररण्ये काष्ठवस्यवत्वा	प्राइह
ग्रमिषहा तुयः कन्यां	<b>८।३६७</b>	म्ररण्ये नि:शलाके वा	७।१४७
<b>प्रभी</b> प्सतानाम <b>र्था</b> नां	७।२०४	ग्ररण्ये वा त्रिरम्यस्य	११।२५=
ग्रभोज्यमन्नं नात्तव्यम्	११।१६०	ग्रराजके हि लोकेऽस्मिन्	७।३
प्रमोज्यानान्तु भुक्त्वान्नम्	<b>११</b> 1१४२	म्ररेरनन्तरं मित्रं	७।१५८
ग्रभ्यङ्गमञ्जनं चाक्र्याः	२।१७=	द्मरोगाः सर्वसिद्धार्थाः	शन३
श्रम्यञ्जन स्नापनं च	२।२११	ग्रर्थ एवेह वा श्रेय:	२।२२४
ग्रम्यस्याब्दं पा <b>वमानीः</b>	११।२५७	म्रर्थकामेष्वसक्ताना <u>ं</u>	२।१३
श्रम्याघातेषु मध्यस्थान्	६।२७२	द्मर्थसम्पादनार्थं च	७।१६८
ग्रभ्यादघ्युरेन काष्ठानि	१।३७२	श्रर्थस्य संग्रहे चैनां	\$188
अभ्रि कार्ग्णावसी दद्यात्	११।१३३	ग्रयानयां बुन्ध्वा	<b>5</b> 1२४
ग्रमत्यैतानि षट् जग्ध्वा	४।२०	भ्रथेंऽपब्ययमानं तु	514१
ग्रमन्त्रिका तु कार्येयं	२।६६	मर्थ्युक्ताः साक्ष्यमहंन्ति	<b>८।६</b> २
अमात्यमुख्यं धर्मनं	७।१४१	म्रर्घभाग्रक्षणाद्राजा <sup>ँ</sup>	5 <b>1</b> ₹€
भ्रमात्यराष्ट्रदुर्गार्थं :	७।१५७	<b>ग्रर्धे</b> न नारी तस्यां सः	१।३२
ग्रमात्याः प्राड्विवाको वा	<b>ह</b> ।२३४	ग्नर्वाक् <b>त्र्यव्दाद्धरेत्स्वामी</b>	<b>८</b> ।३०
ग्रमात्ये दण्ड आयत्तो	७।६५	श्रवीक् सञ्चयनादस्थ्नां	3111
म्रमानुषीषु पुरुषः	११।१७३	श्रहेंगं तत्कुमारीणां	३।४४
धमानुषेषु प्रयमः	६।२८४	ग्र <b>र्ह</b> त्तमाय विप्राय	₹1 <b>१</b> २८
अमाययैव वर्तेत	७।१०४	<b>ग्र</b> हंयेन्मधुपर्केण	31886
ग्रमावस्या गुरुं हन्ति	४।११४	<b>ग्रहीवभोजयन्वि</b> प्रो	न <b>१</b> ३६२
ग्रमावास्याचतुर्दश्योः	४।११३	म्रलब्धं चैव लिप्सेत	3310
ग्रमावास्यामध्टमीं च	४। १२=	<b>ग्रल</b> ब्धमिच्छेद्दण्डेन	७।१०१
अमित्रादपि सद्वृत्तं	२।२३६	ग्रलाबुं दारुपात्रं च	६।५४
ग्रमृतस्येव चाकाङ्क्षेत्	२।१६२	म्रलाभे त्वन्यगेहानां	२।१८४
म्रमेघ्यकुरापाशी च	१२।७१	ग्रलामे न विवादी	६।५७
म्रमेष्ट्यलिप्तमन्यद्वा	४।५६	ग्रलिङ्गी लिङ्गिवेषेण	४।२००
अमेच्ये वा पतेन्मत्तः	११।६६	ग्रलङ्कारं नाददीत	8187
<b>ग्रम्भस्यरभ</b> प्ल <b>वे</b> नेव	४।१६०	ग्रलंकृतश्च सम्पद्येत्	७।२२२
<b>ग्रम्मूलफलभिक्षाभिः</b>	६।७	ग्रलंकृत्य शुची मूमी	४।६८
ग्रय:कांस्योपलानां च	११।१६७	ग्रलङ्कृत्य सुतादानं	३।२८
म्रयज्वनां तु यद्वित्तं	११।२०	भ्रत्पान्नाम्यवहारे <b>ए</b>	६।५६
ग्रयमुक्तो विमागो वः	६।२२०	ग्रहः रेऽप्येव महान्वापि	३।५३
ग्रयशो महदाप्नोति	८।१२८	<b>भरुप</b> ंवा बहु वा प्रेत्य	७।८६
प्रयाज्ययाजन <u>ै</u> इचैव	३१६४	अल्पं बा बहुवा यस्य	२।१४६
म्रयुक्षु तु पितृन्सर्वान्	३।२७७	ग्रवकाशेषु चोक्षेषु	३।२०७
<b>प्रयु</b> ष्यमानस्योत्पाद्य	४।१६७	भ्रवकी गिवज्यं शुष्ययं	११।११७
म्रयं द्विजैहि विद्वद्भिः	<b>१</b> ।६६	ग्रवकीएर्ग <b>तु का</b> र्णेन	११।११८
ब्ररक्षिता गृहे रहाः	<b>हा</b> १२	श्रवगूर्य चरेत् कृच्छ्रम्	११।२०५

•	:	
इलाकानाम	भयपाक्त	-म्रनुक्रमणिका

द्मवगूर्य स्वब्दशब्दम्	११।२०६	<b>घ</b> इवस्तनविधानेन	११।१६
ग्रवजिंघ्र <del>ोच्च</del> तान्त्रिण्डान्	३।२१८	<b>प्रष्टकासु त्वहोरात्रं</b>	35518
अवनिष्ठीवतो दर्पाइ	<b>८</b> ।२८२	भ्रष्टादशंसु मार्गेषु व्यवहार	६।२५०
ग्रवमूत्रयतो मेढ्	51757	घष्टादशसु मार्गेषु निबद्ध	<b>द</b> । ३
<b>प्रवश्यं याति तिर्यंक्तवं</b>	१२।६८	<b>प्रष्टानां लोक्</b> पालानां	प्राह६
<b>प्रवहारयों मवेस्चैव</b>	51865	म्रप्टापाद्यं तु शूद्रस्य	5133 <b>0</b>
अवदायी भवेतां ती	=1588	भ्रष्टावष्टी समझ्नीयाद्	११।२१ज
<b>प्रवाक्</b> शिरास्तमस्यन्धे	2315	<b>प्र</b> प्टाविमान्समासेन	३।२०
<b>ग्रवाङ</b> ्नरकमभ्येति	519X	भ्रष्टावेणस्य मांसेन	३।२६६
ध्रवाच्यो वीक्षितो नाम्ना	२। <b>१</b> २८	अष्टी चान्याः समाख्याताः	७।१५६
अविद्यमाने सर्वस्वं	११।११६	ग्रष्टी सासान् यथादित्यः	१०६।३
अविद्यानान्तु सर्वेषाम्	६।२०५	ग्रस <b>कृद्</b> गभंवासेषु	<b>१</b> २।७५
अविद्धांश्चेष विद्वांश्च	८१३१७	<b>ग्रसच्छास्त्राधिगमनं</b>	११।६५
ग्रविद्वांसमलं लोके	२।२ <b>१</b> ४	ग्रसम्निधावयं ज्ञेयो	प्रा७४
अविन्दंस्त <del>र</del> वतः सत्यं	51१० <b>६</b>	ग्रसपिण्डा च या मातुः	३।४
ग्रविलुप्त <b>ब्रह्मच</b> र्यो	३।२	असपिण्डेषु सर्वेषु	४।१००
ग्रवृत्तिकर्षितः सीदन्	१०।१०१	द्मसपिण्डं द्विजं प्रेतं	प्रा <b>१०१</b>
ग्रवृत्तिकविता हि स्त्री	१७४	ग्रसमीक्ष्य प्रणीतस्तु	३१।७
अवेक्षेत गतीन गाम्	६।६१	ग्रसम्बद्धकृतहर्न <u>ै</u> व	<b>८११६३</b>
श्रवेत्युचं जपेदेंब्दं	११।२४२	<b>ग्रसम्बद्ध</b> प्रलापश् <b>च</b>	१२।६
भ्रवेदयानी नष्टस्य	⊏।३ <b>२</b>	ग्रसम्मेश्या ह्यसंयाज्याः	<b>ह</b> ।२३८
ग्रव्यङ्गाङ्गी सीम्यनाम्ना	३।१०	<b>प्रसम्यक्</b> कारिणक् <del>षं</del> व	81748
<b>ग्र</b> व्याप्ताश्चेदमे <b>ध्येन</b>	४।१२८	श्रसवर्णास्तु सम्पूज्याः	२।२१०
<b>प्रव्रतानाममन्त्रा</b> णाम्	<b>१</b> २।११४	ग्रसवणस्वियं ज्ञेयो	इ।४३
द्मव्रतेयं <b>द्</b> द्विजैर्भु क्तं	३।१७०	असाक्षिकेषु त्वर्थेषु	5180E
प्रशक्तुवंस्तु शुश्रूषाम्	33108	असावहमिति ब्रूयात्	२।१३०
श्रशक्यं चाप्रमेयं च	१२।६४	ग्रसिपत्रवनं चैव	४।६०
<b>प्रशासंस्तस्करान् यस्तु</b>	हारप्र४	<b>ग्रसिपत्रवनादीनि</b>	१२।७४
म्रशासित्वातुतं राजा	<b>⊏।३१६</b>	श्रसूयकाय मां मा दा:	२।११४
श्रशीतिभागं गृह्धीयात्	<b>५</b> ।१४०	श्रसी नामा <b>इ</b> मस्मीति	२।१२२
<b>त्रशुद्धा बान्धवाः</b> सर्वे	४।५८	असंख्या मूर्त्तयस्तस्य	१२।१४
ग्रशेषतोः <b>प्याददीत</b>	<b>८</b> ।३७	ग्रसंदितानां संदाता	<b>८</b> ।३४२
अश्मकुट्टो भवेद्वापि	६।१७	श्रसंमाष्ये साक्षिमिश्च	51 <b>%</b> %
अरमनो लवणं चैव	१०।८६	असंश्रवे चैव गुरोः	२।२०३
प्रदमनोऽस्थीनि गोवालान्	51 <b>そ</b> よっ	असंस्कृतप्रमीतानां	३।२४५
अश्रेयान् श्रेयसीं जाति	१०।६४	असंस्कृतान्पशूम्मन्त्र <u>ै</u> ः	प्रा३६
म्रश्नोत्रिये त्वहः कृत्स्नं	४।८२	ग्रस्यिमतान्तुं सत्त्वानाम्	११।१४०
अश्रोत्रियो पिता यस्य	३।१३६	अस्यस्यूरां स्नायुयुतम्	६।७६
म्रश्नोत्रियो वा पुत्रः स्यात्	31836	म्रस्मादप्रच्युतो विप्रः	१२।११६
अवलीकमेतत्सा <i>षू</i> ना	४।२०६	ग्रस्माद्धमन्ति च्यवेत	७।६५
ग्रश्वश्वक्षुस्त्वचं वासो	४।१८६	ग्रस्मिन् धर्मोऽलिलेनोक्तः	१।१०७

ग्रस्य नित्यमनुष्ठानं	७।१००	ग्राख्यानानीतिहासांश्च	३:२३२
ग्रस्य सर्वस्य श्र <b>णुत</b>	१२।२	म्रागःसु ब्राह्मशस्यैव	<b>ह</b> ।२४ <b>१</b>
ग्रस्त्रं गमयति प्रतान्	३।२३०	<b>ग्रागमं निर्गमं स्थानम्</b>	८।४०१
अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः	<b>६</b> ।२	ग्रागमं वाप्यपा भिद्यात्	<b>ह</b> ।२८१
ग्रस्वरयँ च परत्रापि	<b>५</b> ।१२७	धागमः कारणं तत्र	51२००
ग्रस्वर्ग्या ह्याहुतिः साः स्यात्	प्रा१०४	<b>ग्रागारादमिनिष्कान्तः</b>	६।४१
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु	७।२२६	<b>भाचकाणेन</b> यस्तेयं	513 <b>१४</b>
श्रस्वामिना कृतो यस्तु	33917	म्राचम्य प्रयतो नित्यं जपेद्	प्राद्ध
<b>ग्रहन्यहन्यवे</b> भेत	28812	म्राचम्य प्रयतो नित्यमुमे	२।२२२
ग्रहस्तत्रोदय <b>नं</b>	१।६७	भ्राचम्यैव तु नि:स्नेहं	४।५७
ग्रहस्ताश्च स <b>ह</b> स्तानां	प्रा२६	म्राचम्योदक्परावृःय	३।२१७
श्रहार्यं बाह्यराद्रव्यम्	<b>११५</b> ६	आचान्तांश्चानुजानीयाद्	३।२५१
श्रहिसया च भूतानां	६१६०	ग्राचामेदेव भुक्तवान्नं	प्रा१४४
म्बहिसपेन्द्रियासङ्गः	६।७५	म्राचारः परमो धर्मः	१।१०५
ग्रहिसयैव भूतानी	२।१५६	आचारमग्निकायँ च	3715
श्रहिंसा गुरुसेवा च	१२।८३	श्राचारइचैव साधूनां	२।६
अहिंसामेव तां विद्यात्	प्राप्ट	ग्राचारहीनः बलीबश्च	३।१६४
श्रहिसासत्यमक्रीघं	११।२२२	<b>ग्राचाराँ</b> द्वनमक्षय्यं	<b>४।१</b> ५६
अहिंसा सरयमस्तेयम्	१०।६३	म्राचाराद्विच्युतो विप्रः	१।१०६
ग्रहिस्रो दमदानाभ्या	४।२४३	श्राचाराल्लमते ह्यायुः	४।१५६
श्रहतं च हुतं चैव	३।७३	भाचारेण तु संयुक्तः	३०१।१
<b>ब्रहोरात्रमुं</b> पासीरन्	११।१५३	म्राचार्यपुत्रः शुश्रुषुः	२।१०६
ग्रहोरात्रे विभ <b>त</b> ते	१।६५	ग्राचार्यंडच पिता <b>चैव</b>	२।२२५
म्रहं प्रजाः तिसृक्षुस्तु	१।३४	ग्राचार्यस्त्वस्य यां जाति	२।१४८
श्रह्मा चैकेन राज्या च	प्राह्४	आचार्ये तु खलु प्रेते	२।२४७
ब्रह्मा राज्या च याञ्जन्तून	६।६९	आचार्यो ब्रह्मणी मूर्तिः	२।२२६
<b>ग्रहेणं</b> तत्कुमारीणां	३।५४	ग्राचार्यो ब्रह्मलोकेशः	४।१८२
<b>ग्रह</b> िवभोजयन्विप्रो	51३६२	<b>प्रा</b> चार्यं च प्रवक्तारं	४।१६२
श्रा		श्राचार्यं स्वमुपाध्यायम्	प्राहर
ग्राकारमिङ्गितं चेष्टा <u>ं</u>	७१६७	श्राच्छाद्य चार्चियत्वा च	३।२७
भ्राकारैरिङ्गित <u>ै</u> गैत्या	<b>८।२६</b>	म्राजीवनार्थं धर्मस्तु	30108
<b>ग्राकालिकमनध्यायमेतेषु</b>	४।१०३	<b>ग्राततायिनमायान्त</b> ं	二月入り
ग्रकालिकमनघ्यायं विद्यात्	४।११८	<b>प्रातुरामभिशस्तां वा</b>	<b>११</b> ।११२
श्राकाशमिव पंकेन	१०।१०४	श्रात्मज्ञाने शमे च स्यात्	१२।६२
आकाशास्तु विकुर्वागात्	१।७६	ग्रात्मनःच परित्रारो	2४६। २
म्राकाशेशास्तु विनेयाः	४।१८४	<b>भा</b> त्मनस्त्यागिनां चैव	प्राद्ध
श्राकाशं जायते तस्मात्	१।७५	आत्मनो यदि वाऽन्येषां	8 818 88
ग्राकीर्गं भिक्षुकैर्वाउन्यैः	६।५१	म्रात्मनो वृत्तिमन्विच्छन्	४।२५२
श्राक्रन्दे चाप्यपैहीति	51२६२	अन्तमन्यन्तर्देधे भूयः	१।५१
ग्राक्षार्यञ्छतं दाष्यः	<b>५</b> ,२७५	म्रात्मन्यग्नीन्समा रोप्य	६।३८
ग्राख्यातव्यं तु <i>ात्तम्</i> मै	११।१७	म्रात्मानमात्मना यास्तु	<b>ह</b> ।१२
		न्नात्मनैद सहायेन	६१४६

<b>प्रात्मानं च पशुं चैव</b>	प्रा४२	<b>बापः शुद्धा मूमिगताः</b>	५।१२८
ग्रात्मानं सततं रक्षेत्	७।२१३	म्राप्तः शक्तोऽर्थदः साघुः	२।१०६
ब्रात्मानं स्पर्शयेद्यस्मै	<b>00</b> \$13	<b>प्राप्ताः सर्वेषु वर्णेषु</b>	⊏।६३
ब्रात्मार्थं च क्रियारम्भः	१११६४	म्राभीरोऽम्बष्ठकन्यायां	१०।१५
म्रात्मा हि जनयत्येषां	१२।११६	म्राम्यः कूर्याद् देवताम्यः	३।८४
न्नात्मैव देवताः सर्वाः	399158	आमन्त्रितस्तुं य श्राद्धे	३।१६१
ग्रात्मेव ह्यात्मनः साक्षी	नाद४	म्रामृत्योः श्रियमन्विच्छेत्	४।१३७
म्राददानस्तु तल्लोभात्	६।२४३	म्रायति सर्वकार्या <b>गां</b>	७।१७५
ग्राददानो ददच्चैव	द।२२३	म्रायत्यां गुरादोवज्ञः	७।१७६
श्राददान: परक्षेत्रात्	<b>८।३४१</b>	म्रायव्ययो च नियतौ	21885
ब्राददीत न शूब्रोऽपि	2313	म्रायुर्विप्रापवादेन	४।२३७
<b>ग्राददीत यतो ज्ञानं</b>	२।११७	म्रायुष्कामेन वप्तव्यं	१४।३
बाददीताय घड्मागं द्रुमांस	७।१३१	<b>प्रायु</b> ष्मन्तं सुतं <b>सू</b> ते	३।२६३
आददीताथ षड्मागं प्रराज्ट	ना३३	म्रायुष्मान्भव सौम्येति	२।१२४
म्राददीताममेवास्माद्	४।२२३	प्रायुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते	राप्रर
आदाननित्याच्चावातुः	११।१५	क्षायुः सुवर्णकारान्त	४।२१८
<b>ग्राहानम</b> प्रियकरं	७।२०४	द्यायोगवञ्च क्षता च	१०।१६
म्रादित्याज्जायते वृष्टिः	३।७६	<b>ग्रारण्यानां च सर्वेषां</b>	312
ग्रादिष्टी नोदकं कुर्यात्	<u> ሂነ</u> ടട	म्रारण्यांश्च पशुन् सर्वान्	१०।८६
मावेश्यं यश्च विशति	5 X 1 7	ब्रारभेत ततः कार्यं	33513
प्राचाचस्य गुणं त्वेषां	१।२०	न्नारमेतैव कर्माएि	61३००
ग्राद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म	११।२६५	<b>भारम्मरुचिताऽर्धर्यम्</b>	१२।३२
म्राद्वाविशात्क्षत्रबन्धोः	२।३८	<b>प्रातं</b> स्तु कुर्यात्स्वस्यः	≒।२१६
<b>ग्राधि</b> श्चोपनिषिश्चोमी	न। १४५	ब्राद्वंपादस्तु भुञ्जानः	४।७६
ग्राषिः सीमा बालघनं	<b>न</b> 1१४६	आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत	ॅ१७६
श्राध्यात्मिकं च सततं	६।८३	म्रार्द्रवासास्तु हेमन्ते	६।२३
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु	१०।२५	ग्राधिकः कुलमित्रं च	४।२५३
भ्रानन्त्यायैव कल्प्यन्ते	३।२७२	म्रार्यता पुरुषज्ञानं	७।२११
<b>ग्रानिपाताच्छरी</b> रस्य	६।३१	म्रायंरूपमिवानाय <b>ं</b>	१०।५७
ग्रानुलोम्येन सम्भूताः	१०।५	प्रार्षे गोमियुनं शुल्कं	३।५३
ग्रानुण्यं कर्मणा गच्छेत्	<b>ह</b> ।२२ <b>ह</b>	मार्वं धर्मीपदेशं च	१२।१०६
मानुशंस्याद बाह्यणस्य	१।१०१	ग्रार्षोढाजः सुनस्त्रीस्त्रीन्	३।३८
ग्रान्वीक्षिकीं चात्मविद्यां	७।४३	ग्रालस्यादन्नदोषा <del>च्च</del>	प्राप्ट
ग्रापत्कल्पेन यो धर्मम्	११।२८	ग्रावन्त्यवाटघानौ <b>च</b>	१०।२१
म्रापत्सु मरणाद्भीतैः	38138	म्राविकं सन्घानी <b>क्षी</b> रं	<u>ሂ</u> ነፍ
म्रापदर्थे घनं रक्षेत्	७।२१३	मावृत्तानां गुरुकुलात्	७।८२
ग्रापद्गतोऽयवा वृद्धा	<b>६</b> ।२८३	<b>ब्राशासते कुटुम्बिम्यः</b>	३।५०
ग्रापद्धमें च वर्णानां	<b>१।१</b> १६	प्राथमाबाधमं गत्वा	६।३४
ग्रापद्यपत्यप्राप्तिश्च	F0913	ग्राश्रमे वृक्षमूले वा	११।७८
ग्रापद्यपि हि घोरायां	२।११३	आधमेषु द्विजातीनां	51360
मापद्यपि हि यस्तेषां	8133६	<b>मावोडशाद्याह्य</b> स्य	२।३८
बापो नारा इति प्रोदनाः	१।१०	• •	

	3.4		
श्रासनावसयो शय्याम्	३।:१०७	इत्येतन्मानवं शास्त्रम्	१२।१२६
आसनासनशय्याभिः	४।२६	इवन्तु वृत्तिवैकस्यात्	१०।८५
म्रासनेबूपक्लृप्तेबु	३।२०८	इदमन्विच्छतां स्वगै	६।८४
श्रासमं चैव यानं च	७।१६१	इदमूचुर्महात्मानं	रा१
आसपिण्डकियाकर्में	३।२४७	इदं यशस्यमायुष्यं	१।१०६
मासमाप्तेः शरीरस्य	रार४४	इबं शरणमञ्जानाम	६१८४
द्यासमावर्तनात्कुर्यात् 	२११०८	इदं शास्त्रमधीयानः	१।१०४
आसमुद्रास् वं पूर्वात्	२।२२	इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ	१।५८
न्नासां महिवचर्यागाम्	६।३२	इदं सामासिकं ज्ञेयं	१२।३४
म्रासीत गुरुणा साध	२।२०४	इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठं	१।१०६
<b>ब्रा</b> सीतामरणात्कान्ता	४।१४८	इन्धनार्थमशुष्काराम्	११।६४
द्यासीविदं तमोमूतं	१।५	इन्द्रमेके परे प्राण्	१२।१२३
आसीनस्य स्थितः कुर्याद्	२।१६६	इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च	६।१०३
म्रासीनासु तथाऽऽसीनः	११।१११	इन्द्रानिलयमार्कारणाम्	४१७
म्रास्यतामिति चोक्तः सन्	२।१६३	इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः	३।८७
बाहरेत त्रीिए वा हे वा	<b>१</b> १।१३	इन्द्रियाणि यशः स्वर्गम्	११।४०
म्राहरेद्यावदर्थानि	२ १८२	इन्द्रियाराां जये योगं	७१४४
बाह्वेषु मियोऽन्योऽन्यं	3210	इन्द्रियाणां तु सर्वेषां	२।६६
म्राहिण्डिका निषादेन	१०१३७	इन्द्रियाएां निरोधेन	६।६०
ग्राहुरुत्पादक केचित्	१।३२	इन्द्रियाणां प्रसङ्घेन दोवम्	२१६३
भ्राहूय दानं कन्याया	३।२७	इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्य	१२।५२
बाह्ताम्युचतां मिकां	४।२४८	इन्द्रियाणुां विचरतां	२,६६
श्रा हैव सं नलाग्रेम्यः	२।१६७	इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु	४।१६
_		इमानप्यनुयुञ्जीत /	<b>51</b> २५६
<b>\\ \\</b>		इमान्नित्यमनध्यायान्	४।१०१
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं	७।६३	इमं क्मेविधि विद्यात्	हाइरप्र
इच्छ्याऽन्योन्यसंयोगः	३।३२	इमं लोकं मातृभक्त्या	२।२३३
इज्यादच प्रतिगृह्ण्नित	११।२४२	इमं हि सर्ववरणनाम्	१।६
इतरानिप सल्यादीन्	३।११३	इयं भूमिहि भूतानाम्	<b>ए</b> हा 3
इतरे कृतवन्तस्तु	६।२४२	इयं विशुद्धिरुविता	११।८६
इतरेम्यो बहिवेदि	११।३	इष्टि वैश्वानरी नित्यम्	११।२७
इतरेवान्तु पण्यानाम्	१०१६३	इष्टीः पार्वायनान्तीयाः	४।१०
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः	<i>3</i> ७६।२	इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञः	६।३६
इतरेषां तु वर्णानामितरे	३।३५	इह कीर्तिमवाप्नोति	२।६
इतरेषां तु वर्णानां सर्वा	<b>६।१</b> ८६	इह चानुत्तमां कीर्ति	515 १
इतरेषु तु शिष्टेषु	まれる	इह चामुत्र वा काम्यम्	१२।८६
इतरेवु स्वपाइन्स्येवु	३।१८२	इह दुइचरितैः केचित्	११।४५
इत्रेषु ससम्ध्येषु	\$100	इहाग्रेघां कीर्तिमाप्नोति	प्रा१६६
इतरेव्यागमाद्धर्मः	१।८२	इहैव लोके तिष्ठम्सः	१२।१०२
इत्येतत्तपसो देवाः	११।२४४	इहैवास्ते तुसा लोके	31686
इत्येतदेनसा युक्तम् 🕡	११।२४७	ईशो दण्डस्य वरुणः	<b>६</b> ।२४५
• ,			

•	••	_
डल कि ता म	אוסעעי.	म्रनुक्रमणिका
***************************************	44411	71 3 AV 11 11 11 11

ईशः सर्वस्य जगतः	हार४४	उत्पादयति सावित्र्या	२।१४८
ईश्वरं चैव रक्षार्थं	४।१५३	उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा	१७१।३
ईश्वरः सर्वेभूतानां	3318	उत्सादनं च गात्राणां	२।२०६
-		उदकुम्भं सुमनसः	२।१८२
उ		उदके मध्यरात्रे च	३०१।४
उक्तो वः सर्ववणीनां	५18४६	उदकं निनयेच्छेषं	३।२ <b>१</b> ८
उक्त्वा चैबानृतं साक्ष्ये	<b>₹१</b> 1⊏⊏	उ <b>दङ्मुखान्त्राङ</b> ्मुखान्वा	5150
उग्रान्नं सूतिकान्नं च	४।२ <b>१</b> २	उदासीनप्रचारं च	७।१५५
उच्चावचानि भूतानि	१२।१५	उदितेऽनुदिते चैव	२।१५
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्जेया	६१७३	उदितोऽयं विस्तरज्ञः	हार४०
उच्चावचेषु भूतेषु स्थित	१२।१४	उदित्युचा वा वारुण्या	८।१०६
उच्चै:स्थानं घोररूपं	७।१२१	उद्घारेऽनुद्धृते त्वेषां	ह1११६
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलं	७११३६	उद्घारी न दशस्वस्ति	हा११५
उच्छिष्टमन्नं बातम्यम्	१०।१२५	उद्घारं ज्यायसे द <del>स्</del> वा	हा१५६
उच्छिष्टान्न निषेकञ्च	४।१५१	उद्भृते दक्षिएो पाएगी	२।६३
उष्डिष्ठव्टेन तु संस्पृष्टः	४।१४३	उद्भिरजाः स्थावराः सर्वे	१।४६
उच्छिष्टमन्नं भागधेयं स्यात्	३।२४५	उद्यतेराहवे शस्त्रैः	प्रारद
उच्छिष्टः श्राद्वभुक्वैव	४।१०६	उ <b>द्</b> बबहृत्मिन <b>इचैव</b>	8188
उच्छीवंगंके श्रियं कुर्याद्	३।८६	उद्वर्तममेपस्नानं	४।१३२
उच्छेषणं तु यसिष्ठेत्	317 <b>5</b> X	उद्वहेत द्विजो भार्यां	३।४
उच्छेवरां भूमिगतं	३।२४६	उद्वेजनकरैंदेंण्डै:	⊏।३४२
उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्येष्ठाद्	₹31\$	उन्मत्तजडमूकाश्च	१०२१३
उत्तमानुत्तमानगच्छन्	४।२४५	उन्मत्तोऽन्घरेच वर्ज्याः स्युः	३।१६१
उत्तमां सेवमानस्तु	<b>८।३६६</b>	उन्मत्तं पतितं क्लीवम्	30/13
उत्तमां सात्त्विकीमेतां	१२।५०	उपगृह्यास्पदं चैव	७।१५४
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्	३।१०७	उपचर्यः स्त्रियः साघ्व्याः	प्रा१५४
उत्तमै रत्तमे नित्यं	४।२४४	उपचारक्रियाकेलिः	ना३४७
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य	२।१६४	उपच्छन्मानि चान्यानि	=1286
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः	१।२४	उप <b>जप्यानुपजपेद्</b>	७३१।७
उत्कर्षं चापकर्षं च	१०।४२	उपधाभिरंच यः कविचत्	5391Z
उत्कोचकाइचौपाधिकाः	<b>हा</b> २५ंड	उपनीय गुरुः शिष्यं	२१६६
उत्कृष्टायामिरूपाय	शदद	उपनीय तु तत्सर्वं	३।२२८
उत्थाय पश्चिमे यामे	७।१४५	उपनीय तुयः शिष्यं	२।१४०
उत्थायावश्यकं कृत्वा	४१६३	उपपन्नो गुर्णस्सर्वैः	<b>ह</b> ।१४१
उत्पत्तिरेव विप्रस्य	<b>१</b> 18=	उपपातकसंयुक्तः	११।१०५
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः	राइन	उपपातकिनस्त्वेवं	११।१०७
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं	४।२२८	उपरन्ष्यारिमासीत	७।१६४
उत्पद्यते गृहे यस्य	०७१।३	उपवासकृशं तन्तु	११।१६५
उत्पद्मन्ते च्यवन्ते च	17185	<b>च</b> ावीतमल <b>ञ्जार</b>	४।६६
उत्पादकब्रह्मदात्रीः	२११४६	उपवेश्य तु तान्वित्रान्	३।२०६
<b>उत्पादन मपत्यस्य</b>	<b>६</b> ।२७	उपसर्जनं प्रधानस्य	हा १२१

उपसेवेत तं नित्यं	७।१७५	***	
उपस्थमुदरं जिह्ना	51 ( 3 <b>X</b> 51 <b>?</b> ? <b>X</b>	<b>ऋ</b>	
जपस्थितं गृहे विद्याद	31603	ऋक्संहितां त्रिरम्यस्य	११।२६२
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां <b>वा</b>	१ <b>१।१३</b> २	ऋक्षेष्ठचाग्रयणं चैव	६।१०
उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्	<b>\$178</b>	ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च	१२।११२
उपस्पृशंस्त्रिषवणं मे	<b>१</b> १।२१६	ऋग्वेदो देवदेवत्यः	४) र १४
उपस्पृशं स्त्रिषवणं त्व	<b>११</b> ।१२३	ऋग्वेदं धारयन्विप्रः	११।२६१
उपस्पृत्य द्विजो नित्यं	71X7 71X3	ऋचो यजूं वि चान्यानि	११।२६४
उपस्पृष्टोदकात्सम्यक्	३।२० <b>८</b>	ऋजवस्ते तु सर्वे स्युः	२।४७
उपाकर्माण चोत्सर्गे	४।११६	ऋगानि त्रीण्यपाकृत्य	६।३५
उपाध्यायान्दशाचार्य	रा१४४	ऋगो देये प्रतिशाते	51838
उपानही च वासक्च	४।६६	ऋणे घने च सर्वस्मिन्	<b>ह</b> ।२१८
उपासते ये गृहस्थाः	३।१०४	ऋएां दातुमशक्तो यः	51 <b>१</b> ५४
उपांशुः स्याच्छतगुणः	२।∈४	ऋतमुञ्ख्िकालं ज्ञेयं	४।५
उपेक्षकोऽसंकुसुको	<b>£1</b> 83	ऋतामृताम्यां जीवेत्	XIX
उपेतारमुपेयं च	७।२१४	ऋतुकालाभिगामी स्यात्	3188
उप्यते यद्धि तद्बीजं	6180	ऋतुः स्वामाविकः स्त्रीराां	३।४६
उमयोर्ड्स्तयोर्म्'क	३।२२५	ऋरिवक्पुरोहिताचार्यः	३७११४
उभयोः सप्त दातव्याः	प्रा <b>१</b> ३६	ऋत्विण्यदि वृतो यज्ञे	51२०६
उमयं तु समं यत्र	8138	ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां	११।४२
उमाम्यामप्यजीव स्तु	१०।५२	ऋत्विजं यस्त्यजेव् याज्यः	८।३८८
उमाविप तु तावेव	न।३७७	ऋषयो दीर्घंसन्ध्यत्वात्	8318
उभाविप हि तौ धमौ	रा१४	ऋषयश्चिकरे धर्म	२।१५४
उभेत एक शुल्केन	<b>८।२०४</b>	ऋषयः पितरो देवाः	३।८०
उभे यानासने चैव	७।१६२	ऋषयः संयतात्मानः	११।२३६
उभौ तौ नाहैंतो भागं	£1883	ऋविभिर्वाह्मणैश्चैव	६।३०
उभी निगृह्य दाप्यः स्यात्	न।१५४	ऋषिम्यः पितरो जाताः	३।२०१
उल्कानियतिकेतुंश्च	१।३८	ऋषियज्ञं देवयज्ञं	४।२१
उष्ट्रयानं समारे <b>ह्य</b>	११।२०१	_	
उद्यो वर्षति शीते वा	११।११३	ए	
_		एक एव चरेन्नित्यम्	६।४२
ऊ		एक एव सुहद्धर्मी	<b>८।१७</b>
स्रमद्विवार्षिकं प्रेतं	४।६८	एक एवीरसः पुत्रः	<b>हा</b> १६३
ऊष्वै तु कालादेतस्मात्	0313	एककालं चरे दूँ क्षम्	६।४४
कर्ष्व नामेर्मेध्यतरः	१।६२	एकजातिहिजातींस्तु	51200
कष्वे नाभेषानि लानि	प्रार्वे	एकदेशं तु वेदस्य	२।१४१
कव्वं पित्रच मात्रच	81808	एकमप्याशयेद्विप्र'	३।८३
कर्ष्य प्राणा ह्युकामन्ति	२।१२०	एकमृत्पादयेत्यु <b>त्रं</b>	8150
क्रध्वं विमागारजातस्तु	<b>2</b> 1785	एकमेव तु शूद्रस्य	8318
<b>ऊर्घ्यं संव</b> त्सरात्वेनां	<b>८।७७</b>	एकमेव बहत्यग्निः	310
<b>ऊष्मण</b> श्चोपजायन्ते	<b>१</b> ।४४	एकरात्रोपवासश्च	<b>११</b> ।२१२

एकरात्रं तु निवसन्	३।१०२	एतदेव व्रतं कृत्स्नम्	११।१३०
एकविंशतिमाजातीः	४।१६६	एतदेव वतं कुर्युः	११।११७
एकस्तान्मन्त्रवित्त्रीतः	३।१३१	एतद्दण्डविधि कुर्यात्	न।२२ <b>१</b> ः
एकाकिनइचात्ययिके	७।१६५	<b>एत</b> थ् <b>वे</b> शप्रसूतस्य	२।२०
एकाकी चिन्तयानो हि	४।२५८	एतदि जन्मसाफल्यम्	१२।६३
एटाकी चिन्तयेन्नित्यं	४।२५८	एतदि मत्तोऽधिजगे	१।५६
एकाक्षरं परं ब्रह्म	२।८३	एतद्रुद्रास्तथादित्याः	११।२२१
एकादशेन्द्रियाण्याहुः	२।८६	एतद्विदन्ती विद्वांसी बाह्यागा	8318
एकादशे स्त्रीजननी	६।⊏१	एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयी	४।१२५
एकादशं मनी ज्ञेयं	२।६६	एतद्विद्यात्समासेन	४।१६०
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः	८।११७	एतद्विधानमातिष्ठेद्वामिकः	टार४४
एकान्तरे त्वानुलोम्यात्	१०।१३	एतद्विषानमातिष्ठेवरोगः	७।२२६
एकापायेन वर्तन्ते	१।७०	एतद्विधानं विज्ञेयम्	ह। १४ <b>८</b>
एकालिङ्गे गुदे तिस्रः	४।१३६	एतद्वोऽभिहित शौचम्	४।१००
एक कमपि विद्वांसं	३। <b>१</b> २६	एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयस	१२।११६
एक कशश्चरेत्कृच्छ	३१।१३६	एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं	३।२८६
एकैक्शो युगानां र्तु	१।६८	एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं	१।५६
एकैंकं कारयेत्कर्म	७।१३८	एतद्वः सारफलगुत्वम्	धार्र
एकैकं प्रासमक्नीयात्	११।२१३	एतद् द्वादशसाहस्र	१।७१
एककं हासयेत् पिण्डम्	११।२१६	एत <b>द्</b> व्याप्तिमदेतेषां	१२।२६
एकोऽनुभुङक्ते सुकृतं	४।२४०	एतन्मांसस्य मांसत्वं	रार्
एकोऽपि वेदविद्धर्मम्	१२।११३	एतमेके वदन्त्यग्निम्	१२।१२३
एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्यात्	51 <b>9</b> 9	एतमेव विधि कृतस्तम्	११।२१७
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं	<b>८।६</b> १	एतयर्चा विसंयुक्तः	२।५०
एकं गोमियुनं द्वे वा	३।२६	एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते	११।१२२
एकं वृषममुद्धारम्	६।१२३	एता हष्ट्वाऽस्य जीवस्य	१२।२३
एकः प्रजायते जन्तुः	४।२४०	एतानाकालिकान्विद्याद्	४।१०५
एकः शतं योषयति	<b>७</b> ।७ <b>४</b>	एतानाहुः कौटसाक्ष्ये	51 <b>१</b> २२
एकः शथीत सर्वत्र	२। १८०	एतानि मान्यस्थानानि	२।१३६
एतत्कष्टतमं विद्यात्	७।५०	एतानि यतिपात्राणि	६।५४
एतच्चतुर्विधं प्राहुः	२।१२	एतानेके महायज्ञान्	४।२२
एतच्चतुर्विषं विद्यात्	७।१००	एतानेव महायज्ञान्त्रिवंपेत्	६।५
एतच्छीचं गृहस्यानाम्	४।१३७	एतान् दोषानवेष्य त्वं	<b>⊏1१०१</b>
एतस् न परेचकुः	3313	एत न्द्रिजातयो देशान्	२ २४
एतत्त्रयं समाश्रित्यं	७।२१५	एतान्यपि सतां गेहे	३।१० <b>१</b>
एतत्त्रयं हि पुरुषं	४। १३६	एतान्येनांसि सर्वाणि	११।७१
एंदतक्षरमेतां च	२।७८	एतान्विगहिताचारान्	३।१६७
एतदन्तास्तु गतयः	१।५०	एतावानेव पुरुषः	१४४।
एतदुक्तं द्विजातीनां	प्रा२६	एतांइचन्यां <b>इच</b> लोकेऽस्मिन्	६।२४
एतदेव चरेदब्दम्	११।१२६	एतांश्चान्यांश्च सेवेत	६।२९
एतदेव विधि कुर्यात्	११।१८५	एतास्तिस्रस्तु भाषीयँ	११।१७२

एतांस्त्वम्युवितान्विद्यात्	४।१०४	एवं प्रयत्नं कुर्वीत	७।२२०
एताः प्रकृतयो मूलं	७।१५६	एवं यथोक्तं विश्रालां	र्शर
एते गृहस्यप्रभवाः	६।८७	एवं यद्यप्यनिष्टेषु	39813
एते चतुरा वर्णानाम्	१०।१३०	एवं यः सर्वभूतानि	3163
एतेम्यो हि द्विजाग्रेम्यः	१०।३	एवं यः सर्वभूतेषु	१२।१२४
एते मनूं स्तु सप्तान्यान्	१।३६	एवं विजयमानस्य	७।१०७
एते राष्ट्रे वर्समानाः	धारर६	एवं विधान नृपो देशान्	<b>ह</b> ।२६६
एते शुद्रेषु भोज्यान्ताः	<b>४</b> ।२५३	एवं वृत्तस्य नृपतेः	७।३३
एते षट् सहशान् वर्णान्	१०।२७	एवं वृत्तां सर्वर्णां स्त्रीम्	५।१६७
एतेगामेव जन्तूनां	१२।६६	एवं स जाग्रत्स्वप्नाम्यां	१।५७
एतेषामेव वर्णानां	१।६१	एवं संन्यस्य कर्मारिए	६१६६
एतेषां निप्रहो राज्ञः	<b>८।३८७</b>	एवं स मगवान्देवः	१२।११७
एतेष्वविद्यमानेषु	२।२४८	एवं समुधृतोद्वारे	६।११६
एते सर्वे पृथाज्ञेयाः	६।२३५	एवं सम्यग्घविहु त्वा	३।८७
<b>एतैरु</b> पाययोगैस्तु	<b>६</b> ।१०	एवं सर्वमिवं राजा	७।२२६
एते रुपाये रन्येश्च	<b>६।१</b> २३	एवं सर्वं विघायेदम्	'अ।१४२
एतेद्विजातयः शोध्याः	११।२२६	एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं	शप्र
एतंतिङ्ग नैयत्सीमां	<b>51</b> २५२	एवं सर्वानिमान् राजा	८।४२०
ए रेविवादान्संत्यज्य	४। <b>१</b> = १	एवं सह बसेयुर्वा	<b>ह।१११</b>
ए रैव तरेरोहेत। अगम्याग	११।१६७	एवं संचित्त्य मनसा	११।२३१
ए नैवत रपोहेत । गुरुस्त्री	११।१०२	एवं स्वमावं ज्ञात्वाऽसी	<b>ह। १</b> ६
ए रेब तरपोहेयुः	११।१०७	एष ज्ञेयस्त्रवृद्धेदः	881568
एतेव तरपोहा स्यात्	११।१४४	एव दण्डविधिः प्रीक्ती	<b>८।२७</b> ८
एती वर्षास्वनच्यायी	४।१०२	एव धर्मविधिः कृत्स्नः	१०।१३१
एतं सामासिकं धर्म	१०।६३	एव धर्मोऽखिलेनोक्तो	<b>द</b> ।२ <b>१</b> द
एघोदकं मूलफलं	४।२४७	एव धर्मी गवाइवस्य	<b>ह।</b> ४४
एनसां स्पूलसुक्माणाम्	११।२५२	एव धर्मी प्रनुशिष्टो वा	६।८६
एन स्विमिर्निण्यतः	११।१८६	एष धर्मः परः साक्षाद	रा२३७
एनो गच्छति कर्तारं	5188	एष धर्मः समासेन	६।१०१
एभिजितैश्च जयति	४।१८१	एव नीयायिनामुक्ती	21808
एवमाचारती हब्द्वा	१।११०	एव प्रोक्ती दिजातीनां	२१६८
एकपादीन विजानीयात्	१।२६०	एष ब्रह्मिबदेशो वै	२।१६
एवमेतरिवं सर्व	१।४१	एव वै प्रथमः कल्पः	३।१४७
एवं कमंविशेषेरम	११।४२	एव बोऽभिहितो धर्मी	६।६७
एवं गृहाश्रमे स्थित्वा	६।१	एव बोऽभिहितः कृत्स्नः	११।२६६
एवं चरति यो विप्रः	२।२४६	एव शौचविधिः कृत्सनः	प्रा१४६
एवं चरन् सदा युक्तः	<b>ह।३२४</b>	एव शौबस्य वः प्रोक्तः	प्रा११०
एवं हद्वती नित्यम्	११।८१	एव सर्व समुद्दिष्टः कर्मेणां	१२।८२
एवं धर्म विजानीमः	<b>हा</b> ४६	एव सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस	
एवं धर्म्याणि कार्याणि	<b>हा</b> २५१	एव सर्वाणि भूतानि	१२।१२४
एवं निर्वपणं कृत्वा	३।२६०	एव स्त्रीपुंसयोदनतः	१०१।३

एष धर्मस्य वो योनिः	२।२४	करणान् वा भक्षयेवव्दम्	११।६२
एश पापकृतामुक्ता	३१।१७६	कण्टकोद्धरणे नित्यं	<b>हा</b> २५२
एवामन्यतमे स्थाने	<b>५।११</b> ६	कण्डनी चोदकुम्भश्च	३।६६
ए अमन्यतमी यस्य	३।१४६	कथं तत्र विभागः स्यात्	<b>हा १</b> २२
एवा विचित्रामिहिता	११।८८	कथं मृत्युः प्रभवति	प्रार
एषां हि बाहुगुण्येन	७।७१	कथञ्चिदप्यतिक्रामन्	३।१६०
एषां हि विरहेण स्त्री	प्रा१४६	कन्यानां संप्रदानं च	७।१५२
एषु स्थानेषु भूयिष्ठं	<b>جا</b> ج	कन्याप्रदानमभ्यच्यं	३।३०
एषोऽखिलेनामिहितो दण्ड	<b>८।३०</b> १	कन्याप्रदानं विधिवद्	३।२६
एषोऽखिलेनामिहितो धर्मः	=।२६६	कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यात्	₹1₹
एषोऽस्तिलः कर्मविधिः	४१६१३	कन्याया दूवरां चैव	११।६१
एवोदिता गृहस्यस्य	४।२५९	कन्यायां दत्तशुरकायाम्	७३।३
एवोदिता लोकयात्रा	धारप	कन्यां मनन्तीमुत्कृष्टं	# 13 £ X
एषी नाद्यादनस्योक्तः	११।१६१	कन्येव कन्यां या कुर्यात्	<b>८।३</b> ६६
एषोऽनापदि वर्णानाम्	३६६।३	कपालं बृक्षमूलानि	६।४४
एवोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो	७।६८	करम्भवालुकातापान्	१२।७६
एष्वर्येषु पशून्हिसन्	प्रा४२	करीषमिष्ट+ारांश्च	<b>51</b> २५०
<del>}</del>		कर्णस्रवेऽनिले रात्री	४।१०२
<b>S</b>		कर्गी वर्म व बालांइच	<b>51238</b>
ऐन्द्रं स्थानमित्रप्रेप्सुः	टाई४४	कणी तत्र पिघातव्यी	२।२००
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना	<b>£31</b> X	कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः	१।६६
न्रो		कर्मजा गतयो नृणां	<b>१</b> २।३
		कर्मणां च विवेकार्यं	१।२६
ग्रोघवाताहृतं बीजम्	61XX	कर्मणाऽपि समं कुय <sup>र</sup> त्	51 <b>१</b> ७७
भोषध्यः परावो वृक्षाः	४।४०	कर्मणां फलनिवृत्ति	१२।१
ग्रोषघ्यः फलपाकान्ताः	<b>१</b> ।४६	कर्मदण्डस्तु लोकान्स्त्रीन्	१२।३
भ्रोंकारपूर्विकास्तिस्रः	२।८१	कर्मस्वम्युद्यतस्त्रेता	<b>ह</b> ।३०२
श्री		कर्माण्यारभमाणं हि	<b>०</b> ०६13
	315.84	कर्मात्मनां च देवानां	१।२२
मोदकेनैव विधिना	३।२१४	कर्मारस्य निवादस्य	४।२१५
ग्रीरभिको माहिषिकः	३।१६६	कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां	२।६१
शीरभ्रेणाय चतुरः	३।२६८	कर्मोपकरणाः शूद्राः	१०।१२०
भीरसक्षेत्रजी पुत्री	<b>हा१६४</b>	कलविङ्कं प्लवं हंसं	४।१२
ग्रीरसो विभजन्दायं	618EX	कलिः प्रसुप्तो मवति	६।३०२
भौरसः क्षेत्रजदर्भव	<b>६।१५</b> ६	कल्पयित्वास्य वृत्तिञ्च	११।२३
म्रीवधान्यगदी विद्या	११।२३७	कव्यानि चैव पितरः	१।६५
भ्रं		कस्मिश्चिदपि वृत्तान्ते	३।१४
म्रंशमंशं यवीयांसः	<b>ह</b> ।११७	काणं वाप्ययवा सञ्जम्	<b>दा</b> २७४
न्यापारा चनाचाराः	21110	कानीनवच् सहोदक्च	<b>हा</b> १६०
<b></b> .		कामकारकृतेऽप्याहुः	\$ \$ \ <b>X</b> X
कटचां कृताङ्को निवस्यि	5175 <b>१</b>	कामक्रोधी तु संयम्य ततः	<b>१२।११</b>

कामकोषौ तु संयम्य योऽयान्	८। १७४	कालमासोद्य कार्यं च राजा	<b>ह</b> ।२६३
कामजेषु प्रसक्तो हि	७।४६	कालमेव प्रतीक्षेत	६।४५
कामतस्तु कृतं मोहात्	११।४६	कालशाकं महाशाल्काः	३।२७२
कामतस्तु प्रवृत्तानां	३।१२	कालेऽदाता पिता वाच्यः	813
कामतो बाह्यणवधे	११।८६	काले प्राप्तस्त्वकाले वा	३।१०५
कामतो रेतसः सेकम्	११।१२०	कालं कालविमक्तींइच	१।२४
काममभ्ययितोऽश्नीयाद्	२।१८६	किञ्चिञ्छे <b>यस्करतरं</b>	१२।८४
काममामरणात् तिब्ठेत्	3713	किञ्चिदेव तु हाप्यः स्यात्	<b>८।३६३</b>
काममुत्पाद्य कृष्यान्तु	90160	किञ्चिदेष तु विप्राय	११।१ <b>४१</b>
कामात्मता न प्रशस्ता	२।२	कितवान् <u>क</u> ुक्षील <b>वान्कू</b> रान्	६।२२५
कामात्मा विषमः क्षुद्रः	७।२७	किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्	१।३६
कामाद्द्रागुर्ण पूर्व	<b>51</b> १२१	कीटाइचाहिपतंगाइच	१ <b>१</b> ।२४०
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो	२।१८०	कीनाशो गोवृषो यानम्	६।१५०
कामान्माता पिता चैनं	२।१४७	कुटुम्बात्तस्य तद् द्रव्यं	११।१२
कामिनीषु विवाहेषु	ष। ११३	<b>कुदुम्बार्येऽध्यषीनोऽपि</b>	≂।१६७
कामंक्रोधं चलोभं च	२।१७⊏	कुतपं चासने दद्यात्	३।२३४
कामं तु क्षपयेद्देहम्	४।१४७	कुबेर् <b>ष्च</b> धनैश्वर्यं	७।४२
कामं तु खलु घर्मार्यं	१०।११७	कुरुक्षेत्रं च मत्स्याइच	२।१६
कामं तु गुरुपत्नीनां	२।२१६	कुरक्षेत्रांरच मत्स्यांरच	€३१।७
कामं वा समनुज्ञातः	३।२२२	कुरते धर्मसिष्यर्थं	७११०
कामं श्राद्धेऽचंयेन्मित्रं	४। १४४	कुर्यादध्ययने यत्नं	२।१६१
काम्यो हि वेदाधिगमः	२।२	कुर्यादन्यत्र वा कुर्यात्	२।५७
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्	४।६२	कुर्यादहरहः श्राद्धं	३।८२
कायत्रैदशिकाम्यां वा	२।५८	कुर्यात् घृतपश् सङ्ग	४।३७
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे	२।५६	कुर्यु रधे यथापण्यं	=1३६५
कारावरो निषादासु	<b>१</b> ०।३६	कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं	8148
कारकाच्छिल्पिन <b>इचेव</b>	७।१३८	कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षं	20813
कारकान्नं प्रजां हन्ति	४।२१६	कुर्वीत शासनं राजा	<b>ह।२</b> ६२
कारुषक्च विजनमा च	१०।२३	कुलजे वृत्तसम्पन्ने	<b>5</b> ।१७६
कार्पासकीटजोर्गानाम्	११।१६८	कुलसंख्यां च गच्छन्ति	३।६६
कार्पासतान्तवं क्रीञ्चः	१२।६४	कुलान्यकुलतां यान्ति	३।६३
कार्पासमुपवीतं स्यात्	श४४।	कुलान्यांशु विनश्यन्ति	३।६४
कार्यं वीक्य प्रयुञ्जीत	७।१६१	कुलान्यैव नयन्त्याशु	318X
कार्यं सोऽवेक्य शक्ति च	७।१०	कुले महति सम्भूतां	७।७७
कार्यः, शरीरसंस्कारः	२।२६	कुले मुख्येऽपि जातस्य	१०१६०
काषीगणस्तु विज्ञेयः	51 <b>१</b> ३६	कुलं दर्हात राजाग्निः	હાદ
कार्वापणं मवेदृण्डची	51३३६	कुविवाहै: क्रिय'लोपै:	३।६३
कार्व्णरीरववास्तानि	२।४१	कुशीलबोऽबकीणीं च	३।१५५
कार्ष्णीयसमलङ्कारः	१०।४२	<b>कु</b> सीदपथमाहुस्तं	=।१५२
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैः	६।२१	कुसी दवृद्धि हैं गुण्यं	<b>5।१५१</b>
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं	<b>८।३२४</b>	कुसूलघान्यको वा स्यात्	810
	•		

	31-6		21611
कुह्वं चेवानुमृत्ये च	3158	केशान्तः षोडशे वर्षे	<b>२।</b> ६५
क्टशासनकत् इच	<b>६।२३२</b>	केशेषु गृह्यतो हस्ती	51753 9-137
कूपवापीजलानां च	११।१६३	कैवर्तमिति यं प्राहुः	<b>१</b> ०।३४
क्ष्माण्डेर्वापि जुहुयात्	८।१०६ १९।२०८	कोव्ठागारायुषागार	ह1 <b>२</b> ८०
कुच्छातिकुच्छी कुर्वीत	११।२०=	कौटसाध्यं तु कुर्वाणम्	<b>८।१२३</b>
कुच्छ्रं चान्द्रायरणं चैव कृतज्ञं घृतिमन्तं च	११।१७७ ७।२१०	कौरसं जपवाऽपं इत्येतत् कौडोयाविकयोरूपैः	38158
	१०।५	कौशेयं तित्तिरिहृंत्वा	४।१२०
कृतवारोऽपरान् दारान् कृतनिर्णेजनांद्रचैव	११।१८	क्रमतः पूर्वमभ्यस्य	१२।६४ ४। <b>१</b> २५
कृतबुद्धिषु कर्तारः	१।६७	क्रमशो याति लोकेऽस्मिन्	१२।५३
इतिबुद्धियु कतारः इतवापनी निवसेत्	११।७५	क्रमशः क्षेत्रजादीनां	१२१२२ ह।२२०
कृतवापो वसेद्गोष्ठ	११।१०=	क्रय <b>विक्रयमध्वानं</b>	७।१२७
कृतासुसारादिधका	६।१४२	क्रयविक्रयानु <b>शयः</b>	जार् <b>र</b> ⊍ ⊏।५
कृतान्नं चाकृतान्नेन	१०।६४	क्रयेण स विशुद्ध <b>हि</b>	ना <b>र</b> ना२० <b>१</b>
कृतारूजलिक्पासीत कृतारूजलिक्पासीत	४।१५४	कव्यादसूकरोष्ट्राणाम्	2 <b>१ १</b> १ १ १ ६
कृते त्रेतादिषु ह्योषा	१।८३	माण्यायपुराराज्याम् कृष्यादाःखाकुनान्सर्वान्	
कृतोपनयनस्यास्य	२।१७३	क्रव्यावांस्तु मृगान् हत्वा	११।१३७
कृतं तद्धमंतो विद्यात्	ह।२३३	क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैः	रार्र
कृतं त्रेतायुगं चैव	१ ०१।	क्रियाऽभ्युपगमात्त्वेतत्	£ X 13
कृत्वा पापं हि सन्तप्य	११।२३०	क्रीडन्निवतत् कुरुते	१।५०
कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा	५।१३८	क्रीगीयाद् यस्त्वपत्यार्थम्	ह।१७४
कृत्वा विक्रीय वा किञ्चित	<b>८।१२२</b>	क्रीत्वा विकीय वा किचित्	दा <b>र</b> २२
कृत्वा विधानं मूले तु	<b>ह</b> ।१८४	क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य	प्राइ२
कृत्वैतद् बलिकमेवं	३।६४	क्रुडयन्तं न प्रतिक्रुडचेत्	६।४८
कृत्स्नमेव लभेतांशं	51200	क्रूरकर्मकृतां चैव	१२।५८
कृत्स्तनं चाष्टविषं कर्म	७।१५४	क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्	<b>ં</b>
क्रमिकीटपतंगानाम्	११।७०	बलुप्तकेशनखदमश्रुदन्तिः	४।३५
कृ मिकीटपतं ङ्गाश्च	8180	क्लूप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री	६१४२
क्रिकीटवयो हत्या	१२।५६	क्लुप्तानां पशुसोमानां	११।२७
कुमिभूतः श्वविष्ठायां	१०।६१	क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्	१२।५०
<b>कृ</b> षिगोरक्षमास्थाय	१०।५२	क्ष <b>तुर्जातस्तयोग्रायाम्</b>	39108
कृषिजीवी इलीपदी च	३।१६५	क्षतृवैदेहको तद्वत्	१०।१३
कृषि साध्यिति मन्यन्ते	१०।५४	क्षत्र विट्शूद्रयोनिस्तु	<b>हा</b> २२ <b>ह</b>
कृष्णयक्षे दशम्यादी	३१२७६	क्षत्रशूद्रवेषुर्जन्तुः	3109
कृषिजानामोषघीनाम्	११।१४४	<b>क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य</b>	613२०
कृष्णसारस्तु चरति	२।२३	क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या	२।४२
केतितस्तु यथान्यायं	0391६	क्षत्रियस्य परो धर्मः	७ १४४
केशकीटावपन्नं च पदा	४।२०७	क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्	<b>११</b> '२१
केशकीटावपन्नं च पिबेद्	११।१५६	क्षत्रियो बाहुवीयें ए	११।३४
केशप्रहान्प्रहारांश्च	४।८३	क्षत्रियं चैव वैश्यश्च	<b>८।४११</b>
केशान्तिको ब्राह्मणस्य	२।४६	क्षत्रियं चैव सर्पं च	४।१३५

erformere e-mone	9.010	married, malacha.	312.0
<b>क्षत्रियाच्छूद्रक</b> न्यायाम् क्षत्रियाज्जातमेवं तु	310\$	गन्धमाल्यैः सुरभिभिः गन्ध <b>र्वा गुह्यका य</b> क्षाः	31708
	१०।६५ १०।११	गान्धर्वो राक्षसद्येव धम्यौ	१२।४७
क्षत्रियाद् विप्रकन्यायाम्	१०१११ ८१३८ <b>४</b>	गन्धानां च रसानां च	३।२६
क्षत्रियायामगुप्तायाम् भारतमञ्ज्यासम्बद्धाः		गन्धाना च रसाना च गन्धौषधिरसानां च	37513
क्षत्रुप्रपुरकसानान्तु क्षन्तवयं प्रभुणा बित्यं	38108	गर्वापावरसाना च गर्दमाजाविकानां तु	७।१३१
करतच्य प्रमुणा ।नत्य क्षयी चाप्ययितः सोमः	⊏।३१२ ६।३१४	गर्वनाजाविकाना तु गर्भभर्त्तु द्वहां चैव	51385 5100
क्षया मयाव्यपस्मारि	टा २ ६० इ।७	गमस्तु द्रुहा चव गमदिकादशे राज्ञः	931X
क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यः	राज राद४	गमादकादश राशः गमाष्टमेऽस्दे कूर्वीत	२।३६ २।३६
क्षान्त्या शुद्धचन्ति विद्वान्सः	४।१०७ <sup>.</sup>	गमिणी तु द्विमासादिः	रार <i>५</i> ८।४०७
कान्त्या युद्धपान्ता विद्वान्तः क्षीणस्य चैव क्रमशो	रार् ७।१६६	गभिणीत्वथवा स्यात्तां	
काणस्य चय क्रमशा क्षीरं क्षौद्रं दिघ घृतं		गहितानाद्ययोर्जग्धः	१११७
	१०।८८ ८।२६७	गवा चान्तमुपाञ्चातं	११।५६ ४।२०६
क्षुद्रकाणां पश्चमां तु	१०।१०५	गवा चान्तमुपान्नात गवां च परिवासेन	
क्षुधार्तदेवासुमन्यागात् भवनी उपस्मानां न		गवां च यानं पृष्ठेन	४।१२४
क्षुवतीं जूम्भमाणां च	४।४३ ८।२६ <b>२</b>	गात्राणि चैव सर्वाणि	४।७२ १४१४
क्षेत्रकूरतंडागानाम्		गान्धर्वी राक्षसङ्गैव	
क्षेत्रजादीत् सुतानेतात्	६।१८० ६।३३	गान्धर्वः स तु विशेषी	३।२ <b>१</b> ३।३२
क्षेत्रबीजसमायोगात्	८।२२ <b>६</b> ।३३	गार्भेंद्रोमैजितिकर्म	२।२५ २।२७
क्षेत्रमूता स्मृता नारी		गां विप्रमजमिन वा	
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं	१४४। ४४।३	गिरिपृष्ठं समारहा	३।२६० ७। <b>१</b> ४७
क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो	टा २४३ =।२४३	गुच्छगुल्मं तु विविधं	र।४६ १।४ <b>६</b>
क्षेत्रेज्वन्येषु तु पशुः	5158	गुण्डापुरम् सुपन्नाकाद्यात्	रावन ३।२२६
क्षत्रव्यन्यपु तु पशुः क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं	न। २०१ २। २४६	गुप्तं सर्वेतुं कं शुभ्रं	रार्र्ड ७।७६
क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं	५।५०५ ७।२ <b>१</b> २	गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा	318
क्षीमवच्छक्षुत्रहृज्ञाणाम्	प्रारहर प्रा <b>रहर</b>	गुरुतल्पन्नतं कुर्यात्	२। <b>१</b> ७०
वानवच्छक्षुत्रस् द्वाणान्	41575	गुरतस्पन्नतः जुनातः गुरुतस्पे भगः कार्यः	११११७ <b>६</b> ।२३७
ख		युक्तरूप्यभिमार्थ्यमः	११।१०३
स्रञ्जो वा यदि वा काणः	३।२४ <b>२</b>	गुरुदारेषु कुर्वीत	२।२१७
सट्वाङ्गी चीरवासा वा	११।१०५	गुरुशरे सपिण्डे वा	२।२४७
खराइबोष्ट्रमृगेमानाम्	११।६८	गुरुपरनी तुः युवतिः	· २।२१२
न्तलात् क्षेत्रादगाराद् वा	११।१७	गुरुपत्त्या न कार्याणि	<b>२।२११</b>
खानि चैव स्पृशेदद्भिः	२।६०	गुरुपुत्रेषु चार्येषु	२।२०७
खं सन्निवेशयेत्सेषु	१२।१२०	गुरुमातृपितृत्याग गुरुमातृपितृत्याग	११।५६
स्यापनेनानुतापेन	११।२२७	गुरुराहुवनीयस्तु	२।२३ <b>१</b>
	,,,,,	गुरुवच्च स्नुषावच्च	ह। <b>६</b> २
ग		गुरुवस्त्रतिपूज्याः स्युः	२।२ <b>१</b> ०
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेम्य	: ¥178E	गुरुशुत्रूषया त्वेवं	२।२ <b>३३</b>
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा	४।२०६	गुरुषु त्वम्यतीतेषु	४।२५२
गतप्रत्यागते चैव	७।१८६	गुरुस्त्रीगमनीयं तु	११।१०२
गत्वा ककाम्तरं स्वन्यत्	७।२२४	गुर वा बालवृद्धी वा	न।३५०

गुरूरभृत्यांदवोज्जिहीर्षन्	४।२५१	गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासाद	२।२०४
गुरोः कुले न भिक्षेत	२।१८४	गोषु बाह्मणसंस्थासु	≒।३२५
गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु	प्राह्य	गोस्वाम्यनुमते भृत्यः	5 दिश्
गुरोगुंरौ सन्निहिते	२।२०४	गौडी पैष्टी च माध्वी च	83188
गुरोर्यंत्र परीवादः	२।२००	प्रहीता यदि नव्टः स्यात्	⊏।१६६
गुरोइचालीकनिर्बन्धः	११।५५	प्रामघाते हितामङ्ग	४७५।३
गुरोस्तु चक्षुर्विषये	२।१६≒	ग्रामजातिसमूहेषु	<b>51</b> २२१
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद	२।१६४	प्राम रोबान्समृत्यन्नान्	७।१४६
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च	<b>⊏।३१७</b>	ग्रामस्याधिपति कुर्ग्यात्	७।११५
गुर्वेथँ पितृमात्रथँ	११।१	ग्रामादरण्यं निःसृत्य	६१४
गुल्मवल्लीलतानां च	<b>१</b> १।१४२	प्रामाबाहृत्य वाइनीयात्	६।२८
गुल्मांइच स्थापयेदाप्तान्	03\$10	ग्रामीयकेंकुलानां च	<b>दारे</b> ४४
गुल्मान्वेणुंश्च विविधान्	<b>=</b> ।२४७	ग्रामेष्वपिच ये केचित्	<b>ह</b> ।२७१
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च	<b>ह।१५</b> ह	रामं ग्रामशताष्यक्षः	७१११
गूहेत्कूमं इवाङ्गानि	७।१०५	ग्रासाच्छादनमत्यन्तं	<b>ह</b> ।२०२
गृहं तेडागमारामं	≈।२६४	ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्यात्	६।२३
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि	४।२३०	3	
गृहमेधिषु चान्येषु	६।२७	घ	
गृहसंवेशको दूतो	३।१६३	घातयेद्विविधैर्दण्डै:	<b>ह</b> ।२७४
गृहस्य उच्यते श्रेष्ठः	६।८६	घृतकुम्भं बराहे तु	११।१३४
गृहस्यस्तु यदा पश्येत्	६।२	घोरेऽस्पिन्भूतसंसारे	शप्र
गृहस्थेनैव धार्यन्ते	३।७८	ष्ट्राणेन सूकरो हन्ति <u> </u>	31588
गृह्ण रखुल्कं हि लोभेन	३।५१		401.7
गृहिंणः पुत्रिणो मौला.	=1६२	<del>च</del>	
गृहीत्वा मुसलं राजा	११।१००	चक्रवृद्धि समारूढो	51 <b>१</b> ५६
गृहे गुहावरण्ये वा	र्रा४३	चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः	51843
गोत्रारिक्थानुगः पिण्डो	<b>हा</b> १४२	चिक्रिंगो दशमीस्थस्य	२।१३=
गोत्ररिक्ये जनयितुः	ह।१४२	चक्षुनीसा च कणौ च	ना१२४
गोपः क्षीरमृतो यस्तु	<b>ना</b> २३१	चण्डालपुरकसानां च	१२।५५
गोबीजकाञ्चनैवेर्रयं शूद्रं	<b>51</b> ११३	चण्डालश्वपचानान्तु	१०।५१
गोबीजकाञ्चनैवैरयं शूद्रं	5155	चण्डालहस्तादादायँ	१०।१०५
गोबाह्यणस्य चैवार्ये	प्राह्य	चण्डालात् पाण्डुसोपाकः	१०।३७
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे	११।१६६	चण्डालान्त्यस्त्रियी गत्वा	११।१७४
गोभिरव्वैश्च यानैश्च	३१६४	चण्डालेन तु सोपाकः	१०।३८
गोमिनामेव ते वत्साः	EIXO	चतुरी बाह्यसम्याचान्	३।२४
गोमुत्रमंग्निवर्णं या	19188	चतुरो व्रतिनोऽम्येति	११।१२१
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं	११।१०६	चतुरोऽस्तमिते सूर्ये	११।२१६
गोमूत्रं गोमयं क्षीरम्	<b>११</b> 1२१२	चतुराँकाम् हरेद् विप्रः	EIZXZ
गोयानेऽप्सु दिवा चैव	११।१७४	चतुरः प्रातरक्नीयात्	११।२१६
गोरक्षकान् वाणिजिकान्	<b>८।१०</b> २	चतुर्णामपि चैतेषां दिजा	<b>Y1</b> 5
गोवभोऽयाज्यसंयाज्य	११।५६	चतुर्णामि चेतेवां प्रावश्चितं	<b>ह</b> ।२३६
	• •	_	•

चतुर्णामपि वर्णानां दारा	वा३४६	चारसाइच सुपर्साइच	१२।४४
चतुर्णामपि वर्णानां नारी	११।१३८	चारेगोत्साहयोगेन	ह।२६८
चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य	३।२०	चारेंदचानेकसंस्थानैः	<b>ह</b> ।२६ <b>१</b>
चतुर्णीमपि वर्णानामाचा	१।१०७	चिकित्सकस्य मृगयोः	४।२१२
चतुर्णामपि वर्णानां यथा	प्राप्त	चिकित्सकानां सर्वेषाम्	<b>६।२५</b> ४
चतुणीमाश्रमाणां च	७।१७	चि कित्सकान्वेवलकान्	३।१५२
चतुर्थं एकजातिस्तु	१०।४	चिन्तये <b>द्धमं</b> कामा <b>र्थान्</b>	७।१५१
चतुर्थं कालमइनीयात्	309108	चिरस्थितमपि खार्च	४।२४
चतुर्थकालिको वा स्यात्	६।१६	चीरवासा द्विजाऽरण्ये	११।१०१
<del>च</del> तुर्थं मारदानोऽपि	१०।११८	चीरीवाकस्तु लवणं	१२।६३
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा	६।३३	चूडाकर्मद्विजातीनां	२।३४
चतुर्थमायुषो मागमुषित्वा	४।१	चेलचम्मिषाणां च	११।१६६
चतुर्थे मासि कर्तव्यं	२।३४	चेष्टाइचेव विजानीयात्	७।१६४
चतुर्थः सम्प्रदातैषां	१।१८६	चैत्यद्भावस्यानेषु	१०।५०
चतुमिरपि चैवैतैः	६।६१	चैलवर्च्चर्मगां शुद्धिः	५।११६
चतुर्भिरितरेः सार्षं	३।४६	चैलाशकश्च भवति	१२१७ <b>२</b>
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः	१।२६४	घोदितो गुरुएग नित्यं	१३१।६
चतुष्पात्सकलो धर्मः	१।=१	चोरैरपप्लुते ग्रामे	४।११८
चतुःसुवर्णान्षण्निष्कान्	८।२२०	चौरिकानृतमायाभिः	१।८२
चतुःसौवणिको निष्को	<b>८।१३७</b>	चौरीह तं जलेनोढम्	5185E
चत्वारस्तूपक्षीयन्ते	=1१६६	छ	
चत्वारि तस्य वर्धन्ते	२।१२ <b>१</b>	छत्राक विड्वराहंच	५।१६
चत्वार्याहुः सहस्राणि	११६६	छद्मनाऽऽचरितं यच्च	33818
चन्द्रवित्तेशयोश्च	७१४	छायायामन्धकारे वा	४।५१
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च	६।३०३	छाया स्वो दासवर्गइच	४।१८५
चमसानां ग्रहाणां च	प्राष्ट्रिह	छिद्रं च वारयेत्सर्व	51२३६
च <b>रा</b> णामन्नमच् रा	प्रारह	छिन्ननास्ये मग्नयुगे	51268
चरितव्यमतो नित्यं	११।५३	द्युच्छुन्दरिः शुमान् गन्धान्	१२।६५
चक्रणां सुक्सुवारणां च	४।११७	छेतव्यं तत्तदेवास्य	51708
चरेत्सांतपनं कृच्छ् तन्नि	११।१६४	छेदवर्जं प्रणयनं	<b>८</b> ।२७७
चरेस्सान्तपन कृच्छ्रं प्राजा	११।१२४	छेदनेचैव यन्त्राणाम्	<b>51</b> २६२
चरेयुः पृथिवी दीनाः	६।२३८	, জ	
चर्मचामिकमाण्डेषु	<b>५</b> ।२५१		
चर्मावनद्धं दुर्गन्घ	६१७६	जगतइच समुत्पत्ति	१।१११
चाक्षुषश्च महातेजा	१।६२	जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च	११।१५२
चाण्डालक्ष्व वराह्क्ष	३।२३६	जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं	५।३३
चातुवंष्यं त्रयो लोकाः	१२।६७	जघन्यं सेवमानां तु	513EX
चातुर्वर्थस्य कृत्स्नोऽयम्	१२।१	जटाश्च बिभृयान्नित्यं	६।६
चान्द्रायए। विघानेवी	६१२०	जटिलं चानघीयानं	३।१५१
चान्द्रायणं चरेन्मासं	88188	<b>अडमूकान्धबधिरान्</b>	38816
चान्द्रायएां वा त्रीन मासान्	११।१०६	जडमूकान्धबधिराः	११।५२

जननेऽप्येवमेव स्यात्	५।६१	जीर्णानि चैव वासांसि	६।१५
जनन्यां संस्थितायान्तु	<b>६।१६</b> २	जीर्गोद्यानान्यरण्यानि	<b>हा</b> २६५
जनियत्वा सुतं तस्यां	३।१७	जीवन्तीनां तुतासां ये	51२६
जन्मण्येष्ठेन चाह्वानम्	<b>६।१</b> २६	जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः	१२।१६
जन्मन्येकोदकानां तु	५।७१	जीवितात्ययमापननः	१०।१०४
जन्मप्रभृति युत्किञ्चित्	5180	जीवेत्क्षत्रियधर्मेण	१०।५१
जन्मवृद्धिक्षयैनित्यं	१२।१२४	जीवेदेतेन रालन्यः	१०।६५
जपतां जुह्नतां चैव	४।१४६	जैह्यं च मैथुनं पुंसि	११।६७
जपन् वाडन्यतमं वेदम्	११।७५	ज्यायान्परः परो ज्ञेयो	४।५
जपस्तरत्स्मन्दीयं	११।२५३	ज्यायांसमनयो <b>विद्या</b> द्	३।१३७
जपहोमैरपैत्येनः	१०।१११	ज्येष्ठ एव तु गृह्धीयात्	६।१०५
जिपत्वा त्रीरिए सावित्र्याः	११।१६४	ज्येष्ठः कुलं वर्षयति	३०१।३
जपित्वा पौरुषं सूक्तं	११।२५१	ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके	८।१०६
जपेच्च जुहुयाच्चैव	४।१४५	ज्ये <sup>ड</sup> ठता च निवर्तेत	११।१८४
जपेद्वा नियताहारः	११।७७	ज्येष्ठइचैव कनिष्ठइच	ह1११३
जपोऽहुतो हुतो होमः	३।७४	ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायाम्	<b>हा</b> १२४
जप्येनेव तुं संसिध्येत्	२।८७	ज्येष्ठस्य विश उद्घारः	<b>हा</b> ११२
जरया चाभिभवनं	દાદર	ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य	११।१५४
जराशोकसमाविष्टम्	६।७७	ज्येष्ठेन जातमात्रेग	<b>हा</b> १०६
जरां चैवाप्रतीकाराम्	१२।८०	ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां	नार्थ्य
जाङ्गलं सस्यसम्पन्नम्	७।६९	ज्येष्ठो यबीयसो भार्याम्	8145
जातदन्तस्य वा कुर्युः	४।७०	ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्	१।७७
जातबाह्मणशब्दस्य	१०।१२२	ज्योतिषश्च विकुर्वाणात्	१।७५
जातिजानपदान्धर्मान्	=।४१	ज्ञातिस्वेनान्पेयास्ताः	१शारे७२
जातिभ्रंशकरं कर्म	११।१२४	ज्ञातिस्यो द्रविणं वत्वा	3138
जातिमात्रोपजीवी वा	5170	<b>ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा</b>	३।२६४
जातो नार्यामनार्यायाम्	१०१६७	ज्ञातिसम्बन्धिमस्त्वे <u>ते</u>	81२३६
जातो निवादाच्छूद्रायाम्	१०।१८	ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्	२।१३४
जातोऽप्यनायदाययां े	१०।६७	ज्ञाननिष्ठेषु ऋव्यानि	१।१३५
जानन्नपि हि मेघावी	२।११०	ज्ञानमूलां कियामेषां	४।२४
जानीयादस्थिरां वार्च	<b>८।७</b> १	ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं	११।१४५
जामयोऽप्सरसां लोके	४।१८३	ज्ञानेनैवापरे विप्राः	४।२४
जामयो यानि गेहानि	शेप्रद	ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि	३।१३२
जायन्ते दुर्विवाहेषु	३।४१	ज्ञानं तपोऽग्निराहारो	
जायायास्तद्धि जायात्वं	£15	4111 (1413)(1617)	प्रा१०५
जालान्तरगते भानी	<b>८।१३</b> २	<b>₹</b>	
जिघांसया ब्राह्मणस्य	१शर०६	भल्ला मल्ला नटाइचैव	१२।४४
जितेन्द्रियो हि शक्नोति	७१४४	भाल्लो मल्लश्च राजन्यात्	<b>१</b> ०।२२
जित्वा सम्पूजयेद् देवान्	७।२०१	are to trained strained.	1-177
जिह्वायाः प्राप्तुयाच्छेदं	51700	Ŧ	
जीनकामुं कबस्ताबीन्	191835	डिम्माहबहतानां च	प्राह्य
• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •	• • • • • •		राष्ट्र

त		तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्
त एव हि 'त्रयोः लोकाः	२।२३०	तत्र यत्त्रीतिसंयुक्तम्
त एव हि त्रयो वेदाः	रारे३०	तत्र यद् बह्मजन्मास्य
तच्चामिषेण कर्तंव्यं	३।१२३	तत्र यद्रिक्यजातं स्यात्
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्व	<b>१</b> २।३४	तत्र ये मोजनीयाः स्युः
तडागभेदक हन्यात्	<b>ह</b> ।२७६	तत्र राजा भवेद्ग्डचः
<b>त</b> डागान्युदपानानि	नार्४८	तत्र वक्तव्यमनृतं
ताडागार। मदाराणां	१शे६१	तत्र विद्या न वक्तव्या
ततो ग्रह्बलि कुर्याद्	३।२६४	तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी
ततो दुर्ग च राष्ट्रं च	७।२६	तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषाः	<b>ह।१</b> २३	तत्र स्वामी भवेद्ग्डच:
ततो भुक्तवता तेषा	३।२५३	तत्रात्ममूतैः कालेजैः
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानां	<b>८</b> ।२४३	तत्रापरिवृतं घान्यं
ततोऽर्घं मध्यमस्य स्यात्	<b>हा</b> ११२	तत्रासीनः स्थितो वाऽपि
ततस्तया स तेनोक्तः	११६०	तत्रास्य माता सावित्री
ततःप्रभृति यो मोहात्	81६=	तथा गुरुगतां विद्यां
ततः सपैत्नाञ्जयति े	४।१७४	तथा गृहस्थमाश्रित्य
ततः स्वमातृतः शेषाः	<b>ह।१२४</b>	तथा ग्रामशतानां च
ततः स्वयम्भूभंगवान्	१।६	तयाऽघमर्षणं सूक्तं
तत्तत्कार्यं निवर्तेत	द <b>।१</b> १७	तथा च श्रुतयो बह्वचः
तत्तत्तेनैव भावेन	४।२३४	तथा चारैः प्रवेष्टव्यं
तत्तत्पितृणां भवति	३।२७४	तथा ज्ञानाग्निना पापं
तत्तथा वोऽभिघास्यामि	१।४२	तथातथा कुशलता
तत्तथा स्थापयेद्राजा	<b>=</b> ।२६१	तथा तथा त्वचेवाहि:
तत्तदेव हरेत्तस्य	≂।३३४	तथा तथा दमः कार्यः
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि	७।३६	तथा तथा विजानाति
तत्तन्निवेदयेत्तेम्यो	श२३६	तथा तथा शरीरं तत्
तत्ते सर्वे शुनो गध्छेत्	5180	तथा तथेमं चामुंच
तत्पयु वितमप्याद्यं	प्रार्थ	तथा त्यजन्निमं देहं
तत्पापं शतधा भूत्वा	१२।११४	तथा दहति वेदज्ञः
तत्पण्डाग्रं प्रयच्छेत	وحكاف	तथा क्वेचरितं सर्वं
तत्युष्य <b>प</b> ाप <b>ेति</b>	•	<b>新</b> 一
तत्प्रयस्नेन कुर्वीत	४।१६१	तथा नश्यति वे क्षिप्रं
तरप्राज्ञेन विनीतेन	६।४१	तथा नित्यं यतेपाताम्
तत्समुत्यो हि लोकस्य	513X3	तथा निमज्जतोऽघस्तात्
तत्सर्वे निर्दहन्त्याशु	११।२४१	तयाऽनुचे हुविदंस्वा
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो	३।२२३	तथा पापान्निगृह्णुीयाद
'तत्सहायैरनुगतः	१।२६७	तथा प्रकृतयो यस्मिन्
तत्स्याबायुषसम्पन्न	७।७५	तथा प्रयत्नमातिष्ठेत्
तस्त्वयं नृपतिः कुर्यात्	<b>१।२३४</b>	तया बाह्यत्रं बाह्यः
तत्र कालेन जायन्ते	१।२४६	तथाऽभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं

७।२२५ १२।२७ ३।१७० 03813 १।१२४ 51335 51808 21882 5198 ७११४६ 51783 917819 512३5 513 २।१७० २।२१८ ३।७७ 61888 ११।२६० 3913 ह1३०६ १२।२४६ १२।७३ ११।२२८ 51754 8120 371778 १०।१२८ ६१७८ १२।१०१ 861523 . .3 **£813 हा१०**२ 818 68 31883 20513 30E13 ७१६८

> १०।३० ४०६।३

इलोाकना <b>मु</b> मयपंक्ति- <b>ग्र</b> नुक्रमणिका		१०२३	
तथा मित्रं ध्रुवं	७।२०५	-	
तथा यशोऽस्य प्रथते	११।१५	तदित्युचोऽस्याः सावित्र्याः	२।७७
तथा युद्धेत सम्पन्नः	७।२००	तदेकसप्ततिगुरा	301\$
तथा रक्षेन्नुपो राष्ट्रं	७।११०	तदैषु सर्वंमप्येतत्	<b>८।१३०</b>
तथारयो ने हिसन्ति	१७।७	तद्दर्णे प्राप्नुयात्सर्वं	51800
तथा राज्ञा नियन्तव्याः	<b>७०</b> ६।३	तद्दाशैरेव दातव्यं	51805
तथा राज्ञामपि प्राणाः	७।११२	तद् बाह्यरोन नात्तव्यं	११।६५
तथायज्जिात ग्रायीयां	१०।६६	तद् ब्रूत सर्वं सत्येन	5150
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यः	७। <b>१</b> २६	तद्देशकुलजातीनां	518 <b>€</b>
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं	७।१२८	तद्वंग्रघ सर्वविद्यानां	<b>१</b> २।=४
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्लाद्	३।२७८	तिद्धं कुर्वेन् यथाशक्ति	४।१४
तथा सर्वं संविद्ध्यात्	७।१८०	तद्भवत्यसुखोदकं	११।१०
तथा सर्वाणि भूतानि	११६।३	त <b>दभैक्षभु</b> ग्जपन्नित्यं	११।१७८
तथा हरेत्कर राष्ट्रात्	४०६।३	तद्रजी प्रातेष विद्यात्	१२।२८
तथेदं यूयमप्यद्य	१।११६	तद्वदन्धमेतोऽर्थेषु	5180३
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते	६।७१	तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः	३।२२४
तथैव वेदानुषयः	११।२४३	तिद्वसृष्टः स पुरुषो	\$188
तयंव सप्तमे भक्ते	११।१६	तद्वै युग्मसहस्रान्तं	१।७३
तथैवाक्षेत्रिएो बीजम्	E148	तद्वः सर्वे प्रवक्ष्यामि	३।२२
तथैवाप्सरसः सर्वाः	<b>१</b> ३१४७	तनुलोमकेशदशनां	३।१०
तथैवाश्रमिणः सर्वे	६।६०	तन्तुवायो दशपलम्	03€।=
तथोपनिधिहर्तारं	४।१६२	जन्मे रेतः पिता वृक्तां	<b>ह</b> ।२०
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यः	<b>८</b> ।२७४	तपत्यादित्यवश्चेष	७।६
तदण्डममबद्धैमं	३११	तपश्चरंश्चोग्रतरं	६।२४
तदध्यास्योद्वाहेन्द्रार्या	७।७७	तपसक्चरणैक्चोग्नैः	६।७४
तदन्नं द्विगुणं दोप्यः	<b>८१६</b> ३	तपसा किल्विषं हन्ति	१२।१०४
तदप्यक्षयमेव स्यात्	३।२७३	तपसापनुनुत्सुस्तु	११।१०१
तदिधकं पादिकं वा	३।१	तपसैव प्रपश्यन्ति	११।२३६
तदवाप्नोत्ययत्नेन	४।४७	तपसैव प्रसिष्यन्ति	११।२३७
तदा तु संश्रयेत्सिप्रं	७।१७४	तपसेव विशुद्धस्य	११।२४:२
तदा स्वायतिसंयुक्तः	७।१६३	तपसैव सुतप्तेन	११।२३६
तदात्वे चाल्पिकां पीडां	७।१६६	तपस्तप्त्वाऽमृजचं तु	१।३३
तदा द्विका बलं कृत्वा	<i>७</i> ।१७ <sup>३</sup>	तपोनिश्चयसंयुक्तं	88189
तदा नियुज्ज्यादिद्वांसं	518	तपोबीजप्रमावैस्तु	१०।४२
तदाऽनेन विघानेन	७।१८१	तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं	११।२३४
तदाऽयं सर्वभूतात्मा	१।५४	तपोमूलमिवं सर्वम्	११।२३४
तदा यायाद्विगृह्य व	७।१⊏३	तपो वाचंरितं चैव	१।२५
तदालम्याप्यनष्यायः	४।११७	तपो थिद्या च वित्रस्य	१२।१०४
तदा विद्यादनष्यायं	४।६०४	तपोविशेर्वैविविषैः	२।१६४
तदाविद्यान्ति भूतानि	शश्व	तपः परं कृतयुगे	१।८६
तदासीत प्रयत्नेन	७।१७२	तपः परं स्वाध्यायनिष्ठाश्च	३।१३४
तदा सुखमवाप्नोति	६।८०	तप्तकच्युं चरत्र विप्रः	११।२१४
-			

तप्तमासेचयेत्तैलं	<b>=</b> ।२७२	तस्माद्धमं सहायार्थं	४।२४२
तमनेन विधानेन	51225	तस्माद बाह्यणराजन्यी	18183
तमपीह गुरुं विद्यात्	२।४६	तस्मान्त देवाः श्रेयांसं	नाहरू
तमसा बहुरूपेण	9४।१	तस्मान्मेघ्यतमं त्वस्य	<b>१</b> 187
तमसो लक्षणं कामः	<b>१</b> २।३८	तस्माद्यम इव स्वामी	<b>८।१७३</b>
तमाद्य दण्डयेद्राजा	51333	तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी	३।४८
तमाहु: सर्वलो≉स्य	८।५०८	तस्माद्राज्ञा निधातव्यः	७।८३
तमोऽयं तु समाश्रित्य	१।५५	तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्	११।२३२
तमौरसं विजानीयात्	६।१६६	तस्माद्वैतानकुशलः	११।३७
तया स काये निर्दग्धे	११।६०	तस्मिआज्ञेस्वयं ब्रह्मा	318
तयोरन्यतरः प्रैति	२।१११	तस्मिन्देशे य आचारः	२।१८
तयोरपि कुटुम्बाम्यां	११।१४	तस्मिन्नण्डे स भगवान्	१।१२
तयोरेवान्तरं गिर्योः	२।२२	तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं	३।१२७
तयोदीनं च कन्यायाः	११।६०	तस्मिस्तावत्तपः कुर्यात्	११।२३३
तयोर्देवमचिन्त्यं तु	७।२०५	त्रहिमन्स्वपति सुस्ये तु	<b>१</b> ।५३
तयोनित्यं प्रतीघाते	६।२२२	तस्मै नाकुशलं ब्रूयात्	११।३५
तयोनित्यं प्रियं कुर्यात्	२।२२८	तस्मै मां ब्रुहि विप्राय	२।११४
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्	६।१६१	तस्मै हव्यं न दातव्यं	३।१६८
तयोर्हि मातापितरौ	६।१३३	तस्य कर्मविवेकार्यं	१।१०२
तस्करप्रतिषेघा <b>र्यं</b>	<b>ह</b> ।२६६	तस्य कर्मानुरूपेगा	<b>८।२०</b> ६
तस्माच्छरीरमित्याहुः	१।१७	तस्य कुर्यान्त्रगो दण्डं	<b>८।</b> २२४
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव	प्रा११३	तस्य तद्वर्घते नित्यं	<b>ह।</b> २४४
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः	<b>६।१३</b> ८	तस्य तद्वितथं कुर्यात्	६।७३
तस्मात्प्रजाविशुध्यर्थं	313	तस्य तावच्छती संघ्या	१।६६
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं	<b>८</b> ।८३	तस्य तेजोमया लोका	35।३
तस्मात्समागमे तेषां	११।८३	तस्य दण्डविकल्पः स्यात्	<b>१।२२</b> ५
तस्मात्सर्वाणि भूतानि	७।१०३	तस्य दण्डविशेषांस्तु	5188
तस्मात्साघारणो धर्मः	६।६६	तस्य देहाद्विमुक्तस्य	६।४०
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण	११।३२	तस्य नित्यं क्षरत्येष	२।१०७
तस्मादभिभवत्वेषः	७।४	तस्य पुत्रे च पत्न्यां च	प्राद०
तस्मादविद्वान्बिभयात्	४३११४	तस्य प्रभुम्यते राष्ट्रं	<b>हा</b> २५४
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो	१।१०८	तस्य प्रेत्यं फरां नास्ति	31836
तस्मादस्य वधं राजा	<b>५</b> ।३५१	तस्य मृत्यजनं ज्ञास्वा	११।२२
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं	४।१३६	तस्य मध्ये सुपर्याप्तं	७।७६
तस्मादेतत्परं मन्ये	१२।६६	तस्य तावच्छती	3718(2518)
तस्मावेताः सदा पूज्याः	3146	तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं	७३।१५
तस्मादेतैरिषिक्षप्तः	४।१८५	तस्य शास्त्रेऽश्विकारोऽस्मि	न् २।१६
तस्माद् द्यूतं न सेवेत	<b>ह</b> ।२२७	तस्य षड्भागभाग्राजा	-13°X
तस्माद द्विजेम्यो दत्त्वार्ष	८।३८	तस्य सर्वाणि मूतानि	७।१५
तस्माद्धम् न हन्तव्यः	51 <b>१</b> ५	तस्य सीदति तद्राष्ट्रं	51 <b>2</b>
तस्मादमं यमिष्टेषु	७।१३	तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते	१।७४
		तस्य ह्यागु विनाशाय	७।१२

श्लोकाना मुभयपंक्ति	-प्रनुक्रमाणका

श्लोकानामुभयप <del>ंक्ति-ग्र</del> नुक्रमणिका			५०२४
तस्याददीत षड्भागं	513X	तान्सर्वानिमसंदध्यात्	७। १५६
तस्यापि तत्क्षुचा राष्ट्रं	७। १३४	तान्सवन्धितयेद्राजा	हारर४
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति	३।१०८	तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्	१०।२०
तस्यामात्मनि तिष्ठत्यां	<b>६।१३</b> ०	तान्हब्यकव्ययोविप्रान्	३।१५०
तस्यार्थे सर्वभूतानां	७। १४	तापसा यतयो विप्राः	१२।४८
तस्याशु कत्ये ग्रङ्गुल्यो	<b>८</b> ।३६७	तापसेष्वेष विप्रेषु	६।२७
तस्याहुः संप्रऐतार	७।२६	ताभिः सार्षेमिदं सर्वं	१।२७
तस्यां चैव प्रसूतस्य	३११६	ताम्यां स शकलाम्यां च	१।१३
तस्यां जाताः समांशाः स्युः	<b>ह</b> ।१५७	तामनेन विधानेन	8158
तस्यां त्वरोचमानायां	३।६२	तामिस्रमन्धतमि <b>स्र</b> ं	४।८८
तस्याः पुरीषे तन्मांसं	३।२५०	तामिस्रादिषु चाप्रेषु	१२।७४
तस्येह त्रिविषस्यापि	१२१४	ता स्ररूप्यसुवर्णानां 💆	⊏।१३१
तस्येह भागिनौ <b>र</b> ष्टौ	きとしる	ताम्रायःकांस्यरैत्यानाम्	प्रा <b>११</b> ४
तस्यैव वा विघानस्य	≒।३६	ता यदस्यायनं पूर्वं	१।१०
तस्यैष व्यभिचारस्य	धारश	ता राजसर्षपस्तिस्रः	दा१३३
तस्योत्सर्गेण शुध्यन्ति	8381 <b>8</b> 8	तावतां न फलं तत्र	३।१७६
ताडियत्वा तृजेनापि कण्ठे	११।२०५	तावतां न भवेद्दातुः	३।१७८
साध्यित्वा तृणेनापि संरम्मात्	४।१६६	तावती ग्रसते प्रेत्य	३।१३३
ताइग्गुणा सा भवति	धा२२	तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्	७।६१
तारग्रोहति तत्तस्मन्	११३६	तावतो्ऽब्दानमुत्रान्यैः	४।१६८
ताइशं फलमाप्नोति	६।१६१	तावतः संख्यया तस्मिन्	51€0
ताइशान्सम्प्रवक्ष्यामि	515 <b>१</b>	तावन्त्यव्दसद्स्राणि	११।२०७
ताइशेन शरीरेण	<b>१</b> २।= <b>१</b>	ताबद्भवत्यप्रयतो	११।१५३
ताननन्तरनाम्नस्तु	१०।१४	तावनमृद्वारि चादेयं	५।१२६
तानबदीदृषी सर्वान्	१।६०	तावत्स्वादशुचिवित्रो	प्राष्ट
तानानयेदशं सर्वान्	७।१०७	तावानेव संविज्ञेयः	518EX
तानि कारककर्माणि	१०।१००	तावु मावप्यसंस्कार्यी	१०।६८
तानि कृत्याहतानीव	३।४८	तावुभी गच्छतः स्वर्ग	४।२३५
तानि निर्हरतो लोभान्	5 <b>3</b> \$	तावुभी चौरवच्छास्यौ	51868
तानि सन्धिषु सीमायां	द <b>ा</b> २५ <b>१</b>	तावुभी पतिती स्यातां	१ ३ । ३
तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि	२।८६	तावुमी भूतसंपृक्ती	१२।१४
तान्निबोधत कात्स्न्येन	३।१८३	तासामाचाश्चतस्रस्तु	३।४७
तान्त्रजापतिराहैत्य	४।२२५	तासां क्रमेण सर्वाशं	३१६९
तान्त्रसह्य नृपो हन्यात्	<b>१।२</b> ६१	तासां चेदवरद्वानां	<b>८।२३६</b>
तान्त्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्	२।१२३	तासां पुत्रेषु जातेषु	<b>६।१४६</b>
तान्यविकालिकतया	१२।६६	तासां वर्णक्रमेण स्यात्	<b>ह</b> ।५४
तान्येव पुञ्च भूतानि	१२।२२	तास्येव भूतत्रासु	१२।१७
तान् विदिरवा सुचरितः	<b>६।२६१</b>	ति रस्कृत्यो <del>ण्य रेत्का</del> ष्ठं	४।४६
तान्वोऽम्युपायान्वध्यामि	११।२१०	तियंक्तवं तामसा नित्यं	१२।४०
ताञ्छिष्य <del>ाच्च</del> ौरदण्डेन	51२६	तिलप्रदः प्रजामिष्टां	४।२२६
तान्समासेन वक्ष्यामि	<b>१</b> २।३६	तिलैर्वीहियवेर्माषैः	३।२६७

तिष्ठन्तीष्व <u>नु</u> तिष्ठे <b>त्त</b> ु	११।१११	तेषामद्भिः स्मृतं शौचं	६।५३
तीक्णक्षेव मृदुक्च स्यात्	७।१४०	तेषामनुपरोधेन -	२।२३६
तीक्षणश्चैव मृदुश्चैव	७।१४०	तेषामपीह विज्ञेयं	३।२००
तीरितं चानुशिष्टञ्च यत्र	<b>ह</b> ।२३३	तेषामर्थे नियुञ्जीत	७ ।६२
्रतीर्थे तद्भव्यकव्यानां	३।१३०	तेवामा <b>द्यमृणा</b> दानं	51 <b>%</b>
तुरायणं च क्रमशः	६।१०	तेषामारक्षभूतं तु	३।२०४
तुरीयो ब्रह्महत्यायाः	११।१२६	तेषामिबं तु सप्तानां	१।१६
तुलामानम्प्रतीमानम्	८।४०३	तेषामु पन्नतन्तूनां	६।२०३
तृणकाष्ठद्र <b>माणाञ्च</b>	११।१६६	तेषामुद्धमानीय	३।२१०
तृरगगुरमलतानां च	१२।५=	तेष।मृषीणां सर्वेषां	४३१।६
तृणानि भूमिरदकं	३।१०१	तेवां ग्राम्याणि कार्य्याणि	७।१२०
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थं	38812	तेषां छित्वा नृपो हस्ती	६।२७६
तृतीयं धनदण्डं तु	<b>८। १</b> २६	तेषां तु समवेतानां	२।१३६
तृतीयं यज्ञदीक्षायां	२। <b>१६</b> ६	तेषां त्वगस्थिरोमाणि	४।२२१
तुतीयनस्तृतीयांशाः	<b>५</b> ।२१०	तेषां त्ववयत्रान्सूक्ष्मान्	१।१६
ते चस्वा चैव राज्ञश्च	३।१३	तेषां त्रयाणां शुश्रूषा	२।२२६
ते चापि बाह्यान् सुबहून	१०।२६	तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु	३।२२२
ते तमर्थमपृच्छन्त	२। <b>१</b> ५२	तेषां दोषानभिष्याप्य	<b>ह</b> ।२६२
तेन चेदविवादस्ते	518२	तेवां न दद्याद्यदि तु	८।१८४
तेन तुल्यः स्मृतो राजा	४।८६	तेषां निष्ठातु विज्ञेया	<b>=</b> ।२२७
तेन ते प्रेत्य प्शुतां	३।१०४	तेषां वृत्तं परिणयेत्	७।१२२
तेन यद्यत्समृत्येन	७।३६	तेषां वेदविदो मूयुः	११।८४
तेन यायात्सता मार्ग	४।१७८	तेषां षड्बन्धुदायादा.	धारुप्रव
तेन सार्धं विनिश्चत्य	७।५६	तेषां सत्तमज्ञानाम्	११।४३
तेनानुभूयता यामीः	१२।१७	तेषां सर्वत्रगं तेजः	६।३२१
तेनायुर्वर्धते राज्ञः	७।१३६	तेपां सर्वस्वमादाय	७।१२४
तेनार्घं दृद्धिम् नित्वया	<b>51१</b> ५०	तेषां स्नात्वा विशुद्धधर्यं	६।६६
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा	३३। इ	तेषां स्वं स्वमभित्रायम्	७१४७
ते निन्दितैर्वर्तयेयुः	१०।४६	तेषु तेषु तु कृत्येषु	१।२६७
तेनैव कुत्स्नमाप्नोति	३।२८३	तेषु वर्भेषु त हस्त	३।२ <b>१</b> ६
तेनैव विप्रानासीनान	३।२ <b>१६</b>	तेषु सम्यग्वर्तमानः	२।५
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः	११।१८६	ते बोडश स्याद्धरणं	<b>८।१३</b> ६
ते पतन्त्यन्धतामिस्र	४।१६७	तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु	२।२२८
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते	७।२३	तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां	२।२३४
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्त		ते सम्यगुपजीवेयुः	१०।७४
ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमास		ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये	२।१०
तेऽस्यासात् कर्मणां तेषाम्	१२।७४	तेऽस्य गृह्याणि क्माणि	७१७८
तेम्योऽधिग्चछेद्विन्यं	अ६।७	तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्	७।५१
तेम्यो लब्धेन भैक्षेण	११।१२३	ते ह्योनं कुपिता हन्युः	६।३१३
ते वै सस्यस्य जातस्य	8186	तेजसानां मर्गीनां च	<b>५।१११</b>
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः	१२।१०६	तैरेव चावृतो भूतैः	<b>१</b> २।२०

	<u></u> :	
<b>इलोकाना</b> मु	भयपाक्त-ग्र	नकमाणका
7		A4

तैर्भू तैः स परित्यक्तः	१२।२१	त्रसरेणवोऽष्टी विश्वेषा	5183
तैः सार्षं चिन्तयेन्नित्यं	७।५६	त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां	५।१३७
तैस्तैरुपायैः संग्रह्य	5185	त्रिर्गाचिकेतः पञ्चाग्निः	३।१८५
तौ तु जातौ परक्षेत्रे	३।१७५	त्रिदण्डमेतन्निक्षप्य	<b>१</b> २। <b>१</b> १
तो धर्म पश्यतस्तस्य	१२।१६	त्रिपक्षादबुवन् साष्ट्रयम्	<b>८११०७</b>
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञी	51XE	त्रिपदा चैव सोवित्री	२।८१
तौर्विक वृथाट्या च	<b>৩১/৩</b>	त्रिम्य एव तु वेवेम्यः	२।७७
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः	८।४१८	त्रिरहस्त्रिनिशायां च	११।२२३
तं कानीनं वदेन्नाम्ना	६।१७२	त्रिराचामेदपः लानि चैव	२।६०
तं <b>कामजमरिक्थीयं</b>	<i>१</i> ४४।३	त्रिराचामेदपः शारीर <b>म्</b>	४।१३६
तं चेदम्युदियात्सूर्यः	२।२२०	त्रि रात्रमाहुरा <b>शोच</b> म्	ሂነፍዕ
तं देवनिर्मितं देशें	२।१६	त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा	११।८०
तं देशकाली शक्ति च	७। <b>१</b> ६	त्रिविधा त्रिविधेषां तु	१२।४१
तं प्रतीतं स्वधर्मेग	३।३	त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः	१२ ५१
तं मां वित्तास्य सर्वस्य	१।३३	त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन	२।४३
तं यत्नेन जयेल्लोभं	अ४।७	त्रिशत्कला मुहूर्तं स्यात्	१।६४
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्	७।१२	त्रिशद्वर्षोद्वहेत् कन्याम्	१३१३
तं राजा निर्धनं कृत्व।	१०।६६	त्रिषु वर्णेषु यानि स्युः	<b>८।१२४</b>
तं राजा प्रणयन् सम्यक्	७।२७	त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि	४। <b>१</b> ६३
तं शुश्रूषेत जीवन्तं	५।१५१	त्रिष्वप्रमाचन्तरेषु	२।२३२
तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्	११९४	त्रिष्वेतेष्वित कृत्यं हि	२।२३७
तं ह्यस्याहुः परं धर्म	४।१४७	त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति	३।२३४
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं	२।१२६	त्रीणि देवाः पवित्राणि	४।१२७
तां विवर्जयतस्तस्य	४।४२	त्रीणि वर्षाण्युवीक्षेत	0313
तांश्चारयित्वा त्रीन्क्रच्छान्	११।१६१	त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि	३।२३४
तां श्वभिः खादेयेद्राजा	<b>५।३७</b> १	त्रीण्याद्यान्याश्रितस्त्वेषां	७।७२
तां साघ्वीं विभूयान्नित्यं	१३।३	त्रीण्युत्तराणि क्रमशः	७।७२
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति	515X	त्रींस्तु तस्म।द्वविःशेषान्	३।२१५
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं	४।२५६	त्रैविद्यवृद्धान्विदुष:	७१३७
त्यजनपतितानेतान्	51३८६	त्रैविद्याः शुचयो दान्ताः	६।१८८
त्यजेदाश्वयुजे मासि	६।१५	त्रैविद्येम्यस्त्रयीं विद्यां	७।४३
त्रपु सीसं तथा लोहम्	१०।२	त्रैविद्योहेतुकस्तर्जी	१२।१११
त्रयरचाश्रमिणः पूर्वे	१२।१११	त्वग्मेदकः शतं दण्ड्यो	नारदर
त्रयारामिप चैतेषां गुरानां	त्रिष्ठु १२।३४	त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य	१।३
त्रयारगमिप चैतेषां गुरगानां	यः १२।३०	त्र्यब्दपूर्व श्रोत्रियाणां	२।१३४
त्रयाणामप्युपायानां	७।२००	त्रयव्यं चरे <b>द्वा</b> नियतः	११।१२८
त्रयाणामुदकं कार्यम्	<b>६।१</b> ८६	त्र्यवरा <b>परिषज्ज्ञेया</b>	<b>१२।११</b> २
त्रयोदशी च शेषास्तु	३१४७	त्र्यवरा वापि वृत्तस्याः	१२।११०
त्रयो धर्मा निवर्तन्ते	१०।७७	त्र्यवरैः साक्षिभिभव्यः	51६०
त्रयं सुविद्तिं कार्यं	१२।१०५	त्र्यंशं दायाद्वरेद् वित्रः	६।१५१
त्रयः परार्थे क्लिइयन्ति	<b>८</b> ११६६	त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षी वा	8313

त्र्यहेण शूद्रो भवति	१०।६२	दशमासांस्तु तृप्यन्ति	३।२७०
त्र्यहैहिको वाऽपि भवेत्	४।७	दशलक्षणको धर्मः	६।६१
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं	११।२१३	दशलक्षणकं धर्मम्	६१६४
त्र्यहं तूपवसेद् युक्तः	<b>११</b> ।१५६	दशलक्षणयुक्तस्य	१२।४
त्र्यहं न कीर्तयेद ब्रह्म	४।११०	दशलक्षरानि धर्मस्य	६१६३
त्र्यहं परंच नाश्नीयात्	११।२११	दशसूनासमं चक्रं	४।८४
त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायम्	११।२११	दश सुनासहस्राणि	४।८६
<b>द</b>		दश स्यानानि दण्डस्य	⊏।१२४
दक्षिणां दिशमाकांक्षन्	३।२४८	दशातिवर्तनान्याहु:	51२६०
दक्षिणाप्रवणं चैव	३।२०६	दशापरे तु क्रमशः	६।१६५
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ	४।४०	दशाब्दारुयं पीरसरुयं	२।१३४
दक्षिणामु च दत्तामु	51२०७	दज्ञावरा वा परिषद्यम्	१२।११०
दक्षिणेन मृतं शूद्रम्	प्राष्ट्र	दशाहं शावमाशीचं	प्राप्रह
वण्डव्यूहेन तन्मार्ग	७।१८७	दशी कुलं तु भुञ्जीत	७।११६
बण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः	७।१८	दस्युनिष्किययोस्तु स्वं	११।१८
दण्डगुल्कावशेषं च	<b>51</b> १५६	दह्यन्ते घ्मायमानानाम्	६।७१
दण्ड: सुप्तेषु जागति	७।१८	दातव्यं बान्धवैस्तत् स्यात्	⊏।१६६
वण्डस्य पातनं चैव	७।५१	दातव्यं सर्ववर्णेम्यो	2180
दण्डस्य हि भयात्सर्व	७।२२	दाता नित्यमनादाता	६।८
दण्डेनीय तमप्योषेत्	<b>६</b> ।२७३	दातारी नोऽभिवर्धन्तां	३।२५६
दण्डेनैव प्रसह्यैतान्	७।१०८	दातुर्भवत्यनयि	४।१६३
बण्डो हि सुमहत्तेजो	७।२८	तातुर्यंद् दुष्कृतं किञ्चिद्	३।१६१
दत्तस्येषोदिता धर्म्या	=15 <i>8</i> %	बातुन्त्रतिप्रहीतुञ्च	३।१४ <b>१</b>
दत्तानि ह्य्यकव्यानि	३।१७५	दानधर्मं निषेवेत	४।२२७
दत्तेन मासं तृष्यन्ति	३।२६७	दानप्रतिभुवि प्रेते	<b>८।१</b> ६०
वस्वा घनं तु शिष्येम्यः	<b>ह</b> ।२२३	दानेन वधनिणेकम्	११।१३६
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि	१७।३	दानं प्रतिग्रहं चैव	१।८८
ददौ स दश धर्माय	<b>ह।१</b> २६	दानं प्रतिग्रहश्चैव	१०।७४
दद्याच्च सर्वभूतानां	<b>E</b>   ३३३	दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्ड	514१
दिध मध्यं च शुक्तेषु	४।१०	दापयेद्धनिकस्यार्थमध	८।४७
दघ्नः क्षीरस्य तक्रस्य	<b>८।३२६</b>	दायाद्यस्य प्रदानं च	११।१८४
दन्तजातेऽनुजाते च	<b>ሂ</b> ነሂ=	<b>बाराग्निहोत्रस्</b> योगं	३।१७४
दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्नः	३।२५६	दाराधिगमनं चेव	१।११२
दर्शनप्रातिमाव्ये तु	<b>८।१६०</b>	दाराधीनस्तथा स्वर्गः	१।२८
दर्शनेन विह्नीनस्तु	६१७४	दासापराघतस्तोये	2180 ६
दर्शमस्कन्दयन्पर्व	६१६	दासवर्गस्य तत्पित्रये	३।२४६
दर्शेन चार्षमासान्ते	४।२५	दासाश्वस्यहर्ता च	८। ३४२
दञ्ज कामसमुत्वानि '	७।४५	दासीघटमपां पूर्णम्	११।१८३
दश व्वजसमी वेशो	४।८४	वास्यन्तु कारयेल्लोमात्	<b>८।४१</b> २
दश पूर्वान्परान्वंश्यान्	२।३७	दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ	<b>८।</b> ४१३
दशमं द्वादशं वापि	⊏।३३	दास्यां वा दासदास्यां वा	३७१।३

दाहयेदग्निहोत्रेष	४।१६७	वेवदानवगन्धर्वा	७।२३
दिवाकीतिमुदक्यां च	ሂነፍሂ	देवब्राह्मणसान्निघ्ये	5150
दिवाचरेम्यो भूतेम्यो	३।६०	देवराय् वा सपिण्डाद् वा	ह। ५६
दिवा चरेयुः कार्यार्थम्	१०।५५	देवराय प्रदातव्या	<b>७३</b> ।३
विवानुगच्छेद् गास्तास्तु	११।११०	वेवस्वं बाह्यणस्वं वा	११।२६
दिवा वक्तव्यता पाले	51२३०	देवानृषीन्मनुष्यांश्च	३।११७
दिवं गतानि विप्राणां	प्रा१५६	देवान्कुर्युं रदेवांश्च	ह।३१४
दीक्षितस्य कदर्यस्य	४।२१०	देवान्देवनिकायांश्च	१।३६
		देवान्पितृ रचार्चयित्वा	प्रा३२
दीप्यमानः स्ववपुषा	२।२३२	देवाइचैतान्समेत्योचुः	२।१५२
दीर्घाध्वनि यथादेशं	<b>८।४०</b> ६	देवेम्यस्तु जगत्सर्वं	३।२०१
दीर्घाल्लघ्रंचैव नरान्	७।१६३	देशधर्माञ्जातिधर्मान्	१।११८
दुःखभागी च सततं	४।१५७	देशानलब्घांल्लिप्सेत	દારપ્રશ
दुखं सुमहदाप्नोति	४।१६७	देशं रूपंच कालंच	5187
दुः खिता यत्र दश्येरन्	१।२८८	देहशुद्धि प्रवस्यामि	प्राप्त
दुदोह यज्ञसिद्धचर्यं	<b>१</b> 1२३	देहादुरक्रमएां चास्मात्	६।६३
दुराचारो हि पुरुषो	४।१५७	देहेषु च समुत्पत्ति	ફો ફેપ્ર
दुष्टसामन्तहिस्रश्च	81३१०	दैत्यदानदयक्षाणां	31886
बुष्येयुः सर्ववर्णाञ्च	७।२४	दैवन में ए। युक्तो हि	३।७४
दुहित्रा दासवर्गेण	४।१८०	वैवतान्यभिगच्छेत्	४।१५३
दूत एव हि संघत्ते	<b>હો</b> ६ ફ	<b>वैव</b> पित्र्यातिथेयानि	३।१८
दूतं चैव प्रकुर्वीत	७।६३	दैवाद्यन्तं तदीहेत	३।२०४
दूतं सप्रेषणं चैव	७।१५३	दैविकानां युगानां तु	१।७२
दूतस्तस्कुरुते कर्म	७।६६	दैवे कर्मणि पित्र्ये वा	३।२४०
दूरस्थी नार्चयेदेनं	२।२०२	देवे राज्यहनी वर्ष	१।६७
<b>दू</b> रादादसथान्मूत्रं	४।१५१	दैवे हविषि पित्र्ये वा	३।१६६
दूरावाहृत्य समिषः	२।१८६	दैवोढाजः मृतश्चैव	३।३८
दूरादेव परीक्षेत	३।१३०	दैवं हि पितृकार्यंस्य	२।२०३
दूषयेच्चास्य सततं	७।१६५	दैहिकानां मलानां च	५।१३४
दूषितं केशकीटैश्च	प्राष्ट्रस्	दोषो भवति विप्राणां /	१०।१०३
दूषितोऽपि चरेद् धर्मम्	६।६६	दौर्बल्यं स्याप्यते राज्ञः	<b>⊏।१७</b> १
वृदकारी मृददन्तः	४। २४६	दौहित्र एव च हरेत्	१ ६ १।३
बृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्	६।४६	दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं	3 8 9 1 3
दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च	रा४४	दोहित्रौ द्यालिलं रिक्थम्	<b>६।१३</b> २
देवकार्याद् द्विजातीनां	२।२०३	दौहित्रं विट्पति बन्धु	३।१४८
<b>देव</b> ताऽतिथिमृत्यानां	३।७२	<b>द्यूतपानप्रसक्ताइच</b>	१२।४५
देवतानां गुरो राज्ञः	४।६३०	द्यूतमेतत् पुरा कल्पे	<b>ह</b> ।२२७
देवताम्यस्तु तद् हुत्वा	६।१२	द्युतं च जनवादं च	३।१७६
देवताभ्यर्चनं चैव	२।१७६	द्यूतं समाह्वयं चैव यः	हार२४
देवत्वं साह्तिका यान्ति	१२।४०	ग्रुतं ममाहृयं चैव राजा	<b>ह।</b> २२ <b>१</b>
देवदत्तां पतिर्मार्यामु	<b>ह</b> ।हप्र	धीर्भमिरापी हृद्यं	5155
		द्रवाणां चैव सर्वेषां	५ <b>११५</b>

द्रय्याणामल्पसाराणाम्	११।१६४	ध	
द्रव्याणां स्थानयोगीश्च	E1337	धनवन्तं प्रजावन्तं	३।२६३
द्रव्याणि हिस्याद्यी यस्य	51225	घनानि तु यथाशक्ति	
द्रव्यार्जनं च नाशं च	१२।७६	धनिनं वाऽप्युपाराघ्य	१०।१२१
द्रोहभावं कुचर्यां च	£1 <b></b> \$0	घनुःशतं परीहारो	दा <b>२३७</b>
दृन्द्वरयोजयेच्चेमाः	शिर्६	धनुःशराणां कर्ता च	31840
द्वयोरप्येतयोर्म्लं	98ાઇ	धनेन वैश्यशूद्रौ तु	११।३४
द्वयोद्धयाणां पञ्चानां	७।११४	धनोष्मणा पच्यमानाः	ह।२३१
द्वयोहि कुलयोः शोकं	£1X	धनं तत्पुत्रिकाभर्ता	E183X
द्वापरे यज्ञमेवाहुः	शन्द	धनं यो बिमृयाद् भ्रातुः	<b>ह।१४</b> ६
द्वाम्यामेक च्चतुर्थस्तु	. કાર	धनं वा जीवनायालं	११।७६
द्वाराणां चैव भंकार	<b>ह</b> ।२५६	धन्यं यशस्यमायुष्यं	३।१०६
द्वावेव वर्जयेन्नित्यं	२।१२७	धन्वदुर्गं महीदुर्गम्	७।७०
द्विकं त्रिकं चतुष्कं च	दा <b>१</b> ४२	धरणानि दश तेयः	<b>८।१३७</b>
द्विकं शतं वा गृहत्वीयाद्	न।१४१	धर्म एव हतो हन्ति	-1 <b>१</b> ५
द्विकं शतं हि गृह्हानो	=1888	धर्मक्रियाऽऽत्मचिन्ता च	१२।८३
द्विगुणा वा चतुःषष्टिः	८।३३८	धर्मित्रयाऽत्मचिन्ता च	१२।३१
द्विजातय इवेज्याभिः	<b>८।३११</b>	धर्मनं च कृतनं च	७।२०६
द्विजातयः सवर्णासु	१०।२०	धर्मतोऽधर्मतश्चैव	१२।२३
द्विजातिप्रवरो विद्वान्	३।१६७	धर्मध्वजो सदाः लुब्धः	४।१९५
द्विजाति मुख्यवृत्तीनां	३।२८६	धर्म् नैपुण्यकामानां	४।१०७
द्विजातीनां च वर्णानां	दा३४८	धर्म प्रधानं पुरुषं	४।२४३
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिः	<b>दा३४</b> १	धर्मप्रवक्ता नुपतेः	5120
द्वितीयमायुषो भागं	प्रा१६६	धर्ममूलं निषेवेत	<b>૪</b> ૧૧૫૫
द्वितीयमायुषो भागं	४।१	धर्मस्यः कारणैरेतैः	<b>८।</b> ४७
द्वितीयमेके प्रजनम्	<b>ह</b> ।६ <b>१</b>	धर्मंस्य परमं गुह्य <sup>ः</sup>	१२।११७
द्वितीये हस्तचरणी	<b>१।२७७</b>	धर्मस्य ब्राह्मणी मूलमू	११।८३
द्वितीयं तु पितुस्तस्याः	618,80	धर्मस्याव्यभिचारार्थं "	<b>=</b> 1१२२
द्विषा कृत्वाऽऽत्मनी देहं	<b>१</b> ।३२	धर्माद्विचलितं हन्ति	७।२८
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं	७।१६७	धर्मार्थप्रभवं चैव	६।६४
द्विविधास्तस्करान् विद्यात्	धारप्र६	धर्मार्थं चैव विप्रेम्यो	<b>3</b> e10
द्विशतं तु दम: कार्यः	513E5	धर्मार्थं येन दत्तंस्यात्	<b>5</b> 1२१२
द्विषता हि हविभू क्तं	३।१४४	धर्मार्थाव् च्यते श्रेयः	२। <b>२२</b> ४
द्विषदन्नं नगर्यन्न	४।२१३	धर्मार्थी यत्र न स्यातां	२।११२
द्वे कृष्णले समध्ते	5।१३४	धर्मासनमधिष्ठाय	5123
द्वेषं दम्भं च मानं च	४।१६३	धर्मेण च द्रव्यवृद्धाः	E1333
द्वैषीभावं संश्रयं च	७।१६०	धर्मेण व्यवहारेण	3812
द्वौ तु यौ विवदेयाताम्	<b>६।१६१</b>	धर्मेण हि सहायेन	४।२४२
द्दी देवे पितृकार्ये त्रीन्	३।१२५	धर्मेणाधिगतो यैस्तु	१२।१०६
द्वी मासी मत्स्यमासेन	३।२६८	धर्मेणापि नियुक्तायां	३।१७३
द्वचे कान्तरासु जातानां	१०१७	धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः	१०।१२७
		धर्मीपदेशं दर्पेण	<b>८।</b> २७२

	-	_ /	
घमों विद्यस्त्वधर्मेण	<b>८।१</b> २	न कुर्वीतात्मनस्त्राएां	११।११३
धर्मं चार्प्यसुखोदकं	४।१७६	न कूटैरायुषैर्हन्यात्	७३।७
धर्मं जिज्ञासमानानां	२।१३	नक्तं चान्नं समदनीयात्	६।१६
धर्म शनैः सञ्चिनुयाद्	४।२३८	नक्षत्राणि च दैत्याश्च	१२।४८
धर्मं शास्वतमाश्चित्य	515	नगरे नगरे चैकं	७।१२१
<b>धम्यँ</b> विभागं कुर्वीत	हा१५२	नग्नो मुण्डः कपालेन	<b>F313</b>
भात्रैव सृष्टा ह्याद्याःच	४।३०	न ग्रामजातान्यातींऽपि	६।१६
धाना मत्स्यान्पयो मांसं	४।२५०	न च क्षुधाऽस्य संसीदेत्	७।१३३
<b>धान्यकु</b> प्यपशुस्तेयम्	११।६६	न च छन्दांस्यधीयीत	३।१८८
धान्यचौरोऽज्ञहीनत्वं	११।५०	न चतत्कर्मकुर्वणः	राद४
धान्यदः शाइवतं सौख्यं	४।२३२	न च द्विजातयो ब्रूयुः	३।२३६
धान्यानामष्टमो भागः	७११०	न च नग्नः शयीतेह	४।७५
धान्यान्नघनचौर्याणि	११।१६२	न च पूर्वोपरं विद्यात्	नाप्र६
धान्येऽष्टमं विद्यां शुल्कम्	१०।१२०	न च प्राणिवघः स्वर्ग्यः	प्रा४८
धान्ये सदे लये बाह्ये	<b>⊏।१५</b> १	न च प्रापितमन्येन	८।४३
धान्यं दशम्यः कुम्मेम्यो	51३२०	न च योनिगुणान्कांश्चित्	७६१३
घान्यं वासांसि वाशाकं	२।२४६	न च वासांसि वासोभिः	<b>८।३</b> ६६
षान्यं हृत्वा भवत्याखुः	१२।६२	न च वैश्यस्य कामः स्यात्	<b>ह</b> ।२३८
धारिम्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठ <u>ाः</u>	१२।१०३	न च शोचत्यसम्पत्तौ	१२।३६
धिग्वणानां चर्मकार्यं	३०।४९	न च स्वं कुरुते कर्म	१।५५
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः	६।६२	न च हन्यात्स्यलारूढं	931७
ष्टतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्	६।६२	न च हव्यं वहत्यग्नि:	931७
धृतिर्भेक्ष्यं कुसीदं च	१०।११६	न चातिमृच्छति क्षिप्रं	<b>ना</b> १ <b>१५</b>
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो	<b>८।१४६</b>	न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यः	<b>हा</b> २१४
ध्यानयोगेन संपश्येत्	६।७३	न चादेयं समृद्धोऽपि	51890
घ्यानिकं सर्वं मैवैतत्	६।८२	न चाधेः कालसंरोधात्	⊏।१४३
ध्यायत्यनिष्टं यत् किञ्चित्	धार१	न चानिसृष्टो गुरुणा	२।२०५
ध्रियमार्गे तु पितरि	३।२२०	न चापि पश्येदशुचि	४।१४२
ध्वजाहृतो मक्तदासः	≒।४१५	न चालिप्यत पापेन	१०।१०५
_		न चासारंन चन्यूनं	51२०३
न		न चास्योपदिशेद्धमं	४।८०
न कथञ्चन दुर्योनिः	१०।५६	न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयात्	5125
न कदाचन कुर्वीत	४।४८	न चेमं देहमाश्रित्य	६।४७
न कदाचिद् द्विजे तस्मात्	४।१६६	न चैनं पादतः कुर्याद्	४।५४
न कन्यायाः पिता विद्वान्	३।५१	न चैनं भुवि शक्नोति	७।६
न कर्णिभिनीपि दिग्धैः	७।६०	न चैनं प्रलिखेद् भूमि	४।५५
न कर्म निष्फलं कुर्या <b>द्</b>	४।७०	नचैवात्यशनं कुर्यात्	२।५६
न कश्विद् योषितश्शक्तः	6180	न <b>चैवात्राशयेत्क</b> ञ्चिद्	३।८३
न कार्पासास्थि न तुषान्	४।७८	नच्ैवास्यानुकुर्वीत <sup>े</sup>	२।१६६
न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य े	२।२०६	नचैवैनां प्रयच्छेत्तु	3213
न कुर्वीत वृथा चेष्टां	४।६३	नचोत्पातनिमित्ताम्यां	६।५०
-			

नचोदके निरीक्षेत	४।३८	न दोषं प्राप्नुयार्तिकचित्	<b>८।</b> ३४४
न छिन्द्यान्नखलोमानि	४।६६	न दृष्टदोषाः कर्त्तव्याः	≒।६४
न जातु कामः कामानां	राह४	न द्रव्यारगामविज्ञाय	४।१८७
न जातु बाह्यरां हत्यात्	<b>५</b> ।३५०	न द्वितीयश्च साघ्वीनां	४।१६२
नजीर्णदेवायतने	श्राप्ट	न धमस्यापदेशेन	४।१६८
न जीर्णमलवद्वासा	४।३४	न नदीतीरमासाद्य	४।४७
नटइच करणइचैव	१०।२२	न नामग्रहणादेव	६।६७
न तत्पुत्रैः भंजेत्सार्धं	३०५१३	न नावं न खरं नोष्ट्रं	४।१२०
न तत्फलमवाप्नोति	प्राप्र्र	न निवर्तेत संग्रामात्	৩।५७
न तत्र प्रणयेद्ण्डं	<b>८।२३८</b>	न निर्वेपति पञ्चानो	३।७२
न तत्र विद्यते किञ्चित्	<b>८। <b>१</b>८३</b>	न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः	33913
न तथैतानि शक्यन्ते	२।६६	न निर्धान्ते परिश्रान्तः	3318
न तस्मिन् घारयेद्दण्डं	११।२१	न निष्कयविसर्गाम्याम्	<b>ह।</b> ४६
न तस्य निष्कृतिः शक्या	२।२२७	न नृत्येदयवा गायेत्	४।६४
न तस्य वेतनं देयं	=।२१७	न पंस्यहिप्रेष्यनाम्नीं	अहा
न ताडयेत्तृर्णेनापि	४।१६६	न पश्येत्प्रसदन्तीं च	४।४४
न ताहवां मक्त्येनी	४।३४	न पाणिपादचपलः	४। १७७
न तापसैर्बाह्यणैर्वा	६।५१	न पादेन स्पृशेदन्नं	२।२२६
न तिष्ठति तुं यः पूर्वा	२।१०३	न पादौ घावयेत्कांस्ये	४।६५
न तु नामापि गृह्णीयात्	५।१५७	न पाखण्डिगणाक्रान्ते	४।६०
न तेन वृद्धो मवति	२।१५६	न पुत्रदारा न ज्ञातिः	३।२३६
न तैरभ्यननुज्ञातो	२।२२६	न पुत्रभागं विषमं	<b>हा</b> २१५
न तैः समयमन्बिच्छेत्	१०।५३	न पूर्व गुरवे किञ्चित्	२।२४५
न तौ प्रतिहितान्धर्मीन्	१०।७८	न पैतृयज्ञियो होमः	३।२८२
न तं नयेत साक्यं तु	51 <b>१६</b> ७	न फालकृष्टमश्नीयात्	६।१६
न तं भजेरन्दायादाः	<b>ह</b> ।२००	न फालकृष्टे न जले	४।४६
न तं स्तेना न चामित्राः	७।८३	न वकव्रतिके विप्रे	४।१६२
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च	३७।३	न वित्रुयान्तृपो घर्मं	51 <b>3</b> 60
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैः	38188	न ब्राह्मणक्षत्रिययोः	३।१४
न त्वेव ज्यायसी वृत्ति	१०।६५	न बाह्यणवधाद भूयात्	८।३८१
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः	४।१७३	न ब्राह्मणस्य त्वतिथिः	३।११०
न त्वेव तुवृथा हन्तुं	४।३७	न बाह्यणो वेदयेत	११।३१
नत्वेवाधौं सोपकारे	टा१४३	न बाह्यणं परीक्षेत	३११४६
न दस्वा कस्यचित् कन्याम्	१७।३	न मसयिति यो मांसं	४।४०
न दद्याद्यदि तस्मात्सः	नार्दह	न मक्षयेदेकचरान्	प्रार्०
न दर्शेन विना श्राद्धं	३।२८२	न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत	४।६५
न दिवीन्द्रायुधं रुष्ट्वा	४।५६	न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैः	४।६७
नदीकूलं यथा वृक्षी	६।७५	न भीतं न परावृत्ते	₹३१७
नदीतीरेषु तद्विद्यात्	ना४०६	न भुक्तमात्रे नाजीर्णे	४।१२१
नदीनां वापि संभेदे	ना३४६	न भुञ्जीतोद्घृतस्नेहं	४।६२
नदीषु देवसातेषु	४।२०३	न मोक्तव्यो बलादाधिः	ना१४४
• •	• •		-

न मोजनार्थं स्वे विप्रः	३।१०६	न वृथा शपयं कुर्यात्	51 <b>१</b> ११
न भ्रातरो न पितरः	ર્શે १८५	न वृद्धो न शिशुनैको	<b>८।६</b> ६
न माता न पिता न स्त्री	51३58	न शैक्यो न्यायतो नेतुं	० ६ १७
न मातृतो ज्येष्ठ्यमस्ति	हा१२५	न शूद्रराज्ये निवसेत्	४।६१
न मांसभक्षणे दोषः	प्राप्रह	न श्रुहाय मति दद्यात्	४।८०
न मित्रकारणाद्राजा	দ। ই <b>४</b> ७	न शूद्रे पातकं किञ्चित्	१०।१२६
न मुक्तकेशं नासीनं	9 ३।७	न शोचन्ति तुयत्रैता	३।५७
न मूर्जैनीवलिप्तैश्च	४।७६	न श्मश्रुणि गतान्यास्यं	र्रा१४१
न मूत्रं पथि कुर्वीत	<b>አ</b> ነጸአ	नश्यतीषुर्यथा विद्धः	४।४३
न मृल्लोष्टं च मृद्नीयात्	४१७०	नश्यतो विनिपाते तौ	<b>८।१</b> ८५
न यज्ञार्थं घनं शूद्रात्	११।२४	नश्यन्ति हब्यकव्यानि	७३१६
नयेत्तचाऽनुमानेन ं	2188	न श्रमार्त्तो न कामार्त्ती	<b>८</b> ।६७
नरकाकखराणां च	११।१५६	न श्राद्धे मोजयेन्मित्रं	३।१३८
नरके हि पतन्त्येते	११।३७	न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो	ना६४
नरकं कोलसूत्रं च	४।८८	नष्टं देवलके दत्तं	३। <b>१</b> ८०
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति	४।६१	नष्टं विमर्ष्टं कुमिमिः	=।२ <b>३</b> २
न राज्ञः प्रतिगृह्धीयात्	४।८४	न स राज्ञा नियोक्तव्यः	दा <b>१</b> द६
न राज्ञामघदोषोऽस्ति	प्राष्ट्र	न स राज्ञाऽभियोक्तव्यः	नार०
नराइवोष्ट्रवराहैइच	३३।११६	न ससस्वेषु गर्तेषु	४।४७
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति	<b>E1</b> 7 <b>X</b> 3	न साक्षी नुपतिः कार्ग्यो	≒। <b>६</b> ५
नर्सवृक्षनवीनाम्नीं	318	न साहसिकदण्डघ्नी	दा३८६
न लङ्क्षयेद्वत्सतन्त्रीं	४।३८	न सीवन्नपि धर्मेण	४।१७१
न लोकवृत्तः वर्तेत	४।११	न सीदेत्स्नातको विप्रः	४१३४
न वर्षयेदघाहानि	ሂነፍሄ	न सुप्तं न विसन्नाहं	७।६२
नवान्नमद्यान्मांसं च	४।२७	न संमावां परस्त्रीमिः	51३६१
न वारयेद् गां घयन्तीं	3) प्र	न संवसेच्च पतितैः	3018
न वार्यपि प्रयच्छेत्	४।१६२	न संसर्गं व्रजेत्सिद्धः	११।४७
न वासोभिः सहाजस्र	४।१२६	न संहताम्यां पाणिम्यां	४।५२
न विगहाँ कथां कुर्यात्	४।७२	न सांपरायिकंतस्य	११।३०
न विण्मूत्रमुदीक्षेत	<b>४</b> ।७७	न स्कन्दते न व्यथते	७।८४
न विद्यमानेष्वर्थेषु	४।१५	न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा	४।१२६
न विप्रदुष्टभावस्य	२।६७	न स्पृशेच्चैतदु चिछ्टो	४।=२
न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु	रा४०४	न स्पृशेत्पाणिनोध्ख्रिष्टः	४।१४२
न विन्नूयान्नुपो धर्म	51३६०	न स्याद्वाक्चपलर्ज्वव	४।१७७
न विवादे न कलहे	४।१२१	न स्वर्गाच्च्यवते लोकात्	518०३
न विवाहविघावुक्तं	६।६५	न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं	४।१४७
न विस्मयेत तपसा	४।२३६	न स्वामिना निसृष्टोऽपि	218 <b>6</b> 8
नवेनानचिता द्यस्य	४।२८	न हायनैनं पलितैः	२।१५४
न वै कन्या न युवितः	3 7 1 3 8	न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं	८।४१७
नवैतान् स्नातकान् विद्यात्	१०।२	न हि दण्डाद् ऋते शक्यः	<b>ह</b> ।२६२
न वै स्वयं तदइनीयात्	३।१०६	न हि शूद्रस्य यज्ञेषु	११।१३

न हि हस्तावसृग्दिग्घौ	३।१३२	नानुशासनवादाभ्यां	६।५०
न हिस्याद् बाह्मणान्गाश्च	४।१६२	नानुगुश्रुम जात्वेतत्	००१।३
न हीदृशमनापुष्यं	४।१३४	नान्नमद्यादेकवासा	प्राप्त
न होढेन विना चौरम्	६।२७०	नान्यदन्येन संसृष्टः	<b>८</b> ।२०३
न हुष्यति ग्लायति वा	२।६⊏	नान्यस्मिन् विषवा नारी	<b>ह</b> ।६४
न ह्यनघ्यात्मवित्कश्चित्	६।८२	नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह	प्रा१६२
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म	२।१७१	नापृष्टः कस्यचिद् बूयात्	२।११०
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां	<b>८।२२६</b>	नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा	४।५६
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां	४।४⊏	नाबहा क्षत्रमृष्नोति	<b>६।३</b> २२
नाक्रामेत्कामतरुखायां	४।१३०	नाबाह्मणे गुरी शिष्यः	२।२४२
नाक्षः क्रीडेत्कदाचित्त्	४।७४	नाभिनन्देत मरणम्	६।४५
नागान्सपन्सिपर्णाश्च ँ	१।३७	नाभिवाद्यः स विदुषा	२।१२६
नाग्निर्ददाह रोमापि	≂।११६	नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म	२।१७२
नाग्नि मुखेनोपघमेत्	४।५३	नामजातिष्रहं त्वेषाम्	≒।२७१
नाङ्क्रया राज्ञा ललाटे स्युः	६।२४०	नामधेयस्य ये केचित्	२। <b>१</b> २३
नाज्ञातेन समं गच्छेत्	४।१४०	नामधेयं दशम्यां तु	२।३०
नाञ्जयन्ती स्वके नेत्रे	<b>ጸ</b> ነጻጻ	नामुत्र हि सहायार्थ	४।२३६
नाततायिवधे दोषो	513 <b>५</b> १	नामेघ्यं प्रक्षिपेदग्नी	<del>VI</del> X3
नात्तादुष्यत्यदन्नाद्यान्	4130	नाम्नां स्वरूपभावो हि	२।१२४
नातिकल्यं नातिसायं	४1880	नायन्त्रितस्त्रवेदोऽपि	२।११८
नातिप्रगे नाति सायं	४।६२	नायुषव्यसनप्राप्तं	<b>इ</b> ३१७
नातिसांवत्सरीं वृद्धि	⊏।१५३	नायुष्यमानं पश्यन्तं	७।६२
नात्मानमवमन्येत	४।१३७	नारं स्पृष्ट्वाऽस्यि सस्नेहं	४।८७
नात्रिवर्षस्य कर्त्तव्या	४।७०	नारि न मित्रं यं विद्यात्	३।१३८
नाददीत नृपः साधुः	<b>६।२४३</b>	नारी यानानि वस्त्रं वा	३।४२
नादण्डघो नाम राजोऽस्ति	<b>८।३३</b> ४	नारुन्तुदः स्यादातीऽपि	२।१६१
नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं	४।२२३	नार्तेनाप्यवमन्तव्या	२।२२४
नाद्यादविधिना मांसं	メリミミ	नार्तो न मतो नोन्मतो	<b>⊏।६७</b>
नाघर्मश्चरितो लोके	४। १७२	नार्नोऽप्यपवदेद्विप्रात्	४।२३६
नाधर्मेणागमः कश्चित्	१। ८ १	नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता	=।६४
नाधार्मिके वसेद् ग्रामे	४१६०	नालोमिकां नःतिलोमां	३।८
नाधिक दशमादद्यात्	<b>६।१५४</b>	नावमन्येत वै भूष्णुः	४।१३५
नाधीयीत इमज्ञानान्ते	४।११६	नाविनीतैव जेद् धुर्यैः	४।६७
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा	४।११२	नाविस्पष्टमधीयीत	3318
नाषीयीताश्वमारूढः	४।१२०	नावेदविहितां हिंसां	メルス
नाध्यषीनो न वश्तव्यो	<b>⊏।६६</b>	नाशयन्त्याशु पापानि	११।२४५
नाध्यापनाद् याजनाद् वा	१०।१०३	नाइनन्ति पित रस्तस्य	४।२४६
नाना रूपाणि जायन्ते	१।३८	नाइन्ित पितृदेवास्तत्	३।१८
नानाविघानां द्रव्याणां	४।११०	नाइनीयाद्भार्यया सार्ध	えりえ
नानिष्ट्वा नवसस्येष्टघा	४।२७	नाइनीयात्सन्धिवेलायां	४।५५
नानुरोघोऽस्त्यनघ्याये	२।१०५	नाश्रोत्रियतते यज्ञे	४।२०५

**X** FOP

नासीनो न च भुञ्जानो	२।१६५	निपानकर्तुः स्नात्वा तु	४।२०१
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च	४।१६३	निबध्नीयात्तथा सीमां	≒I२५५
नास्ति स्त्रीणां किया मन्त्रैः	<b>६।१</b> ८	निमज्जतश्च मत्स्यादान्	प्रा१३
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो	प्रा१५५	निमन्त्रयेत त्र्यवरान्	३।१८७
नास्फोटयेन्न च क्वेडेत्	४।६४	निमन्त्रितान् हि पितरः	३।१८६
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे	४।२६	निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये	३।१८८
नास्य कार्योऽग्नि संस्कारः	प्राइह	निमेषा दश चाष्टी च	१।६४
नास्य छिद्रं परो विद्यात्	७।१०५	निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानात्	२।२२०
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति	१७।१२६	नियतात्मा हविष्याशी	११।२ <b>१</b> ८
नास्त्रमापातयेज्जातु	३।२२६	नियतो वेदमम्यस्य	६।६५
निक्षिप्तस्य <b>धनस्यैव</b>	<b>८।१</b> ६६	नियम्य प्रयतो वाचमभि	२।१८४
निक्षेपस्यापहरणम्	११।५७	नियम्य प्रयतो वाचं संवी	3818
निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समम्	51883	नियम्य प्राञ्जीलस्तिष्ठेद्	२।१६२
निक्षेपस्यापहर्तारं निक्षेप्तारम्	51860	नियुक्तस्तु यथान्यायं	प्राइप
निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु	51855	नियुक्तायामवि पुमान्	<b>६</b> ।६४८
निक्षेपोपनिषी नित्यं	51854	नियुक्ती ती विधि हित्वा	११६३
निक्षेपो यः कृतो येन	<b>८</b> ।१७४	नियोजयत्यपत्या <b>र्थं</b>	१।६⊏
िक्षेप्योऽयोमयः शङ्कः	51208	निरन्वयं भवेत्स्तेयं	<b>८।३३</b> २
निगूढचारिणश्चान्यान्	<b>ह</b> ।२६०	निरन्वये शतं दण्डः	<b>८।३३</b> १
निगृह्य दापये <del>च्च</del> ीनं	51220	निरन्वयोऽनपसरः	वा१६५
निग्रहेण हि पापानाम्	<b>51</b> ३११	निरये चैव पतनं	६।६१
निग्रहं प्रकृतीनां च	७।१७५	निरस्य तु पुमाञ्खुक्रम्	४।६३
नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणाम्	प्रा१३०	निरादिष्ट्यन <del>श्चेतु</del>	<b>८।१६</b> २
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्	रार्ट्ड	निरिन्द्रिया <b>ह्यम</b> न्त्राश्च	<b>६।१</b> ८
नित्यमुद्येते <b>दण्ड</b> स्य	७।१०३	निरुच्यमानं प्रश्नं च	51 <u>4</u> 4
नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्	७११०२	निरोधनेन बन्धेन	<b>८</b> ।३१०
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः	अप्राष्ट	निषति भूमिचलने	४।१०५
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत	४।१६	निर्देया निर्नेमस्काराः	3  🗦
नित्यं शुद्धः कारुहस्तः	५।१२६	निर्दिष्टफलभोक्ता हि	७।१४४
नित्यं संवृतसंवार्यः	७।१०२	निर्देशं ज्ञातिमरणम्	४।७७
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः	518१	निर्भवन्तु भवेद्यस्य	६।२५५
नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्यात्	२।१७६	निर्मलाः स्वर्गमायान्ति	51885
नित्यानध्याय एव स्यात्	४।१०७	निर्लेषं काञ्चनं भाण्डम	४।११२
निधीनां तु पुराणानां	3F12	निर्वर्तेतास्य यावद्भिः	७।६१
निनीषुः कुल मुत्कर्षं	४।२४४	निवृत्तचूडकानां तु	४१६७
निन्दितम्यो घनादानम्	११।६६	निह्व त्ये तु वती प्रेतात्	प्राहर
निन्दितेऽहनि सायाह्ने	११।१८२	निवर्तन्ते द्विजादीनां	<b>११।१</b> ५१
निन्दितैनिदिता नृणों	३।४२	निवर्त्तेरॅंश्च तस्मात्तु	११।१८४
निन्दास्बव्टासु चान्यासु	३।४०	निवेद्य गुरवेऽइनीयात्	२।५१
निन्दीहि लक्षणैर्युक्ता	११।५३	निवृत्तं सेवमानस्तु	१२।६०
निन्धैव सा भवेल्लोके	४।१६३	निःश्रेयसकरं कर्म	<b>१</b> २।८२
		नि श्रेयसं कर्मणां च	१।११७

#### मनुस्यृती

निःश्रेयसं धर्मविधि	११।२६६	नोत्पावयेत्स्वयं काव्यं	<b>६</b> ४।
निवादस्त्री तु चण्डालात्	35108	नोत्सङ्गे भक्षयेद्भस्यान्	४।६३
निषादी मार्गवं सूते	१०।३४	नोदक्योऽभिभाषेत	४।५७
निषादः शूद्रकन्यायां	१०।५	नोबाहरेबस्य नाम	33815
निषद्धो भाषमाणस्तु	दारें इ	नोद्वहेत्कपिलां कन्यां	३।५
निषेकादिशमशानान्तः	२।१६	नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु	शहप्र
निषेकावीनि कर्मारेण	२।१४२	नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या	5120X
निष्कामं ज्ञानपूर्वे चु	<b>१</b> २158	नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि	8180
निष्पद्यम्ते च सस्यानि	<b>ह</b> ।२४७	नोपयच्छेत तां प्राज्ञः	३।११
निसर्गेजं हि तत्तस्य	८।४१४	नोपसृष्टं न वारिस्थं	४।३७
निस्तारयति दुर्गाच्च	31€	नोपेक्षेत क्षणमपि	ट1ई४४
निःश्रेयसकरं कर्म	<b>१</b> २।=२	न्यस्तशस्त्रा महाभागा	३।१६२
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यः	११।२	न्युप्य पिण्डान्ततस्तांस्तु	३।२१६
नीचं शय्यासनं चास्य	२।१६=	_	
नीहारे बाएाशब्दे च	४।११३	प	
नुर्णामकृतचूडानाम्	प्राह्	पक्तिडष्टघोः परं तेजः	१२।१२०
नुदुर्गं गिरिदु <sup>न</sup> ं वा	७।७०	पक्वान्नानां च सर्वेषां	51378
नृपती कोशराष्ट्रे च	७।६५	पक्षान्तयोविप्यश्नीयात्	६।२०
नृपाणःमक्षयो <b>ह्येषः</b>	७।५२	पक्षिगन्धौषधीनां च	११।१६=
नृयजं पितृयज्ञं च	<b>४।२</b> १	पक्षिगां पोषको यश्च	३।१६२
नृन्प्रशंसत्यजस्रं य	१०।३३	पक्षिजग्धं गश्राह्मातम्	પ્રા <b>શે</b> રપ્ર
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं	४।३७	पञ्चकृष्णलको माषः	८।१३४
नेत्रवक्त्रविकारैश्च	<b>८।२</b> ६	पञ्च बलुप्ता महायज्ञा	315 ह
नेहेतार्थाग्प्रसङ्घेन	४।१५	पञ्च पदवनुते हन्ति	5185
नैकप्रामी एमति यि	३।१०३	पञ्चभ्य एवं मात्राभ्यः	१२।१६
नैकः प्रपद्येताघ्वानं	४।६०	पञ्चयज्ञविघानं च	३।६७
नैकः सुप्याच्छ्रन्यगेहे	४।५७	पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे	८।४०२
नैता रूपं परीक्षन्ते	१११३	पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा	११।१४७
नैतेरपूर्तविधिवद्	२।४०	प <del>ञ्च</del> सूना गृहस्थस्य	३।६८
नैत्यके नास्त्यनघ्यायः	<sup>.</sup> २। <b>१०६</b>	पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः	まりそれ
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्	२।२१६	पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु	२।१२७
नैन: किञ्चिदवाप्नोति	१३।३	पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके	⊏।३२२
नैऋरतीं दिशमातिष्ठेत्	११।१०४	पञ्चाशत्तु भवेद् दण्डः	<b>51</b> २६७
नैवं कुर्या पुनरिति	१ <b>१</b> ।२३०	पञ्चाशत् बाह्यणी दण्ड्यः	<b>८।२६</b> ८
नैवाहं पैतृकं रिक्थं	६।१४४	पञ्चाशाद्भाग ब्रादेयो	७।१३०
नैष चारणदारेषु	<b>८।३६</b> २	पञ्जेतान्यो महायज्ञान्	३।७१
नैःश्रेयसिमदं कर्म	१२।१०७	पञ्चेतान्विस्तरो हन्ति	३।१२६
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं	3 F <b>9</b> 10	पणानां ह्वे शते सार्थे	<b>८।१३</b> ८
नोच्छिष्टं कस्यविद्देशात्	२।५६	पणो देयोऽवकृष्टस्य	७।१२६
नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्याः	प्रा१४१	पर्णं यानं तरे वाप्यं	<b>८</b> ।४०४
नोत्पादकः प्रजाभागी	६।४८	पतत्यज्ञानतो विप्रः	११।१७५

इलोकानामभय	र्रक्ति-श्रनुक्रमणिक	τ
*********	*************	•

• •			• •.
पतस्त्रिणावलीढं च	४।२०८	परस्य वण्डं नोद्यच्छेत्	४।१६४
पतितस्योदकं कार्यम्	११।१८२	परस्य पत्न्या पुरुवः	टा३५४
पतितां पङ्कलग्नां वा	११।११२	परस्य विपरीतं च	७।१७१
पतितैः संप्रयुक्तानां	११।१७६	परस्त्रियं योऽभिवदेत्	≒।३४६
पतितौ भवतो गत्वा	<b>ह</b> ।५८	पराको नाम क्रच्छोऽयं	११।२१५
.पतिलोकमभीप्सन्ती	प्राष्ट्रप्रह	परा <b>ङ्</b> मुखस्याभिर्मुखो	२।१६७
पतिव्रता धर्मपत्नी	३।२६२	पराजयश्च संग्रामे	33\$ાહ
पतिव्रतासु च स्त्रीषु	51२5	परामप्यापदं प्राप्तः	६१ इ। ३
पतिसेवा गुरौ वासः	२१६७	परितुष्टेन भावेन	४।२२७
पित या नामिचरित लोके	४।१६४	परित्यजेदर्यकामी	४।१७६
पींत या नाभिचरितलोकाना	8128	परित्यजेन्हपो भू <b>मि</b>	७।२१२
पति शुश्रूषते येन	५। <b>१५</b> ५	परिपूतेषु धान्येषु	<b>८।३३</b> १
पति हित्वाऽपकृष्टं स्वं	५।१६३	प रेपूर्ण यथा धन्द्रम्	30813
पतिर्मायां सम्प्रविश्य	६।५	परिभाषणगर्हेन्ति	<b>ह</b> ।२५३
पतीन्प्रजानामसृजं	१।३४	परिभोक्ता कृमिर्भव ति	२।२०१
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यात्	३।१७४	परिवेत्ता स विज्ञेयः	३।१७१
पत्यो जीवति यः स्त्रीमिः	<b>६</b> ।२००	परिवित्तिताऽनुजेऽनू <b>ढे</b>	११।६०
पत्यौ जीवति वृत्तायाः	<b>हा</b> १ह५	परित्रित्तः परिवेत्ता	३।१७५
पत्रशाकतृणानां च	७।१३२	परिवेषयत प्रयतो	३।२२६
पथि क्षेत्रे परिवृते	<b>८</b> ।२४०	परीक्षिताः स्त्रियद्यैनं	७।२१२
पदान्यष्टादशैतानि	510	परीवादात्करो सवति	२।२०१
पदा मस्तकमाक्रम्य	११।४३	परेण तु दशाहस्य	≒।२२३
पद्मेन चेव ब्यूहेन	७।१८८	पर्याप्तभोगा घनिष्ठा	३।४०
पयो घृतं वाऽऽमरणाद्	११।६१	पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां	प्रश्र
पयोमूलफलैविऽपि	३।५२	पलं सुवर्णाइचत्वारः	5।१३४
पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा	११।१३२	पलाण्डु गृज्जनं चैव	४। १६
परकीयनिपानेषु	४।२०१	पलालभारकं षण्डे	<b>११।१३</b> ३
परवाराभिमर्शेषु	<b>८।३</b> ४२	पवित्रं दुष्यतीत्येतत्	१०।१०२
परदारेषु जायेते	३।१७४	पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं	३।२५६
परदारोपसेवा च	१२।७	पशवश्च मृगाश्चीव जघन्या	१२।४२
परद्रव्येष्वभिष्यानम्	<b>१</b> २।५	पशवश्च मृगाश्चेव व्याला	१।४३
परधर्मेण जीवन्हि	७३।०१	पशुना त्वयनस्यादौ	४।२६
परपत्नी तुया स्त्री स्यात्	२।१२६	पशुमण्डूकमार्जार	४।१२६
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो	<b>ह।१</b> ६	पशुष् स्वामिनां चैव	<b>51२</b> २६
परमं यत्नमातिष्ठेत् स्तेनानाम्	<b>८</b> ।३०२	पशुषु स्वामिनां दद्यात्	८।२३४
परलोक नयत्याशु	४।२४३	पश्नमृगानमनुष्यांश्च	े\$।३€
परलोकसहायार्थं	४।२३८	पशूनां रक्षणं चैव	८।४१०
परस्परस्य दारेषु	१०।२६	पश्चनां रक्षणं दानं	१।६०
परस्परविरुद्धानां	७।१५२	पशूनांहरएो चैव	=1३२४
परस्परस्यानुमते	दा३४८	पश्चाच्च न तथा तत्स्यात्	51२ <b>१</b> २
परस्परादिनः स्तेनाः	१२।५६	पश्चाद दश्येत यत्किञ्चित्	<b>६।२</b> १८

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते	<b>⊏।१६१</b>	पितापुत्री विजानीयाद्	२। <b>१</b> ३५
पश्चिमां तुसमासीनो मलं	<b>८।१०</b> २	पिता प्रधानं प्रजने	<b>हा</b> १२१
पश्चिमां तु समासीनः सम्यग्	२।१०१	पितामहो वातच्छाद्वं	३ २२२
पश्चिमोत्तरपूर्वस्तु	प्राहर	पिता यस्य निवृत्तः स्यात्	२।२२ <b>१</b>
पाकयज्ञविधानेन	११।११८	पिता रक्षति कौमारे	£13
पालण्डगणघमीश्च	१। <b>११</b> ८	पिता वै गार्हपत्योऽग्निः	२।२३१
पालण्डमाश्रितानां च	४।६०	पितां हरेदपुत्रस्य	<b>६</b> ।१५५
पालण्डिनो विकर्मस्थान्	०६१४	पितुर्भगिन्यां मातुरुच	<b>२</b> ।१३३
पाठीनरोहितावाद्यौ	५।१६	पितुः स नाम सङ्कीत्यं	३।२२१
पाणिग्रहणसंस्का <b>रः</b>	३।४३	पितृदेवमनुष्यार्गाम्	१२।६४
पाणिप्रहणिका मन्त्राः कन्यास्	व दा२२६	पितृमिर्भातृभिश्चैतोः	३।४४
पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं	<b>८।२२७</b>	पितृम्यो बलिशेषं तु	३।६१
पाणिप्राहस्य साध्वी स्त्री	<b>५।१</b> ५६	पितृम्यो विधिवद् दत्तं	३।२६६
पाशिभ्यां तूपसंगृह्य	३।२२४	पित्यज्ञ तु निर्वर्त्य	<b>३।१</b> २२
पाणिमुद्यम्य <sup>े</sup> दण्डं चा	51250	पित्वेश्मिन कन्या तु	<b>हा १७</b> २
पात्रस्य हि विशेषेण	७।८६	पितृणामनृणइचैव	<b>हा</b> १०६
पादयोर्दाढिकायां च	<b>दा</b> २द३	पितृणां तस्य तृप्तिः स्यात्	३।१४६
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि	३।२३०	पितृणां मासिकं भाद्व	१।१२३
पादेन प्रहरन्कोपात्	51750	पित्नेन्त्र।द्वैश्च नुनन्नैः	`३।५१
पादोऽधर्मस्य कर्तारं	5185	पित इचैवाष्टकास्वर्चेत्	४।१५०
पादं पशुश्च योषिच्च	51808	पितेव पालयेत् पुत्रान्	<b>हा</b> १०५
पादः सभासदान्सविन्	<b>५</b> ।१५	पित्राद्यन्तं त्वीहमानः	३।२०५
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव	७।५०	पित्रा मर्त्रा सुतैर्वापि	४।१४६
पानं दुर्जनसंसर्गः	<b>8913</b>	पित्रा विवदमानश्च	३।१५६
पापकृन्मुच्यते पापात्	११।२२७	पित्रे न दद्याच्छुत्कन्तु	F313
पापरोगी सहस्रस्य	३।१७७	पित्र्यमानिधनात्कार्यं	३।२७६
पापरोग्यभिशस्तश्च	३।१५६	पित्रये कर्मणि तु प्राप्ते	31888
पापान् संयान्ति संसारान्	१२।५२	पित्रये राज्यहर्नी मासः	१।६६
पापान्संसृत्य संसारान्	१२।७०	पित्र्ये स्वदितमित्येव	३।२५४
नायसं मधुसपिन्यां	३।२७४	पित्र्यं वा मजते शीलम्	१०१४६
पायूपस्थं हस्तपादं	२।६०	पिशुनान् तिनोक्चान्नं <b>े</b>	४।२१४
पारदाः पह्लवाश्चीनाः	१०।४४	पिशुनः पौतिनासिक्यम्	११।५०
पारुष्यमनृतें चैव	१२।६	पीडनानि च सर्वांगि	33513
पार्टिणग्राहं च संप्रेक्ष्य	७।२०७	पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च	प्रा१४४
पांसुवर्षे दिशां दाहे	४।११५	पुक्कस्यां जायते पापः	१०।३८
<b>पिण्डनिवंपणं केचित्</b>	३।२६१	पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत	११।३६
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं	३।१२२	पुण्ये तिथी मुहूर्ते वा	२।३०
पिण्डेम्यस्रवेल्पकां मात्रां	३।२१६	पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य	६।६७
पितरइचैव साध्याइच	१२।४६	पुत्रका इतिहोवाच	२।१५१
पित रस्तावदश्नन्ति <b>ः</b>	३।२३७	पुत्रदारस्य वाप्येनं	<b>८।११४</b>
पिताऽऽचार्यः सुद्दन्माता	5133X	पुत्रदारात्ययं प्राप्तः	3310\$
•	•	•	• , -

	219-0	nni ararnareak e	0010
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः	81850 21855	पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु	११।१४०
पुत्रवच्न।पि वर्तरन्	ह। <b>१</b> ०५	पूर्वभुक्त्या च सततं	512X2
पुत्राणां भर्तरि प्रत	४।१४८	पूर्वमाक्षारितो दोषैः	<b>दा३५४</b>
पुत्रान् द्वादश यानाह	81845	पूर्वाह्म एव कुर्वीत	४।१५२
पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः	१२।१४	पूर्वं दोषानभिरूयाप्य	<b>८।२०</b> ४
पुत्रिकायां कृतायान्तु	११३४	पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानी	<b>E13EX</b>
पुत्रेण लोकान् जयति	७६१।३	पूर्व पूर्व गुरुतरं विद्या	७।४२
पुत्रे राज्यं समासृज्य	६।३२३	पूर्वी सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेन	
पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य	६।३	पूर्वी सन्ध्यां ज्यंस्तिष्ठेत् सावि	
पुत्रे सर्वं समासज्य	४।२५७		२।१०१
पुत्र' पुत्रगुर्गीर्युक्तं '	६।१६६	पूर्वी सन्ध्यां जपंतिष्ठेत् स्वकाले	
पुत्रं प्ररपुदितं सिद्धः	१ हा ३	पूर्वेद्युरपरेद्युवि	३।१८७
पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायाम्	<b>६।१</b> २२	पृथकपृथावा मिश्री वा	३।२६
पुनः संस्कारमर्हन्ति	११।१५०	पृथग्विवधंते धर्मः	<b>ह</b> । १११
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्	४।१६⊏	पृथिवीमपि चैवेमां	१।१०५
पुनाति परित वंदर्यादच	१।१०५	पृथुस्तु दिनगात्राज्यं	७।४२
पुम्नाम्नो नरकाद् यस्मात्	<b>ह</b> ।१३८	पृषोरपीमाम्पृथि <b>ची</b> म्	8813
पुमान्यंसोऽधिके शुक्रो	3818	पृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयात्	<b>५।७</b> ६
पुमांसं दाहयेत् पापं	≒।३७२	पृष्टोऽपव्ययमानस्तु <u></u>	ना६०
पुरागोष्वपि यज्ञेषु	प्रार्व	पृष्ट्वा स्वदितमित्येव	३।२५ <b>१</b>
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह	१०।३८	पृष्ठेतस्तु शरीरस्य	51300
पुरुवस्य स्त्रियात्रचेव	813	पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत	3188
पुरुवाणां कुलीनानां	द।३२३	पैतृकन्तु पिता द्रव्यम्	81२०६
पुरोडाशांइचरू इचैव	६।११	वैतुष्वसेयीं मगिनीम्	११।१७१
पुरोहितं च कुर्वीत	७।७५	पैत्रिको दण्डदासञ्च	=1884
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्राः	३।१६८	पैलवीदुम्बरी वैश्यो	२।४५
पुलाकाइचैव धान्यानां	१०।१२४	पैशाचश्चासुरश्चैव	३।२४
पुष्कलं फलमाप्नोति	३।१२६	पैशुन्य साहसं द्रोह	७।४८
पुष्पमूलफलानां च	११।१६४	पौण्डुकाञ्चीयुद्रविडाः	१०।४४
पुष्पमूलफलैर्वापि	३।२१	पौत्रदौहित्रयोलोंके न	8183
पुष्पिणः फलिनइर्चैव	१।४७	पौत्रदौहित्रयोलींके विशेषः	38913
पुष्पेषु हरिते धान्ये	51330	पौत्री मातामहस्तेन	ह।१३६
पुष्ये तु छन्दसां कुर्यात्	81 દે ફ	पौनर्भवश्च काणश्च	31844
पूजियत्वा ततः पश्चाद्	३।११७	पौनभंवेन भन्नी सा	ह।१७६
पूजयेदशनं नित्यं	२।५४	पौर्विकी संस्मरञ्जाति	राहरह
पूजये द्वव्यकव्येन	४।३१	पौंदचल्या <del>च्च</del> लचित्ताच्च	E18X
पूजितं ह्यज्ञनं नित्यं	714X	प्रकल्या तस्य तैवृत्तिः	१०।१२४
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च	१०।७२	प्रकरशमेतत् तास्कर्यम्	£1777
पूज्या भूषियतव्याश्च	३।४४	प्रकाशबञ्चकास्तेषाम्	हार <b>५</b> ७
पूर्यं चिकित्सकस्याग्नं	४।२२०	प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा	513X8
पूर्णविशतिवर्षे ए	२।२ <b>१</b> २	प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च	हार <b>५</b> ६
•	· · · · ·	- Frank Herbrank	~ ( \ \ \

प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति	३।११३	प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयान्	१६।११२
प्रक्षालनेन त्वल्पानां	४।११⊏	प्रतिग्रहाद् याजनाद् वा	१०।१०६
प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य	३।२६४	प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु	४। <b>१</b> ८६
प्रचेतसं वसिष्ठं च	१।३४	प्रतित्रवहं पिबेदुष्णान्	११।२१४
प्रच्छन्नपापा जप्येन	४।१०७	प्रतिपूज्य यथान्यायं	212
प्रच्छन्नवञ्च कास्त्वेते	१।२५७	प्रतिबुद्धश्च सृजति	१।७४
प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा	६।२२८	प्रतिभागंच दण्डंच	<b>८</b> ।३०७
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा	१०।४०	प्रातिभाव्यं वृथादानम्	<b>⊏।१</b> ५€
प्रजनार्थं महामागाः	<b>ह</b> ।२६	प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव	३।१५३
प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः	१।१६	प्रतिवातेऽनुवाते च	२।२०३
प्रजानां परिरक्षार्थं	प्राह४	प्रतिश्रवणसम्भाषे	२।१६५
प्रजानां रक्षगां दानं	१।८६	प्रतिविद्धापि धेद्या तु	१।८४
प्रजापतिरिवं शास्त्रम्	११।२४३	प्रतिषेषत्सु चाधमन्	२।२०६
प्रजापतिहि वैश्याय	ह।३२७	प्रतीपमेतद् देवानां	४।२०६
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या	१०।११८	प्रतीपमेते जायन्त	१०।१७
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति	७।२४	प्रतुदाञ्जालपादांश्च	रा१३
प्रजा <b>स्</b> तमनुवर्तन्ते	<b>८।१७</b> ४	प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थः	દાપ્રર
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या	3113	प्रत्यक्षं चानुमानञ्च	१२।१०५
प्रज्ञा तेजो बल "प्रवर्षते	४।४२	प्रत्यगेव प्रयागाच्च	२।२१
प्रज्ञा तेजो बलं "प्रहीयते	४।४१	प्रत्यग्नि प्रश्निसूर्यं च	४।५२
प्रज्ञां यशश्च कीर्ति च	४३१४	प्रत्यहं कल्पयेदं वृत्ति	७।१२५
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः	११।१६५	प्रत्यहं देशहष्टेश्च	नारे
प्रणम्य तु शयानस्य	२।१६७	प्रत्यहं लोकयात्रायाः	<b>ह</b> ।२७
प्रणम्य लोकपालेभ्यः	<b>5</b> 1२३	प्रत्याहारेण संसर्गान्	६१७२
प्रणष्टस्वामिकं रिक्थम्	51३०	प्रत्युत्यानाभिवादाम्यां	२।१२०
प्रलब्हाधिगतं द्रव्यं	८।३४	प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः	२।१६६
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च	<b>८।३१</b> ७	प्रत्युवाचाच्ये तान्सर्वान्	१।४
प्रागेतुं शक्यते दण्डः	७।३१	प्रत्येकं कथिता ह्याताः	१।१५७
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी	<b>ह</b> ।३१०	प्रथमं तत्प्रमाणानां	<b>⊏।१</b> ३२
प्रतिकुर्यांच्च तत्सर्वं	<b>हा</b> २५ <b>५</b>	प्रथमेऽब्दे तृतीये वा	२।३४
प्रतिकृलं वर्तमाना	१०।३१	प्रथिता प्रेतकृत्येषा	३।१२७
प्रतिगों प्रतिवातं च	४।५२	प्रदक्षिणं परीत्याग्नि	२।४८
प्रतिगृह्धनविद्वांस्तु	४।१८८	प्रदक्षिणानि कुर्वीत	3518
प्रतिगृह्य दिजो विद्वान्	४।११०	प्रदद्यात्परिहारांश्च	७।२०१
प्रतिगृह्य पुटेनैव	६।२८	प्रदिशेद् भूमिमेतेषां	≒।२६४
प्रतिगृह्याप्रतिप्राह्यम्	११।२५३	प्रपितामहास्तथादित्यान्	३।२८४
प्रतिगृह्ये प्सितं दण्डं	रा४८	प्रबूयाद ब्राह्मणस्त्वेषां	१०।१
प्रतिग्रहनिमित्तं च	१०।१११	प्रब्रू यादितरेम्यश्च	१०।२
प्रतिप्रहसमर्थोऽपि	४।१८६	प्रभुः प्रथमकल्पस्य	११।३०
प्रतिग्रहस्तु क्रियते	१०।११०	प्रमदाह्युत्पयं नेतुं	२।२१४
प्रतिग्रहेः प्रत्यवरः	१०११०६	प्रमाणं चैव लोकस्य	११।८४
•			

प्रमाणानि च कुर्वीत	७।२०३	प्राणायामें बेहेद् दोषान्	६।७२
प्रमापयेत्प्राणभृतः	≈।२ <b>६</b> ५	प्राणायामैस्त्रिभः पूतः	२।७५
प्रमाप्य वैश्यं <b>वृत्तस्थं</b>	११।१२६	प्राणिभि: क्रियते यस्तु	<b>हा</b> २२३
प्रयुक्तं साधयेदर्थं	381≈	प्राणि वा यदि वाऽप्राणि	४।११७
प्रयुज्यते विवाहेषु	प्र1 <b>१</b> प्र२	प्राति <b>माव्यं</b> वृथादानं	518XE
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां	२।२४८	प्रातिलोम्येन जायन्ते	8 - 18 8
प्रयोगः कर्मयोगश्च	१०।११५	प्रातिवेदयानुत्रेदयौ च	51३६२
प्रवर्तमानमन्याये	શાંવદવ	प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु	४।१०६
प्रवासये इण्डीयत्वा	<b>८</b> ११२३	प्राधीते शतसाहस्र	७।५४
प्रविशेद्धोजनार्थं च	७।२२४	प्रापणात्स <b>र्वे</b> कामानां ्	२।६४
प्रविदयं सर्वभूतानि	<b>१</b> ।३०६	प्राप्तापराधास्ताड्याः स्युः	51788
प्रवृत्तं कमं ससेब्य	१२।६०	प्राप्नुवन्ति दुरात्मानः	११।४८
प्रवृत्तं च निवृत्तं च	१२।८८	प्राप्यतत्कृतकृतयो हि	१२।६३
प्रवृत्तिरेषा भूतानां	<b>પ્ર</b> 148	प्रायाध्यितमकुर्वाणो	21228
प्रशान्तमिव शुद्धाभं	<b>१</b> २।२७	प्रायदिवसं चिकीर्षन्ति	881888
प्रशासितारं सर्वेषाम्	१२।१२२	प्रायश्चित्तन्तु कुर्वाणाः	हार ४०
प्रब्टब्या सीमलिङ्गानि	<b>८।२४४</b>	प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य	१११४७
प्रसक्तरचेन्द्रियार्थेषु	<b>6</b> 618.8	प्रायश्चित्ते तु चरिते	११।१८६
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत	37.18	प्रायोनाम तपः प्रोक्तम्	११।४७
प्रसह्य कन्याहरणं	3133	प्रारुय मूत्रपुरीषाणि	281888
प्रस्नवे च शुचिर्वत्सः	४।१३०	प्रास्येदात्मानमग्नौ वा	११।७३
प्रसाधनोपचारज्ञम्	१०।३२	प्रियं च नानृत ब्रूयात्	४।१३८
प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य	४३९।७	प्रिया भवन्ति लोकस्य	८।४२
प्राकारस्य च भेतारम्	81२८	प्रियेषु स्वेषु सुकृतम्	३७।३
प्राक्कूलान्पर्यु पासीनः	२।७५	प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा	हाइ४
प्राङ्नोभिवर्धनात्पुंसः	२।२६	प्रेतनिर्यातकश्चैव	३।१६६
प्राचीनाबीतिना सम्यक्	३।२७६	प्रेतशुद्धि प्रवक्ष्यामि (बेहशुद्धि)	प्राप्त
प्राजकक्वेद्भवेदाप्तः	<b>5</b> 1२६४	प्रेतहारै: समं तत्र	४।६४
प्राजापत्यमः स्वाश्वम्	११।३८	प्रेते राजनि स ज्योतिः	प्रादर
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छं	११।१०५	प्रेत्येह च सुखोदकान्	धारप्र
प्राजापत्यां निरूप्येर्ष्टिम्	६।३८	प्रेत्येह चेह्ना विश्र	33818
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च	७।२१०	प्रेष्यान्वार्षु विकांश्चैव	<b>दा</b> १०२
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यात्	४।१८७	प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च	31823
प्राड्विवा होऽनुयुञ्जीत	<b>দা</b> ঙ	प्रैष्यासु चैकभक्तासु	<b>द</b> 1३६३
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं	5126६	प्रोक्षणं संहतानां च	प्रा१२२
प्राणयात्रिकमात्रः स्यात्	६।४७	प्रोक्षणात्त्रगकाष्ठं च	शाहरर
प्राणस्याःनिमवं सर्वं	प्रार्ट	प्रोक्षितं मक्षयेन्मांसं	प्रा२७
प्राणानप्सु तिरायम्य	388188	प्रोषिते त्वविधायैव	દાહેય
प्राणानेवा तुमिच्छन्ति	४।२८	प्रोवितो धर्मकार्यायंम्	<b>है।</b> ७६
प्राणानां परिरक्षार्थं	१०।१०६	•	•

६।७०

प्राणायामा बाह्मणस्य

দ		बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्	४।१४८
फलदानान्तु वृक्षाणाम्	११।१४२	बाह्य विमावयेहिल द्वाः	~1,34 ≈12 <b>X</b>
फलन्त्यनुयुगं लोके	१।८४	बिडाल <b>काका</b> ल्विस्छण्टम्	481848
फलन्त्वनभिसंधाय	(138 E1X7	बिभित्त सर्वभूतानि	33178
फलपुष्पोद्भवानां च	881883	विभृयादानृशंस्येन	७१४११
फलमूलाशनैमें ध्यै:	रार्	बीजकाण्ड <b>रुहाण्ये</b> व	१।४८
फलं कतकवृक्षस्य	३।६७	बीजक्षेत्रं तथैवान्ये	१०।८०
फलैघ:कुसुमस्तेयं	११।७०	बीजमेके प्रशंसन्ति	१०।७०
फाल्गुनं वाऽय चैत्रं वा	७।१८२	बीजस्य चैव योन्याश्च	<b>٤١</b> ٦٧
<b>a</b>	0,,,,	बीजानामुध्तिविच्च स्यात्	0 5 5 13
बको भवति हृत्वािंनम्	१२।६६	बुद्धिमत्सु नगः श्रेष्ठाः	१।६६
बकं चैव बलाकां च	प्रा१४	बुद्धिवृद्धिकराण्याशु	3918
बकविचन्तयेदयन्	७।१०६	बुद्धीन्द्रयाणि पञ्चेषां	राहर
बन्धनानि च काष्ठानि	१२।७८	बुद्ध्वाच सर्वं तस्वेन	७।६८
बन्धनानि च सर्वाणि	६।२८८	बुध्येतारिप्रयुक्तां च	७।१०४
बन्ध्रप्रियवियोगांश्च	१२।७६	बैजिकं गाभिकं चैनो	२।५७
बभूवृहि पुरोडाशा	प्रा२३	<b>वै</b> जिकादभिसम्बन्धात्	प्राइइ
बलवानिन्द्रियग्रामः	२।२१५	बैडालव्रतिको ज्ञैयो	४।१९५
बलवाञ्जायते वायुः	१।७६	द्र <b>ह्मक्षत्रि</b> यविड्योनिः	२।८०
बलस्य स्थामिनश्चेब	७।१६७	ब्रह्म क्षत्र च संपृक्तं	६।३२२
बलाइसं बलाइ भुक्तं	<b>८।१६</b> ८	ब्रह्मध्नो ये स्मृता लोका	3=1=
बलं सञ्जायते राज्ञः	<b>८।१७</b> २	ब्रह्मणा च परित्यक्ताः	<b>११</b> ।१६२
बह्वरचेतु सद्दशाः	१।१८४	ब्रह्मणी ग्रहणं चैव	२।१७३
बहुबोऽविनयान्तष्टा	७।४०	बहाणः प्रणवं कुर्यात्	२।७४
बहिरचेद्भाष्यतं धर्मान्	<b>८।१६</b> ४	ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं	प्रा१२६
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह	१०।१०७	ब्रह्मदारी गृहस्थश्च	६।६७
बह्वीषु चैकजातानां	६।१४८	बह्मचारी तु योऽस्नीयात्	११।१५५
बहुत्वं परिगृह्णीयात्	<b>५।७३</b>	ब्रह्मचारी भवेत्रित्यं	४।१२८
बहुन् वर्षगणान् घोरान्	१२।५४	ब्रह्मचारी वृती च स्याद	११।२२४
बालध्नांश्च कृतध्नांश्च	११।१६०	ब्रह्मचायुहिरेद् भैक्ष	२।१८३
बालवायादिकं रिक्थं	=1२७	ब्रह्मचार्येव भवति	३।५०
बालया वा युवत्या वा	प्रा१४७	बहा चैव धनं येषां	<b>ह</b> ।३१६
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता	513 <b>१</b> २	ब्रह्मे छन्दस्कृतं चैव	81800
बालवृद्धातुराणाञ्च साक्ष्येषु	<b>५।७१</b>	ब्रह्म जन्म हि विप्रस्य	२।१४६
बालवृद्धातुर्वैवैद्यैः	४।१७६	ब्रह्म तजोमयं दण्डं	७।१४
बालातपः प्रेतयूमः	४।६९	ब्रह्मदेयात्मसंतानो	३।१५४
बालाश्च न प्रमीयन्ते	१।२४७	ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च	३।१५४
बाले देशान्तरस्ये च	४।७८	बहा यस्वननुज्ञातं	२।११६
बालोऽपि नावमन्तय्यो	७।५	ब्रह्मवर्चसकामस्य	२।३७
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य	२।१५०	ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा	३६६
बालः समानजन्मा वा	२।२०५	ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु	३।५६

	श्लोकाना	मुभयपंक्ति-ग्र	नुक्रमणिका
--	----------	----------------	------------

9083

	_	•	
ब्रह्महत्याकृतं पापं	११।=६	ब्राह्म <b>णे</b> चानानूचाने	२।२४२
<b>ब्र</b> ह्महत्यापनोदाय	११।७५	बाह्य एवं च विद्वांसः	७३।१
बह्महत्या सुरापानम्	११।५४	ब्राह्मणे साहसः पूर्वः	द।२७६
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं	38188	ब्राह्मण <del>ी</del> रभ्यनुज्ञातः	३।२४३
ब्रह्महो च सुरापदव	११३५	त्राह्म <b>णै</b> ः शिल्पिभर्यन्त्रैः	७।७५
ब्रह्महा द्वादश समाः	११।७२	ब्राह्मणो जायमानो हि	3319
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो	२।७०	ब्राह्मणो बेल्दपालाशः	२।४५
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्र	४११४६	ब्राह्मग् कुशलं पृच्छेत्	२।१२७
ब्रह्मारम्भेऽवसाने च	२।७१	प्राह्मण क्षित्रयं वैश्यं	१।३१
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मः	१२।५०	बाह्मएां दशवर्ष तु	२।१३४
<b>ब्रह्माष्टकापौर्णमा</b> स्यी	४१११४	ब्राह्माएां भिक्षुकं चापि	\$12 <b>83</b>
ब्रह्माहृतिहुतं पुण्यं	२।१०६	ब्राह्मराः क्षत्रियो वापि	१०।११७
ब्रह्म व सन्नियन्तृ स्यात्	<b>ह</b> ।३२०	बाह्यराः क्षत्रियो वैश्यः	१०।४
बह्योज्भता वेदनिन्दा	११।५६	<b>ब्राह्म</b> एः श्रेष्ठतामेति.	४।२४५
<b>ब्रह्मोद्यश्च</b> कथाः कुर्याद्	३।२३१	ब्राह्मणः सप्तरात्रेण	१०।६३
बाह्यणक्षत्रियविशां शूद्रा	६।१५५	बाह्यणः सम्भवेनव	११।८४
बाह्यणक्षत्रियाभ्यां तु	<b>८।२७६</b>	बाह्यण्यामप्यनायति	१०।६६
बाह्यणस्तु सुरापस्य	११।१४६	ब्राह्मदैवार्षगान्धर्व	<b>ह।१</b> ६६
ब्राह्म जस्त्वनधीयानः	३। <b>१६</b> ८	ब्राह्ममेकमहज्ञेयं	१।७२
ब्राह्मणस्य चतुःविष्टः	८।३३८	बाह्यस्य जन्मनः कर्ता	२।१५०
ब्राह्मणस्य तपी ज्ञानम्	११।२३५	बाह्यस्य तु क्षपाहस्य	१।६८
बाह्मणस्य रुजः कृत्वा	११।६७	ब्राह्मादिषु विवाहेषु	३।३६
ब्राह्मणस्य विशेषेण	११।११	बाह्यान्यीनांश्च सम्बन्धान्	२१४०
बाह्यणस्यानुपूर्वेण	ह। <b>१</b> ४५	बाह्यीपुत्रः सुकृतकृत्	३।३७
बाह्यणस्येव कर्मेतत्	२।१६०	बाह्य ण विप्रस्तीयन	राप्रद
ब्राह्मणस्यं न हर्त्तव्यम्	११।८	बाह्ये मुहते बुध्येत	४।६२
ब्राह्मणादुग्रकन्यायाम्	१०।१५	काह्य योनिश्च सम्बन्धे	इ।१५७
व्राह्मणाद्याश्रयो नित्य	X = £13	बाह्यो देवस्तयेवार्षः	३।२१
बाह्यणाद् वैदयकन्यायाम्	१०।८	बाह्यं प्राप्तेन संस्कारं	७।२
<b>ब्राह्मणान्पर्युपासीत</b>	७१३७	ब्राह्मच हुतं द्विजायचार्चा	३।७४
ब्राह्मणान् वाधमानस्तु	<b>ह</b> ।२४८	ब्राह्मच हुतं प्राशितं च	३।७३
<b>ब्राह्मणान्वेदविदुषः</b>	१ <b>१</b> ।४	बूहीति बाह्यरां पृच्छेत्	4144
बाह्मणा बह्मयोनिस्याः	१०१७४	ब्हीत्युक्त इच न ब्रूयात्	≒।४६
बाह्मणाभ्युपपत्ती ्च	≒।११२		
ब्राह्मणाय च राज्ञेच	६।३२७	भ	
बाह्य जायावगूर्येव	४।१६५	भक्षयन्तीं न कथयेत्	११।११४
बाह्यणार्थे गवार्थे वा हत्याशी	१०१६२	<b>मक्यमोज्यापहर</b> ्णे	११।१६५
बाह्यणार्थे गवार्थे वा स्यः	११।७६	भक्षमोजयोपदेश <del>ी</del> ऽच	<b>हा</b> २६८
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चेव	51800	भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुः	प्रा१८
बाह्मणी तद्धरेत् कन्या	61862	भध्याभद्ध्यं चूशीचंच	१।११३
बाह्यणीं यद्यगुप्तान्तु	८।३७६	भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्	५।१७

मक्ष्यं मोज्यं च विविधं	३।२२७	भुञ्जीयातां ततः पश्चात्	३।११६
भगवन्सर्ववर्णानां	812	भूतं भव्यं भविष्यं च	१२।६७
भग्नं तद्व्यवहारेण	<b>८।१४</b> ८	भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः	१।६६
भजेरन्पैतृकं रिक्थं	४०१।३	भूतिका <b>मैनँरैनि</b> त्यं	3118
भजेरन्मातृकं रिक्थं	<b>हा</b> १ह२	भूमाद्रप्येककेटारे	2513
भद्रं भद्रमिति ब्यात्	38918	भूमिदो भूमिमाप्नोति	४।२३
भयाद्भोगाय कल्पन्ते	७।१५	भूमिवज्रमणीनां च	११।५७
भयाद् द्वी मध्यमी दण्डी	51820	भूमि भूमिशयांश्चैव	१०।५४
भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु	१०।१०७	भूँमौ विपरिवर्त्तेत	<b>ं</b> ६।२२
भती तत्सर्वमादत्ते ।	७।६५	भूस्तृएां शिग्रुकं चैव	६।१४
भर्तारं लङ्घयेद् या तु	<b>८।३७</b> १	मृतकाध्यापको यक्च	३।१५६
भर्तुं येद दुष्कृतं किचित्	४३१७	मृतो नात्तों न कुर्याद्यो	रारश्य
मर्तु <b>ः पुत्र<sup>े</sup> विजानन्ति</b>	१।३२	भृत्या चाष्ययनादान	११।६२
मर्त्ः शरीरशुश्रुषाम्	<b>ह</b> । द	<b>मृ</b> त्यानामुपरोधेन	११।१०
मवत्पूर्वं चरेद् भैक्षं	राष्ट	मृत्यानां च मृति विद्यात्	ह।३३२
भवत्याचारवान्नित्यं	१२।१२६	भूत्यानां चैव वृत्त्यर्थं	प्रारेर
भवन्त्यायोगवीष्वेते	१०।३५	भृत्या भवन्ति प्रायेण	७।१२३
भवन्मघ्यं तु राजन्यः	२।४६	भैक्षाश्यात्मविशुष्यर्थं	११।७२
भव्यं गर्व्यं च पेयूषं	प्राइ	भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं	२।१८८
भस्मनाऽद्भिमृदा चैव	प्रा१११	भैक्षेण वृतिनो वृत्तिः	२।१८८
भस्मनीव हुतं हत्र्यं	३।१८१	भैक्षे प्रमक्तो हि यतिः	६।५५
भस्मीभूतेषु विप्रेषु	३।६७	भोजनाम्यञ्जनाद् दानात्	१०।६१
भागो यवीयसां तत्र	६।२०४	भोजनार्थं हिते शंसन्	30818
भाण्डपूर्गानि यानानि	51४०५	भोजयेत्सह भृत्यैस्तौ	३।११२
भाण्डावकाशदाश्चैव	हा <b>२</b> ३१	भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि	३। <b>१</b> २५
भार्या पुत्रहच दासहच त्रय एव	51888	भोभवत्पूर्वक त्वेनं	२।१२८
भार्या पुत्रदच दासदच प्रेव्यो	33512	भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते	२।१२४
मार्यात्रे पूर्वमारिण्ये	५।१६८	भौमिकैस्ने समा ज्ञीया	प्राध्य
मिक्षामप्युवपात्रं वा	३।६६	भ्रातरो ये च संसृष्टाः	<b>ह</b> ।२ <b>१</b> २
भिक्षावलि रिश्रान्तः	६।३४	भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा	४।१८४
भिक्षां च भिक्षवे दद्यात्	8318	भ्रातु ग्येष्ठस्य भाषीयाम्	<b>ह।</b> ५७
मिक्षुका बन्दिनश्चेव	<b>८</b> ।३६०	भ्रातुर्मार्योपसंत्राह्या	२।१३२
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं	२।५०	भ्रातुमृ तस्य भार्यायां	३।१७३
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं	७।१५०	भ्रत्वेगातृपितृप्राप्तं	83 \$13
मिन्धाच्येत्र तडागानि	७।१६६	भ्रातृणामेविमेक्तानाम्	धारे१५
भुक्तवत्सु च विश्रेषु	३।१११	भ्रातृणामेकजातानाम्	<b>हा</b> १८२
भुक्तवरस्वयं विप्रेषु	31888	भ्रातृणां यस्तु नेहेत	<b>ह</b> ।२०७
भुक्तवान् विहरेच्चेव	७।२२१	भ्रामरी गण्डमाली च	<b>३।१६</b> १
भुक्तवा चोपस्पृशेत्सम्यक्	राप्र३	भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव	४।२०८
भुक्त्वाऽतोऽन्य्तमस्यान्नं े	४।२२२	**	
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं	<b>८।१४७</b>		
<b>.</b>	•		

इलोकानामुभय पंक्ति-ग्रनुक्रमणिका			१०४५
म			, ,
मक्षिका विप्रुवश्खाया	प्रा१३३	मनोहें रण्यगर्भस्य	83 <b>9</b> 15
मङ्गलाचारयुक्तानां	४।१४६	मनोवाग्देहजैनित्यं	१।१०४
मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्	४।१४५	मनोवाङ् मूर्तिभिनित्यं	११।२३ <b>१</b>
मञ्जल।देशवृत्ताश्च	ह1२५८	मन्त्रज्ञ मेन्त्रिभिश्चीव	न।१
मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनम्	प्राष्ट्रप्र	मन्त्रतस्तु समृद्धानि	३।६६
मङ्गल्यं दीर्घवणन्तिं	२।३३	मन्त्रयेत्परमं मन्त्र	७।५८
मङ्गल्यं बाह्यणस्य स्यात्	२।३१	मन्त्रवत्प्राशनं चास्य	२।२६
मणिमुक्ताश्रदालानां ताफ्रस्य	११।१६७	मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति	१०।१२७
मणिमुक्ताद्रवालानां लोहानाम्		मन्त्रसम्पूजनार्थं तु	३। <b>१</b> ३७
मिएामुक्ताप्रवालानि े	१२।६१	मन्त्र स्त्र संस्कृतानद्यात्	४।३६
मणीनामपवेधे च	<b>हा</b> २८६	मन्त्रैः शाकलहोमीयैः	११।२५६
मतिपू <b>र्वमनिर्दे</b> श्यं	११।१४६	मन्यन्ते वं पापकृती	515 <b>X</b>
मत्तर्बेद्धातुराणां च	४।२०७	मन्येतारि <b>यदा</b> राजा	७।१७३
मत्तोरमत्तार्ताध्यधीनैः	<b>८।१६३</b>	मन्वन्तराण्यसंख्यानि	१।५०
मत्या भुवत्वाऽऽचरेत्कुच्छ्ं	४।२२२	ममायमिति यो ब्र्यात्	513X
मत्स्यघातो निषादानाम्	१०१४८	ममेदमिति यो ब्रूयात्	<b>⊏।३</b> १
मत्स्यादः सर्वमांसादः	रा१४	मरीचिमःयङ्गिरसौ ं	१।३४
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च	प्रा१४	मरद्भ्य इति तु द्वारि	३।८८
मत्स्यानां पक्षिणां चैव	<b>५।३</b> २५	मर्यादाभेदक श्चैव	<b>8</b> 138 <b>8</b>
मद्यपाऽसाधुवृत्ता ज	6150	मलिनीकरणीयेषु	११।१२५
मद्यैर्मूत्रैः पुरेषिवि	प्राष्ट्रइ	महती देवता ह्येषा	৩।5
मद्यं नीलिंच लाक्षांच	3 =109	महतोप्येनसो मासात्	२।७६
मधुदंशः पयः काकः	<b>१</b> २।६२	महर्षिपितृदेवानां	४।२५७
मधुपर्केच यज्ञेच	प्रा४१	महिषिभिरच देवैश्च	<b>≂।११०</b>
मधुपर्केण सम्पूज्यी	३।१२०	महाकुलीनमार्यं च	<b>८।</b> ३६४
मध्यन्दिनेऽधंरात्रे च	४।१३१	महान्तमेव चात्मानं	१।१५
मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे <b>वा</b>	७।१५१	महान्ति पातकान्याहुः	११।४४
मध्यमस्य प्रचारं च	७।१५५	महान्त्यपि समृद्धानि	३।६
मध्यमं तु ततः पिण्डं	३।२६२	महापक्षे धनिन्यार्थे	51 <b>१</b> ७६
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः	८।१३८	महापश्चनां हरणे	ट। ३ <i>२</i> ४
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टां	१।१३	महापातकसंयुक्तः	११।२५७
मध्वापीतो विषास्वादः	११।६	महापातिक नक्ष्वेव	३६२।४४
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः	१।१८	महाभूतादि वृत्तीजाः	११६
मनसञ्चाप्य हंकारं	१।१४	महायज्ञविधानं च	१।११२
मनसीरबुं दिशः श्रोत्रे	१२।१२ <b>१</b>	महायज्ञीश्च यज्ञीश्च	२।२८
मनः सृष्टि विकुरते	१।७५	महाय्याहृति भिर्हीमः	११।२२२
मनुमेकाग्रमासीनं	१।१	मागधः क्षत्रजातिश्च	१०१२६
मनुष्यमाररा क्षिप्रं	<b>८।२</b> ६६	माघ <b>गु</b> क्लस्य वा प्राप्ते	४।६६
मनुष्याणामपि प्रोक्तः	ह।६ <b>६</b>	मातर पितर जायां	<b>८।२७</b> ४
मनुष्याणां तु हररा	११।१६३	मातरं वा स्वसारं वा	२।४०
मनुष्याणां पश्चनां च	<b>८।</b> २८६	मातर्यपि च वृत्तायां	<b>ह</b> ।२१७

माना पिता वा दद्याताम्	<b>ह।१६</b> ८	<b>मित्रधुग्</b> यूतवृत्तिश्च	३।१६०
मातापितृभ्यामुत्सृष्टम्	१७१३	मित्रस्य चानुरोधेन	५१ <u>६</u> ५० ७।१६६
मातापितृभ्यां जामीभिः	४।१८०	मित्रस्य चैवापकृते	७।१६४
मातापितृविहीनो यः	ह।१७७ हा	मित्रादथाप्यमित्राद्वा	७।२०७
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु	२।२२६	मित्रं हिरण्यं भूमि वा	७।२ <b>०६</b>
मातामहं मातुलं च	318.8≃	मिथ एव प्रदातव्यः	51
मातामह्या धनातिकञ्चित्	F3813	मिथो द'यः कृतो येन	518EX
मातुरग्रेऽधिजननं	71 <b>१</b> ६€	मिथो भंजनाप्रसवात्	0013
मातुलांश्च पितृश्यांश्च	२ <b>।१</b> ३०	मिथ्यावादी च संख्याने	51800
मातुले पक्षिणी रागि	प्राद १	मीमां सित्वोभयं देवाः	४।२२४
मातुश्च भ्रात्स्तनयां	११।१७१	मुखबाहुरुपञ्जानां या	१०।४५
मातुस्तु यौतकं यत् स्यात्	8 = 8   3	मुखबाहरूपण्जानां पृथक्	१।८७
मातुः प्रथमतः पिण्डम्	61880	मुख्यानां चैव रत्नानां	<b>८।३२३</b>
मातृकं भ्रातृदत्तं वा	होहर	मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः	१२।२५८
मातृजात्यां प्रसूयन्ते	१०।२७	मुच्यते पातकैः सर्वे स्त्रिजै	११।२५६
मातृवद् वृत्तिमातिष्ठेद्	२।१३३	मुच्यते ब्रह्महत्यायाः	१११७६
मातृष्वसा मातुलानी	२।१३१	मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः	२।४३
मात्रा स्वस्ना दुहित्रा वा	२।२१४	मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्	२।२१६
मानयोगं च जानीयात्	<b>६</b> ।३३०	मुन्यन्नानि पयः सोनः	३।२५७
मानवस्यास्य गास्त्रस्य	१२।१०७	मुन्यन्तैविविवैमें ध्यैः	६।४
मानसं मनसैवायम्	१२।८	मुत्रेण मौण्डचिमच्छेत्	<b>५।३५३</b>
मारुतं पुरुहृतं चे	११।१२१	मू त्रोच्चारसपुत्सर्गं	8120
मार्गशीर्षे शुभे मासि	ं <b>७</b> ।१५ <b>२</b>	मूलकर्मणि चानाप्तेः	<b>ह</b> ।२६०
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म	प्रा१२२	मुल्यात्पञ्चगुरगो दण्डः	51 <b>२</b> 5 ह
मार्जनं यज्ञपात्रालाम्	४।११६	मुल्येन तोषयेज्वैनं	<b>८</b> ।१४४
मार्जारनकुलौ हत्वा	११।१३१	मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः	७।४७
माऽवमस्याः स्वमात्मानं	<b>দ।</b> দ४	मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु	१०।३५
मापिकस्तु भवेद्दण्डः	51२६5	मृते भर्तरि पुत्रस्तु	४।३
मासस्य वृद्धि गृह्णीयात्	<b>८।१४</b> २	मृते मर्तरि साघ्वी स्त्री	५।१६०
मासिकान्नं तु योऽइनीयात्	११।१५७	म्तोयः शुद्व्यते शोध्यम्	४।१०८
मासेनाइनन्हविष्यस्य	११।२२०	मृतंतुयाचितं भैक्षं	४।४
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा	११।१६४	मृतं शरी रमुत्सृज्य	४।२४ <b>१</b>
माहित्रं शुद्धवत्यश्च	११।२४६	मृत्युश्च वसति क्रोधे	७। <b>१</b> १
मांसमक्षयिताऽमुत्रः	प्राप्र्	मृदंगां देवतं विप्रं	3 \$ 18
मांसभैता तुष्णिक्कान्	८।२८४	मृत्मयानां च भाण्डानां	७।१३२
मं सस्य मधुनश्चे व	<b>८</b> ।३२८	मृत्मयानां च हरणे	<b>८</b> ।३२७
मासस्यातः प्रवध्यामि	५।२६	मृष्यन्ति ये चोपपत्ति	४।२१७
मांसं गृष्ट्रो वर्षा ग्द्गुः	<b>१</b> २।६३	मेखलामजिनं दण्डं	२१६४
मांसानि च न खादेदाः	प्राप्त्	मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनां	१०१४८
मांसाशनं च नाश्नीयुः	प्रा७३	मेदोसृङ्मांसमञ्जास्थि	३।१८२
मित्रदुहः कृतघ्नस्य	5158	मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्	६ <u>।१</u> ३

	इलोकाना मुभयपं	क्ति-ग्रनुक्रमणिका	१०४७
	•	यतस्व भयमा शंकेत्	<b>७।१७६</b>
मेने प्रजापित <b>ः ह्यां</b>	४।२४८	यतन्ते रक्षितु भार्या	દાં દ
मैत्रं प्रसाधनं स्नानं	४।१५२	यतश्च भयमाशङ्कोत्ततो	७।१८८
मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतः	<b>१</b> २।७२	यतात्मनोऽप्रमत्तस्य	११।२१५
मैत्रयकन्तु वंदेहः	१०।३३	यतिचान्द्रायणं वापि	४।२०
मैञ्यमौद्वाहिकं चैव	<b>ह</b> ।२०६	यत्करोत्येकरात्रेण	११।१८८
मैथुनं तु समासेब्य	११।१७४	यःकर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्	४।१६१
मीहत्द्वाजा स्वराष्ट्रं यः	७।१ <b>११</b>	यत् कर्मकृत्वा कुर्वेश्च	१२।२५
मौञ्जी त्रिवृत्समा इलक्ष्ण	1 २।४२	यत् किञ्चित् पितरि प्रेते	६।२०४
मौ•इयं प्राणान्तिको दण्डः	३७६। इ	यश्किञ्चिस्स्नेहसंयुक्त	प्रा२४
मोलाञ्छास्त्रविदः शूरान्	७।५४	यत्किञ्चिदपि दात्रव्यं	४।२२८
म्रियमाणोऽ याददीत	७।१३३	यत्किञ्चिदपि वर्षस्य	७११७
म्रियेतान्यतरो वापि	<b>ह</b> ।२ <b>११</b>	यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति	११।२४१
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः	<b>१</b> ०।४५	यत्किञ्चिदेव देयं तु	E188X
य	•	यत्किञ्चिद्दशवर्षाणि	<b>≂।१४७</b>
य ग्रावृशोत्यवितथं	२।१४४	यक्तिञ्चन्मधुना मिश्रं	३।२७३
य एते तु गणा मुख्याः	३।२००	यतत्कारणमञ्यक्तं	१।१३
य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः	४।२२ <b>१</b>	यत्तु दुः खसमायुक्तम्	<b>१</b> २।२८
य एतेऽभिहिताः पुत्राः	<b>१।१८</b> १	यत्तुं वाग्णिजके दत्तं	३।१ <b>८१</b>
यक्षरक्षः पिशाचान्नम्	११।६५	यत् स्यान्यो उसंयुक्तम्	१२।२९
यक्षरक्षःपिज्ञाचांश्चे	१।३७	यते समधिगच्छन्ति	<b>८।४</b> १६
यक्ष्मी च पशुपालस्य	३।१५४	यत्तत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तम्	७३१।३
यच्च सातिशयं किञ्चित्	81888	यत्नेन मोजयेच्छाद्वे	३।१४५
यच्चास्य सुकृतं किञ्चित्		यत्पर्युं षितमप्याद्यं	प्रा२४
यच्छेषं दशरात्रस्य	प्रा७५	यत्पुण्यफलमाप्नोति	X315
यजतेऽहरहर्यज्ञैः	८।३०६	यत्युं सः परदारेषु	११।१७६
यजमानो हि भिक्षित्वा	११।२४	यत्प्राग्द्वादशसाह स्र	3018
यजेत राजा कतुभिः	<i>७</i> ।७	यत्सर्वेरोच्छति ज्ञातुम्	१२।३७
यजेत वाऽइवमेघेन	११।७४	यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते	११।२३३
यज्ञशिष्टाशनं ह्योतत्	३।११८	यत्र स्वेते परिध्वंसात्	१०।६१
यतश्च भयमाशङ्केतप्राची	७।१८६	यत्र धर्मी ह्यधर्में ए	=1 <b>१४</b>
यज्ञश्च भूत्ये सर्वस्य	अहाप्र	यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते	३।५६
यज्ञक्चेत् प्रतिरुद्धः स्यात्	११।११	यत्र वर्जयने राजा	६।२४६
यज्ञाय जिम्बर्मासस्य	प्रा३१	यत्र वाप्युर्नीध पश्येत्	51 <b>१</b> ६५
यज्ञार्थमर्थं मिक्षित्वा	११।२५	यत्र स्यामी लोहिताक्षी	७।२५
<b>य</b> कार्यं निधनं प्राप्ताः	प्राप्ट	यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः	२।१३७
यज्ञार्थं पद्मवः सृष्टाः	3812	यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत	<b>⊏।७६</b>
यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्बध्याः	प्रारु	यत्रापवर्तते युग्यं	<b>६३</b> १।
यज्ञे तु वितते सम्यक्	३।२८	यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते	३।४६
यज्ञोऽनृतेन क्षरति	४।२३७	यथर्तुं लिङ्गानृतवः	१।३०
यज्ञोपवीतं वेदं च	४।३६	यथाकथञ्चित् पिण्डानाम्	११।२२०
यज्वान ऋषयो देवाः	१२।४९	यथाकर्म तपोयोगात्	१।४१

यथा काब्टमयो हस्ती	२।१४७	यथाऽस्याभ्यधिका न स्युः	७।१७७
यथा खनन्खनिश्रेग	२।२ <b>१</b> =	यथेदमुक्ताबाङछास्त्रं	१।११६
यथा गोऽत्रवोष्ट्रदासीषु	£185	यथेदं शावमाशीच	रा६१
यथा चाज्ञे फलं दानं	२।१४८	यथेरिए। बीजमुप्तवा	१११४२
यथा चैवापरः पक्षः	३।२७८	यथैघरतेजसा विह्नः	११।२४६
यथा चोपचरेदेनं	४।२५४	यथैनं: नाभिसंदध्युः	७।१८०
यथा जातवलो वह्निः	१२।१०१	यथैव शुद्रो बाह्यण्याम्	१०१३०
यथातथाऽध्यापयँस्तु	४।१७	यथैवात्मा तथा पुत्रः	61870
यथा त्रयाए। वर्णानाम्	१०।२८	यथैवैका तथा सर्वी:	१११६४
यथा दुर्गाश्रितानेतान्	६ ७।७	यथोकतकारिएां विप्र	६।८८
यथा नदीनदाः सर्वे	६१६०	यथोदतमार्तः सुस्थो टा	<b>८।</b> २१७
यथा नयत्यपृक्षातैः	2188	यथोदतः न्यपि कर्मारिए	१२।६२
यथा नाभिचरेतां तौ	<b>ह</b> ।१०२	यथोक्तेन नयन्तस्ते	≒।२५७
यथा प्लवेनौपलेन	४३११४	यथोक्तेनैव कल्पेन	प्राऽ२
यथा फलेन युज्येत	७।१२८	यथोदितेन विधिना	४।१००
यथा बीजं न वप्तव्यं	१४१३	यथोद्धरति निर्दाता	७।११०
यथा बीजं प्ररोहन्ति	3513	यदतोऽन्यद्धि कुरुते	१०।१२३
यथा ब्राह्मणचाण्डालः	१।५७	यदधीते यद्यजते	⊏।३०४
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्याद्	३।२५३	यदन्यगोषु वृषमः	61% ०
यथा महाह्रदं प्राप्य	<b>११</b> ।२६३	यदन्यस्य प्रतिज्ञाय	3313
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा	७।२०८	यदपत्यं भवेदस्यां	<b>ह। १२७</b>
यथा यथा नरो धर्मम्	११।२२८	यहाणुमात्रिको भूत्वा	१।५६
यथा यथा निषेवन्ते	१२।७३	यदा तु यानमातिष्ठेत्	७।१८१
यया यथा मनस्तस्य	११।२२६	यदा तु स्यात्परिक्षीणो	७।१ <b>७</b> २
यथा यथा महद् दुःखं	<b>८।२</b> ८६	यदा परबलानां तु	७।१७४
यथा यथा हि ८ुरुषः	४।२०	यदा प्रहृष्टा मन्येत	७ <b>।१७०</b>
यथा यथा हि सद्वृत्तम्	१०।१२८	यदा मावेन भवति	६।५०
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ	७० ६।३	यदा मन्येत भावेन	७।१७१
यथार्ह्तः संप्रणयेद्	७।१६	यदावगच्छेदायत्याम्	७११६
यथाहंमेतामः यच्यं	51३६१	यदा स देवो जागति	शास्त
यथाल्पल्मदन्त्याच	७११२६	यदा स्विपिति शान्तात्मा	शाप्रव
यथा वायुं समाश्रित्य	३।७७	यदा स्वयं न कुर्यात्तु	518
यथाविधि नियुक्तस्तु	प्रा२७	यदि तत्रापि संपश्येत्	७।१७६
यथाविष्यधिगम्यैन(म्	०था३	यदि तु प्रायशोऽध्मंम्	१२।२ <b>१</b>
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवं	४।६७	यदि ते तु न तिष्ठेयुः	७।१०८
यथाश्रुतं यथाहण्टं	<b>८१</b> ०१	यदि स्वति विधर्मे स	31888
यथाऽदवमेधः ऋतुराट्	११।२६०	यदि त्यारयन्तिकं वासं	२।२४ <b>३</b>
यथा बरहोऽफलः स्त्रीषु	२।१५८	यदि देशे च काले च	⊏।२३३
यथा सर्वाणि भूतानि यथा संकल्पितां इचैव	११६।३	यदि न प्रश्येद्वाजा	७१२० ४.९.३
	રાય <b>૪</b> ાય <b>१</b>	यदि नात्मनि पुत्रेषु	४।१७३ =।३५३
यथासुलमुलः कुर्याद्	•।२(	यदि संशय एवं स्यात्	<b>८।</b> २५३

`	C
इलोकानामुभयपंवित-श्रनुक्रम	ाणका
2200000 0 30000 0 0 3000	

यवि संसाधयेत्तत्तु	51२ <b>१</b> ३	यबीयाञ्जदेष्ठभार्यायाम्	६।१२०
यदि स्त्री यद्यवरजः	२।२२३	यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके	८।३४३
यदि स्वाइचापराइचैव	E1=X	यश्चाधरोत्तरानुयनि	51X3
यदि हि स्त्री न रोचेत	३।६१	यश्च विप्रोऽन्धीयानः	२।१५७
यदेतत्यरिसङ्ख्यातं	१।७१	यहवापि धर्मसमयात्	६।२७३
यदेव तपंयत्याद्भः	३।२८३	यश्चैतान्प्राप्तुयात्सर्वान्	२।६५
यदेवास्य पिता दद्यात्	<b>हा</b> १५५	यस्तकेणानुसंघत्ते	१२।१०५
यद्गहितेनार्जयन्ति	११।१६३	यस्तल्पजः प्रमीतस्य	६।१६७
यद् दुस्तरं यद् दुरापं	११।२३८	यस्तु तत् कारयेन्शोहात्	७२।३
यद् द्वयोरनयोर्वेत्य	5150	यस्तु दोषवतीं '''उपपादयेत्	६।७३
यद्वनं यज्ञशीलानाम्	११।२०	यस्तु दोववर्ती प्रयच्छति	<b>८</b> ।२२४
यद्वचायति यःकुरुते	प्राप्त	यस्तु पूर्वनिविष्टस्य	१ २ ऱ । ३
यद्भक्षयं स्वात्ततो दद्यात्	६। ३	यस्तु भीतः परावृतः	४३।७
यद्यत्परवशं कर्म	४।१५६	यः तुरज्जुं घटं कूपात्	51३१६
यद्यदात्मवशं तु स्यात्	४।१५६	यस्त्वधर्मेग कार्याण	<b>८।</b> १७४
यद्यद्दाति विधिवत्	३।२७५	यस्त्वनाक्षारितः पूर्व	51 <b>3</b> X X
यद्यद्धि कुरुते कि चित्	२।४	यस्त्वेतान्युपक्जृप्तानि	51333
यद्यद्रोचेत विप्रेम्यः	<b>३।२३</b> १	यस्माःत्रयोऽप्याश्रमिणः	३।७८
यद्यन्नमत्ति तेषां तु	४।१०२	यस्मादण्यपि भूतानां	६१४०
यद्यपि स्यात्तु सत्युत्रः	६।१५४	यस्मादेषां सुरेन्द्राणाम्	ডায়
यद्ययिता तुँदारैः स्यात्	<b>६।२०३</b>	यस्मादुत्यत्तिरेतेषां	<b>हे 3</b> 915
यद्यस्य विहितं कर्म	२।१५४	यस्माद् बीजप्रभावेगा	१०।७२
यद्यस्य सोऽदंघात्सर्गे	१।२६	यस्मिन् कर्माण यास्तु स्युः	51705
यद्याचरति धर्मं सः	१२।२०	यस्मिन कर्मण्यस्य कृते	११।२३३
यद्ये व रिविथनी स्याताम्	ह18६२	यस्मिञ्जिते जितावेतौ	२।६२
यद्राष्ट्रं शुद्रभूयिष्ठं	51२२	यस्मिन् देशे निषीदन्ति	<b>८।११</b>
यद् वा ते द्वा परद्रव्यम्	१२।६८	यस्मिन्नेव कुले नित्यं	३१६०
यद्वापि प्रतिसंस्कुयात्	<b>३</b> ७२।३	यस्मिन्नुगं सन्नयति	७०१।३
यद्गेष्टितशिरा भुडक्ते	३।२३८	यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये	51२२८
यन्नावि किञ्चिद्दाशानां	51805	यस्मिन्यस्मिन् विवाहे तु	<b>८। ११७</b>
यन्मूर्वेवयवाः सूर्यमाः	१।१७	यस्मै दद्यात्पिता त्वेनाम्	प्रार्थ्य
यःमे माता प्रलुलुमे	<b>ह</b> ।२०	यस्य कायगतं ब्रह्म	११।६७
यमयोश्वैव गर्भेषु	<b>हा</b> १२६	यस्य तेजोमया लोका	3813
यमान्पतत्यकुर्वाणो	४।२०४	यस्य ते बीजतो जाताः	81828
यमान्सेवेत सततं	४।२०४	यस्य त्रियाषिकं मक्तम्	११।७
यमिद्धी न दहत्यग्निः	<b>51११</b> ५	यस्य दृश्येत सप्ताहात्	51१०5
यमेग तु शुचि विद्यात्	२।११५	यस्य प्रसादे पद्मा श्रीः	७।११
यमी वैवस्त्रती देवी	<b>=</b> 1६२	यस्य मन्त्रं न जानन्ति	७।१४८
ययास्योद्विजते वाचा	२।१६१	यस्य मित्रप्रधानानि	31838
यवगोधूमजं सर्वं	प्रारप	यस्य यत्पैतृक रिक्थं	<b>हा</b> १६२
यत्रीयसस्तु या भायी	हाप्र७	यस्य राज्ञस्तु यिषये	७।१३४
•			• •

		_	
यस्य बाङ्मनसी शुद्धे	२।१६०	या पत्या वा परित्यक्ता	६।१७५
यस्य विद्वान् हि वदतः	516६	याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः	१२।१६
यस्य शूद्रस्तु कुरुते	<b>८।२१</b>	यामीस्ता यातनाः प्राप्य	१२।२२
यस्य स्तेनः पुरे नास्ति	<b>न।३</b> ८६	यामुत्प्लुत्य वृक्तो हन्यात्	<b>८।२३६</b>
यस्या स्त्रियेत कन्यायाः	815	या रोगिए। स्यात्तु हिता	8158
यस्यास्तु न भवेद् भ्राता	३।११	यावती संभवेद् वृद्धिः	518X <b>X</b>
यस्यास्येन सदाइनन्ति	१।६५	यावतो ग्रसते ग्रासान्	31833
यस्यैते निहिता बुद्धी	<b>१</b> २।१०	यावतो बान्धवान्यस्मिन्	5150
यस्त्रीश्वर्यान्न क्षमते	<b>51३१३</b>	यावतः संस्पृशेदङ्गाः	३।१७८
या गर्भिणी संस्क्रियते	६।१७३	यावत्त्रयस्ते जीवेषुः	२।२३४
याचिष्णुता प्रमादश्च	१२।३३	यावत्स स्यात्समावृत्तः	<b>८।२७</b>
याच्यः स्यात्स्नातकैविप्रै:	१९११०१	याबदुष्णं भवत्यन्नं	३।२३७
याजनाध्यापनः <b>द्यो</b> तात्	११।१८०	याद्येकानुदिष्टस्य	४।१११
याजनाध्यापने चैव	१०१७६	यावन्तश्त्रैव यैश्चान्नैः	३।१२४
याजन्नाध्यापनेनापि	21510	यावन्ति पशुरोमाणि	X135
याजनाध्यापने नित्यम्	१०।११०	यावन्नापैश्यमेध्याक्ताब्	प्रा१२६
याजयन्ति च ये पूगान्	३।१५१	यावानवध्यस्य वधे	81288
याज्यान्तेवासिनोर्वापि	४।३३	या वृत्तिस्तां समास्थाय	४।२
यातुकन्यां प्रकुर्यात् स्त्री	<b>८</b> ।३७०	या वेदबाह्याः स्मृतयः	१२।६५
यात्रामात्रप्रसिद्धचर्यं	४।३	या वेदविहिता हिंसा	प्राप्त
यादृग्गुएोन भर्त्रा स्त्री	६।२२	यासां नादवते शुल्क	多りだみ
यादृशा धनिभिः कार्या	<b>८।६</b> १	यास्तासां स्पुर्द्हितरः	F3913
यादृशेन तु भावेन	१२।८१	यां प्रसह्य दृको हन्यात्	51२ <b>३५</b>
याहकोऽस्य मवेबात्मा	४।२५४	यां यां योनि तु जीवोऽयम्	१२।५३
यादृशं तूप्यते बीजम्	६।३६	यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्	दा३४
यादृशं पुरुषस्येह	४।१३४	युक्तः परिचरेदेनं	२।२४२
यादृशं फलमाप्नोति	<b>ह</b> ।१६१	युक्तरचैवाप्रमत्तश्च	७।१४२
यादृशं भजते हि स्त्री	313	युक्तश्खन्दांस्यधीयीत	४।६५
यादशं भवति प्रत्य	<b>8</b>	युक्ते च दैवे युष्येत	७११७
यानशय्याश्रदो भार्या	४।२३२	युक्षु कुर्वन्दिनर्सेषु	३।२७७
यानशय्यासनान्यस्य	४।२०२	युगपत् प्रलीयन्ते	१।५४
यानस्य चैव यातुइच	51280	युग्मासु पुत्रा जायन्ते	३।४८
यानासनस्थश्चैवैनं	२।२०२	युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते	<b>८१५</b> ६४
यानि चैवं प्रकाराणि कालाब्	51२५१	युष्यमानाः परं शक्तघा	ঙাহঙ
यानि चैव प्रकाराणि स्थलजा	8128	ये कायिकेम्पोऽर्थमेव	८।१२४
य।नि चैवाभिषूयन्ते	४।१०	येऽञ्जेत्रिणो बीजवन्तः	3813
या नियुक्ताऽभ्यतः पुत्रम्	61880	ये च <b>यैरपचर्याः</b> स्युः	३।१६३
यानि राजप्रदेयानि	७।११८	ये तत्र नोवसर्वेयुः	<b>८</b> ।२६ <b>८</b>
यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति	<b>ह।३१६</b>	ये द्विजानामयसदाः	१०।४६
यान्यधस्तान्यमेध्यानि	५।१३२	येन केनचिदंगेन	<b>51</b> २७६
यान् सम्यगनुतिष्ठन्ति	१०११३०	ेयेन तुष्यति चात्मास्य	१२।३७
		=	

दलो काना मुभयपं <b>नित</b> -श्रनुक्रमणिः	का
--	----

9019 योनिकोटिसहस्रेषु येन मूलहरो धर्मः こしまべき ६।६३ **८१२६७** यो निक्षेपं नार्पयति येन यत्साघ्यते कार्यं 53912 येन यस्तु गुरोनेषाम् यो निक्षेपं याच्यमानो 3 3 1 7 8 51858 येन येन तुभावेन 81538 योऽन्यथा सन्तमात्मानं ४।२५५ येन येन यथाञ्जन 55512 यो बन्धनवधक्लेशान् प्राप्टइ येन वेदयत सर्व १२।१३ यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां 51357 येनास्मिन् कर्मणा लोके यो भावतेऽर्थवैकल्य 2-135 518X यो यथा निक्षिपेद्धस्ते ४।१७= येनास्य पितशे याता 51250 यो यदेवां गुणो देहे ये निवुस्तास्तु कार्येण 81738 १२।२४ यो यस्य धर्म्यो वर्शस्य येऽन्त्रे ज्वेष्ठकनिष्ठाभ्यां £1883 ३।२२ यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेत् ये पतन्त्यन्यतामिस्रो ४1१६७ c!8X5 ये पाकयज्ञाश्वत्वारः राद६ यो यस्य मांसमइनाति प्रार्थ यो यस्यैषां शिवाहानां ये वकव्रतिनो विश्रा e3318 3136 ये शुद्रादिभगम्यार्थम् यो याबन्निहनुवीतार्थ 88185 51XE येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा यो येन पतितेनेषाम् 88813 ११।१८१ येषां तु याहशं कर्म यो यो यावतिथश्वैषां 8185 १।२० योऽरक्षन् वलिमादत्ते येवां द्विजानां सात्रित्री 431188 51300 ये स्तेनपतितक्लीबाः यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति ३।१५ ४।८७ यैरम्युपाय रेनांसि योऽचितं प्रतिगृह्णाति ११।२१० 8123X योऽर्थे गुनिहिंस गुनिः येथे रुपायेरथं स्वं टा४८ प्रा१०६ यैर्वे र्वते रपो ह्यन्ते यो लोमादधमो जात्या ११।७१ १०।६६ यैव्यप्यिमान्स्थितो भावान् योऽवमन्येत ते मुले २।११ १२।२४ यैः कर्मभिः प्रचरितैः 201200 यो व युवाप्यधीयानः २।१५६ यैः कृतस्सर्वभक्ष्योऽग्निः यो वैदयः स्याद् बहुपशुः ४१६।३ ११।१२ योऽकामां दूषयेत्कन्यां ८।३६४ योऽसाधुम्योऽर्थमाबाय 39198 योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य ७।१२७ योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः १।७ योगक्षेमं प्रचारं च 38813 योऽस्याःमनः कारयिता १२।१२ योगक्षेमे ज्यथा चेत् 51730 योऽहिसकानि मृतानि प्राप्तर योगाधमनविक्रीतं यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैः 518 EX ३।२१२ यो ग्रामदेशसङ्घानां 51788 यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे ४।८१ यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यात् यं तु कर्मणि यस्मिन्सः 09913 १।२८ यो उदेव्हो विनिकुर्वीत यं तु पद्दवेन्निधि राजा ह128३ ८।३८ यो दण्डो यच्च वसनं १।१७४ यं पुत्रं परिगृह्णीयात् १ ७१।३ योऽदत्तादायिनो हस्तात् 51380 यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायाम् 20913 यो दस्वा सर्वभूतेभ्यः यं मातापित ी क्लेशं 3 8 13 २।२२७ यो धर्म एकपत्नीनां यं वदन्ति तमोश्रुता १२।११५ रा१४८ योऽघीतेऽहन्यहन्धेतान् २।८२ यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रुयुः १२।१०५ योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं २१४४१ यः करोति वृतो यस्य राग्४३ योऽनधीत्य द्विजो वेवं यः करोति तुं कर्माणि २।१६८ 82183 यो न वेश्यभिवादस्य यः किवत्कस्यचिद्धर्मः २।१२६ २।७

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तेः

51383

११।१४

योऽनाहिताग्निः शतगुः

यः प्रश्नं वित्यं ब्रूयात्	5188	राजित्वश्रनातकगुरुम्	39918
यः सङ्गतानि कुरुते	३।१४०	रःजस्वं श्रोत्रियस्वं च	5188E
यः साधयन्तं छन्देन	<b>⊏।१</b> ७६	राजस्नातकयोश् <b>चै</b> व	२।१३६
यः स्नग्व्यपि द्विजोऽधीते	२।१६७	राजा कर्मसु युक्तानां	હા <b>શ્</b> રપ્ર
यः स्वयं साधयेदर्थम्	51X0	राजा च श्रोत्रियइचैव	३।१२०
यः स्वाध्यायमधीतेऽद्वं	२।१०७	राजा तदुपयुक्तानः	2180
यः स्वामिनाननुज्ञातं	<b>⊏।१५०</b>	राजानः क्षत्रियाइचैव	१२।४६
े र		राजान्तक रणावेतौ	<b>हा</b> २२१
रक्तानि हृत्वा वासांसि	१२।६६	राजान्त्रं तेज श्रादत्ते	४।२१८
रक्षणादार्यवृत्तानाम्	ह।२५३	राजा भवत्यनेनास्तु	518€
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रोः	£13	राजा विनिर्णयं कुर्यात्	<b>53</b> 91≓
रक्षन्धर्मेण भूतानि	<b>५</b> ।३०६	राजा स्तेनेन गन्तव्यो	<b>८।३१४</b>
रक्षार्थमस्य सर्वस्य	७।३	राजा हि घर्मषड्भागं	११।२३
रक्षांसि च पिशाचाइच ताम	१२।४४	राजीवान्सिहतुण्डांश्च	प्रा१६
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनु	१।४३	राज्ञश्व दद्युरुद्धारम्	<b>७</b> ३१ <b>७</b>
रक्षांभि च विलुम्पन्ति	३।२०४	राज्ञश्च धर्ममिखलं	१।११४
रक्षितं वर्धयेच्चैव	331७	राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्	51११
रक्षितं वर्षयेद् वृद्धचा	७।१०१	राज्ञः कोषापहत् इच	<b>हा</b> २७५
रक्षिता यत्नतोऽपीह	६।१५	राज्ञाः प्रस्यातमाण्डानि	33\$12
रजसाभिष्तुता नारी	४।४१	राज्ञा च सर्वयोधेभ्यः	७३।७
रजसा स्त्री मनोदुष्टा	४।१०⊏	राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्	<b>८।२</b> १३
रजस्युपरते साध्वी	५।६६	राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धः	७।१२०
रजस्वलमनित्यं च	६१७७	राज्ञो बलाथिन: षष्ठे	२।३७
रजस्वला च षण्ढश्च	३।२३६	राज्ञी माहात्मिके स्थाने	४३१४
रजो भूर्वायुरग्निश्च	४।१३३	राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि	१०६।३
रञ्जकस्य नृशंसस्य	४।२१६	राज्ञो हि रक्षाधिकृताः	७।१२३
रतिमात्रं फलं तस्य	११।५	रात्रिभिभेसितुल्याभिः	प्रा६६
रत्नैश्च पूजयेदेनं	७।२०३	रात्रि च तावतीमेव	१।७३
रथाइवं हेस्तिनं छत्रं	७ १६	रात्रिः सन्द्ये च धर्मश्च	<b>८</b> ।८६
रयं हरेत चाध्वर्युः	51२०६	रात्रिः स्वप्नाय भूतानां	१।६५
रम्यमानतसामन्ते	७।६९	रात्री च वृक्षमुलानि	४।७३
रसा रसैनिमातब्याः	१०।६४	राजी न विचरेषुस्ते	१०।५४
रहस्यास्याथिनां चैव	७।२२३	रात्रौ श्राद्धंन कुर्वीत	३१२५०
राक्षसं क्षत्रियस्यैकं	३।२४	राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं	७।११३
राजतैर्भाज <i>नैरे</i> थां	३।२०२	राष्ट्रं(देनं वहिः कुर्यात्	51350
राजतो धनमन्विच्छेत्	४।३३	रार्ष्ट्रिकैः सह तद्राप्ट्रं	१०१६१
राजधर्मान्त्रवध्यामि	418	राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्	७।२७२
राजभिः कृतत्ण्डास्तु	<b>द</b> 1३१८	रिक्तभाण्डानि यानानि	ना४०५
राजन्यान्धोद्वीविशे	रा६४	रुक्माभं स्वप्तधीगम्यं	१२।१२२
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं	२।१६०	रुधिरे च सुते गात्रात्	४।१२२
राजन्यवैश्यो चेजानी	११।८७	रूपद्रव्यविहीनांश्च	४।१४१
	• • •		• •

FKOP रूपसत्वगुणोपेताः वयोभिः खादयत्यन्ये 3180 31258 रेतः सिक्त्वाजले चैव वराहमकराभ्यां वा ११।१७३ ७।१८७ वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यः रेतः सेकः स्वयोनीषु ११।५८ ७।८४ रोगोऽग्निज्ञतिमरणं वरुएन यथा पार्नः 20513 51805 रोमाणि च रहस्यानि वरं स्वधर्मी विगुणः 81888 03 09 वर्जयन्मधु मांसं च गन्धं २।१७७ वर्जयेन्मध्र मांसं च भौमानि **६18**8 लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यात् 8 8163 वर्णक्रमेण सर्वाणि 51२४ ललाटसंमितो राज्ञः रा४६ वर्णं रूपोपसम्पन्नै: ४।६८ लग्ननं गृञ्जनं चैव वर्णानामाश्रमाणां च ሂነሂ ७।३५ लाभालाभं च पण्यानां \$ \$ \$ 13 वर्णीनां सङ्करं चक्रे **८**१६७ लूताहिसरटानां च १२।५७ वर्णीनां सान्तरालानां २।१८ लोकसंध्यवहारार्थं वर्णापेतमविज्ञातम् 51838 १०।५७ लोकस्याप्यायने युक्तान् वर्ण रूपं प्रमाणं च ३।२१३ 51३२ वर्तयक्व शिलोञ्छाम्यां लोकानन्यान् सृजेयुर्ये ४।१० ८।३१५ लोकानां तु विवृद्धियर्थं वर्तेत याम्यया वृत्त्या १।३१ ८। १७३ लोकेशाधिष्ठितो राजा धार वर्षे वर्षेऽन्वमेधेन メリスミ लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु 51१२० वशाऽपुत्रासु चैवं स्यात् 5175 लोमान्मोहाद्भयान्मैत्रात् 51११5 वज्ञे कृत्वेन्द्रियप्रामं २।१०० लोमः स्वप्नोऽश्वतिः कौर्यम् वसन् दूरतरे ग्रामात् 281835 १२।३३ लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी ३।४४ ४।७१ वसनस्य दशा ग्राह्या लोहराङ्कु मृजीषं च 8180 वसा शुक्रमसृङ्मज्जा メリをミス वसित्वा मैथुनं वासः लोहितान्वृक्षनिर्यासान् ४।११६ प्राइ लौकिकं वैदिकं वापि २।११७ वसिष्ठविहितां वृद्धि ना१४० वसिष्ठश्चापि शपथं 51220 वसीत चर्म चीरं वा ६१६ वणिक्पथं कुसीदं च वसीरन्नानुपूर्व्येण २१४१ ११६० वत्सस्य ह्यमिशस्तस्य वसुन्वदन्ति तु पितृन् ३।२८४ 5188६ वधेन शुध्यति स्तेनः वसेयुरेते विज्ञानाः ११।१०० १०।५० वधेनापि यदा त्वेतान् ८।१३० वस्त्रं पत्रलङ्कारम् 39813 वध्यवासांसि गृह्णीयुः १०।५६ वस्त्रान्नपानं देयं तु ११।१८८ वध्यांश्च हन्युः सततम् वस्त्रापहारकःश्वैत्र्यं ११।५१ १०।५६ वनस्था श्रपि राज्यानि ७।४८ व।क् चैव मधुरा श्लक्ष्णा २।१५६ वनस्पतिभय इत्येवं ३।८८ वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य ११।३३ वनस्पतीनां सर्वेषाम् वाग्दण्ड जंच पारुष्यं नारुन्य ७।४८ वने वसेत्तु नियतो वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये ६११ 5192 वनेषु च विहुत्यैवम् वाग्दण्डोऽय मनोदण्डः ६।६३ १२।१० 5125 वाग्दण्डं प्रथमं कुर्यात् वन्ध्यापुत्रासु 51838

8158

७।६४

४।१८

११।१५१

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चेत

वाग्वैवत्येश्च चरुमिः

वाचा वाचाकृतं कर्मे

5138X

5180X

१२।८

वन्ध्याऽष्टमेधिवेद्याब्दे

वपूष्मान्वीतभीर्वाग्मी

वयसः कर्मणोऽर्थस्य

वपनं मेखला दण्डः

वाचिकैः पक्षिमृगतां	१२।६	विचार्य तस्य वा वृत्तं	<b>८</b> ।१८७
वाचि प्राणे च पश्यन्तो	४।२३	विचायं सर्वगण्यानाँ	ना४०१
वाच्यांनि मित्रमुत्सर्गे	<b>१</b> २। <b>१२१</b>	विजेतुं प्रयतेतारीन्	७।१६८
वाच्यर्था नियताः सर्वे	४।२५६	विट्पण्यमुद्घृतोद्धारं	१०।८४
वाच्येके जुह्वति प्राग्ां	४।२३	विट्जूदयो रेवमेष	=1२७७
दाणिज्यं कारयेद् वैदयं	5186°	विट्श्रुद्रयोस्तु तानेव	३।२३
वातेन्द्रगुरुवह्मीनां	११।११६	विड्वराहखरोष्ट्राणाम्	११।१५४
वादयुद्धप्रधानाश्च	१२।४६	विण्नूत्रोत्सर्गसिद्धं घर्थं म्	प्रारं३४
वादेष्यवचनीयेषु	<b>८।२</b> ६६	वितयाभिनिवेशश्च	१२।४
वानरं श्येतभासौ च	१०।१३५	वितथेन ब्रुवन्दर्पात्	<b>=</b> 1२७३
वानस्पत्यं मूल <b>फलं</b>	5F F I =	वित्तं बन्धुर्वेयः कर्म	२।१३६
वान्ताइयुल्कामुखः प्रेतः	१२।७१	विदुषा बाह्य एंने वं	१।१०३
वान्तो विरक्तः स्नात्वा तु	४।१४४	विदुषे दक्षिणां दत्त्वा	३।१४३
वायसानां कृमीणां च	३।६२	विद्ययेव समं कामं	२।११३
वायुः कर्मार्ककाली च	प्रा१०५	विद्यागुरुष्वेतदेव	२।२०७
वायुवच्चानुगच्छन्ति	31 <b>१</b> 58	विद्यातयोभ्यां भूतात्मा	३११०६
यायो । पि विकुर्वाणात्	१।७७	निचातपोविवृद्ध <b>चर्यं</b>	६।३०
वाय्वग्निवित्रमादित्य	४।४८	विद्यातपःसमृद्धे षु	३।६८
वारिदस्तृप्तिमाप्नोति	४।२ <b>२</b> ६	विद्यादुत्सादयेच्चैव	3713
वार्ता कर्मेव वैश्यस्य	१०।८०	विद्याधनं तु यद् यस्य	<b>ह</b> ।२०६
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्	<b>ह</b> ।३२६	विद्या बाह्यणमेत्याह	२।११४
वार्धीणसस्य मांसेन	३।२७१	विद्यार्थं षड्यशोः थंवा	१७।३
वार्यन्नगोमहीवासः	४।२३३	विद्या शिल्पं भृतिः सेवा	१०।११६
वायंपि श्रद्धया दत्तं	३।२०२	विद्युतोऽशनिमेघांश्च	१।३८
विविका दचतुरो मासान्	४०६।३	विद् <b>युःस्तनितवर्षेषु</b>	४। <b>१</b> ०३
वासन्त्रशारवैमें ध्ये:	६।११	विद्विद्धः सेवितः सद्भिः	२।१
वासांसि मृतचेलानि	१०।५२	विद्वांस्तु बाह्मणो हप्ट्वा	<b>८</b> ।३७
वासो दद्याद्धयं हत्वा	११।१३६	विधवायां नियुक्तस्तु	६।६०
वासोदश्चन्द्रसालोक्यं	४।२३१	विधवायां नियोगार्थे	<b>६</b> ।६२
वाहनानि च सर्वाणि	७।२२२	विधाला शासिता वस्ता	११।३४
विकर्मक्रियया नित्यं	<b>ह</b> ।२२६	विधाय प्रोहित वृत्तिम्	દા હો
विकर्मस्याञ्छीण्डिकाश्च	<b>ह</b> ।२२४	विधाय वृति भार्यायाः	१७४
विक्रयाद्यो धनं किचित्	<b>८।२०</b> १	विधियज्ञारजपयज्ञः	२।५४
विक्रीणीत तिलाञ्जूदान्	90160	विधिवत् प्रतिगृह्यापि	६।७२
विक्रीणीते परस्य स्व	<b>८३</b> १६७	विधिवद् ग्राहयामास	१।५८
विक्रोशरूयो यस्य राष्ट्रात्	७।१४३	विधिवद्वन्दनं कुर्यात्	क्। <b>२१</b> ६
विगतं तु थिदेशस्थम्	प्राष्ट्र	विषूमे सन्तमुसले	६।५६
विघसाशी मवेन्निःयं	३।२८४	विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं	<b>=</b> 1२२
विषसी भुक्तशेषं तु	३।२८४	धिनाद्भिरम् वाप्यात्तः	<b>११</b> ।२०२
विचुच्य तु हुतं चौरः	<b>51233</b>	विनाशं व्रजति क्षिप्रं	३।१७६
विचरेन्नियतो नित्यं	६।५२	विनीतवेषाभरणः	51२

	श्लोकानामुभयपंक्ति-ग्रनुक्रमणिका		
	•	५११०१	
विनीतात्मा हि नृपतिः	3६। ७	विशेषतोऽसहायेन	७।४५
विनीतैरतु व्रजेन्नित्यं	४।६८	विश्वजन्य मिमं पुण्यं	१ ६ । ३
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं	३।२२६	विद्वेभ्यव्यंव देवेभ्यो बलि	३१६०
विपणेन च जीवन्तो	३।१५२	विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्त्र	३।⊏५
विपरीतं नयन्तस्तु	द। <b>२</b> ५७	विद्वदैश्च देवैः साध्यैद्व	११।२९
विष्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता	११।१७६	विघ्नैरगदैश्चास्य	७।२१८
वित्रयोगं द्रियइचैव	६।६२	विषघ्नानि च रत्नानि	७।२१८
विप्रवद्वाऽपि तं श्राद्धे	३।२२०	विषयाणां ग्रहीतृणि	१।१५
वित्रसेवंव शूद्रस्य	१०।१२२	विषयेषु च सज्जन्त्यः	१।२
विप्रस्य तन्तिमित्ते वा	११।८०	विषयेषु प्रजुष्टानि	₹188
विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु	१०।१०	विषयेप्वप्रसंक्तिश्च	१।८६
विप्रस्य विदुषो देह	४।१११	विषयोपसेवा चाजस्रं	१२।३२
विप्रस्यौद्धारिकं देय	81820	विषादप्यमृतं ग्राह्यं	२।२३६
वित्रः शुद्धचप्यपः स्पृष्ट्वा	3312	विष्ठा वार्षु पिकस्यान्नं	४।२२०
विश्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठघं	२।१५५	विसंवदेन्नरो लोभात्	<b>51२१€</b>
विप्राणां वेदविदुषाम्	४६६।३	विसृज्य च प्रजाः सर्वाः	७।१४६
विप्रान्तिके दितृन् ध्यायन्	३।२२४	विसृज्य घ्यानयोगेन	<b>ફો</b> છ €
विप्राः प्राहुस्तया चैतत्	६।४५	विस्टय ब्राह्मणास्तांस्तु	३।२४८
विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या	२।१३२	विस्तीर्यते यशो लोके	७।३३
विप्रोष्य पादग्रहणं	२।२ <b>१</b> ७	विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्रात्	८।४ <i>१७</i>
विष्लुतौ शूद्रवद्दण्डघौ	<b>51</b> ३७७	विहङ्गमहिषीणां चे	<b>हा</b> ५५
विभक्ताः सह जीवन्तः	<b>६।२</b> १०	विहत्यं तु यथाकालं	७।२२१
विभागधर्मं द्यूतं च	१।११५	वीक्ष्यान्धी नवतेः कारगः	३।१७७
विमुखा बान्धेवा य।न्ति	४।२ <b>४१</b>	वीतशोकभयो विप्रो	६।३२
वियुज्यतेऽर्थं धर्माभ्यां	७।४६	वृक्तवच्चा वलुम्पेत	७।१०६
विरमेत्पक्षिणीं राति	४।६७	वृको मृगेभं व्याधोऽस्वम्	<b>१</b> २।६७
विराट्सुताः सोमसदः	२।१६५	वृक्षगुल्मावृते चापैः	७।१६२
विवशः शतमाजातीः	<b>८</b> ।८२	वृत्तिंतत्र प्रकुर्वीत	<b>⊏।२३</b> ६
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि	<b>=</b> 1२२६	वृत्ते शरावसम्याते	६।५६
विवादे वा विनिजित्य	<b>११</b> ।२०५	वृत्तीनांलक्षणं चैव	१।११३
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्	६।२४१	वृथा कृतरसंयावं	ध्राष्ट
वि'वेक्तेषु च तुष्यन्ति	३।२०७	वृथा पशुघ्तः प्राप्नोति	<b>X13</b> =
विविधानि च रत्नानि	१२।६१	वृथालम्भेःनुगच्छेदगां	११।१४४
विविधानि च शिल्पानि	२।२४०	वृथा सङ्करजातानाम्	४।८६
विविधाइचैव संपीडाः	<b>१</b> २।७६	वृथाहिँ शपथं कुर्वन्	⊏। १ <b>११</b>
विविधाश्चौपनिषदी:	६।२६	वृद्धसे की हि सततं	७।३८
विवृद्धघर्षं स्ववंशस्य	<b>६।१</b> २⊏	वृद्धांश्च नित्यं सेवेत	७।३८
विश्वतीशस्तु तत्सर्वं	७।११७	वृषभैकसहस्रा गा	११।१२७
विशतीशं शतेशंच	७।११५	वृबभैकावशा गाश्च	११।११६
विशिष्टं कुत्रचिद् बीजम्	४६।३	वृषभैकादशा वापि	११।१३०
विशीलः कामवृत्ती वा	<b>प्र</b> ।१५४	वृषलत्वं गता लोके	१०१४३

वृत्रलंतं विदुर्देवाः	<b>⊏।१</b> ६	वैगुण्याज्जन्मनः पूर्वः	१०।६८
वृषसीफेनपीतस्य	३११६	वैणवीं घारयेद्यांट	४।३६
वुषो हि भगवान् धर्मः	≒।१६	वैतानिकंच जुहुवात्	६।६
वेखुवैदलभाण्डानां	<b>८।३२७</b>	वंदिके कर्मयोगे तु	१२।८७
वेतनस्यैव चादानं	514	वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः	२।२६
वेदतत्त्वार्थविदुषे	३१६६	वैदेहकाना स्त्रीकार्यं	१०।४७
वेदत्रयान्निरदुहुद्	२।७६	वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यां	१०।१६
वेद प्रदाना शांचार्यं	२।१७१	वैदेहिकादन्ध्रमेदौ	१०।३६
वेदमध्येष्यमाणश्च	५ १३८	वैरिएं नोपसेवेत	४।१३३
वेदमेव सदाम्यस्येत्	२।१६६	वैवाहिको विधिः स्त्रीणां	राइ७
वेदमेवाम्यसेन्निःयं	४।१४७	र्ववाहिकेऽग्नौ कुर्वीत	३।६७
वेदयज्ञ रहीनानां	२।१८३	वैशेष्यात् प्रकृतिश्रेष्ठचात्	१०।३
वेदविच्चापि विप्रोऽस्य	३।१७६	वैश्यरा जन्यविष्ठासु	१०।१२
वेदविद्यावतस्नातान्	४।३१	वैश्यच्छीचकल्प श्च	४।१४०
वेदक्तिस् विविक्तेषु	११।६	वैश्यवृतिमनातिष्ठन्	१०।१०१
वेदगव्देम्य एवादौँ	१।२१	वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु	१०।५३
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः	१२।१०२	वैश्यशूद्रापचारं च	१।११६
वेदसंन्यासिकानां तु	६।⊏६	वैश्यशुद्राविप प्राप्तौ	31882
वेदस्याधीत्य वाष्यन्तं	४।१२३	वैश्यशूद्रौ प्रत्यत्नेन	दा४१द
वेदाङ्गानि च सर्वाणि	8,8=	वैश्यशूदी सखा चैव	३।११०
वेदादेव प्रसूयन्ते	१२।६५	वैश्यश्चेत् क्षत्रियां गुप्ताम्	51352
वेदानधी ये वेदी वा	३।२	वैश्यस्तु कृतसंस्कारः	<b>ह</b> ।३२६
वेदान्तं विधिवच्छ त्वा	६।६४	वैश्यस्य तुं तपो वार्ता	११।२३५
वेदाम्यासस्तवो ज्ञानमिन्द्र	१२।८३	वैश्यस्य धनसंयुक्तः	२।३१
वेशभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचम्	१२।३१	वैश्यस्य पुष्टिसयुक्तः	२।३२
वेदाम्यासेन सततं	81885	वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्	१०।१०
वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या	११।२४५	वैश्याजः सार्धमेवांशं	<b>हा</b> १५१
वेदाभ्यासो बाह्यग्रस्य	१०।५०	वैश्यात् जायते वात्यात्	१०।२३
वेदाभ्णसो हि विप्रस्य	રાષ્ટ્રફ	वैश्याद् मागधवैदेही	१०।१७
वेदार्थवित्प्रवक्ता च	३।१८६	वैश्यानां धान्यधनतः	२।१४५
बेदारत्यागरच यज्ञारच	२।६७	वैश्यानामाज्यपा नाम	939।ह
वेदोक्तमायुर्मत्यानां	११८४	वैश्यान्मागधवैदेही रा०	१०।११
वेदोऽखिलो धर्ममूलं	रा६	वैश्यापुत्रो हरेद् द्वेयं शं	<b>€1१</b> ५३
वेदोदिनं स्वकं कर्म	४।१४	वैश्ये चैच्छति नान्येन	<b>६।३२</b> ८
वेदोदितानां नित्यानाम्	११।२०३	वैश्येऽप्यर्धशतं द्वे वा	<b>८।२६७</b>
बेदोपकरणे चैव स्वाध्याये	रा१०५	वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे	११।१२६
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः	२।१६४	वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशत्	दा२६द
वेदः स्मृतिः सदाचारः	२।१२	वैज्योऽजीवन् स्वधर्मेण	१०।६८
वेनो विनष्टोऽविनयात्	७।४१	वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु	र।६२
वेषवाग्वुद्धिसारूप्यं	४।१८	वैश्यं क्षेमं समागम्य	२।१२७
वेषाभरणसंशुद्धाः	७।२१६	वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्	⊏।३७४
<b>→</b> ·	•	• ,	

वंश्यम्प्रति तथैवैते	801195	शक्तः परजने दाता	१११६
वैश्यः पञ्चदशाहेन	४।८३	शक्तितो नःभिधावन्तः	६।२७४
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्या	3312	शक्तितोऽपचमानेभ्यः	४।३२
वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्	<b>≒।३७</b> ५	शक्ति चोभयतस्तीक्ष्णां	ना३१५
वैश्वदेवस्य सिद्धस्य	३।८४	शक्ति चावेक्ष्य दाक्ष्यं च	१०।१२४
वैश्वदेवे तु निवृत्ते	३।१०८	शक्ति चावेक्ष्य पापं च	११।२०६
वैश्वदेवं हि नामैतत्	३।१२१	शक्तेनापि हि शूद्रेण	१०।१२६
बोदु: स गर्भो भवति	ह। १७३	शठो मिय्याविनीतश्च	४।१६६
व्यत्यस्तपाणिना कार्य	२।७२	शणसूत्रमयं राज्ञः	२।४४
व्यपेतकल्मयो नित्यं	४।२६०	शतमश्वानृते हन्ति	5185
व्यपेत कल्मषोऽभ्येति	१२।१८	शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सह	5135X
व्यपोह्य किल्विषं सर्व	ना४२०	शतानि पञ्च दण्डघः स्यादज्ञा	ना२६४
व्यमिचारात् भर्तुः स्त्री	प्रा१६४	शतानि पञ्च दण्डचः स्यादिच्य	ब्र ८।३७८
व्यभिचारात् मर्तुः स्त्री	६।३०	शतायुश्वैव विज्ञेया	३।१⊏६
व्यभिचारेण वर्णानाम्	११।२४	शतं देशसहस्राणि	હોં હે
व्यवहारान्दिह <b>क्षुस्तु</b>	<b>51</b> ₹	शतं बाह्यणमाक्रुव्य	<b>८।२६७</b>
व्यवहारेण जीवन्त	७।१३७	गतं वर्षाणि तामिस्रो	४।१६५
व्यवहारो मिथस्तेषां	१०।५३	शत्रुभेविनि मित्रे च	७।१८६
व्यसनस्य च मृत्योश्च	७।५३	शनकैस्तु क्रियालोपात्	80183
व्यसनानि दुरन्तःनि	७।४५	शनैरावर्तमानस्तु	४।१७२
व्यसन्यभोऽधो त्रजति	७।५३	शब्दः स्पर्शदच रूपञ्च	<b>१</b> २185
व्यस्तैवचैव समस्तैश्च	७।१५६	शम्यापातास्त्रयो वाऽपि	<b>5</b> 1२३७
व्याधाञ्छाकुनिकान् गोपान्	=1२६०	शयनस्थो न भुञ्जीत	४०।४
व्याधिता वाऽधिवेत्तव्या	6150	शयानः प्रौडपाउइच	४।१३२
व्याधितां विप्रदुष्टां वा <sub>ृ</sub>	६।७२	<b>श</b> ब्धाऽऽसनमलङ्कारं	<b>८</b> ११७
व्यायम्याप्तुत्य मध्याह्ने	७।२१६	शय्यासनस्थरचैवैनं	२। <b>१</b> १६
व्यानग्राहानुञ्च्छवृत्तीन्	<b>८।२६०</b>	<b>शय्यासनेऽ</b> घ्याचरिते	3188
व्याहतिप्रण <b>वै</b> र्युक्ता	६१७०	शय्यां गृहान्कुशान्गन्थान्	४।२५०
व्रतचर्यापचारं च	१।१११	शरणागतहंतृ इच	११।१६०
व्रतवद् देवदेवत्ये	२।१८६	शरणागतं परित्यज्य	११।१६८
व्रतस्थमपि दौहित्रं	३।२३४	शरणेष्वममश्चैव	६।२६
वतानि यमधनीश्च	२।३	शरान्कुव्जकगुल्मांश्च	<b>51</b> २४७
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य	४।१६=	<b>शरीरकर्षणात्प्राणाः</b>	७।११२
व्रात्यता बान्धवत्यागः	<b>१</b> १।६२	शरीरजैः कर्मदोषैः	१२।६
व्रात्यया मह संवासे	<b>⊏।३७३</b>	शरीरस्यात्यये चैव	६।६८
ब्रात्यास्त्र जायते विप्रात्	१०।२१	शरीरेण समंनाशं	<b>५</b> ।१७
वात्यानी याजनं कृत्वा	११।१६७	शरीरं चैव वाचं च	२।१६२
व्रीहयक्शालयो मुद्गाः	3513	शरीरं यातनार्थीयं	१२।१६
		शरः क्षत्रियया ग्राह्यः	३।४४
্ হা		शर्मवर् ब्राह्मणस्य स्यात्	२।२३
शक्तः कर्मण्यदुष्टं च	८। ३८८	शल्यं चास्य न कृन्तन्ति	<b>८।१२</b>

#### मनुस्मृतीः

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव	४।५४	शुनां च पतितानां च	3187
<b>शवस्पृशो</b> विशुध्यन्तिः	४।६४	शुभागुभफलं कर्मं	१२।३
गशकूर्मयोस्तु मांसेन	३।२७०	शुलकसंज्ञेत मूल्येन	61800
शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य	१०।७६	शुल्कस्थानं परिहरन्	21800
कस्त्रेण <b>वै</b> श्यान् रक्षित्वा	३१११०१	शुल्कस्थानेषु कुशलाः	द।३ <b>६</b> ५
शस्त्रं द्विजातिभिर्गाह्यं	८। ३४८	शुल्कं च द्विगुरा दद्यात्	<b>८</b> ।३६६
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु	<b>ं।११७</b>	शुल्कं टद्यात्सेवमानः	⊏।३६६
शंसेद् ग्रामदशेशाय	७।११६	शुल्क हि गृह्ण-कुरुते	६।६५
शाकमूलफलानां च	४।११६	शुश्रूषा द्रःह्मण।नां च	७।८८
शाखान्तगम थाघ्वयु 🖁	३।१४४	शुश्रीपत्वा नमस्कृत्य	११।११०
शारङ्गी मन्दपालेन	१ १३	शुश्रुषैव तु शूद्रस्य	४६६।३
शारीरं धनसंयुक्त	<b>ह</b> ।२३६	शुष्केवैरं विवादं च	35918
शारीरं शौचिमच्छिह्न	३६१।४	शुष्काणि भुक्तवा मांसानि	११।१५५
शाल्मलीन्सालतालांश्च	<b>⊏।२४६</b>	शूद्रन्तु कारयेद् दास्यं	≒।४१३
शाल्मलीफलके इलक्ष्णे	<b>न</b> ।३१६	श्रुद्रविद् <del>क्षत्र</del> विप्रागाम्	=1808
शासनाद्वा विमोक्षःद्वा	⊏।३१६	शूद्रशिष्यो गुरुइनैव	३।१५६
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैः	<b>ह</b> ।२३०	शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा	२।२४
शिर:स्नातश्च तैलेन	४।८३	शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्	१०।१२१
शिरोमिस्ते गृशीःवोर्वी	≂í२४६	शुद्रश्य तु सवर्णेव	हा१५७
शिलानप्युञ्छतो नित्य	३।१००	गुद्राणां तु सधर्माणः	१८१२
शिलोञ् <b>छ</b> मप्याददीत	१०।११२	श्रुद्राणां मासिकं कार्यम्	प्रा१४०
शिल्पेन व्यवहारेएा	३।६४	शूदाज्जानो निपाद्यां तु	१०१६
शिल्पोपचारयुक्ताश्च	ह।२५६	शूद्रादायोगवः क्षता	१०।१२
शिष्ट्वा वा भूमिदेवानाम्	११।८२	शूँद्रायां क्षत्रियविशीः	<b>८।३</b> ८३
शिष्यांश्च शिष्य। द्वर्मेण	४।१७५	शूदायां बाह्यसाज्जातः	१०१६४
शिष्येण बन्धुना वापि	51'90	शूद्रावेदी पतत्यत्रैः	३। <b>१</b> ६
शिष्येम्यश्च प्रवक्तव्यं	१।१०३	गुँदाश्च सन्तः शुद्राणां	नाईन
शीतातपाभिघातांश्च	१२।७७	शूद्रां शयनमारोप्य	<b>३।१</b> ७
शुके द्विहायन वत्सं	881838	शूद्रेण हि समस्तावद्	२।१७२
शुक्तं पर्याष्ट्रांचीव	४।२११	श्रुदेत्र मार्या शूदस्य	3183
<b>3</b> े हे <b>ंड्रिय</b>	Ę ń		198
गुरु दे तिन उत्री <b>ण</b>	२।१७७	, के क	१५,५४=
शुक्लपक्षादिनियतः	११।२१७	शूद्रो हि <b>घनमासाद्य</b>	१०११२६
शुचिना सत्यसन्धेन	७।३१	शूद्रो बाह्मणतामेति	१०१६५
য়ু चिरुत्कृष्टशुश्रुषुः	£133x	शून्यानि चाप्यगाराणि	<b>हा</b> २६५
शुचि देश विविक्तं च	३।२०६	शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्	७१२०
<b>शुचीनाकरकर्मा</b> न्ते	७।६२	<sup>श्</sup> रेगालयोनि प्राप्नोति	<b>५।१६४</b>
शुची देशे जपञ्जप्य	राररर	शृगालयोर्नि चाप्नोति	0,513
शुद्धिविजानता कार्या	५।१२१	शेलुं गध्यं च पेयुषं	प्राइ
शुद्ध्येद्विप्री दशाहेन	५।५३	शेवमात्मनि युञ्जीत	६।१२
-,	- •	शेष)णामानृशंस्या	<b>टा</b> १६३

٩	0	y	9
- 1	•	•	`

# **श्लोकानामुभयपंक्ति-ग्रनुक्रमणिका**

शेपास्तमुपजीवेयुः	११११५	श्रेयस्करतरं ज्ञेयं	१२।≒६
शेषे त्वेकादशगुण	<b>८।३२२</b>	श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे	६।१८४
शेषेऽप्यंक।दशगुराः	<b>८।३२०</b>	श्रेयःसु गुरुवद्वृत्ति	२।२०७
शैलूषतुन्नवायान्नं	४।२ <b>१</b> ४	श्रुष्ट्यनाभिजनेनेद	१।१००
शोणितं यावतः पांसून्	४।१६८	श्रोत्रं त्यक्चक्षुधी जिह्ना	२।६०
कोि एतं यावतः पासून्	११।२०७	श्रोत्रियस्य कदयंस्य	४।२२ <b>४</b>
शोचन्ति जामयो यत्र	<i>७</i> । ४। इ	श्रोत्त्रयान्वयजाइचैव	३४१८४
शौ चंयथार्हकर्त्तव् <b>यं</b>	प्रा४१४	श्रोत्रियार्यं व देयानि	३।१२८
शौचाशीत्रंहिमत्यीनां	७३।३	श्रोत्रिये तूपसंपन्ने	५।⊏१
शौचे धर्मेःन्नपवत्यां च	१११३	श्रोत्रियेषूपकुर्वश्च	<b>८१३</b> ६४
शौचेष्सुः स <b>र्वदा</b> चामेत्	२।६१	श्रोत्रियं य्याधितात्तः च	×3€1≈
शौन <b>क</b> स्य सुनोत्पत्त्या	३।१६	श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं	53512
शीर्यकर्मा गरेशीश्च	<b>ह</b> ।२६८	श्लेष्मनिष्ठच्य तवान्तानि	४।१३२
<b>इमशानगोचर सूते</b>	35109	श्लेष्माश्रु दुषिका स्वेदो	४।१३४
इमशानेष्वपि तेजस्वी	<b>₹</b> 13	इवक्रीडी इयेनजीबी च	३।१६४
श्रद्धानोऽनसूयश्च	४।१५८	श्वलशेष्ट्रेच रुवति	४।११५
श्रद्धानः शुमां विद्यां	२।२३८	श्वगोधोलुकका का श्र	११।१३१
श्रद्धयेत्टं च पूर्तं च	४।२२६	<b>इववतां शौण्डिकानां च</b>	४।२१६
श्रद्धावृते ह्यक्षये से	४।२२६	इवभिर्हतस्य यन्मांसम्	प्राष्ट्रवेश
श्रद्धाचे नो माव्यगमद्	32513	<b>इव मांसमिच्छः न।त्तों</b> ऽत्तु	१०।१०६
श्रद्धापुतं वदान्यस्य	४।२२५	इवशृगालखरैर्वच्टः ग्राम्ये	339199
श्राद्धभुंग्दृश्लीतत्त्पं	३।२५०	दवसूकर <b>खरोष्ट्राणाम्</b>	१२।४५
श्राद्धं भुक्तवा य उच्छिष्टं	३।२४६	इवावित्कृतान्नं विविधं	१२।६५
श्राद्धे प्रशस्तातिथयो	३।२७६	इवाविधं शस्यकं गोधां	५।१८
श्रावण्यां प्रीहडपद्यां वा	<b>8</b> .84	क्वा तु <b>इ</b> ष्टिनिपातेन	३।२४१
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते	२।५२	-	
श्रीकामो वर्जयन्नित्यं	४१६१	ष	
श्रीफलैरंशुपट्टानां	५।१२०	षट्कर्मको भवत्येषां	318
श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य	<b>७</b> ।१३५	षट्त्रिशदारिदकं चर्यं	318
श्रीता चे वा	1 13	षट्सु पट्सु च मासेषु	21803
श्रुतशाल च विज्ञाय	११।२२	पड् ऋतूंश्चनमस्कुयदि	३।२ <b>१</b> ७
श्रुतंदेशंच जातिच	<b>51</b> २७३	षडानुपूर्व्या विप्रस्य	३।२३
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्	२।८	वण्गान्तु कर्मणामस्य	<b>१</b> ०।७६
श्रुतिद्वैषं सु यत्र स्यात्	२।१४	वण्णामेवान्तु सर्वेवाम्	<b>१</b> २।८६
भुतिस्तु वेदो विज्ञेयः	२।१०	षण्मासनिचयो वा स्यात्	६।१८
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं	शह	वण्मासां <b>र</b> छागमांसे <b>न</b>	३।२६१
भुतिसमृत्युदितं सम्यङ्	४।१५५	वच्छं तु क्षेत्रजस्यांशम्	<b>ह</b> ।१६४
श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः	११।३३	षष्ठान्नकालता मासम्	११।२००
श्रुरवा स्पृष्ट्वा च हष्ट्वा च	२।६८	गष्ठेऽन्नुप्राशनं मासि	२।३४
श्रुखतानृषयो धर्मान्	प्रा१	षाण्मासिकस्तथाच्छादः	७।१२६
श्रूयतां येन दोषेण	प्रा३	षोडशैव तु <b>वैद</b> यस्य	51३३७
= ·			

स		सत्कृत्यान्त यथाशक्ति	३।११३
स एव ता मायदीत	51२०5	सिक्तयां देशकाली च	३।१२६
स एव दद्याद् ही पिण्डी	६।१३२	सत्यथ <b>मर्थिवृत्तेषु</b>	४।१७५
स एवं धर्मजः पुत्रः	00913	सत्यपुतां वदेद्वाचं	६।४६
सकरा सरहस्य च	२।१४०	सत्यमर्थं च संपद्येत्	<b>८। ४</b> ४
सकामां दूषयंस्तुल्यः	दा३६८	सत्यमुक्तवा तु विप्रेषु	११।१६६
सकामां दूपयंस्तुत्यो न वधं	द1३ <b>६४</b>	सत्यं ब्र्यात्त्रियं ब्र्यात्	४।१३८
स कुवेरः स वरुँणः	७। ७	सत्यं साक्ष्ये बुदन् साक्षी	5158
सकुउजप्रवास्य वामीयम्	११।२५०	सत्यान भाषा भवति	=1१६४
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रे	११।१५८	सत्यानृतं तु वाणिज्यं	४।६
स कृत्वा प्लवमात्मान	39188	सत्यानृताभ्यामपि वा	४।४
स कृत्स्तां पृथिवीं भुङ्कते	७।१४८	सत्येन पूयते साक्षी	5153
सकृदंशो निपतति	<b>७४</b> ।३	सत्येन ज्ञापयंद्विप्रं	⊏।११३
सक्दाह ददानीति	6180	सत्रं हि वर्धते तस्य	<b>८</b> ।३०३
स क्रीतकः सुतस्तस्य	४७१।३	स त्रीण्यहान्युपवसेत्	११।१५७
सरुयुः पुत्रस्य च स्त्रीगु कुमारी		स त्वप्सु तं घटं प्राप्य	११।१८७
सस्युः पुत्रस्य च स्त्रीपु गुरु	११।५८	रात्त्वस्य लक्षणं धर्मः	१२।३८
स गॅच्छति पर स्थानं	३।६३	सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानम्	<b>१</b> २।२६
स गच्छत्य असा विशो	२।२४४	सस्वं रजस्तमश्चैव	१२।२४
स गच्छत्युत्तमस्थानं	२।२४६	स दण्डं प्राप्नुयानमापं	3 <b>9</b>
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्धेदः	११।२६५	स दण्डघः कृष्णलान्यप्टौ	≒।२१५
स गृहे गूरमुत्पन्नः	61१७०	स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिः	द <b>।१</b> ५४
स गृहेऽपि वसेन्नित्यं	३।७१	सदा प्रहृष्टया भाव्यम्	४।१५०
स गोहत्थाकृतं पापं	११।११५	स दीर्घस्यापि कालस्य	<b>८।२१</b> ६
सचिवान्सप्त चाष्टी वा	७।५४	सहशन्तु प्रकुर्याद् यम्	37913
स चेतु पथि संरुद्धः	51 <b>२</b> ६५	सद्दर्ग प्रीतिसंयुवतं	<b>ह</b> ।१६८
सर्चैलो बहिराप्लुत्य	११।२०२	सहरास्त्रीषु जातानाम्	<b>हा</b> १२५
सजातिजानन्तरजाः	१०१४१	सदशानेव तानाहुः	१०१६
स जीवन्नेव शूद्रत्वं	२।१६८	सद्भिराचरितं यत्स्यात्	⊏।४६
स जीवंश्च मृतश्चैव	प्रा४५	सद्यः पतित मांसेन	१०।६२
सज्जयन्ति हिं ते नारीः	द।३६२	सद्यः प्रक्षालको वा स्यात्	६।१८
सज्योतिः स्यादनध्यायः	४।१०६	सद्यः सन्तिष्ठते यज्ञः	४।६८
स जेयो यजियो देशो	२।२३	स द्वौ कार्पायणी दद्यात्	<b>ह</b> ।२८२
स तर्थेव ग्रहीतव्यः	51850	स नाप्नोति फल तस्य	११।२८
स तदा तद्गुणप्रायं	१२।२५	स निर्भाज्यः स्वकादंशात्	१।२०७
स तदेव स्वयं भेजे	१।२८	सञ्जीवनं महावीचि	४।८६
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्	११।१८१	सञ्जीवयति चाजस्र	१।५७
स तस्योत्पादयेत्तुष्टि	दा२दद	सन्तुष्टो भार्यया मर्ता	३।६०
स ताननुपरिकामेत्	७।१२२	सन्तोषं परमास्थाय	४।१२
स तानुवाच षम्हिमा । अस्य	१२।२	सन्तोषमूलं हि सुखं	४।१२
स तातुवाच धर्मात्मा । श्रूयतां	प्रा३	सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारम्	६।३
स तैः पृष्टस्तया सम्यक्	११४		

सन्धि च विग्रहं चंब	७ <b>।१६०</b>	समवस्कन्दयेच्चैनं	७।१६६
सन्धि छित्त्रा तुये चौर्यम्	<b>ह</b> ।२७६	समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठ	४६११३
सन्धि तु द्विविधं विद्यात्	७।१६२	समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यौष्ठच	६।२१०
सन्ध्ययोरुभयोश्च व	४।१३१	समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य	<b>ह</b> ।२०४
मन्ध्ययारमयोश्चैव सूर्य	317=0	समस्तत्र विभागः स्यादिति	६।१२०
सन्ध्ययो <b>र्वे</b> दिबद्विष्ठो े	२।७⊏	समस्तानां च कार्येषु	<b>अ</b> ।४७
सन्ध्यां चोपास्य शृणुयात्	७।२२३	स महीमखिलां भुञ्जन्	<b>ट</b> ।६७
,		स माता स पिता जैयः	२।१४४
सन्निधावेष वं कल्यः	४.। ५४	समानयानकर्मा च	७।१६३
सन्तियम्बेन्द्रियग्रामं	२।१७५	समानशयने चैव	४।४०
सन्तिवेदयात्ममात्रासु	१।१६	समानोदकभावस्तु	४।६०
न पर्यायेण यातीमान्	४।६७	समाप्ते तूदकं कृत्वा	४।५५
स पापकुरामी लोके	<b>જાર</b> પ્રપ્રે	समाप्ते द्वादशे वर्षे	११।५१
स पापारंगा परे लोके	११।२६	समाप्तुयाद् दमं पूर्वं	<b>६</b> ।२५७
स पापिप्ठो विवाहानां	३।३४	समाविशति संसृष्टेः	१।५६
स पारयन्नेव शवः	ह1१७ <b>=</b>	समाहत्य तु तब्भेक्षं	२।५१
सपालः शतदण्डार्हः	<b>⊏।२४०</b>	समीक्ष्य गारिण प्राज्ञ	७।२६
सपालान्वा विशालान्वा	<b>८</b> ।२४२	समीक्ष्य कुल <b>धर्माश्च</b>	518 <b>१</b>
सपिण्डता तु पुरुषे	४।६०	समीक्ष्य सं घृतः सम्यक्	<b>३</b> ११९
स पीतसोमपूर्वी-पि	११।=	समुत्थानव्ययं दाप्यः	51253
सप्तकस्यास्य वर्गस्य	७।५२	समुद्रयानकुशलाः	≂।१५७
सप्तगारांश्चरे <b>द्धक्षं</b>	११।१२२	समुद्रयायी बन्दी च	३।१५८
सप्तद्वारावकीर्णीच	६।४८	समुद्रे नाप्नुयार्दिकचित्	51255
सप्त प्रकृतयो ह्योताः	४३५।३	समुत्विंच मांसस्य	प्रा४६
सप्त वित्तागमा धर्म्याः	१०।११५	समुपोडेषु कामेषु	६१४१
सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य	६।२६६	समुत्सृजेत्सा <b>ह</b> सिकान्	८१३४०
सप्तानां प्रकृतीनान्तु	६।२६५	समुत्सृजेद् भूक्तवता	३।२४४
स प्रेत्य पशुता याति	メリミメ	समुत्सृजेद् राजमार्गे	<b>ह</b> ।२=२
स ब्रह्मचारिण्येकाहम्	<b>ধ।</b> ও <b>१</b>	स मुढो नरक याति	३।२४६
म ब्रह्म परमभ्येति	२।⊏२	समेञ्युमानगुँसित्रयौ व।	3188
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो	२।११६	समेपु तु गुणोत्कृप्टान्	८। ३
समान्तः साक्षिगः प्राप्तान्	<b>८।</b> ३६।	समैहि विषम यस्तु	ह।२५७
सभाप्रपापूपशाला	६।२६४	समोत्तमाथमे राजा	७।८७
सभामव प्रविज्याग्रघा	हार्	समोऽवकृष्टजातिस्तु	=।१७७
सभावान प्रवेष्टय्यं	<b>51</b> ₹3	समं पश्यन्तात्मयाजी	१२।६१
स भुत्र्जानो न जानानि	३।११५	समः सर्वेषु भुतेषु	६।६६
समक्षदर्शनाःसाक्ष्यं	=10४	सम्पन्नमित्यभ्युदये	३।२५४
समता चैय सर्वस्मिन्	६१४४	सम्प्रधायित्रवीद्धाता	१०१७३
सममग्रहाणे दानं	७।५५	<b>सम्बन्धिनो ह्य</b> पा लोके	४।१८३
समवरणुसु ये जाताः	<b>ह।१५६</b>	सम्भवश्च यथा तस्य	७।१
समवर्गे द्विजातीनां	<b>न</b> ।२६६	सम्भवश्चास्य सर्वस्य	रारप

1041	3/.8	Z	
सम्भवांदच वियोनीवु	१२।७७	सर्वलोकाधिएत्यं च	१२।१००
सम्भावयति चान्तेन	२। <b>१४</b> २	सर्ववर्णेषु तुल्यासु	१०।५
सम्भाषणं सह स्त्रीभिः	<b>८</b> ।३६०	सर्वस्य तपसो मूलं	१।११०
सम्भूति तस्य तां विद्यात्	२।१४७	सर्वस्यास्य तु सर्गस्य	१।५७
सम्भूय च ममुत्थानं	218	सर्वस्यास्य प्रयश्यन्तः	११।२४४
सम्भूय स्वानि कर्माणि	<b>८।२११</b>	सर्वस्यास्य ययान्यायं	७।२
सम्भोगो हश्यते यत्र	<b>51२००</b>	सर्वस्यैवास्य सर्गस्य	१।⋷३
सम्मोजनी सामिहिता	३।१४ <b>१</b>	सर्वस्वहारमर्हन्ति	६।२४२
सम्मानाद् बाह्य एगे नित्यं	२।१६२	सर्वस्वं वेदिबदुषे	११।७६
सम्मार्जनोपाञ्जनेन	प्रा१२४	सर्वं कर्मे स्मायतं	७।२०५
सम्यक् प्रणिहितं चार्थ	<b>=</b> , <i>X X</i>	सर्वं च तान्तवं <b>रक्तम्</b>	१०।५७
सम्यगर्थसमाहतृ न्	७।६०	सर्वं च तिल १म्बद्धं	४।७५
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः	६१७४	सर्वेच दंशमशकं	११४०
सम्यङ् निविष्टदेशस्तु	<b>हा</b> २५२	सर्वं तुतपया साध्यं	११।२३८
		सर्वे तु समवेक्ष्येदं	२।⊏
स यदि प्रतिपद्येत	<b>८।१८३</b>	सर्वं सुकृतमादत्ते	००१।६
स याच्यः प्राट्विवाकेन	5125 <b>2</b>	सर्वं परवशं दुःखं	४। <b>१</b> ६०
स याति भासतो विष्रः	११ २५	सर्वं भूम्यनृते हन्ति	3317
सरस्वतीह <b>ष</b> द्वत्योः	२।१७	सर्व वापि चरेंद् ग्रामं	२।१⊏४
स राजा पुरुषो दण्डः	७।१७	सर्ववारिक्यजातंतत्	हा१५२
स राज्ञातच्चत्रभीगं	<b>८।१७</b> ६	सर्वं <b>श्रुणु</b> त तं वित्राः	३।३६
सरितः सागराञ्छैलान्	१।२४	सर्वं स्वं बाह्यणस्येदं	१।१००
सर्वे एव विकर्मस्थाः	<b>६।२१४</b>	सर्व ह्यात्मनि संपन्यन्	१२: <b>११</b> =
सर्वकण्टकपाविष्ठम्	६।२६२	सर्वाक रेऽवयीकारः	११।६३
सर्वतो धर्मषड्मागो	८।३०४	सर्वाकुशल <b>मोक्षाय</b>	११।२२१
सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्	१०।१०२	सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि	११।१८७
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्ने तु	४।२५१	सर्वान्परित्यजेदर्थान्	४।१७
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्य	४।२ <b>४</b> ७	सर्वान्बलकृतानयीन्	51 <b>१</b> ६5
सर्वत्र तु सदो देय:	=।२४ <b>१</b>	सर्वान् रसानपोहेत	१०।८६
सर्वथा बाह्मणा पूज्याः	39813	सर्वान्संसाधयेदयीन्	२।१००
सर्वथा वर्तते यज्ञः	२ <b>.१</b> ४	सर्वासामेकपत्नीनाम्	E18=3
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च	७ ६६	सर्वास्ता निष्कलाः प्रेत्य	१२।६४
सर्वद्वन्द्वविनिर्भु क्तः	६।=१	सर्वस्ति स्तेन पृत्रेण	E18=3
सर्वधर्मावदोऽलुब्धा	८।६३	सर्वस्तांस्तेन पुत्रेण	<b>६।१</b> ८२
सवंभूतप्रसूतिहि	¥\$13	सर्बेण तु प्रयत्नेन	७।७१
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः	१।७	सर्वेतस्याहता धर्माः	२।२३४
सर्वभूतेषु चात्मानम्	१२। ६१	सर्वे ते जपयज्ञस्य	२।८६
सर्वमात्मनि सम्पद्येत्	१२।११=	सर्वे ने नरक यान्ति	इ।१७२
सर्वरस्नानि राजा तु	8818	सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते	<b>٤</b> ١==
सर्व लक्ष गही नो ऽपि	४।१५=	सर्वे पृथकपृथादण्डबः	⊏।२६३
सर्वलोकप्रकोपट्च	હોસ્૪	सर्वेषाँ तु विदित्त्रैषाः	<b>७</b> १२०२
		•	

सर्वेषां तु विशिष्टेन	७।४८	स स्वर्गाच्च्यवते लोकात्	३।१४०
सर्वेषां तुं स नामानि	१।२१	सहखट्वासनं चैव	दा३४७
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्यात्	१०१२	सह द्यावापृथिव्योश्च	३।८६
सर्वेषां शावमाशौचम्	प्रा६२	सह विण्डक्रियायां तु	३।२४८
सर्वेषान्धनजातानाम्	89913	स हरेतैव तद्रिक्थं	818X <b>8</b>
सर्वेवामिप चतेवाम् शुभानां	१२।८४	सह वाऽपि व्रजेद्युक्तः	७।२०६
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं	१२।८५	सह सर्वाः समुत्यन्ताः	७।२१४
सर्वेबामपि चैतेषां वेदस्मृति	६।८०	सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य	२।७६
सर्वेषामपि तु न्याय्यम्	<b>ह</b> ।२०२	सहस्रशः समेतानां	१२।११४
सर्वेशमध्यभावे तु	६।१८८	सहस्रंक्षत्रियो दण्डचः	≒।३७४
सर्वेदामधिनो मुख्याः	<b>८।२१०</b>	सहस्रं तु पितृन्माता	१।१४५
सर्वे अमेव बानानां	४।२३३	सहस्रं बाह्यरोो दण्डं	<b>८।३७</b> ८
सर्वेदामेव शौचानाम्	४।१०६	सहस्रं बाह्यगो दण्डचः	८।३८३
सर्वेद्वेव व्रतेष्वेवं	११।२२५	सहस्रं हि सहस्राणां	३।१३ <b>१</b>
सर्वे रुपार्य रन्त्रिच्छेत्	51860	सहासनमभिप्रेष्मुः	<b>८।२</b> ५१
सर्वो दण्डजितो लोको	७।२२	स हि धर्मार्थमुत्पन्नो	<b>१</b> 185
सर्वोपायैस्तथा कुर्यात्	७। <b>१७</b> ७	स हि स्वाभ्यादतिकामेत्	₹313
सर्वपाः षट् यवो मध्यः	⊏।१३४	सहोदं सोपकरणं	१।२७०
स लिङ्गिनां हरत्येनः	४।२००	सहोमौ चरतां धर्म	३।३०
स लोके प्रियतां याति	४।५०	साक्षिणः सन्ति मेस्युक्त्वा	≂। <b>५</b> ७
सवर्णाग्रे द्विजातीनां	३।१२	साक्षिप्रत्यय एव स्यात्	≒।२४३
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो	<b>९</b> ९१४	साक्षिप्रत्ययसिद्धानि	<b>८।१७</b> ८
सवासा जलमाप्लुत्य सद्यः	४।७⊏	साक्षिप्रदनविधानं च	१।१५
स विज्ञेयः परो धर्मो	१२।११३	साक्षी हुष्टश्रुतावन्यत्	≂।७५
स विद्यादस्य कृत्येषु	७।६७	साक्ष्यभावे तुं चत्वारो	<b>८।२</b> ५८
स विधूयेह पाप्मान	६।८४	साक्ष्यमावे प्रशिधिभिः	51 <b>१</b> 5२
स विनामं व्रजत्याशु विद्वेषं	<b>८।३४</b>	साक्ष्येऽनृतं वदन् पाद्यैः	5152
स विनाशं व्रजत्याशुं सूचका	४।७१	सा चेत् पुनः प्रदुष्येत्	११। <b>१</b> ७७
स वै सर्वमवाष्नोति	२।१६०	सा चेदक्षतयोनिः स्यात्	<b>ह। १७</b> ६
सध्याहृतिप्रगावकाः	११।२४=	सा तेषां पावनाय स्यात्	११।८४
सब्येन सब्यः स्प्रष्टब्यः	२।७२	सा त्रीन्मासान्परित्याज्या	ह।७८
सब्ये प्राचीन ग्रावीती	२।६३	साधुषु व्यपदेशार्थं	७।१६८
स शतं प्राप्नुयाद् दण्डं	51 <b>२</b> २४	साध्यानां च गणं सूक्ष्मं	१।२२
स ज्द्रवद् बहिष्कार्यः	२।१०३	साऽनुज्ञाप्याधिवेत्तव्या	<b>ह</b> । ५ २
स सन्धार्यः प्रयत्नेन	301€	सान्तानिकं यक्ष्यमाणम्	११।१
स सर्वसमताभेत्य	82182X	सान्त्वेन प्रशमय्यादौ	513E8
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः	प्राप्ट६	सांपरायिककल्पेन	७।१८४
स सर्वोऽभि।हितो वेदे	२।७	सा प्रशस्ता द्विजातीनां	<b>3</b> 18
ससहायः स हन्तव्यः	=18E3	सा भर्तृ लोकमाप्नोति	४।१६४
सस्यान्ते नवसस्येष्टचा	४।२६	सा भर्तृ लोकानाप्नोति	3513
स साधुभिर्बहिष्कार्यो	२।११	सामदण्डौ प्रशंसन्ति	७।१०६
<del>-</del>			

सामध्वनावृग्यजुषी	४। <b>१</b> २३	सुखं ह्यवमतः शेते	२।१६३
मामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः	≒।२६२	सुखाम्युदियकं चैव	१२।==
सामन्तानामभावे तु	5128	सुगुर्वप्यपहन्त्येनः	१२।२५६
सामन्ताइचेन्मृषा ब्रूयुः	<b>८।२६३</b>	सुदाः पैजवनश्चीव	७।४१
सामवेदः स्मृतः पित्र्यं	४।१२४	सुपरीक्षितमन्नाद्यं	७।२१७
सामादीनामुपायानां	७।१०६	सूपर्गकिन्नराणां च	३११६६
साम्ना दानेन भेदेन	७।१६=	सुँप्तो मत्तां प्रमत्तां वा	इ।३४
साम्नां वा सरहस्यानां	११।२६२	सुष्याक्षस्याच भुक्त्वाच	प्रा१४५
साम्राज्यकृत्सजात्येषु	<b>८</b> ।३८७	सुंधीजं चैव सुक्षेत्रे	१०१६६
सायम्प्रातश्च जुहुयाद्	२।१८६	सुयुद्धमेव तन्नापि	७।१७६
सायं त्वः नस्य सिद्धस्य	३।१२१	सुरोपानापनुत्त्यर्थं	११1६२
मारसं रज्जुवालं च	५।१२	सुरां पीत्वा द्विजो मोहात्	98180
सारापराधौ चालोक्य	<b>⊏1</b> १२६	सुरा वै मलमन्नानाम्	६३।११
सारासारं च भाण्डानाम्	<b>ह</b> ।३३१	सुरूपंवाविरूपंवा	8113
सार्ववर्णिकमन्नाद्यं 🔍	३।२४४	सुवर्णकर्तुं र्वेणस्य	४।२ <b>१५</b>
सांवत्सरिकमाप्तैश्च	ঙাহ০	सुवर्णचौरः कौनस्यं	३४।४१
सावित्रान्छान्तिहोमांश्च	४।१५०	सुवर्ण रजतादीनां	<b>≒।३२१</b>
सावित्रीं च जपेन्नित्यम्	<b>११</b> ।२२५	सुवर्णस्तेयकृद्विप्रः	33188
सावित्रीपतिता त्रास्या	२।३६	सुवासिनीः कुमारीश्च	<b>३</b> १११४
सावित्री <b>मप्यधीयी</b> त	२।१०४	सुसंगृहीतराष्ट्रो हि	७।११३
सावित्रीमात्रसारोऽपि	२। <b>११</b> ⊏	सुसंस्कृतोपस्करया	४।१५०
स।वित्र्यास्त् परं नास्ति	२।⊏३	सुहृत्स्वजिह्यः स्निग्धेषु	७।३२
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या	8153	सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत	६।६४
साहसस्य नरः कत्ती	८।३४४	सूक्ष्माम्यो मूर्तिमात्राभ्यः	3919
साहसे वर्तमानं तु	द।३ <b>४</b> ६	सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः	१।३
साहतेषु च सर्वेषु	<b>⊏।७</b> २	सूच्या वज्रेण चैवैतान्	७।१६१
सिद्धिमेकस्य संपर्यन्	६।४२	सूतकं मातुरेव स्यात्	४।६२
सिंहा व्याघ्रा वर्गहाश्च	१२।४३	सूतानामश्वसारध्यम्	१०।४७
सीताद्रध्यापहर्ग	<b>E</b> 3913	सूतो वंदेहकश्चेव	१०।२६
सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिः	१०।११३	सूत्रकार्पासकिण्वानां	<b>८।३२६</b>
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य	द1 <b>२</b> ४६	सूनाच∌ घ्वजवतां	४।८४
सीमायामविषह्यायां	⊏।२६४	सूर्मी ज्वलन्ती स्वाश्लिप्यत्	११।१०३
सीम।वि <b>निर्णयं कुर्यु</b> ः	≂।२४ <b>⊏</b>	सूर्येण ह्यभिनिमुक्तः	२।२२ <b>१</b>
सीमाविवादधर्मञ्च	ना६	सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः	१।६१
सीमावृक्षांश्च कुर्वीत	<b>८।२४६</b>	सृष्टि <b>मृ<sup>*</sup> ष्टिद्धि</b> जाश्चग्रघः	३।२४४
सीमासन्धिषु कार्याणि	<b>८।</b> २४८	सृष्टि संसर्ज चैवेमां	१।२५
सीमां प्रति समुत्पन्ने	=।२४५	सेनापतिबलाध्यक्षी	७।१८६
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैः	⊏।२५६	सेनापत्यं च राज्यं च	51200
सुखस्य नित्यं दातेह	४।१४३	सेवा स्ववृत्तिर। ख्याता	४।६
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्	२।१६३	सेवेतेमांस्तु नियमान्	२।१७५
सुखं चेहेच्छता नित्यं	3015	सेह निन्दामवाप्नोति	५।१६१

2	रलोकाना <b>म्</b> भयप	वित-भ्रनुक्रमणिका	१०६५
	J	संयोगं पतितैर्गत्वा	१२।६०
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्ति	१०।३२	संरक्ष्यमाणी राज्ञा यं	७।१३६
सोऽग्निभंवति वायुक्च	७।७	संरक्षणार्थं जन्तूनाम्	६।६८
सोऽचिराद् भ्रद्यते राज्यात्	७।१११	संरक्ष्येत्पर्वतस्यैन	धार्द्रप्र
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च	E1= 83	संवत्सरम्प्रतीक्षेत	e <i>છા</i> ક
सोदर्या विभजेरँस्तम्	६।२१२	संवत्सरस्यैकमपि	५।२१
सोऽनुजानो हरेदशं	हा १ ७ ह	संवःसराभिशस्तस्य	६७६।३
सोऽनुभूयासुखोदकान्	१२। <b>१</b> ≒	संवःसरेर्ग पतति	११।१८०
सोऽन्तर्देशाहात्तद् द्रव्य	⊏।२२२	संवत्सरे व्यतीते तु	प्राउ६
सोऽपत्य भातुरुत्पाद्य	<i>६</i> ।१४६	संवत्सरं तुगब्येन	३।२७१
सोपानस्कश्च यत् भुङ्कते	३।२३८	संवत्सरं यवाहारः	१।६८
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्	१।८	संवाद्य रूपसंख्यादीन्	≒।३१
सोमपा नाम विश्राणां	७३१।६	सविभागश्च भूतेभ्यः	૪ા३૨
सोमपास्तु कवेः पुत्राः	३।१६८	संविशेत् यथाकालं	उ।२२४
सोमविक्रयिणं विष्ठा	३।१⊏०	संशोध्य त्रिविधं मार्गं	७।१८५
सोमाग्न्यकानिलेन्द्रारााम्	५।६६	संश्रयस्येव तच्छीलं	१०१६०
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य	<b>६।१२</b> ६	संतारगमनं चैव	१।११७
सोमारौद्रन्तु बह्व ना	११।२५४	<b>सं</b> सारान्प्रतिपद्यन्ते	१२।५४
सोऽमंवृतं नाम तमः	لا ا ت <b>ا</b> لا	संमृष्टास्तेन वा ये स्युः	१।२१६
सोऽसहायेन मूढेन	१९१३ ०	संस्पर्ता चोपहर्ता च	प्राप्त
सोऽस्य कार्याणि संपद्येत्	<b>⊏</b> 1१०	संस्कारस्य विदेशाच्च	१०१३
सौरान्मंत्रान्यथोत्साह	प्राद६	संस्कारार्थ शरीरस्य	२।६६
सङ्करापात्रकृत्यासु	११।१२५	संस्थितस्यानपत्यस्य	०३१।३
संकरीकरण ज्ञेय	११।६८	संस्पृष्टं नैव शुध्येत	प्रा१२३
संकरे जातयस्त्वेताः	१०१४०	संहतस्य च मित्रेण	७।१६५
संकल्पमूलः कामो व	२।३	संहतान्योधयेदल्पान्	१३१।७
सङ्क्रीणंयोनयो ये तु	१०।२५	सहत्य हस्तावध्येयं	२।७१
संक्रमध्वजयष्टीनाम्	६।२८५	संहात च सकाकोल	3=18
सक्षिप्यते यशो लोके	४६।७	स्कन्धेनादाय मुसलं	⊏।३१४
संग्रामेध्वनिवतित्वं	৬।১১	स्तेनगायनयोश्चान्तं	४।२१०
सनिधात् श्च मोषस्य	€।२७=	स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि	द। <b>३०१</b>
संनियम्यं तु तान्येव	२।६३	स्तेनानां निग्रहादस्य	द <b>।३</b> ०२
संन्यस्य सर्वकर्माणि	६।६५	स्तेनानां पापबुद्धीनां	६।२६३
संन्यासेनापहर्त्यनः	६।६६	स्तेनान्राजा निगृ <u>क्</u> लीयात्	<b>६।३१२</b>
संपर्यतः सभृत्यस्य	<b>७।१४३</b>	स्तेयं च साहसं चैव	=।६
संपूज्या गुरुपत्नीवत्	२।१३१	स्तेयदोवापहतृ णा	११।१६१
संबाद्याय त्वतिथये	3315	स्तये च द्वपद कार्य	<b>ट</b> ।२३७
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि	१२।७४	स्त्रियं स्युशेददेशे यः	=1३५=
सत्रीत्या भुज्यमानानि	⊏।१४६	स्त्रियञ्चैव विशेषेण	७११५०
संयमे यत्नातिप्ठेत्	२।८८	स्त्रियः श्रियदच गेहेपु	<b>१।२६</b>
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च	७।२ <b>१</b> ४	स्त्रिया क्लीबेन च हुने	४१२०५
संयोगे विप्रयोगे च	६।१	स्त्रियान्तु यद् भवेद् वित्तम्	£188=

# मनुस्मृतौ

स्त्रियां तु रोचमानायां	३।६२	स्नात्वाऽर्कं मर्च यित्वा त्रिः	२।१८१
स्त्रियाप्यसम्भवे कार्यं	5130	स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाऽग्नि	प्रा१०३
स्त्रिवोऽप्येतेन कल्पेन	१२।६९	स्नानं समाचरेन्नित्य	४।२०३
स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या	२।२४०	<b>स्नास्यस्तु</b> गुरुणाऽऽज्ञप्तः	२।२४४
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि	31%	स्नाने प्रसाधने चैव	७।२२०
स्त्रीगामसंस्कृतानान्तु	४। ५२	स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ	प्रा१४२
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भं	३८१।५	स्पृष्ट्वादत्त्राच मदिराम्	११ १४८
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युः	<b>८</b> ।६८	स्पृष्ट्वैतानशुचिनित्यं	४।१४३
स्त्रीराां सुखोमद्यमक्त्रं	२।३३	स्पयशूर्पशकटानांच	५।११७
स्त्रीधनानि तु ये मोहात्	<b>३</b> 1५२	स्यन्देनाइवैः समे युद्धचेत्	७।१६२
स्त्रीवर्मयोगं तापस्यं	१।११४	स्याच्चाम्नायपरो लोको	9150
स्त्रीपुंधर्मो विमागइच	<b>≈1</b> 9	स्यात् साहसं त्यन्त्रयवत्	<b>८।३३</b> २
<b>स्त्रीबालब्राह्मण</b> घनांश्च	<b>ह</b> ।२३२	स्रग्विणं तत्य ग्रासीनं	313
स्त्रीवालाम्युगपत्ती च	<b>१</b> ०1६२	स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं	२।७४
<i>स्</i> त्रीबालोन्मनवृद्धानाम्	<b>ह</b> ।२३०	स्रवन्त्यामाचरन्स्नानं	११।२५४
स्त्रीबुद्धेरस्थिरस्वात्तु े	<b>দা</b> ওও	स्रोतसां भेदको यइच	३।१६३
स्त्रीमृक्षः स्तोक्तको वारि	१२।६७	स्वकर्मं ख्यापयनद्ग्रूयात्	35188
स्त्रीम्लेच्छन्याधितव्यङ्गान्	<b>७</b> ११४६	स्वक्रम्णां चत्यागेन	४०१२४
स्त्रीविप्राम्युपपत्ती च	5।३∙६	स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते	१।५३
स्त्रीशूद्रपतिताङ्चैव	११।२२३	स्वकादिः च वित्ताद्धि	3 <b>3</b> \$13
स्त्रीशूद्रवि <b>ट्क्षत्रवध</b> ः	११।६६	स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्तु	<b>ह। १</b> ६६
स्त्रीब्वनन्तरजातासु	१०१६	स्वजातीयगृहादेव	११।१६२
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि	३।६	स्वदेशे वा विदेशे वा	<b>८।१६७</b>
स्थलजौदकशाकानि	६११३	स्वधनादेव तद् दद्यात्	⊏।१६२
स्थाणुच्छेदस्य केदार	<b>६</b> ।४४	स्वधर्मेण नियुक्तायां	<b>८।१६७</b>
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषू	६।२२	स्वधर्मो विजयस्तस्य	३१११०१
स्थानामनाम्यां विहरेदशक्तः	११।२२४	स्वधाकारः परा ह्याशीः	३।२४२
स्थाने युद्धे च कुशलान्	७। <b>१</b> ६०	स्वधास्त्रिवत्येव तं ब्र्युः	३।२४२
स्थानं समुदयं गुप्ति	७।४६	स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी	२। <b>१८१</b>
स्थापयन्ति तु यां वृद्धि	<b>न।१</b> ५७	स्वप्नाऽन्यगेहवास्त्रच	६११३
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं	७।२०२	स्वमाव एष नारीणां	३।२ <b>१</b> ३
स्थापयेदासने तस्मिन्	<i>'</i> अ <b>१४१</b>	स्वभावेनेव यद् बूयुः	5105
स्थ वर जङ्गमं चैव	४।२८	स्वनांसं परमांसेन	५1 <b>५</b> २
स्थावराणि च भूतानि	११।२४०	स्वमेनोऽवभृषस्नातः	११।८२
स्थावराः कृमिकीटाइच	१२।४२	स्वमेत्र बाह्यणो भुङ्कते	१।१०१
स्थीललक्ष्यं च सततं	७।२११	स्वयमीहितलब्धं तत्	ह।२०८
स्तातकव्रतक्राञ्च	४।२५६	स्वयमेव तुयो दद्यात्	८। १८६
स्तातकदतलोगे च	8 81203	स्वयमेवात्मनो ध्यानात्	१।१२
स्तति रस्य च राजस्य	२।२३⊏	स्वयंकृतञ्च कार्ग्यार्थम्	७।१६४
स्तात्वा तु विशे दिखासा	११।२०१	स्वयंदत्तरच् शोद्रश्च	६।१६०
स्तात्वाज्ञान्यस्यः वेष्	११।२०४	स्वयं वा शिव्यवृष्णी	११।१०४

<b>इ</b> लोकाना	मुभयपंक्ति-१	रन्क्रमणिका
4200000	2441144.	17541111111

•••			
स्वरवर्णेङ्गिताकारैः	517 <b>X</b>	हत्वा लोकानपीमांस्त्रीन्	११।२६१
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्यात्	७।३२	हत्वा हंसं बलाकाञ्च	११।१३५
स्वगयिुष्ययशस्यानि	४।१३	हन्ति जातानजातांइच	3312
स्वर्गार्थमुभयार्थं वा	१०।१२२	हन्त्यल्पदक्षिणो यजः	११।४०
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रः पि	४।१६०	हन्यते प्रेक्षमाणाना	<b>८</b> ।१४
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि	४।१६१	हन्याच्चित्र वैधोपार्यः	६।२४८
स्ववीयद्वाजवीर्याच्च	११।३३	हरेत्तत्र नियुक्तायाम्	६।१४५
स्वयीयॅग्गैव ताञ्छिष्यात्	११।३१	हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टः	३।२३३
स्वशक्ति परशक्ति च	<b>१३</b> ६ ५	हविद्निन विधिवद्	३।२११
स्वाचैव कुयत्सिर्वेषां	६। ५६	हवियंश्चिररात्राय	३।२६६
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं	E1885	हिवषा कृष्णवत्मेव	शहर
स्वादानाद्वर्णसंसर्गा	<b>८</b> ।१७२	हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्	११।७७
स्वाध्यायभूमि चाशुद्धां	४।१२७	हविष्पान्तीयमभ्यस्य	<b>११</b> ।२५१
स्वाध्याये चैव युक्तः स्याद्	४।३५	हविष्ये <b>ग यवाग्वा</b> वा	११।१०६
स्वाध्यायेन व्रतैहोंमै:	२।२८	हब्यकब्याभिया ह्याय	१।६४
स्वाध्यायेनाचंयेहबीन्	३।५१	हन्यानि तु यथान्यायं	३।१३४
स्वाध्याये नित्य युक्तः स्याद् दा	म्तो ६।८	हस्तिगोऽष्वोष्ट्रदमकः	३। <b>१</b> ६२
स्वाध्याये नित्ययुर्वतः स्याद्दैवे	३।७४	हस्तिनइच तुरंगाइच	१२।४३
स्वाध्याये भोजने चैव	४।५८	हंस्त्य इव रथ हुत् श्च	<b>ह</b> ।२८०
स्वाध्यायं श्रावयेत्पत्र्ये	<b>३</b> ।२३२	हितेषु चैव लोकस्य	१।३२४
स्वानि कर्माएा कुर्वाणा	<b>८</b> ।४२	हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं	२।२ <b>१</b>
स्वानि स्वान्यभिषद्यन्ते	१।३०	हिरण्यभुमिसंत्राप्त्या	<b>७</b> ।२०५
स्वाभिनांच पशुनांच	<b>८</b> ।२४४	हिरण्यं धान्यमन्नं च	१०।११४
स्वां प्रसृति चरित्रं च	रा3	हिरण्यं भूमिमश्वं गां	४।१८८
स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रम्	४३९।३	हिरण्यमायुरन्नं च	४।१८६
स्वाभ्यं च न स्यात्कस्मिश्चित्	७।२१	हिंसाप्रायां पराधीनां	१०।८३
स्वायम्भुवस्यास्य मनोः	१।६१	हिंसारतश्च यो नित्यं	४।१७०
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते	१।६३	हिसौषधीनां स्त्र्याजीवः	११।६३
स्वायंभूवो मनुधीमान्	१।१०२	हिस्राणां च पिशाचानां	१२।५७
स्वारोजिषदचौत्त मदच	१।६२	हिस्राणां चैव सत्वानां	१२।५६
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं	3913	हिस्रा भवन्ति कव्यादाः	१२।५६
स्वेदजं दंशमशकं	१।४५	हिलाहिल्ले मृदुकुरे	शश्ह
स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः	हारे १८	हिस्रो वृषलवृत्तिश्च	31868
स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यः	१२।७०	ह्रियमाणानि विषयै:	इ।५६
स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां	७।३५	होनक्रियं निष्पुरुषं	३। ७
स्त्रे स्वेदस्तरे सर्वमिदं	१।६३	हीनजातिस्त्रियं मोहात्	३।१४
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन	E13	हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्	४।१४१
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्	२।२०	हीनातिरिक्तगाको वा	३।२४२
<b>ह</b>	. ,	हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्	२११६४
हत्वा गर्भमविज्ञातम्	११।८७	हीनाहीनान्त्रयुयन्ते 🔪	१०।३१
हत्वा छि:वा च भित्त्वा च	३।३३	हीतं पुरुषकारेण	८।२३२
•		` •	,

# मनुस्मृतौ

हुङ्कारं ब्राह्यसम्योक्त्वा	११।२०४	हेभन्तग्रीष्मवर्षासु	'३।२ <b></b>
हुतांग्निब्रह्मिणांश्चाच्यं	७।१४५	हैत्कान्वकवृत्तींश्च	० है। ४
हुत्वा जनौविधिवद्होमान्	११।११६	होता वापि हरे <b>दश्व</b>	≒।२०६
हूयमानस्च यज्ञेषु	<b>६।३</b> १८	होता स्यादग्निहोत्रस्य	<b>११</b> ।३६
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः	२।१	होमादच सकला नित्यं	<b>११</b> ।२००
हृद्गाभिःपूर्यते विप्रः	२।६२	होमे प्रदाने भोज्ये च	३।२४०
हुँद्यानिचंत्रे मासानि	३।२२७	होमो दैवो बलिभौतो	३१३०

# इति मनुस्मृतिक्ञोकानामुभयपंक्ति-श्रनुक्रमणिका



# मनुस्मृति - शब्दसूची

अंशः ८.२०६: ९.४७: २११	अक्रोधना ३.१९२	अगारम् ६.५१
अंशकस्पना ९.११६	अक्रोधनान् ३.२१३	अगारवाही ३.१५८
अंशप्रकल्पना ८.२११	अक्रोधम् ३.२३५	अगाराणि ९.२६५
अंशम् ८.३६, २०७:	अक्लेशेन ४.३	अगरात् ११.१७
९.११७., १४१, १४३, १६४,	<b>সম্ভ</b> ০ ৩.४৩	अनुजान् ३.२२
<b>१७</b> ९	अक्षतः ८.१२४	अगुप्तम् ८.३७४, ३७४
अंशाः ९.१५७	अक्षतम् ८.३८०	अग्प्ताम् ८.३७६
अंशात् ९.११८, २०७	अक्षतयोनिः ९.१७६	अगुप्तायाम् ८.३८२, ३८४
अंशान् ९.१५३	अक्षतयोनिष् १०.५	अगुप्ते ८.३८४
अंशुपट्टानाम् ५.१२०	अक्षत्रम् ९.३२२	अग्नयः २.२०५ [२३०]:
अंशेभ्यः ९.११८	अक्षपंगे ८.२९२	₹.90₹; ४.२=
अंशौ ९.१४१	अक्षमाला ९.२३	
अकन्या ८.२२४	अक्षयः ७.८२, ८३	अग्निः २.२०६ [२३१];
अकन्यासु ८.२२६	अक्षयफलः ६.९७	₹.२ <b>१२: ४.५</b> ६, २४९:
अकर्म ४.८७	अक्षयम् ३.७९, २७३, २७४;	४.९६, १०४, १३३: ६.४,
अकामतः २.१४६ [१८१];	६.६४; =.३४४	90, 83; 0.0, 9; 5.905,
<b>९.२४२: ११.४</b> ४, ४६, <b>=९</b> ,		११४, ११६; ९.३१४, ३१७,
929	अक्षयाय ३.२०२	329
अकामता १.१२१ [२.२]	अक्षयाम्     ४.२३       अक्षयाय     ३.२०२       अक्षये     ४.२२६	अग्निकार्यम् २४४ [६९]
अकामस्य १.१२३ [२.४]	अक्षय्यम् ४.१५६, २२९	अग्निकारिते ४.११६
अकामाम् ८,३६४	अक्षरम् २.५३ [७=].	अग्निज्यसितः ७.९०
अकारः २.१०० [१२४]	२.४९ [=४]: ११.२६४	अग्नित्रेता २.२०६ [२३१]
अकारणात् ९.१७७	अक्षाः ७.४०	अग्निबग्धान् ३.१९९
अकारम् २.४१ [७६]	अक्षारलवणः ५.७३	अग्निबान् ९.२७८
अकारण परित्यक्ता ३.१४७	अक्षारलवणम् ३.२५७	अग्निमा ८.१८९
<b></b>	अक्षेत्रिणः ९.४९, ४१	अग्निम् २.२३ [४८], १६२
अकार्यकारिणः ५,१०७:	अक्षेत्रे १०.७१	[9=६]; ३.२६०; ४.५३,
99.238	अक्षे: ४,७४	984; 4.903; = 998,
अकार्यम् ११.९६	अक्ष्णोः २.१४३ [१७८]	३३३; १२.६६, १२१, १२३
अकार्याणि १०.९८	<b>अखिलः</b> १.१२४ [२.६];	अग्निपरिक्रयया २.४२
अकाले ३.१०४: ७.१६४:	९.३२४	अग्निमान् ३.१२२; ४.२७
5.800	अखिलम् १.४९, ११४:	अग्निवर्णामु ११.९०, ९१
अकुलताम् ३.६३	९.१३१, १३२	अग्निश्भूषाम् २.२२३
अक्शलम् ११.३४	अखिलाम् ९.६७	[२४६]
अकृतात्मीमः ७.२८	अखिले ५.३०१	<b>अग्निष्</b> ४.१०४, १०६; ५.५४
अकृतान् ८.१६८	अखिलेन १.१०७: ८.२१८,	अग्निष्ट्तु ११.७४
अकृतान्नेन १०.९४	२६६	अग्निष्टोमादिकान् २.११८
अकृत्चूडानाम् ५.६७	अगदः ८.१०७: ११.२३७	[983]
अकृतबुद्धिना ७.३०	अगवैः ७.२१८	अग्निष्वासाः ३.१९४
अक्तान् ५.१२६	अगर्हितः ९.१०९	अग्निष्वात्तान् ३.१९९
अक्रय्याबान् ११.१३०	अगर्हितम् ५.२४	अग्निष् ४.१०४, १०६;
अक्रूरम् २.८[३३]	अनिहितैः ४.३; ९.७४	<b>४.</b> ⊏४
अक्रोधः १.१२२, ६.९२	अनस्त्यः ५.२२	अग्निसंयोगम् ३. <b>१७</b> १
1.1.71 4.37	3,11	

अग्निसंस्कारः	५.६९	अङ्गारे	६.५६	अज्ञातान्	५.१७
अग्निहोत्रपरायजः	8.90	अड्गिरः	३.१९⊏	अज्ञातिम्	४.२०३
अग्निहोत्रम् ४.२४	; <b>६.४, ९</b> ;	अड्गिरसः	٩.३४	अज्ञातेन	४.१४०
११.४२		अङ्गुलि० ⊂∴	३६८: ९.२७७	अज्ञान०	११.१६०
अग्निहोत्रस्य	99.38	अङ्गुलिमूले	२.३४ [५९]	अज्ञानतः	६.६९; ८.२८८;
अग्निहोत्री	99.89	अङ्गुल्योः	5.₹90	११.१७५	
अग्निहोत्रेष	५.१६७	अङ्गुल्यौ	३६७	अज्ञानम्	१२.२६
अग्निहोत्रेभ्यः	७.5४	अङ्गुष्ठमूलस्य	२.३४[४९]	अज्ञानात्	८.११८, १२१,
अग्निन् ४.१६	न: <b>६.२</b> ४.	अङ्गे	५.१४१		६४; ११.१४६,
३८: ११.४१			.२७९, ३३४;	१४०: ११.	२३२
अग्नीन्धनम् २.ध	[POF]	99,99		अज्ञानाम्	६.८४: ११.४३:
<b>अग्ने</b> ३.⊏४, २१२	?: ¥.99 <b>३</b> :	अङ्गैः	३.१७८	92.993	
<b>७.४: ९.३०३</b>		अचक्षुः	४.७७	अज्ञे	२.१३३ [१४८]
<b>अग्नौ</b> ३.६७,		अचराः	४.२९	अज्ञेभ्यः	१२.१०३
२१०, २१४, २८		अचरे	<b>አ</b> ንጸ	अज्ञी	४.२९४
<b>⊏.१०६: ११.७३</b> ,	११९	अचिरस्थितान्	१०.९०	अज्येष्ठः	<b>९.</b> २१३
अग्न्यभावे	३.२१२	अच्छलेन	۶.۹ <b>۲</b> ७	अज्येष्ठवृत्तिः	9.90
अग्न्यर्थम्	<b>⊏.३३९</b>	अजः	१२.६७	अञ्जनम्	२.१४३ [१७८];
अग्न्याधेयम् २.१५	[۴۶ <i>۴</i> ] =۱	अजडः	۲.۹۶ م	४.१५२	
अग्न्याधेयस्य	११.३८	अजम्	३.२६०	अञ्जयन्तीम्	
अग्रजः	९.११४	अजमेषी	99.9३६	अञ्जलिः	४.१५४
अग्रजन्मनः १.१३	९ [२.२०];	अजरामरा २		अञ्जलिना	8.53
३.१३: १०.७४		अजा ३.६: ८.		अञ्जली	११.१०४
अग्रजस्त्रियम्	९.५⊏	४४. ११९:	१०.११४:	अञ्जली	२.२१९ [२४४];
अग्रजे	३.१७१	१२.४४		5.909°	
अग्रम्	99.53	अजातान्	<b>5.99</b>	अटनम्	९.१३
अग्रेदिधिषूपतिः	३.१६०	अजाविकवधः	११.६८	अणीयांसम्	१२.१२२
अघ०्	४.5४	अजाविके	<b>5.</b> ₹₹	अणुः	३.४१: ६.४०
अघवोषः	४.९३	अजितात्मनः	७.३४	अणुमात्रिकः	٩.५६
अधमर्षणम् ११.२		अजिनम्	२.३९ [६४]	अणोः	१२.१२२
अघम्	₹.99=	अजिह्नः	७.३२	अण्डजाः	٩.४४
अग्रेयमृद्ययोः	११.६७	अजिह्मगः ६.		अण्डम्	9.9२
अङ्कानि	८.२३४	अजिह्मस्य	३.२४६	अण्डे	9.9२
अङ्ग०	5.250	अजिह्माम्	४.११	अण्व्यः	१.२७
अङ्गतः	४.१६७	अजीगर्तः	१०.१०५		२.४८ [७३];
अङ्गना	९.४५	अजीर्षे	४.१२१		]. २६१ [१⊏६]:
	३: ९.२९७	अजीवन्	90.59, 52		प्. १४७, १४४,
अङ्गविद्या	€. ५०	अजुगुप्सितान्	<b>३.२०९</b>		०, १००, १२०;
अङ्गसर्वस्यैः	८०६.⊐		.१२८ [१४३]	<.39 <b>२</b>	
अङ्गहीनत्वम्	११.४०		.१२८ [१४३]	अतिन्द्रतान्	७.६१
अङ्गानि			<del>ग्रधमा</del> ५२९	47-37-3-37	97.98
	<b>૭.</b> ૧૦૪	अज्ञातभुक्तशुद्ध		अतन्द्रितौ	
अङ्गान्	४.१४१	अज्ञातम्	99.944	अतपाः	४.१९०

अतिकृच्छ्रम् ११.२०८, २१३	अप्रिजाः ३.१९६	अधनाः ४१६
अतिक्रमम् ११.१२०	<b>अत्रिम्</b> १९३४	अधमः ३.२१, ३४, ५४०,
अतिक्रमेण ३.६३	अत्रिवर्षस्य ५.७०	१०.१२, १६, ९६, १२.३
अतिगान् ७.१४९	अत्रेः ३.१६	अधमयोनिजा ९.२३
अतितृष्णया ७.१३९	अत्वराम् ३.२३४	अधमर्ज ८.४७
अतिथयः ३.५०	अथवरिंगरसीः ११.३३	अधमर्जस्य ८.५२
अतिषये ३.९९	अदण्ड्यः ८.२०२	अधमणीत् ८.४७
अतिथः ३.७२, १०२,	<b>अदण्ड्या</b> न् ८.१२८	अधमर्णिकः
१०४, १०८, ११०, १३०:	अवत्तादायिनः ८.३४०	अधमर्णिकम् ८.४८
४.२९, १७९, १८२	अदत्तानाम् १२.७	अधमर्णिकात् ८.५०
अतिथिधर्मिजौ ३.११२	अबातरि ८.१६१	अधमाः १२.४१, ४२
अतिथिधर्मेण ३.१११	अवाता ९.४	अधमान् ४.२४४
अतिथिपूजनम् ३.७०, १०६	अवातुः ४.१९३	<b>अधमेव</b> ६.६४
अतिथिभ्यः ३.११४	अवायावबान्धवाः ९.१५८,	अधरः ७.२१
अतिथिम् ३.९४, १०३,	१६०	<b>अधरोत्तरम्</b> ७.२१
१०६: ४.१२२	अवासम् १०.३२	अधरोत्तरानु ८.५३
अतिषीन् ४.२५१	अदित्सन् १०.११३	<b>अधर्मः</b> े १.२९: ४.१७२,
अतिपरिक्षतम् ७.९३	अदित्सवः ९.११८	१७३: ६.६४: ८.१२२, ३५३:
अतिप्रगे ४.६२	अवुष्टम् ८.३८८	<b>९.२४९: १०.१०६, १०</b> ५:
अतिप्रसक्तिम् ४.१६	अदूषितानाम् ९.२८६	97.70
अतिभोजनम् २.३२ [४७]	अवृष्टाम् ८.१४३	अधर्मजी ८.४९
अतिमध्यंबिने ४.१४०	अवेवान ९.३१४	अधर्मतः १२.२३
अतिलोमामु ३.८	अदेश्यम् ८.५३	<b>अधर्मदण्डनम्</b> ८.१२७
अतिवर्तनानि ८.२९०	अदेवम् ३.२४७	<b>अधर्मम्</b> १९.२२८: १२.२१
अतिवादान् ६.४७	अबोचवत् १०.११४	अधर्मस्य ८.१८
अतिसायम् ४६२, १४०	<b>अवृध्यः</b> २.२८ [५३], ३५	<b>अधर्मात्</b> २.१८१ [२०६]:
अतिसांबत्सीम् =.१५३	[६०], ३६ [६१], ३७ [६२]:	€.30¥
अतीतरीशवः ८.२७	३.३४, २६७, २८३; ४.१४३;	<b>अधर्मे</b> ४.१७१; १२.११
अतीतानाम् ७.१७८	४.४४, १०९, १११, ११२,	<b>अधर्मेण</b> १.८९: २.८६
अतीतायाम् ९.१९६, १९७	११८, १२७, १३१; ६ ५३;	[१११]; =.१२, १४, १७४;
अतीते ७.१७९	<b>९.१६</b> ५: ११.२०२	षे <b>१.२२</b> ६, २२९
अतुष्टिकरम् ४.२१७	अदिभर्मुलफलेन ४.२९	<b>अधर्मी</b> १.२६
अतेजसानि ६.५३	अद्भुतेषु ४.११८	<b>अधर्म्यो ३</b> .२४
अत्ता ५.३०	अद्भ्यः १७८; ३.८८;	अद्यार्भिकः ४.१७०
अत्तारः ५.३०	<b>९.३</b> २१	अद्यार्मिकजनः ४.६१
अत्तारम् ८.३०९	अवंष्टिणः ५.२९	<b>अद्यार्मिकम्</b> ४.१३३;
अत्ययम् ८.१४५, ४००:	अब्रोहेण ४.२, १४८	<b>⊑.</b> ३90
90.90४	अद्वारेण ४.७३	<b>अद्यार्मिकाणाम्</b> ४.१७१
अत्यये ५.२७; ८.६९, २४३	<b>अद्विजम्</b>	अद्यार्मिके ४.६०
अत्यशनम् २.३१	<b>अद्यः</b> २.३४ [५९]; ६.३५,	अधिकः ११.१८४
अत्युच्छ्रितम् ७.१७०	३७: ७.४३: ११.१४३, १७२.	अधिकद्षितान् १०.२९
अत्युष्णम् ३.२३६	२२४	अधिकम् १.९४; ८.३२०;
अत्राजम् ११.११३	अधःशय्याम् २.८३ [१०८]	९.१४४: ११.७

अधिकाः ७.१७७; ८.१४२	अध्येष्यमाणम् २४८ [७३]	अनन्तरा
अधिकाङ्गीम् ३.८	अध्वरः ८.३४१	अनन्तरे
अधिकान् ४.१४१	अध्वनम् ११.१	अनपकर्म
अधिकारः १.१३४ [२।१६]:	अध्वनः ११.१३२	अनपक्रिय
१०.१२६	अध्वनि ८.४०५	अनपक्रिय
अधिकृतः ८.११	अध्वरे ६.५३	अनपट्यस
अधिके ३.४९, ४९: ८.३२१	अध्वरैः ४.२६	अनपसरः
अधिपतिः ८.३७, ३९	अध्वर्यः ८.२०९	अनपेकित
अधिपतिम् ७.११५	अध्वर्युम् ३.१४५	अनम्यनुत्र
अधियज्ञम् ६.८३	अध्वानम् ४.६०: ७.१२७	अनुभ्यासे
अधिविन्ना ९.८३	अनंशौ ९.२०१	अनयम्
अधिष्ठानस्य १२.४	<b>अनः</b>	अनर्चितः
अधिष्ठितम् ५.३४	अनिग्नः ६.२४	अनर्चितः
अधीकारः ११.६३	अनिग्नबग्धान् ३.१९९	अनर्थाय
अधीनः ८.६६, १६३	अनिप्तदूषिताः २.२२ [४७]	अनर्हान्
अधीयानात् २.९१ [११६]	अनधः १२.१	अनलप्रभ
अधृतिः १२.३३	<b>अनडुद्दः</b> ४.२३१	अनले
<b>अधैर्यम्</b> १२.३२	अनब्बाहम् ११.१३६	अनवाप्त
अधोगतिम् ३.१७, ४२:	अनदन् ५.१०२	अनवेक्षय
.E.30°	अनधीयानः २.१३२ [१५७];	अनश्नता
अद्योवृष्टिः ४.१९६	३.१६⊏	अनश्नन्
अध्यक्षान् ७.८९	अनधीयानम् ३.१४१	अनस्थना
अध्यग्नि ९.१९४	अनध्ययेन ३.६३	अनुसूयः
अध्यधीनः ८.१६७	अनध्यायः ४.१०६, १०७,	अनसूयक
अध्ययन० ११.६२	१०८, ११७	अनसूयय
अध्ययनम् १.८८, ८९, ९०;	अनध्याय॰ २.८१ [१०६]	अनिस
२.२१६ [२४१]; १०.७५,	<b>अनध्यायम्</b> ४.१०३, १०४,	अनहंकृत
७९	११⊏, १२६	अनाक्षारि
अध्ययने २.१६६ [१९१]	<b>अनध्यायवचट्कृतम्</b> २.८१	अनाख्या
अध्ययनेन ११.२२७	[90६]	अनाज्ञया
अध्यर्धम् ९.११७	अनध्यायान् ४.१०१, १०५	अनातुरः
अध्याचरिते २.९४ [११९]	अनध्याये २.८० [१०५]	
अध्यात्मरतिः ६.४९	अनध्यायी ४.१०२, १२७	अनावाता
अध्यात्मवित् ६.८२	अनन्जातम् २.९१ [११६]	अञ्चल
अध्यापकः ३.१५६	अनन्याने २.२१७ [२४२]	अनावेयम्
अध्यापनम् १.८८; ३.७०;	अनन्तम् ४.१४९: ७.८४	अनावेयस
१०.७४, े७७	अनन्तरः ९.१८७; १०.१४,	अनाद्यभ
अध्यापनात् १०.१०३,	<b>4</b> 9	अनाचाद
908; 99.950	अनन्तरजाः १०.४१	अनापवि
अध्यापनेन ८.३४०	अनन्तरम् १.१३८ [२।१९];	¥. ३३:
अध्यायज्ञाः ४.१०२	३.२४२. २६०: ७.१४८,	३३६:
अध्याबाहनिकम् ९.१९४	5,929	अनाप्तेः
अध्येष्यमाणः २.४५ [७०]	अनन्तरस्त्रीजाः १०.१४	अनामय
, <b>,</b> ,		

ास् 90.9 5.95X, 95E 5.8 या ५.२१४: ११.६४ याम् 5.298 स्य 9.990, 290 5.985 तमर्यादम् 5.309 जातः २.२०४, २२९ तेन **X. X** १०.९४, १०२ 3.900 r: म् 8.293 8.983 3.9X0 म्बम् 4.9 3.789 नम् 9.209 ग 9.999 Π 99.98 3.90X तम् 99.980, 989 ४.१५= **7**: 90.925 9.89; 8.22= ग 99.980 ₹: 9.334 रतः E. 3 X 8 **5.238**; **9.93** य 9.999 २.१६२ [१८७]; 8.988 ٦.٤ π २.२०९ [२३४] म् 5.990 स्य 5.909 क्षवे 99.984 99.989 8.7; 8.900; E. ६२: ९. ४८, २८२, 99.25; 92.60 9.290 २.१०२ [१२७] म्

अनाम्मतेषु	१२.१०८		. ९.३१९	अनुरूपतः	१.८४; ७.१२४
अनायुष्यम्	२.३२ [५७]:		० [२०५]	अनुक्षेच	<b>5.</b> 70%
8.938		अनीकेषु	७.१९३	अनुरोधः	२.६० [१०४]
अनारोग्यम्	२.३२ [४७]	अनी शाः	9.908	अनुरोधेन	७.१६६
अनार्जवम् े	<b>९</b> .৭৩	अनीरवरान्	६.७२	अनुलोमजाः	१०.२४
अनार्तः	<b>⊏.२१</b> ४	अनुकम्पकः	€.⊏	अनुवाते	२.१७६ [२०३]
अनार्यः	१०.६७	अनुकरपः	३.१४७	अनुविद्यपतः	९.४३
अनार्यकर्मिषम्	१०.७३	अनुकरुपेन	११.३०	अनुवेश्यी	<b>5.3</b> 92
अनार्यता	१०.५८	अनुक्तनिष्कृतीनाम्	११.२०९	अनुत्रच्या	२.२१६ [२४१]
अनार्यम्	१०.५७, ७३	अनुगतैः	9.750	अनुब्रज्याम्	३.१०७
अनार्यात्	१०.६६, ६७ :	अनुचराः	१२.४७	अनुशयः ८	.४, २२२, २२८
अनार्यान्	९.२६०	अनुज:	९.११७	अनुशासन	६.५०
अनार्यायाम्	१०.६६, ६७	अनुजस्य	9.40	अनुशासनम्	२.१३४ [१४९];
अनविलम्	७.६९	भनुजाते	ሂ.ሂ=	२३९, २७९	
अनविष्कृतः	११.२२६	अनुषे	११.६०	अनशिष्टः	६.८६
अनावृताम्	YY,Y	अनुतापेन	99.२२७	अनुशिष्टम् अनुषरिक्षः	९.२३३
अनिशिनी	۳.9 <b>5</b> ٤	अनुतमम् ५.१४८	; 5.383	अनुषिङ्गणः	७.४२
अनाहिताग्निः	११.१४; ३=		[२४२];	अनुष्ट्रान्	४.१८
अनिहिताग्निता		c		अनुष्ठानम्	७.१००
अनिकेतः	६.२४	अनुद्धते	९.११६	अनुष्ठितः	३.१४७
अनिवेप्तारम्	<b>5.990</b>		२२ [४७]	अनुष्याचिः	२.३६ [६१]
अनिच्छतः े	<b>⊏.४</b> १२		१ [२३६]	अनुसारिणा	७.३१
अनिच्छया	99.928		; १०.६२	अनुचानः	२.१२९ [१४४]
अनिन्द्या	३.४२	अनुपस्कृतम्	३.२५७;	अनुद्रे	99.50
अनिपाते	5.951	<b>४.</b> 99२		अनूपे	७.१९२
अनिबद्धः	<b>८.७</b> ६	अनुपाकृतमांसानि	४.७	अनृचः	२.१३३ [१४८]
अनिमित्ततः	8,988		२; २.६४	अनुचाम्	₹.9३9
अनियुक्ता	९.१४७		; ३.३९,	अनुचे	३.१४२
अनियुक्तास्तः	९.१४३	२०१, २१९: ४.४०		अनुष:	<b>६.९४</b> ; <b>९.</b> १०६
अनिर्जिषतैः	११.२८९	३६; ८.९७, ११९,		अनृत०	٩, =२
अनिवर्शम् 🔾	४.२१२, २१७:	अनुबन्धम्	<b>5.9</b> ₹	अनृतभाषणे	5.909
४.७४, ७९		अनुभावी	5. 69	अनृतम्	३.२२९, २३०;
अनिर्वशायाः	ሂ.=	अनुमतः	\$.8		0, २३६; =.३६,
अनिर्वशाहाम्	<b>⊏.२४२</b>		<b>⊏.२३</b> १,		७, ९९; ८.१०४,
अनिर्विष्टान्	<b>४.</b> ११	३४ँ⊏	•		;
अनिर्देश्यम्	११.१४६	अनुमत्यै	३.८६	9 <b>२</b> .६	
अनिर्वृत्तम्	९.६१	अनुमन्ता	4.49	अनृतवादिनः	<b>३.</b> ४१
	६; ६.३१; ७.४		97.904	अनृतस्य	=.90¥
अनिलम्	97.970	अनुमानेन	5,88	अनृतानि	<b>४.१४</b> ४, १२.९६
अ <b>नि</b> ले	8,907	अनुमारिकम्	<b>३.</b> १२२	अनृताभ्याम्	<b>¥.</b> ¥
अनिष्कृतैनसः	99.43	अनुरक्तः	43.0	अनृताम् े	६.४८
अनिष्ट	97.4	अनुरक्तम्	<b>७.२०</b> ९	अनृतिनः	<b>४.</b> २१४
अनिष्टम्	७.१३: ९.२१	अनुरागपरागी	७.१५४		२९, ८.९८, ९९
-		-		• '	

	<b>—</b>	
अनृतेन ४.२३७; ८.१४	अन्त्यकर्मीज ५.१६८	१०.५४, १०४, ११४, १२५;
अनृती ४.१०४, १०५	; अन्त्यजः	११.३, १४२, १४७, १६०,
<b>४.</b> १४३	अन्त्यजन्मनः १०.११०	२४३
अनेक० ९.२६९		अन्तरोषम् ३.२५३
अनेकानि ४.१४९	, अन्त्यजासु ११.५२, १७०	अन्नस्य ३.१२१, २२४
अनेनाः ८.१९		अन्नहर्त्ता ११.४१
अनोड्कृतम् २.४९ [७४]		अन्नादिवायिनाम् ३.१०४
अन्तः १.४९, ४१; ४.७९		अन्नादी २.१६३ [१८८]
१४१; ६.६३, ७३; ८.६९	; अग्त्ययोनयः ८.६८	अन्तादे ५.३१७
१२.८७	अन्त्यस्त्रियम् ८.५९; ८.३८५	अन्नाद्यजानाम् ११.१४३
अन्तःपुरप्रचारम् ७.१५३		अन्नाद्यम् ३.२४४; ४.११२;
अन्तःपुरम् ७.२१६, २२४	४ अन्त्यानाम् ८.६८	७.२१७
अन्तःपुरे ७.२२९	अन्त्यावसायिनाम् १०.३९	<b>अन्नाद्येन</b> ३.८२, २३३
अन्तकः ३.८५	अन्त्यावसायिषिः ४,७९ अन्त्येः ४,७९	अम्नानाम् ५.५४; ११.९३
अन्ततः २.३७ [६२]; ३.८६	, -, , -, -, -, -, -, -, -, -, -, -, -,	अन्तेन २.११७ [१४२];
99.998	<b>अन्धः</b> ३.१६१, १७७;	₹.७≂
अन्तम् १.७३; ४.१२३	; ७.१४९; ८.९३, ९५, ३९४	अन्तैः ३.८१, १२४; ६.११
99.२३४	अन्धकारे ४.५१	अन्यगेहवासः ९.१३
अन्तरजातासु १०.६	, अन्धतामिस्रम् ४.८८	अन्यगेहानाम् २.१४९
अन्तरप्रभवाणाम् १.३		[958]
अन्तरपुरुषः ८,८१		अन्यगोत्रतः ९.१४१
अन्तरम् १.१३६ [२.१७]	, अन्धा ३.१४१	अन्यगोषु ९.५०
989 [2.22]	अन्धे ८,९४	अन्यंतमः ३.१४६; ११.१२४
अन्तरात्मनः ४.१६९	। <b>अन्धचञ्चु-</b> १०४६ १ <b>अन्धचेती</b> १०३६	अन्यतमम् ११.७४, ८६
अन्तरात्मा १२.१	१ अन्धमेवी १०.३६	अन्यतमया ४.१३; ६.३२
अन्तरालानाम् १.१३५	<ul><li>अन्त॰ २.१६९ [१९४];</li></ul>	अन्यतमस्य ४.२२२
[२.१८]	४.२३३; ६.४३, ४९;	अन्यतमे ८.११९
अन्तरिक्षगतान् ७.२९	<b>୯ ७.</b> ११ <b>५; १०.३</b> ሂ	अन्यतरः २.८६ [१११];
<b>अन्तर्गतम्</b> ८.२५, २१		<b>९.२</b> ११
ा <b>अन्तर्ग्तश</b> वे ४.१००	: अन्नदोषात् ५.४	अन्यत्रेन ९.१७१
अन्तर्वशाहात् ५.२२	१ अन्ननिषेकम् ४.१५१	अन्यपुरिष्ठह ५.१६२
अन्तर्निवेशेन ७.६३		अन्यबीजजाः ९.१८१
अन्तर्वेश्मनि ७.२२		अन्यया ९.८७
अन्ताः १.५०		अन्यवेश्मतः ११.१६४
अन्तिकम् २.१७२ [१९७]	; [५३]; ३.७६, ९९, १०८,	अन्यंवनासु ९.४८
₹.9	११३, ११८, १८२, २२४,	अन्यायवर्तिषु ७.१६
अन्तिके २.१७७ [२०२	] २२९, २३६, २३७, ४.२७,	अन्याये ९.२९२
अन्ते १.७४; २.४९ [७४]	, ४४, १८८, १८९, २०९,	अन्यायेन २.८५ [११०]
९९/[१२४], २.१०० [१२४]		अन्यासु ३.५०
• ४:२६	२१६, २१९, २२०, २२१,	अन्योत्पन्न ४.१६२
अन्तेस्तिमनः ४.३३		अन्योन्यय्यतिषक्तः १०.२४
अरुखः ६.६६		अन्योन्यसंयोगः ३.३२
अन्त्यकर्म ११.१९७	<b>६.१९; 5.३९३; ९.३३३;</b>	अन्वयक्षाः ३.१६४

# मनुस्मृति-शब्बसूची

अ	न्वयवत्	<b>⊏.३३२</b>	अपराधाः	<b>⊏.२९९</b>	अपुत्रासु	۵.۶۶
	न्बष्टकासु	४.१५०	अपराम्	8.93	अपुमान्	३.४९
	न् <b>वहम्</b> २.५	१४२ [१६७].	अपराह्नः ३	.२४४, २७=	अपुष्यः	9.8%
	X= [q=₹]. '		अपरिच्छदाः	, e' 80 x	अपूर्तः	२.१५ [४०]
	.७६, ६४, १		अपरिपूतेषु	<b>5.3</b> ₹0	अपूपशाला	९.२६४
	१.२४४, २२		अपरिव्रतम्	<b>5.</b> २३ <b>5</b>	अपृषक्जितम्	७.९७
31	<b>न्वाधेयम्</b>	९.१९४	अपवादेन	४.२३७	अपोगण्डः	5,985
31	न्वाहार्यम्	३.१२३	अपविद्धः ९	८.१४९, १७१	अप्पति०	ల≂. ફ
3	न्वितैः	४.६⊏	अपव्ययमानः	<b>८.६०</b>	अप्पत्योः	५.९६
3	<b>ापः</b> १.५:	२.३५ [६०];	अपव्ययमानम्	<b>∽.</b> ሂ٩	अप्रकाशन्	<b>⊏.</b> ₹४9
8	८४८, २५०:	५.९९, १३९,	अपसदाः १०.९	१०, १६, १७,	अप्रकाशान्	९.२४६
9	१४५: ६.२३	<b>۱; ۹٥.۵۵</b> ;	४६		अप्रजाबाम्	९.१९७
•	११.१४७, १४	5	अपसध्यम्	३.२१४	अप्रणीतः	९.३१७
	रपकर्षम्	१०.४२	अपसय्यमतन्द्रिष	ना ३.२७९	अप्रजोचः	३.१०५
3	<b>।</b> पकारिणः	99.39	अपसय्येन	३.२१४	अप्रतर्क्यम्	<b>9</b> २.२ <b>९</b>
3	श्पकृते	७.१६४	अपस्नानम्	<b>४.</b> १३२	अप्रतिपूजिताः	₹.乂⊏
3	भपकृष्टः	९.२४	अपस्मारि	७.६	अप्रतिवारिताः	<b>⊏.३६</b> ०
3	अपकृष्टजः	<b>5.</b> २ <b>5</b> 9	अपहरणम्	११.५७	अप्रतीकाराम्	१२.८०
3	प्रपकृष्टम्	५.१६३		<. <b>१९०, १९</b> २	अप्रत्यक्षम्	<b>۵.९</b> ٧
	प्रपत्तमानेभ्यः	४.३२	अपहर्तृजाम्	११.१६१	अप्रमत्तः	. ७.१४३
3	प्रयचारिणी	<b>८.३</b> १७	अपहारकः ४.		अप्रमादिने	२.९० [११६]
3	अपण्यानाम्	99.६२	अपहारिषु	२.६३ [८८]	अप्रमाचन् 🤅	(,२०७ [२३२]
3	अपत्यतया	₹.9६	अपह्नवे ८.४	.२, ५३, १३९	अप्रमेयम्	97.48
	अपत्यप्राप्तिः	९.१०३	अपांचत०	३.१८३	अप्रमेयस्य	٩.३
	अपत्यम् ६.२:	९.२=, १२७,	अपाड्यतदाने		अप्रमोदात्	₹.६٩
	१४६, २०३		अपाड्नत्याम्	११.२००	अप्रशक्तम्	११.२५५
	अपत्यलोभात्	५.१६१	अपाड्यत्येषु	₹.95२	अप्राज्ञतया	४.१६७
	अपत्यविक्रयी	<b>३.</b> ५९	अपाङ्कतेयान्	३.१६७	अप्राणि	४.११७
	अपत्यस्य	६.२; ९.२७,	अपाड्यतेयैः	३.१७०	अप्राणिषिः	<b>९</b> .२२३
	१९=: ११.६		अपाड्त्यः	३.१७६	अग्रियकरम्	७.२०४
	अपत्यार्थम्	९.६८, १७४	अपात्रकृत्यासु	११.१२५	अप्रियम् 🔌	४.१३८; '४.१४६
	अपतितान्	<b>۵.३</b> ६९	अपात्रीकरणम्	99.58	अप्रियवादिनी	<b>९.</b> = १
	अपतिवृता	९.२०		१.१३; २.७९	अग्रिये	९.१७३
	अपवेशेन	४.१९८		=== X.99=;	अग्रियेषु	Ę. <b>૭</b> ९
	अपवेशैः	5.952	९.२⊏१: ११.		अप्रियैः	६.६२
	अपवेश्यम्	= XX	अपायेन	9.90	अप्रीतिकरम्	१२.२८
	अपध्वंसजाः	१०.४१, ४६	अपार्यकम्	5.95	अप्सरतः	१.३७; १२.४७
	अपनोबनम्	'११.२४२	अपुष्यकृत्	४.४२	अप्सरसाम्	४.१८३
	अपपात्राः	१० ५१	अपुष्यम्	२.३२ [४७]	अप्सराः	७.७२
	अपयतः	99.943	अपुत्रः	९.१२७	अप्सु २.३	९ [६४]; ३.५५,
	अपराष्ट्रमुखाः	. ७.८९		९.१३२, १८४	२६०, २६१	; ४.५६; ६.१००,
	अपराजिताम्	1 4.39	•	<b>५.</b> १६०		.२४४, २७९;
	अपराधतः	E. 80E, 809	अपुत्रायाम्	९.१३४	११.१४९,	१७४, १८७,

२०२, २४४		<del>ावानः ९</del> .२१३	<b>अमृते</b> ८.२३१
अफलः २.१३३ (	[৭২⊂], ar	ाषाचे ८.१८२, २४८,	<b>अमोजनम्</b> ११.१६६, २०३,
१३३ [१४८]	२	<b>४९; ९.१</b> ८८, १८९	२१४
अफलम् वर्ष २.१३३	[१४६] अर	षिकांक्षिणः ४.९१	अभोज्यम् ११.१६०
अफलाः <sup>पाडन</sup> २.१३३ [	[૧૫૬], અજ	<del>षिचातान्</del> १२.७७	अभोज्यानाम् ११.१४२
२०९ [२३४]; ३.४६	अ	<b>जिचारः</b> ११.६३	अभोज्यान्ताः ४.२२१
अफेनाभिः २.३६		<b>णिचारम्</b> ११.१९७	अभ्यक्ताम् ४.४४
		भिचारेषु ९.२९०	अभ्यंगम् २.१४३ [१७८]
	१०.४४ अर	<b>प्रिजनस्य</b> ४.९८	अभ्यञ्जनम् २.१८६ [२११]
		भिजनेन १.१००	अभ्यञ्जनात् १०.९१
	९.७९ अ	भिजित् ११.७४	<b>अभ्यतीतेषु</b> ४.२५२
		<b>भिडोहेम</b>	अभ्यधिके ८.३२२
	३.१०४ अर	<b>षिधानवत्</b> २.८ [३३]	अभ्यनुज्ञातः ३.२४३
	५.११२ अर	<b>जिनिर्मुक्तः</b> २. <b>१९</b> ६	अभ्यर्थ ३.३०
	5.900 [3	२२१]	अभ्यर्थितः २.१६४ [१८९]
	११.२७ <b>अ</b>	<b>भिनिवेशः</b> १२.४	अभ्यवहारेण ६.४९
अव्वम् २.८२		<b>चित्रायम्</b> ७.५७	अभ्यस्य २.५४ [७९]; ६.९५;
<b>११.९२, १२</b> ८, १२९,	,२५२, अर	<b>भिमन्तारम्</b> १.१४	११.२४४. २४७. २४८. २६२
२४६, २४७		<b>जिमर्शेषु</b> ८.३५२	अभ्याचातेषु ९.२७२
		<b>षिमुखः</b> २.१७२ [१९७]	अभ्यासः १२.३१
	9.२० <b>७ अ</b>	<b>षिमुंखम्</b> २.१६८ [१९३]	अभ्यासात् १२.७४
		जियोक्ता ८.४२, ४८	अभ्युवये ३.२५४
		जिरकिता ७.३४	अभ्युवयेषु ९.५४
		जिक्पम् ३.१४४	अभ्युदितः २.१९६ [२२१]
		<b>जिल्पाय ९</b> .८८	अभ्युदितान् ४.१०४
अब्बे २.१० [३१		मिवादन० २.९६ [१२१]	अभ्युदियात् २.१९४ [२१९]
[3६]; ९.६९		पिवादनम् २.१९२ [२१७]	अभ्युपपत्ती ८.३४९; १०.६२
अध्येन ११.१२३	·	<b>षिवादने</b> २.९९ [१२४],	
		loo [१२४]	<b>अभ्युपायैः</b> ११.२१०
	=.३४९ अ	षिवादनैः २.१८४ [२१०]	अप ६.२३
अबाह्मजात् २.२१६		षिवादम् २.९८ [१२३]	अध्ययनि ४.१०४
अज्ञाह्मचे २.२१७[		जिबादयन् २.९७ [१२२]	अश्विम् ११.१३३
<b>७.</b> 5₹		पिवादस्य २.१०१ [१२६]	अमत्वा ४.२२२; ५.२०
		जिबाबात् २.९७ [१२२]	अमत्सरः ३.२३१
अवस्यम् ४.२६; १		<b>विवासम्याम्</b> २.९४	अमन्त्रम् ३.१२१
अभक्ष्याणि		140]	अमन्त्रवित् ३.१३३
	.२४७, अ	षिशस्तः ३.१५९	अमन्त्राजाम् १२.११४
303		जिशस्तस्य ४.२११;	अमन्त्रात् ९.१८
		: ११६, ३७३	अमृत्वान् ३.१२९
अचयम् ४.२२४;		मिशस्तान् २.१६० [१८४]	अमन्त्रिका २.४१
		जिसम्धकः ४.१९४	<b>अममः</b> ६.२६
		जिसम्बन्धात् ५.६३	अमरलोकताम् १.१२४
अभरणानि '	१०.४६ अ	<del>।प्रीप्सितानाम्</del> ७.२०४	[२.४]

अमराः	७.७२	***************************************	90.98	अरिक्चीयम्	9.980
अमात्यः	७.१५७	अम्बष्ठ्याम् अम्बष्य <i>ना</i>	90.80	अरिपुरम्	७. <b>१</b> ८१, १८४
अमात्यमुख्यम्	<b>७.</b> १४१	अम्बष्यनाम् अम्बु	<b>६.६७</b>	अरिप्रयुक्ताम्	9,908
अमात्याः	9.238		9 <b>२.</b> ५७		.9४४; ७.9५=
	૭. <b>६</b> ૦	अम्बस्ति ३.१७९		१७३, १९४,	
	<b>૭</b> .૬પ્ર	<b>9.33, 3</b> 8	,, ., ,,,,	अरिराष्ट्रम्	ે. ૭.૧⊏૧
	19.993	अम्ल॰ ४.११४		अरिष्टकैः	४.१२०
	९.२=४	अयः	५.११४	अरिसेविनम्	
	६ [४१]:	अयःकांस्योपलानाम्		अरीषाम्	९.२७४
6.908		अयज्वनाम्	99.20		.२३०; ७.१९४,
अमावस्या	8.998	अयज्ञा	99.98	<b>१९</b> =; ११.३	
अमावस्याचतुर्वश्योः	8.993	अयत्नेन	y.80	असंतुबः	२.१३६ [१६१]
अमावस्याम्	४.१२=	अयवातवम्	3.280	अरुषोदये	90.33
	१६, ३६	अयनम्	9.90	अरे:	७.१०२, १५८
अमितौजाः	9.8	अयनस्य	8.25	अरोगः	७.२२६
अमित्रस्य	१२.७९		९३ [११८]	अरोगाः	9.53
अमित्राः	७.⊏३	अयशः	جَ.٩२ <del>د</del>	अरोचमानाया	म् ३.६२
अमित्रात् २.२१४	[२३९];	अयाज्ययाजनेः	₹. <b>६</b> ४	अर्कः	५.९६: ७.७
७.२०७		अया ज्यसंया ज्य	११.५९	अर्ककाली	४. १० ५
अमुक्तहस्तया		अयुष्	३.२७७	अर्कम्	२.१४६ [१८१]
<b>अमुत्र</b> ३.१८१;		अयुग्मासु	₹.४⊏	अर्कव्रतम्	९.३०४
२३९; ४.४४;	९.३२२;	अयुतैः	92.993	अर्कस्य	९.३०३
9 <b>२.</b> =९		अद्ध्यमानम्	७.९२	अर्काणम्	٧.و
अमुत्रार्थम्	७.९४	अयुध्यमानस्य	४.१६७		रं १९९ [२२४]:
अमुत्रैः	९.१३९	अयोगवः	२०.२६		५७; ८.१४१;
अमुसले	६.५६	अयोगवस्य	90.85	९.४२: १२.	
अमृतत्वाय	६.६०	अयोगवे	१०.३२		9.9३२ [२.9३]
अमृतभोजनः	₹.२८४	अयोगुडान्	3.933	अर्थकामी	४.१७६
	[२३९]:	अयोनिषु	११.१७३	अर्थछी	9.50
	<b>⊏.६</b> १;	अयोमयः	<b>८.२७</b> १	अर्थीचन्तकम्	
१२.६४, १०४		अयोमये	99.903	अर्थवः	२.=४ [२०९]
	१ [१६२]	अयोमुखम्	90.58	अर्थवूचणम्	9.85
	8.8	अरक्तानि	90.50	अर्थवृत्त्वे	७.५१
	१२.७१		३०८, ३० <b>९</b>	अर्थधर्माभ्याम्	
	<b>X.X</b>		७९ [१०४];	अर्थम् '	1.२६, ३१, ⊏७,
	९.२=२	६.२, ४			९८: २.१२७
अमेध्यलिप्तम्	<b>४.५</b> ६	अरण्ये ५.४३, ६			o, ¥₹,
	४ [२३९]		११.१०१,		13; 5.83, 88,
अमे <b>ध्या</b> नि	४.१३२	२५=	=		९, ५०, ५१, ५४,
अमेध्ये े	99.95	अरयः	₹ <i>0</i> .0		950, 950;
अमेध्येन	¥.9२=	अराक्षसान्	<b>३.२३</b> .		; ११.१९, २४,
	o.=, 9₹	अराजक -	۶.و ۲- ۲	949	u 03V
अम्बष्ठकत्यायां	१०.१४	अराजन्यप्रसूतितः	8.58	अर्थवत्	४.१३४

		_			
अर्थवित्	٩.३	अर्धेन	9.37; =.790	अस्पायुः	४.१५७
अर्थवैकल्यम्	<b>5.</b> 9¥	अर्थमणम्	99.248	अस्पिकाम् ३.३	११९; ७.५६९;
अर्थशीषम्	४.२०६	अर्शसम्	٠.۶	90.999	- 36
<b>सर्वसम्पदनार्वम्</b>	७.१६८	अर्हः	<b>5.9</b> 9	अस्पीयसीम्	<b>⊏.३६</b>
अर्थसम्बन्धिनः	<b>⊏.</b> €४	अर्हजम्	8,48	अस्पे	३.४९
	८. <b>१</b> ८, ९. <b>१</b> १	अर्हजीयताम्	९.२३	अवकारोषु	<b>३.२०७</b>
अर्थीसद्वपूर्यम्	5.80	अर्हत्तमाय	३.१२८	अबकीर्जिनः	99.939
अर्थिसद्वये	७.२१४	अहीं	<b>⊏.३९</b> २	अवकीर्णी	३. <b>१</b> ४४;
अर्थाः	४.२५६	अलक्षणम्	१.४; ४.१४६	99.995	
अर्थात्	<b>۵.</b> ٧٤	अलड्कारः	९.१००, १५०;	अवकी जींव जर्यम्	
	.७४ [૧૦૦];	१०.५२		अवकीर्जीवतम्	२.१६२
४.१४, १७; ७.५	१०६; ८.५३,	अलड्कारम्	४.६६; ९.१७,	[१८७]	
१६८, १७४		९२, २१९		अवकृष्टजातिः	
अ <b>র্ঘর্শী</b>	<b>८.२४</b>	अलड्कारेषु	७.२२०	अवकृष्टस्य	७.१२६
अर्थानाम्	७.२०४	अलड्कृतः	७.२२२		२१३; ४.१२४
	१४७ [१८२]	अलब्धम्	७.९९, २०१	अवगुण्ठितः	४.४९
अर्थाम्याम्	<b>८.७४</b>	अलय्धान्	९.२४१		१.२०६, २०८
अर्थिता	<b>९</b> .२०३	अलाघवम्	99.233	अवगूर्यम्	४.१६५
	२१०; १२.२	अलाबुम्	६.५४	अवचनीयेषु	<b>⊏.२६९</b>
[३७]		अलाभे	२.१४९ [१८४];	अवचानि	२.३८
अर्धिप्रत्यर्थिसन्नि		६.४७; ९.१		अवचेषु	६७.३
अर्थी	<b>८.६२</b>	अलिङ्गी	४.२००	अवघः	५.३९
	१०६; ७.१४,	अलीकनिर्वन्ध		अवधूतम्	४.१२४
६२ु: ८.४२		अलुब्धः	5.99	अवधूननम्	३.२३०
	२९ [२.१०];	अलुब्धाः	<b>८.६३</b>	अवध्यस्य	९.२४९
४.१५; ४.४२; व		अलोक्याम्		अवनिष्ठीवतः	८.२६२
अर्घः	<b>८.२६८</b>	अलोपान्	९.9⊏०		२.१८४ [२०९]
अर्घवण्डः	⊏.२४३	अलोमिकाम्	₹.⊏	अवपीडनायाम्	<i>ح.۶</i> د७
अर्धपञ <del>्च</del> मान्	४.९५	अरुपः	३.४३; ६.४९;	अवभृषस्नातः	११.८२
अर्धपणम्	£.808		७.१२९;	अवमंस्थाः	د.د <u>۶</u>
अर्घपादिकः	<b>⊏.३२</b> ४	अस्पदिभिणः	११.४०	अवमतः	२.१३८ [१६३]
अर्धवलाबनम्	९.३२९	अस्प्रविभिषेः	११.३९	अवमताः	७.१५०
अर्धभाक्	5,39	अरुपद्गोहेण	४.२		२.१३८ [१६३]
अर्धम् ८.३८,		अरुपधनः	99.80		२.१३७ [१६२]
४०४; ९.११२;		अरुपधनानि	३.६६	अवमानितम्	४.१३६
अर्धमासान्ते	४.२५	अरुपबुद्धयः	१२.७४	अवमूत्रयतः	<.२ <b>८</b> २
अर्धरात्रे ४.९	१३१; ७.१४१	अस्पम्	२.१२४ [१४९];	अवयवाः	१.१७
अर्घवृद्धिः	= १४०	७.८६, १२	९; १०.६०	अवयवान्	9.9६
	=.२६७, ३३१	अरुपविद्यः	99.38	अवयवैः	9.95
अर्धसंस्थापनम्	८.४०२	अल्पशः	१२.२०, २१		२.१९८ [२२३]
अर्धानाम्	१.२७	अस्पसाराणा	म् ११.१६४		३.२४१
अधिकम	₹.9	अस्पानाम्	ે ૪.૧૧૬	अवरवर्णजम्	९.२४८
अर्धिनः	<b>5.</b> २90	अस्पान्	७.१९१	अवरा '	१२.११०, ११२
		_			

## मनुस्मृति-शब्बसूची

				_	
अवरात्	२.२१३ [२३८]	अविलुप्त ब्रह्मचर्यः	₹.२	अशुचिम्	,
अवरान्	३.२३	अविवादः	<b>5.</b> ९२	अशुद्धा	
अवरुद्धानाम्	<b>=.२३६</b>	अविवाहिनः	<b>९.२३</b> =	अशुद्धाम्	,
अवलिप्तैः	४.७९	अविशेषतः	९.१२४	अशुष्र०	
अवशः	५.३३	अविशेषेण	<b>⊏.</b> १९२	अशुषम्	
अवशिष्टम्	३.११६	अविषद्यायाम्	<b>⊏.२६</b> ४	अशुष्काणा	
अवसन्धिकार		अवीरायाः	४.२१३	अशेषतः	२.४९;
अवसाने	२.४६ [७१]	अवृत:	४.५७	३.१२४, ५	१६९, १९३
अवसायिषिः	४.७९	अवृत्तिकर्षितः	90.909	५.२६;	5. <b>3</b> 0,
अवस्थितान्	७.६०	अवृत्ती	४.२२३		१०.२४; '
अवाक्शिराः		अवेदायाः	७.१०१	₹0, 5७,	२०७
९.९४; ११.		अवेदविदि	४.२९२	अशीचम्ः	
अवाड्नरकम्		अवेदविहिताम्	४.४३	अश्वतः	
अवि०	३.६; १२.४४	अवेद्या	१०.२४	अश्नता	
अविकम् ९	.११९, १०.११४	अव्यङ्गाङ्गीम्	३.१०	अश्नतीम्	
अविकस्य	९.५५	अव्यक्तिचारः	९.१०१	अश्नन्	•
अविकानाम्	<b>८.२९</b> ८	अय्यक्षिचारार्थम्	<b>⊏.</b> १२२	अश्मः	
अविकारिणः	७.१९०	अव्ययः	१.५७	अश्मनः	८.२५०;
अविकासु	९.४८	अध्ययम् १.१	c, c.388	१०.८६	
अविचक्षणः	<b>३.</b> ११४;	अव्यपाः ः	२.५६ [८१]	अश्मप्सवे	न
८.१४०		अय्ययात्	२. <b>१९</b>	अश्ममयम्	Ţ
अविचारितः	<b>८.२९</b> ४	अव्यसनीः	७.४३	अश्ममयर	य
अविजानताम्		अव्रणः	२.२२ [४७]	७.१३२	
	१०.५७; ११.८७	अव्रतानाम्	१२.११४	अश्ममयेष	<b>5</b>
अविज्ञानात्	२.१९५ [२२०]	अव्रतान्	१०.२०	अभद्रपा	
अवितथम्	२.११९ [१४४]	अव्रतेः	३.१७०	अश्राद्धिन	:
अविद्यमाने	99.99६	अशक्तः ८.१५४	८; ११.२२४	अभु०	
अविद्यमानेष्	२.२२३ [२४८]	अशक्यम्	9 <i>२.</i> ९४		
अविद्यानाम्	९.२०४	अशड्कितः	१२.१०=	अभोत्रिय	
अविद्वान्	४.२ <b>८८</b> , १९१;	अशठस्य	३.२४६	अभोत्रिये	
९.३१७		अशवम्	8.99	अश्लील	<b>5</b>
अविद्वांसः	१२.५२	अशनम् २.२९	[४४], ३०	अश्व०	२.१७५
अविद्वांसम्	२.१८९ [२१४]	[XX]; ३. <b>१</b> १८		(अश्वः);	
अविधानतः		अशनशय्यात्रिः	४.२९		E. 95, 98
अविद्याय	९.७४	अशनासु	१०.३४	९.४=;	
अविधिना	५.३३, ३३	अशनि	9.३⊏	अश्वत्यः	
अविनयात्	७.४०, ४१	अशनैः	३.४९	अश्वदः	
अविनीतैः	४.६७	अशासन्	९.२५७	अश्वम्	२.२२९
अविभरतान	<b>तम् ९</b> .२१४	अशिराः	९.२३७		0, 955
अविभावित	: ७.१४७		<b>८.१४०</b>		99.35;
अविरुद्धम्	<b>=.४६</b>	अश्रुचिः ४	१.७२, १२४,	अश्वमेध	<b>:</b>
अविरोधिन	१ १२.१०६	१४२, १४३;			न ५.५३
अविलुप्तः	२.२२४ [२४९]	७९, ८२, ८४,		अश्वस्त	न०
-					

४.१२७ ሂ.ሂ= 8.920 92.3 92.5 99.88 : २.४१; ३, २६६; 939; 92.28, ४.९८ 3.239 99.84 8.83 99.259 ६.१७ 9.379: 8.990 ४.११२ **4.999**; 5.900 **४.२२**४ 8.223 **4.93**4 ३ १३६ **४.२०**४ ४.5२ 8.208 ९ [२०४] ; **४.**१८९; ४६, ३४२; **८.२४६** 8.239 १ [२४६]; **=; ७.९**६; 97.80 99.240 ३; ११.७४ 99.98

	٧.٧		× 0 3 10
अश्वस्तनिकः		असमृद्धिणः	४.१३७ १०.७३
अश्वसारप्यम्	•	असमी	19.54 92.38
अश्वस्य	९.५५ ११.५२	असम्पत्ती	92.5
अश्वहारकः		असम्बद्धः	=.9€₹
अश्विसालोक	वर्षः ५.२२१ ३.६४; ७.१९२	असम्बद्धकृतः 	२.१६० [१८४];
अरवैः	४. <b>१</b> ९४; ७.४=		
अष्टकः	8.118, 0.84 8.993, 998,	अ.२००; ५. <b>०</b> असवर्णः	90; ११.२७ २.१६४ [२१०]
मञ्डकास् १५०	v. ( ( <del>1</del> , 1 ) ,	असर्वनाः असर्वनांसु	£8.£
<sup>१२०</sup> अष्टगुणम्	<b>5.</b> 800	असहायता	£,¥¥
जच्ट गुंग ग् <b>अच्ट मां श</b> ः	99.925	असहायेन	७.३०, <u>४</u> ४
अ <b>ष्टवर्षाम्</b>	9.98	असाधिकेषु	5.90 <b>९</b>
अष्टापाद्यम्	द.३३७	असाधुम्यः असाधुम्यः	99.98
अष्टविधम्	७.9 પ્રે૪	असाधुवृत्ता	₹,50
अन्दाययम् असंक् <b>स्</b> कः	<b>Ę.</b> ¥ ₹	असाधु <b>रू</b> असाधुर	₹.9=₹
असं <u>स्</u> याः असंस्याः	٩₹.٩¥	असि <b>चर्म</b> ०	<b>હે.</b> ૧૧૨
असंख्यानि	9.50		४.९०; १२.७४
असंदितानाम्		असुख	¥.७0; 9२.9=
असंवृतम्	8.59	असुखोदर्कम्	४.१७६;
असंशयम्	२.६= [९३];	99.90	,
७.१२	V. V. E. 127	असुराः	<b>३.</b> २२४
असंभवे	२.१७८, [२०३]	असुरान्	१.३७
असंस्कार्यी	90.5=	असून्	३.२१७
असंस्कृतः	99.38	असूयकाय	२. <b>८९ [११४]</b>
असंस्कृतप्रर्त	ोतानाम् ३.२४५	असूपा	9.85
असंस्कृताः	२.१४ [३९]	असृक्	३.१८२; ४.१६९;
असंस्कृतान्	५.३६	<b>4.93</b> 4	
असंस्कृताना		असृक्पतेः	۲.88
	( 9.9३२ [२.9३]	असृग्	४.१६७
असमोत्रा	₹.¥	असृग्बन्धी	3.937
असंगैः	६.७४	असेवया	२.७१ [९६]
असच्छात्रः	99.54	असोमपः	99.93
असज्बरः	8.95%	अस्तम्	<b>۷,₹</b> و
	99.988; 93.99	अस्तमिते	¥.७ <u>४</u>
असत्कार्यः	97.37	अस्तेनमानि	
असत्पुत्रः	९.१५४	अस्तेयम्	<b>६.९२; १०.६३</b>
असत्यस्य	99.55	अस्प्नाम्	٧.٧٩
असर्	9.99, 98, ७४	अस्थिः	<b>३.</b> 9=२; ४.२२ <b>9</b> ;
असपिण्डम्		४.५७; ६.	
असपिण्डा	¥.\$	अस्थिकपार	
असपिण्डेष्		अस्थिवन्तर	
असमावर्तर		अस्यिभेवक	
असमिध्य	२.१६२ [१८७]	आस्यभता	म् ११.१४०, १४१

अस्थिरत्वातु 5.99 F. 19 अस्थिराम् अस्थिसंचयात् ४.६८ अस्चीनि **5.240 4. 4** अस्नेहास्तम् अस्तमिते 99.298 ३.२२९, २३० अस्रम् ९.८६ अस्वजाति 9.7 अस्वतन्त्राः अस्वर्ग्यम् २.३२ [४७]; 5.939 4.908 अस्वर्ग्या ७.२२६ अस्वस्थ अस्वामिना 5.988 5.8 अस्वामिविक्रयः 5.980 अस्वामी अहः १.६५, ६६, ६७, ७२, ७३. ७४: २.१४७ [१८२], १४७ [१८२]; ३.८२, २४०; ¥.७, 900; ¥.२०, 52; **5.30€; 99.30**€, 33€ अहंकारम् अहिन १.६६; २.४७ [८२], १०७ [१३२]; ४.४१, ९६; ४.३०: ६.६८; ८.४१९; 99.958 ११.१४७, १६७, अहम् २११, २१३, २४९ 99.285 अहरहः अहर्निशम् ४.९७, १२६ अहर्निशस्यान्ते 9.08 ५.२९ अहस्ताः 9.45; 5.223 अहस्य 99.243 अहात् ४.5४: ११.१४७, अहानि २१३ अहार्यैः ७.२१७ अहिः २.४४ [७९]; ११.२२८, २४०: १२.५७ अहिंसकानि **X. X X** अहिंसया २.१३४ [१४९]; ६.६०, ७४

अहिंद्धः ४.२४६	आनतमम्यवः २.१२७	आचारान् ३.१६७
अहिंसे १.२९	[9 x र]	आचार्येच १.१०९
अहिंसा १०.६३; ११.२२२	आपते ८.२९१	आच्छादः ७.१२६
<b>अहिंसाम्</b> ५.४४ अहिण्डका १०.३७	<b>आनमः</b> १.६१; ६.२००	आच्छादन० ३.४९
अहिण्डिका १०.३७	<b>आनमम्</b> ८.४०१; ९.२४६,	आच्छादनम् ९.२०२
महितान् ३.२० [११]	२८१; १२.१०५	आजातीः ४.१६६
अहिप्रेष्यनाम्नीम् ३.९	आगमात् १.८२; ८.३४७	आजीवनार्थम् १०.७९
अहीनम् ११.१९७	आपमेन ८.२५२	आजीव्यम् ७.६९
अहीनानाम् २.१४८ [१८३]	आगरात् ६.४१	आज्ञप्तः २.२२० [२४४]
अहुतः ३.७४	आगारान् ११.१२२	आज्ञया १०.५६
अहुतम् ३.७३	आगरे ४.५८	आज्यपाः ३.१९८
महे ४.७६	<b>आग्नेयम् ९</b> .३१०	आज्यपानाम् ३.१९७
बहेन १०.९२	<b>आत्रयणम्</b> ६.१०	आवृयः ८.१६९
<b>महो</b> १.६४, ६४	आद्निरसः २.१२६ [१४१]	आततायनाम् ८.३५०
महोषिः ३.४६	आचतुर्विशतेः २.१३ [३८]	आततायिवधे ८.३४१
अहोरात्रम् ४.११९;	आचारतः ५.१३८, १४३	आतप॰ १२.७७
99.9=3	आचाग्तान् ३.२४१	ं आतिरेक्यम् ११.५०
अहोरात्रविदः १.७३	<b>आचारः</b> १.१०७, १०८,	बातुरः ४.१२९, १७९
अहनः ११.२४९	१२५ [२.६], १३७ [२।१८];	आतुरम् ६.७७
<b>अह्ना</b> ४.६४, १०२; ६.६९	२.१६८ [१९३]; ४.१४४,	आतुराचाम् ४.२०७; ८.७१,
आकरकर्मान्ते ७.६२	१४६, १४६	३१२
आकरान् ८.४१९	आचारतः १.११०	आतुराम् ११.११२
<b>आकार्-अन्</b> ३.२४८	आचारम् १.११०; २.४४	आतुरासु ८.२८
आकारः ७.६३	[६९]	आत्मकम् १.११, १४, ७४;
आकारम् ७.६७	आचारवान् १२.१२६	97.78
आकारैः ८.२६	आचरिस्य ५.४	आत्मकरजात् ३.११८
आकालिकम् ४.१०३, ११८	आचारहीनः ३.१०५	आत्मचिन्ता १२.३१, ८३
आकासिकान् ४.१०५	आचार्यः २.१२० [१४४],	आत्मज्ञानम् १२.५४
आकाराः ४,१८४	१२३ [१४८], १४४ [१७०],	बात्मज्ञाने १२.९२
आकाराम् २.७४; १०.१०४	२०० [२२४], २०१ [२२६];	आत्मता १०.५८
आकाशात् १.७६	४.१८२; ८.३३४; ९.१८७	आत्मनः १.१२, १४, ३२,
आकारो ३.९०	आचार्यपुत्रः २.५४ [१०९]	१२४ [२।६६], १३१
आक्रन्दम् ७.२०७	आचार्यम् २.११५ [१४०],	[२।१२]; २.१४० [१७४],
आक्षारलवणम् ११.१०९	१४६ [१७१]; ४.१६२;	१४४ [१८०], २०१ [२२६],
आवारितः ८.३४४	४.९१	२२३ [२४८]; ३.७२, ११४;
आविकम् ८.१४९	<b>आचार्ययोः</b> ४.१३०	8.44, 57, 747, 745;
<b>आख्</b> १२.६२	आचार्यस्य २.१६६ [१९१],	५.८९, १४९; ६.२, २४, ४९,
आखुष्छिष्टम् ११.१४९	२०३ [२२८]	६३, ७३; ७.४७, ७६, १०४,
माजुनिः ४.१२६	आचार्यांचाम् २.१२० [१४४]	१३९, १४२, १६९, १७३;
मास्याः ७.१४७	आचार्वे २.२२२ [२४७];	न.न४, ३१२, ३४९, ३९०;
आख्यानानि ३.२३२	¥,50	९.२, २८, ९४; २२.३४, ७३,
आस्यायिनाम् ७.२२३	आचार्यः ४.१७९	११३, ११४, १६०, २१४;
भागः ९.२४१	भाषारात् १.१०९; ४.१४६	१२.१२, २४, २८, १०१

आत्मना ७.४६; ९.५	१२; <b>आदित्यः ९</b> .३०५	आव्यात्मिकम् २.९२
97.974	आवित्यम् ३.७६; ४.३७, ४८	[११७]; ६.८३
आत्मनि १.४१; ४.१५	७३; आहित्यवत ७.६	आनतसामन्तम् ७.६९
<b>६.</b> 9२, २४, ३८; ९.9३		आनम्तमु े ३.२७५
	९ आदित्यात ३.७६	आनन्तम् ३.२७५ आनन्तर्यात् १०.२८
बात्मिनः ६.	.७३ आदित्यानु ३.२८४	आनन्तयम् ६.८४; ९.१०७,
बात्मजूतैः ७.२	१७ आविभिः १.२६; ३.१७०;	१३७
पर.२७, ९५, ५५६, ५५ आत्मिकः ६. आत्मक्तैः ७.२ आत्मकातासु १. आत्मकाजी १२.	.9६ ७.9०७, १४९	भानन्तयाय ३.२६६, २७२
<b>आत्मवाजी</b> १२.	.९९ <b>आविष्</b> १.८३; ३.३९;	आनिधनात् ३.२७९
आत्मवत् १२.		मनिपातात् ११.१०४
आत्मवराम् ४.१४९, १	१६० <b>आविच्टी</b> ४.८८	
आत्मवान् १.१०८; ५.	४३; आवीनाम् ७.१०९; ८.३२१,	आर्युप्टेंब २.१६ [४१];
७.४२	३२९; ९.२२०	९ १४९
आत्मविक्रया ११.	.४ <b>९ आहेति</b> े ७.११८	आनुलोम्यात् १०.१२ आनुलोम्येन १०.५
आत्मविशुद्धपर्यम् ११	.५ <b>९ आवीन</b> ७.११८ .७२ <b>आवीन्</b> १.४८; ८.३१;	आनुसोम्येन १०.५
आत्मशबये ११.१	६४ ९२६०	आवृष्यम् ४.२५७; ९.२२९
बात्यसंतिखये ६	.२९ आवृतः ७.१४०	- ·
आत्मस् <b>ख</b> ० ५.	.४५ आवृताः २.२०९ [२३४]	आनशंस्यात १.१०१
	.३४ आवेषम् ८.१७०	आनुशंस्यार्थम् ९.१६३
आत्मा १.४२, ४४; ४.२	४४, आदेवस्य ८.१७१	आनृशंस्येन ८.४११
२४४; ७.३९; ८.८४; ९.		आम्बाहिकीम ३.६७
930; 90.75; 97.		·
998	आद्यन्ते ४.२४	आपः १.१०, ७८; ४.७६,
आत्मानम् १.१४; २		
[६0]; ३.३७; ४.१२७, २		99.288
रेश्वरं, २४४; ४.४२; ७.	६८, आचाः १.४०, ६३; ३.४७	आपत्करुपेत ११.२८
१३९, १७०, २१३; ८.	¥¥, <u>Ψ.</u> ξο	आपत्काले २.२१६ [२४१]
=¥, <b>९</b> २; <b>९.७</b> , १२, १	७७; आचाचस्य १.२०	आपत्सु ११.२९ आपदः ७.२१४
११.१९, ७३; २२.९२, ९	१२४ <b>आचान्</b> ३.२४, २२६; ५.३०	, आपवः ७.२१४
आत्मार्थम् ७.२१२; ११	.६४ ७.७२	आपवम् ९.३१३; ११.३४
आत्मोपजीविनः ७.९ आत्मोपजीविषु ८.३	<sup>१३८</sup> <b>आधाशयः ९</b> .३३४	
आत्मोपजीविषु ५.३	३६२ <b>आधेः</b> ५.१३१; ९.२३८	आपवि २.१५ [४०], २.८८
आत्यन्तिकम् २.३	२१७ <b>आधमन</b> ० ६ <sub>:</sub> १६४	
[२४२], २१८ [२४३]	आधानम ४.१६०	<b>₹.५६, १०३, १६</b> ८, ३३६;
आत्ययिके ७.९ आत्रेपीम ११	१६४ <b>आधान</b> े	, ¡o.٩٩ <b>=</b> ; ٩٩.२२७
		, आपव्गतः ९.२८३
	I. <b>१४ १४९, १६३</b>	आपद्धर्मम् १.११६
आबानम् ७.२०४;	<sup>८. ४</sup> आधिषयम् ७.१६९	, आपद्धमाः ५०.५३०
आवानात् ८.९ आविकम् ६	१७१ <b>आधिवैविकम्</b> ६.८३	। आप्तः २.८४ [१०९];
आविकम् ५	<sup>६</sup> .२७ <b>आधिपत्यम्</b> े १२.१०८	
<b>आवितः</b> १.३४, ५८,	७८, आधिम् ८.१५०	) <b>अप्रतस</b> ्वरिणः ९.१२
<b>९४</b> ; २.४४ [६९]; ३.२		
द.२ <b>१६</b>	आधी ८.१४३	) आप्ताः ६.६३

	७.१९०
आप्तैः	9.50
आपृरैवतेन	<b>5.90</b> €
आप्यम्	११.१८४
<b>आप्यायनम्</b> ३.२०	३, २११
आप्यायने	३.२१३
आप्यायितः	9.398
<b>बाप्र</b> यतः	५.१४२
आप्रसचात्	9.00
आप्लाब्य	3.288
आध्यिकः	७.१२९
आव्यिकम्	₹.9
माधरणः ७.२	<b>१९</b> ;
आभरणानि	७.२२२
आपीरः	१०.१४
आभ्यः	₹.⊏४
आमन्त्रितः	<b>३.</b> 9९9
आमपात्रम्	३.१७९
आमम् े	8.223
आमयोबी ३.७:	
आमरचात् ४.१४०	; ९.६९;
99.89	,
आमरणान्तिकः	९.१०१
आमिषम्	8.992
आमिषेण	<b>३.</b> १२३
आमृत्योः	8.930
ं आमीष्टिजबन्धनात् <u> </u>	२.१४६
[9७9]	, , ,
आम्नायपरः	9.50
आयतिम्	७.१७६
आयतिसंयुक्तः	७.१६३
आयतिकामम्	<b>७.२०</b> =
आयत्तम् े	७.२०४
	७.१६९,
૧७૬ ે	
आ्यनम्	६.१०
आयव्ययौ	5.899
भायसम्	5.39X
<b>आ</b> यसे	द.३७ <b>२</b>
	४; २.९६
[939]; ٧.२७, ١	(9, `¥₹,
	., ,,

UE UE 9	¥, 94 <b>६, 9</b> 5९,
	२३७, ७.१३६;
99.80	140, 0.144,
	10.10.11
<b>आयुधः</b>	<b>૭.७</b> ૪
आयुधम्	¥. <b>९</b> ९
भायुघव्यसनप्र	ाप्तम् ७.९३
आयुद्यागार	९.२=०
<b>जा</b> युधीयम्	७.२२२
<b>आयु</b> धैः	७.९०, २९२
आयंबः १.५३	i; ४१; x.9६९;
<b>६.३३</b>	., ., ,
भागसम्ब	२.१०० [१२४]
आयुष्यकामेन	<b>9.89</b>
	3 26 3
आयुष्यमन्तम्	3.783
आयुष्यम्	9.90६; २.२७
[४२]; ३.१०	· <b>k</b>
आयोगवः	१०.१२, १६
आयोगबीचु	१०.३४
आयोगम्याम्	१०.१४
आरब्रमूलम्	३.२०४
आरक्षवर्जितम्	¥05.\$
आरण्यकम्	४.१२३
<b>आरण्यपशु</b> ०	१०.४८
आरच्यान्	90.58
आरण्यानाम्	٧.٩
आरजमाजम्	९.३००
आरम्बरुचित	
आरम्म आरामम्	=.7€¥
आ राजम्	
आरामस्य	5,767
आरोग्य	२.१०२ [१२७]
आर्क्टर्शनात्	२.७६ [१०१]
आर्जवम्	११.२२२
आर्तववर्राने	<b>Y.Yo</b>
आर्तवे	₹.४⊏
	२.१३६ [१६१];
४.२३६;	<b>६.२६;                                   </b>
१६३, २	११६, २१७;
90.904; 9	१.३६; २०२
आर्तम्	७.९३
आर्ताः	<b>=</b> . <b>ξ ¥</b>
आसिंग् आसिंग्	<b>=.</b> 99x
मारापू कार्तेन	२.२०० [२२४]
भारत आर्तिः	5.393
<b>₩</b> (1)	

आर्ती 5.39X मार्चाम् 8.94 ¥.64, 64 मार्यपारः वार्वपदस्त् ¥.0 € मार्जनासा €. २३ मार्जानु 92.909 मार्धिकः **४.२ ३** आर्यः 90.49 ₹**0.**0₽ आर्यकर्मा जम आर्यता **७.**२११ आर्यप्रायम् **७.६९** आर्यम् 5.39X; 90.03 आर्यक्पम् १०.५७ आर्यीलिड्-गनः 9.750 आर्यवाचः 90.84 आर्यीवप्रहितः २.9४ [३९] आर्यवृत्ताना मु 9.243 आर्यवृत्तेष् **8.99** आर्यसंसदि 5.9X आर्यात् 90.40, 49 आर्यायाम् १०.६७, ६९ आर्यावर्तम् 9.989 [२.२२] वार्षे 4.90° आर्येच् २.१६२ [२०७] आर्चः 3.29, 28 आर्चजम् ९.५० आर्चमु 92.908 आर्चे 3.43 आर्चीद्वाजः 3.35 ¥.59 आसम्य **X.**8 आलस्पात् **आव**न्त्यवार घानी 90.39 आवरचे 3.983 8.93 आवश्यकम् आवसवात् 8.949 भावसंबी ₹.900 आवहनीय: २.२०६ [२३१] 5.386 आवहान् आवासम् ६.७७ आविक० 2.98 [88] आविकम् ሂ.5 आविकयोः 4.970 आविकानि २.9६ [=9], 90.50, 3

आविष्कृततैनसः ११.२२६	3.44 0.515 V.34	इिन्नुतम् ७.६७
<b>आबीत</b> २.३८ [६३]	३.९९, <b>१०७</b> ; ४.२९	<b>इ.स.</b> ८.२६
आपृतः १०.१४; १२.२०	आरममाणम् ९.३००	इच्छकी ४.१९४
आवृतम् ४.७३	आसनम् २.१७३ [१९३];	इच्छर्भिः १०.११३
आवृतम् ४.७३ आवृता ३.२४८	¥.59, 9xx; x.9x;	<b>१च्छल्या</b> ८.३७८
आवृते ४.६१; ७.१९२	<b>0.9 60, 9 69, 9 66;</b>	<b>इच्छ्या</b> ३.३२; ४.१०३;
<b>आवृता</b> ७.२१, ७.१९२ <b>आवृतानाम्</b> ७.६२	5.3 XU; 9.90	<b>6.95</b> %; <b>9.5</b> %; <b>90.5</b> %;
आवृत्तिकर्षिता ९.७४	आसनस्यः २.१७७ [२०२]	99.63, 928
आवेशनानि ९.२६४	आसनानि ४.२०२	इजानी ११.८७
आवतस्य ५.८८	आसनाच्याम् ६.२२	इज्य १.८९, ९०
आशरीरविमोधनात् २.२१८	बासने २.९४ [११९];	<b>इज्या</b> २.३ [२८]
LEXEL	३.२३४; ४.७४; ७.१४२ <b>आसनेन</b> ६.४९	<b>इंग्सः</b> ११.२४२
आशिषः १.८४		<b>इज्यंपिः</b>
आशीः ३.२४२	आसनेषु ३.२०६, २०९	इतरस्य ९.१८१
<b>आशीर्वाद</b> ० २.८ [३३]	बासपिण्डक्रिया ३.२४७	<b>इतराः</b> ३.२७६
<b>आशुः</b> २.१४३ [१६८];	आसप्तमात् १०.६४	इतरान् ३.११३; ९.१०७
3.9x, xo, \(\xi\), \(\xi\), \(\xi\),	आसमावर्तनात् २.८३, १०८	<b>इतरे</b> 9.909; ९.9४६,
909, 9=\(\xi\); \(\omega\);	आसबम् १२.९४	<b>164</b> 1, 10 1, 5, 144, 287
	आसारम् ८.२०३	इतरेतरकाम्यया ३.३४
=.२२, ३४६, ३६७; ९.२=२;	आसीनः ११.१११	
११.१६०, २४१, २४४ <b>आश्</b> गैः ४.६=	आसीनस्य २.१७१[१९६]	इतरेतरम् <b>९.१०२</b> इतरेभ्यः १०.२; ११.३
	आसीमान् ३.१८१, २१९	इतरेचाम् ३.३४; ८.३७९;
<b>आशीचम्</b> ५.४९, ६१, ६२,	आसीनासु ११.१११	
८०, <b>९७</b> <b>आशीचस्य</b> ५.७४	आसुरः ३.२१, २४, ३२	९.१ <b>६९</b> ; १०.९३
आशीचस्य ५.७४	<b>आसुरम्</b> ३.२४ <b>आसुरस्यम्</b> ११.२०	<b>इतरेषु</b> १.७०, ८२; ३.४१,
<b>आध्यः</b> , ३.७८; ६.७ <b>आध्यम</b> ६.३४		957
	आसुरादिषु ९.१९७	इतरै: ३.४६
आभमाः २.२०५ [२३०];	आस्थिता ९.७४	इतरी १०.१
३.७७; ६.८७; १२.९७	आस्पदम् ७.१८४	इतिकर्सव्यम् ७.१४२
आभगाणाम् ७.१७, ३४	आस्यम् ४.१३०, १४१	इतिहासान् ३.२३२
आधनात् ६.३४	आस्पात् १.९४	इद्धः
आधीमणः ३.७८; ६.९०;	आस्ये	इन्धन॰ ७.११६
१२.१११ <b>आध्यमित्रिः</b> ६.९१	आस्येन १.९४	इन्दुक्षये ३.१२२
<b>आध्रमिणिः</b> ६.९१ <b>आध्रमे</b> ३.५०; ६.६६;	आहवे ४.९=; १०.११९	<b>इन्दुभ्यः</b> ३.८७ <b>इन्दम</b> १२.९२१
	आहवेषु ७.८९	
99.65; 93.903	आहारः ५.१०५	₹₹₹: ₹.50; ७.४; ९.३०४
आभमेषु ८,३९०	आहारम् ६.२	इन्द्रधनूषि १.३८
आभवात् १.१३० [२।११]	आहारेण ६.७२	इन्त्रम् ११.२४५; १२.१२३
आभितः ४.२५७	आहिताग्नेः ३.२८२	इन्त्रलोकेशः ४.१८२
आधितानाम् ५.९० आश्वर्युजे ६.१५	आहुतम् १२.६८	इन्द्रवतम् ९.३०४
जारवर्षे ६.१४ <del>जारोकसम्</del> २०२ १३-१	<b>आहुतिः</b> ३.७६; ५.१०४	इन्द्रस्य ९.३०३
आवोडशात् २.१३ [३८]	आहुतीः ११.११९	इन्द्राजाम् ४.९४
आसनः २.१९० [२१४];	आह्वानम् ९.१२६	इन्द्रायुधम् ४.४९
	इंगु: ६,३४	इन्द्रिय० २.१६७ [१९२]; ६.७५
	इंड्गितः ७.६३, ६७	4.54

इन्द्रियप्रामः २.१९० [२१४]	उन्नः ६.२४; १०.९	97.993
इन्डियग्रामम् २.७५ [१००],	उन्नकन्यायाम् १०.१४	उत्तमम् १.१२८ [२.९];
१४० [१७४]	उन्नाम्मम् ४.२१२	२.२४४ [२४९]; ३.१०६;
इन्द्रियनियहः ६.९२;	उन्नायाम् १०.१९	४.२२९, २३०; ४.४२; ६.९;
90.६३; 9२.३9	<b>उग्रेष्</b> १२.७४	<.=¥;  <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <. <p< th=""></p<>
इन्द्रियम् २.७४ [९९];	उग्नैः ६.७४	99.२४४
<b>४.</b> २२०	उन्नी १०.१३	उत्तमर्जः ८.५०
इन्द्रियाचाम् २.६३ [८८],	उच्चावचानि १.३८; १२.१४	उत्तमर्जिकः ८.४८
<b>६</b> = [९३], ७४ [९९]; ६.६०,	उच्चावचेषु ६.७३; १२.१४	उत्तमर्जेन ८,४७
७१; ७.४४; १२.४२, =३	<del>उच्चैः</del> ७.१२१	उत्तमसाहसम् ९.२४०, २७९
इन्द्रियाणि १.१५; २.६४	उच्छिप्टः २.३१ [४६];	<b>उत्तमाः</b> १.३३; ३.१२;
[=९]; ६.४९; ११.४०	¥.७x, =२, १०९, १४२,	.९.२=; १२.४४, ४७, ९२
चित्रवार्थेच ४ १६ ११४४	949	उत्तमांने ८.३००
इन्त्रियेषु ४.२२	उच्छिष्टभोजिनः ४.२१२	उत्तमाङ्गोद्भवात् १.९३
इन्तियेष् ४.२२ इन्छनार्थम् ११.६४	उच्छिच्टभोजने २.१८४	उत्पत्तिः १.९८; ३.१९३
इन्धने ८.११२	[२०९]	उत्तमाम् ८.३२१
इरियस्यः ४.१२०	उच्छिच्टम् २.३१ [४६];	उत्तमानुत्तमान् ४.२४५
इषुः ९.४३	३.२४९, २४५; ४.८०, २११;	उत्तमाम ५.३६६: १२.४०
इष्टकः ८.२५०	५.१४१; १०.१२४	उत्तमेषु ३.१०७; ६.६४
इच्टाम् ४.२२९	उच्छिप्टेन ५.१४३	उत्तमः ४.२४४
इष्टिम् ६.३८; ११.२७	उच्छीर्वके ३.८९	उत्तरः १०.६८
इच्टी: ४.१०	उच्छेषचम् ३.२४६, २६४	उत्तरम् २.२४ [४९] १११
इच्टेबु ७.१३	<b>उम्छः</b> १०. <b>११</b> २	[१३६]; १२३८
<b>ईक्रणिकैः ९.</b> २४८	-डम्छतः ३.१००	उत्तराणि ७.७२
ईसर्वः ९.३९	<b>उम्छम्</b> १०. <b>१</b> १२	उत्तराणि ७.७२ उत्थानम् ९.२१४
ईप्सबः १०.१२७	<b>उज्छन्तीन्</b> ८.२६०	<b>उत्पत्तिः</b> १.९८; ३.१९
इंप्सितम् २.२३ [४८]	उञ्छशितम् ४.५	उत्पत्तिम् ६.६४
इंप्सिता ४.१४६	उत्रच्यतनयस्य ३.१६	उत्पत्तिष्यञ्जकः २.४३
<b>र्दुप्सुणिः</b> ३.४४	<b>उत्कर्वम्</b> ४.२४४; <b>९</b> .२४;	[६=]
इरिचे २.८८ [११३];	१०.४२	उत्पदम् २.१८९ [२१४]
३.१४२	उत्कृष्टः १०.९६	उत्पन्नः ९.१७०; १०.१९
र्डुच्या ७.४६	उत्कृष्टम् ४.१६३;, ८.३६४;	उत्पन्नतन्तूनाम् ९.२०३
र्इशः ७.११४; ९.२४४,	९.३४	उत्पवनम् ५.११५
२४४	उत्कृष्टवेदने ३.४४	उत्पत्त ६.५०
ईशाः ४.१८४	उत्कृष्टशुभूषु ९.३३४	उत्पादकः २.१२१ [१४६];
ईशेन ७.११६	ज्रत्कृष्टस्य ७.१२६; ८.२८१	९.४=
ईश्वरः १.९९; ७.१४;	उत्कृष्टाम् ९.३३४	उत्पादकाम् ९.३२
९.२७=	उत्कृष्टाय ९.८८	उत्पदनम् ९.२७
<b>ईश्वरम्</b> १.१४; ४.१५३	उत्तमम् १.१२८[२.९];	उत्पादितान् १०.६
इहितलस्यम् ९.२०८	२.२४४ [२४९]; ३.१०७	उत्संवे ४.६३
उकारम् २.४१ [७६]	उत्कोचकाः ९.२४८	उत्सर्गम् ४.९७
उबेचु ३.२०७	उत्तमः १.६२; ८.१३८;	उत्सर्ने ४.११९; १२.१२१

उत्सर्गेन	99.983	उदितान्	९.१८०	उपजीवनम्	9.700
उत्सवेषु	3.4 <b>9</b>	उदियात्	२.१९५ [२२०]	उपजीविनाम्	
	र. <b>२</b> ५ ९. २९=	उद्गयनम्	9.80	उपतापिनः उपतापिनः	9.99
उत्साहयोगेन	7.775	उ <b>र्</b> गाना प्र	E. 208	उपविशत्सु	
उत्सिक्तमनसाम् ∙उत्सृतीः	5.७१ ५.४०	उद्धतवण्डः	<b>७.</b> १०२	उपविष्टम्	7.95x [990]
. उत्सृताः . उत्सृष्टम्     ९.१७		उद्धतवण्डस्य		उपवेशम्	97.908
उदक् ४.४		उद्धृतस्नेहम्		उपधर्मः	२.२१२ [२३७];
उदककिया ५.६		उद्युतोद्धारम्		¥.9¥6	\.\\\\[\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\\
उदकतिमा २.५° उदकतिमा	1, 60, 41 4. <b>ξ</b> 8		२.१६ <b>८ [१९३]</b>	उपद्यापिः	<b>⊏.</b> १९३
	્ર.५° ર.७४ [९९];	उ <b>ब्</b> धृतस्नेहम्		उपधीम्	=. 9 € ¥
३.१०१, २१०, <sup>३</sup>		उद्युतस्परम् उ <b>द्वारः</b>	९.११२, ११ <b>४</b>	उपनायनम्	२.११ [३६]
२२३; ४.२४ <b>७</b>			७.९७, ९.१२३,	उपनिधिः उपनिधिः	5.98X, 988,
₹.q=६, २q <b>९</b>		१४६; १०.		954	٦. ١٠٨, ١٠١,
99.89, 9=2	<b>5</b> , \- 1,	उद्घारे उद्घारे	٠ <u>٠</u> ٩.٩٩६	उपनिधिहत्त	रम्
उदकस्य	<b>5.</b> २५२	उद्धार उद्देशिज्ञाः	9.88	उपनिहितस्य	
उदकान्	₹.२०=	उच् <b>तैः</b>	¥. <b>९</b> =	उपन्यासम्	8.39
उदकुम्मः	₹.६=	उद्य <b>ः</b> उद्यन्तम्	¥.30		3.9xx; x.29£
उबकुम्बम् २.९	140 [455]	उद्यमानम्	9. <b>9</b> x	उपपतिम्	8.296
उदके ३.९९; ४		उद्यान०	<b>९.२</b> ६४	उपपातकम्	
१९४; ११.१५७	, ,	उद्यानगृहाणि		उपपातकसंय	
	२; ४.१२१;	उद्वर्तनम्	૪. ૧ે३૨ે	उपपातकिनः	
<b>৩.</b> ৩ খ	,, ,	उद्वहनम्	<b>5.३७</b> 0	999	, , ,
उदक्	३.२१७	उद्वाहकमीन	\$.¥\$	उपपीड़ितः	८.६७
	¥. X७, २०=	उद्वाहिकेषु	9. 4 4	उपभोगम <u>ु</u>	<b>5.25</b> X
उदस्याम्	`પ્ર.⊏ પ્ર	उद्वेजनकरै:	<.₹¥ <b>२</b> ;	उपभोनेन	२.६९ [९४]
उदस्यायाम्	११.१७३	९.२४=		उपरोधेन	99.90
उदगयनम्	ঀৄৄৼৢড়	उन्मत्तः	३.१६१; ८.६७,	उपलेन	४.१९४
<b>उदर्मुखः</b> २.२७	[ 42], ३६	ं१६३; ९.२		उपवनानि	९.२६४
[ 4], 84 [00]	], Y.¥o	उन्मत्तजडम्		उपवासः	99.292
उदङ्गमुखान्	5,50	उम्मत्तम् ै	९.७९	उपवासक्शा	ष् ११.२९४
उद्पात्रम्	<b>३.९६</b>	उम्मत्तायाः	<b>⊏.</b> २०५		२.१६३ [१८८]
उदपानानि	<b>८.२४</b> ८	उपकरचम्	९.२७०		२.१९ [४४], ३९
उदयम्	¥. <b>७</b> ०	उपकारात्	<b>5.</b> २६४	[६४]; ४.६	
उदर:	४.१७५	उपक्रमै:	७.१०७, १५९	उपबीती	२.३८ [६३]
उदरम्	<b>⊏.१२</b> ५	<b>उप</b> क्लृप्तानि		उपसंप्रहणम्	२.४७ [७२]
उ <b>दर्का</b> न्	92.95	उपनमृप्तेषु	३.२०⊏	उपसम्पन्नैः	४.६=
<b>उवासीनगुनोवयः</b>	७.२११	उपचर्या	<b>३.</b> १९३	उपसर्जनम्	<b>९</b> .१२१
उ <b>वासीनप्रचारम्</b>	७.१४४	उपचारक्रिया		उपसर्जने	४.१०४
उदासीनम्	७.१४८	उपचारम्	9.999, 998	उपभेष्ठम्	४.३७
उदितः	9.98	उपचारमम्	१०.३२		३.६४
उदितम्	4.993	उपिषतः	६.४१	उपसेवा	७.१२; १२.३२
उदिता	९.२४	उपजापकान्	९.२७४	उपतेविनान्	११.४३

उपस्करः	३.६⊏	उल्का०	9.35	ऋवा २.४	५ [८०]; ८.१०६;
उपस्करम्	१२.६६	उल्कानाम्	४.9०३	99.998	
उपस्करया	४.१५०	उल्कामु <b>खः</b>	१२.७१	ऋजवः	२.२२ [४७]
उपस्थम्	<b>⊏.</b> १२५	उल्लेखेन	४.१२४	ऋजीषम्	<b>४.</b> ९०
उपस्पृष्ट०	₹.२०=	उष्ट्रः ३.	१६२; =.१४६,	ऋजुना	<b>३.</b> ९३
उपहतचेतनः	९.६७	२३९, २६९	;	ऋजम्	८.१०७, १०८,
उपहता	३.9∊३	१२.६७		१५४, १५	द, <b>१६१; ९.१०७</b>
उपहर्ता	<b>ሂ.</b> ሂ ዓ	उष्ट्रम् ४.९	१२०; ११.१३७	ऋणावानम्	<b>5.</b> .¥
उपांशुः	२.६० [८४]	उष्ट्रयान०	२.१७९ [२०४]	ऋणादिषु	۳.90 <b>७</b>
उपाकर्मीण	४.११९	उष्ट्रपानम्	११.२०१	ऋणानाम्	99.६४
उपाञ्जनम्	५.१०५	उष्ट्राचाम्	१२.४४	ऋणानि	<b>६.३</b> ४
उपाञ्जनेन	५.१२४	उष्णम्	३.२३७	ऋगे	<b>5.938; 8.</b> 295
उपाञ्जनैः	४.१२२	उष्णान्	११.२१४	ऋत०	<b>४.४; ६.</b> १०४
उपादानम्	७.१२; ८.४१७	उच्चे	99.993	ऋतम्	२.२७ [४२]; ४.४;
उपाध्यायः	२. <b>११६</b> [१४१]	उच्चेन	५.११७	5.57, 5	
उपाध्यायम्	<b>୕</b> ୪. <b>९</b> 9	<b>जनद्विवार्षिक</b> म्	८ ४.६⊏		३०; ३.४६; ४.२६
उपाध्यायान्	२.१२० [१४४]	<b>जनस्य</b>	5.290	ऋतुकाला	<b>भगमी</b> ३.४४
उपानत्	२.१४३ [१७८]	<b>ऊनानाम्</b>	९.१२३	ऋतुकाले	<b>ሂ.</b>
उपानही	४.६६, ७४	কর্তবদ্	२.३० [५५]	'ऋतुपर्यये	9.30
उपाययोगैः	९.१०	<b>कर्घाम्</b> १.९२	; २.१४ [३९],	·ऋतुमती	९.९०
उपायानाम्	७.१०९, २००.	९५ [१२०];	₹. <b>१६९; ४.९</b> ८;	ऋतुमतीम्	९.९३
उपायान्	१०.२		.२१४, २१८,	ऋतूनाम्	९.९३
उपायैः	७.१०६, १७७;		, ९.७७, <b>९</b> ०,	ऋती	४.१२=
5.85, 980	; ९.२४८, ३१२	१०४, १८७,	२२६; ११.९८,	ऋत्वन्तास्	
उपासनाम्	३.१०७	११०, २४७		ऋत्विक्	२.११८ [१४३];
उपासीनाः	४.९३	<b>कर्घ्यवृतम्</b>	२.१९ [४४]	<b>३.</b> ११ <b>९</b> ,	१४=; ४.१७९;
उपेक्षकः	६.४३	<b>ऊ</b> षरे	२.८७ [११२]		३८८; ११.१८२
उपेतारम्	७.२१४	<b>ऊ</b> षैः	४.१२०	ऋत्विजः	२.१०५ [१३०];
उपेयम्	७.२१४	ক্তম্ব:	१.४५	४.9=२;	७.७८, ८.३८८;
उपोदेषु	६.४१		.२३; ११.१४२	११.४२	
उन्नेवजम्	४.१४४	ऋक्संहिताम्	११.२६२	ऋत्विजे	३.२⊏
उप्तम्	ે (.૪૦	ऋवः	१२.६७	ऋषयः	<b>૧.૫; ૨.૧</b> ૨૧
उत्पिवित्	<b>९.३३</b> ०	ऋक्षविभावना	र् २.७६	[१५४];	₹. <b>50;</b> ¥. <b>९</b> ४;
उभयात्मकम्	२.६७ [९२]	[909]		१०.७२;	99.234, 283;
उपयोदतः	9.39, 83	ऋक्षेष्टि	६.१०	१२.४९	
उत्त०	१.३१, ८७	ऋग्यजुवी	४.१२३	ऋविभ्यः	₹.२०१
उरुपज्यानाम्	१०,४४		२४; ११.२६१	ऋषिभिः	२.९९ [१२४];
उर्वीम्	<b>=.२४६</b>	ऋग्वेववित्	99.992	€.३०	
उल्कासकनाम्		ऋचः	२. <b>५२ [७७]</b> ;	ऋषियज्ञम्	
उसूकै:	१२.७६	११.२६४		ऋषिवत्	
उसूबसस्य	४.११७		.94६ [959];	ऋषीपाम्	३.१९४
उलूबिलकः	६.१७		.२४९, २४२,		.६०; ३.८१, ११७
उनुखले	३.८८	२५६		एककालिक	म् ११.१२३

एककृष्यलम् ८.१३४	एनः ९.९६; ११.८२, ८४,	औरसः ९.१४४, १४९,
एककेंबारे ९.३८	२४१, २५६, २६१; ५.३४;	१६३, १६४
एकन्नामीचम् ३.१०३	<b>६.१९; १०.</b> १११; ११. <b>६३</b> ,	औरसक्षेत्रजी ९.१६२; १६२
एकचरान् ५.१७	१०३, १४५	औरसम् ७.१३४; ९.१६६
एकजातानाम् ९.१४८, १८२	एनम् ११.२६४	और्धवेहिकम् ११.१०
एकजातिः ८.२७०; १०.४	एनसः २.४४ [७९];३.३७;	<b>औषधस्य</b> ८.३२४; ९.२९३
एकतोबतः ५.१८	<b>५.१०</b> ४	बीचधानि ११.२३७
एकवेशम् २.११६ [१४१]	एन्साम् ११.२४७; २४२	बीचधीः १०.८७
एकपत्नीनाम् ९.१८३;	एनसि ११.१२२	औष्ट्रम् ५.८
<b>४.१</b> ४ <b>=</b> _	एनस्विभिः ११.१८९	कक्षम् ७.१९०
एकपलाधिकम् ८.३९७	एनस्वी ११.२४४	ककान्तरम् ७.२२४
एक परतासु ८.३६३	<b>एनांसि</b> ११.७१, २१०	कच्छपाः १.४४
एकमाचकम् ११.१३३	<b>एवंकर्मा</b> ८.३१४	कटपूतनः १२.७१
एकयोनिषु . ९.१४८	एवंविधान ९.२६६	कटाग्निमा ८.३७७
एकरात्रः, ११.२१२	ऐकशफम् ५.८	कटेचु २.१७९ [२०४]
एकरात्रम् ३.१०२	<b>ऐन्दनम्</b> ११.१२४	कट्याम् ८.२८१
एकरात्रिकम् ४.२२३	पुरुवाम् ४.९३; ८.३४४	कजान् ११.९२
एकरात्रेज ११:१७८	<b>ऐश्वर्यम्</b> ४.२३२	कजान्तता ११.१६७
एकरिन्थिनी ९.१६२	ऐश्वर्यात् ८.३१३	कण्टकानाम् १.११४;
एकवासा ४.४४	ऐश्वर्षे ६.९४	९.२४३
एकवेश्मनि ३.१४१;	ऐंडिकफैर्तिकम् ४.२२७	कण्टकै: ५.९४
११.१७६	ऐहिक: ४७	कण्टकोद्भरणे ९.२४२
एकशकम् ९.११९	<b>ऑकारपूर्विकाः</b> २.४६ [८१]	कण्ठनामिः २.३७ [६२]
एकशकाम् ४.११; १०.८९	ऑकरम् २.४० [७४].	कण्ठसण्याने २.३८ [६३]
एकशुस्केन ८,२०४	भोषबात् ९.५४	कण्ठे ११.२०४
एकहायनम् ११.१३६	ओवनस्य ५.३२९	कण्डनी ३.६८
एकांशः ९.१५०	ओषध्यः १.४६; ५.४०	कतकवृक्षस्य ६.६७
एककिनः ७.१६४	ओषधीनाम् ११.६३, १४४	कषा ३.२३१
एकाकी ४.२४८	ओच्छी द.२५२	कवाम् ४.७२
एककरम् २.४८ [८३]	भीजसः १.३६	<b>कहर्यस्य</b> ४.२२४
एकात्रम् १.१	<b>औ</b> जसाम् १.१६, १९	<b>कनिष्ठः ९.१</b> १३, १२२,
एकदशगुणम् ८.३२०,	औड़ १०.४४	799
3 ? ?	औरक॰ ६.१३	<b>कनिष्ठायाम् ९.</b> १२२ <b>कनिष्ठेभ्यः ९.</b> २१४
एकधिकम् ९.११७	औरकानि १.४४	
एकानुदिष्टस्य ४.१११	<b>औरकेम</b> ३.२१४	कन्या ८.२०४, ३६७, ३६९:
एकन्तरे १०.१३ एकन्ते २.३६ [६१]	औरुम्बरी २.२० [४४]	<b>९.४७</b> , <b>८९</b> , <b>९२</b> , <b>९७९ १७२</b> .
	भौद्यारिकम् ९.१९०	959; 99.38
एकहम् ५.५९, ७१ एकैकशः ११.१३८	बौद्वाहिकम् ९.२०६	कन्यादातुः ९.७३
एकोबकानाम् ५.७१	<b>औपधिकाः</b> ९.२४६	कन्याबानम् ३.३४ कन्याबुवकः ३.१६४
एकोहिष्टस्य ४.११०	औपनायनिकः २.४३ [६८] औपनिषवीः ६.२९	•
<b>एकस्य</b> ३.२६९	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	•
एषः ११२४६	<b>औरत्रिकः</b> ३.१६६ <b>औरत्रेज</b> ३.२६८	<b>कन्याप्रदानम्</b> ३.२९, ३० <b>३</b> ९
Am. 11.404	जारम्रच २.र६०	₹ 1

कन्याभ्यः	९.११⊏
कन्याम्	३,८; ८,२२४,
२२४, ३६४,	३६४, ३६७.
३६९, ३७०:	९.७१. ७२,
७३, ८८, ९३	<b>९.७</b> १. ७२, , <b>९</b> ४
कन्यायाः ३.	२७, ३२, ४१;
९.६९: ११.६	0, ६9
कन्यायाम्	९.९७
कन्यायै	3.39
कन्यासमुद्रभव	
कन्यासु	<b>⊏.२२६</b>
कन्याहरणम्	3.33
कपालम्	€.8%
कपालिका	۶.२ <u>५</u> ०
कपालेन	<b>८.९३</b>
कपिकाकयोः	११.१५४
कपिलाम्	₹.⊏
कमण्डलुम्	२.३९ [६४]:
3 5 8	
करः	७.१२९
करकम्	8.55
करजै:	8.60
करणः	90.२२
करणम्	=.४२. १४४
करणेन	<b>⊏.</b> ሂ٩
	१३३; ८.३०७.
368: 6.30	
करम्भः	१२.५६
करसंज्ञितम्	७.१३७
करान्	७.१२७. १२=
करीषम्	<b>5.2</b> 40
करूणवेदिता	७.२११
ककरे	¥.93€
कर्णश्रवे	४.१०२
कर्णिभः	७.९०
	.१७५ [२००]:
=.9२¥, २३¥	
कर्तव्यता	9.89
कर्तव्यो 🕌	¥5.8
<b>कर्ता</b> २	.92x [20X];
	२८: ८.३४४:
१२.२०७ <del>कर्तार</del> ः	0.0.0
कत्तारः	१.९७

कर्त्तरम 5.95. 98 कर्तः 8.907. 903 कत्तभिः ₹ 20€ 9.99.97.89 कर्सप x.90x कर्म० १. ४२. ४४. ६६. ९१. 907. 999: 2.999 [१३६], १४६ [१७१], १६४ [980]. 984 [990]: 3.25. 60. 280: 8.98. 60. 9x8. 989: x.=x. २०४: ६.६१, ९४: ७.४४, ४९. ६६. १२४. १३८. १५४: द.२०६, २**१**४, २१७, २७३, ३३२: १०.१२३: ११.४४. १२४, २२९, २२१, २३२: 97.3. 4. 5. 34. 45. 59. EZ. EX. EE. EE. EQ. 90. 909 कर्मकारिभिः 9.289 कर्मजम 92.909 कर्मजाः 92.3 कर्मण: ¥.9=: =.₹90: 92.49 कर्मणा ४.१५. १९७: 5.900; . e. ? ? ? ; 90.59; 99.983; 92.38, 43 कर्मणाम 9.28. 84. 58. 900, 990; 3, \$ 1; 0, 975; ९.२९६: १०.७६: ११.२०३: १२,१, ७४, ६२, ६४, ६६ 9.25: 2.958 कर्मीण [9=9]: 3.64, 989, 280; E. 87, 20E, 3EE; 9.282; 99.233 कर्मतः 92.85 कर्महोचै: 9.908: 92.9 कर्मीनष्ट्य 3.938 कर्मफलोवयम 99.239 कर्मी भः 9.7 [78]. 95: X.3: E. & Y. & X: 90. XE. 19. 9E. 900 कर्मभ्यः १.५३: २.४३ [६८]: **६.** 5 €; 9 ₹. 60, 9 9 €

कर्मयोगः 9.939 [2.3]; १०.११५ कर्मयोगम् २.४३ [६८]; €.**=**€: 9२.99९ कमयोगे 92.50 कर्मीवद्या 92.89 कर्मीविधिः **९.३२४. ३३६** कर्मविधिम 9.374 कर्मीवशेषेण 99.42 कर्मस् ४.१५५; ७.१२५: 9.302 कर्महेतना 9.88 कर्माणि 9.79, ३0, 5७; २.११७ [१४२]: ६.९४, ९६: ७.७८: ८.४२, २११, ४११ ४१८; ९.३००; १०.७४, ७५, ७६: १२.१२, ९२ कर्मात्मनाम 9.22 कर्मातुमानः 9.43 कर्मान्तान **5.899** कर्मारस्य कर्मेन्द्रियाणि २.६६ [९१] कर्षे: 90.50 कर्मोपकरणः 90.970 कलविड्-कम् **x.9**? कलहे 7.939 कला 9.88, 88 7.909 [138] कलाभृतम् कलामु २.६१ [८६]: ८.३६ कलिः 9.309, 307 कलियगे 9.58 कलवयोनिजम 90.40, 45 कली 9.58 कल्पः 80. x :08P. F कस्पे 9.220 करपेन ४.७२: १२.६९ कल्मचः 92.95, 22 कस्याजः 5.89 कल्याजम् 3.50 कस्याचे c. 3 9 2 कवकानि ¥. ¥; \ \ . 9 \ \ ; 92.911 कवय: 3.28: 0.89 कवि: २.१२६ [१४१]

कवे: ३.१९८	५.९०: ९.६३, २४२:	कायोद्वाजः ३.३८
कव्य० १९४	90.93: 99.88, =8, 920,	<b>कारवः</b>
कव्यानि १.९४; ३.१३२	२०१	कारणम् १.११; ४.९४;
934	कामम् १.२५: २.८८	5.700; 99.58
कश्यपाय ९.१२९	[993]; २.१४३ [१७८].	कारणात् ८.३४४
कवायान् ११.१४३	१६४ [१=९], १९१ [२१६]:	कारणैः ८.४७
कष्टतमम् ७.५०	३.१११, १४४, २२२;	कारावरः १०.३६
कच्टतरः ७.१८६	x.9xo; o, 989; ≈.₹o;	कारिणः ९.२४९
कष्टम ७.४१. ४३, २१०	<b>९.9७, =९; 90.९०, 99७;</b>	कारिता ५.१४३
कांक्षन् २.२१७ [२४२]	99.93	कारककमीचः १०.९९
कांस्यम् १२.६२	कामबुत्तः ४.१४४	कारुककर्माणि १०.१००
कांस्यरैत्यानाम् ४.११४	कामसम्भवः ३.३२	कारुकक्शीलवी ८.६४
कांस्ये ४.६५	कामसमुत्थानि ७.४५	कारुकानु ७.१३८
काकः ७.२९: ११.१४९;	कामस्य १.१२३ [२.४]	कारुकान्तम् ४.२१९:
१२.६२, ७६	रे.१२२ [१४७],	९.२६४
कांकताम् ११.२४	कामात् १४४ [१८०];	कारुकुशीलवान् ८.१०२
काकोलम् ५.१४	द.११ <sup>द</sup> , १२१; ९.१७६,	कारुषः १०.२३
काञ्चन० ४.२३३	२४८; ११.१६२	कारुहस्तः ५.१२९
काञ्चनम् २.२१४ [२३९];	कामात्मता १.१२१ [२.२]	कारस्र्न्येन ३.१८३
પ્ર.૧૧૨ે	कामात्मा ७.२७	कार्यास० १२.६४
काणः ३.१४४, १७७, २४२	कामान् १,१२४ [२.५];	कार्पासकीटजीर्जानम् ११.१६८
काणम् ६.२७४	३.२७७; ११.२४२	कार्पासम् २.१९ [४४]
करजेन ११.११=	कामानाम् २.६९ [९४]	ंकार्पासास्यः ४.७५
काण्ड० १.४६, ४८	कामार्तः ८.६७	कार्यतत्त्वार्थवित् १.३
कानीनः ९.१६०	कामार्थम् ९.७६	्कार्यवर्शनम् ८.९, २३
कानीनम् ९.१७२	कामार्थी २.१९९ [२२४]	कार्यवर्शन ५.९
कामः १.१२२ [२.३]; २.६९	कामिनीचु ८.११२	कार्यम् २.४७ [७२]; १३४
[98]; 9.86, 37=: 97.99:	कामे ११.९०	[१४९]: ३.८०, २४८, २७९;
97.35	कामेषु ६.४१	४.१४०, १४७: ७.१०, १४०,
कामकारतः ११.४१	कामै: ९.३०४	१६१, १७३: ८.४३, ७०,
कामकारकृते ११.४४	काम्बोजाः १०.४४	११७, १८६, २३४, २३७,
कामक्रोधवशानुगम् २.१८९	काम्यम् १२.८९	२९३, ३२४; <b>९.२९९</b> ;
[298]	काम्यवा ५.२७; १२.११७	११.१६२; १२.२[३७], १०४
कामक्रोधी ८.१७४	कायक्लेशान् ४.९२ कायमतम् ११.९७	कार्यवान् ९.७४
कामचारतः २.१९४ [२२०]	कायत्रैदशिकाभ्याम् २.३३	कार्यविनिर्णयम् ६.६
	-	कार्यशेषम् ७.१५३ कार्यशेषज्ञः ७.१७९
फामजः ७.४७	[४८] <b>कायदण्डः</b> १२.१०	<del>-</del>
कामजम् ९.१४७	कायम् २.३४ [५९]	कार्याणम् १.११४
<b>कामजान्</b> ९.१०७ <b>कामजे</b> ७.४०	<b>कायिकम्</b> १२.५	् <b>कार्याण</b> २.१८६ [२११];
•	कायिका द.१५३	७.६१, १२०, २२१; ६.२, १०,२४,१७४,१७६,२४६;
कमजेषु ७.४६	काविजाम् = ३१२	9.239, 249
कामतः ३.१२, १७३:	क्रयेन १२.८	
४.१६. १३०, १३२, २०७;	4444 14.6	कार्यार्थम् ७.१६४; ८.११०;

#### मनुस्मृति-शब्बसूची

1 4.4	
<b>कार्यार्वीसद्व</b> ये	७.१६७
कार्यिकेच्यः	७.१२४
<b>अर्थिनाम्</b> ८.२, २	
कार्ये ७.१६५; ८.	50, २२ <b>5</b> ,
३९०	
कार्येक्षणे	७.१४१
कार्येष	९.२३१
<b>कार्येषु</b> ७.	५७: ८.६३
कार्यापजः	<b>≂.१३६</b>
कार्यापणम्	<b>⊏.३३६</b>
कार्पापणावरम्	=. ₹७४;
90.970	
कार्यापजी	९.२=२
कार्षिक:	<b>5.9</b> ₹
कार्ष्यरीरववास्तानि	२.१६
[89]	
कार्जायसम्	१०.५२
कार्जायसीम्	99.933
कालकारिते	E 38E
कालज्ञै:	હ.૨ે૧હ
कालपक्वभक्	६.१७
कालपक्षैः	६.२१
कालम् १.२४, ४	<b>ባ:</b> ६.४ሂ.
<b>४४: ⊏.३२, ४</b> ४	१, ३२४:
<b>९.२९३</b>	
कालविभक्तीन्	9.२४
कालवृद्धिः	<b>⊏.१</b> ४३
कालशाकम्	३.२७२
काससंरोघात्	<b>८.१४३</b>
कालसूत्रम् ३.२४	٧: ٧.٢٢
कालस्य	<b>⊏.२</b> १६
कालात् ८.२४	9: ९.९०
कालिकै: ६	.१९, १९
कालिकतया	१२.९६
काले १.५१; २.५	(४ [६०];
काले १.५१; २.५ ३.१०५: ७.१६४, ८.२३३, ४००: ९.४ कालेन	२०४:
E. 233, 800; 9.	لا, ₹٥ <b>७</b>
कालेन	९.२४६
44114	G. 1 - 3
कालोपपादिते	९.३६
कालोप्तानि	९.३=
काञ्यान्	३.१९९

काष्ठम् 90.58 काष्ठमयः 7.937 [9X9] काष्ठलोष्ठः 8.289 काष्ठलोष्ठ० 8.89 काष्ठलोष्ठमयेव 5.759 काष्ट्रवत् 4.59 काष्ट्र 9.88 काष्ट्रानि 5.307: 97.05 किश्कान् **=.**२४६ कितवः ३.१५९ कितवम 3.949 कितवाः 9.245 कितवानु 9.774 किन्तरानु 9.39 किराताः 90.88 किल्लिचम् ६.७२; ८.४०. २३४, २९६, ३००, ३१६, ३१७, ३३७, ३४२, ४२०: 92.905 किस्विपात ₹.९८: 90.995: 99.80, 238 किल्विची ८.१३, ९४, १४२, 3 ; 5 कीट० 9.80; 7.90€ [२०१]: १२.४६ 99.280; 92.82 कीटाः कीनाशः 9.940. कीर्तितम् 9.82 कीर्तिनाशनम् 5.970 कीर्तिम 9.92= [2.8]: 8.98: ¥.9&&: 5.59: 99.80 क्षक्ट: 3.739, 787 क्षक्टकः 90.95 क्कक्टानाम् 99.948 क्चर्याम् 9.90 क्षेलम् 8.88 क्ञजरस्य 3.208 क्टीम् 99.62 9.999: 99.97 कुटुम्बात् क्ट्म्बाभ्याम् 99.98 क्ट्म्बार्थम् 5.955 क्ट्म्बार्थे 5.980

क्टम्बभ्यः ₹.50 फ्ट्म्बे 3.992 क्डमलम् 8.58 क्षपाशी 92.99 मुण्ड: 3.908 क्ष्डगोलकी 3.944, 908 क्ष्डले 8. 38 क्ष्डाशी ३.9५⊏ क्तपम 3.238 क्तपस्तिलाः **3.23x** कतपानाम् 4.970 कुत्हली 8.83 क्त्सनम् 8.983 क्टुष्टय: 92.84 कुनखी 3.9X3 कपिता 9.393 क्पृत्रैः 9.989 क्प्यम् **७.९६**: 90.99३ कुप्लवैः 9.989 क्वेरः ७.७, ४२ कुञ्जकनुरुमान् 5.280 क्म्भीधान्यकः 8.9 क्म्भीपाकान् 92.68 क्म्भेभ्यः 5.370 कुमारब्रह्मचारिजाम् **4.949** क्माराजाम् 9.9X2 क्मारीः 3.998; 9.90 क्मारीपाम् 8 X X क्मारीचानः 9.939 क्मारीच् 99.45, 900 क्रक्षेत्रम् 9.93= [2.98] क्रक्षेत्रान् 9.993 क्लगोत्रे 3.909 कलजे 5.909 क्लधर्मान् 9.995, 5.89 क्लम् ३.५७, ६२: ४.२४४: 9.89 998: **5.988**: 9.909 क्लिमित्रम् 8.283 क्लयोः 3.X क्लयोवितानाम् **3.28**× क्लसंख्याम् 3. E E क्ससंततिम् 4.948

क्लसन्निधौ ८.१९४, २०१;	कूलम् ६.७८	कृते १.८१: ९.६९
९ॅ.≒३	क्ष्माण्डैः ८.१०६	कृतोपनयनः २.८३ [१०८]
कुलानि ३.७. १४, ६३, ६४.	क्ष्युः ११.१६२, २१४	<b>कृतोपनयनस्य</b> २.१४८
<del>୍</del> ଟ୍	कृष्कृष् ४.२२२: ५.२०,	[१७३]
कुलीनम् ७.२१०	२१: ११.१०४, १२४, १३९.	कृत्यासु ९.२९०
कुलीनानाम् ८.३२३	१४८, १६४, १७३, १७७.	कृतत्याहतानि ३.५८
<b>भूले</b> २.९ [३४], १४९	२०८, २१२	कृत्येषु ७.६७: ९.२९७
[१८४], २१८ [२४३];	कृष्य्वत् ६.७८	कृत्रिमः ९.१४९, १६९
3. EO. 208; X.989;	क्च्य्रातिक्च्य्री १२,२०=	कृत्सनः २.१४० [१६४],
9. <b>99</b> ; 90.80	क्च्छ्रानु ११.१९१	. ४. <b>१४६: १०.</b> १३९:
कुलोब्गतम् ७.६३, १४१	क्च्छ्रैः ११.१९७	११.२६६: १२.४१
कुलोबूगतानु ७.६२	कृतकृत्यः १२.९३	कृत्स्नम् ३.२८३: ४.८२,
कुलोब्मवान् ७.४४	कृत्कृत्यता ४.१७: १०.१२२	
कृषिवाहै: ३,६३	क्तक्रियः ५.९९	
भुशतः ८,३९८	कृतक्रियौ ९.१०२	कृत्स्नशः ७.२१४
कुशसता १२.७३	कृतघ्यस्य ४,२१४; ८,८९	क्र्लनम् १.५०५; ७.१४८
फुशलम् २.१०२ [१२७];	कृतप्नान् ११.१९०	कृपणम् ४.१८५
\$. <b>%</b> 5	कृतचुडे ४.४८	TTTT: 0.2 U.0
कुशबारि ११.१४८	कृतज्ञम् ७.२०२, २१०	कृषिः १.४०; २.१७६
कुंशान् २.१५७ [१८२];	कृतवण्डः ८.३१८	[२०५]: ५२.४२, ४६
४.२५०; १०.८८	कृतवारः ४.१; ४.१६९;	कृमिकीटवयः ११.७०
कुशाश्मन्तकबल्बजैः २.१८,	99.4	<b>कृमिणिः</b> ⊏.२३२
[\$3]	कृतदुर्गः १.२४२	कृमिभूतः १०.९१
कुशीलवः ३.१४४	कृतनिर्णेजनान् ११.१८९	कृमीणाम् ३९२
कुंशीलवान् ९.२२४	कृतबुद्धयः १.९७	क्शम् ७.२०८
जुशोदकम् ११.२१२	कृतवृद्धिप् १.९७	कृशानु ४.१३४
<b>कुच्छि</b> ३.७	कृतम् ९.३०१, ३०२	कृषिः १०.११६
कुष्ठिन्या ३.७	कृतयुगे १.८४, ८६	कृषिगोरक्षम् १०.८२
कुसीदपथम् ८.१४२	कृतमक्षणाः ९.२३९	कृषिजानाम् ११.१४४
कुसीदम् १.९०: ८.४१०:	कृतवापः ११.१०८	कृषिजीवी ३.१६४
<b>૧</b> ૦.૧૧૬	कृतवापनः ११.७८	कृषिम् १.९०: ८.४१०;
कुसीबवृद्धिः ८.१४१	कृतशीचः ४.९३: ७.१४४	90.53. EX
कुसुमस्तेयम् ११.७०	कृतसंज्ञान् ७.१९०	कृषीवलः १०.९०
कुसुम्भवान् ६,४२	कृतसंस्कारः ९,३२६	<b>कृषीवलैः ९</b> .३८
कुसूलधान्यकः ४.७	कृता ९.१३६	कृष्णः १.६६
<b>कुह्वै</b> ३.८६	<b>कृताङ्कः</b> ८.२८१	<b>कृष्णपक्षे</b> ३.२७६
क्टकारकाः ३.१४८	कृताञ्जलिम् ७.९१	कृष्णपक्षेषु ४.९८
कूटशासनकर्तृत् ९.२३२	क्तात् १०.११४	<b>कृष्णलम्</b> ११.१३७
क्टैः ७.९०	कृतानुसारात् ८.१४२	<b>कृष्णलानि</b> ५.२१४: ९.५४
कूप० ४.२०२	कृतालम् ९.२१९: १०.८६,	कृष्णले ⊏.१३४
कूपवापीजलानाम् ११.१६३	९४; ११.३; १२.६४	कृष्णवत्मा २.६९ [९४]
कृणुत् ८.३१९	कृतायाम् ९.१३४	कृष्णसारः १.१४२[२.२३]
कूर्म ७.१०५	कृतावस्यः ८.६०	कृष्णे ६,२०: ११,२१६

कृष्या	3,58	की शेय	४.१२०	क्रियात्रिधौ	१२.८७
कृष्याम्	90.90	की रोयम्	१२.६४	क्रित	<b>९</b> .१६०
क्सरसंयावम्	و.پا	कौसीवीम्	<b>८.</b> १४३	क्रीतकः	<b>९</b> .१६०
केतनम्	8.990	क्रतुभिः	७.७९	क्रीतम्	<b>८.४</b> १३
केतितः	3.990	क्रतुम्	9.३४	<b>क्रु</b> ड:	<b>४.</b> 9६४; <b>⊏.</b> ६७
केतृन्	۹.३۵	क्रतुराट्	99.२६०	ब्रूरकर्ग०	१२.४=
केवारम्	٧.٧٧	क्रतुविक्रयिणः	४,२१४	क्रूरता	१०.५८
केलिः	5.₹ <i>\</i> 9	क्रमजम्	€.€३	क्रूरस्य	४.२१२
केवल:	४.२३९	क्रमशः	१.६८: ३.१२:	क्रूराचारविहा	रवान् १०.९
केवलम्	२.१७४ [१९९]:	६.१०. २३, ३	१४, ८८: १६४.	क्रूराचारैः	४,२४६
₹. <b>५४, १</b> १=			१२.५३. =७	क्रूरानु	९.२२५
केवला:	8.90	क्रमयोगम्	१.४२	क्रूरे	9.29
केवलान्	२.७० [९४];		.,१३९ [१६४]:	क्रोधजः	७.४८
४.२०४		६.⊏४		क्रोधजानि	७.१४५
केवलै:	३.६४: ६.२१		.१३७ [२.१८]	क्रोधजे	७.४०
केवली	<b>≂</b> .२४	क्रमात्	90,≎⊏	क्रोधजेषु	७.४६
केशः	¥.3X; ६.X२		१.१४८ [१७३]:	क्रोधम्	१.२५: २.१५३
केशकी टावप	नम् ११.१४९	३.६९; १०.१		[१८७]: ४.५	१६३: ९.१७
केशकीटै:	४.१२४	क्रय:	१०.११४	क्रोधात्	<b>⊏.११</b> ⊏, १२१
केशग्रहान्	४.⊏३		७.१२७: ८.४:	क्रोधे	७.११
केशान्	४.७⊏	९.३३२		क्रोधी	92.99
केशान्तः	२.४० [६४]		४.४१: ८.४००	क्रीञ्चः	१२.६४
केशान्तिकः	२.२१ [४६]	क्रयविक्रयौ	<b>८.४०</b> १	क्रीञ्चम्	99.938
केशानाम्	२.१८६ [२११]	क्रयेण	<b>5.309</b>	क्रीर्यम्	92.33
केरोषु	<b>د.२</b> ८३	क्रय्यः	<b>x.9</b> ₹9	क्लीवः	<b>३.</b> १६४
कैवर्तनम्	१०.३४	क्रव्याव्	99.94६	<b>प्लीबप</b> तितौ	९.२०१
कैवर्तान्	<b>≂</b> .२६०	क्रय्याद्भिः	११.१९९,	क्लीबम्	७.९१; ९.७९
क्रोटि०	€.€३	क्रयादाः	१२.५९	न्लीबस्य	९.१६७
कोपः	३.२३०		११: ११.१३७:	क्लीबाः	३.१४०
कोपात्	5,750	97.X=		क्लीबादीनाम्	<b>९</b> .२०३
कोयष्टि	४.१३	क्रान्ते	92.929	क्लीबेन	४.२०५
कोशवण्डी	९.२९४	क्रियया	२.४४ [=०]:	<del>प्</del> लृप्तः	४.३४: ६.४२
कोशराष्ट्रे	७.६४	९.२९⊏	000 10 11	<b>ब्ल्</b> प्ताः	3.59
कोशस्य	9. ९ ९		, १२३   २.४ ]: ८१ ३ ॥ इ. – ४	वलुप्तानाम्	99.२७
कोशहीनः	७.१४=		ያ]; ३.ሂ६, <b>ፍ</b> ሄ;	वलेशम्	२.२०२ [२२७]
कोशे	<b>द.३</b> द		, २०५: ९.१८,	वलेशान्	92.50
कोषम्	<b>5.899</b>		१८०: ११.६४:	अषम्	€'38.8
कोचहर्तृन्	९.२७४	92.39	V 5V. = 6UV		१.२४६, २५०
कोष्ठागार०	9.250		४.२४: <b>=.१५४</b>	<b>अत्</b> वेदेहकी	\$ P. 0P
कीरसम्	99.288	क्रियारम्भः क्रियालोपात्	११.६४ १०.४३	क्षता	१०.१२, १६
कौनस्यम् कौमारे	99.88	क्रियालापात् क्रियालोपैः		क्षत्रः	90.98
काशार कौशीलव्यः	९.३	क्रियासियः क्रियासिधिः	३.६३ <b>९</b> .२२०	क्षत्रजातिः सम्पर्णनम्य	90.25
का रा।लब्धः	9 <b>9</b> . <b>६</b> ४	। प्रथा। पा धः	7.440	भत्रधर्महतस्य	४.९⊏

अत्रवन्धुम् २.१०२ [१२७]	
कत्रबन्धाः २.५३   ३८	
अत्रम् ९.३२०, ३२१, ३२२;	
90.939	
क्षत्रवद्यः ११.६६	
क्षत्रविट्शुब्रयोनयः ८.६२	
क्षत्रविट्शूब्रयोनिः ९.२२९	
अत्रशृद्वपुः १०.९	
क्षत्रस्य ३.२३, २६; ९.३२०;	
90 100 . 90 33 0	
90.09; 99.73%	
<b>कत्रियः</b> २.२० [४४], २.४४ [८०]; ३.१९१; ४.९९;	
[40]; 3.111; 2.55;	
७.९८; ८.२६७, ३७४, ३८२,	
३८३, ३८४; १०.४, ८१,	
53, 996, 995; 99.3 <b>¥</b> ;	
92.09	
<b>अत्रियजातयः</b> १०.४३ <b>अत्रियम्</b> १.३१; ४.१३४; ⊏.११३, ३७६, ४११; १०.७७	
<b>कत्रियम्</b> १.३१; ४.१३४; ८.११३, ३७६, ४११;	
<ul><li>११३, ३७६, ४११;</li></ul>	
• •	
भत्रियया ३.४४	
क्रियस्य १.८९; २.६ [३१],	
90 [87]; 3.78;0.988;	
5.285, 330; 90.50; 99.29, 928	
कत्रिया १२.४६	
क्षत्रियाचाम् २.१३० [१४४];	
<b>३.</b> १९७	
कत्रियात् १०.९, ११, १७,	
ĘX	
क्षत्रियाम् ८.३८२	
<b>अत्रियायाम्</b> ८.३८४.	
ब्राचियावरये ८.३८४	
कत्रियासुतः ९.१४१, १४३	
अभियो 🖘 २ ७ ५	
क्षत्रियेण ७.२; ११.१८ क्षत्रुप्रपुक्कसानाम् १०.४९	
क्षपंजम् ४.११९, २२२;	
4.09	
	1
जमा १.६८ जमा ६.९२: ११.२४४	1
क्षमान्वितः ७,३२	1
क्षयरोगित्वम् ११.४९	1
(1,4)	

श्रयात्	१२.५४
<b>जयी</b>	९.३१४
<b>अये</b> च	६.६०
<b>अ</b> पै:	१२.१२४
क्षात्रम्	७.८७
भान्त्या	४.१०७
<b>कार</b> ः	५.११४
विण्वन्	९.३१४
विती ४.	२४१; ५.७३;
E. 3E, 39; 9.	
विपताम्	<sup>```</sup> =.३१२
विप्तः	<b>5.393</b>
किप्रनिश्चयः	७. ૧७९
	₹; 90.90X
<b>अुतृ</b> च्याः	ت. <b>ڊ</b> ن
मुद्र:	७.२७
<b>अंद्रका</b> णाम्	۶.२ <b>९</b> ७
अंडच्याधिपीड़ित	
बुधा ७.१३३,	938. 8 33
950; 99.29	(, -, -, ,,
ब्रह्मर्तः १०	909 905.
<b>बुधार्तः</b> १० बुधारास्तः	Y BY
<b>जु</b> रै:	९.२९२
<b>अुवतीम्</b>	8.83
श्रीजवृत्तिः	<b>⊏,</b> 3¥9
भीजस्य	<b>9.9</b> € €
शीपे	3.89
<b>जीर</b> णृतः	<b>- ۲</b> ۹۹
A -	(.5; 90.55;
99.292	
बीरविक्रयात्	१०.९२
भीरस्य	⊏.३२६
कीरिण:	= २४६
<b>क्षेत्रक्</b> पत डागानाम्	द २६२
क्षेत्रगृहस्य	११.१६३
क्षेत्रजः ९.१४९,	१६७, २२०
क्षेत्रजस्य	<b>९.</b> १६४
क्षेत्रजाबीन्	9.950
	९६; १२.१४
क्षेत्रज्ञम्	92.92
क्षेत्रदोचगुजस्य	9.330
<b>भेत्रबी</b> जसमायोगा	
क्षेत्रभूता	٩.३३
•	

_	
क्षेत्रम् २.२२१ [२४६]	:
5.7 EV; 90.00, 09	
क्षेत्रात् १०.११४; ११.१५	
	•
क्षेत्रिकः ९.४३	
केत्रिकस्य ८.२४१, २४३	;
९. ५४, १४५	
क्षेत्रिणम् ९३:	5
केत्रिणाम् ९.४१, ४३	(
कोत्रे ८ २४०: ९ ३६, ४४	:
99.998	
क्षेत्रेषु ८.२४९	4
क्षेमम् २.१०२ [१२७	
क्षेम्याम् ७.२१	
की ब्रम् १०.८६	=
बीम॰ १०.६५	
श्रीमम् १२.६१	•
where von	
शीमवत् ५.१२९	
क्षीमाणाम् ५.१२०	
खनः १२.६ः	ŧ
खञ्जः ३.२४३	7
खञ्जम् ६.२७१	
सम्बरीटकम् ४.११	
खट्बा ६.३४७	
खट्बाइंगी ११.१०।	
खड्गकूर्मशान् ४.१०	•
खड्गलोहामिषम् ३,३७३	?
खनित्रेज २.१९३ [२१८	]
खम् १२.१२८	)
<b>चरः</b> २.१७६ [२०१]	
खम् १२.१२० खरः २.१७६ [२०१] १२.४४	•
	:
खरम् ४.१२०; ११.१३६	•
खरयानम् ११.२०९	ı
खराश्वोच्ट्रमृगेषानाम् ११.६०	•
बरेप 5.300	)
खरोष्ट्राजाम् ११.१४३	(
चलात् ११.१५	
खले ११.११४	
खशरीरिषम् ४,२४३	,
बसाः १०,४४	
चसः १०.२३	,
खादकः ५.४१	
खाबिरम् ८.३१४	(
खानि २.२८ [४३], ३४	Į.

[६o]:	<b>४.</b> 9 <b>४४; ५.</b> 9३२,
935	
खिन्नः	७.१४१
खिलानि	३.२३२
4	९.४३
खेषु	97.970
ख्यातिम्	१२.३६
<del>ख्</del> यापनेन	
गङ्गाम्	<b>5.</b> 92
गजेः े	<b>८.२९६</b>
गजम्	99-936
गणः	9.99=; ७.४७; ४=
	9.22
गणम्	
गणाः	३.२००: १२.४८
नजाभ्यन	
गणानाम्	
गजान्	9.३७
गणान्तम्	¥.२० <b>९, २१९</b>
गणिकान	
गमे	<b>૭.</b> ૪૦,  ૪૧
	२.६७ [९२]: ७.४९
गण्डमार	
नतरलम	
गतप्रत्या	
गतम्	9.900
गतयः	१.५०: १२.३
गतिः	२.१७४ [१९९]:
5 5Y:	92.80, 89, 82,
83,88	(, XX, X€, X७, X <b>८</b> ,
४९	
गतिम्	१.११०: २.२१७
[२४२]:	
₹.७३,	EE, 93, 98;
	. 00 030: 03 uc
5.8 YO	90.930; 97.40.
११६, ५	। २६
गतीः	<b>६.६</b> १: १२.२३
गत्या	<b>⊏.२६</b>
गन्धः ।	१.७६, ७ <b>⊏: ४.</b> १११:
४.१२६:	. १२.९=
गन्धम्	२.१४२ [१७७]:
<b>୩</b> ୩.୩୪	<b>९</b>
गन्धमार	
गन्धर्व०	ψ. ξ. γ. ψ. ξ. γ.
	1.40

• •	•	
गन्द्यर्थाः	१२.४७	गर
नन्धर्वोरनरक्षसार	मु ३.१९६	ग
गन्धवर्णरसान्वित		ना
गन्धान् ४.२	XO; 90.55;	٩
१२.६४		٩
गन्धानाम्	९.३२९	শ
गन्धौ <u>चिधरसाना</u>		च
गमनीयतमः	७.१७४	न
<b>गरवः</b>	₹.9%5	ग
	999 [935]	ग
गरीयसः	99.708	[;
<b>गरीयसी</b> २.५	90= [9३३],	শ
२०६ [२३१]:	7. X Y	7
नरीयान् २. मरुडेन	१२१ [१४६] ७.१८७	ग ग
ग रुडन नर्तप्रस्रवजेव्	۷.٦٣٥ ४.२०३	۳ ج
गतप्रज्ञपणपु . <b>गर्तेष्</b>	8.404	X X
गर्द <b>भ</b> ०	5,3 <b>%</b> 5	٩
गर्वप्राजितम्	99.922	٩
गर्वभेन्	8.80	् ग
नर्जः	९.८, १७३	<b>ग</b>
गर्भम्	११.८७	ग
गर्भमर्तृद्वहाम्	४.९०	P
गर्भवासेषु	१२.७=	P
गर्भस्रावे	५.६६	P
<b>गर्भात्</b> २.१	٩ [३६],	P
गर्भाष्टमे	२.११ [३६]	र्ग
नर्भिजी ३.१	98; E.800;	गु
९.१७३, २८३		गु
गर्भे	६.६३	न्
गर्भेष्	९.१२६	गु
गर्हणाम्	२.४४ [८०].	9
गर्हितम्	90.38	9
गर्हिताः	१२.४३	₹
गर्हितात्	90,903	गु
गर्हितानाधयोः गर्हितेन	99.45	न्
गाहतन गहर्षे	११. <b>१९३</b> ४.१४९	न् न
गह्य <b>गवा</b> ३.३: ४.२	4.1º5 ucu y .900	न् [ः
गया २.२.०.२ <mark>गवाम्</mark> ४.४८,	(~ ),	्। गु
=.997;99.97	२ २ ९. १९६	<u>ग</u>
गवार्य १०	.६२: ११.७९	गु
गवि २.	933 [94=]	ंगु
``		•

व्यम् ¥. E च्येन 3.209 T: ¥.¥=, 9&7; 90.900; 9.990, ११६, १२६. ३०, २४७ ात्रः 3.282 ातात **४.**9२२. 9६९ ात्राणाम् २.9=४ [२०९] ात्राणि **४.9४३: ४.90**९ ात्रोत्सादनम २.9=६ 2991 ाषा 9.82 ाधिजः 9.82 ान्धर्यः । 3.29. 24. 32 ाम् २.२२**१ [२४६], ९**४, ६o; ४.३९, ४९, 9aa; **(.८७; ८.२४२; ११.**११४, ३४, १४४, २०२: १२.६४. २० ार्चिकम् २.२ [२७] π¶: 9.7 [70] ार्हपत्यः २.२०६ [२३१] गरम् 99.34 गरिदर्गम् 9.00.09 गरिपुष्ठम् 9.989 गर्योः 9.989 तिवादनम् **२.9** ¥ ३ च्छ 9.85 डम् 90.55: 97.58 **5.374: 99.988 जः (गज०)** १.२०, ७६, 96: 3.22, 35; 5.369; २.२४, ३१, ३२, ३३, ३४. ¥. 30. 95 जतः 99.954 **जवोषज्ञः** 9.999 . जदोचविचक्रजम् 9.989 **जवोची** 9.900; 7.950 २१२]; ३.२२; ७.१७८ प्रायम 92.28 णम् १.२०, ७४, ७७, ७९ जवत्तरः X.993 जबन्ति 2.992 [930]

•	3.0
गुजवेदिभिः ७.१६७	गुक्ततस्पी         ११.१०३           गुक्ततस्पे         १.२३७           गुक्तवरे         २.२२२ [२४७]           गुक्तवरे         २.१९२ [२१७]
गुजवैशेष्यात् ९.२९६	ग्रुकतस्पे ९.२३७
गुजहीनाय ९.८९	गुरुवारे २.२२२ [२४७]
गुंगाः १.७८ : ९.२२	ग्रें बारेष् २.१९२ (२१७)
गुजागुजान् ९.३३१	गुरुवेवद्विजार्चकः ११.२२४
गुणानाम् १२.३०. ३४	गुरून २.१०५ [१३०] १८०
गुजान ३.२२६, ३२८:	[२०४]: ४.१४३, २४५
६.७२: १२.२४	गुरुपतन्या २.१८६ [२१४]
गुणान्विते २.५ [३०]: २२२	<del>ग्रुपत्नी</del> २.१८७ [२१२]
[२४७]	९.५७
<b>गुणिद्वेधे</b> ८.७३	<del>गुरुपत्नीनाम्</del> २.१९१
गुजेन ९.२२: १२.३९	[२१०]
गुजैः २.६०[८४]: ३.२३३:	गुरुपत्नीवत् २.१०६ [१३१] गुरुपुत्रस्य २.१८४ [२०१] गुरुपुत्रे २.२२२ [२४७]
४.१४४: ९.३६, १४१:	गुरुपुत्रस्य २.१८४ [२०१]
१०.६७	गुरुपुत्रे २.२२२ [२४७]
गुणोत्कृष्टान् ८.७३	गुरुपुत्रेषु २.१८२ [२०७] गुरुभार्यया २.१०६ [१३१]
ग्दम् ८.२८२	गुरुभार्यया २.१०६ [१३१]
गुणोत्कृष्टान्	गरुम् २.१२४ [१४९], २१९
गुप्तम् ७.७६; ८.३७४,	[२४४]; ३.१४८; ४.११४,
3.00	१६२; ४.९१; ७.१७४;
मुप्तये १.९४, ९९	<b>६.२७४, ३४०: ११.</b> ८६,
गुप्ताम् ८,३७८,३८२	929
गुप्तित १.८७	गुरुयोषितः २.१८४ [२१०] गुरुसायवम् ९.२९९
ગુાજાન્ ૭.૨૬	गुरुलाघवम् ९.२९९
गुप्ते ८,३८३	गुरुवत् २.१८० [२०४],
गुरवे २.२६ [४१], २२०	१६२ [२०७], १६३ [२०६],
[२४४], २२१ [२४६]	१८४ [२१०], २२२ [२४७];
गुरु: २.४४ [६९], ४८	9.57
[७३], ११७ [१४२], २०६	गुरुशुभूषया २.२०८ [२३३]
[२३१]; ३.११०, १४६;	गुरुषु ४.२४२
११.४९ गुरुकुलात् ७.८२	गुरुषु ४.२४२ गुरुसन्निधौ २.१६९
गुरुकुलात् ७.६२	[170], 104 [175],
गुरुगताम् २.१९३ [२१८] गुरुषा २.१६६ [१९१].	११.१८२ गुरुसुतः २.१८३ [२०८]
	गुरुस्ताः २.१५२ [२०८] गुरुस्त्रीगमनीयम् ११.१०२
96= [20], 969 [208],	गुरुरमायम् । १.१७५
१८० [२०४], २२० [२४४];	[७२], =३ [१०=], १४९
३.४ गुरुतरम् ७.४२; ९.२९४	[9=8], 946 [997], 945
	[993], 903 [995], 90%
<del>गुरुतस्पगः</del> ९.२३४; ११.४९, २४१; १२.४८	[200], 104 [203], 154
<b>RESERVATE</b> 99956	[ROX]. 957 [ROV]. RAS
वस्तरप्रमयम् ।।.।५७	[२४१]. २१= [२४३];
तुरुतरपम्मम् ११.४८ नुरुतरुपापनुतः ११.५०६	₹. <b>९</b> ४, <b>१</b> ४३, <b>१</b> ४७; ४.१३०;
2	,

४.६४: ८.२७४: ११.४४ न्री २.४२, १३९ [१६४], 9.230 १४० [१७४], १८० [२०४]. २ [२४७] २१७ [२४२]; ३.१; ४.१; 99.228 ¥. ¥3. =7: =.390 0 9=0 **न्**र्वड्शनानमः 99.48 नर्वर्षम् २.२२० ६ [२११] [२४४]: 99.9 92.45 **ग्**ल्म० ग्रमम् 9.85; 6.998 २.१९१ ग्रमबरुलीनगेष् 5.330 गुरुमबरुलीलतानाम् ११.१४२ [P # P] 3 ग्रुमान 4.990: E.286 न्स्मै: ४ [२०२] 9.788 २ [२४७] मृह्य: 99.284 २ [२०७] गृह्यकाः 92.80 [P F P] 3 न्ह्यम् 97.990 गुढः 9.900 गुढे 8.998, 9.958 ७.१७५; गुढे: 9.789 99.55, गुढोत्पन्नः 9.949 ४.४, १९ गुञ्जनम् ५ [२१०] 92.53 नुधः 9.299 गुधोच्छिच्टेन 99.28 ० [२०४], गृहकारी 97.88 ३ [२०८], नृहकार्येव् ४.१४० २ [२४७]: गृहजः = 89x 8.230 नृहदः F [233] **गृह**बीप्तयः 9.78 गृहबलिम् 8.242 3.25% २.9६९ नृहम् ३.१११, ११३: ७.७६: [995]; 5.7**६४**; 99.७६ **गृहमेधिनः** 8.39 = 3 [205] गृहमेधिना 3.37. 90X 99.907 नृहमेधिनाम् 3. ६९: ४. = [७१], ४७ गृहमेधिष् ₹.२७ ⊏], १४९ गृहसंवेशकः 3.983 ९२]. १६⊏ गृहस्यः ३.११७, ६.८७, ८९ ९८], १७४ **गृहस्यमाश्रित्य** ७७.६ o3]. 9=0 नृहस्थस्य ३.६७: ४.२४९ ०७]. २१६ गृहस्थाः 3.908 [283]; **गृहस्थानाम्** ५.१३७: 9; ¥.9₹0; .6'338

गृहस्था श्रमम्	₹.२
गृहस्ये	६.९०
गृहस्थेन	₹.७5
गृहस्थै:	€,३०
गृहस्य	= २६२
गृहात् २.९ [३४]	1: 3.33.
४.२५०; ६.३८,	₹ .
<b>□.३३३: ९.</b> □३: 9°	१.१६२
गृहान्तिके	99.9==
गृहार्यः	२.४२
गृहा <b>भ</b> मे	<b>६</b> .9
<b>गृहिणः</b>	८.६२
<del>गृही</del> २.२०७	[२३२]:
३.६७, ७८, ९४: ४	. १ = १
<b>गृहे</b> ३.७१, १०३	३, १०५.
११०, १४४; ४.१	, २१६,
गृह २.७१, १०१ ११०, १४४; ४.१ २४२; ४.४३, १०३	१, १६९:
. इ.२३०, ३६५; ९.५	१२, =९,
१७०; ११.११४	
<b>गृहेभ्यः</b> २.१४० गहेक	:[٩⊏३]
16.2	٦. ١٠٠
गृहचन्	३.४१
गृह्यम्	€.४
गृह्याः	३.११७
गृह्याजि	9.95
गृह्ये	३.८४
गेहानि	₹.४=
नेहे ३.१०१; ४.२९	८: ९.२६
गोः २.१३३ [१४०	:]. ৭৬९
[२०४]: ३.६, १६२:	४.२३३;
४.८, ८: ८.२९६: १	०.११४;
११.७९, ११३; १२. गोध्यः ११.१०	. <b>X</b> X
गाध्यः ११.१०	5, 99X
गोत्ररिक्यानुगः	९.१४२
गोत्ररिक्यांशभागिनः	
गोत्ररिक्ये <del>ो</del>	९.१४२
गोदः	8.239
गोधा	43.58
गोधाम् गोपः	¥.9¤
गापः गोपान्	=.२३ <b>१</b> =.२६०
गापान् गोपालः	5,243
गोप्ता	॰.४४३ ११.७९
11 -74	11.55

गोप्तारम्	७.१४
गोबासान्	5.2X0
गोबीजकाञ्चनैः	5,55,
993	,
गोब्राह्मणस्य	४.९४
गोबाह्मजहिते	99.95
गोब्राह्मणानलान्	8,982
	४: ११.१९६
गोभ्यः	
	<b>८.३३९</b> • • • • • • • • • • • • • • • • • • •
गोमयम्	99.292
गोमयस्य	=.३२६
गोमयेन	३.२०६
गोमायुः	४.११५
गोमायोः	99.948
गोमिषुनम्	<b>३.२९, ५३</b>
गोमृत्रम् प	११.९१, २१२
गोम्बेज ४.१३	११: ११.१०९
गोयाने	११.१७४
गोरक्षकान्	५.१०२
गोरक्यम्	१०.११६
गोलकः	३.१७४
गोवधः	११.५९
गोवृषः	९.१५०
गोव्रजात्	११.१९५
गोवजे	४.४४, ११६;
99.७5	
गोशकृत् २.	१५७ [१६२]
गौराकृतरसम्	१४७ [१=२] ११. <b>९</b> १
गोषु	<b>=.३२</b> ४
गोष्ठे ३.	२५४; ४.५८;
99.905, 983	<b>s</b>
गोसवेन	११.७४
गोस्वामी	<b>८.२३</b> १
गोहत्याकृतम्	99.99%
गी: ३,१	४१; ४.१७२,
१८९, १९१: ४	.9२=, 9३३;
5.29, 95; 9.	8=, 44
<b>गी</b> डी	99.88
गौजिकी	92.89
गोमिनाम्	٩. ٧٥
	१२० [१४४]
गौ\सर्चपः	= 933
गौरसर्वपैः	<b>४.</b> १२०

प्रनिधनः 92.903 प्रनिषना २.9= [४३] परिषध्य: 92.903 प्रनिथ मे दस्य 9.299 प्रह: 5.950. 98X व्रहणम् २.9४5 [9७३] **ब्रह्मान्तिकम** 3.9 वहम् 9.939 व्रहाणाम् **X.99**& 9.28 प्रहान बहे 9.200 श्रम० €.9€ ४.१२. १९ प्रामक्षक्टम् **न्नामघाते** 9.208 ग्रामजातिसमुहेष् **-.**२२9 वामवशेशाय 9.998 **ब्रामवेशसंघानाम्** 5.298 **ग्रामबोचान्** 9.998 ग्रामप्रतिभयी 90.38 प्रामम् २.9६० [95४]; 8.63; 8.83; 6.999 **ग्रामयाजिकते** 8.20X ८.२४५, २६१ **ग्रामयोः** ग्रामवासिनः 4.99 ग्रामवासिषिः 9.975 न्नामशताध्यकः 9.999 **ब्रामशतानाम्** ७.११४ **ग्रामसन्धि**च **□. २६**9 **३.**9 ሂ ३: ७. 9 9 ሂ: ग्रामस्य **5.239** ग्रामाः E. ? X E ग्रामात् ६.४, २८: १०.५१: 99.925 **ग्रामा**न्तीये 5.280 ग्रामान्ते । ४.99६: 99.७= ग्रामिकः **७.**99६, 995 **प्रामीयकक्**लानाम् **5.248** न्रामे २.१९४ [२१९]: ¥. €0, 90=, 99= ४.१०७: ९.२७१: **ग्रामेच्** 90.48 व्राम्यम् € 3 ग्राम्याणि 9.920

न्नाम्यैः ११.१९९	चक्षः २.१७३ [१९८];	'वरित्रम् १.१३९ [२।२०]:
<b>ग्रास</b> • <b>९</b> .२०२	४.४१, ४२, १८९ २२९:	9.9
न्नासम् ११.२१३	<b>⊏.</b> १२५; १२.९४	चक्चाम् ' ४.११७
ग्रासान् ३.१३३; ६.२८	चक्ष्यः २.६५ [९०]	चरूम् ६.११
ग्रासार्थम् ८.३३९	चक्षुंचा ८.२४	चरुषिः ८.१०५
बाहात् ६.७८	चक्षंचि ७.६	<b>चरैः</b> ७.१२२
ग्राह्यम् ८.७८	चण्डालः १०.१२, १६, २६,	<b>चर्म</b> २.१४९ [१७४]:
ब्राह्यौ २.४६ [७१]	५१, १०⊏; ११.२४; १२.५५	४.२१८: ६.६: ८.२३४, २८९
ग्रीष्मे ६.२३	चण्डालातु १०.३७, ३९	चर्मकारः १०.३६
प्रीवायाम् ८.२८३	चण्डालान्त्यस्त्रियः ११.१७४	चर्मकार्यम् १०.४९
रलानिम् १.५३	चण्डालेन १०.३८	चर्मण ११.१०९
षटम् ८.३१९: ११.१८३.	चतुरः ३.२३, २४; ९.३०४;	चर्मजाम् ५.११९; ७.१३२
१८७	११ँ.१२१, २१९	चर्ममयः २.१३२ [१४७]
षण्टाताडः १०.३३	चतुर्गुजम् ४.१३७: ८.१२०	चमिं २.१६ [४१]
चातकाः ५.५१	चतुर्जम् ३.२० [११]	<b>चर्मावनवद्धम्</b> ६.७६
युष्टान्नम् ४.२०९	चर्त्यकोलम् ११.१०९	चर्याजाम् ६.३२
वृतकुम्भम् ११.१३४	चत्र्याशाः	चलचिसात् ९.१४
<b>घृतपशुम्</b> ५ ५.३७	चतुर्वे २.९ [३४]	चामुचः १.६२
षृतप्राप्तः ११.१४३	चतुर्वशी ४.११४	चार्डालः ३.२३९; ४.१३१:
वृतप्राशनम् ५.१४४	चतुर्वशीम् ३.२७६: ४.१२८	९.८७
षृतविन्दुः ७.३४	चतुर्भागम् ८.१७६: ९.११८	चाण्डालैः ४.७९
<b>चृतम्</b> २.=२ [१०७];	चतुष्कम् ७.५०; ६.१४२	चाण्डात्या ८.३७३
३.२२६: ४.३९, १८८, १८९:	<b>चतुष्टयम्</b> ८.१३०	चातुर्मास्यानि ६.१०
ሂ.90३; ፍ.90६; 90.55;	चतुष्यबम् ४.३९, १३१	चातुर्वर्ण्यस्य १०.१३१
११.९१, १४९, २४६;	चतुष्ययाः ९.२६४	चातुर्वर्ण्ये १०.३०, ६३
१२.६२	<b>चतुष्यचे</b> ११.११८	चान्ब्रवतिकः ९.३०९
षृतस्य ८,३२८	चतुष्पात् १.८१	चान्द्रायणः ६.२०
<b>यृताक्तः ९.६०</b>	ৰন্ত্ৰত ৩.४	चान्तायणम् 199.४१, १०६,
घोरः ४.८६	चन्द्रम् ९.३०९	૧૧७, ૧૫૪, ૧૬३, ૧૭૧,
घोररूपम् ७.१२१	चन्त्रस्य ९.३०३: ११.२२०	१७७: २१६, २१७
घोरान् १२.५४	चन्द्रसालोक्यम् ४.२३१	<b>चापैः</b> ७.१९२
घोरायामु २.८८ [११३]	चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ८.८६°	चारचकुः ९.२४६
घोरे १.५०	चमसानाम् ४.११६; ६.४३	चारणबारेषु ९.३६२
न्नाणकर्णीवट् ५.३५	<b>चरणः</b> १२.४४	चारानु ७.१९४
भ्राणेन ३.२४१	चरणैः ६.७४	<b>बारेज</b> ९.२९८
चक्रभङ्गे ८.२९१	चरम ३.२०१	<b>चारैः ९.२६</b> १, २६६, ३०६
चक्रम् ४ ८५	चराचरम् १.४७, ६३;	चार्मिक भाण्डेचु ८.२८९
चक्रयत् १२.१२४	3.6X: X.88	चावम् ११.१३१
चक्रवृद्धि ८.१४३	चराणाम् ४.२९	चिकित्सकस्य ४.२१२, २२०
चक्रवृद्धिम् ८.१४६	चराणि ७.१४	चिकित्सकाः ९.२४९
चक्राह्बम् ४.१२	चरिता ४.१७२	चिकित्सकानाम् ९.२९४
चक्रियः २.११३ [१३८]	चरिते ११.१८६	चिकित्सकान् ३.१५२
चक्रे ९.१२८	चरिष्णः १.४६	चित्रम् ११.४७
	•	- · · ·

चित्रै:	९.२४⊏
चित्याम्	8.88
. चरचार्यु <del>विकास</del> ० ∽	
विरम् १.४१	४: ४.६०, ९३
चिररात्राय	3.788
चिरस्थितम्	४.२४
चिह्नता	१०.५५
चीनाः	90.88
चीरम्	€.€
	9.909, 904
चुल्ली	3,६⊏
चूडाकर्म	२.१० [३x]
चेंच्या १	२9: १२.२३
चेतसा ९	
चेलचर्मामिषाणा	4 11.155
चेष्टया	<b>5.</b> 25
चेष्टज्ञम्	७.६३
चेष्टाः	७.१९४
चेष्टाम्	७.६७
चेष्टायै	१.६५
चेष्टासु	9.६६
<b>चेष्टितम्</b> २.	१७४ [१९९]:
७.२२३: ८.८०	
चेष्टितेन	۳. <b>२</b> ४
चेष्टितैः	٠٠, ٢٠ ٠٠, ٤٠٥
410cm.	90.40
चैत्यतुमः	
चैत्यवृक्षः	9.758
<b>वै</b> त्रम्	७.१६२
<b>बैलनिर्वेजक</b> स्य	४.२१६
चैलवत्	४.११९
चैलाशकः	१२.७२
चोदितान्	९.२७२
चोरीवाकः	9२.६३
	<b>582</b> , 382
चौरिकिल्विचम्	<b>८.</b> १९८
चीरवण्डेन	<b>= </b>
_	
चीरम्	९.२७०, २७ <b>८</b>
चौरम् चौरवत् चौरव्याचारिक	5.9 <b>९</b> 9, <b>२९६</b>
ALCO ALMITATOR	
चीरस्य	5.80
चौराजाम्	९.२७१
चीरान् व	: ३४: ९.२७२
चौरिक०	9.52
	,995; 5,80,
१८९, २३३	

	-
चौर्यम्	<b>९</b> .२७६
चौलमीञ्जी	निबन्धनैः २.२
[२७]	
च्युताः	४.१३२
च्युती	5.895
छब्मना	४.१९९; ९.७२
छन्दसाम्	९.९६, ९७
छन्दस्कृतम्	8.900
छन्बांसि	३. <b>१८८: ४.९</b> ४,
९८	
छन्देन	<b>⊏.</b> 9७६
छन्बोगम्	३.१४५
छन्नम्	९. <b>९</b> ५, १००
छत्रधारणम्	
छत्रम्	७.९६
छत्राकम्	४.१९
छत्रोपानहमा	सनम् २.२२१
[२४६]	
छलेन	<b>5.89</b>
छागमासेन	3.759
छाद्मिकः	¥.9 <b>९</b> ¥
छाया	¥.9 <b>5</b> ¥; ¥.9₹₹
ख्रयाम्	8,930
ख्रयायाम्	8.49
छित्रम्	७.१०४: इ.२३९
छिन्ना नुसारी	७.१०२
<b>जुच्छुन्दरी</b>	9२.६४ - २२:
छुरिकायाः	<b>□.३२</b> ५
छवम् ८.२	90, 3EE, 390
छेवने	<b>८.२९२</b> = २७७०
<b>छेववर्जम्</b>	= ?७७ =
जंगमम् 	9.४9; ५.२ <b>=</b> 9.४२; ३.२०9;
जगत्	
<b>9.</b> ₹₹, ₹0	३; <b>८.४</b> १८
	१.१००; =.११६;
९.२४५ जगतीगतम्	9.900
<b>जघन्यः</b> १२.३०	<b>⊏.२७०, ३६६</b> ;
तर.२० जचन्यम्	<b>5.3€</b> ¥
जयन्य <u>न्</u> जयन्या	92.82, 88
जय: जटाः	₹. <b>६</b>
जटिलः जटिलः	२. <b>१९४ [२</b> १९]
.,, .	[ , , , , ]

जटिलम् 7.949 जटी 99.83, 935 जर: 5.398 जडमूकान्धवधिरा **७.9**४९: 99.42 7.54 [990] जंडवत्-**□.३३६** जनः जनने **4.59** 9.992 जनन्याम् ७.२२२, २२४ जनम् **२.948 [909]** जनवादम् जनस्य 8.905 जनाः १.७३, १०१; ४.२२: 99.289 जने **६.५**६ ४.२४०; १०.९ जन्त्ः 90.30 जन्त्मृ ६.६८; १२.६९ जन्तुनाम् जन्तुन् **६.६९** जन्तोः 92.88 जम्म० ४.७७; १२.७८, ९३, 928 जन्मज्येच्छेन 9.925 जन्मतः २.१३० [१४४]; ९.१२४, १२६; १०.४२ २.१२४ [१४०]; जन्मनः 90.45 जन्मनाम्नोरवेदेन जन्मनि १.४२; ५.३८, ७१; 90.93 जन्मप्रभृति 5.90 9.900; 97.73 जम्मस् जपः ३.७४: १०.१११ 9.999 जपजप्यान् 8.988 जपताम् २.५३ [७८], ७६ जपन् [१०१], ७७ [१०२], १९४ [२२०], १९७ [२२२] जपयज्ञः 7. 40 [ = X] २.६१ [=६] जपयज्ञस्य 99.38 जपैः २.१९७ [२२२]: जप्यम् 99.982

जप्येन	२.६२ [=७];
४.१०७; १	
जयः	90.994
जयप्रेप्सुः	७.१९७
जयम्	७.१८३
जये	9.88
जरया	<b>.</b> ६.६२
जरा	६.७७
जराम्	97.50
जरायु <b>जा</b>	9.83
जलभीरचत	निसम् ११.२१४
जलम्	४.७=: ६.४६:
	9.२२३: १२.६२
जलमाप्स्त्य	
जलवृक्षसम	
जलाशये ४	.१२९, ११.१८६
	४.४६: ११.१७३
जलेन	5.95 <b>९</b>
जाड्सम्	<b>७.६९</b>
जातः	<b>९.</b> २१६
जातकर्मः	२.४ [२ <b>९</b> ], २.२
	/ [ / 2] . / . /
1201	
[२७] जातवस्तस्य	ספי צ
जातदन्तस्य	۷.७० م.م.
जातवन्तस्य जातवलः	97.909
जातवन्तस्य जातवलः जातबाह्मज	97.909 • 90.977
जातवन्तस्य जातवसः जातबाह्मण जातमात्रेण	9२.१०१ • १०.१२२ <b>९.</b> १०६
जातबन्तस्य जातबसः जातबाह्मण जातमात्रेण जातयः १.३	9२.9०९ • 9०.9२२ ९.9०६ ४६; 9०.४०, ४४
जातवन्तस्य जातवसः जातबाहमण जातमात्रेण जातयः १.३ जातस्य ९.३	97.909 90.922 8.905 85; 90.80, 88 86, 88; 90.50
जातवन्तस्य जातवसः जातबाहमज जातमात्रेज जातयः १.३ जातस्य ९.३	97.909 90.977 9.906 4=; 90.40, 44 86, 49; 90.60 90.4; 90.9=
जातवन्तस्य जातबाह्मज जातबाह्मज जातमात्रेज जातस्य ९.३ जातस्य जातस्य जातमाम्	97.909 90.922 8.905 85; 90.80, 88 86, 88; 90.50
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातमः १.१ जातस्य ९.१ जात्या जातानाम् ११.१४४	97.909 90.977 9.906 4=; 90.40, 84 70. 89; 90.60 90.4; 90.9= 9.974; 90.6;
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातमः १:३ जातस्य १:३ जात्या जातानाम् ११.१४४ जातान्	97.909 90.977 9.906 4=; 90.40, 84 80, 84; 90.40 90.4; 90.9= 4.974; 90.0;
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जातस्य जातस्य प्रातानाम् १९.१४४ जातान् जाति०	97.909 9 90.977 9.906 4=; 90.40, 84 70.45; 90.95 90.45; 90.95 9.974; 90.95
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जातस्य जातस्य प्रातानाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव	17.909 90.977 %.906 4=; 90.40, 84 70.4; 90.40 90.4; 90.9= %.974; 90.9; 5.97 4.709
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जात्या जातमाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव	97.909 90.977 %.906 4=; 90.40, 84 70.4; 90.4= 90.4; 90.9= 4.974; 90.9; 5.99 14 =.49 90.91, 30
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जातस्य प्रातानाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव जातितः जातिताम्	97.909 90.977 4.906 4=; 90.40, 84 70.4; 90.9= 4.974; 90.9; 5.974; 90.9; 6.974; 90.9; 7.979 90.17, 30 8.97
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जातस्य १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव जातितः जातिताम्	97.909 90.977 4.906 4=; 90.40, 84 70.4; 90.4= 4.974; 90.9; 5.974; 90.9; 6.974; 90.9; 7.909 90.17, 30 90.17, 30 9.97
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जात्या जातानाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव जातितः जातिताम् जातियमान्	97.909 90.977 4.906 4=; 90.40, 84 70.4; 90.4= 4.974; 90.9; 5.974; 90.9; 6.974; 90.9; 7.909 90.17, 30 90.17, 30 9.97
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जात्या जातानाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव जातितः जातिताम् जातिश्मान् जातिश्मान्	१२.१०१ १०.१२२ १.१०६ ४=; १०.४०, ४४ १७. ४९; १०.६० १०.१; १०.७; ६.१२४; १०.७; ६.१२०१ १.१२ १०.११, २७ १.१२
जातबन्तस्य जातबाह्मज जातमात्रेज जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जात्या जातानाम् १९.१४४ जातान् जातिज्ञानपर जातिजानपर जातिताम् जातिताम् जातिवाम् जातिवाम् जातिवाम् जातिवाम् जातिवाम् जातिवाम्	१२.१०१ १०.१२२ १.१०६ ४=; १०.४०, ४४ १७. ४९; १०.६० १०.१; १०.७; ६.१२४; १०.७; ६.१२०१ १.१२ १०.११, २७ १.१२
जातवन्तस्य जातवाहमण जातमात्रेण जातस्य ९.३ जातस्य ९.३ जात्या जातानाम् १९.१४४ जातान् जाति० जातिजानपव जातितः जातिताम् जातिश्मान् जातिश्मान्	१२.१०१ १०.१२२ १.१०६ ४=; १०.४०, ४४ १७. ४९; १०.६० १०.१; १०.७; ६.१२४; १०.७; ६.१२०१ १.१२ १०.११, २७ १.१२

¥.985, 9	४९;
9.334; 90.	EX
जातिहीनाः	٩٥.३४
जातिहीनान्	8.989
जातहानान् <b>जात्</b>	۹.۱°۱ ۹.४۹
जातु जातेष्	٠ <u>٠</u> ٩.٩४९
	.१७४: <b>९</b> .१९१
जामयः ३.५७	
जामिषः	7. X=, 0.1=4 ¥.9=0
जाया	९.४४ ९.=
जायात्वम्	
जायाम्	द.२७ <b>५</b> ; ९.७
जायायाः	۶.۶ د ده ه
जारजातककार	
जालान्तरगते	<b>⊑.</b> 9३२
जालपावान्	¥.9₹
जियांसया	99.२०६
जिजीविष्:	४.२७ - ०:: ३
जितकोधः	5.903 5.505.34
ाजत	१ [५२] <i>७३.५</i> ६७ [,०७] ४४.
ाजतान्द्रयः २	. 8 × [00,] 8 ×
[ <b>8</b> ]; <b>8</b> .9	४५: ६.१, ३४:
9.88; E.90	३; ११.३९, ७४
जितै:	8.959
जिती	२.६७ [९२]
जिल्ला	२.६४ [९०];
<b>5.9</b> ₹	
जिह्नायाः	<b>इ.२७</b> ०
जीनकार्मुक <b>बस्त</b>	<b>गवीन्</b> ११.१३८
जीर्जः	<b>४.४६</b> ; <b>९.२६</b> ४
जीर्जमलवत्	8,38
जीर्जाः	१०.१२४
	.१५: १०.१२५
जीवः	१२.२२, ५३
जीवजीविकः	92.55
जीवतः	99.90
जीवनहेतवः	90.99६
जीवनाय	११.७६
जीवन्	<b>ሂ.</b> ሄሂ;
जीवन्तम्	७.१३७
जीवन्तीनाम्	<b>5. ?  9</b>
जीवसंज्ञकः	92.93
जीवस्य	१२.२३

जीविका 90.08, 908 जीविकाम् 90.57 जुम्बमाबाम् 8.83 जेहम्यम् 99.40 ज्ञातयः **₹.** ¼ ¥ , 990 ज्ञातस्य 4.29 ज्ञाता 9.903 ज्ञाति ० ४.१७९, २३९: 99.952 ज्ञातिकार्याणि 99.950 ज्ञातिक<u>्लब</u>न्ध्**य्** २.१४९ ज्ञाति गुजवर्षिता F. 3 9 9 ज्ञातित्वेन 99.997 ज्ञातिप्रायम् 3.258 ज्ञतिभ्यः 3.39, 258 ज्ञातिम् \$ 0P.X ज्ञातिमरजम् ५.७७: ८.१०८ ज्ञातिसम्बन्धिषः 9.239 **ज्ञातिसम्बन्धियोचितः** 2.900 [937] ज्ञानचक्ष्वा 9.930 [395]: 8.28 २.१३० [१४४]: ज्ञानतः 5.255 2.58 [909] ज्ञानवः ज्ञाननिष्ठाः 3.938 ज्ञाननिष्केष् 3.934 ज्ञानपूर्वम् 92.58 9.55; २.९२; ज्ञानम् ४.१०४; ११.२३४: १२:२६, ३१, ८३ 8.28 ज्ञानमूलाम् ज्ञानविज्ञानवेदिना 9.89 ज्ञानारिनना 99.288 99.984 ज्ञानाज्ञानकृतम् ज्ञानात् ११.१७५, २३२ ज्ञानिनः 92.903 ज्ञानिभ्यः 97.903 ज्ञानेन २.७१ [९६], १२६ [9 x 9]: ₹.७८; 8.28: प्र.१०९ ज्ञानोत्कृष्टाय 3,930 2,90 | ₹ ज्या

3.938

ज्यायस्याम् ज्यायसीम्	२. <b>१०</b> = [१३३]
ज्यायस <u>ा</u> न् ज्यायसे	१०.९४ ९.११४
ज्यायां स <b>म्</b>	२. <b>९७ [</b> १२२];
3.930	
ज्यायान्	४.८; ८.१६७ ३.७८; ४.१८४; ४. १०८, १०९
ज्येष्ठः	3.95; 8.958;
९.४८, १०	४, १०६, १०९,
११०, ११३	।, ११७, १२४,
२०४, २११	, २१३, २१४
ज्येष्ठकनिष्ठ	१, ११७, १२४, , २१३, २१४ म्याम् ९.११३
ज्य <b>च्</b> ठता	९.१२६, १३४.
११.१८५	
ज्येकभार्याया	
ज्येष्ठवृत्तिः	९.११०
ज्येष्ठवृषाः	९.१२३
ज्येष्ठसामगाः	₹.95¥
ज्येष्ठस्य ९.५	८७, ११२, ११९
<b>ज्येष्ठां</b> शम्	99.95%
ज्येष्ठयाम्	९.१२२, १२४
अधे ।	द.२४५; <b>९</b> .१०६
ज्येष्ठेन ज्येष्ठी	<b>९.</b> १०६
	99.95¥ २.9३० [9४४];
. ९. <sub>.</sub> ६४, १२४	र. १२० [ १ र र]; ।
ज्येष्ट्यात्	(, ₹10 9. <b>९३</b>
ज्योतिः	9.00
ज्योतिर्गजान्	۲.987 ۲.987
ज्योतिषः	9.65
ज्योतिषाम्	¥.90¥
ज्योतींचि <sup>े</sup>	9.3=; 97.89
ज्यलनाम्बुसमा	90.903
ज्ञरुलः	90.22
ज्ञरलाः	१२.४४
टिट्टिभम्	<b>५.</b> ९९
<b>डिम्माहवहता</b>	नाम् ५.९४
तक्षणम्	<b>४.</b> ११४
तक्जोः ४.	२१०; १०.१०७
तक्रस्य	=.३२६
तडागमेदकम्	९.२७९
तडागम्	<b>5.5 8 8</b>
तडागस्य	<b>९.२</b> ८१
तडागानि ७	). <b>१९६</b> ; ८.२४८

तडागाराम० 99.89 तडानेष ¥.203 तत्त्वतः 9.90. 9E. 9XX. १७८: ८.३२, १२६, २७७, २७८: 5,952: 9.252: 92.9, 902 तत्त्वेन 9.85 तत्परः 8.99€ तध्येन 5.208 तदात्वम 9.995 तदात्वे ७.१६९, १७९ तदवृत: 3.8x तविदः 9.89 तनयम् 5. **3** 9 X 99.999 तनयाम् तनः २.३ [२८], ७४ [१००]; **४.9**=**४.9**=**९** तन्म €.37 तन्लोमकेशवशनाम 3.90 5.390 तन्त्वायः <sup>;; :</sup> ४.**९**२ तन्मृतान् तपः १.२४, ३३, ३४, ४१, **= \( , \( \) \( \** [१६६], १४१ [१६६], १३९ [१६४], १४२ [१६७], २०३ २०४ [२२९]: [२२८]. **₹.9**₹%; ४.२३७; ४.90%; **६.२३.** २४, ३०, 90: 99.86, २३३, २३४, २३४, २३७, २३८, २४०: १२,३१. 53. 90X 8 56 तपनम तपसः 9.990: 4.9%. 99.288 तपसा ४.१४८, २३६, २४३. ¥.900: 90.999: 99.900, 909, 983. २२७, २३६, २३७, २३८. २३९, २४१, २४२, २४३. 92.908 तपस्विनः 8.982 तपांसि २.७२ [९७]: तपोधनाः 99.289

तपोबी जप्रभावै: 90.82 तपोविशेषैः २.१४० [१६४] **⊏.३७२: ११.१२**४ तप्तः तप्तक्च्छम् ११.१४६, २१४ तप्तम 5.292 तप्ते 5.367; 99.903 तमः 9.4, 44; 8.59. २४२; ९.१६१; १२.२४, २६, २९. ९४ तमम् 9.82 तमसः 92.3= तमसा 9.88 तमसि 5.98 तमोन्दः 9.8 तमो पताः 92.991 तरः 9.97: 5.808 तरत्समन्दीयम 99.243 5.808, 80**9** तरे तर्की 92,999 तर्केष 92.908 तर्पणम 3.७0 तस्प० ₹.\$ तस्पजः **९.**9६७, 9७० तच्टि: 90.85 तते २.३४ [४९]: तपोवृद्धधर्षम् २.१४० [१७४] तस्करः E. & 19 तस्करप्रतिवेधार्यम् 9.755 तस्करम् 8.933 ९.२७६ तस्कराः 5.38X तस्करात तस्करान ९.२४४. २४६ ता ड्याः 5.299 तान्तवम् 90.50: 97.58 9.229 ता न्तवस्य तापस्यम 9.998 तापसाः 92.85 तापसेष ₹.२७ तापसः **E.X9** तापानु 92.98 तामसः 9. ६ २ तामसम 92.33, 34

तपोनिष्ठाः

	4	
तामूलाः १२.४०	तुरंगाः १२.४३	तेजस्वी ९.३१०,३१८
तामसि १२.४२, ४३	तुरायजम् ६.१०	तेजोमयाः ६.३९
तामसीचु १२.४४	तुरीयः ११.१२६	तेजोमूर्तिः ३.९३
तामिस्रम् ४.८८	तुरीयभाक् ४.२०२	तैक्ण्यम् ४.१६३
त्तमिक्रे ४.१६५	तुरीयम् ९.११२	तैजसाम् ५.११
ताम्रः ५.११४	तुलामानम् ८.४०३	तैर्यग्योनाः ७.१४९, १५०
ताम्ररूप्यसुवर्णानाम् ८.१३१	तुलायोगान् ९.३३०	<b>तैलपकः</b> १२.६३
ताग्रस्य ११.१६७	तुस्यः ४.८६; ८.३६४	तैलबिन्दुः ७.३३
ताम्रिकः ८.१३६	तुल्यासु १०.४	<b>तैलम्</b> ६.२७२; १०.८८;
तामिबः १२.७४	तुंबान् ४.७८; ८.२५०	<b>१२.६३</b>
तारिकम् ८.४०७	<b>त्र्ट</b> ः ३.२३३	तैलस्य ८,३२८
तार्यमु ५.४०५	तुष्टप्रकृतिम् ७.२०९	तैलिकः ३.१३८
ताबान	तुष्टिकरम् ११.२३३	तैलेन ४.८३
तास्वर्धम् ९.२२२	तुष्टिम् द.२८८	तोयम् ९.३०४
तिसिरी ११.१३४	तुष्टेषु २.२०३ [२२८]	तोये . ५.४०९
तिषयः ३.२७६	तूर्वघोषः ७.२२४	तोयैः ५.१०८
तिथी २.५ [३०]	तृष्वीम् ८.१४७	तौयीत्रकम् ७.४७
तिरश्चाम् १२.४७	तृषम् ११.२५४	त्यक्ताग्निः ३.१४३
तिरोहितम् ८.२०३	त्चेन ६.१०६	त्यानः २.७२ [९७]
तिर्यक् ६.२९१; १२.६६	तुष १.४८; १२.४८	त्यागम्
तिर्यक्जाः १०.७२	तृजकाच्छत्रुमाणाम् ११.१६६	त्यागिनाम् ३.२४५; ४.८९
तिर्यक्त्वम् १२.४०	तृषकाच्छम् ४.१२२	<b>त्यानेन</b> १०.२४, १११
तिर्यक्योनी ४.२००	तृषच्छेबी ४.७१	त्रपुजः ४.११४
तिर्यञ्चः ५.४०	तृषम् ४.७०; ६.१४;	त्रयाणाम् २.२०४ [२२९]
तिलः ३.२२३; ४.२३३	पुनियु	<b>त्रयी</b> ११.२६४
तिलब्रोचम् ११.१३४	तृषस्य ८.३२६	त्रयीनिष्कर्षम् ४.१२५
तिलप्रवः ४.२२९	तृषारिनः ३.१६८	त्रयीविद्याम् ७.४३
तिलसम्बद्धम् ४.७५	तृषानि ३.१०१	त्रयोवशी ३.२७३
तिलाः ३.२४४; ४.१८९;	तृषेन ४.१६६, १६९;	त्रयोवशीम् ३.२७४
<b>९.३९</b> ; १०.९४	99.204	त्रसरेणवः ८.१३३
तिलान् ३.२१०; ४.१८८;	तृतीयांशाः ८.२१०	त्रसरेजुम् ८.१३२
90.90	तृतीियनः ८.२१०	त्रिकम् ेर. ४४ [७९]; ७.४१;
तिलै: ३.२३४, २६७	तृप्तान् ३.२४१	<b>इ.१४</b> २
90.55, 89	तृप्तिः ३.१४६, २७१	त्रिगुषः ८.२३७
तिसिरिः १२.६४	तृप्तिम् ४.२२९	त्रिगुणम् ४.१३७; ८.१२१
तीक्ष्यः ७.१४०	तेजः ४.४१, ४२, १८६,	त्रिणाचिकेतः ३.१८४
तीक्षम् ८.३१४	958, 295; ७.२5; ९.३०३,	त्रिवण्डम् ११.१२
तीक्ने ९.२७६	₹ <b>२१;</b> ११.१२१; १२.१२०	त्रिवण्डवत् ९.२९६
तीर्षम् २.३४ [४९]; ३.१३०	तेजनैः ७.९०	त्रिवण्डी १२.१०
तीर्थे =.३४६; ११.१९६	ते <b>जसः</b> १.३६, ६३	त्रिविवम् ९.२४३
तीर्चेन २.३३ [४=], ३६	तेजसा ७.४	त्रिविवीकसः १.९४
[६9]	तेजसाम् ११.२४६	त्रिपदा २.५६ [= १]
तीरितम् ९.२३३	तेजस्कामः ४.४४	त्रिपक्षात् ६.४६, १०७
	H = 1447. 0,00	

त्रिषिः	२.१६ [४३], ५०	त्र्यवरे:	<b>5.</b> ६0	३०१, ३३०,	३३१, ३७४,
[૭૪]		ऋष्टवर्षः	9.98	३७९, ३८०	<b>=;                                    </b>
त्रियवम्	4.938	त्र्यहम् ४.२	२२; ४.४९, ६३;	97.90, 900	
<b>त्रिरात्रम्</b>	४.११९; ४.७६,	-	११.१२४, १४८,	वण्डजम्	७.४८
	99.937, 955	9 & = ''	,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	वण्डजितः	<b>૭</b> .૨૧
विरात्रात <u>्</u>	¥. <b>६७, ७ १, ८८,</b>	त्र्यहात्	५.६४, ७२	वण्डवासः	=.¥9¥
909	4.40, 01, 44,		x [९०]; ४.२२१	दण्डधरः	9.244
101 त्रिसत्रैः	11 eV		۱۲۰۱, ۱۳۰۹ ا ۲۹۹۶ =		۶۶.۰ ۶۷.و
	४,६४	त्वक्षेदकः		<b>बण्डनीतिम्</b>	
त्रिवर्गः ———————	२.१९९ [२२४]		हारान् १०.३७	वण्डपा राज्यम्	5.795
त्रिवर्गेण	७.२७	त्वचम्	8,958		.२३ [४८], ३९
त्रिवारम्	99.50	त्वचा	२.५४ [७९];		४; ७.१४, १८;
त्रिवार्षिकम्	99.9	११.२२=			१, १२६, १२९,
त्रिविधम्	१२. <b>४; ७.</b> १२,	त्वड् कारम्	११.२०४	१९४, २०५,	
१८४, २०	Ę	वंशः	१२.६२	२३८, २६७	, २७४, २८०,
त्रिविद्यस्य	97.8	वंशम्	१.४०; ४५	२८६, २८७	, २९२, २९३,
त्रिविधा	99.88	वंष्ट्रिष:	90.58	३०७. ३१४	, ३१९, ३२२,
त्रिवृता	₹. <b>१</b> ८ [४३]	<b>बं</b> ष्ट्रिपाम्	४.२९; १२.४=	328, 389	, ३५९, ३६१,
त्रवृता त्रिवृति		वक्षः	७.६४; ९.१२=		, ३८३, ३८४,
	99.753	वक्रम्	9.63		૧; ૨३૬, ૨૪૪,
त्रिवृत् ०० ५५४ - २	ર.૧૬ [૪૪];	<b>दक्ष</b> या	ય.૧૫૦	२९३; ११.२	
99.68, 3		दक्षस्य	¥.90	वण्डलेशम्	' <b>□</b> .ሂ٩
त्रिवृत्वेदः	99.25				۶.२.۱ ७. <b>१</b> ८७
त्रिवृत्समा	२.१७ [४२]	दक्षान्	७.६१, ६२	<b>इण्डब्यूहेन</b>	
त्रिवेद:	२.९३ [११८]		.४७ [७२], २०६	वण्डवाचिके	<b>5.</b> €
त्रिंशत्वर्षः	9.98	[२३१]		<b>बण्डविक</b> ल्पः	९.२२=
त्रिचवषम्	६.२४; ११.१२३,	दोधानतः ३	.९१; =.२, ३०३	वण्डविधिः	<b>इ.२७</b> ६
२१६		दक्षिणम्	<b>४.</b> ሂ ፍ	वण्डविधिम्	<b>=.</b> २२१
त्रिषु	२.२०३ [२२८]	विभाग	३.१४१	दण्डनिर्णये े	<b>5.</b> ₹09
त्रिस् <b>पर्णः</b>	₹. 9 <b>⊊</b> x	विश्वणानाम्	८.३४९	वण्डविशेषान्	
त्रिहायनम्	99.938	दक्षिणाप्रवण	म् ३.२०६	<b>रण्डशुल्कावरे</b>	
त्रेता	9.53; 8.307	विश्वजामिम्	<b>▼</b> : ४.५०		s.૨૨, ૨૪, <u>૫</u> ૧;
त्रेतायाम्	۱. ۱, ۱, ۱ ۱۹.۳۲, ۳६	<b>विभागम्</b> खः	२.२७ [४२];	द.१२४, २७	
त्रेतायुगम्	९.३०१	<b>३.२१४, २</b>		बण्डात	९.२६३
त्रैलोक्यम्	99.235		३.१४३, २५८;	वण्डान्	२.२० [४४];
नेशायम् नैविद्यः	92.999	६.३८: ११.		5.922	۲. ۲۰ [ ۲۰ ۲],
त्राययः त्रैविद्यवृद्धानु		विभागायनम्	,	न. १९९ <b>दण्डी</b>	5 U D
त्रावस्यम् सानु त्रैविद्याः	७.३७ ९.१८८	विभ्रणास्	5.200	वण्डा वण्डे	<b>६.</b> ५२
त्रावद्याः त्रैविद्येन	• •	दक्षिणे	२.३= [६३]	• -	७.६४ २३ २८ १८
	२.३ [२८]		४७ [७२]; <b>४.९</b> २		२३, २७, १०१,
त्रैविद्येभ्यः	७.४३	वाकाणम र. विभिन्नैः	₹.३०६ ३०६.		०८; ८.३४४;
त्रैवेदिकम्	9.7			९.२७३	
त्र्यस्यपूर्वम्	२.१०९ [१३४]		४९ [१७४]; २१०		₹.३४२; <b>९</b> .२७४
त्र्यसम्	٥, ۽		७, १६, २४, २६,	वण्डी	5.930
त्र्यखात्	5.₹0		<b>⊏.२४३, २७६,</b>	वत्तः	<b>९.</b> १४९
- <b>त्र्यव</b> रान्	३.१८७	.२९०, २९	प्र, २ <b>९७</b> , २ <b>९</b> ⊏,∙	बत्त शुल्काया मु	9.90

बत्त्रिमः ९.१४१, १४२;	बशगुजम् ८.१२	१ बात्पृहम् ५.१२
98=	बशन्नामपतिम् ७.१९	· • •
<b>बधिः</b> २.८२ [१०७];	दशचक्रसमः ४.०	_
३.२२६; ४.२ <b>४०; ४.</b> १०;	बशध्यजसमः ४.०	
90.55; 99.292; 92.53	बरापलम् ८,३९	
दिधसम्भवम् ४.१०	दशबन्धम् ८.१८	
बछाः ८,३२६	बरामासान् ३.२७	
बन्तः ४.१४१; ६.१७	वशमीस्थस्य २.११३ [१३	
बन्तजाते ५.५६	दशम्यादी ३.२७	
बन्तधाबनम् ४.१५२	दशम्याम् २.५ (३	
बन्तैः ४.६९	बशरात्रयः ३.४	
बनः ६.९२; ८.२६४, २६८,	वशरात्रस्य ४.७	
२=४, २९७, ३२९, ३३१,	बशरात्रेण ४.६	
३६९, ३७३, ३८३, ३८४;	दशवर्षमु २.११० [१३	थ्र बान्तः ४.३४, २४६; ६.८
9.258	दशवेशसमः ४.०	
दमकः ३.१६२	दशस्नासमम् ४.०	
दमदानाभ्याम् ४.२४६	दशसूनासहस्रोणि ४.०	६ <b>बाप्यः</b> ८.२१३
दमम् ५.४९, १०५, १९१,	दशा ३.४	
१९२, १९८, २४७, २७३,	दशाङ्गुल: ८.२५	
२९३, ३६८, ३९७; ९.२३०,	वशाब्बाख्यम् २.१०९ [१३	४] बामेन ७ १९८
२८७	दशावरा े १२.११०, १९	१ वास्थिकः ३.१४९
बम्पती ३.१६	वशाहम् ५.५	९ वास्मिकस्य ४,२११
रम्भम् ४.१६३	बशाहे ५.५	९ बाम्भिकाः १२.४४
वरवाः १०.४४	बशाहेन ५.५३, १८	२२ वायः ८.१८०, १९४, १९९:
बरिद्राणाम् ९.२३०	बशी ७.१९	९.७९; १०.११४
वर्दरः १२.६४	वशेशः ७.१९	६ दायभागम् ९.१०३
बर्पात् =.२१३, २१४, २७३,	बस्यवः १०.	४५ बायम् 🤻 ७७, १६४, २०३,
२=२	बस्यः ८.६६; १०.	
दर्पिता ८.३७१	बस्युनिष्क्रिययोः ११.	१८ <b>बायात्</b> ९.१४१
वर्षेण ८.२७१, ३६७	<b>बस्युभिः</b> ५.१३१; ७.१	४३ <b>बायाबाः ९</b> .१४८, १४९,
दर्भपाणिना ३.२७९	बाक्यम् १०.१	१४ २००
वर्णः ३.२४४, २४६	बादिकायाम् ५.२।	<b>-३ बायाबान् ८.१६०</b>
बर्षेषु ३.२१६, २४५	बाता ३.१४२, १७	
दर्शकः ८.२८४	५.१५३; ६.८; ८.३०	३; बारक्रियाम् ४.१६८
वर्शनप्रतिभाष्ये ८.१६०	99.9, ४३	<b>शरपरिव्रहम् ९</b> .३२६
बर्शनसम्पन्नः ६.७४	बातारः ३.२	८९ बारलक्षणम् ८.२२७
वरनि ५.८६, ८.२५३	बातारम् ७.२	१० <b>बारबाणाम्</b> ५.९९५
बर्शनेन ६.७४	बातुः ३.१६९, १७७, १७	प्त, <b>बारा</b> ० १.११२; ३.१७१
बर्गनैः ९.२६८	<b>१९ँ</b> १, २४२: ४.१ <b>९३</b>	बाराः ८.३४९, ४०९
वर्शम् ६.९	बातृ ४.९९	
वर्शेन ३.२८२	बार्तृषिः ३.९७, १	
बशकुलानि ३.६	दातृयाजकः ३.१५	-
वशगुजः ८.२४३	बातृन् ३.९	४२ <b>बारु०</b> ८.३३९

# मनुस्मृति-शब्बसूची

वारुणम् १२.७८	विवास्वप्नः ७.४७	<b>बुर्नम्</b> ४.७७; ७.२९, ७४;
बारुजया ८.२७०	<b>दिवि</b> २.२०७ [२३२];	99.23=
बारुणान् १२.७६	४.५९, १४२	दुर्गसमाभितम् ७.७३
बारुपात्रम् ६.५४	विवीकसः ११.२४२	दुर्नाणि ११.४३
बारुबत् ४.१८८	विशः १.१३; ८.५७;	दुर्गात् ३.९८
बारेणु १०.२९	92.929	बुर्गाभितान् ७.७३
बारैः ७.२१३; ९.२०३	विशम् ७.१८९: ११.१०४	बुर्जनसंसर्गः ९.१३
बाशा ८.४०९	विशाम् ३.२४८; ४.११४	बुजनिः १२.७९
बाशानाम् ८.४०८	<b>बीका</b> ६.२९	<b>बुर्जयम्</b> १२.५०
बारी: ८.४०८	<b>बीक्रितः</b> २.१०३ [१२८]	दुर्जेयाम् ६.७६
बासः ६.२९९. ३४२, ४१६	बीबितस्य ४.१३०, २१०	<b>र्युरः</b> ७.२८
बासजीवनम् १०.३२	बीक्षिताः ८.३६०	बुर्बलम् ३.१४१
बासबास्याम् ९.१७९	<b>दीनाः ९</b> .२३८	र्बुर्वालाः ९.६
बासनापितौ ४.२५३	बीपदः ४.२२९	बुर्बलान् ७.२०
बासम् १०.३४	बीर्घकालम् ८.१४४	बुर्बलेन्त्रियै: ३.७९
बासयोनयः ९.४१४		बुर्षिक
बासवर्गः ४.१८४	बीर्चम् ४.२७, ७६, ७८, ९४,	बुर्मतेः ११.३०
बासवर्गस्य ३.२४६	२३०	बुर्वोनिः १०.४९
बासवर्गेज ४.१८०	बीर्घवर्जान्तम् २.८ [३३]	दुर्लमः ७.२१
बासेन ८.७०	बीर्चसंध्यत्वात् ४.९४	दुर्लभाम् ४.१३७
बासी ९.४४: ११.१८३	दीर्घस्य ८.२१६	बुर्विवाहेषु ३.४१
बासीचु ९.४८	बीर्चाध्वनि ५.४०६	बुश्चरितम् ११.२६३
बास्यम् ८.४१०, ४१२,	बीर्घान् ७.१९३	बुश्चरितैः ११.४८
¥93	बु:ख॰ १.२६, ४९: १२.२८,	बूचकान् ९.२३२
बास्यात् ८.४१४	99	बुष्करम् २ ५९ [८४];
बास्याम् ९.१७९	बु:खाजीविनि ११.९	७. <u>४४; ११.२३</u> ८
दास्याय ८.४१३	दु:खभागी ४.१४७	बुष्कुलात् २.२१३ [२३८]
विग्धैः ७.९०	बु:खमूलम् ४.१२	बुष्कृतकर्मणः ४.२४६
विग्वासाः ११.२०१	दःखम् ४.१६०, १६७:	बुक्कृतम् ३.१९१: ४.२४०;
विधिष्पतिः ३.१७३	८.२८६: १२.१३ <b>दःख्योगम्</b> ६.६४	<b>६.७९: ७.९४: ११.२२९</b>
विनम् २.१९४: ६.२२: ११.१४४	• ·	बुष्कृतांशेन ४.२०१ बष्कृतिनामु १२.१६
11.1°° <b>विनर्जेष</b> ३.२७७	<b>दःखानि</b> १२.७४ <b>दःखाय</b> ८.२८६	3 6
विवम् १.१३: ४.१४९:	ब्:खिता ९.२८८	<b>बुष्कृतीम्</b> ३.२३० <b>ब्ष्टचेतसः</b> ३.२२४
99.280	बुरतिक्रमम् ११.२३८	3
विवा ४.५०, १०२, १०६:	द्रन्तानि ७.४४	<b>बुष्टवाक्</b> ८.३८६ <b>बुष्टसामन्तः</b> ९.३१०
£.98, <b>□.</b> २३0; 90.xx;	द्राचारः ४.१४७	इंग्टस्य ६.३७३
99,990, 908	ब्रात्मनः ९.७३: ११.४८	बुष्येयुः ७.२४
विवाकीर्तिम् ४.८४	ब्रात्मनाम् ८.१७४	बुस्तरम् ४.२४२; ११.२३८
विवाकृतम् २.७७ [१०२]	बुरापम् ११.२३८	<b>ब्रिट्टर</b> : ९.9९३
विवाचरेभ्यः ३.९०	बुरुपसर्पिणम् ७.९	ब्हितरम् ९९०
विवानिशम् ७.४४: ९.२	दर्गः ७.१४७	<b>ब्हिता</b> ४.१८४; ९.१३०
विवारात्रम् ४.५०	द्गीन्धम् ६७६	बुहितृबिक्रयम् ९.९८, १००
-	<b>3</b> -	3 - 6

बुहित्रा २.१९० [२.४];	वेबत्वम् १२.४०	वेशकालव्यवस्थितः ८.१४६
¥.950	वेववसाम् ९.९४	बेशकालार्चवर्शिनः ८.१५७
बूतः ३.१६३: ७.६४, ६६	देववानवगन्धर्वाः ७.२३	बेशकाली ३.१२६; ७.१०,
बूतम् ७.६३	वेववैवत्यः ४.१२४	१६: =.१२६, १४६
बूतसम्प्रेषणम् ७.१४३	देवदैवत्ये २.१६४ [१८९]	देशकुलजातीनाम् ८,४६
बूते ७.६४	देवनद्योः १.१३६ [२।१७]	वेशकुष्टैः = 3
बूरतः ४.७३	वेवनसमाह्वयी ९.२२२	वेशधर्मान् १,१९=
बूरतरे ११.१२८	<b>देवनिकायान्</b> १.३६	बेराम् १.१३६ [२।१७];
बूरस्यः २.१७७ [२०२]	वेवपशून् ८,२४२	३.२०६; ७.६९; ८.३२, ४४,
बूरस्थस्य २.१७२ [१९७]	देवपूर्वकम् ३.२०९	२७३
ब्रात् २.१६१ [१८६];	देवब्राह्मणसान्निध्ये ८.८७	वेशानाम् ९.३३१
३.१३०; ४.१४१	देवमानवाः ३.२०१	देशान् १.१४३ [२।२४];
बूरे ८.४२	देवयज्ञम् ४.२१	९.२४१, २६६
बूरेज ८.२०३	देवरः ९.६९	वेशान्तरस्ये ५.७८
ब्रेंचमम् २.१८८ [२।३];	देवरात् ९.५९, १४७	बेशे १.१३७ [२।१८];
99.६9	<b>वेवरा</b> य ९.९७	२.१९७ [२२२]: ५.११. ४४
<b>बूवजे</b> ९.२८६	<b>देवरैः</b> ३.४४	२३३, ३४८ देश्यम् ८.४२
ब्धिका ४.१३४	<b>वेवर्षिः</b> २.१४१ [१७६]	देश्यम् ८.५२
दूषितः ६.६६	देवर्षिपितृसेवितान् ११.२१०	बेहः ४.१५७; ८.१२५;
बृषितम् ४.१२४	वेवलकान् ३.१४२	१२,३
दूषिताः ८,६४	देवलके ३.९८०	बेहजैः १.१०४
<b>वृद्रकारी</b> ४.२४६	वेबलोकस्य ४.१८२	बेहतः ९.१३३
वृद्धातः ११.८१	<b>देवदत्</b> २.२०७ [२३२];	बेहत्यागः १०.६२
वृतेः २.७४ [९९]	<b>૪.</b> ٩ <b>૪</b> ૪	<b>वेहम्</b> १.३२; २.२२३
<b>बृषद्वती</b> १.१३६ [२. <b>१</b> ७]	वेवस्वम् ११२०, २६	[२४८]; ६.२४, ४७, ७८
वृष्टबोषाः ८.६४	वेबाः २.१२७ [१४२]; १३१	बेहसंयता ५.१६६; ९.२९
<b>दृष्ट्योः</b> १२.१२०	[948]; 3.50; 8.228;	बेहात् ४.१३२; ६.४०, ६३
वृष्टभुतात् ८.७४	प्र.१२७; ८.१६, ८४, ९६;	वेहिनः १.३०; १२.४
<b>वृष्टिनिपातेन</b> ३.२४१	९.३१६; ११.२४४; १२.४९	वेहिनाम् ५.४९, १०५:
<b>बृष्टिपूतम्</b> ६.४६	देवानाम् १.२२, ७१;	१२.१३, २८
वेबः १.४२; ६.९२; १२.९४,	३.9९५; ४.२०६, २५७;	बेहे ४.१११; १२.२४
<b>·</b> ঀঀ <b>७</b>	९.९४; ११.५४, ९४; १२.९०	बेहेचु ६.६४
वेवकार्यात् ३.२०३	<b>बेबान्</b> १.३६; २. <b>१२७</b>	बैत्यवानवः ३.१९६
्रेवस्रातेषु ४.२०३	<u>.</u> [੧ਖ਼२]; ३. <b>⋍</b> ੧; ਖ਼.३२, ਖ਼२;	<b>वैत्याः</b> १२.४८
देवताः ३.४६, ७२: ११७:	६.२४; ७.२९, २०१; ९.३१४	<b>वि</b> द्राः हिंग ३.
४.२४१; ७.६; १२.११९	बेबान्नानि ५.७	दैवकर्मणि ३.७५
वेवतागारः ९.२८०	बेबायतने ४.४६	दैवतम् ४,३९
देवतानाम् ४.१३०, १४२,	वेवेभ्यः ३.८४, ९०, २०१	वैवतम् ९.३१७, ३१७,३१९;
9	देवैः ६.११०: ११.२९	99,58
वेवताभ्यः ३.८४; ६.१२	<b>देशः</b> १.१३८ [२।१९],	देवतैः
वेवताSभ्यर्चनम् २.१५१	9.939 [2120], 982	दैवतानि ४.१५३
[908]	[२।२३]	वैवतेन ८.१०६
वेबतायत्नानि ८.२४८	वेशकालीवत् ७.६४	वैविपत्र्यातिवैयानि ३.२८

२.३४ [४९]: ३.२८. २०३. २०४: ७.२०४ दैवमान्वम् 99.238 वैवमानवे 9.20X हैवविधि: ¥.39 वैवात् 9.988 वैवाचन्तम 3.20X दैविकम 9.99 **वैविकानाम्** 9.92 वैविके 9. ६ ४, 5.809 रेवी 99.239 देवीम 5.902 विवे 9.80: 3.08. 928. १२९, १४९, १६९, २४०, २४४: ७.१९७ वेवोद्यजः 3.35 वैहिकानाम् ¥.938 रोव: 9.999; 4.48; **६.६9: 90.90३: 5,3**₹9: 99.989 बोषग्जवित 5,335 बोचम् २.६८ [९३]: ७.१७६: 5.22X. 3XX: 92.58. 909 बोचवतीम 5.278: 9.03 होचाः **६.७9: 99.२३९** बोचान ६.७२, ९४; ८.१०१. २०४: ९.२६२: १२.१= बोचेण ¥.3: 9.282 रो वै: दोवी 9.229 **बीर्ब**ल्यम 5.909 **वीश्चर्म्यम्** 99.88 वीहित्रः 45 - 33 **9** बौहित्रम 3.985, 238 बौहित्रयोः 9.933 चनि सो: **8.28** चतधर्मम् 9.220 **च्**तपानप्रस**न्**ताः 92.88 च्तम् 9.994: 7.948 [909]: 5.9: **९.२२१.**` २२३, २२७

चुतवृत्तिः 3.980 ची: 5,58 द्रवाणाम् **4.99 4** हविद्य: 90.22. 88 रविजम ७.१३६ द्रव्यश्विष् 4.975 इध्यहस्तः \$8P.X द्रय्यापाम 9.993; ¥.950; X.990: 9.7= 4. 332: 99.988 द्रव्याणि E. 255. इच्ये 99.5 इव्येष 92.4 ₹ध्य ० 5.890: 97.08 99.4 इष्यवातः ब्रव्यम् ४.१४३; ८.३१, ३४, २२२: 985. 9.209: 99.92 इव्यवद्वी 9.333 ब्रय्यशक्तिः ५.१४६ द्रव्यशिवन ४.४७ 9.202 दुतम् 9.244 द्रमः द्र्मांसमध्समर्पिषाम 9.939 हमाणाम् 99.88 92,909 द्रमानु होहः 9.85 बोहजावम् 9.90 हुन्हु ० €.59 इन्हेः 9.25 द्वावश्याम् 7.4 [30] 99.294 द्वावशाहम द्वावशाहेन ¥.53 ब्रावशे 7.99 [34] द्वापरम 9.309, 307. द्वापरे 9.54, 58 द्वाराणाम् 9.259 द्यारि 3,55 द्विकम 5.989,98₹ द्विगुणः **5.329.** 303 द्विग्लम् X.930; O.5X; **⊏.** ₭९, १३९, २६९, ३९३ द्विग्जाः 5.335

विज: 9.33: 905, 930 [२।११]; २.२= [४३], ३= ४४ [७९]. [ [ 3]. [१०=], ११५ [१४०], १३९ विदर्श, १४२ विदर्श, १४३ [944], 944 [949]; 3.8, =3. **९**४. 9४०. 9==, २9२: ¥.9, 93, 28, 26, ×9, 88, १००. ११०. ११४. ११७. १२७, १२८, १९०, १९६, २२३: ४.9९, ३३, ४२, ४३: **६.१. ३७, ८४, ९४; ८.३४**१;. 99.5. 25. 32. 80. 909. १०२, १३९, १४४, १४७, १४९, १६९, १७४, १७८, १९८. २११. २१३. २५६: 97.97. 93. 993. 976 २.७८ [90३] द्विजकर्मजः द्विजधर्मिणः 90.89 द्विजन्मनः 3. 7 = 7: X. 97: 99.970 क्रिजन्मना २.१४० [१६४] <u> विजन्मनाम्</u> 9.2 [25]: E.890; <.948; </p> ९९ द्विजम् 3.935: 4.909: 99.58 द्विजलिडि एनः 9.228 विजस्य 2.988 [988] विजा: 3.938: 5.45: ९.८४; ११.११७, १९२ विजाग्रेभ्यः 99.3 द्विजाप्रया **3.211** द्विजाग्रयार्चा 🕝 3.68 द्विजाग्रयाणम् 3.3X द्विजाग्रयान् 3.953 द्विजात £.80 द्विजातयः 9.983 [2128] ₹.9¥. २३६: 5.399: 90.9. ¥. २o. 900: 99.940, 228 द्विजातिः ¥.9 € ¥. ¥.9 € 6 द्विजातिप्रवरः 3.980

द्विजातिभिः ५.२५: ८.४६,	द्विवन्त्याः ९.७९	<b>धनिकस्य</b> ८.४७, ५१
३४८: ९.६४	द्विचन्तीम् ९.७७	<b>द्यनिकाय</b> ८.१७७
द्विजातिमुख्यवृत्तीनाम् ३,२८६	हिहायनाम् ११.१३४	<b>धनिनम्</b> १०.१२१
द्विजातीनाम् २.१० [३४],	द्वेषः १.१२० [२।१]; ६.६०	<b>धनिनि</b> ⊏.१७९
¥₹ [६=]: 3.¥. 9२, २०३;	द्वेषम् ४,१६३	द्यनिभिः ⊏.६१
४.४. २६: =.२६९. ३४=.	<b>द्वेषेण</b> ८.२२४	<b>धनी</b> ८.१४७
३९०: ११.१४१	<b>हेनुष्यम्</b> ८.१५१	धन्:शतम् ८.२३७
द्विजातीन् ८,२७०	हैजातम् ८,३७४	धन्:शराणाम् ३.१६०
द्विजातेः ३.२४७	हैधम् ७.१६५, १६७	धन्धरः ७.७४
द्विजाद्यमान् ३.१६७	द्वैधीभावम् ७.१६०	धर्मे ९.१९१, २१८:
द्विजानाम् २.२ [२७]: ४.८:	इयधिके २.४० [६४]	90.99३
E. EE; 90.8E; 99.989	इचेकान्तरास् १०.७	धनेन ११.३४
द्विजानु ३.९८९, २३९:	धन० ८,३४७: ९,२४६	<b>धनैः</b> ३.१३८; ४.२२६;
¥. ¥?; E.E.G. ¥9?	धनचौर्याणि ११.१६२	७.२१३, २१३
विजे ३.१८१, ४.१६९,	धनजतानाम् ९.११४	<b>धनैश्वर्यम्</b> ७.४२
१९२: ८.३९२	<b>धनवण्डम्</b> =.१२९	धनैषिषा ८.६०
द्विजेम्बः ८.३८	धनधान्यतः २.१३० [१५५];	धनोष्मणा ९.२३१
<b>डिजेच्</b> ६.२७	₹.€	धन्बन्तरये ३.५४
हिजै: ३,१४१, १७०, २५३;	धनज्धान्येन ७.७५	<b>धन्यम्</b> ३.१०६
६.९१; ९.६६: १०.६	<b>धनम्</b> ४.३३, १४६. १७०,	<b>धन्यानि</b> ४.१९
द्विजोच्छिष्टम् ५.१४०	१९३: ७.९६, २१३: ८.४०,	<b>घन्बदुर्गम्</b> ७.७०
द्विजोत्तमः २.२४ [४९],	५०, १२५, १७६, २०१	धयन्तीम् ४.४९
<b>१४१ [१६६]; ३.१९०</b> ,	२०२, २१२, ३२०, ३४०,	<b>धरजम्</b> ८.१३४, १३६
२=३; ४,४४; ४,२१, १०=;	४१६; ९.१०५, ११३, १३०,	धरजानि ८.१३७
११.३४. १२७, १२९, १३३.	9३9, 9३४, 9३६, 9४४,	धरा ६.२६; ९.३११
<u>୩६२</u>	१८७, १९४, १९७, २०४,	धरिममेयानाम् ८.३२१
द्विजोत्तमाः ३.१२४; ५.१००	२०४, २०६, २०७, २१४,	<b>धर्मः</b> १.२६, २९, =१, =२,
द्विजोत्तमान् ३.२९३;	२१६, २१७, २४३, ३१६,	९८, ९९, १०७, १०८, १२०
<b>₹.9</b> ₹३; ≈.७३	३२३; १०.४१, १२९;	[२।१], १२६ [२.७], १२९
द्विजोत्तमैः ३.१८३; ११.९४	११.२०, २४, ७६, १८४,	[२.१०]; २.१९९ [२२४],
<b>हिं</b> ड ९.२३२	9	२१२ [२३७] २१४ [२४०];
द्विद्या ७.९७३	घनसंचयः १०.१२९	३.२७, २९, ३१, २६४;
<b>द्विपै</b> : ७.१९२	धनसंचयम् ४.३	४.१३८, २३९, २४१; ४.४४,
द्विमासादिः ६,४०७	धनसंगुक्तम् २.६ [३१];	१४८; ६.८६, ९१, ९२, ९७,
द्विलक्षणः ७.१६३	९.२३६	१४४; ६.६, ७, १२, १४, १४,
द्विविधः ७.१६२, १६४,	धनस्य ८.१९६	<b>१६, १७, ७४, ८३, ८६,</b>
9६=	धनवन्तः ३,४०	२१८, २६६, ३४८, ३८९;
द्विविधम् ७.१६२, १६४,	धनवन्तम् ३,२६३	९.४४, ९६, १०१, १०३,
<b>१६६</b> , १६७	<b>धनात् ९</b> .१६४, १९३.	१११, ११७, १२०, १७९,
द्विविद्यान ९.२४६	<b>धनाबानम्</b> ११.६९	१८ंट, २४९, ३३४, १०.६८,
द्विशक्षेक० ११.१६८	<b>धनानि</b> ७.७९: ११.६	७९, १०६, १०८, १२७;
विषत् ४.२१६	धनार्थिनः ५,३४	११.१४; १२.१, ३१, ३८,
द्विचता ३,१४४	<b>धनिकम्</b> ८.१७६	५०, १०६, १०६, ११२,११३

धर्मका म्यया	9.99
धर्मका मार्चको वि	बम् ७.२६
धर्मकामार्थान्	७.१४१
धर्मकरणम्	<b>६.६</b> ६
धर्मकार्यम्	<b>९</b> .८६
धर्मकार्याणि	<b>९</b> .२=
धर्मकार्यार्थम्	९.७६
धर्मक्रिया	9२.३१, ⊏३ <b>९</b> .१०७
धर्मजः	९.१०७
धर्मजीवनः	<b>९</b> .२७३
धर्मज्ञम्	७.१४१, २०९
धर्मज्ञाः १०.१	२७: ११.१२०
<b>धर्मज्ञानम्</b> १.	१३२ [२।१३]
धर्मजे	<b>⊏.१७९</b>
धर्मतः १.९३:	२.१० [३४].
२० [४४].	E8 [909];
<b>३.२९. १३</b> १,	=8 [904]; =28=: 8.=:
<b>६.३६: ८.५८,</b>	१०३: ९.६१,
१०८, १२१,	9३३, 9४४, ; 90.90२;
१४४. २३३	: १०.१०२:
99.980: 93	
धर्मतत्त्वतः	<b>5.</b> २२ <b>९</b>
घमध्यजा	४.१९५
धर्मीनश्चये	<b>= .98</b>
धर्मनेपुण्यकामा <i>न</i>	तम् ४.१०७
धर्मनेपुण्यम्	१०=४
धर्मपत्नी े	३.२६२
धर्मप्रतिरूपकः	99.8
धर्मप्रधानम्	४.२४३
धर्मप्रवक्ता	<b>5.</b> २०
धर्मपाठकः	92.999
धर्मीचसुकान्	११.२
धर्मम् १.११४	71.4 974, 975 7 [२।१३]. 784, 938
[२।९], १३	२ [२।१३].
२.१२९ [१	प्रष्ठ], १३४
[१४९]. १९२,	[२१७], २०४
[२२९], २९	।३. [२३ <b>८</b> ].
₹.२८, ३०:	[२१७], २०४  ३. [२३८]. ४.८०, ८१.
<b>१४७, १७६,</b>	२३८, २४२, ७: ७.१३, १८,
<b>4.44, 98, 9</b>	o; o. q ₹, q =,
८७, ९३, ९३	<b>६: ८.८, १६,</b>
२३, ४८, १४१	, २१८, ३९०.
<b>९.६, ७, ४</b> ६	i, xx, xx,

90. ٤३, ६३,	909.99 25.
15.41, 41,	19 1, 11.13,
१२.१९, २०,	२१, ५०६,
११०, ११३, ९	<b>የ</b> ባሂ
	004 50463
घममूलम् ५	.१२५ [२।६]:
¥.9 X X	
धर्मराट्	9.9
धर्मवर्जिती	४.१७६
धर्मीवतु २.३६	[६१], १०३,
ເຊລະໄ ລະ	२० [२४४],
[1/2], /	(0 [(04],
<b>₹.484</b> ; 8.4	९२: ४.५६७:
<b>5.89</b> , ₹€	९२: ४.१६७: ४: <b>९</b> .१४२:
99.39	
धर्मविधिः	१०.१३१
धर्मीबिधिम्	११.२६६
धर्मविवेचनम्	<b>5.</b> २٩
धर्मशास्त्रम्	9.9२९
[२। १०]	
धर्मशास्त्राणि	<b>३.२३</b> २
धर्मशुद्धिम्	१२.१०५
धर्मचड्मानः	¥0 <i>5.</i> ≂
धर्मषर्भागम्	99.23
4444411	
<b>धर्मसमयात्</b>	<b>९</b> .२७३
धर्मसिद्धयर्पम्	७.१०
धर्मसिद्धयर्थम्	७.१०
धर्मसिद्धयर्थम् धर्मस्यः	७. <b>१०</b> ८.५७
धर्मीसद्धयर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९१	७.१० ४५.= ११०, १३१ =
धर्मीसद्धयर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९१	७.१० ४५.= ११०, १३१ =
धर्मीसद्धयर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९१	७.१० ४५.= ११०, १३१ =
धर्मसिद्धयर्षम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९१ [२।१२], १ ४.१९८; ६	७.१० = ५७ =, ११०, १३१ ४४ [२।२४], १३: ७.१७,
धर्मसिख्यर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९। [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२,	७.१० = १७ =, ११०, १३१ ४४ [२।२४]; १३; ७.१७; १=४; ११.=३,
धर्मसिख्यर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९। [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२,	७.१० = १७ =, ११०, १३१ ४४ [२।२४]; १३; ७.१७; १=४; ११.=३,
चनिसद्धयर्थम् धर्मस्यः धर्मस्य १.९। [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२,	७.१० ६.१७ ६, ११०, १३१ ४४ [२।२४]. .९३: ७.१७: १६४: ११.६३.
स्वमीसद्धयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११९	9.90 E. 149 E. 190, 939 YY [7171]; .९३; 9.90; 9EY; 99.E3, 9
स्वमीसद्धयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११९	9.90 E. 149 E. 190, 939 YY [7171]; .९३; 9.90; 9EY; 99.E3, 9
स्वमीसद्धयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११९	9.90 E. 149 E. 190, 939 YY [7171]; .९३; 9.90; 9EY; 99.E3, 9
स्वमीसद्धयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११९	9.90 E. 149 E. 190, 939 YY [7171]; .९३; 9.90; 9EY; 99.E3, 9
स्वमित्वयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२. ११० सर्वाः [२३४]: १०.१ धर्मात् १.	७.१० ६.१७ ६, ११०, १३१ ४४ [२।२४]. .९३: ७.१७: १६४: ११.६३.
स्वमित्वयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११५ सर्वाः [२३४]: १०.१ सर्वात् १. ८.१६४: ९.३	6.90 E. X6 E. 490, 939 YY [717X]. .93: 6.96: 9EY: 99.E3. 9 9.EX: 7.709 96 97: 6.709 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98:
स्वमित्वयर्थम् सर्वस्यः सर्वस्यः १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२,११५ सर्वाः [२३४]: १०.१ सर्वात् १. ८.१६४: ९.३	6.90 E. X6 E. 490, 939 YY [717X]. .93: 6.96: 9EY: 99.E3. 9 9.EX: 7.709 96 97: 6.709 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98: 98:
धर्मस्य वर्म् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११५ धर्माः [२३४]: १०.७ धर्मात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२	9.90 E. X9 E. 490, 939 YY [717X]; .93; 9.90; 9EX; 99.E3; 9.EX; 7.709 90 7; 9.7E; 90 7; 9.7E; 90 90 90 90 90 90 90 90 90 90
धर्मस्य वर्षम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११० धर्माः [२३४]: १०.१ धर्मात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ धर्मात्मजम्	9.90 E. X9 E. Y9  YY [717X]; . \\$; 9.90; 9EX; 99.E\$, 9 E. X; 7.70\ 20 E. X; 90.97\ 70.98 E. 92 E. 93 E. 94 E
धर्मस्य वर्षम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११० धर्माः [२३४]: १०.१ धर्मात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ धर्मात्मजम्	9.90 E. X9 E. Y9  YY [717X]; . \\$; 9.90; 9EX; 99.E\$, 9 E. X; 7.70\ 20 E. X; 90.97\ 70.98 E. 92 E. 93 E. 94 E
धर्मस्य वर्षम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११० धर्माः [२३४]: १०.१ धर्मात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ धर्मात्मजम्	9.90 E. X9 E. Y9  YY [717X]; . \\$; 9.90; 9EX; 99.E\$, 9 E. X; 7.70\ 20 E. X; 90.97\ 70.98 E. 92 E. 93 E. 94 E
धर्मस्य वर्षम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४,१२२, १२.४२. ११५ धर्माः [२३४]: १०.५ धर्मात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म्	9.90 E. X9 E, 990, 939 XX [717X]; . ९३; 9.90; 9=X; 91,=3, 9 C, X; 7.70\$ 20 C, 9.75; 803; 90,975 E, 93 T, 93 T, 93 T, 93 T, 93 T, 93 T, 93
धर्मस्ययम् धर्मस्यः १९९१ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२, ११९ धर्माः [२३४]: १०० धर्मात् १. ६.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म् धर्मात्म्	9.90 E. X9 E, 990, 939 XX [717X]; .
स्वमित्वयर्थम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११५ धर्माः [२३४]: १०.५ धर्माः १२.७१. ७२ धर्माः	9.90 E. X9 E. Y9 E
ह्यमीसह्ययंम् ह्यमंस्यः १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११५ ह्यमात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ ह्यमात्मा	9.90 E. X9 E. Y9 E
ह्यमीसह्ययंम् ह्यमंस्यः १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११५ ह्यमात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ ह्यमात्मा	9.90 E. X9 E. 990, 939 YY [717X]; . 93; 9.90; 9.54; 7.709 9.54; 7.709 9.74; 7.709 9.94 7.97; 4.3 E. 74 9.94; E. 74 1, 946; E. 74;
स्वमित्वयर्थम् धर्मस्य १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२, ११५ धर्माः [२३४]: १०.५ धर्माः १२.७१, ७२ धर्माः	9.90 E. X9 E. Y9 E
ह्यमीसह्ययंम् ह्यमंस्यः १.९४ [२।१२]. १ ४.१९८: ६ ८.४४, १२२, १२.४२. ११५ ह्यमात् १. ८.१६४: ९.३ १२.७१. ७२ ह्यमात्मा	9.90 E. X9 E. 990, 939 YY [717X]; . 93; 9.90; 9.54; 7.709 9.54; 7.709 9.74; 7.709 9.94 7.97; 4.3 E. 74 9.94; E. 74 1, 946; E. 74;

२१२: १०.९०. ११७ २.=७ [११२], धर्मार्ची २.१९९ [२२४]: ४.९२ E. 23 धर्मासनम् धर्मिच्य 08.E धर्मे ७.३४: ८.२२८: ९.१. 99. 95. 88: 90.988: 92.23 धर्मेण 3.903: 8.909. 964. 282: 6.988: 5.89. १७५, २६१, ३०६, ३३३, ३४९: ९.9२9: 90.59: 92,908 धर्मेप्सवः 90.936 धर्मेच 92.90= धर्मापदेशम 5.202 धर्मी 9.933 [2198] द्यर्म्यः 3.22 धर्म्यम ¥.9**=७**; ९.9५२, २३६: १०.७, ११९ धर्म्पा 3.7X: **-.**79%; **९.999: 90.99**% धर्म्याचि 9.249 धर्म्यानु 3.73: ७.२०३ धर्म्याम् ७.१३४: ११.२२ ग्रम्यीं 3.75 धाता 90.03 धात्नाम् €.७9: 5.38 ¥. 30 धात्रा धानाः **8.240** धान्यकप्य० 99.88 धान्यचीरः 99.40 धान्परः 8.232 धान्यद्वोचः **७.9**२६ धान्यम् २.२२१ [२४६]. **७.९६. ११०: ८.२३८. ३२०**: 90.998: 92.63 4.998 धान्यवत् X.99= **धान्यवाससाम्** 9.930: 90. धान्यानाम् 924 92.982 द्यान्यत्न ० धान्ये 5.9×9. 330: 90.970

धान्येन १०.९४	नक्राः १.४४
धान्येषु ८.३३१	नक्षत्र ६.५०
घारणा ४.३६; ६.१६४,	नक्षत्राजाम् ७.१२१ नक्षत्राजि १.२४; १२.४८
२४१, २८४, ३३६; ९.१२४,	_
२०४	नक्षत्रे २.५ [३०] नक्षत्रैः ३.१६२
धारजात् १.९३; १०.३ धारजाजिः ६.७२	नकात्रः २.१६५ न <b>खः</b> ४.३५; ६.५२
धारणाणिः ६.७२ धारिभ्यः १२.१०३	नखः •.२२, ५.२२ नखखादी ४.७१
<b>धारिकः</b> २.८४ [१०९];	नखलोमानि ४.६९
=. ? <b>९</b> , १२३, २२१, २४४,	नखविस्किरान् ४.१३
9.200	नखात्रेभ्यः २.१४२ [१६७]
द्यार्थिकम् ३.२६३; ७.१७४;	नखानि ६.६
99.29	नखान ४.६९
द्यार्भिकानु ४.१५३; ७.२०१	नगरस्य ८.२३७
धार्मिके ११,११	नगरी ४.२१३
द्यार्भिकै: ८,४६	नगरे ७.१२१
धिग्बणः १०.१४	ननरेच ४.१०७; १०.५४
धिग्वणानाम् १०.४९	नग्नः ४.५४,७५; ८.९३
धीः इ.९२ : १२.१२२	नग्नम् . ७.९२
धीमता ७.३१	नग्नाम् ४.५३
धीमान् १.१०२	<b>नटः १</b> ०.२२
धुर्यैः ४.६७	नद्यः १२.४४
वृतिः ६.९२; १०.११६	नतमंह ११.२४१
वृतिमन्तम् ७.२१०	नबाः ६.९०
धृतिम् ५.४७	नवी ५.१०५; ६.७५, ९०
धेनुः ८.१४६	नबीतीरम् ४.४७
धेनुम् ११.१३७	नबीतीरेचु ३.१०७; ८.४०६
घ्मायमानाम् ६.७१	नदीनाम् ८.३४६
ध्यानम् १२.४	नवीम् ४.७७, ९०
ध्यानयोगेन ६.७३, ७९	नबीचु ४.२०३
ध्यानात् १.१२	नप्तृषु ४.१७३
ध्यानिकम् ६.८२ ध्यानेन ६.५२	नभसः ४.३७
4.01	नमः ११.२४६
ध्यायान् ३.२२४	नमस्कार० ९.२३९
धियमाचे ३.२२०	नयः ७.१८०
धुवम् ३.६०: ७.१६९,	नयेन ७.२४९
१६३; २०६; १२.१६	नरः १. <b>१०; २.७३ [९</b> ८],
ध्यकः ४.८४	993 [795]; 3.49, 789;
ध्यजम् ११.७२	४.१६७, १७०, २४६; ७.२२; =.२३,  १९३,  २१९,  ३६४;
ध्वजाहृतः ८.४१४ ध्वजी ११.९२	<ul><li>5.43, 443, 445, 348;</li><li>9.93, 68,68,725, 756;</li></ul>
<b>ध्वजी</b> ११.९२ नक्तः ४.१२६; १२.६२	7.17, 60,64,775, 756; 90.99, 88, 80, 775;
नक्तञ्चारिभ्यः ३.९०	10.11, **, 40, 444; 92.65
11112411744 4.70	11.47

नरकम् २.९१ [११६]: ३.9७२: ¥.55, 23X; **5.88**, 925, 306, 393; 99.944. २०६ नरकातु 9.93= नरकान् ¥.50; 92.xx नरके ¥.9 £ x; 99. 3 6, २०७ नरकेच् 92.64 नरदेवसमागमे 99.52 नरम् ७.९; ८.३४४; १०.५७ नररूपेण 9.5 नरस्य 8.89 नराः 9.84; 8.234; 99.85; 92.42 २.१८८ [२१३]; नराषाम् ₹.९७ नराधमः 90.25 नराधिपः 9.93; F.93. 908 नरान् **७.9**९३ नराश्वरजतस्य ११.५७ नराश्वोष्ट्रवराहैः 99.988 नरेन्द्राः 9.243 नरेष 9.98; ७.98 नरैः ₹. 45 नर्त्तनम् २.9 ₹३ [9७=] नर्जवृक्षनदीनाम्नीम् नव ४.२७; ११.२ नवतेः ₹.9७७ नबसस्येष्ट्या **४.२७, २७** नवान्नामिचनर्धिनः 8.25 नवेन ४.२= नष्टम् ३.950; 5.२३२ नष्टस्य 5.32 नहुषः 9.89 नागानु 9.30 नानाकर्म 9.750 नानापण्योपजीविनः 9.740 नानारूपाणि 9.35 नानविधानाम् 4.990 नानाविधैः 99.900 नानास्त्रीच् 9.985

नाचिम् ४.१४३	नासिका २.६४ [९०]	निधिनाम् ८.३९
नामिवर्धनात् २.४ [२९]	नास्तिकम् ८.३०९	निन्दकः २.१७६ [२०१]
नाचेः े १.९२: ४. १३२	नास्तिकवृत्तयः ३.१५०	निन्दा २.१७४ [२००];
नाम २.६७ [१२२], १३२,	नास्तिक्यम् ४.१६३:	<b>इ.</b> १९
[940], 908 [999],	99.55; 92.33	निन्बाम् ५.१६१
३.१२१, १२७, १९७, २२१;	नास्तिक्येन ३.६५	निन्दितः ३.१६४
¥. <b>⊏9;</b> ¥.9¥७; €.€७;	नास्तिकाकान्तम् ८.२२	निन्यता ३.४२, ४७
द.३३५; १०.८, ९, १५; १ <b>१</b> .	नास्तिकः १.१३० [२।११]	<b>ंतिन्यतान्त०</b> ११.६४
४७, २१५	निःशलके ७.१४७	निन्यतेभ्यः ११.६९
नामजातिग्रहम् ८.२७१	निःभेयसम् १.१०६, ११७;	<b>निन्धितः</b> ३.४२; १०.४६
नामतः ८.२४४	<b>99.</b> २६६	निन्छा ४.१६३
नामधेयम् २.५ [३०]	<b>निःश्रेयस्करम्</b> १२.८२, ८३,	निन्छाम् ३.४२
नामधेयस्य २.९८ [१२३]	१०४, १०६	निन्धासु ३.५०
११.४८; १२.५२	निःस्नेहम् ५.८७	निन्धः ११.५३
<b>नामा</b> २.९७ [१२२]	निःस्वान् ९.२३१	निपातेन ११.२०=
नामानि १.२१	निःस्वेभ्यः २.११	<b>निपानकर्त्तुः</b> ४.२०१
नाम्नः २.९९ [१२४], १००	निकेतनः ६.२६	निपीडिता ७.२३
[१२४]; ९.१३८; १०.१४	निक्षेपः ८.४, १४९, १८४,	निपुजम् ५.६१
नाम्ना २.१०३ [१२८];	१९४	निपुजाः ९.२४९
९.१७२	निवेपम् ८.१७९, १८१,	<b>निपुजैः</b> ९.२६७
नाम्नाम् २.९९ [१२४]	१९१; ११ ८८	निमित्तम् १०.१११
नाम्न ५,७०	निक्षेपस्य ५.१९०, १९२,	निमित्ताभ्याम् ६.५०
नारवम् १.३४	१९६: ११.४७	निमित्ते ११.८०
नारम् ५.८७	निक्षेपेषु ८.१८८	निमन्त्रिताम् ३.१८९
नाराः १.१०	निकोप्तुः	निमिः ७.४१
नारायणः १.१०	निखिलम् १.१२७ [२।८]	निमेषा १.६४
नारिम् ३.१३८	निगडस्य ४.२१०	निम्नण ९.२२
<b>नारी</b>	निगमान् ४.१९	नियतः २.७९ [१०४], ६२
¥.9६६; =.३६२; ९.३३,	निगमेषु ९.१९	[१०७], ३.२४८; ४.९८;
<b>६४, ६३; ११.१३</b> ६	निग्द० ७.६७	x.xx; €.9, x, xx, ≈€,
नरीजाम् २.१८८ [२१३];	निगृढचारिजः ९.२६०	९५; ७.२१८; ११.१११,
<b>5.373</b>	निगूबाः ८.३६२	925
नारीम् ४.४१	निग्रहः ६.९२; ८.३८७,	नियतब्रह्मचारिणम् २.९०
नारीषु १०.३४	४०९; १२.३१	[99x]
नारीसन्बूचणानि ९. <b>१३</b> नार्यः ३.५६	निग्रहम् ७.१७५	नियतम् ६,२२७
	निग्रहात् ८.३०२	नियता ४ २४६; ४.१४८
नार्याम् ९.१४४; १०.६७	निग्रहे ६.३०२	नियतात् ८.१६४
नावम् ४.१२० नावि ६.४०६	निव्रहेण ८.३११	नियतात्मनाम् ६.८६
नाशम् ८.१७: १२.७९	निधने ८.१७ निधानस्य ८.३६	नियतारमा ३.१८८;
नाराण् ५.१७, १२.७५ नाष्टिकः ६.२०२		99.29=
नासा ८.१२४		नियताहारा ११.७७
नासान्तिकः २.२१ [४६]		नियतेन्त्रियः १ .१०६, १०९ नियतौ ८.४१९
गत्मान्तकः र.र१[०६]	निधिपाय २.५० [११४]	नियती ८.४१९

		200			
नियमस्य	90.3	निर्णिक्तम्	५.१२७	निशान्ते	४.९९
नियमाः	२.७२ [९७]	निर्जेकः	४.११३	निशायाम्	99.223
	२.१४० [१७४],	निर्वेजकस्य	४.२१९		०, ११.९२, ११६
२०४		निर्दयाः	९.२३९	निश्चयः	१०.१, ६७;
नियमाय	<b>5.93</b>	निर्वशम्	¥.99	99.80	
नियमैः	३.१९३	निर्वा <u>ता</u>	७.११०	निश्चयम्	<b>⊏.</b> २४४
नियमम्	९.७४	निर्विष्टफल भो		निश्चयसंयु	
	६० [१८४],१६७	निर्वे शम्	<b>Ę. Y X</b>	निश्छन्दः	७.६
[१९२]		निर्धनम्	१०.९६	निश्वासोपा	
नियुक्तया	9.49	निर्नमस् <del>का</del> राः	९.२३९	निषादः	१०.८, ३४
नियुक्ताः	९.२३१	निर् <b>षयम्</b>	९.२४४	निषावस्त्री	90.39
नियुक्तायाम्	; ६७१.६	निर्ममे	9.93	निषावस्य	४.२१५
9.988, 98		निर्मितम् 	९.४६	निपादात्	१०.१८, ३६
	१६; ९.४८, ६३	निर्मलः —	११.२्४०	निवादानाम्	
नियुञ्जानाः	9.58	निर्म <b>लाः</b>	ة <sub>:</sub> ३१८	निचादेन	90.30
नियोगः	९.६४	निर्लेपम्	४.११२	निषिद्धः	۳. <b>३६</b> ٩
नियोगात्	9.89	निर्वपणम्	₹.२६०.	निवाद्याम्	90.95
नियोगार्थे	९.६२	निर्विशाङ्कम्	७.१७६		२.१३४ [२.१६]
निरन्वयः	5.9 <b>%</b> 5	निर्वृत्तचूडकाना		२.१ [२.२	ዩ] • ጋ በበ፡- የጋሃጋን
निरन्वयम् निरम्बये	۶.३३२ - ۲۲	निर्वृत्तिम् निर्वजानि	97.9		7.996 [282]
।नरम्बय निरपेकाः	۶.३३ <b>۹</b>	ानप्रणान निर्हारम्	<b>६.५३</b>	निष्कः निष्क्रमणः	E.930, 258
ानरपकः निरये	६.४१, ४९	ानहारम् निषः	9.999	ानकामणः निकायविस	२.९ [३४] र्गाभ्याम् ९.४६
निरस्य निरस्य	<b>ξ.ξ</b> 9	ानजः निजाम्	93.9 [01] VC C	निष्क्रयाचस निष्क्रयात्मर	
निरस्य निराकृतिः	४.६३ ३.१५४	ानजान् नित्य <i>०</i>	२.२४ [४०] ४.१०७	निष्यान् निष्यान्	
निरादिष्टः निरादिष्टः				निष्कामम् निष्कामम्	5.220
ानसायच्ट. निरादिष्टधनः	द.१६२ द.१६२	नित्यकालभ् २२ ४८ (७३)	२.३३ [४८],	गिष्क <u>त</u> मम्	<b>१२.<b>८९</b> ६.२६</b>
निरामिषः निरामिषः	•	े२.४८ [७३] नित्यम्	<b>€</b> .⊏	निष्कृतिः	२.२०२ [२२७];
निराय्धम्	५. <i>९</i> २ ७. <b>९</b> २		२.५ ३.७४: ९.३२६	₹. <b>१९</b> ;	5.940, <b>293</b> ;
निरिन्द्रियाः	९.१ <b>=, २०</b> १		२.०२. ५.२२५ २.१८१ [२०६]	99. <b>=९</b> , <b>९</b>	
निरोधतः	5.17, ₹51 ¥0\$.	नित्यानाम <u>ु</u>	99.203	निष्कृतिम्	-, ( - , · , 90¥
निरोधनेन	=.₹9¢	नित्य <b>शः</b>	२.७१ [९६],	निष्कृतीः	<b>९.</b> 9९; 99.9७९
निरोधेन	€.€0		३९; <b>१०.</b> ५२,	निष्कृत्यर्थम्	<b>३.६९</b> ; ११.२७
निऋतिम्	99.99=	92.00		निष्ठा	
निर्गमम्	=.¥09	निवर्शनम्	९.२०	निच्ठुरता	90.45
निर्वात०	9.3=		२.१७२ [१९७]	निष्पुरुषम्	₹.⊌
निर्वाते	¥.90¥	निघनम्	X.Yo	निष्यंतः े	٠., ٤ ي ٩ . ٤
निर्जिताम्	۳.9 <b>٤</b> ٧	निवृत्त्या	99.730	निष्यलम्	3.988; 8.00;
निर्णयः	5.309, Yoe;	निवृत्तिः	<b>x.</b> x <b>ę</b>	90.93	, , , , , , , , , , , , ,
<b>९.२</b> ४०: ११		निवृत्तेः निवृत्तेः	<b>९</b> .६२	निष्कलाः	१२.९४, ९६
	२.१२; ४.११०;	निविष्टवेशः	<b>९.२</b> ४२	निसर्गः	F.9¥3
5.205		निविष्टानाम्	٠,٠\ پر ٦,٤	निसर्गजम्	E.४१४; ९.१६
निर्णये	92.992	निवीती	२.३ <b>८ [६३]</b>	निसृष्टः	= X9X
				•	

निहर	
निह्न	
नीच म् नीतिश	
नात <i>र</i> नीलान्	
नीलिन	[
नीहारे	Y 9 9 3
नजाना	म् ५.६७
नृजाम	9.58: 2.22 [86]
२०२	म् ५.६७ १.६४; २.२२ [४७], [२२७], ३.१२, ४२,
२६७;	४.१३४; ६.६१; , १४१; ६.६, २४, ६४,
७.८१	, १४१; ६.६, २५, ६४,
405	, रर६,  २४९,  २६३,
३१२;	९.१४६, ३३२;
90.9	२, १६; १२.१६
नृतम्	२.१४४ [१७९]
नृदुर्गम्	७.७०
नृषः	१.७; ४.८४; ४.९६;
٠. X,	३९, ७३, ११०, १२८, ८.३३, १२३, १६९,
<b>२</b> १२;	द.३३, १२३, १६ <b>९</b> ,
<b>448</b> ,	२८२, ३०२, ३०३,
₹50, <b>९</b> 9 = (	३९८, ३९९, ४०२; ९, २३१, २४३, २४८,
२ <b>६६</b> ,	२६९, २७०, २७६, -
₹0₹.	₹09: 90.4€
नुपतिः	३०९; १०.४६ ६.९, ३०, ४४, ६४,
२३८;	९.२२२, २३०, २३४
नृपतेः	७.३३, ३४; ८.२०;
९.२२	७.३३, ३४; ८.२०; ८, २४९; १०.१०
नृपती	<b>૭</b> . ૬ <u>૪</u>
नृपदाह	मजसान्निधी ८.६०
नृपमान	भाक् २.११४ [१३९]
नृपन्	७.२८, १७४; ८.३० <b>९</b>
नृषाः नृषाचाः	5.399 5.399
गृपा पार <b>नृषे</b>	ष्.हर् इ.११०, १७६
नृपेण	=. \ \ \ =. \ \ \ \ \ \ \ \ \ \ \ \ \ \
नृषिः	٧.६ <b>٩</b> ; ७.६٩
नृयज्ञः	0€.\$
नृयज्ञम्	४.२१
नृशंसस	<b>४</b> .२१६
नृशंसा	₹.¥°9
<b>नृष्</b>	<b>७.</b> ६०; ६.३३४

जन ३.८१:	5.3X7; 90.33
नेजकः	<b>5.3</b> 9€
नेता	
नेतृत्वम्	७.१७, २४
	97.900
नेत्रचपलः	४.१७७
नेत्रवस्त्रविक	प्ररे: ⊏.२६
नेत्रे	8,88
नेनिज्यात्	<b>८.३९६</b>
नै:भेयसम्	१२.१०७
नै:भेयसः	9.338
नैःभेयसिकम्	1 92.55
नैत्यकम्	२.७९ [१०४]
<b>९. ६</b>	1.07 [ 108]
नैत्यके २	.८० [१०४], ८१
[१०६]	
ने रुपतः	92.999
नैऋतीम्	99.908
नेवार्हः	<b>९.</b> १४४
नेशम्	२.७७ [१०२]
नैशिकी	¥. <b>ξ</b> 0
नैष्कृतिकः	٧.٩٩ <b>६</b>
नैस्नेह्यात्	
गरगर् <b>गा</b> त्	९.१४
	७.१९२
नीकर्मजीविन	
नौयायिनाम्	5.80 <b>९</b>
न्यप्रोधः	<b>८.२४६</b>
न्यस्त शस्त्राः	<b>३.</b>
न्यायतः	७.३०; ६.२०१
न्यायम्	9.9
न्यायबर्तिनाम्	
न्यायवृत्तः	હ. <b>३</b> ર
न्यायैः	ج.३ <b>१</b> ٥
.चा.च. न्याच्यम्	יין איי
	२.१२७ [१४२];
9.707	
न्यासधारिक	
न्यूनम्	<b>=.२०३</b>
पक्ति०	9२.9२०
पक्तिम्	३.६७
पक्वानाम्	<b>८.३२</b> ९
पक्वान्नम्	४.२३३
पकाः	₹.२ <b>८७</b>
पक्षयोः	
पक्षवातेन	9.88
न <b>मा</b> त्र	३.२४१

पक्षान्तयोः €. २० पक्षि० 92.8 पक्षिगनधीषधीनाम् ११.१६८ पक्षिजग्धम् **4.93**4 पक्षिणः 9.88; 4.80 पक्षिणाम् ३.१६२: ८.३२८: 92.44, 45 पक्षिणीम ४.९७: ५.८९ पक्षी 3.9 पक्षे **5.80**₹ पड्वितपावनाः 3.958. 9= 8 पड्कितपावनान् 3.9=3 पड्वितम् 9.904 पङ्क्तौ 8.994 पड्कलग्नाम् 99.992 पड्केन **४.**9९9; **5.**२9 पड्गेन 90.908 पङ्गुताम् 99.49 पञ्चकम् **5.938, 9**48 पञ्चकुलानि 9.999 पञ्चक्ष्पलः 5.330 पञ्चक्ष्णलकः 5.938 पञ्चगव्यम् 99.954 पञ्चगुषः 5.259 पञ्चतपाः **X.** २ ३ पञ्चवशाहेन ሂ. ኳ ३ पञ्चनखान् 4.90 पञ्चनखेष् ሂ. 9 ⊏ पञ्चिभ: २.4= [४३] पञ्चमहायज्ञानु 7.09 पञ्चमासिकः 5.295 पञ्चमे 92.7 [30] पञ्चयज्ञविधानम् ₹.६७ पञ्चयज्ञानु ३.७३; ४.१६९ पञ्चरात्रम् 99.980 पञ्चरात्रे 5.802 पञ्चवर्गम् ७.१५४ पञ्चाग्निः ₹.95% पञ्चाग्नीन् ₹.900 पञ्चाब्बाख्यम् 2.908 [438] 9.935 [२19९]. पञ्चालाः

पञ्चालान्	७.१९३ पदम्	६.७५; ८.४४;	परपत्नी २.१०४	[9२९]
<b>पणः</b> ७.१२६;		,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,		82, 83
		9; ११.४३, १⊏३	परपाकम्	₹.90¥
	 ८.१३८ <b>पदानि</b>	۵.۵	परपूर्वा	<b>ሂ.</b> 9 ६ ३
	७.१०९ पदे	<b>⊏.२२७</b>	परपूर्वापितः	3.988
	९.२५९ पद्	9.50	परबेलानाम्	७.१७४
	५.१२९ पदुमा	७.११	परमः १.१००	ः; ६.९६
पण्यानाम् ९.३३१;		७.१८८	परमम् १.१३२ [	
	9.२४० <b>पर्यम्</b>	9.९०	२.१४२ [१६७],	
	<b>१२.</b> ५६ पथा	३.९३	[998]; 8.97;	६.७०;
पतङ्गान	9.४० <b>पथि</b> ४.४४	(; =.२२=, २४०,	७.४६; ६.३०२;	९.१६,
पतगोरगाः	७.२३ २. <b>९४</b> ;९.२	७४; १०.१०१	३१९; १२.११७	
पतित्रणा		२.११३ [१३८]	परमांसेन	५.५२
पतिः ४.१५३, १४२	८; ९.८ पन्थानम्	४.९०; ६.२७५	परमा	७.१
६९, ७७, ९५		२ [१०७]; ३.५२,	परमात्मनः	<b>६.</b> ६५
		9; ¥.२¥o; <b>५.</b> ५;	परमाम् ४.१४; ६.५	
		३२, १४७, १६८,	<b>९६</b> ; =.४२०; 9	
पतितानाम्	३.९२ १९४; १२.	६२	92.998	
पतितान्नम्	४.२१३ पयसः	<b>४.२४</b>	<b>परमेच्डी</b> १.५०; २.४	२ [७७]
पतितासु १	१.१८८. <b>पयसा</b>	३.२७१.	परयोषिति	ર.૪૧
पतितेन ११.१८०	), १८१ <b>पयस्विनीम्</b>	११.१३७	परराजिवकीर्षितम्	७.६=
पतितैः ३.१५७;	४.७९: पयोव्रतः	<b>٩٩.</b> ٩४४ <sup>°</sup>	परस्त्रियम्	<b>5.3</b> 45
११.१७९	<b>परः</b> १.२०	०, १४२ [२।२३],	परस्त्रिभः	5.359
पतितौ ९.५		७]; ४.८; ५.३२;	परस्पराविरुद्धानाम्	
पतिभिः	३.४४ ७.१०४,		परस्य २.१४३ [१७०	
पतिम् ४.१४४, १६३		४; १२.७८, ११३ ′	[909]; 8.933,	
९.२९, ९०	परकीयनिपा		x.9x0; 0.90x,	
	६, १६६ परक्षेत्रप्रवासि		=.१४४, १९७; १२.	६०
	४.१६१ परक्षेत्रात्	८.३४१	परस्वादायिनः	७.१२३
	३.२६२ <b>परक्षेत्रे</b>	₹. <b>१७</b> ४ <sup>.</sup>	परलोक०	४.२३=
पतिव्रतासु	द.२ <b>८ परजने</b>	99.8.	परलोकम्	४.२४३
पतिसेवा	२.४२ परत्र	३.२७५; ४.१९३;	परलोके	४.१४३
पतीन्	१.३४ ५.१६६; १			.९, १६०
	; ९.९६ परत्राणि	<b>इ.१२७</b>	परशक्तिम्	९.२९८
पत्न्याम्	४.५० परवाराः	⊏.३४२; <b>१</b> २.७	परा	<b>३.२</b> ४२
	३.१२१ परबारेख	99.9७६	पराकः	११.२१५
पत्नीचु	१०.५ परब्रोहकर्म।		पराक्रमः	9.49
पत्या ९.१३, १७		.9७७	पराक्रमे	७.११
पत्यौ ३.१७४:	४.१४७, परबारेषु	¥e/P.\$		११.२४=
<b>⊏.३१७: ९.१९४, २</b> ० 			पराङ्गमुखः	३.१७०
~	९.२१९ परब्रध्य	९.२५६	[१९४]; १०.११९	
• ~	७.१३२ परब्रध्यम्	<. १९३; १२.६	पराङ्गमुखस्य	२.१७२
पत्रशाकम्	१२.६४ <b>परधर्मेज</b>	१०.९७	[१९७]	

पराजयः	७.१९९
पराधीनम्	१०.५४
पराधीनाम्	90.53
परान ३ ३५	»; ५. <b>१४२; ११.</b> ५
पराम्	5.90x; 8.393;
92.9	I ~ X. S. Y I Y,
	- 050
परार्थे	<b>=.१६९</b>
परावरान्	१.१०४; ३.३८
परावृत्तः	७.९४
परावृत्तम्	७.९३
परावृत्तहतस	
परिकीर्तनात्	[ ४.२३७
परिकीर्तितः	9. <b>९</b> २
परिश्वये	. 9.49
परिक्षीणः	७.१७२; =.१७०
परिखाः	ં હ. ૧ <b>૧</b> ૬
परिखाणाम्	9.7=9
परिव्रहः	99.93
	१०.१२४;११.१९६
परिच्छदम्	۱۵.۱۲۵,۱۱.۱۲۲ ۶.۶, ۲
परिच्छवाः	۹۰.۹ <b>२</b> ۲
परिचारकैः	
परिषाह्यस्य परिषाह्यस्य	७.२१७.
परितृष्टेन	
	<b>४.</b> २२७
परितोषः	४. <b>१६</b> १
परित्राणे	द.३४ <b>९</b>
परिध्वंसात्	90.89
परिपन्थिनः	७.१०७, ११०
परिपालनम्	९.२७
परिपूतेचु	5.339
परिपूर्णम्	9.309
परिभाषणम्	९.२=३
परिभोक्ता	२.१७६ [२०१]
परिश्रष्टान्	१०.२०
परिमाणतः	5.93€
परिरक्षणम्	<b>૭</b> .૨
परिवर्जितः	४.१४७
परिवादः	9.89
परिवादम्	२.१४४ [१७९]
परिवासेन	¥.92¥
परिवित्तिः	३.१४४, १७१,
१७२	, ,
परिवित्तिता	११.६०
	, . ,

परिवेत्ता **3.948, 900.** १७१. १७२ परिवेदनम् 99.80 परिचत् 92.990, 999, 992 परिवत्त्वम् 92.998 परिसंख्यया 9.७२ परिसंख्यातम 9.99 परिसंवत्सरातु 3.998 परिसाधने 5.955 परिहारान ७.२०१ परीक्षणम् 9.999 परीकार्यम् 9.99 परीक्षिता ७.२१९ परीक्षितान 44.0 परीवादः **२.9७**४ [२००] परीवादात २.१७६ [२०१] परीहारः 5.230 परे ९.९९: १०.१७: 99.25; 92.923 परेण ७.९२: 5.३0, २२३ परेचामु 99.999 परैः ७.९४; ८.१४७, १८३ परोक्षम् २.१७४ [१९९] पर्याचान्तम 8.292 पर्याप्तभोगाः 3.80 पर्याप्तम् 99.9 पर्यपासीनः २.४० [७४] पर्यवितम ४.२११; ४.२४ पर्व 8.9 पर्वते 8.84, 40 पर्वतमस्तके 8.80 पर्वव्रजम X8.6 पर्वसु **४.**१४०, १५३ पलम् 5 9 3 X पलाण्डम ५.५, १९ पलानि 5.93X पलालभारकम् 99.933 पलालम् 4.977 पलितम् २.१३१ [१४६]; €.२ पलितैः २.१२९ [१४४] पवित्रम् ३.२४६; १०.१०२

पवित्रा 99.58 पवित्राणि ३.२३५; ५.१२७; 99.224 पवित्रैः २.४० [७४] पवित्रोपचितः **4.89** पशवः 9.83; 4.39, 80, ४9: 5.235: 90.58, 99.280: 92.52 **पश्:** ४.**१**२६; ८.९८, २४१, 808 पश्कुषिः 90.09 पश्ताम् **3.908; 4.34** पशधर्मः 9. & &. पश्ना ४.२६. २७ पश्पालः 3.948 पश्किः 5.29X ४.३७, ४२ पश्म पश्रक्षिणाम् 5.235 पश्रोमाणि ሂ. ३ 5 पश्वृद्धिकरीम् **७.**२१२ पश्यु **5.229. 238** पश्सम्भवम् 5.375 पशुसोमानाम् 99.20 पश्स्तेयम् 99.88 पश्हरयेन ४.२= पश्हिरण्ययोः 9.930 पश्हिंसनम् 90.85 9.90; 5.288, पश्नाम् २८६, २९७, ३२४, ४१०: 9.375, 339 पश्न 9.38; 4.38, 82; 9.370, **७.९६**: **5.380**; ३२८: 90.58: 99.80: 97.50 परिचमातुसम्ब्रात 9.989 [२।२२] पश्चिमाम् २.७६ [१०१], ७७ [१०२], ७८ [१०३] पश्चिमे 9.98X पश्चिमोत्तरपूर्वैः 4.97 पहलवाः 90.88 पाकयज्ञविद्यानेन 99.995 २.६१ [८६] पाकयज्ञाः

पात्रेषु ७.९९, १०१	पाखण्ड० १.११⊏	पापनुपत्तये ११.१३९
पादः ४.१५१; ८.१८, ४०४	पाखण्डम् ४.९०	पापान् ११.२२६; १२.४२,
पादग्रहणम् २.१९२ [२१७]	पाखण्डस्थान् ९.२२५	90
पावच्छेवनम् ८.२८०	पाखण्डिंगणः ४.६१	पापिष्ठः ३.३४
पादतः १.३१; ३.८९; ४.५४	पाखण्डनः ४.३०	पापिष्ठम् ९.२९२
पादपानु ८.२४६	पाड्कत्याम् ३.१७६	पापीयसे १०.११७
पावम् े २.४२ [७७]; ६.४६;	पाञ्चयाज्ञिकम् ३.२८१,	पापीयान् ९.१८४
E 808	२८६	पापे ११.४४
पादयोः २.१८४ [२०९],	पाञ्चयाज्ञिके ३.८३	पापेन ४.१९७: १०.१०४,
959 [393] 5 253	पाठीनरोहितौ ४.१६	१०५
पावशः १.८२, ८३ पावस्पर्शः ३.२३० पावात् २.७४ [९९]	पाण्डसोपाकः १०.३७	पाप्मा ११.९३
पावस्पर्शः ३,२३०	पाणिग्रहण० ३.४३	'पाप्मानम् ६.८४
पाबात २.७४ [९९]	पाणिग्रहणस्य ५.१५६	पायसम् ३.२७४
पादिकम ३१	पाणिग्रहणिकाः ८.२२६,	पायसापूपम् ४.७
<b>पादिकम्</b> ३.१ <b>पादिकः</b> ५.२१०	२२७	<b>पायसेन</b> ३.२७१
पादेन ३.२२९; ८.२५०	पाणिबाहस्य ४.१४८; ९.२१	पायुपस्थम् २.६४ [९०]
पादी २.४६ [७१] ४.५३,	पाणिच्छेवनम् ८.२८०	<b>पायवादीनि</b> २.६६
<b>६</b> ४; ४. १४२; <b></b> १२४	पाणितलेन ४.१४३	<b>पारक्यः</b> १०.९७
	पाणिनः ४.१४२; ४.११६;	<b>पारत्र्यम्</b> २.२११[२३६]
<b>पानम्</b> ७.५०; ९.१३	<b>६.२</b> ६	<b>पारवाः</b> १०.४४
<b>पानानि</b> ३.२२७	पाणिपादचपलः ४.१७७	पारबार्य ११.४९
<b>पानानि</b> ३.२२७ <b>पानीयस्य</b>	पाषिभ्याम् ३.२२४; ४.८२	पारम्पर्यः १.१३७ [२।१८]
<b>पापः</b> ३.१९०; १०.३८	पाणिम् ४.४८; ८.२, २८०	
	पाणिस्थम् ४.७४	
पापकर्मसु ९.३१०		पारुष्य० ७.५१; ८.३०१
पापकारियः ९.२८८	पाणी २.३८[६३]; ३.२१२ पाण्यास्यः ४.११७	पारुष्यम् ७.४८; १२.६ पारुष्ये ८.६.७२
पापकृत० ८.३७२; ११.२२७		11 11 11 11 11 11 11 11 11 11 11 11 11
पापकृतः	पातकम् =.११२; १०.१२६	पार्थिवः ५.९५; ७.३७,४९,
पापकृतमः ४.२४४; ८.३४४	पातकानि ११.५४ पातकैः ५.५५, ११३,	११३, १४८, २०८; ८.१,
पापकृत्ताम् ११.१७९		१७०, १९२, २७२, ३०७,
पाकृद्भ्यः ९.२४६	99.२४¤, २४९	३३४, ३४६, ३६१; ९.२५४,
पापचेतसः ७.१२४	<b>पातनम्</b> ७.५ <b>१</b> <b>पात्रम्</b> ४.२२७, २२८	२९२, ३११
पापबुद्धीनाम् ९.२६३	पात्रम् ४.२२७, २२६	पार्थिवम् ८.८८; ९.३११
पापम् ४.१९८; ८.३७२,	पात्रस्य ७.८६	पार्थिवन ७.४१
११.४६, ८६, १०२, ११४,	पात्राणि ६.४३	पाधिवेन ७.४१ पार्वनान्तीयाः ४.१० पार्वतेन ३.२६९
१६९, १९८, २०९, २३०,	पात्री ६.४२	पार्चतेन ३.२६९
२४६; १२.१९, ११४	पापहा ७.२४	पाष्णग्राहम् ७.२०७
पापयोनिषु ४.१६६	पापाः ३.४२	<b>पालः</b>
पापरोगिणम् ९.७९ पापरोगिणाम् ३.९२	पापात् ९.३०८: ११.२२७,	२३६
पापरोगिणाम् ३.९२	२३०	पालनम् ७.८८, १४४
पापरोगी ३.१४९, १७६	पापातमा १०.२१; ११.२६	पालानाम् ८.२२९, २४४
पापरोगैः ४.१६४; ९.३०	पापानाम् ४.१७१; ⊏.३११;	पाले ८.२३०, २३१, २३४
पापविनिग्रहः ९.२६३	११.२०९; १२.७४	पावकः ९.३१८
पाक्यज्ञान् २.११८ [१४३]	पापानि ८.३१८; ९.२४२;	पावकम् २.१६२ [१८७];
पाकेन ४.१२२, १२३	<b>१</b> १.२४४	99.979

पावनः 7.9 [7 4] 99.900 पावनम् पावनाय 99.54 पावमानीः ४.८६: ११.२५७ पावितः २.४० [७४] पाशैः 5.57; 9.305 पांसवर्षे 8.994 पांस्समृहने 8.902 पांसुन ¥.945; 99.200 पिड्गलाम् ₹.⊏ पिण्डः ९.१८६. १४२ पिण्डनिर्वपणम 3.285. २६१ पिण्डम् ३.२४७, २६२: ९.१३६. १४०: ११.२१६ पिण्डाग्रम 3.223 पिण्डानाम् 99.220 पिण्डान **३.२१४, २१६,** २२३, २६०: २१८. 99.295, 298 पिण्डान्तिके 3.295 पिण्डान्वाहार्यकम् । 3.922 पिण्डेभ्यः 3.298 पिण्डी 9.932 पिण्याकम् 99.82 **पितर:** १.९५; ३.५०, १५९, १९२, १९४, २०१, २०७, २३७, २४०, २६७; ४.१७८, २४९; ९.१८५; १२.४९ पितरम् २.१४६ [१७१]; **३.२२०; ४.**9६२; ५.९9; ८.२७४; ९.१०४, १३८ पितरि **₹.२२०; ९.२०४** पिता २.११० [१३४], ११९ [988], 930 [988], 939 [१४६], १२२ [१४७], १२४ [१४०], १२८ [१४३], १४४ [9७0], २०० [२२४], २०१ [२२६] २०६ [२३१]; ३.११, ४१, १३६, १३७, २२१. ४.१=२; ५.६२, 9 2 9, ७.१३५; 5.33X, 3 & & . ३८९: ९.३, ४, २०, १०८,

११०, १२१, १४४, १६८, १८४. २०९. २१४ पितापुत्री 7.990 [93X] पितामहः 9.9; 3.229, 222 पितामहाः 8.905 पितामहान 3.258 8.239 पितामाता **पितः** ३.३, ४, १४८, १४१, २२१; ९.१०४, १३२, १४०, १८४. २१७ पितर्भगिन्याम् ₹.905 [6 \$ 6] 8.246. 92.98 पितृ० पितृकर्मस् 3.242 3.203 पितकार्यम 3.203 पितुकार्यस्य पितृकार्ये **3.92**¥ पितृगणाः 3.998 पितृजाम् 9.30; 8.208. पितृतर्पणम् २.१४१ [१७६]; 80.€ पितद्रव्यम् ९.२०= पितृवेवाः ₹.95 पितृवैवतकर्मणि ५.४१ पितन **६.२४** 3.747 पितृपुजनतत्पराः २.२०५ [२३३] पितृत्रक्त्या पितृभ्यः **३.=२, ९१, २०१,** २६६ पितृषिः पितमातुप्रवर्शिताः 90.80 पितमात्रर्थम् 99.9 पितमेधम् ५.६५ पितृयज्ञः 00.₿ पितृयज्ञम् 3.922: 8.29 पितृयज्ञक्रिया**फलम्** 3.253 पितृरिक्थस्य 9.984 पितृबत् 9.50 पितृबेश्मनि 9.997 पितृष्यान् २.१०५ [१३०] पितृष्यसा 7.904 [939] पितृणाम् ३.७२, १२३,

१४६. २००. २३१. २७४: ९.२८ पितृत् २.५२० [१४४], १२६ [989]: 3.30, 59, 990, २११, २१७, २२४,३.२५८ २७७, २८३, २८४; ४.१५०; **4.37, 47** पित्रर्थे 3.⊏3 पित्रा 3.949; 8.958; **4.988; 8.98**5 पित्राचन्तम 3.20X पित्रे 9.93, 932 पित्र्यः ४.१२४; ९.२०५ पित्र्यम २.३४ [४९]; **३.9२७, २७९; ९.९२, १०४,** 988, 989, 298; 90,48 पित्र्यस्य 9.983 पित्र्ये 9. ६६: २. 9 ६४ [9=9]: ₹.**१२**९, 988. 959, 955, 232, 280, २४६, २५४ पिशाचाः 9.83; 92.88 पिशाचानु 9.30 <u> पिशाचवतु</u> **X.X0** पिशाचानाम् 92.40 पिश्तनः **₹.9**६9; ४.२9४; 99.40 पिष्टपशम् ४.३७ पीठसर्पी 5.398 पीडनम ६.६२ पीडनानि 9.299 पीडाम् **७.9**६९ पीडितम 5.22 पीड्यमानस्य 9.985 २.५ [३०]; ११.१८६ पुण्ये पण्यैः 9.7 [78] पीतसोमपूर्व: 99.5 प्रकसः 90.95 प्रकसानाम् 92.44 पुरकस्याम् 90.35 पुटेन ६.२८ पुण्यः २.४३ [६८]; ६.९७ प्ण्यपापेकिता 5.89

पुण्यफलम् ३.९४; ५.५३
पुण्यम् १.७३; २.८१ [१०६];
5. °C; °C. 3 °C; °C 9 °C. 7 °C
पुण्यानि ११.३९
पत्र: 3 93E·४ 9 <b>८</b> ४·
पुत्रः ३.१३६; ४.१८४; ८.१४९, २९९, ३३४, ३८९, ४.१६; ९.४, १०७, ११७, १२२, १३०, १३४, १३८,
X9E
922 930 934 935
9X9 9X4 953 954
१४१, १४४, १६३, १६७ पुत्रकाः २.१३६ [१४१]
पुत्रगुर्जेर्युक्तम् ९.१६९
पुत्रवारस्य ८.११४
पुत्रवारात्ययम् १०.९९
पुत्रपौत्रमनन्तकम् ३.२००
पुत्रप्रतिनिधीन् ९.१८०
पुत्रमानम् ९.२१४
पुत्रम् ७.१३४; ९.३१, ३२,
६०, १२०, १४७, १६६,
पुत्रम् ७.१३४; ९.३१, ३२, ६०, १२०, १४७, १६६, १६⊏, १६९, १७१, १७२, १९०; १०.३९
१९०; १०.३९
पुत्रवत् ९.१०८
पुत्रवती ९.१८३
पुत्रवान् ९.१८२
पुत्रशतम् ९.१५७
प्त्रस्य ५.७७, १३१, १३७,
रॅ१७; ११.४८, १७०
पुत्राः ३.३९, ४८, १९४,
पुत्राः ३.३९, ४८, १९४, १९८; ९.३, १४६, १८१,
१८४; १०.१४
पुत्राचार्यः ३.१६०
पुत्राणाम् ४.१४८; ९.१२४,
220
पत्रात ४१६४
पुत्रात् ४.१६४ पुत्रान् ६.३६; ९.१०८, १४८ पुत्रार्थी ३.४८
प्रवासी ३ ४e
पुत्रिका ४.२३८; ९.१२८,
934
पुत्रिकाधर्मशाङ्कया ३.११
पुत्रिकाम् ९.१२७
पुत्रिकायाम् ९.१३४, १३४
पुत्रिकासुतः ९.१४०
पुत्रिकः द.६२; ९.१८२
पुत्रिणी ९.१८३
पुत्रिण्या ९.१४३

•	
पुत्री	९.१०६
पुत्रे ४.२४७; ४.८० पुत्रेच ४.१८०	०; ९.३२३
पुत्रेष ४.१८०	); <b>९</b> .१३०,
930, 952, 953	ł
पुत्रेषु ४.१७३; ६.	२; ९.१४९
पुत्रैः ६.९	५; ९.२०९
पुत्री	९.१६५
पुम्	<b>९.</b> १३८
पुर्मासः	४.४०५
पुमांसम् ३.६	१; ८.३७२
पुमान् ३.१	<b>४९; ५.६३</b> ;
E. 808; 9.98,	33, 988,
२३७	
पुरद्वारेण	४.९२
पुरम् ७.७०, ११	
पुराषः	, ,9३६
पुरा <b>जम्</b>	ت <b>३</b> ح
पुराजानाम्	द <b>३</b> ९
पुराचानि	3. <b>२३</b> २
पुरा <b>ना</b> न पुराषेषु	4.
	र. २२ ९. २२४
पुरात्	7.772
पुरातनान्	₹.२ <b>१</b> ३
पुराविदः	<b>९.४</b> २
पुरीषम् ४.५	
पुरीचयोः	६.७६
पुरीषैः	४.१२३
पुरुषः १.११, ३२	, ३३, ९२:
४.२०, १४७; ७.५ ९⊏, ३४४; ९.	१७, ८.४३,
९८, ३५४; ९.	. १६, ४५;
90.43; 99.90	₹
पुरचकारेण	<b>5.</b> २३२
पुरुषज्ञानम्	७.२११
पुरुषम् ४.१	३६, २४३;
E. 9 ; 9.300	; १०.५५;
१२.5४, १२२	
पुरुषम् ४.१ ८.९६; ९.३०० १२.८४, १२२ पुरुषस्य २.३	११२[२३७];
- ४.४ [१३४]; ९.५	1
प्रवाः '	१२.४४, ४५
पुरुषाणाम् १.९	१९; ८.३२३
पुरुषानृतम्	९.७१
पुरुषान्	<b>5.२</b> ५९
पुरुषार्च प्रयोजनम्	9.900
पुरुषे	५.६०
पुरुषैः	९.२, १२
•	•

पुरुह्तम्	99.939
पुरे े	5.35
पुरोडाशम्	७.२१
पुरोडाशाः	४.२३
पुरोज्ञशान्	<b>६.</b> ११
	.१७९; =.३३४
पुरोहितम्	9.95
पुरोहिताः	१२.४६
पूर्वापरम्	<b>≂</b> , ሂ ξ
पुलस्त्यस्य	9.3×
पुलस्तस्य	३.१९८
पुलहम्	٩.३४
पुलाकाः	१०.१२४
पुलकसैः	8.99
पुरचल्या	४.२११, २२०
पुष्कलम्	<b>३.</b> १२९
पुष्कलान्	5.59
	.२७७: १२.३४
पुष्टम्	છ. ૧૭૧
पुष्टाम्	४.२३१
पुष्टिषु	९.३७
पुष्टिसंयुक्तम्	
पुष्प० १.	४६: ६.१३, २१
पुष्पमूलफलस्य	٩٤٩. ١
पुष्पमूलफलान	
पुष्पमूलफलेषु	ج.२ <b>-९</b>
पुष्पमूलफलैः	પ્ર.૧૦, ૧૫૭
पुष्पम्	४.२५०
पुष्टिपणः	9.80
पुष्पितानाम्	99.982
पृष्पेष	<b>5.330</b>
पुष्ये	8.98
	९]; ३.४९, ६ <b>१</b> ;
99.9७६	·, (, ), (,
पुंसा	९.४२
पु <del>ंसि</del>	99.80, 908
पुनान् पूनान्	₹.949
पूजकः	५. १२.१ ७. <b>५</b> २
पूजा	9.5X
पूजार्ही	9.7 <b>६</b>
पूज्यतमः पूज्यतमः	५.२५ ९. <b>१०</b> ९
पूज्याः पूज्याः	7. 10 X
पूतः पूतः	२.४० [७४]
रूपः पूतिगन्धे	۲. ۲۵ [۵۲] ۲.۹۵ <b>७</b>
μ <del></del>	V. 10 <b>0</b>

•				••	\.
पूतिवक्त्रताम्	११.५०	पूर्वात्समुद्रात्	१.१४१	पैत्रिकः	۳.४ <b>१</b> ٤
पूर्यभुक्	१२.७२	[२1२२]		पैलव०	२.२० [४४]
पूर्यम्	8.220	पूर्वान्	3.30	पेशाचः	३.२१, २४, ३४
पूयशोजितम्	३.१८०	पूर्वाभिः	४.१३७	पेशाची	३.१४१
पूयशोजितैः	५.१२३	<b>पूर्वाम्</b> २.७६		पेशुनम्	99.44
पूरकम्	९.२८९	[१०२[, ७६ [१	०३]; ४.९३	पेशुन्यम्	७.४८; १२.६
पूर्णकुम्भम् '	११.१⊏६	पूर्वाह्न	३.२५६	पैष्टी	१८,९४
पूर्णम् ६.७६;	<b>८.३३८</b> ;	पूर्वाह्नात्	३.२७८	पोचकः	<b>३.</b> १६२
99.953			४.९६, १५२	पीण्ड्रकाः	१०.४४
पूर्णविंशतिवर्षेण	२.१८७	पूर्वाहने	5.50	पौतिनासिक	<b>ाम्</b> ११.५०
[२१२]		पूर्वे १२.१११	; २.६४ [=९]	पौत्रदौहित्रये	t: ९.१३३, १३९
पूर्णे =.१२१:	११.१४०	पूर्वेद्यः	३.१८७	'पीत्रवत्	<b>९.</b> १३९
पूर्तम्	४.२२६	पूर्वेषाम्	३.२२०	पीत्री े	<b>९</b> .१३६
	७, २७६	पूर्वेषु	९.१००	पौत्रेज	९.१३७
	₹[٩२=]	पूर्वोक्तम्	<b>३.२</b> ४६	पौरचल्यात्	
पूर्वकृतेन	<b>હે.</b> ૧૬ ૬	पूर्वोक्तानाम् २.			३.१४४; ९.१६०,
पूर्वकृतैः	99.85		४.७⊏	१७४	,
पूर्वचोदितः	द. <b>१६</b> ०	पृथक्विधैः	११.४६	फैनर्भवे	३.959
पूर्वचोदितौ	<b>३.२६</b>	पृथग्जनम्	७.१३७	पौनर्चवेन	९.१७६
	[२२४];	पृथग्जनाः	७.१४८	पौरसख्यम्	
३.१७१; ९.१२२, १			२०१ [२२६];	पौरुषः	5,808
पूर्वजै:	9.39	रे.३०३		पौरुषम्	99.२४9
पूर्वतस्करैः	9.750	पृथिय्याम्	१.९९, १३९	पौरुषेण	७.१४९
पूर्ववृष्टः	9.50	[र।२०]; ४.१६		पौर्णमासम्	<b>ξ. q</b>
पूर्वदेवताः	<b>३.</b> 9९२		<b>९</b> .२२१	पौर्जमासी	8.993
पूर्वनिविष्टस्य	9.759	पृ <b>चिवीपतिः</b> े ७		पौर्जमासीम्	
पूर्वपकात्	३.२७=	<b>≖</b> .२९, २२		पौर्जमासेन	8.24
पूर्वभुक्त्या	<b>=.</b> २४२	90.993; 99.		पौर्जमास्यौ	8,998
पूर्वमारिजीम्	५.१६७	पृथिबीम् १.१		पौर्तिकम्	३.१७=
पूर्वमारिण्यै	४.१६=	९.४४, २३=	,	पौर्विकीम्	¥.985, 988
पूर्वम् २.२४		पृष्:	७.४२	प्रकारस्य	92.49
[६०], ४९ [७४], ९३		<b>पृ</b> षीः	9.88	प्रकाराणि	9.88; 5.289
१४९ [१=४], २२०		पृष्ठतः	<b>४.</b> 9५४	प्रकाशक्रयश	
₹. <b>९४, १</b> १४, २०३		पृष्ठबास्तुनि	₹.९१	प्रकाशम्	<b>5.9</b> ₹₹, ₹¥9;
२१९, २२६;	X 92 X ·	पृष्ठेन	8.62	९.२२२, २	
પ્ર.૧३९: હે.૧૪,		<b>पेयूचम्</b>	<b>X. ξ</b>	प्रकाशवञ्च	
<b>5.9</b> ₹0, 9₹9, ₹0		पेवणी	₹. € =		
३४४; ९.२८७,		पेजवनः	છે.૪૧	प्रकाशाः प्रकाशानि	<b>5.2</b> 49
90.45, 998	\ , , ,	पेजवाने	5.990	प्रकाशान्	९.२४६, २६०
	99.293	_	.908, 988,		७.१४६: ९.२९४,
पूर्विवदः	9.88	9 6 7, 20 9	. , , ,	३०९	
	૧.૨, <b>૨</b> ૭	पत्कत्	९.१६४		१०.५९
पूर्वसाहसम् ८.३५४;		पेतृयज्ञः	३.२≒२	प्रकृतिभेष्ठ्य	
पूर्वाकरः २.१००		पैतृष्यसेयी म्	99.909	प्रकृतीः	9.990
(1)	( , , ~)	18 1 1 1 1 4			

<mark>प्रकृतीनाम्</mark> ७.१७५; ९.२३२,	प्रजीवनम् ९.१६३	प्रतिमुखः ८.२९१
२९४	प्रजुष्टानि २.७१ [९६]	्रप्रतिमूर्तिकम् ४.८९
प्रकृत्या ३.२५७	प्रज्ञा २.७४ [९९]; ४.४१,	प्रतिरोद्धा ३.१४३
प्रकालकः ६.१८	४२, ५२	प्रतिलोम॰ १०.२४
<b>प्रकालनेन</b> ५.११⊏	प्रज्ञातान् ४.३९,४९	प्रतिलोमतः १०.६८
ष्ट्र <del>ख्</del> यातभाण्डानि ८.३९९	प्रज्ञाम् ४.९४	्रप्रतिलोम्ये १०.१३
प्रने ६.६	प्रजतम् ११.१९४	प्रतिवातम् ४.५२
प्रच्छन्नतस्कराः ९.२२६	प्रजयनम् ८.२७७	प्रतिवाते २.१७८
प्रथ्छन्नपापाः ५.१०७	प्रणवैः ६.७०	प्रतिभयः १०.४१
प्रच्छन्नम् ९.२२८	प्रणब्द० ८.३३	प्रतिश्रवणसंभावे २.१७०
प्रच्छन्नवञ्चकाः ९.२५७	प्रणस्टस्वामिकम् ८.३०	[9 <b>९</b> x]
प्रच्छन्ताः १०.४०	प्रषच्टाधिनतम् ६.३४	प्रतिष्ठम् ३.१५०
प्रचारम् ७.१४४, १४४;	प्रणिधिषः ८.१८२	प्रतिष्ठाप्यानि ३.१३४
9.799	प्रिणिधीनाम् ७.१५३, २२३	<b>प्रतिष्ठिता</b> =.१६४, २२६;
प्रचेतसम् १.३४	प्रतानाः १.४८	99.754
प्रजनम् ३.६१; ९.६१	प्रतापयुक्तः ९.३१०	प्रतिषद्धः
प्रजनार्थम् ९.२६, ९६	प्रतिकूलम् १०.३१	प्रतिषिद्धाः ९.५४ प्रतिषिद्धानि ८.३९९
प्रजने ९.१२५; १२.१२१ प्रजाः १.८, २४, २६, ३४,	प्रतिकूला ९.५०	
प्रजाः १.५, २४, २६, २०, ६१; ३.४२, ७६; ४.१५६,	प्रतिकूलेषु ९.२७५ प्रतिगामु ४.५२	प्रतिषेधत्सु २.१८१ [२०६]
958; 4.958; 6.95, 98,	प्रतिग्रहः ४.८६, १८६;	रिपर] प्रतिवेधनम् १०.१२६
7x, 3 8x, 50, 15, 7x, 3 8x, 50, 9 9 9	१०.७४, ७६, ७७, १०९,	प्रतिसूर्यम् ४.५२
987, 983, 985; =.90x;	990, 999	प्रतिसोम० ४.५२
<b>९.२२६, ३०७, ३२७</b> ;	.प्रतिव्रहम् १.८८; ३.१७९;	प्रतिस्रोतः ११.७७
90.99=; 99.80	४.१८७; <b>८.१६</b> ४	प्रतीकारम् १०.१०५
प्रजाधर्मान् ९.२५	प्रतिग्रहरुचिः ४.१९०	प्रतीतम् ३.३
प्रजानाम् १.३४, ८९; ४.९४;	प्रतिप्रहात् ४.१९१;	प्रतीपम् ४.२०६; १०.१७
७.६६, १४४	90.903, 908, 998;	प्रतीमानम् ८,४०३
प्रजापतयः ३.८६	99.988	प्रतीमानाम् ९.२८५
प्रकापतिः २.५१ [७६], ५२	प्रतिप्रहीतृन् ३.१४३	प्रतुबानु ५.१३
[७७], ४९ [८४]; ४.२२४,	प्रतिग्रहे ४.१८७	प्रतोबः ३.४४
२४८; ४.२८; ९.१६, ४६,	प्रतिग्रहेण ४.१८६	प्रतोदम् ५.९९
१२८, ३२७; १०.७८,	प्रतिज्ञाते ८.१३९	प्रतोबेन ४.६८
११.२४३	प्रतिज्ञाय ९.९९	प्रत्यक्ष० १२.१०९
प्रजापतिम् १२.१२१, १२३	प्रतित्र्यहम् ११.२९४	ाल <b>गर</b> म् ६.४०२: 👙,
<b>प्रजापतेः</b> २.२०१ [२२६];	प्रतिनिधिः ११.२९	६२; १२.१०४
४.१४२	प्रतिपम् १२.२८	प्रत्यम् १.१४० [२।२१]
प्रजापालनतत्पराः ९.२४३	प्रतिपूज्याः २.१८४ [२१०]	प्रत्यग्निम् ४.५२
प्रजाभागः ९.४८	प्रतिबुद्धः १.७४	
प्रजाम् ३.२७७; ४.२१९,	प्रतिभागम् ८.३०७	
<del>77</del>	प्रतिभाष्यम् ८.१५९	प्रत्यिषवादनम् २.१०१
प्रजायाः ९.१९५	प्रतिभृवि ८.१६१	[9२६]
प्रजाबन्तम् ३.२६३	प्रतिभूः ७.१७; ८.१४८,	
प्रजाविशुद्धयर्थम् ९.९	१६२, १६९	प्रत्यवरः १०.१०९

## मनुस्मृति-शब्दसूची

प्रत्यक्त	प्रत्यवायेन	<b>४.</b> २४४	प्रमत्तः	¥,¥0	प्रविजयते	९.२१=
प्रत्यां त्र १.२७ प्रमाणम्					_	
प्रत्यावेशाय						
प्रत्यंता						
प्रत्योदतम्			_			
प्रत्येकम्						
प्रवमकरिपतम् १,१६० प्रमाणम् १,६८, १३२ प्रवसिताः ८,३६३ प्रवसम् २,२४ [४०], १६० प्रमाणम् १,६८, १३२ प्रमालः १,२६६ प्रमाणम् १,२३३ प्रमालः १,२६६ प्रमाणम् १,२३३ प्रमालः १,२६६ प्रमाणम् १,२३३ प्रमालः १,२६६ प्रमाणम् १,२३३ प्रमालः १,२३५ प्रमालः १,२३५ प्रमालः १,२३५ प्रमालः १,२३३ प्रमालः १,२३३ प्रमालः १,२३३ प्रमालः १,२३३ प्रमालः १,२३५ प्रमालः १,२४६ प्रमालः १,२६६ प्रमालः १,२६५			•			
प्रवमकिल्पतम् १.१६६ प्रमाणम् १.६८, १३२ प्रवितास्				/· / ([- /],		
प्रथमम् २.२४ [४०], १६९   [२११३]; व.३२; ११.८४   प्रशंसाम् १०.१२०   प्रशंसाम् १.२२६   प्रमाणानि ७.२०३   प्रशंसाम् १.२२६   प्रमाणानि ७.२०३   प्रशंसाम् १.२२६   प्रमाणानि ७.२०३   प्रशंसाम् १.२४६   प्रथमाम् १२.४८   प्रमाणानि १.३२   प्रशंसाम् १.२४८   प्रशंसाम् १.२४८   प्रशंसाम् १.२४८   प्रशंसाम् १.२४८   प्रशंसाम् १.२४८   प्रशंसाम् १.२८७   प्रशंसाम् १.२८०   प्रशंसाम् १.८८०   प्रशंसाम् १.२८०   प्रशंसाम् १.८८०   प्रशंसाम् १.८८०   प्रशंसाम् १.८८०   प्रशंसाम् १.२८०   प्रशंसाम् १.८८०   प्रशंसाम् १.२८०   प्रशंसाम् १.२८०   प्रशंसाम १.२८०				9.85, 932		
प्रश्ने   प्रमाणान   ७.२०३ प्रशस्ता   १.१२१ [२।२], प्रयमसाहसः   १.२०६ प्रमावः   १२.३३   ३.१२,४७,२७६; ४.२२ प्रमावः   ११.३३   ३.१२,४७,२७६; ४.२२ प्रमावः   ११.३०   प्रमानः   १						
प्रवमसाहसः		,,,,,,,			-	
प्रथमलाहलः		<b>९.२</b> =६				
प्रथमा १२.४८ प्रमीतपितकम् १.६८ प्रशस्तेन १.9२३ प्रथमे २.१० [३४] प्रमीतस्य १.१६७ प्रशास्तम् १२.२७ प्रयाता ३.१२७, ८.१३ प्रमृतेन ४.४ प्रशासितारम् १२.१२ प्रयाता २.२४८ प्रयातः २.१४८ [१=३], १६० प्रयाता ६.२०४ ३.२१६, २२६, २२८; ४४९, प्रस्तकता १२.४४ प्रयाता ६.२०४ ३.२१६, २२६, २२८; ४४९, प्रस्तकता १२.४४ प्रयाता ६.२०४ ३.२१६, २२६, २२८; ४४९, प्रस्तकता १२.४४ प्रयाता १.१४० प्रयाता ३.१४० प्रयाता ३.१४० प्रयाताः ३.१२३, १४९, प्रस्तकता १.१५० प्रयाताः १.१४० प्रयाताः १.१४६ ५.१६, १.४५, १.७५, २०६; प्रस्तक्षेत्रः १.६८ प्रयाताः १.१४६ प्रस्तकता १.९४५ प्रस्तकता १.६८ प्रयाताः १.१४६ प्रस्तकता १.५४० प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४६ प्रस्तकता १.५४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४६ प्रस्तकता १.९५५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४६ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४६ प्रयाताः १.१४६ प्रसात्वाः १.१४ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४६ प्रयाताः १.१४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४५ प्रयाताः १.१४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रयाताः १.१४५ प्रसात्वाः १.१४ प्रस						
प्रथमे २.१० [३४] प्रमीतस्य १.१६७ प्रशान्तम् १२.१७ प्रयाता ३.१२७; द.१३१ प्रमुत्ते ४.४ प्रशासितारम् १२.१२२ प्रविकाणम् २.२३ [४८], प्रशुत्ते ४.४ प्रशासितारम् १२.१२२ प्रविकाणम् २.२३ [४८], प्रशु (२२२); प्रयाता ६.२०४ ३.२१६, २२६, २२६; ४.४९; प्रस्कता १२.४४ प्रविकाणम् १.१४७ प्रवाते ३.१४७, २४० प्रदूर, १४४; १९.२४८ प्रवाते ३.१४७, २४० प्रदूर, १४४; १९.२४८ प्रवादेवाम् १.१४० प्रयत्ताः ३.१२३, १४९, प्रसङ्गम् ४.१६६ प्रवातामम् १.१४० प्रयत्ताः ३.१२३, १४९, प्रसङ्गम् ४.१६६ प्रवातामम् १.१४० प्रवातमाम् १.१४० प्रवातमाम् १.१४० प्रवत्तम् ७.६८, २२० प्रसङ्गम् ४.१६६ प्रवातमम् १.१४० प्रवत्तम् ७.६८, २२० प्रसङ्गम् १.६८ प्रवातमम् १.१२१ प्रवत्तमम् ७.६८, २०६; प्रसङ्गम्यः १.५४ प्रवातमम् १.१४६ प्रवत्तमम् ७.६८, २०६; प्रसङ्गम्यः १.४ प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् ४.१४६ प्रवत्तमम् ४.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् ४.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् ४.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् १.२० प्रवत्तमम् १.१४६ प्रवत्तमम् १.१६६ प्रवत्तमम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तमममम् १.१९६ प्रवत्तममम् १.१९६ प्रवत्तमममम् १.१						
प्रविता ३.१२७;	प्रथमे					
प्रविक्षणम् २.२३ [४=], प्रमुतेन ४.४ प्रश्तम् ६.१४, ९४ प्रयतः २.१४= [१=३], १६० प्रयतः २.१४= [१=३], १६० प्रश्तम् १.१९ प्रयतः २.१४, १९५ प्रयत्ता १२.४४ प्रयाता ६.२०४ ३.२१६, २२६, २२६; ४.४९; प्रयत्ता १२.४४ प्रयाते ३.१४७, ४४० प्रम्म, १.१२० प्रदू १.१२३, १४९, प्रयस्ताः ३.१२३, १४९, प्रयस्ताः १.१४० प्रदू १.९९, १.४९, प्रयस्ताः १.१४० प्रदू १.९९, १.९९, १४४, प्रयस्तातः १.१४० प्रदू १.९९, १.९९, १४४, प्रयस्तातः १.१४० प्रयातम् १.१२० प्रयत्ते ३.७९, २०६; प्रयत्ता १.१४० प्रयातम् १.१२४ प्रयत्ताः १.७४, १०६०, प्रयद्वे १.९९ प्रयत्ताः १.७४, १०५०, प्रयस्ते १.९४ प्रयातम् १.१४० प्रयातम् १.१४० प्रयातम् १.१४० प्रयातम् १.२४० प्रयत्ताः १.३२० प्रयत्ताः १.३२० प्रयत्ताः १.२४० प्रयत्ताः १.३४० प्रयाम् ६.२० प्रयतातमाम् ४.१४६ प्रयत्ताः १.२४० प्रयत्ताः १.१४० प्रयत्ताः १.१४० प्रयत्ताः १.२४० प्रयत्ताः १.२४० प्रयत्ताः १.१४० प्रयत्ताः १.२४० प्रयत्ताः १.१४० प्रयत्	_			¥,¥		
प्रयतः २.१४० [१०३], १६० प्रश्निष्धानम् १.११४ प्रवाता ४.३९ [१०४], १९७ [२२२]; प्रसन्ता १२४४ प्रवाता ०.२०४ ३.२१६, २२६, २२०; ४४९; प्रसन्ता १२४४ प्रवाने ३.१४७, २४० ४.०६, १४४, १९.२४० प्रसन्तः ३.१२३, १४९, प्रसन्तः १.१८० प्रदानतः १.१४० पर्दतः ३.१२३, १४९, प्रस्मान्तः १.१४० १६६; ६.९१; ७.९९, १४४, प्रसम्वानिवर्तये ०.३६० प्रधानम् १.१२० पर्दतः ३.१२३, १४५, प्रसम्वान १.६० प्रधानम् १.१२१ प्रयत्न ७.६०, २०६; प्रसम्वानः १.१४५ प्रयानम् १.१४१ प्रयत्ने ३.७९, २०६; प्रसम्वानः १.४५ प्रधानाः १२.४६ ४.१६१; ४.६; ७.४४, ७.७१, प्रसम् १.३२ प्रधानाः १२.४६ ४.१६१; ४.६; ७.४४, ७.७१, प्रसम् १.३२ प्रयामाः १.२४६ प्रयत्नः १.७० प्रयत्नम् ४.१४६ प्रस्म १.२२५ प्रयत्नमम् ४.१४६ प्रसम् १.२४ प्रयामम् ६.३९ प्रयत्नमम् ४.१४६ प्रसम् १.२२ प्रयत्नमम् ४.१४४ प्रसावनम् ३.२२१ प्रयत्नमम् ४.१४४ प्रसावनम् १.२२४ प्रयानमम् १.२४० प्रयानम् १.१४५ प्रसावनम् १.२५० प्रयोगमः १.१४९ प्रसावनम् १.१५६ प्रयाचनम् १.१५६ प्रयाचनः १.१४६ प				٧,٧		
प्रविक्षणिति	•	3,	प्रयंतः २.१	८८ [१८३], १६०		
प्रवाता		४.३९				
प्रवाने ३.१४७, २४०	प्रवाता	5.20 <u>¥</u>	३.२१६, २	२६, २२८; ४.४९;	प्रसन्तिः	
प्रधानतः	प्रवाने	३.१४७, २४०			प्रसङ्गम्	४. १ = ६
प्रधानतः	प्रदायिनाम्		प्रयत्नतः	३.१२३, १४९,		
प्रधानपुरुषैः ७.२०३ २०६; ६.३१०; ९.९, ३३३ प्रसङ्गेन २.६६ [९३]; प्रधानम् ९.१२१ प्रयत्नम् ७.६६, २२० ४.१५; १२.४२ प्रधानास्य ९.१२१ प्रयत्नेन ३.७९, २०६; प्रसङ्गेम्पः ९.५ प्रधानाः १२.४६ ४.१६१; ४.६; ७.४५, ७.७१, प्रसम् ६.३३२ प्रधानािन ३.१८ १७२; ८.७ प्रस्, ७.७९, प्रसम् ६.३३२ प्रधानािन ३.१८ १७२; ८.७ प्रस् प्रस् स्व. १.१४५ प्रपतेः ६.२२ प्रयता ६.२४८ प्रस् स्व. १.४५ प्रपाम् ६.३१९ प्रयतातमाम् ४.१४६ प्रस् व २.२२ प्रयतातमाम् ४.१४६ प्रस् व ३.२२ प्रयतातमाम् ४.१४५ प्रस् व ३.२२ प्रयतातमाम् ४.१४५ प्रस् व १.२२ प्रयानात् १.१४० प्रस् व १.२५ प्रयानात् १.१४० प्रस् व १.२५ प्रयानात् १.२४० प्रयानात् १.१४० प्रस् व १.२५ प्रयानात् १.१४० प्रस् व १.३२ प्रस् व १.३२ प्रस् व १.२५ प्रयानाः १.४९ प्रस् व १.२५ प्रस् व १.२५ प्रयोगः १.३४१ प्रस् व १.१५२ प्रस् व १.२५ प्रयोगः १.३४१ (१४९) प्रस् व १.२५ प्रस् व १.२० प्रमावः १.२० प्रस् व १.२० प्रमावः १.२० प्रस् व १.२० प्रमावः १.२२० प्रस् व १.२२० प्रमावः १.२२० प्रस् व १.२२० प्रस् १.२२० प्रस् व १.२२०	प्रधानतः	<b>९.</b> १५०	१६६; ६.९	१; ७.९९, १४४,	प्रसङ्गात्	
प्रधानम्	प्रधानपुरुषैः	७.२०३	२०६; ८.३	१०; ९.९, ३३३		२.६५ [९३]:
प्रधानस्य १.१२१ प्रयत्नेन ३.७९, २०६; प्रसङ्गेष्यः ९.४ प्रधानाः १२.४६ ४.१६२; ४.६; ७.४४, ७.७१, प्रसणम्	-	<b>९</b> .१२१	प्रयत्नम्	७.६८, २२०		
प्रधानाः १२.४६ ४.१६१; ४.४४, ७.७१, प्रसंजम् द.३३२ प्रधानानि ३.१८ १७२; ६.४० प्रसंवः १.१४४ प्रपानः ६.२२ प्रयता ८.२४८ प्रसंवम् १.४४ प्रपाम् ६.३१९ प्रयतात्माम् ४.१४६ प्रसंवे ३.२२ प्रपामम् ३.२२१ प्रयतात्माम् ४.१४४ प्रसंवे ३.२२ प्रपाममाम् ३.२२१ प्रयतात्मा ४.१४४ प्रसंवे ३.२२ प्रपाममामाम् ३.२२ प्रयानात् १.१४८ प्रसंवे ७.१९ प्रयानात् १.१४० प्रसंवे ७.१९ प्रयानात् १.१४० प्रसंवे ७.१९ प्रयानाः १०.३२ प्रयानाः १०.१४ प्रसंवे १०.३२ प्रयानाः १०.१४ प्रसंवे १०.३२ प्रयानाः १०.१४ प्रयानाः १०.४६ प्रसंविमः १.१४२ प्रयानाः १०.४६ प्रसंवे ७.२२० प्रयानाः १०.५४ प्रयानाः १२.१४ प्रयानाः	प्रधानस्य	<b>९.</b> १२१	प्रयत्नेन		प्रसङ्गेभ्यः	
प्रधानानि	प्रधानाः	१२.४६	¥.989; X.			<b>5.33</b> 2
प्रपवै: ६.२२ प्रयता		३.९⊏				
प्रपाम्	प्रपवैः	६.२२			प्रसवम्	
प्रिण्तामहम् ३.२२१ प्रयातस्या ४.१४४ प्रसादकम् ६.६७ प्रिण्तामहान् ३.२६४ प्रयावात् १.१४० (२।२१) प्रसावे ७.११ प्रमम् १.९ प्रयुक्तम् ६.४९ प्रसाधनः १०.३२ प्रमायः १०.५२ प्रयोज्या २.१३४ (१४९) ४.१४२ प्रमायतः ७.७ प्रयोज्या २.१३४ (१४९) प्रसाधनम् २.१६६ (२१९); प्रमायतः ७.७ प्रयोज्या २.१३४ (१४९) प्रसाधनम् ७.२२० प्रमायतः ७.७ प्रयोज्या २.१३४ (१४९) प्रसाधने ७.२२० प्रमायतः १०.७२ प्रमायतः १.४६ प्रमायतः १.७४ प्रमायतः १.७४ प्रमायतः १.७४ प्रमायतः १.२४ प्रमायतः १.२४ प्रमायतः १.२४ प्रमायतः १.२४ प्रमायतः १.२४ प्रमायतः १.१९ प्रमायतः १.२४६ प्रमायतः १.४५		<b>८.३</b> १९	प्रयतात्मनाम्	४.१४६		
प्रिण्तामहान् ३.२६४ प्रयानात् १.१४० [२।२१] प्रसावे ७.११ प्रमम् १.९ प्रयानात् १.१४० [२।२१] प्रसावः १०.३२ प्रमणः १.८५ प्रयोगः १०.११४ प्रसाधनम् २.१६६ [२१९]; प्रमावः १.६४ प्रयोग्या २.१३४ [१४९] ४.१४२ प्रमावतः ७.७ प्ररोहिणः १.४६ प्रसाधने ७.२२० प्रमावेण १०.७२ प्रसापः १२.६ प्रसाधने ७.२२० प्रमावेण १०.७२ प्रसापः १२.६ प्रसुप्तः १.७४ प्रमुः १.२२,२६,३२,९१, प्रवच्तारम् ४.१६२ प्रसुत्तः १.२४ १३; ४.१६२; ७.३, १८१, प्रवच्यम् २.४९ [७४] प्रसुत्तः १.३४,३४; १२.९६ १९६३; १०.३; १९.३०, प्रवरः १.६७ प्रसुतिः १.३४,३४; १२.९६ प्रमुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ६.२४६ प्रमुति ९.६६ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्वोण ६.२४६			प्रयतात्मा		प्रसादकम्	
प्रभवाः ६.६७ प्रयोगः १०.११४ प्रसाधनम् २.१६६ [२११]; प्रभावः १.६४ प्रयोग्या २.१३४ [१४९] ४.१४२ प्रभावतः ७.७ प्ररोहिणः १.४६ प्रसाधने ७.२२० प्रभावेण १०.७२ प्रसाधः १२.६ प्रसाधने ७.२२० प्रभावेण १.२२, २६,,३२, ९१, प्रवण्यम् ४.१६२ प्रस्ताधः १.२४ १३; ४.१६२; ७.३, १६१, प्रवण्यम् २.४९ [७४] प्रस्ताधः १.१९ १३; ४.१६२; ७०.३; ११.३०, प्रवण्यम् २.४९ [७४] प्रस्ताधः १.३४,३४; १२.९६ १४३ प्रवण्याः १.७० प्रस्तावः १.१७ प्रस्वाणि ६.२४६ प्रमुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६९ प्रस्वाणि ६.२४६ प्रमृति ९.६६ प्रवासानम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०	प्रपितामहान्	३.२=४	प्रयानात्	9.980 [२।२9]	प्रसावे	
प्रभावः १.६४ प्रयोज्या २.१३४ [१४९] ४.१४२ प्रभावतः ७.७ प्ररोहिणः १.४६ प्रसाधने ७.२२० प्रभावेण १०.७२ प्रसापः १२.६ प्रसुप्तः १.७४ प्रभुः १.२२,२८,३२,९१, प्रवच्यारम् ४.१६२ प्रसुप्तः १.२४ १३; ४.१८२; ७.३, १८१, प्रवचम् २.४९ [७४] प्रसुप्तः १.१९ ९.१६३; १०.३; ११.३०, प्रवरः ९.६७ प्रसुप्तः १.३४,३४; १२.९८ २४३ प्रवरास् १०.२७ प्रसुप्तम् १.७ प्रभुषा ८.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ८.२४८ प्रभृति ९.६८ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०	प्रभम्	٩.९	प्रयुक्तम्	5.89	प्रसाधनः	१०.३२
प्रभावः १४ प्रयोज्या २.१३४ [१४९] ४.१४२ प्रभावतः ७.७ प्ररोहिणः १.४६ प्रसाधने ७.२२० प्रभावेण १०.७२ प्रसापः १२.६ प्रसुप्तः १.७४ प्रभुः १.२२, २८,,३२, ९१, प्रवचतारम् ४.१६२ प्रसूतयः ९.२४ ९३; ४.१८२; ७.३, १८१, प्रवणम् २.४९ [७४] प्रसूतस्य ३.१९ ९.१६३; १०.३; ११.३०, प्रवरः ९.६७ प्रसूतिः ९.३४,३४; १२.९८ २४३ प्रवरासु १०.२७ प्रसूतिम् ९.७ प्रभुणा ८.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ८.२४८ प्रभृति ९.६८ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०				१०.११५	प्रसाधनम्	
प्रभावेण १०.७२ प्रलापः १२.६ प्रतुप्तः १.७४ प्रमु १.२२, २८,,३२, ९१, प्रवस्तारम् ४.१६२ प्रसूतयः ९.२४ ९३; ४.१५२; ७.३, १८१, प्रवणम् २.४९ [७४] प्रसूतस्य ३.१९ ९.१६३; १०.३; ११.३०, प्रवरः ९.६७ प्रसूतिः ९.३४,३४; १२.९८ २४३ प्रवरासु १०.२७ प्रसूतिम् ९.७ प्रमुणा ८.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ८.२४८ प्रमूति ९.६८ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०	प्रभावः	१.८४		२.१३४ [१४९]		
प्रणु: १.२२, २६,,३२, ९१, प्रवस्तारम् ४.१६२ प्रस्तायः ९.२४ ९३; ४.१६२; ७.३, १६१, प्रवणम् २.४९ [७४] प्रस्तस्य ३.१९ ९.१६३; १०.३; ११.३०, प्रवरः ९.६७ प्रस्तिः ९.३४,३४; १२.९६ २४३ प्रवरासु १०.२७ प्रस्तिम् ९.७ प्रभुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ६.२४६		૭.૭	प्ररोहिणः	9.8६	प्रसाधने	७.२२०
प्रमु: १.२२, २८,, ३२, ९१, प्रवस्तारम् ४.१६२ प्रस्तायः १.२४ ९३; ४.१८२; ७.३, १८१, प्रवमम् २.४९ [७४] प्रस्तस्य ३.१९ ९.१६३; १०.३; ११.३०, प्रवरः ९.६७ प्रस्ताः ९.३४, ३४; १२.९८ २४३ प्रवरासु १०.२७ प्रस्तास् ९.७ प्रमुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ६.२४८ प्रमृति ९.६८ प्रवासानम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०			प्रलापः	<b>१</b> २.६	-	
९.१६३;     १०.३;     ११.३०,     प्रवर्ताः     १.६७     प्रस्तिः     ९.३४,३४;१२.९८       २४३     प्रवरासु     १०.२७     प्रस्तिम्     ९.७       प्रमुणा     ८.३१२     प्रवालान     १२.६१     प्रस्वाणि     ८.२४८       प्रमृति     ९.६८     प्रवासनम्     ७.१२४;९.२४२     प्रस्रवे     ४.१३०			प्रवक्तारम्	४.१६२	प्रसूतयः	
२४३ प्रवरासु १०.२७ प्रस्तिम् १.७ प्रमुणा ५.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्वाणि ६.२४६ प्रमृति ९.६६ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ५.१३०			प्रवणम्	२.४९ [७४]		
२४३ प्रवरासु १०.२७ प्रस् <b>तिम् ९.७</b> प्रमुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्रवणि ६.२४६ प्रमृति ९.६६ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ५.१३०	९.१६३; १०	.३; ११.३०,	प्रवरः			४, ३५; १२.९=
प्रमुणा ६.३१२ प्रवासानि १२.६१ प्रस्रवाणि ६.२४६ प्रमृति ९.६६ प्रवासनम् ७.१२४; ९.२४२ प्रस्रवे ४.१३०			•	१०.२७	प्रसूतिम्	
2,112			प्रवासानि	97.59	प्रस्वाणि	<b>८.२४</b> ८
प्रभा १.३; ४.२ प्रवास्यः ६.२६४ प्रहब्दया ४.१४०				७.१२४; ९.२४२	प्रस्रवे	
	प्रभा	१.३; ५.२	प्रवास्यः	۲.۶۶۶	प्रहष्टया	४.१४०

प्रहासन् ४.८३	'प्राचान्तिक: ८.३७९	प्रासावस्रस्तरेषु २.१७९
प्रहुतम् ३.७३	•	[२०४]
प्राक्कूलान् २.४० [७४]		प्रिय॰ ३.११९; ८.१७३
प्राक्छाये ३.२७४		प्रियकारकम् ७.२०४
प्राकारः ७.१९६		प्रियताम् ५.५०
प्राकारस्य ७.७४	•	प्रियद्वेष्यी ९.३०७
प्राकारस्य ९.२८९		प्रियम् १.१३१ [२।१२];
प्राकृतः ८.३३६	•	२.२०३ [२२८]; ४.१३८;
प्राकृतम् ११.२४=		<b>९.</b> ९४
प्राण् २.३६ [६१]		प्रियवियोगान् १२.७९
<b>प्राक्नुखः</b> २.२६ [४१], २७	प्राणि॰ ४.११७	प्रियहिते २.२१० [२३४]
[43]	<b>प्राप्तिनः</b> १.९६; ५.३०	प्रियेषु ६.७९
<b>प्रार्मुखान्</b> ८.८७		प्रियैः ६.६२
प्राइविवाकः ८.७९; ९.२३४	[१७७]; ४.४६, ४८; ७.११२	प्रीतः ३.१३१
<b>प्राक्षियाकेम</b> ८.१८१	<b>प्राणिनी</b> ३.१७४	प्रीतात्मा १.६०; ९.१२९
<b>प्राचीनावीतिना</b> ३.२७९	<b>प्राणिषिः ९</b> .२२३	प्रीतिः १२.२७
<b>प्राचीने</b> २.३८ [६३]		प्रीतिकर्मीच ९.१९४
प्राचीम् ७.१८९		<b>प्रीतिपूर्वकम्</b> ८.१८७;
ं <b>प्राजकः</b> ८.२९३	प्रतिकोम्येन १०.१६	९.१९३
प्राजकस्य ८.२९३	क्रतिवेश्यानुवेश्यी ८.३९२	<b>प्रीतिम्</b> २.२२१ [२४६];
प्राजके ८.२९३	<b>प्रायुष्कृतः</b> ४.१०४	३.६२
प्राजापत्यः ३.२१, ३०		<b>प्रीतिसंयुक्तम् ९.</b> १६८
प्राजापत्यम् ११.३८, १०५		प्रीतेन ९.१९४
१२४, २११	फ्रापितम् ८.४३	प्रीत्या
प्राजापत्याम् ६.३०		प्रेक्षणानि ९.२०४
प्राजापत्ये ४.१८३		प्रेक्षचालम्बम् २.१४४ [१७९]
<b>प्राज्ञः</b> २.९८ [१२३]; ३.११	प्रायः ११.४७	प्रेक्षमाणानाम् ८.१४
४.१८७; ७.२६	प्रायणम् ९.३२३	प्रेक्षासमाजम् ९.८४
प्राज्ञम् ७.१४१, २१८		प्रेतः १२.७१, ७२
प्राज्ञान् ७.६०		प्रेतकृत्या ३.१२७
प्राज्ञेन ९.४९		प्रेतधूमः ४.६९
प्राम्जितिः २.१६७ [१९२]		प्रेतनिर्यातकः ३.१६६
प्राणवाधम् ४.५४	, , , , , , , , , , , , , , , , , , , ,	प्रेतम् ४.६८, १०१, १०३
प्राणबाधाभयेषु ४.५१		प्रेतवत् ११.१८३
<b>प्राप्तभृतः</b> ८.२९४	प्रायश्चित्तविधिम् १०.१३१	प्रेतशुक्षिम् ४.४७, १००
प्राचपृत्सु ८.२९६	प्रायरिचत्तस्य ११.२६६	प्रेतस्य ५.६४
प्राजम् ४.२३; १२.१२३	<b>प्रायश्चित्तार्थम्</b> ११.२२५	प्रेतहारै: ४.६४
प्राचयात्रिमात्रः ६.५७		प्रेतान्तम् ४.२१७
प्राणस्य ५.२८; ६.७१	<b>प्रायरिचतैः</b> ११.४६	प्रेतान् ३.२३०; ४.९९;
प्राचा २.९४ [१२०]; ७.११२	प्रायासु १२.७७	93.45
प्राणानाम् ४.२७; १०.१०६		प्रेते २.२२२ [२४७]; ४.=२,
प्राणान् ४.२८, १४३	(,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	१४८, १५७; ८.१६०, १६१;
99.68, 988	प्राशिताणिः २.३७ [६२]	<b>4.</b> 70¥
प्राजान्तम् ८.३५९	प्रासादम् ७.१४२	प्रेष्य॰ ३.२४२; ८.२९९

प्रेष्यजनस्य	७.१२५	फारचुनम्	७.१६२	बलिः	₹.७०, <i>७</i> ४
प्रेष्यत्वम्	१२.७८	फलमूले	90.50	बलिकर्भ	३.९४
प्रेष्यसंयुक्तम्	२.७ [३२]	बकः	१२.६६	बलिकर्मणा	₹.59
प्रेष्पान्	<b>5.</b> 90₹	बकम्	५.१४; ११.३५	बलिनम्	७.१७४
प्रेच्यास्	<b>८.३६३</b>	बकवत्	७.१०६		9, <b>5</b> ९, ९०, ९१,
प्रोध्यम्	<b>५.</b> ११५	वकवृत्तीन्	٥,٤٤	१०८, १२	<b>9; ६.७, ३४</b> ;
प्रोक्षणात्	५.१२२	वकव्रतचरः	४.१९६, १९७	9.50;	:,₹0७, ₹0≒;
प्रोक्षितम्	४.२७	बकब्रतिके	४.१९२	९.२५४; १०	o.99 <b>९</b>
प्रोपिताः	९.७६	बद्धस्य	<b>४.</b> २१०	बलिशेवम् बले	₹.९٩
प्रोपिते	९.७४	वधिरान्	७.१४९		
प्रीडपादः	४.११२	बन्दी	₹.9४=	बलेन	७.१७२; =.४९
प्रीष्ठपद्याम्	<b>४.</b> ९५	वन्त्रिनः	<b>८.३६</b> ०	बस्तिम्	<b>⊏.२३४</b>
प्लबः	97.57	बन्धन०	१२.७५	बहिष्कार्यः	
प्लबम्	४.१२; ११.१९	बन्धनम्	१०.४९	बहुकस्याणम्	<b>३.</b> ५५
प्लवेन	४.१९४			बहुत्वम्	<b>इ.७३</b>
प्लुतः ः	२.१०० [१२४]		९.२२८; १२.७८	बहुदेयम्	३.२४९
प्लबङ्गम०	७.७२		२.१११ [१३६],	बहुपशुः	99.92
	६.७, १३, २५,	९.१४८; १२	.ও९	बहुपुष्पफलो	
९७; ११.१४२	; १२.१, ६७,	बन्धुना	5.90	बहुमध्यगात्	
<b>5</b> 2			२.१२९ [१४४];	बहुरूपेण	१.४९
फलपा <del>का</del> स्ताः	१.४६	5.95 <b>\$</b>	•		४.१३५; ८.३५०
फलपाते्न	४.१३०	बन्धुम्	३.१४⊏	बहुसंस्थिते	<b>८.३७</b> १
- :	तम् ११.१४३		४.१०१; ९.११०	बहुनाम्	४.११=
फलभाक्	9.908	बन्धेन	5.390	बह्वयः	<b>५.७७; ९.</b> १९
फलभागिनः	३.१४३	वयुषः	¥.9३0	बह्वीः	90.900
	.१३५ [१६०];		१.१३४; १२.६४	बह्बीयु	९.१४८
	,, १४२, १७६,		३. <b>१९६, १९९</b>	बह्वेनाः	99.248
	; x. x x; ६. ६७,	बर्हिष्मत्सु	३.२०=	बाणशब्दे	8,993
	२०६;इ.१५६;	बलकृतान्	5.985	बाधमानम्	९.२४=
९.४९, ५१,			२.३० [४४], ९६	बाग्धवत्यान	
9	ू द, २ <del>६</del> ,		४१, ४२, २१ <b>९</b> ;		3.X2; X.9=3,
३०;१२.३, =			93, 95X, 955,		<b>४</b> ८, ६८, ७२;
	नाः ११.२३६		99; 99.280	९.१४९	3 3634 14 0 - 0
फलमूला शनैः फलकरः	¥.¥¥	-	७.१७३; ११.३२		३.२६४; ४.१०१;
फलबन्तः क्रमानि ३००	9.४७ ७; ६.१३, १४,	बलवत्तराः	9.70	5.90	V 0100. U 100.
१४, १६	o, q.17, 10,	बलवान् १.७६	२.१९०[२१४];		४.१७९; ५.७०; १.१६२, १६३
फलिनः	9.80.	1.७५ <b>बलस्य</b>	७.१६७		ा. १५२, १५२ २४ [१४०], १२८
	१.०७. ६.४; ७.१२८	बलस्य बलाका	97.53	[9x3],	९२ [१२०], १९५ १८३ [२०६];
फलै:	₹.=२; ६.२१		x.98; 99.93x		
फलैघः	99.90		४४, १६ <b>८, ३७</b> ८;		७.६; <b>९</b> .२३०,
	.9६९; 9२.३०	97.4=	, (	बालध्यान्	, ११.१ <b>३</b> ०
फालः	£.9 <b>Ę</b>	बलान्बितम्	२.६ [३१]		۲۱.۲۲۵ ۶. <b>२७</b>
फालकृष्टे	4.14 8.8 <b>६</b>	बलार्थिनः	२. <b>१२ [३७]</b>	बालधनम्	=. 9 <b>४</b> ९
	٠.٠٩	7,111,7,11	\. \ \ [ 7 ]	41.14.17	

बालभावात् ८.	११८ बीजयोन्योः	
बालम् २.१२८[१	५३] बीजलक्षण०	
बालया ५.	१४७ <b>बीजव</b> न्तः	
बालवासा ११	।.९२ <b>बीजस्य</b>	
बालवृद्धः ८.७१,		
बालवृद्धी ८.३४०,	३९५ बीजानोम्	
बालवृद्धकृशातुराः ४.	१८४ <b>बीजा</b> नि	
	२४७ <b>बीजार्यम्</b>	
बालात् २.२१४ [२	३९] बीजिनाम्	
	.६९ <b>बीजी</b> े ९.	X,
बासानु ८.३	२३४ बीजोत्कृष्टम्	9
बालिशः ३.१७६; ११		2
बालिश्यात् ८.१२१; ११		
बालुका =.२४०; १२		
	७८ बृद्धिमत्स्	
बालेन ८.७०,		<b>e</b>
•	18= 99.907	•
बाहु॰ १.३१, ८७; ४.९		
	.७१ बुद्धिसारूप्यम्	
<b>5 5 -</b>	२४४ <b>बुद्धीन्द्रियाणि</b> २.६	٤.
•	.७७ वृद्धी	` <b>`</b>
	.३४ बुध: ४.४९, २०४;	•
	.30 5.999	٠.
	.३० <b>प्</b> धाः १.१४१[	Ş
	.३० ३.१२३; ७.१८,	`
	.39 99.20, 8x	
• •	.३१ युधेः ३.१०९; १	٩
	ેરેલ વૈરે.૧૨	٠.
बाह्यानाम् १०.३९,		90
		. २
	.२४ वैजिकात्	•
विडाल: ११.		8
	१४२ वैडालवृत्तिके	8
_	.३३ बैल्वपालाशी २.३	0
विलीकावधः १०	. <b>४९ ब्रघ्नस्य</b> ४.२३१,	
बीज॰ १.४६, ४८; १०		
	٠٥٥ ١٥ [٤٦], ١٤ [٤	
_	٩ <b>६</b> ٩ [६४], ९٩ [٩٩६]	Ò
	.३३ [१७२]; ४.९९, १००	
बीजम् १.८, ४६; २		. '
[997]; 3.987; 8.38,		
३६, ३७, ३९, ४०, ४२,		
<b>४१, ४४, १४</b> ४; १०.७०,		
<b>9</b>	बहमध्नः	`
- \	- C 1 - 11	

9.48 २.२२४ [२४९] ब्रह्मचर्यम् **९.३**४ ब्रह्मचर्ये ४.१६० 9.89 ब्रह्मचारिगतम् 4.979 ब्रह्मचारिणः २.१६ [४१]; Q. 3 X 9.47 3.987; X.980 ब्रह्मचारिणाम् 3.30 **4.939** ब्रह्मचारिणी 9.35 ¥.9X= 9.43 ब्रह्मचारिणे 3.98 बहमचारी २.१४० [१७४], 9. 42 **49. 43** 944 [949], 944 [943]; ₹.४०, 9.999 १८६: ४.१२८, २.9६७ **६.२६, ८७: १५.८१, १४८, २२४** बह्मजन्मः २.१४५ [१७०], 9.98 9.98 929 [988] बहमणः १.९३; २.४९ [७४], ९.२२७: ४६ [८१], १४८ [१७३], 8.99 २०१ [२२६], २१९ [२४४]; 8.95 5.99 २.११९ [१४४]; ६६ [९१] ब्रह्मणाः 92.90 99.982 ब्रह्मणि ७.२१४: ६.59 ब्रह्मतः 9.329 [२।२२], ब्रह्मतेजोमयम् 9.98 २१०: ब्रह्मद: २.१२१[१४६]; 8.232 8.233 ब्रह्मवानम् 9.238; 3.3 ब्रह्मवायहरम् १०.२०५ ब्रह्मवात्रोः २.१२१ [१४६] ब्रह्मदेयात्मसन्तानः ₹.95% .२ [२७] ब्रह्मद्विट् 3.948 ५.६३ ब्रह्मधर्मीद्वयः 3.89 8.984 ४.१९२ ब्रहमपुजिता 5.59 २० [४४] ब्रहमभूताः 4.93 बह्मभूयाय १.९८; १२.१०२ , ९.१३७ (५ [६०], बहमयज्ञ: 9.७0 ब्रह्मयोनिः 80.09 = **३]**, ४९ ब्रह्मिवेशः १.१३८ [२।१९] ], 980, 0, 990, ब्रह्मलोकम् २.२०६ [२३३] ब्रह्मलोके ४.२६०; ६.३२ ,, ६.७९, ब्रह्मलोकेशः 8.952 , ३२o, ब्रह्मवर्चसकामस्य 7.97 ७, २६५; [₹७] ४.९४, २१८ 5.59 ब्रह्मवर्चसम्

ब्रह्मवर्चस्थिनः ३.३९	[83
ब्रह्मवादिनः ४.९१; ६.३९;	[93
११.१२०	६३
ब्रह्मवादिना २.८८ [११३]	१६
ब्रह्मवादिभिः ४.१९९	€.३
ब्रह्मवादिषु ११.४२	२६
ब्रह्मवास्तोष्यतिभ्याम् ३.८९	४१
ब्रह्मवेदिनः १.९७	१७
ब्रह्मसम्भवम् ९.३२०	90
बह्मसत्रम् २.८१ [१०६]	९२
बह्मसत्रेण ४.९	99
बह्मसार्ष्टिताम् ४.२३२	६७
बह्मसुवर्चलाम् ११.१४९	ब्राह
ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः २.९१	बाह
[११६]	ब्राह
ब्रह्महणः ११.१०१, १२८	ब्राह
ब्रह्महाम ९.२३७	ब्राह
ब्रह्महत्यया ११.४४	बाह
ब्रह्महत्या ११.५४, ७४, ८६	ब्राह
बह्महत्याम् ११.८१	बाह
बह्महत्यायाः ११.७९, १२६	बाह
बह्महा ९.४९, ७२, २३४; १२.४४	बाह
	[99
इहमक्षत्रसवेषु ५.२३	99
बह्मा १.९, ११, ५०;	२४
5.70°; 97.40	93
बह्माञ्जलिः २.४६ [७१]	ब्राह
बह्माञ्जलिकृतः २.४४	ब्राह
[90]	ब्राह
बह्नाधिनमिकम् २.१३९	ब्राह
[१६४] ब्रह्माभ्यासेन ४.१४९	ब्राह
बह्मारम्भे २.४६ [७१]	बाह
बह्मावर्तम् १.१३६ [२।१७]	90
बह्मावर्तात् १.१३८	93
[9198]	[ ξ ;
बह्माहुतिहुतम् २.८९	99
[908]	90
बह्मोज्ज्ञता ११.४६	३७
बह्मोद्याः ३.२३१	90
	२०

**3.79, 70, 39:** 

१०४; २.१४ [४०], २०

9.83. 900.

ब्राह्मः

७.5२

.ब्राष्ट्रमणः

ષ્રો. ६૨ [વ્હો. ૧૧૦ ३५], १३७[१६२]; ३.१७, , **६४, ९३, १००, १०२**, **5.** 790; 8.704, 784; ३८; ८.३७, ११२, १२४, E, ३४०, ३७E, ३E३. १, ४१२, ४१७; ९.८७, =, २४५, ३१७, ३३५; .9, २, ३, ४, ६४, ८9, ८३ , ९३, १०१, १०२, ११७; .29, 39, 34, 35, 89, . = 3, =¥, **९६, १००, १४९ मणध्नान्** 9.232 मणजीविकाम् 8.99 मणताम १०.६४ म्मष्कित्रियविशाम ९.१५५ म्मकत्रिययोः 3.98 म्म अत्रिया भ्या म **८ २७६** मणद्रव्यम् 9.958 मणद्रवः **5.30**. **म्मणब**वे 9.5X मणम् 9.39; 7.58 ૧૪૧: ૨.૧૦૨ [૧૨૭]. o[9३x]; ३.9३o, 9**४९**,.. **३: ४.**१३४: ፍ.९, ፍፍ. ३, २६७, ३५०, ३८० **टमणराजन्यी** 99.93 =मजबधात 5.359 टमजबधे 99.58 म्मनसंस्थास. 5.32X म्मणसम्पदः ₹.9२६ **टमणस्य** 9.45, 900, १; २.७ [३२], ११ [३६]. [३=], २१ [४६], ४० ४], १६४ [१९०]; ३.२४, o; ४.१६७; ६.२, ३**१**. , ९७; ७.८४; ८.३३८, .50; 99.99, ३३, ७९, २०४, २०६, २३४, २४२: 92.53 ब्राह्मजस्बम् ११.१८: २६ ब्राह्मणाः १.९६, ९९, १०१; ३.१८६, २४२; ४.९१;

**5.800**; **9.955**, **399**; १०.७४: ११.१९३: १२.५६, 905, 908 बाह्मजात् ९.३१३; १०.८. १४, ६४, ६६, ७७ ब्राह्मणावश्निन 90.83 बाह्मजानाम् १.८८: ४.५८: ४.२७, १२७: ७.८८: ९.२६८ ब्राह्मजानु ₹.9७5, २३३, २५८: ४.१६२: ७.३७, १४५, २०१: ९.२४८, ३२०: १०.१२९; ११.४ ब्राह्मणाय ३.९६: ४.१६४: ९.३२७: ११.७६. १३४ ब्राष्ट्रमणार्थे १०.६२; ११.७९ ब्राह्मणी 9.995 ब्राह्मजीम् 308.2 ब्राह्मणे २.२१७ [२४२]: **5.365**; **9.388** ब्राह्मजेन १.१०३; २.२०० [२२४]: ७.४८: ११.९४ ब्राह्मणेष् १.९७; ७.३२, ८३ ब्राह्मणैः 9.30; 3.290. २४३: ४.२२: ६.४१: ७.७४: 5.9, 389; 99.28 ब्राह्मण्यम् ७.४२; ११.९७ ब्राह्मण्या 5.300 3.90 ब्राह्मण्यात् 5.352: ब्राह्मण्याम् 90.30, ६६ ब्राह्मदैवार्चगान्धर्व-प्रजापत्येष् 9.998 ब्राह्मम् 9.७२, ७३: २.३४ [ 49]; ४.१=६; ७.२; ११.२१ ₹.७**₹, ७**४ ब्राह्म्यम् ब्राह्मस्य **२.१२४ [9४०]** ब्राह्मानु २.१५ [४०] ब्राह्मीः ₹.₹ ब्राह्मीपुत्रः 3.30 ब्राह्मे **४.९**२ ब्राह्मेच २.३३ [४=] ब्राह्मः ₹.910 9.70= **भन्तदान** ० जनतवायकाः ९.२७१

भक्तम्	७.१२७; ११.७	<b>जर्ता</b> रम्	¥.9६9; <b>5.3</b> 09;	नार्यया ३.६	0, 99३; ४.४३,
जनतवासः -	c. (\c), \ (1.6	9.99	4. 14 1, 7.40 1,	950	-, ((1,,
ज <b>न्ता</b> नि	99.98	पर्सः	५.१६४; ७.९४;	• -	<b>३.</b> १३, १४, ६०,
<b>जन्ते</b>	99.98		२, ४६, <b>=६, १९६,</b>		158; 5.299,
भवता भक्रमचर्चन	11.14 4.2 <b>\$</b>	999	۲, ۰۴, ۳۴, ۱۷۴,		i
<b>पक्षणात्</b>	x.	ग <b>र</b> ् वर्त्तनवैः	• 3	9 % 9	٠, ١.٥٧, ٨٥,
मधानात् <b>प्रक्रमे</b>	• •		9.78	गर <b>े</b> भार्यात्वम्	92.50
जवज जक्यजी ज्याप	99.91	वर्तृतोकम्			97.59
जन्य मा ज्या प जन्य मो ज्या प		नर्त्व	<b>९.</b> १४	_	s; s.२३२; ६.२;
		पर्श्हार्यधः			<b>१५; ९.६, ८,४४,</b>
परवम्	३.२२७ ४.२३		०; ४.१४९; ९.२२,	४८, ९४ <b>भार्यायाः</b>	९.७४
<b>परपापाम्</b>		१७६	2 5 to 50 22 0 H =	भाषायाः भार्यायाम्	
जक्यान्	¥.६३; <b>५.</b> ९⊏		२.६७ [९२]; ९.४८	भाषायाम् भाषयि	₹. <b>9</b> ७३
भक्या मक्यम्	४.२६	भवति !	२.१०४ [१२९].	नायाय नार्यार्थे	¥.9 <b>६</b> ४
मध्येषु	<b>४.</b> १७	<b>म्बत्</b>	२.१०३ [१२६]	_	99.9७२
भगः	९.२३७	षवनम्	६.६२; ११.१८७	भावसमाहित	
भगवन्	9.3	भवान्	99.९९	<b>जावप्रतिवृ</b> षि	
	१.६; १२; <b>=</b> .१६ <u>;</u>	त्रविष्यम्	१२.९७	भावम्	<b>=.</b> ₹¥
92.990		त्रव्यम्	१२.९७	भावान्	१२.२४
<b>ज</b> निनी	२.५०४ [१२९]	बस्म ०	४.७५; ६.२५०	भावेन	४.२२७, २३४;
<b>ज</b> णिनीम्	२.२४ [४०];.	त्रस्मनः	<b>८.३२७</b>		७१; १२.=१
99.909		<b>अस्मना</b>	४.११	भावेषु	€.50
भ्रागिन्यः	९.१९२, २१२	त्रस्मनि	३.१६८, १८१;	<b>प्राच</b> णम्	११.६९
भग्नम्	८.१४वः	<b>8.8</b> 8		नावमानः	<b>5.3</b> €9
भग्नयुगे	<b>5.389</b>	षस्मी	४.१८८		६४; ९.३९, ३३२
<b>पड्</b> नतारम्	<b>९.२</b> = <b>९</b>	<b>प्रस्मी पू</b> तेष	र ३.९७	भाषित ०	२.१७४ [१९९]
म्ब ०	5.90	भागः	ॅ७.१३०; ९.२११,	<b>पाषिते</b> न	<b>⊏.२६</b>
<b>जबकार्य</b>	₹.=९	२०४		<b>भासताम्</b>	११.२४
<b>पद्रम्</b>	¥.93 <b>९</b>	भागधेयम्	३.२४४, २४६	<b>प्रास्करम्</b>	२.२३ [४८]
चन्नाः	९.२४=		.१; ५.१६९; ६.३३;	भास्यत्	9.७७
<b>प्रता</b> चि	<b>¥.96</b> ¥	<b>.९.</b> १४३;		भास्वन्तम्	४.२४३
पद्मिकाः	<b>९.</b> २२६	भागशः	92.22	<b>भिक्षवे</b>	<b>३.९</b> ४
चयः	€.₹२	<b>मागात्</b>	<b>5.28</b> 3	भिका	३.९४; ६.३४
चयम् ६.४८	; ७.१८८, १८९	<b>प्रा</b> गिनः	9.9=8	<b>भिकाभिः</b>	<b>Ę.</b> ७
<b>प्रयात</b>	७.३, <b>१४, २२</b> ;	भागिनी	९.५३, १६५	जिजाम २.	२४ [४०]; ३.९४,
<b>5.99</b> €, 9₹		भाजने	8.64	<b>९६</b> ; ६.७,	
<b>प्रया</b> नि	97.00	भाजनैः	<b>३.२०२</b>	<b>भिकार्यी</b>	5.93
<b>प्र</b> यः	99.993	भाण्डपूर्ण	_ ' ' '	विश्वकम्	३.२४३
वरद्वाजः	90,900	भारडम्	४.११२	विक्काः	5.350
<b>प्रतीर</b>	३.१४८, १६०,	भाण्डवाद		पिक्कै:	<b>Ę.</b> X 9
904; 9.8,		भाण्डानाम्	-	भिन <del>ति</del>	७.६६
पर्ता	3.40; X.947;	भाण्डावक	•	वित्नवाजने	90.48
<b>७.९</b> ४; <b>९.</b> ३	, <b>६, ४</b> ४, १३४;	भागी	F.937	<b>मिन्नभा</b> ण्डे	8.54
99.908	, ., ., .,		7.993 [935]	भिन्म भाण्डेच	
			7.1.1.[17.3]		•

भिन्नम्	8.59	<b>जूतै</b> ः
<b>भिन्नवृत्तिता</b>	97.33	<b>भूमि</b> १.७८; ३.
<b>मिन्नभृंगक्षिख्</b> रैः	8.50	<b>७.२०</b> ६; ६ ६६
<b>भिष</b> जे .	₹.950	९.३७; ११.५७
<b>जीतः</b>	6.98	भूमिनतम्
<b>जीतम्</b>	७.९३	<b>भू</b> मिनताः
<del>गीतेः</del>	99.28	भूमिचलने
<b>भीरवः</b>	४.२९	भूमिवः
<b>पीक्</b> न्	७.६२	<b>पू</b> मिवेवानाम्
<b>जीवजनामिकाम्</b>	₹.९	<b>ज्ञिपः</b> २.३७।
<b>भी</b> चया	९.२६४	9.5
<b>जुक्तमात्रे</b>	४.१२१	भूमिषम् २. भूमिम् १.१३;
<b>पुष</b> तवत्सु	₹.99	भूमिम् १.१३;
पुरत रोचम्	₹.२८४	२०६, २३०; म
पुज्यमानानि	5.9 <b>8</b> €	90.58
पुरुजानः २.१५	७० [१९५]	<b>जूमिशयान्</b>
पुरुजानान्	ર્વે. ૧७ €ં,	<b>पूने</b> ः
<b>भुवः</b> २	.४१ [७६]	<b>जूमी</b> ३.२२६; ध
	٩ [२٩६];	९.३८
<b>३.९२, २१४, २</b>	४४; ७.६;·	भूयः १.५१;
5.939, 359		97.98
णूः २.४१; ४.१८९	; ٤.٩३३;	<del>प</del> ूयान्
६.१४		<b>भूपांसि</b> २.
<b>जूतमात्रासु</b>	<b>१२.१७</b> .	भूयिष्ठम्
	र; १२. <b>९७</b>	भूरिः
नूतयज्ञम्	8.29	भूर्जकण्टकः
<b>पूतसंसारे</b>	٩.٤٥ <sup>.</sup>	<b>जूबज</b> ०
<b>जूत्यै</b>	¥. <b>३९</b> .	<b>नूपनवाससाम्</b>
<b>भूतात्मा</b> ५.१०९	रे; १२.१२	<b>जू</b> च्जु:
पूतानाम् १.४२,	६४, ९६,	<b>मृत्</b> ः १.३४, ४
९९; २.१३४ [१४	.९]; ४.२,	१२.२, १२६
१४८; ४.४६; ६.४	o, <b>६</b> 0	<b>पृग्</b> म् १.३
भूतानि १.१६, १	5; <b>३.</b> 40,	<b>भृगोः</b>
<b>८१</b> ; ४.४४; ७.१	४, १०३;	<b>मृतः</b>
5.30 <b>5</b> ; <b>9</b> .3 <b>6</b> ,	३११;	<b>जृतकः</b>
११.२४०; १२.१४,	२२, <b>९</b> ०,	<b>मृतका</b> घ्यापकः
<b>९१, ९९, १२४</b>		<b>मृतकाध्यापितः</b>
<b>पू</b> तान्	६.५२	भृतकेन
<b>जूतावासम्</b>	₹.७७	<b>र्गृतिः</b> ६.२३
प्रिकामै:	३.४९	<b>मृतिकृत्ये</b> षु
<b>पूर्तच्यः</b> ३.९	o; ¥.३२;	<b>जृतिम्</b>
<b>६.३९</b>		<b>भृत्यः</b>
<b>पूर्तेषु</b> ६.६६, ७३;	47.99,	भृत्यजनम्
१४, ९१, १२४		<b>नृत्यवृ</b> त्तये

92.20, 29 ७.१२३: ११.६२ **जृत्याः** 909: 4.928: **पृत्यानाम् ₹.७२: ४.२२: 5.783: 9.337: 90.978:** , ९९, २४१: 99.90 **मृत्या**नु 3.288 ¥. २ × 9: 8. ३ २ ४ त्रत्येच 4.925 3.998; ७.६७, 8.90X २२६ **४.२३**0 नृत्यै 3.992 99.52 मुशदण्डः **७.३**२ [६२]: ४.८३: **पृशम्** ¥. ६0, ६=, 9२२: 9.990, २१४: 5.52: [14 6] 0 9 9. 99.993 ¥. \\ \\ , 955, **बेतारम्** 9.259 नेदकः .900. २६५: ₹.9६३: ९.२5४ नेदकानु 9.250 भेदने 5.37X: 9.75E 90.58 मेरेन 5.39 9.985 वैक्षचरणम् ¥.६=: ६.२२: २.9६२ [950] **वैश्वचर्या** 99.989 २.६९ [९४]; **वैक्षचर्याम्** 7.53 [905] नैक्षमुक् 99.905, 744 २.२३ [४=], २४ नेवम 5.359 .997 [936] [88]. २६ [४१]. १४७ [957], 945 [953]; 8.4: 5,5 9.35, 53 **६.२७. ४४: ११.१२२** वैवाशी 99.62 90.29 **नैका**हारः 3.49 99.246 विवे 5.3X9 **६.** ५ ५ रैवेच २.9६३ [955]. **8.93**4 99.923 (९, ६०: ५.३: **बैक्यम** ४.१२९; १०.११६ भोगस्य 5.9X0 **३२, ३४: ४.9** भोगान 9.09 ₹.9€ नोगाय ७.१४, २२, २३ 5.29X षोगे 5.900. E. YX भोगेन 3.944 5.989 भोजनम् ४.२४, १४०: 3.918 90.47 5.90 भोजनात 90.89 ३१: १०.११६ भोजनार्थम् ३.१०९: २२४, 5.383 283 9.332 **भोजनीयाः** 3.928 5.239 , भोजने 8. 45 99.22 भोजनैः **X. XX** 99.9

भोज्यम्	३.२२७; ४.२४	मजीनाम्	४.१११; ९.२८६	मधुनः	८.३२८
भोज्यान्नाः	४.२५३	मण्डलस्य	७.१५४, १५६	पधुना	३.२७३
भोज्ये	३.२४०	मण्डले	७.२०७	मध्पर्के	४.४१
भो जावः	२.९९ [१२४]	मण्डूक०	४.१२६	मधुपर्केण	३.११९, १२०
भातरः	<b>९.</b> १०४, ११६,	मण्डूकम्	99.939	मधुरा	२.१३४ [१४९]
१८४, २१२		मतिपूर्वकम्	8.988	मधुसर्पिभ	
भातरम्	<b>5.२७</b> ٤	मतिपूर्वम् े	99.988	मध्यविने	૪.૧ <b>३૧</b> ; ७.૧૫૧;
<b>प्रातरि</b>	९.9०=	मतिम् े	8,50	99.295	
प्राता २.२०	०० [२२४], २०१	मत्कुजम्	१.४०, ४५	मध्यवेशः	9.9४० [२।२9]
	₹. <b>٩٩</b> ; ४.९=४;	मत्तः े	۵. ६७, १ <b>१,९</b> ६	मध्यमः	द.९३दं, २७ <b>६</b> ;
	99६, २९९	मत्तक्रुद्धः	8.200	9.258	
प्रातुः ३.१७	३; ९.५७, १४६;	मत्तम्	9.95	मध्यमम्	२.२०= [२३३];
<b>٩٩</b> .٩७٩		मत्ताम्	₹.₹४	३.२६२;	
<b>प्रातुर्पार्या</b>	२.१०७ [१३२]	मत्या	¥.२२२; <u>५.</u> १९	मध्यमस्य	७.१४४; ९.११२
<b>प्रातृ</b> जाम्	<b>९</b> .१६२, २०७,	मत्सरी	२.१७६ [२०१]	मध्यम्	१.१४० [२।२१];
२१४		मत्स्यचातः	90.85	२.२४	
श्रातृवत्तम्	9.97	मत्स्यमांसेन	३.२६⊏	99.238	
बातृषिः	₹.ሂሂ	मत्स्याः	१.४४, १३८		२.३, ४१, ४३, ४६
	प्राप्तम् ९.१९४	[२।१९]; १		मध्यमी	5.970
प्रातृनु	९.9े०८, २१३	मत्स्यादः	<b>४.</b> 9४	मध्ययवः	<b>⊏.</b> १३४
<b>प्रा</b> त्रो	¥.950	मत्स्याबान्	४.१३	मध्यरात्रि	¥.90 <b>९</b>
भ्रामरी	३.१६१		9. <b>३९; ४.२</b> ५०;	मध्यसाहर	रः ९.२४१
भूषध्य	8.205	<b>પ્ર.૧૪,</b> ૧૫,	७.२०, १९३	मध्यसाहर	रम् ८.२६३
बूजहजम्	११.२४=	मत्स्यानाम्	<b>4.3</b> 2 ج	मध्यस्यान	o
बूजहा े	5.390	मत्स्यानि	<b>5.</b> ९٤	मध्याह्ने	७.२१६
मकरा <b>भ्याम्</b>	<b>७.</b> १८७	मदः	9.80	मध्ये	१.१३, ७.७६, ११४
मकारम्	२.४१ [७६]	मदमोहितः	99.९६	.मध्यः	१२.३०
मक्षिकः	٩.४٥, ४४	मदिराम्	99.985	मध्वापातः	99.8
मिवाका	४. १३३	मब्गुः	97.53	मनः १	.१४, १८, ५३, ७४,
मखान्	२.११= [१४३]	मब्गूनाम्	१०.४८	७४, १०	४; २.६७ [९२], ७४
मखैः	४.२४, २६	मचपः	<b>३.१४९; ११.६६</b>	[900],	१९८ [२२३];
मघासु	३.२७३	मचप	9.50	<b>४.</b> १७१;	<b>४.</b> १०४, १०९,
मङ्जलम्	२.९ [३४]	मधनाण्डस्य	क्तः ११.१४७	१६६;	
मङ्गलाचार		मद्यम् ९.	58, 58; 99. <b>5</b> %	99.225	; १२.२३, ११८
૧૪૬	•	मद्यानाम्	5.379	मनःपूतम्	
मङ्गलावेशय	रृत्ताः ९.२४⊏	मकानुनतभो		मनवः े	9.६9, ६३
मङ्गलार्थम्	४.१४२	मधे ँ	٧.٧٤	मनसः	9.9४; 99.२३३
मङ्गस्यम्		मद्येन	99.90	मनसा	¥.9 <b>६, 9</b> 0९;
[३३]		मधैः	4.923		99.239; 92.4
	₹.957; ४.9₹%	मधुः २.५	= 7 [900], 947	मनसि	97.979
मणिमुक्ताप्रव			३.२२६, २७२:	मनांसि २	.१६७ [१९२]; ७.६
११.१६७; ५		¥.३९,		मनीविष:	
•मजीन्	٧.२५٥		૧.૧ <b>૫</b> ૬; ૧૨.૬૨		₹.9 <b>=</b> २; ४.२२9;
•	• • •	• •	,	£ -37	, ., ,,

		_
४.४४; ९.१५०; १०.७०;	मन्त्रम् ७.४८, १४८, १४०	महती ७.८
१२.५०	मन्त्रवत् २.४ [२९], २.३९	महत् ३.६६; ८.१२८, २८६;
मनीविषा ९.२०२	[६४]; ३.२१७	९.२९४, ३१७, ३२७
मनीविभिः १.१३३ [२।१४],	मन्त्रवर्ज्यम् १०.१२७	महत्स् ५.२९६
7.94x [990]; x.999,	मन्त्रवित् ३.१३१	महर्चयः १.१
<b>□ 1.9-2.7</b>	मन्त्रसंस्करकृत ५.१५३	महर्षिः १.४, ६०; ४.२५७;
मनुः	मन्त्रसम्पूजनार्यम् ३.१३७	<b>६.</b> ३२
999; 3.940, 222,	मन्त्राः ६.२२६, २२७	महर्षिणः ३.६९; ८.११०;
¥.903; ¥.¥9, 939,	मन्त्रामु ५.८६	९.३१; ११.२९, २२१
<b>€.</b> ¥8; ७. ¥२; <b>□.</b> 9२४,	मन्त्रिषः ७.१४६, २१६;	महर्षीन् १.४, ३४, ३६; ५.३;
98=, 208, 282, 282,	<b>5.9</b>	92.2
३३९; ९.१७, १४ <b>८, १८२,</b> ३३९; ९.१७, १४८, १८२,	नन्त्रेष् <b>९.६</b> ४	महाकुलीनम् ८.३९५
The state of the s	मन्त्रः १.१३४ [२।१६],	
953; 90.53, 95		महातपाः १०.१०७
मनुना १.६० १.१२६ [२।७],	४.३६; ७.२१७; <b>९.</b> १८,	महातेजा १.६२
3.35	२२६, २४६	महात्मनाम् ५.१
मनुम् १.१; १२.१२३	मन्त्रपालेन ९.२३	महात्मीन १.५४
मनुष्यः ७.८	मन्युम् ८.३४१	महात्मिषः १.४,४१
मनुष्यत्वम् १२.४०	मत्तन्तरम् १.७९	महात्मानः १.६२
मनुष्यमारचे ८.२९६	मन्बन्तराषि १.५०	महाद्युतिः १.५७
मनुष्याः १.४३	मरजजन्मनी ५.७९.	महानरकम् ४.८८
मनुष्याजाम् ८.२८६; ९.६६,	मरणम् ६.४५	महानिशि ४.१२९
११.१६३; १२.९४	मरचात् ११.२९	महान् २.१२९ [१४४];
मनुष्यान् १.३९, ८१;	मरीच्यः १.५८	३.५३; १२.१४, २४, ५०
३.११७	मरीच्यावयः १.५६; ३.१९४	महान्तम् १.१५
मनुष्येषु १०.४२	मरीचिम् १.३४	महान्ति १.१८; ३.६;
मनोः १.६१; ३.१९४;	मरुतः ११.२२१	<u> </u>
६.३४, ३६; ८.१३९, २७९;	मसब्भ्यः ३.८८.	महापक्षे ९.१७९
<b>९.२३९</b> ;	<b>मर्कटः</b> १२.६७	महापश्नाम् ८.३२४
१२.३, ४	मर्त्यानाम् १.८४; ५.९७	महापातकजानि ११.२४५
मनोबण्डः १२.१०	मर्यादाभेदकः ९.२९१	महापातकसंयुक्ता ११.२५७
मनोबुष्टा ५.१०४	मलम् २.७७ [१०२],	महापातकिनः ९.२३४,
मनोबंचनकर्मी ५.२११	४.२२ेo; ११.९३, १० <b>२</b> ,	२४३; ११.१०७, २३९;
[२३६]	909	97.48
मनोबाक् ९.२९	मलाः ४ १३२, १३४; ६.७१	महाफलम् ३.१२८
मनोबाग्बेहसंयता ५.१६५	मसानाम् ५.१३४	महाफला ५.५६
मनोबाङ्म्तिभिः ११.२३१,	मलाबहम् ११.७०	महाभाग्यम् ११.२४४
<b>૨૪૧</b> ે	मिनिकरणीयेषु ११.१२४	महामागाः ३.१९२; ९.२६
मनोहरम् २.८[३३]	मह्नः १०.२२	महाजूत० १.६
मन्त्रकाले ७.१४९	मल्लाः १२.४४	महामात्रा ९.२४९
मन्त्रज्ञैः ६.१	मशकम् १.४४	महायज्ञक्रिया ११.२४५
मन्त्रतः ३.६४, ६६	मस्तकम् ११.४३	महायज्ञविधानम् १.११२
मन्त्रवः २.१२= [१४३]	महतः २.५४ [७९]; ३.९८	महायज्ञाः ३.६९
मन्त्रबम् २.१२= [१५३]	<b>महता</b> २.१९६ [२२१]	महायज्ञान् ४.२२; ६.४
मन्त्रदर्शिकः ३.२१२	महति ७.७७	<b>महायतैः</b> २.३ [२८]
	10111	(14 [ / -]

महायुन्त्रप्रवर्तनुम् ११.६३	मातामहम् ३.१४८	मानवस्य १२.१०७
महारीरवरीरवी ४.८८	मातामहाय ९.१३२	मानवाः १.१३९[२।२०];
महावीचिम् ४.८९	मातामह्याः ९.१९३	७.६६; ८:४२, ३१८; ९.९६,
महाय्याहृतयः २.५६ [८१]	मातुः २.२४ [५०], १०८	२४६, ३०९
महाव्याहृतिभिः ११.२२२	[१३३], १४४ [१६९]; ३.४;	मानवान् ९.२२४; ११.३१
महाशल्काः ३.२७२	४.६२, १०१; ९.४, १०४,	मानवैः
महाइवम् ११.२६३	१३१; १०.४९; ११.१७१,	मानसः २.६० [८४]
महिषी ९.४८	मातुलः ४.१७९	मानसम् १२.४, ८
मही ४.२३३	मातुलम् ३.१४८	मानसैः १२.९
महीषिता ७.८९	मातुलान् २.१०५ [१३०];	मानार्हः २.११२ [१३७]
महीतलात् ४.१६⊏	<b>३.</b> 99९	मानुष० १.६४; ४.१२४
महीतले ११.२०७	मातुलानी २.१०६ [१३१]	मानुषाः १०.८६
महीबुर्गम् ७.७०	मातुँले र.८१	मानुषे ७.२०४
महीपतिः ७.४६, १३८,	मातृकम् ९.९२, १९२	मानुषेष् ९.२८४
१४०, १८२; ८.३५२;	मातृजात्याम् १०.२७	मान्यस्थानानि २.११[१३६]
<b>९.२९</b> =; ११.२२	मातृतः ९.१२५	मान्यौ २.११४ [१३९]
महीम् ३.१३४; ९.६७	मातृबोष• १०.६	मायया ७.१०४
महेन्द्रः ७.७	मातृबोचात् १०.१४	मायाभिः १.५२
महोबधिः ९.३१४	मातृपितृत्योगः ११.४९	मायाम् ७.१०४
महोदयम् ७.५५	मातृभक्त्या २.२०८ [२३३]	मारजम् -५.३८
महौजसः १.६१	मातृमातुली ४.१८३	मारीचाः ३.१९४
महीजसी १२.१८	मातृबत् २.१०८ [१३३]	मारुतः ९.३०६
मानध १०.११, २६	मातृष्यसा २.१०६[१३१]	मारुतम् ९.३०६; ११.१२१
मानधवेदेही १०.१७	<b>मात्रा</b>	मारुते ४.१२२; ११.११३
मानधानामु १०.४७	[२१४]; ७.४	मार्गम् ४.१७८; ७.१८४,
माचशुक्लस्य ४.९६	मात्राभ्यः १.१९; ७.४;	<b>୩</b> = ଭ
मातरम् २.२४ [४०];	97.98	मार्गवम् १०.३४
४.१६२े; ४.९१; ८.२७४	मात्राम् ३.२१९	मार्गशीर्वे ७.१८२
मातरि ९.२१७	मात्रासंगात् ६.५७	मार्गे ९.२८८
माता २.१०= [१३३], ११९	मात्रासु १.१६	मार्गेषु ५.३; ९.२५०
[988], 920 [988], 929	माधुपर्किकम् ९.२०६	मार्जन॰ ४.१२२
[980], 984 [900], 200	<b>माध्कम्</b> १०.३३	मार्जनम् ५.११६
[२२४], २०१ [२२६], २०६	माध्यस्यम् ४.२५७	मार्जारः ४.१२६
[२३१]; =.३३४, ३=९;	माध्वी ११.९४	मार्जारनक्ली ११.१३१
₹.२०, <b>११०, १६</b> =, २१७	<b>मानम्</b> २.१८३ [२०८];	गार्जारलिङ्गिनः ४.१९७
मतापितरी २.२०२ [२२७];	भागम् २.१-२[२०- <u>],</u> ४. <b>१६३</b>	माल्यम् २.१४२ [१७७];
<b>९.</b> 9३३	गानयोगम् ९.३३०	¥.७२
मातापितृभ्याम् ४.१८०;		माचः ६.१३४
<b>९.१७</b> १		माचकम् ८.३९२,३९३
भातापितृविहीनः ९.१७७	₹.9४o; <u>५.३,</u> ३४, ७७;	<b>मावम्</b>
मातापित्रा ३.१५७	5.3X, 9X5, 950, 22X,	मा <b>विकः</b>
मातापित्रोः ५.६२; ९.१७४,	३६७; ९. <b>१०६; ११.१</b> ६१,	मा <b>पै:</b> ३.२६७
	२१०, २४३; १२.२, ११.६१	मांसः ३.१ <b>८२</b> ; ६.७६
999	मानवम् १२.१२६	.नासः २.१५२; ६.७६ मसित्वम् ५.५५
मातामहः ९.१३६	मानवर्धनम् ९.११४	नात्तरअण् र.रर

मांसपरिवर्जनात्	4.48
मांसभक्षणे	४.४६
मांसभेता	5.258
<b>मांसम्</b> २.१४ ३.२४०, २४७, २६	२ [१७७];
३.२५०, २५७, २६	७; ४.२७,
- २४०; ४.१४, २७,	. ३२, ३३,
३४, ४८, ४०, ४	(ሂ, ባ३ባ;
६.१४; १०.८८;	99. <b>९</b> ४,
945 945 548	; १२.६३
मांसविक्रयिषः	३.१४२
मासावाधज्ञः	<b>४.३३</b>
मांसस्य ५.२६,	३१, ४९,
४४; ९.३२९	
मांसात्	<b>५.</b> १५
	७; ४.४३;
99.988	
मांसाशनम्	₹ <i>७.</i> ४
<b>मांसेन</b> ३.२६९, २५	
90.83	,,
	; ३.१२२;
<b>६.१</b> ८, १८	.,
मासतुल्याभिः	५.६६
मासम् ११.४१, १०	
१९४, २५६	,,
मासस्य	<b>⊏.१४२</b>
	५४ [७९];
E.980; 99.28E	
मासान् ३.२	६८, २७०;
४.९५; ९.७८, ३०	. γ. 3οχ:
19.904	, , ,
मासि २.९[३४]	. ९ [३४]:
<b>६.१४; ७.१</b> ८२; ८	
मासिकः ७ १२६	99.980
मासिकः ७.१२६; मासिकम् ३.१२	₹; ¥.9¥o
मासिमासि	9.935
	99.220
मासेषु	5.¥0€
मा <b>री</b> ः	99.99%
	ा । । । । २ ; ७.१८२;
99.908	·, ʊ. [¬ ᠯ,
11.105 माहात्मिके	५.९४
माहारमक माहिषम्	۲. ۲۰ ۲. ۹
माहिषकः महिषकः	۶.۹६६
	२, १५५ ११,२४९
माहित्रम्	11.4.7

• •	•
मितजुक्	११.७४
मितम् <b>।</b>	99.908
मित्र ०	१२.७९
मित्रकारणात्	⊏.३४७
मित्रहुहः	5.58
मित्रधुक्	३.१६०
मित्रप्रधानानि	<b>३.</b> 9३९
मित्रम्	3,935, 988:
	२०६, २०८;
92.929	
मित्रस्य	७.१६४, १६६
मित्रात्	७.२०७
मित्रे े	७.१८६
मित्रेष	७.१६५
मित्रोवासीनशः	
१६०	
मिथ्या	८.५९; ९.२८४
मिथ्यावादी	5,800
मिष्याविनीतः	४.१९६
मिश्रकः	११.५०
मिभम्	३.२७३
मिश्री	₹.२६
मीनाहिमहिष	स्य १ <u>१</u> .६८
मीमांसित्वा	४.२२४
मुक्तकेशम्	७.९१
<b>मुक्तकेशे</b> न	<b>5.39</b> 8
मुक्तम्	३.२२४
मुक्तस्य	६.४४
मुक्ताम्	9२.६१
मुखबाहूरुपण	ज्यानाम् १.३१;
१०.४४	
मुखबाह्रुपाद	
मुख्यम् १.९	२; २.३५ [६०],
४६ [८१],	१६७ [१९२];
<b>४.</b> १३९	
मुखे	७.८४
मुखेन	४.५३
	.२००; ४.१४१;
<b>5.</b> २१०	
मुख्यानाम्	۶.३२३ -
मुख्ये	90.50
मुञ्जाताचे	२.१= [४३]
	२.१९४ [२१९];
द.९३	

9.39 मुब्गाः मुनयः 9.990 मनिः १.४९; ४.४४; ६.२४, ¥9, ¥3; 9.99, 800 9. 45; ७. २९ मुनीन् मुन्यन्तम् **६.9**4 मुन्यन्ननि **३.२४७, २७२** मुन्यन्नैः €. ¥ म्सलः ३.८८; ४.११७; 5.39X; 99.900 मृहुर्त्तः 9.58 मृहूर्ते २.५ [३०]; ४.९२ मुक: 9.989 मुढः 3.288 मूढेन 9.30 मूत्र० ४.१३४; ६.७६ मूत्रपुरीवाचि 99.948 ४.४४, ५६; १५१, मूत्रम् २२२; ५.१३८; ८.३७५, 358 मृत्रै: 4.923 मूत्रोच्चारसम्त्सर्गस् 8. XO मुर्जाः 92.991 मूर्खेः 8.99 मर्तयः 92.94 मुर्ति० 9.98 मूर्तितः 9. 44 मूर्तिम् 9.99, 15 मृतिषिः 92.928 मुर्तिष् 92.920 मूर्तिः 9.85; 2.209 [२२६] 9.99 मूर्त्त्यवयवाः मुल ३.५२; ६.४, ७, १३, १४, २१, २४, २६ मूलकर्म 99.43 मूलकर्माणि 9.790 मूलके 5.389 **5.**२६0 मूलखानकान् मूलप्रणिहिताः 9.759 मूलफलम् **४.२४७; 5.३३९** 3.750 मूलफलेन मूलम् १.११०; ७.४९, १३९, १४६; ८.२०२; ११.८३,

२३४; १२.६७	'मृत्युम्	97.50	मोक्षम् १.११४; ६	.३५, ३७
मूलव्यसनवृत्तिमान् १०	.३८ मृत्योः	<b>६</b> ४. ७	मोक्षे ६	. ₹ X F .
	३५३ मृदः	४.१३६; ८.३२७	मोचम्	9.40
मूलानि ३.२२७; ४.९		¥.39	मोचस्य	9.905
<b>६.</b> 9६, ४४	मृबा	ય.૧૧૧	मोचाभिवर्शने	9.208
मूले १.१३० [२।		٩.२ <b>९; ४.२४६</b> ;	मोह०	92.28
	0.980	1. 1. 2. 2. 1. 4.		प्र२, ९७,
<b>9.95</b> 8		९.३३४		
			980; 6.999;	
मूल्यात् ८.२८९, ३			१२०, १७४; ९.	६८, ८७:
३२९	मृब्बङ्गीम्	•	११.४६, ९०	
मूल्येन ८.१४४; ८.		४.१२२, १२३;	मीक्यम्	99.49
<b>मृगः</b> १.१४२ [२.			मौञ्जिबन्धनचिहिनत	
२.१३२ [१४७]; १२.४४			۲.۹۱	<b>१५ [१७०</b> ]
मृगगर्ताभयाः ५		३.४३; ८.७१, ८९,	मौञ्जिबन्धने २.१४	८४ [१६९]
मृगग्रहणे ४.	१३० २६३			.१० [४२]
मृगताम् <sup>५</sup>		३.२४४	मीण्ड्यम् ८.३०	·8, ३७०,
	८.१७ मेखना	२.१७ [४२], १४९	SOLE YOLE	, ,
	(. <b>૨૨ [૧</b> ૭૪]; ૧		मीनात् २ मीर्वी २	. 乂도 [도३]
	२९७ मेखनाम्	२.३९ [६४]	मीर्वी २	૧૭ [४૨]
	९.४४ मेघान		मीलाः	5.53
मृगया ७.४७		5.252	गेतान <u>ा</u> म्	<b>⊏.२५९</b>
•	, ₹3	3.957; 90.85	मीलान <u>ु</u> मीलानु	૭.૫૪
• •		२.⊏५ [११०]		७.१३३
•		चतम् ३.२६३	म्रियमा <b>णः</b>	७.१४९
•			म्लेच्छ०	
	४.३४ मेघ्यः	9. ९२: ६. १२, १३		२ [२।२३]
मृगाः १.४३; १ः	२.४२ मेध्यम्	४.१२९	म्लेच्छवाचः	१०.४५
मृगाणाम्	५.९ मेध्यानि		म्लेच्छाः	१२.४३
मृगान् १.३९; ११.			यक्ष०	9.₹७
•	२.६७ मेध्यैः	५.५४; ६.५, ११	यक्षरकः पिशाचा न्न	<b>म्</b> ११.९५
	. १३२ मेहतः	४.५२	यक्षाः	१२.४७
मृतचेलानि १०	o. <b>५२ मैत्रः</b>	२.६२ [८७]; ६.८;	यक्षाणाम्	३.१९६
मृतप्रजा (	९.८१ १०.२३;	99.34	यक्ष्मी	३.१५४
मृतवस्त्र भृत्सु १०	o.३५ <b>मैत्रम्</b>	४.१५२	यक्ष्यमानम्	9.99
मृतस्य ३.१७३; ४.	१४६: मैत्रात	E.99E, 920		२.५९ [८४]
<b>-</b> .9=६; ९.9४६; 99.9				:=: १०.७४
मृतायाम् ९.		90.33	यजमानः	99.28
मृते ४.१६०		<b>९.२०६</b>	यजिः	90.99
पूरा मृतेन	४.४ मैबुनम्			9.33
		0.114.11.40,	यजुः	। २ र ४. १ २ ४
मृत् ५.१०५, १०५,	१२२, १७० <b>मैथ्</b> निनः	५.१४४	यजुर्वेदः	
924, 938			यजुर्वेदवित्	92.992
मृतिका २.१४७ [		३.४; ४.४६; <b>५.</b> ९००	यजुवाम्	99.253
	.१२४ <b>मैचुन्यः</b>	३.३२	यजूंपि	११.२६४
मृत्युः ५.२, ३, ४;	७.११ मोक्षकः	<b>द.३४२</b>		४ [२।१४]
मृत्युना ११.	.१०३ मोक्षणे	९.२४९	३.१२०; ४.२३	७: ५.३९

<b>९</b> ८, १४२, १४४: ११.११,	४.१५९: ७.४९: १०.८३	<b>यबोहिष्टेषु</b> ३.१८२
¥o	यंथाकर्म १.४१	<b>यन्ता</b> २.६३ [==]
यज्ञकर्मीण २.१८३ [२०८];	यथाकालम् २.१४ [३९],	यन्त्राणाम् ८.२९२
३.१२०: ४.११६	२.४१; ४.१४७; ७.२२१,	यन्त्रैः ७.७५
यज्ञदीकायाम् २.१४४ [१६९]	२२५: ८.४०६	यमक्षये ६.६१
यज्ञनिवृत्तिम् ४.२३	यथाकृतम् ८.१८३	्यमधर्माः १.१२२ [२।३]
. यज्ञपात्राणाम् ५.११६	यथाक्रमम् २.४१; ३.२;	यमयोः ९.१२६
यज्ञपात्रैः ५.१६७	७.४०: ९.२९४: १०.७४	यमब्रतम् ५.३०७
यज्ञम् ू १.२२, ८६; ४.५७	यथावृष्टम् ८.७६	यमस्य ५.९६; ९.३०३
यज्ञशास्त्रविदः ४.२२	ययान्यायम् ३.१३४, १९० ;	यमान् ४.२०४
यज्ञशिष्टाशनम् ३.१९८	<b>४.३४</b> ; ७.२	यवगोधूमजम् ५.२४
यज्ञशीलानाम् ११.२०	यथान्युप्तान् ३.२१८	यवनाः १०.४४
<b>यज्ञशेषम्</b> ३.२८४	यथापण्यम् ८.३९८	यवमध्यमे ११.२१७
यज्ञसिद्धये ११.१२	<b>यथापूर्वम्</b> १२.१८७	यवसम् ११.१९६
<b>यज्ञसिद्ध्यर्यम्</b> १.२३	यथाबलम् ७.१८२	यवसान्नोदकेन्धनम् ७.१९४
यज्ञाः १.१२२ [२।३]; २.७२	यथाभाषितम् ८.२१६	यवसेन ७.७४
[९७]	यथायोग्यम् ५.९२	यवाः ९.३९
यज्ञाय ५.३१	यथार्हतः ७.१६; ९.१९३;	यवागूम् ६.२०
यज्ञार्थम् ५.२१, ३९, ४०;	१०.१२४	यवांग्वा ११.१०६
૧૧.૪. ૨૪, ૨૪	यबार्हम् ५.११४; ११.४	यवान् ११.१०८, १४२
यज्ञियःदेशः १.१४२ [२।२३]	<b>यथाविधम्</b> ८.२७४	यवाहारः ११.१९८
यज्ञे ३.२५; ४.२०५; ५.३९,	<b>यथाविधि</b> २.२३ [४८], ११७	यवीयसः २.१०५ [१३०];
४१: ८.२०६	[१४२]; ३.४, ६७, ८१;	९.४७, ५६, १०६, ११२,
यज्ञेषु ४.२३: ९.३१८:	४.६४, २४७; ४.२७; ६.२४;	२१३
99.93	७.२, १८४; ८.३१, १०६,	यवीयसा ८.११६
यज्ञैः २.३ [२८]; ६.३६, ३७;	१८४: ९.२२, ६२, ७०, ८८,	यवीयसाम् ९.२०४
<.३०६: ११.३ <b>९</b>	२१८; १०.२; ११.१९१,	यवीयांसः ९.११७
यज्ञोपवीतम् ४.३६	२४७	यवीयान् २.१०३ [१२८];
यज्वनः ११.११	यथावृत्तः ७.१	९.४८, १२०; ११.१८४
यज्वानः १२.४९	यथाशक्ति ३.११३; ४.१४,	यशः २.९६ [१२१]; ३.६६.
यत्यः १२.४८	२१; ११.६	२६३; ४.९४, २१⊏; ७.३३,
यतिः ६.४४, ४६, ४८, ६९,	यथाशास्त्रम् २.४५ [७०];	३४; ८.३०२, ३४३, ३४४;
50	४.९७; ७.३१; १०.५६	९.७६; ११.१४, ४०
यतिचान्द्रायणम् .५.२०,	यथासुखम् ४.४३	यशस्करः ८.३८७
99.295	यथासुखमुखः ४.५१	यशस्यम् १.१०६; २.२७
यतिपात्राणि ६.५४	यथेष्टम् ९.२२८	[४२]; ३.१०६
यतीनाम् ५.१३७; ६.⊏६	यथेष्टासनः २.१७३ [१९८]	यशस्विनः ३.४०
यत्नतः ३.१३४; ४.१४९.	ययोक्तेन रू.७२	यशस्विनाम् ९.३३४
ं ९.१४	यथोत्साहम् ५.८६	यशोध्नम् ६.१२७
यत्नम् २.६३ [८८], १६६.	यथोदितम् ९.२४०	यष्टिम् ४.३६: ४.९९
द.३०२; ९. <b>१६, २</b> ५२	यथोदितान् ३.१८७; ४.१;	याचितेन ४.२२४
यत्नवान् ९.२२२	७.२०३	याचिष्णुता ५२.३३
यत्नेन ३.१४४, २३४,	यथोदितेन ४.१००	याचकः ३.१६४

	- 37-	TTT 220	3 924	योघधर्मः	७.९=
याजन०	=.₹¥0	यावन्तः	३.१२४ <b>५.१९</b> ४	याययनः योनाः	٠.٦٦ ٥.٩٤٥
याजनकः	3.9 <b>६</b> ४	यावान् गर्ननः	७.१४२, २०६	योगा <u>न</u>	७.१४९
	१.८६; १०.७४,	युक्तः	७.१०२, २०५ ७.१ <del>८</del> ६	योगिः योनिः	9.988 [२।२४];
७७; ११.१९७		यु <b>र</b> ततरः	97.8		o]; ६.६३; ९.३७,
	०.१०३, १०९;	युक्तस्य युक्ता	६.७०; ११.४३	47 47	oj, <del>1.44, 1.40,</del>
११.१८०	१०.७६, ११०	युक्तानाम्	¥.9¥€; ७.9₹¥	योनिगुणान्	9.30
याजनाध्यापनैः याजनाध्यापनैः	90.999	युक्तान्	3.7°4, 3.7°4 3.793	योनितः	२.१०४ [१२९]
	.111. ,e9\$,=,399,	युक्ते.	હે. <b>૧૧</b> હ	योनिम्	97.43, 44
355	٠. २ २, ٦. २ ١٥,	युक्तैः	ت. ع. لا ج. ع	योनिषु	९.३२१; १०.२७;
याज्यम्	5,355	युष्	<b>३.२७</b> ७	92.68	,
याज्यी	3.985	युग०	૧.७३, ⊏પ્ર	योनिसंकरः	90.50
	; १२.१७, २१,		.९, ७१, ७९, ६४;	योनी	२.१२२ [१४७]
<b>२२</b>	, ( ( ( ) , ( ) ,	९.३०१, ३		योन्याः	
यातनार्यः	१२.१६	युगात्	90.58	योचितः	¥.२१३; <b>४.</b> १४३;
यात्:	<b>=</b> .२९०	युगानाम्	<b>१.६</b> ८, ७२	<b>९</b> .१०, २	
पात्रा	99.958		.=9, =६; 90.४२	योषितम्	४.१३३; ९.७७
यात्राफलम्	७.२०७	युग्मम्	<b>5.293</b>	97.50	
यात्रामात्रप्रसिद्ध		युग्मास्	₹.४=	योषिता	५.१४७
यात्राम्	ે ७.૧≂૨	युग्यस्थाः	<b>=.</b> २ <b>९</b> ३	योविताम्	५.९०; ९.५६
	६.२७; ७.१८४	युद्धम्	७.१९९	योषिति	99.998
	२.१७७ [२०२]	युद्धाचार्यः	<b>३.</b> १६२	योषित	5,808
यानगः	४.१२०	युद्धे	७.१९०	योचित्सु	99.955
यानम् ४.७२;	७.१६०, १६१,	युद्धेन	७.१९८	यौतकम्	९.१३१, २१४
१६४, १८	۹; =.४०४;	युवतीनाम्	२.१९१ [२१६]	यौनात्	११.१८०
९.१५०		युवत्या	४.१४७	यौनान्	२.१५ [४०]
यानशय्या	४.२०२	युवतिः	२.१८७ [२१२];	यौनैः	३.१५७
यानशय्याप्रदः	४.२३२	११.३६		यौवने	४.१४८; ९.३
यानशय्यासनस्य	_		।३१ [१४६], १९०	रक्तः	8.58
यानशय्यासनाश	तने ७.२१०,	[२१६]		रक्तम्	४.१३२: १०.६७
२२०		यूका	٩.४٥, ४५	रक्तवासस	
यानस्य	<b>⊑.२९०, २९</b> १	यूनः	२.९५ [१२०]	रक्तानि	97.55
यानस्वामिनः	5.290	योक्त्र०	5.282	रवाः	9.30
	३.४२; =.४०४;	योग०	5.9 <b>ξ</b> ¥		9.58, 80; 8.98;
97.50		योगक्षेमम्	७.१२७; ९.२१९	90.50;	
यानासनाशनात्		योगक्षेमे	5,230	रक्षणात्	⊏.३ <b>९</b> , ३०५;
यानासने	७.१६२		२.७५ [१००]; ६.९	९.२५३	
यानैः	83.5	योगदान०	<b>□.9</b> ξ ¥	रक्षणे	9.375
् <b>यामी</b> १३	२.१७, २१, २२	योगम्	88.0	रक्षांसि	१.४३; ३.१७०,
यामे	پلالا. <i>و</i> د درو	योगात्	9.89		१०, २३=; ४. <b>१९९</b> ;
याम्यया	<b>€υ</b> Ρ. <b>⊐</b>	योगेन	۶.६ <u>۷</u>	७.२३; १	
यावकैः	99.924	योजनम्	99.937	रक्षाधिकृत	
यावतिषः	9.२०	योजनानाम्	११.७४	रक्षार्थम्	४.१५३; ७.३

'रक्षासमन्वितम्	2 10 [2 2]			. عــهــــــ	00.33
रकासमान्यतम् <b>रक्षोणिः</b>	२.७ [३२]	रसानाम्	7.325	राजवीर्याप्	99.32
	७.३ <b>८</b> ४२०४	-	२.१४२ [१७७];	राजशासनैः	90.५५
रङ्गावतारकस्य रजः ५.१		१०.⊏६ <b>रसैः</b>	0.00	राजसन्निधी	5,215
	₹₹; <b>५.</b> ९३२;		90.98, 98	राजसम् राजसर्वपः	१२.३२, ३६ =.१३३
११.११०; १२. <b>रजतस्य</b>		रहः ३.३४; ६.४९; म.३५४,		राजसवयः राजसाः	
रजतस्य रजसः	११.१६७ १२.३८	३६३; ९.१७		राजसाः राजसी	१२.४० १२.४४, ४६
	13.35 3.905 (¥3.	रहस्य०	<b>७.२२३</b>	राजसा राजसीच्	१५.०२, ०६ १२.४७
रजसामिलुप्ताम्		रहस्यम् रहस्यानाम्	१२.१०७ ११.२४७	राजतायु राजस्नातकयोः	7.998
रजसा मसुन्सान् रजसि	¥. <b>Ę</b> Ę	रहस्याना <b>न्</b> रहस्यानि	11.4°G 8.988	[१३९]	۲۰۱۱۰
रजस्वलम्	र. ५ <i>५</i> ६.७७	रहस्यान रहोगतः	•. ٦ • • ७. १४७	[१२८] <b>राजस्वम्</b>	<b>⊏.</b> 9४९
-	५.७७ .२३ <b>९</b> ; ५.६६	-	७. १०७ ३.२१, २६, ३३;		۳.۱۰۸ ۲,
रज्जुः	९.२३०	X.39; 97.6		<b>९.६६, २९४,</b>	
रज्जुः रज्जुम्	5.39 <b>9</b>	राजसम्	,∪ ₹.२४	97.900	474,
रज्जुबासम्	4.97	राजसी		राज्यस्य	९.२९४, २९६
	. । २ १९; ११.१६=	राजसा राजः	३.२ <b>८०</b> ६.६०	राज्यात्	٠ ٠,٩٩٩
रञ्जकस्य	۲.۲۹ ۲. ۲.۲۹ ۶	रागः रागद्वेषी	۹.६८ ۹२.२६	राज्यानि	9.80
	९=: ९.३२३	रागद्वपा रागिजिः	9.970 [797]		४, ११९, १२०;
रति	, , , , , , , , , , , , , , , , , , ,	राजगमि	1.130[313]		४.९७; ७.१२,
रतिकाम्यया	₹,४४	राजतः	¥.३३; 5.9३६,		, ₹૪, ੯=, ७९,
रतिमात्रम्	99.8	930	*. * *, *.   * *,	<b>વ્હ</b> . ૧૧૧.	
रतिमु	9.24		x.997; =.770	925, 933,	१३७, १४०,
रतिसंहितः	९.१०३	राजतान्वितैः	₹.२०२		१७३, २१६;
रत्नानाम्	<b>5.373</b>	राजतैः	₹.२०२		३०, ३४, ३४,
रत्नानि २.	२१५ [२४०];	राजधर्मान्	ે. હે. ૧ે	३८, ३९, ४	०, ४३, १२८,
७.२१८; १२.६	9 -	राजधर्मेच्	9.328		२४२, २६१,
रत्नेषु	5.900	राजनि	<b>४.</b> ५२; ५.३१७,	२६४, ३०४,	३०६, ३१४,
रत्नैः	७.२०३	99.99, 39			३३३, ३३६,
	.९६; ९.२=०	राजन्यः	२.२४ [४९];		३४७, ३७१,
रषम्	<b>5.</b> २०९	₹.990; 90	.९४; ११.८३		३९५, ४२०;
रयहर्सा	<b>=</b> .३४२	राजन्यबन्धोः	२.४० [६४]		४, २४६, २६२,
रथेन	<b>⊏.२९</b> ४	राजन्यम्	<b>٩٩.</b> ٩२७		३०१, ३१२;
रम्यम्	७.६९	राजन्यविप्रासु			४, २३, १००
रवि०	9.२३	राजन्यवैश्ययो	: २.१६४	राजाग्निः	७.९
रवी	४.७५	[१९०]			७.४०; १२.४६
रश्मयोः	८.२९२	राजन्यवेश्यी	99.50		३, २६; ८.१८,
रश्मिषः	९.३०४	राजन्यात्	१०.२२	३०८, ११.९९	
रश्मीन्	४.९९	राजप्रदेयानि	७.११८	राजान्तकरणी	
	.७६; १२.९६		=.३ <b>१</b> =; <b>९</b> .२१३	राजीवान्	¥.9६
रसजानाम्	99.983	राजमार्ग	९.२=२		¥; २.७ [३२],
रसम्	97.57	राजयक्ष्मा	₹.७		१२ [३७], १९
रसविक्रयी रसाः	₹. <b>१</b> ५९	राजर्षि	९.६७	[88], 29 [8	
रसाः	१०.९४	राजविप्राङ्गन	त १०.११	[135]; 3.13	, १५३; ४.८४,

<b>८७, ९१, ११०, १३०; ४.९४</b> ,
७.६४, ९७, १२०, १२३,
७.६४, ९७, १२०, १२३, १३४, १३६, ६.११, २१,
१७१, १७२, ३०४, ३३४,
३८७, ३९९; ९.२२६, २७४,
₹०१, ३२४
राज्ञा ७.५३, ९७, १२९,
930, 935; =.80, 40,
968, 958, 202, 293,
२२३, २६३, ३ <b>८९, ४</b> १२
<b>९.95९, २४०, ३०७</b>
राज्ञाम् ४.९३; ६.९७; ७.५५,
997, 784; 97.88
राजे ८.२८८; ९.१२९, ३२७
रात्रम् १.६४
रात्रयः ३.४६
रात्रिः १.६४, ६६, ६७;
द.दर्द 
रात्रिभिः ५.६६
रात्रिम् १.७२, ७३; ४.९७;
<b>४.</b> ६१
रात्रिषु ३.४८, ५०; ४.११९
रात्रे १.६४
रात्री ३.२८०; ४.४०, ४१,
७३, १०२, १०६; ६.६=; ७.१९६; =.२३०; ९.२७६;
७. १९६; =. २३०; ९. २७६;
१०.५४; ११.११०
रात्र्या ५.६४; ६.६९
राष्ट्रः ७.१५७
राष्ट्रकर्पणात ७.११२
सार्ट्रम् ७.२९, ११०, १२८, १३४, १३६, १९४; ८.२१,
938. 938. 984: 5.29.
३०२: ९.२५४, २५४, २९४,
₹0४: 90.६9
राष्ट्रस्य ७.११४
राष्ट्रात् ७.५०, १२९, १४३,
E. 298, 3EO; 8.289,
३० <u>४</u>
राष्ट्रान् ९.२२१
राष्ट्राभिवृद्धये ७.१०९
राष्ट्रिकैः १०.६१
राष्ट्रे ७.१२२. १३७:
९.२२६

_	
राष्ट्रेषु	९.२७२
राहो:	४.११०
रिक्तकः	£.808
	<b>4,808</b>
रिक्तभाण्डा	
रिक्थजातम्	९.१४२, १९०
रिक्थभाक्	९.१५५
रिक्यभागिनः	9.955
रिक्थम्	<b>५.२७, ३</b> ०;
९.१०४, १३	१२, १४१, १६२,
१८४, १८४	, १९२
रिक्थस्य	९.१=४
रिक्थहराः	९.१८५
रिषुः	७.१८६
रिपुम्	७.१७१
रिपून् ७	.९०, ९८, २००
रिपोः	७.१८३
रुक्मस्तेय०	११.५७
रुक्माभम्	१२.१२२
रुचितम्	<b>३.२</b> ५४
रुचिता	92.42
रुजः	99.50
रुद्राः	99.229
रुद्रान्	₹.२=४
रुधिरे.	¥.9 <b>२</b> २
रुधिरेण	₹.9३२
रूपगुज ०	૧.७७; છે.૭૭
रूपद्रव्यविही	नन् ४.१४१
**************************************	# 230· # 32
₩4₩ °.₹	<sub>म,</sub> २३०; म.३२, १२. <b>९</b> म
• x; \. 1 •;	14.75
रूपविपर्ययम्	99.85
रूपसत्वनुष	₹.¥0 5.₹9
रूपसंख्या	
रूप्यदः	of 5.8
रेतः	२.१४४ [१८०],
४.२२२; ९.	२०; ११.४८,
१७०; १७३	
रेतसः	99.970
रेवतः	<b>१.६</b> २
रोगः	5.905
रोगायतनम्	६.७७
रोगार्सम्	९.७८
रोगिणः	२.११३ [१३८];
3.998	
₹+11"	

रोगिणाम्	९.२३०
रोगिणी	<b>९</b> .⊏२
रोगिजीम्	₹.⊏
रोचनाम्	<b>⊏.२३४</b>
रोचमानायाम्	३.६१
रोम	<b>5.99</b> €
रोमशः	<b>३</b> .७
रोमाजि	४.२२१, १४४
रोहितः	9.35
रीयमे	४.३६
रीप्यमाचकः	۲۶ <b>۹.</b> ۳
रीप्यम्	४. <b>१</b> १३
रीरवेण	३.२६९
लक्षण ४.६८	; ७.७७; १२.४
लक्षणकः	६.९१
लक्षणकम्	६.९४
लक्षणम् १.२३	१, ११२, ११३,
939 [२।9	१, ११२, ११३, २]; ४.१६०;
६.४४, ९२;	<b>5.259, 805</b> ;
9२.३१, ३२,	३३, ३४, ३५,
३७, ३८	
लक्षणानि	६.९३
लक्षपान्विताम्	₹.४
लिवता	९.३४
लक्ष्यम्	११.७३
लगुडम्	5.39X
तपुमित्रम्	७.२०९
लचुवासा	२.४५ [७०]
लघून्	૭.૧૧૩
लतानाम्	१२.४८
लशुनम्	<b>ሂ.ሂ;</b>
<b>लशुनाः</b>	9.39
लब्धप्रशमनानि	७.५६
लब्धलक्यान्	७.५४
लब्धान्	<b>९</b> .२४१
लब्धेन	99.923
तसाटसंमित <u>ः</u>	२.२१ [४६]
ललाटे	९.२४०
लवजम् ६.१२	; 90.5 <b>६, ९४</b> ;
१२.६३	
लवणानाम्	<b>⊑.३२७</b>
लवजेन	१०.९२
लवशः	<b>९.२९२</b>

•					
लवे '	<b>5.9</b> ¥ 9		२१३; ८.४२,	सीकिकम्	२.९२ [११७]
लाभया	90.97	र्थः, ९.३२४;		लीकिकी ३.९	१२७; ११.१६४
त्तकाम्	90.58		२०५ [२३०];	लीकिके	₹.२=२
तामः	१०.११५		<b>८; ९.३१६</b> ;	वस्ता	99.34
लामान्	६.५=	१्२.९७		वस्तृन्	92.994
लामालामम्	९.३३१		१४०; =.90३	वचनम्	9.9
लाभे	६.५७		३१; १२.११७	वजेण	७.१९१
्ला पै:	६.५८		२०७ [२३२];	वञ्चकः	<b>९</b> .२५८
लिका	<b>८.१३३</b>	४.१६१; ६.६			१.९०; =.१६९;
लिङ्गम्	६.६६	्रवप्रः, ११.२६ <sup>०</sup>		१०.७९	
<b>लिङ्गस्थः</b>	5. <b>ξ</b> X	लोकपालान्	९.३१४	वणिजः	७.१२७
लिङ्गानाम्	<b>=.२</b> ५३		58; <b>२.</b> १३5		.१३०; ७.१२९
लिङ्गानि	9.३०		९ [२१४];	वत्सकम्	99.998
लिड्गिनः	5.80 <i>0</i>	<b>३.१४</b> १; ४.१		वत्सतन्त्रीम्	४.३⊏
लिड्गिनाम्	४.२००	१७२, १⊏३, ः		वत्सतरीम्	११.१३७
<b>लिड्विचेन</b>	४.२००	१६३, १६४; ७		वत्सम्	११.१३४
लिङ्गे	४.१३६	50; 5. <b>9</b> 8,		वत्सरम्	9.93
लिङ्गैः .	८.२४, २४२	३४३, ३८७;		वत्सराः	१२.४९
लिच्छि <b>व</b> ः	१०.२२	१०९, १३३,		वत्सरान्	९.७६
लुप्तधर्मक्रिया	<b>5.</b> २२६	१०.४३, ४४,	५८; ११.२६;	वत्सस्य	<b>۵.۹۹</b> ۴
<b>लुब्धः</b>	४.१९५	१२.३६, ४३, ९	<b>१</b> ०२	वबान्यस्य	४.२२४, २२५
लुब्धस्य	४.⊏७	लोकेभ्यः	४.२१९	बधः ५.३९;	८.१०४, ३२०;
लुब्धेन	<b>७</b> .३०	लोकशः	४.९७	९.२४८	•
लूता	१२.५७	लोकेशप्रभवः	४.९७	वधवण्डम्	<b>⊏.</b> १२९
	११; ४.१२६	लोभः	92.33	वधनिर्णेकम्	११.१३९
लेपचागिनाम्	३.२१६	लोभम् २.	१४३ [१७८];	वधबन्धी	५.४९
लोकः १.९; २	.६४ [११०];	७.४९			, ३६४, ३६६,
७.२२			७९; ६.११६,	३८१; ९.२९१	
लोककष्टकान्	९.२६०	१२०, २१९,	३९९, ४१२;	<b>वधे ९</b> .२	४९; ११.१२६,
लोकजित्तमः	४. =	९.२१३, २४२;		989	
लोकतः	७.४३	लोभेन ३.	४१; ८.२१३;		३०; ११.१००
लोकवम्भकः	४.१९५	99.२६; 9२.६	9	वधैः	<b>८.१९३</b>
लोकपालानाम्	४.९६	लोमः	<b>Ę.</b> Ę	वध्यस्य	९.२४९
लोकपालेभ्यः	<b>५.२३</b>	लोष्टम्	११.२६३	वध्यवासांसि	१०.५६
	२०= [२३३];	लोष्ठमर्बी	४.७१	वध्यान्	१०.५६
७.२९, १०.१२०		लोहदारकम्	8.90	वनस्थाः	७.४०
लोकयात्रा	९.२४	लोहम्	९.३२१	वनस्थानाम्	४.१३७
लोकयात्रायाः	९.२७	लोहशंकुम्	४.९०	बनस्पतयः	9.80
लोकविकुष्टम्	४.१७६	लोहानाम् .	९.३२९	वनस्पतिभ्यः	₹.८८
लोकविद्विष्टम् ः		लोहितम्	४.५६	वनस्पतीन्	8.39
लोकविभुताः	३.१९४	लोहितस्य	5.258	वनानि	<b>९.२६</b> ४
लोकवृत्तम्	8.99	लोहिताकः	४.६		(६; १०.१०७;
· लोकव्यवहारार्थम्	5.939	लोहितान्	¥. Ę	99.988	

बन्ध्या ८.२८; ९.८९		वारचपतः ४.१७७
वपनम् ४.१४०; ११.१४१	वर्जेषु ८.६३, १२४; १०.१० वर्तमानः ६.३९७	वाक्रकडयोः ८.७२
<b>बपाम्</b> १२.६३	वर्तमानम् ८.३४६	वाक्षरुष्यविनिर्णयम् ५.२६६
<b>बपु:</b> १२.२६	वर्तमानाः १०.३१	वाक्पारुष्यस्य ६.२७६
वपुष्मान् ७.६४	बरमीन ९.१	बाक्शस्त्रम् ११.३३
बयः ७.१४९	वर्षनजान् १२.५४	वाग्नुदः १२.६४
वयसः ४,१८	वर्षम् १.६७	बाग्बुष्टः ३.१४६
वयसि ९.१४	वर्षस्य ७.५३७	वाग्वच्टात् ८.३४४
वयांसि ११.२४०	वर्षाणाम् १.६९	बाग्मी ७.६४
वयोरूपसमन्वितैः ८.१८२	वर्वाणि ८.१४७: ९.९०	बाग्यतः ३.२५८; ९.६०
वरम् १०.९७	वर्षास् ४.१०२	बाग्यताः ३.२३६, २३७
वरस्य ३.३२	वर्षे ४.४३: ११.८१	बागुरावृत्तिम् १०.३२
बराः ३.१२; १२.१०३	वर्षैः ११.१७=	वाड्मनसी २.१३४ [१६०]
वराद् ३.२९	वत्मीके ४.४६	वाड्मयम् १२.६
वराय ९.८८	बल्लूरम् ४.१३	वाड्मात्रेण ४.३०
वराह० ७.१८७	बल्ल्यः १.४८	बाड्मूलाः ४.२५६
वराहाः १२.४३	वशम् ७.१०७, १०८;	वाचम् १.२४; २.१६०
वराहे ११.१३४	९.२६१	[१८४], १६७[१९२]; ४.२३,
वरिष्ठम् ७.८४	वशे ७.४४; ८.१७४	४९, २५६: ६.४६, ४८:
वरुणम् ९.२४४	वंश्यम् ७.२०२	<b>८.७०, १०३</b>
वरुनाय ९.२४४	वंश्याः १.६१	वाचा २.१३६[१६१];
वर्गस्य ७.४२	वश्यान् १.१०५; ३.३७	₹. <b>३०: ४.</b> १२७: <b>५.२७०</b> :
वर्जनात् ८.१७१	वसन् २.१४० [१७४]	९.६९: १२.८,
वर्णः १.१४४ [२।१४]	वसनम् २.१४९ [१७४]	वाचाटाम् ३.८
वर्णक्रमेण ८.२४; ९.८४	वसनस्य ३.४४	वाचि ४.२३, २४६:
वर्णदूषकाः १०.६१	वसनानि १०.१२४	97.979
वर्णम् ८.३२, ३७४	वसवः ११.२२१	वाचिकैः १२.९
वर्णयोः १०.१०	बसा ५.१३४	वाजिनम् ८.२०९
वर्णरूप० ४.६८	वसिष्ठः ८.११०	वाजिनाम् २.६३ [८८]
वर्णसंकरः ८.३५३	वसिष्ठम् १.३४	बाटखदिरौ २.२० [४४]
वर्णसंकराः १०.१२, २४	विसच्छविहिताम् ५.१४०	वाणिजके ३.१८१
वर्णसंसर्गात् ८.१७२	वसिष्ठस्य ३.१९८ वसिष्ठेन ९.२३	वाणिजिकान् ८.१०२
वर्णस्य ३.२२ वर्णाः १०.१, ११.१५०:		वाणिज्यम् ४.६; ८.४१०;
	वसु ९.१९६	११.६९ वाति ४.१२२: ११.११३
<b>१२.७०</b> <b>वर्णानाम्</b> १.२, <b>९</b> १, १०७,	बसुनः ९.१६३	
998, 930 [२।9=]; ३.२०	वस्त्रम् ३.५२	वातेन्त्रगुरुवह्नीनाम् ११.११९ वादम् <b>दः</b> १२.४६
[99], ३४; ४.४७; ७.३४;	वस्त्रान्नपानम् ११.१८८ वह्निः ११.२४६: १२.१०१	•
E.987, 385, 349, 369;	वाक्ष- ११.२०५: १२.१०१: वाक् १.१०४: २.६५ [९०],	वाबाभ्याम् ६.५० वाबिनम् ७.९१
<b>9.56</b> , 958, 335; 90.3,	938 [948]: 3.909;	वादित्राणि ४.६४
२४, २=, १३०; ११.१३=	Y.964, 744; 4.944;	वादेषु ८.२६९
वर्णान् =.१२३; १०.२७, ३१	७.४८, ११, ८.६१, १०१, ७.४८, ११, ८.६१, १०१,	वानप्रस्थः ६.८७
वणितम् १०.५७	924,99.49, =4; 92.3,	वानरम् ११.१३४
	90	
	•	

वानरान्	9.३९
वानस्पत्यम्	<b>5.33</b> 9
वान्तः	५.१४४
वान्ताशी ३.	.१०९; १२.७१
वाप्यः	<b>८.२४</b> ८
वामीयम्	११.२५०
वादतानाम्	३.९२
वायु० १.२३	, ७६; ५.१०५,
(वायुः)	१३३: ७.७
वायुगीताः	९.४२
वायुभूतः	२.५७ [=२]९
वायुम्	७७.६
वायुवत्	३.9=९
वायोः	๋ ๆ ๋ . ๒ ๋ ๋
वाय्वग्निविप्रम्	8.8=
<b>वारि</b> २	.9९३ [२१८];
3 202. 8 53	१, १९२, २३३:
Y 90Y & 39	।, ६७: १२.६७
वारिणा ३.	788; X.996
वारिवः	8.228
वारिभिः	¥.99¥
वारिस्थम्	¥. ₹७
वारुषम्	९.३० <b>=</b>
वारुजीम्	99.988
वारुगः	=.52
वारुण्या	q o €
वार्राण्या <b>वार्क्षम्</b>	
• `	00.0
	50: 99. <del>23</del>
वार्त्तायाम्	९.३२६
वार्धुष्यम्	99.89
वार्धुविकः ३.	१५३: ८.१४०
वार्धुविकस्य	४.२ <sup>२</sup> ०, २२०
वार्ध्विकान्	<b>5.90</b> ₹
वार्धुवेः	४.२२४
वार्ध्वौ	३.१८०
वाग्रीषस्य	३.२७१
वार्योकः	७.१२९
वार्षिकान्	९.३०४
वार्षिकी	३.२७१
वालधिवरूपितै	
बासः ४.६६	, 99६, 955,
१८९, २३३; ९	
वासन्त०	६.११

वासम् २.२१	७ [२४२], २१=
[२४३]: १२.	৩=
वाससा	११.२०४
वाससाम्	<b>5.3</b> ₹9
	२.२२१ [२४६]:
	३९६; १०.४२;
97.55	3 37
वासा	3,38
वासिष्ठम्	99.288
वासोदः	४.२३१
	४.१२९: =.३९६
वास्तुमध्ये	३.८९
वास्तुसम्पादन	म् ३.२४४
वाहन०	५.९९
वाहनानि ५	७.२२२; ८.४१९
वाहनायुधैः	5.99₹
वाहनेन	७.१७२
वाहनैः	७.७४
वाह्ये	۶.9 <b>५</b> 9
विंशतीशः	૭.૧૧૭
विंशम्	90.970
विंशी	<b>७.</b> ११९
विकर्मकृत्	5.113 5.55
विकर्मक्रियया	
	९.२२६
विकर्मस्थाः	९.२१४;
99.982	
विकर्मस्थान	४.३०; ९.२२५
विकलेन्द्रियः	द. <i>६</i> ६
विकृतम्	९.२४७, २९१
विकृतः	9.755
विकृताकृतयः	११.५२.
विकिरः	३.२४५
विक्रमम्	<b>३.२</b> १४
	३, ५४: = १४३,
१९९; ११.६	9. 62
	२० <b>२; १०.९</b> ३
विक्रिया	x. २ x
विगतक्लमः	<b>હ</b> ે. ૧ે પ્રેવે
विगतम् विगतम्	
	પ્ર. <b>૭</b> ૫.
विगुजः	90.90
वित्रहः	७.१६४
वित्रहम्	७.१६०,.१६१,
१६२, १७०	

विघसः 3.25X विषसाशी 3.75% विघ्ष्य विचंक्षणः ९.७१; १०.१०६, 905 विचक्षणान 9.89 विचित्रा 99.85 विजने 90.900; 99.90% विजन्मा 90.23 विजयः ७.११, १९९; 90.998 'विजयमानस्य 9.909 विजानता x.979; **5.7**9€ विजानतामु €.58 विजिगीयोः **6.9**44 विज्ञातप्रकृती 5.989 विज्ञानम् 8.20 विज्ञानाः 90.40 विट् २. ५५ [६०]; ३.२३; ४.२२२; ४.१३४; ११.६६ विट्पण्यम् 90.54 विट्रपतिम् 3.985 विट्वराहानु ४.9४ विट्शूब्रयोः 5,200 विड्मुजाम् 92.48 विड्वराहः 99.948 विड्वराहम् 4.98 विष्मुत्रम् ४.७७; ११.१५० विष्मुत्रस्य 8.85, 90° विण्मत्रे 8.932 विष्मुत्रोत्सर्ग० **4.938** वितथ० 92.4 वितथम् ८.९४, ११८; ९.७३ वितयेन **5.29**€ वित्तः 9.33; 4.98 वित्तम् २.११२ [१३६]; **९.१९**5: 99.२० वित्तवर्द्धनम् 90.54 वित्तविवर्धिनीम् E.980 वित्तागमः 90.991 वित्तात् 9.999 विसेन २.१२९ [१५४] वित्ते शयोः 9.8'

## मनुस्मृति

विदल:	9.230	विधम्
	9; ७.३७	विधवा
	; २.१०१	विधवायाम्
[ <b>१२६]</b> ; ४.२०९; १		विधवावेदन
	9, ⊏¥;	विधवास्
विद्वे	3.983	विधाता
विदेशस्यम्	પ્ર.હપ્ર	विधानतः
विदेशे	<b>८ १६७</b>	विधानम्
विद्वांसः १.९७; ४.९		१८४, े
४.१०७	.,,	9.985
	९ [२१४]	विद्यानस्य
१९० [२१४]; ३.१३		विधाने
	[999];	विधानेन
द.३४ <b>६</b>		९.६९, १
_	[993]:	विधानैः
97.908	£	विधिः
विद्यमानेषु	<b>४.</b> १४	<b>२.४२</b> [
<b>विद्या</b> ँ२.८७ [१		₹.३०, ४३
[११४], ९६ [१२१	1. 999	۳. <b>٩</b> ६0,
[१३६], २१४[२४०	]; ६.३૦.	90.0; 9
९२; १०.११६; १	9.230:	विधिनः
92.908		विधिना
	१ [२०६]	<b>३.२</b> १४,
विद्यातपः '३.९८	, E	993;
विद्यातपो भ्याम्	४.१०९	5.58, 91
विद्याधनम्	९.२०६	१४२; ११
विद्यानाम्	92.54	विधिपूर्वक
विद्यानुपालितः	9.208.	[१७३];
विद्याम् २.१९३	[२१=].	¥.909;
२१३ [२३=]; ७.१६		विधिपूर्वम्
विद्यार्थम्	९.७६	विधिम्
विद्याविशेषतः	99.2	२.७९
विद्याहीनान्	8,989	४.२६,
विद्युतः	9.3=	₹.६३;
विद्युत्स्तनितनिःस्वने	¥.90€	955, 29
विद्युत्स्तनितवर्षेषु	¥.903	विधियशस
विद्युता	४.९४	[= ६]
विद्वत्स्	9.90	विधियज्ञात्
<b>बिहर्जिः</b> १.१२८		विधियोगेन
=.२२७; ९.६६	, f /, dh	विधिवत्
विद्वान् १.१२५	(212)·	[80], 9
₹.६३ [==]; ३.४९	989	[२१६];
¥.990, 9€8, २२	5: 5.99	983, 2
३७, ९६; ९.३१७	.,	२६७, २७
1-1 171 3.7 10		145, 10

विधम्	9.80; 92.5
विधवा	9 EX 9194
विधवायाम्	९.६४, १७५ ९.६०
विधवावेदनम्	٩. <b>ફે</b> પ્ર
विधवासु	ج. ک ج. ک
विधाता	99.34
विधानतः	६.८९: १२.७
विधानम् ३.	२६६: ७.११३,
9=8, 229	€; <b>=</b> .२४४;
₹.985	,, ,
विधानस्य	٩.३
विधाने	७.२०४
विद्यानेन ७.५	
<b>९.६९,</b> १२८;	
विधानै:	<b>६.२०</b>
विधिः १.	१३४ [२.१६];
२.४२ [६७],	४३ <sup>`</sup> [६८],
₹.३०, ४३; <del>४</del> .	३१, ७४; ६.९;
E.980, 95	द; <b>९.</b> १४९;
90.0; 99.95	
विधिनः	८.३६२
ाबाधनः विधिना	२.६२ [१०७];
३.२१४, २६ १९३; ४.१ ६.६९,१७६,	:9; ¥.900,
9 <b>९३</b> ; ४.9	६९; ६.=१;
5.5 <b>९</b> , 9७5,	३४३; ९.१२७,
१४२; ११.११	x
विधिपूर्वकम्	२.१४८
[903]; 3.98	, ९९, २१६;
¥.909; <b>६.</b> ४	
विधिपूर्वम्	₹.58
विधिम् । २.७९ [१०)	9.999, 99६;
२.७९ [१०) ४.२६, ३६,	<b>ሃ</b> ];
४.२६, ३६,	५०; ६.३०१;
९.६३; १०.	७; ११.5६,
१८८, २१७	
विधियज्ञसमन्बि	ताः २.६१
[= ६]	
विधियज्ञात् विधियोगेन विभिन्नत	२.६० [६४]
विधियोगन	۳. <b>२</b> ٩٩
विधवत्	9.४=; २.9४ [9४=], 9९9 ९, ९४, ९४, २१९, २६६,
[Yo], 923	[१४६], १९१
[२१६]; ३.२	र, ९४, ९४,
पश्च, २११,	२५९, २६६,
२६७, २७४, २	७९; ६.१, ११,

७०, ९४; ९.७२; 99.999, 985 विधुक्षये 3.930 विधम **६. ५**६ विधेः 99.28 विनयम् 9.39 विनयातु **9.80,82** विनशनातु 9.980 [2.29] विनष्टानि २.२९ [६४] विनाशम् ३.१७९; ४.७१; ८.२४६ विनाशाय ७.9२ विनाशिन्यः 9.20 विनिपाते 5.954 विनिर्गतः **5.**€¥ विनिर्णयः 4.990 विनिर्णयम् 9.998; =.988 विन्ध्य० 9.980 [2.29] विनिश्चयः 5.200 विनीतः ७.३९; 5.9 विनीतवेषः 5.3 विनीतेन 9.89 विनीतैः 8.€= विपणिः 90.998 विपणेन 90.947 ३.४९; ४.१२ विपर्ययः विपर्ययम् 8.909; 5.288 विपर्यये 8.234 विपरीतः **७.9**६३ विपरीतम् ४.१६१: ७.१७१: 5.**3**49 विपरीतस्य **9.38** विपरीतान् ¥.39; 5.53 विपरिचतः २.१८८ [२१३]: 9.59 विपरिचता ७.५८ विप्र: १.१०९; २.३३ [४८], ३७ [६२], ५३ [७८], ९३ [995], ९७ [9२२], १०० [१२४], १०१ [१२६], ११७ [१४२], १२५ [१५०], १३२ [१४७], १३३ [१४८], २१९ २२४ [२४९]; [૨૪૪], ३.१०९, १२२, १७९, २२४;

४.२, ३४, ९५, ५	982 236
25 - 1, 35 - 101	3 - 3
२६०: ४.३६, ७	ζ, ς ξ, ς ω,
९९, १०१; ६ =.१६९, ३९२ १४३, २२९;	.२९, ३२;
<b>5.988.</b> 388	: <b>९.१</b> ४१.
.9CC EVP	90 992.
144, 111,	00.1111,
११.२४, २४, =६	, 55, 162,
२०१, २१४, २	१९, २६१:
१२.५७, ७१, १९	६
विप्रकन्यायाम्	90.99
विप्रदुष्टभावस्य	7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7 7
विश्रवुष्टमायस्य	7.07 [70]
विप्रबुष्टाम् ९.७३	र; ५५.५७६
विप्रमखाग्निच	३.९८
विप्रम ३.५३. प	१०३, २६०:
X 30. V 90)	·
विप्रम् ३.८३, ९ ४.३९; ५.१०१ ८.११३	, 4.55,
4.117	
विप्रयोगम्	६.६२
विप्रयोगे	९.१
विप्रसुम्भकम्	<b>5.₹0</b> ९
विप्रवत्	<b>३.२२०</b>
विप्रस्य १.९८:	0 0 6 [X3]
1474 1.74,	(. 15 [ • <del>1</del> ],
१९ [४४], १२	प [पष्ट],
१४१ [१६६]; ३	.२३, २१२;
४.१११, २४९:	९.१५०;
४.१११, २४९: १०.१० १०९:	९.१५०; ११.५०
Y.999, 749;	९.१४०; ११. <b>६०</b> ,
२०८, २६६: १२	९.१४०; ११. <b>=०,</b> .२,३७,
२०६, २६६: १२ ६२, १०४	.२, ३७,
२०६, २६६: १२ ६२, १०४	९.१४०; १९.८०, १९.८०, १०.१२३
२०८, २६६: १२ ८२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम्	.२, ३७, १०.१२३ १०.६०
२०८, २६६: १२ ८२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम्	.२, ३७, १०.१२३ १०.६०
२०८, २६६: १२ ८२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रा: ३.३६, २	.२, ३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४,
२०६, २६६: १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९: ६.	.२, ३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११,
२०६, २६६: १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९: ६.	.२, ३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११,
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२.	.२,३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४=
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२.	.२,३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४=
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२.	.२,३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४=
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४५; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ५	.२,३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४=
२० म. २६६: १२ म. १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्राः ३.३६, २ १९७, १९९: ६. ४२: ९.४४: १२: विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९: १ ७.म२: म.२७२ १०.१०३	.२, ३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४= ३० [१४४]; ४.२, १४९; ; ९.३३४;
२० म. २६६: १२ म. १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्राः ३.३६, २ १९७, १९९: ६. ४२: ९.४४: १२: विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९: १ ७.म२: म.२७२ १०.१०३	.२, ३७, १०.१२३ १०.६० ६४; ४.२४, ९३; =.११, ४= ३० [१४४]; ४.२, १४९; ; ९.३३४;
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४५; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; १ ७.६२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रान्	. 7, 36, 90.923 90.50 54; 8.28, 83; 5.99, 85 30 [9 \$ \$ \$]; 4.2, 9 \$ \$ 90.29
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४५; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; १ ७.६२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रान्	. 7, 36, 90.923 90.50 54; 8.28, 83; 5.99, 85 30 [9 \$ \$ \$]; 4.2, 9 \$ \$ 90.29
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्राः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ९ ७.६२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रात् विप्रात् र०९, २१९; ४.	. २, ३७,
२० ६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् त्रिक्षः ३.३६, २ १९७, १९९; ६.४२; ९.४४; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ५.८२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रात् ३.१५०, १२९; ४.४; ७.३६; ६.१०; ४.४; ७.३६; ६.१०;	. २, ३७,
२० ६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् त्रिक्षः ३.३६, २ १९७, १९९; ६.४२; ९.४४; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ५.८२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रात् ३.१५०, १२९; ४.४; ७.३६; ६.१०; ४.४; ७.३६; ६.१०;	. २, ३७,
२० ६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् त्रिक्षः ३.३६, २ १९७, १९९; ६.४२; ९.४४; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ५.८२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रात् ३.१५०, १२९; ४.४; ७.३६; ६.१०; ४.४; ७.३६; ६.१०;	. २, ३७,
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्रः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२: विप्राण्म् २.१ ३.९७, १९९; ९ ७.६२; ६.२७२ १०.१०३ विप्राण् विप्राण् २०९, २१९; ४. ४; ७.३६; ६.१०३ विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण् विप्राण्	. २, ३७,
२०६, २६६; १२ ६२, १०४ विप्रसेवा विप्रस्वम् विप्राः ३.३६, २ १९७, १९९; ६. ४२; ९.४४; १२. विप्राणाम् २.१ ३.९७, १९९; ९ ७.६२; ६.२७२ १०.१०३ विप्रात् विप्रात् र०९, २१९; ४.	. २, ३७,

12		_	
विप्रुवः	५.१३३, १४१	विरूपम्	९.१४
विप्रे	४.१९२	विरोचिष्णुः	१.७७
विप्रेभ्यः	३.१३१; ७.७९;	विरोधिनः	४.१७
९.३२३		विवत्सायाः	४.5
	.९७, १११, ११६:	विवरम्	७.१०४
६ १७; ११		विवशः	४.५२
	३.२१२; १०.११३	विवस्वतसुतः	
विप्लवे	द.३४ <b>द</b>	विवादः	<. ×, ۶
विपालान्	<b>≂.२४२</b>	विवादम्	४.१३९, १८०;
विपुलात्	<b>८.३४७</b>	<b>5.5, 228,</b>	
विफलान्	<b>5.280</b>	विवादान्	४.9=9
विबुधाः	१२.४७	विवादिनाम्	<b>5. 5 9</b>
विभक्तीन्	१.२४	विवादिनोः	<b>=.</b> ₹¥¥
विभक्तैः	<b>⊏.</b> १६६		४.१२१; =.११७:
विभवे	४.३४; ११.३८	११.२०५	
विश्रमात्	७.२४	विवास्य	९.२४१
विभागः	<b>५.७; ९.</b> १२०,	विवाहः	१०.५३
	४, २०५, २१०,	विवाहविधी	९.६४
२२०		विवाहानाम्	9.997; ३.३४,
विभागधर्मः	9.994	३६	
विभागम्	<u> ९</u> .१४२		<b>३.३९; ५.१४२</b> ;
.विभागशः	१२.१७	<b>इ.११२</b> ; <b>९</b> .	
विभागस्य	९.१४८	विवाही	₹.२६
विभागात्	९.२१६	विविषतः	२.१९० [२१४]
विभागे	९.१४९	विविषतम्	३.२०६
विभावितम्	९.४७, ५१	विविक्ते	४.२४=
विभूषणपरि	च्छदा ९.७८	विविक्तेषु	३.२०७; ११.६
विमुक्तस्य	<b>€.</b> 80	विविधः	99.9६9;
विमुक्तिम्	११.२३२	१२.१०४	
विमुखाः	४.२४१	विविधम्	१.४८, ११७;
विमोक्षात्	<b>⊏.३</b> 9६	३.२२७; १३	
वियुक्तान्	७.२१४	विविधाः	٩. <b>५; ६.२९</b> ;
वियुक्ती	९.१०२		१.२३७; १२.७६
वियोनिषु	१२.७७	विविधान्	<b>१.३९; ७.</b> ⊏ <b>१</b> ;
विरहः	९.१३	<.२४७; <b>१</b> ३	
विरहम्	५.१४९	विविद्यानि	२.२१५ [२४०];
विरहेन	५.१४९	90.900;	११.२६४;
विराजम्	9.३२	१२.६१, ७५	•
विराट्	9.32, 33	विविधासु	९.२ <b>९</b> ०
विराट्सुताः	₹. <b>१</b> ९४	विविधेन	<b>५.३</b> १०
विरामः	२.४= [७३]		२.१४० [१६४];
विरिक्तः	<b>૪.</b> ٩४४	६.४; ७.७९	; =.१९३; २७४
विरुद्धेन	<b>૪</b> .٩ <b>૪</b>	विवृतपौरुषः	७.१०२

2				<b>.</b>	
विवृद्धपर्य		विषयम्	¥.७७	वेक्षणे	<b>९.</b> १५
विवेकः	9.35, 903	विषयानाम्	9.9X	वेगेन	४.१०६
विशः		विषयात्मकः		वेषः	90.98
	(9 [४६]; ३. <b>१३</b> ;	विचयान् विचये	\$ 0.5 P	वेणस्य	४.२ <b>१</b> ५
८.३८३; विशसिता			२.१७३ [१९८];	वेजानाम्	90.89
विशासता विशाम्	¥.¥9	x.54; 0 5.985, 35	).9३३, <b>9३४</b> ;	वेजुबलेन	5.7 <b>9</b> 9
ाव साम् <b>विशिष्टः</b>	9.286; 90.920		.७ . <b>=९</b> ; २.६३, ७१	वेजून्	E. 286
विशिष्टम्	२.६० [=४] ९.३४; १०.१२३		.५८; ५.६२,७१ (; ७.३०; ९.२	<b>वेतनम्</b> २ <b>१</b> ६, २१	७.१२६; =.२१४,
विशिष्टाः विशिष्टाः		्रिप्, ५.४ <i>,</i> विषयै:	८, ७.२०, ५.२ ६.४९	र १५, र १ वेतनस्य	ाउ ≂.४, २१४
विशिष्टेन	७.५५	विषयानि विषयानि	४. <i>५</i> .५ ४.५६		०.२,२१० ह <b>र्मणः</b> ६.२१६
विशीलः विशीलः	४.१ <b>५४</b>		२.१३७ [१६२],		1, २५ [२.६], १२९
विश <u>ुद्ध</u> म्	۰.۱۸۰ ۶.۲۰۹	२१४ [२३९		[2.90],	
विश्वये	49. ¥३, 9३⊂,	विवादी	। <b>६</b> .५७	२.१४०	
9=9	11.55, 157,	विवापहैः	७. <b>२</b> १७		९; ११.२६४, २६४;
विशुद्धस्य	99.282	विचास्वादः	99.8		<b>९</b> ४, <b>९९</b> , १००,
विशुद्धात्	90.95		४.२३ <b>१</b> ; ९. <b>१३७</b>	.907, 90	
विशुद्धान्	99.980	विष्टस्थस्य	9.796	वेदज्ञः	97.909
विश् द्धिः	५.६७; ६.६९;	विष्ठ	₹.9 <b>50; ४.२२</b> ०	वेदत्रै:	
99.58	3, (2, (, (, ),	विष्यम्	92.929	वेदतत्त्वार्थ	
	९.२६, १३३, १३९	विसन्नाहम्	७.९२	वेदतत्त्वार्थ	
विशेषतः	२.२०० [२२४];	विस्तरः े	३ १२६	वेदतत्त्वार्थ	
8.209;	<b>પ્ર.</b> ૨૧; ૭.૫૫;	विस्तरशः	९.२५०	वेदत्रयातु	•
	९.५; <b>१२.४</b> १, <b>९३</b> ं	विस्तरे	३.१२४; ६.४४	वेववरिशिष	
विशेषात्	۹٥.३	विस्पष्टम्	8.99	वेदनिन्दक	: १.१३०[२।११];
विशेषेन	७ ८६, १४०;	विष्पष्टार्थम्	२.८ [३३]	<b>३.</b> 9६9	
99.99	•	विस्मयात्	४.२३७	वेदनिन्दा	99.4६
विश्वजन्य	ष् ९.३१	विस्रव्धम्	८.४१७	.वेदनिन्दाम्	४.१६३
विश्वजित्	११.७४	विहर्गमही	विजाम् ९.४४	वेवनेन	१०.२४
विश्वरूपम्		विहर्गमान्	9.38	वेदपारगः	२.१२३ [१४८];
विश्वसृज्	१२.५०	विहायसि	२.१६१ [१८६]		९.२४४; ११.३७
विश्वामित्र		विहितम्	२.१४९ [१७४];	वेदपारगम्	
विश्वेभ्यः	३.५४, ९०	99.88		वेदपारगे	७.५४
विश्वैः	११.२९	विहीनः	६.७४	वेदपुण्येन	
विषध्मनि	७.२१=	बीत ०	६.३२; १२.२२	वेदप्रदानात्	
विषध्नैः	७.२१=	वीतभीः	७.६४	वेदफलम्	१.१०९
विषमः	७.२७	बीतमत्सरः	99.99	वेदबाह्याः	
विषमम्	४.२२५; ९.११९,	वीरहत्यासम	7		११४ [१४०], १४१
२१४, २८		बी रासनम्	99.990		१४३ [१६८]; ३.२;
विषमानि	9.28	वीरुधाम्	99.987		२४, १४७; ४.१३८;
विष्यं	<u> </u>	बीर्यतः	२.१३० [१४४]		१.७४, १९८
विषम्	90,55	वीर्यवत्तमाः	२.८९ [११४]	वेदवित्	२.४३ [७८];
विषय०	१२.१८, २९, ३२	वीर्येष	११.३२	३.१७९:	११.२६४, २६५;

92.993	
वेदविसमाः	५.१०७
वेदवित्सु	११.६
	७.३८; ८.११;
११.८४, २४६	
वेदविदुषः	99.8
वेदविदुषाम्	९.३३४
वेदविद्वे े	११.७६
वेदविद्भयः	99.998
वेदविद्याद्रतस्नात	गन् ४.३९
वेदविहिता	٧,٧٧
वेदशास्त्रवित्	8.250
वेदशास्त्रविदाम्	<b>x</b> .२
वेदसंहिताम्	99. <b>२</b> ५=
	.११६ [१४१];
४.१२३; ११.७	
वेदांगानि २	.११६ [१४१];
¥. <b>९</b> =	[
	२ [९७], २०४
[२३०]; ३.२४	
वेदात् ५.४४	, 9 <b>२.९७, ९</b> ८
वेवाधिगमः '	1.939 [313]
वेदानाम्	¥,¥
वेदान् ३.३	२; ६.३६, ३७;
99.283	.,, . ,
वेदान्तः	६.८३
वेदान्तम्	€.98
वेदान्तोपगतम्	२.१३४
[9६0]	
वेदार्थवित्	३.१८६
	.१४१ [१६६];
90.50; 99.5	
वेदाभ्यासे	97.97
वेदाभ्यासेन ४.	१४८; ११.४६
वेवि	99.3
	<b>१२६ [२।७]</b> ;
२.१४७ [१७२	
वेदेभ्यः	२. <del>४२, [७७]</del>
वेदेषु	₹.958
वेदोदितम्	8.98
वेदोदितानाम्	99.203
	२.50, [90X]
वेदी	₹.=0,[10 <i>x</i> ] ₹.₹
7 71	۲٠٦

वेनः	७.४१
वेने	९.६६
वेशः	४.=४
वेशमद्यान्नविक्रया	
वेशेन	8.58
वेशम ४.७	३; ४.१२२;
९.=५, १५०	
वेश्मनः	99.93
वेश्मनि	<b>८ ६९</b>
वेश्मानि	४.२३०
	६९ [१९४];
७.२१९	
वेषवाग्	४.१८
वेष्टितशिराः	३.२३⊏
वैरवानसमते	<b>.</b>
वेगुण्यात् ८.२९	
वैडालव्रतिकान्	₹,३0
वैजवीम्	8.35
वेजुवैदलभाण्डानाम्	
वैतानान्	<b>६.२</b> ४
वैतानकुशलः	११.३७
वैतानिकम्	Ę.ę
वैतानिकानि	છ <u>ે</u> .⊌≂
वैतृष्ण्यम्	४.१२८
वैदलम्	<b>Ę</b> XX
वैदलस्य	७.१३२
वैदलानाम्	¥.998
	१२१ [२।२];
<b>२.४२</b>	0.0 500:-3
	.९२ [११७]; 
99.85; 97.55	, 55
वैविकान्	४.१९
	१४ [२।१४];
७.९७	
वैविके	97.50
	२६]; ६.७४;
5.980	
वैविक्यः	२.४९ [६४]
वेवेहः	१०.३३
वैवेहकः	१०.२६
वैदेहकानाम्	90.80
वैदेहिकात्	१०.३६
वैदेहकेन	१०.१९

f	वैदेही	90.99
Ę	वैवेह्पाम्	७६.०१
X	वेधेः	४.१७९
K	वैनयिकी	७.६४
8	वैमानिकाः	१२.४८
	वैरकम्	<b>९</b> .२२७
	वैरम्	६.४७
₹	वैरिषः	४.१३३; =.६४
१	वैरिचम्	8.933
0	वैवस्वतः	<b>5.</b> ९२
];	वैवाहिकः	२.४२
	वैवाहिके	₹.६७
5	वैशेष्यात्	१०.३
5	विश्यः १.११	६; २.२० [४४],
٩		७ [६२]; ४.८३,
5	99; =. 750	७, ३७४, ३८२;
0	९.३२६,	७, ३७४, ३६२; ३२८; १०.४, ११.१२, ९३;
Ę	9 <b>२.९</b> =;	99.9 <b>२, ९३</b> ;
૭	१२.७२	
X	वैश्यकन्यया	88.8
૭	वैश्यकन्यायाम्	
9	वैश्यपार्थिवी	<b>८.३७</b> ६
5	वेश्यभावम्	१०.९३
5	वैश्यम्	१.३१; २.१०२
ሄ	[१२७]; ८.५	<b>८, ११३, ३७६,</b>
7		१०.७६, १२१:
9	११.१२९	
];	वैश्यवन्	५.१४०
-	वैश्यवृत्ता	१०.८३
];	वैश्यवृत्तिम्	१०.१०१
-	वैश्यशूद्रयोः	३.२४; ९.३२४
9	वश्यश्द्री	३.११०, ११२;
];	5. ¥9°5; 99	
	वैश्यस्य १.९	ko; २.६ [३ <b>१]</b> ,
૭	७[३२]. १२	[३७], १७[४२],
ι;	96 [88]	, ४० [६५];
	<b>5.३३७</b> ; ९	.३२८; १०.१०
7]	८०, ८२; १	१.२३४
₹	वश्याजः	९.१४१
Ę	वैश्यात् १०	९.१४१ २.२३, ६४, ११९
૭	वश्यानाम्	२.१३० [१४४];
Ę	३.१९७	
9	वश्यान्	१०.११, १७

## मनुस्मृति

वेश्यापुत्रः	९.१४३	शतगुः	99.98	शरषम्	६.८४
वेश्याम्	<b>८.३</b> ८२	शतगुजः	२.६० [८४]	शरणागतम्	११.१९८
वेश्याय	९.३२७	शतवण्डः	5.7 <b>%</b> 0	शरणागतहन्तृनु	99.980
वैश्वे	८.२६८, ३८४;	शतमानः	5.280	शरणेष्	<b>६.२६</b>
99.9२६		शतमानम्	<b>५.२२०</b>	'शराव <i>॰</i>	६ ५६
वैश्ववेवम्	३.५३, १२१	शतवर्षम्	२.११० [१३४]	शरीरकर्पणात्	७.११२
वेशवदेवस्य	₹.58; ४.95₹	शतायुः	३.9⊏६	शरीरजैः	92.9
वैश्ववेवे	३.१०⊏	रातेशः	७.११७	शरीरतः	१२.१४
वैश्वानरीम्	११.२७	शतेशाय	७.११७	शरीरम्	9.9७;२.9६७
व्यूह्य	७.१९१	शत्रवः	8eP.≂ ; ₹e.e		४१; ११.२०२,
ब्रीहियवैः	३.२६७	रात्रुकुलम्	<b>८.</b> ९३	<b>२२९</b> ; १२.१६	
शंसितव्रतः	9.908	शत्रुषिः	७.१६८, १७९	शरीरशुभूषाम्	
शकटेन	७.१८७	शत्रुषु	७.३२; १२.७०	शरीरसंस्करः	
शकलाभ्याम्	9.93	शत्रुसेविनी	७.१८६	शरीरस्य	२.४१, २१९
शकलेन	६.२⊏	शर्त्रोः	७.१४४	[२४४]; ४.३	£.30; 39,
शकाः	90.88	शनकै: ३	.९२, २२४, २२८;	देद: दं.६९, ३	
शक्नान्	<b>४.</b> ११	9.90E,	994; ७.9७२;	शरीरात्	9.5
_	४.१३०: ६.७८,	\$8.0P		शरीरिणः	9.43
<b>9</b> २.६३		शनैः	३.२१७, २१८	शरीरिणम्	१२.२४
शकुनिकान्	<b>5.२६</b> 0	शपषम्	<b>⊏.</b> 990, 999	शरीरिणाम्	9.58; \$.58;
शक्तः	२.८४ [१०९],	शपवाः	5.990	92.998	
९.२०७: ११.	9	शपवे	<b>⊏.११२, ११</b> ४	शरीरेज ८.१७	); १२.१७, <b>८</b> १
शक्तितः ः	२.१४२ [१६७]	शपवेन	<b>5.90</b> €	ंशर्करा	<b>5.</b> २५०
३.३१, ७१,	२४३: ४.२९.	शपयैः	<b>5.9</b> ९0	शर्मवत्	२.७ [३२]
	.=६; ६.७, १९,	शकस्य	११.१६=	शर्वरी	9.88
३६: ८.४	<b>৭: ९.२७४</b> :	राव्यः	9२.९८	शस्यकः	१२.६४
99.99३, २३	२५	शब्दम्	<b>१.७४; २.९९</b>	शल्यकम्	४.१८
शक्तिमान्	१०.९=	[978]; 9	१.१०५	शस्यम्	<b>⊏.</b> १२
शक्तिम्	७.१०, १६:	शबस्य	१०.१२२	शस्यवतः	९.४४
	१२४; ११.२०९	शबेभ्यः	9.29	शवः	९.१७८
शक्तेन	१०.१२९	शमीवल्लीर	यसानि ८.२४७		५.६५; १०.५५
शक्त्या	२.२२० [२४४];	शमे	9२.९२	शवशिरः	११.७२
	०२; १०.११८;	शम्यापाताः	<b>८.२३७</b>	शवस्पृशः	५.६४
११.२४४	•	शयनम्	₹.9७	शशकूर्मयोः	३.२७०
शक्रलोकभाक्	<b>۳.३</b> ६६	शयनस्यः	४.७४	शशवत्	७.१०६
शाङ्कुः	<b>५.२७</b> १	शयने	<b>5.३७</b> २	शस्त्रम्	८.३४८
शङ्खपुष्पीभृत	तम् ११.१४७	शयानः	२.१७० [१९५	शस्त्रविक्रयिणः	४.२१५,
शङ्खभृगणा		शयानस्य		२२०	
शठे	४.१९६		९४ [११९], १७३	शस्त्रभृताम्	११.७३
शवः	७.१२३	[१९८]; ९.	.१७; १०.५६	शस्त्रभृत्	७.२२३
शवन्	४.३०	शय्याम्	३.१०७: ४.२५०	शस्त्रम्	१०.८८
शजतान्तवी	२.१७ [४२]		r: २.९४ [१ <b>१९</b> ]	शस्त्रवृत्तयः	१२.४४
<b>'श</b> णसूत्रमयम्	२.१९ [४४]	शरः	88.6		.३२५; ९.२९३
• 3	• •				

शस्त्राणि	७.२२२
शस्त्रावकाशकान्	९.२७=
शस्त्रास्त्रभृताम्	90.09
आस्त्रेच ४ ९२२	
शस्त्रेष ४.१२२ शस्त्रेः	۱, ۱۶, ۱۱۲ ۲, <b>९</b> =
शाक मूलफलानाम्	x. 998
भाग मूलकलावान्	
शाक मूलफलेन	<b>६.४, १</b> ४
साम मूलफलपु	5.339
शाकम् २.२	२१ [२४६],
<b>५</b> ५०	
शाकलहोमीयैः	११.२४६
शाकानि	६.१३
:शाकुने <b>न</b>	३.२६८
शाखान्तगतम्	३.१४५
शाज०	90.50
शानक्षीम०	२.१६ [४१]
शान्तात्मा	9. 43
शान्तिहोमान्	४.१५०
शारङ्गी	९.२३
शारवैः	٠६.٩٩
	९: =.२७३:
९.२३६: १२.७	
शारीरस्य	४.११०
शालयः	9.39
शास्मलीन्	<b>5.28</b> €
शाल्मलीफलके	८.३९६
शाल्मलीम्	8.90
शावम् े ५.४	
शावाशीचस्य	४.७४
शास्वतः	9.900
शाश्वतम् १	.93. 997:
<b>शाश्वतम्</b> १. २.१२१ [१४६	1. २१९.
[२४४]; ४.२३२	₹: ५.३६:
6 00	0 2 3
शाश्वतान १.	995: 8.9
शाश्वतीः '१.९	=: 3.98€·
६.६०; ६.६; ५२. शाश्वतान् १. शाश्वतीः '१.९। ४.२४९; ७.४; ९.	30
शाश्वतीम्	७.४३
शासनम्	<b>९.२६२</b>
शासनात्	\. ₹
शासनात् शासने	
	<b>む</b> ξ.む .[₽₽1⊊] △
	o [२।११];
'97.900; 97.90	, १ <b>७६</b>

9.242 शास्त्रतः शास्त्रदृष्टैः 5.3. शास्त्रम् १.४८, ४९, १०२, 908, 998, 8.20; ६.55; 99.283: 92.88. १०५, १२६ शास्त्रवर्तिनः 8.50 शास्त्रविदः **08.0** शास्त्रस्य 92.909 शास्त्राणि 8.99 शास्त्रे 9.995, 934 [3198] शिखाजटः २.१९४ [२१९] शिष्रकम् **६.9**४ शिफाः 5.369: 9.230 शिरः 7.3x [ \$0]. 939 [944]: ४.८२, ८३ शिरसि 8.53 शिरांसि 5.998 शिरोषि **5.2**₹ शीलः 90.997 शिलानु 3.900 शिलाफलकनौष 2.909 [२०४] शिलोञ्खभ्याम् 8.90 शिलोञ्च्छेन 9.33 शिल्पम् 90.998 शिल्पानि २.२१४ [२४०]: 90.900 शिल्पिनः ७.१३८: १०.१२० शिल्पिशः ७.१७४ शिल्पेन 3.58 शिल्पैः 9.94 शिल्पोपचारयक्ताः 9.249 शिवसंकल्पम् ११.२५० शिशः २.१२६ [१४१] १२७ [१४२]: ८.६६ शिश्चान्द्रायणम् 99.298 शिशोः २.९ [३४] शिश्नवृषणी 99.908 शिष्टसम्मताः 3.39 शिष्टाः 97.905. 908 शिष्टेव ३.४१

शिष्ट्रपर्यम् 8.988 शिष्यः २.१६३ [२०६]; २१७ ሂ.६ሂ; [282]: 5.390; 8.950 शिष्यम २.४४ [६९], ११४ [980]: 8.998 शिष्यर्त्विग्बान्धवेच X.59 शिष्यानाम् 8.909 राष्यात् ४.१६४, १७५; <. २९; ९.२७२; ११.३१</p> शिष्यानु 8.90X शिष्येच 5.90 शिष्येभ्यः 9.903 शितातप० १२.७७ शीते 99.993 शीर्षेः **६.२9** शीलतः ६.=२ शीलम् १०.५९, ६० शकसारिके **x.9**2 श्के 99.938 श्वतके 8.939 श्कतम् 8.299 शुक्तानि २.१४२ [१७७]; 99.943 श्वतेष ५.१० २.१४६ [१८१]; श्क्रम् **४.६३. १३**४ श्क्रे 3.89 राक्तः 9. ६६: ६.२० शुक्लपक्षाविनियतः ११.२१७ श्कलवस्त्राम् 9.00 श्वनाम्बरः ¥.34 श्वले 99.298 श्वलेषु 8.95 श्चयः 9.955 श्राचिः १.७६: २.८४ [१०९], २६ [५१] ८२ [१०७], १५१, [96]; 3.74=; 8.34; ४.६२, १०६, १३०, १३१; ७.२२; ७.६४; ८.८७, ११४; **4.33** × शचिना 9.39 श्चिम् २.९० [११४];

३.२०६; ५.१४	(3: ७.६३
शुचित्रताम्	ે ૧.৬૦
	3- 5- 53
शुचीन् ७.	३८, ६०, ६२;
5.50	
शुची २.१९७	[२२२]; ५.६८
शुच्यः	5. <b>9</b> 9
राुंब:	४.७७, १२९
शुद्धये	€.₹0
शुद्धवत्यः	99. <del>२४</del> ९
शुद्धवधेन	९.२७९
शुद्धाः	४.१२=
शुद्धाम्	٧.٩٩
शुद्धिः ५.६	७, ७१, १११,
994, 998,	११७, ११९,
929; 99.98	3
	ì. १. १. १.
१३६; १२.१६	
शुद्धिषु	४.२३४
,7 <del>a</del> /	.१३४ [१६०];
५.१०५, ११०	
शुद्धयतः	₹.9३२
शुद्धवर्षम्	99.999
शुनः	₹.२३०; ⊑,९०
	¥.20=
राुना	
शुनाम्	३.९२
	२४९; ९.३३६
	२.८७ [११२]:
90.939; 99	.२३१
शुभ्रम्	७.७६
राजा	९.२४
शुभान्	97.54
	92 =>
शुभानाम्	१२. <b>६४</b> ;[२६१] ६१२.
	24314351
शुभाम् २	. /   4 [   4 - ],
७.१४४	
७.१४४ <b>शुकाशुक्रम्</b>	97.3.5
७.१४४ <b>शुकाशुक्रम्</b>	٩ <b>२.</b> ३.८
७.१४४ शुकाशुक्रम् शुक्रे	9२.३.= १२.३६: ७.१=२
७.१४४ शुक्राशुक्रम् शुक्रे शुक्रेषु	9२.३.६ ४.३६: ७.१६२ <b>5.२९७</b>
७.१४४ शुभाशुभम् शुभे शुभेषु शुभेः ४.१०	97.3.5 3,36; 0,957 5,780 5,780; 0,78
७.१४४ शुभाशुभम् शुभे शुभेषु शुभेः ४.१०	97.3.5 3,36; 0,957 5,780 5,780; 0,78
७.१४५ शुकाशुक्रम् शुक्रे शुक्रेव शुक्रेः ५.१० शुक्लकः शुक्लकम् ३.	9२.३.८ ४.३६: ७.१८२ ४.२९७ ४.२४ १.९७ ४१, ४३, ४४:
७.१४५ शुमाशुमम् शुमे शुमेषु शुमेः ५.१० शुस्कवः शुस्कम् ३. ३०७, ३६६,	9२.३.८ ४.३६: ७.१८२ ४.२९७ ४.२४ १.९७ ४१, ४३, ४४:
७.१४५ शुकाशुक्रम् शुक्रे शुक्रेव शुक्रेः ५.१० शुक्लकः शुक्लकम् ३.	9२.३.८ ४.३६: ७.१८२ ४.२९७ ४.२४ १.९७ ४१, ४३, ४४:
७.१४५ शुमाशुमम् शुमे शुमेषु शुमेः ५.१० शुस्कवः शुस्कम् ३. ३०७, ३६६,	9२.३.८ ४.३६: ७.१८२ ४.२९७ ४.२४ १.९७ ४१, ४३, ४४:

शुल्कस्थानम् 5.800 शुस्कस्थानेषु ८.३९८, ४०० श्भूषा २.२०४ [२२९], २१६ [२४१]; ७.८८; ९, २८, 338 शुभूवाम् 9.89; २.5७ [997], २१० [२३४], 90.99 **श्र्युवः** २.५४ [१०९], १९३ श्ष्कवैरम् 8.939 शुष्काणि 99.988 शुष्कान्नस्य 99.988 शुष्काम् 99.34 92.44 शुकर० 9.998, 983 श्वः [२।२४]; २.३७ [६२], १०१ 997 [930]; [१२६]. ¥.२95; ¥.53, ९९; 5.20, २१, ३७४, ४१४, ९.९८; १०.४, ३०, ६४, ९९, १२१, १२९; ११.६६; १२.७२ श्रुद्धकन्याम् 90.5, 8 शुद्रजनसन्निधौ 8.99 **३.9**५; ४.२४५; श्रुवताम् 90.44 शूद्रत्वम् २.9४३ [9६८]; ११.९७ शूद्रभूयिष्ठम् 5.22 9.39: 7.907 शूद्रम् [१२७]; ४.९२; ८.८८, ११३, ४१०, ४१३ 88.E श्रूया 3.905 श्रुवयाजकः शूद्रयोः 3.73 शूद्रराज्ये 8.89 २.७८ [१०३]; शूद्रवत् ८.१०२, ३७७ शुद्रविट्क्षत्रविप्राणाम् ८.१०४ शूद्रवृत्त्या 90.95 शुद्रशिष्य० 3.944 शूब्रसंस्पर्शद्विता x.908 श्रुद्रसेवनम् 99.58 9.99; 7.9 [37]; शूद्रस्य

३.१३; ४.२११, २२३; ६.२; ३३७: **८.२६७**. 9.949. १७९, , ३३४; 90.923: 99.93, 234 श्वहत्यावतम् 99.939. 980 सूब्रहा 99.930 शुद्धाः ३.१३, १४; ८.६८: 90.930; 93.83 शुद्राणाम् २.१३० [१४४]; **३.**9९७; **4.980;** 5.85; 90.89; 99.87 श्कात् 5.890; 90.9**2**, 98, 95, 990; 99.2**%**, 82 **७.**9३=; ९.२२४; शब्रान 90.90 शुद्रापत्यैः 83.5 श्रुद्धापुत्रः 9.944 श्रूबापुत्राय 9.948 ३.१७; ८.३८४ शूब्राम् श्रुवाय श्रायाम् ५.३५३; ९.१७५; १०.१८, ६४ **९.१४१, १**४३ श्रास्तः शूब्रावेदी ₹.9€ श्रुवे **5.755; 90.975**; 99.925 • ২.৭४७ [৭७२]; श्रुद्रेन ४.१०४, १२९ श्रुवेष 8.243 श्रुबोच्छिष्टा 99.985 शन्यगेहे 8.40 शून्यानि **९.२६**४ भ्रम ७.२१० श्र्रसेनकाः १.१३८ [२।१९] शूरसेनजान् ७.१९३ 4.29 श्रापाम् ७. ५४, ६२ श्रान् शले ७.२०; ९.२७६ शेलुम् ¥. E शेवधिः 7.58 [998] शेषभुक् 3.990 शेषम् ३.२१८; ४.७४;

६.१२; १२.२०४	श्यामः ७.२४	िध
शेषाः ३.४७; ९.१०५, १२४	श्मशानान्ते ४.११६	٧.
शेवाचाम् १.१०२; ९.१६३	रमशानेषु ९.३१८; १०.५०	भि
शेषात् ३.२१४	श्मभुः ४.३४; ६.६, ४२	श्री
शेवे ४.१०६; ८.२९०,	रमभुतः ११.१०४	भी
३२०, ३२२	श्मभूषि ५.१४१	भु
शेषेतु न्य.२०।	श्यावदन्तकः ३.१४३	¥
शिखः १०.२१	श्यावदन्तताम् ११.४९	भ्
शेलान् १.२४	<del></del>	भ्
शैलूवतुन्नवायः ४.२१४	रयनजावा २.१६० रयनजासी ११.१३४	भ्
शोक ६.३२, ७७	श्रद्धधानः २.२१३ [२३८];	প্
शोकम् ९.५	४. <b>१</b> ५८; ११.३९	٧,
शोषितं ४.१६८; ६.७६	<b>भद्र</b> या ३.२०२; ४.२२६	भू
शोजितम् ४.१६८:	श्रद्धा ३.२४९	9:
99.200, 205	श्रद्धाकृते ४.२२६	(२
शोधनम् १.११४; ११.१२४	भद्धानतया ७.८६	9
शोधनात् ९.२५३	श्रद्धापूतम् ४.२२४	Ϋ.
शो <b>धनैः</b> ११. १६०	भद्धासमन्वितः ३.२७४	भू
शोध्यम् ५.१०८	श्रमम् २.१४३ [१६८]	9,
शीच॰ ४.९७	भ्रमार्तः ८.६७	भू
शीचकल्पः ५.१४०	<b>भ्रमेण ९</b> .२० <b></b>	भ
शीचपराः ३.१९२	श्रवणात् ८.७४	भू
शीचम् १.११३; २.४४	<b>भवणी</b> २.११९ [१४४]	[3
[६९], २१४[२४०]; ३.१२६,	भाद्धकर्मीण ३.१८७	भू
₹ <b>₹</b> ₹; ₹. <b>९</b> ₹, 900, 99¥,	श्राद्धकर्मस् ३.२४४	भु
99=, 930, 939; €. 43,	भाद्यकल्पम् १.११२	भु
<b>९</b> २; १०.६३; ११.१८३;	श्राद्धवेवानु ३.२१३	[9
92.39	श्राद्धमुक् ३.२५०; ४.१०९	भूत
शीचविधिः ५.१४६	भाद्धमित्रः ३.१४०	
शीचस्य ४.११०	श्राद्धम् ३.१२२, १२३,	भृ श्रे
शीचानाम् ४.१०६	934, 984, 944, 208,	भे
शीचे ४.१७५; <b>९.</b> ११	२२२, २४७, २४९, २८०,	[२
शीचेन ४.१४८	२६१, २६२; ४.१३१	ر ا
शीचेप्सु २.३६ [६१]		भे
शौण्डिकान् ९.२२४	<b>भारतस्य</b> ३.२७८ <b>भारतान</b> ३.१३९	श्रे
शौण्डकानाम् ४.२१६	भाद्धिकम् ४.११६, ११७	श्रे
शीबः ९.१६०	श्राद्धे ३.१३८, १४४, १४४,	90
शीनकस्य ३.१६	१४१, १९१, २२०, २३४,	ओ
शीनम् ५.१३	734, 765	ओ
शौर्यकर्मापदेशैः ९.२६८	भारोन ३.१४०	भे
शीर्यम् ७.२११	भारतेष ३.१३९	भे
राग्यू १०.२९	<b>भादै</b> : ३.८१	ज्या श्रो
रमशानान्तः १.१३४	भावण्याम् ४.९४	श्रे
[२।१६]	<b>भियः</b> ९.२६	भ
[ , , , , , ]	3.14	74

शयम् **२.२७ [४२]**: .930, 239 मये ₹.5९ lt: 9.99: **9.3**00 ोफलैः **4.930** तम् 5.293 तय: 9.99 तवृत्त० 9.288 तुन्ते ७.१३४ तशीले 99.22 तस्य २.१२४ [१४९]; .9= तिः १.१०६, १२६ [२।९], २९ [२।१०], 932 रापदी पद्य (राप४), **३४ [२।१४]; ३.२**८४; .१४५; ७.९७; १२.१०९ (तिचोदनातु २.१० [३४]. ४४ [१६९] तिहैघम् 9.32 तिनिवर्शनात 99.88 तिप्रामाण्यतः 9.939 215] तिशीलवते 3.70 तीः **६.२९: 99.33** . (तोपक्रियया 2.928 १४९] (तौ 9.98 . |गालयोनिम् ४.१६४: ९.३० **जीधर्मान्** वि: २.१३४ [१४९], १९८ २२३], १९९[२२४]; ४.९१, ሂട यःस् २.१६२ [२०७] 9.958 यसः यसा २.९४ [११९]: 0.40 यस्करतरम् 92.58, 58 यस्करम् 9.55 90.55 यस्त्वम् यांसः 8.49 यांसम् **5.9 4** यानु 5.900; 90.99**२** ायसीम् 90.58

श्रेष्ठः	5.59	श्ववताम्	४.२१६	च्छीवनैः	४.१२३
श्रेष्ठताम्	४.२४५	श्वविष्ठायाम्	१०.९१	संकरजातानाम्	
श्रेष्ठम्	१.१०६;	श्ववृत्तिः	₹.₹	संकरीकरणम्	99.85
९.२९७		श्ववृत्या	8.8	संकरे	90.80
भेष्यः	१.९६; १२.१०३	श्वभूः ः	२.१०६ [१३१]	संकल्पजाः	9.922 [२1३]
श्रेष्ठ्यम्	92.35	<b>रवरश्रृगालख</b> रैः	: ११.१९९	संकल्पम्	२.११५ [१४०]
श्रेष्ठ्यात्	90.३	श्वसुर:	३.११९	संकल्पमूलः	9.927 [२।३]
श्रेष्ठ्येन	9.900	श्वसुरम्	३.१४८	संकल्पसम्भवा	9.9२२
भोत्रम्	२.६५ [९०]	श्वसुरान् ः	२.१०४ [१०३]	[२।३]	
भोत्रादीनि		<b>श्वसूकरनिपा</b> ते	<b>न</b>	संकििपतान्	9.928 [२।४]
	[३.१२०, १३७,	<b>श्वसूकरमुख</b> ०	<b>⊏.२३९</b>	संकीर्णयोनयः	१०.२४
१८४; ७.	१३३, १३४; ८.६४,	श्वहतम्	<b>५.२३२</b>	संकीर्जानाम्	9.99६
३९३		श्वा २	.१७६ [२०१];	संक्षेपेण	७.१५७
भोत्रियम्	⊏.३९३, ३९४	३.२३९, २४	४१; ५.१३०;	संक्रमध्यजयब्द	ीनाम् ९.२८४
भोत्रियस्ट		७.२१; १२.६३	२	संख्याने	€.800
भोत्रियस्य		श्वावित्	१२.६४	·संख्याय	<b>८.३</b> ६
श्रोत्रियाना	म् २.१०९ [१३४]	श्वाविधम्	ሂ. 9 =	संगतः	<b>८.३७</b> ८
भोत्रियात्	१०.१३३	रिवत्रि	₹.७	संग्रहः	३.१३⊏
भोत्रियान्	४.३१	रिवत्री	३.१६१, १७७	संब्रहणम्	⊏.३४६, ३४७,
श्रोत्रियाय	३.१२⊏	रवैत्र्यम्	११.५७	3 X =	
श्रोत्रिये	४.८१	षट्कर्म०	8.9	संब्रहणे	<b>5.3</b> ₹ . =
श्रोत्रियेषु	द.३ <b>९४</b>	षट्पदा	७.१२९	संब्रहम्	७.११४
श्रोत्रे	२७१; १२.१२१	षड्ऋतून्	३.२१७	'संब्रहे	७.११३; ९.११
श्लक्ष	२.१७ [४२], १३४	वड्गुणान्	७.१६०	.संग्रहेष	5.399
[१४९]		चडड्वित्	₹.9=४	संग्रामात्	9.59
रलक्ष	=.३९६	वड्भागः	50€.	संग्रामे	७.९४, १९९
	यूतवान्तानि ४.१३२	चड्भागम् ५	9.939; 5.33,	संग्रामेषु	. ७.६६
रलेव्मा	¥.9₹¥	३४, ३०४		संगान्	६.३३, ८१
श्लेष्मातक			म् ८.३०८	संगे	७,इ.४
श्लीपदी	३.१६४		.१८४; ९.१९४	संगेभ्यः	۳. <b>६</b> ४
श्वक्रीडी	३.१६४		१.१३३ [१४८];	संचयनात्	४.४९
श्वखरोष्ट्रे		<b>३.२३९</b>		संजीवनम्	४.८९
श्वगर्वभम्		चण्डस्य	४.२११	संजा	१.४९; ८.१३१
रवगृधैः	₹. <b>१</b> १४′	चण्डे	99.933	संततिः	<b>३.२</b> ४९; ११.४
रवगोधा	99.939.	चण्मासान्	३.२ <b>६९</b> :	संवाता	=.३४२
श्वजाधनी		११.१३०		संदितानाम्	<b>⊏.३४</b> २
श्वनकुलस		<b>चच्छान्नका</b> लता	११.२००	संध्ययोः	४.५०
श्वपचाना		वष्ठे	२.१२ [३७]	संध्ये	<b>=</b> .=
श्वपचाम्	<b>३.९२</b> .	वाङ्गुणसंयतम्		संघ्योपासनाम्	२.४४ [६९]
श्वपदम्	९.२३४	वाङ्गुण्य०	७.१६७	संनिधातृन्	९.२७=
श्वपाकः	१०.११९	<b>चाण्मा</b> सिकः	७.१२६		.४, ९६; =.१=२
श्वभि:	४.१३१; ६.४१;	षोडशीम्	२.६१ [८६]		9.99¥
5.₹ <b>9</b>		'चोडशे	२.४० [६४]	संन्यासिकानाः	
श्वमांसम्	१०.१०६	ष्ठीवनम्	४.५६	संन्यासेन	४.१०८; ६.९६

संपी कः	97.05	संसारम्	<b>Ę.</b> ७४	संख्यया	<b>5.</b> ९७
संप्रवेतारम्	હ.૨૬		१.३९, ४२, ४४,	सख्यादीन्	3.993
संप्रतापनम्	४. द ९	90		संख्यः	99.4=, 900
संप्रीत्या	३.99३; =.9४६	संसारे	१.५०	सगोत्रात्	4.990
संप्रमे	8.99=	संसृष्टः	9.45	संडकरः	99.924
संभावजम्	<b>⊑.</b> ३६0	संसृष्टरूपम्	<b>5.</b> ₹0	संड-करम्	९.६७
संभाषा	<b>⊏.३६</b> ३	संस्कर्ता	<b>५.</b> ५१	सडकरे	<b>⊏.</b> ₹४९
संभाषाम्	<b>⊏.३६</b> १, ३े५४	संस्कार०	२.४२; ३.४३	सङ्गजान्	9 <b>२</b> .9=
संभूतिम्	२.१२२ [१४७]	संस्कारकर्मीण		सङ्गतानि	3.980
संभेदे	<b>≒.</b> ३४६	संस्कारम्	७.२; ९.१७६;	सङ्गरे	8.929
संमार्जन०	४.१२४		६; ११.१४०		७.२९; ११.२३६
संमोहात्	છે. ૧ે૨	संस्कारविधिम्		सचिवः	७.१२०
संयतात्मानः	99.236	सस्कारस्य	ी १०.३	सचिवानु	9.48
संयताम्	<b>≒.३६</b> ४	संस्कारार्थम्	२.४१		(.१०३; ११.२०२
संयम:	92.53	संस्कारेण	११.१४६	सजाति जाः	90.89
संयमे	२.६३ [८८]	संस्कृतात्मा	२.१३९ [१६४]	सजात्या	९.⊏७
संयम्य	२.७५ [१००];	90.990		सजात्येषु	5,350
92.99		संस्कृतान्	४.३६; ८.४१२	सञ्जनगर्हित	
संयुक्तान्	७.२१४	संस्कृतायाम्	९.१६६		४.१०६; ५.=२
	६२, ६४; १२.६०	संस्था	9.39	सताम्	२.१९२ [२१७];
संयोगात्	4.993	संस्थाने	<b>८.३७</b> १		995; ४.9७5;
संयोगे े	٩.٩	संस्थानैः	<b>९</b> .२६१		३, १४१; ९.४७;
संरध्यमाणः	७. १३६	संस्थितस्य ः	१.२४७; ९.१९०	90.920	
संरम्भात्	४.१६६	संस्थितायाम्	<b>९.१९</b> २	सती	. ९.९०, १७३
संवत्सरः	<b>⊏.३७३, ३७</b> ४	संस्थितिः	९.१४	सत्	9.99, 98, ७४;
संवत्सरम्	३.२७१; ९.७७;	संस्थिते	• <b>乂.</b> 乂드	90.58; 9	
99.985		संस्पृष्टः	४.१४३.	सत्कारम्	३.१३७
संवत्सरस्य	४.२१	संस्पृष्टम्	४.१२३	सत्कारेषु	३,४९
संवत्सरात्	९.७७	संहतस्य	७.१६४	सत्कृतम्	३.२६४
संवत्सरे	४.७६	संहतान्	७.६६, १९१ <sup>.</sup>	सिंत्क्रयाम्	३.१२६
संबत्सरेण	११.१८०	संहताभ्याम्	४.≒२	सत्पुत्रः	९.१५४
·संवासे	<b>⊏.३७३</b>	संहातम्	४.८९	सत्प्रतित्रहः	१०.११४
संविद:	<b>۵.</b> ٤	<sup>.</sup> संहारः	9.50	सत्यधर्मः	४.१७५
संविदम्	<b>⊏.२</b> १९	संहिताजपः	११.२००	सत्यपूताम्	६.४६
संविभागः	४.३२	संहिताम्	११.७७	सत्यम् प १	.59; २.४5 [5३]
संविताङ्गः	४.४९; =.२३	सकच्छपाः	१२.४२	४.१३८; ६	.९२; ६.१४, ४५,
संवृतसंवार्यः	७.१०२	सकलः	१.८१	<b>৬४</b> , <b>८</b> ९,	<b>८३, ८८, १०९</b> ;
संशय:	२.६२ [८७];	सकलाः	१२.२००	१०.६३; १	१.१९६, २२२
5.2X3; <b>9</b> .	.१२२; १२.११२	सकाकोलम्४.		सत्यवादिनम्	
संभयः	७.१६८	सकामाम्	८.३६४, ३६८	सत्यवादिनि	
संसदि	۲, ۲۲	सकुल्यः	9.950	सत्यसग्धेन	
संसर्गः ९.१	₹: <b>११.</b> ४४, १ <b>८</b> १	सक् <sub>रस्</sub> नायी	99.298	सत्यसाक्षिण	
संसर्गान्	६.७२	सक्तेन	<b>૭</b> . ३૦	सत्या	२.१२३[१४८];
संसार०	१.११७; १२.५१	संखा	₹.990	5.9 <b>5</b> 8	

सत्यात्	<b>5.90</b> 8	सन्धिवपर्ययौ	७.६४	सप्ताङ्गस्य	९.२९६
सत्यानृत०	¥.¥, Ę	सन्धिवेलायाम्	۷. ५ <u>٠</u> ۲. <u>५ ५</u>	सप्ताहात्	5. 1 0 F
सत्ये	°.°, ¢ ९.६९	सन्धिष् सन्धिष्	c. २४८, २५१	स <b>बलवाहनम्</b>	<b>9.393</b>
	۰۰۲ , ۳.۶۲, ۳۰	सन्तम्	¥.7×x	स <b>बा</b> न्ध <b>वः</b>	9.999
53, 993, 9°		सन्तानस्य	९. ४ <b>९</b>	सबान्धवम्	७. १ <b>१</b> १ ७.२=
सत्वचः	२.२२ [४७]	सन्तानस्य सन्तानार्थम्	۱. ۲ ۱ ۹. ९ ६	सबहमचारि <b>णी</b>	४.७ <b>१</b>
सदः	4.44[00] 5.289	सन्तुष्टः	२. ५० ३. ६०	स <b>मा</b>	۲.٥١ ۳. <b>९</b> ٤
सरकाषम्	99.3	सन्तोषम्	¥.43 ¥.92	संभान्त ०	9.09
	939 [२।१२],	सन्तोषमूलम् मन्तोषमूलम्	¥.9 <b>२</b>	सभाप्रपा•	9.758
930 [२।१८]		सन्धः	७.१६३		9.98X; =.9 <u>,</u>
सदाचारम्	<b>'</b> ሄ. <b>੧</b> ሂሂ	सन्धिनीकीरम्		90.99, 93	
सदाचारवान्	8.925	सन्ध्ययोः	२.४३ [७ <b>८</b> ];		१२, १४, १८,
सदे	<b>5.9</b> ¥ 9	₹.२=0; ४.9		98	, . , . ,
सबुशस्त्रीच्	९.१२४	सन्ध्यांशः	9.59	सभृत्यस्य	७.१४३
	1.930 [319];	सन्ध्या	9. ६ ९	सभृत्येन	કે ફે
	. x. y.98x;		६ [१०१], ७७	सम्बैः	5.90
E. 8 ; 9. 29,		[907]; 8.93		समक्षदर्शनात्	5.98
	२.२१९ [२४४]		२.१९७ [२२२]	समक्ष्यु	<b>⊏.२</b> ४४
सब्रघ्यः	٩.२४٩		२.१८० [२०४]	समब्रधनम्	5.350
सद्विगर्हिता	99.43	सपत्नान्	8.908	समद्रमलहोरकम्	5.305
सद्विगहितैः	३.४६	सपरिच्छेदः	९.२४१	समञ्जसम्	<b>5.93, २</b> ४६
सद्कृतम् २	.२१४ [२३९];	सपरिच्छवम्	११.७६	समता '	€.88
90.925			७.४०; ९.२७४	समताम् ८.१	७८: ५.२१८:
सधर्माषः	१०.४१	सपरिवृंहणः	१२.१०९	१२.१२५	
सस्व०	१२ ३७	सपरिष्ययम्	७.१२७	समतिक्रमे	११.२०३
सत्त्वम् १२	.२४, २६, २७	सपवित्रम्	३.२२३	समिन्नप्ताम्	४.४२
सस्ववृद्धिकरः	४.२५९	सपवित्रान्	३.२१०	समम् ३.	१०७; ५.३२;
सत्त्वस्य	१२.३८	सपशुद्रव्यसंचय	<b>ा</b> म् ७.९	९.१०४, १९२,	२१२, ३११;
सत्वानाम् १९	१.१४०, १४३;	सपादम्	=.२४१	११.५७	
१२.५६		सपानः	5.280		१३४ [२।१४]
सत्सु	४.२५५	सपालान्	<.२४२	समयक्रियाम्	७.२०२
सत्रम्	5.303	सपिण्डता	४.६०	समयभेदिनाम्	5.295
सत्रिणाम्	४.९३	सपिण्डात्	९.४९, १८७	समयम्	१०.५३
	१.७; ४.१३८;		२.२२२ [२४७]	समयय्यभिचारि	<b>गम्</b> ६.२२०,
७.९८: ९.६४,		सपिण्डेषु ४.	४९, ६१, १ <mark>००</mark>	२२१	
सनातनम् १.२३	२, २ 🕏 ६.७९:	सपिण्डैः	99.9=2	समर्थम्	४.१८६
१२.९४, ९९		सपुत्रः	१०.१०७	समवर्णासु	९.१५६
सनातनी	३.२८४	सप्तकम्	११.२५४	समवर्षे	= २६९
	.७२: ९.१९२,	सप्तकस्य	७.४२	समवाये	४.१०६
<b>२</b> 9२		सप्तत्या	<b>⊏.३९४</b>		.११४ [१३९]
सनाभ्यः	४.८४	सपद्वारावकीर्णा		समस्तयोः	३.⊏४
सन्धिम् ७	.१६०, १६१,		२.१६२ [१८७];	समस्ता	<b>∽.२</b> ४४
१६२, १६९, २		११.१५२		समस्तानाम्	७. ५७
सन्धिवत्रहम्	9. <u>५</u> ६	सप्तरात्रेष	१०.९३	समस्तेः	७.१४९
		सप्ताङ्गम्	९.२९४		

समाख्याता ७.१४६	समुद्रे ८.१८८, ४०६	सरहस्यानाम् ११.२६२
समानतम् ७.९२	समुद्रेष ९.२२	सरान् ८.२४७
समागमम् ९.२६८	समूलः ४.१७४	सरितः १.२४
समागमे ११.८३	समृद्धः ८.१७०	सर्गः १.५०
समाजाः ९.२६४	समृद्धानि ३.६, ६६	सर्गस्य १.८७, ९३
समावेयानि २.२१५ [२४०]	समृद्धेषु ३.९८	ंसर्गे १.२९
समानंशान् ९.११६	समेतानाम् १२.११४	<b>सर्पः</b> ४.१२६
समानजन्मा २.१८३ [२०८]	समेषु ८.७३	<b>सर्पम्</b> ४.१३५; ११.१३३
समानयानकर्मा ७.१६३	समैः ९.२८७	<b>सर्पाः</b> १.४४; १२.४२
समानशयने ४.४०	समोत्तमाधमैः ७.५७	सर्पादीनाम् ११.१३९
समानि १.२४; ११.५५	समी १०.७३	सर्पान् १.३७
समानोदकभावः ५.६०	सम्पदः ३.२४४	्र <b>सर्पिः</b> ११.२१२
समान्ते ४.२६	सम्पन्नः ७.२००	सर्पिषा ११.११९
समापनात् ५.८८	सम्पन्नम् ३.२५४; ७.७५	सर्पिषाम् ४.२३३
समाप्तिकम् ३.१४५	सम्पन्ना ९.८२	सर्वकण्टकः ९.२९२
समाप्ते २.२१९ [२४४];	सम्पन्नानाम् ९.११५	सर्वकर्मचु ९.३१९
¥.55; 99.59	सम्पूर्णः १.१०९	्सर्वकामानाम् २.७० [९४]
समाम् ८.३६६	सम्प्रवाता ९.१८६	सर्वकार्याणाम् ७.१७८
समावृतः ३.४; ८.२७	सम्प्रवानम् ७.१४२	सर्वकार्याणि ७.५९
समाश्वस्तः ७.५९	सम्प्रयुक्तान् ११.१७९	सर्वजन्तवः ३.७७
.समासतः १.६८, ८९:	सम्बन्धा २.१०४ [१२९]	सर्वज्ञानमयः १.१२६ [२.७]
७.१४६	सम्बन्धान् २.१५ [४०]:	सर्वतेजमयः ७.११
समासीनः २.७७ [१०२]	8.588	<b>सर्वदण्डः</b> ९.३२३
समासेन े १.१४४ [२।२४]:	सम्बन्धिनः ४.१८३	<b>सर्ववण्डम्</b> ८.२८७
३.२०; ४.१६०; ७.२०२;	सम्बन्धिबान्धवैः ५.७४	<b>सर्वद्रय्याणि</b> ७.९६, २१८
९.१०१; १२.३९	सम्बन्धी ४.१७९	सर्वद्रव्यात् ९.११२
समाहर्तृन् ७.६०	<b>सम्बन्धैः</b> ३.१५७	<b>सर्वदिक्षः</b> ३.५७: ७.१८९
समाह्ययः ९.२२१, २२३	सम्भवः ९.३३	सर्वदेहिनाम् ८.८६; ९.३३
समाह्वयम् ९.२२४	<b>सम्भवम्</b> १२.३	सर्वधर्मबहिष्कृताः ९.२३८
समीक्यकारिणम् ७.२६	सम्भवान् ५.३४	सर्वधर्मविवः ८,६३
समिबाधानम् २.१४१ [१७६]	सम्भवे २.२०२ [२२७]	सर्वनाशाय ८.३५३
समिद्धे ११.७३	सम्भवेन ११.८४	सर्वपण्यविचक्षणाः ८.३९८
सिमधः २.१६१ [१८६]	सम्भाषणसहासने ११.१८४	सर्वपण्यानाम् ८.४०१
समित्रज्ञातिबान्धवान् ९.२६९	सम्भूतौ ९.१३३	सर्वपापः ११.२१४
समुत्कर्षे ११.४४	सम्भोगः ८.२००,	सर्वपापापनोदनः ११.२६०
समुत्पत्तिम् ५.४९	सम्भोजनी ३.१४१	<b>सर्वपापायनोबनम्</b> ११.२६०
समुदयम् ७.५६	सम्मानात् २,१३७ [१६२]	सर्वपापेचु ८.३८०
समुद्रिष्टान् ५.१७	सरःसु ४.२०३	सर्वपारैः ४.१८१: ११.२६२
समुद्धते ९.११६	सरटानाम् १२.५७	सर्वप्रवचनेत् ३.१८४
समुद्रम् ८.१७५	सरस्वती १.१३६ [२।१७]	सर्वभक्यः ९.३१४
समुद्रयानकुशलाः ८.१५७	सरस्वतीम् ८.१०५: ११.७७	सर्वगृत० ९३४
समुद्रयायी ३.१५८	सरहस्य•े २.१४० [१६४]	सर्वभूतकृत् १,१८
समुद्रात् १.१४१ [२।२२].	सरहस्यम् २.११५ [१४०]	सर्वभूतभये० = ३४७

सर्वभूतात्मा १.५४	सवासा ४.७७, ७८:	११८, ११९, १९७
सर्वभूतानाम् ७.१४; ९.३३३	99.9७४	साक्ये ८.८१, ८२, ९७;
सर्वभूतानि ३.९३: ४.२३४:	सवासाम् ११.२२३	99.55
<b>७.</b> ४; ९.३०६	सव्यः २.४७ [७२]	साक्येक् ८.७१
सर्वभूतानुकम्पकः ६.८	सच्याहतिप्रणवकाः ११.२४८	<b>साभात्</b> २.२१२ [२३७]
सर्वभूताश्रितम् १२.२६	<b>.सव्ये</b> २.३८ [६३]	साक्षि॰ १.११४; ८.१७८
सर्वमांसस्य ५.४९	सच्येन २.४७ [७२]	साक्षिणः
सर्वमांसादः ४.१४	सशल्कान् ४.१६	६३, ७२, ७९, १०८, १६९,
सर्वयत्नैः ७.१७४	सराद्धाः ७.२१९	२५४
सर्वयोधेभ्यः ७.९०	ससंतानानि ३.१४	साक्षिप्रत्यय० ५.२५३
सर्वरत्नानि ११.४	ससत्त्वेष् ४.४७	साक्षिणम् ८.१८, ८४
सर्वर्तकम् ७.७६	ससन्ध्यांशेच् १.७०	साक्षिणाम् ५.२४९
सर्वलक्षणहीनः ४.१४८	सन्ध्येष् १.७०	सामिता ५.५०
सर्वलोक० १२.१००	ससहायः ८.१९३	साभिद्वैधे ८.७३
सर्वलोकप्रकोपः ७.२४	सस्नेहम् ४.८७	साकिषिः ८.४४,६०,८३
सर्वलोकस्य ८.३०८	सस्यप्रदाम् ७.२१२	साक्षी ८.६४, ७४, ७४, ७७,
सर्ववर्णाः ७.२४: ९.२४०	सस्यसम्पन्नम् ७.६९	E9, E3, E8, 9E2, 24E
सर्ववर्णानाम् १.२: ४.१४६	सस्यानि ९.२४७	सागरान् १.२४
9.5	सस्यान्ते ४.२६	सागरे ६.९०
सर्ववर्षेभ्यः ८.४०	सहजः १२.१३	साङ्गतिकम् ३.१०३
सर्ववर्णेष् ८.८३; १०.४	सहद्यावामृथिय्योः ३.८६	सातिशयम् ९.११४
सर्वीवक्रयी २.९३ [११८]	सहिपण्डक्रियायाम् ३.२४८	सात्वतः १०.२३
सर्ववेदसदक्षिणाम् ६.३८	सहस्तानाम् ४.२९	सात्त्विकम् : ३.२६३; १२.३१
सर्ववेदसम् १२१	सहस्रकृतवः २.५४ [७९]	सारिचकाः १२.४०
सर्वशास्त्रविशारदम् ७.६३	सहस्रगः ११.१४	सात्त्रिकी १२.४८, ४९
सर्वश्कतानि ४.९	<b>सहस्रदः</b> ३.१८६	सास्चिकीम् १२.४०
सर्वसेतवः ७.२४	<b>सहस्रपतये</b> ७.१७ <sup>.</sup>	साधन० ४.१९६
सर्वस्वहारम् ९.२४२	सहस्रपतिम् ७.११५	साधनम् ११.२३७; १२.९९
सर्वहारम् ८.३९९	सहस्राधिपतिः ७.११९	साधवः ९.६८, ९९
सर्वाकरेषु ११.६३	सहायम् ४.१३३	साधारणः ९.९६
सर्वाकुशलमोक्षाय ११.२२१	सहायाः ८.६४	साधः २.८४ [१०९], १६८
सर्वात्मभूतये ३.९१	सहायार्थम् ४.२३८, २३९,	[१९३]; ७.२४; ९.२४३;
सर्वेष ८.३७४	२४२	१०.६४
<b>सर्वोपायान्</b> ७.२१४; २१४	सहायेन ४.२४२; ६.४९	साधुतः ४.२५२
सर्वोपायैः ११.११२	सहायैः ९.२६७	साधुभ्यः ११.१९
सर्वपाः ८.१३४	्सहासनम् ८.२८१	साधिषः १.१३०[२।११]
सलोकताम् ११.२२०	सहिताः ९.२१२	साधुम् ८.२९३
सवनेषु ६.२२	सहेतानाम् ४.११४	साधुषु २.४४ [८०]; ७.१६८
सवर्णः ३.९२	सहोदः ९.१६०, १७३	साधूनाम् १.१२५[२।६]:
सवर्णाः २.१०७ [१३२]:	सहोदम् ९.२७०	¥.२०६; =.३११
२.१5ू४ [२१०]: ९.१४७	सहोबराः ९.१९२	साध्यम् ११.२३८
सवर्णाम् ३.४; ४.१६७;	साकत्येन १२.२४	साध्याः १२.४९
9.99	साध्यम् ८.६२, ६८, ६९,	साध्यानाम् १.२२; ३.१९४
सवर्षास् ३.४३: १०२०	७४; इ.इ२, इ७, ९३, १०७,	<b>साध्यैः</b> ११.२९

साध्वी ५.६६, १४६, १६०,	सायाह्ने ११.१८२	सिद्धि
१६४: ९.२९	सारतः ८.४०५	सिद्धि
साध्वीनाम् ४.१६२	सारफल्गुत्वम् ९.५६	[९७]
साध्वीम् ९.९४	सारसम् ५.१२	सिन्ध
साध्य्याः ५.१५४	सार्धम् १.२७: ९.२०९	सिसृध
सानुनेभ्यः ३.८७	सार्धे ५.१३५	सिस्
सान्तपनम् ५.२०; ११.१२४,		सीता
१६४, १७३, २१२	सार्ववर्णिकम् ३.२४४	सीवर
सान्तरालानाम् १.१३७	सारागराधतः ९.२६२	सीमा
[२.१८]	सारापराधौ ८.१२६	२४७
सान्तानिकम् ११.१	सारासारम् ९.३३१	सीमा
सान्त्वेन ८.३९१		सीमा
सान्वयः २.१४३ [१६८]:	सावित्रानु ४.१५०	सीमा
३.२०४: ५.१९५	सावित्री २.१३ [३८], ५६	सीमा
<b>सान्वये</b> ८.३३१		सीमा
संपराधिककरपेन ७.१८४	99.989	सीमा
साप्तपौरुषी ३.१४६	सावित्रीपतिताः 🌣 🖣४ [३९]	सीमा
साफल्यम् १२.९३		सीमा
साम॰ १.२३: ७.१०७,		सीम्ब
१०९, १४९	सावित्रीमात्रसारः २.९३	सीस
सामवण्डौ ७.१०९	1 ,	सुकर
सामध्यनी ४.१२३		सुकार्ग
सामन्तप्रत्ययः ८.२६२		सुकृत
सामन्तवासिनः ८.२५८		सुकृत
सामन्ताः ८.२६३		£. 9
सामन्तानाम् ८.२५९		सुकृति
सामन्तान् ९.२७२ सामवेदः ४.१२४		सुकृते
सामवेदः ४.१२४ सामवेदवित् १२.१९२		सुक्षेत्रे
सामान्यम् ७.५६		
सामासिकः ७.१८०		97.
सामासिकम् १०.६३:		सुखद्
92.38	•	<b>सुखम्</b> २.१
सामिषम् ४.१३१	साहस्र• १.७९ साहस्रम् १.७१	8.9
साम्ना ७.१९८: ८.१८७	साहब्रस्य ८.३४५	<b>२२</b> ९
साम्नाम् ११.२६२		છે. ૧
साम्परायिकम् ११.३०		97.9
साम्यताम् १२.९०		
साम्यम् ११.१७४, १९४		
साम्राज्यकृत् ८,३८७		
साम्बत्सरिकम् ७.८०		
सायम् २.१६१ [१८६];		
३.१०५, १२१: ४.६२: ६.६:	सिद्धार्थाः १.८३	
99.799	सिद्धिः ७.१	स्गुर
		• .•

90.89 हम २६८ [९३] ७२ 1: ६.४२: १२.११ **यवः** 5.99X वया 9.94 9.5, 38 वः त्रस्य 9.293 विषः 90.993 r = E, 989, 28E, ७, २४८ ामु ≒.२४४, २४२, २४४ E. 2 X 9. 2 E X लिङ्गनि ८.२४९, २५४ विनिर्णयम 5.285 विनिर्णये 5.255 विवादविनिर्णयः ८.२४३ ासेतविनिर्णयः E. 282 ाजाने **= 288** न ८.२५४, २५५, २५९ कस्य 4.998 रम् 9. X X लिनः ₹.**9९७, 9**९८ तकृत् 3.39 3.900; 8.280; तम् 9: **७.**९४ तनः E.39E 1: 5.2×4. ì 90.88 9.25, 89; 5.58; 55 दःखयोः 8.980 म् १.५४, १२८ [२।९]; ३८ [१६३] ३.७९: २, १४९, १६०, १७०. **र: ५.४५,४६:** ६.⊏०, ९५, 93: 4.383: 99.238: 93, 20 त्य **4.943** र्थी **४.92: ६.४९** र्वेष **६.२६** 92.99 संखम् दर्कान 6.58 द्यम् २.८ [३३] ११.२५६ ७.५ स्गुरुः

TO 100 100 100 100 100 100 100 100 100 10		
सर्वरितवतः १२ ११६, <b>१२७</b> स् <del>वरितैः १,२६</del> १	स्महत् ४.१६७: ७.२६	सुसहायेन ७.३१
	स्म्खः ७.४१	सुहृत् ८.१७, ३३४: ९.२९४
स्तः १,६२: ३,३८: ९,१३८.	स्यन्त्रितः २.९३ [११८]	सुहत्सु ७.३२
नेहर, १७४ १७९ ————————————————————————————————————	स्यद्भ ७.१७६	सुहृद्वधः ११.४६
सुतप्तेन ११.२३९	सर्गक्षताः ९.१२	स्करः ३.२४१
स्तम् ३.१७. २६३: ९ ९:	सर्राभिः ३.२०९	सूकरताम् ३.१९०
१३६. १७८: १०.१०४	स्रभीणि ३,२२७	सूकरोष्ट्राणाम् ११.१४६
स्तस्य ११.४९	सरा ११.९४. ९५	<b>सूक्तम्</b> १२.१३२. २४१.
स्ताः ३.४१. १९४ १९८:	सराध्यतः ९२३७	२६०
96.39	सरापः ९२३४ ११,४९,	सूक्ष्मः १.७
स्तादानम् ३,२६	च <i>र</i> शः ५० ५६	सूक्ष्मताम् ६.६४
<b>स्तान्</b> ६,३७; ९,१=७;	मरापस्य ५१,१४९	<b>सूक्सम् १</b> .२२: ५.१३२.
१०.६	सुरापानम् १२.५४	१७०
स्ताम् ९,१२७	स्रापानसमानि १२.५६	सूक्ष्माः १.१७
स्तार्थिनी ३,२६२	संगपानस्य ११.९८	स्थ्यान् १.१६
म्ते ३,२६३; ९,९	म्रापानापानन्यर्थम् ११.९२	सुक्साभ्यः १.१९
स्तैः २,३ (२०) ३,२४०	मरापाने ९२३७	सृक्ष्मेभ्यः ९.५
y 9 / 9	सरापीनाम ५.९०	स्क्षेः १.१८
सतोत्पन्या ३ १६	सराभाजनः १३,१४७	स्चकः ४.७१: ११.५०
सतौ ३,१७४:१,१६२:	<b>म्राम्</b> ११.२०, ९०, ९३	स्च्या ७.१८७, १९१
90.99	सुरासंस्पष्टम् १५१५०	सूतः १०.११, १७, २६
मदा: 3.71	संस्पम् ६.१४	सूतकः ४.१५२
सदश्चरम् ५३४	स्रेन्द्राणाम् ३५	सूतकम् ५.६२
सधन्वाचार्यः १०२३	स्लक्षितम् ६४८३	स्तके ४ ११०: ५.५८
स्निष्कृतम् ११ ८४	स्वर्णः ८.५३४: ११.९८	स्तानाम् १०४७
मनुता ३,१०२	सवर्षकर्नः ४२१४	<b>सूताम्</b> ⊏.२४२
मपर्राक्षितम् ७२५७	सवर्षकारः ४२१=	सूतिका ४२१२
स्परीक्षितान् ३६०	सवर्णचौरः ११४९	सूतिकाम् ५.८५
सुपर्णिकन्दराजाम् ३.१९६	स्वर्णम् ८२१३ ३६१:	<b>स्ते</b> े १०.३२, ३४. ३९
म्पर्णाः १२,४४	19.740	स्त्रकार्पासिकण्यानाम् = ३२६
संपर्णानु १,३७	म्वर्णरजत० ८.३२१	मूत्रम् २,१४९।१७४
स्पर्याप्तम् ५.७६	स्वर्णस्तेयकृत् ११.९९	सुनवः १५०
स्प्ताम् ३,३४	स्वर्णस्तेयजम् ११.१०१	स्ना ३६६
सप्तेष् ७.१८	स्वर्णाः = = . १३४	सूनाचक्र० ४०४
स्प्रकाशेष् = २४४	सुवर्षानु ६,२२०	मृनादोषैः ३७१
मप्रमादानु ३,२१३	सुवासिनी: ३.११४	<b>मूनास्थम्</b> ५५,३४५
म्गीजम् १०,६९	सुविदितम् १२.१०५	सुपशाकः ३,७७६
स्बद्धमण्यास् ९.१२६	स्भ्तम् ३,२४४	सुमीम १५ १० :
स्बाह्मण्यस्य ९,२४१	सुसंगृहीतराष्ट्रः ७,११३	सूर्यः २.१९४,२ १९), १९४
सभगे २.१०४ [१२९]	सुसंगतः २ १६४ [१९३]	[550]
		सूर्यरश्मयः ५.१३३
	स्तंस्कृत• ४.१४०	सर्वे ३२८० ११२५९
298   280	सुसमाहिताः ७,२१९	सूर्ये <b>ण</b> २ ५९६   २२५]
स्मनसः २,१४७ [१८२]	<b>स्तमृद्धः</b> ३.५२५	र्यनम र १७० (४५४)

सूर्योदः ३.१०५	सौम्यनाम्नीम् ३.१०	१७७ [२०२]; ३.४९:
सूर्यः १.६४	सौम्यान् ३.१९९	¥.20x; x.9xx; 5.00;
सृतीः ६.६३	सौम्ये ११.१९५	९.१, प्रेंष, १३४, १९१
<b>सृष्टः</b>	सौरानु ५.८६	स्त्रियाम् ३.६२: ९.१९८
सृष्टम् १.४१	सौरिकम् ८.१४९	स्त्रियी ३.४९
<b>सृष्टाः</b> ५.३९: ९.९६	सौवर्णिकः ८.१३७	<b>स्त्री</b> २.१०४ [१२९], १९८
सुष्टिः १.७८: ३.२४४	सौहित्यम् ४.६२	[२२३]; ३.४९, ६१: ४.६६,
सृष्टिम् १.२४, ७४	स्कन्धितम् ९.५०	90=, 98=, 989, 984,
<b>सेक:</b> ११.४८	स्कन्धेन ५.३१४	940, 949, 968: 6.989:
सेकम् १११२०	स्तेन० ३.१.४०: ४.२४४:	E. 300, 309, 3ES: 8.3,
सेकेन ४.१२४	<b>⊏.१४४, ३१६, ३१७, ३३४,</b>	९, २२, ३०, ७४. २३०,
सेत्व ८.२४४	<b>३४०, ३</b> ८६; ११.१००;	२३२: ११.६६: १२.४९
सेतौ	१२.४७	स्त्रीकार्यम् ५०.४७
सेनापतिबलाध्यक्षौ ७.१८९	स्तेनआटविकादयः ९.२५७	स्त्रीकीरम् ५.९
सेनायाम् ७.१२१	स्तेनगायनयोः ४.२१०	स्त्रीगः 🗀 ८.३८६
सेवा ४.६: १०.११६	स्तेननिग्रहम् ८.३४३	स्त्रीजननी ९.८१
सैनापत्यम् १२.१००	स्तेनम् ८.१९७	स्त्रीजितानाम् ४.२१७
सैरिन्धम् १०.३२	स्तेनस्य ८.३०१, ३१६	स्त्रीणाम् े२.८ [३३], ४१,
सैसकम् ११.१३३	स्तेनाः ७.५३; ९.९२;	४२, वे४४ [१७९]; ३.४६;
सोदकम् ४.३६	१२.४९	४.७२, १३०, १४६, १४४:
सोदरः	स्तेनानाम् ८.३०२; ९.२६३	७.१२४; ८.६८, १००:
सोदर्याः ९.२१२	स्तेनान् ९.३१२	<b>९</b> .१ <del>५</del> ; ११.१६३
सोपकारे ८.१४३	स्तेनेन ८.३१४	स्त्रीधनम् ९.१९४
सोपाकः १०.३८	स्तेय ११.१६१	स्त्रीधनानि ३.५२
सोपानत्कः ३.२३८	स्तेयकृतम् ११.१०२, १६९	स्त्रीधर्मयोगम् १.११४
सोमः ३.२४७: ४.९६: ७.७:	<i>मृ</i> तेयनिष्कृतम् ११.९ <b>८</b>	स्त्रीनिबन्धनम् ९.२७
९.३१४	स्ते <b>यम्</b> ८.६, ३१४, ३३२,	स्त्रीनिषेवषम् ११.६६
सोमपः ११.१४९	३३९: ११.४४, ६४, १६४	स्त्रीन् ८.१२३
सोमपा ३.१९७, १९८	स्तेयसंग्रहणेषु ८.७२	स्त्रीपुंसयोः १.११४; ९.२४,
सोमम् १०.८८: ११.७, ८	स्तेयस्य ५.३१३	१०१, १०३
सोमयमाभ्याम् ३.२११	स्तेयात् ५.३१६	स्त्रीपुंसी ९.१०२
सोमविक्रयणे ३.१८०	स्तेयी ९.२३५	स्त्रीपुम् ८.७
सोमविक्रयी ३.१४८	स्तेषे ८.३३७; ९.२३७	स्त्रीबालः १०.६२
सोमसदः ३.१९४	स्तोककः १२.६७	स्त्रीबालघातिनः ८.८९
सोमस्य ३.८४	स्त्रियः २.९८ [१२३], १४२	स्त्रीबुद्धेः ८.७७
सोमाय ९.५२९	[१७७], २१५[२४०]; ३.४८,	स्त्रीणिः ७.२२१: ८.३६०:
सोमारीद्रम् ११.२४४	५०, ११४; ७.४७, ५०, ९६,	९.२००
सौख्यम् ४.२३२	१५०, २१९; ८.६८, ७७,	स्त्रीम्यः ९.१७, १८
सौतिकम् २.१९ [४४]	१४९; ९.२, ४, २६, ९६,	स्त्रीम् ४.१६७; १२.६७
सौनिकः ४.८६	१४९, १९९, २१९: १२.६९	स्त्रीयोनिः ९.३४
<b>सौमिक:</b> ४.२६	स्त्रियम् ३.१०, ४८; ४.४०,	स्त्रीरत्नम् २.२१३[२३८]
सौम्य• २.१०० [१२४]:	X3; 5.3X5; 9.9, \$5,	स्त्रीविप्रः ८.३४९
7.90	988; 99.50, 908	स्त्रीविवाहान् ३.२० [११]
सौम्यदर्शनाः २.२२ [४७]	स्त्रियाः २.११३ [१३८],	स्त्रीविवाहैः ३.४२

				•	
स्त्रीवृत्तः	७.२२४	३.१२०: ४.३३		स्परीन ३.	१४१; १२.१२०
स्त्रीशूद्धः	४.१३९	१२९: ७.१६७:		स्पशः	<b>5.99</b> €
स्त्रीशूद्रदम्भन	म् ४.१९८	१९९, २०० २६	६४: ९.१८,	स्पृष्टमैथुना	<b>≂.२०</b> ४
स्त्रीश्रूबपतित	ान् ११.२२३	१८९, २८३; १८	o.ሂሂ, ७⊏;	स्पृष्टाषिः	२.३७ [६२]
स्त्रीशुद्रोच्छिष	टम् ११.१४२	१२.१४६, २३७:	१२.९४	स्पृष्टिनम्	ሂ.ፍሂ
स्त्रीष्	२.१३३ [१४८]:	स्थितिमती	९.७४	स्फिचम्	5.259
	.६१: े१०.६:	स्थिरारभ्यम्	७.२०९	स्पयशूर्पशक	त्रनाम् ५.११७
१२.५८, १७		स्यूजम्	६.७६	स्मार्तः	े १.१०६
स्त्रीसंग्रहणम्	<b>5. ξ</b> .	स्थलसक्ष्माणाम	११.२४२	स्मृतः २.४	प, २०६ [२३१]
स्त्रीसम्बन्धे	₹.६	स्थीललक्ष्यम्	७.२११	स्मृतयः	97.84
स्त्रीसुहृद्वधम्	99.55	स्नातकः २.१		स्मृताः	३.४६
स्त्रीहन्तृन्	99.980	8.93, 33, 38.			१= [२।९], १२९
स्त्र्यजीवः	99.53	२०३: ६.१			१३१ [२।१२];
स्थण्डिलम्	90.99	स्नातकगुरून्	३.११९	¥.944; <b>६</b>	
स्यलज्ञ	€.9३	स्नातकपार्थिवी	२.११४	स्मृतिमान्	७.६४
स्थलजानि	2.88	[938]			9.924 [214]
स्थलारूढ्रम्	७.९१	स्नातकबाह्मणान्	99.2	स्मृतौ	३.२४, २६
स्थले	७. १९२	स्नातकव्रतकल्पः	8.249	स्रीविणः	<b>=.</b> २४६
स्थविरः	२.९४ [१२०];	स्नातकस्य १.१९		स्रिवणम्	3.3
5.398	(,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	[9३¤]; X.9		स्रग्वी	२.१४२ [१६७]
स्यविरम्	२.१३१ [१४६]		१०.११३	स्रजम्	¥.¥¥, ĘĘ
स्यविरे	8.3	स्नानम् ४.४५, '		स्रष्टारम्	9.33
स्यविरेण	<b>⊏.७०, १६३</b>		, 988,		
स्थाणुः	₹.२०१	११.१०९, १७४,		<b>स्</b> ते	8.922
स्थाज्ञ्छेवस्य		स्नानस्य		म्रोतसाम्	₹.9६३
स्थान०	<b>६.२२, ४९</b>	स्नानासनविहारवा			3.220: 8.98,
	9.93; 2.228	[28]			. 9 9, 9 = 4;
	५३: ७.४६, १२१,	स्नाने	७.२२०		
92X; <.33		स्नानेन	४.६६, <b>⊏</b> ४		द.२०६, २०७ <u>:</u>
स्थानयोगान्	९.३३२		9=8 [208]	99.88, 9	
स्थानानि	5.44X 5.94X	स्नायु०	६.७६		
	ाम् ११.२२४	स्नायुम्	5.5₹ 5.2₹¥	रव्यक्रमणा	<b>९</b> .२०७ १०.२४
स्थाने	४.९४: ७. <b>१९०:</b>		२२० [२४४]	स्वकर्मणि	90.68
5.99 <b>9</b>	X. 10. 0. 1 10.	स्निग्धः	رره <u>ار</u> روز ن ۹۹۵	स्वकर्मभ्यः	5.895
स्थानेष्	5,5	स्निग्धेषु	७.३२ ७.३२	स्वकर्म <b>प्र</b> ः	90.80, XO
स्थावर०	9.89	स्नुषा स्नुषा	9. XO	स्वकर्मस् <b>थाः</b>	90.9
स्थायरजङ्ग					२.१४ <b>६ [१</b> ६३];
स्यावरणज्ञ	97.8	स्नुषागगुरुतल्पगौ स्नुषागगुरुतल्पगौ	<b>9. 5 7</b>	रवकनसु ९.११४: १	
	۹.४०; <u>५</u> .२८	स्नुषावत् स्रोतसंग्रहतम्			
स्थावरम् स्थावराः	9.84; 92.82	स्नेहसंयुष्तम् स्नेहान्	५.२४ ६.१३		९.१९९, २०७,
स्थाय राज स्थाव राणि		स्तरायु स्नेहे		२७३, १२	
स्थावराजि स्थास्नु	99.45		97.970	स्वकाम् स्वकार्यः	6.75°
स्यास्यु स्थितया	१,59		<b>६; ⊏.३</b> ४७;		
स्थितया स्थितिः		9२. <b>९</b> =	u 022	स्वकाले	४.९३
<b>।स्यातः</b>	२.१९९ [२२४]:	स्पर्शे	4.933	स्वकुटुम्बात्	१०.१२४

स्वकुटुम्बान्	99.22	स्वम्ब्:	<b>٩.६, ९</b> ४	स्वसीयम्	३.१४८
	8.88; 5.356	स्वयंवराः	ે .	स्बस्रीयाम्	99.909
स्वक्षेत्रे	९.9६६	स्वयेच्छ्या	<b>९.</b> १७४	स्वागतैः	8.226
स्वग्षेन	२.६७ [९२]	स्वयोन्या	¥.99₹		I.=, <b>९४</b> ; ९.99=
स्वजने	99.8	स्वयोन्याम्	90.7=	स्वातन्त्र्यम्	٤.۶
स्वजातिम्	<b>इ.२७७</b>		२.११९ [१३४],	स्वातन्त्र्येष	
स्वजातीयः	99.957	9=9 [2		स्वादानात्	<b>=</b> .9७२
स्वतन्त्रताम्	X.98=	99.45: 99		स्वाध्यायः	२.१४२ [१६७]
स्वतासान	5,805	मार्ग्य किया स्वरत्ये किया	ताकारैः <b>५.२</b> ५	स्वाध्यायनिष	
स्वदारनिरतः	₹. <b>४</b> ४	स्वराष्ट्रम्	9.999	स्वाध्यायमृगि	
स्वदितम्	<b>३.२</b> ४१, २४४		७.३२: ९.३१२		े २.६२ [१०७];
स्वदेशे	રે. `ે દ.૧૬७	स्वरूपभावः	२.९९ [१२४]	3.232	,, , f , 1,
स्वधनात्	९.१४६, १६२	स्वर्गः	° , , , , , , , , , , , , , , , , , , ,		8.90
स्वधर्मः	90.80, 998		।=, ७९: ४.२३ <b>४</b> ,	स्वाध्यायार्थी	
	.२: ⊏.४१, ३९१	२४६: ४			२.८० [१०४];
स्वधर्मस्य	२. <b>१२</b> ४ [१४०]		१८: ११.६, ४०		४, ५८: ६.६
स्वधर्मात्	৩.৭২		₹.9¥o; <b>५.७</b> ¥,		२.३ [२८]; ३.८ <b>१</b>
स्वधर्मे स्वधर्मे	9.9२७ [२। <b>=</b> ];	903; 8.2		स्वानि	9.30; 8.988;
c.334	1. ( \ \ [ \ ( - ],		्र तस्यानि ४.१३		9, ४99, ४9=
स्वधर्मेण	३.३; ९.१६७;	स्वर्गार्थम्	90,933	्यानू	२.१६० [२०४]
90.85	4.4, 5.140,		X.9XX: =.393;	स्वामाविकः	
	<b>९</b> .१२७	97.70	4. 144 111.	स्वामिनः	७.१६७; ८.२३३
स्वधाकरम् स्वधाकारः	३.२ <u>४</u> २	१२.२० स्वर्ग्यः	ሂ.ሄፍ	स्वामिना	E.940, 898
स्वधाननयना स्वधानिनयना		स्वर्थम् स्वर्थम्	३. <b>१०</b> ६	स्वामिनाम्	
[907]	ų (.100	स्वर्जिता	99.98	288	( \ <b>)</b>
। १०२। स्वन् <b>ष्ठितः</b>	१०.९७	स्वस्पीयसि	99.5	स्वामिनी	د. <b>२</b> ३०
	३; १२.३३, <b>१</b> २२	स्वत्ये	=.999	स्वामिपालय	
स्वप्ना भ्याम्	9.49	स्वरूपेन	२.१०९ [१३४]:		३०, ३१, १७३,
स्य ना म्यान् स्वप्नाय	9. <b>६</b> ५, ६ ६	8.989	1. 10 1 [ 1 <del>1 0</del> ].	१९७, २९	
स्यप्ने	7.9×€ [9=9]	स्वबप्वा	२.२०७ [२३२]	स्वाम्	९.७: १०.५९
स्यबन्ध्य	7.957 [700]	स्ववंशस्य	<b>९.</b> १२ <b>८</b>	स्वाम्यकारण स्वाम्यकारण	
स्वबाग्धवाः	ر. ۱۳۰۱ (۲۵۵) ۶.۶ <b>۹</b>	स्ववित्तस्य	=.3€	स्वास्यम्	۰.۲۹ ۱۹.۶۹
स्वभावः	२.१८ <b>८ [२</b> ।३]	स्वापतस्य स्ववीर्यम्	99.32	स्य: न्य न् स्वाम्यमात्यी	
	(, , , , , , , , , , , , , , , , , , ,	स्ववायम् स्ववीर्यात्	99.32		9.93
<b>९.</b> 9¥. ३=	1. 14.7 [ 7.7.4].	स्ववायात् स्ववीर्ये <b>च</b>	99.39	स्वाम्यात् स्वायम्भुवः	
रः। रः रः स्वभावम्	. 0 .	स्वरायम स्वशक्तिम्	१.२ <b>९</b> ८		ाःसाः ससः इ.५४: =.१२४:
स्य मायम् स्य भावेन	९.१६	स्य शायतम् स्यसरि		<b>१०२</b> ३ ९.५४=	٠, ऱ ٠;
	5.95		२.१० <b>= [१३३]</b>		<b>र</b> १.६२, ६३
स्वमातृतः स्वमांसम्	९.१२३. १२४ ५.५२	स्वसारम्	२.२४ [४०]	स्वायम्भुवस	
स्वमासम् स्वमूर्तिमान्		स्वस्त्ययनम्	9.90६:	स्वाराज्यम्	
	२.५७ [६२]	<b>4.9</b> 42	<b>۵.</b> २ <b>१</b> ६	स्वारोचिषः	
स्वयंदत्तः	९.१७७, १६०			स्वार्थ०	४.१९६ <b>ारीका</b> ० ९.१९
स्वम्भुवः स्वस्थल	9.7		9.939 [2192].		((1911) 4.329
<b>स्वम्भुवा</b> ८.४१३: ८.	9.९२: ५.३९ <u>:</u>		= X, २३३; ९.१९९	स्वास्	
۳. ه ۱ ۸؛ ۳.	14.5	स्बद्धा	२.१९० [२।४]	स्बिष्टकृते	4.55

स्वेदः	<b>¥.</b> 9३¥	१४०, १४२	. 4 9 5	हितम २	.=३ [१०=], १=१
स्वेदजम्	9.82	हय्यकय्यानि			४.२ <u>४</u> =; ७.४७;
स्वेन	90.59; 99.37;	৭৩২	(,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	E.₹9₹, ₹	
92.23		हच्यकच्येन	४.३१	हिता	9.57
स्वेभ्यः	९.११८; १२.७०	हव्यकव्येचु	3.933	हितानि	8.98
स्वेषु	<b>३.११६</b> ; ४.१४४	हय्यम्	३.१६८, १८१;	हिताभङ्गे	९.२७४
४.१०४;		४.२४९		हितेषु	२.१६६ [१९१];
हंस:	१२.६२	हच्यसम्पदः	३.२५६	९.३२४	
	११.१३४; १२.४	हय्यानि	१.९५; ३.१३४	हिमबद्	५.१४० [२।२१]
हंसवारण		हस्तचरणी	९.२७७	हिरण्यवः	४.२३०
हतकित्वि		हस्तच्छेदनम्	<b>.</b>	हिरण्यमधु	सर्पिवाम् २.४
हतस्य	४.१३१	हस्तपादम्	२.६५ [९०]	[२९]	
हत्या	११.७०	हस्तम्	३.२१६	हिरण्यम्	२.२२१ [२४६];
हय०	<b>८.२९६</b>	हस्तयोः	३.२२४		<b>१८९; ७</b> .२०६,
हयमेघे	११.=२		:.३४०; १०.१०८		१४४: १८२, १८४,
हयम्	99.9३६	हस्ति०	.३.१६२	३९३;	
हरम्	9२.9२9	हस्तिनः	१२.४३		
हरिजेन	३.२६८	हस्तिनम्	४.१२०; ७.९६	हीन०	२.१६९ [१९४]
हरिते	5.330	हस्ती	२.१३२ [१५७];	हीनक्रतुः	99.9२
हर्तृन्	९.२८०	<b>९</b> .२६०		हीनक्रियम्	
	१४२, १४४,	हस्ते ५.१५०		हीनजातिस्त्रियम् ३.१५	
	(७, २६६; ४.२०६;	हस्तेन	३.२१४		१०७: ६.४७, २३२
६.१२:	७.२१; ११.९४;	हस्तेषु	<b>३.२२३</b>	हीनाः	90.39
१२.६्=			६ [७१]; ३.१३२,	हीनातिरिय	
हवि:शेषम्			र.१२५, २८३:	हीनानि	े३.६४
हविर्गुणाः	३.२३७	९.२७६			४.१४१; १०.३१
हविर्गुणान्		हायनैः	२.१२९ [१४४]	हीनान्हीना	
हविदिनिन	<b>३.२</b> ११	हारि	97.7=	हीने ३. <b>१</b>	
हविर्मुजः	<b>३.</b> १९७	हास्यार्थम्	९.२२७	हुड्कारम्	99.708
हविष्कृतम्		हिंसनम् <u>े</u>	२.१४२ [१७७]	हुतः	80.5 2-0 Ver 5-15
हविष्यन्त		हिंसा	_ X.9७0; X.XX;		३.७३, ७४, १८१
हविष्मन्तः		99. ६३; 9		हुताग्निः	७. <b>१४</b> ५ ४ २- ॥
हविष्यभृद	-	हिंसाप्रायाम् 	\$2.0P	हुते	¥.70¥
हविष्यस्य हविष्यासि	99.220	हिंसाम् <del>रिंगा</del> न	28, 8E	हवयम्	ج. <i>ي</i> و د د د د د د د د د د د د د د د د د د
हावध्यात हविष्येष	ॱ ११.२१ <b></b> ११.१०६	हिंसायाम्		हृदयेन हृदि	9.930 [319]
हावध्यज्य हविचा		२९७; ११.			5. <b>९</b> 9, <b>९</b> २
हायपा हविषि	२.६९ [९४]	ाहसासमुद्रम <b>हिंस्र</b> ः	वम् ११.१४४	हृद्गाभिः स्टब्स	२.३७ [६२]
हावाप हविषु	३. <b>१६९</b> ३.१३९	ाहस्रः ४.१९५: ९	9.28: 3.988:	हृद्याम् हृद्यानि	७.७७; ९.९४ ३.२२७
हायपु हविष्याणि	२.१२ <b>८</b> १ ३.२४६	०.५८४: ८ <b>हिंखा</b>	.२५० ९. <b>५</b> ०	ह्यान ह्व्टम्	<sub>३.२२७</sub> ७.१७१
	२.५२६ ३.१३२, १३९: ५.७	ाहका हिंस्राः	97.49	हृष्टन् हेतवः	9.191 92.90 <b>९</b>
ह्याप ह्यक्य		ारुकाः हिंस्रानाम्		हत्तवः हेतुशास्त्र ०	
हव्यक्ये		हितः हितः	3. 70: 97.99 <b>6</b>	हेत् <b>ना</b>	9.88; =.989
	ते: ३.१३०, १४७,	ारतः हितप्रेप्सुः	¥. ¥0; 17, 119 ¥. ¥Ę	हतुमा हेतुभिः	5.3
C	, 100,	Saux.a.	٩. ٥ ٩	a.h	7.4

हेमकर्तृष्	92.59	हैरण्यगर्भस्य	३.१९४	होमानु	99.998
हेमकारम्	९.२९२	होढेन	९.२७०	होमे े	<b>३.२४</b> ०
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु		• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •		<b>होमैः</b> २.२ [२७]	], ३ [२८]:
हेमन्ते	६.२३	<b>होमः</b> ३.७०, ५	9¥, 5¥;	₹.59; 90.999	99.38,
हैतुक:		६.३४: ११ २२२		२२६	
हैतुकान्	8,₹0	् <b>होममन्त्रेषु</b> २.५०	[१०४]	हासा	9.54
हेमम्	४.११३	होमः '	१९ २००	हियमाजानि	६.५९

स्वाध्याय के लिए मनुस्मृति का प्रक्षेप रहित संस्करण-

## विशुद्ध मनुस्मृति

–डॉ. स्रेन्द्रकुमार आचार्य

- निर्धारित मानदण्डों के आधार पर प्रक्षिप्त सिद्ध हुए श्लोकों से रहित,
   मौलिक श्लोकों का संस्करण।
- मनु के मौलिक आदेशों-उपदेशों का प्रसंगबद्ध वर्णन होने से स्वाध्यायशील व्यक्तियों के लिए परम-उपयोगी। प्रमुख प्रकरणों का उल्लेख।
- ३. पदार्थ टीका एवं मन्प्रसंगसम्मत अर्थ।
- ४. विशिष्ट व विवादास्पद स्थलों पर शास्त्रप्रमाणों एवं अन्तःसाक्ष्य सहित 'अनुशीलन' समीक्षा।
- ५. महर्षि दयानन्द कृत अर्थ एवं भावार्थ सहित।
- ६. विस्तृत भूमिका तथा उसमें मन्स्मृति का नया मूल्यांकन।
- ७. विषय सूची, उभयपंक्ति श्लोकानुक्रमणिका सहित।
- कपड़े की बहत बढ़िया जिल्द, बढ़िया कागज। लागत मात्र

मुल्य ६० ०० रूपये।